श्रीहरिः

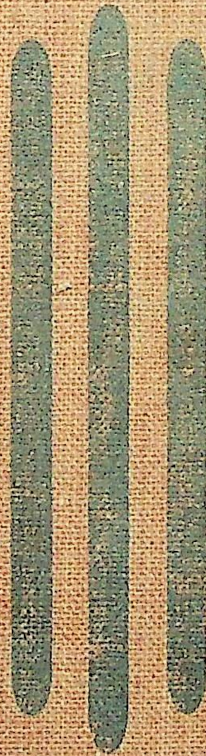
श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(षष्ठ खण्ड)

[अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरि: ॥

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(षष्ठ खण्ड)

[नुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



अनुवादक—

ार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१२से २०५१ तक ५३,०००
सं० २०५३ सातवाँ संस्करण २,६००
योग ५५,६००

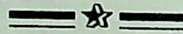
मूल्य—{ खण्ड एकसे खण्ड छः तक } छः खण्डोंका सम्पूर्ण सात सौ बीस रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : ३३४७२१

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

(अनुशासनपर्व)



आश्वमेधिकपर्व

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या

आश्रमवासिकपर्व

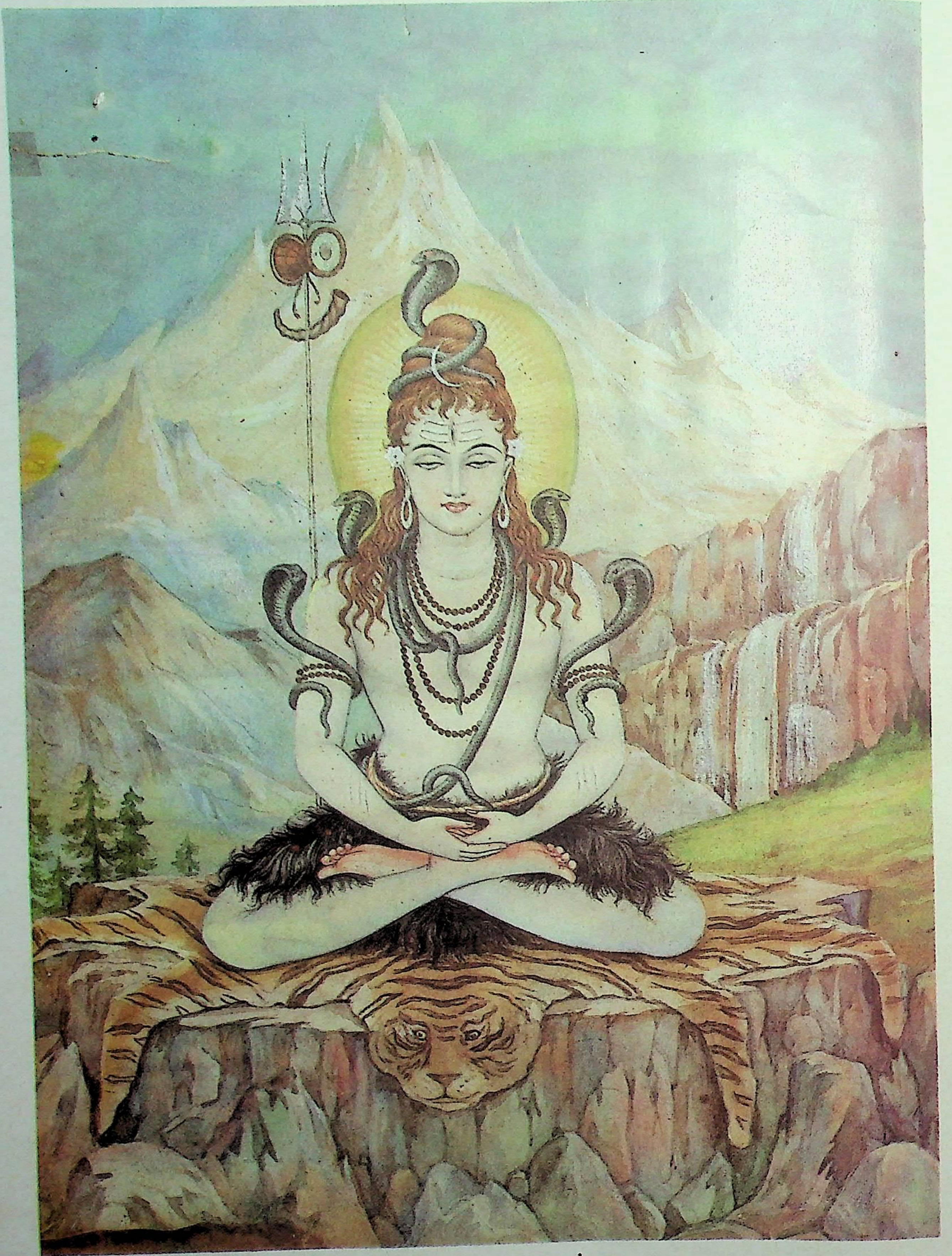
मौसलपर्व

महाप्रस्थानिकपर्व

स्वर्गारोहणपर्व

चित्र-सूची

(सादा)



देवाधिदेव भगवान् शंकर

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

अनुशासनपर्व

(दानधर्मपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको सान्त्वना देनेके लिये भीष्मजीके द्वारा गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादका वर्णन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

युधिष्ठिर उवाच

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने नाना प्रकारसे शान्तिके सूक्ष्म स्वरूपका (शोकसे मुक्त होनेके विविध उपायोंका) वर्णन किया; परंतु आपका यह ऐसा उपदेश सुनकर भी मेरे हृदयमें शान्ति नहीं है॥ १॥

अस्मिन्नर्थे बहुविधा शान्तिरुक्ता पितामह।
स्वकृते का नु शान्तिः स्याच्छमाद् बहुविधादपि॥ २॥

दादाजी! आपने इस विषयमें शान्तिके बहुत-से उपाय बताये, परंतु इन नाना प्रकारके शान्तिदायक उपायोंको सुनकर भी स्वयं ही किये गये अपराधसे मनको शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है॥ २॥

शराचितशरीरं हि तीव्रव्रणमुदीक्ष्य च।
शर्म नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन्॥ ३॥

वीरवर! बाणोंसे भरे हुए आपके शरीर और इसके गहरे घावको देखकर मैं बार-बार अपने पापोंका ही चिन्तन करता हूँ; अतः मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता है॥ ३॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम्।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम्॥ ४॥

पुरुषसिंह! पर्वतसे गिरनेवाले झरनेकी तरह आपके शरीरसे रक्तकी धारा बह रही है—आपके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे हैं। इस अवस्थामें आपको देखकर मैं वर्षा-कालके कमलकी तरह गला (दुखित होता) जाता हूँ॥

अतः कष्टतरं किं नु मत्कृते यत् पितामहः।
इमामवस्थां गमितः प्रत्यमित्रै रणाजिरे॥ ५॥

मेरे ही कारण समराङ्गणमें शत्रुओंने जो पितामहको इस अवस्थामें पहुँचा दिया, इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है!॥ ५॥

तथा चान्ये नृपतयः सहपुत्राः सबान्धवाः।
मत्कृते निधनं प्राप्ताः किं नु कष्टतरं ततः॥ ६॥

आपके सिवा और भी बहुत-से नरेश मेरे ही कारण अपने पुत्रों और बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये हैं। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी!॥ ६॥

वयं हि धार्तराष्ट्राश्च कालमन्युवशंगताः।
कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप॥ ७॥

नरेश्वर! हम पाण्डव और धृतराष्ट्रके सभी पुत्र काल और क्रोधके वशीभूत हो यह निन्दित कर्म करके न जाने किस दुर्गतिको प्राप्त होंगे!॥ ७॥

इदं तु धार्तराष्ट्रस्य श्रेयो मन्ये जनाधिप ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं यदसौ त्वां न पश्यति ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! मैं राजा दुर्योधनके लिये उसकी मृत्युको श्रेष्ठ समझता हूँ, जिससे कि वह आपको इस अवस्थामें पड़ा हुआ नहीं देखता है ॥ ८ ॥

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा ।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ॥ ९ ॥

मैं ही आपके जीवनका अन्त करनेवाला हूँ और मैं ही दूसरे-दूसरे सुहृदोंका भी वध करनेवाला हूँ। आपको इस दुःखमयी दुरवस्थामें भूमिपर पड़ा देख मुझे शान्ति नहीं मिलती है ॥ ९ ॥

दुर्योधनो हि समरे सहसैन्यः सहानुजः ।
निहतः क्षत्रधर्मेऽस्मिन् दुरात्मा कुलपांसनः ॥ १० ॥

दुरात्मा एवं कुलाङ्गार दुर्योधन सेना और बन्धुओंसहित क्षत्रियधर्मके अनुसार होनेवाले इस युद्धमें मारा गया ॥१०॥

न स पश्यति दुष्टात्मा त्वामद्य पतितं क्षितौ ।
अतः श्रेयो मृतं मन्ये नेह जीवितमात्मनः ॥ ११ ॥

वह दुष्टात्मा आज आपको इस तरह भूमिपर पड़ा हुआ नहीं देख रहा है, अतः उसकी मृत्युको ही मैं यहाँ श्रेष्ठ मानता हूँ; किंतु अपने इस जीवनको नहीं ॥ ११ ॥

अहं हि समरे वीर गमितः शत्रुभिः क्षयम् ।
अभविष्यं यदि पुरा सह भ्रातृभिरच्युत ॥ १२ ॥
न त्वामेवं सुदुःखार्तमद्राक्षं सायकार्दितम् ।

अपनी मर्यादासे कभी नीचे न गिरनेवाले वीरवर ! यदि भाइयोंसहित मैं शत्रुओंद्वारा पहले ही युद्धमें मार डाला गया होता तो आपको इस प्रकार सायकोंसे पीड़ित और अत्यन्त दुःखसे आतुर अवस्थामें नहीं देखता ॥ १२½ ॥

नूनं हि पापकर्माणो धात्रा सृष्टाः स्म हे नृप ॥ १३ ॥
अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात्।
तथा प्रशाधि मां राजन् मम चेदिच्छसि प्रियम्॥ १४ ॥

नरेश्वर ! निश्चय ही विधाताने हमें पापी ही रचा है। राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे परलोकमें भी मुझे इस पापसे छुटकारा मिल सके ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि ।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाभाग ! तुम तो सदा परतन्त्र हो (काल, अदृष्ट और ईश्वरके अधीन हो), फिर अपनेको शुभाशुभ कर्मोंका कारण क्यों समझते हो ? वास्तवमें कर्मोंका कारण क्या है, यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर है ॥ १५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः ॥ १६ ॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १६ ॥

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता ।
सर्पेण दष्टं स्वं पुत्रमपश्यद्गतचेतनम् ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें गौतमी नामवाली एक बूढ़ी ब्राह्मणी थी, जो शान्तिके साधनमें संलग्न रहती थी। एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते बेटेको साँपने डँस लिया और उसकी चेतनाशक्ति लुप्त हो गयी ॥ १७ ॥

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः ।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत् ॥ १८ ॥

इतनेहीमें अर्जुनक नामवाले एक व्याधने उस साँपको ताँतके फाँसमें बाँध लिया और अमर्षवश वह उसे गौतमीके पास ले आया ॥ १८ ॥

स चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः ।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना ॥ १९ ॥

लाकर उसने कहा—'महाभागे ! यही वह नीच सर्प है, जिसने तुम्हारे पुत्रको मार डाला है। जल्दी बताओ, मैं किस तरह इसका वध करूँ ? ॥ १९ ॥

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति ॥ २० ॥

'मैं इसे आगमें झोंक दूँ या इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ ? बालककी हत्या करनेवाला यह पापी सर्प अब अधिक समयतक जीवित रहने योग्य नहीं है' ॥ २० ॥

गौतम्युवाच

विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया ।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात् प्राप्तव्यमविचिन्तयन् ॥ २१ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! छोड़ दे इस सर्पको। तू अभी नादान है। तुझे इस सर्पको नहीं मारना चाहिये। होनहारको कोई टाल नहीं सकता—इस बातको जानते हुए भी इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पापका भारी बोझ लादेगा ? ॥ २१ ॥

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः ।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके ॥ २२ ॥

संसारमें धर्माचरण करके जो अपनेको हल्के रखते हैं (अपने ऊपर पापका भारी बोझ नहीं लादते हैं), वे पानीके

ऊपर चलनेवाली नौकाके समान भवसागरसे पार हो जाते हैं; परंतु जो पापके बोझसे अपनेको बोझिल बना लेते हैं, वे जलमें फेंके हुए हथियारकी भाँति नरक-समुद्रमें डूब जाते हैं ॥

हत्वा चैनं नामृतः स्यादयं मे
जीवत्यस्मिन् कोऽत्ययः स्यादयं ते।
अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तो-
र्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम् ॥ २३ ॥

इसको मार डालनेसे मेरा यह पुत्र जीवित नहीं हो सकता और इस सर्पके जीवित रहनेपर भी तुम्हारी क्या हानि हो सकती है ? ऐसी दशामें इस जीवित प्राणीके प्राणोंका नाश करके कौन यमराजके अनन्त लोकमें जाय ? ॥ २३ ॥

लुब्धक उवाच

जानाम्यहं देवि गुणागुणज्ञे
सर्वार्तियुक्ता गुरवो भवन्ति।
स्वस्थस्यैते तूपदेशा भवन्ति
तस्मात् क्षुद्रं सर्पमेनं हनिष्ये ॥ २४ ॥

व्याधने कहा—गुण और अवगुणको जाननेवाली देवि ! मैं जानता हूँ कि बड़े-बूढ़े लोग किसी भी प्राणीको कष्टमें पड़ा देख इसी तरह दुखी हो जाते हैं। परंतु ये उपदेश तो स्वस्थ पुरुषके लिये हैं (दुखी मनुष्यके मनपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता)। अतः मैं इस नीच सर्पको अवश्य मार डालूँगा ॥ २४ ॥

शमार्थिनः कालगतिं वदन्ति
सद्यः शुचं त्वर्थविदस्त्यजन्ति।
श्रेयःक्षयं शोचति नित्यमोहात्
तस्माच्छुचं मुञ्च हते भुजङ्गे ॥ २५ ॥

शान्ति चाहनेवाले पुरुष कालकी गति बताते हैं (अर्थात् कालने ही इसका नाश कर दिया है, ऐसा कहते हुए शोकका त्याग करके संतोष धारण करते हैं)। परंतु जो अर्थवेत्ता हैं—बदला लेना जानते हैं, वे शत्रुका नाश करके तुरंत ही शोक छोड़ देते हैं। दूसरे लोग श्रेयका नाश होनेपर मोहवश सदा उसके लिये शोक करते रहते हैं; अतः इस शत्रुभूत सर्पके मारे जानेपर तुम भी तत्काल ही अपने पुत्र-शोकको त्याग देना ॥ २५ ॥

गौतम्युवाच

आर्तिर्नैवं विद्यतेऽस्मद्विधानां
धर्मात्मानः सर्वदा सज्जना हि।
नित्यायस्तो बालकोऽप्यस्य तस्मा-
दीशे नाहं पन्नगस्य प्रमाथे ॥ २६ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! हम-जैसे लोगोंको कभी किसी तरहकी हानिसे भी पीड़ा नहीं होती। धर्मात्मा सज्जन पुरुष सदा धर्ममें ही लगे रहते हैं। मेरा यह बालक सर्वथा मरनेहीवाला था; इसलिये मैं इस सर्पको मारनेमें असमर्थ हूँ ॥ २६ ॥

न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातनाम्।
मार्दवात् क्षम्यतां साधो मुच्यतामेष पन्नगः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं होता; फिर वे क्रोधवश दूसरोंको पीड़ा कैसे दे सकते हैं; अतः साधो ! तू भी कोमलताका आश्रय लेकर इस सर्पके अपराधको क्षमा कर और इसे छोड़ दे ।२७।

लुब्धक उवाच

हत्वा लाभः श्रेय एवाव्ययः स्या-
ल्लभ्यो लाभः स्याद् बलिभ्यः प्रशस्तः।
कालाल्लाभो यस्तु सत्यो भवेत
श्रेयोलाभः कुत्सितेऽस्मिन्न ते स्यात् ॥ २८ ॥

व्याधने कहा—देवि ! इस सर्पको मार डालनेसे जो बहुतोंका भला होगा, यही अक्षय लाभ है। बलवानोंसे बलपूर्वक लाभ उठाना ही उत्तम लाभ है। कालसे जो लाभ होता है, वही सच्चा लाभ है। इस नीच सर्पके जीवित रहनेसे तुम्हें कोई श्रेय नहीं मिल सकता ॥ २८ ॥

गौतम्युवाच

का नु प्राप्तिर्गृह्य शत्रुं निहत्य
का कामाप्तिः प्राप्य शत्रुं न मुक्त्वा।
कस्मात् सौम्याहं न क्षमे नो भुजङ्गे
मोक्षार्थं वा कस्य हेतोर्न कुर्याम् ॥ २९ ॥

गौतमी बोली—अर्जुनक ! शत्रुको कैद करके उसे मार डालनेसे क्या लाभ होता है तथा शत्रुको अपने हाथमें पाकर उसे न छोड़नेसे किस अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति हो जाती है ? सौम्य ! क्या कारण है कि मैं इस सर्पके अपराधको क्षमा न करूँ ? तथा किसलिये इसको छुटकारा दिलानेका प्रयत्न न करूँ ? ॥ २९ ॥

लुब्धक उवाच

अस्मादेकाद् बहवो रक्षितव्या
नैको बहुभ्यो गौतमि रक्षितव्यः।
कृतागसं धर्मविदस्त्यजन्ति
सरीसृपं पापमिमं जहि त्वम् ॥ ३० ॥

व्याधने कहा—गौतमी ! इस एक सर्पसे बहुतेरे मनुष्यों-के जीवनकी रक्षा करनी चाहिये। (क्योंकि यदि यह जीवित रहा तो बहुतोंको काटेगा।) अनेकोंकी जान लेकर एककी रक्षा करना कदापि उचित नहीं है। धर्मज्ञ पुरुष अपराधीको त्याग देते हैं; इसलिये तुम भी इस पापी सर्पको मार डालो ॥

गौतम्युवाच

नास्मिन् हते पन्नगे पुत्रको मे
सम्प्राप्स्यते लुब्धक जीवितं वै।

गुणं चान्यं नास्य वधे प्रपश्ये
तस्मात् सर्प लुब्धक मुञ्च जीवम् ॥ ३१ ॥

गौतमी बोली—व्याध ! इस सर्पके मारे जानेपर मेरा पुत्र पुनः जीवन प्राप्त कर लेगा, ऐसी बात नहीं है। इसका वध करनेसे दूसरा कोई लाभ भी मुझे नहीं दिखायी देता है। इसलिये इस सर्पको तुम जीवित छोड़ दो ॥ ३१ ॥

लुब्धक उवाच

वृत्रं हत्वा देवराट् श्रेष्ठभाग् वै
यज्ञं हत्वा भागमवाप चैव।
शूली देवो देववृत्तं चर त्वं
क्षिप्रं सर्पं जहि मा भूत् ते विशङ्का ॥ ३२ ॥

व्याधने कहा—देवि ! वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्र श्रेष्ठ पदके भागी हुए और त्रिशूलधारी रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस करके उसमें अपने लिये भाग प्राप्त किया। तुम भी देवताओंद्वारा किये गये इस बर्तावका ही पालन करो। इस सर्पको शीघ्र ही मार डालो। इस कार्यमें तुम्हें शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

असकृत् प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्याधके बार-बार कहने और उकसानेपर भी महाभागा गौतमीने सर्पको मारनेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात् संस्तभ्य पन्नगः।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥ ३४ ॥

उस समय बन्धनसे पीड़ित होकर धीरे-धीरे साँस लेता हुआ वह साँप बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर मन्द-स्वरसे मनुष्यकी वाणीमें बोला ॥ ३४ ॥

सर्प उवाच

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥ ३५ ॥

सर्पने कहा—ओ नादान अर्जुनक ! इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं तो पराधीन हूँ। मृत्युने मुझे विवश करके इस कार्यके लिये प्रेरित किया था ॥ ३५ ॥

तस्यायं वचनाद् दष्टो न कोपेन न काम्यया।
तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम् ॥ ३६ ॥

उसके कहनेसे ही मैंने इस बालकको डँसा है, क्रोधसे और कामनासे नहीं। व्याध ! यदि इसमें कुछ अपराध है तो वह मेरा नहीं, मृत्युका है ॥ ३६ ॥

लुब्धक उवाच

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम्।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात् त्वमपि किल्बिषी ॥ ३७ ॥

व्याधने कहा—ओ सर्प ! यद्यपि तूने दूसरेके अधीन होकर यह पाप किया है तथापि तू भी तो इसमें कारण है ही; इसलिये तू भी अपराधी है ॥ ३७ ॥

मृत्पात्रस्य क्रियायां हि दण्डचक्रादयो यथा।
कारणत्वे प्रकल्प्यन्ते तथा त्वमपि पन्नग ॥ ३८ ॥

सर्प ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनाते समय दण्ड और चाक आदिको भी उसमें कारण माना जाता है, उसी प्रकार तू भी इस बालकके वधमें कारण है ॥ ३८ ॥

किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजङ्गम ॥ ३९ ॥

भुजङ्गम ! जो भी अपराधी हो, वह मेरे लिये वध्य है; पन्नग ! तू भी अपराधी है ही; क्योंकि तू स्वयं अपने आपको इसके वधमें कारण बताता है ॥ ३९ ॥

सर्प उवाच

सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव ॥ ४० ॥

सर्पने कहा—व्याध ! जैसे मिट्टीका बर्तन बनानेमें ये दण्ड-चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्युके अधीन हूँ; इसलिये तुमने जो मुझपर दोष लगाया है, वह ठीक नहीं है ॥ ४० ॥

अथवा मतमेतत्ते तेऽप्यन्योन्यप्रयोजकाः।
कार्यकारणसंदेहो भवत्यन्योन्यचोदनात् ॥ ४१ ॥

अथवा यदि तुम्हारा यह मत हो कि ये दण्ड-चक्र आदि भी एक दूसरेके प्रयोजक होते हैं, इसलिये कारण हैं ही, किंतु ऐसा माननेसे एक दूसरेको प्रेरणा देनेवाला होनेके कारण कार्य-कारणभावके निर्णयमें संदेह हो जाता है ॥ ४१ ॥

एवं सति न दोषो मे नास्मि वध्यो न किल्बिषी।
किल्बिषं समवाये स्यान्मन्यसे यदि किल्बिषम् ॥ ४२ ॥

ऐसी दशामें न तो मेरा कोई दोष है और न मैं वध्य अथवा अपराधी ही हूँ। यदि तुम किसीका अपराध समझते हो तो वह सारे कारणोंके समूहपर ही लागू होता है ॥ ४२ ॥

लुब्धक उवाच

कारणं यदि न स्याद् वै न कर्ता स्यास्त्वमप्युत।
विनाशकारणं त्वं च तस्माद् वध्योऽसि मे मतः ॥ ४३ ॥

व्याधने कहा—सर्प ! यदि मान भी लें कि तू अपराधका न तो कारण है और न कर्ता ही है तो भी इस बालककी मृत्यु तो तेरे ही कारण हुई है, इसलिये मैं तुझे मारने योग्य समझता हूँ ॥ ४३ ॥

असत्यपि कृते कार्ये नेह पन्नग लिप्यते।
तस्मान्नात्रैव हेतुः स्याद् वध्यः किं बहु भाषसे ॥ ४४ ॥

सर्प ! तेरे मतके अनुसार यदि दुष्टतापूर्ण कार्य करके भी कर्ता उस दोषसे लिप्त नहीं होता है, तब तो चोर या हत्यारे

आदि जो अपने अपराधोंके कारण राजाओंके यहाँ वध्य होते हैं, उन्हें भी वास्तवमें अपराधी या दोषका भागी नहीं होना चाहिये। (फिर तो पाप और उसका दण्ड भी व्यर्थ ही होगा) अतः तू क्यों बहुत बकवाद कर रहा है ॥ ४४ ॥

सर्प उवाच

कार्याभावे क्रिया न स्यात् सत्यसत्यपि कारणे।
तस्मात् समेऽस्मिन् हेतौ मे वाच्यो हेतुर्विशेषतः॥ ४५ ॥
यद्यहं कारणत्वेन मतो लुब्धक तत्त्वतः।
अन्यः प्रयोगे स्यादत्र किल्बिषी जन्तुनाशने ॥ ४६ ॥

सर्पने कहा—व्याध ! प्रयोजक (प्रेरक) कर्ता रहे या न रहे, प्रयोज्य कर्ताके बिना क्रिया नहीं होती; इसलिये यहाँ यद्यपि हमलोग (मैं और मृत्यु) समानरूपसे हेतु हैं तो भी प्रयोजक होनेके कारण मृत्युपर ही विशेषरूपसे यह अपराध लगाया जा सकता है। यदि तुम मुझे इस बालककी मृत्युका वस्तुतः कारण मानते हो तो यह तुम्हारी भूल है। वास्तवमें विचार करनेपर प्रेरणा करनेके कारण दूसरा ही (मृत्यु ही) अपराधी सिद्ध होगा; क्योंकि वही प्राणियोंके विनाशमें अपराधी है ॥ ४५-४६ ॥

लुब्धक उवाच

वध्यस्त्वं मम दुर्बुद्धे बालघाती नृशंसकृत्।
भाषसे किं बहु पुनर्वध्यः सन् पन्नगाधम ॥ ४७ ॥

व्याधने कहा—खोटी बुद्धिवाले नीच सर्प ! तू बाल-हत्यारा और क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला है; अतः निश्चय ही मेरे हाथसे वधके योग्य है। तू वध्य होकर भी अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये क्यों बहुत बातें बना रहा है ! ॥४७॥

सर्प उवाच

यथा हवींषि जुह्वाना मखे वै लुब्धकर्त्विजः।
न फलं प्राप्नुवन्त्यत्र फलयोगे तथा ह्यहम् ॥ ४८ ॥

सर्पने कहा—व्याध ! जैसे यजमानके यहाँ यज्ञमें ऋत्विज लोग अग्निमें आहुति डालते हैं; किंतु उसका फल उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार इस अपराधके फल या दण्डको भोगनेमें मुझे नहीं सम्मिलित करना चाहिये (क्योंकि वास्तवमें मृत्यु ही अपराधी है) ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युचोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मृत्युकी प्रेरणासे बालक-को डँसनेवाला सर्प जब बारंबार अपनेको निर्दोष और मृत्युको दोषी बताने लगा, तब मृत्यु देवता भी वहाँ आ पहुँचा और सर्पसे इस प्रकार बोला ॥ ४९ ॥

मृत्युरुवाच

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः ॥ ५० ॥

मृत्युने कहा—सर्प ! कालसे प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालकको डँसनेके लिये प्रेरणा दी थी; अतः इस शिशुप्राणीके विनाशमें न तो तू कारण है और न मैं ही कारण हूँ ॥ ५० ॥

यथा वायुर्जलधरान् विकर्षति ततस्ततः।
तद्वज्जलदवत् सर्प कालस्याहं वशानुगः ॥ ५१ ॥

सर्प ! जैसे हवा बादलोंको इधर-उधर उड़ा ले जाती है, उन बादलोंकी ही भाँति मैं भी कालके वशमें हूँ ॥५१॥

सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन।
भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते ह जन्तुषु ॥ ५२ ॥

सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी भाव हैं, वे सब कालात्मक हैं और कालकी ही प्रेरणासे प्राणियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुवि।
सर्वे कालात्मकाः सर्प कालात्मकमिदं जगत् ॥ ५३ ॥

सर्प ! पृथ्वी अथवा स्वर्गलोकमें जितने भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, वे सभी कालके अधीन हैं। यह सारा जगत् ही कालस्वरूप है ॥ ५३ ॥

प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ॥ ५४ ॥

इस लोकमें जितने प्रकारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा उनकी विकृतियाँ (फल) हैं, ये सब कालके ही स्वरूप हैं ॥५४॥

आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः।
अग्निः खं पृथिवी मित्रः पर्जन्यो वसवोऽदितिः ॥ ५५ ॥
सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नग।
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ॥ ५६ ॥

पन्नग ! सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र तथा भाव और अभाव—ये सभी कालके द्वारा ही रचे जाते हैं और काल ही इनका संहार कर देता है ॥ ५५-५६ ॥

एवं ज्ञात्वा कथं मां त्वं सदोषं सर्प मन्यसे।
अथ चैवंगते दोषे मयि त्वमपि दोषवान् ॥ ५७ ॥

सर्प ! यह सब जानकर भी तुम मुझे कैसे दोषी मानते हो ? और यदि ऐसी स्थितिमें भी मुझपर दोषारोपण हो सकता है, तब तो तू भी दोषी ही है ॥ ५७ ॥

सर्प उवाच

निर्दोषं दोषवन्तं वा न त्वां मृत्यो ब्रवीम्यहम्।
त्वयाहं चोदित इति ब्रवीम्येतावदेव तु ॥ ५८ ॥

सर्पने कहा—मृत्यो ! मैं तुम्हें न तो निर्दोष बताता हूँ और न दोषी ही। मैं तो इतना ही कह रहा हूँ कि इस बालकको डँसनेके लिये तूने ही मुझे प्रेरित किया था ॥५८॥

यदि काले तु दोषोऽस्ति यदि तत्रापि नेष्यते।
दोषो नैव परीक्ष्यो मे न ह्यत्राधिकृता वयम्॥ ५९॥

इस विषयमें यदि कालका दोष है अथवा यदि वह भी निर्दोष है तो हो, मुझे किसीके दोषकी जाँच नहीं करनी है और जाँच करनेका मुझे कोई अधिकार भी नहीं है॥ ५९॥

निर्मोक्षस्त्वस्य दोषस्य मया कार्यो यथा तथा।
मृत्योरपि न दोषः स्यादिति मेऽत्र प्रयोजनम्॥ ६०॥

परंतु मेरे ऊपर जो दोष लगाया गया है, उसका निवारण तो मुझे जैसे-तैसे करना ही है। मेरे कहनेका यह प्रयोजन नहीं है कि मृत्युका भी दोष सिद्ध हो जाय॥ ६०॥

भीष्म उवाच

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम्।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि॥ ६१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सर्पने अर्जुनकसे कहा—'तुमने मृत्युकी बात तो सुन ली न? अब मुझ निरपराधको बन्धनमें बाँधकर कष्ट देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है॥ ६१॥

लुब्धक उवाच

मृत्योः श्रुतं मे वचनं तव चैव भुजङ्गम।
नैव तावददोषत्वं भवति त्वयि पन्नग॥ ६२॥

व्याधने कहा—पन्नग! मैंने मृत्युकी और तेरी—दोनोंकी बातें सुन लीं; किंतु भुजङ्गम! इससे तेरी निर्दोषता नहीं सिद्ध हो रही है॥ ६२॥

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम्॥ ६३॥

इस बालकके विनाशमें तू और मृत्यु—दोनों ही कारण हो; अतः मैं दोनोंको ही कारण या अपराधी मानता हूँ, किसी एकको अपराधी या निरपराध नहीं मानता॥ ६३॥

धिङ्मृत्युं च दुरात्मानं क्रूरं दुःखकरं सताम्।
त्वां चैवाहं वधिष्यामि पापं पापस्य कारणम्॥ ६४॥

श्रेष्ठ पुरुषोंको दुःख देनेवाले इस क्रूर एवं दुरात्मा मृत्युको धिक्कार है और तू तो इस पापका कारण है ही; इसलिये तुझ पापात्माका वध मैं अवश्य करूँगा॥ ६४॥

मृत्युरुवाच

विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक् प्रपश्यसि॥ ६५॥

मृत्युने कहा—व्याध! हम दोनों कालके अधीन होनेके कारण विवश हैं। हम तो केवल उसके आदेशका पालनमात्र करते हैं। यदि तुम अच्छी तरह विचार करोगे तो हमलोगोंपर दोषारोपण नहीं करोगे॥ ६५॥

लुब्धक उवाच

युवामुभौ कालवशौ यदि मे मृत्युपन्नगौ।
हर्षक्रोधौ यथा स्यातामेतदिच्छामि वेदितुम्॥ ६६॥

व्याधने कहा—मृत्यु और सर्प! यदि तुम दोनों कालके अधीन हो तो मुझ तटस्थ व्यक्तिको परोपकारीके प्रति हर्ष और दूसरोंका अपकार करनेवाले तुम दोनोंपर क्रोध क्यों होता है, यह मैं जानना चाहता हूँ॥ ६६॥

मृत्युरुवाच

या काचिदेव चेष्टा स्यात् सर्वा कालप्रचोदिता।
पूर्वमेवैतदुक्तं हि मया लुब्धक कालतः॥ ६७॥

मृत्युने कहा—व्याध! जगत्‌में जो कोई भी चेष्टा हो रही है, वह सब कालकी प्रेरणासे ही होती है। यह बात मैंने तुमसे पहले ही बता दी है॥ ६७॥

तस्मादुभौ कालवशावावां निर्दिष्टकारिणौ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ त्वया लुब्धक कर्हिचित्॥ ६८॥

अतः व्याध! हम दोनोंको कालके अधीन और कालके ही आदेशका पालक समझकर तुम्हें कभी हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये॥ ६८॥

भीष्म उवाच

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन् धर्मार्थसंशये।
अब्रवीत् पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा॥ ६९॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धार्मिक विषयमें संदेह उपस्थित होनेपर काल भी वहाँ आ पहुँचा तथा सर्प, मृत्यु एवं अर्जुनक व्याधसे इस प्रकार बोला॥ ६९॥

काल उवाच

न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः॥ ७०॥

कालने कहा—व्याध! न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही इस जीवकी मृत्युमें अपराधी हैं। हमलोग किसीकी मृत्युमें प्रेरक या प्रयोजक भी नहीं हैं॥ ७०॥

अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा॥ ७१॥

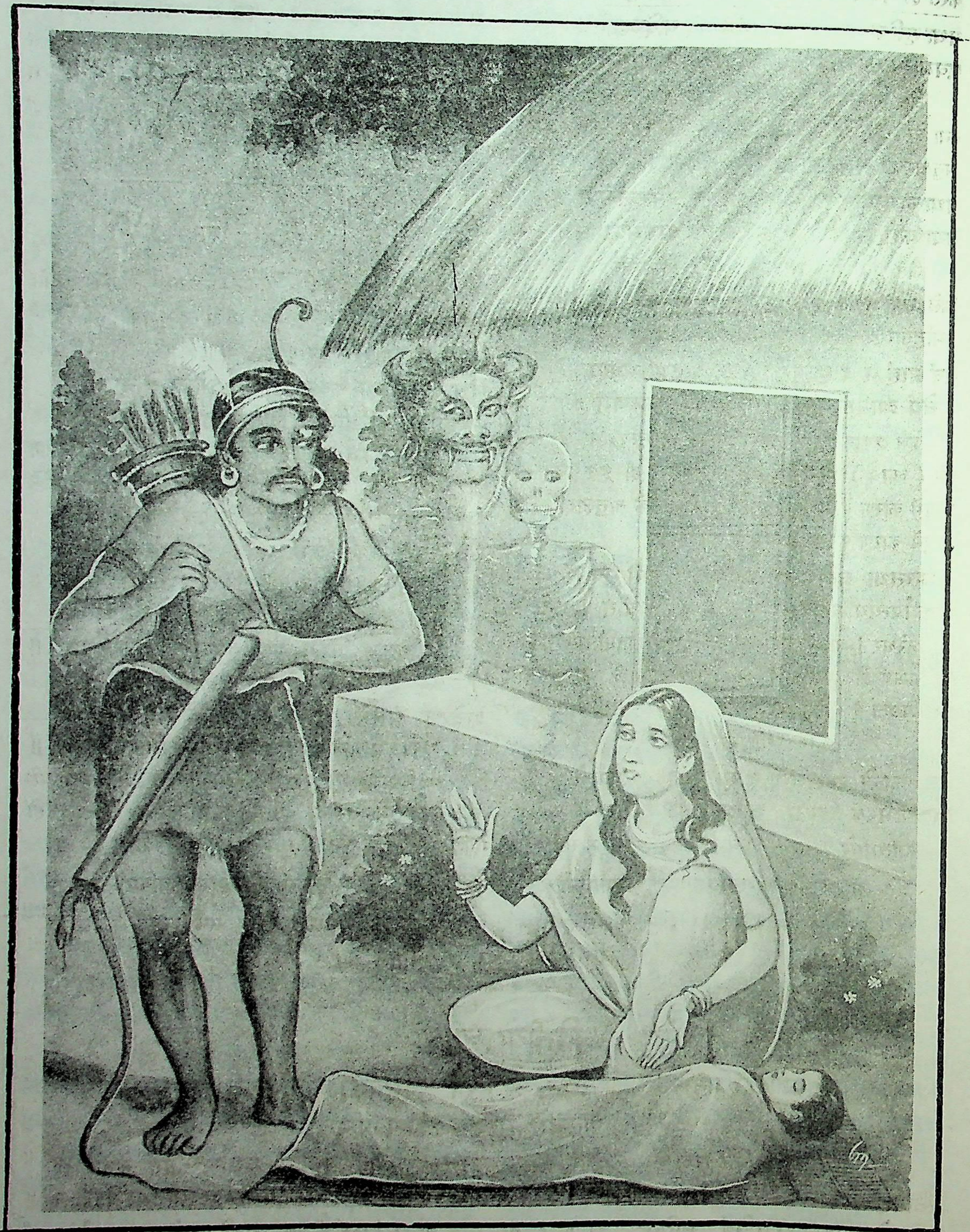
अर्जुनक! इस बालकने जो कर्म किया है, वही इसकी मृत्युमें प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाशका कारण नहीं है। यह जीव अपने कर्मसे ही मरता है॥ ७१॥

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम्॥ ७२॥

इस बालकने जो कर्म किया है, उसीसे यह मृत्युको प्राप्त हुआ है। इसका कर्म ही इसके विनाशका कारण है। हम सब लोग कर्मके ही अधीन हैं॥ ७२॥

कर्मदायादवाँल्लोकः कर्मसम्बन्धलक्षणः।
कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम्॥ ७३॥

संसारमें कर्म ही मनुष्योंका पुत्र-पौत्रके समान अनुगमन करनेवाला है। कर्म ही दुःख-सुखके सम्बन्धका सूचक है।



वृद्धा गौतमीकी आदर्श क्षमा!

इस जगत्‌में कर्म ही जैसे परस्पर एक-दूसरेको प्रेरित करते हैं, वैसे ही हम भी कर्मोंसे ही प्रेरित हुए हैं ॥ ७३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

जैसे कुम्हार मिट्टीके लोंदेसे जो-जो बर्तन चाहता है, वही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही सब कुछ पाता है ॥ ७४ ॥

यथा च्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥ ७५ ॥

जैसे धूप और छाया दोनों नित्य-निरन्तर एक-दूसरेसे मिले रहते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ता दोनों अपने कर्मानुसार एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं ॥ ७५ ॥

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान्।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार विचार करनेसे न मैं, न मृत्यु, न सर्प, न तुम (व्याध) और न यह बूढ़ी ब्राह्मणी ही इस बालककी मृत्युमें कारण है। यह शिशु स्वयं ही कर्मके अनुसार अपनी मृत्युमें कारण हुआ है ॥ ७६ ॥

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

नरेश्वर ! कालके इस प्रकार कहनेपर गौतमी ब्राह्मणीको यह निश्चय हो गया कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है। फिर वह अर्जुनकसे बोली ॥ ७७ ॥

गौतम्युवाच

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥ ७८ ॥

गौतमीने कहा—व्याध ! न यह काल, न सर्प और न मृत्यु ही यहाँ कारण है। यह बालक अपने कर्मोंसे ही प्रेरित हो कालके द्वारा विनाशको प्राप्त हुआ है ॥ ७८ ॥

मया च तत् कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥ ७९ ॥

अर्जुनक ! मैंने भी वैसा कर्म किया था, जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अतः काल और मृत्यु अपने-अपने स्थानको पधारें और तू इस सर्पको छोड़ दे ॥ ७९ ॥

भीष्म उवाच

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः।
अभूद् विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥ ८० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक तथा गौतमी ब्राह्मणीका भी शोक दूर हो गया ॥ ८० ॥

एतच्छ्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् सर्वे गच्छन्ति वै नृप ॥ ८१ ॥

नरेश्वर ! इस उपाख्यानको सुनकर तुम शान्ति धारण करो, शोकमें न पड़ो। सब मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले लोकोंमें ही जाते हैं ॥ ८१ ॥

नैव त्वया कृतं कर्म नापि दुर्योधनेन वै।
कालेनैतत् कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥ ८२ ॥

तुमने या दुर्योधनने कुछ नहीं किया है। कालकी ही यह सारी करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥ ८३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनकर महातेजस्वी धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरकी चिन्ता दूर हो गयी तथा उन्होंने पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गौतमीलुब्धकव्यालमृत्युकालसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गौतमी ब्राह्मणी, व्याध, सर्प, मृत्यु और कालका संवादविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रजापति मनुके वंशका वर्णन, अग्निपुत्र सुदर्शनका अतिथिसत्काररूपी धर्मके पालनसे मृत्युपर विजय पाना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
श्रुतं मे महदाख्यानमिदं मतिमतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सर्वशास्त्र-विशारद महाप्राज्ञ पितामह ! इस महत्त्वपूर्ण उपाख्यानको मैंने बड़े ध्यानसे सुना है ॥ १ ॥

भूयस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मार्थसहितं नृप।
कथ्यमानं त्वया किञ्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नरेश्वर ! अब मैं पुनः आपके मुखसे कुछ और धर्म और अर्थयुक्त उपदेश सुनना चाहता हूँ, अतः आप मुझे इस विषयको विस्तारपूर्वक बताइये ॥ २ ॥

केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः।

इत्येतत् सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेनापि च पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! किस गृहस्थने केवल धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी है ? यह सब बातें आप यथार्थरूपसे कहिये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! एक गृहस्थने जिस प्रकार धर्मका आश्रय लेकर मृत्युपर विजय पायी थी, उसके विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

मनोः प्रजापते राजन्निक्ष्वाकुरभवत् सुतः ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे नृपतेः सूर्यवर्चसः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! प्रजापति मनुके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था इक्ष्वाकु । राजा इक्ष्वाकु सूर्यके समान तेजस्वी थे । उन्होंने सौ पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ५ ॥

दशमस्तस्य पुत्रस्तु दशाश्वो नाम भारत ।
माहिष्मत्यामभूद् राजा धर्मात्मा सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

भारत ! उनमेंसे दसवें पुत्रका नाम दशाश्व था, जो माहिष्मतीपुरीमें राज्य करता था । वह बड़ा ही धर्मात्मा और सत्यपराक्रमी था ॥ ६ ॥

दशाश्वस्य सुतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सत्ये तपसि दाने च यस्य नित्यं रतं मनः ॥ ७ ॥

दशाश्वका पुत्र भी बड़ा धर्मात्मा राजा था । उसका मन सदा सत्य, तपस्या और दानमें ही लगा रहता था ॥ ७ ॥

मदिराश्व इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
धनुर्वेदे च वेदे च निरतो योऽभवत् सदा ॥ ८ ॥

वह राजा इस भूतलपर मदिराश्वके नामसे विख्यात था और सदा वेद एवं धनुर्वेदके अभ्यासमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

मदिराश्वस्य पुत्रस्तु द्युतिमान् नाम पार्थिवः ।
महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ ९ ॥

मदिराश्वका पुत्र महाभाग, महातेजस्वी, महान् धैर्यशाली और महाबली द्युतिमान् नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥

पुत्रो द्युतिमतस्त्वासीद् राजा परमधार्मिकः ।
सर्वलोकेषु विख्यातः सुवीरो नाम नामतः ॥ १० ॥
धर्मात्मा कोषवांश्चापि देवराज इवापरः ।

द्युतिमान्‌का पुत्र परम धर्मात्मा राजा सुवीर हुआ, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात था । वह धर्मात्मा, कोश (धन-भण्डार) से सम्पन्न तथा दूसरे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी था ॥ १०½ ॥

सुवीरस्य तु पुत्रोऽभूत् सर्वसंग्रामदुर्जयः ॥ ११ ॥
स दुर्जय इति ख्यातः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

सुवीरका पुत्र दुर्जय नामसे विख्यात हुआ । वह सभी संग्रामोंमें शत्रुओंके लिये दुर्जय तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ॥ ११½ ॥

दुर्जयस्येन्द्रवपुषः पुत्रोऽश्विसदृशद्युतिः ॥ १२ ॥
दुर्योधनो नाम महान् राजा राजर्षिसत्तमः ।

इन्द्रके समान शरीरवाले राजा दुर्जयके एक पुत्र हुआ, जो अश्विनीकुमारोंके समान कान्तिमान् था । उसका नाम था दुर्योधन । वह राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महान् राजा था ॥१२½॥

तस्येन्द्रसमवीर्यस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ॥ १३ ॥
विषये वासवस्तस्य सम्यगेव प्रवर्षति ।

इन्द्रके समान पराक्रमी और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले राजा दुर्योधनके राज्यमें इन्द्र सदा ठीक समयपर और उचित मात्रामें ही वर्षा करते थे ॥ १३½ ॥

रत्नैर्धनैश्च पशुभिः सस्यैश्चापि पृथग्विधैः ॥ १४ ॥
नगरं विषयश्चास्य प्रतिपूर्णस्तदाभवत् ।

उनका नगर और राज्य रत्न, धन, पशु तथा भाँति-भाँतिके धान्योंसे उन दिनों भरा-पूरा रहता था ॥ १४½ ॥

न तस्य विषये चाभूत् कृपणो नापि दुर्गतः ॥ १५ ॥
व्याधितो वा कृशो वापि तस्मिन् नाभून्नरः क्वचित् ।

उनके राज्यमें कहीं कोई भी कृपण, दुर्गतिग्रस्त, रोगी अथवा दुर्बल मनुष्य नहीं दृष्टिगोचर होता था ॥ १५½ ॥

सुदक्षिणो मधुरवागनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
धर्मात्मा चानृशंसश्च विक्रान्तोऽथाविकत्थनः ॥ १६ ॥

वह राजा अत्यन्त उदार, मधुरभाषी, किसीके दोष न देखनेवाला, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, दयालु और पराक्रमी था । वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता था ॥ १६ ॥

यज्वा च दान्तो मेधावी ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
न चावमन्ता दाता च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १७ ॥

राजा दुर्योधन वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान्, यज्ञकर्ता, जितेन्द्रिय, मेधावी, ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ था । वह सबको दान देता और किसीका भी अपमान नहीं करता था ॥ १७ ॥

तं नर्मदा देवनदी पुण्या शीतजला शिवा ।
चकमे पुरुषव्याघ्रं स्वेन भावेन भारत ॥ १८ ॥

भारत ! एक समय शीतल जलवाली पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी नर्मदा उस पुरुषसिंहको सम्पूर्ण हृदयसे चाहने लगी और उसकी पत्नी बन गयी ॥ १८ ॥

तस्यां जज्ञे तदा नद्यां कन्या राजीवलोचना ।
नाम्ना सुदर्शना राजन् रूपेण च सुदर्शना ॥ १९ ॥

राजन् ! उस नदीके गर्भसे राजाके द्वारा एक कमललोचना कन्या उत्पन्न हुई, जो नामसे तो सुदर्शना थी ही, रूपसे भी सुदर्शना (सुन्दर एवं दर्शनीय) थी ॥ १९ ॥

तादृग्रूपा न नारीषु भूतपूर्वा युधिष्ठिर ।
दुर्योधनसुता यादृगभवद् वरवर्णिनी ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनकी वह सुन्दर वर्णवाली पुत्री जैसी रूपवती थी, वैसी रूप-सौन्दर्यशालिनी स्त्री नारियोंमें पहले कभी नहीं हुई थी ॥ २० ॥

तामग्निश्चकमे साक्षाद् राजकन्यां सुदर्शनाम्।
भूत्वा च ब्राह्मणो राजन् वरयामास तं नृपम् ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकन्या सुदर्शनापर साक्षात् अग्निदेव आसक्त हो गये और उन्होंने ब्राह्मणका रूप धारण करके राजासे उस कन्याको माँगा ॥ २१ ॥

दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम् ॥ २२ ॥

राजा यह सोचकर कि एक तो यह दरिद्र है और दूसरे मेरे समान वर्णका नहीं है, अपनी पुत्री सुदर्शनाको उस ब्राह्मणके हाथमें नहीं देना चाहते थे ॥ २२ ॥

ततोऽस्य वितते यज्ञे नष्टोऽभूद्धव्यवाहनः।
ततः सुदुःखितो राजा वाक्यमाह द्विजांस्तदा ॥ २३ ॥

तब अग्निदेव रुष्ट होकर राजाके आरम्भ हुए यज्ञमेंसे अदृश्य हो गये। इससे राजाको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—॥ २३ ॥

दुष्कृतं मम किं नु स्याद् भवतां वा द्विजर्षभाः।
येन नाशं जगामाग्निः कृतं कुपुरुषेष्विव ॥ २४ ॥

'विप्रवरो ! मुझसे या आपलोगोंसे कौन-सा ऐसा दुष्कर्म बन गया है, जिससे अग्निदेव दुष्ट मनुष्योंके प्रति किये गये उपकारके समान नष्ट हो गये हैं ॥ २४ ॥

न ह्यल्पं दुष्कृतं नोऽस्ति येनाग्निर्नाशमागतः।
भवतां चाथवा मह्यं तत्त्वेनैतद् विमृश्यताम् ॥ २५ ॥

'हमलोगोंका थोड़ा-सा अपराध नहीं है, जिससे अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं। वह अपराध आपलोगोंका है या मेरा ? इसका ठीक-ठीक विचार करें !' ॥ २५ ॥

तत्र राज्ञो वचः श्रुत्वा विप्रास्ते भरतर्षभ।
नियता वाग्यताश्चैव पावकं शरणं ययुः ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजाकी यह बात सुनकर उन ब्राह्मणोंने शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनपूर्वक मौन हो भगवान् अग्निदेवकी शरण ली ॥ २६ ॥

तान् दर्शयामास तदा भगवान् हव्यवाहनः।
स्वं रूपं दीप्तिमत् कृत्वा शरदर्कसमद्युतिः ॥ २७ ॥

तब भगवान् हव्यवाहनने रातमें अपना तेजस्वी रूप प्रकट करके शरत्कालके सूर्यके सदृश द्युतिमान् हो उन ब्राह्मणोंको दर्शन दिया ॥ २७ ॥

ततो महात्मा तानाह दहनो ब्राह्मणर्षभान्।
वरयाम्यात्मनोऽर्थाय दुर्योधनसुतामिति ॥ २८ ॥

उस समय महात्मा अग्निने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे कहा— 'मैं दुर्योधनकी पुत्रीका अपने लिये वरण करता हूँ' ॥ २८ ॥

ततस्ते कल्यमुत्थाय तस्मै राज्ञे न्यवेदयन्।
ब्राह्मणा विस्मिताः सर्वे यदुक्तं चित्रभानुना ॥ २९ ॥

यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए सब ब्राह्मणोंने सवेरे उठकर, अग्निदेवने जो कहा था वह सब कुछ राजासे निवेदन किया ॥ २९ ॥

ततः स राजा तच्छ्रुत्वा वचनं ब्रह्मवादिनाम्।
अवाप्य परमं हर्षं तथेति प्राह बुद्धिमान् ॥ ३० ॥

ब्रह्मवादी ऋषियोंका यह वचन सुनकर राजाको बड़ा हर्ष हुआ और उन बुद्धिमान् नरेशने 'तथास्तु' कहकर अग्निदेवका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ॥ ३० ॥

अयाचत च तं शुल्कं भगवन्तं विभावसुम्।
नित्यं सांनिध्यमिह ते चित्रभानो भवेदिति ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्होंने कन्याके शुल्करूपसे भगवान् अग्निसे याचना की—'चित्रभानो ! इस नगरीमें आपका सदा निवास बना रहे' ॥ ३१ ॥

तमाह भगवानग्निरेवमस्त्विति पार्थिवम्।
ततः सांनिध्यमद्यापि माहिष्मत्यां विभावसोः ॥ ३२ ॥

यह सुनकर भगवान् अग्निने राजासे कहा, 'एवमस्तु (ऐसा ही होगा)'। तभीसे आजतक माहिष्मती नगरीमें अग्निदेवका निवास बना हुआ है ॥ ३२ ॥

दृष्टं हि सहदेवेन दिशं विजयता तदा।
ततस्तां समलंकृत्य कन्यामाहतवाससम् ॥ ३३ ॥
ददौ दुर्योधनो राजा पावकाय महात्मने।

सहदेवने दक्षिण दिशाकी विजय करते समय वहाँ अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखा था। अग्निदेवके वहाँ रहना स्वीकार कर लेनेपर राजा दुर्योधनने अपनी कन्याको सुन्दर वस्त्र पहनाकर नाना प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत करके महात्मा अग्निके हाथमें दे दिया ॥ ३३½ ॥

प्रतिजग्राह चाग्निस्तु राजकन्यां सुदर्शनाम् ॥ ३४ ॥
विधिना वेददृष्टेन वसोर्धारामिवाध्वरे।

अग्निने वेदोक्त विधिसे राजकन्या सुदर्शनाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे वे यज्ञमें वसुधारा ग्रहण करते हैं ॥

तस्या रूपेण शीलेन कुलेन वपुषा श्रिया ॥ ३५ ॥
अभवत् प्रीतिमानग्निर्गर्भं चास्या मनो दधे।

सुदर्शनाके रूप, शील, कुल, शरीरकी आकृति और कान्तिको देखकर अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसमें गर्भाधान करनेका विचार किया ॥ ३५½ ॥

तस्याः समभवत् पुत्रो नाम्नाऽऽग्नेयः सुदर्शनः ॥ ३६ ॥
सुदर्शनस्तु रूपेण पूर्णेन्दुसदृशोपमः।
शिशुरेवाध्यगात् सर्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥

कुछ कालके पश्चात् उसके गर्भसे अग्निके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुदर्शन रखा गया। वह रूपमें पूर्ण चन्द्रमाके

समान मनोहर था और उसे बचपनमें ही सर्वस्वरूप सनातन परब्रह्मका ज्ञान हो गया था ॥ ३६-३७ ॥

अथौघवान् नाम नृपो नृगस्यासीत् पितामहः।
तस्यौघवती कन्या पुत्रश्चौघरथोऽभवत् ॥ ३८ ॥

उन दिनों राजा नृगके पितामह ओघवान् इस पृथ्वीपर राज्य करते थे। उनके ओघवती नामवाली एक कन्या और ओघरथ नामवाला एक पुत्र था ॥ ३८ ॥

तामोघवान् ददौ तस्मै स्वयमोघवतीं सुताम्।
सुदर्शनाय विदुषे भार्यार्थे देवरूपिणीम् ॥ ३९ ॥

ओघवती देवकन्याके समान सुन्दरी थी। ओघवान्ने अपनी उस पुत्रीको विद्वान् सुदर्शनको पत्नी बनानेके लिये दे दिया ॥ ३९ ॥

स गृहस्थाश्रमरतस्तया सह सुदर्शनः।
कुरुक्षेत्रेऽवसद् राजन्नोघवत्या समन्वितः ॥ ४० ॥

राजन्! सुदर्शन उसके साथ गृहस्थ-धर्मका पालन करने लगे। उन्होंने ओघवतीके साथ कुरुक्षेत्रमें निवास किया ॥४०॥

गृहस्थश्चावजेष्यामि मृत्युमित्येव स प्रभो।
प्रतिज्ञामकरोद् धीमान् दीप्ततेजा विशाम्पते ॥ ४१ ॥

प्रजानाथ! प्रभो! उद्दीप्त तेजवाले उस बुद्धिमान् सुदर्शनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए ही मृत्युको जीत लूँगा ॥ ४१ ॥

तामथौघवतीं राजन् स पावकसुतोऽब्रवीत्।
अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४२ ॥

राजन्! अग्निकुमार सुदर्शनने ओघवतीसे कहा—'देवि! तुम्हें अतिथिके प्रतिकूल किसी तरह कोई कार्य नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४३ ॥

'जिस-जिस वस्तुसे अतिथि संतुष्ट हो, वह वस्तु तुम्हें सदा ही उसे देनी चाहिये। यदि अतिथिके संतोषके लिये तुम्हें अपना शरीर भी देना पड़े तो मनमें कभी अन्यथा विचार न करना ॥ ४३ ॥

एतद् व्रतं मम सदा हृदि सम्परिवर्तते।
गृहस्थानां च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥ ४४ ॥

'सुन्दरी! अतिथि-सेवाका यह व्रत मेरे हृदयमें सदा स्थित रहता है। गृहस्थोंके लिये अतिथि-सेवासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ ४४ ॥

प्रमाणं यदि वामोरु वचस्ते मम शोभने।
इदं वचनमव्यग्रा हृदि त्वं धारयेः सदा ॥ ४५ ॥

'वामोरु शोभने! यदि तुम्हें मेरा वचन मान्य हो तो मेरी इस बातको शान्त भावसे सदा अपने हृदयमें धारण किये रहना ॥ ४५ ॥

निष्क्रान्ते मयि कल्याणि तथा संनिहितेऽनघे।
नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव ॥ ४६ ॥

'कल्याणि! निष्पाप! यदि तुम मुझे आदर्श मानती हो तो मैं घरमें रहूँ या घरसे कहीं दूर निकल जाऊँ, तुम्हें किसी भी दशामें अतिथिका अनादर नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तमब्रवीदोघवती तथा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः।
न मे त्वद्वचनात् किंचिन्न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४७ ॥

यह सुनकर ओघवतीने दोनों हाथ जोड़ मस्तकमें लगाकर कहा—'कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो मैं आपकी आज्ञासे किसी कारणवश न कर सकूँ' ॥ ४७ ॥

जिगीषमाणस्तु गृहे तदा मृत्युः सुदर्शनम्।
पृष्ठतोऽन्वगमद् राजन् रन्ध्रान्वेषी तदा सदा ॥ ४८ ॥

राजन्! उन दिनों गृहस्थ-धर्ममें स्थित हुए सुदर्शनको जीतनेकी इच्छासे मृत्यु उनका छिद्र खोजती हुई सदा उनके पीछे लगी रहती थी ॥ ४८ ॥

इध्मार्थं तु गते तस्मिन्नग्निपुत्रे सुदर्शने।
अतिथिर्ब्राह्मणः श्रीमांस्तामाहौघवतीं तदा ॥ ४९ ॥

एक दिन अग्निपुत्र सुदर्शन जब समिधा लानेके लिये बाहर चले गये, उसी समय उनके घरपर एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि आया और ओघवतीसे बोला—॥ ४९ ॥

आतिथ्यं कृतमिच्छामि त्वयाद्य वरवर्णिनि।
प्रमाणं यदि धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः ॥ ५० ॥

'वरवर्णिनि! यदि तुम गृहस्थसम्मत धर्मको मान्य समझती हो तो आज मैं तुम्हारे द्वारा किया गया आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ५० ॥

इत्युक्ता तेन विप्रेण राजपुत्री यशस्विनी।
विधिना प्रतिजग्राह वेदोक्तेन विशाम्पते ॥ ५१ ॥

प्रजानाथ! उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर यशस्विनी राजकुमारी ओघवतीने वेदोक्त विधिसे उसका पूजन किया ॥५१॥

आसनं चैव पाद्यं च तस्मै दत्त्वा द्विजातये।
प्रोवाचौघवती विप्रं केनार्थः किं ददामि ते ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन और पैर धोनेके लिये जल देकर ओघवतीने उससे पूछा—'विप्रवर! आपको किस वस्तुकी आवश्यकता है? मैं आपकी सेवामें क्या भेंट करूँ?' ॥ ५२ ॥

तामब्रवीत् ततो विप्रो राजपुत्रीं सुदर्शनाम्।
त्वया ममार्थः कल्याणि निर्विशङ्कैतदाचर ॥ ५३ ॥

तब ब्राह्मणने दर्शनीय सौन्दर्यसे सुशोभित राजकुमारी ओघवतीसे कहा—'कल्याणि! मुझे तुमसे ही काम है। तुम निःशङ्क होकर मेरा यह प्रिय कार्य करो ॥ ५३ ॥

यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसम्मतः।
प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ ५४ ॥

'रानी! यदि तुम्हें गृहस्थसम्मत धर्म मान्य है तो मुझे अपना शरीर देकर मेरा प्रिय कार्य करना चाहिये' ॥ ५४ ॥

स तया छन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया।
नान्यमात्मप्रदानात् स तस्या वव्रे वरं द्विजः॥ ५५॥

राजकन्याने दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये उस अतिथिसे बारंबार अनुरोध किया, किंतु उस ब्राह्मणने उसके शरीर-दानके सिवा और कोई अभिलषित पदार्थ उससे नहीं माँगा ॥ ५५ ॥

सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम्॥ ५६॥

तब राजकुमारीने पहले कहे हुए पतिके वचनको याद करके लजाते-लजाते उस द्विजश्रेष्ठसे कहा, 'अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है' ॥ ५६ ॥

ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवाथ विवेश ह।
संस्मृत्य भर्तुर्वचनं गृहस्थाश्रमकाङ्क्षिणः॥ ५७॥

गृहस्थाश्रमके धर्मके पालनकी इच्छा रखनेवाले पतिकी कही हुई बातको स्मरण करके जब उसने ब्राह्मणके समक्ष 'हाँ' कर दिया, तब उस विप्र ऋषिने मुसकराकर ओघवतीके साथ घरके भीतर प्रवेश किया ॥ ५७ ॥

अथेध्मानमुपादाय स पावकिरुपागमत्।
मृत्युना रौद्रभावेन नित्यं बन्धुरिवान्वितः॥ ५८॥

इतनेहीमें अग्निकुमार सुदर्शन समिधा लेकर लौट आये। मृत्यु क्रूर भावनासे सदा उनके पीछे लगी रहती थी, मानो कोई स्नेही बन्धु अपने प्रिय बन्धुके पीछे-पीछे चल रहा हो ॥ ५८ ॥

ततस्त्वाश्रममागम्य स पावकसुतस्तदा।
तां व्याजहारौघवतीं क्वासि यातेति चासकृत्॥ ५९॥

आश्रमपर पहुँचकर फिर अग्निपुत्र सुदर्शन अपनी पत्नी ओघवतीको बारंबार पुकारने लगे—'देवि! तुम कहाँ चली गयी?' ॥ ५९ ॥

तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा।
कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती॥ ६०॥
उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च।
तूष्णींभूताभवत् साध्वी न चोवाचाथ किंचन॥ ६१॥

परंतु ओघवतीने उस समय अपने पतिको कोई उत्तर नहीं दिया। अतिथिरूपमें आये हुए ब्राह्मणने अपने दोनों हाथोंसे उसे छू दिया था। इससे वह सती-साध्वी पतिव्रता अपनेको दूषित मानकर अपने स्वामीसे भी लज्जित हो गयी थी; इसीलिये वह साध्वी चुप हो गयी। कुछ भी बोल न सकी ॥ ६०-६१ ॥

अथ तां पुनरेवेदं प्रोवाच स सुदर्शनः।
क्व सा साध्वी क्व सा याता गरीयः किमतो मम॥ ६२॥
पतिव्रता सत्यशीला नित्यं चैवार्जवे रता।
कथं न प्रत्युदेत्यद्य स्मयमाना यथा पुरा॥ ६३॥

अब सुदर्शन फिर पुकार-पुकारकर इस प्रकार कहने लगे—'मेरी वह साध्वी पत्नी कहाँ है? वह सुशीला कहाँ चली गयी? मेरी सेवासे बढ़कर कौन गुरुतर कार्य उसपर आ पड़ा। वह पतिव्रता, सत्य बोलनेवाली और सदा सरलभावसे रहनेवाली है। आज पहलेकी ही भाँति मुसकराती हुई वह मेरी अगवानी क्यों नहीं कर रही है?' ॥ ६२-६३ ॥

उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम्।
अतिथिं विद्धि सम्प्राप्तं ब्राह्मणं पावके च माम्॥ ६४॥

यह सुनकर आश्रमके भीतर बैठे हुए ब्राह्मणने सुदर्शनको उत्तर दिया—'अग्निकुमार! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं ब्राह्मण हूँ और तुम्हारे घरपर अतिथिके रूपमें आया हूँ ॥ ६४ ॥

अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम।
तैस्तैरतिथिसत्कारैर्ब्रह्मन्नेषा वृता मया॥ ६५॥

'साधुशिरोमणे! तुम्हारी इस पत्नीने अतिथि-सत्कारके द्वारा मेरी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया है। ब्रह्मन्! तब मैंने इसे ही वरण कर लिया है ॥ ६५ ॥

अनेन विधिना सेयं मामर्चयति शुभानना।
अनुरूपं यदत्रान्यत् तद् भवान् कर्तुमर्हति॥ ६६॥

'इसी विधिके अनुसार यह सुमुखी इस समय मेरी सेवामें उपस्थित हुई है। अब यहाँ तुम्हें दूसरा जो कुछ उचित प्रतीत हो, वह कर सकते हो' ॥ ६६ ॥

कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं वै समन्वगात्।
हीनप्रतिज्ञमत्रैनं वधिष्यामीति चिन्तयन्॥ ६७॥

इसी समय मृत्यु हाथमें लोहदण्ड लिये सुदर्शनके पीछे आकर खड़ी हो गयी। वह सोचती थी कि अब तो यह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ बैठेगा। इसलिये इसे यहीं मार डालूँगी ॥ ६७ ॥

सुदर्शनस्तु मनसा कर्मणा चक्षुषा गिरा।
त्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम्॥ ६८॥

परंतु सुदर्शन मन, वाणी, नेत्र और क्रियासे भी ईर्ष्या तथा क्रोधका त्याग कर चुके थे। वे हँसते-हँसते यों बोले— ॥

सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः सम्प्राप्तातिथिपूजनम्॥ ६९॥

'विप्रवर! आपकी सुरत कामना पूर्ण हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; क्योंकि घरपर आये हुए अतिथिका पूजन करना गृहस्थके लिये सबसे बड़ा धर्म है ॥ ६९ ॥

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः॥ ७०॥

'जिस गृहस्थके घरपर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ ७० ॥

प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद् विद्यते वसु।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम्॥ ७१॥

'मेरे प्राण, मेरी पत्नी तथा मेरे पास और जो कुछ धन-दौलत है, वह सब मेरी ओरसे अतिथियोंके लिये निछावर है, ऐसा मैंने व्रत ले रखा है ॥ ७१ ॥

निःसंदिग्धं यथा वाक्यमेतन्मे समुदाहृतम् ।
तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे ॥ ७२ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने जो यह बात कही है, इसमें संदेह नहीं है । इस सत्यको सिद्ध करनेके लिये मैं स्वयं ही अपने शरीर-को छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ७२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा मनः कालो दिशश्चैव गुणा दश ॥ ७३ ॥
नित्यमेव हि पश्यन्ति देहिनां देहसंश्रिताः ।
सुकृतं दुष्कृतं चापि कर्म धर्मभृतां वर ॥ ७४ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, नेत्र, बुद्धि, आत्मा, मन, काल और दिशाएँ—ये दस गुण (वस्तुएँ) सदा ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके पुण्य और पापकर्मको देखा करते हैं ॥ ७३-७४ ॥

यथैषा नानृता वाणी मयाद्य समुदीरिता ।
तेन सत्येन मां देवाः पालयन्तु दहन्तु वा ॥ ७५ ॥

'आज मेरी कही हुई यह वाणी यदि मिथ्या नहीं है तो इस सत्यके प्रभावसे देवता मेरी रक्षा करें अथवा मिथ्या होनेपर मुझे जलाकर भस्म कर डालें' ॥ ७५ ॥

ततो नादः समभवद् दिक्षु सर्वासु भारत ।
असकृत् सत्यमित्येवं नैतन्मिथ्येति सर्वतः ॥ ७६ ॥

भरतनन्दन ! सुदर्शनके इतना कहते ही सम्पूर्ण दिशाओंसे बारंबार आवाज आने लगी—'तुम्हारा कथन सत्य है । इसमें झूठका लेश भी नहीं है' ॥ ७६ ॥

उटजात् तु ततस्तस्मान्निश्चक्राम स वै द्विजः ।
वपुषा द्यां च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् वह ब्राह्मण उस आश्रमसे बाहर निकला । वह अपने शरीरसे वायुकी भाँति पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके स्थित हो गया ॥ ७७ ॥

स्वरेण विप्रः शैक्षेण त्रीँल्लोकाननुनादयन् ।
उवाच चैनं धर्मज्ञं पूर्वमामन्त्र्य नामतः ॥ ७८ ॥

शिक्षाके अनुकूल उदात्त आदि स्वरसे तीनों लोकोंको प्रतिध्वनित करते हुए उस ब्राह्मणने पहले धर्मज्ञ सुदर्शनको सम्बोधित करके उससे इस प्रकार कहा—॥ ७८ ॥

धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ ।
प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ ७९ ॥

'निष्पाप सुदर्शन ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं धर्म हूँ



और तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये यहाँ आया हूँ । तुममें सत्य है यह जानकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ ७९ ॥

विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति ।
रन्ध्रान्वेषी तव सदा त्वया धृत्या वशी कृतः ॥ ८० ॥

'तुमने इस मृत्युको, जो सदा तुम्हारा छिद्र ढूँढ़ती हुई तुम्हारे पीछे लगी रहती थी, जीत लिया । तुमने अपने धैर्यसे मृत्युको वशमें कर लिया है ॥ ८० ॥

न चास्ति शक्तिस्त्रैलोक्ये कस्यचित् पुरुषोत्तम ।
पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितुमप्युत ॥ ८१ ॥

'पुरुषोत्तम ! तीनों लोकोंमें किसीकी भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो तुम्हारी इस सती-साध्वी पतिव्रता पत्नीकी ओर कलुषित भावनासे आँख उठाकर देख भी सके ॥ ८१ ॥

रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा ।
अधृष्या यदियं ब्रूयात् तथा तन्नान्यथा भवेत् ॥ ८२ ॥

'यह तुम्हारे गुणोंसे तथा अपने पातिव्रत्यके गुणोंद्वारा भी सदा सुरक्षित है । कोई भी इसका पराभव नहीं कर सकता । यह जो बात अपने मुँहसे निकालेगी, वह सत्य ही होगी । मिथ्या नहीं हो सकती ॥ ८२ ॥

एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी ।
पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति ॥ ८३ ॥
अर्धेनौघवती नाम त्वामर्धेनानुयास्यति ।
शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः ॥ ८४ ॥

'अपने तपोबलसे युक्त यह ब्रह्मवादिनी नारी संसारको पवित्र करनेके लिये अपने आधे शरीरसे ओघवती नामवाली श्रेष्ठ नदी होगी और आधे शरीरसे यह परम सौभाग्यवती सती तुम्हारी सेवामें रहेगी । योग सदा इसके वशमें रहेगा ॥

अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसार्जितान् ।
यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान् ॥ ८५ ॥

'तुम भी इसके साथ अपनी तपस्यासे प्राप्त हुए उन सनातन लोकोंमें जाओगे, जहाँसे फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता ॥ ८५ ॥

अनेन चैव देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे ।
निर्जितश्च त्वया मृत्युरैश्वर्यं च तवोत्तमम् ॥ ८६ ॥

'तुम इसी शरीरसे उन दिव्य लोकोंमें जाओगे; क्योंकि तुमने मृत्युको जीत लिया है और तुम्हें उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त है ॥

पञ्चभूतान्यतिक्रान्तः स्ववीर्याच्च मनोजवः ।
गृहस्थधर्मेणानेन कामक्रोधौ च ते जितौ ॥ ८७ ॥

'अपने पराक्रमसे पञ्चभूतोंको लाँघकर तुम मनके समान वेगवान् हो गये हो । इस गृहस्थ-धर्मके आचरणसे ही तुमने काम और क्रोधपर विजय पा ली है ॥ ८७ ॥

स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः ।
तव शुश्रूषया राजन् राजपुत्र्या विनिर्जिताः ॥ ८८ ॥

'राजन् ! राजकुमारी ओघवतीने भी तुम्हारी सेवाके बलसे स्नेह (आसक्ति), राग, आलस्य, मोह और द्रोह आदि दोषोंको जीत लिया है' ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच

शुक्लानां तु सहस्रेण वाजिनां रथमुत्तमम् ।
युक्तं प्रगृह्य भगवान् वासवोऽभ्याजगाम तम् ॥ ८९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर भगवान् इन्द्र भी श्वेत रंगके एक हजार घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम रथको लेकर उनसे मिलनेके लिये आये ॥ ८९ ॥

मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च ।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥ ९० ॥

इस प्रकार सुदर्शनने अतिथि-सत्कारके पुण्यसे मृत्यु, आत्मा, लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम और क्रोधको भी जीत लिया ॥ ९० ॥

तस्माद् गृहाश्रमस्थस्य नान्यद् दैवतमस्ति वै ।
ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद् विचारय ॥ ९१ ॥

पुरुषसिंह ! इसलिये तुम अपने मनमें यह निश्चित विचार कर लो कि गृहस्थ पुरुषके लिये अतिथिको छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं है ॥ ९१ ॥

अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत् क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ९२ ॥

यदि अतिथि पूजित होकर मन-ही-मन गृहस्थके कल्याणका चिन्तन करे तो उससे जो फल मिलता है, उसकी सौ यज्ञोंसे भी तुलना नहीं हो सकती अर्थात् सौ यज्ञोंसे भी बढ़कर है । ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ९२ ॥

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत् ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ ९३ ॥

जो गृहस्थ सुपात्र और सुशील अतिथिको पाकर उसका यथोचित सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसे अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ ९३ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र मयाऽऽख्यानमनुत्तमम् ।
यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराभवत् ॥ ९४ ॥

बेटा ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार पूर्वकालमें गृहस्थने जिस प्रकार मृत्युपर विजय पायी थी, वह उत्तम उपाख्यान मैंने तुमसे कहा ॥ ९४ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम् ।
बुभूषताभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम् ॥ ९५ ॥

यह उत्तम आख्यान धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है । इससे सब प्रकारके दुष्कर्मोंका नाश हो जाता है, अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको सदा ही इसके प्रति आदरबुद्धि रखनी चाहिये ॥ ९५ ॥

इदं यः कथयेद् विद्वानहन्यहनि भारत ।
सुदर्शनस्य चरितं पुण्याँल्लोकानवाप्नुयात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! जो विद्वान् सुदर्शनके इस चरित्रका प्रतिदिन वर्णन करता है, वह पुण्यलोकोंको प्राप्त होता है* ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुदर्शनोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुदर्शनका उपाख्यानविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

---

* इस अध्यायमें वर्णित चरित्र असाधारण शक्तिसम्पन्न पुरुषोंके हैं। आजकलके साधारण मनुष्योंको इसके उस अंशका अनुकरण नहीं करना चाहिये, जिसमें स्त्रीके लिये अपने शरीर-प्रदानकी बात कही गयी है । अतिथिको अन्न, जल, बैठनेके लिये आसन, रहनेके लिये स्थान, सोनेके लिये बिस्तर और वस्त्र आदि वस्तुएँ अपनी शक्तिके अनुसार समर्पित करनी चाहिये। मीठे वचनोंद्वारा उसका आदर-सत्कार भी करना चाहिये। इतना ही इस अध्यायका तात्पर्य है।

तृतीयोऽध्यायः

विश्वामित्रको ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति कैसे हुई—इस विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप ।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! नरेश्वर ! यदि अन्य तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न महात्मा विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? धर्मात्मन् ! नरश्रेष्ठ पितामह ! इस बातको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, आप मुझे बताइये ॥ १-२ ॥

तेन ह्यमितवीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः ।
हतं पुत्रशतं सद्यस्तपसापि पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! अमित पराक्रमी विश्वामित्रने अपनी तपस्याके प्रभावसे महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंको तत्काल नष्ट कर दिया था ॥ ३ ॥

यातुधानाश्च बहवो राक्षसास्तिग्मतेजसः ।
मन्युनाऽऽविष्टदेहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः ॥ ४ ॥

उन्होंने क्रोधके आवेशमें आकर बहुत-से प्रचण्ड तेजस्वी यातुधान एवं राक्षस रच डाले थे, जो काल और यमराजके समान भयानक थे ॥ ४ ॥

महान् कुशिकवंशश्च ब्रह्मर्षिशतसंकुलः ।
स्थापितो नरलोकेऽस्मिन् विद्वद्ब्राह्मणसंस्तुतः ॥ ५ ॥

इतना ही नहीं, इस मनुष्य-लोकमें उन्होंने उस महान् कुशिक-वंशको स्थापित किया, जो अब सैकड़ों ब्रह्मर्षियोंसे व्याप्त और विद्वान् ब्राह्मणोंसे प्रशंसित है ॥ ५ ॥

ऋचीकस्यात्मजश्चैव शुनःशेपो महातपाः ।
विमोक्षितो महासत्रात् पशुतामप्युपागतः ॥ ६ ॥

ऋचीक (अजीगर्त) का महातपस्वी पुत्र शुनःशेप एक यज्ञमें यज्ञ-पशु बनाकर लाया गया था; किंतु विश्वामित्रजीने उस महायज्ञसे उसको छुटकारा दिला दिया ॥ ६ ॥

हरिश्चन्द्रक्रतौ देवांस्तोषयित्वाऽऽत्मतेजसा ।
पुत्रतामनुसम्प्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ७ ॥

हरिश्चन्द्रके उस यज्ञमें अपने तेजसे देवताओंको संतुष्ट करके विश्वामित्रने शुनःशेपको छुड़ाया था; इसलिये वह बुद्धिमान् विश्वामित्रके पुत्रभावको प्राप्त हो गया ॥ ७ ॥

नाभिवादयते ज्येष्ठं देवरातं नराधिप ।
पुत्राः पञ्चाशदेवापि शप्ताः श्वपचतां गताः ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! शुनःशेप देवताओंके देनेसे देवरात नामसे प्रसिद्ध हो विश्वामित्रका ज्येष्ठ पुत्र हुआ। उसके छोटे भाई—विश्वामित्रके अन्य पचास पुत्र उसे बड़ा मानकर प्रणाम नहीं करते थे; इसलिये विश्वामित्रके शापसे वे सब-के-सब चाण्डाल हो गये ॥ ८ ॥

त्रिशङ्कुर्बन्धुभिर्मुक्त ऐक्ष्वाकः प्रीतिपूर्वकम् ।
अवाक्शिरा दिवं नीतो दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ९ ॥

जिस इक्ष्वाकुवंशी त्रिशंकुको भाई-बन्धुओंने त्याग दिया था और जब वह स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दक्षिण दिशामें नीचे सिर किये लटक रहा था, तब विश्वामित्रजीने ही उसे प्रेमपूर्वक स्वर्गलोकमें पहुँचाया था ॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्य विपुला नदी देवर्षिसेविता ।
कौशिकी च शिवा पुण्या ब्रह्मर्षिसुरसेविता ॥ १० ॥

देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंसे सेवित, पवित्र, मङ्गलकारिणी एवं विशाल कौशिकी नदी विश्वामित्रके ही प्रभावसे प्रकट हुई है ॥ १० ॥

तपोविघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसम्मता ।
रम्भा नामाप्सराः शापाद् यस्य शैलत्वमागता ॥ ११ ॥

पाँच चोटीवाली लोकप्रिय रम्भा नामक अप्सरा विश्वामित्रजीकी तपस्यामें विघ्न डालने गयी थी, जो उनके शापसे पत्थर हो गयी ॥ ११ ॥

तथैवास्य भयाद् बद्ध्वा वसिष्ठः सलिले पुरा ।
आत्मानं मज्जयञ्छ्रीमान् विपाशः पुनरुत्थितः ॥ १२ ॥
तदाप्रभृति पुण्या हि विपाशाभून्महानदी ।
विख्याता कर्मणा तेन वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ १३ ॥

पूर्वकालमें विश्वामित्रके ही भयसे अपने शरीरको रस्सीसे बाँधकर श्रीमान् वसिष्ठजी अपने-आपको एक नदीके जलमें डुबो रहे थे; परंतु उस नदीके द्वारा पाशरहित (बन्धनमुक्त) हो पुनः ऊपर उठ आये। महात्मा वसिष्ठके उस महान् कर्मसे विख्यात हो वह पवित्र नदी उसी दिनसे 'विपाशा' कहलाने लगी ॥ १२-१३ ॥

वाग्भिश्च भगवान् येन देवसेनाग्रगः प्रभुः ।
स्तुतः प्रीतमनाश्चासीच्छापाच्चैनममुञ्चत ॥ १४ ॥

वाणीद्वारा स्तुति करनेपर उन विश्वामित्रपर सामर्थ्यशाली भगवान् इन्द्र प्रसन्न हो गये थे और उनको शापमुक्त कर दिया था ॥ १४ ॥

ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च ।
मध्यं ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम् ॥ १५ ॥
तस्यैतानि च कर्माणि तथान्यानि च कौरव ।
क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम ॥ १६ ॥

जो विश्वामित्र उत्तानपादके पुत्र ध्रुव तथा ब्रह्मर्षियों (सप्तर्षियों) के बीचमें उत्तर दिशाके आकाशका आश्रय ले तारारूपसे सदा प्रकाशित होते रहते हैं, वे क्षत्रिय ही रहे हैं। कुरुनन्दन ! उनके ये तथा और भी बहुत-से अद्भुत कर्म हैं, उन्हें याद करके मेरे हृदयमें यह जाननेका कौतूहल उत्पन्न हुआ है कि वे ब्राह्मण कैसे हो गये ? ॥ १५-१६ ॥

किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह क्या बात है ? इसे ठीक-ठीक बताइये। विश्वामित्रजी दूसरा शरीर धारण किये बिना ही कैसे ब्राह्मण हो गये ? ॥ १७ ॥

एतत् तत्त्वेन मे तात सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैवैतद् वदस्व मे ॥ १८ ॥

तात ! यह सब आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें। जैसे मतङ्गको तपस्या करनेसे भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वैसी ही बात विश्वामित्रके लिये क्यों नहीं हुई ? यह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मतङ्गको जो ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, वह उचित ही था; क्योंकि उसका जन्म चाण्डालकी योनिमें हुआ था; परंतु विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वामित्रका उपाख्यानविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

आजमीढके वंशका वर्णन तथा विश्वामित्रके जन्मकी कथा और उनके पुत्रोंके नाम

भीष्म उवाच

श्रूयतां पार्थ तत्त्वेन विश्वामित्रो यथा पुरा ।
ब्राह्मणत्वं गतस्तात ब्रह्मर्षित्वं तथैव च ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मर्षित्व प्राप्त किया, वह प्रसङ्ग यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः ।
बभूव भरतश्रेष्ठ यज्वा धर्मभृतां वरः ॥ २ ॥

भरतवंशमें अजमीढ नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भरतश्रेष्ठ ! वे राजा अजमीढ यज्ञकर्ता एवं धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे ॥ २ ॥

तस्य पुत्रो महानासीज्जह्नुर्नाम नरेश्वरः ।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता गङ्गा यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

उनके पुत्र महाराज जह्नु हुए, जिन महात्मा नरेशके समीप जाकर गङ्गाजी पुत्रीभावको प्राप्त हुई थीं ॥ ३ ॥

तस्यात्मजस्तुल्यगुणः सिन्धुद्वीपो महायशाः ।
सिन्धुद्वीपाच्च राजर्षिर्बलाकाश्वो महाबलः ॥ ४ ॥

जह्नुके पुत्रका नाम सिन्धुद्वीप था, जो पिताके समान ही गुणवान् और महायशस्वी थे। सिन्धुद्वीपसे महाबली राजा बलाकाश्वका जन्म हुआ था ॥ ४ ॥

वल्लभस्तस्य तनयः साक्षाद्धर्म इवापरः ।
कुशिकस्तस्य तनयः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ५ ॥

बलाकाश्वका पुत्र वल्लभनामसे प्रसिद्ध हुआ, जो साक्षात् दूसरे धर्मके समान था। वल्लभके पुत्र कुशिक हुए, जो इन्द्रके समान तेजस्वी थे ॥ ५ ॥

कुशिकस्यात्मजः श्रीमान् गाधिर्नाम जनेश्वरः ।
अपुत्रः प्रसवेनार्थी वनवासमुपावसत् ॥ ६ ॥

कुशिकके पुत्र महाराज गाधि हुए, जो दीर्घकालतक पुत्रहीन रह गये। तब संतानकी इच्छासे पुण्यकर्म करनेके लिये वे वनमें रहने लगे ॥ ६ ॥

कन्या जज्ञे सुतात् तस्य वने निवसतः सतः ।
नाम्ना सत्यवती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ७ ॥

वहाँ रहते समय सोमयाग करनेसे राजाके एक कन्या हुई, जिसका नाम सत्यवती था। भूतलपर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्यकी तुलना नहीं थी ॥ ७ ॥

तां वव्रे भार्गवः श्रीमांश्च्यवनस्यात्मसम्भवः ।
ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः ॥ ८ ॥

उन दिनों च्यवनके पुत्र भृगुवंशी श्रीमान् ऋचीक विख्यात तपस्वी थे और बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न रहते थे। उन्होंने राजा गाधिसे उस कन्याको माँगा ॥ ८ ॥

स तां न प्रददौ तस्मै ऋचीकाय महात्मने ।
दरिद्र इति मत्वा वै गाधिः शत्रुनिबर्हणः ॥ ९ ॥

शत्रुसूदन गाधिने महात्मा ऋचीकको दरिद्र समझकर उन्हें अपनी कन्या नहीं दी ॥ ९ ॥

प्रत्याख्याय पुनर्यान्तमब्रवीद् राजसत्तमः ।
शुल्कं प्रदीयतां मह्यं ततो वत्स्यसि मे सुताम् ॥ १० ॥

उनके इनकार कर देनेपर जब महर्षि लौटने लगे, तब

नृपश्रेष्ठ गाधिने उनसे कहा, 'महर्षे ! मुझे शुल्क दीजिये, तब आप मेरी पुत्रीको विवाहद्वारा प्राप्त कर सकेंगे' ॥ १० ॥

ऋचीक उवाच

किं प्रयच्छामि राजेन्द्र तुभ्यं शुल्कमहं नृप ।
दुहितुर्ब्रूह्यसंसक्तो माभूत् तत्र विचारणा ॥ ११ ॥

ऋचीकने पूछा—राजेन्द्र ! मैं आपकी पुत्रीके लिये आपको क्या शुल्क दूँ ? आप निस्संकोच होकर बताइये । नरेश्वर ! इसमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

गाधिरुवाच

चन्द्ररश्मिप्रकाशानां हयानां वातरंहसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां सहस्रं देहि भार्गव ॥ १२ ॥

गाधिने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े ला दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और वायुके समान वेगवान् हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

ततः स भृगुशार्दूलश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः ।
अब्रवीद् वरुणं देवमादित्यं पतिमम्भसाम् ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब भृगुश्रेष्ठ च्यवनपुत्र शक्तिशाली महर्षि ऋचीकने जलके स्वामी अदितिनन्दन वरुणदेवके पास जाकर कहा—॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं वातवेगानां भिक्षे त्वां देवसत्तम ॥ १४ ॥

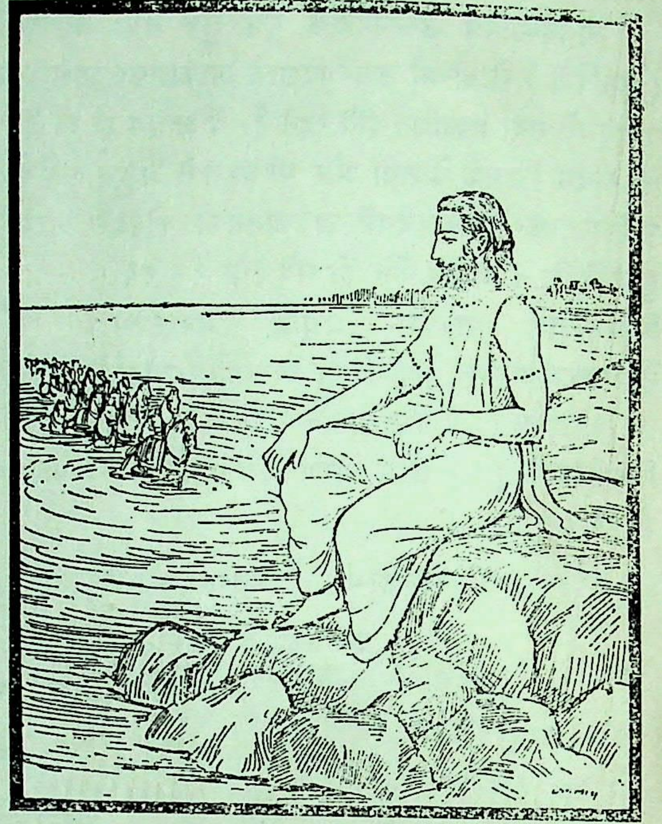
'देवशिरोमणे ! मैं आपसे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा वायुके समान वेगवान् एक हजार ऐसे घोड़ोंकी भिक्षा माँगता हूँ, जिनका एक ओरका कान श्याम रंगका हो' ॥ १४ ॥

तथेति वरुणो देव आदित्यो भृगुसत्तमम् ।
उवाच यत्र ते च्छन्दस्तत्रोत्थास्यन्ति वाजिनः ॥ १५ ॥

तब अदितिनन्दन वरुणदेवने उन भृगुश्रेष्ठ ऋचीकसे कहा—बहुत अच्छा; जहाँ आपकी इच्छा होगी, वहींसे इस तरहके घोड़े प्रकट हो जायँगे' ॥ १५ ॥

ध्यातमात्रमृचीकेन हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
गङ्गाजलात् समुत्तस्थौ सहस्रं विपुलौजसाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर ऋचीकके चिन्तन करते ही गङ्गाजीके जलसे चन्द्रमाके समान कान्तिवाले एक हजार तेजस्वी घोड़े प्रकट हो गये ॥ १६ ॥



अदूरे कान्यकुब्जस्य गङ्गायास्तीरमुत्तमम् ।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवैः परिचक्ष्यते ॥ १७ ॥

कन्नौजके पास ही गङ्गाजीका वह उत्तम तट आज भी मानवोंद्वारा अश्वतीर्थ कहलाता है ॥ १७ ॥

ततो वै गाधये तात सहस्रं वाजिनां शुभम् ।
ऋचीकः प्रददौ प्रीतः शुल्कार्थं तपतां वरः ॥ १८ ॥

तात ! तब तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ ऋचीक मुनिने प्रसन्न होकर शुल्कके लिये राजा गाधिको वे एक हजार सुन्दर घोड़े दे दिये ॥ १८ ॥

ततः स विस्मितो राजा गाधिः शापभयेन च ।
ददौ तां समलंकृत्य कन्यां भृगुसुताय वै ॥ १९ ॥

तब आश्चर्यचकित हुए राजा गाधिने शापके भयसे डरकर अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके भृगुनन्दन ऋचीकको दे दिया ॥ १९ ॥

जग्राह विधिवत् पाणिं तस्या ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
सा च तं पतिमासाद्य परं हर्षमवाप ह ॥ २० ॥

ब्रह्मर्षिशिरोमणि ऋचीकने उसका विधिवत् पाणिग्रहण किया । वैसे तेजस्वी पतिको पाकर उस कन्याको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ २० ॥

स तुतोष च ब्रह्मर्षिस्तस्या वृत्तेन भारत ।
छन्दयामास चैवैनां वरेण वरवर्णिनीम् ॥ २१ ॥

भरतनन्दन ! अपनी पत्नीके सद्व्यवहारसे ब्रह्मर्षि बहुत संतुष्ट हुए । उन्होंने उस परम सुन्दरी पत्नीको मनोवाञ्छित वर देनेकी इच्छा प्रकट की ॥ २१ ॥

मात्रे तत् सर्वमाचख्यौ सा कन्या राजसत्तम ।
अथ तामब्रवीन्माता सुतां किंचिदवाङ्मुखी ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब उस राजकन्याने अपनी मातासे मुनिकी कही हुई सब बातें बतायीं। वह सुनकर उसकी माताने संकोचसे सिर नीचे करके पुत्रीसे कहा—॥ २२ ॥

ममापि पुत्रि भर्ता ते प्रसादं कर्तुमर्हति।
अपत्यस्य प्रदानेन समर्थश्च महातपाः ॥ २३ ॥

'बेटी ! तुम्हारे पतिको पुत्र प्रदान करनेके लिये मुझपर भी कृपा करनी चाहिये, क्योंकि वे महान् तपस्वी और समर्थ हैं' ॥ २३ ॥

ततः सा त्वरितं गत्वा तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
मातुश्चिकीर्षितं राजन्नृचीकस्तामथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर सत्यवतीने तुरंत जाकर माताकी वह सारी इच्छा ऋचीकसे निवेदन की। तब ऋचीकने उससे कहा—॥ २४ ॥

गुणवन्तमपत्यं सा अचिराज्जनयिष्यति।
मम प्रसादात् कल्याणि माभूत् ते प्रणयोऽन्यथा॥२५॥

'कल्याणि ! मेरे प्रसादसे तुम्हारी माता शीघ्र ही गुणवान् पुत्रको जन्म देगी। तुम्हारा प्रेमपूर्ण अनुरोध असफल नहीं होगा ॥ २५ ॥

तव चैव गुणश्लाघी पुत्र उत्पत्स्यते महान्।
अस्मद्वंशकरः श्रीमान् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २६ ॥

'तुम्हारे गर्भसे भी एक अत्यन्त गुणवान् और महान् तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा, जो हमारी वंशपरम्पराको चलायेगा। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ २६ ॥

ऋतुस्नाता च साश्वत्थं त्वं च वृक्षमुदुम्बरम्।
परिष्वजेथाः कल्याणि तत एवमवाप्स्यथः ॥ २७ ॥

'कल्याणि ! तुम्हारी माता ऋतुस्नानके पश्चात् पीपलके वृक्षका आलिङ्गन करे और तुम गूलरके वृक्षका। इससे तुम दोनोंको अभीष्ट पुत्रकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

चरुद्वयमिदं चैव मन्त्रपूतं शुचिस्मिते।
त्वं च सा चोपभुञ्जीतं ततः पुत्राववाप्स्यथः ॥ २८ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! मैंने ये दो मन्त्रपूत चरु तैयार किये हैं। इनमेंसे एकको तुम खा लो और दूसरेको तुम्हारी माता। इससे तुम दोनोंको पुत्र प्राप्त होंगे' ॥ २८॥

ततः सत्यवती हृष्टा मातरं प्रत्यभाषत।
यदृचीकेन कथितं तच्चाचख्यौ चरुद्वयम् ॥ २९ ॥

तब सत्यवतीने हर्षमग्न होकर ऋचीकने जो कुछ कहा था, वह सब अपनी माताको बताया और दोनोंके लिये तैयार किये हुए पृथक्-पृथक् चरुओंकी भी चर्चा की ॥ २९ ॥

तामुवाच ततो माता सुतां सत्यवतीं तदा।
पुत्रि पूर्वोपपन्नायाः कुरुष्व वचनं मम ॥ ३० ॥

उस समय माताने अपनी पुत्री सत्यवतीसे कहा—'बेटी ! माता होनेके कारण पहलेसे मेरा तुमपर अधिकार है; अतः तुम मेरी बात मानो ॥ ३० ॥

भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः।
एनं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे पतिने जो मन्त्रपूत चरु तुम्हारे लिये दिया है, वह तुम मुझे दे दो और मेरा चरु तुम ले लो ॥ ३१ ॥

व्यत्यासं वृक्षयोश्चापि करवाव शुचिस्मिते।
यदि प्रमाणं वचनं मम मातुरनिन्दिते ॥ ३२ ॥

'पवित्र हास्यवाली मेरी अच्छी बेटी ! यदि तुम मेरी बात मानने योग्य समझो तो हमलोग वृक्षोंमें भी अदल-बदल कर लें ॥ ३२ ॥

स्वमपत्यं विशिष्टं हि सर्व इच्छत्यनाविलम्।
व्यक्तं भगवता चात्र कृतमेवं भविष्यति ॥ ३३ ॥

'प्रायः सभी लोग अपने लिये निर्मल एवं सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुत्रकी इच्छा करते हैं। अवश्य ही भगवान् ऋचीकने भी चरु निर्माण करते समय ऐसा तारतम्य रक्खा होगा॥

ततो मे त्वच्चरौ भावः पादपे च सुमध्यमे।
कथं विशिष्टो भ्राता मे भवेदित्येव चिन्तय ॥ ३४ ॥

'सुमध्यमे ! इसीलिये तुम्हारे लिये नियत किये गये चरु और वृक्षमें मेरा अनुराग हुआ है। तुम भी यही चिन्तन करो कि मेरा भाई किसी तरह श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो' ॥३४॥

तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा।
अथ गर्भावनुप्राप्ते उभे ते वै युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर ! इस तरह सलाह करके सत्यवती और उसकी माताने उसी तरह उन दोनों वस्तुओंका अदल-बदलकर उपयोग किया। फिर तो वे दोनों गर्भवती हो गयीं ॥ ३५॥

दृष्ट्वा गर्भमनुप्राप्तां भार्यां स च महानृषिः।
उवाच तां सत्यवतीं दुर्मना भृगुसत्तमः ॥ ३६ ॥

अपनी पत्नी सत्यवतीको गर्भवती अवस्थामें देखकर भृगुश्रेष्ठ महर्षि ऋचीकका मन खिन्न हो गया ॥ ३६ ॥

व्यत्यासेनोपयुक्तस्ते चरुर्व्यक्तं भविष्यति।
व्यत्यासः पादपे चापि सुव्यक्तं ते कृतः शुभे ॥ ३७ ॥

उन्होंने कहा—'शुभे ! जान पड़ता है, तुमने बदलकर चरुका उपयोग किया है। इसी तरह तुमलोगोंने वृक्षोंके आलिङ्गनमें भी उलट-फेर कर दिया है—ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ॥ ३७ ॥

मया हि विश्वं यद्ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम्।
क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या निवेशितम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हारे चरुमें सम्पूर्ण ब्रह्मतेजका संनिवेश किया था और तुम्हारी माताके चरुमें समस्त क्षत्रियोचित्त शक्तिकी स्थापना की थी ॥ ३८ ॥

त्रैलोक्यविख्यातगुणं त्वं विप्रं जनयिष्यसि।
सा च क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत् कृतं मया ॥ ३९ ॥

'मैंने सोचा था कि तुम त्रिभुवनमें विख्यात गुणवाले ब्राह्मणको जन्म दोगी और तुम्हारी माता सर्वश्रेष्ठ क्षत्रियकी

जननी होगी; इसीलिये मैंने दो तरहके चरुओंका निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात् त्वया मात्रा च ते शुभे।
तस्मात् सा ब्राह्मणं श्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि।
न हि ते तत् कृतं साधु मातृस्नेहेन भाविनि ॥ ४१ ॥

'शुभे ! तुमने और तुम्हारी माताने अदला-बदली कर ली है, इसलिये तुम्हारी माता श्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्रको जन्म देगी और भद्रे ! तुम भयंकर कर्म करनेवाले क्षत्रियकी जननी होओगी। भाविनि ! माताके स्नेहमें पड़कर तुमने यह अच्छा काम नहीं किया' ॥ ४०-४१ ॥

सा श्रुत्वा शोकसंतप्ता पपात वरवर्णिनी।
भूमौ सत्यवती राजन् छिन्नेव रुचिरा लता ॥ ४२ ॥

राजन् ! पतिकी यह बात सुनकर सुन्दरी सत्यवती शोकसे संतप्त हो वृक्षसे कटी हुई मनोहर लताके समान मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४२ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां शिरसा प्रणिपत्य च।
उवाच भार्या भर्तारं गाधेयी भार्गवर्षभम् ॥ ४३ ॥
प्रसादयन्त्यां भार्यायां मयि ब्रह्मविदां वर।
प्रसादं कुरु विप्रर्षे न मे स्यात् क्षत्रियः सुतः ॥ ४४ ॥

थोड़ी देरमें जब उसे चेत हुआ, तब वह गाधिकुमारी अपने स्वामी भृगुभूषण ऋचीकके चरणोंमें सिर रखकर प्रणामपूर्वक बोली—'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! मैं आपकी पत्नी हूँ, अतः आपसे कृपा-प्रसादकी भीख चाहती हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे गर्भसे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न न हो ॥

कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितुमर्हति।
न तु मे स्यात् सुतो ब्रह्मन्नेष मे दीयतां वरः ॥ ४५ ॥

'मेरा पौत्र चाहे उग्रकर्मा क्षत्रियस्वभावका हो जाय; परंतु मेरा पुत्र वैसा न हो। ब्रह्मन् ! मुझे यही वर दीजिये' ॥

एवमस्त्विति होवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः।
ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम् ॥ ४६ ॥

तब उन महातपस्वी ऋषिने अपनी पत्नीसे कहा, 'अच्छा, ऐसा ही हो'। तदनन्तर सत्यवतीने जमदग्निनामक शुभ-गुणसम्पन्न पुत्रको जन्म दिया ॥ ४६ ॥

विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी।
ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षेर्ब्रह्मवादिनम् ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! उन्हीं ब्रह्मर्षिके कृपा-प्रसादसे गाधिकी यशस्विनी पत्नीने ब्रह्मवादी विश्वामित्रको उत्पन्न किया ॥ ४७ ॥

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ ४८ ॥

इसीलिये महातपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो ब्राह्मण-वंशके प्रवर्तक हुए ॥ ४८ ॥

तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्तार एव च ॥ ४९ ॥

उन ब्रह्मवेत्ता तपस्वीके महामनस्वी पुत्र भी ब्राह्मणवंशकी वृद्धि करनेवाले और गोत्रकर्ता हुए ॥ ४९ ॥

मधुच्छन्दश्च भगवान् देवरातश्च वीर्यवान्।
अक्षीणश्च शकुन्तश्च बभ्रुः कालपथस्तथा ॥ ५० ॥
याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
उलूको यमदूतश्च तथर्षिः सैन्धवायनः ॥ ५१ ॥
वल्गुजङ्घश्च भगवान् गालवश्च महानृषिः।
ऋषिर्वज्रस्तथा ख्यातः सालंकायन एव च ॥ ५२ ॥
लीलाढ्यो नारदश्चैव तथा कूर्चामुखः स्मृतः।
वादुलिर्मुसलश्चैव वक्षोग्रीवस्तथैव च ॥ ५३ ॥
आंघ्रिको नैकदृक् चैव शिलायूपः शितः शुचिः।
चक्रको मारुतन्तव्यो वातघ्नोऽथाश्वलायनः ॥ ५४ ॥
श्यामायनोऽथ गार्ग्यश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा।
कारीषिरथ संश्रुत्यः परपौरवतन्तवः ॥ ५५ ॥
महानृषिश्च कपिलस्तथर्षिस्ताडकायनः।
तथैव चोपगहनस्तथर्षिश्चासुरायणः ॥ ५६ ॥
मार्दमर्षिर्हिरण्याक्षो जङ्घारिर्बाभ्रवायणिः।
भूतिर्विभूतिः सूतश्च सुरकृत् तु तथैव च ॥ ५७ ॥
अरालिर्नाचिकश्चैव चाम्पेयोज्जयनौ तथा।
नवतन्तुर्बकनखः सेयनो यतिरेव च ॥ ५८ ॥
अम्भोरुहश्चारुमत्स्यः शिरीषी चाथ गार्दभिः।
ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः ॥ ५९ ॥
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।

भगवान् मधुच्छन्दा, शक्तिशाली देवरात, अक्षीण, शकुन्त, बभ्रु, कालपथ, विख्यात याज्ञवल्क्य, महाव्रती स्थूण, उलूक, यमदूत, सैन्धवायन ऋषि, भगवान् वल्गुजङ्घ, महर्षि गालव, वज्रमुनि, विख्यात सालङ्कायन, लीलाढ्य, नारद, कूर्चामुख, वादुलि, मुसल, वक्षोग्रीव, आङ्घ्रिक, नैकदृक्, शिलायूप, शित, शुचि, चक्रक, मारुतन्तव्य, वातघ्न, आश्वलायन, श्यामायन, गार्ग्य, जाबालि, सुश्रुत, कारीषि, संश्रुत्य, पर, पौरव, तन्तु, महर्षि कपिल, मुनिवर ताडकायन, उपगहन, आसुरायण ऋषि, मार्दमर्षि, हिरण्याक्ष, जङ्घारि, बाभ्रवायणि, भूति, विभूति, सूत, सुरकृत्, अरालि, नाचिक, चाम्पेय, उज्जयन, नवतन्तु, बकनख, सेयन, यति, अम्भोरुह, चारुमत्स्य, शिरीषी, गार्दभि, ऊर्जयोनि, उदापेक्षी और महर्षि नारदी—ये सभी विश्वामित्रके पुत्र एवं ब्रह्मवादी ऋषि थे ॥ ५०—५९३ ॥

तथैव क्षत्रियो राजन् विश्वामित्रो महातपाः ॥ ६० ॥

ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद् युधिष्ठिर।

राजा युधिष्ठिर ! महातपस्वी विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय थे तथापि ऋचीक मुनिने उनमें परम उत्कृष्ट ब्रह्मतेजका आधान किया था ॥ ६०½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
विश्वामित्रस्य वै जन्म सोमसूर्याग्नितेजसः।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सोम, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विश्वामित्रके जन्मका सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताया है ॥ ६१½ ॥

यत्र यत्र च संदेहो भूयस्ते राजसत्तम।
तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेत्तास्मि तव संशयम् ॥ ६२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब फिर तुम्हें जहाँ-जहाँ संदेह हो, उस-उस विषयकी बात मुझसे पूछो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विश्वामित्रका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

स्वामिभक्त एवं दयालु पुरुषकी श्रेष्ठता बतानेके लिये इन्द्र और तोतेके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं दयालु और भक्त पुरुषोंके गुण सुनना चाहता हूँ; अतः कृपा करके मुझे उनके गुण ही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा--युधिष्ठिर ! इस विषयमें भी महामनस्वी तोते और इन्द्रका जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥ ३ ॥

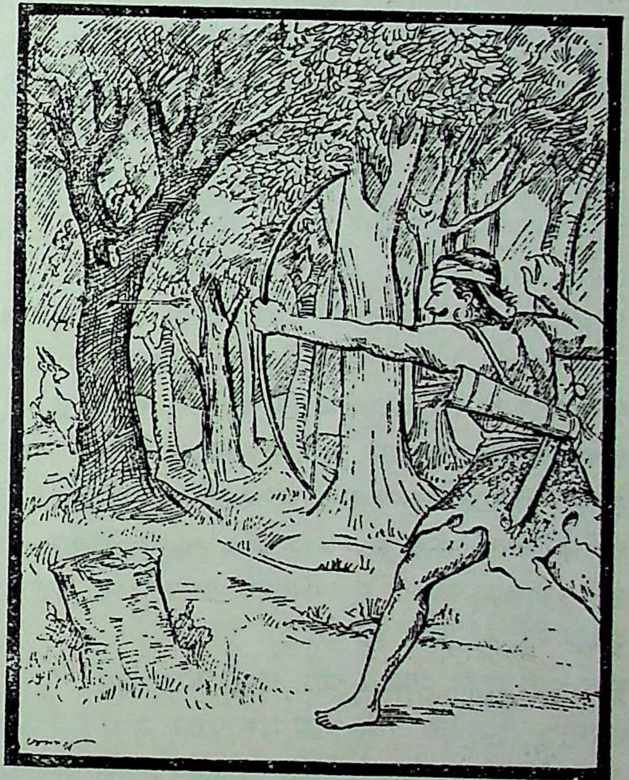
काशिराजके राज्यकी बात है, एक व्याधा विषमें बुझाया हुआ बाण लेकर गाँवसे निकला और शिकारके लिये किसी मृगको खोजने लगा ॥ ३ ॥

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने।
अविदूरे मृगान् दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥ ४ ॥

उस महान् वनमें थोड़ी ही दूर जानेपर मांसलोभी व्याधने कुछ मृगोंको देखा और उनपर बाण चला दिया ॥ ४ ॥

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा।
महान् वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥ ५ ॥

व्याधका वह बाण अमोघ था; परंतु निशाना चूक जानेके कारण मृगको मारनेकी इच्छासे छोड़े गये उस बाणने एक विशाल वृक्षको वेध दिया ॥ ५ ॥



स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥ ६ ॥

तीखे विषसे पुष्ट हुए उस बाणसे बड़े जोरका आघात लगनेके कारण उस वृक्षमें जहर फैल गया। उसके फल और पत्ते झड़ गये और धीरे-धीरे वह सूखने लगा ॥ ६ ॥

तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥ ७ ॥

उस वृक्षके खोखलेमें बहुत दिनोंसे एक तोता निवास करता था। उसका उस वृक्षके प्रति बड़ा प्रेम हो गया था, इसलिये वह उसके सूखनेपर भी वहाँका निवास छोड़ नहीं रहा था ॥

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा एवं कृतज्ञ तोता कहीं आता-जाता नहीं था। चारा चुगना भी छोड़ चुका था। वह इतना सिथिल हो गया था कि उसमें बोला तक नहीं जाता था। इस प्रकार उस वृक्षके साथ वह स्वयं भी सूखता चला जा रहा था॥

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम्।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः॥ ९॥

उसका धैर्य महान् था। उसकी चेष्टा अलौकिक दिखायी देती थी। दुःख और सुखमें समान भाव रखनेवाले उस उदार तोतेको देखकर पाकशासन इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ॥९॥

ततश्चिन्तामुपगतः शक्रः कथमयं द्विजः।
तिर्यग्योनावसम्भाव्यमानृशंस्यमवस्थितः॥ १०॥

इन्द्र यह सोचने लगे कि यह पक्षी कैसे ऐसी अलौकिक दयाको अपनाये बैठा है, जो पक्षीकी योनिमें प्रायः असम्भव है॥ १०॥

अथवा नात्र चित्रं हि ह्यभवद् वासवस्य तु।
प्राणिनामपि सर्वेषां सर्वं सर्वत्र दृश्यते॥ ११॥

अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सब जगह सब प्राणियोंमें सब तरहकी बातें देखनेमें आती हैं— ऐसी भावना मनमें लानेपर इन्द्रका मन शान्त हुआ॥११॥

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह॥ १२॥

तदनन्तर वे ब्राह्मणके वेशमें मनुष्यका रूप धारण करके पृथ्वीपर उतरे और उस शुक पक्षीसे बोले—॥ १२॥

शुक भो पक्षिणां श्रेष्ठ दाक्षेयी सुप्रजा त्वया।
पृच्छे त्वां शुकमेनं त्वं कस्मान्न त्यजसि द्रुमम्॥ १३॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ शुक! तुम्हें पाकर दक्षकी दौहित्री शुकी उत्तम संतानवाली हुई है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि अब इस वृक्षको क्यों नहीं छोड़ देते हो?'॥ १३॥

अथ पृष्टः शुकः प्राह मूर्ध्ना समभिवाद्य तम्।
स्वागतं देवराज त्वं विज्ञातस्तपसा मया॥ १४॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर शुकने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'देवराज! आपका स्वागत है। मैंने तपस्याके बलसे आपको पहचान लिया है'॥ १४॥

ततो दशशताक्षेण साधु साध्विति भाषितम्।
अहो विज्ञानमित्येवं मनसा पूजितस्ततः॥ १५॥

यह सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रने मन-ही-मन कहा— 'वाह! वाह! क्या अद्भुत विज्ञान है!' ऐसा कहकर उन्होंने मनसे ही उसका आदर किया॥ १५॥

तमेवं शुभकर्माणं शुकं परमधार्मिकम्।
विजानन्नपि तां प्रीतिं पप्रच्छ बलसूदनः॥ १६॥

'वृक्षके प्रति इस तोतेका कितना प्रेम है' इस बातको जानते हुए भी बलसूदन इन्द्रने शुभकर्म करनेवाले उस परम धर्मात्मा शुकसे पूछा—॥ १६॥

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम्।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम्॥ १७॥

'शुक! इस वृक्षके पत्ते झड़ गये, फल भी नहीं रहे। यह सूख जानेके कारण पक्षियोंके बसेरे लेने योग्य नहीं रह गया है। जब यह विशाल वन पड़ा हुआ है, तब तुम इस ठूँठ वृक्षका सेवन किस लिये करते हो?॥ १७॥

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन् महावने॥ १८॥

'इस विशाल वनमें और भी बहुत-से वृक्ष हैं, जिनके खोखले हरे-हरे पत्तोंसे आच्छादित हैं, जो सुन्दर हैं तथा जिनपर पक्षियोंके संचारके लिये योग्य पर्याप्त स्थान हैं॥१८॥

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम्।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम्॥ १९॥

'धीर शुक! इस वृक्षकी आयु समाप्त हो गयी, शक्ति नष्ट हो गयी। इसका सार क्षीण हो गया और इसकी शोभा भी छिन गयी। अपनी बुद्धिके द्वारा इन सब बातोंपर विचार करके अब इस बूढ़े वृक्षको त्याग दो'॥ १९॥

भीष्म उवाच

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम्।
सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह॥ २०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रकी यह बात सुनकर धर्मात्मा शुकने लंबी साँस खींचकर दीन भावसे यह बात कही—॥

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते।
यत्राभवत् तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप॥ २१॥

'शचीवल्लभ! दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। देवराज! जिसके विषयमें आपने प्रश्न किया है, उसकी बात सुनिये॥ २१॥

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः।
बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः॥ २२॥

'मैंने इसी वृक्षपर जन्म लिया और यहीं रहकर अच्छे-अच्छे गुण सीखे हैं। इस वृक्षने अपने बालककी भाँति मुझे सुरक्षित रखा और मेरे ऊपर शत्रुओंका आक्रमण नहीं होने दिया॥ २२॥

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ।
आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च॥ २३॥

'निष्पाप देवेन्द्र! इन्हीं सब कारणोंसे मेरी इस वृक्षके प्रति भक्ति है। मैं दयारूपी धर्मके पालनमें लगा हूँ और यहाँसे अन्यत्र नहीं जाना चाहता। ऐसी दशामें आप कृपा करके मेरी सद्भावनाको व्यर्थ बनानेकी चेष्टा क्यों करते हैं?॥

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति॥ २४॥

'श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये दूसरोंपर दया करना ही महान् धर्मका सूचक है। दयाभाव श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा ही आनन्द प्रदान करता है॥ २४॥



धर्मात्मा शुक और इन्द्रकी बातचीत



महर्षि वशिष्ठका ब्रह्माजीके साथ प्रश्नोत्तर

त्वमेव दैवतैः सर्वैः पृच्छ्यसे धर्मसंशयात्।
अतस्त्वं देवदेवानामाधिपत्ये प्रतिष्ठितः ॥ २५ ॥

'धर्मके विषयमें संशय होनेपर सब देवता आपसे ही अपना संदेह पूछते हैं। इसीलिये आप देवाधिदेवोंके अधिपति पदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ २५ ॥

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात्।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥ २६ ॥

'सहस्राक्ष! आप इस वृक्षको मुझसे छुड़ानेके लिये प्रयत्न न कीजिये। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकालसे इसीके आश्रयमें रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह शक्तिहीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूँ—यह कैसे हो सकता है?' ॥ २६ ॥

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः।
शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥ २७ ॥

तोतेकी इस कोमल वाणीसे पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा देवेन्द्रने शुककी दयालुतासे संतुष्ट हो उससे कहा—॥ २७ ॥

वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥ २८ ॥

'शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।' तब दयापरायण शुकने यह वर माँगा कि 'यह वृक्ष पहलेकी ही भाँति हरा-भरा हो जाय' ॥ २८ ॥

विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम्।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥ २९ ॥

तोतेकी इस सुदृढ़ भक्ति और शील-सम्पत्तिको जानकर इन्द्रको और भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तुरंत ही उस वृक्षको अमृतसे सींच दिया ॥ २९ ॥

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥ ३० ॥

फिर तो उसमें नये-नये पत्ते, फल और मनोहर शाखाएँ निकल आयीं। तोतेकी दृढ़भक्तिके कारण वह वृक्ष पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया ॥ ३० ॥

शुकश्च कर्मणा तेन आनृशंस्यकृतेन वै।
आयुषोऽन्ते महाराज प्राप शक्रसलोकताम् ॥ ३१ ॥

महाराज! वह शुक भी आयु समाप्त होनेपर अपने उस दयापूर्ण बर्तावके कारण इन्द्रलोकको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र भक्तिमन्तं समाश्रितः।
सर्वार्थसिद्धिं लभते शुकं प्राप्य यथा द्रुमः ॥ ३२ ॥

नरेन्द्र! जैसे भक्तिमान् शुकका सहवास पाकर उस वृक्षने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि प्राप्त कर ली, उसी प्रकार अपनेमें भक्ति रखनेवाले पुरुषका सहारा पाकर प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शुकवासवसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शुक और इन्द्रका संवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दैवकी अपेक्षा पुरुषार्थकी श्रेष्ठताका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ महाप्राज्ञ पितामह! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें वसिष्ठ और ब्रह्माजीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

दैवमानुषयोः किंस्वित् कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है, भगवान् वसिष्ठने लोक-पितामह ब्रह्माजीसे पूछा—'प्रभो! दैव और पुरुषार्थमें कौन श्रेष्ठ है?' ॥ ३ ॥

ततः पद्मोद्भवो राजन् देवदेवः पितामहः।
उवाच मधुरं वाक्यमर्थवद्धेतुभूषितम् ॥ ४ ॥

राजन्! तब कमलजन्मा देवाधिदेव पितामहने मधुर स्वरमें युक्तियुक्त सार्थक वचन कहा ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

(बीजतो ह्यङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसम्भवः।
पर्णान्नालाः प्रसूयन्ते नालात् स्कन्धः प्रवर्तते ॥
स्कन्धात् प्रवर्तते पुष्पं पुष्पान्निर्वर्तते फलम्।
फलान्निर्वर्त्यते बीजं बीजं नाफलमुच्यते ॥)

ब्रह्माजीने कहा—मुने! बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, अङ्कुरसे पत्ते होते हैं। पत्तोंसे नाल, नालसे तने और डालियाँ होती हैं। उनसे पुष्प प्रकट होता है। फूलसे फल लगता है और फलसे बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है॥

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन बिना फलम्।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ ५ ॥

बीजके बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीजके बिना फल भी नहीं लगता। बीजसे बीज प्रकट होता है और बीजसे ही फलकी उत्पत्ति मानी जाती है ॥ ५ ॥

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः ।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ ६ ॥

किसान खेतमें जाकर जैसा बीज बोता है, उसीके अनुसार उसको फल मिलता है । इसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है ॥ ६ ॥

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ७ ॥

जैसे बीज खेतमें बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थके बिना नहीं सिद्ध होता ॥ ७ ॥

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्ध्यते ॥ ८ ॥

पुरुषार्थ खेत है और दैवको बीज बताया गया है । खेत और बीजके संयोगसे ही अनाज पैदा होता है ॥ ८ ॥

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः ।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥ ९ ॥

कर्म करनेवाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्मका फल स्वयं ही भोगता है । यह बात संसारमें प्रत्यक्ष दिखायी देती है ॥ ९ ॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥

शुभ कर्म करनेसे सुख और पाप कर्म करनेसे दुःख मिलता है । अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है । बिना किये हुए कर्मका फल कहीं नहीं भोगा जाता ॥ १० ॥

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम् ।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ ११ ॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाता है; परंतु जो अकर्मण्य है, वह सम्मानसे भ्रष्ट होकर घावपर नमक छिड़कनेके समान असह्य दुःख भोगता है ॥ ११ ॥

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ १२ ॥

मनुष्यको तपस्यासे रूप, सौभाग्य और नाना प्रकारके रत्न प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कर्मसे सब कुछ मिल सकता है; परंतु भाग्यके भरोसे निकम्मे बैठे रहनेवालेको कुछ नहीं मिलता ॥ १२ ॥

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता ।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥ १३ ॥

इस जगत्‌में पुरुषार्थ करनेसे स्वर्ग, भोग, धर्ममें निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है ।१३।

ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः ।
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद् देवतां गताः ॥ १४ ॥

नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्यलोकसे देवलोकको गये हैं ॥ १४ ॥

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥ १५ ॥

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मीका भी उपभोग नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु ।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण शौचाचारसे, क्षत्रिय पराक्रमसे, वैश्य उद्योगसे तथा शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवासे सम्पत्ति पाता है ॥ १६ ॥

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम् ।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥ १७ ॥

न तो दान न देनेवाले कंजूसको धन मिलता है, न नपुंसकको, न अकर्मण्यको, न कामसे जी चुरानेवालेको, न शौर्यहीनको और न तपस्या न करनेवालेको ही मिलता है ॥ १७ ॥

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः ।
स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥ १८ ॥

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओंकी भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान् विष्णु समुद्रमें रहकर तपस्या करते हैं ॥ १८ ॥

स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत् ।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्नु ॥ १९ ॥

यदि अपने कर्मोंका फल न प्राप्त हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाय और सब लोग भाग्यको ही देखते हुए कर्म करनेसे उदासीन हो जायँ ॥ १९ ॥

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते ।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥ २० ॥

मनुष्यके योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैवका अनुसरण करता है, वह दैवका आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है । जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पतिको पाकर भी कष्ट ही भोगती है ॥ २० ॥

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे ।
तथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते ॥ २१ ॥

इस मनुष्यलोकमें शुभाशुभ कर्मोंसे उतना भय नहीं प्राप्त होता, जितना कि देव-लोकमें थोड़े-से पापसे भय होता है ॥ २१ ॥

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद् दातुमर्हति ॥ २२ ॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवका अनुसरण करता है; परंतु पुरुषार्थ न करनेपर दैव किसीको कुछ नहीं दे सकता ॥

यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि ।
कथं कर्म विना दैवं स्थास्यति स्थापयिष्यति ॥ २३ ॥

देवताओंमें भी जो इन्द्रादिके स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं। पुण्यकर्मके बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा और कैसे वह दूसरोंको स्थिर रख सकेगा ॥ २३ ॥

न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारं यान्ति कस्यचित्।
व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ २४ ॥

देवता भी इस लोकमें किसीके पुण्यकर्मका अनुमोदन नहीं करते हैं, अपितु अपनी पराजयकी आशङ्कासे वे पुण्यात्मा पुरुषमें भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं (जिससे उनके धर्ममें विघ्न उपस्थित हो जाय) ॥ २४ ॥

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः।
कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद् यतो दैवं प्रवर्तते ॥ २५ ॥

ऋषियों और देवताओंमें सदा कलह होता रहता है (देवता ऋषियोंकी तपस्यामें विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबलसे देवताओंको स्थानभ्रष्ट कर देते हैं। फिर भी दैवके बिना केवल कथन मात्रसे किसको सुख या दुःख मिल सकता है ? क्योंकि कर्मके मूलमें दैवका ही हाथ है ॥ २५ ॥

कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥ २६ ॥

दैवके बिना पुरुषार्थकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि प्रवृत्तिका मूल कारण दैव ही है (जिन्होंने पूर्वजन्ममें पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्ममें भी पूर्वसंस्कारवश पुण्यमें प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्यकर्मोंमें ही लग जायँ)। देवलोकमें भी दैववश ही बहुत-से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं ॥ २६ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ २७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्मका साक्षी है ॥ २७ ॥

कृतं चाप्यकृतं किंचित् कृते कर्मणि सिद्ध्यति।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

प्रबल पुरुषार्थ करनेसे पहलेका किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पापकर्म अपने यथार्थ फलको नहीं दे पाते हैं ॥ २८ ॥

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ २९ ॥

देवताओंका आश्रय पुण्य ही है। पुण्यसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुषको पाकर दैव क्या करेगा ? ॥

पुरा ययातिर्विभ्रष्टश्च्यावितः पतितः क्षितौ।
पुनरारोपितः स्वर्गं दौहित्रैः पुण्यकर्मभिः ॥ ३० ॥

पूर्वकालमें राजा ययाति पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे च्युत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े थे; परंतु उनके पुण्यकर्मा दौहित्रोंने उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ ३० ॥

पुरूरवाश्च राजर्षिर्द्विजैरभिहितः पुरा।
ऐल इत्यभिविख्यातः स्वर्गं प्राप्तो महीपतिः ॥ ३१ ॥

इसी तरह पूर्वकालमें ऐल नामसे विख्यात राजर्षि पुरूरवा ब्राह्मणोंके आशीर्वाद देनेपर स्वर्गलोकको प्राप्त हुए थे ॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सत्कृतः कोसलाधिपः।
महर्षिशापात् सौदासः पुरुषादत्वमागतः ॥ ३२ ॥

(अब इसके विपरीत दृष्टान्त देते हैं—) अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी कोशलनरेश सौदासको महर्षि वसिष्ठके शापसे नरभक्षी राक्षस होना पड़ा ॥ ३२ ॥

अश्वत्थामा च रामश्च मुनिपुत्रौ धनुर्धरौ।
न गच्छतः स्वर्गलोकं सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार अश्वत्थामा और परशुराम—ये दोनों ही ऋषिपुत्र और धनुर्धर वीर हैं। इन दोनोंने पुण्यकर्म भी किये हैं तथापि उस कर्मके प्रभावसे स्वर्गमें नहीं गये ॥ ३३ ॥

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ ३४ ॥

द्वितीय इन्द्रके समान सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषणके दोषसे रसातलको चले गये ॥ ३४ ॥

बलिर्वैरोचनिर्बद्धो धर्मपाशेन दैवतैः।
विष्णोः पुरुषकारेण पातालसदनः कृतः ॥ ३५ ॥

विरोचनकुमार बलिको देवताओंने धर्मपाशसे बाँध लिया और भगवान् विष्णुके पुरुषार्थसे वे पातालवासी बना दिये गये ॥ ३५ ॥

शक्रस्योद्यम्य चरणं प्रस्थितो जनमेजयः।
द्विजस्त्रीणां वधं कृत्वा किं दैवेन न वारितः ॥ ३६ ॥

राजा जनमेजय द्विज स्त्रियोंका वध करके इन्द्रके चरणका आश्रय ले जब स्वर्गलोकको प्रस्थित हुए, उस समय दैवने उसे आकर क्यों नहीं रोका ॥ ३६ ॥

अज्ञानाद् ब्राह्मणं हत्वा स्पृष्टो बालवधेन च।
वैशम्पायनविप्रर्षिः किं दैवेन न वारितः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मर्षि वैशम्पायन अज्ञानवश ब्राह्मणकी हत्या करके बालवधके पापसे भी लिप्त हो गये थे तो भी दैवने उन्हें स्वर्ग जानेसे क्यों नहीं रोका ॥ ३७ ॥

गोप्रदानेन मिथ्या च ब्राह्मणेभ्यो महामखे।
पुरा नृगश्च राजर्षिः कृकलासत्वमागतः ॥ ३८ ॥

पूर्वकालमें राजर्षि नृग बड़े दानी थे। एक बार किसी महायज्ञमें ब्राह्मणोंको गोदान करते समय उनसे भूल हो गयी अर्थात् एक गऊको दुबारा दानमें दे दिया, जिसके कारण उन्हें गिरगटकी योनिमें जाना पड़ा ॥ ३८ ॥

धुन्धुमारश्च राजर्षिः सत्रेष्वेव जरां गतः।
प्रीतिदायं परित्यज्य सुष्वाप स गिरिव्रजे ॥ ३९ ॥

राजर्षि धुन्धुमार यज्ञ करते-करते बूढ़े हो गये तथापि देवताओंके प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए वरदानको त्यागकर गिरिव्रजमें सो गये (यज्ञका फल नहीं पा सके) ॥ ३९ ॥

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद् भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥

महाबली धृतराष्ट्र-पुत्रोंने पाण्डवोंका राज्य हड़प लिया था। उसे पाण्डवोंने पुनः बाहुबलसे ही वापस लिया। दैवके भरोसे नहीं ॥ ४० ॥

तपोनियमसंयुक्ता मुनयः संशितव्रताः।
किं ते दैवबलाच्छापमुत्सृजन्ते न कर्मणा ॥ ४१ ॥

तप और नियममें संयुक्त रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि क्या दैवबलसे ही किसीको शाप देते हैं, पुरुषार्थके बलसे नहीं ? ॥ ४१ ॥

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम्।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ ४२ ॥

संसारमें समस्त सुदुर्लभ सुख-भोग किसी पापीको प्राप्त हो जाय तो भी वह उसके पास टिकता नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़कर चल देता है। जो मनुष्य लोभ और मोहमें डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकटसे नहीं बचा सकता ॥ ४२ ॥

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ ४३ ॥

जैसे थोड़ी-सी भी आग वायुका सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थका सहारा पाकर दैवका बल विशेष बढ़ जाता है ॥ ४३ ॥

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥

जैसे तेल समाप्त हो जानेसे दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्मके क्षीण हो जानेपर दैव भी नष्ट हो जाता है ॥

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥ ४५ ॥

उद्योगहीन मनुष्य धनका बहुत बड़ा भण्डार, तरह-तरहके भोग और स्त्रियोंको पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता; किंतु सदा उद्योगमें लगा रहनेवाला महामनस्वी पुरुष देवताओंद्वारा सुरक्षित तथा गाड़कर रखे हुए धनको भी प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद् देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥ ४६ ॥

जो दान करनेके कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुषके पास उसके सत्कर्मके कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उसका घर मनुष्यलोककी अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक-सा हो जाता है। परंतु जहाँ दान नहीं होता, वह घर बड़ी भारी समृद्धिसे भरा हो तो भी देवताओंकी दृष्टिमें वह श्मशान-के ही तुल्य जान पड़ता है ॥ ४६ ॥

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम्।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥ ४७ ॥

इस जीव-जगत्‌में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखायी देता। दैवमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगा दे। जैसे शिष्य गुरुको आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थको ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवको जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है ॥ ४७ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥ ४८ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! मैंने सदा पुरुषार्थके ही फलको प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूपसे ये सारी बातें तुम्हें बतायी हैं ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

मनुष्य दैवके उत्थानसे आरम्भ किये हुए पुरुषार्थसे उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्मसे ही स्वर्गलोकका मार्ग पा सकता है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दैवपुरुषकारनिर्देशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दैव और पुरुषार्थका निर्देशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)



सप्तमोऽध्यायः

कर्मोंके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महापुरुषोंमें प्रधान भरतश्रेष्ठ ! अब मैं समस्त शुभ कर्मोंके फल क्या हैं ? यह पूछ रहा हूँ, अतः यही बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत।
रहस्यं यदृषीणां तु तच्छृणुष्व युधिष्ठिर।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे चिरेप्सिता ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, यह ऋषियोंके लिये भी रहस्यका विषय है, किंतु मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। सुनो, मरनेके बाद जिस मनुष्यको जैसी चिर अभिलषित गति मिलती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ३ ॥

मनुष्य जिस-जिस (स्थूल या सूक्ष्म) शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसी-उसी शरीरसे उस-उस कर्मका फल भोगता है ॥ ३ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥४॥

जिस-जिस अवस्थामें वह जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है; प्रत्येक जन्मकी उसी-उसी अवस्थामें वह उसका फल भोगता है ॥ ४ ॥

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥ ५ ॥

पाँचों इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता है। वे पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन—ये उस कर्मके साक्षी होते हैं ॥ ५ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६ ॥

अतः मनुष्यको उचित है कि यदि कोई अतिथि घरपर आ जाय तो उसको प्रसन्न दृष्टिसे देखे। उसकी सेवामें मन लगावे। मीठी बोली बोलकर उसे संतुष्ट करे। जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय और जबतक वह रहे, उसके स्वागत-सत्कारमें लगा रहे—ये पाँच काम करना गृहस्थके लिये पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है ॥ ६ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ७ ॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिकको प्रसन्नतापूर्वक अन्न दान करता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

स्थण्डिलेषु शयानानां गृहाणि शयनानि च।
चीरवल्कलसंवीते वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

जो वानप्रस्थी वेदीपर शयन करते हैं, उन्हें जन्मान्तरमें उत्तम गृह और शय्याकी प्राप्ति होती है। जो चीर और वल्कल वस्त्र पहनते हैं, उन्हें दूसरे जन्ममें उत्तम वस्त्र और उत्तम आभूषणोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

वाहनानि च यानानि योगात्मनि तपोधने।
अग्नीनुपशयानस्य राज्ञः पौरुषमेव च ॥ ९ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त होता है, उस तपोधन पुरुषको दूसरे जन्ममें अच्छे-अच्छे वाहन और यान उपलब्ध होते हैं तथा अग्निकी उपासना करनेवाले राजाको जन्मान्तरमें पौरुष-की प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति।
आमिषप्रतिसंहारे पशून् पुत्रांश्च विन्दति ॥ १० ॥

रसोंका परित्याग करनेसे सौभाग्यकी और मांसका त्याग करनेसे पशुओं तथा पुत्रोंकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अवाक्शिरास्तु यो लम्बेदुदवासं च यो वसेत्।
सततं चैकशायी यः स लभेतेप्सितां गतिम् ॥ ११ ॥

जो तपस्वी नीचे सिर करके लटकता है अथवा जलमें निवास करता है तथा जो सदा ही अकेला सोता (ब्रह्मचर्यका पालन करता) है, वह मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त होता है ॥

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम्।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ १२ ॥

जो अतिथिको पैर धोनेके लिये जल, बैठनेके लिये आसन, प्रकाशके लिये दीपक, खानेके लिये अन्न और ठहरनेके लिये घर देता है, इस प्रकार अतिथिका सत्कार करनेके लिये इन पाँच वस्तुओंका दान 'पञ्चदक्षिण यज्ञ' कहलाता है ॥

वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपागतः।
अक्षयास्तस्य वै लोकाः सर्वकामगमास्तथा ॥ १३ ॥

जो वीरासन रणभूमिमें जाकर वीरशय्या (मृत्यु) को प्राप्त हो वीरस्थान (स्वर्गलोक) में जाता है, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे लोक सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं ॥ १३ ॥

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! मनुष्य दानसे धन पाता है, मौन-व्रतके पालनसे दूसरोंद्वारा आज्ञापालन करानेकी शक्ति प्राप्त करता है, तपस्यासे भोग और ब्रह्मचर्य-पालनसे जीवन (आयु) की उपलब्धि होती है ॥ १४ ॥

रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसाफलमश्नुते।
फलमूलाशिनो राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥ १५ ॥

अहिंसा धर्मके आचरणसे रूप, ऐश्वर्य और आरोग्यरूपी फलकी प्राप्ति होती है। फल-मूल खानेवालेको राज्य और पत्ते चबाकर रहनेवालेको स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

प्रायोपवेशिनो राजन् सर्वत्र सुखमुच्यते।
गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः ॥ १६ ॥

राजन्! जो आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठता है, उसके लिये सर्वत्र सुख बताया गया है। शाकाहारकी दीक्षा लेनेपर गोधनकी प्राप्ति होती है और तृण खाकर रहनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १६ ॥

त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्।
स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥ १७ ॥

स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग करके त्रिकाल स्नान करते हुए वायु पीकर रहनेसे यज्ञका फल प्राप्त होता है। सत्यसे मनुष्य स्वर्गको और दीक्षासे उत्तम कुलको पाता है ॥

सलिलाशी भवेद् यस्तु सदाग्निः संस्कृतो द्विजः।
मन्त्रं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण सदा जल पीकर रहता है, अग्निहोत्र करता है और मन्त्र-साधनामें संलग्न रहता है, उसे राज्य मिलता है और निराहारव्रत करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १८ ॥

उपवासं च दीक्षायामभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥ १९ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो पुरुष बारह वर्षोंतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेकर अन्नका त्याग करता और तीर्थोंमें स्नान करता रहता है, उसे रणभूमिमें प्राण त्यागनेवाले वीरसे भी बढ़कर उत्तम लोककी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्यो दुःखाद् विमुच्यते।
मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोकमुपाश्नुते ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर लेता है, वह तत्काल दुःखसे मुक्त हो जाता है तथा जो मनसे धर्मका आचरण करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् २१

खोटी बुद्धिवाले पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणनाशक रोगके समान सदा कष्ट देती रहती है, उस तृष्णाका त्याग कर देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ॥ २१ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ २२ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें अपनी माताको ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार पहलेका किया हुआ कर्म भी कर्ताको पहचानकर उसका अनुसरण करता है ॥ २२ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणा न होनेपर भी अपने समयका उल्लङ्घन नहीं करते—ठीक समयपर फूलने-फलने लग जाते हैं, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी समयपर फल देता ही है ॥ २३ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका न तु जीर्यते ॥ २४ ॥

मनुष्यके जीर्ण (जराग्रस्त) होनेपर उसके केश जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुषके दाँत भी टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण होकर अन्धे-बहरे हो जाते हैं। केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है (वह सदा नयी-नवेली बनी रहती है) ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्।

मनुष्य जिस व्यवहारसे पिताको प्रसन्न करता है, उससे भगवान् प्रजापति प्रसन्न होते हैं। जिस बर्तावसे वह माताको संतुष्ट करता है, उससे पृथ्वी देवीकी भी पूजा हो जाती है तथा जिससे वह उपाध्यायको तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है ॥ २५½ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसके द्वारा सभी धर्मोंका आदर हो गया और जिसने इन तीनोंका अनादर कर दिया, उसकी सम्पूर्ण यज्ञादिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीकी यह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ कुरुवंशी आश्चर्यचकित हो उठे। सबके मनमें हर्षजनित उल्लास भर गया। उस समय सभी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

यन्मन्त्रे भवति वृथोपयुज्यमाने
यत् सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने
तत् सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेदमन्त्रोंका व्यर्थ (अशुद्ध) उपयोग (उच्चारण) करनेपर जो पाप लगता है, सोमयागको दक्षिणा आदि न देनेके कारण व्यर्थ कर देनेपर जो दोष लगता है तथा विधि और मन्त्रके बिना अग्निमें निरर्थक आहुति देनेपर जो पाप होता है; वह सारा पाप मिथ्या भाषण करनेसे प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद् विभो।
शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥ २९ ॥

राजन् ! शुभ और अशुभ फलकी प्राप्तिके विषयमें महर्षि व्यासने ये सब बातें बतायी थीं, जिन्हें मैंने इस समय तुमसे कहा है। अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कर्मफलिकोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कर्मफलका उपाख्यानविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्याः के नमस्कार्याः कान् नमस्यसि भारत ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व येभ्यः स्पृहयसे नृप ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! इस जगत्‌में कौन-कौन पुरुष पूजन और नमस्कारके योग्य हैं ? आप किनको प्रणाम करते हैं ? तथा नरेश्वर ! आप किनको चाहते हैं ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

उत्तमापद्गतस्यापि यत्र ते वर्तते मनः ।
मनुष्यलोके सर्वस्मिन् यदमुत्रेह चाप्युत ॥ २ ॥

बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी आपका मन किनका स्मरण किये बिना नहीं रहता ? तथा इस समस्त मानवलोक और परलोकमें हितकारक क्या है ? ये सब बातें बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

स्पृहयामि द्विजातिभ्यो येषां ब्रह्म परं धनम् ।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपः स्वाध्यायसाधनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जिनका ब्रह्म (वेद) ही परम धन है, आत्मज्ञान ही स्वर्ग है तथा वेदोंका स्वाध्याय करना ही श्रेष्ठ तप है, उन ब्राह्मणोंको मैं चाहता हूँ ॥ ३ ॥

येषां बालाश्च वृद्धाश्च पितृपैतामहीं धुरम् ।
उद्वहन्ति न सीदन्ति तेभ्यो वै स्पृहयाम्यहम् ॥ ४ ॥

जिनके कुलमें बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक बाप-दादोंकी परम्परासे चले आनेवाले धार्मिक कार्यका भार सँभालते हैं; परंतु उसके लिये मनमें कभी खेदका अनुभव नहीं करते हैं, ऐसे ही लोगोंको मैं चाहता हूँ ॥ ४ ॥

विद्यास्वभिविनीतानां दान्तानां मृदुभाषिणाम् ।
श्रुतवृत्तोपपन्नानां सदाक्षरविदां सताम् ॥ ५ ॥
संसत्सु वदतां तात हंसानामिव संघशः ।
मङ्गल्यरूपा रुचिरा दिव्यजीमूतनिःस्वनाः ॥ ६ ॥
सम्यगुच्चरिता वाचः श्रूयन्ते हि युधिष्ठिर ।
शुश्रूषमाणे नृपतौ प्रेत्य चेह सुखावहाः ॥ ७ ॥

जो विनीत भावसे विद्याध्ययन करते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं और मीठे वचन बोलते हैं, जो शास्त्रज्ञान और सदाचार दोनोंसे सम्पन्न हैं, अविनाशी परमात्माको जाननेवाले सत्पुरुष हैं, तात युधिष्ठिर ! सभाओंमें बोलते समय हंस-समूहोंकी भाँति जिनके मुखसे मेघके समान गम्भीर स्वरसे मनोहर मङ्गलमयी एवं अच्छे ढंगसे कही गयी बातें सुनायी देती हैं, उन ब्राह्मणोंको ही मैं चाहता हूँ । यदि राजा उन महात्माओंकी बातें सुननेकी इच्छा रखे तो वे उसे इहलोक और परलोकमें भी सुख पहुँचानेवाली होती हैं ॥ ५–७ ॥

ये चापि तेषां श्रोतारः सदा सदसि सम्मताः ।
विज्ञानगुणसम्पन्नास्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ॥ ८ ॥

जो प्रतिदिन उन महात्माओंकी बातें सुनते हैं, वे श्रोता विज्ञानगुणसे सम्पन्न हो सभाओंमें सम्मानित होते हैं । मैं ऐसे श्रोताओंकी भी चाह रखता हूँ ॥ ८ ॥

सुसंस्कृतानि प्रयताः शुचीनि गुणवन्ति च ।
ददत्यन्नानि तृप्त्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
ये चापि सततं राजंस्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ।

राजा युधिष्ठिर ! जो पवित्र होकर ब्राह्मणोंको उनकी तृप्तिके लिये शुद्ध और अच्छे ढंगसे तैयार किये हुए पवित्र तथा गुणकारक अन्न परासते हैं, उनको भी मैं सदा चाहता हूँ ॥ ९½ ॥

शक्यं ह्येवाहवे योद्धुं न दातुमनसूयितम् ॥ १० ॥
शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
येषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! संग्राममें युद्ध करना सहज है । परंतु दोषदृष्टिसे रहित होकर दान देना सहज नहीं है । संसारमें सैकड़ों शूरवीर हैं; परंतु उनकी गणना करते समय जो उनमें दानशूर हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १०-११ ॥

धन्यः स्यां यद्यहं भूयः सौम्य ब्राह्मणकोऽपि वा ।
कुले जातो धर्मगतिस्तपोविद्यापरायणः ॥ १२ ॥

सौम्य ! यदि मैं कुलीन, धर्मात्मा, तपस्वी और विद्वान् अथवा कैसा भी ब्राह्मण होता तो अपनेको धन्य समझता ॥

न मे त्वत्तः प्रियतरो लोकेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।
त्वत्तश्चापि प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! इस संसारमें मुझे तुमसे अधिक प्रिय कोई नहीं है; परंतु भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंको मैं तुमसे भी अधिक प्रिय मानता हूँ ॥ १३ ॥

यथा मम प्रियतमास्त्वत्तो विप्राः कुरूत्तम ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान् यत्र स शान्तनुः ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! 'ब्राह्मण मुझे तुम्हारी अपेक्षा भी बहुत अधिक प्रिय हैं'—इस सत्यके प्रभावसे मैं उन्हीं पुण्यलोकोंमें जाऊँगा, जहाँ मेरे पिता महाराज शान्तनु गये हैं ॥ १४ ॥

न मे पिता प्रियतरो ब्राह्मणेभ्यस्तथाभवत् ।
न मे पितुः पिता वापि ये चान्येऽपि सुहृज्जनाः ॥ १५ ॥

मेरे पिता भी मुझे ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं रहे हैं । पितामह और अन्य सुहृदोंको भी मैंने कभी ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं समझा है ॥ १५ ॥

न हि मे वृजिनं किंचिद् विद्यते ब्राह्मणेष्विह ।
अणु वा यदि वा स्थूलं विद्यते साधुकर्मसु ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा ब्राह्मणोंके प्रति किन्हीं श्रेष्ठ कर्मोंमें कभी छोटा-मोटा किञ्चिन्मात्र भी अपराध नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

कर्मणा मनसा वापि वाचा वापि परंतप।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेभ्यस्तेनाद्य न तपाम्यहम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मैंने मन, वाणी और कर्मसे ब्राह्मणोंका जो थोड़ा-बहुत उपकार किया है, उसीके प्रभावसे आज इस अवस्थामें पड़ जानेपर भी मुझे पीड़ा नहीं होती है ॥ १७ ॥

ब्रह्मण्य इति मामाहुस्तया वाचास्मि तोषितः।
एतदेव पवित्रेभ्यः सर्वेभ्यः परमं स्मृतम् ॥ १८ ॥

लोग मुझे ब्राह्मणभक्त कहते हैं। उनके इस कथनसे मुझे बड़ा संतोष होता है। ब्राह्मणोंकी सेवा ही सम्पूर्ण पवित्र कर्मोंसे बढ़कर परम पवित्र कार्य है ॥ १८ ॥

पश्यामि लोकानमलाञ्छुचीन् ब्राह्मणयायिनः।
तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ १९ ॥

तात ! ब्राह्मणकी सेवामें रहनेवाले पुरुषको जिन पवित्र और निर्मल लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें मैं यहींसे देखता हूँ। अब शीघ्र मुझे चिरकालके लिये उन्हीं लोकोंमें जाना है ॥

यथा भर्त्राश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके युधिष्ठिर।
स देवः सा गतिर्नान्या क्षत्रियस्य तथा द्विजाः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! जैसे स्त्रियोंके लिये पतिकी सेवा ही संसारमें सबसे बड़ा धर्म है, पति ही उनका देवता और वही उनकी परम गति है, उनके लिये दूसरी कोई गति नहीं है; उसी प्रकार क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी सेवा ही परम धर्म है। ब्राह्मण ही उनका देवता और परम गति है, दूसरा नहीं ॥ २० ॥

क्षत्रियः शतवर्षी च दशवर्षी द्विजोत्तमः।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणो गुरुः ॥ २१ ॥

क्षत्रिय सौ वर्षका हो और श्रेष्ठ ब्राह्मण दस वर्षकी अवस्थाका हो तो भी उन दोनोंको परस्पर पुत्र और पिताके समान जानना चाहिये। उनमें ब्राह्मण पिता है और क्षत्रिय पुत्र ॥

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥ २२ ॥

जैसे नारी पतिके अभावमें देवरको पति बनाती है, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके न मिलनेपर ही क्षत्रियको अपना अधिपति बनाती है ॥ २२ ॥

(ब्राह्मणानुज्ञया ग्राह्यं राज्यं च सपुरोहितैः।
तद्रक्षणेन स्वर्गोऽस्य तत्कोपान्नरकोऽक्षयः ॥)

पुरोहितसहित राजाओंको ब्राह्मणकी आज्ञासे राज्य ग्रहण करना चाहिये। ब्राह्मणकी रक्षासे ही राजाको स्वर्ग मिलता है और उसको रुष्ट कर देनेसे वह अनन्तकालके लिये नरकमें गिर जाता है ॥

पुत्रवच्च ततो रक्ष्या उपास्या गुरुवच्च ते।
अग्निवच्चोपचर्या वै ब्राह्मणाः कुरुसत्तम ॥ २३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंकी पुत्रके समान रक्षा, गुरुकी भाँति उपासना और अग्निकी भाँति उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥

ऋजून् सतः सत्यशीलान् सर्वभूतहिते रतान्।
आशीविषानिव क्रुद्धान् द्विजान् परिचरेत् सदा॥ २४॥
(दूरतो मातृवत् पूज्या विप्रदाराः सुरक्षया।)

सरल, साधु, स्वभावतः सत्यवादी तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणोंकी सदा ही सेवा करनी चाहिये और क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान समझकर उनसे भयभीत रहना चाहिये। ब्राह्मणोंकी जो स्त्रियाँ हों, उनकी भी सुरक्षाका ध्यान रखते हुए माताके समान उनका दूरसे ही पूजन करना चाहिये ॥ २४ ॥

तेजसस्तपसश्चैव नित्यं बिभ्येद् युधिष्ठिर।
उभे चैते परित्याज्ये तेजश्चैव तपस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंके तेज और तपसे सदा डरना चाहिये तथा उनके सामने अपने तप एवं तेजका अभिमान त्याग देना चाहिये ॥ २५ ॥

व्यवसायस्तयोः शीघ्रमुभयोरेव विद्यते।
हन्युः क्रुद्धा महाराज ब्राह्मणा ये तपस्विनः ॥ २६ ॥

महाराज ! ब्राह्मणके तप और क्षत्रियके तेजका फल शीघ्र ही प्रकट होता है, तथापि जो तपस्वी ब्राह्मण हैं, वे कुपित होनेपर तेजस्वी क्षत्रियको अपने तपके प्रभावसे मार सकते हैं ॥

भूयः स्यादुभयं दत्तं ब्राह्मणाद् यदकोपनात्।
कुर्यादुभयतः शेषं दत्तशेषं न शेषयेत् ॥ २७ ॥

क्रोधरहित—क्षमाशील ब्राह्मणको पाकर क्षत्रियकी ओरसे अधिक मात्रामें प्रयुक्त किये गये तप और तेज आगपर रूईके ढेरके समान तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यदि दोनों ओरसे एक-दूसरेपर तेज और तपका प्रयोग हो तो उनका सर्वथा नाश नहीं होता; परंतु क्षमाशील ब्राह्मणके द्वारा खण्डित होनेसे बचा हुआ क्षत्रियका तेज किसी तेजस्वी ब्राह्मणपर प्रयुक्त हो तो वह उससे प्रतिहत होकर सर्वथा नष्ट हो जाता है, थोड़ा-सा भी शेष नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

दण्डपाणिर्यथा गोषु पालो नित्यं हि रक्षयेत्।
ब्राह्मणान् ब्रह्म च तथा क्षत्रियः परिपालयेत् ॥ २८ ॥

जैसे चरवाहा हाथमें डंडा लेकर सदा गौओंकी रखवाली करता है, उसी प्रकार क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणों और वेदोंकी सदा रक्षा करे ॥ २८ ॥

पितेव पुत्रान् रक्षेथा ब्राह्मणान् धर्मचेतसः।
गृहे वैषामवेक्षेथाः किंचिदस्तीति जीवनम् ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह धर्मात्मा ब्राह्मणोंकी उसी तरह रक्षा करे, जैसे पिता पुत्रोंकी करता है। वह सदा इस बातकी देख-भाल करता रहे कि उनके घरमें जीवन-निर्वाहके लिये क्या है और क्या नहीं है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके न देने तथा उसके धनका अपहरण करनेसे दोषकी प्राप्तिके विषयमें सियार और वानरके संवादका उल्लेख एवं ब्राह्मणोंको दान देनेकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणानां तु ये लोकाः प्रतिश्रुत्य पितामह ।
न प्रयच्छन्ति मोहात् ते के भवन्ति महाद्युते ॥ १ ॥
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि धर्मं धर्मभृतां वर ।
प्रतिश्रुत्य दुरात्मानो न प्रयच्छन्ति ये नराः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी पितामह ! जो लोग ब्राह्मणोंको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर मोहवश नहीं देते हैं, जो दुरात्मा दानका संकल्प करके भी दान नहीं देते हैं, वे क्या होते हैं ? यह धर्मका विषय मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

यो न दद्यात् प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीबस्येव प्रजाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो थोड़ा या अधिक देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे नहीं देता है, उसकी सभी आशाएँ वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे नपुंसककी संतानरूपी फलविषयक आशा ॥ ३ ॥

यां रात्रिं जायते जीवो यां रात्रिं च विनश्यति ।
एतस्मिन्नन्तरे यद् यत् सुकृतं तस्य भारत ॥ ४ ॥
यच्च तस्य हुतं किंचिद् दत्तं वा भरतर्षभ ।
तपस्तप्तमथो वापि सर्वं तस्योपहन्यते ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जीव जिस रातको जन्म लेता है और जिस रातको उसकी मौत होती है—इन दोनों रात्रियोंके बीचमें जीवनभर वह जो-जो पुण्यकर्म करता है, भरतश्रेष्ठ ! उसने आजीवन जो कुछ होम, दान तथा तप किया होता है, उसका वह सब कुछ उस प्रतिज्ञा-भङ्गके पापसे नष्ट हो जाता है ॥ ४-५ ॥

अथैतद् वचनं प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
निशम्य भरतश्रेष्ठ बुद्ध्या परमयुक्तया ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्मशास्त्रके ज्ञाता मनुष्य अपनी परम योगयुक्त बुद्धिसे विचार करके यह उपर्युक्त बात कहते हैं ॥ ६ ॥

अपि चोदाहरन्तीमं धर्मशास्त्रविदो जनाः ।
अश्वानां श्यामकर्णानां सहस्रेण स मुच्यते ॥ ७ ॥

धर्मशास्त्रोंके विद्वान् यह भी कहते हैं कि प्रतिज्ञा-भङ्गका पाप करनेवाला पुरुष एक हजार श्यामकर्ण घोड़ोंका दान करनेसे उस पापसे मुक्त होता है ॥ ७ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शृगालस्य च संवादं वानरस्य च भारत ॥ ८ ॥

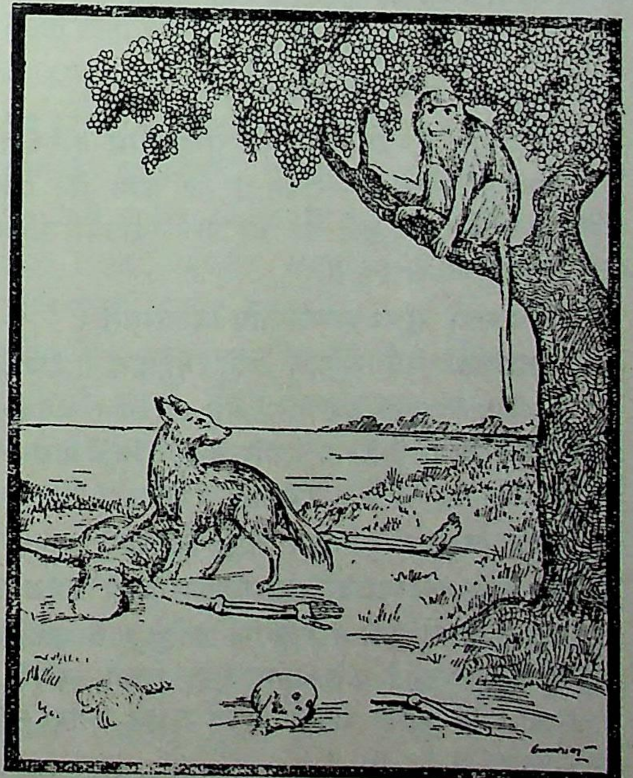
भारत ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष सियार और वानरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

तौ सखायौ पुरा ह्यास्तां मानुषत्वे परंतप ।
अन्यां योनिं समापन्नौ शार्गालीं वानरीं तथा ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मनुष्य-जन्ममें जो दोनों पहले एक-दूसरेके मित्र थे, वे ही दूसरे जन्ममें सियार और वानरकी योनिमें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

ततः परासून् खादन्तं शृगालं वानरोऽब्रवीत् ।
श्मशानमध्ये सम्प्रेक्ष्य पूर्वजातिमनुस्मरन् ॥ १० ॥
किं त्वया पापकं पूर्वं कृतं कर्म सुदारुणम् ।
यस्त्वं श्मशाने मृतकान् पूतिकानत्सि कुत्सितान् ॥

तदनन्तर एक दिन सियारको मरघटमें मुर्दे खाता देख वानरने पूर्व-जन्मका स्मरण करके पूछा—'भैया ! तुमने पहले



जन्ममें कौन-सा भयंकर पाप किया था, जिससे तुम मरघटमें घृणित एवं दुर्गन्धयुक्त मुर्दे खा रहे हो ?' ॥ १०-११ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच श्रृगालो वानरं तदा ।
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य न मया तदुपाहृतम् ॥ १२ ॥
तत्कृते पापकीं योनिमापन्नोऽस्मि प्लवङ्गम ।
तस्मादेवंविधं भक्ष्यं भक्षयामि बुभुक्षितः ॥ १३ ॥

वानरके इस प्रकार पूछनेपर सियारने उसे उत्तर दिया—'भाई वानर ! मैंने ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा करके वह वस्तु उसे नहीं दी थी । इसीके कारण मैं इस पापयोनिमें आ पड़ा हूँ और उसी पापसे भूखा होनेपर मुझे इस तरहका घृणित भोजन करना पड़ता है' ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

श्रृगालो वानरं प्राह पुनरेव नरोत्तम ।
किं त्वया पातकं कर्म कृतं येनासि वानरः ॥ १४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! इसके बाद सियारने वानरसे पुनः पूछा—'तुमने कौन-सा पाप किया था ? जिससे वानर हो गये ?' ॥ १४ ॥

वानर उवाच

सदा चाहं फलाहारो ब्राह्मणानां प्लवङ्गमः ।
तस्मान्न ब्राह्मणस्वं तु हर्तव्यं विदुषा सदा ।
समं विवादो मोक्तव्यो दातव्यं स प्रतिश्रुतम् ॥ १५ ॥

वानरने कहा—मैं सदा ब्राह्मणोंका फल चुराकर खाया करता था; इसी पापसे वानर हुआ । अतः विज्ञ पुरुषको कभी ब्राह्मणका धन नहीं चुराना चाहिये । उनके साथ कभी झगड़ा नहीं करना चाहिये और उनके लिये जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की गयी हो, वह अवश्य दे देनी चाहिये ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् ब्रुवतो राजन् ब्राह्मणस्य मया श्रुतम् ।
कथां कथयतः पुण्यां धर्मज्ञस्य पुरातनीम् ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा मैंने एक धर्मज्ञ ब्राह्मणके मुखसे सुनी है; जो प्राचीनकालकी पवित्र कथाएँ सुनाता था ॥ १६ ॥

श्रुतश्चापि मया भूयः कृष्णस्यापि विशाम्पते ।
कथां कथयतः पूर्वं ब्राह्मणं प्रति पाण्डव ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! पाण्डुनन्दन ! फिर मैंने यही बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भी सुनी थी; जब कि वे पहले किसी ब्राह्मणसे ऐसी ही कथा कह रहे थे ॥ १७ ॥

न हर्तव्यं विप्रधनं क्षन्तव्यं तेषु नित्यशः ।
बालाश्च नावमन्तव्या दरिद्राः कृपणा अपि ॥ १८ ॥

ब्राह्मणका धन कभी नहीं चुराना चाहिये । वे अपराध करें तो भी सदा उनके प्रति क्षमाभाव ही रखना चाहिये । वे बालक, दरिद्र अथवा दीन हों तो भी उनका अनादर नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

एवमेव च मां नित्यं ब्राह्मणाः संदिशन्ति वै ।
प्रतिश्रुत्य भवेद् देयं नाशा कार्या द्विजोत्तमे ॥ १९ ॥

ब्राह्मणलोग भी मुझे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि प्रतिज्ञा कर लेनेपर वह वस्तु ब्राह्मणको दे ही देनी चाहिये । किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आशा भङ्ग नहीं करनी चाहिये ॥ १९ ॥

ब्राह्मणो ह्याशया पूर्वं कृतया पृथिवीपते ।
सुसमिद्धो यथा दीप्तः पावकस्तद्विधः स्मृतः ॥ २० ॥

पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणको पहले आशा दे देनेपर वह समिधासे प्रज्वलित हुई अग्निके समान उद्दीप्त हो उठता है ॥ २० ॥

यं निरीक्षत संक्रुद्ध आशया पूर्वजातया ।
प्रदहेच्च हि तं राजन् कक्षमक्षय्यभुग् यथा ॥ २१ ॥

राजन् ! पहलेकी लगी हुई आशा भङ्ग होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ ब्राह्मण जिसकी ओर देख लेता है, उसे उसी प्रकार जलाकर भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि सूखी लकड़ी अथवा तिनकोंके बोझको जला देती है ॥ २१ ॥

स एव हि यदा तुष्टो वचसा प्रतिनन्दति ।
भवत्यगदसंकाशो विषये तस्य भारत ॥ २२ ॥

भारत ! वही ब्राह्मण जब आशापूर्तिसे संतुष्ट होकर वाणीद्वारा राजाका अभिनन्दन करता है—उसे आशीर्वाद देता है, तब उसके राज्यके लिये वह चिकित्सकके तुल्य हो जाता है ॥ २२ ॥

पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चैव बान्धवान् सचिवांस्तथा ।
पुरं जनपदं चैव शान्तिरिष्टेन पोषयेत् ॥ २३ ॥

तथा उस दाताके पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव, पशु, मन्त्री, नगर और जनपदके लिये वह शान्तिदायक बनकर उन्हें कल्याणका भागी बनाता और उन सबका पोषण करता है ॥

एतद्धि परमं तेजो ब्राह्मणस्येह दृश्यते ।
सहस्रकिरणस्येव सवितुर्धरणीतले ॥ २४ ॥

इस पृथ्वीपर ब्राह्मणका उत्कृष्ट तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यदेवके समान दृष्टिगोचर होता है ॥ २४ ॥

तस्माद् दातव्यमेवेह प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिर ।
यदीच्छेच्छोभनां जातिं प्राप्तुं भरतसत्तम ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इसलिये जो उत्तम योनिमें जन्म लेना चाहता हो, उसे ब्राह्मणको देनेकी प्रतिज्ञा की हुई वस्तु अवश्य दे डालनी चाहिये ॥ २५ ॥

ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः ।
शक्यः प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया ॥ २६ ॥

ब्राह्मणको दान देनेसे निश्चय ही परम उत्तम स्वर्गलोकको विशेष रूपसे प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि दान महान् पुण्यकर्म है ॥ २६ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।
तस्माद् दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता ॥ २७ ॥

इस लोकमें ब्राह्मणको दान देनेसे देवता और पितर तृप्त होते हैं; इसलिये विद्वान् पुरुष ब्राह्मणको अवश्य दान दे ॥

महद्धि भरतश्रेष्ठ ब्राह्मणस्तीर्थमुच्यते ।

वेलायां न तु कस्यांचिद् गच्छेद् विप्रो ह्यपूजितः॥ २८॥

भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण महान् तीर्थ कहे जाते हैं; अतः वे किसी भी समय घरपर आ जायँ तो बिना सत्कार किये उन्हें नहीं जाने देना चाहिये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शृगालवानरसंवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सियार और वानरका संवादविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अनधिकारीको उपदेश देनेसे हानिके विषयमें एक शूद्र और तपस्वी ब्राह्मणकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

मित्रसौहार्दयोगेन उपदेशं करोति यः।
जात्याधरस्य राजर्षेर्दोषस्तस्य भवेन्न वा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन व्याख्यातुं वै पितामह।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई मित्रता या सौहार्दके सम्बन्धसे किसी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश देता है तो उस राजर्षिको दोष लगेगा या नहीं ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। आप इसका विशदरूपसे विवेचन करें; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है, जहाँ मनुष्य मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि शृणु राजन् यथाक्रमम्।
ऋषीणां वदतां पूर्वं श्रुतमासीत् यथा पुरा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें पूर्वकालमें ऋषियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है, उसी क्रमसे बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३ ॥

उपदेशो न कर्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित्।
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ॥ ४ ॥

किसी भी नीच जातिके मनुष्यको उपदेश नहीं देना चाहिये। उसे उपदेश देनेपर उपदेशक आचार्यके लिये महान् दोष बताया जाता है ॥ ४ ॥

निदर्शनमिदं राजञ्शृणु मे भरतर्षभ।
दुरुक्तवचने राजन् यथापूर्वं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भरतभूषण राजा युधिष्ठिर ! इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो, जो दुःखमें पड़े हुए एक नीच जातिके पुरुषको उपदेश देनेसे सम्बन्धित है ॥ ५ ॥

ब्रह्माश्रमपदे वृत्तं पार्श्वे हिमवतः शुभे।
तत्राश्रमपदं पुण्यं नानावृक्षगणायुतम् ॥ ६ ॥

हिमालयके सुन्दर पार्श्वभागमें, जहाँ बहुत-से ब्राह्मणोंके आश्रम बने हुए हैं, यह वृत्तान्त घटित हुआ था। उस प्रदेशमें एक पवित्र आश्रम है, जहाँ नाना प्रकारके हरे-भरे वृक्ष शोभा पाते हैं ॥ ६ ॥

नानागुल्मलताकीर्णं मृगद्विजनिषेवितम्।
सिद्धचारणसंयुक्तं रम्यं पुष्पितकाननम् ॥ ७ ॥

नाना प्रकारकी लता-बेलें वहाँ छायी हुई हैं। मृग और पक्षी उस आश्रमका सेवन करते हैं। सिद्ध और चारण वहाँ सदा निवास करते हैं। उस रमणीय आश्रमके आस-पासका वन सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित है ॥ ७ ॥

व्रतिभिर्बहुभिः कीर्णं तापसैरुपसेवितम्।
ब्राह्मणैश्च महाभागैः सूर्यज्वलनसंनिभैः ॥ ८ ॥

बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी उस आश्रमका सेवन करते हैं। कितने ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी महाभाग ब्राह्मण वहाँ भरे रहते हैं ॥ ८ ॥

नियमव्रतसम्पन्नैः समाकीर्णं तपस्विभिः।
दीक्षितैर्भरतश्रेष्ठ यताहारैः कृतात्मभिः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नियम और व्रतसे सम्पन्न, तपस्वी, दीक्षित, मिताहारी और जितात्मा मुनियोंसे वह आश्रम भरा रहता है ॥

तपोऽध्ययनघोषैश्च नादितं भरतर्षभ।
वालखिल्यैश्च बहुभिर्यतिभिश्च निषेवितम् ॥ १० ॥

भरतभूषण ! वहाँ सब ओर वेदाध्ययनकी ध्वनि गूँजती रहती है। बहुत-से वालखिल्य एवं संन्यासी उस आश्रमका सेवन करते हैं ॥ १० ॥

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः ॥ ११ ॥

उसी आश्रममें कोई दयालु शूद्र बड़ा उत्साह करके आया। वहाँ रहनेवाले तपस्वी ऋषियोंने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ११ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा मुनिगणान् देवकल्पान् महौजसः।
विविधां वहतो दीक्षां सम्प्राहृष्यत भारत ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! उस आश्रमके महातेजस्वी देवोपम मुनियोंको नाना प्रकारकी दीक्षा धारण किये देख उस शूद्रको बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२ ॥

अथास्य बुद्धिरभवत् तपस्ये भरतर्षभ।
ततोऽब्रवीत् कुलपतिं पादौ संगृह्य भारत ॥ १३ ॥

भारत ! भरतभूषण ! उसके मनमें वहाँ तपस्या करनेका विचार उत्पन्न हुआ; अतः उसने कुलपतिके पैर पकड़कर कहा— ॥ १३ ॥

भवत्प्रसादादिच्छामि धर्मं वक्तुं द्विजर्षभ।
तन्मां त्वं भगवन् वक्तुं प्रव्राजयितुमर्हसि ॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपकी कृपासे धर्मका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ। अतः भगवन् ! आप मुझे विधिवत् संन्यासी-की दीक्षा दे दें ॥ १४ ॥

वर्णावरोऽहं भगवञ्शूद्रो जात्यास्मि सत्तम।
शुश्रूषां कर्तुमिच्छामि प्रपन्नाय प्रसीद मे ॥ १५ ॥

'भगवन् ! साधुशिरोमणे ! मैं वर्णोंमें सबसे छोटा शूद्र जातिका हूँ और यहीं रहकर संतोंकी सेवा करना चाहता हूँ; अतः मुझ शरणागतपर आप प्रसन्न हों' ॥ १५ ॥

कुलपतिरुवाच

न शक्यमिह शूद्रेण लिङ्गमाश्रित्य वर्तितुम्।
आस्यतां यदि ते बुद्धिः शुश्रूषानिरतो भव ॥ १६ ॥
शुश्रूषया पराँल्लोकानवाप्स्यसि न संशयः ॥ १७ ॥

कुलपतिने कहा—इस आश्रममें कोई शूद्र संन्यासका चिह्न धारण करके नहीं रह सकता। यदि तुम्हारा विचार यहाँ रहनेका हो तो यों ही रहो और साधु-महात्माओंकी सेवा करो। सेवासे ही तुम उत्तम लोक प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १६-१७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु मुनिना स शूद्रोऽचिन्तयन्नृप।
कथमत्र मया कार्यं श्रद्धा धर्मपरा च मे ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! मुनिके ऐसा कहनेपर शूद्रने सोचा, यहाँ मुझे क्या करना चाहिये ? मेरी श्रद्धा तो संन्यास-धर्मके अनुष्ठानके लिये ही है ॥ १८ ॥

विज्ञातमेवं भवतु करिष्ये प्रियमात्मनः।
गत्वाऽऽश्रमपदाद् दूरमुटजं कृतवांस्तु सः ॥ १९ ॥

अच्छा, एक बात समझमें आयी। शूद्रके लिये ऐसा ही विधान हो तो रहे। मैं तो वही करूँगा जो मुझे प्रिय लगता है—ऐसा विचारकर उसने उस आश्रमसे दूर जाकर एक पर्णकुटी बना ली ॥ १९ ॥

तत्र वेदीं च भूमिं च देवतायतनानि च।
निवेश्य भरतश्रेष्ठ नियमस्थोऽभवन्मुनिः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यज्ञके लिये वेदी, रहनेके लिये स्थान और देवालय बनाकर मुनिकी भाँति नियमपूर्वक रहने लगा ॥

अभिषेकांश्च नियमान् देवतायतनेषु च।
बलिं च कृत्वा हुत्वा च देवतां चाप्यपूजयत् ॥ २१ ॥

वह तीनों समय नहाता, नियमोंका पालन करता, देव-स्थानोंमें पूजा चढ़ाता, अग्निमें आहुति देता और देवताकी पूजा करता था ॥ २१ ॥

संकल्पनियमोपेतः फलाहारो जितेन्द्रियः।
नित्यं संनिहिताभिस्तु ओषधीभिः फलैस्तथा ॥ २२ ॥
अतिथीन् पूजयामास यथावत् समुपागतान्।
एवं हि सुमहान् कालो व्यत्यक्रामत तस्य वै ॥ २३ ॥

वह मानसिक संकल्पोंका नियन्त्रण (चित्तवृत्तियोंका निरोध) करते हुए फल खाकर रहता और इन्द्रियोंको काबूमें रखता था। उसके यहाँ जो अन्न और फल उपस्थित रहता, उन्हींके द्वारा प्रतिदिन आये हुए अतिथियोंका यथोचित सत्कार करता था। इस प्रकार रहते हुए उस शूद्र मुनिको बहुत समय बीत गया ॥ २२-२३ ॥

अथास्य मुनिरागच्छत् संगत्या वै तमाश्रमम्।
सम्पूज्य स्वागतेनर्षिं विधिवत् समतोषयत् ॥ २४ ॥

एक दिन एक मुनि सत्सङ्गकी दृष्टिसे उसके आश्रमपर पधारे। उस शूद्रने विधिवत् स्वागत-सत्कार करके ऋषिका पूजन किया और उन्हें संतुष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

अनुकूलाः कथाः कृत्वा यथागतमपृच्छत।
ऋषिः परमतेजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ २५ ॥
एवं सुबहुशस्तस्य शूद्रस्य भरतर्षभ।
सोऽगच्छदाश्रममृषिः शूद्रं द्रष्टुं नरर्षभ ॥ २६ ॥

भरतभूषण नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् उसने अनुकूल बातें करके उनके आगमनका वृत्तान्त पूछा। तबसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे परम तेजस्वी धर्मात्मा ऋषि अनेक बार उस शूद्रके आश्रमपर उससे मिलनेके लिये आये ॥ २५-२६ ॥

अथ तं तापसं शूद्रः सोऽब्रवीद् भरतर्षभ।
पितृकार्यं करिष्यामि तत्र मेऽनुग्रहं कुरु ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिन उस शूद्रने उन तपस्वी मुनिसे कहा—'मैं पितरोंका श्राद्ध करूँगा। आप उसमें मुझपर अनुग्रह कीजिये' ॥ २७ ॥

बाढमित्येव तं विप्र उवाच भरतर्षभ।
शुचिर्भूत्वा स शूद्रस्तु तस्यर्षेः पाद्यमानयत् ॥ २८ ॥

भरतभूषण नरेश ! तब ब्राह्मणने 'बहुत अच्छा' कहकर उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् शूद्र नहा-धोकर शुद्ध हो उन ब्रह्मर्षिके पैर धोनेके लिये जल ले आया ॥

अथ दर्भांश्च वन्यांश्च ओषधीर्भरतर्षभ।
पवित्रमासनं चैव बृसीं च समुपानयत् ॥ २९ ॥

भरतर्षभ ! तदनन्तर वह जंगली कुशा, अन्न आदि ओषधि, पवित्र आसन और कुशकी चटाई ले आया ॥ २९ ॥

अथ दक्षिणमावृत्य बृसीं चरमशीर्षिकीम्।
कृतामन्यायतो दृष्ट्वा तं शूद्रमृषिरब्रवीत् ॥ ३० ॥

उसने दक्षिण दिशामें ले जाकर ब्राह्मणके लिये पश्चिमाग्र चटाई बिछा दी। यह शास्त्रके विपरीत अनुचित आचार देखकर ऋषिने शूद्रसे कहा— ॥ ३० ॥

कुरुष्वैतां पूर्वशीर्षां भवांश्चोदङ्मुखः शुचिः।
स च तत् कृतवान् शूद्रः सर्वं यदृषिरब्रवीत् ॥ ३१ ॥

'तुम इस कुशकी चटाईका अग्रभाग तो पूर्व दिशाकी ओर करो और स्वयं शुद्ध होकर उत्तराभिमुख बैठो।' ऋषिने जो-जो कहा, शूद्रने वह सब किया ॥ ३१ ॥

यथोपदिष्टं मेधावी दर्भार्घ्यादि यथातथम् ।
हव्यकव्यविधिं कृत्स्नमुक्तं तेन तपस्विना ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् शूद्रने कुश, अर्घ्य आदि तथा हव्य-कव्यकी विधि—सब कुछ उन तपस्वी मुनिके उपदेशके अनुसार ठीक-ठीक किया ॥ ३२ ॥

ऋषिणा पितृकार्ये च स च धर्मपथे स्थितः ।
पितृकार्ये कृते चापि विसृष्टः स जगाम ह ॥ ३३ ॥

ऋषिके द्वारा पितृकार्य विधिवत् सम्पन्न हो जानेपर वे ऋषि शूद्रसे विदा लेकर चले गये और वह शूद्र धर्ममार्गमें स्थित हो गया ॥ ३३ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य स तप्यञ्शूद्रतापसः ।
वने पञ्चत्वमगमत् सुकृतेन च तेन वै ॥ ३४ ॥
अजायत महाराजवंशे स च महाद्युतिः ।

तदनन्तर दीर्घकालतक तपस्या करके वह शूद्र तपस्वी वनमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ और उसी पुण्यके प्रभावसे एक महान् राजवंशमें महातेजस्वी बालकके रूपमें उत्पन्न हुआ॥

तथैव स ऋषिस्तात कालधर्ममवाप ह ॥ ३५ ॥
पुरोहितकुले विप्र आजातो भरतर्षभ ।
एवं तौ तत्र सम्भूतावुभौ शूद्रमुनी तदा ॥ ३६ ॥
क्रमेण वर्धितौ चापि विद्यासु कुशलावुभौ ॥ ३७ ॥

तात ! इसी प्रकार वे ऋषि भी कालधर्म—मृत्युको प्राप्त हुए । भरतश्रेष्ठ ! वे ही ऋषि दूसरे जन्ममें उसी राजवंशके पुरोहितके कुलमें उत्पन्न हुए । इस प्रकार वह शूद्र और वे मुनि दोनों ही वहाँ उत्पन्न हुए, क्रमशः बढ़े और सब प्रकारकी विद्याओंमें निपुण हो गये ॥ ३५–३७ ॥

अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिष्ठितः ।
कल्पप्रयोगे चोत्पन्ने ज्योतिषे च परं गतः ॥ ३८ ॥
सांख्ये चैव परा प्रीतिस्तस्य चैवं व्यवर्धत ।

वे ऋषि वेद और अथर्ववेदके परिनिष्ठित विद्वान् हो गये । कल्पप्रयोग और ज्योतिषमें भी पारङ्गत हुए । सांख्यमें भी उनका परम अनुराग बढ़ने लगा ॥ ३८½ ॥

पितर्युपरते चापि कृतशौचस्तु पार्थिव ॥ ३९ ॥
अभिषिक्तः प्रकृतिभी राजपुत्रः स पार्थिवः ।

नरेश ! पिताके परलोकवासी हो जानेपर शुद्ध होनेके पश्चात् मन्त्री और प्रजा आदिने मिलकर उस राजकुमारको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३९½ ॥

अभिषिक्तेन स ऋषिरभिषिक्तः पुरोहितः ॥ ४० ॥

राजाने अभिषिक्त होनेके साथ ही उस ऋषिका भी पुरोहितके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ ४० ॥

स तं पुरोधाय सुखमवसद् भरतर्षभ ।
राज्यं शशास धर्मेण प्रजाश्च परिपालयन् ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऋषिको पुरोहित बनाकर वह राजा सुखपूर्वक रहने और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए राज्यका शासन करने लगा ॥ ४१ ॥

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकार्येषु चासकृत् ।
उत्स्मयन् प्राहसच्चापि दृष्ट्वा राजा पुरोहितम् ॥ ४२ ॥

जब पुरोहितजी प्रतिदिन पुण्याहवाचन करते और निरन्तर धर्मकार्यमें संलग्न रहते, उस समय राजा उन्हें देखकर कभी मुसकराते और कभी जोर-जोरसे हँसने लगते थे ॥ ४२ ॥

एवं स बहुशो राजन् पुरोधसमुपाहसत् ।
लक्षयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ॥ ४३ ॥
उत्स्मयन्तं च सततं दृष्ट्वासौ मन्युमाविशत् ।

राजन् ! इस प्रकार अनेक बार राजाने पुरोहितका उपहास किया । पुरोहितने जब अनेक बार और निरन्तर उस राजाको अपने प्रति हँसते और मुसकराते लक्ष्य किया, तब उनके मनमें बड़ा खेद और क्षोभ हुआ ॥ ४३½ ॥

अथ शून्ये पुरोधास्तु सह राज्ञा समागतः ॥ ४४ ॥
कथाभिरनुकूलाभी राजानं चाभ्यरोचयत् ।

तदनन्तर एक दिन पुरोहितजी राजासे एकान्तमें मिले और मनोनुकूल कथाएँ सुनाकर राजाको प्रसन्न करने लगे ॥

ततोऽब्रवीन्नरेन्द्रं स पुरोधा भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
वरमिच्छाम्यहं त्वेकं त्वया दत्तं महाद्युते ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर पुरोहित राजासे इस प्रकार बोले—'महातेजस्वी नरेश ! मैं आपका दिया हुआ एक वर प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ ४५-४६ ॥

राजोवाच

वराणां ते शतं दद्यां किं बतैकं द्विजोत्तम ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च नास्त्यदेयं हि मे तव ॥ ४७ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपको सौ वर दे सकता हूँ । एककी तो बात ही क्या । आपके प्रति मेरा जो स्नेह और विशेष आदर है, उसे देखते हुए मेरे पास आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ४७ ॥

पुरोहित उवाच

एकं वै वरमिच्छामि यदि तुष्टोऽसि पार्थिव ।
प्रतिजानीहि तावत् त्वं सत्यं यद् वद नानृतम् ॥ ४८ ॥

पुरोहितने कहा—पृथ्वीनाथ ! यदि आप प्रसन्न हों तो मैं एक ही वर चाहता हूँ । आप पहले यह प्रतिज्ञा कीजिये कि 'मैं दूँगा ।' इस विषयमें सत्य कहिये, झूठ न बोलिये ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

बाढमित्येव तं राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिर ।
यदि ज्ञास्यामि वक्ष्यामि अजानन् न तु संवदे ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब राजाने उत्तर

दिया, 'बहुत अच्छा। यदि मैं जानता होऊँगा तो अवश्य बता दूँगा और यदि नहीं जानता होऊँगा तो नहीं बताऊँगा'॥

पुरोहित उवाच

पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकृत्येषु चासकृत्।
शान्तिहोमेषु च सदा किं त्वं हससि वीक्ष्य माम्॥५०॥

पुरोहितजीने कहा—महाराज! प्रतिदिन पुण्याहवाचनके समय तथा बारंबार धार्मिक कृत्य कराते समय एवं शान्तिहोमके अवसरोंपर आप मेरी ओर देखकर क्यों हँसा करते हैं?॥ ५०॥

सव्रीडं वै भवति हि मनो मे हसता त्वया।
कामया शापितो राजन् नान्यथा वक्तुमर्हसि॥५१॥

आपके हँसनेसे मेरा मन लज्जित-सा हो जाता है। राजन्! मैं शपथ दिलाकर पूछ रहा हूँ, आप इच्छानुसार सच-सच बताइये। दूसरी बात कहकर बहलाइयेगा मत॥

सुव्यक्तं कारणं ह्यत्र न ते हास्यमकारणम्।
कौतूहलं मे सुभृशं तत्त्वेन कथयस्व मे॥५२॥

आपके इस हँसनेमें स्पष्ट ही कोई विशेष कारण जान पड़ता है। आपका हँसना बिना किसी कारणके नहीं हो सकता। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; अतः आप यथार्थ रूपसे यह सब कहिये॥ ५२॥

राजोवाच

एवमुक्ते त्वया विप्र यदवाच्यं भवेदपि।
अवश्यमेव वक्तव्यं शृणुष्वैकमना द्विज॥५३॥

राजाने कहा—विप्रवर! आपके इस प्रकार पूछनेपर तो यदि कोई न कहने योग्य बात हो तो उसे भी अवश्य ही कह देना चाहिये। अतः आप मन लगाकर सुनिये॥ ५३॥

पूर्वदेहे यथा वृत्तं तन्निबोध द्विजोत्तम।
जातिं स्मराम्यहं ब्रह्मन्नवधानेन मे शृणु॥५४॥

द्विजश्रेष्ठ! जब हमने पूर्वजन्ममें शरीर धारण किया था, उस समय जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनिये। ब्रह्मन्! मुझे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण है। आप ध्यान देकर मेरी बात सुनिये॥ ५४॥

शूद्रोऽहमभवं पूर्वं तापसो भृशसंयुतः।
ऋषिरुग्रतपास्त्वं च तदाभूद् द्विजसत्तम॥५५॥

विप्रवर! पहले जन्ममें मैं शूद्र था। फिर बड़ा भारी तपस्वी हो गया। उन्हीं दिनों आप उग्र तप करनेवाले श्रेष्ठ महर्षि थे॥ ५५॥

प्रीयता हि तदा ब्रह्मन् ममानुग्रहबुद्धिना।
पितृकार्ये त्वया पूर्वमुपदेशः कृतोऽनघ॥५६॥

निष्पाप ब्रह्मन्! उन दिनों आप मुझसे बड़ा प्रेम रखते थे; अतः मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके विचारसे आपने पितृकार्यमें मुझे आवश्यक विधिका उपदेश किया था॥५६॥

बृस्यां दर्भेषु हव्ये च कव्ये च मुनिसत्तम।
एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायथाः॥५७॥

मुनिश्रेष्ठ! कुशके चट कैसे रखे जायँ? कुशा कैसे बिछायी जाय? हव्य और कव्य कैसे समर्पित किये जायँ? इन्हीं सब बातोंका आपने मुझे उपदेश दिया था। इसी कर्म-दोषके कारण आपको इस जन्ममें पुरोहित होना पड़ा॥५७॥

अहं राजा च विप्रेन्द्र पश्य कालस्य पर्ययम्।
मत्कृतस्योपदेशस्य त्वयावाप्तमिदं फलम्॥५८॥

विप्रेन्द्र! यह कालका उलट-फेर तो देखिये कि मैं तो शूद्रसे राजा हो गया और मुझे ही उपदेश करनेके कारण आपको यह फल मिला॥ ५८॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् प्रहसे त्वां द्विजोत्तम।
न त्वां परिभवन् ब्रह्मन् प्रहसामि गुरुर्भवान्॥५९॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! इसी कारणसे मैं आपकी ओर देखकर हँसता हूँ। आपका अनादर करनेके लिये मैं आपकी हँसी नहीं उड़ाता हूँ; क्योंकि आप मेरे गुरु हैं॥ ५९॥

विपर्ययेण मे मन्युस्तेन संतप्यते मनः।
जातिं स्मराम्यहं तुभ्यमतस्त्वां प्रहसामि वै॥६०॥

यह जो उलट-फेर हुआ है, इससे मुझको बड़ा खेद है और इसीसे मेरा मन संतप्त रहता है। मैं अपनी और आपकी भी पूर्वजन्मकी बातोंको याद करता हूँ; इसीलिये आपकी ओर देखकर हँस देता हूँ॥ ६०॥

एवं तवोग्रं हि तप उपदेशेन नाशितम्।
पुरोहितत्वमुत्सृज्य यतस्व त्वं पुनर्भवे॥६१॥

आपकी उग्र तपस्या थी, वह मुझे उपदेश देनेके कारण नष्ट हो गयी। अतः आप पुरोहितका काम छोड़कर पुनः संसारसागरसे पार होनेके लिये प्रयत्न कीजिये॥ ६१॥

इतस्त्वमधमामन्यां मा योनिं प्राप्स्यसे द्विज।
गृह्यतां द्रविणं विप्र पूतात्मा भव सत्तम॥६२॥

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कहीं ऐसा न हो कि आप इसके बाद दूसरी किसी नीच योनिमें पड़ जायँ। अतः विप्रवर! जितना चाहिये धन ले लीजिये और अपने अन्तःकरणको पवित्र बनानेका प्रयत्न कीजिये॥ ६२॥

भीष्म उवाच

ततो विसृष्टो राज्ञा तु विप्रो दानान्यनेकशः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं भूमिं ग्रामांश्च सर्वशः॥६३॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर राजासे विदा लेकर पुरोहितने बहुत-से ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये। धन, भूमि और ग्राम भी वितरण किये॥ ६३॥

कृच्छ्राणि चीर्त्वा च ततो यथोक्तानि द्विजोत्तमैः।
तीर्थानि चापि गत्वा वै दानानि विविधानि च॥६४॥

उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके बताये अनुसार उन्होंने अनेक प्रकारके कृच्छ्रव्रत किये और तीर्थोंमें जाकर नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान कीं॥ ६४॥

दत्त्वा गाश्चैव विप्रेभ्यः पूतात्माभवदात्मवान्।
तमेव चाश्रमं गत्वा चचार विपुलं तपः ॥ ६५ ॥

ब्राह्मणोंको गोदान करके पवित्रात्मा होकर उन मनस्वी ब्राह्मणने फिर उसी आश्रमपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥

ततः सिद्धिं परां प्राप्तो ब्राह्मणो राजसत्तम।
सम्मतश्चाभवत् तेषामाश्रमे तन्निवासिनाम् ॥ ६६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर परम सिद्धिको प्राप्त होकर वे ब्राह्मण देवता उस आश्रममें रहनेवाले समस्त साधकोंके लिये सम्माननीय हो गये ॥ ६६ ॥

एवं प्राप्तो महत्कृच्छ्रमृषिः सन्नृपसत्तम।
ब्राह्मणेन न वक्तव्यं तस्माद् वर्णावरे जने ॥ ६७ ॥

नृपशिरोमणे ! इस प्रकार वे ऋषि शूद्रको उपदेश देनेके कारण महान् कष्टमें पड़ गये; इसलिये ब्राह्मणको चाहिये कि वह नीच वर्णके मनुष्यको उपदेश न दे ॥ ६७ ॥

(वर्जयेदुपदेशं च सदैव ब्राह्मणो नृप।
उपदेशं हि कुर्वाणो द्विजः कृच्छ्रमवाप्नुयात् ॥

नरेश्वर ! ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी शूद्रको उपदेश न दे; क्योंकि उपदेश करनेवाला ब्राह्मण स्वयं ही संकटमें पड़ जाता है॥

नेषितव्यं सदा वाचा द्विजेन नृपसत्तम।
न च प्रवक्तव्यमिह किंचिद् वर्णावरे जने ॥)

नृपश्रेष्ठ ! ब्राह्मणको अपनी वाणीद्वारा कभी उपदेश देनेकी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। यदि करे भी तो नीच वर्णके पुरुषको तो कदापि कुछ उपदेश न दे ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
एतेषु कथयन् राजन् ब्राह्मणो न प्रदुष्यति ॥ ६८ ॥

राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। इन्हें उपदेश देनेवाला ब्राह्मण दोषका भागी नहीं होता है ॥ ६८ ॥

तस्मात् सद्भिर्न वक्तव्यं कस्यचित् किंचिदग्रतः।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः ॥ ६९ ॥

इसलिये सत्पुरुषोंको कभी किसीके सामने कोई उपदेश नहीं देना चाहिये; क्योंकि धर्मकी गति सूक्ष्म है। जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध एवं वशीभूत नहीं कर लिया है, उनके लिये धर्मकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है ॥ ६९ ॥

तस्मान्मौनेन मुनयो दीक्षां कुर्वन्ति चादृताः।
दुरुक्तस्य भयाद् राजन् नाभाषन्ते च किंचन ॥ ७० ॥

राजन् ! इसीलिये ऋषि-मुनि मौनभावसे ही आदरपूर्वक दीक्षा देते हैं। कोई अनुचित बात मुँहसे न निकल जाय, इसीके भयसे वे कोई भाषण नहीं देते हैं ॥ ७० ॥

धार्मिका गुणसम्पन्नाः सत्यार्जवसमन्विताः।
दुरुक्तवाचाभिहितैः प्राप्नुवन्तीह दुष्कृतम् ॥ ७१ ॥

धार्मिक, गुणवान् तथा सत्य-सरलता आदि गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी शास्त्रविरुद्ध अनुचित वचन कह देनेके कारण यहाँ दुष्कर्मके भागी हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

उपदेशो न कर्तव्यः कदाचिदपि कस्यचित्।
उपदेशाद्धि तत् पापं ब्राह्मणः समवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि वह कभी किसीको उपदेश न करे; क्योंकि उपदेश करनेसे वह शिष्यके पापको स्वयं ग्रहण करता है ॥

विमृश्य तस्मात् प्राज्ञेन वक्तव्यं धर्ममिच्छता।
सत्यानृतेन हि कृत उपदेशो हिनस्ति हि ॥ ७३ ॥

अतः धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् पुरुषको बहुत सोच-विचारकर बोलना चाहिये; क्योंकि साँच और झूठ-मिश्रित वाणीसे किया गया उपदेश हानिकारक होता है ॥ ७३ ॥

वक्तव्यमिह पृष्टेन विनिश्चित्य विनिश्चयम्।
स चोपदेशः कर्तव्यो येन धर्ममवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

यहाँ किसीके पूछनेपर बहुत सोच-विचारकर शास्त्रका जो सिद्धान्त हो, वही बताना चाहिये तथा उपदेश वह करना चाहिये, जिससे धर्मकी प्राप्ति हो ॥ ७४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमुपदेशकृते मया।
महान् क्लेशो हि भवति तस्मान्नोपदिशेदिह ॥ ७५ ॥

उपदेशके सम्बन्धमें मैंने ये सब बातें तुम्हें बतायी हैं। अनधिकारीको उपदेश देनेसे महान् क्लेश प्राप्त होता है। इसलिये यहाँ किसीको उपदेश न दे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शूद्रमुनिसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शूद्र और मुनिका संवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७७ श्लोक हैं)

एकादशोऽध्यायः

लक्ष्मीके निवास करने और न करने योग्य पुरुष, स्त्री और स्थानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! कैसे पुरुषमें और किस तरहकी स्त्रियोंमें लक्ष्मी नित्य निवास करती हैं ? पितामह ! यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम्।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंनिधौ पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें एक यथार्थ वृत्तान्तको मैंने जैसा सुना है, उसीके अनुसार तुम्हें बता रहा हूँ। देवकीनन्दन श्रीकृष्णके समीप रुक्मिणीदेवीने साक्षात् लक्ष्मीसे जो कुछ पूछा था, वह मुझसे सुनो ॥ २ ॥

नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं
दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम्।
कौतूहलाद् विस्मितचारुनेत्रा
पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥

भगवान् नारायणके अङ्कमें बैठी हुई कमलके समान कान्तिवाली लक्ष्मीदेवीको अपनी प्रभासे प्रकाशित होती देख जिनके मनोहर नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे थे, उन प्रद्युम्नजननी रुक्मिणीदेवीने कौतूहलवश लक्ष्मीसे पूछा— ॥ ३ ॥

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं
संतिष्ठसे कानिव सेवसे त्वम्।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते
तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकन्ये ॥ ४ ॥

'महर्षि भृगुकी पुत्री तथा त्रिलोकीनाथ भगवान् नारायणकी प्रियतमे! देवि! तुम इस जगत्‌में किन प्राणियोंपर कृपा करके उनके यहाँ रहती हो? कहाँ निवास करती हो और किन-किनका सेवन करती हो? उन सबको मुझे यथार्थरूपसे बताओ' ॥ ४ ॥

एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा
देव्या समक्षं गरुडध्वजस्य।
उवाच वाक्यं मधुराभिधानं
मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ ५ ॥

रुक्मिणीके इस प्रकार पूछनेपर चन्द्रमुखी लक्ष्मीदेवीने प्रसन्न होकर भगवान् गरुडध्वजके सामने ही मीठी वाणीमें यह वचन कहा ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोलीं—देवि! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुषमें निवास करती हूँ, जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधनतत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुणसे युक्त हो ॥ ६ ॥

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥ ७ ॥

जो पुरुष अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुजनोंके दोष देखनेवाला हो, उसके भीतर मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ७ ॥

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ८ ॥

जिनमें तेज, बल, सत्त्व और गौरवकी मात्रा बहुत थोड़ी है, जो जहाँ-तहाँ हर बातमें खिन्न हो उठते हैं, जो मनमें दूसरा भाव रखते हैं और ऊपरसे कुछ और ही दिखाते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं निवास नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्
यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा।
तेष्वल्पसंतोषपरेषु नित्यं
नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ९ ॥

जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता, जिसका अन्तःकरण मूढ़तासे आच्छन्न है, जो थोड़ेमें ही संतोष कर लेते हैं, ऐसे मनुष्योंमें मैं भलीभाँति नित्य निवास नहीं करती हूँ ॥ ९ ॥

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे
क्षान्तासु दान्तासु तथाबलासु ॥ १० ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु।

जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले, क्षमाशील और सामर्थ्यशाली हैं, ऐसे पुरुषोंमें तथा क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय अबलाओंमें भी मैं निवास करती हूँ। जो स्त्रियाँ स्वभावतः सत्यवादिनी तथा सरलतासे संयुक्त हैं, जो देवताओं और द्विजोंकी पूजा करनेवाली हैं, उनमें भी मैं निवास करती हूँ ॥

(अबन्ध्यकालेषु सदा दानशौचरतेषु च।
ब्रह्मचर्यतपोज्ञानगोद्विजातिप्रियेषु च ॥

जो अपने समयको कभी व्यर्थ नहीं जाने देते, सदा दान एवं शौचाचारमें तत्पर रहते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य, तपस्या, ज्ञान, गौ और द्विज परम प्रिय हैं, ऐसे पुरुषोंमें मैं निवास करती हूँ ॥

वसामि स्त्रीषु कान्तासु देवद्विजपरासु च।
विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिरतासु च ॥)

जो स्त्रियाँ कमनीय गुणोंसे युक्त, देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें तत्पर, घरके बर्तन-भाँड़ोंको शुद्ध तथा स्वच्छ रखने-

वाली एवं गौओंकी सेवा तथा धान्यके संग्रहमें तत्पर होती हैं, उनमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ॥ ११ ॥
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो घरके बर्तनोंको सुव्यवस्थित रूपसे न रखकर इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पतिके प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जाको सर्वथा छोड़ बैठती हैं, उनको मैं त्याग देती हूँ ॥ ११½ ॥

पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ॥ १२ ॥
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।

जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचारमें तत्पर रहनेवाली, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय, नींदमें बेसुध होकर सदा खाटपर पड़ी रहनेवाली होती है, ऐसी नारीसे मैं सदा दूर ही रहती हूँ ॥ १२½ ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ॥ १३ ॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ।

जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषाके कारण देखनेमें प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, सद्गुणवती, पतिव्रता एवं कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १३½ ॥

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु
यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥ १४ ॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु
नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु ।
गजेषु गोष्ठेषु तथाऽऽसनेषु
सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥ १५ ॥

सुन्दर सवारियोंमें, कुमारी कन्याओंमें, आभूषणोंमें, यज्ञोंमें, वर्षा करनेवाले मेघोंमें, खिले हुए कमलोंमें, शरद् ऋतुकी नक्षत्र-मालाओंमें, हाथियों और गोशालाओंमें, सुन्दर आसनोंमें तथा खिले हुए उत्पल और कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १४-१५ ॥

नदीषु हंसस्वननादितासु
क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु
तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥ १६ ॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु
सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ।

जहाँ हंसोंकी मधुर ध्वनि गूँजती रहती है, क्रौञ्च पक्षीके कलरव जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, जो अपने तटोंपर फैले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे शोभायमान हैं, जिनके किनारे तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मण निवास करते हैं, जिनमें बहुत जल भरा रहता है तथा सिंह और हाथी जिनके जलमें अवगाहन करते रहते हैं, ऐसी नदियोंमें भी मैं सदा निवास करती रहती हूँ ॥

मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे
सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥ १७ ॥
यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥ १८ ॥

मतवाले हाथी, साँड़, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषोंमें मेरा नित्य-निवास है। जिस घरमें लोग अग्निमें आहुति देते हैं, गौ, ब्राह्मण तथा देवताओंकी पूजा करते हैं और समय-समयपर जहाँ फूलोंसे देवताओंको उपहार समर्पित किये जाते हैं, उस घरमें मैं नित्य निवास करती हूँ ॥ १७-१८ ॥

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥ १९ ॥

सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्म-परायण क्षत्रियों, कृषि-कर्ममें लगे हुए वैश्यों तथा नित्य सेवा-परायण शूद्रोंके यहाँ भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ १९ ॥

नारायणे त्वेकमना वसामि
सर्वेण भावेन शरीरभूता ।
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान् निविष्टो
ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम् ॥ २० ॥

मैं मूर्तिमती एवं अनन्यचित्त होकर तो भगवान् नारायणमें ही सम्पूर्ण भावसे निवास करती हूँ; क्योंकि उनमें महान् धर्म संनिहित है। उनका ब्राह्मणोंके प्रति प्रेम है और उनमें स्वयं सर्वप्रिय होनेका गुण भी है ॥ २० ॥

नाहं शरीरेण वसामि देवि
नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन् निवसामि पुंसि
स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ॥ २१ ॥

देवि ! मैं नारायणके सिवा अन्यत्र शरीरसे नहीं निवास

करती हूँ। मैं यहाँ ऐसा नहीं कह सकती कि सर्वत्र इसी रूपमें रहती हूँ। जिस पुरुषमें भावनाद्वारा निवास करती हूँ, वह धर्म, यश, धन और कामसे सम्पन्न होकर सदा बढ़ता रहता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्रीरुक्मिणीसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लक्ष्मी और रुक्मिणीका संवादविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)



द्वादशोऽध्यायः

कृतघ्नकी गति और प्रायश्चित्तका वर्णन तथा स्त्री-पुरुषके संयोगमें स्त्रीको ही अधिक सुख होनेके सम्बन्धमें भंगास्वनका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

प्रायश्चित्तं कृतघ्नानां प्रतिब्रूहि पितामह ।
मातापितॄन् गुरूंश्चैव येऽवमन्यन्ति मोहिताः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो मोहवश माता-पिता तथा गुरुजनोंका अपमान करते हैं, उन कृतघ्नोंके लिये क्या प्रायश्चित्त है ? यह बताइये ॥

ये चाप्यन्ये परे तात कृतघ्ना निरपत्रपाः ।
तेषां गतिं महाबाहो श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

तात ! महाबाहो ! दूसरे भी जो निर्लज्ज एवं कृतघ्न हैं, उनकी गति कैसी होती है ? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

कृतघ्नानां गतिस्तात नरके शाश्वतीः समाः ।
मातापितृगुरूणां च ये न तिष्ठन्ति शासने ॥
कृमिकीटपिपीलेषु जायन्ते स्थावरेषु च ।
दुर्लभो हि पुनस्तेषां मानुष्ये पुनरुद्भवः ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कृतघ्नोंकी एक ही गति है, सदाके लिये नरकमें पड़े रहना। जो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी आज्ञाके अधीन नहीं रहते हैं, वे कृमि, कीट, पिपीलिका और वृक्ष आदिकी योनियोंमें जन्म लेते हैं। मनुष्ययोनिमें फिर जन्म होना उनके लिये दुर्लभ हो जाता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वत्सनाभो महाप्राज्ञो महर्षिः संशितव्रतः ॥
वल्मीकभूतो ब्रह्मर्षिस्तप्यते सुमहत्तपः ।

इस विषयमें जानकार मनुष्य इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं। वत्सनाभ नामवाले एक परम बुद्धिमान् महर्षि कठोर व्रतके पालनमें लगे थे। उनके शरीरपर दीमकोंने घर बना लिया था; अतः वे ब्रह्मर्षि बाँबीरूप हो गये थे और उसी अवस्थामें वे बड़ी भारी तपस्या करते थे ॥

तस्मिंश्च तप्यति तपो वासवो भरतर्षभ ॥
ववर्ष सुमहद् वर्षं सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।

भरतश्रेष्ठ ! उनके तप करते समय इन्द्रने बिजलीकी चमक और मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ बड़ी भारी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

तत्र सप्ताहवर्षं तु मुमुचे पाकशासनः ।
निमीलिताक्षस्तद्वर्षं प्रत्यगृह्णीत वै द्विजः ॥

पाकशासन इन्द्रने लगातार एक सप्ताहतक वहाँ जल बरसाया और वे ब्राह्मण वत्सनाभ आँख मूँदकर चुपचाप उस वर्षाका आघात सहन करते रहे ॥

तस्मिन् पतति वर्षे तु शीतवातसमन्विते ।
विशीर्णध्वस्तशिखरो वल्मीकोऽशनिताडितः ॥

सर्दी और हवासे युक्त वह वर्षा हो ही रही थी कि बिजलीसे आहत हो उस वल्मीक (बाँबी) का शिखर टूटकर बिखर गया ॥

ताड्यमाने ततस्तस्मिन् वत्सनाभे महात्मनि ।
कारुण्यात् तस्य धर्मः स्वमानृशंस्यमथाकरोत् ॥

अब महामना वत्सनाभपर उस वर्षाकी चोट पड़ने लगी। यह देख धर्मके हृदयमें करुणा भर आयी और उन्होंने वत्सनाभपर अपनी सहज दया प्रकट की ॥

चिन्तयानस्य ब्रह्मर्षिं तपन्तमधिधार्मिकम् ।
अनुरूपा मतिः क्षिप्रमुपजाता स्वभावजा ॥

तपस्यामें लगे हुए उन अत्यन्त धार्मिक ब्रह्मर्षिकी चिन्ता करतेहुए धर्मके हृदयमें शीघ्र ही स्वाभाविक सुबुद्धिका उदय हुआ, जो उन्हींके अनुरूप थी ॥

स्वं रूपं माहिषं कृत्वा सुमहान्तं मनोहरम् ।
त्राणार्थं वत्सनाभस्य चतुष्पादुपरि स्थितः ॥

वे विशाल और मनोहर भैंसेका-सा अपना स्वरूप बनाकर वत्सनाभकी रक्षाके लिये उनके चारों ओर अपने चारों पैर जमाकर उनके ऊपर खड़े हो गये ॥

यदा त्वपगतं वर्षं शीतवातसमन्वितम् ।
ततो महिषरूपी स धर्मो धर्मभृतां वर ॥
शनैर्वल्मीकमुत्सृज्य प्राद्रवद् भरतर्षभ ।
स्थितेऽस्मिन् वृष्टिसम्पाते रक्षितः स महातपाः ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण युधिष्ठिर ! जब शीतल

हवासे युक्त वह वर्षा बंद हो गयी, तब भैंसेका रूप धारण करनेवाले धर्म धीरेसे उस वल्मीकको छोड़कर वहाँसे दूर खिसक गये। उस मुसलाधार वर्षामें महिषरूपधारी धर्मके खड़े हो जानेसे महातपस्वी वत्सनाभकी रक्षा हो गयी ॥

दिशः सुविपुलास्तत्र गिरीणां शिखराणि च ॥
दृष्ट्वा च पृथिवीं सर्वां सलिलेन परिप्लुताम्।
जलाशयान् स तान् दृष्ट्वा विप्रः प्रमुदितोऽभवत्॥

तदनन्तर वहाँ सुविस्तृत दिशाओं, पर्वतोंके शिखरों, जलमें डूबी हुई सारी पृथ्वी और जलाशयोंको देखकर ब्राह्मण वत्सनाभ बहुत प्रसन्न हुए ॥

अचिन्तयद् विस्मितश्च वर्षात् केनाभिरक्षितः।
ततोऽपश्यत् तं महिषमवस्थितमदूरतः॥

फिर वे विस्मित होकर सोचने लगे कि 'इस वर्षासे किसने मेरी रक्षा की है। इतनेहीमें पास ही खड़े हुए उस भैंसेपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥

तिर्यग्योनावपि कथं दृश्यते धर्मवत्सलः।
अतो नु भद्रं महिषः शिलापट्ट इव स्थितः।
पीवरश्चैव शूल्यश्च बहुमांसो भवेदयम्॥

'अहो! पशुयोनिमें पैदा होकर भी यह कैसा धर्मवत्सल दिखायी देता है? निश्चय ही यह भैंसा मेरे ऊपर शिलापट्टके समान खड़ा हो गया था। इसीलिये मेरा भला हुआ है। यह बड़ा मोटा और बहुत मांसल है' ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता धर्मसंसक्तिजा मुनेः।
कृतघ्ना नरकं यान्ति ये तु विश्वासघातिनः॥

तदनन्तर धर्ममें अनुराग होनेके कारण मुनिके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'जो विश्वासघाती एवं कृतघ्न मनुष्य हैं, वे नरकमें पड़ते हैं ॥

निष्कृतिं नैव पश्यामि कृतघ्नानां कथंचन।
ऋते प्राणपरित्यागं धर्मज्ञानां वचो यथा॥

'मैं प्राण-त्यागके सिवा कृतघ्नोंके उद्धारका दूसरा कोई उपाय किसी तरह नहीं देख पाता। धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन भी ऐसा ही है ॥

अकृत्वा भरणं पित्रोरदत्त्वा गुरुदक्षिणाम्।
कृतघ्नतां च सम्प्राप्य मरणान्ता च निष्कृतिः॥

'पिता-माताका भरण-पोषण न करके तथा गुरुदक्षिणा न देकर मैं कृतघ्नभावको प्राप्त हो गया हूँ। इस कृतघ्नताका प्रायश्चित्त है स्वेच्छासे मृत्युको वरण कर लेना ॥

आकाङ्क्षायामुपेक्षायां चोपपातकमुत्तमम्।
तस्मात् प्राणान् परित्यक्ष्ये प्रायश्चित्तार्थमित्युत॥

'अपने कृतघ्न जीवनकी आकाङ्क्षा और प्रायश्चित्तकी उपेक्षा करनेपर भी भारी उपपातक भी बढ़ता रहेगा। अतः मैं प्रायश्चित्तके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करूँगा' ॥

स मेरुशिखरं गत्वा निस्सङ्गेनान्तरात्मना।
प्रायश्चित्तं कर्तुकामः शरीरं त्यक्तुमुद्यतः॥
निगृहीतश्च धर्मात्मा हस्ते धर्मेण धर्मवित्॥

अनासक्त चित्तसे मेरु पर्वतके शिखरपर जाकर प्रायश्चित्त करनेकी इच्छासे अपने शरीरको त्याग देनेके लिये उद्यत हो गये। इसी समय धर्मने आकर उन धर्मज्ञ, धर्मात्मा वत्सनाभका हाथ पकड़ लिया ॥

धर्म उवाच

वत्सनाभ महाप्राज्ञ बहुवर्षशतायुषः।
परितुष्टोऽस्मि त्यागेन निःसङ्गेन तथाऽऽत्मनः॥

धर्मने कहा—महाप्राज्ञ वत्सनाभ! तुम्हारा आयु कई सौ वर्षोंकी है। तुम्हारे इस आसक्तिरहित आत्मत्यागके विचारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ॥

एवं धर्मभृतः सर्वे विमृशन्ति तथा कृतम्।
न स कश्चिद् वत्सनाभ यस्य नोपहतं मनः॥
यश्चानवद्यश्चरति शक्तो धर्मं तु सर्वशः।
निवर्तस्व महाप्राज्ञ भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः॥)

इसी प्रकार सभी धर्मात्मा पुरुष अपने किये हुए कर्मकी आलोचना करते हैं। वत्सनाभ! जगत्में कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जिसका मन कभी दूषित न हुआ हो। जो मनुष्य निन्द्य कर्मोंसे दूर रहकर सब तरहसे धर्मका आचरण करता है, वही शक्तिशाली है। महाप्राज्ञ! अब तुम प्राणत्यागके संकल्पसे निवृत्त हो जाओ, क्योंकि तुम सनातन (अजर-अमर) आत्मा हो ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीपुंसयोः सम्प्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्।
एतस्मिन् संशये राजन् यथावद् वक्तुमर्हसि॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! स्त्री और पुरुषके संयोगमें विषयसुखकी अनुभूति किसको अधिक होती है (स्त्रीको या पुरुषको)? इस संशयके विषयमें आप यथावत्‌रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भंगास्वनेन शक्रस्य यथा वैरमभूत् पुरा॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें भी भङ्गास्वनके साथ इन्द्रका पहले जो वैर हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

पुरा भंगास्वनो नाम राजर्षिरतिधार्मिकः।
अपुत्रः पुरुषव्याघ्र पुत्रार्थं यज्ञमाहरत्॥ ३॥

पुरुषसिंह! पहलेकी बात है, भङ्गास्वन नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त धर्मात्मा राजर्षि पुत्रहीन होनेके कारण पुत्र-प्राप्तिके लिये यज्ञ करते थे ॥ ३ ॥

अग्निष्टुतं स राजर्षिरिन्द्रद्विष्टं महाबलः।
प्रायश्चित्तेषु मर्त्यानां पुत्रकामेषु चेष्यते॥ ४ ॥

उन महाबली राजर्षिने अग्निष्टुत नामक यज्ञका आयोजन किया था। उसमें इन्द्रकी प्रधानता न होनेके कारण इन्द्र उस यज्ञसे द्वेष रखते हैं। वह यज्ञ मनुष्योंके प्रायश्चित्तके अवसरपर अथवा पुत्रकी कामना होनेपर अभीष्ट मानकर किया जाता है॥ ४॥

इन्द्रो ज्ञात्वा तु तं यज्ञं महाभागः सुरेश्वरः।
अन्तरं तस्य राजर्षेरन्विच्छन्नियतात्मनः॥ ५ ॥

महाभाग देवराज इन्द्रको जब उस यज्ञकी बात मालूम हुई, तब वे मनको वशमें रखनेवाले राजर्षि भङ्गास्वनका छिद्र ढूँढ़ने लगे॥ ५॥

न चैवास्यान्तरं राजन् स ददर्श महात्मनः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य मृगयां गतवान् नृपः॥ ६ ॥

राजन्! बहुत ढूँढ़नेपर भी वे उस महामना नरेशका कोई छिद्र न देख सके। कुछ कालके अनन्तर राजा भङ्गास्वन शिकार खेलनेके लिये वनमें गये॥ ६॥

इदमन्तरमित्येव शक्रो नृपममोहयत्।
एकाश्वेन च राजर्षिर्भ्रान्त इन्द्रेण मोहितः॥ ७ ॥
न दिशोऽविन्दत नृपः क्षुत्पिपासार्दितस्तदा।
इतश्चेतश्च वै राजञ्श्रमतृष्णान्वितो नृप॥ ८ ॥

नरेश्वर! 'यही बदला लेनेका अवसर है' ऐसा निश्चय करके इन्द्रने राजाको मोहमें डाल दिया। इन्द्रद्वारा मोहित एवं भ्रान्त हुए राजर्षि भङ्गास्वन एकमात्र घोड़ेके साथ इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें दिशाओंका भी पता नहीं चलता था। वे भूख-प्याससे पीड़ित तथा परिश्रम और तृष्णासे विकल हो इधर-उधर घूमते रहे॥ ७-८॥

सरोऽपश्यत् सुरुचिरं पूर्णं परमवारिणा।
सोऽवगाह्य सरस्तात पाययामास वाजिनम्॥ ९ ॥

तात! घूमते-घूमते उन्होंने उत्तम जलसे भरा हुआ एक सुन्दर सरोवर देखा। उन्होंने घोड़ेको उस सरोवरमें स्नान कराकर पानी पिलाया॥ ९॥

अथ पीतोदकं सोऽश्वं वृक्षे बद्ध्वा नृपोत्तमः।
अवगाह्य ततः स्नातस्तत्र स्त्रीत्वमवाप्तवान्॥ १० ॥

जब घोड़ा पानी पी चुका, तब उसे एक वृक्षमें बाँधकर वे श्रेष्ठ नरेश स्वयं भी जलमें उतरे। उसमें स्नान करते ही वे राजा स्त्रीभावको प्राप्त हो गये॥ १०॥

आत्मानं स्त्रीकृतं दृष्ट्वा व्रीडितो नृपसत्तमः।
चिन्तानुगतसर्वात्मा व्याकुलेन्द्रियचेतनः॥ ११ ॥

अपनेको स्त्रीरूपमें देखकर राजाको बड़ी लज्जा हुई। उनके सारे अन्तःकरणमें भारी चिन्ता व्याप्त हो गयी। उनकी इन्द्रियाँ और चेतना व्याकुल हो उठीं॥ ११॥

आरोहिष्ये कथं त्वश्वं कथं यास्यामि वै पुरम्।
इष्टेनाग्निष्टुता चापि पुत्राणां शतमौरसम्॥ १२ ॥
जातं महाबलानां मे तान् प्रवक्ष्यामि किं त्वहम्।
दारेषु चात्मकीयेषु पौरजानपदेषु च॥ १३ ॥

वे स्त्रीरूपमें इस प्रकार सोचने लगे, 'अब मैं कैसे घोड़ेपर चढ़ूँगी? कैसे नगरको जाऊँगी? मेरे अग्निष्टुत यज्ञके अनुष्ठानसे मुझे सौ महाबलवान् औरस पुत्र प्राप्त हुए हैं। उन सबसे क्या कहूँगी? अपनी स्त्रियों तथा नगर और जनपदके लोगोंमें कैसे जाऊँगी?॥ १२-१३॥

मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः॥ १४ ॥

'धर्मके तत्त्वको देखने और जाननेवाले ऋषियोंने मृदुता, कृशता और व्याकुलता—ये स्त्रीके गुण बताये हैं॥ १४॥

व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः।
पौरुषं विप्रणष्टं वै स्त्रीत्वं केनापि मेऽभवत्॥ १५ ॥

'परिश्रम करनेमें कठोरता और बल-पराक्रम—ये पुरुषके गुण हैं। मेरा पौरुष नष्ट हो गया और किसी अज्ञात कारणसे मुझमें स्त्रीत्व प्रकट हो गया॥ १५॥

स्त्रीभावात् पुनरश्वं तं कथमारोढुमुत्सहे।
महता त्वथ यत्नेन आरुह्याश्वं नराधिपः॥ १६ ॥
पुनरायात् पुरं तात स्त्रीकृतो नृपसत्तमः।

'अब स्त्रीभाव आ जानेसे उस अश्वपर कैसे चढ़ सकूँगी?' तात! किसी-किसी तरह महान् प्रयत्न करके वे स्त्रीरूपधारी नरेश घोड़ेपर चढ़कर अपने नगरमें आये॥ १६½॥

पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च पौरजानपदाश्च ते॥ १७ ॥
किं त्विदं त्विति विज्ञाय विस्मयं परमं गताः।

राजाके पुत्र, स्त्रियाँ, सेवक तथा नगर और जनपदके लोग, 'यह क्या हुआ?' ऐसी जिज्ञासा करते हुए बड़े आश्चर्यमें पड़ गये॥ १७½॥

अथोवाच स राजर्षिः स्त्रीभूतो वदतां वरः॥ १८ ॥
मृगयामस्मि निर्यातो बलैः परिवृतो दृढम्।
उद्भ्रान्तः प्राविशं घोरामटवीं दैवचोदितः॥ १९ ॥

तब स्त्रीरूपधारी, वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजर्षि भङ्गास्वन बोले—'मैं अपनी सेनासे घिरकर शिकार खेलनेके लिये निकला था; परंतु दैवकी प्रेरणासे भ्रान्तचित्त होकर एक भयानक वनमें जा घुसा॥ १८-१९॥

अटव्यां च सुघोरायां तृष्णार्तो नष्टचेतनः।
सरः सुरुचिरप्रख्यमपश्यं पक्षिभिर्वृतम्॥ २० ॥

उस घोर वनमें प्याससे पीड़ित एवं अचेत-सा होकर मैंने एक सरोवर देखा, जो पक्षियोंसे घिरा हुआ और मनोहर शोभासे सम्पन्न था॥ २०॥

तत्रावगाढः स्त्रीभूतो दैवेनाहं कृतः पुरा।
नामगोत्राणि चाभाष्य दाराणां मन्त्रिणां तथा॥ २१ ॥

आह पुत्रांस्ततः सोऽथ स्त्रीभूतः पार्थिवोत्तमः।
सम्प्रीत्या भुज्यतां राज्यं वनं यास्यामि पुत्रकाः ॥ २२ ॥

उस सरोवरमें उतरकर स्नान करते ही दैवने मुझे स्त्री बना दिया। अपनी स्त्रियों और मन्त्रियोंके नाम-गोत्र बताकर उन स्त्रीरूपधारी श्रेष्ठ नरेशने अपने पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! तुमलोग आपसमें प्रेमपूर्वक रहकर राज्यका उपभोग करो। अब मैं वनको चला जाऊँगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा पुत्रशतं वनमेव जगाम ह।
गत्वा चैवाश्रमं सा तु तापसं प्रत्यपद्यत ॥ २३ ॥

अपने सौ पुत्रोंसे ऐसा कहकर राजा वनको चले गये। वह स्त्री किसी आश्रममें जाकर एक तापसके आश्रयमें रहने लगी ॥ २३ ॥

तापसेनास्य पुत्राणामाश्रमेष्वभवच्छतम्।
अथ साऽऽदाय तान् सर्वान् पूर्वपुत्रानभाषत॥ २४ ॥
पुरुषत्वे सुता यूयं स्त्रीत्वे चेमे शतं सुताः।
एकत्र भुज्यतां राज्यं भ्रातृभावेन पुत्रकाः ॥ २५ ॥

उस तपस्वीसे आश्रममें उसके सौ पुत्र हुए। तब वह रानी अपने उन पुत्रोंको लेकर पहलेवाले पुत्रोंके पास गयी और उनसे इस प्रकार बोली—'पुत्रो! जब मैं पुरुषरूपमें थी, तब तुम मेरे सौ पुत्र हुए थे और जब स्त्रीरूपमें आयी हूँ, तब ये मेरे सौ पुत्र हुए हैं। तुम सब लोग एकत्र होकर साथ-साथ भातृ-भावसे इस राज्यका उपभोग करो' ॥ २४-२५ ॥

सहिता भ्रातरस्तेऽथ राज्यं बुभुजिरे तदा।
तान् दृष्ट्वा भ्रातृभावेन भुञ्जानान् राज्यमुत्तमम् ॥ २६ ॥
चिन्तयामास देवेन्द्रो मन्युनाथ परिप्लुतः।
उपकारोऽस्य राजर्षेः कृतो नापकृतं मया ॥ २७ ॥

तब वे सब भाई एक साथ होकर उस राज्यका उपभोग करने लगे। उन सबको भ्रातृभावसे एक साथ रहकर उस उत्तम राज्यका उपभोग करते देख क्रोधमें भरे हुए देवराज इन्द्रने सोचा कि मैंने तो इस राजर्षिका उपकार ही कर दिया, अपकार तो कुछ किया ही नहीं ॥ २६-२७ ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण देवराजः शतक्रतुः।
भेदयामास तान् गत्वा नगरं वै नृपात्मजान् ॥ २८ ॥

तब देवराज इन्द्रने ब्राह्मणका रूप धारण करके उस नगरमें जाकर उन राजकुमारोंमें फूट डाल दी ॥ २८ ॥

भ्रातृणां नास्ति सौभ्रात्रं येऽप्येकस्य पितुः सुताः।
राज्यहेतोर्विवदिताः कश्यपस्य सुरासुराः ॥ २९ ॥

वे बोले—'राजकुमारो! जो एक पिताके पुत्र हैं, ऐसे भाइयोंमें भी प्रायः उत्तम भ्रातृप्रेम नहीं रहता। देवता और असुर दोनों ही कश्यपजीके पुत्र हैं तथापि राज्यके लिये परस्पर विवाद करते रहते हैं ॥ २९ ॥

यूयं भङ्गास्वनापत्यास्तापसस्येतरे सुताः।
कश्यपस्य सुराश्चैव असुराश्च सुतास्तथा ॥ ३० ॥

'तुमलोग तो भङ्गास्वनके पुत्र हो और दूसरे सौ भाई एक तापसके लड़के हैं। फिर तुममें प्रेम कैसे रह सकता है? देवता और असुर तो कश्यपके ही पुत्र हैं, फिर भी उनमें प्रेम नहीं हो पाता है ॥ ३० ॥

युष्माकं पैतृकं राज्यं भुज्यते तापसात्मजैः।
इन्द्रेण भेदितास्ते तु युद्धेऽन्योन्यमपातयन् ॥ ३१ ॥

'तुमलोगोंका जो पैतृक राज्य है, उसे तापसके लड़के आकर भोग रहे हैं।' इस प्रकार इन्द्रके द्वारा फूट डालनेपर वे आपसमें लड़ पड़े। उन्होंने युद्धमें एक-दूसरेको मार गिराया ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा तापसी चापि संतप्ता प्ररुरोद ह।
ब्राह्मणच्छद्मनाभ्येत्य तामिन्द्रोऽथान्वपृच्छत ॥ ३२ ॥

यह समाचार सुनकर तापसीको बड़ा दुःख हुआ। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय ब्राह्मणका वेश धारण करके इन्द्र उसके पास आये और पूछने लगे— ॥ ३२ ॥

केन दुःखेन संतप्ता रोदिषि त्वं वरानने।
ब्राह्मणं तं ततो दृष्ट्वा सा स्त्री करुणमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

'सुमुखि! तुम किस दुःखसे संतप्त होकर रो रही हो?' उस ब्राह्मणको देखकर वह स्त्री करुणस्वरमें बोली— ॥ ३३ ॥

पुत्राणां द्वे शते ब्रह्मन् कालेन विनिपातिते।
अहं राजाभवं विप्र तत्र पूर्वं शतं मम ॥ ३४ ॥
समुत्पन्नं स्वरूपाणां पुत्राणां ब्राह्मणोत्तम।
कदाचिन्मृगयां यात उद्भ्रान्तो गहने वने ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन्! मेरे दो सौ पुत्र कालके द्वारा मारे गये। विप्रवर! मैं पहले राजा था। तब मेरे सौ पुत्र हुए थे। द्विजश्रेष्ठ! वे सभी मेरे अनुरूप थे। एक दिन मैं शिकार खेलनेके लिये गहन वनमें गया और वहाँ अकारण भ्रमित-सा होकर इधर-उधर भटकने लगा ॥ ३४-३५ ॥

अवगाढश्च सरसि स्त्रीभूतो ब्राह्मणोत्तम।
पुत्रान् राज्ये प्रतिष्ठाप्य वनमस्मि ततो गतः ॥ ३६ ॥

'ब्राह्मणशिरोमणे! वहाँ एक सरोवरमें स्नान करते ही मैं पुरुषसे स्त्री हो गया और पुत्रोंको राज्यपर बिठाकर वनमें चला गया ॥ ३६ ॥

स्त्रियाश्च मे पुत्रशतं तापसेन महात्मना।
आश्रमे जनितं ब्रह्मन् नीतं तन्नगरं मया ॥ ३७ ॥

'स्त्रीरूपमें आनेपर महामना तापसने इस आश्रममें मुझसे सौ पुत्र उत्पन्न किये। ब्रह्मन्! मैं उन सब पुत्रोंको नगरमें ले गयी और उन्हें भी राज्यपर प्रतिष्ठित करायी ॥ ३७ ॥

तेषां च वैरमुत्पन्नं कालयोगेन वै द्विज।
एतच्छोचाम्यहं ब्रह्मन् दैवेन समभिप्लुता ॥ ३८ ॥

'विप्रवर! कालकी प्रेरणासे उन सब पुत्रोंमें वैर उत्पन्न हो गया और वे आपसमें ही लड़-भिड़कर नष्ट हो गये। इस प्रकार दैवकी मारी हुई मैं शोकमें डूब रही हूँ' ॥ ३८ ॥

इन्द्रस्तां दुःखितां दृष्ट्वा अब्रवीत् परुषं वचः।
पुरा सुदुःसहं भद्रे मम दुःखं त्वया कृतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्रने उसे दुखी देख कठोर वाणीमें कहा--भद्रे ! जब पहले तुम राजा थीं, तब तुमने भी मुझे दुःसह दुःख दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रद्विष्टेन यजता मामनाहूय धिष्ठितम्।
इन्द्रोऽहमस्मि दुर्बुद्धे वैरं ते पातितं मया ॥ ४० ॥

'तुमने उस यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसका मुझसे वैर है। मेरा आवाहन न करके तुमने वह यज्ञ पूरा कर लिया। खोटी बुद्धिवाली स्त्री ! मैं वही इन्द्र हूँ और तुमसे मैंने ही अपने वैरका बदला लिया है' ॥ ४० ॥

इन्द्रं दृष्ट्वा तु राजर्षिः पादयोः शिरसा गतः।
प्रसीद त्रिदशश्रेष्ठ पुत्रकामेन स क्रतुः ॥ ४१ ॥
इष्टस्त्रिदशशार्दूल तत्र मे क्षन्तुमर्हसि।

इन्द्रको देखकर वे स्त्री-रूपधारी राजर्षि उनके चरणोंमें सिर रखकर बोले--'सुरश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न हों। मैंने पुत्रकी इच्छासे वह यज्ञ किया था। देवेश्वर ! उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥ ४१½ ॥

प्रणिपातेन तस्येन्द्रः परितुष्टो वरं ददौ ॥ ४२ ॥
पुत्रास्ते कतमे राजन् जीवन्त्वेतत् प्रचक्ष्व मे।
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः पुरुषस्याथ येऽभवन् ॥ ४३ ॥

इनके इस प्रकार प्रणाम करनेपर इन्द्र संतुष्ट हो गये और वर देनेके लिये उद्यत होकर बोले--राजन् ! तुम्हारे कौन-से पुत्र जीवित हो जायँ ? तुमने स्त्री होकर जिन्हें उत्पन्न किया था, वे अथवा पुरुषावस्थामें जो तुमसे उत्पन्न हुए थे ?' ॥ ४२-४३ ॥

तापसी तु ततः शक्रमुवाच प्रयताञ्जलिः।
स्त्रीभूतस्य हि ये पुत्रास्ते मे जीवन्तु वासव ॥ ४४ ॥

तब तापसीने इन्द्रसे हाथ जोड़कर कहा--'देवेन्द्र ! स्त्रीरूप हो जानेपर मुझसे जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वे ही जीवित हो जायँ' ॥ ४४ ॥

इन्द्रस्तु विस्मितो दृष्ट्वा स्त्रियं पप्रच्छ तां पुनः।
पुरुषोत्पादिता ये ते कथं द्वेष्याः सुतास्तव ॥ ४५ ॥
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः स्नेहस्तेभ्योऽधिकः कथम्।
कारणं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ ४६ ॥

तब इन्द्रने विस्मित होकर उस स्त्रीसे पूछा--'तुमने पुरुषरूपसे जिन्हें उत्पन्न किया था, वे पुत्र तुम्हारे द्वेषके पात्र क्यों हो गये ? तथा स्त्रीरूप होकर तुमने जिनको जन्म दिया है, उनपर तुम्हारा अधिक स्नेह क्यों है ? मैं इसका कारण सुनना चाहता हूँ; तुम्हें मुझसे यह बताना चाहिये' ॥

स्त्र्युवाच

स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।
तस्मात् ते शक्र जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै॥४७॥

स्त्रीने कहा--इन्द्र ! स्त्रीका अपने पुत्रोंपर अधिक स्नेह होता है, वैसा स्नेह पुरुषका नहीं होता है। अतः इन्द्र ! स्त्रीरूपमें आनेपर मुझसे जिनका जन्म हुआ है, वे ही जीवित हो जायँ ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्ततस्त्विन्द्रः प्रीतो वाक्यमुवाच ह।
सर्व एवेह जीवन्तु पुत्रास्ते सत्यवादिनि ॥ ४८॥

भीष्मजी कहते हैं--राजन् ! तापसीके यों कहनेपर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले-- 'सत्यवादिनि ! तुम्हारे सभी पुत्र जीवित हो जायँ ॥ ४८ ॥

वरं च वृणु राजेन्द्र यं त्वमिच्छसि सुव्रत।
पुरुषत्वमथ स्त्रीत्वं मत्तो यदभिकाङ्क्षते ॥ ४९ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र ! तुम मुझसे अपनी इच्छाके अनुसार दूसरा वर भी माँग लो। बोलो, फिरसे पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही रहनेकी इच्छा है ! जो चाहो वह मुझसे ले लो' ॥ ४९ ॥

स्त्र्युवाच

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र पुंस्त्वं नेच्छामि वासव।
एवमुक्तस्तु देवेन्द्रस्तां स्त्रियं प्रत्युवाच ह ॥ ५० ॥

स्त्रीने कहा--इन्द्र ! मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ। वासव ! अब मैं पुरुष होना नहीं चाहती। उसके ऐसा कहनेपर देवराजने उस स्त्रीसे पूछा-- ॥ ५० ॥

पुरुषत्वं कथं त्यक्त्वा स्त्रीत्वं चोदयसे विभो।
एवमुक्तः प्रत्युवाच स्त्रीभूतो राजसत्तमः ॥ ५१ ॥

'प्रभो ! तुम्हें पुरुषत्वका त्याग करके स्त्री बने रहनेकी इच्छा क्यों होती है ?'

इन्द्रके यों पूछनेपर उन स्त्रीरूपधारी नृपश्रेष्ठने इस प्रकार उत्तर दिया-- ॥ ५१ ॥

स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात् कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम् ॥ ५२॥

'देवेन्द्र ! स्त्रीका पुरुषके साथ संयोग होनेपर स्त्रीको ही पुरुषकी अपेक्षा अधिक विषयसुख प्राप्त होता है, इसी कारणसे मैं स्त्रीत्वका ही वरण करती हूँ ॥ ५२ ॥

रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ॥ ५३ ॥

'देवश्रेष्ठ ! सुरेश्वर ! मैं सच कहती हूँ, स्त्रीरूपमें मैंने अधिक रति-सुखका अनुभव किया है, अतः स्त्रीरूपसे ही संतुष्ट हूँ। आप पधारिये' ॥ ५३ ॥

एवमस्त्विति चोक्त्वा तामापृच्छ्य त्रिदिवं गतः।

एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते ॥ ५४ ॥

महाराज ! तब 'एवमस्तु' कहकर उस तापसीसे विदा ले इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये। इस प्रकार स्त्रीको विषय-भोगमें पुरुषकी अपेक्षा अधिक सुख-प्राप्ति बतायी जाती है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भङ्गास्वनोपाख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भङ्गास्वनका उपाख्यानविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं)

त्रयोदशोऽध्यायः

शरीर, वाणी और मनसे होनेवाले पापोंके परित्यागका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! लोकयात्राका भलीभाँति निर्वाह करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये ? कैसा स्वभाव बनाकर किस प्रकार लोकमें जीवन बिताना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथांस्त्यजेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! शरीरसे तीन प्रकारके कर्म, वाणीसे चार प्रकारके कर्म और मनसे भी तीन प्रकारके कर्म—इस तरह कुल दस तरहके कर्मोंका त्याग कर दे ॥ २ ॥

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

दूसरोंके प्राणनाश करना, चोरी करना और परायी स्त्रीसे संसर्ग रखना—ये तीन शरीरसे होनेवाले पाप हैं । इन सबका परित्याग कर देना उचित है ॥ ३ ॥

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥ ४ ॥

मुँहसे बुरी बातें निकालना, कठोर बोलना, चुगली खाना और झूठ बोलना—ये चार वाणीसे होनेवाले पाप हैं । राजेन्द्र ! इन्हें न तो कभी जबानपर लाना चाहिये और न मनमें ही सोचना चाहिये ॥ ४ ॥

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥ ५ ॥

दूसरेके धनको लेनेका उपाय न सोचना, समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखना और कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, इस बातपर विश्वास रखना—ये तीन मनसे आचरण करने योग्य कार्य हैं । इन्हें सदा करना चाहिये । (इनके विपरीत दूसरोंके धनका लालच करना, समस्त प्राणियोंसे वैर रखना और कर्मोंके फलपर विश्वास न करना—ये तीन मानसिक पाप हैं—इनसे सदा बचे रहना चाहिये) ॥

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः ।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

इसलिये मनुष्यका कर्तव्य है कि वह मन, वाणी या शरीरसे कभी अशुभ कर्म न करे; क्योंकि वह शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ६ ॥

[ब्रह्माजीका देवताओंसे गरुड-कश्यप-संवादका प्रसंग सुनाना, गरुडजीका ऋषियोंके समाजमें नारायणकी महिमाके सम्बन्धमें अपना अनुभव सुनाना तथा इस प्रसंगके पाठ और श्रवणकी महिमा]

अमृतस्य समुत्पत्तौ देवानामसुरैः सह ।
षष्टिवर्षसहस्राणि देवासुरमवर्तत ॥

एक समय अमृतकी उत्पत्ति हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिये देवताओंका असुरोंके साथ साठ हजार वर्षोंतक युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्रामके नामसे प्रसिद्ध है ॥

तत्र देवास्तु दैतेयैर्वध्यन्ते भृशदारुणैः ।
त्रातारं नाधिगच्छन्ति वध्यमाना महासुरैः ॥

उस युद्धमें अत्यन्त भयंकर दैत्यों एवं बड़े-बड़े असुरोंकी मार खाकर देवता किसी रक्षकको नहीं पाते थे ॥

आर्तास्ते देवदेवेशं प्रपन्नाः शरणैषिणः ।
पितामहं महाप्राज्ञं वध्यमानाः सुरेतरैः ॥

दैत्योंद्वारा सताये जानेवाले देवता दुखी होकर अपने लिये आश्रय ढूँढ़ते हुए देवदेवेश्वर महाज्ञानी ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥

वैकुण्ठं शरणं देवं प्रतिपेदे च तैः सह ॥

तब ब्रह्माजी उन सबके साथ भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥

ततः स देवैः सहितः पद्मयोनिर्नरेश्वर ।
तुष्टाव प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणमनामयम् ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर देवताओंसहित कमलयोनि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर रोग-शोकसे रहित भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे ॥

ब्रह्मोवाच

त्वद्रूपचिन्तनान्नाम्नां स्मरणादर्चनादपि ।
तपोयोगादिभिश्चैव श्रेयो यान्ति मनीषिणः ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! आपके रूपका चिन्तन करनेसे, नामोंके स्मरण और जपसे, पूजनसे तथा तप और योग आदिसे मनीषी पुरुष कल्याणको प्राप्त होते हैं ॥

भक्तवत्सल पद्माक्ष परमेश्वर पापहन् ।
परमात्माविकाराद्य नारायण नमोऽस्तु ते ॥

भक्तवत्सल ! कमलनयन ! परमेश्वर ! पापहारी परमात्मन् ! निर्विकार ! आदिपुरुष ! नारायण ! आपको नमस्कार है ॥

नमस्ते सर्वलोकादे सर्वात्मामितविक्रम ।
सर्वभूतभविष्येश सर्वभूतमहेश्वर ॥

सम्पूर्ण लोकोंके आदिकारण ! सर्वात्मन् ! अमित पराक्रमी नारायण ! सम्पूर्ण भूत और भविष्यके स्वामी ! सर्वभूतमहेश्वर ! आपको नमस्कार है ॥

देवानामपि देवस्त्वं सर्वविद्यापरायणः ।
जगद्बीजसमाहार जगतः परमो ह्यसि ॥

प्रभो ! आप देवताओंके भी देवता और समस्त विद्याओंके परम आश्रय हैं । जगत्‌के जितने भी बीज हैं, उन सबका संग्रह करनेवाले आप ही हैं । आप ही जगत्‌के परम कारण हैं ॥

त्रायस्व देवता वीर दानवाद्यैः सुपीडिताः ।
लोकांश्च लोकपालांश्च ऋषींश्च जयतां वर ॥

वीर ! ये देवता दानव, दैत्य आदिसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं । आप इनकी रक्षा कीजिये । विजयशीलोंमें सबसे श्रेष्ठ नारायण-देव ! आप लोकों, लोकपालों तथा ऋषियोंका संरक्षण कीजिये ॥

वेदाः साङ्गोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः ।
सोङ्काराः सवषट्काराः प्राहुस्त्वां यज्ञमुत्तमम् ॥

सम्पूर्ण अङ्गों और उपनिषदोंसहित वेद, उनके रहस्य, संग्रह, ॐकार और वषट्कार आपहीको उत्तम यज्ञका स्वरूप बताते हैं ॥

पवित्राणां पवित्रं च मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
तपस्विनां तपश्चैव दैवतं देवतास्वपि ॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र, मङ्गलोंके भी मङ्गल, तपस्वियोंके तप और देवताओंके भी देवता हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमादिपुरस्कारैर्ऋक्सामयजुषां गणैः ।
वैकुण्ठं तुष्टुवुर्देवाः समेत्य ब्रह्मणा सह ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार ब्रह्मासहित देवताओंने एकत्र होकर ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रों-द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति की ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीन्मेघगम्भीरनिःस्वना ।
जेष्यध्वं दानवान् यूयं मयैव सह सङ्गरे ॥

तब मेघके समान गम्भीर स्वरमें आकाशवाणी हुई—'देवताओ ! तुम युद्धमें मेरे साथ रहकर दानवोंको अवश्य जीत लोगे' ॥

ततो देवगणानां च दानवानां च युध्यताम् ।
प्रादुरासीन्महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ॥

तत्पश्चात् परस्पर युद्ध करनेवाले देवताओं और दानवोंके बीच शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी भगवान् विष्णु प्रकट हुए ॥

सुपर्णपृष्ठमास्थाय तेजसा प्रदहन्निव ।
व्यधमद् दानवान् सर्वान् बाहुद्रविणतेजसा ॥

उन्होंने गरुडकी पीठपर बैठकर तेजसे विरोधियोंको दग्ध करते हुए-से अपनी भुजाओंके तेज और वैभवसे समस्त दानवोंका संहार कर डाला ॥

तं समासाद्य समरे दैत्यदानवपुङ्गवाः ।
व्यनश्यन्त महाराज पतङ्गा इव पावकम् ॥

महाराज ! समरभूमिमें दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर भगवान्‌से टक्कर लेकर वैसे ही नष्ट हो गये, जैसे पतङ्गे आगमें कूदकर अपने प्राण दे देते हैं ॥

स विजित्यासुरान् सर्वान् दानवांश्च महामतिः ।
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥

परम बुद्धिमान् श्रीहरि समस्त असुरों और दानवोंको परास्त करके देवताओंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥

तं दृष्ट्वान्तर्हितं देवं विष्णुं देवामितद्युतिम् ।
विस्मयोत्फुल्लनयना ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥

अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुदेवको अदृश्य हुआ देख आश्चर्यसे चकित नेत्रवाले देवता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥

देवा उचुः

भगवन् सर्वलोकेश सर्वलोकपितामह ।
इदमत्यद्भुतं वृत्तं त्वं नः शंसितुमर्हसि ॥

देवताओंने पूछा—सर्वलोकेश्वर ! सम्पूर्ण जगत्‌के पितामह ! भगवन् ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त हमें बतानेकी कृपा करें ॥

कोऽयमस्मान् परित्राय तूष्णीमेव यथागतम् ।
प्रतिप्रयातो दिव्यात्मा तं नः शंसितुमर्हसि ॥

कौन दिव्यात्मा पुरुष हमारी रक्षा करके चुपचाप जैसे आया था, वैसे लौट गया ? यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्वचनं वचनार्थवित् ।
उवाच पद्मनाभस्य पूर्वरूपं प्रति प्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो ! सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर वचनके तात्पर्यको समझनेवाले ब्रह्माजीने भगवान् पद्मनाभ (विष्णु)के पूर्वरूपके विषयमें इस प्रकार कहा—॥

ब्रह्मोवाच

न ह्येनं वेद तत्त्वेन भुवनं भुवनेश्वरम् ।
संख्यातुं नैव चात्मानं निर्गुणं गुणिनां वरम् ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! ये भगवान् सम्पूर्ण भुवनोंके अधीश्वर हैं । इन्हें जगत्‌का कोई भी प्राणी यथार्थरूपसे नहीं जानता । गुणवानोंमें श्रेष्ठ निर्गुण परमात्माकी महिमाका कोई पूर्णतः वर्णन नहीं कर सकता ॥

अत्र वो वर्णयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
सुपर्णस्य च संवादमृषीणां चापि देवताः ॥

देवगण ! इस विषयमें मैं तुमलोगोंको गरुड और ऋषियों-का संवादरूप प्राचीन इतिहास बता रहा हूँ ॥

पुरा ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धाश्च भुवनेश्वरम्।
आश्रित्य हिमवत्पृष्ठे चक्रिरे विविधाः कथाः॥

पूर्वकालकी बात है, हिमालयके शिखरपर ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जगदीश्वर श्रीहरिकी शरण ले उन्हींके विषयमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥

तेषां कथयतां तत्र कथान्ते पततां वरः।
प्रादुरासीन्महातेजा वाहश्चक्रगदाभृतः॥

उनकी बातचीत पूरी होते ही चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णुके वाहन महातेजस्वी पक्षिराज गरुड वहाँ आ पहुँचे ॥

स तानृषीन् समासाद्य विनयावनताननः।
अवतीर्य महावीर्यस्तानृषीनभिजग्मिवान्॥

उन ऋषियोंके पास पहुँचकर महापराक्रमी गरुड नीचे उतर पड़े और विनयसे मस्तक झुकाकर उनके समीप गये॥

अभ्यर्चितः स ऋषिभिः स्वागतेन महाबलः।
उपाविशत तेजस्वी भूमौ वेगवतां वरः॥

ऋषियोंने स्वागतपूर्वक वेगवानोंमें श्रेष्ठ महान् बलवान् एवं तेजस्वी गरुडका पूजन किया। उनसे पूजित होकर वे पृथ्वीपर बैठे ॥

तमासीनं महात्मानं वैनतेयं महाद्युतिम्।
ऋषयः परिपप्रच्छुर्महात्मानं तपस्विनः॥

बैठ जानेपर उन महाकाय, महामना और महातेजस्वी विनतानन्दन गरुडसे वहाँ बैठे हुए तपस्वी ऋषियोंने पूछा ॥

ऋषय ऊचुः

कौतूहलं वैनतेय परं नो हृदि वर्तते।
तस्य नान्योऽस्ति वक्तेह त्वामृते पन्नगाशन॥
तदाख्यातमिहेच्छामो भवता प्रश्नमुत्तमम्।

ऋषि बोले--विनतानन्दन गरुड ! हमारे हृदयमें एक प्रश्नको लेकर बड़ा कौतूहल उत्पन्न हो गया है। उसका समाधान करनेवाला यहाँ आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, अतः हम आपके द्वारा अपने उस उत्तम प्रश्नका विवेचन कराना चाहते हैं ॥

गरुड उवाच

किं मया ब्रूत वक्तव्यं कार्यं च वदतां वराः॥
यूयं हि मां यथायुक्तं सर्वे वै देष्टुमर्हथ।

गरुड बोले--वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो! मेरे द्वारा किस विषयमें आप प्रवचन कराना चाहते हैं? यह बताइये। आप मुझे सभी यथोचित कार्योंके लिये आज्ञा दे सकते हैं ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्कृत्वा ह्यनन्ताय ततस्ते हृदि सत्तमाः।
प्रष्टुं प्रचक्रमुस्तत्र वैनतेयं महाबलम्॥

ब्रह्माजी कहते हैं--देवताओ! तदनन्तर उन श्रेष्ठतम ऋषियोंने अन्तरहित भगवान् नारायणको नमस्कार करके महाबली गरुडसे वहाँ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥

ऋषय ऊचुः

देवदेवं महात्मानं नारायणमनामयम्।
भवानुपास्ते वरदं कुतोऽसौ कश्च तत्त्वतः॥

ऋषि बोले--विनतानन्दन ! जिस रोग-शोकसे रहित वरदायक देवाधिदेव महात्मा नारायणकी आप उपासना करते हैं, उनका प्राकट्य कहाँसे हुआ है? तथा वे वास्तवमें कौन हैं ? ॥

प्रकृतिर्विकृतिर्वास्य कीदृशी क नु संस्थितिः।
एतद् भवन्तं पृच्छामो देवोऽयं क कृतालयः॥

उनकी प्रकृति अथवा विकृति कैसी है ? उनकी स्थिति कहाँ है ? तथा वे नारायणदेव कहाँ अपना घर बनाये हुए हैं ? ये सब बातें हमलोग आपसे पूछते हैं ॥

एष भक्तप्रियो देवः प्रियभक्तस्तथैव च।
त्वं प्रियश्चास्य भक्तश्च नान्यः काश्यप विद्यते॥

कश्यपकुमार ! ये भगवान् नारायण भक्तोंके प्रिय हैं तथा भक्त भी उन्हें बहुत प्रिय हैं और आप भी उनके प्रिय एवं भक्त हैं। आपके समान दूसरा कोई उन्हें प्रिय नहीं है ॥

मुष्णन्निव मनश्चक्षूंष्यविभाव्यतनुर्विभुः।
अनादिमध्यनिधनो न विद्मैनं कुतो ह्यसौ॥

उनका विग्रह इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य नहीं है। वे सबके मन और नेत्रोंको मानो चुराये लेते हैं। उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। हम इनके विषयमें यह नहीं समझ पाते कि ये कहाँसे प्रकट हुए हैं ? ॥

वेदेष्वपि च विश्वात्मा गीयते न च विद्महे।
तत्त्वतस्तत्त्वभूतात्मा विभुर्नित्यः सनातनः॥

वेदोंमें भी विश्वात्मा कहकर इनकी महिमाका गान किया गया है, परंतु हम यह नहीं जानते कि वे तत्त्वभूतस्वरूप नित्य सनातन प्रभु वस्तुतः कैसे हैं ? ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
गुणाश्चैषां यथासंख्यं भावाभावौ तथैव च॥
तमः सत्त्वं रजश्चैव भावाश्चैव तदात्मकाः।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च बुद्धिगम्यानि तत्त्वतः॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—ये पाँच भूत; क्रमशः इन भूतोंके गुण; भाव-अभाव; सत्त्व, रज, तम, सात्त्विक, राजस और तामस भाव; मन, बुद्धि और तेज—ये वास्तवमें बुद्धिगम्य हैं ॥

जायन्ते तात तस्माद्धि तिष्ठते तेष्वसौ विभुः।
संचिन्त्य बहुधा बुद्ध्या नाध्यवस्यामहे परम्॥

तस्य देवस्य तत्त्वेन तन्नः शंस यथातथम् ।

तात ! ये सब उन्हीं श्रीहरिसे उत्पन्न होते हैं और वे भगवान् इन सबमें व्यापकरूपसे स्थित हैं । हम उनके विषयमें अपनी बुद्धिके द्वारा नाना प्रकारसे विचार करते हैं तथापि किसी उत्तम निश्चयपर नहीं पहुँच पाते, अतः आप यथार्थ रूपसे हमें उनका तत्त्व बताइये ॥

सुपर्ण उवाच

स्थूलतो यस्तु भगवांस्तेनैव स्वेन हेतुना ।
त्रैलोक्यस्य तु रक्षार्थं दृश्यते रूपमास्थितः ॥

गरुडजीने कहा—महात्माओ ! जो स्थूलस्वरूप भगवान् हैं, वे तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये उसी कारणभूत अपने स्वरूपसे लोगोंको दृष्टिगोचर होते हैं ॥

मया तु महदाश्चर्यं पुरा दृष्टं सनातने ।
देवे श्रीवत्सनिलये तच्छृणुध्वमशेषतः ।

मैंने पूर्वकालमें श्रीवत्सचिह्नके आश्रयभूत सनातनदेव श्रीहरिके विषयमें जो महान् आश्चर्यकी बात देखी है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥

न स शक्यो मया वेत्तुं न भवद्भिः कथंचन ॥
यथा मां प्राह भगवांस्तथा तच्छ्रूयतां मम ।

मैं या आपलोग कोई भी किसी तरह भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकते । भगवान्‌ने स्वयं ही अपने विषयमें मुझसे जो कुछ जैसा कहा है, वह उसी रूपमें सुनिये ॥

मयामृतं देवतानां मिषतामृषिसत्तमाः ॥
हृतं विपात्य तं यन्त्रं विद्राव्यामृतरक्षिणः ।
देवता विमुखीकृत्य सेन्द्राः समरुतो मृधे ॥
तं दृष्ट्वा मम विक्रान्तं वागुवाचाशरीरिणी ।

मुनिश्रेष्ठगण ! मैंने देवताओंके देखते-देखते उनके रक्षा-यन्त्रको विदीर्ण करके अमृतके रक्षकोंको खदेड़कर युद्धमें इन्द्र और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको पराजित करके शीघ्र ही अमृतका अपहरण कर लिया । मेरे उस पराक्रमको देखकर आकाशवाणीने कहा ॥

अशरीरिणी वागुवाच

प्रीतोऽस्मि ते वैनतेय कर्मणानेन सुव्रत ।
अवृथा तेऽस्तु मद्वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥

आकाशवाणी बोली—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले विनतानन्दन ! मैं तुम्हारे इस पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ । मेरी यह वाणी व्यर्थ नहीं जानी चाहिये; इसलिये बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? ॥

सुपर्ण उवाच

तामेवंवादिनीं वाचमहं प्रत्युक्तवांस्तदा ।
ज्ञातुमिच्छामि कस्त्वं हि ततो मे दास्यसे वरम् ॥

गरुड कहते हैं—ऋषिगण ! आकाशवाणीकी ऐसी बात सुनकर मैंने उस समय यों उत्तर दिया—'पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं ? फिर मुझे वर दीजियेगा' ॥

ततो जलदगम्भीरं प्रहस्य गदतां वरः ।
उवाच वरदः प्रीतः काले त्वं माभिवेत्स्यसि ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ वरदायक भगवान्‌ने बड़े जोरसे हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें प्रसन्नतापूर्वक कहा—'समय आनेपर मेरे विषयमें तुम सब कुछ जान लोगे ॥

वाहनं भव मे साधु वरं दद्मि तवोत्तमम् ।
न ते वीर्येण सदृशः कश्चिल्लोके भविष्यति ॥
पतङ्ग पततां श्रेष्ठ न देवो नापि दानवः ।
मत्सखित्वमनुप्राप्तो दुर्धर्षश्च भविष्यसि ॥

'पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! मैं तुम्हें यह उत्तम वर देता हूँ कि देवता हो या दानव, कोई भी इस संसारमें तुम्हारे समान पराक्रमी न होगा । तुम मेरे अच्छे वाहन हो जाओ, मेरे सखाभावको प्राप्त होनेके कारण तुम सदा दुर्जय बने रहोगे' ॥

तमब्रवं देवदेवं मामेवं वादिनं परम् ।
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रणम्य शिरसा विभुम् ॥

तब मैंने हाथ जोड़ पवित्र हो उपर्युक्त बात कहनेवाले सर्वव्यापी देवाधिदेव भगवान् परम पुरुषको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥

एवमेतन्महाबाहो सर्वमेतद् भविष्यति ।
वाहनं ते भविष्यामि यथा वदति मां भवान् ॥
ध्वजस्तेऽहं भविष्यामि रथस्थस्य न संशयः ।

'महाबाहो ! आपका यह कथन ठीक है । यह सब कुछ आपकी आज्ञाके अनुसार ही होगा । आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, उसके अनुसार मैं आपका वाहन अवश्य होऊँगा । आप रथपर विराजमान होंगे, उस समय मैं आपकी ध्वजापर स्थित रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥

तथास्त्विति समामुक्त्वा यथाभिप्रायतो गतः ॥

तब भगवान्‌ने मुझसे 'तथास्तु' कहकर वे अपनी इच्छाके अनुसार चले गये ॥

ततोऽहं कृतसंवादस्तेन केनापि सत्तमाः ।
कौतूहलसमाविष्टः पितरं काश्यपं गतः ॥

साधुशिरोमणियो ! तदनन्तर उन अनिर्वचनीय देवतासे वार्तालाप करके मैं कौतूहलवश अपने पिता कश्यपजीके पास गया ॥

सोऽहं पितरमासाद्य प्रणिपत्याभिवाद्य च ।
सर्वमेतद् यथातथ्यमुक्तवान् पितुरन्तिके ॥

पिताके पास पहुँचकर मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और यह सारा वृत्तान्त उनसे यथावत्‌रूपसे कह सुनाया ॥

श्रुत्वा तु भगवान् मह्यं ध्यानमेवान्वपद्यत ।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मामाह वदतां वरः ॥

यह सुनकर मेरे पूज्यपाद पिताने ध्यान लगाया। दो घड़ीतक ध्यान करके वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनि मुझसे बोले—॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यत् त्वं तेन महात्मना।
संवादं कृतवांस्तात गुह्येन परमात्मना॥

'तात! मैं धन्य हूँ, भगवान्‌की कृपाका पात्र हूँ, जिसके पुत्र होकर तुमने उन महामनस्वी गुह्य परमात्मासे वार्तालाप कर लिया॥

मया हि स महातेजा नान्ययोगसमाधिना।
तपसोग्रेण तेजस्वी तोषितस्तपसां निधिः॥

'मैंने अनन्यभावसे मनको एकाग्र करके उग्र तपस्याद्वारा उन महातेजस्वी तपस्याकी निधिरूप (प्रतापी) श्रीहरिको संतुष्ट किया था॥

ततो मे दर्शयामास तोषयन्निव पुत्रक।
श्वेतपीतारुणनिभः कद्रूकपिलपिङ्गलः॥

'बेटा! तब मुझे संतुष्ट करते हुए-से भगवान् श्रीहरिने मुझे दर्शन दिया। उनके विभिन्न अङ्गोंकी कान्ति श्वेत, पीत, अरुण, भूरी, कपिश और पिङ्गल वर्णकी थी॥

रक्तनीलासितनिभः सहस्रोदरपाणिमान्।
द्विसाहस्रमहावक्त्र एकाक्षः शतलोचनः॥

'वे लाल, नीले और काले-जैसे भी दीखते थे। उनके सहस्रों उदर और हाथ थे। उनके महान् मुख दो सहस्रकी संख्यामें दिखायी देते थे। वे एक नेत्र तथा सौ नेत्रोंसे युक्त थे॥

समासाद्य तु तं विश्वमहं मूर्ध्ना प्रणम्य च।
ऋग्यजुःसामभिः स्तुत्वा शरण्यं शरणं गतः॥

'उन विश्वात्माको निकट पाकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और ऋक्, यजुः तथा साम-मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके मैं उन शरणागतवत्सल देवकी शरणमें गया॥

तेन त्वं कृतसंवादः स्वतः सर्वहितैषिणा।
विश्वरूपेण देवेन पुरुषेण महात्मना॥
तमेवाराधय क्षिप्रं तमाराध्य न सीदसि।

'बेटा गरुड! सबका हित चाहनेवाले उन विश्वरूपधारी अन्तर्यामी परमात्मदेवसे तुमने वार्तालाप किया है; अतः शीघ्र उन्हींकी आराधना करो। उनकी आराधना करके तुम कभी कष्टमें नहीं पड़ोगे'॥

सोऽहमेवं भगवता पित्रा ब्रह्मर्षिसत्तमाः॥
अनुनीतो यथान्यायं स्वमेव भवनं गतः।
सोऽहमामन्त्र्य पितरं तद्भावगतमानसः॥
स्वमेवालयमासाद्य तमेवार्थमचिन्तयम्।

ब्रह्मर्षिशिरोमणियो! इस प्रकार अपने पूज्य पिताके यथोचितरूपसे समझानेपर मैं अपने घरको गया। पितासे विदा ले अपने घर आकर मैं उन्हीं परमात्माके ध्यानमें मन लगाकर उन्हींका चिन्तन करने लगा॥

तद्भावगतभावात्मा तद्भूतगतमानसः॥
गोविन्दं चिन्तयन्नास्से शाश्वतं परमव्ययम्।

मेरा भावभक्तिसे युक्त मन उन्हींकी भावनामें लगा हुआ था। मेरा चित्त उनका चिन्तन करते-करते तदाकार हो गया था। इस प्रकार मैं उन सनातन अविनाशी परम पुरुष गोविन्दके चिन्तनमें तत्पर हो बैठा रहा॥

धृतं बभूव हृदयं नारायणदिदृक्षया॥
सोऽहं वेगं समास्थाय मनोमारुतवेगवान्।
रम्यां विशालां बदरीं गतो नारायणाश्रमम्॥

ऐसा करनेसे मेरा हृदय नारायणके दर्शनकी इच्छासे स्थिर हो गया और मैं मन एवं वायुके समान वेगशाली हो महान् वेगका आश्रय ले रमणीय बदरीविशाल तीर्थमें भगवान् नारायणके आश्रमपर जा पहुँचा॥

ततस्तत्र हरिं दृष्ट्वा जगतः प्रभवं विभुम्।
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं प्रणतः शिरसा हरिम्॥
ऋग्यजुःसामभिश्चैनं तुष्टाव परया मुदा।

तदनन्तर वहाँ जगत्‌की उत्पत्तिके कारणभूत सर्वव्यापी कमलनयन श्रीगोविन्द हरिका दर्शन करके मैं उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और बड़ी प्रसन्नताके साथ ऋक्, यजुः एवं साममन्त्रोंके द्वारा उनका स्तवन किया॥

सोऽहं प्रपन्नः शरणं देवदेवं सनातनम्।
प्राञ्जलिर्मनसा भूत्वा वाक्यमेतत् तदोक्तवान्॥

तब मैं मन-ही-मन उन सनातन देवदेवकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥

भगवन् भूतभव्येश भवद्भूतकृदव्यय।
शरणं सम्प्रपन्नं मां त्रातुमर्हस्यरिंदम॥

'भगवन्! भूत और भविष्यके स्वामी, वर्तमान भूतोंके निर्माता, शत्रुदमन, अविनाशी! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें॥

अहं तु तत्त्वजिज्ञासुः कोऽसि कस्यासि कुत्र वा।
सम्प्राप्तः पदवीं देव स मां संत्रातुमर्हसि॥

'मैं तो 'आप कौन हैं, किसके हैं और कहाँ रहते हैं?' इस बातको तत्त्वसे जाननेकी इच्छा रखकर आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। देव! आप मेरी रक्षा करें'॥

श्रीभगवानुवाच

मम त्वं विदितः सौम्य यथावत् तत्त्वदर्शने।
ज्ञापितश्चापि यत् पित्रा तच्चापि विदितं महत्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सौम्य! तुम यथावत्‌रूपसे मेरे तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये सचेष्ट होओ। यह बात मुझे पहलेसे ही विदित है। तुम्हारे पिताने तुम्हें मेरे विषयमें जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सब कुछ मुझे ज्ञात है॥

वैनतेय न कस्यापि अहं वेद्यः कथंचन।
मां हि विन्दन्ति विद्वांसो ये ज्ञाने परिनिष्ठिताः॥

विनतानन्दन ! किसीको भी किसी तरह मेरे स्वरूपका पूर्णतः ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञाननिष्ठ विद्वान् ही मेरे विषयमें कुछ जान पाते हैं ॥

निर्ममा निरहङ्कारा निराशीर्बन्धनायुताः।
भवांस्तु सततं भक्तो मन्मनाः पक्षिसत्तम॥
स्थूलं मां वेत्स्यसे तस्माज्जगतः कारणे स्थितम्।

जो ममता और अहंकारसे रहित तथा कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे ही मुझे जान पाते हैं। पक्षिप्रवर ! तुम मेरे भक्त हो और सदा ही मुझमें मन लगाये रखते हो। इसलिये जगत्के कारणरूपमें स्थित मेरे स्थूलस्वरूपका बोध प्राप्त करोगे॥

सुपर्ण उवाच

एवं दत्ताभयस्तेन ततोऽहमृषिसत्तमाः।
नष्टखेदश्रमभयः क्षणेन ह्यभवं तदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषिशिरोमणियो ! इस प्रकार भगवान्के अभय देनेपर क्षणभरमें मेरे खेद, श्रम और भय सब नष्ट हो गये॥

स शनैर्याति भगवान् गत्या लघुपराक्रमः।
अहं तु सुमहावेगमास्थायानुव्रजामि तम्॥

उस समय शीघ्रगामी भगवान् अपनी गतिसे धीरे-धीरे चल रहे थे और मैं महान् वेगका आश्रय लेकर उनका अनुसरण करता था॥

स गत्वा दीर्घमध्वानमाकाशममितद्युतिः।
मनसाप्यगमं देशमाससादात्मतत्त्ववित्॥

वे अमित तेजस्वी एवं आत्मतत्त्वके ज्ञाता भगवान् श्रीहरि आकाशमें बहुत दूरतकका मार्ग तै करके ऐसे देशमें जा पहुँचे, जो मनके लिये भी अगम्य था॥

अथ देवः समासाद्य मनसः सदृशं जवम्।
मोहयित्वा च मां तत्र क्षणेनान्तरधीयत॥

तदनन्तर भगवान् मनके समान वेगको अपनाकर मुझे मोहित करके वहीं क्षणभरमें अदृश्य हो गये॥

तत्राम्बुधरधीरेण भोःशब्देनानुनादिना।
अयं भोऽहमिति प्राह वाक्यं वाक्यविशारदः॥

वहाँ मेघके समान धीर-गम्भीर स्वरमें उच्चारित 'भो' शब्दके द्वारा बोलनेमें कुशल भगवान् इस प्रकार बोले—'हे गरुड ! यह मैं हूँ'॥

शब्दानुसारी तु ततस्तं देशमहमाव्रजम्।
तत्रापश्यं ततश्चाहं श्रीमद्धंसयुतं सरः॥

मैं उसी शब्दका अनुसरण करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा। वहाँ मैंने एक सुन्दर सरोवर देखा, जिसमें बहुत-से हंस शोभा पा रहे थे॥

स तत्सरः समासाद्य भगवानात्मवित्तमः।
भोःशब्दप्रतिसृष्टेन स्वरेणाप्रतिवादिना॥
विवेश देवः स्वां योनिं मामिदं चाभ्यभाषत।

आत्मतत्त्वके ज्ञाताओंमें सर्वोत्तम भगवान् नारायण उस सरोवरके पास पहुँचकर 'भो' शब्दसे युक्त अनुपम गम्भीर स्वरसे मुझे पुकारते हुए अपने शयन-स्थान जलमें प्रविष्ट हो गये और मुझसे इस प्रकार बोले॥

श्रीभगवानुवाच

विशस्व सलिलं सौम्य सुखमत्र वसामहे।

श्रीभगवान्‌ने कहा—सौम्य ! तुम भी जलमें प्रवेश करो। हम दोनों वहाँ सुखसे रहेंगे॥

सुपर्ण उवाच

ततश्च प्राविशं तत्र सह तेन महात्मना।
दृष्टवानद्भुततरं तस्मिन् सरसि भास्वताम्॥
अग्नीनां सुप्रणीतानामिद्धानामिन्धनैर्विना।
दीप्तानामाज्यसिक्तानां स्थानेष्वर्चिष्मतां सदा॥

गरुड कहते हैं—ऋषियो तब मैं उन महात्मा श्रीहरिके साथ उस सरोवरमें घुसा। वहाँ मैंने अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखा। भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विधिपूर्वक स्थापित की हुई प्रज्वलित अग्नियाँ बिना ईंधनके ही जल रही थीं और घीकी आहुति पाकर उद्दीप्त हो उठी थीं॥

दीप्तिस्तेषामनाज्यानां प्राप्ताज्यानामिवाभवत्।
अनिद्धानामिव सतामिद्धानामिव भास्वताम्॥

घी न मिलनेपर भी उन अग्नियोंकी दीप्ति घीकी आहुति पायी हुई अग्नियोंके समान थी और बिना ईंधनके भी ईंधनयुक्त आगके तुल्य उनकी प्रभा प्रकाशित होती रहती थी॥

अथाहं वरदं देवं नापश्यं तत्र सङ्गतम्।

वहाँ जानेपर भी उन वरदायक देवता नारायणदेवका मुझे दर्शन न हो सका॥

तेषां तत्राग्निहोत्राणामीडितानां सहस्रशः॥
समीपे त्वद्भुततममपश्यमहमव्ययम्॥

सहस्रों स्थानोंमें प्रशंसित होनेवाले उन अग्निहोत्रोंके समीप मैंने उन अद्भुत एवं अविनाशी श्रीहरिको ढूँढ़ना आरम्भ किया॥

एषु चाग्निसमीपेषु शुश्राव सुपदाक्षराः॥
प्रभावान्तरितानां तु प्रस्पष्टाक्षरभाषिणाम्।
ऋग्यजुःसामगानां च मधुराः सुस्वरा गिरः॥

इन अग्नियोंके समीप अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण करनेवाले तथा अपने प्रभावसे अदृश्य रहनेवाले, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके विद्वानोंकी सुस्वर मधुर वाणी मैंने सुनी। उनके पद और अक्षर बहुत सुन्दर ढंगसे उच्चारित हो रहे थे॥

तान्यनेकसहस्राणि परीयंस्तु महाजवात्।
अपश्यमानस्तं देवं ततोऽहं व्यथितोऽभवम्॥

मैं बड़े वेगसे वहाँके हजारों घरोंमें घूम आया; परतु कहीं भी अपने उन आराध्यदेवको न देख सका, इससे मुझे बड़ी व्यथा हुई ॥

ततस्तेष्वग्निहोत्रेषु ज्वलत्सु विमलार्चिषु।
भानुमत्सु न पश्यामि देवदेवं सनातनम् ॥
ततोऽहं तानि दीप्तानि परीय व्यथितेन्द्रियः।
नान्तं तेषां प्रपश्यामि येनाहमिह चोदितः ॥

निर्मल ज्वालाओंसे युक्त वे अग्निहोत्र पूर्ववत् प्रकाशित हो रहे थे। उनके समीप भी मुझे कहीं सनातन देवाधिदेव श्रीहरि नहीं दिखायी दिये। तब मैं उन प्रदीप्त अग्निहोत्रोंकी परिक्रमा करते-करते थक गया। मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं; परंतु उनका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया। जिन भगवान्‌ने मुझे यहाँ आनेके लिये प्रेरित किया था, उनका दर्शन नहीं हो सका ॥

एवं चिन्तासमापन्नः प्रध्यातुमुपचक्रमे।
विनयावनतो भूत्वा नमश्चक्रे महात्मने ॥
अनादिनिधनायैभिर्नामभिः परमात्मने।

इस तरह चिन्तामें पड़कर मैं भगवान्‌का ध्यान करने लगा; एवं विनयसे नतमस्तक होकर मैंने निम्नाङ्कित नामोंद्वारा आदि-अन्तसे रहित परमात्मा महामनस्वी नारायणकी वन्दना आरम्भ की—॥

नारायणाय शुद्धाय शाश्वताय ध्रुवाय च ॥
भूतभव्यभवेशाय शिवाय शिवमूर्तये।
शिवयोनेः शिवाद्याय शिवपूज्यतमाय च ॥

'जो शुद्ध, सनातन, ध्रुव, भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी, शिवस्वरूप और मङ्गलमूर्ति हैं, कल्याणके उत्पत्तिस्थान हैं, शिवके भी आदिकारण तथा भगवान् शिवके भी परम पूजनीय हैं, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

घोररूपाय महते युगान्तकरणाय च।
विश्वाय विश्वदेवाय विश्वेशाय महात्मने ॥

'जो कल्पका अन्त करनेके लिये अत्यन्त घोर रूप धारण करते हैं, जो विश्वरूप, विश्वदेव, विश्वेश्वर एवं परमात्मा हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सहस्रोदरपादाय सहस्रनयनाय च।
सहस्रबाहवे चैव सहस्रवदनाय च ॥

'जिनके सहस्रों उदर, सहस्रों पैर और सहस्रों नेत्र हैं, जो सहस्रों भुजाओं और सहस्रों मुखोंसे सुशोभित हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शुचिश्रवाय महते ऋतुसंवत्सराय च।
ऋग्यजुःसामवक्त्राय अथर्वशिरसे नमः ॥

'जिनका यश पवित्र है, जो महान् तथा ऋतु एवं संवत्सररूप हैं, ऋक्, यजुः और सामवेद जिनके मुख हैं तथा अथर्ववेद जिनका सिर है, उन नारायणदेवको नमस्कार है ॥

हृषीकेशाय कृष्णाय द्रुहिणोरुक्रमाय च।
ब्रह्मेन्द्रकाय तार्क्ष्याय वराहायैकशृङ्गिणे ॥

'जो हृषीकेश (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके नियन्ता), कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप), द्रुहिण (ब्रह्मा), ऊरुक्रम (बहुत बड़े डग भरनेवाले त्रिविक्रम), ब्रह्मा एवं इन्द्ररूप, गरुडस्वरूप तथा एक सींगवाले वराहरूपधारी हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

शिपिविष्टाय सत्याय हरयेऽथ शिखण्डिने।
हुतायोर्ध्वाय वक्त्राय रौद्रानीकाय साधवे ॥
सिन्धवे सिन्धुवर्षघ्ने देवानां सिन्धवे नमः।

'जो शिपिविष्ट (तेजसे व्याप्त), सत्य, हरि और शिखण्डी (मोरपंखधारी श्रीकृष्ण) आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं, जो हुत (हविष्यको ग्रहण करनेवाले अग्निरूप), ऊर्ध्वमुख, रुद्रकी सेना, साधु, सिन्धु, समुद्रमें वर्षाका हनन करनेवाले तथा देवसिन्धु (गङ्गास्वरूप) हैं, उन भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥

गरुत्मते त्रिनेत्राय सुधामाय वृषावृषे ॥
सम्राडुग्रे संकृतये विरजे सम्भवे भवे।

'जो गरुडरूपधारी, तीन नेत्रोंसे युक्त (रुद्ररूप), उत्तम धामवाले, वृषावृष, धर्मपालक, सबके सम्राट्, उग्ररूपधारी, उत्तम कृतिवाले, रजोगुणरहित, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा भवरूप हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वृषाय वृषरूपाय विभवे भूर्भुवाय च ॥
दीप्तसृष्टाय यज्ञाय स्थिराय स्थविराय च।

'जो वृष (अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले), वृषरूप (धर्मस्वरूप), विभु (व्यापक) तथा भूर्लोक और भुवर्लोकमय हैं, जो तेजस्वी पुरुषोंद्वारा सम्पादित यज्ञरूप हैं, स्थिर हैं और स्थविररूप (वृद्ध) हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है ॥

अच्युताय तुषाराय वीराय च समाय च ॥
जिष्णवे पुरुहूताय वशिष्ठाय वराय च।

'जो अपनी महिमासे कभी च्युत नहीं होते, हिमके समान शीतल हैं, जिनमें वीरत्व है, जो सर्वत्र समभावसे स्थित हैं, विजयशील हैं, जिन्हें बहुत लोग पुकारते हैं अथवा जो इन्द्ररूप हैं तथा जो सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है ॥

सत्येशाय सुरेशाय हरयेऽथ शिखण्डिने ॥
बर्हिषाय वरेण्याय वसवे विश्ववेधसे।

'जो सत्य और देवताओंके स्वामी हैं, हरि (श्यामसुन्दर) और शिखण्डी (मोरमुकुटधारी) हैं, जो कुशापर बैठनेवाले सर्वश्रेष्ठ वसुरूप हैं, उन विश्वस्रष्टा भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

किरीटिने सुकेशाय वासुदेवाय शुष्मिणे ॥
बृहदुक्थसुषेणाय युग्ये दुन्दुभये तथा।

'जो किरीटधारी, सुन्दर केशोंसे सुशोभित तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णरूप हैं, बृहदुक्थ साम जिनका स्वरूप है, जो सुन्दर सेनासे युक्त हैं, जुएका भार सँभालनेवाले वृषभ-

रूप हैं तथा दुन्दुभि नामक वाद्यविशेष हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है ॥

भवेसखाय विभवे भरद्वाजाभयाय च ॥
भास्कराय वरेन्द्राय पद्मनाभाय भूरिणे ।

'जो इस जगत्‌में जीवमात्रके सखा हैं, व्यापकरूप हैं, भरद्वाजको अभय देनेवाले हैं, सूर्यरूपसे प्रभाका विस्तार करनेवाले हैं, श्रेष्ठ पुरुषोंके स्वामी हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है और जो महान् हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पुनर्वसुभृतत्वाय जीवप्रभविषाय च ॥
वषट्काराय स्वाहायै स्वधायै निधनाय च ।
ऋचे च यजुषे साम्ने त्रैलोक्यपतये नमः ॥

'जो पुनर्वसु नामक नक्षत्रसे पालित और जीवमात्रकी उत्पत्तिके स्थान हैं, वषट्कार, स्वाहा, स्वधा और निधन—ये जिनके ही नाम और रूप हैं तथा जो ऋक्, यजुष्, सामवेद-स्वरूप हैं और त्रिलोकीके अधिपति हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

श्रीपद्मायात्मसदृशे धरणे धारणे परे ।
सौम्याय सौम्यरूपाय सौम्ये सुमनसे नमः ॥

'जो शोभाशाली कमलको हाथमें लिये रहते हैं, जो अपने समान स्वयं ही हैं, जो धारण करने और करानेवाले परम पुरुष हैं, जो सौम्य, सौम्य रूपधारी तथा सौम्य एवं सुन्दर मनवाले हैं, उन श्रीहरिको नमस्कार है ॥

विश्वाय च सुविश्वाय विश्वरूपधराय च ।
केशवाय सुकेशाय रश्मिकेशाय भूरिणे ॥

'जो विश्वरूप, सुन्दर विश्वके निर्माता तथा विश्वरूपधारी हैं, जो केशव, सुन्दर केशोंसे युक्त, किरणरूपी केशवाले और अधिक बलशाली हैं, उन भगवान् विष्णुको मेरा प्रणाम है ॥

हिरण्यगर्भाय नमः सौम्याय वृषरूपिणे ।
नारायणाग्र्यवपुषे पुरुहूताय वज्रिणे ॥
धर्मिणे वृषसेनाय धर्मसेनाय रोधसे ।

'जो हिरण्यगर्भ, सौम्य, वृषरूपधारी, नारायण, श्रेष्ठ शरीरधारी, पुरुहूत (इन्द्र) तथा वज्र धारण करनेवाले हैं, जो धर्मात्मा, वृषसेन, धर्मसेन तथा तटरूप हैं, उन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार है ॥

मुनये ज्वरमुक्ताय ज्वराधिपतये नमः ॥
अनेत्राय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय विड्डर्मिणे ।

'जो मननशील मुनि, ज्वर आदि रोगोंसे मुक्त तथा ज्वरके अधिपति हैं, जिनके नेत्र नहीं हैं अथवा जिनके तीन नेत्र हैं, जो पिङ्गलवर्णवाले तथा प्रजारूपी लहरोंकी उत्पत्तिके लिये महासागरके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

तपोब्रह्मनिधानाय युगपर्यायिणे नमः ॥
शरणाय शरण्याय शक्तेष्टशरणाय च ।
नमः सर्वभवेशाय भूतभव्यभवाय च ॥

'जो तप और वेदकी निधि हैं, बारी-बारीसे युगोंका परिवर्तन करनेवाले हैं, सबके शरणदाता, शरणागतवत्सल और शक्तिशाली पुरुषके लिये अभीष्ट आश्रय हैं, सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर एवं भूत, वर्तमान और भविष्यरूप हैं, उन भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

पाहि मां देवदेवेश कोऽप्यजोऽसि सनातन ।
एवं गतोऽसि शरणं शरण्यं ब्रह्मयोनिनाम् ॥

'देवदेवेश्वर ! आप मेरी रक्षा करें । सनातन परमात्मन् ! आप कोई अनिर्वचनीय अजन्मा पुरुष हैं, ब्राह्मणोंके शरणदाता हैं; मैं इस संकटमें पड़कर आपकी ही शरण लेता हूँ' ॥

स्तव्यं स्तवं स्तुतवतस्तत् तमो मे प्रणश्यत ।
शृणोमि च गिरं दिव्यामन्तर्धानगतां शिवाम् ।

इस प्रकार स्तवनीय परमेश्वरकी स्तुति करते ही मेरा वह सारा दुःख नष्ट हो गया । तत्पश्चात् मुझे किसी अदृश्य शक्तिके द्वारा कही हुई यह मङ्गलमयी दिव्य वाणी सुनायी दी ॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्गरुत्मन् दान्तोऽसि पुनः सेन्द्रान् दिवौकसः ॥
स्वं चैव भवनं गत्वा द्रक्ष्यसे पुत्रबान्धवान् ।

श्रीभगवान् बोले—गरुड ! तुम डरो मत । तुमने मन और इन्द्रियोंको जीत लिया है । अब तुम पुनः इन्द्र आदि देवताओंके सहित अपने घरमें जाकर पुत्रों और भाई-बन्धुओंको देखोगे ॥

सुपर्ण उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणेनैव सहसैव महाद्युतिः ॥
प्रत्यदृश्यत तेजस्वी पुरस्तात् स समान्तिके ।

गरुडजी कहते हैं—मुनियो ! तदनन्तर उसी क्षण वे परम कान्तिमान् तेजस्वी नारायण सहसा मेरे सामने अत्यन्त निकट दिखायी दिये ॥

समागम्य ततस्तेन शिवेन परमात्मना ॥
अपश्यं चाहमायान्तं नरनारायणाश्रमे ।
चतुर्द्विगुणविन्यासं तं च देवं सनातनम् ॥

तब उन मङ्गलमय परमात्मासे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर मैंने देखा, वे आठ भुजाओंवाले सनातनदेव पुनः नर-नारायणके आश्रमकी ओर आ रहे हैं ॥

यजतस्तानृषीन् देवान् वदतो ध्यायतो मुनीन् ।
युक्तान् सिद्धान् नैष्ठिकांश्च जपतो यजतो गृहीन् ॥

वहाँ मैंने देखा, ऋषि यज्ञ कर रहे हैं, देवता बातें कर रहे हैं, मुनिलोग ध्यानमें मग्न हैं, योगयुक्त सिद्ध और नैष्ठिक ब्रह्मचारी जप करते हैं तथा गृहस्थलोग यज्ञोंके अनुष्ठानमें संलग्न हैं ॥

पुष्पपूरपरिक्षिप्तं धूपितं दीपितं हितम् ।
वन्दितं सिक्तसम्मृष्टं नरनारायणाश्रमम् ॥

नर-नारायणका आश्रम धूपसे सुगन्धित और दीपसे प्रकाशित हो रहा था। वहाँ चारों ओर ढेर-के-ढेर फूल बिखरे हुए थे। वह आश्रम सबके लिये हितकर एवं सत्पुरुषोंद्वारा वन्दित था। झाड़-बुहारकर स्वच्छ बनाया और सींचा गया था॥

तदद्भुतमहं दृष्ट्वा विस्मितोऽस्मि तदानघाः।
जगाम शिरसा देवं प्रयतेनान्तरात्मना॥

निष्पाप मुनियो! उस अद्भुत दृश्यको देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ और मैंने पवित्र एवं एकाग्र हृदयसे मस्तक झुकाकर उन भगवान्‌की शरण ली॥

तदत्यद्भुतसंकाशं किमेतदिति चिन्तयन्।
नाध्यगच्छं परं दिव्यं तस्य सर्वभवात्मनः॥

वह सब अद्भुत-सा दृश्य क्या था, यह बहुत सोचनेपर भी मेरी समझमें नहीं आया। सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन परमात्माके परम दिव्य भावको मैं नहीं समझ सका॥

प्रणिपत्य सुदुर्धर्षं पुनः पुनरुदीक्ष्य च।
शिरस्यञ्जलिमाधाय विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥
अवोचं तमदीनार्थं श्रेष्ठानां श्रेष्ठमुत्तमम्।

उन दुर्जय परमात्माको बारंबार प्रणाम करके उनकी ओर देखकर मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और मैंने मस्तकपर अञ्जलि बाँधे उन श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी सर्वश्रेष्ठ एवं उदार पुरुषोत्तमसे कहा—॥

नमस्ते भगवन् देव भूतभव्यभवत्प्रभो॥
यदेतदद्भुतं देव मया दृष्टं त्वदाश्रयम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं किं तच्छंसितुमर्हसि॥

'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् नारायण-देव! आपको नमस्कार है। देव! मैंने आपके आश्रित जो यह अद्भुत दृश्य देखा है, इसका कहीं आदि, मध्य और अन्त नहीं है। वह सब क्या है, यह बतानेकी कृपा करें॥

यदि जानासि मां भक्तं यदि वानुग्रहो मयि।
शंस सर्वमशेषेण श्रोतव्यं यदि चेन्मया॥

'यदि आप मुझे अपना भक्त समझते हैं अथवा यदि आपका मुझपर अनुग्रह है तो यह सब यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो पूर्णरूपसे बताइये॥

स्वभावस्तव दुर्ज्ञेयः प्रादुर्भावोऽभवस्य च।
भवद्भूतभविष्येश सर्वथा गहनो भवान्॥

'आपका स्वभाव दुर्ज्ञेय है। आप अजन्मा परमेश्वरका प्रादुर्भाव भी समझमें आना कठिन है। भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी नारायण! आप सर्वथा गहन (अगम्य) हैं॥

ब्रूहि सर्वमशेषेण तदाश्चर्यं महामुने।
किं तदत्यद्भुतं वृत्तं तेष्वग्निषु समन्ततः॥

'महामुने! वह सारा आश्चर्यजनक एवं अद्भुत वृत्तान्त, जो उन अग्नियोंके चारों ओर देखा गया, क्या था? यह पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें॥

कानि तान्यग्निहोत्राणि केषां शब्दः श्रुतो मया।
शृण्वतां ब्रह्म सततमदृश्यानां महात्मनाम्॥

'वे अग्निहोत्र कौन थे? निरन्तर वेदोंका श्रवण और पाठ करनेवाले वे अदृश्य महात्मा कौन थे, जिनका शब्दमात्र मैंने सुना था?॥

एतन्मे भगवन् कृष्ण ब्रूहि सर्वमशेषतः।
गृणन्त्यग्निसमीपेषु के च ते ब्रह्मराशयः॥

'भगवान् श्रीकृष्ण! यह सब आप पूर्णरूपसे मुझे बताइये। जो लोग अग्निके समीप वेदोंका पारायण कर रहे थे, वे ब्राह्मणसमूह महात्मा कौन थे?'॥

श्रीभगवानुवाच

मां न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
विदुस्तत्त्वेन तत्त्वस्थं सूक्ष्मात्मानमवस्थितम्॥

श्रीभगवान् बोले—गरुड! मुझे न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस ही तत्त्वसे जानते हैं। मैं सम्पूर्ण तत्त्वोंमें उनके सूक्ष्म आत्मारूपसे अवस्थित हूँ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा लोकानां हितकाम्यया।
भूतभव्यभविष्यादिरनादिर्विश्वकृत्तमः॥

लोकोंके हितकी कामनासे मैंने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त कर रक्खा है। मैं भूत, वर्तमान और भविष्यका आदि हूँ। मेरा आदि कोई नहीं है। मैं ही सबसे बड़ा विश्वस्रष्टा हूँ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च तेजश्च तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
प्रकृतिर्विकृतिश्चेति विद्याविद्ये शुभाशुभे।
मत्त एतानि जायन्ते नाहमेभ्यः कथंचन॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, बुद्धि, तेज (अहंकार), सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, प्रकृति, विकृति, विद्या, अविद्या तथा शुभ और अशुभ—ये सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। मैं इनसे किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होता॥

यत् किंचिच्छ्रेयसा युक्तः श्रेष्ठभावं व्यवस्यति।
धर्मयुक्तं च पुण्यं च सोऽहमस्मि निरामयः॥

मनुष्य कल्याणभावनासे युक्त हो जिस-किसी पवित्र, धर्मयुक्त एवं श्रेष्ठ भावका निश्चय करता है, वह सब मैं निरामय परमेश्वर ही हूँ॥

यः स्वभावात्मतत्त्वज्ञैः कारणैरुपलक्ष्यते।
अनादिमध्यनिधनः सोऽन्तरात्मास्मि शाश्वतः॥

स्वभाव एवं आत्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष विभिन्न हेतुओंद्वारा जिसका साक्षात्कार करते हैं, वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित सर्वान्तरात्मा सनातन पुरुष मैं ही हूँ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं रूपं सूक्ष्मार्थदर्शिभिः।
गृह्यते सूक्ष्मभावज्ञैः स विभाव्योऽस्मि शाश्वतः॥

सूक्ष्म अर्थको देखने और समझनेवाले तथा सूक्ष्मभावको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष मेरे जिस परम गुह्य रूपको ग्रहण करते हैं, वह चिन्तनीय सनातन परमात्मा मैं ही हूँ ॥

यत् तु मे परमं गुह्यं येन व्याप्तमिदं जगत्।
सोऽहं गतः सर्वसत्त्वः सर्वस्य प्रभवोऽव्ययः ॥

जो मेरा परम गुह्य रूप है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह सर्वसत्त्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ, मैं ही सबका अविनाशी कारण हूँ ॥

मत्तो जातानि भूतानि मया धार्यन्त्यहर्निशम्।
मय्येव विलयं यान्ति प्रलये पन्नगाशन ॥

गरुड ! सम्पूर्ण भूत प्राणी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मेरे ही द्वारा वे अहर्निश जीवन धारण करते हैं और प्रलयके समय सब-के-सब मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥

यो मां यथा वेदयति तस्य तस्यास्मि काश्यप।
मनोबुद्धिगतः श्रेयो विदधामि विहङ्गम ॥

काश्यप ! जो मुझे जैसा जानता है, उसके लिये मैं वैसा ही हूँ। विहङ्गम ! मैं सभीके मन और बुद्धिमें रहकर सबका कल्याण करता हूँ ॥

मां तु ज्ञातुं कृता बुद्धिर्भवता पक्षिसत्तम।
शृणु योऽहं यतश्चाहं यदर्थं चाहमुद्यतः ॥

पक्षिप्रवर ! तुमने मेरे तत्त्वको जाननेका विचार किया था; अतः मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? और किस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उद्यत हुआ हूँ ? यह सब बताता हूँ, सुनो ॥

ये केचिन्नियतात्मानस्त्रेताग्निपरमा द्विजाः।
अग्निकार्यपरा नित्यं जपहोमपरायणाः ॥
आत्मन्यग्नीन् समाधाय नियता नियतेन्द्रियाः।
अनन्यमनसस्ते मां सर्वे वै समुपासते ॥
यजन्तो जपयज्ञैर्मां मानसैश्च सुसंयताः।
अग्नीनभ्युद्ययुः शश्वदग्निष्वेवाभिसंस्थिताः ॥
अनन्यकार्याः शुचयो नित्यमग्निपरायणाः।
य एवंबुद्धयो धीरास्ते मां गच्छन्ति तादृशाः ॥

जो कोई ब्राह्मण अपने मनको वशमें करके त्रिविध अग्नियोंकी उपासना करते हैं, नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जप-होममें संलग्न हैं, जो नियमपूर्वक रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके अपने-आपमें ही अग्नियोंका आधान कर लेते हैं तथा सब-के-सब अनन्यचित्त होकर मेरी ही उपासना करते हैं, जो अपनेको पूर्ण संयममें रखकर जप, यज्ञ और मानसयज्ञोंद्वारा मेरी आराधना करते हैं, जो सदा अग्निहोत्रमें ही तत्पर रहकर अग्नियोंका स्वागत करते हैं तथा अन्य कार्यमें रत न होकर शुद्धभावसे सदा अग्निकी परिचर्या करते हैं; ऐसी बुद्धिवाले धीर पुरुष वैसे भक्तिभावसे सम्पन्न होते हैं, वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥

अकामहतसंकल्पा ज्ञाने नित्यं समाहिताः।
आत्मन्यग्नीन् समाधाय निराहारा निराशिषः ॥
विषयेषु निरारम्भा विमुक्ता ज्ञानचक्षुषः।
अनन्यमनसो धीराः स्वभावनियमान्विताः ॥

जिन्होंने निष्कामभावके द्वारा अपने सारे संकल्पोंको नष्ट कर दिया है, जो सदा ज्ञानमें ही चित्तको एकाग्र किये रहते हैं और अग्नियोंको अपने आत्मामें ही स्थापित करके आहार (भोग) और कामनाओंका त्याग कर देते हैं, विषयोंकी उपलब्धिके लिये जिनकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जो सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हैं, वे स्वभावतः नियमपरायण एवं अनन्यचित्तसे मेरा चिन्तन करनेवाले धीर पुरुष मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

यत् तद् वियति दृष्टं तत् सरः पद्मोत्पलायुतम्।
तत्राग्नयः संनिहिता दीप्यन्ते स्म निरिन्धनाः ॥

तुमने जो आकाशमें कमल और उत्पलसे भरा हुआ सुन्दर सरोवर देखा था, उसके समीप स्थापित हुई अग्नियाँ बिना ईंधनके ही प्रज्वलित होती हैं ॥

ज्ञानामलाशयास्तस्मिन् ये च चन्द्रांशुनिर्मलाः।
उपासीना गृणन्तोऽग्निं प्रस्पष्टाक्षरभाषिणः ॥
आकाङ्क्षमाणाः शुचयस्तेष्वग्निषु विहङ्गम।

जिनके अन्तःकरण ज्ञानके प्रकाशमें निर्मल हो गये हैं, जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल हैं, वे ही वहाँ स्पष्ट अक्षरका उच्चारण करते हुए वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक अग्निकी उपासना करते हैं। विहङ्गम ! वे पवित्रभावसे रहकर उन अग्नियोंकी परिचर्याकी ही इच्छा रखते हैं ॥

ये मया भावितात्मानो मय्येवाभिरताः सदा ॥
उपासते च मामेव ज्योतिर्भूता निरामयाः।
तैर्हि तत्रैव वस्तव्यं नीरागात्मभिरच्युतैः ॥

मेरा चिन्तन करनेके कारण जिनका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, जो सदा मेरी ही उपासनामें रत हैं, वे ही वहाँ रोग-शोकसे रहित एवं ज्योतिःस्वरूप होकर मेरी ही उपासना किया करते हैं। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होकर वीतराग हृदयसे सदा वहीं निवास करेंगे ॥

निराहारा ह्यनिष्यन्दाश्चन्द्रांशुसदृशप्रभाः।
निर्मला निरहंकारा निरालम्बा निराशिषः ॥
मद्भक्ताः सततं ते वै भक्तस्तानपि चाप्यहम्।

उनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है। वे निराहार, श्रमविन्दुओंसे रहित, निर्मल, अहंकारशून्य, आलम्बनरहित और निष्काम हैं। उनकी सदा मुझमें भक्ति बनी रहती है तथा मैं भी उनका भक्त (प्रेमी) बना रहता हूँ ॥

चतुर्धाहं विभक्तात्मा चरामि जगतो हितः ॥
लोकानां धारणार्थाय विधानं विदधामि च।

यथावत्तदशेषेण श्रोतुमर्हति मे भवान् ॥

मैं अपनेको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके जगत्‌के हित-साधनमें तत्पर हो विचरता रहता हूँ। सम्पूर्ण लोक जीवित एवं सुरक्षित रहें, इसके लिये मैं विधान बनाता हूँ। वह सब तुम यथार्थरूपसे सुननेके अधिकारी हो॥

एका मूर्तिर्निर्गुणाख्या योगं परममास्थिता।
द्वितीया सृजते तात भूतग्रामं चराचरम्॥

तात! मेरी एक निर्गुण मूर्ति है, जो परम योगका आश्रय लेकर रहती है। दूसरी वह मूर्ति है, जो चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करती है॥

सृष्टं संहरते चैका जगत् स्थावरजङ्गमम्।
ज्ञातात्मनिष्ठा क्षपयन् मोहयन्निव मायया॥

तीसरी मूर्ति स्थावर-जङ्गम जगत्‌का संहार करती है और चौथी मूर्ति आत्मनिष्ठ है, जो आसुरी शक्तियोंको मायासे मोहित-सी करके उन्हें नष्ट कर देती है॥

क्षिपन्ती मोहयन्ती च ह्यात्मनिष्ठा स्वमायया।
चतुर्थी मे महामूर्तिर्जगद्वृद्धिं ददाति सा॥
रक्षते चापि नियता सोऽहमस्मि नभश्चर।

अपनी मायासे दुष्टोंको मोहित और नष्ट करनेवाली जो मेरी चौथी आत्मनिष्ठ महामूर्ति है, वह नियमपूर्वक रहकर जगत्‌की वृद्धि और रक्षा करती है। गरुड! वही मैं हूँ॥

मया सर्वमिदं व्याप्तं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
अहं सर्वजगद्बीजं सर्वत्रगतिरव्ययः।

मैंने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है। सारा जगत् मुझमें ही प्रतिष्ठित है। मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌का बीज हूँ। मेरी सर्वत्र गति है और मैं अविनाशी हूँ॥

यानि तान्यग्निहोत्राणि ये च चन्द्रांशुराशयः।
गृणन्ति वेद सततं तेष्वग्निषु विहङ्गम॥
क्रमेण मां समायान्ति सुखिनो ज्ञानसंयुताः।
तेषामहं तपो दीप्तं तेजः सम्यक् समाहितम्।
नित्यं ते मयि वर्तन्ते तेषु चाहमतन्द्रितः॥

विहङ्गम! वे जो अग्निहोत्र थे तथा जो चन्द्रमाकी किरणोंके पुञ्ज-जैसी कान्तिवाले पुरुष निरन्तर उन अग्नियोंके समीप बैठकर वेदोंका पाठ करते थे, वे ज्ञानसम्पन्न एवं सुखी होकर क्रमशः मुझे प्राप्त होते हैं। मैं ही उनका उद्दीप्त तप और सम्यक् रूपसे संचित तेज हूँ। वे सदा मुझमें विद्यमान हैं और मैं उनमें सावधान हुआ रहता हूँ॥

सर्वतो मुक्तसङ्गेन मय्यनन्यसमाधिना।
शक्यः समासादयितुमहं वै ज्ञानचक्षुषा॥

जो सब ओरसे आसक्तिशून्य है, वह मुझमें अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र करके ज्ञानदृष्टिसे मेरा साक्षात्कार कर सकता है॥

एकान्तिनो ध्यानपरा यतिभावाद् व्रजन्ति माम्।

जो संन्यासका आश्रय लेकर अनन्यभावसे मेरे ध्यानमें तत्पर रहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं॥

सत्त्वयुक्ता मतिर्येषां केवलाऽऽत्मविनिश्चिता॥
ते पश्यन्ति स्वमात्मानं परमात्मानमव्ययम्।

जिनकी बुद्धि सत्त्वगुणसे युक्त है और केवल आत्मतत्त्वका निश्चय करके उसीके चिन्तनमें लगी हुई है, वे अपने आत्मरूप अविनाशी परमात्माका दर्शन करते हैं॥

अहिंसा सर्वभूतेषु तेष्ववस्थितमार्जवम्॥
तेष्वेव च समाधाय सम्यगेति स मामजम्।

उन्हींका समस्त प्राणियोंके प्रति अहिंसा भाव होता है, उन्हींमें 'सरलता' नामक सद्‌गुणकी स्थिति होती है और उन्हीं गुणोंमें स्थित हुआ जो चित्तको मुझ परमात्मामें भलीभाँति समाहित कर देता है, वह मुझ अजन्मा परमेश्वरको प्राप्त होता है॥

यदेतत् परमं गुह्यमाख्यानं परमाद्भुतम्॥
यत्नेन तदशेषेण यथावच्छ्रोतुमर्हसि।

यह जो परम गोपनीय एवं अत्यन्त अद्भुत आख्यान है, इसे पूर्णतः यत्नपूर्वक यथावत् रूपसे श्रवण करो॥

ये त्वग्निहोत्रनियता जपयज्ञपरायणाः॥
ये मामुपासते शश्वदेतांस्त्वं दृष्टवानसि।

जो अग्निहोत्रमें संलग्न और जप-यज्ञपरायण होते हैं, जो निरन्तर मेरी उपासना करते रहते हैं; उन्हींका तुमने प्रत्यक्ष दर्शन किया है॥

शास्त्रदृष्टविधानज्ञा असक्ताः क्वचिदन्यथा॥
शक्योऽहं वेदितुं तैस्तु यन्मे परममव्ययम्।

जो शास्त्रोक्त विधिके ज्ञाता होकर अनासक्तभावसे सत्कर्म करते हैं, कभी शास्त्रविपरीत—असत् कर्ममें नहीं लगते, उनके द्वारा ही मैं जाना जा सकता हूँ। मेरा जो अविनाशी परम तत्त्व है, उसे भी वे ही जान सकते हैं।

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः॥
आसादयति तद् ब्रह्म यत्र गत्वा न शोचति।

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त प्रसन्न (निर्मल) है, जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता और पवित्र है, वह ज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्मको प्राप्त होता है, जहाँ जाकर कोई शोकमें नहीं पड़ता॥

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः श्रद्धायुक्तेन चेतसा॥
मद्भक्त्या च द्विजश्रेष्ठा गच्छन्ति परमां गतिम्।

जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न हैं, जो श्रेष्ठ द्विज श्रद्धायुक्त चित्तसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी भक्तिद्वारा परम गतिको प्राप्त होते हैं॥

यद् गुह्यं परमं बुद्धेरलिङ्गग्रहणं च यत्॥
तत् सूक्ष्मं गृह्यते विप्रैर्यतिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।

जो बुद्धिके लिये परम गुह्य रहस्य है, जो किसी आकृतिसे गृहीत नहीं होता—अनुभवमें नहीं आता, उस सूक्ष्म परब्रह्मका तत्त्वदर्शी यति ब्राह्मण साक्षात्कार कर लेते हैं ॥

न वायुः पवते तत्र न तस्मिञ्ज्योतिषां गतिः ॥
न चापः पृथिवी नैव नाकाशं न मनोगतिः ।

वहाँ यह वायु नहीं चलती, ग्रहों और नक्षत्रोंकी पहुँच नहीं होती तथा जल, पृथ्वी, आकाश और मनकी भी गति नहीं हो पाती है ॥

तस्माच्चैतानि सर्वाणि प्रजायन्ते विहङ्गम ॥
सर्वेभ्यश्च स तेभ्यश्च प्रभवत्यमलो विभुः ।

विहङ्गम ! उसी ब्रह्मसे ये सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। वह निर्मल एवं सर्वव्यापी परमात्मा उन सबके द्वारा ही सबको उत्पन्न करनेमें समर्थ है ॥

स्थूलदर्शनमेतन्मे यद् दृष्टं भवतानघ ॥
एतत् सूक्ष्मस्य च द्वारं कार्याणां कारणं त्वहम् ।

अनघ ! तुमने जो मेरा यह स्थूल रूप देखा है, यही मेरे सूक्ष्म स्वरूपमें प्रवेश करनेका द्वार है । समस्त कार्योंका कारण मैं ही हूँ ॥

दृष्टो वै भवता तस्मात् सरस्यमितविक्रम ॥

अमित पराक्रमी गरुड ! इसीलिये तुमने उस सरोवरमें मेरा दर्शन किया है ॥

मां यज्ञमाहुर्यज्ञज्ञा वेदं वेदविदो जनाः ।
मुनयश्चापि मामेव जपयज्ञं प्रचक्षते ॥

यज्ञके ज्ञाता मुझे यज्ञ कहते हैं। वेदोंके विद्वान् मुझे ही वेद बताते हैं और मुनि भी मुझे ही जप-यज्ञ कहते हैं ॥

वक्ता मन्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा प्रदर्शकः ।
बोद्धा बोधयिता चाहं गन्ता श्रोता चिदात्मकः ॥

मैं ही वक्ता, मनन करनेवाला, रस लेनेवाला, सूँघनेवाला, देखने और दिखानेवाला, समझने और समझानेवाला तथा जाने और सुननेवाला चेतन आत्मा हूँ ॥

मामिष्ट्वा स्वर्गमायान्ति तथा चाप्नुवते महत् ।
ज्ञात्वा मामेव चैवं ते निःसङ्गेनान्तरात्मना ॥

मेरा ही यजन करके यजमान स्वर्गमें आते और महान् पद पाते हैं । इसी प्रकार जो अनासक्त हृदयसे मुझे ही जान लेते हैं, वे मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥

अहं तेजो द्विजातीनां मम तेजो द्विजातयः ।
मम यस्तेजसा देहः सोऽग्निरित्यवगम्यताम् ॥

मैं ब्राह्मणोंका तेज हूँ और ब्राह्मण मेरे तेज हैं । मेरे तेजसे जो शरीर प्रकट हुआ है, उसीको तुम अग्नि समझो ॥

प्राणपालः शरीरेऽहं योगिनामहमीश्वरः ।
सांख्यानामिदमेवाग्रे मयि सर्वमिदं जगत् ॥

मैं ही शरीरमें प्राणोंका रक्षक हूँ । मैं ही योगियोंका ईश्वर हूँ । सांख्योंका जो यह प्रधान तत्त्व है, वह भी मैं ही हूँ । मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥

धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं चैवार्जवं जपम् ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव कर्मजं च भवाप्ययम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सरलता, जप, सत्त्वगुण, तमोगुण, रजोगुण तथा कर्मजनित जन्म-मरण—सब मेरे ही स्वरूप हैं ॥

स तदाहं तथारूपस्त्वया दृष्टः सनातनः ।
ततस्त्वहं परतरः शक्यः कालेन वेदितुम् ॥
मम यत् परमं गुह्यं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
तदेवं परमो गुह्यो देवो नारायणो हरिः ॥

उस समय तुमने मुझ सनातन पुरुषका उस रूपमें दर्शन किया था । उससे भी उत्कृष्ट जो मेरा स्वरूप है, उसे तुम समयानुसार जान सकते हो । मेरा जो परम गोपनीय, शाश्वत, ध्रुव एवं अव्यय पद है, उसका ज्ञान भी तुम्हें समयानुसार हो सकता है । इस प्रकार मैं नारायणदेव एवं हरिनामसे प्रसिद्ध परमेश्वर परम गोपनीय माना गया हूँ ॥

न तच्छक्यं भुजङ्गारे वेत्तुमभ्युदयान्वितैः ।
निरारम्भनमस्कारा निराशीर्बन्धनास्तथा ॥
गच्छन्ति तं महात्मानं परं ब्रह्म सनातनम् ।

गरुड ! जो लौकिक अभ्युदयमें आसक्त हैं, वे मेरे उस स्वरूपको नहीं जान सकते । जो कर्मोंके आरम्भका मार्ग छोड़ चुके हैं, नमस्कारसे दूर हो गये हैं और कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हैं, वे यतिजन उन सनातन परमात्मा परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

स्थूलोऽहमेवं विहग त्वया दृष्टस्तथानघ ॥
एतच्चापि न वेत्त्यन्यस्त्वामृते पन्नगाशन ।

निष्पाप पक्षिराज गरुड ! इस प्रकार तुमने मेरे स्थूल स्वरूपका दर्शन किया है । परंतु तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इस स्वरूपको भी नहीं जानता ॥

मा मतिस्तव गान्नाशमेषा गतिरनुत्तमा ॥
मद्भक्तो भव नित्यं त्वं ततो वेत्स्यसि मे पदम् ।

तुम्हारी बुद्धिका नाश न हो—यही सर्वोत्तम गति है । तुम नित्य-निरन्तर मेरी भक्तिमें लगे रहो । इससे तुम्हें मेरे स्वरूपका यथार्थ बोध हो जायगा ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रहस्यं दिव्यमानुषम् ॥
एतच्छ्रेयः परं चैतत् पन्थानं विद्धि मोक्षिणाम् ।

यह सब तुम्हें बताया गया । यह देवताओं और मनुष्योंके लिये भी रहस्यकी बात है । यही परम कल्याण है । तुम इसे मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंका मार्ग समझो ॥

सुपर्ण उवाच

एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

पश्यतो मे महायोगी जगामात्मगतिर्गतिम् ।

गरुड कहते हैं—ऋषियो ! ऐसा कहकर वे भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये । वे महायोगी तथा आत्मगतिरूप परमेश्वर मेरे देखते-देखते अदृश्य हो गये ॥

एतदेवंविधं तस्य महिमानं महात्मनः ॥
अच्युतस्याप्रमेयस्य दृष्टवानस्मि यत् पुरा ।

इस प्रकार मैंने पूर्वकालमें अप्रमेय महात्मा अच्युतकी महिमाका साक्षात्कार किया था ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं चेष्टितं तस्य धीमतः ॥
मयानुभूतं प्रत्यक्षं दृष्ट्वा चाद्भुतकर्मणः ।

अद्भुतकर्मा परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीहरिकी यह सारी लीला जो मैंने प्रत्यक्ष देखकर अनुभव की है, आपको बता दी ॥

ऋषय ऊचुः

अहो श्रावितमाख्यानं भवतात्यद्भुतं महत् ॥
पुण्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।

ऋषियोंने कहा—अहो ! आपने यह बड़ा अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण आख्यान सुनाया । यह परम पवित्र प्रसङ्ग यश, आयु एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा महान् मङ्गलकारी है ॥

एतत् पवित्रं देवानामेतद् गुह्यं परंतप ॥
एतज्ज्ञानवतां ज्ञेयमेषा गतिरनुत्तमा ।

परंतप गरुडजी ! यह पवित्र विषय देवताओंके लिये भी गुह्य रहस्य है । यही ज्ञानियोंका ज्ञेय है और यही सर्वोत्तम गति है ॥

य इमां श्रावयेद् विद्वान् कथां पर्वसु पर्वसु ॥
स लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यान् देवर्षिभिरभिष्टुतान् ।

जो विद्वान् प्रत्येक पर्वके अवसरपर इस कथाको सुनायेगा, वह देवर्षियोंद्वारा प्रशंसित पुण्यलोकोंको प्राप्त होगा ॥

श्राद्धकाले च विप्राणां य इमां श्रावयेच्छुचिः ॥
न तत्र रक्षसां भागो नासुराणां च विद्यते ।

जो श्राद्धके समय पवित्रभावसे ब्राह्मणोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, उस श्राद्धमें राक्षसों और असुरोंको भाग नहीं मिलेगा ॥

अनसूयुर्जितक्रोधः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥
यः पठेत् सततं युक्तः स व्रजेत् तत्सलोकताम् ।

जो दोषदृष्टिसे रहित हो क्रोधको जीतकर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर हो सदा योगयुक्त रहकर इसका पाठ करेगा, वह भगवान् विष्णुके लोकमें जायगा ॥

वेदान् पारयते विप्रो राजा विजयवान् भवेत् ॥
वैश्यस्तु धनधान्याढ्यः शूद्रः सुखमवाप्नुयात् ।

इसका पाठ करनेवाला ब्राह्मण वेदोंका पारंगत विद्वान् होगा । क्षत्रियको इसका पाठ करनेसे युद्धमें विजयकी प्राप्ति होगी । वैश्य धन-धान्यसे सम्पन्न और शूद्र सुखी होगा ॥

भीष्म उवाच

ततस्ते मुनयः सर्वे सम्पूज्य विनतासुतम् ।
स्वानेव चाश्रमाञ्जग्मुर्बभूवुः शान्तितत्पराः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सम्पूर्ण महर्षि विनतानन्दन गरुडकी पूजा करके अपने-अपने आश्रमको चले गये और वहाँ शम दमके साधनमें तत्पर हो गये ॥

स्थूलदर्शिभिराक्रुष्टो दुर्ज्ञेयो ह्यकृतात्मभिः ।
एषा श्रुतिर्महाराज धर्म्या धर्मभृतां वर ॥
सुराणां ब्रह्मणा प्रोक्ता विस्मितानां परंतप ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ! जिनका मन अपने वशमें नहीं है, उन स्थूलदर्शी पुरुषोंके लिये भगवान् श्रीहरिके तत्त्वका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । यह धर्मसम्मत श्रुति है । परंतप ! इसे ब्रह्माजीने आश्चर्यचकित हुए देवताओंको सुनाया था ॥

ममाप्येषा कथा तात कथिता मातुरन्तिके ॥
वसुभिः सत्त्वसम्पन्नैः तवाप्येषा मयोच्यते ।

तात ! तत्त्वज्ञानी वसुओंने मेरी माता गङ्गाजीके निकट मुझसे यह कथा कही थी और अब तुमसे मैंने कही है ॥

तदग्निहोत्रपरमा जपयज्ञपरायणाः ॥
निराशीर्बन्धनाः सन्तः प्रयान्त्यक्षरसात्मताम् ।

जो अग्निहोत्रमें तत्पर, जप-यज्ञमें संलग्न तथा कामनाओंके बन्धनसे मुक्त होते हैं, वे अविनाशी परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं ॥

आरम्भयज्ञानुत्सृज्य जपहोमपरायणाः ।
ध्यायन्तो मनसा विष्णुं गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

जो क्रियात्मक यज्ञोंका परित्याग करके जप और होममें तत्पर हो मन-ही-मन भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

तदेव परमो मोक्षो मोक्षद्वारं च भारत ।
यदा विनिश्चितात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

भरतनन्दन ! जब निश्चित बुद्धिवाले पुरुष परमात्म-तत्त्वको जानकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, वही परम मोक्ष या मोक्षद्वार कहलाता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोकयात्राकथने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोकयात्राके निर्वाहकी विधिका वर्णनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०४½ श्लोक मिलाकर कुल २१०½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

भीष्मजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे महादेवजीके माहात्म्यकी कथामें उपमन्युद्वारा महादेवजीकी स्तुति-प्रार्थना, उनके दर्शन और वरदान पानेका तथा अपनेको दर्शन प्राप्त होनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

त्वयाऽऽपगेन नामानि श्रुतानीह जगत्पतेः ।
पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शम्भवे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—गङ्गानन्दन ! आपने ब्रह्माजीके भी ईश्वर कल्याणकारी जगदीश्वर भगवान् शिवके जो नाम सुने हों, उन्हें यहाँ बताइये ॥ १ ॥

बभ्रवे विश्वरूपाय महाभाग्यं च तत्त्वतः ।
सुरासुरगुरौ देवे शंकरेऽव्यक्तयोनये ॥ २ ॥

जो विराट् विश्वरूपधारी हैं, अव्यक्तके भी कारण हैं, उन सुरासुरगुरु भगवान् शङ्करके माहात्म्यका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः ।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च ।
ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते ॥ ४ ॥
प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः ।
चिन्त्यते यो योगविद्भिर्ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः ॥ ५ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षोभयित्वा स्वतेजसा ।
ब्रह्माणमसृजत् तस्माद् देवदेवः प्रजापतिः ॥ ६ ॥
को हि शक्तो गुणान् वक्तुं देवदेवस्य धीमतः ।
गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मैं परम बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ । जो भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, किन्तु (सबके आत्मा होनेके कारण) सर्वत्र देखनेमें नहीं आते हैं, ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्रके भी स्रष्टा तथा प्रभु हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंसे लेकर पिशाचतक जिनकी उपासना करते हैं, जो प्रकृतिसे भी परे और पुरुषसे भी विलक्षण हैं, योगवेत्ता तत्त्वदर्शी ऋषि जिनका चिन्तन करते हैं, जो अविनाशी परम ब्रह्म एवं सदसत्स्वरूप हैं, जिन देवाधिदेव प्रजापति शिवने अपने तेजसे प्रकृति और पुरुषको क्षुब्ध करके ब्रह्माजीकी सृष्टि की, उन्हीं देवदेव बुद्धिमान् महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें गर्भ, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है ? ॥ ३—७ ॥

को हि शक्तो भवं ज्ञातुं मद्विधः परमेश्वरम् ।
ऋते नारायणात् पुत्र शङ्खचक्रगदाधरात् ॥ ८ ॥

बेटा ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् नारायणको छोड़कर मेरे-जैसा कौन पुरुष परमेश्वर शिवके तत्त्वको जान सकता है ? ॥ ८ ॥

एष विद्वान् गुणश्रेष्ठो विष्णुः परमदुर्जयः ।
दिव्यचक्षुर्महातेजा वीक्षते योगचक्षुषा ॥ ९ ॥

ये भगवान् विष्णु सर्वज्ञ, गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ, अत्यन्त दुर्जय, दिव्य नेत्रधारी तथा महातेजस्वी हैं । ये योगदृष्टिसे सब कुछ देखते हैं ॥ ९ ॥

रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद् व्याप्तं महात्मना ।
तं प्रसाद्य तदा देवं बदर्यां किल भारत ॥ १० ॥
अर्थात् प्रियतरत्वं च सर्वलोकेषु वै तदा ।
प्राप्तवानेव राजेन्द्र सुवर्णाक्षान्महेश्वरात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! रुद्रदेवके प्रति भक्तिके कारण ही महात्मा श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है । राजन् ! कहते हैं कि पूर्वकालमें महादेवजीको बदरिकाश्रममें प्रसन्न करके उन दिव्यदृष्टि महेश्वरसे श्रीकृष्णने सब पदार्थोंकी अपेक्षा प्रियतर-भावको प्राप्त कर लिया अर्थात् वे सम्पूर्ण लोकोंके प्रियतम बन गये ॥ १०-११ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं तु तप्तवानेष माधवः ।
प्रसाद्य वरदं देवं चराचरगुरुं शिवम् ॥ १२ ॥

इन माधवने वरदायक देवता चराचरगुरु भगवान् शिवको प्रसन्न करते हुए पूर्वकालमें पूरे एक हजार वर्षतक तपस्या की थी ॥ १२ ॥

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः ।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णने प्रत्येक युगमें महेश्वरको संतुष्ट किया है । महात्मा श्रीकृष्णकी परम भक्तिसे वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्योनेर्महात्मनः ।
तदयं दृष्टवान् साक्षात् पुत्रार्थे हरिरच्युतः ॥ १४ ॥

जगत्के कारणभूत परमात्मा शिवका ऐश्वर्य जैसा है, उसे पुत्रके लिये तपस्या करते हुए इन अच्युत श्रीहरिने प्रत्यक्ष देखा है ॥ १४ ॥

यस्मात् परतरं चैव नान्यं पश्यामि भारत ।
व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥ १५ ॥

भारत ! उसी ऐश्वर्यके कारण मैं परात्पर श्रीकृष्णके सिवा किसी दूसरेको ऐसा नहीं देखता, जो देवाधिदेव महादेवजीके नामोंकी पूर्णरूपसे व्याख्या कर सके ॥ १५ ॥

एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान्।
विभूतिं चैव कात्स्न्येन सत्यां माहेश्वरीं नृप ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही भगवान् महेश्वरके गुणों तथा उनके यथार्थ ऐश्वर्यका पूर्णतः वर्णन करनेमें समर्थ हैं ॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तदा भीष्मो वासुदेवं महायशाः।
भवमाहात्म्यसंयुक्तमिदमाह पितामहः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महायशस्वी पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवके प्रति शङ्करजीकी महिमासे युक्त यह बात कही॥ १७॥

भीष्म उवाच

सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि।
शिवाय विश्वरूपाय यन्मां पृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

भीष्मजी बोले—देवासुरगुरो ! विष्णुदेव ! राजा युधिष्ठिरने मुझसे जो पूछा है, उस विश्वरूप शिवके माहात्म्यको बतानेके योग्य आप ही हैं ॥ १८ ॥

नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत् पुराभवत् ॥ १९ ॥
द्वैपायनप्रभृतयस्तथा चेमे तपोधनाः।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥ २० ॥

पूर्वकालमें ब्रह्मपुत्र तण्डीमुनिके द्वारा ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके समक्ष जिस शिव-सहस्रनामका निरूपण किया गया था, उसीका आप वर्णन करें और ये उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्यास आदि तपोधन एवं जितेन्द्रिय महर्षि आपके मुखसे इसका श्रवण करें ॥ १९-२० ॥

ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये।
महाभाग्यं विभोर्ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥ २१ ॥

जो ध्रुव (कूटस्थ), नन्दी (आनन्दमय), होता, गोप्ता (रक्षक), विश्वस्रष्टा, गार्हपत्य आदि अग्नि, मुण्डी (चूड़ारहित) और कपर्दी (जटाजूटधारी) हैं, उन भगवान् शङ्करके महान् सौभाग्यका आप वर्णन कीजिये॥२१॥

वासुदेव उवाच

न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः।
हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ॥ २२ ॥
न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवान् शङ्करके कर्मोंकी गतिका यथार्थरूपसे ज्ञान होना अशक्य है। ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवता, महर्षि तथा सूक्ष्मदर्शी आदित्य भी जिनके निवासस्थानको नहीं जानते, सत्पुरुषोंके आश्रयभूत उन भगवान् शिवके तत्त्वका ज्ञान मनुष्यमात्रको कैसे हो सकता है ? ॥ २२-२३ ॥

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद् भगवतो गुणान्।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ २४ ॥

अतः मैं उन असुरविनाशक व्रतेश्वर भगवान् शङ्करके कुछ गुणोंका आपलोगोंके समक्ष यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवान् गुणांस्तस्य महात्मनः।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आचमन करके पवित्र हो बुद्धिमान् परमात्मा शिवके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ २५ ॥

वासुदेव उवाच

शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर।
त्वं चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिने ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—यहाँ बैठे हुए ब्राह्मणशिरोमणियो ! सुनो, तात युधिष्ठिर ! और गङ्गानन्दन भीष्म ! आपलोग भी यहाँ भगवान् शङ्करके नामोंका श्रवण करें ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम्।
यथावद् भगवान् दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ २७ ॥

पूर्वकालमें साम्बकी उत्पत्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तप करके मैंने जिस दुर्लभ नामसमूहका ज्ञान प्राप्त किया था और समाधिके द्वारा भगवान् शङ्करका जिस प्रकार यथावत्-रूपसे साक्षात्कार किया था, वह सब प्रसङ्ग सुना रहा हूँ ॥ २७ ॥

शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥ २८ ॥
प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान्।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके द्वारा पूर्वकालमें जब शम्बरासुर मारा गया और वे द्वारकामें आये, तबसे बारह वर्ष व्यतीत होनेके पश्चात् रुक्मिणीके प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि पुत्रोंको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली जाम्बवती मेरे पास आकर इस प्रकार बोली—॥ २८-२९ ॥

शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम्।
आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाच्युत माचिरम् ॥ ३० ॥

'अच्युत ! आप मुझे अपने ही समान शूरवीर, बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा कमनीय रूप-सौन्दर्यसे युक्त निष्पाप पुत्र प्रदान कीजिये। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किंचन।
लोकान् सृजेस्त्वमपरानिच्छन् यदुकुलोद्वह ॥ ३१ ॥

'यदुकुलधुरन्धर ! आपके लिये तीनों लोकोंमें कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है। आप चाहें तो दूसरे-दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

त्वया द्वादशवर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः॥ ३२॥

'आपने बारह वर्षोंतक व्रतपरायण हो अपने शरीरको सुखाकर भगवान् पशुपतिकी आराधना की और रुक्मिणीदेवीके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये॥ ३२॥

चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेशो यशोधरः।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शम्भुरेव च॥ ३३॥
यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ मधुसूदन॥ ३४॥

'मधुसूदन! चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेश, यशोधर, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु—इन सुन्दर पराक्रमी पुत्रोंको जिस प्रकार आपने रुक्मिणीदेवीके गर्भसे उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मुझे भी पुत्र प्रदान कीजिये'॥ ३३-३४॥

इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम्।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव॥ ३५॥

देवी जाम्बवतीके इस प्रकार प्रेरणा देनेपर मैंने उस सुन्दरीसे कहा—'रानी! मुझे जानेकी अनुमति दो। मैं तुम्हारी प्रार्थना सफल करूँगा'॥ ३५॥

सा च मामब्रवीद् गच्छ शिवाय विजयाय च।
ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोऽनुगाः॥ ३६॥
क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणाध्वराः।
समुद्रा दक्षिणास्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः॥ ३७॥
देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च।
मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः॥ ३८॥
सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सरास्तथा।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः॥ ३९॥
रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादव सुखाय च।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ॥ ४०॥

उसने कहा—'प्राणनाथ! आप कल्याण और विजय पानेके लिये जाइये। यदुनन्दन! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियाँ, मनोऽनुकूल देवगण, क्षेत्र, ओषधियाँ, यज्ञवाह (मन्त्र), छन्द, ऋषिगण, यज्ञ, समुद्र, दक्षिणा, स्तोभ (सामगानपूरक 'हावु' 'हायि' आदि शब्द), नक्षत्र, पितर, ग्रह, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ और देवमाताएँ, मन्वन्तर, गौ, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, सावित्री, ब्रह्मविद्या, ऋतु, वर्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, निमेष और युग—ये सर्वत्र आपकी रक्षा करें। आप अपने मार्गपर निर्विघ्न यात्रा करें और अनघ! आप सतत सावधान रहें'॥ ३६—४०॥

एवं कृतस्वस्त्ययनस्तयाहं
ततोऽभ्यनुज्ञाय नरेन्द्रपुत्रीम्।
पितुः समीपं नरसत्तमस्य
मातुश्च राज्ञश्च तथाऽऽहुकस्य॥ ४१॥
गत्वा समावेद्य यदब्रवीन्मां
विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता।
तानभ्यनुज्ञाय तदातिदुःखाद्
गदं तथैवातिबलं च रामम्।
अथोचतुः प्रीतियुतौ तदानीं
तपःसमृद्धिर्भवतोऽस्त्वविघ्नम्॥ ४२॥

इस तरह जाम्बवतीके द्वारा स्वस्तिवाचनके पश्चात् मैं उस राजकुमारीकी अनुमति ले नरश्रेष्ठ पिता वसुदेव, माता देवकी तथा राजा उग्रसेनके समीप गया। वहाँ जाकर विद्याधरराज-कुमारी जाम्बवतीने अत्यन्त आर्त होकर मुझसे जो प्रार्थना की थी, वह सब मैंने बताया और उन सबसे तपके लिये जानेकी आज्ञा ली। गद और अत्यन्त बलवान् बलरामजीसे विदा माँगी। उन दोनोंने बड़े दुःखसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उस समय मुझसे कहा—'भाई! तुम्हारी तपस्या निर्विघ्न पूर्ण हो'॥ ४१-४२॥

प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम्।
सोऽवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम्॥ ४३॥

गुरुजनोंकी आज्ञा पाकर मैंने गरुडका चिन्तन किया। उसने (आकर) मुझे हिमालयपर पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर मैंने गरुडको विदा कर दिया॥ ४३॥

तत्राहमद्भुतान् भावानपश्यं गिरिसत्तमे।
क्षेत्रं च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्यद्भुतमुत्तमम्॥ ४४॥

मैंने उस श्रेष्ठ पर्वतपर वहाँ अद्भुत भाव देखे। मुझे वहाँका स्थान तपस्याके लिये अद्भुत, उत्तम और श्रेष्ठ क्षेत्र दिखायी दिया॥ ४४॥

दिव्यं वैयाघ्रपद्यस्य उपमन्योर्महात्मनः।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम्॥ ४५॥

वह व्याघ्रपादके पुत्र महात्मा उपमन्युका दिव्य आश्रम था, जो ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न तथा देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सम्मानित था॥ ४५॥

धवककुभकदम्बनारिकेलैः
कुरबककेतकजम्बुपाटलाभिः।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः
सरलकपित्थप्रियालसालतालैः॥ ४६॥
बदरीकुन्दपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः।
मधूकैः कोविदारैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा॥ ४७॥
वन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम्।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम्॥ ४८॥

धव, ककुभ (अर्जुन), कदम्ब, नारियल, कुरबक, केतक, जामुन, पाटल, बड़, वरुणक, वत्सनाभ, बिल्व, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, ताल, बेर, कुन्द, पुन्नाग, अशोक, आम्र, अतिमुक्त, महुआ, कोविदार, चम्पा तथा कटहल आदि बहुत-से फल-फूल देनेवाले विविध वन्य वृक्ष उस

आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। फूलों, गुल्मों और लताओंसे वह व्याप्त था। केलेके कुञ्ज उसकी शोभाको और भी बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४८ ॥

नानाशकुनिसम्भोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं भस्मराशिभिः ॥ ४९ ॥

नाना प्रकारके पक्षियोंके खाने योग्य फल और वृक्ष उस आश्रमके अलंकार थे। यथास्थान रखी हुई भस्मराशिसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४९॥

रुरुवानरशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ।
पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ॥ ५० ॥

रुरु, वानर, शार्दूल, सिंह, चीते, मृग, मयूर, बिल्ली, सर्प, विभिन्न जातिके मृगोंके झुंड, भैंस तथा रीछोंसे उस आश्रमका निकटवर्ती वन भरा हुआ था ॥ ५० ॥

सकृत्प्रभिन्नैश्च गजैर्विभूषितं
प्रहृष्टनानाविधपक्षिसेवितम् ।
सुपुष्पितैरम्बुधरप्रकाशै-
र्महीरुहाणां च वनैर्विचित्रैः ॥ ५१ ॥

जिनके मस्तकसे पहली बार मदकी धारा फूटकर बही थी, ऐसे हाथी वहाँके उपवनकी शोभा बढ़ाते थे। हर्षमें भरे हुए नाना प्रकारके विहंगम वहाँके वृक्षोंपर बसेरे लेते थे। अनेकानेक वृक्षोंके विचित्र वन सुन्दर फूलोंसे सुशोभित हो मेघोंके समान प्रतीत होते थे और उन सबके द्वारा उस आश्रमकी अनुपम शोभा हो रही थी ॥ ५१ ॥

नानापुष्परजोमिश्रो गजदानाधिवासितः ।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखो ववौ ॥ ५२ ॥

सामनेसे नाना प्रकारके पुष्पोंके परागपुञ्जसे पूरित तथा हाथियोंके मदकी सुगन्धसे सुवासित मन्द-मन्द अनुकूल वायु आ रही थी; जिसमें दिव्य रमणियोंके मधुर गीतोंकी मनोरम ध्वनि विशेषरूपसे व्याप्त थी ॥ ५२ ॥

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः
शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैः
शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥ ५३ ॥

वीर ! पर्वतशिखरोंसे झरते हुए झरनोंकी झर-झर ध्वनि, विहंगमोंके सुन्दर कलरव, हाथियोंकी गर्जना, किन्नरोंके उदार (मनोहर) गीत तथा सामगान करनेवाले सामवेदी विद्वानोंके मङ्गलमय शब्द उस वन-प्रान्तको संगीतमय बना रहे थे ॥

अचिन्त्यं मनसाप्यन्यैः सरोभिः समलंकृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुसुमावृतैः ॥ ५४ ॥

जिसके विषयमें दूसरे लोग मनसे सोच भी नहीं सकते, ऐसी अचिन्त्य शोभासे सम्पन्न वह पर्वतीय भाग अनेकानेक सरोवरोंसे अलंकृत तथा फूलोंसे आच्छादित विशाल अग्निशालाओंद्वारा विभूषित था ॥ ५४ ॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया
सदा च जुष्टं नृप जह्नुकन्यया ।
विभूषितं धर्मभृतां वरिष्ठै-
र्महात्मभिर्वह्निसमानकल्पैः ॥ ५५ ॥

नरेश्वर ! पुण्यसलिला जाह्नवी सदा उस क्षेत्रकी शोभा बढ़ाती हुई मानो उसका सेवन करती थीं। अग्निके समान तेजस्वी तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अनेकानेक महात्माओंसे वह स्थान विभूषित था ॥ ५५ ॥

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्यनित्यैः
सम्प्रक्षालैर्योगिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमप्राशैरूष्मपैः क्षीरपैश्च
संजुष्टं च ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥ ५६ ॥

वहाँ चारों ओर श्रेष्ठ ब्राह्मण निवास करते थे। उनमेंसे कुछ लोग केवल वायु पीकर रहते थे। कुछ लोग जल पीकर जीवन धारण करते थे। कुछ लोग निरन्तर जपमें संलग्न रहते थे। कुछ साधक मैत्री-मुदिता आदि साधनाओंद्वारा अपने चित्तका शोधन करते थे। कुछ योगी निरन्तर ध्यानमग्न रहते थे। कोई अग्निहोत्रका धूआँ, कोई गरम-गरम सूर्यकी किरणें और कोई दूध पीकर रहते थे ॥ ५६ ॥

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥ ५७ ॥

कुछ लोग गोसेवाका व्रत लेकर गौओंके ही साथ रहते और विचरते थे। कुछ लोग खाद्य वस्तुओंको पत्थरसे पीसकर खाते थे और कुछ लोग दाँतोंसे ही ओखली-मूसलका काम लेते थे। कुछ लोग किरणों और फेनोंका पान करते थे तथा कितने ही ऋषि मृगचर्याका व्रत लेकर मृगोंके ही साथ रहते और विचरते थे ॥ ५७ ॥

अश्वत्थफलभक्षाश्च तथा ह्युदकशायिनः ।
चीरचर्माम्बरधरास्तथा वल्कलधारिणः ॥ ५८ ॥

कोई पीपलके फल खाकर रहते, कोइ जलमें ही सोते तथा कुछ लोग चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण करते थे ॥

सुदुःखान् नियमांस्तांस्तान् वहतः सुतपोधनान् ।
पश्यन् मुनीन् बहुविधान् प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥ ५९ ॥

अत्यन्त कष्टसाध्य नियमोंका निर्वाह करते हुए विविध तपस्वी मुनियोंका दर्शन करते हुए मैंने उस महान् आश्रममें प्रवेश करनेका उपक्रम किया ॥ ५९ ॥

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः
शिवादिभिर्भारत पुण्यकर्मभिः ।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा
दिवीव राजञ्शशिमण्डलं यथा ॥ ६० ॥

भरतवंशी नरेश ! महात्मा तथा पुण्यकर्मा शिव आदि

देवताओंसे समादृत हो वह आश्रममण्डल सदा ही आकाशमें चन्द्रमण्डलकी भाँति शोभा पाता था ॥ ६० ॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत् ।
प्रभावाद् दीप्ततपसां संनिकर्षान्महात्मनाम् ॥ ६१ ॥

वहाँ तीव्र तपस्यावाले महात्माओंके प्रभाव तथा सांनिध्यसे प्रभावित हो नेवले साँपोंके साथ खेलते थे और व्याघ्र मृगोंके साथ मित्रकी भाँति रहते थे ॥ ६१ ॥

तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ६२ ॥
नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिः सुमहात्मभिः ।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथानलम् ।
शिष्यैरनुगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६४ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण जिसका सेवन करते थे तथा नाना प्रकारके नियमोंद्वारा विख्यात हुए महात्मा महर्षि जिसकी शोभा बढ़ाते थे, समस्त प्राणियोंके लिये मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करते ही मैंने जटावल्कलधारी, प्रभावशाली, तेज और तपस्यासे अग्निके समान देदीप्यमान, शान्तस्वभाव और युवावस्थासे सम्पन्न ब्राह्मणशिरोमणि उपमन्युको शिष्योंसे घिरकर बैठा देखा ॥ ६२–६४ ॥

शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ॥ ६५ ॥
स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः ।
यः पूज्यः पूजयसि मां द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ६६ ॥

मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया । मुझे वन्दना करते देख उपमन्यु बोले—'पुण्डरीकाक्ष ! आपका स्वागत है । आप पूजनीय होकर मेरी पूजा करते हैं और दर्शनीय होकर मेरा दर्शन चाहते हैं, इससे हमलोगोंकी तपस्या सफल हो गयी' ॥ ६५-६६ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु ।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ६७ ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर आश्रमके मृग, पक्षी, अग्निहोत्र, धर्माचरण तथा शिष्यवर्गका कुशल-समाचार पूछा ॥ ६७ ॥

ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना ।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ६८ ॥

तब भगवान् उपमन्युने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वाणीमें मुझसे कहा—श्रीकृष्ण ! आप अपने समान पुत्र प्राप्त करेंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम् ।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ६९ ॥

अधोक्षज ! आप महान् तपका आश्रय लेकर यहाँ सर्वेश्वर भगवान् शिवको संतुष्ट कीजिये । यहाँ महादेवजी अपनी पत्नी भगवती उमाके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ६९ ॥

इहैनं दैवतश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ ७० ॥
तोषयित्वा शुभान् कामान् प्राप्तवन्तो जनार्दन ।

जनार्दन ! यहाँ सुरश्रेष्ठ महादेवजीको तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमद्वारा संतुष्ट करके पहले कितने ही देवता और महर्षि अपने शुभ मनोरथ प्राप्त कर चुके हैं ॥

तेजसां तपसां चैव निधिः स भगवानिह ॥ ७१½ ॥
शुभाशुभान्वितान् भावान् विसृजन् संक्षिपन्नपि ।
आस्ते देव्या सदाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ७२ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण ! आप जिनकी प्रार्थना करते हैं, वे तेज और तपस्याकी निधि अचिन्त्य भगवान् शङ्कर यहाँ शम आदि शुभभावोंकी सृष्टि और काम आदि अशुभ भावोंका संहार करते हुए देवी पार्वतीके साथ सदा विराजमान रहते हैं ॥

हिरण्यकशिपुर्योऽभूद् दानवो मेरुकम्पनः ।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात् प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ७३ ॥

पहले जो मेरुपर्वतको भी कम्पित कर देनेवाला हिरण्यकशिपु नामक दानव हुआ था, उसने भगवान् शङ्करसे एक अर्बुद (दस करोड़) वर्षोंतकके लिये सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दारो नाम विश्रुतः ।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत् ॥ ७४ ॥

उसीका श्रेष्ठ पुत्र मन्दार नामसे विख्यात हुआ, जो महादेवजीके वरसे एक अर्बुद वर्षोंतक इन्द्रके साथ युद्ध करता रहा ॥ ७४ ॥

विष्णोश्चक्रं च तद् घोरं वज्रमाखण्डलस्य च ।
शीर्णं पुराभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७५ ॥

तात केशव ! भगवान् विष्णुका वह भयंकर चक्र तथा इन्द्रका वज्र भी पूर्वकालमें उस ग्रहके अङ्गोंपर पुराने तिनकोंके समान जीर्ण-शीर्ण-सा हो गया था ॥ ७५ ॥

यत् तद् भगवता पूर्वं दत्तं चक्रं तवानघ ।
जलान्तरचरं हत्वा दैत्यं च बलगर्वितम् ॥ ७६ ॥
उत्पादितं वृषाङ्केन दीप्तज्वलनसंनिभम् ।
दत्तं भगवता तुभ्यं दुर्धर्षं तेजसाद्भुतम् ॥ ७७ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें जलके भीतर रहनेवाले गर्वीले दैत्यको मारकर भगवान् शङ्करने आपको जो चक्र प्रदान किया था, उस अग्निके समान तेजस्वी शस्त्रको स्वयं भगवान् वृषध्वजने ही उत्पन्न किया और आपको दिया था, वह अस्त्र अद्भुत तेजसे युक्त एवं दुर्धर्ष है ॥ ७६-७७ ॥

न शक्यं द्रष्टुमन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम् ।
सुदर्शनं भवत्येवं भवेनोक्तं तदा तु तत् ॥ ७८ ॥
सुदर्शनं तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम् ।
तज्जीर्णमभवत् तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७९ ॥

पिनाकपाणि भगवान् शङ्करको छोड़कर दूसरा कोई उसको

देख नहीं सकता था। उस समय भगवान् शङ्करने कहा, 'यह अस्त्र सुदर्शन (देखनेमें सुगम) हो जाय।' तभीसे संसारमें उसका सुदर्शन नाम प्रचलित हो गया। तात केशव! ऐसा प्रसिद्ध अस्त्र भी उस ग्रहके अङ्गोंपर जीर्ण-सा हो गया॥

ग्रहस्यातिबलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः।
न शस्त्राणि वहन्त्यङ्गे चक्रवज्रशतान्यपि॥ ८०॥

भगवान् शङ्करसे उसको वर मिला था। उस अत्यन्त बलशाली बुद्धिमान् ग्रहके अङ्गमें चक्र और वज्र-जैसे सैकड़ों शस्त्र भी काम नहीं देते थे॥ ८०॥

अर्द्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा।
शिवदत्तवरान् जघ्नुरसुरेन्द्रान् सुरा भृशम्॥ ८१॥

जब उस बलवान् ग्रहने देवताओंको सताना आरम्भ कर दिया, तब देवताओंने भी भगवान् शङ्करसे वर पाये हुए उन असुरेन्द्रोंको बहुत पीटा। (इस प्रकार उनमें दीर्घकालतक युद्ध होता रहा)॥ ८१॥

तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतां ददौ।
शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत्॥ ८२॥

इसी तरह विद्युत्प्रभ नामक दैत्यपर भी संतुष्ट होकर रुद्रदेवने उसे तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर दिया। इस प्रकार वह एक लाख वर्षोंतक सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर बना रहा॥ ८२॥

ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत्।
तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः॥ ८३॥

भगवान्ने उसे यह भी वर दिया था कि 'तुम मेरे नित्य पार्षद हो जाओगे' साथ ही उन प्रभुने उसे सहस्र अयुत (एक करोड़) पुत्र प्रदान किये॥ ८३॥

कुशद्वीपं च स ददौ राज्येन भगवानजः।
तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः॥ ८४॥
येन वर्षशतं साग्रमात्ममांसैर्हुतोऽनलः।

अजन्मा भगवान् शिवने उसे राज्य करनेके लिये कुशद्वीप दिया था। इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने एक समय शतमुख नामक महान् असुरकी सृष्टि की थी, जिसने सौ वर्षसे अधिक कालतक अग्निमें अपने ही मांसकी आहुति दी थी॥

तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शंकरः॥ ८५॥
तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः।
बलं च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं सम्प्रयच्छ मे॥ ८६॥

उससे संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने पूछा—'बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ?' तब शतमुखने उनसे कहा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे अद्भुत योगशक्ति प्राप्त हो। साथ ही आप मुझे सदा बना रहनेवाला बल प्रदान कीजिये'। ८५-८६।

तथेति भगवानाह तस्य तद् वचनं प्रभुः।
स्वायम्भुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत् पुरा॥ ८७॥
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि।
तस्य चोपददौ पुत्रान् सहस्रं क्रतुसम्मितान्॥ ८८॥

उसकी वह बात सुनकर शक्तिशाली भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार कर लिया। इसी तरह पूर्वकालमें स्वयम्भूके पुत्र क्रतुने पुत्र-प्राप्तिके लिये तीन सौ वर्षोंतक योगके द्वारा अपने आपको भगवान् शिवके चिन्तनमें लगा रखा था; अतः क्रतुको भी भगवान् शङ्करने उन्हींके समान एक हजार पुत्र प्रदान किये॥ ८७-८८॥

योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः।
याज्ञवल्क्य इति ख्यात ऋषिः परमधार्मिकः॥ ८९॥
आराध्य स महादेवं प्राप्तवानतुलं यशः।

श्रीकृष्ण! देवता जिनकी महिमाका गान करते हैं, उन योगेश्वर शिवको आप भलीभाँति जानते हैं, इसमें संशय नहीं है। याज्ञवल्क्य नामसे विख्यात परम धर्मात्मा ऋषिने महादेवजीकी आराधना करके अनुपम यश प्राप्त किया॥ ८९½॥

वेदव्यासश्च योगात्मा पराशरसुतो मुनिः॥ ९०॥
सोऽपि शङ्करमाराध्य प्राप्तवानतुलं यशः।

पराशरजीके पुत्र मुनिवर वेदव्यास तो योगके स्वरूप ही हैं। उन्होंने भी शङ्करजीकी आराधना करके वह महान् यश पा लिया, जिसकी कहीं तुलना नहीं है॥ ९०½॥

बालखिल्या मघवता ह्यवज्ञाताः पुरा किल॥ ९१॥
तैः क्रुद्धैर्भगवान् रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत्।

कहते हैं, पूर्वकालमें किसी समय इन्द्रने बालखिल्य नामक ऋषियोंका अपमान कर दिया था। उन ऋषियोंने कुपित होकर तपस्या की और उसके द्वारा भगवान् रुद्रको संतुष्ट किया॥ ९१½॥

तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः॥ ९२॥
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथ।

तब सुरश्रेष्ठ विश्वनाथ शिवने प्रसन्न होकर उनसे कहा—'तुम अपनी तपस्याके बलसे गरुडको उत्पन्न करोगे, जो इन्द्रका अमृत छीन लायेगा'॥ ९२½॥

महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराभवन्॥ ९३॥
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः।
ततः पानीयमभवत् प्रसन्ने त्र्यम्बके भुवि॥ ९४॥

पहलेकी बात है, महादेवजीके रोषसे जल नष्ट हो गया था। तब देवताओंने, जिसके स्वामी रुद्र हैं, उस सप्त कपाल-यागके द्वारा दूसरा जल प्राप्त किया। इस प्रकार त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवके प्रसन्न होनेपर ही भूतलपर जलकी उपलब्धि हुई॥ ९३-९४॥

अत्रेर्भार्यापि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन॥ ९५॥
इत्युक्त्वा सा महादेवमगच्छच्छरणं किल।

अत्रिकी पत्नी ब्रह्मवादिनी अनसूया भी किसी समय रुष्ट हो अपने पतिको त्यागकर चली गयीं और मनमें यह संकल्प

करके कि 'अब मैं किसी तरह भी पुनः अत्रिमुनिके वशीभूत नहीं होऊँगी' महादेवजीकी शरणमें गयीं ॥ ९५½ ॥

निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥ ९६ ॥
अशेत मुसलेष्वेव प्रसादार्थं भवस्य सा ।

वे अत्रिमुनिके भयसे तीन सौ वर्षोंतक निराहार रहकर मुसलोंपर ही सोयीं और भगवान् शङ्करकी प्रसन्नताके लिये तपस्या करती रहीं ॥ ९६½ ॥

तामब्रवीद्धसन् देवो भविता वै सुतस्तव ॥ ९७ ॥
विना भर्त्रा च रुद्रेण भविष्यति न संशयः ।
वंशे तथैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥ ९८ ॥

तब महादेवजीने उनसे हँसते हुए कहा—'देवि ! मेरी कृपासे केवल यज्ञसम्बन्धी चरुका द्रव पीनेमात्रसे तुम्हें पतिके सहयोगके बिना ही एक पुत्र प्राप्त होगा—इसमें संशय नहीं है । वह तुम्हारे वंशमें तुम्हारे ही नामसे इच्छानुसार ख्याति प्राप्त करेगा' ॥ ९७-९८ ॥

विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।
प्रसाद्य भगवान् सिद्धिं प्राप्तवान् मधुसूदन ॥ ९९ ॥

मधुसूदन ! ऐश्वर्यशाली विकर्णने भक्तसुखदायक महादेवजीको प्रसन्न करके मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ९९ ॥

शाकल्यः संशितात्मा वै नववर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥ १०० ॥

केशव ! शाकल्य ऋषिके मनमें सदा संशय बना रहता था । उन्होंने मनोमय यज्ञ (ध्यान) के द्वारा भगवान् शिवकी नौ सौ वर्षोंतक आराधना की ॥ १०० ॥

तं चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि ।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ॥ १०१ ॥

तब उनसे भी संतुष्ट होकर भगवान् शङ्करने कहा—'वत्स ! तुम ग्रन्थकार होओगे तथा तीनों लोकोंमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति फैल जायगी ॥ १०१ ॥

अक्षयं च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्ता सुतस्तव ॥ १०२ ॥

'तुम्हारा कुल अक्षय एवं महर्षियोंसे अलंकृत होगा । तुम्हारा पुत्र एक श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं सूत्रकार होगा' ॥ १०२ ॥

सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत् कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिवर्षशतान्यथ ॥ १०३ ॥

सत्ययुगमें सावर्णिनामसे विख्यात एक ऋषि थे । उन्होंने यहाँ आकर छः हजार वर्षोंतक तपस्या की ॥ १०३ ॥

तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात् तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥ १०४ ॥

तब भगवान् रुद्रने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कहा—'अनघ ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । तुम विश्वविख्यात ग्रन्थकार और अजर-अमर होओगे' ॥ १०४ ॥

शक्रेण तु पुरा देवो वाराणस्यां जनार्दन ।
आराधितोऽभूद् भक्तेन दिग्वासा भस्मगुण्ठितः ॥ १०५ ॥
आराध्य स महादेवं देवराजमवाप्तवान् ।

जनार्दन ! पहलेकी बात है, इन्द्रने भक्तिभावके साथ काशीपुरीमें भस्मभूषित दिगम्बर महादेवजीकी आराधना की । महादेवजीकी आराधना करके ही उन्होंने देवराजपद प्राप्त किया ॥ १०५½ ॥

नारदेन तु भक्त्यासौ भव आराधितः पुरा ॥ १०६ ॥
तस्य तुष्टो महादेवो जगौ देवगुरुर्गुरुः ।
तेजसा तपसा कीर्त्या त्वत्समो न भविष्यति ॥ १०७ ॥
गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यसि ।

देवर्षि नारदने भी पहले भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी । इससे संतुष्ट होकर गुरुस्वरूप देवगुरु महादेवजीने उन्हें यह वरदान दिया कि 'तेज, तप और कीर्तिमें कोई तुम्हारी समता करनेवाला नहीं होगा । तुम गीत और वीणावादनके द्वारा सदा मेरा अनुसरण करोगे' ॥ १०६-१०७½ ॥

मयापि च यथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभो ॥ १०८ ॥
साक्षात् पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ।

प्रभो ! तात माधव ! मैंने भी पूर्वकालमें साक्षात् देवाधिदेव पशुपतिका जिस प्रकार दर्शन किया था, वह प्रसङ्ग सुनिये ॥ १०८½ ॥

यदर्थं च मया देवः प्रयतेन तथा विभो ॥ १०९ ॥
प्रबोधितो महातेजास्तं चापि शृणु विस्तरम् ।

भगवन् ! मैंने जिस उद्देश्यसे प्रयत्नपूर्वक महातेजस्वी महादेवजीको संतुष्ट किया था, वह सब विस्तारपूर्वक सुनिये ॥ १०९½ ॥

यदवाप्तं च मे पूर्वं देवदेवान्महेश्वरात् ॥ ११० ॥
तत् सर्वं निखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ।

अनघ ! पूर्वकालमें मुझे देवाधिदेव महेश्वरसे जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सब आज पूर्णरूपसे तुम्हें बताऊँगा ॥

पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ॥ १११ ॥
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।

तात ! पहले सत्ययुगमें एक महायशस्वी ऋषि हो गये हैं, जो व्याघ्रपादनामसे प्रसिद्ध थे । वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे ॥ १११½ ॥

तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ॥ ११२ ॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ।
आगच्छमाश्रमं क्रीडन् मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ११३ ॥

उन्हींका मैं पुत्र हूँ । मेरे छोटे भाईका नाम धौम्य है । माधव ! किसी समय मैं धौम्यके साथ खेलता हुआ पवित्रात्मा मुनियोंके आश्रमपर आया ॥ ११२-११३ ॥

तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ।
लक्षितं च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥ ११४ ॥

वहाँ मैंने देखा, एक दुधारू गाय दुही जा रही थी ।

वहीं मैंने दूध देखा, जो स्वादमें अमृतके समान होता है ॥

ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तथा ।
क्षीरोदनसमायुक्तं भोजनं हि प्रयच्छ मे ॥११५॥

तब मैंने बालस्वभाववश अपनी मातासे कहा—'माँ ! मुझे खानेके लिये दूध-भात दो' ॥ ११५ ॥

अभावाच्चैव दुग्धस्य दुःखिता जननी तदा ।
ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ॥११६॥
आवयोः क्षीरमित्येव पानार्थं समुपानयत् ।

घरमें दूधका अभाव था; इसलिये मेरी माताको उस समय बड़ा दुःख हुआ । माधव ! तब वह पानीमें आटा घोलकर ले आयी और दूध कहकर दोनों भाइयोंको पीनेके लिये दे दिया ॥ ११६½ ॥

अथ गव्यं पयस्तात कदाचित् प्राशितं मया ॥११७॥
पित्राहं यज्ञकाले हि नीतो ज्ञातिकुलं महत् ।
तत्र सा क्षरते देवी दिव्या गौः सुरनन्दिनी ॥११८॥

तात ! उसके पहले एक दिन मैंने गायका दूध पीया था । पिताजी यज्ञके समय एक बड़े भारी धनी कुटुम्बीके घर मुझे ले गये थे । वहाँ दिव्य सुरभी गाय दूध दे रही थी ॥

तस्याहं तत् पयः पीत्वा रसेन ह्यमृतोपमम् ।
ज्ञात्वा क्षीरगुणांश्चैव उपलभ्य हि सम्भवम् ॥११९॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट दूधको पीकर मैं यह जान गया था कि दूधका स्वाद कैसा होता है और उसकी उपलब्धि किस प्रकार होती है ॥ ११९ ॥

स च पिष्टरसस्तात न मे प्रीतिमुपावहत् ।
ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ॥१२०॥

तात ! इसीलिये वह आटेका रस मुझे प्रिय नहीं लगा; अतः मैंने बालस्वभाववश ही अपनी मातासे कहा—॥१२०॥

नेदं क्षीरोदनं मातर्यत् त्वं मे दत्तवत्यसि ।
ततो मामब्रवीन्माता दुःखशोकसमन्विता ॥१२१॥
पुत्रस्नेहात् परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२२॥
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम् ।

'माँ ! तुमने मुझे जो दिया है, यह दूध-भात नहीं है ।' माधव ! तब मेरी माता दुःख और शोकमें मग्न हो पुत्र-स्नेहवश मुझे हृदयसे लगाकर मेरा मस्तक सूँघती हुई मुझसे बोली—'बेटा ! जो सदा वनमें रहकर कन्द, मूल और फल खाकर निर्वाह करते हैं, उन पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंको भला दूध-भात कहाँसे मिल सकता है ? ॥१२१-१२२½॥

आस्थितानां नदीं दिव्यां वालखिल्यैर्निषेविताम् ॥१२३॥
कुतः क्षीरं वनस्थानां मुनीनां गिरिवासिनाम् ।

'जो बालखिल्योंद्वारा सेवित दिव्य नदी गङ्गाका सहारा लिये बैठे हैं, पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले उन मुनियोंको दूध कहाँसे मिलेगा ? ॥ १२३½ ॥

पावनानां वनाशानां वनाश्रमनिवासिनाम् ॥१२४॥
ग्राम्याहारनिवृत्तानामारण्यफलभोजिनाम् ।

'जो पवित्र हैं, वनमें ही होनेवाली वस्तुएँ खाते हैं, वनके आश्रमोंमें ही निवास करते हैं, ग्रामीण आहारसे निवृत्त होकर जंगलके फल-मूलोंका ही भोजन करते हैं, उन्हें दूध कैसे मिल सकता है ? ॥ १२४½ ॥

नास्ति पुत्र पयोऽरण्ये सुरभीगोत्रवर्जिते ॥१२५॥
नदीगह्वरशैलेषु तीर्थेषु विविधेषु च ।
तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः ॥१२६॥

'बेटा ! यहाँ सुरभी गायकी कोई संतान नहीं है; अतः इस जंगलमें दूधका सर्वथा अभाव है । नदी, कन्दरा, पर्वत और नाना प्रकारके तीर्थोंमें तपस्यापूर्वक जपमें तत्पर रहनेवाले हम ऋषि-मुनियोंके भगवान् शङ्कर ही परम आश्रय हैं । १२५-१२६।

अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥१२७॥

'वत्स ! जो सबको वर देनेवाले, नित्य स्थिर रहनेवाले और अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् विरूपाक्षको प्रसन्न किये बिना दूध-भात और सुखदायक वस्त्र कैसे मिल सकते हैं ? ॥

तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शङ्करम् ।
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥१२८॥

'बेटा ! सदा सर्वतोभावसे उन्हीं भगवान् शङ्करकी शरण लेकर उनकी कृपासे ही इच्छानुसार फल पा सकोगे' ॥१२८॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा इदमम्बामचोदयम् ॥१२९॥

शत्रुसूदन ! जननीकी वह बात सुनकर उसी समय मैंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर माताजीसे यह पूछा—॥ १२९ ॥

कोऽयमम्ब महादेवः स कथं च प्रसीदति ।
कुत्र वा वसते देवो द्रष्टव्यो वा कथंचन ॥१३०॥

'अम्ब ! ये महादेवजी कौन हैं ? और कैसे प्रसन्न होते हैं ? वे शिव देवता कहाँ रहते हैं और कैसे उनका दर्शन किया जा सकता है ? ॥ १३० ॥

तुष्यते वा कथं शर्वो रूपं तस्य च कीदृशम् ।
कथं ज्ञेयः प्रसन्नो वा दर्शयेज्जननि मम ॥१३१॥

'मेरी माँ ! यह बताओ कि शिवजीका रूप कैसा है ? वे कैसे संतुष्ट होते हैं ? उन्हें किस तरह जाना जाय अथवा वे कैसे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दे सकते हैं ?' ॥ १३१ ॥

एवमुक्ता तदा कृष्ण माता मे सुतवत्सला ।
मूर्धन्याघ्राय गोविन्द सबाष्पाकुललोचना ॥१३२॥
प्रमार्जन्ती च गात्राणि मम वै मधुसूदन ।
दैन्यमालम्ब्य जननी इदमाह सुरोत्तम ॥१३३॥

सच्चिदानन्दस्वरूप गोविन्द ! सुरश्रेष्ठ मधुसूदन ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर मेरी पुत्रवत्सला माताके नेत्रोंमें आँसू भर

आये। वह मेरा मस्तक सूँघकर मेरे सभी अङ्गोंपर हाथ फेरने लगी और कुछ दीन-सी होकर यों बोली ॥ १३२-१३३॥

अम्बोवाच

दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः।
दुराबाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृश्यो ह्यकृतात्मभिः ॥ १३४॥

माताने कहा—जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे लोगोंके लिये महादेवजीका ज्ञान होना बहुत कठिन है। उनका मनसे धारण करनेमें आना मुश्किल है। उनकी प्राप्तिके मार्गमें बड़े-बड़े विघ्न हैं। दुस्तर बाधाएँ हैं। उनका ग्रहण और दर्शन होना भी अत्यन्त कठिन है॥ १३४ ॥

यस्य रूपाण्यनेकानि प्रवदन्ति मनीषिणः।
स्थानानि च विचित्राणि प्रसादाश्चाप्यनेकशः ॥ १३५॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि भगवान् शङ्करके अनेक रूप हैं। उनके रहनेके विचित्र स्थान हैं और उनका कृपाप्रसाद भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता है ॥ १३५ ॥

को हि तत्त्वेन तद् वेद ईशस्य चरितं शुभम्।
कृतवान् यानि रूपाणि देवदेवः पुरा किल।
क्रीडते च तथा शर्वः प्रसीदति यथा च वै ॥ १३६॥

पूर्वकालमें देवाधिदेव महादेवने जो-जो रूप धारण किये हैं, ईश्वरके उस शुभ चरित्रको कौन यथार्थरूपसे जानता है ? वे कैसे क्रीडा करते हैं और किस तरह प्रसन्न होते हैं ? यह कौन समझ सकता है ॥ १३६ ॥

हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः।
भक्तानामनुकम्पार्थं दर्शनं च यथाश्रुतम् ॥ १३७॥
मुनीनां ब्रुवतां दिव्यमीशानचरितं शुभम्।

वे विश्वरूपधारी महेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान हैं। वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये किस प्रकार दर्शन देते हैं ? यह शङ्करजीके दिव्य एवं कल्याणमय चरित्रका वर्णन करनेवाले मुनियोंके मुखसे जैसा मैंने सुना है वह बताऊँगी ॥ १३७½ ॥

कृतवान् यानि रूपाणि कथितानि दिवौकसैः ॥ १३८॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां शृणु वत्स समासतः।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ १३९॥

वत्स ! उन्होंने ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेके लिये देवताओं-द्वारा कथित जो-जो रूप ग्रहण किये हैं, उन्हें संक्षेपसे सुनो। वत्स ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वे सारी बातें मैं तुम्हें बताऊँगी ॥ १३८-१३९ ॥

अम्बोवाच

ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४०॥

ऐसा कहकर माता फिर कहने लगी—भगवान् शिव ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार तथा सम्पूर्ण देवताओंका शरीर धारण करते हैं ॥ १४० ॥

नराणां देवनारीणां तथा प्रेतपिशाचयोः।
किरातशबराणां च जलजानामनेकशः ॥ १४१॥
करोति भगवान् रूपमाटव्यशबराण्यपि।

वे भगवान् पुरुषों, देवाङ्गनाओं, प्रेतों, पिशाचों, किरातों, शबरों, अनेकानेक जलजन्तुओं तथा जंगली भीलोंके भी रूप ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४१½ ॥

कूर्मो मत्स्यस्तथा शङ्खः प्रवालाङ्कुरभूषणः ॥ १४२॥
यक्षराक्षससर्पाणां दैत्यदानवयोरपि।
वपुर्धारयते देवो भूयश्च बिलवासिनाम् ॥ १४३॥

कूर्म, मत्स्य, शङ्ख, नये-नये पल्लवोंके अङ्कुरसे सुशोभित होनेवाले वसंत आदिके रूपोंमें भी वे ही प्रकट होते हैं। वे महादेवजी यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य, दानव और पाताल-वासियोंका भी रूप धारण करते हैं ॥ १४२-१४३ ॥

व्याघ्रसिंहमृगाणां च तरक्ष्वृक्षपतत्रिणाम्।
उलूकश्वशृगालानां रूपाणि कुरुतेऽपि च ॥ १४४॥

वे व्याघ्र, सिंह, मृग, तरक्षु, रीछ, पक्षी, उल्लू, कुत्ते और सियारोंके भी रूप धारण कर लते हैं ॥ १४४ ॥

हंसकाकमयूराणां कृकलासकसारसाम्।
रूपाणि च बलाकानां गृध्रचक्राङ्गयोरपि ॥ १४५॥
करोति वा स रूपाणि धारयत्यपि पर्वतम्।
गोरूपं च महादेवो हस्त्यश्वोष्ट्रखराकृतिः ॥ १४६॥

हंस, काक, मोर, गिरगिट, सारस, बगल, गीध और चक्राङ्ग (हंसविशेष) के भी रूप वे महादेवजी धारण करते हैं। पर्वत, गाय, हाथी, घोड़े, ऊँट और गदहेके आकारमें भी वे प्रकट हो जाते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

छागशार्दूलरूपश्च अनेकमृगरूपधृक्।
अण्डजानां च दिव्यानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४७॥

वे बकरे और शार्दूलके रूपमें भी उपलब्ध होते हैं। नाना प्रकारके मृगों—वन्य पशुओंके भी रूप धारण करते हैं तथा भगवान् शिव दिव्य पक्षियोंके भी रूप धारण कर लेते हैं ॥ १४७ ॥

दण्डी छत्री च कुण्डी च द्विजानां धारणस्तथा।
षण्मुखो वै बहुमुखस्त्रिनेत्रो बहुशीर्षकः ॥ १४८॥

वे द्विजोंके चिह्न दण्ड, छत्र और कुण्ड (कमण्डलु) धारण करते हैं। कभी छः मुख और कभी बहुत-से मुखवाले हो जाते हैं। कभी तीन नेत्र धारण करते हैं। कभी बहुत-से मस्तक बना लेते हैं ॥ १४८ ॥

अनेककटिपादश्च अनेकोदरवक्त्रधृक्।
अनेकपाणिपार्श्वश्च अनेकगणसंवृतः ॥ १४९॥

उनके पैर और कटिभाग अनेक हैं। वे बहुसंख्यक पेट और मुख धारण करते हैं। उनके हाथ और पार्श्वभाग भी अनेकानेक हैं। अनेक पार्षदगण उन्हें सब ओरसे घेरे रहते हैं ॥ १४९ ॥

ऋषिगन्धर्वरूपश्च सिद्धचारणरूपधृक्।
भस्मपाण्डुरगात्रश्च चन्द्रार्धकृतभूषणः ॥१५०॥

वे ऋषि और गन्धर्वरूप हैं। सिद्ध और चारणोंके भी रूप धारण करते हैं। उनका सारा शरीर भस्म रमाये रहनेसे सफेद जान पड़ता है। वे ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं ॥ १५० ॥

अनेकरावसंघुष्टश्चानेकस्तुतिसंस्कृतः ।
सर्वभूतान्तकः सर्वः सर्वलोकप्रतिष्ठितः ॥१५१॥

उनके पास अनेक प्रकारके शब्दोंका घोष होता रहता है। वे अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे सम्मानित होते हैं, समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, स्वयं सर्वस्वरूप हैं तथा सबके अन्तरात्मारूपसे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १५१ ॥

सर्वलोकान्तरात्मा च सर्वगः सर्ववाद्यपि।
सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम् ॥१५२॥

वे सम्पूर्ण जगत्‌के अन्तरात्मा, सर्वव्यापी और सर्ववादी हैं, उन भगवान् शिवको सर्वत्र और सम्पूर्ण देहधारियोंके हृदयमें विराजमान जानना चाहिये ॥ १५२ ॥

यो हि यं कामयेत् कामं यस्मिन्नर्थेऽर्च्यते पुनः।
तत् सर्वं वेत्ति देवेशस्तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥१५३॥

जो जिस मनोरथको चाहता है और जिस उद्देश्यसे उसके द्वारा भगवान्‌की अर्चना की जाती है, देवेश्वर भगवान् शिव वह सब जानते हैं। इसलिये यदि तुम कोई वस्तु चाहते हो तो उन्हींकी शरण लो ॥१५३ ॥

नन्दते कुप्यते चापि तथा हुंकारयत्यपि।
चक्री शूली गदापाणिर्मुसली खड्गपट्टिशी ॥१५४॥

वे कभी आनन्दित रहकर आनन्द देते, कभी कुपित होकर कोप प्रकट करते और कभी हुंकार करते हैं, अपने हाथोंमें चक्र, शूल, गदा, मुसल, खड्ग और पट्टिश धारण करते हैं ॥ १५४ ॥

भूधरो नागमौञ्जी च नागकुण्डलकुण्डली।
नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः ॥१५५॥

वे धरणीधर शेषनागरूप हैं। वे नागकी मेखला धारण करते हैं। नागमय कुण्डलसे कुण्डलधारी होते हैं। नागोंका ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं तथा नागचर्मका ही उत्तरीय (चादर) लिये रहते हैं ॥ १५५ ॥

हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम्।
वादयत्यपि वाद्यानि विचित्राणि गणैर्युतः ॥१५६॥

वे अपने गणोंके साथ रहकर हँसते हैं, गाते हैं, मनोहर नृत्य करते हैं और विचित्र बाजे भी बजाते हैं ॥ १५६ ॥

वल्गते जृम्भते चैव रुदते रोदयत्यपि।
उन्मत्तमत्तरूपं च भाषते चापि सुस्वरः ॥१५७॥

भगवान् रुद्र उछलते-कूदते हैं। जँभाई लेते हैं। रोते हैं, रुलाते हैं। कभी पागलों और मतवालोंकी तरह बातें करते हैं और कभी मधुर स्वरसे उत्तम वचन बोलते हैं ॥ १५७ ॥

अतीव हसते रौद्रस्त्रासयन् नयनैर्जनम्।
जागर्ति चैव स्वपिति जृम्भते च यथासुखम् ॥१५८॥

कभी भयंकर रूप धारण करके अपने नेत्रोंद्वारा लोगोंमें त्रास उत्पन्न करते हुए जोर-जोरसे अट्टहास करते, जागते, सोते और मौजसे अँगड़ाई लेते हैं ॥ १५८ ॥

जपते जप्यते चैव तपते तप्यते पुनः।
ददाति प्रतिगृह्णाति युञ्जते ध्यायतेऽपि च ॥१५९॥

वे जप करते हैं और वे ही जपे जाते हैं; तप करते हैं और तपे जाते हैं (उन्हींके उद्देश्यसे तप किया जाता है)। वे दान देते और दान लेते हैं तथा योग और ध्यान करते हैं ॥

वेदीमध्ये तथा यूपे गोष्ठमध्ये हुताशने।
दृश्यते दृश्यते चापि बालो वृद्धो युवा तथा ॥१६०॥

यज्ञकी वेदीमें, यूपमें, गाशालामें तथा प्रज्वलित अग्निमें वे ही दिखायी देते हैं। बालक, वृद्ध और तरुणरूपमें भी उनका दर्शन होता है ॥ १६० ॥

क्रीडते ऋषिकन्याभिर्ऋषिपत्नीभिरेव च।
ऊर्ध्वकेशो महाशेफो नग्नो विकृतलोचनः ॥१६१॥

वे ऋषिकन्याओं तथा मुनिपत्नियोंके साथ खेला करते हैं। कभी ऊर्ध्वकेश (ऊपर उठे हुए बालवाले), कभी महालिङ्ग, कभी नंग-धड़ंग और कभी विकराल नेत्रोंसे युक्त हो जाते हैं ॥ १६१ ॥

गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डुरो धूमलोहितः।
विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः ॥१६२॥

कभी गोरे, कभी साँवले, कभी काले, कभी सफेद, कभी धूएँके समान रंगवाले एवं लोहित दिखायी देते हैं। कभी विकृत नेत्रोंसे युक्त होते हैं। कभी सुन्दर विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होते हैं। कभी दिगम्बर दिखायी देते हैं और कभी सब प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होते हैं ॥ १६२ ॥

अरूपस्याद्यरूपस्य अतिरूपाद्यरूपिणः।
अनाद्यन्तमजस्यान्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥१६३॥

वे रूपरहित हैं। उनका स्वरूप ही सबका आदिकारण है। वे रूपसे अतीत हैं। सबसे पहले जिसकी सृष्टि हुई है, जल उन्हींका रूप है। इन अजन्मा महादेवजीका स्वरूप आदि-अन्तसे रहित है। उसे कौन ठीक-ठीक जान सकता है॥

हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योगसंज्ञितः।
ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥१६४॥

भगवान् शङ्कर प्राणियोंके हृदयमें प्राण, मन एवं जीवात्मारूपसे विराजमान हैं। वे ही योगस्वरूप, योगी, ध्यान तथा परमात्मा हैं। भगवान् महेश्वर भक्तिभावसे ही गृहीत होते हैं ॥ १६४ ॥

वादको गायनश्चैव सहस्रशतलोचनः।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च त्रिवक्त्रोऽनेकवक्त्रकः ॥१६५॥

वे बाजा बजानेवाले और गीत गानेवाले हैं। उनके लाखों नेत्र हैं। वे एकमुख, द्विमुख, त्रिमुख और अनेक मुखवाले हैं ॥ १६५ ॥

तद्भक्तस्तद्गतो नित्यं तन्निष्ठस्तत्परायणः।
भज पुत्र महादेवं ततः प्राप्स्यसि चेप्सितम् ॥१६६॥

बेटा! तुम उन्हींके भक्त बनकर उन्हींमें आसक्त रहो। सदा उन्हींपर निर्भर रहो और उन्हींके शरणागत होकर महादेवजीका निरन्तर भजन करते रहो। इससे तुम्हें मनोवाञ्छित वस्तुकी प्राप्ति होगी ॥ १६६ ॥

जनन्यास्तद् वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन्।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥१६७॥

शत्रुसूदन श्रीकृष्ण! माताका वह उपदेश सुनकर तभीसे महादेवजीके प्रति मेरी सुदृढ़ भक्ति हो गयी ॥ १६७ ॥

ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शङ्करम्।
एकं वर्षसहस्रं तु वामाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥१६८॥

तदनन्तर मैंने तपस्याका आश्रय ले भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। एक हजार वर्षतक केवल बायें पैरके अँगूठेके अग्रभागके बलपर मैं खड़ा रहा ॥ १६८ ॥

एकं वर्षशतं चैव फलाहारस्ततोऽभवम्।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ॥१६९॥

पहले तो एक सौ वर्षोंतक मैं फलाहारी रहा। दूसरे शतकमें गिरे-पड़े सूखे पत्ते चबाकर रहा और तीसरे शतकमें केवल जल पीकर ही प्राण धारण करता रहा ॥ १६९ ॥

शतानि सप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम्।
एकं वर्षसहस्रं तु दिव्यमाराधितो मया ॥१७०॥

फिर शेष सात सौ वर्षोंतक केवल हवा पीकर रहा। इस प्रकार मैंने एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक उनकी आराधना की॥

ततस्तुष्टो महादेवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
एकभक्त इति ज्ञात्वा जिज्ञासां कुरुते तदा ॥१७१॥

तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् महादेव मुझे अपना अनन्यभक्त जानकर संतुष्ट हुए और मेरी परीक्षा लेने लगे ॥ १७१ ॥

शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥१७२॥

उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रका रूप धारण करके पदार्पण किया। उस समय उनके सहस्र नेत्र शोभा पा रहे थे। उन महायशस्वी इन्द्रके हाथमें वज्र प्रकाशित हो रहा था ॥ १७२ ॥

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं मदोत्कटम्।
आवेष्टितकरं घोरं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥१७३॥
समास्थितः स भगवान् दीप्यमानः स्वतेजसा।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥१७४॥

वे भगवान् इन्द्र लाल नेत्र और खड़े कानवाले, सुधाके समान उज्ज्वल, मुड़ी हुई सूँड़से सुशोभित, चार दाँतोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर मदसे उन्मत्त महान् गजराज ऐरावतकी पीठपर बैठकर अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए वहाँ पधारे। उनके मस्तकपर मुकुट, गलेमें हार और भुजाओंमें केयूर शोभा दे रहे थे ॥ १७३-१७४ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥१७५॥

सिरपर श्वेत छत्र तना हुआ था। अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही थीं और दिव्य गन्धर्वोंके संगीतकी मनोरम ध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी ॥ १७५ ॥

ततो मामाह देवेन्द्रस्तुष्टस्तेऽहं द्विजोत्तम।
वरं वृणीष्व मत्तस्त्वं यत् ते मनसि वर्तते ॥१७६॥
शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाभवम्।
अब्रुवंश्च तदा हृष्टो देवराजमिदं वचः ॥१७७॥

उस समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा 'द्विजश्रेष्ठ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे मनमें जो वर लेनेकी इच्छा हो, वही मुझसे माँग लो।' इन्द्रकी बात सुनकर मेरा मन प्रसन्न नहीं हुआ। मैंने ऊपरसे हर्ष प्रकट करते हुए देवराजसे यह कहा—॥ १७६-१७७ ॥

नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात्।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१७८॥

'सौम्य! मैं महादेवजीके सिवा तुमसे या दूसरे किसी देवतासे वर लेना नहीं चाहता। यह मैं सच्ची बात कहता हूँ

सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत् सुनिश्चितम्।
न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥१७९॥

'इन्द्र! हमारा यह कथन सत्य है, सत्य है और सुनिश्चित है। मुझे महादेवजीको छोड़कर और कोई बात अच्छी ही नहीं लगती है ॥ १७९ ॥

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः
कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे
त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥१८०॥

'मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ; परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है ॥ १८० ॥

जन्म श्वपाकमध्येऽपि
मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य।
मा वानीश्वरभक्तो
भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥१८१॥

'यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी

हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है। परंतु भगवान् शिव-की अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता ॥ १८१ ॥

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो
नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य।
भवति हि सुरासुरगुरौ
यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥१८२॥

'कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुरगुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

अलमन्याभिस्तेषां
कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो
हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥१८३॥

'जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दों-के स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं ॥

हरचरणनिरतमतिना
भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य।
संसारभयं न भवति
हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥१८४॥

'कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है ॥ १८४ ॥

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम्।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥१८५॥

'जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है ॥ १८५ ॥

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥१८६॥

श्वापि महेश्वरवचनाद्
भवामि स हि नः परः कामः।
त्रिदशगणराज्यमपि खलु
नेच्छाम्यमहेश्वराज्ञप्तम् ॥१८७॥

'शक्र ! मैं भगवान् शङ्करकी आज्ञासे कीट या पतंग भी हो सकता हूँ, परंतु तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका राज्य भी नहीं लेना चाहता। महेश्वरके कहनेसे यदि मैं कुत्ता भी हो जाऊँ तो उसे मैं सर्वोत्तम मनोरथकी पूर्ति समझूँगा; परंतु महादेवजीके सिवा दूसरे किसीसे प्राप्त हुए देवताओंके राज्य-को लेनेकी भी मुझे इच्छा नहीं है ॥ १८६-१८७ ॥

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं
न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम्।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि
हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥१८८॥

'न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ। न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ। भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ ॥ १८८ ॥

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलि-
र्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातै-
र्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

'जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातों-से प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा ॥१८९॥

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं
त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभते शान्तिम् ॥१९०॥

'जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सार-तत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्‌के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है ॥ १९० ॥

यदि नाम जन्म भूयो
भवति मदीयैः पुनर्दोषैः।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि
भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥१९१॥

'यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्‌में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें मेरी अक्षय भक्ति हो' ॥ १९१ ॥

शक्र उवाच

कः पुनर्भवने हेतुरीशे कारणकारणे।
येन शर्वादृतेऽन्यस्मात् प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥१९२॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन् ! कारणके भी कारण जगदीश्वर शिवकी सत्तामें क्या प्रमाण है, जिससे तुम शिवके अतिरिक्त दूसरे किसी देवताका कृपा-प्रसाद ग्रहण करना नहीं चाहते ?॥

उपमन्युरुवाच

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं यमाहुर्ब्रह्मवादिनः।
नित्यमेकमनेकं च वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९३॥

उपमन्युने कहा—देवराज ! ब्रह्मवादी महात्मा जिन्हें विभिन्न मतोंके अनुसार सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, नित्य, एक और अनेक कहते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वर माँगेंगे ॥१९३॥

अनादिमध्यपर्यन्तं ज्ञानैश्वर्यमचिन्तितम् ।
आत्मानं परमं यस्माद् वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९४॥

जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, ज्ञान ही जिनका ऐश्वर्य है तथा जो चित्तकी चिन्तनशक्तिसे भी परे हैं और इन्हीं कारणोंसे जिन्हें परमात्मा कहा जाता है, उन्हीं महादेवजी-से हम वर प्राप्त करेंगे ॥ १९४ ॥

ऐश्वर्यं सकलं यस्मादनुत्पादितमव्ययम् ।
अबीजाद् बीजसम्भूतं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९५॥

योगीलोग महादेवजीके समस्त ऐश्वर्यको ही नित्य सिद्ध और अविनाशी बताते हैं। वे कारणरहित हैं और उन्हींसे समस्त कारणोंकी उत्पत्ति हुई है। अतः महादेवजीकी ऐसी महिमा है, इसलिये हम उन्हींसे वर माँगते हैं ॥ १९५ ॥

तमसः परमं ज्योतिस्तपस्तद्वृत्तिनां परम् ।
यं ज्ञात्वा नानुशोचन्ति वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९६॥

जो अज्ञानान्धकारसे परे चिन्मय परमज्योतिःस्वरूप हैं, तपस्वीजनोंके परम तप हैं तथा जिनका ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं, उन्हीं भगवान् शिवसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १९६ ॥

भूतभावनभावज्ञं सर्वभूताभिभावनम् ।
सर्वगं सर्वदं देवं पूजयामि पुरन्दर ॥१९७॥

'पुरंदर ! जो सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक तथा उनके मनो-भावोंको जाननेवाले हैं, समस्त प्राणियोंके पराभव (विलय) के भी जो एकमात्र स्थान हैं तथा जो सर्वव्यापी और सब कुछ देनेमें समर्थ हैं, उन्हीं महादेवजीकी मैं पूजा करता हूँ।।१९७।

हेतुवादैर्विनिर्मुक्तं सांख्ययोगार्थदं परम् ।
यमुपासन्ति तत्त्वज्ञा वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९८॥

जो युक्तिवादसे दूर हैं, जो अपने भक्तोंको सांख्य और योगका परम प्रयोजन (आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और ब्रह्म-साक्षात्कार) प्रदान करनेवाले हैं, तत्त्वज्ञ पुरुष जिनकी सदा उपासना करते हैं, उन्हीं महादेवजीसे हम वरके लिये प्रार्थना करते हैं ॥ १९८ ॥

मघवन् मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९९॥

मघवन् ! ज्ञानी पुरुष जिन्हें देवेश्वर इन्द्ररूप तथा सम्पूर्ण-भूतोंके गुरुदेव बताते हैं, उन्हींसे हम वर लेना चाहते हैं।१९९।

यः पूर्वमसृजद् देवं ब्रह्माणं लोकभावनम् ।
अण्डमाकाशमापूर्य वरं तस्माद् वृणीमहे ॥२००॥

जिन्होंने पूर्वकालमें आकाशव्यापी ब्रह्माण्ड एवं लोकस्रष्टा देवेश्वर ब्रह्माको उत्पन्न किया, उन्हीं महादेवजीसे हम वर प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २०० ॥

अग्निरापोऽनिलः पृथ्वी खं बुद्धिश्च मनो महान् ।
स्रष्टा चैषां भवेद् योऽन्यो ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०१॥

देवराज ! जो अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबका स्रष्टा हो, वह परमेश्वरसे भिन्न दूसरा कौन पुरुष है ? यह बताओ ॥ २०१ ॥

मनो मतिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रूहि चैषां भवेच्छक्र कोऽन्योऽस्ति परमं शिवात् ॥२०२॥

शक्र ! जो मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और दस इन्द्रिय—इन सबकी सृष्टि कर सके, ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान् शिवसे भिन्न अथवा उत्कृष्ट हो ? यह बताओ।२०२।

स्रष्टारं भुवनस्येह वदन्तीह पितामहम् ।
आराध्य स तु देवेशमश्नुते महतीं श्रियम् ॥२०३॥

ज्ञानी महात्मा ब्रह्माजीको ही सम्पूर्ण विश्वका स्रष्टा बताते हैं। परंतु वे देवेश्वर महादेवजीकी आराधना करके ही महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २०३ ॥

भगवत्युत्तमैश्वर्यं ब्रह्मविष्णुपुरोगमम् ।
विद्यते वै महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०४॥

जिस भगवान्‌में ब्रह्मा और विष्णुसे भी उत्तम ऐश्वर्य है, वह परमेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन है ? यह बताओ तो सही ॥ २०४ ॥

दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनात् ।
कोऽन्यः शक्नोति देवेशाद् दितेः सम्पादितुं सुतान् ॥

दैत्यों और दानवोंके प्रमुख वीर हिरण्यकशिपु आदिमें जो तीनों लोकोंपर आधिपत्य स्थापित करने और अपने शत्रुओंको कुचल देनेकी शक्ति सुनी गयी है, उसपर दृष्टिपात करके मैं यह पूछ रहा हूँ कि देवेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो दितिके पुत्रोंको इस प्रकार अनुपम ऐश्वर्यसे सम्पन्न कर सके ? ॥ २०५ ॥

दिक्कालसूर्यतेजांसि ग्रहवाय्विन्दुतारकाः ।
विद्धि त्वेते महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥२०६॥

दिशा, काल, सूर्य, अग्नि, अन्य ग्रह, वायु, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये महादेवजीकी कृपासे ही ऐसे प्रभावशाली हुए हैं। इस बातको तुम जानते हो, अतः तुम्हीं बताओ, परमेश्वर महादेवजीके सिवा दूसरा कौन ऐसी अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न है ? ॥ २०६ ॥

अथोत्पत्तिविनाशे वा यज्ञस्य त्रिपुरस्य वा ।
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनः ॥२०७॥

यज्ञकी उत्पत्ति और त्रिपुरका विनाश भी उन्हींके द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्रधान-प्रधान दैत्यों और दानवोंको आधिपत्य प्रदान करने और शत्रुमर्दनकी शक्ति देनेवाले भी वे ही हैं ॥

किं चात्र बहुभिः सूक्तैर्हेतुवादैः पुरंदर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥२०८॥
पूजितं सिद्धगन्धर्वैर्देवैश्च ऋषिभिस्तथा ।
देवदेवप्रसादेन तत् सर्वं कुशिकोत्तम ॥२०९॥

सुरश्रेष्ठ पुरंदर ! कौशिकवंशावतंस इन्द्र ! यहाँ बहुत-सी युक्तियुक्त सूक्तियोंको सुनानेसे क्या लाभ ? आप जो सहस्र

नेत्रोंसे सुशोभित हैं तथा आपको देखकर सिद्ध, गन्धर्व, देवता और ऋषि जो सम्मान प्रदर्शित करते हैं, वह सब देवाधिदेव महादेवके प्रसादसे ही सम्भव हुआ है ॥ २०८-२०९ ॥

अव्यक्तमुक्तकेशाय सर्वगस्येदमात्मकम् ।
चेतनाचेतनाद्येषु शक्र विद्धि महेश्वरात् ॥२१०॥

इन्द्र ! चेतन और अचेतन आदि समस्त पदार्थोंमें 'यह ऐसा है' इस प्रकारका जो लक्षण देखा जाता है, वह सब अव्यक्त, मुक्तकेश एवं सर्वव्यापी महादेवजीके ही प्रभावसे प्रकट है; अतएव सब कुछ महेश्वरसे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा समझो ॥ २१० ॥

भुवाद्येषु महान्तेषु लोकालोकान्तरेषु च ।
द्वीपस्थानेषु मेरोश्च विभवेष्वन्तरेषु च ॥२११॥
भगवन् मघवन् देवं वदन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

भगवान् देवराज ! भूलोकसे लेकर महर्लोकतक समस्त लोक-लोकान्तरोंमें, पर्वतके मध्यभागमें, सम्पूर्ण द्वीपस्थानोंमें, मेरुपर्वतके वैभवपूर्ण प्रान्तोंमें सर्वत्र ही तत्त्वदर्शी पुरुष महादेवजीकी स्थिति बताते हैं ॥ २११½ ॥

यदि देवाः सुराः शक्र पश्यन्त्यन्यां भवाद् गतिम् ॥२१२॥
किं न गच्छन्ति शरणं मर्दिताश्चासुरैः सुराः ।

शक्र ! यदि तेजस्वी देवगण महादेवजीके सिवा दूसरा कोई सहारा देखते हैं तो असुरोंद्वारा कुचले जानेपर वे उसीकी शरणमें क्यों नहीं जाते हैं ? ॥ २१२½ ॥

अभिघातेषु देवानां सयक्षोरगरक्षसाम् ॥२१३॥
परस्परविनाशेषु स्वस्थानैश्वर्यदो भवः ।

देवता, यक्ष, नाग और राक्षस—इनमें जब संघर्ष होता और परस्पर एक-दूसरेसे विनाशका अवसर उपस्थित होता है, तब उन्हें अपने स्थान और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले भगवान् शिव ही हैं ॥ २१३½ ॥

अन्धकस्याथ शुक्रस्य दुन्दुभेर्महिषस्य च ॥२१४॥
यक्षेन्द्रबलरक्षःसु निवातकवचेषु च ।
वरदानावघाताय ब्रूहि कोऽन्यो महेश्वरात् ॥२१५॥

बताओ तो सही, अन्धकको, शुक्रको, दुन्दुभिको, महिषको, यक्षराज कुबेरकी सेनाके राक्षसोंको तथा निवातकवच नामक दानवोंको वरदान देने और उनका विनाश करनेमें भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरा कौन समर्थ है ? ।२१४-२१५।

सुरासुरगुरोर्वक्त्रे कस्य रेतः पुरा हुतम् ।
कस्य वान्यस्य रेतस्तद् येन हैमो गिरिः कृतः ॥२१६॥

पूर्वकालमें महादेवजीके सिवा दूसरे किस देवताके वीर्यकी देवासुरगुरु अग्निके मुखमें आहुति दी गयी थी ? जिसके द्वारा सुवर्णमय मेरुगिरिका निर्माण हुआ, वह भगवान् शिवके सिवा और किस देवताका वीर्य था ? ॥ २१६ ॥

दिग्वासाः कीर्त्यते कोऽन्यो लोके कश्चोर्ध्वरेतसः ।
कस्य चार्धे स्थिता कान्ता अनङ्गः केन निर्जितः ॥२१७॥

दूसरा कौन दिगम्बर कहलाता है ? संसारमें दूसरा कौन ऊर्ध्वरेता है ? किसके आधे शरीरमें धर्मपत्नी स्थित रहती है तथा किसने कामदेवको परास्त किया है ? ॥ २१७ ॥

ब्रूहीन्द्र परमं स्थानं कस्य देवैः प्रशस्यते ।
श्मशाने कस्य क्रीडार्थं नृत्ते वा कोऽभिभाष्यते ॥२१८॥

इन्द्र ! बताओ तो सही, किसके उत्कृष्ट स्थानकी देवताओं-द्वारा प्रशंसा की जाती है ? किसकी क्रीड़ाके लिये श्मशान-भूमिमें स्थान नियत किया गया है ? तथा ताण्डव-नृत्यमें कौन सर्वोपरि बताया जाता है ॥ २१८ ॥

कस्यैश्वर्यं समानं च भूतैः को वापि क्रीडते ।
कस्य तुल्यबला देव गणाश्चैश्वर्यदर्पिताः ॥२१९॥

भगवान् शङ्करके समान दूसरे किसका ऐश्वर्य है ? कौन भूतोंके साथ क्रीड़ा करता है ? देव ! किसके पार्षदगण स्वामीके समान ही बलवान् और ऐश्वर्यपर अभिमान करनेवाले हैं ? ॥

घुष्यते ह्यचलं स्थानं कस्य त्रैलोक्यपूजितम् ।
वर्षते तपते कोऽन्यो ज्वलते तेजसा च कः ॥२२०॥

किसका स्थान तीनों लोकोंमें पूजित और अविचल बताया जाता है। भगवान् शङ्करके सिवा दूसरा कौन वर्षा करता है ? कौन तपता है ? और कौन अपने तेजसे प्रज्वलित होता है ? ॥

कस्मादोषधिसम्पत्तिः को वा धारयते वसु ।
प्रकामं क्रीडते को वा त्रैलोक्ये सचराचरे ॥२२१॥

किससे ओषधियाँ—खेती-बारी या शस्य-सम्पत्ति बढ़ती है ? कौन धनका धारण-पोषण करता है ? कौन चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता है ? ।२२१।

ज्ञानसिद्धिक्रियायोगैः सेव्यमानश्च योगिभिः ।
ऋषिगन्धर्वसिद्धैश्च विहितं कारणं परम् ॥२२२॥

योगीजन ज्ञान, सिद्धि और क्रिया-योगद्वारा भगवान् शिवकी ही सेवा करते हैं तथा ऋषि, गन्धर्व और सिद्धगण उन्हें ही परम कारण मानकर उनका आश्रय लेते हैं ॥२२२॥

कर्मयज्ञक्रियायोगैः सेव्यमानः सुरासुरैः ।
नित्यं कर्मफलैर्हीनं तमहं कारणं वदे ॥२२३॥

देवता और असुर सब लोग कर्म, यज्ञ और क्रियायोग-द्वारा सदा जिनकी सेवा करते हैं, उन कर्मफलरहित महादेवजीको मैं सबका कारण कहता हूँ ॥ २२३ ॥

स्थूलं सूक्ष्ममनौपम्यमग्राह्यं गुणगोचरम् ।
गुणहीनं गुणाध्यक्षं परं माहेश्वरं पदम् ॥२२४॥

महादेवजीका परमपद स्थूल, सूक्ष्म, उपमारहित, इन्द्रियों-द्वारा अग्राह्य, सगुण, निर्गुण तथा गुणोंका नियामक है।२२४।

विश्वेशं कारणगुरुं लोकालोकान्तकारणम् ।
भूताभूतभविष्यच्च जनकं सर्वकारणम् ॥२२५॥
अक्षराक्षरमव्यक्तं विद्याविद्ये कृताकृते ।
धर्माधर्मौ यतः शक्र तमहं कारणं ब्रुवे ॥२२६॥

इन्द्र ! जो सम्पूर्ण विश्वके अधीश्वर, प्रकृतिके भी नियामक,

लोक (जगत्‌की सृष्टि) तथा सम्पूर्ण लोकोंके संहारके भी कारण हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल जिनके ही स्वरूप हैं, जो सबके उत्पादक एवं कारण हैं, क्षर-अक्षर, अव्यक्त, विद्या-अविद्या, कृत-अकृत तथा धर्म और अधर्म जिनसे ही प्रकट हुए हैं, उन महादेवजीको ही मैं सबका परम कारण बताता हूँ ॥ २२५-२२६ ॥

प्रत्यक्षमिह देवेन्द्र पश्य लिङ्गं भगाङ्कितम् ।
देवदेवेन रुद्रेण सृष्टिसंहारहेतुना ॥२२७॥

देवेन्द्र ! सृष्टि और संहारके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् रुद्रने जो भग-चिह्नित लिङ्गमूर्ति धारण की है, उसे आप यहाँ प्रत्यक्ष देख लें । यह उनके कारण-स्वरूपका परिचायक है ॥ २२७ ॥

मात्रा पूर्वं ममाख्यातं कारणं लोकलक्षणम् ।
नास्ति चेशात् परं शक्र तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥२२८॥

इन्द्र ! मेरी माताने पहले कहा था कि महादेवजीके अतिरिक्त अथवा उनसे बढ़कर कोई लोकरूपी कार्यका कारण नहीं है; अतः यदि किसी अभीष्ट वस्तुके पानेकी तुम्हारी इच्छा हो तो भगवान् शङ्करकी ही शरण लो ॥ २२८ ॥

प्रत्यक्षं ननु ते सुरेश विदितं संयोगलिङ्गोद्भवं
त्रैलोक्यं सविकारनिर्गुण गणं ब्रह्मादिरेतोद्भवम् ।
यद्ब्रह्मेन्द्रहुताशविष्णुसहिता देवाश्च दैत्येश्वरा
नान्यत् कामसहस्रकल्पितधियः शंसन्ति ईशात् परम्॥
तं देवं सचराचरस्य जगतो व्याख्यातवेद्योत्तमं
कामार्थी वरयामि संयतमना मोक्षाय सद्यः शिवम्॥२२९

सुरेश्वर ! तुम्हें प्रत्यक्ष विदित है कि ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंके संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह बद्ध और मुक्त जीवोंसे युक्त त्रिभुवन भग और लिङ्गसे प्रकट हुआ है तथा सहस्रों कामनाओंसे युक्त बुद्धिवाले तथा ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि एवं विष्णुसहित सम्पूर्ण देवता और दैत्यराज महादेवजीसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं बताते हैं । जो सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के लिये वेद-विख्यात सर्वोत्तम जाननेयोग्य तत्त्व हैं, उन्हीं कल्याणमय देव भगवान् शङ्करका कामनापूर्तिके लिये वरण करता हूँ तथा संयतचित्त होकर सद्यःमुक्तिके लिये भी उन्हींसे प्रार्थना करता हूँ ॥ २२९ ॥

हेतुभिर्वा किमन्यैस्तैरीशः कारणकारणम् ।
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरैः ॥२३०॥

दूसरे-दूसरे कारणोंको बतलानेसे क्या लाभ ! भगवान् शङ्कर इसलिये भी समस्त कारणोंके भी कारण सिद्ध होते हैं कि हमने देवताओंद्वारा दूसरे किसीके लिङ्गको पूजित होते नहीं सुना है ॥ २३० ॥

कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥२३१॥

भगवान् महेश्वरको छोड़कर दूसरे किसके लिङ्गकी सम्पूर्ण देवता पूजा करते हैं अथवा पहले कभी उन्होंने पूजा की है ? यदि तुम्हारे सुननेमें आया हो तो बताओ ॥ २३१ ॥

यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः ।
अर्चयध्वं सदा लिङ्गं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः ॥२३२॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा सम्पूर्ण देवताओंसहित तुम सदा ही शिवलिङ्गकी पूजा करते आये हो; इसलिये भगवान् शिव ही सबसे श्रेष्ठतम देवता हैं ॥ २३२ ॥

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥२३३॥

प्रजाओंके शरीरमें न तो पद्मका चिह्न है, न चक्रका चिह्न है और न वज्रका ही चिह्न उपलक्षित होता है । सभी प्रजा लिङ्ग और भगके चिह्नसे युक्त हैं, इसलिये यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण प्रजा माहेश्वरी है (महादेवजीसे ही उत्पन्न हुई है) ॥ २३३ ॥

देव्याः कारणरूपभावजनिताः
सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो
लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः
प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते
देव्या च यन्नाङ्कितं
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान्
बाह्यो भवेद् दुर्मतिः ॥२३४॥

देवी पार्वतीके कारणस्वरूप भावसे संसारकी समस्त स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं; इसलिये भगके चिह्नसे अङ्कित हैं और भगवान् शिवसे उत्पन्न होनेके कारण सभी पुरुष लिङ्गके चिह्नसे चिह्नित हैं—यह सबको प्रत्यक्ष है; ऐसी दशामें जो शिव और पार्वतीके अतिरिक्त अन्य किसीको कारण बताता है, जिससे कि प्रजा चिह्नित नहीं है, वह अन्य कारणवादी दुर्बुद्धि पुरुष चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंसे बाहर कर देने योग्य है ॥ २३४ ॥

पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥२३५॥

जितना भी पुँल्लिङ्ग है, वह सब शिवस्वरूप है और जो भी स्त्रीलिङ्ग है उसे उमा समझो । महेश्वर और उमा—इन दो शरीरोंसे ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है ॥२३५॥

(दिवसकरशशाङ्कवह्निनेत्रं
त्रिभुवनसारमपारमीशमाद्यम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं
जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥)

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जिनके नेत्र हैं, जो त्रिभुवनके सारतत्त्व, अपार, ईश्वर, सबके आदिकारण तथा अजर-अमर हैं, उन रुद्रदेवको प्रसन्न किये बिना इस संसारमें कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ॥

तस्माद् वरमहं काङ्क्षे निधनं वापि कौशिक।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदन ॥२३६॥

अतः कौशिक! मैं भगवान् शङ्करसे ही वर अथवा मृत्यु पानेकी इच्छा रखता हूँ। बलसूदन इन्द्र! तुम जाओ या खड़े रहो, जैसी इच्छा हो करो ॥ २३६ ॥

काममेष वरो मेऽस्तु शापो वाथ महेश्वरात्।
न चान्यां देवतां काङ्क्षे सर्वकामफलामपि ॥२३७॥

मुझे महेश्वरसे चाहे वर मिले, चाहे शाप प्राप्त हो, स्वीकार है, परंतु दूसरा देवता यदि सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलों-को देनेवाला हो तो भी मैं उसे नहीं चाहता ॥ २३७ ॥

एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः।
न प्रसीदति मे देवः किमेतदिति चिन्तयन् ॥२३८॥

देवराज इन्द्रसे ऐसा कहकर मेरी इन्द्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो उठीं और मैं सोचने लगा कि यह क्या कारण हो गया कि महादेवजी मुझपर प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ॥ २३८ ॥

अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः।
हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालरजतप्रभम् ॥२३९॥
वृषरूपधरं साक्षात् क्षीरोदमिव सागरम्।
कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ॥२४०॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें मैंने देखा कि वही ऐरावत हाथी अब वृषभरूप धारण करके स्थित है। उसका वर्ण हंस, कुन्द और चन्द्रमाके समान श्वेत है। उसकी अङ्गकान्ति मृणालके समान उज्ज्वल और चाँदीके समान चमकीली है। जान पड़ता था, साक्षात् क्षीरसागर ही वृषभरूप धारण करके खड़ा हो। काली पूँछ, विशाल शरीर और मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले नेत्र शोभा पा रहे थे ॥ २३९-२४० ॥

वज्रसारमयैः शृङ्गैर्निष्टप्तकनकप्रभैः।
सुतीक्ष्णैर्मृदुरक्ताग्रैरुत्किरन्तमिवावनिम् ॥२४१॥

उसके सींग ऐसे जान पड़ते थे मानो वज्रके सारतत्त्वसे बने हों। उनसे तपाये हुए सुवर्णकी-सी प्रभा फैल रही थी। उन सींगोंके अग्रभाग अत्यन्त तीखे, कोमल तथा लाल रंगके थे। ऐसा लगता था मानो उन सींगोंके द्वारा वह इस पृथ्वी-को विदीर्ण कर डालेगा ॥ २४१ ॥

जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम्।
सुवक्त्रखुरनासं च सुकर्णं सुकटीतटम् ॥२४२॥

उसके शरीरको सब ओरसे जाम्बूनद नामक सुवर्णकी लड़ियोंसे सजाया गया था। उसके मुख, खुर, नासिका (नथुने), कान और कटिप्रदेश—सभी बड़े सुन्दर थे॥

सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम्।
ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य धिष्ठितम् ॥२४३॥

उसके अगल-बगलका भाग भी बड़ा मनोहर था। कंधे चौड़े और रूप सुन्दर था। वह देखनेमें बड़ा मनोहर जान पड़ता था। उसका ककुद् समूचे कंधेको घेरकर ऊँचे उठा था। उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २४३ ॥

तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम्।
तमास्थितश्च भगवान् देवदेवः सहोमया ॥२४४॥
अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट्।

हिमालय पर्वतके शिखर अथवा श्वेत बादलोंके विशाल खण्डके समान प्रतीत होनेवाले उस नन्दिकेश्वरपर देवाधिदेव भगवान् महादेव भगवती उमाके साथ आरूढ़ हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ २४४½ ॥

तस्य तेजोभवो वह्निः समेघः स्तनयित्नुमान् ॥२४५॥
सहस्रमिव सूर्याणां सर्वमापूर्य धिष्ठितः।

उनके तेजसे प्रकट हुई अग्निकी-सी प्रभा गर्जना करने-वाले मेघोंसहित सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करके सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ २४५½ ॥

ईश्वरः सुमहातेजाः संवर्तक इवानलः ॥२४६॥
युगान्ते सर्वभूतानां दिधक्षुरिव चोद्यतः।

वे महातेजस्वी महेश्वर ऐसे दिखायी देते थे, मानो कल्पान्तके समय सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध कर देनेकी इच्छासे उद्यत हुई प्रलयकालीन अग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥ २४६½ ॥

तेजसा तु तदा व्याप्तं दुर्निरीक्ष्यं समन्ततः ॥२४७॥
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिन्तयम्।

वे अपने तेजसे सब ओर व्याप्त हो रहे थे, अतः उनकी ओर देखना कठिन था। तब मैं उद्विग्नचित्त होकर फिर इस चिन्तामें पड़ गया कि यह क्या है? ॥ २४७½ ॥

मुहूर्तमिव तत् तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ॥२४८॥
प्रशान्तं दिक्षु सर्वासु देवदेवस्य मायया।

इतनेहीमें एक मुहूर्त बीतते-बीतते वह तेज सम्पूर्ण दिशाओं-में फैलकर देवाधिदेव महादेवजीकी मायासे सब ओर शान्त हो गया ॥ २४८½ ॥

अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ॥२४९॥
नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम्।
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूषितम् ॥२५०॥

तत्पश्चात् मैंने देखा, भगवान् महेश्वर स्थिर भावसे खड़े हैं। उनके कण्ठमें नील चिह्न शोभा पा रहा था। वे महात्मा कहीं भी आसक्त नहीं थे। वे तेजकी निधि जान पड़ते थे। उनके अठारह भुजाएँ थीं। वे भगवान् स्थाणु समस्त आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २४९-२५० ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम्।
शुक्लध्वजमनाधृष्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥२५१॥

महादेवजीने श्वेत वस्त्र धारण कर रखा था। उनके श्रीअङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप लगा था। उनकी ध्वजा भी श्वेत वर्णकी ही थी। वे श्वेत रंगका यज्ञोपवीत धारण करनेवाले और अजेय थे ॥ २५१ ॥

गायद्भिर्नृत्यमानैश्च वादयद्भिश्च सर्वशः।
वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥२५२॥

वे अपने ही समान पराक्रमी दिव्य पार्षदोंसे घिरे हुए थे। उनके वे पार्षद सब ओर गाते, नाचते और बाजे बजाते थे॥

बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम्।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः॥२५३॥

भगवान् शिवके मस्तकपर बाल चन्द्रमाका मुकुट सुशोभित था। उनकी अङ्ग-कान्ति श्वेतवर्णकी थी। वे शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाके समान उदित हुए थे। उनके तीनों नेत्रोंसे ऐसा प्रकाश-पुञ्ज छा रहा था, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों॥ २५३॥

(सर्वविद्याधिपं देवं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
नयनाह्लादसौभाग्यमपश्यं परमेश्वरम्॥)

जो सम्पूर्ण विद्याओंके अधिपति, शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति कान्तिमान् तथा नेत्रोंके लिये परमानन्ददायक सौभाग्य प्रदान करनेवाले थे। इस प्रकार मैंने परमेश्वर महादेवजीके मनोहर रूपको देखा॥

अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभे।
जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता॥२५४॥

भगवान्‌के उज्ज्वल प्रभावाले गौर विग्रहपर सुवर्णमय कमलोंसे गुँथी हुई रत्नभूषित माला बड़ी शोभा पा रही थी॥

मूर्तिमन्ति तथास्त्राणि सर्वतेजोमयानि च।
मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः॥२५५॥

गोविन्द! मैंने अमित तेजस्वी महादेवजीके सम्पूर्ण तेजोमय आयुधोंको मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित देखा था॥ २५५॥

इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः।
पिनाकमिति विख्यातमभवत् पन्नगो महान्॥२५६॥

उन महात्मा रुद्रदेवका इन्द्रधनुषके समान रंगवाला जो पिनाक नामसे विख्यात धनुष है, वह विशाल सर्पके रूपमें प्रकट हुआ था॥ २५६॥

सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः।
ज्यावेष्टितमहाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः॥२५७॥

उसके सात फन थे। उसका डीलडौल भी विशाल था। तीखी दाढ़ें दिखायी देती थीं। वह अपने प्रचण्ड विषके कारण मतवाला हो रहा था। उसकी विशाल ग्रीवा प्रत्यञ्चासे आवेष्टित थी। वह पुरुष-शरीर धारण करके खड़ा था॥

शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः।
एतदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महत्॥२५८॥

भगवान्‌का जो बाण था, वह सूर्य और प्रलयकालीन अग्निके समान प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित होता था। यही अत्यन्त भयंकर एवं महान् दिव्य पाशुपत अस्त्र था॥२५८॥

अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम्।
सस्फुलिङ्गं महाकायं विसृजन्तमिवानलम्॥२५९॥

उसकी जोड़का दूसरा अस्त्र नहीं था। समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला वह विशालकाय अस्त्र अनिर्वचनीय जान पड़ता था और अपने मुखसे चिनगारियोंसहित अग्निकी वर्षा कर रहा था॥ २५९॥

एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम्।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम्॥२६०॥

वह भी सर्पके ही आकारमें दृष्टिगोचर होता था। उसके एक पैर, बहुत बड़ी दाढ़ें, सहस्रों सिर, सहस्रों पेट, सहस्रों भुजा, सहस्रों जिह्वा और सहस्रों नेत्र थे। वह आग-सा उगल रहा था॥ २६०॥

ब्राह्मान्नारायणाच्चैन्द्रादाग्नेयादपि वारुणात्।
यद् विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम्॥२६१॥

महाबाहो! सम्पूर्ण शस्त्रोंका विनाश करनेवाला वह पाशुपत अस्त्र ब्राह्म, नारायण, ऐन्द्र, आग्नेय और वारुण अस्त्रसे भी बढ़कर शक्तिशाली था॥ २६१॥

येन तत् त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद् भस्मीकृतं पुरा।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया॥२६२॥

गोविन्द! उसीके द्वारा महादेवजीने लीलापूर्वक एक ही बाण मारकर क्षणभरमें दैत्योंके तीनों पुरोंको जलाकर भस्म कर दिया था॥ २६२॥

निर्दहेत च यत् कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्धान्न संशयः॥२६३॥

भगवान् महेश्वरकी भुजाओंसे छूटनेपर वह अस्त्र चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको आधे निमेषमें ही भस्म कर देता है—इसमें संशय नहीं है॥ २६३॥

नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन् ब्रह्मविष्णुसुरेष्वपि।
तदहं दृष्टवांस्तत्र आश्चर्यमिदमुत्तमम्॥२६४॥
गुह्यमस्त्रवरं नान्यत् तत्तुल्यमधिकं हि वा।

इस लोकमें जिस अस्त्रके लिये ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंमेंसे भी कोई अवध्य नहीं है, उस परम उत्तम आश्चर्यमय पाशुपतास्त्रको मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देखा था। वह श्रेष्ठ अस्त्र परम गोपनीय है। उसके समान अथवा उससे बढ़कर भी दूसरा कोई श्रेष्ठ अस्त्र नहीं है॥ २६४½॥

यत् तच्छूलमिति ख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः॥२६५॥
दारयेद् यां महीं कृत्स्नां शोषयेद् वा महोदधिम्।
संहरेद् वा जगत् कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना॥२६६॥

त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करका सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात जो वह त्रिशूल नामक अस्त्र है, वह शूलपाणि शङ्करके द्वारा छोड़े जानेपर इस सारी पृथ्वीको विदीर्ण कर सकता है, महासागरको सुखा सकता है अथवा समस्त संसारका संहार कर सकता है॥ २६५-२६६॥

यौवनाश्वो हतो येन मान्धाता सबलः पुरा।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः॥२६७॥
महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह रक्षसः॥२६८॥

श्रीकृष्ण ! पूर्वकालमें त्रिलोकविजयी, महातेजस्वी, महाबली, महान् वीर्यशाली, इन्द्रतुल्य पराक्रमी चक्रवर्ती राजा मान्धाता लवणासुरके द्वारा प्रयुक्त हुए उस शूलसे ही सेनासहित नष्ट हो गये थे । अभी वह अस्त्र उस असुरके हाथसे छूटने भी नहीं पाया था कि राजाका सर्वनाश हो गया ! ॥ २६७-२६८ ॥

तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम् ।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा तर्जमानमिव स्थितम् ॥ २६९ ॥

उस शूलका अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण है । वह बहुत ही भयंकर और रोमाञ्चकारी है, मानो वह अपनी भौंहें तीन जगहसे टेढ़ी करके विरोधीको डाँट बता रहा हो, ऐसा जान पड़ता है ॥ २६९ ॥

विधूमं सार्चिषं कृष्णं कालसूर्यमिवोदितम् ।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ २७० ॥
दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसंनिधौ ।

गोविन्द ! धूमरहित आगकी ज्वालाओंसहित वह काला त्रिशूल प्रलयकालके सूर्यके समान उदित हुआ था और हाथमें सर्प लिये अवर्णनीय शक्तिशाली पाशधारी यमराजके समान जान पड़ता था । भगवान् रुद्रके निकट मैंने उसका भी दर्शन किया था ॥ २७०½ ॥

परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ॥ २७१ ॥
महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः ।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥ २७२ ॥

पूर्वकालमें महादेवजीने संतुष्ट होकर परशुरामको जिसका दान किया था और जिसके द्वारा महासमरमें चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य अर्जुन मारा गया था, क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला वह तीखी धारसे युक्त परशु मुझे भगवान् रुद्रके निकट दिखायी दिया था ॥ २७१-२७२ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता ।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २७३ ॥

गोविन्द ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले जमदग्निनन्दन परशुरामने उसी परशुके द्वारा इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया था ॥ २७३ ॥

दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रधिष्ठितः ।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशतोपमः ॥ २७४ ॥

उसकी धार चमक रही थी, उसका मुखभाग बड़ा भयंकर जान पड़ता था । वह सर्पयुक्त कण्ठवाले महादेवजीके कण्ठके अग्रभागमें स्थित था । इस प्रकार शूलधारी भगवान् शिवके समीप वह परशु सैकड़ों प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान होता था ॥ २७४ ॥

असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः ।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥ २७५ ॥

निष्पाप श्रीकृष्ण ! बुद्धिमान् भगवान् शिवके असंख्य दिव्यास्त्र हैं । मैंने यहाँ आपके सामने इन प्रमुख अस्त्रोंका वर्णन किया है ॥ २७५ ॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजवम् ॥ २७६ ॥
वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः ।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २७७ ॥

उस समय महादेवजीके दाहिने भागमें लोकपितामह ब्रह्मा मनके समान वेगशाली हंसयुक्त दिव्य विमानपर बैठे हुए शोभा पा रहे थे और बायें भागमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये भगवान् नारायण गरुडपर विराजमान थे ॥ २७६-२७७ ॥

स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः ।
शक्तिघण्टे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥ २७८ ॥

कुमार स्कन्द मोरपर चढ़कर हाथमें शक्ति और घंटा लिये पार्वतीदेवीके पास ही खड़े थे । वे दूसरे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७८ ॥

पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम् ।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम् ॥ २७९ ॥

महादेवजीके आगे मैंने नन्दीको उपस्थित देखा, जो शूल उठाये दूसरे शङ्करके समान खड़े थे ॥ २७९ ॥

स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्वे एव समभ्ययुः ॥ २८० ॥

स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि तथा इन्द्र आदि देवता—ये सभी वहाँ पधारे थे ॥ २८० ॥

सर्वभूतगणाश्चैव मातरो विविधाः स्थिताः ।
तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥ २८१ ॥
अस्तुवन् विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा ।

समस्त भूतगण और नाना प्रकारकी मातृकाएँ उपस्थित थीं । वे सब देवता महात्मा महादेवजीको चारों ओरसे घेरकर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ २८१½ ॥

ब्रह्मा भवं तदास्तौषीद् रथन्तरमुदीरयन् ॥ २८२ ॥
ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ॥ २८३ ॥

ब्रह्माजीने रथन्तर सामका उच्चारण करके उस समय भगवान् शङ्करकी स्तुति की । नारायणने ज्येष्ठसामद्वारा देवेश्वर शिवकी महिमाका गान किया ॥ २८२-२८३ ॥

गृणन् ब्रह्म परं शक्रः शतरुद्रियमुत्तमम् ।
ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ॥ २८४ ॥
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः ।

इन्द्रने उत्तम शतरुद्रियका सस्वर पाठ करते हुए परब्रह्म शिवका स्तवन किया । ब्रह्मा, नारायण और देवराज इन्द्र—ये तीनों महात्मा तीन अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥

तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्छिवः ॥ २८५ ॥
शरदभ्रविनिर्मुक्तः परिधिस्थ इवांशुमान् ।

इन तीनोंके बीचमें विराजमान भगवान् शिव शरद्-

के बादलोंके आवरणसे मुक्त हो परिधि (घेरे) में स्थित हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ २८५½ ॥

अयुतानि च चन्द्रार्कानपश्यं दिवि केशव ॥२८६॥
ततोऽहमस्तुवं देवं विश्वस्य जगतः पतिम्।

केशव ! उस समय मैंने आकाशमें सहस्रों चन्द्रमा और सूर्य देखे। तदनन्तर मैं सम्पूर्ण जगत्‌के पालक महादेवजीकी स्तुति करने लगा ॥ २८६½ ॥

उपमन्युरुवाच

नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नमः ॥२८७॥
शक्ररूपाय शक्राय शक्रवेषधराय च।
नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ॥२८८॥

उपमन्यु बोले—प्रभो ! आप देवताओंके भी अधिदेवता हैं। आपको नमस्कार है। आप ही महान् देवता हैं, आपको नमस्कार है। इन्द्र आपके ही रूप हैं। आप ही साक्षात् इन्द्र हैं तथा आप इन्द्रका-सा वेश धारण करनेवाले हैं। इन्द्रके रूपमें आप ही अपने हाथमें वज्र लिये रहते हैं। आपका वर्ण पिङ्गल और अरुण है, आपको नमस्कार है ॥

पिनाकपाणये नित्यं शङ्खशूलधराय च।
नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ॥२८९॥

आपके हाथमें पिनाक शोभा पाता है। आप सदा शङ्ख और त्रिशूल धारण करते हैं। आपके वस्त्र काले हैं तथा आप मस्तकपर काले घुँघराले केश धारण करते हैं, आपको नमस्कार है ॥ २८९ ॥

कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च।
शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ॥२९०॥

काला मृगचर्म आपका दुपट्टा है। आप श्रीकृष्णाष्टमी-व्रतमें तत्पर रहते हैं। आपका वर्ण शुक्ल है। आप स्वरूपसे भी शुक्ल (शुद्ध) हैं तथा आप श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ २९० ॥

शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च।
नमोऽस्तु रक्तवर्णाय रक्ताम्बरधराय च ॥२९१॥

आप अपने सारे अङ्गोंमें श्वेत भस्म लपेटे रहते हैं। विशुद्ध कर्ममें अनुरक्त हैं। कभी-कभी आप रक्त वर्णके हो जाते हैं और लाल वस्त्र ही धारण कर लेते हैं। आपको नमस्कार है ॥ २९१ ॥

रक्तध्वजपताकाय रक्तस्रगनुलेपिने।
नमोऽस्तु पीतवर्णाय पीताम्बरधराय च ॥२९२॥

रक्ताम्बरधारी होनेपर आप अपनी ध्वजा-पताका भी लाल ही रखते हैं। लाल फूलोंकी माला पहनकर अपने श्रीअङ्गोंमें लाल चन्दनका ही लेप लगाते हैं। किसी समय आपकी अङ्गकान्ति पीले रंगकी हो जाती है। ऐसे समयमें आप पीताम्बर धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥२९२॥

नमोऽस्तूच्छ्रितच्छत्राय किरीटवरधारिणे।
अर्धहारार्धकेयूर अर्धकुण्डलकर्णिने ॥२९३॥

आपके मस्तकपर ऊँचा छत्र तना है। आप सुन्दर किरीट धारण करते हैं। अर्द्धनारीश्वररूपमें आपके आधे अङ्गमें ही हार, आधेमें ही केयूर और आधे अङ्गके ही कानमें कुण्डल शोभा पाता है। आपको नमस्कार है ॥ २९३ ॥

नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः।
सुरेन्द्राय मुनीन्द्राय महेन्द्राय नमोऽस्तु ते ॥२९४॥

आप वायुके समान वेगशाली हैं। आपको नमस्कार है। आप ही मेरे आराध्यदेव हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आप ही सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और महेन्द्र हैं। आपको नमस्कार है ॥ २९४ ॥

नमः पद्मार्धमालाय उत्पलैर्मिश्रिताय च।
अर्धचन्दनलिप्ताय अर्धस्रगनुलेपिने ॥२९५॥

आप अपने आधे अङ्गको कमलोंकी मालासे अलंकृत करते हैं और आधेमें उत्पलोंसे विभूषित होते हैं। आधे अङ्गमें चन्दनका लेप लगाते हैं तो आधे शरीरमें फूलोंका गजरा और सुगन्धित अङ्गराग धारण करते हैं। ऐसे अर्द्धनारीश्वररूपमें आपको नमस्कार है ॥ २९५ ॥

नम आदित्यवक्त्राय आदित्यनयनाय च।
नम आदित्यवर्णाय आदित्यप्रतिमाय च ॥२९६॥

आपके मुख सूर्यके समान तेजस्वी हैं। सूर्य आपके नेत्र हैं। आपकी अङ्गकान्ति भी सूर्यके ही समान है तथा आप अधिक सादृश्यके कारण सूर्यकी प्रतिमा-से जान पड़ते हैं।२९६।

नमः सोमाय सौम्याय सौम्यवक्त्रधराय च।
सौम्यरूपाय मुख्याय सौम्यदंष्ट्राविभूषिणे ॥२९७॥

आप सोमस्वरूप हैं। आपकी आकृति बड़ी सौम्य है। आप सौम्य मुख धारण करते हैं। आपका रूप भी सौम्य है। आप प्रमुख देवता हैं और सौम्य दन्तावलीसे विभूषित होते हैं। आपको नमस्कार है ॥ २९७ ॥

नमः श्यामाय गौराय अर्धपीतार्धपाण्डवे।
नारीनरशरीराय स्त्रीपुंसाय नमोऽस्तु ते ॥२९८॥

आप हरिहररूप होनेके कारण आधे शरीरसे साँवले और आधेसे गोरे हैं। आधे शरीरमें पीताम्बर धारण करते हैं और आधेमें श्वेत वस्त्र पहनते हैं। आपको नमस्कार है। आपके आधे शरीरमें नारीके अवयव हैं और आधेमें नरके। आप स्त्री-पुरुषरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ २९८ ॥

नमो वृषभवाहाय गजेन्द्रगमनाय च।
दुर्गमाय नमस्तुभ्यमगम्यगमनाय च ॥२९९॥

आप कभी बैलपर सवार होते हैं और कभी गजराजकी पीठपर बैठकर यात्रा करते हैं। आप दुर्गम हैं। आपको नमस्कार है। जो दूसरोंके लिये अगम्य है, वहाँ भी आपकी गति है। आपको नमस्कार है ॥ २९९ ॥

नमोऽस्तु गणगीताय गणवृन्दरताय च।

गणानुयातमार्गाय गणनित्यव्रताय च ॥३००॥

प्रमथगण आपकी महिमाका गान करते हैं। आप अपने पार्षदोंकी मण्डलीमें रत रहते हैं। आपके प्रत्येक मार्गपर प्रमथगण आपके पीछे-पीछे चलते हैं। आपकी सेवा ही गणोंका नित्य-व्रत है। आपको नमस्कार है ॥ ३०० ॥

नमः श्वेताभ्रवर्णाय संध्यारागप्रभाय च।
अनुद्दिष्टाभिधानाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥३०१॥

आपकी कान्ति श्वेत बादलोंके समान है। आपकी प्रभा संध्याकालीन अरुणरागके समान है। आपका कोई निश्चित नाम नहीं है। आप सदा स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०१ ॥

नमो रक्ताग्रवासाय रक्तसूत्रधराय च।
रक्तमालाविचित्राय रक्ताम्बरधराय च ॥३०२॥

आपका सुन्दर वस्त्र लाल रंगका है। आप लाल सूत्र धारण करते हैं। लाल रंगकी मालासे आपकी विचित्र शोभा होती है। आप रक्त वस्त्रधारी रुद्रदेवको नमस्कार है ॥ ३०२ ॥

मणिभूषितमूर्धाय नमश्चन्द्रार्धभूषिणे।
विचित्रमणिमूर्धाय कुसुमाष्टधराय च ॥३०३॥

आपका मस्तक दिव्य मणिसे विभूषित है। आप अपने ललाटमें अर्द्धचन्द्रका आभूषण धारण करते हैं। आपका सिर विचित्र मणिकी प्रभासे प्रकाशमान है और आप आठ पुष्प धारण करते हैं ॥ ३०३ ॥

नमोऽग्निमुखनेत्राय सहस्रशशिलोचने।
अग्निरूपाय कान्ताय नमोऽस्तु गहनाय च ॥३०४॥

आपके मुख और नेत्रमें अग्निका निवास है। आपके नेत्र सहस्रों चन्द्रमाओंके समान प्रकाशित हैं। आप अग्निस्वरूप, कमनीयविग्रह और दुर्गम गहन (वन) रूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०४ ॥

खचराय नमस्तुभ्यं गोचराभिरताय च।
भूचराय भुवनाय अनन्ताय शिवाय च ॥३०५॥

चन्द्रमा और सूर्यके रूपमें आप आकाशचारी देवताको नमस्कार है। जहाँ गौएँ चरती हैं, उस स्थानसे आप विशेष प्रेम रखते हैं। आप पृथ्वीपर विचरनेवाले और त्रिभुवनरूप हैं। अनन्त एवं शिवस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥३०५॥

नमो दिग्वाससे नित्यमधिवाससुवाससे।
नमो जगन्निवासाय प्रतिपत्तिसुखाय च ॥३०६॥

आप दिगम्बर हैं। आपको नमस्कार है। आप सबके आवास-स्थान और सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण जगत् आपमें ही निवास करता है। आपको सम्पूर्ण सिद्धियोंका सुख सुलभ है। आपको नमस्कार है ॥ ३०६ ॥

नित्यमुद्बद्धमुकुटे महाकेयूरधारिणे।
सर्पकण्ठोपहाराय विचित्राभरणाय च ॥ ३०७॥

आप मस्तकपर सदा मुकुट बाँधे रहते हैं। भुजाओंमें विशाल केयूर धारण करते हैं। आपके कण्ठमें सर्पोंका हार शोभा पाता है तथा आप विचित्र आभूषणोंसे विभूषित होते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०७ ॥

नमस्त्रिनेत्रनेत्राय सहस्रशतलोचने।
स्त्रीपुंसाय नपुंसाय नमः सांख्याय योगिने ॥३०८॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये तीन नेत्ररूप होकर आपको त्रिनेत्रधारी बना देते हैं। आपके लाखों नेत्र हैं। आप स्त्री हैं, पुरुष हैं और नपुंसक हैं। आप ही सांख्यवेत्ता और योगी हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३०८ ॥

शंयोरभिस्रवन्ताय अथर्वाय नमो नमः।
नमः सर्वार्तिनाशाय नमः शोकहराय च ॥३०९॥

आप यज्ञपूरक 'शंयु' नामक देवताके प्रसादरूप हैं और अथर्ववेदस्वरूप हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। जो सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले और शोकहारी हैं, उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३०९ ॥

नमो मेघनिनादाय बहुमायाधराय च।
बीजक्षेत्राभिपालाय स्रष्टाराय नमो नमः ॥३१०॥

जो मेघके समान गम्भीर नाद करनेवाले तथा बहुसंख्यक मायाओंके आधार हैं, जो बीज और क्षेत्रका पालन करते हैं और जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको बारंबार नमस्कार है ॥ ३१० ॥

नमः सुरासुरेशाय विश्वेशाय नमो नमः।
नमः पवनवेगाय नमः पवनरूपिणे ॥३११॥

आप देवताओं और असुरोंके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण विश्वके ईश्वर हैं। आपको बारंबार नमस्कार है। आप वायुके समान वेगशाली तथा वायुरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३११ ॥

नमः काञ्चनमालाय गिरिमालाय वै नमः।
नमः सुरारिमालाय चण्डवेगाय वै नमः ॥३१२॥

आप सुवर्णमालाधारी तथा पर्वत-मालाओंमें विहार करनेवाले हैं। देवशत्रुओंके मुण्डोंकी माला धारण करनेवाले प्रचण्ड वेगशाली आपको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ ३१२ ॥

ब्रह्मशिरोपहर्ताय महिषघ्नाय वै नमः।
नमः स्त्रीरूपधाराय यज्ञविध्वंसनाय च ॥३१३॥

ब्रह्माजीके मस्तकका उच्छेद और महिषका विनाश करनेवाले आपको नमस्कार है। आप स्त्रीरूप धारण करनेवाले तथा यज्ञके विध्वंसक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ३१३ ॥

नमस्त्रिपुरहर्ताय यज्ञविध्वंसनाय च।
नमः कामाङ्गनाशाय कालदण्डधराय च ॥३१४॥

असुरोंके तीनों पुरोंका विनाश और दक्ष-यज्ञका विध्वंस करनेवाले आपको नमस्कार है। कामके शरीरका नाश तथा कालदण्डको धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३१४ ॥

नमः स्कन्दविशाखाय ब्रह्मदण्डाय वै नमः।
नमो भवाय शर्वाय विश्वरूपाय वै नमः ॥३१५॥

स्कन्द और विशाखरूप आपको नमस्कार है। ब्रह्मदण्ड-स्वरूप आपको नमस्कार है। भव (उत्पादक) और शर्व (संहारक) रूप आपको नमस्कार है। विश्वरूपधारी प्रभुको नमस्कार है॥ ३१५॥

ईशानाय भवघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने।
नमो विश्वाय मायाय चिन्त्याचिन्त्याय वै नमः ॥३१६॥

आप सबके ईश्वर, संसार-बन्धनका नाश करनेवाले तथा अन्धकासुरके घातक हैं। आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण मायास्वरूप तथा चिन्त्य और अचिन्त्यरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३१६॥

त्वं नो गतिश्च श्रेष्ठश्च त्वमेव हृदयं तथा।
त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ॥३१७॥

आप ही हमारी गति हैं, श्रेष्ठ हैं और आप ही हमारे हृदय हैं। आप सम्पूर्ण देवताओंमें ब्रह्मा तथा रुद्रोंमें नील-लोहित हैं॥ ३१७॥

आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते।
ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ॥३१८॥

आप समस्त प्राणियोंमें आत्मा और सांख्यशास्त्रमें पुरुष कहलाते हैं। आप पवित्रोंमें ऋषभ तथा योगियोंमें निष्कल शिवरूप हैं॥ ३१८॥

गृहस्थस्त्वमाश्रमिणामीश्वराणां महेश्वरः।
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यते ॥३१९॥

आप आश्रमियोंमें गृहस्थ, ईश्वरोंमें महेश्वर, सम्पूर्ण यक्षोंमें कुबेर तथा यज्ञोंमें विष्णु कहलाते हैं॥ ३१९॥

पर्वतानां भवान् मेरुर्नक्षत्राणां च चन्द्रमाः।
वसिष्ठस्त्वमृषीणां च ग्रहाणां सूर्य उच्यते ॥३२०॥

पर्वतोंमें आप मेरु हैं। नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हैं। ऋषियोंमें वसिष्ठ हैं तथा ग्रहोंमें सूर्य कहलाते हैं॥ ३२०॥

आरण्यानां पशूनां च सिंहस्त्वं परमेश्वरः।
ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भवाँल्लोकप्रपूजितः ॥३२१॥

आप जंगली पशुओंमें सिंह हैं। आप ही परमेश्वर हैं। ग्रामीण पशुओंमें आप ही लोकसम्मानित साँड़ हैं॥ ३२१॥

आदित्यानां भवान् विष्णुर्वसूनां चैव पावकः।
पक्षिणां वैनतेयस्त्वमनन्तो भुजगेषु च ॥३२२॥

आप ही आदित्योंमें विष्णु हैं। वसुओंमें अग्नि हैं। पक्षियोंमें आप विनतानन्दन गरुड और सर्पोंमें अनन्त (शेषनाग) हैं॥ ३२२॥

सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्।
सनत्कुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ॥३२३॥

आप वेदोंमें सामवेद, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें शतरुद्रिय, योगियोंमें सनत्कुमार और सांख्यवेत्ताओंमें कपिल हैं॥३२३॥

शक्रोऽसि मरुतां देव पितॄणां हव्यवाडसि।
ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ॥३२४॥

देव! आप मरुद्गणोंमें इन्द्र, पितरोंमें हव्यवाहन अग्नि, लोकोंमें ब्रह्मलोक और गतियोंमें मोक्ष कहलाते हैं॥ ३२४॥

क्षीरोदः सागराणां च शैलानां हिमवान् गिरिः।
वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ॥३२५॥

आप समुद्रोंमें क्षीरसागर, पर्वतोंमें हिमालय, वर्णोंमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें भी दीक्षित ब्राह्मण (यज्ञकी दीक्षा लेने-वाले) हैं॥ ३२५॥

आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च।
यच्चान्यदपि लोके वै सर्वं तेजोऽधिकं स्मृतम् ॥३२६॥
तत् सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः।

आप ही सम्पूर्ण लोकोंके आदि हैं। आप ही संहार करनेवाले काल हैं। संसारमें और भी जो-जो वस्तुएँ सर्वथा तेजमें बढ़ी-चढ़ी हैं, वे सभी आप भगवान् ही हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है॥ ३२६½॥

नमस्ते भगवन् देव नमस्ते भक्तवत्सल ॥३२७॥
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसम्भव।

भगवन्! देव! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। योगेश्वर! आपको नमस्कार है। विश्वकी उत्पत्तिके कारण! आपको नमस्कार है॥ ३२७½॥

प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ॥३२८॥
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन।

सनातन परमेश्वर! आप मुझ दीन-दुखी भक्तपर प्रसन्न होइये। मैं ऐश्वर्यसे रहित हूँ। आप ही मेरे आश्रय-दाता हों॥ ३२८½॥

यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर ॥३२९॥
मद्भक्त इति देवेश तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि।

परमेश्वर देवेश! मैंने अनजानमें जो अपराध किये हों, वह सब यह समझकर क्षमा कीजिये कि यह मेरा अपना ही भक्त है॥ ३२९½॥

मोहितश्चास्मि देवेश त्वया रूपविपर्ययात् ॥३३०॥
नार्घ्यं ते न मया दत्तं पाद्यं चापि महेश्वर।

देवेश्वर! आपने अपना रूप बदलकर मुझे मोहमें डाल दिया। महेश्वर! इसीलिये न तो मैंने आपको अर्घ्य दिया और न पाद्य ही समर्पित किया॥ ३३०½॥

एवं स्तुत्वाहमीशानं पाद्यमर्घ्यं च भक्तितः ॥३३१॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम्।

इस प्रकार भगवान् शिवकी स्तुति करके मैंने उन्हें भक्तिभावसे पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया। फिर दोनों हाथ जोड़कर उन्हें अपना सब कुछ समर्पित कर दिया॥ ३३१½॥

ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ॥३३२॥
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्धनि।

दुन्दुभिश्च तदा दिव्यस्ताडितो देवकिङ्करैः।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः ॥३३३॥

तात ! तदनन्तर मेरे मस्तकपर शीतल जल और दिव्य सुगन्धसे युक्त फूलोंकी शुभ वृष्टि होने लगी। उसी समय देवकिंकरोंने दिव्य दुन्दुभि बजाना आरम्भ किया और पवित्र गन्धसे युक्त पुण्यमयी सुखद वायु चलने लगी ॥३३२-३३३॥

ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः।
अब्रवीत् त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥३३४॥

तब पत्नीसहित प्रसन्न हुए वृषभध्वज महादेवजीने मेरा हर्ष बढ़ाते हुए-से वहाँ सम्पूर्ण देवताओंसे कहा—॥ ३३४ ॥

पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः।
मयि भक्तिं परां नित्यमेकभावादवस्थिताम् ॥३३५॥

'देवताओ ! तुम सब लोग देखो कि महात्मा उपमन्युकी मुझमें नित्य एकभावसे बनी रहनेवाली कैसी उत्तम भक्ति है' ॥ ३३५ ॥

एवमुक्तास्तदा कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥३३६॥

श्रीकृष्ण ! शूलपाणि महादेवजीके ऐसा कहनेपर वे सब देवता हाथ जोड़ उन वृषभध्वज शिवजीको नमस्कार करके बोले—॥ ३३६ ॥

भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥३३७॥

'भगवन् ! देवदेवेश्वर ! लोकनाथ ! जगत्पते ! ये द्विज-श्रेष्ठ उपमन्यु आपसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंके अनुसार अभीष्ट फल प्राप्त करें' ॥ ३३७ ॥

एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥३३८॥

ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओंके ऐसा कहनेपर सबके ईश्वर और कल्याणकारी भगवान् शिवने मुझसे हँसते हुए-से कहा ॥ ३३८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वत्सोपमन्यो तुष्टोऽस्मि पश्य मां मुनिपुङ्गव।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥३३९॥

भगवान् शिवजी बोले—वत्स उपमन्यो ! मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ। मुनिपुङ्गव ! तुम मेरी ओर देखो। ब्रह्मर्षे ! मुझमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति है। मैंने तुम्हारी परीक्षा कर ली है ॥ ३३९ ॥

अनया चैव भक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम्।
तस्मात् सर्वान् ददाम्यद्य कामांस्तव यथेप्सितान् ॥३४०॥

तुम्हारी इस भक्तिसे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, अतः मैं तुम्हें आज तुम्हारी सभी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण किये देता हूँ ॥ ३४० ॥

एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन धीमता।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥३४१॥

परम बुद्धिमान् महादेवजीके इस प्रकार कहनेपर मेरे नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहने लगे और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ३४१ ॥

अब्रुवं च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा।
जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥३४२॥

तब मैंने धरतीपर घुटने टेककर भगवान्‌को बारंबार प्रणाम किया और हर्षगद्गद वाणीद्वारा महादेवजीसे इस प्रकार कहा—॥ ३४२ ॥

अद्य जातो ह्यहं देव सफलं जन्म चाद्य मे।
सुरासुरगुरुर्देवो यत् तिष्ठति ममाग्रतः ॥३४३॥

'देव ! आज ही मैंने वास्तवमें जन्म ग्रहण किया है। आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि इस समय मेरे सामने देवताओं और असुरोंके गुरु आप साक्षात् महादेवजी खड़े हैं ॥ ३४३ ॥

यं न पश्यन्ति चैवाद्धा देवा ह्यमितविक्रमम्।
तमहं दृष्टवान् देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥३४४॥

'जिन अमित पराक्रमी महादेवजीको देवता भी सुगमता-पूर्वक देख नहीं पाते हैं, उन्हींका मुझे प्रत्यक्ष दर्शन मिला है; अतः मुझसे बढ़कर धन्यवादका भागी दूसरा कौन हो सकता है ? ॥ ३४४ ॥

एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम्।
तद् विशेषमिति ख्यातं यदजं ज्ञानमक्षरम् ॥३४५॥

'अजन्मा, अविनाशी, ज्ञानमय तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसे विख्यात जो सनातन परम तत्त्व है, उसका ज्ञानी पुरुष इसी रूपमें ध्यान करते हैं (जैसा कि आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ) ॥ ३४५ ॥

स एष भगवान् देवः सर्वसत्त्वादिरव्ययः।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः परः ॥३४६॥

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आदिकारण, अविनाशी, समस्त तत्त्वोंके विधानका ज्ञाता तथा प्रधान परम पुरुष है, वह ये भगवान् महादेवजी ही हैं ॥ ३४६ ॥

योऽसृजद् दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्।
वामपार्श्वात् तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥३४७॥

'इन्हीं जगदीश्वरने अपने दाहिने अङ्गसे लोकस्रष्टा ब्रह्माको और बायें अङ्गसे जगत्‌की रक्षाके लिये विष्णुको उत्पन्न किया है ॥ ३४७ ॥

युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत् प्रभुः।
स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥३४८॥

'प्रलयकाल प्राप्त होनेपर इन्हीं भगवान् शिवने रुद्रकी रचना की थी। वे ही रुद्र सम्पूर्ण चराचर जगत्‌का संहार करते हैं ॥ ३४८ ॥

कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः।

युगान्ते सर्वभूतानि ग्रसन्निव व्यवस्थितः ॥३४९॥

'वे ही महातेजस्वी काल होकर कल्पके अन्तमें समस्त प्राणियोंको अपना ग्रास बनाते हुए-से प्रलयकालीन अग्निके सदृश स्थित होते हैं ॥ ३४९ ॥

एष देवो महादेवो जगत् सृष्ट्वा चराचरम् ।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥३५०॥

'ये ही देवदेव महादेव चराचर जगत्‌की सृष्टि करके कल्पान्तमें सबकी स्मृति-शक्तिको मिटाकर स्वयं ही स्थित रहते हैं ॥ ३५० ॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः ।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥३५१॥

'ये सर्वत्र गमन करनेवाले, सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा तथा समस्त भूतोंके जन्म और वृद्धिके हेतु हैं । ये सर्वव्यापी परमेश्वर सदा सम्पूर्ण देवताओंसे अदृश्य रहते हैं ॥ ३५१ ॥

यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ।
भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥३५२॥

'प्रभो ! यदि आप मुझपर संतुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहते हैं तो हे देव ! हे सुरेश्वर ! मेरी सदा आपमें भक्ति बनी रहे ॥ ३५२ ॥

अतःतानागतं चैव वर्तमानं च यद् विभो ।
जानीयामिति मे बुद्धिः प्रसादात् सुरसत्तम ॥३५३॥

'सुरश्रेष्ठ ! विभो ! आपकी कृपासे मैं भूत, वर्तमान और भविष्यको जान सकूँ; ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ३५३ ॥

क्षीरोदनं च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः ।
आश्रमे च सदास्माकं सांनिध्यं परमस्तु ते ॥३५४॥

'मैं अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा अक्षय दूध-भातका भोजन प्राप्त करूँ और हमारे इस आश्रममें सदा आपका निकट निवास रहे' ॥ ३५४ ॥

एवमुक्तः स मां प्राह भगवाँल्लोकपूजितः ।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः शिवः ॥३५५॥

मेरे ऐसा कहनेपर लोकपूजित चराचरगुरु महातेजस्वी महेश्वर भगवान् शिव मुझसे यों बोले ॥ ३५५ ॥

श्रीभगवानुवाच

अजरश्चामरश्चैव भव त्वं दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥३५६॥

भगवान् शिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम दुःखसे रहित अजर-अमर हो जाओ । यशस्वी, तेजस्वी तथा दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न बने रहो ॥ ३५६ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च मत्प्रसादाद् भविष्यसि ।
शीलवान् गुणसम्पन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥३५७॥

मेरी कृपासे तुम ऋषियोंके भी दर्शनीय एवं आदरणीय होओगे तथा सदा शीलवान्, गुणवान्, सर्वज्ञ एवं प्रियदर्शन बने रहोगे ॥ ३५७ ॥

अक्षयं यौवनं तेऽस्तु तेजश्चैवानलोपमम् ।
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसि प्रियम् ॥३५८॥
तत्र ते भविता कामं सांनिध्यं पयसो निधेः ।

तुम्हें अक्षय यौवन और अग्निके समान तेज प्राप्त हो । तुम्हारे लिये क्षीरसागर सुलभ हो जायगा । तुम जहाँ-जहाँ प्रिय वस्तुकी इच्छा करोगे, वहाँ-वहाँ तुम्हारी सारी कामना सफल होगी और तुम्हें क्षीरसागरका सांनिध्य प्राप्त होगा ॥ ३५८½ ॥

क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥३५९॥
बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि ।
अक्षया बान्धवाश्चैव कुलं गोत्रं च ते सदा ॥३६०॥

तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ एक कल्पतक अमृतसहित दूध-भातका भोजन पाते रहो । तत्पश्चात् तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे । तुम्हारे बन्धु-बान्धव, कुल तथा गोत्रकी परम्परा सदा अक्षय बनी रहेगी ॥ ३५९-३६० ॥

भविष्यति द्विजश्रेष्ठ मयि भक्तिश्च शाश्वती ।
सांनिध्यं चाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥३६१॥

द्विजश्रेष्ठ ! मुझमें तुम्हारी सदा अचल भक्ति होगी तथा द्विजप्रवर ! तुम्हारे इस आश्रमके निकट मैं सदा अदृश्य रूपसे निवास करूँगा ॥ ३६१ ॥

तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठां च करिष्यसि ।
स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र करिष्यामि च दर्शनम् ॥३६२॥

बेटा ! तुम इच्छानुसार यहाँ रहो । कभी किसी बातके लिये चिन्ता न करना । विप्रवर ! तुम्हारे स्मरण करनेपर मैं पुनः तुम्हें दर्शन दूँगा ॥ ३६२ ॥

एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः ।
ईशानः स वरान् दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥३६३॥

ऐसा कहकर वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी भगवान् शङ्कर उपर्युक्त वर प्रदान करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३६३ ॥

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना ।
तदवाप्तं च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥३६४॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मैंने समाधिके द्वारा देवाधिदेव भगवान् शङ्करका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया । उन बुद्धिमान् महादेवजीने जो कुछ कहा था, वह सब मुझे प्राप्त हो गया है ॥ ३६४ ॥

प्रत्यक्षं चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान् व्यवस्थितान् ।
ऋषीन् विद्याधरान् यक्षान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥३६५॥

श्रीकृष्ण ! यह सब आप प्रत्यक्ष देख लें । यहाँ सिद्ध महर्षि, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराएँ विद्यमान हैं ॥

पश्य वृक्षलतागुल्मान् सर्वपुष्पफलप्रदान् ।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान् सुखपत्रान् सुगन्धिनः ॥३६६॥

देखिये, यहाँके वृक्ष, लता और गुल्म सब प्रकारके फूल और फल देनेवाले हैं । ये सभी ऋतुओंके फूलोंसे युक्त,

सुखदायक पल्लवोंसे सम्पन्न और सुगन्धसे परिपूर्ण हैं ॥

सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ।
प्रसादाद् देवदेवस्य ईश्वरस्य महात्मनः ॥३६७॥

महाबाहो! देवताओंके भी देवता तथा सबके ईश्वर महात्मा शिवके प्रसादसे ही यहाँ सब कुछ दिव्य भावसे सम्पन्न दिखायी देता है ॥ ३६७ ॥

वासुदेव उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रत्यक्षमिव दर्शनम् ।
विस्मयं परमं गत्वा अब्रुवं तं महामुनिम् ॥३६८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! उनकी यह बात सुनकर मानो मुझे भगवान् शिवका प्रत्यक्ष दर्शन हो गया हो, ऐसा प्रतीत हुआ। फिर बड़े विस्मयमें पड़कर मैंने उन महामुनिसे पूछा—॥ ३६८ ॥

धन्यस्त्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वदन्योऽसि पुण्यकृत् ।
यस्य देवाधिदेवस्ते सांनिध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥३६९॥

'विप्रवर! आप धन्य हैं। आपसे बढ़कर पुण्यात्मा पुरुष दूसरा कौन है? क्योंकि आपके इस आश्रममें साक्षात् देवाधिदेव महादेव निवास करते हैं ॥ ३६९ ॥

अपि तावन्ममाप्येवं दद्यात् स भगवाञ्छिवः ।
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादं चापि शंकरः ॥३७०॥

'मुनिश्रेष्ठ! क्या कल्याणकारी भगवान् शिव मुझे भी इसी प्रकार दर्शन देंगे? मुझपर भी कृपा करेंगे?' ॥३७०॥

उपमन्युरुवाच

द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष महादेवं न संशयः ।
अचिरेणैव कालेन यथा दृष्टो मयानघ ॥३७१॥

उपमन्यु बोले—निष्पाप कमलनयन! जैसे मैंने भगवान्‌का दर्शन किया है, उसी प्रकार आप भी थोड़े ही समयमें महादेवजीका दर्शन प्राप्त करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥

चक्षुषा चैव दिव्येन पश्याम्यमितविक्रमम् ।
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥३७२॥

पुरुषोत्तम! मैं दिव्य दृष्टिसे देख रहा हूँ। आप आजसे छठे महीनेमें अमित पराक्रमी महादेवजीका दर्शन करेंगे ॥ ३७२ ॥

षोडशाष्टौ वरांश्चापि प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्नीकाद् यदुश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३७३॥

यदुश्रेष्ठ! पत्नीसहित महादेवजीसे आप सोलह और आठ वर प्राप्त करेंगे। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ॥

अतीतानागतं चैव वर्तमानं च नित्यशः ।
विदितं मे महाबाहो प्रसादात् तस्य धीमतः ॥३७४॥

महाबाहो! बुद्धिमान् महादेवजीके कृपा-प्रसादसे मुझे सदा ही भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालका ज्ञान प्राप्त है ॥ ३७४ ॥

एतान् सहस्रशश्चान्यान् समनुध्यातवान् हरः ।
कस्मात् प्रसादं भगवान् न कुर्यात् तव माधव ॥३७५॥

माधव! भगवान् हरने यहाँ रहनेवाले इन सहस्रों मुनियोंको कृपापूर्ण हृदयसे अनुगृहीत किया है। फिर आप-पर वे अपना कृपाप्रसाद क्यों नहीं प्रकट करेंगे ॥ ३७५ ॥

त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ।
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ॥३७६॥
जप्यं तु ते प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शंकरम् ।

आप-जैसे ब्राह्मणभक्त, कोमलस्वभाव और श्रद्धालु पुरुषका समागम देवताओंके लिये भी प्रशंसनीय है। मैं आपको जपनेयोग्य मन्त्र प्रदान करूँगा, जिससे आप भगवान् शङ्करका दर्शन करेंगे ॥३७६½॥

श्रीकृष्ण उवाच

अब्रुवं तमहं ब्रह्मंस्त्वत्प्रसादान्महामुने ॥३७७॥
द्रक्ष्ये दितिजसंघानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ।

श्रीकृष्ण कहते हैं—तब मैंने उनसे कहा—ब्रह्मन्! महामुने! मैं आपके कृपाप्रसादसे दैत्यदलोंका दलन करनेवाले देवेश्वर महादेवजीका दर्शन अवश्य करूँगा ॥ ३७७½ ॥

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रितां कथाम् ॥३७८॥
दिनान्यष्टौ ततो जग्मुर्मुहूर्तमिव भारत ।
दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ॥३७९॥

भरतनन्दन! इस प्रकार महादेवजीकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहते हुए उन मुनीश्वरके आठ दिन एक मुहूर्तके समान बीत गये। आठवें दिन विप्रवर उपमन्युने विधिपूर्वक मुझे दीक्षा दी ॥ ३७८-३७९ ॥

दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखली कृतः ।
मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ॥३८०॥

उन्होंने मेरा सिर मुड़ा दिया। मेरे शरीरमें घी लगाया तथा मुझसे दण्ड, कुशा, चीर एवं मेखला धारण कराया। मैं एक महीनेतक फलाहार करके रहा और दूसरे महीनेमें केवल जलका आहार किया ॥ ३८० ॥

तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ।
एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ॥३८१॥

तीसरे, चौथे और पाँचवें महीनेमें मैं दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा रहा। आलस्यको अपने पास नहीं आने दिया। उन दिनों वायुमात्र ही मेरा आहार रहा ॥३८१॥

तेजः सूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ।
तस्य मध्यगतं चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ॥३८२॥
इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।
नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषिताम्बरम् ॥३८३॥

भारत! पाण्डुनन्दन! छठे महीनेमें आकाशके भीतर मुझे सहस्रों सूर्योंका-सा तेज दिखायी दिया। उस तेजके भीतर एक और तेजोमण्डल दृष्टिगोचर हुआ, जिसका सर्वाङ्ग

इन्द्रधनुषसे परिवेष्टित था। विद्युन्माला उसमें झरोखेके समान प्रतीत होती थी। वह तेज नील पर्वतमालाके समान प्रकाशित होता था। उस द्विविध तेजके कारण वहाँका आकाश बक-पंक्तियोंसे विभूषित-सा जान पड़ता था ॥ ३८२-३८३ ॥

तत्र स्थितश्च भगवान् देव्या सह महाद्युतिः।
तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥३८४॥

उस नील तेजके भीतर महातेजस्वी भगवान् शिव तप, तेज, कान्ति तथा अपनी तेजस्विनी पत्नी उमादेवीके साथ विराजमान थे ॥ ३८४ ॥

रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥३८५॥

उस नील तेजमें पार्वती देवीके साथ स्थित हुए भगवान् महेश्वर ऐसी शोभा पा रहे थे मानो चन्द्रमाके साथ सूर्य श्याम मेघके भीतर विराज रहे हों ॥ ३८५ ॥

संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥३८६॥

कुन्तीनन्दन! जो सम्पूर्ण देवसमुदायकी गति हैं तथा सबकी पीड़ा हर लेते हैं, उन भगवान् हरको जब मैंने देखा, तब मेरे रोंगटे खड़े हो गये और मेरे नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे॥

किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं
व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम्।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं
शुभाङ्गदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥३८७॥

भगवान्‌के मस्तकपर मुकुट था। उनके हाथमें गदा, त्रिशूल और दण्ड शोभा पाते थे। सिरपर जटा थी। उन्होंने व्याघ्रचर्म धारण कर रखा था। पिनाक और वज्र भी उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनकी दाढ़ तीखी थी। उन्होंने सुन्दर बाजूबंद पहनकर सर्पमय यज्ञोपवीत धारण कर रखा था॥

दिव्यां मालामुरसानेकवर्णां
समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बाम्।
चन्द्रं यथा परिविष्टं ससंध्यं
वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥३८८॥

वे अपने वक्षःस्थलपर अनेक रंगवाली दिव्य माला धारण किये हुए थे, जो गुल्फदेश (घुटनों) तक लटक रही थी। जैसे शरद्‌ऋतुमें संध्याकी लालीसे युक्त और घेरेसे घिरे हुए चन्द्रमाका दर्शन होता हो, उसी प्रकार मैंने मालावेष्टित उन भगवान् महादेवजीका दर्शन किया था ॥ ३८८ ॥

प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात् परिवारितम्।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिविष्टं दिवाकरम् ॥३८९॥

प्रमथगणोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए महातेजस्वी महादेव परिधिसे घिरे हुए शरत्कालके सूर्यकी भाँति बड़ी कठिनाईसे देखे जाते थे ॥ ३८९ ॥

एकादशशतान्येवं रुद्राणां वृषवाहनम्।
अस्तुवं नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥३९०॥

इस प्रकार मनको वशमें रखनेवाले और कर्मेन्द्रियोंद्वारा शुभकर्मका ही अनुष्ठान करनेवाले महादेवजीकी, जो ग्यारह सौ रुद्रोंसे घिरे हुए थे, मैंने स्तुति की ॥ ॥ ३९० ॥

आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
विश्वाभिः स्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥३९१॥

बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार—ये भी सम्पूर्ण स्तुतियोंद्वारा सबके देवता महादेवजीकी स्तुति कर रहे थे ॥ ३९१ ॥

शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ।
ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिके ॥३९२॥

इन्द्र तथा वामनरूपधारी भगवान् विष्णु—ये दोनों अदितिकुमार और ब्रह्माजी भगवान् शिवके निकट रथन्तर सामका गान कर रहे थे ॥ ३९२ ॥

योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम्।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥३९३॥

बहुत-से योगीश्वर, पुत्रोंसहित ब्रह्मर्षि तथा देवर्षिगण भी योगसिद्धि प्रदान करनेवाले, पिता एवं गुरुरूप महादेवजीकी स्तुति करते थे ॥ ३९३ ॥

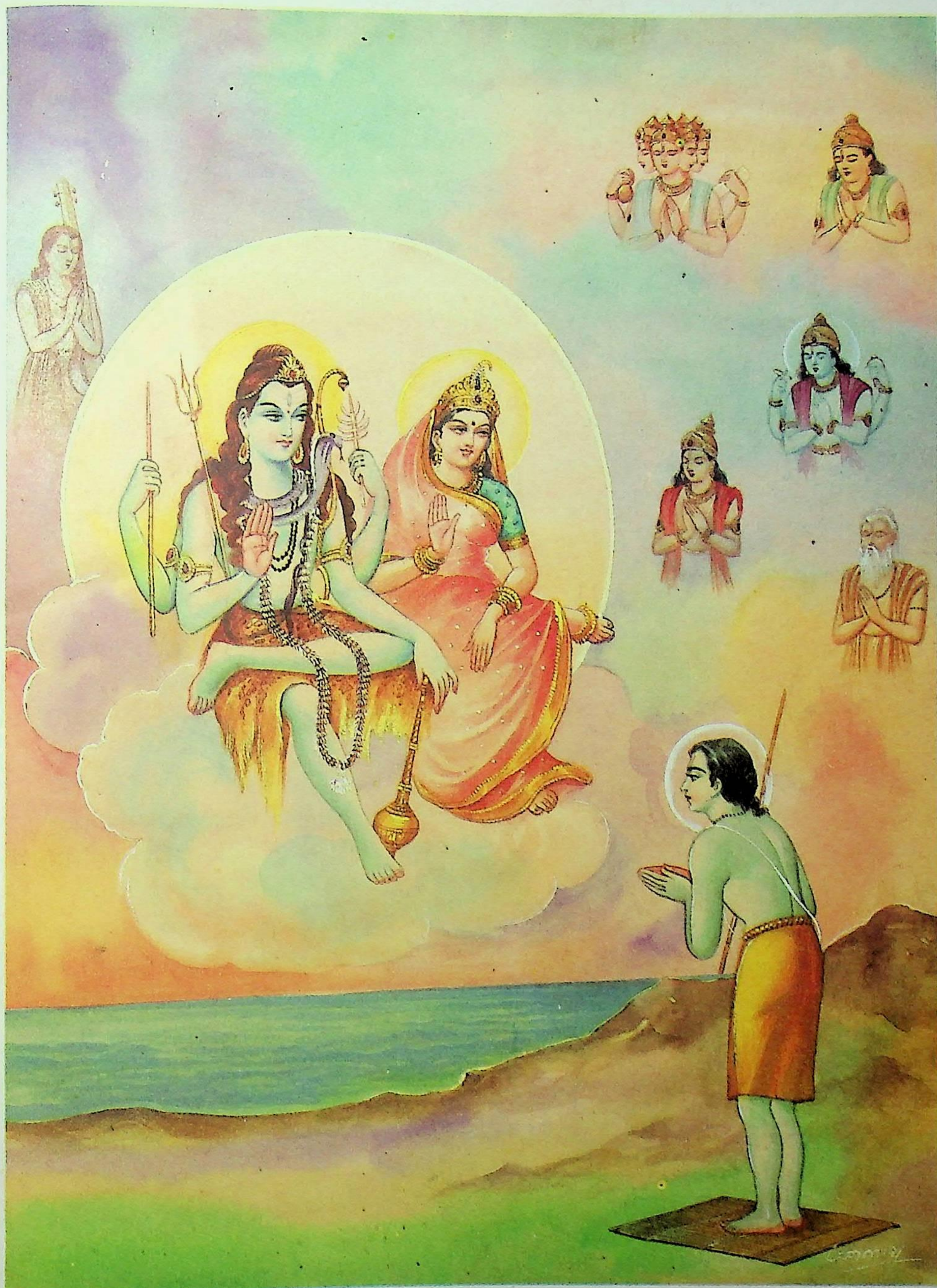
(महाभूतानि च्छन्दांसि प्रजानां पतयो मखाः।
सरितः सागरा नागा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
विद्याधराश्च गीतेन वाद्यनृत्तादिनार्चयन्।
तेजस्विनां मध्यगतं तेजोराशिं जगत्पतिम् ॥)

महाभूत, छन्द, प्रजापति, यज्ञ, नदी, समुद्र, नाग, गन्धर्व, अप्सरा तथा विद्याधर—ये सब गीत, वाद्य तथा नृत्य आदिके द्वारा तेजस्वियोंके मध्यभागमें विराजमान तेजोराशि जगदीश्वर शिवकी पूजा-अर्चा करते थे ॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
मासार्धमासा ऋतवो रात्रिः संवत्सराः क्षणाः ॥३९४॥
मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः।
दिव्या राजन् नमस्यन्ति विद्याः सत्त्वविदस्तथा ॥३९५॥

राजन्! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, ऋतु, रात्रि, संवत्सर, क्षण, मुहूर्त, निमेष, युगचक्र तथा दिव्य विद्याएँ—ये सब (मूर्तिमान् होकर) शिवजीको नमस्कार कर रहे थे। वैसे ही सत्त्ववेत्ता पुरुष भी भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९४-३९५ ॥

सनत्कुमारो देवाश्च इतिहासास्तथैव च।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥३९६॥
मनवः सप्त सोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च ॥३९७॥



दण्ड-मेखलाधारी भगवान् श्रीकृष्ण को शिव-पार्वती के दर्शन

छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥३९८॥
प्रजानां पालकाः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥३९९॥
सहस्राणि मुनीनां च अयुतान्यर्बुदानि च।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥४००॥

युधिष्ठिर ! सनत्कुमार, देवगण, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सात मनु, सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य, छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य, यज्ञोपयोगी मूर्तिमान् द्रव्य, समस्त प्रजापालकगण, नदी, नग, नाग, सम्पूर्ण देवमाताएँ, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ, सहस्रों, लाखों, अरबों महर्षि, पर्वत, समुद्र और दिशाएँ—ये सब-के-सब शान्तस्वरूप भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ३९६-४०० ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः।
दिव्यतालेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ॥४०१॥

गीत और वाद्यकी कलामें कुशल अप्सराएँ तथा गन्धर्व दिव्य तालपर गाते हुए अद्भुत शक्तिशाली भगवान् भवकी स्तुति करते थे ॥ ४०१ ॥

विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा।
सर्वाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ॥४०२॥

महाराज ! विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस तथा समस्त चराचर प्राणी मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा भगवान् शिवको नमस्कार करते थे ॥ ४०२ ॥

पुरस्ताद् धिष्ठितः शर्वो ममासीत् त्रिदशेश्वरः।
पुरस्ताद् धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानं च भारत ॥४०३॥
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत।
ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत् तदा ॥४०४॥

देवेश्वर शिव मेरे सामने खड़े थे। भारत ! मेरे सामने महादेवजीको खड़ा देख प्रजापतियोंसे लेकर इन्द्रतक सारा जगत् मेरी ओर देखने लगा। किंतु उस समय महादेवजीको देखनेकी मुझमें शक्ति नहीं रह गयी थी ॥ ४०३-४०४ ॥

ततो मामब्रवीद् देवः पश्य कृष्ण वदस्व च।
त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः ॥४०५॥

तब भगवान् शिवने मुझसे कहा—'श्रीकृष्ण ! मुझे देखो, मुझसे वार्तालाप करो। तुमने पहले भी सैकड़ों और हजारों बार मेरी आराधना की है ॥ ४०५ ॥

त्वत्समो नास्ति मे कश्चित् त्रिषु लोकेषु वै प्रियः।
शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्युमा तदा।
ततोऽहमब्रुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥४०६॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है।' जब मैंने मस्तक झुकाकर महादेवजीको प्रणाम किया, तब देवी उमाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय मैंने ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा प्रशंसित भगवान् शिवसे इस प्रकार कहा ॥ ४०६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने
ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति।
तपश्च सत्त्वं च रजस्तमश्च
त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥४०७॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—सबके कारणभूत सनातन परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। ऋषि आपको ब्रह्माजीका भी अधिपति बताते हैं। साधु पुरुष आपको ही तप, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा सत्यस्वरूप कहते हैं ॥ ४०७ ॥

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥४०८॥

आप ही ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, शिव, धाता, विधाता और त्वष्टा हैं। आप ही सब ओर मुखवाले परमेश्वर हैं ॥ ४०८ ॥

त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४०९॥

समस्त चराचर प्राणी आपहीसे उत्पन्न हुए हैं। आपने ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंसहित इस समस्त त्रिलोकीकी सृष्टि की है ॥ ४०९ ॥

यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं
ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः।
ये देवसंस्थास्तवदेवताश्च
तस्मात् परं त्वामृषयो वदन्ति ॥४१०॥

यहाँ जो-जो इन्द्रियाँ, जो सम्पूर्ण मन, जो समस्त वायु और सात अग्नियाँ[1] हैं, जो देवसमुदायके अंदर रहनेवाले स्तवनके योग्य देवता हैं, उन सबसे परे आपकी स्थिति है। ऋषिगण आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं ॥ ४१० ॥

वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः।
यज्ञोपगं च यत् किंचिद् भगवांस्तदसंशयम् ॥४११॥

वेद, यज्ञ, सोम, दक्षिणा, अग्नि, हविष्य तथा जो कुछ भी यज्ञोपयोगी सामग्री है, वह सब आप भगवान् ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४११ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥४१२॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत और नियम, लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि तथा सिद्धि—ये सब आपके स्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ ४१२ ॥

---

१. गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य—ये पाँच वैदिक अग्नियाँ हैं। स्मार्त छठी और लौकिक सातवीं अग्नि है।

कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनवस्तव ॥४१३॥

भगवन् ! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तब्धता, मात्सर्य, आधि और व्याधि—ये सब आपके ही शरीर हैं ।४१३।

कृतिर्विकारः प्रणयः प्रधानं बीजमव्ययम् ।
मनसः परमा योनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥४१४॥

क्रिया, विकार, प्रणय, प्रधान, अविनाशी बीज, मनका परम कारण और सनातन प्रभाव-ये भी आपके ही स्वरूप हैं ।।

अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः ।
आदिर्गणानां सर्वेषां भवान् वै जीविताश्रयः ॥४१५॥

अव्यक्त, पावन, अचिन्त्य, हिरण्मय सूर्यस्वरूप आप ही समस्त गणोंके आदिकारण तथा जीवनके आश्रय हैं ।४१५।

महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयम्भुवः ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित् ख्यातिर्धृतिःस्मृतिः॥४१६॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
त्वां बुद्ध्वा ब्राह्मणो वेदात् प्रमोहं विनियच्छति॥४१७॥

महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, विश्व, शम्भु, स्वयम्भू, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्, ख्याति, धृति और स्मृति—इन चौदह पर्यायवाची शब्दोंद्वारा आप परमात्मा ही प्रकाशित होते हैं । वेदसे आपका बोध प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण मोहका सर्वथा नाश कर देता है ॥ ४१६-४१७ ॥

हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः ।
सर्वतःपाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ॥४१८॥

ऋषियोंद्वारा प्रशंसित आप ही सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें स्थित क्षेत्रज्ञ हैं । आपके सब ओर हाथ-पैर हैं । सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं ॥ ४१८ ॥

सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्मसु ॥४१९॥

आपके सब ओर कान हैं और जगत्में आप सबको व्याप्त करके स्थित हैं । जीवके आँख मीजने और खोलनेसे लेकर जितने कर्म हैं, उनके फल आप ही हैं ॥ ४१९ ॥

त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः ।
अणिमा महिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥४२०॥

आप अविनाशी परमेश्वर ही सूर्यकी प्रभा और अग्निकी ज्वाला हैं । आप ही सबके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं । अणिमा, महिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ तथा ज्योति भी आप ही हैं ॥ ४२० ॥

त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्त्वा जितेन्द्रियाः॥४२१॥

आपमें बोध और मननकी शक्ति विद्यमान है । जो लोग आपकी शरणमें आकर सर्वथा आपके आश्रित रहते हैं, वे ध्यानपरायण, नित्य योगयुक्त, सत्यसंकल्प तथा जितेन्द्रिय होते हैं ॥ ४२१ ॥

यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं
प्रभुं पुराणं पुरुषं च विग्रहम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति॥४२२॥

जो आपको अपनी हृदयगुहामें स्थित आत्मा, प्रभु, पुराण-पुरुष, मूर्तिमान् परब्रह्म, हिरण्मय पुरुष और बुद्धिमानोंकी परम गतिरूपमें निश्चित भावसे जानता है, वही बुद्धिमान् लौकिक बुद्धिका उल्लङ्घन करके परमात्मभावमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४२२ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः ।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥४२३॥

विद्वान् पुरुष महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको जानकर आपके स्वरूपभूत छः अङ्गों[1]का बोध प्राप्त करके प्रमुख विधियोगका आश्रय ले आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४२३ ॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने ।
चराचरं जगत् सर्वं सिंहनादं तदाकरोत् ॥४२४॥

कुन्तीनन्दन ! जब मैंने सबकी पीड़ाका नाश करनेवाले महादेवजीकी इस प्रकार स्तुति की, तब यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सिंहनाद कर उठा ॥ ४२४ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव तदा प्रणेमुः ॥४२५॥

ब्राह्मणोंके समुदाय, देवता, असुर, नाग, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षसगण, समस्त भूतगण तथा महर्षि भी उस समय भगवान् शिवको प्रणाम करने लगे ॥ ४२५ ॥

मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम् ।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥४२६॥

मेरे मस्तकपर ढेर-के-ढेर दिव्य सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी तथा अत्यन्त सुखदायक हवा चलने लगी ।।४२६।।

निरीक्ष्य भगवान् देवीं ह्युमां मां च जगद्धितः।
शतक्रतुं चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शङ्करः ॥४२७॥

जगत्के हितैषी भगवान् शङ्करने उमादेवीकी ओर देखकर मेरी ओर देखा और फिर इन्द्रपर दृष्टिपात करके स्वयं मुझसे कहा— ॥ ४२७ ॥

विदुः कृष्ण परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि त्वयि मे परा ॥४२८॥

१. सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त शक्ति और अनन्त शक्ति—ये महेश्वरके स्वरूपभूत छः अङ्ग बताये गये हैं।

'शत्रुहन् श्रीकृष्ण ! मुझमें जो तुम्हारी पराभक्ति है, उसे सब लोग जानते हैं, अब तुम अपना कल्याण करो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर मेरा विशेष प्रेम है ॥ ४२८ ॥

वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छसि सुदुर्लभान् ॥४२९॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! यदुकुलसिंह श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हें आठ वर देता हूँ। तुम जिन परम दुर्लभ वरोंको पाना चाहते हो, उन्हें बताओ।' ॥ ४२९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वका आख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ४३३ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

शिव और पार्वतीका श्रीकृष्णको वरदान और उपमन्युके द्वारा महादेवजीकी महिमा

श्रीकृष्ण उवाच

मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजःसंनिचये ततः।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत ! तदनन्तर मनको वशमें करके तेजोराशिमें स्थित महादेवजीको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर बड़े हर्षमें भरकर मैंने उन भगवान् शिवसे कहा—॥

धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं
यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च।
योगप्रियत्वं तव संनिकर्षं
वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥

'धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थिति, युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेकी क्षमता, श्रेष्ठ यश, उत्तम बल, योगबल, सबका प्रिय होना, आपका सांनिध्य तथा दस हजार पुत्र—ये ही आठ वर मैं माँग रहा हूँ' ॥ २ ॥

एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शङ्करः।
ततो मां जगतो माता धारिणी सर्वपावनी ॥ ३ ॥
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः।
दत्तो भगवता पुत्रः साम्बो नाम तवानघ ॥ ४ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भगवान् शङ्करने कहा, 'एवमस्तु—ऐसा ही हो।' तब सबका धारण-पोषण करनेवाली सर्वपावनी तपोनिधि रुद्रपत्नी जगदम्बा उमादेवी एकाग्रचित्त होकर बोलीं—'निष्पाप श्यामसुन्दर ! भगवान्‌ने तुम्हें साम्ब नामक पुत्र दिया है ॥ ३-४ ॥

मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान् गृहाण त्वं ददामि ते।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥ ५ ॥

'अब मुझसे भी अभीष्ट आठ वर माँग लो। मैं तुम्हें वे वर प्रदान करती हूँ।' पाण्डुनन्दन ! तब मैंने जगदम्बाके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करके उनसे कहा—॥ ५ ॥

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं
शतं सुतानां परमं च भोगम्।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं
शमप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणोंपर कभी मेरे मनमें क्रोध न हो। मेरे पिता मुझपर प्रसन्न रहें। मुझे सैकड़ों पुत्र प्राप्त हों। उत्तम भोग सदा उपलब्ध रहें। हमारे कुलमें प्रसन्नता बनी रहे। मेरी माता भी प्रसन्न रहें। मुझे शान्ति मिले और प्रत्येक कार्यमें कुशलता प्राप्त हो—ये आठ वर और माँगता हूँ' ॥ ६ ॥

उमोवाच

एवं भविष्यत्यमरप्रभाव
नाहं मृषा जातु वदे कदाचित्।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव
तासु प्रियत्वं च तथाक्षयं च ॥ ७ ॥
प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद्
ददामि तेऽहं वपुषः काम्यतां च।
भोक्ष्यन्ते वै सप्तति वै शतानि
गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥ ८ ॥

भगवती उमाने कहा—अमरोंके समान प्रभावशाली श्रीकृष्ण ! ऐसा ही होगा। मैं कभी झूठ नहीं बोलती हूँ। तुम्हें सोलह हजार रानियाँ होंगी। उनका तुम्हारे प्रति प्रेम रहेगा। तुम्हें अक्षय धनधान्यकी प्राप्ति होगी। बन्धु-बान्धवोंकी ओरसे तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त होगी। मैं तुम्हारे इस शरीरके सदा कमनीय बने रहनेका वर देती हूँ और तुम्हारे घरमें प्रतिदिन सात हजार अतिथि भोजन करेंगे* ॥ ७-८ ॥

* यहाँ श्रीकृष्णके माँगे हुए आठ वरोंको एवं 'भविष्यति' इस वाक्यके द्वारा देनेके पश्चात् पार्वतीजी अपनी ओरसे आठ वर और देती हैं। इनमें 'अमरप्रभाव' इस सम्बोधनके द्वारा देवोपम प्रभावका दान ही पहला वरदान सूचित किया गया है। 'मैं कभी झूठ नहीं बोलती' इस कथनके द्वारा 'तुम भी कभी झूठ नहीं बोलोगे' यह दूसरा वर सूचित होता है। सोलह हजारके प्राप्त होनेका वर तीसरा है। उनका प्रिय होना चौथा वर है। अक्षय धनधान्यकी प्राप्ति पाँचवाँ वर है। बान्धवोंकी प्रीति छठा, शरीरकी कमनीयता सातवाँ और सात हजार अतिथियोंका भोजन आठवाँ वर है। इससे पहले जो सोलह और आठ वरके प्राप्त होनेकी बात कही गयी थी, उसकी सङ्गति लग जाती है।

वासुदेव उवाच

एवं दत्त्वा वरान् देवो मम देवी च भारत।
अन्तर्हितः क्षणे तस्मिन् सगणो भीमपूर्वज ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतनन्दन ! भीमसेनके बड़े भैया ! इस प्रकार महादेवजी तथा देवी पार्वती मुझे वरदान देकर अपने गणोंके साथ उसी क्षण अन्तर्धान हो गये ॥ ९ ॥

एतदत्यद्भुतं पूर्वं ब्राह्मणायातितेजसे।
उपमन्यवे मया कृत्स्नं व्याख्यातं पार्थिवोत्तम।
नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ॥ १० ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त मैंने पहले महातेजस्वी ब्राह्मण उपमन्युको पूर्णरूपसे बताया था। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! उपमन्युने देवाधिदेव महादेवजीको नमस्कार करके इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

उपमन्युरुवाच

नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥ ११ ॥

उपमन्यु बोले—महादेवजीके समान कोई देवता नहीं है। महादेवजीके समान कोई गति नहीं है। दानमें शिवजीकी समानता करनेवाला कोई नहीं है तथा युद्धमें भी भगवान् शङ्करके समान दूसरा कोई वीर नहीं है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहन (इन्द्ररूपधारी महादेव) की महिमाके प्रतिपादक पर्वकी कथामें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥



षोडशोऽध्यायः

उपमन्यु-श्रीकृष्ण-संवाद—महात्मा तण्डिद्वारा की गयी महादेवजीकी स्तुति, प्रार्थना और उसका फल

उपमन्युरुवाच

ऋषिरासीत् कृते तात तण्डिरित्येव विश्रुतः।
दशवर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ॥ १ ॥
आराधितोऽभूद् भक्तेन तस्योदर्कं निशामय।
स दृष्टवान् महादेवमस्तौषीच्च स्तवैर्विभुम् ॥ २ ॥

उपमन्यु कहते हैं—तात ! सत्ययुगमें तण्डि नामसे विख्यात एक ऋषि थे, जिन्होंने भक्तिभावसे ध्यानके द्वारा दस हजार वर्षोंतक महादेवजीकी आराधना की थी। उन्हें जो फल प्राप्त हुआ था, उसे बता रहा हूँ, सुनिये। उन्होंने महादेवजीका दर्शन किया और स्तोत्रोंद्वारा उन प्रभुकी स्तुति की ॥

इति तण्डिस्तपोयोगात् परमात्मानमव्ययम्।
चिन्तयित्वा महात्मानमिदमाह सुविस्मितः ॥ ३ ॥

इस तरह तण्डिने तपस्यामें संलग्न होकर अविनाशी परमात्मा महामना शिवका चिन्तन करके अत्यन्त विस्मित हो इस प्रकार कहा था—॥ ३ ॥

यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः।
परं प्रधानं पुरुषमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥ ४ ॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः।
देवासुरमुनीनां च परं यस्मान्न विद्यते ॥ ५ ॥
अजं तमहमीशानमनादिनिधनं प्रभुम्।
अत्यन्तसुखिनं देवमनघं शरणं व्रजे ॥ ६ ॥

'सांख्यशास्त्रके विद्वान् पर, प्रधान, पुरुष, अधिष्ठाता और ईश्वर कहकर सदा जिनका गुणगान करते हैं, योगीजन जिनके चिन्तनमें लगे रहते हैं, विद्वान् पुरुष जिन्हें जगत्‌की उत्पत्ति और विनाशका कारण समझते हैं, देवताओं, असुरों और मुनियोंमें भी जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, उन अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनघ और अत्यन्त सुखी, प्रभावशाली ईश्वर महादेवजीकी मैं शरण लेता हूँ' ॥ ४—६ ॥

एवं ब्रुवन्नेव तदा ददर्श तपसां निधिम्।
तमव्ययमनौपम्यमचिन्त्यं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम्।
योगिनां परमानन्दमक्षरं मोक्षसंज्ञितम् ॥ ८ ॥

इतना कहते ही तण्डिने उन तपोनिधि, अविकारी, अनुपम, अचिन्त्य, शाश्वत, ध्रुव, निष्कल, सकल, निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मका दर्शन प्राप्त किया, जो योगियोंके परमानन्द, अविनाशी एवं मोक्षस्वरूप हैं ॥ ७-८ ॥

मनोरिन्द्राग्निमरुतां विश्वस्य ब्रह्मणो गतिम्।
अग्राह्यमचलं शुद्धं बुद्धिग्राह्यं मनोमयम् ॥ ९ ॥

वे ही मनु, इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, सम्पूर्ण विश्व तथा ब्रह्माजीकी भी गति हैं। मन और इन्द्रियोंके द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता। वे अग्राह्य, अचल, शुद्ध, बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य तथा मनोमय हैं ॥ ९ ॥

दुर्विज्ञेयमसंख्येयं दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
योनिं विश्वस्य जगतस्तमसः परतः परम् ॥ १० ॥

उनका ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। वे अप्रमेय हैं। जिन्होंने अपने अन्तःकरणको पवित्र एवं वशीभूत नहीं किया है, उनके लिये वे सर्वथा दुर्लभ हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के कारण हैं। अज्ञानमय अन्धकारसे अत्यन्त परे हैं ॥ १० ॥

यः प्राणवन्तमात्मानं ज्योतिर्जीवस्थितं मनः।
तं देवं दर्शनाकाङ्क्षी बहून् वर्षगणानृषिः ॥ ११ ॥
तपस्युग्रे स्थितो भूत्वा दृष्ट्वा तुष्टाव चेश्वरम् ॥

जो देवता अपनेको प्राणवान्—जीवस्वरूप बनाकर उसमें मनोमय ज्योति बनकर स्थित हुए थे, उन्हींके दर्शनकी अभिलाषासे तण्डि मुनि बहुत वर्षोंतक उग्र तपस्यामें लगे रहे। जब उनका दर्शन प्राप्त कर लिया, तब उन मुनीश्वरने जगदीश्वर शिवकी इस प्रकार स्तुति की ॥ ११½ ॥

तण्डिरुवाच

पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ॥ १२ ॥
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः।

तण्डिने कहा—सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर! आप पवित्रोंमें भी परम पवित्र तथा गतिशील प्राणियोंकी उत्तम गति हैं। तेजोंमें अत्यन्त उग्र तेज और तपस्याओंमें उत्कृष्ट तप हैं ॥

विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ॥ १३ ॥
भूरिकल्याणद विभो परं सत्यं नमोऽस्तु ते।

गन्धर्वराज विश्वावसु, दैत्यराज हिरण्याक्ष और देवराज इन्द्र भी आपकी वन्दना करते हैं। सबको महान् कल्याण प्रदान करनेवाले प्रभो! आप परम सत्य हैं। आपको नमस्कार है ॥ १३½ ॥

जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ॥ १४ ॥
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय।

विभो! जो जन्म-मरणसे भयभीत हो संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं, उन यतियोंको निर्वाण (मोक्ष) प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप ही सहस्रों किरणोंवाले सूर्य होकर तप रहे हैं। सुखके आश्रयरूप महेश्वर! आपको नमस्कार है ॥ १४½ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ॥ १५ ॥
न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम्।
त्वत्तः प्रवर्तते सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव तथा महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं। फिर हम कैसे जान सकते हैं। आपसे ही सबकी उत्पत्ति होती है तथा आपमें ही यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है ॥ १५-१६ ॥

कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि।
तनवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ॥ १७ ॥

काल, पुरुष और ब्रह्म—इन तीन नामोंद्वारा आप ही प्रतिपादित होते हैं। पुराणवेत्ता देवर्षियोंने आपके ये तीन रूप बताये हैं ॥ १७ ॥

अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम्।
अधिलोकाधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥ १८ ॥

अधिपौरुष, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधिलोक, अधिविज्ञान और अधियज्ञ आप ही हैं ॥ १८ ॥

त्वां विदित्वात्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥ १९ ॥

आप देवताओंके लिये भी दुर्ज्ञेय हैं। विद्वान् पुरुष आपको अपने ही शरीरमें स्थित अन्तर्यामी आत्माके रूपमें जानकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो रोग-शोकसे रहित परमभावको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकतः।
द्वारं तु स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥ २० ॥

प्रभो! यदि आप स्वयं ही कृपा करके जीवका उद्धार करना न चाहें तो उसके बारंबार जन्म और मृत्यु होते रहते हैं। आप ही स्वर्ग और मोक्षके द्वार हैं। आप ही उनकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले हैं तथा आप ही ये दोनों वस्तुएँ प्रदान करते हैं ॥ २० ॥

त्वं वै स्वर्गश्च मोक्षश्च कामः क्रोधस्त्वमेव च।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्ध्वं त्वमेव हि ॥ २१ ॥

आप ही स्वर्ग और मोक्ष हैं। आप ही काम और क्रोध हैं तथा आप ही सत्त्व, रज, तम, अधोलोक और ऊर्ध्वलोक हैं ॥

ब्रह्मा भवश्च विष्णुश्च स्कन्देन्द्रौ सविता यमः।
वरुणेन्दू मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, इन्द्र, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और धनाध्यक्ष कुबेर भी आप ही हैं ॥ २२ ॥

भूर्वायुः सलिलाग्निश्च खं वाग्बुद्धिः स्थितिर्मतिः।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥ २३ ॥

पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, वाणी, बुद्धि, स्थिति, मति, कर्म, सत्य, असत्य तथा अस्ति और नास्ति भी आप ही हैं ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च प्रकृतिभ्यः परं ध्रुवम्।
विश्वाविश्वपरो भावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥ २४ ॥

आप ही इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके विषय हैं। आप ही प्रकृतिसे परे निश्चल एवं अविनाशी तत्त्व हैं। आप ही विश्व और अविश्व—दोनोंसे परे विलक्षण भाव हैं तथा आप ही चिन्त्य और अचिन्त्य हैं ॥ २४ ॥

यच्चैतत् परमं ब्रह्म यच्च तत् परमं पदम्।
या गतिः सांख्ययोगानां स भवान् नात्र संशयः ॥ २५ ॥

जो यह परम ब्रह्म है, जो वह परमपद है तथा जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंकी गति है, वह आप ही हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

नूनमद्य कृतार्थाः स्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम्।
यां गतिं प्रार्थयन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥ २६ ॥

ज्ञानसे निर्मल बुद्धिवाले ज्ञानी पुरुष यहाँ जिस गतिको

प्राप्त करना चाहते हैं, सत्पुरुषोंकी उसी गतिको निश्चित रूपसे हम प्राप्त हो गये हैं; अतः आज हम निश्चय ही कृतार्थ हो गये ॥ २६ ॥

अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसा ।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥ २७ ॥

अहो, हम अज्ञानवश इतने दीर्घकालतक मोहमें पड़े रहे हैं, क्योंकि जिन्हें विद्वान् पुरुष जानते हैं, उन्हीं सनातन परमदेवको हम अबतक नहीं जान सके थे ॥ २७ ॥

सेयमासादिता साक्षात् त्वद्भक्तिर्जन्मभिर्मया ।
भक्तानुग्रहकृद् देवो यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २८ ॥

अब अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मैंने यह साक्षात् आपकी भक्ति प्राप्त की है । आप ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले महान् देवता हैं, जिन्हें जानकर ज्ञानी पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ २८ ॥

देवासुरमुनीनां तु यच्च गुह्यं सनातनम् ।
गुहायां निहितं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं मुनेरपि ॥ २९ ॥
स एष भगवान् देवः सर्वकृत् सर्वतोमुखः ।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥ ३० ॥

जो सनातन ब्रह्म देवताओं, असुरों और मुनियोंके लिये भी गुह्य है, जो हृदयगुहामें स्थित रहकर मननशील मुनिके लिये भी दुर्विज्ञेय बने हुए हैं, वही ये भगवान् हैं । ये ही सबकी सृष्टि करनेवाले देवता हैं । इनके सब ओर मुख हैं । ये सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं ॥ २९-३० ॥

देहकृद् देहभृद् देही देहभुग्देहिनां गतिः ।
प्राणकृत् प्राणभृत् प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ॥ ३१ ॥

आप शरीरके निर्माता और शरीरधारी हैं, इसीलिये देही कहलाते हैं । देहके भोक्ता और देहधारियोंकी परम गति हैं । आप ही प्राणोंके उत्पादक, प्राणधारी, प्राणी, प्राणदाता तथा प्राणियोंकी गति हैं ॥ ३१ ॥

अध्यात्मगतिरिष्टानां ध्यायिनामात्मवेदिनाम् ।
अपुनर्भवकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥ ३२ ॥

ध्यान करनेवाले प्रियभक्तोंकी जो अध्यात्मगति हैं तथा पुनर्जन्मकी इच्छा न रखनेवाले आत्मज्ञानी पुरुषोंकी जो गति बतायी गयी है, वह ये ईश्वर ही हैं ॥ ३२ ॥

अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः ।
अयं च जन्ममरणे विदध्यात् सर्वजन्तुषु ॥ ३३ ॥

ये ही समस्त प्राणियोंको शुभ और अशुभ गति प्रदान करनेवाले हैं । ये ही समस्त प्राणियोंको जन्म और मृत्यु प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

अयं संसिद्धिकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ।
भूराद्यान् सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः ।
दधाति देवस्तनुभिरष्टाभिर्यो बिभर्ति च ॥ ३४ ॥

संसिद्धि (मुक्ति) की इच्छा रखनेवाले पुरुषोंकी जो परम गति है, वह ये ईश्वर ही हैं । देवताओंसहित भू आदि समस्त लोकोंको उत्पन्न करके ये महादेव ही (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान—इन) अपनी आठ मूर्तियोंद्वारा उनका धारण और पोषण करते हैं ॥ ३४ ॥

अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥ ३५ ॥

इन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है और इन्हींमें सारा जगत् प्रतिष्ठित है और इन्हींमें सबका लय होता है । ये ही एक सनातन पुरुष हैं ॥ ३५ ॥

अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परं सताम् ।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवेदिनाम् ॥ ३६ ॥

ये ही सत्यकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये सर्वोत्तम सत्यलोक हैं । ये ही मुक्त पुरुषोंके अपवर्ग (मोक्ष) और आत्मज्ञानियोंके कैवल्य हैं ॥ ३६ ॥

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः ।
देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेदिति ॥ ३७ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंको इनका पता न लगने पाये, मानो इसीलिये ब्रह्मा आदि सिद्ध पुरुषोंने इन परमेश्वरको अपनी हृदयगुफामें छिपा रखा है ॥ ३७ ॥

तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम् ।
मोहिताः खल्वनेनैव हृदिस्थेनाप्रकाशिना ॥ ३८ ॥

हृदयमन्दिरमें गूढ़भावसे रहकर प्रकाशित न होनेवाले इन परमात्मदेवने सबको अपनी मायासे मोहित कर रखा है । इसीलिये देवता, असुर और मनुष्य आप महादेवको यथार्थ रूपसे नहीं जान पाते हैं ॥ ३८ ॥

ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः ।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥ ३९ ॥

जो लोग भक्तियोगसे भावित होकर उन परमेश्वरकी शरण लेते हैं, उन्हींको यह हृदय-मन्दिरमें शयन करनेवाले भगवान् स्वयं अपना दर्शन देते हैं ॥ ३९ ॥

यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं चापि विद्यते ।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥ ४० ॥
यं लब्ध्वा परमं लाभं नाधिकं मन्यते बुधः ।
यां सूक्ष्मां परमां प्राप्तिं गच्छन्नव्ययमक्षयम् ॥ ४१ ॥
यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः ।
सूक्ष्मज्ञानतराः सूक्ष्मं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥ ४२ ॥
यं च वेदविदो वेद्यं वेदान्ते च प्रतिष्ठितम् ।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥ ४३ ॥
ओंकाररथमारुह्य ते विशन्ति महेश्वरम् ।
अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ॥ ४४ ॥

जिन्हें जान लेनेपर फिर जन्म और मरणका बन्धन नहीं रह जाता है तथा जिनका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर दूसरे किसी उत्कृष्ट ज्ञेय तत्त्वका जानना शेष नहीं रहता है, जिन्हें

प्राप्त कर लेनेपर विद्वान् पुरुष बड़े-से-बड़े लाभको भी उनसे अधिक नहीं मानता है, जिस सूक्ष्म परम पदार्थको पाकर ज्ञानी मनुष्य ह्रास और नाशसे रहित परमपदको प्राप्त कर लेता है, सत्त्व आदि तीन गुणों तथा चौबीस तत्त्वोंको जाननेवाले सांख्यज्ञानविशारद सांख्ययोगी विद्वान् जिस सूक्ष्म तत्त्वको जानकर उस सूक्ष्मज्ञानरूपी नौकाके द्वारा संसारसमुद्रसे पार होते और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं, प्राणायामपरायण पुरुष वेदवेत्ताओंके जानने योग्य तथा वेदान्तमें प्रतिष्ठित जिस नित्य तत्त्वका ध्यान और जप करते हैं और उसीमें प्रवेश कर जाते हैं; वही ये महेश्वर हैं। ॐकाररूपी रथपर आरूढ़ होकर वे सिद्ध पुरुष इन्हींमें प्रवेश करते हैं। ये ही देवयानके द्वाररूप सूर्य कहलाते हैं।४०-४४।

अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते।
एष काष्ठा दिशश्चैव संवत्सरयुगादि च ॥ ४५ ॥
दिव्यादिव्यः परो लाभ अयने दक्षिणोत्तरे।

ये ही पितृयान-मार्गके द्वार चन्द्रमा कहलाते हैं। काष्ठा, दिशा, संवत्सर और युग आदि भी ये ही हैं। दिव्य लाभ (देवलोकका सुख), अदिव्य लाभ (इस लोकका सुख), परम लाभ (मोक्ष), उत्तरायण और दक्षिणायन भी ये ही हैं ॥ ४५½ ॥

एनं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ॥ ४६ ॥
प्रजार्थं वरयामास नीललोहितसंज्ञितम्।

पूर्वकालमें प्रजापतिने नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा इन्हीं नीललोहित नामवाले भगवान्‌की आराधना करके प्रजाकी सृष्टिके लिये वर प्राप्त किया था ॥ ४६½ ॥

ऋग्भिर्यमनुशासन्ति तत्त्वे कर्मणि बह्वृचाः ॥ ४७ ॥
यजुर्भिर्यत्त्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्यवोऽध्वरे।
सामभिर्यं च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ॥ ४८ ॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म स्तुवन्त्याथर्वणा द्विजाः।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ॥ ४९ ॥

ऋग्वेदके विद्वान् तात्त्विक यज्ञकर्ममें ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा जिनकी महिमाका गान करते हैं, यजुर्वेदके ज्ञाता द्विज यज्ञमें यर्जुमन्त्रोंद्वारा दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय—इन त्रिविध रूपोंसे जाननेयोग्य जिन महादेवजीके उद्देश्यसे आहुति देते हैं तथा शुद्ध बुद्धिसे युक्त सामवेदके गानेवाले विद्वान् साम-मन्त्रोंद्वारा जिनकी स्तुति गाते हैं, अथर्ववेदी ब्राह्मण ऋत, सत्य एवं परब्रह्मनामसे जिनकी स्तुति करते हैं, जो यज्ञके परम कारण हैं, वे ही ये परमेश्वर समस्त यज्ञोंके परमपति माने गये हैं ॥ ४७-४९ ॥

रात्र्यहःश्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः।
ऋतुवीर्यस्तपोधैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ॥ ५० ॥

रात और दिन इनके कान और नेत्र हैं, पक्ष और मास इनके मस्तक और भुजाएँ हैं, ऋतु वीर्य है, तपस्या धैर्य है तथा वर्ष गुह्य-इन्द्रिय, ऊरु और पैर हैं ॥ ५० ॥

मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान्।
कालस्य परमा योनिः कालश्चायं सनातनः ॥ ५१ ॥

मृत्यु, यम, अग्नि, संहारके लिये वेगशाली काल, कालके परम कारण तथा सनातन काल भी—ये महादेव ही हैं ॥ ५१ ॥

चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ ग्रहाश्च सह वायुना।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ॥ ५२ ॥
प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम्।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं भूतादि सदसच्च यत् ॥ ५३ ॥
अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यः परः।

चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, वायु, ध्रुव, सप्तर्षि; सात भुवन, मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, विकारोंके सहित विशेषपर्यन्त समस्त तत्त्व, ब्रह्माजीसे लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्, भूतादि, सत् और असत् आठ प्रकृतियाँ तथा प्रकृतिसे परे जो पुरुष है, इन सबके रूपमें ये महादेवजी ही विराजमान हैं ॥ ५२-५३½ ॥

अस्य देवस्य यद् भागं कृत्स्नं सम्परिवर्तते ॥ ५४ ॥
एतत् परममानन्दं यत् तच्छाश्वतमेव च।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥ ५५ ॥

इन महादेवजीका अंशभूत जो सम्पूर्ण जगत् चक्रकी भाँति निरन्तर चलता रहता है, वह भी ये ही हैं। ये परमानन्दस्वरूप हैं। जो शाश्वत ब्रह्म है, वह भी ये ही हैं। ये ही विरक्तोंकी गति हैं और ये ही सत्पुरुषोंके परमभाव हैं ॥५४-५५॥

एतत् पदमनुद्विग्नमेतद् ब्रह्म सनातनम्।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद् ध्यानं परं पदम् ॥ ५६ ॥

ये ही उद्वेगरहित परमपद हैं। ये ही सनातन ब्रह्म हैं। शास्त्रों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता पुरुषोंके लिये ये ही ध्यान करनेके योग्य परमपद हैं ॥ ५६ ॥

इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥ ५७ ॥
इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त योगिनः ॥ ५८ ॥

यही वह पराकाष्ठा, यही वह परम कला, यही वह परम सिद्धि और यही वह परम गति हैं एवं यही वह परम शान्ति और वह परम आनन्द भी हैं, जिसको पाकर योगीजन अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः।
अध्यात्मगतिरिष्टानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥ ५९ ॥

यह तुष्टि, यह सिद्धि, यह श्रुति, यह स्मृति, भक्तोंकी यह अध्यात्मगति तथा ज्ञानी पुरुषोंकी यह अक्षय प्राप्ति (पुनरावृत्तिरहित मोक्षलाभ) आप ही हैं ॥ ५९ ॥

यजतां कामयानानां मखैर्विपुलदक्षिणैः ।
या गतिर्यज्ञशीलानां सा गतिस्त्वं न संशयः ॥ ६० ॥

प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा सकाम भावसे यजन करनेवाले यजमानोंकी जो गति होती है, वह गति आप ही हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ६० ॥

सम्यग् योगजपैः शान्तिर्नियमैर्देहतापनैः ।
तप्यतां या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६१ ॥

देव ! उत्तम योग-जप तथा शरीरको सुखा देनेवाले नियमोंद्वारा जो शान्ति मिलती है और तपस्या करनेवाले पुरुषोंको जो दिव्य गति प्राप्त होती है, वह परम गति आप ही हैं ॥ ६१ ॥

कर्मन्यासकृतानां च विरक्तानां ततस्ततः ।
या गतिर्ब्रह्मसदने सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६२ ॥

सनातन देव ! कर्म-संन्यासियोंको और विरक्तोंको ब्रह्मलोकमें जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥६२॥

अपुनर्भवकामानां वैराग्ये वर्ततां च या ।
प्रकृतीनां लयानां च सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६३ ॥

सनातन परमेश्वर ! जो मोक्षकी इच्छा रखकर वैराग्यके मार्गपर चलते हैं उन्हें, और जो प्रकृतिमें लयको प्राप्त होते हैं उन्हें, जो गति उपलब्ध होती है, वह आप ही हैं ॥ ६३ ॥

ज्ञानविज्ञानयुक्तानां निरुपाख्या निरञ्जना ।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६४ ॥

देव ! ज्ञान और विज्ञानसे युक्त पुरुषोंको जो सारूप्य आदि नामसे रहित, निरञ्जन एवं कैवल्यरूप परमगति प्राप्त होती है, वह आप ही हैं ॥ ६४ ॥

वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः ।
त्वत्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो ॥ ६५ ॥

प्रभो ! वेद-शास्त्र और पुराणोंमें जो ये पाँच गतियाँ बतायी गयी हैं, ये आपकी कृपासे ही प्राप्त होती हैं, अन्यथा नहीं ॥ ६५ ॥

इति तण्डिस्तपोराशिस्तुष्टावेशानमात्मना ।
जगौ च परमं ब्रह्म यत् पुरा लोककृज्जगौ ॥ ६६ ॥

इस प्रकार तपस्याकी निधिरूप ताण्डने अपने मनसे महादेवजीकी स्तुति की और पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिस परम ब्रह्मस्वरूप स्तोत्रका गान किया था, उसीका स्वयं भी गान किया ॥ ६६ ॥

उपमन्युरुवाच

एवं स्तुतो महादेवस्तण्डिना ब्रह्मवादिना ।
उवाच भगवान् देव उमया सहितः प्रभुः ॥ ६७ ॥

उपमन्यु कहते हैं—ब्रह्मवादी तण्डिके इस प्रकार स्तुति करनेपर पार्वतीसहित प्रभावशाली भगवान् महादेव उनसे बोले ॥ ६७ ॥

ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वेदेवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥ ६८ ॥

तण्डिने स्तुति करते हुए यह बात कही थी कि 'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वेदेव और महर्षि भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जानते हैं', इससे भगवान् शङ्कर बहुत संतुष्ट हुए और बोले ॥ ६८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ६९ ॥

भगवान् श्रीशिवने कहा—ब्रह्मन् ! तुम अक्षय, अविकारी, दुःखरहित, यशस्वी, तेजस्वी एवं दिव्यज्ञानसे सम्पन्न होओगे ॥ ६९ ॥

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव ।
मत्प्रसादाद् द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥ ७० ॥
कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद् वत्स काङ्क्षसे ।

द्विजश्रेष्ठ ! मेरी कृपासे तुम्हें एक विद्वान् पुत्र प्राप्त होगा, जिसके पास ऋषिलोग भी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये जायँगे । वह कल्पसूत्रका निर्माण करेगा, इसमें संशय नहीं है। वत्स ! बोलो, तुम क्या चाहते हो ? अब मैं तुम्हें कौन-सा मनोवाञ्छित वर प्रदान करूँ ? ॥ ७०½ ॥

प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे ॥ ७१ ॥

तब तण्डिने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो ! आपके चरणारविन्दमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो' ॥ ७१ ॥

उपमन्युरुवाच

एतान् दत्त्वा वरान् देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः ।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७२ ॥

उपमन्युने कहा—देवर्षियोंद्वारा वन्दित और देवताओंद्वारा प्रशंसित होते हुए महादेवजी इन वरोंको देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ७२ ॥

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर ।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत् प्रोक्तवानिह ॥ ७३ ॥

यादवेश्वर ! जब पार्षदोंसहित भगवान् अन्तर्धान हो गये, तब ऋषिने मेरे आश्रमपर आकर यहाँ मुझसे ये सब बातें बतायीं ॥ ७३ ॥

यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान् मम ।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥ ७४ ॥

मानवश्रेष्ठ ! तण्डिमुनिने जिन आदिकालके प्रसिद्ध नामोंका मेरे सामने वर्णन किया, उन्हें आप भी सुनिये । वे सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं ॥ ७४ ॥

दशनामसहस्राणि देवेष्वाह पितामहः ।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दशनामशतानि च ॥ ७५ ॥

पितामह ब्रह्माने पूर्वकालमें देवताओंके निकट महादेव-

जीके दस हजार नाम बताये थे और शास्त्रोंमें भी उनके सहस्र नाम वर्णित हैं ॥ ७५ ॥

गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत ।
देवप्रसादाद् देवेशः पुरा प्राह महात्मने ॥ ७६ ॥

अच्युत ! पहले देवेश्वर ब्रह्माजीने महादेवजीकी कृपासे महात्मा तण्डिके निकट जिन नामोंका वर्णन किया था, महर्षि तण्डिने भगवान् महादेवके उन्हीं समस्त गोपनीय नामोंका मेरे समक्ष प्रतिपादन किया था ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामस्तोत्र और उसके पाठका फल

वासुदेव उवाच

ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिर ।
प्राञ्जलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंग्रहमादितः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—तात युधिष्ठिर ! तदनन्तर ब्रह्मर्षि उपमन्युने मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके पवित्र हो हाथ जोड़ मेरे समक्ष वह नाम-संग्रह आदिसे ही कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

उपमन्युरुवाच

ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसम्भवैः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्तुत्यं स्तोष्यामि नामभिः ॥ २ ॥

उपमन्यु बोले—मैं ब्रह्माजीके कहे हुए, ऋषियोंके बताये हुए तथा वेद-वेदाङ्गोंसे प्रकट हुए नामोंद्वारा सर्वलोकविख्यात एवं स्तुतिके योग्य भगवान्‌की स्तुति करूँगा ॥ २ ॥

महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः ।
ऋषिणा तण्डिना भक्त्या कृतैर्वेदकृतात्मना ॥ ३ ॥
यथोक्तैः साधुभिः ख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ४ ॥
श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः ।
सत्यैस्तत् परमं ब्रह्म ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥ ५ ॥
वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम ।
वरयैनं भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ॥ ६ ॥

इन सब नामोंका आविष्कार महापुरुषोंने किया है तथा वेदोंमें दत्तचित्त रहनेवाले महर्षि तण्डिने भक्तिपूर्वक इनका संग्रह किया है । इसलिये ये सभी नाम सत्य, सिद्ध तथा सम्पूर्ण मनोरथोंके साधक हैं । विख्यात श्रेष्ठ पुरुषों तथा तत्त्वदर्शी मुनियोंने इन सभी नामोंका यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है । महर्षि तण्डिने ब्रह्मलोकसे मर्त्यलोकमें इन नामोंको उतारा है; इसलिये ये सत्यनाम सम्पूर्ण जगत्‌में आदरपूर्वक सुने गये हैं । यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! यह ब्रह्माजीका कहा हुआ सनातन शिव-स्तोत्र अन्य स्तोत्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और उत्तम वेदमय है । सब स्तोत्रोंमें इसका प्रथम स्थान है । यह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर एवं शुभकारक है । इसका मैं आपसे वर्णन करूँगा । आप सावधान होकर मेरे मुखसे इसका श्रवण करें । आप परमेश्वर महादेवजीके भक्त हैं; अतः इस शिवस्वरूप स्तोत्रका वरण करें ॥ ३–६ ॥

तेन ते श्रावयिष्यामि यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
न शक्यं विस्तरात् कृत्स्नं वक्तुं सर्वस्य केनचित् ॥ ७ ॥
युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ।
यस्यादिर्मध्यमन्तं च सुरैरपि न गम्यते ॥ ८ ॥
कस्तस्य शक्नुयाद् वक्तुं गुणान् कार्त्स्न्येन माधव ।

शिवभक्त होनेके ही कारण मैं यह सनातन वेदस्वरूप स्तोत्र आपको सुनाता हूँ । महादेवजीके इस सम्पूर्ण नामसमूहका पूर्णरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता । कोई व्यक्ति योगयुक्त होनेपर भी भगवान् शिवकी विभूतियोंका सैकड़ों वर्षोंमें भी वर्णन नहीं कर सकता । माधव ! जिनके आदि, मध्य और अन्तका पता देवता भी नहीं पाते हैं, उनके गुणोंका पूर्णरूपसे वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ७-८½ ॥

किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ॥ ९ ॥
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात् तस्य धीमतः ।
अप्राप्य तु ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ॥ १० ॥

परंतु मैं अपनी शक्तिके अनुसार उन बुद्धिमान् महादेवजीकी ही कृपासे संक्षिप्त अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त उनके चरित्र एवं स्तोत्रका वर्णन करूँगा । उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उन महेश्वरकी स्तुति नहीं की जा सकती है ॥ ९-१० ॥

यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतो वै स तदा मया ।
अनादिनिधनस्याहं जगद्योनेर्महात्मनः ॥ ११ ॥
नाम्नां कंचित् समुद्देशं वक्ष्याम्यव्यक्तयोनिनः ।

जब उनकी आज्ञा प्राप्त हुई है, तभी मैंने उनकी स्तुति की है । आदि-अन्तसे रहित तथा जगत्‌के कारणभूत अव्यक्तयोनि महात्मा शिवके नामोंका कुछ संक्षिप्त संग्रह मैं बता रहा हूँ ॥ ११½ ॥

वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ १२ ॥
शृणु नाम्नां चयं कृष्ण यदुक्तं पद्मयोनिना ।

श्रीकृष्ण ! जो वरदायक, वरेण्य (सर्वश्रेष्ठ), विश्वरूप

और बुद्धिमान् हैं, उन भगवान् शिवका पद्मयोनि ब्रह्माजीके द्वारा वर्णित नाम-संग्रह श्रवण करो ॥ १२½ ॥

दशनामसहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ॥ १३ ॥
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।

प्रपितामह ब्रह्माजीने जो दस हजार नाम बताये थे, उन्हींको मनरूपी मथानीसे मथकर मथे हुए दहीसे घीकी भाँति यह सहस्रनामस्तोत्र निकाला गया है ॥ १३½ ॥

गिरेः सारं यथा हेम पुष्पसारं यथा मधु ॥ १४ ॥
घृतात् सारं यथा मण्डस्तथैतत् सारमुद्धृतम् ।

जैसे पर्वतका सार सुवर्ण, फूलका सार मधु और घीका सार मण्ड है, उसी प्रकार यह दस हजार नामोंका सार उद्धृत किया गया है ॥ १४½ ॥

सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥ १५ ॥
प्रयत्नेनाधिगन्तव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।
माङ्गल्यं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥ १६ ॥

यह सहस्रनाम सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और चारों वेदोंके समन्वयसे युक्त है । मनको वशमें करके प्रयत्नपूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करे और सदा अपने मनमें इसको धारण करे । यह मङ्गलजनक, पुष्टिकारक, राक्षसोंका विनाशक तथा परम पावन है ॥ १५-१६ ॥

इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्दधानास्तिकाय च ।
नाश्रद्दधानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥ १७ ॥

जो भक्त हो, श्रद्धालु और आस्तिक हो, उसीको इसका उपदेश देना चाहिये । अश्रद्धालु, नास्तिक और अजितात्मा पुरुषको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ १७ ॥

यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! जो जगत्‌के कारणरूप ईश्वर महादेवके प्रति दोषदृष्टि रखता है, वह पूर्वजों और अपनी संतानके सहित नरकमें पड़ता है ॥ १८ ॥

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमनुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ १९ ॥

यह सहस्रनामस्तोत्र ध्यान है, यह योग है, यह सर्वोत्तम ध्येय है, यह जपनीय मन्त्र है, यह ज्ञान है और यह उत्तम रहस्य है ॥ १९ ॥

यं ज्ञात्वा अन्तकालेऽपि गच्छेत परमां गतिम् ।
पवित्रं मङ्गलं मेध्यं कल्याणमिदमुत्तमम् ॥ २० ॥
इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां राजत्वे दिव्यानां समकल्पयत् ॥ २१ ॥
तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराज इति ख्यातो जगत्यमरपूजितः ॥ २२ ॥

जिसको अन्तकालमें भी जान लेनेपर मनुष्य परमगतिको पा लेता है, वह यह सहस्रनामस्तोत्र परम पवित्र, मङ्गलकारक, बुद्धिवर्द्धक, कल्याणमय तथा उत्तम है । सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने पूर्वकालमें इस स्तोत्रका आविष्कार करके इसे समस्त दिव्यस्तोत्रोंके राजाके पदपर प्रतिष्ठित किया था । तबसे महात्मा ईश्वर महादेवका यह देवपूजित स्तोत्र संसारमें 'स्तवराज' के नामसे विख्यात हुआ ॥ २०—२२ ॥

ब्रह्मलोकादयं स्वर्गे स्तवराजोऽवतारितः ।
यतस्तण्डिः पुरा प्राप तेन तण्डिकृतोऽभवत् ॥ २३ ॥

ब्रह्मलोकसे यह स्तवराज स्वर्गलोकमें उतारा गया । पहले इसे तण्डिमुनिने प्राप्त किया था, इसलिये यह 'तण्डिकृत सहस्रनामस्तवराज' के रूपमें प्रसिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

स्वर्गाच्चैवात्र भूर्लोकं तण्डिना ह्यवतारितः ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २४ ॥
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ।

तण्डिने स्वर्गसे उसे इस भूतलपर उतारा था । यह सम्पूर्ण मङ्गलोंका भी मङ्गल तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला है । महाबाहो ! सब स्तोत्रोंमें उत्तम इस सहस्रनामस्तोत्रका मैं आपसे वर्णन करूँगा ॥ २४½ ॥

ब्रह्मणामपि यद् ब्रह्म पराणामपि यत् परम् ॥ २५ ॥
तेजसामपि यत् तेजस्तपसामपि यत् तपः ।
शान्तानामपि यः शान्तो द्युतीनामपि या द्युतिः ॥ २६ ॥
दान्तानामपि यो दान्तो धीमतामपि या च धीः ।
देवानामपि यो देव ऋषीणामपि यस्त्वृषिः ॥ २७ ॥
यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ।
रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभा प्रभवतामपि ॥ २८ ॥
योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ।
यतो लोकाः सम्भवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ॥ २९ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजव्याघ्र सर्वान् कामानवाप्स्यसि ॥ ३० ॥

जो वेदोंके भी वेद, उत्तम वस्तुओंमें भी परम उत्तम, तेजके भी तेज, तपके भी तप, शान्त पुरुषोंमें भी परम शान्त, कान्तिकी भी कान्ति, जितेन्द्रियोंमें भी परम जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंकी भी बुद्धि, देवताओंके भी देवता, ऋषियोंके भी ऋषि, यज्ञोंके भी यज्ञ, कल्याणोंके भी कल्याण, रुद्रोंके भी रुद्र, प्रभावशाली ईश्वरोंकी भी प्रभा (ऐश्वर्य), योगियोंके भी योगी तथा कारणोंके भी कारण हैं । जिनसे सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते और फिर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं, उन्हीं अमित तेजस्वी भगवान् शिवके एक हजार आठ नामोंका वर्णन मुझसे सुनिये । पुरुषसिंह ! इसका श्रवणमात्र करके आप अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २५—३० ॥

स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भीमः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥ ३१ ॥

१ स्थिरः–चञ्चलतारहित, कूटस्थ एवं नित्य, **२ स्थाणुः**–गृहके आधारभूत खम्भके समान समस्त जगत्के आधारस्तम्भ, **३ प्रभुः**– समर्थ ईश्वर, **४ भीमः**–संहारकारी होनेके कारण भयंकर, **५ प्रवरः**– सर्वश्रेष्ठ, **६ वरदः**–अभीष्ट वर देनेवाले, **७ वरः**–वरण करने योग्य, वरस्वरूप, **८ सर्वात्मा**–सबके आत्मा, **९ सर्वविख्यातः**–सर्वत्र प्रसिद्ध, **१० सर्वः**–विश्वात्मा होनेके कारण सर्वस्वरूप, **११ सर्वकरः**–सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा, **१२ भवः**– सबकी उत्पत्तिके स्थान ॥ ३१ ॥

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः ।
हरश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥ ३२ ॥

१३ जटी–जटाधारी, **१४ चर्मी**–व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले, **१५ शिखण्डी**–शिखाधारी, **१६ सर्वाङ्गः**–सम्पूर्ण अङ्गोंसे सम्पन्न, **१७ सर्वभावनः**–सबके उत्पादक, **१८ हरः**–पापहारी, **१९ हरिणाक्षः**–मृगके समान विशाल नेत्रवाले, **२० सर्वभूतहरः**–सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाले, **२१ प्रभुः**–स्वामी ॥ ३२ ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः ।
श्मशानवासी भगवान् खचरो गोचरोऽर्दनः ॥ ३३ ॥

२२ प्रवृत्तिः–प्रवृत्तिमार्ग, **२३ निवृत्तिः**–निवृत्तिमार्ग, **२४ नियतः**–नियमपरायण, **२५ शाश्वतः**–नित्य, **२६ ध्रुवः**–अचल, **२७ श्मशानवासी**–श्मशानभूमिमें निवास करनेवाले, **२८ भगवान्**–सम्पूर्ण ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, वैराग्य और धर्मसे सम्पन्न, **२९ खचरः**–आकाशमें विचरनेवाले, **३० गोचरः**–पृथ्वीपर विचरनेवाले, **३१ अर्दनः**–पापियोंको पीड़ा देनेवाले ॥ ३३ ॥

अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः ।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥ ३४ ॥

३२ अभिवाद्यः–नमस्कारके योग्य, **३३ महाकर्मा**–महान् कर्म करनेवाले, **३४ तपस्वी**–तपस्यामें संलग्न, **३५ भूतभावनः**–संकल्पमात्रसे आकाश आदि भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, **३६ उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः**–उन्मत्त वेषमें छिपे रहनेवाले, **३७ सर्वलोकप्रजापतिः**–सम्पूर्ण लोकोंकी प्रजाओंके पालक ॥ ३४ ॥

महारूपो महाकायो वृषरूपो महायशाः ।
महात्मा सर्वभूतात्मा विश्वरूपो महाहनुः ॥ ३५ ॥

३८ महारूपः–महान् रूपवाले, **३९ महाकायः**–विराट्‌रूप, **४० वृषरूपः**–धर्मस्वरूप, **४१ महायशाः**–महान् यशस्वी, **४२ महात्मा**–, **४३ सर्वभूतात्मा**–सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, **४४ विश्वरूपः**–सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है वे, **४५ महाहनुः**–विशाल ठोढ़ीवाले ॥ ३५ ॥

लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः ।
पवित्रं च महांश्चैव नियमो नियमाश्रितः ॥ ३६ ॥

४६ लोकपालः–लोकरक्षक, **४७ अन्तर्हितात्मा**–अदृश्य स्वरूपवाले, **४८ प्रसादः**–प्रसन्नतासे परिपूर्ण, **४९ हयगर्दभिः**–खच्चर जुते रथपर चलनेवाले, **५० पवित्रम्**–शुद्ध वस्तुरूप, **५१ महान्**–पूजनीय, **५२ नियमः**–शौच-संतोष आदि नियमोंके पालनसे प्राप्त होने योग्य, **५३ नियमाश्रितः**–नियमोंके आश्रयभूत ॥ ३६ ॥

सर्वकर्मा स्वयम्भूत आदिरादिकरो निधिः ।
सहस्राक्षो विशालाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥ ३७ ॥

५४ सर्वकर्मा–सारा जगत् जिनका कर्म है वे, **५५ स्वयम्भूतः**–नित्यसिद्ध, **५६ आदिः**–सबसे प्रथम, **५७ आदिकरः**–आदि पुरुष हिरण्यगर्भकी सृष्टि करनेवाले, **५८ निधिः**–अक्षय ऐश्वर्यके भण्डार, **५९ सहस्राक्षः**–सहस्रों नेत्रवाले, **६० विशालाक्षः**–विशाल नेत्रवाले, **६१ सोमः**–चन्द्रस्वरूप, **६२ नक्षत्रसाधकः**–नक्षत्रोंके साधक ॥ ३७ ॥

चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः ।
अत्रिरत्र्या नमस्कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥ ३८ ॥

६३ चन्द्रः–चन्द्रमारूपसे आह्लादकारी, **६४ सूर्यः**–सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत सूर्य, **६५ शनिः**–, **६६ केतुः**–, **६७ ग्रहः**–चन्द्रमा और सूर्यपर ग्रहण लगानेवाला राहु, **६८ ग्रहपतिः**–ग्रहोंके पालक, **६९ वरः**–वरणीय, **७० अत्रिः**–अत्रि ऋषिस्वरूप, **७१ अत्र्या नमस्कर्ता**–अत्रिपत्नी अनसूयाको दुर्वासारूपसे नमस्कार करनेवाले, **७२ मृगबाणार्पणः**–मृगरूपधारी यज्ञपर बाण चलानेवाले, **७३ अनघः**–पापरहित ॥ ३८ ॥

महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः ।
संवत्सरकरो मन्त्रः प्रमाणं परमं तपः ॥ ३९ ॥

७४ महातपाः–महान् तपस्वी, **७५ घोरतपाः**–भयंकर तपस्या करनेवाले, **७६ अदीनः**–उदार, **७७ दीनसाधकः**–शरणमें आये हुए दीन-दुखियोंका मनोरथ सिद्ध करनेवाले, **७८ संवत्सरकरः**–संवत्सरका निर्माता, **७९ मन्त्रः**–प्रणव आदि मन्त्ररूप, **८० प्रमाणम्**–प्रमाणस्वरूप, **८१ परमं तपः**–उत्कृष्ट तपःस्वरूप ॥ ३९ ॥

योगी योज्यो महाबीजो महारेता महाबलः ।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः ॥ ४० ॥

८२ योगी–योगनिष्ठ, **८३ योज्यः**–मनोयोगके आश्रय, **८४ महाबीजः**–महान् कारणरूप, **८५ महारेताः**–महावीर्यशाली, **८६ महाबलः**–महान् शक्तिसे सम्पन्न, **८७ सुवर्णरेताः**–अग्निरूप, **८८ सर्वज्ञः**–सब कुछ जाननेवाले, **८९ सुबीजः**–उत्तम बीजरूप, **९० बीजवाहनः**–जीवोंके संस्काररूप बीजको वहन करनेवाले ॥ ४० ॥

दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः ।
विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरोऽबलो गणः ॥ ४१ ॥

९१ दशबाहुः–दस भुजाओंसे युक्त, **९२ अनिमिषः**–कभी पलक न गिरानेवाले, **९३ नीलकण्ठः**–जगत्की रक्षाके

लिये हालाहल विषका पान करके उसके नील चिह्नको कण्ठमें धारण करनेवाले, ९४ **उमापतिः**–गिरिराजकुमारी उमाके पतिदेव, ९५ **विश्वरूपः**–जगत्स्वरूप, ९६ **स्वयं श्रेष्ठः**–स्वतःसिद्ध श्रेष्ठतासे सम्पन्न, ९७ **बलवीरः**–बलके द्वारा वीरता प्रकट करनेवाले, ९८ **अबलो गणः**–निर्बल समुदायरूप ॥

गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च।
मन्त्रवित् परमो मन्त्रः सर्वभावकरो हरः ॥ ४२ ॥

९९ **गणकर्ता**–अपने पार्षदगणोंका संघटन करनेवाले, १०० **गणपतिः**–प्रमथगणोंके स्वामी, १०१ **दिग्वासाः**–दिगम्बर, १०२ **कामः**–कमनीय, १०३ **मन्त्रवित्**–मन्त्रवेत्ता, १०४ **परमो मन्त्रः**–उत्कृष्ट मन्त्ररूप, १०५ **सर्वभावकरः**–समस्त पदार्थोंकी सृष्टि करनेवाले, १०६ **हरः**–दुःख हरण करनेवाले ॥ ४२ ॥

कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान्।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥ ४३ ॥

१०७ **कमण्डलुधरः**–एक हाथमें कमण्डलु धारण करनेवाले, १०८ **धन्वी**–दूसरे हाथमें धनुष धारण करनेवाले, १०९ **बाणहस्तः**–तीसरे हाथमें बाण लिये रहनेवाले, ११० **कपालवान्**–चौथे हाथमें कपालधारी, १११ **अशनी**–पाँचवें हाथमें वज्र धारण करनेवाले, ११२ **शतघ्नी**–छठे हाथमें शतघ्नी रखनेवाले, ११३ **खड्गी**–सातवेंमें खड्गधारी, ११४ **पट्टिशी**–आठवेंमें पट्टिश धारण करनेवाले, ११५ **आयुधी**–नवें हाथमें अपने सामान्य आयुध त्रिशूलको लिये रहनेवाले, ११६ **महान्**–सर्वश्रेष्ठ ॥ ४३ ॥

स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥ ४४ ॥

११७ **स्रुवहस्तः**–दसवें हाथमें स्रुवा धारण करनेवाले, ११८ **सुरूपः**–सुन्दर रूपवाले, ११९ **तेजः**–तेजस्वी, १२० **तेजस्करो निधिः**–भक्तोंके तेजकी वृद्धि करनेवाले निधिरूप, १२१ **उष्णीषी**–सिरपर साफा धारण करनेवाले, १२२ **सुवक्त्रः**–सुन्दर मुखवाले, १२३ **उदग्रः**–ओजस्वी, १२४ **विनतः**–विनयशील ॥ ४४ ॥

दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च।
शृगालरूपः सिद्धार्थो मुण्डः सर्वशुभङ्करः ॥ ४५ ॥

१२५ **दीर्घः**–ऊँचे कदवाले, १२६ **हरिकेशः**–ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप, १२७ **सुतीर्थः**–उत्तम तीर्थस्वरूप, १२८ **कृष्णः**–सच्चिदानन्दस्वरूप, १२९ **शृगालरूपः**–सियारका रूप धारण करनेवाले, १३० **सिद्धार्थः**–जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, १३१ **मुण्डः**–मूँड़ मुड़ाये हुए, भिक्षुस्वरूप, १३२ **सर्वशुभंकरः**–समस्त प्राणियोंका हित करनेवाले ॥ ४५ ॥

अजश्च बहुरूपश्च गन्धधारी कपर्द्यपि।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः ॥ ४६ ॥

१३३ **अजः**–अजन्मा, १३४ **बहुरूपः**–बहुत-से रूप धारण करनेवाले, १३५ **गन्धधारी**–कुंकुम और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ धारण करनेवाले, १३६ **कपर्दी**–जटाजूटधारी, १३७ **ऊर्ध्वरेताः**–अखण्डित ब्रह्मचर्यवाले, १३८ **ऊर्ध्वलिङ्गः**–, १३९ **ऊर्ध्वशायी**–आकाशमें शयन करनेवाले, १४० **नभःस्थलः**–आकाश जिनका वासस्थान है वे ॥ ४६ ॥

त्रिजटी चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः।
अहश्चरो नक्तंचरस्तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥ ४७ ॥

१४१ **त्रिजटी**–तीन जटा धारण करनेवाले, १४२ **चीरवासाः**–वल्कल वस्त्र पहननेवाले, १४३ **रुद्रः**–दुःखको दूर भगानेवाले, १४४ **सेनापतिः**–सेनानायक, १४५ **विभुः**–सर्वव्यापी, १४६ **अहश्चरः**–दिनमें विचरनेवाले, १४७ **नक्तंचरः**–रातमें विचरनेवाले, १४८ **तिग्ममन्युः**–तीखे क्रोधवाले, १४९ **सुवर्चसः**–सुन्दर तेजवाले ॥ ४७ ॥

गजहा दैत्यहा कालो लोकधाता गुणाकरः।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥ ४८ ॥

१५० **गजहा**–गजरूपधारी महान् असुरको मारनेवाले, १५१ **दैत्यहा**–अन्धक आदि दैत्योंका वध करनेवाले, १५२ **कालः**–मृत्यु अथवा संवत्सर आदि समय, १५३ **लोकधाता**–समस्त जगत्का धारण-पोषण करनेवाले, १५४ **गुणाकरः**–सद्गुणोंकी खान, १५५ **सिंहशार्दूलरूपः** सिंह व्याघ्र आदिका रूप धारण करनेवाले, १५६ **आर्द्रचर्माम्बरावृतः**–गजासुरके गीले चर्मको ही वस्त्र बनाकर उससे अपने-आपको आच्छादित करनेवाले ॥ ४८ ॥

कालयोगी महानादः सर्वकामश्चतुष्पथः।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥ ४९ ॥

१५७ **कालयोगी**–कालको भी योगबलसे जीतनेवाले, १५८ **महानादः**–अनाहत ध्वनिरूप, १५९ **सर्वकामः**–सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न, १६० **चतुष्पथः**–जिनकी प्राप्तिके ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और अष्टाङ्गयोग–ये चार मार्ग हैं वे महादेव, १६१ **निशाचरः**–रात्रिके समय विचरनेवाले, १६२ **प्रेतचारी**–प्रेतोंके साथ विचरण करनेवाले, १६३ **भूतचारी**–भूतोंके साथ विचरनेवाले, १६४ **महेश्वरः**–इन्द्र आदि लोकेश्वरोंसे भी महान् ॥ ४९ ॥

बहुभूतो बहुधरः स्वर्भानुरमितो गतिः।
नृत्यप्रियो नित्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥ ५० ॥

१६५ **बहुभूतः**–सृष्टिकालमें एकसे अनेक होनेवाले, १६६ **बहुधरः**–बहुतोंको धारण करनेवाले, १६७ **स्वर्भानुः**–, १६८ **अमितः**–अनन्त, १६९ **गतिः**–भक्तों और मुक्तात्माओंके प्राप्त होने योग्य, १७० **नृत्यप्रियः**–ताण्डव नृत्य जिन्हें प्रिय है वे शिव, १७१ **नित्यनर्तः**–निरन्तर नृत्य करनेवाले, १७२ **नर्तकः**–नाचने-नचानेवाले, १७३ **सर्वलालसः**–सबपर प्रेम रखनेवाले ॥ ५० ॥

घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिरुहो नभः।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यतन्द्रितः ॥ ५१ ॥

१७४ **घोरः**-भयंकर रूपधारी, १७५ **महातपाः**-महान् तप करनेवाले, १७६ **पाशः**-अपनी मायारूपी पाशसे बाँधनेवाले, १७७ **नित्यः**-विनाशरहित, १७८ **गिरिरुहः**-पर्वतपर आरूढ़—कैलाशवासी, १७९ **नभः**-आकाशके समान असङ्ग, १८० **सहस्रहस्तः**-हजारों हाथोंवाले, १८१ **विजयः**-विजेता, १८२ **व्यवसायः**-दृढ़-निश्चयी, १८३ **अतन्द्रितः**-आलस्यरहित ॥ ५१ ॥

अधर्षणो धर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशकः।
दक्षयागापहारी च सुसहो मध्यमस्तथा ॥ ५२ ॥

१८४ **अधर्षणः**-अजेय, १८५ **धर्षणात्मा**-भयरूप, १८६ **यज्ञहा**-दक्षके यज्ञका विध्वंस करनेवाले, १८७ **कामनाशकः**=कामदेवको नष्ट करनेवाले, १८८ **दक्षयागापहारी**-दक्षके यज्ञका अपहरण करनेवाले, १८९ **सुसहः**-अति सहनशील, १९० **मध्यमः**-मध्यस्थ ॥ ५२ ॥

तेजोऽपहारी बलहा मुदितोऽर्थोऽजितोऽवरः।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गम्भीरबलवाहनः ॥ ५३ ॥

१९१ **तेजोपहारी**-दूसरोंके तेजको हर लेनेवाले, १९२ **बलहा**-बलनामक दैत्यका वध करनेवाले, १९३ **मुदितः**-आनन्दस्वरूप, १९४ **अर्थः**-अर्थस्वरूप, १९५ **अजितः**-अपराजित, १९६ **अवरः**-जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है वे भगवान् शिव, १९७ **गम्भीरघोषः**-गम्भीर घोष करनेवाले, १९८ **गम्भीरः**-गाम्भीर्ययुक्त, १९९ **गम्भीरबलवाहनः**-अगाध बलशाली वृषभपर सवारी करनेवाले ॥

न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः।
सुतीक्ष्णदशनश्चैव महाकायो महाननः ॥ ५४ ॥

२०० **न्यग्रोधरूपः**-वटवृक्षस्वरूप, २०१ **न्यग्रोधः**-वटनिकटनिवासी, २०२ **वृक्षकर्णस्थितिः**-वटवृक्षके पत्तेपर शयन करनेवाले बालमुकुन्दरूप, २०३ **विभुः**-विविध रूपोंसे प्रकट होनेवाले, २०४ **सुतीक्ष्णदशनः**-अत्यन्त तीखे दाँतवाले, २०५ **महाकायः**-बड़े डीलडौलवाले, २०६ **महाननः**-विशाल मुखवाले ॥ ५४ ॥

विष्वक्सेनो हरिर्यज्ञः संयुगापीडवाहनः।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् ॥ ५५ ॥

२०७ **विष्वक्सेनः**-दैत्योंकी सेनाको सब ओर भगा देनेवाले, २०८ **हरिः**-आपत्तियोंको हर लेनेवाले, २०९ **यज्ञः**-यज्ञरूप, २१० **संयुगापीडवाहनः**-युद्धमें पीड़ारहित वाहनवाले, २११ **तीक्ष्णतापः**-दुःसह तापरूप, सूर्य, २१२ **हर्यश्वः**-हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त, २१३ **सहायः**-जीवमात्रके सखा, २१४ **कर्मकालवित्**-कर्मोंके कालको ठीक-ठीक जाननेवाले ॥ ५५ ॥

विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः।
हुताशनसहायश्च प्रशान्तात्मा हुताशनः ॥ ५६ ॥

२१५ **विष्णुप्रसादितः**-भगवान् विष्णुने जिन्हें आराधना करके प्रसन्न किया था वे शिव, २१६ **यज्ञः**-विष्णुस्वरूप (यज्ञो वै विष्णुः), २१७ **समुद्रः**-महासागररूप, २१८ **वडवामुखः**-समुद्रमें स्थित वड़वानलरूप, २१९ **हुताशनसहायः**-अग्निके सखा वायुरूप, २२० **प्रशान्तात्मा**-शान्तचित्त, २२१ **हुताशनः**-अग्नि ॥५६॥

उग्रतेजा महातेजा जन्यो विजयकालवित्।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः सर्वविग्रह एव च ॥ ५७ ॥

२२२ **उग्रतेजाः**-भयंकर तेजवाले, २२३ **महातेजाः**-महान् तेजसे सम्पन्न, २२४ **जन्यः**-संसारके जन्मदाता, २२५ **विजयकालवित्**-विजयके समयका ज्ञान रखनेवाले, २२६ **ज्योतिषामयनम्**-ज्योतिषोंका स्थान, २२७ **सिद्धिः**-सिद्धिस्वरूप, २२८ **सर्वविग्रहः**-सर्वस्वरूप ॥

शिखी मुण्डी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्द्धगो बली।
वेणवी पणवी ताली खली कालकटंकटः ॥ ५८ ॥

२२९ **शिखी**-शिखाधारी गृहस्थस्वरूप, २३० **मुण्डी**-शिखारहित संन्यासी, २३१ **जटी**-जटाधारी वानप्रस्थ, २३२ **ज्वाली**-अग्निकी प्रज्वलित ज्वालामें समिधाकी आहुति देनेवाले ब्रह्मचारी, २३३ **मूर्तिजः**-शरीर रूपसे प्रकट होनेवाले, २३४ **मूर्द्धगः**-मूर्द्धा-सहस्रार चक्रमें ध्येय रूपसे विद्यमान, २३५ **बली**-बलिष्ठ, २३६ **वेणवी**-वंशी बजानेवाले श्रीकृष्ण, २३७ **पणवी**-पणव नामक वाद्य बजानेवाले, २३८ **ताली**-ताल देनेवाले, २३९ **खली**-खलिहानके स्वामी, २४० **कालकटंकटः**-यमराजके मायाको आवृत करनेवाले ॥ ५८ ॥

नक्षत्रविग्रहमतिर्गुणबुद्धिर्लयोऽगमः ।
प्रजापतिर्विश्वबाहुर्विभागः सर्वगोऽमुखः ॥ ५९ ॥

२४१ **नक्षत्रविग्रहमतिः**-नक्षत्र—ग्रह-तारा आदिकी गतिको जाननेवाले, २४२ **गुणबुद्धिः**-गुणोंमें बुद्धि लगानेवाले, २४३ **लयः**-प्रलयके स्थान, २४४ **अगमः**-जाननेमें न आनेवाला, २४५ **प्रजापतिः**-प्रजाके स्वामी, २४६ **विश्वबाहुः**-सब ओर भुजावाले, २४७ **विभागः**-विभागस्वरूप, २४८ **सर्वगः**-सर्वव्यापी, २४९ **अमुखः**-बिना मुखवाला ॥ ५९ ॥

विमोचनः सुसरणो हिरण्यकवचोद्भवः।
मेढ्रजो बलचारी च महीचारी स्रुतस्तथा ॥ ६० ॥

२५० **विमोचनः**-संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाले, २५१ **सुसरणः**-श्रेष्ठ आश्रय, २५२ **हिरण्यकवचोद्भवः**-हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिका स्थान, २५३ **मेढ्रजः**-, २५४ **बलचारी**-बलका संचार करनेवाले, २५५ **महीचारी**-सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले, २५६ **स्रुतः**-सर्वत्र पहुँचे हुए ॥

सर्वतूर्यनिनादी च सर्वातोद्यपरिग्रहः ।
व्यालरूपो गुहावासी गुहो माली तरङ्गवित् ॥ ६१ ॥

२५७ **सर्वतूर्यनिनादी**–सब प्रकारके बाजे बजानेवाले, २५८ **सर्वातोद्यपरिग्रहः**–सम्पूर्ण वाद्योंका संग्रह करनेवाले, २५९ **व्यालरूपः**–शेषनागस्वरूप, २६० **गुहावासी**–सबकी हृदयगुफामें निवास करनेवाले, २६१ **गुहः**–कार्तिकेयस्वरूप, २६२ **माली**–मालाधारी, २६३ **तरङ्गवित्**–क्षुधा-पिपासा आदि छहों ऊर्मियोंके ज्ञाता साक्षी ॥ ६१ ॥

त्रिदशस्त्रिकालधृक् कर्मसर्वबन्धविमोचनः ।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥ ६२ ॥

२६४ **त्रिदशः**–प्राणियोंकी तीन दशाओं—जन्म, स्थिति और विनाशके हेतुभूत, २६५ **त्रिकालधृक्**–भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंको धारण करनेवाले, २६६ **कर्मसर्वबन्धविमोचनः**–कर्मोंके समस्त बन्धनोंको काटनेवाले, २६७ **असुरेन्द्राणां बन्धनः**–बलि आदि असुरपतियोंको बाँध लेनेवाले, २६८ **युधि शत्रुविनाशनः**–युद्धमें शत्रुओंका विनाश करनेवाले ॥ ६२ ॥

सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः ।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञोऽतुल्यो यज्ञविभागवित् ॥ ६३ ॥

२६९ **सांख्यप्रसादः**–आत्मा और अनात्माके विवेकरूप सांख्यज्ञानसे प्रसन्न होनेवाले, २७० **दुर्वासाः**–अत्रि और अनसूयाके पुत्र रुद्रावतार दुर्वासा मुनि, २७१ **सर्वसाधुनिषेवितः**–समस्त साधुपुरुषोंद्वारा सेवित, २७२ **प्रस्कन्दनः**–ब्रह्मादिको भी स्थानभ्रष्ट करनेवाले, २७३ **विभागज्ञः**–प्राणियोंके कर्म और फलोंके विभागको यथोचितरूपसे जाननेवाले, २७४ **अतुल्यः**–तुलनारहित, २७५ **यज्ञविभागवित्**–यज्ञसम्बन्धी हविष्यके विभिन्न भागोंका ज्ञान रखनेवाले ॥ ६३ ॥

सर्ववासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः ।
हैमो हेमकरोऽयज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥ ६४ ॥

२७६ **सर्ववासः**–सर्वत्र निवास करनेवाले, २७७ **सर्वचारी**–सर्वत्र विचरनेवाले, २७८ **दुर्वासाः**–अनन्त और अपार होनेके कारण जिनको वस्त्रसे आच्छादित करना दुर्लभ है, २७९ **वासवः**–इन्द्रस्वरूप, २८० **अमरः**–अविनाशी, २८१ **हैमः**–हिमसमूह—हिमालयरूप, २८२ **हेमकरः**–सुवर्णके उत्पादक, २८३ **अयज्ञः**–कर्मरहित, २८४ **सर्वधारी**–सबको धारण करनेवाले, २८५ **धरोत्तमः**–धारण करनेवालोंमें सबसे उत्तम—अखिल ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले ॥ ६४ ॥

लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः ।
संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥ ६५ ॥

२८६ **लोहिताक्षः**–रक्तनेत्र, २८७ **महाक्षः**–बड़े नेत्रवाले, २८८ **विजयाक्षः**–विजयशील रथवाले, २८९ **विशारदः**–विद्वान्, २९० **संग्रहः**–संग्रह करनेवाले, २९१ **निग्रहः**–उद्दण्डोंको दण्ड देनेवाले, २९२ **कर्ता**–सबके उत्पादक, २९३ **सर्पचीरनिवासनः**–सर्पमय चीर धारण करनेवाले ॥ ६५ ॥

मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च काहलिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृक् ॥ ६६ ॥
सर्वकामवरश्चैव सर्वदः सर्वतोमुखः ।
आकाशनिर्विरूपश्च निपाती ह्यवशः खगः ॥ ६७ ॥

२९४ **मुख्यः**–सर्वश्रेष्ठ, २९५ **अमुख्यः**–जिससे बढ़कर मुख्य दूसरा कोई न हो वह, २९६ **देहः**–देहस्वरूप, २९७ **काहलिः**–काहल नामक वाद्यविशेषको बजानेवाले, २९८ **सर्वकामदः**–सम्पूर्ण कामनाओंके दाता, २९९ **सर्वकालप्रसादः**–सर्वदा कृपा करनेवाले, ३०० **सुबलः**–उत्तम बलसे सम्पन्न, ३०१ **बलरूपधृक्**–बल और रूपके आधार, ३०२ **सर्वकामवरः**–सम्पूर्ण कमनीय पदार्थोंमें श्रेष्ठ—मोक्षस्वरूप, ३०३ **सर्वदः**–सब कुछ देनेवाले, ३०४ **सर्वतोमुखः**–सब ओर मुखवाले, ३०५ **आकाशनिर्विरूपः**–आकाशकी भाँति जिनसे नाना प्रकारके रूप प्रकट होते हैं वे, ३०६ **निपाती**–पापियोंको नरकमें गिरानेवाले, ३०७ **अवशः**–जिनके ऊपर किसीका वश नहीं चलता वे, ३०८ **खगः**–आकाशगामी ॥ ६६-६७ ॥

रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो बहुरश्मिः सुवर्चसी ।
वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ॥ ६८ ॥

३०९ **रौद्ररूपः**–भयंकर रूपधारी, ३१० **अंशुः**–किरणस्वरूप, ३११ **आदित्यः**–अदितिपुत्र, ३१२ **बहुरश्मिः**–असंख्य किरणोंवाले, सूर्यरूप, ३१३ **सुवर्चसी**–उत्तम तेजसे सम्पन्न, ३१४ **वसुवेगः**–वायुके समान वेगवाले, ३१५ **महावेगः**–वायुसे भी अधिक वेगशाली, ३१६ **मनोवेगः**–मनके समान वेगवाले, ३१७ **निशाचरः**–रात्रिमें विचरनेवाले ॥ ६८ ॥

सर्ववासी श्रियावासी उपदेशकरोऽकरः ।
मुनिरात्मनिरालोकः सम्भग्नश्च सहस्रदः ॥ ६९ ॥

३१८ **सर्ववासी**–सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे निवास करनेवाले, ३१९ **श्रियावासी**–लक्ष्मीके साथ निवास करनेवाले विष्णुरूप, ३२० **उपदेशकरः**–जिज्ञासुओंको तत्त्वका और काशीमें मरे हुए जीवोंको तारकमन्त्रका उपदेश करनेवाले, ३२१ **अकरः**–कर्तृत्वके अभिमानसे रहित, ३२२ **मुनिः**–मननशील, ३२३ **आत्मनिरालोकः**–देह आदिकी उपाधिसे अलग होकर आलोचना करनेवाले, ३२४ **सम्भग्नः**–सम्यक्रूपसे सेवित, ३२५ **सहस्रदः**–हजारोंका दान करनेवाले ॥

पक्षी च पक्षरूपश्च अतिदीप्तो विशाम्पतिः ।
उन्मादो मदनः कामो ह्यश्वत्थोऽर्थकरो यशः ॥ ७० ॥

३२६ **पक्षी**–गरुडरूपधारी, ३२७ **पक्षरूपः**–शुक्ल-

पक्षस्वरूप, ३२८ **अतिदीप्तः**–अत्यन्त तेजस्वी, ३२९ **विशाम्पतिः**–प्रजाओंके स्वामी, ३३० **उन्मादः**–प्रेममें उन्मत्त, ३३१ **मदनः**–कामदेवरूप, ३३२ **कामः**–कमनीय विषय, ३३३ **अश्वत्थः**–संसार-वृक्षरूप, ३३४ **अर्थकरः**–धन आदि देनेवाले, ३३५ **यशः**–यशस्स्वरूप ॥ ७० ॥

वामदेवश्च वामश्च प्राग् दक्षिणश्च वामनः ।
सिद्धयोगी महर्षिश्च सिद्धार्थः सिद्धसाधकः ॥ ७१॥

३३६ **वामदेवः**–वामदेव ऋषिस्वरूप, ३३७ **वामः**–पापियोंके प्रतिकूल, ३३८ **प्राक्**–सबके आदि, ३३९ **दक्षिणः**–कुशल, ३४० **वामनः**–बलिको बाँधनेवाले वामन रूपधारी, ३४१ **सिद्धयोगी**-सनत्कुमार आदि सिद्ध महात्मा, ३४२ **महर्षिः**–वसिष्ठ आदि, ३४३ **सिद्धार्थः**–आप्तकाम, ३४४ **सिद्धसाधकः**–सिद्ध और साधकरूप ॥ ७१ ॥

भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विपणो मृदुरव्ययः ।
महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ॥ ७२ ॥

३४५ **भिक्षुः**–संन्यासी, ३४६ **भिक्षुरूपः**–श्रीराम-कृष्ण आदिकी बालछविका दर्शन करनेके लिये भिक्षुरूप धारण करनेवाले, ३४७ **विपणः**–व्यवहारसे अतीत, ३४८ **मृदुः**–कोमल स्वभाववाले, ३४९ **अव्ययः**–अविनाशी, ३५० **महासेनः**–देव-सेनापति कार्तिकेयरूप, ३५१ **विशाखः**–कार्तिकेयके सहायक, ३५२ **षष्टिभागः**–प्रभव आदि साठ भागोंमें विभक्त संवत्सररूप, ३५३ **गवाम्पतिः**–इन्द्रियोंके स्वामी ॥ ७२ ॥

वज्रहस्तश्च विष्कम्भी चमूस्तम्भन एव च ।
वृत्तावृत्तकरस्तालो मधुर्मधुकलोचनः ॥ ७३ ॥

३५४ **वज्रहस्तः**–हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्ररूप, ३५५ **विष्कम्भी**–विस्तारयुक्त, ३५६ **चमूस्तम्भनः**–दैत्यसेनाको स्तब्ध करनेवाले, ३५७ **वृत्तावृत्तकरः**–युद्धमें रथके द्वारा मण्डल बनाना वृत्त कहलाता है और शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अक्षत शरीरसे लौट आना आवृत्त कहलाता है। इन दोनोंको कुशलतापूर्वक करनेवाले, ३५८ **तालः**–संसारसागरके तल प्रदेश—आधार-स्थान अर्थात् शुद्ध ब्रह्मको जाननेवाले, ३५९ **मधुः**–वसन्त ऋतुरूप, ३६० **मधुकलोचनः**–मधुके समान पिङ्गल नेत्रवाले ॥ ७३ ॥

वाचस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः ।
ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी विचारवित् ॥ ७४ ॥

३६१ **वाचस्पत्यः**–पुरोहितका काम करनेवाले, ३६२ **वाजसनः**–शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखाके प्रवर्तक, ३६३ **नित्यमाश्रमपूजितः**–सदा आश्रमोंद्वारा पूजित होनेवाले, ३६४ **ब्रह्मचारी**–ब्रह्मनिष्ठ, ३६५ **लोकचारी**–सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले, ३६६ **सर्वचारी**–सर्वत्र गमन करनेवाले, ३६७ **विचारवित्**–विचारोंके ज्ञाता ॥ ७४ ॥

ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकवान् ।
निमित्तस्थो निमित्तं च नन्दिर्नन्दिकरो हरिः ॥ ७५ ॥

३६८ **ईशानः**–नियन्ता, ३६९ **ईश्वरः**–सबके शासक, ३७० **कालः**–कालस्वरूप, ३७१ **निशाचारी**–प्रलयकालकी रातमें विचरनेवाले, ३७२ **पिनाकवान्**–पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले, ३७३ **निमित्तस्थः**–अन्तर्यामी, ३७४ **निमित्तम्**–निमित्त कारणरूप, ३७५ **नन्दिः**–ज्ञानसम्पत्तिरूप, ३७६ **नन्दिकरः**–ज्ञानरूपी सम्पत्ति देनेवाले, ३७७ **हरिः**–विष्णुस्वरूप ॥ ७५ ॥

नन्दीश्वरश्च नन्दी च नन्दनो नन्दिवर्द्धनः ।
भगहारी निहन्ता च कालो ब्रह्मा पितामहः ॥ ७६ ॥

३७८ **नन्दीश्वरः**–नन्दी नामक पार्षदके स्वामी, ३७९ **नन्दी**–नन्दी नामक गणरूप, ३८० **नन्दनः**–परम आनन्द प्रदान करनेवाले, ३८१ **नन्दिवर्धनः**–समृद्धि बढ़ानेवाले, ३८२ **भगहारी**–ऐश्वर्यका अपहरण करनेवाले, ३८३ **निहन्ता**–मृत्युरूपसे सबको मारनेवाले, ३८४ **कालः**–चौसठ कलाओंके निवासस्थान, ३८५ **ब्रह्मा**–लोकस्रष्टा ब्रह्मा, ३८६ **पितामहः**–प्रजापतिके भी पिता ॥ ७६ ॥

चतुर्मुखो महालिङ्गश्चारुलिङ्गस्तथैव च ।
लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षो योगाध्यक्षो युगावहः ॥ ७७ ॥

३८७ **चतुर्मुखः**–चार मुखवाले, ३८८ **महालिङ्गः**–महालिंगस्वरूप, ३८९ **चारुलिङ्गः**–रमणीय वेषधारी, ३९० **लिङ्गाध्यक्षः**–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अध्यक्ष, ३९१ **सुराध्यक्षः**–देवताओंके अधिपति, ३९२ **योगाध्यक्षः**–योगके अध्यक्ष, ३९३ **युगावहः**–चारों युगोंके निर्वाहक ॥७७॥

बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः ।
इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः ॥ ७८ ॥

३९४ **बीजाध्यक्षः**–कारणोंके अध्यक्ष, ३९५ **बीजकर्ता**–कारणोंके उत्पादक, ३९६ **अध्यात्मानुगतः**–अध्यात्मशास्त्रका अनुसरण करनेवाले, ३९७ **बलः**–बलवान्, ३९८ **इतिहासः**–महाभारत आदि इतिहासरूप, ३९९ **सकल्पः**–कल्प—यज्ञोंके प्रयोग और विधिके विचारके साथ मीमांसा और न्यायका समूह, ४०० **गौतमः**–तर्कशास्त्रके प्रणेता मुनिस्वरूप, ४०१ **निशाकरः**–चन्द्रमारूप ॥७८॥

दम्भो ह्यदम्भो वैदम्भो वश्यो वशकरः कलिः ।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता ह्यनौषधः ॥ ७९ ॥

४०२ **दम्भः**–शत्रुओंका दमन करनेवाले, ४०३ **अदम्भः**–दम्भरहित, ४०४ **वैदम्भः**–दम्भरहित पुरुषोंके आत्मीय, ४०५ **वश्यः**–भक्तपराधीन, ४०६ **वशकरः**–दूसरोंको वशमें करनेकी शक्ति रखनेवाले, ४०७ **कलिः**–कलि नामक युग, ४०८ **लोककर्ता**–जगत्की सृष्टि करनेवाले, ४०९ **पशुपतिः**–पशुओं—जीवोंके स्वामी, ४१० **महाकर्ता**–पञ्च महाभूतादि सृष्टिकी रचना करनेवाले, ४११

अनौषधः–अन्न आदि ओषधियोंके सेवनसे रहित ॥ ७९ ॥

अक्षरं परमं ब्रह्म बलवच्छक एव च ।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो गतागतः ॥ ८० ॥

४१२ **अक्षरम्**–अविनाशी ब्रह्म, ४१३ **परमं ब्रह्म**–सर्वोत्कृष्ट परमात्मा, ४१४ **बलवत्**–शक्तिशाली, ४१५ **शक्रः**–इन्द्र, ४१६ **नीतिः**–न्यायस्वरूप, ४१७ **अनीतिः**–साम, दाम, दण्ड, भेदसे रहित, ४१८ **शुद्धात्मा**–शुद्धस्वरूप, ४१९ **शुद्धः**–परम पवित्र, ४२० **मान्यः**–सम्मानके योग्य, ४२१ **गतागतः**–गमनागमनशील संसारस्वरूप ॥ ८० ॥

बहुप्रसादः सुस्वप्नो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित् ।
वेदकारो मन्त्रकारो विद्वान् समरमर्दनः ॥ ८१ ॥

४२२ **बहुप्रसादः**–भक्तोंपर अधिक कृपा करनेवाले, ४२३ **सुस्वप्नः**–सुन्दर स्वप्नवाले, ४२४ **दर्पणः**–दर्पणके समान स्वच्छ, ४२५ **अमित्रजित्**–बाहर-भीतरके शत्रुओंको जीतनेवाले, ४२६ **वेदकारः**–वेदोंका कर्त्ता, ४२७ **मन्त्रकारः**–मन्त्रोंका आविष्कार करनेवाले, ४२८ **विद्वान्**–सर्वज्ञ, ४२९ **समरमर्दनः**–समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करनेवाले ॥ ८१ ॥

महामेघनिवासी च महाघोरो वशी करः ।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥ ८२ ॥

४३० **महामेघनिवासी**–प्रलयकालिक महामेघोंमें निवास करनेवाले, ४३१ **महाघोरः**–प्रलय करनेवाले, ४३२ **वशी**–सबको वशमें रखनेवाले, ४३३ **करः**–संहारकारी, ४३४ **अग्निज्वालः**–अग्निकी ज्वालाके समान तेजवाले, ४३५ **महाज्वालः**–अग्निसे भी महान् तेजवाले, ४३६ **अतिधूम्रः**–कालाग्निरूपसे सबके दाहकालमें अत्यन्त धूम्र वर्णवाले, ४३७ **हुतः**–आहुति पाकर प्रसन्न होनेवाले अग्निरूप, ४३८ **हविः**–घी-दूध आदि हवनीय पदार्थरूप ॥ ८२ ॥

वृषणः शङ्करो नित्यं वर्चस्वी धूमकेतनः ।
नीलस्तथाङ्गलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥ ८३ ॥

४३९ **वृषणः**–कर्मफलकी वर्षा करनेवाले धर्मस्वरूप, ४४० **शङ्करः**–कल्याणकारी, ४४१ **नित्यं वर्चस्वी**–सदा तेजसे जगमगाते रहनेवाले, ४४२ **धूमकेतनः**–अग्निस्वरूप, ४४३ **नीलः**–श्यामवर्ण श्रीहरि, ४४४ **अङ्गलुब्धः**–अपने श्रीअङ्गके सौन्दर्यपर स्वयं ही लुभाये रहनेवाले, ४४५ **शोभनः**–शोभाशाली, ४४६ **निरवग्रहः**–प्रतिबन्धरहित ॥ ८३ ॥

स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः ।
उत्सङ्गश्च महाङ्गश्च महागर्भपरायणः ॥ ८४ ॥

४४७ **स्वस्तिदः**–कल्याणदायक, ४४८ **स्वस्तिभावः**–कल्याणमयी सत्ता, ४४९ **भागी**–यज्ञमें भाग लेनेवाले, ४५० **भागकरः**–यज्ञके हविष्यका विभाजन करनेवाले, ४५१ **लघुः**–शीघ्रकारी, ४५२ **उत्सङ्गः**–सङ्गरहित, ४५३ **महाङ्गः**–महान् अङ्गवाले, ४५४ **महागर्भपरायणः**–हिरण्यगर्भके परम आश्रय ॥ ८४ ॥

कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियं सर्वदेहिनाम् ।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥ ८५ ॥

४५५ **कृष्णवर्णः**–श्यामवर्ण विष्णुस्वरूप, ४५६ **सुवर्णः**–उत्तम वर्णवाले, ४५७ **सर्वदेहिनाम् इन्द्रियम्**–समस्त देहधारियोंके इन्द्रियसमुदायरूप, ४५८ **महापादः**–लंबे पैरोंवाले त्रिविक्रमस्वरूप, ४५९ **महाहस्तः**–लंबे हाथवाले, ४६० **महाकायः**–विश्वरूप, ४६१ **महायशाः**–महान् सुयशवाले ॥ ८५ ॥

महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो निशालयः ।
महान्तको महाकर्णो महोष्ठश्च महाहनुः ॥ ८६ ॥

४६२ **महामूर्धा**–महान् मस्तकवाले, ४६३ **महामात्रः**–विशाल नापवाले, ४६४ **महानेत्रः**–विशाल नेत्रोंवाले, ४६५ **निशालयः**–निशा अर्थात् अविद्याके लयस्थान, ४६६ **महान्तकः**–मृत्युकी भी मृत्यु, ४६७ **महाकर्णः**–बड़े-बड़े कानवाले, ४६८ **महोष्ठः** लंबे ओठवाले, ४६९ **महाहनुः**–पुष्ट एवं बड़ी ठोड़ीवाले ॥ ८६ ॥

महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानभाक् ।
महावक्षा महोरस्को ह्यन्तरात्मा मृगालयः ॥ ८७ ॥

४७० **महानासः**–बड़ी नासिकावाले, ४७१ **महाकम्बुः**–बड़े कण्ठवाले, ४७२ **महाग्रीवः**–विशाल ग्रीवासे युक्त, ४७३ **श्मशानभाक्**–श्मशानभूमिमें क्रीड़ा करनेवाले, ४७४ **महावक्षाः**–विशाल वक्षःस्थलवाले, ४७५ **महोरस्कः**–चौड़ी छातीवाले, ४७६ **अन्तरात्मा**–सबके अन्तरात्मा, ४७७ **मृगालयः**–मृग-शिशुको अपनी गोदमें लिये रहनेवाले ॥ ८७ ॥

लम्बनो लम्बितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः ।
महादन्तो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥ ८८ ॥

४७८ **लम्बनः**–अनेक ब्रह्माण्डोंके आश्रय, ४७९ **लम्बितोष्ठः**–प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अपना ग्रास बनानेके लिये ओठोंको फैलाये रखनेवाले, ४८० **महामायः**–महामायावी, ४८१ **पयोनिधिः**–क्षीरसागररूप, ४८२ **महादन्तः**–बड़े-बड़े दाँतवाले, ४८३ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले, ४८४ **महाजिह्वः**–विशाल जिह्वावाले, ४८५ **महामुखः**–बहुत बड़े मुखवाले ॥ ८८ ॥

महानखो महारोमा महाकोशो महाजटः ।
प्रसन्नश्च प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥ ८९ ॥

४८६ **महानखः**–बड़े-बड़े नखवाले नृसिंह, ४८७ **महारोमा**–विशाल रोमवाले वराहरूप, ४८८ **महाकोशः**–बहुत बड़े पेटवाले, ४८९ **महाजटः**–बड़ी-बड़ी जटावाले, ४९० **प्रसन्नः**–आनन्दमग्न, ४९१ **प्रसादः**–प्रसन्नताकी मूर्ति, ४९२ **प्रत्ययः**–ज्ञानस्वरूप, ४९३ **गिरिसाधनः**–पर्वतको युद्धका साधन बनानेवाले ॥ ८९ ॥

स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः ।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥ ९० ॥

४९४ **स्नेहनः**–प्रजाओंके प्रति पिताकी भाँति स्नेह रखनेवाले, ४९५ **अस्नेहनः**–आसक्तिसे रहित, ४९६ **अजितः**–किसीसे पराजित न होनेवाले, ४९७ **महामुनिः**–अत्यन्त मननशील, ४९८ **वृक्षाकारः**–संसारवृक्षस्वरूप, ४९९ **वृक्षकेतुः**–वृषके समान ऊँची ध्वजावाले, ५०० **अनलः**–अग्निस्वरूप, ५०१ **वायुवाहनः**–वायुका वाहनके रूपमें उपयोग करनेवाले ॥ ९० ॥

गण्डली मेरुधामा च देवाधिपतिरेव च ।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥ ९१ ॥

५०२ **गण्डली**–पहाड़ोंकी गुफाओंमें छिपकर रहनेवाले, ५०३ **मेरुधामा**–मेरु-पर्वतको अपना निवासस्थान बनानेवाले, ५०४ **देवाधिपतिः**–देवताओंके स्वामी, ५०५ **अथर्वशीर्षः**–अथर्ववेद जिनका मस्तक है वे, ५०६ **सामास्यः**–सामवेद जिनका मुख है वे, ५०७ **ऋक्सहस्रामितेक्षणः**–सहस्रों ऋचाओं जिनके नेत्र हैं ॥ ९१ ॥

यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जङ्गमस्तथा ।
अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥ ९२ ॥

५०८ **यजुःपादभुजः**–यजुर्वेद जिनके हाथ-पैर हैं, ५०९ **गुह्यः**–गोपनीयस्वरूप, ५१० **प्रकाशः**–भक्तोंपर कृपा करके स्वयं ही उनके समक्ष अपनेको प्रकाशित कर देनेवाले, ५११ **जङ्गमः**–चलने-फिरनेवाले, ५१२ **अमोघार्थः**–किसी वस्तुके लिये याचना करनेपर उसे अवश्य सफल बनानेवाले, ५१३ **प्रसादः**–दया करके शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, ५१४ **अभिगम्यः**–सुगमतासे प्राप्त होने योग्य, ५१५ **सुदर्शनः**–सुन्दर दर्शनवाले ॥ ९२ ॥

उपकारः प्रियः सर्वः कनकः काञ्चनच्छविः ।
नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥ ९३ ॥

५१६ **उपकारः**–उपकार करनेवाले, ५१७ **प्रियः**–भक्तोंके प्रेमास्पद, ५१८ **सर्वः**–सर्वस्वरूप, ५१९ **कनकः**–सुवर्णस्वरूप, ५२० **काञ्चनच्छविः**–काञ्चनके समान कमनीय कान्तिवाले, ५२१ **नाभिः**–समस्त भुवनका मध्यदेशरूप, ५२२ **नन्दिकरः**–आनन्द देनेवाले, ५२३ **भावः**–श्रद्धा-भक्तिस्वरूप, ५२४ **पुष्करस्थपतिः**–ब्रह्माण्डरूपी पुष्करका निर्माण करनेवाले, ५२५ **स्थिरः**–स्थिरस्वरूप ॥

द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः ।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥ ९४ ॥

५२६ **द्वादशः**–ग्यारह रुद्रोंसे श्रेष्ठ बारहवें रुद्र, ५२७ **त्रासनः**–संहारकारी होनेके कारण भयजनक, ५२८ **आद्यः**–सबके आदि कारण, ५२९ **यज्ञः**–यज्ञपुरुष, ५३० **यज्ञसमाहितः**–यज्ञमें उपस्थित रहनेवाले, ५३१ **नक्तम्**–प्रलयकालकी रात्रिस्वरूप, ५३२ **कलिः**–कलिके स्वरूप, ५३३ **कालः**–सबको अपना ग्रास बनानेवाले कालरूप, ५३४ **मकरः**–मकराकार शिशुमार चक्र, ५३५ **कालपूजितः**–काल अर्थात् मृत्युके द्वारा पूजित ॥ ९४ ॥

सगणो गणकारश्च भूतवाहनसारथिः ।
भस्मशयो भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥ ९५ ॥

५३६ **सगणः**–प्रमथ आदि गणोंसे युक्त, ५३७ **गणकारः**–बाणासुर आदि भक्तोंको अपने गणमें सम्मिलित करनेवाले, ५३८ **भूतवाहनसारथिः**–त्रिपुर-विनाशके लिये समस्त प्राणियोंके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले ब्रह्माजीको सारथि बनानेवाले, ५३९ **भस्मशयः**–भस्मपर शयन करनेवाले, ५४० **भस्मगोप्ता**–भस्मद्वारा रक्षा करनेवाले, ५४१ **भस्मभूतः**–भस्मस्वरूप, ५४२ **तरुः**–कल्पवृक्षस्वरूप, ५४३ **गणः**–भृङ्गिरिटि और नन्दिकेश्वर आदि पार्षदरूप ॥

लोकपालस्तथालोको महात्मा सर्वपूजितः ।
शुक्लस्त्रिशुक्लः सम्पन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥ ९६ ॥

५४४ **लोकपालः**–चतुर्दश भुवनोंका पालन करनेवाले, ५४५ **अलोकः**–लोकातीत, ५४६ **महात्मा**–, ५४७ **सर्वपूजितः**–सबके द्वारा पूजित, ५४८ **शुक्लः**–शुद्धस्वरूप, ५४९ **त्रिशुक्लः**–मन, वाणी और शरीर ये तीनों, ५५० **सम्पन्नः**–सम्पूर्ण सम्पदाओंसे युक्त, ५५१ **शुचिः**–परम पवित्र, ५५२ **भूतनिषेवितः**–समस्त प्राणियोंद्वारा सेवित ॥

आश्रमस्थः क्रियावस्थो विश्वकर्ममतिर्वरः ।
विशालशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चलः ॥ ९७ ॥

५५३ **आश्रमस्थः**–चारों आश्रमोंमें धर्मरूपसे स्थित रहनेवाले, ५५४ **क्रियावस्थः**–यज्ञादि क्रियाओंमें संलग्न, ५५५ **विश्वकर्ममतिः**–संसारकी रचनारूप कर्ममें कुशल, ५५६ **वरः**–सर्वश्रेष्ठ, ५५७ **विशालशाखः**–लंबी भुजाओंवाले, ५५८ **ताम्रोष्ठः**–लाल लाल ओठवाले, ५५९ **अम्बुजालः**–जलसमूह—सागररूप, ५६० **सुनिश्चलः**–सर्वथा निश्चलरूप ॥

कपिलः कपिशः शुक्ल आयुश्चैव परोऽपरः ।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुशारदः ॥ ९८ ॥

५६१ **कपिलः**–कपिल वर्ण, ५६२ **कपिशः**–पीले वर्णवाले, ५६३ **शुक्लः**–श्वेत वर्णवाले, ५६४ **आयुः**–जीवनरूप, ५६५ **परः**–प्राचीन, ५६६ **अपरः**–अर्वाचीन, ५६७ **गन्धर्वः**–चित्ररथ आदि गन्धर्वरूप, ५६८ **अदितिः**–देवमाता अदितिस्वरूप, ५६९ **तार्क्ष्यः**–विनतानन्दन गरुडरूप, ५७० **सुविज्ञेयः**–सुगमतापूर्वक जानने योग्य, ५७१ **सुशारदः**–उत्तम वाणी बोलनेवाले ॥ ९८ ॥

परश्वधायुधो देवो अनुकारी सुबान्धवः ।
तुम्बवीणो महाक्रोध ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥ ९९ ॥

५७२ **परश्वधायुधः**–फरसेका आयुधके रूपमें उपयोग करनेवाले परशुरामरूप, ५७३ **देवः**–महादेवस्वरूप, ५७४ **अनुकारी**–भक्तोंका अनुकरण करनेवाले, ५७५ **सुबान्धवः**–

उत्तम बान्धवरूप, ५७६ **तुम्बवीणः**–तूँबीकी वीणा बजानेवाले, ५७७ **महाक्रोधः**–प्रलयकालमें महान् क्रोध प्रकट करनेवाले, ५७८ **ऊर्ध्वरेताः**–अस्खलितवीर्य, ५७९ **जलेशयः**–विष्णुरूपसे जलमें शयन करनेवाले ॥ ९९ ॥

उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः।
सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥१००॥

५८० **उग्रः**–प्रलयकालमें भयंकर रूप धारण करनेवाले, ५८१ **वंशकरः**–वंशप्रवर्तक, ५८२ **वंशः**–वंशस्वरूप, ५८३ **वंशनादः**–श्रीकृष्णरूपसे वंशी बजानेवाले, ५८४ **अनिन्दितः**–निन्दारहित, ५८५ **सर्वाङ्गरूपः**–सर्वाङ्ग पूर्णरूपवाले, ५८६ **मायावी**–, ५८७ **सुहृदः**–हेतुरहित दयालु, ५८८ **अनिलः**–वायुस्वरूप, ५८९ **अनलः**–अग्निस्वरूप ॥१००॥

बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः।
सयज्ञारिः सकामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥१०१॥

५९० **बन्धनः**–स्नेहबन्धनमें बाँधनेवाले, ५९१ **बन्धकर्ता**–बन्धनरूप संसारके निर्माता, ५९२ **सुबन्धनविमोचनः**–मायाके सुदृढ़ बन्धनसे छुड़ानेवाले, ५९३ **सयज्ञारिः**–दक्षयज्ञ-शत्रुओंके साथी, ५९४ **सकामारिः**–कामविजयी योगियोंके साथी, ५९५ **महादंष्ट्रः**–बड़ी-बड़ी दाढ़वाले नरसिंहरूप, ५९६ **महायुधः**–विशाल आयुधधारी ॥

बहुधा निन्दितः शर्वः शङ्करः शङ्करोऽधनः।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥ १०२ ॥

५९७ **बहुधा निन्दितः**–दक्ष और उनके समर्थकोंद्वारा अनेक प्रकारसे निन्दित, ५९८ **शर्वः**–प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाले, ५९९ **शङ्करः**–कल्याणकारी, ६०० **शंकरः**–भक्तोंको आनन्द देनेवाले, ६०१ **अधनः**–सांसारिक धनसे रहित, ६०२ **अमरेशः**–देवताओंके भी ईश्वर, ६०३ **महादेवः**–देवताओंके भी पूजनीय, ६०४ **विश्वदेवः**–सम्पूर्ण विश्वके आराध्यदेव, ६०५ **सुरारिहा**–देवशत्रुओंका वध करनेवाले ॥ १०२ ॥

अहिर्बुध्न्योऽनिलाभश्च चेकितानो हविस्तथा।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशंकुरजितः शिवः १०३॥

६०६ **अहिर्बुध्न्यः**–शेषनागस्वरूप, ६०७ **अनिलाभः**–वायुके समान वेगवान्, ६०८ **चेकितानः**–अतिशय ज्ञानसम्पन्न, ६०९ **हविः**–हविष्यरूप, ६१० **अजैकपाद्**–ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक, ६११ **कापाली**–दो कपालोंसे निर्मित कपालरूप अखिल ब्रह्माण्डके अधीश्वर, ६१२ **त्रिशंकुः**–त्रिशंकुरूप, ६१३ **अजितः**–किसीके द्वारा पराजित न होनेवाले, ६१४ **शिवः**–कल्याणस्वरूप ॥ १०३ ॥

धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥१०४॥

६१५ **धन्वन्तरिः**–महावैद्य धन्वन्तरिरूप, ६१६ **धूमकेतुः**–अग्निस्वरूप, ६१७ **स्कन्दः**–स्वामी कार्तिकेयस्वरूप, ६१८ **वैश्रवणः**–कुबेरस्वरूप, ६१९ **धाता**–सबको धारण करनेवाले, ६२० **शक्रः**–इन्द्रस्वरूप, ६२१ **विष्णुः**–सर्वव्यापी नारायणदेव, ६२२ **मित्रः**–बारह आदित्योंमेंसे एक, ६२३ **त्वष्टा**–प्रजापति विश्वकर्मा, ६२४ **ध्रुवः**–नित्यस्वरूप, ६२५ **धरः**–आठ वसुओंमेंसे एक वसु धरस्वरूप ॥

प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः।
उषङ्गुश्च विधाता च मान्धाता भूतभावनः ॥१०५॥

६२६ **प्रभावः**–उत्कृष्टभावसे सम्पन्न, ६२७ **सर्वगो वायुः**–सर्वव्यापी वायु—सूत्रात्मा, ६२८ **अर्यमा**–बारह आदित्योंमें एक आदित्य अर्यमारूप, ६२९ **सविता**–सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले, ६३० **रविः**–सूर्य, ६३१ **उषङ्गुः**–सर्वदाहक किरणोंवाले सूर्यरूप, ६३२ **विधाता**–प्रजाका विशेषरूपसे धारण-पोषण करनेवाले, ६३३ **मान्धाता**–जीवको तृप्ति प्रदान करनेवाले, ६३४ **भूतभावनः**–समस्त प्राणियोंके उत्पादक ॥ १०५ ॥

विभुर्वर्णविभावी च सर्वकामगुणावहः।
पद्मनाभो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रोऽनिलोऽनलः ॥१०६॥

६३५ **विभुः**–विविधरूपसे विद्यमान, ६३६ **वर्णविभावी**–श्वेत-पीत आदि वर्णोंको विविधरूपसे व्यक्त करनेवाले, ६३७ **सर्वकामगुणावहः**–समस्त भोगों और गुणोंकी प्राप्ति करानेवाले, ६३८ **पद्मनाभः**–अपनी नाभिसे कमलको प्रकट करनेवाले विष्णुरूप, ६३९ **महागर्भः**–विशाल ब्रह्माण्डको उदरमें धारण करनेवाले, ६४० **चन्द्रवक्त्रः**–चन्द्रमा-जैसे मनोहर मुखवाले, ६४१ **अनिलः**–वायुदेव, ६४२ **अनलः**–अग्निदेव ॥ १०६ ॥

बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचञ्चुरी।
कुरुकर्ता कुरुवासी कुरुभूतो गुणौषधः ॥१०७॥

६४३ **बलवान्**–शक्तिशाली, ६४४ **उपशान्तः**–शान्तस्वरूप, ६४५ **पुराणः**–पुराणपुरुष, ६४६ **पुण्यचञ्चुः**–पुण्यके द्वारा जाननेमें आनेवाले, ६४७ ई–दयास्वरूप, ६४८ **कुरुकर्ता**–कुरुक्षेत्रके निर्माता, ६४९ **कुरुवासी**–कुरुक्षेत्रनिवासी, ६५० **कुरुभूतः**–कुरुक्षेत्रस्वरूप, ६५१ **गुणौषधः**–गुणोंको उत्पन्न करनेवाली ओषधिके समान ज्ञान, वैराग्य आदि गुणोंके उत्पादक ॥ १०७ ॥

सर्वाशयो दर्भचारी सर्वेषां प्राणिनां पतिः।
देवदेवः सुखासक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥१०८॥

६५२ **सर्वाशयः**–सबके आश्रय, ६५३ **दर्भचारी**–वेदीपर बिछे हुए—कुशोंपर रखे हुए हविष्यको भक्षण करनेवाले, ६५४ **सर्वेषां प्राणिनां पतिः**–समस्त प्राणियोंके स्वामी, ६५५ **देवदेवः**–देवताओंके भी देवता, ६५६ **सुखासक्तः**–अपने परमानन्दमय स्वरूपमें ही रत रहनेवाले, ६५७ **सत्**–सत्स्वरूप, ६५८ **असत्**–असत्स्वरूप, ६५९ **सर्वरत्नवित्**–सम्पूर्ण रत्नोंके ज्ञाता ॥ १०८ ॥

कैलासगिरिवासी च हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥१०९॥

६६० **कैलासगिरिवासी**–कैलास पर्वतपर निवास करनेवाले, ६६१ **हिमवद्गिरिसंश्रयः**–हिमालयपर्वतके निवासी, ६६२ **कूलहारी**–प्रबल प्रवाहरूपसे नदियोंके तटोंका अपहरण करनेवाले, ६६३ **कूलकर्ता**–पुष्कर आदि बड़े-बड़े सरोवरोंका निर्माण करनेवाले, ६६४ **बहुविद्यः**–बहुत-सी विद्याओंके ज्ञाता, ६६५ **बहुप्रदः**–बहुत अधिक देनेवाले ॥ १०९ ॥

वणिजो वर्धकी वृक्षो बकुलश्चन्दनश्छदः ।
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥११०॥

६६६ **वणिजो**–वैश्यरूप, ६६७ **वर्धकी**–संसाररूपी वृक्षको काटनेवाले बढ़ई, ६६८ **वृक्षः**–संसाररूप वृक्षस्वरूप, ६६९ **बकुलः**–मौलसिरी वृक्षस्वरूप, ६७० **चन्दनः**–चन्दन वृक्षस्वरूप, ६७१ **छदः**–छितवन वृक्षस्वरूप, ६७२ **सारग्रीवः**–सुदृढ़ कण्ठवाले, ६७३ **महाजत्रुः**–बहुत बड़ी हँसुलीवाले, ६७४ **अलोलः**–अचञ्चल, ६७५ **महौषधः**–महान् औषधस्वरूप ॥ ११० ॥

सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥१११॥

६७६ **सिद्धार्थकारी**–आश्रितजनोंको सफलमनोरथ करनेवाले, ६७७ **सिद्धार्थः**–वेदकी व्याख्यासे निर्णीत उत्कृष्ट सिद्धान्तस्वरूप, ६७८ **सिंहनादः**–सिंहके समान गर्जना करनेवाले, ६७९ **सिंहदंष्ट्रः**–सिंहके समान दाढ़वाले, ६८० **सिंहगः**–सिंहपर आरूढ़ होकर चलनेवाले, ६८१ **सिंहवाहनः**–सिंहपर सवारी करनेवाले ॥ १११ ॥

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्राङ्गः केतुमाली सभावनः ॥११२॥

६८२ **प्रभावात्मा**–उत्कृष्ट सत्तास्वरूप, ६८३ **जगत्कालस्थालः**–प्रलयकालमें जगत्‌का संहार करनेवाले कालके स्थान, ६८४ **लोकहितः**–लोकहितैषी, ६८५ **तरुः**–तारनेवाले, ६८६ **सारङ्गः**–चातकस्वरूप, ६८७ **नवचक्राङ्गः**–नूतन हंसरूप, ६८८ **केतुमाली**–ध्वजा-पताकाओंकी मालाओंसे अलंकृत, ६८९ **सभावनः**–धर्मस्थानकी रक्षा करनेवाले ॥

भूतालयो भूतपतिरहोरात्रमनिन्दितः ॥११३॥

६९० **भूतालयः**–सम्पूर्ण भूतोंके घर, ६९१ **भूतपतिः**–सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी, ६९२ **अहोरात्रम्**–दिन-रात्रिस्वरूप, ६९३ **अनिन्दितः**–निन्दारहित ॥ ११३ ॥

वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ।
अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ॥११४॥

६९४ **सर्वभूतानां वाहिता**–सम्पूर्ण भूतोंका भार वहन करनेवाले, ६९५ **सर्वभूतानां निलयः**–समस्त प्राणियोंके निवासस्थान, ६९६ **विभुः**–सर्वव्यापी, ६९७ **भवः**–सत्तारूप, ६९८ **अमोघः**–कभी असफल न होनेवाले, ६९९ **संयतः**–संयमशील, ७०० **अश्वः**–उच्चैःश्रवा आदि उत्तम अश्वरूप, ७०१ **भोजनः**–अन्नदाता, ७०२ **प्राणधारणः**–सबके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले ॥ ११४ ॥

धृतिमान् मतिमान् दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ।
गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरिः ॥११५॥

७०३ **धृतिमान्**–धैर्यशाली, ७०४ **मतिमान्**–बुद्धिमान्, ७०५ **दक्षः**–चतुर, ७०६ **सत्कृतः**–सबके द्वारा सम्मानित, ७०७ **युगाधिपः**–युगके स्वामी, ७०८ **गोपालिः**–इन्द्रियोंके पालक, ७०९ **गोपतिः**–गौओंके स्वामी, ७१० **ग्रामः**–समूहरूप, ७११ **गोचर्मवसनः**–गोचर्ममय वस्त्र धारण करनेवाले, ७१२ **हरिः**–भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥ ११५ ॥

हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ।
प्रकृष्टारिर्महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ॥११६॥

७१३ **हिरण्यबाहुः**–सुनहरी कान्तिवाली सुन्दर भुजाओंसे सुशोभित, ७१४ **गुहापालः प्रवेशिनाम्**–गुफाके भीतर प्रवेश करनेवाले योगियोंकी गुफाके रक्षक, ७१५ **प्रकृष्टारिः**–काम, क्रोध आदि शत्रुओंको क्षीण कर देनेवाले, ७१६ **महाहर्षः**–परमानन्दस्वरूप, ७१७ **जितकामः**–कामविजयी, ७१८ **जितेन्द्रियः**–इन्द्रियविजयी ॥ ११६ ॥

गान्धारश्च सुवासश्च तपःसक्तो रतिर्नरः ।
महागीतो महानृत्यो ह्यप्सरोगणसेवितः ॥११७॥

७१९ **गान्धारः**–गान्धार नामक स्वररूप, ७२० **सुवासः**–कैलास नामक सुन्दर स्थानमें वास करनेवाले, ७२१ **तपःसक्तः**–तपस्यामें संलग्न, ७२२ **रतिः**–प्रीतिरूप, ७२३ **नरः**–विराट् पुरुष, ७२४ **महागीतः**–जिनके माहात्म्यका वेद-शास्त्रोंद्वारा गान किया गया है, ऐसे महान् देव, ७२५ **महानृत्यः**–प्रकाण्ड ताण्डव करनेवाले, ७२६ **अप्सरोगणसेवितः**–अप्सराओंके समुदायसे सेवित ॥ ११७ ॥

महाकेतुर्महाधातुर्नैकसानुचरश्चलः ।
आवेदनीय आदेशः सर्वगन्धसुखावहः ॥११८॥

७२७ **महाकेतुः**–धर्मरूप महान् ध्वजावाले, ७२८ **महाधातुः**–सुवर्णस्वरूप, ७२९ **नैकसानुचरः**–मेरुगिरिके अनेक शिखरोंपर विचरण करनेवाले, ७३० **चलः**–किसीकी पकड़में नहीं आनेवाले, ७३१ **आवेदनीयः**–प्रार्थना करनेयोग्य, ७३२ **आदेशः**–आज्ञा प्रदान करनेवाले, ७३३ **सर्वगन्धसुखावहः**–सम्पूर्ण गन्धादि विषयोंके सुखकी प्राप्ति करानेवाले ॥ ११८ ॥

तोरणस्तारणो वातः परिधी पतिखेचरः ।
संयोगो वर्धनो वृद्धो अतिवृद्धो गुणाधिकः ॥११९॥

७३४ **तोरणः**–मुक्तिद्वारस्वरूप, ७३५ **तारणः**–तारनेवाले, ७३६ **वातः**–वायुरूप, ७३७ **परिधीः**–ब्रह्माण्डका घेरारूप, ७३८ **पतिखेचरः**–आकाशचारीका स्वामी, ७३९ **वर्धनः संयोगः**–वृद्धिका हेतुभूत स्त्री-पुरुषका संयोग,

७४० वृद्धः–गुणोंमें बढ़ा-चढ़ा, **७४१ अतिवृद्धः**–सबसे पुरातन होनेके कारण अतिवृद्ध, **७४२ गुणाधिकः**–ज्ञान-ऐश्वर्य आदि गुणोंके द्वारा सबसे अधिकतर ॥ ११९ ॥

नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः।
युक्तश्च युक्तबाहुश्च देवो दिविसुपर्वणः ॥१२०॥

७४३ नित्य आत्मसहायः–आत्माकी सदा सहायता करनेवाले, **७४४ देवासुरपतिः**–देवताओं और असुरोंके स्वामी, **७४५ पतिः**–सबके स्वामी, **७४६ युक्तः**–भक्तोंके उद्धारके लिये सदा उद्यत रहनेवाले, **७४७ युक्तबाहुः**–सबकी रक्षाके लिये उपयुक्त भुजाओंवाले, **७४८ देवो दिविसुपर्वणः**–स्वर्गमें जो महान् देवता इन्द्र हैं, उनके भी आराध्यदेव ॥ १२० ॥

आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवोऽथ हरिणो हरः।
वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ॥१२१॥

७४९ आषाढः–भक्तोंको सब कुछ सहन करनेकी शक्ति देनेवाले, **७५० सुषाढः**–उत्तम सहनशील, **७५१ ध्रुवः**–अविचलस्वरूप, **७५२ हरिणः**–शुद्धस्वरूप, **७५३ हरः**–पापहारी, **७५४ आवर्तमानेभ्यो वपुः**–स्वर्गलोकसे लौटनेवालेको नूतन शरीर देनेवाले, **७५५ वसुश्रेष्ठः**–श्रेष्ठ धनस्वरूप अर्थात् मुक्तिस्वरूप, **७५६ महापथः**–सर्वोत्तम मार्गस्वरूप ॥ १२१ ॥

शिरोहारी विमर्शश्च सर्वलक्षणलक्षितः।
अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ॥१२२॥

७५७ विमर्शः शिरोहारी–विवेकपूर्वक दुष्टोंका शिरश्छेद करनेवाले, **७५८ सर्वलक्षणलक्षितः**–समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, **७५९ अक्षः रथयोगी**–रथसे सम्बन्ध रखनेवाला धुरीस्वरूप, **७६० सर्वयोगी**–सभी समयमें योगयुक्त, **७६१ महाबलः**–अनन्त शक्तिसे सम्पन्न ॥ १२२ ॥

समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः।
निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ॥१२३॥

७६२ समाम्नायः–वेदस्वरूप, **७६३ असमाम्नायः**–वेदभिन्न स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमरूप, **७६४ तीर्थदेवः**–सम्पूर्ण तीर्थोंके देवस्वरूप, **७६५ महारथः**–त्रिपुरदाहके समय पृथ्वीरूपी विशाल रथपर आरूढ होनेवाले, **७६६ निर्जीवः**–जड-प्रपञ्चस्वरूप, **७६७ जीवनः**–जीवनदाता, **७६८ मन्त्रः**–प्रणव आदि मन्त्रस्वरूप, **७६९ शुभाक्षः**–मङ्गलमयी दृष्टिवाले, **७७० बहुकर्कशः**–संहारकालमें अत्यन्त कठोर स्वभाववाले ॥ १२३ ॥

रत्नप्रभूतो रत्नाङ्गो महार्णवनिपानवित्।
मूलं विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ॥१२४॥

७७१ रत्नप्रभूतः–अनेक रत्नोंके भण्डाररूप, **७७२ रत्नाङ्गः**–रत्नमय अङ्गवाले, **७७३ महार्णवनिपानवित्**–महासागररूपी निपानों (हौजों) को जाननेवाले, **७७४ मूलम्**–संसाररूपी वृक्षके कारण, **७७५ विशालः**–अत्यन्त शोभायमान, **७७६ अमृतः**–अमृतस्वरूप मुक्तिस्वरूप, **७७७ व्यक्ताव्यक्तः**–साकार-निराकार स्वरूप, **७७८ तपोनिधिः**–तपस्याके भण्डार ॥ १२४ ॥

आरोहणोऽधिरोहश्च शीलधारी महायशाः।
सेनाकल्पो महाकल्पो योगो युगकरो हरिः ॥१२५॥

७७९ आरोहणः–परम पदपर आरूढ़ होनेके द्वारस्वरूप, **७८० अधिरोहः**–परमपदपर आरूढ़, **७८१ शीलधारी**–सुशीलसम्पन्न, **७८२ महायशाः**–महान् यशसे सम्पन्न, **७८३ सेनाकल्पः**–सेनाके आभूषणरूप, **७८४ महाकल्पः**–बहुमूल्य अलंकारोंसे अलंकृत, **७८५ योगः**–चित्तवृत्तियोंके निरोधस्वरूप, **७८६ युगकरः**–युगप्रवर्तक, **७८७ हरिः**–भक्तोंका दुःख हर लेनेवाले ॥ १२५ ॥

युगरूपो महारूपो महानागहनोऽवधः।
न्यायनिर्वपणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ॥१२६॥

७८८ युगरूपः–युगस्वरूप, **७८९ महारूपः**–महान् रूपवाले, **७९० महानागहनः**–विशालकाय गजासुरका वध करनेवाले, **७९१ अवधः**–मृत्युरहित, **७९२ न्यायनिर्वपणः**–न्यायोचित दान करनेवाले, **७९३ पादः**–शरण लेने-योग्य (पद्यते भक्तैः इति पादः), **७९४ पण्डितः**–ज्ञानी, **७९५ अचलोपमः**–पर्वतके समान अविचल ॥ १२६ ॥

बहुमालो महामालः शशी हरसुलोचनः।
विस्तारो लवणः कूपस्त्रियुगः सफलोदयः ॥१२७॥

७९६ बहुमालः–बहुत-सी मालाएँ धारण करनेवाले, **७९७ महामालः**–महती–पैरोंतक लटकनेवाली माला धारण करनेवाले, **७९८ शशी हरसुलोचनः**–चन्द्रमाके समान सौम्य दृष्टियुक्त महादेव, **७९९ विस्तारो लवणः कूपः**–विस्तृत क्षारसमुद्रस्वरूप, **८०० त्रियुगः**–सत्ययुग, त्रेता और द्वापर त्रिविध युगस्वरूप, **८०१ सफलोदयः**–जिसका अवताररूपमें प्रकट होना सफल है ॥ १२७ ॥

त्रिलोचनो विषण्णाङ्गो मणिविद्धो जटाधरः।
विन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ॥१२८॥

८०२ त्रिलोचनः–त्रिनेत्रधारी, **८०३ विषण्णाङ्गः**–अङ्गरहित अर्थात् सर्वथा निराकार, **८०४ मणिविद्धः**–मणिका कुण्डल पहिननेके लिये छिदे हुए कर्णवाले, **८०५ जटाधरः**–जटाधारी, **८०६ विन्दुः**–अनुस्वाररूप, **८०७ विसर्गः**–विसर्जनीयस्वरूप, **८०८ सुमुखः**–सुन्दर मुखवाले, **८०९ शरः**–बाणस्वरूप, **८१० सर्वायुधः**–सम्पूर्ण आयुधोंसे युक्त, **८११ सहः**–सहनशील ॥ १२८ ॥

निवेदनः सुखाजातः सुगन्धारो महाधनुः।
गन्धपाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ॥१२९॥

८१२ निवेदनः–सब प्रकारकी वृत्तिसे रहित ज्ञानवाले, **८१३ सुखाजातः**–सब वृत्तियोंका लय होनेपर सुखरूपसे प्रकट

होनेवाले, ८१४ सुगन्धारः—उत्तम गन्धसे युक्त, ८१५ महाधनुः—पिनाक नामक विशाल धनुष धारण करनेवाले, ८१६ भगवान् गन्धपाली—उत्तम गन्धकी रक्षा करनेवाले भगवान्, ८१७ सर्वकर्मणामुत्थानः—समस्त कर्मोंके उत्थानस्थान ॥ १२९ ॥

मन्थानो बहुलो वायुः सकलः सर्वलोचनः ।
तलस्तालः करस्थाली ऊर्ध्वसंहननो महान् ॥१३०॥

८१८ मन्थानो बहुलो वायुः—विश्वको मथ डालनेमें समर्थ प्रलयकालकी महान् वायुस्वरूप, ८१९ सकलः—सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, ८२० सर्वलोचनः—सबके द्रष्टा, ८२१ तलस्तालः—हाथपर ही ताल देनेवाले, ८२२ करस्थाली—हाथोंसे ही भोजनपात्रका काम लेनेवाले, ८२३ऊर्ध्वसंहननः—सुदृढ़ शरीरवाले, ८२४ महान्—श्रेष्ठतम ॥ १३० ॥

छत्रं सुच्छत्रो विख्यातो लोकः सर्वाश्रयः क्रमः ।
मुण्डो विरूपो विकृतो दण्डी कुण्डी विकुर्वणः ॥१३१॥

८२५ छत्रम्—छत्रके समान पाप-तापसे सुरक्षित रखनेवाले, ८२६ सुच्छत्रः—उत्तम छत्रस्वरूप, ८२७ विख्यातो लोकः—सुप्रसिद्ध लोकस्वरूप, ८२८ सर्वाश्रयः क्रमः—सबके आधारभूत गति, ८२९ मुण्डः—मुण्डित-मस्तक, ८३० विरूपः—विकट रूपवाले, ८३१ विकृतः—सम्पूर्ण विपरीत क्रियाओंको धारण करनेवाले, ८३२ दण्डी—दण्डधारी, ८३३ कुण्डी—खप्परधारी, ८३४ विकुर्वणः—क्रियाद्वारा अलभ्य ॥

हर्यक्षः ककुभो वज्री शतजिह्वः सहस्रपात् ।
सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥१३२॥

८३५हर्यक्षः—सिंहस्वरूप, ८३६ ककुभः—सम्पूर्ण दिशास्वरूप, ८३७ वज्री—वज्रधारी, ८३८ शतजिह्वः—सैकड़ों जिह्वावाले, ८३९ सहस्रपात् सहस्रमूर्धा—सहस्रों पैर और मस्तकवाले, ८४० देवेन्द्रः—देवताओंके राजा, ८४१ सर्वदेवमयः—सम्पूर्ण देवस्वरूप, ८४२ गुरुः—सबके ज्ञानदाता ॥

सहस्रबाहुः सर्वाङ्गः शरण्यः सर्वलोककृत् ।
पवित्रं त्रिककुन्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिङ्गलः ॥१३३॥

८४३ सहस्रबाहुः—सहस्रों भुजाओंवाले, ८४४ सर्वाङ्गः—समस्त अङ्गोंसे सम्पन्न, ८४५ शरण्यः—शरण लेनेके योग्य, ८४६ सर्वलोककृत्—सम्पूर्ण लोकोंके उत्पन्न करनेवाले, ८४७ पवित्रम्—परम पावन, ८४८ त्रिककुन्मन्त्रः—त्रिपदा गायत्रीरूप, ८४९ कनिष्ठः—अदितिके पुत्रोंमें छोटे, वामनरूपधारी विष्णु, ८५० कृष्णपिङ्गलः—श्याम-गौर हरि-हर-मूर्ति ॥ १३३ ॥

ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नीपाशशक्तिमान् ।
पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ॥१३४॥

८५१ ब्रह्मदण्डविनिर्माता—ब्रह्मदण्डका निर्माण करनेवाले, ८५२ शतघ्नीपाशशक्तिमान्—शतघ्नी, पाश और शक्तिसे युक्त, ८५३ पद्मगर्भः—ब्रह्मास्वरूप, ८५४ महागर्भः—जगत्‌रूप गर्भको धारण करनेवाले होनेसे महागर्भ, ८५५ ब्रह्मगर्भः—वेदको उदरमें धारण करनेवाले, ८५६ जलोद्भवः—एकार्णवके जलमें प्रकट होनेवाले ॥ १३४ ॥

गभस्तिर्ब्रह्मकृद् ब्रह्मी ब्रह्मविद् ब्राह्मणो गतिः ।
अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः ॥१३५॥

८५७ गभस्तिः—सूर्यस्वरूप, ८५८ ब्रह्मकृत्—वेदोंका आविष्कार करनेवाले, ८५९ ब्रह्मी—वेदाध्यायी, ८६० ब्रह्मवित्—वेदार्थवेत्ता, ८६१ ब्राह्मणः—ब्रह्मनिष्ठ, ८६२ गतिः—ब्रह्मनिष्ठोंकी परमगति, ८६३ अनन्तरूपः—अनन्त रूपवाले, ८६४ नैकात्मा—अनेक शरीरधारी, ८६५ तिग्मतेजाः स्वयम्भुवः—ब्रह्माजीकी अपेक्षा प्रचण्ड तेजस्वी ॥ १३५॥

ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः ।
चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ॥१३६॥

८६६ ऊर्ध्वगात्मा—देश-काल-वस्तुकृत उपाधिसे अतीत स्वरूपवाले, ८६७ पशुपतिः—जीवोंके स्वामी, ८६८ वातरंहाः—वायुके समान वेगशाली, ८६९ मनोजवः—मनके समान वेगशाली, ८७० चन्दनी—चन्दनचर्चित अङ्गवाले, ८७१ पद्मनालाग्रः—पद्मनालके मूल विष्णुस्वरूप, ८७२ सुरभ्युत्तरणः—सुरभिको नीचे उतारनेवाले, ८७३ नरः—पुरुषरूप ॥ १३६ ॥

कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृत् ।
उमापतिरुमाकान्तो जाह्नवीधृदुमाधवः ॥१३७॥

८७४ कर्णिकारमहास्रग्वी—कनेरकी बहुत बड़ी माला धारण करनेवाले, ८७५ नीलमौलिः—मस्तकपर नीलमणिमय मुकुट धारण करनेवाले, ८७६ पिनाकधृत्—पिनाक धनुषको धारण करनेवाले, ८७७ उमापतिः—उमा—ब्रह्मविद्याके स्वामी, ८७८ उमाकान्तः—पार्वतीके प्राण-प्रियतम, ८७९ जाह्नवीधृत्—गङ्गाको मस्तकपर धारण करनेवाले, ८८० उमाधवः—पार्वतीपति ॥ १३७ ॥

वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः ।
महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः ॥१३८॥

८८१ वरो वराहः—श्रेष्ठ वराहरूपधारी भगवान्, ८८२ वरदः—वरदाता, ८८३ वरेण्यः—स्वामी बनाने योग्य, ८८४ सुमहास्वनः—महान् गर्जना करनेवाले, ८८५ महाप्रसादः—भक्तोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले, ८८६ दमनः—दुष्टोंका दमन करनेवाले, ८८७ शत्रुहा—शत्रुनाशक, ८८८ श्वेतपिङ्गलः—अर्धनारीनरेश्वर-वेशमें श्वेत-पिङ्गल वर्णवाले ॥

पीतात्मा परमात्मा च प्रयतात्मा प्रधानधृत् ।
सर्वपार्श्वमुखस्त्र्यक्षो धर्मसाधारणो वरः ॥१३९॥

८८९ पीतात्मा—हिरण्मय पुरुष, ८९० परमात्मा—परब्रह्म परमेश्वर, ८९१ प्रयतात्मा—विशुद्ध-चित्त, ८९२ प्रधानधृत्—जगत्‌के कारणभूत त्रिगुणमय प्रधानके अधिष्ठानस्वरूप, ८९३ सर्वपार्श्वमुखः—सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर मुखवाले, ८९४ त्र्यक्षः—त्रिनेत्रधारी, ८९५ धर्मसाधारणो वरः—धर्म-पालनके अनुसार वर देनेवाले ॥ १३९ ॥

चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा अमृतो गोवृषेश्वरः ।
साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान् सवितामृतः ॥१४०॥

९९६ **चराचरात्मा**–चराचर प्राणियोंके आत्मा, ८९७ **सूक्ष्मात्मा**–अति सूक्ष्मस्वरूप, ८९८ **अमृतो गोवृषेश्वरः**–निष्काम धर्मके स्वामी, ८९९ **साध्यर्षिः**–साध्य देवताओंके आचार्य, ९०० **आदित्यो वसुः**–अदितिकुमार वसु, ९०१ **विवस्वान् सवितामृतः**–किरणोंसे सुशोभित एवं जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले अमृतस्वरूप सूर्य ॥ १४० ॥

व्यासः सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः पर्ययो नरः ।
ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ॥१४१॥

९०२ **व्यासः**–पुराण-इतिहास आदिके स्रष्टा वेदव्यासस्वरूप, ९०३ **सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः**–संक्षिप्त और विस्तृत सृष्टिस्वरूप, ९०४ **पर्ययो नरः**–सब ओरसे व्याप्त करनेवाले वैश्वानरस्वरूप, ९०५ **ऋतुः**–ऋतुरूप, ९०६ **संवत्सरः**–संवत्सररूप, ९०७ **मासः**–मासरूप, ९०८ **पक्षः**–पक्षरूप, ९०९ **संख्यासमापनः**–पूर्वोक्त ऋतु आदिकी संख्या समाप्त करनेवाले पर्व (संक्रान्ति, दर्श, पूर्णमासादि) रूप ॥१४१॥

कलाः काष्ठा लवा मात्रा मुहूर्ताहःक्षपाः क्षणाः ।
विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिङ्गमाद्यस्तु निर्गमः ॥१४२॥

९१० **कलाः**, ९११ **काष्ठाः**, ९१२ **लवाः**, ९१३ **मात्राः**–(इत्यादि कालावयवस्वरूप), ९१४ **मुहूर्ताहःक्षपाः**– मुहूर्त, दिन और रात्रिरूप, ९१५ **क्षणाः**–क्षणरूप, ९१६ **विश्वक्षेत्रम्**–ब्रह्माण्डरूपी वृक्षके आधार, ९१७ **प्रजाबीजम्**–प्रजाओंके कारणरूप, ९१८ **लिङ्गम्**–महत्तत्त्वस्वरूप, ९१९ **आद्यो निर्गमः**–सबसे पहले प्रकट होनेवाले ॥१४२॥

सदसद् व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥१४३॥

९२० **सत्**–सत्स्वरूप, ९२१ **असत्**–असत्स्वरूप, ९२२ **व्यक्तम्**–साकाररूप, ९२३ **अव्यक्तम्**–निराकाररूप, ९२४ **पिता**, ९२५ **माता**, ९२६ **पितामहः**, ९२७ **स्वर्गद्वारम्**–स्वर्गके साधनस्वरूप, ९२८ **प्रजाद्वारम्**–प्रजाके कारण, ९२९ **मोक्षद्वारम्**–मोक्षके साधनस्वरूप, ९३० **त्रिविष्टपम्**–स्वर्गके साधनस्वरूप ॥ १४३ ॥

निर्वाणं ह्लादनश्चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ॥१४४॥

९३१ **निर्वाणम्**–मोक्षस्वरूप, ९३२ **ह्लादनः**–आनन्द प्रदान करनेवाले, ९३३ **ब्रह्मलोकः**–ब्रह्मलोकस्वरूप, ९३४ **परा गतिः**–सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप, ९३५ **देवासुरविनिर्माता**–देवताओं और असुरोंके जन्मदाता, ९३६ **देवासुरपरायणः**–देवताओं तथा असुरोंके परम आश्रय ॥ १४४ ॥

देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ।
देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ॥१४५॥

९३७ **देवासुरगुरुः**–देवताओं और असुरोंके गुरु, ९३८ **देवः**–परम देवस्वरूप, ९३९ **देवासुरनमस्कृतः**–देवताओं और असुरोंसे वन्दित, ९४० **देवासुरमहामात्रः**–देवताओं और असुरोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ, ९४१ **देवासुरगणाश्रयः**–देवताओं तथा असुरगणोंके आश्रय लेने योग्य ॥१४५॥

देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ।
देवातिदेवो देवर्षिर्देवासुरवरप्रदः ॥१४६॥

९४२ **देवासुरगणाध्यक्षः**–देवताओं तथा असुरगणोंके अध्यक्ष, ९४३ **देवासुरगणाग्रणीः**–देवताओं तथा असुरोंके अगुआ, ९४४ **देवातिदेवः**–देवताओंसे बढ़कर महादेव, ९४५ **देवर्षिः**–नारदस्वरूप, ९४६ **देवासुरवरप्रदः**–देवताओं और असुरोंको भी वरदान देनेवाले ॥ १४६ ॥

देवासुरेश्वरो विश्वो देवासुरमहेश्वरः ।
सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्माऽऽत्मसम्भवः ॥१४७॥

९४७ **देवासुरेश्वरः**–देवताओं और असुरोंके ईश्वर, ९४८ **विश्वः**–विराट् स्वरूप, ९४९ **देवासुरमहेश्वरः**–देवताओं और असुरोंके महान् ईश्वर, ९५० **सर्वदेवमयः**–सम्पूर्ण देवस्वरूप, ९५१ **अचिन्त्यः**–अचिन्त्यस्वरूप, ९५२ **देवतात्मा**–देवताओंके अन्तरात्मा, ९५३ **आत्मसम्भवः**–स्वयम्भू ॥ १४७ ॥

उद्भित् त्रिविक्रमो वैद्यो विरजो नीरजोऽमरः ।
ईड्यो हस्तीश्वरो व्याघ्रो देवसिंहो नरर्षभः ॥१४८॥

९५४ **उद्भित्**–वृक्षादिस्वरूप, ९५५ **त्रिविक्रमः**–तीनों लोकोंको तीन चरणोंसे नाप लेनेवाले भगवान् वामन, ९५६ **वैद्यः**–वैद्यस्वरूप, ९५७ **विरजः**–रजोगुणरहित, ९५८ **नीरजः**–निर्मल, ९५९ **अमरः**–नाशरहित, ९६० **ईड्यः**–स्तुतिके योग्य, ९६१ **हस्तीश्वरः**–ऐरावत हस्तीके ईश्वर इन्द्रस्वरूप, ९६२ **व्याघ्रः**–सिंहस्वरूप, ९६३ **देवसिंहः**–देवताओंमें सिंहके समान पराक्रमी, ९६४ **नरर्षभः**–मनुष्योंमें श्रेष्ठ ॥ १४८ ॥

विबुधोऽग्रवरः सूक्ष्मः सर्वदेवस्तपोमयः ।
सुयुक्तः शोभनो वज्री प्रासानां प्रभवोऽव्ययः ॥१४९॥

९६५ **विबुधः**–विशेष ज्ञानवान्, ९६६ **अग्रवरः**–यज्ञमें सबसे प्रथम भाग लेनेके अधिकारी, ९६७ **सूक्ष्मः**–अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप, ९६८ **सर्वदेवः**–सर्वदेवस्वरूप, ९६९ **तपोमयः**–तपोमयस्वरूप, ९७० **सुयुक्तः**–भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सब तरहसे सदा सावधान रहनेवाले, ९७१ **शोभनः**–कल्याणस्वरूप, ९७२ **वज्री**–वज्रायुधधारी, ९७३ **प्रासानां प्रभवः**–प्रास नामक अस्त्रकी उत्पत्तिके स्थान, ९७४ **अव्ययः**–विनाशरहित ॥ १४९ ॥

गुहः कान्तो निजः सर्गः पवित्रं सर्वपावनः ।
श्रृङ्गी श्रृङ्गप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ॥१५०॥

९७५ **गुहः**–कुमार कार्तिकेयस्वरूप ९७६ **कान्तः**–आनन्दकी पराकाष्ठारूप, ९७७ **निजः सर्गः**–सृष्टिसे अभिन्न, ९७८ **पवित्रम्**–परम पवित्र, ९७९ **सर्वपावनः**–सबको पवित्र करनेवाले, ९८० **श्रृङ्गी**–सिंगी नामक बाजा अपने

पास रखनेवाले, ९८१ **श्रृङ्गप्रियः**–पर्वत-शिखरको पसंद करनेवाले, ९८२ **बभ्रुः**–विष्णुस्वरूप, ९८३ **राजराजः**–राजाओंके राजा, ९८४ **निरामयः**–सर्वथा दोषरहित ॥ १५० ॥

अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः ।
ललाटाक्षो विश्वदेवो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ॥ १५१ ॥

९८५ **अभिरामः**–आनन्ददायक, ९८६ **सुरगणः**–देवसमुदायरूप, ९८७ **विरामः**–सबसे उपरत, ९८८ **सर्वसाधनः**–सभी साधनोंद्वारा साध्य, ९८९ **ललाटाक्षः**–ललाटमें तीसरा नेत्र धारण करनेवाले, ९९० **विश्वदेवः**–सम्पूर्ण विश्वके द्वारा क्रीड़ा करनेवाले, ९९१ **हरिणः**–मृगरूप, ९९२ **ब्रह्मवर्चसः**–ब्रह्मतेजसे सम्पन्न ॥ १५१ ॥

स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः ।
सिद्धार्थः सिद्धभूतार्थोऽचिन्त्यः सत्यव्रतः शुचिः १५२

९९३ **स्थावराणां पतिः**–पर्वतोंके स्वामी हिमाचलादिरूप, ९९४ **नियमेन्द्रियवर्धनः**–नियमोंद्वारा मनसहित इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, ९९५ **सिद्धार्थः**–आप्तकाम, ९९६ **सिद्धभूतार्थः**–जिसके समस्त प्रयोजन सिद्ध हैं, ९९७ **अचिन्त्यः**–चित्तकी पहुँचसे परे, ९९८ **सत्यव्रतः**–सत्यप्रतिज्ञ, ९९९ **शुचिः**–सर्वथा शुद्ध ॥ १५२ ॥

व्रताधिपः परं ब्रह्म भक्तानां परमा गतिः ।
विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमाञ्श्रीवर्धनो जगत् ॥ १५३ ॥

१००० **व्रताधिपः**–व्रतोंके अधिपति— १००१ **परम्**–सर्वश्रेष्ठ, १००२ **ब्रह्म**–देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न चिन्मयतत्त्व, १००३ **भक्तानां परमा गतिः**–भक्तोंके लिये परम गतिस्वरूप, १००४ **विमुक्तः**–नित्य मुक्त, १००५ **मुक्ततेजाः**–शत्रुओंपर तेज छोड़नेवाले, १००६ **श्रीमान्**–योगैश्वर्यसे सम्पन्न, १००७ **श्रीवर्धनः**–भक्तोंकी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले, १००८ **जगत्**–जगत्स्वरूप ॥ १५३ ॥

यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया ।
यन्न ब्रह्मादयो देवा विदुस्तत्त्वेन नर्षयः ॥ १५४ ॥
स्तोतव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम् ।

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार बहुत-से नामोंमेंसे प्रधान-प्रधान नाम चुनकर मैंने उनके द्वारा भक्तिपूर्वक भगवान् शङ्करका स्तवन किया । जिन्हें ब्रह्मा आदि देवता तथा ऋषि भी तत्त्वसे नहीं जानते, उन्हीं स्तवनके योग्य, अर्चनीय और वन्दनीय जगत्पति शिवकी कौन स्तुति करेगा ? ॥ १५४½ ॥

भक्त्या त्वेवं पुरस्कृत्य मया यज्ञपतिर्विभुः ॥ १५५ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य स्तुतो मतिमतां वरः ।

इस तरह भक्तिके द्वारा भगवान्‌को सामने रखते हुए मैंने उन्हींसे आज्ञा लेकर उन बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् यज्ञपतिकी स्तुति की ॥ १५५½ ॥

शिवमेभिः स्तुवन् देवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ॥ १५६ ॥
नित्ययुक्तः शुचिर्भक्तः प्राप्नोत्यात्मानमात्मना ॥ १५७ ॥

जो सदा योगयुक्त एवं पवित्रभावसे रहनेवाला भक्त इन पुष्टिवर्धक नामोंद्वारा भगवान् शिवकी स्तुति करता है, वह स्वयं ही उन परमात्मा शिवको प्राप्त कर लेता है ॥ १५६-१५७ ॥

एतद्धि परमं ब्रह्म परं ब्रह्माधिगच्छति ।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येतेन तत्परम् ॥ १५८ ॥

यह उत्तम वेदतुल्य स्तोत्र परब्रह्म परमात्मस्वरूप शिवको अपना लक्ष्य बनाता है । ऋषि और देवता भी उसके द्वारा उन परमात्मा शिवकी स्तुति करते हैं ॥ १५८ ॥

स्तूयमानो महादेवस्तुष्यते नियतात्मभिः ।
भक्तानुकम्पी भगवानात्मसंस्थाकरो विभुः ॥ १५९ ॥

जो लोग मनको संयममें रखकर इन नामोंद्वारा भक्तवत्सल तथा आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले भगवान् महादेवकी स्तुति करते हैं, उनपर वे बहुत संतुष्ट होते हैं ॥ १५९ ॥

तथैव च मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः ।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥ १६० ॥
भक्त्या ह्यनन्यमीशानं परं देवं सनातनम् ।
कर्मणा मनसा वाचा भावेनामिततेजसः ॥ १६१ ॥
शयाना जाग्रमाणाश्च व्रजन्नुपविशंस्तथा ।
उन्मिषन् निमिषंश्चैव चिन्तयन्तः पुनः पुनः ॥ १६२ ॥
शृण्वन्तः श्रावयन्तश्च कथयन्तश्च ते भवम् ।
स्तुवन्तः स्तूयमानाश्च तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १६३ ॥

इसी प्रकार मनुष्योंमें जो प्रधानतः आस्तिक और श्रद्धालु हैं तथा अनेक जन्मतक की हुई स्तुति एवं भक्तिके प्रभावसे मन, वाणी, क्रिया तथा प्रेमभावके द्वारा सोते-जागते चलते-बैठते और आँखोंके खोलते-मीचते समय भी सदा अनन्यभावसे उन परम सनातनदेव जगदीश्वर शिवका बारंबार ध्यान करते हैं, वे अमित तेजसे सम्पन्न हो जाते हैं तथा जो उन्हींके विषयमें सुनते-सुनाते एवं उन्हींकी महिमाका कथोपकथन करते हुए इस स्तोत्रद्वारा सदा उनकी स्तुति करते हैं, वे स्वयं भी स्तुत्य होकर सदा संतुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ १६०—१६३ ॥

जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु ।
जन्तोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥ १६४ ॥

कोटि सहस्र जन्मोंतक नाना प्रकारकी संसारी योनियोंमें भटकते-भटकते जब कोई जीव सर्वथा पापोंसे रहित हो जाता है, तब उसकी भगवान् शिवमें भक्ति होती है ॥ १६४ ॥

उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः ।
भाविनः कारणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥ १६५ ॥

भाग्यसे जो सर्वसाधनसम्पन्न हो गया है, उसको जगत्‌के कारण भगवान् शिवमें सम्पूर्णभावसे सर्वथा अनन्य भक्ति प्राप्त होती है ॥ १६५ ॥

एतद् देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते ।
निर्विघ्ना निश्चला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ १६६ ॥

रुद्रदेवमें निश्चल एवं निर्विघ्नरूपसे अनन्यभक्ति हो

जाय—यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, मनुष्योंमें तो प्रायः ऐसी भक्ति स्वतः नहीं उपलब्ध होती है ॥ १६६ ॥

तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
येन यान्ति परां सिद्धिं तद्भागवतचेतसः ॥१६७॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे ही मनुष्योंके हृदयमें उनकी अनन्यभक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वे अपने चित्तको उन्हींके चिन्तनमें लगाकर परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ १६७॥

ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम्।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात् तान् समुद्धरेत् ॥१६८॥

जो सम्पूर्ण भावसे अनुगत होकर महेश्वरकी शरण लेते हैं, शरणागतवत्सल महादेवजी इस संसारसे उनका उद्धार कर देते हैं ॥ १६८ ॥

एवमन्ये विकुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम्।
मनुष्याणामृते देवं नान्या शक्तिस्तपोबलम् ॥१६९॥

इसी प्रकार भगवान्‌की स्तुतिद्वारा अन्य देवगण भी अपने संसारबन्धनका नाश करते हैं; क्योंकि महादेवजी-की शरण लेनेके सिवा ऐसी दूसरी कोई शक्ति या तपका बल नहीं है, जिससे मनुष्योंका संसारबन्धनसे छुटकारा हो सके॥

इति तेनेन्द्रकल्पेन भगवान् सदसत्पतिः।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तण्डिना शुभबुद्धिना ॥१७०॥

श्रीकृष्ण! यह सोचकर उन इन्द्रके समान तेजस्वी एवं कल्याणमयी बुद्धिवाले तण्डि मुनिने गजचर्मधारी एवं समस्त कार्यकारणके स्वामी भगवान् शिवकी स्तुति की ॥ १७० ॥

स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत्।
गीयते च स बुद्ध्येत ब्रह्मा शंकरसंनिधौ ॥१७१॥

भगवान् शङ्करके इस स्तोत्रको ब्रह्माजीने स्वयं अपने हृदयमें धारण किया है। वे भगवान् शिवके समीप इस वेद-तुल्य स्तुतिका गान करते रहते हैं; अतः सबको इस स्तोत्र-का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १७१ ॥

इदं पुण्यं पवित्रं च सर्वदा पापनाशनम्।
योगदं मोक्षदं चैव स्वर्गदं तोषदं तथा ॥१७२॥

यह परम पवित्र, पुण्यजनक तथा सर्वदा सब पापोंका नाश करनेवाला है। यह योग, मोक्ष, स्वर्ग और संतोष—सब कुछ देनेवाला है ॥ १७२ ॥

एवमेतत् पठन्ते य एकभक्त्या तु शङ्करम्।
या गतिः सांख्ययोगानां व्रजन्त्येतां गतिं तदा ॥१७३॥

—जो लोग अनन्यभक्तिभावसे भगवान् शिवके स्वरूपभूत इस स्तोत्रका पाठ करते हैं, उन्हें वही गति प्राप्त होती है, जो सांख्यवेत्ताओं और योगियोंको मिलती है ॥ १७३ ॥

स्तवमेतं प्रयत्नेन सदा रुद्रस्य संनिधौ।
अब्दमेकं चरेद् भक्तः प्राप्नुयादीप्सितं फलम् ॥१७४॥

जो भक्त भगवान् शङ्करके समीप एक वर्षतक सदा प्रयत्नपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है ॥ १७४ ॥

एतद् रहस्यं परमं ब्रह्मणो हृदि संस्थितम्।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥१७५॥

यह परम रहस्यमय स्तोत्र ब्रह्माजीके हृदयमें स्थित है। ब्रह्माजीने इन्द्रको इसका उपदेश दिया और इन्द्रने मृत्युको॥

मृत्युः प्रोवाच रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्तण्डिमागमत्।
महता तपसा प्राप्तस्तण्डिना ब्रह्मसद्मनि ॥१७६॥

मृत्युने एकादश रुद्रोंको इसका उपदेश किया। रुद्रोंसे तण्डिको इसकी प्राप्ति हुई। तण्डिने ब्रह्मलोकमें ही बड़ी भारी तपस्या करके इसे प्राप्त किया था ॥ १७६ ॥

तण्डिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥१७७॥

माधव! तण्डिने शुक्रको, शुक्रने गौतमको और गौतमने वैवस्वतमनुको इसका उपदेश दिया ॥ १७७ ॥

नारायणाय साध्याय समाधिष्ठाय धीमते।
यमाय प्राह भगवान् साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥१७८॥

वैवस्वत मनुने समाधिनिष्ठ और ज्ञानी नारायण नामक किसी साध्यदेवताको यह स्तोत्र प्रदान किया। धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले उन पूजनीय नारायण नामक साध्यदेवने यमको इसका उपदेश किया ॥ १७८ ॥

नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः।
मार्कण्डेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥१७९॥

वृष्णिनन्दन! ऐश्वर्यशाली वैवस्वत यमने नाचिकेताको और नाचिकेतने मार्कण्डेय मुनिको यह स्तोत्र प्रदान किया॥

मार्कण्डेयान्मया प्राप्तो नियमेन जनार्दन।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्यां ह्यविश्रुतम् ॥१८०॥

शत्रुसूदन जनार्दन! मार्कण्डेयजीसे मैंने नियमपूर्वक यह स्तोत्र ग्रहण किया था। अभी इस स्तोत्रकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई है, अतः मैं तुम्हें इसका उपदेश देता हूँ॥

स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं वेदेन सम्मितम्।
नास्य विघ्नं विकुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः।
पिशाचा यातुधाना वा गुह्यका भुजगा अपि ॥१८१॥

यह वेदतुल्य स्तोत्र स्वर्ग, आरोग्य, आयु तथा धन-धान्य प्रदान करनेवाला है। यक्ष, राक्षस, दानव, पिशाच, यातुधान, गुह्यक और नाग भी इसमें विघ्न नहीं डाल पाते हैं ॥ १८१ ॥

यः पठेत शुचिः पार्थ ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१८२॥

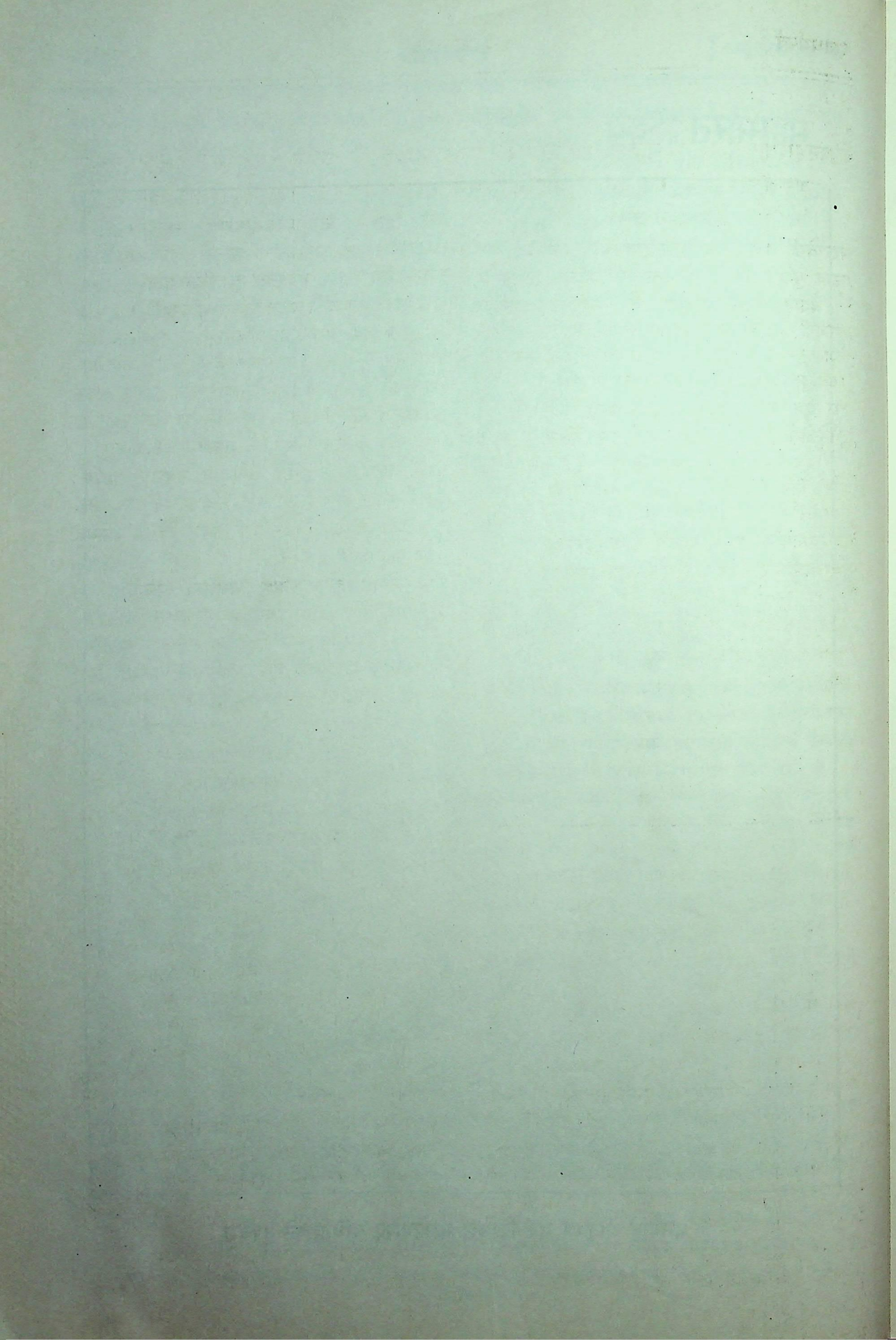
(श्रीकृष्ण कहते हैं—) कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जो मनुष्य पवित्रभावसे ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक इन्द्रियोंको संयममें रखकर एक वर्षतक योगयुक्त रहते हुए इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवसहस्रनामस्तोत्रे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवसहस्रनामस्तोत्रविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥



भगवान् श्रीकृष्ण एवं विभिन्न महर्षियोंका युधिष्ठिरको उपदेश



अष्टादशोऽध्यायः

शिवसहस्रनामके पाठकी महिमा तथा ऋषियोंका भगवान् शङ्करकी कृपासे अभीष्ट सिद्धि होनेके विषयमें अपना-अपना अनुभव सुनाना और श्रीकृष्णके द्वारा भगवान् शिवजीकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महायोगी श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिवर व्यासने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। तुम भी इस स्तोत्रका पाठ करो, जिससे तुम्हारे ऊपर भी महेश्वर प्रसन्न हों॥ १॥

पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः॥ २॥

'पुत्र! महाराज! पूर्वकालकी बात है, मैंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये मेरुपर्वतपर बड़ी भारी तपस्या की थी। उस समय मैंने इस स्तोत्रका अनेक बार पाठ किया था॥ २॥

लब्धवानीप्सितान् कामानहं वै पाण्डुनन्दन।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान् कामानवाप्स्यसि॥ ३॥

'पाण्डुनन्दन! इसके पाठसे मैंने अपनी मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लिया था। उसी प्रकार तुम भी शङ्करजीसे सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे'॥ ३॥

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसम्मतः।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः॥ ४॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम्।

'तत्पश्चात् वहाँ सांख्यके आचार्य देवसम्मानित कपिलने कहा—'मैंने भी अनेक जन्मोंतक भक्तिभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना की थी। इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने मुझे भवभयनाशक ज्ञान प्रदान किया था'॥ ४½॥

चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा।
आलम्बायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः॥ ५॥

तदनन्तर इन्द्रके प्रिय सखा आलम्बगोत्रीय चारुशीर्षने जो आलम्बायन नामसे ही प्रसिद्ध तथा परम दयालु हैं, इस प्रकार कहा—॥ ५॥

मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः।
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम्॥ ६॥
अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम्।
लब्धं पुत्रशतं शर्वात् पुरा पाण्डुनृपात्मज॥ ७॥

'पाण्डुनन्दन! पूर्वकालमें गोकर्णतीर्थमें जाकर मैंने सौ वर्षोंतक तपस्या करके भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया। इससे भगवान् शङ्करकी ओरसे मुझे सौ पुत्र प्राप्त हुए, जो अयोनिज, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, परम तेजस्वी, जरारहित, दुःखहीन और एक लाख वर्षकी आयुवाले थे'॥ ६-७॥

वाल्मीकिश्चाह भगवान् युधिष्ठिरमिदं वचः।
विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति॥ ८॥
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत।
सोऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः॥ ९॥
मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति॥ १०॥

इसके बाद भगवान् वाल्मीकिने राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—'भारत! एक समय अग्निहोत्री मुनियोंके साथ मेरा विवाद हो रहा था। उस समय उन्होंने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया कि 'तुम ब्रह्महत्यारे हो जाओ।' उनके इतना कहते ही मैं क्षणभरमें उस अधर्मसे व्याप्त हो गया। तब मैं पापरहित एवं अमोघ शक्तिवाले भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। इससे मैं उस पापसे मुक्त हो गया। फिर उन दुःखनाशन त्रिपुरहन्ता रुद्रने मुझसे कहा, 'तुम्हें सर्वश्रेष्ठ सुयश प्राप्त होगा'॥ ८—१०॥

जामदग्न्यश्च कौन्तेयमिदं धर्मभृतां वरः।
ऋषिमध्ये स्थितः प्राह ज्वलन्निव दिवाकरः॥ ११॥

इसके बाद धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजी ऋषियोंके बीचमें खड़े होकर सूर्यके समान प्रकाशित होते हुए वहाँ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पाण्डवाग्रज।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतोऽस्मि शरणं नृप॥ १२॥
नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद् भवः।
परशुं च तता देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे॥ १३॥
पापं च ते न भविता अजेयश्च भविष्यसि।
न ते प्रभविता मृत्युरजरश्च भविष्यसि॥ १४॥

'ज्येष्ठ पाण्डव! नरेश्वर! मैंने पितृतुल्य बड़े भाइयोंको मारकर पितृवध और ब्राह्मणवधका पाप कर डाला था। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ और मैं पवित्र भावसे महादेवजीकी शरणमें गया। शरणागत होकर मैंने इन्हीं नामोंसे रुद्रदेवकी स्तुति की। इससे भगवान् महादेव मुझपर बहुत संतुष्ट हुए और मुझे अपना परशु एवं दिव्यास्त्र देकर बोले—'तुम्हें पाप नहीं लगेगा। तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे। तुमपर मृत्युका वश नहीं चलेगा तथा तुम अजर-अमर बने रहोगे'॥ १२—१४॥

आह मां भगवानेवं शिखण्डी शिवविग्रहः।
तदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात् तस्य धीमतः॥ १५॥

'इस प्रकार कल्याणमय विग्रहवाले जटाधारी भगवान् शिवने मुझसे जो कुछ कहा, वह सब कुछ उन ज्ञानी महेश्वरके कृपाप्रसादसे मुझे प्राप्त हो गया'॥ १५॥

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम्।
ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः॥ १६॥

तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।

तदनन्तर विश्वामित्रजीने कहा, 'राजन् ! जिस समय मैं क्षत्रिय था, उन दिनोंकी बात है, मेरे मनमें यह दृढ़ संकल्प हुआ कि मैं ब्राह्मण हो जाऊँ—यही उद्देश्य लेकर मैंने भगवान् शङ्करकी आराधना की और उनकी कृपासे मैंने अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया' ॥ १६ ॥

असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम् ॥ १७ ॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत् तदा ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत् प्रभुः ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् असित देवलने पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरसे कहा—'कुन्तीनन्दन ! प्रभो ! इन्द्रके शापसे मेरा धर्म नष्ट हो गया था; किंतु भगवान् शङ्करने ही मुझे धर्म, उत्तम यश तथा दीर्घ आयु प्रदान की'॥ १७-१८ ॥

ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान् बृहस्पतिसमद्युतिः ॥ १९ ॥

इसके बाद इन्द्रके प्रिय सखा और बृहस्पतिके समान तेजस्वी मुनिवर भगवान् गृत्समदने अजमीढवंशी युधिष्ठिरसे कहा—॥ १९ ॥

वरिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ॥ २० ॥
वर्तमानेऽब्रवीद् वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ।
रथन्तरे द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ॥ २१ ॥

''चाक्षुष मनुके पुत्र भगवान् वरिष्ठके नामसे प्रसिद्ध हैं। एक समय अचिन्त्य शक्तिशाली शतक्रतु इन्द्रका एक यज्ञ हो हो रहा था, जो एक हजार वर्षोंतक चलनेवाला था; उसमें मैं रथन्तर सामका पाठ कर रहा था। मेरे द्वारा उस सामका उच्चारण होनेपर वरिष्ठने मुझसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे द्वारा रथन्तर सामका पाठ ठीक नहीं हो रहा है ॥२०-२१॥

समीक्षस्व पुनर्बुद्ध्या पापं त्यक्त्वा द्विजोत्तम।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥ २२ ॥

''विप्रवर ! तुम पापपूर्ण आग्रह छोड़कर फिर अपनी बुद्धिसे विचार करो। सुदुर्मते ! तुमने ऐसा पाप कर डाला है, जिससे यह यज्ञ ही निष्फल हो गया है' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा महाक्रोधः प्राह शम्भुं पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यभीतो वनेचरः ॥ २३ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च ।
नष्टपानीयपवने मृगैरन्यैश्च वर्जिते ॥ २४ ॥
अयज्ञीयद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते ।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥ २५ ॥

''ऐसा कहकर महाक्रोधी वरिष्ठने भगवान् शङ्करकी ओर देखते हुए फिर कहा—'तुम ग्यारह हजार आठ सौ वर्षोंतक जल और वायुसे रहित तथा अन्य पशुओंसे परित्यक्त केवल रुरु तथा सिंहोंसे सेवित जो यज्ञोंके लिये उचित नहीं है ऐसे वृक्षोंसे भरे हुए विशालवनमें बुद्धिशून्य, दुखी, सर्वदा भयभीत, वनचारी और महान् कष्टमें मग्न क्रूर स्वभाववाले पशु होकर रहोगे' ॥ २३—२५ ॥

तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः ।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥ २६ ॥

''कुन्तीनन्दन ! उनका यह वाक्य पूरा होते ही मैं क्रूर पशु हो गया। तब मैं भगवान् शङ्करकी शरणमें गया। अपनी शरणमें आये हुए मुझ सेवकसे योगी महेश्वर इस प्रकार बोले—॥

अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
साम्यं ममास्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥ २७ ॥

''मुने ! तुम अजर-अमर और दुःखरहित हो जाओगे। तुम्हें मेरी समानता प्राप्त हो और तुम दोनों यजमान और पुरोहितका यह यज्ञ सदा बढ़ता रहे' ॥ २७ ॥

अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान् विभुः ।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥ २८ ॥

''इस प्रकार सर्वव्यापी भगवान् शङ्कर सबके ऊपर अनुग्रह करते हैं। ये ही सबका अच्छे ढंगसे धारण-पोषण करते हैं और सर्वदा सबके सुख-दुःखका भी विधान करते हैं'' ॥२८॥

अचिन्त्य एष भगवान् कर्मणा मनसा गिरा ।
न मे तात युधिश्रेष्ठ विद्यया पण्डितः समः ॥ २९ ॥

''तात ! समरभूमिके श्रेष्ठ वीर ! ये अचिन्त्य भगवान् शिव मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा आराधना करने योग्य हैं। उनकी आराधनाका ही यह फल है कि पाण्डित्यमें मेरी समानता करनेवाला आज कोई नहीं है'' ॥ २९ ॥

वासुदेवस्तदोवाच पुनर्मतिमतां वरः ।
सुवर्णाक्षो महादेवस्तपसा तोषितो मया ॥ ३० ॥

उस समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण फिर इस प्रकार बोले—''मैंने सुवर्ण-जैसे नेत्रवाले महादेवजीको अपनी तपस्यासे संतुष्ट किया ॥ ३० ॥

ततोऽथ भगवानाह प्रीतो मां वै युधिष्ठिर ।
अर्थात् प्रियतरः कृष्ण मत्प्रसादाद् भविष्यसि॥ ३१ ॥
अपराजितश्च युद्धेषु तेजश्चैवानलोपमम् ।

''युधिष्ठिर ! तब भगवान् शिवने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम मेरी कृपासे प्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्रिय होओगे। युद्धमें तुम्हारी कभी पराजय नहीं होगी तथा तुम्हें अग्निके समान दुस्सह तेजकी प्राप्ति होगी' ॥

एवं सहस्रशश्चान्यान् महादेवो वरं ददौ ॥ ३२ ॥
मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा सम्पूजितो मया ।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च ॥ ३३ ॥

''इस तरह महादेवजीने मुझे और भी सहस्रों वर दिये। पूर्वकालमें अन्य अवतारोंके समय मणिमन्थ पर्वतपर मैंने लाखों-करोड़ों वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की थी।

ततो मां भगवान् प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते ॥ ३४ ॥

''इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने मुझसे कहा—'कृष्ण !

तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे मनमें जैसी रुचि हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो' ॥ ३४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा इदं वचनमब्रुवम् ।
यदि प्रीतो महादेवो भक्त्या परमया प्रभुः ॥ ३५ ॥
नित्यकालं तवेशान भक्तिर्भवतु मे स्थिरा ।
एवमस्त्विति भगवांस्तत्रोक्त्वान्तरधीयत ॥ ३६ ॥

"यह सुनकर मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कहा—'यदि मेरी परम भक्तिसे भगवान् महादेव प्रसन्न हों तो ईशान ! आपके प्रति नित्य-निरन्तर मेरी स्थिर भक्ति बनी रहे ।' तब 'एवमस्तु' कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये" ॥ ३५-३६ ॥

जैगीषव्य उवाच

ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा ।
यत्नेनान्येन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥ ३७ ॥

जैगीषव्य बोले—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें भगवान् शिवने काशीपुरीके भीतर अन्य प्रबल प्रयत्नसे संतुष्ट हो मुझे अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान की थीं ॥ ३७ ॥

गर्ग उवाच

चतुःषष्ट्यङ्गमददत् कलाज्ञानं ममाद्भुतम् ।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ॥ ३८ ॥
तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम् ।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥ ३९ ॥

गर्गने कहा—पाण्डुनन्दन ! मैंने सरस्वतीके तटपर मानस यज्ञ करके भगवान् शिवको संतुष्ट किया था । इससे प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे चौंसठ कलाओंका अद्भुत ज्ञान प्रदान किया । मुझे मेरे ही समान एक सहस्र ब्रह्मवादी पुत्र दिये तथा पुत्रोंसहित मेरी दस लाख वर्षकी आयु नियत कर दी ॥

पराशर उवाच

प्रसाद्येह पुरा शर्वं मनसाचिन्तयं नृप ।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ॥ ४० ॥
वेदव्यासः श्रियावासो ब्राह्मणः करुणान्वितः ।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद् वै महेश्वरात् ॥ ४१ ॥

पराशरजीने कहा—नरेश्वर ! पूर्वकालमें यहाँ मैंने महादेवजीको प्रसन्न करके मन-ही-मन उनका चिन्तन आरम्भ किया । मेरी इस तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे महेश्वर-की कृपासे महातपस्वी, महातेजस्वी, महायोगी, महायशस्वी, दयालु, श्रीसम्पन्न एवं ब्रह्मनिष्ठ वेदव्यासनामक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त हो ॥ ४०-४१ ॥

इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः ।
मयि सम्भावना यास्याः फलात्कृष्णो भविष्यति ॥ ४२ ॥

मेरा ऐसा मनोरथ जानकर सुरश्रेष्ठ शिवने मुझसे कहा—'मुने ! तुम्हारी मेरे प्रति जो सम्भावना है अर्थात् जिस वरको पानेकी लालसा है, उसीसे तुम्हें कृष्ण नामक पुत्र प्राप्त होगा ॥

सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति ।
वेदानां च स वै वक्ता कुरुवंशकरस्तथा ॥ ४३ ॥
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः ।
भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ॥ ४४ ॥
अजरश्चामरश्चैव पराशर सुतस्तव ।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः ।

'सावर्णिक मन्वन्तरके समय जो सृष्टि होगी, उसमें तुम्हारा यह पुत्र सप्तर्षिके पदपर प्रतिष्ठित होगा तथा इस वैवस्वत मन्वन्तरमें वह वेदोंका वक्ता, कौरव-वंशका प्रवर्तक, इतिहासका निर्माता, जगत्का हितैषी तथा देवराज इन्द्रका परमप्रिय महामुनि होगा । पराशर ! तुम्हारा वह पुत्र सदा अजर-अमर रहेगा ।' युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महायोगी, शक्तिशाली, अविनाशी और निर्विकार भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४३—४५½ ॥

माण्डव्य उवाच

अचौरश्चौरशङ्कायां शूले भिन्नो ह्यहं तदा ॥ ४६ ॥
तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै नरेश्वर ।
मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ॥ ४७ ॥
रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥ ४८ ॥

माण्डव्य बोले—नरेश्वर ! मैं चोर नहीं था तो भी चोरीके संदेहमें मुझे शूलीपर चढ़ा दिया गया । वहींसे मैंने महादेवजीकी स्तुति की । तब उन्होंने मुझसे कहा—'विप्रवर ! तुम शूलसे छुटकारा पा जाओगे और दस करोड़ वर्षोंतक जीवित रहोगे । तुम्हारे शरीरमें इस शूलके धँसनेसे कोई पीड़ा नहीं होगी । तुम आधि-व्याधिसे मुक्त हो जाओगे ॥ ४६—४८ ॥

पादाच्चतुर्थात् सम्भूत आत्मा यस्मान्मुने तव ।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जन्म वै सफलं कुरु ॥ ४९ ॥

'मुने ! तुम्हारा यह शरीर धर्मके चौथे पाद सत्यसे उत्पन्न हुआ है । अतः तुम अनुपम सत्यवादी होओगे । जाओ, अपना जन्म सफल करो ॥ ४९ ॥

तीर्थाभिषेकं सकलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि ।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥ ५० ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हें बिना किसी विघ्न बाधाके सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नानका सौभाग्य प्राप्त होगा । मैं तुम्हारे लिये अक्षय एवं तेजस्वी स्वर्गलोक प्रदान करता हूँ' ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु भगवान् वरेण्यो वृषवाहनः ।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ॥ ५१ ॥
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।

महाराज ! ऐसा कहकर कृत्तिवासा, महातेजस्वी, वृषभ-वाहन तथा वरणीय सुरश्रेष्ठ भगवान् महेश्वर अपने गणोंके साथ वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५१½ ॥

गालव उवाच

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ॥ ५२ ॥
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम् ।
कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ॥ ५३ ॥
न तात तरुणं दान्तं पिता त्वां पश्यतेऽनघ ।

गालवजीने कहा—राजन् ! विश्वामित्र मुनिकी आज्ञा पाकर मैं अपने पिताजीका दर्शन करनेके लिये घरपर आया। उस समय मेरी माता वैधव्यके दुःखसे दुखी हो जोर-जोरसे रोती हुई मुझसे बोली—'तात ! अनघ ! कौशिक मुनिकी आज्ञा लेकर घरपर आये हुए वेदविद्यासे विभूषित तुझ तरुण एवं जितेन्द्रिय पुत्रको तुम्हारे पिता नहीं देख सके' ।५२-५३½।

श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ॥ ५४ ॥
नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच्च माम् ।
पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ॥ ५५ ॥
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये ।

माताकी बात सुनकर मैं पिताके दर्शनसे निराश हो गया और मनको संयममें रखकर महादेवजीकी आराधना करके उनका दर्शन किया। उस समय वे मुझसे बोले—'वत्स ! तुम्हारे पिता, माता और तुम तीनों ही मृत्युसे रहित हो जाओगे। अब तुम अपने घरमें शीघ्र प्रवेश करो। वहाँ तुम्हें पिताका दर्शन प्राप्त होगा' ॥ ५४-५५½ ॥

अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ॥ ५६ ॥
अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम् ।
उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणाकुरून् ॥ ५७ ॥

तात युधिष्ठिर ! भगवान् शिवकी आज्ञासे मैंने पुनः घर जाकर वहाँ यज्ञ करके यज्ञशालासे निकले हुए पिताका दर्शन किया। वे उस समय समिधा, कुश और वृक्षोंसे अपने-आप गिरे हुए पके फल आदि हव्य पदार्थ लिये हुए थे।५६–५७।

तान् विसृज्य च मां प्राह पिता सास्राविलेक्षणः ।
प्रणमन्तं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डव ॥ ५८ ॥
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः ।

पाण्डुनन्दन ! उन्हें देखते ही मैं उनके चरणोंमें पड़ गया; फिर पिताजीने भी उन समिधा आदि वस्तुओंको अलग रखकर मुझे हृदयसे लगा लिया और मेरा मस्तक सूँघकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए मुझसे कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विद्वान् होकर घर आ गये और मैंने तुम्हें भर आँख देख लिया' ॥ ५८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ॥ ५९ ॥
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पाण्डवः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ॥ ६० ॥
युधिष्ठिरं धर्मनिधिं पुरुहूतमिवेश्वरः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मुनियोंके कहे हुए महादेवजीके ये अद्भुत चरित्र सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ा विस्मय हुआ। फिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने धर्मनिधि युधिष्ठिरसे उसी प्रकार कहा जैसे श्रीविष्णु देवराज इन्द्रसे कोई बात कहा करते हैं ॥ ५९-६०½ ॥

वासुदेव उवाच

उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥ ६१ ॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः ।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥ ६२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! सूर्यके समान तपते हुए-से तेजस्वी उपमन्युने मेरे समीप कहा था कि 'जो पापकर्मी मनुष्य अपने अशुभ आचरणोंसे कलुषित हो गये हैं, वे तमोगुणी या रजोगुणी वृत्तिके लोग भगवान् शिवकी शरण नहीं लेते हैं ॥ ६१-६२ ॥

ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥ ६३ ॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम् ।

'जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे ही द्विज महादेवजीकी शरण लेते हैं। जो परमेश्वर शिवका भक्त है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पवित्र अन्तःकरणवाले वनवासी मुनियोंके समान है ॥ ६३½ ॥

ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥ ६४ ॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति ।

'भगवान् रुद्र संतुष्ट हो जायँ तो वे ब्रह्मपद, विष्णुपद, देवताओंसहित देवेन्द्रपद अथवा तीनों लोकोंका आधिपत्य प्रदान कर सकते हैं ॥ ६४½ ॥

मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः ॥ ६५ ॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते ।

'तात ! जो मनुष्य मनसे भी भगवान् शिवकी शरण लेते हैं, वे सब पापोंका नाश करके देवताओंके साथ निवास करते हैं ॥

भित्त्वा भित्त्वा च कूलानि हुत्वा सर्वमिदं जगत् ॥ ६६ ॥
यजेद् देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते ।

'बारंबार तालाबके तटभूमिको खोद-खोदकर उन्हें चौपट कर देनेवाला और इस सारे जगत्को जलती आगमें झोंक देनेवाला पुरुष भी यदि महादेवजीकी आराधना करता है तो वह पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ ६६½ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥ ६७ ॥
सर्वं तुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना ।

'समस्त लक्षणोंसे हीन अथवा सब पापोंसे युक्त मनुष्य भी यदि अपने हृदयसे भगवान् शिवका ध्यान करता है तो वह अपने सारे पापोंको नष्ट कर देता है ॥ ६७½ ॥

कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ॥ ६८ ॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित् ।

'केशव ! कीट, पतंग, पक्षी तथा पशु भी यदि महादेवजीकी शरणमें आ जायँ तो उन्हें भी कहीं किसीका भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ६८½ ॥

एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥ ६९ ॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥

'इसी प्रकार इस भूतलपर जो मानव महादेवजीके भक्त हैं, वे संसारके अधीन नहीं होते—यह मेरा निश्चित विचार है।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा ॥ ६९-७० ॥

विष्णुरुवाच

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च
रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपः ॥ ७१ ॥
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं
वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च
रक्षा दीक्षा संयमा ये च केचित् ॥ ७२ ॥
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी
धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च
शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त ॥ ७३ ॥
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च
स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च
लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः ॥ ७४ ॥
आभासुरा गन्धपा धूमपाश्च
वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥ ७५ ॥
चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या
ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा
यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च ॥ ७६ ॥
स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं
दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च
शर्वाज्जातं विद्धि यत् कीर्तितं मे ॥ ७७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अजमीढवंशी धर्मराज ! जो सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, स्वर्ग, भूमि, जल, वसु, विश्वेदेव, धाता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्यगण, राजा वरुण, ब्रह्मा, इन्द्र, वायुदेव, ॐकार, सत्य, वेद, यज्ञ, दक्षिणा, वेदपाठी ब्राह्मण, सोमरस, यजमान, हवनीय हविष्य, रक्षा, दीक्षा, सब प्रकारके संयम, स्वाहा, वौषट्, ब्राह्मणगण, गौ, श्रेष्ठ धर्म, कालचक्र, बल, यश, दम, बुद्धिमानोंकी स्थिति, शुभाशुभ कर्म, सप्तर्षि, श्रेष्ठ बुद्धि, मन, दर्शन, श्रेष्ठ स्पर्श, कर्मोंकी सिद्धि, ऊष्मप, सोमप, लेख, याम तथा तुषित आदि देवगण, ब्राह्मण-शरीर, दीप्तिशाली गन्धप, धूमप ऋषि, वाग्विरुद्ध और मनोविरुद्ध भाव, शुद्धभाव, निर्माण-कार्यमें तत्पर रहनेवाले देवता, स्पर्शमात्रसे भोजन करनेवाले, दर्शनमात्रसे पेय रसका पान करनेवाले, घृत पीनेवाले हैं, जिनके संकल्प करनेमात्रसे अभीष्ट वस्तु नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित होने लगती है, ऐसे जो देवताओंमें मुख्य गण हैं, जो दूसरे दूसरे देवता हैं, जो सुपर्ण, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, चारण तथा नाग हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म, कोमल, असूक्ष्म, सुख, इस लोकके दुःख, परलोकके दुःख, सांख्य, योग एवं पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षरूप परम पुरुषार्थ बताया गया है; इन सबको तुम महादेवजीसे ही उत्पन्न हुआ समझो ॥

तत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्याः
सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥ ७८ ॥

जो इस भूतलमें प्रवेश करके महादेवजीकी पूर्वकृत सृष्टिकी रक्षा करते हैं, जो समस्त जगत्के रक्षक, विभिन्न प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले और श्रेष्ठ हैं, वे सम्पूर्ण देवता भगवान् शिवसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ७८ ॥

विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः
किंचित् तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि।
ददातु देवः स वरानिहेष्टा-
नाभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥ ७९ ॥

ऋषि-मुनि तपस्याद्वारा जिसका अन्वेषण करते हैं, उस सदा स्थिर रहनेवाले अनिर्वचनीय परम सूक्ष्म तत्त्वस्वरूप सदाशिवको मैं जीवन-रक्षाके लिये नमस्कार करता हूँ। जिन अविनाशी प्रभुकी मेरेद्वारा सदा ही स्तुति की गयी है, वे महादेव यहाँ मुझे अभीष्ट वरदान दें ॥ ७९ ॥

इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च
भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं
सम्प्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥ ८० ॥

जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके पवित्र होकर इस स्तोत्रका पाठ करेगा और नियमपूर्वक एक मासतक अखण्डरूपसे इसे पाठको चलाता रहेगा, वह अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेगा ॥ ८० ॥

वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात् तु
जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम्।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च
शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥ ८१ ॥

कुन्तीनन्दन ! ब्राह्मण इसके पाठसे सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल पाता है। क्षत्रिय समस्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेता है। वैश्य व्यापारकुशलता एवं महान् लाभका

भागी होता है और शूद्र इहलोकमें सुख तथा परलोकमें सद्गति पाता है ॥ ८१ ॥

स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥ ८२ ॥

जो लोग सम्पूर्ण दोषोंका नाश करनेवाले इस पुण्यजनक पवित्र स्तवराजका पाठ करके भगवान् रुद्रके चिन्तनमें मन लगाते हैं, वे यशस्वी होते हैं ॥ ८२ ॥

यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥ ८३ ॥

भरतनन्दन ! मनुष्यके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, इस स्तोत्रका पाठ करनेवाला मनुष्य उतने ही हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मेघवाहनपर्वकी कथाविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र मुनिका वदान्य ऋषिके कहनेसे उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान, मार्गमें कुबेरके द्वारा उनका स्वागत तथा स्त्रीरूपधारिणी उत्तरदिशाके साथ उनका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं सहधर्मेति प्रोच्यते भरतर्षभ ।
पाणिग्रहणकाले तु स्त्रीणामेतत् कथं स्मृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो यह स्त्रियोंके लिये विवाहकालमें सहधर्मकी बात कही जाती है, वह किस प्रकार बतायी गयी है ? ॥ १ ॥

आर्ष एष भवेद् धर्मः प्राजापत्योऽथवाऽऽसुरः ।
यदेतत् सहधर्मेति पूर्वमुक्तं महर्षिभिः ॥ २ ॥

महर्षियोंने पूर्वकालमें जो यह स्त्री-पुरुषोंके सहधर्मकी बात कही है, यह आर्ष धर्म है या प्राजापत्य धर्म है अथवा आसुर धर्म है ? ॥ २ ॥

संदेहः सुमहानेष विरुद्ध इति मे मतिः ।
इह यः सहधर्मो वै प्रेत्यायं विहितः क नु ॥ ३ ॥

मेरे मनमें यह महान् संदेह पैदा हो गया है । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यह सहधर्मका कथन विरुद्ध है । यहाँ जो सहधर्म है, वह मृत्युके पश्चात् कहाँ रहता है ? ॥ ३ ॥

स्वर्गो मृतानां भवति सहधर्मः पितामह ।
पूर्वमेकस्तु म्रियते क चैकस्तिष्ठते वद ॥ ४ ॥

पितामह ! जब कि मरे हुए मनुष्योंका स्वर्गवास हो जाता है एवं पति और पत्नीमेंसे एककी पहले मृत्यु हो जाती है, तब एक व्यक्तिमें सहधर्म कहाँ रहता है ? यह बताइये ॥४॥

नानाधर्मफलोपेता नानाकर्मनिवासिताः ।
नानानिरयनिष्ठान्ता मानुषा बहवो यदा ॥ ५ ॥

जब बहुत-से मनुष्य नाना प्रकारके धर्मफलसे संयुक्त होते हैं, नाना प्रकारके कर्मवश विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हैं और शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग-नरक आदि नाना अवस्थाओंमें पड़ते हैं, तब वे सहधर्मका निर्वाह किस प्रकार कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति ।
यदानृताः स्त्रियस्तात सहधर्मः कुतः स्मृतः ॥ ६ ॥

धर्मसूत्रकार यह निश्चितरूपसे कहते हैं कि स्त्रियाँ असत्यपरायण होती हैं । तात ! जब स्त्रियाँ असत्यवादिनी ही हैं, तब उन्हें साथ रखकर सहधर्मका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है ? ॥ ६ ॥

अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते ।
धर्मोऽयं पूर्विका संज्ञा उपचारः क्रियाविधिः ॥ ७ ॥

वेदोंमें भी यह बात पढ़ी गयी है कि स्त्रियाँ असत्यभाषिणी होती हैं, ऐसी दशामें उनका वह असत्य भी सहधर्मके अन्तर्गत आ सकता है, किंतु असत्य कभी धर्म नहीं हो सकता; अतः दाम्पत्यधर्मको जो सहधर्म कहा गया है, यह उसकी गौण संज्ञा है । वे पति-पत्नी साथ रहकर जो भी कार्य करते हैं, उसीको उपचारतः धर्म नाम दे दिया गया है ॥ ७ ॥

गह्वरं प्रतिभात्येतन्मम चिन्तयतोऽनिशम् ।
निःसंदेहमिदं सर्वं पितामह यथाश्रुति ॥ ८ ॥

पितामह ! मैं ज्यों-ज्यों इस विषयपर विचार करता हूँ, त्यों-त्यों यह बात मुझे अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत होती है; अतः आपने इस विषयमें जो कुछ श्रुतिका विधान हो, उसके अनुसार यह सब समझाइये, जिससे मेरा संदेह दूर हो जाय ॥८॥

यदेतद् यादृशं चैतद् यथा चैतत् प्रवर्तितम् ।
निखिलेन महाप्राज्ञ भवानेतद् ब्रवीतु मे ॥ ९ ॥

महामते ! यह सहधर्म जबसे प्रचलित हुआ, जिस रूपमें सामने आया और जिस प्रकार इसकी प्रवृत्ति हुई, ये सारी बातें आप मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अष्टावक्रस्य संवादं दिशया सह भारत ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें अष्टावक्र मुनिका उत्तर दिशाकी अधिष्ठात्रीदेवीके साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥१०॥

निवेष्टुकामस्तु पुरा अष्टावक्रो महातपाः ।
ऋषेरथ वदान्यस्य वव्रे कन्यां महात्मनः ॥ ११ ॥

पूर्वकालकी बात है, महातपस्वी अष्टावक्र विवाह करना चाहते थे, उन्होंने इसके लिये महात्मा वदान्य ऋषिसे उनकी कन्या माँगी ॥ ११ ॥

सुप्रभां नाम वै नाम्ना रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
गुणप्रभावशीलेन चारित्रेण च शोभनाम् ॥ १२ ॥

उस कन्याका नाम था सुप्रभा। इस पृथ्वीपर उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। गुण, प्रभाव, शील और चरित्र सभी दृष्टियोंसे वह परम सुन्दर थी ॥ १२ ॥

सा तस्य दृष्ट्वैव मनो जहार शुभलोचना ।
वनराजी यथा चित्रा वसन्ते कुसुमाचिता ॥ १३ ॥

जैसे वसंतऋतुमें सुन्दर फूलोंसे सजी हुई विचित्र वन-श्रेणी मनुष्यके मनको लुभा लेती है, उसी प्रकार उस शुभ-लोचना मुनिकुमारीने दर्शनमात्रसे अष्टावक्रका मन चुरा लिया था ॥ १३ ॥

ऋषिस्तमाह देया मे सुता तुभ्यं हि तच्छृणु ।
(अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ह्यप्रवासी प्रियंवदः ।
सुरूपः सम्मतो वीरः शीलवान् भोगभुक्छविः॥
दारानुमतयज्ञश्च सुनक्षत्रामथोद्वहेत् ।
स्वभर्त्रा स्वजनोपेत इह प्रेत्य च मोदते ॥)
गच्छ तावद् दिशं पुण्यामुत्तरां द्रक्ष्यसे ततः ॥ १४ ॥

वदान्य ऋषिने अष्टावक्रके माँगनेपर इस प्रकार उत्तर दिया—'विप्रवर! जिसके दूसरी कोई स्त्री न हो, जो परदेशमें न रहता हो, विद्वान्, प्रिय वचन बोलनेवाला, लोकसम्मानित, वीर, सुशील, भोग भोगनेमें समर्थ, कान्तिमान् और सुन्दर पुरुष हो, उसीके साथ मुझे अपनी पुत्रीका विवाह करना है। जो स्त्रीकी अनुमतिसे यज्ञ करता और उत्तम नक्षत्रवाली कन्याको व्याहता है, वह पुरुष अपनी पत्नीके साथ तथा पत्नी अपने पतिके साथ रहकर दोनों ही इहलोक और परलोकमें आनन्द भोगते हैं। मैं तुम्हें अपनी कन्या अवश्य दे दूँगा, परंतु पहले एक बात सुनो, यहाँसे परम पवित्र उत्तर दिशाकी ओर चले जाओ। वहाँ तुम्हें उसका दर्शन होगा' ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच

किं द्रष्टव्यं मया तत्र वक्तुमर्हति मे भवान् ।
तथेदानीं मया कार्यं यथा वक्ष्यति मां भवान् ॥ १५ ॥

अष्टावक्रने पूछा—महर्षे! उत्तर दिशामें जाकर मुझे किसका दर्शन करना होगा? आप यह बतानेकी कृपा करें तथा उस समय मुझे क्या और किस प्रकार करना चाहिये, यह भी आप ही बतायेंगे ॥ १५ ॥

वदान्य उवाच

धनदं समतिक्रम्य हिमवन्तं च पर्वतम् ।
रुद्रस्यायतनं दृष्ट्वा सिद्धचारणसेवितम् ॥ १६ ॥

वदान्यने कहा—वत्स! तुम कुबेरकी अलकापुरीको लाँघकर जब हिमालय पर्वतको भी लाँघ जाओगे, तब तुम्हें सिद्धों और चारणोंसे सेवित रुद्रके निवासस्थान कैलास पर्वतका दर्शन होगा ॥ १६ ॥

संहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्भिर्विविधाननैः ।
दिव्याङ्गरागैः पैशाचैरन्यैर्नानाविधैः प्रभोः ॥ १७ ॥

वहाँ नाना प्रकारके मुखवाले भाँति-भाँतिके दिव्य अङ्ग-राग लगाये अनेकानेक पिशाच तथा अन्य भूत-वैताल आदि भगवान् शिवके पार्षदगण हर्ष और उल्लासमें भरकर नाच रहे होंगे ॥ १७ ॥

पाणितालसुतालैश्च शम्पातालैः समैस्तथा ।
सम्प्रहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ १८ ॥

वे करताल और सुन्दर ताल बजाकर शम्पा ताल देते हुए समभावसे हर्षविभोर हो जोर-जोरसे नृत्य करते हुए वहाँ भगवान् शङ्करकी सेवा करते हैं ॥ १८ ॥

इष्टं किल गिरौ स्थानं तद्दिव्यमिति शुश्रुम ।
नित्यं संनिहितो देवस्तथा ते पार्षदाः स्मृताः ॥ १९ ॥

उस पर्वतका वह दिव्य स्थान भगवान् शङ्करको बहुत प्रिय है। यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वहाँ महादेवजी तथा उनके पार्षद नित्य निवास करते हैं ॥ १९ ॥

तत्र देव्या तपस्तप्तं शङ्करार्थं सुदुश्चरम् ।
अतस्तदिष्टं देवस्य तथोमाया इति श्रुतिः ॥ २० ॥

वहाँ देवी पार्वतीने भगवान् शङ्करकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी, इसीलिये वह स्थान भगवान् शिव और पार्वतीको अधिक प्रिय है, ऐसा सुना जाता है ॥ २० ॥

पूर्वे तत्र महापार्श्वे देवस्योत्तरतस्तथा ।
ऋतवः कालरात्रिश्च ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ २१ ॥
देवं चोपासते सर्वे रूपिणः किल तत्र ह ।
तदतिक्रम्य भवनं त्वया यातव्यमेव हि ॥ २२ ॥

महादेवजीके पूर्व तथा उत्तर भागमें महापार्श्व नामक पर्वत है, जहाँ ऋतु, कालरात्रि तथा दिव्य और मानुषभाव सब-के-सब मूर्तिमान् होकर महादेवजीकी उपासना करते हैं। उस स्थानको लाँघकर तुम आगे बढ़ते ही चले जाना ॥ २१-२२ ॥

ततो नीलं वनोद्देशं द्रक्ष्यसे मेघसंनिभम् ।
रमणीयं मनोग्राहि तत्र वै द्रक्ष्यसे स्त्रियम् ॥ २३ ॥
तपस्विनीं महाभागां वृद्धां दीक्षामनुष्ठिताम् ।
द्रष्टव्या सा त्वया तत्र सम्पूज्या चैव यत्नतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर तुम्हें मेघोंकी घटाके समान नीला एक वन्य प्रदेश दिखायी देगा। वह बड़ा ही मनोरम और रमणीय है। उस वनमें तुम एक स्त्रीको देखोगे, जो तपस्विनी, महान् सौभाग्यवती, वृद्धा और दीक्षापरायण है। तुम यत्नपूर्वक वहाँ उसका दर्शन और पूजन करना ॥ २३-२४ ॥

तां दृष्ट्वा विनिवृत्तस्त्वं ततः पाणिं ग्रहीष्यसि ।
यद्येष समयः सर्वः साध्यतां तत्र गम्यताम् ॥ २५ ॥

उसे देखकर लौटनेपर ही तुम मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कर सकोगे। यदि यह सारी शर्त स्वीकार हो तो इसे पूरी करनेमें लग जाओ और अभी वहाँकी यात्रा आरम्भ कर दो ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

तथास्तु साधयिष्यामि तत्र यास्याम्यसंशयम्।
यत्र त्वं वदसे साधो भवान् भवतु सत्यवाक् ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले—ऐसा ही होगा, मैं यह शर्त पूरी करूँगा। श्रेष्ठ पुरुष ! आप जहाँ कहते हैं, वहाँ अवश्य जाऊँगा। आपकी वाणी सत्य हो ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽगच्छत् स भगवानुत्तरामुत्तरां दिशम्।
हिमवन्तं गिरिश्रेष्ठं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २७ ॥
स गत्वा द्विजशार्दूलो हिमवन्तं महागिरिम्।
अभ्यगच्छन्नदीं पुण्यां बाहुदां धर्मशालिनीम् ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भगवान् अष्टावक्र उत्तरोत्तर दिशाकी ओर चल दिये। सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिश्रेष्ठ महापर्वत हिमालयपर पहुँचकर वे श्रेष्ठ द्विज धर्मसे शोभा पानेवाली पुण्यमयी बाहुदा नदीके तटपर गये ॥ २७-२८ ॥

अशोके विमले तीर्थे स्नात्वा वै तर्प्य देवताः।
तत्र वासाय शयने कौशे सुखमुवास ह ॥ २९ ॥

वहाँ निर्मल अशोक तीर्थमें स्नान करके देवताओंका तर्पण करनेके पश्चात् उन्होंने कुशकी चटाईपर सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय स द्विजः।
स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निं स्तुत्वा चैनं प्रधानतः ॥ ३० ॥
रुद्राणीं रुद्रमासाद्य ह्रदे तत्र समाश्वसत्।
विश्रान्तश्च समुत्थाय कैलासमभितो ययौ ॥ ३१ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर वे द्विज प्रातःकाल उठे और उन्होंने स्नान करके अग्निदेवको प्रज्वलित किया। फिर मुख्य-मुख्य वैदिक मन्त्रोंसे अग्निदेवकी स्तुति करके 'रुद्राणी रुद्र' नामक तीर्थमें गये और वहाँ सरोवरके तटपर कुछ कालतक विश्राम करते रहे। विश्रामके पश्चात् उठकर वे कैलासकी ओर चल दिये ॥ ३०-३१ ॥

सोऽपश्यत् काञ्चनद्वारं दीप्यमानमिव श्रिया।
मन्दाकिनीं च नलिनीं धनदस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्होंने कुबेरकी अलकापुरीका सुवर्णमय द्वार देखा, जो दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान हो रहा था। वहीं महात्मा कुबेरकी कमलपुष्पोंसे सुशोभित एक बावड़ी देखी, जो गङ्गाजीके जलसे परिपूर्ण होनेके कारण मन्दाकिनी नामसे विख्यात थी ॥ ३२ ॥

अथ ते राक्षसाः सर्वे येऽभिरक्षन्ति पद्मिनीम्।
प्रत्युत्थिता भगवन्तं मणिभद्रपुरोगमाः ॥ ३३ ॥

वहाँ जो उस पद्मपूर्ण पुष्करिणीकी रक्षा कर रहे थे, वे सब मणिभद्र आदि राक्षस भगवान् अष्टावक्रको देखकर उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ॥ ३३ ॥

स तान् प्रत्यर्चयामास राक्षसान् भीमविक्रमान्।
निवेदयत मां क्षिप्रं धनदायेति चाब्रवीत् ॥ ३४ ॥

मुनिने भी उन भयंकर पराक्रमी राक्षसोंके प्रति सम्मान प्रकट किया और कहा, 'आपलोग शीघ्र ही धनपति कुबेरको मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ३४ ॥

ते राक्षसास्तथा राजन् भगवन्तमथाब्रुवन्।
असौ वैश्रवणो राजा स्वयमायाति तेऽन्तिकम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! वे राक्षस वैसा करके भगवान् अष्टावक्रसे बोले—'प्रभो ! राजा कुबेर स्वयं ही आपके निकट पधार रहे हैं ॥ ३५ ॥

विदितो भगवानस्य कार्यमागमनस्य यत्।
पश्यैनं त्वं महाभागं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ३६ ॥

'आपका आगमन और इस आगमनका जो उद्देश्य है, वह सब कुछ कुबेरको पहलेसे ही ज्ञात है। देखिये, ये महाभाग धनाध्यक्ष अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए आ रहे हैं' ॥ ३६ ॥

ततो वैश्रवणोऽभ्येत्य अष्टावक्रमनिन्दितम्।
विधिवत्कुशलं पृष्ट्वा ततो ब्रह्मर्षिमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर विश्रवाके पुत्र कुबेरने निकट आकर निन्दारहित ब्रह्मर्षि अष्टावक्रसे विधिपूर्वक कुशल-समाचार पूछते हुए कहा— ॥ ३७ ॥

सुखं प्राप्तो भवान् कच्चित् किं वा मत्तश्चिकीर्षति।
ब्रूहि सर्वं करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि वै द्विज ॥ ३८ ॥

'ब्रह्मन् ! आप सुखपूर्वक यहाँ आये हैं न ? बताइये मुझसे किस कार्यकी सिद्धि चाहते हैं ? आप मुझसे जो-जो कहेंगे, वह सब पूर्ण करूँगा ॥ ३८ ॥

भवनं प्रविश त्वं मे यथाकामं द्विजोत्तम।
सत्कृतः कृतकार्यश्च भवान् यास्यत्यविघ्नतः ॥ ३९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आप इच्छानुसार मेरे भवनमें प्रवेश कीजिये और यहाँका सत्कार ग्रहण करके कृतकृत्य हो आप यहाँसे निर्विघ्न यात्रा कीजियेगा ॥ ३९ ॥

प्राविशद् भवनं स्वं वै गृहीत्वा तं द्विजोत्तमम्।
आसनं स्वं ददौ चैव पाद्यमर्घ्यं तथैव च ॥ ४० ॥

ऐसा कहकर कुबेरने विप्रवर अष्टावक्रको साथ लेकर अपने भवनमें प्रवेश किया और उन्हें पाद्य, अर्घ्य तथा अपना आसन दिया ॥ ४० ॥

अथोपविष्टयोस्तत्र मणिभद्रपुरोगमाः।
निषेदुस्तत्र कौबेरा यक्षगन्धर्वकिंनराः ॥ ४१ ॥

जब कुबेर और अष्टावक्र दोनों वहाँ आरामसे बैठ गये,

तब कुबेरके सेवक मणिभद्र आदि यक्ष, गन्धर्व और किन्नर भी नीचे बैठ गये ॥ ४१ ॥

ततस्तेषां निषण्णानां धनदो वाक्यमब्रवीत्।
भवच्छन्दं समाज्ञाय नृत्येरन्नप्सरोगणाः ॥ ४२ ॥
आतिथ्यं परमं कार्यं शुश्रूषा भवतस्तथा।
संवर्ततामित्युवाच मुनिर्मधुरया गिरा ॥ ४३ ॥

उन सबके बैठ जानेपर कुबेरने कहा—'आपकी इच्छा हो तो उसे जानकर यहाँ अप्सराएँ नृत्य करें; क्योंकि आपका आतिथ्य-सत्कार और सेवा करना हमलोगोंका परम कर्तव्य है।' तब मुनिने मधुर वाणीमें कहा, 'तथास्तु—ऐसा ही हो' ॥ ४२-४३ ॥

अथोर्वरा मिश्रकेशी रम्भा चैवोर्वशी तथा।
अलम्बुषा घृताची च चित्रा चित्राङ्गदा रुचिः ॥ ४४ ॥
मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा।
विद्युता प्रशमी दान्ता विद्योता रतिरेव च ॥ ४५ ॥
एताश्चान्याश्च वै बह्व्यः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः।
अवादयंश्च गन्धर्वा वाद्यानि विविधानि च ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उर्वरा, मिश्रकेशी, रम्भा, उर्वशी, अलम्बुषा, घृताची, चित्रा, चित्राङ्गदा, रुचि, मनोहरा, सुकेशी, सुमुखी, हासिनी, प्रभा, विद्युता, प्रशमी, दान्ता, विद्योता और रति—ये तथा और भी बहुत-सी शुभलक्षणा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्वगण नाना प्रकारके बाजे बजाने लगे ॥ ४४–४६ ॥

अथ प्रवृत्ते गान्धर्वे दिव्ये ऋषिरुपाविशत्।
दिव्यं संवत्सरं तत्रारमतैष महातपाः ॥ ४७ ॥

वह दिव्य नृत्य-गीत आरम्भ होनेपर महातपस्वी ऋषि अष्टावक्र भी दर्शक-मण्डलीमें आ बैठे और वे देवताओंके वर्षसे एक वर्षतक इसी आमोद-प्रमोदमें रमते रहे ॥ ४७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा भगवन्तमुवाच ह।
साग्रः संवत्सरो जातो विप्रेह तव पश्यतः ॥ ४८ ॥

तब राजा वैश्रवण (कुबेर) ने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'विप्रवर ! यहाँ नृत्य देखते हुए आपका एक वर्षसे कुछ अधिक समय व्यतीत हो गया है ॥ ४८ ॥

हार्योऽयं विषयो ब्रह्मन् गान्धर्वो नाम नामतः।
छन्दतो वर्ततां विप्र यथा वदति वा भवान् ॥ ४९ ॥

'ब्रह्मन् ! यह नृत्य-गीतका विषय जिसे 'गान्धर्व' नाम दिया गया है, बड़ा मनोहारी है; अतः यदि आपकी इच्छा हो तो यह आयोजन कुछ दिन और इसी तरह चलता रहे अथवा विप्रवर ! आप जैसी आज्ञा दें वैसा किया जाय ॥

अतिथिः पूजनीयस्त्वमिदं च भवतो गृहम्।
सर्वमाज्ञाप्यतामाशु परवन्तो वयं त्वयि ॥ ५० ॥

'आप मेरे पूजनीय अतिथि हैं। यह घर आपका ही है। आप निस्संकोच भावसे शीघ्र ही सभी कार्योंके लिये हमें आज्ञा दें। हम आपके वशवर्ती किङ्कर हैं' ॥ ५० ॥

अथ वैश्रवणं प्रीतो भगवान् प्रत्यभाषत।
अर्चितोऽस्मि यथान्यायं गमिष्यामि धनेश्वर ॥ ५१ ॥

तब अत्यन्त प्रसन्न हुए भगवान् अष्टावक्रने कुबेरसे कहा—'धनेश्वर ! आपने यथोचित रूपसे मेरा सत्कार किया है। अब आज्ञा दें, मैं यहाँसे जाऊँगा ॥ ५१ ॥

प्रीतोऽस्मि सदृशं चैव तव सर्वं धनाधिप।
तव प्रसादाद् भगवन् महर्षेश्च महात्मनः ॥ ५२ ॥
नियोगादद्य यास्यामि वृद्धिमानृद्धिमान् भव।
अथ निष्क्रम्य भगवान् प्रययावुत्तरामुखः ॥ ५३ ॥

'धनाधिप ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपकी सारी बातें आपके अनुरूप ही हैं। भगवन् ! अब मैं आपकी कृपासे उन महात्मा महर्षि वदान्यकी आज्ञाके अनुसार आगे जाऊँगा। आप अभ्युदयशील एवं समृद्धिशाली हों।' इतना कहकर भगवान् अष्टावक्र उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये ॥

कैलासं मन्दरं हैमं सर्वाननुचचार ह।

एवं समूचे कैलास, मन्दराचल और हिमालयपर विचरण करने लगे ॥ ५३½ ॥

तानतीत्य महाशैलान् कैरातं स्थानमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
प्रदक्षिणं तथा चक्रे प्रयतः शिरसा नतः।
धरणीमवतीर्याथ पूतात्मासौ तदाभवत् ॥ ५५ ॥

उन बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघकर यतचित्त हो उन्होंने किरातवेषधारी महादेवजीके उत्तम स्थानकी परिक्रमा की और उसे मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर नीचे पृथ्वीपर उतरकर वे उस स्थानके माहात्म्यसे तत्काल पवित्रात्मा हो गये ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा त्रिः शैलं चोत्तरामुखः।
समेन भूमिभागेन ययौ प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ५६ ॥

तीन बार उस पर्वतकी परिक्रमा करके वे उत्तराभिमुख हो समतल भूमिसे प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ५६ ॥

ततोऽपरं वनोद्देशं रमणीयमपश्यत।
सर्वर्तुभिर्मूलफलैः पक्षिभिश्च समन्वितैः ॥ ५७ ॥
रमणीयैर्वनोद्देशैस्तत्र तत्र विभूषितम्।

आगे जानेपर उन्हें एक दूसरी रमणीय वनस्थली दिखायी दी, जो सभी ऋतुओंके फल-मूलों, पक्षिसमूहों और मनोरम वनप्रान्तोंसे जहाँ-तहाँ शोभासम्पन्न हो रही थी ॥

तत्राश्रमपदं दिव्यं ददर्श भगवानथ ॥ ५८ ॥
शैलांश्च विविधाकारान् काञ्चनान् रत्नभूषितान्।
मणिभूमौ निविष्टाश्च पुष्करिण्यस्तथैव च ॥ ५९ ॥

वहाँ भगवान् अष्टावक्रने एक दिव्य आश्रम देखा। उस आश्रमके चारों ओर नाना प्रकारके सुवर्णमय एवं रत्न-भूषित पर्वत शोभा पा रहे थे। वहाँकी मणिमयी भूमिपर कई सुन्दर बावड़ियाँ बनी थीं ॥ ५८-५९ ॥

अन्यान्यपि सुरम्याणि पश्यतः सुबहून्यथ।

भृशं तस्य मनो रेमे महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ६० ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से सुरम्य दृश्य वहाँ दिखायी देते थे। उन सबको देखते हुए उन भावितात्मा महर्षिका मन वहाँ विशेष आनन्दका अनुभव करने लगा ॥ ६० ॥

स तत्र काञ्चनं दिव्यं सर्वरत्नमयं गृहम्।
ददर्शाद्भुतसंकाशं धनदस्य गृहाद् वरम् ॥ ६१ ॥

महर्षिने उस प्रदेशमें एक दिव्य सुवर्णमय भवन देखा, जिसमें सब प्रकारके रत्न जड़े गये थे। वह मनोहर गृह कुबेरके राजभवनसे भी सुन्दर, श्रेष्ठ एवं अद्भुत था ॥ ६१ ॥

महान्तो यत्र विविधा मणिकाञ्चनपर्वताः।
विमानानि च रम्याणि रत्नानि विविधानि च ॥ ६२ ॥

वहाँ भाँति-भाँतिके मणिमय और सुवर्णमय विशाल पर्वत शोभा पाते थे। अनेकानेक सुरम्य विमान तथा नाना प्रकारके रत्न दृष्टिगोचर होते थे ॥ ६२ ॥

मन्दारपुष्पैः संकीर्णा तथा मन्दाकिनीं नदीम्।
स्वयंप्रभाश्च मणयो वज्रैर्भूमिश्च भूषिता ॥ ६३ ॥

उस प्रदेशमें मन्दाकिनी नदी प्रवाहित होती थी, जिसके स्रोतमें मन्दारके पुष्प बह रहे थे। वहाँ स्वयं प्रकाशित होनेवाली मणियाँ अपनी अद्भुत छटा बिखेर रही थीं। वहाँकी भूमि हीरोंसे जड़ी गयी थी ॥ ६३ ॥

नानाविधैश्च भवनैर्विचित्रमणितोरणैः।
मुक्ताजालविनिक्षिप्तैर्मणिरत्नविभूषितैः ॥ ६४ ॥
मनोदृष्टिहरै रम्यैः सर्वतः संवृतं शुभैः।
ऋषिभिश्चावृतं तत्र आश्रमं तं मनोहरम् ॥ ६५ ॥

उस आश्रमके चारों ओर विचित्र मणिमय तोरणोंसे सुशोभित, मोतीकी झालरोंसे अलंकृत तथा मणि एवं रत्नोंसे विभूषित सुन्दर भवन शोभा पा रहे थे। वे मनको मोह लेनेवाले तथा दृष्टिको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले थे। उन मङ्गलमय भवनोंसे घिरा और ऋषि-मुनियोंसे भरा हुआ वह आश्रम बड़ा मनोहर जान पड़ता था ॥

ततस्तस्याभवच्चिन्ता कुत्र वासो भवेदिति।
अथ द्वारं समभितो गत्वा स्थित्वा ततोऽब्रवीत् ॥ ६६ ॥

वहाँ पहुँचकर अष्टावक्रके मनमें यह चिन्ता हुई कि अब कहाँ ठहरा जाय। यह विचार उठते ही वे प्रमुख द्वारके समीप गये और खड़े होकर बोले— ॥ ६६ ॥

अतिथिं समनुप्राप्तमभिजानन्तु येऽत्र वै।
अथ कन्याः परिवृता गृहात् तस्माद् विनिर्गताः ॥ ६७ ॥
नानारूपाः सप्त विभो कन्याः सर्वा मनोहराः।
यां यामपश्यत् कन्यां वै सा सा तस्य मनोऽहरत् ॥ ६८ ॥

'इस घरमें जो लोग रहते हों, उन्हें यह विदित होना चाहिये कि मैं एक अतिथि यहाँ आया हूँ।' उनके इस प्रकार कहते ही उस घरसे एक साथ सात कन्याएँ निकलीं। वे सब-की-सब भिन्न-भिन्न रूपवाली तथा बड़ी मनोहर थीं। विभो! अष्टावक्र मुनि उनमेंसे जिस-जिस कन्याकी ओर देखते, वही-वही उनका मन हर लेती थी ॥ ६७-६८ ॥

न च शक्तो वारयितुं मनोऽस्याथावसीदति।
ततो धृतिः समुत्पन्ना तस्य विप्रस्य धीमतः ॥ ६९ ॥

वे अपने मनको रोक नहीं पाते थे। बलपूर्वक रोकनेपर उनका मन शिथिल होता जाता था। तदनन्तर उन बुद्धिमान् ब्राह्मणके हृदयमें किसी तरह धैर्य उत्पन्न हुआ ॥ ६९ ॥

अथ तं प्रमदाः प्राहुर्भगवान् प्रविशत्विति।
स च तासां सुरूपाणां तस्यैव भवनस्य हि ॥ ७० ॥
कौतूहलं समाविष्टः प्रविवेश गृहं द्विजः।

तत्पश्चात् वे सातों तरुणी स्त्रियाँ बोलीं—'भगवन्! आप घरके भीतर प्रवेश करें।' ऋषिके मनमें उन सुन्दरियोंके तथा उस घरके विषयमें कौतूहल पैदा हो गया था; अतः उन्होंने उस घरमें प्रवेश किया ॥ ७०½ ॥

तत्रापश्यज्जरायुक्तामरजोऽम्बरधारिणीम् ॥ ७१ ॥
वृद्धां पर्यङ्कमासीनां सर्वाभरणभूषिताम्।

वहाँ उन्होंने एक जराजीर्ण वृद्धा स्त्रीको देखा, जो निर्मल वस्त्र धारण किये समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो पलँगपर बैठी हुई थी ॥ ७१½ ॥

स्वस्तीति तेन चैवोक्ता सा स्त्री प्रत्यवदत् तदा ॥ ७२ ॥
प्रत्युत्थाय च तं विप्रमास्यतामित्युवाच ह।

अष्टावक्रने 'स्वस्ति' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। वह स्त्री उनके स्वागतके लिये पलँगसे उठकर खड़ी हो गयी और इस प्रकार बोली—'विप्रवर! बैठिये' ॥ ७२½ ॥

अष्टावक्र उवाच

सर्वाः स्वानालयान् यान्तु एका मामुपतिष्ठतु ॥ ७३ ॥
प्रज्ञाता या प्रशान्ता या शेषा गच्छन्तु स्वच्छन्दतः।

अष्टावक्रने कहा—सारी स्त्रियाँ अपने-अपने घरको चली जायँ। केवल एक ही मेरे पास रह जाय। जो ज्ञानवती तथा मन और इन्द्रियोंको शान्त रखनेवाली हो, उसीको यहाँ रहना चाहिये। शेष स्त्रियाँ अपनी इच्छाके अनुसार जा सकती हैं ॥ ७३½ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य कन्यास्तास्तमृषिं तदा ॥ ७४ ॥
निश्चक्रमुर्गृहात् तस्मात् सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत।

तदनन्तर वे सब कन्याएँ उस समय ऋषिकी परिक्रमा करके उस घरसे निकल गयीं। केवल वह वृद्धा ही वहाँ ठहरी रही ॥ ७४½ ॥

अथ तां संविशन् प्राह शयने भास्वरे तदा ॥ ७५ ॥
त्वयापि सुप्यतां भद्रे रजनी ह्यतिवर्तते।

तत्पश्चात् उज्ज्वल एवं प्रकाशमान शय्यापर सोते हुए ऋषिने उस वृद्धासे कहा—'भद्रे! अब तुम भी सो जाओ। रात अधिक बीत चली है' ॥ ७५½ ॥

संलापात् तेन विप्रेण तथा सा तत्र भाषिता ॥ ७६ ॥

द्वितीये शयने दिव्ये संविवेश महाप्रभे।

बातचीतके प्रसङ्गमें उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर वह भी दूसरे अत्यन्त प्रकाशमान दिव्य पलँगपर सो रही ॥ ७६½ ॥

अथ सा वेपमानाङ्गी निमित्तं शीतजं तदा ॥ ७७ ॥
व्यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं व्यवरोहत।
स्वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत ॥ ७८ ॥

थोड़ी ही देरमें वह सरदी लगनेका बहाना करके थरथर काँपती हुई आयी और महर्षिकी शय्यापर आरूढ़ हो गयी। पास आनेपर भगवान् अष्टावक्रने 'आइये, स्वागत है' ऐसा कहकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया ॥ ७७-७८ ॥

सोपागूहद् भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ।
निर्विकारमृषिं चापि काष्ठकुड्योपमं तदा ॥ ७९ ॥

नरश्रेष्ठ! उसने प्रेमपूर्वक दोनों भुजाओंसे ऋषिका आलिङ्गन कर लिया तो भी उसने देखा, ऋषि अष्टावक्र सूखे काठ और दीवारके समान विकारशून्य हैं ॥ ७९ ॥

दुःखिता प्रेक्ष्य संजल्पमकार्षीदृषिणा सह।
ब्रह्मन्नकामतोऽन्यास्ति स्त्रीणां पुरुषतो धृतिः ॥ ८० ॥
कामेन मोहिता चाहं त्वां भजन्तीं भजस्व माम्।
प्रहृष्टो भव विप्रर्षे समागच्छ मया सह ॥ ८१ ॥

उनकी ऐसी स्थिति देख वह बहुत दुखी हो गयी और मुनिसे इस प्रकार बोली—'ब्रह्मन्! पुरुषको अपने समीप पाकर उसके काम-व्यवहारको छोड़कर और किसी बातसे स्त्री-को धैर्य नहीं रहता। मैं कामसे मोहित होकर आपकी सेवामें आयी हूँ। आप मुझे स्वीकार कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप प्रसन्न हों और मेरे साथ समागम करें ॥ ८०-८१ ॥

उपगूह च मां विप्र कामार्ताहं भृशं त्वयि।
एतद्धि तव धर्मात्मंस्तपसः पूज्यते फलम् ॥ ८२ ॥

'विप्रवर! आप मेरा आलिङ्गन कीजिये। मैं आपके प्रति अत्यन्त कामातुर हूँ। धर्मात्मन्! यही आपकी तपस्याका प्रशस्त फल है ॥ ८२॥

प्रार्थितं दर्शनादेव भजमानां भजस्व माम्।
मम चेदं धनं सर्वं यच्चान्यदपि पश्यसि ॥ ८३ ॥
प्रभुस्त्वं भव सर्वत्र मयि चैव न संशयः।
सर्वान् कामान् विधास्यामि रमस्व सहितो मया ॥ ८४ ॥

'मैं आपको देखते ही आपके प्रति अनुरक्त हो गयी हूँ; अतः आप मुझ सेविकाको अपनाइये। मेरा यह सारा धन तथा और जो कुछ आप देख रहे हैं, उस सबके तथा मेरे भी आप ही स्वामी हैं—इसमें संशय नहीं है। आप मेरे साथ रमण कीजिये। मैं आपकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करूँगी ॥

रमणीये वने विप्र सर्वकामफलप्रदे।
त्वद्वशाहं भविष्यामि रंस्यसे च मया सह ॥ ८५ ॥

'ब्रह्मन्! सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलको देनेवाले इस रमणीय वनमें मैं आपके अधीन होकर रहूँगी। आप मेरे साथ रमण कीजिये ॥ ८५ ॥

सर्वान् कामानुपाश्नीमो ये दिव्या ये च मानुषाः।
नातः परं हि नारीणां विद्यते च कदाचन ॥ ८६ ॥
यथा पुरुषसंसर्गः परमेतद्धि नः फलम्।

'हमलोग यहाँ दिव्य और मनुष्यलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करेंगे। स्त्रियोंके लिये पुरुषसंसर्ग जितना प्रिय है, उससे बढ़कर दूसरा कोई फल कदापि प्रिय नहीं होता। यही हमारे लिये सर्वोत्तम फल है ॥ ८६½ ॥

आत्मच्छन्देन वर्तन्ते नार्यो मन्मथचोदिताः ॥ ८७ ॥
न च दह्यन्ति गच्छन्त्यः सुतप्तैरपि पांसुभिः।

'कामसे प्रेरित हुई नारियाँ सदा अपनी इच्छाके अनुसार बर्ताव करती हैं। कामसे संतप्त होनेपर वे तपी हुई धूलमें भी चलती हैं; परंतु इससे उनके पैर नहीं जलते हैं' ॥ ८७½ ॥

अष्टावक्र उवाच

परदारानहं भद्रे न गच्छेयं कथंचन ॥ ८८ ॥
दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम्।

अष्टावक्र बोले—भद्रे! मैं परायी स्त्रीके साथ किसी तरह संसर्ग नहीं कर सकता; क्योंकि धर्मशास्त्रके विद्वानोंने परस्त्रीसमागमकी निन्दा की है ॥ ८८½ ॥

भद्रे निवेष्टुकामं मां विद्धि सत्येन वै शपे ॥ ८९ ॥
विषयेष्वनभिज्ञोऽहं धर्मार्थं किल संततिः।
एवं लोकान् गमिष्यामि पुत्रैरिति न संशयः ॥ ९० ॥
भद्रे धर्मं विजानीहि ज्ञात्वा चोपरमस्व ह।

भद्रे! मैं सत्यकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि एक मनो-नीत मुनिकुमारीके साथ विवाह करना चाहता हूँ। तुम इसे ठीक समझो। मैं विषयोंसे अनभिज्ञ हूँ। केवल धर्मके लिये संतानकी प्राप्ति मुझे अभीष्ट है; अतः यही मेरे विवाहका उद्देश्य है। ऐसा होनेपर मैं पुत्रोंद्वारा अभीष्ट लोकोंमें जाऊँगा। इसमें संशय नहीं है। भद्रे! तुम धर्मको समझो और उसे समझकर इस स्वेच्छाचारसे निवृत्त हो जाओ ॥ ८९-९०½ ॥

स्त्र्युवाच

नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज ॥ ९१ ॥
प्रियाः स्त्रीणां यथा कामो रतिशीला हि योषितः।
सहस्रे किल नारीणां प्राप्येतैका कदाचन ॥ ९२ ॥
तथा शतसहस्रेषु यदि काचित् पतिव्रता।

स्त्री बोली—ब्रह्मन्! वायु, अग्नि, वरुण तथा अन्य देवता भी स्त्रियोंको वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसा उन्हें काम प्रिय लगता है; क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः रतिकी इच्छुक होती हैं। सहस्रों नारियोंमें कभी कोई एक ऐसी स्त्री मिलती है, जो

रतिलोलुप न हो तथा लाखों स्त्रियोंमें शायद ही कोई एक पतिव्रता मिल सके ॥ ९१-९२½ ॥

नैता जानन्ति पितरं न कुलं न च मातरम् ॥ ९३ ॥
न भ्रातॄन् न च भर्तारं न च पुत्रान् न देवरान् ।
लीलायन्त्यः कुलं घ्नन्ति कूलानीव सरिद्वराः ।
दोषान् सर्वांश्च मत्वाऽऽशु प्रजापतिरभाषत ॥ ९४ ॥

ये स्त्रियाँ न पिताको जानती हैं न माताको, न कुलको समझती हैं न भाइयोंको । पति, पुत्र तथा देवरोंकी भी ये परवा नहीं करती हैं । अपने लिये रतिकी इच्छा रखकर ये समस्त कुलकी मर्यादाका नाश कर डालती हैं, ठीक उसी तरह जैसे बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तटोंको ही तोड़-फोड़ देती हैं । इन सब दोषोंको समझकर ही प्रजापतिने स्त्रियोंके विषयमें उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ९३-९४ ॥

भीष्म उवाच

ततः स ऋषिरेकाग्रस्तां स्त्रियं प्रत्यभाषत ।
आस्यतां रुचितश्छन्दः किं च कार्यं ब्रवीहि मे ॥ ९५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब ऋषिने एकाग्रचित्त होकर उस स्त्रीसे कहा—'चुप रहो । मनमें भोगकी रुचि होनेपर स्वेच्छाचार होता है । मेरी रुचि नहीं है, अतः मुझसे यह काम नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त यदि मुझसे कोई काम हो तो बताओ' ॥ ९५ ॥

सा स्त्री प्रोवाच भगवन् द्रक्ष्यसे देशकालतः ।
वस तावन्महाभाग कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ९६ ॥

उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! महाभाग ! देश और कालके अनुसार आपको अनुभव हो जायगा । आप यहाँ रहिये, कृतकृत्य हो जाइयेगा' ॥ ९६ ॥

ब्रह्मर्षिस्तामथोवाच स तथेति युधिष्ठिर ।
वत्स्येऽहं यावदुत्साहो भवत्या नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर ! तब ब्रह्मर्षिने उससे कहा—'ठीक है, जबतक मेरे मनमें यहाँ रहनेका उत्साह होगा, तबतक आपके साथ रहूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ९७ ॥

अथर्षिरभिसम्प्रेक्ष्य स्त्रियं तां जरयार्दिताम् ।
चिन्तां परमिकां भेजे संतप्त इव चाभवत् ॥ ९८ ॥

इसके बाद ऋषि उस स्त्रीको जरावस्थासे पीड़ित देख बड़ी चिन्तामें पड़ गये और संतप्त-से हो उठे ॥ ९८ ॥

यद् यदङ्गं हि सोऽपश्यत् तस्या विप्रर्षभस्तदा ।
नारमत् तत्र तत्रास्य दृष्टी रूपविरागिता ॥ ९९ ॥

विप्रवर अष्टावक्र उसका जो-जो अङ्ग देखते थे, वहाँ-वहाँ उनकी दृष्टि रमती नहीं थी, अपितु उसके रूपसे विरक्त हो उठती थी ॥ ९९ ॥

देवतेयं गृहस्यास्य शापात् किं नु विरूपिता ।
अस्याश्च कारणं वेत्तुं न युक्तं सहसा मया ॥१००॥

वे सोचने लगे 'यह नारी तो इस घरकी अधिष्ठात्री देवी है । फिर इसे इतना कुरूप किसने बना दिया ? इसकी कुरूपताका कारण क्या है ? इसे किसीका शाप तो नहीं लग गया । इसकी कुरूपताका कारण जाननेके लिये सहसा चेष्टा करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥ १०० ॥

इति चिन्ताविविक्तस्य तमर्थं ज्ञातुमिच्छतः ।
व्यगच्छत् तदहःशेषं मनसा व्याकुलेन तु ॥१०१॥

इस प्रकार व्याकुल चित्तसे एकान्तमें बैठकर चिन्ता करते और उसकी कुरूपताका कारण जाननेकी इच्छा रखते हुए महर्षिका वह सारा दिन बीत चला ॥ १०१ ॥

अथ सा स्त्री तथोवाच भगवन् पश्य वै रवेः ।
रूपं संध्याभ्रसंरक्तं किमुपस्थाप्यतां तव ॥१०२॥

तब उस स्त्रीने कहा—'भगवन् ! देखिये, सूर्यका रूप संध्याकी लालीसे लाल हो गया है । इस समय आपके लिये कौन-सी वस्तु प्रस्तुत की जाय ?' ॥ १०२ ॥

स उवाच ततस्तां स्त्रीं स्नानोदकमिहानय ।
उपासिष्ये ततः संध्यां वाग्यतो नियतेन्द्रियः ॥१०३॥

तब ऋषिने उस स्त्रीसे कहा—'मेरे नहानेके लिये यहाँ जल ले आओ । स्नानके पश्चात् मैं मौन होकर इन्द्रियसंयमपूर्वक संध्योपासना करूँगा' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १०५ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तर दिशाका संवाद

भीष्म उवाच

अथ सा स्त्री तमुवाच बाढमेवं भवत्विति ।
तैलं दिव्यमुपादाय स्नानशाटीमुपानयत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऋषिकी बात सुनकर उस स्त्रीने कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यों कहकर वह दिव्य तेल और स्नानोपयोगी वस्त्र ले आयी ॥ १ ॥

अनुज्ञाता च मुनिना सा स्त्री तेन महात्मना ।
अथास्य तैलेनाङ्गानि सर्वाण्येवाभ्यमृक्षत ॥ २ ॥

फिर उन महात्मा मुनिकी आज्ञा लेकर उस स्त्रीने उनके सारे अङ्गोंमें तेलकी मालिश की ॥ २ ॥

शनैश्चोत्सादितस्तत्र स्नानशालामुपागमत्।
भद्रासनं ततश्चित्रमृषिरन्वगमन्नवम् ॥ ३ ॥

फिर उसके उठानेपर वे धीरेसे वहाँ स्नानगृहमें गये। वहाँ ऋषिको एक विचित्र एवं नूतन चौकी प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

अथोपविष्टश्च यदा तस्मिन् भद्रासने तदा।
स्नापयामास शनकैस्तमृषिं सुखहस्तवत् ॥ ४ ॥

जब वे उस सुन्दर चौकीपर बैठ गये, तब उस स्त्रीने धीरे-धीरे हाथोंके कोमल स्पर्शसे उन्हें नहलाया ॥ ४ ॥

दिव्यं च विधिवच्चक्रे सोपचारं मुनेस्तदा।
स तेन सुसुखोष्णेन तस्या हस्तसुखेन च ॥ ५ ॥
व्यतीतां रजनीं कृत्स्नां नाजानात् स महाव्रतः।

उसने मुनिके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण दिव्य सामग्री प्रस्तुत की। वे महाव्रतधारी मुनि उसके दिये हुए कुछ-कुछ गरम होनेके कारण सुखदायक जलसे नहाकर उसके हाथोंके सुखद स्पर्शसे सेवित होकर इतने आनन्दविभोर हो गये कि कब सारी रात बीत गयी ? इसका उन्हें ज्ञान ही नहीं हुआ ॥ ५½ ॥

तत उत्थाय स मुनिस्तदा परमविस्मितः ॥ ६ ॥
पूर्वस्यां दिशि सूर्यं च सोऽपश्यदुदितं दिवि।
तस्य बुद्धिरियं किं नु मोहस्तत्त्वमिदं भवेत् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे मुनि अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उठ बैठे। उन्होंने देखा कि पूर्व-दिशाके आकाशमें सूर्यदेवका उदय हो गया है। वे सोचने लगे, क्या यह मेरा मोह है या वास्तवमें सूर्योदय हो गया है ॥ ६-७ ॥

अथोपास्य सहस्रांशुं किं करोमीत्युवाच ताम्।
सा चामृतरसप्रख्यं ऋषेरन्नमुपाहरत् ॥ ८ ॥

फिर तो तत्काल स्नान, संध्योपासना और सूर्योपस्थान करके उससे बोले, 'अब क्या करूँ ?' तब उस स्त्रीने ऋषिके समक्ष अमृतरसके समान मधुर अन्न परोसकर रक्खा ॥ ८ ॥

तस्य स्वादुतयान्नस्य न प्रभूतं चकार सः।
व्यगमच्चाप्यहःशेषं ततः संध्यागमत् पुनः ॥ ९ ॥

उस अन्नके स्वादसे वे इतने आकृष्ट हो गये कि उसे पर्याप्त न मान सके—'बस अब पूरा हो गया' यह बात न कह सके। इसीमें सारा दिन निकल गया और पुनः संध्याकाल आ पहुँचा ॥ ९ ॥

अथ सा स्त्री भगवन्तं सुप्यतामित्यचोदयत्।
तत्र वै शयने दिव्ये तस्य तस्याश्च कल्पिते ॥ १० ॥

इसके बाद उस स्त्रीने भगवान् अष्टावक्रसे कहा—'अब आप सो जाइये।' फिर वहीं उनके और उस स्त्रीके लिये दो शय्याएँ बिछायी गयीं ॥ १० ॥

पृथक् चैव तथा सुप्तौ सा स्त्री स च मुनिस्तदा।
तथार्धरात्रे सा स्त्री तु शयनं तदुपागमत् ॥ ११ ॥

उस समय वह स्त्री और मुनि दोनों अलग-अलग सो गये। जब आधी रात हुई, तब वह स्त्री उठकर मुनिकी शय्यापर आ बैठी ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच

न भद्रे परदारेषु मनो मे सम्प्रसज्जति।
उत्तिष्ठ भद्रे भद्रं ते स्वयं वै विरमस्व च ॥ १२ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! मेरा मन परायी स्त्रियोंमें आसक्त नहीं होता है। तुम्हारा भला हो, यहाँसे उठो और स्वयं ही इस पापकर्मसे विरत हो जाओ ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

सा तदा तेन विप्रेण तथा तेन निवर्तिता।
स्वतन्त्रास्मीत्युवाचर्षिं न धर्मच्छलमस्ति ते ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिके लौटानेपर उसने कहा—'मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मेरे साथ समागम करनेसे आपके धर्मकी छलना नहीं होगी' ॥ १३ ॥

अष्टावक्र उवाच

नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणामस्वतन्त्रा हि योषितः।
प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

अष्टावक्र बोले—भद्रे ! स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता नहीं सिद्ध होती; क्योंकि वे परतन्त्र मानी गयी हैं। प्रजापतिका यह मत है कि स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है ॥ १४ ॥

स्त्र्युवाच

बाधते मैथुनं विप्र मम भक्तिं च पश्य वै।
अधर्मं प्राप्स्यसे विप्र यन्मां त्वं नाभिनन्दसि ॥ १५ ॥

स्त्री बोली—ब्रह्मन् ! मुझे मैथुनकी भूख सता रही है। आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, इसपर भी तो दृष्टिपात कीजिये। विप्रवर ! यदि आप मुझे संतुष्ट नहीं करते हैं तो आपको पाप लगेगा ॥ १५ ॥

अष्टावक्र उवाच

हरन्ति दोषजातानि नरं जातं यथेच्छकम्।
प्रभवामि सदा धृत्या भद्रे स्वशयनं व्रज ॥ १६ ॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! स्वेच्छाचारी मनुष्यको ही सब प्रकारके पापसमूह अपनी ओर खींचते हैं। मैं धैर्यके द्वारा सदा अपने मनको काबूमें रखता हूँ; अतः तुम अपनी शय्यापर लौट जाओ ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

शिरसा प्रणमे विप्र प्रसादं कर्तुमर्हसि।
भूमौ निपतमानायाः शरणं भव मेऽनघ ॥ १७ ॥

स्त्री बोली—अनघ ! विप्रवर ! मैं सिर झुकाकर प्रणाम करती हूँ और आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ। आप मुझपर कृपा करें और मुझे शरण दें ॥ १७ ॥

यदि वा दोषजातं त्वं परदारेषु पश्यसि।
आत्मानं स्पर्शयाम्यद्य पाणिं गृह्णीष्व मे द्विज ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! यदि आप परायी स्त्रियोंके साथ समागममें दोष देखते हैं तो मैं स्वयं आपको अपना दान करती हूँ । आप मेरा पाणिग्रहण कीजिये ॥ १८ ॥

न दोषो भविता चैव सत्येनैतद् ब्रवीम्यहम् ।
स्वतन्त्रां मां विजानीहि योऽधर्मः सोऽस्तु वै मयि ।
त्वय्यावेशितचित्ता च स्वतन्त्रास्मि भजस्व माम् ॥ १९ ॥

मैं सच कहती हूँ, आपको कोई दोष नहीं लगेगा । आप मुझे स्वतन्त्र समझिये । इसमें जो पाप होता हो, वह मुझे ही लगे । मेरा चित्त आपके ही चिन्तनमें लगा है । मैं स्वतन्त्र हूँ; अतः मुझे स्वीकार कीजिये ॥ १९ ॥

अष्टावक्र उवाच

स्वतन्त्रा त्वं कथं भद्रे ब्रूहि कारणमत्र वै ।
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचिद् या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ २० ॥

अष्टावक्रने कहा—भद्रे ! तुम स्वतन्त्र कैसे हो ? इसमें जो कारण हो, वह बताओ ! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी स्त्री नहीं है, जो स्वतन्त्र रहने योग्य हो ॥ २० ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे काले नास्ति स्त्रीणां स्वतन्त्रता ॥ २१ ॥

कुमारावस्थामें पिता इसकी रक्षा करते हैं, जवानीमें वह पतिके संरक्षणमें रहती है और बुढ़ापेमें पुत्र उसकी देखभाल करते हैं । इस प्रकार स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता नहीं है ।२१।

स्त्र्युवाच

कौमारं ब्रह्मचर्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः ।
पत्नीं कुरुष्व मां विप्र श्रद्धां विजहि मा मम ॥ २२ ॥

स्त्री बोली—विप्रवर ! मैं कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचारिणी हूँ; अतः कन्या ही हूँ—इसमें संशय नहीं है । अब आप मुझे पत्नी बनाइये । मेरी श्रद्धाका नाश न कीजिये ॥

अष्टावक्र उवाच

यथा मम तथा तुभ्यं यथा तुभ्यं तथा मम ।
जिज्ञासेयमृषेस्तस्य विघ्नः सत्यं न किं भवेत् ॥ २३ ॥

अष्टावक्रने कहा—जैसी मेरी दशा है, वैसी तुम्हारी है और जैसी तुम्हारी दशा है, वैसी मेरी है । यह वास्तवमें वदान्य ऋषिके द्वारा परीक्षा ली जा रही है या सचमुच यह कोई विघ्न तो नहीं है ? ॥ २३ ॥

आश्चर्यं परमं हीदं किं नु श्रेयो हि मे भवेत् ।
दिव्याभरणवस्त्रा हि कन्येयं मामुपस्थिता ॥ २४ ॥

(वे मन-ही-मन सोचने लगे—) यह पहले वृद्धा थी और अब दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्यारूप होकर मेरी सेवामें उपस्थित है । यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है । क्या यह मेरे लिये कल्याणकारी होगा ? ॥ २४ ॥

किं त्वस्याः परमं रूपं जीर्णमासीत् कथं पुनः ।
कन्यारूपमिहाद्यैवं किमिवात्रोत्तरं भवेत् ॥ २५ ॥

परंतु इसका यह परम सुन्दर रूप पहले जराजीर्ण कैसे हो गया था और अब यहाँ यह कन्यारूप कैसे प्रकट हो गया ? ऐसी दशामें यहाँ उसके लिये क्या उत्तर हो सकता है ? ॥

यथा परं शक्तिधृतेर्न व्युत्थास्ये कथंचन ।
न रोचते हि व्युत्थानं सत्येनासादयाम्यहम् ॥ २६ ॥

मुझमें कामको दमन करनेकी शक्ति है और पूर्वप्राप्त मुनि-कन्याको किसी तरह भी प्राप्त करनेका धैर्य बना हुआ है । इस शक्ति और धृतिके ही सहारे मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा । मुझे धर्मका उल्लङ्घन अच्छा नहीं लगता है । मैं सत्यके सहारेसे ही पत्नीको प्राप्त करूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवाद, अष्टावक्रका अपने घर लौटकर वदान्य ऋषिकी कन्याके साथ विवाह करना

युधिष्ठिर उवाच

न बिभेति कथं सा स्त्री शापाच्च परमद्युतेः ।
कथं निवृत्तो भगवांस्तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! वह स्त्री उन महातेजस्वी ऋषिके शापसे डरती कैसे नहीं थी ? और वे भगवान् अष्टावक्र किस तरह वहाँसे लौटे थे ? यह सब मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रोऽन्वपृच्छत् तां रूपं विकुरुषे कथम् ।
न चानृतं ते वक्तव्यं ब्रूहि ब्राह्मणकाम्यया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सुनो, अष्टावक्रने उस स्त्रीसे पूछा, 'तुम अपना रूप बदलती क्यों रहती हो ? बताओ, यदि मुझ-जैसे ब्राह्मणसे सम्मान पानेकी इच्छा हो तो झूठ न बोलना' ॥ २ ॥

स्त्र्युवाच

द्यावापृथिव्योर्यत्रैषा काम्या ब्राह्मणसत्तम ।
शृणुष्वावहितः सर्वं यदिदं सत्यविक्रम ॥ ३ ॥

स्त्री बोली—ब्राह्मणशिरोमणे ! स्वर्गलोक हो या मर्त्यलोक, जिस किसी भी स्थानमें स्त्री और पुरुष निवास करते हैं, वहाँ उनमें परस्पर संयोगकी यह कामना सदा बनी रहती है । सत्यपराक्रमी विप्र ! यह सब जो रूपपरिवर्तनकी लीला की गयी है, उसका कारण बताती हूँ, सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

जिज्ञासेयं प्रयुक्ता मे स्थिरीकर्तुं तवानघ ।
अभ्युत्थानेन ते लोका जिताः सत्यपराक्रम ॥ ४ ॥

निर्दोष ब्राह्मण ! आपको दृढ़ करनेके लिये आपकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे ही मैंने यह कार्य किया है । सत्यपराक्रमी द्विज ! आपने अपने धर्मसे विचलित न होकर समस्त पुण्यलोकोंको जीत लिया है ॥ ४ ॥

उत्तरां मां दिशं विद्धि दृष्टं स्त्रीचापलं च ते ।
स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥ ५ ॥

आप मुझे उत्तरदिशा समझें । स्त्रीमें कितनी चपलता होती है—यह आपने प्रत्यक्ष देखा है । बूढ़ी स्त्रियोंको भी मैथुनके लिये होनेवाला कामजनित संताप कष्ट देता रहता है ॥ ५ ॥

(अविश्वासान्न व्यसनी नातिसक्तोऽप्रवासकः ।
विद्वान् सुशीलः पुरुषः सदारः सुखमश्नुते॥)

जो कहीं भी विश्वास न करनेके कारण किसी व्यसनमें नहीं फँसता, कहीं भी अधिक आसक्त नहीं होता, परदेशमें नहीं रहता तथा जो विद्वान् और सुशील है, वही पुरुष स्त्रीके साथ रहकर सुख भोगता है ॥

तुष्टः पितामहस्तेऽद्य तथा देवाः सवासवाः ।
स त्वं येन च कार्येण सम्प्राप्तो भगवानिह ॥ ६ ॥
प्रेषितस्तेन विप्रेण कन्यापित्रा द्विजर्षभ ।
तवोपदेशं कर्तुं वै तच्च सर्वं कृतं मया ॥ ७ ॥

आज आपके ऊपर ब्रह्माजी तथा इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हैं । भगवन् द्विजश्रेष्ठ ! आप यहाँ जिस कार्यसे आये हैं, वह सफल हो गया । उस कन्याके पिता वदान्य ऋषिने मेरे पास आपको उपदेश देनेके लिये भेजा था । वह सब मैंने कर दिया ॥ ६-७ ॥

क्षेमैर्गमिष्यसि गृहं श्रमश्च न भविष्यति ।
कन्यां प्राप्स्यसि तां विप्र पुत्रिणी च भविष्यति ॥ ८ ॥

विप्रवर ! अब आप कुशलपूर्वक अपने घरको जायँगे और मार्गमें आपको कोई श्रम अथवा कष्ट नहीं होगा । उस मनोनीत कन्याको आप प्राप्त कर लेंगे और आपके द्वारा वह पुत्रवती भी होगी ही ॥ ८ ॥

काम्यया पृष्टवांस्त्वं मां ततो व्याहृतमुत्तमम् ।
अनतिक्रमणीया सा कृत्स्नैर्लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ९ ॥

आपने जाननेकी इच्छासे मुझसे यह बात पूछी थी, इसलिये मैंने अच्छे ढंगसे सब कुछ बता दिया । तीनों लोकोंके सम्पूर्ण निवासियोंके लिये भी ब्राह्मणकी आज्ञा कदापि उल्लङ्घनीय नहीं होती ॥ ९ ॥

गच्छस्व सुकृतं कृत्वा किं चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
यावद् ब्रवीमि विप्रर्षे अष्टावक्र यथातथम् ॥ १० ॥

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ! आप पुण्यका उपार्जन करके जाइये । और क्या सुनना चाहते हैं ? कहिये, मैं वह सब कुछ यथार्थरूपसे बताऊँगी ॥ १० ॥

ऋषिणा प्रसादिता चास्मि तव हेतोर्द्विजर्षभ ।
तस्य सम्माननार्थं मे त्वयि वाक्यं प्रभाषितम् ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वदान्य मुनिने आपके लिये मुझे प्रसन्न किया था; अतः उनके सम्मानके लिये ही मैंने ये सारी बातें कही हैं ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्याः स विप्रः प्राञ्जलिः स्थितः ।
अनुज्ञातस्तया चापि स्वगृहं पुनराव्रजत् ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! उस स्त्रीकी बात सुनकर विप्रवर अष्टावक्र उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये । फिर उसकी आज्ञा ले पुनः अपने घरको लौट आये ॥ १२ ॥

गृहमागत्य विश्रान्तः स्वजनं परिपृच्छ्य च ।
अभ्यगच्छच्च तं विप्रं न्यायतः कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! घर आकर उन्होंने विश्राम किया और स्वजनोंसे पूछकर वे न्यायानुसार फिर ब्राह्मण वदान्यके घर गये ॥

पृष्टश्च तेन विप्रेण दृष्टं त्वेतन्निदर्शनम् ।
प्राह विप्रं तदा विप्रः सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ १४ ॥

ब्राह्मणने उनकी यात्राके विषयमें पूछा; तब उन्होंने प्रसन्नचित्तसे जो कुछ वहाँ देखा था, सब बताना आरम्भ किया—॥ १४ ॥

भवता समनुज्ञातः प्रास्थितो गन्धमादनम् ।
तस्य चोत्तरतो देशे दृष्टं मे दैवतं महत् ॥ १५ ॥
तया चाहमनुज्ञातो भवांश्चापि प्रकीर्तितः ।
श्रावितश्चापि तद्वाक्यं गृहं चाभ्यागतः प्रभो ॥ १६ ॥

'महर्षे ! आपकी आज्ञा पाकर मैं उत्तर दिशामें गन्धमादनपर्वतकी ओर चल दिया । उससे भी उत्तर जानेपर मुझे एक महती देवीका दर्शन हुआ । उसने मेरी परीक्षा ली और आपका भी परिचय दिया । प्रभो ! फिर उसने अपनी बात सुनायी और उसकी आज्ञा लेकर मैं अपने घर आ गया' ॥ १५-१६ ॥

तमुवाच तदा विप्रः सुतां प्रतिगृहाण मे ।
नक्षत्रविधियोगेन पात्रं हि परमं भवान् ॥ १७ ॥

तब ब्राह्मण वदान्यने कहा—'आप उत्तम नक्षत्रमें विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण कीजिये; क्योंकि आप अत्यन्त सुयोग्य पात्र हैं' ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

अष्टावक्रस्तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्य च तां प्रभो ।
कन्यां परमधर्मात्मा प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रभो ! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर परम धर्मात्मा अष्टावक्रने उस कन्याका पाणिग्रहण किया । इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

कन्यां तां प्रतिगृह्यैव भार्यां परमशोभनाम् ।
उवास मुदितस्तत्र स्वाश्रमे विगतज्वरः ॥ १९ ॥

उस परम सुन्दरी कन्याका पत्नीरूपमें दान पाकर अष्टावक्र मुनिकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे अपने आश्रममें उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अष्टावक्र और उत्तरदिशाका संवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके विविध धर्मयुक्त प्रश्नोंका उत्तर तथा श्राद्ध और दानके उत्तम पात्रोंका लक्षण

[मार्कण्डेयजीके द्वारा विविध प्रश्न और नारदजीके द्वारा उनका उत्तर]

(युधिष्ठिर उवाच

पुत्रैः कथं महाराज पुरुषस्तरितो भवेत् ।
यावन्न लब्धवान् पुत्रमफलः पुरुषो नृप ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर ! महाराज ! पुत्रोंद्वारा पुरुषका कैसे उद्धार होता है ? जबतक पुत्रकी प्राप्ति न हो, तबतक पुरुषका जीवन निष्फल क्यों माना जाता है ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदेन पुरा गीतं मार्कण्डेयाय पृच्छते ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है । पूर्वकालमें मार्कण्डेयके पूछनेपर देवर्षि नारदने जो उपदेश दिया था, उसीका इस इतिहासमें उल्लेख हुआ है ॥

पर्वतं नारदं चैवमसितं देवलं च तम् ।
आरुणेयं च रैभ्यं च एतानत्रागतान् पुरा ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये भोगवत्याः समागमे ।
दृष्ट्वा पूर्वं समासीनान् मार्कण्डेयोऽभ्यगच्छत ॥

पहलेकी बात है, गङ्गा-यमुनाके मध्यभागमें जहाँ भोगवतीका समागम हुआ है, वहीं पर्वत, नारद, असित, देवल, आरुणेय और रैभ्य—ये ऋषि एकत्र हुए थे । इन सब ऋषियोंको वहाँ पहलेसे विराजमान देख मार्कण्डेयजी भी गये ॥

ऋषयस्तु मुनिं दृष्ट्वा समुत्थायोन्मुखाः स्थिताः ।
अर्चयित्वार्हतो विप्रं किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥

ऋषियोंने जब मुनिको आते देखा, तब वे सब-के-सब उठकर उनकी ओर मुख करके खड़े हो गये और उन ब्रह्मर्षिकी उनके योग्य पूजा करके सबने पूछा—'हम आपकी क्या सेवा करें ?' ॥

मार्कण्डेय उवाच

अयं समागमः सद्भिर्यत्नेनासादितो मया ।
अत्र प्राप्स्यामि धर्माणामाचारस्य च निश्चयम् ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—मैंने बड़े यत्नसे सत्पुरुषोंका यह सङ्ग प्राप्त किया है । मुझे आशा है, यहाँ धर्म और आचारका निर्णय प्राप्त होगा ॥

ऋजुः कृतयुगे धर्मस्तस्मिन् क्षीणे विमुह्यति ।
युगे युगे महर्षिभ्यो धर्ममिच्छामि वेदितुम् ॥

सत्ययुगमें धर्मका अनुष्ठान सरल होता है । उस युगके समाप्त हो जानेपर धर्मका स्वरूप मनुष्योंके मोहसे आच्छन्न हो जाता है; अतः प्रत्येक युगके धर्मका क्या स्वरूप है ? इसे मैं आप सब महर्षियोंसे जानना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

ऋषिभिर्नारदः प्रोक्तो ब्रूहि यत्रास्य संशयः ।
धर्माधर्मेषु तत्त्वज्ञ त्वं विच्छेत्तासि संशयान् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब सब ऋषियोंने मिलकर नारदजीसे कहा—'तत्त्वज्ञ देवर्षे ! मार्कण्डेयजीको जिस विषयमें संदेह है, उसका आप निरूपण कीजिये; क्योंकि धर्म और अधर्मके विषयमें होनेवाले समस्त संशयोंका निवारण करनेमें आप समर्थ हैं' ॥

ऋषिभ्योऽनुमतो वाक्यं नियोगान्नारदोऽब्रवीत् ।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञं मार्कण्डेयं ततोऽब्रवीत् ॥

ऋषियोंकी यह अनुमति और आदेश पाकर नारदजीने सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले मार्कण्डेयजीसे पूछा ॥

नारद उवाच

दीर्घायो तपसा दीप्त वेदवेदाङ्गतत्त्ववित् ।
यत्र ते संशयो ब्रह्मन् समुत्पन्नः स उच्यताम् ॥

नारदजी बोले—तपस्यासे प्रकाशित होनेवाले दीर्घायु मार्कण्डेयजी ! आप तो स्वयं ही वेदों और वेदाङ्गोंके तत्त्वको जाननेवाले हैं, तथापि ब्रह्मन् ! जहाँ आपको संशय उत्पन्न हुआ हो, वह विषय उपस्थित कीजिये ॥

धर्मं लोकोपकारं वा यच्चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि।
तदहं कथयिष्यामि ब्रूहि त्वं सुमहातपाः॥

महातपस्वी महर्षे! धर्म, लोकोपकार अथवा और जिस किसी विषयमें आप सुनना चाहते हों, उसे कहिये। मैं उस विषयका निरूपण करूँगा॥

मार्कण्डेय उवाच

युगे युगे व्यतीतेऽस्मिन् धर्मसेतुः प्रणश्यति।
कथं धर्मच्छलेनाहं प्राप्नुयामिति मे मतिः॥

मार्कण्डेयजी बोले—प्रत्येक युगके बीत जानेपर धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। फिर धर्मके बहानेसे अधर्म करनेपर मैं उस धर्मका फल कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? मेरे मनमें यही प्रश्न उठता है॥

नारद उवाच

आसीद् धर्मः पुरा विप्र चतुष्पादः कृते युगे।
ततो ह्यधर्मः कालेन प्रवृत्तः किञ्चिदुन्नतः॥

नारदजीने कहा—विप्रवर! पहले सत्ययुगमें धर्म अपने चारों पैरोंसे युक्त होकर सबके द्वारा पालित होता था। तदनन्तर समयानुसार अधर्मकी प्रवृत्ति हुई और उसने अपना सिर कुछ ऊँचा किया॥

ततस्त्रेतायुगं नाम प्रवृत्तं धर्मदूषणम्।
तस्मिन् व्यतीते सम्प्राप्तं तृतीयं द्वापरं युगम्॥
तदा धर्मस्य द्वौ पादावधर्मो नाशयिष्यति।

तदनन्तर धर्मको अंशतः दूषित करनेवाले त्रेतानामक दूसरे युगकी प्रवृत्ति हुई। जब वह भी बीत गया, तब तीसरे युग द्वापरका पदार्पण हुआ। उस समय धर्मके दो पैरोंको अधर्म नष्ट कर देता है॥

द्वापरे तु परिक्षीणे नन्दिके समुपस्थिते॥
लोकवृत्तं च धर्मं च उच्यमानं निबोध मे।

द्वापरके नष्ट होनेपर जब नन्दिक (कलियुग) उपस्थित होता है, उस समय लोकाचार और धर्मका जैसा स्वरूप रह जाता है, उसे बताता हूँ, सुनिये॥

चतुर्थं नन्दिकं नाम धर्मः पादावशेषितः॥
ततः प्रभृति जायन्ते क्षीणप्रज्ञायुषो नराः।
क्षीणप्राणधना लोके धर्माचारबहिष्कृताः॥

चौथे युगका नाम है नन्दिक। उस समय धर्मका एक ही पाद (अंश) शेष रह जाता है। तभीसे मन्दबुद्धि और अल्पायु मनुष्य उत्पन्न होने लगते हैं। लोकमें उनकी प्राण-शक्ति बहुत कम हो जाती है। वे निर्धन तथा धर्म और सदाचारसे बहिष्कृत होते हैं॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं विलुलिते धर्मे लोके चाधर्मसंयुते।
किं चतुर्वर्णनियतं हव्यं कव्यं न नश्यति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जब इस प्रकार धर्मका लोप होकर जगत्में अधर्म छा जाता है, तब चारों वर्णोंके लिये नियत हव्य और कव्यका नाश क्यों नहीं हो जाता है?॥

नारद उवाच

मन्त्रपूतं सदा हव्यं कव्यं चैव न नश्यति।
प्रतिगृह्णन्ति तद् देवा दातुर्न्यायात् प्रयच्छतः॥

नारदजीने कहा—वेदमन्त्रसे सदा पवित्र होनेके कारण हव्य और कव्य नहीं नष्ट होते हैं। यदि दाता न्यायपूर्वक उनका दान करते हैं तो देवता और पितर उन्हें सादर ग्रहण करते हैं॥

सत्त्वयुक्तश्च दाता च सर्वान् कामानवाप्नुयात्।
अवाप्तकामः स्वर्गे च महीयेत यथेप्सितम्॥

जो दाता सात्त्विक भावसे युक्त होता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। यहाँ आप्तकाम होकर वह स्वर्गमें भी अपनी इच्छाके अनुसार सम्मानित होता है॥

मार्कण्डेय उवाच

चत्वारो ह्यथ ये वर्णा हव्यं कव्यं प्रदास्यते।
मन्त्रहीनमवज्ञातं तेषां दत्तं क्व गच्छति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—यहाँ जो चार वर्णके लोग हैं, उनके द्वारा यदि मन्त्ररहित और अवहेलनापूर्वक हव्य-कव्य-का दान दिया जाय तो उनका वह दान कहाँ जाता है?॥

नारद उवाच

असुरान् गच्छते दत्तं विप्रै रक्षांसि क्षत्रियैः।
वैश्यैः प्रेतानि वै दत्तं शूद्रैर्भूतानि गच्छति॥

नारदजीने कहा—यदि ब्राह्मणोंने वैसा दान किया है तो वह असुरोंको प्राप्त होता है, क्षत्रियोंने किया है तो उसे राक्षस ले जाते हैं, वैश्योंद्वारा किये गये वैसे दानको प्रेत ग्रहण करते हैं और शूद्रोंद्वारा किया गया अवज्ञापूर्वक दान भूतोंको प्राप्त होता है॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ वर्णावरे जाताश्चातुर्वर्ण्योपदेशिनः।
दास्यन्ति हव्यकव्यानि तेषां दत्तं क्व गच्छति॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो नीच वर्णमें उत्पन्न होकर चारों वर्णोंको उपदेश देते और हव्य-कव्यका दान देते हैं, उनका दिया हुआ दान कहाँ जाता है?॥

नारद उवाच

वर्णावराणां भूतानां हव्यकव्यप्रदातृणाम्।
नैव देवा न पितरः प्रतिगृह्णन्ति तत् स्वयम्॥

नारदजीने कहा—जब नीच वर्णके लोग हव्य-कव्यका दान करते हैं, तब उनके उस दानको न देवता ग्रहण करते हैं न पितर॥

यातुधानाः पिशाचाश्च भूता ये चापि नैर्ऋताः।

तेषां सा विहिता वृत्तिः पितृदैवतनिर्गता ॥

जो यातुधान, पिशाच, भूत और राक्षस हैं, उन्हींके लिये उस वृत्तिका विधान किया गया है। पितरों और देवताओंने वैसी वृत्तिका परित्याग कर दिया है ॥

तेषां सर्वप्रदातॄणां हव्यकव्यं समाहिताः ।
यत् प्रयच्छन्ति विधिवत् तद् वै भुञ्जन्ति देवताः ॥

जो सब कुछ देनेवाले और उस कर्मके अधिकारी हैं, वे एकाग्रचित्त होकर विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य समर्पित करते हैं, उसे देवता और पितर ग्रहण करते हैं ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुतं वर्णावरैर्दत्तं हव्यं कव्यं च नारद ।
सम्प्रयोगे च पुत्राणां कन्यानां च ब्रवीहि मे ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—नारदजी ! नीच वर्णके दिये हुए हव्य और कव्योंकी जो दशा होती है, उसे मैंने सुन ली। अब पुत्रों और कन्याओंके विषयमें एवं इनके संयोगके विषयमें मुझे कुछ बातें बताइये ॥

नारद उवाच

कन्याप्रदानं पुत्राणां स्त्रीणां संयोगमेव च ।
आनुपूर्व्यान्मया सम्यगुच्यमानं निबोध मे ॥

नारदजीने कहा—अब मैं कन्या-विवाहके और पुत्रोंके विषयमें एवं स्त्रियोंके संयोगके विषयमें क्रमशः बता रहा हूँ, उसे सुनो ॥

जातमात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे वरे ।
काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते ॥

जो कन्या उत्पन्न हो जाती है, उसे किसी योग्य वरको सौंप देना आवश्यक होता है। यदि ठीक समयपर कन्याओंका दान हो गया तो पिता धर्मफलका भागी होता है ॥

यस्तु पुष्पवतीं कन्यां बान्धवो न प्रयच्छति ।
मासि मासि गते बन्धुस्तस्या भ्रौणघ्न्यमाप्नुते ॥

जो भाई-बन्धु रजस्वलावस्थामें पहुँच जानेपर भी कन्याका किसी योग्य वरके साथ विवाह नहीं कर देता, वह उसके एक-एक मास बीतनेपर भ्रूणहत्याके फलका भागी होता है ॥

यस्तु कन्यां गृहे रुन्ध्याद् ग्राम्यैर्भोगैर्विवर्जिताम् ।
अवध्यातः स कन्याया बन्धुः प्राप्नोति भ्रूणहाम् ॥

जो भाई-बन्धु कन्याको विषय-भोगोंसे वञ्चित करके घरमें रोके रखता है, वह उस कन्याके द्वारा अनिष्ट चिन्तन किये जानेके कारण भ्रूणहत्याके पापका भागी होता है ॥

मार्कण्डेय उवाच

केन मङ्गलकृत्येषु विनियुज्यन्ति कन्यकाः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेनेह महामुने ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—महामुने ! किस कारणसे कन्याओंको माङ्गलिक कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है ? मैं इस बातको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ ॥

नारद उवाच

नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता ।
शोभना शुभयोग्या च पूज्या मङ्गलकर्मसु ॥

नारदजीने कहा—कन्याओंमें सदा लक्ष्मी निवास करती हैं। वे उनमें नित्य प्रतिष्ठित होती हैं; इसलिये प्रत्येक कन्या शोभासम्पन्न, शुभ कर्मके योग्य तथा मङ्गल कर्मोंमें पूजनीय होती है ॥

आकरस्थं यथा रत्नं सर्वकामफलोपगम् ।
तथा कन्या महालक्ष्मीः सर्वलोकस्य मङ्गलम् ॥

जैसे खानमें स्थित हुआ रत्न सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है, उसी प्रकार महालक्ष्मीस्वरूपा कन्या सम्पूर्ण जगत्‌के लिये मङ्गलकारिणी होती है ॥

एवं कन्या परा लक्ष्मी रतिस्तोषश्च देहिनाम् ।
महाकुलानां चारित्रं वृत्तेन निकषोपलम् ॥

इस तरह कन्याको लक्ष्मीका सर्वोत्कृष्ट रूप जानना चाहिये। उससे देहधारियोंको सुख और संतोषकी प्राप्ति होती है। वह अपने सदाचारके द्वारा उच्च कुलोंके चरित्रकी कसौटी समझी जाती है ॥

आनयित्वा स्वकाद् वर्णात् कन्यकां यो भजेन्नरः ।
दातारं हव्यकव्यानां पुत्रकं या प्रसूयते ॥

जो मनुष्य अपने ही वर्णकी कन्याको विवाहके द्वारा लाकर उसे पत्नीके स्थानपर प्रतिष्ठित करता है, उसकी वह साध्वी पत्नी हव्य-कव्य प्रदान करनेवाले पुत्रको जन्म देती है ॥

साध्वी कुलं वर्धयति साध्वी पुष्टिर्गृहे परा ।
साध्वी लक्ष्मी रतिः साक्षात् प्रतिष्ठा संततिस्तथा ॥

साध्वी स्त्री कुलकी वृद्धि करती है। साध्वी स्त्री घरमें परम पुष्टिरूप है तथा साध्वी स्त्री घरकी लक्ष्मी है, रति है, मूर्तिमती प्रतिष्ठा है तथा संतान-परम्पराकी आधार है ॥

मार्कण्डेय उवाच

कानि तीर्थानि भगवन् नृणां देहाश्रितानि वै ।
तानि वै शंस भगवन् याथातथ्येन पृच्छतः ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंके शरीरमें कौन-कौन-से तीर्थ हैं ? मैं यह जानना चाहता हूँ। अतः आप यथार्थरूपसे मुझे बताइये ॥

नारद उवाच

देवर्षिपितृतीर्थानि ब्राह्मं मध्येऽथ वैष्णवम् ।
नृणां तीर्थानि पञ्चाहुः पाणौ संनिहितानि वै ॥

नारदजीने कहा—मनीषी पुरुष कहते हैं, मनुष्योंके हाथमें ही पाँच तीर्थ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—देवतीर्थ, ऋषितीर्थ, पितृतीर्थ, ब्राह्मतीर्थ और वैष्णवतीर्थ। (अङ्गुलियोंके अग्रभागमें देवतीर्थ है। कनिष्ठा और अनामिका

अङ्गुलिके मूलभागमें आर्षतीर्थ है। इसीको कायतीर्थ और प्राजापत्यतीर्थ भी कहते हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मध्यभागमें पितृतीर्थ है। अङ्गुष्ठके मूलभागमें ब्राह्मतीर्थ है और हथेलीके मध्यभागमें वैष्णवतीर्थ है।) ॥

आद्यतीर्थं तु तीर्थानां वैष्णवो भाग उच्यते।
यत्रोपस्पृश्य वर्णानां चतुर्णां वर्धते कुलम् ॥
पितृदैवतकार्याणि वर्धन्ते प्रेत्य चेह च।

हाथमें जो वैष्णवतीर्थका भाग है, उसे सब तीर्थोंमें प्रधान कहा जाता है। जहाँ जल रखकर आचमन करनेसे चारों वर्णोंके कुलकी वृद्धि होती है तथा देवता और पितरोंके कार्यकी इहलोक और परलोकमें वृद्धि होती है॥

मार्कण्डेय उवाच

धर्मेष्वधिकृतानां तु नराणां मुह्यते मनः।
कथं न विघ्नं भवति एतदिच्छामि वेदितुम् ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—जो धर्मके अधिकारी हैं, ऐसे मनुष्योंका मन कभी-कभी धर्मके विषयमें संशयापन्न हो जाता है। क्या करनेसे उनके धर्माचरणमें विघ्न न पड़े? यह मैं जानना चाहता हूँ॥

नारद उवाच

अर्थाश्च नार्यश्च समानमेत-
च्छ्रेयांसि पुंसामिह मोहयन्ति।
रतिप्रमोदात् प्रमदा हरन्ति
भोगैर्धनं चाप्युपहन्ति धर्मान् ॥

नारदजीने कहा—धन और नारी दोनोंकी अवस्था एक-सी है। दोनों ही मनुष्योंको कल्याणके पथपर जानेमें बाधा देते हैं—उन्हें मोहित कर लेते हैं। रतिजनित आमोद-प्रमोदसे स्त्रियाँ मनको हर लेती हैं और धन-भोगोंके द्वारा धर्मको चौपट कर देता है॥

हव्यं कव्यं च धर्मात्मा सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलिताग्नाविवाहुतिः ॥

धर्मात्मा श्रोत्रिय ब्राह्मण समस्त हव्य और कव्यको पानेका अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ हव्य-कव्य प्रज्वलित अग्निमें डाली हुई आहुतिके समान सफल होता है॥

भीष्म उवाच

इति सम्भाष्य ऋषिभिर्मार्कण्डेयो महातपाः।
नारदं चापि सत्कृत्य तेन चैवाभिसत्कृतः ॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार ऋषियोंके साथ बातचीत करके महातपस्वी मार्कण्डेयने नारदजीका सत्कार किया और स्वयं भी वे उनके द्वारा सम्मानित हुए॥

आमन्त्रयित्वा ऋषिभिः प्रययावाश्रमं मुनिः।
ऋषयश्चापि तीर्थानां परिचर्यां प्रचक्रमुः ॥)

तत्पश्चात् ऋषियोंसे विदा लेकर मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमको चले गये तथा वे ऋषि भी तीर्थोंमें भ्रमण करने लगे॥

[दाक्षिणात्य अध्याय समाप्त]

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्राः सनातनाः।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाप्यलिङ्गिनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! प्राचीन ब्राह्मण किसको दानका श्रेष्ठ पात्र बताते हैं? दण्ड-कमण्डलु आदि चिह्न धारण करनेवाले ब्रह्मचारी ब्राह्मणको अथवा चिह्नरहित गृहस्थ ब्राह्मणको?॥ १॥

भीष्म उवाच

स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने चेतराय च।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! जीवन-रक्षाके लिये अपनी वर्णाश्रमोचित वृत्तिका आश्रय लेनेवाले चिह्नधारी या चिह्नरहित किसी भी ब्राह्मणको दान दिया जाना उचित बताया गया है; क्योंकि स्वधर्मका आश्रय लेनेवाले ये दोनों ही तपस्वी एवं दानपात्र हैं॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रद्धया परया पूतो यः प्रयच्छेद् द्विजातये।
हव्यं कव्यं तथा दानं को दोषः स्यात् पितामह ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो केवल उत्कृष्ट श्रद्धासे ही पवित्र होकर ब्राह्मणको हव्य-कव्य तथा अन्य वस्तुका दान देता है, उसे अन्य प्रकारकी पवित्रता न होनेके कारण किस दोषकी प्राप्ति होती है?॥ ३॥

भीष्म उवाच

श्रद्धापूतो नरस्तात दुर्दान्तोऽपि न संशयः।
पूतो भवति सर्वत्र किमुत त्वं महाद्युते ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात! मनुष्य जितेन्द्रिय न होनेपर भी केवल श्रद्धामात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें संशय नहीं है। महातेजस्वी नरेश! श्रद्धापूत मनुष्य सर्वत्र पवित्र होता है, फिर तुम-जैसे धर्मात्माके पवित्र होनेमें तो संदेह ही क्या है?॥ ४॥

युधिष्ठिर उवाच

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवेषु सततं नरः।
कव्यप्रदाने तु बुधाः परीक्ष्यं ब्राह्मणं विदुः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! विद्वानोंका कहना है

कि देवकार्यमें कभी ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, किंतु श्राद्धमें अवश्य उसकी परीक्षा करे; इसका क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न ब्राह्मणः साधयते हव्यं दैवात् प्रसिद्ध्यति ।
देवप्रसादादिज्यन्ते यजमानैर्न संशयः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! यज्ञ-होम आदि देवकार्यकी सिद्धि ब्राह्मणके अधीन नहीं है, वह दैवसे सिद्ध होता है । देवताओंकी कृपासे ही यजमान यज्ञ करते हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणान् भरतश्रेष्ठ सततं ब्रह्मवादिनः ।
मार्कण्डेयः पुरा प्राह इति लोकेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने बहुत पहलेसे ही यह बता रखा है कि श्राद्धमें सदा वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको ही निमन्त्रित करना चाहिये (क्योंकि उसकी सिद्धि सुपात्र ब्राह्मणके ही अधीन है) ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽप्यथवा विद्वान् सम्बन्धी वा यथा भवेत् ।
तपस्वी यज्ञशीलो वा कथं पात्रं भवेत् तु सः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो अपरिचित, विद्वान्, सम्बन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील हों, इनमेंसे कौन किस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न होनेपर श्राद्ध एवं दानका उत्तम पात्र हो सकता है ?॥

भीष्म उवाच

कुलीनः कर्मकृद् वैद्यस्तथैवाप्यानृशंस्यवान् ।
ह्रीमानृजुः सत्यवादी पात्रं पूर्वे च ये त्रयः ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—कुलीन, कर्मठ, वेदोंके विद्वान्, दयालु, सलज्ज, सरल और सत्यवादी—इन सात प्रकारके गुणवाले जो पूर्वोक्त तीन (अपरिचित विद्वान्, सम्बन्धी और तपस्वी) ब्राह्मण हैं, वे उत्तम पात्र माने गये हैं ॥ ९ ॥

तत्रेमं शृणु मे पार्थ चतुर्णां तेजसां मतम् ।
पृथिव्याः काश्यपस्याग्नेर्मार्कण्डेयस्य चैव हि ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! इस विषयमें तुम मुझसे पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय—इन चार तेजस्वी व्यक्तियोंका मत सुनो॥

पृथिव्युवाच

यथा महार्णवे क्षिप्तः क्षिप्रं लेष्टुर्विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं त्रिवृत्यां च निमज्जति ॥ ११ ॥

पृथ्वी कहती है—जिस प्रकार महासागरमें फेंका हुआ ढेला तुरंत गलकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह—इन तीन वृत्तियोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणमें सारे दुष्कर्मोंका लय हो जाता है ॥ ११ ॥

काश्यप उवाच

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः
सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म ।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति
शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥ १२ ॥

काश्यप कहते हैं—नरेश्वर ! जो ब्राह्मण शीलसे रहित है, उसे छहों अङ्गोंसहित वेद, सांख्य और पुराणका ज्ञान तथा उत्तम कुलमें जन्म—ये सब मिलकर भी उत्तम गति नहीं प्रदान कर सकते ॥ १२ ॥

अग्निरुवाच

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
प्रभ्रश्यतेऽसौ चरते न सत्यं
लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥ १३ ॥

अग्नि कहते हैं—जो ब्राह्मण अध्ययन करके अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्वत्तापर गर्व करने लगता है तथा जो अपनी विद्याके बलसे दूसरोंके यशका नाश करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट होकर सत्यका पालन नहीं करता; अतः उसे नाशवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
नाभिजानामि यद्यस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—यदि तराजूके एक पलड़ेमें एक हजार अश्वमेध-यज्ञको और दूसरेमें सत्यको रखकर तौला जाय तो भी न जाने वे सारे अश्वमेध-यज्ञ इस सत्यके आधेके बराबर भी होंगे या नहीं ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा ते जग्मुराशु चत्वारोऽमिततेजसः ।
पृथिवी काश्यपोऽग्निश्च प्रकृष्टायुश्च भार्गवः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार अपना मत प्रकट करके वे चारों अमिततेजस्वी व्यक्ति—पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय शीघ्र ही चले गये ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि ते ब्राह्मणा लोके व्रतिनो भुञ्जते हविः ।
दत्तं ब्राह्मणकामाय कथं तत् सुकृतं भवेत् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें हविष्यान्नका भोजन करते हैं तो श्रेष्ठ ब्राह्मणकी कामनासे उन्हें दिया हुआ दान कैसे सफल हो सकता है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

आदिष्टिनो ये राजेन्द्र ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
भुञ्जते ब्रह्मकामाय व्रतलुप्ता भवन्ति ते ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! (जिन्हें गुरुने नियत वर्षोंतक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेका आदेश दे रखा है, वे आदिष्टी कहलाते हैं ।) ऐसे वेदके पारङ्गत आदिष्टी ब्राह्मण

यदि यजमानकी ब्राह्मणको दान देनेकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धमें भोजन करते हैं तो उनका अपना ही व्रत नष्ट होता है (इससे दाताका दान दूषित नहीं होता है) * ॥१७॥

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किंनिमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! विद्वानोंका कहना है कि धर्मके साधन और फल अनेक प्रकारके हैं । पात्रके कौन-से गुण उसकी दानपात्रतामें कारण होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, इन्द्रियसंयम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं ॥ १९ ॥

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
अनाचरन्तस्तद् धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ॥ २० ॥

प्रभो ! जो लोग इस पृथ्वीपर धर्मकी प्रशंसा करते हुए घूमते-फिरते हैं; परंतु स्वयं उस धर्मका आचरण नहीं करते, वे ढोंगी हैं और धर्मसंकरता फैलानेमें लगे हैं ॥ २० ॥

तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः ।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमास्थितः ॥ २१ ॥

ऐसे लोगोंको जो सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा अश्व आदि वस्तुओंका दान करता है, वह नरकमें पड़कर दस वर्षोंतक विष्ठा खाता है ॥ २१ ॥

मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तेवसायिनाम् ।
कृतं कर्माकृतं वापि रागमोहेन जल्पताम् ॥ २२ ॥

जो उच्चवर्णके लोग राग और मोहके वशीभूत हो अपने किये अथवा बिना किये शुभ कर्मका जनसमुदायमें वर्णन करते हैं, वे मेद, पुल्कस तथा अन्त्यजोंके तुल्य माने जाते हैं ॥

वैश्वदेवं च ये मूढा विप्राय ब्रह्मचारिणे ।
ददते नेह राजेन्द्र ते लोकान् भुञ्जतेऽशुभान् ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! जो मूढ़ मानव ब्रह्मचारी ब्राह्मणको बलिवैश्वदेवसम्बन्धी अन्न (अतिथियोंको देनेयोग्य हन्तकार) नहीं देते हैं, वे अशुभ लोकोंका उपभोग करते हैं ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं परं ब्रह्मचर्यं च किं परं धर्मलक्षणम् ।
किं च श्रेष्ठतमं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उत्तम ब्रह्मचर्य क्या है ? धर्मका सबसे श्रेष्ठ लक्षण क्या है ? तथा सर्वोत्तम पवित्रता किसे कहते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

ब्रह्मचर्यात् परं तात मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥२५॥

भीष्मजीने कहा—तात ! मांस और मदिराका त्याग ब्रह्मचर्यसे भी श्रेष्ठ है—वही उत्तम ब्रह्मचर्य है । वेदोक्त मर्यादामें स्थित रहना सबसे श्रेष्ठ धर्म है तथा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना ही सर्वोत्तम पवित्रता है ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् काले चरेद् धर्मं कस्मिन् कालेऽर्थमाचरेत् ।
कस्मिन् काले सुखी च स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य किस समय धर्मका आचरण करे ? कब अर्थोपार्जनमें लगे तथा किस समय सुखभोगमें प्रवृत्त हो ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

कल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम् ।
पश्चात् कामं निषेवेत न च गच्छेत् प्रसङ्गिताम् ॥२७॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पूर्वाह्नमें धनका उपार्जन करे, तदनन्तर धर्मका और उसके बाद कामका सेवन करे; परंतु काममें आसक्त न हो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत् ।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २८ ॥

ब्राह्मणोंका सम्मान करे । गुरुजनोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहे । सब प्राणियोंके अनुकूल रहे । नम्रताका बर्ताव करे और सबसे मीठे वचन बोले ॥ २८ ॥

---

* श्राद्धमें भोजन कराने योग्य ब्राह्मणोंके विषयमें स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—'कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्नि-ब्रह्मचारिणः । पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसम्पदः॥ तथा—'व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।' तात्पर्य यह है कि क्रियानिष्ठ, तपस्वी, पञ्चाग्निका सेवन करनेवाले, ब्रह्मचारी तथा पिता-माताके भक्त—ये पाँच प्रकारके ब्राह्मण श्राद्धकी सम्पत्ति हैं । इन्हें भोजन करानेसे श्राद्धकर्मका पूर्णतया सम्पादन होता है ।' तथा 'अपनी कन्याका बेटा ब्रह्मचारी हो तो भी यत्नपूर्वक उसे श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये ।' ऐसा करनेसे श्राद्धकर्ता पुण्यका भागी होता है । केवल श्राद्धमें ही ऐसी छूट दी गयी है । श्राद्धके अतिरिक्त और किसी कर्ममें ब्रह्मचारीको लोभ आदि दिखाकर जो उसके व्रतको भङ्ग करता है, उसे दोषका भागी होना पड़ता है और अपने किये हुए दानका भी पूरा-पूरा फल नहीं मिलता । इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि 'मनसा पात्रमुद्दिश्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् । दाता तत्फलमाप्नोति प्रतिग्राही न दोषभाक् ॥' अर्थात् 'यदि किसी सुपात्र (ब्रह्मचारी आदि) को दान देना हो तो उसका मनमें ध्यान करे और उसे दान देनेके उद्देश्यसे हाथमें संकल्पका जल लेकर उसे जलहीमें छोड़ दे । इससे दाताको दानका फल मिल जाता है और दान लेनेवालेको दोषका भागी नहीं होना पड़ता ।' यह बात सत्पात्रका आदर करनेके लिये बतायी गयी है । (नीलकण्ठी)

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया ॥ २९ ॥

न्यायका अधिकार पाकर झूठा फैसला देना अथवा न्यायालयमें जाकर झूठ बोलना, राजाओंके पास किसीकी चुगली करना और गुरुके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्याके समान पाप हैं ॥ २९ ॥

प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न हन्याद् गां तथैव च।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥ ३० ॥

राजाओंपर प्रहार न करे और गायको न मारे। जो राजा और गौपर प्रहाररूप द्विविध दुष्कर्मका सेवन करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप लगता है ॥ ३० ॥

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत्।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत् समं तद् ब्रह्महत्यया ॥ ३१ ॥

अग्निहोत्रका कभी त्याग न करे। वेदोंका स्वाध्याय न छोड़े तथा ब्राह्मणकी निन्दा न करे; क्योंकि ये तीनों दोष ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! कैसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये? किनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है? तथा कैसे ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये? यह मुझे बताइये ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ और इन्द्रियसंयममें तत्पर हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये और उन्हींको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है (अतः उन्हींको श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये) ॥

अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अभिमानका नाम नहीं है, जो सब कुछ सह लेते हैं, जिनका विचार दृढ़ है, जो जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है ॥ ३४ ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, संकोची, सत्यवादी और अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान भी महान् फलदायक होता है ॥ ३५ ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदोंका अध्ययन करता और ब्राह्मणोचित छः कर्मों (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह) में प्रवृत्त रहता है, उसे ऋषिलोग दानका उत्तम पात्र समझते हैं ॥ ३६ ॥

ये त्वेवंगुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥

जो ब्राह्मण ऊपर बताये हुए गुणोंसे युक्त होते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला है। गुणवान् एवं सुयोग्य पात्रको दान देनेवाला दाता सहस्रगुना फल पाता है ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः।
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥

यदि उत्तम बुद्धि, शास्त्रकी विद्वत्ता, सदाचार और सुशीलता आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी दान स्वीकार कर ले तो वह दाताके सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर देता है ॥ ३८ ॥

गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत्।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥ ३९ ॥

अतः ऐसे गुणवान् पुरुषको ही गाय, घोड़ा, अन्न, धन तथा दूसरे पदार्थ देने चाहिये। ऐसा करनेसे दाताको मरनेके बाद पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ३९ ॥

तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात् पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥
(तृप्ते तृप्ताः सर्वदेवाः पितरो मुनयोऽपि च।)

एक भी उत्तम ब्राह्मण श्राद्धकर्ताके समस्त कुलको तार सकता है। यदि उपर्युक्त बहुत-से ब्राह्मण तार दें इसमें तो कहना ही क्या है। अतः सुपात्रकी खोज करनी चाहिये। उससे तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता, पितर और ऋषि भी तृप्त हो जाते हैं ॥ ४० ॥

निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम्।
दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥ ४१ ॥

सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित गुणवान् ब्राह्मण यदि कहीं दूर भी सुनायी पड़े तो उसको वहाँसे अपने यहाँ बुलाकर उसका हर प्रकारसे पूजन और सत्कार करना चाहिये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बहुप्राश्निके द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बहुत-से प्रश्नोंका निर्णयविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४६ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

देवता और पितरोंके कार्यमें निमन्त्रण देने योग्य पात्रों तथा नरकगामी और स्वर्गगामी मनुष्योंके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

श्राद्धकाले च दैवे च पित्र्येऽपि च पितामह ।
इच्छामीह त्वयाऽऽख्यातं विहितं यत् सुरर्षिभिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवता और ऋषियोंने श्राद्धके समय देवकार्य तथा पितृकार्यमें जिस-जिस कर्मका विधान किया है, उसका वर्णन मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दैवं पौर्वाह्णिकं कुर्यादपराह्णे तु पैतृकम् ।
मङ्गलाचारसम्पन्नः कृतशौचः प्रयत्नवान् ॥ २ ॥
मनुष्याणां तु मध्याह्ने प्रदद्यादुपपत्तिभिः ।
कालहीनं तु यद् दानं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह स्नान आदिसे शुद्ध हो, माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न करके प्रयत्नशील हो पूर्वाह्णमें देव-सम्बन्धी दान, अपराह्णमें पैतृक दान और मध्याह्नकालमें मनुष्यसम्बन्धी दान आदरपूर्वक करे । असमयमें किया हुआ दान राक्षसोंका भाग माना गया है ॥ २-३ ॥

लङ्घितं चावलीढं च कलिपूर्वं च यत् कृतम् ।
रजस्वलाभिदृष्टं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ४ ॥

जिस भोज्य पदार्थको किसीने लाँघ दिया हो, चाट लिया हो, जो लड़ाई-झगड़ा करके तैयार किया गया हो तथा जिसपर रजस्वला स्त्रीकी दृष्टि पड़ी हो, उसे भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ४ ॥

अवघुष्टं च यद् भुक्तमव्रतेन च भारत ।
परामृष्टं शुना चैव तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिसके लिये लोगोंमें घोषणा की गयी हो, जिसे व्रतहीन मनुष्यने भोजन किया हो अथवा जो कुत्तेसे छू गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग समझा गया है ॥

केशकीटावपतितं क्षुतं श्वभिरवेक्षितम् ।
रुदितं चावधूतं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ६ ॥

जिसमें केश या कीड़े पड़ गये हों, जो छींकसे दूषित हो गया हो, जिसपर कुत्तोंकी दृष्टि पड़ गयी हो तथा जो रोकर और तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, वह अन्न भी राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ६ ॥

निरोङ्कारेण यद् भुक्तं सशस्त्रेण च भारत ।
दुरात्मना च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! जिस अन्नमेंसे पहले ऐसे व्यक्तिने खा लिया हो, जिसे खानेकी अनुमति नहीं दी गयी है अथवा जिसमेंसे पहले प्रणव आदि वेदमन्त्रोंके अनधिकारी शूद्र आदिने भोजन कर लिया हो अथवा किसी शस्त्रधारी या दुराचारी पुरुषने जिसका उपयोग कर लिया हो, उस अन्नको भी राक्षसोंका ही भाग बताया गया है ॥ ७ ॥

परोच्छिष्टं च यद् भुक्तं परिभुक्तं च यद् भवेत् ।
दैवे पित्र्ये च सततं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ८ ॥

जिसे दूसरोंने उच्छिष्ट कर दिया हो, जिसमेंसे किसीने भोजन कर लिया हो तथा जो देवता, पितर, अतिथि एवं बालक आदिको दिये बिना ही अपने उपभोगमें लाया गया हो, वह अन्न देवकर्म तथा पितृकर्ममें सदा राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ८ ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यच्छ्राद्धं परिविष्यते ।
त्रिभिर्वर्णैर्नरश्रेष्ठ तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! तीनों वर्णोंके लोग वैदिक मन्त्र एवं उसके विधि-विधानसे रहित जो श्राद्धका अन्न परोसते हैं, उसे राक्षसोंका ही भाग माना गया है ॥ ९ ॥

आज्याहुतिं विना चैव यत्किंचित् परिविष्यते ।
दुराचारैश्च यद् भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ १० ॥
ये भागा रक्षसां प्राप्तास्त उक्ता भरतर्षभ ।

घीकी-आहुति दिये बिना ही जो कुछ परोसा जाता है तथा जिसमेंसे पहले कुछ दुराचारी मनुष्योंको भोजन करा दिया गया हो, वह राक्षसोंका भाग माना गया है। भरतश्रेष्ठ ! अन्नके जो भाग राक्षसोंको प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन यहाँ किया गया ॥ १०½ ॥

अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे शृणु ॥ ११ ॥
यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तास्तथैव च ।
दैवे वाप्यथ पित्र्ये वा राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १२ ॥

अब दान और भोजनके लिये ब्राह्मणकी परीक्षा करनेके विषयमें जो बात बतायी जाती है, उसे सुनो । राजन् ! जो ब्राह्मण पतित, जड या उन्मत्त हो गये हों, वे देवकार्य या पितृकार्यमें निमन्त्रण पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ११-१२ ॥

श्वित्री क्लीबश्च कुष्ठी च तथा यक्ष्महतश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चान्धो राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १३ ॥

राजन् ! जिसके शरीरमें सफेद दाग हो, जो कोढ़ी, नपुंसक, राजयक्ष्मासे पीडित, मृगीका रोगी और अन्धा हो, ऐसे लोग श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १३ ॥

चिकित्सका देवलका वृथा नियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! चिकित्सक या वैद्य, देवालयके पुजारी, पाखण्डी और सोमरस बेचनेवाले ब्राह्मण निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥

गायना नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका योधकाश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १५ ॥

राजन् ! जो गाते-बजाते, नाचते, खेल-कूदकर तमाशा दिखाते, व्यर्थकी बातें बनाते और पहलवानी करते हैं, वे भी निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १५ ॥

होतारो वृषलानां च वृषलाध्यापकास्तथा ।
तथा वृषलशिष्याश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! जो शूद्रोंका यज्ञ कराते, उनको पढ़ाते अथवा स्वयं उनके शिष्य बनकर उनसे शिक्षा लेते या उनकी दासता करते हैं, वे भी निमन्त्रण देने योग्य नहीं हैं ॥ १६ ॥

अनुयोक्ता च यो विप्रो अनुयुक्तश्च भारत ।
नार्हतस्तावपि श्राद्धं ब्रह्मविक्रयिणौ हि तौ ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो ब्राह्मण वेतन लेकर पढ़ाता और वेतन देकर पढ़ता है, वे दोनों ही वेदको बेचनेवाले हैं; अतः वे श्राद्धमें सम्मिलित करने योग्य नहीं हैं ॥ १७ ॥

अग्रणीर्यः कृतः पूर्वं वर्णावरपरिग्रहः ।
ब्राह्मणः सर्वविद्योऽपि राजन् नार्हति केतनम् ॥ १८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण पहले समाजका अगुआ रहा हो और पीछे उसने शूद्र-स्त्रीसे विवाह कर लिया हो, वह ब्राह्मण सम्पूर्ण विद्याओंका ज्ञाता होनेपर भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

अनग्नयश्च ये विप्रा मृतनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्च पतिताश्चैव राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करते, जो मुर्दा ढोते, चोरी करते और जो पापोंके कारण पतित हो गये हैं, वे भी श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ १९ ॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपूर्वाश्च भारत ।
पुत्रिकापूर्वपुत्राश्च श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २० ॥

भारत ! जिनके विषयमें पहलेसे कुछ ज्ञात न हो, जो गाँवके अगुआ हों तथा पुत्रिका[1]-धर्मके अनुसार व्याही गयी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होकर नानाके घरमें निवास करते हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें निमन्त्रण पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ २० ॥

ऋणकर्ता च यो राजन् यश्च वार्धुषिको नरः ।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च राजन् नार्हन्ति केतनम् ॥ २१ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण रुपया-पैसा बढ़ानेके लिये लोगोंको ब्याजपर ऋण देता हो अथवा जो सस्ता अन्न खरीदकर उसे महँगे भावपर बेचता और उसका मुनाफा खाता हो अथवा प्राणियोंके क्रय-विक्रयसे जीविका चलाता हो, ऐसा ब्राह्मण श्राद्धमें बुलाने योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥

स्त्रीपूर्वाः काण्डपृष्ठाश्च यावन्तो भरतर्षभ ।
अजपा ब्राह्मणाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २२ ॥

जो स्त्रीकी कमाई खाते हों, वेश्याके पति हों और गायत्री-जप एवं संध्या-वन्दनसे हीन हों, ऐसे ब्राह्मण भी श्राद्धमें सम्मिलित होने योग्य नहीं हैं ॥ २२ ॥

श्राद्धे दैवे च निर्दिष्टो ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
दातुः प्रतिग्रहीतुश्च शृणुष्वानुग्रहं पुनः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवयज्ञ और श्राद्धकर्ममें वर्जित ब्राह्मणका निर्देश किया गया । अब दान देने और लेनेवाले ऐसे पुरुषोंका वर्णन करता हूँ, जो श्राद्धमें निषिद्ध होनेपर भी किसी विशेष गुणके कारण अनुग्रहपूर्वक ग्राह्य माने गये हैं। उनके विषयमें सुनो ॥ २३ ॥

चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्येऽपि कर्षकाः ।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन् केतनक्षमाः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण व्रतका पालन करनेवाले, सद्गुण-सम्पन्न, क्रियानिष्ठ और गायत्रीमन्त्रके ज्ञाता हों, वे खेती करनेवाले होनेपर भी उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २४ ॥

क्षात्रधर्मिणमप्याजौ केतयेत् कुलजं द्विजम् ।
न त्वेव वणिजं तात श्राद्धे च परिकल्पयेत् ॥ २५ ॥

तात ! जो कुलीन ब्राह्मण युद्धमें क्षत्रियधर्मका पालन करता हो, उसे भी श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये; परंतु जो वाणिज्य करता हो, उसे कभी श्राद्धमें सम्मिलित न करें ॥ २५ ॥

अग्निहोत्री च यो विप्रो ग्रामवासी च यो भवेत् ।
अस्तेनश्चातिथिज्ञश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २६ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अग्निहोत्री हो, अपने ही गाँवका निवासी हो, चोरी न करता हो और अतिथिसत्कारमें प्रवीण हो, उसे भी निमन्त्रण दिया जा सकता है ॥ २६ ॥

सावित्रीं जपते यस्तु त्रिकालं भरतर्षभ ।
भिक्षावृत्तिः क्रियावांश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २७ ॥

भरतभूषण नरेश ! जो तीनों समय गायत्री-मन्त्रका जप करता है, भिक्षासे जीविका चलाता है, और क्रियानिष्ठ है, वह श्राद्धमें निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २७ ॥

उदितास्तमितो यश्च तथैवास्तमितोदितः ।
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २८ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण उन्नत होकर तत्काल ही अवनत और अवनत होकर उन्नत हो जाता है एवं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है, वह थोड़ा दोषी हो तो भी उसे श्राद्धमें निमन्त्रण देना उचित है ॥ २८ ॥

[1] जब कोई अपनी कन्याको इस शर्तपर ब्याहता है कि 'इससे जो पहला पुत्र होगा, उसे मैं गोद ले लूँगा और अपना पुत्र मानूँगा।' तो उसे 'पुत्रिकाधर्मके अनुसार विवाह' कहते हैं। इस नियमसे प्राप्त होनेवाला पुत्र श्राद्धका अधिकारी नहीं है।

अकल्कको ह्यतर्कश्च ब्राह्मणो भरतर्षभ ।
संसर्गे भैक्ष्यवृत्तिश्च स राजन् केतनक्षमः ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो दम्भरहित, व्यर्थ तर्क-वितर्क न करनेवाला तथा सम्पर्क स्थापित करनेके योग्य घरसे भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करनेवाला है, वह ब्राह्मण निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥ २९ ॥

अव्रती कितवः स्तेनः प्राणिविक्रयिको वणिक् ।
पश्चाच्च पीतवान् सोमं स राजन् केतनक्षमः ॥ ३० ॥

राजन् ! जो व्रतहीन, धूर्त, चोर, प्राणियोंका क्रय-विक्रय करनेवाला तथा वणिक्-वृत्तिसे जीविका चलानेवाला होकर भी पीछे यज्ञका अनुष्ठान करके उसमें सोमरसका पान कर चुका है, वह भी निमन्त्रण पानेका अधिकारी है ॥३०॥

अर्जयित्वा धनं पूर्वं दारुणैरपि कर्मभिः ।
भवेत् सर्वातिथिः पश्चात् स राजन् केतनक्षमः॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! जो पहले कठोर कर्मोंद्वारा भी धनका उपार्जन करके पीछे सब प्रकारसे अतिथियोंका सेवक हो जाता है, वह श्राद्धमें बुलाने योग्य है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मविक्रयनिर्दिष्टं स्त्रिया यच्चार्जितं धनम् ।
अदेयं पितृविप्रेभ्यो यच्च क्लैब्यादुपार्जितम् ॥ ३२ ॥

जो धन वेद बेचकर लाया गया हो या स्त्रीकी कमाईसे प्राप्त हुआ हो अथवा लोगोंके सामने दीनता दिखाकर माँग लाया गया हो, वह श्राद्धमें ब्राह्मणोंको देने योग्य नहीं है ॥

क्रियमाणेऽपवर्गे च यो द्विजो भरतर्षभ ।
न व्याहरति यद्युक्तं तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मण श्राद्धकी समाप्ति होनेपर 'अस्तु स्वधा' आदि तत्कालोचित वचनोंका प्रयोग नहीं करता है, उसे गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥३३॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा ।
सोमक्षयश्च मांसं च यदारण्यं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! जिस दिन भी सुपात्र ब्राह्मण, दही, घी, अमावास्या तिथि तथा जंगली कन्द, मूल और फलोंका गूदा प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल है ॥३४॥

(मुहूर्तानां त्रयं पूर्वमह्नः प्रातरिति स्मृतम् ।
जपध्यानादिभिस्तस्मिन् विप्रैः कार्यं शुभव्रतम् ॥

दिनका प्रथम तीन मुहूर्त प्रातःकाल कहलाता है। उसमें ब्राह्मणोंको जप और ध्यान आदिके द्वारा अपने लिये कल्याणकारी व्रत आदिका पालन करना चाहिये ॥

सङ्गवाख्यं त्रिभागं तु मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तकः ।
लौकिकं सङ्गवेऽर्थ्यं च स्नानादि ह्यथ मध्यमे ॥

उसके बादका तीन मुहूर्त सङ्गव कहलाता है तथा सङ्गवके बादका तीन मुहूर्त मध्याह्न कहलाता है। सङ्गव कालमें लौकिक कार्य देखना चाहिये और मध्याह्नकालमें स्नान-संध्यावन्दन आदि करना उचित है ॥

चतुर्थमपराह्णं तु त्रिमुहूर्तं तु पित्र्यकम् ।
सायाह्नस्त्रिमुहूर्तं च मध्यमं कविभिः स्मृतम् ॥)

मध्याह्नके बादका तीन मुहूर्त अपराह्ण कहलाता है। यह दिनका चौथा भाग पितृकार्यके लिये उपयोगी है। उसके बादका तीन मुहूर्त सायाह्न कहा गया है। इसे विद्वानोंने दिन और रातके बीचका समय माना है ॥

श्राद्धापवर्गे विप्रस्य स्वधा वै मुदिता भवेत् ।
क्षत्रियस्यापि यो ब्रूयात् प्रीयन्तां पितरस्त्विति ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणके यहाँ श्राद्ध समाप्त होनेपर 'स्वधा सम्पद्यताम्' इस वाक्यका उच्चारण करनेपर पितरोंको प्रसन्नता होती है। क्षत्रियके यहाँ श्राद्धकी समाप्तिमें 'पितरः प्रीयन्ताम्' (पितर तृप्त हो जायँ) इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये ॥३५॥

अपवर्गे तु वैश्यस्य श्राद्धकर्मणि भारत ।
अक्षय्यमभिधातव्यं स्वस्ति शूद्रस्य भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! वैश्यके घर श्राद्धकर्मकी समाप्तिपर 'अक्षय्यमस्तु' (श्राद्धका दान अक्षय हो) कहना चाहिये और शूद्रके श्राद्धकी समाप्तिके अवसरपर 'स्वस्ति' (कल्याण हो) इस वाक्यका उच्चारण करना उचित है ॥ ३६ ॥

पुण्याहवाचनं दैवं ब्राह्मणस्य विधीयते ।
एतदेव निरोङ्कारं क्षत्रियस्य विधीयते ॥ ३७ ॥

इसी तरह जब ब्राह्मणके यहाँ देवकार्य होता हो, तब उसमें ॐकारसहित पुण्याहवाचनका विधान है (अर्थात् 'पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु—आपलोग पुण्याहवाचन करें' ऐसा यजमानके कहनेपर ब्राह्मणोंको 'ॐ पुण्याहम् ॐ पुण्याहम्' इस प्रकार कहना चाहिये) । यही वाक्य क्षत्रियके यहाँ बिना ॐकारके उच्चारण करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वैश्यस्य दैवे वक्तव्यं प्रीयन्तां देवता इति ।
कर्मणामानुपूर्व्येण विधिपूर्वं कृतं शृणु ॥ ३८ ॥

वैश्यके घर देवकर्ममें 'प्रीयन्तां देवताः' इस वाक्यका उच्चारण करना चाहिये । अब क्रमशः तीनों वर्णोंके कर्मानुष्ठानकी विधि सुनो ॥ ३८ ॥

जातकर्मादिकाः सर्वास्त्रिषु वर्णेषु भारत ।
ब्रह्मक्षत्रे हि मन्त्रोक्ता वैश्यस्य च युधिष्ठिर ॥ ३९ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! तीनों वर्णोंमें जातकर्म आदि समस्त संस्कारोंका विधान है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंके सभी संस्कार वेद-मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक होने चाहिये ॥३९॥

विप्रस्य रशना मौञ्जी मौर्वी राजन्यगामिनी ।
बाल्वजी ह्येव वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! उपनयनके समय ब्राह्मणको मूँजकी, क्षत्रियको प्रत्यञ्चाकी और वैश्यको शणकी मेखला धारण करनी चाहिये । यही धर्म है ॥ ४० ॥

(पालाशो द्विजदण्डः स्यादश्वत्थः क्षत्रियस्य तु ।
औदुम्बरश्च वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥)

ब्राह्मणका दण्ड पलाशका, क्षत्रियके लिये पीपलका और वैश्यके लिये गूलरका होना चाहिये ।युधिष्ठिर ! ऐसा ही धर्म है॥

दातुः प्रतिग्रहीतुश्च धर्माधर्माविमौ शृणु ।
ब्राह्मणस्यानृतेऽधर्मः प्रोक्तः पातकसंज्ञितः ।
चतुर्गुणः क्षत्रियस्य वैश्यस्याष्टगुणः स्मृतः ॥ ४१ ॥

अब दान देने और दान लेनेवालेके धर्माधर्मका वर्णन सुनो । ब्राह्मणको झूठ बोलनेसे जो अधर्म या पातक बताया गया है, उससे चौगुना क्षत्रियको और आठगुना वैश्यको लगता है ॥ ४१ ॥

नान्यत्र ब्राह्मणोऽश्नीयात् पूर्वं विप्रेण केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां तुल्यधर्मो भवेत् स हि॥ ४२ ॥

यदि किसी ब्राह्मणने पहलेसे ही श्राद्धका निमन्त्रण दे रखा हो तो निमन्त्रित ब्राह्मणको दूसरी जगह जाकर भोजन नहीं करना चाहिये । यदि वह करता है तो छोटा समझा जाता है और उसे पशुहिंसाके समान पाप लगता है ॥ ४२ ॥

तथा राजन्यवैश्याभ्यां यद्यश्नीयात्तु केतितः ।
यवीयान् पशुहिंसायां भागार्धं समवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

यदि उस क्षत्रिय या वैश्यने पहलेसे निमन्त्रण दे रखा हो और वह कहीं अन्यत्र जाकर भोजन कर ले तो छोटा समझे जानेके साथ ही वह पशुहिंसाके आधे पापका भागी होता है ॥ ४३ ॥

दैवं वाप्यथवा पित्र्यं योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
अस्नातो ब्राह्मणो राजंस्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४४ ॥

नरेश्वर ! जो ब्राह्मण ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंके यहाँ देवयज्ञ अथवा श्राद्धमें स्नान किये बिना ही भोजन करता है, उसे गौकी झूठी शपथ खानेके समान पाप लगता है ॥ ४४ ॥

आशौचो ब्राह्मणो राजन् योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु ।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात् तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४५ ॥

राजन् ! जो ब्राह्मण अपने घरमें अशौच रहते हुए भी लोभवश जान-बूझकर दूसरे ब्राह्मण आदिके यहाँ श्राद्धका अन्न ग्रहण करता है, उसे भी गौकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४५ ॥

अर्थेनान्येन यो लिप्सेत् कर्मार्थं चैव भारत ।
आमन्त्रयति राजेन्द्र तस्याधर्मोऽनृतं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जो तीर्थयात्रा आदि दूसरा प्रयोजन बताकर उसीके बहाने अपनी जीविकाके लिये धन माँगता है अथवा 'मुझे अमुक (यज्ञादि) कर्म करनेके लिये धन दीजिये' ऐसा कहकर जो दाताको अपनी ओर अभिमुख करता है, उसके लिये भी वही झूठी शपथ खानेका पाप बताया गया है ॥

अवेदव्रतचारित्रास्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर ।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदव्रतका पालन न करनेवाले ब्राह्मणोंको श्राद्धमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक अन्न परोसते हैं, उन्हें भी गायकी झूठी शपथ खानेका पाप लगता है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पित्र्यं वाप्यथवा दैवं दीयते यत् पितामह ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं दत्तं केषु महाफलम् ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! देवयज्ञ अथवा श्राद्धकर्ममें जो दान दिया जाता है, वह कैसे पुरुषोंको देनेसे महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ? मैं इस बातको जानना चाहता हूँ ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
उच्छेषपरिशेषं हि तान् भोजय युधिष्ठिर ॥ ४९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जैसे किसान वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार जिनके घरोंकी स्त्रियाँ अपने स्वामीके खा लेनेपर बचे हुए अन्नकी प्रतीक्षा करती रहती हैं (अर्थात् जिनके घरमें बनी हुई रसोईके सिवा और कोई अन्नका संग्रह न हो), उन निर्धन ब्राह्मणोंको तुम अवश्य भोजन कराओ ॥ ४९ ॥

चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः ।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५० ॥

राजन् ! जो सदाचारपरायण हों, जिनकी जीविकाका साधन नष्ट हो गया हो और इसीलिये भोजन न मिलनेके कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गये हों, ऐसे लोग यदि याचक होकर दाताके पास आते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५० ॥

तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्बलास्तदपाश्रयाः ।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! जो सदाचारके ही भक्त हैं, जिनके घरमें सदाचारका ही पालन होता है, जिन्हें सदाचारका ही बल है तथा जिन्होंने सदाचारका ही आश्रय ले रखा है, वे यदि आवश्यकता पड़नेपर याचना करते हैं तो उनको दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५१ ॥

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर ।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर ! चोरों और शत्रुओंके भयसे पीड़ित होकर आये हुए जो याचक केवल भोजन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥ ५२ ॥

अकल्ककस्य विप्रस्य रौक्ष्यात् करकृतात्मनः ।
वटवो यस्य भिक्षन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥

जिसके मनमें किसी तरहका कपट नहीं है, अत्यन्त

दरिद्रताके कारण जिसके हाथमें अन्न आते ही उसके भूखे बच्चे 'मुझे दो, मुझे दो' ऐसा कहकर माँगने लगते हैं; ऐसे निर्धन ब्राह्मण और उसके उन बच्चोंको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५३ ॥

हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसम्प्लवे।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥

देशमें विप्लव होनेके समय जिनके धन और स्त्रियाँ छिन गयी हों, वे ब्राह्मण यदि धनकी याचनाके लिये आयें तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५४ ॥

व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्राः श्रुतसम्मताः।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५५ ॥

जो व्रत और नियममें लगे हुए ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंकी सम्मतिके अनुसार चलते हैं और अपने व्रतकी समाप्तिके लिये धन चाहते हैं, उन्हें देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

अत्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाषण्डसमयेषु च।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥

जो पाखण्डियोंके धर्मसे दूर रहते हैं, जिनके पास धनका अभाव है तथा जो अन्न न मिलनेके कारण दुर्बल हो गये हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५६ ॥

(व्रतानां पारणार्थाय गुर्वर्थे यज्ञदक्षिणाम्।
निवेशार्थं च विद्वांसस्तेषां दत्तं महाफलम् ॥

जो विद्वान् पुरुष व्रतोंका पारण, गुरुदक्षिणा, यज्ञदक्षिणा तथा विवाहके लिये धन चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

पित्रोश्च रक्षणार्थाय पुत्रदारार्थमेव वा।
महाव्याधिविमोक्षाय तेषु दत्तं महाफलम् ॥

जो माता पिताकी रक्षाके लिये, स्त्री-पुत्रोंके पालन तथा महान् रोगोंसे छुटकारा पानेके लिये धन चाहते हैं, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥

बालाः स्त्रियश्च वाञ्छन्ति सुभक्तं चाप्यसाधनाः।
स्वर्गमायान्ति दत्त्वैषां निरयान् नोपयान्ति ते ॥)

जो बालक और स्त्रियाँ सब प्रकारके साधनोंसे रहित होनेके कारण केवल भोजन चाहती हैं, उन्हें भोजन देकर दाता स्वर्गमें जाते हैं। वे नरकमें नहीं पड़ते हैं ॥

कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः।
स्पृहयन्ति च भुक्त्वान्नं तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥

प्रभावशाली डाकुओंने जिन निर्दोष मनुष्योंका सर्वस्व छीन लिया हो, अतः जो खानेके लिये अन्न चाहते हों, उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५७ ॥

तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये।
अर्थिनः किंचिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥

जो तपस्वी और तपोनिष्ठ हैं तथा तपस्वी जनोंके लिये ही भीख माँगते हैं, ऐसे याचक यदि कुछ चाहते हैं तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है ॥ ५८ ॥

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ! किनको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, यह विषय मैंने तुम्हें सुना दिया। अब जिन कर्मोंसे मनुष्य नरक या स्वर्गमें जाते हैं, उन्हें सुनो ॥ ५९ ॥

गुर्वर्थमभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर! गुरुकी भलाईके लिये तथा दूसरेको भयसे मुक्त करनेके लिये जो झूठ बोलनेका अवसर आता है, उसे छोड़कर अन्यत्र जो झूठ बोलते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६० ॥

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ६१ ॥

जो दूसरोंकी स्त्री चुरानेवाले, परायी स्त्रीका सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा दूत बनकर परस्त्रीको दूसरोंसे मिलानेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६१ ॥

ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६२ ॥

जो दूसरोंके धनको हड़पनेवाले और नष्ट करनेवाले हैं तथा दूसरोंकी चुगली खानेवाले हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ६२ ॥

प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां च भारत।
अगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ६३ ॥

भरतनन्दन! जो पौंसलों, सभाओं, पुलों और किसीके घरोंको नष्ट करनेवाले हैं, वे मनुष्य निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं। ६३।

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम्।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६४ ॥

ज लोग अनाथ, बूढ़ी, तरुणी, बालिका, भयभीत और तपस्विनी स्त्रियोंको धोखेमें डालते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६४ ॥

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६५ ॥

भरतनन्दन! जो दूसरोंकी जीविका नष्ट करते, घर उजाड़ते, पति-पत्नीमें बिछोह डालते, मित्रोंमें विरोध पैदा करते और किसीकी आशा भङ्ग करते हैं, वे निश्चय ही नरकमें जाते हैं ॥ ६५ ॥

सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्त्युपजीवकाः।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥ ६६ ॥

जो चुगली खानेवाले, कुल या धर्मकी मर्यादा नष्ट करनेवाले, दूसरोंकी जीविकापर गुजारा करनेवाले तथा मित्रोंद्वारा

किये गये उपकारको भुला देनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ६६ ॥

पाषण्डा दूषकाश्चैव समयानां च दूषकाः ।
ये प्रत्यवसिताश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६७ ॥

जो पाखण्डी, निन्दक, धार्मिक नियमोंके विरोधी तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें लौट आनेवाले हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ६७ ॥

विषमव्यवहाराश्च विषमाश्चैव वृद्धिषु ।
लाभेषु विषमाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६८ ॥

जिनका व्यवहार सबके प्रति समान नहीं है तथा जो लाभ और वृद्धिमें विषम दृष्टि रखते हैं—ईमानदारीसे उसका वितरण नहीं करते हैं, वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं ।६८।

दूतसंव्यवहाराश्च निष्परीक्षाश्च मानवाः ।
प्राणिहिंसाप्रवृत्ताश्च ते वै निरयगामिनः ॥ ६९ ॥

जो किसी मनुष्यकी परख करनेमें समर्थ नहीं हैं और दूतका काम करते हैं, जिनकी सदा जीवहिंसामें प्रवृत्ति होती है, वे निश्चय ही नरकमें गिरते हैं ॥ ६९ ॥

कृताशं कृतनिर्देशं कृतभक्तं कृतश्रमम् ।
भेदैर्ये व्यपकर्षन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७० ॥

जो वेतनपर रखे हुए परिश्रमी नौकरको कुछ देनेकी आशा देकर और देनेका समय नियत करके उसके पहले ही भेदनीतिके द्वारा उसे मालिकके यहाँसे निकलवा देते हैं, वे अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥ ७० ॥

पर्यश्नन्ति च ये दारानग्निभृत्यातिथींस्तथा ।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ७१ ॥

जो पितरों और देवताओंके यजन-पूजनका त्याग करके अग्निमें आहुति दिये बिना तथा अतिथि, पोष्यवर्ग और स्त्री-बच्चोंको अन्न दिये बिना ही भोजन कर लेते हैं, वे निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥ ७१ ॥

वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७२ ॥

जो वेद बेचते हैं, वेदोंकी निन्दा करते हैं और विक्रयके लिये ही वेदोंके मन्त्र लिखते हैं, वे भी निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ७२ ॥

चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः ।
विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य चारों आश्रमों और वेदोंकी मर्यादासे बाहर हैं तथा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे ही जीविका चलाते हैं, उन्हें निश्चय ही नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ७३ ॥

केशविक्रयिका राजन् विषविक्रयिकाश्च ये ।
क्षीरविक्रयिकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७४ ॥

राजन् ! जो (ब्राह्मण) केश, विष और दूध बेचते हैं, वे भी नरकमें ही जाते हैं ॥ ७४ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर ।
येऽन्तरं यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण, गौ तथा कन्याओंके लिये हितकर कार्यमें विघ्न डालते हैं, वे भी अवश्य ही नरकगामी होते हैं ॥ ७५ ॥

शस्त्रविक्रयिकाश्चैव कर्तारश्च युधिष्ठिर ।
शल्यानां धनुषां चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७६ ॥

राजा युधिष्ठिर ! जो (ब्राह्मण) हथियार बेचते और धनुष-बाण आदि शस्त्रोंको बनाते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ७६ ॥

शिलाभिः शङ्कुभिर्वापि श्वभ्रैर्वा भरतर्षभ ।
ये मार्गमनुरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पत्थर रखकर, काँटे बिछाकर और गड्ढे खोदकर रास्ता रोकते हैं, वे भी नरकमें ही गिरते हैं ॥७७॥

उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च भक्तांश्च भरतर्षभ ।
ये त्यजन्त्यविकारांस्तांस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७८ ॥

भरतभूषण ! जो अध्यापकों, सेवकों तथा अपने भक्तों-को बिना किसी अपराधके ही त्याग देते हैं, उन्हें भी नरकमें ही गिरना पड़ता है ॥ ७८ ॥

अप्राप्तदमकाश्चैव नासानां वेधकाश्च ये ।
बन्धकाश्च पशूनां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७९ ॥

जो काबूमें न आनेवाले पशुओंका दमन करते, नाथते अथवा कटघरेमें बंद करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥७९॥

अगोप्तारश्च राजानो बलिषडभागतस्कराः ।
समर्थाश्चाप्यदातारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ८० ॥

जो राजा होकर भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते और उसकी आमदनीके छठे भागको लगानके रूपमें लूटते रहते हैं तथा जो समर्थ होनेपर भी दान नहीं करते, उन्हें भी निःसंदेह नरकमें जाना पड़ता है ॥ ८० ॥

(संश्रुत्य चाप्रदातारो दरिद्राणां विनिन्दकाः ।
श्रोत्रियाणां विनीतानां दरिद्राणां विशेषतः ॥
क्षमिणां निन्दकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ।)

जो देनेकी प्रतिज्ञा करके भी नहीं देते, दरिद्रोंकी एवं विनयशील निर्धन श्रोत्रियोंकी और क्षमाशीलोंकी निन्दा करते हैं, वे भी अवश्य ही नरकमें जाते हैं ॥

क्षान्तान् दान्तांस्तथा प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ८१ ॥

जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा दीर्घकालतक साथ रहे हुए विद्वानोंको अपना काम निकल जानेके बाद त्याग देते हैं, वे नरकमें गिरते हैं ॥ ८१ ॥

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः ।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ ८२ ॥

जो बालकों, बूढ़ों और सेवकोंको दिये बिना ही पहले स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे भी निःसंदेह नरकगामी होते हैं ॥

एते पूर्वं विनिर्दिष्टाः प्रोक्ता निरयगामिनः।
भागिनः स्वर्गलोकस्य वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके संकेतके अनुसार यहाँ नरकगामी मनुष्योंका वर्णन किया गया है । अब स्वर्गलोकमें जानेवालों-का परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८३ ॥

सर्वेष्वेव तु कार्येषु दैवपूर्वेषु भारत।
हन्ति पुत्रान् पशून् कृत्स्नान् ब्राह्मणातिक्रमः कृतः॥८४॥

भरतनन्दन ! जिनमें पहले देवताओंकी पूजा की जाती है, उन समस्त कार्योंमें यदि ब्राह्मणका अपमान किया जाय तो वह अपमान करनेवालेके समस्त पुत्रों और पशुओंका नाश कर देता है ॥ ८४ ॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८५ ॥

जो दान, तपस्या और सत्यके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८५ ॥

शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च विद्यामादाय भारत।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८६ ॥

भारत ! जो गुरुशुश्रूषा और तपस्यापूर्वक वेदाध्ययन करके प्रतिग्रहमें आसक्त नहीं होते, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं ॥८६॥

भयात्पापात्तथा बाधाद् दारिद्र्याद् व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८७ ॥

जिनके प्रयत्नसे मनुष्य भय, पाप, बाधा, दरिद्रता तथा व्याधिजनित पीड़ासे छुटकारा पा जाते हैं, वे लोग स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८७ ॥

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारसम्पन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ८८ ॥

जो क्षमावान्, धीर, धर्मकार्यके लिये उद्यत रहनेवाले और माङ्गलिक आचारसे सम्पन्न हैं, वे पुरुष भी स्वर्गगामी होते हैं ॥ ८८ ॥

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८९ ॥

जो मद, मांस, मदिरा और परस्त्रीसे दूर रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ८९ ॥

आश्रमाणां च कर्तारः कुलानां चैव भारत।
देशानां नगराणां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९० ॥

भारत ! जो आश्रम, कुल, देश और नगरके निर्माता तथा संरक्षक हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९० ॥

वस्त्राभरणदातारो भक्तपानान्नदास्तथा।
कुटुम्बानां च दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९१ ॥

जो वस्त्र, आभूषण, भोजन, पानी तथा अन्न दान करते हैं एवं दूसरोंके कुटुम्बकी वृद्धिमें सहायक होते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९१ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९२ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाओंसे अलग रहते हैं, सब कुछ सहते हैं और सबको आश्रय देते रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग-लोकमें जाते हैं ॥ ९२ ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः।
भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९३ ॥

जो जितेन्द्रिय होकर माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंपर स्नेह रखते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९४ ॥

भारत ! जो धनी, बलवान् और नौजवान होकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे धीर पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९४ ॥

अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९५ ॥

जो अपराधियोंके प्रति भी दया करते हैं, जिनका स्वभाव मृदुल होता है, जो मृदुल स्वभाववाले व्यक्तियोंपर प्रेम रखते हैं तथा जिन्हें दूसरोंकी आराधना (सेवा) करनेमें ही सुख मिलता है, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९५ ॥

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९६ ॥

जो मनुष्य सहस्रों मनुष्योंको भोजन परोसते, सहस्रोंको दान देते तथा सहस्रोंकी रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९६ ॥

सुवर्णस्य च दातारो गवां च भरतर्षभ।
यानानां वाहनानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो सुवर्ण, गौ, पालकी और सवारीका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९७ ॥

वैवाहिकानां द्रव्याणां प्रेष्याणां च युधिष्ठिर।
दातारो वाससां चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिर ! जो वैवाहिक द्रव्य, दास-दासी तथा वस्त्र दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ९८ ॥

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः ।
वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९९ ॥

जो दूसरोंके लिये आश्रम, गृह, उद्यान, कुआँ, बगीचा, धर्मशाला, पौसला तथा चहारदीवारी बनवाते हैं, वे लोग स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ९९ ॥

निवेशनानां क्षेत्राणां वसतीनां च भारत।
दातारः प्रार्थितानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१००॥

भरतनन्दन ! जो याचकोंकी याचनाके अनुसार घर, खेत और गाँव प्रदान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०० ॥

रसानां चाथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर ।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०१॥

युधिष्ठिर ! जो स्वयं ही पैदा करके रस, बीज और अन्नका दान करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं ॥ १०१ ॥

यस्मिंस्तस्मिन् कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः ।
सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०२॥

जो किसी भी कुलमें उत्पन्न हो बहुत-से पुत्रों और सौ वर्षकी आयुसे युक्त होते हैं, दूसरोंपर दया करते हैं और क्रोधको काबूमें रखते हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०२ ॥

एतदुक्तममुत्रार्थं दैवं पित्र्यं च भारत ।
दानधर्मं च दानस्य यत् पूर्वमृषिभिः कृतम् ॥१०३॥

भारत ! यह मैंने तुमसे परलोकमें कल्याण करनेवाले देवकार्य और पितृकार्यका वर्णन किया तथा प्राचीनकालमें ऋषियोंद्वारा बतलाये हुए दानधर्म और दानकी महिमाका भी निरूपण किया है ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्वर्गनरकगामिवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्वर्ग और नरकमें जानेवालोंका वर्णनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल १११½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके समान पापोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वापि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतवंशी नरेश ! अब आप मुझे यह ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप कैसे लगता है ? ॥१॥

भीष्म उवाच

व्यासमामन्त्र्य राजेन्द्र पुरा यत् पृष्टवानहम् ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! पूर्वकालमें मैंने एक बार व्यासजीको बुलाकर उनसे जो प्रश्न किया था (तथा उन्होंने मुझे उसका जो उत्तर दिया था); वह सब तुम्हें बता रहा हूँ । तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

चतुर्थस्त्वं वसिष्ठस्य तत्त्वमाख्याहि मे मुने ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते ॥ ३ ॥

मैंने पूछा था, 'मुने ! आप वसिष्ठजीके वंशजोंमें चौथी पीढ़ीके पुरुष हैं । कृपया मुझे यह ठीक-ठीक बताइये कि ब्राह्मणकी हिंसा न करनेपर भी किन कर्मोंके करनेसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ?' ॥ ३ ॥

इति पृष्टो मया राजन् पराशरशरीरजः ।
अब्रवीन्निपुणो धर्मे निःसंशयमनुत्तमम् ॥ ४ ॥

राजन् ! मेरे द्वारा इस प्रकार पूछनेपर पराशर-पुत्र धर्म-निपुण व्यासजीने यह संदेहरहित परम उत्तम बात कही—॥४॥

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ५ ॥

'भीष्म ! जिसकी जीविकावृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेके लिये स्वयं बुलाकर जो पीछे देनेसे इनकार कर देता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझो ॥ ५ ॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य तटस्थ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जो प्याससे पीड़ित हुई गौओंके पानी पीनेमें विघ्न डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती जाने ॥ ७ ॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ८ ॥

'जो मनुष्य उत्तम कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियों और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसको भी ब्रह्मघाती ही समझो ॥ ८ ॥

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ९ ॥

जो अपनी रूपवती कन्याकी बड़ी उम्र हो जानेपर भी उसका योग्य वरके साथ विवाह नहीं करता, उसे ब्रह्महत्यारा जाने ॥ ९ ॥

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ १० ॥

'जो पापपरायण मूढ़ मनुष्य ब्राह्मणोंको अकारण ही मर्मभेदी शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ १० ॥

चक्षुषा विप्रहीणस्य पंगुलस्य जडस्य वा ।
हरेत यो वै सर्वस्वं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ ११ ॥

'जो अन्धे, लूले और गूँगे मनुष्योंका सर्वस्व हर लेता है, उसे ब्रह्मघाती जाने ॥ ११ ॥

आश्रमे वा वने वापि ग्रामे वा यदि वा पुरे ।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥ १२ ॥

'जो मोहवश आश्रम, वन, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही समझना चाहिये' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्रह्मघ्नकथने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्महत्यारोंका कथनविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंके माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्नानं च भरतर्षभ ।
श्रवणं च महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाज्ञानी भरतश्रेष्ठ ! तीर्थोंका दर्शन, उनमें किया जानेवाला स्नान और उनकी महिमाका श्रवण श्रेयस्कर बताया गया है । अतः मैं तीर्थोंका यथावत् रूपसे वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि भरतर्षभ ।
वक्तुमर्हसि मे तानि श्रोतास्मि नियतं प्रभो ॥ २ ॥

भरतभूषण ! इस पृथ्वीपर जो-जो पवित्र तीर्थ हैं, उन्हें मैं नियमपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप उन्हें बतलानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इममङ्गिरसा प्रोक्तं तीर्थवंशं महाद्युते ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महातेजस्वी नरेश ! पूर्वकालमें अङ्गिरामुनिने तीर्थसमुदायका वर्णन किया था । तुम्हारा भला हो, तुम उसीको सुनो । इससे तुम्हें उत्तम धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ ३ ॥

तपोवनगतं विप्रमभिगम्य महामुनिम् ।
पप्रच्छाङ्गिरसं धीरं गौतमः संशितव्रतः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, महामुनि विप्रवर धैर्यवान् अङ्गिरा अपने तपोवनमें विराजमान थे । उस समय कठिन व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गौतमने उनके पास जाकर पूछा—॥ ४ ॥

अस्ति मे भगवन् कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंस महामुने ॥ ५ ॥

'भगवन् ! महामुने ! मुझे तीर्थोंके सम्बन्धमें कुछ धर्मविषयक संदेह है । वह सब मैं सुनना चाहता हूँ । आप कृपया मुझे बताइये ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य फलं किं स्यात्तेषु तीर्थेषु वै मुने ।
प्रेत्यभावे महाप्राज्ञ तद् यथास्ति तथा वद ॥ ६ ॥

'महाज्ञानी मुनीश्वर ! उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मृत्युके बाद किस फलकी प्राप्ति होती है ? इस विषयमें जैसी वस्तुस्थिति है, वह बताइये' ॥ ६ ॥

अङ्गिरा उवाच

सप्ताहं चन्द्रभागां वै वितस्तामूर्मिमालिनीम् ।
विगाह्य वै निराहारो निर्मलो मुनिवद् भवेत् ॥ ७ ॥

अङ्गिराने कहा—मुने ! मनुष्य उपवास करके चन्द्रभागा (चनाव) और तरङ्गमालिनी वितस्ता (झेलम) में सात दिनतक स्नान करे तो मुनिके समान निर्मल हो जाता है ॥ ७ ॥

काश्मीरमण्डले नद्यो याः पतन्ति महानदम् ।
ता नदीः सिन्धुमासाद्य शीलवान् स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ८ ॥

काश्मीर प्रान्तकी जो-जो नदियाँ महानद सिन्धुमें मिलती हैं, उनमें तथा सिन्धुमें स्नान करके शीलवान् पुरुष मरनेके बाद स्वर्गमें जाता है ॥ ८ ॥

पुष्करं च प्रभासं च नैमिषं सागरोदकम् ।
देविकामिन्द्रमार्गं च स्वर्णबिन्दुं विगाह्य च ॥ ९ ॥
विबोध्यते विमानस्थः सोऽप्सरोभिरभिष्टुतः ।

पुष्कर, प्रभास, नैमिषारण्य, सागरोदक (समुद्रजल), देविका, इन्द्रमार्ग तथा स्वर्णबिन्दु—इन तीर्थोंमें स्नान करनेसे मनुष्य विमानपर बैठकर स्वर्गमें जाता है और अप्सराएँ उसकी स्तुति करती हुई उसे जगाती हैं ॥ ९½ ॥

हिरण्यबिन्दुं विक्षोभ्य प्रयतश्चाभिवाद्य च ॥ १० ॥
कुशेशयं च देव तं धूयते तस्य किल्बिषम् ।

जो मनुष्य मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हिरण्यबिन्दु तीर्थमें स्नान करके वहाँके प्रमुख देवता भगवान् कुशेशयको प्रणाम करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं ॥

इन्द्रतोयां समासाद्य गन्धमादनसंनिधौ ॥ ११ ॥
करतोयां कुरङ्गे च त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति विगाह्य प्रयतः शुचिः ॥ १२ ॥

गन्धमादन पर्वतके निकट इन्द्रतोया नदीमें और कुरङ्ग-क्षेत्रके भीतर करतोया नदीमें संयतचित्त एवं शुद्धभावसे स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ११-१२ ॥

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाद्वार, कुशावर्त, बिल्वक तीर्थ, नील पर्वत तथा कनखलमें स्नान करके पापरहित हुआ मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है ॥ १३ ॥

अपां ह्रद उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधस्त्वहिंसकः ॥ १४ ॥

यदि कोई क्रोधहीन, सत्यप्रतिज्ञ और अहिंसक होकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक सलिलह्रद नामक तीर्थमें डुबकी लगाये तो उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ १४ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा पतते दिशमुत्तराम् ।
महेश्वरस्य त्रिस्थाने यो नरस्त्वभिषिच्यते ॥ १५ ॥
एकमासं निराहारः स पश्यति हि देवताः ।

जहाँ उत्तर दिशामें भागीरथी गङ्गा गिरती हैं और वहाँ उनका स्रोत तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है, वह भगवान् महेश्वरका त्रिस्थान नामक तीर्थ है । जो मनुष्य एक मासतक निराहार रहकर वहाँ स्नान करता है, उसे देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ १५½ ॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च इन्द्रमार्गे च तर्पयन् ॥ १६ ॥
सुधां वै लभते भोक्तुं यो नरो जायते पुनः ।

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और इन्द्रमार्गमें पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य यदि पुनर्जन्म लेता है तो उसे अमृत भोजन मिलता है (अर्थात् वह देवता हो जाता है ।) ॥१६½॥

महाश्रम उपस्पृश्य योऽग्निहोत्रपरः शुचिः ॥ १७ ॥
एकमासं निराहारः सिद्धिं मासेन स व्रजेत् ।

महाश्रम तीर्थमें स्नान करके प्रतिदिन पवित्र भावसे अग्निहोत्र करते हुए जो एक महीनेतक उपवास करता है, वह उतने ही समयमें सिद्ध हो जाता है ॥ १७½ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य भृगुतुङ्गे त्वलोलुपः ॥ १८ ॥
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

जो लोभका त्याग करके भृगुतुङ्ग-क्षेत्रके महाह्रद नामक तीर्थमें स्नान करता है और तीन राततक भोजन छोड़ देता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १८½ ॥

कन्याकूप उपस्पृश्य बलाकायां कृतोदकः ॥ १९ ॥
देवेषु लभते कीर्तिं यशसा च विराजते ॥ २० ॥

कन्याकूपमें स्नान करके बलाका तीर्थमें तर्पण करनेवाला पुरुष देवताओंमें कीर्ति पाता है और अपने यशसे प्रकाशित होता है ॥ १९-२० ॥

देविकायामुपस्पृश्य तथा सुन्दरिकाह्रदे ।
अश्विन्यां रूपवर्चस्कं प्रेत्य वै लभते नरः ॥ २१ ॥

देविकामें स्नान करके सुन्दरिकाकुण्ड और अश्विनीतीर्थमें स्नान करनेपर मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें मनुष्यको रूप और तेजकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

महागङ्गामुपस्पृश्य कृत्तिकाङ्गारके तथा ।
पक्षमेकं निराहारः स्वर्गमाप्नोति निर्मलः ॥ २२ ॥

महागङ्गा और कृत्तिकाङ्गारक तीर्थमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य निर्मल—निष्पाप होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २२ ॥

वैमानिक उपस्पृश्य किङ्किणीकाश्रमे तथा ।
निवासेऽप्सरसां दिव्ये कामचारी महीयते ॥ २३ ॥

जो वैमानिक और किङ्किणीकाश्रमतीर्थमें स्नान करता है, वह अप्सराओंके दिव्यलोकमें जाकर सम्मानित होता और इच्छानुसार विचरता है ॥ २३ ॥

कालिकाश्रममासाद्य विपाशायां कृतोदकः ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं मुच्यते भवात् ॥ २४ ॥

जो कालिकाश्रममें स्नान करके विपाशा (व्यास) नदीमें पितरोंका तर्पण करता है और क्रोधको जीतकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तीन रात वहाँ निवास करता है, वह जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है ॥ २४ ॥

आश्रमे कृत्तिकानां तु स्नात्वा यस्तर्पयेत् पितॄन् ।
तोषयित्वा महादेवं निर्मलाः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २५ ॥

जो कृत्तिकाश्रममें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता है और महादेवजीको संतुष्ट करता है, वह पापमुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २५ ॥

महापुर उपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितः शुचिः ।
त्रसानां स्थावराणां च द्विपदानां भयं त्यजेत् ॥ २६ ॥

महापुरतीर्थमें स्नान करके पवित्रतापूर्वक तीन रात उपवास करनेसे मनुष्य चराचर प्राणियों तथा मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले भयको त्याग देता है ॥ २६ ॥

देवदारुवने स्नात्वा धूतपाप्मा कृतोदकः ।
देवलोकमवाप्नोति सप्तरात्रोषितः शुचिः ॥ २७ ॥

जो देवदारुवनमें स्नान करके तर्पण करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं तथा जो वहाँ सात राततक निवास करता है, वह पवित्र हो, मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥२७॥

शरस्तम्बे कुशस्तम्बे द्रोणशर्मपदे तथा ।
अपां प्रपतनासेवी सेव्यते सोऽप्सरोगणैः ॥ २८ ॥

जो शरस्तम्ब, कुशस्तम्ब और द्रोणशर्मपदतीर्थके झरनोंमें स्नान करता है, वह स्वर्गमें अप्सराओंद्वारा सेवित होता है ॥

चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले ।
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेव्यते ॥ २९ ॥

जो चित्रकूटमें मन्दाकिनीके जलमें तथा जनस्थानमें गोदावरीके जलमें स्नान करके उपवास करता है, वह पुरुष राजलक्ष्मीसे सेवित होता है ॥ २९ ॥

श्यामायास्त्वाश्रमं गत्वा उषित्वा चाभिषिच्य च ।
एकपक्षं निराहारस्त्वन्तर्धानफलं लभेत् ॥३०॥

श्यामाश्रममें जाकर वहाँ स्नान, निवास तथा एक पक्ष-तक उपवास करनेवाला पुरुष अन्तर्धानके फलको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

कौशिकीं तु समासाद्य वायुभक्षस्त्वलोलुपः ।
एकविंशतिरात्रेण स्वर्गमारोहते नरः ॥ ३१ ॥

जो कौशिकी नदीमें स्नान करके लोलुपता त्यागकर इक्कीस रातोंतक केवल हवा पीकर रह जाता है, वह मनुष्य स्वर्गको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मतङ्गवाप्यां यः स्नायादेकरात्रेण सिद्धयति ।
विगाहति ह्यनालम्बमन्धकं वै सनातनम् ॥ ३२ ॥
नैमिषे स्वर्गतीर्थे च उपस्पृश्य जितेन्द्रियः ।
फलं पुरुषमेधस्य लभेन्मासं कृतोदकः ॥ ३३ ॥

जो मतङ्गवापी तीर्थमें स्नान करता है, उसे एक रातमें सिद्धि प्राप्त होती है। जो अनालम्ब, अन्धक और सनातन तीर्थमें गोता लगाता है तथा नैमिषारण्यके स्वर्गतीर्थमें स्नान करके इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक मासतक पितरोंको जलाञ्जलि देता है, उसे पुरुषमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥३२-३३॥

गङ्गाह्रद उपस्पृश्य तथा चैवोत्पलावने ।
अश्वमेधमवाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३४ ॥

जो गङ्गाह्रद और उत्पलावनतीर्थमें स्नान करके एक मास-तक वहाँ पितरोंका तर्पण करता है, वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ॥ ३४ ॥

गङ्गायमुनयोस्तीर्थे तथा कालञ्जरे गिरौ ।
दशाश्वमेधानाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३५ ॥

गङ्गा-यमुनाके सङ्गमतीर्थमें तथा कालञ्जरतीर्थमें एक मासतक स्नान और तर्पण करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

षष्टिह्रद उपस्पृश्य चान्नदानाद् विशिष्यते ।
दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथा पराः ॥ ३६ ॥
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! षष्टिह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे अन्न-दानसे भी अधिक फल प्राप्त होता है। माघ मासकी अमावास्याको प्रयागराजमें तीन करोड़ दस हजार अन्य तीर्थोंका समागम होता है ॥ ३६½ ॥

माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ॥ ३७ ॥
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ।

भरतश्रेष्ठ ! जो नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते हुए माघके महीनेमें प्रयागमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गमें जाता है ॥ ३७½ ॥

मरुद्गण उपस्पृश्य पितृणामाश्रमे शुचिः ॥ ३८ ॥
वैवस्वतस्य तीर्थे च तीर्थभूतो भवेन्नरः ।

जो पवित्र भावसे मरुद्गण तीर्थ, पितरोंके आश्रम तथा वैवस्वततीर्थमें स्नान करता है, वह मनुष्य स्वयं तीर्थरूप हो जाता है ॥ ३८ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ ३९ ॥
एकमासं निराहारः सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥

जो ब्रह्मसरोवर (पुष्करतीर्थ) और भागीरथी गङ्गामें स्नान करके पितरोंका तर्पण करता और वहाँ एक मासतक निराहार रहता है, उसे चन्द्रलोककी प्राप्ति होती है।३९-४०।

उत्पातके नरः स्नात्वा अष्टावक्रे कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारो नरमेधफलं लभेत् ॥ ४१ ॥

उत्पातक तीर्थमें स्नान और अष्टावक्र तीर्थमें तर्पण करके बारह दिनोंतक निराहार रहनेसे नरमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

अश्मपृष्ठे गयायां च निरविन्दे च पर्वते ।
तृतीयां क्रौञ्चपद्यां च ब्रह्महत्यां विशुध्यते ॥ ४२ ॥

गयामें अश्मपृष्ठ (प्रेतशिला) पर पितरोंको पिण्ड देनेसे पहली, निरविन्द पर्वतपर पिण्डदान करनेसे दूसरी तथा क्रौञ्च-पदी नामक तीर्थमें पिण्ड अर्पित करनेसे तीसरी ब्रह्महत्याको दूर करके मनुष्य सर्वथा शुद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

कलविङ्क उपस्पृश्य विद्याच्च बहुशो जलम् ।
अग्नेः पुरे नरः स्नात्वा अग्निकन्यापुरे वसेत् ॥ ४३ ॥

कलविङ्क तीर्थमें स्नान करनेसे अनेक तीर्थोंमें गोते लगाने-का फल मिलता है। अग्निपुर तीर्थमें स्नान करनेसे अग्निकन्या-पुरका निवास प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

करवीरपुरे स्नात्वा विशालायां कृतोदकः ।
देवह्रद उपस्पृश्य ब्रह्मभूतो विराजते ॥ ४४ ॥

करवीरपुरमें स्नान, विशालामें तर्पण और देवह्रदमें मज्जन करनेसे मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

पुनरावर्तनन्दां च महानन्दां च सेव्य वै ।
नन्दने सेव्यते दान्तस्त्वप्सरोभिरहिंसकः ॥ ४५ ॥

जो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग करके जितेन्द्रियभावसे आवर्तनन्दा और महानन्दा तीर्थका सेवन करता है, उसकी स्वर्गस्थ नन्दनवनमें अप्सराएँ सेवा करती हैं ॥ ४५ ॥

उर्वशीं कृत्तिकायोगे गत्वा चैव समाहितः ।
लौहित्ये विधिवत् स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ४६ ॥

जो कार्तिककी पूर्णिमाको कृत्तिकाका योग होनेपर एकाग्र-

चित्त हो उर्वशी तीर्थ और लौहित्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करता है, उसे पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है ॥ ४६ ॥

रामह्रद उपस्पृश्य विपाशायां कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारः कल्मषाद् विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥

रामह्रद (परशुराम-कुण्ड) में स्नान और विपाशा नदीमें तर्पण करके बारह दिनोंतक उपवास करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४७ ॥

महाह्रद उपस्पृश्य शुद्धेन मनसा नरः ।
एकमासं निराहारो जमदग्निगतिं लभेत् ॥ ४८ ॥

महाह्रदमें स्नान करके यदि मनुष्य शुद्ध-चित्तसे वहाँ एक मासतक निराहार रहे तो उसे जमदग्निके समान सद्गति प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

विन्ध्ये संताप्य चात्मानं सत्यसंधस्त्वहिंसकः ।
विनयात्तप आस्थाय मासेनैकेन सिध्यति ॥ ४९ ॥

जो हिंसाका त्याग करके सत्यप्रतिज्ञ होकर विन्ध्याचलमें अपने शरीरको कष्ट दे विनीतभावसे तपस्याका आश्रय लेकर रहता है, उसे एक महीनेमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४९ ॥

नर्मदायामुपस्पृश्य तथा शूर्पारकोदके ।
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते ॥ ५० ॥

नर्मदा नदी और शूर्पारक क्षेत्रके जलमें स्नान करके एक पक्षतक निराहार रहनेवाला मनुष्य दूसरे जन्ममें राजकुमार होता है ॥ ५० ॥

जम्बूमार्गे त्रिभिर्मासैः संयतः सुसमाहितः ।
अहोरात्रेण चैकेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५१ ॥

साधारण भावसे तीन महीनेतक जम्बूमार्गमें स्नान करनेसे तथा इन्द्रियसंयमपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक ही दिन स्नान करनेसे भी मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

कोकामुखे विगाह्याथ गत्वा चाञ्जलिकाश्रमम् ।
शाकभक्षश्चीरवासाः कुमारीर्विन्दते दश ॥ ५२ ॥
वैवस्वतस्य सदनं न स गच्छेत् कदाचन ।
यस्य कन्याह्रदे वासो देवलोकं स गच्छति ॥ ५३ ॥

जो कोकामुख तीर्थमें स्नान करके अञ्जलिकाश्रमतीर्थमें जाकर सागका भोजन करता हुआ चीरवस्त्र धारण करके कुछ कालतक निवास करता है, उसे दस बार कन्याकुमारी तीर्थके सेवनका फल प्राप्त होता है तथा उसे कभी यमराज-के घर नहीं जाना पड़ता। जो कन्याकुमारी तीर्थमें निवास करता है, वह मृत्युके पश्चात् देवलोकमें जाता है ॥५२-५३॥

प्रभासे त्वेकरात्रेण अमावास्यां समाहितः ।
सिध्यते तु महाबाहो यो नरो जायतेऽमरः ॥ ५४ ॥

महाबाहो ! जो एकाग्रचित्त होकर अमावास्याको प्रभास-तीर्थका सेवन करता है, उसे एक ही रातमें सिद्धि मिल जाती है तथा वह मृत्युके पश्चात् देवता होता है ॥ ५४ ॥

उज्जानक उपस्पृश्य आर्ष्टिषेणस्य चाश्रमे ।
पिङ्गायाश्चाश्रमे स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥

उज्जानकतीर्थमें स्नान करके आर्ष्टिषेणके आश्रम तथा पिङ्गाके आश्रममें गोता लगानेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५५ ॥

कुल्यायां समुपस्पृश्य जप्त्वा चैवाघमर्षणम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य कुल्यामें स्नान करके अघमर्षण मन्त्रका जप करता है तथा तीन राततक वहाँ उपवासपूर्वक रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ५६ ॥

पिण्डारक उपस्पृश्य एकरात्रोषितो नरः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५७ ॥

जो मानव पिण्डारक तीर्थमें स्नान करके वहाँ एक रात निवास करता है, वह प्रातःकाल होते ही पवित्र होकर अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ॥ ५७ ॥

तथा ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति उपस्पृश्य नरः शुचिः ॥ ५८ ॥

धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करके पवित्र हुआ मनुष्य पुण्डरीक यज्ञका फल पाता है।५८।

मैनाके पर्वते स्नात्वा तथा संध्यामुपास्य च ।
कामं जित्वा च वै मासं सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ ५९ ॥

मैनाक पर्वतपर एक महिनेतक स्नान और संध्योपासन करनेसे मनुष्य कामको जीतकर समस्त यज्ञोंका फल पा लेता है ॥ ५९ ॥

कालोदकं नन्दिकुण्डं तथा चोत्तरमानसम् ।
अभ्येत्य योजनशताद् भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ ६० ॥

सौ योजन दूरसे आकर कालोदक, नन्दिकुण्ड तथा उत्तरमानस तीर्थमें स्नान करनेवाला मनुष्य यदि भ्रूणहत्यारा भी हो तो वह उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

नन्दीश्वरस्य मूर्तिं तु दृष्ट्वा मुच्येत किल्बिषैः ।
स्वर्गमार्गे नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ६१ ॥

वहाँ नन्दीश्वरकी मूर्तिका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। स्वर्गमार्गमें स्नान करनेसे वह ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ ६१ ॥

विख्यातो हिमवान् पुण्यः शङ्करश्वशुरो गिरिः ।
आकरः सर्वरत्नानां सिद्धचारणसेवितः ॥ ६२ ॥

भगवान् शङ्करका श्वशुर हिमवान् पर्वत परम पवित्र और संसारमें विख्यात है । वह सब रत्नोंकी खान तथा सिद्ध और चारणोंसे सेवित है ॥ ६२ ॥

शरीरमुत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः ॥ ६३ ॥
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा ।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ६४ ॥

जो वेदान्तका ज्ञाता द्विज इस जीवनको नाशवान् समझकर उस पर्वतपर रहता और देवताओंका पूजन तथा मुनियोंको प्रणाम करके विधिपूर्वक अनशनके द्वारा अपने प्राणोंको त्याग देता है, वह सिद्ध होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है ॥ ६३-६४ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमावसेत् ।
न तेन किञ्चिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत् ॥ ६५ ॥

जो काम, क्रोध और लोभको जीतकर तीर्थोंमें स्नान करता है, उसे उस तीर्थयात्राके पुण्यसे कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती ॥ ६५ ॥

यान्यगम्यानि तीर्थाणि दुर्गाणि विषमाणि च ।
मनसा तानि गम्यानि सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ ६६ ॥

जो समस्त तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा रखता हो, वह दुर्गम और विषम होनेके कारण जिन तीर्थोंमें शरीरसे न जा सके, वहाँ मनसे यात्रा करे ॥ ६६ ॥

इदं मेध्यमिदं पुण्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं रहस्यं वेदानामाप्लाव्यं पावनं तथा ॥ ६७ ॥

यह तीर्थ-सेवनका कार्य परम पवित्र, पुण्यप्रद, स्वर्गकी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन और वेदोंका गुप्त रहस्य है। प्रत्येक तीर्थ पावन और स्नानके योग्य होता है ॥ ६७ ॥

इदं दद्याद् द्विजातीनां साधोरात्महितस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ६८ ॥

तीर्थोंका यह माहात्म्य द्विजातियोंके, अपने हितैषी श्रेष्ठ पुरुषके, सुहृदोंके तथा अनुगत शिष्यके ही कानमें डालना चाहिये ॥ ६८ ॥

दत्तवान् गौतमस्यैतदङ्गिरा वै महातपाः ।
अङ्गिराः समनुज्ञातः काश्यपेन च धीमता ॥ ६९ ॥

सबसे पहले महातपस्वी अङ्गिराने गौतमको इसका उपदेश दिया। अङ्गिराको बुद्धिमान् काश्यपजीसे इसका ज्ञान प्राप्त हुआ था ॥ ६९ ॥

महर्षीणामिदं जप्यं पावनानां तथोत्तमम् ।
जपंश्चाभ्युत्थितः शश्वन्निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥ ७० ॥

यह कथा महर्षियोंके पढ़ने योग्य और पावन वस्तुओंमें परम पवित्र है। जो सावधान एवं उत्साहयुक्त होकर सदा इसका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ७० ॥

इदं यश्चापि शृणुयाद् रहस्यं त्वङ्गिरोमतम् ।
उत्तमे च कुले जन्म लभेज्जातीश्च संस्मरेत् ॥ ७१ ॥

जो अङ्गिरामुनिके इस रहस्यमय मतको सुनता है, वह उत्तम कुलमें जन्म पाता और पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करता है ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आङ्गिरसतीर्थयात्रायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें आङ्गिरसतीर्थयात्राविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

श्रीगङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम् ।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥
गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरितेजसम् ।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥ २ ॥
शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम् ।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो बुद्धिमें बृहस्पतिके, क्षमामें ब्रह्माजीके, पराक्रममें इन्द्रके और तेजमें सूर्यके समान थे, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले वे महातेजस्वी गङ्गानन्दन भीष्मजी जब अर्जुनके हाथसे मारे जाकर युद्धमें वीरशय्यापर पड़े हुए कालकी बाट जोह रहे थे और भाइयों तथा अन्य लोगोंसहित राजा युधिष्ठिर उनसे तरह-तरहके प्रश्न कर रहे थे, उसी समय बहुत-से दिव्य महर्षि भीष्मजीको देखनेके लिये आये ॥ १-३ ॥

अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः सुयतात्मवान्॥ ४ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः ।
बृहस्पत्युशनोव्यासाश्च्यवनः काश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजोऽथ रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥
स्थूलाक्षः शबलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः ।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाथैकतो द्विजः ॥ ७ ॥

नितम्भूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दोऽकृतव्रणः।
जामदग्न्यस्तथा रामः कचश्चेत्येवमादयः ॥ ८ ॥

उनके नाम ये हैं—अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, गौतम, अगस्त्य, संयतचित्त सुमति, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रमति, दम, बृहस्पति, शुक्राचार्य, व्यास, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित, स्थूलाक्ष, शबलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृश, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण, जमदग्निनन्दन परशुराम और कच ॥ ४-८ ॥

समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः।
तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः।

ये सभी महात्मा महर्षि जब भीष्मजीको देखनेके लिये वहाँ पधारे, तब भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने उनकी क्रमशः विधिवत् पूजा की ॥ ९½ ॥

ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥ १० ॥
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः।

पूजनके पश्चात् वे महर्षि सुखपूर्वक बैठकर भीष्मजीसे सम्बन्ध रखनेवाली मधुर एवं मनोहर कथाएँ कहने लगे। उनकी वे कथाएँ सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनको मोह लेती थीं ॥ १०½ ॥

भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥
मेने दिविष्ठमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः।

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन ऋषि-मुनियोंकी बातें सुनकर भीष्मजी बहुत संतुष्ट हुए और अपनेको स्वर्गमें ही स्थित मानने लगे ॥ ११½ ॥

ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः ॥ १२ ॥
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम्।

तदनन्तर वे महर्षिगण भीष्मजी और पाण्डवोंकी अनुमति लेकर सबके देखते-देखते ही वहाँसे अदृश्य हो गये ॥१२½॥

तानृषीन् सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि ॥ १३ ॥
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः।

उन महाभाग मुनियोंके अदृश्य हो जानेपर भी समस्त पाण्डव बारंबार उनकी स्तुति और उन्हें प्रणाम करते रहे ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमम् ॥ १४ ॥
उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः।

जैसे वेदमन्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण उगते हुए सूर्यका उपस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न चित्त हुए समस्त पाण्डव कुरुश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मको प्रणाम करने लगे ॥ १४½ ॥

प्रभावात् तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ॥ १५ ॥
प्रकाशन्तो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः।

उन ऋषियोंकी तपस्याके प्रभावसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित होती देख पाण्डवोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १५½ ॥

महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते।
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

उन महर्षियोंके महान् सौभाग्यका चिन्तन करके पाण्डव भीष्मजीके साथ उन्हींके सम्बन्धमें बातें करने लगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः।
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बातचीतके अन्तमें भीष्मके चरणोंमें सिर रखकर धर्मपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने यह धर्मानुकूल प्रश्न पूछा— ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! कौन-से देश, कौन-से प्रान्त, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें शिलोञ्छ-वृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक पुरुषका किसी सिद्ध पुरुषके साथ जो संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास सुनो ॥१९॥

इमां कश्चित् परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषणाम्।
असकृद् द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ॥ २० ॥
शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनार्चितः।
उवास रजनीं तत्र सुमुखः सुखभागृषिः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कोई सिद्ध पुरुष शैलमालाओंसे अलंकृत इस समूची पृथ्वीकी अनेक बार परिक्रमा करनेके पश्चात् शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक श्रेष्ठ गृहस्थके घर गया। उस गृहस्थने उसकी विधिपूर्वक पूजा की। वह समागत ऋषि वहाँ बड़े सुखसे रातभर रहा। उसके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ॥ २०-२१ ॥

शिलवृत्तिस्तु यत् कृत्यं प्रातस्तत् कृतवाञ्छुचिः।
कृतकृत्यमुपातिष्ठत् सिद्धं तमतिथिं तदा ॥ २२ ॥

सबेरा होनेपर वह शिलवृत्तिवाला गृहस्थ स्नान आदिसे पवित्र होकर प्रातःकालीन नित्यकर्ममें लग गया। नित्यकर्म पूर्ण करके वह उस सिद्ध अतिथिकी सेवामें उपस्थित हुआ।

इसी बीचमें अतिथिने भी प्रातःकालके स्नान-पूजन आदि आवश्यक कृत्य पूर्ण कर लिये थे ॥ २२ ॥

तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः।
चक्रतुर्वेदसम्बद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ॥ २३ ॥

वे दोनों महात्मा एक दूसरेसे मिलकर सुखपूर्वक बैठे तथा वेदोंसे सम्बद्ध और वेदान्तसे उपलक्षित शुभ चर्चाएँ करने लगे ॥ २३ ॥

शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः।
प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २४ ॥

बातचीत पूरी होनेपर शिलोञ्छवृत्तिवाले बुद्धिमान् गृहस्थ ब्राह्मणने सिद्धको सम्बोधित करके यत्नपूर्वक वही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ २४ ॥

शिलवृत्तिरुवाच

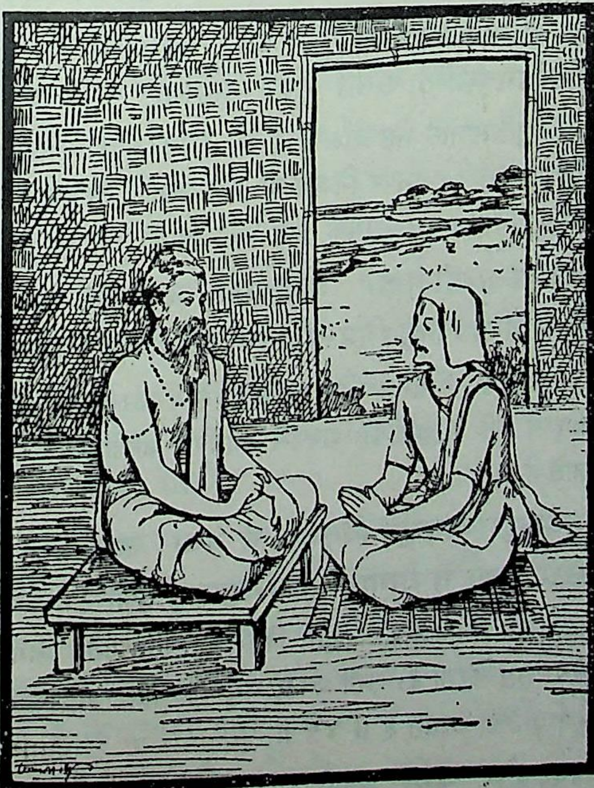
के देशाः के जनपदाः केऽऽश्रमाः के च पर्वताः।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ॥ २५ ॥

शिलवृत्तिवाले ब्राह्मणने पूछा—ब्रह्मन्! कौन-से देश, कौन-से जनपद, कौन-कौन आश्रम, कौन-से पर्वत और कौन-कौन-सी नदियाँ पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ समझने योग्य हैं ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २५ ॥

सिद्ध उवाच

ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा ॥ २६ ॥

सिद्धने कहा—ब्रह्मन्! वे ही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत पुण्यकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके बीचसे होकर सरिताओंमें उत्तम भागीरथी गङ्गा बहती हैं ॥ २६ ॥



तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः।
गतिं तां न लभेज्जन्तुर्गङ्गां संसेव्य यां लभेत् ॥ २७ ॥

गङ्गाजीका सेवन करनेसे जीव जिस उत्तम गतिको प्राप्त करता है, उसे वह तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ अथवा त्यागसे भी नहीं पा सकता ॥ २७ ॥

स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम्।
न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद् विधीयते ॥ २८ ॥

जिन देहधारियोंके शरीर गङ्गाजीके जलसे भीगते हैं अथवा मरनेपर जिनकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें डाली जाती हैं, वे कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिरते ॥ २८ ॥

सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कार्याणि देहिनाम्।
गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति ते जनाः ॥ २९ ॥

विप्रवर! जिन देहधारियोंके सम्पूर्ण कार्य गङ्गाजलसे ही सम्पन्न होते हैं, वे मानव मरनेके बाद पृथ्वीका निवास छोड़कर स्वर्गमें विराजमान होते हैं ॥ २९ ॥

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः।
पश्चाद् गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जीवनकी पहली अवस्थामें पापकर्म करके भी पीछे गङ्गाजीका सेवन करने लगते हैं, वे भी उत्तम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम्।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ ३१ ॥

गङ्गाजीके पवित्र जलसे स्नान करके जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन पुरुषोंके पुण्यकी जैसी वृद्धि होती है, वैसी सैकड़ों यज्ञ करनेसे भी नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ३२ ॥

मनुष्यकी हड्डी जितने समयतक गङ्गाजीके जलमें पड़ी रहती है, उतने हजार वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३२ ॥

अपहत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः।
तथापहत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य उदयकालमें घने अन्धकारको विदीर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजलमें स्नान करनेवाला पुरुष अपने पापोंको नष्ट करके सुशोभित होता है ॥ ३३ ॥

विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा।
तद्वद् देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शिवैः ॥ ३४ ॥

जैसे बिना चाँदनीकी रात और बिना फूलोंके वृक्ष शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार गङ्गाजीके कल्याणमय जलसे वञ्चित हुए देश और दिशाएँ भी शोभा एवं सौभाग्यसे हीन हैं ॥ ३४ ॥

वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः।
क्रतवश्च यथासोमास्तथा गङ्गां विना जगत् ॥ ३५ ॥

जैसे धर्म और ज्ञानसे रहित होनेपर सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमोंकी शोभा नहीं होती है तथा जैसे सोमरसके बिना यज्ञ सुशोभित नहीं होते, उसी प्रकार गङ्गाके बिना जगत्‌की शोभा नहीं है ॥ ३५ ॥

यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना।
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः ॥ ३६ ॥

जैसे सूर्यके बिना आकाश, पर्वतोंके बिना पृथ्वी और वायुके बिना अन्तरिक्षकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार जो देश और दिशाएँ गङ्गाजीसे रहित हैं, उनकी भी शोभा नहीं होती—इसमें संशय नहीं है ॥ ३६ ॥

त्रिषु लोकेषु ये केचित् प्राणिनः सर्व एव ते।
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गङ्गाजलैः शुभैः ॥ ३७ ॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी प्राणी हैं, उन सबका गङ्गाजीके शुभ जलसे तर्पण करनेपर वे सब परम तृप्ति लाभ करते हैं ॥

यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम्।
गवां निर्हारनिर्मुक्ताद् यावकात् तद् विशिष्यते ॥३८॥

जो मनुष्य सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए गङ्गाजलका पान करता है, उसका वह जलपान गायके गोबरसे निकले हुए जौकी लप्सी खानेसे अधिक पवित्रकारक है ॥ ३८ ॥

इन्दुव्रतसहस्रं तु यश्चरेत् कायशोधनम्।
पिबेद् यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां न वा समौ ॥३९॥

जो शरीरको शुद्ध करनेवाले एक सहस्र चान्द्रायण व्रतोंका अनुष्ठान करता है और जो केवल गङ्गाजल पीता है, वे दोनों समान ही हैं अथवा यह भी हो सकता है कि दोनों समान न हों (गङ्गाजल पीनेवाला बढ़ जाय) ॥ ३९ ॥

तिष्ठेद् युगसहस्रं तु पदेनैकेन यः पुमान्।
मासमेकं तु गङ्गाया समौ स्यातां न वा समौ ॥ ४० ॥

जो पुरुष एक हजार युगोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तपस्या करता है और जो एक मासतक गङ्गातटपर निवास करता है, वे दोनों समान हो सकते हैं अथवा यह भी सम्भव है कि समान न हों ॥ ४० ॥

लंबतेऽवाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान्।
तिष्ठेद् यथेष्टं यश्चापि गङ्गायां स विशिष्यते ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य दस हजार युगोंतक नीचे सिर करके वृक्षमें लटका रहे और जो इच्छानुसार गङ्गाजीके तटपर निवास करे, उन दोनोंमें गङ्गाजीपर निवास करनेवाला ही श्रेष्ठ है ॥ ४१ ॥

अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम।
तथा गङ्गावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते ॥ ४२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जैसे आगमें डाली हुई रूई तुरंत जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार गङ्गामें गोता लगानेवाले मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः ॥ ४३ ॥

इस संसारमें दुःखसे व्याकुलचित्त होकर अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़नेवाले समस्त प्राणियोंके लिये गङ्गाजीके समान कोई दूसरा सहारा नहीं है ॥ ४३ ॥

भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात्।
गङ्गाया दर्शनात् तद्वत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

जैसे गरुड़को देखते ही सारे सर्पोंके विष झड़ जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ४४ ॥

अप्रतिष्ठाश्च ये केचिदधर्मशरणाश्च ये।
तेषां प्रतिष्ठा गङ्गेह शरणं शर्म वर्म च ॥ ४५ ॥

जगत्‌में जिनका कहीं आधार नहीं है तथा जिन्होंने धर्मकी शरण नहीं ली है, उनका आधार और उन्हें शरण देनेवाली श्रीगङ्गाजी ही हैं। वे ही उसका कल्याण करनेवाली तथा कवचकी भाँति उसे सुरक्षित रखनेवाली हैं ॥ ४५ ॥

प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्ताननेकैः पुरुषाधमान्।
पततो नरके गङ्गा संश्रितान् प्रेत्य तारयेत् ॥ ४६ ॥

जो नीच मानव अनेक बड़े-बड़े अमङ्गलकारी पापकर्मोंसे ग्रस्त होकर नरकमें गिरनेवाले हैं, वे भी यदि गङ्गाजीकी शरणमें आ जाते हैं तो ये मरनेके बाद उनका उद्धार कर देती हैं ॥

ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः।
येऽभिगच्छन्ति सततं गङ्गां मतिमतां वर ॥ ४७ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! जो लोग सदा गङ्गाजीकी यात्रा करते हैं, उनपर निश्चय ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता तथा मुनिलोग पृथक्-पृथक् कृपा करते आये हैं ॥ ४७ ॥

विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः।
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गङ्गामुपाश्रिताः ॥ ४८ ॥

विप्रवर ! विनय और सदाचारसे हीन अमङ्गलकारी नीच मनुष्य भी गङ्गाजीकी शरणमें जानेपर कल्याणस्वरूप हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

यथा सुराणाममृतं पितृणां च यथा स्वधा।
सुधा यथा च नागानां तथा गङ्गाजलं नृणाम् ॥ ४९ ॥

जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंको सुधा तृप्त करती है, उसी प्रकार मनुष्योंके लिये गङ्गाजल ही पूर्ण तृप्तिका साधन है ॥ ४९ ॥

उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयार्दिताः।

श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ॥ ५० ॥

जैसे भूखसे पीड़ित हुए बच्चे माताके पास जाते हैं, उसी प्रकार कल्याणकी इच्छा रखनेवाले प्राणी इस जगत्‌में गङ्गाजीकी उपासना करते हैं ॥ ५० ॥

स्वायम्भुवं यथा स्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ।
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गङ्गा तद्वदिहोच्यते ॥ ५१ ॥

जैसे ब्रह्मलोक सब लोकोंसे श्रेष्ठ बताया जाता है, वैसे ही स्नान करनेवाले पुरुषोंके लिये गङ्गाजी ही सब नदियोंमें श्रेष्ठ कही गयी हैं ॥ ५१ ॥

यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां धरा स्मृता ।
तथोपजीविनां गङ्गा सर्वप्राणभृतामिह ॥ ५२ ॥

जैसे धेनुस्वरूपा पृथ्वी उपजीवी देवता आदिके लिये आदरणीय है, उसी प्रकार इस जगत्‌में गङ्गा समस्त उपजीवी प्राणियोंके लिये आदरणीय हैं ॥ ५२ ॥

देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ।
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गङ्गाजलं नराः ॥ ५३ ॥

जैसे देवता सत्र आदि यज्ञोंद्वारा चन्द्रमा और सूर्यमें स्थित अमृतसे आजीविका चलाते हैं, उसी प्रकार संसारके मनुष्य गङ्गाजलका सहारा लेते हैं ॥ ५३ ॥

जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितम् ।
आत्मानं मन्यते लोको दिविष्ठमिव शोभितम् ॥ ५४ ॥

गङ्गाजीके तटसे उड़े हुए बालुका-कणोंसे अभिषिक्त हुए अपने शरीरको ज्ञानी पुरुष स्वर्गलोकमें स्थित हुआ-सा शोभासम्पन्न मानता है ॥ ५४ ॥

जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय निर्मलम् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाके तीरकी मिट्टी अपने मस्तकमें लगाता है, वह अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये सूर्यके समान निर्मल स्वरूप धारण करता है ॥ ५५ ॥

गङ्गोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ।
स्पृशते सोऽस्य पाप्मानं सद्य एवापकर्षति ॥ ५६ ॥

गङ्गाकी तरङ्गमालाओंसे भीगकर बहनेवाली वायु जब मनुष्यके शरीरका स्पर्श करती है, उसी समय वह उसके सारे पापोंको नष्ट कर देती है ॥ ५६ ॥

व्यसनैरभितप्तस्य नरस्य विनशिष्यतः ।
गङ्गादर्शनजा प्रीतिर्व्यसनान्यपकर्षति ॥ ५७ ॥

दुर्व्यसनजनित दुःखोंसे संतप्त होकर मरणासन्न हुआ मनुष्य भी यदि गङ्गाजीका दर्शन करे तो उसे इतनी प्रसन्नता होती है कि उसकी सारी पीड़ा तत्काल नष्ट हो जाती है ॥

हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ।
पस्पर्ध गङ्गा गन्धर्वान् पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ॥ ५८ ॥

हंसोंकी मीठी वाणी, चक्रवाकोंके सुमधुर शब्द तथा अन्यान्य पक्षियोंके कलरवोंद्वारा गङ्गाजी गन्धर्वोंसे होड़ लगाती हैं तथा अपने ऊँचे-ऊँचे तटोंद्वारा पर्वतोंके साथ स्पर्धा करती हैं ॥

हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ।
गङ्गां गोकुलसम्बाधां दृष्ट्वा स्वर्गोऽपि विस्मृतः ॥ ५९ ॥

हंस आदि बहुसंख्यक एवं विविध पक्षियोंसे घिरी हुई तथा गौओंके समुदायसे व्याप्त हुई गङ्गाजीको देखकर मनुष्य स्वर्गलोकको भी भूल जाता है ॥ ५९ ॥

न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपाश्नतः ।
सम्भवेद् या परा प्रीतिर्गङ्गायाः पुलिने नृणाम् ॥ ६० ॥

गङ्गाजीके तटपर निवास करनेसे मनुष्योंको जो परम प्रीति—अनुपम आनन्द मिलता है, वह स्वर्गमें रहकर सम्पूर्ण भोगोंका अनुभव करनेवाले पुरुषको भी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ६० ॥

वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ।
वीक्ष्य गङ्गां भवेत् पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६१ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा होनेवाले पापोंसे ग्रस्त मनुष्य भी गङ्गाजीका दर्शन करने मात्रसे पवित्र हो जाता है—इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६१ ॥

सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ।
पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च ॥ ६२ ॥

गङ्गाजीका दर्शन, उनके जलका स्पर्श तथा उस जलके भीतर स्नान करके मनुष्य सात पीढ़ी पहलेके पूर्वजोंका और सात पीढ़ी आगे होनेवाली संतानोंका तथा इनसे भी ऊपरके पितरों और संतानोंका उद्धार कर देता है ॥ ६२ ॥

श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता ।
गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ ६३ ॥

जो पुरुष गङ्गाजीका माहात्म्य सुनता, उनके तटपर जानेकी अभिलाषा रखता, उनका दर्शन करता, जल पीता, स्पर्श करता तथा उनके भीतर गोते लगाता है, उसके दोनों कुलोंका भगवती गङ्गा विशेषरूपसे उद्धार कर देती हैं ॥ ६३ ॥

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेति कीर्तनात् ।
पुनात्यपुण्यान् पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६४ ॥

गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श, जलपान तथा अपने गङ्गा-नामके कीर्तनसे सैकड़ों और हजारों पापियोंको तार देती हैं ॥

य इच्छेत् सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ।
स पितॄंस्तर्पयेद् गाङ्गमभिगम्य सुरांस्तथा ॥ ६५ ॥

जो अपने जन्म, जीवन और वेदाध्ययनको सफल बनाना चाहता हो, वह गङ्गाजीके पास जाकर उनके जलसे देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ॥ ६५ ॥

न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ।
प्राप्नुयात् पुरुषोऽत्यन्तं गङ्गां प्राप्य यदाप्नुयात् ॥ ६६ ॥

मनुष्य गङ्गास्नान करके जिस अक्षय फलको प्राप्त करता है, उसे पुत्रोंसे, धनसे तथा किसी कर्मसे भी नहीं पा सकता ॥

जात्यन्धैरिह तुल्यास्ते मृतैः पङ्गुभिरेव च ।
समर्था ये न पश्यन्ति गङ्गां पुण्यजलां शिवाम् ॥ ६७ ॥

जो सामर्थ्य होते हुए भी पवित्र जलवाली कल्याणमयी गङ्गाका दर्शन नहीं करते, वे जन्मके अन्धों, पंगुओं और मुर्दोंके समान हैं ॥ ६७ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ।
देवैः सेन्द्रैश्च को गङ्गां नोपसेवेत मानवः ॥ ६८ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता महर्षि तथा इन्द्र आदि देवता भी जिनकी उपासना करते हैं, उन गङ्गाजीका सेवन कौन मनुष्य नहीं करेगा ? ॥ ६८ ॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
विद्यावद्भिः श्रितां गङ्गां पुमान् को नाम नाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी और विद्वान् पुरुष भी जिनकी शरण लेते हैं, ऐसी गङ्गाजीका कौन मनुष्य आश्रय नहीं लेगा ? ॥ ६९ ॥

उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणः प्रयतः शिष्टसम्मतः ।
चिन्तयेन्मनसा गङ्गां स गतिं परमां लभेत् ॥ ७० ॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा संयतचित्त मनुष्य प्राण निकलते समय मन-ही-मन गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह परम उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७० ॥

न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ।
आ देहपतनाद् गङ्गामुपास्ते यः पुमानिह ॥ ७१ ॥

जो पुरुष यहाँ जीवनपर्यन्त गङ्गाजीकी उपासना करता है, उसे भयदायक वस्तुओंसे, पापोंसे तथा राजासे भी भय नहीं होता ॥ ७१ ॥

महापुण्यां च गगनात् पतन्तीं वै महेश्वरः ।
दधार शिरसा गङ्गां तामेव दिवि सेवते ॥ ७२ ॥

भगवान् महेश्वरने आकाशसे गिरती हुई परम पवित्र गङ्गाजीको सिरपर धारण किया, उन्हींका वे स्वर्गमें सेवन करते हैं ॥ ७२ ॥

अलंकृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ।
यस्तु तस्या जलं सेवेत् कृतकृत्यः पुमान् भवेत् ॥ ७३ ॥

जिन्होंने तीन निर्मल मार्गोंद्वारा आकाश, पाताल तथा भूतल—इन तीन लोकोंको अलंकृत किया है, उन गङ्गाजीके जलका जो मनुष्य सेवन करेगा, वह कृतकृत्य हो जायगा ॥

दिवि ज्योतिर्यथाऽऽदित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः ।
देवेशश्च तथा नृणां गङ्गा च सरितां तथा ॥ ७४ ॥

स्वर्गवासी देवताओंमें जैसे सूर्यका तेज श्रेष्ठ है, जैसे पितरोंमें चन्द्रमा तथा मनुष्योंमें राजाधिराज श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त सरिताओंमें गङ्गाजी उत्तम हैं ॥ ७४ ॥

मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्विमुक्तस्य धनेन वा ।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गङ्गावियोगजम् ॥ ७५ ॥

(गङ्गाजीमें भक्ति रखनेवाले पुरुषको) माता, पिता, पुत्र, स्त्री और धनका वियोग होनेपर भी उतना दुःख नहीं होता, जितना गङ्गाके बिछोहसे होता है ॥ ७५ ॥

नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः ।
तथा प्रसादो भवति गङ्गां वीक्ष्य यथा भवेत् ॥ ७६ ॥

इसी प्रकार उसे गङ्गाजीके दर्शनसे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी वनके दर्शनोंसे, अभीष्ट विषयसे, पुत्रोंसे तथा धनकी प्राप्तिसे भी नहीं होती ॥ ७६ ॥

पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ।
तथा त्रिपथगां दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७७ ॥

जैसे पूर्ण चन्द्रमाका दर्शन करके मनुष्योंकी दृष्टि प्रसन्न हो जाती है, उसी तरह त्रिपथगा गङ्गाका दर्शन करके मनुष्योंके नेत्र आनन्दसे खिल उठते हैं ॥ ७७ ॥

तद्भावस्तद्गतमनास्तन्निष्ठस्तत्परायणः ।
गङ्गां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥ ७८ ॥

जो गङ्गाजीमें श्रद्धा रखता, उन्हींमें मन लगाता, उन्हींके पास रहता, उन्हींका आश्रय लेता तथा भक्तिभावसे उन्हींका अनुसरण करता है, वह भगवती भागीरथीका स्नेह-भाजन होता है ॥ ७८ ॥

भूस्थैः खःस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि ।
गङ्गा विगाह्या सततमेतत् कार्यतमं सताम् ॥ ७९ ॥

पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गमें रहनेवाले छोटे-बड़े सभी प्राणियोंको चाहिये कि वे निरन्तर गङ्गाजीमें स्नान करें। यही सत्पुरुषोंका सबसे उत्तम कार्य है ॥ ७९ ॥

विश्वलोकेषु पुण्यत्वाद् गङ्गायाः प्रथितं यशः ।
यत्पुत्रान्सगरस्येतो भस्माख्याननयद् दिवम् ॥ ८० ॥

सम्पूर्ण लोकोंमें परम पवित्र होनेके कारण गङ्गाजीका यश विख्यात है; क्योंकि उन्होंने भस्मीभूत होकर पड़े हुए सगर-पुत्रोंको यहाँसे स्वर्गमें पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

वाय्वीरिताभिः सुमनोहराभि-
र्द्रुताभिरत्यर्थसमुत्थिताभिः ।
गङ्गोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धाः
सहस्ररश्मिप्रतिमा भवन्ति ॥ ८१ ॥

वायुसे प्रेरित हो बड़े वेगसे अत्यन्त ऊँचे उठनेवाली

गङ्गाजीकी परम मनोहर एवं कान्तिमती तरंगमालाओंसे नहाकर प्रकाशित होनेवाले पुरुष परलोकमें सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं ॥ ८१ ॥

पयस्विनीं घृतिनीमत्युदारां
समृद्धिनीं वेगिनीं दुर्विगाह्याम्।
गङ्गां गत्वा यैः शरीरं विसृष्टं
गता धीरास्ते विबुधैः समत्वम् ॥ ८२ ॥

दुग्धके समान उज्ज्वल और घृतके समान स्निग्ध जलसे भरी हुई, परम उदार, समृद्धिशालिनी, वेगवती तथा अगाध जलराशिवाली गङ्गाजीके समीप जाकर जिन्होंने अपना शरीर त्याग दिया है, वे धीर पुरुष देवताओंके समान हो गये ॥

अन्धान् जडान् द्रव्यहीनांश्च गङ्गा
यशस्विनी बृहती विश्वरूपा।
देवैः सेन्द्रैर्मुनिभिर्मानवैश्च
निषेविता सर्वकामैर्युनक्ति ॥ ८३ ॥

इन्द्र आदि देवता, मुनि और मनुष्य जिनका सदा सेवन करते हैं, वे यशस्विनी, विशालकलेवरा, विश्वरूपा गङ्गादेवी अपनी शरणमें आये हुए अन्धों, जडों और धनहीनोंको भी सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंसे सम्पन्न कर देती हैं ॥८३॥

ऊर्जावतीं महापुण्यां मधुमतीं त्रिवर्त्मगाम्।
त्रिलोकगोप्त्रीं ये गङ्गां संश्रितास्ते दिवं गताः ॥ ८४ ॥

गङ्गाजी ओजस्विनी, परम पुण्यमयी, मधुर जलराशिसे परिपूर्ण तथा भूतल, आकाश और पाताल—इन तीन मार्गोंपर विचरनेवाली हैं। जो लोग तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाली गङ्गाजीकी शरणमें आये हैं, वे स्वर्गलोकको चले गये ॥८४॥

यो वत्स्यति द्रक्ष्यति वापि मर्त्य-
स्तस्मै प्रयच्छन्ति सुखानि देवाः।
तद्भाविताः स्पर्शनदर्शनेन
इष्टां गतिं तस्य सुरा दिशन्ति ॥ ८५ ॥

जो मनुष्य गङ्गाजीके तटपर निवास और उनका दर्शन करता है, उसे सब देवता सुख देते हैं। जो गङ्गाजीके स्पर्श और दर्शनसे पवित्र हो गये हैं, उन्हें गङ्गाजीसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए देवता मनोवाञ्छित गति प्रदान करते हैं ॥ ८५ ॥

दक्षां पृश्निं बृहतीं विप्रकृष्टां
शिवामृद्धां भागिनीं सुप्रसन्नाम्।
विभावरीं सर्वभूतप्रतिष्ठां
गङ्गां गता ये त्रिदिवं गतास्ते ॥ ८६ ॥

गङ्गा जगत्का उद्धार करनेमें समर्थ हैं। भगवान् पृश्निगर्भकी जननी 'पृश्नि' के तुल्य हैं, विशाल हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, मङ्गलकारिणी हैं, पुण्यराशिसे समृद्ध हैं, शिवजीके द्वारा मस्तकपर धारित होनेके कारण सौभाग्यशालिनी तथा भक्तोंपर अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाली हैं। इतना ही नहीं, पापोंका विनाश करनेके लिये वे कालरात्रिके समान हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी आश्रयभूत हैं। जो लोग गङ्गाजीकी शरणमें गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं ॥ ८६ ॥

ख्यातिर्यस्याः खं दिवं गां च नित्यं
पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे।
तस्या जलं सेव्य सरिद्वराया
मर्त्याः सर्वे कृतकृत्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, दिशा और विदिशाओंमें भी जिनकी ख्याति फैली हुई है, सरिताओंमें श्रेष्ठ उन भगवती भागीरथीके जलका सेवन करके सभी मनुष्य कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

इयं गङ्गेति नियतं प्रतिष्ठा
गुहस्य रुक्मस्य च गर्भयोषा।
प्रातस्त्रिवर्गा घृतवहा विपाप्मा
गङ्गावतीर्णा वियतो विश्वतोया ॥ ८८ ॥

'ये गङ्गाजी हैं'—ऐसा कहकर जो दूसरे मनुष्योंको उनका दर्शन कराता है, उसके लिये भगवती भागीरथी सुनिश्चित प्रतिष्ठा (अक्षय पद प्रदान करनेवाली) हैं। वे कार्तिकेय और सुवर्णको अपने गर्भमें धारण करनेवाली, पवित्र जलकी धारा बहानेवाली और पाप दूर करनेवाली हैं। वे आकाशसे पृथ्वीपर उतरी हुई हैं। उनका जल सम्पूर्ण विश्वके लिये पीने योग्य है। उनमें प्रातःकाल स्नान करनेसे धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गोंकी सिद्धि होती है ॥ ८८ ॥

(नारायणादक्षयात् पूर्वजाता
विष्णोः पादाच्छिशुमाराद् ध्रुवाच्च।
सोमात् सूर्यान्मेरुरूपाच्च विष्णोः
समागता शिवमूर्ध्नो हिमाद्रिम् ॥)

भगवती गङ्गा पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् नारायणसे प्रकट हुई हैं। वे भगवान् विष्णुके चरण, शिशुमार चक्र, ध्रुव, सोम, सूर्य तथा मेरुरूप विष्णुसे अवतरित हो भगवान् शिवके मस्तकपर आयी हैं और वहाँसे हिमालय पर्वतपर गिरी हैं ॥

सुतावनीध्रस्य हरस्य भार्या
दिवो भुवश्चापि कृतानुरूपा।
भव्या पृथिव्यां भागिनी चापि राजन्
गङ्गा लोकानां पुण्यदा वै त्रयाणाम् ॥ ८९ ॥

गङ्गाजी गिरिराज हिमालयकी पुत्री, भगवान् शङ्करकी पत्नी तथा स्वर्ग और पृथ्वीकी शोभा हैं। राजन्! वे भूमण्डलपर निवास करनेवाले प्राणियोंका कल्याण करनेवाली, परम सौभाग्यवती तथा तीनों लोकोंको पुण्य प्रदान करनेवाली हैं ॥

मधुस्रवा घृतधारा घृतार्चि-
र्महोर्मिभिः शोभिता ब्राह्मणैश्च ।
दिवश्च्युता शिरसाऽऽत्ता शिवेन
गङ्गावनीध्रात् त्रिदिवस्य माता ॥ ९० ॥

श्रीभागीरथी मधुका स्रोत एवं पवित्र जलकी धारा बहाती हैं। जलती हुई घीकी ज्वालाके समान उनका उज्ज्वल प्रकाश है। वे अपनी उत्ताल तरङ्गों तथा जलमें स्नान-संध्या करनेवाले ब्राह्मणोंसे सुशोभित होती हैं। वे जब स्वर्गसे नीचेकी ओर चलीं, तब भगवान् शिवने उन्हें अपने सिरपर धारण किया। फिर हिमालय पर्वतपर आकर वहाँसे वे इस पृथ्वीपर उतरी हैं। श्रीगङ्गाजी स्वर्गलोककी जननी हैं ॥ ९० ॥

योनिर्वरिष्ठा विरजा वितन्वी
शय्याचिरा वारिवहा यशोदा ।
विश्वावती चाकृतिरिष्टसिद्धा
गङ्गोक्षितानां भुवनस्य पन्थाः ॥ ९१ ॥

सबका कारण, सबसे श्रेष्ठ, रजोगुणरहित, अत्यन्त सूक्ष्म, मरे हुए प्राणियोंके लिये सुखद शय्या, तीव्र वेगसे बहनेवाली, पवित्र जलका स्रोत बहानेवाली, यश देनेवाली, जगत्की रक्षा करनेवाली, सत्स्वरूपा तथा अभीष्टको सिद्ध करनेवाली भगवती गङ्गा अपने भीतर स्नान करनेवालोंके लिये स्वर्गका मार्ग बन जाती हैं ॥ ९१ ॥

क्षान्त्या मह्या गोपने धारणे च
दीप्त्या कृशानोस्तपनस्य चैव ।
तुल्या गङ्गा सम्मता ब्राह्मणानां
गुहस्य ब्रह्मण्यतया च नित्यम् ॥ ९२ ॥

क्षमा, रक्षा तथा धारण करनेमें पृथ्वीके समान और तेजमें अग्नि एवं सूर्यके समान शोभा पानेवालोंके गङ्गाजी ब्राह्मण-जातिपर सदा अनुग्रह करनेके कारण सुब्रह्मण्य कार्तिकेय तथा ब्राह्मणोंके लिये भी प्रिय एवं सम्मानित हैं ॥ ९२ ॥

ऋषिष्टुतां विष्णुपदीं पुराणां
सुपुण्यतोयां मनसापि लोके ।
सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्ना-
स्ते ब्रह्मणः सदनं सम्प्रयाताः ॥ ९३ ॥

ऋषियोंद्वारा जिनकी स्तुति होती है, जो भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न, अत्यन्त प्राचीन तथा परम पावन जलसे भरी हुई हैं, उन गङ्गाजीकी जगत्में जो लोग मनके द्वारा भी सब प्रकारसे शरण लेते हैं, वे देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥

लोकानवेक्ष्य जननीव पुत्रान्
सर्वात्मना सर्वगुणोपपन्नान् ।
तत्स्थानकं ब्राह्ममभीप्समानै-
र्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥ ९४ ॥

जैसे माता अपने पुत्रोंको स्नेहभरी दृष्टिसे देखती है और उनकी रक्षा करती है, उसी प्रकार गङ्गाजी सर्वात्मभावसे अपने आश्रयमें आये हुए सर्वगुणसम्पन्न लोकोंको कृपादृष्टिसे देखकर उनकी रक्षा करती हैं; अतः जो ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें अपने मनको वशमें करके सदा मातृभावसे गङ्गाजीकी उपासना करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

उस्रां पुष्टां मिषतीं विश्वभोज्या-
मिरावतीं धारिणीं भूधराणाम् ।
शिष्टाश्रयाममृतां ब्रह्मकान्तां
गङ्गां श्रयेदात्मवान् सिद्धिकामः ॥ ९५ ॥

जो अमृतमय दूध देनेवाली, गौके समान सबको पुष्ट करनेवाली, सब कुछ देखनेवाली, सम्पूर्ण जगत्के उपयोगमें आनेवाली, अन्न देनेवाली तथा पर्वतोंको धारण करनेवाली हैं, श्रेष्ठ पुरुष जिनका आश्रय लेते हैं और जिन्हें ब्रह्माजी भी प्राप्त करना चाहते हैं तथा जो अमृतस्वरूप हैं, उन भगवती गङ्गाजीका सिद्धिकामी जितात्मा पुरुषोंको अवश्य आश्रय लेना चाहिये ॥ ९५ ॥

प्रसाद्य देवान् सविभून् समस्तान्
भगीरथस्तपसोग्रेण गङ्गाम् ।
गामानयत् तामभिगम्य शश्वत्
पुंसां भयं नेह चामुत्र विद्यात् ॥ ९६ ॥

राजा भगीरथ अपनी उग्र तपस्यासे भगवान् शङ्करसहित सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न करके गङ्गाजीको इस पृथ्वीपर ले आये। उनकी शरणमें जानेसे मनुष्यको इहलोक और परलोकमें भय नहीं रहता ॥ ९६ ॥

उदाहृतः सर्वथा ते गुणानां
मयैकदेशः प्रसमीक्ष्य बुद्ध्या ।
शक्तिर्न मे काचिदिहास्ति वक्तुं
गुणान् सर्वान् परिमातुं तथैव ॥ ९७ ॥

ब्रह्मन्! मैंने अपनी बुद्धिसे सर्वथा विचारकर यहाँ गङ्गाजीके गुणोंका एक अंशमात्र बताया है। मुझमें कोई इतनी शक्ति नहीं है कि मैं यहाँ उनके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन कर सकूँ ॥ ९७ ॥

मेरोः समुद्रस्य च सर्वयत्नैः
संख्योपलानामुदकस्य वापि ।
शक्यं वक्तुं नेह गङ्गाजलानां
गुणाख्यानं परिमातुं तथैव ॥ ९८ ॥

कदाचित् सब प्रकारके यत्न करनेसे मेरु गिरिके प्रस्तर-कणों और समुद्रके जलविन्दुओंकी गणना की जा सके; परंतु यहाँ गङ्गाजलके गुणोंका वर्णन तथा गणना करना कदापि सम्भव नहीं है ॥ ९८ ॥

तस्मादेतान् परया श्रद्धयोक्तान्
गुणान् सर्वान् जाह्नवीयान् सदैव ।
भवेद् वाचा मनसा कर्मणा च
भक्त्या युक्तः श्रद्धया श्रद्दधानः ॥ ९९ ॥

अतः मैंने बड़ी श्रद्धाके साथ जो ये गङ्गाजीके गुण बताये हैं, उन सबपर विश्वास करके मन, वाणी, क्रिया, भक्ति और श्रद्धाके साथ आप सदा ही उनकी आराधना करें ॥ ९९ ॥

लोकानिमांस्त्रीन् यशसा वितत्य
सिद्धिं प्राप्य महतीं तां दुरापाम् ।
गङ्गाकृतानचिरेणैव लोकान्
यथेष्टमिष्टान् विहरिष्यसि त्वम् ॥ १०० ॥

इससे आप परम दुर्लभ उत्तम सिद्धि प्राप्त करके इन तीनों लोकोंमें अपने यशका विस्तार करते हुए शीघ्र ही गङ्गाजीकी सेवासे प्राप्त हुए अभीष्ट लोकोंमें इच्छानुसार विचरेंगे ॥

तव मम च गुणैर्महानुभावा
जुषतु मतिं सततं स्वधर्मयुक्तैः ।
अभिमतजनवत्सला हि गङ्गा
जगति युनक्ति सुखैश्च भक्तिमन्तम् ॥

महान् प्रभावशाली भगवती भागीरथी आपकी और मेरी बुद्धिको सदा स्वधर्मानुकूल गुणोंसे युक्त करें । श्रीगङ्गाजी बड़ी भक्तवत्सला हैं । वे संसारमें अपने भक्तोंको सुखी बनाती हैं ॥ १०१ ॥

भीष्म उवाच

इति परममतिर्गुणाननेकाञ्-
शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान् ।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान्
गगनतलं द्युतिमान् विवेश सिद्धः ॥ १०२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वह उत्तम बुद्धिवाला परम तेजस्वी सिद्ध शिलोञ्छवृत्तिद्वारा जीविका चलानेवाले उस ब्राह्मणसे त्रिपथगा गङ्गाजीके उपर्युक्त सभी यथार्थ गुणोंका नाना प्रकारसे वर्णन करके आकाशमें प्रविष्ट हो गया ॥ १०२ ॥

शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः सम्बोधितस्तदा ।
गङ्गामुपास्य विधिवत् सिद्धिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥ १०३ ॥

वह शिलोञ्छवृत्तिवाला ब्राह्मण सिद्धके उपदेशसे गङ्गाजीके माहात्म्यको जानकर उनकी विधिवत् उपासना करके परम दुर्लभ सिद्धिको प्राप्त हुआ ॥ १०३ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः ।
गङ्गामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १०४ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार तुम भी पराभक्तिके साथ सदा गङ्गाजीकी उपासना करो । इससे तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १०४ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गङ्गायाः स्तवसंयुतम् ।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद् भ्रातृभिः सह ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा कहे हुए श्रीगङ्गाजीकी स्तुतिसे युक्त इस इतिहासको सुनकर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १०५ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद् यः पठेत वा ।
गङ्गायाः स्तवसंयुक्तं स मुच्येत् सर्वकिल्बिषैः ॥ १०६ ॥

जो गङ्गाजीके स्तवनसे युक्त इस पवित्र इतिहासका श्रवण अथवा पाठ करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ १०६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गङ्गामाहात्म्यकथने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गङ्गाजीके माहात्म्यका वर्णनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १०७ श्लोक हैं)

सप्तविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्वके लिये तपस्या करनेवाले मतङ्गकी इन्द्रसे बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च यथा भवान् ।
गुणैश्च विविधैः सर्वैर्वयसा च समन्वितः ॥ १ ॥
भवान् विशिष्टो बुद्ध्या च प्रज्ञया तपसा तथा ।
तस्माद् भवन्तं पृच्छामि धर्मं धर्मभृतां वर ।
नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! आप बुद्धि, विद्या, सदाचार, शील और विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं । आपकी अवस्था भी सबसे बड़ी है । आप बुद्धि, प्रज्ञा और तपस्यासे विशिष्ट हैं; अतः मैं आपसे धर्मकी बात पूछता हूँ । संसारमें आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिससे सब प्रकारके प्रश्न पूछे जा सकें ॥ १-२ ॥

क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद् येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यदि क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे तो वह किस उपायसे उसे पा सकता है ? यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

पितामह ! यदि कोई ब्राह्मणत्व पानेकी इच्छा करे तो वह उसे तपस्या, महान् कर्म अथवा वेदोंके स्वाध्याय आदि किस उपायसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर ! क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह समस्त प्राणियोंके लिये सर्वोत्तम स्थान है ॥ ५ ॥

बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥ ६ ॥

तात ! बहुत-सी योनियोंमें बारंबार जन्म लेते-लेते कभी किसी समय संसारी जीव ब्राह्मणकी योनिमें जन्म लेता है॥६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मतङ्गस्य च संवादं गर्दभ्याश्च युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य मतङ्ग और गर्दभीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ ७ ॥

द्विजातेः कस्यचित् तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत्।
मतङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ८ ॥

तात ! पूर्वकालमें किसी ब्राह्मणके एक मतङ्ग नामक पुत्र हुआ, जो (अन्य वर्णके पुरुषसे उत्पन्न होनेपर भी ब्राह्मणोचित्त संस्कारोंके प्रभावसे) उनके समान वर्णका ही समझा जाता था, वह समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न था॥ ८॥

स यज्ञकारः कौन्तेय पित्रोत्सृष्टः परंतप।
प्रायाद् गर्दभयुक्तेन रथेनाप्याशुगामिना ॥ ९ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार ! एक दिन अपने पिताके भेजनेपर मतङ्ग किसी यजमानका यज्ञ करानेके लिये गधोंसे जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर चला ॥ ९ ॥

स बालं गर्दभं राजन् वहन्तं मातुरन्तिके।
निरविध्यत् प्रतोदेन नासिकायां पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन् ! रथका बोझ ढोते हुए एक छोटी अवस्थाके गधेको उसकी माताके निकट ही मतङ्गने बारंबार चाबुकसे मारकर उसकी नाकमें घाव कर दिया ॥ १० ॥

तत्र तीव्रं व्रणं दृष्ट्वा गर्दभी पुत्रगृद्धिनी।
उवाच मा शुचः पुत्र चाण्डालस्त्वधितिष्ठति ॥ ११ ॥

पुत्रका भला चाहनेवाली गधी उस गधेकी नाकमें दुस्सह घाव हुआ देख उसे समझाती हुई बोली—'बेटा ! शोक न करो। तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण नहीं, चाण्डाल सवार है॥११॥

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति ॥ १२ ॥

'ब्राह्मणमें इतनी क्रूरता नहीं होती। ब्राह्मण सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला बताया जाता है। जो समस्त प्राणियोंको उपदेश देनेवाला आचार्य है, वह कैसे किसीपर प्रहार करेगा ? ॥ १२ ॥

अयं तु पापप्रकृतिर्बाले न कुरुते दयाम्।
स्वयोनिं मानयत्येष भावो भावं नियच्छति ॥ १३ ॥

'यह स्वभावसे ही पापात्मा है; इसीलिये दूसरेके बच्चेपर दया नहीं करता है। यह अपने इस कुकृत्यद्वारा अपनी चाण्डाल योनिका ही सम्मान बढ़ा रहा है। जातिगत स्वभाव ही मनोभावपर नियन्त्रण करता है' ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा मतङ्गस्तु दारुणं रासभीवचः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं रासभीं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

गधीका यह दारुण वचन सुनकर मतङ्ग तुरंत रथसे उतर पड़ा और गधीसे इस प्रकार बोला—॥ १४ ॥

ब्रूहि रासभि कल्याणि माता मे येन दूषिता।
कथं मां वेत्सि चण्डालं क्षिप्रं रासभि शंस मे ॥ १५ ॥

'कल्याणमयी गर्दभी ! बता, मेरी माता किससे कलङ्कित हुई है ? तू मुझे चाण्डाल कैसे समझती है ? शीघ्र मुझसे सारी बात बता ॥ १५ ॥

कथं मां वेत्सि चण्डालं ब्राह्मण्यं येन नश्यते।
तत्त्वेनैतन्महाप्राज्ञे ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥

'गधी ! तुझे कैसे मालूम हुआ कि मैं चाण्डाल हूँ ! किस कर्मसे मेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ है ? तू बड़ी समझदार है; अतः ये सारी बातें मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ १६ ॥

गर्दभ्युवाच

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वं मत्तायां नापितेन ह।
जातस्त्वमसि चाण्डालो ब्राह्मण्यं तेन तेऽनशत् ॥ १७ ॥

गदही बोली—मतङ्ग ! तू यौवनके मदसे मतवाली हुई एक ब्राह्मणीके पेटसे शूद्रजातीय नाईद्वारा पैदा किया गया, इसीलिये तू चाण्डाल है और तेरी माताके इसी व्यभिचार कर्मसे तेरा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है ॥ १७ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु प्रतिप्रायाद् गृहं प्रति।
तमागतमभिप्रेक्ष्य पिता वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

गदहीके ऐसा कहनेपर मतङ्ग फिर अपने घरको लौट

गया। उसे लौटकर आया देख पिताने इस प्रकार कहा—॥ १८॥

मया त्वं यज्ञसंसिद्धौ नियुक्तो गुरुकर्मणि।
कस्मात् प्रतिनिवृत्तोऽसि कच्चिन्न कुशलं तव ॥ १९ ॥

'बेटा! मैंने तो तुम्हें यज्ञ करानेके भारी कार्यपर लगा रखा था, फिर तुम लौट कैसे आये? तुम कुशलसे तो हो न?' ॥ १९ ॥

मतङ्ग उवाच

अन्त्ययोनिरयोनिर्वा कथं स कुशली भवेत्।
कुशलं तु कुतस्तस्य यस्येयं जननी पितः ॥ २० ॥

मतङ्गने कहा—पिताजी! जो चाण्डाल योनिमें उत्पन्न हुआ है अथवा उससे भी नीच योनिमें पैदा हुआ है, वह कैसे सकुशल रह सकता है। जिसे ऐसी माता मिली हो, उसे कहाँसे कुशल प्राप्त होगी ॥ २०॥

ब्राह्मण्यां वृषलाज्जातं पितर्वेदयतीव माम्।
अमानुषी गर्दभीयं तस्मात् तप्स्ये तपो महत् ॥ २१ ॥

पिताजी! यह मानवेतर योनिमें उत्पन्न हुई गदही मुझे ब्राह्मणीके गर्भसे शूद्रद्वारा पैदा हुआ बता रही है; इसलिये अब मैं महान् तपमें लग जाऊँगा ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा स पितरं प्रतस्थे कृतनिश्चयः।
ततो गत्वा महारण्यमतपत् सुमहत् तपः ॥ २२ ॥

पितासे ऐसा कहकर मतङ्ग तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके घरसे निकल पड़ा और एक महान् वनमें जाकर वहाँ बड़ी भारी तपस्या करने लगा ॥ २२ ॥

ततः स तापयामास विबुधांस्तपसान्वितः।
मतङ्गः सुखसम्प्रेप्सुः स्थानं सुचरितादपि ॥ २३ ॥

तपस्यामें संलग्न हो मतङ्गने देवताओंको संतप्त कर दिया। वह भलीभाँति तपस्या करके सुखसे ही ब्राह्मणत्वरूपी अभीष्ट स्थानको प्राप्त करना चाहता था ॥ २३ ॥

तं तथा तपसा युक्तमुवाच हरिवाहनः।
मतङ्ग तप्स्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ २४ ॥

उसे इस प्रकार तपस्यामें संलग्न देख इन्द्रने कहा—'मतङ्ग! तुम क्यों मानवीय भोगोंका परित्याग करके तपस्या कर रहे हो? ॥ २४ ॥

वरं ददामि ते हन्त वृणीष्व त्वं यदिच्छसि।
यच्चाप्यवाप्यं हृदि ते सर्वं तद् ब्रूहि माचिरम् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हें वर देता हूँ। तुम जो चाहते हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक माँग लो। तुम्हारे हृदयमें जो कुछ पानेकी अभिलाषा हो, वह सब शीघ्र बताओ' ॥ २५ ॥

मतङ्ग उवाच

ब्राह्मण्यं कामयानोऽहमिदमारब्धवांस्तपः।
गच्छेयं तदवाप्येह वर एष वृतो मया ॥ २६ ॥

मतङ्गने कहा—मैंने ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे यह तपस्या प्रारम्भ की है। उसे पा करके ही यहाँसे जाऊँ, मैं यही वर चाहता हूँ ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तमुवाच पुरंदरः।
मतङ्ग दुर्लभमिदं विप्रत्वं प्रार्थ्यते त्वया ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! मतङ्गकी यह बात सुनकर इन्द्रदेवने कहा—'मतङ्ग! तुम जो ब्राह्मणत्व माँग रहे हो, यह तुम्हारे लिये दुर्लभ है ॥ २७ ॥

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम माचिरम् ॥ २८ ॥

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अथवा जो पुण्यात्मा नहीं हैं, उनके लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव है। दुर्बुद्धे! तुम ब्राह्मणत्व माँगते-माँगते मर जाओगे तो भी वह नहीं मिलेगा; अतः इस दुराग्रहसे जितना शीघ्र सम्भव हो निवृत्त हो जाओ ॥ २८ ॥

श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्तते।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥ २९ ॥

'सम्पूर्ण भूतोंमें श्रेष्ठता ही ब्राह्मणत्व है और यही तुम्हारा अभीष्ट प्रयोजन है; परंतु यह तप उस प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकता; अतः इस श्रेष्ठ पदकी अभिलाषा रखते हुए तुम शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २९ ॥

देवतासुरमर्त्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम्।
चण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथंचन ॥ ३० ॥

'देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें भी जो परम पवित्र माना गया है, उस ब्राह्मणत्वको चाण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य किसी तरह नहीं पा सकता' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका आग्रह छोड़कर दूसरा वर माँगनेके लिये इन्द्रका मतङ्गको समझाना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शतमच्युतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर

मतङ्गका मन और भी दृढ़ हो गया । वह संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करने लगा । अपने धैर्यसे च्युत न होनेवाला मतङ्ग सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा ॥ १ ॥

तमुवाच ततः शक्रः पुनरेव महायशाः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं तात प्रार्थयानो न लप्स्यसे ॥ २ ॥

तब महायशस्वी इन्द्रने पुनः आकर उससे कहा—'तात ! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है । उसे माँगनेपर भी पा न सकोगे ॥ २ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं प्रार्थयन् विनशिष्यसि ।
मा कृथाः साहसं पुत्र नैष धर्मपथस्तव ॥ ३ ॥

'मतङ्ग ! तुम इस उत्तम स्थानको माँगते-माँगते मर जाओगे । बेटा ! दुःसाहस न करो । तुम्हारे लिये यह धर्मका मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥

न हि शक्यं त्वया प्राप्तुं ब्राह्मण्यमिह दुर्मते ।
अप्राप्यं प्रार्थयानो हि नचिराद् विनशिष्यसि ॥ ४ ॥

'दुर्मते ! तुम इस जीवनमें ब्राह्मणत्व नहीं पा सकते । उस अप्राप्य वस्तुके लिये प्रार्थना करते-करते शीघ्र ही कालके गालमें चले जाओगे ॥ ४ ॥

मतङ्ग परमं स्थानं वार्यमाणोऽसकृन्मया ।
चिकीर्षस्येव तपसा सर्वथा न भविष्यसि ॥ ५ ॥

'मतङ्ग ! मैं तुम्हें बार-बार मना करता हूँ तो भी उस उत्कृष्ट स्थानको तुम तपस्याद्वारा प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते ही जाते हो । ऐसा करनेसे सर्वथा तुम्हारी सत्ता मिट जायगी ॥ ५ ॥

तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति ।
स जायते पुल्कसो वा चण्डालो वाप्यसंशयः ॥ ६ ॥

'पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए सभी प्राणी यदि कभी मनुष्ययोनिमें जाते हैं तो पहले पुल्कस या चाण्डालके रूपमें जन्म लेते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते ।
स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते ॥ ७ ॥

'मतङ्ग ! पुल्कस या जो कोई भी पापयोनि पुरुष यहाँ दिखायी देता है, वह सुदीर्घकालतक अपनी उसी योनिमें चक्कर लगाता रहता है ॥ ७ ॥

ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि ।
शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते ॥ ८ ॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर वह चाण्डाल या पुल्कस शूद्र-योनिमें जन्म लेता है और उसमें भी अनेक जन्मोंतक चक्कर लगाता रहता है ॥ ८ ॥

ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि ।
वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् तीस गुना समय बीतनेपर वह वैश्ययोनिमें आता है और चिरकालतक उसीमें चक्कर काटता रहता है ॥ ९ ॥

ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते ।
ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम् ॥ १० ॥

'इसके बाद साठगुना समय बीतनेपर वह क्षत्रियकी योनिमें जन्म लेता है । फिर उससे भी साठगुना समय बीतनेपर वह गिरे हुए ब्राह्मणके घरमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं ततस्तु परिवर्तते ।
ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम् ॥ ११ ॥

'दीर्घकालतक ब्राह्मणाधम रहकर जब उसकी अवस्था परिवर्तित होती है, तब वह अस्त्र-शस्त्रोंसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ ११ ॥

काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततस्तु त्रिशते काले लभते जपतामपि ॥ १२ ॥

'फिर चिरकालतक वह उसी योनिमें पड़ा रहता है तदनन्तर तीन सौ वर्षका समय व्यतीत होनेपर वह गायत्री-मात्रका जप करनेवाले ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेता है ॥ १२ ॥

तं च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते ।
श्रोत्रियत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १३ ॥

'उस जन्मको पाकर वह चिरकालतक उसी योनिमें जन्मता-मरता रहता है । फिर चार सौ वर्षोंका समय व्यतीत होनेपर वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) ब्राह्मणके कुलमें जन्म लेता है और उसी कुलमें चिरकालतक उसका आवागमन होता रहता है ॥ १३ ॥

तदेवं शोकहर्षौ तु कामद्वेषौ च पुत्रक ।
अतिमानातिवादौ च प्रविशेते द्विजाधमम् ॥ १४ ॥

'बेटा ! इस प्रकार शोक-हर्ष, राग-द्वेष, अतिमान और अतिवाद आदि दोषोंका अधम द्विजके भीतर प्रवेश होता है ॥ १४ ॥

तांश्चेज्जयति शत्रून् स तदा प्राप्नोति सद्गतिम् ।
अथ ते वै जयन्त्येनं तालाग्रादिव पात्यते ॥ १५ ॥

'यदि वह इन शत्रुओंको जीत लेता है तो सद्गतिको प्राप्त होता है और यदि वे शत्रु ही उसे जीत लेते हैं तो ताड़के वृक्षके ऊपरसे गिरनेवाले फलकी भाँति वह नीचे गिरा दिया जाता है ॥ १५ ॥

मतङ्ग सम्प्रधार्यैवं यदहं त्वामचूचुदम् ।

वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् ॥ १६ ॥

'मतङ्ग ! यही सोचकर मैंने तुमसे कहा था कि तुम कोई दूसरी अभीष्ट वस्तु माँग लो; क्योंकि ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

मतङ्गकी तपस्या और इन्द्रका उसे वरदान देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः ।
सहस्रमेकपादेन ततो ध्याने व्यतिष्ठत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अपने मनको और भी दृढ़ और संयमशील बनाकर एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे ध्यान लगाये खड़ा रहा ॥ १ ॥

तं सहस्रावरे काले शक्रो द्रष्टुमुपागमत् ।
तदेव च पुनर्वाक्यमुवाच बलवृत्रहा ॥ २ ॥

जब एक हजार वर्ष पूरे होनेमें कुछ ही बाकी था, उस समय बल और वृत्रासुरके शत्रु देवराज इन्द्र फिर मतङ्गको देखनेके लिये आये और पुनः उससे उन्होंने पहलेकी कही हुई बात ही दुहरायी ॥ २ ॥

मतङ्ग उवाच

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं प्राप्नुयां कथम् ॥ ३ ॥

मतङ्गने कहा—देवराज ! मैंने ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा होकर तप किया है। फिर मुझे ब्राह्मणत्व कैसे नहीं प्राप्त हो सकता ? ॥

शक्र उवाच

चण्डालयोनौ जातेन नावाप्यं वै कथंचन ।
अन्यं कामं वृणीष्व त्वं मा वृथा तेऽस्त्वयं श्रमः ॥ ४ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! चाण्डालकी योनिमें जन्म लेनेवालेको किसी तरह ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता; इसलिये तुम दूसरी कोई अभीष्ट वस्तु माँग लो । जिससे तुम्हारा यह परिश्रम व्यर्थ न जाय ॥ ४ ॥

एवमुक्तो मतङ्गस्तु भृशं शोकपरायणः ।
अध्यतिष्ठद् गयां गत्वा सोऽङ्गुष्ठेन शतं समाः ॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मतङ्ग अत्यन्त शोकमग्न हो गयामें जाकर अंगूठेके बलपर सौ वर्षोंतक खड़ा रहा ॥ ५ ॥

सुदुर्वहं वहन् योगं कृशो धमनिसंततः ।
त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

उसने दुर्धर योगका अनुष्ठान किया । उसका सारा शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया । नस-नाड़ियाँ उघड़ आयीं । धर्मात्मा मतङ्गका शरीर चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया । उस अवस्थामें अपनेको न सँभाल सकनेके कारण वह गिर पड़ा, यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ ६ ॥

तं पतन्तमभिद्रुत्य परिजग्राह वासवः ।
वराणामीश्वरो दाता सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

उसे गिरते देख सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले वर देनेमें समर्थ इन्द्रने दौड़कर पकड़ लिया ॥ ७ ॥

शक्र उवाच

मतङ्ग ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभतरं संवृतं परिपन्थिभिः ॥ ८ ॥

इन्द्रने कहा—मतङ्ग ! इस जन्ममें तुम्हारे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति असम्भव दिखायी देती है । ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है; साथ ही वह काम-क्रोध आदि लुटेरोंसे घिरा हुआ है ॥ ८ ॥

पूजयन् सुखमाप्नोति दुःखमाप्नोत्यपूजयन् ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां योगक्षेमसमर्पिता ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मणका आदर करता है, वह सुख पाता है और जो अनादर करता है, वह दुःख पाता है । ब्राह्मण समस्त प्राणियोंको योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽनुतृप्यन्ते पितरो देवतास्तथा ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां मतङ्ग पर उच्यते ॥ १० ॥

मतङ्ग ! ब्राह्मणोंके तृप्त होनेसे ही देवता और पितर भी तृप्त होते हैं। ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है ॥

ब्राह्मणः कुरुते तद्धि यथा यद् यच्च वाञ्छति ।
बह्वीस्तु संविशन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पर्याये तात कस्मिंश्चिद् ब्राह्मण्यमिह विन्दति ।

ब्राह्मण जो-जो जिस प्रकार करना चाहता है, अपने तपके

प्रभावसे वैसा ही कर सकता है। तात! जीव इस जगत्के भीतर अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ बारंबार जन्म लेता है। इसी तरह जन्म लेते-लेते कभी किसी समयमें वह ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर लेता है ॥ ११½ ॥

तदुत्सृज्येह दुष्प्रापं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः ।

अतः जिनका मन अपने वशमें नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य ब्राह्मणत्वको पानेका आग्रह छोड़कर तुम कोई दूसरा ही वर माँगो। यह वर तो तुम्हारे लिये दुर्लभ ही है ॥ १२½ ॥

मतङ्ग उवाच

किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम्॥ १३ ॥
त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे ।

मतङ्गने कहा—देवराज! मैं तो यों ही दुःखसे आतुर हो रहा हूँ, फिर तुम भी क्यों मुझे पीड़ा दे रहे हो? मुझ मरे हुएको क्यों मारते हो? मैं तो तुम्हारे लिये शोक करता हूँ, जो जन्मसे ही ब्राह्मणत्वको पाकर भी तुम उसे अपना नहीं रहे हो ॥ १३½ ॥

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ॥ १४ ॥
सुदुर्लभं सदावाप्य नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

शतक्रतो! यदि क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व दुर्लभ है तो उस परम दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर भी मनुष्य ब्राह्मणोचित शम-दमका अनुष्ठान नहीं करते हैं। यह कितने दुःखकी बात है! ॥ १४½ ॥

यः पापेभ्यः पापतमस्तेषामधम एव सः ॥ १५ ॥
ब्राह्मण्यं यो न जानीते धनं लब्ध्वेव दुर्लभम् ।

वह पापियोंसे भी बढ़कर अत्यन्त पापी और उनमें भी अधम ही है, जो दुर्लभ धनकी भाँति ब्राह्मणत्वको पाकर भी उसके महत्त्वको नहीं समझता है ॥ १५½ ॥

दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम् ॥ १६ ॥
दुरावापमवाप्यैतन्नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।

पहले तो ब्राह्मणत्वका प्राप्त होना ही कठिन है। यदि वह प्राप्त हो जाय तो उसका पालन करना और भी कठिन हो जाता है; किंतु बहुत-से मनुष्य इस दुर्लभ वस्तुको पाकर भी तदनुकूल आचरण नहीं करते हैं ॥ १६½ ॥

एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १७ ॥
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

शक्र! मैं एकान्तमें आनन्दपूर्वक रहता हूँ तथा द्वन्द्वों और परिग्रहोंसे दूर हूँ। अहिंसा और दमका पालन किया करता हूँ। ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणत्व पाने योग्य क्यों नहीं हूँ? ॥

दैवं तु कथमेतद् वै यदहं मातृदोषतः ॥ १८ ॥
एतामवस्थां सम्प्राप्तो धर्मज्ञः सन् पुरंदर ।

पुरंदर! मैं धर्मज्ञ होकर भी केवल माताके दोषसे इस अवस्थामें आ पहुँचा हूँ। यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है? ॥ १८½ ॥

नूनं दैवं न शक्यं हि पौरुषेणातिवर्तितुम् ॥ १९ ॥
यदर्थं यत्नवानेव न लभे विप्रतां विभो ।

प्रभो! निश्चय ही पुरुषार्थके द्वारा दैवका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं जिसके लिये ऐसा प्रयत्नशील हूँ, उस ब्राह्मणत्वको नहीं उपलब्ध कर पाता हूँ ॥

एवंगते तु धर्मज्ञ दातुमर्हसि मे वरम् ॥ २० ॥
यदि तेऽहमनुग्राह्यः किंचिद् वा सुकृतं मम ।

धर्मज्ञ देवराज! यदि ऐसी अवस्थामें मैं आपका कृपा-पात्र हूँ अथवा यदि मेरा कुछ भी पुण्य शेष हो तो आप मुझे वर प्रदान कीजिये ॥ २०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

वृणीष्वेति तदा प्राह ततस्तं बलवृत्रहा ॥ २१ ॥
चोदितस्तु महेन्द्रेण मतङ्गः प्राब्रवीदिदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रने मतङ्गसे कहा—'तुम मुझसे वर माँगो।' महेन्द्रसे प्रेरित होकर मतङ्गने इस प्रकार कहा—॥ २१½ ॥

यथा कामविहारी स्यां कामरूपी विहङ्गमः ॥ २२ ॥
ब्रह्मक्षत्राविरोधेन पूजां च प्राप्नुयामहम् ।
यथा ममाक्षया कीर्तिर्भवेच्चापि पुरंदर ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि तद् देव शिरसा त्वां प्रसादये ।

'देव पुरंदर! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं इच्छानुसार विचरनेवाला तथा अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाला आकाशचारी देवता होऊँ। ब्राह्मण और क्षत्रियोंके विरोधसे रहित हो मैं सर्वत्र पूजा एवं सत्कार प्राप्त करूँ तथा मेरी अक्षय कीर्तिका विस्तार हो। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ। आप मेरी इस प्रार्थनाको सफल बनाइये' ॥ २२-२३½ ॥

शक्र उवाच

छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि ॥ २४ ॥
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति ।

इन्द्रने कहा—वत्स! तुम स्त्रियोंके पूजनीय होओगे। 'छन्दोदेव' के नामसे तुम्हारी ख्याति होगी और तीनों लोकोंमें तुम्हारी अनुपम कीर्तिका विस्तार होगा ॥ २४½ ॥

एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत ॥ २५ ॥
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम् ।

इस प्रकार उसे वर देकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। मतङ्ग भी अपने प्राणोंका परित्याग करके उत्तम स्थान (ब्रह्मलोक) को प्राप्त हुआ ॥ २५½ ॥

एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत।
तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा ॥ २६ ॥

भारत ! इस तरह यह ब्राह्मणत्व परम उत्तम स्थान है। जैसा कि इन्द्रका कथन है, उसके अनुसार यह इस जीवनमें दूसरे वर्णके लोगोंके लिये दुर्लभ है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रमतङ्गसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और मतङ्गका संवादविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

वीतहव्यके पुत्रोंसे काशी-नरेशोंका घोर युद्ध, प्रतर्दनद्वारा उनका वध और राजा वीतहव्यको भृगुके कथनसे ब्राह्मणत्व प्राप्त होनेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे महदाख्यानमेतत् कुरुकुलोद्वह।
सुदुष्प्रापं यद् ब्रवीषि ब्राह्मण्यं वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलमें उत्पन्न ! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपके मुखसे यह महान् उपाख्यान मैंने सुन लिया। आप कह रहे हैं कि अन्य वर्णोंके लिये इसी शरीरसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है ॥ १ ॥

विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत।
श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥ २ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! परंतु सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्रजीने इसी शरीरसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था और आप जो उसे सर्वथा दुर्लभ बता रहे हैं (ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध-सी जान पड़ती हैं) ॥ २ ॥

वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः।
तदेव तावद् गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ॥ ३ ॥

मेरे सुननेमें यह भी आया है कि राजा वीतहव्य क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे। गङ्गानन्दन ! प्रभो ! अब मैं पहले उसी प्रसङ्गको सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

स केन कर्मणा प्राप्तो ब्राह्मण्यं राजसत्तमः।
वरेण तपसा वापि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

वे नृपशिरोमणि वीतहव्य किस कर्मसे, किस वर अथवा तपस्यासे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः।
राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महायशस्वी राजर्षि राजा वीतहव्यने जिस प्रकार लोकसम्मानित दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

मनोर्महात्मनस्तात प्रजा धर्मेण शासतः।
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः ॥ ६ ॥

तात ! पूर्वकालमें धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाले महामनस्वी राजा मनुके एक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था शर्याति ॥ ६ ॥

तस्यान्ववाये द्वौ राजन् राजानौ सम्बभूवतुः।
हैहयस्तालजंघश्च वत्सस्य जयतां वर ॥ ७ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! राजा शर्यातिके वंशमें दो राजा बड़े विख्यात हुए—हैहय और तालजङ्घ। ये दोनों ही राजा वत्सके पुत्र थे ॥ ७ ॥

हैहयस्य तु राजेन्द्र दशसु स्त्रीषु भारत।
शतं बभूव पुत्राणां शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र ! उन दोनोंमें हैहयके (जिसका दूसरा नाम वीतहव्य भी था) दस स्त्रियाँ थीं। उन स्त्रियोंके गर्भसे सौ शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए, जो युद्धसे पीछे हटनेवाले नहीं थे ॥ ८ ॥

तुल्यरूपप्रभावाणां बलिनां युद्धशालिनाम्।
धनुर्वेदे च वेदे च सर्वत्रैव कृतश्रमाः ॥ ९ ॥

उन सबके रूप और प्रभाव एक समान थे, वे सभी बलवान् तथा युद्धमें शोभा पानेवाले थे। उन्होंने धनुर्वेद और वेदके सभी विषयोंमें परिश्रम किया था ॥ ९ ॥

काशिष्वपि नृपो राजन् दिवोदासपितामहः।
हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः ॥ १० ॥

उन्हीं दिनों काशी प्रान्तमें हर्यश्व नामके राजा राज्य करते थे, जो दिवोदासके पितामह थे। वे विजयशील वीरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे ॥ १० ॥

स वीतहव्यदायादैरागत्य पुरुषर्षभ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये संग्रामे विनिपातितः ॥ ११ ॥

पुरुषप्रवर ! वीतहव्यके पुत्रोंने हर्यश्वके राज्यपर चढ़ाई की उन्हें गङ्गा-यमुनाके बीच युद्धमें मार गिराया ॥ ११ ॥

तं तु हत्वा नरपतिं हैहयास्ते महारथाः।
प्रतिजग्मुः पुरीं रम्यां वत्सानामकुतोभयाः ॥ १२ ॥

राजा हर्यश्वको मारकर वे महारथी हैहय-राजकुमार निर्भय हो वत्सवंशी राजाओंकी सुरम्य पुरीको लौट गये ॥ १२ ॥

हर्यश्वस्य तु दायादः काशिराजोऽभ्यषिच्यत।
सुदेवो देवसंकाशः साक्षाद् धर्म इवापरः ॥ १३ ॥

हर्यश्वके पुत्र सुदेव जो देवताके तुल्य तेजस्वी और साक्षात् दूसरे धर्मराजके समान न्यायशील थे, पिताके बाद काशिराजके पदपर अभिषिक्त किये गये ॥ १३ ॥

स पालयामास महीं धर्मात्मा काशिनन्दनः।
तैर्वीतहव्यैरागत्य युधि सर्वैर्विनिर्जितः ॥ १४ ॥

धर्मात्मा काशिनन्दन सुदेव धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे। इसी बीचमें वीतहव्यके सभी पुत्रोंने आक्रमण करके युद्धमें उन्हें भी परास्त कर दिया ॥ १४ ॥

तमथाजौ विनिर्जित्य प्रतिजग्मुर्यथागतम्।
सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत॥१५ ॥

समराङ्गणमें सुदेवको धराशायी करके वे हैहयराजकुमार जैसे आये थे, वैसे लौट गये। तत्पश्चात् सुदेवके पुत्र दिवोदासका काशिराजके पदपर अभिषेक किया गया ॥ १५ ॥

दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम्।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥ १६ ॥

दिवोदास बड़े तेजस्वी राजा थे। उन्होंने जब मनको वशमें रखनेवाले हैहयराजकुमारोंके पराक्रमपर विचार किया, तब इन्द्रकी आज्ञासे वाराणसी नामवाली नगरी बसायी ॥ १६ ॥

विप्रक्षत्रियसम्बाधां वैश्यशूद्रसमाकुलाम्।
नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ १७ ॥

वह पुरी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंसे भरी हुई थी, नाना प्रकारके द्रव्योंके संग्रहसे सम्पन्न थी तथा उसके बाजार-हाट और दूकानें धन-वैभवसे भरपूर थीं ॥ १७ ॥

गङ्गाया उत्तरे कूले वप्रान्ते राजसत्तम।
गोमत्या दक्षिणे कूले शक्रस्येवामरावतीम् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस नगरीके घेरेका एक छोर गङ्गाजीके उत्तर तटतक दूसरा छोर गोमतीके दक्षिण किनारेतक फैला हुआ था। वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीपुरीके समान जान पड़ती थी ॥ १८ ॥

तत्र तं राजशार्दूलं निवसन्तं महीपतिम्।
आगत्य हैहया भूयः पर्यधावन्त भारत ॥ १९ ॥

भारत ! उस नगरीमें निवास करते हुए राजसिंह भूपाल दिवोदासपर पुनः हैहयराजकुमारोंने धावा किया ॥ १९ ॥

स निष्क्रम्य ददौ युद्धं तेभ्यो राजा महाबलः।
देवासुरसमं घोरं दिवोदासो महाद्युतिः ॥ २० ॥

महातेजस्वी महाबली राजा दिवोदासने पुरीसे बाहर निकलकर उन राजकुमारोंके साथ युद्ध किया। उनका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ २० ॥

स तु युद्धे महाराज दिनानां दशतीर्दश।
हतवाहनभूयिष्ठस्ततो दैन्यमुपागमत् ॥ २१ ॥
हतयोधस्ततो राजन् क्षीणकोशश्च भूमिपः।
दिवोदासः पुरीं त्यक्त्वा पलायनपरोऽभवत् ॥ २२ ॥

महाराज ! काशिनरेशने एक हजार दिन (दो वर्ष नौ महीने दस दिन) तक शत्रुओंके साथ युद्ध किया। इस युद्धमें दिवोदासके बहुत-से सिपाही और हाथी, घोड़े आदि वाहन मारे गये। उनका खजाना खाली हो गया और वे बड़ी दयनीय दशामें पड़ गये। अन्तमें अपनी राजधानी छोड़कर भाग निकले ॥ २१-२२ ॥

गत्वाऽऽश्रमपदं रम्यं भरद्वाजस्य धीमतः।
जगाम शरणं राजा कृताञ्जलिररिंदम ॥ २३ ॥

शत्रुदमन नरेश ! बुद्धिमान् भरद्वाजके रमणीय आश्रमपर जाकर राजा दिवोदास हाथ जोड़े हुए वहाँ मुनिकी शरणमें गये ॥ २३ ॥

तमुवाच भरद्वाजो ज्येष्ठः पुत्रो बृहस्पतेः।
पुरोधाः शीलसम्पन्नो दिवोदासं महीपतिम् ॥ २४ ॥
किमागमनकृत्यं ते सर्वं प्रब्रूहि मे नृप।
यत् ते प्रियं तत् करिष्ये न मेऽत्रास्ति विचारणा॥ २५ ॥

बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र भरद्वाजजी बड़े शीलवान् और दिवोदासके पुरोहित थे। उन्होंने राजाको उपस्थित देखकर पूछा—'नरेश्वर ! तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ? मुझे अपना सब समाचार बता दो। तुम्हारा जो भी प्रिय कार्य होगा, उसे मैं करूँगा। इसके लिये मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होगा' ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् वैतहव्यैर्मे युद्धे वंशः प्रणाशितः।
अहमेकः परिद्यूनो भवन्तं शरणं गतः ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! संग्राममें वीतहव्यके पुत्रोंने मेरे संग्राममें कुलका विनाश कर डाला। मैं अकेला ही अत्यन्त संतप्त हो आपकी शरणमें आया हूँ ॥ २६ ॥

शिष्यस्नेहेन भगवंस्त्वं मां रक्षितुमर्हसि।
एकशेषः कृतो वंशो मम तैः पापकर्मभिः ॥ २७ ॥

भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूँ और आप मेरे गुरु हैं। शिष्यके प्रति गुरुका जो सहज स्नेह होता है, उसीके द्वारा आप मेरी रक्षा कीजिये। उन पापकर्मियोंने मेरे कुलमें केवल मुझ एक ही व्यक्तिको शेष छोड़ा है ॥ २७ ॥

तमुवाच महाभागो भरद्वाजः प्रतापवान्।
न भेतव्यं न भेतव्यं सौदेव व्येतु ते भयम् ॥ २८ ॥

यह सुनकर प्रतापी महर्षि महाभाग भरद्वाजने कहा—'सुदेवनन्दन ! तुम न डरो, न डरो। तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये ॥ २८ ॥

अहमिष्टिं करिष्यामि पुत्रार्थं ते विशाम्पते।
वीतहव्यसहस्राणि येन त्वं प्रहरिष्यसि ॥ २९ ॥

'प्रजानाथ ! मैं तुम्हारी पुत्र-प्राप्तिके लिये एक यज्ञ करूँगा। जिसकी सहायतासे तुम हजारों वीतहव्य-पुत्रोंको मार गिराओगे' ॥ २९ ॥

तत इष्टिं चकारर्षिस्तस्य वै पुत्रकामिकीम्।
अथास्य तनयो जज्ञे प्रतर्दन इति श्रुतः ॥ ३० ॥

तब ऋषिने राजासे पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। इससे उनके प्रतर्दन नामसे विख्यात पुत्र हुआ ॥ ३० ॥

स जातमात्रो ववृधे समाः सद्यस्त्रयोदश।
वेदं चापि जगौ कृत्स्नं धनुर्वेदं च भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! वह पैदा होते ही इतना बढ़ गया कि तुरंत तेरह वर्षकी अवस्थाका-सा दिखायी देने लगा। उसी समय उसने अपने मुखसे सम्पूर्ण वेद और धनुर्वेदका गान किया ॥ ३१ ॥

योगेन च समाविष्टो भरद्वाजेन धीमता।
तेजो लोक्यं स संगृह्य तस्मिन् देशे समाविशत् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजमुनिने उसे योगशक्तिसे सम्पन्न कर दिया और उसके शरीरमें सम्पूर्ण जगत्‌का तेज भर दिया ॥ ३२ ॥

ततः स कवची धन्वी स्तूयमानः सुरर्षिभिः।
वन्दिभिर्वन्द्यमानश्च बभौ सूर्य इवोदितः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर राजकुमार प्रतर्दनने अपने शरीरपर कवच धारण किया और हाथमें धनुष ले लिया। उस समय देवर्षि-गण उसका यश गाने लगे। वन्दीजनोंसे वन्दित हो वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ३३ ॥

स रथी बद्धनिस्त्रिंशो बभौ दीप्त इवानलः।
प्रययौ स धनुर्धुन्वन् खड्गी चर्मी शरासनी ॥ ३४ ॥

वह रथपर बैठ गया और कमरमें तलवार बाँधकर प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होने लगा। ढाल, तलवार और धनुषसे सम्पन्न हो वह धनुषकी टङ्कार करता हुआ आगे बढ़ा ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा परमं हर्षं सुदेवतनयो ययौ।
मेने च मनसा दग्धान् वैतहव्यान् स पार्थिवः ॥ ३५ ॥

उसे देखकर सुदेव-पुत्र राजा दिवोदासको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मन-ही-मन वीतहव्यके पुत्रोंको अपने पुत्रके तेजसे दग्ध हुआ ही समझा ॥ ३५ ॥

ततोऽसौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा प्रतर्दनम्।
कृतकृत्यं तदाऽऽत्मानं स राजा अभ्यनन्दत ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् राजा दिवोदासने प्रतर्दनको युवराजके पदपर स्थापित करके अपने आपको कृतकृत्य माना और बड़े आनन्दका अनुभव किया ॥ ३६ ॥

ततस्तु वैतहव्यानां वधाय स महीपतिः।
पुत्रं प्रस्थापयामास प्रतर्दनमरिंदमम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद राजाने अपने पुत्र शत्रुदमन प्रतर्दनको वीतहव्यके पुत्रोंका वध करनेके लिये भेजा ॥ ३७ ॥

सरथः स तु संतीर्य गङ्गामाशु पराक्रमी।
प्रययौ वीतहव्यानां पुरीं परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

पिताकी आज्ञा पाकर वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला पराक्रमी वीर शीघ्र ही रथसहित गङ्गापार करके वीतहव्य-पुत्रोंकी राजधानीकी ओर चल दिया ॥ ३८ ॥

वैतहव्यास्तु संश्रुत्य रथघोषं समुद्धतम्।
निर्ययुर्नगराकारै रथैः पररथारुजैः ॥ ३९ ॥
निष्क्रम्य ते नरव्याघ्रा दंशिताश्चित्रयोधिनः।
प्रतर्दनं समाजग्मुः शरवर्षैरुदायुधाः ॥ ४० ॥

उसके रथकी घोर घरघराहट सुनकर विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले पुरुषसिंह हैहयराजकुमार कवचसे सुसज्जित होकर शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले नगराकार विशाल रथोंपर बैठे हुए पुरीसे बाहर निकले और धनुष उठाये बाणोंकी वर्षा करते हुए प्रतर्दनपर चढ़ आये ॥ ३९-४० ॥

शस्त्रैश्च विविधाकारै रथौघैश्च युधिष्ठिर।
अभ्यवर्षन्त राजानं हिमवन्तमिवाम्बुदाः ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! जैसे बादल हिमालयपर जल बरसाते हैं, उसी प्रकार हैहयराजकुमारोंने रथसमूहोंद्वारा आकर राजा प्रतर्दनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४१ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां राजा प्रतर्दनः।
जघान तान् महातेजा वज्रानलसमैः शरैः ॥ ४२ ॥

तब महातेजस्वी राजा प्रतर्दनने अपने अस्त्रोंद्वारा शत्रुओंके अस्त्रोंका निवारण करके वज्र और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे उन सबको मार डाला ॥ ४२ ॥

कृत्तोत्तमाङ्गास्ते राजन् भल्लैः शतसहस्रशः।
अपतन् रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ४३ ॥

राजन् ! भल्लोंकी मारसे उनके मस्तकोंके सैकड़ों और

हजारों टुकड़े हो गये थे। उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये और वे कटे हुए पलाशके वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ॥ ४३ ॥

हतेषु तेषु सर्वेषु वीतहव्यः सुतेष्वथ ।
प्राद्रवन्नगरं हित्वा भृगोराश्रममप्युत ॥ ४४ ॥

उन सब पुत्रोंके मारे जानेपर राजा वीतहव्य अपना नगर छोड़कर महर्षि भृगुके आश्रममें भाग गये ॥ ४४ ॥

ययौ भृगुं च शरणं वीतहव्यो नराधिपः ।
अभयं च ददौ तस्मै राज्ञे राजन् भृगुस्तदा ॥ ४५ ॥

राजन् ! वहाँ नरेश्वर वीतहव्यने महर्षि भृगुकी शरण ली। तब भृगुने राजाको अभयदान दे दिया ॥ ४५ ॥

अथानुपदमेवाशु तत्रागच्छत् प्रतर्दनः ।
स प्राप्य चाश्रमपदं दिवोदासात्मजोऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इतनेहीमें उनके पीछे लगा हुआ दिवोदासकुमार प्रतर्दन भी शीघ्र ही वहाँ पहुँचा। आश्रममें पहुँचकर उसने इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥



भो भोः केऽत्राश्रमे सन्ति भृगोः शिष्या महात्मनः ।
द्रष्टुमिच्छे मुनिमहं तस्याचक्षत मामिति ॥ ४७ ॥

'भाइयो ! इस आश्रममें महात्मा भृगुके शिष्य कौन-कौन हैं ? मैं महर्षिका दर्शन करना चाहता हूँ। आपलोग उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ४७ ॥

स तं विदित्वा तु भृगुर्निश्चक्रामाश्रमात् तदा ।
पूजयामास च ततो विधिना नृपसत्तमम् ॥ ४८ ॥

प्रतर्दनको आया जान भृगुजी आश्रमसे निकले। उन्होंने नृपश्रेष्ठ प्रतर्दनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥

उवाच चैनं राजेन्द्र किं कार्यं ब्रूहि पार्थिव ।
स चोवाच नृपस्तस्मै यदागमनकारणम् ॥ ४९ ॥

और इस प्रकार पूछा—'राजेन्द्र ! पृथ्वीनाथ ! मुझसे आपका क्या काम है, बताइये।' तब राजाने उनसे अपने आगमनका जो कारण था, उसे इस प्रकार बताया ॥ ४९ ॥

राजोवाच

अयं ब्रह्मन्नितो राजा वीतहव्यो विसर्ज्यताम् ।
तस्य पुत्रैर्हि मे कृत्स्नो ब्रह्मन् वंशः प्रणाशितः॥ ५० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! राजा वीतहव्यको आप यहाँसे बार निकाल दीजिये। विप्रवर ! इनके पुत्रोंने मेरे सम्पूर्ण कुलका विनाश कर डाला है ॥ ५० ॥

उत्सादितश्च विषयः काशीनां रत्नसंचयः ।
एतस्य वीर्यदृप्तस्य हतं पुत्रशतं मया ॥ ५१ ॥
अस्येदानीं वधादद्य भविष्याम्यनृणः पितुः ।

इतना ही नहीं, उनके पुत्रोंने काशिप्रान्तका सारा राज्य उजाड़ डाला और रत्नोंका संग्रह लूट लिया है। बलके घमंडमें भरे हुए इन राजाके सौ पुत्रोंको तो मैंने मार डाला; अब केवल ये ही रह गये हैं। इस समय इनका भी वध करके मैं पिताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा ॥ ५१½ ॥

तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः ॥ ५२ ॥
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः ।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुने दयासे द्रवित होकर उनसे कहा—'राजन् ! यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है। ये सब-के-सब ब्राह्मण हैं' ॥ ५२½ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः ॥ ५३ ॥
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ।
एवमप्यस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः ॥ ५४ ॥

महर्षि भृगुका यह यथार्थ वचन सुनकर प्रतर्दन बहुत प्रसन्न हुआ और धीरेसे उनके दोनों चरण छूकर बोला—'भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मैं कृतकृत्य हो गया, इसमें संशय नहीं है ॥ ५३-५४ ॥

य एष राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया ।
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् ध्यायस्व च शिवेन माम् ॥ ५५ ॥

'क्योंकि इन राजाको मैंने अपने पराक्रमसे अपनी जाति त्याग देनेके लिये विवश कर दिया। ब्रह्मन् ! मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरा कल्याण-चिन्तन कीजिये ॥ ५५ ॥

त्याजितो हि मया जातिमेष राजा भृगूद्वह ।
ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः ॥ ५६ ॥
यथागतं महाराज मुक्त्वा विषमिवोरगः ।

भृगुवंशी महर्षे ! मैंने इन राजासे अपनी जातिका त्याग करवा दिया।' महाराज! तदनन्तर महर्षिकी आज्ञा लेकर राजा प्रतर्दन जैसे साँप अपने विषको त्याग देता है, उसी प्रकार क्रोध छोड़कर जैसे आया था, वैसे लौट गया ॥ ५६½ ॥

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ॥ ५७ ॥
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ।

नरेश्वर ! इस प्रकार राजा वीतहव्य भृगुजीके कथनमात्रसे ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मवादी हो गये ॥ ५७½ ॥

तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ५८ ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत् ।

उनके पुत्र गृत्समद हुए, जो रूपमें दूसरे इन्द्रके समान थे। कहते हैं, किसी समय दैत्योंने उन्हें यह कहते हुए पकड़ लिया था कि 'तुम इन्द्र हो' ॥ ५८½ ॥

ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणैः स महीयते ।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत् ॥ ६० ॥

ऋग्वेदमें महामना गृत्समदकी श्रेष्ठ श्रुति विद्यमान है। राजन् ! वहाँ ब्राह्मणलोग गृत्समदका बड़ा सम्मान करते हैं। ब्रह्मर्षि गृत्समद बड़े तेजस्वी और ब्रह्मचारी थे ॥ ५९-६० ॥

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुचेता अभवद् द्विजः ।
वर्चाः सुचेतसः पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः ॥ ६१ ॥

गृत्समदके पुत्र सुचेता नामके ब्राह्मण हुए। सुचेताके पुत्र वर्चा और वर्चाके पुत्र विहव्य हुए ॥ ६१ ॥

विहव्यस्य तु पुत्रस्तु वितत्यस्तस्य चात्मजः ।
वितत्यस्य सुतः सत्यः संतः सत्यस्य चात्मजः ॥ ६२ ॥

विहव्यके पुत्रका नाम वितत्य था। वितत्यके पुत्र सत्य और सत्यके पुत्र सन्त हुए ॥ ६२ ॥

श्रवास्तस्य सुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत् तमः ।
तमसश्च प्रकाशोऽभूत् तनयो द्विजसत्तमः ।
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः ॥ ६३ ॥

सन्तके पुत्र महर्षि श्रवा, श्रवाके तम और तमके पुत्र द्विजश्रेष्ठ प्रकाश हुए। प्रकाशका पुत्र विजयशीलोंमें श्रेष्ठ वागिन्द्र था ॥ ६३ ॥

तस्यात्मजश्च प्रमितिर्वेदवेदाङ्गपारगः ।
घृताच्यां तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत ॥ ६४ ॥

वागिन्द्रके पुत्र प्रमिति हुए, जो वेदों और वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे। प्रमितिके घृताची अप्सरासे रुरुनामक पुत्र हुआ ॥ ६४ ॥

प्रमद्वरायां तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत ।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ॥ ६५ ॥

रुरुसे प्रमद्वराके गर्भसे ब्रह्मर्षि शुनकका जन्म हुआ, जिनके पुत्र शौनक मुनि हैं ॥ ६५ ॥

एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः ।
भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! इस प्रकार राजा वीतहव्य क्षत्रिय होकर भी भृगुके प्रसादसे ब्राह्मण हो गये ॥ ६६ ॥

तथैव कथितो वंशो मया गार्त्समदस्तव ।
विस्तरेण महाराज किमन्यदनुपृच्छसि ॥ ६७ ॥

महाराज ! इसी तरह मैंने गृत्समदके वंशका भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अब और क्या पूछ रहे हो ? ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि वीतहव्योपाख्यानं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वीतहव्यका उपाख्याननामक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पूजनीय पुरुषोंके लक्षण तथा उनके आदर-सत्कार और पूजनसे प्राप्त होनेवाले लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! इन तीनों लोकोंमें कौन-कौन-से मनुष्य पूज्य होते हैं ? यह विस्तारपूर्वक बताइये। आपकी बातें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान् नमस्यसि ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवर्षि नारदजी हाथ जोड़कर उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा कर रहे थे । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'भगवन् ! आप किनको नमस्कार कर रहे हैं ?' ॥ ३ ॥

बहुमानपरस्तेषु भगवन् यान् नमस्यसि ।
शक्यं चेच्छ्रोतुमस्माभिर्ब्रूह्येतद् धर्मवित्तम ॥ ४ ॥

'प्रभो ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नारदजी ! आपके हृदयमें जिनके प्रति बहुत बड़ा आदर है तथा आप भी जिनके सामने मस्तक झुकाते हैं, वे कौन हैं ? यदि हमें सुनाना उचित समझें तो आप उन पूज्य पुरुषोंका परिचय दीजिये' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—शत्रुमर्दन गोविन्द ! मैं जिनका पूजन करता हूँ, उनका परिचय सुननेके लिये इस संसारमें आपसे बढ़कर दूसरा कौन पुरुष अधिकारी है ? ॥ ५ ॥

वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥ ६ ॥
वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान् नमस्याम्यहं विभो ॥ ७ ॥

जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि, रुद्र, स्वामी कार्तिकेय, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, बृहस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी और सरस्वतीको सदा प्रणाम करते हैं, प्रभो ! मैं उन्हीं पूज्य पुरुषोंको मस्तक झुकाता हूँ ॥ ६-७ ॥

तपोधनान् वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान् वृष्णिशार्दूल सदा सम्पूजयाम्यहम् ॥ ८ ॥

वृष्णिसिंह ! तपस्या ही जिनका धन है, जो वेदोंके ज्ञाता तथा वेदोक्त धर्मका ही आश्रय लेनेवाले हैं, उन परम पूजनीय पुरुषोंकी ही मैं सदा पूजा करता रहता हूँ ॥ ८ ॥

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
संतुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान् नमस्याम्यहं विभो॥ ९ ॥

प्रभो ! जो भोजनसे पहले देवताओंकी पूजा करते, अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते, संतुष्ट रहते और क्षमाशील होते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

सम्यग् यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान् नमस्यामि यादव॥ १० ॥

यदुनन्दन ! जो विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय और मनको वशमें करनेवाले हैं और सत्य, धर्म, पृथ्वी तथा गौओंकी पूजा करते हैं, उन्हींको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ ११ ॥

यादव ! जो लोग वनमें फल-मूल खाकर तपस्यामें लगे रहते हैं, किसी प्रकारका संग्रह नहीं रखते और क्रियानिष्ठ होते हैं, उन्हींको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ ११ ॥

ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान् नमस्यामि यादव ॥ १२ ॥

जो माता-पिता, कुटुम्बीजन एवं सेवक आदि भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने सदा अतिथिसेवाका व्रत ले रखा है तथा जो देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको ही भोजन करते हैं, मैं उन्हींके सामने नतमस्तक होता हूँ ॥ १२ ॥

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम्॥ १३ ॥

जो वेदका अध्ययन करके दुर्धर्ष और बोलनेमें कुशल हो गये हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और यज्ञ कराने तथा वेद पढ़ानेमें लगे रहते हैं, उनकी मैं सदा पूजा किया करता हूँ ॥ १३ ॥

प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः ।
आपृष्ठतापात् स्वाध्याये युक्तास्तान् पूजयाम्यहम्॥१४॥

जो नित्य-निरन्तर समस्त प्राणियोंपर प्रसन्नचित्त रहते और सबेरेसे दोपहरतक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, उनका मैं पूजन करता हूँ ॥ १४ ॥

गुरुप्रसादे स्वाध्याये यतन्तो ये स्थिरव्रताः ।
शुश्रूषवोऽनसूयन्तस्तान् नमस्यामि यादव ॥ १५ ॥

यदुकुलतिलक ! जो गुरुको प्रसन्न रखने और स्वाध्याय करनेके लिये सदा यत्नशील रहते हैं, जिनका व्रत कभी भंग नहीं होने पाता, जो गुरुजनोंकी सेवा करते और किसीके भी दोष नहीं देखते, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

सुव्रता मुनयो ये च ब्राह्मणाः सत्यसंगराः ।
वोढारो हव्यकव्यानां तान् नमस्यामि यादव ॥ १६ ॥

यदुनन्दन ! जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, मनन-शील, सत्यप्रतिज्ञ तथा हव्य-कव्यको नियमितरूपसे चलानेवाले ब्राह्मण हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ १६ ॥

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये तु तान् नमस्यामि यादव ॥ १७ ॥

यदुकुलभूषण ! जो गुरुकुलमें रहकर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हैं, तपस्यासे जिनका शरीर दुर्बल हो गया है

और जो कभी धन तथा सुखकी चिन्ता नहीं करते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

निर्ममा निष्प्रतिद्वन्द्वा निर्ह्रीका निष्प्रयोजनाः।
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मवादिनः ॥ १८ ॥
अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः।
दान्ताः शमपराश्चैव तान् नमस्यामि केशव ॥ १९ ॥

केशव ! जिनके मनमें ममता नहीं है, जो प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित, लज्जासे ऊपर उठे हुए तथा कहीं भी कोई प्रयोजन न रखनेवाले हैं, जो वेदोंके ज्ञानका बल पाकर दुर्धर्ष हो गये हैं, प्रवचन-कुशल और ब्रह्मवादी हैं, जिन्होंने अहिंसामें तत्पर रहकर सदा सत्य बोलनेका व्रत ले रखा है तथा जो इन्द्रिय-संयम एवं मनोनिग्रहके साधनमें संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८-१९ ॥

देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान् नमस्यामि यादव ॥ २० ॥

यादव ! जो गृहस्थ ब्राह्मण सदा कपोतवृत्तिसे रहते हुए देवता और अतिथियोंकी पूजामें संलग्न रहते हैं, उनको मैं मस्तक झुकाता हूँ ॥ २० ॥

येषां त्रिवर्गः कृत्येषु वर्तते नोपहीयते।
शिष्टाचारप्रवृत्ताश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २१ ॥

जिनके कार्योंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका निर्वाह होता है, किसी एककी भी हानि नहीं होने पाती तथा जो सदा शिष्टाचारमें ही संलग्न रहते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥

ब्राह्मणाः श्रुतसम्पन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान् नमस्यामि केशव॥ २२ ॥

केशव ! जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न, धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले, लोलुपतासे रहित और स्वभावतः पुण्यात्मा हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च सुधाभक्षाश्च ये सदा।
व्रतैश्च विविधैर्युक्तास्तान् नमस्यामि माधव ॥ २३ ॥

माधव ! जो नाना प्रकारके व्रतोंका पालन करते हुए केवल पानी या हवा पीकर ही रह जाते हैं तथा जो सदा यज्ञशेष अन्नका ही भोजन करते हैं, उनके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २३ ॥

अयोनीनग्नियोनींश्च ब्रह्मयोनींस्तथैव च।
सर्वभूतात्मयोनींश्च तान् नमस्याम्यहं सदा ॥ २४ ॥

जो स्त्री नहीं रखते अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, जो अग्निहोत्रसे युक्त हैं तथा जो वेदोंको धारण करनेवाले हैं और समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्माको ही सबका कारण माननेवाले हैं, उनकी मैं सदा वन्दना करता हूँ ॥

नित्यमेतान् नमस्यामि कृष्ण लोककरानृषीन्।
लोकज्येष्ठान् कुलज्येष्ठांस्तमोघ्नाँल्लोकभास्करान् ॥२५॥

श्रीकृष्ण ! जो लोकोंकी सृष्टि करनेवाले, संसारमें सबसे श्रेष्ठ, उत्तम कुलमें उत्पन्न, अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाले तथा सूर्यके समान जगत्को ज्ञानालोक प्रदान करनेवाले हैं, उन ऋषियोंको मैं सदा मस्तक झुकाता हूँ ॥ २५ ॥

तस्मात् त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ॥ २६ ॥

वार्ष्णेय ! अतः आप भी सदा ब्राह्मणोंका पूजन करें। निष्पाप श्रीकृष्ण ! वे पूजनीय ब्राह्मण पूजित होनेपर आपको अपने आशीर्वादसे सुख प्रदान करेंगे ॥ २६ ॥

अस्मिँल्लोके सदा ह्येते परत्र च सुखप्रदाः।
चरन्ते मान्यमाना वै प्रदास्यन्ति सुखं तव ॥ २७ ॥

ये ब्राह्मण सदा इहलोक और परलोकमें भी सुख प्रदान करते हुए विचरते हैं। ये सम्मानित होनेपर आपको अवश्य ही सुख प्रदान करेंगे ॥ २७ ॥

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥

जो सबका अतिथि सत्कार करते तथा गौ-ब्राह्मण और सत्यपर प्रेम रखते हैं, वे बड़े-बड़े संकटसे पार हो जाते हैं ॥

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो सदा मनको वशमें रखते, किसीके दोषपर दृष्टि नहीं डालते और प्रतिदिन स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं वेदमाश्रिताः।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३० ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते हैं, एकमात्र वेदका आश्रय लेते, श्रद्धा रखते और इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, वे भी दुस्तर संकटसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

तथैव विप्रप्रवरान् नमस्कृत्य यतव्रताः।
भवन्ति ये दानरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार जो नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करते हैं और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उन्हें दान देते हैं, वे दुस्तर विपत्ति लाँघ जाते हैं ॥ ३१ ॥

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३२ ॥

जो तपस्वी, आबालब्रह्मचारी और तपस्यासे शुद्ध अन्तः-करणवाले हैं, वे दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चार्चने रताः।
शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३३ ॥

जो देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहते हैं और यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करते हैं, वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

अग्निमाधाय विधिवत् प्रणता धारयन्ति ये।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३४ ॥

जो विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके सदा अग्निदेवकी उपासना और वन्दना करते हुए सर्वदा उस अग्निकी रक्षा करते हैं तथा उसमें सोमरसकी आहुति देते हैं, वे दुस्तर विपत्तिसे पार हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग् वर्तन्ति ये सदा।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥ ३५ ॥

वृष्णिसिंह ! जो आपकी ही भाँति माता-पिता और गुरुके प्रति पूर्णतः न्याययुक्त बर्ताव करते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं—ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये ॥ ३५ ॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन्।
सम्यक् पूजयसे नित्यं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ ३६ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! यदि तुम भी सदा देवताओं, पितरों, ब्राह्मणों और अतिथियोंका भलीभाँति पूजन एवं सत्कार करते रहोगे तो अभीष्ट गति प्राप्त कर लोगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कृष्णनारदसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

राजर्षि वृषदर्भ (या उशीनर) के द्वारा शरणागत कपोतकी रक्षा तथा उस पुण्यके प्रभावसे अक्षयलोककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि धर्मं भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह ! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः भरतसत्तम ! मैं आपसे ही धर्मविषयक उपदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम्।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब यह बतानेकी कृपा कीजिये कि जो लोग शरणमें आए हुए अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, उनको वास्तवमें क्या फल मिलता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ, महायशस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! शरणागतकी रक्षा करनेसे जो महान् फल प्राप्त होता है, उसके विषयमें तुम यह एक प्राचीन इतिहास सुनो ॥

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, एक बाज किसी सुन्दर कबूतरको मार रहा था। वह कबूतर बाजके डरसे भागकर महाभाग राजा वृषदर्भ (उशीनर) की शरणमें गया ॥ ४ ॥

स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम्।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज॥ ५ ॥

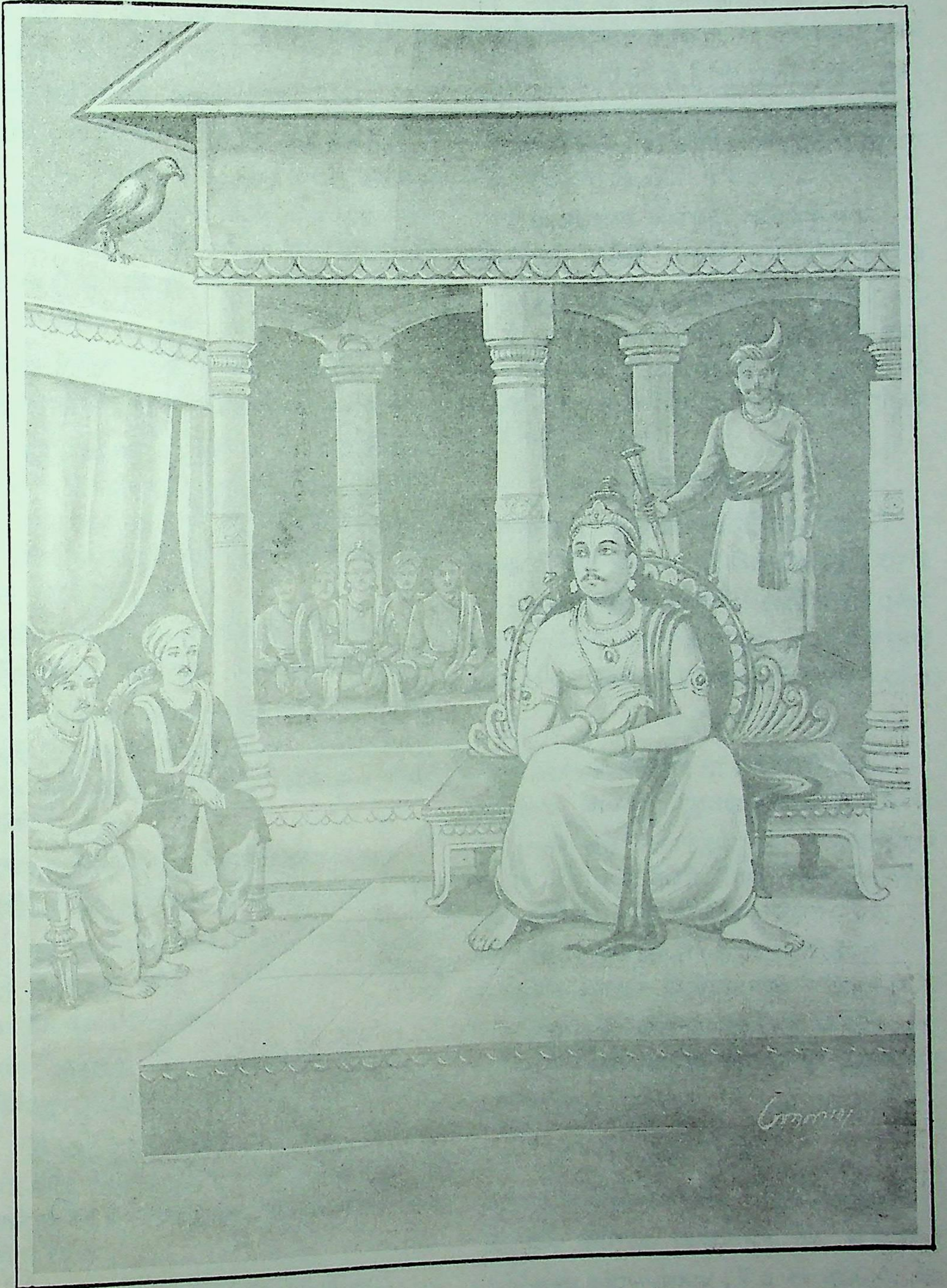
भयके मारे अपनी गोदमें आये हुए उस कबूतरको देखकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले राजा उशीनरने उस पक्षीको आश्वासन देकर कहा—'अण्डज ! शान्त रह। यहाँ तुझे कोई भय नहीं है ॥ ५ ॥

भयं ते सुमहत् कस्मात् कुत्र किं वा कृतं त्वया।
येन त्वमिह सम्प्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥ ६ ॥

'बता, तुझे यह महान् भय कहाँ और किससे प्राप्त हुआ है ? तूने क्या अपराध किया है ? जिससे तेरी चेतना भ्रान्त-सी हो रही है तथा तू यहाँ बेसुध-सा होकर आया है ॥ ६ ॥

नवनीलोत्पलापीडचारुवर्ण सुदर्शन।
दाडिमाशोकपुष्पाक्ष मा त्रसस्वाभयं तव ॥ ७ ॥

'नूतन नील-कमलके हारकी भाँति तेरी मनोहर कान्ति है। तू देखनेमें बड़ा सुन्दर है। तेरी आँखें अनार और अशोकके फूलोंकी भाँति लाल हैं। तू भयभीत न हो। मैं तुझे अभय दान देता हूँ ॥ ७ ॥



भयभीत कबूतर महाराज शिबिकी गोदमें

मत्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित् समुत्सहेत् ।
मनसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥ ८ ॥

'अब तू मेरे पास आ गया है; अतः रक्षाध्यक्षके सामने है । यहाँ तुझे कोई मनसे भी पकड़नेका साहस नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

काशिराज्यं तदद्यैव त्वदर्थं जीवितं तथा ।
त्यजेयं भव विश्रब्धः कपोत न भयं तव ॥ ९ ॥

'कबूतर ! आज ही मैं तेरी रक्षाके लिये यह काशिराज्य अर्थात् प्रकाशमान उशीनर देशका राज्य तथा अपना जीवन भी निछावर कर दूँगा । तू इस बातपर विश्वास करके निश्चिन्त हो जा । अब तुझे कोई भय नहीं है' ॥ ९ ॥

श्येन उवाच

ममैतद् विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि ।
अतिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ॥ १० ॥

इतनेहीमें बाज भी वहाँ आ गया और बोला— राजन् ! विधाताने इस कबूतरको मेरा भोजन नियत किया है । आप इसकी रक्षा न करें । इसका जीवन गया हुआ ही है; क्योंकि अब यह मुझे मिल गया है । इसे मैंने बड़े प्रयत्नसे प्राप्त किया है ॥ १० ॥

मांसं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मे हितम् ।
परितोषकरो ह्येष मम मास्याग्रतो भव ॥ ११ ॥

इसके रक्त, मांस, मज्जा और मेदा सभी मेरे लिये हितकर हैं । यह कबूतर मेरी क्षुधा मिटाकर मुझे पूर्णतः तृप्त कर देगा; अतः आप इस मेरे आहारके आगे आकर विघ्न न डालिये ॥ ११ ॥

तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम् ।
मुञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन् मन्दयितुं क्षुधाम् ॥ १२ ॥

मुझे बड़े जोरकी प्यास सता रही है । भूखकी ज्वाला मुझे दग्ध-सा किये देती है । राजन् ! उसे छोड़ दीजिये । मैं अपनी भूखको दबा नहीं सकूँगा ॥ १२ ॥

मया ह्यनुसृतो ह्येष मत्पक्षनखविक्षतः ।
किंचिदुच्छ्वासनिःश्वासं न राजन् गोप्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

मैं बड़ी दूरसे इसके पीछे पड़ा हुआ हूँ । यह मेरे पंखों और पंजोंसे घायल हो चुका है । अब इसकी कुछ-कुछ साँस बाकी रह गयी है । राजन् ! ऐसी दशामें आप इसकी रक्षा न करें ॥ १३ ॥

यदि स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम् ।
खेचरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ नरेश्वर ! अपने देशमें रहनेवाले मनुष्योंकी ही रक्षा करनेके लिये आप राजा बनाये गये हैं । भूख-प्याससे पीड़ित हुए पक्षीके आप स्वामी नहीं हैं ॥ १४ ॥

यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः ।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ॥ १५ ॥

यदि आपमें शक्ति है तो वैरियों, सेवकों, स्वजनों, वादी-प्रतिवादीके व्यवहारों (मुद्दई-मुद्दालहोंके मामलों) तथा इन्द्रियोंके विषयोंपर पराक्रम प्रकट कीजिये । आकाशमें रहनेवालोंपर अपने बलका प्रयोग न कीजिये ॥ १५ ॥

प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते ।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ॥ १६ ॥

जो लोग आपकी आज्ञाभङ्ग करनेवाले शत्रुकोटिके अन्तर्गत हैं, उनपर पराक्रम करके अपनी प्रभुता प्रकट करना आपके लिये उचित हो सकता है । यदि धर्मके लिये आप यहाँ कबूतरकी रक्षा करते हों तो मुझ भूखे पक्षीपर भी आपको दृष्टि डालनी चाहिये ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वा श्येनस्य तद् वाक्यं राजर्षिर्विस्मयं गतः ।
सम्भाव्य चैनं तद्वाक्यं तदर्थी प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! बाजकी यह बात सुनकर राजर्षि उशीनरको बड़ा विस्मय हुआ । वे उसके कथनकी प्रशंसा करके कपोतकी रक्षाके लिये इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

राजोवाच

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ॥ १८ ॥

राजाने कहा—बाज ! तुम चाहो तो तुम्हारी भूख मिटानेके लिये आज तुम्हारे भोजनके निमित्त बैल, भैंसा, सूअर अथवा मृग प्रस्तुत कर दिया जाय ॥ १८ ॥

शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ॥ १९ ॥

विहंगम ! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा व्रत है । देखो, यह पक्षी भयके मारे मेरे अङ्गोंको छोड़ नहीं रहा है ॥ १९ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न चान्यान् विविधान् द्विजान् ।
भक्षयामि महाराज किमन्याद्येन तेन मे ॥ २० ॥

बाजने कहा—महाराज ! मैं न तो सूअर, न बैल और न दूसरे ही नाना प्रकारके पक्षियोंका मांस खाऊँगा । जो दूसरोंका भोजन है, उसे लेकर मैं क्या करूँगा ॥ २० ॥

यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ॥ २१ ॥

साक्षात् देवताओंने सनातनकालसे मेरे लिये जो खाद्य नियत कर दिया है, वही मुझे मिलना चाहिये। प्राचीनकालसे लोग इस बातको जानते हैं कि बाज कबूतर खाते हैं ॥ २१ ॥

उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २२ ॥

निष्पाप महाराज उशीनर! यदि आपको इस कबूतरपर बड़ा स्नेह है तो आप मुझे इसके बराबर अपना ही मांस तराजूपर तौलकर दे दीजिये ॥ २२ ॥

राजोवाच

महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम्।
बाढमेव करिष्यामीत्युक्त्वासौ राजसत्तमः ॥ २३ ॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत्।

राजाने कहा—'बाज! तुमने ऐसी बात कहकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया। बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा।' यों कहकर नृपश्रेष्ठ उशीनरने अपना मांस काट-काटकर तराजूपर रखना आरम्भ किया ॥ २३½ ॥

अन्तःपुरे ततस्तस्य स्त्रियो रत्नविभूषिताः ॥ २४ ॥
हाहाभूता विनिष्क्रान्ताः श्रुत्वा परमदुःखिताः।

यह समाचार सुनकर अन्तःपुरकी रत्नविभूषित रानियाँ बहुत दुखी हुईं और हाहाकार करती हुई बाहर निकल आयीं ॥ २४½ ॥

तासां रुदितशब्देन मन्त्रिभृत्यजनस्य च ॥ २५ ॥
बभूव सुमहान् नादो मेघगम्भीरनिःस्वनः।

उनके रोनेके शब्दसे तथा मन्त्रियों और भृत्यजनोंके हाहाकारसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥ २५½ ॥

निरुद्धं गगनं सर्वं शुभ्रं मेघैः समन्ततः ॥ २६ ॥
मही प्रचलिता चासीत् तस्य सत्येन कर्मणा।

सारा शुभ्र आकाश सब ओरसे मेघोंद्वारा आच्छादित हो गया। उनके सत्यकर्मके प्रभावसे पृथ्वी काँपने लगी ॥ २६½ ॥

स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥ २७ ॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥ २८ ॥

राजा अपनी पसलियों, भुजाओं और जाँघोंसे मांस काटकर जल्दी-जल्दी तराजू भरने लगे। तथापि वह मांसराशि उस कबूतरके बराबर नहीं हुई ॥ २७-२८ ॥

अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥ २९ ॥

जब राजाके शरीरका मांस चुक गया और रक्तकी धारा बहाता हुआ हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया, तब वे मांस काटनेका काम बंद करके स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ॥ २९ ॥

ततः सेन्द्रास्त्रयो लोकास्तं नरेन्द्रमुपस्थिताः।
भेर्यश्चाकाशगैस्तत्र वादिता देवदुन्दुभिः ॥ ३० ॥

फिर तो इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोकोंके प्राणी उन नरेन्द्रके पास आ पहुँचे। कुछ देवता आकाशमें ही खड़े होकर दुन्दुभियाँ बजाने लगे ॥ ३० ॥

अमृतेनावसिक्तश्च वृषदर्भो नरेश्वरः।
दिव्यैश्च सुसुखैर्माल्यैरभिवृष्टः पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

कुछ देवताओंने राजा वृषदर्भको अमृतसे नहलाया और उनके ऊपर अत्यन्त सुखदायक दिव्य पुष्पोंकी बारंबार वर्षा की ॥ ३१ ॥

देवगन्धर्वसंघातैरप्सरोभिश्च सर्वतः।
नृत्तश्चैवोपगीतश्च पितामह इव प्रभुः ॥ ३२ ॥

देव-गन्धर्वोंके समुदाय और अप्सराएँ सब ओरसे उन्हें घेरकर गाने और नाचने लगीं। वे उनके बीचमें भगवान् ब्रह्माजीके समान शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

हेमप्रासादसम्बाधं मणिकाञ्चनतोरणम्।
स वैदूर्यमणिस्तम्भं विमानं समधिष्ठितः ॥ ३३ ॥

इतनेहीमें एक दिव्य विमान उपस्थित हुआ, जिसमें सुवर्णके महल बने हुए थे, सोने और मणियोंकी बन्दनवारें लगी थीं और वैदूर्यमणिके खम्भे शोभा पा रहे थे ॥ ३३ ॥

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम्।

राजर्षि उशीनर उस विमानमें बैठकर उस पुण्यकर्मके प्रभावसे सनातन दिव्यलोकको प्राप्त हुए ॥ ३३½ ॥

शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता।
दयावान् सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर! तुम भी शरणागतोंके लिये इसी प्रकार अपना सर्वस्व निछावर कर दो। जो मनुष्य अपने भक्त, प्रेमी और शरणागत पुरुषोंकी रक्षा करता है तथा सब प्राणियोंपर दया रखता है, वह परलोकमें सुख पाता है ॥ ३४-३५ ॥

साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति।
किं न प्राप्तं भवेत् तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥ ३६ ॥

जो राजा सदाचारी होकर सबके साथ सद्बर्ताव करता

है, वह अपने निश्छल कर्मसे किस वस्तुको नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ३६ ॥

स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः ।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥ ३७ ॥

सत्य पराक्रमी, धीर और शुद्ध हृदयवाले काशी-नरेश राजर्षि उशीनर अपने पुण्यकर्मसे तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये ॥ ३७ ॥

योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम् ।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि दूसरा कोई भी पुरुष इसी प्रकार शरणागतकी रक्षा करेगा तो वह भी उसी गतिको प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥

इदं वृत्तं हि राजर्षेर्वृषदर्भस्य कीर्तयन् ।
पूतात्मा वै भवेल्लोके शृणुयाद् यश्च नित्यशः ॥ ३९ ॥

राजर्षि वृषदर्भ (उशीनर) के इस चरित्रका जो सदा श्रवण और वर्णन करता है, वह संसारमें पुण्यात्मा होता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्येनकपोतसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बाज और कबूतरका संवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥



त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणके महत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किं राज्ञः सर्वकृत्यानां गरीयः स्यात् पितामह ।
कुर्वन् किं कर्म नृपतिरुभौ लोकौ समश्नुते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके सम्पूर्ण कृत्योंमें किसका महत्त्व सबसे अधिक है ? किस कर्मका अनुष्ठान करनेवाला राजा इसलोक और परलोक दोनोंमें सुखी होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

एतद् राज्ञः कृत्यतममभिषिक्तस्य भारत ।
ब्राह्मणानामनुष्ठानमत्यन्तं सुखमिच्छता ॥ २ ॥
कर्तव्यं पार्थिवेन्द्रेण तथैव भरतर्षभ ।

भीष्मजीने कहा—भारत ! राजसिंहासनपर अभिषिक्त होकर राज्यशासन करनेवाले राजाका सबसे प्रधान कर्तव्य यही है कि वह ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करे । भरतश्रेष्ठ ! अक्षय सुखकी इच्छा रखनेवाले नरेशको ऐसा ही करना चाहिये ॥

श्रोत्रियान् ब्राह्मणान् वृद्धान् नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ ३ ॥
पौरजानपदांश्चापि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् ।
सान्त्वेन भोगदानेन नमस्कारैस्तथार्चयेत् ॥ ४ ॥

राजा वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा बड़े-बूढ़ोंका सदा ही आदर करे । नगर और जनपदमें रहनेवाले बहुश्रुत ब्राह्मणोंको मधुर वचन बोलकर, उत्तम भोग प्रदानकर तथा सादर शीश झुकाकर सम्मानित करे ॥ ३-४ ॥

एतत् कृत्यतमं राज्ञो नित्यमेवोपलक्षयेत् ।
यथाऽऽत्मानं यथा पुत्रांस्तथैतान् प्रतिपालयेत् ॥ ५ ॥

राजा जिस प्रकार अपनी तथा अपने पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन ब्राह्मणोंकी भी करे । यही राजाका प्रधान कर्तव्य है, जिसपर उसे सदा ही दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ५ ॥

ये चाप्येषां पूज्यतमास्तान् दृढं प्रतिपूजयेत् ।
तेषु शान्तेषु तद् राष्ट्रं सर्वमेव विराजते ॥ ६ ॥

जो इन ब्राह्मणोंके भी पूजनीय हों, उन पुरुषोंका भी सुस्थिर चित्तसे पूजन करे; क्योंकि उनके शान्त रहनेपर ही सारा राष्ट्र शान्त एवं सुखी रह सकता है ॥ ६ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या मान्यास्ते पितरो यथा ।
तेष्वेव यात्रा लोकानां भूतानामिव वासवे ॥ ७ ॥

राजाके लिये ब्राह्मण ही पिताकी भाँति पूजनीय, वन्दनीय और माननीय है । जैसे प्राणियोंका जीवन वर्षा करनेवाले इन्द्रपर निर्भर है, उसी प्रकार जगत्की जीवन-यात्रा ब्राह्मणोंपर ही अवलम्बित है ॥ ७ ॥

अभिचारैरुपायैश्च दहेयुरपि चेतसा ।
निःशेषं कुपिताः कुर्युरुग्राः सत्यपराक्रमाः ॥ ८ ॥

ये सत्य-पराक्रमी ब्राह्मण जब कुपित होकर उग्ररूप धारण कर लेते हैं, उस समय अभिचार या अन्य उपायोंद्वारा संकल्पमात्रसे अपने विरोधियोंको भस्म कर सकते हैं और

उनका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ ८ ॥

नान्तमेषां प्रपश्यामि न दिशश्चाप्यपावृताः ।
कुपिताः समुदीक्षन्ते दावेष्वग्निशिखा इव ॥ ९ ॥

मुझे इनका अन्त दिखायी नहीं देता । इनके लिये किसी भी दिशाका द्वार बंद नहीं है । ये जिस समय क्रोधमें भर जाते हैं, उस समय दावानलकी लपटोंके समान हो जाते हैं और वैसी ही दाहक दृष्टिसे देखने लगते हैं ॥ ९ ॥

बिभ्यत्येषां साहसिका गुणास्तेषामतीव हि ।
कूपा इव तृणच्छन्ना विशुद्धा द्यौरिवापरे ॥ १० ॥

बड़े-बड़े साहसी भी इनसे भय मानते हैं; क्योंकि इनके भीतर गुण ही अधिक होते हैं । इन ब्राह्मणोंमेंसे कुछ तो घास-फूससे ढके हुए कूपकी तरह अपने तेजको छिपाये रखते हैं और कुछ निर्मल आकाशकी भाँति प्रकाशित होते रहते हैं ॥ १० ॥

प्रसह्यकारिणः केचित् कार्पासमृदवो परे ।
(मान्यास्तेषां साधवो ये न निन्द्याश्चाप्यसाधवः ।)
सन्ति चैषामतिशठास्तथैवान्ये तपस्विनः ॥ ११ ॥

कुछ हठी होते हैं और कुछ रूईकी तरह कोमल । इनमें जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उनका सम्मान करना चाहिये; परंतु जो श्रेष्ठ न हों, उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । इन ब्राह्मणोंमें कुछ तो अत्यन्त शठ होते हैं और दूसरे महान् तपस्वी ॥ ११ ॥

कृषिगोरक्ष्यमप्येके भैक्ष्यमन्येऽप्यनुष्ठिताः ।
चौराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तकाः ॥ १२ ॥

कोई-कोई ब्राह्मण खेती और गोरक्षासे जीवन चलाते हैं, कोई भिक्षापर जीवन-निर्वाह करते हैं, कितने ही चोरी करते हैं, कोई झूठ बोलते हैं और दूसरे कितने ही नटोंका तथा नाचनेका कार्य करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वकर्मसहाश्चान्ये पार्थिवेष्वितरेषु च ।
विविधाकारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कितने ही ब्राह्मण राजाओं तथा अन्य लोगोंके यहाँ सब प्रकारके कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और अनेक ब्राह्मण नाना प्रकारके आकार धारण करते हैं ॥ १३ ॥

नानाकर्मसु रक्तानां बहुकर्मोपजीविनाम् ।
धर्मज्ञानां सतां तेषां नित्यमेवानुकीर्तयेत् ॥ १४ ॥

नाना प्रकारके कर्मोंमें संलग्न तथा अनेक कर्मोंसे जीविका चलानेवाले उन धर्मज्ञ एवं सत्पुरुष ब्राह्मणोंका सदा ही गुण गाना चाहिये ॥ १४ ॥

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! प्राचीनकालसे ही ये महाभाग ब्राह्मणलोग देवता, पितर, मनुष्य, नाग और राक्षसोंके पूजनीय हैं ॥ १५ ॥

नैते देवैर्न पितृभिर्न गन्धर्वैर्न राक्षसैः ।
नासुरैर्न पिशाचैश्च शक्या जेतुं द्विजातयः ॥ १६ ॥

ये द्विज न तो देवताओं, न पितरों, न गन्धर्वों, न राक्षसों, न असुरों और न पिशाचोंद्वारा ही जीते जा सकते हैं ॥ १६ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
यमिच्छेयुः स राजा स्याद् यो नेष्टः स पराभवेत् ॥ १७ ॥

ये चाहें तो जो देवता नहीं है, उसे देवता बना दें और जो देवता हैं, उन्हें भी देवत्वसे गिरा दें । ये जिसे राजा बनाना चाहें, वही राजा रह सकता है । जिसे राजाके रूपमें ये न देखना चाहें, उसका पराभव हो जाता है ॥ १७ ॥

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः ॥ १८ ॥

राजन् ! मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि जो मूढ़ मानव ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

निन्दाप्रशंसाकुशलाः कीर्त्यकीर्तिपरायणाः ।
परिकुप्यन्ति ते राजन् सततं द्विषतां द्विजाः ॥ १९ ॥

निन्दा और प्रशंसामें निपुण तथा लोगोंके यश और अपयशको बढ़ानेमें तत्पर रहनेवाले द्विज अपने प्रति सदा द्वेष रखनेवालोंपर कुपित हो उठते हैं ॥ १९ ॥

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते ।
ब्राह्मणैर्यः पराकृष्टः पराभूयात् क्षणाद्धि सः ॥ २० ॥

ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस पुरुषका अभ्युदय होता है और जिसको वे शाप देते हैं, उसका एक क्षणमें पराभव हो जाता है ॥ २० ॥

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ २१ ॥

शक, यवन और काम्बोज आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय ही थीं; किंतु ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टिसे वञ्चित होनेके कारण उन्हें वृषल (शूद्र एवं म्लेच्छ) होना पड़ा ॥ २१ ॥

द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।

कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥ २२ ॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।
श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥ २३ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! द्राविड़, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प और माहिषक आदि क्षत्रिय जातियाँ भी ब्राह्मणोंकी कृपादृष्टि न मिलनेसे ही शूद्र हो गयीं । ब्राह्मणोंसे हार मान लेनेमें ही कल्याण है, उन्हें हराना अच्छा नहीं है ॥ २२-२३ ॥

यस्तु सर्वमिदं हन्याद् ब्राह्मणं च न तत्समम् ।
ब्रह्मवध्या महान् दोष इत्याहुः परमर्षयः ॥ २४ ॥

जो इस सम्पूर्ण जगत्को मार डाले तथा जो ब्राह्मणका वध करे, उन दोनोंका पाप समान नहीं है । महर्षियोंका कहना है कि ब्रह्महत्या महान् दोष है ॥ २४ ॥

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन ।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा ॥ २५ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा किसी तरह नहीं सुननी चाहिये । जहाँ उनकी निन्दा होती हो, वहाँ नीचे मुँह करके चुपचाप बैठे रहना या वहाँसे उठकर चल देना चाहिये ॥ २५ ॥

न स जातोऽजनिष्यद् वा पृथिव्यामिह कश्चन ।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ २६ ॥

इस पृथ्वीपर ऐसा कोई मनुष्य न तो पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ही, जो ब्राह्मणके साथ विरोध करके सुखपूर्वक जीवित रहनेका साहस करे ॥ २६ ॥

दुर्ग्राह्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी राजन् दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! हवाको मुट्ठीमें पकड़ना, चन्द्रमाको हाथसे छूना और पृथ्वीको उठा लेना जैसे अत्यन्त कठिन काम है, उसी तरह इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंको जीतना दुष्कर है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसा नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसा नामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर २७½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सततं भृशं सम्परिपूजयेत् ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणोंका सदा ही भलीभाँति पूजन करना चाहिये । चन्द्रमा इनके राजा हैं । ये मनुष्यको सुख और दुःख देनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

एते भोगैरलङ्कारैरन्यैश्चैव किमिच्छकैः ।
सदा पूज्या नमस्कारै रक्ष्याश्च पितृवन्नृपैः ॥ २ ॥
ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात् ।

राजाओंको चाहिये कि वे उत्तम भोग, आभूषण तथा पूछकर प्रस्तुत किये गये दूसरे मनोवाञ्छित पदार्थ देकर नमस्कार आदिके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करें और पिताके समान उनके पालन-पोषणका ध्यान रखें । तभी इन ब्राह्मणोंसे राष्ट्रमें शान्ति रह सकती है । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रसे वृष्टि प्राप्त होनेपर समस्त प्राणियोंको सुख-शान्ति मिलती है ॥

जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः ॥ ३ ॥
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः ।

सबको यह इच्छा करनी चाहिये कि राष्ट्रमें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हो और शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियकी उत्पत्ति हो ॥ ३½ ॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
वासयेत गृहे राजन् न तस्मात् परमस्ति वै ।

राजन् ! विशुद्ध जातिसे युक्त तथा तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ ब्राह्मणको अपने घरमें ठहराना चाहिये । इससे बढ़कर दूसरा कोई पुण्यकर्म नहीं है ॥ ४½ ॥

ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्तं प्रतिगृह्णन्ति देवताः ॥ ५ ॥
पितरः सर्वभूतानां नैतेभ्यो विद्यते परम् ।

ब्राह्मणोंको जो हविष्य अर्पित किया जाता है, उसे देवता ग्रहण करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके पिता हैं । इनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ ५½ ॥

आदित्यश्चन्द्रमा वायुरापो भूरम्बरं दिशः ॥ ६ ॥
सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदान्नमुपभुञ्जते ।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश और दिशा—इन सबके अधिष्ठाता देवता सदा ब्राह्मणके शरीरमें प्रवेश करके अन्न भोजन करते हैं ॥ ६½ ॥

न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते ॥ ७ ॥
देवाश्चाप्यस्य नाश्नन्ति पापस्य ब्राह्मणद्विषः ।

ब्राह्मण जिसका अन्न नहीं खाते, उसके अन्नको पितर भी नहीं स्वीकार करते । उस ब्राह्मणद्रोही पापात्माका अन्न देवता भी नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ७½ ॥

ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा ॥ ८ ॥
तथैव देवता राजन् नात्र कार्या विचारणा ।

राजन् ! यदि ब्राह्मण संतुष्ट हो जायँ तो पितर तथा देवता भी सदा प्रसन्न रहते हैं । इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ८½ ॥

तथैव तेऽपि प्रीयन्ते येषां भवति तद्धविः ॥ ९ ॥
न च प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति च परां गतिम् ।

इसी प्रकार वे यजमान भी प्रसन्न होते हैं, जिनकी दी हुई हवि ब्राह्मणोंके उपयोगमें आती है । वे मरनेके बाद नष्ट नहीं होते हैं, उत्तम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९½ ॥

येन येनैव हविषा ब्राह्मणांस्तर्पयेन्नरः ॥ १० ॥
तेन तेनैव प्रीयन्ते पितरो देवतास्तथा ।

मनुष्य जिस-जिस हविष्यसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, उसी-उसीसे देवता और पितर भी तृप्त होते हैं ॥ १०½ ॥

ब्राह्मणादेव तद् भूतं प्रभवन्ति यतः प्रजाः ॥ ११ ॥
यतश्चायं प्रभवति प्रेत्य यत्र च गच्छति ।
वेदैष मार्गं स्वर्गस्य तथैव नरकस्य च ॥ १२ ॥
आगतानागते चोभे ब्राह्मणो द्विपदां वरः ।
ब्राह्मणो भरतश्रेष्ठ स्वधर्मं चैव वेद यः ॥ १३ ॥

जिससे समस्त प्रजा उत्पन्न होती है, वह यज्ञ आदि कर्म ब्राह्मणोंसे ही सम्पन्न होता है । जीव जहाँसे उत्पन्न होता है और मृत्युके पश्चात् जहाँ जाता है, उस तत्त्वको, स्वर्ग और नरकके मार्गको तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको ब्राह्मण ही जानता है । ब्राह्मण मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ है । भरतश्रेष्ठ ! जो अपने धर्मको जानता है और उसका पालन करता है, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ११–१३ ॥

ये चैनमनुवर्तन्ते ते न यान्ति पराभवम् ।
न ते प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति न पराभवम् ॥ १४ ॥

जो लोग ब्राह्मणोंका अनुसरण करते हैं, उनकी कभी पराजय नहीं होती तथा मृत्युके पश्चात् उनका पतन नहीं होता । वे अपमानको भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

यद् ब्राह्मणमुखात् प्राप्तं प्रतिगृह्णन्ति वै वचः ।
भूतात्मानो महात्मानस्ते न यान्ति पराभवम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मणके मुखसे जो वाणी निकलती है, उसे जो शिरोधार्य करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंको आत्मभावसे देखनेवाले महात्मा कभी पराभवको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च बलानि च ॥ १६ ॥

अपने तेज और बलसे तपते हुए क्षत्रियोंके तेज और बल ब्राह्मणोंके सामने आनेपर ही शान्त होते हैं ॥ १६ ॥

भृगवस्तालजंघांश्च नीपानाङ्गिरसोऽजयन् ।
भरद्वाजो वैहतव्यानैलांश्च भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भृगुवंशी ब्राह्मणोंने तालजङ्घोंको, अङ्गिराकी संतानोंने नीपवंशी राजाओंको तथा भरद्वाजने हैहयोंको और इलाके पुत्रोंको पराजित किया था ॥ १७ ॥

चित्रायुधांश्चाप्यजयन्नेते कृष्णाजिनध्वजाः ।
प्रक्षिप्याथ च कुम्भान् वै पारगामिनमारभेत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियोंके पास अनेक प्रकारके विचित्र आयुध थे तो भी कृष्णमृगचर्म धारण करनेवाले इन ब्राह्मणोंने उन्हें हरा दिया । क्षत्रियको चाहिये कि ब्राह्मणोंको जलपूर्ण कलश दान करके पारलौकिक कार्य आरम्भ करे ॥ १८ ॥

यत् किंचित् कथ्यते लोके श्रूयते पठ्यतेऽपि वा ।
सर्वं तद् ब्राह्मणेष्वेव गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १९ ॥

संसारमें जो कुछ कहा-सुना या पढ़ा जाता है, वह सब काठमें छिपी हुई आगकी तरह ब्राह्मणोंमें ही स्थित है ॥१९॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य पृथिव्याश्च भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस विषयमें जानकार लोग भगवान् श्रीकृष्ण और पृथ्वीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

मातरं सर्वभूतानां पृच्छे त्वां संशयं शुभे ।
केनस्वित् कर्मणा पापं व्यपोहति नरो गृही ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—शुभे ! तुम सम्पूर्ण भूतोंकी माता



पृथ्वी और श्रीकृष्णका संवाद

हो, इसलिये मैं तुमसे एक संदेह पूछ रहा हूँ । गृहस्थ मनुष्य किस कर्मके अनुष्ठानसे अपने पापका नाश कर सकता है ? ॥

पृथिव्युवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ।
ब्राह्मणान् सेवमानस्य रजः सर्वं प्रणश्यति ।
अतो भूतिरतः कीर्तिरतो बुद्धिः प्रजायते ॥ २२ ॥

पृथ्वीने कहा—भगवन् ! इसके लिये मनुष्यको ब्राह्मणोंकी ही सेवा करनी चाहिये । यही सबसे पवित्र और उत्तम कार्य है । ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाले पुरुषका समस्त रजोगुण नष्ट हो जाता है । इसीसे ऐश्वर्य, इसीसे कीर्ति और इसीसे उत्तम बुद्धि भी प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः ।
इति मां नारदः प्राह सततं सर्वभूतये ॥ २३ ॥

सदा सब प्रकारकी समृद्धिके लिये नारदजीने मुझसे कहा कि शत्रुओंको संताप देनेवाले महारथी क्षत्रियके उत्पन्न होनेकी कामना करनी चाहिये ॥ २३ ॥

ब्राह्मणं जातिसम्पन्नं धर्मज्ञं संशितं शुचिम् ।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव येऽपरे ॥ २४ ॥
ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति स मनुष्यः प्रवर्धते ।
अथ यो ब्राह्मणान् क्रुष्टः पराभवति सोऽचिरात्॥ २५ ॥

उत्तम जातिसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तथा पवित्र ब्राह्मणके उत्पन्न होनेकी भी इच्छा रखनी चाहिये । छोटे-बड़े सब लोगोंसे जो बड़े हैं, उनसे भी ब्राह्मण बड़े माने गये हैं । ऐसे ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस मनुष्यकी वृद्धि होती है और जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, वह शीघ्र ही पराभवको प्राप्त होता है ॥ २४-२५ ॥

यथा महार्णवे क्षिप्त आमलोष्टो विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं पराभावाय कल्पते ॥ २६ ॥

जैसे महासागरमें फेंका हुआ कच्ची मिट्टीका ढेला तुरंत गल जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंका सङ्ग प्राप्त होते ही सारा दुष्कर्म नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रो लवणोदकः ।
तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः ॥ २७ ॥
तेषामेव प्रभावेण सहस्रनयनो ह्यसौ ।
शतक्रतुः समभवत् पश्य माधव यादृशम् ॥ २८ ॥

माधव ! देखिये, ब्राह्मणोंका कैसा प्रभाव है, उन्होंने चन्द्रमामें कलङ्क लगा दिया, समुद्रका पानी खारा बना दिया तथा देवराज इन्द्रके शरीरमें एक हजार भगके चिह्न उत्पन्न कर दिये और फिर उन्हींके प्रभावसे वे भग नेत्रके रूपमें परिणत हो गये; जिनके कारण शतक्रतु इन्द्र 'सहस्राक्ष' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २७-२८ ॥

इच्छन् कीर्तिं च भूतिं च लोकांश्च मधुसूदन ।
ब्राह्मणानुमते तिष्ठेत् पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ २९ ॥

मधुसूदन ! जो कीर्ति, ऐश्वर्य और उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहता हो, वह मनको वशमें रखनेवाला पवित्र पुरुष ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहे ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा मेदिन्या मधुसूदनः ।
साधु साध्विति कौरव्य मेदिनीं प्रत्यपूजयत् ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! पृथ्वीके ये वचन सुनकर भगवान् मधुसूदनने कहा, 'वाह-वाह, तुमने बहुत अच्छी बात बतायी ।' ऐसा कहकर उन्होंने भूदेवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३० ॥

एतां श्रुत्वोपमां पार्थ प्रयतो ब्राह्मणर्षभान् ।
सततं पूजयेथास्त्वं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस दृष्टान्त एवं ब्राह्मण-माहात्म्यको सुनकर तुम सदा पवित्रभावसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन करते रहो । इससे तुम कल्याणके भागी होओगे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पृथ्वीवासुदेवसंवादे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पृथ्वी और वासुदेवका संवादविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा ब्राह्मणोंकी महत्ताका वर्णन

भीष्म उवाच

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण जन्मसे ही महान्

भाग्यशाली, समस्त प्राणियोंका वन्दनीय, अतिथि और प्रथम भोजन पानेका अधिकारी है ॥ १ ॥

सर्वार्थाः सुहृदस्तात ब्राह्मणाः सुमनामुखाः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरनुध्यायन्ति पूजिताः ॥ २ ॥

तात ! ब्राह्मण सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले, सबके सुहृद् तथा देवताओंके मुख हैं । वे पूजित होनेपर अपनी मङ्गलयुक्त वाणीसे आशीर्वाद देकर मनुष्यके कल्याणका चिन्तन करते हैं ॥ २ ॥

सर्वान्नो द्विषतस्तात ब्राह्मणा जातमन्यवः ।
गीर्भिर्दारुणयुक्ताभिरभिहन्युरपूजिताः ॥ ३ ॥

तात ! हमारे शत्रुओंके द्वारा पूजित न होनेपर उनके प्रति कुपित हुए ब्राह्मण उन सबको अभिशापयुक्त कठोर वाणीद्वारा नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः पुरागीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
सृष्ट्वा द्विजातीन् धाता हि यथापूर्वं समादधत् ॥ ४ ॥
न चान्यदिह कर्तव्यं किञ्चिदूर्ध्वं यथाविधि ।
गुप्तो गोपायते ब्रह्मा श्रेयो वस्तेन शोभनम् ॥ ५ ॥

इस विषयमें पुराणवेत्ता पुरुष पहलेकी गायी हुई कुछ गाथाओंका वर्णन करते हैं—प्रजापतिने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको पूर्ववत् उत्पन्न करके उनको समझाया, 'तुमलोगोंके लिये विधिपूर्वक स्वधर्मपालन और ब्राह्मणोंकी सेवाके सिवा और कोई कर्तव्य नहीं है । ब्राह्मणकी रक्षा की जाय तो वह स्वयं भी अपने रक्षककी रक्षा करता है; अतः ब्राह्मणकी सेवासे तुमलोगोंका परम कल्याण होगा ॥ ४-५ ॥

स्वमेव कुर्वतां कर्म श्रीर्वो ब्राह्मी भविष्यति ।
प्रमाणं सर्वभूतानां प्रग्रहाश्च भविष्यथ ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणकी रक्षारूप अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही तुम लोगोंको ब्राह्मी लक्ष्मी प्राप्त होगी । तुम सम्पूर्ण भूतोंके लिये प्रमाणभूत तथा उनको वशमें करनेवाले बन जाओगे ॥ ६ ॥

न शौद्रं कर्म कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
शौद्रं हि कुर्वतः कर्म धर्मः समुपरुध्यते ॥ ७ ॥

'विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रोचित कर्म नहीं करना चाहिये । शूद्रके कर्म करनेसे उसका धर्म नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

श्रीश्च बुद्धिश्च तेजश्च विभूतिश्च प्रतापिनी ।
स्वाध्याये चैव माहात्म्यं विपुलं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

'स्वधर्मका पालन करनेसे लक्ष्मी, बुद्धि, तेज और प्रतापयुक्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है तथा स्वाध्यायका अत्यधिक माहात्म्य उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

हुत्वा चाहवनीयस्थं महाभाग्ये प्रतिष्ठिताः ।
अग्रभोज्याः प्रसूतीनां श्रिया ब्राह्म्यानुकल्पिताः ॥ ९ ॥

'ब्राह्मण आहवनीय अग्निमें स्थित देवतागणोंको हवनसे तृप्त करके महान् सौभाग्यपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होते हैं । वे ब्राह्मी विद्यासे उत्तम पात्र बनकर बालकोंसे भी पहले भोजन पानेके अधिकारी होते हैं ॥ ९ ॥

श्रद्धया परया युक्ता ह्यनभिद्रोहलब्धया ।
दमस्वाध्यायनिरताः सर्वान् कामानवाप्स्यथ ॥ १० ॥

'द्विजगण ! यदि तुमलोग किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करनेके कारण प्राप्त हुई परम श्रद्धासे सम्पन्न हो इन्द्रियसंयम और स्वाध्यायमें लगे रहोगे तो सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लोगे ॥ १० ॥

यच्चैव मानुषे लोके यच्च देवेषु किञ्चन ।
सर्वं तु तपसा साध्यं ज्ञानेन नियमेन च ॥ ११ ॥

'मनुष्यलोकमें तथा देवलोकमें जो कुछ भी भोग्य वस्तुएँ हैं, वे सब ज्ञान, नियम और तपस्यासे प्राप्त होनेवाली हैं ॥

(युष्मत्सम्माननात् प्रीतिं पावनाः क्षत्रियाः श्रियम् ।
अमुत्रेह समायान्ति वैश्यशूद्रादिकास्तथा ॥
अरक्षिताश्च युष्माभिर्विरुद्धा यान्ति विप्लवम् ।
युष्मत्तेजोधृता लोकास्तद् रक्षथ जगत्त्रयम् ॥)

'आपलोगोंके समादरसे पवित्र हुए क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि प्राणी इहलोक और परलोकमें भी प्रीति एवं सम्पत्ति पाते हैं । जो आपके विरोधी हैं, वे आपसे अरक्षित होनेके कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । आपके तेजसे ही ये सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं; अतः आप तीनों लोकोंकी रक्षा करें' ॥

इत्येवं ब्रह्मगीतास्ते समाख्याता मयानघ ।
विप्राणामनुकम्पार्थं तेन प्रोक्तं हि धीमता ॥ १२ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथा मैंने तुम्हें बतायी है । उन परम बुद्धिमान् धाताने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये ही ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

भूयस्तेषां बलं मन्ये यथा राज्ञस्तपस्विनः ।
दुरासदाश्च चण्डाश्च रभसाः क्षिप्रकारिणः ॥ १३ ॥

मैं ब्राह्मणोंका बल तपस्वी राजाके समान बहुत बड़ा मानता हूँ । वे दुर्जय, प्रचण्ड, वेगशाली और शीघ्रकारी होते हैं ॥ १३

सन्त्येषां सिंहसत्त्वाश्च व्याघ्रसत्त्वास्तथापरे ।
वराहमृगसत्त्वाश्च जलसत्त्वास्तथापरे ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंमें कुछ सिंहके समान शक्तिशाली होते हैं और कुछ व्याघ्रके समान। कितनोंकी शक्ति बाराह और मृगके समान होती है। कितने ही जल-जन्तुओंके समान होते हैं ॥ १४ ॥

सर्पस्पर्शसमाः केचित् तथान्ये मकरस्पृशः।
विभाष्यघातिनः केचित् तथा चक्षुर्हणोऽपरे ॥ १५ ॥

किन्हींका स्पर्श सर्पके समान होता है तो किन्हींका घड़ियालों-के समान। कोई शाप देकर मारते हैं तो कोई क्रोधभरी दृष्टिसे देखकर ही भस्म कर देते हैं ॥ १५ ॥

सन्ति चाशीविषसमाः सन्ति मन्दास्तथापरे।
विविधानीह वृत्तानि ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

कुछ ब्राह्मण विषधर सर्पके समान भयंकर होते हैं और कुछ मन्द स्वभावके भी होते हैं। युधिष्ठिर ! इस जगत्‌में ब्राह्मणोंके स्वभाव और आचार-व्यवहार अनेक प्रकारके हैं ॥ १६ ॥

मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः कान्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥ १७ ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥ १८ ॥

मेकल, द्राविड़, लाट, पौण्ड्र, कान्वशिरा, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर, किरात और यवन—ये सब पहले क्षत्रिय थे; किंतु ब्राह्मणोंके साथ ईर्ष्या करनेसे नीच हो गये ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां परिभवादसुराः सलिलेशयाः।
ब्राह्मणानां प्रसादाच्च देवाः स्वर्गनिवासिनः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंके तिरस्कारसे ही असुरोंको समुद्रमें रहना पड़ा और ब्राह्मणोंके कृपाप्रसादसे देवता स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥ १९ ॥

अशक्यं स्प्रष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान् गिरिः।
अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २० ॥

जैसे आकाशको छूना, हिमालयको विचलित करना और बाँध बाँधकर गङ्गाके प्रवाहको रोक देना असम्भव है, उसी प्रकार इस भूतलपर ब्राह्मणोंको जीतना सर्वथा असम्भव है ॥ २० ॥

न ब्राह्मणविरोधेन शक्या शास्तुं वसुन्धरा।
ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥ २१ ॥

ब्राह्मणोंसे विरोध करके भूमण्डलका राज्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि महात्मा ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं ॥ २१ ॥

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! यदि तुम इस समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य भोगना चाहते हो तो दान और सेवाके द्वारा सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करते रहो ॥ २२ ॥

प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ।
प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ॥ २३ ॥

निष्पाप नरेश ! दान लेनेसे ब्राह्मणोंका तेज शान्त हो जाता है; इसलिये जो दान नहीं लेना चाहते, उन ब्राह्मणोंसे तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके दो श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

षट्‌त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणकी प्रशंसाके विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवाद

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शक्रशम्बरसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें इन्द्र और शम्बरासुरके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, इसे सुनो ॥ १ ॥

शक्रो ह्यज्ञातरूपेण जटी भूत्वा रजोगुणः।
विरूपं रथमास्थाय प्रश्नं पप्रच्छ शम्बरम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, देवराज इन्द्र अज्ञातरूपसे रजोगुणसम्पन्न जटाधारी तपस्वी बनकर एक बेडौल रथपर सवार हो शम्बरासुरके पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उससे पूछा ॥ २ ॥

शक्र उवाच

केन शम्बर वृत्तेन स्वजात्यानधितिष्ठसि।
श्रेष्ठं त्वां केन मन्यन्ते तद् वै प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—शम्बरासुर! किस बर्तावसे अपनी जातिवालोंपर शासन करते हो? वे किस कारण तुम्हें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं? यह ठीक-ठीक बतलाओ ॥ ३ ॥

शम्बर उवाच

नासूयामि यदा विप्रान् ब्राह्ममेव च मे मतम्।
शास्त्राणि वदतो विप्रान् सम्मन्यामि यथासुखम् ॥ ४ ॥

शम्बरासुरने कहा—मैं ब्राह्मणोंमें कभी दोष नहीं देखता। उनके मतको ही अपना मत समझता हूँ और शास्त्रोंकी बात बतानेवाले विप्रोंका सदा सम्मान करता हूँ—उन्हें यथासाध्य सुख देनेकी चेष्टा करता हूँ ॥ ४ ॥

श्रुत्वा च नावजानामि नापराध्यामि कर्हिचित्।
अभ्यर्च्याभ्यनुपृच्छामि पादौ गृह्णामि धीमताम् ॥५॥

सुनकर उनके वचनोंकी अवहेलना नहीं करता। कभी उनका अपराध नहीं करता। उनकी पूजा करके कुशल पूछता हूँ और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके पाँव पकड़ता हूँ ॥ ५ ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते सम्पृच्छन्ते च मां सदा।
प्रमत्तेष्वप्रमत्तोऽस्मि सदा सुप्तेषु जागृमि ॥ ६ ॥

ब्राह्मण भी अत्यन्त विश्वस्त होकर मेरे साथ बातचीत करते और मेरी कुशल पूछते हैं। ब्राह्मणोंके असावधान रहनेपर भी मैं सदा सावधान रहता हूँ। उनके सोते रहनेपर भी मैं जागता रहता हूँ ॥ ६ ॥

ते मां शास्त्रपथे युक्तं ब्रह्मण्यमनसूयकम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ॥ ७ ॥

मुझे शास्त्रीय मार्गपर चलनेवाला, ब्राह्मणभक्त तथा अदोषदर्शी जानकर वे उपदेशक ब्राह्मण मुझे उसी प्रकार सदुपदेशके अमृतसे सींचते रहते हैं, जैसे मधुमक्खियाँ मधुके छत्तेको ॥ ७ ॥

यच्च भाषन्ति संतुष्टास्तच्च गृह्णामि मेधया।
समाधिमात्मनो नित्यमनुलोममचिन्तयम् ॥ ८ ॥

संतुष्ट होकर वे मुझसे जो कुछ कहते हैं, उसे मैं अपनी बुद्धिके द्वारा ग्रहण करता हूँ। सदा ब्राह्मणोंमें अपनी निष्ठा बनाये रखता हूँ और नित्यप्रति उनके अनुकूल विचार रखता हूँ ॥ ८ ॥

सोऽहं वागग्रमृष्टानां रसानामवलेहकः।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

उनकी वाणीसे जो उपदेशका मधुर रस प्रवाहित होता है, उसका मैं आस्वादन करता रहता हूँ; इसीलिये नक्षत्रोंपर चन्द्रमाकी भाँति मैं अपनी जातिवालोंपर शासन करता हूँ ॥ ९ ॥

एतत् पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम्।
यद् ब्राह्मणमुखाच्छास्त्रमिह श्रुत्वा प्रवर्तते ॥ १० ॥

ब्राह्मणके मुखसे शास्त्रका उपदेश सुनकर इस जीवनमें उसके अनुसार बर्ताव करना ही पृथ्वीपर सर्वोत्तम अमृत और सर्वोत्तम दृष्टि है ॥ १० ॥

एतत् कारणमाज्ञाय दृष्ट्वा देवासुरं पुरा।
युद्धं पिता मे हृष्टात्मा विस्मितः समपद्यत ॥ ११ ॥

इस कारणको जानकर अर्थात् ब्राह्मणके उपदेशके अनुसार चलना ही अमृत है—इस बातको भलीभाँति समझकर पूर्वकालमें देवासुरसंग्रामको उपस्थित हुआ देख मेरे पिता मन-ही-मन प्रसन्न और विस्मित हुए थे ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा च ब्राह्मणानां तु महिमानं महात्मनाम्।
पर्यपृच्छत् कथममी सिद्धा इति निशाकरम् ॥ १२ ॥

महात्मा ब्राह्मणोंकी इस महिमाको देखकर उन्होंने चन्द्रमासे पूछा—'निशाकर! इन ब्राह्मणोंको किस प्रकार सिद्धि प्राप्त हुई?' ॥ १२ ॥

सोम उवाच

ब्राह्मणास्तपसा सर्वे सिध्यन्ते वाग्बलाः सदा।
भुजवीर्याश्च राजानो वागस्त्राश्च द्विजातयः ॥ १३ ॥

चन्द्रमाने कहा—दानवराज! सम्पूर्ण ब्राह्मण तपस्यासे ही सिद्ध हुए हैं। इनका बल सदा इनकी वाणीमें ही होता है। राजाओंका बल उनकी भुजाएँ हैं और ब्राह्मणोंका बल उनकी वाणी ॥ १३ ॥

प्रणवं चाप्यधीयीत ब्राह्मीर्दुर्वसतीर्वसन्।
निर्मन्युरपि निर्वाणो यदि स्यात् समदर्शनः ॥ १४ ॥

पहले गुरुके घरमें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्लेशसहनपूर्वक निवास करके प्रणवसहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। फिर अन्तमें क्रोध त्यागकर शान्तभावसे संन्यास

ग्रहण करना चाहिये। यदि संन्यासी हो तो सर्वत्र समान दृष्टि रखे ॥ १४ ॥

अपि च ज्ञानसम्पन्नः सर्वान् वेदान् पितुर्गृहे।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ १५ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंको पिताके घरमें रहकर पढ़ता है, वह ज्ञानसम्पन्न और प्रशंसनीय होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा ग्रामीण (गँवार) ही समझा जाता है। (वास्तवमें गुरुके घरमें क्लेश-सहनपूर्वक रहकर वेद पढ़नेवाला ही श्रेष्ठ है) ॥ १५ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १६ ॥

जैसे साँप बिलमें रहनेवाले छोटे जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार युद्ध न करनेवाले क्षत्रिय और विद्याके लिये प्रवास न करनेवाले ब्राह्मणको यह पृथ्वी निगल जाती है ॥ १६ ॥

अभिमानः श्रियं हन्ति पुरुषस्याल्पमेधसः।
गर्भेण दुष्यते कन्या गृहवासेन च द्विजः ॥ १७ ॥

मन्दबुद्धि पुरुषके भीतर जो अभिमान होता है, वह उसकी लक्ष्मीका नाश करता है। गर्भ धारण करनेसे कन्या दूषित हो जाती है और सदा घरमें रहनेसे ब्राह्मण दूषित समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

(विद्याविदो लोकविदः तपोबलसमन्विताः।
नित्यपूज्याश्च वन्द्याश्च द्विजा लोकद्वयेच्छुभिः ॥)

जो इहलोक और परलोक दोनोंको सुधारना चाहते हों, उन्हें विद्वान्, लौकिक बातोंके ज्ञाता, तपस्वी और शक्तिशाली ब्राह्मणोंकी सदा पूजा और वन्दना करनी चाहिये ॥

इत्येतन्मे पिता श्रुत्वा सोमादद्भुतदर्शनात्।
ब्राह्मणान् पूजयामास तथैवाहं महाव्रतान् ॥ १८ ॥

अद्भुत दर्शनवाले चन्द्रमासे यह बात सुनकर मेरे पिताजीने महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंका पूजन किया। वैसे ही मैं भी करता हूँ ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम्।
द्विजान् सम्पूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! दानवराज शम्बरके मुखसे यह वचन सुनकर इन्द्रने ब्राह्मणोंका पूजन किया, इससे उन्हें महेन्द्रपदकी प्राप्ति हुई ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायामिन्द्रशम्बरसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें इन्द्र और शम्बरासुरका संवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २० श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

दानपात्रकी परीक्षा

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वश्च भवेत् पात्रमथवापि चिरोषितः।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! दानका पात्र कौन होता है? अपरिचित पुरुष या बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हुआ पुरुष अथवा किसी दूर देशसे आया हुआ मनुष्य? इनमेंसे किसको दानका उत्तम पात्र समझना चाहिये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम्।
यो यो याचेत यत् किञ्चित् सर्वं दद्याम इत्यपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! कितने ही याचकोंका तो यज्ञ, गुरुदक्षिणा या कुटुम्बका भरण-पोषण आदि कार्य ही मनोरथ होता है और किन्हींका उत्तम मौनव्रतसे रहकर निर्वाह करना प्रयोजन होता है। इनमेंसे जो-जो याचक जिस किसी वस्तुकी याचना करे, उन सबके लिये यही कहना चाहिये कि 'हम देंगे' (किसीको निराश नहीं करना चाहिये) ॥ २ ॥

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम।
पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥ ३ ॥

परंतु हमने सुना है कि 'जिनके भरण-पोषणका अपने ऊपर भार है, उस समुदायको कष्ट दिये बिना ही दाताको दान करना चाहिये। जो पोष्यवर्गको कष्ट देकर या भूखे मारकर दान करता है, वह अपने आपको नीचे गिराता है' ॥ ३ ॥

अपूर्वं भावयेत् पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम्।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥

इस दृष्टिसे विचार करनेपर जो पहलेसे परिचित नहीं है या जो चिरकालसे साथ रह चुका है, अथवा जो दूर देशसे आया हुआ है—इन तीनोंको ही विद्वान् पुरुष दान-पात्र समझते हैं ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा।
पात्रं विद्यात् तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसी प्राणीको पीड़ा न दी जाय और धर्ममें भी बाधा न आने पाये, इस प्रकार दान देना उचित है; परंतु पात्रकी यथार्थ पहचान कैसे हो ? जिससे दिया हुआ दान पीछे संतापका कारण न बने ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसम्बन्धिबान्धवाः।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, विद्वान् और दोष-दृष्टिसे रहित पुरुष—ये सभी पूजनीय और माननीय हैं ॥ ६ ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम्।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान् प्रणिधाय वै ॥ ७ ॥

इनसे भिन्न प्रकारके तथा भिन्न बर्तावबाले जो लोग हैं, वे सब सत्कारके पात्र नहीं हैं; अतः एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सुपात्र पुरुषोंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥

भारत ! क्रोधका अभाव, सत्य-भाषण, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, सरलता, द्रोहहीनता, अभिमानशून्यता, लज्जा, सहनशीलता, दम और मनोनिग्रह—ये गुण जिनमें स्वभावतः दिखायी दें और धर्मविरुद्ध कार्य दृष्टिगोचर न हों, वे ही दानके उत्तम पात्र और सम्मानके अधिकारी हैं ॥ ८-९ ॥

तथा चिरोषितं चापि सम्प्रत्यागतमेव च।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥ १० ॥

जो पुरुष बहुत दिनोंतक अपने साथ रहा हो, एवं जो कहींसे तत्काल आया हो, वह पहलेका परिचित हो या अपरिचित, वह दानका पात्र और सम्मानका अधिकारी है ॥ १० ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥ ११ ॥

वेदोंको अप्रामाणिक मानना, शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था फैलाना—ये सब अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

भवेत् पण्डितमानी यो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ १२ ॥
हेतुवादान् ब्रुवन् सत्सु विजेताहेतुवादिकः।
आक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि ॥ १३ ॥
सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण अपने पाण्डित्यका अभिमान करके व्यर्थके तर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता है, आन्वीक्षिकी निरर्थक तर्कविद्यामें अनुराग रखता है, सत्पुरुषोंकी सभामें कोरी तर्ककी बातें कहकर विजय पाता, शास्त्रानुकूल युक्तियोंका प्रतिपादन नहीं करता, जोर-जोरसे हल्ला मचाता और ब्राह्मणोंके प्रति सदा अतिवाद (अमर्यादित वचन) का प्रयोग करता है, जो सबपर संदेह करता है, जो बालकों और मूर्खोंका-सा व्यवहार करता तथा कटुवचन बोलता है, तात ! ऐसे मनुष्यको अस्पृश्य समझना चाहिये । विद्वान् पुरुषोंने ऐसे पुरुषको कुत्ता माना है ॥ १२–१४ ॥

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते।
एवं सम्भाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥ १५ ॥

जैसे कुत्ता भूँकने और काटनेके लिये निकट आ जाता है, उसी प्रकार वह बहस करने और शास्त्रोंका खण्डन करनेके लिये इधर-उधर दौड़ता-फिरता है (ऐसा व्यक्ति दानका पात्र नहीं है) ॥ १५ ॥

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च।
एवं नरो वर्तमानः शाश्वतीर्वर्धते समाः ॥ १६ ॥

मनुष्यको जगत्के व्यवहारपर दृष्टि डालनी चाहिये। धर्म और अपने कल्याणके उपायोंपर भी विचार करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य सदा ही अभ्युदयशील होता है ॥ १६ ॥

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥ १७ ॥
पर्यायेण विशुद्धेन सुविनीतेन कर्मणा।
एवं गृहस्थः कर्माणि कुर्वन् धर्मान्न हीयते ॥ १८ ॥

जो यज्ञ-यागादि करके देवताओंके ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके ऋणसे, श्रेष्ठ पुत्रकी उत्पत्ति तथा श्राद्ध करके पितरोंके ऋणसे, दान देकर ब्राह्मणोंके ऋणसे और आतिथ्य-सत्कार करके अतिथियोंके ऋणसे मुक्त होता है तथा क्रमशः विशुद्ध और विनययुक्त प्रयत्नसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह गृहस्थ कभी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पात्रपरीक्षायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पात्रकी परीक्षाविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

पञ्चचूड़ा अप्सराका नारदजीसे स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन करना

युधिष्ठिर उवाच

स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि श्रोतुं भरतसत्तम।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः॥१॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! मैं स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि सारे दोषोंकी जड़ स्त्रियाँ ही हैं। वे ओछी बुद्धिवाली मानी गयी हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पञ्चचूडया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें देवर्षि नारद-का अप्सरा पञ्चचूड़ाके साथ जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

लोकाननुचरन् सर्वान् देवर्षिर्नारदः पुरा।
ददर्शाप्सरसं ब्राह्मीं पञ्चचूडामनिन्दिताम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है, सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए देवर्षि नारदने एक दिन ब्रह्मलोककी अनिन्द्य सुन्दरी अप्सरा पञ्च-चूड़ाको देखा ॥ ३ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं पप्रच्छाप्सरसं मुनिः।
संशयो हृदि कश्चिन्मे ब्रूहि तन्मे सुमध्यमे ॥ ४ ॥

मनोहर अङ्गोंसे युक्त उस अप्सराको देखकर मुनिने उसके सामने अपना प्रश्न रखा—'सुमध्यमे ! मेरे हृदयमें एक महान् संदेह है। उसके विषयमें मुझे यथार्थ बात बताओ' ॥४॥

भीष्म उवाच

एवमुक्ताथ सा विप्रं प्रत्युवाचाथ नारदम्।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थं मन्यसे च माम् ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीके ऐसा कहनेपर पञ्चचूड़ा अप्सराने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'यदि आप मुझे उस प्रश्नका उत्तर देनेके योग्य मानते हैं और वह बताने योग्य है तो अवश्य बताऊँगी' ॥ ५ ॥

नारद उवाच

न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथंचन।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतुं वरानने॥ ६ ॥

नारदजीने कहा—भद्रे ! मैं तुम्हें ऐसी बात बतानेके लिये नहीं कहूँगा जो कहने योग्य न हो अथवा तुम्हारा विषय न हो। सुमुखि ! मैं तुम्हारे मुँहसे स्त्रियोंके स्वभावका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा।
प्रत्युवाच न शक्ष्यामि स्त्री सती निन्दितुं स्त्रियः॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीका यह वचन सुनकर वह उत्तम अप्सरा बोली—'देवर्षे ! मैं स्त्री होकर स्त्रियोंकी निन्दा नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृशाश्च स्वभावतः।
न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं कार्य ईदृशे ॥ ८ ॥

'संसारमें जैसी स्त्रियाँ हैं और उनके जैसे स्वभाव हैं, वे सब आपको विदित हैं; अतः देवर्षे ! आप मुझे ऐसे कार्यमें न लगावें' ॥ ८ ॥

तामुवाच स देवर्षिः सत्यं वद सुमध्यमे।
मृषावादे भवेद् दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ॥ ९ ॥

तब देवर्षिने उससे कहा—'सुमध्यमे ! तुम सच्ची बात

बताओ। झूठ बोलनेमें दोष लगता है। सच कहनेमें कोई दोष नहीं है' ॥ ९ ॥

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी।
स्त्रीदोषाञ्छाश्वतान् सत्यान् भाषितुं सम्प्रचक्रमे॥१०॥

उनके इस प्रकार समझानेपर उस मनोहर हास्यवाली अप्सराने कहनेके लिये दृढ़ निश्चय करके स्त्रियोंके सच्चे और स्वाभाविक दोषोंको बताना आरम्भ किया ॥ १० ॥

पञ्चचूडोवाच

कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च योषितः।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥ ११ ॥

पञ्चचूड़ा बोली—नारदजी! कुलीन, रूपवती और सनाथ युवतियाँ भी मर्यादाके भीतर नहीं रहती हैं। यह स्त्रियोंका दोष है ॥ ११ ॥

न स्त्रीभ्यः किञ्चिदन्यद् वै पापीयस्तरमस्ति वै।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥ १२ ॥

स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। स्त्रियाँ सारे दोषोंकी जड़ हैं, इस बातको आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ १२ ॥

समाज्ञातानृद्धिमतः प्रतिरूपान् वशे स्थितान्।
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥ १३ ॥

यदि स्त्रियोंको दूसरोंसे मिलनेका अवसर मिल जाय तो वे सद्गुणोंमें विख्यात, धनवान्, अनुपम रूप-सौन्दर्यशाली तथा अपने वशमें रहनेवाले पतियोंकी भी प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं ॥ १३ ॥

असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो।
पापीयसो नरान् यद् वै लज्जां त्यक्त्वा भजामहे॥१४॥

प्रभो! हम स्त्रियोंमें यह सबसे बड़ा पातक है कि हम पापीसे पापी पुरुषोंको भी लाज छोड़कर स्वीकार कर लेती हैं ॥ १४ ॥

स्त्रियं हि यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५ ॥

जो पुरुष किसी स्त्रीको चाहता है, उसके निकटतक पहुँचता है और उसकी थोड़ी-सी सेवा कर देता है, उसीको वे युवतियाँ चाहने लगती हैं ॥ १५ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात् परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १६ ॥

स्त्रियोंमें स्वयं मर्यादाका कोई ध्यान नहीं रहता। जब उनको कोई चाहनेवाला पुरुष न मिले और परिजनोंका भय बना रहे तथा पति पास हों, तभी ये नारियाँ मर्यादाके भीतर रह पाती हैं ॥ १६ ॥

नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि निश्चयः।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १७ ॥

इनके लिये कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो अगम्य हो। उनका किसी अवस्था-विशेषपर भी निश्चय नहीं रहता। कोई रूपवान् हो या कुरूप; पुरुष है—इतना ही समझकर स्त्रियाँ उसका उपभोग करती हैं ॥ १७ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थहेतोः कथंचन।
न ज्ञातिकुलसम्बन्धात् स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १८ ॥

स्त्रियाँ न तो भयसे, न दयासे, न धनके लोभसे और न जाति या कुलके सम्बन्धसे ही पतियोंके पास टिकती हैं ॥

यौवने वर्तमानानां मृष्टाभरणवाससाम्।
नारीणां स्वैरवृत्तीनां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥ १९ ॥

जो जवान हैं, सुन्दर गहने और अच्छे कपड़े पहनती हैं, ऐसी स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके चरित्रको देखकर कितनी ही कुलवती स्त्रियाँ भी वैसी ही बननेकी इच्छा करने लगती हैं ॥ १९ ॥

याश्च शश्वद् बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः।
अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥ २० ॥

जो बहुत सम्मानित और पतिकी प्यारी स्त्रियाँ हैं, जिनकी सदा अच्छी तरह रखवाली की जाती है, वे भी घरमें आने-जानेवाले कुबड़ों, अन्धों, गूँगों और बौनोंके साथ भी फँस जाती हैं ॥ २० ॥

पङ्गुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः।
स्त्रीणामगम्यो लोकेऽस्मिन् नास्ति कश्चिन्महामुने॥२१॥

महामुनि देवर्षे! जो पङ्गु हैं अथवा जो अत्यन्त घृणित मनुष्य हैं, उनमें भी स्त्रियोंकी आसक्ति हो जाती है। इस संसारमें कोई भी पुरुष स्त्रियोंके लिये अगम्य नहीं है ॥२१॥

यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन् कथंचिन्नोपपद्यते।
अप्यन्योन्यं प्रवर्तन्ते न हि तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्! यदि स्त्रियोंको पुरुषकी प्राप्ति किसी प्रकार भी सम्भव न हो और पति भी दूर गये हों तो वे आपसमें ही कृत्रिम उपायोंसे ही मैथुनमें प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ २२ ॥

अलाभात् पुरुषाणां हि भयात् परिजनस्य च।
वधबन्धभयाच्चापि स्वयं गुप्ता भवन्ति ताः ॥ २३ ॥

पुरुषोंके न मिलनेसे, घरके दूसरे लोगोंके भयसे तथा वध और बन्धनके डरसे ही स्त्रियाँ सुरक्षित रहती हैं ॥ २३ ॥

चलस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा ।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥ २४ ॥

स्त्रियोंका स्वभाव चञ्चल होता है। उनका सेवन बहुत ही कठिन काम है। इनका भाव जल्दी किसीके समझमें नहीं आता; ठीक उसी तरह, जैसे विद्वान् पुरुषकी वाणी दुर्बोध होती है ॥ २४ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ २५ ॥

अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती, समुद्र कभी नदियोंसे तृप्त नहीं होता, मृत्यु समस्त प्राणियोंको एक साथ पा जाय तो भी उनसे तृप्त नहीं होती; इसी प्रकार सुन्दर नेत्रोंवाली युवतियाँ पुरुषोंसे कभी तृप्त नहीं होतीं ॥ २५ ॥

इदमन्यच्च देवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥ २६ ॥

देवर्षे ! सम्पूर्ण रमणियोंके सम्बन्धमें दूसरी भी रहस्यकी बात यह है कि किसी मनोरम पुरुषको देखते ही स्त्रीकी योनि गीली हो जाती है ॥ २६ ॥

कामानामपि दातारं कर्तारं मनसां प्रियम् ।
रक्षितारं न मृष्यन्ति स्वभर्तारमलं स्त्रियः ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंके दाता तथा मनचाही करनेवाला पति भी यदि उनकी रक्षामें तत्पर रहनेवाला हो तो वे अपने पतिके शासनको भी सहन नहीं कर सकतीं ॥ २७ ॥

न कामभोगान् विपुलान् नालंकारान् न संश्रयान् ।
तथैव बहु मन्यन्ते यथा रत्यामनुग्रहम् ॥ २८ ॥

वे न तो काम-भोगकी प्रचुर सामग्रीको, न अच्छे-अच्छे गहनोंको और न उत्तम घरोंको ही उतना अधिक महत्त्व देती हैं, जैसा कि रतिके लिये किये गये अनुग्रहको ॥ २८ ॥

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥ २९ ॥

यमराज, वायु, मृत्यु, पाताल, बड़वानल, क्षुरेकी धार, विष, सर्प और अग्नि—ये सब विनाशके हेतु एक तरफ और स्त्रियाँ अकेली एक तरफ बराबर हैं ॥ २९ ॥

यतश्च भूतानि महान्ति पञ्च
यतश्च लोका विहिता विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मिता-
स्तदैव दोषाः प्रमदासु नारद ॥ ३० ॥

नारद ! जहाँसे पाँचों महाभूत उत्पन्न हुए हैं, जहाँसे विधाताने सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है तथा जहाँसे पुरुषों और स्त्रियोंका निर्माण हुआ है, वहींसे स्त्रियोंमें ये दोष भी रचे गये हैं (अर्थात् ये स्त्रियोंके स्वाभाविक दोष हैं) ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चचूडानारदसंवादे
अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पञ्चचूडा और नारदका संवादविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंकी रक्षाके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवा लोके स्त्रीषु सज्जन्त्यभीक्ष्णशः ।
मोहेन परमाविष्टा देवसृष्टेन पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पृथ्वीनाथ ! संसारके ये मनुष्य विधाताद्वारा उत्पन्न किये गये महान् मोहसे आविष्ट हो सदा ही स्त्रियोंमें आसक्त होते हैं ॥ १ ॥

स्त्रियश्च पुरुषेष्वेव प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ।
अत्र मे संशयस्तीव्रो हृदि सम्परिवर्तते ॥ २ ॥

इसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषोंमें ही आसक्त होती हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है और लोग इसके साक्षी हैं। इस बातको लेकर मेरे मनमें भारी संदेह खड़ा हो गया है ॥ २ ॥

कथमासां नराः सङ्गं कुर्वते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो वा केषु रज्यन्ते विरज्यन्ते च ताः पुनः ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन ! पुरुष क्यों इन स्त्रियोंका सङ्ग करते हैं ? अथवा स्त्रियाँ भी किस निमित्तसे पुरुषोंमें अनुरक्त एवं विरक्त होती हैं ॥ ३ ॥

इति ताः पुरुषव्याघ्र कथं शक्यास्तु रक्षितुम् ।
प्रमदाः पुरुषेणेह तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! पुरुष यौवनसे उन्मत्त स्त्रियोंकी रक्षा कैसे कर सकता है ? यह विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

एता हि रममाणास्तु वञ्चयन्तीह मानवान् ।
न चासां मुच्यते कश्चित् पुरुषो हस्तमागतः ॥ ५ ॥

ये रमण करती हुई भी यहाँ पुरुषोंको ठगती रहती हैं । इनके हाथमें आया हुआ कोई भी पुरुष इनसे बचकर नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ।
शम्बरस्य च या माया माया या नमुचेरपि ॥ ६ ॥
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ।

जैसे गौएँ नयी-नयी घास चरती हैं, उसी प्रकार ये नारियाँ नये-नये पुरुषको अपनाती रहती हैं । शम्बरासुरकी जो माया है तथा नमुचि, बलि और कुम्भीनसीकी जो मायाएँ हैं, उन सबको ये युवतियाँ जानती हैं ॥ ६½ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्ति च ॥ ७ ॥
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णते कालयोगतः ।

पुरुषको हँसते देख ये स्त्रियाँ जोर-जोरसे हँसती हैं । उसे रोते देख स्वयं भी फूट-फूटकर रोने लगती हैं और अवसर आनेपर अप्रिय पुरुषको प्रिय वचनोंद्वारा अपना लेती हैं ॥ ७½ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ॥ ८ ॥
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ।

जिस नीतिशास्त्रको शुक्राचार्य जानते हैं, जिसे बृहस्पति जानते हैं, वह भी स्त्रीकी बुद्धिसे बढ़कर नहीं है । ऐसी स्त्रियों-की रक्षा पुरुष कैसे कर सकते हैं ॥ ८½ ॥

अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथानृतम् ॥ ९ ॥
इति यास्ताः कथं वीर संरक्ष्याः पुरुषैरिह ।

वीर ! जिनके झूठको भी सच और सचको भी झूठ बताया गया है, ऐसी स्त्रियोंकी रक्षा पुरुष यहाँ कैसे कर सकते हैं ? ॥ ९½ ॥

स्त्रीणां बुद्ध्यर्थनिष्कर्षादर्थशास्त्राणि शत्रुहन् ॥ १० ॥
बृहस्पतिप्रभृतिभिर्मन्ये सद्भिः कृतानि वै ।

शत्रुघाती नरेश ! मुझे तो ऐसा लगता है कि स्त्रियोंकी बुद्धिमें जो अर्थ भरा है, उसीका निष्कर्ष (सारांश) लेकर बृहस्पति आदि सत्पुरुषोंने नीतिशास्त्रोंकी रचना की है ॥ १०½ ॥

सम्पूज्यमानाः पुरुषैर्विकुर्वन्ति मनो नृप ॥ ११ ॥
अपास्ताश्च तथा राजन् विकुर्वन्ति मनः स्त्रियः ।

नरेश्वर ! पुरुषोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी ये रमणियाँ उनका मन विकृत कर देती हैं और उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी इनके मनमें विकार उत्पन्न कर देती हैं ॥ ११½ ॥

इमाः प्रजा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
सत्कृतासत्कृताश्चापि विकुर्वन्ति मनः सदा ।
कस्ताः शक्तो रक्षितुं स्यादिति मे संशयो महान् ॥ १३ ॥

महाबाहो ! हमने सुन रक्खा है कि ये स्त्रीरूपिणी प्रजाएँ बड़ी धार्मिक होती हैं (जैसा कि सावित्री आदिके जीवनसे प्रत्यक्ष हो चुका है); फिर भी ये स्त्रियाँ सम्मानित हों या असम्मानित, सदा ही पुरुषोंके मनमें विकार उत्पन्न करती रहती हैं । उनकी रक्षा कौन कर सकता है ? यही मेरे मनमें महान् संशय है ॥ १२-१३ ॥

तथा ब्रूहि महाभाग कुरूणां वंशवर्धन ।
यदि शक्या कुरुश्रेष्ठ रक्षा तासां कथंचन ॥
कर्तुं वा कृतपूर्वं वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १४ ॥

महाभाग ! कुरुकुलवर्धन ! कुरुश्रेष्ठ ! यदि किसी प्रकार कभी भी उनकी रक्षा की जा सके तो वह बताइये । यदि किसीने पहले कभी किसी स्त्रीकी रक्षा की हो तो वह कथा भी मुझे विस्तारके साथ बताइये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्त्रीस्वभावकथने
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्त्रियोंके स्वभावका
वर्णनविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

भृगुवंशी विपुलके द्वारा योगबलसे गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश करके उसकी रक्षा करना

भीष्म उवाच

एवमेव महाबाहो नात्र मिथ्यास्ति किंचन।
यथा ब्रवीषि कौरव्य नारीं प्रति जनाधिप॥ १॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो! कुरुनन्दन! ऐसी ही बात है। नरेश्वर! नारियोंके सम्बन्धमें तुम जो कुछ कह रहे हो, उसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है॥ १॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन महात्मना॥ २॥

इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास बताऊँगा कि पूर्वकालमें महात्मा विपुलने किस प्रकार एक स्त्री (गुरुपत्नी) की रक्षा की थी॥ २॥

प्रमदाश्च यथा सृष्टा ब्रह्मणा भरतर्षभ।
यदर्थं तच्च ते तात प्रवक्ष्यामि नराधिप॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! तात! नरेश्वर! ब्रह्माजीने जिस प्रकार और जिस उद्देश्यसे युवतियोंकी सृष्टि की है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा॥ ३॥

न हि स्त्रीभ्यः परं पुत्र पापीयः किंचिदस्ति वै।
अग्निर्हि प्रमदा दीप्तो मायाश्च मयजा विभो॥ ४॥

बेटा! स्त्रियोंसे बढ़कर पापिष्ठ दूसरा कोई नहीं है। यौवन-मदसे उन्मत्त रहनेवाली स्त्रियाँ वास्तवमें प्रज्वलित अग्निके समान हैं। प्रभो! वे मयदानवकी रची हुई माया हैं॥ ४॥

क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः।
प्रजा इमा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम्॥ ५॥
स्वयं गच्छन्ति देवत्वं ततो देवानियाद् भयम्।

छुरेकी धार, विष, सर्प और आग—ये सब विनाशके हेतु एक ओर और तरुणी स्त्रियाँ एक ओर। महाबाहो! पहले यह सारी प्रजा धार्मिक थी। यह हमने सुन रक्खा है। वे प्रजाएँ स्वयं देवत्वको प्राप्त हो जाती थीं। इससे देवताओंको बड़ा भय हुआ॥ ५½॥

अथाभ्यगच्छन् देवास्ते पितामहमरिंदम॥ ६॥
निवेद्य मानसं चापि तूष्णीमासन्नधोमुखाः।

शत्रुदमन! तब वे देवता ब्रह्माजीके पास गये और उनसे अपने मनकी बात निवेदन करके मुँह नीचे किये चुपचाप बैठ गये॥ ६½॥

तेषामन्तर्गतं ज्ञात्वा देवानां स पितामहः॥ ७॥
मानवानां प्रमोहार्थं कृत्या नार्योऽसृजत् प्रभुः।

उन देवताओंके मनकी बात जानकर भगवान् ब्रह्माने मनुष्योंको मोहमें डालनेके लिये कृत्यारूप नारियोंकी सृष्टि की॥ ७½॥

पूर्वसर्गे तु कौन्तेय साध्व्यो नार्य इहाभवन्॥ ८॥
असाध्व्यस्तु समुत्पन्नाः कृत्याः सर्गात् प्रजापतेः।
ताभ्यः कामान् यथाकामं प्रादाद्धि स पितामहः॥ ९॥

कुन्तीनन्दन! सृष्टिके प्रारम्भमें यहाँ सब स्त्रियाँ पतिव्रता ही थीं। कृत्यारूप दुष्ट स्त्रियाँ तो प्रजापतिकी इस नूतन सृष्टिसे ही उत्पन्न हुई हैं। प्रजापतिने उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार कामभाव प्रदान किया॥ ८-९॥

ताः कामलुब्धाः प्रमदाः प्रबाधन्ते नरान् सदा।
क्रोधं कामस्य देवेशः सहायं चासृजत् प्रभुः॥ १०॥
असज्जन्त प्रजाः सर्वाः कामक्रोधवशं गताः।

वे मतवाली युवतियाँ कामलोलुप होकर पुरुषोंको सदा बाधा देती रहती हैं। देवेश्वर भगवान् ब्रह्माने कामकी सहायताके लिये क्रोधको उत्पन्न किया। इन्हीं काम और क्रोधके वशीभूत होकर स्त्री और पुरुषरूप सारी प्रजा परस्पर आसक्त होती है॥ १०½॥

(द्विजानां च गुरूणां च महागुरुनृपादिनाम्।
क्षणात् स्त्रीसङ्गकामोत्था यातनाहो निरन्तरा॥

ब्राह्मण, गुरु, महागुरु और राजा—इन सबको स्त्रीके क्षणिक सङ्गसे निरन्तर कामजनित यातना सहनी पड़ती है॥

अरक्तमनसां नित्यं ब्रह्मचर्यामलात्मनाम्।
तपोदमार्चनध्यानयुक्तानां शुद्धिरुत्तमा॥)

जिनका मन कहीं आसक्त नहीं है, जिन्होंने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने अन्तःकरणको निर्मल बना लिया है तथा जो तपस्या, इन्द्रियसंयम और ध्यान-पूजनमें संलग्न हैं, उन्हींकी उत्तम शुद्धि होती है॥

न च स्त्रीणां क्रियाः काश्चिदिति धर्मो व्यवस्थितः॥ ११॥
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः।
शय्यासनमलंकारमन्नपानमनार्यताम्॥ १२॥
दुर्वाग्भावं रतिं चैव ददौ स्त्रीभ्यः प्रजापतिः।

स्त्रियोंके लिये किन्हीं वैदिक कर्मोंके करनेका विधान नहीं है। यही धर्मशास्त्रकी व्यवस्था है। स्त्रियाँ इन्द्रियशून्य हैं अर्थात् वे अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेमें असमर्थ हैं।

शास्त्रज्ञानसे रहित हैं और असत्यकी मूर्ति हैं। ऐसा उनके विषयमें श्रुतिका कथन है। प्रजापतिने स्त्रियोंको शय्या, आसन, अलंकार, अन्न, पान, अनार्यता, दुर्वचन, प्रियता तथा रति प्रदान की है ॥ ११-१२½ ॥

न तासां रक्षणं शक्यं कर्तुं पुंसा कथंचन ॥ १३ ॥
अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ।

तात! लोकस्रष्टा ब्रह्मा-जैसा पुरुष भी स्त्रियोंकी किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकता, फिर साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या ॥ १३½ ॥

वाचा च वधबन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा ॥ १४ ॥
न शक्या रक्षितुं नार्यस्ता हि नित्यमसंयताः ।

वाणीके द्वारा एवं वध और बन्धनके द्वारा रोककर अथवा नाना प्रकारके क्लेश देकर भी स्त्रियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सदा असंयमशील होती हैं ॥ १४½ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्र पुरस्ताच्छ्रुतवानहम् ॥ १५ ॥
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन गुरुस्त्रियाः ।

पुरुषसिंह! पूर्वकालमें मैंने यह सुना था कि प्राचीनकालमें महात्मा विपुलने अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा की थी। कैसे की? यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १५½ ॥

ऋषिरासीन्महाभागो देवशर्मेति विश्रुतः ॥ १६ ॥
तस्य भार्या रुचिर्नाम रूपेणासदृशी भुवि ।

पहलेकी बात है, देवशर्मा नामके एक महाभाग्यशाली ऋषि थे। उनके रुचि नामवाली एक स्त्री थी, जो इस पृथ्वीपर अद्वितीय सुन्दरी थी ॥ १६½ ॥

तस्या रूपेण सम्मत्ता देवगन्धर्वदानवाः ॥ १७ ॥
विशेषेण तु राजेन्द्र वृत्रहा पाकशासनः ।

उसका रूप देखकर देवता, गन्धर्व और दानव भी मतवाले हो जाते थे। राजेन्द्र! वृत्रासुरका वध करनेवाले पाकशासन इन्द्र उस स्त्रीपर विशेषरूपसे आसक्त थे ॥ १७½ ॥

नारीणां चरितज्ञश्च देवशर्मा महामुनिः ॥ १८ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं भार्यां तामभ्यरक्षत ।

महामुनि देवशर्मा नारियोंके चरित्रको जानते थे; अतः वे यथाशक्ति उत्साहपूर्वक उसकी रक्षा करते थे ॥ १८½ ॥

पुरन्दरं च जानीते परस्त्रीकामचारिणम् ॥ १९ ॥
तस्माद् बलेन भार्याया रक्षणं स चकार ह ।

वे यह भी जानते थे कि इन्द्र बड़ा ही पर-स्त्रीलम्पट है, इसलिये वे अपनी स्त्रीकी उनसे यत्नपूर्वक रक्षा करते थे ॥ १९½ ॥

स कदाचिदृषिस्तात यज्ञं कर्तुमनास्तदा ॥ २० ॥
भार्यासंरक्षणं कार्यं कथं स्यादित्यचिन्तयत् ।

तात! एक समय ऋषिने यज्ञ करनेका विचार किया। उस समय वे यह सोचने लगे कि 'यदि मैं यज्ञमें लग जाऊँ तो मेरी स्त्रीकी रक्षा कैसे होगी' ॥ २०½ ॥

रक्षाविधानं मनसा स संचिन्त्य महातपाः ॥ २१ ॥
आहूय दयितं शिष्यं विपुलं प्राह भार्गवम् ।

फिर उन महातपस्वीने मन-ही-मन उसकी रक्षाका उपाय सोचकर अपने प्रिय शिष्य भृगुवंशी विपुलको बुलाकर कहा ॥

देवशर्मोवाच

यज्ञकारो गमिष्यामि रुचिं चेमां सुरेश्वरः ॥ २२ ॥
यतः प्रार्थयते नित्यं तां रक्षस्व यथाबलम् ।

देवशर्मा बोले—वत्स! मैं यज्ञ करनेके लिये जाऊँगा। तुम मेरी इस पत्नी रुचिकी यत्नपूर्वक रक्षा करना; क्योंकि देवराज इन्द्र सदा इसे प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगा रहता है ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यं सदा प्रति पुरन्दरम् ॥ २३ ॥
स हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम ।

भृगुश्रेष्ठ! तुम्हें इन्द्रकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वह अनेक प्रकारके रूप धारण करता है ॥ २३½ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो विपुलस्तेन तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ २४ ॥
सदैवोग्रतपा राजन्नग्न्यर्कसदृशद्युतिः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च तथेति प्रत्यभाषत ।
पुनश्चेदं महाराज पप्रच्छ प्रस्थितं गुरुम् ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! गुरुके ऐसा कहनेपर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, जितेन्द्रिय तथा सदा ही कठोर तपमें लगे रहनेवाले धर्मज्ञ एवं सत्यवादी विपुलने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। महाराज! फिर जब गुरुजी प्रस्थान करने लगे, तब उसने पुनः इस प्रकार पूछा ॥ २४-२५ ॥

विपुल उवाच

कानि रूपाणि शक्रस्य भवन्त्यागच्छतो मुने ।
वपुस्तेजश्च कीदृग् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २६ ॥

विपुलने पूछा—मुने! इन्द्र जब आता है, तब उसके कौन-कौन-से रूप होते हैं तथा उस समय उसका शरीर और तेज कैसा होता है? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

ततः स भगवांस्तस्मै विपुलाय महात्मने ।
आचचक्षे यथातत्त्वं मायां शक्रस्य भारत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं--भरतनन्दन ! तदनन्तर भगवान् देवशर्माने महात्मा विपुलसे इन्द्रकी मायाको यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ॥ २७ ॥

देवशर्मोवाच

बहुमायः स विप्रर्षे भगवान् पाकशासनः ।
तांस्तान् विकुरुते भावान् बहूनथ मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥

देवशर्माने कहा--ब्रह्मर्षे ! भगवान् पाकशासन इन्द्र बहुत-सी मायाओंके जानकार हैं । वे बारंबार बहुत-से रूप बदलते रहते हैं ॥ २८ ॥

किरीटी वज्रधृग् धन्वी मुकुटी बद्धकुण्डलः ॥ २९ ॥
भवत्यथ मुहूर्तेन चण्डालसमदर्शनः ।
शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक ॥ ३० ॥

बेटा ! वे कभी तो मस्तकपर किरीट-मुकुट, कानोंमें कुण्डल तथा हाथोंमें वज्र एवं धनुष धारण किये आते हैं और कभी एक ही मुहूर्तमें चाण्डालके समान दिखायी देते हैं; फिर कभी शिखा, जटा और चीर वस्त्र धारण करनेवाले ऋषि बन जाते हैं ॥ २९-३० ॥

बृहच्छरीरश्च पुनश्चीरवासाः पुनः कृशः ।
गौरं श्यामं च कृष्णं च वर्णं विकुरुते पुनः ॥ ३१ ॥

कभी विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर धारण करते हैं तो कभी दुर्बल शरीरमें चिथड़े लपेटे दिखायी देते हैं । कभी गोरे, कभी साँवले और कभी काले रंगके रूप बदलते रहते हैं ॥ ३१ ॥

विरूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च ।
ब्राह्मणः क्षत्रियश्चैव वैश्यः शूद्रस्तथैव च ॥ ३२ ॥

वे एक ही क्षणमें कुरूप और दूसरे ही क्षणमें रूपवान् हो जाते हैं । कभी जवान और कभी बूढ़े बन जाते हैं । कभी ब्राह्मण बनकर आते हैं तो कभी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका रूप बना लेते हैं ॥ ३२ ॥

प्रतिलोमोऽनुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः ।
शुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् ॥ ३३ ॥

वे इन्द्र कभी अनुलोम संकरका रूप धारण करते हैं तो कभी विलोम संकरका । वे तोते, कौए, हंस और कोयल-के रूपमें भी दिखायी देते हैं ॥ ३३ ॥

सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः ।
दैवं दैत्यमथो राज्ञां वपुर्धारयतेऽपि च ॥ ३४ ॥

सिंह, व्याघ्र और हाथीके भी रूप बारंबार धारण करते हैं । देवताओं, दैत्यों तथा राजाओंके शरीर भी धारण कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

अकृशो वायुभग्नाङ्गः शकुनिर्विकृतस्तथा ।
चतुष्पाद् बहुरूपश्च पुनर्भवति बालिशः ॥ ३५ ॥

वे कभी हृष्ट-पुष्ट, कभी वातरोगसे भग्न शरीरवाले और कभी पक्षी बन जाते हैं । कभी विकृत वेष बना लेते हैं । फिर कभी चौपाया (पशु), कभी बहुरूपिया और कभी गँवार बन जाते हैं ॥ ३५ ॥

मक्षिकामशकादीनां वपुर्धारयतेऽपि च ।
न शक्यमस्य ग्रहणं कर्तुं विपुल केनचित् ॥ ३६ ॥
अपि विश्वकृता तात येन सृष्टमिदं जगत् ।
पुनरन्तर्हितः शक्रो दृश्यते ज्ञानचक्षुषा ॥ ३७ ॥

वे मक्खी और मच्छर आदिके भी रूप धारण करते हैं । विपुल ! कोई भी उन्हें पकड़ नहीं सकता । तात ! औरोंकी तो बात ही क्या है ! जिन्होंने इस संसारको बनाया है, वे विधाता भी उन्हें अपने काबूमें नहीं कर सकते । अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र केवल ज्ञानदृष्टिसे दिखायी देते हैं ॥ ३६-३७ ॥

वायुभूतश्च स पुनर्देवराजो भवत्युत ।
एवं रूपाणि सततं कुरुते पाकशासनः ॥ ३८ ॥

फिर वे वायुरूप होकर तुरंत ही देवराजके रूपमें प्रकट हो जाते हैं । इस तरह पाकशासन इन्द्र सदा नये-नये रूप धारण करता और बदलता रहता है ॥ ३८ ॥

तस्माद् विपुल यत्नेन रक्षेमां तनुमध्यमाम् ।
यथा रुचिं नावलिहेद् देवेन्द्रो भृगुसत्तम ॥ ३९ ॥
क्रतावुपहिते न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान् ।

भृगुश्रेष्ठ विपुल ! इसलिये तुम यत्नपूर्वक इस तनु-मध्यमा रुचिकी रक्षा करना, जिससे दुरात्मा देवराज इन्द्र यज्ञमें रखे हुए हविष्यको चाटनेकी इच्छावाले कुत्तेकी भाँति मेरी पत्नी रुचिका स्पर्श न कर सके ॥ ३९½ ॥

एवमाख्याय स मुनिर्यज्ञकारोऽगमत् तदा ॥ ४० ॥
देवशर्मा महाभागस्ततो भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाभाग देवशर्मा मुनि यज्ञ करनेके लिये चले गये ॥ ४०½ ॥

विपुलस्तु वचः श्रुत्वा गुरोश्चिन्तामुपेयिवान् ॥ ४१ ॥
रक्षां च परमां चक्रे देवराजान्महाबलात् ।

गुरुकी बात सुनकर विपुल बड़ी चिन्तामें पड़ गये और महाबली देवराजसे उस स्त्रीकी बड़ी तत्परताके साथ रक्षा करने लगे ॥ ४१½ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गुरुदाराभिरक्षणे ॥ ४२ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसौ दुर्धर्षश्चापि वीर्यवान् ।

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'मैं गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये क्या कर सकता हूँ, क्योंकि वह देवराज इन्द्र मायावी होनेके साथ ही बड़ा दुर्धर्ष और पराक्रमी है ॥ ४२½ ॥

नापिधायाश्रमं शक्यो रक्षितुं पाकशासनः ॥ ४३ ॥
उटजं वा तथा ह्यस्य नानाविधसरूपता ।

'कुटी या आश्रमके दरवाजोंको बंद करके भी पाकशासन इन्द्रका आना नहीं रोका जा सकता; क्योंकि वे कई प्रकारके रूप धारण करते हैं ॥ ४३½ ॥

वायुरूपेण वा शक्रो गुरुपत्नीं प्रधर्षयेत् ॥ ४४ ॥
तस्मादिमां सम्प्रविश्य रुचिं स्थास्येऽहमद्य वै ।

'सम्भव है, इन्द्र वायुका रूप धारण करके आये और गुरुपत्नीको दूषित कर डाले; इसलिये आज मैं रुचिके शरीरमें प्रवेश करके रहूँगा ॥ ४४½ ॥

अथवा पौरुषेणेयं न शक्या रक्षितुं मया ॥ ४५ ॥
बहुरूपो हि भगवाञ्छ्रूयते पाकशासनः ।
सोऽहं योगबलादेनां रक्षिष्ये पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

'अथवा पुरुषार्थके द्वारा मैं इसकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पाकशासन इन्द्र बहुरूपिया सुने जाते हैं । अतः योगबलका आश्रय लेकर ही मैं इन्द्रसे इसकी रक्षा करूँगा ॥ ४५-४६ ॥

गात्राणि गात्रैरस्याहं सम्प्रवेक्ष्ये हि रक्षितुम् ।
यद्युच्छिष्टामिमां पत्नीमद्य पश्यति मे गुरुः ॥ ४७ ॥
शप्स्यत्यसंशयं कोपाद् दिव्यज्ञानो महातपाः ।

'मैं गुरुपत्नीकी रक्षा करनेके लिये अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे इसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें समा जाऊँगा । यदि आज मेरे गुरुजी अपनी इस पत्नीको किसी पर-पुरुषद्वारा दूषित हुई देख लेंगे तो कुपित होकर मुझे निस्संदेह शाप दे देंगे; क्योंकि वे महातपस्वी गुरु दिव्यज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ ४७½ ॥

न चेयं रक्षितुं शक्या यथान्या प्रमदा नृभिः ॥ ४८ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसावहो प्राप्तोऽस्मि संशयम् ।

'दूसरी युवतियोंकी तरह इस गुरुपत्नीकी भी मनुष्योंद्वारा रक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि देवराज इन्द्र बड़े मायावी हैं । अहो ! मैं बड़ी संशयजनित अवस्थामें पड़ गया ॥

अवश्यं करणीयं हि गुरोरिह हि शासनम् ॥ ४९ ॥
यदि त्वेतदहं कुर्यामाश्चर्यं स्यात् कृतं मया ।

'यहाँ गुरुने जो आज्ञा दी है, उसका पालन मुझे अवश्य करना चाहिये । यदि मैं ऐसा कर सका तो मेरे द्वारा यह एक आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४९½ ॥

योगेनाथ प्रवेशो हि गुरुपत्न्याः कलेवरे ॥ ५० ॥
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ।
असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिन्दुर्यथाचलः ॥ ५१ ॥

'अतः मुझे गुरुपत्नीके शरीरमें योगबलसे प्रवेश करना चाहिये । जिस प्रकार कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद उसपर निर्लिप्त भावसे स्थिर रहती है, उसी प्रकार मैं भी अनासक्त भावसे गुरुपत्नीके भीतर निवास करूँगा ॥५०-५१॥

निर्मुक्तस्य रजोरूपान्नापराधो भवेन्मम ।
यथा हि शून्यां पथिकः सभामध्यावसेत् पथि ॥ ५२ ॥
तथाद्यावासयिष्यामि गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५३ ॥

'मैं रजोगुणसे मुक्त हूँ; अतः मेरे द्वारा कोई अपराध नहीं हो सकता, जैसे राह चलनेवाला बटोही कभी किसी सूनी धर्मशालामें ठहर जाता है, उसी प्रकार आज मैं सावधान होकर गुरुपत्नीके शरीरमें निवास करूँगा । इसी तरह इसके शरीरमें मेरा निवास हो सकेगा' ॥ ५२-५३ ॥

इत्येवं धर्ममालोक्य वेदवेदांश्च सर्वशः ।
तपश्च विपुलं दृष्ट्वा गुरोरात्मन एव च ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य मनसा रक्षां प्रति स भार्गवः ।
अन्वतिष्ठत् परं यत्नं यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ५५ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस तरह धर्मपर दृष्टि डाल, सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंपर विचार करके अपनी तथा गुरुकी प्रचुर तपस्याको दृष्टिमें रखते हुए भृगुवंशी विपुलने गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये अपने मनसे उपर्युक्त उपाय ही निश्चित किया और इसके लिये जो महान् प्रयत्न किया, वह बताता हूँ, सुनो—॥

गुरुपत्नीं समासीनो विपुलः स महातपाः ।
उपासीनामनिन्द्याङ्गीं कथाभिः समलोभयत् ॥ ५६ ॥

'महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीके पास बैठ गये और पास ही बैठी हुई निर्दोष अङ्गोंवाली उस रुचिको अनेक प्रकारकी कथा-वार्ता सुनाकर अपनी बातोंमें लुभाने लगे ॥ ५६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मिं संयोज्य रश्मिभिः ।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा ॥ ५७ ॥

'फिर अपने दोनों नेत्रोंको उन्होंने उसके नेत्रोंकी ओर लगाया और अपने नेत्रोंकी किरणोंको उसके नेत्रोंकी किरणोंके साथ जोड़ दिया । फिर उसी मार्गसे आकाशमें प्रविष्ट होनेवाली वायुकी भाँति रुचिके शरीरमें प्रवेश किया ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
अविचेष्टन्नतिष्ठद् वै छायेवान्तर्हितो मुनिः ॥ ५८ ॥

'वे लक्षणोंसे लक्षणोंमें और मुखके द्वारा मुखमें प्रविष्ट हो कोई चेष्टा न करते हुए स्थिर भावसे स्थित हो गये। उस समय अन्तर्हित हुए विपुल मुनि छायाके समान प्रतीत होते थे ॥ ५८ ॥

ततो विष्टभ्य विपुलो गुरुपत्न्याः कलेवरम्।
उवास रक्षणे युक्तो न च सा तमबुद्ध्यत ॥ ५९ ॥

'विपुल गुरुपत्नीके शरीरको स्तम्भित करके उसकी रक्षामें संलग्न हो वहीं निवास करने लगे। परंतु रुचिको अपने शरीरमें उनके आनेका पता न चला ॥ ५९ ॥

यं कालं नागतो राजन् गुरुस्तस्य महात्मनः।
क्रतुं समाप्य स्वगृहं तं कालं सोऽभ्यरक्षत ॥ ६० ॥

'राजन्! जबतक महात्मा विपुलके गुरु यज्ञ पूरा करके अपने घर नहीं लौटे, तबतक विपुल इसी प्रकार अपनी गुरुपत्नीकी रक्षा करते रहे' ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका देवराज इन्द्रसे गुरुपत्नीको बचाना और गुरुसे वरदान प्राप्त करना

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् देवेन्द्रो दिव्यरूपवपुर्धरः।
इदमन्तरमित्येवमभ्यगात् तमथाश्रमम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर किसी समय देवराज इन्द्र 'यही ऋषिपत्नी रुचिको प्राप्त करनेका अच्छा अवसर है' ऐसा सोचकर दिव्य रूप एवं शरीर धारण किये उस आश्रममें आये ॥ १ ॥

रूपमप्रतिमं कृत्वा लोभनीयं जनाधिप।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २ ॥

नरेश्वर! वहाँ इन्द्रने अनुपम लुभावना रूप धारण करके अत्यन्त दर्शनीय होकर उस आश्रममें प्रवेश किया ॥

स ददर्श तमासीनं विपुलस्य कलेवरम्।
निश्चेष्टं स्तब्धनयनं यथा लेख्यगतं तथा ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि विपुलका शरीर चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट पड़ा है और उनके नेत्र स्थिर हैं ॥ ३ ॥

रुचिं च रुचिरापाङ्गीं पीनश्रोणिपयोधराम्।
पद्मपत्रविशालाक्षीं सम्पूर्णेन्दुनिभाननाम् ॥ ४ ॥

दूसरी ओर स्थूल नितम्ब एवं पीन पयोधरोंसे सुशोभित, विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र एवं मनोहर कटाक्षवाली पूर्णचन्द्रानना रुचि बैठी हुई दिखायी दी ॥ ४ ॥

सा तमालोक्य सहसा प्रत्युत्थातुमियेष ह।
रूपेण विस्मिता कोऽसीत्यथ वक्तुमिवेच्छती ॥ ५ ॥

इन्द्रको देखकर वह सहसा उनकी अगवानीके लिये उठनेकी इच्छा करने लगी। उनका सुन्दर रूप देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ था, मानो वह उनसे पूछना चाहती थी कि आप कौन हैं? ॥ ५ ॥

उत्थातुकामा तु सती विष्टब्धा विपुलेन सा।
निगृहीता मनुष्येन्द्र न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! उसने ज्यों ही उठनेका विचार किया त्यों ही विपुलने उसके शरीरको स्तब्ध कर दिया। उनके काबूमें आ जानेके कारण वह हिल भी न सकी ॥ ६ ॥

तामाबभाषे देवेन्द्रः साम्ना परमवल्गुना।
त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ॥ ७ ॥

तब देवराज इन्द्रने बड़ी मधुर वाणीमें उसे समझाते हुए कहा—'पवित्र मुसकानवाली देवि! मुझे देवताओंका राजा इन्द्र समझो! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँतक आया हूँ ॥

क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्संकल्पभवेन ह।
तत् सम्प्राप्तं हि मां सुभ्रु पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ८ ॥

'तुम्हारा चिन्तन करनेसे मेरे हृदयमें जो काम उत्पन्न हुआ है, वह मुझे बड़ा कष्ट दे रहा है। इसीसे मैं तुम्हारे निकट उपस्थित हुआ हूँ। सुन्दरी! अब देर न करो, समय बीता जा रहा है' ॥ ८ ॥

तमेवंवादिनं शक्रं शुश्राव विपुलो मुनिः।
गुरुपत्न्याः शरीरस्थो ददर्श त्रिदशाधिपम् ॥ ९ ॥

देवराज इन्द्रकी यह बात गुरुपत्नीके शरीरमें बैठे हुए विपुल मुनिने भी सुनी और उन्होंने इन्द्रको देख भी लिया ॥ ९ ॥

न शशाक च सा राजन् प्रत्युत्थातुमनिन्दिता ।
वक्तुं च नाशकद् राजन् विष्टब्धा विपुलेन सा ॥ १० ॥

राजन् ! वह अनिन्द्य सुन्दरी रुचि विपुलके द्वारा स्तम्भित होनेके कारण न तो उठ सकी और न इन्द्रको कोई उत्तर ही दे सकी ॥ १० ॥

आकारं गुरुपत्न्यास्तु स विज्ञाय भृगूद्वहः ।
निजग्राह महातेजा योगेन बलवत् प्रभो ॥ ११ ॥

प्रभो ! गुरुपत्नीका आकार एवं चेष्टा देखकर भृगुश्रेष्ठ विपुल उसका मनोभाव ताड़ गये थे; अतः उन महातेजस्वी मुनिने योगद्वारा उसे बलपूर्वक काबूमें रखा ॥ ११ ॥

बबन्ध योगबन्धैश्च तस्याः सर्वेन्द्रियाणि सः ।
तां निर्विकारां दृष्ट्वा तु पुनरेव शचीपतिः ॥ १२ ॥
उवाच व्रीडितो राजंस्तां योगबलमोहिताम् ।
एह्येहीति ततः सा तु प्रतिवक्तुमियेष तम् ॥ १३ ॥

उन्होंने गुरुपत्नी रुचिकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको योगसम्बन्धी बन्धनोंसे बाँध लिया था । राजन् ! योगबलसे मोहित हुई रुचिको काम-विकारसे शून्य देख शचीपति इन्द्र लज्जित हो गये और फिर उससे बोले—'सुन्दरी ! आओ, आओ !' उनका आवाहन सुनकर वह फिर उन्हें कुछ उत्तर देनेकी इच्छा करने लगी ॥ १२-१३ ॥

स तां वाचं गुरोः पत्न्या विपुलः पर्यवर्तयत् ।
भोः किमागमने कृत्यमिति तस्यास्तु निःसृता ॥ १४ ॥

यह देख विपुलने गुरुपत्नीकी उस वाणीको जिसे वह कहना चाहती थी, बदल दिया । उसके मुँहसे सहसा यह निकल पड़ा, 'अजी ! यहाँ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है ?' ॥ १४ ॥

वक्त्राच्छशाङ्कसदृशाद् वाणी संस्कारभूषणा ।
व्रीडिता सा तु तद्वाक्यमुक्त्वा परवशा तदा ॥ १५ ॥

उस चन्द्रोपम मुखसे जब यह संस्कृत वाणी प्रकट हुई, तब वह पराधीन हुई रुचि वह वाक्य कह देनेके कारण बहुत लज्जित हुई ॥ १५ ॥

पुरन्दरश्च तत्रस्थो बभूव विमना भृशम् ।
स तद्वैकृतमालक्ष्य देवराजो विशाम्पते ॥ १६ ॥
अवैक्षत सहस्राक्षस्तदा दिव्येन चक्षुषा ।
स ददर्श मुनिं तस्याः शरीरान्तरगोचरम् ॥ १७ ॥

वहाँ खड़े हुए इन्द्र उसकी पूर्वोक्त बात सुनकर मन-ही-मन बहुत दुखी हुए । प्रजानाथ ! उसके मनोविकार एवं भाव-परिवर्तनको लक्ष्य करके सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रने दिव्य दृष्टिसे उसकी ओर देखा । फिर तो उसके शरीरके भीतर विपुल मुनिपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ १६-१७ ॥

प्रतिबिम्बमिवादर्शे गुरुपत्न्याः शरीरगम् ।
स तं घोरेण तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरन्दरः ॥ १८ ॥
प्रावेपत सुसंत्रस्तः शापभीतस्तदा विभो ।

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसी प्रकार वे गुरुपत्नीके शरीरमें परिलक्षित हो रहे थे । प्रभो ! घोर तपस्यासे युक्त विपुल मुनिको देखते ही इन्द्र शापके भयसे संत्रस्त हो थर-थर काँपने लगे ॥ १८½ ॥

विमुच्य गुरुपत्नीं तु विपुलः सुमहातपाः ।
स्वकलेवरमाविश्य शक्रं भीतमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

इसी समय महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीको छोड़कर अपने शरीरमें आ गये और डरे हुए इन्द्रसे बोले ॥ १९ ॥

विपुल उवाच

अजितेन्द्रिय दुर्बुद्धे पापात्मक पुरन्दर ।
न चिरं पूजयिष्यन्ति देवास्त्वां मानुषास्तथा ॥ २० ॥

विपुलने कहा—पापात्मा पुरन्दर ! तेरी बुद्धि बड़ी खोटी है । तू सदा इन्द्रियोंका गुलाम बना रहता है । यदि यही दशा रही तो अब देवता तथा मनुष्य अधिक कालतक तेरी पूजा नहीं करेंगे ॥ २० ॥

किं नु तद्विस्मृतं शक्र न तन्मनसि ते स्थितम् ।
गौतमेनासि यन्मुक्तो भगाङ्कपरिचिह्नितः ॥ २१ ॥

इन्द्र ! क्या तू उस घटनाको भूल गया ? क्या तेरे मनमें उसकी याद नहीं रह गयी है ? जब कि महर्षि गौतमने तेरे सारे शरीरमें भगके (हजार) चिह्न बनाकर तुझे जीवित छोड़ा था ? ॥ २१ ॥

जाने त्वां बालिशमतिमकृतात्मानमस्थिरम् ।
मयेयं रक्ष्यते मूढ गच्छ पाप यथागतम् ॥ २२ ॥

मैं जानता हूँ कि तू मूर्ख है, तेरा मन वशमें नहीं और तू महाचञ्चल है । पापी मूढ़ ! यह स्त्री मेरे द्वारा सुरक्षित है । तू जैसे आया है, उसी तरह लौट जा ॥ २२ ॥

नाहं त्वामद्य मूढात्मन् दहेयं हि स्वतेजसा ।
कृपायमानस्तु न ते दग्धुमिच्छामि वासव ॥ २३ ॥

मूढचित्त इन्द्र ! मैं अपने तेजसे तुझे जलाकर भस्म कर सकता हूँ । केवल दया करके ही तुझे इस समय जलाना नहीं चाहता ॥ २३ ॥

स च घोरतमो धीमान् गुरुर्मे पापचेतसम् ।
दृष्ट्वा त्वां निर्दहेदद्य क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ॥ २४ ॥

मेरे बुद्धिमान् गुरु बड़े भयंकर हैं । वे तुझ पापात्माको देखते ही आज क्रोधसे उद्दीप्त हुई दृष्टिद्वारा दग्ध कर डालेंगे ॥

नैवं तु शक्र कर्तव्यं पुनर्मान्याश्च ते द्विजाः ।
मा गमः ससुतामात्यः क्षयं ब्रह्मबलार्दितः ॥ २५ ॥

इन्द्र ! आजसे फिर कभी ऐसा काम न करना। तुझे ब्राह्मणोंका सम्मान करना चाहिये, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि तुझे ब्रह्मतेजसे पीड़ित होकर पुत्रों और मन्त्रियोंसहित कालके गालमें जाना पड़े ॥ २५ ॥

अमरोऽस्मीति यद्बुद्धिं समास्थाय प्रवर्तसे ।
मावमंस्था न तपसा नसाध्यं नाम किंचन ॥ २६ ॥

मैं अमर हूँ—ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर यदि तू स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो रहा है तो (मैं तुझे सचेत किये देता हूँ) यों किसी तपस्वीका अपमान न किया कर; क्योंकि तपस्यासे कोई भी कार्य असाध्य नहीं है (तपस्वी अमरोंको भी मार सकता है) ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो विपुलस्य महात्मनः ।
अकिंचिदुक्त्वा व्रीडार्तस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! महात्मा विपुलका वह कथन सुनकर इन्द्र बहुत लज्जित हुए और कुछ भी उत्तर न देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु देवशर्मा महातपाः ।
कृत्वा यज्ञं यथाकाममाजगाम स्वमाश्रमम् ॥ २८ ॥

उनके गये अभी एक ही मुहूर्त बीतने पाया था कि महातपस्वी देवशर्मा इच्छानुसार यज्ञ पूर्ण करके अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २८ ॥

आगतेऽथ गुरौ राजन् विपुलः प्रियकर्मकृत् ।
रक्षितां गुरवे भार्यां न्यवेदयदनिन्दिताम् ॥ २९ ॥

राजन् ! गुरुके आनेपर उनका प्रिय कार्य करनेवाले विपुलने अपने द्वारा सुरक्षित हुई उनकी सती-साध्वी भार्या रुचिको उन्हें सौंप दिया ॥ २९ ॥

अभिवाद्य च शान्तात्मा स गुरुं गुरुवत्सलः ।
विपुलः पर्युपातिष्ठद् यथापूर्वमशङ्कितः ॥ ३० ॥

शान्त चित्तवाले गुरुप्रेमी विपुल गुरुदेवको प्रणाम करके पहलेकी ही भाँति निर्भीक होकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३० ॥

विश्रान्ताय ततस्तस्मै सहासीनाय भार्यया ।
निवेदयामास तदा विपुलः शक्रकर्म तत् ॥ ३१ ॥

जब गुरुजी विश्राम करके अपनी पत्नीके साथ बैठे, तब विपुलने इन्द्रकी वह सारी करतूत उन्हें बतायी ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टो विपुलस्य प्रतापवान् ।
बभूव शीलवृत्ताभ्यां तपसा नियमेन च ॥ ३२ ॥

यह सुनकर प्रतापी मुनि देवशर्मा विपुलके शील, सदाचार, तप और नियमसे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३२ ॥

विपुलस्य गुरौ वृत्तिं भक्तिमात्मनि तत्प्रभुः ।
धर्मे च स्थिरतां दृष्ट्वा साधु साध्वित्यभाषत ॥ ३३ ॥

विपुलकी गुरुसेवावृत्ति, अपने प्रति भक्ति और धर्मविषयक दृढ़ता देखकर गुरुने 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

प्रतिलभ्य च धर्मात्मा शिष्यं धर्मपरायणम् ।
वरेणच्छन्दयामास देवशर्मा महामतिः ॥ ३४ ॥

परम बुद्धिमान् धर्मात्मा देवशर्माने अपने धर्मपरायण शिष्य विपुलको पाकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ ३४ ॥

स्थितिं च धर्मे जग्राह स तस्माद् गुरुवत्सलः ।
अनुज्ञातश्च गुरुणा चचारानुत्तमं तपः ॥ ३५ ॥

गुरुवत्सल विपुलने गुरुसे यही वर माँगा कि 'मेरी धर्ममें निरन्तर स्थिति बनी रहे ।' फिर गुरुकी आज्ञा लेकर उन्होंने सर्वोत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ३५ ॥

तथैव देवशर्मापि सभार्यः स महातपाः ।
निर्भयो बलवृत्रघ्नाच्चचार विजने वने ॥ ३६ ॥

महातपस्वी देवशर्मा भी बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रसे निर्भय हो पत्नीसहित उस निर्जन वनमें विचरने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

विपुलका गुरुकी आज्ञासे दिव्य पुष्प लाकर उन्हें देना और अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मका स्मरण करना

भीष्म उवाच

विपुलस्त्वकरोत् तीव्रं तपः कृत्वा गुरोर्वचः ।
तपोयुक्तमथात्मानममन्यत स वीर्यवान् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! विपुलने गुरुकी आज्ञाका पालन करके बड़ी कठोर तपस्या की। इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी और वे अपनेको बड़ा भारी तपस्वी मानने लगे ॥ १ ॥

स तेन कर्मणा स्पर्धन् पृथिवीं पृथिवीपते ।
चचार गतभीः प्रीतो लब्धकीर्तिवरो नृप ॥ २ ॥

पृथ्वीनाथ! विपुल उस तपस्याद्वारा मन-ही-मन गर्वका अनुभव करके दूसरोंसे स्पर्धा रखने लगे। नरेश्वर! उन्हें गुरुसे कीर्ति और वरदान दोनों प्राप्त हो चुके थे; अतः वे निर्भय एवं संतुष्ट होकर पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २ ॥

उभौ लोकौ जितौ चापि तथैवामन्यत प्रभुः ।
कर्मणा तेन कौरव्य तपसा विपुलेन च ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन! शक्तिशाली विपुल उस गुरुपत्नी-संरक्षणरूपी कर्म तथा प्रचुर तपस्याद्वारा ऐसा समझने लगे कि मैंने दोनों लोक जीत लिये ॥ ३ ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते कस्मिंश्चित् कुरुनन्दन ।
रुच्या भगिन्या आदानं प्रभूतधनधान्यवत् ॥ ४ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! तदनन्तर कुछ समय बीत जानेपर गुरुपत्नी रुचिकी बड़ी बहिनके यहाँ विवाहोत्सवका अवसर उपस्थित हुआ, जिसमें प्रचुर धनधान्यका व्यय होनेवाला था ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु दिव्या काचिद् वराङ्गना ।
बिभ्रती परमं रूपं जगामाथ विहायसा ॥ ५ ॥

उन्हीं दिनों एक दिव्य लोककी सुन्दरी दिव्याङ्गना परम मनोहर रूप धारण किये आकाशमार्गसे कहीं जा रही थी ॥ ५ ॥

तस्याः शरीरात् पुष्पाणि पतितानि महीतले ।
तस्याश्रमस्याविदूरे दिव्यगन्धानि भारत ॥ ६ ॥

भारत! उसके शरीरसे कुछ दिव्य पुष्प, जिनसे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी, देवशर्माके आश्रमके पास ही पृथ्वीपर गिरे ॥ ६ ॥

तान्यगृह्णात् ततो राजन् रुचिर्ललितलोचना ।
तदा निमन्त्रकस्तस्या अङ्गेभ्यः क्षिप्रमागमत् ॥ ७ ॥

राजन्! तब मनोहर नेत्रोंवाली रुचिने वे फूल ले लिये। इतनेमें ही अङ्गदेशसे उसका शीघ्र ही बुलावा आ गया ॥ ७ ॥

तस्या हि भगिनी तात ज्येष्ठा नाम्ना प्रभावती ।
भार्या चित्ररथस्याथ बभूवाङ्गेश्वरस्य वै ॥ ८ ॥

तात! रुचिकी बड़ी बहिन, जिसका नाम प्रभावती था, अङ्गराज चित्ररथको ब्याही गयी थी ॥ ८ ॥

पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी ।
आमन्त्रिता ततोऽगच्छद् रुचिरङ्गपतेर्गृहम् ॥ ९ ॥

उन दिव्य फूलोंको अपने केशोंमें गूँथकर सुन्दरी रुचि अङ्गराजके घर आमन्त्रित होकर गयी ॥ ९ ॥

पुष्पाणि तानि दृष्ट्वा तु तदाङ्गेन्द्रवराङ्गना ।
भगिनीं चोदयामास पुष्पार्थे चारुलोचना ॥ १० ॥

उस समय सुन्दर नेत्रोंवाली अङ्गराजकी सुन्दरी रानी प्रभावतीने उन फूलोंको देखकर अपनी बहिनसे वैसे ही फूल मँगवा देनेका अनुरोध किया ॥ १० ॥

सा भर्त्रे सर्वमाचष्ट रुचिः सुरुचिरानना ।
भगिन्या भाषितं सर्वमृषिस्तच्चाभ्यनन्दत ॥ ११ ॥

आश्रममें लौटनेपर सुन्दर मुखवाली रुचिने बहिनकी कही हुई सारी बातें अपने स्वामीसे कह सुनायीं। सुनकर ऋषिने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ ११ ॥

ततो विपुलमानाय्य देवशर्मा महातपाः ।
पुष्पार्थे चोदयामास गच्छ गच्छेति भारत ॥ १२ ॥

भारत! तब महातपस्वी देवशर्माने विपुलको बुलवाकर उन्हें फूल लानेके लिये आदेश दिया और कहा, 'जाओ, जाओ' ॥ १२ ॥

विपुलस्तु गुरोर्वाक्यमविचार्य महातपाः ।
स तथेत्यब्रवीद् राजंस्तं च देशं जगाम ह ॥ १३ ॥
यस्मिन् देशे तु तान्यासन् पतितानि नभस्तलात् ।
अम्लानान्यपि तत्रासन् कुसुमान्यपराण्यपि ॥ १४ ॥

राजन्! गुरुकी आज्ञा पाकर महातपस्वी विपुल उसपर कोई अन्यथा विचार न करके 'बहुत अच्छा' कहते हुए उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ आकाशसे वे फूल गिरे थे। वहाँ और भी बहुत-से फूल पड़े हुए थे, जो कुम्हलाये नहीं थे ॥

स ततस्तानि जग्राह दिव्यानि रुचिराणि च ।
प्राप्तानि स्वेन तपसा दिव्यगन्धानि भारत ॥ १५ ॥

भारत ! तदनन्तर अपने तपसे प्राप्त हुए उन दिव्य सुगन्धसे युक्त मनोहर दिव्य पुष्पोंको विपुलने उठा लिया ॥ १५ ॥

सम्प्राप्य तानि प्रीतात्मा गुरोर्वचनकारकः ।
तदा जगाम तूर्णं च चम्पां चम्पकमालिनीम् ॥ १६ ॥

गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाले विपुल उन फूलोंको पाकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और तुरंत ही चम्पाके वृक्षोंसे घिरी हुई चम्पा नगरीकी ओर चल दिये ॥ १६ ॥

स वने निर्जने तात ददर्श मिथुनं नृणाम् ।
चक्रवत् परिवर्तन्तं गृहीत्वा पाणिना करम् ॥ १७ ॥

तात ! एक निर्जन वनमें आनेपर उन्होंने स्त्री-पुरुषके एक जोड़ेको देखा, जो एक दूसरेका हाथ पकड़कर कुम्हारके चाकके समान घूम रहे थे ॥ १७ ॥

तत्रैकस्तूर्णमगमत् तत्पदे च विवर्तयन् ।
एकस्तु न तथा राजंश्चक्रतुः कलहं ततः ॥ १८ ॥

राजन् ! उनमेंसे एकने अपनी चाल तेज कर दी और दूसरेने वैसा नहीं किया । इसपर दोनों आपसमें झगड़ने लगे ॥

त्वं शीघ्रं गच्छसीत्येकोऽब्रवीन्नेति तथा परः ।
नेति नेति च तौ राजन् परस्परमथोचतुः ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! एकने कहा, 'तुम जल्दी-जल्दी चलते हो ।' दूसरेने कहा, 'नहीं ।' इस प्रकार दोनों एक-दूसरेपर दोषारोपण करते हुए एक-दूसरेको 'नहीं-नहीं' कह रहे थे ॥ १९ ॥

तयोर्विस्पर्धतोरेवं शपथोऽयमभूत् तदा ।
सहसोद्दिश्य विपुलं ततो वाक्यमथोचतुः ॥ २० ॥

इस प्रकार एक-दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए उन दोनोंमें शपथ खानेकी नौबत आ गयी । फिर तो सहसा विपुलको लक्ष्य करके वे दोनों इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

आवयोरनृतं प्राह यस्तस्याभूद् द्विजस्य वै ।
विपुलस्य परे लोके या गतिः सा भवेदिति ॥ २१ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो भी झूठ बोलता है, उसकी वही गति होगी, जो परलोकमें ब्राह्मण विपुलके लिये नियत हुई है' ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो विषण्णवदनोऽभवत् ।
एवं तीव्रतपाश्चाहं कष्टश्चायं परिश्रमः ॥ २२ ॥

यह सुनकर विपुलके मुँहपर विषाद छा गया । 'मैं ऐसी कठोर तपस्या करनेवाला हूँ तो भी मेरी दुर्गति होगी । तब तो तपस्या करनेका वह घोर परिश्रम कष्टदायक ही सिद्ध हुआ ॥

मिथुनस्यास्य किं मे स्यात् कृतं पापं यथा गतिः ।
अनिष्टा सर्वभूतानां कीर्तितानेन मेऽद्य वै ॥ २३ ॥

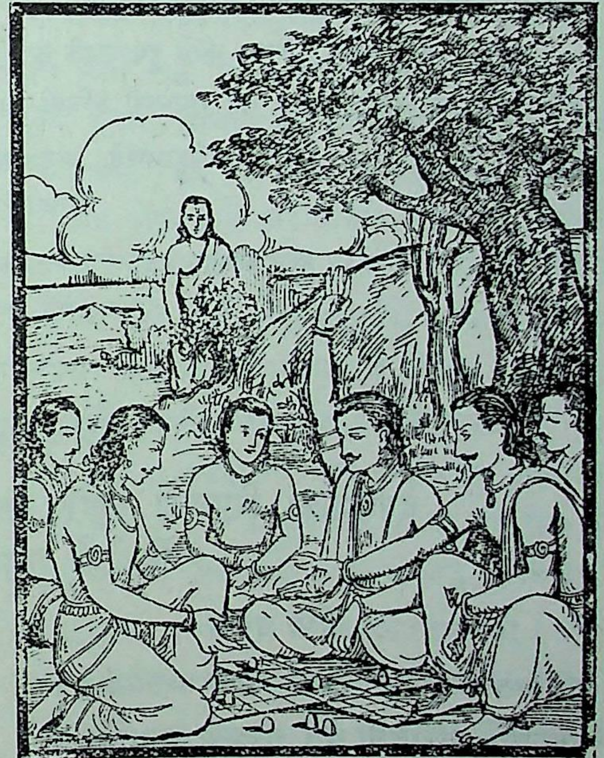
'मेरा ऐसा कौन-सा पाप है, जिसके अनुसार मेरी वह दुर्गति होगी, जो समस्त प्राणियोंके लिये अनिष्ट है एवं इस स्त्री-पुरुषके जोड़ेको मिलनेवाली है, जिसका इन्होंने आज मेरे समक्ष वर्णन किया है' ॥ २३ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव विपुलो राजसत्तम ।
अवाङ्मुखो दीनमना दध्यौ दुष्कृतमात्मनः ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा सोचते हुए ही विपुल नीचे मुँह किये दीनचित्त हो अपने दुष्कर्मका स्मरण करने लगे ॥ २४ ॥

ततः षडन्यान् पुरुषानक्षैः काञ्चनराजतैः ।
अपश्यद् दीव्यमानान् वै लोभहर्षान्वितांस्तथा ॥ २५ ॥
कुर्वतः शपथं तेन यः कृतो मिथुनेन तु ।
विपुलं वै समुद्दिश्य तेऽपि वाक्यमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥

तदनन्तर विपुलको दूसरे छः पुरुष दिखायी पड़े, जो सोने-चाँदीके पासे लेकर जूआ खेल रहे थे और लोभ तथा



हर्षमें भरे हुए थे । वे भी वही शपथ कर रहे थे, जो पहले स्त्री-पुरुषके जोड़ेने की थी । उन्होंने विपुलको लक्ष्य करके कहा—॥ २५-२६ ॥

लोभमास्थाय योऽस्माकं विषमं कर्तुमुत्सहेत् ।
विपुलस्य परे लोके या गतिस्तामवाप्नुयात् ॥ २७ ॥

'हमलोगोंमेंसे जो लोभका आश्रय लेकर बेईमानी करनेका साहस करेगा, उसको वही गति मिलेगी, जो परलोकमें विपुलको मिलनेवाली है' ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो नापश्यद् धर्मसंकरम् ।
जन्मप्रभृति कौरव्य कृतपूर्वमथात्मनः ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! यह सुनकर विपुलने जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके अपने समस्त कर्मोंका स्मरण किया; किंतु कभी कोई धर्मके साथ पापका मिश्रण हुआ हो, ऐसा नहीं दिखायी दिया ॥ २८ ॥

सम्प्रदध्यौ तथा राजन्नग्नावग्निरिवाहितः ।
दह्यमानेन मनसा शापं श्रुत्वा तथाविधम् ॥ २९ ॥

राजन् ! परंतु अपने विषयमें वैसा शाप सुनकर जैसे एक आगमें दूसरी आग रख दी गयी हो और उसकी ज्वाला और भी बढ़ गयी हो, उसी प्रकार विपुलका हृदय शोकाग्निसे दग्ध होने लगा और उसी अवस्थामें वे पुनः अपने कार्यों-पर विचार करने लगे ॥ २९ ॥

तस्य चिन्तयतस्तात बह्वयो दिननिशा ययुः ।
इदमासीन्मनसि स रुच्या रक्षणकारितम् ॥ ३० ॥

तात ! इस प्रकार चिन्ता करते हुए उनके कई दिन और कई रातें बीत गयीं । तब गुरुपत्नी रुचिकी रक्षाके कारण उनके मनमें ऐसा विचार उठा— ॥ ३० ॥

लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद् गुरोस्तथा ॥ ३१ ॥

'मैंने जब गुरुपत्नीकी रक्षाके लिये उनके शरीरमें सूक्ष्म-रूपसे प्रवेश किया था, तब मेरी लक्षणेन्द्रिय उनकी लक्षणेन्द्रिय-से और मुख उनके मुखसे संयुक्त हुआ था । ऐसा अनुचित कार्य करके भी मैंने गुरुजीको यह सच्ची बात नहीं बतायी' ॥

एतदात्मनि कौरव्य दुष्कृतं विपुलस्तदा ।
अमन्यत महाभाग तथा तच्च न संशयः ॥ ३२ ॥

महाभाग कुरुनन्दन ! उस समय विपुलने अपने मनमें इसीको पाप माना और निस्संदेह बात भी ऐसी ही थी ॥ ३२ ॥

स चम्पां नगरीमेत्य पुष्पाणि गुरवे ददौ ।
पूजयामास च गुरुं विधिवत् स गुरुप्रियः ॥ ३३ ॥

चम्पानगरीमें जाकर गुरुप्रेमी विपुलने वे फूल गुरुजीको अर्पित कर दिये और उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक
बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

देवशर्माका विपुलको निर्दोष बताकर समझाना और भीष्मका युधिष्ठिरको स्त्रियोंकी रक्षाके लिये आदेश देना

भीष्म उवाच

तमागतमभिप्रेक्ष्य शिष्यं वाक्यमथाब्रवीत् ।
देवशर्मा महातेजा यत् तच्छृणु जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! अपने शिष्य विपुलको आया हुआ देख महातेजस्वी देवशर्माने उनसे जो बात कही, वही बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

देवशर्मोवाच

किं ते विपुल दृष्टं वै तस्मिन् शिष्य महावने ।
ते त्वां जानन्ति विपुल आत्मा च रुचिरेव च ॥ २ ॥

देवशर्माने पूछा—मेरे प्रिय शिष्य विपुल ! तुमने उस महान् वनमें क्या देखा था ? वे लोग तो तुम्हें जानते हैं । उन्हें तुम्हारी अन्तरात्माका तथा मेरी पत्नी रुचिका भी पूरा परिचय प्राप्त है ॥ २ ॥

विपुल उवाच

ब्रह्मर्षे मिथुनं किं तत् के च ते पुरुषा विभो ।
ये मां जानन्ति तत्त्वेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३ ॥

विपुलने कहा—ब्रह्मर्षे ! मैंने जिसे देखा था, वह स्त्री-पुरुषका जोड़ा कौन था ? तथा वे छः पुरुष भी कौन थे, जो मुझे अच्छी तरह जानते थे और जिनके विषयमें आप भी मुझसे पूछ रहे हैं ? ॥ ३ ॥

देवशर्मोवाच

यद् वै तन्मिथुनं ब्रह्मन्नहोरात्रं हि विद्धि तत् ।
चक्रवत् परिवर्तेत तत् ते जानाति दुष्कृतम् ॥ ४ ॥
ये च ते पुरुषा विप्र अक्षैर्दीव्यन्ति हृष्टवत् ।
ऋतूंस्तानभिजानीहि ते ते जानन्ति दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

देवशर्माने कहा—ब्रह्मन् ! तुमने जो स्त्री-पुरुषका जोड़ा देखा था, उसे दिन और रात्रि समझो । वे दोनों चक्र-

वत् घूमते रहते हैं, अतः उन्हें तुम्हारे पापका पता है। द्विज-वर ! तथा जो अत्यन्त हर्षमें भरकर जूआ खेलते हुए छः पुरुष दिखायी दिये, उन्हें छः ऋतु जानो; वे भी तुम्हारे पापको जानते हैं ॥ ४-५ ॥

न मां कश्चिद् विजानीत इति कृत्वा न विश्वसेत् ।
नरो रहसि पापात्मा पापकं कर्म वै द्विज ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! पापात्मा मनुष्य एकान्तमें पापकर्म करके ऐसा विश्वास न करे कि कोई मुझे इस पापकर्ममें लिप्त नहीं जानता है ॥ ६ ॥

कुर्वाणं हि नरं कर्म पापं रहसि सर्वदा ।
पश्यन्ति ऋतवश्चापि तथा दिननिशेऽच्युत ॥ ७ ॥

एकान्तमें पापकर्म करते हुए पुरुषको ऋतुएँ तथा रात-दिन सदा देखते रहते हैं ॥ ७ ॥

तथैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम तच्च यथाकृतम् ॥ ८ ॥

तुमने मेरी स्त्रीकी रक्षा करते समय जिस प्रकार वह पापकर्म किया था, उसे करके भी मुझे बताया नहीं था; अतः तुम्हें वे ही पापाचारियोंके लोक मिल सकते थे ॥ ८ ॥

ते त्वां हर्षस्मितं दृष्ट्वा गुरोः कर्मानिवेदकम् ।
स्मारयन्तस्तथा प्राहुस्ते यथा श्रुतवान् भवान् ॥ ९ ॥

गुरुको अपना पापकर्म न बताकर हर्ष और अभिमानमें भरा देख वे पुरुष तुम्हें अपने कर्मकी याद दिलाते हुए वैसी बातें बोल रहे थे, जिन्हें तुमने अपने कानों सुना है ॥ ९ ॥

अहोरात्रं विजानाति ऋतवश्चापि नित्यशः ।
पुरुषे पापकं कर्म शुभं वा शुभकर्मिणः ॥ १० ॥

पापीमें जो पापकर्म है और शुभकर्मी मनुष्यमें जो शुभकर्म है, उन सबको दिन, रात और ऋतुएँ सदा जानती रहती हैं ॥ १० ॥

तत् त्वया मम यत् कर्म व्यभिचाराद् भयात्मकम् ।
नाख्यातमिति जानन्तस्ते त्वामाहुस्तथा द्विज ॥ ११ ॥

ब्रह्मन् ! तुमने मुझसे अपना वह कर्म नहीं बताया, जो व्यभिचार-दोषके कारण भयरूप था । वे जानते थे, इसलिये उन्होंने तुम्हें बता दिया ॥ ११ ॥

तेनैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम यच्च त्वया कृतम् ॥ १२ ॥

पापकर्म करके न बतानेवाले पुरुषको, जैसा कि तुमने मेरे साथ किया है, वे ही पापाचारियोंके लोक प्राप्त होते हैं ॥

त्वयाशक्या च दुर्वृत्ता रक्षितुं प्रमदा द्विज ।
न च त्वं कृतवान् किंचिदतः प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १३ ॥

ब्रह्मन् ! यौवनमदसे उन्मत्त रहनेवाली उस स्त्रीकी (उसके शरीरमें प्रवेश किये बिना) रक्षा करना तुम्हारे वशकी बात नहीं थी । अतः तुमने अपनी ओरसे कोई पाप नहीं किया; इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ ॥ १३ ॥

(मनोदोषविहीनानां न दोषः स्यात् तथा तव ।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता स्नेहेन दुहितान्यथा ॥

जो मानसिक दोषसे रहित हैं, उन्हें पाप नहीं लगता । यही बात तुम्हारे लिये भी हुई है । अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका आलिङ्गन और भावसे किया जाता है और अपनी पुत्रीका और भावसे अर्थात् उसे वात्सल्यस्नेहसे गले लगाया जाता है ॥

निष्कषायो विशुद्धस्त्वं रुच्यावेशान्न दूषितः ।)

तुम्हारे मनमें राग नहीं है । तुम सर्वथा विशुद्ध हो, इसलिये रुचिके शरीरमें प्रवेश करके भी दूषित नहीं हुए हो ॥

यदि त्वहं त्वां दुर्वृत्तमद्राक्षं द्विजसत्तम ।
शपेयं त्वामहं क्रोधान्न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यदि मैं इस कर्ममें तुम्हारा दुराचार देखता तो कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता और ऐसा करके मेरे मनमें कोई अन्यथा विचार या पश्चात्ताप नहीं होता ॥ १४ ॥

सज्जन्ति पुरुषे नार्यः पुंसां सोऽर्थश्च पुष्कलः ।
अन्यथा रक्षतः शापोऽभविष्यत् ते मतिश्च मे ॥ १५ ॥

स्त्रियाँ पुरुषमें आसक्त होती हैं और पुरुषोंका भी इसमें पूर्णतः वैसा ही भाव होता है । यदि तुम्हारा भाव उसकी रक्षा करनेके विपरीत होता तो तुम्हें शाप अवश्य प्राप्त होता और मेरा विचार तुम्हें शाप देनेका अवश्य हो जाता ॥ १५ ॥

रक्षिता च त्वया पुत्र मम चापि निवेदिता ।
अहं ते प्रीतिमांस्तात स्वस्थः स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

बेटा ! तुमने यथाशक्ति मेरी स्त्रीकी रक्षा की है और यह बात मुझे बतायी है, अतः मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तात ! तुम स्वस्थ रहकर स्वर्गलोकमें जाओगे ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा विपुलं प्रीतो देवशर्मा महानृषिः ।
मुमोद स्वर्गमास्थाय सहभार्यः सशिष्यकः ॥ १७ ॥

विपुलसे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए महर्षि देवशर्मा अपनी पत्नी और शिष्यके साथ स्वर्गमें जाकर वहाँका सुख भोगने लगे ॥ १७ ॥

इदमाख्यातवांश्चापि ममाख्यानं महामुनिः ।
मार्कण्डेयः पुरा राजन् गङ्गाकूले कथान्तरे ॥ १८ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें गङ्गाके तटपर कथा-वार्ताके बीचमें ही महामुनि मार्कण्डेयने मुझे यह आख्यान सुनाया था ॥ १८ ॥

तस्माद् ब्रवीमि पार्थ त्वां स्त्रियो रक्ष्याः सदैव च।
उभयं दृश्यते तासु सततं साध्वसाधु च ॥ १९ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें स्त्रियोंकी सदा ही रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियोंमें भली और बुरी दोनों बातें हमेशा देखी जाती हैं ॥ १९ ॥

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः सम्मता लोकमातरः।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ॥ २० ॥

राजन् ! यदि स्त्रियाँ साध्वी एवं पतिव्रता हों तो बड़ी सौभाग्यशालिनी होती हैं। संसारमें उनका आदर होता है और वे सम्पूर्ण जगत्की माता समझी जाती हैं। इतना ही नहीं, वे अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे वन और काननोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको धारण करती हैं ॥ २० ॥

असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्नाः पापनिश्चयाः।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥ २१ ॥

किंतु दुराचारिणी असती स्त्रियाँ कुलका नाश करनेवाली होती हैं, उनके मनमें सदा पाप ही बसता है। नरेश्वर ! फिर ऐसी स्त्रियोंको उनके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए बुरे लक्षणोंसे पहचाना जा सकता है ॥ २१ ॥

एवमेतासु रक्षा वै शक्या कर्तुं महात्मभिः।
अन्यथा राजशार्दूल न शक्या रक्षितुं स्त्रियः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महामनस्वी पुरुषोंद्वारा ही ऐसी स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा की जा सकती है; अन्यथा स्त्रियोंकी रक्षा असम्भव है ॥ २२ ॥

एता हि मनुजव्याघ्र तीक्ष्णास्तीक्ष्णपराक्रमाः।
नासामस्ति प्रियो नाम मैथुने सङ्गमेति यः ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह ! ये स्त्रियाँ तीखे स्वभावकी तथा दुस्सह शक्तिवाली होती हैं। कोई भी पुरुष इनका प्रिय नहीं है। मैथुनकालमें जो इनका साथ देता है, वही उतने ही समयके लिये प्रिय होता है ॥ २३ ॥

एताः कृत्याश्च कार्याश्च कृताश्च भरतर्षभ।
न चैकस्मिन् रमन्त्येताः पुरुषे पाण्डुनन्दन ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन ! ये स्त्रियाँ कृत्याओंके समान मनुष्योंके प्राण लेनेवाली होती हैं। उन्हें जब पहले पुरुष स्वीकार कर लेता है, तब आगे चलकर वे दूसरेके स्वीकार करने योग्य भी बन जाती हैं अर्थात् व्यभिचारदोषके कारण एक पुरुषको छोड़कर दूसरेपर आसक्त हो जाती हैं। किसी एक ही पुरुषमें इनका सदा अनुराग नहीं बना रहता है ॥ २४ ॥

नासां स्नेहो नरैः कार्यस्तथैवेर्ष्या जनेश्वर।
खेदमास्थाय भुञ्जीत धर्ममास्थाय चैव ह ॥ २५ ॥
(अनृताविह पर्वादिदोषवर्जं नराधिप।)

नरेश्वर ! मनुष्योंको स्त्रियोंके प्रति न तो विशेष आसक्त होना चाहिये और न उनसे ईर्ष्या ही करनी चाहिये। वैराग्यपूर्वक धर्मका आश्रय लेकर पर्व आदि दोषका त्याग करते हुए ऋतुस्नानके पश्चात् उनका उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

निहन्यादन्यथाकुर्वन् नरः कौरवनन्दन।
सर्वथा राजशार्दूल मुक्तिः सर्वत्र पूज्यते ॥ २६ ॥

कौरवनन्दन ! इसके विपरीत बर्ताव करनेवाला मनुष्य विनाशको प्राप्त होता है। नृपश्रेष्ठ ! सर्वत्र सब प्रकारसे मोक्षका ही सम्मान किया जाता है ॥ २६ ॥

तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम् ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! एकमात्र विपुलने ही स्त्रीकी रक्षा की थी। इस त्रिलोकीमें दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो युवती स्त्रियोंकी इस प्रकार रक्षा कर सके ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विपुलोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विपुलका उपाख्यानविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कन्या-विवाहके सम्बन्धमें पात्रविषयक विभिन्न विचार

युधिष्ठिर उवाच

यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च।
पितृदेवातिथीनां च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो समस्त धर्मोंका, कुटुम्बीजनोंका, घरका तथा देवता, पितर और अतिथियोंका मूल है, उस कन्यादानके विषयमें मुझे कुछ उपदेश कीजिये ॥

अयं हि सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः।
कीदृशाय प्रदेया स्यात् कन्येति वसुधाधिप ॥ २ ॥

पृथ्वीनाथ ! सब धर्मोंसे बढ़कर यही चिन्तन करने योग्य धर्म माना गया है कि कैसे पात्रको कन्या देनी चाहिये ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! सत्पुरुषोंको चाहिये कि वे पहले वरके शील-स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्योंकी जाँच करें । फिर यदि वह सभी दृष्टियोंसे गुणवान् प्रतीत हो तो उसे कन्या प्रदान करें ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर ।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ॥ ४ ॥
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार व्याहने योग्य वरको बुलाकर उसके साथ कन्याका विवाह करना उत्तम ब्राह्मणोंका धर्म—ब्राह्म-विवाह है । जो धन आदिके द्वारा वरपक्षको अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है, वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियोंका सनातन धर्म कहा जाता है । (इसीको प्राजापत्य विवाह कहते हैं) ॥ ४½ ॥

आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ॥ ५ ॥
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! जब कन्याके माता-पिता अपने पसंद किये हुए वरको छोड़कर जिसे कन्या पसंद करती हो तथा जो कन्याको चाहता हो ऐसे वरके साथ उस कन्याका विवाह करते हैं, तब वेदवेत्ता पुरुष उस विवाहको गान्धर्व धर्म (गान्धर्व विवाह) कहते हैं ॥ ५-६ ॥

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! कन्याके बन्धु-बान्धवोंको लोभमें डालकर उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्याको खरीद लिया जाता है, इसे मनीषी पुरुष असुरोंका धर्म (आसुर विवाह) कहते हैं ॥७॥

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ८ ॥

तात ! इसी प्रकार कन्याके रोते हुए अभिभावकोंको मारकर, उनके मस्तक काटकर रोती हुई कन्याको उसके घरसे बलपूर्वक हर लाना राक्षसोंका काम (राक्षस विवाह) बताया जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! इन पाँच (ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस) विवाहोंमेंसे पूर्वकथित तीन विवाह धर्मानुकूल हैं और शेष दो पापमय हैं । आसुर और राक्षस विवाह किसी प्रकार भी नहीं करने चाहिये* ॥ ९ ॥

ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ ।
पृथग् वा यदि वा मिश्राः कर्तव्या नात्र संशयः ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्म, क्षात्र (प्राजापत्य) तथा गान्धर्व—ये तीन विवाह धर्मानुकूल बताये गये हैं । ये पृथक् हों या अन्य विवाहोंसे मिश्रित, करने ही योग्य हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु ।
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणके लिये तीन भार्याएँ बतायी गयी हैं (ब्राह्मण-कन्या, क्षत्रियकन्या और वैश्य-कन्या) ! क्षत्रियके लिये दो भार्याएँ कही गयी हैं (क्षत्रिय-कन्या और वैश्य-कन्या) । वैश्य केवल अपनी ही जातिकी कन्याके साथ विवाह करे । इन स्त्रियोंसे जो संतानें उत्पन्न होती हैं, वे पिताके समान वर्णवाली होती हैं (माताओंके कुल या वर्णके कारण उनमें कोई तारतम्य नहीं होता) ॥ ११ ॥

ब्राह्मणी तु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु ।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणकी पत्नियोंमें ब्राह्मण-कन्या श्रेष्ठ मानी जाती है, क्षत्रियके लिये क्षत्रिय-कन्या श्रेष्ठ है (वैश्यकी तो एक ही पत्नी होती है, अतः वह श्रेष्ठ है ही) । कुछ लोगोंका मत है कि रतिके लिये शूद्र-जातिकी कन्यासे भी विवाह किया जा सकता है परंतु और लोग ऐसा नहीं मानते (वे शूद्र-कन्याको त्रैवर्णिकोंके लिये अग्राह्य बतलाते हैं) ॥ १२ ॥

अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः ।
शूद्रायां जनयन् विप्रः प्रायश्चित्ती विधीयते ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ पुरुष ब्राह्मणका शूद्र-कन्याके गर्भसे संतान उत्पन्न करना अच्छा नहीं मानते । शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करनेवाला ब्राह्मण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १३ ॥

---

*स्मृतियोंमें निम्नलिखित आठ विवाह बतलाये गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच । किंतु यहाँ १ ब्राह्म, २ प्राजापत्य, ३ गान्धर्व, ४ आसुर और ५ राक्षस—इन्हीं पाँच विवाहोंका उल्लेख किया गया है; अतः यहाँ जो ब्राह्म विवाह है, उसीमें स्मृतिकथित दैव और आर्ष विवाहोंका भी अन्तर्भाव समझना चाहिये । इसी प्रकार यहाँ बताये हुए राक्षस विवाहमें उपर्युक्त पैशाच विवाहका समावेश कर लेना चाहिये । प्राजापत्यको ही 'क्षात्र' विवाह भी कहा गया है ।

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

तीस वर्षका पुरुष दस वर्षकी कन्याको, जो रजस्वला न हुई हो, पत्नीरूपमें प्राप्त करे। अथवा इक्कीस वर्षका पुरुष सात वर्षकी कुमारीके साथ विवाह करे ॥ १४ ॥

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता पिता वा भरतर्षभ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिकाधर्मिणी हि सा ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस कन्याके पिता अथवा भाई न हों, उसके साथ कभी विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह पुत्रिका-धर्मवाली मानी जाती है ॥ १५ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत् ॥ १६ ॥

(यदि पिता, भ्राता आदि अभिभावक ऋतुमती होनेके पहले कन्याका विवाह न कर दें तो) ऋतुमती होनेके पश्चात् तीन वर्षतक कन्या अपने विवाहकी बाट देखे। चौथा वर्ष लगनेपर वह स्वयं ही किसीको अपना पति बना ले ॥ १६ ॥

प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद् वाच्या प्रजापतेः ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा करनेपर उस कन्याका उस पुरुषके साथ किया हुआ सम्बन्ध तथा उससे होनेवाली संतान निम्न श्रेणीकी नहीं समझी जाती। इसके विपरीत बर्ताव करनेवाली स्त्री प्रजापतिकी दृष्टिमें निन्दनीय होती है ॥ १७ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥

जो कन्या माताकी सपिण्ड और पिताके गोत्रकी न हो, उसीका अनुगमन करे। इसे मनुजीने धर्मानुकूल बताया है* ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शुल्कमन्येन दत्तं स्याद् ददानीत्याह चापरः।
बलादन्यः प्रभाषेत धनमन्यः प्रदर्शयेत् ॥ १९ ॥

पाणिग्रहीता चान्यः स्यात् कस्य भार्या पितामह।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि एक मनुष्यने विवाह पक्का करके कन्याका मूल्य दे दिया हो, दूसरेने मूल्य देनेका वादा करके विवाह पक्का किया हो, तीसरा उसी कन्याको बलपूर्वक ले जानेकी बात कर रहा हो, चौथा उसके भाई-बन्धुओंको विशेष धनका लोभ दिखाकर ब्याह करनेको तैयार हो और पाँचवाँ उसका पाणिग्रहण कर चुका हो तो धर्मतः उसकी कन्या किसकी पत्नी मानी जायगी ? हमलोग इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये नेत्र (पथ-प्रदर्शक) हों ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

यत् किंचित् कर्म मानुष्यं संस्थानाय प्रदृश्यते।
मन्त्रवन्मन्त्रितं तस्य मृषावादस्तु पातकः ॥ २१ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! मनुष्योंके हितसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कोई भी कर्म है, वह व्यवस्थाके लिये देखा जाता है। समस्त विचारवान् पुरुष एकत्र होकर जब यह विचार कर लें कि 'अमुक कन्या अमुक पुरुषको देनी चाहिये' तो यह व्यवस्था ही विवाहका निश्चय करनेवाली होती है। जो झूठ बोलकर इस व्यवस्थाको उलट देता है, वह पापका भागी होता है ॥ २१ ॥

भार्यापत्यृत्विगाचार्याः शिष्योपाध्याय एव च।
मृषोक्ते दण्डमर्हन्ति नेत्याहुरपरे जनाः ॥ २२ ॥

भार्या, पति, ऋत्विज, आचार्य, शिष्य और उपाध्याय भी यदि उपर्युक्त व्यवस्थाके विरुद्ध झूठ बोलें तो दण्डके भागी होते हैं। परंतु दूसरे लोग उन्हें दण्डके भागी नहीं मानते हैं ॥ २२ ॥

न ह्यकामेन संवासं मनुरेवं प्रशंसति।
अयशस्यमधर्म्यं च यन्मृषा धर्मकोपनम् ॥ २३ ॥

अकाम पुरुषके साथ सकामा कन्याका सहवास हो, इसे मनु अच्छा नहीं मानते हैं। अतः सर्वसम्मतिसे निश्चित किये हुए विवाहको मिथ्या करनेका प्रयत्न अयश और अधर्मका कारण होता है। वह धर्मको नष्ट करनेवाला माना गया है ॥ २३ ॥

नैकान्तो दोष एकस्मिंस्तदा केनोपपद्यते।
धर्मतो यां प्रयच्छन्ति यां च क्रीणन्ति भारत ॥ २४ ॥

भारत ! कन्याके भाई-बन्धु जिस कन्याको धर्मपूर्वक पाणिग्रहणकी विधिसे दान कर देते हैं अथवा जिसे मूल्य लेकर दे डालते हैं, उस कन्याको धर्मपूर्वक विवाह करनेवाला

* सापिण्ड्य-निवृत्तिके सम्बन्धमें स्मृतिका वचन है—वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद् यदि सप्तमः। पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्तते ॥ अर्थात् 'यदि वर अथवा कन्याका पिता मूल पुरुषसे सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ है तथा माता पाँचवीं पीढ़ीमें पैदा हुई है तो वर और कन्याके लिये सापिण्ड्यकी निवृत्ति हो जाती है।' पिताकी ओरका सापिण्ड्य सात पीढ़ीतक चलता है और माताका सापिण्ड्य पाँच पीढ़ीतक। सात पीढ़ीमें एक तो पिण्ड देनेवाला होता है, तीन पिण्डभागी होते हैं और तीन लेप-भागी होते हैं।

अथवा मूल्य देकर खरीदनेवाला यदि अपने घर ले जाय तो इसमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता। भला उस दशामें दोषकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ २४ ॥

बन्धुभिः समनुज्ञाते मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत्।
तथा सिद्ध्यन्ति ते मन्त्रा नादत्तायाः कथंचन॥२५॥

कन्याके कुटुम्बीजनोंकी अनुमति मिलनेपर वैवाहिक मन्त्र और होमका प्रयोग करना चाहिये, तभी वे मन्त्र सिद्ध (सफल) होते हैं अर्थात् वह मन्त्रोंद्वारा विवाह किया हुआ माना जाता है। जिस कन्याका माता-पिताके द्वारा दान नहीं किया गया, उसके लिये किये गये मन्त्र-प्रयोग किसी तरह सिद्ध नहीं होते अर्थात् वह विवाह मन्त्रोंद्वारा किया हुआ नहीं माना जाता॥ २५ ॥

यस्त्वत्र मन्त्रसमयो भार्यापत्योर्मिथः कृतः।
तमेवाहुर्गरीयांसं यश्चासौ ज्ञातिभिः कृतः॥ २६॥

पति और पत्नीमें भी परस्पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है, वही श्रेष्ठ मानी जाती है और यदि उसके लिये बन्धु-बान्धवोंका समर्थन प्राप्त हो तब तो और उत्तम बात है॥२६॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां वेत्ति धर्मस्य शासनात्।
स दैवीं मानुषीं वाचमनृतां पर्युदस्यति॥ २७॥

धर्मशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायतः प्राप्त हुई पत्नी-को पति अपने प्रारब्धकर्मके अनुसार मिली हुई भार्या समझता है। इस प्रकार वह दैवयोगसे प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण करता है। तथा मनुष्योंकी झूठी बातको--उस विवाहको अयोग्य बतानेवाली वार्ताको अग्राह्य कर देता है॥ २७॥

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायां प्राप्तशुल्कायां ज्यायांश्चेदाव्रजेद् वरः।
धर्मकामार्थसम्पन्नो वाच्यमत्रानृतं न वा॥ २८॥

युधिष्ठिरने पूछा--पितामह ! यदि एक वरसे कन्या-का विवाह पक्का करके उसका मूल्य ले लिया गया हो और पीछे उससे भी श्रेष्ठ धर्म, अर्थ और कामसे सम्पन्न अत्यन्त योग्य वर मिल जाय तो पहले जिससे मूल्य लिया गया है, उससे झूठ बोलना—उसको कन्या देनेसे इनकार कर देना चाहिये या नहीं ? ॥ २८॥

तस्मिन्नुभयतोदोषे कुर्वञ्छ्रेयः समाचरेत्।
अयं नः सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः॥ २९॥

इसमें दोनों दशाओंमें दोष प्राप्त होता है—यदि बन्धु-जनोंकी सम्मतिसे मूल्य लेकर निश्चित किये हुए विवाहको उलट दिया जाय तो वचन-भङ्गका दोष लगता है और श्रेष्ठ वरका उल्लङ्घन करनेसे कन्याके हितको हानि पहुँचाने-का दोष प्राप्त होता है। ऐसी दशामें कन्यादाता क्या करे ? जिससे वह कल्याणका भागी हो ? हम तो सम्पूर्ण धर्मोंमें इस कन्यादानरूप धर्मको ही अधिक चिन्तन अर्थात् विचार-के योग्य मानते हैं॥ २९॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तदेतत् सर्वमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यताम्॥ ३०॥

हम इस विषयमें यथार्थ तत्त्वको जानना चाहते हैं। आप हमारे पथप्रदर्शक होइये। इन सब बातोंको स्पष्टरूपसे बताइये। मैं आपकी बातें सुननेसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ। अतः आप इस विषयका प्रतिपादन कीजिये॥ ३०॥

भीष्म उवाच

नैव निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वाऽऽसीत् तेन नाहृतम्।
न हि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित्॥ ३१॥

भीष्मजीने कहा--राजन् ! मूल्य दे देनेसे ही विवाह-का अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता (उसमें परिवर्तनकी सम्भावना रहती ही है)। यह समझकर ही मूल्य देनेवाला मूल्य देता है और फिर उसे वापस नहीं माँगता। सज्जन पुरुष कभी-कभी मूल्य लेकर भी किसी विशेष कारणवश कन्यादान नहीं करते हैं॥ ३१॥

अन्यैर्गुणैरुपेतं तु शुल्कं याचन्ति बान्धवाः।
अलंकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलतः॥ ३२॥

कन्याके भाई-बन्धु किसीसे मूल्य तभी माँगते हैं, जब वह विपरीत गुण (अधिक अवस्था आदि) से युक्त होता है। यदि वरको बुलाकर कहा जाय कि 'तुम मेरी कन्याको आभूषण पहनाकर इसके साथ विवाह कर लो' और ऐसा कहनेपर वह उसके लिये आभूषण देकर विवाह करे तो यह धर्मानुकूल ही है॥ ३२॥

यच्च तां च ददत्येवं न शुल्कं विक्रयो न सः।
प्रतिगृह्य भवेद् देयमेष धर्मः सनातनः॥ ३३॥

क्योंकि इस प्रकार जो कन्याके लिये आभूषण लेकर कन्यादान किया जाता है, वह न तो मूल्य है और न विक्रय ही; इसलिये कन्याके लिये कोई वस्तु स्वीकार करके कन्याका दान करना सनातन धर्म है॥ ३३॥

दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भाषितम्।
ये चाहुर्ये च नाहुर्ये ये चावश्यं वदन्त्युत॥ ३४॥

जो लोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे कहते हैं कि 'मैं आपको अपनी कन्या दूँगा', जो कहते हैं 'नहीं दूँगा' और जो कहते हैं 'अवश्य दूँगा' उनकी ये सभी बातें कन्या देनेके पहले नहीं कही हुईके ही तुल्य हैं॥ ३४॥

तस्मादा ग्रहणात् पाणेर्याचयन्ति परस्परम् ।
कन्यावरः पुरा दत्तो मरुद्भिरिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥

जबतक कन्याका पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न न हो जाय तबतक कन्याको माँगना चाहिये। ऐसा कन्याओंके लिये मरुद्गणोंने पहले वर दिया है अर्थात् अधिकार दिया है—यह हमारे सुननेमें आया है। इसलिये पाणिग्रहण होनेके पहलेतक वर और कन्या आपसमें एक दूसरेके लिये प्रार्थना कर सकते हैं॥ ३५॥

नानिष्टाय प्रदातव्या कन्या इत्यृषिचोदितम् ।
तन्मूलं काममूलस्य प्रजनस्येति मे मतिः ॥ ३६ ॥

महर्षियोंका मत है कि अयोग्य वरको कन्या नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सुयोग्य पुरुषको कन्यादान करना ही काम-सम्बन्धी सुख और सुयोग्य संतानकी उत्पत्तिका कारण है। ऐसा मेरा विचार है॥ ३६॥

समीक्ष्य च बहून् दोषान् संवासाद् विद्धि पाणयोः ।
यथा निष्ठाकरं शुल्कं न जात्वासीत् तथा शृणु ॥ ३७ ॥

कन्याके क्रय-विक्रयमें बहुत-से दोष हैं। इस बातको तुम अधिक कालतक सोचने-विचारनेके बाद स्वयं समझ लोगे। केवल मूल्य दे देनेसे विवाहका अन्तिम निश्चय नहीं हो जाता है। पहले भी कभी ऐसा नहीं हुआ था, इस विषयमें तुम सुनो॥ ३७॥

अहं विचित्रवीर्यस्य द्वे कन्ये समुदावहम् ।
जित्वा च मागधान् सर्वान् काशीनथ च कोसलान् ॥ ३८ ॥

मैं विचित्रवीर्यके विवाहके लिये मगध, काशी तथा कोशलदेशके समस्त वीरोंको पराजित करके काशिराजकी दो* कन्याओंको हर लाया था॥ ३८॥

गृहीतपाणिरेकाऽऽसीत् प्राप्तशुल्का पराभवत् ।
कन्या गृहीता तत्रैव विसर्ज्या इति मे पिता ॥ ३९ ॥
अब्रवीदितरां कन्यामावहेति स कौरवः ।
अप्यन्याननुपप्रच्छ शङ्कमानः पितुर्वचः ॥ ४० ॥

उनमेंसे एक कन्या अम्बा अपना हाथ शाल्वराजके हाथमें दे चुकी थी अर्थात् मन-ही-मन उनको अपना पति मान चुकी थी। दूसरी (दो कन्याओं) का काशिराजको शुल्क प्राप्त हो गया था। इसलिये मेरे पिता (चाचा) कुरुवंशी बाह्लीकने वहीं कहा कि 'जो कन्या पाणिगृहीत हो चुकी है, उसका त्याग कर दो और दूसरी कन्याका (जिनके लिये शुल्कमात्र लिया गया है) विवाह करो।' मुझे चाचाजीके इस कथनमें संदेह था, इसलिये मैंने दूसरोंसे भी इसके विषयमें पूछा॥ ३९-४०॥

अतीव ह्यस्य धर्मेच्छा पितुर्मेऽभ्यधिकाभवत् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन्नाचारेप्सुरिदं वचः ।
आचारं तत्त्वतो वेत्तुमिच्छामि च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥

परंतु इस विषयमें मेरे चाचाजीकी बहुत प्रबल इच्छा थी कि धर्मका पालन हो (अतः वे पाणिगृहीता कन्याके त्यागपर अधिक जोर दे रहे थे)। राजन्! तदनन्तर मैं आचार जाननेकी इच्छासे बोला—'पिताजी! मैं इस विषयमें यह ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ कि परम्परागत आचार क्या है?'॥ ४१॥

ततो मयैवमुक्ते तु वाक्ये धर्मभृतां वरः ।
पिता मम महाराज बाह्लीको वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

महाराज! मेरे ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मेरे चाचा बाह्लीक इस प्रकार बोले—॥ ४२॥

यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा ।
लाभान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्क इति स्मृतिः ॥ ४३ ॥

'यदि तुम्हारे मतमें मूल्य देनेमात्रसे ही विवाहका पूर्ण निश्चय हो जाता है, पाणिग्रहणसे नहीं, तब तो स्मृतिका यह कथन ही व्यर्थ होगा कि कन्याका पिता एक वरसे शुल्क ले लेनेपर भी दूसरे किसी गुणवान् वरका आश्रय ले सकता है। अर्थात् पहलेको छोड़कर दूसरे गुणवान् वरसे अपनी कन्याका विवाह कर सकता है॥ ४३॥

न हि धर्मविदः प्राहुः प्रमाणं वाक्यतः स्मृतम् ।
येषां वै शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात् तथा ॥ ४४ ॥

'जिनका यह मत है कि शुल्कसे ही विवाहका निश्चय होता है, पाणिग्रहणसे नहीं, उनके इस कथनको धर्मज्ञ पुरुष प्रमाण नहीं मानते हैं॥ ४४॥

प्रसिद्धं भाषितं दाने नैषां प्रत्यायकं पुनः ।
ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नराः ॥ ४५ ॥

'कन्यादानके विषयमें तो लोगोंका कथन भी प्रसिद्ध है अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि कन्यादान हुआ है। अतः जो शुल्कसे ही विवाहका निश्चय मानते हैं, उनके कथनकी प्रतीति करानेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जो क्रय और शुल्कको मान्यता देते हैं, वे मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हैं॥ ४५॥

न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा ।
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन ॥ ४६ ॥

---

* भीष्मजी काशिराजकी तीन कन्याओंको हरकर लाये थे, उनमेंसे दोको एक श्रेणीमें रखकर एकवचनका प्रयोग किया गया है, यह मानना चाहिये; तभी आदिपर्व अध्याय १०२ के वर्णनकी संगति ठीक लग सकती है।

'ऐसे लोगोंको कन्या नहीं देनी चाहिये और जो बेची जा रही हो, ऐसी कन्याके साथ विवाह नहीं करना चाहिये; क्योंकि भार्या किसी प्रकार भी खरीदने या विक्रय करनेकी वस्तु नहीं है ॥ ४६ ॥

ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च।
भवेत् तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम् ॥ ४७ ॥

'जो दासियोंको खरीदते और बेचते हैं, वे बड़े लोभी और पापात्मा हैं। ऐसे ही लोगोंमें पत्नीको भी खरीदने-बेचने-की निष्ठा होती है ॥ ४७ ॥

अस्मिन्नर्थे सत्यवन्तं पर्यपृच्छन्त वै जनाः।
कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः शुल्कदः प्रशमं गतः ॥ ४८ ॥
पाणिग्रहीता चान्यः स्यादत्र नो धर्मसंशयः।
तन्नश्छिन्धि महाप्राज्ञ त्वं हि वै प्राज्ञसम्मतः ॥ ४९ ॥

'इस विषयमें पहलेके लोगोंने सत्यवान्से पूछा था कि 'महाप्राज्ञ ! यदि कन्याका शुल्क देनेके पश्चात् शुल्क देनेवाले-की मृत्यु हो जाय तो उसका पाणिग्रहण दूसरा कोई कर सकता है या नहीं ? इसमें हमें धर्मविषयक संदेह हो गया है। आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आप ज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्मानित हैं ॥ ४८-४९ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तानेवं ब्रुवतः सर्वान् सत्यवान् वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥

'हमलोग इस विषयमें यथार्थ बात जानना चाहते हैं। आप हमारे लिये पथप्रदर्शक होइये।' उन लोगोंके इस प्रकार कहनेपर सत्यवान्ने कहा— ॥ ५० ॥

यत्रेष्टं तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा।
कुर्वते जीवतोऽप्येवं मृते नैवास्ति संशयः ॥ ५१ ॥

'जहाँ उत्तम पात्र मिलता हो, वहीं कन्या देनी चाहिये। इसके विपरीत कोई विचार मनमें नहीं लाना चाहिये। मूल्य देनेवाला यदि जीवित हो तो भी सुयोग्य वरके मिलनेपर सज्जन पुरुष उसीके साथ कन्याका विवाह करते हैं। फिर उसके मर जानेपर अन्यत्र करें—इसमें तो संदेह ही नहीं है ॥ ५१ ॥

देवरं प्रविशेत् कन्या तप्येद् वापि तपः पुनः।
तमेवानुगता भूत्वा पाणिग्राहस्य काम्यया ॥ ५२ ॥

'शुल्क देनेवालेकी मृत्यु हो जानेपर उसके छोटे भाईको वह कन्या पतिरूपमें ग्रहण करे अथवा जन्मान्तरमें उसी पति-को पानेकी इच्छासे उसीका अनुसरण (चिन्तन) करती हुई आजीवन कुमारी रहकर तपस्या करे ॥ ५२ ॥

लिखन्त्येव तु केषांचिदपरेषां शनैरपि।
इति ये संवदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५३ ॥
तत्पाणिग्रहणात् पूर्वमन्तरं यत्र वर्तते।
सर्वमङ्गलमन्त्रं वै मृषावादस्तु पातकः ॥ ५४ ॥

'किन्हींके मतमें अक्षतयोनि कन्याको स्वीकार करनेका अधिकार है। दूसरोंके मतमें यह मन्दप्रवृत्ति—अवैध कार्य है। इस प्रकार जो विवाद करते हैं, वे अन्तमें इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि कन्याका पाणिग्रहण होनेसे पहलेका वैवाहिक मङ्गलाचार और मन्त्रप्रयोग हो जानेपर भी जहाँ अन्तर या व्यवधान पड़ जाय अर्थात् अयोग्य वरको छोड़कर किसी दूसरे योग्य वरके साथ कन्या ब्याह दी जाय तो दाताको केवल मिथ्याभाषणका पाप लगता है (पाणिग्रहणसे पूर्व कन्या विवाहित नहीं मानी जाती है।) ॥ ५३-५४ ॥

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे।
पाणिग्रहस्य भार्या स्याद् यस्य चाद्भिः प्रदीयते।
इति देयं वदन्त्यत्र त एनं निश्चयं विदुः ॥ ५५ ॥

'सप्तपदीके सातवें पदमें पाणिग्रहणके मन्त्रोंकी सफलता होती है (और तभी पति-पत्नीभावका निश्चय होता है)। जिस पुरुषको जलसे संकल्प करके कन्याका दान दिया जाता है, वही उसका पाणिग्रहीता पति होता है और उसीकी वह पत्नी मानी जाती है। विद्वान् पुरुष इसी प्रकार कन्यादानकी विधि बताते हैं। वे इसी निश्चयपर पहुँचे हुए हैं ॥ ५५ ॥

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम्।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ॥ ५६ ॥

'जो अनुकूल हो, अपने वंशके अनुरूप हो, अपने पिता-माता या भाईके द्वारा दी गयी हो और प्रज्वलित अग्निके समीप बैठी हो, ऐसी पत्नीको श्रेष्ठ द्विज अग्निकी परिक्रमा करके शास्त्रविधिके अनुसार ग्रहण करे' ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मकथने चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मका वर्णनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

कन्याके विवाहका तथा कन्या और दौहित्र आदिके उत्तराधिकारका विचार

युधिष्ठिर उवाच

कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः पतिश्चेन्नास्ति कश्चन।
तत्र का प्रतिपत्तिः स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जिस कन्याका मूल्य

ले लिया गया हो, उसका ब्याह करनेके लिये यदि कोई उपस्थित न हो, अर्थात् मूल्य देनेवाला परदेश चला गया हो और उसके भयसे दूसरा पुरुष भी उस कन्यासे विवाह करनेको तैयार न हो तो उसके पिताको क्या करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

यापुत्रकस्य ऋद्धस्य प्रतिपाल्या तदा भवेत् ।
अथ चेन्नाहरेच्छुल्कं क्रीता शुल्कप्रदस्य सा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! यदि संतानहीन धनीसे कन्याका मूल्य लिया गया है तो पिताका कर्तव्य है कि वह उसके लौटनेतक कन्याकी हर तरहसे रक्षा करे । खरीदी हुई कन्याका मूल्य जबतक लौटा नहीं दिया जाता, तबतक वह कन्या मूल्य देनेवालेकी ही मानी जाती है ॥ २ ॥

तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात् ।
न तस्मान्मन्त्रवत्कार्यं कश्चित् कुर्वीत किंचन॥ ३ ॥

जिस न्यायोचित उपायसे सम्भव हो, उसीके द्वारा वह कन्या अपने मूल्यदाता पतिके लिये ही संतान उत्पन्न करनेकी इच्छा करे । अतः दूसरा कोई पुरुष वैदिक मन्त्रयुक्त विधिसे उसका पाणिग्रहण या और कोई कार्य नहीं कर सकता ॥

स्वयंवृतेन साऽऽज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत ।
तत् तस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥ ४ ॥

सावित्रीने पिताकी आज्ञा लेकर स्वयं चुने हुए पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया था । उसके इस कार्यकी दूसरे धर्मज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं; परंतु कुछ लोग नहीं भी करते हैं ॥ ४ ॥

एतत् तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधवः ।
साधूनां पुनराचारो गरीयान् धर्मलक्षणः ॥ ५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि दूसरे सत्पुरुषोंने ऐसा नहीं किया है और कुछ कहते हैं कि अन्य सत्पुरुषोंने भी कभी-कभी ऐसा किया है । अतः श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार ही धर्मका सर्वश्रेष्ठ लक्षण है ॥ ५ ॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे सुक्रतुर्वाक्यमब्रवीत् ।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

इसी प्रसंगमें विदेहराज महात्मा जनकके नाती सुक्रतुने ऐसा कहा है ॥ ६ ॥

असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ।
अत्र प्रश्नः संशयो वा सतामेवमुपालभेत् ॥ ७ ॥

दुराचारियोंके मार्गका शास्त्रोंद्वारा कैसे अनुमोदन किया जा सकता है ? इस विषयमें सत्पुरुषोंके समक्ष प्रश्न, संशय अथवा उपालम्भ कैसे उपस्थित किया जा सकता है ? ॥७॥

असदेव हि धर्मस्य प्रदानं धर्म आसुरः ।
नानुशुश्रुम जात्वेतामिमां पूर्वेषु कर्मसु ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ सदा पिता, पति या पुत्रोंके संरक्षणमें ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं होतीं । यह पुरातन धर्म है । इस धर्मका खण्डन करना असत् कर्म या आसुर धर्म है । पूर्वकालके बड़े-बूढ़ोंमें विवाहके अवसरोंपर कभी इस आसुरी पद्धतिका अपनाया जाना हमने नहीं सुना है ॥ ८ ॥

भार्यापत्योर्हि सम्बन्धः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एव तु ।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः ॥ ९ ॥

पति और पत्नीका अथवा स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ एवं सूक्ष्म है । रति उनका साधारण धर्म है । यह बात भी राजा सुक्रतुने कही थी ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ केन प्रमाणेन पुंसामादीयते धनम् ।
पुत्रवद्धि पितुस्तस्य कन्या भवितुमर्हति ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पिताके लिये पुत्री भी तो पुत्रके ही समान होती है; फिर उसके रहते हुए किस प्रमाणसे केवल पुरुष ही धनके अधिकारी होते हैं ? ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! पुत्र अपने आत्माके समान है और कन्या भी पुत्रके ही तुल्य है, अतः आत्मस्वरूप पुत्रके रहते हुए दूसरा कोई उसका धन कैसे ले सकता है ? ॥११॥

मातुश्च यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव तद् रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥ १२ ॥

माताको दहेजमें जो धन मिलता है, उसपर कन्याका ही अधिकार है; अतः जिसके कोई पुत्र नहीं है, उसके धनको पानेका अधिकारी उसका दौहित्र (नाती) ही है । वही उस धनको ले सकता है ॥ १२ ॥

ददाति हि स पिण्डान् वै पितुर्मातामहस्य च ।
पुत्रदौहित्रयोरेव विशेषो नास्ति धर्मतः ॥ १३ ॥

दौहित्र अपने पिता और नानाको भी पिण्ड देता है । धर्मकी दृष्टिसे पुत्र और दौहित्रमें कोई अन्तर नहीं है ॥१३॥

अन्यत्र जामया सार्धं प्रजानां पुत्र ईहते ।
दुहितान्यत्र जातेन पुत्रेणापि विशिष्यते ॥ १४ ॥

अन्यत्र अर्थात् यदि पहले कन्या उत्पन्न हुई और वह पुत्ररूपमें स्वीकार कर ली गयी तथा उसके बाद पुत्र भी पैदा हुआ तो वह पुत्र उस कन्याके साथ ही पिताके धनका अधिकारी होता है । यदि दूसरेका पुत्र गोद लिया गया हो तो उस दत्तक पुत्रकी अपेक्षा अपनी सगी बेटी ही श्रेष्ठ मानी

जाती है (अतः वह पैतृक धनके अधिक भागकी अधिकारिणी है) ॥ १४ ॥

दौहित्रकेण धर्मेण नात्र पश्यामि कारणम्।
विक्रीतासु हि ये पुत्रा भवन्ति पितुरेव ते ॥ १५ ॥

जो कन्याएँ मूल्य लेकर बेच दी गयी हों, उनसे उत्पन्न होनेवाले पुत्र केवल अपने पिताके ही उत्तराधिकारी होते हैं। उन्हें दौहित्रक धर्मके अनुसार नानाके धनका अधिकारी बनानेके लिये कोई युक्तिसंगत कारण मैं नहीं देखता ॥ १५ ॥

असूयवस्त्वधर्मिष्ठाः परस्वादायिनः शठाः।
आसुरादधिसम्भूता धर्माद् विषमवृत्तयः ॥ १६ ॥

आसुर विवाहसे जिन पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है, वे दूसरोंके दोष देखनेवाले, पापाचारी, पराया धन हड़पनेवाले, शठ तथा धर्मके विपरीत बर्ताव करनेवाले होते हैं ॥ १६ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥ १७ ॥

इस विषयमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले तथा धर्मशास्त्रों और धर्ममर्यादाओंमें स्थित रहनेवाले धर्मज्ञ पुरुष यमकी गायी हुई गाथाका इस प्रकार वर्णन करते हैं— ॥ १७ ॥

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति।
कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥ १८ ॥
सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये।
स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूढः समश्नुते ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य अपने पुत्रको बेचकर धन पाना चाहता है अथवा जीविकाके लिये मूल्य लेकर कन्याको बेच देता है, वह मूढ़ कुम्भीपाक आदि सात नरकोंसे भी निकृष्ट कालसूत्र नामक नरकमें पड़कर अपने ही मल-मूत्र और पसीनेका भक्षण करता है' ॥ १८-१९ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पो वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः ॥ २० ॥

राजन्! कुछ लोग आर्ष विवाहमें एक गाय और एक बैल—इन दो पशुओंको मूल्यके रूपमें लेनेका विधान बताते हैं, परंतु यह भी मिथ्या ही है; क्योंकि मूल्य थोड़ा लिया जाय या बहुत, उतनेहीसे वह कन्याका विक्रय हो जाता है ॥

यद्यप्याचरितः कैश्चिन्नैष धर्मः सनातनः।
अन्येषामपि दृश्यन्ते लोकतः सम्प्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

यद्यपि कुछ पुरुषोंने ऐसा आचरण किया है; परंतु यह सनातन धर्म नहीं है। दूसरे लोगोंमें भी लोकाचारवश बहुत-सी प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं ॥ २१ ॥

वश्यां कुमारीं बलतो ये तां समुपभुञ्जते।
एते पापस्य कर्तारस्तमस्यन्धे च शेरते ॥ २२ ॥

जो किसी कुमारी कन्याको बलपूर्वक अपने वशमें करके उसका उपभोग करते हैं, वे पापाचारी मनुष्य अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हैं ॥ २२ ॥

अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः।
अधर्ममूलैर्हि धनैस्तैर्न धर्मोऽथ कश्चन ॥ २३ ॥

किसी दूसरे मनुष्यको भी नहीं बेचना चाहिये; फिर अपनी संतानको बेचनेकी तो बात ही क्या! अधर्ममूलक धनसे किया हुआ कोई भी धर्म सफल नहीं होता ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे यमगाथा नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मसम्बन्धी यमगाथानामक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्त्रियोंके वस्त्राभूषणोंसे सत्कार करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः।
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः ॥ १ ॥
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्।
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात् कन्यायै तदशेषतः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीन इतिहासके जाननेवाले विद्वान् दक्षप्रजापतिके वचनोंको इस प्रकार उद्धृत करते हैं। कन्याके भाई-बन्धु यदि उसके वस्त्र-आभूषणके लिये धन ग्रहण करते हैं और स्वयं उसमेंसे कुछ भी नहीं लेते हैं तो वह कन्याका विक्रय नहीं है। वह तो उन कन्याओंका सत्कारमात्र है। वह परम दयालुतापूर्ण कार्य है। वह सारा धन जो कन्याके लिये ही प्राप्त हुआ हो, सब-का-सब कन्याको ही अर्पित कर देना चाहिये ॥ १-२ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३ ॥

बहुविध कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पिता, भाई, श्वशुर और देवरोंको उचित है कि वे नववधूका पूजन—वस्त्राभूषणोंद्वारा सत्कार करें ॥ ३ ॥

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥ ४ ॥
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।

नरेश्वर! यदि स्त्रीकी रुचि पूर्ण न की जाय तो वह अपने

पतिको प्रसन्न नहीं कर सकती और उस अवस्थामें उस पुरुषकी संतानवृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये सदा ही स्त्रियोंका सत्कार और दुलार करना चाहिये ॥ ४½ ॥

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥ ५ ॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवतालोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥ ५½ ॥

तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥ ६ ॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव ॥ ७ ॥

जब कुलकी बहू-बेटियाँ दुःख मिलनेके कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुलका नाश हो जाता है। वे खिन्न होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्याके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। पृथ्वीनाथ! वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है ॥ ६-७ ॥

स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम्।
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ॥ ८ ॥
ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः।
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः ॥ ९ ॥
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः।
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः ॥ १० ॥

महाराज मनु जब स्वर्गको जाने लगे, तब उन्होंने स्त्रियोंको पुरुषोंके हाथमें सौंप दिया और कहा—'मनुष्यो! स्त्रियाँ अबला, थोड़ेसे वस्त्रोंसे काम चलानेवाली, अकारण हितसाधन करनेवाली, सत्यलोकको जीतनेकी इच्छावाली (सत्यपरायणा), ईर्ष्यालु, मान चाहनेवाली, अत्यन्त कोप करनेवाली, पुरुषके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाली और भोलीभाली होती हैं। स्त्रियाँ सम्मान पानेके योग्य हैं, अतः तुम सब लोग उनका सम्मान करो; क्योंकि स्त्री-जाति ही धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। तुम्हारे रतिभोग, परिचर्या और नमस्कार स्त्रियोंके ही अधीन होंगे ॥ ८-१० ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ॥ ११ ॥
सम्मान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ।

'संतानकी उत्पत्ति, उत्पन्न हुए बालकका लालन-पालन तथा लोकयात्राका प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह—इन सबको स्त्रियोंके ही अधीन समझो। यदि तुमलोग स्त्रियोंका सम्मान करोगे तो तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे' ॥ ११½ ॥

विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥ १२ ॥
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥ १३ ॥

(स्त्रियोंके कर्तव्यके विषयमें) विदेहराज जनककी पुत्रीने एक श्लोकका गान किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—स्त्रीके लिये कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है। उसका धर्म है अपने पतिकी सेवा। उसीसे स्त्रियाँ स्वर्गलोकपर विजय पा लेती हैं ॥ १२-१३ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

कुमारावस्थामें स्त्रीकी रक्षा उसका पिता करता है, जवानीमें पति उसका रक्षक है और वृद्धावस्थामें पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये ॥

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन! स्त्रियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहनेवाले पुरुषको उनका भलीभाँति सत्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करनेसे स्त्री श्री (लक्ष्मी) का स्वरूप बन जाती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे स्त्रीप्रशंसा नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसंगमें स्त्रीकी प्रशंसानामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्राह्मण आदि वर्णोंकी दायभाग-विधिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सर्वशास्त्रविधानज्ञ राजधर्मविदुत्तम।
अतीव संशयच्छेत्ता भवान् वै प्रथितः क्षितौ ॥ १ ॥
कश्चित्तु संशयो मेऽस्ति तन्मे ब्रूहि पितामह।
जातेऽस्मिन् संशये राजन् नान्यं पृच्छेम कंचन ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके विधानके ज्ञाता तथा राजधर्मके विद्वानोंमें श्रेष्ठ पितामह! आप इस भूमण्डलमें सम्पूर्ण संशयोंका सर्वथा निवारण करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। मेरे हृदयमें एक संशय और है, उसका मेरे लिये समाधान कीजिये। राजन्! इस उत्पन्न हुए संशयके विषयमें मैं दूसरे किसीसे नहीं पूछूँगा ॥ १-२ ॥

यथा नरेण कर्तव्यं धर्ममार्गानुवर्तिना।

एतत् सर्वं महाबाहो भवान् व्याख्यातुमर्हति ॥ ३ ॥

महाबाहो ! धर्ममार्गका अनुसरण करनेवाले मनुष्यका इस विषयमें जैसा कर्तव्य हो, इस सबकी आप स्पष्टरूपसे व्याख्या करें ॥ ३ ॥

चतस्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छतः ॥ ४ ॥

पितामह ! ब्राह्मणके लिये चार स्त्रियाँ शास्त्रविहित हैं–ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा । इनमेंसे शूद्रा केवल रतिकी इच्छावाले कामी पुरुषके लिये विहित है ॥ ४ ॥

तत्र जातेषु पुत्रेषु सर्वासां कुरुसत्तम ।
आनुपूर्व्येण कस्तेषां पित्र्यं दायादमर्हति ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इन सबके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हुए हों, उनमेंसे कौन क्रमशः पैतृक धनको पानेका अधिकारी है ?॥

केन वा किं ततो हार्यं पितृवित्तात् पितामह ।
एतदिच्छामि कथितं विभागस्तेषु यः स्मृतः ॥ ६ ॥

पितामह ! किस पुत्रको पिताके धनमेंसे कौन-सा भाग मिलना चाहिये ? उनके लिये जो विभाग नियत किया गया है, उसका वर्णन मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
एतेषु विहितो धर्मो ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं; अतः इन तीन वर्णोंमें ही ब्राह्मणका विवाह धर्मतः विहित है ॥ ७ ॥

वैषम्यादथवा लोभात् कामाद् वापि परंतप ।
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ८ ॥

परंतप नरेश ! अन्यायसे, लोभसे अथवा कामनासे शूद्र जातिकी कन्या भी ब्राह्मणकी भार्या होती है; परंतु शास्त्रोंमें इसका कहीं विधान नहीं मिलता ॥ ८ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
प्रायश्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥
तत्र जातेष्वपत्येषु द्विगुणं स्याद् युधिष्ठिर ।

शूद्रजातिकी स्त्रीको अपनी शय्यापर सुलाकर ब्राह्मण अधोगतिको प्राप्त होता है । साथ ही शास्त्रीय विधिके अनुसार वह प्रायश्चित्तका भागी होता है । युधिष्ठिर ! शूद्राके गर्भसे संतान उत्पन्न करनेपर ब्राह्मणको दूना पाप लगता है और उसे दूने प्रायश्चित्तका भागी होना पड़ता है ॥ ९½ ॥

आपद्यमानमृक्थं तु सम्प्रवक्ष्यामि भारत ॥ १० ॥
लक्षण्यं गोवृषो यानं यत् प्रधानतमं भवेत् ।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत् पुत्र एकांशं वै पितुर्धनात् ॥ ११ ॥
शेषं तु दशधा कार्यं ब्राह्मणस्वं युधिष्ठिर ।
तत्र तेनैव हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात् ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं ब्राह्मण आदि वर्णोंकी कन्याओंके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रोंको पैतृक धनका जो भाग प्राप्त होता है, उसका वर्णन करूँगा । ब्राह्मणकी ब्राह्मणी पत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न गृह आदि, बैल, सवारी तथा अन्य जो-जो श्रेष्ठतम पदार्थ हों, उन सबको अर्थात् पैतृक धनके प्रधान अंशको पहले ही अपने अधिकारमें कर ले । युधिष्ठिर ! फिर ब्राह्मणका जो शेष धन हो, उसके दस भाग करने चाहिये । पिताके उस धनमें-से पुनः चार भाग ब्राह्मणीके पुत्रको ही ले लेने चाहिये ॥

क्षत्रियायास्तु यः पुत्रो ब्राह्मणः सोऽप्यसंशयः ।
स तु मातुर्विशेषेण त्रीनंशान् हर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

क्षत्रियाका जो पुत्र है, वह भी ब्राह्मण ही होता है—इसमें संशय नहीं है । वह माताकी विशिष्टताके कारण पैतृक धनका तीन भाग ले लेनेका अधिकारी है ॥ १३ ॥

वर्णे तृतीये जातस्तु वैश्यायां ब्राह्मणादपि ।
द्विरंशस्तेन हर्तव्यो ब्राह्मणस्वाद् युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! तीसरे वर्णकी कन्या वैश्यामें जो ब्राह्मणसे पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मणके धनमेंसे दो भाग लेने चाहिये॥ १४॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो नित्यादेयधनः स्मृतः ।
अल्पं चापि प्रदातव्यं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १५ ॥

भारत ! ब्राह्मणसे शूद्रामें जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे तो धन न देनेका ही विधान है तो भी शूद्राके पुत्रको पैतृक धनका स्वल्पतम भाग—एक अंश दे देना चाहिये ॥ १५॥

दशधा प्रविभक्तस्य धनस्यैष भवेत् क्रमः ।
सवर्णासु तु जातानां समान् भागान् प्रकल्पयेत्॥ १६॥

दस भागोंमें विभक्त हुए बँटवारेका यही क्रम होता है । परतु जो समान वर्णकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं, उन सबके लिये बराबर भागोंकी कल्पना करनी चाहिये ॥

अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात् ।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणसे शूद्राके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ब्राह्मण नहीं मानते हैं; क्योंकि उसमें ब्राह्मणोचित निपुणता नहीं पायी जाती । शेष तीन वर्णकी स्त्रियोंसे ब्राह्मणद्वारा जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मण होता है ॥ १७ ॥

स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते ।
हरेच्च दशमं भागं शूद्रापुत्रः पितुर्धनात् ॥ १८ ॥

चार ही वर्ण बताये हैं, पाँचवाँ वर्ण नहीं मिलता । शूद्राका पुत्र ब्राह्मण पिताके धनसे उसका दसवाँ भाग ले सकता है ॥ १८ ॥

तत्तु दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।
अवश्यं हि धनं देयं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १९ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये, बिना दिये उसे लेनेका कोई अधिकार नहीं है। भरतनन्दन! किंतु शूद्राके पुत्रको भी धनका भाग अवश्य दे देना चाहिये॥

आनृशंस्यं परो धर्म इति तस्मै प्रदीयते।
यत्र तत्र समुत्पन्नं गुणायैवोपपद्यते॥ २०॥

दया सबसे बड़ा धर्म है। यह समझकर ही उसे धनका भाग दिया जाता है। दया जहाँ भी उत्पन्न हो, वह गुण-कारक ही होती है॥ २०॥

यद्यप्येष सपुत्रः स्यादपुत्रो यदि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद् दद्याच्छूद्रापुत्राय भारत॥ २१॥

भारत! ब्राह्मणके अन्य वर्णकी स्त्रियोंसे पुत्र हों या न हों, वह शूद्राके पुत्रको दसवें भागसे अधिक धन न दे॥

त्रैवार्षिकाद् यदा भक्तादधिकं स्याद् द्विजस्य तु।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद् धनम्॥ २२॥

जब ब्राह्मणके पास तीन वर्षतक निर्वाह होनेसे अधिक धन एकत्र हो जाय, तब वह उस धनसे यज्ञ करे। धनका व्यर्थ संग्रह न करे॥ २२॥

त्रिसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य वै।
भर्त्रा तच्च धनं दत्तं यथार्हं भोक्तुमर्हति॥ २३॥

स्त्रीको तीन हजारसे अधिक लागतका धन नहीं देना चाहिये। पतिके देनेपर ही उस धनको वह यथोचित रूपसे उपभोगमें ला सकती है॥ २३॥

स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम्।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात् कथंचन॥ २४॥

स्त्रियोंको पतिके धनसे जो हिस्सा मिलता है, उसका उपभोग ही (उसके लिये) फल माना गया है। पतिके दिये हुए स्त्रीधनसे पुत्र आदिको कुछ नहीं लेना चाहिये॥ २४॥

स्त्रियास्तु यद् भवेद् वित्तं पित्रा दत्तं युधिष्ठिर।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत् कन्या यथा पुत्रस्तथा हि सा॥ २५॥

युधिष्ठिर! ब्राह्मणीको पिताकी ओरसे जो धन मिला हो, उस धनको उसकी पुत्री ले सकती है; क्योंकि जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है॥ २५॥

सा हि पुत्रसमा राजन् विहिता कुरुनन्दन।
एवमेव समुद्दिष्टो धर्मो वै भरतर्षभ।
एवं धर्ममनुस्मृत्य न वृथा साधयेद् धनम्॥ २६॥

कुरुनन्दन! भरतकुलभूषण नरेश! पुत्री पुत्रके समान ही है—ऐसा शास्त्रका विधान है। इस प्रकार वही धनके विभाजनकी धर्मयुक्त प्रणाली बतायी गयी है। इस तरह धर्म-का चिन्तन एवं अनुसरण करते हुए ही धनका उपार्जन एवं संग्रह करे। परंतु उसे व्यर्थ न होने दे—यज्ञ-यागादिके द्वारा सफल कर ले॥ २६॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यद्यदेयधनः स्मृतः।
केन प्रतिविशेषेण दशमोऽप्यस्य दीयते॥ २७॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! यदि ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुए पुत्रको धन न देने योग्य बताया गया है तो किस विशेषताके कारण उसको पैतृक धनका दसवाँ भाग भी दिया जाता है?॥ २७॥

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।
क्षत्रियायां तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि॥ २८॥

ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उपन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण हो—इसमें कोई संशय ही नहीं है; वैसे ही क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र भी ब्राह्मण ही होते हैं॥ २८॥

कस्मात् तु विषमं भागं भजेरन् नृपसत्तम।
यदा सर्वे त्रयो वर्णास्त्वयोक्ता ब्राह्मणा इति॥ २९॥

नृपश्रेष्ठ! जब आपने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंको ब्राह्मण ही बताया है, तब वे पैतृक धनका समान भाग क्यों नहीं पाते हैं? क्यों वे विषम भाग ग्रहण करें?॥ २९॥

भीष्म उवाच

दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परंतप।
प्रोक्तेन चैव नाम्नायं विशेषः सुमहान् भवेत्॥ ३०॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! लोकमें सब स्त्रियोंका 'दारा' इस एक नामसे ही परिचय दिया जाता है। इस तथाकथित नामसे हीं चारों वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें महान् अन्तर हो जाता है*॥ ३०॥

तिस्रः कृत्वा पुरो भार्याः पश्चाद् विन्देत ब्राह्मणीम्।
सा ज्येष्ठा सा च पूज्या स्यात् सा च भार्या गरीयसी॥

ब्राह्मण पहले अन्य तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंको व्याह लानेके पश्चात् भी यदि ब्राह्मणकन्यासे विवाह करे तो वही अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा ज्येष्ठ, अधिक आदर-सत्कारके योग्य तथा विशेष गौरवकी अधिकारिणी होगी॥ ३१॥

स्नानं प्रसाधनं भर्तुर्दन्तधावनमञ्जनम्।
हव्यं कव्यं च यच्चान्यद् धर्मयुक्तं गृहे भवेत्॥ ३२॥

* 'दार' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'आद्रियन्ते त्रिवर्गार्थिभिः इति दाराः' धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंद्वारा जिनका आदर किया जाता है, वे दारा हैं। जहाँतक भोगविषयक आदर है, वह तो सभी स्त्रियोंके साथ समान है, परंतु व्यावहारिक जगत्‌में जो पतिके द्वारा आदर प्राप्त होता है, वह वर्णक्रमसे यथायोग्य न्यूनाधिक मात्रामें ही उपलब्ध होता है। यही बात उनके पुत्रोंके सम्बन्धमें भी लागू होती है। इसीलिये उनके पुत्रोंको पैतृक धनके विषयमें कम और अधिक भाग ग्रहण करनेका अधिकार है।

न तस्यां जातु तिष्ठन्त्यामन्या तत् कर्तुमर्हति ।
ब्राह्मणी त्वेव कुर्याद् वा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! पतिको स्नान कराना, उनके लिये शृङ्गार-सामग्री प्रस्तुत करना, दाँतकी सफाईके लिये दातौन और मंजन देना, पतिके नेत्रोंमें आँजन या सुरमा लगाना, प्रतिदिन हवन और पूजनके समय हव्य और कव्यकी सामग्री जुटाना तथा घरमें और भी जो धार्मिक कृत्य हो, उसके सम्पादनमें योग देना--ये सब कार्य ब्राह्मणके लिये ब्राह्मणीको ही करने चाहिये । उसके रहते हुए दूसरे किसी वर्णवाली स्त्रीको यह सब करनेका अधिकार नहीं है ॥ ३२-३३ ॥

अन्नं पानं च माल्यं च वासांस्याभरणानि च ।
ब्राह्मण्यैतानि देयानि भर्तुः सा हि गरीयसी ॥ ३४ ॥

पतिको अन्न, पान, माला, वस्त्र और आभूषण--ये सब वस्तुएँ ब्राह्मणी ही समर्पित करे; क्योंकि वही उसके लिये सब स्त्रियोंसे अधिक गौरवकी अधिकारिणी है ॥ ३४ ॥

मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ।
तत्राप्येष महाराज दृष्टो धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

महाराज कुरुनन्दन ! मनुने भी जिस धर्मशास्त्रका प्रतिपादन किया है, उसमें भी यही सनातन धर्म देखा गया है ॥ ३५ ॥

अथ चेदन्यथा कुर्याद् यदि कामाद् युधिष्ठिर ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर ! यदि ब्राह्मण कामके वशीभूत होकर इस शास्त्रीय पद्धतिके विपरीत बर्ताव करता है, वह ब्राह्मण-चाण्डाल समझा जाता है जैसा कि पहले कहा गया है ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण्याः सदृशः पुत्रः क्षत्रियायाश्च यो भवेत् ।
राजन् विशेषो यस्त्वत्र वर्णयोरुभयोरपि ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्राह्मणके समान ही जो क्षत्रियाका पुत्र होगा, उसमें भी उभयवर्णसम्बन्धी अन्तर तो रहेगा ही ॥ ३७ ॥

न तु जात्या समा लोके ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ।
ब्राह्मण्याः प्रथमः पुत्रो भूयान् स्याद् राजसत्तम ॥ ३८ ॥
भूयो भूयोऽपि संहार्यः पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ।

क्षत्रियकन्या संसारमें अपनी जातिद्वारा ब्राह्मणकन्याके बराबर नहीं हो सकती । नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार ब्राह्मणीका पुत्र क्षत्रियाके पुत्रसे प्रथम एवं ज्येष्ठ होगा । युधिष्ठिर ! इसलिये पिताके धनमेंसे ब्राह्मणीके पुत्रको अधिक-अधिक भाग देना चाहिये ॥ ३८½ ॥

यथा न सदृशी जातु ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ॥ ३९ ॥
क्षत्रियायास्तथा वैश्या न जातु सदृशी भवेत् ।

जैसे क्षत्रिया कभी ब्राह्मणीके समान नहीं हो सकती, वैसे ही वैश्या भी कभी क्षत्रियाके तुल्य नहीं हो सकती ॥

श्रीश्च राज्यं च कोशश्च क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ॥ ४० ॥
विहितं दृश्यते राजन् सागरान्तां च मेदिनीम् ।
क्षत्रियो हि स्वधर्मेण श्रियं प्राप्नोति भूयसीम् ।
राजा दण्डधरो राजन् रक्षा नान्यत्र क्षत्रियात् ॥ ४१ ॥

राजा युधिष्ठिर ! लक्ष्मी, राज्य और कोष—यह सब शास्त्रमें क्षत्रियोंके लिये ही विहित देखा जाता है । राजन् ! क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तथा बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है । नरेश्वर ! राजा (क्षत्रिय) दण्ड धारण करनेवाला होता है । क्षत्रियके सिवा और किसीसे रक्षाका कार्य नहीं हो सकता ॥ ४०-४१ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागा देवानामपि देवताः ।
तेषु राजन् प्रवर्तेत पूजया विधिपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! महाभाग ! ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं; अतः उनका विधिपूर्वक पूजन—आदर-सत्कार करते हुए ही उनके साथ बर्ताव करे ॥ ४२ ॥

प्रणीतमृषिभिर्ज्ञात्वा धर्मं शाश्वतमव्ययम् ।
लुप्यमानं स्वधर्मेण क्षत्रियो ह्येष रक्षति ॥ ४३ ॥

ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित अविनाशी सनातन धर्मको लुप्त होता जानकर क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार उसकी रक्षा करता है ॥ ४३ ॥

दस्युभिर्ह्रियमाणं च धनं दारांश्च सर्वशः ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

डाकुओंद्वारा लूटे जाते हुए सभी वर्णोंके धन और स्त्रियोंका राजा ही रक्षक होता है ॥ ४४ ॥

भूयान् स्यात् क्षत्रियापुत्रो वैश्यापुत्रान्न संशयः ।
भूयस्तेनापि हर्तव्यं पितृवित्ताद् युधिष्ठिर ॥ ४५ ॥

इन सब दृष्टियोंसे क्षत्रियाका पुत्र वैश्याके पुत्रसे श्रेष्ठ होता है--इसमें संशय नहीं है । युधिष्ठिर ! इसलिये शेष पैतृक धनमेंसे उसको भी विशेष भाग लेना ही चाहिये ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं ते विधिवद् राजन् ब्राह्मणस्य पितामह ।
इतरेषां तु वर्णानां कथं वै नियमो भवेत् ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा— पितामह ! आपने ब्राह्मणके धनका विभाजन विधिपूर्वक बता दिया । अब यह बताइये कि अन्य वर्णोंके धनके बँटवारेका कैसा नियम होना चाहिये ? ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

क्षत्रियस्यापि भार्ये द्वे विहिते कुरुनन्दन ।
तृतीया च भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ४७ ॥

भीष्मजीने कहा--कुरुनन्दन ! क्षत्रियके लिये भी दो वर्णोंकी भार्याएँ शास्त्रविहित हैं । तीसरी शूद्रा भी उसकी भार्या हो सकती है । परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता ॥

एष एव क्रमो हि स्यात् क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।

अष्टधा तु भवेत् कार्यं क्षत्रियस्वं जनाधिप ॥ ४८ ॥

राजा युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंके लिये भी बँटवारेका यही क्रम है। क्षत्रियके धनको आठ भागोंमें विभक्त करना चाहिये ॥ ४८ ॥

क्षत्रियाया हरेत् पुत्रश्चतुरोंऽशान् पितुर्धनात्।
युद्धावहारिकं यच्च पितुः स्यात् स हरेत् तु तत् ॥ ४९ ॥

क्षत्रियाका पुत्र उस पैतृक धनमेंसे चार भाग स्वयं ग्रहण कर ले तथा पिताकी जो युद्धसामग्री है, उसको भी वही ले ले ॥ ४९ ॥

वैश्यापुत्रस्तु भागांस्त्रीञ्शूद्रापुत्रस्तथाष्टमम्।
सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ॥ ५० ॥

शेष धनमेंसे तीन भाग वैश्याका पुत्र ले ले और अवशिष्ट आठवाँ भाग शूद्राका पुत्र प्राप्त करे। वह भी पिताके देनेपर ही उसे लेना चाहिये। बिना दिया हुआ धन ले जानेका उसे अधिकार नहीं है ॥ ५० ॥

एकैव हि भवेद् भार्या वैश्यस्य कुरुनन्दन।
द्वितीया तु भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ५१ ॥

कुरुनन्दन ! वैश्यकी एक ही वैश्यकन्या ही धर्मानुसार भार्या हो सकती है। दूसरी शूद्रा भी होती है, परंतु शास्त्रसे उसका समर्थन नहीं होता है ॥ ५१ ॥

वैश्यस्य वर्तमानस्य वैश्यायां भरतर्षभ।
शूद्रायां चापि कौन्तेय तयोर्विनियमः स्मृतः ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार ! वैश्यके वैश्या और शूद्रा दोनोंके गर्भसे पुत्र हों तो उनके लिये भी धनके बँटवारेका वैसा ही नियम है ॥ ५२ ॥

पञ्चधा तु भवेत् कार्यं वैश्यस्वं भरतर्षभ।
तयोरपत्ये वक्ष्यामि विभागं च जनाधिप ॥ ५३ ॥

भरतभूषण नरेश ! वैश्यके धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये। फिर वैश्या और शूद्राके पुत्रोंमें उस धनका विभाजन कैसे करना चाहिये, यह बताता हूँ ॥ ५३ ॥

वैश्यापुत्रेण हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात्।
पञ्चमस्तु स्मृतो भागः शूद्रापुत्राय भारत ॥ ५४ ॥

भरतनन्दन ! उस पैतृक धनमेंसे चार भाग तो वैश्याके पुत्रको ले लेने चाहिये और पाँचवाँ अंश शूद्राके पुत्रका भाग बताया गया है ॥ ५४ ॥

सोऽपि दत्तं हरेत् पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति।
त्रिभिर्वर्णैः सदा जातः शूद्रोऽदेयधनो भवेत् ॥ ५५ ॥

वह भी पिताके देनेपर ही उस धनको ले सकता है। बिना दिया हुआ धन लेनेका उसे कोई अधिकार नहीं है। तीनों वर्णोंसे उत्पन्न हुआ शूद्र सदा धन न देनेके योग्य ही होता है ॥ ५५ ॥

शूद्रस्य स्यात् सवर्णैव भार्या नान्या कथंचन।
समभागाश्च पुत्राः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ ५६ ॥

शूद्रकी एक ही अपनी जातिकी ही स्त्री भार्या होती है। दूसरी किसी प्रकार नहीं। उसके सभी पुत्र, वे सौ भाई क्यों न हों, पैतृक धनमेंसे समान भागके अधिकारी होते हैं ॥ ५६ ॥

जातानां समवर्णायाः पुत्राणामविशेषतः।
सर्वेषामेव वर्णानां समभागो धनात् स्मृतः ॥ ५७ ॥

समस्त वर्णोंके सभी पुत्रोंका, जो समान वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए हैं, सामान्यतः पैतृक धनमें समान भाग माना गया है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठस्य भागो ज्येष्ठः स्यादेकांशो यः प्रधानतः।
एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ ५८ ॥

कुन्तीनन्दन ! ज्येष्ठ पुत्रका भाग भी ज्येष्ठ होता है। उसे प्रधानतः एक अंश अधिक मिलता है। पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने पैतृक धनके बँटवारेकी यह विधि बतायी थी ॥

समवर्णासु जातानां विशेषोऽस्त्यपरो नृप।
विवाहवैशिष्ट्यकृतः पूर्वपूर्वो विशिष्यते ॥ ५९ ॥

नरेश्वर ! समान वर्णकी स्त्रियोंमें जो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, उनमें यह दूसरी विशेषता ध्यान देने योग्य है। विवाहकी विशिष्टताके कारण उन पुत्रोंमें भी विशिष्टता आ जाती है। अर्थात् पहले विवाहकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र श्रेष्ठ और दूसरे विवाहकी स्त्रीसे पैदा हुआ पुत्र कनिष्ठ होता है ॥ ५९ ॥

हरेज्ज्येष्ठः प्रधानांशमेकं तुल्यासु तेष्वपि।
मध्यमो मध्यमं चैव कनीयांस्तु कनीयसम् ॥ ६० ॥

तुल्य वर्णवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए उन पुत्रोंमें भी जो ज्येष्ठ है, वह एक भाग ज्येष्ठांश ले सकता है। मध्यम पुत्रको मध्यम और कनिष्ठ पुत्रको कनिष्ठ भाग लेना चाहिये ॥

एवं जातिषु सर्वासु सवर्णः श्रेष्ठतां गतः।
महर्षिरपि चैतद् वै मारीचः काश्यपोऽब्रवीत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार सभी जातियोंमें समान वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही श्रेष्ठ होता है। मरीचि-पुत्र महर्षि कश्यपने भी यही बात बतायी है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे रिक्थविभागो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके अन्तर्गत पैतृक धनका विभागनामक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वर्णसंकर संतानोंकी उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अर्थाल्लोभाद् वा कामाद् वा वर्णानां चाप्यनिश्चयात्।
अज्ञानाद् वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः ॥ १ ॥
तेषामेतेन विधिना जातानां वर्णसंकरे।
को धर्मः कानि कर्माणि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धन पाकर या धनके लोभमें आकर अथवा कामनाके वशीभूत होकर जब उच्च वर्णकी स्त्री नीच वर्णके पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तब वर्णसंकर संतान उत्पन्न होती है। वर्णोंका निश्चय अथवा ज्ञान न होनेसे भी वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है। इस रीतिसे जो वर्णोंके मिश्रणद्वारा उत्पन्न हुए मनुष्य हैं, उनका क्या धर्म है ? और कौन-कौन-से कर्म हैं ? यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम्।
असृजत् स हि यज्ञार्थं पूर्वमेव प्रजापतिः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें प्रजापतिने यज्ञके लिये केवल चार वर्णों और उनके पृथक्-पृथक् कर्मोंकी ही रचना की थी ॥ ३ ॥

भार्याश्चतस्रो विप्रस्य द्वयोरात्मा प्रजायते।
आनुपूर्व्याद् द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी जो चार भार्याएँ बतायी गयी हैं, उनमेंसे दो स्त्रियों—ब्राह्मणी और क्षत्रियाके गर्भसे ब्राह्मण ही उत्पन्न होता है और शेष दो वैश्या और शूद्रा स्त्रियोंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं; वे ब्राह्मणत्वसे हीन क्रमशः माताकी जातिके समझे जाते हैं ॥ ४ ॥

परं शवाद् ब्राह्मणस्यैव पुत्रः
शूद्रापुत्रं पारशवं तमाहुः।
शुश्रूषकः स्वस्य कुलस्य स स्यात्
स्वचारित्रं नित्यमथो न जह्यात् ॥ ५ ॥

शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ ब्राह्मणका ही जो पुत्र है, वह शवसे अर्थात् शूद्रसे पर—उत्कृष्ट बताया गया है; इसीलिये ऋषिगण उसे पारशव कहते हैं। उसे अपने कुलकी सेवा करनी चाहिये और अपने इस सेवारूप आचारका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ५ ॥

सर्वानुपायानथ सम्प्रधार्य
समुद्धरेत् स्वस्य कुलस्य तन्त्रम्।
ज्येष्ठो यवीयानपि यो द्विजस्य
शुश्रूषया दानपरायणः स्यात् ॥ ६ ॥

शूद्रापुत्र सभी उपायोंका विचार करके अपनी कुल-परम्पराका उद्धार करे। वह अवस्थामें ज्येष्ठ होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी अपेक्षा छोटा ही समझा जाता है; अतः उसे त्रैवर्णिकोंकी सेवा करते हुए दानपरायण होना चाहिये ॥ ६ ॥

तिस्रः क्षत्रियसम्बन्धाद् द्वयोरात्मास्य जायते।
हीनवर्णास्तृतीयायां शूद्रा उग्रा इति स्मृतिः ॥ ७ ॥

क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा—ये तीन भार्याएँ होती हैं। इनमेंसे क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे क्षत्रियके सम्पर्कसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह क्षत्रिय ही होता है। तीसरी शूद्राके गर्भसे हीन वर्णवाले शूद्र ही उत्पन्न होते हैं; जिनकी उग्र संज्ञा है। ऐसा धर्मशास्त्रका कथन है ॥ ७ ॥

द्वे चापि भार्ये वैश्यस्य द्वयोरात्मास्य जायते।
शूद्रा शूद्रस्य चाप्येका शूद्रमेव प्रजायते ॥ ८ ॥

वैश्यकी दो भार्याएँ होती हैं—वैश्या और शूद्रा। उन दोनोंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह वैश्य ही होता है। शूद्रकी एक ही भार्या होती है शूद्रा, जो शूद्रको ही जन्म देती है ॥ ८ ॥

अतोऽविशिष्टस्त्वधमो गुरुदारप्रधर्षकः।
बाह्यं वर्णं जनयति चातुर्वर्ण्यविगर्हितम् ॥ ९ ॥

अतः वर्णोंमें नीचे दर्जेका शूद्र यदि गुरुजनों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंके साथ समागम करता है तो वह चारों वर्णोंद्वारा निन्दित वर्णबहिष्कृत (चाण्डाल आदि) को जन्म देता है ॥ ९ ॥

विप्रायां क्षत्रियो बाह्यं सूतं स्तोमक्रियापरम्।
वैश्यो वैदेहकं चापि मौद्गल्यमपवर्जितम् ॥ १० ॥

क्षत्रिय ब्राह्मणीके साथ समागम करनेपर उसके गर्भसे 'सूत' जातिका पुत्र उत्पन्न करता है, जो वर्णबहिष्कृत और स्तुति-कर्म करनेवाला (एवं रथीका काम करनेवाला) होता है। उसी प्रकार वैश्य यदि ब्राह्मणीके साथ समागम करे तो वह संस्कारभ्रष्ट 'वैदेहक' जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है, जिससे अन्तःपुरकी रक्षा आदिका काम लिया जाता है और इसीलिये जिसको 'मौद्गल्य' भी कहते हैं ॥ १० ॥

शूद्रश्चाण्डालमत्युग्रं वध्यघ्नं बाह्यवासिनम्।
ब्राह्मण्यां सम्प्रजायन्त इत्येते कुलपांसनाः।
एते मतिमतां श्रेष्ठ वर्णसंकरजाः प्रभो ॥ ११ ॥

इसी तरह शूद्र ब्राह्मणीके साथ समागम करके अत्यन्त भयंकर चाण्डालको जन्म देता है, जो गाँवके बाहर बसता है

और वध्यपुरुषोंको प्राणदण्ड आदि देनेका काम करता है। प्रभो ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! ब्राह्मणीके साथ नीच पुरुषोंका संसर्ग होनेपर ये सभी कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते हैं और वर्णसंकर कहलाते हैं ॥ ११ ॥

बन्दी तु जायते वैश्यान्मागधो वाक्यजीवनः।
शूद्रान्निषादो मत्स्यघ्नः क्षत्रियायां व्यतिक्रमात् ॥ १२ ॥

वैश्यके द्वारा क्षत्रिय जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र वन्दी और मागध कहलाता है। वह लोगोंकी प्रशंसा करके अपनी जीविका चलाता है। इसी प्रकार यदि शूद्र क्षत्रिय जातिकी स्त्रीके साथ प्रतिलोम समागम करता है तो उससे मछली मारनेवाले निषाद जातिकी उत्पत्ति होती है ॥

शूद्रादायोगवश्चापि वैश्यायां ग्राम्यधर्मिणः।
ब्राह्मणैरप्रतिग्राह्यस्तक्षा स्वधनजीवनः ॥ १३ ॥

और शूद्र यदि वैश्य जातिकी स्त्रीके साथ ग्राम्यधर्म (मैथुन) का आश्रय लेता है तो उससे 'आयोगव' जातिका पुत्र उत्पन्न होता है, जो बढ़ईका काम करके अपने कमाये हुए धनसे जीवन निर्वाह करता है। ब्राह्मणोंको उससे दान नहीं लेना चाहिये ॥ १३ ॥

एतेऽपि सदृशान् वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु।
मातृजात्याः प्रसूयन्ते ह्यवरा हीनयोनिषु ॥ १४ ॥

ये वर्णसंकर भी जब अपनी ही जातिकी स्त्रीके साथ समागम करते हैं, तब अपने ही समान वर्णवाले पुत्रोंको जन्म देते हैं और जब अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीसे संसर्ग करते हैं, तब नीच संतानोंकी उत्पत्ति होती है। ये संतानें अपनी माताकी जातिकी समझी जाती हैं ॥ १४ ॥

यथा चतुर्षु वर्णेषु द्वयोरात्मास्य जायते।
आनन्तर्यात् प्रजायन्ते तथा बाह्याः प्रधानतः ॥ १५ ॥

जैसे चार वर्णोंमेंसे अपने और अपनेसे एक वर्ण नीचेकी स्त्रियोंसे जो पुत्र उत्पन्न किया जाता है, वह अपने ही वर्णका माना जाता है और एक वर्णका व्यवधान देकर नीचेके वर्णोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न किये जानेवाले पुत्र प्रधान वर्णसे बाह्य—माताकी जातिवाले होते हैं, उसी प्रकार ये नौ—अम्बष्ठ, पारशव, उग्र, सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, निषाद और आयोगव—अपनी जातिमें और अपनेसे नीचेवाली जातिमें जब संतान उत्पन्न करते हैं, तब वह संतान पिताकी ही जातिवाली होती है और जब एक जातिका अन्तर देकर नीचेकी जातियोंमें संतान उत्पन्न करते हैं, तब वे संतानें पिताकी जातिसे हीन माताओंकी जातिवाली होती हैं ॥ १५ ॥

ते चापि सदृशं वर्णं जनयन्ति स्वयोनिषु।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ १६ ॥

इस प्रकार वर्णसंकर मनुष्य भी समान जातिकी स्त्रियोंमें अपने ही समान वर्णवाले पुत्रोंकी उत्पत्ति करते हैं और यदि परस्पर विभिन्न जातिकी स्त्रियोंसे उनका संसर्ग होता है तो वे अपनी अपेक्षा भी निन्दनीय संतानोंको ही जन्म देते हैं ॥ १६ ॥

यथा शूद्रोऽपि ब्राह्मण्यां जन्तुं बाह्यं प्रसूयते।
एवं बाह्यतराद् बाह्यश्चातुर्वर्ण्यात् प्रजायते ॥ १७ ॥

जैसे शूद्र ब्राह्मणीके गर्भसे चाण्डाल नामक बाह्य (वर्णबहिष्कृत) पुत्र उत्पन्न करता है, उसी प्रकार उस बाह्य जातिका मनुष्य भी ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी एवं बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करके अपनी अपेक्षा भी नीच जातिवाला पुत्र पैदा करता है ॥ १७ ॥

प्रतिलोमं तु वर्धन्ते बाह्याद् बाह्यतरात् पुनः।
हीनाद्धीनाः प्रसूयन्ते वर्णाः पञ्चदशैव तु ॥ १८ ॥

इस तरह बाह्य और बाह्यतर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करनेपर प्रतिलोम वर्णसंकरोंकी सृष्टि बढ़ती जाती है। क्रमशः हीन-से-हीन जातिके बालक जन्म लेने लगते हैं। इन संकर जातियोंकी संख्या सामान्यतः पंद्रह है ॥ १८ ॥

अगम्यागमनाच्चैव जायते वर्णसंकरः।
बाह्यानामनुजायन्ते सैरन्ध्र्यां मागधेषु च।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ॥ १९ ॥

अगम्या स्त्रीके साथ समागम करनेपर वर्णसंकर संतानकी उत्पत्ति होती है। मागध जातिकी सैरन्ध्री स्त्रियोंसे यदि बाह्यजातीय पुरुषोंका संसर्ग हो तो उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह राजा आदि पुरुषोंके शृंगार करने तथा उनके शरीरमें अङ्गराग लगाने आदिकी सेवाओंका जानकार होता है और दास न होकर भी दासवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाला होता है ॥ १९ ॥

अतश्चायोगवं सूते वागुराबन्धजीवनम्।
मैरेयकं च वैदेहः सम्प्रसूतेऽथ माधुकम् ॥ २० ॥

मागधोंके आवान्तर भेद सैरन्ध्र जातिकी स्त्रीसे यदि आयोगव जातिका पुरुष समागम करे तो वह आयोगव जातिका पुत्र उत्पन्न करता है, जो जंगलोंमें जाल बिछाकर पशुओंको फँसानेका काम करके जीवन निर्वाह करता है। उसी जातिकी स्त्रीके साथ यदि वैदेह जातिका पुरुष समागम करता है तो वह मदिरा बनानेवाले मैरेयक जातिके पुत्रको जन्म देता है ॥ २० ॥

निषादो मद्गुरं सूते दासं नावोपजीविनम्।
मृतपं चापि चाण्डालः श्वपाकमिति विश्रुतम् ॥ २१ ॥

निषादके वीर्य और मागधसैरन्ध्रीके गर्भसे मद्गुर जातिका पुरुष उत्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम दास भी है। वह नावसे अपनी जीविका चलाता है। चाण्डाल और मागधी

सैरन्ध्रीके संयोगसे श्वपाक नामसे प्रसिद्ध अधम चाण्डालकी उत्पत्ति होती है। वह मुर्दोंकी रखवालीका काम करता है॥

चतुरो मागधी सूते क्रूरान् मायोपजीविनः।
मांसं स्वादुकरं क्षौद्रं सौगन्धमिति विश्रुतम्॥ २२॥

इस प्रकार मागध जातिकी सैरन्ध्री स्त्री आयोगव आदि चार जातियोंसे समागम करके मायासे जीविका चलानेवाले पूर्वोक्त चार प्रकारके क्रूर पुत्रोंको उत्पन्न करती है। इनके सिवा दूसरे भी चार प्रकारके पुत्र मागधी सैरन्ध्रीसे उत्पन्न होते हैं, जो उसके सजातीय अर्थात् मागध-सैरन्ध्रसे ही उत्पन्न होते हैं। उनकी मांस, स्वादुकर, क्षौद्र और सौगन्ध—इन चार नामोंसे प्रसिद्धि होती है॥ २२॥

वैदेहकाच्च पापिष्ठा क्रूरं मायोपजीविनम्।
निषादान्मद्रनाभं च खरयानप्रयायिनम्॥ २३॥

आयोगव जातिकी पापिष्ठा स्त्री वैदेह जातिके पुरुषसे समागम करके अत्यन्त क्रूर, मायाजीवी पुत्र उत्पन्न करती है। वही निषादके संयोगसे मद्रनाभ नामक जातिको जन्म देती है, जो गदहेकी सवारी करनेवाली होती है॥ २३॥

चाण्डालात् पुल्कसं चापि खराश्वगजभोजिनम्।
मृतचैलप्रतिच्छन्नं भिन्नभाजनभोजिनम्॥ २४॥

वही पापिष्ठा स्त्री जब चाण्डालसे समागम करती है, तब पुल्कस जातिको जन्म देती है। पुल्कस गधे, घोड़े और हाथीके मांस खाते हैं। वे मुर्दोंपर चढ़े हुए कफन लेकर पहनते और फूटे बर्तनमें भोजन करते हैं॥ २४॥

आयोगवीषु जायन्ते हीनवर्णास्तु ते त्रयः।
क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः॥ २५॥
कारावरो निषाद्यां तु चर्मकारः प्रसूयते।

इस प्रकार ये तीन नीच जातिके मनुष्य आयोगवीकी संतानें हैं। निषाद जातिकी स्त्रीका यदि वैदेहक जातिके पुरुषसे संसर्ग हो तो क्षुद्र, अन्ध्र और कारावर नामक जातिवाले पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है। इनमेंसे क्षुद्र और अन्ध्र तो गाँवसे बाहर रहते हैं और जंगली पशुओंकी हिंसा करके जीविका चलाते हैं तथा कारावर मृत पशुओंके चमड़ेका कारबार करता है। इसलिये चर्मकार या चमार कहलाता है॥

चाण्डालात् पाण्डुसौपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्॥ २६॥
आहिण्डको निषादेन वैदेह्यां सम्प्रसूयते।
चण्डालेन तु सौपाकश्चण्डालसमवृत्तिमान्॥ २७॥

चाण्डाल पुरुष और निषाद जातिकी स्त्रीके संयोगसे पाण्डुसौपाक जातिका जन्म होता है। यह जाति बाँसकी डलिया आदि बनाकर जीविका चलाती है। वैदेह जातिकी स्त्रीके साथ निषादका सम्पर्क होनेपर आहिण्डकका जन्म होता है, किंतु वही स्त्री जब चाण्डालके साथ सम्पर्क करती है, तब उससे सौपाककी उत्पत्ति होती है। सौपाककी जीविका-वृत्ति चाण्डालके ही तुल्य है॥ २६-२७॥

निषादी चापि चाण्डालात् पुत्रमन्तेवसायिनम्।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यैरपि बहिष्कृतम्॥ २८॥

निषाद जातिकी स्त्रीमें चाण्डालके वीर्यसे अन्तेवसायीका जन्म होता है। इस जातिके लोग सदा श्मशानमें ही रहते हैं। निषाद आदि बाह्यजातिके लोग भी उसे बहिष्कृत या अछूत समझते हैं॥ २८॥

इत्येते संकरे जाताः पितृमातृव्यतिक्रमात्।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥ २९॥

इस प्रकार माता-पिताके व्यतिक्रम (वर्णान्तरके संयोग) से ये वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमेंसे कुछकी जातियाँ तो प्रकट होती हैं और कुछकी गुप्त। इन्हें इनके कर्मोंसे ही पहचानना चाहिये॥ २९॥

चतुर्णामेव वर्णानां धर्मो नान्यस्य विद्यते।
वर्णानां धर्महीनेषु संख्या नास्तीह कस्यचित्॥ ३०॥

शास्त्रोंमें चारों वर्णोंके धर्मोंका निश्चय किया गया है औरोंके नहीं। धर्महीन वर्णसंकर जातियोंमेंसे किसीके वर्णसम्बन्धी भेद और उपभेदोंकी भी यहाँ कोई नियत संख्या नहीं है॥ ३०॥

यदृच्छयोपसम्पन्नैर्यज्ञसाधुबहिष्कृतैः।
बाह्या बाह्यैश्च जायन्ते यथावृत्ति यथाश्रयम्॥ ३१॥

जो जातिका विचार न करके स्वेच्छानुसार अन्य वर्णकी स्त्रियोंके साथ समागम करते हैं तथा जो यज्ञोंके अधिकार और साधु पुरुषोंसे बहिष्कृत हैं, ऐसे वर्णबाह्य मनुष्योंसे ही वर्णसंकर संतानें उत्पन्न होती हैं और वे अपनी रुचिके अनुकूल कार्य करके भिन्न-भिन्न प्रकारकी आजीविका तथा आश्रयको अपनाती हैं॥ ३१॥

चतुष्पथश्मशानानि शैलांश्चान्यान् वनस्पतीन्।
कार्ष्णायसमलंकारं परिगृह्य च नित्यशः॥ ३२॥

ऐसे लोग सदा लोहेके आभूषण पहनकर चौराहोंमें, मरघटमें, पहाड़ोंपर और वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं॥

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः।
युञ्जन्तो वाप्यलंकारांस्तथोपकरणानि च॥ ३३॥

इन्हें चाहिये कि गहने तथा अन्य उपकरणोंको बनायें तथा अपने उद्योग-धंधोंसे जीविका चलाते हुए प्रकटरूपसे निवास करें॥ ३३॥

गोब्राह्मणाय साहाय्यं कुर्वाणा वै न संशयः।
आनृशंस्यमनुक्रोशः सत्यवाक्यं तथा क्षमा॥ ३४॥
स्वशरीरैरपि त्राणं बाह्यानां सिद्धिकारणम्।
भवन्ति मनुजव्याघ्र तत्र मे नास्ति संशयः॥ ३५॥

पुरुषसिंह ! यदि ये गौ और ब्राह्मणोंकी सहायता करें, क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग दें, सबपर दया करें, सत्य बोलें, दूसरोंके अपराध क्षमा करें और अपने शरीरको कष्टमें डालकर भी दूसरोंकी रक्षा करें तो इन वर्णसंकर मनुष्योंकी भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है—इसमें संशय नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

यथोपदेशं परिकीर्तितासु
नरः प्रजायेत विचार्य बुद्धिमान् ।
निहीनयोनिर्हि सुतोऽवसादयेत्
तितीर्षमाणं हि यथोपलो जले ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसा ऋषि-मुनियोंने उपदेश किया है, उसके अनुसार बतायी हुई वर्ण एवं बाह्यजातिकी स्त्रियोंमें बुद्धिमान् मनुष्यको अपने हिताहितका भलीभाँति विचार करके ही संतान उत्पन्न करनी चाहिये; क्योंकि नीच योनिमें उत्पन्न हुआ पुत्र भवसागरसे पार जानेकी इच्छावाले पिताको उसी प्रकार डुबोता है, जैसे गलेमें बँधा हुआ पत्थर तैरनेवाले मनुष्यको पानीके अतलगर्तमें निमग्न कर देता है ॥ ३६ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
नयन्ति ह्युत्पथं नार्यः कामक्रोधवशानुगम् ॥ ३७ ॥

संसारमें कोई मूर्ख हो या विद्वान्, काम और क्रोधके वशीभूत हुए मनुष्यको नारियाँ अवश्य ही कुमार्गपर पहुँचा देती हैं ॥ ३७ ॥

स्वभावश्चैव नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अत्यर्थं न प्रसज्जन्ते प्रमदासु विपश्चितः ॥ ३८ ॥

इस जगत्में मनुष्योंको कलङ्कित कर देना नारियोंका स्वभाव है; अतः विवेकी पुरुष युवती स्त्रियोंमें अधिक आसक्त नहीं होते हैं ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्णापेतमविज्ञाय नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कथं विद्यामहे वयम् ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो चारों वर्णोंसे बहिष्कृत, वर्णसंकर मनुष्यसे उत्पन्न और अनार्य होकर भी ऊपरसे देखनेमें आर्य-सा प्रतीत हो रहा हो, उसे हमलोग कैसे पहचान सकते हैं ? ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच

योनिसंकलुषे जातं नानाभावसमन्वितम् ।
कर्मभिः सज्जनाचीर्णैर्विज्ञेया योनिशुद्धता ॥ ४० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो कलुषित योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह ऐसी नाना प्रकारकी चेष्टाओंसे युक्त होता है, जो सत्पुरुषोंके आचारसे विपरीत हैं; अतः उसके कर्मोंसे ही उसकी पहचान होती है । इसी प्रकार सज्जनोचित आचरणोंसे योनिकी शुद्धताका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥

अनार्यत्वमनाचारः क्रूरत्वं निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ४१ ॥

इस जगत्में अनार्यता, अनाचार, क्रूरता और अकर्मण्यता आदि दोष मनुष्यको कलुषित योनिसे उत्पन्न (वर्णसंकर) सिद्ध करते हैं ॥ ४१ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातृजं वा तथोभयम् ।
न कथंचन संकीर्णः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर पुरुष अपने पिता या माताके अथवा दोनोंके ही स्वभावका अनुसरण करता है । वह किसी तरह अपनी प्रकृतिको छिपा नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यथैव सदृशो रूपे मातापित्रोर्हि जायते ।
व्याघ्रश्चित्रैस्तथा योनिं पुरुषः स्वां नियच्छति ॥ ४३ ॥

जैसे बाघ अपनी चित्र-विचित्र खाल और रूपके द्वारा माता-पिताके समान ही होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी योनिका ही अनुसरण करता है ॥ ४३ ॥

कुले स्रोतसि संच्छन्ने यस्य स्याद् योनिसंकरः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमथवा बहु ॥ ४४ ॥

यद्यपि कुल और वीर्य गुप्त रहते हैं अर्थात् कौन किस कुलमें और किसके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, यह बात ऊपरसे प्रकट नहीं होती है तो भी जिसका जन्म संकर-योनिसे हुआ है, वह मनुष्य थोड़ा-बहुत अपने पिताके स्वभावका आश्रय लेता ही है ॥ ४४ ॥

आर्यरूपसमाचारं चरन्तं कृतके पथि ।
सुवर्णमन्यवर्णं वा स्वशीलं शास्ति निश्चये ॥ ४५ ॥

जो कृत्रिम मार्गका आश्रय लेकर श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुरूप आचरण करता है, वह सोना है या काँच—शुद्ध वर्णका है या संकर वर्णका ? इसका निश्चय करते समय उसका स्वभाव ही सब कुछ बता देता है ॥ ४५ ॥

नानावृत्तेषु भूतेषु नानाकर्मरतेषु च ।
जन्मवृत्तसमं लोके सुश्लिष्टं न विरज्यते ॥ ४६ ॥

संसारके प्राणी नाना प्रकारके आचार-व्यवहारमें लगे हुए हैं, भाँति-भाँतिके कर्मोंमें तत्पर हैं; अतः आचरणके सिवा ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो जन्मके रहस्यको साफ तौरपर प्रकट कर सके ॥ ४६ ॥

शरीरमिह सत्त्वेन न तस्य परिकृष्यते ।
ज्येष्ठमध्यावरं सत्त्वं तुल्यसत्त्वं प्रमोदते ॥ ४७ ॥

वर्णसंकरको शास्त्रीय बुद्धि प्राप्त हो जाय तो भी वह उसके शरीरको स्वभावसे नहीं हटा सकती । उत्तम, मध्यम या निकृष्ट जिस प्रकारके स्वभावसे उसके शरीरका निर्माण हुआ है, वैसा ही स्वभाव उसे आनन्ददायक जान पड़ता है ॥

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।

अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ॥ ४८ ॥

ऊँची जातिका मनुष्य भी यदि उत्तम शील अर्थात् आचरणसे हीन हो तो उसका सत्कार न करे और शूद्र भी यदि धर्मज्ञ एवं सदाचारी हो तो उसका विशेष आदर करना चाहिये ॥ ४८ ॥

आत्मानमाख्याति हि कर्मभिर्नरः
सुशीलचारित्रकुलैः शुभाशुभैः ।
प्रणष्टमप्याशु कुलं तथा नरः
पुनः प्रकाशं कुरुते स्वकर्मतः ॥ ४९ ॥

मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्म, शील, आचरण और कुलके द्वारा अपना परिचय देता है । यदि उसका कुल नष्ट हो गया हो तो भी वह अपने कर्मोंद्वारा उसे फिर शीघ्र ही प्रकाशमें ला देता है ॥ ४९ ॥

योनिष्वेतासु सर्वासु संकीर्णास्वितरासु च ।
यत्रात्मानं न जनयेद् बुधस्तां परिवर्जयेत् ॥ ५० ॥

इन सभी ऊपर बतायी हुई नीच योनियोंमें तथा अन्य नीच जातियोंमें भी विद्वान् पुरुषको संतानोत्पत्ति नहीं करनी चाहिये । उनका सर्वथा परित्याग करना ही उचित है ॥५०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे वर्णसंकरकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसंगमें वर्णसंकरकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नाना प्रकारके पुत्रोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तात कुरुश्रेष्ठ वर्णानां त्वं पृथक् पृथक् ।
कीदृश्यां कीदृशाश्चापि पुत्राः कस्य च के च ते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! कुरुश्रेष्ठ ! आप वर्णोंके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् यह बताइये कि कैसी स्त्रीके गर्भसे कैसे पुत्र उत्पन्न होते हैं ? और कौन-से पुत्र किसके होते हैं ? ॥१॥

विप्रवादाः सुबहवः श्रूयन्ते पुत्रकारिताः ।
अत्र नो मुह्यतां राजन् संशयं छेत्तुमर्हसि ॥ २ ॥

पुत्रोंके निमित्त बहुत-सी विभिन्न बातें सुनी जाती हैं । राजन् ! इस विषयमें हम मोहित होनेके कारण कुछ निश्चय नहीं कर पाते; अतः आप हमारे इस संशयका निवारण करें ॥

भीष्म उवाच

आत्मा पुत्रश्च विज्ञेयस्तस्यानन्तरजश्च यः ।
निरुक्तजश्च विज्ञेयः सुतः प्रसृतजस्तथा ॥ ३ ॥

जहाँ पति-पत्नीके संयोगमें किसी तीसरेका व्यवधान नहीं है अर्थात् जो पतिके वीर्यसे ही उत्पन्न हुआ है, उस 'अनन्तरज' अर्थात् 'औरस' पुत्रको अपना आत्मा ही समझना चाहिये । दूसरा पुत्र 'निरुक्तज' होता है । तीसरा 'प्रसृतज' होता है (निरुक्तज और प्रसृतज दोनों क्षेत्रजके ही दो भेद हैं) ॥ ३ ॥

पतितस्य तु भार्याया भर्त्रा सुसमवेतया ।
तथा दत्तकृतौ पुत्रावध्यूढश्च तथापरः ॥ ४ ॥

पतित पुरुषका अपनी स्त्रीके गर्भसे स्वयं ही उत्पन्न किया हुआ पुत्र चौथी श्रेणीका पुत्र है । इसके सिवा 'दत्तक' और 'क्रीत' पुत्र भी होते हैं । ये कुल मिलाकर छः हुए । सातवाँ है 'अध्यूढ' पुत्र (जो कुमारी-अवस्थामें ही माताके पेटमें आ गया और विवाह करनेवालेके घरमें आकर जिसका जन्म हुआ) ॥ ४ ॥

षडपध्वंसजाश्चापि कानीनापसदास्तथा ।
इत्येते वै समाख्यातास्तान् विजानीहि भारत ॥ ५ ॥

आठवाँ 'कानीन' पुत्र होता है । इनके अतिरिक्त छः 'अपध्वंसज' (अनुलोम) पुत्र होते हैं तथा छः 'अपसद' (प्रतिलोम) पुत्र होते हैं । इस तरह इन सबकी संख्या बीस हो जाती है । भारत ! इस प्रकार ये पुत्रोंके भेद बताये गये । तुम्हें इन सबको पुत्र ही जानना चाहिये ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

षडपध्वंसजाः के स्युः के वाप्यपसदास्तथा ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं व्याख्यातुं मे त्वमर्हसि ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! छः प्रकारके अपध्वंसज पुत्र कौन-से हैं तथा अपसद किन्हें कहा गया है ? यह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

त्रिषु वर्णेषु ये पुत्रा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ।
वर्णयोश्च द्वयोः स्यातां यौ राजन्यस्य भारत ॥ ७ ॥
एको विड्वर्ण एवाथ तथात्रैवोपलक्षितः ।
षडपध्वंसजास्ते हि तथैवापसदाञ्शृणु ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे तीन प्रकारके अपध्वंसज कहे गये हैं । भारत! क्षत्रियके वैश्य और

शूद्र जातिकी स्त्रियोंसे जो पुत्र होते हैं, वे दो प्रकारके अपध्वंसज हैं तथा वैश्यके शूद्र-जातिकी स्त्रीसे जो पुत्र होता है, वह भी एक अपध्वंसज है। इन सबका इसी प्रकरणमें दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार ये छः अपध्वंसज अर्थात् अनुलोम पुत्र कहे गये हैं। अब 'अपसद अर्थात् प्रतिलोम' पुत्रोंका वर्णन सुनो ॥ ७-८ ॥

चाण्डालो व्रात्यवैद्यौ च ब्राह्मण्यां क्षत्रियासु च।
वैश्यायां चैव शूद्रस्य लक्ष्यन्तेऽपसदास्त्रयः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा वैश्या—इन वर्णकी स्त्रियोंके गर्भसे शूद्रद्वारा जो पुत्र उत्पन्न किये जाते हैं, वे क्रमशः चाण्डाल, व्रात्य और वैद्य कहलाते हैं। ये अपसदोंके तीन भेद हैं ॥९॥

मागधो वामकश्चैव द्वौ वैश्यस्योपलक्षितौ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियायां च क्षत्रियस्यैक एव तु ॥ १० ॥
ब्राह्मण्यां लक्ष्यते सूत इत्येतेऽपसदाः स्मृताः।
पुत्रा ह्येते न शक्यन्ते मिथ्याकर्तुं नराधिप ॥ ११ ॥

ब्राह्मणी और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्यद्वारा जो पुत्र उत्पन्न किये जाते हैं, वे क्रमशः मागध और वामक नामवाले दो प्रकारके अपसद देखे गये हैं। क्षत्रियके एक ही वैसा पुत्र देखा जाता है, जो ब्राह्मणीसे उत्पन्न होता है। उसकी सूत संज्ञा है। ये छः अपसद अर्थात् प्रतिलोम पुत्र माने गये हैं। नरेश्वर! इन पुत्रोंको मिथ्या नहीं बताया जा सकता।१०-११।

युधिष्ठिर उवाच

क्षेत्रजं केचिदेवाहुः सुतं केचित्तु शुक्रजम्।
तुल्यावेतौ सुतौ कस्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! कुछ लोग अपनी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए किसी भी प्रकारके पुत्रको अपना ही पुत्र मानते हैं और कुछ लोग अपने वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्रको ही सगा पुत्र समझते हैं, क्या ये दोनों समान कोटिके पुत्र हैं? इनपर किसका अधिकार है? इन्हें जन्म देनेवाली स्त्रीके पतिका या गर्भाधान करनेवाले पुरुषका? यह मुझे बताइये ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

रेतजो वा भवेत् पुत्रस्त्यक्तो वा क्षेत्रजो भवेत्।
अध्यूढः समयं भित्त्वेत्येतदेव निबोध मे ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! अपने वीर्यसे उत्पन्न हुआ पुत्र तो सगा पुत्र है ही, क्षेत्रज पुत्र भी यदि गर्भस्थापन करनेवाले पिताके द्वारा छोड़ दिया गया हो तो वह अपना ही होता है। यही बात समय-भेदन करके अध्यूढ पुत्रके विषयमें भी समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि वीर्य डालनेवाले पुरुषने यदि अपना स्वत्व हटा लिया हो तब तो वे क्षेत्रज और अध्यूढ पुत्र क्षेत्रपतिके ही माने जाते हैं। अन्यथा उनपर वीर्यदाताका ही स्वत्व है ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रेतजं विद्म वै पुत्रं क्षेत्रजस्यागमः कथम्।
अध्यूढं विद्म वै पुत्रं भित्त्वा तु समयं कथम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! हम तो वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रको ही पुत्र समझते हैं। वीर्यके बिना क्षेत्रज पुत्रका आगमन कैसे हो सकता है? तथा अध्यूढको हम किस प्रकार समय-भेदन करके पुत्र समझें? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

आत्मजं पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत् कारणान्तरे।
न तत्र कारणं रेतः स क्षेत्रस्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! जो लोग अपने वीर्यसे पुत्र उत्पन्न करके अन्यान्य कारणोंसे उसका परित्याग कर देते हैं, उनका उसपर केवल वीर्य-स्थापनके कारण अधिकार नहीं रह जाता। वह पुत्र उस क्षेत्रके स्वामीका हो जाता है ॥ १५ ॥

पुत्रकामो हि पुत्रार्थे यां वृणीते विशाम्पते।
क्षेत्रजं तु प्रमाणं स्यान्न वै तत्रात्मजः सुतः ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष पुत्रके लिये ही जिस गर्भवती कन्याको भार्यारूपसे ग्रहण करता है, उसका क्षेत्रज पुत्र उस विवाह करनेवाले पतिका ही माना जाता है। वहाँ गर्भ-स्थापन करनेवालेका अधिकार नहीं रह जाता है॥

अन्यत्र क्षेत्रजः पुत्रो लक्ष्यते भरतर्षभ।
न ह्यात्मा शक्यते हन्तुं दृष्टान्तोपगतो ह्यसौ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ! दूसरेके क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ पुत्र विभिन्न लक्षणोंसे लक्षित हो जाता है कि किसका पुत्र है। कोई भी अपनी असलियतको छिपा नहीं सकता, वह स्वतः प्रत्यक्ष हो जाती है ॥ १७ ॥

कचिच्च कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
न तत्र रेतः क्षेत्रं वा यत्र लक्ष्येत भारत ॥ १८ ॥

भरतनन्दन! कहीं-कहीं कृत्रिम पुत्र भी देखा जाता है। वह ग्रहण करने या अपना मान लेने मात्रसे ही अपना हो जाता है। वहाँ वीर्य या क्षेत्र कोई भी उसके पुत्रत्व-निश्चयमें कारण होता दिखायी नहीं देता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
शुक्रं क्षेत्रं प्रमाणं वा यत्र लक्ष्यं न भारत ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! जहाँ वीर्य या क्षेत्र पुत्रत्वके निश्चयमें प्रमाण नहीं देखा जाता, जो संग्रह करने मात्रसे ही अपने पुत्रके रूपमें दिखायी देने लगता है, वह कृत्रिम पुत्र कैसा होता है? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

मातापितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत्।

न चास्य मातापितरौ ज्ञायेतां स हि कृत्रिमः ॥ २० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! माता-पिताने जिसे रास्तेपर त्याग दिया हो और पता लगानेपर भी जिसके माता-पिताका ज्ञान न हो सके, उस बालकका जो पालन करता है, उसीका वह कृत्रिम पुत्र माना जाता है ॥ २० ॥

अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन् सम्प्रति लक्ष्यते ।
यो वर्णः पोषयेत् तं च तद्वर्णस्तस्य जायते ॥ २१ ॥

वर्तमान समयमें जो उस अनाथ बच्चेका स्वामी दिखायी देता है और उसका पालन-पोषण करता है, उसका जो वर्ण है, वही उस बच्चेका भी वर्ण हो जाता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथमस्य प्रयोक्तव्यः संस्कारः कस्य वा कथम् ।
देया कन्या कथं चेति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ऐसे बालकका संस्कार कैसे और किस जातिके अनुसार करना चाहिये ? तथा वास्तवमें वह किस वर्णका है, यह कैसे जाना जाय ? एवं किस तरह और किस जातिकी कन्याके साथ उसका विवाह करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

आत्मवत् तस्य कुर्वीत संस्कारं स्वामिवत् तथा ।
त्यक्तो मातापितृभ्यां यः सवर्णं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जिसको माता-पिताने त्याग दिया है, वह अपने स्वामी (पालक) पिताके वर्णको प्राप्त होता है । इसलिये उसके पालन करनेवालेको चाहिये कि वह अपने ही वर्णके अनुसार उसका संस्कार करे ॥ २३ ॥

तद्गोत्रबन्धुजं तस्य कुर्यात् संस्कारमच्युत ।
अथ देया तु कन्या स्यात् तद्वर्णस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर ! पालक पिताके सगोत्र बन्धुओंका जैसा संस्कार होता हो, वैसा ही उसका भी करना चाहिये तथा उसी वर्णकी कन्याके साथ उसका विवाह भी कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

संस्कर्तुं वर्णगोत्रं च मातृवर्णविनिश्चये ।
कानीनाध्यूढजौ वापि विज्ञेयौ पुत्र किल्बिषौ ॥ २५ ॥

बेटा ! यदि उसकी माताके वर्ण और गोत्रका निश्चय हो जाय तो उस बालकका संस्कार करनेके लिये माताके ही वर्ण और गोत्रको ग्रहण करना चाहिये । कानीन और अध्यूढज—ये दोनों प्रकारके पुत्र निकृष्ट श्रेणीके ही समझे जाने योग्य हैं ॥ २५ ॥

तावपि स्वाविव सुतौ संस्कार्याविति निश्चयः ।
क्षेत्रजो वाप्यपसदो येऽध्यूढास्तेषु चाप्युत ॥ २६ ॥
आत्मवद् वै प्रयुञ्जीरन् संस्कारान् ब्राह्मणादयः ।
धर्मशास्त्रेषु वर्णानां निश्चयोऽयं प्रदृश्यते ॥ २७ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इन दोनों प्रकारके पुत्रोंका भी अपने ही समान संस्कार करे—ऐसा शास्त्रका निश्चय है । ब्राह्मण आदिको चाहिये कि वे क्षेत्रज, अपसद तथा अध्यूढ—इन सभी प्रकारके पुत्रोंका अपने ही समान संस्कार करें । वर्णोंके संस्कारके सम्बन्धमें धर्मशास्त्रोंका ऐसा ही निश्चय देखा जाता है । इस प्रकार मैंने ये सारी बातें तुम्हें बतायीं । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २६—२८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विवाहधर्मे पुत्रप्रतिनिधिकथने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विवाहधर्मके प्रसङ्गमें पुत्रप्रतिनिधिकथनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

गौओंकी महिमाके प्रसङ्गमें च्यवन मुनिके उपाख्यानका आरम्भ, मुनिका मत्स्योंके साथ जालमें फँसकर जलसे बाहर आना

युधिष्ठिर उवाच

दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसीको देखने और उसके साथ रहनेपर कैसा स्नेह होता है ? तथा गौओंका माहात्म्य क्या है ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महातेजस्वी नरेश ! इस विषयमें मैं तुमसे महर्षि च्यवन और नहुषके संवादरूप प्राचीन इतिहासका वर्णन करूँगा ॥ २ ॥

पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव स महाव्रतः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालकी बात है, भृगुके पुत्र महर्षि च्यवनने महान् व्रतका आश्रय ले जलके भीतर रहना आरम्भ किया ॥

निहत्य मानं क्रोधं च प्रहर्षं शोकमेव च ।
वर्षाणि द्वादश मुनिर्जलवासे धृतव्रतः ॥ ४ ॥

वे अभिमान, क्रोध, हर्ष और शोकका परित्याग करके दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक जलके भीतर रहे ॥ ४ ॥

आदधत् सर्वभूतेषु विश्रम्भं परमं शुभम् ।
जलेचरेषु सर्वेषु शीतरश्मिरिव प्रभुः ॥ ५ ॥

शीतल किरणोंवाले चन्द्रमाके समान उन शक्तिशाली मुनिने सम्पूर्ण प्राणियों, विशेषतः सारे जलचर जीवोंपर अपना परम मङ्गलकारी पूर्ण विश्वास जमा लिया था ॥ ५ ॥

स्थाणुभूतः शुचिर्भूत्वा दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये जलं सम्प्रविवेश ह ॥ ६ ॥

एक समय वे देवताओंको प्रणामकर अत्यन्त पवित्र होकर गङ्गा-यमुनाके सङ्गममें जलके भीतर प्रविष्ट हुए और वहाँ काष्ठकी भाँति स्थिर भावसे बैठ गये ॥ ६ ॥

गङ्गायमुनयोर्वेगं सुभीमं भीमनिःस्वनम् ।
प्रतिजग्राह शिरसा वातवेगसमं जवे ॥ ७ ॥

गङ्गा-यमुनाका वेग बड़ा भयंकर था । उससे भीषण गर्जना हो रही थी । वह वेग वायुवेगकी भाँति दुःसह था तो भी वे मुनि अपने मस्तकपर उसका आघात सहने लगे ॥

गङ्गा च यमुना चैव सरितश्च सरांसि च ।
प्रदक्षिणमृषिं चक्रुर्न चैनं पर्यपीडयन् ॥ ८ ॥

परंतु गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ और सरोवर ऋषिकी केवल परिक्रमा करते थे, उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाते थे ॥ ८ ॥

अन्तर्जलेषु सुष्वाप काष्ठभूतो महामुनिः ।
ततश्चोर्ध्वस्थितो धीमानभवद् भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे बुद्धिमान् महामुनि कभी पानीमें काठकी भाँति सो जाते और कभी उसके ऊपर खड़े हो जाते थे ॥ ९ ॥

जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः ।
उपाजिघ्रन्त च तदा तस्योष्ठं हृष्टमानसाः ॥ १० ॥

वे जलचर जीवोंके बड़े प्रिय हो गये थे । जलजन्तु प्रसन्नचित्त होकर उनका ओठ सूँघा करते थे ॥ १० ॥

तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान् ।
ततः कदाचित् समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ॥ ११ ॥
तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ।
निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चयाः ॥ १२ ॥

महातेजस्वी नरेश ! इस तरह उन्हें पानीमें रहते बहुत दिन बीत गये । तदनन्तर एक समय मछलियोंसे जीविका चलानेवाले बहुत-से मल्लाह मछली पकड़नेका निश्चय करके जाल हाथमें लिये हुए उस स्थानपर आये ॥ ११-१२ ॥

व्यायता बलिनः शूराः सलिलेष्वनिवर्तिनः ।
अभ्याययुश्च तं देशं निश्चिता जालकर्मणि ॥ १३ ॥

वे मल्लाह बड़े परिश्रमी, बलवान्, शौर्यसम्पन्न और पानीसे कभी पीछे न हटनेवाले थे । वे जाल बिछानेका दृढ़ निश्चय करके उस स्थानपर आये थे ॥ १३ ॥

जालं ते योजयामासुर्निःशेषेण जनाधिप ।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ १४ ॥

भरतवंशशिरोमणि नरेश ! उस समय जहाँ मछलियाँ रहती थीं, उतने गहरे जलमें जाकर उन्होंने अपने जालको पूर्णरूपसे फैला दिया ॥ १४ ॥

ततस्ते बहुभिर्योगैः कैवर्ता मत्स्यकाङ्क्षिणः ।
गङ्गायमुनयोर्वारि जालैरभ्यकिरंस्ततः ॥ १५ ॥

मछली प्राप्त करनेकी इच्छावाले केवटोंने बहुत-से उपाय करके गङ्गा-यमुनाके जलको जालोंसे आच्छादित कर दिया ॥

जालं सुविततं तेषां नवसूत्रकृतं तथा ।
विस्तारायामसम्पन्नं यत् तत्र सलिलेऽक्षिपन् ॥ १६ ॥
ततस्ते सुमहच्चैव बलवच्च सुवर्तितम् ।
अवतीर्य ततः सर्वे जालं चकृषिरे तदा ॥ १७ ॥
अभीतरूपाः संहृष्टा अन्योन्यवशवर्तिनः ।
बबन्धुस्तत्र मत्स्यांश्च तथान्यान् जलचारिणः ॥ १८ ॥

उनका वह जाल नये सूतका बना हुआ और विशाल था तथा उसकी लंबाई-चौड़ाई भी बहुत थी एवं वह अच्छी तरहसे बनाया हुआ और मजबूत था । उसीको उन्होंने वहाँ जलपर बिछाया था । थोड़ी देर बाद वे सभी मल्लाह निडर होकर पानीमें उतर गये । वे सभी प्रसन्न और एक-दूसरेके अधीन रहनेवाले थे । उन सबने मिलकर जालको खींचना आरम्भ किया । उस जालमें उन्होंने मछलियोंके साथ ही दूसरे जल-जन्तुओंको भी बाँध लिया था ॥ १६—१८ ॥

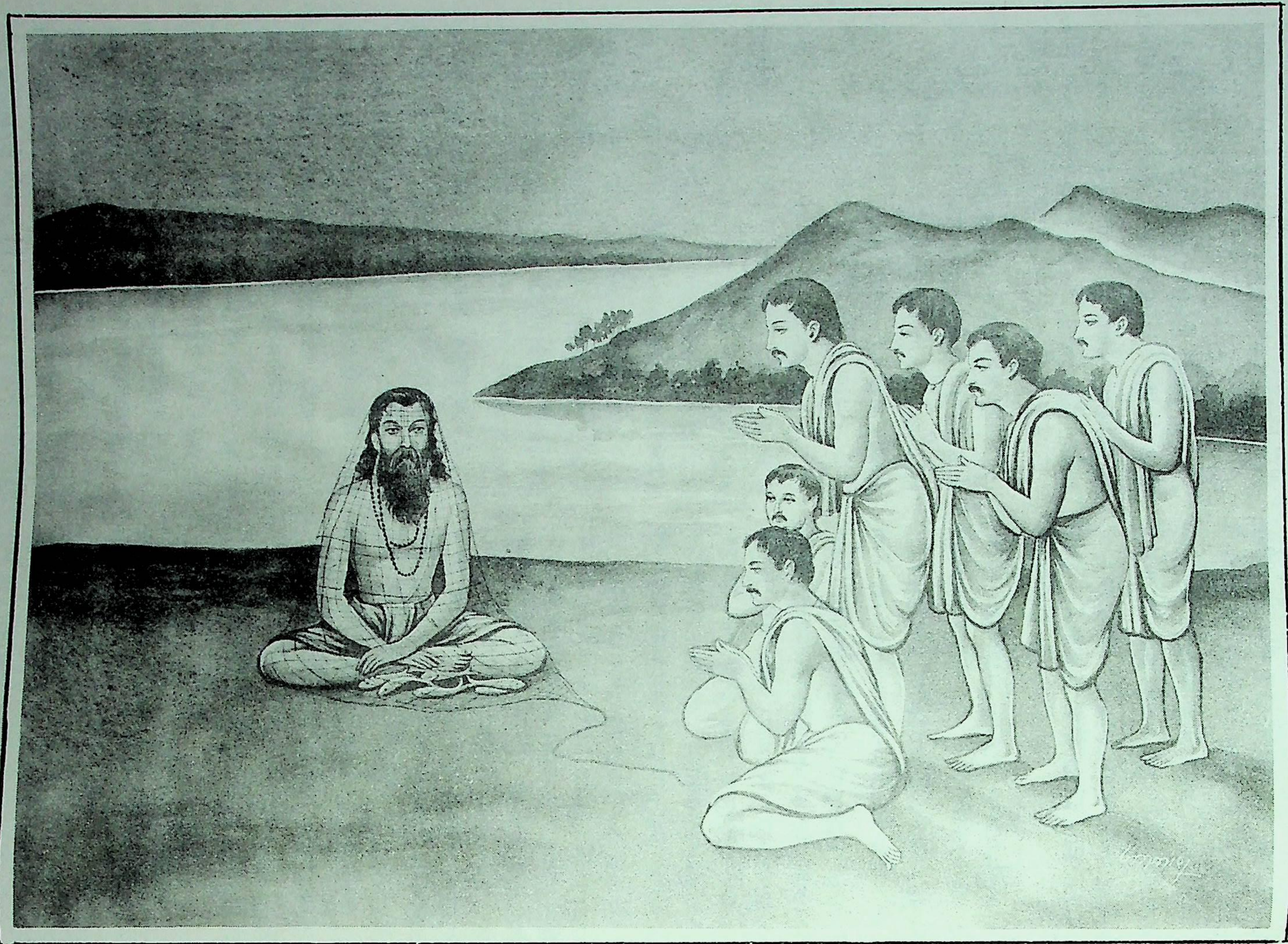
तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम् ।
आकर्षयन्महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥ १९ ॥

महाराज ! जाल खींचते समय मल्लाहोंने दैवेच्छासे उस जालके द्वारा मत्स्योंसे घिरे हुए भृगुके पुत्र महर्षि च्यवनको भी खींच लिया ॥ १९ ॥

नदीशैवलदिग्धाङ्गं हरिश्मश्रुजटाधरम् ।
लग्नैः शङ्खनखैर्गात्रे क्रोडैश्चित्रैरिवार्पितम् ॥ २० ॥

उनका सारा शरीर नदीके सेवारसे लिपटा हुआ था । उनकी मूँछ-दाढ़ी और जटाएँ हरे रंगकी हो गयी थीं और उनके अङ्गोंमें शङ्ख आदि जलचरोंके नख लगनेसे चित्र बन गया था । ऐसा जान पड़ता था मानो उनके अङ्गोंमें शूकरके विचित्र रोम लग गये हों ॥ २० ॥

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम् ।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन् भुवि ॥ २१ ॥



जालके साथ नदीमेंसे निकाले गये महर्षि च्यवन

वेदोंके पारंगत उन विद्वान् महर्षिको जालके साथ खिंचा देख सभी मल्लाह हाथ जोड़ मस्तक झुका पृथ्वीपर पड़ गये॥

परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च ।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शनेन च ॥ २२ ॥
स मुनिस्तत् तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम् ।
बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

उधर जालके आकर्षणसे अत्यन्त खेद, त्रास और स्थलका संस्पर्श होनेके कारण बहुत-से मत्स्य मर गये। मुनिने जब मत्स्योंका यह संहार देखा, तब उन्हें बड़ी दया आयी और वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे ॥ २२-२३ ॥

निषादा ऊचुः

अज्ञानाद् यत् कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु ।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥ २४ ॥

यह देख निषाद बोले—महामुने! हमने अनजानमें जो पाप किया है, उसके लिये हमें क्षमा कर दें और हमपर प्रसन्न हों। साथ ही यह भी बतावें कि हमलोग आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें? ॥ २४ ॥

इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत् ।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥ २५ ॥

मल्लाहोंके ऐसा कहनेपर मछलियोंके बीचमें बैठे हुए महर्षि च्यवनने कहा—'मल्लाहो! इस समय जो मेरी सबसे बड़ी इच्छा है, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ २५ ॥

प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह ।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलेऽध्युषितानहम् ॥ २६ ॥

'मैं इन मछलियोंके साथ ही अपने प्राणोंका त्याग या रक्षण करूँगा। ये मेरे सहवासी रहे हैं। मैं बहुत दिनोंतक इनके साथ जलमें रह चुका हूँ; अतः मैं इन्हें त्याग नहीं सकता' ॥ २६ ॥

इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः ।
सर्वे विवर्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥ २७ ॥

मुनिकी यह बात सुनकर निषादोंको बड़ा भय हुआ। वे थर-थर काँपने लगे। उन सबके मुखका रंग फीका पड़ गया और उसी अवस्थामें राजा नहुषके पास जाकर उन्होंने यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवनमुनिका उपाख्यानविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा नहुषका एक गौके मोलपर च्यवन मुनिको खरीदना, मुनिके द्वारा गौओंका माहात्म्य-कथन तथा मत्स्यों और मल्लाहोंकी सद्गति

भीष्म उवाच

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम् ।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! च्यवनमुनिको ऐसी अवस्थामें अपने नगरके निकट आया जान राजा नहुष अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको साथ ले शीघ्र वहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥ २ ॥

उन्होंने पवित्रभावसे हाथ जोड़कर मनको एकाग्र रखते हुए न्यायोचित रीतिसे महात्मा च्यवनको अपना परिचय दिया ॥ २ ॥

अर्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः ।
सत्यव्रतं महात्मानं देवकल्पं विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! राजाके पुरोहितने देवताओंके समान तेजस्वी सत्यव्रती महात्मा च्यवनमुनिका विधिपूर्वक पूजन किया ॥

नहुष उवाच

करवाणि प्रियं किं ते तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ।
सर्वं कर्तास्मि भगवन् यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् राजा नहुष बोले—द्विजश्रेष्ठ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? भगवन्! आपकी आज्ञासे कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो, मैं सब पूरा करूँगा ॥ ४ ॥

च्यवन उवाच

श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ॥ ५ ॥

च्यवनने कहा—राजन्! मछलियोंसे जीविका चलानेवाले इन मल्लाहोंने आज बड़े परिश्रमसे मुझे अपने जालमें फँसाकर निकाला है; अतः आप इन्हें इन मछलियोंके साथ-साथ मेरा भी मूल्य चुका दीजिये ॥ ५ ॥

नहुष उवाच

सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।

निष्क्रयार्थं भगवतो यथाऽऽह भृगुनन्दनः ॥ ६ ॥

तब नहुषने अपने पुरोहितसे कहा—पुरोहितजी! भृगुनन्दन च्यवनजी जैसी आज्ञा दे रहे हैं, उसके अनुसार इन पूज्यपाद महर्षिके मूल्यके रूपमें मल्लाहोंको एक हजार अशर्फियाँ दे दीजिये ॥ ६ ॥

च्यवन उवाच

सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुद्ध्या निश्चयं कुरु ॥ ७ ॥

च्यवनने कहा—नरेश्वर! मैं एक हजार मुद्राओंपर बेचने योग्य नहीं हूँ। क्या आप मेरा इतना ही मूल्य समझते हैं, मेरे योग्य मूल्य दीजिये और वह मूल्य कितना होना चाहिये—यह अपनी ही बुद्धिसे विचार करके निश्चित कीजिये ॥ ७ ॥

नहुष उवाच

सहस्राणां शतं विप्र निषादेभ्यः प्रदीयताम्।
स्यादिदं भगवन् मूल्यं किं वान्यन्मन्यते भवान् ॥ ८ ॥

नहुष बोले—विप्रवर! इन निषादोंको एक लाख मुद्रा दीजिये। (यों पुरोहितको आज्ञा देकर वे मुनिसे बोले—) भगवन्! क्या यह आपका उचित मूल्य हो सकता है या अभी आप कुछ और देना चाहते हैं? ॥ ८ ॥

च्यवन उवाच

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥ ९ ॥

च्यवनने कहा—नृपश्रेष्ठ! मुझे एक लाख रुपयेके मूल्यमें ही सीमित न कीजिये। उचित मूल्य चुकाइये। इस विषयमें अपने मन्त्रियोंके साथ विचार कीजिये ॥ ९ ॥

नहुष उवाच

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित।
यदेतदपि नो मूल्यमतो भूयः प्रदीयताम् ॥ १० ॥

नहुषने कहा—पुरोहितजी! आप इन निषादोंको एक करोड़ मुद्रा मूल्यके रूपमें दीजिये और यदि यह भी ठीक मूल्य न हो तो और अधिक दीजिये ॥ १० ॥

च्यवन उवाच

राजन् नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वापि महाद्युते।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥ ११ ॥

च्यवनने कहा—महातेजस्वी नरेश! मैं एक करोड़ या उससे भी अधिक मुद्राओंमें बेचने योग्य नहीं हूँ। जो मेरे लिये उचित हो, वही मूल्य दीजिये और इस विषयमें ब्राह्मणों-के साथ विचार कीजिय ॥ ११ ॥

नहुष उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम्।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वान्यन्मन्यसे द्विज ॥ १२ ॥

नहुष बोले—ब्रह्मन्! यदि ऐसी बात है तो इन मल्लाहोंको मेरा आधा या सारा राज्य दे दिया जाय। इसे ही मैं आपके लिये उचित मूल्य मानता हूँ। आप इसके अतिरिक्त और क्या चाहते हैं? ॥ १२ ॥

च्यवन उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ॥ १३ ॥

च्यवनने कहा—पृथ्वीनाथ! आपका आधा या सारा राज्य भी मेरा उचित मूल्य नहीं है। आप उचित मूल्य दीजिये और वह मूल्य आपके ध्यानमें न आता हो तो ऋषियोंके साथ विचार कीजिये ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥ १४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षिका यह वचन सुनकर राजा नहुष दुःखसे कातर हो उठे और मन्त्री तथा पुरोहितके साथ इस विषयमें विचार करने लगे ॥ १४ ॥

तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः।
नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥ १५ ॥
स तमाभाष्य राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः।

इतनेहीमें फल-मूलका भोजन करनेवाले एक दूसरे वनवासी मुनि, जिनका जन्म गायके पेटसे हुआ था, राजा नहुषके समीप आये और वे द्विजश्रेष्ठ उन्हें सम्बोधित करके कहने लगे—॥

तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं यथा तुष्टो भविष्यति ॥ १६ ॥
नाहं मिथ्यावचो ब्रूयां स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ॥ १७ ॥

'राजन्! ये मुनि कैसे संतुष्ट होंगे—इस बातको मैं जानता हूँ। मैं इन्हें शीघ्र संतुष्ट कर दूँगा। मैंने कभी हँसी-परिहासमें भी झूठ नहीं कहा है; फिर ऐसे समयमें असत्य कैसे बोल सकता हूँ? मैं आपसे जो कहूँ, वह आपको निःशङ्क होकर करना चाहिये' ॥ १६-१७ ॥

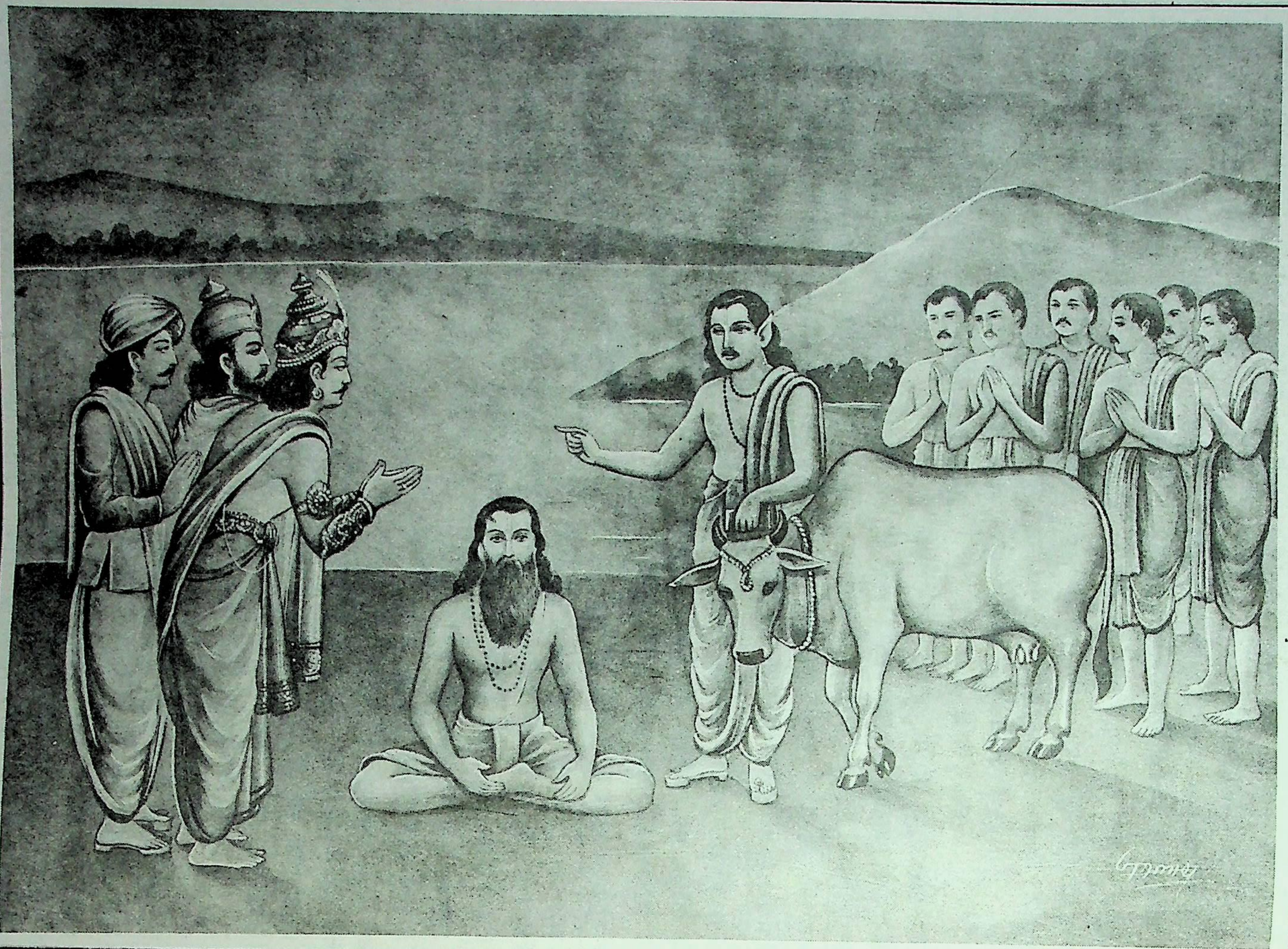
नहुष उवाच

ब्रवीतु भगवान् मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः।
परित्रायस्व मामस्मद्विषयं च कुलं च मे ॥ १८ ॥

नहुषने कहा—भगवन्! आप मुझे भृगुपुत्र महर्षि च्यवनका मूल्य, जो इनके योग्य हो, बता दीजिये और ऐसा करके मेरा, मेरे कुलका तथा समस्त राज्यका संकटसे उद्धार कीजिये॥

हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम्।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्यपरायणम् ॥ १९ ॥

ये भगवान् च्यवन मुनि यदि कुपित हो जायँ तो तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं; फिर मुझ-जैसे तपोबल-



महर्षि च्यवनका मूल्याङ्कन

शून्य केवल बाहुबलका भरोसा रखनेवाले नरेशको नष्ट करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १९ ॥

अगाधाम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य सऋत्विजः ।
प्लवो भव महर्षे त्वं कुरु मूल्यविनिश्चयम् ॥ २० ॥

महर्षे ! मैं अपने मन्त्री और पुरोहितके साथ संकटके अगाध महासागरमें डूब रहा हूँ । आप नौका बनकर मुझे पार लगाइये । इनके योग्य मूल्यका निर्णय कर दीजिये ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान् ।
उवाच हर्षयन् सर्वानमात्यान् पार्थिवं च तम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नहुषकी बात सुनकर गायके पेटसे उत्पन्न हुए वे प्रतापी महर्षि राजा तथा उनके समस्त मन्त्रियोंको आनन्दित करते हुए बोले —॥ २१ ॥

(ब्राह्मणानां गवां चैव कुलमेकं द्विधा कृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति ॥)
अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः ।
गावश्च पुरुषव्याघ्र गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! ब्राह्मणों और गौओंका कुल एक है, पर ये दो रूपोंमें विभक्त हो गये हैं । एक जगह मन्त्र स्थित होते हैं और दूसरी जगह हविष्य । पुरुषसिंह ! ब्राह्मण सब वर्णोंमें उत्तम हैं । उनका और गौओंका कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता; इसलिये आप इनकी कीमतमें एक गौ प्रदान कीजिये' ॥

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप ।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! महर्षिका यह वचन सुनकर मन्त्री और पुरोहितसहित राजा नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २३ ॥

अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम् ।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा संतर्पयन्निव ॥ २४ ॥

राजन् ! वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले भृगुपुत्र महर्षि च्यवनके पास जाकर उन्हें अपनी वाणीद्वारा तृप्त करते हुए-से बोले ॥ २४ ॥

नहुष उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥ २५ ॥

नहुषने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! भृगुनन्दन ! मैंने एक गौ देकर आपको खरीद लिया; अतः उठिये, उठिये, मैं यही आपका उचित मूल्य मानता हूँ ॥ २५ ॥

च्यवन उवाच

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽसि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥ २६ ॥

च्यवनने कहा—निष्पाप राजेन्द्र ! अब मैं उठता हूँ । आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है । अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेश ! मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं देखता हूँ ॥ २६ ॥

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥

वीर भूपाल ! गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन तथा श्रवण करना, गौओंका दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गयी है । ये सब कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥ २८ ॥

गौएँ सदा लक्ष्मीकी जड़ हैं । उनमें पापका लेशमात्र भी नहीं है । गौएँ ही मनुष्योंको सर्वदा अन्न और देवताओंको हविष्य देनेवाली हैं ॥ २८ ॥

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥ २९ ॥

स्वाहा और वषट्कार सदा गौओंमें ही प्रतिष्ठित होते हैं । गौएँ ही यज्ञका संचालन करनेवाली तथा उसका मुख हैं ॥

अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥ ३० ॥

वे विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती और दुहनेपर अमृत ही देती हैं । वे अमृतकी आधारभूत हैं । सारा संसार उनके सामने नतमस्तक होता है ॥ ३० ॥

तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि ।
गावो हि सुमहत् तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः ॥ ३१ ॥

इस पृथ्वीपर गौएँ अपनी काया और कान्तिसे अग्निके समान हैं । वे महान् तेजकी राशि और समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाली हैं ॥ ३१ ॥

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम् ।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥ ३२ ॥

गौओंका समुदाय जहाँ बैठकर निर्भयतापूर्वक साँस लेता है, उस स्थानकी शोभा बढ़ा देता है और वहाँके सारे पापोंको खींच लेता है ॥ ३२ ॥

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः ।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किंचित् परं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

गौएँ स्वर्गकी सीढ़ी हैं । गौएँ स्वर्गमें भी पूजी जाती हैं । गौएँ समस्त कमनाओंको पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं । उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ ३३ ॥

इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने गौओंका माहात्म्य बताया है। इसमें उनके गुणोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। गौओंके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता ॥ ३४ ॥

निषादा ऊचुः

दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने।
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ॥ ३५ ॥

इसके बाद निषादोंने कहा—मुने ! सज्जनोंके साथ सात पग चलनेमात्रसे मित्रता हो जाती है। हमने तो आपका दर्शन किया और हमारे साथ आपकी इतनी देरतक बातचीत भी हुई; अतः प्रभो ! आप हमलोगोंपर कृपा कीजिये ॥ ३५ ॥

हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः।
एवं त्वमपि धर्मात्मन् पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥

धर्मात्मन् ! जैसे अग्निदेव सम्पूर्ण हविष्योंको आत्मसात् कर लेते हैं, उसी प्रकार आप भी हमारे दोष-दुर्गुणोंको दग्ध करनेवाले प्रतापी अग्निरूप हैं ॥ ३६ ॥

प्रसादयामहे विद्वन् भवन्तं प्रणता वयम्।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥ ३७ ॥

विद्वन् ! हम आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करना चाहते हैं। आप हमलोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये हमारी दी हुई यह गौ स्वीकार कीजिये ॥ ३७ ॥

(अत्यन्तापदि मग्नानां परित्राणं हि कुर्वताम्।
या गतिर्विदिता त्वद्य नरके शरणं भवान् ॥)

अत्यन्त आपत्तिमें डूबे हुए जीवोंका उद्धार करनेवाले पुरुषोंको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वह आपको विदित है। हमलोग नरकमें डूबे हुए हैं। आज आप ही हमें शरण देनेवाले हैं ॥

च्यवन उवाच

कृपणस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ३८ ॥

च्यवन बोले—निषादगण ! किसी दीन-दुखियाकी, ऋषिकी तथा विषधर सर्पकी रोषपूर्ण दृष्टि मनुष्यको उसी प्रकार जड़मूलसहित जलाकर भस्म कर देती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखे घास-फूसके ढेरको ॥ ३८ ॥

प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः।
दिवं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैः सह जलोद्भवैः ॥ ३९ ॥

मल्लाहो ! मैं तुम्हारी दी हुई गौ स्वीकार करता हूँ। इस गोदानके प्रभावसे तुम्हारे सारे पाप दूर हो गये। अब तुमलोग जलमें पैदा हुई इन मछलियोंके साथ ही शीघ्र स्वर्गको जाओ ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तस्य प्रभावात् ते महर्षेर्भावितात्मनः।
निषादास्तेन वाक्येन सह मत्स्यैर्दिवं ययुः ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर विशुद्ध अन्तःकरणवाले उन महर्षि च्यवनके पूर्वोक्त बात कहते ही उनके प्रभावसे वे मल्लाह उन मछलियोंके साथ ही स्वर्गलोकको चले गये ॥

ततः स राजा नहुषो विस्मितः प्रेक्ष्य धीवरान्।
आरोहमाणांस्त्रिदिवं मत्स्यांश्च भरतर्षभ ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय उन मल्लाहों और मत्स्योंको भी स्वर्गलोककी ओर जाते देख राजा नहुषको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४१ ॥

ततस्तौ गविजश्चैव च्यवनश्च भृगूद्वहः।
वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् गौसे उत्पन्न महर्षि और भृगुनन्दन च्यवन दोनोंने राजा नहुषसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा ॥

ततो राजा महावीर्यो नहुषः पृथिवीपतिः।
परमित्यब्रवीत् प्रीतस्तदा भरतसत्तम ॥ ४३ ॥

भरतभूषण ! तब वे महापराक्रमी भूपाल राजा नहुष प्रसन्न होकर बोले—'बस, आपलोगोंकी कृपा ही बहुत है' ॥

ततो जग्राह धर्मे स स्थितिमिन्द्रनिभो नृपः।
तथेति चोदितः प्रीतस्तावृषी प्रत्यपूजयत् ॥ ४४ ॥

फिर दोनोंके आग्रहसे उन इन्द्रके समान तेजस्वी नरेशने धर्ममें स्थित रहनेका वरदान माँगा और उनके तथास्तु कहनेपर राजाने उन दोनों ऋषियोंका विधिवत् पूजन किया ॥

समाप्तदीक्षश्च्यवनस्ततोऽगच्छत् स्वमाश्रमम्।
गविजश्च महातेजाः स्वमाश्रमपदं ययौ ॥ ४५ ॥

उसी दिन महर्षि च्यवनकी दीक्षा समाप्त हुई और वे अपने आश्रमपर चले गये। इसके बाद महातेजस्वी गोजात मुनि भी अपने आश्रमको पधारे ॥ ४५ ॥

निषादाश्च दिवं जग्मुस्ते च मत्स्या जनाधिप।
नहुषोऽपि वरं लब्ध्वा प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! वे मल्लाह और मत्स्य तो स्वर्गलोकमें चले गये और राजा नहुष भी वर पाकर अपनी राजधानीको लौट आये ॥ ४६ ॥

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ॥ ४७ ॥
महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्मविनिश्चयम्।
किं भूयः कथ्यतां वीर किं ते हृदि विवक्षितम् ॥ ४८ ॥

तात युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यह सारा प्रसंग सुनाया है। दर्शन और सहवाससे कैसा स्नेह होता

है ? गौओंका माहात्म्य क्या है ? तथा इस विषयमें धर्मका निश्चय क्या है ? ये सारी बातें इस प्रसङ्गसे स्पष्ट हो जाती हैं। अब मैं तुम्हें कौन-सी बात बताऊँ ? वीर ! तुम्हारे मनमें क्या सुननेकी इच्छा है ? ॥ ४७-४८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनोपाख्याने एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवनका उपाख्यानविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा कुशिक और उनकी रानीके द्वारा महर्षि च्यवनकी सेवा

युधिष्ठिर उवाच

संशयो मे महाप्राज्ञ सुमहान् सागरोपमः।
तं मे शृणु महाबाहो श्रुत्वा व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाबाहो ! मेरे मनमें एक महासागरके समान महान् संदेह खड़ा हो गया है। महाप्राज्ञ ! उसे सुनिये और सुनकर उसकी व्याख्या कीजिये ॥ १ ॥

कौतूहलं मे सुमहज्जामदग्न्यं प्रति प्रभो।
रामं धर्मभृतां श्रेष्ठं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

प्रभो ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुरामजीके विषयमें मेरा कौतूहल बढ़ा हुआ है; अतः आप मेरे प्रश्नका विशद विवेचन कीजिये ॥ २ ॥

कथमेष समुत्पन्नो रामः सत्यपराक्रमः।
कथं ब्रह्मर्षिवंशोऽयं क्षत्रधर्मा व्यजायत ॥ ३ ॥

ये सत्यपराक्रमी परशुरामजी कैसे उत्पन्न हुए ? ब्रह्मर्षियोंका यह वंश क्षत्रियधर्मसे सम्पन्न कैसे हो गया ? ॥

तदस्य सम्भवं राजन् निखिलेनानुकीतय।
कौशिकाच्च कथं वंशात् क्षत्राद् वै ब्राह्मणो भवेत् ॥४॥

अतः राजन् ! आप परशुरामजीकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग पूर्णरूपसे बताइये। राजा कुशिकका वंश तो क्षत्रिय था, उससे ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति कैसे हुई ? ॥ ४ ॥

अहो प्रभावः सुमहानासीद् वै सुमहात्मनः।
रामस्य च नरव्याघ्र विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ ५ ॥

पुरुषसिंह ! महात्मा परशुराम और विश्वामित्रका महान् प्रभाव अद्भुत था ॥ ५ ॥

कथं पुत्रानतिक्रम्य तेषां नप्तृष्वथाभवत्।
एष दोषः सुतान् हित्वा तत्त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

राजा कुशिक और महर्षि ऋचीक—ये ही अपने-अपने वंशके प्रवर्तक थे। उनके पुत्र गाधि और जमदग्निको लाँघकर उनके पौत्र विश्वामित्र और परशुराममें ही यह विजातीयताका दोष क्यों आया ? इसमें जो यथार्थ कारण हो, उसकी व्याख्या कीजिये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
च्यवनस्य च संवादं कुशिकस्य च भारत ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें महर्षि च्यवन और राजा कुशिकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

एतं दोषं पुरा दृष्ट्वा भार्गवश्च्यवनस्तदा।
आगामिनं महाबुद्धिः स्ववंशे मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥
निश्चित्य मनसा सर्वं गुणदोषबलाबलम्।
दग्धुकामः कुलं सर्वं कुशिकानां तपोधनः ॥ ९ ॥
च्यवनः समनुप्राप्य कुशिकं वाक्यमब्रवीत्।
वस्तुमिच्छा समुत्पन्ना त्वया सह ममानघ ॥ १० ॥

पूर्वकालमें भृगुपुत्र च्यवनको यह बात मालूम हुई कि हमारे वंशमें कुशिक-वंशकी कन्याके सम्बन्धसे क्षत्रियत्वका महान् दोष आनेवाला है। यह जानकर उन परम बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठने मन-ही-मन सारे गुण-दोष और बलाबलका विचार किया। तत्पश्चात् कुशिकोंके समस्त कुलको भस्म कर डालनेकी इच्छासे तपोधन च्यवन राजा कुशिकके पास गये और इस प्रकार बोले—'निष्पाप नरेश ! मेरे मनमें कुछ कालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा हुई है' ॥ ८-१० ॥

कुशिक उवाच

भगवन् सहधर्मोऽयं पण्डितैरिह धार्यते।
प्रदानकाले कन्यानामुच्यते च सदा बुधैः ॥ ११ ॥

कुशिकने कहा—भगवन् ! यह अतिथिसेवारूप सहधर्म विद्वान् पुरुष यहाँ सदा धारण करते हैं और कन्याओंके प्रदानकाल अर्थात् कन्याके विवाहके समयमें सदा पण्डितजन इसका उपदेश देते हैं ॥ ११ ॥

यत्तु तावदतिक्रान्तं धर्मद्वारं तपोधन।
तत्कार्यं प्रकरिष्यामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

तपोधन ! अबतक तो इस धर्मके मार्गका पालन नहीं हुआ और समय निकल गया, परंतु अब आपके सहयोग और कृपासे इसका पालन करूँगा। अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान करें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अथासनमुपादाय च्यवनस्य महामुनेः।
कुशिको भार्यया सार्धमाजगाम यतो मुनिः ॥ १३ ॥

इतना कहकर राजा कुशिकने महामुनिच्यवनको बैठनेके लिये आसन दिया और स्वयं अपनी पत्नीके साथ उस स्थानपर आये, जहाँ वे मुनि विराजमान थे ॥ १३ ॥

प्रगृह्य राजा भृङ्गारं पाद्यमस्मै न्यवेदयत्।
कारयामास सर्वाश्च क्रियास्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

राजाने स्वयं गड़ुआ हाथमें लेकर मुनिको पैर धोनेके लिये जल निवेदन किया। इसके बाद उन महात्माको अर्घ्य आदि देनेकी सम्पूर्ण क्रियाएँ पूर्ण करायीं ॥ १४ ॥

ततः स राजा च्यवनं मधुपर्कं यथाविधि।
ग्राहयामास चाव्यग्रो महात्मा नियतव्रतः ॥ १५ ॥

इसके बाद नियमतः व्रत पालन करनेवाले महामनस्वी राजा कुशिकने शान्तभावसे च्यवन मुनिको विधिपूर्वक मधुपर्क भोजन कराया ॥ १५ ॥

सत्कृत्य तं तथा विप्रमिदं पुनरथाब्रवीत्।
भगवन् परवन्तौ स्वो ब्रूहि किं करवावहे ॥ १६ ॥

इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिका यथावत् सत्कार करके वे फिर उनसे बोले—'भगवन्! हम दोनों पति-पत्नी आपके अधीन हैं। बताइये, हम आपकी क्या सेवा करें ॥ १६ ॥

यदि राज्यं यदि धनं यदि गाः संशितव्रत।
यज्ञदानानि च तथा ब्रूहि सर्वं ददामि ते ॥ १७ ॥
इदं गृहमिदं राज्यमिदं धर्मासनं च ते।
राजा त्वमसि शाध्युर्वीमहं तु परवांस्त्वयि ॥ १८ ॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! यदि आप राज्य, धन, गौ एवं यज्ञके निमित्त दान लेना चाहते हों तो बतावें। वह सब मैं आपको दे सकता हूँ। यह राजभवन, यह राज्य और यह धर्मानुकूल राज्यसिंहासन–सब आपका है। आप ही राजा हैं, इस पृथ्वीका पालन कीजिये। मैं तो सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला सेवक हूँ' ॥ १७-१८ ॥

एवमुक्ते ततो वाक्ये च्यवनो भार्गवस्तदा।
कुशिकं प्रत्युवाचेदं मुदा परमया युतः ॥ १९ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भृगुपुत्र च्यवन मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और कुशिकसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

न राज्यं कामये राजन् न धनं न च योषितः।
न च गा न च वै देशान् न यज्ञं श्रूयतामिदम् ॥ २० ॥

'राजन्! न मैं राज्य चाहता हूँ न धन। न युवतियोंकी इच्छा रखता हूँ न गौओं, देशों और यज्ञकी ही। आप मेरी यह बात सुनिये ॥ २० ॥

नियमं किंचिदारप्स्ये युवयोर्यदि रोचते।
परिचर्योऽस्मि यत्ताभ्यां युवाभ्यामविशङ्कया ॥ २१ ॥

'यदि आपलोगोंको जँचे तो मैं एक नियम आरम्भ करूँगा। उसमें आप दोनों पति-पत्नीको सर्वथा सावधान रहकर बिना किसी हिचकके मेरी सेवा करनी होगी' ॥ २१ ॥

एवमुक्ते तदा तेन दम्पती तौ जहर्षतुः।
प्रत्यब्रूतां च तमृषिमेवमस्त्विति भारत ॥ २२ ॥

मुनिकी यह बात सुनकर राजदम्पतिको बड़ा हर्ष हुआ। भारत! उन दोनोंने उन्हें उत्तर दिया, 'बहुत अच्छा', हम आपकी सेवा करेंगे' ॥ २२ ॥

अथ तं कुशिको हृष्टः प्रावेशयदनुत्तमम्।
गृहोद्देशं ततस्तस्य दर्शनीयमदर्शयत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर राजा कुशिक महर्षि च्यवनको बड़े आनन्दके साथ अपने सुन्दर महलके भीतर ले गये। वहाँ उन्होंने मुनिको एक सजा-सजाया कमरा दिखाया, जो देखने योग्य था ॥

इयं शय्या भगवतो यथाकाममिहोष्यताम्।
प्रयतिष्यावहे प्रीतिमाहर्तुं ते तपोधन ॥ २४ ॥

उस घरको दिखाकर वे बोले—'तपोधन! यह आपके लिये शय्या बिछी हुई है। आप इच्छानुसार यहाँ आराम कीजिये। हमलोग आपको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करेंगे' ॥

अथ सूर्योऽतिचक्राम तेषां संवदतां तथा।
अथर्षिश्चोदयामास पानमन्नं तथैव च ॥ २५ ॥

इस प्रकार उनमें बातें होते-होते सूर्यास्त हो गया। तब महर्षिने राजाको अन्न और जल ले आनेकी आज्ञा दी ॥२५॥

तमपृच्छत् ततो राजा कुशिकः प्रणतस्तदा।
किमन्नजातमिष्टं ते किमुपस्थापयाम्यहम् ॥ २६ ॥

उस समय राजा कुशिकने उनके चरणोंमें प्रणाम करके पूछा–'महर्षे! आपको कौन-सा भोजन अभीष्ट है ? आपकी सेवामें क्या-क्या सामान लाऊँ ?' ॥ २६ ॥

ततः स परया प्रीत्या प्रत्युवाच नराधिपम्।
औपपत्तिकमाहारं प्रयच्छस्वेति भारत ॥ २७ ॥

भरतनन्दन! यह सुनकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ राजासे बोले—'तुम्हारे यहाँ जो भोजन तैयार हो, वही ला दो' ॥

तद्वचः पूजयित्वा तु तथेत्याह स पार्थिवः।
यथोपपन्नमाहारं तस्मै प्रादाज्जनाधिप ॥ २८ ॥

नरेश्वर! राजा मुनिके उस कथनका आदर करते हुए 'जो आज्ञा' कहकर गये और जो भोजन तैयार था, उसे लाकर उन्होंने मुनिके सामने प्रस्तुत कर दिया ॥ २८ ॥

ततः स भुक्त्वा भगवान् दम्पती प्राह धर्मवित्।
स्वप्तुमिच्छाम्यहं निद्रा बाधते मामिति प्रभो ॥ २९ ॥

प्रभो ! तदनन्तर भोजन करके धर्मज्ञ भगवान् च्यवनने राजदम्पतिसे कहा—'अब मैं सोना चाहता हूँ, मुझे नींद सता रही है' ॥ २९ ॥

ततः शय्यागृहं प्राप्य भगवानृषिसत्तमः ।
संविवेश नरेशस्तु सपत्नीकः स्थितोऽभवत् ॥ ३० ॥

इसके बाद मुनिश्रेष्ठ भगवान् च्यवन शयनागारमें जाकर सो गये और पत्नीसहित राजा कुशिक उनकी सेवामें खड़े रहे॥

न प्रबोध्योऽस्मि संसुप्त इत्युवाचाथ भार्गवः ।
संवाहितव्यौ मे पादौ जागृतव्यं च तेऽनिशम् ॥ ३१ ॥

उस समय भृगुपुत्रने उन दोनोंसे कहा—'तुमलोग सोते समय मुझे जगाना मत । मेरे दोनों पैर दबाते रहना और स्वयं भी निरन्तर जागते रहना' ॥ ३१ ॥

अविशङ्कस्तु कुशिकस्तथेत्येवाह धर्मवित् ।
न प्रबोधयतां तौ च दम्पती रजनीक्षये ॥ ३२ ॥

धर्मज्ञ राजा कुशिकने निःशङ्क होकर कहा, 'बहुत अच्छा'। रात बीती, सवेरा हुआ, किंतु उन पति-पत्नीने मुनिको जगाया नहीं ॥ ३२ ॥

यथादेशं महर्षेस्तु शुश्रूषापरमौ तदा ।
बभूवतुर्महाराज प्रयतावथ दम्पती ॥ ३३ ॥

महाराज ! वे दोनों दम्पति मन और इन्द्रियोंको वशमें करके महर्षिके आज्ञानुसार उनकी सेवामें लगे रहे ॥ ३३ ॥

ततः स भगवान् विप्रः समादिश्य नराधिपम् ।
सुष्वापैकेन पार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम् ॥ ३४ ॥

उधर ब्रह्मर्षि भगवान् च्यवन राजाको सेवाका आदेश देकर इक्कीस दिनोंतक एक ही करवटसे सोते रह गये॥३४॥

स तु राजा निराहारः सभार्यः कुरुनन्दन ।
पर्युपासत तं हृष्टश्च्यवनाराधने रतः ॥ ३५ ॥

कुरुनन्दन ! राजा और रानी बिना कुछ खाये-पीये हर्षपूर्वक महर्षिकी उपासना और आराधनामें लगे रहे॥३५॥

भार्गवस्तु समुत्तस्थौ स्वयमेव तपोधनः ।
अकिंचिदुक्त्वा तु गृहान्निश्चक्राम महातपाः ॥ ३६ ॥

बाईसवें दिन तपस्याके धनी महातपस्वी च्यवन अपने आप उठे और राजासे कुछ कहे बिना ही महलसे बाहर निकल गये ॥ ३६ ॥

तमन्वगच्छतां तौ च क्षुधितौ श्रमकर्शितौ ।
भार्यापती मुनिश्रेष्ठस्तावेतौ नावलोकयत् ॥ ३७ ॥

राजा-रानी भूखसे पीड़ित और परिश्रमसे दुर्बल हो गये थे । तो भी वे मुनिके पीछे-पीछे गये, परंतु उन मुनिश्रेष्ठने इन दोनोंकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं ॥ ३७ ॥



तयोस्तु प्रेक्षतोरेव भार्गवाणां कुलोद्वहः ।
अन्तर्हितोऽभूद् राजेन्द्र ततो राजापतत् क्षितौ ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! वे भृगुकुलशिरोमणि राजा-रानीके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये । इससे अत्यन्त दुखी हो राजा पृथ्वी-पर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य सह देव्या महाद्युतिः ।
पुनरन्वेषणे यत्नमकरोत् परमं तदा ॥ ३९ ॥

दो घड़ीमें किसी तरह अपनेको सँभालकर वे महातेजस्वी राजा उठे और महारानीको साथ लेकर पुनः मुनिको ढूँढ़नेका महान् प्रयत्न करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवन मुनिके द्वारा राजा-रानीके धैर्यकी परीक्षा और उनकी सेवासे प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद देना

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते विप्रे राजा किमकरोत् तदा ।
भार्या चास्य महाभागा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! च्यवन मुनिके अन्तर्धान हो जानेपर राजा कुशिक और उनकी महान् सौभाग्यशालिनी पत्नीने क्या किया ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अदृष्ट्वा स महीपालस्तमृषिं सह भार्यया ।
परिश्रान्तो निववृते व्रीडितो नष्टचेतनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! पत्नीसहित भूपालने बहुत ढूँढ़नेपर भी जब ऋषिको नहीं देखा, तब वे थककर लौट आये। उस समय उन्हें बड़ा संकोच हो रहा था। वे अचेत-से हो गये थे ॥ २ ॥

स प्रविश्य पुरीं दीनो नाभ्यभाषत किंचन ।
तदेव चिन्तयामास च्यवनस्य विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

वे दीनभावसे पुरीमें प्रवेश करके किसीसे कुछ बोले नहीं। केवल च्यवन मुनिके चरित्रपर मन-ही-मन विचार करने लगे॥

अथ शून्येन मनसा प्रविश्य स्वगृहं नृपः ।
ददर्श शयने तस्मिन् शयानं भृगुनन्दनम् ॥ ४ ॥

राजाने सूने मनसे जब घरमें प्रवेश किया, तब भृगुनन्दन महर्षि च्यवनको पुनः उसी शय्यापर सोते देखा ॥ ४॥

विस्मितौ तमृषिं दृष्ट्वा तदाश्चर्यं विचिन्त्य च ।
दर्शनात् तस्य तु तदा विश्रान्तौ सम्बभूवतुः ॥ ५ ॥

उन महर्षिको देखकर उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे उस आश्चर्यजनक घटनापर विचार करके चकित हो गये। मुनिके दर्शनसे उन दोनोंकी सारी थकावट दूर हो गयी॥५॥

यथास्थानं च तौ स्थित्वा भूयस्तं संववाहतुः ।
अथापरेण पार्श्वेन सुष्वाप स महामुनिः ॥ ६ ॥

वे फिर यथास्थान खड़े रहकर मुनिके पैर दबाने लगे। अबकी बार वे महामुनि दूसरी करवटसे सोये थे ॥ ६ ॥

तेनैव च स कालेन प्रत्यबुद्ध्यत वीर्यवान् ।
न च तौ चक्रतुः किंचिद् विकारं भयशङ्कितौ ॥ ७ ॥

शक्तिशाली च्यवन मुनि फिर उतने ही समयमें सोकर उठे। राजा और रानी उनके भयसे शङ्कित थे, अतः उन्होंने अपने मनमें तनिक भी विकार नहीं आने दिया ॥ ७॥

प्रतिबुद्धस्तु स मुनिस्तौ प्रोवाच विशाम्पते ।
तैलाभ्यङ्गो दीयतां मे स्नास्येऽहमिति भारत ॥ ८ ॥

भारत! प्रजानाथ! जब वे मुनि जागे, तब राजा और रानीसे इस प्रकार बोले—'तुमलोग मेरे शरीरमें तेलकी मालिश करो; क्योंकि अब मैं स्नान करूँगा' ॥ ८ ॥

तौ तथेति प्रतिश्रुत्य क्षुधितौ श्रमकर्शितौ ।
शतपाकेन तैलेन महार्हेणोपतस्थतुः ॥ ९ ॥

यद्यपि राजा-रानी भूख-प्याससे पीड़ित और अत्यन्त दुर्बल हो गये थे तो भी 'बहुत अच्छा' कहकर वे राजदम्पति सौ बार पकाकर तैयार किये हुए बहुमूल्य तेलको लेकर उनकी सेवामें जुट गये ॥ ९ ॥

ततः सुखासीनमृषिं वाग्यतौ संववाहतुः ।
न च पर्याप्तमित्याह भार्गवः सुमहातपाः ॥ १० ॥

ऋषि आनन्दसे बैठ गये और वे दोनों दम्पति मौन हो उनके शरीरमें तेल मलने लगे। परंतु महातपस्वी भृगुपुत्र च्यवनने अपने मुँहसे एक बार भी नहीं कहा कि 'बस, अब रहने दो, तेलकी मालिश पूरी हो गयी' ॥ १० ॥

यदा तौ निर्विकारौ तु लक्षयामास भार्गवः ।
तत उत्थाय सहसा स्नानशालां विवेश ह ॥ ११ ॥

भृगुपुत्रने इतनेपर भी जब राजा और रानीके मनमें कोई विकार नहीं देखा, तब सहसा उठकर वे स्नानागारमें चले गये ॥ ११ ॥

क्लृप्तमेव तु तत्रासीत् स्नानीयं पार्थिवोचितम् ।
असत्कृत्य च तत् सर्वं तत्रैवान्तरधीयत ॥ १२ ॥
स मुनिः पुनरेवाथ नृपतेः पश्यतस्तदा ।
नासूयां चक्रतुस्तौ च दम्पती भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ स्नानके लिये राजोचित सामग्री पहलेसे ही तैयार करके रखी गयी थी; किंतु उस सारी सामग्रीकी अवहेलना करके—उसका किंचित् भी उपयोग न करके वे मुनि पुनः राजाके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये; तो भी उन पति-पत्नीने उनके प्रति दोष-दृष्टि नहीं की ॥ १२-१३ ॥

अथ स्नातः स भगवान् सिंहासनगतः प्रभुः ।
दर्शयामास कुशिकं सभार्यं कुरुनन्दन ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन! तदनन्तर शक्तिशाली भगवान् च्यवन मुनि पत्नीसहित राजा कुशिकको स्नान करके सिंहासनपर बैठे दिखायी दिये ॥ १४ ॥

संहृष्टवदनो राजा सभार्यः कुशिको मुनिम् ।
सिद्धमन्नमिति प्रह्वो निर्विकारो न्यवेदयत् ॥ १५ ॥

उन्हें देखते ही पत्नीसहित राजाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने निर्विकारभावसे मुनिके पास जाकर विनयपूर्वक यह निवेदन किया कि 'भोजन तैयार है' ॥ १५ ॥

आनीयतामिति मुनिस्तं चोवाच नराधिपम् ।
स राजा समुपाजह्रे तदन्नं सह भार्यया ॥ १६ ॥

तब मुनिने राजासे कहा, 'ले आओ।' आज्ञा पाकर पत्नीसहित नरेशने मुनिके सामने भोजन-सामग्री प्रस्तुत की ॥

मांसप्रकारान् विविधाञ्शाकानि विविधानि च ।
वेसवारविकारांश्च पानकानि लघूनि च ॥ १७ ॥
रसालापूपकांश्चित्रान् मोदकानथ खाण्डवान् ।
रसान् नानाप्रकारांश्च वन्यं च मुनिभोजनम् ॥ १८ ॥
फलानि च विचित्राणि राजभोज्यानि भूरिशः ।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यभल्लातकफलानि च ॥ १९ ॥
गृहस्थानां च यद् भोज्यं यच्चापि वनवासिनाम् ।
सर्वमाहारयामास राजा शापभयात् ततः ॥ २० ॥

नाना प्रकारके फलोंके गूदे, भाँति-भाँतिके साग, अनेक प्रकारके व्यञ्जन, हल्के पेय पदार्थ, स्वादिष्ट पूए, विचित्र मोदक (लड्डू), खाँड, नाना प्रकारके रस, मुनियोंके खाने योग्य जंगली कंद-मूल, विचित्र फल, राजाओंके उपभोगमें आनेवाले अनेक प्रकारके पदार्थ, बेर, इङ्गुद, काश्मर्य, भल्लातक फल तथा गृहस्थों और वानप्रस्थोंके खाद्य पदार्थ—सब कुछ राजाने शापके डरसे मँगाकर प्रस्तुत कर दिया था॥

अथ सर्वमुपन्यस्तमग्रतश्च्यवनस्य तत्।
ततः सर्वं समानीय तच्च शय्यासनं मुनिः ॥ २१ ॥
वस्त्रैः शुभैरवच्छाद्य भोजनोपस्करैः सह।
सर्वमादीपयामास च्यवनो भृगुनन्दनः ॥ २२ ॥

यह सब सामग्री च्यवन मुनिके आगे परोसकर रखी गयी। मुनिने वह सब लेकर उसको तथा शय्या और आसनको भी सुन्दर वस्त्रोंसे ढक दिया। इसके बाद भृगुनन्दन च्यवनने भोजन-सामग्रीके साथ उन वस्त्रोंमें भी आग लगा दी।२१-२२।

न च तौ चक्रतुः क्रोधं दम्पती सुमहामती।
तयोः सम्प्रेक्षतोरेव पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २३ ॥

परंतु उन परम बुद्धिमान् दम्पतिने उनपर क्रोध नहीं प्रकट किया। उन दोनोंके देखते ही-देखते वे मुनि फिर अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

तथैव च स राजर्षिस्तस्थौ तां रजनीं तदा।
सभार्यो वाग्यतः श्रीमान् न च कोपं समाविशत् ॥ २४ ॥

वे श्रीमान् राजर्षि अपनी स्त्रीके साथ उसी तरह वहाँ रातभर चुपचाप खड़े रह गये; किंतु उनके मनमें क्रोधका आवेश नहीं हुआ ॥ २४ ॥

नित्यसंस्कृतमन्नं तु विविधं राजवेश्मनि।
शयनानि च मुख्यानि परिषेकाश्च पुष्कलाः ॥ २५ ॥

प्रतिदिन भाँति-भाँतिका भोजन तैयार करके राजभवनमें मुनिके लिये परोसा जाता, अच्छे-अच्छे पलंग बिछाये जाते तथा स्नानके लिये बहुत-से पात्र रखे जाते थे ॥ २५॥

वस्त्रं च विविधाकारमभवत् समुपार्जितम्।
न शशाक ततो द्रष्टुमन्तरं च्यवनस्तदा ॥ २६ ॥
पुनरेव च विप्रर्षिः प्रोवाच कुशिकं नृपम्।
सभार्यो मां रथेनाशु वह यत्र ब्रवीम्यहम् ॥ २७ ॥

अनेक प्रकारके वस्त्र ला-लाकर उनकी सेवामें समर्पित किये जाते थे। जब ब्रह्मर्षि च्यवन मुनि इन सब कार्योंमें कोई छिद्र न देख सके, तब फिर राजा कुशिकसे बोले—'तुम स्त्रीसहित रथमें जुत जाओ और मैं जहाँ कहूँ, वहाँ मुझे शीघ्र ले चलो' ॥ २६-२७ ॥

तथेति च प्राह नृपो निर्विशङ्कस्तपोधनम्।
क्रीडारथोऽस्तु भगवन्नुत सांग्रामिको रथः ॥ २८ ॥

तब राजाने निःशङ्क होकर उन तपोधनसे कहा—'बहुत अच्छा, भगवन्! क्रीड़ाका रथ तैयार किया जाय या युद्धके उपयोगमें आनेवाला रथ?' ॥ २८ ॥

इत्युक्तः स मुनी राज्ञा तेन हृष्टेन तद्वचः।
च्यवनः प्रत्युवाचेदं हृष्टः परपुरंजयम् ॥ २९ ॥

हर्षमें भरे हुए राजाके इस प्रकार पूछनेपर च्यवन मुनिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उन नरेशसे कहा—॥ २९ ॥

सज्जीकुरु रथं क्षिप्रं यस्ते सांग्रामिको मतः।
सायुधः सपताकश्च शक्तीकनकयष्टिमान् ॥ ३० ॥

'राजन्! तुम्हारा जो युद्धोपयोगी रथ है, उसीको शीघ्र तैयार करो। उसमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र रखे रहें। पताका, शक्ति और सुवर्णदण्ड विद्यमान हों ॥ ३० ॥

किङ्किणीस्वननिर्घोषो युक्तस्तोरणकल्पनैः।
जाम्बूनदनिबद्धश्च परमेषुशतान्वितः ॥ ३१ ॥

'उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटियोंके मधुर शब्द सब ओर फैलते रहें। वह रथ वन्दनवारोंसे सजाया गया हो। उसके ऊपर जाम्बूनद नामक सुवर्ण जड़ा हुआ हो तथा उसमें अच्छे-अच्छे सैकड़ों बाण रखे गये हों' ॥ ३१ ॥

ततः स तं तथेत्युक्त्वा कल्पयित्वा महारथम्।
भार्यां वामे धुरि तदा चात्मानं दक्षिणे तथा ॥ ३२ ॥

तब राजा 'जो आज्ञा' कहकर गये और एक विशाल रथ तैयार करके ले आये। उसमें बायीं ओरका बोझ ढोनेके लिये रानीको लगाकर स्वयं वे दाहिनी ओर जुट गये ॥ ३२ ॥

त्रिदण्डं वज्रसूच्यग्रं प्रतोदं तत्र चादधत्।
सर्वमेतत् तथा दत्त्वा नृपो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

उस रथपर उन्होंने एक ऐसा चाबुक भी रख दिया, जिसमें आगेकी ओर तीन दण्ड थे और जिसका अग्रभाग सूईकी नोंकके समान तीखा था। यह सब सामान प्रस्तुत करके राजाने पूछा—॥ ३३ ॥

भगवन् क्व रथो यातु ब्रवीतु भृगुनन्दन।
यत्र वक्ष्यसि विप्रर्षे तत्र यास्यति ते रथः ॥ ३४ ॥

'भगवन्! भृगुनन्दन! बताइये, यह रथ कहाँ जाय? ब्रह्मर्षे! आप जहाँ कहेंगे, वहीं आपका रथ चलेगा' ॥ ३४॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाचाथ तं नृपम्।
इतः प्रभृति यातव्यं पदकं पदकं शनैः ॥ ३५ ॥
श्रमो मम यथा न स्यात् तथा मच्छन्दचारिणौ।
सुसुखं चैव वोढव्यो जनः सर्वश्च पश्यतु ॥ ३६ ॥

राजाके ऐसा पूछनेपर भगवान् च्यवन मुनिने उनसे कहा—'यहाँसे तुम बहुत धीरे-धीरे एक-एक कदम उठाकर चलो। यह ध्यान रखो कि मुझे कष्ट न होने पाये। तुम

दोनोंको मेरी मर्जीके अनुसार चलना होगा । तुमलोग इस प्रकार इस रथको ले चलो, जिससे मुझे अधिक आराम मिले और सब लोग देखें ॥ ३५-३६ ॥

नोत्सार्याः पथिकाः केचित् तेभ्यो दास्ये वसु ह्यहम् ।
ब्राह्मणेभ्यश्च ये कामानर्थयिष्यन्ति मां पथि ॥ ३७ ॥

'रास्तेसे किसी राहगीरको हटाना नहीं चाहिये, मैं उन सबको धन दूँगा । मार्गमें जो ब्राह्मण मुझसे जिस वस्तुकी प्रार्थना करेंगे, मैं उनको वही वस्तु प्रदान करूँगा ॥ ३७ ॥

सर्वान् दास्याम्यशेषेण धनं रत्नानि चैव हि ।
क्रियतां निखिलेनैतन्मा विचारय पार्थिव ॥ ३८ ॥

'मैं सबको उनकी इच्छाके अनुसार धन और रत्न बाँटूँगा । अतः इन सबके लिये पूरा-पूरा प्रबन्ध कर लो । पृथ्वीनाथ ! इसके लिये मनमें कोई विचार न करो' ॥ ३८ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा भृत्यांस्तथाब्रवीत् ।
यद् यद् ब्रूयान्मुनिस्तत्तत् सर्वं देयमशङ्कितैः ॥ ३९ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर राजाने अपने सेवकोंसे कहा—'ये मुनि जिस-जिस वस्तुके लिये आज्ञा दें, वह सब निःशङ्क होकर देना' ॥ ३९ ॥

ततो रत्नान्यनेकानि स्त्रियो युग्यमजाविकम् ।
कृताकृतं च कनकं गजेन्द्राश्चाचलोपमाः ॥ ४० ॥
अन्वगच्छन्त तमृषिं राजामात्याश्च सर्वशः ।
हाहाभूतं च तत् सर्वमासीन्नगरमार्तवत् ॥ ४१ ॥

राजाकी इस आज्ञाके अनुसार नाना प्रकारके रत्न, स्त्रियाँ, वाहन, बकरे, भेड़ें, सोनेके अलंकार, सोना और पर्वतोपम गजराज—ये सब मुनिके पीछे-पीछे चले । राजाके सम्पूर्ण मन्त्री भी इन वस्तुओंके साथ थे । उस समय सारा नगर आर्त होकर हाहाकार कर रहा था ॥ ४०-४१ ॥

तौ तीक्ष्णाग्रेण सहसा प्रतोदेन प्रतोदितौ ।
पृष्ठे विद्धौ कटे चैव निर्विकारौ तमूहतुः ॥ ४२ ॥

इतनेहीमें मुनिने सहसा चाबुक उठाया और उन दोनों-की पीठपर जोरसे प्रहार किया । उस चाबुकका अग्रभाग बड़ा तीखा था । उसकी करारी चोट पड़ते ही राजा-रानीकी पीठ और कमरमें घाव हो गया । फिर भी वे निर्विकारभावसे रथ ढोते रहे ॥ ४२ ॥

वेपमानौ निराहारौ पञ्चाशद्रात्रकर्षितौ ।
कथंचिदूहतुर्वीरौ दम्पती तं रथोत्तमम् ॥ ४३ ॥

पचास राततक उपवास करनेके कारण वे बहुत दुबले हो गये थे, उनका सारा शरीर काँप रहा था; तथापि वे वीर दम्पति किसी प्रकार साहस करके उस विशाल रथका बोझ ढो रहे थे ॥

बहुशो भृशविद्धौ तौ स्रवन्तौ च क्षतोद्भवम् ।
ददृशाते महाराज पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४४ ॥

महाराज ! वे दोनों बहुत घायल हो गये थे । उनकी पीठपर जो अनेक घाव हो गये थे, उनसे रक्त बह रहा था । खूनसे लथपथ होनेके कारण वे खिले हुए पलाशके फूलोंके समान दिखायी देते थे ॥ ४४ ॥

तौ दृष्ट्वा पौरवर्गस्तु भृशं शोकसमाकुलः ।
अभिशापभयत्रस्तो न च किंचिदुवाच ह ॥ ४५ ॥

पुरवासियोंका समुदाय उन दोनोंकी यह दुर्दशा देखकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा था । सब लोग मुनिके शापसे डरते थे; इसलिये कोई कुछ बोल नहीं रहा था ॥ ४५ ॥

द्वन्द्वशश्चाब्रुवन् सर्वे पश्यध्वं तपसो बलम् ।
क्रुद्धा अपि मुनिश्रेष्ठं वीक्षितुं नेह शक्नुमः ॥ ४६ ॥

दो-दो आदमी अलग-अलग खड़े होकर आपसमें कहने लगे—'भाइयो ! सब लोग मुनिकी तपस्याका बल तो देखो, हमलोग क्रोधमें भरे हुए हैं तो भी मुनिश्रेष्ठकी ओर यहाँ आँख उठाकर देख भी नहीं सकते ॥ ४६ ॥

अहो भगवतो वीर्यं महर्षेर्भावितात्मनः ।
राज्ञश्चापि सभार्यस्य धैर्यं पश्यत यादृशम् ॥ ४७ ॥

'इन विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि भगवान् च्यवनकी तपस्याका बल अद्भुत है । तथा महाराज और महारानीका धैर्य भी कैसा अनूठा है । यह अपनी आँखों देख लो ॥४७॥

श्रान्तावपि हि कृच्छ्रेण रथमेनं समूहतुः ।
न चैतयोर्विकारं वै ददर्श भृगुनन्दनः ॥ ४८ ॥

'ये इतने थके होनेपर भी कष्ट उठाकर इस रथको खींचे जा रहे हैं । भृगुनन्दन च्यवन अभीतक इनमें कोई विकार नहीं देख सके हैं' ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

ततः स निर्विकारौ तु दृष्ट्वा भृगुकुलोद्वहः ।
वसु विश्राणयामास यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भृगुकुलशिरोमणि मुनिवर च्यवनने जब इतनेपर भी राजा और रानीके मनमें कोई विकार नहीं देखा, तब वे कुबेरकी तरह उनका सारा धन लुटाने लगे ॥ ४९ ॥

तत्रापि राजा प्रीतात्मा यथादिष्टमथाकरोत् ।
ततोऽस्य भगवान् प्रीतो बभूव मुनिसत्तमः ॥ ५० ॥

परंतु इस कार्यमें भी राजा कुशिक बड़ी प्रसन्नताके साथ ऋषिकी आज्ञाका पालन करने लगे । इससे मुनिश्रेष्ठ भगवान् च्यवन बहुत संतुष्ट हुए ॥ ५० ॥

अवतीर्य रथश्रेष्ठाद् दम्पती तौ मुमोच ह ।
विमोच्य चैतौ विधिवत् ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ५१ ॥

उस उत्तम रथसे उतरकर उन्होंने दोनों पति-पत्नीको भार ढोनेके कार्यसे मुक्त कर दिया। मुक्त करके इन दोनोंसे विधिपूर्वक वार्तालाप किया ॥ ५१ ॥

स्निग्धगम्भीरया वाचा भार्गवः सुप्रसन्नया।
ददानि वां वरं श्रेष्ठं तं ब्रूतामिति भारत ॥ ५२ ॥

भारत! भृगुपुत्र च्यवन उस समय स्नेह और प्रसन्नतासे युक्त गम्भीर वाणीमें बोले—'मैं तुम दोनोंको उत्तम वर देना चाहता हूँ, बतलाओ क्या दूँ?' ॥ ५२ ॥

सुकुमारौ च तौ विद्धौ कराभ्यां मुनिसत्तमः।
पस्पर्शामृतकल्पाभ्यां स्नेहाद् भरतसत्तम ॥ ५३ ॥

भरतभूषण! यह कहते-कहते मुनिश्रेष्ठ च्यवन चाबुकसे घायल हुए उन दोनों सुकुमार राजदम्पतिकी पीठपर स्नेहवश अमृतके समान कोमल हाथ फेरने लगे ॥ ५३ ॥

अथाब्रवीन्नृपो वाक्यं श्रमो नास्त्यावयोरिह।
विश्रान्तौ च प्रभावात् ते ऊचतुस्तौ तु भार्गवम् ॥५४॥
अथ तौ भगवान् प्राह प्रहृष्टश्च्यवनस्तदा।
न वृथा व्याहृतं पूर्वं यन्मया तद् भविष्यति ॥ ५५ ॥

उस समय राजाने भृगुपुत्र च्यवनसे कहा—'अब हम दोनोंको यहाँ तनिक भी थकावटका अनुभव नहीं हो रहा है। हम दोनों आपके प्रभावसे पूर्ण विश्राम-सुखका अनुभव करने लगे हैं।' जब दोनोंने इस प्रकार कहा, तब भगवान् च्यवन पुनः हर्षमें भरकर बोले—'मैंने पहले जो कुछ कहा है, वह व्यर्थ नहीं होगा, पूर्ण होकर ही रहेगा ॥ ५४-५५ ॥

रमणीयः समुद्देशो गङ्गातीरमिदं शुभम्।
किंचित्कालं व्रतपरो निवत्स्यामीह पार्थिव ॥ ५६ ॥

'पृथ्वीनाथ! यह गङ्गाका सुन्दर तट बड़ा ही रमणीय स्थान है। मैं कुछ कालतक व्रतपरायण होकर यहीं रहूँगा॥

गम्यतां स्वपुरं पुत्र विश्रान्तः पुनरेष्यसि।
इहस्थं मां सभार्यस्त्वं द्रष्टासि श्वो नराधिप ॥ ५७ ॥

'बेटा! इस समय तुम अपने नगरमें जाओ और अपनी थकावट दूर करके कल सबेरे अपनी पत्नीके साथ फिर यहाँ आना। नरेश्वर! कल पत्नीसहित तुम मुझे यहीं देखोगे ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः श्रेयस्ते समुपस्थितम्।
यत् काङ्क्षितं हृदिस्थं ते तत् सर्वं हि भविष्यति ॥५८॥

'तुम्हें अपने मनमें खेद नहीं करना चाहिये। अब तुम्हारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है। तुम्हारे मनमें जो-जो अभिलाषा होगी, वह सब पूर्ण हो जायगी' ॥ ५८ ॥

इत्येवमुक्तः कुशिकः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
प्रोवाच मुनिशार्दूलमिदं वचनमर्थवत् ॥ ५९ ॥
न मे मन्युर्महाभाग पूतौ स्वो भगवंस्त्वया।
संवृत्तौ यौवनस्थौ स्वो वपुष्मन्तौ बलान्वितौ ॥ ६० ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा कुशिकने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर उन मुनिश्रेष्ठसे यह अर्थयुक्त वचन कहा—'भगवन्! महाभाग! आपने हमलोगोंको पवित्र कर दिया। हमारे मनमें तनिक भी खेद या रोष नहीं है। हम दोनोंकी तरुण अवस्था हो गयी तथा हमारा शरीर सुन्दर और बलवान् हो गया ॥ ५९-६० ॥

प्रतोदेन व्रणा ये मे सभार्यस्य त्वया कृताः।
तान् न पश्यामि गात्रेषु स्वस्थोऽस्मि सह भार्यया ॥ ६१ ॥

'आपने पत्नीसहित मेरे शरीरपर चाबुक मार-मारकर जो घाव कर दिये थे, उन्हें भी अब मैं अपने अङ्गोंमें नहीं देख रहा हूँ। मैं पत्नीसहित पूर्ण स्वस्थ हूँ ॥ ६१ ॥

इमां च देवीं पश्यामि वपुषाप्सरसोपमाम्।
श्रिया परमया युक्तां यथा दृष्टा पुरा मया ॥ ६२ ॥

'मैं अपनी इन महारानीको परम उत्तम कान्तिसे युक्त तथा अप्सराके समान मनोहर देख रहा हूँ। ये पहले मुझे जैसी दिखायी देती थीं वैसी ही हो गयी हैं ॥ ६२ ॥

तव प्रसादसंवृत्तमिदं सर्वं महामुने।
नैतच्चित्रं तु भगवंस्त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ६३ ॥

'महामुने! यह सब आपके कृपाप्रसादसे सम्भव हुआ है। भगवन्! आप सत्यपराक्रमी हैं। आप-जैसे तपस्वियोंमें ऐसी शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है' ॥ ६३ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं कुशिकं च्यवनस्तदा।
आगच्छेथाः सभार्यश्च त्वमिहेति नराधिप ॥ ६४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिवर च्यवन पुनः राजा कुशिकसे बोले—'नरेश्वर! तुम पुनः अपनी पत्नीके साथ कल यहाँ आना' ॥ ६४ ॥

इत्युक्तः समनुज्ञातो राजर्षिरभिवाद्य तम्।
प्रययौ वपुषा युक्तो नगरं देवराजवत् ॥ ६५ ॥

महर्षिकी यह आज्ञा पाकर राजर्षि कुशिक उन्हें प्रणाम करके विदा ले देवराजके समान तेजस्वी शरीरसे युक्त हो अपने नगरकी ओर चल दिये ॥ ६५ ॥

तत एनमुपाजग्मुरमात्याः सपुरोहिताः।
बलस्था गणिकायुक्ताः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ ६६ ॥

तदनन्तर उनके पीछे-पीछे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, नर्तकियाँ तथा समस्त प्रजावर्गके लोग चले ॥ ६६ ॥

तैर्वृतः कुशिको राजा श्रिया परमया ज्वलन्।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूज्यमानोऽथ बन्दिभिः ॥ ६७ ॥

उनसे घिरे हुए राजा कुशिक उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने बड़े हर्षके साथ नगरमें प्रवेश किया। उस समय बन्दीजन उनके गुण गा रहे थे ॥ ६७ ॥

ततः प्रविश्य नगरं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।

भुक्त्वा सभार्यो रजनीमुवास स महाद्युतिः ॥ ६८ ॥

नगरमें प्रवेश करके उन्होंने पूर्वाह्णकालकी सम्पूर्ण क्रियाएँ सम्पन्न कीं। फिर पत्नीसहित भोजन करके उन महातेजस्वी नरेशने रातको महलमें निवास किया ॥ ६८ ॥

ततस्तु तौ नवमभिवीक्ष्य यौवनं
परस्परं विगतरुजाविवामरौ।
ननन्दतुः शयनगतौ वपुर्धरौ
श्रिया युतौ द्विजवरदत्तया तदा ॥ ६९ ॥

वे दोनों पति-पत्नी नीरोग देवताओंके समान दिखायी देते थे। वे एक दूसरेके शरीरमें नयी जवानीका प्रवेश हुआ देखकर शय्यापर सोये-सोये बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे। द्विजश्रेष्ठ च्यवनकी दी हुई उत्तम शोभासे सम्पन्न नूतन शरीर धारण किये वे दोनों दम्पति बहुत प्रसन्न थे ॥

अथाप्यृषिर्भृगुकुलकीर्तिवर्धन-
स्तपोधनो वनमभिराममृद्धिमत्।
मनीषया बहुविधरत्नभूषितं
ससर्ज यन्न पुरि शतक्रतोरपि ॥ ७० ॥

इधर भृगुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले, तपस्याके धनी महर्षि च्यवनने गङ्गातटके तपोवनको अपने संकल्पद्वारा नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित करके समृद्धिशाली एवं नयनाभिराम बना दिया। वैसा कमनीय कानन इन्द्रपुरी अमरावतीमें भी नहीं था ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनके प्रभावसे राजा कुशिक और उनकी रानीको अनेक आश्चर्यमय दृश्योंका दर्शन एवं च्यवन मुनिका प्रसन्न होकर राजाको वर माँगनेके लिये कहना

भीष्म उवाच

ततः स राजा रात्र्यन्ते प्रतिबुद्धो महामनाः।
कृतपूर्वाह्णिकः प्रायात् सभार्यस्तद् वनं प्रति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् रात्रि व्यतीत होनेपर महामना राजा कुशिक जागे और पूर्वाह्न कालके नैत्यिक नियमोंसे निवृत्त होकर अपनी रानीके साथ उस तपोवनकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

ततो ददर्श नृपतिः प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
मणिस्तम्भसहस्राढ्यं गन्धर्वनगरोपमम् ॥ २ ॥

वहाँ पहुँचकर नरेशने एक सुन्दर महल देखा, जो सारा-का-सारा सोनेका बना हुआ था। उसमें मणियोंके हजारों खम्भे लगे हुए थे और वह अपनी शोभासे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ॥ २ ॥

तत्र दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुशिकस्तदा।
पर्वतान् रूप्यसानूंश्च नलिनीश्च सपङ्कजाः ॥ ३ ॥
चित्रशालाश्च विविधास्तोरणानि च भारत।
शाद्वलोपचितां भूमिं तथा काञ्चनकुट्टिमाम् ॥ ४ ॥

भारत! उस समय राजा कुशिकने वहाँ शिल्पियोंके अभिप्रायके अनुसार निर्मित और भी बहुत-से दिव्य पदार्थ देखे। कहीं चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित पर्वत, कहीं कमलोंसे भरे सरोवर, कहीं भाँति-भाँतिकी चित्रशालाएँ तथा तोरण शोभा पा रहे थे। भूमिपर कहीं सोनेसे मढ़ा हुआ पक्का फर्श और कहीं हरी-हरी घासकी बहार थी ॥ ३-४ ॥

सहकारान् प्रफुल्लांश्च केतकोद्दालकान् वरान्।
अशोकान् सहकुन्दांश्च फुल्लांश्चैवातिमुक्तकान् ॥ ५ ॥
चम्पकांस्तिलकान् भव्यान् पनसान् वञ्जुलानपि।
पुष्पितान् कर्णिकारांश्च तत्र तत्र ददर्श ह ॥ ६ ॥

अमराइयोंमें बौर लगे थे। जहाँ-तहाँ केतक, उद्दालक, अशोक, कुन्द, अतिमुक्तक, चम्पा, तिलक, कटहल, बेंत और कनेर आदिके सुन्दर वृक्ष खिले हुए थे। राजा और रानीने उन सबको देखा ॥ ५-६ ॥

श्यामान् वारणपुष्पांश्च तथाष्टपदिका लताः।
तत्र तत्र परिक्लृप्ता ददर्श स महीपतिः ॥ ७ ॥

राजाने विभिन्न स्थानोंमें निर्मित श्याम तमाल, वारण-पुष्प तथा अष्टपदिका लताओंका दर्शन किया ॥ ७ ॥

रम्यान् पद्मोत्पलधरान् सर्वर्तुकुसुमांस्तथा।
विमानप्रतिमांश्चापि प्रासादान् शैलसंनिभान् ॥ ८ ॥

कहीं कमल और उत्पलसे भरे हुए रमणीय सरोवर शोभा पाते थे। कहीं पर्वत-सदृश ऊँचे-ऊँचे महल दिखायी देते थे, जो विमानके आकारमें बने हुए थे। वहाँ सभी ऋतुओंके फूल खिले हुए थे ॥ ८ ॥

शीतलानि च तोयानि क्वचिदुष्णानि भारत।
आसनानि विचित्राणि शयनप्रवराणि च ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! कहीं शीतल जल थे तो कहीं उष्ण, उन महलोंमें विचित्र आसन और उत्तमोत्तम शय्याएँ बिछी हुई थीं ॥ ९ ॥

पर्यङ्कान् रत्नसौवर्णान् परार्ध्यास्तरणावृतान् ।
भक्ष्यं भोज्यमनन्तं च तत्र तत्रोपकल्पितम् ॥ १० ॥

सोनेके बने हुए रत्नजटित पलंगोंपर बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे। विभिन्न स्थानोंमें अनन्त भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे गये थे ॥ १० ॥

वाणीवादाञ्छुकांश्चैव सारिकान् भृङ्गराजकान् ।
कोकिलाञ्छतपत्रांश्च सकोयष्टिककुक्कुभान् ॥ ११ ॥
मयूरान् कुक्कुटांश्चापि दात्यूहान् जीवजीवकान् ।
चकोरान् वानरान् हंसान् सारसांश्चक्रसाह्वयान् ।१२।
समन्ततः प्रमुदितान् ददर्श सुमनोहरान् ।

राजाने देखा, मनुष्योंकी-सी वाणी बोलनेवाले तोते और सारिकाएँ चहक रही हैं। भृङ्गराज, कोयल, शतपत्र, कोयष्टि, कुक्कुभ, मोर, मुर्गे, दात्यूह, जीवजीवक, चकोर, वानर, हंस, सारस और चक्रवाक आदि मनोहर पशु-पक्षी चारों ओर सानन्द विचर रहे हैं ॥ ११-१२½ ॥

क्वचिदप्सरसां संघान् गन्धर्वाणां च पार्थिव ॥ १३ ॥
कान्ताभिरपरांस्तत्र परिष्वक्तान् ददर्श ह ।
न ददर्श च तान् भूयो ददर्श च पुनर्नृपः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! कहीं झुंड-की-झुंड अप्सराएँ विहार कर रही थीं। कहीं गन्धर्वोंके समुदाय अपनी प्रियतमाओंके आलिङ्गन-पाशमें बँधे हुए थे। इन सबको राजाने देखा। वे कभी उन्हें देख पाते थे और कभी नहीं देख पाते थे ॥

गीतध्वनिं सुमधुरं तथैवाध्यापनध्वनिम् ।
हंसान् सुमधुरांश्चापि तत्र शुश्राव पार्थिवः ॥ १५ ॥

राजा कभी संगीतकी मधुर ध्वनि सुनते, कभी वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष उनके कानोंमें पड़ता और कभी हंसोंकी मीठी वाणी उन्हें सुनायी देती थी ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वात्यद्भुतं राजा मनसाचिन्तयत् तदा ।
स्वप्नोऽयं चित्तविभ्रंश उताहो सत्यमेव तु ॥ १६ ॥

उस अति अद्भुत दृश्यको देखकर राजा मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो ! यह स्वप्न है या मेरे चित्तमें भ्रम हो गया है अथवा यह सब कुछ सत्य ही है ॥ १६ ॥

अहो सह शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ।
उत्तरान् वा कुरून् पुण्यानथवाप्यमरावतीम् ॥१७॥

'अहो ! क्या मैं इसी शरीरसे परम गतिको प्राप्त हो गया हूँ अथवा पुण्यमय उत्तरकुरु या अमरावतीपुरीमें आ पहुँचा हूँ ॥ १७ ॥

किंत्विदं महदाश्चर्यं सम्पश्यामीत्यचिन्तयत् ।
एवं संचिन्तयन्नेव ददर्श मुनिपुङ्गवम् ॥ १८ ॥

'यह महान् आश्चर्यकी बात जो मुझे दिखायी दे रही है, क्या है ?' इस तरह वे बारंबार विचार करने लगे। राजा इस प्रकार सोच ही रहे थे कि उनकी दृष्टि मुनिप्रवर च्यवनपर पड़ी ॥ १८ ॥

तस्मिन् विमाने सौवर्णे मणिस्तम्भसमाकुले ।
महार्हे शयने दिव्ये शयानं भृगुनन्दनम् ॥ १९ ॥

मणिमय खम्भोंसे युक्त सुवर्णमय विमानके भीतर बहुमूल्य दिव्य पर्यङ्कपर वे भृगुनन्दन च्यवन लेटे हुए थे॥१९॥

तमभ्ययात् प्रहर्षेण नरेन्द्रः सह भार्यया ।
अन्तर्हितस्ततो भूयश्च्यवनः शयनं च तत् ॥ २० ॥

उन्हें देखते ही पत्नीसहित महाराज कुशिक बड़े हर्षके साथ आगे बढ़े। इतनेहीमें फिर महर्षि च्यवन अन्तर्धान हो गये। साथ ही उनका वह पलंग भी अदृश्य हो गया ॥२०॥

ततोऽन्यस्मिन् वनोद्देशे पुनरेव ददर्श तम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं जपमानं महाव्रतम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वनके दूसरे प्रदेशमें राजाने फिर उन्हें देखा, उस समय वे महान् व्रतधारी महर्षि कुशकी चटाईपर बैठकर जप कर रहे थे ॥ २१ ॥

एवं योगबलाद् विप्रो मोहयामास पार्थिवम् ।
क्षणेन तद् वनं चैव ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ २२ ॥
गन्धर्वाः पादपाश्चैव सर्वमन्तरधीयत ।
निःशब्दमभवच्चापि गङ्गाकूलं पुनर्नृप ॥ २३ ॥

इस प्रकार ब्रह्मर्षि च्यवनने अपनी योगशक्तिसे राजा कुशिकको मोहमें डाल दिया। एक ही क्षणमें वह वन, वे अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व और वृक्ष सब-के-सब अदृश्य हो गये। नरेश्वर ! गङ्गाका वह तट पुनः शब्द-रहित हो गया ॥ २२-२३ ॥

कुशवल्मीकभूयिष्ठं बभूव च यथा पुरा ।
ततः स राजा कुशिकः सभार्यस्तेन कर्मणा ॥ २४ ॥
विस्मयं परमं प्राप्तस्तद् दृष्ट्वा महदद्भुतम् ।
ततः प्रोवाच कुशिको भार्यां हर्षसमन्वितः ॥ २५ ॥

वहाँ पहलेके ही समान कुश और बाँबीकी अधिकता हो गयी। तत्पश्चात् पत्नीसहित राजा कुशिक ऋषिका वह महान् अद्भुत प्रभाव देखकर उनके उस कार्यसे बड़े विस्मयको प्राप्त हुए। इसके बाद हर्षमग्न हुए कुशिकने अपनी पत्नीसे कहा—॥ २४-२५ ॥

पश्य भद्रे यथा भावाश्चित्रा दृष्टाः सुदुर्लभाः ।
प्रसादाद् भृगुमुख्यस्य किमन्यत्र तपोबलात् ॥ २६ ॥

'कल्याणी ! देखो, हमने भृगुकुलतिलक च्यवन मुनिकी

कृपासे कैसे-कैसे अद्भुत और परम दुर्लभ पदार्थ देखे हैं। भला, तपोबलसे बढ़कर और कौन-सा बल है ?॥ २६ ॥

तपसा तदवाप्यं हि यत् तु शक्यं मनोरथैः।
त्रैलोक्यराज्यादपि हि तप एव विशिष्यते ॥ २७ ॥

'जिसकी मनके द्वारा कल्पना मात्र की जा सकती है, वह वस्तु तपस्यासे साक्षात् सुलभ हो जाती है। त्रिलोकीके राज्यसे भी तप ही श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

तपसा हि सुतप्तेन शक्यो मोक्षस्तपोबलात्।
अहो प्रभावो ब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

'अच्छी तरह तपस्या करनेपर उसकी शक्तिसे मोक्षतक मिल सकता है। इन ब्रह्मर्षि महात्मा च्यवनका प्रभाव अद्भुत है॥

इच्छयैष तपोवीर्यादन्याँल्लोकान् सृजेदपि।
ब्राह्मणा एव जायेरन् पुण्यवाग्बुद्धिकर्मणः ॥ २९ ॥

'ये इच्छा करते ही अपनी तपस्याकी शक्तिसे दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हैं। इस पृथ्वीपर ब्राह्मण ही पवित्र-वाक्, पवित्रबुद्धि और पवित्र कर्मवाले होते हैं ॥२९ ॥

उत्सहेदिह कृत्वैव कोऽन्यो वै च्यवनादृते।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं लोके राज्यं हि सुलभं नरैः ॥ ३० ॥

'महर्षि च्यवनके सिवा दूसरा कौन है, जो ऐसा महान् कार्य कर सके ? संसारमें मनुष्योंको राज्य तो सुलभ हो सकता है, परंतु वास्तविक ब्राह्मणत्व परम दुर्लभ है ॥ ३० ॥

ब्राह्मण्यस्य प्रभावाद्धि रथे युक्तौ स्वधुर्यवत्।
इत्येवं चिन्तयानः स विदितश्च्यवनस्य वै ॥ ३१ ॥

'ब्राह्मणत्वके प्रभावसे ही महर्षिने हम दोनोंको अपने वाहनोंकी भाँति रथमें जोत दिया था।' इस तरह राजा सोच-विचार कर ही रहे थे कि महर्षि च्यवनको उनका आना ज्ञात हो गया ॥ ३१ ॥

सम्प्रेक्ष्योवाच नृपतिं क्षिप्रमागम्यतामिति।
इत्युक्तः सहभार्यस्तु सोऽभ्यगच्छन्महामुनिम् ॥३२॥
शिरसा वन्दनीयं तमवन्दत च पार्थिवः।

उन्होंने राजाकी ओर देखकर कहा—'भूपाल! शीघ्र यहाँ आओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर पत्नीसहित राजा उनके पास गये तथा उन वन्दनीय महामुनिको उन्होंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तस्याशिषः प्रयुज्याथ स मुनिस्तं नराधिपम् ॥ ३३ ॥
निषीदेत्यब्रवीद् धीमान् सान्त्वयन् पुरुषर्षभः।

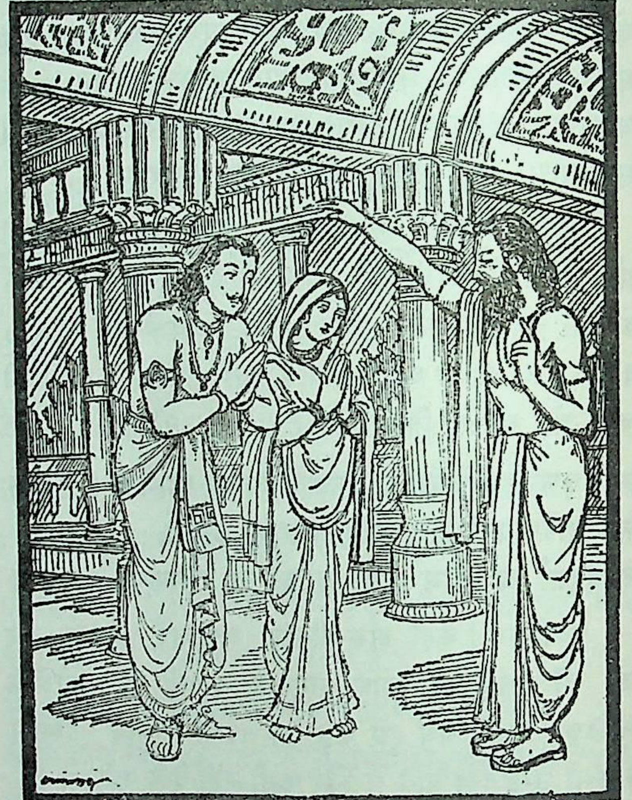
तब उन पुरुषप्रवर बुद्धिमान् मुनिने राजाको आशीर्वाद देकर सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—'आओ बैठो'॥

ततः प्रकृतिमापन्नो भार्गवो नृपते नृपम् ॥ ३४ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा तर्पयन्निव भारत।

भरतवंशी नरेश ! तदनन्तर स्वस्थ होकर भृगुपुत्र च्यवन मुनि अपनी स्निग्ध मधुर वाणीद्वारा राजाको तृप्त करते हुए-से बोले—॥ ३४½ ॥

राजन् सम्यग् जितानीह पञ्च पञ्च स्वयं त्वया ॥ ३५ ॥
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कृच्छ्रान्मुक्तोऽसि तेन वै।

'राजन् ! तुमने पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और छठे मनको अच्छी तरह जीत लिया है। इसीलिये तुम महान् संकटसे मुक्त हुए हो ॥ ३५½ ॥



सम्यगाराधितः पुत्र त्वया प्रवदतां वर ॥ ३६ ॥
न हि ते वृजिनं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ पुत्र ! तुमने भलीभाँति मेरी आराधना की है। तुम्हारे द्वारा कोई छोटे-से-छोटा या सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी नहीं हुआ है॥ ३६½ ॥

अनुजानीहि मां राजन् गमिष्यामि यथागतम् ॥ ३७ ॥
प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र वरश्च प्रतिगृह्यताम्।

'राजन् ! अब मुझे विदा दो। मैं जैसे आया था, वैसे ही लौट जाऊँगा। राजेन्द्र ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ; अतः तुम कोई वर माँगो' ॥ ३७½ ॥

कुशिक उवाच

अग्निमध्ये गतेनेव भगवन् संनिधौ मया ॥ ३८ ॥
वर्तितं भृगुशार्दूल यन्न दग्धोऽस्मि तद् बहु।
एष एव वरो मुख्यः प्राप्तो मे भृगुनन्दन ॥ ३९ ॥

कुशिक बोले—भगवन् ! भृगुश्रेष्ठ ! मैं आपके निकट उसी प्रकार रहा हूँ, जैसे कोई प्रज्वलित अग्निके बीचमें खड़ा हो। उस अवस्थामें रहकर भी मैं जलकर

भस्म नहीं हुआ, यही मेरे लिये बहुत बड़ी बात है। भृगुनन्दन ! यही मैंने महान् वर प्राप्त कर लिया ॥ ३८-३९॥

यत् प्रीतोऽसि मया ब्रह्मन् कुलं त्रातं च मेऽनघ।
एष मेऽनुग्रहो विप्र जीविते च प्रयोजनम् ॥ ४० ॥

निष्पाप ब्रह्मर्षे ! आप जो प्रसन्न हुए हैं तथा आपने जो मेरे कुलको नष्ट होनेसे बचा दिया, यही मुझपर आपका भारी अनुग्रह है। और इतनेसे ही मेरे जीवनका सारा प्रयोजन सफल हो गया ॥ ४० ॥

एतद् राज्यफलं चैव तपसश्च फलं मम।
यदि त्वं प्रीतिमान् विप्र मयि वै भृगुनन्दन ॥ ४१ ॥
अस्ति मे संशयः कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

भृगुनन्दन ! यही मेरे राज्यका और यही मेरी तपस्याका भी फल है। विप्रवर ! यदि आपका मुझपर प्रेम हो तो मेरे मनमें एक संदेह है, उसका समाधान करनेकी कृपा करें ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवनका कुशिकके पूछनेपर उनके घरमें अपने निवासका कारण बताना और उन्हें वरदान देना

च्यवन उवाच

वरश्च गृह्यतां मत्तो यश्च ते संशयो हृदि।
तं प्रब्रूहि नरश्रेष्ठ सर्वं सम्पादयामि ते ॥ १ ॥

च्यवन बोले—नरश्रेष्ठ ! तुम मुझसे वर भी माँग लो और तुम्हारे मनमें जो संदेह हो, उसे भी कहो। मैं तुम्हारा सब कार्य पूर्ण कर दूँगा ॥ १ ॥

कुशिक उवाच

यदि प्रीतोऽसि भगवंस्ततो मे वद भार्गव।
कारणं श्रोतुमिच्छामि मद्गृहे वासकारितम् ॥ २ ॥

कुशिकने कहा—भगवन् ! भृगुनन्दन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो मुझे यह बताइये कि आपने इतने दिनोंतक मेरे घरपर क्यों निवास किया था ? मैं इसका कारण सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

शयनं चैकपार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम्।
अकिंचिदुक्त्वा गमनं बहिश्च मुनिपुङ्गव ॥ ३ ॥
अन्तर्धानमकस्माच्च पुनरेव च दर्शनम्।
पुनश्च शयनं विप्र दिवसानेकविंशतिम् ॥ ४ ॥
तैलाभ्यक्तस्य गमनं भोजनं च गृहे मम।
समुपानीय विविधं यद् दग्धं जातवेदसा ॥ ५ ॥
निर्याणं च रथेनाशु सहसा यत् कृतं त्वया।
धनानां च विसर्गस्य वनस्यापि च दर्शनम् ॥ ६ ॥
प्रासादानां बहूनां च काञ्चनानां महामुने।
मणिविद्रुमपादानां पर्यङ्काणां च दर्शनम् ॥ ७ ॥
पुनश्चादर्शनं तस्य श्रोतुमिच्छामि कारणम्।
अतीव ह्यत्र मुह्यामि चिन्तयानो भृगूद्वह ॥ ८ ॥

मुनिपुङ्गव ! इक्कीस दिनोंतक एक करवटसे सोते रहना, फिर उठनेपर बिना कुछ बोले बाहर चल देना, सहसा अन्तर्धान हो जाना, पुनः दर्शन देना, फिर इक्कीस दिनोंतक दूसरी करवटसे सोते रहना, उठनेपर तेलकी मालिश कराना, मालिश कराकर चल देना, पुनः मेरे महलमें जाकर नाना प्रकारके भोजनको एकत्र करना और उसमें आग लगाकर जला देना, फिर सहसा रथपर सवार हो बाहर नगरकी यात्रा करना, धन लुटाना, दिव्य वनका दर्शन कराना, वहाँ बहुत-से सुवर्णमय महलोंको प्रकट करना, मणि और मूँगोंके पायेवाले पलंगोंको दिखाना और अन्तमें सबको पुनः अदृश्य कर देना—महामुने ! आपके इन कार्योंका यथार्थ कारण मैं सुनना चाहता हूँ। भृगुकुलरत्न ! इस बातपर जब मैं विचार करने लगता हूँ, तब मुझपर अत्यन्त मोह छा जाता है ॥ ३-८॥

न चैवात्राधिगच्छामि सर्वस्यास्य विनिश्चयम्।
एतदिच्छामि कार्त्स्न्येन सत्यं श्रोतुं तपोधन ॥ ९ ॥

तपोधन ! इन सब बातोंपर विचार करके भी मैं किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता हूँ; अतः इन बातोंको मैं पूर्ण एवं यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच

शृणु सर्वमशेषेण यदिदं येन हेतुना।
न हि शक्यमनाख्यातुमेवं पृष्टेन पार्थिव ॥ १० ॥

च्यवनने कहा—भूपाल ! जिस कारणसे मैंने यह सब कार्य किया था, वह सारा वृत्तान्त तुम पूर्णरूपसे सुनो। तुम्हारे इस प्रकार पूछनेपर मैं इस रहस्यको बताये बिना नहीं रह सकता ॥ १० ॥

पितामहस्य वदतः पुरा देवसमागमे।
श्रुतवानस्मि यद् राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११ ॥

राजन् ! पूर्वकालकी बात है, एक दिन देवताओंकी सभामें ब्रह्माजी एक बात कह रहे थे, जिसे मैंने सुना था, उसे बता रहा हूँ; सुनो ॥ ११ ॥

ब्रह्मक्षत्रविरोधेन भविता कुलसंकरः ।
पौत्रस्ते भविता राजंस्तेजोवीर्यसमन्वितः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! ब्रह्माजीने कहा था कि ब्राह्मण और क्षत्रियमें विरोध होनेके कारण दोनों कुलोंमें संकरता आ जायगी। (उन्हींके मुँहसे मैंने यह भी सुना था कि तुम्हारे वंशकी कन्यासे मेरे वंशमें क्षत्रिय तेजका संचार होगा और) तुम्हारा एक पौत्र ब्राह्मण-तेजसे सम्पन्न तथा पराक्रमी होगा ॥ १२ ॥

ततस्ते कुलनाशार्थमहं त्वां समुपागतः ।
चिकीर्षन् कुशिकोच्छेदं संदिधक्षुः कुलं तव ॥ १३ ॥

यह सुनकर मैं तुम्हारे कुलका विनाश करनेके लिये तुम्हारे यहाँ आया था। मैं कुशिकका मूलोच्छेद कर डालना चाहता था। मेरी प्रबल इच्छा थी कि तुम्हारे कुलको जलाकर भस्म कर डालूँ ॥ १३ ॥

ततोऽहमागम्य पुरे त्वामवोचं महीपते ।
नियमं कंचिदारप्स्ये शुश्रूषा क्रियतामिति ॥ १४ ॥
न च ते दुष्कृतं किंचिदहमासादयं गृहे ।
तेन जीवसि राजर्षे न भवेथास्त्वमन्यथा ॥ १५ ॥

भूपाल ! इसी उद्देश्यसे तुम्हारे नगरमें आकर मैंने तुमसे कहा कि मैं एक व्रतका आरम्भ करूँगा। तुम मेरी सेवा करो (इसी अभिप्रायसे मैं तुम्हारा दोष ढूँढ़ रहा था); किंतु तुम्हारे घरमें रहकर भी मैंने आजतक तुममें कोई दोष नहीं पाया। राजर्षे ! इसीलिये तुम जीवित हो, अन्यथा तुम्हारी सत्ता मिट गयी होती ॥ १४-१५ ॥

एवं बुद्धिं समास्थाय दिवसानेकविंशतिम् ।
सुप्तोऽस्मि यदि मां कश्चिद् बोधयेदिति पार्थिव ॥ १६ ॥

भूपते ! यही विचार मनमें लेकर मैं इक्कीस दिनोंतक एक करवटसे सोता रहा कि कोई मुझे बीचमें आकर जगावे॥

यदा त्वया सभार्येण संसुप्तो न प्रबोधितः ।
अहं तदैव ते प्रीतो मनसा राजसत्तम ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जब पत्नीसहित तुमने मुझे सोते समय नहीं जगाया, तभी मैं तुम्हारे ऊपर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ था ॥ १७ ॥

उत्थाय चास्मि निष्क्रान्तो यदि मां त्वं महीपते ।
पृच्छेः क्व यास्यसीत्येवं शपेयं त्वामिति प्रभो ॥ १८ ॥

भूपते ! प्रभो ! जिस समय मैं उठकर घरसे बाहर जाने लगा, उस समय यदि तुम मुझसे पूछ देते कि 'कहाँ जाइयेगा' तो इतनेसे ही मैं तुम्हें शाप दे देता ॥ १८ ॥

अन्तर्हितः पुनश्चास्मि पुनरेव च ते गृहे ।
योगमास्थाय संसुप्तो दिवसानेकविंशतिम् ॥ १९ ॥

फिर मैं अन्तर्धान हुआ और पुनः तुम्हारे घरमें आकर योगका आश्रय ले इक्कीस दिनोंतक सोया ॥ १९ ॥

क्षुधितौ मामसूयेथां श्रमाद् वेति नराधिप ।
एवं बुद्धिं समास्थाय कर्शितौ वां क्षुधा मया ॥ २० ॥

नरेश्वर ! मैंने सोचा था कि तुम दोनों भूखसे पीड़ित होकर या परिश्रमसे थककर मेरी निन्दा करोगे। इसी उद्देश्यसे मैंने तुमलोगोंको भूखे रखकर क्लेश पहुँचाया ॥ २० ॥

न च तेऽभूत् सुसूक्ष्मोऽपि मन्युर्मनसि पार्थिव ।
सभार्यस्य नरश्रेष्ठ तेन ते प्रीतिमानहम् ॥ २१ ॥

भूपते ! नरश्रेष्ठ ! इतनेपर भी स्त्रीसहित तुम्हारे मनमें तनिक भी क्रोध नहीं हुआ। इससे मैं तुमलोगोंपर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २१ ॥

भोजनं च समानाय्य यत् तदा दीपितं मया ।
क्रुद्ध्येथा यदि मात्सर्यादिति तन्मर्षितं च मे ॥ २२ ॥

इसके बाद जो मैंने भोजन मँगाकर जला दिया, उसमें भी यही उद्देश्य छिपा था कि तुम डाहके कारण मुझपर क्रोध करोगे; परंतु मेरे उस बर्तावको भी तुमने सह लिया ॥ २२ ॥

ततोऽहं रथमारुह्य त्वामवोचं नराधिप ।
सभार्यो मां वहस्वेति तच्च त्वं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
अविशङ्को नरपते प्रीतोऽहं चापि तेन ह ।

नरेन्द्र ! इसके बाद मैं रथपर आरूढ़ होकर बोला, तुम स्त्रीसहित आकर मेरा रथ खींचो। नरेश्वर ! इस कार्यको भी तुमने निःशङ्क होकर पूर्ण किया। इससे भी मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २३½ ॥

धनोत्सर्गेऽपि च कृते न त्वां क्रोधः प्रधर्षयत् ॥ २४ ॥
ततः प्रीतेन ते राजन् पुनरेतत् कृतं तव ।
सभार्यस्य वनं भूयस्तद् विद्धि मनुजाधिप ॥ २५ ॥
प्रीत्यर्थं तव चैतन्मे स्वर्गसंदर्शनं कृतम् ।

फिर जब मैं तुम्हारा धन लुटाने लगा, उस समय भी तुम क्रोधके वशीभूत नहीं हुए। इन सब बातोंसे मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन् ! मनुजेश्वर ! अतः मैंने पत्नीसहित तुम्हें संतुष्ट करनेके लिये ही इस वनमें स्वर्गका दर्शन कराया है। पुनः यह सब कार्य करनेका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना ही था, इस बातको अच्छी तरह जान लो॥

यत् ते वनेऽस्मिन् नृपते दृष्टं दिव्यं निदर्शनम् ॥ २६ ॥
स्वर्गोद्देशस्त्वया राजन् सशरीरेण पार्थिव ।
मुहूर्तमनुभूतोऽसौ सभार्येण नृपोत्तम ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! राजन् ! इस वनमें तुमने जो दिव्य दृश्य देखे हैं, वह स्वर्गकी एक झाँकी थी। नृपश्रेष्ठ ! भूपाल ! तुमने अपनी रानीके साथ इसी शरीरसे कुछ देरतक स्वर्गीय सुखका अनुभव किया है ॥ २६-२७ ॥

निदर्शनार्थं तपसो धर्मस्य च नराधिप ।
तत्र याऽऽसीत् स्पृहा राजंस्तच्चापि विदितं मया॥२८॥

नरेश्वर ! यह सब मैंने तुम्हें तप और धर्मका प्रभाव दिखलानेके लिये ही किया है। राजन् ! इन सब बातोंको देखनेपर तुम्हारे मनमें जो इच्छा हुई है, वह भी मुझे ज्ञात हो चुकी है ॥ २८ ॥

ब्राह्मण्यं काङ्क्षसे हि त्वं तपश्च पृथिवीपते।
अवमन्य नरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं च पार्थिव ॥ २९ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम सम्राट् और देवराजके पदकी भी अवहेलना करके ब्राह्मणत्व पाना चाहते हो और तपकी भी अभिलाषा रखते हो ॥ २९ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं ब्राह्मण्यं तात दुर्लभम्।
ब्राह्मणे सति चर्षित्वमृषित्वे च तपस्विता ॥ ३० ॥

तात ! तप और ब्राह्मणत्वके सम्बन्धमें तुम जैसा उद्गार प्रकट कर रहे थे, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। ब्राह्मण होनेपर भी ऋषि होना और ऋषि होनेपर भी तपस्वी होना तो और भी कठिन है ॥ ३० ॥

भविष्यत्येष ते कामः कुशिकात् कौशिको द्विजः।
तृतीयं पुरुषं तुभ्यं ब्राह्मणत्वं गमिष्यति ॥ ३१ ॥

तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण होगी। कुशिकसे कौशिक नामक ब्राह्मणवंश प्रचलित होगा तथा तुम्हारी तीसरी पीढ़ी ब्राह्मण हो जायगी ॥ ३१ ॥

वंशस्ते पार्थिवश्रेष्ठ भृगूणामेव तेजसा।
पौत्रस्ते भविता विप्रस्तपस्वी पावकद्युतिः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भृगुवंशियोंके ही तेजसे तुम्हारा वंश ब्राह्मणत्वको प्राप्त होगा। तुम्हारा पौत्र अग्निके समान तेजस्वी और तपस्वी ब्राह्मण होगा ॥ ३२ ॥

यः स देवमनुष्याणां भयमुत्पादयिष्यति।
त्रयाणामेव लोकानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३३ ॥

तुम्हारा वह पौत्र अपने तपके प्रभावसे देवताओं, मनुष्यों तथा तीनों लोकोंके लिये भय उत्पन्न कर देगा। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३३ ॥

वरं गृहाण राजर्षे यत् ते मनसि वर्तते।
तीर्थयात्रां गमिष्यामि पुरा कालोऽभिवर्तते ॥ ३४ ॥

राजर्षे ! तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसे वरके रूपमें माँग लो। मैं तीर्थयात्राको जाऊँगा। अब देर हो रही है ॥

कुशिक उवाच

एष एव वरो मेऽद्य यस्त्वं प्रीतो महामुने।
भवत्वेतद् यथाऽऽत्थ त्वं भवेत् पौत्रो ममानघ ॥ ३५ ॥

कुशिकने कहा—महामुने ! आज आप प्रसन्न हैं, यही मेरे लिये बहुत बड़ा वर है। अनघ ! आप जैसा कह रहे हैं, वह सत्य हो—मेरा पौत्र ब्राह्मण हो जाय ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण्यं मे कुलस्यास्तु भगवन्नेष मे वरः।
पुनश्चाख्यातुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण वै ॥ ३६ ॥

भगवन् ! मेरा कुल ब्राह्मण हो जाय, यही मेरा अभीष्ट वर है। प्रभो ! मैं इस विषयको पुनः विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

कथमेष्यति विप्रत्वं कुलं मे भृगुनन्दन।
कश्चासौ भविता बन्धुर्मम कश्चापि सम्मतः ॥ ३७ ॥

भृगुनन्दन ! मेरा कुल किस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त होगा ? मेरा वह बन्धु, वह सम्मानित पौत्र कौन होगा, जो सर्वप्रथम ब्राह्मण होनेवाला है ? ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादो नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्म पर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

च्यवन ऋषिका भृगुवंशी और कुशिकवंशियोंके सम्बन्धका कारण बताकर तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

च्यवन उवाच

अवश्यं कथनीयं मे तवैतन्नरपुङ्गव।
यदर्थं त्वाहमुच्छेत्तुं सम्प्राप्तो मनुजाधिप ॥ १ ॥

च्यवन कहते हैं—नरपुङ्गव ! मनुजेश्वर ! मैं जिस उद्देश्यसे तुम्हारा मूलोच्छेद करनेके लिये यहाँ आया था, वह मुझे तुमसे अवश्य बता देना चाहिये ॥ १ ॥

भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेतज्जनाधिप।
ते च भेदं गमिष्यन्ति दैवयुक्तेन हेतुना ॥ २ ॥
क्षत्रियाश्च भृगून् सर्वान् वधिष्यन्ति नराधिप।
आ गर्भादनुकृन्तन्तो दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! क्षत्रियलोग सदासे ही भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान हैं; किंतु प्रारब्धवश आगे चलकर उनमें फूट हो जायगी। इसलिये वे दैवकी प्रेरणासे समस्त भृगुवंशियोंका संहार कर डालेंगे। नरेश्वर ! वे दैवदण्डसे पीड़ित हो गर्भके बच्चेतकको काट डालेंगे ॥ २-३ ॥

तत उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुले गोत्रविवर्धनः।
ऊर्वो नाम महातेजा ज्वलनार्कसमद्युतिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर मेरे वंशमें ऊर्व नामक एक महातेजस्वी बालक

उत्पन्न होगा, जो भार्गव गोत्रकी वृद्धि करेगा। उसका तेज अग्नि और सूर्यके समान दुर्धर्ष होगा ॥ ४ ॥

स त्रैलोक्यविनाशाय कोपाग्निं जनयिष्यति ।
महीं सपर्वतवनां यः करिष्यति भस्मसात् ॥ ५ ॥

वह तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिये क्रोधजनित अग्निकी सृष्टि करेगा। वह अग्नि पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको भस्म कर डालेगी ॥ ५ ॥

कंचित् कालं तु वह्निं च स एव शमयिष्यति ।
समुद्रे वडवावक्त्रे प्रक्षिप्य मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

कुछ कालके बाद मुनिश्रेष्ठ और्व ही उस अग्निको समुद्रमें स्थित हुई बड़वानलमें डालकर बुझा देंगे ॥ ६ ॥

पुत्रं तस्य महाराज ऋचीकं भृगुनन्दनम् ।
साक्षात् कृत्स्नो धनुर्वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ ॥ ७ ॥

निष्पाप महाराज ! उन्हीं और्वके पुत्र भृगुकुलनन्दन ऋचीक होंगे, जिनकी सेवामें सम्पूर्ण धनुर्वेद मूर्तिमान् होकर उपस्थित होगा ॥ ७ ॥

क्षत्रियाणामभावाय दैवयुक्तेन हेतुना ।
स तु तं प्रतिगृह्यैव पुत्रे संक्रामयिष्यति ॥ ८ ॥
जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि ।
स चापि भृगुशार्दूलस्तं वेदं धारयिष्यति ॥ ९ ॥

वे क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये दैववश उस धनुर्वेदको ग्रहण करके तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले अपने पुत्र महाभाग जमदग्निको उसकी शिक्षा देंगे। भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि उस धनुर्वेदको धारण करेंगे ॥ ८-९ ॥

कुलात् तु तव धर्मात्मन् कन्यां सोऽधिगमिष्यति ।
उद्भावनार्थं भवतो वंशस्य नृपसत्तम ॥ १० ॥

धर्मात्मन् ! नृपश्रेष्ठ ! वे ऋचीक तुम्हारे कुलकी उन्नतिके लिये तुम्हारे वंशकी कन्याका पाणिग्रहण करेंगे ॥ १० ॥

गाधेर्दुहितरं प्राप्य पौत्रीं तव महातपाः ।
ब्राह्मणं क्षत्रधर्माणं पुत्रमुत्पादयिष्यति ॥ ११ ॥

तुम्हारी पौत्री एवं गाधिकी पुत्रीको पाकर महातपस्वी ऋचीक क्षत्रियधर्मवाले ब्राह्मणजातीय पुत्रको उत्पन्न करेंगे (अपनी पत्नीकी प्रार्थनासे ऋचीक क्षत्रियत्वको अपने पुत्रसे हटाकर भावी पौत्रमें स्थापित कर देंगे) ॥ ११ ॥

क्षत्रियं विप्रकर्माणं बृहस्पतिमिवौजसा ।
विश्वामित्रं तव कुले गाधेः पुत्रं सुधार्मिकम् ॥ १२ ॥
तपसा महता युक्तं प्रदास्यति महाद्युते ।

महान् तेजस्वी नरेश ! वे ऋचीक मुनि तुम्हारे कुलमें राजा गाधिको एक महान् तपस्वी और परम धार्मिक पुत्र प्रदान करेंगे, जिसका नाम होगा विश्वामित्र। वह बृहस्पतिके समान तेजस्वी तथा ब्राह्मणोचित कर्म करनेवाला क्षत्रिय होगा ॥

स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्ते भविष्यतः ॥ १३ ॥
पितामहनियोगाद् वै नान्यथैतद् भविष्यति ।

ब्रह्माजीकी प्रेरणासे गाधिकी पत्नी और पुत्री—ये स्त्रियाँ इस महान् परिवर्तनमें कारण बनेंगी, यह अवश्यम्भावी है। इसे कोई पलट नहीं सकता ॥ १३½ ॥

तृतीये पुरुषे तुभ्यं ब्राह्मणत्वमुपैष्यति ॥ १४ ॥
भविता त्वं च सम्बन्धी भृगूणां भावितात्मनाम् ।

तुमसे तीसरी पीढ़ीमें तुम्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जायगा और तुम शुद्ध अन्तःकरणवाले भृगुवंशियोंके सम्बन्धी होओगे ॥ १४½ ॥

भीष्म उवाच

कुशिकस्तु मुनेर्वाक्यं च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हृष्टोऽभवद् राजा वाक्यं चेदमुवाच ह ।
एवमस्त्विति धर्मात्मा तदा भरतसत्तम ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! महात्मा च्यवन मुनिका यह वचन सुनकर धर्मात्मा राजा कुशिक बड़े प्रसन्न हुए और बोले, 'भगवन् ! ऐसा ही हो' ॥ १५-१६ ॥

च्यवनस्तु महातेजाः पुनरेव नराधिपम् ।
वरार्थं चोदयामास तमुवाच स पार्थिवः ॥ १७ ॥

महातेजस्वी च्यवनने पुनः राजा कुशिकको वर माँगनेके लिये प्रेरित किया। तब वे भूपाल इस प्रकार बोले— ॥ १७ ॥

बाढमेवं करिष्यामि कामं त्वत्तो महामुने ।
ब्रह्मभूतं कुलं मेऽस्तु धर्मे चास्य मनो भवेत् ॥ १८ ॥

'महामुने ! बहुत अच्छा, मैं आपसे अपना मनोरथ प्रकट करूँगा। मुझे यही वर दीजिये कि मेरा कुल ब्राह्मण हो जाय और उसका धर्ममें मन लगा रहे' ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तथेत्येवं प्रत्युक्त्वा च्यवनो मुनिः ।
अभ्यनुज्ञाय नृपतिं तीर्थयात्रां ययौ तदा ॥ १९ ॥

कुशिकके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनि बोले 'तथास्तु'। फिर वे राजासे विदा ले वहाँसे तत्काल तीर्थयात्राके लिये चले गये ॥ १९ ॥

एतत् ते कथितं सर्वमशेषेण मया नृप ।
भृगूणां कुशिकानां च अभिसम्बन्धकारणम् ॥ २० ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार मैंने तुमसे भृगुवंशी और कुशिकवंशियोंके परस्पर सम्बन्धका सब कारण पूर्णरूपसे बताया है ॥

यथोक्तमृषिणा चापि तदा तदभवन्नृप ।
जन्म रामस्य च मुनेर्विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! उस समय च्यवन ऋषिने जैसा कहा था, उसके अनुसार ही आगे चलकर भृगुकुलमें परशुरामका और कुशिकवंशमें विश्वामित्रका जन्म हुआ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि च्यवनकुशिकसंवादे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें च्यवन और कुशिकका संवादविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विविध प्रकारके तप और दानोंका फल

युधिष्ठिर उवाच

मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! इस पृथ्वीको जब मैं उन सम्पत्तिशाली नरेशोंसे हीन देखता हूँ, तब भारी चिन्तामें पड़कर बारंबार मूर्च्छित-सा होने लगता हूँ॥ १॥

प्राप्य राज्यानि शतशो महीं जित्वाथ भारत।
कोटिशः पुरुषान् हत्वा परितप्ये पितामह॥ २॥

भरतनन्दन! पितामह! यद्यपि मैंने इस पृथ्वीको जीतकर सैकड़ों देशोंके राज्योंपर अधिकार पाया है तथापि इसके लिये जो करोड़ों पुरुषोंकी हत्या करनी पड़ी है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है॥ २॥

का नु तासां वरस्त्रीणां समवस्था भविष्यति।
या हीनाः पतिभिः पुत्रैर्मातुलैर्भ्रातृभिस्तथा॥ ३॥

हाय! उन बेचारी सुन्दरी स्त्रियोंकी क्या दशा होगी, जो आज अपने पति, पुत्र, भाई और मामा आदि सम्बन्धियोंसे सदाके लिये बिछुड़ गयी हैं!॥ ३॥

वयं हि तान् कुरून् हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि वा।
अवाक्शीर्षाः पतिष्यामो नरके नात्र संशयः॥ ४॥

हमलोग अपने ही कुटुम्बीजन कौरवों तथा अन्य सुहृदोंका वध करके नीचे मुँह किये नरकमें गिरेंगे, इसमें संशय नहीं है॥ ४॥

शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत।
उपदिष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशाम्पते॥ ५॥

भारत! प्रजानाथ! मैं अपने शरीरको कठोर तपस्याके द्वारा सुखा डालना चाहता हूँ और इसके विषयमें आपका यथार्थ उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा भीष्मो महामनाः।
परीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या युधिष्ठिरमभाषत॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर महामनस्वी भीष्मजीने अपनी बुद्धिके द्वारा उसपर भलीभाँति विचार करके उनसे इस प्रकार कहा—॥

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत् त्वयि।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे विशाम्पते॥ ७॥

'प्रजानाथ! मैं तुम्हें एक अद्भुत रहस्यकी बात बताता हूँ। मनुष्यको मरनेपर किस कर्मसे कौन-सी गति मिलती है—इस विषयको सुनो॥ ७॥

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः।
आयुः प्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो॥ ८॥

'प्रभो! तपस्यासे स्वर्ग मिलता है, तपस्यासे सुयशकी प्राप्ति होती है तथा तपस्यासे बड़ी आयु, ऊँचा पद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं॥ ८॥

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत् तथैव च।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ॥ ९॥

'भरतश्रेष्ठ! ज्ञान, विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्यासे प्राप्त होते हैं॥ ९॥

धनं प्राप्नोति तपसा मौनेनाज्ञां प्रयच्छति।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम्॥ १०॥

'मनुष्य तप करनेसे धन पाता है। मौन-व्रतके पालनसे दूसरोंपर हुक्म चलाता है। दानसे उपभोग और ब्रह्मचर्यके पालनसे दीर्घायु प्राप्त करता है॥ १०॥

अहिंसायाः फलं रूपं दीक्षाया जन्म वै कुले।
फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत्॥ ११॥

'अहिंसाका फल है रूप और दीक्षाका फल है उत्तम कुलमें जन्म। फल-मूल खाकर रहनेवालोंको राज्य और पत्ता चबाकर तप करनेवालोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है॥ ११॥

पयोभक्षो दिवं याति दानेन द्रविणाधिकः।
गुरुशुश्रूषया विद्या नित्यश्राद्धेन संततिः॥ १२॥

'दूध पीकर रहनेवाला मनुष्य स्वर्गको जाता है और दान देनेसे वह अधिक धनवान् होता है। गुरुकी सेवा करनेसे विद्या और नित्य श्राद्ध करनेसे संतानकी प्राप्ति होती है॥ १२॥

गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशिनाम्।
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्॥ १३॥

'जो केवल साग खाकर रहनेका नियम लेता है, वह गोधनसे सम्पन्न होता है। तृण खाकर रहनेवाले मनुष्योंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। तीनों कालमें स्नान करनेसे बहुतेरी स्त्रियोंकी प्राप्ति होती है और हवा पीकर रहनेसे मनुष्यको यज्ञका फल प्राप्त होता है॥ १३॥

नित्यस्नायी भवेद् दक्षः संध्ये तु द्वे जपन् द्विजः।
मरुं साधयतो राजन् नाकपृष्ठमनाशके॥ १४॥

'राजन्! जो द्विज नित्य स्नान करके दोनों समय संध्योपासना और गायत्री-जप करता है, वह चतुर होता है। मरुकी साधना—जलका परित्याग करनेवाले तथा निराहार रहनेवालेको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है॥ १४॥

स्थण्डिले शयमानानां गृहाणि शयनानि च ।
चीरवल्कलवासोभिर्वासांस्याभरणानि च ॥ १५ ॥

'मिट्टीकी वेदी या चबूतरोंपर सोनेवालोंको घर और शय्याएँ प्राप्त होती हैं। चीर और वल्कलके वस्त्र पहननेसे उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

शय्यासनानि यानानि योगयुक्ते तपोधने ।
अग्निप्रवेशे नियतं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

'योगयुक्त तपोधनको शय्या, आसन और वाहन प्राप्त होते हैं। नियमपूर्वक अग्निमें प्रवेश कर जानेपर जीवको ब्रह्मलोकमें सम्मान प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

रसानां प्रतिसंहारात् सौभाग्यमिह विन्दति ।
आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्यायुष्मती भवेत् ॥ १७ ॥

'रसोंका परित्याग करनेसे मनुष्य यहाँ सौभाग्यका भागी होता है। मांस-भक्षणका त्याग करनेसे दीर्घायु संतान उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

उदवासं वसेद् यस्तु स नराधिपतिर्भवेत् ।
सत्यवादी नरश्रेष्ठ दैवतैः सह मोदते ॥ १८ ॥

'जो जलमें निवास करता है, वह राजा होता है। नरश्रेष्ठ ! सत्यवादी मनुष्य स्वर्गमें देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥

कीर्तिर्भवति दानेन तथाऽऽरोग्यमहिंसया ।
द्विजशुश्रूषया राज्यं द्विजत्वं चापि पुष्कलम् ॥ १९ ॥

'दानसे यश, अहिंसासे आरोग्य तथा ब्राह्मणोंकी सेवासे राज्य एवं अतिशय ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

पानीयस्य प्रदानेन कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
अन्नस्य तु प्रदानेन तृप्यन्ते कामभोगतः ॥ २० ॥

'जल दान करनेसे मनुष्यको अक्षय कीर्ति प्राप्त होती है तथा अन्न-दान करनेसे मनुष्यको काम और भोगसे पूर्णतः तृप्ति मिलती है ॥ २० ॥

सान्त्वदः सर्वभूतानां सर्वशोकैर्विमुच्यते ।
देवशुश्रूषया राज्यं दिव्यं रूपं नियच्छति ॥ २१ ॥

'जो समस्त प्राणियोंको सान्त्वना देता है, वह सम्पूर्ण शोकोंसे मुक्त हो जाता है। देवताओंकी सेवासे राज्य और दिव्य रूप प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

दीपालोकप्रदानेन चक्षुष्मान् भवते नरः ।
प्रेक्षणीयप्रदानेन स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ २२ ॥

'मन्दिरमें दीपकका प्रकाश दान करनेसे मनुष्यका नेत्र नीरोग होता है। दर्शनीय वस्तुओंका दान करनेसे मनुष्य स्मरणशक्ति और मेधा प्राप्त कर लेता है ॥ २२

गन्धमाल्यप्रदानेन कीर्तिर्भवति पुष्कला ।
केशश्मश्रु धारयतामग्र्या भवति संततिः ॥ २३ ॥

'गन्ध और पुष्प-माला दान करनेसे प्रचुर यशकी प्राप्ति होती है। सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ धारण करनेवालोंको श्रेष्ठ संतानकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव ।
कृत्वा द्वादशवर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥ २४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! बारह वर्षोंतक सम्पूर्ण भोगोंका त्याग, दीक्षा (जप आदि नियमोंका ग्रहण) तथा तीनों समय स्नान करनेसे वीर पुरुषोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

दासीदासमलङ्कारान् क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
ब्रह्मदेयां सुतां दत्त्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! जो अपनी पुत्रीका ब्राह्मविवाहकी विधिसे सुयोग्य वरको दान करता है, उसे दास-दासी, अलंकार, क्षेत्र और घर प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

क्रतुभिश्चोपवासैश्च त्रिदिवं याति भारत ।
लभते च शिवं ज्ञानं फलपुष्पप्रदो नरः ॥ २६ ॥

'भारत ! यज्ञ और उपवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है तथा फल-फूलका दान करनेवाला मानव कल्याणमय मोक्षस्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

सुवर्णशृङ्गैस्तु विराजितानां
गवां सहस्रस्य नरः प्रदानात् ।
प्राप्नोति पुण्यं दिवि देवलोक-
मित्येवमाहुर्दिवि देवसंघाः ॥ २७ ॥

'सोनेसे मढ़े हुए सींगोंद्वारा सुशोभित होनेवाली एक हजार गौओंका दान करनेसे मनुष्य स्वर्गमें पुण्यमय देवलोकको प्राप्त होता है—ऐसा स्वर्गवासी देववृन्द कहते हैं ॥ २७ ॥

प्रयच्छते यः कपिलां सवत्सां
कांस्योपदोहां कनकाग्रशृङ्गीम् ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहास्य भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ २८ ॥

'जिसके सींगोंके अग्रभागमें सोना मढ़ा हुआ हो, ऐसी गायका काँसके बने हुए दुग्धपात्र और बछड़ेसमेत जो दान करता है, उस पुरुषके पास वह गौ उन्हीं गुणोंसे युक्त कामधेनु होकर आती है ॥ २८ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावत् कालं प्राप्य स गोप्रदानात् ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र ॥ २९ ॥

'उस गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक मनुष्य गोदानके पुण्यसे स्वर्गीय सुख भोगता है। इतना ही नहीं, वह गौ उसके पुत्र-पौत्र आदि सात पीढ़ियोंतक समस्त कुलका परलोकमें उद्धार कर देती है ॥ २९ ॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं
कांस्योपदोहां द्रविणोत्तरीयाम्।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय
लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥ ३० ॥

'जो मनुष्य सोनेके सुन्दर सींग बनवाकर और द्रव्यमय उत्तरीय देकर कांस्यमय दुग्धपात्र तथा दक्षिणासहित तिलकी धेनुका ब्राह्मणको दान करता है, उसे वसुओंके लोक सुलभ होते हैं ॥ ३० ॥

स्वकर्मभिर्मानवं संनिरुद्धं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम्।
महार्णवे नौरिव वायुयुक्ता
दानं गवां तारयते परत्र ॥ ३१ ॥

'जैसे महासागरके बीचमें पड़ी हुई नाव वायुका सहारा पाकर पार पहुँचा देती है, उसी प्रकार अपने कर्मोंसे बँधकर घोर अन्धकारमय नरकमें गिरते हुए मनुष्यको गोदान ही परलोकमें पार लगाता है ॥ ३१ ॥

यो ब्रह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
ददाति चान्नं विधिवच्च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥ ३२ ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मविधिसे अपनी कन्याका दान करता है, ब्राह्मणको भूमिदान देता है तथा विधिपूर्वक अन्नका दान करता है, उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

नैवेशिकं सर्वगुणोपपन्नं
ददाति वै यस्तु नरो द्विजाय।
स्वाध्यायचारित्र्यगुणान्विताय
तस्यापि लोकाः कुरुषूत्तरेषु ॥ ३३ ॥

'जो मनुष्य स्वाध्यायशील और सदाचारी ब्राह्मणको सर्वगुणसम्पन्न गृह और शय्या आदि गृहस्थीके सामान देता है, उसे उत्तर कुरुदेशमें निवास प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

धुर्यप्रदानेन गवां तथा वै
लोकानवाप्नोति नरो वसूनाम्।
स्वर्गाय चाहुस्तु हिरण्यदानं
ततो विशिष्टं कनकप्रदानम् ॥ ३४ ॥

'भार ढोनेमें समर्थ बैल और गायोंका दान करनेसे मनुष्यको वसुओंके लोक प्राप्त होते हैं। सुवर्णमय आभूषणोंका दान स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है और विशुद्ध पक्के सोनेका दान उससे भी उत्तम फल देता है ॥

छत्रप्रदानेन गृहं वरिष्ठं
यानं तथोपानहसम्प्रदाने।
वस्त्रप्रदानेन फलं सुरूपं
गन्धप्रदानात् सुरभिर्नरः स्यात् ॥ ३५ ॥

'छाता देनेसे उत्तम घर, जूता दान करनेसे सवारी, वस्त्र देनेसे सुन्दर रूप और गन्ध दान करनेसे सुगन्धित शरीरकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

पुष्पोपगं वाथ फलोपगं वा
यः पादपं स्पर्शयते द्विजाय।
सस्त्रीकमृद्धं बहुरत्नपूर्णं
लभत्ययत्नोपगतं गृहं वै ॥ ३६ ॥

'जो ब्राह्मणको फल अथवा फूलोंसे भरे हुए वृक्षका दान करता है, वह अनायास ही नाना प्रकारके रत्नोंसे परिपूर्ण, धनसम्पन्न समृद्धिशाली घर प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

भक्ष्यान्नपानीयरसप्रदाता
सर्वान् समाप्नोति रसान् प्रकामम्।
प्रतिश्रयाच्छादनसम्प्रदाता
प्राप्नोति तान्येव न संशयोऽत्र ॥ ३७ ॥

'अन्न, जल और रस प्रदान करनेवाला पुरुष इच्छानुसार सब प्रकारके रसोंको प्राप्त करता है तथा जो रहनेके लिये घर और ओढ़नेके लिये वस्त्र देता है, उसे भी इन्हीं वस्तुओंकी उपलब्धि होती है। इसमें संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

स्रग्धूपगन्धाननुलेपनानि
स्नानानि माल्यानि च मानवो यः।
दद्याद् द्विजेभ्यः स भवेदरोग-
स्तथाभिरूपश्च नरेन्द्र लोके ॥ ३८ ॥

'नरेन्द्र! जो मनुष्य ब्राह्मणोंको फूलोंकी माला, धूप, चन्दन, उबटन, नहानेके लिये जल और पुष्प दान करता है, वह संसारमें नीरोग और सुन्दर रूपवाला होता है ॥ ३८ ॥

बीजैरशून्यं शयनैरुपेतं
दद्याद् गृहं यः पुरुषो द्विजाय।
पुण्याभिरामं बहुरत्नपूर्णं
लभत्यधिष्ठानवरं स राजन् ॥ ३९ ॥

'राजन्! जो पुरुष ब्राह्मणको अन्न और शय्यासे सम्पन्न गृह दान करता है, उसे अत्यन्त पवित्र, मनोहर और नाना प्रकारके रत्नोंसे भरा हुआ उत्तम घर प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

सुगन्धचित्रास्तरणोपधानं
दद्यान्नरो यः शयनं द्विजाय।
रूपान्वितां पक्षवतीं मनोज्ञां
भार्यामयत्नोपगतां लभेत् सः ॥ ४० ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मणको सुगन्धयुक्त विचित्र बिछौने और तकियेसे युक्त शय्याका दान करता है, वह बिना यत्नके, ही उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा सुन्दर केशपाशवाली, रूपवती एवं मनोहारिणी भार्या प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

पितामहस्थानवरो वीरशायी भवेन्नरः ।
नाधिकं विद्यते यस्मादित्याहुः परमर्षयः ॥ ४१ ॥

'संग्रामभूमिमें वीरशय्यापर शयन करनेवाला पुरुष ब्रह्माजीके समान हो जाता है । ब्रह्माजीसे बढ़कर कुछ भी नहीं है—ऐसा महर्षियोंका कथन है' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतात्मा कुरुनन्दनः ।
नाश्रमेऽरोचयद् वासं वीरमार्गाभिकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहका यह वचन सुनकर युधिष्ठिरका मन प्रसन्न हो उठा । एवं वीरमार्गकी अभिलाषा उत्पन्न हो जानेके कारण उन्होंने आश्रममें निवास करनेकी इच्छाका त्याग कर दिया ॥ ४२ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्राह पाण्डवान् पुरुषर्षभ ।
पितामहस्य यद् वाक्यं तद् वो रोचत्विति प्रभुः ॥ ४३ ॥

पुरुषप्रवर ! तब शक्तिशाली राजा युधिष्ठिरने पाण्डवोंसे कहा—'वीरमार्गके विषयमें पितामहका जो कथन है, उसीमें तुम सब लोगोंकी रुचि होनी चाहिये' ॥ ४३ ॥

ततस्तु पाण्डवाः सर्वे द्रौपदी च यशस्विनी ।
युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं बाढमित्यभ्यपूजयन् ॥ ४४ ॥

तब समस्त पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदी देवीने 'बहुत अच्छा' कहकर युधिष्ठिरके उस वचनका आदर किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जलाशय बनानेका तथा बगीचे लगानेका फल

युधिष्ठिर उवाच

आरामाणां तडागानां यत् फलं कुरुपुङ्गव ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कुरुकुलपुङ्गव ! भरतश्रेष्ठ ! बगीचे लगाने और जलाशय बनवानेका जो फल होता है, उसीको अब मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सुप्रदर्शा बलवती चित्रा धातुविभूषिता ।
उपेता सर्वभूतैश्च श्रेष्ठा भूमिरिहोच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो देखनेमें सुन्दर हो, जहाँकी मिट्टी प्रबल, अधिक अन्न उपजानेवाली हो, जो विचित्र एवं अनेक धातुओंसे विभूषित हो तथा समस्त प्राणी जहाँ निवास करते हों, वही भूमि यहाँ श्रेष्ठ बतायी जाती है ॥ २ ॥

तस्याः क्षेत्रविशेषाश्च तडागानां च बन्धनम् ।
औदकानि च सर्वाणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

उस भूमिसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष-विशेष क्षेत्र, उनमें पोखरोंके निर्माण तथा अन्य सब जलाशय—कूप आदि—इन सबके विषयमें मैं क्रमशः आवश्यक बातें बताऊँगा ॥

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजनीयस्तडागवान् ॥ ४ ॥

पोखरे बनवानेसे जो लाभ होते हैं, उनका भी मैं वर्णन करूँगा । पोखरे बनवानेवाला मनुष्य तीनों लोकोंमें सर्वत्र पूजनीय होता है ॥ ४ ॥

अथवा मित्रसदनं मैत्रं मित्रविवर्धनम् ।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तडागानां निवेशनम् ॥ ५ ॥

अथवा पोखरोंका बनवाना मित्रके घरकी भाँति उपकारी, मित्रताका हेतु और मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला तथा कीर्तिके विस्तारका सर्वोत्तम साधन है ॥ ५ ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः ।
तडागसुकृतं देशे क्षेत्रमेकं महाश्रयम् ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि देश या गाँवमें एक तालाबका निर्माण धर्म, अर्थ और काम तीनोंका फल देनेवाला है तथा पोखरेसे सुशोभित होनेवाला स्थान समस्त प्राणियोंके लिये एक महान् आश्रय है ॥ ६ ॥

चतुर्विधानां भूतानां तडागमुपलक्षयेत् ।
तडागानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तालाबको चारों प्रकारके प्राणियोंके लिये बहुत बड़ा आधार समझना चाहिये । सभी प्रकारके जलाशय उत्तम सम्पत्ति प्रदान करते हैं ॥ ७ ॥

देवा मनुष्यगन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः ।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥ ८ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस तथा समस्त स्थावर प्राणी जलाशयका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तस्मात् तांस्ते प्रवक्ष्यामि तडागे ये गुणाः स्मृताः ।
या च तत्र फलावाप्तिर्ऋषिभिः समुदाहृता ॥ ९ ॥

अतः ऋषियोंने तालाब बनवानेसे जिन फलोंकी प्राप्ति

बतलायी है तथा तालाबसे जो लाभ होते हैं, उन सबको मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ ९ ॥

वर्षाकाले तडागे तु सलिलं यस्य तिष्ठति।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥

जिसके खोदवाये हुए तालाबमें बरसात भर पानी रहता है, उसके लिये मनीषी पुरुष अग्निहोत्रके फलकी प्राप्ति बताते हैं ॥ १० ॥

शरत्काले तु सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति।
गोसहस्रस्य स प्रेत्य लभते फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥

जिसके तालाबमें शरत्कालतक पानी ठहरता है, वह मृत्युके पश्चात् एक हजार गोदानका उत्तम फल पाता है ॥ ११ ॥

हेमन्तकाले सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति।
स वै बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १२ ॥

जिसके तालाबमें हेमन्त (अगहन-पौष) तक पानी रुकता है, वह बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणासे युक्त महान् यज्ञके फलका भागी होता है ॥ १२ ॥

यस्य वै शैशिरे काले तडागे सलिलं भवेत्।
तस्याग्निष्टोमयज्ञस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

जिसके जलाशयमें शिशिरकाल (माघ-फाल्गुन) तक जल रहता है, उसके लिये मनीषी पुरुषोंने अग्निष्टोमनामक यज्ञके फलकी प्राप्ति बतायी है ॥ १३ ॥

तडागं सुकृतं यस्य वसन्ते तु महाश्रयम्।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं स समुपाश्नुते ॥ १४ ॥

जिसका खोदवाया हुआ पोखरा वसन्त ऋतुतक अपने भीतर जल रखनेके कारण प्यासे प्राणियोंके लिये महान् आश्रय बना रहता है, उसे 'अतिरात्र' यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

निदाघकाले पानीयं तडागे यस्य तिष्ठति।
वाजिमेधफलं तस्य फलं वै मुनयो विदुः ॥ १५ ॥

जिसके तालाबमें ग्रीष्म ऋतुतक पानी रुका रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है—ऐसा मुनियोंका मत है ॥ १५ ॥

स कुलं तारयेत् सर्वं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च नराः सदा ॥ १६ ॥

जिसके खोदवाये हुए जलाशयमें सदा साधु पुरुष और गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने समस्त कुलका उद्धार कर देता है ॥ १६ ॥

तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम्।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥

जिसके तालाबमें प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा मृग, पक्षी और मनुष्योंको भी जल सुलभ होता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ १७ ॥

यत् पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च।
तडागे यस्य तत् सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥ १८ ॥

यदि किसीके तालाबमें लोग स्नान करते, पानी पीते और विश्राम करते हैं तो इन सबका पुण्य उस पुरुषको मरनेके बाद अक्षय सुख प्रदान करता है ॥ १८ ॥

दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परत्र वै।
पानीयस्य प्रदानेन प्रीतिर्भवति शाश्वती ॥ १९ ॥

तात ! जल दुर्लभ पदार्थ है। परलोकमें तो उसका मिलना और भी कठिन है। जो जलका दान करते हैं, वे ही वहाँ जलदानके पुण्यसे सदा तृप्त रहते हैं ॥ १९ ॥

तिलान् ददत पानीयं दीपान् ददत जाग्रत।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत् प्रेत्य सुदुर्लभम् ॥ २० ॥

बन्धुओ ! तिलका दान करो, जल-दान करो, दीप-दान करो, सदा धर्म करनेके लिये सजग रहो तथा कुटुम्बीजनोंके साथ सर्वदा धर्मपालनपूर्वक रहकर आनन्दका अनुभव करो। मृत्युके बाद इन सत्कर्मोंसे परलोकमें अत्यन्त दुर्लभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥ २१ ॥

पुरुषसिंह ! जलदान सब दानोंसे महान् और समस्त दानोंसे बढ़कर है; अतः उसका दान अवश्य करना चाहिये ॥

एवमेतत् तडागस्य कीर्तितं फलमुत्तमम्।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार यह मैंने तालाब बनवानेके उत्तम फलका वर्णन किया। इसके बाद वृक्ष लगानेका माहात्म्य बतलाऊँगा ॥

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ २३ ॥

स्थावर भूतोंकी छः जातियाँ बतायी गयी हैं—वृक्ष (बड़-पीपल आदि), गुल्म (कुश आदि), लता (वृक्षपर फैलनेवाली बेल), वल्ली (जमीनपर फैलनेवाली बेल), त्वक्सार (बाँस आदि) और तृण (घास आदि) ॥

एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥ २४ ॥

ये वृक्षोंकी जातियाँ हैं। अब इनके लगानेसे जो लाभ हैं, वे यहाँ बताये जाते हैं। वृक्ष लगानेवाले मनुष्यकी इस लोकमें कीर्ति बनी रहती है और मरनेके बाद उसे उत्तम शुभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

लभते नाम लोके च पितृभिश्च महीयते।

देवलोके गतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ॥ २५ ॥

संसारमें उसका नाम होता है, परलोकमें पितर उसका सम्मान करते हैं तथा देवलोकमें चले जानेपर भी यहाँ उसका नाम नष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत।
तारयेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांश्च रोपयेत् ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! वृक्ष लगानेवाला पुरुष अपने मरे हुए पूर्वजों और भविष्यमें होनेवाली संतानोंका तथा पितृकुल-का भी उद्धार कर देता है, इसलिये वृक्षोंको अवश्य लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः।
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ॥२७॥

जो वृक्ष लगाता है, उसके लिये ये वृक्ष पुत्ररूप होते हैं, इसमें संशय नहीं है। उन्हींके कारण परलोकमें जानेपर उसे स्वर्ग तथा अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

पुष्पैः सुरगणान् वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन्।
छायया चातिथिं तात पूजयन्ति महीरुहः ॥ २८ ॥

तात ! वृक्षगण अपने फूलोंसे देवताओंकी, फलोंसे पितरोंकी और छायासे अतिथियोंकी पूजा करते हैं ॥ २८ ॥

किन्नरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः।
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ति महीरुहान् ॥ २९ ॥

किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, मनुष्य और ऋषियोंके समुदाय—ये सभी वृक्षोंका आश्रय लेते हैं ॥२९॥

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु ॥ ३० ॥

फूले-फले वृक्ष इस जगत्‌में मनुष्योंको तृप्त करते हैं। जो वृक्षका दान करता है, उसको वे वृक्ष पुत्रकी भाँति परलोकमें तार देते हैं ॥ ३० ॥

तस्मात् तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ॥ ३१ ॥

इसलिये अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा ही उचित है कि वह अपने खोदवाये हुए तालाबके किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष लगाये और उनका पुत्रोंके समान पालन करे; क्योंकि वे वृक्ष धर्मकी दृष्टिसे पुत्र ही माने गये हैं ॥

तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

जो तालाब बनवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञोंका अनुष्ठान करता तथा सत्य बोलता है, ये सभी द्विज स्वर्गलोकमें सम्मानित होते हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात् तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत्।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ॥ ३३ ॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह तालाब खोदाये, बगीचे लगाये, भाँति-भाँतिके यज्ञोंका अनुष्ठान करे तथा सदा सत्य बोले ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आरामतडागवर्णनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बगीचा लगाने और तालाब बनानेका वर्णन नामक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा उत्तम दान तथा उत्तम ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करते हुए उनके सत्कारका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुश्रेष्ठ ! वेदीके बाहर जो ये दान बताये जाते हैं, उन सबकी अपेक्षा आपके मतमें कौन दान श्रेष्ठ है ? ॥ १ ॥

कौतूहलं हि परमं तत्र मे विद्यते प्रभो।
दातारं दत्तमन्वेति यद् दानं तत् प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

प्रभो ! इस विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो रहा है; अतः जिस दानका पुण्य दाताका अनुसरण करता हो, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः।
यच्चाभिलषितं दद्यात् तृषितायाभियाचते ॥ ३ ॥
दत्तं मन्येत यद् दत्त्वा तद् दानं श्रेष्ठमुच्यते।
दत्तं दातारमन्वेति यद् दानं भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देना, संकटके समय उनपर अनुग्रह करना, याचकको उसकी अभीष्ट वस्तु देना तथा प्याससे पीड़ित होकर पानी माँगनेवालेको पानी पिलाना उत्तम दान है और जिसे देकर दिया हुआ मान लिया जाय अर्थात् जिसमें कहीं भी ममताकी गन्ध न रह जाय, वह दान श्रेष्ठ कहलाता है। भरतश्रेष्ठ ! वही दान दाताका अनुसरण करता है ॥ ३-४ ॥

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥

सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान—ये तीन पवित्र दान हैं, जो पापीको भी तार देते हैं ॥ ५ ॥

एतानि पुरुषव्याघ्र साधुभ्यो देहि नित्यदा ।
दानानि हि नरं पापान्मोक्षयन्ति न संशयः ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह ! तुम श्रेष्ठ पुरुषोंको ही सदा उपर्युक्त पवित्र वस्तुओंका दान किया करो। ये दान मनुष्यको पापसे मुक्त कर देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत् तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥

संसारमें जो-जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय माना जाता है तथा अपने घरमें भी जो प्रिय वस्तु मौजूद हो, वही-वही वस्तु गुणवान् पुरुषको देनी चाहिये । जो अपने दानको अक्षय बनाना चाहता हो, उसके लिये ऐसा करना आवश्यक है ॥७॥

प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत् तथा ।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥ ८ ॥

जो दूसरोंको प्रिय वस्तुका दान देता है और उनका प्रिय कार्य ही करता है, वह सदा प्रिय वस्तुओंको ही पाता है तथा इहलोक और परलोकमें भी वह समस्त प्राणियोंका प्रिय होता है ॥ ८ ॥

याचमानमभीमानादनासक्तमकिंचनम् ।
यो नार्चति यथाशक्ति स नृशंसो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! जो आसक्तिरहित अकिंचन याचकका अहंकारवश अपनी शक्तिके अनुसार सत्कार नहीं करता है, वह मनुष्य निर्दयी है ॥ ९ ॥

अमित्रमपि चेद् दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥ १० ॥

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पानेकी इच्छासे घरपर आ जाय तो संकटके समय जो उसपर दया करता है, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते ।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ ११ ॥

विद्वान् होनेपर भी जिसकी आजीविका क्षीण हो गयी है तथा जो दीन, दुर्बल और दुखी है, ऐसे मनुष्यकी जो भूख मिटा देता है, उस पुरुषके समान पुण्यात्मा कोई नहीं है ॥ ११ ॥

क्रियानियमितान् साधून् पुत्रदारैश्च कर्शितान् ।
अयाचमानान् कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो स्त्री-पुत्रोंके पालनमें असमर्थ होनेके कारण विशेष कष्ट उठाते हैं; परंतु किसीसे याचना नहीं करते और सदा सत्कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रत्येक उपायसे सहायता देनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये ॥ १२ ॥

आशिषं ये न देवेषु न च मर्त्येषु कुर्वते ।
अर्हन्तो नित्यसंतुष्टास्तथा लब्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
आशीविषसमेभ्यश्च तेभ्यो रक्षस्व भारत ।
तान् युक्तैरुपजिज्ञास्यस्तथा द्विजवरोत्तमान् ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्नित्यं सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः ।
निमन्त्रयेथाः कौरव्य सर्वकामसुखावहैः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! जो देवताओं और मनुष्योंसे किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, सदा सतुष्ट रहते और जो कुछ मिल जाय, उसीपर निर्वाह करते हैं, ऐसे पूज्य द्विजवरोंका दूतोंद्वारा पता लगाओ और उन्हें निमन्त्रित करो । भारत ! वे दुखी होनेपर विषधर सर्पके समान भयंकर हो जाते हैं; अतः उनसे अपनी रक्षा करो । कुरुनन्दन ! सेवकों और आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेके कारण सुखद गृह निवेदन करके उनका नित्यप्रति पूर्ण सत्कार करो ॥

यदि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर ।
कार्यमित्येव मन्वाना धार्मिकाः पुण्यकर्मिणः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! यदि तुम्हारा दान श्रद्धासे पवित्र और कर्तव्य-बुद्धिसे ही किया हुआ होगा तो पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले वे धर्मात्मा पुरुष उसे उत्तम मानकर स्वीकार कर लेंगे ॥ १६ ॥

विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्य जीविनः ।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १७ ॥
तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारपरितोषिषु ।
यत् करिष्यसि कल्याणं तत् ते लोके युधाम्पते॥ १८ ॥

युद्धविजयी युधिष्ठिर ! विद्वान्, व्रतका पालन करनेवाले, किसी धनीका आश्रय लिये बिना ही जीवन निर्वाह करनेवाले, अपने स्वाध्याय और तपको गुप्त रखनेवाले तथा कठोर व्रतके पालनमें तत्पर जो ब्राह्मण हैं, जो शुद्ध, जितेन्द्रिय तथा अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहनेवाले हैं, उनके लिये तुम जो कुछ करोगे, वह जगत्में तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा ।१७-१८।

यथाग्निहोत्रं सुहुतं सायंप्रातर्द्विजातिना ।
तथा दत्तं द्विजातिभ्यो भवत्यथ यतात्मसु ॥ १९ ॥

द्विजके द्वारा सायं और प्रातःकाल विधिपूर्वक किया हुआ अग्निहोत्र जो फल प्रदान करता है, वही फल संयमी ब्राह्मणोंको दान देनेसे मिलता है ॥ १९ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्तताम् ॥ २० ॥

तात ! तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला विशाल दान-यज्ञ

श्रद्धासे पवित्र एवं दक्षिणासे युक्त है। वह सब यज्ञोंसे बढ़कर है। तुझ दाताका वह यज्ञ सदा चालू रहे ॥ २० ॥

निवापदानसलिलस्तादृशेषु युधिष्ठिर।
निवसन् पूजयंश्चैव तेष्वानृण्यं नियच्छति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! पूर्वोक्त ब्राह्मणोंको पितरोंके लिये किये जानेवाले तर्पणकी भाँति दानरूपी जलसे तृप्त करके उन्हें निवास और आदर देते रहो। ऐसा करनेवाला पुरुष देवता आदिके ऋणसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

य एवं नैव कुप्यन्ते न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि।
त एव नः पूज्यतमा ये चापि प्रियवादिनः ॥ २२ ॥

जो ब्राह्मण कभी क्रोध नहीं करते, जिनके मनमें एक तिनके भरका लोभ नहीं होता तथा जो प्रिय वचन बोलनेवाले हैं, वे ही हमलोगोंके परम पूज्य हैं ॥ २२ ॥

एते न बहु मन्यन्ते न प्रवर्तन्ति चापरे।
पुत्रवत् परिपाल्यास्ते नमस्तेभ्यस्तथाभयम् ॥ २३ ॥

उपर्युक्त ब्राह्मण निःस्पृह होनेके कारण दाताके प्रति विशेष आदर नहीं प्रकट करते। इनमेंसे तो कितने ही धनोपार्जनके कार्यमें तो प्रवृत्त ही नहीं होते हैं। ऐसे ब्राह्मणोंका पुत्रवत् पालन करना चाहिये। उन्हें बारंबार नमस्कार है। उनकी ओरसे हमें कोई भय न हो ॥ २३ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या मृदुब्रह्मधरा हि ते।
क्षात्रेणापि हि संसृष्टं तेजः शाम्यति वै द्विजे ॥ २४ ॥

ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य—ये प्रायः कोमल स्वभाववाले और वेदोंको धारण करनेवाले होते हैं। क्षत्रियका तेज ब्राह्मणके पास जाते ही शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अस्ति मे बलवानस्मि राजास्मीति युधिष्ठिर।
ब्राह्मणान् मा च पर्यश्नीर्वासोभिरशनेन च ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर! 'मेरे पास धन है, मैं बलवान् हूँ और राजा हूँ' ऐसा समझते हुए तुम ब्राह्मणोंकी उपेक्षा करके स्वयं ही अन्न और वस्त्रका उपभोग न करना ॥ २५ ॥

यच्छोभार्थं बलार्थं वा वित्तमस्ति तवानघ।
तेन ते ब्राह्मणाः पूज्याः स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ २६ ॥

अनघ! तुम्हारे पास शरीर और घरकी शोभा बढ़ाने अथवा बलकी वृद्धि करनेके लिये जो धन है, उसके द्वारा स्वधर्मका अनुष्ठान करते हुए तुम्हें ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ २६ ॥

नमस्कार्यास्तथा विप्रा वर्तमाना यथातथम्।
यथासुखं यथोत्साहं ललन्तु त्वयि पुत्रवत् ॥ २७ ॥

इतना ही नहीं, तुम्हें उन ब्राह्मणोंको सदा नमस्कार करना चाहिये। वे अपनी रुचिके अनुसार जैसे चाहें रहें। तुम्हारे पास पुत्रकी भाँति उन्हें स्नेह प्राप्त होना चाहिये तथा वे सुख और उत्साहके साथ आनन्दपूर्वक रहें, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये ॥ २७ ॥

को ह्यक्षयप्रसादानां सुहृदामल्पतोषिणाम्।
वृत्तिमर्हत्यवक्षेप्तुं त्वदन्यः कुरुसत्तम ॥ २८ ॥

कुरुश्रेष्ठ! जिनकी कृपा अक्षय है, जो अकारण ही सबका हित करनेवाले और थोड़ेमें ही संतुष्ट रहनेवाले हैं, उन ब्राह्मणोंको तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीविका दे सकता है ॥ २८ ॥

यथा पत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके सनातनः।
सदैव सा गतिर्नान्या तथास्माकं द्विजातयः ॥ २९ ॥

जैसे इस संसारमें स्त्रियोंका सनातन धर्म सदा पतिकी सेवापर ही अवलम्बित है, उसी प्रकार ब्राह्मण ही सदैव हमारे आश्रय हैं। हमलोगोंके लिये उनके सिवा दूसरा कोई सहारा नहीं है ॥ २९ ॥

यदि नो ब्राह्मणास्तात संत्यजेयुरपूजिताः।
पश्यन्तो दारुणं कर्म सततं क्षत्रिये स्थितम् ॥ ३० ॥
अवेदानामयज्ञानामलोकानामवर्तिनाम्।
कस्तेषां जीवितेनार्थस्त्वां विना ब्राह्मणाश्रयम् ॥ ३१ ॥

तात! यदि ब्राह्मण क्षत्रियोंके द्वारा सम्मानित न हों तथा क्षत्रियमें सदा रहनेवाले निष्ठुर कर्मको देखकर ब्राह्मण भी उनका परित्याग कर दें तो वे क्षत्रिय वेद, यज्ञ, उत्तम लोक और आजीविकासे भी भ्रष्ट हो जायँ। उस दशामें ब्राह्मणोंका आश्रय लेनेवाले तुम्हारे सिवा उन दूसरे क्षत्रियोंके जीवित रहनेका क्या प्रयोजन है? ॥ ३०-३१ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मं सनातनम्।
राजन्यो ब्राह्मणान् राजन् पुरा परिचचार ह ॥ ३२ ॥
वैश्यो राजन्यमित्येव शूद्रो वैश्यमिति श्रुतिः।

राजन्! अब मैं तुम्हें सनातन कालका धार्मिक व्यवहार कैसा है, यह बताऊँगा। हमने सुना है, पूर्वकालमें क्षत्रिय ब्राह्मणोंकी, वैश्य क्षत्रियोंकी और शूद्र वैश्योंकी सेवा किया करते थे ॥ ३२½ ॥

दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३३ ॥
संस्पर्शपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च।

ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी हैं; अतः शूद्रको दूरसे ही उनकी सेवा करनी चाहिये। उनके शरीरके स्पर्शपूर्वक सेवा करनेका अधिकार केवल क्षत्रिय और वैश्यको ही है ॥

मृदुभावान् सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालकान् ॥ ३४ ॥
आशीविषानिव क्रुद्धांस्तानुपाचरत द्विजान्।

ब्राह्मण स्वभावतः कोमल, सत्यवादी और सत्यधर्मका पालन करनेवाले होते हैं, परंतु जब वे कुपित होते हैं, तब विषैले सर्पके समान भयंकर हो जाते हैं। अतः तुम सदा ब्राह्मणोंकी सेवा करते रहो ॥ ३४½ ॥

अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चापि ये परे ॥ ३५ ॥
क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च तपांसि च ॥ ३६ ॥

छोटे-बड़े और बड़ोंसे भी बड़े जो क्षत्रिय तेज और बलसे तप रहे हैं, उन सबके तेज और तप ब्राह्मणोंके पास जाते ही शान्त हो जाते हैं ॥ ३५-३६ ॥

न मे पिता प्रियतरो न त्वं तात तथा प्रियः ।
न मे पितुः पिता राजन् न चात्मा न च जीवितम्॥३७॥

तात ! मुझे ब्राह्मण जितने प्रिय हैं, उतने मेरे पिता, तुम, पितामह, यह शरीर और जीवन भी प्रिय नहीं हैं ॥ ३७ ॥

त्वत्तश्च मे प्रियतरः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
त्वत्तोऽपि मे प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस पृथ्वीपर तुमसे अधिक प्रिय मेरे लिये दूसरा कोई नहीं है; परंतु ब्राह्मण तुमसे भी बढ़कर प्रिय हैं ॥

ब्रवीमि सत्यमेतच्च यथाहं पाण्डुनन्दन ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान् यत्र च शान्तनुः ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं यह सच्ची बात कह रहा हूँ और चाहता हूँ कि इस सत्यके प्रभावसे मैं उन्हीं लोकोंमें जाऊँ, जहाँ मेरे पिता शान्तनु गये हैं ॥ ३९ ॥

पश्येयं च सतां लोकाञ्छुचीन् ब्रह्मपुरस्कृतान् ।
तत्र मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ ४० ॥

इस सत्यके प्रभावसे ही मैं सत्पुरुषोंके उन पवित्र लोकोंका दर्शन कर रहा हूँ, जहाँ ब्राह्मणों और ब्रह्माजीकी प्रधानता है। तात ! मुझे शीघ्र ही चिरकालके लिये उन लोकोंमें जाना है ॥ ४० ॥

सोऽहमेतादृशाँल्लोकान् दृष्ट्वा भरतसत्तम ।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेषु न तप्ये तेन पार्थिव ॥ ४१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणोंके लिये मैंने जो कुछ किया है, उसके फलस्वरूप ऐसे पुण्यलोकोंका दर्शन करके मुझे संतोष हो गया है। अब मैं इस बातके लिये संतप्त नहीं हूँ कि दूसरा कोई पुण्य क्यों नहीं किया ! ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

श्रेष्ठ अयाचक, धर्मात्मा, निर्धन एवं गुणवान्‌को दान देनेका विशेष फल

युधिष्ठिर उवाच

यौ च स्यातां चरणेनोपपन्नौ
यौ विद्यया सदृशौ जन्मना च ।
ताभ्यां दानं कतमस्मै विशिष्ट-
मयाचमानाय च याचते च ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उत्तम आचरण, विद्या और कुलमें एक समान प्रतीत होनेवाले दो ब्राह्मणोंमेंसे यदि एक याचक हो और दूसरा अयाचक तो किसको दान देनेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते ।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! याचना करनेवालेकी अपेक्षा याचना न करनेवालेको दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी बताया गया है तथा अधीर हृदयवाले कृपण मनुष्यकी अपेक्षा धैर्य धारण करनेवाला ही विशेष सम्मानका पात्र है ॥ २ ॥

क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः ।
ब्राह्मणो धृतिमान् विद्वान् देवान् प्रीणाति तुष्टिमान्॥३॥

रक्षाके कार्यमें धैर्य धारण करनेवाला क्षत्रिय और याचना न करनेमें दृढ़ता रखनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। जो ब्राह्मण धीर, विद्वान् और संतोषी होता है, वह देवताओंको अपने व्यवहारसे संतुष्ट करता है ॥ ३ ॥

याच्यमाहुरनीशस्य अभिहारं च भारत ।
उद्वेजयन्ति याचन्ति सदा भूतानि दस्युवत् ॥ ४ ॥

भारत ! दरिद्रकी याचना उसके लिये तिरस्कारका कारण मानी गयी है; क्योंकि याचक प्राणी लुटेरोंकी भाँति सदा लोगोंको उद्विग्न करते रहते हैं ॥ ४ ॥

म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत् ।
ददत् संजीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

याचक मर जाता है, किंतु दाता कभी नहीं मरता । युधिष्ठिर ! दाता इस याचकको और अपनेको भी जीवित रखता है ॥ ५ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते ।
अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ ६ ॥

याचकको जो दान दिया जाता है, वह दयारूप परम धर्म है, परंतु जो लोग क्लेश उठाकर भी याचना नहीं करते,

उन ब्राह्मणोंको प्रत्येक उपायसे अपने पास बुलाकर दान देना चाहिये ॥ ६ ॥

यदि वै तादृशा राष्ट्रान् वसेयुस्ते द्विजोत्तमाः।
भस्मच्छन्नानिवाग्नींस्तान् बुध्येथास्त्वं प्रयत्नतः॥ ७ ॥

यदि तुम्हारे राज्यके भीतर वैसे श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते हों तो वे राखमें छिपी हुई आगके समान हैं। तुम्हें प्रयत्नपूर्वक ऐसे ब्राह्मणोंका पता लगाना चाहिये ॥ ७ ॥

तपसा दीप्यमानास्ते दहेयुः पृथिवीमपि।
अपूज्यमानाः कौरव्य पूजार्हास्तु तथाविधाः॥ ८ ॥

कुरुनन्दन ! तपस्यासे देदीप्यमान होनेवाले वे ब्राह्मण पूजित न होनेपर यदि चाहें तो सारी पृथ्वीको भी भस्म कर सकते हैं; अतः वैसे ब्राह्मण सदा ही पूजा करनेके योग्य हैं ॥ ८ ॥

पूज्या हि ज्ञानविज्ञानतपोयोगसमन्विताः।
तेभ्यः पूजां प्रयुञ्जीथा ब्राह्मणेभ्यः परंतप॥ ९ ॥

परंतप ! जो ब्राह्मण ज्ञान-विज्ञान, तपस्या और योगसे युक्त हैं, वे पूजनीय होते हैं। उन ब्राह्मणोंकी तुम्हें सदा पूजा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

ददद् बहुविधान् दायानुपागच्छन्नयाचताम्।
यदग्निहोत्रे सुहुते सायंप्रातर्भवेत् फलम्॥ १० ॥
विद्यावेदव्रतवति तद्दानफलमुच्यते।

जो याचना नहीं करते, उनके पास तुम्हें स्वयं जाकर नाना प्रकारके पदार्थ देने चाहिये। सायं और प्रातःकाल विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेसे जो फल मिलता है, वही वेदके विद्वान् और व्रतधारी ब्राह्मणको दान देनेसे भी मिलता है ॥

विद्यावेदव्रतस्नातानव्यपाश्रयजीविनः॥ ११ ॥
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणान् संशितव्रतान्।
कृतैरावसथैर्हृद्यैः सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः॥ १२ ॥
निमन्त्रयेथाः कौरव्य कामैश्चान्यैर्द्विजोत्तमान्।

कुरुनन्दन! जो विद्या और वेदव्रतमें निष्णात हैं, जो किसीके आश्रित होकर जीविका नहीं चलाते, जिनका स्वाध्याय और तपस्या गुप्त है तथा जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, ऐसे उत्तम ब्राह्मणोंको तुम अपने यहाँ निमन्त्रित करो और उन्हें सेवक, आवश्यक सामग्री तथा अन्यान्य उपभोगकी वस्तुओंसे सम्पन्न मनोरम गृह बनवाकर दो ॥ ११-१२½ ॥

अपि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धोपेतं युधिष्ठिर॥ १३ ॥
कार्यमित्येव मन्वाना धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः।

युधिष्ठिर ! वे धर्मज्ञ तथा सूक्ष्मदर्शी ब्राह्मण तुम्हारे श्रद्धायुक्त दानको कर्तव्यबुद्धिसे किया हुआ मानकर अवश्य स्वीकार करेंगे ॥ १३½ ॥

अपि ते ब्राह्मणा भुक्त्वा गताः सोद्धरणान् गृहान्।१४।
येषां दाराः प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः।

जैसे किसान वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार जिनके घरकी स्त्रियाँ अन्नकी प्रतीक्षामें बैठी हों और बालकोंको यह कहकर बहला रही हों कि 'अब तुम्हारे बाबूजी भोजन लेकर आते ही होंगे'; क्या ऐसे ब्राह्मण तुम्हारे यहाँ भोजन करके अपने घरोंको गये हैं ? ॥ १४½ ॥

अन्नानि प्रातःसवने नियता ब्रह्मचारिणः॥ १५ ॥
ब्राह्मणास्तात भुञ्जानास्त्रेताग्निं प्रीणयन्त्युत।

तात ! नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण यदि प्रातःकाल घरमें भोजन करते हैं तो तीनों अग्नियोंको तृप्त कर देते हैं ॥ १५½ ॥

माध्यन्दिनं ते सवनं ददतस्तात वर्तताम्॥ १६ ॥
गोहिरण्यानि वासांसि तेनेन्द्रः प्रीयतां तव।

बेटा ! दोपहरके समय जो तुम ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें गौ, सुवर्ण और वस्त्र प्रदान करते हो, इससे तुम्हारे ऊपर इन्द्रदेव प्रसन्न हों ॥ १६½ ॥

तृतीयं सवनं ते वै वैश्वदेवं युधिष्ठिर॥ १७ ॥
यद् देवेभ्यः पितृभ्यश्च विप्रेभ्यश्च प्रयच्छसि।

युधिष्ठिर ! तीसरे समयमें जो तुम देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंके उद्देश्यसे दान करते हो, वह विश्वेदेवोंको संतुष्ट करनेवाला होता है ॥ १७½ ॥

अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च भागशः॥ १८ ॥
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्यवभृथाय ते।

सब प्राणियोंके प्रति अहिंसाका भाव रखना, सबको यथायोग्य भाग अर्पण करना, इन्द्रियसंयम, त्याग, धैर्य और सत्य—ये सब गुण तुम्हें यज्ञान्तमें किये जानेवाले अवभृथ-स्नानका फल देंगे ॥ १८½ ॥

एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः॥ १९ ॥
विशिष्टः सर्वयज्ञानां नित्यं तात प्रवर्तताम्॥ २० ॥

इस प्रकार जो तुम्हारे श्रद्धासे पवित्र एवं दक्षिणायुक्त यज्ञका विस्तार हो रहा है; यह सभी यज्ञोंसे बढ़कर है। तात युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह यज्ञ सदा चालू रहना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

राजाके लिये यज्ञ, दान और ब्राह्मण आदि प्रजाकी रक्षाका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

दानं यज्ञः क्रिया चेह किंस्वित् प्रेत्य महाफलम् ।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि विज्ञातुं याथातथ्येन भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय दानधर्मान् प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! दान और यज्ञकर्म—इन दोनोंमेंसे कौन मृत्युके पश्चात् महान् फल देनेवाला होता है ? किसका फल श्रेष्ठ बताया गया है ? कैसे ब्राह्मणोंको कब दान देना चाहिये और किस प्रकार कब यज्ञ करना चाहिये ? मैं इस बातको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ । विद्वन् ! आप मुझ जिज्ञासुको दानसम्बन्धी धर्म विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १-२ ॥

अन्तर्वेद्यां च यद् दत्तं श्रद्धया चानृशंस्यतः ।
किंस्विन्नैःश्रेयसं तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

तात पितामह ! जो दान वेदीके भीतर श्रद्धापूर्वक दिया जाता है और जो वेदीके बाहर दयाभावसे प्रेरित होकर दिया जाता है; इन दोनोंमें कौन विशेष कल्याणकारी होता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते ।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! क्षत्रियको सदा कठोर कर्म करने पड़ते हैं, अतः यहाँ यज्ञ और दान ही उसे पवित्र करनेवाले कर्म हैं ॥ ४ ॥

न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
एतस्मात् कारणाद् यज्ञैर्यजेद् राजाऽऽप्तदक्षिणैः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष पाप करनेवाले राजाका दान नहीं लेते हैं; इसलिये राजाको पर्याप्त दक्षिणा देकर यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ५ ॥

अथ चेत् प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः ।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ६ ॥

श्रेष्ठ पुरुष यदि दान स्वीकार करें तो राजाको उन्हें प्रतिदिन बड़ी श्रद्धाके साथ दान देना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान आत्मशुद्धिका सर्वोत्तम साधन है ॥

ब्राह्मणांस्तर्पयन् द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः ।
मैत्रान् साधून् वेदविदः शीलवृत्ततपोर्जितान् ॥ ७ ॥

तुम नियमपूर्वक यज्ञमें सुशील, सदाचारी, तपस्वी, वेदवेत्ता, सबसे मैत्री रखनेवाले तथा साधु स्वभाववाले ब्राह्मणोंको धन देकर संतुष्ट करो ॥ ७ ॥

यत् ते ते न करिष्यन्ति कृतं ते न भविष्यति ।
यज्ञान् साधय साधुभ्यः स्वाद्वन्नान् दक्षिणावतः ॥ ८ ॥

यदि वे तुम्हारा दान स्वीकार नहीं करेंगे तो तुम्हें पुण्य नहीं होगा; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये स्वादिष्ट अन्न और दक्षिणासे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करो ॥ ८ ॥

इष्टं दत्तं च मन्येथा आत्मानं दानकर्मणा ।
पूजयेथा यायजूकांस्तवाप्यंशो भवेद् यथा ॥ ९ ॥

याज्ञिक पुरुषोंको दान करके ही तुम अपनेको यज्ञ और दानके पुण्यका भागी समझ लो । यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंका सदा सम्मान करो । इससे तुम्हें भी यज्ञका आंशिक फल प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

(विद्वद्भ्यः सम्प्रदानेन तत्राप्यंशोऽस्य पूजया ।
यज्वभ्यश्चाथ विद्वद्भ्यो दत्त्वा लोकं प्रदापयेत् ॥
प्रदद्याज्ज्ञानदातॄणां ज्ञानदानांशभाग् भवेत् ।)

विद्वानोंको दान देनेसे, उनकी पूजा करनेसे दाता और पूजकको यज्ञका आंशिक फल प्राप्त होता है । यज्ञकर्ताओं तथा ज्ञानी पुरुषोंको दान देनेसे वह दान उत्तम लोककी प्राप्ति कराता है । जो दूसरोंको ज्ञानदान करते हैं, उन्हें भी अन्न और धनका दान करे । इससे दाता उनके ज्ञानदानके आंशिक पुण्यका भागी होता है ॥

प्रजावतो भरेथाश्च ब्राह्मणान् बहुकारिणः ।
प्रजावांस्तेन भवति यथा जनयिता तथा ॥ १० ॥

जो बहुतोंका उपकार करनेवाले और बाल-बच्चेवाले ब्राह्मणोंका पालन-पोषण करता है, वह उस शुभ कर्मके प्रभावसे प्रजापतिके समान संतानवान् होता है ॥ १० ॥

यावतः साधुधर्मान् वै सन्तः संवर्धयन्त्युत ।
सर्वस्वैश्चापि भर्तव्या नरा ये बहुकारिणः ॥ ११ ॥

जो संत पुरुष सदा समस्त सद्धर्मोंका प्रचार और विस्तार करते रहते हैं, अपना सर्वस्व देकर भी उनका भरण-पोषण करना चाहिये; क्योंकि वे राजाके अत्यन्त उपकारी होते हैं ॥

समृद्धः सम्प्रयच्छ त्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ।
धेनूरनडुहोऽन्नानि च्छत्रं वासांस्युपानहौ ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम समृद्धिशाली हो, इसलिये ब्राह्मणोंको गाय, बैल, अन्न, छाता, जूता और वस्त्र दान करते रहो ॥

आज्यानि यजमानेभ्यस्तथान्नानि च भारत ।
अश्ववन्ति च यानानि वेश्मानि शयनानि च ॥ १३ ॥
एते देया व्युष्टिमन्तो लघूपायाश्च भारत ।

भारत ! जो ब्राह्मण यज्ञ करते हों, उन्हें घी, अन्न, घोड़े जुते हुए रथ आदिकी सवारियाँ, घर और शय्या आदि

वस्तुएँ देनी चाहिये । भरतनन्दन ! राजाके लिये ये दान सरलतासे होनेवाले और समृद्धिको बढ़ानेवाले हैं ॥ १३½ ॥

अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान्॥ १४ ॥
उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान् प्रतिपालयेत् ।

जिन ब्राह्मणोंका आचरण निन्दित न हो, वे यदि जीविकाके बिना कष्ट पा रहे हों तो उनका पता लगाकर गुप्त या प्रकट रूपमें जीविकाका प्रबन्ध करके सदा उनका पालन करते रहना चाहिये ॥ १४½ ॥

राजसूयाश्वमेधाभ्यां श्रेयस्तत् क्षत्रियान् प्रति॥ १५ ॥
एवं पापैर्विनिर्मुक्तस्त्वं पूतः स्वर्गमाप्स्यसि ।

क्षत्रियोंके लिये यह कार्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंसे भी अधिक कल्याणकारी है । ऐसा करनेसे तुम सब पापोंसे मुक्त एवं पवित्र होकर स्वर्गलोकमें जाओगे ॥ १५½ ॥

संचयित्वा पुनः कोशं यद् राष्ट्रं पालयिष्यसि ॥ १६ ॥
तेन त्वं ब्रह्मभूयत्वमवाप्स्यसि धनानि च ।

कोषका संग्रह करके यदि तुम उसके द्वारा राष्ट्रकी रक्षा करोगे तो तुम्हें दूसरे जन्मोंमें धन और ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होगी ॥ १६½ ॥

आत्मनश्च परेषां च वृत्तिं संरक्ष भारत ॥ १७ ॥
पुत्रवच्चापि भृत्यान् स्वान् प्रजाश्च परिपालय ।

भरतनन्दन ! तुम अपनी और दूसरोंकी भी जीविकाकी रक्षा करो तथा अपने सेवकों और प्रजाजनोंका पुत्रकी भाँति पालन करो ॥ १७½ ॥

योगः क्षेमश्च ते नित्यं ब्राह्मणेष्वस्तु भारत ॥ १८ ॥
तदर्थं जीवितं तेऽस्तु मा तेभ्योऽप्रतिपालनम् ।

भारत ! ब्राह्मणोंके पास जो वस्तु न हो, उसे उनको देना और जो हो उसकी रक्षा करना भी तुम्हारा नित्य कर्तव्य है । तुम्हारा जीवन उन्हींकी सेवामें लग जाना चाहिये । उनकी रक्षासे तुम्हें कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिये ॥ १८½ ॥

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद् वित्तनिचयो महान् ॥ १९ ॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत् सम्प्रमोहयेत् ।

ब्राह्मणोंके पास यदि बहुत धन इकट्ठा हो जाय तो यह उनके लिये अनर्थका ही कारण होता है; क्योंकि लक्ष्मीका निरन्तर सहवास उन्हें दर्प और मोहमें डाल देता है ॥

ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम् ।
धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यान्न संशयः ॥ २० ॥

ब्राह्मण जब मोहग्रस्त होते हैं, तब निश्चय ही धर्मका नाश हो जाता है और धर्मका नाश होनेपर प्राणियोंका भी विनाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

यो रक्षिभ्यः सम्प्रदाय राजा राष्ट्रं विलुम्पति ।
यज्ञे राष्ट्राद् धनं तस्मादानयध्वमिति ब्रुवन् ॥ २१ ॥
यच्चादाय तदाज्ञप्तं भीतं दत्तं सुदारुणम् ।
यजेद् राजा न तं यज्ञं प्रशंसन्त्यस्य साधवः ॥ २२ ॥

जो राजा प्रजासे करके रूपमें प्राप्त हुए धनको कोषकी रक्षा करनेवाले कोषाध्यक्ष आदिको देकर खजानेमें रखवा लेता है और अपने कर्मचारियोंको यह आज्ञा देता है कि 'तुम लोग यज्ञके लिये राज्यसे धन वसूलकर ले आओ', इस प्रकार यज्ञके नामपर जो राज्यकी प्रजाको लूटता है तथा उसकी आज्ञाके अनुसार लोगोंको डरा-धमकाकर निष्ठुरतापूर्वक लाये हुए धनको लेकर जो उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान करता है, उस राजाके ऐसे यज्ञकी श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं ॥

अपीडिताः सुसंवृद्धा ये ददत्यनुकूलतः ।
तादृशेनाप्युपायेन यष्टव्यं नोद्यमाहृतैः ॥ २३ ॥

इसलिये जो लोग बहुत धनी हों और बिना पीड़ा दिये ही अनुकूलतापूर्वक धन दे सकें, उनके दिये हुए अथवा वैसे ही मृदु उपायसे प्राप्त हुए धनके द्वारा यज्ञ करना चाहिये; प्रजापीड़नरूप कठोर प्रयत्नसे लाये हुए धनके द्वारा नहीं ॥ २३ ॥

यदा परिनिषिच्येत निहितो वै यथाविधि ।
तदा राजा महायज्ञैर्यजेत बहुदक्षिणैः ॥ २४ ॥

जब राजाका विधिपूर्वक राज्याभिषेक हो जाय और वह राज्यासनपर बैठ जाय, तब राजा बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त महान् यज्ञका अनुष्ठान करे ॥ २४ ॥

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च ।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्ती धनं हरेत् ॥ २५ ॥

राजा वृद्ध, बालक, दीन और अन्धे मनुष्यके धनकी रक्षा करे । पानी न बरसनेपर जब प्रजा कुआँ खोदकर किसी तरह सिंचाई करके कुछ अन्न पैदा करे और उसीसे जीविका चलाती हो तो राजाको वह धन नहीं लेना चाहिये तथा किसी क्लेशमें पड़कर रोती हुई स्त्रीका भी धन न ले ॥ २५ ॥

हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम् ।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम्॥ २६ ॥

यदि किसी दरिद्रका धन छीन लिया जाय तो वह राजाके राज्यका और लक्ष्मीका विनाश कर देता है । अतः राजाको चाहिये कि दीनोंका धन न लेकर उन्हें महान् भोग अर्पित करे और श्रेष्ठ पुरुषोंको भूखका कष्ट न होने दे ॥२६॥

येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः ।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः ॥ २७ ॥

जिसके स्वादिष्ट भोजनकी ओर छोटे-छोटे बच्चे तरसती आँखोंसे देखते हों और वह उन्हें न्यायतः खानेको न मिलता हो, उस पुरुषके द्वारा इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है ? ॥

यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान् सीदेत् क्षुधा द्विजः ।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम् ॥ २८ ॥

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें कोई वैसा विद्वान् ब्राह्मण भूखसे कष्ट पा रहा हो तो तुम्हें भ्रूण-हत्याका पाप लगेगा और कोई बड़ा भारी पाप करनेसे मनुष्यकी जो दुर्गति होती है, वही तुम्हारी भी होगी ॥ २८ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥ २९ ॥

राजा शिबिका कथन है कि 'जिसके राज्यमें ब्राह्मण या कोई और मनुष्य क्षुधासे पीड़ित हो रहा हो, उस राजाके जीवनको धिक्कार है ॥ २९ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा ।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सहराजकम् ॥ ३० ॥

जिस राजाके राज्यमें स्नातक ब्राह्मण भूखसे कष्ट पाता है, उसके राज्यकी उन्नति रुक जाती है; साथ ही वह राज्य शत्रु राजाओंके हाथमें चला जाता है ॥ ३० ॥

क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद्ध्रियन्ते तरसा स्त्रियः ।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति ॥ ३१ ॥

जिसके राज्यमे रोती-बिलखती स्त्रियोंका बलपूर्वक अपहरण हो जाता हो और उनके पति-पुत्र रोते-पीटते रह जाते हों, वह राजा नहीं, मुर्दा है अर्थात् वह जीवित रहते हुए मुर्देके समान है ॥ ३१ ॥

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥ ३२ ॥

जो प्रजाकी रक्षा नहीं करता, केवल उसके धनको लूटता-खसोटता रहता है तथा जिसके पास कोई नेतृत्व करनेवाला मन्त्री नहीं है, वह राजा नहीं, कलियुग है। समस्त प्रजाको चाहिये कि ऐसे निर्दयी राजाको बाँधकर मार डाले ॥

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ ३३ ॥

जो राजा प्रजासे यह कहकर कि 'मैं तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा' उनकी रक्षा नहीं करता, वह पागल और रोगी कुत्तेकी तरह सबके द्वारा मार डालने योग्य है ॥ ३३ ॥

पापं कुर्वन्ति यत् किंचित् प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! राजासे अरक्षित होकर प्रजा जो कुछ भी पाप करती है, उस पापका एक चौथाई भाग राजाको भी प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

अथाहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
चतुर्थं मतमस्माकं मनोः श्रुत्वानुशासनम् ॥ ३५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि सारा पाप राजाको ही लगता है । दूसरे लोगोंका यह निश्चय है कि राजा आधे पापका भागी होता है। परंतु मनुका उपदेश सुनकर हमारा मत यही है कि राजाको उस पापका एक चतुर्थांश ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

शुभं वा यच्च कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! राजासे भलीभाँति सुरक्षित होकर प्रजा जो भी शुभ कर्म करती है, उसके पुण्यका चौथाई भाग राजा प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

जीवन्तं त्वानुजीवन्तु प्रजाः सर्वा युधिष्ठिर ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिवाण्डजाः ॥ ३७ ॥
कुबेरमिव रक्षांसि शतक्रतुमिवामराः ।
ज्ञातयस्त्वानुजीवन्तु सुहृदश्च परंतप ॥ ३८ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! जैसे सब प्राणी मेघके सहारे जीवन धारण करते हैं, जैसे पक्षी महान् वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं तथा जिस प्रकार राक्षस कुबेरके और देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे जीते-जी सारी प्रजा तुमसे ही अपनी जीविका चलाये तथा तुम्हारे सुहृद् एवं भाई-बन्धु भी तुमपर ही अवलम्बित होकर जीवन निर्वाह करें ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

सब दानोंसे बढ़कर भूमिदानका महत्त्व तथा उसीके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिरादरात् ।
बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद् दानमनुत्तमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यह देना चाहिये, वह देना चाहिये, ऐसा कहकर यह श्रुति बड़े आदरके साथ दानका विधान करती है तथा शास्त्रोंमें राजाओंके लिये बहुत कुछ दान करनेके लिये बात कही गयी है; परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि सब दानोंमें सर्वोत्तम दान कौन-सा है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अतिदानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! सब दानोंसे बढ़कर पृथ्वी-दान बताया गया है। पृथ्वी अचल और अक्षय है। वह इस लोकमें समस्त उत्तम भोगोंको देनेवाली है॥ २॥

दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून् व्रीहियवांस्तथा।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः॥ ३॥

वस्त्र, रत्न, पशु और धान-जौ आदि नाना प्रकारके अन्न—इन सबको देनेवाली पृथ्वी ही है; अतः पृथ्वीका दान करनेवाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक अभ्युदयशील होता है॥ ३॥

यावद् भूमेरायुरिह तावद् भूमिद एधते।
न भूमिदानादस्तीह परं किंचिद् युधिष्ठिर॥ ४॥

युधिष्ठिर ! इस जगत्‌में जबतक पृथ्वीकी आयु है, तबतक भूमिदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली रहकर सुख भोगता है। अतः यहाँ भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥ ४॥

अप्यल्पं प्रददुः सर्वे पृथिव्या इति नः श्रुतम्।
भूमिमेव ददुःसर्वे भूमिं ते भुञ्जते जनाः॥ ५॥

हमने सुना है कि जिन लोगोंने थोड़ी-सी भी पृथ्वी दान की है, वे सब लोग भूमिदानका ही पूर्ण फल पाकर उसका उपभोग करते हैं॥ ५॥

स्वकर्मैवोपजीवन्ति नरा इह परत्र च।
भूमिर्भूतिर्महादेवी दातारं कुरुते प्रियम्॥ ६॥

मनुष्य इहलोक और परलोकमें अपने कर्मके अनुसार ही जीवन-निर्वाह करते हैं। भूमि ऐश्वर्यस्वरूपा महादेवी है। वह दाताको अपना प्रिय बना लेती है॥ ६॥

य एतां दक्षिणां दद्यादक्षयां राजसत्तम।
पुनर्नरत्वं सम्प्राप्य भवेत् स पृथिवीपतिः॥ ७॥

नृपश्रेष्ठ ! जो इस अक्षय भूमिका दान करता है, वह दूसरे जन्ममें मनुष्य होकर पृथ्वीका स्वामी होता है॥ ७॥

यथा दानं तथा भोग इति धर्मेषु निश्चयः।
संग्रामे वा तनुं जह्याद् दद्याच्च पृथिवीमिमाम्॥ ८॥
इत्येतत् क्षत्रबन्धूनां वदन्ति परमां श्रियम्।

धर्मशास्त्रोंका सिद्धान्त है कि जैसा दान किया जाता है, वैसा ही भोग मिलता है। संग्राममें शरीरका त्याग करना तथा इस पृथ्वीका दान करना—ये दोनों ही कार्य क्षत्रियोंको उत्तम लक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं॥ ८½॥

पुनाति दत्ता पृथिवी दातारमिति शुश्रुम॥ ९॥
अपि पापसमाचारं ब्रह्मघ्नमपि चानृतम्।
सैव पापं प्लावयति सैव पापात् प्रमोचयेत्॥ १०॥

दानमें दी हुई पृथ्वी दाताको पवित्र कर देती है—यह हमने सुना है। कितना ही बड़ा पापाचारी, ब्रह्महत्यारा और असत्यवादी क्यों न हो, दानमें दी हुई पृथ्वी ही दाताके पापको धो बहा देती है और वही उसे सर्वथा पापमुक्त कर देती है॥ ९-१०॥

अपि पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
पृथिवीं नान्यदिच्छन्ति पावनं जननी यथा॥ ११॥

श्रेष्ठ पुरुष पापाचारी राजाओंसे भी पृथ्वीका दान तो ले लेते हैं, किंतु और किसी वस्तुका दान नहीं लेना चाहते। पृथ्वी वैसी ही पावन वस्तु है जैसी माता॥ ११॥

नामास्याः प्रियदत्तेति गुह्यं देव्याः सनातनम्।
दानं वाप्यथवाऽऽदानं नामास्याः प्रथमं प्रियम्॥ १२॥

इस पृथ्वी देवीका सनातन गोपनीय नाम 'प्रियदत्ता' है। इसका दान अथवा ग्रहण दोनों ही दाता और प्रतिग्रहीताको प्रिय हैं; इसीलिये इसका यह प्रथम नाम सबको प्रिय है॥ १२॥

य एतां विदुषे दद्यात् पृथिवीं पृथिवीपतिः।
पृथिव्यामेतदिष्टं स राजा राज्यमितो व्रजेत्॥ १३॥

जो पृथ्वीपति विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पृथ्वीका दान देता है, वह राजा इस दानके प्रभावसे पुनः राज्य प्राप्त करता है। भूमण्डलमें यह पृथ्वीदान सबको प्रिय है॥ १३॥

पुनश्चासौ जनिं प्राप्य राजवत् स्यान्न संशयः।
तस्मात् प्राप्यैव पृथिवीं दद्याद् विप्राय पार्थिवः॥ १४॥

वह पुनर्जन्म पाकर राजाके समान ही होता है, इसमें संशय नहीं है। अतः राजाको चाहिये कि वह पृथ्वीपर अधिकार पाते ही उसमेंसे कुछ ब्राह्मणको दान करे॥ १४॥

नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथंचन।
न चापात्रेण वा ग्राह्या दत्तदाने न चाचरेत्॥ १५॥

जो जिस भूमिका स्वामी नहीं है, उसे उसपर किसी तरह अधिकार नहीं करना चाहिये तथा अयोग्य पात्रको भूमि-दान नहीं ग्रहण करना चाहिये। जिस भूमिको दानमें दे दिया गया हो, उसे अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये॥ १५॥

ये चान्ये भूमिमिच्छेयुः कुर्युरेवं न संशयः।
यः साधोर्भूमिमादत्ते न भूमिं विन्दते तु सः॥ १६॥

दूसरे भी जो लोग भावी जन्ममें भूमि पानेकी इच्छा करें, उन्हें भी इस जन्ममें इसी तरह भूमिदान करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। जो छल-बलसे श्रेष्ठ पुरुषकी भूमिका अपहरण कर लेता है, उसे भूमिकी प्राप्ति नहीं होती॥ १६॥

भूमिं दत्त्वा तु साधुभ्यो विन्दते भूमिमुत्तमाम्।
प्रेत्य चेह च धर्मात्मा सम्प्राप्नोति महद् यशः॥ १७॥

श्रेष्ठ पुरुषोंको भूमिदान देनेसे दाताको उत्तम भूमिकी प्राप्ति होती है तथा वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है॥ १७॥

(एकागारकरीं दत्त्वा षष्टिसाहस्रमूर्ध्वगः ।
तावत्या हरणे पृथ्व्या नरकं द्विगुणोत्तरम् ॥)

जो एक घर बनाने भरके लिये भूमि दान करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक ऊर्ध्वलोकमें निवास करता है तथा जो उतनी ही पृथिवीका हरण कर लेता है, उसे उससे दूने अधिक कालतक नरकमें रहना पड़ता है ॥

यस्य विप्रास्तु शंसन्ति साधोर्भूमिं सदैव हि ।
न तस्य शत्रवो राजन् प्रशंसन्ति वसुन्धराम् ॥ १८ ॥

राजन् ! ब्राह्मण जिस श्रेष्ठ पुरुषकी दी हुई भूमिकी सदा ही प्रशंसा करते हैं, उसकी उस भूमिकी राजाके शत्रु प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

यत् किंचित् पुरुषः पापं कुरुते वृत्तिकर्शितः ।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन पूयते ॥ १९ ॥

जीविका न होनेके कारण मनुष्य क्लेशमें पड़कर जो कुछ पाप कर डालता है, वह सारा पाप गोचर्मके बराबर भूमि-दान करनेसे धुल जाता है ॥ १९ ॥

येऽपि संकीर्णकर्माणो राजानो रौद्रकर्मिणः ।
तेभ्यः पवित्रमाख्येयं भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २० ॥

जो राजा कठोर कर्म करनेवाले तथा पापपरायण हैं, उन्हें पापोंसे मुक्त होनेके लिये परम पवित्र एवं सबसे उत्तम भूमिदानका उपदेश देना चाहिये ॥ २० ॥

अल्पान्तरमिदं शश्वत् पुराणा मेनिरे जनाः ।
यो यजेताश्वमेधेन दद्याद् वा साधवे महीम् ॥ २१ ॥

प्राचीनकालके लोग सदा यह मानते रहे हैं कि जो अश्वमेधयज्ञ करता है अथवा जो श्रेष्ठ पुरुषको पृथ्वीदान करता है, इन दोनोंमें बहुत कम अन्तर है ॥ २१ ॥

अपि चेत्सुकृतं कृत्वा शङ्केरन्नपि पण्डिताः ।
अशङ्क्यमेकमेवैतद् भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २२ ॥

दूसरा कोई पुण्यकर्म करके उसके फलके विषयमें विद्वान् पुरुषोंको भी शङ्का हो जाय, यह सम्भव है; किंतु एकमात्र यह सर्वोत्तम भूमिदान ही ऐसा सत्कर्म है, जिसके फलके विषयमें किसीको शङ्का नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च ।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञो ददाति वसुधां ददत् ॥ २३ ॥

जो महाबुद्धिमान् पुरुष पृथ्वीका दान करता है, वह सोना, चाँदी, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान कर देता है (अर्थात् इन सभी दानोंका फल प्राप्त कर लेता है ।) ॥

तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता ।
गुरुदैवतपूजा च एता वर्तन्ति भूमिदम् ॥ २४ ॥

पृथ्वीका दान करनेवाले पुरुषको तप, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, लोभका अभाव, सत्यवादिता, गुरुशुश्रूषा और देवाराधन—इन सबका फल प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भर्तृनिःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगताः सिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ २५ ॥

जो अपने स्वामीका भला करनेके लिये रणभूमिमें मारे जाकर शरीर त्याग देते हैं और जो सिद्ध होकर ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं, वे भी भूमिदान करनेवाले पुरुषको लाँघकर आगे नहीं बढ़ने पाते ॥ २५ ॥

यथा जनित्री स्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा ।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥ २६ ॥

जैसे माता अपने बच्चेको सदा दूध पिलाकर पालती है, उसी प्रकार पृथ्वी सब प्रकारके रस देकर भूमिदातापर अनुग्रह करती है ॥ २६ ॥

मृत्युर्वैकिङ्करो दण्डस्तमो वह्निः सुदारुणः ।
घोराश्च दारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥ २७ ॥

कालकी भेजी हुई मौत, दण्ड, तमोगुण, दारुण अग्नि और अत्यन्त भयङ्कर पाश—ये भूमिदान करनेवाले पुरुषका स्पर्श नहीं कर सकते हैं ॥ २७ ॥

पितॄंश्च पितृलोकस्थान् देवलोकाच्च देवताः ।
संतर्पयति शान्तात्मा यो ददाति वसुन्धराम् ॥ २८ ॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वह शान्तचित्त पुरुष पितृलोकमें रहनेवाले पितरों तथा देवलोकसे आये हुए देवताओंको भी तृप्त कर देता है ॥ २८ ॥

कृशाय म्रियमाणाय वृत्तिग्लानाय सीदते ।
भूमिं वृत्तिकरीं दत्त्वा सत्री भवति मानवः ॥ २९ ॥

दुर्बल, जीविकाके बिना दुखी और भूखके कष्टसे मरते हुए ब्राह्मणको उपजाऊ भूमि दान करनेवाला मनुष्य यज्ञका फल पाता है ॥ २९ ॥

यथा धावति गौर्वत्सं स्रवन्ती वत्सला पयः ।
एवमेव महाभाग भूमिर्भवति भूमिदम् ॥ ३० ॥

महाभाग ! जैसे बछड़ेके प्रति वात्सल्यभावसे भरी हुई गौ अपने थनोंसे दूध बहाती हुई उसे पिलानेके लिये दौड़ती है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भूमिदान करनेवालेको सुख पहुँचानेके लिये दौड़ती है ॥ ३० ॥

फालकृष्टां महीं दत्त्वा सबीजां सफलामपि ।
उदीर्णं वापि शरणं यथा भवति कामदः ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य जोती-बोयी और उपजी हुई खेतीसे भरी भूमिका दान करता है अथवा विशाल भवन बनवाकर देता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणं वृत्तिसम्पन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम् ।
नरः प्रतिग्राह्य महीं न याति परमापदम् ॥ ३२ ॥

जो सदाचारी, अग्निहोत्री और उत्तम व्रतमें संलग्न ब्राह्मणको पृथ्वीका दान करता है, वह कभी भारी विपत्तिमें नहीं पड़ता है ॥ ३२ ॥

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते ।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ३३ ॥

जैसे चन्द्रमाकी कला प्रतिदिन बढ़ती है, उसी प्रकार दान की हुई पृथ्वीमें जितनी बार फसल पैदा होती है, उतना ही उसके पृथ्वी-दानका फल बढ़ता जाता है ॥ ३३ ॥

अत्र गाथा भूमिगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
याः श्रुत्वा जामदग्न्येन दत्ता भूः काश्यपाय वै ॥ ३४ ॥

प्राचीन बातोंको जाननेवाले लोग भूमिकी गायी हुई गाथाओंका वर्णन किया करते हैं, जिन्हें सुनकर जमदग्नि-नन्दन परशुरामने काश्यपजीको सारी पृथ्वी दान कर दी थी॥

मामेवादत्त मां दत्त मां दत्त्वा मामवाप्स्यथ ।
अस्मिँल्लोके परे चैव तद् दत्तं जायते पुनः ॥ ३५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—(पृथ्वी कहती है—) 'मुझे ही दानमें दो, मुझे ही ग्रहण करो। मुझे देकर ही मुझे पाओगे; क्योंकि मनुष्य इस लोकमें जो कुछ दान करता है, वही उसे इहलोक और परलोकमें भी प्राप्त होता है' ॥ ३५॥

य इमां व्याहृतिं वेद ब्राह्मणो वेदसम्मिताम् ।
श्राद्धस्य क्रियमाणस्य ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ३६ ॥

जो ब्राह्मण श्राद्धकालमें पृथ्वीकी गायी हुई वेद-सम्मत इस गाथाका पाठ करता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

कृत्यानामधिशस्तानामरिष्टशमनं महत् ।
प्रायश्चित्तं महीं दत्त्वा पुनात्युभयतो दश ॥ ३७ ॥

अत्यन्त प्रबल कृत्या (मारणशक्ति) के प्रयोगसे जो भय प्राप्त होता है, उसको शान्त करनेका सबसे महान् साधन पृथ्वीका दान ही है। भूमिदानरूप प्रायश्चित्त करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ॥ ३७ ॥

पुनाति य इदं वेद वेदवादं तथैव च ।
प्रकृतिः सर्वभूतानां भूमिर्वैश्वानरी मता ॥ ३८ ॥

जो वेदवाणीरूप इस भूमिगाथाको जानता है, वह भी अपनी दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिस्थान है और अग्नि इसका अधिष्ठाता देवता है ॥ ३८ ॥

अभिषिच्यैव नृपतिं श्रावयेदिममागमम् ।
यथा श्रुत्वा महीं दद्यान्नादद्यात् साधुतश्च ताम्॥ ३९ ॥

राजाको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करनेके बाद उसे तत्काल ही पृथ्वीकी गायी हुई यह गाथा सुना देनी चाहिये; जिससे वह भूमिका दान करे और सत्पुरुषोंके हाथसे उन्हें दी हुई भूमि छीन न ले ॥ ३९ ॥

सोऽयं कृत्स्नो ब्राह्मणार्थो राजार्थश्चाप्यसंशयः।
राजा हि धर्मकुशलः प्रथमं भूतिलक्षणम् ॥ ४० ॥

यह सारी कथा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये है। इस विषयमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि राजा धर्ममें कुशल हो, यह प्रजाके ऐश्वर्य (वैभव) को सूचित करनेवाला प्रथम लक्षण है ॥ ४० ॥

अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः ।
न ते सुखं प्रबुध्यन्ति न सुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४१ ॥
सदा भवन्ति चोद्विग्नास्तस्य दुश्चरितैर्नराः ।
योगक्षेमा हि बहवो राष्ट्रं नास्याविशन्ति तत् ॥ ४२ ॥

जिनका राजा धर्मको न जाननेवाला और नास्तिक होता है, वे लोग न तो सुखसे सोते हैं और न सुखसे जागते ही हैं; अपितु उस राजाके दुराचारसे सदैव उद्विग्न रहते हैं। ऐसे राजाके राज्यमें बहुधा योगक्षेम नहीं प्राप्त होते॥

अथ येषां पुनः प्राज्ञो राजा भवति धार्मिकः ।
सुखं ते प्रतिबुध्यन्ते सुसुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४३ ॥

किंतु जिनका राजा बुद्धिमान् और धार्मिक होता है, वे सुखसे सोते और सुखसे जागते हैं ॥ ४३ ॥

तस्य राज्ञः शुभै राज्यैः कर्मभिर्निर्वृता नराः ।
योगक्षेमेण वृष्ट्या च विवर्धन्ते स्वकर्मभिः ॥ ४४ ॥

उस राजाके शुभ राज्य और शुभ कर्मोंसे प्रजावर्गके लोग संतुष्ट रहते हैं। उस राज्यमें सबके योगक्षेमका निर्वाह होता है, समयपर वर्षा होती है और प्रजा अपने शुभ कर्मोंसे समृद्धिशालिनी होती है ॥ ४४ ॥

स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत् ।
स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुन्धराम् ॥४५॥

जो पृथ्वीका दान करता है, वही कुलीन, वही पुरुष, वही बन्धु, वही पुण्यात्मा, वही दाता और वही पराक्रमी है ॥

आदित्या इव दीप्यन्ते तेजसा भुवि मानवाः ।
ददन्ति वसुधां स्फीतां ये वेदविदुषि द्विजे ॥ ४६ ॥

जो वेदवेत्ता ब्राह्मणको धन-धान्यसे सम्पन्न भूमिदान करते हैं, वे मनुष्य इस पृथ्वीपर अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ४६ ॥

यथा सस्यानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले ।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानसमार्जिताः ॥ ४७ ॥

जैसे भूमिमें बोये हुए बीज खेतीके रूपमें अङ्कुरित होते और अधिक अन्न पैदा करते हैं, उसी प्रकार भूमिदान करनेसे सम्पूर्ण कामनाएँ सफल होती हैं ॥ ४७ ॥

आदित्यो वरुणो विष्णुर्ब्रह्मा सोमो हुताशनः ।
शूलपाणिश्च भगवान् प्रतिनन्दन्ति भूमिदम् ॥ ४८ ॥

सूर्य, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और भगवान् शङ्कर—ये सभी भूमि-दान करनेवाले पुरुषका अभिनन्दन करते हैं ॥ ४८ ॥

भूमौ जायन्ति पुरुषा भूमौ निष्ठां व्रजन्ति च ।
चतुर्विधो हि लोकोऽयं योऽयं भूमिगुणात्मकः ॥ ४९ ॥

सब लोग, पृथ्वीपर ही जन्म लेते और पृथ्वीमें ही लीन हो जाते हैं। अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज-इन चारों प्रकारके प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका ही कार्य है ॥ ४९ ॥

एषा माता पिता चैव जगतः पृथिवीपते ।
नानया सदृशं भूतं किंचिदस्ति जनाधिप ॥ ५० ॥

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! यह पृथ्वी ही जगत्की माता और पिता है । इसके समान दूसरा कोई भूत नहीं है ॥ ५० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और बृहस्पतिके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ५१ ॥

इष्ट्वा क्रतुशतेनाथ महता दक्षिणावता ।
मघवा वाग्विदां श्रेष्ठं पप्रच्छेदं बृहस्पतिम् ॥ ५२ ॥

इन्द्रने महान् दक्षिणाओंसे युक्त सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीसे इस प्रकार पूछा ॥ ५२ ॥

मघवोवाच

भगवन् केन दानेन स्वर्गतः सुखमेधते ।
यदक्षयं महार्घं च तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ ५३ ॥

इन्द्र बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन् ! किस दानके प्रभावसे दाताको स्वर्गसे भी अधिक सुखकी प्राप्ति होती है ? जिसका फल अक्षय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो, उस दानको ही मुझे बताइये ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स सुरेन्द्रेण ततो देवपुरोहितः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः प्रत्युवाच शतक्रतुम् ॥ ५४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! देवराज इन्द्रके ऐसा कहनेपर देवताओंके पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पतिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं च वृत्रहन् ।
(विद्यादानं च कन्यानां दानं पापहरं परम् ।)
दददेतान् महाप्राज्ञः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्र ! सुवर्णदान, गोदान, भूमिदान, विद्यादान और कन्यादान—ये अत्यन्त पापहारी माने गये हैं । जो परम बुद्धिमान् पुरुष इन सब वस्तुओंका दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

न भूमिदानाद् देवेन्द्र परं किंचिदिति प्रभो ।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ५६ ॥

प्रभो ! देवेन्द्र ! जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, मैं भूमिदानसे बढ़कर दूसरे किसी दानको नहीं मानता हूँ ॥५६॥

(ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा राष्ट्रघातेऽथ स्वामिनः ।
कुलस्त्रीणां परिभवे मृतास्ते भूमिदैः समाः ॥)

जो ब्राह्मणोंके लिये, गौओंके लिये, राष्ट्रके विनाशके अवसरपर स्वामीके लिये तथा जहाँ कुलाङ्गनाओंका अपमान होता हो, वहाँ उन सबकी रक्षाके लिये युद्धमें प्राण त्याग करते हैं, वे ही भूमिदान करनेवालोंके समान पुण्यके भागी होते हैं ॥

ये शूरा निहता युद्धे स्वर्याता रणगृद्धिनः ।
सर्वे ते विबुधश्रेष्ठ नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५७ ॥

विबुधश्रेष्ठ ! मनमें युद्धके लिये उत्साह रखनेवाले जो शूरवीर रणभूमिमें मारे जाकर स्वर्गलोकमें जाते हैं, वे सब-के-सब भूमिदाताका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगता मुक्ता नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५८ ॥

स्वामीकी भलाईके लिये उद्यत हो रणभूमिमें मारे जाकर अपने शरीरका परित्याग करनेवाले पुरुष पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं; परंतु वे भी भूमिदातासे आगे नहीं बढ़ पाते हैं ॥ ५८ ॥

पञ्च पूर्वा हि पुरुषाः षडन्ये वसुधां गताः ।
एकादश ददद्भूमिं परित्रातीह मानवः ॥ ५९ ॥

इस जगत्में भूमिदान करनेवाला मनुष्य अपनी पाँच पीढ़ीतकके पूर्वजोंका और अन्य छः पीढ़ियोंतक पृथ्वीपर आनेवाली संतानोंका—इस प्रकार कुल ग्यारह पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ५९ ॥

रत्नोपकीर्णां वसुधां यो ददाति पुरंदर ।
स मुक्तः सर्वकलुषैः स्वर्गलोके महीयते ॥ ६० ॥

पुरंदर ! जो रत्नयुक्त पृथ्वीका दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥

महीं स्फीतां ददद् राजन् सर्वकामगुणान्विताम् ।
राजाधिराजो भवति तद्धि दानमनुत्तमम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! धन-धान्यसे सम्पन्न तथा समस्त मनोवाञ्छित

गुणोंसे युक्त पृथ्वीका दान करनेवाला पुरुष दूसरे जन्ममें राजाधिराज होता है; क्योंकि वह सर्वोत्तम दान है ॥ ६१ ॥

सर्वकामसमायुक्तां काश्यपीं यः प्रयच्छति ।
सर्वभूतानि मन्यन्ते मां ददातीति वासव ॥ ६२ ॥

इन्द्र ! जो सम्पूर्ण भोगोंसे युक्त पृथ्वीका दान करता है, उसे सब प्राणी यही समझते हैं कि यह मेरा दान कर रहा है ॥ ६२ ॥

सर्वकामदुघां धेनुं सर्वकामगुणान्विताम् ।
ददाति यः सहस्राक्ष स्वर्गं याति स मानवः ॥ ६३ ॥

सहस्राक्ष ! जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली और समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न कामधेनुस्वरूपा पृथ्वीका दान करता है, वह मानव स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ६३ ॥

मधुसर्पिःप्रवाहिण्यः पयोदधिवहास्तथा ।
सरितस्तर्पयन्तीह सुरेन्द्र वसुधाप्रदम् ॥ ६४ ॥

देवेन्द्र ! यहाँ पृथ्वी-दान करनेवाले पुरुषको परलोकमें मधु, घी, दूध और दही की धारा बहानेवाली नदियाँ तृप्त करती हैं ॥ ६४ ॥

भूमिप्रदानान्नृपतिर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ।
न हि भूमिप्रदानेन दानमन्यद् विशिष्यते ॥ ६५ ॥

राजा भूमिदान करनेसे समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है । भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है ॥ ६५ ॥

ददाति यः समुद्रान्तां पृथिवीं शस्त्रनिर्जिताम् ।
तं जनाः कथयन्तीह यावद् भवति गौरियम् ॥ ६६ ॥

जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको शस्त्रोंसे जीतकर दान देता है, उसकी कीर्ति संसारके लोग तबतक गाया करते हैं, जबतक यह पृथ्वी कायम रहती है ॥ ६६ ॥

पुण्यामृद्धिरसां भूमिं यो ददाति पुरंदर ।
न तस्य लोकाः क्षीयन्ते भूमिदानगुणान्विताः ॥ ६७ ॥

पुरंदर ! जो परम पवित्र और समृद्धिरूपी रससे भरी हुई पृथ्वीका दान करता है, उसे उस भूदानसम्बन्धी गुणोंसे युक्त अक्षय लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥

सर्वदा पार्थिवेनेह सततं भूतिमिच्छता ।
भूर्देया विधिवच्छक्र पात्रे सुखमभीप्सुना ॥ ६८ ॥

इन्द्र ! जो राजा सदा ऐश्वर्य चाहता हो और सुख पानेकी इच्छा रखता हो, वह विधिपूर्वक सुपात्रको भूमिदान दे ॥ ६८ ॥

अपि कृत्वा नरः पापं भूमिं दत्त्वा द्विजातये ।
समुत्सृजति तत् पापं जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ६९ ॥

पाप करके भी यदि मनुष्य ब्राह्मणको भूमिदान कर देता है तो वह उस पापको उसी प्रकार त्याग देता है, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको ॥ ६९ ॥

सागरान् सरितः शैलान् काननानि च सर्वशः ।
सर्वमेतन्नरः शक्र ददाति वसुधां ददत् ॥ ७० ॥

इन्द्र ! मनुष्य पृथ्वीका दान करनेके साथ ही समुद्र, नदी, पर्वत और सम्पूर्ण वन—इन सबका दान कर देता है (अर्थात् इन सबके दानका फल प्राप्त कर लेता है) ॥

तडागान्युदपानानि स्रोतांसि च सरांसि च ।
स्नेहान् सर्वरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥ ७१ ॥

इतना ही नहीं, पृथ्वीका दान करनेवाला पुरुष तालाब, कुआँ, झरना, सरोवर, स्नेह (घृत आदि) और सब प्रकारके रसोंके दानका भी फल प्राप्त कर लेता है ॥ ७१ ॥

ओषधीर्वीर्यसम्पन्ना नगान् पुष्पफलान्वितान् ।
काननोपलशैलांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥ ७२ ॥

पृथ्वीका दान करते समय मनुष्य शक्तिशाली ओषधियों, फल और फूलोंसे भरे हुए वृक्षों, वन, प्रस्तर और पर्वतोंका भी दान कर देता है ॥ ७२ ॥

अग्निष्टोमप्रभृतिभिरिष्ट्वा च स्वाप्तदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति भूमिदानाद् यदश्नुते ॥ ७३ ॥

बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी मनुष्य उस फलको नहीं पाता, जो उसे भूमिदानसे मिल जाता है ॥ ७३ ॥

दाता दशानुगृह्णाति दश हन्ति तथा क्षिपन् ।
पूर्वदत्तां हरन् भूमिं नरकायोपगच्छति ॥ ७४ ॥
न ददाति प्रतिश्रुत्य दत्त्वापि च हरेत् तु यः ।
स बद्धो वारुणैः पाशैस्तप्यते मृत्युशासनात् ॥ ७५ ॥

भूमिका दान करनेवाला मनुष्य अपनी दस पीढ़ियोंका उद्धार करता है तथा देकर छीन लेनेवाला अपनी दस पीढ़ियोंको नरकमें ढकेलता है । जो पहलेकी दी हुई भूमिका अपहरण करता है, वह स्वयं भी नरकमें जाता है । जो देनेकी प्रतिज्ञा करके नहीं देता है तथा जो देकर भी फिर ले लेता है, वह मृत्युकी आज्ञासे वरुणके पाशमें बँधकर तरह-तरहके कष्ट भोगता है ॥ ७४-७५ ॥

आहिताग्निं सदायज्ञं कृशवृत्तिं प्रियातिथिम् ।
ये भजन्ति द्विजश्रेष्ठं नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥ ७६ ॥

जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, सदा यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता और अतिथियोंको प्रिय मानता है तथा जिसकी जीविका-वृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे श्रेष्ठ द्विजकी जो सेवा करते हैं, वे यमराजके पास नहीं जाते ॥ ७६ ॥

ब्राह्मणेष्वनृणीभूतः पार्थिवः स्यात् पुरंदर ।
इतरेषां तु वर्णानां तारयेत् कृशदुर्बलान् ॥ ७७ ॥

पुरंदर ! राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंके प्रति उऋण रहे अर्थात् उनकी सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखे

तथा अन्य वर्णोंमें भी जो लोग दीन-दुर्बल हों; उनका संकटसे उद्धार करे ॥ ७७ ॥

नाच्छिन्द्यात् स्पर्शितां भूमिं परेण त्रिदशाधिप।
ब्राह्मणस्य सुरश्रेष्ठ कृशवृत्तेः कदाचन ॥ ७८ ॥

सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! जिसकी जीविका-वृत्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ब्राह्मणको दूसरेके द्वारा दानमें मिली हुई जो भूमि है, उसको कभी नहीं छीनना चाहिये ॥ ७८ ॥

यथाश्रु पतितं तेषां दीनानामथ सीदताम्।
ब्राह्मणानां हृते क्षेत्रे हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ७९ ॥

अपना खेत छिन जानेसे दुःखी हुए दीन ब्राह्मण जो आँसू बहाते हैं; वह छीननेवालेकी तीन पीढ़ियोंका नाश कर देता है ॥ ७९ ॥

भूमिपालं च्युतं राष्ट्राद् यस्तु संस्थापयेन्नरः।
तस्य वासः सहस्राक्ष नाकपृष्ठे महीयते ॥ ८० ॥

इन्द्र ! जो मनुष्य राज्यसे भ्रष्ट हुए राजाको फिर राज-सिंहासनपर बैठा देता है, उसका स्वर्गलोकमें निवास होता है तथा वह वहाँ बड़ा सम्मान पाता है ॥ ८० ॥

इक्षुभिः संततां भूमिं यवगोधूमशालिनीम्।
गोऽश्ववाहनपूर्णां वा बाहुवीर्यादुपार्जिताम् ॥ ८१ ॥
निधिगर्भां ददद् भूमिं सर्वरत्नपरिच्छदाम्।
अक्षयाँल्लभते लोकान् भूमिसत्रं हि तस्य तत् ॥ ८२ ॥

जो भूमि गन्नेके वृक्षोंसे आच्छादित हो, जिसपर जौ और गेहूँकी खेती लहलहा रही हो अथवा जहाँ बैल और घोड़े आदि वाहन भरे हों, जिसके नीचे खजाना गड़ा हो तथा जो सब प्रकारके रत्नमय उपकरणोंसे अलंकृत हो, ऐसी भूमिको अपने बाहुबलसे जीतकर जो राजा दान कर देता है, उसे अक्षय लोक प्राप्त होते हैं। उसका वह दान भूमियज्ञ कहलाता है ॥ ८१-८२ ॥

विधूय कलुषं सर्वं विरजाः सम्मतः सताम्।
लोके महीयते सद्भिर्यो ददाति वसुन्धराम् ॥ ८३ ॥

जो वसुधाका दान करता है, वह अपने सब पापोंका नाश करके निर्मल एवं सत्पुरुषोंके आदरका पात्र हो जाता है तथा लोकमें सज्जन पुरुष सदा ही उसका सत्कार करते हैं॥

यथाप्सु पतितः शक्र तैलबिन्दुर्विसर्पति।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ८४ ॥

इन्द्र ! जैसे जलमें गिरी हुई तेलकी एक बूँद सब ओर फैल जाती है; उसी प्रकार दान की हुई भूमिमें जितना-जितना अन्न पैदा होता है, उतना ही-उतना उसके दानका महत्त्व बढ़ता जाता है ॥ ८४ ॥

ये रणाग्रे महीपालाः शूराः समितिशोभनाः।
वध्यन्तेऽभिमुखाः शक्र ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ ८५ ॥

देवराज ! युद्धमें शोभा पानेवाले जो शूरवीर भूपाल युद्धके मुहानेपर शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए मारे जाते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ८५ ॥

नृत्यगीतपरा नार्यो दिव्यमाल्यविभूषिताः।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र तथा भूमिप्रदं दिवि ॥ ८६ ॥

देवेन्द्र ! दिव्य मालाओंसे विभूषित हो नाच और गानमें लगी हुई देवाङ्गनाएँ स्वर्गमें भूमिदाताकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ ८६ ॥

मोदते च सुखं स्वर्गे देवगन्धर्वपूजितः।
यो ददाति महीं सम्यग् विधिनेह द्विजातये ॥ ८७ ॥

जो यहाँ उत्तम विधिसे ब्राह्मणको भूमिका दान करता है, वह स्वर्गमें देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित हो सुख और आनन्द भोगता है ॥ ८७ ॥

शतमप्सरसश्चैव दिव्यमाल्यविभूषिताः।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र ब्रह्मलोके धराप्रदम् ॥ ८८ ॥

देवराज ! भूदान करनेवाले पुरुषकी सेवामें ब्रह्मलोकमें दिव्य मालाओंसे विभूषित सैकड़ों अप्सराएँ उपस्थित होती हैं॥

उपतिष्ठन्ति पुण्यानि सदा भूमिप्रदं नरम्।
शङ्खभद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवाहनम् ॥ ८९ ॥

भूमिदान करनेवाले मनुष्यके यहाँ सदा पुण्यके फल-स्वरूप शङ्ख, सिंहासन, छत्र, उत्तम घोड़े और श्रेष्ठ वाहन उपस्थित होते हैं ॥ ८९ ॥

भूमिप्रदानात् पुष्पाणि हिरण्यनिचयास्तथा।
आज्ञा सदाप्रतिहता जयशब्दा वसूनि च ॥ ९० ॥

भूमिदान करनेसे पुरुषको सुन्दर पुष्प, सोनेके भण्डार, कभी प्रतिहत न होनेवाली आज्ञा, जयसूचक शब्द तथा भाँति-भाँतिके धन-रत्न प्राप्त होते हैं ॥ ९० ॥

भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरंदर।
हिरण्यपुष्पाश्चौषध्यः कुशकाञ्चनशाद्वलाः ॥ ९१ ॥

पुरंदर ! भूमिदानके जो पुण्य हैं, उनके फलरूपमें स्वर्ग, सुवर्णमय फूल देनेवाली ओषधियाँ तथा सुनहरे कुश और घाससे ढकी हुई भूमि प्राप्त होती है ॥ ९१ ॥

अमृतप्रसवां भूमिं प्राप्नोति पुरुषो ददत्।
नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः॥ ९२॥

भूमिदान करनेवाला पुरुष अमृत पैदा करनेवाली भूमि पाता है, भूमिके समान कोई दान नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, सत्यके समान कोई धर्म नहीं है और दानके समान कोई निधि नहीं है ॥ ९२॥

भीष्म उवाच

एतदाङ्गिरसाच्छ्रुत्वा वासवो वसुधामिमाम्।

वसुरत्नसमाकीर्णां ददावाङ्गिरसे तदा ॥ ९३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! बृहस्पतिजीके मुँहसे भूमिदानका यह माहात्म्य सुनकर इन्द्रने धन और रत्नोंसे भरी हुई यह पृथ्वी उन्हें दान कर दी ॥ ९३ ॥

य इदं श्रावयेच्छ्राद्धे भूमिदानस्य सम्भवम्।
न तस्य रक्षसां भागो नासुराणां भवत्युत ॥ ९४ ॥

जो पुरुष श्राद्धके समय पृथ्वीदानके इस माहात्म्यको सुनता है, उसके श्राद्धकर्ममें अर्पण किये हुए भाग राक्षस और असुर नहीं लेने पाते ॥ ९४ ॥

अक्षयं च भवेद् दत्तं पितृभ्यस्तन्न संशयः।
तस्माच्छ्राद्धेष्विदं विद्वान् भुञ्जतः श्रावयेद् द्विजान्॥९५॥

पितरोंके निमित्त उसका दिया हुआ सारा दान अक्षय होता है, इसमें संशय नहीं है; इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह श्राद्धमें भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको यह भूमिदानका माहात्म्य अवश्य सुनाये ॥ ९५ ॥

इत्येतत् सर्वदानानां श्रेष्ठमुक्तं तवानघ।
मया भरतशार्दूल किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९६ ॥

निष्पाप भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार मैंने सब दानोंमें श्रेष्ठ पृथ्वीदानका माहात्म्य तुम्हें बताया है, अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अन्नदानका विशेष माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

कानि दानानि लोकेऽस्मिन् दातुकामो महीपतिः।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद् भरतसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जिस राजाको दान करनेकी इच्छा हो, वह इस लोकमें गुणवान् ब्राह्मणोंको किन-किन वस्तुओंका दान करे? ॥ १ ॥

केन तुष्यन्ति ते सद्यः किं तुष्टाः प्रदिशन्ति च।
शंस मे तन्महाबाहो फलं पुण्यकृतं महत् ॥ २ ॥

किस वस्तुके देनेसे ब्राह्मण तुरंत प्रसन्न हो जाते हैं? और प्रसन्न होकर क्या देते हैं? महाबाहो! अब मुझे दानजनित महान् पुण्यका फल बताइये ॥ २ ॥

दत्तं किं फलवद् राजन्निह लोके परत्र च।
भवतः श्रोतुमिच्छामि तन्मे विस्तरतो वद ॥ ३ ॥

राजन्! इहलोक और परलोकमें कौन-सा दान विशेष फल देनेवाला होता है? यह मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ। आप इस विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! यही बात मैंने पहले एक बार देवदर्शी नारदजीसे पूछी थी। उस समय उन्होंने मुझसे जो कुछ कहा था, वही तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—देवता और ऋषि अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं, अन्नसे ही लोकयात्राका निर्वाह होता है। उसीसे बुद्धिको स्फूर्ति प्राप्त होती है तथा उस अन्नमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ ५ ॥

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ६ ॥

अन्नके समान न कोई दान था और न होगा। इसलिये मनुष्य अधिकतर अन्नका ही दान करना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥ ७ ॥

प्रभो! संसारमें अन्न ही शरीरके बलको बढ़ानेवाला है। अन्नके ही आधारपर प्राण टिके हुए हैं और इस सम्पूर्ण जगत्‌को अन्नने ही धारण कर रखा है ॥ ७ ॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तापसास्तथा।
अन्नाद् भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः॥ ८ ॥

इस जगत्‌में गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षा माँगनेवाले भी अन्नसे ही जीते हैं। अन्नसे ही सबके प्राणोंकी रक्षा होती है। इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, इसमें संशय नहीं है॥

कुटुम्बिने सीदते च ब्राह्मणाय महात्मने।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥ ९ ॥

अतः अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह अन्नके लिये दुखी, बाल-बच्चोंवाले, महामनस्वी ब्राह्मणको और भिक्षा माँगनेवालेको भी अन्न-दान करे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥ १० ॥

जो याचना करनेवाले सुपात्र ब्राह्मणको अन्नदान देता है, वह परलोकमें अपने लिये एक अच्छी निधि (खजाना) बना लेता है ॥ १० ॥

श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद् भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम् ॥ ११ ॥

रास्तेका थका-माँदा बूढ़ा राहगीर यदि घरपर आ जाय तो अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थको उस आदरणीय अतिथिका आदर करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अन्नदः प्राप्नुते राजन् दिवि चेह च यत्सुखम् ॥ १२ ॥

राजन् ! जो पुरुष मनमें उठे हुए क्रोधको दबाकर और ईर्ष्याको त्यागकर अच्छे शील-स्वभावका परिचय देता हुआ अन्नदान करता है, वह इहलोक और परलोकमें भी सुख पाता है ॥ १२ ॥

नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात् कदाचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥ १३ ॥

अपने घरपर कोई भी आ जाय, उसका न तो कभी अपमान करना चाहिये और न उसे ताड़ना ही देनी चाहिये; क्योंकि चाण्डाल अथवा कुत्तेको भी दिया हुआ अन्नदान कभी नष्ट नहीं होता (व्यर्थ नहीं जाता) ॥ १३ ॥

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो मनुष्य कष्टमें पड़े हुए अपरिचित राहीको प्रसन्नतापूर्वक अन्न देता है, उसे महान् धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च जनाधिप ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! जो देवताओं, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों और अतिथियोंको अन्न देकर संतुष्ट करता है, उसके पुण्यका फल महान् है ॥ १५ ॥

कृत्वातिपातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन मुह्यते ॥ १६ ॥

जो महान् पाप करके भी याचक मनुष्यको, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मणको अन्न देता है, वह अपने पापके कारण मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १६ ॥

ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।
अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ॥ १७ ॥

ब्राह्मणको अन्नका दान दिया जाय तो अक्षय फल प्राप्त होता है और शूद्रको भी देनेसे महान् फल होता है; क्योंकि अन्नका दान शूद्रको दिया जाय या ब्राह्मणको, उसका विशेष फल होता है ॥ १७ ॥

न पृच्छेद् गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं प्रयाचितः ॥ १८ ॥

यदि ब्राह्मण अन्नकी याचना करे तो उससे गोत्र, शाखा, वेदाध्ययन और निवासस्थान आदिका परिचय न पूछे; तुरंत ही उसकी सेवामें अन्न उपस्थित कर दे ॥ १८ ॥

अन्नदस्यान्नवृक्षाश्च सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति चेह चामुत्र नृपतेर्नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो राजा अन्नका दान करता है, उसके लिये अन्नके पौधे इहलोक और परलोकमें भी सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥ २० ॥

जैसे किसान अच्छी वृष्टि मनाया करते हैं, उसी प्रकार पितर भी यह आशा लगाये रहते हैं कि कभी हमलोगोंका पुत्र या पौत्र भी हमारे लिये अन्न प्रदान करेगा ॥ २० ॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं स्वयं देहीति याचति ।
अकामो वा सकामो वा दत्त्वा पुण्यमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

ब्राह्मण एक महान् प्राणी है । यदि वह 'मुझे अन्न दो' इस प्रकार स्वयं अन्नकी याचना करता है तो मनुष्यको चाहिये कि सकामभावसे या निष्कामभावसे उसे अन्नदान देकर पुण्य प्राप्त करे ॥ २१ ॥

ब्राह्मणः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ।
विप्रा यदधिगच्छन्ति भिक्षमाणा गृहं सदा ॥ २२ ॥
सत्कृताश्च निवर्तन्ते तदतीव प्रवर्धते ।
महाभागे कुले प्रेत्य जन्म चाप्नोति भारत ॥ २३ ॥

भारत ! ब्राह्मण सब मनुष्योंका अतिथि और सबसे पहले भोजन पानेका अधिकारी है । ब्राह्मण जिस घरपर सदा भिक्षा माँगनेके लिये जाते हैं और वहाँसे सत्कार पाकर लौटते हैं, उस घरकी सम्पत्ति अधिक बढ़ जाती है तथा उस घरका मालिक मरनेके बाद महान् सौभाग्यशाली कुलमें जन्म पाता है ॥

दत्त्वा त्वन्नं नरो लोके तथा स्थानमनुत्तमम् ।
नित्यं मिष्टान्नदायी तु स्वर्गे वसति सत्कृतः ॥ २४ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें सदा अन्न, उत्तम स्थान और मिष्टान्नका दान करता है, वह देवताओंसे सम्मानित होकर स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ २४ ॥

अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥ २५ ॥
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! अन्न ही मनुष्योंके प्राण हैं, अन्नमें ही सब प्रतिष्ठित है, अतः अन्न दान करनेवाला मनुष्य पशु, पुत्र, धन, भोग, बल और रूप भी प्राप्त कर लेता है। जगत्में अन्न दान करनेवाला पुरुष प्राणदाता और सर्वस्व देनेवाला कहलाता है ॥ २५-२६ ॥

अन्नं हि दत्त्वातिथये ब्राह्मणाय यथाविधि।
प्रदाता सुखमाप्नोति दैवतैश्चापि पूज्यते ॥ २७ ॥

अतिथि ब्राह्मणको विधिपूर्वक अन्नदान करके दाता परलोकमें सुख पाता है और देवता भी उसका आदर करते हैं॥

ब्राह्मणो हि महद्भूतं क्षेत्रभूतं युधिष्ठिर।
उप्यते तत्र यद् बीजं तद्धि पुण्यफलं महत् ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मण महान् प्राणी एवं उत्तम क्षेत्र है। उसमें जो बीज बोया जाता है, वह महान् पुण्यफल देनेवाला होता है ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥ २९ ॥

अन्नका दान ही एक ऐसा दान है, जो दाता और भोक्ता, दोनोंको प्रत्यक्षरूपसे संतुष्ट करनेवाला होता है। इसके सिवा अन्य जितने दान हैं, उन सबका फल परोक्ष है ॥ २९ ॥

अन्नाद्धि प्रसवं यान्ति रतिरन्नाद्धि भारत।
धर्मार्थावन्नतो विद्धि रोगनाशं तथान्नतः ॥ ३० ॥

भारत ! अन्नसे ही संतानकी उत्पत्ति होती है। अन्नसे ही रतिकी सिद्धि होती है। अन्नसे ही धर्म और अर्थकी सिद्धि समझो। अन्नसे ही रोगोंका नाश होता है ॥ ३० ॥

अन्नं ह्यमृतमित्याह पुराकल्पे प्रजापतिः।
अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

पूर्वकल्पमें प्रजापतिने अन्नको अमृत बतलाया है। भूलोक, स्वर्ग और आकाश अन्नरूप ही हैं; क्योंकि अन्न ही सबका आधार है ॥ ३१ ॥

अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः।
बलं बलवतोऽपीह प्रणश्यत्यन्नहानितः ॥ ३२ ॥

अन्नका आहार न मिलनेपर शरीरमें रहनेवाले पाँचों तत्त्व अलग-अलग हो जाते हैं। अन्नकी कमी हो जानेसे बड़े-बड़े बलवानोंका बल भी क्षीण हो जाता है ॥ ३२ ॥

आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥ ३३ ॥

निमन्त्रण, विवाह और यज्ञ भी अन्नके बिना बंद हो जाते हैं। नरश्रेष्ठ ! अन्न न हो तो वेदोंका ज्ञान भी भूल जाता है ॥ ३३ ॥

अन्नतः सर्वमेतद्धि यत् किंचित् स्थाणु जङ्गमम्।
त्रिषु लोकेषु धर्मार्थमन्नं देयमतो बुधैः ॥ ३४ ॥

यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप जगत् है, सब-का-सब अन्नके ही आधारपर टिका हुआ है। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि तीनों लोकोंमें धर्मके लिये अन्नका दान अवश्य करें॥

अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत् त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥ ३५ ॥

पृथ्वीनाथ ! अन्नदान करनेवाले मनुष्यके बल, ओज, यश और कीर्तिका तीनों लोकोंमें सदा ही विस्तार होता रहता है॥

मेघेषूर्ध्वं संनिधत्ते प्राणानां पवनः पतिः।
तच्च मेघगतं वारि शक्रो वर्षति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! प्राणोंका स्वामी पवन मेघोंके ऊपर स्थित होता है और मेघमें जो जल है, उसे इन्द्र धरतीपर बरसाते हैं।३६।

आदत्ते च रसान् भौमानादित्यः स्वगभस्तिभिः।
वायुरादित्यतस्तांश्च रसान् देवः प्रवर्षति ॥ ३७ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीके रसोंको ग्रहण करते हैं। वायुदेव सूर्यसे उन रसोंको लेकर फिर भूमिपर बरसाते हैं॥३७॥

तद् यदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षितौ।
तदा वसुमती देवी स्निग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जब मेघसे पृथ्वीपर जल गिरता है, तब पृथ्वीदेवी स्निग्ध (गीली) होती हैं ॥ ३८ ॥

ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत्।
मांसमेदोऽस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥

फिर उस गीली धरतीसे अनाजके अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, जिससे जगत्के जीवोंका निर्वाह होता है। अन्नसे ही शरीरमें मांस, मेदा, अस्थि और वीर्यका प्रादुर्भाव होता है ॥ ३९ ॥

सम्भवन्ति ततः शुक्रात् प्राणिनः पृथिवीपते।
अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं सृजतः पुष्यतश्च ह ॥ ४० ॥

पृथ्वीनाथ ! उस वीर्यसे प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अग्नि और सोम उस वीर्यकी सृष्टि और पुष्टि करते हैं॥

एवमन्नाद्धि सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च।
एक एव स्मृतो राशिस्ततो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४१ ॥

इस तरह सूर्य, वायु और वीर्य एक ही राशि हैं, जो अन्नसे प्रकट हुए हैं। उन्हींसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है॥

प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो घरपर आये हुए याचकको अन्न देता है, वह सब प्राणियोंको प्राण और तेजका दान करता है ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद् देहि गतज्वरः ॥ ४३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! जब नारदजीने मुझे इस प्रकार अन्न-दानका माहात्म्य बतलाया, तबसे मैं नित्य अन्नका दान किया करता था । अतः तुम भी दोषदृष्टि और जलन छोड़कर सदा अन्न-दान करते रहना ॥ ४३ ॥

दत्त्वान्नं विधिवद् राजन् विप्रेभ्यस्त्वमिति प्रभो।
यथावदनुरूपेभ्यस्ततः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ४४ ॥

राजन् ! प्रभो ! तुम सुयोग्य ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक अन्नका दान करके उसके पुण्यसे स्वर्गलोकको प्राप्त कर लोगे ॥

अन्नदानां हि ये लोकास्तांस्त्वं शृणु जनाधिप ।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! अन्न-दान करनेवालोंको जो लोक प्राप्त होते हैं, उनका परिचय देता हूँ, सुनो । स्वर्गमें उन महामनस्वी अन्नदाताओंके घर प्रकाशित होते रहते हैं ॥ ४५ ॥

तारासंस्थानि रूपाणि नानास्तम्भान्वितानि च ।
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किंकिणीजालवन्ति च ॥ ४६ ॥

उन गृहोंकी आकृति तारोंके समान उज्ज्वल और अनेकानेक खम्भोंसे सुशोभित होती है । वे गृह चन्द्रमण्डलके समान उज्ज्वल प्रतीत होते हैं । उनपर छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी हैं ॥ ४६ ॥

तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलचराणि च ॥ ४७ ॥

उनमेंसे कितने ही भवन प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल प्रभासे युक्त हैं, कितने ही स्थावर हैं और कितने ही विमानोंके रूपमें विचरते रहते हैं । उनमें सैकड़ों कक्षाएँ और मंजिलें होती हैं । उन घरोंके भीतर जलचर जीवोंसहित जलाशय होते हैं ॥ ४७ ॥

वैदूर्यार्कप्रकाशानि रौप्यरुक्ममयानि च ।
सर्वकामफलाश्चापि वृक्षा भवनसंस्थिताः ॥ ४८ ॥

कितने ही घर वैदूर्यमणिमय (नील) सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं । कितने ही चाँदी और सोनेके बने हुए हैं । उन भवनोंमें अनेकानेक वृक्ष शोभा पाते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले हैं ॥ ४८ ॥

वाप्यो वीथ्यः सभाः कूपा दीर्घिकाश्चैव सर्वशः ।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ ४९ ॥

उन गृहोंमें अनेक प्रकारकी बावड़ियाँ, गलियाँ, सभा-भवन, कूप, तालाब और गम्भीर घोष करनेवाले सहस्रों जुते हुए रथ आदि वाहन होते हैं ॥ ४९ ॥

भक्ष्यभोज्यमयाः शैला वासांस्याभरणानि च ।
क्षीरं स्रवन्ति सरितस्तथा चैवान्नपर्वताः ॥ ५० ॥

वहाँ भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंके पर्वत, वस्त्र और आभूषण हैं । वहाँकी नदियाँ दूध बहाती हैं । अन्नके पर्वतोपम ढेर लगे रहते हैं ॥ ५० ॥

प्रासादाः पाण्डुराभ्राभाः शय्याश्च काञ्चनोज्ज्वलाः ।
तान्यन्नदाः प्रपद्यन्ते तस्मादन्नप्रदो भव ॥ ५१ ॥

उन भवनोंमें सफेद बादलोंके समान अट्टालिकाएँ और सुवर्णनिर्मित प्रकाशपूर्ण शय्याएँ शोभा पाती हैं । वे महल अन्नदाता पुरुषोंको प्राप्त होते हैं; इसलिये तुम भी अन्नदान करो ॥

एते लोकाः पुण्यकृता अन्नदानां महात्मनाम् ।
तस्मादन्नं प्रयत्नेन दातव्यं मानवैर्भुवि ॥ ५२ ॥

ये पुण्यजनित लोक अन्नदान करनेवाले महामनस्वी पुरुषोंको प्राप्त होते हैं । अतः इस पृथ्वीपर सभी मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अन्नका दान करना चाहिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अन्नदानप्रशंसायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अन्नदानकी प्रशंसाविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विभिन्न नक्षत्रोंके योगमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे भवतो वाक्यमन्नदानस्य यो विधिः ।
नक्षत्रयोगस्येदानीं दानकल्पं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मैंने आपका उपदेश सुना । अन्नदानका जो विधान है, वह ज्ञात हुआ । अब मुझे यह बताइये कि किस नक्षत्रका योग प्राप्त होनेपर किस-किस वस्तुका दान करना उत्तम है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
देवक्याश्चैव संवादं महर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार मनुष्य देवकी देवी और महर्षि नारदके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

द्वारकामनुसम्प्राप्तं नारदं देवदर्शनम् ।
पप्रच्छेदं वचः प्रश्नं देवकी धर्मदर्शनम् ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, धर्मदर्शी देवर्षि नारदजी द्वारकामें आये थे । उस समय वहाँ देवकी देवीने उनके सामने यही प्रश्न उपस्थित किया ॥ ३ ॥

तस्याः सम्पृच्छमानाया देवर्षिर्नारदस्ततः।
आचष्ट विधिवत् सर्वं तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! देवकीके इस प्रकार पूछनेपर देवर्षि नारदने उस समय विधिपूर्वक सब बातें बतायीं। वे ही बातें मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

कृत्तिकासु महाभागे पायसेन ससर्पिषा।
संतर्प्य ब्राह्मणान् साधूँल्लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—महाभागे ! कृत्तिका नक्षत्र आनेपर मनुष्य घृतयुक्त खीरके द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त करे। इससे वह सर्वोत्तम लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

रोहिण्यां प्रसृतैर्मार्गैर्मांसैरन्नेन सर्पिषा।
पयोऽन्नपानं दातव्यमनृणार्थं द्विजातये ॥ ६ ॥

रोहिणी नक्षत्रमें पके हुए फलके गूदे, अन्न, घी, दूध तथा पीनेयोग्य पदार्थ ब्राह्मणको दान करने चाहिये। इससे उनके ऋणसे छुटकारा मिलता है ॥ ६ ॥

दोग्ध्रीं दत्त्वा सवत्सां तु नक्षत्रे सोमदैवते।
गच्छन्ति मानुषाल्लोकात् स्वर्गलोकमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

मृगशिरा नक्षत्रमें दूध देनेवाली गौका बछड़ेसहित दान करके दाता मृत्युके पश्चात् इस लोकसे सर्वोत्तम स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ७ ॥

आर्द्रायां कृसरं दत्त्वा तिलमिश्रमुपोषितः।
नरस्तरति दुर्गाणि क्षुरधारांश्च पर्वतान् ॥ ८ ॥

आर्द्रा नक्षत्रमें उपवासपूर्वक तिलमिश्रित खिचड़ी दान करनेवाला मनुष्य बड़े-बड़े दुर्गम संकटोंसे तथा क्षुरकी-सी धारवाले पर्वतोंसे भी पार हो जाता है ॥ ८ ॥

पूपान् पुनर्वसौ दत्त्वा तथैवान्नानि शोभने।
यशस्वी रूपसम्पन्नो बह्वन्नो जायते कुले ॥ ९ ॥

शोभने ! पुनर्वसु नक्षत्रमें पूआ और अन्न-दान करके मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेता है तथा वहाँ यशस्वी, रूपवान् एवं प्रचुर अन्नसे सम्पन्न होता है ॥ ९ ॥

पुष्येण कनकं दत्त्वा कृतं वाकृतमेव च।
अनालोकेषु लोकेषु सोमवत् स विराजते ॥ १० ॥

पुष्य नक्षत्रमें सोनेका आभूषण अथवा केवल सोना ही दान करनेसे दाता प्रकाशशून्य लोकोंमें भी चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

आश्लेषायां तु यो रूप्यमृषभं वा प्रयच्छति।
स सर्वभयनिर्मुक्तः सम्भवानधितिष्ठति ॥ ११ ॥

जो आश्लेषा नक्षत्रमें चाँदी अथवा बैल दान करता है, वह इस जन्ममें सब प्रकारके भयसे मुक्त हो दूसरे जन्ममें उत्तम कुलमें जन्म लेता है ॥ ११ ॥

मघासु तिलपूर्णानि वर्धमानानि मानवः।
प्रदाय पुत्रपशुमानिह प्रेत्य च मोदते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य मघा नक्षत्रमें तिलसे भरे हुए वर्धमान पात्रोंका दान करता है, वह इहलोकमें पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ॥ १२ ॥

फल्गुनीपूर्वसमये ब्राह्मणानामुपोषितः।
भक्ष्यान् फाणितसंयुक्तान् दत्त्वा सौभाग्यमृच्छति ॥ १३ ॥

पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें उपवास करके जो मनुष्य ब्राह्मणोंको मक्खनमिश्रित भक्ष्य पदार्थ देता है, वह सौभाग्यशाली होता है ॥ १३ ॥

घृतक्षीरसमायुक्तं विधिवत् षष्टिकौदनम्।
उत्तराविषये दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ १४ ॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें विधिपूर्वक घृत और दुग्धसे युक्त साठीके चावलके भातका दान करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

यद् यत् प्रदीयते दानमुत्तराविषये नरैः।
महाफलमनन्तं तद् भवतीति विनिश्चयः ॥ १५ ॥

उत्तरा नक्षत्रमें मनुष्य जो-जो दान देते हैं, वह महान् फलसे युक्त एवं अनन्त होता है—यह शास्त्रोंका निश्चय है ॥ १५ ॥

हस्ते हस्तिरथं दत्त्वा चतुर्युक्तमुपोषितः।
प्राप्नोति परमाँल्लोकान् पुण्यकामसमन्वितान् ॥ १६ ॥

हस्तनक्षत्रमें उपवास करके ध्वजा, पताका चँदोवा और किङ्किणीजाल—इन चार वस्तुओंसे युक्त हाथी जुते हुए रथका दान करनेवाला मनुष्य पवित्र कामनाओंसे युक्त उत्तम लोकोंमें जाता है ॥ १६ ॥

चित्रायां वृषभं दत्त्वा पुण्यगन्धांश्च भारत।
चरन्त्यप्सरसां लोके रमन्ते नन्दने तथा ॥ १७ ॥

भारत ! जो लोग चित्रा नक्षत्रमें वृषभ एवं पवित्र गन्धका दान करते हैं, वे अप्सराओंके लोकमें विचरते और नन्दनवनमें रमण करते हैं ॥ १७ ॥

स्वात्यामथ धनं दत्त्वा यदिष्टतममात्मनः।
प्राप्नोति लोकान् स शुभानिह चैव महद् यशः ॥ १८ ॥

स्वाती नक्षत्रमें अपनी अधिक-से-अधिक प्रिय वस्तुका दान करके मनुष्य शुभ लोकोंमें जाता है और इस जगत्में भी महान् यशका भागी होता है ॥ १८ ॥

विशाखायामनड्वाहं धेनुं दत्त्वा च दुग्धदाम्।
सप्रासङ्गं च शकटं सधान्यं वस्त्रसंयुतम् ॥ १९ ॥
पितॄन् देवांश्च प्रीणाति प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।
न च दुर्गाण्यवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ २० ॥

जो विशाखा नक्षत्रमें गाड़ी ढोनेवाले बैल, दूध देनेवाली गाय, धान्य, वस्त्र और प्रासङ्गसहित शकट दान करता है,

वह देवताओं और पितरोंको तृप्त कर देता है तथा मृत्युके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है। वह जीते जी कभी संकटमें नहीं पड़ता और मरनेके बाद स्वर्गलोकमें जाता है॥

दत्त्वा यथोक्तं विप्रेभ्यो वृत्तिमिष्टां स विन्दति।
नरकादींश्च संक्लेशान् नाप्नोतीति विनिश्चयः ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त वस्तुओंका ब्राह्मणोंको दान करके मनुष्य इच्छित जीविका-वृत्ति पा लेता है और नरक आदिके कष्ट भी कभी नहीं भोगता। ऐसा शास्त्रोंका निश्चय है ॥ २१ ॥

अनुराधासु प्रावारं वरान्नं समुपोषितः।
दत्त्वा युगशतं चापि नरः स्वर्गे महीयते ॥ २२ ॥

जो मनुष्य अनुराधा नक्षत्रमें उपवास करके ओढ़नेका वस्त्र और उत्तम अन्न दान करता है, वह सौ युगोंतक स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है ॥ २२ ॥

कालशाकं तु विप्रेभ्यो दत्त्वा मर्त्यः समूलकम्।
ज्येष्ठायामृद्धिमिष्टां वै गतिमिष्टां स गच्छति ॥ २३ ॥

जो मनुष्य ज्येष्ठा नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको समयोचित शाक और मूली दान करता है, वह अभीष्ट समृद्धि और सद्गतिको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

मूले मूलफलं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
पितॄन् प्रीणयते चापि गतिमिष्टां च गच्छति ॥ २४ ॥

मूल नक्षत्रमें एकाग्रचित्त हो ब्राह्मणोंको मूल-फल दान करनेवाला मनुष्य पितरोंको तृप्त करता और अभीष्ट गतिको पाता है ॥ २४ ॥

अथ पूर्वास्वषाढासु दधिपात्राण्युपोषितः।
कुलवृत्तोपसम्पन्ने ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ २५ ॥
पुरुषो जायते प्रेत्य कुले सुबहुगोधने।

पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें उपवास करके कुलीन, सदाचारी एवं वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको दहीसे भरे हुए पात्रका दान करनेवाला मनुष्य मृत्युके पश्चात् ऐसे कुलमें जन्म लेता है, जहाँ गोधनकी अधिकता होती है ॥ २५½ ॥

उदमन्थं ससर्पिष्कं प्रभूतमधिफाणितम्।
दत्त्वोत्तरास्वषाढासु सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ २६ ॥

जो उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें जलपूर्ण कलशसहित सत्तूकी बनी हुई खाद्य वस्तु, घी और प्रचुर माखन दान करता है, वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

दुग्धं त्वभिजिते योगे दत्त्वा मधुघृतप्लुतम्।
धर्मनित्यो मनीषिभ्यः स्वर्गलोके महीयते ॥ २७ ॥

जो नित्य धर्मपरायण पुरुष अभिजित् नक्षत्रके योगमें मनीषी ब्राह्मणोंको मधु और घीसे युक्त दूध देता है, वह स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥ २७ ॥

श्रवणे कम्बलं दत्त्वा वस्त्रान्तरितमेव वा।
श्वेतेन याति यानेन स्वर्गलोकानसंवृतान् ॥ २८ ॥

जो श्रवण नक्षत्रमें वस्त्रवेष्टित कम्बल दान करता है, वह श्वेत विमानके द्वारा खुले हुए स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २८ ॥

गोप्रयुक्तं धनिष्ठासु यानं दत्त्वा समाहितः।
वस्त्रराशिधनं सद्यः प्रेत्य राज्यं प्रपद्यते ॥ २९ ॥

जो धनिष्ठा नक्षत्रमें एकाग्रचित्त होकर बैलगाड़ी, वस्त्र-समूह तथा धन दान करता है, वह मृत्युके पश्चात् शीघ्र ही राज्य पाता है ॥ २९ ॥

गन्धाञ्छतभिषायोगे दत्त्वा सागुरुचन्दनान्।
प्राप्नोत्यप्सरसां संघान् प्रेत्य गन्धांश्च शाश्वतान् ॥ ३० ॥

जो शतभिषा नक्षत्रके योगमें अगुरु और चन्दनसहित सुगन्धित पदार्थोंका दान करता है, वह परलोकमें अप्सराओंके समुदाय तथा अक्षय गन्धको पाता है ॥ ३० ॥

पूर्वाभाद्रपदायोगे राजमाषान् प्रदाय तु।
सर्वभक्षफलोपेतः स वै प्रेत्य सुखी भवेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें बड़ी उड़द या सफेद मटरका दान करके मनुष्य परलोकमें सब प्रकारकी खाद्य वस्तुओंसे सम्पन्न हो सुखी होता है ॥ ३१ ॥

औरभ्रमुत्तरायोगे यस्तु मांसं प्रयच्छति।
स पितॄन् प्रीणयति वै प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रके योगमें औरभ्र फलका गूदा दान करता है, वह पितरोंको तृप्त करता और परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ३२ ॥

कांस्योपदोहनां धेनुं रेवत्यां यः प्रयच्छति।
सा प्रेत्य कामानादाय दातारमुपतिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो रेवती नक्षत्रमें कांसके दुग्धपात्रसे युक्त धेनुका दान करता है, वह धेनु परलोकमें सम्पूर्ण भोगोंको लेकर उस दाताकी सेवामें उपस्थित होती है ॥ ३३ ॥

रथमश्वसमायुक्तं दत्त्वाश्विन्यां नरोत्तमः।
हस्त्यश्वरथसम्पन्ने वर्चस्वी जायते कुले ॥ ३४ ॥

जो नरश्रेष्ठ अश्विनी नक्षत्रमें घोड़े जुते हुए रथका दान करता है, वह हाथी, घोड़े और रथसे सम्पन्न कुलमें तेजस्वी पुत्र रूपसे जन्म लेता है ॥ ३४ ॥

भरणीषु द्विजातिभ्यस्तिलधेनुं प्रदाय वै।
गाः सुप्रभूताः प्राप्नोति नरः प्रेत्य यशस्तथा ॥ ३५ ॥

जो भरणी नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको तिलमयी धेनुका दान करता है, वह इस लोकमें बहुत-सी गौओंको तथा परलोकमें महान् यशको प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येष लक्षणोद्देशः प्रोक्तो नक्षत्रयोगतः।
देवक्या नारदेनेह सा स्नुषाभ्योऽब्रवीदिदम् ॥ ३६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार नक्षत्रोंके योगमें किये जानेवाले विविध वस्तुओंके दानका संक्षेपसे यहाँ वर्णन किया गया है । नारदजीने देवकीसे और देवकीजीने अपनी पुत्रवधुओंसे यह विषय सुनाया था ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि नक्षत्रयोगदानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें नक्षत्रयोगसम्बन्धी दान नामक चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

सुवर्ण और जल आदि विभिन्न वस्तुओंके दानकी महिमा

भीष्म उवाच

सर्वान् कामान् प्रयच्छन्ति ये प्रयच्छन्ति काञ्चनम् ।
इत्येवं भगवानत्रिः पितामहसुतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके पुत्र भगवान् अत्रिका प्राचीन वचन है कि 'जो सुवर्णका दान करते हैं, वे मानो याचककी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं' ॥ १ ॥

पवित्रमथ चायुष्यं पितॄणामक्षयं च तत् ।
सुवर्णं मनुजेन्द्रेण हरिश्चन्द्रेण कीर्तितम् ॥ २ ॥

राजा हरिश्चन्द्रने कहा है कि 'सुवर्ण परम पवित्र, आयु बढ़ानेवाला और पितरोंको अक्षय गति प्रदान करनेवाला है' ॥ २ ॥

पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत् ।
तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत् ॥ ३ ॥

मनुजीने कहा है कि 'जलका दान सब दानोंसे बढ़कर है ।' इसलिये कुएँ, बावड़ी और पोखरे खोदवाने चाहिये ॥ ३ ॥

अर्धं पापस्य हरति पुरुषस्येह कर्मणः ।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सुप्रवृत्तश्च नित्यशः ॥ ४ ॥

जिसके खोदवाये हुए कुएँमें अच्छी तरह पानी निकलकर यहाँ सदा सब लोगोंके उपयोगमें आता है, वह उस मनुष्यके पापकर्मका आधा भाग हर लेता है ॥ ४ ॥

सर्वं तारयते वंशं यस्य खाते जलाशये ।
गावः पिबन्ति विप्राश्च साधवश्च नराः सदा ॥ ५ ॥

जिसके खोदवाये हुए जलाशयमें गौ, ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ पुरुष सदा जल पीते हैं, वह जलाशय उस मनुष्यके समूचे कुलका उद्धार कर देता है ॥ ५ ॥

निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठत्यवारितम् ।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुते ॥ ६ ॥

जिसके बनवाये हुए तालाबमें गरमीके दिनोंमें भी पानी मौजूद रहता है, कभी घटता नहीं है, वह पुरुष कभी अत्यन्त विषम संकटमें नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

बृहस्पतेर्भगवतः पूष्णश्चैव भगस्य च ।
अश्विनोश्चैव वह्नेश्च प्रीतिर्भवति सर्पिषा ॥ ७ ॥

घी दान करनेसे भगवान् बृहस्पति, पूषा, भग, अश्विनीकुमार और अग्निदेव प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥

परमं भेषजं ह्येतद् यज्ञानामेतदुत्तमम् ।
रसानामुत्तमं चैतत् फलानां चैतदुत्तमम् ॥ ८ ॥

घी सबसे उत्तम औषध और यज्ञ करनेकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है । वह रसोंमें उत्तम रस है और फलोंमें सर्वोत्तम फल है ॥ ८ ॥

फलकामो यशस्कामः पुष्टिकामश्च नित्यदा ।
घृतं दद्याद् द्विजातिभ्यः पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ ९ ॥

जो सदा फल, यश और पुष्टि चाहता हो, वह पुरुष पवित्र हो मनको वशमें करके द्विजातियोंको घृत दान करे ॥ ९ ॥

घृतं मासे आश्वयुजि विप्रेभ्यो यः प्रयच्छति ।
तस्मै प्रयच्छतो रूपं प्रीतौ देवाविहाश्विनौ ॥ १० ॥

जो आश्विन मासमें ब्राह्मणोंको घृत दान करता है, उसपर देववैद्य अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर यहाँ उसे रूप प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

पायसं सर्पिषा मिश्रं द्विजेभ्यो यः प्रयच्छति ।
गृहं तस्य न रक्षांसि धर्षयन्ति कदाचन ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मणोंको घृतमिश्रित खीर देता है, उसके घरपर कभी राक्षसोंका आक्रमण नहीं होता ॥ ११ ॥

पिपासया न म्रियते सोपच्छन्दश्च जायते ।
न प्राप्नुयाच्च व्यसनं करकान् यः प्रयच्छति ॥ १२ ॥

जो पानीसे भरा हुआ कमण्डलु दान करता है, वह कभी प्याससे नहीं मरता । उसके पास सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री मौजूद रहती है और वह संकटमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

प्रयतो ब्राह्मणाग्रे यः श्रद्धया परया युतः ।
उपस्पर्शनषड्भागं लभते पुरुषः सदा ॥ १३ ॥

जो पुरुष सदा एकाग्रचित्त हो ब्राह्मणके आगे बड़ी श्रद्धाके साथ विनययुक्त व्यवहार करता है, वह पुरुष सदा दानके छठे भागका पुण्य प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

यः साधनार्थं काष्ठानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
प्रतापनार्थं राजेन्द्र वृत्तवद्भ्यः सदा नरः ॥ १४ ॥

सिद्ध्यन्त्यर्थाः सदा तस्य कार्याणि विविधानि च।
उपर्युपरि शत्रूणां वपुषा दीप्यते च सः॥ १५॥

राजेन्द्र! जो मनुष्य सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणोंको भोजन बनाने और तापनेके लिये सदा लकड़ियाँ देता है, उसकी सभी कामनाएँ तथा नाना प्रकारके कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं और वह शत्रुओंके ऊपर-ऊपर रहकर अपने तेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान होता है॥ १४-१५॥

भगवांश्चापि सम्प्रीतो वह्निर्भवति नित्यशः।
न तं त्यजन्ति पशवः संग्रामे च जयत्यपि॥ १६॥

इतना ही नहीं, उसके ऊपर सदा भगवान् अग्निदेव प्रसन्न रहते हैं। उसके पशुओंकी हानि नहीं होती तथा वह संग्राममें विजयी होता है॥ १६॥

पुत्राञ्छ्रियं च लभते यश्छत्रं सम्प्रयच्छति।
न चक्षुर्व्याधिं लभते यज्ञभागमथाश्नुते॥ १७॥

जो पुरुष छाता दान करता है, उसे पुत्र और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। उसके नेत्रमें कोई रोग नहीं होता और उसे सदा यज्ञका भाग मिलता है॥ १७॥

निदाघकाले वर्षे वा यश्छत्रं सम्प्रयच्छति।
नास्य कश्चिन्मनोदाहः कदाचिदपि जायते।
कृच्छ्रात् स विषमाच्चैव क्षिप्रं मोक्षमवाप्नुते॥ १८॥

जो गर्मी और बरसातके महीनोंमें छाता दान करता है, उसके मनमें कभी संताप नहीं होता। वह कठिन-से-कठिन संकटसे शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है॥ १८॥

प्रदानं सर्वदानानां शकटस्य विशाम्पते।
एवमाह महाभागः शाण्डिल्यो भगवानृषिः॥ १९॥

प्रजानाथ! महाभाग भगवान् शाण्डिल्य ऋषि ऐसा कहते हैं कि 'शकट (बैलगाड़ी) का दान उपर्युक्त सब दानोंके बराबर है'॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६५॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

जूता, शकट, तिल, भूमि, गौ और अन्नके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ।
यत्फलं तस्य भवति तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! गर्मीके दिनोंमें जिसके पैर जल रहे हों, ऐसे ब्राह्मणको जो जूते पहनाता है, उसको जो फल मिलता है, वह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

उपानहौ प्रयच्छेद् यो ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
मर्दते कण्टकान् सर्वान् विषमान्निस्तरत्यपि॥ २॥
स शत्रूणामुपरि च संतिष्ठति युधिष्ठिर।
यानं चाश्वतरीयुक्तं तस्य शुभ्रं विशाम्पते॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो एकाग्रचित्त होकर ब्राह्मणोंके लिये जूते दान करता है, वह सब कण्टकोंको मसल डालता है और कठिन विपत्तिसे भी पार हो जाता है। इतना ही नहीं, वह शत्रुओंके ऊपर विराजमान होता है। प्रजानाथ! उसे जन्मान्तरमें खच्चरियोंसे जुता हुआ उज्ज्वल रथ प्राप्त होता है॥ २-३॥

उपतिष्ठति कौन्तेय रौप्यकाञ्चनभूषितम्।
शकटं दम्यसंयुक्तं दत्तं भवति चैव हि॥ ४॥

कुन्तीकुमार! जो नये बैलोंसे युक्त शकट दान करता है, उसे चाँदी और सोनेसे जटित रथ प्राप्त होता है॥ ४॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् फलं तिलदाने च भूमिदाने च कीर्तितम्।
गोदाने चान्नदाने च भूयस्तद् ब्रूहि कौरव॥ ५॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन! तिल, भूमि, गौ और अन्नका दान करनेसे क्या फल मिलता है? इसका फिरसे वर्णन कीजिये॥ ५॥

भीष्म उवाच

शृणुष्व मम कौन्तेय तिलदानस्य यत् फलम्।
निशम्य च यथान्यायं प्रयच्छ कुरुसत्तम॥ ६॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन! कुरुश्रेष्ठ! तिल-दानका जो फल है, वह मुझसे सुनो और सुनकर यथोचित-रूपसे उसका दान करो॥ ६॥

पितॄणां परमं भोज्यं तिलाः सृष्टाः स्वयम्भुवा।
तिलदानेन वै तस्मात् पितृपक्षः प्रमोदते॥ ७॥

ब्रह्माजीने जो तिल उत्पन्न किये हैं, वे पितरोंके सर्वश्रेष्ठ खाद्य पदार्थ हैं। इसलिये तिल दान करनेसे पितरोंको बड़ी प्रसन्नता होती है॥ ७॥

माघमासे तिलान् यस्तु ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति।
सर्वसत्त्वसमाकीर्णं नरकं स न पश्यति॥ ८॥

जो माघ मासमें ब्राह्मणोंको तिल दान करता है, वह समस्त जन्तुओंसे भरे हुए नरकका दर्शन नहीं करता ॥ ८ ॥

सर्वसत्रैश्च यजते यस्तिलैर्यजते पितॄन् ।
न चाकामेन दातव्यं तिलश्राद्धं कदाचन ॥ ९ ॥

जो तिलोंके द्वारा पितरोंका पूजन करता है, वह मानो सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है । तिल-श्राद्ध कभी निष्काम पुरुषको नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

महर्षेः कश्यपस्यैते गात्रेभ्यः प्रसृतास्तिलाः ।
ततो दिव्यं गता भावं प्रदानेषु तिलाः प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो ! ये तिल महर्षि कश्यपके अङ्गोंसे प्रकट होकर विस्तारको प्राप्त हुए हैं; इसलिये दानके निमित्त इनमें दिव्यता आ गयी है ॥ १० ॥

पौष्टिका रूपदाश्चैव तथा पापविनाशनाः ।
तस्मात् सर्वप्रदानेभ्यस्तिलदानं विशिष्यते ॥ ११ ॥

तिल पौष्टिक पदार्थ हैं । वे सुन्दर रूप देनेवाले और पापनाशक हैं । इसलिये तिल-दान सब दानोंसे बढ़कर है ॥ ११ ॥

आपस्तम्बश्च मेधावी शङ्खश्च लिखितस्तथा ।
महर्षिर्गौतमश्चापि तिलदानैर्दिवं गताः ॥ १२ ॥

परम बुद्धिमान् महर्षि आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित तथा गौतम—ये तिलोंका दान करके दिव्यलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

तिलहोमरता विप्राः सर्वे संयतमैथुनाः ।
समा गव्येन हविषा प्रवृत्तिषु च संस्थिताः ॥ १३ ॥

वे सभी ब्राह्मण स्त्री-समागमसे दूर रहकर तिलोंका हवन किया करते थे, तिल गोघृतके समान हविके योग्य माने गये हैं, इसलिये यज्ञोंमें गृहीत होते हैं एवं हरेक कर्मोंमें उनकी आवश्यकता है ॥ १३ ॥

सर्वेषामिति दानानां तिलदानं विशिष्यते ।
अक्षयं सर्वदानानां तिलदानमिहोच्यते ॥ १४ ॥

अतः तिलदान सब दानोंमें बढ़कर है । तिलदान यहाँ सब दानोंमें अक्षय फल देनेवाला बताया जाता है ॥ १४ ॥

उच्छिन्ने तु पुरा हव्ये कुशिकर्षिः परंतपः ।
तिलैरग्नित्रयं हुत्वा प्राप्तवान् गतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें परंतप राजर्षि कुशिकने हविष्य समाप्त हो जानेपर तिलोंसे ही हवन करके तीनों अग्नियोंको तृप्त किया था; इससे उन्हें उत्तम गति प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

इति प्रोक्तं कुरुश्रेष्ठ तिलदानमनुत्तमम् ।
विधानं येन विधिना तिलानामिह शस्यते ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार जिस विधिके अनुसार तिलदान करना उत्तम माना गया है, वह सर्वोत्तम तिलदानका विधान यहाँ बताया गया ॥ १६ ॥

अत ऊर्ध्वं निबोधेदं देवानां यष्टुमिच्छताम् ।
समागमे महाराज ब्रह्मणा वै स्वयम्भुवा ॥ १७ ॥

महाराज ! इसके बाद यज्ञकी इच्छावाले देवताओं और स्वयम्भू ब्रह्माजीका समागम होनेपर उनमें परस्पर जो बातचीत हुई थी, उसे बता रहा हूँ, इसपर ध्यान दो ॥ १७ ॥

देवाः समेत्य ब्रह्माणं भूमिभागे यियक्षवः ।
शुभं देशमयाचन्त यजेम इति पार्थिव ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! भूतलके किसी भागमें यज्ञ करनेकी इच्छावाले देवता ब्रह्माजीके पास जाकर किसी शुभ देशकी याचना करने लगे, जहाँ यज्ञ कर सकें ॥ १८ ॥

देवा ऊचुः

भगवंस्त्वं प्रभुर्भूमेः सर्वस्य त्रिदिवस्य च ।
यजेमहि महाभाग यज्ञं भवदनुज्ञया ॥ १९ ॥

देवता बोले—भगवन् ! महाभाग ! आप पृथ्वी और सम्पूर्ण स्वर्गके भी स्वामी हैं: अतः हम आपकी आज्ञा लेकर पृथ्वीपर यज्ञ करेंगे ॥ १९ ॥

नाननुज्ञातभूमिर्हि यज्ञस्य फलमश्नुते ।
त्वं हि सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ २० ॥
प्रभुर्भवसि तस्मात्त्वं समनुज्ञातुमर्हसि ।

क्योंकि भूस्वामी जिस भूमिपर यज्ञ करनेकी अनुमति नहीं देता, उस भूमिपर यदि यज्ञ किया जाय तो उसका फल नहीं होता । आप सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी हैं; अतः पृथ्वीपर यज्ञ करनेके लिये हमें आज्ञा दीजिये ॥ २०½ ॥

ब्रह्मोवाच

ददानि मेदिनीभागं भवद्भ्योऽहं सुरर्षभाः ॥ २१ ॥
यस्मिन् देशे करिष्यध्वं यज्ञान् काश्यपनन्दनाः ।

ब्रह्माजीने कहा—काश्यपनन्दन सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग पृथ्वीके जिस प्रदेशमें यज्ञ करोगे, वही भूभाग मैं तुम्हें दे रहा हूँ ॥ २१½ ॥

देवा ऊचुः

भगवन् कृतकार्याः स्म यक्ष्महे स्वाप्तदक्षिणैः ॥ २२ ॥
इमं तु देशं मुनयः पर्युपासन्ति नित्यदा ।

देवताओंने कहा—भगवन् ! हमारा कार्य हो गया । अब हम पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञपुरुषका यजन करेंगे । यह जो हिमालयके पासका प्रदेश है, इसका ऋषि-मुनि सदासे ही आश्रय लेते हैं (अतः हमारा यज्ञ भी यहीं होगा) ॥ २२½ ॥

ततोऽगस्त्यश्च कण्वश्च भृगुरत्रिर्वृषाकपिः ॥ २३ ॥
असितो देवलश्चैव देवयज्ञमुपागमन् ।
ततो देवा महात्मान ईजिरे यज्ञमच्युतम् ॥ २४ ॥
तथा समापयामासुर्यथाकालं सुरर्षभाः ।

तदनन्तर अगस्त्य, कण्व, भृगु, अत्रि, वृषाकपि, असित

और देवल देवताओंके उस यज्ञमें उपस्थित हुए। तब महामनस्वी देवताओंने यज्ञपुरुष अच्युतका यजन आरम्भ किया और उन श्रेष्ठ देवगणोंने यथासमय उस यज्ञको समाप्त भी कर दिया ॥ २३-२४½ ॥

त इष्टयज्ञास्त्रिदशा हिमवत्यचलोत्तमे ॥ २५ ॥
षष्ठमंशं क्रतोस्तस्य भूमिदानं प्रचक्रिरे।

पर्वतराज हिमालयके पास यज्ञ पूरा करके देवताओंने भूमिदान भी किया, जो उस यज्ञके छठे भागके बराबर पुण्यका जनक था ॥ २५½ ॥

प्रादेशमात्रं भूमेस्तु यो दद्यादनुपस्कृतम् ॥ २६ ॥
न सीदति स कृच्छ्रेषु न च दुर्गाण्यवाप्नुते।

जिसको खोदखादकर खराब न कर दिया गया हो, ऐसे प्रादेशमात्र भूभागका भी जो दान करता है, वह न तो कभी दुर्गम संकटोंमें पड़ता है और न पड़नेपर कभी दुखी ही होता है ॥ २६½ ॥

शीतवातातपसहां गृहभूमिं सुसंस्कृताम् ॥ २७ ॥
प्रदाय सुरलोकस्थः पुण्यान्तेऽपि न चाल्यते।

जो सर्दी, गर्मी और हवाके वेगको सहन करनेयोग्य सजी-सजायी गृहभूमि दान करता है, वह देवलोकमें निवास करता है। पुण्यका भोग समाप्त होनेपर भी वहाँसे हटाया नहीं जाता ॥ २७½ ॥

मुदितो वसति प्राज्ञः शक्रेण सह पार्थिव ॥ २८ ॥
प्रतिश्रयप्रदानाच्च सोऽपि स्वर्गे महीयते।

पृथ्वीनाथ ! जो विद्वान् गृहदान करता है, वह भी उसके पुण्यसे इन्द्रके साथ आनन्दपूर्वक निवास करता और स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥ २८½ ॥

अध्यापककुले जातः श्रोत्रियो नियतेन्द्रियः ॥ २९ ॥
गृहे यस्य वसेत् तुष्टः प्रधानं लोकमश्नुते।

अध्यापक-वंशमें उत्पन्न श्रोत्रिय एवं जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिसके दिये हुए घरमें प्रसन्नतासे रहता है, उसे श्रेष्ठ लोक प्राप्त होते हैं ॥ २९½ ॥

तथा गवार्थे शरणं शीतवर्षसहं दृढम् ॥ ३० ॥
आसप्तमं तारयति कुलं भरतसत्तम।

भरतश्रेष्ठ ! जो गौओंके लिये सर्दी और वर्षासे बचानेवाला सुदृढ निवासस्थान बनवाता है, वह अपनी सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ॥ ३०½ ॥

क्षेत्रभूमिं ददल्लोके शुभां श्रियमवाप्नुयात् ॥ ३१ ॥
रत्नभूमिं प्रदद्यात् तु कुलवंशं प्रवर्धयेत्।

खेतके योग्य भूमि दान करनेवाला मनुष्य जगत्में शुभ सम्पत्ति प्राप्त करता है और जो रत्नयुक्त भूमिका दान करता है, वह अपने कुलकी वंश-परम्पराको बढ़ाता है ॥ ३१½ ॥

न चोषरां न निर्दग्धां महीं दद्यात् कथंचन ॥ ३२ ॥
न श्मशानपरीतां च न च पापनिषेविताम्।

जो भूमि ऊसर, जली हुई और श्मशानके निकट हो तथा जहाँ पापी पुरुष निवास करते हों, उसे ब्राह्मणको नहीं देना चाहिये ॥ ३२½ ॥

पारक्ये भूमिदेशे तु पितॄणां निर्वपेत् तु यः ॥ ३३ ॥
तद्भूमिं वापि पितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते।

जो परायी भूमिमें पितरोंके लिये श्राद्ध करता है, अथवा जो उस भूमिको पितरोंके लिये दानमें देता है, उसके वे श्राद्धकर्म और दान दोनों ही नष्ट होते (निष्फल हो जाते) हैं ॥

तस्मात् क्रीत्वा महीं दद्यात् स्वल्पामपि विचक्षणः॥३४॥
पिण्डः पितृभ्यो दत्तो वै तस्यां भवति शाश्वतः।

अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह थोड़ी-सी भी भूमि खरीदकर उसका दान करे। खरीदकर अपनी की हुई भूमिमें ही पितरोंको दिया हुआ पिण्ड सदा स्थिर रहनेवाला होता है॥

अटवीपर्वताश्चैव नद्यस्तीर्थानि यानि च ॥ ३५ ॥
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तत्र परिग्रहः।
इत्येतद् भूमिदानस्य फलमुक्तं विशाम्पते ॥ ३६ ॥

वन, पर्वत, नदी और तीर्थ—ये सब स्थान किसी स्वामीके अधीन नहीं होते हैं (इन्हें सार्वजनिक माना जाता है)। इसलिये वहाँ श्राद्ध करनेके लिये भूमि खरीदनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रजानाथ ! इस प्रकार यह भूमिदानका फल बताया गया है ॥ ३५-३६ ॥

अतः परं तु गोदानं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ।
गावोऽधिकास्तपस्विभ्यो यस्मात् सर्वेभ्य एव च॥३७॥
तस्मान्महेश्वरो देवस्तपस्ताभिः सहास्थितः।

अनघ ! इसके बाद मैं तुम्हें गोदानका माहात्म्य बताऊँगा। गौएँ समस्त तपस्वियोंसे बढ़कर हैं; इसलिये भगवान् शङ्करने गौओंके साथ रहकर तप किया था ॥ ३७½ ॥

ब्राह्मे लोके वसन्त्येताः सोमेन सह भारत ॥ ३८ ॥
यां तां ब्रह्मर्षयः सिद्धाः प्रार्थयन्ति परां गतिम्।

भारत ! ये गौएँ चन्द्रमाके साथ उस ब्रह्मलोकमें निवास करती हैं, जो परमगतिरूप है और जिसे सिद्ध ब्रह्मर्षि भी प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ ३८½ ॥

पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा ॥ ३९ ॥
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत।

भरतनन्दन ! ये गौएँ अपने दूध, दही, घी, गोबर, चमड़ा, हड्डी, सींग और बालोंसे भी जगत्का उपकार करती रहती हैं ॥ ३९½ ॥

नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म कुर्वते ॥ ४० ॥

न वर्षविषयं वापि दुःखमासां भवत्युत।
ब्राह्मणैः सहिता यान्ति तस्मात् पारमकं पदम्॥ ४१॥

इन्हें सर्दी, गर्मी और वर्षाका भी कष्ट नहीं होता है। ये सदा ही अपना काम किया करती हैं। इसलिये ये ब्राह्मणों-के साथ परमपदस्वरूप ब्रह्मलोकमें चली जाती हैं ॥४०-४१॥

एकं गोब्राह्मणं तस्मात् प्रवदन्ति मनीषिणः।
रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः॥ ४२॥
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता।
पशुत्वाच्च विनिर्मुक्ताः प्रदानायोपकल्पिताः॥ ४३॥

इसीसे गौ और ब्राह्मणको मनस्वी पुरुष एक बताते हैं। राजन्! राजा रन्तिदेवके यज्ञमें वे पशुरूपसे दान देनेके लिये निश्चित की गयी थीं; अतः गौओंके चमड़ोंसे वह चर्मण्वती नामक नदी प्रवाहित हुई थी। वे सभी गौएँ पशुत्वसे विमुक्त थीं और दान देनेके लिये नियत की गयी थीं॥ ४२-४३॥

ता इमा विप्रमुख्येभ्यो यो ददाति महीपते।
निस्तरेदापदं कृच्छ्रां विषमस्थोऽपि पार्थिव॥ ४४॥

भूपाल! पृथ्वीनाथ! जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको इन गौओंका दान करता है, वह संकटमें पड़ा हो तो भी उस भारी विपत्ति-से उद्धार पा लेता है॥ ४४॥

गवां सहस्रदः प्रेत्य नरकं न प्रपद्यते।
सर्वत्र विजयं चापि लभते मनुजाधिप॥ ४५॥

जो एक सहस्र गोदान कर देता है, वह मरनेके बाद नरकमें नहीं पड़ता। नरेश्वर! उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है॥

अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः।
तस्माद् ददाति यो धेनुममृतं स प्रयच्छति॥ ४६॥

देवराज इन्द्रने कहा है कि 'गौओंका दूध अमृत है'; अतः जो दूध देनेवाली गौका दान करता है, वह अमृत दान करता है॥ ४६॥

अग्नीनामव्ययं ह्येतद्धौम्यं वेदविदो विदुः।
तस्माद् ददाति यो धेनुं स हौम्यं सम्प्रयच्छति॥ ४७॥

वेदवेत्ता पुरुषोंका अनुभव है कि 'गोदुग्धरूप हविष्यका यदि अग्निमें हवन किया जाय तो वह अविनाशी फल देता है।' अतः जो धेनु दान करता है, वह हविष्यका ही दान करता है॥ ४७॥

स्वर्गो वै मूर्तिमानेष वृषभं यो गवां पतिम्।
विप्रे गुणयुते दद्यात् स वै स्वर्गे महीयते॥ ४८॥

बैल स्वर्गका मूर्तिमान् स्वरूप है। जो गौओंके पति—साँड़का गुणवान् ब्राह्मणको दान करता है, वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ४८॥

प्राणा वै प्राणिनामेते प्रोच्यन्ते भरतर्षभ।
तस्माद् ददाति यो धेनुं प्राणानेष प्रयच्छति॥ ४९॥

भरतश्रेष्ठ! ये गौएँ प्राणियों (को दूध पिलाकर पालनेके कारण उन) के प्राण कहलाती हैं; इसलिये जो दूध देनेवाली गौका दान करता है, वह मानो प्राण दान देता है॥ ४९॥

गावः शरण्या भूतानामिति वेदविदो विदुः।
तस्माद् ददाति यो धेनुं शरणं सम्प्रयच्छति॥ ५०॥

वेदवेत्ता विद्वान् ऐसा मानते हैं कि 'गौएँ समस्त प्राणियों-को शरण देनेवाली हैं।' इसलिये जो धेनु दान करता है, वह सबको शरण देनेवाला है॥ ५०॥

न वधार्थं प्रदातव्या न कीनाशे न नास्तिके।
गोजीविने न दातव्या तथा गौर्भरतर्षभ॥ ५१॥
(गोरसानां न विक्रेतुरपञ्चयज्ञजनस्य च।)

भरतश्रेष्ठ! जो मनुष्य वध करनेके लिये गौ माँग रहा हो, उसे कदापि गाय नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार कसाई-को, नास्तिकको, गायसे ही जीविका चलानेवालेको, गोरस बेचनेवाले और पञ्चयज्ञ न करनेवालेको भी गाय नहीं देनी चाहिये॥ ५१॥

ददत् स तादृशानां वै नरो गां पापकर्मणाम्।
अक्षयं नरकं यातीत्येवमाहुर्महर्षयः॥ ५२॥

ऐसे पापकर्मी मनुष्योंको जो गाय देता है, वह मनुष्य अक्षय नरकमें गिरता है, ऐसा महर्षियोंका कथन है॥ ५२॥

न कृशां नापवत्सां वा वन्ध्यां रोगान्वितां तथा।
न व्यङ्गां न परिश्रान्तां दद्याद् गां ब्राह्मणाय वै॥ ५३॥

जो दुबली हो, जिसका बछड़ा मर गया हो तथा जो ठाँठ, रोगिणी, किसी अङ्गसे हीन और थकी हुई (बूढ़ी) हो, ऐसी गौ ब्राह्मणको नहीं देनी चाहिये॥ ५३॥

दशगोसहस्रदो हि शक्रेण सह मोदते।
अक्षयाँल्लभते लोकान् नरः शतसहस्रशः॥ ५४॥

दस हजार गोदान करनेवाला मनुष्य इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगता है और जो लाख गौओंका दान कर देता है, उस मनुष्यको अक्षय लोक प्राप्त होते हैं॥ ५४॥

इत्येतद् गोप्रदानं च तिलदानं च कीर्तितम्।
तथा भूमिप्रदानं च शृणुष्वान्ने च भारत॥ ५५॥

भारत! इस प्रकार गोदान, तिलदान और भूमिदानका महत्त्व बतलाया गया। अब पुनः अन्नदानकी महिमा सुनो॥

अन्नदानं प्रधानं हि कौन्तेय परिचक्षते।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः॥ ५६॥

कुन्तीनन्दन! विद्वान् पुरुष अन्नदानको सब दानोंमें प्रधान बताते हैं। अन्नदान करनेसे ही राजा रन्तिदेव स्वर्ग-लोकमें गये थे॥ ५६॥

श्रान्ताय क्षुधितायान्नं यः प्रयच्छति भूमिपः।
स्वायम्भुवं महत् स्थानं स गच्छति नराधिप॥ ५७॥

नरेश्वर ! जो भूमिपाल थके-माँदे और भूखे मनुष्यको अन्न देता है, वह ब्रह्माजीके परमधाममें जाता है ॥ ५७ ॥

न हिरण्यैर्न वासोभिर्नान्यदानेन भारत।
प्राप्नुवन्ति नराः श्रेयो यथा ह्यन्नप्रदाः प्रभो ॥ ५८ ॥

भरतनन्दन ! प्रभो ! अन्नदान करनेवाले मनुष्य जिस तरह कल्याणके भागी होते हैं, वैसा कल्याण उन्हें सुवर्ण, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओंके दानसे नहीं प्राप्त होता है ॥५८॥

अन्नं वै प्रथमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता।
अन्नात् प्राणः प्रभवति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥ ५९ ॥

अन्न प्रथम द्रव्य है। वह उत्तम लक्ष्मीका स्वरूप माना गया है। अन्नसे ही प्राण, तेज, वीर्य और बलकी पुष्टि होती है॥

सद्यो ददाति यश्चान्नं सदैकाग्रमना नरः।
न स दुर्गाण्यवाप्नोतीत्येवमाह पराशरः ॥ ६० ॥

पराशर मुनिका कथन है कि 'जो मनुष्य सदा एकाग्रचित्त होकर याचकको तत्काल अन्नका दान करता है, उसपर कभी दुर्गम संकट नहीं पड़ता' ॥ ६० ॥

अर्चयित्वा यथान्यायं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत्।
यदन्ना हि नरा राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ६१ ॥

राजन् ! मनुष्यको प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिसे देवताओंकी पूजा करके उन्हें अन्न निवेदन करना चाहिये। जो पुरुष जिस अन्नका भोजन करता है, उसके देवता भी वही अन्न ग्रहण करते हैं ॥ ६१ ॥

कौमुदे शुक्लपक्षे तु योऽन्नदानं करोत्युत।
स संतरति दुर्गाणि प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ६२ ॥

जो कार्तिक मासके शुक्लपक्षमें अन्नका दान करता है, वह दुर्गम संकटसे पार हो जाता है और मरकर अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ६२ ॥

अभुक्त्वातिथये चान्नं प्रयच्छेद् यः समाहितः।
स वै ब्रह्मविदां लोकान् प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ॥ ६३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पुरुष एकाग्रचित्त हो स्वयं भूखा रहकर अतिथिको अन्नदान करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओंके लोकोंमें जाता है ॥ ६३ ॥

सुकृच्छ्रामापदं प्राप्तश्चान्नदः पुरुषस्तरेत्।
पापं तरति चैवेह दुष्कृतं चापकर्षति ॥ ६४ ॥

अन्नदाता मनुष्य कठिन-से-कठिन आपत्तिमें पड़नेपर भी उस आपत्तिसे पार हो जाता है। वह पापसे उद्धार पा जाता है और भविष्यमें होनेवाले दुष्कर्मोंका भी नाश कर देता है ॥ ६४ ॥

इत्येतदन्नदानस्य तिलदानस्य चैव ह।
भूमिदानस्य च फलं गोदानस्य च कीर्तितम् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार मैंने यह अन्नदान, तिलदान, भूमिदान और गोदानका फल बताया है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६५½ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

अन्न और जलके दानकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं दानफलं तात यत् त्वया परिकीर्तितम्।
अन्नदानं विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! भरतनन्दन ! आपने जो दानोंका फल बताया है, उसे मैंने सुन लिया। यहाँ अन्नदानकी विशेषरूपसे प्रशंसा की गयी है ॥ १ ॥

पानीयदानमेवैतत् कथं चेह महाफलम्।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! अब जलदान करनेसे कैसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, इस विषयको मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद् भरतर्षभ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी भरतश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सब कुछ यथार्थ रूपसे बताऊँगा। तुम आज यहाँ मेरे मुँहसे इन सब बातोंको सुनो ॥ ३ ॥

पानीयदानात् प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ।
यदन्नं यच्च पानीयं सम्प्रदायाश्नुते नरः ॥ ४ ॥

अनघ ! जलदानसे लेकर सब प्रकारके दानोंका फल मैं तुम्हें बताऊँगा। मनुष्य अन्न और जलका दान करके जिस फलको पाता है, वह सुनो ॥ ४ ॥

न तस्मात् परमं दानं किंचिदस्तीति मे मनः।
अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः ॥ ५ ॥

तात ! मेरे मनमें यह धारणा है कि अन्न और जलके दानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते और जीवन धारण करते हैं ॥

तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते ।
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ॥ ६ ॥
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः ।

इसलिये लोकमें तथा सम्पूर्ण मनुष्योंमें अन्नको ही सबसे उत्तम बताया गया है । अन्नसे ही सदा प्राणियोंके तेज और बलकी वृद्धि होती है; अतः प्रजापतिने अन्नके दानको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है ॥ ६½ ॥

सावित्र्या ह्यपि कौन्तेय श्रुतं ते वचनं शुभम् ॥ ७ ॥
यतश्च यद् यथा चैव देवसत्रे महामते ।

कुन्तीनन्दन ! तुमने सावित्रीके शुभ वचनको भी सुना है । महामते ! देवताओंके यज्ञमें जिस हेतुसे और जिस प्रकार जो बचन सावित्रीने कहा था, वह इस प्रकार है—॥ ७½ ॥

अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत ॥ ८ ॥
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते ।
श्रुतं हि ते महाबाहो लोमशस्यापि तद्वचः ॥ ९ ॥

'जिस मनुष्यने यहाँ किसीको अन्न दिया, उसने मानो प्राण दे दिये और प्राणदानसे बढ़कर इस संसारमें दूसरा कोई दान नहीं है ।' महाबाहो ! इस विषयमें तुमने लोमशका भी वह वचन सुना ही है ॥ ८-९ ॥

प्राणान् दत्त्वा कपोताय यत् प्राप्तं शिबिना पुरा ।
तां गतिं लभते दत्त्वा द्विजस्यान्नं विशाम्पते ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! पूर्वकालमें राजा शिविने कबूतरके लिये प्राणदान देकर जो उत्तम गति प्राप्त की थी, ब्राह्मणको अन्न देकर दाता उसी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

तस्माद् विशिष्टां गच्छन्ति प्राणदा इति नः श्रुतम् ।
अन्नं वापि प्रभवति पानीयात् कुरुसत्तम ।
नीरजातेन हि विना न किंचित् सम्प्रवर्तते ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अतः प्राणदान करनेवाले पुरुष श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होते हैं—ऐसा हमने सुना है । किंतु अन्न भी जलसे ही पैदा होता है । जलराशिसे उत्पन्न हुए धान्यके विना कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

नीरजातश्च भगवान् सोमो ग्रहगणेश्वरः ।
अमृतं च सुधा चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा ॥ १२ ॥
अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः ।
यतः प्राणभृतां प्राणाः सम्भवन्ति विशाम्पते ॥ १३ ॥

महाराज ! ग्रहोंके अधिपति भगवान् सोम जलसे ही प्रकट हुए हैं । प्रजानाथ ! अमृत, सुधा, स्वाहा, स्वधा, अन्न, ओषधि, तृण और लताएँ भी जलसे उत्पन्न हुई हैं, जिनसे समस्त प्राणियोंके प्राण प्रकट एवं पुष्ट होते हैं ॥ १२-१३ ॥

देवानाममृतं ह्यन्नं नागानां च सुधा तथा ।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ॥ १४ ॥

देवताओंका अन्न अमृत, नागोंका अन्न सुधा, पितरोंका अन्न स्वधा और पशुओंका अन्न तृण-लता आदि है ॥ १४ ॥

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः ।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्तते ॥ १५ ॥
तस्मात् पानीयदानाद् वै न परं विद्यते क्वचित् ।

मनीषी पुरुषोंने अन्नको ही मनुष्योंका प्राण बताया है । पुरुषसिंह ! सब प्रकारका अन्न (खाद्यपदार्थ) जलसे ही उत्पन्न होता है; अतः जलदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान कहीं नहीं है ॥ १५½ ॥

तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते ।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे प्रतिदिन जलदान करना चाहिये । जलदान इस जगत्‌में धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला बताया जाता है । कुन्तीनन्दन ! जलदान करनेवाला पुरुष सदा अपने शत्रुओंसे भी ऊपर रहता है ॥ १६-१७ ॥

सर्वकामानवाप्नोति कीर्तिं चैव हि शाश्वतीम् ।
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

वह इस जगत्‌में सम्पूर्ण कामनाओं तथा अक्षय कीर्तिको प्राप्त करता है और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । मृत्युके पश्चात् वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १८ ॥

तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते ।
अक्षयान् समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ॥ १९ ॥

महातेजस्वी पुरुषसिंह ! जलदान करनेवाला पुरुष स्वर्गमें जाकर वहाँके अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है—ऐसा मनुने कहा है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पानीयदानमाहात्म्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें जलदानका माहात्म्यविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

तिल, जल, दीप तथा रत्न आदिके दानका माहात्म्य—धर्मराज और ब्राह्मणका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

तिलानां कीदृशं दानमथ दीपस्य चैव हि ।
अन्नानां वाससां चैव भूय एव ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! तिलोंके दानका कैसा फल होता है ? दीप, अन्न और वस्त्रके दानकी महिमाका भी पुनः मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं यमस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें ब्राह्मण और यमके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

मध्यदेशे महान् ग्रामो ब्राह्मणानां बभूव ह ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये यामुनस्य गिरेरधः ॥ ३ ॥
पर्णशालेति विख्यातो रमणीयो नराधिप ।
विद्वांसस्तत्र भूयिष्ठा ब्राह्मणाश्चावसंस्तथा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! मध्यदेशमें गङ्गा-यमुनाके मध्यभागमें यामुन पर्वतके निम्न स्थलमें ब्राह्मणोंका एक विशाल एवं रमणीय ग्राम था, जो लोगोंमें पर्णशालानामसे विख्यात था । वहाँ बहुत-से विद्वान् ब्राह्मण निवास करते थे ॥ ३-४ ॥

अथ प्राह यमः कंचित् पुरुषं कृष्णवाससम् ।
रक्ताक्षमूर्ध्वरोमाणं काकजङ्घाक्षिनासिकम् ॥ ५ ॥

एक दिन यमराजने काला वस्त्र धारण करनेवाले अपने एक दूतसे, जिसकी आँखें लाल, रोएँ ऊपरको उठे हुए और पैरोंकी पिण्डली, आँख एवं नाक कौएके समान थीं, कहा—॥

गच्छ त्वं ब्राह्मणग्रामं ततो गत्वा तमानय ।
अगस्त्यं गोत्रतश्चापि नामतश्चापि शर्मिणम् ॥ ६ ॥
शमे निविष्टं विद्वांसमध्यापकमनावृतम् ।

'तुम ब्राह्मणोंके उस ग्राममें चले जाओ और जाकर अगस्त्यगोत्री शर्मी नामक शमपरायण विद्वान् अध्यापक ब्राह्मणको, जो आवरणरहित है, यहाँ ले आओ ॥ ६½ ॥

मा चान्यमानयेथास्त्वं सगोत्रं तस्य पार्श्वतः ॥ ७ ॥
स हि तादृग्गुणस्तेन तुल्योऽध्ययनजन्मना ।
अपत्येषु तथा वृत्ते समस्तेनैव धीमता ॥ ८ ॥

'उसी गाँवमें उसीके समान एक दूसरा ब्राह्मण भी रहता है । वह शर्मीके ही गोत्रका है । उसके अगल-बगलमें ही निवास करता है । गुण, वेदाध्ययन और कुलमें भी वह शर्मीके ही समान है । संतानोंकी संख्या तथा सदाचार-के पालनमें भी वह बुद्धिमान् शर्मीके ही तुल्य है । तुम उसे यहाँ न ले आना ॥ ७-८ ॥

तमानय यथोद्दिष्टं पूजा कार्या हि तस्य वै ।
स गत्वा प्रतिकूलं तच्चकार यमशासनम् ॥ ९ ॥

'मैंने जिसे बताया है, उसी ब्राह्मणको तुम यहाँ ले आओ; क्योंकि मुझे उसकी पूजा करनी है ।' उस यमदूतने वहाँ जाकर यमराजकी आज्ञाके विपरीत कार्य किया ॥ ९ ॥

तमाक्रम्यानयामास प्रतिषिद्धो यमेन यः ।
तस्मै यमः समुत्थाय पूजां कृत्वा च वीर्यवान् ॥ १० ॥
प्रोवाच नीयतामेष सोऽन्य आनीयतामिति ।

वह आक्रमण करके उसी ब्राह्मणको उठा लाया, जिसके लिये यमराजने मना कर दिया था । शक्तिशाली यमराजने उठकर उसके लाये हुए ब्राह्मणकी पूजा की और दूतसे कहा—'इसको तो तुम ले जाओ और दूसरेको यहाँ ले आओ' ॥ १०½ ॥

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन स द्विजः ॥ ११ ॥
उवाच धर्मराजानं निर्विण्णोऽध्ययनेन वै ।
यो मे कालो भवेच्छेषस्तं वसेयमिहाच्युत ॥ १२ ॥

धर्मराजके इस प्रकार आदेश देनेपर अध्ययनसे ऊबे हुए उस समागत ब्राह्मणने उनसे कहा—'धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले देव ! मेरे जीवनका जो समय शेष रह गया है, उसमें मैं यहीं रहूँगा' ॥ ११-१२ ॥

यम उवाच

नाहं कालस्य विहितं प्राप्नोमीह कथंचन ।
यो हि धर्मं चरति वै तं तु जानामि केवलम् ॥ १३ ॥

यमराजने कहा—ब्रह्मन् ! मैं कालके विधानको किसी तरह नहीं जानता । जगत्‌में जो पुरुष धर्माचरण करता है, केवल उसीको मैं जानता हूँ ॥ १३ ॥

गच्छ विप्र त्वमद्यैव आलयं स्वं महाद्युते ।
ब्रूहि सर्वं यथा स्वैरं करवाणि किमच्युत ॥ १४ ॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महातेजस्वी ब्राह्मण ! तुम अभी अपने घरको चले जाओ और अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ बताओ । मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ ? ॥

ब्राह्मण उवाच

यत् तत्र कृत्वा सुमहत् पुण्यं स्यात् तद् ब्रवीहि मे ।
सर्वस्य हि प्रमाणं त्वं त्रैलोक्यस्यापि सत्तम ॥ १५ ॥

ब्राह्मणने कहा—साधुशिरोमणे ! संसारमें जो कर्म करनेसे महान् पुण्य होता हो, वह मुझे बताइये; क्योंकि समस्त त्रिलोकीके लिये धर्मके विषयमें आप ही प्रमाण हैं ॥

यम उवाच

शृणु तत्त्वेन विप्रर्षे प्रदानविधिमुत्तमम् ।
तिलाः परमकं दानं पुण्यं चैवेह शाश्वतम् ॥ १६ ॥

यमने कहा—ब्रह्मर्षे ! तुम यथार्थरूपसे दानकी उत्तम विधि सुनो । तिलका दान सब दानोंमें उत्तम है । वह यहाँ अक्षय पुण्यजनक माना गया है ॥ १६ ॥

तिलाश्च सम्प्रदातव्या यथाशक्ति द्विजर्षभ ।
नित्यदानात् सर्वकामांस्तिला निर्वर्तयन्त्युत ॥ १७ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! अपनी शक्तिके अनुसार तिलोंका दान अवश्य करना चाहिये । नित्यदान करनेसे तिल दाताकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण कर देते हैं ॥ १७ ॥

तिलाञ्श्राद्धे प्रशंसन्ति दानमेतद्ध्यनुत्तमम्।
तान् प्रयच्छस्व विप्रेभ्यो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

श्राद्धमें विद्वान् पुरुष तिलोंकी प्रशंसा करते हैं। यह तिलदान सबसे उत्तम दान है। अतः तुम शास्त्रीय विधिके अनुसार ब्राह्मणोंको तिलदान देते रहो ॥ १८ ॥

वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु तिलान् दद्याद् द्विजातिषु।
तिला भक्षयितव्याश्च सदा त्वालम्भनं च तैः ॥ १९ ॥

वैशाखकी पूर्णिमाको ब्राह्मणोंके लिये तिलदान दे, तिल खाये और सदा तिलोंका ही उबटन लगाये ॥ १९ ॥

कार्यं सततमिच्छद्भिः श्रेयः सर्वात्मना गृहे।
तथाऽऽपः सर्वदा देयाः पेयाश्चैव न संशयः ॥ २० ॥

जो सदा कल्याणकी इच्छा रखते हैं, उन्हें सब प्रकारसे अपने घरमें तिलोंका दान और उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार सर्वदा जलका दान और पान करना चाहिये—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

पुष्करिण्यस्तडागानि कूपांश्चैवात्र खानयेत्।
एतत् सुदुर्लभतरमिहलोके द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्यको यहाँ पोखरी, तालाब और कुएँ खुदवाने चाहिये। यह इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ—पुण्य कार्य है ॥ २१ ॥

आपो नित्यं प्रदेयास्ते पुण्यं ह्येतदनुत्तमम्।
प्रपाश्च कार्या दानार्थं नित्यं ते द्विजसत्तम।
भुक्तेऽप्यन्नं प्रदेयं तु पानीयं वै विशेषतः ॥ २२ ॥

विप्रवर ! तुम्हें प्रतिदिन जलका दान करना चाहिये। जल देनेके लिये प्याऊ लगाने चाहिये। यह सर्वोत्तम पुण्य कार्य है। (भूखेको अन्न देना तो आवश्यक है ही,) जो भोजन कर चुका हो, उसे भी अन्न देना चाहिये। विशेषतः जलका दान तो सभीके लिये आवश्यक है ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्ते स तदा तेन यमदूतेन वै गृहान्।
नीतश्च कारयामास सर्वं तद् यमशासनम् ॥ २३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यमराजके ऐसा कहनेपर उस समय ब्राह्मण जानेको उद्यत हुआ। यमदूतने उसे उसके घर पहुँचा दिया और उसने यमराजकी आज्ञाके अनुसार वह सब पुण्य-कार्य किया और कराया ॥ २३ ॥

नीत्वा तं यमदूतोऽपि गृहीत्वा शर्मिणं तदा।
ययौ स धर्मराजाय न्यवेदयत चापि तम् ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् यमदूत शर्मीको पकड़कर वहाँ ले गया और धर्मराजको इसकी सूचना दी ॥ २४ ॥

तं धर्मराजो धर्मज्ञं पूजयित्वा प्रतापवान्।
कृत्वा च संविदं तेन विससर्ज यथागतम् ॥ २५ ॥

प्रतापी धर्मराजने उस धर्मज्ञ ब्राह्मणकी पूजा करके उससे बातचीत की और फिर वह जैसे आया था, उसी प्रकार उसे विदा कर दिया ॥ २५ ॥

तस्यापि च यमः सर्वमुपदेशं चकार ह।
प्रेत्यैत्य च ततः सर्वं चकारोक्तं यमेन तत् ॥ २६ ॥

उसके लिये भी यमराजने सारा उपदेश किया। परलोकमें जाकर जब वह लौटा, तब उसने भी यमराजके बताये अनुसार सब कार्य किया ॥ २६ ॥

तथा प्रशंसते दीपान् यमः पितृहितेप्सया।
तस्माद् दीपप्रदो नित्यं संतारयति वै पितॄन् ॥ २७ ॥

पितरोंके हितकी इच्छासे यमराज दीपदानकी प्रशंसा करते हैं; अतः प्रतिदिन दीपदान करनेवाला मनुष्य पितरोंका उद्धार कर देता है ॥ २७ ॥

दातव्याः सततं दीपास्तस्माद् भरतसत्तम।
देवतानां पितॄणां च चक्षुष्यं चात्मनां विभो ॥ २८ ॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! देवता और पितरोंके उद्देश्यसे सदा दीपदान करते रहना चाहिये। प्रभो ! इससे अपने नेत्रोंका तेज बढ़ता है ॥ २८ ॥

रत्नदानं च सुमहत् पुण्यमुक्तं जनाधिप।
यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरम् ॥ २९ ॥

जनेश्वर ! रत्नदानका भी बहुत बड़ा पुण्य बताया गया है। जो ब्राह्मण दानमें मिले हुए रत्नको बेचकर उसके द्वारा यज्ञ करता है, उसके लिये वह प्रतिग्रह भयदायक नहीं होता ॥

यद् वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै।
उभयोः स्यात् तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च ॥ ३० ॥

जो ब्राह्मण किसी दातासे रत्नोंका दान लेकर स्वयं भी उसे ब्राह्मणोंको बाँट देता है तो उस दानके देने और लेनेवाले दोनोंको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

यो ददाति स्थितः स्थित्यां तादृशाय प्रतिग्रहम्।
उभयोरक्षयं धर्मं तं मनुः प्राह धर्मवित् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष स्वयं धर्ममर्यादामें स्थित होकर अपने ही समान स्थितिवाले ब्राह्मणको दानमें मिली हुई वस्तुका दान करता है, उन दोनोंको अक्षय धर्मकी प्राप्ति होती है। यह धर्मज्ञ मनुका वचन है ॥ ३१ ॥

वाससां सम्प्रदानेन स्वदारनिरतो नरः।
सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखता हुआ वस्त्र दान करता है, वह सुन्दर वस्त्र और मनोहर वेषभूषासे सम्पन्न होता है—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ ३२ ॥

गावः सुवर्णं च तथा तिलाश्चैवानुवर्णिताः।

बहुशः पुरुषव्याघ्र वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ ३३ ॥

पुरुषसिंह ! मैंने गौ, सुवर्ण और तिलके दानका माहात्म्य अनेकों बार वेद-शास्त्रके प्रमाण दिखाकर वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च ।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते ॥ ३४ ॥

कुरुनन्दन ! मनुष्य विवाह करे और पुत्र उत्पन्न करे। पुत्रका लाभ सब लाभोंसे बढ़कर है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि यमब्राह्मणसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें यम और ब्राह्मणका संवाद-विषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

गोदानकी महिमा तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षासे पुण्यकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव कुरुश्रेष्ठ दानानां विधिमुत्तमम् ।
कथयस्व महाप्राज्ञ भूमिदानं विशेषतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! आप दानकी उत्तम विधिका फिरसे वर्णन कीजिये । विशेषतः भूमिदानका महत्त्व बताइये ॥ १ ॥

पृथिवीं क्षत्रियो दद्याद् ब्राह्मणायेष्टिकर्मिणे ।
विधिवत् प्रतिगृह्णीयान्न त्वन्यो दातुमर्हति ॥ २ ॥

केवल क्षत्रिय राजा ही यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणको पृथ्वीका दान कर सकता है और उसीसे ब्राह्मण विधिपूर्वक भूमिका प्रतिग्रह ले सकता है । दूसरा कोई यह दान नहीं कर सकता ॥

सर्ववर्णैस्तु यच्छक्यं प्रदातुं फलकाङ्क्षिभिः ।
वेदे वा यत् समाख्यातं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

दानके फलकी इच्छा रखनेवाले सभी वर्णोंके लोग जो दान कर सकें अथवा वेदमें जिस दानका वर्णन हो, उसकी मेरे समक्ष व्याख्या कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

तुल्यनामानि देयानि त्रीणि तुल्यफलानि च ।
सर्वकामफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! गाय, भूमि और सरस्वती—ये तीनों समान नामवाली हैं—इन तीनों वस्तुओंका दान करना चाहिये । इन तीनोंके दानका फल भी समान ही है। ये तीनों वस्तुएँ मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाली हैं ॥ ४ ॥

यो ब्रूयाच्चापि शिष्याय धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम् ।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां तुल्यं स फलमश्नुते ॥ ५ ॥

जो ब्राह्मण अपने शिष्यको धर्मानुकूल ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) का उपदेश करता है, वह भूमिदान और गोदानके समान फलका भागी होता है ॥ ५ ॥

तथैव गाः प्रशंसन्ति न तु देयं ततः परम् ।
संनिकृष्टफलास्ता हि लघ्वर्थाश्च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

इसी प्रकार गोदानकी भी प्रशंसा की गयी है। उससे बढ़कर कोई दान नहीं है । युधिष्ठिर ! गोदानका फल निकट भविष्यमें मिलता है तथा वे गौएँ शीघ्र अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करती हैं ॥

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ॥ ७ ॥

गौएँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता कहलाती हैं । वे सबको सुख देनेवाली हैं । जो अपने अभ्युदयकी इच्छा रखता हो, उसे गौओंको सदा दाहिने करके चलना चाहिये ॥ ७ ॥

संताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत् ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात् पूज्याः सदैव हि ॥ ८ ॥

गौओंको लात न मारे । उनके बीचसे होकर न निकले। वे मङ्गलकी आधारभूत देवियाँ हैं, अतः उनकी सदा ही पूजा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

प्रचोदनं देवकृतं गवां कर्मसु वर्तताम् ।
पूर्वमेवाक्षरं चान्यदभिधेयं ततः परम् ॥ ९ ॥

देवताओंने भी यज्ञके लिये भूमि जोतते समय बैलोंको डंडे आदिसे हाँका था । अतः पहले यज्ञके लिये ही बैलोंको जोतना या हाँकना श्रेयस्कर माना गया है । उससे भिन्न कर्मके लिये बैलोंको जोतना या डंडे आदिसे हाँकना निन्दनीय है ॥ ९ ॥

प्रचारे वा निवाते वा बुधो नोद्वेजयेत गाः ।
तृषिता ह्यभिवीक्षन्त्यो नरं हन्युः सबान्धवम् ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि जब गौएँ स्वच्छन्दतापूर्वक विचर रही हों अथवा किसी उपद्रवशून्य स्थानमें बैठी हों तो उन्हें उद्वेगमें न डाले । जब गौएँ प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने स्वामीकी ओर देखती हैं (और वह उन्हें पानी नहीं पिलाता है), तब वे रोषपूर्ण दृष्टिसे बन्धु-बान्धवोंसहित उसका नाश कर देती हैं ॥ १० ॥

पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च ।
पूयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः ॥ ११ ॥

जिनके गोबरसे लीपनेपर देवताओंके मन्दिर और पितरोंके श्राद्धस्थान पवित्र होते हैं, उनसे बढ़कर पावन और क्या हो सकता है ? ॥ ११ ॥

घासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं तु यः।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत् सार्वकामिकम् ॥ १२ ॥

जो एक वर्षतक प्रतिदिन स्वयं भोजनके पहले दूसरेकी गायको एक मुट्ठी घास खिलाता है, उसका वह व्रत समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

स हि पुत्रान् यशोऽर्थं च श्रियं चाप्यधिगच्छति।
नाशयत्यशुभं चैव दुःस्वप्नं चाप्यपोहति ॥ १३ ॥

वह अपने लिये पुत्र, यश, धन और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अशुभ कर्म और दुःस्वप्नका नाश कर देता है। १३।

युधिष्ठिर उवाच

देयाः किंलक्षणा गावः काश्चापि परिवर्जयेत्।
कीदृशाय प्रदातव्या न देयाः कीदृशाय च ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किन लक्षणोंवाली गौओंका दान करना चाहिये और किनका दान नहीं करना चाहिये ? कैसे ब्राह्मणको गाय देनी चाहिये और कैसे ब्राह्मणको नहीं देनी चाहिये ? ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यवादी तथा देवयज्ञ और श्राद्धकर्म न करनेवाले ब्राह्मणको किसी तरह गौ नहीं देनी चाहिये ॥ १५ ॥

भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥

जिसके बहुत-से पुत्र हों, जो श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) और अग्निहोत्री ब्राह्मण हो और गौके लिये याचना कर रहा हो, ऐसे पुरुषको दस गौओंका दान करनेवाला दाता उत्तम लोकोंको पाता है ॥ १६ ॥

यश्चैव धर्मं कुरुते तस्य धर्मफलं च यत्।
सर्वस्यैवांशभाग् दाता तंनिमित्तं प्रवृत्तयः ॥ १७ ॥

जो गोदान ग्रहण करके धर्माचरण करता है, उसके धर्मका जो कुछ भी फल होता है, उस सम्पूर्ण धर्मके एक अंशका भागी दाता भी होता है, क्योंकि उसीके लिये उसकी गोदानमें प्रवृत्ति हुई थी ॥ १७ ॥

यश्चैवमुत्पादयते यश्चैनं त्रायते भयात्।
यश्चास्य कुरुते वृत्तिं सर्वे ते पितरस्त्रयः ॥ १८ ॥

जो जन्म देता है, जो भयसे बचाता है तथा जो जीविका देता है—ये तीनों ही पिताके तुल्य हैं ॥ १८ ॥

कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद् यशः।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥ १९ ॥

गुरुजनोंकी सेवा सारे पापोंका नाश कर देती है। अभिमान महान् यशको नष्ट कर देता है। तीन पुत्र पुत्रहीनताके दोषका निवारण कर देते हैं और दूध देनेवाली दस गौएँ हों तो ये जीविकाके अभावको दूर कर देती हैं। १९।

वेदान्तनिष्ठस्य बहुश्रुतस्य
प्रज्ञानतृप्तस्य जितेन्द्रियस्य।
शिष्टस्य दान्तस्य यतस्य चैव
भूतेषु नित्यं प्रियवादिनश्च ॥ २० ॥
यः क्षुद्भयाद् वै न विकर्म कुर्या-
न्मृदुश्च शान्तो ह्यतिथिप्रियश्च।
वृत्तिं द्विजायातिसृजेत तस्मै
यस्तुल्यशीलश्च सपुत्रदारः ॥ २१ ॥

जो वेदान्तनिष्ठ, बहुज्ञ, ज्ञानानन्दसे तृप्त, जितेन्द्रिय, शिष्ट, मनको वशमें रखनेवाला, यत्नशील, समस्त प्राणियोंके प्रति सदा प्रिय वचन बोलनेवाला, भूखके भयसे भी अनुचित कर्म न करनेवाला, मृदुल, शान्त, अतिथिप्रेमी; सबपर समान भाव रखनेवाला और स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बसे युक्त हो, उस ब्राह्मणकी जीविकाका अवश्य प्रबन्ध करना चाहिये॥ २०-२१॥

शुभे पात्रे ये गुणा गोप्रदाने
तावान् दोषो ब्राह्मणस्वापहारे।
सर्वावस्थं ब्राह्मणस्वापहारो
दाराश्चैषां दूरतो वर्जनीयाः ॥ २२ ॥

शुभ पात्रको गोदान करनेसे जो लाभ होते हैं, उसका धन ले लेनेपर उतना ही पाप लगता है; अतः किसी भी अवस्थामें ब्राह्मणोंके धनका अपहरण न करे तथा उनकी स्त्रियोंका संसर्ग दूरसे ही त्याग दे ॥ २२ ॥

(विप्रदारे परहृते विप्रस्वनिचये तथा।
परित्रायन्ति शक्तास्तु नमस्तेभ्यो मृतास्तु वा ॥
न पालयन्ति चेत् तस्य हन्ता वैवस्वतो यमः।
दण्डयन् भर्त्सयन् नित्यं निरयेभ्यो न मुञ्चति॥
तथा गवां परित्राणे पीडने च शुभाशुभम्।
विप्रगोषु विशेषेण रक्षितेषु हतेषु वा ॥)

जहाँ ब्राह्मणोंकी स्त्रियों अथवा उनके धनका अपहरण होता हो, वहाँ शक्ति रहते हुए जो उन सबकी रक्षा करते हैं, उन्हें नमस्कार है। जो उनकी रक्षा नहीं करते हैं, वे मुर्दोंके समान हैं। सूर्यपुत्र यमराज ऐसे लोगोंका वध कर डालते हैं, प्रतिदिन उन्हें यातना देते और डाँटते-फटकारते

हैं और नरकसे उन्हें कभी छुटकारा नहीं देते हैं। इसी प्रकार गौओंके संरक्षण और पीड़नसे भी शुभ और अशुभकी प्राप्ति होती है। विशेषतः ब्राह्मणों और गौओंके अपने द्वारा सुरक्षित होनेपर पुण्य और मारे जानेपर पाप होता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोदानमाहात्म्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानका माहात्म्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेसे होनेवाली हानिके विषयमें दृष्टान्तके रूपमें राजा नृगका उपाख्यान

भीष्म उवाच

अत्रैव कीर्त्यते सद्भिर्ब्राह्मणस्वाभिमर्शने।
नृगेण सुमहत् कृच्छ्रं यदवाप्तं कुरूद्वह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ ! इस विषयमें श्रेष्ठ पुरुष वह प्रसङ्ग सुनाया करते हैं, जिसके अनुसार एक ब्राह्मणके धनको ले लेनेके कारण राजा नृगको महान् कष्ट उठाना पड़ा था ॥ १ ॥

निविशन्त्यां पुरा पार्थ द्वारवत्यामिति श्रुतिः।
अदृश्यत महाकूपस्तृणवीरुत्समावृतः ॥ २ ॥

पार्थ ! हमारे सुननेमें आया है कि पूर्वकालमें जब द्वारकापुरी बस रही थी, उसी समय वहाँ घास और लताओंसे ढँका हुआ एक विशाल कूप दिखायी दिया ॥ २ ॥

प्रयत्नं तत्र कुर्वाणास्तस्मात् कूपाज्जलार्थिनः।
श्रमेण महता युक्तास्तस्मिंस्तोये सुसंवृते ॥ ३ ॥
ददृशुस्ते महाकायं कृकलासमवस्थितम्।

वहाँ रहनेवाले यदुवंशी बालक उस कुएँका जल पीनेकी इच्छासे बड़े परिश्रमके साथ उस घास-फूसको हटानेके लिये महान् प्रयत्न करने लगे। इतनेहीमें उस कुएँके ढँके हुए जलमें स्थित हुए एक विशालकाय गिरगिटपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ ३½ ॥

तस्य चोद्धरणे यत्नमकुर्वस्ते सहस्रशः ॥ ४ ॥
प्रग्रहैश्चर्मपट्टैश्च तं बद्ध्वा पर्वतोपमम्।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं ततो जग्मुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥

फिर तो वे सहस्रों बालक उस गिरगिटको निकालनेका यत्न करने लगे। गिरगिटका शरीर एक पर्वतके समान था। बालकोंने उसे रस्सियों और चमड़ेकी पट्टियोंसे बाँधकर खींचनेके लिये बहुत जोर लगाया परंतु वह टस-से-मस न हुआ। जब बालक उसे निकालनेमें सफल न हो सके, तब वे भगवान् श्रीकृष्णके पास गये ॥ ४-५ ॥

खमावृत्योदपानस्य कृकलासः स्थितो महान्।
तस्य नास्ति समुद्धर्तेत्येतत् कृष्णे न्यवेदयन् ॥ ६ ॥

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे निवेदन किया—'भगवन् ! एक बहुत बड़ा गिरगिट कुएँमें पड़ा है, जो उस कुएँके सारे आकाशको घेरकर बैठा है; पर उसे निकालनेवाला कोई नहीं है' ॥ ६ ॥

स वासुदेवेन समुद्धृतश्च
पृष्टश्च कार्यं निजगाद राजा।
नृगस्तदाऽऽत्मानमथो न्यवेदयत्
पुरातनं यज्ञसहस्रयाजिनम् ॥ ७ ॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण उस कुएँके पास गये। उन्होंने उस गिरगिटको कुएँसे बाहर निकाला और अपने पावन हाथके स्पर्शसे राजा नृगका उद्धार कर दिया। इसके बाद उनसे परिचय पूछा। तब राजाने उन्हें अपना परिचय देते हुए कहा—'प्रभो ! पूर्वजन्ममें मैं राजा नृग था, जिसने एक सहस्र यज्ञोंका अनुष्ठान किया था' ॥ ७ ॥

तथा ब्रुवाणं तु तमाह माधवः
शुभं त्वया कर्म कृतं न पापकम्।
कथं भवान् दुर्गतिमीदृशीं गतो
नरेन्द्र तद् ब्रूहि किमेतदीदृशम् ॥ ८ ॥

उनकी ऐसी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—'राजन् ! आपने तो सदा पुण्यकर्म ही किया था, पापकर्म कभी नहीं किया, फिर आप ऐसी दुर्गतिमें कैसे पड़ गये ? बताइये, क्यों आपको यह ऐसा कष्ट प्राप्त हुआ ?' ॥ ८ ॥

शतं सहस्राणि गवां शतं पुनः
पुनः शतान्यष्टशतायुतानि।
त्वया पुरा दत्तमितीह शुश्रुम
नृप द्विजेभ्यः क्व नु तद् गतं तव ॥ ९ ॥

'नरेश्वर ! हमने सुना है कि पूर्वकालमें आपने ब्राह्मणोंको पहले एक लाख गौएँ दान कीं। दूसरी बार सौ गौओंका दान किया। तीसरी बार पुनः सौ गौएँ दानमें दीं। फिर चौथी बार आपने गोदानका ऐसा सिलसिला चलाया कि लगातार अस्सी लाख गौओंका दान कर दिया। (इस प्रकार आपके द्वारा इक्यासी लाख दो सौ गौएँ दानमें दी गयीं।) आपके उन सब दानोंका पुण्यफल कहाँ चला गया ?' ॥ ९ ॥

नृगस्ततोऽब्रवीत् कृष्णं ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः।

प्रोषितस्य परिभ्रष्टा गौरेका मम गोधने ॥ १० ॥

तब राजा नृगने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो ! एक अग्निहोत्री ब्राह्मण परदेश चला गया था। उसके पास एक गाय थी, जो एक दिन अपने स्थानसे भागकर मेरी गौओंके झुंडमें आ मिली ॥ १० ॥

गवां सहस्रे संख्याता तदा सा पशुपैर्मम ।
सा ब्राह्मणाय मे दत्ता प्रेत्यार्थमभिकाङ्क्षता ॥ ११ ॥

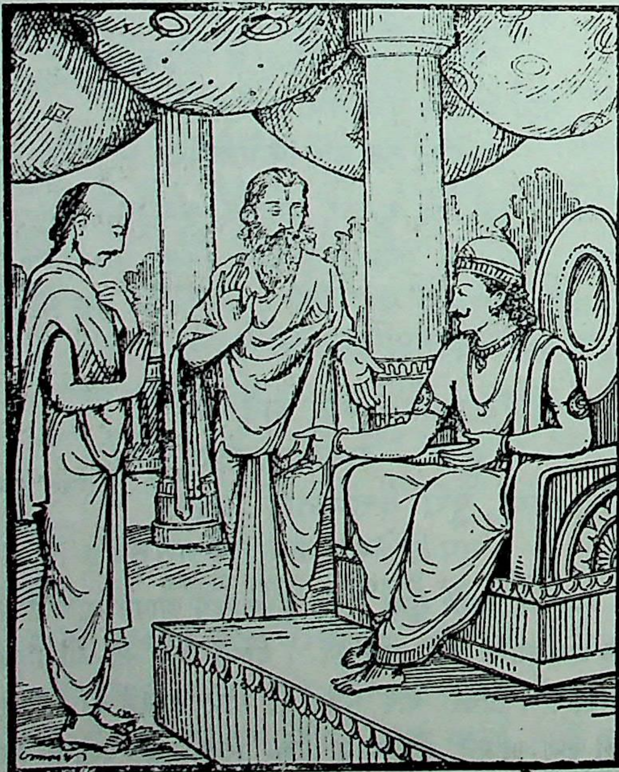
'उस समय मेरे ग्वालोंने दानके लिये मँगायी गयी एक हजार गौओंमें उसकी भी गिनती करा दी और मैंने परलोकमें मनोवाञ्छित फलकी इच्छासे वह गौ भी एक ब्राह्मणको दे दी॥

अपश्यत् परिमार्गंश्च तां गां परगृहे द्विजः ।
ममेयमिति चोवाच ब्राह्मणो यस्य साभवत् ॥ १२ ॥

'कुछ दिनों बाद जब वह ब्राह्मण परदेशसे लौटा, तब अपनी गाय ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब वह गाय उसे दूसरेके घर मिली, तब उस ब्राह्मणने, जिसकी वह गौ पहले थी, उस दूसरे ब्राह्मणसे कहा—''यह गाय तो मेरी है'' ॥१२॥

तावुभौ समनुप्राप्तौ विवदन्तौ भृशज्वरौ ।
भवान् दाता भवान् हर्तेत्यथ तौ मामवोचताम्॥१३ ॥

'फिर तो वे दोनों आपसमें लड़ पड़े और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए मेरे पास आये। उनमेंसे एकने कहा—''महाराज !



यह गौ आपने मुझे दानमें दी है (और यह ब्राह्मण इसे अपनी बता रहा है।)'' दूसरेने कहा—''महाराज ! वास्तवमें यह मेरी गाय है। आपने उसे चुरा लिया है'' ॥ १३ ॥

शतेन शतसंख्येन गवां विनिमयेन वै ।
याचे प्रतिग्रहीतारं स तु मामब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥

देशकालोपसम्पन्ना दोग्ध्री शान्तातिवत्सला ।
स्वादुक्षीरप्रदा धन्या मम नित्यं निवेशने ॥ १५ ॥

'तब मैंने दान लेनेवाले ब्राह्मणसे प्रार्थनापूर्वक कहा—'मैं इस गायके बदले आपको दस हजार गौएँ देता हूँ (आप इन्हें इनकी गाय वापस दे दीजिये)। यह सुनकर वह यों बोला—'महाराज ! यह गौ देश-कालके अनुरूप, पूरा दूध देनेवाली, सीधी-सादी और अत्यन्त दयालुस्वभावकी है। यह बहुत मीठा दूध देनेवाली है। धन्य भाग्य जो यह मेरे घर आयी। यह सदा मेरे ही यहाँ रहे ॥ १४-१५ ॥

कृतं च भरते सा गौर्मम पुत्रमपस्तनम् ।
न सा शक्या मया दातुमित्युक्त्वा स जगाम ह ॥ १६ ॥

'अपने दूधसे यह गौ मेरे मातृहीन शिशुका प्रतिदिन पालन करती है; अतः मैं इसे कदापि नहीं दे सकता।'' यह कहकर वह उस गायको लेकर चला गया ॥ १६ ॥

ततस्तमपरं विप्रं याचे विनिमयेन वै ।
गवां शतसहस्रं हि तत्कृते गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

'तब मैंने उन दूसरे ब्राह्मणसे याचना की—'भगवन् ! उसके बदलेमें आप मुझसे एक लाख गौएँ ले लीजिये''॥१७॥

ब्राह्मण उवाच

न राज्ञां प्रतिगृह्णामि शक्तोऽहं स्वस्य मार्गणे ।
सैव गौर्दीयतां शीघ्रं ममेति मधुसूदन ॥ १८ ॥

'मधुसूदन ! तब उस ब्राह्मणने कहा—''मैं राजाओंका दान नहीं लेता। मैं अपने लिये धनका उपार्जन करनेमें समर्थ हूँ। मुझे तो शीघ्र मेरी वही गौ ला दीजिये'' ॥१८॥

रुक्ममश्वांश्च ददतो रजतस्यन्दनांस्तथा ।
न जग्राह ययौ चापि तदा स ब्राह्मणर्षभः ॥ १९ ॥

'मैंने उसे सोना, चाँदी, रथ और घोड़े—सब कुछ देना चाहा; परंतु वह उत्तम ब्राह्मण कुछ न लेकर तत्काल चुपचाप चला गया ॥ १९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चोदितः कालधर्मणा ।
पितृलोकमहं प्राप्य धर्मराजमुपागमम् ॥ २० ॥

'इसी बीचमें कालकी प्रेरणासे मैं मृत्युको प्राप्त हुआ और पितृलोकमें पहुँचकर धर्मराजसे मिला ॥ २० ॥

यमस्तु पूजयित्वा मां ततो वचनमब्रवीत् ।
नान्तः संख्यायते राजंस्तव पुण्यस्य कर्मणः ॥ २१ ॥
अस्ति चैव कृतं पापमज्ञानात् तदपि त्वया ।
चरस्व पापं पश्चाद् वा पूर्वं वा त्वं यथेच्छसि॥ २२ ॥

'यमराजने मेरा आदर-सत्कार करके मुझसे यह बात कही—''राजन् ! तुम्हारे पुण्यकर्मोंकी तो गिनती ही नहीं है। परंतु अनजानमें तुमसे एक पाप भी बन गया

है। उस पापको तुम पीछे भोगो या पहले ही भोग लो, जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करो ॥ २२ ॥

रक्षितास्मीति चोक्तं ते प्रतिज्ञा चानृता तव।
ब्राह्मणस्वस्य चादानं द्विविधस्ते व्यतिक्रमः ॥ २३ ॥

''आपने प्रजाके धन-जनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी; किंतु उस ब्राह्मणकी गाय खो जानेके कारण आपकी वह प्रतिज्ञा झूठी हो गयी। दूसरी बात यह है कि आपने ब्राह्मणके धनका भूलसे अपहरण कर लिया था। इस तरह आपके द्वारा दो तरहका अपराध हो गया है'' ॥ २३ ॥

पूर्वं कृच्छ्रं चरिष्येऽहं पश्चाच्छुभमिति प्रभो।
धर्मराजं ब्रुवन्नेवं पतितोऽस्मि महीतले ॥ २४ ॥

'तब मैंने धर्मराजसे कहा—प्रभो! मैं पहले पाप ही भोग लूँगा। उसके बाद पुण्यका उपभोग करूँगा। इतना कहना था कि मैं पृथ्वीपर गिरा ॥ २४ ॥

अश्रौषं पतितश्चाहं यमस्योच्चैः प्रभाषतः।
वासुदेवः समुद्धर्ता भविता ते जनार्दनः ॥ २५ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रान्ते क्षीणे कर्मणि दुष्कृते।
प्राप्स्यसे शाश्वताल्लँल्लोकाञ्जितान् स्वेनैव कर्मणा ॥ २६ ॥

'गिरते समय उच्चस्वरसे बोलते हुए यमराजकी यह बात मेरे कानोंमें पड़ी—'महाराज! एक हजार दिव्य वर्ष पूर्ण होनेपर तुम्हारे पापकर्मका भोग समाप्त होगा। उस समय जनार्दन भगवान् श्रीकृष्ण आकर तुम्हारा उद्धार करेंगे और तुम अपने पुण्यकर्मोंके प्रभावसे प्राप्त हुए सनातन लोकोंमें जाओगे' ॥ २५-२६ ॥

कूपेऽऽत्मानमधःशीर्षमपश्यं पतितश्च ह।
तिर्यग्योनिमनुप्राप्तं न च मामजहात् स्मृतिः ॥ २७ ॥

'कुएँमें गिरनेपर मैंने देखा, मुझे तिर्यग्योनि (गिरगिट-की देह) मिली है और मेरा सिर नीचेकी ओर है। इस योनिमें भी मेरी पूर्वजन्मोंकी स्मरणशक्तिने मेरा साथ नहीं छोड़ा है ॥ २७ ॥

त्वया तु तारितोऽस्म्यद्य किमन्यत्र तपोबलात्।
अनुजानीहि मां कृष्ण गच्छेयं दिवमद्य वै ॥ २८ ॥

'श्रीकृष्ण! आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इसमें आपके तपोबलके सिवा और क्या कारण हो सकता है। अब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं स्वर्गलोकको जाऊँगा' ॥

अनुज्ञातः स कृष्णेन नमस्कृत्य जनार्दनम्।
दिव्यमास्थाय पन्थानं ययौ दिवमरिंदमः ॥ २९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें आज्ञा दे दी और वे शत्रुदमन नरेश उन्हें प्रणाम करके दिव्य मार्गका आश्रय ले स्वर्गलोक-को चले गये ॥ २९ ॥

ततस्तस्मिन् दिवं याते नृगे भरतसत्तम।
वासुदेव इमं श्लोकं जगाद कुरुनन्दन ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ! कुरुनन्दन! राजा नृगके स्वर्गलोकको चले जानेपर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने इस श्लोकका गान किया— ॥ ३० ॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं पुरुषेण विजानता।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ३१ ॥

'समझदार मनुष्यको ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये। चुराया हुआ ब्राह्मणका धन चोरका उसी प्रकार नाश कर देता है, जैसे ब्राह्मणकी गौने राजा नृगका सर्वनाश किया था' ॥ ३१ ॥

सतां समागमः सद्भिर्नाफलः पार्थ विद्यते।
विमुक्तं नरकात् पश्य नृगं साधुसमागमात् ॥ ३२ ॥

कुन्तीनन्दन! यदि सज्जन पुरुष सत्पुरुषोंका सङ्ग करें तो उनका वह सङ्ग व्यर्थ नहीं जाता। देखो, श्रेष्ठ पुरुषके समागमके कारण राजा नृगका नरकसे उद्धार हो गया ॥ ३२ ॥

प्रदानफलवत् तत्र द्रोहस्तत्र तथाफलः।
अपचारं गवां तस्माद् वर्जयेत युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर! गौओंका दान करनेसे जैसा उत्तम फल मिलता है, वैसे ही गौओंसे द्रोह करनेपर बहुत बड़ा कुफल भोगना पड़ता है; इसलिये गौओंको कभी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि नृगोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें नृगका उपाख्यानविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

पिताके शापसे नाचिकेतका यमराजके पास जाना और यमराजका नाचिकेतको गोदानकी महिमा बताना

युधिष्ठिर उवाच

दत्तानां फलसम्प्राप्तिं गवां प्रब्रूहि मेऽनघ।
विस्तरेण महाबाहो न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप महाबाहो! गौओंके दानसे

जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह मुझे विस्तारके साथ बताइये। मुझे आपके वचनामृतोंको सुनते-सुनते तृप्ति नहीं होती है, इसलिये अभी और कहिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऋषेरुद्दालकेर्वाक्यं नाचिकेतस्य चोभयोः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें विज्ञ पुरुष उद्दालक ऋषि और नाचिकेत दोनोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऋषिरुद्दालकिर्दीक्षामुपगम्य ततः सुतम्।
त्वं मामुपचरस्वेति नाचिकेतमभाषत ॥ ३ ॥

एक समय उद्दालक ऋषिने यज्ञकी दीक्षा लेकर अपने पुत्र नाचिकेतसे कहा—'तुम मेरी सेवामें रहो' ॥ ३ ॥

समाप्ते नियमे तस्मिन् महर्षिः पुत्रमब्रवीत्।
उपस्पर्शनसक्तस्य स्वाध्यायाभिरतस्य च ॥ ४ ॥
इध्मा दर्भाः सुमनसः कलशश्चातिभोजनम्।
विस्मृतं मे तदादाय नदीतीरादिहाव्रज ॥ ५ ॥

उस यज्ञका नियम पूरा हो जानेपर महर्षिने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! मैंने समिधा, कुशा, फूल, जलका घड़ा और प्रचुर भोजन-सामग्री (फल-मूल आदि)—इन सबका संग्रह करके नदीके किनारे रख दिया और स्नान तथा वेदपाठ करने लगा। फिर उन सब वस्तुओंको भूलकर मैं यहाँ चला आया। अब तुम जाकर नदीतटसे वह सब सामान यहाँ ले आओ' ॥ ४-५ ॥

गत्वानवाप्य तत् सर्वं नदीवेगसमाप्लुतम्।
न पश्यामि तदित्येवं पितरं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ६ ॥

नाचिकेत जब वहाँ गया, तब उसे कुछ न मिला। सारा सामान नदीके वेगमें बह गया था। नाचिकेत मुनि लौट आया और पितासे बोला—'मुझे तो वहाँ वह सब सामान नहीं दिखायी दिया' ॥ ६ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमाविष्टो मुनिरुद्दालकिस्तदा।
यमं पश्येति तं पुत्रमशपत् स महातपाः ॥ ७ ॥

महातपस्वी उद्दालक मुनि उस समय भूख-प्याससे कष्ट पा रहे थे, अतः रुष्ट होकर बोले—'अरे! वह सब तुम्हें क्यों दिखायी देगा! जाओ यमराजको देखो।' इस प्रकार उन्होंने उसे शाप दे दिया ॥ ७ ॥

तथा स पित्राभिहतो वाग्वज्रेण कृताञ्जलिः।
प्रसीदेति ब्रुवन्नेव गतसत्त्वोऽपतद् भुवि ॥ ८ ॥

पिताके वाग्वज्रसे पीड़ित हुआ नाचिकेत हाथ जोड़कर बोला—'प्रभो! प्रसन्न होइये।' इतना ही कहते-कहते वह निष्प्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

नाचिकेतं पिता दृष्ट्वा पतितं दुःखमूर्च्छितः।
किं मया कृतमित्युक्त्वा निपपात महीतले ॥ ९ ॥

नाचिकेतको गिरा देख उसके पिता भी दुःखसे मूर्च्छित हो गये और 'अरे, यह मैंने क्या कर डाला!' ऐसा कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९ ॥

तस्य दुःखपरीतस्य स्वं पुत्रमनुशोचतः।
व्यतीतं तदहःशेषं सा चोग्रा तत्र शर्वरी ॥ १० ॥

दुःखमें डूबे और बारंबार अपने पुत्रके लिये शोक करते हुए ही महर्षिका वह शेष दिन व्यतीत हो गया और भयानक रात्रि भी आकर समाप्त हो गयी ॥ १० ॥

पित्र्येणाश्रुप्रपातेन नाचिकेतः कुरूद्वह।
प्रास्पन्दच्छयने कौश्ये वृष्ट्या सस्यमिवाप्लुतम् ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कुशकी चटाईपर पड़ा हुआ नाचिकेत पिताके आँसुओंकी धारासे भीगकर कुछ हिलने-डुलने लगा, मानो वर्षासे सिंचकर अनाजकी सूखी खेती हरी हो गयी हो ॥ ११ ॥

स पर्यपृच्छत् तं पुत्रं क्षीणं पर्यागतं पुनः।
दिव्यैर्गन्धैः समादिग्धं क्षीणस्वप्नमिवोत्थितम् ॥ १२ ॥

महर्षिका वह पुत्र मरकर पुनः लौट आया, मानो नींद टूट जानेसे जाग उठा हो। उसका शरीर दिव्य सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था। उस समय उद्दालकने उससे पूछा— ॥

अपि पुत्र जिता लोकाः शुभास्ते स्वेन कर्मणा।
दिष्ट्या चासि पुनः प्राप्तो न हि ते मानुषं वपुः ॥ १३ ॥

'बेटा! क्या तुमने अपने कर्मसे शुभ लोकोंपर विजय पायी है? मेरे सौभाग्यसे ही तुम पुनः यहाँ चले आये हो। तुम्हारा यह शरीर मनुष्योंका-सा नहीं है—दिव्य भावको प्राप्त हो गया है' ॥ १३ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पित्रा पृष्टो महात्मना।
स तां वार्तां पितुर्मध्ये महर्षीणां न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

अपने महात्मा पिताके इस प्रकार पूछनेपर परलोककी सब बातोंको प्रत्यक्ष देखनेवाला नाचिकेत महर्षियोंके बीचमें पितासे वहाँका सब वृत्तान्त निवेदन करने लगा— ॥ १४ ॥

कुर्वन् भवच्छासनमाशु यातो
ह्यहं विशालां रुचिरप्रभावाम्।
वैवस्वतीं प्राप्य सभामपश्यं
सहस्रशो योजनहेमभासम् ॥ १५ ॥

'पिताजी! मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये यहाँसे तुरंत प्रस्थित हुआ और मनोहर कान्ति एवं प्रभावसे युक्त विशाल यमपुरीमें पहुँचकर मैंने वहाँकी सभा देखी, जो सुवर्णके समान सुन्दर प्रभासे प्रकाशित हो रही थी। उसका तेज सहस्रों योजन दूरतक फैला हुआ था ॥ १५ ॥

दृष्ट्वैव मामभिमुखमापतन्तं
देहीति स ह्यासनमादिदेश।

वैवस्वतोऽर्घ्यादिभिरर्हणैश्च
भवत्कृते पूजयामास मां सः ॥ १६ ॥

'मुझे सामनेसे आते देख विवस्वान्‌के पुत्र यमने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि 'इनके लिये आसन दो।' उन्होंने आपके नाते अर्घ्य आदि पूजनसम्बन्धी उपचारोंसे स्वयं ही मेरा पूजन किया ॥ १६ ॥

ततस्त्वहं तं शनकैरवोचं
वृतः सदस्यैरभिपूज्यमानः।
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं धर्मराज
लोकानर्हो यानहं तान् विधत्स्व॥ १७ ॥

'तब सब सदस्योंसे घिरकर उनके द्वारा पूजित होते हुए मैंने वैवस्वत यमसे धीरेसे कहा—'धर्मराज! मैं आपके राज्यमें आया हूँ; मैं जिन लोकोंमें जानेके योग्य होऊँ, उनमें जानेके लिये मुझे आज्ञा दीजिये' ॥ १७ ॥

यमोऽब्रवीन्मां न मृतोऽसि सौम्य
यमं पश्येत्याह स त्वां तपस्वी।
पिता प्रदीप्ताग्निसमानतेजा
न तच्छक्यमनृतं विप्र कर्तुम् ॥ १८ ॥

'तब यमराजने मुझसे कहा—''सौम्य! तुम मरे नहीं हो। तुम्हारे तपस्वी पिताने इतना ही कहा था कि तुम यमराजको देखो। विप्रवर! वे तुम्हारे पिता प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हैं। उनकी बात झूठी नहीं की जा सकती ॥ १८ ॥

दृष्टस्तेऽहं प्रतिगच्छस्व तात
शोचत्यसौ तव देहस्य कर्ता।
ददानि किं चापि मनःप्रणीतं
प्रियातिथेस्तव कामान् वृणीष्व॥ १९ ॥

''तात! तुमने मुझे देख लिया। अब तुम लौट जाओ। तुम्हारे शरीरका निर्माण करनेवाले वे तुम्हारे पिताजी शोक-मग्न हो रहे हैं। वत्स! तुम मेरे प्रिय अतिथि हो। तुम्हारा कौन-सा मनोरथ मैं पूर्ण करूँ। तुम्हारी जिस-जिस वस्तुके लिये इच्छा हो, उसे माँग लो'' ॥ १९ ॥

तेनैवमुक्तस्तमहं प्रत्यवोचं
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं दुर्निवर्त्यम्।
इच्छाम्यहं पुण्यकृतां समृद्धान्
लोकान् द्रष्टुं यदि तेऽहं वरार्हः॥२०॥

'उनके ऐसा कहनेपर मैंने इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! मैं आपके उस राज्यमें आ गया हूँ, जहाँसे लौट-कर जाना अत्यन्त कठिन है। यदि मैं आपकी दृष्टिमें वर पानेके योग्य होऊँ तो पुण्यात्मा पुरुषोंको मिलनेवाले समृद्धि-शाली लोकोंका मैं दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ २० ॥

यानं समारोप्य तु मां स देवो
वाहैर्युक्तं सुप्रभं भानुमत् तत्।
संदर्शयामास तदात्मलोकान्
सर्वांस्तथा पुण्यकृतां द्विजेन्द्र ॥ २१ ॥

'द्विजेन्द्र! तब यम देवताने वाहनोंसे जुते हुए उत्तम प्रकाशसे युक्त तेजस्वी रथपर मुझे बिठाकर पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले अपने यहाँके सभी लोकोंका मुझे दर्शन कराया॥

अपश्यं तत्र वेश्मानि तैजसानि महात्मनाम्।
नानासंस्थानरूपाणि सर्वरत्नमयानि च ॥ २२ ॥

'तब मैंने महामनस्वी पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले वहाँके तेजोमय भवनोंका दर्शन किया। उनके रूप-रंग और आकार-प्रकार अनेक तरहके थे। उन भवनोंका सब प्रकारके रत्नों-द्वारा निर्माण किया गया था ॥ २२ ॥

चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ॥ २३ ॥
वैदूर्यार्कप्रकाशानि रूप्यरुक्ममयानि च।
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥ २४ ॥

'कोई चन्द्रमण्डलके समान उज्ज्वल थे। किन्हींपर क्षुद्रघंटियोंसे युक्त झालरें लगी थीं। उनमें सैकड़ों कक्षाएँ और मंजिलें थीं। उनके भीतर जलाशय और वन-उपवन सुशोभित थे। कितनोंका प्रकाश नीलमणिमय सूर्यके समान था। कितने ही चाँदी और सोनेके बने हुए थे। किन्हीं-किन्हीं भवनोंके रंग प्रातःकालीन सूर्यके समान लाल थे। उनमेंसे कुछ विमान या भवन तो स्थावर थे और कुछ इच्छानुसार विचरनेवाले थे ॥ २३-२४ ॥

भक्ष्यभोज्यमयाञ्शैलान् वासांसि शयनानि च।
सर्वकामफलांश्चैव वृक्षान् भवनसंस्थितान् ॥ २५ ॥

'उन भवनोंमें भक्ष्य और भोज्य पदार्थोंके पर्वत खड़े थे। वस्त्रों और शय्याओंके ढेर लगे थे तथा सम्पूर्ण मनो-वाञ्छित फलोंको देनेवाले बहुत-से वृक्ष उन गृहोंकी सीमाके भीतर लहलहा रहे थे ॥ २५ ॥

नद्यो वीथ्यः सभा वाप्यो दीर्घिकाश्चैव सर्वशः।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ २६ ॥

'उन दिव्य लोकोंमें बहुत-सी नदियाँ, गलियाँ, सभा-भवन, बावड़ियाँ, तालाब और जोतकर तैयार खड़े हुए घोषयुक्त सहस्रों रथ मैंने सब ओर देखे थे ॥ २६ ॥

क्षीरस्रवा वै सरितो गिरींश्च
सर्पिस्तथा विमलं चापि तोयम्।
वैवस्वतस्यानुमतांश्च देशा-
नदृष्टपूर्वान् सुबहूनपश्यम् ॥ २७ ॥

'मैंने दूध बहानेवाली नदियाँ, पर्वत, घी और निर्मल जल भी देखे तथा यमराजकी अनुमतिसे और भी बहुत-से पहलेके न देखे हुए प्रदेशोंका दर्शन किया ॥ २७ ॥

सर्वान् दृष्ट्वा तदहं धर्मराज-
मवोचं वै प्रभविष्णुं पुराणम्।

क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः
शश्वत्स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः॥२८॥

'उन सबको देखकर मैंने प्रभावशाली पुरातन देवता धर्मराजसे कहा—'प्रभो! ये जो घी और दूधकी नदियाँ बहती रहती हैं, जिनका स्रोत कभी सूखता नहीं है, किनके उपभोगमें आती हैं—इन्हें किनका भोजन नियत किया गया है?' ॥ २८ ॥

यमोऽब्रवीद् विद्धि भोज्यास्त्वमेता
ये दातारः साधवो गोरसानाम्।
अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः
समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम्॥२९॥

'यमराजने कहा—''ब्रह्मन्! तुम इन नदियोंको उन श्रेष्ठ पुरुषोंका भोजन समझो, जो गोरस दान करनेवाले हैं। जो गोदानमें तत्पर हैं, उन पुण्यात्माओंके लिये दूसरे भी सनातन लोक विद्यमान हैं, जिनमें दुःख-शोकसे रहित पुण्यात्मा भरे पड़े हैं॥ २९॥

न त्वेतासां दानमात्रं प्रशस्तं
पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च।
ज्ञात्वा देयं विप्र गवान्तरं हि
दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम्॥३०॥

''विप्रवर! केवल इनका दानमात्र ही प्रशस्त नहीं है; सुपात्र ब्राह्मण, उत्तम समय, विशिष्ट गौ तथा दानकी सर्वोत्तम विधि—इन सब बातोंको जानकर ही गोदान करना चाहिये। गौओंका आपसमें जो तारतम्य है, उसे जानना बहुत कठिन काम है और अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी पात्रको पहचानना भी सरल नहीं है॥ ३०॥

स्वाध्यायवान् योऽतिमात्रं तपस्वी
वैतानस्थो ब्राह्मणः पात्रमासाम्।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च
द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः॥३१॥

''जो ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे सम्पन्न, अत्यन्त तपस्वी तथा यज्ञके अनुष्ठानमें लगा हुआ हो, वही इन गौओंके दानका सर्वोत्तम पात्र है। इसके सिवा जो ब्राह्मण कृच्छ्रव्रतसे मुक्त हुए हों और परिवारकी पुष्टिके लिये गोदानके प्रार्थी होकर आये हों, वे भी दानके उत्तम पात्र हैं। इन सुयोग्य पात्रोंको निमित्त बनाकर दानमें दी गयी श्रेष्ठ गौएँ उत्तम मानी गयी हैं॥ ३१॥

तिस्रो रात्र्यस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ
तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः प्रीताः सुप्रजाः सोपचारा-
स्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम्॥३२॥

''तीन राततक उपवासपूर्वक केवल जल पीकर धरती-पर शयन करे। तत्पश्चात् खिला-पिलाकर तृप्त की हुई गौओंका भोजन आदिसे संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंको दान करे। वे गौएँ बछड़ोंके साथ रहकर प्रसन्न हों, सुन्दर बच्चे देनेवाली हों तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त हों। ऐसी गौओंका दान करके तीन दिनोंतक केवल गोरसका आहार करके रहना चाहिये॥ ३२॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥३३॥

''उत्तम शील-स्वभाववाली, भले बछड़ेवाली और भागकर न जानेवाली दुधारू गायका कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करके उस गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता स्वर्गलोकका सुख भोगता है॥ ३३॥

तथानड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय
दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम्।
कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं
भुङ्क्ते लोकान् सम्मितान् धेनुदस्य॥३४॥

''इसी प्रकार जो शिक्षा देकर काबूमें किये हुए, बोझ ढोनेमें समर्थ, बलवान्, जवान, कृषक-समुदायकी जीविका चलाने योग्य, पराक्रमी और विशाल डीलडौलवाले बैलका ब्राह्मणोंको दान देता है, वह दुधारू गायका दान करनेवालेके तुल्य ही उत्तम लोकोंका उपभोग करता है॥ ३४॥

गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं
वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृद्धे ग्लाने सम्भ्रमे वा महार्थे
कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम्॥३५॥
गुर्वर्थं वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां
गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः।
अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः
प्राणक्रीता निर्जिता यौतकाश्च॥३६॥

''जो गौओंके प्रति क्षमाशील, उनकी रक्षा करनेमें समर्थ, कृतज्ञ और आजीविकासे रहित है, ऐसे ब्राह्मणको गोदानका उत्तम पात्र बताया गया है। जो बूढ़ा हो, रोगी होनेके कारण पथ्य-भोजन चाहता हो, दुर्भिक्ष आदिके कारण घबराया हो, किसी महान् यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला हो या जिसके लिये खेतीकी आवश्यकता आ पड़ी हो, होमके लिये हविष्य प्राप्त करनेकी इच्छा हो अथवा घरमें स्त्रीके बच्चा पैदा होनेवाला हो अथवा गुरुके लिये दक्षिणा देनी हो अथवा बालककी पुष्टिके लिये गोदुग्धकी आवश्यकता आ पड़ी हो, ऐसे व्यक्तियोंको ऐसे अवसरोंपर गोदानके लिये सामान्य

देश-काल माना गया है (ऐसे समयमें देश-कालका विचार नहीं करना चाहिये)। जिन गौओंका विशेष भेद जाना हुआ हो, जो खरीदकर लायी गयी हों अथवा ज्ञानके पुरस्काररूपसे प्राप्त हुई हों अथवा प्राणियोंके अदला-बदलीसे खरीदी गयी हों या जीतकर लायी गयी हों अथवा दहेजमें मिली हों, ऐसी गौएँ दानके लिये उत्तम मानी गयी हैं'' ॥

नाचिकेत उवाच

श्रुत्वा वैवस्वतवचस्तमहं पुनरब्रुवम्।
अभावे गोप्रदातॄणां कथं लोकान् हि गच्छति॥ ३७॥

नाचिकेत कहता है—वैवस्वत यमकी बात सुनकर मैंने पुनः उनसे पूछा—'भगवन्! यदि अभाववश गोदान न किया जा सके तो गोदान करनेवालोंको ही मिलनेवाले लोकोंमें मनुष्य कैसे जा सकता है?' ॥ ३७॥

ततोऽब्रवीद् यमो धीमान् गोप्रदानपरां गतिम्।
गोप्रदानानुकल्पं तु गामृते सन्ति गोप्रदाः॥ ३८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् यमराजने गोदानसम्बन्धी गति तथा गोदानके समान फल देनेवाले दानका वर्णन किया, जिसके अनुसार बिना गायके भी लोग गोदान करनेवाले हो सकते हैं ॥ ३८॥

अलाभे यो गवां दद्याद् घृतधेनुं यतव्रतः।
तस्यैता घृतवाहिन्यः क्षरन्ते वत्सला इव॥ ३९॥

'जो गौओंके अभावमें संयम-नियमसे युक्त हो घृतधेनुका दान करता है, उसके लिये ये घृतवाहिनी नदियाँ वत्सला गौओंकी भाँति घृत बहाती हैं ॥ ३९॥

घृतालाभे तु यो दद्यात् तिलधेनुं यतव्रतः।
स दुर्गात् तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते॥ ४०॥

'घीके अभावमें जो व्रत-नियमसे युक्त हो तिलमयी धेनुका दान करता है, वह उस धेनुके द्वारा संकटसे उद्धार पाकर दूधकी नदीमें आनन्दित होता है ॥ ४०॥

तिलालाभे तु यो दद्याज्जलधेनुं यतव्रतः।
स कामप्रवहां शीतां नदीमेतामुपाश्नुते॥ ४१॥

'तिलके अभावमें जो व्रतशील एवं नियमनिष्ठ होकर जलमयी धेनुका दान करता है, वह अभीष्ट वस्तुओंको बहानेवाली इस शीतल नदीके निकट रहकर सुख भोगता है' ॥ ४१॥

एवमेतानि मे तत्र धर्मराजो न्यदर्शयत्।
दृष्ट्वा च परमं हर्षमवापमहमच्युत॥ ४२॥

धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले पूज्य पिताजी! इस प्रकार धर्मराजने मुझे वहाँ ये सब स्थान दिखाये। वह सब देखकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ४२॥

निवेदये चाहमिमं प्रियं ते
क्रतुर्महानल्पधनप्रचारः।
प्राप्तो मया तात स मत्प्रसूतः
प्रपत्स्यते वेदविधिप्रवृत्तः॥ ४३॥

तात! मैं आपके लिये यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करता हूँ कि मैंने वहाँ थोड़े-से ही धनसे सिद्ध होनेवाला यह गोदानरूप महान् यज्ञ प्राप्त किया है। वह यहाँ वेदविधिके अनुसार मुझसे प्रकट होकर सर्वत्र प्रचलित होगा ॥ ४३॥

शापो ह्ययं भवतोऽनुग्रहाय
प्राप्तो मया यत्र दृष्टो यमो वै।
दानव्युष्टिं तत्र दृष्ट्वा महात्मन्
निःसंदिग्धान् दानधर्मांश्चरिष्ये॥ ४४॥

आपके द्वारा मुझे जो शाप मिला, वह वास्तवमें मुझपर अनुग्रहके लिये ही प्राप्त हुआ था, जिससे मैंने यमलोकमें जाकर वहाँ यमराजको देखा। महात्मन्! वहाँ दानके फलको प्रत्यक्ष देखकर मैं संदेहरहित दानधर्मोंका अनुष्ठान करूँगा ॥

इदं च मामब्रवीद् धर्मराजः
पुनः पुनः सम्प्रहृष्टो महर्षे।
दानेन यः प्रयतोऽभूत् सदैव
विशेषतो गोप्रदानं च कुर्यात्॥ ४५॥

महर्षे! धर्मराजने बारंबार प्रसन्न होकर मुझसे यह भी कहा था कि 'जो लोग दानसे सदा पवित्र होना चाहें, वे विशेषरूपसे गोदान करें ॥ ४५॥

शुद्धो ह्यर्थो नावमन्यस्व धर्मान्
पात्रे देयं देशकालोपपन्ने।
तस्माद् गावस्ते नित्यमेव प्रदेया
मा भूच्च ते संशयः कश्चिदत्र॥ ४६॥

'मुनिकुमार! धर्म निर्दोष विषय है। तुम धर्मकी अवहेलना न करना। उत्तम देश, काल प्राप्त होनेपर सुपात्रको दान देते रहना चाहिये। अतः तुम्हें सदा ही गोदान करना उचित है। इस विषयमें तुम्हारे भीतर कोई संदेह नहीं होना चाहिये ॥

एताः पुरा ह्यददन्नित्यमेव
शान्तात्मानो दानपथे निविष्टाः।
तपांस्युग्राण्यप्रतिशङ्कमाना-
स्ते वै दानं प्रददुश्चैव शक्त्या॥ ४७॥

'पूर्वकालमें शान्तचित्तवाले पुरुषोंने दानके मार्गमें स्थित हो नित्य ही गौओंका दान किया था। वे अपनी उग्र तपस्याके विषयमें संदेह न रखते हुए भी यथाशक्ति दान देते ही रहते थे ॥ ४७॥

काले च शक्त्या मत्सरं वर्जयित्वा
शुद्धात्मानः श्रद्धिनः पुण्यशीलाः।

दत्त्वा गा वै लोकममुं प्रपन्ना
देदीप्यन्ते पुण्यशीलास्तु नाके ॥ ४८ ॥

'कितने ही शुद्धचित, श्रद्धालु एवं पुण्यात्मा पुरुष ईर्ष्याका त्याग करके समयपर यथाशक्ति गोदान करके परलोकमें पहुँचकर अपने पुण्यमय शील-स्वभावके कारण स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥ ४८ ॥

एतद् दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः
पात्रे दत्तं प्रापणीयं परीक्ष्य ।
काम्याष्टम्यां वर्तितव्यं दशाहं
रसैर्गवां शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ ४९ ॥

'न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए इस गोधनका ब्राह्मणोंको दान करना चाहिये तथा पात्रकी परीक्षा करके सुपात्रको दी हुई गाय उसके घर पहुँचा देना चाहिये और किसी भी शुभ अष्टमीसे आरम्भ करके दस दिनोंतक मनुष्यको गोरस, गोबर अथवा गोमूत्रका आहार करके रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

देवव्रती स्याद् वृषभप्रदाने-
र्वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने ।
तीर्थावाप्तिर्गोप्रयुक्तप्रदाने
पापोत्सर्गः कपिलायाः प्रदाने ॥ ५० ॥

'एक बैलका दान करनेसे मनुष्य देवताओंका सेवक होता है । दो बैलोंका दान करनेपर उसे वेदविद्याकी प्राप्ति होती है । उन बैलोंसे जुते हुए छकड़ेका दान करनेसे तीर्थसेवनका फल प्राप्त होता है और कपिला गायके दानसे समस्त पापोंका परित्याग हो जाता है ॥ ५० ॥

गामप्येकां कपिलां सम्प्रदाय
न्यायोपेतां कलुषाद् विप्रमुच्येत् ।
गवां रसात् परमं नास्ति किंचिद्
गवां प्रदानं सुमहद् वदन्ति ॥ ५१ ॥

'मनुष्य न्यायतः प्राप्त हुई एक भी कपिला गायका दान करके सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है । गोरससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; इसीलिये विद्वान् पुरुष गोदानको महादान बतलाते हैं ॥ ५१ ॥

गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो
गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके ।
यस्तं जानन्न गवां हार्दमेति
स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥

गौएँ दूध देकर सम्पूर्ण लोकोंका भूखके कष्टसे उद्धार करती हैं । ये लोकमें सबके लिये अन्न पैदा करती हैं । इस बातको जानकर भी जो गौओंके प्रति सौहार्दका भाव नहीं रखता, वह पापात्मा मनुष्य नरकमें पड़ता है ॥ ५२ ॥

यैस्तद् दत्तं गोसहस्रं शतं वा
दशार्धं वा दश वा साधुवत्सम् ।
अप्येका वै साधवे ब्राह्मणाय
सास्यामुष्मिन् पुण्यतीर्था नदी वै ॥ ५३ ॥

'जो मनुष्य किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको सहस्र, शत, दस अथवा पाँच गौओंका उनके अच्छे बछड़ोंसहित दान करता है अथवा एक ही गाय देता है, उसके लिये वह गौ परलोकमें पवित्र तीर्थोंवाली नदी बन जाती है ॥ ५३ ॥

प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन
गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम् ।
शब्दश्चैकः संततिश्चोपभोगा-
स्तस्माद् गोदः सूर्य इवावभाति ॥ ५४ ॥

'प्राप्ति, पुष्टि तथा लोकरक्षा करनेके द्वारा गौएँ इस पृथ्वीपर सूर्यकी किरणोंके समान मानी गयी हैं । एक ही 'गो' शब्द धेनु और सूर्य-किरणोंका बोधक है । गौओंसे ही संतति और उपभोग प्राप्त होते हैं; अतः गोदान करनेवाला मनुष्य किरणोंका दान करनेवाले सूर्यके ही समान माना जाता है ॥

गुरुं शिष्यो वरयेद् गोप्रदाने
स वै गन्ता नियतं स्वर्गमेव ।
विधिज्ञानां सुमहान् धर्म एष
विधिं ह्याद्यं विधयः संविशन्ति ॥ ५५ ॥

'शिष्य जब गोदान करने लगे, तब उसे ग्रहण करनेके लिये गुरुको चुने । यदि गुरुने वह गोदान स्वीकार कर लिया तो शिष्य निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है । विधिके जाननेवाले पुरुषोंके लिये यह गोदान महान् धर्म है । अन्य सब विधियाँ इस आदि विधिमें ही अन्तर्भूत हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

इदं दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः
पात्रे दत्त्वा प्रापयेथाः परीक्ष्य ।
त्वय्याशंसन्त्यमरा मानवाश्च
वयं चापि प्रसृते पुण्यशीले ॥ ५६ ॥

'तुम न्यायके अनुसार गोधन प्राप्त करके पात्रकी परीक्षा करनेके पश्चात् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उनका दान कर देना और दी हुई वस्तुको ब्राह्मणके घर पहुँचा देना । तुम पुण्यात्मा और पुण्यकार्यमें प्रवृत्त रहनेवाले हो; अतः देवता, मनुष्य तथा हमलोग तुमसे धर्मकी ही आशा रखते हैं' ॥ ५६ ॥

इत्युक्तोऽहं धर्मराजं द्विजर्षे
धर्मात्मानं शिरसाभिप्रणम्य ।
अनुज्ञातस्तेन वैवस्वतेन
प्रत्यागमं भगवत्पादमूलम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मर्षे ! धर्मराजके ऐसा कहनेपर मैंने उन धर्मात्मा देवताको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और फिर उनकी आज्ञा लेकर मैं आपके चरणोंके समीप लौट आया ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि यमवाक्यं नाम एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें यमराजका वाक्य नामक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥



इन्द्रका ब्रह्माजीके साथ गौओंके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

गौओंके लोक और गोदानविषयक युधिष्ठिर और इन्द्रके प्रश्न

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं ते गोप्रदानं वै नाचिकेतमृषिं प्रति।
माहात्म्यमपि चैवोक्तमुद्देशेन गवां प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रभो! आपने नाचिकेत ऋषिके प्रति किये गये गोदानसम्बन्धी उपदेशकी चर्चा की और गौओंके माहात्म्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया ॥ १ ॥

नृगेण च महद्दुःखमनुभूतं महात्मना।
एकापराधादज्ञानात् पितामह महामते ॥ २ ॥

महामते पितामह! महात्मा राजा नृगने अनजानमें किये हुए एकमात्र अपराधके कारण महान् दुःख भोगा था ॥ २ ॥

द्वारवत्यां यथा चासौ निविशन्त्यां समुद्धृतः।
मोक्षहेतुरभूत् कृष्णस्तदप्यवधृतं मया ॥ ३ ॥

जब द्वारकापुरी बसने लगी थी, उस समय उनका उद्धार हुआ और उनके उस उद्धारमें हेतु हुए भगवान् श्रीकृष्ण। ये सारी बातें मैंने ध्यानसे सुनी और समझी हैं ॥

किं त्वस्ति मम संदेहो गवां लोकं प्रति प्रभो।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामि गोदा यत्र वसन्त्युत ॥ ४ ॥

परंतु प्रभो! मुझे गोलोकके सम्बन्धमें कुछ संदेह है; अतः गोदान करनेवाले मनुष्य जिस लोकमें निवास करते हैं, उसका मैं यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथापृच्छत् पद्मयोनिमेतदेव शतक्रतुः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। जैसा कि इन्द्रने किसी समय ब्रह्माजीसे यही प्रश्न किया था ॥

शक्र उवाच

स्वर्लोकवासिनां लक्ष्मीमभिभूय स्वयार्चिषा।
गोलोकवासिनः पश्ये व्रजतः संशयोऽत्र मे ॥ ६ ॥

इन्द्रने पूछा—भगवन्! मैं देखता हूँ कि गोलोक-निवासी पुरुष अपने तेजसे स्वर्गवासियोंकी कान्ति फीकी करते हुए उन्हें लाँघकर चले जाते हैं; अतः मेरे मनमें यहाँ यह संदेह होता है ॥ ६ ॥

कीदृशा भगवँल्लोका गवां तद् ब्रूहि मेऽनघ।
यानावसन्ति दातार एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ७ ॥

भगवन्! गौओंके लोक कैसे हैं? अनघ! यह मुझे बताइये। गोदान करनेवाले लोग जिन लोकोंमें निवास करते हैं, उनके विषयमें मैं निम्नाङ्कित बातें जानना चाहता हूँ ॥

कीदृशाः किंफलाः किंस्वित् परमस्तत्र को गुणः।
कथं च पुरुषास्तत्र गच्छन्ति विगतज्वराः ॥ ८ ॥

वे लोक कैसे हैं? वहाँ क्या फल मिलता है? वहाँका सबसे महान् गुण क्या है? गोदान करनेवाले मनुष्य सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर वहाँ किस प्रकार पहुँचते हैं? ॥ ८ ॥

कियत्कालं प्रदानस्य दाता च फलमश्नुते।
कथं बहुविधं दानं स्यादल्पमपि वा कथम् ॥ ९ ॥

दाताको गोदानका फल वहाँ कितने समयतक भोगनेको मिलता है? अनेक प्रकारका दान कैसे किया जाता है? अथवा थोड़ा-सा भी दान किस प्रकार सम्भव होता है? ॥ ९ ॥

बह्वीनां कीदृशं दानमल्पानां वापि कीदृशम्।
अदत्त्वा गोप्रदाः सन्ति केन वा तच्च शंस मे ॥ १० ॥

बहुत-सी गौओंका दान कैसा होता है? अथवा थोड़ी-सी गौओंका दान कैसा माना जाता है? गोदान न करके भी लोग किस उपायसे गोदान करनेवालोंके समान हो जाते हैं? यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

कथं वा बहुदाता स्यादल्पदात्रा समः प्रभो।
अल्पप्रदाता बहुदः कथं स्वित् स्यादिहेश्वर ॥ ११ ॥

प्रभो! बहुत दान करनेवाला पुरुष अल्प दान करनेवाले-के समान कैसे हो जाता है? तथा सुरेश्वर! अल्प दान करने-वाला पुरुष बहुत दान करनेवालेके तुल्य किस प्रकार हो जाता है? ॥ ११ ॥

कीदृशी दक्षिणा चैव गोप्रदाने विशिष्यते।
एतत् तथ्येन भगवन् मम शंसितुमर्हसि ॥ १२ ॥

भगवन्! गोदानमें कैसी दक्षिणा श्रेष्ठ मानी जाती है? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानसम्बन्धी बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका इन्द्रसे गोलोक और गोदानकी महिमा बताना

पितामह उवाच

योऽयं प्रश्नस्त्वया पृष्टो गोप्रदानादिकारितः।
नास्ति प्रष्टास्ति लोकेऽस्मिंस्त्वत्तोऽन्यो हि शतक्रतो ॥ १

ब्रह्माजीने कहा—देवेन्द्र! गोदानके सम्बन्धमें मैंने

जो यह प्रश्न उपस्थित किया है, तुम्हारे सिवा इस जगत्‌में दूसरा कोई ऐसा प्रश्न करनेवाला नहीं है ॥ १ ॥

सन्ति नानाविधा लोका यांस्त्वं शक्र न पश्यसि ।
पश्यामियानहं लोकानेकपत्न्यश्च याः स्त्रियः ॥२॥

शक्र ! ऐसे अनेक प्रकारके लोक हैं, जिन्हें तुम नहीं देख पाते हो । मैं उन लोकोंको देखता हूँ और पतिव्रता स्त्रियाँ भी उन्हें देख सकती हैं ॥ २ ॥

कर्मभिश्चापि सुशुभैः सुव्रता ऋषयस्तथा ।
सशरीरा हि तान् यान्ति ब्राह्मणाः शुभबुद्धयः ॥ ३ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि तथा शुभ बुद्धिवाले ब्राह्मण अपने शुभकर्मोंके प्रभावसे वहाँ सशरीर चले जाते हैं ॥ ३ ॥

शरीरन्यासमोक्षेण मनसा निर्मलेन च ।
स्वप्नभूतांश्च ताँल्लोकान् पश्यन्तीहापि सुव्रताः ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ व्रतके आचरणमें लगे हुए योगी पुरुष समाधि-अवस्थामें अथवा मृत्युके समय जब शरीरसे सम्बन्ध त्याग देते हैं, तब अपने शुद्ध चित्तके द्वारा स्वप्नकी भाँति दीखनेवाले उन लोकोंका यहाँसे भी दर्शन करते हैं ॥ ४ ॥

ते तु लोकाः सहस्राक्ष शृणु यादृग्गुणान्विताः ।
न तत्र क्रमते कालो न जरा न च पावकः ॥ ५ ॥

सहस्राक्ष ! वे लोक जैसे गुणोंसे सम्पन्न हैं, उनका वर्णन सुनो । वहाँ काल और बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता । अग्निका भी जोर नहीं चलता ॥ ५ ॥

तथा नास्त्यशुभं किंचिन्न व्याधिस्तत्र न क्लमः ।
यद् यच्च गावो मनसा तस्मिन् वाञ्छन्ति वासव ॥ ६ ॥
तत् सर्वं प्राप्नुवन्ति स्म मम प्रत्यक्षदर्शनात् ।
कामगाः कामचारिण्यः कामात् कामांश्च भुञ्जते ॥ ७ ॥

वहाँ किसीका किञ्चिन्मात्र भी अमङ्गल नहीं होता । उस लोकमें न रोग है न शोक । इन्द्र ! वहाँकी गौएँ अपने मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करती हैं, वे सब उन्हें प्राप्त हो जाती हैं, यह मेरी प्रत्यक्ष देखी हुई बात है । वे जहाँ जाना चाहती हैं, जाती हैं; जैसे चलना चाहती हैं चलती हैं और संकल्पमात्रसे सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्तकर उनका उपभोग करती हैं ॥ ६-७ ॥

वाप्यः सरांसि सरितो विविधानि वनानि च ।
गृहाणि पर्वताश्चैव यावद्द्रव्यं च किंच न ॥ ८ ॥

बावड़ी, तालाब, नदियाँ, नाना प्रकारके वन, गृह और पर्वत आदि सभी वस्तुएँ वहाँ उपलब्ध हैं ॥ ८ ॥

मनोज्ञं सर्वभूतेभ्यः सर्वतन्त्रं प्रदृश्यते ।
ईदृशाद् विपुलाल्लोकान्नास्ति लोकस्तथाविधः ॥ ९ ॥

गोलोक समस्त प्राणियोंके लिये मनोहर है । वहाँकी प्रत्येक वस्तुपर सबका समान अधिकार देखा जाता है । इतना विशाल दूसरा कोई लोक नहीं है ॥ ९ ॥

तत्र सर्वसहाः क्षान्ता वत्सला गुरुवर्तिनः ।
अहङ्कारैर्विरहिता यान्ति शक्र नरोत्तमाः ॥ १० ॥

इन्द्र ! जो सब कुछ सहनेवाले, क्षमाशील, दयालु, गुरुजनोंकी आज्ञामें रहनेवाले और अहंकाररहित हैं, वे श्रेष्ठ मनुष्य ही उस लोकमें जाते हैं ॥ १० ॥

यः सर्वमांसानि न भक्षयीत
पुमान् सदा भावितो धर्मयुक्तः ।
मातापित्रोरर्चिता सत्ययुक्तः
शुश्रूषिता ब्राह्मणानामनिन्द्यः ॥ ११ ॥
अक्रोधनो गोषु तथा द्विजेषु
धर्मे रतो गुरुशुश्रूषकश्च ।
यावज्जीवं सत्यवृत्ते रतश्च
दाने रतो यः क्षमी चापराधे ॥ १२ ॥
मृदुर्दान्तो देवपरायणश्च
सर्वातिथिश्चापि तथा दयावान् ।
ईदृग्गुणो मानवस्तं प्रयाति
लोकं गवां शाश्वतं चाव्ययं च ॥ १३ ॥

जो सब प्रकारके मांसोंका भोजन त्याग देता है, सदा भगवच्चिन्तनमें लगा रहता है, धर्मपरायण होता है, माता-पिताकी पूजा करता, सत्य बोलता, ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहता, जिसकी कभी निन्दा नहीं होती, जो गौओं और ब्राह्मणोंपर कभी क्रोध नहीं करता, धर्ममें अनुरक्त रहकर गुरुजनोंकी सेवा करता है, जीवनभरके लिये सत्यका व्रत ले लेता है, दानमें प्रवृत्त रहकर किसीके अपराध करनेपर भी उसे क्षमा कर देता है, जिसका स्वभाव मृदुल है, जो जितेन्द्रिय, देवाराधक, सबका आतिथ्य-सत्कार करनेवाला और दयालु है, ऐसे ही गुणोंवाला मनुष्य उस सनातन एवं अविनाशी गोलोकमें जाता है ॥ ११-१३ ॥

न पारदारी पश्यति लोकमेतं
न वै गुरुघ्नो न मृषा सम्प्रलापी ।
सदा प्रवादी ब्राह्मणेष्वात्तवैरो
दोषैरेतैर्यश्च युक्तो दुरात्मा ॥ १४ ॥
न मित्रध्रुङ्नैकृतिकः कृतघ्नः
शठोऽनृजुर्धर्मविद्वेषकश्च ।
न ब्रह्महा मनसापि प्रपश्येद्
गवां लोकं पुण्यकृतां निवासम् ॥ १५ ॥

परस्त्रीगामी, गुरुहत्यारा, असत्यवादी, सदा बकवाद करनेवाला, ब्राह्मणोंसे वैर बाँध रखनेवाला, मित्रद्रोही, ठग, कृतघ्न, शठ, कुटिल, धर्मद्वेषी और ब्रह्महत्यारा—इन सब दोषोंसे युक्त दुरात्मा मनुष्य कभी मनसे भी गोलोकका दर्शन नहीं पा सकता; क्योंकि वहाँ पुण्यात्माओंका निवास है ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं निपुणेन सुरेश्वर।
गोप्रदानरतानां तु फलं शृणु शतक्रतो ॥ १६ ॥

सुरेश्वर ! शतक्रतो ! यह सब मैंने तुम्हें विशेषरूपसे गोलोकका माहात्म्य बताया है। अब गोदान करनेवालोंको जो फल प्राप्त होता है, उसे सुनो ॥ १६ ॥

दायाद्यलब्धैरर्थैर्यो गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति।
धर्मार्जितान् धनैः क्रीतान् स लोकानाप्नुतेऽक्षयान्॥ १७॥

जो पुरुष अपनी पैतृक सम्पत्तिसे प्राप्त हुए धनके द्वारा गौएँ खरीदकर उनका दान करता है, वह उस धनसे धर्मपूर्वक उपार्जित हुए अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

यो वै द्यूते धनं जित्वा गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति।
स दिव्यमयुतं शक्र वर्षाणां फलमश्नुते ॥ १८ ॥

शक्र ! जो जूएमें धन जीतकर उसके द्वारा गायोंको खरीदता और उनका दान करता है, वह दस हजार दिव्य वर्षोंतक उसके पुण्यफलका उपभोग करता है ॥ १८ ॥

दायाद्याद्याः स्म वै गावो न्यायपूर्वैरुपार्जिताः।
प्रदद्यात् ताः प्रदातॄणां सम्भवन्त्यपि च ध्रुवाः ॥१९॥

जो पैतृक-सम्पत्तिसे न्यायपूर्वक प्राप्त की हुई गौओंका दान करता है, ऐसे दाताओंके लिये वे गौएँ अक्षय फल देनेवाली हो जाती हैं ॥ १९ ॥

प्रतिगृह्य तु यो दद्याद् गाः संशुद्धेन चेतसा।
तस्यापीहाक्षयाँल्लोकान् ध्रुवान् विद्धि शचीपते॥२०॥

शचीपते ! जो पुरुष दानमें गौएँ लेकर फिर शुद्ध हृदयसे उनका दान कर देता है, उसे भी यहाँ अक्षय एवं अटल लोकोंकी प्राप्ति होती है—यह निश्चितरूपसे समझ लो ॥

जन्मप्रभृति सत्यं च यो ब्रूयान्नियतेन्द्रियः।
गुरुद्विजसहः क्षान्तस्तस्य गोभिः समा गतिः ॥ २१ ॥

जो जन्मसे ही सदा सत्य बोलता, इन्द्रियोंको काबूमें रखता, गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंकी कठोर बातोंको भी सह लेता और क्षमाशील होता है, उसकी गौओंके समान गति होती है अर्थात् वह गोलोकमें जाता है ॥ २१ ॥

न जातु ब्राह्मणो वाच्यो यदवाच्यं शचीपते।
मनसा गोषु न द्रुह्येद् गोवृत्तिर्गोऽनुकम्पकः॥ २२ ॥
सत्ये धर्मे च निरतस्तस्य शक्र फलं शृणु।
गोसहस्रेण समिता तस्य धेनुर्भवत्युत ॥ २३ ॥

शचीपते शक्र ! ब्राह्मणके प्रति कभी कुवाच्य नहीं बोलना चाहिये और गौओंके प्रति कभी मनसे भी द्रोहका भाव नहीं रखना चाहिये। जो ब्राह्मण गौओंके समान वृत्तिसे रहता है और गौओंके लिये घास आदिकी व्यवस्था करता है, साथ ही सत्य और धर्ममें तत्पर रहता है, उसे प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन सुनो। वह यदि एक गौका भी दान करे तो उसे एक हजार गोदानके समान फल मिलता है ॥ २२-२३ ॥

क्षत्रियस्य गुणैरेतैरपि तुल्यफलं शृणु।
तस्यापि द्विजतुल्या गौर्भवतीति विनिश्चयः ॥ २४ ॥

यदि क्षत्रिय भी इन गुणोंसे युक्त होता है तो उसे भी ब्राह्मणके समान ही (गोदानका) फल मिलता है। इस बातको अच्छी तरह सुन लो। उसकी (दान दी हुई) गौ भी ब्राह्मणकी गौके तुल्य ही फल देनेवाली होती है। यह धर्मात्माओंका निश्चय है ॥ २४ ॥

वैश्यस्यैते यदि गुणास्तस्य पञ्चशतं भवेत्।
शूद्रस्यापि विनीतस्य चतुर्भागफलं स्मृतम् ॥ २५ ॥

यदि वैश्यमें भी उपर्युक्त गुण हों तो उसे भी एक गोदान करनेपर ब्राह्मणकी अपेक्षा (आधे भाग) पाँच सौ गौओंके दानका फल मिलता है और विनयशील शूद्रको ब्राह्मणके चौथाई भाग अर्थात् ढाई सौ गौओंके दानका फल प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

एतच्चैनं योऽनुतिष्ठेत युक्तः
सत्ये रतो गुरुशुश्रूषया च।
दक्षः क्षान्तो देवतार्थी प्रशान्तः
शुचिर्बुद्धो धर्मशीलोऽनहंवाक् ॥ २६ ॥
महत् फलं प्राप्यते स द्विजाय
दत्त्वा दोग्ध्रीं विधिनानेन धेनुम्।

जो पुरुष सदा सावधान रहकर इस उपर्युक्त धर्मका पालन करता है तथा जो सत्यवादी, गुरुसेवापरायण, दक्ष, क्षमाशील, देवभक्त, शान्तचित्त, पवित्र, ज्ञानवान्, धर्मात्मा और अहंकारशून्य होता है, वह यदि पूर्वोक्त विधिसे ब्राह्मणको दूध देनेवाली गायका दान करे तो उसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥ २६½ ॥

नित्यं दद्यादेकभक्तः सदा च
सत्ये स्थितो गुरुशुश्रूषिता च ॥ २७ ॥
वेदाध्यायी गोषु यो भक्तिमांश्च
नित्यं दत्त्वा योऽभिनन्देत गाश्च।
आजातितो यश्च गवां नमेत
इदं फलं शक्र निबोध तस्य ॥ २८ ॥

इन्द्र ! जो सदा एक समय भोजन करके नित्य गोदान करता है, सत्यमें स्थित होता है, गुरुकी सेवा और वेदोंका स्वाध्याय करता है, जिसके मनमें गौओंके प्रति भक्ति है, जो गौओंका दान देकर प्रसन्न होता है तथा जन्मसे ही गौओंको प्रणाम करता है, उसको मिलनेवाले इस फलका वर्णन सुनो ॥ २७-२८ ॥

यत् स्यादिष्ट्वा राजसूये फलं तु
यत् स्यादिष्ट्वा बहुना काञ्चनेन ।
एतत् तुल्यं फलमप्याहुरग्र्यं
सर्वे सन्तस्त्वृषयो ये च सिद्धाः ॥ २९ ॥

राजसूय यज्ञका अनुष्ठान करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है तथा बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणा देकर यज्ञ करनेसे जो फल मिलता है, उपर्युक्त मनुष्य भी उसके समान ही उत्तम फलका भागी होता है । यह सभी सिद्ध-संत-महात्मा एवं ऋषियोंका कथन है ॥ २९ ॥

योऽग्रं भक्तं किंचिदप्राश्य दद्याद्
गोभ्यो नित्यं गोव्रती सत्यवादी ।
शान्तोऽलुब्धो गोसहस्रस्य पुण्यं
संवत्सरेणाप्नुयात् सत्यशीलः ॥ ३० ॥

जो गोसेवाका व्रत लेकर प्रतिदिन भोजनसे पहले गौओंको गोग्रास अर्पण करता है तथा शान्त एवं निर्लोभ होकर सदा सत्यका पालन करता रहता है, वह सत्यशील पुरुष प्रतिवर्ष एक सहस्र गोदान करनेके पुण्यका भागी होता है ॥ ३० ॥

यदेकभक्तमश्नीयाद् दद्यादेकं गवां च यत् ।
दशवर्षाण्यनन्तानि गोव्रती गोऽनुकम्पकः ॥ ३१ ॥

जो गोसेवाका व्रत लेनेवाला पुरुष गौओंपर दया करता और प्रतिदिन एक समय भोजन करके एक समयका अपना भोजन गौओंको दे देता है, इस प्रकार दस वर्षोंतक गोसेवामें तत्पर रहनेवाले पुरुषको अनन्त सुख प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

एकेनैव च भक्तेन यः क्रीत्वा गां प्रयच्छति ।
यावन्ति तस्या रोमाणि सम्भवन्ति शतक्रतो ॥ ३२ ॥
तावत्प्रदानात् स गवां फलमाप्नोति शाश्वतम् ।

शतक्रतो ! जो एक समय भोजन करके दूसरे समयके बचाये हुए भोजनसे गाय खरीदकर उसका दान करता है, वह उस गौके जितने रोएँ होते हैं, उतने गौओंके दानका अक्षय फल पाता है ॥ ३२½ ॥

ब्राह्मणस्य फलं हीदं क्षत्रियस्य तु वै शृणु ॥ ३३ ॥
पञ्चवार्षिकमेवं तु क्षत्रियस्य फलं स्मृतम् ।
ततोऽर्धेन तु वैश्यस्य शूद्रो वैश्यार्धतः स्मृतः ॥ ३४ ॥

यह ब्राह्मणके लिये फल बताया गया । अब क्षत्रियको मिलनेवाले फलका वर्णन सुनो । यदि क्षत्रिय इसी प्रकार पाँच वर्षोंतक गौकी आराधना करे तो उसे वही फल प्राप्त होता है । उससे आधे समयमें वैश्यको और उससे भी आधे समयमें शूद्रको उसी फलकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ३३-३४ ॥

यश्चात्मविक्रयं कृत्वा गाः क्रीत्वा सम्प्रयच्छति ।
यावत् संदर्शयेद् गां वै स तावत् फलमश्नुते ॥ ३५ ॥

जो अपने आपको बेचकर भी गाय खरीदकर उसका दान करता है, वह ब्रह्माण्डमें जबतक गोजातिकी सत्ता देखता है, तबतक उस दानका अक्षय फल भोगता रहता है ॥ ३५ ॥

रोम्णि रोम्णि महाभाग लोकाश्चास्याऽक्षयाः स्मृताः ।
संग्रामेष्वर्जयित्वा तु यो वै गाः सम्प्रयच्छति ।
आत्मविक्रयतुल्यास्ताः शाश्वता विद्धि कौशिक ॥ ३६ ॥

महाभाग इन्द्र ! गौओंके रोम-रोममें अक्षय लोकोंकी स्थिति मानी गयी है । जो संग्राममें गौओंको जीतकर उनका दान कर देता है, उनके लिये वे गौएँ स्वयं अपनेको बेचकर लेकर दी हुई गौओंके समान अक्षय फल देनेवाली होती हैं—इस बातको तुम जान लो ॥ ३६ ॥

अभावे यो गवां दद्यात् तिलधेनुं यतव्रतः ।
दुर्गात् स तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ३७ ॥

जो संयम और नियमका पालन करनेवाला पुरुष गौओंके अभावमें तिलधेनुका दान करता है, वह उस धेनुकी सहायता पाकर दुर्गम संकटसे पार हो जाता है तथा दूधकी धारा बहानेवाली नदीके तटपर रहकर आनन्द भोगता है ॥ ३७ ॥

न त्वेवासां दानमात्रं प्रशस्तं
पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च ।
कालज्ञानं विप्र गवान्तरं हि
दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३८ ॥

केवल गौओंका दानमात्र कर देना प्रशंसाकी बात नहीं है; उसके लिये उत्तम पात्र, उत्तम समय, विशिष्ट गौ, विधि और कालका ज्ञान आवश्यक है । विप्रवर ! गौओंमें जो परस्पर तारतम्य है, उसको तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी पात्रको जानना बहुत ही कठिन है ॥ ३८ ॥

स्वाध्यायाढ्यं शुद्धयोनिं प्रशान्तं
वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम् ।
गोषु क्षान्तं नातितीक्ष्णं शरण्यं
वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ॥ ३९ ॥

जो वेदोंके स्वाध्यायसे सम्पन्न, शुद्ध कुलमें उत्पन्न, शान्तस्वभाव, यज्ञपरायण, पापभीरु और बहुज्ञ है, जो

गौओंके प्रति क्षमाभाव रखता है, जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा नहीं है, जो गौओंकी रक्षा करनेमें समर्थ और जीविकासे रहित है, ऐसे ब्राह्मणको गोदानका उत्तम पात्र बताया गया है ॥ ३९ ॥

वृत्तिग्लाने सीदति चातिमात्रं
कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूतेः।
गुर्वर्थं वा बालसंवृद्धये वा
धेनुं दद्याद् देशकालेऽविशिष्टे ॥ ४० ॥

जिसकी जीविका क्षीण हो गयी हो तथा जो अत्यन्त कष्ट पा रहा हो, ऐसे ब्राह्मणको सामान्य देश-कालमें भी दूध देनेवाली गायका दान करना चाहिये। इसके सिवा खेतीके लिये, होम-सामग्रीके लिये, प्रसूता स्त्रीके पोषणके लिये, गुरुदक्षिणाके लिये अथवा शिशुपालनके लिये सामान्य देश-कालमें भी दुधारू गायका दान करना उचित है ॥ ४० ॥

अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः
प्राणैः क्रीतास्तेजसा यौतकाश्च।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च
द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ४१ ॥

गर्भिणी, खरीदकर लायी हुई, ज्ञान या विद्याके बलसे प्राप्त की हुई, दूसरे प्राणियोंके बदलेमें लायी हुई अथवा युद्धमें पराक्रम प्रकट करके प्राप्त की हुई, दहेजमें मिली हुई, पालनमें कष्ट समझकर स्वामीके द्वारा परित्यक्त हुई तथा पालन-पोषणके लिये अपने पास आयी हुई विशिष्ट गौएँ इन उपर्युक्त कारणोंसे ही दानके लिये प्रशंसनीय मानी गयी हैं ॥ ४१ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः
सर्वाः प्रशंसन्ते सुगन्धवत्यः।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा
तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ४२ ॥

हृष्ट-पुष्ट, सीधी-सादी, जवान और उत्तम गन्धवाली सभी गौएँ प्रशंसनीय मानी गयी हैं। जैसे गङ्गा सब नदियोंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कपिला गौ सब गौओंमें उत्तम है ॥ ४२ ॥

तिस्रो रात्रीस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ
तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः पुष्टैः क्षीरपैः सुप्रचारा-
स्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ४३ ॥

(गोदानकी विधि इस प्रकार है—) दाता तीन रात तक उपवास करके केवल पानीके आधारपर रहे, पृथ्वीपर शयन करे और गौओंको घास-भूसा खिलाकर पूर्ण तृप्त करे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे संतुष्ट करके उन्हें वे गौएँ दे। उन गौओंके साथ दूध पीनेवाले हृष्ट-पुष्ट बछड़े भी होने चाहिये तथा वैसी ही स्फूर्तियुक्त गौएँ भी हों। गोदान करनेके पश्चात् तीन दिनोंतक केवल गोरस पीकर रहना चाहिये ॥ ४३ ॥

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां साधुदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावन्ति वर्षाणि भवन्त्यमुत्र ॥ ४४ ॥

जो गौ सीधी-सूधी हो, सुगमतासे अच्छी तरह दूध दुहा लेती हो, जिसका बछड़ा भी सुन्दर हो तथा जो बन्धन तुड़ाकर भागनेवाली न हो, ऐसी गौका दान करनेसे उसके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता परलोकमें सुख भोगता है ॥ ४४ ॥

तथानड्वाहं ब्राह्मणाय प्रदाय
धुर्यं युवानं बलिनं विनीतम्।
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यं
प्राप्नोति लोकान् दशधेनुदस्य ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको बोझ उठानेमें समर्थ, जवान, बलिष्ठ, विनीत—सीधा-सादा, हल खींचनेवाला और अधिक शक्तिशाली बैल दान करता है, वह दस धेनु दान करनेवालेके लोकोंमें जाता है ॥ ४५ ॥

कान्तारे ब्राह्मणान् गाश्च यः परित्राति कौशिक।
क्षणेन विप्रमुच्येत तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४६ ॥

इन्द्र ! जो दुर्गम वनमें फँसे हुए ब्राह्मण और गौओंका उद्धार करता है, वह एक ही क्षणमें समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा उसे जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होती है, वह भी सुन लो ॥ ४६ ॥

अश्वमेधक्रतोस्तुल्यं फलं भवति शाश्वतम्।
मृत्युकाले सहस्राक्ष यां वृत्तिमनुकाङ्क्षते ॥ ४७ ॥

सहस्राक्ष ! उसे अश्वमेध यज्ञके समान अक्षय फल सुलभ होता है। वह मृत्युकालमें जिस स्थितिकी आकांक्षा करता है, उसे भी पा लेता है ॥ ४७ ॥

लोकान् बहुविधान् दिव्यान् यच्चास्य हृदि वर्तते।
तत् सर्वं समवाप्नोति कर्मणैतेन मानवः ॥ ४८ ॥

नाना प्रकारके दिव्य लोक तथा उसके हृदयमें जो-जो कामना होती है, वह सब कुछ मनुष्य उपर्युक्त सत्कर्मके प्रभावसे प्राप्त कर लेता है ॥ ४८ ॥

गोभिश्च समनुज्ञातः सर्वत्र च महीयते।
यस्त्वेतेनैव कल्पेन गां वनेष्वनुगच्छति ॥ ४९ ॥
तृणगोमयपर्णाशी निःस्पृहो नियतः शुचिः।
अकामं तेन वस्तव्यं मुदितेन शतक्रतो ॥ ५० ॥
मम लोके सुरैः सार्धं लोके यत्रापि चेच्छति ॥ ५१ ॥

इतना ही नहीं, वह गौओंसे अनुगृहीत होकर सर्वत्र पूजित होता है। शतक्रतो ! जो मनुष्य उपर्युक्त विधिसे वनमें रहकर गौओंका अनुसरण करता है तथा निःस्पृह, संयमी और पवित्र होकर घास पत्ते एवं गोबर खाता हुआ जीवन व्यतीत करता है, वह मनमें कोई कामना न होनेपर मेरे लोकमें देवताओंके साथ आनन्दपूर्वक निवास करता है। अथवा उसकी जहाँ इच्छा होती है, उन्हीं लोकोंमें चला जाता है ॥ ४९—५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पितामहेन्द्रसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्माजी और इन्द्रका संवादविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दूसरोंकी गायको चुराकर देने या बेचनेसे दोष, गोहत्याके भयंकर परिणाम तथा गोदान एवं सुवर्ण-दक्षिणाका माहात्म्य

इन्द्र उवाच

जानन् यो गामपहरेद् विक्रीयाच्चार्थकारणात्।
एतद् विज्ञातुमिच्छामि क नु तस्य गतिर्भवेत् ॥ १ ॥

इन्द्रने पूछा—पितामह ! यदि कोई जान-बूझकर दूसरेकी गौका अपहरण करे और धनके लोभसे उसे बेच डाले, उसकी परलोकमें क्या गति होती है ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पितामह उवाच

भक्षार्थं विक्रयार्थं वा येऽपहारं हि कुर्वते।
दानार्थं ब्राह्मणार्थाय तत्रेदं श्रूयतां फलम् ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र ! जो खाने, बेचने या ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये दूसरेकी गाय चुराते हैं, उन्हें क्या फल मिलता है, यह सुनो ॥ २ ॥

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद् भक्षयेद् वा निरङ्कुशः।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः ॥ ३ ॥

जो उच्छृङ्खल मनुष्य मांस बेचनेके लिये गौकी हिंसा करता या गोमांस खाता है तथा जो स्वार्थवश घातक पुरुषको गाय मारनेकी सलाह देते हैं, वे सभी महान् पापके भागी होते हैं ॥ ३ ॥

घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद् वर्षाणि मज्जति ॥ ४ ॥

गौकी हत्या करनेवाले, उसका मांस खानेवाले तथा गोहत्याका अनुमोदन करनेवाले लोग गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें डूबे रहते हैं ॥ ४ ॥

ये दोषा यादृशाश्चैव द्विजयज्ञोपघातके।
विक्रये चापहारे च ते दोषा वै स्मृताः प्रभो ॥ ५ ॥

प्रभो ! ब्राह्मणके यज्ञका नाश करनेवाले पुरुषको जैसे और जितने पाप लगते हैं, दूसरोंकी गाय चुराने और बेचनेमें भी वे ही दोष बताये गये हैं ॥ ५ ॥

अपहृत्य तु यो गां वै ब्राह्मणाय प्रयच्छति।
यावद् दानफलं तस्यास्तावन्निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो दूसरेकी गाय चुराकर ब्राह्मणको दान करता है, वह गोदानका पुण्य भोगनेके लिये जितना समय शास्त्रोंमें बताया गया है, उतने ही समयतक नरक भोगता है ॥ ६ ॥

सुवर्णं दक्षिणामाहुर्गोप्रदाने महाद्युते।
सुवर्णं परमित्युक्तं दक्षिणार्थमसंशयम् ॥ ७ ॥

महातेजस्वी इन्द्र ! गोदानमें कुछ सुवर्णकी दक्षिणा देनेका विधान है। दक्षिणाके लिये सुवर्ण सबसे उत्तम बताया गया है। इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

गोप्रदानात् तारयते सप्त पूर्वांस्तथा परान्।
सुवर्णं दक्षिणां कृत्वा तावद्द्विगुणमुच्यते ॥ ८ ॥

मनुष्य गोदान करनेसे अपनी सात पीढ़ी पहलेके पितरोंका और सात पीढ़ी आगे आनेवाली संतानोंका उद्धार करता है; किंतु यदि उसके साथ सोनेकी दक्षिणा भी दी जाय तो उस दानका फल दूना बताया गया है ॥ ८ ॥

सुवर्णं परमं दानं सुवर्णं दक्षिणा परा।
सुवर्णं पावनं शक्र पावनानां परं स्मृतम् ॥ ९ ॥

क्योंकि इन्द्र ! सुवर्णका दान सबसे उत्तम दान है। सुवर्णकी दक्षिणा सबसे श्रेष्ठ है तथा पवित्र करनेवाली वस्तुओंमें सुवर्ण ही सबसे अधिक पावन माना गया है ॥

कुलानां पावनं प्राहुर्जातरूपं शतक्रतो।
एषा मे दक्षिणा प्रोक्ता समासेन महाद्युते ॥ १० ॥

महातेजस्वी शतक्रतो ! सुवर्ण सम्पूर्ण कुलोंको पवित्र करनेवाला बताया गया है। इस प्रकार मैंने तुमसे संक्षेपमें यह दक्षिणाकी बात बतायी है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

एतत् पितामहेनोक्तमिन्द्राय भरतर्षभ।
इन्द्रो दशरथायाह रामायाह पिता तथा ॥ ११ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यह उपर्युक्त उपदेश ब्रह्माजीने इन्द्रको दिया। इन्द्रने राजा दशरथको तथा पिता दशरथने अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको दिया ॥

राघवोऽपि प्रियभ्रात्रे लक्ष्मणाय यशस्विने।
ऋषिभ्यो लक्ष्मणेनोक्तमरण्ये वसता प्रभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! श्रीरामचन्द्रजीने भी अपने प्रिय एवं यशस्वी भ्राता लक्ष्मणको इसका उपदेश दिया। फिर लक्ष्मणने भी वनवासके समय ऋषियोंको यह बात बतायी ॥ १२ ॥

पारम्पर्यागतं चेदमृषयः संशितव्रताः।
दुर्धरं धारयामासू राजानश्चैव धार्मिकाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस दुर्धर उपदेशको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषि और धर्मात्मा राजालोग धारण करते आ रहे हैं ॥ १३ ॥

उपाध्यायेन गदितं मम चेदं युधिष्ठिर।
य इदं ब्राह्मणो नित्यं वदेद् ब्राह्मणसंसदि ॥ १४ ॥
यज्ञेषु गोप्रदानेषु द्वयोरपि समागमे।
तस्य लोकाः किलाक्षय्या दैवतैः सह नित्यदा ॥ १५ ॥
(इति ब्रह्मा स भगवान् उवाच परमेश्वरः)

युधिष्ठिर ! मुझसे मेरे उपाध्याय (परशुरामजी) ने इस विषयका वर्णन किया था। जो ब्राह्मण अपनी मण्डलीमें बैठकर प्रतिदिन इस उपदेशको दुहराता है और यज्ञमें, गोदानके समय तथा दो व्यक्तियोंके भी समागममें इसकी चर्चा करता है, उसको सदा देवताओंके साथ अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। यह बात भी परमेश्वर भगवान् ब्रह्माने स्वयं ही इन्द्रको बतायी है ॥ १४-१५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १५½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

व्रत, नियम, दम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता, गुरु आदिकी सेवाकी महत्ता

युधिष्ठिर उवाच

विस्रम्भितोऽहं भवता धर्मान् प्रवदता विभो।
प्रवक्ष्यामि तु संदेहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—प्रभो ! आपने धर्मका उपदेश करके उसमें मेरा दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर दिया है। पितामह ! अब मैं आपसे एक और संदेह पूछ रहा हूँ, उसके विषयमें मुझे बताइये ॥ १ ॥

व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥ २ ॥

महाद्युते ! व्रतोंका क्या और कैसा फल बताया गया है ? नियमोंके पालन और स्वाध्यायका भी क्या फल है ? ॥

दत्तस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम्।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

दान देने, वेदोंको धारण करने और उन्हें पढ़ानेका क्या फल होता है ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यस्तु प्रयच्छति ॥ ४ ॥

पितामह ! संसारमें जो प्रतिग्रह नहीं लेता, उसे क्या फल मिलता है ? तथा जो वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उसके लिये कौन-सा फल देखा गया है ॥ ४ ॥

स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम्।
शौचे च किं फलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥ ५ ॥

अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहनेवाले शूरवीरोंको भी किस फलकी प्राप्ति होती है ? शौचाचारका तथा ब्रह्मचर्यके पालनका क्या फल बताया गया है ? ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥ ६ ॥

पिता और माताकी सेवासे कौन-सा फल प्राप्त होता है ? आचार्य एवं गुरुकी सेवासे तथा प्राणियोंपर अनुग्रह एवं दयाभाव बनाये रखनेसे किस फलकी प्राप्ति होती है ? ॥

एतत् सर्वमशेषेण पितामह यथातथम्।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

धर्मज्ञ पितामह ! यह सब मैं यथावत् रूपसे जानना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा सम्प्रतिपद्यते।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ८

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे किसी व्रतको आरम्भ करके उसे अखण्डरूपसे निभा देते हैं, उन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

नियमानां फलं राजन् प्रत्यक्षमिह दृश्यते।
नियमानां क्रतूनां च त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥ ९ ॥

राजन् ! संसारमें नियमोंके पालनका फल तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। तुमने भी यह नियमों और यज्ञोंका ही फल प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च।
इहलोकेऽथवा नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते॥ १०॥

वेदोंके स्वाध्यायका फल भी इहलोक और परलोकमें भी देखा जाता है। स्वाध्यायशील द्विज इहलोक और ब्रह्मलोकमें भी सदा आनन्द भोगता है॥ १०॥

दमस्य तु फलं राजञ्छृणु त्वं विस्तरेण मे।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः॥ ११॥

राजन्! अब तुम मुझसे विस्तारपूर्वक दम (इन्द्रिय-संयम) के फलका वर्णन सुनो। जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सुखी और सर्वत्र संतुष्ट रहते हैं॥ ११॥

यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिषूदनाः।
प्रार्थयन्ति च यद् दान्ता लभन्ते तन्न संशयः॥ १२॥

वे जहाँ चाहते हैं, वहीं चले जाते हैं और जिस वस्तुकी इच्छा करते हैं, वही उन्हें प्राप्त हो जाती है। वे सम्पूर्ण शत्रुओंका अन्त कर देते हैं। इसमें संशय नहीं है॥ १२॥

युज्यन्ते सर्वकामैर्हि दान्ताः सर्वत्र पाण्डव।
स्वर्गे यथा प्रमोदन्ते तपसा विक्रमेण च॥ १३॥
दानैर्यज्ञैश्च विविधैस्तथा दान्ताः क्षमान्विताः।

पाण्डुनन्दन! जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सम्पूर्ण मनचाही वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं। वे अपनी तपस्या, पराक्रम, दान तथा नाना प्रकारके यज्ञोंसे स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं। इन्द्रियोंका दमन करनेवाले पुरुष क्षमाशील होते हैं॥ १३½॥

दानाद् दमो विशिष्टो हि ददत्किंचिद् द्विजातये॥ १४॥
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद् दानात् परं दमः।
यस्तु दद्यादकुप्यन् हि तस्य लोकाः सनातनाः॥ १५॥

दानसे दमका स्थान ऊँचा है। दानी पुरुष ब्राह्मणको कुछ दान करते समय कभी क्रोध भी कर सकता है; परंतु दमनशील या जितेन्द्रिय पुरुष कभी क्रोध नहीं करता; इसलिये दम (इन्द्रिय-संयम) दानसे श्रेष्ठ है। जो दाता बिना क्रोध किये दान करता है, उसे सनातन (नित्य) लोक प्राप्त होते हैं॥ १४-१५॥

क्रोधो हन्ति हि यद् दानं तस्माद् दानात् परं दमः।
अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि॥ १६॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु याहीतो यान्ति देवताः।
दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः॥ १७॥
कामयाना महत्स्थानं तस्माद् दानात् परं दमः।

दान करते समय यदि क्रोध आ जाय तो वह दानके फलको नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोधको दबानेवाला जो दमनामक गुण है, वह दानसे श्रेष्ठ माना गया है। महाराज! नरेश्वर! संपूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले ऋषियोंके स्वर्गमें सहस्रों अदृश्य स्थान हैं, जिनमें दमके पालनद्वारा महान् लोककी इच्छा रखनेवाले महर्षि और देवता इस लोकसे जाते हैं; अतः 'दम' दानसे श्रेष्ठ है॥ १६-१७½॥

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते॥ १८॥
विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।

नरेन्द्र! शिष्योंको वेद पढ़ानेवाला अध्यापक क्लेश सहन करनेके कारण अक्षय फलका भागी होता है। अग्निमें विधिपूर्वक हवन करके ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति॥ १९॥
गुरुकर्मप्रशंसी तु सोऽपि स्वर्गे महीयते।

जो वेदोंका अध्ययन करके न्यायपरायण शिष्योंको विद्यादान करता है तथा गुरुके कर्मोंकी प्रशंसा करनेवाला है, वह भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ १९½॥

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते॥ २०॥

वेदाध्ययन, यज्ञ और दानकर्ममें तत्पर रहनेवाला तथा युद्धमें दूसरोंकी रक्षा करनेवाला क्षत्रिय भी स्वर्गलोकमें पूजित होता है॥ २०॥

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत्।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छति॥ २१॥

अपने कर्ममें लगा हुआ वैश्य दान देनेसे महत्-पदको प्राप्त होता है। अपने कर्ममें तत्पर रहनेवाला शूद्र सेवा करनेसे स्वर्गलोकमें जाता है॥ २१॥

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांस्तु मे शृणु।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव हि॥ २२॥

शूरवीरोंके अनेक भेद बताये गये हैं। उन सबके तात्पर्य मुझसे सुनो। उन शूरोंके वंशजों तथा शूरोंके लिये जो फल बताया गया है, उसे बता रहा हूँ॥ २२॥

यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथापरे।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः॥ २३॥
(बुद्धिशूरास्तथा चान्ये क्षमाशूरास्तथा परे।)

कुछ लोग यज्ञशूर हैं। कुछ इन्द्रियसंयममें शूर होनेके कारण दमशूर कहलाते हैं। इसी प्रकार कितने ही मानव सत्यशूर, युद्धशूर, दानशूर, बुद्धिशूर तथा क्षमाशूर कहे गये हैं॥ २३॥

सांख्यशूराश्च बहवो योगशूरास्तथापरे।
अरण्ये गृहवासे च त्यागे शूरास्तथापरे॥ २४॥

बहुत-से मनुष्य सांख्यशूर, योगशूर, वनवासशूर, गृहवासशूर तथा त्यागशूर हैं॥ २४॥

आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः।
तैस्तैश्च नियमैः शूरा बहवः सन्ति चापरे।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः॥ २५॥

गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयापरे।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे॥ २६॥

कितने मानव सरलता दिखानेमें शूरवीर हैं। बहुत-से शम (मनोनिग्रह) में ही शूरता प्रकट करते हैं। विभिन्न नियमोंद्वारा अपना शौर्य सूचित करनेवाले और भी बहुत-से शूरवीर हैं। कितने ही वेदाध्ययनशूर, अध्यापनशूर, गुरु-शुश्रूषाशूर, पितृसेवाशूर, मातृसेवाशूर तथा भिक्षाशूर हैं॥

अरण्ये गृहवासे च शूराश्चातिथिपूजने।
सर्वे यान्ति पराँल्लोकान् स्वकर्मफलनिर्जितान्॥ २७॥

कुछ लोग वनवासमें, कुछ गृहवासमें और कुछ लोग अतिथियोंकी सेवा-पूजामें शूरवीर होते हैं। ये सब-के-सब अपने कर्मफलोंद्वारा उपार्जित उत्तम लोकोंमें जाते हैं॥ २७॥

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥ २८॥

सम्पूर्ण वेदोंको धारण करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना—इन सत्कर्मोंका पुण्य सदा सत्य बोलनेवाले पुरुषके पुण्यके बराबर हो सकता है या नहीं; इसमें सन्देह है अर्थात् इनसे सत्य श्रेष्ठ है॥ २८॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ २९॥

यदि तराजूके एक पलड़ेपर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका पुण्य और दूसरे पलड़ेपर केवल सत्य रखा जाय तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका ही पलड़ा भारी होगा॥

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ ३०॥

सत्यके प्रभावसे सूर्य तपते हैं, सत्यसे अग्नि प्रज्वलित होती है और सत्यसे ही वायुका सर्वत्र संचार होता है; क्योंकि सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है॥ ३०॥

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लङ्घयेत्॥ ३१॥

देवता, पितर और ब्राह्मण सत्यसे ही प्रसन्न होते हैं। सत्यको ही परम धर्म बताया गया है; अतः सत्यका कभी उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये॥ ३१॥

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात् सत्यं विशिष्यते॥ ३२॥

ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है॥ ३२॥

सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ।
दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया॥ ३३॥

भरतश्रेष्ठ! सत्य बोलनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकमें आनन्द भोगते हैं। किंतु इन्द्रियसंयम—दम उस सत्यके फलकी प्राप्तिमें कारण है। यह बात मैंने सम्पूर्ण हृदयसे कही है॥

असंशयं विनीतात्मा स वै स्वर्गे महीयते।
ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप॥ ३४॥

जिसने अपने मनको वशमें करके विनयशील बना दिया है, वह निश्चय ही स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। पृथ्वी-नाथ! अब तुम ब्रह्मचर्यके गुणोंका वर्णन सुनो॥ ३४॥

आजन्ममरणाद् यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप॥ ३५॥

नरेश्वर! जो जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त यहाँ ब्रह्मचारी ही रह जाता है, उसके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं है, इस बातको जान लो॥ ३५॥

बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां तु ब्रह्मलोके वसन्त्युत।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्॥ ३६॥

ब्रह्मलोकमें ऐसे करोड़ों ऋषि निवास करते हैं, जो इस लोकमें सदा सत्यवादी, जितेन्द्रिय और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहे हैं॥ ३६॥

ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम्।
ब्राह्मणेन विशेषेण ब्राह्मणो ह्यग्निरुच्यते॥ ३७॥

राजन्! यदि ब्राह्मण विशेषरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करे तो वह सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है; क्योंकि ब्रह्मचारी ब्राह्मण अग्निस्वरूप कहा जाता है॥ ३७॥

प्रत्यक्षं हि तथा ह्येतद् ब्राह्मणेषु तपस्विषु।
बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः॥ ३८॥
तद् ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते।
मातापित्रोः पूजने यो धर्मस्तमपि मे शृणु॥ ३९॥

तपस्वी ब्राह्मणोंमें यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है: क्योंकि ब्रह्मचारीके आक्रमण करनेपर साक्षात् इन्द्र भी डरते हैं। ब्रह्मचर्यका वह फल यहाँ ऋषियोंमें दृष्टिगोचर होता है। अब तुम माता-पिता आदिके पूजनसे जो धर्म होता है, उसके विषयमें भी मुझसे सुनो॥ ३८-३९॥

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥ ४०॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान्॥ ४१॥

राजन्! जो पिता-माता, बड़े भाई, गुरु और आचार्य-की सेवा करता है और कभी उनके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं करता है, उसको मिलनेवाल फलको जान लो। उसे स्वर्ग-लोकमें सर्वसम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मनको वशमें रखनेवाला वह पुरुष गुरुशुश्रूषाके प्रभावसे कभी नरकका दर्शन नहीं करता॥ ४०-४१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

गोदानकी विधि, गौओंसे प्रार्थना, गौओंके निष्क्रय और गोदान करनेवाले नरेशोंके नाम

युधिष्ठिर उवाच

विधिं गवां परं श्रोतुमिच्छामि नृप तत्त्वतः।
येन ताञ्शाश्वतॉंल्लोकानर्थिनां प्राप्नुयादिह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—नरेश्वर ! अब मैं गोदानकी उत्तम विधिका यथार्थरूपसे श्रवण करना चाहता हूँ; जिससे प्रार्थी पुरुषोंके लिये अभीष्ट सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

न गोदानात् परं किंचिद् विद्यते वसुधाधिप।
गौर्हि न्यायागता दत्ता सद्यस्तारयते कुलम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—पृथ्वीनाथ ! गोदानसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि न्यायपूर्वक प्राप्त हुई गौका दान किया जाय तो वह समस्त कुलका तत्काल उद्धार कर देती है ॥२॥

सतामर्थे सम्यगुत्पादितो यः
स वै क्लृप्तः सम्यगाभ्यः प्रजाभ्यः।
तस्मात् पूर्वं ह्यादिकालप्रवृत्तं
गोदानार्थे शृणु राजन् विधिं मे ॥ ३ ॥

राजन् ! ऋषियोंने सत्पुरुषोंके लिये समीचीन भावसे जिस विधिको प्रकट किया है, वही इन प्रजाजनोंके लिये भलीभाँति निश्चित किया गया है। इसलिये तुम आदिकालसे प्रचलित हुई गोदानकी उस उत्तम विधिका मुझसे श्रवण करो ॥३॥

पुरा गोषूपनीतासु गोषु संदिग्धदर्शिना।
मान्धात्रा प्रकृतं प्रश्नं बृहस्पतिरभाषत ॥ ४ ॥

पूर्वकालकी बात है, जब महाराज मान्धाताके पास बहुत-सी गौएँ दानके लिये लायी गयीं, तब उन्होंने 'कैसी गौ दान करें ?' इस संदेहमें पड़कर बृहस्पतिजीसे तुम्हारी ही तरह प्रश्न किया। उस प्रश्नके उत्तरमें बृहस्पतिजीने इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥

द्विजातिमभिसत्कृत्य श्वः कालमभिवेद्य च।
गोदानार्थे प्रयुञ्जीत रोहिणीं नियतव्रतः ॥ ५ ॥
आह्वानं च प्रयुञ्जीत समङ्गे बहुलेति च।
प्रविश्य च गवां मध्यमिमां श्रुतिमुदाहरेत् ॥ ६ ॥

गोदान करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह नियमपूर्वक व्रतका पालन करे और ब्राह्मणको बुलाकर उसका अच्छी तरह सत्कार करके कहे कि 'मैं कल प्रातःकाल आपको एक गौ दान करूँगा।' तत्पश्चात् गोदानके लिये वह लाल रंगकी (रोहिणी) गौ मँगाये और 'समंगे बहुले' इस प्रकार कहकर गायको सम्बोधित करे, फिर गौओंके बीचमें प्रवेश करके इस निम्नाङ्कित श्रुतिका उच्चारण करे— ॥ ५-६ ॥

गौर्मे माता वृषभः पिता मे
दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा।
प्रपद्यैवं शर्वरीमुष्य गोषु
पुनर्वाणीमुत्सृजेद् गोप्रदाने ॥ ७ ॥

"गौ मेरी माता है। वृषभ (बैल) मेरा पिता है। वे दोनों मुझे स्वर्ग तथा ऐहिक सुख प्रदान करें। गौ ही मेरा आधार है।' ऐसा कहकर गौओंकी शरण ले और उन्हींके साथ मौनावलम्बनपूर्वक रात बिताकर सबेरे गोदानकालमें ही मौन भङ्ग करे—बोले ॥ ७ ॥

स तामेकां निशां गोभिः समसख्यः समव्रतः।
ऐकात्म्यगमनात् सद्यः कलुषाद् विप्रमुच्यते ॥ ८ ॥

इस प्रकार गौओंके साथ एक रात रहकर उनके समान व्रतका पालन करते हुए उन्हींके साथ एकात्मभावको प्राप्त होनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ८ ॥

उत्सृष्टवृषवत्सा हि प्रदेया सूर्यदर्शने।
त्रिदिवं प्रतिपत्तव्यमर्थवादाशिषस्तव ॥ ९ ॥

राजन् ! सूर्योदयके समय बछड़ेसहित गौका तुम्हें दान करना चाहिये। इससे स्वर्गलोकको प्राप्ति होगी और अर्थवाद मन्त्रोंमें जो आशीः (प्रार्थना) की गयी है, वह तुम्हारे लिये सफल होगी ॥ ९ ॥

ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे
गर्भोऽमृतस्य जगतोऽस्य प्रतिष्ठा।
क्षिते रोहः प्रवहः शश्वदेव
प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादाः ॥ १० ॥

(वे मन्त्र इस प्रकार हैं, गोदानके पश्चात् इनके द्वारा प्रार्थना करनी चाहिये—) 'गौएँ उत्साहसम्पन्न, बल और बुद्धिसे युक्त, यज्ञमें काम आनेवाले अमृतस्वरूप हविष्यके उत्पत्तिस्थान, इस जगत्‌की प्रतिष्ठा (आश्रय), पृथ्वीपर बैलोंके द्वारा खेती उपजानेवाली, संसारके अनादि प्रवाहको प्रवृत्त करनेवाली और प्रजापतिकी पुत्री हैं। यह सब गौओंकी प्रशंसा है ॥ १० ॥

गावो ममैनः प्रणुदन्तु सौर्या-
स्तथा सौम्याः स्वर्गयानाय सन्तु।
आत्मानं मे मातृवच्चाश्रयन्तु
तथानुक्ताः सन्तु सर्वाशिषो मे ॥ ११ ॥

'सूर्य और चन्द्रमाके अंशसे प्रकट हुई वे गौएँ हमारे पापोंका नाश करें। हमें स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्तिमें सहायता दें। माताकी भाँति शरण प्रदान करें। जिन

इच्छाओंका इन मन्त्रोंद्वारा उल्लेख नहीं हुआ है और जिनका हुआ है, वे सभी गोमाताकी कृपासे मेरे लिये पूर्ण हों ॥

शोषोत्सर्गे कर्मभिर्देहमोक्षे
सरस्वत्यः श्रेयसे सम्प्रवृत्ताः ।
यूयं नित्यं सर्वपुण्योपवाह्यां
दिशध्वं मे गतिमिष्टां प्रसन्नाः ॥ १२ ॥

'गौओ ! जो लोग तुम्हारी सेवा करते हुए तुम्हारी आराधनामें लगे रहते हैं, उनके उन कर्मोंसे प्रसन्न होकर तुम उन्हें क्षय आदि रोगोंसे छुटकारा दिलाती हो और ज्ञानकी प्राप्ति कराकर उन्हें देहबन्धनसे भी मुक्त कर देती हो। जो मनुष्य तुम्हारी सेवा करते हैं, उनके कल्याणके लिये तुम सरस्वती नदीकी भाँति सदा प्रयत्नशील रहती हो। गोमाताओ ! तुम हमारे ऊपर सदा प्रसन्न रहो और हमें समस्त पुण्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली अभीष्ट गति प्रदान करो ॥

या वै यूयं सोऽहमद्यैव भावो
युष्मान् दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता ।
मनश्च्युता मन एवोपपन्नाः
संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ॥ १३ ॥
एवं तस्याग्रे पूर्वमर्धं वदेत
गवां दाता विधिवत् पूर्वदृष्टः ।
प्रतिब्रूयाच्छेषमर्धं द्विजातिः
प्रतिगृह्णन् वै गोप्रदाने विधिज्ञः ॥ १४ ॥

'इसके बाद प्रथम दृष्टिपथमें आया हुआ दाता पहले विधिपूर्वक निम्नाङ्कित आधे श्लोकका उच्चारण करे 'या वै यूयं सोऽहमद्यैव भावो युष्मान् दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता ।—गौओ ! तुम्हारा जो स्वरूप है, वही मेरा भी है—तुममें और हममें कोई अन्तर नहीं है; अतः आज तुम्हें दानमें देकर हमने अपने आपको ही दान कर दिया है ।' दाताके ऐसा कहनेपर दान लेनेवाला गोदानविधिका ज्ञाता ब्राह्मण शेष आधे श्लोकका उच्चारण करे—'मनश्च्युता मन एवोपपन्नाः संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ।—गौओ ! तुम शान्त और प्रचण्डरूप धारण करनेवाली हो। अब तुम्हारे ऊपर दाताका ममत्व (अधिकार) नहीं रहा, अब तुम मेरे अधिकारमें आ गयी हो; अतः अभीष्ट भोग प्रदान करके तुम मुझे और दाताको भी प्रसन्न करो' ॥ १३-१४ ॥

गोप्रदानीति वक्तव्यमर्घ्यवस्त्रवसुप्रदः ।
ऊर्ध्वास्या भवितव्या च वैष्णवीति च चोदयेत् ॥ १५ ॥
नाम संकीर्तयेत् तस्या यथासंख्योत्तरं स वै ।

'जो गौके निष्क्रयरूपसे उसका मूल्य, वस्त्र अथवा सुवर्ण दान करता है, उसको भी गोदाता ही कहना चाहिये । मूल्य, वस्त्र एवं सुवर्णरूपमें दी जानेवाली गौओंका नाम क्रमशः ऊर्ध्वास्या, भवितव्या और वैष्णवी है । संकल्पके समय इनके इन्हीं नामोंका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'इमां ऊर्ध्वास्यां', 'इमां भवितव्यां' 'इमां वैष्णवीं तुभ्यमहं संप्रददे त्वं गृहाण—मैं यह ऊर्ध्वास्या, भवितव्या या वैष्णवी गौ आपको दे रहा हूँ, आप इसे ग्रहण करें ।'—ऐसा कहकर ब्राह्मणको वह दान ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करना चाहिये ॥ १५½ ॥

फलं षट्त्रिंशदष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १६ ॥
एवमेतान् गुणान् विद्याद् गवादीनां यथाक्रमम् ।
गोप्रदाता समाप्नोति समस्तानष्टमे क्रमे ॥ १७ ॥

'इनके दानका फल क्रमशः इस प्रकार है—गौका मूल्य देनेवाला छत्तीस हजार वर्षोंतक, गौकी जगह वस्त्र दान करनेवाला आठ हजार वर्षोंतक तथा गौके स्थानमें सुवर्ण देनेवाला पुरुष बीस हजार वर्षोंतक परलोकमें सुख भोगता है । इस प्रकार गौओंके निष्क्रय दानका क्रमशः फल बताया गया है । इसे अच्छी तरह जान लेना चाहिये । साक्षात् गौका दान लेकर जब ब्राह्मण अपने घरकी ओर जाने लगता है, उस समय उसके आठ पग जाते-जाते ही दाताको अपने दानका फल मिल जाता है ॥ १६-१७ ॥

गोदः शीली निर्भयश्चार्थदाता
न स्याद् दुःखी वसुदाता च कामम् ।
उषस्योढा भारते यश्च विद्वान्
विख्यातास्ते वैष्णवाश्चन्द्रलोकाः ॥ १८ ॥

'साक्षात् गौका दान करनेवाला शीलवान् और उसका मूल्य देनेवाला निर्भय होता है तथा गौकी जगह इच्छानुसार सुवर्ण दान करनेवाला मनुष्य कभी दुःखमें नहीं पड़ता है । जो प्रातःकाल उठकर नैत्यिक नियमोंका अनुष्ठान करनेवाला और महाभारतका विद्वान् है तथा जो विख्यात वैष्णव हैं, वे सब चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥ १८ ॥

गा वै दत्त्वा गोव्रती स्यात् त्रिरात्रं
निशां चैकां संवसेतेह ताभिः ।
कामाष्टम्यां वर्तितव्यं त्रिरात्रं
रसैर्वा गोः शकृता प्रस्रवैर्वा ॥ १९ ॥

'गौका दान करनेके पश्चात् मनुष्यको तीन राततक गोव्रतका पालन करना चाहिये और यहाँ एक रात गौओंके साथ रहना चाहिये । कामाष्टमीसे लेकर तीन राततक गोबर, गोदुग्ध अथवा गोरसमात्रका आहार करना चाहिये ॥ १९ ॥

देवव्रती स्याद् वृषभप्रदाने
वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने ।
तथा गवां विधिमासाद्य यज्वा
लोकानग्र्यान् विन्दते नाविधिज्ञः ॥ २० ॥

'जो पुरुष एक बैलका दान करता है, वह देवव्रती (सूर्यमण्डलका भेदन करके जानेवाला ब्रह्मचारी) होता

है। जो एक गाय और एक बैल दान करता है, उसे वेदोंकी प्राप्ति होती है तथा जो विधिपूर्वक गोदान यज्ञ करता है, उसे उत्तम लोक मिलते हैं, परंतु जो विधिको नहीं जानता, उसे उत्तम फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

कामान् सर्वान् पार्थिवानेकसंस्थान्
यो वै दद्यात् कामदुघांच धेनुम्।
सम्यक्काः स्युर्हव्यकव्यौघवत्य-
स्तासामुक्ष्णां ज्यायसां सम्प्रदानम्।२१।

'जो इच्छानुसार दूध देनेवाली धेनुका दान करता है, वह मानो समस्त पार्थिव भोगोंका एक साथ ही दान कर देता है। जब एक गौके दानका ऐसा माहात्म्य है, तब हव्य-कव्यकी राशिसे सुशोभित होनेवाली बहुत-सी गौओंका यदि विधिपूर्वक दान किया जाय तो कितना अधिक फल हो सकता है! नौजवान बैलोंका दान उन गौओंसे भी अधिक पुण्य-दायक होता है ॥ २१॥

न चाशिष्यायाव्रतायोपकुर्या-
न्नाश्रद्दधानाय न वक्रबुद्धये।
गुह्यो ह्ययं सर्वलोकस्य धर्मो
नेमं धर्मं यत्र तत्र प्रजल्पेत् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य अपना शिष्य नहीं है, जो व्रतका पालन नहीं करता, जिसमें श्रद्धाका अभाव है तथा जिसकी बुद्धि कुटिल है, उसे इस गोदान-विधिका उपदेश न दे; क्योंकि यह सबसे गोपनीय धर्म है; अतः इसका यत्र-तत्र सर्वत्र प्रचार नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

सन्ति लोकेऽश्रद्दधाना मनुष्याः
सन्ति क्षुद्रा राक्षसमानुषेषु।
एषामेतद् दीयमानं ह्यनिष्टं
ये नास्तिक्यं चाश्रयन्तेऽल्पपुण्याः ॥२३॥

'संसारमें बहुत-से अश्रद्धालु हैं (जो इन सब बातोंपर विश्वास नहीं करते) तथा राक्षसी प्रकृतिके मनुष्योंमें बहुत-से ऐसे क्षुद्र पुरुष हैं (जिन्हें ये बातें अच्छी नहीं लगतीं), कितने ही पुण्यहीन मानव नास्तिकताका सहारा लिये रहते हैं। उन सबको इसका उपदेश देना अभीष्ट नहीं है, उलटे अनिष्टकारक होता है' ॥ २३ ॥

बार्हस्पत्यं वाक्यमेतन्निशम्य
ये राजानो गोप्रदानानि दत्त्वा।
लोकान् प्राप्ताः पुण्यशीलाः प्रवृत्ता-
स्तान् मे राजन् कीर्त्यमानान् निबोध॥२४॥

राजन्! बृहस्पतिजीके इस उपदेशको सुनकर जिन राजाओंने गोदान करके उसके प्रभावसे उत्तम लोक प्राप्त किये तथा जो सदाके लिये पुण्यात्मा बनकर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त हुए, उनके नामोंका उल्लेख करता हूँ, सुनो ॥ २४ ॥

उशीनरो विष्वगश्वो नृगश्च
भगीरथो विश्रुतो यौवनाश्वः।
मान्धाता वै मुचुकुन्दश्च राजा
भूरिद्युम्नो नैषधः सोमकश्च ॥ २५ ॥
पुरूरवो भरतश्चक्रवर्ती
यस्यान्ववाये भरताः सर्व एव।
तथा वीरो दाशरथिश्च रामो
ये चाप्यन्ये विश्रुताः कीर्तिमन्तः ॥ २६ ॥
तथा राजा पृथुकर्मा दिलीपो
दिवं प्राप्तो गोप्रदानैर्विधिज्ञः।
यज्ञैर्दानैस्तपसा राजधर्मै-
र्मान्धाताभूद् गोप्रदानैश्च युक्तः॥ २७ ॥

उशीनर, विष्वगश्व, नृग, भगीरथ, सुविख्यात युवनाश्वकुमार महाराज मान्धाता, राजा मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, निषधनरेश नल, सोमक, पुरूरवा, चक्रवर्ती भरत—जिनके वंशमें होनेवाले सभी राजा भारत कहलाये, दशरथनन्दन वीर श्रीराम, अन्यान्य विख्यात कीर्तिवाले नरेश तथा महान् कर्म करनेवाले राजा दिलीप—इन समस्त विधिज्ञ नरेशोंने गोदान करके स्वर्गलोक प्राप्त किया है। राजा मान्धाता तो यज्ञ, दान, तपस्या, राजधर्म तथा गोदान आदि सभी श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ २५–२७ ॥

तस्मात् पार्थ त्वमपीमां मयोक्तां
बार्हस्पतीं भारतीं धारयस्व।
द्विजाग्र्येभ्यः सम्प्रयच्छस्व प्रीतो
गाः पुण्या वै प्राप्य राज्यं कुरूणाम् ॥ २८ ॥

अतः कुन्तीनन्दन! तुम भी मेरे कहे हुए बृहस्पतिजीके इस उपदेशको धारण करो और कौरव-राज्यपर अधिकार पाकर उत्तम ब्राह्मणको प्रसन्नतापूर्वक पवित्र गौओंका दान करो ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा सर्वं कृतवान् धर्मराजो
भीष्मेणोक्तो विधिवद् गोप्रदाने।
स मान्धातुर्देवदेवोपदिष्टं
सम्यग्धर्मं धारयामास राजा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीने जब इस प्रकार विधिवत् गोदान करनेकी आज्ञा दी, तब धर्मराज युधिष्ठिरने सब वैसा ही किया तथा देवताओंके भी देवता बृहस्पतिजीने मान्धाताके लिये जिस उत्तम धर्मका उपदेश किया था, उसको भी भलीभाँति स्मरण रखा ॥

इति नृप सततं गवां प्रदाने
यवशकलान् सह गोमयैः पिबानः।

क्षितितलशयनः शिखी यतात्मा
वृष इव राजवृषस्तदा बभूव ॥ ३० ॥

नरेश्वर ! राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उन दिनों सदा गोदानके लिये उद्यत होकर गोबरके साथ जौके कणोंका आहार करते हुए मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक पृथ्वीपर शयन करने लगे । उनके सिरपर जटाएँ बढ़ गयीं और वे साक्षात् धर्मके समान देदीप्यमान होने लगे ॥ ३० ॥

नरपतिरभवत् सदैवताभ्यः
प्रयतमनास्त्वभिसंस्तुवंश्च ताः स्म ।
न च धुरि नृप गामयुक्त भूय
स्तुरगवरैरगमच्च यत्र तत्र ॥ ३१ ॥

नरेन्द्र ! राजा युधिष्ठिर सदा ही गौओंके प्रति विनीत चित्त होकर उनकी स्तुति करते रहते थे । उन्होंने फिर कभी बैलको अपनी सवारीमें उपयोग नहीं किया । वे अच्छे-अच्छे घोड़ोंद्वारा ही इधर-उधरकी यात्रा करते थे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोदानकथने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानकथनविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

कपिला गौओंकी उत्पत्ति और महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा भूयः शान्तनवं नृपम् ।
गोदानविस्तरं धर्मान् पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने पुनः शान्तनुनन्दन भीष्मसे गोदानकी विस्तृत विधि तथा तत्सम्बन्धी धर्मोंके विषयमें विनयपूर्वक जिज्ञासा की ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गोप्रदानगुणान् सम्यक् पुनर्मे ब्रूहि भारत ।
न हि तृप्याम्यहं वीर शृण्वानोऽमृतमीदृशम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भारत ! आप गोदानके उत्तम गुणोंका भलीभाँति पुनः मुझसे वर्णन कीजिये । वीर ! ऐसा अमृतमय उपदेश सुनकर मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो धर्मराजेन तदा शान्तनवो नृपः ।
सम्यगाह गुणांस्तस्मै गोप्रदानस्य केवलान् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म केवल गोदान-सम्बन्धी गुणोंका भलीभाँति (विधिवत्) वर्णन करने लगे ॥

भीष्म उवाच

वत्सलां गुणसम्पन्नां तरुणीं वस्त्रसंयुताम् ।
दत्त्वेदृशीं गां विप्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! वात्सल्य-भावसे युक्त, गुणवती और जवान गायको वस्त्र ओढ़ाकर उसका दान करे । ब्राह्मणको ऐसी गायका दान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

असुर्या नाम ते लोका गां दत्त्वा तान् न गच्छति ।
पीतोदकां जग्धतृणां नष्टक्षीरां निरिन्द्रियाम् ॥ ५ ॥
जरारोगोपसम्पन्नां जीर्णां वापीमिवाजलाम् ।
दत्त्वा तमः प्रविशति द्विजं क्लेशेन योजयेत् ॥ ६ ॥

असुर्य नामके जो अन्धकारमय लोक (नरक) हैं, उनमें गोदान करनेवाले पुरुषको नहीं जाना पड़ता । जिसका घास खाना और पानी पीना प्रायः समाप्त हो चुका हो, जिसका दूध नष्ट हो गया है, जिसकी इन्द्रियाँ काम न दे सकती हों, जो बुढ़ापा और रोगसे आक्रान्त होनेके कारण शरीरसे जीर्ण-शीर्ण हो बिना पानीकी बावड़ीके समान व्यर्थ हो गयी हो, ऐसी गौका दान करके मनुष्य ब्राह्मणको व्यर्थ कष्टमें डालता है और स्वयं भी घोर नरकमें पड़ता है ॥ ५-६ ॥

रुष्टा दुष्टा व्याधिता दुर्बला वा
नो दातव्या याश्च मूल्यैरदत्तैः ।
क्लेशैर्विप्रं योऽफलैः संयुनक्ति
तस्यावीर्याश्चाफलाश्चैव लोकाः ॥ ७ ॥

जो क्रोध करनेवाली, दुष्टा, रोगिणी और दुबली-पतली हो तथा जिसका दाम न चुकाया गया हो, ऐसी गौका दान करना कदापि उचित नहीं है । जो इस तरहकी गाय देकर ब्राह्मणको व्यर्थ कष्टमें डालता है, उसे निर्बल और निष्फल लोक ही प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः
सर्वे प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः ।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा
तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ८ ॥

हृष्ट-पुष्ट, सुलक्षणा, जवान तथा उत्तम गन्धवाली गायकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं । जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, वैसे ही गौओंमें कपिला गौ उत्तम मानी गयी है ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मात् समाने बहुलाप्रदाने
सद्भिः प्रशस्तं कपिलाप्रदानम्।
विशेषमिच्छामि महाप्रभावं
श्रोतुं समर्थोऽस्मि भवान् प्रवक्तुम्॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किसी भी रंगकी गायका दान किया जाय, गोदान तो एक-सा ही होगा ? फिर सत्पुरुषोंने कपिला गौकी ही अधिक प्रशंसा क्यों की है ? मैं कपिलाके महान् प्रभावको विशेषरूपसे सुनना चाहता हूँ। मैं सुननेमें समर्थ हूँ और आप कहनेमें ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

वृद्धानां ब्रुवतां तात श्रुतं मे यत् पुरातनम्।
वक्ष्यामि तदशेषेण रोहिण्यो निर्मिता यथा ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे रोहिणी (कपिला) की उत्पत्तिका जो प्राचीन वृत्तान्त सुना है, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १० ॥

प्रजाः सृजेति चादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा।
असृजद् वृत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने प्रजापति दक्षको यह आज्ञा दी कि 'तुम प्रजाकी सृष्टि करो,' किंतु प्रजापति दक्षने प्रजाके हितकी इच्छासे सर्वप्रथम उनकी आजीविकाका ही निर्माण किया ॥ ११ ॥

यथा ह्यमृतमाश्रित्य वर्तयन्ति दिवौकसः।
तथा वृत्तिं समाश्रित्य वर्तयन्ति प्रजा विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! जैसे देवता अमृतका आश्रय लेकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजा आजीविकाके सहारे जीवन धारण करती है ॥ १२ ॥

अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठाः सदा नराः।
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १३ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणी सदा श्रेष्ठ हैं। उनमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें यज्ञ प्रतिष्ठित हैं ॥ १३ ॥

यज्ञैरवाप्यते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः।
ततो देवाः प्रमोदन्ते पूर्वं वृत्तिस्ततः प्रजाः ॥ १४ ॥

यज्ञसे सोमकी प्राप्ति होती है और वह यज्ञ गौओंमें प्रतिष्ठित है, जिससे देवता आनन्दित होते हैं; अतः पहले आजीविका है फिर प्रजा ॥ १४ ॥

प्रजातान्येव भूतानि प्राक्रोशन् वृत्तिकाङ्क्षया।
वृत्तिदं चान्वपद्यन्त तृषिताः पितृमातृवत् ॥ १५ ॥

समस्त प्राणी उत्पन्न होते ही जीविकाके लिये कोलाहल करने लगे। जैसे भूखे-प्यासे बालक अपने मा-बापके पास जाते हैं, उसी प्रकार समस्त जीव जीविकादाता दक्षके पास गये ॥ १५ ॥

इतीदं मनसा गत्वा प्रजासर्गार्थमात्मनः।
प्रजापतिस्तु भगवानमृतं प्रापिबत् तदा ॥ १६ ॥

प्रजाजनोंकी इस स्थितिपर मन-ही-मन विचार करके भगवान् प्रजापतिने प्रजावर्गकी आजीविकाके लिये उस समय अमृतका पान किया ॥ १६ ॥

स गतस्तस्य तृप्तिं तु गन्धं सुरभिमुद्गिरन्।
ददर्शोद्गारसंवृत्तां सुरभिं मुखजां सुताम् ॥ १७ ॥

अमृत पीकर जब वे पूर्ण तृप्त हो गये, तब उनके मुखसे सुरभि (मनोहर) गन्ध निकलने लगी। सुरभि गन्धके निकलनेके साथ ही 'सुरभि' नामक गौ प्रकट हो गयी, जिसे प्रजापतिने अपने मुखसे प्रकट हुई पुत्रीके रूपमें देखा ॥

सासृजत् सौरभेयीस्तु सुरभिर्लोकमातृकाः।
सुवर्णवर्णाः कपिलाः प्रजानां वृत्तिधेनवः ॥ १८ ॥

उस सुरभिने बहुत-सी 'सौरभेयी' नामवाली गौओंको उत्पन्न किया, जो सम्पूर्ण जगत्के लिये माताके समान थीं। उन सबका रंग सुवर्णके समान उद्दीप्त हो रहा था। वे कपिला गौएँ प्रजाजनोंके लिये आजीविकारूप दूध देनेवाली थीं ॥ १८ ॥

तासाममृतवर्णानां क्षरन्तीनां समन्ततः।
बभूवामृतजः फेनः स्रवन्तीनामिवोर्मिजः ॥ १९ ॥

जैसे नदियोंकी लहरोंसे फेन उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चारों ओर दूधकी धारा बहाती हुई अमृत (सुवर्ण) के समान वर्णवाली उन गौओंके दूधसे फेन उठने लगा ॥ १९ ॥

स वत्समुखविभ्रष्टो भवस्य भुवि तिष्ठतः।
शिरस्यवाप तत् क्रुद्धः स तदैक्षत च प्रभुः ॥ २० ॥
ललाटप्रभवेणाक्ष्णा रोहिणीं प्रदहन्निव।

एक दिन भगवान् शङ्कर पृथ्वीपर खड़े थे। उसी समय सुरभिके एक बछड़ेके मुँहसे फेन निकलकर उनके मस्तकपर गिर पड़ा। इससे वे कुपित हो उठे और अपने ललाटजनित नेत्रसे, मानो रोहिणीको भस्म कर डालेंगे, इस तरह उसकी ओर देखने लगे ॥ २०½ ॥

तत्तेजस्तु ततो रौद्रं कपिलास्ता विशाम्पते ॥ २१ ॥
नानावर्णत्वमनयन्मेघानिव दिवाकरः।

प्रजानाथ ! रुद्रका वह भयंकर तेज जिन-जिन कपिलाओंपर पड़ा, उनके रंग नाना प्रकारके हो गये। जैसे सूर्य बादलोंको अपनी किरणोंसे बहुरंगा बना देते हैं, उसी प्रकार उस तेजने उन सबको नाना वर्णवाली कर दिया ॥ २१½ ॥

यास्तु तस्मादपक्रम्य सोममेवाभिसंश्रिताः ॥ २२ ॥
यथोत्पन्नाः स्ववर्णास्थास्ता होता नान्यवर्णगाः ।
अथ क्रुद्धं महादेवं प्रजापतिरभाषत ॥ २३ ॥

परंतु जो गौएँ वहाँसे भागकर चन्द्रमाकी ही शरणमें चली गयीं, वे जैसे उत्पन्न हुई थीं, वैसे ही रह गयीं। उनका रंग नहीं बदला। उस समय क्रोधमें भरे हुए महादेवजीसे दक्षप्रजापतिने कहा—॥ २२-२३ ॥

अमृतेनावसिक्तस्त्वं नोच्छिष्टं विद्यते गवाम्।
यथा ह्यमृतमादाय सोमो विस्यन्दते पुनः ॥ २४ ॥
तथा क्षीरं क्षरन्त्येता रोहिण्योऽमृतसम्भवम्।

'प्रभो! आपके ऊपर अमृतका छींटा पड़ा है। गौओंका दूध बछड़ोंके पीनेसे जूठा नहीं होता। जैसे चन्द्रमा अमृतका संग्रह करके फिर उसे बरसा देता है, उसी प्रकार ये रोहिणी गौएँ अमृतसे उत्पन्न दूध देती हैं ॥ २४½ ॥

न दुष्यत्यनिलो नाग्निर्न सुवर्णं न चोदधिः ॥ २५ ॥
नामृतेनामृतं पीतं वत्सपीता न वत्सला।
इमाँल्लोकान् भरिष्यन्ति हविषा प्रस्रवेण च ॥ २६ ॥
आसामैश्वर्यमिच्छन्ति सर्वेऽमृतमयं शुभम्।

'जैसे वायु, अग्नि, सुवर्ण, समुद्र और देवताओंका पीया हुआ अमृत—ये वस्तुएँ उच्छिष्ट नहीं होतीं, उसी प्रकार बछड़ोंके पीनेपर उन बछड़ोंके प्रति स्नेह रखनेवाली गौ भी दूषित या उच्छिष्ट नहीं होती। (तात्पर्य यह कि दूध पीते समय बछड़ेके मुँहसे गिरा हुआ झाग अशुद्ध नहीं माना जाता।) ये गौएँ अपने दूध और घीसे इस सम्पूर्ण जगत्का पालन करेंगी। सब लोग चाहते हैं कि इन गौओंके पास मङ्गलकारी अमृतमय दुग्धकी सम्पत्ति बनी रहे'॥

वृषभं च ददौ तस्मै सह गोभिः प्रजापतिः ॥ २७ ॥
प्रसादयामास मनस्तेन रुद्रस्य भारत।

भरतनन्दन! ऐसा कहकर प्रजापतिने महादेवजीको बहुत-सी गौएँ और एक बैल भेंट किये तथा इसी उपायके द्वारा उनके मनको प्रसन्न किया ॥ २७½ ॥

प्रीतश्चापि महादेवश्चकार वृषभं तदा ॥ २८ ॥
ध्वजं च वाहनं चैव तस्मात् स वृषभध्वजः।

महादेवजी प्रसन्न हुए। उन्होंने वृषभको अपना वाहन बनाया और उसीकी आकृतिसे अपनी ध्वजाको चिह्नित किया, इसीलिये वे 'वृषभध्वज' कहलाये ॥ २८½ ॥

ततो देवैर्महादेवस्तदा पशुपतिः कृतः।
ईश्वरः स गवां मध्ये वृषभाङ्कः प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर देवताओंने महादेवजीको पशुओंका अधिपति बना दिया और गौओंके बीचमें उन महेश्वरका नाम 'वृषभाङ्क' रख दिया ॥ २९ ॥

एवमव्यग्रवर्णानां कपिलानां महौजसाम्।
प्रदाने प्रथमः कल्पः सर्वासामेव कीर्तितः ॥ ३० ॥

इस प्रकार कपिला गौएँ अत्यन्त तेजस्विनी और शान्त वर्णवाली हैं। इसीसे दानमें उन्हें सब गौओंसे प्रथम स्थान दिया गया है ॥ ३० ॥

लोकज्येष्ठा लोकवृत्तिप्रवृत्ता
रुद्रोपेताः सोमविष्यन्दभूताः।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च
गा वै दत्त्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥ ३१ ॥

गौएँ संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हैं। ये जगत्को जीवन देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई हैं। भगवान् शङ्कर सदा उनके साथ रहते हैं। वे चन्द्रमासे निकले हुए अमृतसे उत्पन्न हुई हैं तथा शान्त, पवित्र, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली और जगत्को प्राणदान देनेवाली हैं; अतः गोदान करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका दाता माना गया है ॥ ३१ ॥

इदं गवां प्रभवविधानमुत्तमं
पठन् सदाशुचिरपि मङ्गलप्रियः।
विमुच्यते कलिकलुषेण मानवः
श्रियं सुतान् धनपशुमाप्नुयात् सदा ॥ ३२ ॥

गौओंकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस उत्तम कथाका सदा पाठ करनेवाला मनुष्य अपवित्र हो तो भी मङ्गलप्रिय हो जाता है और कलियुगके सारे दोषोंसे छूट जाता है। इतना ही नहीं, उसे पुत्र, लक्ष्मी, धन तथा पशु आदिकी सदा प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

हव्यं कव्यं तर्पणं शान्तिकर्म
यानं वासो वृद्धबालस्य तुष्टिः।
एतान् सर्वान् गोप्रदाने गुणान् वै
दाता राजन्नाप्नुयाद् वै सदैव ॥ ३३ ॥

राजन्! गोदान करनेवालेको हव्य, कव्य, तर्पण और शान्तिकर्मका फल तथा वाहन, वस्त्र एवं बालकों और वृद्धोंको संतोष प्राप्त होता है। इस प्रकार ये सब गोदानके गुण हैं। दाता इन सबको सदा पाता ही है ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितामहस्याथ निशम्य वाक्यं
राजा सह भ्रातृभिराजमीढः।
सुवर्णवर्णानडुहस्तथा गाः
पार्थो ददौ ब्राह्मणसत्तमेभ्यः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पितामह भीष्मकी ये बातें सुनकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिर और उनके भाइयोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सोनेके समान रंगवाले बैलों और उत्तम गौओंका दान किया ॥ ३४ ॥

तथैव तेभ्योऽपि ददौ द्विजेभ्यो
गवां सहस्राणि शतानि चैव।
यज्ञान् समुद्दिश्य च दक्षिणार्थे
लोकान् विजेतुं परमां च कीर्तिम्॥ ३५॥

इसी प्रकार यज्ञोंकी दक्षिणाके लिये, पुण्यलोकोंपर विजय पानेके लिये तथा संसारमें अपनी उत्तम कीर्तिका विस्तार करनेके लिये राजाने उन्हीं ब्राह्मणोंको सैकड़ों और हजारों गौएँ दान कीं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रभवकथने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गौओंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

वसिष्ठका सौदासको गोदानकी विधि एवं महिमा बताना

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
इक्ष्वाकुवंशजो राजा सौदासो वदतां वरः॥ १॥
सर्वलोकचरं सिद्धं ब्रह्मकोशं सनातनम्।
पुरोहितमभिप्रष्टुमभिवाद्योपचक्रमे ॥ २॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! एक समयकी बात है, वक्ताओंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी राजा सौदासने सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले, वैदिक ज्ञानके भण्डार, सिद्ध सनातन ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठजीसे, जो उन्हींके पुरोहित थे, प्रणाम करके इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥ १-२ ॥

सौदास उवाच

त्रैलोक्ये भगवन् किंस्वित् पवित्रं कथ्यतेऽनघ।
यत् कीर्तयन् सदा मर्त्यः प्राप्नुयात् पुण्यमुत्तमम्॥३॥

सौदास बोले—भगवन्! निष्पाप महर्षे! तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र वस्तु कौन कही जाती है, जिसका नाम लेनेमात्रसे मनुष्यको सदा उत्तम पुण्यकी प्राप्ति हो सके ?॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच वचनं प्रणताय हितं तदा।
गवामुपनिषद्विद्वान् नमस्कृत्य गवां शुचिः॥ ४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने चरणोंमें पड़े हुए राजा सौदाससे गवोपनिषद् (गौओंकी महिमाके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाली विद्या) के विद्वान् पवित्र महर्षि वसिष्ठने गौओंको नमस्कार करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

गावः सुरभिगन्धिन्यस्तथा गुग्गुलुगन्धयः।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत्॥ ५॥

'राजन्! गौओंके शरीरसे अनेक प्रकारकी मनोरम सुगन्ध निकलती रहती है तथा बहुतेरी गौएँ गुग्गुलके समान गन्धवाली होती हैं। गौएँ समस्त प्राणियोंकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं और गौएँ ही उनके लिये महान् मङ्गलकी निधि हैं॥ ५॥

गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति॥ ६॥

'गौएँ ही भूत और भविष्य हैं। गौएँ ही सदा रहनेवाली पुष्टिका कारण तथा लक्ष्मीकी जड़ हैं। गौओंको जो कुछ दिया जाता है, उसका पुण्य कभी नष्ट नहीं होता ॥ ६ ॥

अन्नं हि परमं गावो देवानां परमं हविः।
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ॥ ७॥

'गौएँ ही सर्वोत्तम अन्नकी प्राप्तिमें कारण हैं। वे ही देवताओंको उत्तम हविष्य प्रदान करती हैं। स्वाहाकार (देवयज्ञ) और वषट्कार (इन्द्रयाग)—ये दोनों कर्म सदा गौओंपर ही अवलम्बित हैं ॥ ७ ॥

गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।
गावो भविष्यं भूतं च गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः॥ ८॥

'गौएँ ही यज्ञका फल देनेवाली हैं। उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है। गौएँ ही भूत और भविष्य हैं। उन्हींमें यज्ञ प्रतिष्ठित हैं अर्थात् यज्ञ गौओंपर ही निर्भर है ॥ ८ ॥

सायं प्रातश्च सततं होमकाले महाद्युते।
गावो ददति वै हौम्यमृषिभ्यः पुरुषर्षभ॥ ९॥

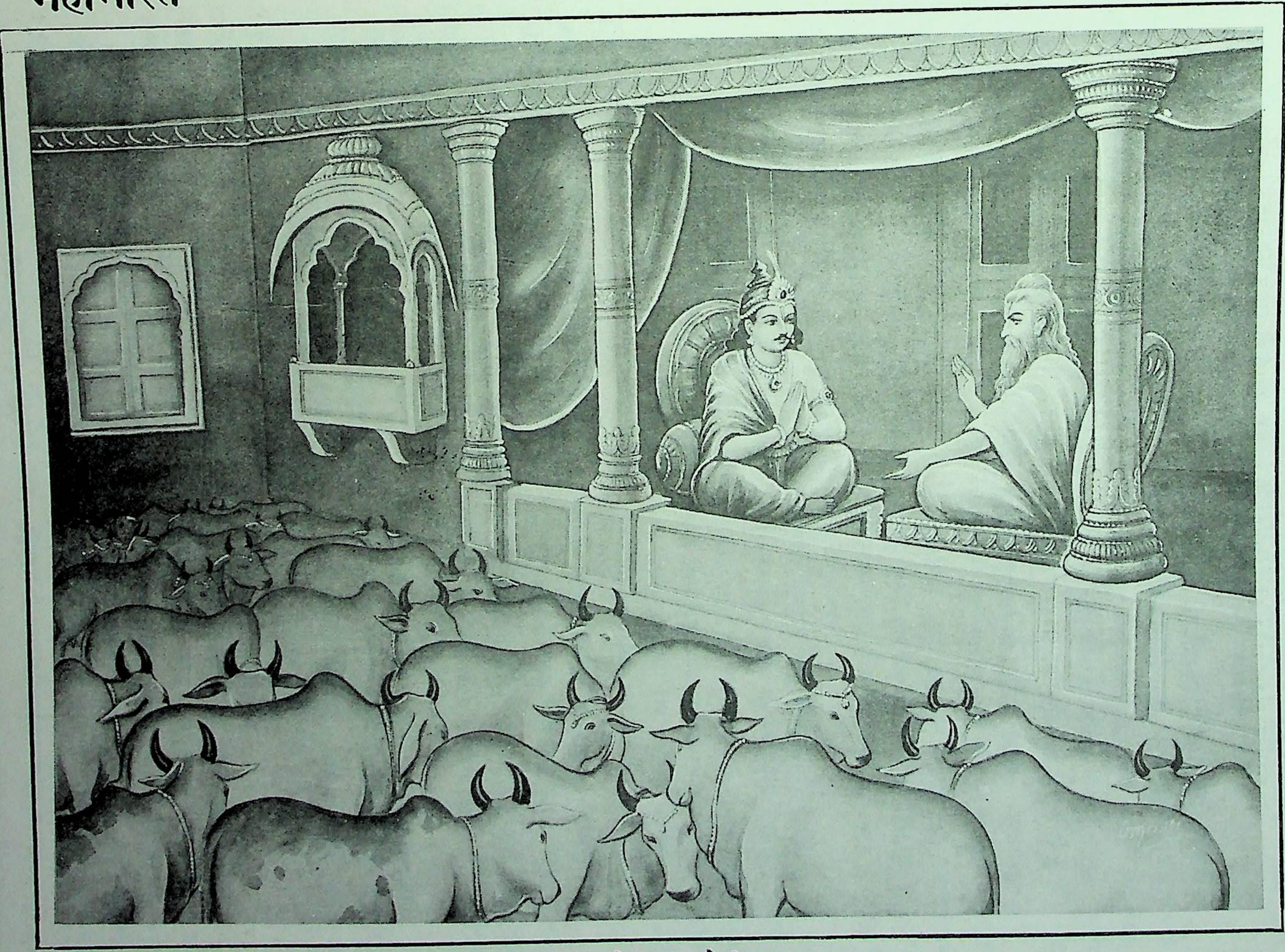
'महातेजस्वी पुरुषप्रवर! प्रातःकाल और सायंकाल सदा होमके समय ऋषियोंको गौएँ ही हवनीय पदार्थ (घृत आदि) देती हैं॥ ९॥

यानि कानि च दुर्गाणि दुष्कृतानि कृतानि च।
तरन्ति चैव पाप्मानं धेनुं ये ददति प्रभो॥ १०॥

'प्रभो! जो लोग (नवप्रसूतिका दूध देनेवाली) गौका दान करते हैं, वे जो कोई भी दुर्गम संकट आनेवाले होते हैं, उन सबसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंसे तथा समस्त पापसमूहसे भी तर जाते हैं॥ १०॥

एकां च दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती।
शतं सहस्रगुर्दद्यात् सर्वे तुल्यफला हि ते॥ ११॥

'जिसके पास दस गौएँ हों, वह एक गौका दान करे। जो सौ गायें रखता हो, वह दस गौओंका दान करे और जिसके पास एक हजार गौएँ मौजूद हों, वह सौ गौएँ दानमें दे दे तो इन सबको बराबर ही फल मिलता है॥ ११॥



महर्षि वशिष्ठका राजा सौदाससे गौओंका माहात्म्य-कथन

अनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
समृद्धो यश्च कीनाशो नार्घ्यमर्हन्ति ते त्रयः ॥ १२ ॥

'जो सौ गौओंका स्वामी होकर भी अग्निहोत्र नहीं करता, जो हजार गौएँ रखकर भी यज्ञ नहीं करता तथा जो धनी होकर भी कृपणता नहीं छोड़ता—ये तीनों मनुष्य अर्घ्य (सम्मान) पानेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १२ ॥

कपिलां ये प्रयच्छन्ति सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामुभौ लोकौ जयन्ति ते ॥ १३ ॥

'जो उत्तम लक्षणोंसे युक्त कपिला गौको वस्त्र ओढ़ाकर बछड़ेसहित उसका दान करते हैं और उसके साथ दूध दुहनेके लिये एक काँस्यका पात्र भी देते हैं, वे इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय पाते हैं ॥ १३ ॥

युवानमिन्द्रियोपेतं शतेन शतयूथपम् ।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिश्रृङ्गमलङ्कृतम् ॥ १४ ॥
वृषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाय परंतप ।
ऐश्वर्यं तेऽधिगच्छन्ति जायमानाः पुनः पुनः ॥ १५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! जो लोग जवान, सभी इन्द्रियोंसे सम्पन्न, सौ गायोंके यूथपति, बड़ी-बड़ी सींगोंवाले गवेन्द्र वृषभ (साँड़) को सुसज्जित करके सौ गायोंसहित उसे श्रोत्रिय ब्राह्मणको दान करते हैं, वे जब-जब इस संसारमें जन्म लेते हैं, तब-तब महान् ऐश्वर्यके भागी होते हैं ॥ १४-१५ ॥

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यात् तासां संस्मृत्य चोत्पतेत् ।
सायंप्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥ १६ ॥

'गौओंका नाम-कीर्तन किये बिना न सोये । उनका स्मरण करके ही उठे और सबेरे-शाम उन्हें नमस्कार करे । इससे मनुष्यको बल एवं पुष्टि प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथंचन ।
न चासां मांसमश्नीयाद् गवां पुष्टिं तथाप्नुयात् ॥ १७ ॥

'गौओंके मूत्र और गोबरसे किसी प्रकार उद्विग्न न हो—घृणा न करे और उनका मांस न खाय । इससे मनुष्यको पुष्टि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

गाश्च संकीर्तयेन्नित्यं नावमन्येत तास्तथा ।
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः सम्प्रकीर्तयेत् ॥ १८ ॥

'प्रतिदिन गौओंका नाम ले । उनका कभी अपमान न करे । यदि बुरे स्वप्न दिखायी दें तो मनुष्य गोमाताका नाम ले ॥ १८ ॥

गोमयेन सदा स्नायात् करीषे चापि संविशेत् ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥ १९ ॥

'प्रतिदिन शरीरमें गोबर लगाकर स्नान करे । सूखे हुए गोबरपर बैठे । उसपर थूक न फेंके, मल-मूत्र न छोड़े तथा गौओंके तिरस्कारसे बचता रहे ॥ १९ ॥

सार्द्रे चर्मणि भुञ्जीत निरीक्षेद् वारुणीं दिशम् ।
वाग्यतः सर्पिषा भूमौ गवां पुष्टिं सदाश्नुते ॥ २० ॥

'भीगे हुए गोचर्मपर बैठकर भोजन करे । पश्चिम दिशाकी ओर देखे और मौन हो भूमिपर बैठकर घीका भक्षण करे । इससे सदा गौओंकी वृद्धि एवं पुष्टि होती है ॥ २० ॥

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं दद्याद् घृतं प्राशेद् गवां पुष्टिं सदाश्नुते ॥ २१ ॥

'अग्निमें घृतसे हवन करे । घृतसे ही स्वस्तिवाचन कराये । घृतका दान करे और स्वयं भी गौका घृत ही खाय । इससे मनुष्य सदा गौओंकी पुष्टि एवं वृद्धिका अनुभव करता है ॥ २१ ॥

गोमत्या विद्यया धेनुं तिलानामभिमन्त्र्य यः ।
सर्वरत्नमयीं दद्यान्न स शोचेत् कृताकृते ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त तिलकी धेनुको 'गोमाँ अग्नेविमाँ अश्वि' इत्यादि गोमती-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उसका ब्राह्मणको दान करता है, वह किये हुए शुभाशुभ कर्मके लिये शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

गावो मामुपतिष्ठन्तु हेमश्रृङ्ग्यः पयोमुचः ।
सुरभ्यः सौरभेय्यश्च सरितः सागरं यथा ॥ २३ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रके पास जाती हैं, उसी तरह सोनेसे मढ़ी हुई सींगोंवाली, दूध देनेवाली सुरभी और सौरभेयी गौएँ मेरे निकट आयें ॥ २३ ॥

गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा ।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम् ॥ २४ ॥

'मैं सदा गौओंका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपा-दृष्टि करें । गौएँ हमारी हैं और हम गौओंके हैं । जहाँ गौएँ रहें, वहीं हम रहें ॥ २४ ॥

एवं रात्रौ दिवा चापि समेषु विषमेषु च ।
महाभयेषु च नरः कीर्तयन् मुच्यते भयात् ॥ २५ ॥

'जो मनुष्य इस प्रकार रातमें या दिनमें, सम अवस्थामें या विषम अवस्थामें तथा बड़े-से-बड़े भय आनेपर भी गोमाताका नामकीर्तन करता है, वह भयसे मुक्त हो जाता है' ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

गौओंको तपस्याद्वारा अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उनके दानकी महिमा, विभिन्न प्रकारके गौओंके दानसे विभिन्न उत्तम लोकोंमें गमनका कथन

वसिष्ठ उवाच

शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुष्करम्।
गोभिः पूर्वं विसृष्टाभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति ॥ १ ॥
लोकेऽस्मिन् दक्षिणानां च सर्वासां वयमुत्तमाः।
भवेम न च लिप्येम दोषेणेति परंतप ॥ २ ॥
अस्मत्पुरीषस्नानेन जनः पूयेत सर्वदा।
शकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन् देवमानुषाः ॥ ३ ॥
तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
प्रदातारश्च लोकान् नो गच्छेयुरिति मानद ॥ ४ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—मानद परंतप ! प्राचीन कालमें जब गौओंकी सृष्टि हुई थी, तब उन गौओंने एक लाख वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या की थी। उनकी तपस्याका उद्देश्य यह था कि हम श्रेष्ठता प्राप्त करें। इस जगत्में जितनी दक्षिणा देने योग्य वस्तुएँ हैं, उन सबमें हम उत्तम समझी जायँ। किसी दोषसे लिप्त न हों। हमारे गोबरसे स्नान करनेपर सदा सब लोग पवित्र हों। देवता और मनुष्य पवित्रताके लिये हमेशा हमारे गोबरका उपयोग करें। समस्त चराचर प्राणी भी हमारे गोबरसे पवित्र हो जायँ और हमारा दान करनेवाले मनुष्य हमारे ही लोक (गोलोक-धाम) में जायँ ॥ १–४ ॥

ताभ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः।
एवं भवत्विति प्रभुर्लोकांस्तारयतेति च ॥ ५ ॥

जब उनकी तपस्या समाप्त हुई, तब साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन्हें वर दिया—'गौओ ! ऐसा ही हो—तुम्हारे मनमें जो संकल्प है, वह परिपूर्ण हो। तुम सम्पूर्ण जगत्के जीवोंका उद्धार करती रहो' ॥ ५ ॥

उत्तस्थुः सिद्धकामास्ता भूतभव्यस्य मातरः।
प्रातर्नमस्यास्ता गावस्ततः पुष्टिमवाप्नुयात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी समस्त कामनाएँ सिद्ध हो जानेपर गौएँ तपस्यासे उठीं। वे भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंकी जननी हैं; अतः प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गौओंको प्रणाम करना चाहिये। इससे मनुष्योंको पुष्टि प्राप्त होती है ॥

तपसोऽन्ते महाराज गावो लोकपरायणाः।
तस्माद् गावो महाभागाः पवित्रं परमुच्यते ॥ ७ ॥

महाराज ! तपस्या समाप्त होनेपर गौएँ सम्पूर्ण जगत्का आश्रय बन गयीं; इसलिये वे महान् सौभाग्यशालिनी गौएँ परम पवित्र बतायी जाती हैं ॥ ७ ॥

तथैव सर्वभूतानां समतिष्ठन्त मूर्धनि।
समानवत्सां कपिलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां ब्रह्मलोके महीयते ॥ ८ ॥

ये समस्त प्राणियोंके मस्तकपर स्थित हैं (अर्थात् सबसे श्रेष्ठ एवं वन्दनीय हैं)। जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा कपिला गौको वस्त्र ओढ़ाकर कपिल रंगके बछड़ेसहित दान करता है, वह ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥ ८ ॥

लोहितां तुल्यवत्सां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सूर्यलोके महीयते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा लाल रंगकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर लाल रंगके बछड़ेसहित दान करता है, वह सूर्य-लोकमें सम्मानित होता है ॥ ९ ॥

समानवत्सां शबलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सोमलोके महीयते ॥ १० ॥

जो पुरुष दूध देनेवाली सुलक्षणा चितकबरी गौको वस्त्र ओढ़ाकर चितकबरे बछड़ेसहित दान करता है, वह चन्द्र-लोकमें पूजित होता है ॥ १० ॥

समानवत्सां श्वेतां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामिन्द्रलोके महीयते ॥ ११ ॥

जो मानव दूध देनेवाली सुलक्षणा श्वेत वर्णकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर श्वेत वर्णके बछड़ेसहित दान करता है, उसे इन्द्रलोकमें सम्मान प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

समानवत्सां कृष्णां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामग्निलोके महीयते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य दूध देनेवाली सुलक्षणा कृष्ण वर्णकी गौको वस्त्र ओढ़ाकर कृष्ण वर्णके बछड़ेसहित दान करता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

समानवत्सां धूम्रां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां याम्यलोके महीयते ॥ १३ ॥

जो पुरुष दूध देनेवाली सुलक्षणा धूएँ-जैसे रंगकी गौको वस्त्रओढ़ाकर धूएँके समान रंगके बछड़ेसहित दान करता है, वह यमलोकमें सम्मानित होता है ॥ १३ ॥

अपां फेनसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वारुणं लोकमाप्नुते ॥ १४ ॥

जो जलके फेनके समान रंगवाली गौको वस्त्र ओढ़ाकर

बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह वरुणलोकको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

वातरेणुसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वायुलोके महीयते ॥ १५ ॥

जो हवासे उड़ी हुई धूलके समान रंगवाली गौको वस्त्र ओढ़ाकर बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, उसकी वायुलोकमें पूजा होती है ॥ १५ ॥

हिरण्यवर्णां पिंगाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां कौबेरं लोकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो सुवर्णके समान रंग तथा पिङ्गल वर्णके नेत्रवाली गौको वस्त्र ओढ़ाकर बछड़े और कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह कुबेर-लोकको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

पलालधूम्रवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां पितृलोके महीयते ॥ १७ ॥

जो पुआलके धूएँके समान रंगवाली बछड़ेसहित गौको वस्त्रसे आच्छादित करके कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह पितृलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १७ ॥

सवत्सां पीवरीं दत्त्वा दृतिकण्ठामलंकृताम् ।
वैश्वदेवमसम्बाधं स्थानं श्रेष्ठं प्रपद्यते ॥ १८ ॥

जो लटकते हुए गलकम्बलसे युक्त मोटी-ताजी सवत्सा गौको अलङ्कृत करके ब्राह्मणको दान देता है, वह बिना किसी बाधाके विश्वेदेवोंके श्रेष्ठ लोकमें पहुँच जाता है ॥ १८ ॥

समानवत्सां गौरीं तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां वसूनां लोकमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

जो गौर वर्णवाली और दूध देनेवाली शुभलक्षणा गौको वस्त्र ओढ़ाकर समान रंगवाले बछड़ेसहित दान करता है, वह वसुओंके लोकमें जाता है ॥ १९ ॥

पाण्डुकम्बलवर्णाभां सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां साध्यानां लोकमाप्नुते ॥ २० ॥

जो श्वेत कम्बलके समान रंगवाली सवत्सा गौको वस्त्रसे आच्छादित करके कांस्यके दुग्धपात्रसहित दान करता है, वह साध्योंके लोकमें जाता है ॥ २० ॥

वैराटपृष्ठमुक्षाणं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
प्रददन्मरुतां लोकान् स राजन् प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

राजन् ! जो विशालपृष्ठभागवाले बैलको सब प्रकारके रत्नोंसे अलङ्कृत करके उसका दान करता है, वह मरुद्गणोंके लोकोंमें जाता है ॥ २१ ॥

वयोपपन्नं लीलाङ्गं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
गन्धर्वाप्सरसां लोकान् दत्त्वा प्राप्नोति मानवः ॥ २२ ॥

जो मनुष्य यौवनसे सम्पन्न और सुन्दर अङ्गवाले बैलको सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित करके उसका दान करता है, वह गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

दृतिकण्ठमनड्वाहं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
दत्त्वा प्रजापतेर्लोकान् विशोकः प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

जो लटकते हुए गलकम्बलवाले तथा गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ बैलको सम्पूर्ण रत्नोंसे अलङ्कृत करके ब्राह्मणको देता है, वह शोकरहित हो प्रजापतिके लोकोंमें जाता है ॥ २३ ॥

गोप्रदानरतो याति भित्त्वा जलदसंचयान् ।
विमानेनार्कवर्णेन दिवि राजन् विराजते ॥ २४ ॥

राजन् ! गोदानमें अनुरागपूर्वक तत्पर रहनेवाला पुरुष सूर्यके समान देदीप्यमान विमानमें बैठकर मेघमण्डलको भेदता हुआ स्वर्गमें जाकर सुशोभित होता है ॥ २४ ॥

तं चारुवेषाः सुश्रोण्यः सहस्रं सुरयोषितः ।
रमयन्ति नरश्रेष्ठं गोप्रदानरतं नरम् ॥ २५ ॥

उस गोदानपरायण श्रेष्ठ मनुष्यको मनोहर वेष और सुन्दर नितम्बवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ (अपनी सेवासे) रमण कराती हैं ॥ २५ ॥

वीणानां वल्लकीनां च नूपुराणां च सिञ्जितैः ।
हासैश्च हरिणाक्षीणां सुप्तः स प्रतिबोध्यते ॥ २६ ॥

वह वीणा और वल्लकीके मधुर गुञ्जन, मृगनयनी युवतियोंके नूपुरोंकी मनोहर झनकारों तथा हास-परिहासके शब्दोंको श्रवण करके नींदसे जागता है ॥ २६ ॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावन्ति वर्षाणि महीयते सः ।
स्वर्गच्युतश्चापि ततो नृलोके
प्रसूयते वै विपुले गृहे सः ॥ २७ ॥

गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है । फिर पुण्यक्षीण होनेपर जब स्वर्गसे नीचे उतरता है, तब इस मनुष्यलोकमें आकर सम्पन्न घरमें जन्म लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

गौओं तथा गोदानकी महिमा

वसिष्ठ उवाच

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥ १ ॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम्।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम् ॥ २ ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ ३ ॥
इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते ॥ ४ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! मनुष्यको चाहिये कि सदा सबेरे और सायंकाल आचमन करके इस प्रकार जप करे—'घी और दूध देनेवाली, घीकी उत्पत्तिका स्थान, घीको प्रकट करनेवाली, घीकी नदी तथा घीकी भँवररूप गौएँ मेरे घरमें सदा निवास करें। गौका घी मेरे हृदयमें सदा स्थित रहे। घी मेरी नाभिमें प्रतिष्ठित हो। घी मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त रहे और घी मेरे मनमें स्थित हो। गौएँ मेरे आगे रहें। गौएँ मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे चारों ओर रहें और मैं गौओंके बीचमें निवास करूँ।' इस प्रकार प्रतिदिन जप करनेवाला मनुष्य दिनभरमें जो पाप करता है, उससे छुटकारा पा जाता है ॥ १–४ ॥

प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा।
गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ५ ॥

सहस्र गौओंका दान करनेवाले मनुष्य जहाँ सोनेके महल हैं, जहाँ स्वर्गगङ्गा बहती हैं तथा जहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ निवास करती हैं, उस स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ५ ॥

नवनीतपङ्काः क्षीरोदा दधिशैवलसंकुलाः।
वहन्ति यत्र वै नद्यस्तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ६ ॥

सहस्र गौओंका दान करनेवाले पुरुष जहाँ दूधके जलसे भरी हुई, दहीके सेवारसे व्याप्त हुई तथा मक्खनरूपी कीचड़से युक्त हुई नदियाँ बहती हैं, वहीं जाते हैं ॥ ६ ॥

गवां शतसहस्रं तु यः प्रयच्छेद् यथाविधि।
परां वृद्धिमवाप्याथ स्वर्गलोके महीयते ॥ ७ ॥

जो विधिपूर्वक एक लाख गौओंका दान करता है, वह अत्यन्त अभ्युदयको पाकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ॥

दश चोभयतः पुत्रो मातापित्रोः पितामहान्।
दधाति सुकृतान् लोकान् पुनाति च कुलं नरः ॥८॥

वह मनुष्य अपने माता और पिताकी दस-दस पीढ़ियोंको पवित्र करके उन्हें पुण्यमय लोकोंमें भेजता है और अपने कुलको भी पवित्र कर देता है ॥ ८ ॥

धेन्वाः प्रमाणेन समप्रमाणां
धेनुं तिलानामपि च प्रदाय।
पानीयदाता च यमस्य लोके
न यातनां काञ्चिदुपैति तत्र ॥ ९ ॥

जो गायके बराबर तिलकी गाय बनाकर उसका दान करता है, अथवा जो जलधेनुका दान करता है, उसे यमलोकमें जाकर वहाँकी कोई यातना नहीं भोगनी पड़ती ॥ ९ ॥

पवित्रमग्र्यं जगतः प्रतिष्ठा
दिवौकसां मातरोऽथाप्रमेयाः।
अन्वालभेद् दक्षिणतो व्रजेच्च
दद्याच्च पात्रे प्रसमीक्ष्य कालम् ॥ १० ॥

गौ सबसे अधिक पवित्र, जगत्का आधार और देवताओंकी माता है। उसकी महिमा अप्रमेय है। उसका सादर स्पर्श करे और उसे दाहिने रखकर चले तथा उत्तम समय देखकर उसका सुपात्र ब्राह्मणको दान करे ॥ १० ॥

धेनुं सवत्सां कपिलां भूरिशृङ्गीं
कांस्योपदोहां वसनोत्तरीयाम्।
प्रदाय तां गाहति दुर्विगाह्यां
याम्यां सभां वीतभयो मनुष्यः ॥ ११ ॥

जो बड़े-बड़े सींगोंवाली कपिला धेनुको वस्त्र ओढ़ाकर उसे बछड़े और काँसीकी दोहनीसहित ब्राह्मणको दान करता है, वह मनुष्य यमराजकी दुर्गम सभामें निर्भय होकर प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः।
गावो मामुपतिष्ठन्तामिति नित्यं प्रकीर्तयेत् ॥ १२ ॥

प्रतिदिन यह प्रार्थना करनी चाहिये कि सुन्दर एवं अनेक प्रकारके रूप-रंगवाली विश्वरूपिणी गोमाताएँ सदा मेरे निकट आयें ॥ १२ ॥

नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम्।
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥ १३ ॥

गोदानसे बढ़कर कोई पवित्र दान नहीं है। गोदानके फलसे श्रेष्ठ दूसरा कोई फल नहीं है तथा संसारमें गौसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट प्राणी नहीं है ॥ १३ ॥

त्वचा लोम्नाथ शृङ्गैर्वा वालैः क्षीरेण मेदसा।
यज्ञं वहति सम्भूय किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

त्वचा, रोम, सींग, पूँछके बाल, दूध और मेदा आदिके

साथ मिलकर गौ (दूध, दही, घी आदिके द्वारा) यज्ञका निर्वाह करती है; अतः उससे श्रेष्ठ दूसरी कौन-सी वस्तु है ॥

यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम् ॥ १५ ॥

जिसने समस्त चराचर जगत्‌को व्याप्त कर रखा है, उस भूत और भविष्यकी जननी गौको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

गुणवचनसमुच्चयैकदेशो
नृवर मयैष गवां प्रकीर्तितस्ते ।
न च परमिह दानमस्ति गोभ्यो
भवति न चापि परायणं तथान्यत्॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गौओंके गुणवर्णनसम्बन्धी साहित्यका एक लघु अंशमात्र बताया है—दिग्दर्शनमात्र कराया है । गौओंके दानसे बढ़कर इस संसारमें दूसरा कोई दान नहीं है तथा उनके समान दूसरा कोई आश्रय भी नहीं है ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

वरमिदमिति भूमिदो विचिन्त्य
प्रवरमृषेर्वचनं ततो महात्मा ।
व्यसृजत नियतात्मवान् द्विजेभ्यः
सुबहु च गोधनमाप्तवांश्च लोकान् ॥ १७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महर्षि वसिष्ठके ये वचन सुनकर भूमिदान करनेवाले संयतात्मा महामना राजा सौदासने 'यह बहुत उत्तम पुण्यकार्य है' ऐसा सोचकर ब्राह्मणोंको बहुत-सी गौएँ दान दीं । इससे उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

गौओंका माहात्म्य तथा व्यासजीके द्वारा शुकदेवसे गौओंकी, गोलोककी और गोदानकी महत्ताका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पवित्राणां पवित्रं यच्छिष्टं लोके च यद् भवेत्।
पावनं परमं चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! संसारमें जो वस्तु पवित्रोंमें भी पवित्र तथा लोकमें पवित्र कहकर अनुमोदित एवं परम पावन हो, उसका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

गावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान् ।
धारयन्ति प्रजाश्चेमा हविषा पयसा तथा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! गौएँ महान् प्रयोजन सिद्ध करनेवाली तथा परम पवित्र हैं । ये मनुष्योंको तारनेवाली हैं और अपने दूध-घीसे प्रजावर्गके जीवनकी रक्षा करती हैं ॥ २ ॥

न हि पुण्यतमं किंचिद् गोभ्यो भरतसत्तम ।
एताः पुण्याः पवित्राश्च त्रिषु लोकेषु सत्तमाः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गौओंसे बढ़कर परम पवित्र दूसरी कोई वस्तु नहीं है । ये पुण्यजनक, पवित्र तथा तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥

देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै ।
दत्त्वा चैतास्तारयन्ते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः ॥ ४ ॥

गौएँ देवताओंसे भी ऊपरके लोकोंमें निवास करती हैं । जो मनीषी पुरुष इनका दान करते हैं, वे अपने आपको तारते हैं और स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४ ॥

मान्धाता यौवनाश्वश्च ययातिर्नहुषस्तथा ।
गा वै ददन्तः सततं सहस्रशतसम्मिताः ॥ ५ ॥
गताः परमकं स्थानं देवैरपि सुदुर्लभम् ।

युवनाश्वके पुत्र राजा मान्धाता, (सोमवंशी) नहुष और ययाति—ये सदा लाखों गौओंका दान किया करते थे; इससे वे उन उत्तम स्थानोंको प्राप्त हुए हैं, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ५½ ॥

अपि चात्र पुरागीतां कथयिष्यामि तेऽनघ ॥ ६ ॥
ऋषीणामुत्तमं धीमान् कृष्णद्वैपायनं शुकः ।
अभिवाद्याह्निककृतः शुचिः प्रयतमानसः ॥ ७ ॥
पितरं परिपप्रच्छ दृष्टलोकपरावरम् ।
को यज्ञः सर्वयज्ञानां वरिष्ठोऽभ्युपलक्ष्यते ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक पुराना वृत्तान्त सुना रहा हूँ । एक समयकी बात है, परम बुद्धिमान् शुकदेवजीने नित्यकर्मका अनुष्ठान करके पवित्र एवं शुद्धचित्त होकर अपने पिता—ऋषियोंमें उत्तम श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको, जो लोकके भूत और भविष्यको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं, प्रणाम करके पूछा—'पिताजी ! सम्पूर्ण यज्ञोंमें कौन सा यज्ञ सबसे श्रेष्ठ देखा जाता है ? ॥ ६-८ ॥

किं च कृत्वा परं स्थानं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ।
केन देवाः पवित्रेण स्वर्गमश्नन्ति वा विभो ॥ ९ ॥

'प्रभो ! मनीषी पुरुष कौन-सा कर्म करके उत्तम स्थानको प्राप्त होते हैं तथा किस पवित्र कार्यके द्वारा देवता स्वर्गलोकका उपभोग करते हैं ? ॥ ९ ॥

किं च यज्ञस्य यज्ञत्वं क च यज्ञः प्रतिष्ठितः ।
देवानामुत्तमं किं च किं च सत्रमितः परम् ॥ १० ॥

'यज्ञका यज्ञत्व क्या है ? यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? देवताओंके लिये कौन-सी वस्तु उत्तम है ? इससे श्रेष्ठ यज्ञ क्या है ? ॥ १० ॥

पवित्राणां पवित्रं च यत् तद् ब्रूहि पितर्मम ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः परमधर्मवित् ।
पुत्रायाकथयत् सर्वं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ११ ॥

'पिताजी ! पवित्रोंमें पवित्र वस्तु क्या है ? इन सारी बातोंका मुझसे वर्णन कीजिये ।' भरतश्रेष्ठ ! पुत्र शुकदेवका यह वचन सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासने उससे सब बातें ठीक-ठीक बतायीं ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम् ।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा ॥ १२ ॥

व्यासजी बोले--बेटा ! गौएँ सम्पूर्ण भूतोंकी प्रतिष्ठा हैं । गौएँ परम आश्रय हैं । गौएँ पुण्यमयी एवं पवित्र होती हैं तथा गोधन सबको पवित्र करनेवाला है ॥ १२ ॥

पूर्वमासन्नशृङ्गा वै गाव इत्यनुशुश्रुम ।
शृङ्गार्थे समुपासन्त ताः किल प्रभुमव्ययम् ॥ १३ ॥

हमने सुना है कि गौएँ पहले बिना सींगकी ही थीं । उन्होंने सींगके लिये अविनाशी भगवान् ब्रह्माकी उपासना की॥

ततो ब्रह्मा तु गाः प्रायमुपविष्टाः समीक्ष्य ह ।
ईप्सितं प्रददौ ताभ्यो गोभ्यः प्रत्येकशः प्रभुः ॥ १४ ॥

भगवान् ब्रह्माजीने गौओंको प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) करते देख उन गौओंमेंसे प्रत्येकको उनकी अभीष्ट वस्तु दी ॥ १४ ॥

तासां शृङ्गाण्यजायन्त यस्या यादृङ्मनोगतम् ।
नानावर्णाः शृङ्गवन्त्यस्ता व्यरोचन्त पुत्रक ॥ १५ ॥

बेटा ! वरदान मिलनेके पश्चात् गौओंके सींग प्रकट हो गये । जिसके मनमें जैसे सींगकी इच्छा थी, उसके वैसे ही हो गये । नाना प्रकारके रूप-रंग और सींगसे युक्त हुई उन गौओंकी बड़ी शोभा होने लगी ॥ १५ ॥

ब्रह्मणा वरदत्तास्ता हव्यकव्यप्रदाः शुभाः ।
पुण्याः पवित्राः सुभगा दिव्यसंस्थानलक्षणाः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीका वरदान पाकर गौएँ मङ्गलमयी, हव्य-कव्य प्रदान करनेवाली, पुण्यजनक, पवित्र, सौभाग्यवती तथा दिव्य अङ्गों एवं लक्षणोंसे सम्पन्न हुईं ॥ १६ ॥

गावस्तेजो महद् दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते ।
ये चैताः सम्प्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः ॥ १७ ॥
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते ।
गवां लोकं तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ ॥ १८ ॥

गौएँ दिव्य एवं महान् तेज हैं । उनके दानकी प्रशंसा की जाती है । जो सत्पुरुष मात्सर्यका त्याग करके गौओंका दान करते हैं, वे पुण्यात्मा कहे गये हैं । वे सम्पूर्ण दानोंके दाता माने गये हैं । निष्पाप शुकदेव ! उन्हें पुण्यमय गोलोककी प्राप्ति होती है ॥ १७-१८ ॥

यत्र वृक्षा मधुफला दिव्यपुष्पफलोपगाः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि दिव्यानि द्विजसत्तम ॥ १९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! गोलोकके सभी वृक्ष मधुर एवं सुस्वादु फल देनेवाले हैं । वे दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न होते हैं । उन वृक्षोंके पुष्प दिव्य एवं मनोहर गन्धसे युक्त होते हैं ॥ १९ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सर्वकाञ्चनवालुका ।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का नीरजाः शुभा ॥ २० ॥

वहाँकी भूमि मणिमयी है । वहाँकी बालुका काञ्चन-चूर्णरूप है । उस भूमिका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखद होता है । वहाँ धूल और कीचड़का नाम भी नहीं है । वह भूमि सर्वथा मङ्गलमयी है ॥ २० ॥

रक्तोत्पलवनैश्चैव मणिखण्डैर्हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसंकाशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ २१ ॥

वहाँके जलाशय लाल कमलवनोंसे तथा प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रकाशमान मणिजटित सुवर्णमय सोपानोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २१ ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलविमिश्रैश्च सरोभिर्बहुपङ्कजैः ॥ २२ ॥

वहाँकी भूमि कितने ही सरोवरोंसे शोभा पाती है । उन सरोवरोंमें नीलोत्पलमिश्रित बहुत-से कमल खिले रहते हैं । उन कमलोंके दल बहुमूल्य मणिमय होते हैं और उनके केसर अपनी स्वर्णमयी प्रभासे प्रकाशित होते हैं ॥ २२ ॥

करवीरवनैः फुल्लैः सहस्रावर्तसंवृतैः ।
संतानकवनैः फुल्लैर्वृक्षैश्च समलंकृताः ॥ २३ ॥

उस लोकमें बहुत-सी नदियाँ हैं, जिनके तटोंपर खिले हुए कनेरोंके वन तथा विकसितसंतानक (कल्पवृक्ष-विशेष) के वन एवं अन्यान्य वृक्ष उनकी शोभा बढ़ाते हैं । वे वृक्ष और वन अपने मूल भागमें सहस्रों आवर्तोंसे घिरे हुए हैं ॥

निर्मलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाप्रभैः ।
उद्भूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ २४ ॥

उन नदियोंके तटोंपर निर्मल मोती, अत्यन्त प्रकाशमान मणिरत्न तथा सुवर्ण प्रकट होते हैं ॥ २४ ॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा द्रुमोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चान्यैर्हुताशनसमप्रभैः ॥ २५ ॥

कितने ही उत्तम वृक्ष अपने मूलभागके द्वारा उन नदियोंके जलमें प्रविष्ट दिखायी देते हैं । वे सर्वरत्नमय विचित्र देखे जाते हैं । कितने ही सुवर्णमय होते हैं और दूसरे बहुत-से वृक्ष प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होते हैं ॥ २५ ॥

सौवर्णा गिरयस्तत्र मणिरत्नशिलोच्चयाः ।
सर्वरत्नमयैर्भान्ति शृङ्गैश्चारुभिरुच्छ्रितैः ॥ २६ ॥

वहाँ सोनेके पर्वत तथा मणि और रत्नोंके शैलसमूह हैं, जो अपने मनोहर, ऊँचे तथा सर्वरत्नमय शिखरोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २६ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसैः पुष्पैः फलैश्च भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फूल और फल लगे रहते हैं । वे वृक्ष पक्षियोंसे भरे होते हैं तथा उनके फूलों और फलोंमें दिव्य रस और दिव्य सुगन्ध होते हैं ॥ २७॥

रमन्ते पुण्यकर्माणस्तत्र नित्यं युधिष्ठिर ।
सर्वकामसमृद्धार्था निःशोका गतमन्यवः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! वहाँ पुण्यात्मा पुरुष ही सदा निवास करते हैं । गोलोकवासी शोक और क्रोधसे रहित, पूर्णकाम एवं सफलमनोरथ होते हैं ॥ २८ ॥

विमानेषु विचित्रेषु रमणीयेषु भारत ।
मोदन्ते पुण्यकर्माणो विहरन्तो यशस्विनः ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! वहाँके यशस्वी एवं पुण्यकर्मा मनुष्य विचित्र एवं रमणीय विमानोंमें बैठकर यथेष्ट विहार करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ २९ ॥

उपक्रीडन्ति तान् राजञ्छुभाश्चाप्सरसां गणाः ।
एताँल्लोकानवाप्नोति गां दत्त्वा वै युधिष्ठिर ॥ ३० ॥

राजन् ! उनके साथ सुन्दरी अप्सराएँ क्रीड़ा करती हैं । युधिष्ठिर ! गोदान करके मनुष्य इन्हीं लोकोंमें जाते हैं ॥३०॥

येषामधिपतिः पूषा मारुतो बलवान् बली ।
ऐश्वर्ये वरुणो राजा नाममात्रं युगन्धराः ॥ ३१ ॥
सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
प्राजापत्यमिति ब्रह्मन् जपेन्नित्यं यतव्रतः ॥ ३२ ॥

नरेन्द्र ! शक्तिशाली सूर्य और बलवान् वायु जिन लोकोंके अधिपति हैं, एवं राजा वरुण जिन लोकोंके ऐश्वर्यपर प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य गोदान करके उन्हीं लोकोंमें जाता है । गौएँ युगन्धरा, सुरूपा, बहुरूपा, विश्वरूपा तथा सबकी माताएँ हैं । शुकदेव ! मनुष्य संयम-नियमके साथ रहकर गौओंके इन प्रजापतिकथित नामोंका प्रतिदिन जप करे ॥

गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः ।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ॥ ३३ ॥

जो पुरुष गौओंकी सेवा और सब प्रकारसे उनका अनुगमन करता है, उसपर संतुष्ट होकर गौएँ उसे अत्यन्त दुर्लभ वर प्रदान करती हैं ॥ ३३ ॥

द्रुह्येन्न मनसा वापि गोषु नित्यं सुखप्रदः ।
अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत् ॥ ३४ ॥

गौओंके साथ मनसे भी कभी द्रोह न करे, उन्हें सदा सुख पहुँचाये, उनका यथोचित सत्कार करे और नमस्कार आदिके द्वारा उनका पूजन करता रहे ॥ ३४ ॥

दान्तः प्रीतमना नित्यं गवां व्युष्टिं तथाश्नुते ।
त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं पिबेत् पयः ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य जितेन्द्रिय और प्रसन्नचित्त होकर नित्य गौओंकी सेवा करता है, वह समृद्धिका भागी होता है। मनुष्य तीन दिनोंतक गरम गोमूत्र पीकर रहे, फिर तीन दिनतक गरम गोदुग्ध पीकर रहे ॥ ३५ ॥

गवामुष्णं पयः पीत्वा त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम् ॥ ३६ ॥

गरम गोदुग्ध पीनेके पश्चात् तीन दिनोंतक गरम-गरम गोघृत पीये । तीन दिनतक गरम घी पीकर फिर तीन दिनोंतक वह वायु पीकर रहे ॥ ३६ ॥

येन देवाः पवित्रेण भुञ्जते लोकमुत्तमम् ।
यत् पवित्रं पवित्राणां तद् घृतं शिरसा वहेत् ॥ ३७ ॥

देवगण भी जिस पवित्र घृतके प्रभावसे उत्तम-उत्तम लोकका पालन करते हैं तथा जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे बढ़कर पवित्र है, उससे घृतको शिरोधार्य करे ॥ ३७ ॥

घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं प्राशेद् घृतं दद्याद् गवां पुष्टिं तथाश्नुते ॥ ३८ ॥

गायके घीके द्वारा अग्निमें आहुति दे । घृतकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराये। घृत भोजन करे तथा गोघृतका ही दान करे। ऐसा करनेसे मनुष्य गौओंकी समृद्धि एवं अपनी पुष्टिका अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

निर्हृतैश्च यवैर्गोभिर्मासं प्रश्रितयावकः ।
ब्रह्महत्यासमं पापं सर्वमेतेन शुध्यते ॥ ३९ ॥

गौओंके गोबरसे निकाले हुए जौकी लप्सीका एक मासतक भक्षण करे। इससे मनुष्य ब्रह्महत्या-जैसे पापसे भी छुटकारा पा जाता है ॥ ३९ ॥

पराभवाच्च दैत्यानां देवैः शौचमिदं कृतम् ।
ते देवत्वमपि प्राप्ताः संसिद्धाश्च महाबलाः ॥ ४० ॥

जब दैत्योंने देवताओंको पराजित कर दिया, तब देवताओंने इसी प्रायश्चित्तका अनुष्ठान किया। इससे उन्हें पुनः (नष्ट हुए) देवत्वकी प्राप्ति हुई तथा वे महाबलवान् और परम सिद्ध हो गये ॥ ४० ॥

गावः पवित्राः पुण्याश्च पावनं परमं महत् ।
ताश्च दत्त्वा द्विजातिभ्यो नरः स्वर्गमुपाश्नुते ॥ ४१ ॥

गौएँ परम पावन, पवित्र और पुण्यस्वरूपा हैं। वे महान् देवता हैं। उन्हें ब्राह्मणोंको देकर मनुष्य स्वर्गका सुख भोगता है ॥ ४१ ॥

गवां मध्ये शुचिर्भूत्वा गोमतीं मनसा जपेत् ।
पूताभिरद्भिराचम्य शुचिर्भवति निर्मलः ॥ ४२ ॥

पवित्र जलसे आचमन करके पवित्र होकर गौओंके बीचमें गोमतीमन्त्र (गोमाँ अग्नेविमाँ अश्वि इत्यादि) का मन-ही-मन जप करे। ऐसा करनेसे वह अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल (पापमुक्त) हो जाता है ॥ ४२ ॥

अग्निमध्ये गवां मध्ये ब्राह्मणानां च संसदि ।
विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः पुण्यकर्मिणः ॥ ४३ ॥
अध्यापयेरञ्शिष्यान् वै गोमतीं यज्ञसम्मिताम् ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा गोमतीं लभते वरम् ॥ ४४ ॥

विद्या और वेदव्रतमें निष्णात पुण्यात्मा ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे अग्नियों और गौओंके बीचमें तथा ब्राह्मणोंकी सभामें शिष्योंको यज्ञतुल्य गोमतीविद्याकी शिक्षा दें। जो तीन राततक उपवास करके गोमती-मन्त्रका जप करता है, उसे गौओंका वरदान प्राप्त होता है ॥ ४३-४४ ॥

पुत्रकामश्च लभते पुत्रं धनमथापि वा ।
पतिकामा च भर्तारं सर्वकामांश्च मानवः ।
गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति सेविता वै न संशयः ॥ ४५ ॥

पुत्रकी इच्छावाला पुत्र और धन चाहनेवाला धन पाता है। पतिकी इच्छा रखनेवाली स्त्रीको मनके अनुकूल पति मिलता है। सारांश यह कि गौओंकी आराधना करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। गौएँ मनुष्यों-द्वारा सेवित और संतुष्ट होकर उन्हें सब कुछ देती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ।
रोहिण्य इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार ये महाभाग्यशालिनी गौएँ यज्ञका प्रधान अङ्ग हैं और सबको सम्पूर्ण कामनाएँ देनेवाली हैं। तुम इन्हें रोहिणी समझो। इनसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४६ ॥

इत्युक्तः स महातेजाः शुकः पित्रा महात्मना ।
पूजयामास गां नित्यं तस्मात् त्वमपि पूजय ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर ! अपने महात्मा पिता व्यासजीके ऐसा कहने-पर महातेजस्वी शुकदेवजी प्रतिदिन गौकी सेवा-पूजा करने लगे; इसलिये तुम भी गौओंकी सेवा-पूजा करो ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोप्रदानिके एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोदानविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

लक्ष्मी और गौओंका संवाद तथा लक्ष्मीकी प्रार्थनापर गौओंके द्वारा गोबर और गोमूत्रमें लक्ष्मीको निवासके लिये स्थान दिया जाना

युधिष्ठिर उवाच

मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं संशयोऽत्र पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! मैंने सुना है कि गौओं-के गोबरमें लक्ष्मीका निवास है; किंतु इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः इसके सम्बन्धमें मैं यथार्थ बात सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गोभिर्नृपेह संवादं श्रिया भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष गौ और लक्ष्मीके संवादरूप इस प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

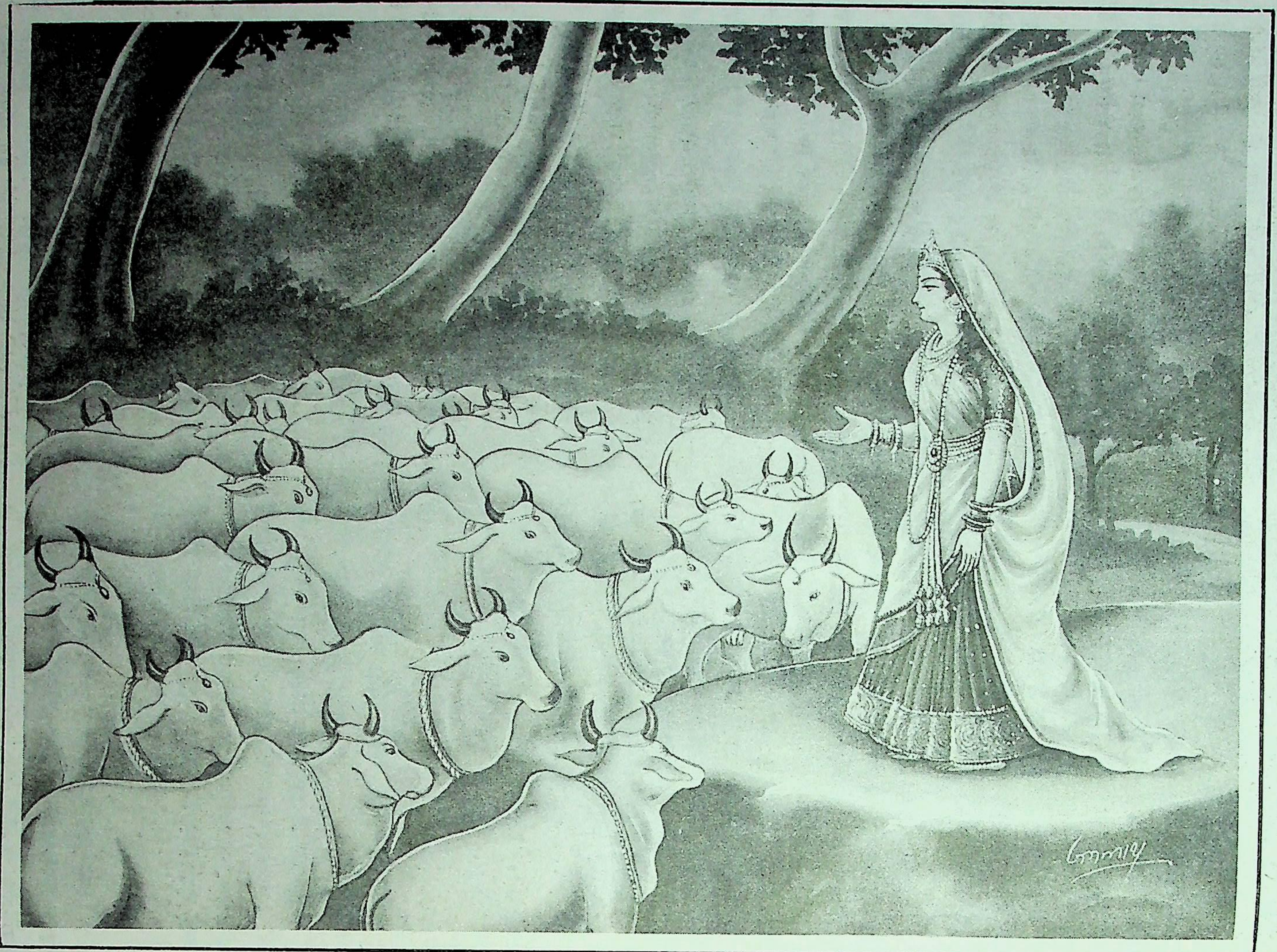
श्रीः कृत्वेह वपुः कान्तं गोमध्येषु विवेश ह ।
गावोऽथ विस्मितास्तस्या दृष्ट्वा रूपस्य सम्पदम् ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, लक्ष्मीने मनोहर रूप धारण करके गौओंके झुंडमें प्रवेश किया। उनके रूप-वैभवको देखकर गौएँ आश्चर्यचकित हो उठीं ॥ ३ ॥

गाव ऊचुः

कासि देवि कुतो वा त्वं रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
विस्मिताः स्म महाभागे तव रूपस्य सम्पदा ॥ ४ ॥

गौओंने पूछा—देवि ! तुम कौन हो और कहाँसे आयी हो ? इस पृथ्वीपर तुम्हारे रूपकी कहीं तुलना नहीं है। महाभागे ! तुम्हारी इस रूप-सम्पत्तिसे हमलोग बड़े आश्चर्यमें पड़ गये हैं ॥ ४ ॥



भगवती लक्ष्मीकी गौओंसे आश्रयके लिये प्रार्थना

इच्छाम त्वां वयं ज्ञातुं का त्वं क्व च गमिष्यसि ।
तत्त्वेन वरवर्णाभे सर्वमेतद् ब्रवीहि नः ॥ ५ ॥

इसलिये हम तुम्हारा परिचय जानना चाहती हैं । तुम कौन हो और कहाँ जाओगी ? वरवर्णिनि ! ये सारी बातें हमें ठीक-ठीक बताओ ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

लोककान्तास्मि भद्रं वः श्रीर्नामाहं परिश्रुता ।
मया दैत्याः परित्यक्ता विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥

लक्ष्मी बोलीं—गौओ ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं इस जगत्में लक्ष्मी नामसे प्रसिद्ध हूँ । सारा जगत् मेरी कामना करता है । मैंने दैत्योंको छोड़ दिया, इसलिये वे सदाके लिये नष्ट हो गये हैं ॥ ६ ॥

मयाभिपन्ना देवाश्च मोदन्ते शाश्वतीः समाः ।
इन्द्रो विवस्वान् सोमश्च विष्णुरापोऽग्निरेव च ॥ ७ ॥

मेरे ही आश्रयमें रहनेके कारण इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, जलके अधिष्ठाता देवता वरुण और अग्नि आदि देवता सदा आनन्द भोग रहे हैं ॥ ७ ॥

मयाभिपन्नाः सिध्यन्ते ऋषयो देवतास्तथा ।
यान् नाविशाम्यहं गावस्ते विनश्यन्ति सर्वशः ॥ ८ ॥

देवताओं तथा ऋषियोंको मुझसे अनुगृहीत होनेपर ही सिद्धि मिलती है । गौओ ! जिनके शरीरमें मैं प्रवेश नहीं करती, वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मया जुष्टाः सुखान्विताः ।
एवंप्रभावां मां गावो विजानीत सुखप्रदाः ॥ ९ ॥

धर्म, अर्थ और काम मेरा सहयोग पाकर ही सुखद होते हैं; अतः सुखदायिनी गौओ ! मुझे ऐसे ही प्रभावसे सम्पन्न समझो ॥ ९ ॥

इच्छामि चापि युष्मासु वस्तुं सर्वासु नित्यदा ।
आगत्य प्रार्थये युष्माञ्छ्रीजुष्टा भवताऽथ वै ॥ १० ॥

मैं तुम सब लोगोंके भीतर भी सदा निवास करना चाहती हूँ और इसके लिये स्वयं ही तुम्हारे पास आकर प्रार्थना करती हूँ । तुमलोग मेरा आश्रय पाकर श्रीसम्पन्न हो जाओ ॥ १० ॥

गाव ऊचुः

अध्रुवा चपला च त्वं सामान्या बहुभिः सह ।
न त्वामिच्छाम भद्रं ते गम्यतां यत्र रंस्यसे ॥ ११ ॥

गौओंने कहा—देवि ! तुम चञ्चला हो । कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहतीं । इसके सिवा तुम्हारा बहुतोंके साथ एक-सा सम्बन्ध है; इसलिये हम तुम्हें नहीं चाहती हैं । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जहाँ आनन्दपूर्वक रह सको, जाओ ॥ ११ ॥

वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयाद्य वै ।
यथेष्टं गम्यतां तत्र कृतकार्या वयं त्वया ॥ १२ ॥

हमारा शरीर तो यों ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर है । हमें तुमसे क्या काम ? तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ । तुमने दर्शन दिया, इतनेहीसे हम कृतार्थ हो गयीं ॥ १२ ॥

श्रीरुवाच

किमेतद् वः क्षमं गावो यन्मां नेहाभिनन्दथ ।
न मां सम्प्रति गृह्णीध्वं कस्माद् वै दुर्लभां सतीम् ॥ १३ ॥

लक्ष्मीने कहा—गौओ ! यह क्या बात है ? क्या यही तुम्हारे लिये उचित है कि तुम मेरा अभिनन्दन नहीं करती ? मैं सती-साध्वी हूँ, दुर्लभ हूँ । फिर भी इस समय तुम मुझे स्वीकार क्यों नहीं करती ? ॥ १३ ॥

सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः ।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः ॥ १४ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली गौओ ! लोकमें जो यह प्रवाद चल रहा है कि 'बिना बुलाये स्वयं किसीके यहाँ जानेपर निश्चय ही अनादर होता है ।' यह ठीक ही जान पड़ता है ॥ १४ ॥

महदुग्रं तपः कृत्वा मां निषेवन्ति मानवाः ।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ १५ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य बड़ी उग्र तपस्या करके मेरी सेवाका सौभाग्य प्राप्त करते हैं ॥

प्रभाव एष वो गावः प्रतिगृह्णीत मामिह ।
नावमन्या ह्यहं सौम्यास्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १६ ॥

सौम्य स्वभाववाली गौओ ! यह तुम्हारा प्रभाव है कि मैं स्वयं तुम्हारे पास आयी हूँ । अतः तुम मुझे यहाँ ग्रहण करो । चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कहीं भी मैं अपमान पानेके योग्य नहीं हूँ ॥ १६ ॥

गाव ऊचुः

नावमन्यामहे देवि न त्वां परिभवामहे ।
अध्रुवा चलचित्तासि ततस्त्वां वर्जयामहे ॥ १७ ॥

गौओंने कहा—देवि ! हम तुम्हारा अपमान या अनादर नहीं करतीं । केवल तुम्हारा त्याग कर रही हैं । वह भी इसलिये कि तुम्हारा चित्त चञ्चल है । तुम कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहती ॥ १७ ॥

बहुना च किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि ।
वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयानघे ॥ १८ ॥

इस विषयमें बहुत बात करनेसे क्या लाभ ? तुम जहाँ जाना चाहो-चली जाओ । अनघे ! हम सब लोगोंका शरीर तो यों ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर है; अतः तुमसे हमें क्या काम है ? ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकस्य मानदाः ।
प्रत्याख्यानेन युष्माकं प्रसादः क्रियतां मम ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा—दूसरोंको सम्मान देनेवाली गौओ ! तुम्हारे त्याग देनेसे मैं सम्पूर्ण जगत्‌के लिये अवहेलित और उपेक्षित हो जाऊँगी, इसलिये मुझपर कृपा करो ॥ १९ ॥

महाभागा भवत्यो वै शरण्याः शरणागताम् ।
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ॥ २० ॥

तुम महान् सौभाग्यशालिनी और सबको शरण देनेवाली हो । मैं भी तुम्हारी शरणमें आयी हूँ । तुम्हारी भक्त हूँ । मुझमें कोई दोष भी नहीं है; अतः तुम मेरी रक्षा करो—मुझे अपना लो ॥ २० ॥

माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः ।
अप्येकाङ्गेष्वधो वस्तुमिच्छामि च सुकुत्सिते ॥ २१ ॥

गौओ ! मैं तुमसे सम्मान चाहती हूँ । तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो । तुम्हारे किसी एक अङ्गमें, नीचेके कुत्सित अङ्गमें भी यदि स्थान मिल जाय तो मैं उसमें रहना चाहती हूँ ॥ २१ ॥

न वोऽस्ति कुत्सितं किंचिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः ।
पुण्याः पवित्राः सुभगा ममादेशं प्रयच्छथ ॥ २२ ॥
वसेयं यत्र वो देहे तन्मे व्याख्यातुमर्हथ ।

निष्पाप गौओ ! वास्तवमें तुम्हारे अङ्गोंमें कहीं कोई कुत्सित स्थान नहीं दिखायी देता । तुम परम पुण्यमयी, पवित्र और सौभाग्यशालिनी हो । अतः मुझे आज्ञा दो । तुम्हारे शरीरमें जहाँ मैं रह सकूँ, उसके लिये मुझे स्पष्ट बताओ ॥ २२½ ॥

एवमुक्तास्ततो गावः शुभाः करुणवत्सलाः ।
सम्मन्त्र्य सहिताः सर्वाः श्रियमूचुर्नराधिप ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! लक्ष्मीके ऐसा कहनेपर करुणा और वात्सल्यकी मूर्ति शुभस्वरूपा गौओंने एक साथ मिलकर सलाह की; फिर सबने लक्ष्मीसे कहा—॥ २३ ॥

अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि ।
शकृन्मूत्रे निवस त्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे ॥ २४ ॥

'शुभे ! यशस्विनि ! अवश्य ही हमें तुम्हारा सम्मान करना चाहिये । तुम हमारे गोबर और मूत्रमें निवास करो; क्योंकि हमारी ये दोनों वस्तुएँ परम पवित्र हैं' ॥ २४ ॥

श्रीरुवाच

दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः ।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ॥ २५ ॥

लक्ष्मीने कहा—सुखदायिनी गौओ ! धन्यभाग्य जो तुमलोगोंने मुझपर अपना कृपापूर्ण प्रसाद प्रकट किया । ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारे गोबर और मूत्रमें ही निवास करूँगी । तुमने मेरा मान रख लिया, अतः तुम्हारा कल्याण हो ॥

एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत ।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार गौओंके साथ प्रतिज्ञा करके लक्ष्मीजी उनके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं ॥ २६ ॥

एवं गोशकृतः पुत्र माहात्म्यं तेऽनुवर्णितम् ।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रूयतां गदतो मम ॥ २७ ॥

बेटा ! इस तरह मैंने तुमसे गोबरका माहात्म्य बतलाया है । अब पुनः गौओंका माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्रीगोसंवादो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लक्ष्मी और गौओंका संवादनामक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका इन्द्रसे गोलोक और गौओंका उत्कर्ष बताना और गौओंको वरदान देना

भीष्म उवाच

ये च गां सम्प्रयच्छन्ति हुतशिष्टाशिनश्च ये ।
तेषां सत्राणि यज्ञाश्च नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन और गोदान करते हैं, उन्हें प्रतिदिन अन्नदान और यज्ञ करनेका फल मिलता है ॥ १ ॥

ऋते दधि घृतेनेह न यज्ञः सम्प्रवर्तते ।
तेन यज्ञस्य यज्ञत्वमतो मूलं च कथ्यते ॥ २ ॥

दही और गोघृतके बिना यज्ञ नहीं होता । उन्हींसे यज्ञका यज्ञत्व सफल होता है । अतः गौओंको यज्ञका मूल कहते हैं ॥ २ ॥

दानानामपि सर्वेषां गवां दानं प्रशस्यते ।
गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सब प्रकारके दानोंमें गोदान ही उत्तम माना जाता है; इसलिये गौएँ श्रेष्ठ, पवित्र तथा परम पावन हैं ॥ ३ ॥

पुष्ट्यर्थमेताः सेवेत शान्त्यर्थमपि चैव ह ।
पयोदधिघृतं चासां सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ४ ॥

मनुष्यको अपने शरीरकी पुष्टि तथा सब प्रकारके विघ्नों-

की शान्तिके लिये भी गौओंका सेवन करना चाहिये। इनके दूध, दही और घी सब पापोंसे छुड़ानेवाले हैं ॥ ४ ॥

गावस्तेजः परं प्रोक्तमिह लोके परत्र च।
न गोभ्यः परमं किंचित् पवित्रं भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! गौएँ इहलोक और परलोकमें भी महान् तेजोरूप मानी गयी हैं। गौओंसे बढ़कर पवित्र कोई वस्तु नहीं है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितामहस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इन्द्र और ब्रह्माजीके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६ ॥

पराभूतेषु दैत्येषु शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः।
प्रजाः समुदिताः सर्वाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें देवताओंद्वारा दैत्योंके परास्त हो जानेपर जब इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर हुए, तब समस्त प्रजा मिलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सत्य और धर्ममें तत्पर रहने लगी ॥

अथर्षयः सगन्धर्वाः किंनरोरगराक्षसाः।
देवासुरसुपर्णाश्च प्रजानां पतयस्तथा ॥ ८ ॥
पर्युपासन्त कौन्तेय कदाचिद् वै पितामहम्।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ९ ॥
दिव्यतानेषु गायन्तः पर्युपासन्त तं प्रभुम्।
तत्र दिव्यानि पुष्पाणि प्रावहत् पवनस्तदा ॥ १० ॥
आजह्रुर्ऋतवश्चापि सुगन्धीनि पृथक् पृथक्।
तस्मिन् देवसमावाये सर्वभूतसमागमे ॥ ११ ॥
दिव्यवादित्रसंघुष्टे दिव्यस्त्रीचारणावृते।
इन्द्रः पप्रच्छ देवेशमभिवाद्य प्रणम्य च ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर एक दिन जब ऋषि, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस, देवता, असुर, गरुड़ और प्रजापतिगण ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित थे, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व जब दिव्य तान छेड़कर गाते हुए वहाँ उन भगवान् ब्रह्माजीकी उपासना करते थे, वायुदेव दिव्य पुष्पोंकी सुगन्ध लेकर बह रहे थे, पृथक्-पृथक् ऋतुएँ भी उत्तम सौरभसे युक्त दिव्य पुष्प भेट कर रही थीं, देवताओंका समाज जुटा था, समस्त प्राणियोंका समागम हो रहा था, दिव्य वाद्योंकी मनोरम ध्वनि गूँज रही थी तथा दिव्याङ्गनाओं और चारणोंसे वह समुदाय घिरा हुआ था, उसी समय देवराज इन्द्रने देवेश्वर ब्रह्माजीको प्रणाम करके पूछा—॥ ८–१२ ॥

देवानां भगवन् कस्माल्लोकेशानां पितामह।
उपरिष्टाद् गवां लोक एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १३ ॥

'भगवन्! पितामह! गोलोक समस्त देवताओं और लोकपालोंके ऊपर क्यों है? मैं इसे जानना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

किं तपो ब्रह्मचर्यं वा गोभिः कृतमिहेश्वर।
देवानामुपरिष्टाद् यद् वसन्त्यरजसः सुखम् ॥ १४ ॥

'प्रभो! गौओंने यहाँ किस तपस्याका अनुष्ठान अथवा ब्रह्मचर्यका पालन किया है, जिससे वे रजोगुणसे रहित होकर देवताओंसे भी ऊपर स्थानमें सुखपूर्वक निवास करती हैं?' ॥

ततः प्रोवाच ब्रह्मा तं शक्रं बलनिषूदनम्।
अवज्ञातास्त्वया नित्यं गावो बलनिषूदन ॥ १५ ॥
तेन त्वमासां माहात्म्यं न वेत्सि शृणु यत् प्रभो।
गवां प्रभावं परमं माहात्म्यं च सुरर्षभ ॥ १६ ॥

तब ब्रह्माजीने बलसूदन इन्द्रसे कहा—'बलासुरका विनाश करनेवाले देवेन्द्र! तुमने सदा गौओंकी अवहेलना की है। प्रभो! इसीलिये तुम इनका माहात्म्य नहीं जानते। सुरश्रेष्ठ! गौओंका महान् प्रभाव और माहात्म्य मैं बताता हूँ, सुनो ॥ १५-१६ ॥

यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन ॥ १७ ॥

'वासव! गौओंको यज्ञका अङ्ग और साक्षात् यज्ञरूप बतलाया गया है; क्योंकि इनके दूध, दही और घीके विना यज्ञ किसी तरह सम्पन्न नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥ १८ ॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।

'ये अपने दूध-घीसे प्रजाका भी पालन-पोषण करती हैं। इनके पुत्र (बैल) खेतीके काम आते तथा नाना प्रकारके धान्य एवं बीज उत्पन्न करते हैं ॥ १८½ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः ॥ १९ ॥
पयोदधिघृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः ॥ २० ॥

'उन्हींसे यज्ञ सम्पन्न होते और हव्य-कव्यका भी सर्वथा निर्वाह होता है। सुरेश्वर! इन्हीं गौओंसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं। बैल भूख-प्याससे पीड़ित होकर भी नाना प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं ॥ १९-२० ॥

मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा।
वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च ॥ २१ ॥

'इस प्रकार गौएँ अपने कर्मसे ऋषियों तथा प्रजाओंका पालन करती रहती हैं। वासव! इनके व्यवहारमें माया नहीं होती। ये सदा सत्कर्ममें ही लगी रहती हैं ॥ २१ ॥

उपरिष्टात् ततोऽस्माकं वसन्त्येताः सदैव हि।
एवं ते कारणं शक्र निवासकृतमद्य वै ॥ २२ ॥

गवां देवोपरिष्टाद्धि समाख्यातं शतक्रतो ।
एता हि वरदत्ताश्च वरदाश्चापि वासव ॥ २३ ॥

'इसीसे ये गौएँ हम सब लोगोंके ऊपर स्थानमें निवास करती हैं । शक्र ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यह बात बतायी कि गौएँ देवताओंके भी ऊपर स्थानमें क्यों निवास करती हैं । शतक्रतु इन्द्र ! इसके सिवा ये गौएँ वरदान भी प्राप्त कर चुकी हैं और प्रसन्न होनेपर दूसरोंको वर देनेकी भी शक्ति रखती हैं ॥ २२-२३ ॥

सुरभ्यः पुण्यकर्मिण्यः पावनाः शुभलक्षणाः ।
यदर्थं गां गताश्चैव सुरभ्यः सुरसत्तम ॥ २४ ॥
तच्च मे शृणु कात्स्र्न्येन वदतो बलसूदन ।

'सुरभी गौएँ पुण्यकर्म करनेवाली और शुभलक्षणा होती हैं । सुरश्रेष्ठ ! बलसूदन ! वे जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर गयी हैं, उसको भी मैं पूर्णरूपसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ २४½ ॥

पुरा देवयुगे तात देवेन्द्रेषु महात्मसु ॥ २५ ॥
त्रींल्लोकाननुशासत्सु विष्णौ गर्भत्वमागते ।
अदित्यास्तप्यमानायास्तपो घोरं सुदुश्चरम् ॥ २६ ॥
पुत्रार्थममरश्रेष्ठ पादेनैकेन नित्यदा ।
तां तु दृष्ट्वा महादेवीं तप्यमानां महत्तपः ॥ २७ ॥
दक्षस्य दुहिता देवी सुरभी नाम नामतः ।
अतप्यत तपो घोरं हृष्टा धर्मपरायणा ॥ २८ ॥

'तात ! पहले सत्ययुगमें जब महामना देवेश्वरगण तीनों लोकोंपर शासन करते थे और अमरश्रेष्ठ ! जब देवी अदिति पुत्रके लिये नित्य एक पैरसे खड़ी रहकर अत्यन्त घोर एवं दुष्कर तपस्या करती थी और उस तपस्यासे संतुष्ट होकर साक्षात् भगवान् विष्णु ही उनके गर्भमें पदार्पण करनेवाले थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, महादेवी अदितिको महान् तप करती देख दक्षकी धर्मपरायणा पुत्री सुरभी देवीने भी बड़े हर्षके साथ घोर तपस्या आरम्भ की ॥ २५–२८ ॥

कैलासशिखरे रम्ये देवगन्धर्वसेविते ।
व्यतिष्ठदेकपादेन परमं योगमास्थिता ॥ २९ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
संतप्तास्तपसा तस्या देवाः सर्षिमहोरगाः ॥ ३० ॥

'कैलासके रमणीय शिखरपर जहाँ देवता और गन्धर्व सदा विराजते रहते हैं; वहाँ वह उत्तम योगका आश्रय ले ग्यारह हजार वर्षोंतक एक पैरसे खड़ी रही । उसकी तपस्यासे देवता, ऋषि और बड़े-बड़े नाग भी संतप्त हो उठे ॥

तत्र गत्वा मया सार्धं पर्युपासन्त तां शुभाम् ।
अथाहमब्रुवं तत्र देवीं तां तपसान्विताम् ॥ ३१ ॥

'वे सब लोग मेरे साथ ही उस शुभलक्षणा तपस्विनी सुरभी देवीके पास जाकर खड़े हुए । तब मैंने वहाँ उससे कहा—॥ ३१ ॥

किमर्थं तप्यसे देवि तपो घोरमनिन्दिते ।
प्रीतस्तेऽहं महाभागे तपसानेन शोभने ॥ ३२ ॥
वरयस्व वरं देवि दातास्मीति पुरंदर ॥ ३३ ॥

'सती-साध्वी देवि ! तुम किसलिये यह घोर तपस्या करती हो ? शोभने ! महाभागे ! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ । देवि ! तुम इच्छानुसार वर माँगो ।" पुरंदर ! इस तरह मैंने सुरभीको वर माँगनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३२-३३ ॥

सुरभ्युवाच

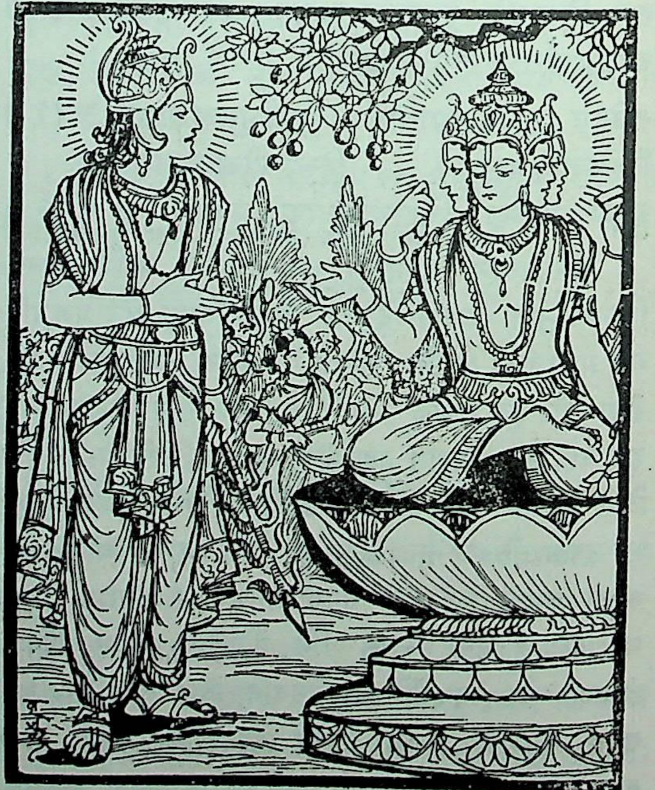
वरेण भगवन् मह्यं कृतं लोकपितामह ।
एष एव वरो मेऽद्य यत् प्रीतोऽसि ममानघ ॥ ३४ ॥

सुरभीने कहा—भगवन् ! निष्पाप लोकपितामह ! मुझे वर लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । मेरे लिये तो सबसे बड़ा वर यही है कि आज आप मुझपर प्रसन्न हो गये हैं ॥ ३४ ॥

ब्रह्मोवाच

तामेवं ब्रुवतीं देवीं सुरभिं त्रिदशेश्वर ।
प्रत्यब्रुवं यद् देवेन्द्र तन्निबोध शचीपते ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवेश्वर ! देवेन्द्र ! शचीपते ! जब सुरभी ऐसी बात कहने लगी, तब मैंने उसे जो उत्तर दिया, वह सुनो ॥ ३५ ॥



अलोभकाम्यया देवि तपसा च शुभानने ।
प्रसन्नोऽहं वरं तस्मादमरत्वं ददामि ते ॥ ३६ ॥

(मैंने कहा—) देवि ! शुभानने ! तुमने लोभ और

कामनाको त्याग दिया है। तुम्हारी इस निष्काम तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ; अतः तुम्हें अमरत्वका वरदान देता हूँ ॥

त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि ।
मत्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥ ३७ ॥

तुम मेरी कृपासे तीनों लोकोंके ऊपर निवास करोगी और तुम्हारा वह धाम 'गोलोक' नामसे विख्यात होगा ॥ ३७ ॥

मानुषेषु च कुर्वाणाः प्रजाः कर्म शुभास्तव ।
निवत्स्यन्ति महाभागे सर्वा दुहितरश्च ते ॥ ३८ ॥

महाभागे ! तुम्हारी सभी शुभ संतानें—समस्त पुत्र और कन्याएँ मानवलोकमें उपयुक्त कर्म करती हुई निवास करेंगी ॥

मनसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः ।
यच्च स्वर्गे सुखं देवि तत् ते सम्पत्स्यते शुभे ॥ ३९ ॥

देवि ! शुभे ! तुम अपने मनसे जिन दिव्य अथवा मानवी भोगोंका चिन्तन करोगी तथा जो स्वर्गीय सुख होगा, वे सभी तुम्हें स्वतः प्राप्त होते रहेंगे ॥ ३९ ॥

तस्या लोकाः सहस्राक्ष सर्वकामसमन्विताः ।
न तत्र क्रमते मृत्युर्न जरा न च पावकः ॥ ४० ॥

सहस्राक्ष ! सुरभीके निवासभूत गोलोकमें सबकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती हैं। वहाँ मृत्यु और बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता। अग्निका भी जोर नहीं चलता ॥ ४० ॥

न दैवं नाशुभं किंचिद् विद्यते तत्र वासव ।
तत्र दिव्यान्यरण्यानि दिव्यानि भवनानि च ॥ ४१ ॥
विमानानि सुयुक्तानि कामगानि च वासव ।

वासव ! वहाँ न कोई दुर्भाग्य है और न अशुभ। वहाँ दिव्य वन, दिव्य भवन तथा परम सुन्दर एवं इच्छानुसार विचरनेवाले विमान मौजूद हैं ॥ ४१½ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा यत्नेन च दमेन च ॥ ४२ ॥
दानैश्च विविधैः पुण्यैस्तथा तीर्थानुसेवनात् ।
तपसा महता चैव सुकृतेन च कर्मणा ॥ ४३ ॥
शक्यः समासादयितुं गोलोकः पुष्करेक्षण ।

कमलनयन इन्द्र ! ब्रह्मचर्य, तपस्या, यत्न, इन्द्रिय-संयम, नाना प्रकारके दान, पुण्य, तीर्थसेवन, महान् तप और अन्यान्य शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे ही गोलोककी प्राप्ति हो सकती है ॥ ४२-४३½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया शक्रानुपृच्छते ॥ ४४ ॥
न ते परिभवः कार्यो गवामसुरसूदन ॥ ४५ ॥

असुरसूदन शक्र ! इस प्रकार तुम्हारे पूछनेके अनुसार मैंने सारी बातें बतलायी हैं। अब तुम्हें गौओंका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ४४-४५ ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा ।
गाश्चक्रे बहुमानं च तासु नित्यं युधिष्ठिर ॥ ४६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र प्रतिदिन गौओंकी पूजा करने लगे। उन्होंने उनके प्रति बहुत सम्मान प्रकट किया ॥ ४६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं पावनं च महाद्युते ।
पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

महाद्युते ! यह सब मैंने तुमसे गौओंका परम पावन, परम पवित्र और अत्यन्त उत्तम माहात्म्य कहा है ॥ ४७ ॥

कीर्तितं पुरुषव्याघ्र सर्वपापविमोचनम् ।
य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ४८ ॥
हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्येषु चैव ह ।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४९ ॥

पुरुषसिंह ! यदि इसका कीर्तन किया जाय तो यह समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है। जो एकाग्रचित्त हो सदा यज्ञ और श्राद्धमें हव्य और कव्य अर्पण करते समय ब्राह्मणोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, उसका दिया हुआ समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होकर पितरोंको प्राप्त होगा ॥ ४८-४९ ॥

गोषु भक्तश्च लभते यद् यदिच्छति मानवः ।
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च काममवाप्नुयुः ॥ ५० ॥

गोभक्त मनुष्य जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह सब उसे प्राप्त होती है। स्त्रियोंमें भी जो गौओंकी भक्त हैं, वे मनोवाञ्छित कामनाएँ प्राप्त कर लेती हैं ॥ ५० ॥

पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्यार्थी तामवाप्नुयात् ।
धनार्थी लभते वित्तं धर्मार्थी धर्ममाप्नुयात् ॥ ५१ ॥

पुत्रार्थी मनुष्य पुत्र पाता है और कन्यार्थी कन्या। धन चाहनेवालेको धन और धर्म चाहनेवालेको धर्म प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

विद्यार्थी चाप्नुयाद् विद्यां सुखार्थी प्राप्नुयात् सुखम् ।
न किंचिद् दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ॥ ५२ ॥

विद्यार्थी विद्या पाता है और सुखार्थी सुख। भारत ! गोभक्तके लिये यहाँ कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि गोलोकवर्णने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें गोलोकका वर्णनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीका अपने पिता शान्तनुके हाथमें पिण्ड न देकर कुशपर देना, सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके दानकी महिमाके सम्बन्धमें वसिष्ठ और परशुरामका संवाद, पार्वतीका देवताओंको शाप, तारकासुरसे डरे हुए देवताओंका ब्रह्माजीकी शरणमें जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं पितामहेनेदं गवां दानमनुत्तमम्।
विशेषेण नरेन्द्राणामिह धर्ममवेक्षताम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने सब मनुष्योंके लिये, विशेषतः धर्मपर दृष्टि रखनेवाले नरेशोंके लिये परम उत्तम गोदानका वर्णन किया है॥ १॥

राज्यं हि सततं दुःखं दुर्धरं चाकृतात्मभिः।
भूयिष्ठं च नरेन्द्राणां विद्यते न शुभा गतिः॥ २॥

राज्य सदा ही दुःखरूप है। जिन्होंने अपना मन वशमें नहीं किया है, उनके लिये राज्यको सुरक्षित रखना बहुत ही कठिन है। इसलिये प्रायः राजाओंको शुभ गति नहीं प्राप्त होती है॥ २॥

पूयन्ते तत्र नियतं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्।
सर्वे च कथिता धर्मास्त्वया मे कुरुनन्दन॥ ३॥

उनमें वे ही पवित्र होते हैं, जो नियमपूर्वक पृथ्वीका दान करते हैं। कुरुनन्दन! आपने मुझसे समस्त धर्मोंका वर्णन किया है॥ ३॥

एवमेव गवामुक्तं प्रदानं ते नृगेण ह।
ऋषिणा नाचिकेतेन पूर्वमेव निदर्शितम्॥ ४॥

इसी तरह राजा नृगने जो गोदान किया था तथा नाचिकेत ऋषिने जो गौओंका दान और पूजन किया था, वह सब आपने पहले ही कहा और निर्देश किया है॥ ४॥

वेदोपनिषदश्चैव सर्वकर्मसु दक्षिणाः।
सर्वक्रतुषु चोद्दिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम्॥ ५॥

वेद और उपनिषदोंने भी प्रत्येक कर्ममें दक्षिणाका विधान किया है। सभी यज्ञोंमें भूमि, गौ और सुवर्ण-की दक्षिणा बतायी गयी है॥ ५॥

तत्र श्रुतिस्तु परमा सुवर्णं दक्षिणेति वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पितामह यथातथम्॥ ६॥

इनमें सुवर्ण सबसे उत्तम दक्षिणा है—ऐसा श्रुतिका वचन है, अतः पितामह! मैं इस विषयको यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ॥ ६॥

किं सुवर्णं कथं जातं कस्मिन् काले किमात्मकम्।
किं दैवं किं फलं चैव कस्माच्च परमुच्यते॥ ७॥

सुवर्ण क्या है? कब और किस तरहसे इसकी उत्पत्ति हुई है? सुवर्णका उपादान क्या है? इसका देवता कौन है? इसके दानका फल क्या है? सुवर्ण क्यों उत्तम कहलाता है?॥ ७॥

कस्माद् दानं सुवर्णस्य पूजयन्ति मनीषिणः।
कस्माच्च दक्षिणार्थं तद् यज्ञकर्मसु शस्यते॥ ८॥

मनीषी विद्वान् सुवर्णदानका अधिक आदर क्यों करते हैं? तथा यज्ञ-कर्मोंमें दक्षिणाके लिये सुवर्णकी प्रशंसा क्यों की जाती है?॥ ८॥

कस्माच्च पावनं श्रेष्ठं भूमेर्गोभ्यश्च काञ्चनम्।
परमं दक्षिणार्थे च तद् ब्रवीहि पितामह॥ ९॥

पितामह! क्यों सुवर्ण पृथ्वी और गौओंसे भी पावन और श्रेष्ठ है? दक्षिणाके लिये सबसे उत्तम वह क्यों माना गया है? यह मुझे बताइये॥ ९॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितो बहुकारणविस्तरम्।
जातरूपसमुत्पत्तिमनुभूतं च यन्मया॥ १०॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! ध्यान देकर सुनो! सुवर्ण-की उत्पत्तिका कारण बहुत विस्तृत है। इस विषयमें मैंने जो अनुभव किया है, उसके अनुसार तुम्हें सब बातें बता रहा हूँ॥ १०॥

पिता मम महातेजाः शान्तनुर्निधनं गतः।
तस्य दित्सुरहं श्राद्धं गङ्गाद्वारमुपागमम्॥ ११॥

मेरे महातेजस्वी पिता महाराज शान्तनुका जब देहावसान हो गया, तब मैं उनका श्राद्ध करनेके लिये गङ्गाद्वार तीर्थ (हरद्वार) में गया॥ ११॥

तत्रागम्य पितुः पुत्र श्राद्धकर्म समारभम्।
माता मे जाह्नवी चात्र साहाय्यमकरोत् तदा॥ १२॥

बेटा! वहाँ पहुँचकर मैंने पिताका श्राद्धकर्म आरम्भ किया। इस कार्यमें वहाँ उस समय मेरी माता गङ्गाने भी बड़ी सहायता की॥ १२॥

ततोऽग्रतस्ततः सिद्धानुपवेश्य बहूनृषीन्।
तोयप्रदानात् प्रभृति कार्याण्यहमथारभम्॥ १३॥

तदनन्तर अपने सामने बहुत-से सिद्ध-महर्षियोंको बिठा-कर मैंने जलदान आदि सारे कार्य आरम्भ किये॥ १३॥

तत् समाप्य यथोद्दिष्टं पूर्वकर्म समाहितः।

दातुं निर्वपणं सम्यग् यथावदहमारभम् ॥ १४ ॥

एकाग्रचित्त होकर शास्त्रोक्तविधिसे पिण्डदानके पहलेके सब कार्य समाप्त करके मैंने विधिवत् पिण्डदान देना प्रारम्भ किया ॥ १४ ॥

ततस्तं दर्भविन्यासं भित्त्वा सुरुचिराङ्गदः ।
प्रलम्बाभरणो बाहुरुदतिष्ठद् विशाम्पते ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! इसी समय पिण्डदानके लिये जो कुश बिछाये गये थे, उन्हें भेदकर एक बड़ी सुन्दर बाँह बाहर निकली । उस विशाल भुजामें बाजूबंद आदि अनेक आभूषण शोभा पा रहे थे ॥ १५ ॥



तमुत्थितमहं दृष्ट्वा परं विस्मयमागमम् ।
प्रतिग्रहीता साक्षान्मे पितेति भरतर्षभ ॥ १६ ॥
ततो मे पुनरेवासीत् संज्ञा संचिन्त्य शास्त्रतः ।
नायं वेदेषु विहितो विधिर्हस्त इति प्रभो ॥ १७ ॥
पिण्डो देयो नरेणेह ततो मतिरभून्मम ।
साक्षान्नेह मनुष्यस्य पिण्डं हि पितरः क्वचित् ॥ १८ ॥
गृह्णन्ति विहितं चेत्थं पिण्डो देयः कुशेष्विति ।

उसे ऊपर उठी देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । भरतश्रेष्ठ ! साक्षात् मेरे पिता ही पिण्डका दान लेनेके लिये उपस्थित थे । प्रभो ! किंतु जब मैंने शास्त्रीय विधिपर विचार किया, तब मेरे मनमें सहसा यह बात स्मरण हो आयी कि मनुष्यके लिये हाथपर पिण्ड देनेका वेदमें विधान नहीं है । पितर साक्षात् प्रकट होकर कभी मनुष्यके हाथसे पिण्ड लेते भी नहीं हैं । शास्त्रकी आज्ञा तो यही है कि कुशोंपर पिण्डदान करे ॥ १६-१८½ ॥

ततोऽहं तदनादृत्य पितुर्हस्तनिदर्शनम् ॥ १९ ॥
शास्त्रप्रामाण्यसूक्ष्मं तु विधिं पिण्डस्य संस्मरन् ।
ततो दर्भेषु तत् सर्वमददं भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह सोचकर मैंने पिताके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले हाथका आदर नहीं किया । शास्त्रको ही प्रमाण मानकर उसकी पिण्डदानसम्बन्धी सूक्ष्म विधिका ध्यान रखते हुए कुशोंपर ही सब पिण्डोंका दान किया ॥ १९-२० ॥

शास्त्रमार्गानुसारेण तद् विद्धि मनुजर्षभ ।
ततः सोऽन्तर्हितो बाहुः पितुर्मम जनाधिप ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैंने शास्त्रीय मार्गका अनुसरण करके ही सब कुछ किया । नरेश्वर ! तदनन्तर मेरे पिताकी वह बाँह अदृश्य हो गयी ॥ २१ ॥

ततो मां दर्शयामासुः स्वप्नान्ते पितरस्तथा ।
प्रीयमाणास्तु मामूचुः प्रीताः स्म भरतर्षभ ॥ २२ ॥
विज्ञानेन तवानेन यन्न मुह्यसि धर्मतः ।

तदनन्तर स्वप्नमें पितरोंने मुझे दर्शन दिया और प्रसन्नतापूर्वक मुझसे कहा—'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस शास्त्रीय ज्ञानसे हम बहुत प्रसन्न हैं; क्योंकि उसके कारण तुम्हें धर्मके विषयमें मोह नहीं हुआ ॥ २२½ ॥

त्वया हि कुर्वता शास्त्रं प्रमाणमिह पार्थिव ॥ २३ ॥
आत्मा धर्मः श्रुतं वेदाः पितरश्चर्षिभिः सह ।
साक्षात् पितामहो ब्रह्मा गुरवोऽथ प्रजापतिः ॥ २४ ॥
प्रमाणमुपनीता वै स्थिताश्च न विचालिताः ।

'पृथ्वीनाथ ! तुमने यहाँ शास्त्रको प्रमाण मानकर आत्मा, धर्म, शास्त्र, वेद, पितृगण, ऋषिगण, गुरु, प्रजापति और ब्रह्माजी—इन सबका मान बढ़ाया है तथा जो लोग धर्ममें स्थित हैं, उन्हें भी तुमने अपना आदर्श दिखाकर विचलित नहीं होने दिया है ॥ २३-२४½ ॥

तदिदं सम्यगारब्धं त्वयाद्य भरतर्षभ ॥ २५ ॥
किं तु भूमेर्गवां चार्थे सुवर्णं दीयतामिति ।

'भरतश्रेष्ठ ! यह सब कार्य तो तुमने बहुत उत्तम किया है; किंतु अब हमारे कहनेसे भूमिदान और गोदानके निष्क्रयरूपसे कुछ सुवर्णदान भी करो ॥ २५½ ॥

एवं वयं च धर्मज्ञ सर्वे चास्मत्पितामहाः ॥ २६ ॥
पाविता वै भविष्यन्ति पावनं हि परं हि तत् ।

'धर्मज्ञ ! ऐसा करनेसे हम और हमारे सभी पितामह पवित्र हो जायँगे; क्योंकि सुवर्ण सबसे अधिक पावन वस्तु है ॥ २६½ ॥

दशपूर्वान् दशैवान्यांस्तथा संतारयन्ति ते ॥ २७ ॥
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति एवं मत्पितरोऽब्रुवन् ।
ततोऽहं विस्मितो राजन् प्रतिबुद्धो विशाम्पते ॥ २८ ॥

सुवर्णदानेऽकरवं मतिं च भरतर्षभ ।

'जो सुवर्ण दान करते हैं, वे अपने पहले और पीछेकी दस-दस पीढ़ियोंका उद्धार कर देते हैं ।' राजन् ! जब मेरे पितरोंने ऐसा कहा तो मेरी नींद खुल गयी । उस समय स्वप्नका स्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय हुआ । प्रजानाथ ! भरतश्रेष्ठ ! तब मैंने सुवर्णदान करनेका निश्चित विचार कर लिया ॥ २७-२८½ ॥

इतिहासमिमं चापि शृणु राजन् पुरातनम् ॥ २९ ॥
जामदग्न्यं प्रति विभो धन्यमायुष्यमेव च ।

राजन् ! अब (सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके माहात्म्यके विषयमें)एक प्राचीन इतिहास सुनो,जो जमदग्नि-नन्दन परशुरामजीसे सम्बन्ध रखनेवाला है । विभो ! यह आख्यान धन तथा आयुकी वृद्धि करनेवाला है ॥ २९½ ॥

जामदग्न्येन रामेण तीव्ररोषान्वितेन वै ॥ ३० ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।

पूर्वकालकी बात है, जमदग्निकुमार परशुरामजीने तीव्र रोषमें भरकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य कर दिया था ॥ ३०½ ॥

ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥
आजहार क्रतुं वीरो ब्रह्मक्षत्रेण पूजितम् ।
वाजिमेधं महाराज सर्वकामसमन्वितम् ॥ ३२ ॥

महाराज ! इसके बाद सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतकर वीर कमलनयन परशुरामजीने ब्राह्मणों और क्षत्रियोंद्वारा सम्मानित तथा सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ३१-३२ ॥

पावनं सर्वभूतानां तेजोद्युतिविवर्धनम् ।
विपाप्मा च स तेजस्वी तेन क्रतुफलेन च ॥ ३३ ॥
नैवात्मनोऽथ लघुतां जामदग्न्योऽध्यगच्छत ।

यद्यपि अश्वमेध यज्ञ समस्त प्राणियोंको पवित्र करनेवाला तथा तेज और कान्तिको बढ़ानेवाला है तथापि उसके फलसे तेजस्वी परशुरामजी सर्वथा पापमुक्त न हो सके । इससे उन्होंने अपनी लघुताका अनुभव किया ॥ ३३½ ॥

स तु क्रतुवरेणेष्ट्वा महात्मा दक्षिणावता ॥ ३४ ॥
पप्रच्छागमसम्पन्नानृषीन् देवांश्च भार्गवः ।
पावनं यत् परं नृणामुग्रे कर्मणि वर्तताम् ॥ ३५ ॥
तदुच्यतां महाभागा इति जातघृणोऽब्रवीत् ।
इत्युक्ता वेदशास्त्रज्ञास्तमूचुस्ते महर्षयः ॥ ३६ ॥

प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न उस श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण करके महामना भृगुवंशी परशुरामजीने मनमें दयाभाव लेकर शास्त्रज्ञ ऋषियों और देवताओंसे इस प्रकार पूछा—'महाभाग महात्माओ ! उग्र कर्ममें लगे हुए मनुष्योंके लिये जो परम पावन वस्तु हो, वह मुझे बताइये ।' उनके इस प्रकार पूछनेपर उन वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता महर्षियोंने इस प्रकार कहा—॥

राम विप्राः सत्क्रियन्तां वेदप्रामाण्यदर्शनात् ।
भूयश्च विप्रर्षिगणाः प्रष्टव्याः पावनं प्रति ॥ ३७ ॥

'परशुराम ! तुम वेदोंकी प्रामाणिकतापर दृष्टि रखते हुए ब्राह्मणोंका सत्कार करो और ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे पुनः इस पावन वस्तुके लिये प्रश्न करो ॥ ३७ ॥

ते यद् ब्रूयुर्महाप्राज्ञास्तच्चैव समुदाचर ।
ततो वसिष्ठं देवर्षिमगस्त्यमथ काश्यपम् ॥ ३८ ॥
तमेवार्थं महातेजाः पप्रच्छ भृगुनन्दनः ।
जाता मतिर्मे विप्रेन्द्राः कथं पूयेयमित्युत ॥ ३९ ॥
केन वा कर्मयोगेन प्रदानेनेह केन वा ।

'और वे महाज्ञानी महर्षिगण जो कुछ बतावें, उसीका प्रसन्नतापूर्वक पालन करो ।' तब महातेजस्वी भृगुनन्दन परशुरामजीने वसिष्ठ, नारद, अगस्त्य और कश्यपजीके पास जाकर पूछा—'विप्रवरो ! मैं पवित्र होना चाहता हूँ ।



बताइये, कैसे किस कर्मके अनुष्ठानसे अथवा किस दानसे पवित्र हो सकता हूँ ? ॥ ३८-३९½ ॥

यदि वोऽनुग्रहकृता बुद्धिर्मां प्रति सत्तमाः ।
प्रब्रूत पावनं किं मे भवेदिति तपोधनाः ॥ ४० ॥

'साधुशिरोमणे तपोधनो ! यदि आपलोग मुझपर अनुग्रह करना चाहते हों तो बतायें, मुझे पवित्र करनेवाला साधन क्या है ?' ॥ ४० ॥

ऋषय ऊचुः

गाश्च भूमिं च वित्तं च दत्त्वेह भृगुनन्दन ।
पापकृत् पूयते मर्त्य इति भार्गव शुश्रुम ॥ ४१ ॥

ऋषियोंने कहा—भृगुनन्दन ! हमने सुना है कि पाप करनेवाला मनुष्य यहाँ गाय, भूमि और धनका दान करके पवित्र हो जाता है ॥ ४१ ॥

अन्यद् दानं तु विप्रर्षे श्रूयतां पावनं महत् ।
दिव्यमत्यद्भुताकारमपत्यं जातवेदसः ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे ! एक दूसरी वस्तुका दान भी सुनो । वह वस्तु सबसे बढ़कर पावन है । उसका आकार अत्यन्त अद्भुत और दिव्य है तथा वह अग्निसे उत्पन्न हुई है ॥ ४२ ॥

दग्ध्वा लोकान् पुरा वीर्यात् सम्भूतमिह शुश्रुम ।
सुवर्णमिति विख्यातं तद् ददत् सिद्धिमेष्यसि ॥ ४३ ॥

उस वस्तुका नाम है सुवर्ण । हमने सुना है कि पूर्वकालमें अग्निने सम्पूर्ण लोकोंको भस्म करके अपने वीर्यसे सुवर्णको प्रकट किया था । उसीका दान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४३ ॥

ततोऽब्रवीद् वसिष्ठस्तं भगवान् संशितव्रतः ।
शृणु राम यथोत्पन्नं सुवर्णमनलप्रभम् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर कठोर व्रतका पालन करनेवाले भगवान् वसिष्ठने कहा—'परशुराम ! अग्निके समान प्रकाशित होनेवाला सुवर्ण जिस प्रकार प्रकट हुआ है, वह सुनो ॥ ४४ ॥

फलं दास्यति ते यत् तु दानं परमिहोच्यते ।
सुवर्णं यच्च यस्माच्च यथा च गुणवत्तमम् ॥ ४५ ॥
तन्निबोध महाबाहो सर्वं निगदतो मम ।

'सुवर्णका दान तुम्हें उत्तम फल देगा ; क्योंकि वह दानके लिये सर्वोत्तम बताया जाता है । महाबाहो ! सुवर्णका जो स्वरूप है, जिससे उत्पन्न हुआ है और जिस प्रकार वह विशेष गुणकारी है, वह सब बता रहा हूँ, मुझसे सुनो ॥

अग्नीषोमात्मकमिदं सुवर्णं विद्धि निश्चये ॥ ४६ ॥
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्व इति दर्शनम् ।

'यह सुवर्ण अग्नि और सोमरूप है । इस बातको तुम निश्चितरूपसे जान लो । बकरा, अग्नि, भेड़, वरुण तथा घोड़ा सूर्यका अंश है । ऐसी दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

कुञ्जराश्च मृगा नागा महिषाश्चासुरा इति ॥ ४७ ॥
कुक्कुटाश्च वराहाश्च राक्षसा भृगुनन्दन ।
इडा गावः पयः सोमो भूमिरित्येव च स्मृतिः ॥ ४८ ॥

'भृगुनन्दन ! हाथी और मृग नागोंके अंश हैं । भैंसे असुरोंके अंश हैं । मुर्गा और सूअर राक्षसोंके अंश हैं । इडा—गौ, दुग्ध और सोम—ये सब भूमिरूप ही हैं । ऐसी स्मृति है ॥ ४७-४८ ॥

जगत् सर्वं च निर्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः ।
सुवर्णमेभ्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम् ॥ ४९ ॥

'सारे जगत्का मन्थन करके जो तेजकी राशि प्रकट हुई है, वही सुवर्ण है । अतः ब्रह्मर्षे ! यह अज आदि सभी वस्तुओंसे परम उत्तम रत्न है ॥ ४९ ॥

एतस्मात् कारणाद् देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
मनुष्याश्च पिशाचाश्च प्रयता धारयन्ति तत् ॥ ५० ॥

'इसीलिये देवता, गन्धर्व, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—ये सब प्रयत्नपूर्वक सुवर्ण धारण करते हैं ॥ ५० ॥

मुकुटैरङ्गदयुतैरलंकारैः पृथग्विधैः ।
सुवर्णविकृतैस्तत्र विराजन्ते भृगूत्तम ॥ ५१ ॥

'भृगुश्रेष्ठ ! वे सोनेके बने हुए मुकुट, बाजूबंद तथा अन्य नाना प्रकारके अलंकारोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ५१ ॥

तस्मात् सर्वपवित्रेभ्यः पवित्रं परमं स्मृतम् ।
भूमेर्गोभ्योऽथ रत्नेभ्यस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ ५२ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! जगत्में भूमि, गौ तथा रत्न आदि जितनी पवित्र वस्तुएँ हैं, सुवर्णको उन सबसे पवित्र माना गया है; इस बातको भलीभाँति जान लो ॥ ५२ ॥

पृथिवीं गाश्च दत्त्वेह यच्चान्यदपि किंचन ।
विशिष्यते सुवर्णस्य दानं परमकं विभो ॥ ५३ ॥

'विभो ! पृथ्वी, गौ तथा और जो कुछ भी दान किया जाता है, उन सबसे बढ़कर सुवर्णका दान है ॥ ५३ ॥

अक्षय्यं पावनं चैव सुवर्णममरद्युते ।
प्रयच्छ द्विजमुख्येभ्यः पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ५४ ॥

'देवोपम तेजस्वी परशुराम ! सुवर्ण अक्षय और पावन है, अतः तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको यह उत्तम और पावन वस्तु ही दान करो ॥ ५४ ॥

सुवर्णमेव सर्वासु दक्षिणासु विधीयते ।
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति सर्वदास्ते भवन्त्युत ॥ ५५ ॥

'सब दक्षिणाओंमें सुवर्णका ही विधान है; अतः जो सुवर्ण दान करते हैं, वे सब कुछ दान करनेवाले होते हैं ॥

देवतास्ते प्रयच्छन्ति ये सुवर्णं ददत्यथ ।
अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं च तदात्मकम् ॥ ५६ ॥

'जो सुवर्ण देते हैं, वे देवताओंका दान करते हैं; क्योंकि अग्नि सर्वदेवतामय हैं और सुवर्ण अग्निका स्वरूप है ॥ ५६ ॥

तस्मात् सुवर्णं ददता दत्ताः सर्वाः स्म देवताः ।
भवन्ति पुरुषव्याघ्र न ह्यतः परमं विदुः ॥ ५७ ॥

'पुरुषसिंह ! अतः सुवर्णका दान करनेवाले पुरुषोंने सम्पूर्ण देवताओंका ही दान कर दिया । ऐसा माना जाता

है। अतः विद्वान् पुरुष सुवर्णसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं मानते हैं ॥ ५७ ॥

भूय एव च माहात्म्यं सुवर्णस्य निबोध मे।
गदतो मम विप्रर्षे सर्वशस्त्रभृतां वर ॥ ५८ ॥

'सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! मैं पुनः सुवर्णका माहात्म्य बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ५८ ॥

मया श्रुतमिदं पूर्वं पुराणे भृगुनन्दन।
प्रजापतेः कथयतो यथान्यायं तु तस्य वै ॥ ५९ ॥

'भृगुनन्दन! मैंने पहले पुराणमें प्रजापतिकी कही हुई यह न्यायोचित बात सुन रखी है ॥ ५९ ॥

शूलपाणेर्भगवतो रुद्रस्य च महात्मनः।
गिरौ हिमवति श्रेष्ठे तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ६० ॥
देव्या विवाहे निर्वृत्ते रुद्राण्या भृगुनन्दन।
समागमे भगवतो देव्या सह महात्मनः ॥ ६१ ॥

'भृगुकुलरत्न! भृगुनन्दन परशुराम! यह बात उस समयकी है, जब श्रेष्ठ पर्वत हिमालयपर शूलपाणि महात्मा भगवान् रुद्रका देवी रुद्राणीके साथ विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था और महामना भगवान् शिवको उमादेवीके साथ समागम-सुख प्राप्त था ॥ ६०-६१ ॥

ततः सर्वे समुद्विग्ना देवा रुद्रमुपागमन्।
ते महादेवमासीनं देवीं च वरदामुमाम् ॥ ६२ ॥

'उस समय सब देवता उद्विग्न होकर कैलास-शिखरपर बैठे हुए महान् देवता रुद्र और वरदायिनी देवी उमाके पास गये ॥ ६२ ॥

प्रसाद्य शिरसा सर्वे रुद्रमूचुर्भृगूद्वह।
अयं समागमो देव देव्या सह तवानघ ॥ ६३ ॥
तपस्विनस्तपस्विन्या तेजस्विन्यातितेजसः।

'भृगुश्रेष्ठ! वहाँ उन सबने उन दोनोंके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन्हें प्रसन्न करके भगवान् रुद्रसे कहा—'पापरहित महादेव! यह जो देवी पार्वतीके साथ आपका समागम हुआ है, यह एक तपस्वीका तपस्विनीके साथ और एक महातेजस्वीका एक तेजस्विनीके साथ संयोग हुआ है ॥

अमोघतेजास्त्वं देव देवी चेयमुमा तथा ॥ ६४ ॥
अपत्यं युवयोर्देव बलवद् भविता विभो।
तन्नूनं त्रिषु लोकेषु न किञ्चिच्छेषयिष्यति ॥ ६५ ॥

'देव! प्रभो! आपका तेज अमोघ है। ये देवी उमा भी ऐसी ही अमोघ तेजस्विनी हैं। आप दोनोंकी जो संतान होगी, वह अत्यन्त प्रबल होगी। निश्चय ही वह तीनों लोकोंमें किसीको शेष नहीं रहने देगी ॥ ६४-६५ ॥

तदेभ्यः प्रणतेभ्यस्त्वं देवेभ्यः पृथुलोचन।
वरं प्रयच्छ लोकेश त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ ६६ ॥

'विशाललोचन! लोकेश्वर! हम सब देवता आपके चरणोंमें पड़े हैं। आप तीनों लोकोंके हितकी इच्छासे हमें वर दीजिये ॥ ६६ ॥

अपत्यार्थं निगृह्णीष्व तेजः परमकं विभो।
त्रैलोक्यसारौ हि युवां लोकं संतापयिष्यथः ॥ ६७ ॥

'प्रभो! संतानके लिये प्रकट होनेवाला जो आपका उत्तम तेज है, उसे आप अपने भीतर ही रोक लीजिये। आप दोनों त्रिलोकीके सारभूत हैं। अतः अपनी संतानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को संतप्त कर डालेंगे ॥ ६७ ॥

तदपत्यं हि युवयोर्देवानभिभवेद् ध्रुवम्।
न हि ते पृथिवी देवी न च द्यौर्न दिवं विभो ॥ ६८ ॥
नेदं धारयितुं शक्ताः समस्ता इति मे मतिः।
तेजःप्रभावनिर्दग्धं तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ ६९ ॥

'आप दोनोंसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह निश्चय ही देवताओंको पराजित कर देगा। प्रभो! हमारा तो ऐसा विश्वास है कि न तो पृथ्वीदेवी, न आकाश और न स्वर्ग ही आपके तेजको धारण कर सकेगा। ये सब मिलकर भी आपके इस तेजको धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं। यह सारा जगत् आपके तेजके प्रभावसे भस्म हो जायगा ॥ ६८-६९ ॥

तस्मात् प्रसादं भगवन् कर्तुमर्हसि नः प्रभो।
न देव्यां सम्भवेत् पुत्रो भवतः सुरसत्तम।
धैर्यादेव निगृह्णीष्व तेजो ज्वलितमुत्तमम् ॥ ७० ॥

'अतः भगवन्! हमपर कृपा कीजिये। प्रभो! सुरश्रेष्ठ! हम यही चाहते हैं कि देवी पार्वतीके गर्भसे आपके कोई पुत्र न हो। आप धैर्यसे ही अपने प्रज्वलित उत्तम तेजको भीतर ही रोक लीजिये' ॥ ७० ॥

इति तेषां कथयतां भगवान् वृषभध्वजः।
एवमस्त्विति देवांस्तान् विप्रर्षे प्रत्यभाषत ॥ ७१ ॥

'विप्रर्षे! देवताओंके ऐसा कहनेपर भगवान् वृषभध्वजने उनसे 'एवमस्तु' कह दिया ॥ ७१ ॥

इत्युक्त्वा चोर्ध्वमनयद् रेतो वृषभवाहनः।
ऊर्ध्वरेताः समभवत् ततः प्रभृति चापि सः ॥ ७२ ॥

'देवताओंसे ऐसा कहकर वृषभवाहन भगवान् शङ्करने अपने 'रेतस्' अर्थात् वीर्यको ऊपर चढ़ा लिया। तभीसे वे 'ऊर्ध्वरेता' नामसे विख्यात हुए ॥ ७२ ॥

रुद्राणीति ततः क्रुद्धा प्रजोच्छेदे तदा कृते।
देवानथाब्रवीत् तत्र स्त्रीभावात् परुषं वचः ॥ ७३ ॥

'देवताओंने मेरी भावी संतानका उच्छेद कर डाला' यह सोचकर उस समय देवी रुद्राणी बहुत कुपित हुईं और स्त्रीस्वभाव होनेके कारण उन्होंने देवताओंसे यह कठोर वचन कहा—॥ ७३ ॥

यस्मादपत्यकामो वै भर्ता मे विनिवर्तितः ।
तस्मात् सर्वे सुरा यूयमनपत्या भविष्यथ ॥ ७४ ॥

'देवताओ ! मेरे पतिदेव मुझसे संतान उत्पन्न करना चाहते थे, किंतु तुमलोगोंने इन्हें इस कार्यसे निवृत्त कर दिया; इसलिये तुम सभी देवता निर्वंश हो जाओगे ॥ ७४ ॥

प्रजोच्छेदो मम कृतो यस्माद् युष्माभिरद्य वै ।
तस्मात् प्रजा वः खगमाः सर्वेषां न भविष्यति ॥ ७५ ॥

'आकाशचारी देवताओ ! आज तुम सब लोगोंने मिलकर मेरी संततिका उच्छेद किया है; अतः तुम सब लोगोंके भी संतान नहीं होगी' ॥ ७५ ॥

पावकस्तु न तत्रासीच्छापकाले भृगूद्वह ।
देवा देव्यास्तथा शापादनपत्यास्ततोऽभवन् ॥ ७६ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! उस शापके समय वहाँ अग्निदेव नहीं थे; अतः उनपर यह शाप लागू नहीं हुआ । अन्य सब देवता देवीके शापसे संतानहीन हो गये ॥ ७६॥

रुद्रस्तु तेजोऽप्रतिमं धारयामास वै तदा ।
प्रस्कन्नं तु ततस्तस्मात् किंचित्तत्रापतद् भुवि ॥ ७७ ॥

रुद्रदेवने उस समय अपने अनुपम तेज (वीर्य) को यद्यपि रोक लिया था तो भी किञ्चित् स्खलित होकर वहीं पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७७ ॥

उत्पपात तदा वह्नौ ववृधे चाद्भुतोपमम् ।
तेजस्तेजसि संयुक्तमात्मयोनित्वमागतम् ॥ ७८ ॥

वह अद्भुत तेज अग्निमें पड़कर बढ़ने और ऊपरको उठने लगा । तेजसे संयुक्त हुआ वह तेज एक स्वयम्भू पुरुषके रूपमें अभिव्यक्त होने लगा ॥ ७८ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवाः शक्रपुरोगमाः ।
असुरस्तारको नाम तेन संतापिता भृशम् ॥ ७९ ॥

इसी समय तारक नामक एक असुर उत्पन्न हुआ था, जिसने इन्द्र आदि देवताओंको अत्यन्त संतप्त कर दिया था॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतोऽथाश्विनावपि ।
साध्याश्च सर्वे संत्रस्ता दैतेयस्य पराक्रमात् ॥ ८० ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा साध्य-- सभी देवता उस दैत्यके पराक्रमसे संत्रस्त हो उठे थे ॥८०॥

स्थानानि देवतानां हि विमानानि पुराणि च ।
ऋषीणां चाश्रमाश्चैव बभूवुरसुरैर्हृताः ॥ ८१ ॥

असुरोंने देवताओंके स्थान, विमान, नगर तथा ऋषियोंके आश्रम भी छीन लिये थे ॥ ८१ ॥

ते दीनमनसः सर्वे देवता ऋषयश्च ये ।
प्रजग्मुः शरणं देवं ब्रह्माणमजरं विभुम् ॥ ८२ ॥

वे सब देवता और ऋषि दीनचित्त हो अजर-अमर एवं सर्वव्यापी देवता भगवान् ब्रह्माकी शरणमें गये ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णोत्पत्तिर्नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्णकी उत्पत्ति नामक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीका देवताओंको आश्वासन, अग्निकी खोज, अग्निके द्वारा स्थापित किये हुए शिवके तेजसे संतप्त हो गङ्गाका उसे मेरुपर्वतपर छोड़ना, कार्तिकेय और सुवर्णकी उत्पत्ति, वरुणरूपधारी महादेवजीके यज्ञमें अग्निसे ही प्रजापतियों और सुवर्णका प्रादुर्भाव, कार्तिकेयद्वारा तारकासुरका वध

देवा ऊचुः

असुरस्तारको नाम त्वया दत्तवरः प्रभो ।
सुरानृषींश्च क्लिश्नाति वधस्तस्य विधीयताम् ॥ १ ॥

देवता बोले—प्रभो ! आपने जिसे वर दे रखा है, वह तारक नामक असुर देवताओं और ऋषियोंको बड़ा कष्ट दे रहा है । अतः उसके वधका कोई उपाय कीजिये ॥ १ ॥

तस्माद् भयं समुत्पन्नमस्माकं वै पितामह ।
परित्रायस्व नो देव न ह्यन्या गतिरस्ति नः ॥ २ ॥

पितामह ! देव ! उस असुरसे हमलोगोंको भारी भय उत्पन्न हो गया है । आप हमारी उससे रक्षा करें; क्योंकि हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २ ॥

ब्रह्मोवाच

समोऽहं सर्वभूतानामधर्मं नेह रोचये ।
हन्यतां तारकः क्षिप्रं सुरर्षिगणबाधिता ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मेरा तो समस्त प्राणियोंके प्रति समान भाव है तथापि मैं अधर्म नहीं पसंद करता; अतः देवताओं तथा ऋषियोंको कष्ट देनेवाले तारकासुरको तुमलोग शीघ्र ही मार डालो ॥ ३ ॥

वेदा धर्माश्च नोच्छेदं गच्छेयुः सुरसत्तमाः ।
विहितं पूर्वमेवात्र मया वै व्येतु वो ज्वरः ॥ ४ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! वेदों और धर्मोंका उच्छेद न हो, इसका

उपाय मैंने पहलेसे ही कर लिया है । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः

वरदानाद् भगवतो दैतेयो बलगर्वितः ।
देवैर्न शक्यते हन्तुं स कथं प्रशमं व्रजेत् ॥ ५ ॥

देवता बोले—भगवन् ! आपके ही वरदानसे वह दैत्य बलके घमंडसे भर गया है । देवता उसे नहीं मार सकते । ऐसी दशामें वह कैसे शान्त हो सकता है ? ॥

स हि नैव स्म देवानां नासुराणां न रक्षसाम् ।
वध्यः स्यामिति जग्राह वरं त्वत्तः पितामह ॥ ६ ॥

पितामह ! उसने आपसे यह वरदान प्राप्त कर लिया है कि मैं देवताओं, असुरों तथा राक्षसोंमेंसे किसीके हाथसे भी मारा न जाऊँ ॥ ६ ॥

देवाश्च शप्ता रुद्राण्या प्रजोच्छेदे पुराकृते ।
न भविष्यति वोऽपत्यमिति सर्वे जगत्पते ॥ ७ ॥

जगत्पते ! पूर्वकालमें जब हमने रुद्राणीकी संततिका उच्छेद कर दिया, तब उन्होंने सब देवताओंको शाप दे दिया कि तुम्हारे कोई संतान नहीं होगी ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

हुताशनो न तत्रासीच्छापकाले सुरोत्तमाः ।
स उत्पादयितापत्यं वधाय त्रिदशद्विषाम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—सुरश्रेष्ठगण ! उस शापके समय वहाँ अग्निदेव नहीं थे । अतः देवद्रोहियोंके वधके लिये वे ही संतान उत्पन्न करेंगे ॥ ८ ॥

तद् वै सर्वानतिक्रम्य देवदानवराक्षसान् ।
मानुषानथ गन्धर्वान् नागानथ च पक्षिणः ॥ ९ ॥
अस्त्रेणामोघपातेन शक्त्या तं घातयिष्यति ।
यतो वो भयमुत्पन्नं ये चान्ये सुरशत्रवः ॥ १० ॥

वही समस्त देवताओं, दानवों, राक्षसों, मनुष्यों, गन्धर्वों, नागों तथा पक्षियोंको लाँघकर अपने अचूक अस्त्र-शक्तिके द्वारा उस असुरका वध कर डालेगा, जिससे तुम्हें भय उत्पन्न हुआ है । दूसरे जो देवशत्रु हैं, उनका भी वह संहार कर डालेगा ॥ ९-१० ॥

सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते ।
रुद्रस्य तेजः प्रस्कन्नमग्नौ निपतितं च यत् ॥ ११ ॥
तत्तेजोऽग्निर्महद्भूतं द्वितीयमिति पावकम् ।
वधार्थं देवशत्रूणां गङ्गायां जनयिष्यति ॥ १२ ॥

सनातन संकल्पको ही काम कहते हैं । उसी कामसे रुद्रका जो तेज स्खलित होकर अग्निमें गिरा था, उसे अग्निने ले रखा है । द्वितीय अग्निके समान उस महान् तेजको वे गङ्गाजीमें स्थापित करके बालकरूपसे उत्पन्न करेंगे । वही बालक देवशत्रुओंके वधका कारण होगा ॥ ११-१२ ॥

स तु नावाप तं शापं नष्टः स हुतभुक् तदा ।
तस्माद् वो भयहृद् देवाः समुत्पत्स्यति पावकिः ॥ १३ ॥

अग्निदेव उस समय छिपे हुए थे, इसलिये वह शाप उन्हें नहीं प्राप्त हुआ; अतः देवताओ ! अग्निके जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह तुमलोगोंका सारा भय हर लेगा ॥ १३ ॥

अन्विष्यतां वै ज्वलनस्तथा चाद्य नियुज्यताम् ।
तारकस्य वधोपायः कथितो वै मयानघाः ॥ १४ ॥

तुमलोग अग्निदेवकी खोज करो और उन्हें आज ही इस कार्यमें नियुक्त करो । निष्पाप देवताओ ! तारकासुरके वधका यह उपाय मैंने बता दिया ॥ १४ ॥

न हि तेजस्विनां शापास्तेजःसु प्रभवन्ति वै ।
बलान्यतिबलं प्राप्य दुर्बलानि भवन्ति वै ॥ १५ ॥

तेजस्वी पुरुषोंके शाप तेजस्वियोंपर अपना प्रभाव नहीं दिखाते । साधारण बली कितने ही क्यों न हों, अत्यन्त बलशालीको पाकर दुर्बल हो जाते हैं ॥ १५ ॥

हन्यादवध्यान् वरदानपि चैव तपस्विनः ।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ॥ १६ ॥

तपस्वी पुरुषका जो काम है, वही संकल्प एवं अभिरुचिके नामसे प्रसिद्ध है । वह सनातन या चिरस्थायी होता है । वह वर देनेवाले अवध्य पुरुषोंका भी वध कर सकता है ॥

जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः ।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ॥ १७ ॥

अग्निदेव इस जगत्के पालक, अनिर्वचनीय, सर्वव्यापी, सबके उत्पादक, समस्त प्राणियोंके हृदयमें शयन करनेवाले, सर्वसमर्थ तथा रुद्रसे भी ज्येष्ठ हैं ॥ १७ ॥

अन्विष्यतां स तु क्षिप्रं तेजोराशिर्हुताशनः ।
स वो मनोगतं कामं देवः सम्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

तेजकी राशिभूत अग्निदेवका तुम सब लोग शीघ्र अन्वेषण करो । वे तुम्हारी मनोवाञ्छित कामनाको पूर्ण करेंगे ॥ १८ ॥

एतद् वाक्यमुपश्रुत्य ततो देवा महात्मनः ।
जग्मुः संसिद्धसंकल्पाः पर्येषन्तो विभावसुम् ॥ १९ ॥

महात्मा ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर सफलमनोरथ हुए देवता अग्निदेवका अन्वेषण करनेके लिये वहाँसे चले गये ॥

ततस्त्रैलोक्यमृषयो व्यचिन्वन्त सुरैः सह ।
काङ्क्षन्तो दर्शनं वह्नेः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ २० ॥

तब देवताओंसहित ऋषियोंने तीनों लोकोंमें अग्निकी खोज प्रारम्भ की । उन सबका मन उन्हींमें लगा था और वे—सभी अग्निदेवका दर्शन करना चाहते थे ॥ २० ॥

परेण तपसा युक्ताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ।

लोकानन्वचरन् सिद्धाः सर्व एव भृगूत्तम ॥ २१ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! उत्तम तपस्यासे युक्त, तेजस्वी और लोकविख्यात सभी सिद्ध देवता सभी लोकोंमें अग्निदेवकी खोज करते रहे ॥ २१ ॥

नष्टमात्मनि संलीनं नाधिजग्मुर्हुताशनम् ।
ततः संजातसंत्रासानग्निदर्शनलालसान् ॥ २२ ॥
जलेचरः क्लान्तमनास्तेजसाग्नेः प्रदीपितः ।
उवाच देवान् मण्डूको रसातलतलोत्थितः ॥ २३ ॥

वे छिपकर अपने-आपमें ही लीन थे; अतः देवता उनके पास नहीं पहुँच सके। तब अग्निका दर्शन करनेके लिये उत्सुक और भयभीत हुए देवताओंसे एक जलचारी मेढक, जो अग्निके तेजसे दग्ध एवं क्लान्तचित्त होकर रसातलसे ऊपरको आया था, बोला—॥ २२-२३ ॥

रसातलतले देवा वसत्यग्निरिति प्रभो ।
संतापादिह सम्प्राप्तः पावकप्रभवादहम् ॥ २४ ॥

'देवताओ ! अग्नि रसातलमें निवास करते हैं। प्रभो ! मैं अग्निजनित संतापसे ही घबराकर यहाँ आया हूँ ॥ २४ ॥

स संसुप्तो जले देवा भगवान् हव्यवाहनः ।
अपः संसृज्य तेजोभिस्तेन संतापिता वयम् ॥ २५ ॥

'देवगण ! भगवान् अग्निदेव अपने तेजके साथ जलको संयुक्त करके जलमें ही सोये हैं। हमलोग उन्हींके तेजसे संतप्त हो रहे हैं ॥ २५ ॥

तस्य दर्शनमिष्टं वो यदि देवा विभावसोः ।
तत्रैवमधिगच्छध्वं कार्यं वो यदि वह्निना ॥ २६ ॥

'देवताओ ! यदि आपको अग्निदेवका दर्शन अभीष्ट हो और यदि उनसे आपका कोई कार्य हो तो वहीं जाकर उनसे मिलिये ॥ २६ ॥

गम्यतां साधयिष्यामो वयं ह्यग्निभयात् सुराः ।
एतावदुक्त्वा मण्डूकस्त्वरितो जलमाविशत् ॥ २७ ॥

'देवगण ! आप जाइये। हम भी अग्निके भयसे अन्यत्र जायँगे।' इतना ही कहकर वह मेढक तुरंत ही जलमें घुस गया ॥ २७ ॥

हुताशनस्तु बुबुधे मण्डूकस्य च पैशुनम् ।
शशाप स तमासाद्य न रसान् वेत्स्यसीति वै ॥ २८ ॥

अग्निदेव समझ गये कि मेढकने मेरी चुगली खायी है; अतः उन्होंने उसके पास पहुँचकर यह शाप दे दिया कि 'तुम्हें रसका अनुभव नहीं होगा' ॥ २८ ॥

तं वै संयुज्य शापेन मण्डूकं त्वरितो ययौ ।
अन्यत्र वासाय विभुर्न चात्मानमदर्शयत् ॥ २९ ॥

मेढकको शाप देकर वे तुरंत दूसरी जगह निवास करनेके लिये चले गये। सर्वव्यापी अग्निने अपने-आपको प्रकट नहीं किया ॥ २९ ॥

देवास्त्वनुग्रहं चक्रुर्मण्डूकानां भृगूत्तम ।
यत्तच्छृणु महाबाहो गदतो मम सर्वशः ॥ ३० ॥

भृगुश्रेष्ठ ! महाबाहो ! उस समय देवताओंने मेढकोंपर जो कृपा की, वह सब बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

देवा ऊचुः

अग्निशापादजिह्वापि रसज्ञानबहिष्कृताः ।
सरस्वतीं बहुविधां यूयमुच्चारयिष्यथ ॥ ३१ ॥

देवता बोले—मेढको ! अग्निदेवके शापसे तुम्हारे जिह्वा नहीं होगी; अतः तुम रसोंके ज्ञानसे शून्य रहोगे तथापि हमारी कृपासे तुम नाना प्रकारकी वाणीका उच्चारण कर सकोगे ॥ ३१ ॥

बिलवासं गतांश्चैव निराहारानचेतसः ।
गतासूनपि संशुष्कान् भूमिः संधारयिष्यति ॥ ३२ ॥
तमोघनायामपि वै निशायां विचरिष्यथ ।

बिलमें रहते समय तुम आहार न मिलनेके कारण अचेत और निष्प्राण होकर सूख जाओगे तो भी भूमि तुम्हें धारण किये रहेगी—वर्षाका जल मिलनेपर तुम पुनः जी उठोगे । घने अन्धकारसे भरी हुई रात्रिमें भी तुम विचरते रहोगे ३२½

इत्युक्त्वा तांस्ततो देवाः पुनरेव महीमिमाम् ॥ ३३ ॥
परीयुर्ज्वलनस्यार्थे न चाविन्दन् हुताशनम् ।

मेढकोंसे ऐसा कहकर देवता पुनः अग्निकी खोजके लिये इस पृथ्वीपर विचरने लगे; किंतु वे अग्निदेवको कहीं उपलब्ध न कर सके ॥ ३३½ ॥

अथ तान् द्विरदः कश्चित् सुरेन्द्रद्विरदोपमः ॥ ३४ ॥
अश्वत्थस्थोऽग्निरित्येवमाह देवान् भृगूद्वह ।

भृगुश्रेष्ठ ! तदनन्तर देवराज इन्द्रके ऐरावतकी भाँति कोई विशालकाय गजराज देवताओंसे बोला—'अश्वत्थ अग्निरूप है' ॥ ३४½ ॥

शशाप ज्वलनः सर्वान् द्विरदान् क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३५ ॥
प्रतीपा भवतां जिह्वा भवित्रीति भृगूद्वह ।

भृगुकुलभूषण ! यह सुनकर अग्निदेव क्रोधसे विह्वल हो उठे और उन्होंने समस्त हाथियोंको शाप देते हुए कहा—'तुमलोगोंकी जिह्वा उलटी हो जायगी' ॥ ३५½ ॥

इत्युक्त्वा निःसृतोऽश्वत्थादग्निर्वारणसूचितः ।
प्रविवेश शमीगर्भमथ वह्निः सुषुप्सया ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर हाथीद्वारा सूचित किये गये अग्निदेव अश्वत्थसे निकलकर शमीके भीतर प्रविष्ट हो गये। वे वहाँ अच्छी तरह सोना चाहते थे ॥ ३६ ॥

अनुग्रहं तु नागानां यं चक्रुः शृणु तं प्रभो ।
देवा भृगुकुलश्रेष्ठ प्रीत्या सत्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥

प्रभो ! भृगुकुलश्रेष्ठ ! तब सत्यपराक्रमी देवताओंने प्रसन्न हो नागोंपर जिस प्रकार अपना अनुग्रह प्रकट किया, उसे सुनो ॥ ३७ ॥

देवा ऊचुः

प्रतीपया जिह्वयापि सर्वाहारं करिष्यथ ।
वाचं चोच्चारयिष्यध्वमुच्चैरव्यञ्जिताक्षराम् ॥ ३८ ॥

देवता बोले—हाथियो ! तुम अपनी उलटी जिह्वासे भी सब प्रकारके आहार ग्रहण कर सकोगे तथा उच्चस्वरसे वाणीका उच्चारण कर सकोगे; किंतु उससे किसी अक्षरकी अभिव्यक्ति नहीं होगी ॥ ३८ ॥

इत्युक्त्वा पुनरेवाग्निमनुसस्रुर्दिवौकसः ।
अश्वत्थान्निःसृतश्चाग्निः शमीगर्भमुपाविशत् ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर देवताओंने पुनः अग्निका अनुसरण किया । उधर अग्निदेव अश्वत्थसे निकलकर शमीके भीतर जा बैठे ॥

शुकेन ख्यापितो विप्र तं देवाः समुपाद्रवन् ।
शशाप शुकमग्निस्तु वाग्विहीनो भविष्यसि ॥ ४० ॥

विप्रवर ! तदनन्तर तोतेने अग्निका पता बता दिया । फिर तो देवता शमीवृक्षकी ओर दौड़े । यह देख अग्निने तोतेको शाप दे दिया—'तू वाणीसे रहित हो जायगा' ॥४०॥

जिह्वामावर्तयामास तस्यापि हुतभुक् तथा ।
दृष्ट्वा तु ज्वलनं देवाः शुकमूचुर्दयान्विताः ॥ ४१ ॥
भविता न त्वमत्यन्तं शुकत्वे नष्टवागिति ।
आवृत्तजिह्वस्य सतो वाक्यं कान्तं भविष्यति ॥ ४२ ॥

अग्निदेवने उसकी भी जिह्वा उलट दी । अब अग्निदेवको प्रत्यक्ष देखकर देवताओंने दयायुक्त होकर शुकसे कहा—'तू शुक-योनिमें रहकर अत्यन्त वाणीरहित नहीं होगा—कुछ-कुछ बोल सकेगा । जीभ उलट जानेपर भी तेरी बोली बड़ी मधुर एवं कमनीय होगी ॥ ४१-४२ ॥

बालस्येव प्रवृद्धस्य कलमव्यक्तमद्भुतम् ।

'जैसे बड़े-बूढ़े पुरुषको बालककी समझमें न आनेवाली अद्भुत तोतली बोली बड़ी मीठी लगती है, उसी प्रकार तेरी बोली भी सबको प्रिय लगेगी' ॥ ४२½ ॥

इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ॥ ४३ ॥
तदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि ।
ततः प्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर शमीके गर्भमें अग्निदेवका दर्शन करके देवताओंने सभी कर्मोंके लिये शमीको ही अग्निका पवित्र स्थान नियत किया । तबसे अग्निदेव शमीके भीतर दृष्टिगोचर होने लगे ॥ ४३-४४ ॥

उत्पादने तथोपायमभिजग्मुश्च मानवाः ।
आपो रसातले यास्तु संस्पृष्टाश्चित्रभानुना ॥ ४५ ॥
ताः पर्वतप्रस्रवणैरूष्मां मुञ्चन्ति भार्गव ।
पावकेनाधिशयता संतप्तास्तस्य तेजसा ॥ ४६ ॥

भार्गव ! मनुष्योंने अग्निको प्रकट करनेके लिये शमीका मन्थन ही उपाय जाना । अग्निने रसातलमें जिस जलका स्पर्श किया था और वहाँ शयन करनेवाले अग्निदेवके तेजसे जो संतप्त हो गया था, वह जल पर्वतीय झरनोंके रूपमें अपनी गरमी निकालता है ॥ ४५-४६ ॥

अथाग्निर्देवता दृष्ट्वा बभूव व्यथितस्तदा ।
किमागमनमित्येवं तानपृच्छत पावकः ॥ ४७ ॥

उस समय देवताओंको देखकर अग्निदेव व्यथित हो गये और उनसे पूछने लगे—'किस उद्देश्यसे यहाँ आपलोगोंका शुभागमन हुआ है ?' ॥ ४७ ॥

तमूचुर्विबुधाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ।
त्वां नियोक्ष्यामहे कार्ये तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ४८ ॥
कृते च तस्मिन् भविता तवापि सुमहान् गुणः ॥ ४९ ॥

तब सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनसे बोले—'हम तुम्हें एक कार्यमें नियुक्त करेंगे । उसे तुम्हें करना चाहिये । उस कार्यको सम्पन्न कर देनेपर तुम्हें भी बहुत बड़ा लाभ होगा' ॥

अग्निरुवाच

ब्रूत यद् भवतां कार्यं कर्तास्मि तदहं सुराः ।
भवतां तु नियोज्योऽस्मि मा वोऽत्रास्तु विचारणा ॥

अग्निने कहा—देवताओ ! आपलोगोंका जो कार्य है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, अतः उसे कहिये । मैं आपलोगोंका आज्ञापालक हूँ । इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५० ॥

देवा ऊचुः

असुरस्तारको नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः ।
अस्मान् प्रबाधते वीर्याद् वधस्तस्य विधीयताम् ॥ ५१ ॥

देवता बोले—अग्निदेव ! एक तारकनामक असुर है, जो ब्रह्माजीके वरदानसे मदमत्त होकर अपने पराक्रमसे हम सब लोगोंको कष्ट दे रहा है । अतः तुम उसके वधका कोई उपाय करो ॥ ५१ ॥

इमान् देवगणांस्तात प्रजापतिगणांस्तथा ।
ऋषींश्चापि महाभाग परित्रायस्व पावक ॥ ५२ ॥

तात ! महाभाग पावक ! इन देवताओं, प्रजापतियों तथा ऋषियोंकी भी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

अपत्यं तेजसा युक्तं प्रवीरं जनय प्रभो ।
यद् भयं नोऽसुरात् तस्मान्नाशयेद्धव्यवाहन ॥ ५३ ॥

प्रभो ! हव्यवाहन ! तुम एक ऐसा तेजस्वी और महावीर

पुत्र उत्पन्न करो, जो उस असुरसे प्राप्त होनेवाले हमारे भयका नाश करे ॥ ५३ ॥

शप्तानां नो महादेव्या नान्यदस्ति परायणम् ।
अन्यत्र भवतो वीर्यं तस्मात् त्रायस्व नः प्रभो ॥ ५४ ॥

प्रभो ! महादेवी पार्वतीने हमलोगोंको संतानहीन होनेका शाप दे दिया है; अतः तुम्हारे बलवीर्यके सिवा हमारे लिये दूसरा कोई आश्रय नहीं रह गया है, इसलिये हमलोगोंकी रक्षा करो ॥ ५४ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा भगवान् हव्यवाहनः ।
जगामाथ दुराधर्षो गङ्गां भागीरथीं प्रति ॥ ५५ ॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर 'तथास्तु' कहकर दुर्धर्ष भगवान् हव्यवाहन भागीरथी गङ्गाके तटपर गये ॥ ५५ ॥

तया चाप्यभवन्मिश्रो गर्भं चास्यादधे तदा ।
ववृधे स तदा गर्भः कक्षे कृष्णगतिर्यथा ॥ ५६ ॥

वे वहाँ गङ्गाजीसे मिले । गङ्गाजीने उस समय भगवान् शङ्करके उस तेजको गर्भरूपसे धारण किया। जैसे सूखे तिनकों अथवा लकड़ियोंके ढेरमें रक्खी हुई आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वह तेजस्वी गर्भ गङ्गाजीके भीतर बढ़ने लगा ॥ ५६ ॥

तेजसा तस्य देवस्य गङ्गा विह्वलचेतना ।
संतापमगमत् तीव्रं सोढुं सा न शशाक ह ॥ ५७ ॥

अग्निदेवके दिये हुए उस तेजसे गङ्गाजीका चित्त व्याकुल हो गया। वे अत्यन्त संतप्त हो उठीं और उसे सहन करनेमें असमर्थ हो गयीं ॥ ५७ ॥

आहिते ज्वलनेनाथ गर्भे तेजःसमन्विते ।
गङ्गायामसुरः कश्चिद् भैरवं नादमानदत् ॥ ५८ ॥

अग्निके द्वारा गङ्गाजीमें स्थापित किया हुआ वह तेजस्वी गर्भ जब बढ़ रहा था, उसी समय किसी असुरने वहाँ आकर सहसा बड़े जोरसे भयानक गर्जना की ॥ ५८ ॥

अबुद्धिपतितेनाथ नादेन विपुलेन सा ।
वित्रस्तोद्भ्रान्तनयना गङ्गा विप्लुतलोचना ॥ ५९ ॥

उस आकस्मिक महान् सिंहनादसे भयभीत हुई गङ्गाजीकी आँखें घूमने लगीं और उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगा ॥

विसंज्ञा नाशकद् गर्भं वोढुमात्मानमेव च ।
सा तु तेजःपरीताङ्गी कम्पयन्तीव जाह्नवी ॥ ६० ॥
उवाच ज्वलनं विप्र तदा गर्भबलोद्धता ।
ते न शक्तास्मि भगवंस्तेजसोऽस्य विधारणे ॥ ६१ ॥

वे अचेत हो गयी । अतः उस गर्भको और अपने-आपको भी न सम्हाल सकीं । उनके सारे अङ्ग तेजसे व्याप्त हो रहे थे । विप्रवर ! उस समय जाह्नवी देवी उस गर्भकी शक्तिसे अभिभूत हो काँपती हुई-सी अग्निसे बोलीं—'भगवन् ! मैं आपके इस तेजको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ६०-६१ ॥

विमूढास्मि कृतानेन न मे स्वास्थ्यं यथा पुरा ।
विह्वला चास्मि भगवंश्चेतो नष्टं च मेऽनघ ॥ ६२ ॥

'निष्पाप अग्निदेव ! इसने मुझे मूर्च्छित-सी कर दिया है । मेरा स्वास्थ्य अब पहले-जैसा नहीं रह गया है । भगवन् ! मैं बहुत घबरा गयी हूँ । मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है ॥

धारणे नास्य शक्ताहं गर्भस्य तपतां वर ।
उत्स्रक्ष्येऽहमिमं दुःखान्न तु कामात् कथंचन ॥ ६३ ॥

'तपनेवालोंमें श्रेष्ठ पावक ! अब मुझमें इस गर्भको धारण किये रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है । मैं असह्य दुःखसे ही इसे त्यागने जा रही हूँ । स्वेच्छासे किसी प्रकार नहीं ॥ ६३ ॥

न तेजसोऽस्ति संस्पर्शो मम देव विभावसो ।
आपदर्थे हि सम्बन्धः सुसूक्ष्मोऽपि महाद्युते ॥ ६४ ॥

'देव ! विभावसो ! महाद्युते ! इस तेजके साथ मेरा कोई सम्पर्क नहीं है । इस समय जो अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वह भी देवताओंपर आयी हुई विपत्तिको टालनेके उद्देश्यसे ही है ॥ ६४ ॥

यदत्र गुणसम्पन्नमितरद् वा हुताशन ।
त्वय्येव तदहं मन्ये धर्माधर्मौ च केवलौ ॥ ६५ ॥

'हुताशन ! इस कार्यमें यदि कोई गुण या दोषयुक्त परिणाम हो अथवा केवल धर्म या अधर्म हो, उन सबका उत्तरदायित्व आपपर ही है, ऐसा मैं मानती हूँ' ॥ ६५ ॥

तामुवाच ततो वह्निर्धार्यतां धार्यतामिति ।
गर्भो मत्तेजसा युक्तो महागुणफलोदयः ॥ ६६ ॥

तब अग्निने गङ्गाजीसे कहा—'देवि ! यह गर्भ मेरे तेजसे युक्त है, इससे महान् गुणयुक्त फलका उदय होनेवाला है । इसे धारण करो, धारण करो ॥ ६६ ॥

शक्ता ह्यसि महीं कृत्स्नां वोढुं धारयितुं तथा ।
न हि ते किंचिदप्राप्यमन्यतो धारणादृते ॥ ६७ ॥

'देवि ! तुम सारी पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ हो, फिर इस गर्भको धारण करना तुम्हारे लिये कुछ असाध्य नहीं है' ॥ ६७ ॥

सा वह्निना वार्यमाणा देवैरपि सरिद्वरा ।
समुत्ससर्ज तं गर्भं मेरौ गिरिवरे तदा ॥ ६८ ॥

देवताओं तथा अग्निके मना करनेपर भी सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाने उस गर्भको गिरिराज मेरुके शिखरपर छोड़ दिया ॥ ६८ ॥

समर्था धारणे चापि रुद्रतेजःप्रधर्षिता ।
नाशकत् तं तदा गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६९ ॥

यद्यपि गङ्गाजी उस गर्भको धारण करनेमें समर्थ थीं तो भी रुद्रके तेजसे पराभूत होकर बलपूर्वक उसे धारण न कर सकीं ॥ ६९ ॥

सा समुत्सृज्य तं दुःखाद् दीप्तवैश्वानरप्रभम् ।
दर्शयामास चाग्निस्तं तदा गङ्गां भृगूद्वह ॥ ७० ॥
पप्रच्छ सरितां श्रेष्ठां कच्चिद् गर्भः सुखोदयः ।
कीदृग्वर्णोऽपि वा देवि कीदृग्रूपश्च दृश्यते ।
तेजसा केन वा युक्तः सर्वमेतद् ब्रवीहि मे ॥ ७१ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! गङ्गाजीने बड़े दुःखसे अग्निके समान तेजस्वी उस गर्भको त्याग दिया । तत्पश्चात् अग्निने उनका दर्शन किया और सरिताओंमें श्रेष्ठ उन गङ्गाजीसे पूछा—'देवि ! तुम्हारा गर्भ सुखपूर्वक उत्पन्न हो गया है न ? उसकी कान्ति कैसी है अथवा उसका रूप कैसा दिखायी देता है, वह कैसे तेजसे युक्त है ? यह सारी बातें मुझसे कहो' ॥ ७०-७१ ॥

गङ्गोवाच

जातरूपः स गर्भो वै तेजसा त्वमिवानघ ।
सुवर्णो विमलो दीप्तः पर्वतं चावभासयत् ॥ ७२ ॥

गङ्गा बोलीं—देव ! वह गर्भ क्या है, सोना है । अनघ ! वह तेजमें हूबहू आपके ही समान है । सुवर्ण-जैसी निर्मल कान्तिसे प्रकाशित होता है और सारे पर्वतको उद्भासित करता है ॥ ७२ ॥

पद्मोत्पलविमिश्राणां ह्रदानामिव शीतलः ।
गन्धोऽस्य स कदम्बानां तुल्यो वै तपतां वर ॥ ७३ ॥

तपनेवालोंमें श्रेष्ठ अग्निदेव ! कमल और उत्पलसे संयुक्त सरोवरोंके समान उसका अङ्ग शीतल है और कदम्ब-पुष्पोंके समान उससे मीठी-मीठी सुगन्ध फैलती रहती है ॥ ७३ ॥

तेजसा तस्य गर्भस्य भास्करस्येव रश्मिभिः ।
यद् द्रव्यं परिसंसृष्टं पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥
तत् सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात् प्रत्यदृश्यत ।

सूर्यकी किरणोंके समान उस गर्भसे वहाँकी भूमि या पर्वतोंपर रहनेवाले जिस किसी द्रव्यका स्पर्श हुआ, वह सब चारों ओरसे सुवर्णमय दिखायी देने लगा ॥ ७४½ ॥

पर्यधावत शैलांश्च नदीः प्रस्रवणानि च ॥ ७५ ॥
व्यादीपयंस्तेजसा च त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

वह बालक अपने तेजसे चराचर प्राणियोंको प्रकाशित करता हुआ पर्वतों, नदियों और झरनोंकी ओर दौड़ने लगा था ॥ ७५½ ॥

एवंरूपः स भगवान् पुत्रस्ते हव्यवाहन ।
सूर्यवैश्वानरसमः कान्त्या सोम इवापरः ॥ ७६ ॥

हव्यवाहन ! आपका ऐश्वर्यशाली पुत्र ऐसे ही रूपवाला है । वह सूर्य तथा आपके समान तेजस्वी और दूसरे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् है ॥ ७६ ॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
पावकश्चापि तेजस्वी कृत्वा कार्यं दिवौकसाम् ॥ ७७ ॥
जगामेष्टं ततो देशं तदा भार्गवनन्दन ।

भार्गवनन्दन ! ऐसा कहकर देवी गङ्गा वहीं अन्तर्धान हो गयीं और तेजस्वी अग्निदेव देवताओंका कार्य सिद्ध करके उस समय वहाँसे अभीष्ट देशको चले गये ॥ ७७½ ॥

एतैः कर्मगुणैर्लोके नामाग्नेः परिगीयते ॥ ७८ ॥
हिरण्यरेता इति वै ऋषिभिर्विबुधैस्तथा ।
पृथिवी च तदा देवी ख्याता वसुमतीति वै ॥ ७९ ॥

इन्हीं समस्त कर्मों और गुणोंके कारण देवता तथा ऋषि संसारमें अग्निको हिरण्यरेताके नामसे पुकारते हैं । उस समय अग्निजनित हिरण्य (वसु) धारण करनेके कारण पृथ्वीदेवी वसुमती नामसे विख्यात हुई ॥ ७८-७९ ॥

स तु गर्भो महातेजा गाङ्गेयः पावकोद्भवः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधेऽद्भुतदर्शनः ॥ ८० ॥

अग्निके अंशसे उत्पन्न हुआ गङ्गाका वह महातेजस्वी गर्भ सरकण्डोंके दिव्य वनमें पहुँचकर बढ़ने और अद्भुत दिखायी देने लगा ॥ ८० ॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालार्कसदृशद्युतिम् ।
पुत्रं वै ताश्च तं बालं पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ ८१ ॥

प्रभातकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिवाले उस तेजस्वी बालकको कृत्तिकाओंने देखा और उसे अपना पुत्र मानकर स्तनोंका दूध पिलाकर उसका पालन-पोषण किया ॥

ततः स कार्तिकेयत्वमवाप परमद्युतिः ।
स्कन्नत्वात् स्कन्दतां चापि गुहावासाद् गुहोऽभवत् ॥ ८२ ॥

इसीलिये वह परम तेजस्वी कुमार 'कार्तिकेय' नामसे प्रसिद्ध हुआ । शिवके स्कन्दित (स्खलित) वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम 'स्कन्द' हुआ और पर्वतकी गुहामें निवास करनेसे वह 'गुह' कहलाया ॥ ८२ ॥

एवं सुवर्णमुत्पन्नमपत्यं जातवेदसः ।
तत्र जाम्बूनदं श्रेष्ठं देवानामपि भूषणम् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार अग्निसे संतानरूपमें सुवर्णकी उत्पत्ति हुई है । उसमें भी जाम्बूनद नामक सुवर्ण श्रेष्ठ है और वह देवताओंका भी भूषण है ॥ ८३ ॥

ततः प्रभृति चाप्येतज्जातरूपमुदाहृतम् ।
रत्नानामुत्तमं रत्नं भूषणानां तथैव च ॥ ८४ ॥

तभीसे सुवर्णका नाम जातरूप हुआ । वह रत्नोंमें उत्तम रत्न और आभूषणोंमें श्रेष्ठ आभूषण है ॥ ८४ ॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
यत् सुवर्णं स भगवानग्निरीशः प्रजापतिः ॥ ८५ ॥

वह पवित्रोंमें भी अधिक पवित्र तथा मङ्गलोंमें भी अधिक मङ्गलमय है । जो सुवर्ण है, वही भगवान् अग्नि हैं, वही ईश्वर और प्रजापति हैं ॥ ८५ ॥

पवित्राणां पवित्रं हि कनकं द्विजसत्तमाः ।
अग्नीषोमात्मकं चैव जातरूपमुदाहृतम् ॥ ८६ ॥

द्विजवरो ! सुवर्ण सम्पूर्ण पवित्र वस्तुओंमें अतिशय पवित्र है; उसे अग्नि और सोमरूप बताया गया है ॥८६॥

वसिष्ठ उवाच

अपि चेदं पुरा राम श्रुतं मे ब्रह्मदर्शनम् ।
पितामहस्य यद् वृत्तं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ८७ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—परशुराम ! परमात्मा पितामह ब्रह्माका जो ब्रह्मदर्शन नामक वृत्तान्त मैंने पूर्वकालमें सुना था, वह तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ८७ ॥

देवस्य महतस्तात वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ।
ऐश्वर्ये वारुणे राम रुद्रस्येशस्य वै प्रभो ॥ ८८ ॥
आजग्मुर्मुनयः सर्वे देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
यज्ञाङ्गानि च सर्वाणि वषट्कारश्च मूर्तिमान् ॥ ८९ ॥
मूर्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्रशः ।
ऋग्वेदश्चागमत् तत्र पदक्रमविभूषितः ॥ ९० ॥

प्रभावशाली तात परशुराम ! एक समयकी बात है, सबके ईश्वर और महान् देवता भगवान् रुद्र वरुणका स्वरूप धारण करके वरुणके साम्राज्यपर प्रतिष्ठित थे । उस समय उनके यज्ञमें अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता और ऋषि पधारे। सम्पूर्ण मूर्तिमान् यज्ञाङ्ग, वषट्कार, साकार साम, सहस्रों यजुर्मन्त्र तथा पद और क्रमसे विभूषित ऋग्वेद भी वहाँ उपस्थित हुए ॥ ८८—९० ॥

लक्षणानि स्वराः स्तोभा निरुक्तं सुरपङ्क्तयः ।
ओङ्कारश्चावसन्नेत्रे निग्रहप्रग्रहौ तथा ॥ ९१ ॥

वेदोंके लक्षण, उदात्त आदि स्वर, स्तोत्र, निरुक्त, सुरपंक्ति, ओङ्कार तथा यज्ञके नेत्रस्वरूप प्रग्रह और निग्रह भी उस स्थानपर स्थित थे ॥ ९१ ॥

वेदाश्च सोपनिषदो विद्या सावित्र्यथापि च ।
भूतं भव्यं भविष्यं च दधार भगवान् शिवः ॥ ९२ ॥

वेद, उपनिषद्, विद्या और सावित्री देवी भी वहाँ आयी थीं । भगवान् शिवने भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंको धारण किया था ॥ ९२ ॥

संजुहावात्मनाऽऽत्मानं स्वयमेव तदा प्रभो ।
यज्ञं च शोभयामास बहुरूपं पिनाकधृत् ॥ ९३ ॥

प्रभो ! पिनाकधारी महादेवजीने अनेक रूपवाले उस यज्ञकी शोभा बढ़ायी और उन्होंने स्वयं ही अपनेद्वारा अपने आपको आहुति प्रदान की ॥ ९३ ॥

द्यौर्नभः पृथिवी खं च तथा चैवैष भूपतिः ।
सर्वविद्येश्वरः श्रीमानेष चापि विभावसुः ॥ ९४ ॥

ये भगवान् शिव ही स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी समस्त शून्य प्रदेश, राजा, सम्पूर्ण विद्याओंके अधीश्वर तथा तेजस्वी अग्निरूप हैं ॥ ९४ ॥

एष ब्रह्मा शिवो रुद्रो वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
कीर्त्यते भगवान् देवः सर्वभूतपतिः शिवः ॥ ९५ ॥

ये ही भगवान् सर्वभूतपति महादेव ब्रह्मा, शिव, रुद्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति तथा कल्याणमय शम्भु आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं ॥ ९५ ॥

तस्य यज्ञः पशुपतेस्तपः क्रतव एव च ।
दीक्षा दीप्तव्रता देवी दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ ९६ ॥
देवपत्न्यश्च कन्याश्च देवानां चैव मातरः ।
आजग्मुः सहितास्तत्र तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ९७ ॥

भृगुकुलभूषण ! इस प्रकार भगवान् पशुपतिका वह यज्ञ चलने लगा । उसमें सम्मिलित होनेके लिये तप, क्रतु, उद्दीप्त व्रतवाली दीक्षा देवी, दिक्पालोंसहित दिशाएँ, देवपत्नियाँ, देवकन्याएँ तथा देव-माताएँ भी एक साथ आयी थीं ॥ ९६-९७ ॥

यज्ञं पशुपतेः प्रीता वरुणस्य महात्मनः ।
स्वयम्भुवस्तु ता दृष्ट्वा रेतः समपतद् भुवि ॥ ९८ ॥

महात्मा वरुण पशुपतिके यज्ञमें आकर वे देवाङ्गनाएँ बहुत प्रसन्न थीं । उस समय उन्हें देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजीका वीर्य स्खलित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९८ ॥

तस्य शुक्रस्य विस्पन्दान् पांसून् संगृह्य भूमितः ।
प्रास्यत् पूषा कराभ्यां वै तस्मिन्नेव हुताशने ॥ ९९ ॥

तब ब्रह्माजीके वीर्यसे संसिक्त धूलिकणोंको दोनों हाथोंद्वारा भूमिसे उठाकर पूषाने उसी आगमें फेंक दिया ॥ ९९॥

ततस्तस्मिन् सम्प्रवृत्ते सत्रे ज्वलितपावके ।
ब्रह्मणो जुह्वतस्तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह ॥१००॥

तदनन्तर प्रज्वलित अग्निवाले उस यज्ञके चालू होनेपर वहाँ ब्रह्माजीका वीर्य पुनः स्खलित हुआ ॥ १०० ॥

स्कन्नमात्रं च तच्छुक्रं स्रुवेण परिगृह्य सः ।
आज्यवन्मन्त्रतश्चापि सोऽजुहोद् भृगुनन्दन ॥१०१॥

भृगुनन्दन ! स्खलित होते ही उस वीर्यको स्रुवेमें लेकर उन्होंने स्वयं ही मन्त्र पढ़ते हुए घीकी भाँति उसका होम कर दिया ॥ १०१ ॥

ततः स जनयामास भूतग्रामं च वीर्यवान् ।

तस्य तत् तेजसस्तस्माज्जज्ञे लोकेषु तैजसम् ॥ १०२॥

शक्तिशाली ब्रह्माजीने उस त्रिगुणात्मक वीर्यसे चतुर्विध प्राणिसमुदायको जन्म दिया । उनके वीर्यका जो रजोमय अंश था, उससे जगत्‌में तैजस प्रवृत्तिप्रधान जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई ॥ १०२ ॥

तमसस्तामसा भावा व्यापि सत्त्वं तथोभयम् ।
स गुणस्तेजसो नित्यस्तस्य चाकाशमेव च ॥ १०३॥

तमोमय अंशसे तामस पदार्थ—स्थावर वृक्ष आदि प्रकट हुए और जो सात्त्विक अंश था, वह राजस और तामस दोनोंमें अन्तर्भूत हो गया । वह सत्त्वगुण अर्थात् प्रकाशस्वरूपा बुद्धिका नित्यस्वरूप है और आकाश आदि सम्पूर्ण विश्व भी उस बुद्धिका कार्य होनेसे उसका ही स्वरूप है ॥

सर्वभूतेषु च तथा सत्त्वं तेजस्तथोत्तमम् ।
शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस्तु प्रादुरासंस्त्रयः प्रभो ॥ १०४॥
पुरुषा वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः ।

अतः सम्पूर्ण भूतोंमें जो सत्त्वगुण तथा उत्तम तेज है, वह प्रजापतिके उस शुक्रसे ही प्रकट हुआ है । प्रभो ! ब्रह्माजीके वीर्यकी जब अग्निमें आहुति दी गयी, तब उससे तीन शरीरधारी पुरुष उत्पन्न हुए, जो अपने-अपने कारणजनित गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ १०४½ ॥

भृगित्येव भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिराभवत् ॥ १०५॥
अङ्गारसंश्रयाच्चैव कविरित्यपरोऽभवत् ।
सह ज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद् भृगुः स्मृतः ॥ १०६॥

भृग् अर्थात् अग्निकी ज्वालासे उत्पन्न होनेके कारण एक पुरुषका नाम 'भृगु' हुआ । अङ्गारोंसे प्रकट हुए दूसरे पुरुषका नाम 'अङ्गिरा' हुआ और अङ्गारोंके आश्रित जो स्वल्पमात्र ज्वाला या भृगु होती है, उससे 'कवि' नामक तीसरे पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ । भृगुजी ज्वालाओंके साथ ही उत्पन्न हुए थे, उससे भृगु कहलाये ॥

मरीचिभ्यो मरीचिस्तु मारीचः कश्यपो ह्यभूत् ।
अङ्गारेभ्योऽङ्गिरास्तात वालखिल्याः कुशोच्चयात् ॥ १०७॥

उसी अग्निकी मरीचियोंसे मरीचि उत्पन्न हुए; जिनके पुत्र मारीच—कश्यप नामसे विख्यात हैं । तात ! अङ्गारोंसे अङ्गिरा और कुशोंके ढेरसे वालखिल्य नामक ऋषि प्रकट हुए थे ॥ १०७ ॥

अत्रैवात्रेति च विभो जातमत्रिं वदन्त्यपि ।
तथा भस्मव्यपोहेभ्यो ब्रह्मर्षिगणसम्मताः ॥ १०८॥
वैखानसाः समुत्पन्नास्तपःश्रुतगुणेप्सवः ।
अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ ॥ १०९॥

विभो ! अत्रैव—उन्हीं कुशसमूहोंसे एक और ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए, जिन्हें लोग 'अत्रि' कहते हैं । भस्म—राशियोंसे ब्रह्मर्षियोंद्वारा सम्मानित वैखानसोंकी उत्पत्ति हुई, जो तपस्या, शास्त्र-ज्ञान और सद्गुणोंके अभिलाषी होते हैं । अग्निके अश्रुसे दोनों अश्विनीकुमार प्रकट हुए, जो अपनी रूप-सम्पत्तिके द्वारा सर्वत्र सम्मानित हैं ॥ १०८-१०९ ॥

शेषाः प्रजानां पतयः स्रोतोभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
ऋषयो रोमकूपेभ्यः स्वेदाच्छन्दो बलान्मनः ॥ ११०॥

शेष प्रजापतिगण उनके श्रवण आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए । रोमकूपोंसे ऋषि, पसीनेसे छन्द और वीर्यसे मनकी उत्पत्ति हुई ॥ ११० ॥

एतस्मात् कारणादाहुरग्निः सर्वास्तु देवताः ।
ऋषयः श्रुतसम्पन्ना वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ १११॥

इस कारणसे शास्त्रज्ञानसम्पन्न महर्षियोंने वेदोंकी प्रामाणिकतापर दृष्टि रखते हुए अग्निको सर्वदेवमय बताया है ॥ १११ ॥

यानि दारुणि निर्यासास्ते मासाः पक्षसंज्ञिताः ।
अहोरात्रा मुहूर्ताश्च पित्तं ज्योतिश्च दारुणम् ॥ ११२॥

उस यज्ञमें जो समिधाएँ काममें ली गयीं तथा उनसे जो रस निकला, वे ही सब मास, पक्ष, दिन, रात एवं मुहूर्तरूप हो गये और अग्निका जो पित्त था, वह उग्र तेज होकर प्रकट हुआ ॥ ११२ ॥

रौद्रं लोहितमित्याहुर्लोहितात् कनकं स्मृतम् ।
तन्मैत्रमिति विज्ञेयं धूमाच्च वसवः स्मृताः ॥ ११३॥

अग्निके तेजको लोहित कहते हैं, उस लोहितसे कनक उत्पन्न हुआ । उस कनकको मैत्र जानना चाहिये तथा अग्निके धूमसे वसुओंकी उत्पत्ति बतायी गयी है ॥ ११३ ॥

अर्चिषो याश्च ते रुद्रास्तथाऽऽदित्या महाप्रभाः ।
उद्दिष्टास्ते तथाङ्गारा ये धिष्ण्येषु दिवि स्थिताः ॥ ११४॥

अग्निकी जो लपटें होती हैं, वे ही एकादश रुद्र तथा अत्यन्त तेजस्वी द्वादश आदित्य हैं तथा उस यज्ञमें जो दूसरे-दूसरे अङ्गारे थे, वे ही आकाशस्थित नक्षत्रमण्डलोंमें ज्योतिःपुञ्जके रूपमें स्थित हैं ॥ ११४ ॥

आदिकर्ता च लोकस्य तत्परं ब्रह्म तद् ध्रुवम् ।
सर्वकामदमित्याहुस्तद्रहस्यमुवाच ह ॥ ११५॥

इस लोकके जो आदि स्रष्टा हैं, उन ब्रह्माजीका कथन है कि अग्नि परब्रह्मस्वरूप हैं । वही अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है और वही सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है । यह गोपनीय रहस्य ज्ञानी पुरुष बताते हैं ॥ ११५ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवो वरुणः पवनात्मकः ।
मम सत्रमिदं दिव्यमहं गृहपतिस्त्विह ॥ ११६॥

तब वरुण एवं वायुरूप महादेवजीने कहा—'देवताओ! यह मेरा दिव्य यज्ञ है। मैं ही इस यज्ञका गृहस्थ यजमान हूँ ॥ ११६ ॥

त्रीणि पूर्वाण्यपत्यानि मम तानि न संशयः।
इति जानीत खगमा मम यज्ञफलं हि तत् ॥ ११७ ॥

'आकाशचारी देवगण! पहले जो तीन पुरुष प्रकट हुए हैं, वे भृगु, अङ्गिरा और कवि मेरे पुत्र हैं, इसमें संशय नहीं है। इस बातको तुम जान लो; क्योंकि इस यज्ञका जो कुछ फल है, उसपर मेरा ही अधिकार है' ॥ ११७ ॥

अग्निरुवाच

मदङ्गेभ्यः प्रसूतानि मदाश्रयकृतानि च।
ममैव तान्यपत्यानि वरुणो ह्यवशात्मकः ॥ ११८ ॥

अग्नि बोले—ये तीनों संतानें मेरे अङ्गोंसे उत्पन्न हुई हैं और मेरे ही आश्रयमें विधाताने इनकी सृष्टि की है। अतः ये तीनों मेरे ही पुत्र हैं। वरुणरूपधारी महादेवजीका इनपर कोई अधिकार नहीं है ॥ ११८ ॥

अथाब्रवील्लोकगुरुर्ब्रह्मा लोकपितामहः।
ममैव तान्यपत्यानि मम शुक्रं हुतं हि तत् ॥ ११९ ॥

तदनन्तर लोकपितामह लोकगुरु ब्रह्माजीने कहा—'ये सब मेरी ही संतानें हैं; क्योंकि मेरे ही वीर्यकी आहुति दी गयी है, जिससे इनकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११९ ॥

अहं कर्ता हि सत्रस्य होता शुक्रस्य चैव ह।
यस्य बीजं फलं तस्य शुक्रं चेत् कारणं मतम् ॥ १२० ॥

'मैं ही यज्ञका कर्ता और अपने वीर्यका हवन करनेवाला हूँ। जिसका बीज होता है, उसको ही उसका फल मिलता है। यदि इनकी उत्पत्तिमें वीर्यको ही कारण माना जाय तो निश्चय ही ये मेरे पुत्र हैं' ॥ १२० ॥

ततोऽब्रुवन् देवगणाः पितामहमुपेत्य वै।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे शिरोभिरभिवन्द्य च ॥ १२१ ॥

इस प्रकार विवाद उपस्थित होनेपर समस्त देवताओंने ब्रह्माजीके पास जा दोनों हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर उनको प्रणाम किया और कहा—॥ १२१ ॥

वयं च भगवन् सर्वे जगच्च सचराचरम्।
तवैव प्रसवाः सर्वे तस्मादग्निर्विभावसुः ॥ १२२ ॥
वरुणश्चेश्वरो देवो लभतां काममीप्सितम्।

'भगवन्! हम सब लोग और चराचरसहित सारा जगत् ये सब-के-सब आपकी ही संतान हैं। अतः अब ये प्रकाशमान अग्नि और ये वरुणरूपधारी ईश्वर महादेव भी अपना मनोवाञ्छित फल प्राप्त करें' ॥ १२२½ ॥

निसर्गाद् ब्रह्मणश्चापि वरुणो यादसाम्पतिः ॥ १२३ ॥
जग्राह वै भृगुं पूर्वमपत्यं सूर्यवर्चसम्।
ईश्वरोऽङ्गिरसं चाग्नेरपत्यार्थमकल्पयत् ॥ १२४ ॥

तब ब्रह्माजीकी आज्ञासे जलजन्तुओंके स्वामी वरुणरूपी भगवान् शिवने सबसे पहले सूर्यके समान तेजस्वी भृगुको पुत्ररूपमें ग्रहण किया। फिर उन्होंने ही अङ्गिराको अग्निकी संतान निश्चित किया ॥ १२३-१२४ ॥

पितामहस्त्वपत्यं वै कविं जग्राह तत्त्ववित्।
तदा स वारुणः ख्यातो भृगुः प्रसवकर्मवित् ॥ १२५ ॥
आग्नेयस्त्वङ्गिराः श्रीमान् कविर्ब्राह्मो महायशाः।
भार्गवाङ्गिरसौ लोके लोकसंतानलक्षणौ ॥ १२६ ॥

तदनन्तर तत्त्वज्ञानी ब्रह्माने कविको अपनी संतानके रूपमें ग्रहण किया। उस समय संतानके कर्तव्यको जाननेवाले महर्षि भृगु वारुण नामसे विख्यात हुए। तेजस्वी अङ्गिरा आग्नेय तथा महायशस्वी कवि ब्राह्म नामसे विख्यात हुए। भृगु और अङ्गिरा—ये दोनों लोकमें जगत्‌की सृष्टिका विस्तार करनेवाले बतलाये गये हैं ॥ १२५-१२६ ॥

एते हि प्रसवाः सर्वे प्रजानां पतयस्त्रयः।
सर्वं संतानमेतेषामिदमित्युपधारय ॥ १२७ ॥

इस प्रकार ये तीन प्रजापति हैं और शेष सब लोग इनकी संतानें हैं। यह सारा जगत् इन्हींकी संतति है, इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १२७ ॥

भृगोस्तु पुत्राः सप्तासन् सर्वे तुल्या भृगोर्गुणैः।
च्यवनो वज्रशीर्षश्च शुचिरौर्वस्तथैव च ॥ १२८ ॥
शुक्रो वरेण्यश्च विभुः सवनश्चेति सप्त ते।
भार्गवा वारुणाः सर्वे येषां वंशे भवानपि ॥ १२९ ॥

भृगुके सात पुत्र व्यापक हुए, जो उन्हींके समान गुणवान् थे। च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, शुक्र, वरेण्य तथा सवन—ये ही उन सातोंके नाम हैं। सभी भृगुवंशी सामान्यतः वारुण कहलाते हैं। जिनके वंशमें तुम भी उत्पन्न हुए हो ॥ १२८-१२९ ॥

अष्टौ चाङ्गिरसः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च पयस्यः शान्तिरेव च ॥ १३० ॥
घोरो विरूपः संवर्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः।
एतेऽष्टौ वह्निजाः सर्वे ज्ञाननिष्ठा निरामयाः ॥ १३१ ॥

अङ्गिराके आठ पुत्र हैं, वे भी वारुण कहलाते हैं (वरुणके यज्ञमें उत्पन्न होनेसे ही उनकी वारुण संज्ञा हुई है)। उनके नाम इस प्रकार हैं—बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, संवर्त और आठवाँ सुधन्वा। ये आठ अग्निके वंशमें उत्पन्न हुए हैं। अतः आग्नेय कहलाते हैं। वे सब-के-सब ज्ञाननिष्ठ एवं निरामय (रोग-शोकसे रहित) हैं ॥ १३०-१३१ ॥

ब्रह्मणस्तु कवेः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः।
अष्टौ प्रसवजैर्युक्ता गुणैर्ब्रह्मविदः शुभाः ॥१३२॥

ब्रह्माके पुत्र जो कवि हैं, उनके पुत्रोंकी भी वारुण संज्ञा है। वे आठ हैं और सभी पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं। उन्हें शुभलक्षण एवं ब्रह्मज्ञानी माना गया है ॥ १३२ ॥

कविः काव्यश्च धृष्णुश्च बुद्धिमानुशना तथा।
भृगुश्च विरजाश्चैव काशी चोग्रश्च धर्मवित् ॥१३३॥

उनके नाम ये हैं—कवि, काव्य, धृष्णु, बुद्धिमान् शुक्राचार्य, भृगु, विरजा, काशी तथा धर्मज्ञ उग्र ॥ १३३ ॥

अष्टौ कविसुता ह्येते सर्वमेभिर्जगत् ततम्।
प्रजापतय एते हि प्रजाभागैरिह प्रजाः ॥१३४॥

ये आठ कविके पुत्र हैं। इन सबके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। ये आठों प्रजापति हैं और प्रजाके गुणोंसे युक्त होनेके कारण प्रजा भी कहे गये हैं ॥ १३४ ॥

एवमङ्गिरसश्चैव कवेश्च प्रसवान्वयैः।
भृगोश्च भृगुशार्दूल वंशजैः सततं जगत् ॥१३५॥

भृगुश्रेष्ठ! इस प्रकार अङ्गिरा, कवि और भृगुके वंशजों तथा संतान-परम्पराओंसे सारा जगत् व्याप्त है ॥ १३५ ॥

वरुणश्चादितो विप्र जग्राह प्रभुरीश्वरः।
कविं तात भृगुं चापि तस्मात् तौ वारुणौ स्मृतौ॥१३६॥

विप्रवर! तात! प्रभावशाली जलेश्वर वरुणरूप शिवने पहले कवि और भृगुको पुत्ररूपसे ग्रहण किया था, इसलिये वे वारुण कहलाये ॥ १३६ ॥

जग्राहाङ्गिरसं देवः शिखी तस्माद्धुताशनः।
तस्मादाङ्गिरसा ज्ञेयाः सर्व एव तदन्वयाः ॥१३७॥

ज्वालाओंसे सुशोभित होनेवाले अग्निदेवने वरुणरूप शिवसे अङ्गिराको पुत्ररूपमें प्राप्त किया; इसलिये अङ्गिराके वंशमें उत्पन्न हुए सभी पुत्र अग्निवंशी एवं वारुण नामसे भी जानने योग्य हैं ॥ १३७ ॥

ब्रह्मा पितामहः पूर्वं देवताभिः प्रसादितः।
इमे नः संतरिष्यन्ति प्रजाभिर्जगतीश्वराः ॥१३८॥
सर्वे प्रजानां पतयः सर्वे चातितपस्विनः।
त्वत्प्रसादादिमं लोकं तारयिष्यन्ति साम्प्रतम् ॥१३९॥

पूर्वकालमें देवताओंने पितामह ब्रह्माको प्रसन्न किया और कहा—'प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे ये भृगु आदिके वंशज इस पृथ्वीका पालन करते हुए अपनी संतानोंद्वारा हमारा संकटसे उद्धार करें। ये सभी प्रजापति हों और सभी अत्यन्त तपस्वी हों। ये आपके कृपाप्रसादसे इस समय इस सम्पूर्ण लोकका संकटसे उद्धार करेंगे ॥

तथैव वंशकर्तारस्तव तेजोविवर्धनाः।
भवेयुर्वेदविदुषः सर्वे च कृतिनस्तथा ॥१४०॥

'आपकी दयासे ये सब लोग वंशप्रवर्तक, आपके तेजकी वृद्धि करनेवाले तथा वेदज्ञ पुण्यात्मा हों ॥ १४० ॥

देवपक्षचराः सौम्याः प्राजापत्या महर्षयः।
आप्नुवन्ति तपश्चैव ब्रह्मचर्यं परं तथा ॥१४१॥

'इन सबका स्वभाव सौम्य हो। प्रजापतियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ये महर्षिगण सदा देवताओंके पक्षमें रहें तथा तप और उत्तम ब्रह्मचर्यका बल प्राप्त करें ॥ १४१ ॥

सर्वे हि वयमेते च तवैव प्रसवः प्रभो।
देवानां ब्राह्मणानां च त्वं हि कर्ता पितामह ॥१४२॥

'प्रभो! पितामह! ये सब और हमलोग आपहीकी संतान हैं; क्योंकि देवताओं और ब्राह्मणोंकी सृष्टि करनेवाले आप ही हैं ॥ १४२ ॥

मारीचमादितः कृत्वा सर्वे चैवाथ भार्गवाः।
अपत्यानीति सम्प्रेक्ष्य क्षमयाम पितामह ॥१४३॥

'पितामह! कश्यपसे लेकर समस्त भृगुवंशियोंतक हम सब लोग आपहीकी संतान हैं—ऐसा सोचकर आपसे अपनी भूलोंके लिये क्षमा चाहते हैं ॥ १४३ ॥

ते त्वनेनैव रूपेण प्रजनिष्यन्ति वै प्रजाः।
स्थापयिष्यन्ति चात्मानं युगादिनिधने तथा ॥१४४॥

'वे प्रजापतिगण इसी रूपसे प्रजाओंको उत्पन्न करेंगे और सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर प्रलयपर्यन्त अपने-आपको मर्यादामें स्थापित किये रहेंगे' ॥ १४४ ॥

इत्युक्तः स तदा तैस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः।
तथेत्येवाब्रवीत् प्रीतस्तेऽपि जग्मुर्यथागतम् ॥१४५॥

देवताओंके ऐसा कहनेपर लोकपितामह ब्रह्मा प्रसन्न होकर बोले—'तथास्तु (ऐसा ही हो)।' तत्पश्चात् देवता जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये ॥ १४५ ॥

एवमेतत् पुरा वृत्तं तस्य यज्ञे महात्मनः।
देवश्रेष्ठस्य लोकादौ वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ॥१४६॥

इस प्रकार पूर्वकालमें जब कि सृष्टिके प्रारम्भका समय था, वरुण-शरीर धारण करनेवाले सुरश्रेष्ठ महात्मा रुद्रके यज्ञमें पूर्वोक्त वृत्तान्त घटित हुआ था ॥ १४६ ॥

अग्निर्ब्रह्मा पशुपतिः शर्वो रुद्रः प्रजापतिः।
अग्नेरपत्यमेतद् वै सुवर्णमिति धारणा ॥१४७॥

अग्नि ही ब्रह्मा, पशुपति, शर्व, रुद्र और प्रजापतिरूप हैं। यह सुवर्ण अग्निकी ही संतान है—ऐसी सबकी मान्यता है ॥ १४७ ॥

अग्न्यभावे च कुरुते वह्निस्थानेषु काञ्चनम्।
जामदग्न्य प्रमाणज्ञो वेदश्रुतिनिदर्शनात् ॥१४८॥

जमदग्निनन्दन परशुराम ! वेद-प्रमाणका ज्ञाता पुरुष वैदिक श्रुतिके दृष्टान्तके अनुसार अग्निके अभावमें उसके स्थानपर सुवर्णका उपयोग करता है ॥ १४८ ॥

कुशस्तम्बे जुहोत्यग्निं सुवर्णे तत्र च स्थिते ।
वल्मीकस्य वपायां च कर्णे वाजस्य दक्षिणे ॥१४९॥
शकटोर्व्यां परस्याप्सु ब्राह्मणस्य करे तथा ।
हुते प्रीतिकरीमृद्धिं भगवांस्तत्र मन्यते ॥१५०॥

कुशोंके समूहपर, उसपर रखे हुए सुवर्णपर, बाँबीके छिद्र-में, बकरेके दाहिने कानपर, जिस मार्गसे छकड़ा आता-जाता हो उस भूमिपर, दूसरेके जलाशयमें तथा ब्राह्मणके हाथपर वैदिक प्रमाण माननेवाले पुरुष अग्निस्वरूप मानकर होम आदि कर्म करते हैं और वह होमकार्य सम्पन्न होनेपर भगवान् अग्निदेव आनन्ददायिनी समृद्धिका अनुभव करते हैं ॥ १४९-१५० ॥

तस्मादग्निपराः सर्वे देवता इति शुश्रुम ।
ब्रह्मणो हि प्रभूतोऽग्निरग्नेरपि च काञ्चनम् ॥१५१॥

अतः सब देवताओंमें अग्नि ही श्रेष्ठ हैं । यह हमने सुना है । ब्रह्मासे अग्निकी उत्पत्ति भी है और अग्निसे सुवर्णकी ॥

तस्माद् ये वै प्रयच्छन्ति सुवर्णं धर्मदर्शिनः ।
देवतास्ते प्रयच्छन्ति समस्ता इति नः श्रुतम् ॥१५२॥

इसलिये जो धर्मदर्शी पुरुष सुवर्णका दान करते हैं; वे समस्त देवताओंका ही दान करते हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १५२ ॥

तस्य चातमसो लोका गच्छतः परमां गतिम् ।
स्वर्लोके राजराज्येन सोऽभिषिच्येत भार्गव ॥१५३॥

सुवर्णदाता जो परमगतिको प्राप्त होता है, उसे अन्धकार-रहित ज्योतिर्मय लोक मिलते हैं । भृगुनन्दन ! स्वर्गलोकमें उसका राजाधिराज (कुबेर) के पदपर अभिषेक किया जाता है ॥ १५३ ॥

आदित्योदयसम्प्राप्ते विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
ददाति काञ्चनं यो वै दुःस्वप्नं प्रतिहन्ति सः ॥१५४॥

जो सूर्योदय-कालमें विधिपूर्वक मन्त्र पढ़कर सुवर्णका दान करता है, वह अपने पाप और दुःस्वप्नको नष्ट कर डालता है ॥ १५४ ॥

ददात्युदितमात्रे यस्तस्य पाप्मा विधूयते ।
मध्याह्ने ददतो रुक्मं हन्ति पापमनागतम् ॥१५५॥

सूर्योदयके समय जो सुवर्णदान करता है, उसका सारा पाप धुल जाता है तथा जो मध्याह्नकालमें सोना दान करता है, वह अपने भविष्य पापोंका नाश कर देता है ॥ १५५ ॥

ददाति पश्चिमां संध्यां यः सुवर्णं यतव्रतः ।
ब्रह्मवाय्वग्निसोमानां सालोक्यमुपयाति सः ॥१५६॥

जो सायं संध्याके समय व्रतका पालन करते हुए सुवर्ण दान देता है, वह ब्रह्मा, वायु, अग्नि और चन्द्रमाके लोकों-में जाता है ॥ १५६ ॥

सेन्द्रेषु चैव लोकेषु प्रतिष्ठां विन्दते शुभाम् ।
इह लोके यशः प्राप्य शान्तपाप्मा च मोदते ॥१५७॥

इन्द्रसहित सभी लोकपालोंके लोकोंमें उसे शुभ सम्मान प्राप्त होता है । साथ ही वह इस लोकमें यशस्वी एवं पापरहित होकर आनन्द भोगता है ॥ १५७ ॥

ततः सम्पद्यतेऽन्येषु लोकेष्वप्रतिमः सदा ।
अनावृतगतिश्चैव कामचारो भवत्युत ॥१५८॥

मृत्युके पश्चात् जब वह परलोकमें जाता है, तब वहाँ अनुपम पुण्यात्मा समझा जाता है । कहीं भी उसकी गतिका प्रतिरोध नहीं होता और वह इच्छानुसार जहाँ चाहता है, विचरता रहता है ॥ १५८ ॥

न च क्षरति तेभ्यश्च यशश्चैवाप्नुते महत् ।
सुवर्णमक्षयं दत्त्वा लोकांश्चाप्नोति पुष्कलान् ॥१५९॥

सुवर्ण अक्षय द्रव्य है, उसका दान करनेवाले मनुष्यको पुण्यलोकोंसे नीचे नहीं आना पड़ता । संसारमें उसे महान् यशकी प्राप्ति होती है तथा परलोकमें उसे अनेक समृद्धिशाली पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ॥ १५९ ॥

यस्तु संजनयित्वाग्निमादित्योदयनं प्रति ।
दद्याद् वै व्रतमुद्दिश्य सर्वकामान् समश्नुते ॥१६०॥

जो मनुष्य सूर्योदयके समय अग्नि प्रकट करके किसी व्रतके उद्देश्यसे सुवर्णदान करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ १६० ॥

अग्निमित्येव तत् प्राहुः प्रदानं च सुखावहम् ।
यथेष्टगुणसंवृत्तं प्रवर्तकमिति स्मृतम् ॥१६१॥

सुवर्णको अग्निस्वरूप ही कहते हैं । उसका दान सुख देनेवाला होता है । वह यथेष्ट पुण्यको उत्पन्न करनेवाला और दानेच्छाका प्रवर्तक माना गया है ॥ १६१ ॥

एषा सुवर्णस्योत्पत्तिः कथिता ते मयानघ ।
कार्तिकेयस्य च विभो तद् विद्धि भृगुनन्दन ॥१६२॥

प्रभो ! निष्पाप भृगुनन्दन ! यह मैंने तुम्हें सुवर्ण और कार्तिकेयकी उत्पत्ति बतायी है । इसे अच्छी तरह समझ लो ॥ १६२ ॥

कार्तिकेयस्तु संवृद्धः कालेन महता तदा ।
देवैः सेनापतित्वेन वृतः सेन्द्रैर्भृगूद्वह ॥१६३॥

भृगुश्रेष्ठ ! कार्तिकेय जब दीर्घकालमें बड़े हुए, तब इन्द्र आदि देवताओंने उनका अपने सेनापतिके पदपर वरण किया ॥ १६३ ॥

जघान तारकं चापि दैत्यमन्यांस्तथासुरान् ।
त्रिदशेन्द्राज्ञया ब्रह्मँल्लोकानां हितकाम्यया ॥१६४॥

ब्रह्मन् ! उन्होंने लोकोंके हितकी कामना एवं देवराज इन्द्रकी आज्ञासे प्रेरित हो तारकासुर तथा अन्य दैत्योंका संहार कर डाला ॥ १६४ ॥

सुवर्णदाने च मया कथितास्ते गुणा विभो ।
तस्मात् सुवर्णं विप्रेभ्यः प्रयच्छ ददतां वर ॥१६५॥

प्रभो ! दाताओंमें श्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सुवर्णदान-का माहात्म्य बताया है। इसलिये अब तुम ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान करो ॥ १६५ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स वसिष्ठेन जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
ददौ सुवर्णं विप्रेभ्यो व्यमुच्यत च किल्बिषात् ॥१६६॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी परशुरामजीने ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान किया। इससे वे सब पापोंसे छुटकारा पा गये ॥ १६६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं सुवर्णस्य महीपते ।
प्रदानस्य फलं चैव जन्म चास्य युधिष्ठिर ॥१६७॥

राजा युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सुवर्णकी उत्पत्ति और उसके दानका फल यह सब कुछ बता दिया ॥१६७॥

तस्मात् त्वमपि विप्रेभ्यः प्रयच्छ कनकं बहु ।
ददत्सुवर्णं नृपते किल्बिषाद् विप्रमोक्ष्यसि ॥१६८॥

अतः नरेश्वर ! अब तुम भी ब्राह्मणोंको बहुत-सा सुवर्ण दान करो । सुवर्ण दान करके तुम पापसे मुक्त हो जाओगे ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णोत्पत्तिर्नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्णकी उत्पत्तिविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

कार्तिकेयकी उत्पत्ति, पालन-पोषण और उनका देवसेनापति-पदपर अभिषेक, उनके द्वारा तारकासुरका वध

युधिष्ठिर उवाच

उक्ताः पितामहेनेह सुवर्णस्य विधानतः ।
विस्तरेण प्रदानस्य ये गुणाः श्रुतिलक्षणाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! सुवर्णका विधिपूर्वक दान करनेसे जो वेदोक्त फल प्राप्त होते हैं, यहाँ उनका आपने विस्तारपूर्वक वर्णन किया ॥ १ ॥

यत्तु कारणमुत्पत्तेः सुवर्णस्य प्रकीर्तितम् ।
स कथं तारकः प्राप्तो निधनं तद् ब्रवीहि मे ॥ २ ॥

सुवर्णकी उत्पत्तिका जो कारण है, वह भी आपने बताया । अब मुझे यह बताइये कि वह तारकासुर कैसे मारा गया ? ॥ २ ॥

उक्तं स देवतानां हि अवध्य इति पार्थिव ।
कथं तस्याभवन्मृत्युर्विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३ ॥

पृथ्वीनाथ ! आपने पहले कहा है कि वह देवताओंके लिये अवध्य था, फिर उसकी मृत्यु कैसे हुई ? यह विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः कुरुकुलोद्वह ।
कार्त्स्न्येन तारकवधं परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥

कुरुकुलका भार वहन करनेवाले पितामह ! मैं आपके मुखसे यह तारक-वधका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

विपन्नकृत्या राजेन्द्र देवता ऋषयस्तथा ।
कृत्तिकाश्चोदयामासुरपत्यभरणाय वै ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! जब गङ्गाजीने अग्नि-द्वारा स्थापित किये हुए उस गर्भको त्याग दिया, तब देवताओं और ऋषियोंका बना-बनाया काम बिगड़नेकी स्थितिमें आ गया । उस दशामें उन्होंने उस गर्भके भरण-पोषणके लिये छहों कृत्तिकाओंको प्रेरित किया ॥ ५ ॥

न देवतानां काचिद्धि समर्था जातवेदसः ।
एता हि शक्तास्तं गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६ ॥

कारण यह था कि देवाङ्गनाओंमें दूसरी कोई स्त्री अग्नि एवं रुद्रके उस तेजका भरण-पोषण करनेमें समर्थ नहीं थी और ये कृत्तिकाएँ अपनी शक्तिसे उस गर्भको भलीभाँति धारण-पोषण कर सकती थीं ॥ ६ ॥

षण्णां तासां ततः प्रीतः पावको गर्भधारणात् ।
स्वेन तेजोविसर्गेण वीर्येण परमेण च ॥ ७ ॥

अपने तेजके स्थापन और उत्तम वीर्यके ग्रहणद्वारा गर्भ धारण करनेके कारण अग्निदेव उन छहों कृत्तिकाओंपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ७ ॥

तास्तु षट् कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः ।
षट्सु वर्त्मसु तेजोऽग्नेः सकलं निहितं प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो ! उन छहों कृत्तिकाओंने अग्निके उस गर्भका

पोषण किया। अग्निका वह सारा तेज छः मार्गोंसे उनके भीतर स्थापित हो चुका था ॥ ८ ॥

ततस्ता वर्धमानस्य कुमारस्य महात्मनः।
तेजसाभिपरीताङ्ग्यो न क्वचिच्छर्म लेभिरे ॥ ९ ॥

गर्भमें जब वह महामना कुमार बढ़ने लगा, तब उसके तेजसे उनका सारा अङ्ग व्याप्त होनेके कारण वे कृत्तिकाएँ कहीं चैन नहीं पाती थीं ॥ ९ ॥

ततस्तेजःपरीताङ्ग्यः सर्वाः काल उपस्थिते।
समं गर्भं सुषुविरे कृत्तिकास्तं नरर्षभ ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ! तदनन्तर तेजसे व्याप्त अङ्गवाली उन समस्त कृत्तिकाओंने प्रसवकाल उपस्थित होनेपर एक साथ ही उस गर्भको उत्पन्न किया ॥ १० ॥

ततस्तं षडधिष्ठानं गर्भमेकत्वमागतम्।
पृथिवी प्रतिजग्राह कार्तस्वरसमीपतः ॥ ११ ॥

छः अधिष्ठानोंमें पला हुआ वह गर्भ जब उत्पन्न होकर एकत्वको प्राप्त हो गया, तब सुवर्णके समीप स्थित हुए उस बालकको पृथ्वीने ग्रहण किया ॥ ११ ॥

स गर्भो दिव्यसंस्थानो दीप्तिमान् पावकप्रभः।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधे प्रियदर्शनः ॥ १२ ॥

वह कान्तिमान् शिशु अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उसके शरीरकी आकृति दिव्य थी। वह देखनेमें बहुत ही प्रिय जान पड़ता था। वह दिव्य सरकंडेके वनमें जन्म ग्रहण करके दिनोंदिन बढ़ने लगा ॥ १२ ॥

ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालमर्कसमद्युतिम्।
जातस्नेहाच्च सौहार्दात् पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ १३ ॥

कृत्तिकाओंने देखा वह बालक अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है। इससे उनके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और वे सौहार्दवश अपने स्तनोंका दूध पिलाकर उसका पोषण करने लगीं ॥ १३ ॥

अभवत् कार्तिकेयः स त्रैलोक्ये सचराचरे।
स्कन्नत्वात् स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद् गुहोऽभवत् ॥ १४ ॥

इसीसे चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें वह कार्तिकेयके नामसे प्रसिद्ध हुआ। स्कन्दन (स्खलन) के कारण वह 'स्कन्द' कहलाया और गुहामें वास करनेसे 'गुह' नामसे विख्यात हुआ ॥ १४ ॥

ततो देवास्त्रयस्त्रिंशद् दिशश्च सदिगीश्वराः।
रुद्रो धाता च विष्णुश्च यमः पूषार्यमा भगः ॥ १५ ॥
अंशो मित्रश्च साध्याश्च वासवो वसवोऽश्विनौ।
आपो वायुर्नभश्चन्द्रो नक्षत्राणि ग्रहा रविः ॥ १६ ॥
पृथग्भूतानि चान्यानि यानि देवार्पणानि वै।
आजग्मुस्तेऽद्भुतं द्रष्टुं कुमारं ज्वलनात्मजम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर तैंतीस देवता, दसों दिशाएँ, दिक्पाल, रुद्र, धाता, विष्णु, यम, पूषा, अर्यमा, भग, अंश, मित्र, साध्य, वसु, वासव (इन्द्र), अश्विनीकुमार, जल (वरुण), वायु, आकाश, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रहगण, रवि तथा दूसरे-दूसरे विभिन्न प्राणी जो देवताओंके आश्रित थे, सब-के-सब उस अद्भुत अग्निपुत्र 'कुमार' को देखनेके लिये वहाँ आये ॥ १५–१७ ॥

ऋषयस्तुष्टुवुश्चैव गन्धर्वाश्च जगुस्तथा।
षडाननं कुमारं तु द्विषडक्षं द्विजप्रियम् ॥ १८ ॥
पीनांसं द्वादशभुजं पावकादित्यवर्चसम्।
शयानं शरगुल्मस्थं दृष्ट्वा देवाः सहर्षिभिः ॥ १९ ॥
लेभिरे परमं हर्षं मेनिरे चासुरं हतम्।
ततो देवाः प्रियाण्यस्य सर्वे एव समाहरन् ॥ २० ॥

ऋषियोंने स्तुति की और गन्धर्वोंने उनका यश गाया। ब्राह्मणोंके प्रेमी उस कुमारके छः मुख, बारह नेत्र, बारह भुजाएँ, मोटे कंधे और अग्नि तथा सूर्यके समान कान्ति थी। वे सरकण्डोंके झुरमुटमें सो रहे थे। उन्हें देखकर ऋषियोंसहित देवताओंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ और यह विश्वास हो गया कि अब तारकासुर मारा जायगा। तदनन्तर सब देवता उन्हें उनकी प्रिय वस्तुएँ भेंट करने लगे ॥ १८–२० ॥

क्रीडतः क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणाश्च ह।
सुपर्णोऽस्य ददौ पुत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम् ॥ २१ ॥

पक्षियोंने खेल-कूदमें लगे हुए कुमारको खिलौने दिये, गरुडने विचित्र पङ्खोंसे सुशोभित अपना पुत्र मयूर भेंट किया ॥

राक्षसाश्च ददुस्तस्मै वराहमहिषावुभौ।
कुक्कुटं चाग्निसंकाशं प्रददावरुणः स्वयम् ॥ २२ ॥

राक्षसोंने सूअर और भैंसा—ये दो पशु उन्हें उपहार-रूपमें दिये। गरुडके भाई अरुणने अग्निके समान लाल वर्णवाला एक मुर्गा भेंट किया ॥ २२ ॥

चन्द्रमाः प्रददौ मेषमादित्यो रुचिरां प्रभाम्।
गवां माता च गा देवी ददौ शतसहस्रशः ॥ २३ ॥

चन्द्रमाने भेड़ा दिया, सूर्यने मनोहर कान्ति प्रदान की, गोमाता सुरभि देवीने एक लाख गौएँ प्रदान कीं ॥ २३ ॥

छागमग्निर्गुणोपेतमिला पुष्पफलं बहु।
सुधन्वा शकटं चैव रथं चामितकूबरम् ॥ २४ ॥

अग्निने गुणवान् बकरा, इलाने बहुतसे फल-फूल, सुधन्वाने छकड़ा और विशाल कूबरसे युक्त रथ दिये ॥ २४ ॥

वरुणो वारुणान् दिव्यान् सगजान् प्रददौ शुभान्।
सिंहान् सुरेन्द्रो व्याघ्रांश्च द्विपानन्यांश्च पक्षिणः ॥ २५ ॥
श्वापदांश्च बहून् घोरांश्छत्राणि विविधानि च।

वरुणने वरुणलोकके अनेक सुन्दर एवं दिव्य हाथी

दिये। देवराज इन्द्रने सिंह, व्याघ्र, हाथी, अन्यान्य पक्षी, बहुत-से भयानक हिंसक जीव तथा नाना प्रकारके छत्र भेंट किये ॥ २५½ ॥

राक्षसासुरसंघाश्च अनुजग्मुस्तमीश्वरम् ॥ २६ ॥
वर्धमानं तु तं दृष्ट्वा प्रार्थयामास तारकः।
उपायैर्बहुभिर्हन्तुं नाशकच्चापि तं विभुम् ॥ २७ ॥

राक्षसों और असुरोंका समुदाय उन शक्तिशाली कुमारके अनुगामी हो गये। उन्हें बढ़ते देख तारकासुरने युद्धके लिये ललकारा; परंतु अनेक उपाय करके भी वह उन प्रभावशाली कुमारको मारनेमें सफल न हो सका ॥ २६-२७ ॥

सैनापत्येन तं देवाः पूजयित्वा गुहालयम्।
शशंसुर्विप्रकारं तं तस्मै तारककारितम् ॥ २८ ॥

देवताओंने गुहावासी कुमारकी पूजा करके उनका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया और तारकासुरने देवताओंपर जो अत्याचार किया था, सो कह सुनाया ॥ २८ ॥

स विवृद्धो महावीर्यो देवसेनापतिः प्रभुः।
जघानामोघया शक्त्या दानवं तारकं गुहः ॥ २९ ॥

महापराक्रमी देवसेनापति प्रभु गुहने वृद्धिको प्राप्त होकर अपनी अमोघ शक्तिसे तारकासुरका वध कर डाला ॥

तेन तस्मिन् कुमारेण क्रीडता निहतेऽसुरे।
सुरेन्द्रः स्थापितो राज्ये देवानां पुनरीश्वरः ॥ ३० ॥

खेल-खेलमें ही उन अग्निकुमारके द्वारा जब तारकासुर मार डाला गया, तब ऐश्वर्यशाली देवेन्द्र पुनः देवताओंके राज्यपर प्रतिष्ठित किये गये ॥ ३० ॥

स सेनापतिरेवाथ बभौ स्कन्दः प्रतापवान्।
ईशो गोप्ता च देवानां प्रियकृच्छङ्करस्य च ॥ ३१ ॥

प्रतापी स्कन्द सेनापतिके ही पदपर रहकर बड़ी शोभा पाने लगे। वे देवताओंके ईश्वर तथा संरक्षक थे और भगवान् शङ्करका सदा ही हित किया करते थे ॥ ३१ ॥

हिरण्यमूर्तिर्भगवानेष एव च पावकिः।
सदा कुमारो देवानां सैनापत्यमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥

ये अग्निपुत्र भगवान् स्कन्द सुवर्णमय विग्रह धारण करते हैं। वे नित्य कुमारावस्थामें ही रहकर देवताओंके सेनापति-पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ ३२ ॥

तस्मात् सुवर्णं मङ्गल्यं रत्नमक्षय्यमुत्तमम्।
सहजं कार्तिकेयस्य वह्नेस्तेजः परं मतम् ॥ ३३ ॥

सुवर्ण कार्तिकेयजीके साथ ही उत्पन्न हुआ है और अग्निका उत्कृष्ट तेज माना गया है। इसलिये वह मङ्गलमय, अक्षय एवं उत्तम रत्न है ॥ ३३ ॥

एवं रामाय कौरव्य वसिष्ठोऽकथयत् पुरा।
तस्मात् सुवर्णदानाय प्रयतस्व नराधिप ॥ ३४ ॥

कुरुनन्दन! नरेश्वर! इस प्रकार पूर्वकालमें वसिष्ठजीने परशुरामजीको यह सारा प्रसङ्ग एवं सुवर्णकी उत्पत्ति और माहात्म्य सुनाया था। अतः तुम सुवर्णदानके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

रामः सुवर्णं दत्त्वा हि विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः।
त्रिविष्टपे महत् स्थानमवापासुलभं नरैः ॥ ३५ ॥

परशुरामजी सुवर्णका दान करके सब पापोंसे मुक्त हो गये और स्वर्गमें उस महान् स्थानको प्राप्त हुए, जो दूसरे मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि तारकवधोपाख्यानं नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें तारकवधका उपाख्यान नामक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विविध तिथियोंमें श्राद्ध करनेका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्मात्मन् धर्माः प्रोक्ता यथा त्वया।
तथैव मे श्राद्धविधिं कृत्स्नं प्रब्रूहि पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—धर्मात्मन्! पृथ्वीनाथ! आपने जैसे चारों वर्णोंके धर्म बताये हैं, उसी प्रकार अब मेरे लिये श्राद्धविधिका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो भीष्मः शान्तनवस्तदा।
इमं श्राद्धविधिं कृत्स्नं वक्तुं समुपचक्रमे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—(जनमेजय!) राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने इस सम्पूर्ण श्राद्धविधिका इस प्रकार वर्णन आरम्भ किया ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्छ्राद्धकर्मविधिं शुभम्।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयं पितृयज्ञं परंतप ॥ ३ ॥

भीष्मजी बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तुम श्राद्ध-कर्मके शुभ विधिको सावधान होकर सुनो। यह

धन, यश और पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे पितृयज्ञ कहते हैं ॥ ३ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
पिशाचकिन्नराणां च पूज्या वै पितरः सदा ॥ ४ ॥

देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पिशाच और किन्नर—इन सबके लिये पितर सदा ही पूज्य हैं ॥ ४ ॥

पितॄन् पूज्यादितः पश्चाद्देवतास्तर्पयन्ति वै।
तस्मात् तान् सर्वयत्नेन पुरुषः पूजयेत् सदा ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष पहले पितरोंकी पूजा करके पीछे देवताओं-की पूजा करते हैं। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह सदा सम्पूर्ण यत्नोंके द्वारा पितरोंकी पूजा करे ॥ ५ ॥

अन्वाहार्यं महाराज पितॄणां श्राद्धमुच्यते।
तस्माद् विशेषविधिना विधिः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

महाराज ! पितरोंके श्राद्धको अन्वाहार्य कहते हैं। अतः विशेष विधिके द्वारा उसका अनुष्ठान पहले करना चाहिये ॥

सर्वेष्वहःसु प्रीयन्ते कृते श्राद्धे पितामहाः।
प्रवक्ष्यामि तु ते सर्वांस्तिथ्यातिथ्यगुणागुणान् ॥ ७ ॥

सभी दिनोंमें श्राद्ध करनेसे पितर प्रसन्न रहते हैं। अब मैं तिथि और अतिथिके सब गुणागुणका वर्णन करूँगा ॥७॥

येष्वहःसु कृतैः श्राद्धैर्यत् फलं प्राप्यतेऽनघ।
तत् सर्वं कीर्तयिष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! जिन दिनोंमें श्राद्ध करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह सब मैं यथार्थरूपसे बताऊँगा, ध्यान देकर सुनो ॥ ८ ॥

पितॄनर्च्य प्रतिपदि प्राप्नुयात् सुगृहे स्त्रियः।
अभिरूपप्रजायिन्यो दर्शनीया बहुप्रजाः ॥ ९ ॥

प्रतिपदा तिथिको पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य अपने उत्तम गृहमें मनके अनुरूप सुन्दर एवं बहुसंख्यक संतानों-को जन्म देनेवाली दर्शनीय भार्या प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

स्त्रियो द्वितीयां जायन्ते तृतीयायां तु वाजिनः।
चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवो भवन्ति बहवो गृहे ॥ १० ॥

द्वितीयाको श्राद्ध करनेसे कन्याओंका जन्म होता है। तृतीयाके श्राद्धसे घोड़ोंकी प्राप्ति होती है, चतुर्थीको पितरोंका श्राद्ध किया जाय तो घरमें बहुत-से छोटे-छोटे पशुओंकी संख्या बढ़ती है ॥ १० ॥

पञ्चम्यां बहवः पुत्रा जायन्ते कुर्वतां नृप।
कुर्वाणास्तु नराः षष्ठ्यां भवन्ति द्युतिभागिनः ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! पञ्चमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषोंके बहुत-से पुत्र होते हैं। षष्ठीको श्राद्ध करनेवाले मनुष्य कान्तिके भागी होते हैं ॥ ११ ॥

कृषिभागी भवेच्छ्राद्धं कुर्वाणः सप्तमीं नृप।
अष्टम्यां तु प्रकुर्वाणो वाणिज्ये लाभमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

राजन् ! सप्तमीको श्राद्ध करनेवाला मनुष्य कृषिकर्ममें लाभ उठाता है और अष्टमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषको व्यापारमें लाभ होता है ॥ १२ ॥

नवम्यां कुर्वतः श्राद्धं भवत्येकशफं बहु।
विवर्धन्ते तु दशमीं गावः श्राद्धानि कुर्वतः ॥ १३ ॥

नवमीको श्राद्ध करनेवाले पुरुषके यहाँ एक खुरवाले घोड़े आदि पशुओंकी बहुतायत होती है और दशमीको श्राद्ध करनेवाले मनुष्यके घरमें गौओंकी वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

कुप्यभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वन्नेकादशीं नृप।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते तस्य वेश्मनि ॥ १४ ॥

महाराज ! एकादशीको श्राद्ध करनेवाला मानव सोने-चाँदीको छोड़कर शेष सभी प्रकारके धनका भागी होता है। उसके घरमें ब्रह्मतेजसे सम्पन्न पुत्र जन्म लेते हैं ॥ १४ ॥

द्वादश्यामीहमानस्य नित्यमेव प्रदृश्यते।
रजतं बहुवित्तं च सुवर्णं च मनोरमम् ॥ १५ ॥

द्वादशीको श्राद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषको सदा ही मनोरम सुवर्ण, चाँदी तथा बहुत-से धनकी प्राप्ति होती देखी जाती है ॥ १५ ॥

ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठः कुर्वञ्छ्राद्धं त्रयोदशीम्।
अवश्यं तु युवानोऽस्य प्रमीयन्ते नरा गृहे ॥ १६ ॥
युद्धभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं चतुर्दशीम्।
अमावास्यां तु निर्वापात् सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ १७ ॥

त्रयोदशीको श्राद्ध करनेवाला पुरुष अपने कुटुम्बी जनोंमें श्रेष्ठ होता है; परंतु जो चतुर्दशीको श्राद्ध करता है, उसके घरमें नवयुवकोंकी मृत्यु अवश्य होती है तथा श्राद्ध करने-वाला मनुष्य स्वयं भी युद्धका भागी होता है (इसलिये चतुर्दशीको श्राद्ध नहीं करना चाहिये)। अमावास्याको श्राद्ध करनेसे वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धकर्मणि तिथ्यस्तु प्रशस्ता न तथेतराः ॥ १८ ॥

कृष्ण-पक्षमें केवल चतुर्दशीको छोड़कर दशमीसे लेकर अमावास्यातककी सभी तिथियाँ श्राद्धकर्ममें जैसे प्रशस्त मानी गयी हैं, वैसे दूसरी प्रतिपदासे नवमीतक नहीं ॥ १८ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ १९ ॥

जैसे पूर्व (शुक्ल) पक्षकी अपेक्षा अपर (कृष्ण) पक्ष श्राद्धके लिये श्रेष्ठ माना है, उसी प्रकार पूर्वाह्णकी अपेक्षा अपराह्ण उत्तम माना जाता है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

श्राद्धमें पितरोंके तृप्तिविषयका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंस्विद् दत्तं पितृभ्यो वै भवत्यक्षयमीश्वर।
किं हविश्चिररात्राय किमानन्त्याय कल्पते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पितरोंके लिये दी हुई कौन-सी वस्तु अक्षय होती है ? किस वस्तुके दानसे पितर अधिक दिनतक और किसके दानसे अनन्त कालतक तृप्त रहते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हवींषि श्राद्धकल्पे तु यानि श्राद्धविदो विदुः।
तानि मे श्रृणु काम्यानि फलं चैव युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! श्राद्धवेत्ताओंने श्राद्ध-कल्पमें जो हविष्य नियत किये हैं, वे सब-के-सब काम्य हैं। मैं उनका तथा उनके फलका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैस्तथा।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते श्राद्धेन पितरो नृप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! तिल, व्रीहि, जौ, उड़द, जल और फल-मूलके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरोंको एक मासतक तृप्ति बनी रहती है॥

वर्धमानतिलं श्राद्धमक्षयं मनुरब्रवीत्।
सर्वेष्वेव तु भोज्येषु तिलाः प्राधान्यतः स्मृताः॥ ४ ॥

मनुजीका कथन है कि जिस श्राद्धमें तिलकी मात्रा अधिक रहती है, वह श्राद्ध अक्षय होता है। श्राद्ध-सम्बन्धी सम्पूर्ण भोज्य-पदार्थोंमें तिलोंका प्रधानरूपसे उपयोग बताया गया है ॥ ४ ॥

गव्येन दत्तं श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते।
यथा गव्यं तथा युक्तं पायसं सर्पिषा सह ॥ ५ ॥

यदि श्राद्धमें गायका दही दान किया जाय तो उससे पितरोंको एक वर्षतक तृप्ति होती बतायी गयी है। गायके दहीका जैसा फल बताया गया है, वैसा ही घृतमिश्रित खीरका भी समझना चाहिये ॥ ५ ॥

गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा मय्यभ्यभाषत ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें पितरोंद्वारा गायी हुई गाथाका भी विज्ञ पुरुष गान करते हैं। पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमार-ने मुझे यह गाथा बतायी थी ॥ ६ ॥

अपि नः स्वकुले जायाद् यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
मघासु सर्पिःसंयुक्तं पायसं दक्षिणायने ॥ ७ ॥

पितर कहते हैं—'क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा पुरुष उत्पन्न होगा, जो दक्षिणायनमें आश्विन मासके कृष्णपक्षमें मघा और त्रयोदशी तिथिका योग होनेपर हमारे लिये घृत-मिश्रित खीरका दान करेगा ? ॥ ७ ॥

आजेन वापि लौहेन मघास्वेव यतव्रतः।
हस्तिच्छायासु विधिवत् कर्णव्यजनवीजितम् ॥ ८ ॥

'अथवा वह नियमपूर्वक व्रतका पालन करके मघा नक्षत्रमें ही हाथीके शरीरकी छायामें बैठकर उसके कानरूपी व्यजनसे हवा लेता हुआ अन्न-विशेष-चावलका बना हुआ पायस या लौहशाकसे विधिपूर्वक हमारा श्राद्ध करेगा ? ॥ ८ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वटः ॥ ९ ॥

'बहुत-से पुत्र पानेकी अभिलाषा रखनी चाहिये, उनमेंसे यदि एक भी उस गया-तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात अक्षयवट विद्यमान है, जो श्राद्धके फलको अक्षय बनाने-वाला है ॥ ९ ॥

आपो मूलं फलं मांसमन्नं वापि पितृक्षये।
यत् किंचिन्मधुसम्मिश्रं तदानन्त्याय कल्पते ॥ १० ॥

'पितरोंकी क्षय-तिथिको जल, मूल, फल, उसका गूदा और अन्न आदि जो कुछ भी मधुमिश्रित करके दिया जाता है, वह उन्हें अनन्तकालतक तृप्ति देनेवाला है' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पेऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

विभिन्न नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेका फल

भीष्म उवाच

यमस्तु यानि श्राद्धानि प्रोवाच शशविन्दवे।
तानि मे श्रृणु काम्यानि नक्षत्रेषु पृथक् पृथक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यमने राजा शशविन्दुको भिन्न-भिन्न नक्षत्रोंमें किये जानेवाले जो काम्य श्राद्ध बताये हैं; उनका वर्णन मुझसे सुनो ॥ १ ॥

श्राद्धं यः कृत्तिकायोगे कुर्वीत सततं नरः।
अग्नीनाधाय सापत्यो यजेत विगतज्वरः ॥ २ ॥

जो मनुष्य सदा कृत्तिका नक्षत्रके योगमें अग्निकी स्थापना करके पुत्रसहित श्राद्ध या पितरोंका यजन करता है, वह रोग और चिन्तासे रहित हो जाता है ॥ २ ॥

अपत्यकामो रोहिण्यां तेजस्कामो मृगोत्तमे।
क्रूरकर्मा ददच्छ्राद्धमार्द्रायां मानवो भवेत् ॥ ३ ॥

संतानकी इच्छावाला पुरुष रोहिणीमें और तेजकी कामनावाला पुरुष मृगशिरा नक्षत्रमें श्राद्ध करे। आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्धका दान देनेवाला मनुष्य क्रूरकर्मा होता है (इसलिये आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्ध नहीं करना चाहिये) ॥ ३ ॥

धनकामो भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं पुनर्वसौ।
पुष्टिकामोऽथ पुष्येण श्राद्धमीहेत मानवः ॥ ४ ॥

धनकी इच्छावाले पुरुषको पुनर्वसु नक्षत्रमें श्राद्ध करना चाहिये। पुष्टिकी कामनावाला पुरुष पुष्यनक्षत्रमें श्राद्ध करे॥

आश्लेषायां ददच्छ्राद्धं धीरान् पुत्रान् प्रजायते।
ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठो मघासु श्राद्धमावपन् ॥ ५ ॥

आश्लेषामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष धीर पुत्रोंको जन्म देता है। मघामें श्राद्ध एवं पिण्डदान करनेवाला मनुष्य अपने कुटुम्बी जनोंमें श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

फल्गुनीषु ददच्छ्राद्धं सुभगः श्राद्धदो भवेत्।
अपत्यभागुत्तरासु हस्तेन फलभाग् भवेत् ॥ ६ ॥

पूर्वाफाल्गुनीमें श्राद्धका दान देनेवाला मानव सौभाग्यशाली होता है। उत्तराफाल्गुनीमें श्राद्ध करनेवाला संतानवान् और हस्तनक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला अभीष्ट फलका भागी होता है ॥ ६ ॥

चित्रायां तु ददच्छ्राद्धं लभेद् रूपवतः सुतान्।
स्वातियोगे पितॄनर्च्य वाणिज्यमुपजीवति ॥ ७ ॥

चित्रामें श्राद्धका दान करनेवाले पुरुषको रूपवान् पुत्र प्राप्त होते हैं। स्वातीके योगमें पितरोंकी पूजा करनेवाला वाणिज्यसे जीवन-निर्वाह करता है ॥ ७ ॥

बहुपुत्रो विशाखासु पुत्रमीहन् भवेन्नरः।
अनुराधासु कुर्वाणो राजचक्रं प्रवर्तयेत् ॥ ८ ॥

विशाखामें श्राद्ध करनेवाला मनुष्य यदि पुत्र चाहता हो तो बहुसंख्यक पुत्रोंसे सम्पन्न होता है। अनुराधामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष दूसरे जन्ममें राजमण्डलका शासक होता है ॥ ८ ॥

आधिपत्यं व्रजेन्मर्त्यो ज्येष्ठायामपवर्जयन्।
नरः कुरुकुलश्रेष्ठ ऋद्धो दमपुरःसरः ॥ ९ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ ! ज्येष्ठा नक्षत्रमें इन्द्रियसंयमपूर्वक पिण्डदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली होता है और प्रभुत्व प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

मूले त्वारोग्यमृच्छेत यशोऽऽषाढासु चोत्तमम्।
उत्तरासु त्वषाढासु वीतशोकश्चरेन्महीम् ॥ १० ॥

मूलमें श्राद्ध करनेसे आरोग्यकी प्राप्ति होती है और पूर्वाषाढ़ामें उत्तम यशकी। उत्तराषाढ़ामें पितृयज्ञ करनेवाला पुरुष शोकशून्य होकर पृथ्वीपर विचरण करता है ॥ १० ॥

श्राद्धं त्वभिजिता कुर्वन् भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात्।
श्रवणेषु ददच्छ्राद्धं प्रेत्य गच्छेत् स सद्गतिम् ॥ ११ ॥

अभिजित् नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाला वैद्यविषयक सिद्धि पाता है। श्रवण नक्षत्रमें श्राद्धका दान देनेवाला मानव मृत्युके पश्चात् सद्गतिको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

राज्यभागी धनिष्ठायां भवेत नियतं नरः।
नक्षत्रे वारुणे कुर्वन् भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

धनिष्ठामें श्राद्ध करनेवाला मनुष्य नियमपूर्वक राज्यका भागी होता है। वारुण नक्षत्र—शतभिषामें श्राद्ध करनेवाला पुरुष वैद्यविषयक सिद्धिको पाता है ॥ १२ ॥

पूर्वप्रोष्ठपदाः कुर्वन् बहून् विन्दत्यजाविकान्।
उत्तरासु प्रकुर्वाणो विन्दते गाः सहस्रशः ॥ १३ ॥

पूर्वभाद्रपदामें श्राद्ध करनेवाला बहुत-से भेड़-बकरोंका लाभ लेता है और उत्तराभाद्रपदामें श्राद्ध करनेवाला सहस्रों गौएँ पाता है ॥ १३ ॥

बहुकुप्यकृतं वित्तं विन्दते रेवतीं श्रितः।
अश्विनीष्वश्वान् विन्देत भरणीष्वायुरुत्तमम् ॥ १४ ॥

श्राद्धमें रेवतीका आश्रय लेनेवाला (अर्थात् रेवतीमें श्राद्ध करनेवाला) पुरुष सोने-चाँदीके सिवा अन्य नाना प्रकारके धन पाता है। अश्विनीमें श्राद्ध करनेसे घोड़ोंकी और भरणीमें श्राद्धका अनुष्ठान करनेसे उत्तम आयुकी प्राप्ति होती है॥१४॥

इमं श्राद्धविधिं श्रुत्वा शशबिन्दुस्तथाकरोत्।
अक्लेशेनाजयच्चापि महीं सोऽनुशशास ह ॥ १५ ॥

इस श्राद्धविधिका श्रवण करके राजा शशबिन्दुने वही किया। उन्होंने बिना किसी क्लेशके ही पृथ्वीको जीता और उसका शासनसूत्र अपने हाथमें ले लिया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा, पंक्तिदूषक और पंक्तिपावन ब्राह्मणोंका वर्णन, श्राद्धमें लाख मूर्ख ब्राह्मणोंको भोजन करानेकी अपेक्षा एक वेदवेत्ताको भोजन करानेकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशेभ्यः प्रदातव्यं भवेच्छ्राद्धं पितामह।
द्विजेभ्यः कुरुशार्दूल तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे ब्राह्मणको श्राद्धका दान (अर्थात् निमन्त्रण) देना चाहिये ? कुरुश्रेष्ठ ! आप इसका मेरे लिये स्पष्ट वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणान् न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित्।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्यायमाहुः परीक्षणम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! दान-धर्मके ज्ञाता क्षत्रियको देवसम्बन्धी कर्म (यज्ञ-यागादि) में ब्राह्मणकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये; किंतु पितृकर्म (श्राद्ध) में उनकी परीक्षा न्यायसंगत मानी गयी है ॥ २ ॥

देवताः पूजयन्तीह दैवेनैवेह तेजसा।
उपेत्य तस्माद् देवेभ्यः सर्वेभ्यो दापयेन्नरः ॥ ३ ॥

देवता अपने दैव तेजसे ही इस जगत्‌में ब्राह्मणोंका पूजन (समादर) करते हैं; अतः देवताओंके उद्देश्यसे सभी ब्राह्मणोंके पास जाकर उन्हें दान देना चाहिये ॥ ३ ॥

श्राद्धे त्वथ महाराज परीक्षेद् ब्राह्मणान् बुधः।
कुलशीलवयोरूपैर्विद्ययाभिजनेन च ॥ ४ ॥

किंतु महाराज ! श्राद्धके समय विद्वान् पुरुष कुल, शील (उत्तम आचरण), अवस्था, रूप, विद्या और पूर्वजोंके निवासस्थान आदिके द्वारा ब्राह्मणकी अवश्य परीक्षा करे ॥

तेषामन्ये पङ्क्तिदूषास्तथान्ये पङ्क्तिपावनाः।
अपाङ्क्तेयास्तु ये राजन् कीर्तयिष्यामि ताञ्शृणु ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंमें कुछ तो पंक्तिदूषक होते हैं और कुछ पंक्तिपावन। राजन् ! पहले पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंका वर्णन करूँगा, सुनो ॥ ५ ॥

कितवो भ्रूणहा यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः।
ग्रामप्रेष्यो वार्धुषिको गायनः सर्वविक्रयी ॥ ६ ॥
अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
सामुद्रिको राजभृत्यस्तैलिकः कूटकारकः ॥ ७ ॥
पित्रा विवदमानश्च यस्य चोपपतिर्गृहे।
अभिशस्तस्तथा स्तेनः शिल्पं यश्चोपजीवति ॥ ८ ॥
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः।
अव्रतानामुपाध्यायः काण्डपृष्ठस्तथैव च ॥ ९ ॥
श्वभिश्च यः परिक्रामेद् यः शुना दष्ट एव च।
परिवित्तिश्च यश्च स्याद् दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ १० ॥
कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति।
ईदृशैर्ब्राह्मणैर्भुक्तमपाङ्क्तेयैर्युधिष्ठिर ॥ ११ ॥
रक्षांसि गच्छते हव्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः।

जुआरी, गर्भहत्यारा, राजयक्ष्माका रोगी, पशुपालन करनेवाला, अपढ़, गाँवभरका हरकारा, सूदखोर, गवैया, सब तरहकी चीज बेचनेवाला, दूसरोंका घर फूँकनेवाला, विष देनेवाला, माताद्वारा पतिके जीते-जी दूसरे पतिसे उत्पन्न किये हुए पुत्रके घर भोजन करनेवाला, सोमरस बेचनेवाला, सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा) से जीविका चलानेवाला, राजाका नौकर, तेल बेचनेवाला, झूठी गवाही देनेवाला, पितासे झगड़ा करनेवाला, जिसके घरमें जार पुरुषका प्रवेश हो वह, कलङ्कित, चोर, शिल्पजीवी, बहुरूपिया, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, व्रतरहित मनुष्योंका अध्यापक, हथियार बनाकर जीविका चलानेवाला, कुत्ते साथ लेकर घूमनेवाला, जिसे कुत्तेने काटा हो वह, जिसके छोटे भाईका विवाह हो गया हो ऐसा अविवाहित बड़ा भाई, चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, नटका काम करनेवाला, देवमन्दिरमें पूजासे जीविका चलानेवाला और नक्षत्रोंका फल बताकर जीनेवाला—ये सभी ब्राह्मण पंक्तिसे बाहर रखने योग्य हैं ! युधिष्ठिर ! ऐसे पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंका खाया हुआ हविष्य राक्षसोंको मिलता है, ऐसा ब्रह्मवादी पुरुषोंका कथन है ॥ ६—११½ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा त्वधीयीत वृषलीतल्पगश्च यः ॥ १२ ॥
पुरीषे तस्य ते मासं पितरस्तस्य शेरते।

जो ब्राह्मण श्राद्धका भोजन करके फिर उस दिन वेद पढ़ता है तथा जो वृषली स्त्रीसे समागम करता है, उसके पितर उस दिनसे लेकर एक मासतक उसीकी विष्ठामें शयन करते हैं ॥ १२½ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ॥ १३ ॥
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं च वार्धुषे।
यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद् भवेत् ॥ १४ ॥

सोमरस बेचनेवालेको जो श्राद्धका अन्न दिया जाता है, वह पितरोंके लिये विष्ठाके तुल्य है। श्राद्धमें वैद्यको जिमाया हुआ अन्न पीब और रक्तके समान पितरोंको अग्राह्य हो जाता है। देवमन्दिरमें पूजा करके जीविका चलानेवालेको दिया हुआ श्राद्धका दान नष्ट हो जाता है—

उसका कोई फल नहीं मिलता। सूदखोरको दिया हुआ अन्न अस्थिर होता है। वाणिज्यवृत्ति करनेवालेको श्राद्धमें दिये हुए अन्नका दान न इहलोकमें लाभदायक होता है और न परलोकमें ॥ १३-१४ ॥

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे।
ये तु धर्मव्यपेतेषु चारित्रापगतेषु च।
हव्यं कव्यं प्रयच्छन्ति तेषां तत् प्रेत्य नश्यति ॥ १५ ॥

एक पतिको छोड़कर दूसरा पति करनेवाली स्त्रीके पुत्रको दिया हुआ श्राद्धमें अन्नका दान राखमें डाले हुए हविष्यके समान व्यर्थ हो जाता है। जो लोग धर्मरहित और चरित्रहीन द्विजको हव्य-कव्यका दान करते हैं, उनका वह दान परलोकमें नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

ज्ञानपूर्वं तु ये तेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
पुरीषं भुञ्जते तेषां पितरः प्रेत्य निश्चयः ॥ १६ ॥

जो मूर्ख मनुष्य जान-बूझकर वैसे पंक्तिदूषक ब्राह्मणों-को श्राद्धमें अन्नका दान करते हैं, उनके पितर परलोकमें निश्चय ही उनकी विष्ठा खाते हैं ॥ १६ ॥

एतानिमान् विजानीयादपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्।
शूद्राणामुपदेशं च ये कुर्वन्त्यल्पचेतसः ॥ १७ ॥

इन अधम ब्राह्मणोंको पंक्तिसे बाहर रखने योग्य जानना चाहिये। जो मूढ़ ब्राह्मण शूद्रोंको वेदका उपदेश करते हैं, वे भी अपाङ्क्तेय (अर्थात् पंक्ति-बाहर) ही हैं ॥ १७ ॥

षष्टिं काणः शतं षण्ढः श्वित्री यावत्प्रपश्यति।
पङ्क्त्यां समुपविष्टायां तावद् दूषयते नृप ॥ १८ ॥

राजन्! काना मनुष्य पंक्तिमें बैठे हुए साठ मनुष्योंको दूषित कर देता है। जो नपुंसक है, वह सौ मनुष्योंको अपवित्र बना देता है तथा जो सफेद कोढ़का रोगी है, वह बैठे हुए पंक्तिमें जितने लोगोंको देखता है, उन सबको दूषित कर देता है ॥ १८ ॥

यद् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते सर्वं विद्यात् तदासुरम् ॥ १९ ॥

जो सिरपर पगड़ी और टोपी रखकर भोजन करता है, जो दक्षिणकी ओर मुख करके खाता है तथा जो जूते पहने भोजन करता है, उनका वह सारा भोजन आसुर समझना चाहिये ॥ १९ ॥

असूयता च यद् दत्तं यच्च श्रद्धाविवर्जितम्।
सर्वं तदसुरेन्द्राय ब्रह्मा भागमकल्पयत् ॥ २० ॥

जो दोषदृष्टि रखते हुए दान करता है और जो बिना श्रद्धाके देता है, उस सारे दानको ब्रह्माजीने असुर-राज बलिका भाग निश्चित किया है ॥ २० ॥

श्वानश्च पङ्क्तिदूषाश्च नावेक्षेरन् कथंचन।
तस्मात् परिसृते दद्यात् तिलांश्चान्ववकीरयेत् ॥ २१ ॥

कुत्तों और पंक्तिदूषक ब्राह्मणोंकी किसी तरह दृष्टि न पड़े, इसके लिये सब ओरसे घिरे हुए स्थानमें श्राद्धका दान करे और वहाँ सब ओर तिल छींटे ॥ २१ ॥

तिलैर्विरहितं श्राद्धं कृतं क्रोधवशेन च।
यातुधानाः पिशाचाश्च विप्रलुम्पन्ति तद्धविः ॥ २२ ॥

जो श्राद्ध तिलोंसे रहित होता है, अथवा जो क्रोध-पूर्वक किया जाता है, उसके हविष्यको यातुधान (राक्षस) और पिशाच लुप्त कर देते हैं ॥ २२ ॥

अपाङ्क्तो यावतः पाङ्क्तान् भुञ्जानाननुपश्यति।
तावत्फलाद् भ्रंशयति दातारं तस्य बालिशम् ॥ २३ ॥

पंक्तिदूषक पुरुष पंक्तिमें भोजन करनेवाले जितने ब्राह्मणोंको देख लेता है, वह मूर्ख दाताको उतने ब्राह्मणोंके दानजनित फलसे वञ्चित कर देता है ॥ २३ ॥

इमे तु भरतश्रेष्ठ विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः।
ये त्वतस्तान् प्रवक्ष्यामि परीक्षस्वेह तान् द्विजान् ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ! अब जिनका वर्णन किया जा रहा है, इन सबको पंक्तिपावन जानना चाहिये। इनका वर्णन इस लिये करूँगा कि तुम ब्राह्मणोंकी श्राद्धमें परीक्षा कर सको ॥ २४ ॥

विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि।
सदाचारपराश्चैव विज्ञेयाः सर्वपावनाः ॥ २५ ॥

विद्या और वेदव्रतमें स्नातक हुए समस्त ब्राह्मण यदि सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हों तो उन्हें सर्व-पावन जानना चाहिये ॥ २५ ॥

पाङ्क्तेयांस्तु प्रवक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पङ्क्तिपावनाः।
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ॥ २६ ॥

अब मैं पाङ्क्तेय ब्राह्मणोंका वर्णन करूँगा। उन्हींको पंक्तिपावन जानना चाहिये। जो त्रिणाचिकेत नामक मन्त्रों-का जप करनेवाला, गार्हपत्य आदि पाँच अग्नियोंका सेवन करनेवाला, त्रिसुपर्ण नामक (त्रिसुपर्णमित्यादि-) मन्त्रोंका पाठ करनेवाला है तथा 'ब्रह्ममेतु माम्' इत्यादि तैत्तिरीय-प्रसिद्ध शिक्षा आदि छहों अङ्गोंका ज्ञान रखनेवाला है ये सब पंक्तिपावन हैं ॥ २६ ॥

ब्रह्मदेयानुसंतानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः।
मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ॥ २७ ॥

जो परम्परासे वेद या पराविद्याका ज्ञाता अथवा उपदेशक है, जो वेदके छन्दोग शाखाका विद्वान् है, जो ज्येष्ठ साममन्त्रका गायक, माता-पिताके वशमें रहनेवाला

और दस पीढ़ियोंसे श्रोत्रिय (वेदपाठी) है, वह भी पंक्तिपावन है ॥ २७ ॥

ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पङ्क्तिं पुनात्युत ॥ २८ ॥

जो अपनी धर्मपत्नियोंके साथ सदा ऋतुकालमें ही समागम करता है, वेद और विद्याके व्रतमें स्नातक हो चुका है, वह ब्राह्मण पंक्तिको पवित्र कर देता है ॥ २८ ॥

अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
सत्यवादी धर्मशीलः स्वकर्मनिरतश्च सः ॥ २९ ॥

जो अथर्ववेदके ज्ञाता, ब्रह्मचारी, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, धर्मशील और अपने कर्तव्य-कर्ममें तत्पर हैं, वे पुरुष पंक्तिपावन हैं ॥ २९ ॥

ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः ।
मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृथप्लुताः ॥ ३० ॥
अक्रोधना ह्यचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान् निमन्त्रयेत् ॥ ३१ ॥

जिन्होंने पुण्य तीर्थोंमें गोता लगानेके लिये श्रम–प्रयत्न किया है, वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक अनेकों यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ-स्नान किया है; जो क्रोधरहित, चपलता-रहित, क्षमाशील, मनको वशमें रखनेवाले, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितैषी हैं, उन्हीं ब्राह्मणोंको श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

एतेषु दत्तमक्षय्यमेते वै पङ्क्तिपावनाः ।
इमे परे महाभागा विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ ३२ ॥

क्योंकि ये पंक्तिपावन हैं; अतः इन्हें दिया हुआ दान अक्षय होता है । इनके सिवा दूसरे भी महान् भाग्यशाली पंक्तिपावन ब्राह्मण हैं, उन्हें इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

यतयो मोक्षधर्मज्ञा योगाः सुचरितव्रताः ।
(पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तथा भागवताः परे ।
वैखानसाः कुलश्रेष्ठा वैदिकाचारचारिणः ॥)
ये चेतिहासं प्रयताः श्रावयन्ति द्विजोत्तमान् ॥ ३३ ॥
ये च भाष्यविदः केचिद् ये च व्याकरणे रताः ।
अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्राण्यथापि च ॥ ३४ ॥
अधीत्य च यथान्यायं विधिवत् तस्य कारिणः ।
उपपन्नो गुरुकुले सत्यवादी सहस्रशः ॥ ३५ ॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
यावदेते प्रपश्यन्ति पङ्क्त्यास्तावत्पुनन्त्युत ॥ ३६ ॥

जो मोक्ष-धर्मका ज्ञान रखनेवाले संयमी और उत्तम प्रकारसे व्रतका आचरण करनेवाले योगी हैं, पाञ्चरात्र आगमके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, परम भागवत हैं, वानप्रस्थ-धर्मका पालन करनेवाले, कुलमें श्रेष्ठ और वैदिक आचारका अनुष्ठान करनेवाले हैं । जो मनको संयममें रखकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको इतिहास सुनाते हैं, जो महाभाष्य और व्याकरणके विद्वान् हैं तथा जो पुराण और धर्मशास्त्रोंका न्यायपूर्वक अध्ययन करके उनकी आज्ञाके अनुसार विधिवत् आचरण करनेवाले हैं, जिन्होंने नियमित समय-तक गुरुकुलमें निवास करके वेदाध्ययन किया है, जो परीक्षाके सहस्रों अवसरोंपर सत्यवादी सिद्ध हुए हैं तथा जो चारों वेदोंके पढ़ने-पढ़ानेमें अग्रगण्य हैं, ऐसे ब्राह्मण पंक्तिको जितनी दूर देखते हैं उतनी दूरमें बैठे हुए ब्राह्मणों-को पवित्र कर देते हैं ॥ ३३–३६ ॥

ततो हि पावनात्पङ्क्त्याः पङ्क्तिपावन उच्यते ।
क्रोशादर्धतृतीयाच्च पावयेदेक एव हि ॥ ३७ ॥
ब्रह्मदेयानुसंतान इति ब्रह्मविदो विदुः ।

पंक्तिको पवित्र करनेके कारण ही उन्हें पंक्तिपावन कहा जाता है । ब्रह्मवादी पुरुषोंकी यह मान्यता है कि वेदकी शिक्षा देनेवाले एवं ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंके वंशमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अकेला ही साढ़े तीन कोसतकका स्थान पवित्र कर सकता है ॥ ३७½ ॥

अनृत्विगनुपाध्यायः स चेदग्रासनं व्रजेत् ॥ ३८ ॥
ऋत्विग्भिरभ्यनुज्ञातः पङ्क्त्या हरति दुष्कृतम् ।

जो ऋत्विक् या अध्यापक न हो, वह भी यदि ऋत्विजोंकी आज्ञा लेकर श्राद्धमें अग्रासन ग्रहण करता है तो पंक्तिके दोषको हर लेता है अर्थात् दूर कर देता है ॥

अथ चेद् वेदवित् सर्वैः पङ्क्तिदोषैर्विवर्जितः ॥ ३९ ॥
न च स्यात् पतितो राजन् पङ्क्तिपावन एव सः ।

राजन् ! यदि कोई वेदज्ञ ब्राह्मण सब प्रकारके पंक्ति-दोषोंसे रहित है और पतित नहीं हुआ है तो वह पंक्ति-पावन ही है ॥ ३९½ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन परीक्ष्यामन्त्रयेद् द्विजान् ॥ ४० ॥
स्वकर्मनिरतानन्यान् कुले जातान् बहुश्रुतान् ।

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टाओंसे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करके ही उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये । वे स्वकर्ममें तत्पर रहनेवाले, कुलीन और बहुश्रुत होने चाहिये ॥ ४०½ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ॥ ४१ ॥
न प्रीणन्ति पितॄन् देवान् स्वर्गं च न स गच्छति ।

जिसके श्राद्धोंके भोजनमें मित्रोंकी प्रधानता रहती है, उसके वे श्राद्ध एवं हविष्य पितरों और देवताओंको तृप्त नहीं करते हैं तथा वह श्राद्धकर्ता पुरुष स्वर्गमें नहीं जाता है ॥ ४१½ ॥

यश्च श्राद्धे कुरुते सङ्गतानि
न देवयानेन पथा स याति ।

स वै मुक्तः पिप्पलं बन्धनाद् वा
स्वर्गाल्लोकाच्च्यवते श्राद्धमित्रः ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य श्राद्धमें भोजन देकर उससे मित्रता जोड़ता है, वह मृत्युके बाद देवमार्गसे नहीं जाने पाता । जैसे पीपलका फल डंठलसे टूटकर नीचे गिर जाता है, वैसे ही श्राद्धको मित्रताका साधन बनानेवाला पुरुष स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

तस्मान्मित्रं श्राद्धकृन्नाद्रियेत
दद्यान्मित्रेभ्यः संग्रहार्थं धनानि ।
यन्मन्यते नैव शत्रुं न मित्रं
तं मध्यस्थं भोजयेद्धव्यकव्ये ॥ ४३ ॥

इसलिये श्राद्धकर्ताको चाहिये कि वह श्राद्धमें मित्रको निमन्त्रण न दे । मित्रोंको संतुष्ट करनेके लिये धन देना उचित है । श्राद्धमें भोजन तो उसे ही कराना चाहिये, जो शत्रु या मित्र न होकर मध्यस्थ हो ॥ ४३ ॥

यथोषरे बीजमुप्तं न रोहे-
न्न चावप्ता प्राप्नुयाद् बीजभागम् ।
एवं श्राद्धं भुक्तमनर्हमाणै-
र्न चेह नामुत्र फलं ददाति ॥ ४४ ॥

जैसे ऊसरमें बोया हुआ बीज न तो जमता है और न बोनेवालेको उसका कोई फल ही मिलता है, उसी प्रकार अयोग्य ब्राह्मणोंको भोजन कराया हुआ श्राद्धका अन्न न इस लोकमें लाभ पहुँचाता है, न परलोकमें ही कोई फल देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो ह्यनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ ४५ ॥

जैसे घास-फूसकी आग शीघ्र ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार स्वाध्यायहीन ब्राह्मण तेजहीन हो जाता है, अतः उसे श्राद्धका दान नहीं देना चाहिये, क्योंकि राखमें कोई भी हवन नहीं करता ॥ ४५ ॥

सम्भोजनी नाम पिशाचदक्षिणा
सा नैव देवान् न पितॄनुपैति ।
इहैव सा भ्राम्यति हीनपुण्या
शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥ ४६ ॥

जो लोग एक-दूसरेके यहाँ श्राद्धमें भोजन करके परस्पर दक्षिणा देते और लेते हैं, उनकी वह दान-दक्षिणा पिशाच-दक्षिणा कहलाती है । वह न देवताओंको मिलती है, न पितरोंको । जिसका बछड़ा मर गया है ऐसी पुण्यहीना गौ जैसे दुखी होकर गोशालामें ही चक्कर लगाती रहती है, उसी प्रकार आपसमें दी और ली हुई दक्षिणा इसी लोकमें रह जाती है, वह पितरोंतक नहीं पहुँचने पाती ॥ ४६ ॥

यथाग्नौ शान्ते घृतमाजुहोति
तन्नैव देवान् न पितॄनुपैति ।
तथा दत्तं नर्तने गायने च
यां चानृते दक्षिणामावृणोति ॥ ४७ ॥
उभौ हिनस्ति न भुनक्ति चैषा
या चानृते दक्षिणा दीयते वै ।
आघातिनी गर्हितैषा पतन्ती
तेषां प्रेतान् पातयेद् देवयानात् ॥ ४८ ॥

जैसे आग बुझ जानेपर जो घृतका हवन किया जाता है, उसे न देवता पाते हैं, न पितर; उसी प्रकार नाचनेवाले, गवैये और झूठ बोलनेवाले अपात्र ब्राह्मणको दिया हुआ दान निष्फल होता है । अपात्र पुरुषको दी हुई दक्षिणा न दाताको तृप्त करती है न दान लेनेवालेको; प्रत्युत दोनोंका ही नाश करती है । यही नहीं, वह विनाशकारिणी निन्दित दक्षिणा दाताके पितरोंको देवयान-मार्गसे नीचे गिरा देती है ॥ ४७-४८ ॥

ऋषीणां समये नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ।
निश्चिताः सर्वधर्मज्ञास्तान् देवा ब्राह्मणान् विदुः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा ऋषियोंके बताये हुए धर्ममार्गपर चलते हैं, जिनकी बुद्धि एक निश्चयपर पहुँची हुई है तथा जो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं, उन्हींको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ॥ ४९ ॥

स्वाध्यायनिष्ठा ऋषयो ज्ञाननिष्ठास्तथैव च ।
तपोनिष्ठाश्च बोद्धव्याः कर्मनिष्ठाश्च भारत ॥ ५० ॥

भारत ! ऋषि-मुनियोंमें किन्हींको स्वाध्यायनिष्ठ, किन्हींको ज्ञाननिष्ठ, किन्हींको तपोनिष्ठ और किन्हींको कर्मनिष्ठ जानना चाहिये ॥ ५० ॥

कव्यानि ज्ञाननिष्ठेभ्यः प्रतिष्ठाप्यानि भारत ।
तत्र ये ब्राह्मणान् केचिन्न निन्दन्ति हि ते नराः ॥ ५१ ॥

भरतनन्दन ! उनमें ज्ञाननिष्ठ महर्षियोंको ही श्राद्धका अन्न जिमाना चाहिये । जो लोग ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करते, वे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं ॥ ५१ ॥

ये तु निन्दन्ति जल्पेषु न तान्छ्राद्धेषु भोजयेत् ।
ब्राह्मणा निन्दिता राजन् हन्युस्त्रैपुरुषं कुलम् ॥ ५२ ॥
वैखानसानां वचनमृषीणां श्रूयते नृप ।
दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणान् वेदपारगान् ॥ ५३ ॥

राजन् ! जो बातचीतमें ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, उन्हें श्राद्धमें भोजन नहीं कराना चाहिये । नरेश्वर ! वानप्रस्थ ऋषियोंका यह वचन सुना जाता है कि 'ब्राह्मणोंकी निन्दा होनेपर वे निन्दा करनेवालेकी तीन पीढ़ियोंका नाश कर डालते हैं ।' वेदवेत्ता ब्राह्मणोंकी दूरसे ही परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५२-५३ ॥

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यस्तेषां तु श्राद्धमावपेत् ।

यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृतान् नरः ।
एकस्तान्मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति भारत ॥ ५४ ॥

भारत ! वेदज्ञ पुरुष अपना प्रिय हो या अप्रिय—इसका विचार न करके उसे श्राद्धमें भोजन कराना चाहिये । जो दस लाख अपात्र ब्राह्मणको भोजन कराता है, उसके यहाँ उन सबके बदले एक ही सदा संतुष्ट रहनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण भोजन करनेका अधिकारी है अर्थात् लाखों मूर्खोंकी अपेक्षा एक सत्पात्र ब्राह्मणको भोजन कराना उत्तम है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

शोकातुर निमिका पुत्रके निमित्त पिण्डदान तथा श्राद्धके विषयमें निमिको महर्षि अत्रिका उपदेश, विश्वेदेवोंके नाम एवं श्राद्धमें त्याज्य वस्तुओंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन् काले किमात्मकम् ।
भृग्वङ्गिरसिके काले मुनिना कतरेण वा ॥ १ ॥
कानि श्राद्धानि वर्ज्यानि कानि मूलफलानि च ।
धान्यजात्यश्च का वर्ज्यास्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! श्राद्ध कब प्रचलित हुआ ? सबसे पहले किस महर्षिने इसका संकल्प किया अर्थात् प्रचार किया ? श्राद्धका स्वरूप क्या है ? यदि भृगु और अङ्गिराके समयमें इसका प्रारम्भ हुआ तो किस मुनिने इसको प्रकट किया ? श्राद्धमें कौन-कौनसे कर्म, कौन-कौन फल-मूल और कौन-कौनसे अन्न त्याग देने योग्य हैं ? वह मुझसे कहिये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

यथा श्राद्धं सम्प्रवृत्तं यस्मिन् काले यदात्मकम् ।
येन संकल्पितं चैव तन्मे शृणु जनाधिप ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! श्राद्धका जिस समय और जिस प्रकार प्रचलन हुआ, जो इसका स्वरूप है तथा सबसे पहले जिसने इसका संकल्प किया अर्थात् प्रचार किया, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

स्वायम्भुवोऽत्रिः कौरव्य परमर्षिः प्रतापवान् ।
तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! प्राचीन कालमें ब्रह्माजीसे महर्षि अत्रिकी उत्पत्ति हुई । वे बड़े प्रतापी ऋषि थे । उनके वंशमें दत्तात्रेयजीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४ ॥

दत्तात्रेयस्य पुत्रोऽभून्निमिर्नाम तपोधनः ।
निमेश्चाप्यभवत् पुत्रः श्रीमान्नाम श्रिया वृतः ॥ ५ ॥

दत्तात्रेयके पुत्र निमि हुए, जो बड़े तपस्वी थे । निमिके भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम था श्रीमान् । वह बड़ा कान्तिमान् था ॥ ५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रान्ते स कृत्वा दुष्करं तपः ।
कालधर्मपरीतात्मा निधनं समुपागतः ॥ ६ ॥

उसने पूरे एक हजार वर्षोंतक बड़ी कठोर तपस्या करके अन्तमें काल-धर्मके अधीन होकर प्राण त्याग दिया ॥ ६ ॥

निमिस्तु कृत्वा शौचानि विधिदृष्टेन कर्मणा ।
संतापमगमत् तीव्रं पुत्रशोकपरायणः ॥ ७ ॥

फिर निमि शास्त्रोक्त कर्मद्वारा अशौच निवारण करके पुत्र-शोकमें मग्न हो अत्यन्त संतप्त हो उठे ॥ ७ ॥

अथ कृत्वोपहार्याणि चतुर्दश्यां महामतिः ।
तमेव गणयञ्शोकं विरात्रे प्रत्यबुध्यत ॥ ८ ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् निमि चतुर्दशीके दिन श्राद्धमें देने योग्य सब वस्तुएँ एकत्रित करके पुत्रशोकसे ही चिन्तित हो रात बीतनेपर (अमावास्याको श्राद्ध करनेके लिये) प्रातःकाल उठे ॥ ८ ॥

तस्यासीत् प्रतिबुद्धस्य शोकेन व्यथितात्मनः ।
मनः संवृत्य विषये बुद्धिर्विस्तारगामिनी ॥ ९ ॥
ततः संचिन्तयामास श्राद्धकल्पं समाहितः ।

प्रातःकाल जागनेपर उनका मन पुत्रशोकसे व्यथित होता रहा; किंतु उनकी बुद्धि बड़ी विस्तृत थी । उसके द्वारा उन्होंने मनको शोककी ओरसे हटाया और एकाग्रचित्त होकर श्राद्धविधिका विचार किया ॥ ९½ ॥

यानि तस्यैव भोज्यानि मूलानि च फलानि च ॥ १० ॥
उक्तानि यानि चान्नानि यानि चेष्टानि तस्य ह ।
तानि सर्वाणि मनसा विनिश्चित्य तपोधनः ॥ ११ ॥

फिर श्राद्धके लिये शास्त्रोंमें जो फल-मूल आदि भोज्य पदार्थ बताये गये हैं तथा उनमेंसे जो-जो पदार्थ उनके पुत्रको प्रिय थे, उन सबका मन-ही-मन निश्चय करके उन तपोधनने संग्रह किया ॥ १०-११ ॥

अमावास्यां महाप्राज्ञो विप्रानानाय्य पूजितान् ।

दक्षिणावर्तिकाः सर्वा बृमीः स्वयमथाकरोत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर, उन महान् बुद्धिमान् मुनिने अमावस्याके दिन सात ब्राह्मणोंको बुलाकर उनकी पूजा की और उनके लिये स्वयं ही प्रदक्षिण भावसे मोड़े हुए कुशके आसन बनाकर उन्हें उनपर बिठाया ॥ १२ ॥

सप्त विप्रांस्ततो भोज्ये युगपत् समुपानयत् ।
ऋते च लवणं भोज्यं श्यामाकान्नं ददौ प्रभुः ॥ १३ ॥

प्रभावशाली निमिने उन सातोंको एक ही साथ भोजनके लिये अलोना सावाँ परोसा ॥ १३ ॥

दक्षिणाग्रास्ततो दर्भा विष्टरेषु निवेशिताः ।
पादयोश्चैव विप्राणां ये त्वन्नमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥
कृत्वा च दक्षिणाग्रान् वै दर्भान् स प्रयतः शुचिः ।
प्रददौ श्रीमतः पिण्डान् नामगोत्रमुदाहरन् ॥ १५ ॥

इसके बाद भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके पैरोंके नीचे आसनोंपर उन्होंने दक्षिणाग्र कुश बिछा दिये और (अपने सामने भी) दक्षिणाग्र कुश रखकर पवित्र एवं सावधान हो अपने पुत्र श्रीमान्‌के नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए कुशोंपर पिण्डदान किया ॥ १४-१५ ॥

तत् कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः ।
पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्राद्ध करनेके पश्चात् मुनिश्रेष्ठ निमि अपनेमें धर्मसङ्करताका दोष मानकर (अर्थात् वेदमें पिता-पितामह आदिके उद्देश्यसे जिस श्राद्धका विधान है, उसको मैंने स्वेच्छासे पुत्रके निमित्त किया है--यह सोचकर) महान् पश्चात्तापसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार चिन्ता करने लगे-- ॥ १६ ॥

अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम् ।
कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ १७ ॥

'अहो ! मुनियोंने जो कार्य पहले कभी नहीं किया, उसे मैंने ही क्यों कर डाला ! मेरे इस मनमाने बर्तावको देखकर ब्राह्मणलोग मुझे अपने शापसे क्यों नहीं भस्म कर डालेंगे ?' ॥

ततः संचिन्तयामास वंशकर्तारमात्मनः ।
ध्यातमात्रस्तथा चात्रिराजगाम तपोधनः ॥ १८ ॥

यह बात ध्यानमें आते ही उन्होंने अपने वंशप्रवर्तक महर्षि अत्रिका स्मरण किया । उनके चिन्तन करते ही तपोधन अत्रि वहाँ आ पहुँचे ॥ १८ ॥

अथात्रिस्तं तथा दृष्ट्वा पुत्रशोकेन कर्षितम् ।
भृशमाश्वासयामास वाग्भिरिष्टाभिरव्ययः ॥ १९ ॥

आनेपर जब अविनाशी अत्रिने निमिको पुत्रशोकसे व्याकुल देखा, तब मधुर वाणीद्वारा उन्हें बहुत आश्वासन दिया-- ॥

निमे संकल्पितस्तेऽयं पितृयज्ञस्तपोधन ।
मा ते भूद् भीः पूर्वदृष्टो धर्मोऽयं ब्रह्मणा स्वयम् ॥ २० ॥

'तपोधन निमे ! तुमने जो यह पितृयज्ञ किया है, इससे डरो मत । सबसे पहले स्वयं ब्रह्माजीने इस धर्मका साक्षात्कार किया है ॥ २० ॥

सोऽयं स्वयम्भुविहितो धर्मः संकल्पितस्त्वया ।
ऋते स्वयम्भुवः कोऽन्यः श्राद्धेयं विधिमाहरेत् ॥ २१ ॥

'अतः तुमने यह ब्रह्माजीके चलाये हुए धर्मका ही अनुष्ठान किया है । ब्रह्माजीके सिवा दूसरा कौन इस श्राद्ध-विधिका उपदेश कर सकता है ॥ २१ ॥

अथाख्यास्यामि ते पुत्र श्राद्धेयं विधिमुत्तमम् ।
स्वयम्भुविहितं पुत्र तत् कुरुष्व निबोध मे ॥ २२ ॥

'बेटा ! अब मैं तुमसे स्वयम्भू ब्रह्माजीकी बतायी हुई श्राद्धकी उत्तम विधिका वर्णन करता हूँ, इसे सुनो और सुनकर इसी विधिके अनुसार श्राद्धका अनुष्ठान करो ॥ २२ ॥

कृत्वाग्नौकरणं पूर्वं मन्त्रपूर्वं तपोधन ।
ततोऽग्नयेऽथ सोमाय वरुणाय च नित्यशः ॥ २३ ॥
विश्वेदेवाश्च ये नित्यं पितृभिः सह गोचराः ।
तेभ्यः संकल्पिता भागाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

'तब तपोधन ! पहले वेदमन्त्रके उच्चारणपूर्वक अग्नौ-करण--अग्निकरणकी क्रिया पूरी करके अग्नि, सोम, वरुण और पितरोंके साथ नित्य रहनेवाले विश्वेदेवोंको उनका भाग सदा अर्पण करे । साक्षात् ब्रह्माजीने इनके भागोंकी कल्पना की है ॥ २३-२४ ॥

स्तोतव्या चेह पृथिवी निवापस्येह धारिणी ।
वैष्णवी काश्यपी चेति तथैवहाक्षयेति च ॥ २५ ॥

'तदनन्तर श्राद्धकी आधारभूता पृथ्वीकी वैष्णवी, काश्यपी और अक्षया आदि नामोंसे स्तुति करनी चाहिये ॥ २५ ॥

उदकानयने चैव स्तोतव्यो वरुणो विभुः ।
ततोऽग्निश्चैव सोमश्च आप्याय्याविह तेऽनघ ॥ २६ ॥

'अनघ ! श्राद्धके लिये जल लानेके लिये भगवान् वरुणका स्तवन करना उचित है । इसके बाद तुम्हें अग्नि और सोमको भी तृप्त करना चाहिये ॥ २६ ॥

देवास्तु पितरो नाम निर्मिता ये स्वयम्भुवा ।
उष्णपा ये महाभागास्तेषां भागः प्रकल्पितः ॥ २७ ॥

'ब्रह्माजीके ही उत्पन्न किये हुए कुछ देवता पितरोंके नामसे प्रसिद्ध हैं । उन महाभाग पितरोंको उष्णप भी कहते हैं । स्वयम्भूने श्राद्धमें उनका भाग निश्चित किया है ॥ २७ ॥

ते श्राद्धेनार्च्यमाना वै विमुच्यन्ते ह किल्बिषात् ।
सप्तकः पितृवंशस्तु पूर्वदृष्टः स्वयम्भुवा ॥ २८ ॥

'श्राद्धके द्वारा उनकी पूजा करनेसे श्राद्धकर्ताके पितरों-

का पापसे उद्धार हो जाता है । ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन अग्निष्वात्त आदि पितरोंको श्राद्धका अधिकारी बताया है, उनकी संख्या सात है ॥ २८ ॥

विश्वे चाग्निमुखा देवाः संख्याताः पूर्वमेव ते ।
तेषां नामानि वक्ष्यामि भागार्हाणां महात्मनाम् ॥२९॥

'विश्वेदेवोंकी चर्चा तो मैंने पहले ही की है, उन सबका मुख अग्नि है। यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी उन महात्माओंके नामोंको कहता हूँ ॥ २९ ॥

बलं धृतिर्विपाप्मा च पुण्यकृत् पावनस्तथा ।
पार्ष्णिक्षेमा समूहश्च दिव्यसानुस्तथैव च ॥ ३० ॥
विवस्वान् वीर्यवान् ह्रीमान् कीर्तिमान् कृत एव च ।
जितात्मा मुनिवीर्यश्च दीप्तरोमा भयंकरः ॥ ३१ ॥
अनुकर्मा प्रतीतश्च प्रदाताप्यंशुमांस्तथा ।
शैलाभः परमक्रोधी धीरोष्णी भूपतिस्तथा ॥ ३२ ॥
स्रजो वज्री वरी चैव विश्वेदेवाः सनातनाः ।
विद्युद्वर्चाः सोमवर्चाः सूर्यश्रीश्चेति नामतः ॥ ३३ ॥
सोमपः सूर्यसावित्रो दत्तात्मा पुण्डरीयकः ।
उष्णीनाभो नभोदश्च विश्वायुर्दीप्तिरेव च ॥ ३४ ॥
चमूहरः सुरेशश्च व्योमारिः शङ्करो भवः ।
ईशः कर्ता कृतिर्दक्षो भुवनो दिव्यकर्मकृत् ॥ ३५ ॥
गणितः पञ्चवीर्यश्च आदित्यो रश्मिवांस्तथा ।
सप्तकृत् सोमवर्चाश्च विश्वकृत् कविरेव च ॥ ३६ ॥
अनुगोप्ता सुगोप्ता च नप्ता चेश्वर एव च ।
कीर्तितास्ते महाभागाः कालस्य गतिगोचराः ॥ ३७ ॥

'बल, धृति, विपाप्मा, पुण्यकृत्, पावन, पार्ष्णिक्षेमा, समूह, दिव्यसानु, विवस्वान्, वीर्यवान्, ह्रीमान्, कीर्तिमान्, कृत, जितात्मा, मुनिवीर्य, दीप्तरोमा, भयंकर, अनुकर्मा, प्रतीत, प्रदाता, अंशुमान्, शैलाभ, परमक्रोधी, धीरोष्णी, भूपति, स्रज, वज्री, वरी, विश्वेदेव, विद्युद्वर्चा, सोमवर्चा, सूर्यश्री, सोमप, सूर्य सावित्र, दत्तात्मा, पुण्डरीयक, उष्णीनाभ, नभोद, विश्वायु, दीप्ति, चमूहर, सुरेश, व्योमारि, शंकर, भव, ईश, कर्ता कृति, दक्ष, भुवन, दिव्यकर्मकृत्, गणित, पञ्चवीर्य, आदित्य, रश्मिवान्, सप्तकृत्, सोमवर्चा, विश्वकृत्, कवि, अनुगोप्ता, सुगोप्ता, नप्ता और ईश्वर । इस प्रकार सनातन विश्वेदेवोंके नाम बतलाये गये । ये महाभाग कालकी गतिके जाननेवाले कहे गये हैं ॥ ३०—३७ ॥

अश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवाः पुलकास्तथा ।
हिंगुद्रव्येषु शाकेषु पलाण्डुं लसुनं तथा ॥ ३८ ॥
सौभाञ्जनः कोविदारस्तथा गृञ्जनकादयः ।
कूष्माण्डजात्यलाबुं च कृष्णं लवणमेव च ॥ ३९ ॥
ग्राम्यवाराहमांसं च यच्चैवाप्रोक्षितं भवेत् ।
कृष्णाजाजी विडश्चैव शीतपाकी तथैव च ।
अङ्कुराद्यास्तथा वर्ज्या इह शृङ्गाटकानि च ॥ ४० ॥

'अब श्राद्धमें निषिद्ध अन्न आदि वस्तुओंका वर्णन करता हूँ । अनाजमें कोदो और पुलक-सरसो, हिंगुद्रव्य-छौंकनेके काम आनेवाले पदार्थोंमें हींग आदि पदार्थ, शाकोंमें प्याज, लहसुन, सहिजन, कचनार, गाजर, कुम्हड़ा और लौकी आदि; कालानमक, गाँवमें पैदा होनेवाले वाराहीकन्द-का गूदा, अप्रोक्षित—जिसका प्रोक्षण नहीं किया गया (संस्कार-हीन), काला जीरा, बीरिया सौंचर नमक, शीतपाकी (शाक-विशेष), जिसमें अङ्कुर उत्पन्न हो गये हों ऐसे मूँग और सिंघाड़ा आदि । ये सब वस्तुएँ श्राद्धमें वर्जित हैं ॥ ३८–४० ॥

वर्जयेल्लवणं सर्वं तथा जम्बूफलानि च ।
अवक्षुतावरुदितं तथा श्राद्धे च वर्जयेत् ॥ ४१ ॥

'सब प्रकारका नमक, जामुनका फल तथा छींक या आँसूसे दूषित हुए पदार्थ भी श्राद्धमें त्याग देने चाहिये॥४०॥

निवापे हव्यकव्ये वा गर्हितं च सुदर्शनम् ।
पितरश्च हि देवाश्च नाभिनन्दन्ति तद्धविः ॥ ४२ ॥

'श्राद्ध-विषयक हव्य-कव्यमें सुदर्शनसोमलता निन्दित है। उस हविको विश्वेदेव एवं पितृगण पसंद नहीं करते हैं॥

चाण्डालश्वपचौ वर्ज्यौ निवापे समुपस्थिते ।
काषायवासाः कुष्ठी वा पतितो ब्रह्महापि वा ॥ ४३ ॥
संकीर्णयोनिर्विप्रश्च सम्बन्धी पतितश्च यः ।
वर्जनीया बुधैरेते निवापे समुपस्थिते ॥ ४४ ॥

'पिण्डदानका समय उपस्थित होनेपर उस स्थानसे चाण्डालों और श्वपचोंको हटा देना चाहिये । गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाला संन्यासी, कोढ़ी, पतित, ब्रह्महत्यारा, वर्ण-संकर ब्राह्मण तथा धर्मभ्रष्ट सम्बन्धी भी श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर विद्वानोंद्वारा वहाँसे हटा देने योग्य हैं' ॥ ४३-४४॥

इत्येवमुक्त्वा भगवान् स्ववंश्यं तमृषिं पुरा ।
पितामहसभां दिव्यां जगामात्रिस्तपोधनः ॥ ४५ ॥

पूर्वकालमें अपने वंशज निमि ऋषिको श्राद्धके विषयमें यह उपदेश देकर तपस्याके धनी भगवान् अत्रि ब्रह्माजीकी दिव्य सभामें चले गये ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

पितर और देवताओंका श्राद्धान्नसे अजीर्ण होकर ब्रह्माजीके पास जाना और अग्निके द्वारा अजीर्णका निवारण, श्राद्धसे तृप्त हुए पितरोंका आशीर्वाद

भीष्म उवाच

तथा निमौ प्रवृत्ते तु सर्व एव महर्षयः।
पितृयज्ञं तु कुर्वन्ति विधिदृष्टेन कर्मणा॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार जब महर्षि निमि पहले-पहल श्राद्धमें प्रवृत्त हुए, उसके बाद सभी महर्षि शास्त्रविधिके अनुसार पितृयज्ञका अनुष्ठान करने लगे॥ १॥

ऋषयो धर्मनित्यास्तु कृत्वा निवपनान्युत।
तर्पणं चाप्यकुर्वन्त तीर्थाम्भोभिर्यतव्रताः॥ २॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले और नियमपूर्वक व्रत धारण करनेवाले महर्षि पिण्डदान करनेके पश्चात् तीर्थके जलसे पितरोंका तर्पण भी करते थे॥ २॥

निवापैर्दीयमानैश्च चातुर्वर्ण्येन भारत।
तर्पिताः पितरो देवास्तत्रान्नं जरयन्ति वै॥ ३॥
अजीर्णेनाभिहन्यन्ते ते देवाः पितृभिः सह।
सोममेवाभ्यपद्यन्त तदा ह्यन्नाभिपीडिताः॥ ४॥

भारत! धीरे-धीरे चारों वर्णोंके लोग श्राद्धमें देवताओं और पितरोंको अन्न देने लगे। लगातार श्राद्धमें भोजन करते-करते वे देवता और पितर पूर्ण तृप्त हो गये। अब वे अन्न पचानेके प्रयत्नमें लगे। अजीर्णसे उन्हें विशेष कष्ट होने लगा। तब वे सोम देवताके पास गये॥ ३-४॥

तेऽब्रुवन् सोममासाद्य पितरोऽजीर्णपीडिताः।
निवापान्नेन पीड्यामः श्रेयो नोऽत्र विधीयताम्॥ ५॥

सोमके पास जाकर वे अजीर्णसे पीड़ित पितर इस प्रकार बोले—'देव! हम श्राद्धान्नसे बहुत कष्ट पा रहे हैं। अब आप हमारा कल्याण कीजिये'॥ ५॥

तान् सोमः प्रत्युवाचाथ श्रेयश्चेदीप्सितं सुराः।
स्वयम्भूसदनं यात स वः श्रेयोऽभिधास्यति॥ ६॥

तब सोमने उनसे कहा—'देवताओ! यदि आप कल्याण चाहते हैं तो ब्रह्माजीकी शरणमें जाइये, वही आपलोगोंका कल्याण करेंगे'॥ ६॥

ते सोमवचनाद् देवाः पितृभिः सह भारत।
मेरुशृङ्गे समासीनं पितामहमुपागमन्॥ ७॥

भरतनन्दन! सोमके कहनेसे वे पितरोंसहित देवता मेरुपर्वतके शिखरपर विराजमान ब्रह्माजीके पास गये॥ ७॥

पितर ऊचुः

निवापान्नेन भगवन् भृशं पीड्यामहे वयम्।
प्रसादं कुरु नो देव श्रेयो नः संविधीयताम्॥ ८॥

पितरोंने कहा—भगवन्! निरन्तर श्राद्धका अन्न खानेसे हम अजीर्णतावश अत्यन्त कष्ट पा रहे हैं। देव! हमलोगोंपर कृपा कीजिये और हमें कल्याणके भागी बनाइये॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा स्वयम्भूरिदमब्रवीत्।
एष मे पार्श्वतो वह्निर्युष्मच्छ्रेयोऽभिधास्यति॥ ९॥

पितरोंकी यह बात सुनकर स्वयम्भू ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा—'देवगण! मेरे निकट ये अग्निदेव विराजमान हैं। ये ही तुम्हारे कल्याणकी बात बतायेंगे'॥ ९॥

अग्निरुवाच

सहितास्तात भोक्ष्यामो निवापे समुपस्थिते।
जरयिष्यथ चाप्यन्नं मया सार्धं न संशयः॥ १०॥

अग्नि बोले—देवताओ और पितरो! अबसे श्राद्धका अवसर उपस्थित होनेपर हमलोग साथ ही भोजन किया करेंगे। मेरे साथ रहनेसे आपलोग उस अन्नको पचा सकेंगे, इसमें संशय नहीं है॥ १०॥

एतच्छ्रुत्वा तु पितरस्ततस्ते विज्वराऽभवन्।
एतस्मात् कारणाच्चाग्नेः प्राक् तावद् दीयते नृप॥ ११॥

नरेश्वर! अग्निकी यह बात सुनकर वे पितर निश्चिन्त हो गये; इसीलिये श्राद्धमें पहले अग्निको ही भाग अर्पित किया जाता है॥ ११॥

निवप्ते चाग्निपूर्वं वै निवापे पुरुषर्षभ।
न ब्रह्मराक्षसास्तं वै निवापं धर्षयन्त्युत॥ १२॥

पुरुषप्रवर! अग्निमें हवन करनेके बाद जो पितरोंके निमित्त पिण्डदान दिया जाता है, उसे ब्रह्मराक्षस दूषित नहीं करते॥ १२॥

रक्षांसि चापवर्तन्ते स्थिते देवे हुताशने।
पूर्वं पिण्डं पितुर्दद्यात् ततो दद्यात् पितामहे॥ १३॥

अग्निदेवके विराजमान रहनेपर राक्षस वहाँसे भाग जाते हैं। सबसे पहले पिताको पिण्ड देना चाहिये, फिर पितामहको॥ १३॥

प्रपितामहाय च तत एष श्राद्धविधिः स्मृतः।
ब्रूयाच्छ्राद्धे च सावित्रीं पिण्डे पिण्डे समाहितः॥ १४॥

तदनन्तर प्रपितामहको पिण्ड देना चाहिये। यह श्राद्धकी विधि बतायी गयी है। श्राद्धमें एकाग्रचित्त हो प्रत्येक पिण्ड देते समय गायत्री-मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये॥ १४॥

सोमायेति च वक्तव्यं तथा पितृमतेति च।
रजस्वला च या नारी व्यङ्गिता कर्णयोश्च या।
निवापे नोपतिष्ठेत संग्राह्या नान्यवंशजा ॥ १५ ॥

पिण्ड-दानके आरम्भमें पहले अग्नि और सोमके लिये जो दो भाग दिये जाते हैं, उनके मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा,' 'सोमाय पितृमते स्वाहा।' जो स्त्री रजस्वला हो अथवा जिसके दोनों कान बहरे हों, उसको श्राद्धमें नहीं ठहरना चाहिये। दूसरे वंशकी स्त्रीको भी श्राद्धकर्ममें नहीं लेना चाहिये ॥ १५ ॥

जलं प्रतरमाणश्च कीर्तयेत पितामहान्।
नदीमासाद्य कुर्वीत पितॄणां पिण्डतर्पणम् ॥ १६ ॥

जलको तैरते समय पितामहों (के नामों) का कीर्तन करे। किसी नदीके तटपर जानेके बाद वहाँ पितरोंके लिये पिण्डदान और तर्पण करना चाहिये ॥ १६ ॥

पूर्वं स्ववंशजानां तु कृत्वाद्भिस्तर्पणं पुनः।
सुहृत्सम्बन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥ १७ ॥

पहले अपने वंशमें उत्पन्न पितरोंका जलके द्वारा तर्पण करके तत्पश्चात् सुहृद् और सम्बन्धियोंके समुदायको जलाञ्जलि देनी चाहिये ॥ १७ ॥

कल्माषगोयुगेनाथ युक्तेन तरतो जलम्।
पितरोऽभिलषन्ते वै नावं चाप्यधिरोहिताः ॥ १८ ॥

जो चितकबरे रंगके बैलोंसे जुती गाड़ीपर बैठकर नदीके जलको पार कर रहा हो, उसके पितर इस समय मानो नावपर बैठकर उससे जलाञ्जलि पानेकी इच्छा रखते हैं ॥

सदा नावि जलं तज्ज्ञाः प्रयच्छन्ति समाहिताः।
मासार्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निर्वपणानि वै ॥ १९ ॥
पुष्टिरायुस्तथा वीर्यं श्रीश्चैव पितृभक्तितः।

अतः जो इस बातको जानते हैं, वे एकाग्रचित्त हो नावपर बैठनेपर सदा ही पितरोंके लिये जल दिया करते हैं। महीनेका आधा समय बीत जानेपर कृष्णपक्षकी अमावास्या तिथिको अवश्य श्राद्ध करना चाहिये। पितरोंकी भक्तिसे मनुष्य को पुष्टि, आयु, वीर्य और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ १९½ ॥

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा ॥ २० ॥
अङ्गिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः।
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः ॥ २१ ॥
एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधिः परः।

कुरुकुलश्रेष्ठ! ब्रह्मा, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अङ्गिरा, क्रतु और महर्षि कश्यप—ये सात ऋषि महान् योगेश्वर और पितर माने गये हैं। राजन्! इस प्रकार यह श्राद्धकी उत्तम विधि बतायी गयी ॥ २०-२१½ ॥

प्रेतास्तु पिण्डसम्बन्धान्मुच्यन्ते तेन कर्मणा ॥ २२ ॥
इत्येषा पुरुषश्रेष्ठ श्राद्धोत्पत्तिर्यथागमम्।
व्याख्याता पूर्वनिर्दिष्टा दानं वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २३ ॥

प्रेत (मरे हुए पिता आदि) पिण्डके सम्बन्धसे प्रेतत्व-के कष्टसे छुटकारा पा जाते हैं। पुरुषश्रेष्ठ! यह मैंने शास्त्रके अनुसार तुम्हें पूर्वमें बताये श्राद्धकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग विस्तार-पूर्वक बताया है। अब दानके विषयमें बताऊँगा ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि श्राद्धकल्पे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें श्राद्धकल्पविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

गृहस्थके धर्मोंका रहस्य, प्रतिग्रहके दोष बतानेके लिये वृषादर्भि और सप्तर्षियोंकी कथा, भिक्षुरूपधारी इन्द्रके द्वारा कृत्याका वध करके सप्तर्षियोंकी रक्षा तथा कमलोंकी चोरीके विषयमें शपथ खानेके बहानेसे धर्मपालनका संकेत

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता हविस्ते यदि भुञ्जते।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि व्रतधारी विप्र किसी ब्राह्मणकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसके घर श्राद्धका अन्न भोजन कर ले तो इसे आप कैसा मानते हैं? (अपने व्रतका लोप करना उचित है या ब्राह्मणकी प्रार्थना अस्वीकार करना) ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रताश्चैव भुञ्जानाः कामकारणे।
वेदोक्तेषु तु भुञ्जाना व्रतलुप्ता युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! जो वेदोक्त व्रतका पालन नहीं करते, वे ब्राह्मणकी इच्छापूर्तिके लिये श्राद्धमें भोजन कर सकते हैं; किंतु जो वैदिक व्रतका पालन कर रहे हों, वे यदि किसीके अनुरोधसे श्राद्धका अन्न ग्रहण करते हैं तो उनका व्रत भङ्ग हो जाता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः।
तपः स्यादेतदेवेह तपोऽन्यद् वापि किं भवेत् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा--पितामह ! साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहा करते हैं, उसके सम्बन्धमें आपकी क्या धारणा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि वास्तवमें उपवास ही तप है या उसका और कोई स्वरूप है ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

मासार्धमासोपवासाद् यत् तपो मन्यते जनः।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा--राजन् ! जो लोग पंद्रह दिन या एक महीनेतक उपवास करके उसे तपस्या मानते हैं, वे व्यर्थ ही अपने शरीरको कष्ट देते हैं। वास्तवमें केवल उपवास करनेवाले न तपस्वी हैं, न धर्मज्ञ ॥ ४ ॥

त्यागस्य चापि सम्पत्तिः शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी तथैव च ॥ ५ ॥
मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो वेदांश्चैव सदा जपेत्।

त्यागका सम्पादन ही सबसे उत्तम तपस्या है। ब्राह्मणको सदा उपवासी (व्रतपरायण), ब्रह्मचारी, मुनि और वेदोंका स्वाध्यायी होना चाहिये ॥ ५½ ॥

कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च मानवः ॥ ६ ॥
अमांसाशी सदा च स्यात् पवित्रं च सदा पठेत्।
ऋतवादी सदा च स्यान्नियतश्च सदा भवेत् ॥ ७ ॥
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः।
अमृताशी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत् ॥ ८ ॥

धर्मपालनकी इच्छासे ही उसको स्त्री आदि कुटुम्बका संग्रह करना चाहिये (विषयभोगके लिये नहीं)। ब्राह्मणको उचित है कि वह सदा जाग्रत् रहे, मांस कभी न खाय, पवित्रभावसे सदा वेदका पाठ करे, सदा सत्य भाषण करे और इन्द्रियोंको संयममें रक्खे। उसको सदा अमृताशी, विघसाशी और अतिथिप्रिय तथा सदा पवित्र रहना चाहिये ॥ ६-८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी च पार्थिव।
विघसाशी कथं च स्यात् कथं चैवातिथिप्रियः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा--पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मण कैसे सदा उपवासी और ब्रह्मचारी होवे ? तथा किस प्रकार वह विघसाशी एवं अतिथिप्रिय हो सकता है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं च यो नरः।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा--युधिष्ठिर ! जो मनुष्य केवल प्रातःकाल और सायंकालमें ही भोजन करता है, बीचमें कुछ नहीं खाता, उसे सदा उपवासी समझना चाहिये ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह।
ऋतवादी सदा च स्याद् दानशीलस्तु मानवः ॥ ११ ॥

जो केवल ऋतुकालमें धर्मपत्नीके साथ सहवास करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है। सदा दान देनेवाला पुरुष सत्यवादी ही समझने योग्य है ॥ ११ ॥

अभक्षयन् वृथा मांसममांसाशी भवत्युत।
दानं ददत् पवित्री स्यादस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

जो मांस नहीं खाता, वह अमांसाशी होता है और जो सदा दान देनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिनमें नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला माना जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु नरः सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भृत्यों[1] और अतिथियोंके भोजन कर लेनेके बाद ही स्वयं भोजन करता है, उसे केवल अमृत भोजन करनेवाला (अमृताशी) समझना चाहिये ॥ १३ ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नाति ब्राह्मणेषु तु यो नरः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जबतक ब्राह्मण भोजन नहीं कर लें तबतक जो अन्न ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य अपने उस व्रतके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय पाता है ॥ १४ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च संश्रितेभ्यस्तथैव च।
अवशिष्टानि यो भुङ्क्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥
तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणः स्मृताः।
उपस्थिता ह्यप्सरसो गन्धर्वैश्च जनाधिप ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! जो देवताओं, पितरों और आश्रितोंको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको ही स्वयं भोजन करता है, उसे विघसाशी कहते हैं। उन मनुष्योंको ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उनकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ १५-१६ ॥

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभ्यश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रेण तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और अतिथियोंसहित पितरोंके लिये अन्नका भाग देकर स्वयं भोजन करते हैं, वे इस जगत्‌में पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और मृत्युके पश्चात् उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च।

---
[1] पोष्यवर्ग।

दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वै को विशेषः पितामह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! लोग ब्राह्मणोंको नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान करते हैं । दान देने और दान लेनेवाले पुरुषोंमें क्या विशेषता होती है ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात् तथैवासाधुतो द्विजः ।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो ब्राह्मण साधु अर्थात् उत्तम गुण-आचरणवाले पुरुषसे तथा असाधु अर्थात् दुर्गुण और दुराचारवाले पुरुषसे दान ग्रहण करता है, उनमें सद्‌गुणी-सदाचारवाले पुरुषसे दान लेना अल्प दोष है । किंतु दुर्गुण और दुराचारवालेसे दान लेनेवाला पापमें डूब जाता है ॥ १९ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृषादर्भेश्च संवादं सप्तर्षीणां च भारत ॥ २० ॥

भारत ! इस विषयमें राजा वृषादर्भि और सप्तर्षियोंके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २० ॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
विश्वामित्रो जमदग्निः साध्वी चैवाप्यरुन्धती ॥ २१ ॥
सर्वेषामथ तेषां तु गण्डाभूत् कर्मकारिका ।
शूद्रः पशुसखश्चैव भर्ता चास्या बभूव ह ॥ २२ ॥
ते च सर्वे तपस्यन्तः पुरा चेरुर्महीमिमाम् ।
समाधिनोपशिक्षन्तो ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ २३ ॥

एक समयकी बात है, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि और पतिव्रता देवी अरुन्धती—ये सब लोग समाधिके द्वारा सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेकी इच्छासे तपस्या करते हुए इस पृथ्वीपर विचर रहे थे । इन सबकी सेवा करनेवाली एक दासी थी, जिसका नाम था 'गण्डा' । वह पशुसख नामक एक शूद्रके साथ व्याही गयी थी (पशुसख भी इन्हीं महर्षियोंके साथ रहकर सबकी सेवा किया करता था) ॥ २१–२३ ॥

अथाभवदनावृष्टिर्महती कुरुनन्दन ।
कृच्छ्रप्राणोऽभवद् यत्र लोकोऽयं वै क्षुधान्वितः ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! एक बार पृथ्वीपर दीर्घकालतक वर्षा नहीं हुई । जिससे अकाल पड़ जानेके कारण यह सारा जगत् भूखसे पीड़ित रहने लगा । लोग बड़ी कठिनाईसे अपने प्राणोंकी रक्षा करते थे ॥ २४ ॥

कस्मिंश्चिच्च पुरा यज्ञे शैब्येन शिबिसूनुना ।
दक्षिणार्थेऽथ ऋत्विग्भ्यो दत्तः पुत्रः पुरा किल ॥ २५ ॥

पूर्वकालमें शिबिके पुत्र शैब्यने किसी यज्ञमें दक्षिणाके रूपमें अपना एक पुत्र ही ऋत्विजोंको दे दिया था ॥ २५ ॥

अस्मिन् कालेऽथ सोऽल्पायुर्दिष्टान्तमगमत् प्रभुः ।
ते तं क्षुधाभिसंतप्ताः परिवार्योपतस्थिरे ॥ २६ ॥

उस दुर्भिक्षके समय वह अल्पायु राजकुमार मृत्युको प्राप्त हो गया । वे सप्तर्षि भूखसे पीड़ित थे, इसलिये उस मरे हुए बालकको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥

वृषादर्भिरुवाच

(प्रतिग्रहो ब्राह्मणानां सृष्टा वृत्तिरनिन्दिता ।)
प्रतिग्रहस्तारयति पुष्टिर्वै प्रतिगृह्यताम् ।
मयि यद् विद्यते वित्तं तद् वृणुध्वं तपोधनाः ॥ २७ ॥

तब वृषादर्भि बोले—प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके लिये उत्तम वृत्ति नियत किया गया है । तपोधन ! प्रतिग्रह दुर्भिक्ष और भूखके कष्टसे ब्राह्मणकी रक्षा करता है तथा पुष्टिका उत्तम साधन है । अतः मेरे पास जो धन है, उसे आप स्वीकार करें और ले लें ॥ २७ ॥

प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानो
दद्यामहं वोऽश्वतरीसहस्रम् ।
एकैकशः सवृषाः सम्प्रसूताः
सर्वेषां वै शीघ्रगाः श्वेतरोमाः ॥ २८ ॥

क्योंकि जो ब्राह्मण मुझसे याचना करता है, वह मुझे बहुत प्रिय लगता है । मैं आपलोगोंमेंसे प्रत्येकको एक हजार खचरियाँ देता हूँ तथा सभीको सफेद रोएँवाली शीघ्रगामिनी एवं ब्यायी हुई गौएँ साँड़ोंसहित देनेको उद्यत हूँ ॥ २८ ॥

कुलंभराननडुहः शतं शतान्
धुर्याञ्छ्वेतान् सर्वशोऽहं ददामि ।
प्रष्ठौहीनां पीवराणां च ताव-
दग्र्या गृष्ट्यो धेनवः सुव्रताश्च ॥ २९ ॥

साथ ही एक कुलका भार वहन करनेवाले दस हजार भारवाहक सफेद बैल भी आप सब लोगोंको दे रहा हूँ । इतना ही नहीं, मैं आप सब लोगोंको जवान, मोटी-ताजी, पहली बारकी ब्यायी हुई, अच्छे स्वभाववाली श्रेष्ठ एवं दुधारू गौएँ भी देता हूँ ॥ २९ ॥

वरान् ग्रामान् व्रीहिरसं यवांश्च
रत्नं चान्यद् दुर्लभं किं ददानि ।
नास्मिन्नभक्ष्ये भावमेवं कुरुध्वं
पुष्ट्यर्थं वः किं प्रयच्छाम्यहं वै ॥ ३० ॥

इनके सिवा अच्छे-अच्छे गाँव, धान, रस, जौ, रत्न तथा और भी अनेक दुर्लभ वस्तुएँ प्रदान कर सकता हूँ । बतलाइये, मैं आपको क्या दूँ ? आप इस अभक्ष्य वस्तुके भक्षणमें मन न लगावें । कहिये, आपके शरीरकी पुष्टिके लिये मैं क्या दूँ ? ॥ ३० ॥

ऋषय ऊचुः

राजन् प्रतिग्रहो राज्ञां मध्वास्वादो विषोपमः।
तज्जानमानः कस्मात् त्वं कुरुषे नः प्रलोभनम्॥ ३१॥

ऋषि बोले—राजन्! राजाका दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, परंतु परिणाममें विषके समान भयङ्कर हो जाता है। इस बातको जानते हुए भी आप क्यों हमें प्रलोभनमें डाल रहे हैं॥ ३१॥

क्षेत्रं हि दैवतमिदं ब्राह्मणान् समुपाश्रितम्।
अमलो ह्येष तपसा प्रीतः प्रीणाति देवताः॥ ३२॥

ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है, उसमें सभी देवता विद्यमान रहते हैं। यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं संतुष्ट हो तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न करता है॥ ३२॥

अह्नापहि तपो जातु ब्राह्मणस्योपजायते।
तद् दाव इव निर्दह्यात् प्राप्तो राजप्रतिग्रहः॥ ३३॥

ब्राह्मण दिनभरमें जितना तप संग्रह करता है, उसको राजाका दिया हुआ दान वनको दग्ध करनेवाले दावानलकी भाँति नष्ट कर डालता है॥ ३३॥

कुशलं सह दानेन राजन्नस्तु सदा तव।
अर्थिभ्यो दीयतां सर्वमित्युक्त्वान्येन ते ययुः॥ ३४॥

राजन्! इस दानके साथ ही आप सदा सकुशल रहें और यह सारा दान आप उन्हींको दें, जो आपसे इन वस्तुओंको लेना चाहते हों। ऐसा कहकर वे दूसरे मार्गसे चल दिये॥ ३४॥

ततः प्रचोदिता राज्ञा वनं गत्वास्य मन्त्रिणः।
प्रचीयोदुम्बराणि स्म दातुं तेषां प्रचक्रिरे॥ ३५॥

तब राजाकी प्रेरणासे उनके मन्त्री वनमें गये और गूलरके फल तोड़कर उन्हें देनेकी चेष्टा करने लगे॥ ३५॥

उदुम्बराण्यथान्यानि हेमगर्भाण्युपाहरन्।
भृत्यास्तेषां ततस्तानि प्रग्राहितुमुपाद्रवन्॥ ३६॥

मन्त्रियोंने गूलर तथा दूसरे-दूसरे वृक्षोंके फल तोड़कर उनमें स्वर्ण-मुद्राएँ भर दीं। फिर उन फलोंको लेकर राजाके सेवक उन्हें ऋषियोंके हवाले करनेके लिये उनके पीछे दौड़े गये॥ ३६॥

गुरूणीति विदित्वाथ न ग्राह्याण्यत्रिरब्रवीत्।
न स्महे मन्दविज्ञाना न स्महे मन्दबुद्धयः॥ ३७॥
हैमानीमानि जानीमः प्रतिबुद्धाः स्म जागृम।
इह ह्येतदुपादत्तं प्रेत्य स्यात् कटुकोदयम्।
अप्रतिग्राह्यमेवैतत् प्रेत्येह च सुखेप्सुना॥ ३८॥

वे सभी फल भारी हो गये थे, इस बातको महर्षि अत्रि ताड़ गये और बोले—'ये गूलर हमारे लेने योग्य नहीं हैं। हमारी बुद्धि मन्द नहीं हुई है। हमारी ज्ञानशक्ति लुप्त नहीं हुई है। हम सो नहीं रहे हैं, जागते हैं। हमें अच्छी तरह



ज्ञात है कि इनके भीतर सुवर्ण भरा पड़ा है। यदि आज हम इन्हें स्वीकार कर लेते हैं तो परलोकमें हमें इनका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा। जो इहलोक और परलोकमें भी सुख चाहता हो, उसके लिये यह फल अग्राह्य है'॥ ३७-३८॥

वसिष्ठ उवाच

शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च सम्मितम्।
तथा बहु प्रतीच्छन् वै पापिष्ठां पतते गतिम्॥ ३९॥

वसिष्ठ बोले—एक निष्क (स्वर्णमुद्रा) का दान लेनेसे सौ हजार निष्कोंके दान लेनेका दोष लगता है। ऐसी दशामें जो बहुत-से निष्क ग्रहण करता है, उसको तो घोर पापमयी गतिमें गिरना पड़ता है॥ ३९॥

कश्यप उवाच

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं तन्नालमेकस्य तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत्॥ ४०॥

कश्यपने कहा—इस पृथ्वीपर जितने धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब किसी एक पुरुषको मिल जायँ तो भी उसे संतोष न होगा; यह सोचकर विद्वान् पुरुष अपने मनकी तृष्णाको शान्त करे॥ ४०॥

भरद्वाज उवाच

उत्पन्नस्य रुरोः शृङ्गं वर्धमानस्य वर्धते।
प्रार्थना पुरुषस्येव तस्य मात्रा न विद्यते॥ ४१॥

भरद्वाज बोले—जैसे उत्पन्न हुए मृगका सींग उसके बढ़नेके साथ-साथ बढ़ता रहता है, उसी प्रकार मनुष्यकी तृष्णा

सदा बढ़ती ही रहती है, उसकी कोई सीमा नहीं है ॥ ४१ ॥

गौतम उवाच

न तल्लोके द्रव्यमस्ति यल्लोकं प्रतिपूरयेत्।
समुद्रकल्पः पुरुषो न कदाचन पूर्यते ॥ ४२ ॥

गौतमने कहा—संसारमें ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो मनुष्यकी आशाका पेट भर सके। पुरुषकी आशा समुद्रके समान है, वह कभी भरती ही नहीं ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र उवाच

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामस्तृष्णाविध्यति बाणवत् ॥ ४३ ॥

विश्वामित्र बोले—किसी वस्तुकी कामना करनेवाले मनुष्यकी एक इच्छा जब पूरी होती है, तब दूसरी नयी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार तृष्णा तीरकी तरह मनुष्यके मनपर चोट करती ही रहती है ॥ ४३ ॥

(*अत्रिरुवाच*

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥)

अत्रि बोले—भोगोंकी कामना उनके उपभोगसे कभी नहीं शान्त होती है। अपितु घीकी आहुति पड़नेपर प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है ॥

जमदग्निरुवाच

प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम्।
तद् धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत् ॥ ४४ ॥

जमदग्निने कहा—प्रतिग्रह न लेनेसे ही ब्राह्मण अपनी तपस्याको सुरक्षित रख सकता है। तपस्या ही ब्राह्मणका धन है। जो लौकिक धनके लिये लोभ करता है, उसका तपरूपी धन नष्ट हो जाता है ॥ ४४ ॥

अरुन्धत्युवाच

धर्मार्थं संचयो यो वै द्रव्याणां पक्षसम्मतः।
तपःसंचय एवेह विशिष्टो द्रव्यसंचयात् ॥ ४५ ॥

अरुन्धती बोलीं—संसारमें एक पक्षके लोगोंकी राय है कि धर्मके लिये धनका संग्रह करना चाहिये; किंतु मेरी रायमें धन-संग्रहकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥

गण्डोवाच

उग्रादितो भयाद् यस्माद् बिभ्यतीमे ममेश्वराः।
बलीयांसो दुर्बलवद् बिभेम्यहमतः परम् ॥ ४६ ॥

गण्डाने कहा—मेरे ये मालिक लोग अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी जब इस भयंकर प्रतिग्रहके भयसे इतना डरते हैं, तब मेरी क्या सामर्थ्य है ! मुझे तो दुर्बल प्राणियोंकी भाँति इससे बहुत बड़ा भय लग रहा है ॥ ४६ ॥

पशुसख उवाच

यद् वै धर्मे परं नास्ति ब्राह्मणास्तद्धनं विदुः।
विनयार्थं सुविद्वांसमुपासेयं यथातथम् ॥ ४७ ॥

पशुसखने कहा—धर्मका पालन करनेपर जिस धनकी प्राप्ति होती है उससे बढ़कर कोई धन नहीं है। उस धनको ब्राह्मण ही जानते हैं; अतः मैं भी उसी धर्ममय धनकी प्राप्तिका उपाय सीखनेके लिये विद्वान् ब्राह्मणोंकी सेवामें लगा हूँ ॥

ऋषय ऊचुः

कुशलं सह दानेन तस्मै यस्य प्रजा इमाः।
फलान्युपधियुक्तानि य एवं नः प्रयच्छति ॥ ४८ ॥

ऋषियोंने कहा—जिसकी प्रजा ये कपटयुक्त फल देनेके लिये ले आयी है तथा जो इस प्रकार फलके व्याजसे हमें सुवर्णदान कर रहा है, वह राजा अपने दानके साथ ही कुशलसे रहे ॥ ४८ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा हेमगर्भाणि हित्वा तानि फलानि वै।
ऋषयो जग्मुरन्यत्र सर्व एव धृतव्रताः ॥ ४९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह कहकर उन सुवर्णयुक्त फलोंका परित्याग करके वे समस्त व्रतधारी महर्षि वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ ४९ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

उपधिं शङ्कमानास्ते हित्वा तानि फलानि वै।
ततोऽन्येनैव गच्छन्ति विदितं तेऽस्तु पार्थिव ॥ ५० ॥

तब मन्त्रियोंने शैब्यके पास जाकर कहा—महाराज ! आपको विदित हो कि उन फलोंको देखते ही ऋषियोंको यह संदेह हुआ कि हमारे साथ छल किया जा रहा है। इसलिये वे फलोंका परित्याग करके दूसरे मार्गसे चले गये हैं ॥

इत्युक्तः स तु भृत्यैस्तैर्वृषादर्भिश्चुकोप ह।
तेषां वै प्रतिकर्तुं च सर्वेषामगमद् गृहम् ॥ ५१ ॥

सेवकोंके ऐसा कहनेपर राजा वृषादर्भिको बड़ा कोप हुआ और वे उन सप्तर्षियोंसे अपने अपमानका बदला लेनेका विचार करके राजधानीको लौट गये ॥ ५१ ॥

स गत्वा हवनीयेऽग्नौ तीव्रं नियममास्थितः।
जुहाव संस्कृतैर्मन्त्रैरेकैकामाहुतिं नृपः ॥ ५२ ॥

वहाँ जाकर अत्यन्त कठोर नियमोंका पालन करते हुए वे आहवनीय अग्निमें आभिचारिक मन्त्र पढ़कर एक-एक आहुति डालने लगे ॥ ५२ ॥

तस्मादग्नेः समुत्तस्थौ कृत्या लोकभयंकरी।
तस्या नाम वृषादर्भिर्यातुधानीत्यथाकरोत् ॥ ५३ ॥

आहुति समाप्त होनेपर उस अग्निसे एक लोकभयंकर कृत्या प्रकट हुई। राजा वृषादर्भिने उसका नाम यातुधानी रखा ॥ ५३ ॥

सा कृत्या कालरात्रीव कृताञ्जलिरुपस्थिता।
वृषादर्भिं नरपतिं किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ ५४ ॥

कालरात्रिके समान विकराल रूप धारण करनेवाली वह कृत्या हाथ जोड़कर राजाके पास उपस्थित हुई और बोली—'महाराज ! मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ?' ॥५४॥

वृषादर्भिरुवाच

ऋषीणां गच्छ सप्तानामरुन्धत्यास्तथैव च।
दासीभर्तुश्च दास्याश्च मनसा नाम धारय ॥ ५५ ॥
ज्ञात्वा नामानि चैवैषां सर्वानेतान् विनाशय।
विनष्टेषु तथा स्वैरं गच्छ यत्रेप्सितं तव ॥ ५६ ॥

वृषादर्भिने कहा—यातुधानी ! तुम यहाँसे वनमें जाओ और वहाँ अरुन्धतीसहित सातों ऋषियोंका, उनकी दासीका और उस दासीके पतिका भी नाम पूछकर उसका तात्पर्य अपने मनमें धारण करो। इस प्रकार उन सबके नामोंका अर्थ समझकर उन्हें मार डालो; उसके बाद जहाँ इच्छा हो चली जाना ॥ ५५-५६ ॥

सा तथेति प्रतिश्रुत्य यातुधानी स्वरूपिणी।
जगाम तद् वनं यत्र विचेरुस्ते महर्षयः ॥ ५७ ॥

राजाकी यह आज्ञा पाकर यातुधानीने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार किया और जहाँ वे महर्षि विचरा करते थे, उस वनमें चली गयी ॥ ५७ ॥

भीष्म उवाच

अथात्रिप्रमुखा राजन् वने तस्मिन् महर्षयः।
व्यचरन् भक्षयन्तो वै मूलानि च फलानि च ॥ ५८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उन दिनों वे अत्रि आदि महर्षि उस वनमें फल-मूलका आहार करते हुए घूमा करते थे॥

अथापश्यन् सुपीनांसपाणिपादमुखोदरम्।
परिव्रजन्तं स्थूलाङ्गं परिव्राजं शुना सह ॥ ५९ ॥

एक दिन उन महर्षियोंने देखा, एक संन्यासी कुत्तेके साथ वहाँ इधर-उधर विचर रहा है। उसका शरीर बहुत मोटा था; उसके मोटे कंधे, हाथ, पैर, मुख और पेट आदि सभी अङ्ग सुन्दर और सुडौल थे ॥ ५९ ॥

अरुन्धती तु तं दृष्ट्वा सर्वाङ्गोपचितं शुभम्।
भवितारो भवन्तो वै नैवमित्यब्रवीदृषीन् ॥ ६० ॥

अरुन्धतीने सारे अङ्गोंसे हृष्ट-पुष्ट हुए उस सुन्दर संन्यासीको देखकर ऋषियोंसे कहा—'क्या आपलोग कभी ऐसे नहीं हो सकेंगे' ? ॥ ६० ॥

वसिष्ठ उवाच

नैतस्येह यथास्माकमग्निहोत्रमनिर्हुतम्।
सायं प्रातश्च होतव्यं तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६१ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हमलोगोंकी तरह इसको इस बातकी चिन्ता नहीं है कि आज हमारा अग्निहोत्र नहीं हुआ और सबेरे तथा शामको अग्निहोत्र करना है; इसीलिये यह कुत्तेके साथ खूब मोटा-ताजा हो गया है ॥ ६१ ॥

अत्रिरुवाच

नैतस्येह यथास्माकं क्षुधा वीर्यं समाहतम्।
कृच्छ्राधीतं प्रणष्टं च तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६२ ॥

अत्रि बोले—हमलोगोंकी तरह भूखके मारे उसकी सारी शक्ति नष्ट नहीं हो गयी है तथा बड़े कष्टसे जो वेदोंका अध्ययन किया गया था, वह भी हमारी तरह इसका नष्ट नहीं हुआ है; इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥

विश्वामित्र उवाच

नैतस्येह यथास्माकं शश्वच्छास्त्रं जरद्गवः।
अलसः क्षुत्परो मूर्खस्तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६३ ॥

विश्वामित्रने कहा—हमलोगोंका भूखके मारे सनातन शास्त्र विस्मृत हो गया है और शास्त्रोक्त धर्म भी क्षीण हो चला है। ऐसी दशा इसकी नहीं है तथा यह आलसी, केवल पेटकी भूख बुझानेमें ही लगा हुआ और मूर्ख है। इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६३ ॥

जमदग्निरुवाच

नैतस्येह यथास्माकं भक्तमिन्धनमेव च।
संचिन्त्यं वार्षिकं चित्ते तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६४ ॥

जमदग्नि बोले—हमारी तरह इसके मनमें वर्ष-भरके लिये भोजन और ईंधन जुटानेकी चिन्ता नहीं है, इसीलिये कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥६४॥

कश्यप उवाच

नैतस्येह यथास्माकं चत्वारश्च सहोदराः।
देहि देहीति भिक्षन्ति तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६५ ॥

कश्यपने कहा—हमलोगोंके चार भाई हमसे प्रतिदिन 'भोजन दो, भोजन दो' कहकर अन्न माँगते हैं, अर्थात् हमलोगोंको एक भारी कुटुम्बके भोजन-वस्त्रकी चिन्ता करनी पड़ती है। इस संन्यासीको यह सब चिन्ता नहीं है। अतः यह कुत्तेके साथ मोटा है ॥ ६५ ॥

भरद्वाज उवाच

नैतस्येह यथास्माकं ब्रह्मबन्धोरचेतसः।
शोको भार्यापवादेन तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६६ ॥

भरद्वाज बोले—इस विवेकशून्य ब्राह्मणबन्धुको हमलोगोंकी तरह अपनी स्त्रीके कलङ्कित होनेका शोक नहीं है। इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६६ ॥

गौतम उवाच

नैतस्येह यथास्माकं त्रिकौशेयं च राङ्कवम्।
एकैकं वै त्रिवर्षीयं तेन पीवाञ्छुना सह ॥ ६७ ॥

गौतम बोले—हमलोगोंकी तरह इसे तीन-तीन वर्षोंतक कुशकी रस्सीकी बनी हुई तीन लरवाली मेखला और मृगचर्म धारण करके नहीं रहना पड़ता है। इसीलिये यह कुत्तेके साथ मोटा हो गया है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

अथ दृष्ट्वा परिव्राट् स तान् महर्षीन् शुना सह ।
अभिगम्य यथान्यायं पाणिस्पर्शमथाचरत् ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कुत्तेसहित आये हुए संन्यासीने जब उन महर्षियोंको देखा, तब उनके पास आकर संन्यासकी मर्यादाके अनुसार उनका हाथसे स्पर्श किया ॥ ६८ ॥

परिचर्यां वने तां तु क्षुत्प्रतीघातकारिकाम् ।
अन्योन्येन निवेद्याथ प्रातिष्ठन्त सहैव ते ॥ ६९ ॥

तदनन्तर वे एक दूसरेको अपना कुशल-समाचार बताते हुए बोले—'हमलोग अपनी भूख मिटानेके लिये इस वनमें भ्रमण कर रहे हैं' ऐसा कहकर वे साथ-ही-साथ वहाँसे चल पड़े ॥ ६९ ॥

एकनिश्चयकार्याश्च व्यचरन्त वनानि ते ।
आददानाः समुद्धृत्य मूलानि च फलानि च ॥ ७० ॥

उन सबके निश्चय और कार्य एक-से थे। वे फल-मूलका संग्रह करके उन्हें साथ लिये उस वनमें विचर रहे थे ॥ ७० ॥

कदाचिद् विचरन्तस्ते वृक्षैरविरलैर्वृताम् ।
शुचिवारिप्रसन्नोदां ददृशुः पद्मिनीं शुभाम् ॥ ७१ ॥

एक दिन घूमते-फिरते हुए उन महर्षियोंको एक सुन्दर सरोवर दिखायी पड़ा; जिसका जल बड़ा ही स्वच्छ और पवित्र था। उसके चारों किनारोंपर सघन वृक्षोंकी पङ्क्ति शोभा पा रही थी ॥ ७१ ॥

बालादित्यवपुःप्रख्यैः पुष्करैरुपशोभिताम् ।
वैदूर्यवर्णसदृशैः पद्मपत्रैरथावृताम् ॥ ७२ ॥

प्रातःकालीन सूर्यके समान अरुण रङ्गके कमलपुष्प उस सरोवरकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वैदूर्यमणिकी-सी कान्तिवाले कमलिनीके पत्ते उसमें चारों ओर छा रहे थे ॥ ७२ ॥

नानाविधैश्च विहगैर्जलप्रकरसेविभिः ।
एकद्वारामनादेयां सूपतीर्थामकर्दमाम् ॥ ७३ ॥

नाना प्रकारके विहङ्गम कलरव करते हुए उसकी जलराशिका सेवन करते थे। उसमें प्रवेश करनेके लिये एक ही द्वार था। उसकी कोई वस्तु ली नहीं जा सकती थी। उसमें उतरनेके लिये बहुत सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। वहाँ काई और कीचड़का तो नाम भी नहीं था ॥ ७३ ॥

वृषादर्भिप्रयुक्ता तु कृत्या विकृतदर्शना ।
यातुधानीति विख्याता पद्मिनीं तामरक्षत ॥ ७४ ॥

राजा वृषादर्भिकी भेजी हुई भयानक आकारवाली यातुधानी कृत्या उस तालाबकी रक्षा कर रही थी ॥ ७४ ॥

पशुसखसहायास्तु बिसार्थं ते महर्षयः ।
पद्मिनीमभिजग्मुस्ते सर्वे कृत्याभिरक्षिताम् ॥ ७५ ॥

पशुसखके साथ वे सभी महर्षि मृणाल लेनेके लिये उस सरोवरके तटपर गये, जो उस कृत्याके द्वारा सुरक्षित था ॥ ७५ ॥

ततस्ते यातुधानीं तां दृष्ट्वा विकृतदर्शनाम् ।
स्थितां कमलिनीतीरे कृत्यामूचुर्महर्षयः ॥ ७६ ॥

सरोवरके तटपर खड़ी हुई उस यातुधानी कृत्याको, जो बड़ी विकराल दिखायी देती थी, देखकर वे सब महर्षि बोले— ॥ ७६ ॥



एका तिष्ठसि का च त्वं कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ।
पद्मिनीतीरमाश्रित्य ब्रूहि त्वं किं चिकीर्षसि ॥ ७७ ॥

'अरी! तू कौन है और किसलिये यहाँ अकेली खड़ी है? यहाँ तेरे आनेका क्या प्रयोजन है? इस सरोवरके तटपर रहकर तू कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहती है?' ॥ ७७ ॥

यातुधान्युवाच

यास्मि सास्म्यनुयोगो मे न कर्तव्यः कथंचन ।
आरक्षिणीं मां पद्मिन्या वित्त सर्वे तपोधनाः ॥ ७८ ॥

यातुधानी बोली—तपस्वियो! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरे विषयमें पूछ-ताछ करनेका किसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है। तुम इतना ही जान लो कि मैं इस सरोवरका संरक्षण करनेवाली हूँ ॥ ७८ ॥

ऋषय ऊचुः

सर्व एव क्षुधार्ताः स्म न चान्यत् किंचिदस्ति नः।
भवत्याः सम्मते सर्वे गृह्णीयाम बिसान्युत ॥ ७९ ॥

ऋषि बोले—भद्रे ! इस समय हमलोग भूखसे व्याकुल हैं और हमारे पास खानेके लिये दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः यदि तुम अनुमति दो तो हम सब लोग इस सरोवरसे कुछ मृणाल ले लें ॥ ७९ ॥

यातुधान्युवाच

समयेन बिसानीतो गृह्णीध्वं कामकारतः।
एकैको नाम मे प्रोक्त्वा ततो गृह्णीत माचिरम् ॥ ८० ॥

यातुधानीने कहा—ऋषियो ! एक शर्तपर तुम इस सरोवरसे इच्छानुसार मृणाल ले सकते हो। एक-एक करके आओ और मुझे अपना नाम और तात्पर्य बताकर मृणाल ले लो। इसमें विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥८०॥

भीष्म उवाच

विज्ञाय यातुधानीं तां कृत्यामृषिवधैषिणीम्।
अत्रिः क्षुधापरीतात्मा ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसकी यह बात सुनकर महर्षि अत्रि यह समझ गये कि 'यह राक्षसी कृत्या है और हम सब ऋषियोंका वध करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हुई है।' तथापि भूखसे व्याकुल होनेके कारण उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ८१ ॥

अत्रिरुवाच

अरात्रिरत्रिः सा रात्रिर्या नाधीते त्रिरद्य वै।
अरात्रिरत्रिरित्येव नाम मे विद्धि शोभने ॥ ८२ ॥

अत्रि बोले—कल्याणी ! काम आदि शत्रुओंसे त्राण करनेवालेको अरात्रि कहते हैं और अत् (मृत्यु) से बचानेवाला अत्रि कहलाता है। इस प्रकार मैं ही अरात्रि होनेके कारण अत्रि हूँ। जबतक जीवको एकमात्र परमात्माका ज्ञान नहीं होता, तबतककी अवस्था रात्रि कहलाती है। उस अज्ञानावस्थासे रहित होनेके कारण भी मैं अरात्रि एवं अत्रि कहलाता हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अज्ञात होनेके कारण जो रात्रिके समान है, उस परमात्मतत्त्वमें मैं सदा जाग्रत् रहता हूँ; अतः वह मेरे लिये अरात्रिके समान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी मैं अरात्रि और अत्रि (ज्ञानी) नाम धारण करता हूँ। यही मेरे नामका तात्पर्य समझो ॥ ८२ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महाद्युते।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८३ ॥

यातुधानीने कहा—तेजस्वी महर्षे ! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बताया है, उसका मेरी समझमें आना कठिन है। अच्छा, अब आप जाइये और तालाबमें उतरिये ॥ ८३ ॥

वसिष्ठ उवाच

वसिष्ठोऽस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि।
वसिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम् ॥ ८४ ॥

वसिष्ठ बोले—मेरा नाम वसिष्ठ है, सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं। मैं गृहस्थ-आश्रममें वास करता हूँ; अतः वसिष्ठता (ऐश्वर्य-सम्पत्ति) और वासके कारण तुम मुझे वसिष्ठ समझो ॥ ८४ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८५ ॥

यातुधानी बोली—मुने ! आपने जो अपने नामकी व्याख्या की है उसके तो अक्षरोंका भी उच्चारण करना कठिन है। मैं इस नामको नहीं याद रख सकती। आप जाइये तालाबमें प्रवेश कीजिये ॥ ८५ ॥

कश्यप उवाच

कुलं कुलं च कुवमः कुवमः कश्यपो द्विजः।
काश्यः काशनिकाशत्वादेतन्मे नाम धारय ॥ ८६ ॥

कश्यपने कहा—यातुधानी ! कश्य नाम है शरीरका, जो उसका पालन करता है उसे कश्यप कहते हैं। मैं प्रत्येक कुल (शरीर) में अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करके उसकी रक्षा करता हूँ, इसीलिये कश्यप हूँ। कु अर्थात् पृथ्वीपर वम यानी वर्षा करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है, इसलिये मुझे 'कुवम' भी कहते हैं। मेरे देहका रंग काशके फूलकी भाँति उज्ज्वल है, अतः मैं काश्य नामसे भी प्रसिद्ध हूँ। यही मेरा नाम है। इसे तुम धारण करो ॥ ८६ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महाद्युते।
दुर्धार्यमेतन्मनसा गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८७ ॥

यातुधानी बोली—महर्षे ! आपके नामका तात्पर्य समझना मेरे लिये बहुत कठिन है। आप भी कमलोंसे भरी हुई बावड़ीमें जाइये ॥ ८७ ॥

भरद्वाज उवाच

भरेऽसुतान् भरेऽशिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्।
भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने ॥ ८८ ॥

भरद्वाजने कहा—कल्याणी ! जो मेरे पुत्र और शिष्य नहीं हैं, उनका भी मैं पालन करता हूँ तथा देवता, ब्राह्मण, अपनी धर्मपत्नी तथा द्वाज (वर्णसंकर) मनुष्यों-का भी भरण पोषण करता हूँ, इसलिये भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ८८ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ८९ ॥

यातुधानी बोली—मुनिवर ! आपके नामाक्षरका उच्चारण करनेमें भी मुझे क्लेश जान पड़ता है, इसलिये मैं इसे धारण नहीं कर सकती । जाइये, आप भी इस सरोवरमें उतरिये ॥ ८९ ॥

गौतम उवाच

गोदमो दमतोऽधूमोऽदमस्ते समदर्शनात् ।
विद्धि मां गौतमं कृत्ये यातुधानि निबोध माम् ॥ ९० ॥

गौतमने कहा—कृत्ये ! मैंने गो नामक इन्द्रियोंका संयम किया है, इसलिये 'गोदम' नाम धारण करता हूँ । मैं धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी हूँ, सबमें समान दृष्टि रखनेके कारण तुम्हारे या और किसीके द्वारा मेरा दमन नहीं हो सकता । मेरे शरीरकी कान्ति (गो) अन्धकारको दूर भगानेवाली (अतम) है, अतः तुम मुझे गौतम समझो ॥ ९० ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महामुने ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९१ ॥

यातुधानी बोली—महामुने ! आपके नामकी व्याख्या भी मैं नहीं समझ सकती । जाइये, पोखरेमें प्रवेश कीजिये ॥ ९१ ॥

विश्वामित्र उवाच

विश्वे देवाश्च मे मित्रं मित्रमस्मि गवां तथा ।
विश्वामित्रमिति ख्यातं यातुधानि निबोध माम् ॥ ९२ ॥

विश्वामित्रने कहा—यातुधानी ! तू कान खोलकर सुन ले, विश्वेदेव मेरे मित्र हैं तथा गौओं और सम्पूर्ण विश्वका मैं मित्र हूँ । इसलिये संसारमें विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ९२ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९३ ॥

यातुधानी बोली—महर्षे ! आपके नामकी व्याख्याके एक अक्षरका भी उच्चारण करना मेरे लिये कठिन है । इसे याद रखना मेरे लिये असम्भव है । अतः जाइये, सरोवरमें प्रवेश कीजिये ॥ ९३ ॥

जमदग्निरुवाच

जाजमद्यजजानेऽहं जिजाहीह जिजायिषि ।
जमदग्निरिति ख्यातस्ततो मां विद्धि शोभने ॥ ९४ ॥

जमदग्निने कहा—कल्याणी ! मैं जगत् अर्थात् देवताओंके आहवनीय अग्निसे उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिये तुम मुझे जमदग्नि नामसे विख्यात समझो ॥ ९४ ॥

यातुधान्युवाच

यथोदाहृतमेतत् ते मयि नाम महामुने ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९५ ॥

यातुधानी बोली—महामुने ! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बतलाया है, उसको समझना मेरे लिये बहुत कठिन है । अब आप सरोवरमें प्रवेश कीजिये ॥ ९५ ॥

अरुन्धत्युवाच

धरान् धरित्रीं वसुधां भर्तुस्तिष्ठाम्यनन्तरम् ।
मनोऽनुरुन्धती भर्तुरिति मां विद्ध्यरुन्धतीम् ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीने कहा—यातुधानी ! मैं अरु अर्थात् पर्वत, पृथ्वी और द्युलोकको अपनी शक्तिसे धारण करती हूँ । अपने स्वामीसे कभी दूर नहीं रहती और उनके मनके अनुसार चलती हूँ, इसलिये मेरा नाम अरुन्धती है ॥ ९६ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९७ ॥

यातुधानी बोली—देवि ! आपने जो अपने नामकी व्याख्या की है, उसके एक अक्षरका भी उच्चारण मेरे लिये कठिन है, अतः इसे भी मैं नहीं याद रख सकती । आप तालाबमें प्रवेश कीजिये ॥ ९७ ॥

गण्डोवाच

वक्त्रैकदेशे गण्डेति धातुमेतं प्रचक्षते ।
तेनोन्नतेन गण्डेति विद्धि मानलसम्भवे ॥ ९८ ॥

गण्डाने कहा—अग्निसे उत्पन्न होनेवाली कृत्ये ! गडि धातुसे गण्ड शब्दकी सिद्धि होती है, यह मुखके एक देश—कपोलका वाचक है । मेरा कपोल (गण्ड) ऊँचा है, इसलिये लोग मुझे गण्डा कहते हैं ॥ ९८ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम् ।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ ९९ ॥

यातुधानी बोली—तुम्हारे नामकी व्याख्याका भी उच्चारण करना मेरे लिये कठिन है । अतः इसको याद रखना असम्भव है । जाओ, तुम भी बावड़ीमें उतरो ॥ ९९ ॥

पशुसख उवाच

पशून् रक्षामि दृष्ट्वाहं पशूनां च सदा सखा ।
गौणं पशुसखेत्येवं विद्धि मामग्निसम्भवे ॥ १०० ॥

पशुसखने कहा—आगसे पैदा हुई कृत्ये ! मैं पशुओंको प्रसन्न रखता हूँ और उनका प्रिय सखा हूँ; इस गुणके अनुसार मेरा नाम पशुसख है ॥ १०० ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते दुःखव्याभाषिताक्षरम्।
नैतद् धारयितुं शक्यं गच्छावतर पद्मिनीम् ॥ १०१॥

यातुधानी बोली—तुमने जो अपने नामकी व्याख्या की है, उसके अक्षरोंका उच्चारण करना भी मेरे लिये कष्टप्रद है। अतः इसको याद नहीं रख सकती; अब तुम भी पोखरेमें जाओ ॥ १०१ ॥

शुनःसख उवाच

एभिरुक्तं यथा नाम नाहं वक्तुमिहोत्सहे।
शुनःसखसखायं मां यातुधान्युपधारय ॥ १०२॥

शुनःसख (संन्यासी) ने कहा—यातुधानी! इन ऋषियोंने जिस प्रकार अपना नाम बताया है; उस तरह मैं नहीं बता सकता। तू मेरा नाम शुनःसख समझ ॥ १०२ ॥

यातुधान्युवाच

नामनैरुक्तमेतत् ते वाक्यं संदिग्धया गिरा।
तस्मात् पुनरिदानीं त्वं ब्रूहि यन्नाम ते द्विज ॥ १०३॥

यातुधानी बोली—विप्रवर! आपने संदिग्धवाणीमें अपना नाम बताया है। अतः अब फिर स्पष्टरूपसे अपने नामकी व्याख्या कीजिये ॥ १०३ ॥

शुनःसख उवाच

सकृदुक्तं मया नाम न गृहीतं त्वया यदि।
तस्मात् त्रिदण्डाभिहता गच्छ भस्मेति मा चिरम् ॥ १०४॥

शुनःसखने कहा—मैंने एक बार अपना नाम बता दिया फिर भी यदि तूने उसे ग्रहण नहीं किया तो इस प्रमादके कारण मेरे इस त्रिदण्डकी मार खाकर अभी भस्म हो जा—इसमें विलम्ब न हो ॥ १०४ ॥

सा ब्रह्मदण्डकल्पेन तेन मूर्ध्नि हता तदा।
कृत्या पपात मेदिन्यां भस्म सा च जगाम ह ॥ १०५॥

यह कहकर उस संन्यासीने ब्रह्मदण्डके समान अपने त्रिदण्डसे उसके मस्तकपर ऐसा हाथ जमाया कि वह यातुधानी पृथ्वीपर गिर पड़ी और तुरंत भस्म हो गयी ॥ १०५ ॥

शुनःसखा च हत्वा तां यातुधानीं महाबलाम्।
भुवि त्रिदण्डं विष्टभ्य शाद्वले समुपाविशत् ॥ १०६॥

इस प्रकार शुनःसखने उस महाबलवती राक्षसीका वध करके त्रिदण्डको पृथ्वीपर रख दिया और स्वयं भी वे वहीं घाससे ढँकी हुई भूमिपर बैठ गये ॥ १०६ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे पुष्कराणि बिसानि च।
यथाकाममुपादाय समुत्तस्थुर्मुदान्विताः ॥ १०७॥

तदनन्तर वे सभी महर्षि इच्छानुसार कमलके फूल और मृणाल लेकर प्रसन्नतापूर्वक सरोवरसे बाहर निकले ॥ १०७ ॥

श्रमेण महता कृत्वा ते बिसानि कलापशः।
तीरे निक्षिप्य पद्मिन्यास्तर्पणं चक्रुरम्भसा ॥ १०८॥

फिर बहुत परिश्रम करके उन्होंने अलग-अलग बोझे बाँधे। इसके बाद उन्हें किनारेपर ही रखकर वे सरोवरके जलसे तर्पण करने लगे ॥ १०८ ॥

अथोत्थाय जलात् तस्मात् सर्वे ते समुपागमन्।
नापश्यंश्चापि ते तानि बिसानि पुरुषर्षभाः ॥ १०९॥

थोड़ी देर बाद जब वे पुरुषप्रवर पानीसे बाहर निकले तो उन्हें रखे हुए अपने वे मृणाल नहीं दिखायी पड़े ॥ १०९ ॥

ऋषय ऊचुः

केन क्षुधापरीतानामस्माकं पापकर्मणाम्।
नृशंसेनापनीतानि बिसान्याहारकाङ्क्षिणाम् ॥ ११०॥

तब वे ऋषि एक दूसरेसे कहने लगे—अरे! हम सब लोग भूखसे व्याकुल थे और अब भोजन करना चाहते थे। ऐसे समयमें किस निर्दयीने हम पापियोंके मृणाल चुरा लिये ॥ ११० ॥

ते शङ्कमानास्त्वन्योन्यं पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः।
त ऊचुः समयं सर्वे कुर्म इत्यरिकर्शन ॥ १११॥

शत्रुसूदन! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण आपसमें ही एक दूसरेपर संदेह करते हुए पूछ-ताछ करने लगे और अन्तमें बोले—'हम सब लोग मिलकर शपथ करें' ॥ १११ ॥

त उक्त्वा बाढमित्येवं सर्व एव तदा समम्।
क्षुधार्ताः सुपरिश्रान्ताः शपथायोपचक्रमुः ॥ ११२॥

शपथकी बात सुनकर सब-के-सब बोल उठे—'बहुत अच्छा'। फिर वे भूखसे पीड़ित और परिश्रमसे थके-मादे ब्राह्मण एक साथ ही शपथ खानेको तैयार हो गये ॥ ११२ ॥

अत्रिरुवाच

स गां स्पृशतु पादेन सूर्यं च प्रतिमेहतु।
अनध्यायेष्वधीयीत बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ११३॥

अत्रि बोले—जो मृणालकी चोरी करता हो उसे गायको लात मारने, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करने और अनध्यायके समय अध्ययन करनेका पाप लगे ॥ ११३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनध्याये पठेल्लोके शुनः स परिकर्षतु।
परिव्राट् कामवृत्तस्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ११४॥
शरणागतं हन्तु स वै स्वसुतां चोपजीवतु।
अर्थान् काङ्क्षतु कीनाशाद् बिसस्तैन्यं करोति यः ॥ ११५॥

वसिष्ठ बोले—जिसने मृणाल चुराये हों उसे निषिद्ध समयमें वेद पढ़ने, कुत्ते लेकर शिकार खेलने, संन्यासी होकर

मनमाना बर्ताव करने, शरणागतको मारने, अपनी कन्या बेचकर जीविका चलाने तथा किसानके धन छीन लेनेका पाप लगे ॥ ११४-११५ ॥

कश्यप उवाच

सर्वत्र सर्वं लपतु न्यासलोपं करोतु च।
कूटसाक्षित्वमभ्येतु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११६॥

कश्यपने कहा—जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसको सब जगह सब तरहकी बातें कहने, दूसरोंकी धरोहर हड़प लेने और झूठी गवाही देनेका पाप लगे ॥ ११६ ॥

वृथामांसाशनश्चास्तु वृथादानं करोतु च।
यातु स्त्रियं दिवा चैव बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११७॥

जो मृणालोंकी चोरी करता हो उसे मांसाहारका पाप लगे। उसका दान व्यर्थ चला जाय तथा उसे दिनमें स्त्रीके साथ समागम करनेका पाप लगे ॥ ११७ ॥

भरद्वाज उवाच

नृशंसस्त्यक्तधर्मास्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
ब्राह्मणं चापि जयतां बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११८॥

भरद्वाज बोले—जिसने मृणाल चुराया हो उस निर्दयीको धर्मके परित्यागका दोष लगे। वह स्त्रियों, कुटुम्बीजनों तथा गौओंके साथ पापपूर्ण बर्ताव करनेका दोषी हो और ब्राह्मणको वाद-विवादमें पराजित करनेका पाप लगे ॥११८॥

उपाध्यायमधः कृत्वा ऋचोऽध्येतु यजूंषि च।
जुहोतु च स कक्षाग्नौ बिसस्तैन्यं करोति यः ॥११९॥

जो मृणालकी चोरी करता हो, उसे उपाध्याय (अध्यापक या गुरु) को नीचे बैठाकर उनसे ऋग्वेद और यजुर्वेदका अध्ययन करने और घास-फूसकी आगमें आहुति डालनेका पाप लगे ॥ ११९ ॥

जमदग्निरुवाच

पुरीषमुत्सृजत्वप्सु हन्तु गां चैव दुह्यतु।
अनृतौ मैथुनं यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२०॥

जमदग्नि बोले—जिसने मृणालोंका अपहरण किया हो, उसे पानीमें मलत्याग करनेका पाप लगे, गाय मारनेका अथवा उसके साथ द्रोह करनेका तथा ऋतुकाल आये बिना ही स्त्रीके साथ समागम करनेका पाप लगे ॥ १२० ॥

द्वेष्यो भार्योपजीवी स्याद् दूरबन्धुश्च वैरवान्।
अन्योन्यस्यातिथिश्चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः॥१२१॥

जिसने मृणाल चुराये हों उसे सबके साथ द्वेष करनेका, स्त्रीकी कमाईपर जीविका चलानेका, भाई-बन्धुओंसे दूर रहनेका, सबसे वैर करनेका और एक दूसरेके घर अतिथि होनेका पाप लगे ॥ १२१ ॥

गौतम उवाच

अधीत्य वेदांस्त्यजतु त्रीनग्नीनपविध्यतु।
विक्रीणातु तथा सोमं बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२२॥

गौतम बोले—जिसने मृणाल चुराये हों उसे वेदोंको पढ़कर त्यागनेका, तीनों अग्नियोंका परित्याग करनेका और सोमरसका विक्रय करनेका पाप लगे ॥ १२२ ॥

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः।
तस्य सालोक्यतां यातु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२३॥

जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसे वही लोक मिले, जो एक ही कूपमें पानी भरनेवाले, गाँवमें निवास करनेवाले और शूद्रकी पत्नीसे संसर्ग रखनेवाले ब्राह्मणको मिलता है ॥

विश्वामित्र उवाच

जीवतो वै गुरून् भृत्यान् भरन्त्वस्य परे जनाः।
अगतिर्बहुपुत्रः स्याद् बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२४॥

विश्वामित्र बोले—जो इन मृणालोंको चुरा ले गया हो, जिस पुरुषके जीवित रहनेपर उसके गुरु और माता तथा पिताका दूसरे पुरुष पोषण करें उसको और जिसकी कुगति हुई हो तथा जिसके बहुत-से पुत्र हों उसको जो पाप लगता है वह पाप उसे लगे ॥ १२४ ॥

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु ऋद्ध्या चैवाप्यहंकृतः।
कर्षको मत्सरी चास्तु बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२५॥

जिसने मृणालोंका अपहरण किया हो, उसे अपवित्र रहनेका, वेदको मिथ्या माननेका, धनका घमंड करनेका, ब्राह्मण होकर खेत जोतनेका और दूसरोंसे डाह रखनेका पाप लगे ॥ १२५ ॥

वर्षाचरोऽस्तु भृतको राज्ञश्चास्तु पुरोहितः।
अयाज्यस्य भवेदृत्विग् बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१२६॥

जिसने मृणाल चुराये हों, उसे वर्षाकालमें परदेशकी यात्रा करनेका, ब्राह्मण होकर वेतन लेकर काम करनेका, राजाके पुरोहित तथा यज्ञके अनधिकारीसे भी यज्ञ करानेका पाप लगे ॥ १२६ ॥

अरुन्धत्युवाच

नित्यं परिभवेच्छ्वश्रूं भर्तुर्भवतु दुर्मनाः।
एका स्वादु समाश्नातु बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२७॥

अरुन्धती बोलीं—जो स्त्री मृणालोंकी चोरी करती हो उसे प्रतिदिन सासका तिरस्कार करनेका, अपने पतिका दिल दुखानेका और अकेली ही स्वादिष्ट वस्तुएँ खानेका पाप लगे ॥ १२७ ॥

ज्ञातीनां गृहमध्यस्था सक्तूनत्तु दिनक्षये।
अभोग्या वीरसूरस्तु बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२८॥

जिसने मृणालोंकी चोरी की हो, उस स्त्रीको कुटुम्बीजनोंका अपमान करके घरमें रहनेका, दिन बीत जानेपर सत्तू खानेका, कलङ्किनी होनेके कारण पतिके उपभोगमें न आनेका और ब्राह्मणी होकर भी क्षत्राणियोंके समान उग्र स्वभाववाले वीर पुत्रकी जननी होनेका पाप लगे ॥ १२८ ॥

गण्डोवाच

अनृतं भाषतु सदा बन्धुभिश्च विरुध्यतु ।
ददातु कन्यां शुल्केन बिसस्तैन्यं करोति या ॥१२९॥

गण्डा बोली—जिस स्त्रीने मृणालकी चोरी की हो उसे सदा झूठ बोलनेका, भाई-बन्धुओंसे लड़ने और विरोध करने और शुल्क लेकर कन्यादान करनेका पाप लगे ॥ १२९ ॥

साधयित्वा स्वयं प्राशेद् दास्ये जीर्यतु चैव ह ।
विकर्मणा प्रमीयेत बिसस्तैन्यं करोति या ॥१३०॥

जिस स्त्रीने मृणाल चुराया हो उसे रसोई बनाकर अकेली भोजन करनेका, दूसरोंकी गुलामी करती-करती ही बूढ़ी होनेका और पापकर्म करके मौतके मुखमें पड़नेका पाप लगे ॥

पशुसख उवाच

दास एव प्रजायेतामप्रसूतिरकिंचनः ।
दैवतेष्वनमस्कारो बिसस्तैन्यं करोति यः ॥१३१॥

पशुसख बोला—जिसने मृणालोंकी चोरी की हो उसे दूसरे जन्ममें भी दासके ही घरमें पैदा होने, संतानहीन और निर्धन होने तथा देवताओंको नमस्कार न करनेका पाप लगे ॥ १३१ ॥

शुनःसख उवाच

अध्वर्यवे दुहितरं वा ददातु
च्छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये ।
आथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः
स्नायीत वा यो हरते बिसानि ॥१३२॥

शुनःसखने कहा—जिसने मृणालोंको चुराया हो वह ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण करके आये हुए यजुर्वेदी अथवा सामवेदी विद्वान्‌को कन्यादान दे अथवा वह ब्राह्मण अथर्ववेदका अध्ययन पूरा करके शीघ्र ही स्नातक बन जाय ॥ १३२ ॥

ऋषय ऊचुः

इष्टमेतद् द्विजातीनां योऽयं ते शपथः कृतः ।
त्वया कृतं बिसस्तैन्यं सर्वेषां नः शुनःसख ॥१३३॥

ऋषियोंने कहा—शुनःसख ! तुमने जो शपथ की है, वह तो ब्राह्मणोंको अभीष्ट ही है । अतः जान पड़ता है, हमारे मृणालोंकी चोरी तुमने ही की है ॥ १३३ ॥

शुनःसख उवाच

न्यस्तमद्यं न पश्यद्भिर्यदुक्तं कृतकर्मभिः ।
सत्यमेतन्न मिथ्यैतद् बिसस्तैन्यं कृतं मया ॥१३४॥

शुनःसखने कहा—मुनिवरो ! आपका कहना ठीक है । वास्तवमें आपका भोजन मैंने ही रख लिया है । आपलोग जब तर्पण कर रहे थे, उस समय आपकी दृष्टि इधर नहीं थी; तभी मैंने वह सब लेकर रख लिया था । अतः आपका यह कथन कि तुमने ही मृणाल चुराये हैं, ठीक है । मिथ्या नहीं है । वास्तवमें मैंने ही उन मृणालोंकी चोरी की है ॥ १३४ ॥

मया ह्यन्तर्हितानीह बिसानीमानि पश्यत ।
परीक्षार्थं भगवतां कृतमेवं मयानघाः ॥१३५॥

मैंने उन मृणालोंको यहाँ छिपा दिया था । देखिये, ये रहे आपके मृणाल । निष्पाप मुनियो ! मैंने आपलोगोंकी परीक्षाके लिये ही ऐसा किया था ॥ १३५ ॥

रक्षणार्थं च सर्वेषां भवतामहमागतः ।
यातुधानी ह्यतिक्रूरा कृत्यैषा वो वधैषिणी ॥१३६॥

मैं आप सब लोगोंकी रक्षाके लिये यह आया था यह यातुधानी अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली कृत्या थी और आपलोगोंका वध करना चाहती थी ॥ १३६ ॥

वृषादर्भिप्रयुक्तैषा निहता मे तपोधनाः ।
दुष्टा हिंस्यादियं पापा युष्मान् प्रत्यग्निसम्भवा॥१३७॥
तस्मादस्म्यागतो विप्रा वासवं मां निबोधत ।
अलोभादक्षया लोकाः प्राप्ता वै सार्वकामिकाः ॥१३८॥
उत्तिष्ठध्वमितः क्षिप्रं तानवाप्नुत वै द्विजाः ॥१३९॥

तपोधनो ! राजा वृषादर्भिने इसे भेजा था, किंतु यह मेरे द्वारा मारी गयी । ब्राह्मणो ! मैंने सोचा कि अग्निसे उत्पन्न यह दुष्ट पापिनी कृत्या कहीं आपलोगोंकी हिंसा न कर डाले; इसलिये मैं यहाँ आ गया । आपलोग मुझे इन्द्र समझें । आपलोगोंने जो लोभका परित्याग किया है, इससे आपको वे अक्षयलोक प्राप्त हुए हैं, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले हैं । अतः ब्राह्मणो ! अब आपलोग यहाँसे उठें और शीघ्र उन लोकोंमें पदार्पण करें ॥ १३७—१३९ ॥

भीष्म उवाच

ततो महर्षयः प्रीतास्तथेत्युक्त्वा पुरंदरम् ।
सहैव त्रिदशेन्द्रेण सर्वे जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥१४०॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रकी बात सुनकर महर्षियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने देवराजसे 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली । फिर वे सब-के-सब देवेन्द्रके साथ ही स्वर्गलोक चले गये ॥ १४० ॥

एवमेते महात्मानो भोगैर्बहुविधैरपि ।
क्षुधा परमया युक्ताश्छन्द्यमाना महात्मभिः ॥१४१॥
नैव लोभं तदा चक्रुस्ततः स्वर्गमवाप्नुवन् ॥१४२॥

इस प्रकार उन महात्माओंने अत्यन्त भूखे होनेपर और बड़े-बड़े लोगोंके अनेक प्रकारके भोगोंद्वारा लालच देनेपर भी उस समय लोभ नहीं किया। इसीसे उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई ॥ १४१–१४२ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु नरो लोभं विवर्जयेत्।
एष धर्मः परो राजंस्तस्माल्लोभं विवर्जयेत् ॥ १४३॥

राजन्! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सभी दशाओंमें लोभका त्याग करे, क्योंकि यही सबसे बड़ा धर्म है। अतः लोभको अवश्य त्याग देना चाहिये ॥ १४३ ॥

इदं नरः सुचरितं समवायेषु कीर्तयन्।
अर्थभागी च भवति न च दुर्गाण्यवाप्नुते ॥ १४४॥

जो मनुष्य जनसमुदायमें इस पवित्र चरित्रका कीर्तन करता है, वह धन एवं मनोवाञ्छित वस्तुका भागी होता है और कभी संकटमें नहीं पड़ता है ॥ १४४ ॥

प्रीयन्ते पितरश्चास्य ऋषयो देवतास्तथा।
यशोधर्मार्थभागी च भवति प्रेत्य मानवः ॥ १४५॥

उसके ऊपर देवता, ऋषि और पितर सभी प्रसन्न होते हैं। वह मनुष्य इहलोकमें यश, धर्म एवं धनका भागी होता है। और मृत्युके पश्चात् उसे स्वर्गलोक सुलभ होता है ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बिसस्तैन्योपाख्याने त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मृणालकी चोरीका उपाख्यानविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४६½ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

ब्रह्मसरतीर्थमें अगस्त्यजीके कमलोंकी चोरी होनेपर ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंकी धर्मोपदेश-पूर्ण शपथ तथा धर्मज्ञानके उद्देश्यसे चुराये हुए कमलोंका वापस देना

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यद् वृत्तं तीर्थयात्रायां शपथं प्रति तच्छृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इसी विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें इसी तरहकी शपथको लेकर जो एक घटना घटित हुई थी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

पुष्करार्थे कृतं स्तैन्यं पुरा भरतसत्तम।
राजर्षिभिर्महाराज तथैव च द्विजर्षिभिः ॥ २ ॥

भरतवंशशिरोमणे! महाराज! पूर्वकालमें कुछ राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंने भी इसी प्रकार कमलोंके लिये चोरी की थी ॥ २ ॥

ऋषयः समेताः पश्चिमे वै प्रभासे
समागता मन्त्रममन्त्रयन्त।
चराम सर्वां पृथिवीं पुण्यतीर्थां
तन्नः कामं हन्त गच्छाम सर्वे ॥ ३ ॥

पश्चिम समुद्रके तटपर प्रभास तीर्थमें बहुत-से ऋषि एकत्र हुए थे। उन समागत महर्षियोंने आपसमें यह सलाह की कि हमलोग अनेक पुण्यतीर्थोंसे भरी हुई समूची पृथ्वीकी यात्रा करें। यह हम सभी लोगोंकी अभिलाषा है। अतः सब लोग साथ-ही-साथ यात्रा प्रारम्भ कर दें ॥ ३ ॥

शुक्रोऽङ्गिराश्चैव कविश्च विद्वां-
स्तथा ह्यगस्त्यो नारदपर्वतौ च।
भृगुर्वसिष्ठः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निश्च राजन् ॥ ४ ॥
ऋषिस्तथा गालवोऽथाष्टकश्च
भरद्वाजोऽरुन्धती वालखिल्याः।
शिबिर्दिलीपो नहुषोऽम्बरीषो
राजा ययातिर्धुन्धुमारोऽथ पूरुः ॥ ५ ॥
जग्मुः पुरस्कृत्य महानुभावं
शतक्रतुं वृत्रहणं नरेन्द्राः।
तीर्थानि सर्वाणि परिक्रमन्तो
माघ्यां ययुः कौशिकीं पुण्यतीर्थाम् ॥ ६ ॥

राजन्! ऐसा निश्चय करके शुक्र, अङ्गिरा, विद्वान् कवि, अगस्त्य, नारद, पर्वत, भृगु, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, गालव मुनि, अष्टक, भरद्वाज, अरुन्धती, वालखिल्यगण, शिबि, दिलीप, नहुष, अम्बरीष, राजा ययाति, धुन्धुमार और पूरु—ये सभी राजर्षि तथा ब्रह्मर्षि वज्रधारी महानुभाव वृत्रहन्ता शतक्रतु इन्द्रको आगे करके यात्राके लिये निकले और सभी तीर्थोंमें घूमते हुए माघ मासकी पूर्णिमा तिथिको पुण्यसलिला कौशिकी नदीके तटपर जा पहुँचे ॥ ४–६ ॥

सर्वेषु तीर्थेष्ववधूतपापा
जग्मुस्ततो ब्रह्मसरः सुपुण्यम्।
देवस्य तीर्थे जलमग्निकल्पा
विगाह्य ते भुक्तबिसप्रसूनाः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वहाँके तीर्थोंमें स्नानके द्वारा अपने पाप

धो करके ऋषिगण उस स्थानसे परम पवित्र ब्रह्मसर तीर्थमें गये। उन अग्निके समान तेजस्वी ऋषियोंने वहाँके जलमें स्नान करके कमलके फूलोंका आहार किया ॥ ७ ॥

केचिद् बिसान्यखनंस्तत्र राज-
न्नन्ये मृणालान्यखनंस्तत्र विप्राः।
अथापश्यन् पुष्करं ते ह्रियन्तं
ह्रदादगस्त्येन समुद्धृतं तत् ॥ ८ ॥

राजन् ! कुछ ऋषि वहाँ कमल खोदने लगे। कुछ ब्राह्मण मृणाल उखाड़ने लगे। इसी बीचमें अगस्त्यजीके उस पोखरेसे जितना कमल उखाड़कर रक्खा था, वह सब सहसा गायब हो गया। इस बातको सबने देखा ॥ ८ ॥

तानाह सर्वानृषिमुख्यानगस्त्यः
केनादत्तं पुष्करं मे सुजातम्।
युष्मान्शङ्के पुष्करं दीयतां मे
न वै भवन्तो हर्तुमर्हन्ति पद्मम् ॥ ९ ॥

तब अगस्त्यजीने उन समस्त ऋषियोंसे पूछा—'किसने मेरे सुन्दर कमल ले लिये। मैं आप सब लोगोंपर संदेह करता हूँ। मेरे कमल लौटा दीजिये। आप-जैसे साधु पुरुषोंको कमलोंकी चोरी करना कदापि उचित नहीं है ॥ ९ ॥

शृणोमि कालो हिंसते धर्मवीर्यं
सोऽयं प्राप्तो वर्तते धर्मपीडा।
पुराधर्मो वर्तते नेह यावत्
तावद् गच्छामः सुरलोकं चिराय ॥ १० ॥

'सुनता हूँ कि कालधर्मकी शक्तिको नष्ट कर देता है। वही काल इस समय प्राप्त हुआ है। तभी तो धर्मको हानि पहुँचायी जा रही है—अस्तेय-धर्मका हनन हो रहा है। अतः इस जगत्‌में अधर्मका विस्तार न हो इसके पहले ही हम चिरकालके लिये स्वर्गलोकमें चले जायँ ॥ १० ॥

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये
घुष्टस्वरा वृषलाञ्श्रावयन्ति।
पुरा राजा व्यवहारेण धर्मान्
पश्यत्यहं परलोकं व्रजामि ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणलोग गाँवके बीचमें उच्चस्वरसे वेदपाठ करके शूद्रोंको सुनाने लगें तथा राजा व्यावसायिक दृष्टिसे धर्मको देखने लगें, इसके पहले ही मैं परलोकमें चला जाऊँ ॥ ११ ॥

पुरा वरान् प्रत्यवरान् गरीयसो
यावन्नरा नावमंस्यन्ति सर्वे।
तमोत्तरं यावदिदं न वर्तते
तावद् व्रजामि परलोकं चिराय ॥ १२ ॥

'जबतक सभी श्रेष्ठ मनुष्य महान् पुरुषोंकी नीचोंके समान अवहेलना नहीं करते हैं तथा जबतक इस संसारमें अज्ञान-जनित तमोगुणका बाहुल्य नहीं हो जाता है, इसके पहले ही मैं चिरकालके लिये परलोक चला जाऊँ ॥ १२ ॥

पुरा प्रपश्यामि परेण मर्त्यान्
बलीयसा दुर्बलान् भुज्यमानान्।
तस्माद् यास्यामि परलोकं चिराय
न ह्युत्सहे द्रष्टुमिह जीवलोकम् ॥ १३ ॥

'भविष्यकालमें बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको अपने उपभोगमें लायेंगे, इस बातको मैं अभीसे देख रहा हूँ। इसलिये मैं दीर्घकालके लिये परलोकमें चला जाऊँ। यहाँ रहकर इस जीव-जगत्‌की ऐसी दुरवस्था मैं नहीं देख सकता' ॥ १३ ॥

तमाहुरार्ता ऋषयो महर्षिं
न ते वयं पुष्करं चोरयामः।
मिथ्याभिषङ्गो भवता न कार्यः
शपाम तीक्ष्णैः शपथैर्महर्षे ॥ १४ ॥

यह सुनकर सभी महर्षि घबरा उठे और अगस्त्यजीसे बोले—'महर्षे! हमने आपके कमल नहीं चुराये हैं। आपको झूठा कलङ्क नहीं लगाना चाहिये। हम अपनी सफाई देनेके लिये कठोर-से-कठोर शपथ खा सकते हैं' ॥ १४ ॥

ते निश्चितास्तत्र महर्षयस्तु
सम्पश्यन्तो धर्ममेतं नरेन्द्राः।
ततोऽशपन्त शपथान् पर्ययेण
सहैव ते पार्थिव पुत्रपौत्रैः ॥ १५ ॥

पृथ्वीनाथ! तदनन्तर वे महर्षि तथा नरेशगण वहाँ कुछ निश्चय करके इस धर्मपर दृष्टि रखते हुए पुत्रों और पौत्रों-सहित बारी-बारीसे शपथ खाने लगे ॥ १५ ॥

भृगुरुवाच

प्रत्याक्रोशेदिहाक्रुष्टस्ताडितः प्रतिताडयेत्।
खादेच्च पृष्ठमांसानि यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १६ ॥

भृगु बोले—मुने! जिसने आपके कमलकी चोरी की है, वह गाली सुनकर बदलेमें गाली दे और मार खाकर बदलेमें स्वयं भी मारे तथा दूसरेकी पीठके मांस खाय अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्वाध्यायपरो लोके श्वानं च परिकर्षतु।
पुरे च भिक्षुर्भवतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठने कहा—जिसने आपके कमल चुराये हों, वह स्वाध्यायसे विमुख हो जाय। कुत्ता साथ लेकर शिकार खेले और गाँव-गाँव भीख माँगता फिरे ॥ १७ ॥

कश्यप उवाच

सर्वत्र सर्वं पणतु न्यासे लोभं करोतु च।

कूटसाक्षित्वमभ्येतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १८ ॥

कश्यपने कहा—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह सब जगह सब तरहकी वस्तुओंकी खरीद-बिक्री करे। किसीकी धरोहरको हड़प लेनेका लोभ करे और झूठी गवाही दे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो ॥ १८ ॥

गौतम उवाच

जीवत्वहंकृतो बुद्ध्या विषमेणासमेन सः ।
कर्षको मत्सरी चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ १९ ॥

गौतम बोले—जिसने आपके कमलकी चोरी की हो, वह अहंकारी, बेईमान और अयोग्यका साथ करनेवाला, खेती करनेवाला और ईर्ष्यायुक्त होकर जीवन व्यतीत करे ॥ १९ ॥

अङ्गिरा उवाच

अशुचिर्ब्रह्मकूटोऽस्तु श्वानं च परिकर्षतु ।
ब्रह्महानिकृतिश्चास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २० ॥

अङ्गिराने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह अपवित्र, वेदको मिथ्या बतानेवाला, ब्रह्महत्यारा और अपने पापोंका प्रायश्चित्त न करनेवाला हो। इतना ही नहीं, वह कुत्तोंको साथ लेकर शिकार खेलता फिरे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी हो ॥

धुन्धुमार उवाच

अकृतज्ञस्तु मित्राणां शूद्रायां च प्रजायतु ।
एकः सम्पन्नमश्नातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २१ ॥

धुन्धुमारने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, वह अपने मित्रोंका उपकार न माने। शूद्र-जातिकी स्त्रीसे संतान उत्पन्न करे और अकेला ही स्वादिष्ट अन्न भोजन करे। अर्थात् इन पापोंके फलका भागी बने ॥२१॥

पूरुरुवाच

चिकित्सायां प्रचरतु भार्यया चैव पुष्यतु ।
श्वशुरात्तस्य वृत्तिः स्याद् यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २२ ॥

पूरु बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह चिकित्साका व्यवसाय (वैद्य या डाक्टरका पेशा) करे। स्त्रीकी कमाई खाय और ससुरालके धनपर गुजारा करे ॥२२॥

दिलीप उवाच

उदपानप्लवे ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
तस्य लोकान् स व्रजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २३ ॥

दिलीप बोले—जो आपका कमल चुराकर ले गया हो, वह एक कूएँपर सबके साथ पानी भरनेवाले गाँवमें रहकर शूद्र-जातिकी स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मणको मृत्युके पश्चात् जिन दुःखदायी लोकोंमें जाना पड़ता है, उन्हींमें जाय ॥ २३ ॥

शुक्र उवाच

वृथामांसं समश्नातु दिवा गच्छतु मैथुनम् ।
प्रेष्यो भवतु राज्ञश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २४ ॥

शुक्रने कहा—जो आपका कमल चुराकर ले गया हो, उसे मांस खानेका, दिनमें मैथुन करनेका और राजाकी नौकरी करनेका पाप लगे ॥ २४ ॥

जमदग्निरुवाच

अनध्यायेष्वधीयीत मित्रं श्राद्धे च भोजयेत् ।
श्राद्धे शूद्रस्य चाश्नीयाद् यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २५ ॥

जमदग्नि बोले—जिसने आपके कमल लिये हों, वह निषिद्ध कालमें अध्ययन करे। मित्रको ही श्राद्धमें जिमावे तथा स्वयं भी शूद्रके श्राद्धमें भोजन करे ॥ २५ ॥

शिबिरुवाच

अनाहिताग्निर्म्रियतां यज्ञे विघ्नं करोतु च ।
तपस्विभिर्विरुध्येच्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २६ ॥

शिबिने कहा—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह अग्निहोत्र किये बिना ही मर जाय, यज्ञमें विघ्न डाले और तपस्वी जनोंके साथ विरोध करे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २६ ॥

ययातिरुवाच

अनृतौ च व्रती चैव भार्यायां स प्रजायतु ।
निराकरोतु वेदांश्च यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २७ ॥

ययातिने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, वह व्रतधारी होकर भी ऋतुकालसे अतिरिक्त समयमें स्त्री-समागम करे और वेदोंका खण्डन करे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २७ ॥

नहुष उवाच

अतिथिर्गृहसंस्थोऽस्तु कामवृत्तस्तु दीक्षितः ।
विद्यां प्रयच्छतु भृतो यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २८ ॥

नहुष बोले—जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह संन्यासी होकर भी घरमें रहे। यज्ञकी दीक्षा लेकर भी इच्छाचारी हो और वेतन लेकर विद्या पढ़ावे अर्थात् इन सब पापोंके फलका भागी हो ॥ २८ ॥

अम्बरीष उवाच

नृशंसस्त्यक्तधर्मोऽस्तु स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
निहन्तु ब्राह्मणं चापि यस्ते हरति पुष्करम् ॥ २९ ॥

अम्बरीषने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह क्रूरस्वभावका हो जाय। स्त्रियों, बन्धु-बान्धवों और गौओंके प्रति अपने धर्मका पालन न करे तथा ब्रह्महत्याके पापका भागी हो ॥ २९ ॥

नारद उवाच

गृहज्ञानी बहिःशास्त्रं पठतां विस्वरं पदम् ।
गरीयसोऽवजानातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३० ॥

नारदजीने कहा—जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह देहरूपी घरको ही आत्मा समझे। मर्यादाका उल्लङ्घन करके शास्त्र पढ़े। स्वरहीन पदका उच्चारण करे और गुरुजनोंका अपमान करता रहे अर्थात् उपर्युक्त पापोंका भागी बने ॥ ३० ॥

नाभाग उवाच

अनृतं भाषतु सदा सद्भिश्चैव विरुध्यतु।
शुल्केन तु ददत्कन्यां यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३१ ॥

नाभाग बोले—जिसने आपके कमल चुराये हों, उसे सदा झूठ बोलनेका, संतोंके साथ विरोध करनेका और कीमत लेकर कन्या बेचनेका पाप लगे ॥ ३१ ॥

कविरुवाच

पद्भ्यां स गां ताडयतु सूर्यं च प्रतिमेहतु।
शरणागतं संत्यजतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३२ ॥

कविने कहा—जिसने आपका कमल लिया हो, उसे गौको लात मारनेका, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करनेका और शरणागतको त्याग देनेका पाप लगे ॥ ३२ ॥

विश्वामित्र उवाच

करोतु भृतकोऽवर्षां राज्ञश्चास्तु पुरोहितः।
ऋत्विगस्तु ह्ययाज्यस्य यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह वैश्यका भृत्य होकर उसीके खेतमें वर्षा होनेमें बाधा उपस्थित करे। राजाका पुरोहित हो और यज्ञके अनधिकारीका यज्ञ करानेके लिये ऋत्विज बने अर्थात् इन पापोंके फलका भागी हो ॥ ३३ ॥

पर्वत उवाच

ग्रामे चाधिकृतः सोऽस्तु खरयानेन गच्छतु।
शुनः कर्षतु वृत्त्यर्थे यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३४ ॥

पर्वतने कहा—जो आपका कमल ले गया हो, वह गाँवका मुखिया हो जाय, गधेकी सवारीपर चले तथा पेट भरनेके लिये कुत्तोंको साथ लेकर शिकार खेले ॥ ३४ ॥

भरद्वाज उवाच

सर्वपापसमादानं नृशंसे चानृते च यत्।
तत् तस्यास्तु सदा पापं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३५ ॥

भरद्वाजने कहा—जिसने आपके कमलोंकी चोरी की हो, उस पापीको निर्दयी और असत्यवादी मनुष्योंमें रहनेवाला सारा-का-सारा पाप सदा ही प्राप्त होता रहे ॥ ३५ ॥

अष्टक उवाच

स राजास्त्वकृतप्रज्ञः कामवृत्तश्च पापकृत्।
अधर्मेणाभिशास्तूर्वीं यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३६ ॥

अष्टक बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह राजा मन्दबुद्धि, स्वेच्छाचारी और पापात्मा होकर अधर्मपूर्वक इस पृथ्वीका शासन करे ॥ ३६ ॥

गालव उवाच

पापिष्ठेभ्यो ह्यनर्घार्हः स नरोऽस्तु स्वपापकृत्।
दत्त्वा दानं कीर्तयतु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३७ ॥

गालव बोले—जो आपका कमल चुरा ले गया हो, वह महापापियोंसे भी बढ़कर अनादरणीय हो, स्वजनोंका भी अपकार करे तथा दान देकर अपने ही मुखसे उसका बखान करे ॥ ३७ ॥

अरुन्धत्युवाच

श्वश्रवापवादं वदतु भर्तुर्भवतु दुर्मनाः।
एका स्वादु समश्नातु या ते हरति पुष्करम् ॥ ३८ ॥

अरुन्धती बोलीं—जिस स्त्रीने आपका कमल लिया हो, वह अपने सासकी निन्दा करे, पतिके लिये अपने मनमें दुर्भावना रक्खे और अकेली ही स्वादिष्ट भोजन किया करे अर्थात् इन सब पापोंकी फलभागिनी बने ॥ ३८ ॥

वालखिल्या ऊचुः

एकपादेन वृत्त्यर्थं ग्रामद्वारे स तिष्ठतु।
धर्मज्ञस्त्यक्तधर्मास्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ३९ ॥

बालखिल्य बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह अपनी जीविकाके लिये गाँवके दरवाजेपर एक पैरसे खड़ा रहे और धर्मको जानते हुए भी उसका परित्याग करे ॥ ३९ ॥

शुनःसख उवाच

अग्निहोत्रमनादृत्य स सुखं स्वपतु द्विजः।
परिव्राट् कामवृत्तोऽस्तु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४० ॥

शुनःसख बोले—जो आपका कमल ले गया हो, वह द्विज होकर भी सबेरे और शामको अग्निहोत्रकी अवहेलना करके सुखसे सोये तथा संन्यासी होकर भी मनमाना बर्ताव करे अर्थात् उपर्युक्त पापोंके फलका भागी हो ॥ ४० ॥

सुरभ्युवाच

बालजेन निदानेन कांस्यं भवतु दोहनम्।
दुह्येत परवत्सेन या ते हरति पुष्करम् ॥ ४१ ॥

सुरभि बोली—जो गाय आपका कमल ले गयी हो, उसके पैर बालोंकी रस्सीसे बाँधे जायँ, उसके दूधके लिये ताँबे मिले हुए धातुका दोहनपात्र हो और वह दूसरे गायके बछड़ेसे दुही जाय ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तु तैः शपथैः शप्यमानै-
र्नानाविधैर्बहुभिः कौरवेन्द्र ।
सहस्राक्षो देवराट् सम्प्रहृष्टः
समीक्ष्य तं कोपनं विप्रमुख्यम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कौरवेन्द्र ! इस प्रकार जब सब लोग नाना प्रकारकी अनेकानेक शपथ कर चुके, तब सहस्र नेत्रधारी देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन विप्रवर अगस्त्यको कुपित हुआ देख उनके सामने प्रकट हो गये ॥

अथाब्रवीन्मघवा प्रत्ययं स्वं
समाभाष्य तमृषिं जातरोषम् ।
ब्रह्मर्षिदेवर्षिनृपर्षिमध्ये
यं तं निबोधेह ममाद्य राजन् ॥ ४३ ॥

राजन् ! ब्रह्मर्षियों, देवर्षियों तथा राजर्षियोंके बीचमें कुपित हुए महर्षि अगस्त्यको सम्बोधित करके देवराज इन्द्रने जो अपना अभिप्राय व्यक्त किया, उसे आज तुम मेरे मुखसे यहाँ सुनो ॥ ४३ ॥

शक्र उवाच

अध्वर्युं च दुहितरं ददातु
छन्दोगे वा चरितब्रह्मचर्ये ।
अथर्वणं वेदमधीत्य विप्रः
स्नायीत यः पुष्करमाददाति ॥ ४४ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मन् ! जो आपका कमल ले गया हो, वह ब्रह्मचर्य व्रतको पूर्ण करके आये हुए यजुर्वेदी अथवा सामवेदी विद्वान्‌को कन्यादान दे । अथवा वह ब्राह्मण अथर्ववेदका अध्ययन पूरा करके शीघ्र ही स्नातक बन जाय ॥ ४४ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत पुण्यशीलोऽस्तु धार्मिकः ।
ब्रह्मणः सदनं यातु यस्ते हरति पुष्करम् ॥ ४५ ॥

जिसने आपके कमलोंका अपहरण किया हो, वह सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे । पुण्यात्मा और धार्मिक हो तथा मृत्युके पश्चात् वह ब्रह्माजीके लोकमें जाय ॥ ४५ ॥

अगस्त्य उवाच

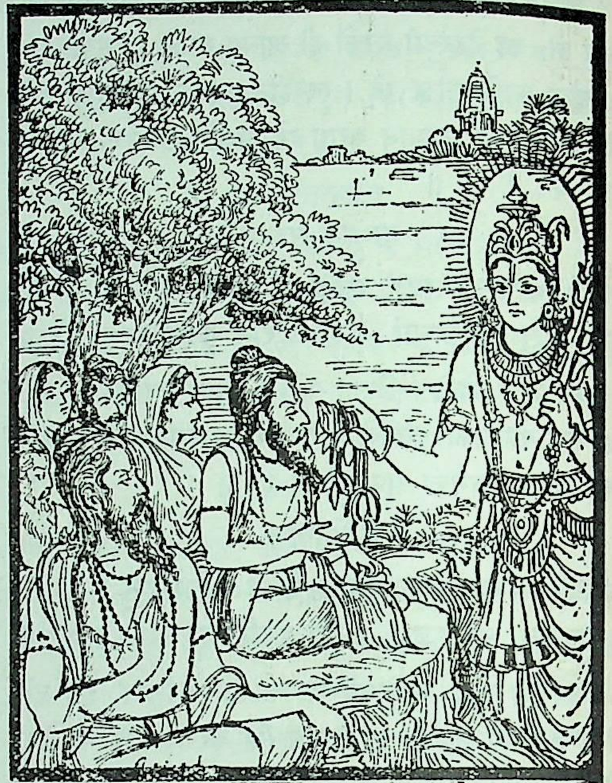
आशीर्वादस्त्वया प्रोक्तः शपथो बलसूदन ।
दीयतां पुष्करं मह्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४६ ॥

अगस्त्यने कहा—बलसूदन ! आपने जो शपथ की है, वह तो आशीर्वादस्वरूप है । अतः आपने ही मेरे कमल लिये हैं, कृपया उन्हें मुझे दे दीजिये । यही सनातन धर्म है ॥ ४६ ॥

इन्द्र उवाच

न मया भगवँल्लोभाद्धृतं पुष्करमद्य वै ।
धर्मांस्तु श्रोतुकामेन हृतं न क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४७ ॥

इन्द्र बोले—भगवन् ! मैंने लोभवश कमलोंको नहीं लिया था । आपलोगोंके मुखसे धर्मकी बातें सुनना चाहता



था, इसीलिये इन कमलोंका अपहरण कर लिया था । अतः मुझपर क्रोध न कीजियेगा ॥ ४७ ॥

धर्मश्रुतिसमुत्कर्षो धर्मसेतुरनामयः ।
आर्षो वै शाश्वतो नित्यमव्ययोऽयं मया श्रुतः ॥ ४८ ॥

आज मैंने आपलोगोंके मुखसे उस आर्ष सनातन धर्मका श्रवण किया है, जो नित्य अविकारी, अनामय और संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये पुलके समान है । इससे धार्मिक श्रुतियोंका उत्कर्ष सिद्ध होता है ॥ ४८ ॥

तदिदं गृह्यतां विद्वन् पुष्करं द्विजसत्तम ।
अतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४९ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! विद्वन् ! अब आप अपने ये कमल लीजिये ! भगवन् ! अनिन्दनीय महर्षे ! मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥

इत्युक्तः स महेन्द्रेण तपस्वी कोपनो भृशम् ।
जग्राह पुष्करं धीमान् प्रसन्नश्चाभवन्मुनिः ॥ ५० ॥

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर वे क्रोधी तपस्वी बुद्धिमान् अगस्त्य मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्द्रके हाथसे अपने कमल ले लिये ॥ ५० ॥

प्रययुस्ते ततो भूयस्तीर्थानि वनगोचराः ।
पुण्येषु तीर्थेषु तथा गात्राण्याप्लावयन्त ते ॥ ५१ ॥

तदनन्तर उन सब लोगोंने वनके मार्गोंसे होते हुए पुनः तीर्थयात्रा आरम्भ की और पुण्यतीर्थोंमें जा-जाकर गोते लगाकर स्नान किया ॥ ५१ ॥

आख्यानं य इदं युक्तः पठेत् पर्वणि पर्वणि ।
न मूर्खं जनयेत् पुत्रं न भवेच्च निराकृतिः ॥ ५२ ॥

जो प्रत्येक पर्वके अवसरपर एकाग्रचित्त हो इस पवित्र आख्यानका पाठ करता है, वह कभी मूर्ख पुत्रको नहीं जन्म देता है तथा स्वयं भी किसी अङ्गसे हीन या असफलमनोरथ नहीं होता है ॥ ५२ ॥

न तमापत् स्पृशेत् काचिद् विज्वरो न जरावहः।
विरजाः श्रेयसा युक्तः प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

उसके ऊपर कोई आपत्ति नहीं आती। वह चिन्तारहित होता है। उसके ऊपर जरावस्थाका आक्रमण नहीं होता। वह रागशून्य होकर कल्याणका भागी होता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ ५३ ॥

यश्च शास्त्रमधीयीत ऋषिभिः परिपालितम्।
स गच्छेद् ब्रह्मणो लोकमव्ययं च नरोत्तम ॥ ५४ ॥

नरश्रेष्ठ! जो ऋषियोंद्वारा सुरक्षित इस शास्त्रका अध्ययन करता है, वह अविनाशी ब्रह्मधामको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शपथविधिर्नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शपथविधिनामक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

छत्र और उपानह्की उत्पत्ति एवं दानविषयक युधिष्ठिरका प्रश्न तथा सूर्यकी प्रचण्ड धूपसे रेणुकाका मस्तक और पैरोंके संतप्त होनेपर जमदग्निका सूर्यपर कुपित होना और विप्ररूपधारी सूर्यसे वार्तालाप

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं श्राद्धकृत्येषु दीयते भरतर्षभ।
छत्रं चोपानहौ चैव केनैतत् सम्प्रवर्तितम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! श्राद्धकर्मोंमें जिनका दान दिया जाता है, उन छत्र और उपानहोंके दानकी प्रथा किसने चलायी है? ॥ १ ॥

कथं चैतत् समुत्पन्नं किमर्थं चैव दीयते।
न केवलं श्राद्धकृत्ये पुण्यकेष्वपि दीयते ॥ २ ॥

इनकी उत्पत्ति कैसे हुई और किसलिये इनका दान किया जाता है? केवल श्राद्धकर्ममें ही नहीं, अनेक पुण्यके अवसरोंपर भी इनका दान होता है ॥ २ ॥

बहुष्वपि निमित्तेषु पुण्यमाश्रित्य दीयते।
एतद् विस्तरशो राजञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

बहुत-से निमित्त उपस्थित होनेपर पुण्यके उद्देश्यसे इन वस्तुओंके दानकी प्रथा देखी जाती है। अतः राजन्! मैं इस विषयको विस्तारके साथ यथावत् रूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितश्छत्रोपानहविस्तरम्।
यथैतत् प्रथितं लोके यथा चैतत् प्रवर्तितम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! छाते और जूतेकी उत्पत्तिकी वार्ता मैं विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सावधान होकर सुनो। संसारमें किस प्रकार इनके दानका आरम्भ हुआ और कैसे उस दानका प्रचार हुआ, यह सब श्रवण करो ॥ ४ ॥

यथा चाक्षय्यतां प्राप्तं पुण्यतां च यथा गतम्।
सर्वमेतदशेषेण प्रवक्ष्यामि नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर! इन दोनों वस्तुओंका दान किस तरह अक्षय होता है तथा ये किस प्रकार पुण्यकी प्राप्ति करानेवाली मानी गयी हैं, इन सब बातोंका मैं पूर्णरूपसे वर्णन करूँगा ॥ ५ ॥

जमदग्नेश्च संवादं सूर्यस्य च महात्मनः।
पुरा स भगवान् साक्षाद्धनुषाक्रीडयत् प्रभो ॥ ६ ॥
संधाय संधाय शरांश्चिक्षेप किल भार्गवः।
तान् क्षिप्तान् रेणुका सर्वांस्तस्येषून्दीप्ततेजसः ॥ ७ ॥
आनीय सा तदा तस्मै प्रादादसकृदच्युत।

प्रभो! इस विषयमें महर्षि जमदग्नि और महात्मा भगवान् सूर्यके संवादका वर्णन किया जाता है। पूर्वकालकी बात है, एक दिन भृगुनन्दन भगवान् जमदग्निजी धनुष चलानेकी क्रीड़ा कर रहे थे। धर्मसे च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर! वे बारंबार धनुषपर बाण रखकर उन्हें चलाते और उन चलाये हुए सम्पूर्ण तेजस्वी बाणोंको उनकी पत्नी रेणुका ला-लाकर दिया करती थीं ॥ ६-७½ ॥

अथ तेन स शब्देन ज्यायाश्चैव शरस्य च ॥ ८ ॥
प्रहृष्टः सम्प्रचिक्षेप सा च प्रत्याजहार तान्।

धनुषकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनि और बाणके छूटनेकी सनसनाहटसे जमदग्नि मुनि बहुत प्रसन्न होते थे। अतः वे बार-बार बाण चलाते और रेणुका उन्हें दूरसे उठा-उठाकर लाया करती थीं ॥ ८½ ॥

ततो मध्याह्नमारूढे ज्येष्ठामूले दिवाकरे ॥ ९ ॥
स सायकान् द्विजो मुक्त्वा रेणुकामिदमब्रवीत्।
गच्छानय विशालाक्षि शरानेतान् धनुश्च्युतान् ॥ १० ॥
यावदेतान् पुनः सुभ्रु क्षिपामीति जनाधिप।

जनेश्वर! इस प्रकार बाण चलानेकी क्रीड़ा करते-करते ज्येष्ठ मासके सूर्य दिनके मध्यभागमें आ पहुँचे। विप्रवर जमदग्निने पुनः बाण छोड़कर रेणुकासे कहा—'सुभ्रु! विशाल

लोचने! जाओ, मेरे धनुषसे छूटे हुए इन बाणोंको ले आओ, जिससे मैं पुनः इन सबको धनुषपर रखकर छोड़ूँ' ॥ ९-१०½॥

सा गच्छन्त्यन्तरा छायां वृक्षमाश्रित्य भामिनी ॥ ११॥
तस्थौ तस्या हि सन्तप्तं शिरः पादौ तथैव च ।

मानिनी रेणुका वृक्षोंके बीचसे होकर उनकी छायाका आश्रय ले जाती हुई बीच-बीचमें ठहर जाती थी; क्योंकि उसके सिर और पैर तप गये थे ॥ ११½ ॥

स्थिता सा तु मुहूर्तं वै भर्तुःशापभयाच्छुभा ॥ १२ ॥
ययावानयितुं भूयः सायकानसितेक्षणा ।

कजरारे नेत्रोंवाली वह कल्याणमयी देवी एक जगह दो ही घड़ी ठहरकर पतिके शापके भयसे पुनः उन बाणोंको लानेके लिये चल दी ॥ १२½ ॥

प्रत्याजगाम च शरांस्तानादाय यशस्विनी ॥ १३ ॥
सा वै खिन्ना सुचार्वङ्गी पद्भ्यां दुःखं नियच्छती ।
उपाजगाम भर्तारं भयाद् भर्तुः प्रवेपती ॥ १४ ॥

उन बाणोंको लेकर सुन्दर अङ्गोवाली यशस्विनी रेणुका जब लौटी; उस समय वह बहुत खिन्न हो गयी थी। पैरोंके जलनेसे जो दुःख होता था, उसको किसी तरह सहती और पतिके भयसे थर-थर काँपती हुई उनके पास आयी॥१३-१४॥

स तामृषिस्तदा क्रुद्धो वाक्यमाह शुभाननाम् ।
रेणुके किं चिरेण त्वमागतेति पुनः पुनः ॥ १५ ॥

उस समय महर्षि कुपित होकर सुन्दर मुखवाली अपनी पत्नीसे बारंबार पूछने लगे—'रेणुके! तुम्हारे आनेमें इतनी देर क्यों हुई?' ॥ १५ ॥

रेणुकोवाच

शिरस्तावत् प्रदीप्तं मे पादौ चैव तपोधन ।
सूर्यतेजोनिरुद्धाहं वृक्षच्छायां समाश्रिता ॥ १६ ॥

रेणुका बोली—तपोधन! मेरा सिर तप गया, दोनों पैर जलने लगे और सूर्यके प्रचण्ड तेजने मुझे आगे बढ़नेसे रोक दिया। इसलिये थोड़ी देरतक वृक्षकी छायामें खड़ी होकर विश्राम लेने लगी थी ॥ १६ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मंश्चिरायैतत् कृतं मया ।
एतच्छ्रुत्वा मम विभो मा क्रुधस्त्वं तपोधन ॥ १७ ॥

ब्रह्मन्! इसी कारणसे मैंने आपका यह कार्य कुछ विलम्बसे पूरा किया है। तपोधन! प्रभो! मेरे इस बातपर ध्यान देकर आप क्रोध न करें ॥ १७ ॥

जमदग्निरुवाच

अद्यैनं दीप्तकिरणं रेणुके तव दुःखदम् ।
शरैर्निपातयिष्यामि सूर्यमस्त्राग्नितेजसा ॥ १८ ॥

जमदग्निने कहा—रेणुके! जिसने तुझे कष्ट पहुँचाया है, उस उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यको आज मैं अपने बाणोंसे, अपनी अस्त्राग्निके तेजसे गिरा दूँगा ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

स विस्फार्य धनुर्दिव्यं गृहीत्वा च शरान् बहून् ।
अतिष्ठत् सूर्यमभितो यतो याति ततो मुखः ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर महर्षि जमदग्निने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची और बहुत-से बाण हाथमें लेकर सूर्यकी ओर मुँह करके वे खड़े हो गये। जिस दिशाकी ओर सूर्य जा रहे थे, उसी ओर उन्होंने भी अपना मुँह कर लिया था ॥ १९ ॥

अथ तं प्रेक्ष्य सन्नद्धं सूर्योऽभ्येत्य तथाब्रवीत् ।
द्विजरूपेण कौन्तेय किं ते सूर्योऽपराध्यते ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन! उन्हें युद्धके लिये तैयार देख सूर्यदेव ब्राह्मणका रूप धारण करके उनके पास आये और बोले—'ब्रह्मन्! सूर्यने आपका क्या अपराध किया है?' ॥ २० ॥

आदत्ते रश्मिभिः सूर्यो दिवि तिष्ठंस्ततस्ततः ।
रसं हृतं वै वर्षासु प्रवर्षति दिवाकरः ॥ २१ ॥

'सूर्यदेव तो आकाशमें स्थित होकर अपनी किरणोंद्वारा वसुधाका रस खींचते हैं और बरसातमें पुनः उसे बरसा देते हैं॥

ततोऽन्नं जायते विप्र मनुष्याणां सुखावहम् ।
अन्नं प्राणा इति यथा वेदेषु परिपठ्यते ॥ २२ ॥

'विप्रवर! उसी वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है, जो मनुष्योंके लिये सुखदायक है। अन्न ही प्राण है, यह बात वेदमें भी बतायी गयी है ॥ २२ ॥

अथाभ्रेषु निगूढश्च रश्मिभिः परिवारितः ।
सप्तद्वीपानिमान् ब्रह्मन् वर्षेणाभिप्रवर्षति ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! अपने किरणसमूहसे घिरे हुए भगवान् सूर्य बादलोंमें छिपकर सातों द्वीपोंकी पृथ्वीको वर्षाके जलसे आप्लावित करते हैं ॥ २३ ॥

ततस्तदौषधीनां च वीरुधां पुष्पपत्रजम् ।
सर्वं वर्षाभिनिर्वृत्तमन्नं सम्भवति प्रभो ॥ २४ ॥

'उसीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ, लताएँ, पत्र-पुष्प, घास-पात आदि उत्पन्न होते हैं। प्रभो! प्रायः सभी प्रकारके अन्न वर्षाके जलसे उत्पन्न होते हैं ॥ २४॥

जातकर्माणि सर्वाणि व्रतोपनयनानि च ।
गोदानानि विवाहाश्च तथा यज्ञसमृद्धयः ॥ २५ ॥
शास्त्राणि दानानि तथा संयोगा वित्तसंचयाः ।
अन्नतः सम्प्रवर्तन्ते तथा त्वं वेत्थ भार्गव ॥ २६ ॥

'जातकर्म, व्रत, उपनयन, विवाह, गोदान, यज्ञ सम्पत्ति, शास्त्रीय दान, संयोग और धनसंग्रह आदि सारे कार्य

अन्नसे ही सम्पादित होते हैं । भृगुनन्दन ! इस बातको आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ २५-२६ ॥

रमणीयानि यावन्ति यावदारम्भकाणि च ।
सर्वमन्नात् प्रभवति विदितं कीर्तयामि ते ॥ २७ ॥

'जितने सुन्दर पदार्थ हैं अथवा जो भी उत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अन्नसे ही प्रकट होते हैं। यह सब मैं ऐसी बात बता रहा हूँ, जो आपको पहलेसे ही विदित है ॥ २७ ॥

सर्वं हि वेत्थ विप्र त्वं यदेतत् कीर्तितं मया ।
प्रसादये त्वां विप्रर्षे किं ते सूर्यं निपात्य वै ॥ २८ ॥

'विप्रवर ! ब्रह्मर्षे ! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह सब आप भी जानते हैं। भला, सूर्यको गिरानेसे आपको क्या लाभ होगा ? अतः मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ (कृपया सूर्यको नष्ट करनेका संकल्प छोड़ दीजिये)' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि छत्रोपानहोत्पत्तिर्नाम पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छत्र और उपानह्की उत्पत्तिनामक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

छत्र और उपानह्की उत्पत्ति एवं दानकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

एवं प्रयाचति तदा भास्करे मुनिसत्तमः ।
जमदग्निर्महातेजाः किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जब सूर्यदेव इस प्रकार याचना कर रहे थे, उस समय महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ जमदग्निने कौन-सा कार्य किया ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

स तथा याचमानस्य मुनिरग्निसमप्रभः ।
जमदग्निः शमं नैव जगाम कुरुनन्दन ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! सूर्यदेवके इस तरह प्रार्थना करनेपर भी अग्निके समान तेजस्वी जमदग्नि मुनिका क्रोध शान्त नहीं हुआ ॥ २ ॥

ततः सूर्यो मधुरया वाचा तमिदमब्रवीत् ।
कृताञ्जलिर्विप्ररूपी प्रणम्यैनं विशाम्पते ॥ ३ ॥

प्रजानाथ ! तब विप्ररूपधारी सूर्यने हाथ जोड़ प्रणाम करके मधुर वाणीद्वारा यों कहा— ॥ ३ ॥

चलं निमित्तं विप्रर्षे सदा सूर्यस्य गच्छतः ।
कथं चलं भेत्स्यसि त्वं सदा यान्तं दिवाकरम् ॥ ४ ॥

'विप्रर्षे ! आपका लक्ष्य तो चल है, सूर्य भी सदा चलते रहते हैं। अतः निरन्तर यात्रा करते हुए सूर्यरूपी चञ्चल लक्ष्यका आप किस प्रकार भेदन करेंगे ?' ॥ ४ ॥

जमदग्निरुवाच

स्थिरं चापि चलं चापि जाने त्वां ज्ञानचक्षुषा ।
अवश्यं विनयाधानं कार्यमद्य मया तव ॥ ५ ॥

जमदग्नि बोले—हमारा लक्ष्य चञ्चल हो या स्थिर, हम ज्ञानदृष्टिसे पहचान गये हैं कि तुम्हीं सूर्य हो। अतः आज दण्ड देकर तुम्हें अवश्य ही विनययुक्त बनायेंगे ॥ ५ ॥

मध्याह्ने वै निमेषार्धं तिष्ठसि त्वं दिवाकर ।
तत्र भेत्स्यामि सूर्य त्वां न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ६ ॥

दिवाकर ! तुम दोपहरके समय आधे निमेषके लिये ठहर जाते हो ! सूर्य ! उसी समय तुम्हें स्थिर पाकर हम अपने बाणोंद्वारा तुम्हारे शरीरका भेदन कर डालेंगे । इस विषयमें मुझे कोई (अन्यथा) विचार नहीं करना है ॥ ६ ॥

सूर्य उवाच

असंशयं मां विप्रर्षे भेत्स्यसे धन्विनां वर ।
अपकारिणं मां विद्धि भगवञ्छरणागतम् ॥ ७ ॥

सूर्य बोले—धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे ! निस्संदेह आप मेरे शरीरका भेदन कर सकते हैं। भगवन् ! यद्यपि मैं आपका अपराधी हूँ तो भी आप मुझे अपना शरणागत समझिये ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

ततः प्रहस्य भगवान् जमदग्निरुवाच तम् ।
न भीः सूर्य त्वया कार्या प्रणिपातगतो ह्यसि ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सूर्यदेवकी यह बात सुनकर भगवान् जमदग्नि हँस पड़े और उनसे बोले— 'सूर्यदेव ! अब तुम्हें भय नहीं मानना चाहिये; क्योंकि तुम मेरे शरणागत हो गये हो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणेष्वार्जवं यच्च स्थैर्यं च धरणीतले ।
सौम्यतां चैव सोमस्य गाम्भीर्यं वरुणस्य च ॥ ९ ॥
दीप्तिमग्नेः प्रभां मेरोः प्रतापं तपनस्य च ।
एतान्यतिक्रमेद् यो वै स हन्याच्छरणागतम् ॥ १० ॥

'ब्राह्मणोंमें जो सरलता है, पृथ्वीमें जो स्थिरता है, सोमका जो सौम्यभाव, सागरकी जो गम्भीरता, अग्निकी जो दीप्ति, मेरुकी जो चमक और सूर्यका जो प्रताप है—इन सबका वह पुरुष उल्लङ्घन कर जाता है, इन सबकी मर्यादाका नाश

करनेवाला समझा जाता है, जो शरणागतका वध करता है ॥ ९-१० ॥

भवेत् स गुरुतल्पी च ब्रह्महा च स वै भवेत् ।
सुरापानं स कुर्याच्च यो हन्याच्छरणागतम् ॥ ११ ॥

जो शरणागतकी हत्या करता है, उसे गुरुपत्नीगमन, ब्रह्महत्या और मदिरापानका पाप लगता है ॥ ११ ॥

एतस्य त्वपनीतस्य समाधिं तात चिन्तय ।
यथा सुखगमः पन्था भवेत् त्वद्रश्मिभावितः ॥ १२ ॥

तात ! इस समय तुम्हारे द्वारा जो यह अपराध हुआ है, उसका कोई समाधान—उपाय सोचो । जिससे तुम्हारी किरणोंद्वारा तपा हुआ मार्ग सुगमतापूर्वक चलने योग्य हो सके ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

एतावदुक्त्वा स तदा तूष्णीमासीद् भृगूत्तमः ।
अथ सूर्योऽददत् तस्मै छत्रोपानहमाशु वै ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि मुनि चुप हो गये । तब भगवान् सूर्यने उन्हें शीघ्र ही छत्र और उपानह् दोनों वस्तुएँ प्रदान कीं ॥ १३ ॥

सूर्य उवाच

महर्षे शिरसस्त्राणं छत्रं मद्रश्मिवारणम् ।
प्रतिगृह्णीष्व पद्भ्यां च त्राणार्थं चर्मपादुके ॥ १४ ॥

सूर्यदेवने कहा—महर्षे ! यह छत्र मेरी किरणोंका निवारण करके मस्तककी रक्षा करेगा तथा चमड़ेके बने ये एक जोड़े जूते हैं, जो पैरोंको जलनेसे बचानेके लिये प्रस्तुत किये गये हैं । आप इन्हें ग्रहण कीजिये ॥ १४ ॥

अद्यप्रभृति चैवेह लोके सम्प्रचरिष्यति ।
पुण्यकेषु च सर्वेषु परमक्षय्यमेव च ॥ १५ ॥

आजसे इस जगत्‌में इन दोनों वस्तुओंका प्रचार होगा और पुण्यके सभी अवसरोंपर इनका दान उत्तम एवं अक्षय फल देनेवाला होगा ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

छत्रोपानहमेतत् तु सूर्येणैतत् प्रवर्तितम् ।
पुण्यमेतदभिख्यातं त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! छाता और जूता—इन दोनों वस्तुओंका प्राकट्य—छाता लगाने और जूता पहननेकी प्रथा सूर्यने ही जारी की है । इन वस्तुओंका दान तीनों लोकोंमें पवित्र बताया गया है ॥ १६ ॥

तस्मात् प्रयच्छ विप्रेषु छत्रोपानहमुत्तमम् ।
धर्मस्तेषु महान् भावी न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १७ ॥

इसलिये तुम ब्राह्मणोंको उत्तम छाते और जूते दिया करो । उनके दानसे महान् धर्म होगा । इस विषयमें मुझे भी संदेह नहीं है ॥ १७ ॥

छत्रं हि भरतश्रेष्ठ यः प्रदद्याद् द्विजातये ।
शुभ्रं शतशलाकं वै स प्रेत्य सुखमेधते ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ब्राह्मणको सौ शलाकाओंसे युक्त सुन्दर छाता दान करता है, वह परलोकमें सुखी होता है ॥ १८ ॥

स शक्रलोके वसति पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
अप्सरोभिश्च सततं देवैश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

भरतभूषण ! वह देवताओं, ब्राह्मणों और अप्सराओंद्वारा सतत सम्मानित होता हुआ इन्द्रलोकमें निवास करता है ॥ १९ ॥

दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ ।
स्नातकाय महाबाहो संशिताय द्विजातये ॥ २० ॥
सोऽपि लोकानवाप्नोति दैवतैरभिपूजितान् ।
गोलोके स मुदा युक्तो वसति प्रेत्य भारत ॥ २१ ॥

महाबाहो ! भरतनन्दन ! जिसके पैर जल रहे हों ऐसे कठोर व्रतधारी स्नातक द्विजको जो जूते दान करता है, वह शरीर-त्यागके पश्चात् देववन्दित लोकोंमें जाता है और बड़ी प्रसन्नताके साथ गोलोकमें निवास करता है ॥ २०-२१ ॥

एतत् ते भरतश्रेष्ठ मया कार्त्स्न्येन कीर्तितम् ।
छत्रोपानहदानस्य फलं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भरतसत्तम ! यह मैंने तुमसे छातों और जूतोंके दानका सम्पूर्ण फल बताया है ॥ २२ ॥

[सेवासे शूद्रोंकी परम गति, शौचाचार, सदाचार तथा वर्णधर्मका कथन एवं संन्यासियोंके धर्मोंका वर्णन और उससे उनको परम गतिकी प्राप्ति]

युधिष्ठिर उवाच

शूद्राणामिह शुश्रूषा नित्यमेवानुवर्णिता ।
कैः कारणैः कतिविधा शुश्रूषा समुदाहृता ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस जगत्‌में शूद्रोंके लिये सदा द्विजातियोंकी सेवाको ही परम धर्म बताया गया है । वह सेवा किन कारणोंसे कितने प्रकारकी कही गयी है ? ॥

के च शुश्रूषया लोका विहिता भरतर्षभ ।
शूद्राणां भरतश्रेष्ठ ब्रूहि मे धर्मलक्षणम् ॥

भरतभूषण ! भरतरत्न ! शूद्रोंको द्विजोंकी सेवासे किन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है ? मुझे धर्मका लक्षण बताइये ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शूद्राणामनुकम्पार्थं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें ब्रह्मवादी

पराशरने शूद्रोंपर कृपा करनेके लिये जो कुछ कहा है, उसी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

वृद्धः पराशरः प्राह धर्मं शुभ्रमनामयम् ।
अनुग्रहार्थं वर्णानां शौचाचारसमन्वितम् ॥

बड़े-बूढ़े पराशर मुनिने सब वर्णोंपर कृपा करनेके लिये शौचाचारसे सम्पन्न निर्मल एवं अनामय धर्मका प्रतिपादन किया ॥

धर्मोपदेशमखिलं यथावदनुपूर्वशः ।
शिष्यानध्यापयामास शास्त्रमर्थवदर्थवित् ॥

तत्त्वज्ञ पराशर मुनिने अपने सारे धर्मोपदेशको ठीक-ठीक आनुपूर्वीसहित अपने शिष्योंको पढ़ाया । वह एक सार्थक धर्मशास्त्र था ॥

पराशर उवाच

क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै ।
अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना ।
चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः ।
कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

पराशरने कहा—मनुष्यको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, उत्तरोत्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचारपरायण और सर्वभूतहितैषी होकर सदा अपने ही देहमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते ॥

विधिना धृतिमास्थाय शुश्रूषुरनहंकृतः ।
वर्णत्रयस्यानुमतो यथाशक्ति यथाबलम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा च चतुर्विधम् ।
आस्थाय नियमं धीमाञ्शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ॥

बुद्धिमान् मनुष्य विधिपूर्वक धैर्यका आश्रय ले गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर, अहंकारशून्य तथा तीनों वर्णोंकी सहानुभूतिका पात्र होकर अपनी शक्ति और बलके अनुसार कर्म, मन, वाणी और नेत्र—इन चारोंके द्वारा चार प्रकारके संयमका अवलम्बन ले शान्तचित्त, दमनशील एवं जितेन्द्रिय हो जाय ॥

नित्यं दक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ।
वर्णत्रयान्मधु यथा भ्रमरो धर्ममाचरन् ॥

दक्ष—ज्ञानीजनोंका नित्य अन्वेषण करनेवाला यज्ञशेष अमृतरूप अन्नका भोजन करे । जैसे भौंरा फूलोंसे मधुका संचय करता है, उसी प्रकार तीनों वर्णोंसे मधुकरी भिक्षाका संचय करते हुए ब्राह्मण भिक्षुको धर्मका आचरण करना चाहिये ॥

स्वाध्यायधनिनो विप्राः क्षत्रियाणां बलं धनम् ।
वणिक्कृषिश्च वैश्यानां शूद्राणां परिचारिका ॥
व्युच्छेदात् तस्य धर्मस्य निरयायोपपद्यते ।

ब्राह्मणोंका धन है वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय, क्षत्रियोंका धन है बल, वैश्योंका धन है व्यापार और खेती तथा शूद्रोंका धन है तीनों वर्णोंकी सेवा । इस धर्मरूपी धनका उच्छेद करनेसे मनुष्य नरकमें पड़ता है ॥

ततो म्लेच्छा भवन्त्येते निर्घृणा धर्मवर्जिताः ॥
पुनश्च निरयं तेषां तिर्यग्योनिश्च शाश्वती ।

नरकसे निकलनेपर ये धर्मरहित निर्दय मनुष्य म्लेच्छ होते हैं और म्लेच्छ होनेके बाद फिर पापकर्म करनेसे उन्हें सदाके लिये नरक और पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनिकी प्राप्ति होती है ॥

ये तु सत्पथमास्थाय वर्णाश्रमकृतं पुरा ॥
सर्वान् विमार्गानुत्सृज्य स्वधर्मपथमाश्रिताः ।
सर्वभूतदयावन्तो दैवतद्विजपूजकाः ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना श्रद्धया जितमन्यवः ।
तेषां विधिं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
उपादानविधिं कृत्स्नं शुश्रूषाधिगमं तथा ।

जो लोग प्राचीन वर्णाश्रमोचित सन्मार्गका आश्रय ले सारे विपरीत मार्गोंका परित्याग करके स्वधर्मके मार्गपर चलते हैं, समस्त प्राणियोंके प्रति दया रखते हैं और क्रोधको जीतकर शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धापूर्वक देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, उनके लिये यथावत् रूपसे क्रमशः सम्पूर्ण धर्मोंके ग्रहणकी विधि तथा सेवाभावकी प्राप्ति आदिका वर्णन करता हूँ ॥

शौचकृत्यस्य शौचार्थान् सर्वानेव विशेषतः ॥
महाशौचप्रभृतयो दृष्टास्तत्त्वार्थदर्शिभिः ।

जो विशेषरूपसे शौचका सम्पादन करना चाहते हैं, उनके लिये सभी शौचविषयक प्रयोजनोंका वर्णन करता हूँ । तत्त्वदर्शी विद्वानोंने शास्त्रमें महाशौच आदि विधानोंको प्रत्यक्ष देखा है ॥

तत्रापि शूद्रो भिक्षूणां मृदं शेषं च कल्पयेत् ॥

वहाँ शूद्र भी भिक्षुओंके शौचाचारके लिये मिट्टी तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंका प्रबन्ध करे ॥

भिक्षुभिः सुकृतप्रज्ञैः केवलं धर्ममाश्रितैः ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नैर्गताध्वनि हितार्थिभिः ॥
अवकाशमिदं मेध्यं निर्मितं कामवीरुधम् ।

जो धर्मके ज्ञाता, केवल धर्मके ही आश्रित तथा सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न हैं, उन सर्वहितैषी संन्यासियोंको चाहिये कि वे सज्जनाचरित मार्गपर स्थित हो इस पवित्र कामलतास्वरूप

स्थान (मलत्यागके योग्य क्षेत्र आदि) का निश्चय करे ॥

निर्जनं संवृतं बुद्ध्वा नियतात्मा जितेन्द्रियः ॥
सजलं भाजनं स्थाप्यं मृत्तिकां च परीक्षिताम् ।
परीक्ष्य भूमिं मूत्रार्थी तत आसीत वाग्यतः ॥

मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह निर्जन एवं घिरे हुए स्थानको देखकर वहाँ सजल पात्र और देख-भाल कर ली हुई मृत्तिका रक्खे । फिर उस भूमिका भलीभाँति निरीक्षण करके मौन होकर मूत्र-त्यागके लिये बैठे ॥

उदङ्मुखो दिवा कुर्याद् रात्रौ चेद् दक्षिणामुखः ।
अन्तर्हितायां भूमौ तु अन्तर्हितशिरास्तथा ॥

यदि दिन हो तो उत्तरकी ओर मुँह करके और रात हो तो दक्षिणाभिमुख होकर मल या मूत्रका त्याग करे । मल त्याग करनेके पूर्व उस समय भूमिको तिनके आदिसे ढके रखना चाहिये तथा अपने मस्तकको भी वस्त्रसे आच्छादित किये रहना उचित है ॥

असमाप्ते तथा शौचे न वाचं किंचिदीरयेत् ।
कृतकृत्यस्तथाऽऽचम्य गच्छन्नोदीरयेद् वचः ॥

जबतक शौच-कर्म समाप्त न हो जाय, तबतक मुँहसे कुछ न बोले अर्थात् मौन रहे । शौच-कर्म पूरा करके भी आचमनके अनन्तर जाते समय मौन ही रहे ॥

शौचार्थमुपतिष्ठंस्तु मृद्भाजनपुरस्कृतः ।
स्थाप्यं कमण्डलुं गृह्य पार्श्वोरुभ्यामथान्तरे ॥
शौचं कुर्याच्छनैर्धीरो बुद्धिपूर्वमसंकरम् ।

शौचके लिये बैठा हुआ पुरुष अपने सामने मृत्तिका और जलपात्र रक्खे । धीर पुरुष कमण्डलुको हाथमें लिये हुए दाहिने पार्श्व और ऊरुके मध्यदेशमें रखे और सावधानीके साथ धीरे धीरे मूत्र-त्याग करे, जिससे अपने किसी अङ्गपर उसका छींटा न पड़े ॥

पाणिना शुद्धमुदकं संगृह्य विधिपूर्वकम् ॥
विप्रुषश्च यथा न स्युर्यथा चोरू न संस्पृशेत् ।

तत्पश्चात् हाथसे विधिपूर्वक शुद्ध जल लेकर मूत्रस्थान (उपस्थ) को ऐसी सावधानीके साथ धोये, जिससे उसमें मूत्रकी बूँदें न लगी रह जायँ तथा अशुद्ध हाथसे दोनों जाँघोंका भी स्पर्श न करे ॥

अपाने मृत्तिकास्तिस्रः प्रदेयास्त्वनुपूर्वशः ॥
यथा धातो हि न भवेत् क्लेदजः परिधानके ।

यदि मल त्याग किया गया हो तो गुदाभागको धोते समय उसमें क्रमशः तीन बार मिट्टी लगाये । गुदाको शुद्ध करनेके लिये बारंबार इस प्रकार धोना चाहिये कि जलका आघात कपड़ेमें न लगे ॥

सव्ये द्वादश देयाः स्युस्तिस्रस्तिस्रः पुनः पुनः ।

तत्पश्चात् बायें हाथमें बारह बार और दाहिनेमें कई बार तीन-तीन बार मिट्टी लगावे ॥

मलोपहतचैलस्य द्विगुणं तु विधीयते ॥
सहपादमथोरुभ्यां हस्तशौचमसंशयम् ।

जिसका कपड़ा मलसे दूषित हो गया है ऐसे पुरुषके लिये द्विगुण शौचका विधान है । उसे दोनों पैरों, दोनों जाँघों और दोनों हाथोंकी विशेष शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥

अवधीरयमाणस्य संदेह उपजायते ॥
यथा यथा विशुद्ध्येत तत् तथा तदुपक्रमेत् ।

शौचका पालन न करनेसे शरीर-शुद्धिके विषयमें संदेह बना रहता है । अतः जिस-जिस प्रकारसे शरीर-शुद्धि हो वैसे-ही-वैसे कार्य करनेकी चेष्टा करे ॥

क्षारौषराभ्यां वस्त्रस्य कुर्याच्छौचं मृदा सह ॥
लेपगन्धापनयनममेध्यस्य विधीयते ।

मिट्टीके साथ क्षार और रेह मिलाकर उसके द्वारा वस्त्रकी शुद्धि करनी चाहिये । जिसमें कोई अपवित्र वस्तु लग गयी हो, उस वस्त्रसे उस वस्तुका लेप मिट जाय और उसकी दुर्गन्ध दूर हो जाय, ऐसी शुद्धिका सम्पादन आवश्यक होता है ॥

देयाश्चतस्रस्तिस्रो वा द्वे वाप्येकां तथाऽऽपदि ॥
कालमासाद्य देशं च शौचस्य गुरुलाघवम् ।

आपत्तिकालमें चार, तीन, दो अथवा एक बार मृत्तिका लगानी चाहिये । देश और कालके अनुसार शौचाचारमें गौरव अथवा लाघव किया जा सकता है ॥

विधिनानेन शौचं तु नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ॥
अविप्रेक्षन्नसम्भ्रान्तः पादौ प्रक्षाल्य तत्परः ।

इस विधिसे प्रतिदिन आलस्यका परित्याग करके शौच (शुद्धि) का सम्पादन करे तथा शुद्धिका सम्पादन करनेवाला पुरुष दोनों पैरोंको धोकर इधर-उधर दृष्टि न डालता हुआ बिना किसी घबराहटके चला जाय ॥

सुप्रक्षालितपादस्तु पाणिमामणिबन्धनात् ॥
अधस्तादुपरिष्टाच्च ततः पाणिमुपस्पृशेत् ।

पहले पैरोंको भलीभाँति धोकर फिर कलाईसे लेकर समूचे हाथको ऊपरसे नीचेतक धो डाले । इसके बाद हाथमें जल लेकर आचमन करे ॥

मनोगतास्तु निश्शब्दा निश्शब्दं त्रिरपः पिबेत् ॥
द्विर्मुखं परिमृज्याच्च खानि चोपस्पृशेद् बुधः ।

आचमनके समय मौन होकर तीन बार जल पीये । उस जलमें किसी प्रकारकी आवाज न हो तथा आचमनके पश्चात्

वह जल हृदयतक पहुँचे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अंगूठेके मूलभागसे दो बार मुँह पोंछे। इसके बाद इन्द्रियोंके छिद्रोंका स्पर्श करे॥

ऋग्वेदं तेन प्रीणाति प्रथमं यः पिबेदपः॥
द्वितीयं च यजुर्वेदं तृतीयं साम एव च।

वह प्रथम बार जो जल पीता है, उससे ऋग्वेदको तृप्त करता है, द्वितीय बारका जल यजुर्वेदको और तृतीय बारका जल सामवेदको तृप्त करता है॥

मृज्यते प्रथमं तेन अथर्वा प्रीतिमाप्नुयात्॥
द्वितीयेनेतिहासं च पुराणस्मृतिदेवताः।

पहली बार जो मुखका मार्जन किया जाता है, उससे अथर्ववेद तृप्त होता है और द्वितीय बारके मार्जनसे इतिहास-पुराण एवं स्मृतियोंके अधिष्ठाता देवता संतुष्ट होते हैं॥

यच्चक्षुषि समाधत्ते तेनादित्यं तु प्रीणयेत्॥
प्रीणाति वायुं घ्राणं च दिशश्चाप्यथ श्रोत्रयोः।

मुखमार्जनके पश्चात् द्विज जो अङ्गुलियोंसे नेत्रोंका स्पर्श करता है, उसके द्वारा वह सूर्यदेवको तृप्त करता है। नासिकाके स्पर्शसे वायुको और दोनों कानोंके स्पर्शसे वह दिशाओंको संतुष्ट करता है॥

ब्रह्माणं तेन प्रीणाति यन्मूर्धनि समालभेत्॥
समुत्क्षिपति चापोर्ध्वमाकाशं तेन प्रीणयेत्।

आचमन करनेवाला पुरुष अपने मस्तकपर जो हाथ रखता है, उसके द्वारा वह ब्रह्माजीको तृप्त करता है और ऊपरकी ओर जो जल फेंकता है, उसके द्वारा वह आकाशके अधिष्ठाता देवताको संतुष्ट करता है॥

प्रीणाति विष्णुः पद्भ्यां तु सलिलं वै समादधत्॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि अन्तर्जानुरुपस्पृशेत्।
सर्वत्र विधिरित्येष भोजनादिषु नित्यशः॥

वह अपने दोनों पैरोंपर जो जल डालता है, इससे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। आचमन करनेवाला पुरुष पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके अपने हाथको घुटनेके भीतर रखकर जलका स्पर्श करे। भोजन आदि सभी अवसरोंपर सदा आचमन करनेकी यही विधि है॥

अन्नेषु दन्तलग्नेषु उच्छिष्टः पुनराचमेत्।
विधिरेष समुद्दिष्टः शौचे चाभ्युक्षणं स्मृतम्॥

यदि दाँतोंमें अन्न लगा हो तो अपनेको जूठा मानकर पुनः आचमन करे, यह शौचाचारकी विधि बतायी गयी। किसी वस्तुकी शुद्धिके लिये उसपर जल छिड़कना भी कर्तव्य माना गया है॥

शूद्रस्यैष विधिर्दृष्टो गृहान्निष्क्रमतः सतः।
नित्यं चालुप्तशौचेन वर्तितव्यं कृतात्मना॥
यशस्कामेन भिक्षुभ्यः शूद्रेणात्महितार्थिना॥

(साधु-सेवाके उद्देश्यसे) घरसे निकलते समय शूद्रके लिये भी यह शौचाचारकी विधि देखी गयी है। जिसने मनको वशमें किया है तथा जो अपने हितकी इच्छा रखता है, ऐसे सुयशकामी शूद्रको चाहिये कि वह सदा शौचाचारसे सम्पन्न होकर ही संन्यासियोंके निकट जाय और उनकी सेवा आदिका कार्य करे॥

क्षत्रा आरम्भयज्ञास्तु हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
शूद्राः परिचारयज्ञा जपयज्ञास्तु ब्राह्मणाः॥

क्षत्रिय आरम्भ (उत्साह) रूप यज्ञ करनेवाले होते हैं। वैश्योंके यज्ञमें हविष्य (हवनीय पदार्थ) की प्रधानता होती है, शूद्रोंका यज्ञ सेवा ही है तथा ब्राह्मण जपरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं॥

शुश्रूषाजीविनः शूद्रा वैश्या विपणजीविनः।
अनिष्टनिग्रहाः क्षत्रा विप्राः स्वाध्यायजीविनः॥

शूद्र सेवासे जीवननिर्वाह करनेवाले होते हैं, वैश्य व्यापारजीवी हैं, दुष्टोंका दमन करना क्षत्रियोंकी जीवनवृत्ति है और ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे जीवननिर्वाह करते हैं॥

तपसा शोभते विप्रो राजन्यः पालनादिभिः।
आतिथ्येन तथा वैश्यः शूद्रो दास्येन शोभते॥

क्योंकि ब्राह्मण तपस्यासे, क्षत्रिय पालन आदिसे, वैश्य अतिथि-सत्कारसे और शूद्र सेवावृत्तिसे शोभा पाते हैं॥

यतात्मना तु शूद्रेण शुश्रूषा नित्यमेव तु।
कर्तव्या त्रिषु वर्णेषु प्रायेणाश्रमवासिषु॥

अपने मनको वशमें रखनेवाले शूद्रको सदा ही तीनों वर्णोंकी विशेषतः आश्रमवासियोंकी सेवा करनी चाहिये॥

अशक्तेन त्रिवर्णस्य सेव्या ह्याश्रमवासिनः।
यथाशक्ति यथाप्रज्ञं यथाधर्मं यथाश्रुतम्॥
विशेषेणैव कर्तव्या शुश्रूषा भिक्षुकाश्रमे॥

त्रिवर्णकी सेवामें अशक्त हुए शूद्रको अपनी शक्ति, बुद्धि, धर्म तथा शास्त्रज्ञानके अनुसार आश्रमवासियोंकी सेवा करनी चाहिये। विशेषतः संन्यास-आश्रममें रहनेवाले भिक्षुकी सेवा उसके लिये परम कर्तव्य है॥

आश्रमाणां तु सर्वेषां चतुर्णां भिक्षुकाश्रमम्।
प्रधानमिति मन्यन्ते शिष्टाः शास्त्रविनिश्चये॥

शास्त्रोंके सिद्धान्त-ज्ञानमें निपुण शिष्ट पुरुष चारों आश्रमोंमें संन्यासको ही प्रधान मानते हैं॥

यच्चोपदिश्यते शिष्टैः श्रुतिस्मृतिविधानतः।
तथाऽऽस्थेयमशक्तेन स धर्म इति निश्चितः॥

शिष्ट पुरुष वेदों और स्मृतियोंके विधानके अनुसार जिस कर्तव्यका उपदेश करें, असमर्थ पुरुषको उसीका अनुष्ठान करना चाहिये; उसके लिये वही धर्म निश्चित किया गया है ॥

अतोऽन्यथा तु कुर्वाणः श्रेयो नाप्नोति मानवः।
तस्माद् भिक्षुषु शूद्रेण कार्यमात्महितं सदा ॥

इसके विपरीत करनेवाला मानव कल्याणका भागी नहीं होता है, अतः शूद्रको संन्यासियोंकी सेवा करके सदा अपना कल्याण करना चाहिये ॥

इह यत् कुरुते श्रेयस्तत् प्रेत्य समुपाश्नुते ।
तच्चानसूयता कार्यं कर्तव्यं यद्धि मन्यते ॥
असूयता कृतस्येह फलं दुःखादवाप्यते ॥

मनुष्य इस लोकमें जो कल्याणकारी कार्य करता है, उसका फल मृत्युके पश्चात् उसे प्राप्त होता है। जिसे वह अपना कर्तव्य समझता है, उस कार्यको वह दोषदृष्टि न रखते हुए करे। दोषदृष्टि रखते हुए जो कार्य किया जाता है, उसका फल इस जगत्में बड़े दुःखसे प्राप्त होता है ॥

प्रियवादी जितक्रोधो वीततन्द्रिरमत्सरः।
क्षमावाञ्शीलसम्पन्नः सत्यधर्मपरायणः ॥
आपद्भावेन कुर्याद्धि शुश्रूषां भिक्षुकाश्रमे ॥

शूद्रको चाहिये कि वह प्रिय वचन बोले, क्रोधको जीते, आलस्यको दूर भगा दे, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो जाय, क्षमाशील, शीलवान् तथा सत्यधर्ममें तत्पर रहे। आपत्तिकालमें वह संन्यासियोंके आश्रममें (जाकर) उनकी सेवा करे ॥

अयं मे परमो धर्मस्त्वनेनेदं सुदुस्तरम्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यामि न संशयः ॥
निर्भयो देहमुत्सृज्य यास्यामि परमां गतिम्।
नातः परं ममास्त्यन्य एष धर्मः सनातनः॥
एवं संचिन्त्य मनसा शूद्रो बुद्धिसमाधिना।
कुर्यादविमना नित्यं शुश्रूषाधर्ममुत्तमम् ॥

'यही मेरा परम धर्म है, इसीके द्वारा मैं इस अत्यन्त दुस्तर घोर संसार-सागरसे पार हो जाऊँगा। इसमें संशय नहीं है। मैं निर्भय होकर इस देहका त्याग करके परम गतिको प्राप्त हो जाऊँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। यही सनातन धर्म है।' मन-ही-मन ऐसा विचार करके प्रसन्नचित्त हुआ शूद्र बुद्धिको एकाग्र करके सदा उत्तम शुश्रूषा-धर्मका पालन करे ॥

शुश्रूषानियमेनेह भाव्यं शिष्टाशिना सदा।
शमान्वितेन दान्तेन कार्याकार्यविदा सदा ॥

शूद्रको चाहिये कि वह नियमपूर्वक सेवामें तत्पर रहे, सदा यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करे। मन और इन्द्रियोंको वशमें रक्खे और सदा कर्तव्याकर्तव्यको जाने ॥

सर्वकार्येषु कृत्यानि कृतान्येव च दर्शयेत्।
यथा प्रीतो भवेद् भिक्षुस्तथा कार्यं प्रसाधयेत् ॥
यदकल्यं भवेद् भिक्षोर्न तत् कार्यं समाचरेत्।

सभी कार्योंमें जो आवश्यक कृत्य हों, उन्हें करके ही दिखावे। जैसे-जैसे संन्यासीको प्रसन्नता हो, उसी प्रकार उसका कार्य साधन करे। जो कार्य संन्यासीके लिये हितकर न हो, उसे कदापि न करे ॥

यदाश्रमस्याविरुद्धं धर्ममात्राभिसंहितम् ॥
तत् कार्यमविचारेण नित्यमेव शुभार्थिना।

जो कार्य संन्यास-आश्रमके विरुद्ध न हो तथा जो धर्मके अनुकूल हो, शुभकी इच्छा रखनेवाले शूद्रको वह कार्य सदा बिना विचारे ही करना चाहिये ॥

मनसा कर्मणा वाचा नित्यमेव प्रसादयेत् ॥
स्थातव्यं तिष्ठमानेषु गच्छमानाननुव्रजेत्।
आसीनेष्वासितव्यं च नित्यमेवानुवर्तिना ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा ही उन्हें संतुष्ट रखे। जब वे संन्यासी खड़े हों, तब सेवा करनेवाले शूद्रको स्वयं भी खड़ा रहना चाहिये तथा जब वे कहीं जा रहे हों, तब उसे स्वयं भी उनके पीछे-पीछे जाना चाहिये। यदि वे आसनपर बैठे हों, तब वह स्वयं भी भूमिपर बैठे। तात्पर्य यह कि सदा ही उनका अनुसरण करता रहे ॥

नैशकार्याणि कृत्वा तु नित्यं चैवानुचोदितः।
यथाविधिरुपस्पृश्य संन्यस्य जलभाजनम् ॥
भिक्षूणां निलयं गत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम्।
ब्रह्मपूर्वान् गुरूंस्तत्र प्रणम्य नियतेन्द्रियः ॥
तथाऽऽचार्यपुरोगाणामनुकुर्यान्नमस्क्रियाम्।
स्वधर्मचारिणां चापि सुखं पृष्ट्वाभिवाद्य च ॥
यो भवेत् पूर्वसंसिद्धस्तुल्यधर्मा भवेत् सदा।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतरेषां कदाचन ॥

रात्रिके कार्य पूरे करके प्रतिदिन उनसे आज्ञा लेकर विधिपूर्वक स्नान करके उनके लिये जलसे भरा हुआ कलश ले आकर रक्खे। फिर संन्यासियोंके स्थानपर जाकर उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मण आदि गुरुजनोंको प्रणाम करे। इसी प्रकार स्वधर्मका अनुष्ठान करनेवाले आचार्य आदिको नमस्कार एवं अभिवादन करे। उनका कुशल-समाचार पूछे। पहलेके जो शूद्र आश्रमके कार्यमें सिद्धहस्त हों, उनका स्वयं भी सदा अनुकरण करे, उनके समान कार्यपरायण हो। अपने समानधर्मा शूद्रको प्रणाम करे, दूसरे शूद्रोंको कदापि नहीं ॥

अनुक्त्वा तेषु चोत्थाय नित्यमेव यतव्रतः।
सम्मार्जनमथो कृत्वा कृत्वा चाप्युपलेपनम् ॥

संन्यासियों अथवा आश्रमके दूसरे व्यक्तियोंको कहे बिना

ही प्रतिदिन नियमपूर्वक उठे और झाड़ू देकर आश्रमकी भूमिको लीप-पोत दे ॥

ततः पुष्पबलिं दद्यात् पुष्पाण्याहृत्य धर्मतः ।
निष्क्रम्यावसथात् तूर्णमन्यत् कर्म समाचरेत् ॥

तत्पश्चात् धर्मके अनुसार फूलोंका संग्रह करके पूजनीय देवताओंकी उन फूलोंद्वारा पूजा करे । इसके बाद आश्रमसे निकलकर तुरंत ही दूसरे कार्यमें लग जाय ॥

यथोपघातो न भवेत् स्वाध्याये ऽऽश्रमिणां तथा ।
उपघातं तु कुर्वाण एनसा सम्प्रयुज्यते ॥

आश्रमवासियोंके स्वाध्यायमें विघ्न न पड़े, इसके लिये सदा सचेष्ट रहे । जो स्वाध्यायमें विघ्न डालता है, वह पापका भागी होता है ॥

तथाऽऽत्मा प्रणिधातव्यो यथा ते प्रीतिमाप्नुयुः ।
परिचारकोऽहं वर्णानां त्रयाणां धर्मतः स्मृतः ॥
किमुताश्रमवृद्धानां यथालब्धोपजीविनाम् ॥

अपने-आपको इस प्रकार सावधानीके साथ सेवामें लगाये रखना चाहिये, जिससे वे साधु पुरुष प्रसन्न हों । शूद्रको सदा इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'मैं तो शास्त्रोंमें धर्मतः तीनों वर्णोंका सेवक बताया गया हूँ । फिर जो संन्यास-आश्रममें रहकर जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करनेवाले बड़े-बूढ़े संन्यासी हैं, उनकी सेवाके विषयमें तो कहना ही क्या है ? (उनकी सेवा करना तो मेरा परम धर्म है ही) ॥

भिक्षूणां गतरागाणां केवलं ज्ञानदर्शिनाम् ।
विशेषेण मया कार्या शुश्रूषा नियतात्मना ॥

'जो केवल ज्ञानदर्शी, वीतराग संन्यासी हैं, उनकी सेवा मुझे विशेषरूपसे मनको वशमें रखते हुए करनी चाहिये ॥

तेषां प्रसादात् तपसा प्राप्स्यामीष्टां शुभां गतिम् ॥
एवमेतद् विनिश्चित्य यदि सेवेत भिक्षुकान् ।
विधिना यथोपदिष्टेन प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

'उनकी कृपा और तपस्यासे मैं मनोवाञ्छित शुभगति प्राप्त कर लूँगा ।' ऐसा निश्चय करके यदि शूद्र पूर्वोक्त विधिसे संन्यासियोंका सेवन करे तो परम गतिको प्राप्त होता है ॥

न तथा सम्प्रदानेन नोपवासादिभिस्तथा ।
इष्टां गतिमवाप्नोति यथा शुश्रूषकर्मणा ॥

शूद्र सेवाकर्मसे जिस मनोवाञ्छित गतिको प्राप्त कर लेता है, वैसी गति दान तथा उपवास आदिके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥

यादृशेन तु तोयेन शुद्धिं प्रकुरुते नरः ।
तादृग् भवति तद्धौतमुदकस्य स्वभावतः ॥

मनुष्य जैसे जलसे कपड़ा धोता है, उस जलकी स्वच्छताके अनुसार ही वह वस्त्र स्वच्छ होता है ॥

शूद्रोऽप्येतेन मार्गेण यादृशं सेवते जनम् ।
तादृग् भवति संसर्गादचिरेण न संशयः ॥

शूद्र भी इसी मार्गसे चलकर जैसे पुरुषका सेवन करता है, संसर्गवश वह शीघ्र वैसा हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

तस्मात् प्रयत्नतः सेव्या भिक्षवो नियतात्मना ।

अतः शूद्रको चाहिये कि अपने मनको वशमें करके प्रयत्नपूर्वक संन्यासियोंकी सेवा करे ॥

अध्वना कर्शितानां च व्याधितानां तथैव च ॥
शुश्रूषां नियतः कुर्यात् तेषामापदि यत्नतः ।

जो राह चलनेसे थके-माँदे कष्ट पा रहे हों तथा रोगसे पीड़ित हों, उन संन्यासियोंकी उस आपत्तिके समय यत्न और नियमके साथ विशेष सेवा करे ॥

दर्भाजिनान्यवेक्षेत भैक्ष्यभाजनमेव च ॥
यथाकामं च कार्याणि सर्वाण्येवोपसाधयेत् ।

उनके कुशासन, मृगचर्म और भिक्षापात्रकी भी देख-भाल करे तथा उनकी रुचिके अनुसार सारा कार्य करता रहे ॥

प्रायश्चित्तं यथा न स्यात् तथा सर्वं समाचरेत् ॥
व्याधितानां तु प्रयतः चैलप्रक्षालनादिभिः ।
प्रतिकर्मक्रिया कार्या भेषजानयनैस्तथा ।

सब कार्य इस प्रकार सावधानीसे करे, जिससे कोई अपराध न बनने पावे । संन्यासी यदि रोगग्रस्त हो जायँ तो सदा उद्यत रहकर उनके कपड़े धोवे । उनके लिये ओषधि ले आवे तथा उनकी चिकित्साके लिये प्रयत्न करे ॥

भिक्षाटनोऽभिगच्छेत भिषजश्च विपश्चितः ।
ततो विनिष्क्रियार्थानि द्रव्याणि समुपार्जयेत् ॥

भिक्षुक बीमार होनेपर भी भिक्षाटनके लिये जाय । विद्वान् चिकित्सकोंके यहाँ उपस्थित हो तथा रोग-निवारणके लिये उपयुक्त विशुद्ध ओषधियोंका संग्रह करे ॥

यश्च प्रीतमना दद्यादद्याद् भेषजं नरः ।
अश्रद्धया हि दत्तानि तान्यभोज्याणि भिक्षुभिः ॥

जो चिकित्सक प्रसन्नतापूर्वक ओषधि दे, उसीसे संन्यासी-को औषध लेना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक दी हुई ओषधियोंको संन्यासी अपने उपयोगमें न ले ॥

श्रद्धया यदुपादत्तं श्रद्धया चोपपादितम् ।
तस्योपभोगाद् धर्मः स्याद् व्याधिभिश्च निवर्त्यते ॥

जो श्रद्धापूर्वक दी गयी और श्रद्धासे ही ग्रहण की गयी हो, उसी ओषधिके सेवनसे धर्म होता है और रोगोंसे छुटकारा भी मिलता है ॥

आदेहपतनादेवं शुश्रूषेद् विधिपूर्वकम् ।

न त्वेव धर्ममुत्सृज्य कुर्यात् तेषां प्रतिक्रियाम्॥

शूद्रको चाहिये कि जबतक यह शरीर छूट न जाय तबतक इसी प्रकार विधिपूर्वक सेवा करता रहे। धर्मका उल्लङ्घन करके उन साधु-संन्यासियोंके प्रति विपरीत आचरण न करे॥

स्वभावतो हि द्वन्द्वानि विप्रयान्त्युपयान्ति च।
स्वभावतः सर्वभावा भवन्ति न भवन्ति च॥
सागरस्योर्मिसदृशा विज्ञातव्या गुणात्मकाः।

शीत-उष्ण आदि सारे द्वन्द्व स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं, समस्त पदार्थ स्वभावसे ही उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। सारे त्रिगुणमय पदार्थ समुद्रकी लहरोंके समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं॥

विद्यादेवं हि यो धीमांस्तत्त्ववित् तत्त्वदर्शनः॥
न स लिप्येत पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

जो बुद्धिमान् एवं तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसा जानता है, वह जलसे निर्लिप्त रहनेवाले पद्मपत्रके समान पापसे लिप्त नहीं होता॥

एवं प्रयतितव्यं हि शुश्रूषार्थमतन्द्रितैः॥
सर्वाभिरुपसेवाभिस्तुष्यन्ति यतयो यथा।

इस प्रकार शूद्रोंको आलस्यशून्य होकर संन्यासियोंकी सेवाके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह सब प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवाओंद्वारा ऐसी चेष्टा करे, जिससे वे संन्यासी सदा संतुष्ट रहें॥

नापराध्येत भिक्षोस्तु न चैवमवधीरयेत्॥
उत्तरं च न संदद्यात् क्रुद्धं चैव प्रसादयेत्।

भिक्षुका अपराध कभी न करे, उसकी अवहेलना भी न करे, उसकी कड़ी बातका कभी उत्तर न दे और यदि वह कुपित हो तो उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करे॥

श्रेय एवाभिधातव्यं कर्तव्यं च प्रहृष्टवत्॥
तूष्णीम्भावेन वै तत्र न क्रुद्धमभिसंवदेत्।

सदा कल्याणकारी बात ही बोले और प्रसन्नतापूर्वक कल्याणकारी कर्म ही करे। संन्यासी कुपित हो तो उसके सामने चुप ही रहे, बातचीत न करे॥

लब्धालब्धेन जीवेत तथैव परिपोषयेत्।

संन्यासीको चाहिये कि भाग्यसे कोई वस्तु मिले या न मिले, जो कुछ प्राप्त हो उसीसे जीवन-निर्वाह एवं शरीरका पोषण करे॥

कोपिनं तु न याचेत ज्ञानविद्वेषकारितः॥
स्थावरेषु दयां कुर्याज्जङ्गमेषु च प्राणिषु।
यथाऽऽत्मनि तथान्येषु समां दृष्टिं निपातयेत्॥

जो क्रोधी हो, उससे किसी वस्तुकी याचना न करे। जो ज्ञानसे द्वेष रखता हो, उससे भी कोई वस्तु न माँगे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंपर दया करे। जैसे अपने ऊपर उसी प्रकार दूसरोंपर समतापूर्ण दृष्टि डाले॥

पुण्यतीर्थानुसेवी च नदीनां पुलिनाश्रयः।
शून्यागारनिकेतश्च वनवृक्षगुहाशयः॥
अरण्यानुचरो नित्यं वेदारण्यनिकेतनः।
एकरात्रं द्विरात्रं वा न क्वचित् सज्जते द्विजः॥

संन्यासी पुण्यतीर्थोंका निरन्तर सेवन करे, नदियोंके तटपर कुटी बनाकर रहे। अथवा सूने घरमें डेरा डाले। वनमें वृक्षोंके नीचे अथवा पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करे। सदा वनमें विचरण करे। वेदरूपी वनका आश्रय ले, किसी भी स्थानमें एक रात या दो रातसे अधिक न रहे। कहीं भी आसक्त न हो॥

शीर्णपर्णपुटे वापि वन्ये चरति भिक्षुकः।
न भोगार्थमनुप्रेत्य यात्रामात्रं समश्नुते॥

संन्यासी जंगली फल-मूल अथवा सूखे पत्तेका आहार करे। वह भोगके लिये नहीं, शरीरयात्राके निर्वाहके लिये भोजन करे॥

धर्मलब्धं समश्नाति न कामान् किंचिदश्नुते।
युगमात्रदृगध्वानं क्रोशादूर्ध्वं न गच्छति॥

वह धर्मतः प्राप्त अन्नका ही भोजन करे। कामनापूर्वक कुछ भी न खाय। रास्ता चलते समय वह दो हाथ आगेतककी भूमिपर ही दृष्टि रक्खे और एक दिनमें एक कोससे अधिक न चले॥

समो मानापमानाभ्यां समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सर्वभूताभयकरस्तथैवाभयदक्षिणः॥

मान हो या अपमान—वह दोनों अवस्थाओंमें समान भावसे रहे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको एक समान समझे। समस्त प्राणियोंको निर्भय करे और सबको अभयकी दक्षिणा दे॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निरानन्दपरिग्रहः।
निर्ममो निरहङ्कारः सर्वभूतनिराश्रयः॥

शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंमें निर्विकार रहे, किसीको नमस्कार न करे। सांसारिक सुख और परिग्रहसे दूर रहे। ममता और अहंकारको त्याग दे। समस्त प्राणियोंमेंसे किसीके भी आश्रित न रहे॥

परिसंख्यानतत्त्वज्ञस्तथा सत्यरतिः सदा।
ऊर्ध्वं नाधो न तिर्यक् च न किंचिदभिकामयेत्॥

वस्तुओंके स्वरूपके विषयमें विचार करके उनके तत्त्वको

जाने। सदा सत्यमें अनुरक्त रहे। ऊपर, नीचे या अगल-बगलमें कहीं किसी वस्तुकी कामना न करे॥

एवं संचरमाणस्तु यतिधर्मं यथाविधि।
कालस्य परिणामात् तु यथा पक्वफलं तथा॥
स विसृज्य स्वकं देहं प्रविशेद् ब्रह्म शाश्वतम्।

इस प्रकार विधिपूर्वक यतिधर्मका पालन करनेवाला संन्यासी कालके परिणामवश अपने शरीरको पके हुए फलकी भाँति त्यागकर सनातन ब्रह्ममें प्रविष्ट हो जाता है॥

निरामयमनाद्यन्तं गुणसौम्यमचेतनम्॥
निरक्षरमबीजं च निरिन्द्रियमजं तथा।
अजय्यमक्षरं यत् तदभेद्यं सूक्ष्ममेव च॥
निर्गुणं च प्रकृतिमन्निर्विकारं च सर्वशः।
भूतभव्यभविष्यस्य कालस्य परमेश्वरम्॥
अव्यक्तं पुरुषं क्षेत्रमानन्त्याय प्रपद्यते।

वह ब्रह्म निरामय, अनादि, अनन्त, सौम्यगुणसे युक्त, चेतनासे ऊपर उठा हुआ, अनिर्वचनीय, बीजहीन, इन्द्रियातीत, अजन्मा, अजेय, अविनाशी, अभेद्य, सूक्ष्म, निर्गुण, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, भूत, वर्तमान और भविष्य कालका स्वामी तथा परमेश्वर है। वही अव्यक्त, अन्तर्यामी पुरुष और क्षेत्र भी है। जो उसे जान लेता है, वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥

एवं स भिक्षुर्निर्वाणं प्राप्नुयाद् दग्धकिल्बिषः॥
इहस्थो देहमुत्सृज्य नीडं शकुनिवद् यथा।

इस प्रकार वह भिक्षु घोंसला छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति यहीं इस शरीरको त्यागकर समस्त पापोंको ज्ञानाग्निसे दग्ध कर देनेके कारण निर्वाण—मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्॥
नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्।

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता है तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है॥

शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्॥
तथाशुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते।

जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी ही प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है॥

तथा शुभसमाचारो ह्यशुभानि विवर्जयेत्॥
शुभान्येव समादद्याद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।

अतः जो अपना कल्याण चाहता हो, वह शुभकर्मोंका ही आचरण करे। अशुभ कर्मोंको त्याग दे। ऐसा करनेसे वह शुभ फलोंको ही प्राप्त करेगा॥

तस्मादागमसम्पन्नो भवेत् सुनियतेन्द्रियः॥
शक्यते ह्यागमादेव गतिं प्राप्तुमनामयाम्।

मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न हो। शास्त्रके ज्ञानसे ही मनुष्यको अनामय गतिकी प्राप्ति हो सकती है॥

परा चैषा गतिर्दृष्टा यामन्वेषन्ति साधवः॥
यत्रामृतत्वं लभते त्यक्त्वा दुःखमनन्तकम्।

साधु पुरुष जिसका अन्वेषण करते हैं, वह परमगति शास्त्रोंमें देखी गयी है। जहाँ पहुँचकर मनुष्य अनन्त दुःखका परित्याग करके अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है॥

इमं हि धर्ममास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः॥
स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च प्राप्नुयुः परमां गतिम्।

इस धर्मका आश्रय लेकर पापयोनिमें उत्पन्न हुए पुरुष तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी परमगतिको प्राप्त कर लेते हैं॥

किं पुनर्ब्राह्मणो विद्वान् क्षत्रियो वा बहुश्रुतः॥
न चाप्यक्षीणपापस्य ज्ञानं भवति देहिनः।
ज्ञानोपलब्धिर्भवति कृतकृत्यो यदा भवेत्॥

फिर जो विद्वान् ब्राह्मण अथवा बहुश्रुत क्षत्रिय है, उसकी सद्गतिके विषयमें क्या कहना है। जिस देहधारीके पाप क्षीण नहीं हुए हैं, उसे ज्ञान नहीं होता। जब मनुष्यको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह कृतकृत्य हो जाता है॥

उपलभ्य तु विज्ञानं ज्ञानं वाप्यनसूयकः।
तथैव वर्तेद् गुरुषु भूयांसं वा समाहितः॥

ज्ञान या विज्ञानको प्राप्त कर लेनेपर भी दोषदृष्टिसे रहित हो गुरुजनोंके प्रति पहले ही-जैसा सद्भाव रक्खे। अथवा एकाग्रचित्त होकर पहलेसे भी अधिक श्रद्धाभाव रक्खे॥

यथावमन्येत गुरुं तथा तेषु प्रवर्तते।
व्यर्थमस्य श्रुतं भवति ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्॥

शिष्य जिस तरह गुरुका अपमान करता है, उसी प्रकार गुरु भी शिष्योंके प्रति बर्ताव करता है। अर्थात् शिष्यको अपने कर्मके अनुसार फल मिलता है। गुरुका अपमान करनेवाले शिष्यका किया हुआ वेद-शास्त्रोंका अध्ययन व्यर्थ हो जाता है। उसका सारा ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणत हो जाता है॥

गतिं चाप्यशुभां गच्छेन्निरयाय न संशयः।
प्रक्षीयते तस्य पुण्यं ज्ञानमस्य विरुध्यते॥

वह नरकमें जानेके लिये अशुभ मार्गको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। उसका पुण्य नष्ट हो जाता है और ज्ञान अज्ञान हो जाता है॥

अदृष्टपूर्वकल्याणो यथादृष्टविधिर्नरः ॥
उत्सेकान्मोहमापद्य तत्त्वज्ञानं न चाप्नुयात्।

जिसने पहले कभी कल्याणका दर्शन नहीं किया है ऐसा मनुष्य शास्त्रोक्त विधिको न देखनेके कारण अभिमानवश मोहको प्राप्त हो जाता है। अतः उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ॥

एवमेव हि नोत्सेकः कर्तव्यो ज्ञानसम्भवः ॥
फलं ज्ञानस्य हि शमः प्रशमाय यतेत् सदा।

अतः किसीको भी ज्ञानका अभिमान नहीं करना चाहिये। ज्ञानका फल है शान्ति, इसलिये सदा शान्तिके लिये ही प्रयत्न करे ॥

उपशान्तेन दान्तेन क्षमायुक्तेन सर्वदा ॥
शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या नित्यमेवानसूयता।

मनका निग्रह और इन्द्रियोंका संयम करके सदा क्षमाशील तथा अदोषदर्शी होकर गुरुजनोंकी सेवा करनी चाहिये॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥
इन्द्रियार्थांश्च मनसा मनो बुद्धौ समादधेत्।

धैर्यके द्वारा उपस्थ और उदरकी रक्षा करे। नेत्रोंके द्वारा हाथ और पैरोंकी रक्षा करे। मनसे इन्द्रियोंके विषयोंको बचावे और मनको बुद्धिमें स्थापित करे ॥

धृत्याऽऽसीत ततो गत्वा शुद्धदेशं सुसंवृतम् ॥
लब्ध्वाऽऽसनं यथादृष्टं विधिपूर्वं समाचरेत्।

पहले शुद्ध एवं घिरे हुए स्थानमें जाकर आसन ले, उसके ऊपर धैर्यपूर्वक बैठे और शास्त्रोक्त विधिके अनुसार ध्यानके लिये प्रयत्न करे ॥

ज्ञानयुक्तस्तथा देवं हृदिस्थमुपलक्षयेत् ॥
आदीप्यमानं वपुषा विधूममनलं यथा।
रश्मिमन्तमिवादित्यं वैद्युताग्निमिवाम्बरे ॥
संस्थितं हृदये पश्येदीशं शाश्वतमव्ययम्।

विवेकयुक्त साधक अपने हृदयमें विराजमान परमात्मदेवका साक्षात्कार करे। जैसे आकाशमें विद्युत्का प्रकाश देखा जाता है तथा जिस प्रकार किरणोंवाले सूर्य प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार उस परमात्मदेवको धूमरहित अग्निकी भाँति तेजस्वी स्वरूपसे प्रकाशित देखे। हृदयदेशमें विराजमान उन अविनाशी सनातन परमेश्वरका बुद्धिरूपी नेत्रोंके द्वारा दर्शन करे ॥

न चायुक्तेन शक्योऽयं द्रष्टुं देहे महेश्वरः ॥
युक्तस्तु पश्यते बुद्ध्या संनिवेश्य मनो हृदि।

जो योगयुक्त नहीं है ऐसा पुरुष अपने हृदयमें विराजमान उस महेश्वरका साक्षात्कार नहीं कर सकता। योगयुक्त पुरुष ही मनको हृदयमें स्थापित करके बुद्धिके द्वारा उस अन्तर्यामी परमात्माका दर्शन करता है ॥

अथ त्वेवं न शक्नोति कर्तुं हृदयधारणम् ॥
यथासांख्यमुपासीत यथावद् योगमास्थितः।

यदि इस प्रकार हृदयदेशमें ध्यान-धारणा न कर सके तो यथावत्‌रूपसे योगका आश्रय ले सांख्यशास्त्रके अनुसार उपासना करे ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीह पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥
पञ्च भूतविशेषाश्च मनश्चैव तु षोडश।

इस शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत और सोलहवाँ मन—ये सोलह विकार हैं ॥

तन्मात्राण्यपि पञ्चैव मनोऽहङ्कार एव च ॥
अष्टमं चाप्यथाव्यक्तमेताः प्रकृतिसंज्ञिताः।

पाँच तन्मात्राएँ, मन, अहंकार और अव्यक्त—ये आठ प्रकृतियाँ हैं ॥

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ॥
एवमेतदिहस्थेन विज्ञेयं तत्त्वबुद्धिना।
एवं वर्ष्म समुत्तीर्य तीर्णो भवति नान्यथा ॥

ये आठ प्रकृतियाँ और पूर्वोक्त सोलह विकार—इन चौबीस तत्त्वोंको यहाँ रहनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषको जानना चाहिये। इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका विवेक हो जानेसे मनुष्य शरीरके बन्धनसे ऊपर उठकर भवसागरसे पार हो जाता है, अन्यथा नहीं ॥

परिसंख्यानमेवैतन्मन्तव्यं ज्ञानबुद्धिना।
अहन्यहनि शान्तात्मा पावनाय हिताय च ॥
एवमेव प्रसंख्याय तत्त्वबुद्धिर्विमुच्यते।

ज्ञानयुक्त बुद्धिवाले पुरुषको यही सांख्ययोग मानना चाहिये। प्रतिदिन शान्तचित्त हो अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाने और अपना हित साधन करनेके लिये इसी प्रकार उपर्युक्त तत्त्वोंका विचार करनेसे मनुष्यको यथार्थ तत्त्वका बोध हो जाता है और वह बन्धनसे छूट जाता है ॥

निष्कलं केवलं भवति शुद्धतत्त्वार्थतत्त्ववित् ॥

शुद्ध तत्त्वार्थको तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष अवयवरहित अद्वितीय ब्रह्म हो जाता है ॥

सत्संनिकर्षे परिवर्तितव्यं
विद्याधिकाश्चापि निषेवितव्याः।
सवर्णतां गच्छति संनिकर्षा-
च्छीलः खगो मेरुमिवाश्रयन् वै ॥

मनुष्यको सदा सत्पुरुषोंके समीप रहना चाहिये। विद्यामें बढ़े-चढ़े पुरुषोंका सेवन करना चाहिये। जो, जिसके

निकट रहता है, उसके समान वर्णका हो जाता है। जैसे नील पक्षी मेरु पर्वतका आश्रय लेनेसे सुवर्णके समान रंगका हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

इत्येवमाख्याय महामुनिस्तदा
चतुर्षु वर्णेषु विधानमर्थवित्।
शुश्रूषया वृत्तगतिं समाधिना
समाधियुक्तः प्रययौ स्वमाश्रमम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले महामुनि पराशर इस प्रकार चारों वर्णोंके लिये कर्तव्यका विधान बताकार तथा शुश्रूषा और समाधिसे प्राप्त होनेवाली गतिका निरूपण करके एकाग्रचित्त हो अपने आश्रमको चले गये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सबके पूजनीय और वन्दनीय कौन हैं—इस विषयमें इन्द्र और मातलिका संवाद]

युधिष्ठिर उवाच

केषां देवा महाभागाः संनमन्ते महात्मनाम्।
लोकेऽस्मिंस्तानृषीन् सर्वाञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! इस लोकमें महाभाग देवता किन महात्माओंको मस्तक झुकाते हैं ? मैं उन समस्त ऋषियोंका यथार्थ परिचय सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

इतिहासमिमं विप्राः कीर्तयन्ति पुराविदः।
अस्मिन्नर्थे महाप्राज्ञस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन बातोंको जाननेवाले महाज्ञानी ब्राह्मण इस इतिहासका वर्णन करते हैं। तुम उस इतिहासको सुनो ॥

वृत्रं हत्वाप्युपावृत्तं त्रिदशानां पुरस्कृतम्।
महेन्द्रमनुसम्प्राप्तं स्तूयमानं महर्षिभिः ॥
श्रिया परमया युक्तं रथस्थं हरिवाहनम्।
मातलिः प्राञ्जलिर्भूत्वा देवमिन्द्रमुवाच ह ॥

जब इन्द्र वृत्रासुरको मारकर लौटे, उस समय देवता उन्हें आगे करके खड़े थे। महर्षिगण महेन्द्रकी स्तुति करते थे । हरित वाहनोंवाले देवराज इन्द्र रथपर बैठकर उत्तम शोभासे सम्पन्न हो रहे थे । उसी समय मातलिने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रसे कहा ॥

मातलिरुवाच

नमस्कृतानां सर्वेषां भगवंस्त्वं पुरस्कृतः।
येषां लोके नमस्कुर्यात् तान् ब्रवीतु भवान् मम ॥

मातलि बोले—भगवन् ! जो सबके द्वारा वन्दित होते हैं, उन समस्त देवताओंके आप अगुआ हैं; परंतु आप भी इस जगत्‌में जिनको मस्तक झुकाते हैं, उन महात्माओंका मुझे परिचय दीजिये ॥

भीष्म उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा देवराजः शचीपतिः।
यन्तारं परिपृच्छन्तं तमिन्द्रः प्रत्युवाच ह ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! मातलिकी वह बात सुनकर शचीपति देवराज इन्द्रने उपर्युक्त प्रश्न पूछनेवाले अपने सारथिसे इस प्रकार कहा ॥

इन्द्र उवाच

धर्मं चार्थं च कामं च येषां चिन्तयतां मतिः।
नाधर्मे वर्तते नित्यं तान् नमस्यामि मातले ॥

इन्द्र बोले—मातले ! धर्म, अर्थ और कामका चिन्तन करते हुए भी जिनकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती, मैं प्रतिदिन उन्हींको नमस्कार करता हूँ ॥

ये रूपगुणसम्पन्नाः प्रमदाहृदयङ्गमाः।
निवृत्ताः कामभोगेषु तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले ! जो रूप और गुणसे सम्पन्न हैं तथा युवतियोंके हृदय मन्दिरमें हठात् प्रवेश कर जाते हैं—अर्थात् जिन्हें देखते ही युवतियाँ मोहित हो जाती हैं, ऐसे पुरुष यदि काम-भोगसे दूर रहते हैं तो मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥

स्वेषु भोगेषु संतुष्टाः सुवाचो वचनक्षमाः।
अमानकामाश्चार्घ्यार्हास्तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले ! जो अपनेको प्राप्त हुए भोगोंमें ही संतुष्ट हैं—दूसरोंसे अधिककी इच्छा नहीं रखते । जो सुन्दर वाणी बोलते हैं और प्रवचन करनेमें कुशल हैं, जिनमें अहंकार और कामनाका सर्वथा अभाव है तथा जो सबसे अर्घ्य पानेके योग्य हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥

धनं विद्यास्तथैश्वर्यं येषां न चलयेन्मतिम्।
चलितां ये निगृह्णन्ति तान् नित्यं पूजयाम्यहम् ॥

धन, विद्या और ऐश्वर्य जिनकी बुद्धिको विचलित नहीं कर सकते तथा जो चञ्चल हुई बुद्धिको भी विवेकसे काबूमें कर लेते हैं, उनकी मैं नित्य पूजा करता हूँ ॥

इष्टैर्दारैरुपेतानां शुचीनामग्निहोत्रिणाम्।
चतुष्पादकुटुम्बानां मातले प्रणमाम्यहम् ॥

मातले ! जो प्रिय पत्नीसे युक्त हैं, पवित्र आचार-विचारसे रहते हैं, नित्य अग्निहोत्र करते हैं और जिनके कुटुम्बमें चौपायों (गौ आदि पशुओं) का भी पालन होता है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

येषामर्थस्तथा कामो धर्ममूलविवर्धितः।
धर्माथौं यस्य नियतौ तान् नमस्यामि मातले ॥

मातले ! जिनका अर्थ और काम धर्ममूलक होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ है तथा जिसके धर्म और अर्थ नियत हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥

धर्ममूलार्थकामानां ब्राह्मणानां गवामपि।
पतिव्रतानां नारीणां प्रणामं प्रकरोम्यहम् ॥

धर्ममूलक धनकी कामना रखनेवाले ब्राह्मणोंको तथा गौओं और पतिव्रता नारियोंको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥

ये भुक्त्वा मानुषान् भोगान् पूर्वे वयसि मातले।
तपसा स्वर्गमायान्ति शश्वत् तान् पूजयाम्यहम् ॥

मातले ! जो जीवनकी पूर्व अवस्थामें मानवभोगोंका उपभोग करके तपस्याद्वारा स्वर्गमें आते हैं, उनका मैं सदा ही पूजन करता हूँ ॥

असम्भोगान्न चासक्तान् धर्मनित्याञ्जितेन्द्रियान्।
संन्यस्तानचलप्रख्यान् मनसा पूजयामि तान् ॥

जो भोगोंसे दूर रहते हैं, जिनकी कहीं भी आसक्ति नहीं है, जो सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं, जो सच्चे संन्यासी हैं और पर्वतोंके समान कभी विचलित नहीं होते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंकी मैं मनसे पूजा करता हूँ ॥

ज्ञानप्रसन्नविद्यानां निरूढं धर्ममिच्छताम्।
परैः कीर्तितशौचानां मातले तान् नमास्यहम् ॥

मातले ! जिनकी विद्या ज्ञानके कारण स्वच्छ है, जो सुप्रसिद्ध धर्मके पालनकी इच्छा रखते हैं तथा जिनके शौचाचारकी प्रशंसा दूसरे लोग करते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सरोवर खोदाने और वृक्ष लगानेका माहात्म्य]

युधिष्ठिर उवाच

संस्कृतानां तटाकानां यत् फलं कुरुपुङ्गव।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कुरुपुङ्गव ! भरतश्रेष्ठ ! सरोवरोंके बनानेका जो फल है, उसे आज मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

सुप्रदर्शो धनपतिश्चित्रधातुविभूषितः।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजितो यस्तटाकवान् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो तालाब बनवाता है, वह पुरुष विचित्र धातुओंसे विभूषित धनाध्यक्ष कुबेरके समान दर्शनीय है । वह तीनों लोकोंमें सर्वत्र पूजित होता है ॥

इह चामुत्र सदनं पुत्रीयं वित्तवर्धनम्।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तटाकानां निवेशनम् ॥

तालाबका संस्थापन श्रेष्ठ एवं कीर्तिजनक है। वह इस लोक और परलोकमें भी उत्तम निवासस्थान है । वह पुत्रका घर तथा धनकी वृद्धि करनेवाला है ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः।
तटाकं सुकृतं देशे क्षेत्रे देशसमाश्रयम् ॥

मनीषी पुरुषोंने सरोवरोंको धर्म, अर्थ और काम तीनोंका फल देनेवाला बताया है। तालाब देशमें मूर्तिमान् पुण्य-स्वरूप है और क्षेत्रमें देशका भारी आश्रय है ॥

चतुर्विधानां भूतानां तटाकमुपलक्षये।
तटाकानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥

मैं तालाबको चारों (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज) प्रकारके प्राणियोंके लिये उपयोगी देखता हूँ । जगत्में जितने भी सरोवर हैं, वे सभी उत्तम सम्पत्ति प्रदान करते हैं ॥५॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, नाग, राक्षस तथा स्थावर भूत—ये सभी जलाशयका आश्रय लेते हैं ॥

तस्मात्तांस्ते प्रवक्ष्यामि तटाके ये गुणाः स्मृताः।
या च तत्र फलप्राप्ती ऋषिभिः समुदाहृता ॥

अतः सरोवर खोदवानेमें जो गुण हैं, उन सबका मैं तुमसे वर्णन करूँगा तथा ऋषियोंने तालाब खोदानेसे जिन फलोंकी प्राप्ति बतायी है, उनका भी परिचय दे रहा हूँ ॥

वर्षमात्रं तटाके तु सलिलं यत्र तिष्ठति।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥

जिस सरोवरमें एक वर्षतक पानी ठहरता है, उसका फल मनीषी पुरुषोंने अग्निहोत्र बताया है अर्थात् उसे खोदानेवालेको प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेका पुण्य प्राप्त होता है ॥

निदाघकाले सलिलं तटाके यस्य तिष्ठति।
वाजपेयफलं तस्य फलं वै ऋषयोऽब्रुवन् ॥

जिसके तालाबमें गर्मीभर जल रहता है, उसके लिये ऋषियोंने वाजपेय यज्ञके फलकी प्राप्ति बतायी है ॥

सकुलं तारयेद् वंशं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति पानीयं साधवश्च नराः सदा ॥

जिसके खोदवाये हुए सरोवरमें सदा साधुपुरुष तथा गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने कुलको तार देता है ॥

तटाके यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम् ।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

जिसके जलाशयमें प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा तृषित मृग, पक्षी एवं मनुष्य अपनी प्यास बुझाते हैं, वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥

यत् पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च ।
तटाककर्तुस्तत् सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥

मनुष्य उस तालाबमें जो जल पीते, स्नान करते और तटपर विश्राम लेते हैं, वह सारा पुण्य सरोवर बनवानेवालेको परलोकमें अक्षय होकर मिलता है ॥

दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परंतप ।
पानीयस्य प्रदानेन सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले तात ! जल विशेषरूपसे दुर्लभ वस्तु है; अतः जलदान करनेसे शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है ॥

तिलान् ददत पानीयं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
बान्धवैः सह मोदध्वमेतत् प्रेतेषु दुर्लभम् ॥

तिल, जल, दीप, अन्न और रहनेके लिये घर दान करो तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ सदा आनन्दित रहो, क्योंकि ये सब वस्तुएँ मरे हुओंके लिये दुर्लभ हैं ॥

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥

नरश्रेष्ठ ! जलका दान सभी दानोंसे गुरुतर है । वह समस्त दानोंसे बढ़कर है; अतः उसका दान अवश्य ही करना चाहिये ॥

एवमेतत् तटाकेषु कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामपि रोपणे ॥

इस प्रकार यह सरोवर खोदानेका उत्तम फल बताया गया है । इसके बाद वृक्ष लगानेका फल भली प्रकार बताऊँगा ॥

स्थावराणां तु भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारतृणवीरुधः ॥
एता जात्यस्तु वृक्षाणामेषां रोपगुणास्त्विमे ।

स्थावर भूतोंकी छः जातियाँ बतायी गयी हैं,—वृक्ष गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार तथा तृण, वीरुध—ये वृक्षोंकी जातियाँ हैं । इनके लगानेसे ये-ये गुण बताये गये हैं ॥

पनसाम्रादयो वृक्षा गुल्मा मन्दारपूर्वकाः ॥
नागिकामलियावल्ल्यो मालतीत्यादिका लताः ।
वेणुक्रमुकत्वक्साराः सस्यानि तृणजातयः ॥

कटहल और आम आदि वृक्ष जातिके अन्तर्गत हैं । मन्दार आदि गुल्म कोटिमें माने गये हैं । नागिका, मलिया आदि वल्लीके अन्तर्गत हैं । मालती आदि लताएँ हैं । बाँस और सुपारी आदिके पेड़ त्वक्सार जातिके अन्तर्गत हैं । खेतमें जो घास और अनाज उगते हैं, वे सब तृण जातिमें अन्तर्भूत हैं ॥

कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव शुभं फलम् ।
लभ्यते नाकपृष्ठे च पितृभिश्च महीयते ॥
देवलोकगतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ।
अतीतानागतांश्चैव पितृवंशांश्च भारत ॥
तारयेद् वृक्षरोपी तु तस्माद् वृक्षान् प्ररोपयेत् ।

भरतनन्दन ! वृक्ष लगानेसे मनुष्यलोकमें कीर्ति बनी रहती है और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति होती है। वृक्ष लगानेवाला पुरुष पितरोंद्वारा भी सम्मानित होता है । देवलोकमें जानेपर भी उसका नाम नहीं नष्ट होता । वह अपने बीते हुए पूर्वजों और आनेवाली संतानोंको भी तार देता है । अतः वृक्ष अवश्य लगाने चाहिये ॥

तस्य पुत्रा भवन्त्येव पादपा नात्र संशयः ॥
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ।

जिसके कोई पुत्र नहीं हैं, उसके भी वृक्ष ही पुत्र होते हैं; इसमें संशय नहीं है । वृक्ष लगानेवाला पुरुष परलोकमें जानेपर स्वर्गमें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ॥

पुष्पैः सुरगणान् वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन् ॥
छायया चातिथीं स्तात पूजयन्ति महीरुहाः ।

तात ! वृक्ष अपने फूलोंसे देवताओंका, फलोंसे पितरोंका तथा छायासे अतिथियोंका सदा पूजन करते रहते हैं ॥

किन्नरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः ॥
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ते महीरुहान् ।

किन्नर, नाग, राक्षस, देव, गन्धर्व, मनुष्य तथा ऋषिगण भी वृक्षोंका आश्रय लेते हैं ॥

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ॥
वृक्षदान् पुत्रवद् वृक्षाः तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात् तटाके वृक्षा वै रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ॥

फल और फूलोंसे भरे हुए वृक्ष इस जगत्में मनुष्योंको तृप्त करते हैं । जो वृक्ष दान करते हैं, उनके वे वृक्ष परलोकमें पुत्रकी भाँति पार उतारते हैं । अतः कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा ही सरोवरके किनारे वृक्ष लगाना चाहिये ॥

पुत्रवत् परिरक्ष्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।
तटाककृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ॥
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ।

वृक्ष लगाकर उनकी पुत्रोंकी भाँति रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि वे धर्मतः पुत्र माने गये हैं। जो तालाब बनवाता है और जो उसके किनारे वृक्ष लगाता है, जो द्विज यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा दूसरे जो लोग सत्यभाषण करनेवाले हैं—वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं ॥

तस्मात् तटाकं कुर्वीत आरामांश्चापि योजयेत् ॥
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च विधिवद् वदेत् ।

इसलिये सरोवर खोदावे और उसके तटपर बगीचे भी लगावे। सदा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करे और विधिपूर्वक सत्य बोले ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि छत्रोपानद् दानप्रशंसा नाम षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें छत्रदान और उपानह्दानकी प्रशंसानामक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १७५½ श्लोक मिलाकर कुल १९७½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

गृहस्थधर्म, पञ्चयज्ञ-कर्मके विषयमें पृथ्वीदेवी और भगवान् श्रीकृष्णका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
ऋद्धिमाप्नोति किं कृत्वा मनुष्य इह पार्थिव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीनाथ ! अब आप मुझे गृहस्थ-आश्रमके सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश कीजिये। मनुष्य कौन-सा कर्म करके इहलोकमें समृद्धिका भागी होता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तं जनाधिप ।
वासुदेवस्य संवादं पृथिव्याश्चैव भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! भरतनन्दन ! इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण और पृथ्वीका संवादरूप एक प्राचीन वृत्तान्त बता रहा हूँ ॥ २ ॥

संस्तुत्य पृथिवीं देवीं वासुदेवः प्रतापवान् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ मां त्वं यत् पृच्छसेऽद्य वै ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने पृथ्वी-देवीकी स्तुति करके उनसे यही बात पूछी थी, जो आज तुम मुझसे पूछते हो ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य मया वा मद्विधेन वा ।
किमवश्यं धरे कार्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—वसुन्धरे ! मुझको या मेरे-जैसे किसी दूसरे मनुष्यको गार्हस्थ्य-धर्मका आश्रय लेकर किस कर्मका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ? क्या करनेसे गृहस्थको सफलता मिलती है ? ॥ ४ ॥

पृथिव्युवाच

ऋषयः पितरो देवा मनुष्याश्चैव माधव ।
इज्याश्चैवार्चनीयाश्च यथा चैव निबोध मे ॥ ५ ॥

पृथ्वीने कहा—माधव ! गृहस्थ पुरुषको सदा ही देवताओं, पितरों, ऋषियों और अतिथियोंका पूजन एवं सत्कार करना चाहिये। यह सब कैसे करना चाहिये ? सो बता रही हूँ; सुनिये ॥ ५ ॥

सदा यज्ञेन देवाश्च सदाऽऽतिथ्येन मानुषाः ।
छन्दतश्च यथा नित्यमर्हान् भुञ्जीत नित्यशः ॥ ६ ॥

प्रतिदिन यज्ञ-होमके द्वारा देवताओंका, अतिथि-सत्कारके द्वारा मनुष्योंका (श्राद्ध-तर्पण करके पितरोंका) तथा वेदोंका नित्य स्वाध्याय करके पूजनीय ऋषि-महर्षियोंका यथाविधि पूजन और सत्कार करना चाहिये। इसके बाद नित्य भोजन करना उचित है ॥ ६ ॥

तेन ह्यृषिगणाः प्रीता भवन्ति मधुसूदन ।
नित्यमग्निं परिचरेदभुक्त्वा बलिकर्म च ॥ ७ ॥
कुर्यात् तथैव देवा वै प्रीयन्ते मधुसूदन ।
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ॥ ८ ॥
पयोमूलफलैर्वापि पितॄणां प्रीतिमाहरन् ।

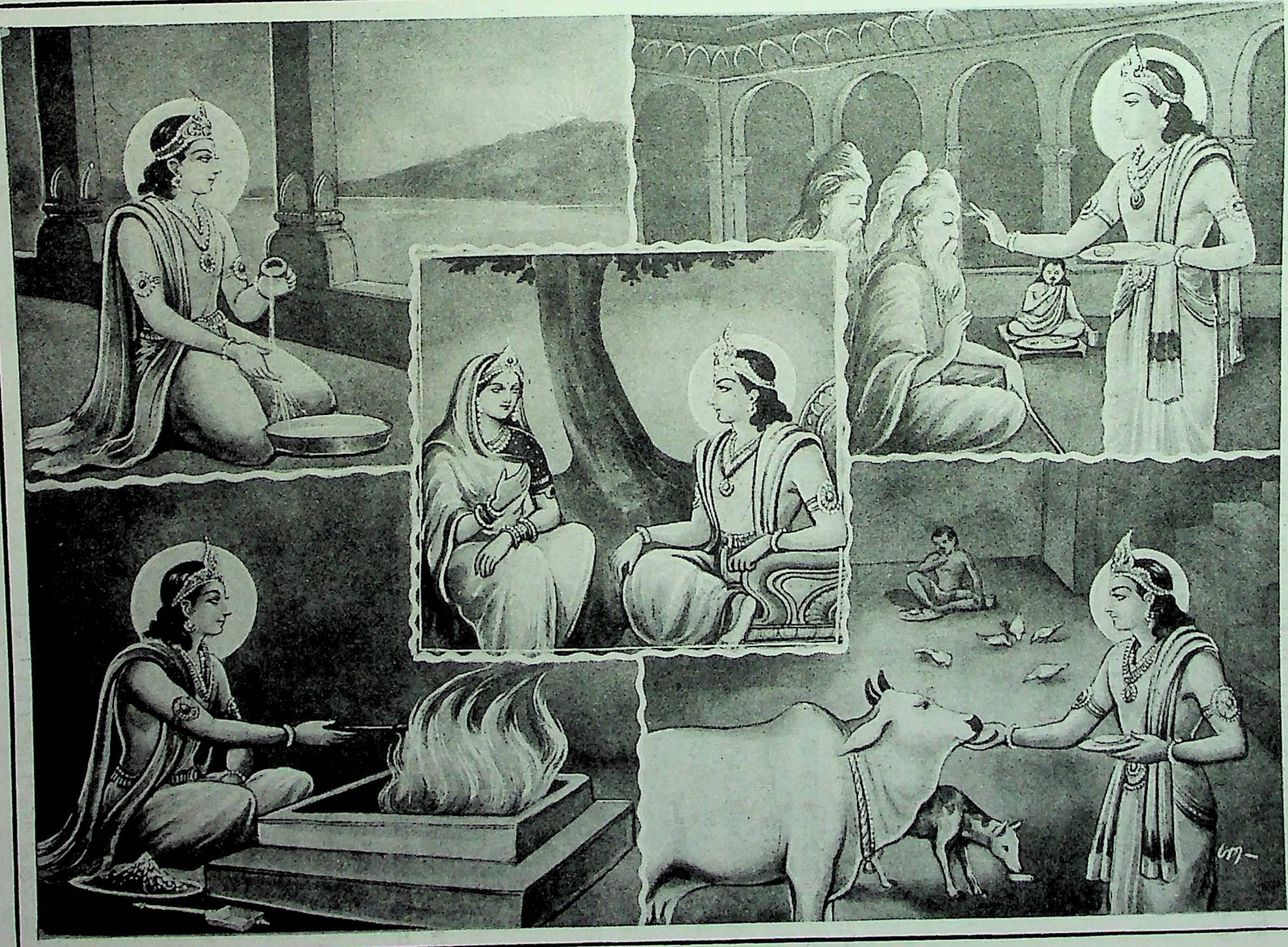
मधुसूदन ! स्वाध्यायसे ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता होती है। प्रतिदिन भोजनके पहले ही अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव कर्म करे। इससे देवता संतुष्ट होते हैं। पितरोंकी प्रसन्नताके लिये प्रतिदिन अन्न, जल, दूध अथवा फल-मूलके द्वारा श्राद्ध करना उचित है ॥ ७-८½ ॥

सिद्धान्नाद् वैश्वदेवं वै कुर्यादग्नौ यथाविधि ॥ ९ ॥

सिद्ध अन्न (तैयार हुई रसोई) मेंसे अन्न लेकर उसके द्वारा विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिये ॥ ९ ॥

अग्नीषोमं वैश्वदेवं धान्वन्तर्यमनन्तरम् ।
प्रजानां पतये चैव पृथग्घोमो विधीयते ॥ १० ॥

पहले अग्नि और सोमको, फिर विश्वेदेवोंको, तदनन्तर धन्वन्तरिको, तत्पश्चात् प्रजापतिको पृथक्-पृथक् आहुति देनेका विधान है ॥ १० ॥



गृहस्थ-धर्मके सम्बन्धमें श्रीकृष्णका पृथ्वीके साथ संवाद

तथैव चानुपूर्व्येण बलिकर्म प्रयोजयेत्।
दक्षिणायां यमायेति प्रतीच्यां वरुणाय च ॥ ११ ॥
सोमाय चाप्युदीच्यां वै वास्तुमध्ये प्रजापतेः।
धन्वन्तरेः प्रागुदीच्यां प्राच्यां शक्राय माधव ॥ १२ ॥

इसी प्रकार क्रमशः बलिकर्मका प्रयोग करे। माधव! दक्षिण दिशामें यमको, पश्चिममें वरुणको, उत्तर दिशामें सोमको, वास्तुके मध्यभागमें प्रजापतिको, ईशानकोणमें धन्वन्तरिको और पूर्वदिशामें इन्द्रको बलि समर्पित करे॥ ११-१२॥

मनुष्येभ्य इति प्राहुर्बलिं द्वारि गृहस्य वै।
मरुद्भ्यो दैवतेभ्यश्च बलिमन्तर्गृहे हरेत् ॥ १३ ॥

घरके दरवाजेपर सनकादि मनुष्योंके लिये बलि देनेका विधान है। मरुद्गणों तथा देवताओंको घरके भीतर बलि समर्पित करनी चाहिये॥ १३॥

तथैव विश्वेदेवेभ्यो बलिमाकाशतो हरेत्।
निशाचरेभ्यो भूतेभ्यो बलिं नक्तं तथा हरेत् ॥ १४ ॥

विश्वेदेवोंके लिये आकाशमें बलि अर्पित करे। निशाचरों और भूतोंके लिये रातमें बलि दे॥ १४॥

एवं कृत्वा बलिं सम्यग् दद्याद् भिक्षां द्विजाय वै।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार बलि समर्पण करके ब्राह्मणको विधिपूर्वक भिक्षा दे। यदि ब्राह्मण न मिले तो अन्नमेंसे थोड़ा-सा अग्रग्रास निकालकर उसका अग्निमें होम कर दे॥ १५॥

यदा श्राद्धं पितृभ्योऽपि दातुमिच्छेत मानवः।
तदा पश्चात् प्रकुर्वीत निवृत्ते श्राद्धकर्मणि ॥ १६ ॥
पितॄन् संतर्पयित्वा तु बलिं कुर्याद् विधानतः।
वैश्वदेवं ततः कुर्यात् पश्चाद् ब्राह्मणवाचनम् ॥ १७ ॥

जिस दिन पितरोंका श्राद्ध करनेकी इच्छा हो, उस दिन पहले श्राद्धकी क्रिया पूरी करे। उसके बाद पितरोंका तर्पण करके विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव-कर्म करे। तदनन्तर ब्राह्मणोंको सत्कारपूर्वक भोजन करावे॥ १६-१७॥

ततोऽन्नेन विशेषेण भोजयेदतिथीनपि।
अर्चापूर्वं महाराज ततः प्रीणाति मानवान् ॥ १८ ॥

महाराज! इसके बाद विशेष अन्नके द्वारा अतिथियोंको भी सम्मानपूर्वक भोजन करावे। ऐसा करनेसे गृहस्थ पुरुष सम्पूर्ण मनुष्योंको संतुष्ट करता है॥ १८॥

अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते।
आचार्यस्य पितुश्चैव सख्युराप्तस्य चातिथेः ॥ १९ ॥
इदमस्ति गृहे मह्यमिति नित्यं निवेदयेत्।
ते यद् वदेयुस्तत् कुर्यादिति धर्मो विधीयते ॥ २० ॥

जो नित्य अपने घरमें स्थित नहीं रहता, वह अतिथि कहलाता है। आचार्य, पिता, विश्वासपात्र मित्र और अतिथिसे सदा यह निवेदन करे कि 'अमुक वस्तु मेरे घरमें मौजूद है, उसे आप स्वीकार करें।' फिर वे जैसी आज्ञा दें वैसा ही करे। ऐसा करनेसे धर्मका पालन होता है॥ १९-२०॥

गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत्।
राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च ॥ २१ ॥
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान्।

श्रीकृष्ण! गृहस्थ पुरुषको सदा यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करना चाहिये। राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुर—ये यदि एक वर्षके बाद घर आवें तो मधुपर्कसे इनकी पूजा करनी चाहिये॥ २१½॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते ॥ २२ ॥

कुत्तों, चाण्डालों और पक्षियोंके लिये भूमिपर अन्न रख देना चाहिये। यह वैश्वदेव नामक कर्म है। इसका सायंकाल और प्रातःकाल अनुष्ठान किया जाता है॥ २२॥

एतांस्तु धर्मान् गार्हस्थ्यान् यः कुर्यादनसूयकः।
स इहर्षिवरान् प्राप्य प्रेत्य लोके महीयते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य दोषदृष्टिका परित्याग करके इन गृहस्थोचित धर्मोंका पालन करता है, उसे इस लोकमें ऋषि-महर्षियोंका वरदान प्राप्त होता है और मृत्युके पश्चात् वह पुण्यलोकोंमें सम्मानित होता है॥ २३॥

भीष्म उवाच

इति भूमेर्वचः श्रुत्वा वासुदेवः प्रतापवान्।
तथा चकार सततं त्वमप्येवं सदाचर ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पृथ्वी देवीके ये वचन सुनकर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हींके अनुसार गृहस्थधर्मोंका विधिवत् पालन किया। तुम भी सदा इन धर्मोंका अनुष्ठान करते रहो॥ २४॥

एतद् गृहस्थधर्मं त्वं चेष्टमानो जनाधिप।
इहलोके यशः प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

जनेश्वर! इस गृहस्थ-धर्मका पालन करते रहनेपर तुम इहलोकमें सुयश और परलोकमें स्वर्ग प्राप्त कर लोगे॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि बलिदानविधिर्नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत बलिदानविधि नामक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९७॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

तपस्वी सुवर्ण और मनुका संवाद—पुष्प, धूप, दीप और उपहारके दानका माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

आलोकदानं नामैतत् कीदृशं भरतर्षभ।
कथमेतत् समुत्पन्नं फलं वा तद् ब्रवीहि मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! यह जो दीपदान-नामक कर्म है, यह कैसे किया जाता है ? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? अथवा इसका फल क्या है ? यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मनोः प्रजापतेर्वादं सुवर्णस्य च भारत॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें प्रजापति मनु और सुवर्णके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

तपस्वी कश्चिदभवत् सुवर्णो नाम भारत।
वर्णतो हेमवर्णः स सुवर्ण इति पप्रथे॥ ३॥

भरतनन्दन ! सुवर्णनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी ब्राह्मण थे। उनके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी। इसीलिये वे सुवर्णनामसे विख्यात हुए थे॥ ३॥

कुलशीलगुणोपेतः स्वाध्याये च परंगतः।
बहून् सुवंशप्रभवान् समतीतः स्वकैर्गुणैः॥ ४॥

वे उत्तम कुल, शील और गुणसे सम्पन्न थे। स्वाध्यायमें भी उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अपने गुणोंद्वारा उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए बहुत-से श्रेष्ठ पुरुषोंकी अपेक्षा आगे बढ़े हुए थे॥ ४॥

स कदाचिन्मनुं विप्रो ददर्शोपससर्प च।
कुशलप्रश्नमन्योन्यं तौ चोभौ तत्र चक्रतुः॥ ५॥

एक दिन उन ब्राह्मणदेवताने प्रजापति मनुको देखा। देखकर वे उनके पास चले गये। फिर तो वे दोनों एक-दूसरेसे कुशल-समाचार पूछने लगे॥ ५॥

ततस्तौ सत्यसंकल्पौ मेरौ काञ्चनपर्वते।
रमणीये शिलापृष्ठे सहितौ संन्यषीदताम्॥ ६॥

तदनन्तर वे दोनों सत्यसंकल्प महात्मा सुवर्णमय पर्वत मेरुके एक रमणीय शिलापृष्ठपर एक साथ बैठ गये।६।

तत्र तौ कथयन्तौ स्तां कथा नानाविधाश्रयाः।
ब्रह्मर्षिदेवदैत्यानां पुराणानां महात्मनाम्॥ ७॥

वहाँ वे दोनों ब्रह्मर्षियों, देवताओं, दैत्यों तथा प्राचीन महात्माओंके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी कथा-वार्ता करने लगे॥ ७॥

सुवर्णस्त्वब्रवीद् वाक्यं मनुं स्वायम्भुवं प्रति।
हितार्थं सर्वभूतानां प्रश्नं मे वक्तुमर्हसि॥ ८॥
सुमनोभिर्यदिज्यन्ते दैवतानि प्रजेश्वर।
किमेतत् कथमुत्पन्नं फलं योगं च शंस मे॥ ९॥

उस समय सुवर्णने स्वायम्भुव मनुसे कहा—'प्रजापते ! मैं एक प्रश्न करता हूँ, आप समस्त प्राणियोंके हितके लिये मुझे उसका उत्तर दीजिये। फूलोंसे जो देवताओंकी पूजा की जाती है, यह क्या है ? इसका प्रचलन कैसे हुआ है ? इसका फल क्या है ? और इसका उपयोग क्या है ? यह सब मुझे बताइये'॥ ८-९॥

मनुरुवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शुक्रस्य च बलेश्चैव संवादं वै महात्मनोः॥ १०॥

मनुजीने कहा—मुने ! इस विषयमें विज्ञजन शुक्राचार्य और बलि—इन दोनों महात्माओंके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १०॥

बलेर्वैरोचनस्येह त्रैलोक्यमनुशासतः।
समीपमाजगामाशु शुक्रो भृगुकुलोद्वहः॥ ११॥

पहलेकी बात है, विरोचनकुमार बलि तीनों लोकोंका शासन करते थे। उन दिनों भृगुकुलभूषण शुक्र शीघ्रता-पूर्वक उनके पास आये॥ ११॥

तमर्घ्यादिभिरभ्यर्च्य भार्गवं सोऽसुराधिपः।
निषसादासने पश्चाद् विधिवद् भूरिदक्षिणः॥ १२॥

पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले असुरराज बलिने भृगुपुत्र शुक्राचार्यको अर्घ्य आदि देकर उनकी विधिवत् पूजा की और जब वे आसनपर बैठ गये, तब बलि भी अपने सिंहासनपर आसीन हुए॥ १२॥

कथेयमभवत् तत्र त्वया या परिकीर्तिता।
सुमनोधूपदीपानां सम्प्रदाने फलं प्रति॥ १३॥
ततः पप्रच्छ दैत्येन्द्रः कवीन्द्रं प्रश्नमुत्तमम्॥ १४॥

वहाँ उन दोनोंमें यही बातचीत हुई, जिसे तुमने प्रस्तुत किया है। देवताओंको फूल, धूप और दीप देनेसे क्या फल मिलता है, यही उनकी वार्ताका विषय था। उस समय दैत्यराज बलिने कविवर शुक्रके सामने यह उत्तम प्रश्न उपस्थित किया॥ १३-१४॥

बलिरुवाच

सुमनोधूपदीपानां किं फलं ब्रह्मवित्तम।

प्रदानस्य द्विजश्रेष्ठ तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १५ ॥

बलिने पूछा—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! द्विजशिरोमणे ! फूल, धूप और दीपदान करनेका क्या फल है ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ १५ ॥

शुक्र उवाच

तपः पूर्वं समुत्पन्नं धर्मस्तस्मादनन्तरम् ।
एतस्मिन्नन्तरे चैव वीरुदोषध्य एव च ॥ १६ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन् ! पहले तपस्याकी उत्पत्ति हुई है, तदनन्तर धर्मकी । इसी बीचमें लता और ओषधियोंका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १६ ॥

सोमस्यात्मा च बहुधा सम्भूतः पृथिवीतले ।
अमृतं च विषं चैव ये चान्ये तृणजातयः ॥ १७ ॥

इस भूतलपर अनेक प्रकारकी सोमलता प्रकट हुई । अमृत, विष तथा दूसरी-दूसरी जातिके तृणोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १७ ॥

अमृतं मनसः प्रीतिं सद्यस्तृप्तिं ददाति च ।
मनो ग्लपयते तीव्रं विषं गन्धेन सर्वशः ॥ १८ ॥

अमृत वह है, जिसे देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है । जो तत्काल तृप्ति प्रदान करता है और विष वह है, जो अपनी गन्धसे चित्तमें सर्वथा तीव्र ग्लानि पैदा करता है ॥ १८ ॥

अमृतं मङ्गलं विद्धि महद्विषममङ्गलम् ।
ओषध्यो ह्यमृतं सर्वा विषं तेजोऽग्निसम्भवम् ॥ १९ ॥

अमृतको मङ्गलकारी जानो और विष महान् अमङ्गल करनेवाला है । जितनी ओषधियाँ हैं, वे सब-की-सब अमृत मानी गयी हैं और विष अग्निजनित तेज है ॥ १९ ॥

मनो ह्लादयते यस्माच्छ्रियं चापि दधाति च ।
तस्मात् सुमनसः प्रोक्ता नरैः सुकृतकर्मभिः ॥ २० ॥

फूल मनको आह्लाद प्रदान करता है और शोभा एवं सम्पत्तिका आधान करता है, इसलिये पुण्यात्मा मनुष्योंने उसे सुमन कहा है ॥ २० ॥

देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः ।
तस्य तुष्यन्ति वै देवास्तुष्टाः पुष्टिं ददत्यपि ॥ २१ ॥

जो मनुष्य पवित्र होकर देवताओंको फूल चढ़ाता है, उसके ऊपर सब देवता संतुष्ट होते और उसके लिये पुष्टि प्रदान करते हैं ॥ २१ ॥

यं यमुद्दिश्य दीयेरन् देवं सुमनसः प्रभो ।
मङ्गलार्थं स तेनास्य प्रीतो भवति दैत्यप ॥ २२ ॥

प्रभो ! दैत्यराज ! जिस-जिस देवताके उद्देश्यसे फूल दिये जाते हैं, वह उस पुष्पदानसे दातापर बहुत प्रसन्न होता और उसके मङ्गलके लिये सचेष्ट रहता है ॥ २२ ॥

ज्ञेयास्तूग्राश्च सौम्याश्च तेजस्विन्यश्च ताः पृथक् ।
ओषध्यो बहुवीर्या हि बहुरूपास्तथैव च ॥ २३ ॥

उग्रा, सौम्या, तेजस्विनी, बहुवीर्या और बहुरूपा—अनेक प्रकारकी ओषधियाँ होती हैं । उन सबको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

यज्ञियानां च वृक्षाणामयज्ञीयान् निबोध मे ।
आसुराणि च माल्यानि दैवतेभ्यो हितानि च ॥ २४ ॥

अब यज्ञसम्बन्धी तथा अयज्ञोपयोगी वृक्षोंका वर्णन सुनो । असुरोंके लिये हितकर तथा देवताओंके लिये प्रिय जो पुष्पमालाएँ होती हैं, उनका परिचय सुनो ॥ २४ ॥

रक्षसामुरगाणां च यक्षाणां च तथा प्रियाः ।
मनुष्याणां पितॄणां च कान्तायास्त्वनुपूर्वशः ॥ २५ ॥

राक्षस, नाग, यक्ष, मनुष्य और पितरोंको प्रिय एवं मनोरम लगनेवाली ओषधियोंका भी वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

वन्या ग्राम्याश्चेह तथा कृष्टोप्ताः पर्वताश्रयाः ।
अकण्टकाः कण्टकिनो गन्धरूपरसान्विताः ॥ २६ ॥

फूलोंके बहुत-से वृक्ष गाँवोंमें होते हैं और बहुत-से जंगलोंमें । बहुतेरे वृक्ष जमीनको जोतकर क्यारियोंमें लगाये जाते हैं और बहुत-से पर्वत आदिपर अपने-आप पैदा होते हैं । इन वृक्षोंमें कुछ तो काँटेदार होते हैं और कुछ बिना काँटोंके । इन सबमें रूप, रस और गन्ध विद्यमान रहते हैं ॥ २६ ॥

द्विविधो हि स्मृतो गन्ध इष्टोऽनिष्टश्च पुष्पजः ।
इष्टगन्धानि देवानां पुष्पाणीति विभावय ॥ २७ ॥

फूलोंकी गन्ध दो प्रकारकी होती है—अच्छी और बुरी । अच्छी गन्धवाले फूल देवताओंको प्रिय होते हैं । इस बातको ध्यानमें रक्खो ॥ २७ ॥

अकण्टकानां वृक्षाणां श्वेतप्रायाश्च वर्णतः ।
तेषां पुष्पाणि देवानामिष्टानि सततं प्रभो ॥ २८ ॥
(पद्मं च तुलसी जातिरपि सर्वेषु पूजिता ।)

प्रभो ! जिन वृक्षोंमें काँटे नहीं होते हैं, उनमें जो अधिकांश श्वेतवर्णवाले हैं, उन्हींके फूल देवताओंको सदैव प्रिय हैं । कमल, तुलसी और चमेली—ये सब फूलोंमें अधिक प्रशंसित हैं ॥ २८ ॥

जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि वै ।
गन्धर्वनागयक्षेभ्यस्तानि दद्याद् विचक्षणः ॥ २९ ॥

जलसे उत्पन्न होनेवाले जो कमल-उत्पल आदि पुष्प हैं, उन्हें विद्वान् पुरुष गन्धर्वों, नागों और यक्षोंको समर्पित करे ॥ २९ ॥

ओषध्यो रक्तपुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः।
शत्रूणामभिचारार्थमाथर्वेषु निदर्शिताः ॥ ३० ॥

अथर्ववेदमें बतलाया गया है कि शत्रुओंका अनिष्ट करनेके लिये किये जानेवाले अभिचार कर्ममें लाल फूलोंवाली कड़वी और कण्टकाकीर्ण ओषधियोंका उपयोग करना चाहिये ॥ ३० ॥

तीक्ष्णवीर्यास्तु भूतानां दुरालम्भाः सकण्टकाः।
रक्तभूयिष्ठवर्णाश्च कृष्णाश्चैवोपहारयेत् ॥ ३१ ॥

जिन फूलोंमें काँटे अधिक हों, जिनका हाथसे स्पर्श करना कठिन जान पड़े, जिनका रंग अधिकतर लाल या काला हो तथा जिनकी गन्धका प्रभाव तीव्र हो, ऐसे फूल भूत-प्रेतोंके काम आते हैं। अतः उनको वैसे ही फूल भेंट करने चाहिये ॥ ३१ ॥

मनोहृदयनन्दिन्यो विशेषमधुराश्च याः।
चारुरूपाः सुमनसो मानुषाणां स्मृता विभो ॥ ३२ ॥

प्रभो ! मनुष्योंको तो वे ही फूल प्रिय लगते हैं, जिनका रूप-रंग सुन्दर और रस विशेष मधुर हो तथा जो देखनेपर हृदयको आनन्ददायी जान पड़ें ॥ ३२ ॥

न तु श्मशानसम्भूता देवतायतनोद्भवाः।
संनयेत् पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रहःसु च ॥ ३३ ॥

श्मशान तथा जीर्ण-शीर्ण देवालयोंमें पैदा हुए फूलोंका पौष्टिक कर्म, विवाह तथा एकान्त विहारमें उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

गिरिसानुरुहाः सौम्या देवानामुपपादयेत्।
प्रोक्षिताऽभ्युक्षिताः सौम्या यथायोग्यं यथास्मृति॥३४॥

पर्वतोंके शिखरपर उत्पन्न हुए सुन्दर और सुगन्धित पुष्पोंको धोकर अथवा उनपर जलके छींटे देकर धर्मशास्त्रोंमें बताये अनुसार उन्हें यथायोग्य देवताओंपर चढ़ाना चाहिये ॥

गन्धेन देवास्तुष्यन्ति दर्शनाद् यक्षराक्षसाः।
नागाः समुपभोगेन त्रिभिरेतैस्तु मानुषाः ॥ ३५ ॥

देवता फूलोंकी सुगन्धसे, यक्ष और राक्षस उनके दर्शनसे, नागगण उनका भलीभाँति उपभोग करनेसे और मनुष्य उनके दर्शन, गन्ध एवं उपभोग तीनोंसे ही संतुष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

सद्यः प्रीणाति देवान् वै ते प्रीता भावयन्त्युत।
संकल्पसिद्धा मर्त्यानामीप्सितैश्च मनोरमैः ॥ ३६ ॥

फूल चढ़ानेसे मनुष्य देवताओंको तत्काल संतुष्ट करता है और संतुष्ट होकर वे सिद्धसंकल्प देवता मनुष्योंको मनोवाञ्छित एवं मनोरम भोग देकर उनकी भलाई करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रीताः प्रीणन्ति सततं मानिता मानयन्ति च।
अवज्ञातावधूताश्च निर्दहन्त्यधमान् नरान् ॥ ३७ ॥

देवताओंको यदि सदा संतुष्ट और सम्मानित किया जाता है तो वे भी मनुष्योंको संतोष एवं सम्मान देते हैं तथा यदि उनकी अवज्ञा एवं अवहेलना की गयी तो वे अवज्ञा करनेवाले नीच मनुष्यको अपनी क्रोधाग्निसे भस्म कर डालते हैं ॥ ३७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूपदानविधेः फलम्।
धूपांश्च विविधान् साधूनसाधूंश्च निबोध मे ॥ ३८ ॥

इसके बाद अब मैं धूपदानकी विधिका फल बताऊँगा। धूप भी अच्छे और बुरे कई तरहके होते हैं। उनका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३८ ॥

निर्यासः सारिणश्चैव कृत्रिमाश्चैव ते त्रयः।
इष्टोऽनिष्टो भवेद् गन्धस्तन्मे विस्तरशः शृणु ॥ ३९ ॥

धूपके मुख्यतः तीन भेद हैं—निर्यास, सारी और कृत्रिम। इन धूपोंकी गन्ध भी अच्छी और बुरी दो प्रकारकी होती है। ये सब बातें मुझसे विस्तारपूर्वक सुनो ॥ ३९ ॥

निर्यासाः सल्लकीवर्ज्या देवानां दयितास्तु ते।
गुग्गुलुः प्रवरस्तेषां सर्वेषामिति निश्चयः ॥ ४० ॥

वृक्षोंके रस (गोंद) को निर्यास कहते हैं, सल्लकीनामक वृक्षके सिवा अन्य वृक्षोंसे प्रकट हुए निर्यासमय धूप देवताओं-को बहुत प्रिय होते हैं। उनमें भी गुग्गुल सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा मनीषी पुरुषोंका निश्चय है ॥ ४० ॥

अगुरुः सारिणां श्रेष्ठो यक्षराक्षसभोगिनाम्।
दैत्यानां सल्लकीयश्च काङ्क्षितो यश्च तद्विधः ॥ ४१ ॥

जिन काष्ठोंको आगमें जलानेपर सुगन्ध प्रकट होती है, उन्हें सारी धूप कहते हैं। इनमें अगुरुकी प्रधानता है। सारी धूप विशेषतः यक्ष, राक्षस और नागोंको प्रिय होते हैं। दैत्य लोग सल्लकी तथा उसी तरह अन्य वृक्षोंकी गोंदका बना हुआ धूप पसंद करते हैं ॥ ४१ ॥

अथ सर्जरसादीनां गन्धैः पार्थिव दारवैः।
फाणितासवसंयुक्तैर्मनुष्याणां विधीयते ॥ ४२ ॥

पृथ्वीनाथ ! राल आदिके सुगन्धित चूर्ण तथा सुगन्धित काष्ठौषधियोंके चूर्णको घी और शक्करसे मिश्रित करके जो अष्टगन्ध आदि धूप तैयार किया जाता है, वही कृत्रिम है। विशेषतः वही मनुष्योंके उपयोगमें आता है ॥ ४२ ॥

देवदानवभूतानां सद्यस्तुष्टिकरः स्मृतः।
येऽन्ये वैहारिकास्तत्र मानुषाणामिति स्मृताः ॥ ४३ ॥

वैसा धूप देवताओं, दानवों और भूतोंके लिये भी तत्काल संतोष प्रदान करनेवाला माना गया है। इनके सिवा विहार (भोग-विलास) के उपयोगमें आनेवाले और भी

अनेक प्रकारके धूप हैं, जो केवल मनुष्योंके व्यवहारमें आते हैं ॥ ४३ ॥

य एवोक्ताः सुमनसां प्रदाने गुणहेतवः।
धूपेष्वपि परिज्ञेयास्त एव प्रीतिवर्धनाः ॥ ४४ ॥

देवताओंको पुष्पदान करनेसे जो गुण या लाभ बताये गये हैं, वे ही धूप निवेदन करनेसे भी प्राप्त होते हैं। ऐसा जानना चाहिये। धूप भी देवताओंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाले हैं ॥ ४४ ॥

दीपदाने प्रवक्ष्यामि फलयोगमनुत्तमम्।
यथा येन यदा चैव प्रदेया यादृशाश्च ते ॥ ४५ ॥

अब मैं दीप-दानका परम उत्तम फल बताऊँगा। कब किस प्रकार किसके द्वारा किसके दीप दिये जाने चाहिये, यह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ४५ ॥

ज्योतिस्तेजः प्रकाशं वाप्यूर्ध्वगं चापि वर्ण्यते।
प्रदानं तेजसां तस्मात् तेजो वर्धयते नृणाम् ॥ ४६ ॥

दीपक ऊर्ध्वगामी तेज है, वह कान्ति और कीर्तिका विस्तार करनेवाला बताया जाता है। अतः दीप या तेजका दान मनुष्योंके तेजकी वृद्धि करता है ॥ ४६ ॥

अन्धन्तमस्तमिस्रं च दक्षिणायनमेव च।
उत्तरायणमेतस्माज्ज्योतिर्दानं प्रशस्यते ॥ ४७ ॥

अन्धकार अन्धतामिस्र नामक नरक है। दक्षिणायन भी अन्धकारसे ही आच्छन्न रहता है। इसके विपरीत उत्तरायण प्रकाशमय है। इसलिये वह श्रेष्ठ माना गया है। अतः अन्धकारमय नरककी निवृत्तिके लिये दीपदानकी प्रशंसा की गयी है ॥ ४७ ॥

यस्मादूर्ध्वगमेतत् तु तमसश्चैव भेषजम्।
तस्मादूर्ध्वगतेर्दाता भवेदत्रेति निश्चयः ॥ ४८ ॥

दीपककी शिखा ऊर्ध्वगामिनी होती है। वह अन्धकार-रूपी रोगको दूर करनेकी दवा है। इसलिये जो दीपदान करता है, उसे निश्चय ही ऊर्ध्वगतिकी प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥

देवास्तेजस्विनो ह्यस्मात् प्रभावन्तः प्रकाशकाः।
तामसा राक्षसाश्चैव तस्माद् दीपः प्रदीयते ॥ ४९ ॥

देवता तेजस्वी, कान्तिमान् और प्रकाश फैलानेवाले होते हैं और राक्षस अन्धकारप्रिय होते हैं; इसलिये देवताओंकी प्रसन्नताके लिये दीपदान किया जाता है ॥ ४९ ॥

आलोकदानाच्चक्षुष्मान् प्रभायुक्तो भवेन्नरः।
तान् दत्त्वा नोपहिंसेत न हरेन्नोपनाशयेत् ॥ ५० ॥

दीपदान करनेसे मनुष्यके नेत्रोंका तेज बढ़ता है और वह स्वयं भी तेजस्वी होता है। दान करनेके पश्चात् उन दीपकोंको न तो बुझावे, न उठाकर अन्यत्र ले जाय और न नष्ट ही करे ॥ ५० ॥

दीपहर्ता भवेदन्धस्तमोगतिरसुप्रभः।
दीपप्रदः स्वर्गलोके दीपमालेव राजते ॥ ५१ ॥

दीपक चुरानेवाला मनुष्य अन्धा और श्रीहीन होता है तथा मरनेके बाद नरकमें पड़ता है, किंतु जो दीपदान करता है, वह स्वर्गलोकमें दीपमालाकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ ५१ ॥

हविषा प्रथमः कल्पो द्वितीयश्चौषधीरसैः।
वसामेदोऽस्थिनिर्यासैर्न कार्यः पुष्टिमिच्छता ॥ ५२ ॥

घीका दीपक जलाकर दान करना प्रथम श्रेणीका दीप-दान है। ओषधियोंके रस अर्थात् तिल-सरसों आदिके तेलसे जलाकर किया हुआ दीप-दान दूसरी श्रेणीका है। जो अपने शरीरकी पुष्टि चाहता हो—उसे चर्बी, मेदा और हड्डियोंसे निकाले हुए तेलके द्वारा कदापि दीपक नहीं जलाना चाहिये ॥ ५२ ॥

गिरिप्रपाते गहने चैत्यस्थाने चतुष्पथे।
(गोब्राह्मणालये दुर्गे दीपो भूतिप्रदः शुचिः।)
दीपदानं भवेन्नित्यं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ५३ ॥

जो अपने कल्याणकी इच्छा रखता हो, उसे प्रतिदिन पर्वतीय झरनेके पास, वनमें, देवमन्दिरमें, चौराहेपर, गोशालामें, ब्राह्मणके घरमें तथा दुर्गम स्थानमें प्रतिदिन दीप-दान करना चाहिये। उक्त स्थानोंमें दिया हुआ पवित्र दीप ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला होता है ॥ ५३ ॥

कुलोद्योतो विशुद्धात्मा प्रकाशत्वं च गच्छति।
ज्योतिषां चैव सालोक्यं दीपदाता नरः सदा ॥ ५४ ॥

दीप-दान करनेवाला पुरुष अपने कुलको उद्दीप्त करनेवाला, शुद्धचित्त तथा श्रीसम्पन्न होता है और अन्तमें वह प्रकाशमय लोकोंमें जाता है ॥ ५४ ॥

बलिकर्मसु वक्ष्यामि गुणान् कर्मफलोदयान्।
देवयक्षोरगनृणां भूतानामथ रक्षसाम् ॥ ५५ ॥

अब मैं देवताओं, यक्षों, नागों, मनुष्यों, भूतों तथा राक्षसोंको बलि समर्पण करनेसे जो लाभ होता है, जिन फलोंका उदय होता है, उनका वर्णन करूँगा ॥ ५५ ॥

येषां नाग्रभुजो विप्रा देवतातिथिबालकाः।
राक्षसानेव तान् विद्धि निर्विशङ्कानमङ्गलान् ॥ ५६ ॥

जो लोग अपने भोजन करनेसे पहले देवताओं, ब्राह्मणों, अतिथियों और बालकोंको भोजन नहीं कराते, उन्हें भयरहित अमङ्गलकारी राक्षस ही समझो ॥ ५६ ॥

तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम् ।
शिरसा प्रयतश्चापि हरेद् बलिमतन्द्रितः ॥ ५७ ॥

अतः गृहस्थ मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह आलस्य छोड़कर देवताओंकी पूजा करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करे और शुद्धचित्त हो सर्वप्रथम उन्हींको आदरपूर्वक अन्नका भाग अर्पण करे ॥ ५७ ॥

गृह्णन्ति देवता नित्यमाशंसन्ति सदा गृहान् ।
बाह्याश्चागन्तवो येऽन्ये यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ५८ ॥
इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।
ते प्रीताः प्रीणयन्त्येनमायुषा यशसा धनैः ॥ ५९ ॥

क्योंकि देवतालोग सदा गृहस्थ मनुष्योंकी दी हुई बलिको स्वीकार करते और उन्हें आशीर्वाद देते हैं। देवता, पितर, यक्ष, राक्षस, सर्प तथा बाहरसे आये हुए अन्य अतिथि आदि गृहस्थके दिये हुए अन्नसे ही जीविका चलाते हैं और प्रसन्न होकर उस गृहस्थको आयु, यश तथा धनके द्वारा संतुष्ट करते हैं ॥ ५८-५९ ॥

बलयः सह पुष्पैस्तु देवानामुपहारयेत् ।
दधिदुग्धमयाः पुण्याः सुगन्धाः प्रियदर्शनाः ॥ ६० ॥

देवताओंको जो बलि दी जाय, वह दही-दूधकी बनी हुई, परम पवित्र, सुगन्धित, दर्शनीय और फूलोंसे सुशोभित होनी चाहिये ॥ ६० ॥

कार्या रुधिरमांसाढ्या बलयो यक्षरक्षसाम् ।
सुरासवपुरस्कारा लाजोल्लापिकभूषिताः ॥ ६१ ॥

आसुर स्वभावके लोग यक्ष और राक्षसोंको रुधिर और मांससे युक्त बलि अर्पित करते हैं। जिसके साथ सुरा और आसव भी रहता है तथा ऊपरसे धानका लावा छींटकर उस बलिको विभूषित किया जाता है ॥ ६१ ॥

नागानां दयिता नित्यं पद्मोत्पलविमिश्रिताः ।
तिलान् गुडसुसम्पन्नान् भूतानामुपहारयेत् ॥ ६२ ॥

नागोंको पद्म और उत्पलयुक्त बलि प्रिय होती है। गुड़-मिश्रित तिल भूतोंको भेंट करे ॥ ६२ ॥

अग्रदाताग्रभोगी स्याद् बलवीर्यसमन्वितः ।
तस्मादग्रं प्रयच्छेत देवेभ्यः प्रतिपूजितम् ॥ ६३ ॥

जो मनुष्य देवता आदिको पहले बलि प्रदान करके भोजन करता है, वह उत्तम भोगसे सम्पन्न, बलवान् और वीर्यवान् होता है । इसलिये देवताओंको सम्मानपूर्वक अन्न पहले अर्पण करना चाहिये ॥ ६३ ॥

ज्वलन्त्यहरहो वेश्म याश्चास्य गृहदेवताः ।
ताः पूज्या भूतिकामेन प्रसृताग्रप्रदायिना ॥ ६४ ॥

गृहस्थके घरकी अधिष्ठातृ देवियाँ उसके घरको सदा प्रकाशित किये रहती हैं, अतः कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि भोजनका प्रथम भाग देकर सदा ही उनकी पूजा किया करे ॥ ६४ ॥

इत्येतदसुरेन्द्राय काव्यः प्रोवाच भार्गवः ।
सुवर्णाय मनुः प्राह सुवर्णो नारदाय च ॥ ६५ ॥
नारदोऽपि मयि प्राह गुणानेतान् महाद्युते ।
त्वमप्येतद् विदित्वेह सर्वमाचर पुत्रक ॥ ६६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार शुक्राचार्यने असुरराज बलिको यह प्रसङ्ग सुनाया और मनुने तपस्वी सुवर्णको इसका उपदेश किया। तत्पश्चात् तपस्वी सुवर्णने नारदजीको और नारदजीने मुझे धूप, दीप आदिके दानके गुण बताये । महातेजस्वी पुत्र ! तुम भी इस विधिको जानकर इसीके अनुसार सब काम करो ॥ ६५-६६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सुवर्णमनुसंवादो नामाष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सुवर्ण और मनुका संवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)



नवनवतितमोऽध्यायः

नहुषका ऋषियोंपर अत्याचार तथा उसके प्रतीकारके लिये महर्षि भृगु और अगस्त्यकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे भरतश्रेष्ठ पुष्पधूपप्रदायिनाम् ।
फलं बलिविधाने च तद् भूयो वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! फूल और धूप और

देनेवालोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह मैंने सुन लिया। अब बलि समर्पित करनेका जो फल है, उसे पुनः बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

धूपप्रदानस्य फलं प्रदीपस्य तथैव च।
बलयश्च किमर्थं वै क्षिप्यन्ते गृहमेधिभिः ॥ २ ॥

धूपदान और दीपदानका फल तो ज्ञात हो गया ! अब यह बताइये कि गृहस्थ पुरुष बलि किस लिये समर्पित करते हैं ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नहुषस्य च संवादमगस्त्यस्य भृगोस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें भी जानकार मनुष्य राजा नहुष और अगस्त्य एवं भृगुके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ४ ॥

महाराज ! राजर्षि नहुष बड़े भारी तपस्वी थे। उन्होंने अपने पुण्यकर्मके प्रभावसे देवराज इन्द्रका पद प्राप्त कर लिया था ॥ ४ ॥

तत्रापि प्रयतो राजन् नहुषस्त्रिदिवे वसन्।
मानुषीश्चैव दिव्याश्च कुर्वाणो विविधाः क्रियाः॥ ५ ॥

राजन् ! वहाँ स्वर्गमें रहते हुए भी शुद्धचित्त राजा नहुष नाना प्रकारके दिव्य और मानुष कर्मोंका अनुष्ठान किया करते थे ॥ ५ ॥

मानुष्यस्तत्र सर्वाः स्म क्रियास्तस्य महात्मनः।
प्रवृत्तास्त्रिदिवे राजन् दिव्याश्चैव सनातनाः ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! स्वर्गमें भी महामना राजा नहुषकी सम्पूर्ण मानुषी क्रियाएँ तथा दिव्य सनातन क्रियाएँ भी सदा चलती रहती थीं ॥ ६ ॥

अग्निकार्याणि समिधः कुशाः सुमनसस्तथा।
बलयश्चान्नलाजाभिर्धूपनं दीपकर्म च ॥ ७ ॥
सर्वं तस्य गृहे राज्ञः प्रावर्तत महात्मनः।
जपयज्ञान्मनोयज्ञांस्त्रिदिवेऽपि चकार सः ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, समिधा, कुशा, फूल, अन्न और लावाकी बलि, धूपदान तथा दीपकर्म—ये सब-के-सब महामना राजा नहुषके घरमें प्रतिदिन होते रहते थे। वे स्वर्गमें रहकर भी जप-यज्ञ एवं मनोयज्ञ (ध्यान) करते रहते थे ॥ ७-८ ॥

देवानभ्यर्चयच्चापि विधिवत् स सुरेश्वरः।
सर्वानेव यथान्यायं यथापूर्वमरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुदमन ! वे देवेश्वर नहुष विधिपूर्वक सभी देवताओंका पूर्ववत् यथोचितरूपसे पूजन किया करते थे ॥ ९ ॥

अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।
सर्वाश्चैव क्रियास्तस्य पर्यहीयन्त भूपतेः ॥ १० ॥

किंतु तदनन्तर 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा समझकर वे अहंकारके वशीभूत हो गये। इससे उन भूपालकी सारी क्रियाएँ नष्टप्राय होने लगीं ॥ १० ॥

स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः।
परिहीणक्रियश्चैव दुर्बलत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥

वे वरदानके मदसे मोहित हो ऋषियोंसे अपनी सवारी खिंचवाने लगे। उनका धर्म-कर्म छूट गया। अतः वे दुर्बल हो गये—उनमें धर्मबलका अभाव हो गया ॥ ११ ॥

तस्य वाहयतः कालो मुनिमुख्यांस्तपोधनान्।
अहंकाराभिभूतस्य सुमहानभ्यवर्तत ॥ १२ ॥

वे अहंकारसे अभिभूत होकर क्रमशः सभी श्रेष्ठ तपस्वी मुनियोंको अपने रथमें जोतने लगे। ऐसा करते हुए राजाका दीर्घकाल व्यतीत हो गया ॥ १२ ॥

अथ पर्यायशः सर्वान् वाहनायोपचक्रमे।
पर्यायश्चाप्यगस्त्यस्य समपद्यत भारत ॥ १३ ॥

नहुषने बारी-बारीसे सभी ऋषियोंको अपना वाहन बनानेका उपक्रम किया था। भारत ! एक दिन महर्षि अगस्त्यकी बारी आयी ॥ १३ ॥

अथागत्य महातेजा भृगुर्ब्रह्मविदां वरः।
अगस्त्यमाश्रमस्थं वै समुपेत्येदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

उसी दिन ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भृगुजी अपने आश्रमपर बैठे हुए अगस्त्यके निकट आये और इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

एवं वयमसत्कारं देवेन्द्रस्यास्य दुर्मतेः।
नहुषस्य किमर्थं वै मर्षयाम महामुने ॥ १५ ॥

'महामुने ! देवराज बनकर बैठे हुए इस दुर्बुद्धि नहुषके अत्याचारको हमलोग किस लिये सह रहे हैं' ॥ १५ ॥

अगस्त्य उवाच

कथमेष मया शक्यः शप्तुं यस्य महामुने।
वरदेन वरो दत्तो भवतो विदितश्च सः ॥ १६ ॥

अगस्त्यजीने कहा—महामुने ! मैं इस नहुषको कैसे

शाप दे सकता हूँ; जब कि वरदानी ब्रह्माजीने इसे वर दे रक्खा है। उसे वर मिला है, यह बात आपको भी विदित ही है ॥ १६ ॥

यो मे दृष्टिपथं गच्छेत् स मे वश्यो भवेदिति।
इत्यनेन वरं देवो याचितो गच्छता दिवम् ॥ १७ ॥

स्वर्गलोकमें आते समय इस नहुषने ब्रह्माजीसे यह वर माँगा था कि 'जो मेरे दृष्टिपथमें आ जाय, वह मेरे अधीन हो जाय' ॥ १७ ॥

एवं न दग्धः स मया भवता च न संशयः।
अन्येनाप्यृषिमुख्येन न दग्धो न च पातितः ॥ १८ ॥

ऐसा वरदान प्राप्त होनेके कारण ही मैंने और आपने भी अबतक इसे दग्ध नहीं किया है। इसमें संशय नहीं है। दूसरे किसी श्रेष्ठ ऋषिने भी उसी वरदानके कारण न तो अबतक उसे जलाकर भस्म किया और न स्वर्गसे नीचे ही गिराया ॥ १८ ॥

अमृतं चैव पानाय दत्तमस्मै पुरा विभो।
महात्मना तदर्थं च नास्माभिर्विनिपात्यते ॥ १९ ॥

प्रभो ! पूर्वकालमें महात्मा ब्रह्माने इसे पीनेके लिये अमृत प्रदान किया था। इसीलिये हमलोग इस नहुषको स्वर्गसे नीचे नहीं गिरा रहे हैं ॥ १९ ॥

प्रायच्छत वरं देवः प्रजानां दुःखकारणम्।
द्विजेष्वधर्मयुक्तानि स करोति नराधमः ॥ २० ॥

भगवान् ब्रह्माजीने जो इसे वर दिया था, वह प्रजाजनोंके लिये दुःखका कारण बन गया। वह नराधम ब्राह्मणोंके साथ अधर्मयुक्त बर्ताव कर रहा है ॥ २० ॥

तत्र यत्प्राप्तकालं नस्तद् ब्रूहि वदतां वर।
भवांश्चापि यथा ब्रूयात् तत्कर्तास्मि न संशयः ॥ २१ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भृगुजी ! इस समय हमारे लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो, वह बताइये। आप जैसा कहेंगे वैसा ही मैं करूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

भृगुरुवाच

पितामहनियोगेन भवन्तं सोऽहमागतः।
प्रतिकर्तुं बलवति नहुषे दैवमोहिते ॥ २२ ॥

भृगु बोले—मुने ! ब्रह्माजीकी आज्ञासे मैं आपके पास आया हूँ। बलवान् नहुष दैववश मोहित हो रहा है। आज उससे ऋषियोंपर किये गये अत्याचारका बदला लेना है ॥ २२ ॥

अद्य हि त्वां सुदुर्बुद्धी रथे योक्ष्यति देवराट्।
अद्यैनमहमुद्वृत्तं करिष्येऽनिन्द्रमोजसा ॥ २३ ॥

आज यह महामूर्ख देवराज आपको रथमें जोतेगा। अतः आज ही मैं इस उच्छृङ्खल नहुषको अपने तेजसे इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर दूँगा ॥ २३ ॥

अद्येन्द्रं स्थापयिष्यामि पश्यतस्ते शतक्रतुम्।
संचाल्य पापकर्माणमैन्द्रात् स्थानात् सुदुर्मतिम् ॥ २४ ॥

आज इस पापाचारी दुर्बुद्धिको इन्द्रपदसे गिराकर मैं आपके देखते-देखते पुनः शतक्रतुको इन्द्रपदपर बिठाऊँगा ॥ २४ ॥

अद्य चासौ कुदेवेन्द्रस्त्वां पदा धर्षयिष्यति।
दैवोपहतचित्तत्वादात्मनाशाय मन्दधीः ॥ २५ ॥

दैवने इसकी बुद्धिको नष्ट कर दिया है। अतः यह देवराज बना हुआ मन्दबुद्धि नीच नहुष अपने ही विनाशके लिये आज आपको लातसे मारेगा ॥ २५ ॥

व्युत्क्रान्तधर्मं तमहं धर्षणामर्षितो भृशम्।
अहिर्भवस्वेति रुषा शप्स्ये पापं द्विजद्रुहम् ॥ २६ ॥

आपके प्रति किये गये इस अत्याचारसे अत्यन्त अमर्षमें भरकर मैं धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले उस द्विजद्रोही पापीको रोषपूर्वक यह शाप दे दूँगा कि 'तू सर्प हो जा' ॥ २६ ॥

तत एनं सुदुर्बुद्धिं धिक्शब्दाभिहतत्विषम्।
धरण्यां पातयिष्यामि पश्यतस्ते महामुने ॥ २७ ॥
नहुषं पापकर्माणमैश्वर्यबलमोहितम्।
यथा च रोचते तुभ्यं तथा कर्तास्म्यहं मुने ॥ २८ ॥

महामुने ! तदनन्तर चारों ओरसे धिक्कारके शब्द सुनकर यह दुर्बुद्धि देवेन्द्र श्रीहीन हो जायगा और मैं ऐश्वर्यबलसे मोहित हुए इस पापाचारी नहुषको आपके देखते-देखते पृथ्वीपर गिरा दूँगा। अथवा मुने ! आपको जैसा जँचे वैसा ही करूँगा ॥ २७-२८ ॥

एवमुक्तस्तु भृगुणा मैत्रावरुणिरव्ययः।
अगस्त्यः परमप्रीतो बभूव विगतज्वरः ॥ २९ ॥

भृगुके ऐसा कहनेपर अविनाशी मित्रावरुणकुमार अगस्त्यजी अत्यन्त प्रसन्न और निश्चिन्त हो गये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अगस्त्यभृगुसंवादो नाम नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अगस्त्य और भृगुका संवादनामक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

नहुषका पतन, शतक्रतुका इन्द्रपदपर पुनः अभिषेक तथा दीपदानकी महिमा

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै स विपन्नश्च कथं वै पातितो भुवि ।
कथं चानिन्द्रतां प्राप्तस्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा नहुषपर कैसे विपत्ति आयी ? वे कैसे पृथ्वीपर गिराये गये और किस तरह वे इन्द्रपदसे वञ्चित हो गये ? इसे आप बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

एवं तयोः संवदतोः क्रियास्तस्य महात्मनः ।
सर्वा एव प्रवर्तन्ते या दिव्या याश्च मानुषीः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जब महर्षि भृगु और अगस्त्य उपर्युक्त वार्तालाप कर रहे थे । उस समय महामना नहुषके घरमें दैवी और मानुषी सभी क्रियाएँ चल रही थीं ॥ २ ॥

तथैव दीपदानानि सर्वोपकरणानि वै ।
बलिकर्म च यच्चान्यदुत्सेकाश्च पृथग्विधाः ॥ ३ ॥
सर्वे तस्य समुत्पन्ना देवेन्द्रस्य महात्मनः ।
देवलोके नृलोके च सदाचारा बुधैः स्मृताः ॥ ४ ॥

दीपदान, समस्त उपकरणोंसहित अन्नदान, बलिकर्म एवं नाना प्रकारके स्नान-अभिषेक आदि पूर्ववत् चालू थे । देवलोक तथा मनुष्यलोकमें विद्वानोंने जो सदाचार बताये हैं, वे सब महामना देवराज नहुषके यहाँ होते रहते थे ॥ ३–४ ॥

ते चेद् भवन्ति राजेन्द्र ऋद्ध्यन्ते गृहमेधिनः ।
धूपप्रदानैर्दीपैश्च नमस्कारैस्तथैव च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! गृहस्थके घर यदि उन सदाचारोंका पालन हो तो वे गृहस्थ सर्वथा उन्नतिशील होते हैं, धूपदान, दीपदान तथा देवताओंको किये गये नमस्कार आदिसे भी गृहस्थोंकी ऋद्धि-सिद्धि बढ़ती है ॥ ५ ॥

यथा सिद्धस्य चान्नस्य ग्रहायाग्रं प्रदीयते ।
बलयश्च गृहोद्देशे अतः प्रीयन्ति देवताः ॥ ६ ॥

जैसे तैयार हुई रसोईमेंसे पहले अतिथिको भोजन दिया जाता है, उसी प्रकार घरमें देवताओंके लिये अन्नकी बलि दी जाती है । जिससे देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥

यथा च गृहिणस्तोषो भवेद् वै बलिकर्मणि ।
तथा शतगुणा प्रीतिर्देवतानां प्रजायते ॥ ७ ॥

बलिकर्म करनेपर गृहस्थको जितना संतोष होता है, उससे सौगुनी प्रीति देवताओंको होती है ॥ ७ ॥

एवं धूपप्रदानं च दीपदानं च साधवः ।
प्रयच्छन्ति नमस्कारैर्युक्तमात्मगुणावहम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये लाभदायक समझकर देवताओंको नमस्कारसहित धूपदान और दीपदान करते हैं ॥ ८ ॥

स्नानेनाद्भिश्च यत् कर्म क्रियते वै विपश्चिता ।
नमस्कारप्रयुक्तेन तेन प्रीयन्ति देवताः ॥ ९ ॥
पितरश्च महाभागा ऋषयश्च तपोधनाः ।
गृह्याश्च देवताः सर्वाः प्रीयन्ते विधिनार्चिताः ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष जलसे स्नान करके देवता आदिके लिये नमस्कारपूर्वक जो तर्पण आदि कर्म करते हैं, उससे देवता, महाभाग पितर तथा तपोधन ऋषि संतुष्ट होते हैं तथा विधिपूर्वक पूजित होकर घरके सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ९-१० ॥

इत्येतां बुद्धिमास्थाय नहुषः स नरेश्वरः ।
सुरेन्द्रत्वं महत् प्राप्य कृतवानेतदद्भुतम् ॥ ११ ॥

इसी विचारधाराका आश्रय लेकर राजा नहुषने महान् देवेन्द्रपद पाकर यह अद्भुत पुण्यकर्म सदा चालू रक्खा था ॥ ११ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य भाग्यक्षय उपस्थिते ।
सर्वमेतदवज्ञाय कृतवानिदमीदृशम् ॥ १२ ॥

किंतु कुछ कालके पश्चात् जब उनके सौभाग्य-नाशका अवसर उपस्थित हुआ, तब उन्होंने इन सब बातोंकी अवहेलना करके ऐसा पापकर्म आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

ततः स परिहीणोऽभूत् सुरेन्द्रो बलदर्पतः ।
धूपदीपोदकविधिं न यथावच्चकार ह ॥ १३ ॥

बलके घमण्डमें आकर देवराज नहुष उन सत्कर्मोंसे भ्रष्ट हो गये । उन्होंने धूपदान, दीपदान और जलदानकी विधिका यथावत्‌रूपसे पालन करना छोड़ दिया ॥ १३ ॥

ततोऽस्य यज्ञविषयो रक्षोभिः पर्यबध्यत ।
अथागस्त्यमृषिश्रेष्ठं वाहनायाजुहाव ह ॥ १४ ॥
द्रुतं सरस्वतीकूलात् स्मयन्निव महाबलः ।
ततो भृगुर्महातेजा मैत्रावरुणिमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उसका फल यह हुआ कि उनके यज्ञस्थलमें राक्षसोंने

डेरा डाल दिया। उन्हींसे प्रभावित होकर महाबली नहुषने मुसकराते हुए-से मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यको सरस्वतीतटसे तुरंत अपना रथ ढोनेके लिये बुलाया। तब महातेजस्वी भृगुने मित्रावरुणकुमार अगस्त्यजीसे कहा—॥ १४-१५ ॥

निमीलय स्वनयने जटां यावद् विशामि ते।
स्थाणुभूतस्य तस्याथ जटां प्राविशदच्युतः ॥ १६ ॥
भृगुः स सुमहातेजाः पातनाय नृपस्य च।
ततः स देवराट् प्राप्तस्तमृषिं वाहनाय वै ॥ १७ ॥

'मुने! आप अपनी आँखें मूँद लें, मैं आपकी जटामें प्रवेश करता हूँ।' महर्षि अगस्त्य आँखें मूँदकर काष्ठकी तरह स्थिर हो गये। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले महातेजस्वी भृगुने राजाको स्वर्गसे नीचे गिरानेके लिये अगस्त्यजीकी जटामें प्रवेश किया। इतनेहीमें देवराज नहुष ऋषिको अपना वाहन बनानेके लिये उनके पास पहुँचे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽगस्त्यः सुरपतिं वाक्यमाह विशाम्पते।
योजयस्वेति मां क्षिप्रं कं च देशं वहामि ते ॥ १८ ॥
यत्र वक्ष्यसि तत्र त्वां नयिष्यामि सुराधिप।
इत्युक्तो नहुषस्तेन योजयामास तं मुनिम् ॥ १९ ॥

प्रजानाथ! तब अगस्त्यने देवराजसे कहा—'राजन्! मुझे शीघ्र रथमें जोतिये और बताइये मैं आपको किस स्थान-पर ले चलूँ। देवेश्वर! आप जहाँ कहेंगे, वहीं आपको ले चलूँगा।' उनके ऐसा कहनेपर नहुषने मुनिको रथमें जोत दिया॥ १८-१९ ॥

भृगुस्तस्य जटान्तस्थो बभूव हृषितो भृशम्।
न चापि दर्शनं तस्य चकार स भृगुस्तदा ॥ २० ॥

यह देख उनकी जटाके भीतर बैठे हुए भृगु बहुत प्रसन्न हुए। उस समय भृगुने नहुषका साक्षात्कार नहीं किया॥ २० ॥

वरदानप्रभावज्ञो नहुषस्य महात्मनः।
न चुकोप तदागस्त्यो युक्तोऽपि नहुषेण वै ॥ २१ ॥

अगस्त्यमुनि महामना नहुषको मिले हुए वरदानका प्रभाव जानते थे, इसलिये उसके द्वारा रथमें जोते जानेपर भी वे कुपित नहीं हुए ॥ २१ ॥

तं तु राजा प्रतोदेन चोदयामास भारत।
न चुकोप स धर्मात्मा ततः पादेन देवराट् ॥ २२ ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।

भारत! राजा नहुषने चाबुक मारकर हाँकना आरम्भ किया तो भी उन धर्मात्मा मुनिको क्रोध नहीं आया। तब कुपित हुए देवराजने महात्मा अगस्त्यके सिरपर बायें पैरसे प्रहार किया॥ २२½ ॥

तस्मिञ्छिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥ २३ ॥
शशाप बलवत्क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् पदाऽऽहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ॥ २४ ॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।

उनके मस्तकपर चोट होते ही जटाके भीतर बैठे हुए महर्षि भृगु अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने पापात्मा नहुषको इस प्रकार शाप दिया—'ओ दुर्मते! तुमने इन महामुनिके मस्तकमें क्रोधपूर्वक लात मारी है, इसलिये तू शीघ्र ही सर्प होकर पृथ्वीपर चला जा' ॥ २३-२४½ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥ २५ ॥
अदृष्टेनाथ भृगुणा भूतले भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ! भृगु नहुषको दिखायी नहीं दे रहे थे। उनके इस प्रकार शाप देनेपर नहुष सर्प होकर पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ २५½ ॥

भृगुं हि यदि सोऽद्रक्ष्यन्नहुषः पृथिवीपते ॥ २६ ॥
न च शक्तोऽभविष्यद् वै पातने तस्य तेजसा।

पृथ्वीनाथ! यदि नहुष भृगुको देख लेते तो उनके तेजसे प्रतिहत होकर वे उन्हें स्वर्गसे नीचे गिरानेमें समर्थ न होते ॥ २६½ ॥

स तु तैस्तैः प्रदानैश्च तपोभिर्नियमैस्तथा ॥ २७ ॥
पतितोऽपि महाराज भूतले स्मृतिमानभूत्।
प्रसादयामास भृगुं शापान्तो मे भवेदिति ॥ २८ ॥

महाराज! नहुषने जो भिन्न-भिन्न प्रकारके दान किये थे, तप और नियमोंका अनुष्ठान किया था, उनके प्रभावसे वे पृथ्वीपर गिरकर भी पूर्वजन्मकी स्मृतिसे वञ्चित नहीं हुए। उन्होंने भृगुको प्रसन्न करते हुए कहा—'प्रभो! मुझको मिले हुए शापका अन्त होना चाहिये' ॥ २७-२८ ॥

ततोऽगस्त्यः कृपाविष्टः प्रासादयत तं भृगुम्।
शापान्तार्थं महाराज स च प्रादात् कृपान्वितः ॥ २९ ॥

महाराज! तब अगस्त्यने दयासे द्रवित होकर उनके शापका अन्त करनेके लिये भृगुको प्रसन्न किया। तब कृपा-युक्त हुए भृगुने उस शापका अन्त इस प्रकार निश्चित किया॥ २९ ॥

भृगुरुवाच

राजा युधिष्ठिरो नाम भविष्यति कुलोद्वहः।
स त्वां मोक्षयिता शापादित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३० ॥

भृगुने कहा—राजन्! तुम्हारे कुलमें सर्वश्रेष्ठ युधिष्ठिर नामसे प्रसिद्ध एक राजा होंगे, जो तुम्हें इस शापसे मुक्त करेंगे—ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये ॥ ३० ॥

अगस्त्योऽपि महातेजाः कृत्वा कार्यं शतक्रतोः।
स्वमाश्रमपदं प्रायात् पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ ३१ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य भी शतक्रतु इन्द्रका कार्य सिद्ध करके द्विजातियोंसे पूजित होकर अपने आश्रमको चले गये ॥ ३१ ॥

नहुषोऽपि त्वया राजंस्तस्माच्छापात् समुद्धृतः।
जगाम ब्रह्मभवनं पश्यतस्ते जनाधिप ॥ ३२ ॥

राजन्! तुमने भी नहुषका उस शापसे उद्धार कर दिया। नरेश्वर! वे तुम्हारे देखते-देखते ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ३२ ॥

तदा स पातयित्वा तं नहुषं भूतले भृगुः।
जगाम ब्रह्मभवनं ब्रह्मणे च न्यवेदयत् ॥ ३३ ॥

भृगु उस समय नहुषको पृथ्वीपर गिराकर ब्रह्माजीके धाममें गये और उनसे उन्होंने यह सब समाचार निवेदन किया ॥ ३३ ॥

ततः शक्रं समानाय्य देवानाह पितामहः।
वरदानान्मम सुरा नहुषो राज्यमाप्तवान् ॥ ३४ ॥
स चागस्त्येन क्रुद्धेन भ्रंशितो भूतलं गतः।

तब पितामह ब्रह्माने इन्द्र तथा अन्य देवताओंको बुलवाकर उनसे कहा—'देवगण! मेरे वरदानसे नहुषने राज्य प्राप्त किया था। परंतु कुपित हुए अगस्त्यने उन्हें स्वर्गसे नीचे गिरा दिया। अब वे पृथ्वीपर चले गये ॥ ३४½ ॥

न च शक्यं विना राज्ञा सुरा वर्तयितुं क्वचित् ॥ ३५ ॥
तस्मादयं पुनः शक्रो देवराज्येऽभिषिच्यताम्।

'देवताओ! बिना राजाके कहीं भी रहना असम्भव है। अतः अपने पूर्व इन्द्रको पुनः देवराजके पदपर अभिषिक्त करो' ॥ ३५½ ॥

एवं सम्भाषमाणं तु देवाः पार्थ पितामहम् ॥ ३६ ॥
एवमस्त्विति संहृष्टाः प्रत्यूचुस्तं नराधिप।

कुन्तीनन्दन! नरेश्वर! पितामह ब्रह्माका यह कथन सुनकर सब देवता हर्षसे खिल उठे और बोले—'भगवन्! ऐसा ही हो' ॥ ३६½ ॥

सोऽभिषिक्तो भगवता देवराज्ये च वासवः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मणा राजशार्दूल यथापूर्वं व्यरोचत।

राजसिंह! भगवान् ब्रह्माके द्वारा देवराजके पदपर अभिषिक्त हो शतक्रतु इन्द्र फिर पूर्ववत् शोभा पाने लगे ॥ ३७½ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं नहुषस्य व्यतिक्रमात् ॥ ३८ ॥
स च तैरेव संसिद्धो नहुषः कर्मभिः पुनः।

इस प्रकार पूर्वकालमें नहुषके अपराधसे ऐसी घटना घटी कि वे नहुष बार-बार दीपदान आदि पुण्यकर्मोंसे सिद्धिको प्राप्त हुए थे ॥ ३८½ ॥

तस्माद् दीपाः प्रदातव्याः सायं वै गृहमेधिभिः॥ ३९ ॥
दिव्यं चक्षुरवाप्नोति प्रेत्य दीपस्य दायकः।

इसलिये गृहस्थोंको सायंकालमें अवश्य दीपदान करने चाहिये। दीपदान करनेवाला पुरुष परलोकमें दिव्य नेत्र प्राप्त करता है ॥ ३९½ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशा दीपदाश्च भवन्त्युत ॥ ४० ॥
यावदक्षिनिमेषाणि ज्वलन्ते तावतीः समाः।
रूपवान् बलवांश्चापि नरो भवति दीपदः ॥ ४१ ॥

दीपदान करनेवाले मनुष्य निश्चय ही पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् होते हैं। जितने पलकोंके गिरनेतक दीपक जलते हैं, उतने वर्षोंतक दीपदान करनेवाला मनुष्य रूपवान् और बलवान् होता है ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अगस्त्यभृगुसंवादो नाम शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अगस्त्य और भृगुका संवादनामक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करनेसे प्राप्त होनेवाले दोषके विषयमें क्षत्रिय और चाण्डालका संवाद तथा ब्रह्मस्वकी रक्षामें प्राणोत्सर्ग करनेसे चाण्डालको मोक्षकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणस्वानि ये मन्दा हरन्ति भरतर्षभ।
नृशंसकारिणो मूढाः क्व ते गच्छन्ति मानवाः॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जो मूर्ख और मन्दबुद्धि मानव क्रूरतापूर्ण कर्ममें संलग्न रहकर ब्राह्मणोंके धनका अपहरण करते हैं, वे किस लोकमें जाते हैं? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

(पातकानां परं ह्येतद् ब्रह्मस्वहरणं बलात्।

सान्वयास्ते विनश्यन्ति चण्डालाः प्रेत्य चेह च ॥)

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मणोंके धनका बलपूर्वक अपहरण—यह सबसे बड़ा पातक है। ब्राह्मणोंका धन लूटनेवाले चाण्डाल-स्वभावयुक्त मनुष्य अपने कुल-परिवार-सहित नष्ट हो जाते हैं ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चाण्डालस्य च संवादं क्षत्रबन्धोश्च भारत ॥ २ ॥

भारत ! इस विषयमें जानकार मनुष्य एक चाण्डाल और क्षत्रियबन्धुका संवादविषयक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

राजन्य उवाच

वृद्धरूपोऽसि चाण्डाल बालवच्च विचेष्टसे ।
श्वखराणां रजःसेवी कस्मादुद्विजसे गवाम् ॥ ३ ॥

क्षत्रियने पूछा—चाण्डाल ! तू बूढ़ा हो गया है तो भी बालकों-जैसी चेष्टा करता है। कुत्तों और गधोंकी धूलिका सेवन करनेवाला होकर भी तू इन गौओंकी धूलिसे क्यों इतना उद्विग्न हो रहा है ॥ ३ ॥

साधुभिर्गर्हितं कर्म चाण्डालस्य विधीयते ।
कस्माद् गोरजसा ध्वस्तमपां कुण्डे निषिञ्चसि ॥ ४ ॥

चाण्डालके लिये विहित कर्मकी श्रेष्ठ पुरुष निन्दा करते हैं। तू गोधूलिसे ध्वस्त हुए अपने शरीरको क्यों जलके कुण्डमें डालकर धो रहा है ? ॥ ४ ॥

चाण्डाल उवाच

ब्राह्मणस्य गवां राजन् ह्रियतीनां रजः पुरा ।
सोममुध्वंसयामास तं सोमं येऽपिबन् द्विजाः ॥ ५ ॥
दीक्षितश्च स राजापि क्षिप्रं नरकमाविशत् ।
सह तैर्याजकैः सर्वैर्ब्रह्मस्वमुपजीव्य तत् ॥ ६ ॥

चाण्डालने कहा-राजन् ! पहलेकी बात है--एक ब्राह्मणकी कुछ गौओंका अपहरण किया गया था। जिस समय वे गौएँ हरकर ले जायी जा रही थीं, उस समय उनकी दुग्धकणमिश्रित चरणधूलिने सोमरसपर पड़कर उसे दूषित कर दिया। उस सोमरसको जिन ब्राह्मणोंने पीया, वे तथा उस यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले राजा भी शीघ्र ही नरकमें जा गिरे। उन यज्ञ करानेवाले समस्त ब्राह्मणों-सहित राजा ब्राह्मणके अपहृत धनका उपभोग करके नरकगामी हुए ॥ ५-६ ॥

येऽपि तत्रापिबन् क्षीरं घृतं दधि च मानवाः ।
ब्राह्मणाः सहराजन्याः सर्वे नरकमाविशन् ॥ ७ ॥

जहाँ वे गौएँ हरकर लायी गयी थीं, वहाँ जिन मनुष्योंने उनके दूध, दही और घीका उपभोग किया, वे सभी ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि नरकमें पड़े ॥ ७ ॥

जघ्नुस्ताः पयसा पुत्रांस्तथा पौत्रान् विधुन्वतीः ।
पशूनवेक्षमाणाश्च साधुवृत्तेन दम्पती ॥ ८ ॥

वे अपहृत हुई गौएँ जब दूसरे पशुओंको देखतीं और अपने स्वामी तथा बछड़ोंको नहीं देखती थीं, तब पीड़ासे अपने शरीरको कँपाने लगती थीं। उन दिनों सद्भावसे ही दूध देकर उन्होंने अपहरणकारी पति-पत्नीको तथा उनके पुत्रों और पौत्रोंको भी नष्ट कर दिया ॥ ८ ॥

अहं तत्रावसं राजन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
तासां मे रजसा ध्वस्तं भैक्षमासीन्नराधिप ॥ ९ ॥

राजन् ! मैं भी उसी गाँवमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक जितेन्द्रियभावसे निवास करता था। नरेश्वर ! एक दिन उन्हीं गौओंके दूध एवं धूलके कणसे मेरा भिक्षान्न भी दूषित हो गया ॥ ९ ॥

चाण्डालोऽहं ततो राजन् भुक्त्वा तदभवं नृप ।
ब्रह्मस्वहारी च नृपः सोऽप्रतिष्ठां गतिं ययौ ॥ १० ॥

महाराज ! उस भिक्षान्नको खाकर मैं चाण्डाल हो गया और ब्राह्मणके धनका अपहरण करनेवाले वे राजा भी नरकगामी हो गये ॥ १० ॥

तस्माद्धरेन्न विप्रस्वं कदाचिदपि किंचन ।
ब्रह्मस्वं रजसा ध्वस्तं भुक्त्वा मां पश्य यादृशम् ॥ ११ ॥

इसलिये कभी किंचिन्मात्र भी ब्राह्मणके धनका अपहरण न करे। ब्राह्मणके धूल-धूसरित दुग्धरूप धनको खाकर मेरी जो दशा हुई है, उसे आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ ११ ॥

तस्मात् सोमोऽप्यविक्रेयः पुरुषेण विपश्चिता ।
विक्रयं त्विह सोमस्य गर्हयन्ति मनीषिणः ॥ १२ ॥

इसीलिये विद्वान् पुरुषको सोमरसका विक्रय भी नहीं करना चाहिये। मनीषी पुरुष इस जगत्‌में सोमरसके विक्रयकी बड़ी निन्दा करते हैं ॥ १२ ॥

ये चैनं क्रीणते तात ये च विक्रीणते जनाः ।
ते तु वैवस्वतं प्राप्य रौरवं यान्ति सर्वशः ॥ १३ ॥

तात ! जो लोग सोमरसको खरीदते हैं और जो लोग उसे बेचते हैं, वे सभी यमलोकमें जाकर रौरव नरकमें पड़ते हैं ॥ १३ ॥

सोमं तु रजसा ध्वस्तं विक्रीणन् विधिपूर्वकम् ।
श्रोत्रियो वार्धुषी भूत्वा न चिरं स विनश्यति ॥ १४ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण यदि गौओंके चरणोंकी धूलि और दूधसे दूषित सोमको विधिपूर्वक बेचता है अथवा व्याजपर रुपये

चलाता है तो वह जल्दी ही नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

नरकं त्रिंशतं प्राप्य स्वविष्ठामुपजीवति ।
श्वचर्यामभिमानं च सखिदारे च विप्लवम् ॥ १५ ॥
तुलया धारयन् धर्ममभिमान्यतिरिच्यते ।

वह तीस नरकोंमें पड़कर अन्तमें अपनी ही विष्ठापर जीनेवाला कीड़ा होता है । कुत्तोंको पालना, अभिमान तथा मित्रकी स्त्रीसे व्यभिचार—इन तीनों पापोंको तराजूपर रखकर यदि धर्मतः तौला जाय तो अभिमानका ही पलड़ा भारी होगा ॥ १५½ ॥

श्वानं वै पापिनं पश्य विवर्णं हरिणं कृशम् ॥ १६ ॥
अभिमानेन भूतानामिमां गतिमुपागतम् ।

आप मेरे इस पापी कुत्तेको देखिये, यह कान्तिहीन, सफेद और दुर्बल हो गया है । यह पहले मनुष्य था । परंतु समस्त प्राणियोंके प्रति अभिमान रखनेके कारण इस दुर्गतिको प्राप्त हुआ है ॥ १६½ ॥

अहं वै विपुले तात कुले धनसमन्विते ॥ १७ ॥
अन्यस्मिञ्जन्मनि विभो ज्ञानविज्ञानपारगः ।
अभवं तत्र जानानो ह्येतान् दोषान् मदात् सदा ॥ १८ ॥
संरब्ध एव भूतानां पृष्ठमांससमभक्षयम् ।
सोऽहं तेन च वृत्तेन भोजनेन च तेन वै ॥ १९ ॥
इमामवस्थां सम्प्राप्तः पश्य कालस्य पर्ययम् ।

तात ! प्रभो ! मैं भी दूसरे जन्ममें धनसम्पन्न महान् कुलमें उत्पन्न हुआ था । ज्ञान-विज्ञानमें पारंगत था । इन सब दोषोंको जानता था तो भी अभिमानवश सदा सब प्राणियोंपर क्रोध करता और पशुओंके पृष्ठका मांस खाता था; उसी दुराचार और अभक्ष्य-भक्षणसे मैं इस दुरवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ । कालके इस उलट-फेरको देखिये ॥ १७-१९½ ॥

आदीप्तमिव चैलान्तं भ्रमरैरिव चार्दितम् ॥ २० ॥
धावमानं सुसंरब्धं पश्य मां रजसान्वितम् ।

मेरी दशा ऐसी हो रही है, मानो मेरे कपड़ोंके छोरमें आग लग गयी हो अथवा तीखे मुखवाले भ्रमरोंने मुझे डंक मार-मारकर पीड़ित कर दिया हो । मैं रजोगुणसे युक्त हो अत्यन्त रोष और आवेशमें भरकर चारों ओर दौड़ रहा हूँ । मेरी दशा तो देखिये ॥ २०½ ॥

स्वाध्यायैस्तु महत्पापं हरन्ति गृहमेधिनः ॥ २१ ॥
दानैः पृथग्विधैश्चापि यथा प्राहुर्मनीषिणः ।

गृहस्थ मनुष्य वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा तथा नाना प्रकारके दानोंसे अपने महान् पापको दूर कर देते हैं । जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ २१½ ॥

तथा पापकृतं विप्रमाश्रमस्थं महीपते ॥ २२ ॥
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तं छन्दांस्युत्तारयन्त्युत ।

पृथ्वीनाथ ! आश्रममें रहकर सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मणको यदि वह पापाचारी हो तो भी उसके द्वारा पढ़े जानेवाले वेद उसका उद्धार कर देते हैं ॥ २२½ ॥

अहं हि पापयोन्यां वै प्रसूतः क्षत्रियर्षभ ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कथं मुच्येयमित्युत ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! मैं पापयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ । मुझे यह निश्चय नहीं हो पाता कि मैं किस उपायसे मुक्त हो सकूँगा ? ॥ २३ ॥

जातिस्मरत्वं च मम केनचित् पूर्वकर्मणा ।
शुभेन येन मोक्षं वै प्राप्तुमिच्छाम्यहं नृप ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! पहलेके किसी शुभ कर्मके प्रभावसे मुझे पूर्व-जन्मकी बातोंका स्मरण हो रहा है; जिससे मैं मोक्ष पानेकी इच्छा करता हूँ ॥ २४ ॥

त्वमिमं सम्प्रपन्नाय संशयं ब्रूहि पृच्छते ।
चाण्डालत्वात् कथमहं मुच्येयमिति सत्तम ॥ २५ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! मैं आपकी शरणमें आकर अपना यह संशय पूछ रहा हूँ । आप मुझे इसका समाधान बताइये । मैं चाण्डाल-योनिसे किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ ? ॥ २५ ॥

राजन्य उवाच

चाण्डाल प्रतिजानीहि येन मोक्षमवाप्स्यसि ।
ब्राह्मणार्थे त्यजन् प्राणान् गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ २६ ॥

क्षत्रियने कहा—चाण्डाल ! तू उस उपायको समझ ले, जिससे तुझे मोक्ष प्राप्त होगा । यदि तू ब्राह्मणकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंका परित्याग करे तो तुझे अभीष्ट गति प्राप्त होगी ॥ २६ ॥

दत्त्वा शरीरं क्रव्याद्भ्यो रणाग्नौ द्विजहेतुकम् ।
हुत्वा प्राणान् प्रमोक्षस्ते नान्यथा मोक्षमर्हसि ॥ २७ ॥

यदि ब्राह्मणकी रक्षाके लिये तू अपना यह शरीर समराग्निमें होमकर कच्चा मांस खानेवाले जीव-जन्तुओंको बाँट दे तो प्राणोंकी आहुति देनेपर तेरा छुटकारा हो सकता है, अन्यथा तू मोक्ष नहीं पा सकेगा ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन ब्रह्मस्वार्थे परंतप ।
हुत्वा रणमुखे प्राणान् गतिमिष्टामवाप ह ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—परंतप ! क्षत्रियके ऐसा कहनेपर उस चाण्डालने ब्राह्मणके धनकी रक्षाके लिये युद्धके मुहानेपर

अपने प्राणोंकी आहुति दे अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ २८ ॥

तस्माद् रक्ष्यं त्वया पुत्र ब्रह्मस्वं भरतर्षभ ।
यदीच्छसि महाबाहो शाश्वतीं गतिमात्मनः ॥ २९ ॥

बेटा ! भरतश्रेष्ठ ! महाबाहो ! यदि तुम सनातन गति पाना चाहते हो तो तुम्हें ब्राह्मणके धनकी पूरी रक्षा करनी चाहिये ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि राजन्यचाण्डालसंवादो नामैकोत्तरशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें क्षत्रिय और चाण्डालका संवादविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतानेके लिये धृतराष्ट्ररूपधारी इन्द्र और गौतम ब्राह्मणके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

एके लोकाः सुकृतिनः सर्वे त्वाहो पितामह ।
तत्र तत्रापि भिन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! (मृत्युके पश्चात्) सभी पुण्यात्मा एक ही तरहके लोकमें जाते हैं या वहाँ उन्हें प्राप्त होनेवाले लोकोंमें भिन्नता होती है ? दादाजी ! यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

कर्मभिः पार्थ नानात्वं लोकानां यान्ति मानवाः ।
पुण्यान् पुण्यकृतो यान्ति पापान् पापकृतो नराः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें जाते हैं। पुण्यकर्म करनेवाले पुण्यलोकोंमें जाते हैं और पापाचारी मनुष्य पापमय लोकोंमें ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गौतमस्य मुनेस्तात संवादं वासवस्य च ॥ ३ ॥

तात ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और गौतम मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणो गौतमः कश्चिन्मृदुर्दान्तो जितेन्द्रियः ।
महावने हस्तिशिशुं परिद्यूनममातृकम् ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा जीवयामास सानुक्रोशो धृतव्रतः ।
स तु दीर्घेण कालेन बभूवातिबलो महान् ॥ ५ ॥

पूर्वकालमें गौतम नामवाले एक ब्राह्मण थे, जिनका स्वभाव बड़ा कोमल था । वे मनको वशमें रखनेवाले और जितेन्द्रिय थे । उन व्रतधारी मुनिने विशाल वनमें एक हाथीके बच्चेको अपने माताके बिना बड़ा कष्ट पाते देखकर उसे कृपापूर्वक जिलाया । दीर्घकालके पश्चात् वह हाथी बढ़कर अत्यन्त बलवान् हो गया ॥ ४-५ ॥

तं प्रभिन्नं महानागं प्रस्रुतं पर्वतोपमम् ।
धृतराष्ट्रस्य रूपेण शक्रो जग्राह हस्तिनम् ॥ ६ ॥

उस महानागके कुम्भस्थलसे फूटकर मदकी धारा बहने लगी । मानो पर्वतसे झरना झर रहा हो । एक दिन इन्द्रने राजा धृतराष्ट्रके रूपमें आकर उस हाथीको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ६ ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा गौतमः संशितव्रतः ।
अभ्यभाषत राजानं धृतराष्ट्रं महातपाः ॥ ७ ॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले महातपस्वी गौतमने उस हाथीका अपहरण होता देख राजा धृतराष्ट्रसे कहा—॥ ७ ॥

मा मेऽहार्षीर्हस्तिनं पुत्रमेनं
दुःखात् पुष्टं धृतराष्ट्राकृतज्ञ ।
मैत्रं सतां सप्तपदं वदन्ति
मित्रद्रोहो मैव राजन् स्पृशेत् त्वाम् ॥ ८ ॥

'कृतज्ञताशून्य राजा धृतराष्ट्र ! तुम मेरे इस हाथीको न ले जाओ । यह मेरा पुत्र है । मैंने बड़े दुःखसे इसका पालन-पोषण किया है । सत्पुरुषोंमें सात पग साथ चलनेमात्रसे मित्रता हो जाती है । इस नाते हम और तुम दोनों मित्र हैं । मेरे इस हाथीको ले जानेसे तुम्हें मित्रद्रोहका पाप लगेगा । तुम्हें यह पाप न लगे, ऐसी चेष्टा करो ॥ ८ ॥

इध्मोदकप्रदातारं शून्यपालं ममाश्रमे ।
विनीतमाचार्यकुले सुयुक्तं गुरुकर्मणि ॥ ९ ॥
शिष्टं दान्तं कृतज्ञं च प्रियं च सततं मम ।
न मे विक्रोशतो राजन् हर्तुमर्हसि कुञ्जरम् ॥ १० ॥

'राजन् ! यह मुझे समिधा और जल लाकर देता है । मेरे आश्रममें जब कोई नहीं रहता है, तब यही रक्षा करता है । आचार्यकुलमें रहकर इसने विनयकी शिक्षा ग्रहण की है । गुरुसेवाके कार्यमें यह पूर्णरूपसे संलग्न रहता है । यह शिष्ट, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ तथा मुझे सदा ही प्रिय है । मैं

चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, तुम मेरे इस हाथीको न ले जाओ' ॥ ९-१० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गवां सहस्रं भवते ददानि
दासीशतं निष्कशतानि पञ्च ।
अन्यच्च वित्तं विविधं महर्षे
किं ब्राह्मणस्येह गजेन कृत्यम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! मैं आपको एक हजार गौएँ दूँगा। सौ दासियाँ और पाँच सौ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान करूँगा और भी नाना प्रकारका धन समर्पित करूँगा। ब्राह्मणके यहाँ हाथीका क्या काम है ! ॥ ११ ॥

गौतम उवाच

तवैव गावो हि भवन्तु राजन्
दास्यः सनिष्का विविधं च रत्नम् ।
अन्यच्च वित्तं विविधं नरेन्द्र
किं ब्राह्मणस्येह धनेन कृत्यम् ॥ १२ ॥

गौतम बोले—राजन् ! वे गौएँ, दासियाँ, स्वर्णमुद्राएँ, नाना प्रकारके रत्न तथा और भी तरह-तरहके धन तुम्हारे ही पास रहें। नरेन्द्र ! ब्राह्मणके यहाँ धनका क्या काम है ! ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्राह्मणानां हस्तिभिर्नास्ति कृत्यं
राजन्यानां नागकुलानि विप्र ।
स्वं वाहनं नयतो नास्त्यधर्मो
नागश्रेष्ठं गौतमास्मान्निवर्त ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विप्रवर गौतम ! ब्राह्मणोंको हाथियोंसे कोई प्रयोजन नहीं है। हाथियोंके समूह तो राजाओंके ही काम आते हैं। हाथी मेरा वाहन है; अतः इस श्रेष्ठ हाथीको ले जानेमें कोई अधर्म नहीं है। आप इसकी ओरसे अपनी तृष्णा हटा लीजिये ॥ १३ ॥

गौतम उवाच

यत्र प्रेतो नन्दति पुण्यकर्मा
यत्र प्रेतः शोचते पापकर्मा ।
वैवस्वतस्य सदने महात्मं-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १४ ॥

गौतमने कहा—महात्मन् ! जहाँ जाकर पुण्यकर्मा पुरुष आनन्दित होता है और जहाँ जाकर पापकर्मा मनुष्य शोकमें डूब जाता है, उस यमराजके लोकमें मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये निष्क्रिया नास्तिकाश्रद्दधानाः
पापात्मान इन्द्रियार्थे निविष्टाः ।
यमस्य ते यातनां प्राप्नुवन्ति
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो निष्क्रिय, नास्तिक, श्रद्धाहीन, पापात्मा और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, वे ही यमयातनाको प्राप्त होते हैं; परंतु राजा धृतराष्ट्रको वहाँ नहीं जाना है ॥ १५ ॥

गौतम उवाच

वैवस्वती संयमनी जनानां
यत्रानृतं नोच्यते यत्र सत्यम् ।
यत्राबला बलिनं यातयन्ति
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १६ ॥

गौतम बोले—जहाँ कोई भी झूठ नहीं बोलता, जहाँ सदा सत्य ही बोला जाता है और जहाँ निर्बल मनुष्य भी बलवान्से अपने प्रति किये गये अन्यायका बदला लेते हैं, मनुष्योंको संयममें रखनेवाली यमराजकी वही पुरी संयमनी नामसे प्रसिद्ध है। वहीं मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ज्येष्ठां स्वसारं पितरं मातरं च
यथा शत्रुं मदमत्ताश्चरन्ति ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो मदमत्त मनुष्य बड़ी बहिन, माता और पिताके साथ शत्रुके समान बर्ताव करते हैं, उन्हींके लिये यह यमराजका लोक है; परंतु धृतराष्ट्र वहाँ जानेवाला नहीं है ॥ १७ ॥

गौतम उवाच

मन्दाकिनी वैश्रवणस्य राज्ञो
महाभागा भोगिजनप्रवेश्या ।
गन्धर्वयक्षैरप्सरोभिश्च जुष्टा
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ १८ ॥

गौतमने कहा—महान् सौभाग्यशालिनी मन्दाकिनी नदी राजा कुबेरके नगरमें विराज रही हैं, जहाँ नागोंका ही प्रवेश होना सम्भव है, गन्धर्व, यक्ष और अप्सराएँ उस मन्दाकिनीका सदा सेवन करती हैं; वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अतिथिव्रताः सुव्रता ये जना वै
प्रतिश्रयं ददति ब्राह्मणेभ्यः।
शिष्टाशिनः संविभज्याश्रितांश्च
मन्दाकिनीं तेऽपि विभूषयन्ति ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—जो सदा अतिथियोंकी सेवामें तत्पर रहकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं, जो लोग ब्राह्मणको आश्रय-दान करते हैं तथा जो अपने आश्रितोंको बाँटकर शेष अन्नका भोजन करते हैं, वे ही लोग उस मन्दाकिनी-तटकी शोभा बढ़ाते हैं (राजा धृतराष्ट्रको तो वहाँ भी नहीं जाना है) ॥ १९ ॥

गौतम उवाच

मेरोरग्रे यद् वनं भाति रम्यं
सुपुष्पितं किन्नरीगीतजुष्टम्।
सुदर्शना यत्र जम्बूर्विशाला
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २० ॥

गौतम बोले—मेरुपर्वतके सामने जो रमणीय वन शोभा पाता है, जहाँ सुन्दर फूलोंकी छटा छायी रहती है और किन्नरियोंके मधुर गीत गूँजते रहते हैं, जहाँ देखनेमें सुन्दर विशाल जम्बूवृक्ष शोभा पाता है, वहाँ पहुँचकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये ब्राह्मणा मृदवः सत्यशीला
बहुश्रुताः सर्वभूताभिरामाः।
येऽधीयते सेतिहासं पुराणं
मध्वाहुत्या जुह्वति वै द्विजेभ्यः ॥ २१ ॥
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र।
यद् विद्यते विदितं स्थानमस्ति
तद् ब्रूहि त्वंत्वरितो ह्येष यामि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महर्षे ! जो ब्राह्मण कोमलस्वभाव, सत्यशील, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंको प्यार करनेवाले हैं, जो इतिहास और पुराणका अध्ययन करते तथा ब्राह्मणोंको मधुर भोजन अर्पित करते हैं; ऐसे लोगोंके लिये ही यह पूर्वोक्त लोक है; परंतु राजा धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है। आपको जो-जो स्थान विदित हैं, उन सबका यहाँ वर्णन कर जाइये। मैं जानेके लिये उतावला हूँ। यह देखिये, मैं चला ॥ २१-२२ ॥

गौतम उवाच

सुपुष्पितं किन्नरराजजुष्टं
प्रियं वनं नन्दनं नारदस्य।
गन्धर्वाणामप्सरसां च शश्वत्
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २३ ॥

गौतमने कहा—सुन्दर-सुन्दर फूलोंसे सुशोभित, किन्नर-राजोंसे सेवित तथा नारद, गन्धर्व और अप्सराओंको सर्वदा प्रिय जो नन्दननामक वन है, वहाँ जाकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये नृत्यगीते कुशला जनाः सदा
ह्ययाचमानाः सहिताश्चरन्ति।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महर्षे ! जो लोग नृत्य और गीतमें निपुण हैं; कभी किसीसे कुछ याचना नहीं करते हैं तथा सदा सज्जनोंके साथ विचरण करते हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह नन्दनवनका जगत् है; परंतु राजा धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है ॥ २४ ॥

गौतम उवाच

यत्रोत्तराः कुरवो भान्ति रम्या
देवैः सार्धं मोदमाना नरेन्द्र।
यत्राग्नियौनाश्च वसन्ति लोका
अब्योनयः पर्वतयोनयश्च ॥ २५ ॥
यत्र शक्रो वर्षति सर्वकामान्
यत्र स्त्रियः कामचारा भवन्ति।
यत्र चेर्ष्या नास्ति नारीनराणां
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २६ ॥

गौतम बोले—नरेन्द्र ! जहाँ रमणीय आकृतिवाले उत्तर कुरुके निवासी अपूर्व शोभा पाते हैं, देवताओंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं, अग्नि, जल और पर्वतसे उत्पन्न हुए दिव्य मानव जिस देशमें निवास करते हैं, जहाँ इन्द्र सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करते हैं, जहाँकी स्त्रियाँ इच्छानुसार विचरनेवाली होती हैं तथा जहाँ स्त्रियों और पुरुषोंमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव है, वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ २५-२६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये सर्वभूतेषु निवृत्तकामा
अमांसादा न्यस्तदण्डाश्चरन्ति।

न हिंसन्ति स्थावरं जङ्गमं च
भूतानां ये सर्वभूतात्मभूताः ॥ २७ ॥
निराशिषो निर्ममा वीतरागा
लाभालाभे तुल्यनिन्दाप्रशंसाः ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो समस्त प्राणियोंमें निष्काम हैं, जो मांसाहार नहीं करते, किसी भी प्राणीको दण्ड नहीं देते, स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी हिंसा नहीं करते, जिनके लिये समस्त प्राणी अपने आत्माके ही तुल्य हैं, जो कामना, ममता और आसक्तिसे रहित हैं, लाभ-हानि, निन्दा तथा प्रशंसामें जो सदा समभाव रखते हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह उत्तर कुरुनामक लोक है; परंतु धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है ॥ २७-२८ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा वीतशोकाः ।
सोमस्य राज्ञः सदने महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ २९ ॥

गौतमने कहा—राजन् ! उससे भिन्न बहुत-से सनातन लोक हैं, जहाँ पवित्र गन्ध छायी रहती है। वहाँ रजोगुण तथा शोकका सर्वथा अभाव है। महात्मा राजा सोमके लोकमें उनकी स्थिति है। वहाँ पहुँचकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये दानशीला न प्रतिगृह्णते सदा
न चाप्यर्थांश्चाददते परेभ्यः ।
येषामदेयमर्हते नास्ति किंचित्
सर्वातिथ्याः सुप्रसादा जनाश्च ॥ ३० ॥
ये क्षन्तारो नाभिजल्पन्ति चान्यान्
सत्रीभूताः सततं पुण्यशीलाः ।
तथाविधानामेष लोको महर्षे
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो सदा दान करते हैं, किंतु दान लेते नहीं हैं, जिनकी दृष्टिमें सुयोग्य पात्रके लिये कुछ भी अदेय नहीं है, जो सबका अतिथि-सत्कार करते तथा सबके प्रति कृपाभाव रखते हैं, जो क्षमाशील हैं, दूसरोंसे कभी कुछ नहीं बोलते हैं और जो पुण्यशील महात्मा सदा सबके लिये अन्नसत्ररूप हैं, ऐसे लोगोंके लिये ही यह सोमलोक है; परंतु धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है ॥ ३०-३१ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातना
विरजसो वितमस्का विशोकाः ।
आदित्यदेवस्य पदं महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३२ ॥

गौतमने कहा—राजन् ! सोमलोकसे भी ऊपर कितने ही सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, जो रजोगुण, तमोगुण और शोकसे रहित हैं। वे महात्मा सूर्यदेवके स्थान हैं। वहाँ जाकर भी मैं तुमसे अपना हाथी वसूल करूँगा ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्वाध्यायशीला गुरुशुश्रूषणे रता-
स्तपस्विनः सुव्रताः सत्यसंधाः ।
आचार्याणामप्रतिकूलभाषिणो
नित्योत्थिता गुरुकर्मस्वचोद्याः ॥ ३३ ॥
तथाविधानामेष लोको महर्षे
विशुद्धानां भावितो वाग्यतानाम् ।
सत्ये स्थितानां वेदविदां महात्मनां
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महर्षे ! जो स्वाध्यायशील, गुरुसेवा-परायण, तपस्वी, उत्तम व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, आचार्योंके प्रतिकूल भाषण न करनेवाले, सदा उद्योगशील तथा बिना कहे ही गुरुके कार्यमें संलग्न रहनेवाले हैं, जिनका भाव विशुद्ध है, जो मौनव्रतावलम्बी, सत्यनिष्ठ और वेदवेत्ता महात्मा हैं, उन्हीं लोगोंके लिये यह सूर्यदेवका लोक है; परंतु धृतराष्ट्र वहाँ भी जानेवाला नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

गौतम उवाच

ततोऽपरे भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा विशोकाः ।
वरुणस्य राज्ञः सदने महात्मन-
स्तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३५ ॥

गौतमने कहा—उसके सिवा दूसरे भी बहुत-से सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, जहाँ पवित्र गन्ध छायी रहती है। वहाँ न तो रजोगुण है और न शोक ही। महामना राजा वरुणके लोकमें वे स्थान हैं। वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

चातुर्मास्यैर्ये यजन्ते जनाः सदा
तथेष्टीनां दशशतं प्राप्नुवन्ति ।

ये चाग्निहोत्रं जुह्वति श्रद्दधाना
यथाम्नायं त्रीणि वर्षाणि विप्राः ॥ ३६ ॥
सुधारिणां धर्मधुरे महात्मनां
यथोदिते वर्त्मनि सुस्थितानाम्।
धर्मात्मनामुद्वहतां गतिं तां
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा--जो लोग सदा चातुर्मास्य याग करते हैं, हजारों इष्टियोंका अनुष्ठान करते हैं तथा जो ब्राह्मण तीन वर्षोंतक वैदिक विधिके अनुसार प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करते हैं, धर्मका भार अच्छी तरह वहन करते हैं, वेदोक्त मार्गपर भलीभाँति स्थित होते हैं, वे ही धर्मात्मा महात्मा ब्राह्मण वरुणलोकमें जाते हैं। धृतराष्ट्रको वहाँ भी नहीं जाना है। यह उससे भी उत्तम लोक प्राप्त करेगा ॥ ३६-३७ ॥

गौतम उवाच

इन्द्रस्य लोका विरजा विशोका
दुरन्वयाः काङ्क्षिता मानवानाम्।
तस्याहं ते भवने भूरितेजसो
राजन्निमं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ३८ ॥

गौतमने कहा--राजन्! इन्द्रके लोक रजोगुण और शोकसे रहित हैं। उनकी प्राप्ति बहुत कठिन है। सभी मनुष्य उन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। उन्हीं महातेजस्वी इन्द्रके भवनमें चलकर मैं आपसे अपने इस हाथीको वापस लूँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतवर्षजीवी यश्च शूरो मनुष्यो
वेदाध्यायी यश्च यज्वाप्रमत्तः।
एते सर्वे शक्रलोकं व्रजन्ति
परं गन्ता धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो सौ वर्षतक जीनेवाला शूरवीर मनुष्य वेदोंका स्वाध्याय करता, यज्ञमें तत्पर रहता और कभी प्रमाद नहीं करता है, ऐसे ही लोग इन्द्रलोकमें जाते हैं। धृतराष्ट्र उससे भी उत्तम लोकमें जायगा। उसे वहाँ भी नहीं जाना है ॥ ३९ ॥

गौतम उवाच

प्राजापत्याः सन्ति लोका महान्तो
नाकस्य पृष्ठे पुष्कला वीतशोकाः।
मनीषिताः सर्वलोकोद्भवानां
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४० ॥

गौतम बोले—राजन्! स्वर्गके शिखरपर प्रजापतिके महान् लोक हैं, जो हृष्ट-पुष्ट और शोकरहित हैं। सम्पूर्ण जगत्के प्राणी उन्हें पाना चाहते हैं। मैं वहीं जाकर तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ये राजानो राजसूयाभिषिक्ता
धर्मात्मानो रक्षितारः प्रजानाम्।
ये चाश्वमेधावभृथे प्लुताङ्गा-
स्तेषां लोका धृतराष्ट्रो न तत्र ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा--मुने! जो धर्मात्मा राजा राजसूय यज्ञमें अभिषिक्त होते हैं, प्रजाजनोंकी रक्षा करते हैं तथा अश्वमेधयज्ञके अवभृथ-स्नानमें जिसके सारे अङ्ग भीग जाते हैं, उन्हींके लिये प्रजापतिलोक हैं। धृतराष्ट्र वहाँ भी नहीं जायगा ॥ ४१ ॥

गौतम उवाच

ततः परं भान्ति लोकाः सनातनाः
सुपुण्यगन्धा विरजा वीतशोकाः।
तस्मिन्नहं दुर्लभे चाप्यधृष्ये
गवां लोके हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ४२ ॥

गौतम बोले—उससे परे जो पवित्र गन्धसे परिपूर्ण, रजोगुणरहित तथा शोकशून्य सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, उन्हें गोलोक कहते हैं। उस दुर्लभ एवं दुर्धर्ष गोलोकमें जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यो गोसहस्री शतदः समां समां
गवां शती दश दद्याच्च शक्त्या।
तथा दशभ्यो यश्च दद्यादिहैकां
पञ्चभ्यो वा दानशीलस्तथैकाम्॥ ४३ ॥
ये जीर्यन्ते ब्रह्मचर्येण विप्रा
ब्राह्मीं वाचं परिरक्षन्ति चैव।
मनस्विनस्तीर्थयात्रापरायणा-
स्ते तत्र मोदन्ति गवां निवासे॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो सहस्र गौओंका स्वामी होकर प्रतिवर्ष सौ गौओंका दान करता है, सौ गौओंका स्वामी होकर यथाशक्ति दस गौओंका दान करता है, जिसके पास दस ही गौएँ हैं, वह यदि उनमेंसे एक गायका दान करता है अथवा जो दानशील पुरुष पाँच गौओंमेंसे एक गायका दान कर देता है, वह गोलोकमें जाता है। जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका पालन करते-करते ही बूढ़े हो जाते हैं, जो वेदवाणीकी सदा रक्षा करते हैं तथा जो मनस्वी ब्राह्मण सदा तीर्थयात्रामें ही

तत्पर रहते हैं, वे ही गौओंके निवास-स्थान गोलोकमें आनन्द भोगते हैं ॥ ४३-४४ ॥

प्रभासं मानसं तीर्थं पुष्कराणि महत्सरः ।
पुण्यं च नैमिषं तीर्थं बाहुदां करतोयिनीम् ॥ ४५ ॥
गयां गयशिरश्चैव विपाशां स्थूलवालुकाम् ।
कृष्णां गङ्गां पञ्चनदं महाह्रदमथापि च ॥ ४६ ॥
गोमतीं कौशिकीं पम्पां महात्मानो धृतव्रताः ।
सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां ये तु यान्ति च ॥ ४७ ॥
तत्र ते दिव्यसंस्थाना दिव्यमाल्यधराः शिवाः।
प्रयान्ति पुण्यगन्धाढ्या धृतराष्ट्रो न तत्र वै ॥ ४८ ॥

प्रभास, मानसरोवर तीर्थ, त्रिपुष्कर नामक महान् सरोवर, पवित्र नैमिषतीर्थ, बाहुदा नदी, करतोया नदी, गया, गयशिर, स्थूल वालुकायुक्त विपाशा (व्यास), कृष्णा, गङ्गा, पञ्चनद, महाह्रद, गोमती, कौशिकी, पम्पासरोवर, सरस्वती, दृषद्वती और यमुना—इन तीर्थोंमें जो व्रतधारी महात्मा जाते हैं, वे ही दिव्य रूप धारण करके दिव्य मालाओंसे अलंकृत हो गोलोकमें जाते हैं और कल्याणमय स्वरूप तथा पवित्र सुगन्धसे व्याप्त होकर वहाँ निवास करते हैं। धृतराष्ट्र उस लोकमें भी नहीं मिलेगा ॥ ४५—४८ ॥

गौतम उवाच

यत्र शीतभयं नास्ति न चोष्णभयमण्वपि ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न दुःखं न सुखं तथा ॥ ४९ ॥
न द्वेष्यो न प्रियः कश्चिन्न बन्धुर्न रिपुस्तथा ।
न जरामरणे तत्र न पुण्यं न च पातकम् ॥ ५० ॥
तस्मिन् विरजसि स्फीते प्रज्ञासत्त्वव्यवस्थिते ।
स्वयम्भुभवने पुण्ये हस्तिनं मे प्रदास्यसि ॥ ५१ ॥

गौतम बोले—जहाँ सर्दीका भय नहीं है, गर्मीका अणुमात्र भी भय नहीं है, जहाँ न भूख लगती है न प्यास, न ग्लानि प्राप्त होती है न दुःख-सुख, जहाँ न कोई द्वेषका पात्र है न प्रेमका, न कोई बन्धु है न शत्रु, जहाँ जरा-मृत्यु, पुण्य और पाप कुछ भी नहीं है, उस रजोगुणसे रहित, समृद्धिशाली, बुद्धि और सत्त्वगुणसे सम्पन्न तथा पुण्यमय ब्रह्मलोकमें जाकर तुम्हें मुझे यह हाथी वापस देना पड़ेगा ॥ ४९—५१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

निर्मुक्ताः सर्वसङ्गेभ्यो कृतात्मानो यतव्रताः ।
अध्यात्मयोगसंस्थानैर्युक्ताः स्वर्गगतिं गताः ॥ ५२ ॥
ते ब्रह्मभवनं पुण्यं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः ।
न तत्र धृतराष्ट्रस्ते शक्यो द्रष्टुं महामुने ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महामुने ! जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त है, जिन्होंने अपने मनको वशमें कर लिया है, जो नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जो अध्यात्मज्ञान और योगसम्बन्धी आसनोंसे युक्त हैं, जो स्वर्गलोकके अधिकारी हो चुके हैं, ऐसे सात्त्विक पुरुष ही पुण्यमय ब्रह्मलोकमें जाते हैं । वहाँ तुम्हें धृतराष्ट्र नहीं दिखायी दे सकता ॥

गौतम उवाच

रथन्तरं यत्र बृहच्च गीयते
यत्र वेदी पुण्डरीकैस्तृणोति ।
यत्रोपयाति हरिभिः सोमपीथी
तत्र त्वाहं हस्तिनं यातयिष्ये ॥ ५४ ॥

गौतम बोले—जहाँ रथन्तर और बृहत्सामका गान किया जाता है, जहाँ याज्ञिक पुरुष वेदीको कमलपुष्पोंसे आच्छादित करते हैं तथा जहाँ सोमपान करनेवाला पुरुष दिव्य अश्वोंद्वारा यात्रा करता है, वहाँ जाकर मैं तुमसे अपना हाथी वापस लूँगा ॥ ५४ ॥

बुध्यामि त्वां वृत्रहणं शतक्रतुं
व्यतिक्रमन्तं भुवनानि विश्वा ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं कदाचि-
दकार्षं ते मनसोऽभिषङ्गात् ॥ ५५ ॥

मैं जानता हूँ, आप राजा धृतराष्ट्र नहीं, वृत्रासुरका वध करनेवाले शतक्रतु इन्द्र हैं और सम्पूर्ण जगत्का निरीक्षण करनेके लिये सब ओर घूम रहे हैं । मैंने मानसिक आवेशमें आकर कदाचित् वाणीद्वारा आपके प्रति कोई अपराध तो नहीं कर डाला ? ॥ ५५ ॥

शतक्रतुरुवाच

मघवाहं लोकपथं प्रजाना-
मन्वागमं परिवादे गजस्य ।
तस्माद् भवान् प्रणतं मानुशास्तु
ब्रवीषि यत् तत् करवाणि सर्वम् ॥ ५६ ॥

शतक्रतु बोले—मैं इन्द्र हूँ और आपके हाथीके अपहरणके कारण मानव प्रजाके दृष्टिपथमें निन्दित हो गया हूँ । अब मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाता हूँ । आप मुझे कर्तव्यका उपदेश दें । आप जो-जो कहेंगे, वह सब करूँगा ॥

गौतम उवाच

श्वेतं करेणुं मम पुत्रं हि नागं
यं मेऽहार्षीर्दशवर्षाणि बालम् ।
यो मे वने वसतोऽभूद् द्वितीय-
स्तमेव मे देहि सुरेन्द्र नागम् ॥ ५७ ॥

गौतम बोले—देवेन्द्र ! यह श्वेत गजराजकुमार जो इस समय नवजवान हाथीके रूपमें परिणत हो चुका है, मेरा पुत्र है और अभी दस वर्षका बच्चा है। यही इस वनमें रहते हुए मेरा सहचर एवं सहयोगी है। इसे आपने हर लिया है। मेरी प्रार्थना है कि मेरे इसी हाथीको आप मुझे लौटा दें ॥

शतक्रतुरुवाच

अयं सुतस्ते द्विजमुख्य नाग
आगच्छति त्वामभिवीक्षमाणः।
पादौ च ते नासिकयोपजिघ्रते
श्रेयो ममाध्याहि नमश्च तेऽस्तु॥ ५८ ॥

शतक्रतुने कहा—विप्रवर ! आपका पुत्रस्वरूप यह हाथी आपहीकी ओर देखता हुआ आ रहा है और पास आकर आपके दोनों चरणोंको अपनी नासिकासे सूँघता है। अब आप मेरा कल्याण-चिन्तन कीजिये, आपको नमस्कार है॥

गौतम उवाच

शिवं सदैवेह सुरेन्द्र तुभ्यं
ध्यायामि पूजां च सदा प्रयुञ्जे।
ममापि त्वं शक्र शिवं ददस्व
त्वया दत्तं प्रतिगृह्णामि नागम्॥ ५९ ॥

गौतम बोले—सुरेन्द्र ! मैं सदा ही यहाँ आपके कल्याणका चिन्तन करता हूँ और सदा आपके लिये अपनी पूजा अर्पित करता हूँ। शक्र ! आप भी मुझे कल्याण प्रदान करें। मैं आपके दिये हुए इस हाथीको ग्रहण करता हूँ ॥

शतक्रतुरुवाच

येषां वेदा निहिता वै गुहायां
मनीषिणां सत्यवतां महात्मनाम्।
तेषां त्वयैकेन महात्मनास्मि
वृद्धस्तस्मात् प्रीतिमांस्तेऽहमद्य॥ ६० ॥
हन्तैहि ब्राह्मण क्षिप्रं सह पुत्रेण हस्तिना।
त्वं हि प्राप्तुं शुभाँल्लोकानह्नाय च चिराय च॥ ६१ ॥

शतक्रतुने कहा—जिन सत्यवादी मनीषी महात्माओंकी हृदय-गुफामें सम्पूर्ण वेद निहित हैं, उनमें आप प्रमुख महात्मा हैं। केवल आपके कल्याण-चिन्तनसे मैं समृद्धिशाली हो गया। इसलिये आज मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण ! मैं बड़े हर्षके साथ कहता हूँ कि आप अपने इस पुत्रभूत हाथीके साथ शीघ्र चलिये। आप अभी चिरकालके लिये कल्याणमय लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी हो गये हैं ॥ ६०-६१ ॥

स गौतमं पुरस्कृत्य सह पुत्रेण हस्तिना।
दिवमाचक्रमे वज्री सद्भिः सह दुरासदम् ॥ ६२ ॥

पुत्रस्वरूप हाथीके साथ गौतमको आगे करके वज्रधार इन्द्र श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ दुर्गम देवलोकमें चले गये ॥ ६२ ॥

इदं यः शृणुयान्नित्यं यः पठेद् वा जितेन्द्रियः।
स याति ब्रह्मणो लोकं ब्राह्मणो गौतमो यथा॥ ६३ ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर प्रतिदिन इस प्रसङ्गको सुनेगा, अथवा इसका पाठ करेगा, वह गौतम ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्मलोकमें जायगा ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि हस्तिकूटो नाम द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें हस्तिकूट नामक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्माजी और भगीरथका संवाद, यज्ञ, तप, दान आदिसे भी अनशन-व्रतकी विशेष महिमा

युधिष्ठिर उवाच

दानं बहुविधाकारं शान्तिः सत्यमहिंसितम्।
स्वदारतुष्टिश्चोक्ता ते फलं दानस्य चैव यत् ॥ १ ॥
पितामहस्य विदितं किमन्यत् तपसो बलात्।
तपसो यत्परं तेऽद्य तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने अनेक प्रकारके दान, शान्ति, सत्य और अहिंसा आदिका वर्णन किया। अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहनेकी बात बतायी और दानके फलका भी निरूपण किया। आपकी जानकारीमें तपोबलसे बढ़कर दूसरा कौन बल है ? यदि आपकी रायमें तपस्यासे भी कोई उत्कृष्ट साधन हो तो हमारे समक्ष उसकी व्याख्या करें ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

तपः प्रचक्षते यावत् तावल्लोको युधिष्ठिर।
मतं ममात्र कौन्तेय तपो नानशनात् परम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मनुष्य जितना तप करता है, उसीके अनुसार उसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं; किंतु कुन्तीकुमार ! मेरी रायमें अनशनसे बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भगीरथस्य संवादं ब्रह्मणश्च महात्मनः ॥ ४ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष राजा भगीरथ और महात्मा ब्रह्माजीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ४ ॥

अतीत्य सुरलोकं च गवां लोकं च भारत।
ऋषिलोकं च सोऽगच्छद् भगीरथ इति श्रुतम्॥ ५ ॥

भारत! सुननेमें आया है कि राजा भगीरथ देवलोक, गौओंके लोक और ऋषिलोकको भी लाँघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तं तु दृष्ट्वा वचः प्राह ब्रह्मा राजन् भगीरथम्।
कथं भगीरथागास्त्वमिमं लोकं दुरासदम् ॥ ६ ॥

राजन्! राजा भगीरथको वहाँ उपस्थित देख ब्रह्माजीने उनसे पूछा—'भगीरथ! इस लोकमें तो आना बहुत ही कठिन है, तुम कैसे यहाँ आ पहुँचे ॥ ६ ॥

न हि देवा न गन्धर्वा न मनुष्या भगीरथ।
आयान्त्यतप्ततपसः कथं वै त्वमिहागतः ॥ ७ ॥

'भगीरथ! देवता, गन्धर्व और मनुष्य बिना तपस्या किये यहाँ नहीं आ सकते। फिर तुम कैसे यहाँ आ गये?' ॥७॥

भगीरथ उवाच

निष्काणां वै ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः
शतं सहस्राणि सदैव दानम्।
ब्राह्मं व्रतं नित्यमास्थाय विद्वन्
न त्वेवाहं तस्य फलादिहागाम् ॥ ८ ॥

भगीरथने कहा—विद्वन्! मैं ब्रह्मचर्यव्रतका आश्रय लेकर प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण-मुद्राओंका ब्राह्मणोंके लिये दान किया करता था; परंतु उस दानके फलसे मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ८॥

दशैकरात्रान् दशपञ्चरात्रा-
नेकादशैकादशकान् क्रतूंश्च।
ज्योतिष्टोमानां च शतं यदिष्टं
फलेन तेनापि च नागतोऽहम् ॥ ९ ॥

मैंने एक रातमें पूर्ण होनेवाले दस यज्ञ, पाँच रातोंमें पूर्ण होनेवाले दस यज्ञ, ग्यारह रातोंमें समाप्त होनेवाले ग्यारह यज्ञ और ज्योतिष्टोम नामक एक सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया है; परंतु उन यज्ञोंके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ९ ॥

यच्चावसं जाह्नवीतीरनित्यः
शतं समास्तप्यमानस्तपोऽहम्।
अदां च तत्राश्वतरीसहस्रं
नारीपुरं न च तेनाहमागाम् ॥ १० ॥

मैंने जो घोर तपस्या करते हुए लगातार सौ वर्षोंतक प्रतिदिन गङ्गाजीके तटपर निवास किया है और वहाँ सहस्रों खच्चरियों तथा झुंड-की-झुंड कन्याओंका दान किया, उस पुण्यके प्रभावसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १० ॥

दशायुतानि चाश्वानां गोऽयुतानि च विंशतिम्।
पुष्करेषु द्विजातिभ्यः प्रादां शतसहस्रशः ॥ ११ ॥
सुवर्णचन्द्रोत्तमधारिणीनां
कन्योत्तमानामददं सहस्रम्।
षष्टिं सहस्राणि विभूषितानां
जाम्बूनदैराभरणैर्न तेन ॥ १२ ॥

पुष्करतीर्थमें जो सैकड़ों-हजारों बार मैंने ब्राह्मणोंको एक लाख घोड़े और दो लाख गौएँ दान कीं तथा सोनेके उत्तम चन्द्रहार धारण करनेवाली जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित हुई साठ हजार सुन्दरी कन्याओंका जो सहस्रों बार दान किया, उस पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ११-१२ ॥

दशार्बुदान्यददं गोसवेज्या-
स्वेकैकशो दश गा लोकनाथ।
समानवत्साः पयसा समन्विताः
सुवर्णकांस्योपदुहा न तेन ॥ १३ ॥

लोकनाथ! गोसव नामक यज्ञका अनुष्ठान करके उसमें मैंने दूध देनेवाली सौ करोड़ गौओंका दान किया। उस समय एक-एक ब्राह्मणको दस-दस गायें मिली थीं। प्रत्येक गायके साथ उसीके समान रंगवाले बछड़े और सुवर्णमय दुग्धपात्र भी दिये गये थे; परंतु उस यज्ञके पुण्यसे भी मैं यहाँतक नहीं पहुँचा हूँ ॥ १३ ॥

आप्तोर्यामेषु नियतमेकैकस्मिन् दशाददम्।
गृष्टीनां क्षीरदात्रीणां रोहिणीनां शतानि च ॥ १४ ॥

अनेक बार सोमयागकी दीक्षा लेकर उन यज्ञोंमें मैंने प्रत्येक ब्राह्मणको पहले बारकी ब्यायी हुई दूध देनेवाली दस-दस गौएँ और रोहिणी जातिकी सौ-सौ गौएँ दान की हैं ॥ १४ ॥

दोग्ध्रीणां वै गवां चापि प्रयुतानि दशैव ह।
प्रादां दशगुणं ब्रह्मन् न तेनाहमिहागतः ॥ १५ ॥

ब्रह्मन्! इनके अतिरिक्त भी मैंने दस बार दस-दस लाख दुधारू गौएँ दान की हैं; किंतु उस पुण्यसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ १५ ॥

वाजिनां बाह्लिजातानामयुतान्यददं दश।
कर्काणां हेममालानां न च तेनाहमागतः ॥ १६ ॥

वाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए श्वेतरंगके एक लाख घोड़ोंको सोनेकी मालाओंसे सजाकर मैंने ब्राह्मणोंको दान किया; किंतु उस पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १६ ॥

कोटीश्च काञ्चनस्याष्टौ प्रादां ब्रह्मन् दशान्वहम् ।
एकैकस्मिन् क्रतौ तेन फलेनाहं न चागतः ॥ १७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने एक-एक यज्ञमें प्रतिदिन अठारह-अठारह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ बाँटी थीं; परंतु उसके पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ १७ ॥

वाजिनां श्यामकर्णानां हरितानां पितामह ।
प्रादां हेमस्रजां ब्रह्मन् कोटीर्दश च सप्त च ॥ १८ ॥
ईषादन्तान् महाकायान् काञ्चनस्रग्विभूषितान् ।
पद्मिनो वै सहस्राणि प्रादां दश च सप्त च ॥ १९ ॥
अलंकृतानां देवेश दिव्यैः कनकभूषणैः ।
रथानां काञ्चनाङ्गानां सहस्राण्यददं दश ॥ २० ॥
सप्त चान्यानि युक्तानि वाजिभिः समलंकृतैः ।

ब्रह्मन् ! पितामह ! फिर स्वर्णहारसे विभूषित हरे रंगवाले सत्तरह करोड़ श्यामकर्ण घोड़े, ईषादण्ड (हरिस) के समान दाँतोंवाले, स्वर्णमालामण्डित एवं विशाल शरीरवाले सत्रह हजार कमलचिह्नयुक्त हाथी तथा सोनेके बने हुए दिव्य आभूषणोंसे विभूषित स्वर्णमय उपकरणोंसे युक्त और सजे-सजाये घोड़े जुते हुए सत्तरह, हजार रथ दान किये ॥ १८–२०½ ॥

दक्षिणावयवाः केचिद् वेदैर्ये सम्प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥
वाजपेयेषु दशसु प्रादां तेष्वपि चाप्यहम् ।

इनके अतिरिक्त भी जो वस्तुएँ वेदोंमें दक्षिणाके अवयवरूपसे बतायी गयी हैं, उन सबको मैंने दस वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करके दान किया था ॥ २१½ ॥

शक्रतुल्यप्रभावाणामिज्यया विक्रमेण ह ॥ २२ ॥
सहस्रं निष्ककण्ठानामददं दक्षिणामहम् ।
विजित्य भूपतीन् सर्वानर्थैरिष्ट्वा पितामह ॥ २३ ॥
अष्टभ्यो राजसूयेभ्यो न च तेनाहमागतः ।

पितामह ! यज्ञ और पराक्रममें जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनके कण्ठमें सुवर्णके हार शोभा पा रहे थे, ऐसे हजारों राजाओंको युद्धमें जीतकर प्रचुर धनके द्वारा आठ राजसूययज्ञ करके मैंने उन्हें ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दे दिया; परंतु उस पुण्यसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २२-२३½ ॥

स्रोतश्च यावद् गङ्गायाश्छन्नमासीज्जगत्पते ॥ २४ ॥
दक्षिणाभिः प्रवृत्ताभिर्मम नागां च तत्कृते ।

जगत्पते ! मेरी दी हुई दक्षिणाओंसे गङ्गानदी आच्छादित हो गयी थी; परंतु उसके कारण भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २४½ ॥

वाजिनां च सहस्रे द्वे सुवर्णशतभूषिते ॥ २५ ॥
वरं ग्रामशतं चाहमेकैकस्य त्रिधाददम् ।

उस यज्ञमें मैंने प्रत्येक ब्राह्मणको तीन-तीन बार सोनेके सैकड़ों आभूषणोंसे विभूषित दो-दो हजार घोड़े और एक-एक सौ अच्छे गाँव दिये थे ॥ २५½ ॥

तपस्वी नियताहारः शममास्थाय वाग्यतः ॥ २६ ॥
दीर्घकालं हिमवति गङ्गायाश्च दुरुत्सहाम् ।
मूर्ध्ना धारां महादेवः शिरसा यामधारयत् ।
न तेनाप्यहमागच्छं फलेनेह पितामह ॥ २७ ॥

पितामह ! मिताहारी, मौन और शान्तभावसे रहकर मैंने हिमालय पर्वतपर सुदीर्घ कालतक तपस्या की थी। जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने गङ्गाजीकी दुःसह धाराको अपने मस्तकपर धारण किया; परंतु उस तपस्याके फलसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ २६-२७ ॥

शम्याक्षेपैरयजं यच्च देवान्
साद्यस्कानामयुतैश्चापि यत्तत् ।
त्रयोदशद्वादशाहैश्च देव
सपौण्डरीकान्न च तेषां फलेन ॥ २८ ॥

देव ! मैंने अनेक बार 'शम्याक्षेप'[1] याग किये। दस हजार 'साद्यस्क' यागोंका अनुष्ठान किया। कई बार तेरह और बारह दिनोंमें समाप्त होनेवाले याग और 'पुण्डरीक' नामक यज्ञ पूर्ण किये; परंतु उनके फलोंसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ २८ ॥

अष्टौ सहस्राणि ककुद्मिनामहं
शुक्लर्षभाणामददं द्विजेभ्यः ।
एकैकं वै काञ्चनं शृङ्गमेभ्यः
पत्नीश्चैषामददं निष्ककण्ठीः ॥ २९ ॥

इतना ही नहीं, मैंने सफेद रंगके ककुद्‌वाले आठ हजार वृषभ भी ब्राह्मणोंको दान किये, जिनके एक-एक सींगमें सोना मढ़ा हुआ था तथा उन ब्राह्मणोंको सुवर्णमय हारसे विभूषित गौएँ भी मैंने दी थीं ॥ २९ ॥

हिरण्यरत्ननिचयानददं रत्नपर्वतान् ।
धनधान्यसमृद्धांश्च ग्रामाञ्छन्ये सहस्रशः ॥ ३० ॥
शतं शतानां गृष्टीनामददं चाप्यतन्द्रितः ।
इष्ट्वानेकैर्महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो न तेन च ॥ ३१ ॥

१. यज्ञकर्ता पुरुष 'शम्या' नामक एक काठका डंडा खूब जोर लगाकर फेंकता है, वह जितनी दूरपर जाकर गिरता है, उतने दूरमें यज्ञकी वेदी बनायी जाती है; उस वेदीपर जो यज्ञ किया जाता है, उसे 'शम्याक्षेप' अथवा 'शम्याप्रास' यज्ञ कहते हैं।

मैंने आलस्यरहित होकर अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोने और रत्नोंके ढेर, रत्नमय पर्वत, धनधान्यसे सम्पन्न हजारों गाँव और एक बारकी ब्यायी हुई सहस्रों गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं; किंतु उनके पुण्यसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३०-३१ ॥

एकादशाहैरयजं सदक्षिणै-
र्द्विर्द्वादशाहैरश्वमेधैश्च देव ।
आर्कायणैः षोडशभिश्च ब्रह्मं-
स्तेषां फलेनेह न चागतोऽस्मि ॥ ३२ ॥

देव ! ब्रह्मन् ! मैंने ग्यारह दिनोंमें होनेवाले और चौबीस दिनोंमें होनेवाले दक्षिणासहित यज्ञ किये। बहुत-से अश्वमेधयज्ञ भी कर डाले तथा सोलह बार आर्कायण-यज्ञोंका अनुष्ठान किया; परंतु उन यज्ञोंके फलसे मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ ३२ ॥

निष्कैककण्ठमददं योजनायतं
तद्विस्तीर्णं काञ्चनपादपानाम् ।
वनं वृतानां रत्नविभूषितानां
न चैव तेषामागतोऽहं फलेन ॥ ३३ ॥

चार कोस लंबा-चौड़ा एक चम्पाके वृक्षोंका वन, जिसके प्रत्येक वृक्षमें रत्न जड़े हुए थे, वस्त्र लपेटा गया था और कण्ठदेशमें स्वर्णमाला पहिनायी गयी थी, मैंने दान किया है; किंतु उस दानके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥३३॥

तुरायणं हि व्रतमप्यधृष्य-
मक्रोधनोऽकरवं त्रिंशतोऽब्दान् ।
शतं गवामष्टशतानि चैव
दिने दिने ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः ॥ ३४ ॥

मैं तीस वर्षोंतक क्रोधरहित होकर तुरायण नामक दुष्कर व्रतका पालन करता रहा, जिसमें प्रतिदिन नौ सौ गायें ब्राह्मणोंको दान देता था ॥ ३४ ॥

पयस्विनीनामथ रोहिणीनां
तथैवान्याननडुहो लोकनाथ ।
प्रादां नित्यं ब्राह्मणेभ्यः सुरेश
नेहागतस्तेन फलेन चाहम् ॥ ३५ ॥

लोकनाथ ! सुरेश्वर ! इनके अतिरिक्त रोहिणी (कपिला) जातिकी बहुत-सी दुधारू गौएँ तथा बहुसंख्यक साँड भी मैं प्रतिदिन ब्राह्मणोंको दान करता था; परंतु उन सब दानोंके फलसे भी मैं इस लोकमें नहीं आया हूँ ॥ ३५ ॥

त्रिंशदग्नीनहं ब्रह्मन्नयजं यच्च नित्यदा ।
अष्टाभिः सर्वमेधैश्च नरमेधैश्च सप्तभिः ॥ ३६ ॥
दशभिर्विश्वजिद्भिश्च शतैरष्टादशोत्तरैः ।
न चैव तेषां देवेश फलेनाहमिहागमम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने प्रतिदिन एक-एक करके तीस बार अग्निचयन एवं यजन किया। आठ बार सर्वमेध, सात बार नरमेध और एक सौ अट्ठाईस बार विश्वजित् यज्ञ किया है; परंतु देवेश्वर ! उन यज्ञोंके फलसे भी मैं यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३६-३७ ॥

सरय्वां बाहुदायां च गङ्गायामथ नैमिषे ।
गवां शतानामयुतमददं न च तेन वै ॥ ३८ ॥

सरयू, बाहुदा, गङ्गा और नैमिषारण्य तीर्थमें जाकर मैंने दस लाख गोदान किये हैं; परंतु उनके फलसे भी यहाँ आना नहीं हुआ है (केवल अनशनव्रतके प्रभावसे मुझे इस दुर्लभ लोककी प्राप्ति हुई है) ॥ ३८ ॥

इन्द्रेण गुह्यं निहितं वै गुहायां
यद्भार्गवस्तपसेहाभ्यविन्दत् ।
जाज्वल्यमानमुशनस्तेजसेह
तत्साधयामासमहं वरेण्य ॥ ३९ ॥

पहले इन्द्रने स्वयं अनशनव्रतका अनुष्ठान करके इसे गुप्त रक्खा था । उसके बाद शुक्राचार्यने तपस्याके द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया । फिर उन्हींके तेजसे उसका माहात्म्य सर्वत्र प्रकाशित हुआ। सर्वश्रेष्ठ पितामह ! मैंने भी अन्तमें उसी अनशनव्रतका साधन आरम्भ किया ॥३९॥

ततो मे ब्राह्मणास्तुष्टास्तस्मिन् कर्मणि साधिते ।
सहस्रमृषयश्चासन् ये वै तत्र समागताः ॥ ४० ॥
उक्तस्तैरस्मि गच्छ त्वं ब्रह्मलोकमिति प्रभो ।
प्रीतेनोक्तसहस्रेण ब्राह्मणानामहं प्रभो ।
इमं लोकमनुप्राप्तो मा भूत् तेऽत्र विचारणा ॥ ४१ ॥

जब उस कर्मकी पूर्ति हुई, उस समय मेरे पास हजारों ब्राह्मण और ऋषि पधारे। वे सभी मुझपर बहुत संतुष्ट थे। प्रभो ! उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दी कि 'तुम ब्रह्मलोकको जाओ।' भगवन् ! प्रसन्न हुए उन हजारों ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे मैं इस लोकमें आया हूँ। इसमें आप कोई अन्यथा विचार न करें ॥ ४०-४१ ॥

कामं यथावद्विहितं विधात्रा
पृष्टेन वाच्यं तु मया यथावत् ।
तपो हि नान्यच्चानशनान्मतं मे
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ४२ ॥

देवेश्वर ! मैंने अपनी इच्छाके अनुसार विधिपूर्वक अनशनव्रतका पालन किया । आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं । आपके पूछनेपर मुझे सब बातें यथावत्‌रूपसे बतानी चाहिये, इसलिये सब कुछ कहा है । मेरी समझमें अनशनव्रतसे बढ़कर दूसरी कोई तपस्या नहीं है । आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तवन्तं ब्रह्मा तु राजानं स भगीरथम् ।
पूजयामास पूजार्हं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! राजा भगीरथने जब इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने शास्त्रोक्त विधिसे आदरणीय नरेशका विशेष आदर-सत्कार किया ॥ ४३ ॥

तस्मादनशनैर्युक्तो विप्रान् पूजय नित्यदा ।
विप्राणां वचनात् सर्वं परत्रेह च सिध्यति ॥ ४४ ॥

अतः तुम भी अनशनव्रतसे युक्त होकर सदा ब्राह्मणोंका पूजन करो; क्योंकि ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे इहलोक और परलोकमें भी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं ॥

वासोभिरन्नैर्गोभिश्च शुभैर्नैवेशिकैरपि ।
शुभैः सुरगणैश्चापि तोष्या एव द्विजास्तथा ।
एतदेव परं गुह्यमलोभेन समाचर ॥ ४५ ॥

अन्न, वस्त्र, गौ तथा सुन्दर गृह देकर और कल्याणकारी देवताओंकी आराधना करके भी ब्राह्मणोंको ही संतुष्ट करना चाहिये । तुम लोभ छोड़कर इसी परम गोपनीय धर्मका आचरण करो ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्रह्मभगीरथसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्रह्मा और भगीरथका संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

आयुकी वृद्धि और क्षय करनेवाले शुभाशुभ कर्मोंके वर्णनसे गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका विस्तारपूर्वक निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते ।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'मनुष्यकी आयु सौ वर्षोंकी होती है । वह सैकड़ों प्रकारकी शक्ति लेकर जन्म धारण करता है ।' किंतु देखता हूँ कि कितने ही मनुष्य बचपनमें ही मर जाते हैं । ऐसा क्यों होता है ? ॥ १ ॥

आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः ।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥ २ ॥

मनुष्य किस उपायसे दीर्घायु होता है अथवा किस कारणसे उसकी आयु कम हो जाती है ? क्या करनेसे वह कीर्ति पाता है या क्या करनेसे उसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ? ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण जपहोमैस्तथौषधैः ।
कर्मणा मनसा वाचा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीरके द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, जप, होम तथा औषध आदिमेंसे किसका आश्रय ले, जिससे वह श्रेयका भागी हो, वह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ॥ ४ ॥
येन वा लभते कीर्तिं येन वा लभते श्रियम् ।
यथा वर्तयन् पुरुषः श्रेयसा सम्प्रयुज्यते ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम मुझसे जो पूछ रहे हो, इसका उत्तर देता हूँ । मनुष्य जिस कारणसे अल्पायु होता है, जिस उपायसे दीर्घायु होता है, जिससे वह कीर्ति और

सम्पत्तिका भागी होता है तथा जिस बर्तावसे पुरुषको श्रेयका संयोग प्राप्त होता है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ६ ॥

सदाचारसे ही मनुष्यको आयुकी प्राप्ति होती है, सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही उसे इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥ ७ ॥

दुराचारी पुरुष, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें बड़ी आयु नहीं पाता ॥ ७ ॥

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ८ ॥

अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण करना चाहता हो तो उसे इस जगत्‌में सदाचारका पालन करना चाहिये। जिसका सारा शरीर ही पापमय है, वह भी यदि सदाचारका पालन करे तो वह उसके शरीर और मनके बुरे लक्षणोंको दबा देता है ॥ ८ ॥

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥ ९ ॥

सदाचार ही धर्मका लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं; वही सदाचारका स्वरूप अथवा लक्षण है ॥ ९ ॥

अप्यदृष्टं श्रवादेव पुरुषं धर्मचारिणम्।
भूतिकर्माणि कुर्वाणं तं जनाः कुर्वते प्रियम् ॥ १० ॥

जो मनुष्य धर्मका आचरण करता और लोककल्याणके कार्यमें लगा रहता है, उसका दर्शन न हुआ हो तो भी मनुष्य केवल नाम सुनकर उससे प्रेम करने लगते हैं ॥ १० ॥

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलङ्घिनः।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥

जो नास्तिक, क्रियाहीन, गुरु और शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले, धर्मको न जाननेवाले और दुराचारी हैं; उन मनुष्योंकी आयु क्षीण हो जाती है ॥ ११ ॥

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥

जो मनुष्य शीलहीन, सदा धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले तथा दूसरे वर्णकी स्त्रियोंके साथ सम्पर्क रखनेवाले हैं; वे इस लोकमें अल्पायु होते और मरनेके बाद नरकमें पड़ते हैं ॥ १२ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १३ ॥

सब प्रकारके शुभ लक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोषदृष्टिसे रहित होता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १३ ॥

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥

जो क्रोधहीन, सत्यवादी, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेवाला, अदोषदर्शी और कपटशून्य है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ १४ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १५ ॥

जो ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता तथा सदा ही उच्छिष्ट (अशुद्ध) एवं चञ्चल रहता है, ऐसे कुलक्षण-युक्त मनुष्यको दीर्घायु नहीं प्राप्त होती ॥ १५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां संध्यां कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें (अर्थात् सूर्योदयसे दो घड़ी पहले) जागे तथा धर्म और अर्थके विषयमें विचार करे। फिर शय्यासे उठकर शौच-स्नानके पश्चात् आचमन करके हाथ जोड़े हुए प्रातःकालकी संध्या करे ॥ १६ ॥

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः।
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ॥ १७ ॥

इसी प्रकार सायंकालमें भी मौन होकर संध्योपासना करे। उदय और अस्तके समय सूर्यकी ओर कदापि न देखे ॥ १७ ॥

नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।
ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ १८ ॥
तस्मात् तिष्ठेत् सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः।

ग्रहण और मध्याह्नके समय भी सूर्यकी ओर दृष्टिपात न करे तथा जलमें स्थित सूर्यके प्रतिबिम्बकी ओर भी न देखे। ऋषियोंने प्रतिदिन संध्योपासन करनेसे ही दीर्घ आयु प्राप्त की थी। इसलिये सदा मौन रहकर द्विजमात्रको प्रातःकाल

और सायंकालकी संध्या अवश्य करनी चाहिये ॥ १८½ ॥

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः संध्यां न पश्चिमाम्॥१९॥
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्।

जो द्विज न तो प्रातःकालकी संध्या करते हैं और न सायंकालकी ही, उन सबसे धार्मिक राजा शूद्रोचित कर्म करावे ॥ १९½ ॥

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ॥ २० ॥
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ २१ ॥

किसी भी वर्णके पुरुषको कभी भी परायी स्त्रियोंसे संसर्ग नहीं करना चाहिये । परस्त्री-सेवनसे मनुष्यकी आयु जल्दी ही समाप्त हो जाती है । संसारमें परस्त्रीसमागमके समान पुरुषकी आयुको नष्ट करनेवाला दूसरा कोई कार्य नहीं है ॥ २०-२१ ॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
तावद् वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥ २२ ॥

स्त्रियोंके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक व्यभिचारी पुरुषोंको नरकमें रहना पड़ता है ॥२२॥

प्रसाधनं च केशानामञ्जनं दन्तधावनम्।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम् ॥ २३ ॥

केशोंको सँवारना, आँखोंमें अञ्जन लगाना, दाँत-मुँह धोना और देवताओंकी पूजा करना—ये सब कार्य दिनके पहले प्रहरमें ही करने चाहिये ॥ २३ ॥

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत् कदाचन।
नातिकल्यं नातिसायं न च मध्यन्दिने स्थिते ॥ २४ ॥
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह।

मल-मूत्रकी ओर न देखे, उसपर कभी पैर न रक्खे। अत्यन्त सवेरे, अधिक साँझ हो जानेपर और ठीक दोपहरके समय कहीं बाहर न जाय। न तो अपरिचित पुरुषोंके साथ यात्रा करे, न शूद्रोंके साथ और न अकेला ही ॥ २४½ ॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ॥ २५ ॥
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च।

ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल और भारपीड़ित मनुष्य यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर उन्हें जानेका मार्ग देना चाहिये ॥ २५½ ॥

प्रदक्षिणं च कुर्वीत परिज्ञातान् वनस्पतीन् ॥ २६ ॥
चतुष्पथान् प्रकुर्वीत सर्वानेव प्रदक्षिणान्।

मार्गमें चलते समय अश्वत्थ आदि परिचित वृक्षों तथा समस्त चौराहोंको दाहिने करके जाना चाहिये ॥ २६½ ॥

मध्यन्दिने निशाकाले अर्धरात्रे च सर्वदा ॥ २७ ॥
चतुष्पथं न सेवेत उभे संध्ये तथैव च।

दोपहरमें, रातमें, विशेषतः आधी रातके समय और दोनों संध्याओंके समय कभी चौराहोंपर न रहे ॥ २७½ ॥

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥ २८ ॥
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत्।
अमावास्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ॥ २९ ॥
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत्।
आक्रोशं परिवादं च पैशुन्यं च विवर्जयेत् ॥ ३० ॥

दूसरोंके पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने। सदा ब्रह्मचर्यका पालन करे। पैरसे पैरको न दबावे। सभी पक्षोंकी अमावास्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी और अष्टमी तिथिको सदा ब्रह्मचारी रहे—स्त्री-समागम न करे। किसीकी निन्दा, बदनामी और चुगली न करे ॥ २८-३० ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥ ३१ ॥

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे। क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरोंको नीचा न दिखावे। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो वह रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकमें ले जानेवाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले ॥ ३१ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ३२ ॥

वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहे ॥ ३२ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ३३ ॥

बाणोंसे बिंधा और फरसेसे कटा हुआ वन पुनः अङ्कुरित

हो जाता है, किंतु दुर्वचनरूपी शस्त्रसे किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता है ॥ ३३ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥ ३४ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच—ये शरीरमें यदि गड़ जायँ तो चिकित्सक मनुष्य इन्हें शरीरसे निकाल देते हैं, किंतु वचनरूपी बाणको निकालना असम्भव होता है; क्योंकि वह हृदयके भीतर चुभा होता है ॥ ३४ ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान्।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत्॥ ३५ ॥

हीनाङ्ग (अन्धे-काने आदि), अधिकाङ्ग (छाङ्गुर आदि), विद्याहीन, निन्दित, कुरूप, निर्धन और निर्बल मनुष्योंपर आक्षेप करना उचित नहीं है ॥ ३५ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषस्तम्भोऽभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत्॥ ३६ ॥

नास्तिकता, वेदोंकी निन्दा, देवताओंको कोसना, द्वेष, उद्दण्डता, अभिमान और कठोरता—इन दुर्गुणोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३६ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्॥ ३७॥

क्रोधमें आकर पुत्र या शिष्यके सिवा दूसरे किसीको न तो डंडा मारे, न उसे पृथ्वीपर ही गिरावे। हाँ, शिक्षाके लिये पुत्र या शिष्यको ताड़ना देना उचित माना गया है ॥ ३७॥

न ब्राह्मणान् परिवदेन्नक्षत्राणि न निर्दिशेत्।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, घर-घर घूम-घूमकर नक्षत्र और किसी पक्षकी तिथि न बताया करे। ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ३८ ॥

(अमावास्यामृते नित्यं दन्तधावनमाचरेत्।
इतिहासपुराणानि दानं वेदं च नित्यशः ॥
गायत्रीमननं नित्यं कुर्यात् संध्यां समाहितः।)

अमावास्याके सिवा प्रतिदिन दन्तधावन करना चाहिये। इतिहास, पुराणोंका पाठ, वेदोंका स्वाध्याय, दान, एकाग्रचित्त होकर संध्योपासना और गायत्रीमन्त्रका जप—ये सब कर्म नित्य करने चाहिये।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् स्वाध्याये भोजने तथा ॥ ३९ ॥

मल-मूत्र त्यागने और रास्ता चलनेके बाद तथा स्वाध्याय और भोजन करनेके पहले पैर धो लेने चाहिये ॥ ३९॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ ४० ॥

जिसपर किसीकी दूषित दृष्टि न पड़ी हो, जो जलसे धोया गया हो तथा जिसकी ब्राह्मणलोग वाणीद्वारा प्रशंसा करते हों—ये ही तीन वस्तुएँ देवताओंने ब्राह्मणोंके उपयोगमें लाने योग्य और पवित्र बतायी हैं ॥ ४० ॥

संयावं कृसरं मांसं शष्कुलीं पायसं तथा।
आत्मार्थं न प्रकर्तव्यं देवार्थं तु प्रकल्पयेत् ॥ ४१ ॥

जौके आटेका हलुवा, खिचड़ी, फलका गूदा, पूड़ी और खीर—ये सब वस्तुएँ अपने लिये नहीं बनानी चाहिये। देवताओंको अर्पण करनेके लिये ही इनको तैयार करना चाहिये ॥ ४१ ॥

नित्यमग्निं परिचरेद् भिक्षां दद्याच्च नित्यदा।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥ ४२ ॥

प्रतिदिन अग्निकी सेवा करे, नित्यप्रति भिक्षुको भिक्षा दे और मौन होकर प्रतिदिन दन्तधावन किया करे ॥ ४२ ॥

(न संध्यायां स्वपेन्नित्यं स्नायाच्छुद्धः सदा भवेत्।)
न चाभ्युदितशायी स्यात् प्रायश्चित्ती तथा भवेत्।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ॥ ४३ ॥
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्।

सायंकालमें न सोये, नित्य स्नान करे और सदा पवित्रतापूर्वक रहे। सूर्योदय होनेतक कभी न सोये। यदि किसी दिन ऐसा हो जाय तो प्रायश्चित्त करे। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठनेके बाद पहले माता-पिताको प्रणाम करे। फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनोंका अभिवादन करे। इससे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ४३½ ॥

वर्जयेद् दन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि नित्यशः ॥ ४४ ॥
भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि पर्वस्वपि विवर्जयेत्।

शास्त्रोंमें जिन काष्ठोंका दाँतन निषिद्ध माना गया है, उन्हें सदा ही त्याग दे—कभी काममें न ले। शास्त्रविहित काष्ठका ही दन्तधावन करे; परंतु पर्वके दिन उसका भी परित्याग कर दे ॥ ४४½ ॥

उदङ्मुखश्च सततं शौचं कुर्यात् समाहितः ॥ ४५ ॥

अकृत्वा देवपूजां च नाचरेद् दन्तधावनम् ।

सदा एकाग्रचित्त हो दिनमें उत्तरकी ओर मुँह करके ही मल-मूत्रका त्याग करे । दन्तधावन किये बिना देवताओंकी पूजा न करे ॥ ४५½ ॥

अकृत्वा देवपूजां च नाभिगच्छेत् कदाचन ।
अन्यत्र तु गुरुं वृद्धं धार्मिकं वा विचक्षणम् ॥ ४६ ॥

देवपूजा किये बिना गुरु, वृद्ध, धार्मिक तथा विद्वान् पुरुषको छोड़कर दूसरे किसीके पास न जाय ॥ ४६ ॥

अवलोक्यो न चादर्शो मलिनो बुद्धिमत्तरैः ।
न चाज्ञातां स्त्रियं गच्छेद् गर्भिणीं वा कदाचन ॥ ४७ ॥

अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुषोंको मलिन दर्पणमें कभी अपना मुँह नहीं देखना चाहिये । अपरिचित तथा गर्भिणी स्त्रीके पास भी न जाय ॥ ४७ ॥

(दारसंग्रहणात् पूर्वं नाचरेन्मैथुनं बुधः ।
अन्यथा त्ववकीर्णः स्यात् प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥
नोदीक्षेत् परदारांश्च रहस्येकासनो भवेत् ।
इन्द्रियाणि सदा यच्छेत् स्वप्ने शुद्धमना भवेत्॥)

विद्वान् पुरुष विवाहसे पहले मैथुन न करे, अन्यथा वह ब्रह्मचर्य-व्रतको भङ्ग करनेका अपराधी माना जाता है । ऐसी दशामें उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये । वह परायी स्त्रीकी ओर न तो देखे और न एकान्तमें उसके साथ एक आसनपर बैठे ही । इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रक्खे । स्वप्नमें भी शुद्ध मनवाला होकर रहे ॥

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद् विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥४८॥

उत्तर तथा पश्चिमकी ओर सिर करके न सोये । विद्वान् पुरुषको पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके ही सोना चाहिये ॥ ४८ ॥

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन ॥ ४९ ॥

टूटी और ढीली खाटपर नहीं सोना चाहिये । अँधेरेमें पड़ी हुई शय्यापर भी सहसा शयन करना उचित नहीं है (उजाला करके उसे अच्छी तरह देख लेना चाहिये) । किसी दूसरेके साथ एक खाटपर न सोये । इसी तरह पलंगपर कभी तिरछा होकर नहीं, सदा सीधे ही सोना चाहिये ॥४९॥

न चापि गच्छेत् कार्येण समयाद् वापि नास्तिकैः ।
आसनं तु पदाऽऽकृष्य न प्रसज्जेत् तथा नरः ॥ ५० ॥

नास्तिकोंके साथ काम पड़नेपर भी न जाय । उनके शपथ खाने या प्रतिज्ञा करनेपर भी उनके साथ यात्रा न करे । आसनको पैरसे खींचकर मनुष्य उसपर न बैठे ॥५०॥

न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ॥ ५१ ॥

विद्वान् पुरुष कभी नग्न होकर स्नान न करे । रातमें भी कभी न नहाय । स्नानके पश्चात् अपने अङ्गोंमें तैल आदिकी मालिश न करावे ॥ ५१ ॥

न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ॥ ५२ ॥

स्नान किये विना अपने अङ्गोंमें चन्दन या अङ्गराग न लगावे । स्नान कर लेनेपर गीले वस्त्र न झटकारे । मनुष्य भीगे वस्त्र कभी न पहने ॥ ५२ ॥

स्रजश्च नावकृष्येत न बहिर्धारयीत च ।
उदक्यया च सम्भाषां न कुर्वीत कदाचन ॥ ५३ ॥

गलेमें पड़ी हुई मालाको कभी न खींचे । उसे कपड़ेके ऊपर न धारण करे । रजस्वला स्त्रीके साथ कभी बातचीत न करे ॥ ५३ ॥

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन ॥ ५४ ॥

बोये हुए खेतमें, गाँवके आस-पास तथा पानीमें कभी मल-मूत्रका त्याग न करे ॥ ५४ ॥

(देवालयेऽथ गोवृन्दे चैत्ये सस्येषु विश्रमे ।
भक्ष्यान् भुक्त्वा क्षुतेऽध्वानं गत्वा मूत्रपुरीषयोः ॥
द्विराचामेद् यथान्यायं हृद्गतं तु पिबन्नपः ।)

देवमन्दिर, गौओंके समुदाय, देवसम्बन्धी वृक्ष और विश्रामस्थानके निकट तथा बढ़ी हुई खेतीमें भी मल-मूत्रका त्याग नहीं करना चाहिये । भोजन कर लेनेपर, छींक आनेपर, रास्ता चलनेपर तथा मल-मूत्रका त्याग करनेपर यथोचित शुद्धि करके दो बार आचमन करे । आचमनमें इतना जल पीये कि वह हृदयतक पहुँच जाय ॥

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः ।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्विः पुनः परिमार्जयेत् ॥५५॥

भोजनके करनेकी इच्छावाला पुरुष पहले तीन बार मुँखसे जलका स्पर्श (आचमन) करे । फिर भोजनके पश्चात्

मी तीन आचमन करे। फिर अङ्गुष्ठके मूलभागसे दो बार मुँहको पोंछे ॥ ५५ ॥

प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन्।
प्रस्कन्दयेच्च मनसा भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत्॥ ५६ ॥

भोजन करनेवाला पुरुष प्रतिदिन पूर्वकी ओर मुँह करके मौन भावसे भोजन करे। भोजन करते समय परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। किंचिन्मात्र अन्न थालीमें छोड़ दे और भोजन करके मन-ही-मन अग्निका स्मरण करे ॥ ५६ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
धन्यं पश्चान्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः॥५७॥

जो मनुष्य पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके भोजन करता है, उसे दीर्घायु, जो दक्षिणकी ओर मुँह करके भोजन करता है उसे यश, जो पश्चिमकी ओर मुख करके भोजन करता है उसे धन और जो उत्तराभिमुख होकर भोजन करता है उसे सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५७ ॥

अग्निमालभ्य तोयेन सर्वान् प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितले तथा ॥ ५८ ॥

(मनसे) अग्निका स्पर्श करके जलसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका, सब अङ्गोंका, नाभिका और दोनों हथेलियोंका स्पर्श करे ॥ ५८ ॥

नाधितिष्ठेत् तुषं जातु केशभस्मकपालिकाः।
अन्यस्य चाप्यवस्नातं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥

भूसी, भस्म, बाल और मुर्देकी खोपड़ी आदिपर कभी न बैठे। दूसरेके नहाये हुए जलका दूरसे ही त्याग कर दे ॥ ५९ ॥

शान्तिहोमांश्च कुर्वीत सावित्राणि च धारयेत्।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन् कदाचन ॥ ६० ॥

शान्ति-होम करे, सावित्रसंज्ञक मन्त्रोंका जप और स्वाध्याय करे। बैठकर ही भोजन करे, चलते-फिरते कदापि भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ६० ॥

मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥ ६१ ॥

खड़ा होकर पेशाब न करे। राखमें और गोशालामें भी मूत्र त्याग न करे, भीगे पैर भोजन तो करे, परंतु शयन न करे ॥ ६१ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम्।
त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट आलभेत कदाचन ॥ ६२ ॥
अग्निं गां ब्राह्मणं चैव तथा ह्यायुर्न रिष्यते।

भीगे पैर भोजन करनेवाला मनुष्य सौ वर्षोंतक जीवन धारण करता है। भोजन करके हाथ-मुँह धोये बिना मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) रहता है। ऐसी अवस्थामें उसे अग्नि, गौ तथा ब्राह्मण—इन तीन तेजस्वियोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करनेसे आयुका नाश नहीं होता ॥ ६२½ ॥

त्रीणि तेजांसि नोच्छिष्ट उदीक्षेत कदाचन ॥ ६३ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ चैव नक्षत्राणि च सर्वशः।

उच्छिष्ट मनुष्यको सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इन त्रिविध तेजोंकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये ॥ ६३½ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ॥ ६४ ॥
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।

वृद्ध पुरुषके आनेपर तरुण पुरुषके प्राण ऊपरकी ओर उठने लगते हैं। ऐसी दशामें जब वह खड़ा होकर वृद्ध पुरुषोंका स्वागत और उन्हें प्रणाम करता है, तब वे प्राण पुनः पूर्वावस्थामें आ जाते हैं ॥ ६४½ ॥

अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ॥ ६५ ॥
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्।

इसलिये जब कोई वृद्ध पुरुष अपने पास आवे, तब उसे प्रणाम करके बैठनेको आसन दे और स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवामें उपस्थित रहे। फिर जब वह जाने लगे, तब उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय ॥ ६५½ ॥

न चासीतासने भिन्ने भिन्नकांस्यं च वर्जयेत् ॥ ६६ ॥
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यं न नग्नः स्नातुमर्हति।

फटे हुए आसनपर न बैठे। फूटी हुई काँसीकी थालीको काममें न ले। एक ही वस्त्र (केवल धोती) पहनकर भोजन न करे (साथमें गमछा भी लिये रहे)। नग्न होकर स्नान न करे ॥ ६६½ ॥

स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोऽपि संविशेत् ॥ ६७ ॥
उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्षं सर्वे प्राणास्तदाश्रयाः।

नंगे होकर न सोये। उच्छिष्ट अवस्थामें भी शयन न करे। जूठे हाथसे मस्तकका स्पर्श न करे; क्योंकि समस्त प्राण मस्तकके ही आश्रित हैं ॥ ६७½ ॥

केशग्रहं प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ॥ ६८ ॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ६९ ॥

सिरके बाल पकड़कर खींचना और मस्तकपर प्रहार करना वर्जित है । दोनों हाथ सटाकर उनसे अपना सिर न खुजलावे । बारंबार मस्तकपर पानी न डाले । इन सब बातोंके पालनसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ६८-६९ ॥

शिरःस्नातस्तु तैलैश्च नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ।
तिलसृष्टं न चाश्नीयात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥ ७० ॥

सिरपर तेल लगानेके बाद उसी हाथसे दूसरे अङ्गोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये और तिलके बने हुए पदार्थ नहीं खाने चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥

नाध्यापयेत् तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ।
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ७१ ॥

जूठे मुँह न पढ़ावे तथा उच्छिष्ट अवस्थामें स्वयं भी कभी स्वाध्याय न करे । यदि दुर्गन्धयुक्त वायु चले, तब तो मनसे स्वाध्यायका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये ॥ ७१ ॥

अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
आयुरस्य निकृन्तामि प्रजास्तस्याददे तथा ॥ ७२ ॥
उच्छिष्टो यः प्राद्रवति स्वाध्यायं चाधिगच्छति ।
यश्चानध्यायकालेऽपि मोहादभ्यस्यति द्विजः ॥ ७३ ॥
तस्य वेदः प्रणश्येत आयुश्च परिहीयते ।
तस्माद् युक्तो ह्यनध्याये नाधीयीत कदाचन ॥ ७४ ॥

प्राचीन इतिहासके जानकार लोग इस विषयमें यमराजकी गायी हुई गाथा सुनाया करते हैं । (यमराज कहते हैं—) 'जो मनुष्य जूठे मुँह उठकर दौड़ता और स्वाध्याय करता है, मैं उसकी आयु नष्ट कर देता हूँ और उसकी संतानोंको भी उससे छीन लेता हूँ । जो द्विज मोहवश अनध्यायके समय भी अध्ययन करता है, उसके वैदिक ज्ञान और आयुका भी नाश हो जाता है ।' अतः सावधान पुरुषको निषिद्ध समयमें कभी वेदोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥ ७२-७४ ॥

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रति गां च प्रति द्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ॥ ७५ ॥

जो सूर्य, अग्नि, गौ तथा ब्राह्मणोंकी ओर मुँह करके पेशाब करते हैं और जो बीच रास्तेमें मूतते हैं, वे सब गतायु हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ तथा ह्यायुर्न रिष्यते ॥ ७६ ॥

मल और मूत्र दोनोंका त्याग दिनमें उत्तराभिमुख होकर करे और रातमें दक्षिणाभिमुख । ऐसा करनेसे आयुका नाश नहीं होता ॥ ७६ ॥

त्रीन् कृशान् नावजानीयाद् दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं सर्पं सर्वे ह्याशीविषास्त्रयः ॥ ७७ ॥

जिसे दीर्घ कालतक जीवित रहनेकी इच्छा हो, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और सर्प—इन तीनोंके दुर्बल होनेपर भी इनको न छेड़े; क्योंकि ये सभी बड़े जहरीले होते हैं ॥ ७७ ॥

दहत्याशीविषः क्रुद्धो यावत् पश्यति चक्षुषा ।
क्षत्रियोऽपि दहेत् क्रुद्धो यावत् स्पृशति तेजसा ॥ ७८ ॥
ब्राह्मणस्तु कुलं हन्याद् ध्यानेनावेक्षितेन च ।
तस्मादेतत् त्रयं यत्नादुपसेवेत पण्डितः ॥ ७९ ॥

क्रोधमें भरा हुआ साँप जहाँतक आँखोंसे देख पाता है, वहाँतक धावा करके काटता है । क्षत्रिय भी कुपित होनेपर अपनी शक्तिभर शत्रुको भस्म करनेकी चेष्टा करता है; परंतु ब्राह्मण जब कुपित होता है, तब वह अपनी दृष्टि और संकल्पसे अपमान करनेवाले पुरुषके सम्पूर्ण कुलको दग्ध कर डालता है; इसलिये समझदार मनुष्यको यत्नपूर्वक इन तीनोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥ ८० ॥

गुरुके साथ कभी हठ नहीं ठानना चाहिये । युधिष्ठिर ! यदि गुरु अप्रसन्न हों तो उन्हें हर तरहसे मान देकर मनाकर प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तेऽपि वर्तितव्यं गुराविह ।
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशयः ॥ ८१ ॥

गुरु प्रतिकूल बर्ताव करते हों तो भी उनके प्रति अच्छा ही बर्ताव करना उचित है; क्योंकि गुरुनिन्दा मनुष्योंकी आयुको दग्ध कर देती है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८१ ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ॥ ८२ ॥

अपना हित चाहनेवाला मनुष्य घरसे दूर जाकर पेशाब

करे, दूर ही पैर धोवे और दूरपर ही जूठे फेंके ॥ ८२ ॥

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः।
वर्जयित्वा तु कमलं तथा कुवलयं प्रभो ॥ ८३ ॥

प्रभो ! विद्वान् पुरुषको लाल फूलोंकी नहीं, श्वेत पुष्पोंकी माला धारण करनी चाहिये; परंतु कमल और कुवलयको छोड़कर ही यह नियम लागू होता है। अर्थात् कमल और कुवलय लाल हों तो भी उन्हें धारण करनेमें कोई हर्ज नहीं है ॥ ८३ ॥

रक्तं शिरसि धार्यं तु तथा वानेयमित्यपि।
काञ्चनीयापि माला या न सा दुष्यति कर्हिचित् ॥ ८४ ॥

लाल रंगके फूल तथा वन्य पुष्पको मस्तकपर धारण करना चाहिये। सोनेकी माला पहननेसे कभी अशुद्ध नहीं होती ॥ ८४ ॥

स्नातस्य वर्णकं नित्यमार्द्रं दद्याद् विशाम्पते।
विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान् नरः ॥ ८५ ॥

प्रजानाथ ! स्नानके पश्चात् मनुष्यको अपने ललाटपर गीला चन्दन लगाना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुषको कपड़ोंमें कभी उलट-फेर नहीं करना चाहिये अर्थात् उत्तरीय वस्त्रको अधोवस्त्रके स्थानमें और अधोवस्त्रको उत्तरीयके स्थानमें न पहने ॥ ८५ ॥

तथा नान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च।
अन्यदेव भवेद् वासः शयनीये नरोत्तम ॥ ८६ ॥
अन्यद् रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि।

नरश्रेष्ठ ! दूसरेके पहने हुए कपड़े नहीं पहनने चाहिये। जिसकी कोर फट गयी हो, उसको भी नहीं धारण करना चाहिये। सोनेके लिये दूसरा वस्त्र होना चाहिये। सड़कोंपर घूमनेके लिये दूसरा और देवताओंकी पूजाके लिये दूसरा ही वस्त्र रखना चाहिये ॥ ८६½ ॥

प्रियङ्गुचन्दनाभ्यां च बिल्वेन तगरेण च ॥ ८७ ॥
पृथगेवानुलिम्पेत केसरेण च बुद्धिमान्।

बुद्धिमान् पुरुष राई, चन्दन, बिल्व, तगर तथा केसरके द्वारा पृथक्-पृथक् अपने शरीरमें उबटन लगावे ॥ ८७½ ॥

उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः ॥ ८८ ॥
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत्।

मनुष्य सभी पर्वोंके समय स्नान करके पवित्र हो वस्त्र एवं आभूषणोंसे विभूषित होकर उपवास करे तथा पर्वकालमें सदा ही ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ८८½ ॥

समानमेकपात्रे तु भुञ्जेन्नान्नं जनेश्वर ॥ ८९ ॥
नालीढया परिहतं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोद्धृतसाराणि प्रेक्ष्यते नाप्रदाय च ॥ ९० ॥

जनेश्वर ! किसीके साथ एक पात्रमें भोजन न करे। जिसे रजस्वला स्त्रीने अपने स्पर्शसे दूषित कर दिया हो, ऐसे अन्नका भोजन न करे एवं जिसमेंसे सार निकाल लिया गया हो ऐसे पदार्थको कदापि भक्षण न करे तथा जो तरसती हुई दृष्टिसे अन्नकी ओर देख रहा हो, उसे दिये बिना भोजन न करे ॥ ८९-९० ॥

न संनिकृष्टे मेधावी नाशुचेर्न च सत्सु च।
प्रतिषिद्धान् नधर्मेषु भक्ष्यान् भुञ्जीत पृष्ठतः ॥ ९१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह किसी अपवित्र मनुष्यके निकट अथवा सत्पुरुषोंके सामने बैठकर भोजन न करे। धर्मशास्त्रोंमें जिनका निषेध किया गया हो, ऐसे भोजनको पीठ पीछे छिपाकर भी न खाय ॥ ९१ ॥

पिप्पलं च वटं चैव शणशाकं तथैव च।
उदुम्बरं न खादेच्च भवार्थी पुरुषोत्तमः ॥ ९२ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले श्रेष्ठ पुरुषको पीपल, बड़ और गूलरके फलका तथा सनके सागका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ९२ ॥

न पाणौ लवणं विद्वान् प्राश्नीयान्न च रात्रिषु।
दधिसक्तून् न भुञ्जीत वृथा मांसं च वर्जयेत् ॥ ९३ ॥

विद्वान् पुरुष हाथमें नमक लेकर न चाटे। रातमें दही और सत्तू न खाय। मांस अखाद्य वस्तु है, उसका सर्वथा त्याग कर दे ॥ ९३ ॥

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
वालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च ॥ ९४ ॥

प्रतिदिन सबेरे और शामको ही एकाग्र चित्त होकर भोजन करे। बीचमें कुछ भी खाना उचित नहीं है। जिस भोजनमें बाल पड़ गया हो, उसे न खाय तथा शत्रुके श्राद्धमें कभी अन्न न ग्रहण करे ॥ ९४ ॥

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत् ॥ ९५ ॥

भोजनके समय मौन रहना चाहिये। एक ही वस्त्र धारण

करके अथवा सोये-सोये कदापि भोजन न करे। भोजनके पदार्थको भूमिपर रखकर कदापि न खाय। खड़ा होकर या बातचीत करते हुए कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ९५ ॥

तोयपूर्वं प्रदायान्नमतिथिभ्यो विशाम्पते।
पश्चाद् भुञ्जीत मेधावी न चाप्यन्यमना नरः ॥ ९६ ॥

प्रजानाथ ! बुद्धिमान् पुरुष पहले अतिथिको अन्न और जल देकर पीछे स्वयं एकाग्रचित्त हो भोजन करे ॥ ९६ ॥

समानमेकपङ्क्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर।
विषं हालाहलं भुङ्क्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ॥ ९७ ॥

नरेश्वर ! एक पंक्तिमें बैठनेपर सबको एक समान भोजन करना चाहिये। जो अपने सुहृद्-जनोंको न देकर अकेला ही भोजन करता है, वह हालाहल विष ही खाता है ॥ ९७ ॥

पानीयं पायसं सक्तून् दधिसर्पिर्मधून्यपि।
निरस्य शेषमन्येषां न प्रदेयं तु कस्यचित् ॥ ९८ ॥

पानी, खीर, सत्तू, दही, घी और मधु—इन सबको छोड़कर अन्य भक्ष्य पदार्थोंका अवशिष्ट भाग दूसरे किसीको नहीं देना चाहिये ॥ ९८ ॥

भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शङ्कां समाचरेत्।
दधि चाप्यनुपानं वै न कर्तव्यं भवार्थिना ॥ ९९ ॥

पुरुषसिंह ! भोजन करते समय भोजनके विषयमें शंका नहीं करनी चाहिये तथा अपना भला चाहनेवाले पुरुषको भोजनके अन्तमें दही नहीं पीना चाहिये ॥ ९९ ॥

आचम्य चैकहस्तेन परिप्लाव्यं तथोदकम्।
अङ्गुष्ठं चरणस्याथ दक्षिणस्यावसेचयेत् ॥ १०० ॥

भोजन करनेके पश्चात् कुल्ला करके मुँह धो ले और एक हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेपर पानी डाले ॥ १०० ॥

पाणिं मूर्ध्नि समाधाय स्पृष्ट्वा चाग्निं समाहितः।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यमवाप्नोति प्रयोगकुशलो नरः ॥ १०१ ॥

फिर प्रयोगकुशल मनुष्य एकाग्रचित्त हो अपने हाथको सिरपर रक्खे। उसके बाद अग्निका मनसे स्पर्श करे। ऐसा करनेसे वह कुटुम्बीजनोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है ॥ १०१ ॥

अद्भिः प्राणान् समालभ्य नाभिं पाणितले तथा।
स्पृशंश्चैव प्रतिष्ठेत न चाप्यार्द्रेण पाणिना ॥ १०२ ॥

इसके बाद जलसे आँख, नाक आदि इन्द्रियों और नाभिका स्पर्श करके दोनों हाथोंकी हथेलियोंको धो डाले। धोनेके पश्चात् गीले हाथ लेकर ही न बैठ जाय (उन्हें कपड़ोंसे पोंछकर सुखा दे) ॥ १०२ ॥

अङ्गुष्ठस्यान्तराले च ब्राह्मं तीर्थमुदाहृतम्।
कनिष्ठिकायाः पश्चात् तु देवतीर्थमिहोच्यते ॥ १०३ ॥

अँगूठेका अन्तराल (मूलस्थान) ब्राह्मतीर्थ कहलाता है, कनिष्ठा आदि अँगुलियोंका पश्चाद्भाग (अग्रभाग) देवतीर्थ कहा जाता है ॥ १०३ ॥

अङ्गुष्ठस्य च यन्मध्यं प्रदेशिन्याश्च भारत।
तेन पित्र्याणि कुर्वीत स्पृष्ट्वापो न्यायतः सदा ॥ १०४ ॥

भारत ! अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मध्यभागको पितृतीर्थ कहते हैं। उसके द्वारा शास्त्रविधिसे जल लेकर सदा पितृकार्य करना चाहिये ॥ १०४ ॥

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥ १०५ ॥

अपनी भलाई चाहनेवाले पुरुषको दूसरोंकी निन्दा तथा अप्रिय वचन मुँहसे नहीं निकालने चाहिये और किसीको क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिये ॥ १०५ ॥

पतितैस्तु कथां नेच्छेद् दर्शनं च विवर्जयेत्।
संसर्गं च न गच्छेत तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ॥ १०६ ॥

पतित मनुष्योंके साथ वार्तालापकी इच्छा न करे। उनका दर्शन भी त्याग दे और उनके सम्पर्कमें कभी न जाय। ऐसा करनेसे मनुष्य बड़ी आयु पाता है ॥ १०६ ॥

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत् तथायुर्विन्दते महत् ॥ १०७

दिनमें कभी मैथुन न करे। कुमारी कन्या और कुलटाके साथ कभी समागम न करे। अपनी पत्नी भी जबतक ऋतुस्नाता न हो तबतक उसके साथ समागम न करे। इससे मनुष्यको बड़ी आयु प्राप्त होती है ॥ १०७ ॥

स्वे स्वे तीर्थे समाचम्य कार्ये समुपकल्पिते।
त्रिः पीत्वाऽऽपो द्विः प्रमृज्य कृतशौचो भवेन्नरः ॥ १०८ ॥

कार्य उपस्थित होनेपर अपने-अपने तीर्थमें आचमन करके तीन बार जल पीये और दो बार ओठोंको पोंछ ले—ऐसा करनेसे मनुष्य शुद्ध हो जाता है ॥ १०८ ॥

इन्द्रियाणि सकृत्स्पृश्य त्रिरभ्युक्ष्य च मानवः।
कुर्वीत पित्र्यं दैवं च वेददृष्टेन कर्मणा ॥ १०९॥

पहले नेत्र आदि इन्द्रियोंका एक बार स्पर्श करके तीन बार अपने ऊपर जल छिड़के, इसके बाद वेदोक्त विधिके अनुसार देवयज्ञ और पितृयज्ञ करे ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणार्थे च यच्छौचं तच्च मे शृणु कौरव।
पवित्रं च हितं चैव भोजनाद्यन्तयोस्तथा ॥११०॥

कुरुनन्दन! अब ब्राह्मणके लिये भोजनके आदि और अन्तमें जो पवित्र एवं हितकारक शुद्धिका विधान है, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ११० ॥

सर्वशौचेषु ब्राह्मेण तीर्थेन समुपस्पृशेत्।
निष्ठीव्य तु तथा क्षुत्त्वा स्पृश्यापो हि शुचिर्भवेत्॥१११॥

ब्राह्मणको प्रत्येक शुद्धिके कार्यमें ब्राह्मतीर्थसे आचमन करना चाहिये। थूकने और छींकनेके बाद जलका स्पर्श (आचमन) करनेसे वह शुद्ध होता है ॥ १११ ॥

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
(कुलीनः पण्डित इति रक्ष्या निःस्वाः स्वशक्तितः।)
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च ॥११२॥

बूढ़े कुटुम्बी, दरिद्र मित्र और कुलीन पण्डित यदि निर्धन हों तो उनकी यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिये। उन्हें अपने घरपर ठहराना चाहिये। इससे धन और आयुकी वृद्धि होती है ॥ ११२ ॥

गृहे पारावता धन्याः शुकाश्च सहसारिकाः।
गृहेष्वेते न पापाय तथा वै तैलपायिकाः ॥११३॥
(देवता प्रतिमाऽऽदर्शाश्चन्दनाः पुष्पवल्लिकाः।
शुद्धं जलं सुवर्णं च रजतं गृहमङ्गलम् ॥)

परेवा, तोता और मैना आदि पक्षियोंका घरमें रहना अभ्युदयकारी एवं मङ्गलमय है। ये तैलपायिक पक्षियोंकी भाँति अमङ्गल करनेवाले नहीं होते। देवताकी प्रतिमा, दर्पण, चन्दन, फूलकी लता, शुद्ध जल, सोना और चाँदी-इन सब वस्तुओंका घरमें रहना मङ्गलकारक है ॥ ११३ ॥

उद्दीपकाश्च गृध्राश्च कपोता भ्रमरास्तथा।
निविशेयुर्यदा तत्र शान्तिमेव तदाऽऽचरेत्।
अमङ्गल्यानि चैतानि तथाक्रोशो महात्मनाम् ॥११४॥

उद्दीपक, गीध, कपोत (जंगली कबूतर) और भ्रमर नामक पक्षी यदि कभी घरमें आ जायँ तो सदा उसकी शान्ति ही करानी चाहिये; क्योंकि ये अमङ्गलकारी होते हैं। महात्माओंकी निन्दा भी मनुष्यका अकल्याण करनेवाली है ॥ ११४ ॥

महात्मनोऽतिगुह्यानि न वक्तव्यानि कर्हिचित्।
अगम्याश्च न गच्छेत राज्ञः पत्नीं सखीस्तथा ॥११५॥

महात्मा पुरुषोंके गुप्त कर्म कहीं किसीपर प्रकट नहीं करने चाहिये। परायी स्त्रियाँ सदा अगम्य होती हैं, उनके साथ कभी समागम न करे। राजाकी पत्नी और सखियोंके पास भी कभी न जाय ॥ ११५ ॥

वैद्यानां बालवृद्धानां भृत्यानां च युधिष्ठिर।
बन्धूनां ब्राह्मणानां च तथा शारणिकस्य च ॥११६॥
सम्बन्धिनां च राजेन्द्र तथाऽऽयुर्विन्दते महत्।

राजेन्द्र युधिष्ठिर! वैद्यों, बालकों, बूढ़ों, भृत्यों, बन्धुओं, ब्राह्मणों, शरणार्थियों तथा सम्बन्धियोंकी स्त्रियोंके पास कभी न जाय। ऐसा करनेसे दीर्घायु प्राप्त होती है ॥ ११६½ ॥

ब्राह्मणस्थपतिभ्यां च निर्मितं यन्निवेशनम् ॥११७॥
तदावसेत् सदा प्राज्ञो भवार्थी मनुजेश्वर।

मनुजेश्वर! अपनी उन्नति चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि ब्राह्मणके द्वारा वास्तुपूजनपूर्वक आरम्भ कराये और अच्छे कारीगरके द्वारा बनाये हुए घरमें सदा निवास करे ॥ ११७½ ॥

संध्यायां न स्वपेद् राजन् विद्यां न च समाचरेत्॥११८॥
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्।

राजन्! बुद्धिमान् पुरुष सायंकालमें गोधूलिकी वेलामें न तो सोये, न विद्या पढ़े और न भोजन ही करे। ऐसा करनेसे वह बड़ी आयुको प्राप्त होता है ॥ ११८½ ॥

नक्तं न कुर्यात् पित्र्याणि भुक्त्वा चैव प्रसाधनम्॥११९॥
पानीयस्य क्रिया नक्तं न कार्या भूतिमिच्छता।

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको रातमें श्राद्धकर्म नहीं करना चाहिये। भोजन करके केशोंका संस्कार (क्षौरकर्म) भी नहीं करना चाहिये तथा रातमें जलसे स्नान करना भी उचित नहीं है ॥ ११९½ ॥

वर्जनीयाश्चैव नित्यं सक्तवो निशि भारत ॥१२०॥
शेषाणि चैव पानानि पानीयं चापि भोजने।

भरतनन्दन! रातमें सत्तू खाना सर्वथा वर्जित है। अन्न-

भोजनके पश्चात् जो पीनेयोग्य पदार्थ और जल शेष रह जाते हैं, उनका भी त्याग कर देना चाहिये॥ १२०½॥

सौहित्यं न च कर्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत् ॥ १२१॥
द्विजच्छेदं न कुर्वीत भुक्त्वा न च समाचरेत् ।

रातमें न स्वयं डटकर भोजन करे और न दूसरेको ही डटकर भोजन करावे। भोजन करके दौड़े नहीं। ब्राह्मणोंका वध कभी न करे॥ १२१½॥

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ॥ १२२॥
वयःस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ।

जो श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुई हो, उत्तम लक्षणोंसे प्रशंसित हो तथा विवाहके योग्य अवस्थाको प्राप्त हो गयी हो, ऐसी सुलक्षणा कन्याके साथ श्रेष्ठ बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे॥ १२२½॥

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा ॥ १२३॥
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ।

भारत! उसके गर्भसे संतान उत्पन्न करके वंशपरम्पराको प्रतिष्ठित करे और ज्ञान तथा कुलधर्मकी शिक्षा पानेके लिये पुत्रोंको गुरुके आश्रममें भेज दे॥ १२३½॥

कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते ॥ १२४॥
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद् भृत्या लभ्याश्च भारत ।

भरतनन्दन! यदि कन्या उत्पन्न करे तो बुद्धिमान् एवं कुलीन वरके साथ उसका ब्याह कर दे। पुत्रका विवाह भी उत्तम कुलकी कन्याके साथ करे और भृत्य भी उत्तम कुलके मनुष्योंको ही बनावे॥ १२४½॥

शिरःस्नातोऽथ कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि च ॥ १२५॥
नक्षत्रे न च कुर्वीत यस्मिन् जातो भवेन्नरः ।
न प्रोष्ठपदयोः कार्यं तथाग्नेये च भारत ॥ १२६॥

भारत! मस्तकपरसे स्नान करके देवकार्य तथा पितृकार्य करे। जिस नक्षत्रमें अपना जन्म हुआ हो उसमें एवं पूर्वा और उत्तरा दोनों भाद्रपदाओंमें तथा कृत्तिका नक्षत्रमें भी श्राद्धका निषेध है॥ १२५-१२६॥

दारुणेषु च सर्वेषु प्रत्यरिं च विवर्जयेत् ।
ज्योतिषे यानि चोक्तानि तानि सर्वाणि वर्जयेत् ॥ १२७॥

(आश्लेषा, आर्द्रा, ज्येष्ठा और मूल आदि) सम्पूर्ण दारुण नक्षत्रों और प्रत्यरिताराका भी परित्याग कर देना चाहिये। सारांश यह है कि ज्योतिष-शास्त्रके भीतर जिन-जिन नक्षत्रोंमें श्राद्धका निषेध किया गया है, उन सबमें देवकार्य और पितृकार्य नहीं करना चाहिये॥ १२७॥

प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयेत् सुसमाहितः ।
उदङ्मुखो वा राजेन्द्र तथायुर्विन्दते महत् ॥ १२८॥

राजेन्द्र! मनुष्य एकाग्रचित्त होकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके हजामत बनवाये, ऐसा करनेसे बड़ी आयु प्राप्त होती है॥ १२८॥

(सतां गुरूणां वृद्धानां कुलस्त्रीणां विशेषतः ।)
परिवादं न च ब्रूयात् परेषामात्मनस्तथा ।
परिवादो ह्यधर्माय प्रोच्यते भरतर्षभ ॥ १२९॥

भरतश्रेष्ठ! सत्पुरुषों, गुरुजनों, वृद्धों और विशेषतः कुलाङ्गनाओंकी, दूसरे लोगोंकी और अपनी भी निन्दा न करे; क्योंकि निन्दा करना अधर्मका हेतु बताया गया है॥ १२९॥

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम ।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥ १३०॥

नरश्रेष्ठ! जो कन्या किसी अङ्गसे हीन हो अथवा जो अधिक अङ्गवाली हो, जिसके गोत्र और प्रवर अपने ही समान हो तथा जो माताके कुलमें (नानाके वंशमें) उत्पन्न हुई हो, उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये॥ १३०॥

वृद्धां प्रव्रजितां चैव तथैव च पतिव्रताम् ।
तथा निकृष्टवर्णां च वर्णोत्कृष्टां च वर्जयेत् ॥ १३१॥

जो बूढ़ी, संन्यासिनी, पतिव्रता, नीच वर्णकी तथा ऊँचे वर्णकी स्त्री हो, उसके सम्पर्कसे दूर रहना चाहिये॥ १३१॥

अयोनिं च वियोनिं च न गच्छेत विचक्षणः ।
पिङ्गलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि ॥ १३२॥

जिसकी योनि अर्थात् कुलका पता न हो तथा जो नीच कुलमें पैदा हुई हो, उसके साथ विद्वान् पुरुष समागम न करे। युधिष्ठिर! जिसके शरीरका रंग पीला हो तथा जो कुष्ठ रोगवाली हो, उसके साथ तुम्हें विवाह नहीं करना चाहिये॥

अपस्मारिकुले जातां निहीनां चापि वर्जयेत् ।
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर ॥ १३३॥

---

१. अपने जन्मनक्षत्रसे वर्तमान नक्षत्रतक गिने, गिननेपर जितनी संख्या हो उसमें नौका भाग दे। यदि पाँच शेष रहे तो उस दिनके नक्षत्रको प्रत्यरि तारा समझे।

नरेश्वर ! जो मृगीरोगसे दूषित कुलमें उत्पन्न हुई हो, नीच हो, सफेद कोढ़वाले और राजयक्ष्माके रोगी मनुष्यके कुलमें पैदा हुई हो, उसको भी त्याग देना चाहिये ॥ १३३ ॥

लक्षणैरन्विता या च प्रशस्ता या च लक्षणैः ।
मनोज्ञां दर्शनीयां च तां भवान् वोढुमर्हति ॥ १३४ ॥

जो उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, श्रेष्ठ आचरणों द्वारा प्रशंसित, मनोहारिणी तथा दर्शनीय हो, उसीके साथ तुम्हें विवाह करना चाहिये ॥ १३४ ॥

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर ।
अवरा पतिता चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता ॥ १३५ ॥

युधिष्ठिर ! अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अपनी अपेक्षा महान् या समान कुलमें विवाह करना चाहिये । नीच जातिवाली तथा पतिता कन्याका पाणिग्रहण कदापि नहीं करना चाहिये ॥ १३५ ॥

अग्नीनुत्पाद्य यत्नेन क्रियाः सुविहिताश्च याः ।
वेदे च ब्राह्मणैः प्रोक्तास्ताश्च सर्वाः समाचरेत् ॥ १३६ ॥

(अरणी-मन्थनद्वारा) अग्निका उत्पादन एवं स्थापन करके ब्राह्मणोंद्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण वेदविहित क्रियाओंका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १३६ ॥

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥ १३७ ॥

सभी उपायोंसे अपनी स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये । स्त्रियोंसे ईर्ष्या रखना उचित नहीं है । ईर्ष्या करनेसे आयु क्षीण होती है । इसलिये उसे त्याग देना ही उचित है ॥ १३७ ॥

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥ १३८ ॥

दिनमें एवं सूर्योदयके पश्चात् शयन आयुको क्षीण करनेवाला है । प्रातःकाल एवं रात्रिके आरम्भमें नहीं सोना चाहिये । अच्छे लोग रातमें अपवित्र होकर नहीं सोते हैं ॥ १३८ ॥

पारदार्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा ।
यत्नतो वै न कर्तव्यमभ्यासश्चैव भारत ॥ १३९ ॥

परस्त्रीसे व्यभिचार करना और हजामत बनवाकर बिना नहाये रह जाना भी आयुका नाश करनेवाला है । भारत ! अपवित्रावस्थामें वेदोंका अध्ययन यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिये ॥ १३९ ॥

संध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत् ।
प्रयतश्च भवेत् तस्यां न च किंचित् समाचरेत् ॥ १४० ॥

संध्याकालमें स्नान, भोजन और स्वाध्याय कुछ भी न करे । उस बेलामें शुद्ध चित्त होकर ध्यान एवं उपासना करनी चाहिये । दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिये ॥ १४० ॥

ब्राह्मणान् पूजयेच्चापि तथा स्नात्वा नराधिप ।
देवांश्च प्रणमेत् स्नातो गुरूंश्चाप्यभिवादयेत् ॥ १४१ ॥

नरेश्वर ! ब्राह्मणोंकी पूजा, देवताओंको नमस्कार और गुरुजनोंको प्रणाम स्नानके बाद ही करने चाहिये ॥ १४१ ॥

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥ १४२ ॥

बिना बुलाये कहीं भी न जाय, परंतु यज्ञ देखनेके लिये मनुष्य बिना बुलाये भी जा सकता है । भारत ! जहाँ अपना आदर न होता हो, वहाँ जानेसे आयुका नाश होता है ॥ १४२ ॥

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां संध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥ १४३ ॥

अकेले परदेश जाना और रातमें यात्रा करना मना है । यदि किसी कामके लिये बाहर जाय तो संध्या होनेके पहले ही घर लौट आना चाहिये ॥ १४३ ॥

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥ १४४ ॥

नरश्रेष्ठ ! माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाका अविलम्ब पालन करना चाहिये । इनकी आज्ञा हितकर है या अहितकर, इसका विचार नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

धनुर्वेदे च वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप ।
हस्तिपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु चैव ह ॥ १४५ ॥
यत्नवान् भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते ।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च ॥ १४६ ॥

नरेश्वर ! क्षत्रियको धनुर्वेद और वेदाध्यनके लिये यत्न

करना चाहिये। राजेन्द्र ! तुम हाथी-घोड़ेकी सवारी और रथ हाँकनेकी कलामें निपुणता प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील बनो; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। वह शत्रुओं, स्वजनों और भृत्योंके लिये दुर्धर्ष हो जाता है ॥ १४५-१४६ ॥

प्रजापालनयुक्तश्च न क्षतिं लभते क्वचित्।
युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत ॥१४७॥

जो राजा सदा प्रजाके पालनमें तत्पर रहता है, उसे कभी हानि नहीं उठानी पड़ती। भरतनन्दन ! तुम्हें तर्कशास्त्र और शब्दशास्त्र दोनोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ १४७ ॥

गान्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप।
पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च ॥१४८॥
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते।

नरेश्वर ! गान्धर्वशास्त्र (सङ्गीत) और समस्त कलाओंका ज्ञान प्राप्त करना भी तुम्हारे लिये आवश्यक है। तुम्हें प्रतिदिन पुराण, इतिहास, उपाख्यान तथा महात्माओंके चरित्रका श्रवण करना चाहिये ॥ १४८½ ॥

(मान्यानां माननं कुर्यान्निन्द्यानां निन्दनं तथा।
गोब्राह्मणार्थे युध्येत प्राणानपि परित्यजेत् ॥)

राजा माननीय पुरुषोंका सम्मान और निन्दनीय मनुष्योंकी निन्दा करे। वह गौओं तथा ब्राह्मणोंके लिये युद्ध करे। उनकी रक्षाके लिये आवश्यकता हो तो प्राणोंको भी निछावर कर दे ॥

पत्नीं रजस्वलां या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत् ॥१४९॥
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षणः।
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान् भवेत् ॥१५०॥

अपनी पत्नी भी रजस्वला हो तो उसके पास न जाय और न उसे ही अपने पास बुलाये। जब चौथे दिन वह स्नान कर ले, तब रातमें बुद्धिमान् पुरुष उसके पास जाय। पाँचवें दिन गर्भाधान करनेसे कन्याकी उत्पत्ति होती है और छठे दिन पुत्रकी अर्थात् समरात्रिमें गर्भाधानसे पुत्रका और विषमरात्रिमें गर्भाधान होनेसे कन्याका जन्म होता है ॥ १४९-१५० ॥

एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः ॥१५१॥

इसी विधिसे विद्वान् पुरुष पत्नीके साथ समागम करे। भाई-बन्धु, सम्बन्धी और मित्र—इन सबका सब प्रकारसे आदर करना चाहिये ॥ १५१ ॥

यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
अत ऊर्ध्वमरण्यं च सेवितव्यं नराधिप ॥१५२॥

अपनी शक्तिके अनुसार भाँति-भाँतिकी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नरेश्वर ! तदनन्तर गार्हस्थ्यकी अवधि समाप्त हो जानेपर वानप्रस्थके नियमोंका पालन करते हुए वनमें निवास करना चाहिये ॥ १५२ ॥

एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर ॥१५३॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने तुमसे आयुकी वृद्धि करनेवाले नियमोंका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो नियम बाकी रह गये हैं, उन्हें तुम तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंसे पूछकर जान लेना ॥ १५३ ॥

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५४॥

सदाचार ही कल्याणका जनक और सदाचार ही कीर्तिको बढ़ानेवाला है। सदाचारसे आयुकी वृद्धि होती है और सदाचार ही बुरे लक्षणोंका नाश करता है ॥ १५४ ॥

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते ॥१५५॥

सम्पूर्ण आगमोंमें सदाचार ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है। सदाचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मसे आयु बढ़ती है ॥ १५५ ॥

एतद् यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
अनुकम्प्य सर्ववर्णान् ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥१५६॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंके लोगोंपर दया करके ब्रह्माजीने यह सदाचार धर्मका उपदेश दिया था। यह यश, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला तथा कल्याणका परम आधार है ॥ १५६ ॥

(य इमं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
स शुभान् प्राप्नुते लोकान् सदाचारव्रतान्नृप ॥)

नरेश्वर ! जो प्रतिदिन इस प्रसङ्गको सुनता और कहता है, वह सदाचार-व्रतके प्रभावसे शुभ लोकोंमें जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि आयुष्याख्याने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें आयु बढ़ानेवाले साधनोंका वर्णनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल १६५½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

बड़े और छोटे भाईके पारस्परिक बर्ताव तथा माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंके गौरवका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद् ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! बड़ा भाई अपने छोटे भाइयोंके साथ कैसा बर्ताव करे ? और छोटे भाइयोंका बड़े भाईके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ज्येष्ठवत् तात वर्तस्व ज्येष्ठोऽसि सततं भवान्।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—तात भरतनन्दन ! तुम अपने भाइयोंमें सबसे बड़े हो; अतः सदा बड़ेके अनुरूप ही बर्ताव करो । गुरुको अपने शिष्यके प्रति जैसा गौरवयुक्त बर्ताव होता है, वैसा ही तुम्हें भी अपने भाइयोंके साथ करना चाहिये ॥ २ ॥

न गुरावकृतप्रज्ञे शक्यं शिष्येण वर्तितुम्।
गुरोर्हि दीर्घदर्शित्वं यत् तच्छिष्यस्य भारत ॥ ३ ॥

यदि गुरु अथवा बड़े भाईका विचार शुद्ध न हो तो शिष्य या छोटे भाई उसकी आज्ञाके अधीन नहीं रह सकते । भारत ! बड़ेके दीर्घदर्शी होनेपर छोटे भाई भी दीर्घदर्शी होते हैं ॥ ३ ॥

अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः।
परिहारेण तद् ब्रूयाद् यस्तेषां स्याद् व्यतिक्रमः ॥ ४ ॥

बड़े भाईको चाहिये कि वह अवसरके अनुसार अन्ध, जड़ और विद्वान् बने अर्थात् यदि छोटे भाइयोंसे कोई अपराध हो जाय तो उसे देखते हुए भी न देखे । जानकर भी अनजान बना रहे और उनसे ऐसी बात करे, जिससे उनकी अपराध करनेकी प्रवृत्ति दूर हो जाय ॥

प्रत्यक्षं भिन्नहृदया भेदयेयुः कृतं नराः।
श्रियाभितप्ताः कौन्तेय भेदकामास्तथारयः ॥ ५ ॥

यदि बड़ा भाई प्रत्यक्षरूपसे अपराधका दण्ड देता है तो उसके छोटे भाइयोंका हृदय छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे उस दुर्व्यवहारका लोगोंमें प्रचार कर देते हैं, तब उनके ऐश्वर्यको देखकर जलनेवाले कितने ही शत्रु उनमें मतभेद पैदा करनेकी इच्छा करने लगते हैं ॥ ५ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥ ६ ॥

जेठा भाई अपनी अच्छी नीतिसे कुलको उन्नतिशील बनाता है; किंतु यदि वह कुनीतिका आश्रय लेता है तो उसे विनाशके गर्तमें डाल देता है ! जहाँ बड़े भाईका विचार खोटा हुआ, वहाँ वह जिसमें उत्पन्न हुआ है, अपने उस समस्त कुलको ही चौपट कर देता है ॥ ६ ॥

अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥ ७ ॥

जो बड़ा भाई होकर छोटे भाइयोंके साथ कुटिलतापूर्ण बर्ताव करता है, वह न तो ज्येष्ठ कहलाने योग्य है और न ज्येष्ठांश पानेका ही अधिकारी है । उसे तो राजाओंके द्वारा दण्ड मिलना चाहिये ॥ ७ ॥

निकृती हि नरो लोकान् पापान् गच्छत्यसंशयम्।
विदुलस्येव तत् पुष्पं मोघं जनयितुः स्मृतम् ॥ ८ ॥

कपट करनेवाला मनुष्य निःसंदेह पापमय लोकों (नरक) में जाता है । उसका जन्म पिताके लिये बेतके फूलकी भाँति निरर्थक ही माना गया है ॥ ८ ॥

सर्वानर्थः कुले यत्र जायते पापपूरुषः।
अकीर्तिं जनयत्येव कीर्तिमन्तर्दधाति च ॥ ९ ॥

जिस कुलमें पापी पुरुष जन्म लेता है, उसके लिये वह सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बन जाता है । पापात्मा मनुष्य

कुलमें कलङ्क लगाता और उसके सुयशका नाश करता है ॥ ९ ॥

सर्वे चापि विकर्मस्था भागं नार्हन्ति सोदराः।
नाप्रदाय कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ १० ॥

यदि छोटे भाई भी पापकर्ममें लगे रहते हों तो वे पैतृक धनका भाग पानेके अधिकारी नहीं हैं। छोटे भाइयोंको उनका उचित भाग दिये बिना बड़े भाईको पैतृक-सम्पत्तिका भाग ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

अनुपघ्नन् पितुर्दायं जङ्घाश्रमफलोऽध्वगः।
स्वयमीहितलब्धं तु नाकामो दातुमर्हति ॥ ११ ॥

यदि बड़ा भाई पैतृक धनको हानि पहुँचाये बिना ही केवल जाँघोंके परिश्रमसे परदेशमें जाकर धन पैदा करे तो वह उसके निजी परिश्रमकी कमाई है। अतः यदि उसकी इच्छा न हो तो वह उस धनमेंसे भाइयोंको नहीं दे सकता है ॥ ११ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत् सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात् कदाचन ॥ १२ ॥

यदि भाइयोंके हिस्सेका बटवारा न हुआ हो और सबने साथ-ही-साथ व्यापार आदिके द्वारा धनकी उन्नति की हो, उस अवस्थामें यदि पिताके जीते-जी सब अलग होना चाहें तो पिताको उचित है कि वह कभी किसीको कम और किसीको अधिक धन न दे अर्थात् वह सब पुत्रोंको बराबर-बराबर हिस्सा दे ॥ १२ ॥

न ज्येष्ठो वावमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत् तत् तदाचरेत् ॥ १३ ॥
धर्मं हि श्रेय इत्याहुरिति धर्मविदो जनाः।

बड़ा भाई अच्छा काम करनेवाला हो या बुरा, छोटेको उसका अपमान नहीं करना चाहिये। इसी तरह यदि स्त्री अथवा छोटे भाई बुरे रास्तेपर चल रहे हों तो श्रेष्ठ पुरुषको जिस तरहसे भी उनकी भलाई हो, वही उपाय करना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषोंका कहना है कि धर्म ही कल्याणका सर्वश्रेष्ठ साधन है ॥ १३½ ॥

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ॥ १४ ॥
दश चैव पितॄन् माता सर्वां वा पृथिवीमपि।
गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ॥ १५ ॥

गौरवमें दस आचार्योंसे बढ़कर उपाध्याय, दस उपाध्यायोंसे बढ़कर पिता और दस पिताओंसे बढ़कर माता है। माता अपने गौरवसे समूची पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है। अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १४-१५ ॥

माता गरीयसी यच्च तेनैतां मन्यते जनः।
ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! माताका गौरव सबसे बढ़कर है, इसलिये लोग उसका विशेष आदर करते हैं। भारत ! पिताकी मृत्यु हो जानेपर बड़े भाईको ही पिताके समान समझना चाहिये ॥ १६ ॥

स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात् स चैतान् प्रतिपालयेत्।
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ॥ १७ ॥
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा।

बड़े भाईको उचित है कि वह अपने छोटे भाइयोंको जीविका प्रदान करे तथा उनका पालन-पोषण करे। छोटे भाइयोंका भी कर्तव्य है कि वे सब-के-सब बड़े भाईके सामने नतमस्तक हों और उसकी इच्छाके अनुसार चलें। बड़े भाईको ही पिता मानकर उनके आश्रयमें जीवन व्यतीत करें ॥ १७½ ॥

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ॥ १८ ॥
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा।

भारत ! पिता और माता केवल शरीरकी सृष्टि करते हैं, किंतु आचार्यके उपदेशसे जो ज्ञानरूप नवीन जीवन प्राप्त होता है, वह सत्य, अजर और अमर है ॥ १८½ ॥

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ ॥ १९ ॥
भ्रातुर्भार्या च तद्वत् स्याद् यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥२०॥

भरतश्रेष्ठ ! बड़ी बहिन भी माताके समान है। इसी तरह बड़े भाईकी पत्नी तथा बचपनमें जिसका दूध पिया गया हो, वह धाय भी माताके समान है ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ज्येष्ठकनिष्ठवृत्तिर्नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें बड़े और छोटे भाईका पारस्परिक बर्तावनामक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

मास, पक्ष एवं तिथिसम्बन्धी विभिन्न व्रतोपवासके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामेव वर्णानां म्लेच्छानां च पितामह।
उपवासे मतिरियं कारणं च न विद्महे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! सभी वर्णों और म्लेच्छ जातिके लोग भी उपवासमें मन लगाते हैं, किंतु इसका क्या कारण है ? यह समझमें नहीं आता ॥ १ ॥

ब्रह्मक्षत्रेण नियमाश्चर्तव्या इति नः श्रुतम्।
उपवासे कथं तेषां कृत्यमस्ति पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंको नियमोंका पालन करना चाहिये; परंतु उपवास करनेसे किस प्रकार उनके प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह नहीं जान पड़ता है ॥ २ ॥

नियमांश्चोपवासांश्च सर्वेषां ब्रूहि पार्थिव।
आप्नोति कां गतिं तात उपवासपरायणः ॥ ३ ॥

पृथ्वीनाथ ! आप कृपा करके हमें सम्पूर्ण नियमों और उपवासोंकी विधि बताइये। तात ! उपवास करनेवाला मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३ ॥

उपवासः परं पुण्यमुपवासः परायणम्।
उपोष्येह नरश्रेष्ठ किं फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! कहते हैं, उपवास बहुत बड़ा पुण्य है और उपवास सबसे बड़ा आश्रय है; परंतु उपवास करके यहाँ मनुष्य कौन-सा फल पाता है ? ॥ ४ ॥

अधर्मान्मुच्यते केन धर्ममाप्नोति वा कथम्।
स्वर्गं पुण्यं च लभते कथं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्य किस कर्मके द्वारा पापसे छुटकारा पाता है और क्या करनेसे किस प्रकार उसे धर्मकी प्राप्ति होती है? वह पुण्य और स्वर्ग कैसे पाता है ? ॥ ५ ॥

उपोष्य चापि किं तेन प्रदेयं स्यान्नराधिप।
धर्मेण च सुखानर्थांल्लभेद् येन ब्रवीहि तम् ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! उपवास करके मनुष्यको किस वस्तुका दान करना चाहिये ? जिस धर्मसे सुख और धनकी प्राप्ति हो सके, वही मुझे बताइये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं धर्मज्ञं धर्मतत्त्ववित्।
धर्मपुत्रमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मज्ञ धर्मपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर धर्मके तत्त्वको जाननेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा ॥

भीष्म उवाच

इदं खलु मया राजञ्छ्रुतमासीत् पुरातनम्।
उपवासविधौ श्रेष्ठा गुणा ये भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! उपवास करनेमें जो श्रेष्ठ गुण हैं, उनके विषयमें मैंने प्राचीन कालमें इस तरह सुन रखा है ॥ ८ ॥

ऋषिमङ्गिरसं पूर्वं पृष्टवानस्मि भारत।
यथा मां त्वं तथैवाहं पृष्टवांस्तं तपोधनम् ॥ ९ ॥

भारत ! जिस तरह आज तुमने मुझसे प्रश्न किया है इसी प्रकार मैंने भी पूर्वकालमें तपोधन अङ्गिरा मुनिसे प्रश्न किया था ॥ ९ ॥

प्रश्नमेतं मया पृष्टो भगवानग्निसम्भवः।
उपवासविधिं पुण्यमाचष्ट भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतभूषण ! जब मैंने यह प्रश्न पूछा, तब अग्निनन्दन भगवान् अङ्गिराने मुझे उपवासकी पवित्र विधि इस प्रकार बतायी॥

अङ्गिरा उवाच

ब्रह्मक्षत्रे त्रिरात्रं तु विहितं कुरुनन्दन।
द्विस्त्रिरात्रमथैकाहं निर्दिष्टं पुरुषर्षभ ॥ ११ ॥

अङ्गिरा बोले—कुरुनन्दन ! ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये तीन रात उपवास करनेका विधान है। कहीं-कहीं दो त्रिरात्र और एक दिन अर्थात् कुल सात दिन उपवास करनेका संकेत मिलता है ॥ ११ ॥

वैश्याः शूद्राश्च यन्मोहादुपवासं प्रचक्रिरे।
त्रिरात्रं वा द्विरात्रं वा तयोर्व्युष्टिर्न विद्यते ॥ १२ ॥

वैश्यों और शूद्रोंने जो मोहवश तीन रात अथवा दो रातका उपवास किया है, उसका उन्हें कोई फल नहीं मिला है ॥

चतुर्थभक्तक्षपणं वैश्ये शूद्रे विधीयते।
त्रिरात्रं न तु धर्मज्ञैर्विहितं धर्मदर्शिभिः ॥ १३ ॥

वैश्य और शूद्रके लिये चौथे समयतकके भोजनका त्याग करनेका विधान है अर्थात् उन्हें केवल दो दिन एवं दो रात्रितक उपवास करना चाहिये; क्योंकि धर्मशास्त्रके ज्ञाता एवं धर्मदर्शी विद्वानोंने उनके लिये तीन राततक उपवास करनेका विधान नहीं किया है ॥ १३ ॥

पञ्चम्यां चापि षष्ठ्यां च पौर्णमास्यां च भारत।
उपोष्य एकभक्तेन नियतात्मा जितेन्द्रियः ॥ १४ ॥
क्षमावान् रूपसम्पन्नः श्रुतवांश्चैव जायते।

नानपत्यो भवेत् प्राज्ञो दरिद्रो वा कदाचन ॥ १५ ॥

भारत ! यदि मनुष्य पञ्चमी, षष्ठी और पूर्णिमाके दिन अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर एक वक्त भोजन करके दूसरे वक्त उपवास करे तो वह क्षमावान्, रूपवान् और विद्वान् होता है । वह बुद्धिमान् पुरुष कभी संतानहीन या दरिद्र नहीं होता ॥ १४-१५ ॥

यजिष्णुः पञ्चमीं षष्ठीं कुले भोजयते द्विजान् ।
अष्टमीमथ कौरव्य कृष्णपक्षे चतुर्दशीम् ॥ १६ ॥
उपोष्य व्याधिरहितो वीर्यवानभिजायते ।

कुरुनन्दन ! जो पुरुष भगवान्‌की आराधनाका इच्छुक होकर पञ्चमी, षष्ठी, अष्टमी तथा कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको अपने घरपर ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और स्वयं उपवास करता है, वह रोगरहित और बलवान् होता है ॥ १६½ ॥

मार्गशीर्षं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत् ॥ १७ ॥
भोजयेच्च द्विजाञ्शक्त्या स मुच्येद् व्याधिकिल्बिषैः ।

जो मार्गशीर्ष मासको एक समय भोजन करके बिताता है और अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह रोग और पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १७½ ॥

सर्वकल्याणसम्पूर्णः सर्वौषधिसमन्वितः ॥ १८ ॥
उपोष्य व्याधिरहितो वीर्यवानभिजायते ।
कृषिभागी बहुधनो बहुधान्यश्च जायते ॥ १९ ॥

वह सब प्रकारके कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा सब तरहकी ओषधियों (अन्न फल-आदि) से भरा-पूरा होता है । मार्गशीर्ष मासमें उपवास करनेसे मनुष्य दूसरे जन्ममें रोगरहित और बलवान् होता है । उसके पास खेती-बारीकी सुविधा रहती है तथा वह बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न होता है ॥

पौषमासं तु कौन्तेय भक्तेनैकेन यः क्षिपेत् ।
सुभगो दर्शनीयश्च यशोभागी च जायते ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन ! जो पौष मासको एक वक्त भोजन करके बिताता है, वह सौभाग्यशाली, दर्शनीय और यशका भागी होता है ॥ २० ॥

माघं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत् ।
श्रीमत्कुले ज्ञातिमध्ये स महत्त्वं प्रपद्यते ॥ २१ ॥

जो माघमासको नियमपूर्वक एक समयके भोजनसे व्यतीत करता है, वह धनवान् कुलमें जन्म लेकर अपने कुटुम्बीजनोंमें महत्त्वको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

भगदैवतमासं तु एकभक्तेन यः क्षिपेत् ।
स्त्रीषु वल्लभतां याति वश्याश्चास्य भवन्ति ताः ॥ २२ ॥

जो फाल्गुन मासको एक समय भोजन करके व्यतीत करता है, वह स्त्रियोंको प्रिय होता है और वे उसके अधीन रहती हैं ॥ २२ ॥

चैत्रं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत् ।
सुवर्णमणिमुक्ताढ्ये कुले महति जायते ॥ २३ ॥

जो नियमपूर्वक रहकर चैत्रमासको एक समय भोजन करके बिताता है, वह सुवर्ण, मणि और मोतियोंसे सम्पन्न महान् कुलमें जन्म लेता है ॥ २३ ॥

निस्तरेदेकभक्तेन वैशाखं यो जितेन्द्रियः ।
नरो वा यदि वा नारी ज्ञातीनां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥ २४ ॥

जो स्त्री अथवा पुरुष इन्द्रियसंयमपूर्वक एक समय भोजन करके वैशाख मासको पार करता है, वह सजातीय बन्धु बान्धवोंमें श्रेष्ठताको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

ज्येष्ठामूलं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत् ।
ऐश्वर्यमतुलं श्रेष्ठं पुमान् स्त्री वा प्रपद्यते ॥ २५ ॥

जो एक समय ही भोजन करके ज्येष्ठ मासको बिताता है; वह स्त्री हो या पुरुष, अनुपम श्रेष्ठ ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ॥

आषाढमेकभक्तेन स्थित्वा मासमतन्द्रितः ।
बहुधान्यो बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते ॥ २६ ॥

जो आषाढ़ मासमें आलस्य छोड़कर एक समय भोजन करके रहता है, वह बहुत-से धन-धान्य और पुत्रोंसे सम्पन्न होता है ॥ २६ ॥

श्रावणं नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत् ।
यत्र तत्राभिषेकेण युज्यते ज्ञातिवर्धनः ॥ २७ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर एक समय भोजन करते हुए श्रावण मासको बिताता है, वह विभिन्न तीर्थोंमें स्नान करनेके पुण्य-फलसे युक्त होता और अपने कुटुम्बीजनोंकी वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

प्रौष्ठपदं तु यो मासमेकाहारो भवेन्नरः ।
गवाढ्यं स्फीतमचलमैश्वर्यं प्रतिपद्यते ॥ २८ ॥

जो मनुष्य भाद्रपद मासमें एक समय भोजन करके रहता है, वह गोधनसे सम्पन्न, समृद्धिशील तथा अविचल ऐश्वर्यका भागी होता है ॥ २८ ॥

तथैवाश्वयुजं मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत् ।
मृजावान् वाहनाढ्यश्च बहुपुत्रश्च जायते ॥ २९ ॥

जो आश्विन मासको एक समय भोजन करके बिताता है, वह पवित्र, नाना प्रकारके वाहनोंसे सम्पन्न तथा अनेक पुत्रोंसे युक्त होता है ॥ २९ ॥

कार्तिकं तु नरो मासं यः कुर्यादेकभोजनम् ।
शूरश्च बहुभार्यश्च कीर्तिमांश्चैव जायते ॥ ३० ॥

जो मनुष्य कार्तिक मासमें एक समय भोजन करता है,

वह शूरवीर, अनेक भार्याओंसे संयुक्त और कीर्तिमान् होता है ॥

इति मासा नरव्याघ्र क्षिपतां परिकीर्तिताः ।
तिथीनां नियमा ये तु शृणु तानपि पार्थिव ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! इस प्रकार मैंने मासपर्यन्त एकभुक्त व्रत करनेवाले मनुष्योंके लिये विभिन्न मासोंके फल बताये हैं । पृथ्वीनाथ ! अब तिथियोंके जो नियम हैं, उन्हें भी सुन लो ॥ ३१ ॥

पक्षे पक्षे गते यस्तु भक्तमश्नाति भारत ।
गवाढ्यो बहुपुत्रश्च बहुभार्यः स जायते ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! जो पंद्रह पंद्रह दिनपर भोजन करता है, वह गोधनसे सम्पन्न और बहुत-से पुत्र तथा स्त्रियोंसे युक्त होता है ॥

मासि मासि त्रिरात्राणि कृत्वा वर्षाणि द्वादश ।
गणाधिपत्यं प्राप्नोति निःसपत्नमनाविलम् ॥ ३३ ॥

जो बारह वर्षोंतक प्रतिमास अनेक त्रिरात्रव्रत करता है, वह भगवान् शिवके गणोंका निष्कण्टक एवं निर्मल आधिपत्य प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

एते तु नियमाः सर्वे कर्तव्याः शरदो दश ।
द्वे चान्ये भरतश्रेष्ठ प्रवृत्तिमनुवर्तता ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेवाले पुरुषको ये सभी नियम बारह वर्षोंतक पालन करने चाहिये ॥ ३४ ॥

यस्तु प्रातस्तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत् ।
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ३५ ॥
षड्भिः स वर्षैर्नृपते सिध्यते नात्र संशयः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन सबेरे और शामको भोजन करता है, बीचमें जलतक नहीं पीता तथा सदा अहिंसापरायण होकर नित्य अग्निहोत्र करता है, उसे छः वर्षोंमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसमें संशय नहीं है तथा नरेश्वर ! वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ३५-३६ ॥

अधिवासे सोऽप्सरसां नृत्यगीतविनादिते ।
रमते स्त्रीसहस्राढ्ये सुकृती विरजो नरः ॥ ३७ ॥

वह पुण्यात्मा एवं रजोगुणरहित पुरुष सहस्रों दिव्य रमणियोंसे भरे हुए अप्सराओंके महलमें, जहाँ नृत्य और गीतकी ध्वनि गूँजती रहती है, रमण करता है ॥ ३७ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभं विमानमधिरोहति ।
पूर्णं वर्षसहस्रं च ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३८ ॥
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ।

इतना ही नहीं, वह तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् विमानपर आरूढ़ होता है और पूरे एक हजार वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है । पुण्यक्षीण होनेपर इस लोकमें आकर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है ॥ ३८½ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णमेकाहारो भवेन्नरः ॥ ३९ ॥
अतिरात्रस्य यज्ञस्य स फलं समुपाश्नुते ।

जो मानव पूरे एक वर्ष तक प्रतिदिन एक बार भोजन करके रहता है, वह अतिरात्रयज्ञका फल भोगता है ॥ ३९½ ॥

दशवर्षसहस्राणि स्वर्गे च स महीयते ॥ ४० ॥
तत्क्षयादिह चागम्य माहात्म्यं प्रतिपद्यते ।

वह पुरुष दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है । फिर पुण्यक्षीण होनेपर इस लोकमें आकर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ४०½ ॥

यस्तु संवत्सरं पूर्णं चतुर्थं भक्तमश्नुते ॥ ४१ ॥
अहिंसानिरतो नित्यं सत्यवाग् विजितेन्द्रियः ।
वाजपेयस्य यज्ञस्य स फलं समुपाश्नुते ॥ ४२ ॥
दशवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।

जो पूरे एक वर्षतक दो-दो दिनपर भोजन करके रहता है तथा साथ ही अहिंसा, सत्य और इन्द्रियसंयमका पालन करता है, वह वाजपेय यज्ञका फल पाता है और दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४१-४२½ ॥

षष्ठे काले तु कौन्तेय नरः संवत्सरं क्षिपन् ॥ ४३ ॥
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।

कुन्तीनन्दन ! जो एक साल तक छठे समय अर्थात् तीन-तीन दिनोंपर भोजन करता है, वह मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ४३½ ॥

चक्रवाकप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ॥ ४४ ॥
चत्वारिंशत् सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ।

वह चक्रवाकोंद्वारा वहन किये हुए विमानसे स्वर्गलोकमें जाता है और वहाँ चालीस हजार वर्षोंतक आनन्द भोगता है ॥ ४४½ ॥

अष्टमेन तु भक्तेन जीवन् संवत्सरं नृप ॥ ४५ ॥
गवामयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।

नरेश्वर ! जो मनुष्य चार दिनोंपर भोजन करता हुआ एक वर्षतक जीवन धारण करता है, उसे गवामय यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४५½ ॥

हंससारसयुक्तेन विमानेन स गच्छति ॥ ४६ ॥
पञ्चाशतं सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ।

वह हंस और सारसोंसे जुते हुए विमानद्वारा जाता है और पचास हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥

पक्षे पक्षे गते राजन् योऽश्नीयाद् वर्षमेव तु ॥ ४७ ॥
षण्मासानशनं तस्य भगवानङ्गिराऽब्रवीत् ।

राजन् ! जो एक-एक पक्ष बीतनेपर भोजन करता है और इसी तरह एक वर्ष पूरा कर देता है, उसको छः मासतक

अनशन करनेका फल मिलता है। ऐसा भगवान् अङ्गिरा मुनिका कथन है ॥ ४७½ ॥

षष्टिर्वर्षसहस्राणि दिवमावसते च सः ॥ ४८ ॥
वीणानां वल्लकीनां च वेणूनां च विशाम्पते ।
सुघोषैर्मधुरैः शब्दैः सुप्तः स प्रतिबोध्यते ॥ ४९ ॥

प्रजानाथ ! वह साठ हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है और वहाँ वीणा, वल्लकी, वेणु आदि वाद्योंके मनोरम घोष तथा सुमधुर शब्दोंद्वारा उसे सोतेसे जगाया जाता है ॥

संवत्सरमिहैकं तु मासि मासि पिबेद्पः ।
फलं विश्वजितस्तात प्राप्नोति स नरो नृप ॥ ५० ॥

तात ! नरेश्वर ! जो मनुष्य एक वर्ष तक प्रतिमास एक बार जल पीकर रहता है, उसे विश्वजित् यज्ञका फल मिलता है॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
सप्ततिं च सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ५१ ॥

वह सिंह और व्याघ्र जुते हुए विमानसे यात्रा करता है और सत्तर हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥५१॥

मासादूर्ध्वं नरव्याघ्र नोपवासो विधीयते ।
विधिं त्वनशनस्याहुः पार्थ धर्मविदो जनाः ॥ ५२ ॥

पुरुषसिंह! एक माससे अधिक समयतक उपवास करनेका विधान नहीं है। कुन्तीनन्दन ! धर्मज्ञ पुरुषोंने अनशनकी यही विधि बतायी है ॥ ५२ ॥

अनार्तो व्याधिरहितो गच्छेदनशनं तु यः ।
पदे पदे यज्ञफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ५३ ॥

जो बिना रोग-व्याधिके अनशन व्रत करता है, उसे पद-पदपर यज्ञका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५३ ॥

दिवं हंसप्रयुक्तेन विमानेन स गच्छति ।
शतं वर्षसहस्राणां मोदते स दिवि प्रभो ॥ ५४ ॥
शतं चाप्सरसः कन्या रमयन्त्यपि तं नरम् ।

प्रभो ! ऐसा पुरुष हंस जुते हुए दिव्य विमानसे यात्रा करता है और एक लाख वर्षोंतक देवलोकमें आनन्द भोगता है, सैकड़ों कुमारी अप्सराएँ उस मनुष्यका मनोरञ्जन करती हैं ॥ ५४½ ॥

आर्तो वा व्याधितो वापि गच्छेदनशनं तु यः ॥ ५५ ॥
शतं वर्षसहस्राणां मोदते स दिवि प्रभो ।

प्रभो ! रोगी अथवा पीड़ित मनुष्य भी यदि उपवास करता है तो वह एक लाख वर्षोंतक स्वर्गमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ५५½ ॥

काञ्चीनूपुरशब्देन सुप्तश्चैव प्रबोध्यते ॥ ५६ ॥
सहस्रहंसयुक्तेन विमानेन तु गच्छति ।

वह सो जानेपर दिव्य रमणियोंकी काञ्ची और नूपुरोंकी झनकारसे जागता है और ऐसे विमानसे यात्रा करता है, जिसमें एक हजार हंस जुते रहते हैं ॥ ५६½ ॥

स गत्वा स्त्रीशताकीर्णे रमते भरतर्षभ ॥ ५७ ॥
क्षीणस्याप्यायनं दृष्टं क्षतस्य क्षतरोहणम् ।
व्याधितस्यौषधग्रामः क्रुद्धस्य च प्रसादनम् ॥ ५८ ॥
दुःखितस्यार्थमानाभ्यां दुःखानां प्रतिषेधनम् ।
न चैते स्वर्गकामस्य रोचन्ते सुखमेधसः ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह स्वर्गमें जाकर सैकड़ों रमणियोंसे भरे हुए महलमें रमण करता है। इस जगत्‌में दुर्बल मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट होते देखा गया है। जिसे घाव हो गया है; उसका घाव भी भर जाता है। रोगीको अपने रोगकी निवृत्तिके लिये औषध-समूह प्राप्त होता है। क्रोधमें भरे हुए पुरुषको प्रसन्न करनेका उपाय भी उपलब्ध होता है। अर्थ और मानके लिये दुखी हुए पुरुषके दुःखोंका निवारण भी देखा गया है; परंतु स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले और दिव्य सुख चाहनेवाले पुरुषको ये सब इस लोकके सुखोंकी बातें अच्छी नहीं लगतीं ॥५७—५९॥

अतः स कामसंयुक्ते विमाने हेमसंनिभे ।
रमते स्त्रीशताकीर्णे पुरुषोऽलंकृतः शुचिः ॥ ६० ॥
स्वस्थः सफलसंकल्पः सुखी विगतकल्मषः ।

अतः वह पवित्रात्मा पुरुष वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सैकड़ों स्त्रियोंसे भरे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले सुवर्ण-सदृश विमानपर बैठकर रमण करता है। वह स्वस्थ, सफल-मनोरथ, सुखी एवं निष्पाप होता है ॥ ६०½ ॥

अनश्नन् देहमुत्सृज्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ६१ ॥
बालसूर्यप्रतीकाशे विमाने हेमवर्चसि ।
वैदूर्यमुक्ताखचिते वीणामुरजनादिते ॥ ६२ ॥
पताकादीपिकाकीर्णे दिव्यघण्टानिनादिते ।
स्त्रीसहस्रानुचरिते स नरः सुखमेधते ॥ ६३ ॥

जो मनुष्य अनशन-व्रत करके अपने शरीरका त्याग कर देता है, वह निम्नाङ्कित फलका भागी होता है। वह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशमान, सुनहरी कान्तिवाले, वैदूर्य और मोतीसे जटित, वीणा और मृदङ्गकी ध्वनिसे निनादित, पताका और दीपकोंसे आलोकित तथा दिव्य घंटानादसे गूँजते हुए, सहस्रों अप्सराओंसे युक्त विमानपर बैठकर दिव्य सुख भोगता है ॥ ६१—६३ ॥

यावन्ति रोमकूपाणि तस्य गात्रेषु पाण्डव ।
तावन्त्येव सहस्राणि वर्षाणां दिवि मोदते ॥ ६४ ॥

पाण्डुनन्दन ! उसके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही सहस्र वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ६४ ॥

नास्ति वेदात् परं शास्त्रं नास्ति मातृसमो गुरुः ।

न धर्मात् परमो लाभस्तपो नानशनात् परम् ॥ ६५ ॥

वेदसे बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, धर्मसे बढ़कर कोई उत्कृष्ट लाभ नहीं है तथा उपवाससे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है ॥ ६५ ॥

ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति पावनं दिवि चेह च ।
उपवासैस्तथा तुल्यं तपःकर्म न विद्यते ॥ ६६ ॥

जैसे इस लोक और परलोकमें ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंसे बढ़कर कोई पावन नहीं है, उसी प्रकार उपवासके समान कोई तप नहीं है ॥ ६६ ॥

उपोष्य विधिवद् देवास्त्रिदिवं प्रतिपेदिरे ।
ऋषयश्च परां सिद्धिमुपवासैरवाप्नुवन् ॥ ६७ ॥

देवताओंने विधिवत् उपवास करके ही स्वर्ग प्राप्त किया है तथा ऋषियोंको भी उपवाससे ही सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ६७ ॥

दिव्यवर्षसहस्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।
क्षान्तमेकेन भक्तेन तेन विप्रत्वमागतः ॥ ६८ ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजी एक हजार दिव्य वर्षोंतक प्रतिदिन एक समय भोजन करके भूखका कष्ट सहते हुए तपमें लगे रहे । उससे उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति हुई ॥ ६८ ॥

च्यवनो जमदग्निश्च वसिष्ठो गौतमो भृगुः ।
सर्व एव दिवं प्राप्ताः क्षमावन्तो महर्षयः ॥ ६९ ॥

च्यवन, जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम, भृगु—ये सभी क्षमावान् महर्षि उपवास करके ही दिव्य लोकोंको प्राप्त हुए हैं ॥

इदमङ्गिरसा पूर्वं महर्षिभ्यः प्रदर्शितम् ।
यः प्रदर्शयते नित्यं न स दुःखमवाप्नुते ॥ ७० ॥

पूर्वकालमें अङ्गिरा मुनिने महर्षियोंको इस अनशन-व्रतकी महिमाका दिग्दर्शन कराया था । जो सदा इसका लोगोंमें प्रचार करता है, वह कभी दुखी नहीं होता ॥ ७० ॥

इमं तु कौन्तेय यथाक्रमं विधिं
प्रवर्तितं ह्यङ्गिरसा महर्षिणा ।
पठेच्च यो वै शृणुयाच्च नित्यदा
न विद्यते तस्य नरस्य किल्बिषम् ॥ ७१ ॥

कुन्तीनन्दन ! महर्षि अङ्गिराकी बतलायी हुई इस उपवासव्रतकी विधिको जो प्रतिदिन क्रमशः पढ़ता और सुनता है, उस मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

विमुच्यते चापि स सर्वसंकरै-
र्न चास्य दोषैरभिभूयते मनः ।
वियोनिजानां च विजानते रुतं
ध्रुवां च कीर्तिं लभते नरोत्तमः ॥ ७२ ॥

वह सब प्रकारके संकीर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता है तथा उसका मन कभी दोषोंसे अभिभूत नहीं होता । इतना ही नहीं, वह श्रेष्ठ मानव दूसरी योनिमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी बोली समझने लगता है और अक्षय कीर्तिका भागी होता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उपवासविधौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उपवासविधिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

दरिद्रोंके लिये यज्ञतुल्य फल देनेवाले उपवास-व्रत और उसके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामहेन विधिवद् यज्ञाः प्रोक्ता महात्मना ।
गुणाश्चैषां यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्मा पितामहने विधिपूर्वक यज्ञोंका वर्णन किया और इहलोक तथा परलोकमें जो उनके सम्पूर्ण गुण हैं, उनका भी यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं पितामह ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥ २ ॥

किंतु पितामह ! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका लाभ नहीं उठा सकता; क्योंकि उन यज्ञोंके उपकरण बहुत हैं और अनेक प्रकारके आयोजनोंके कारण उनका विस्तार बहुत बढ़ जाता है ॥ २ ॥

पार्थिवै राजपुत्रैर्वा शक्याः प्राप्तुं पितामह ।
नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥ ३ ॥

दादाजी ! राजा अथवा राजपुत्र ही उन यज्ञोंका लाभ ले सकते हैं । जिनके पास धनकी कमी है, जो गुणहीन, एकाकी और असहाय हैं, वे उस प्रकारके यज्ञ नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं सदा भवेत् ।
अर्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः ॥ ४ ॥
तुल्यो यज्ञफलैरेतैस्तन्मे हि पितामह ।

इसलिये जिस कर्मका अनुष्ठान दरिद्रों, गुणहीनों, एकाकी और असहायोंके लिये भी सुगम तथा बड़े-बड़े यज्ञोंके समान फल देनेवाला हो, उसीका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ ४½ ॥

भीष्म उवाच

इदमङ्गिरसा प्रोक्तमुपवासफलात्मकम् ॥ ५ ॥
विधिं यज्ञफलैस्तुल्यं तन्निबोध युधिष्ठिर ।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! अङ्गिरा मुनिकी बतलायी हुई जो उपवासकी विधि है, वह यज्ञोंके समान ही फल देने वाली है । उसका पुनः वर्णन करता हूँ; सुनो ॥ ५½ ॥

यस्तु कल्यं तथा सायं भुञ्जानो नान्तरा पिबेत् ॥ ६ ॥
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ।
षड्भिरेव स वर्षैस्तु सिध्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो सबेरे और शामको ही भोजन करता है, बीचमें जल-तक नहीं पीता तथा अहिंसापरायण होकर नित्य अग्निहोत्र करता है, उसे छः वर्षोंमें ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णं च विमानं लभते नरः ।
देवस्त्रीणामधीवासे नृत्यगीतनिनादिते ॥ ८ ॥
प्राजापत्ये वसेत् पद्मं वर्षाणामग्निसंनिभे ।

वह मनुष्य तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् विमान पाता है और अग्नितुल्य तेजस्वी प्रजापतिलोकमें नृत्य तथा गीतोंसे गूँजते हुए देवाङ्गनाओंके महलमें एक पद्म वर्षोंतक निवास करता है ॥ ८½ ॥

त्रीणि वर्षाणि यः प्राशेत् सततं त्वेकभोजनम् ॥ ९ ॥
धर्मपत्नीरतो नित्यमग्निष्टोमफलं लभेत् ।

जो अपनी ही धर्मपत्नीमें अनुराग रखते हुए निरन्तर तीन वर्षोंतक प्रतिदिन एक समय भोजन करके रहता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ९½ ॥

यज्ञं बहुसुवर्णं वा वासवप्रियमाचरेत् ॥ १० ॥
सत्यवान् दानशीलश्च ब्रह्मण्यश्चानसूयकः ।
क्षान्तो दान्तो जितक्रोधः स गच्छति परां गतिम् ॥ ११ ॥

जो बहुत-सी सुवर्णकी दक्षिणासे युक्त इन्द्रप्रिय यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा सत्यवादी, दानशील, ब्राह्मणभक्त, अदोषदर्शी, क्षमाशील, जितेन्द्रिय और क्रोधविजयी होता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ १०-११ ॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशे विमाने हंसलक्षणे ।
द्वे समाप्ते ततः पद्मे सोऽप्सरोभिर्वसेत् सह ॥ १२ ॥

वह सफेद बादलोंके समान चमकीले हंसोपलक्षित विमानपर बैठकर दो पद्म वर्षोंका समय समाप्त होनेतक अप्सराओंके साथ वहाँ निवास करता है ॥ १२ ॥

द्वितीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अग्निकार्यपरो नित्यं नित्यं कल्यप्रबोधनः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य नित्य अग्निमें होम करता हुआ एक वर्षतक प्रति दूसरे दिन एक बार भोजन करता है तथा प्रतिदिन अग्निकी उपासनामें तत्पर रहकर नित्य सबेरे जागता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ १३-१४ ॥

हंससारसयुक्तं च विमानं लभते नरः ।
इन्द्रलोके च वसते वरस्त्रीभिः समावृतः ॥ १५ ॥

वह मानव हंस और सारसोंसे जुते हुए विमानको पाता है और इन्द्रलोकमें सुन्दरी स्त्रियोंसे घिरा हुआ निवास करता है ॥ १५ ॥

तृतीये दिवसे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ १६ ॥
अग्निकार्यपरो नित्यं नित्यं कल्यप्रबोधनः ।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ १७ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रति तीसरे दिन एक समय भोजन करता, नित्य सबेरे उठता और अग्निकी परिचर्यामें तत्पर हो नित्य अग्निमें आहुति देता है, वह अतिरात्र यागका परम उत्तम फल पाता है ॥ १६-१७ ॥

मयूरहंसयुक्तं च विमानं लभते नरः ।
सप्तर्षीणां सदा लोके सोऽप्सरोभिर्वसेत् सह ॥ १८ ॥
निवर्तनं च तत्रास्य त्रीणि पद्मानि चैव ह ।

उसे मोरोंसे जुता हुआ विमान प्राप्त होता है और वह सदा सप्तर्षियोंके लोकमें अप्सराओंके साथ निवास करता है । वहाँ तीन पद्म वर्षोंतक वह निवास करता है ॥ १८½ ॥

दिवसे यश्चतुर्थे तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ १९ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
वाजपेयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २० ॥

जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ बारह महीनोंतक प्रति चौथे दिन एक बार भोजन करता है, वह वाजपेय यज्ञका परम उत्तम फल पाता है ॥ १९-२० ॥

इन्द्रकन्याभिरूढं च विमानं लभते नरः ।
सागरस्य च पर्यन्ते वासवं लोकमावसेत् ॥ २१ ॥
देवराजस्य च क्रीडां नित्यकालमवेक्षते ।

उस मनुष्यको देवकन्याओंसे आरूढ़ विमान उपलब्ध होता है और वह पूर्वसागरके तटपर इन्द्रलोकमें निवास करता है तथा वहाँ रहकर वह प्रतिदिन देवराजकी क्रीडाओंको देखा करता है ॥ २१½ ॥

दिवसे पञ्चमे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ २२ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ।
अलुब्धः सत्यवादी च ब्रह्मण्यश्चाविहिंसकः ॥ २३ ॥
अनसूयुरपापस्थो द्वादशाहफलं लभेत् ।

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ हर पाँचवें दिन एक समय भोजन करता है और लोभहीन, सत्यवादी, ब्राह्मणभक्त, अहिंसक और अदोषदर्शी होकर सदा पापकर्मोंसे दूर रहता है, उसे द्वादशाह यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ २२-२३½ ॥

जाम्बूनदमयं दिव्यं विमानं हंसलक्षणम् ॥ २४ ॥
सूर्यमालासमाभासमारोहेत् पाण्डुरं गृहम् ।
आवर्तनानि चत्वारि तथा पद्मानि द्वादश ॥ २५ ॥
शराग्निपरिमाणं च तत्रासौ वसते सुखम् ।

वह सूर्यकी किरणमालाओंके समान प्रकाशमान तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णके बने हुए श्वेतकान्तिवाले हंसलक्षित दिव्य विमानपर आरूढ होता तथा चार, बारह एवं पैंतीस (कुल मिलाकर इक्यावन) पद्म वर्षोंतक स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ २४-२५½ ॥

दिवसे यस्तु षष्ठे वै मुनिः प्राशेत भोजनम् ॥ २६ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
सदा त्रिषवणस्नायी ब्रह्मचार्यनसूयकः ॥ २७ ॥
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।

जो बारह महीनेतक सदा अग्निहोत्र करता, तीनों संध्याओंके समय स्नान करता, ब्रह्मचर्यका पालन करता, दूसरोंके दोष नहीं देखता तथा मुनिवृत्तिसे रहकर प्रति छठे दिन एक बार भोजन करता है, वह गोमेध यज्ञका सर्वोत्तम फल पाता है ॥ २६-२७½ ॥

अग्निज्वालासमाभासं हंसबर्हिणसेवितम् ॥ २८ ॥
शातकुम्भसमायुक्तं साधयेद् यानमुत्तमम् ।
तथैवाप्सरसामङ्के प्रतिसुप्तः प्रबोध्यते ॥ २९ ॥
नूपुराणां निनादेन मेखलानां च निःस्वनैः ।

उसे अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान, हंस और मयूरोंसे सेवित, सुवर्णजटित उत्तम विमान प्राप्त होता है और वह अप्सराओंके अङ्कमें सोकर उन्हींके काञ्चीकलाप तथा नूपुरोंकी मधुर ध्वनिसे जगाया जाता है ॥ २८-२९½ ॥

कोटीसहस्रं वर्षाणां त्रीणि कोटिशतानि च ॥ ३० ॥
पद्मान्यष्टादश तथा पताके द्वे तथैव च ।
अयुतानि च पञ्चाशदृक्षचर्मशतस्य च ॥ ३१ ॥
लोम्नां प्रमाणेन समं ब्रह्मलोके महीयते ।

वह मनुष्य दो पताका (महापद्म), अठारह पद्म, एक हजार तीन सौ करोड़ और पचास अयुत वर्षोंतक तथा सौ रीछोंके चमड़ोंमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥ ३०-३१½ ॥

दिवसे सप्तमे यस्तु प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ ३२ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
सरस्वतीं गोपयानो ब्रह्मचर्यं समाचरन् ॥ ३३ ॥
सुमनोवर्णकं चैव मधुमांसं च वर्जयन् ।
पुरुषो मरुतां लोकमिन्द्रलोकं च गच्छति ॥ ३४ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रति सातवें दिन एक समय भोजन करता, प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता, वाणीको संयममें रखता और ब्रह्मचर्यका पालन करता एवं फूलोंकी माला, चन्दन, मधु और मांसका सदाके लिये त्याग कर देता है, वह पुरुष मरुद्गणों तथा इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ ३२-३४ ॥

तत्र तत्र हि सिद्धार्थो देवकन्याभिरर्च्यते ।
फलं बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते नरः ॥ ३५ ॥
संख्यामतिगुणां चापि तेषु लोकेषु मोदते ।

उन सभी स्थानोंमें सफलमनोरथ होकर वह देवकन्याओंद्वारा पूजित होता है तथा जिस यज्ञमें बहुत-से सुवर्णकी दक्षिणा दी जाती है, उसके फलको वह प्राप्त कर लेता है और असंख्य वर्षोंतक वह उन लोकोंमें आनन्द भोगता है ॥ ३५½ ॥

यस्तु संवत्सरं क्षान्तो भुङ्क्तेऽहन्यष्टमे नरः ॥ ३६ ॥
देवकार्यपरो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम् ।
पौण्डरीकस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३७ ॥

जो एक वर्षतक प्रति आठवें दिन एक बार भोजन करता, सबके प्रति क्षमाभाव रखता, देवताओंके कार्यमें तत्पर रहता और नित्यप्रति अग्निहोत्र करता है, उसे पौण्डरीक यागका सर्वश्रेष्ठ फल मिलता है ॥ ३६-३७ ॥

पद्मवर्णनिभं चैव विमानमधिरोहति ।
कृष्णाः कनकगौर्यश्च नार्यः श्यामास्तथापराः ॥ ३८ ॥
वयोरूपविलासिन्यो लभते नात्र संशयः ।

वह कमलके समान वर्णवाले विमानपर चढ़ता है और वहाँ उसे श्यामवर्णा, सुवर्णसदृश गौर वर्णवाली, सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली और नूतन यौवन तथा मनोहर रूप-विलाससे सुशोभित देवाङ्गनाएँ प्राप्त होती हैं । इसमें संशय नहीं है ॥ ३८½ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते नवमे नवमेऽहनि ॥ ३९ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४० ॥

जो एक वर्षतक नौ-नौ दिनपर एक समय भोजन करता है और बारहों महीने प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, उसे एक हजार अश्वमेध यज्ञका परम उत्तम फल प्राप्त होता है ॥ ३९-४० ॥

पुण्डरीकप्रकाशं च विमानं लभते नरः ।
दीप्तसूर्याग्नितेजोभिर्दिव्यमालाभिरेव च ॥ ४१ ॥
नीयते रुद्रकन्याभिः सोऽन्तरिक्षं सनातनम् ।

अष्टादश सहस्राणि वर्षाणां कल्पमेव च ॥ ४२ ॥
कोटीशतसहस्रं च तेषु लोकेषु मोदते ।

तथा वह पुण्डरीकके समान श्वेत वर्णोंका विमान पाता है। दीप्तिमान् सूर्य और अग्निके समान तेजस्विनी और दिव्यमालाधारिणी रुद्रकन्याएँ उसे सनातन अन्तरिक्षलोकमें ले जाती हैं और वहाँ वह एक कल्प लाख करोड़ एवं अठारह हजार वर्षोंतक सुख भोगता है ॥ ४१-४२½ ॥

यस्तु संवत्सरं भुङ्क्ते दशाहे वै गते गते ॥ ४३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम् ।
ब्रह्मकन्यानिवासे च सर्वभूतमनोहरे ॥ ४४ ॥
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।
रूपवत्यश्च तं कन्या रमयन्ति सनातनम् ॥ ४५ ॥

जो एक वर्षतक दस-दस दिन बीतनेपर एक बार भोजन करता है और बारहों महीने प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, वह सम्पूर्ण भूतोंके लिये मनोहर ब्रह्मकन्याओंके निवास-स्थानमें जाकर एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका परम उत्तम फल पाता है और उस सनातन पुरुषका वहाँकी रूपवती कन्याएँ मनोरञ्जन करती हैं ॥ ४३-४५ ॥

नीलोत्पलनिभैर्वर्णै रक्तोत्पलनिभैस्तथा ।
विमानं मण्डलावर्तमावर्तगहनाकुलम् ॥ ४६ ॥
सागरोर्मिप्रतीकाशं लभेद् यानमनुत्तमम् ।
विचित्रमणिमालाभिर्नादितं शङ्खनिःस्वनैः ॥ ४७ ॥

वह नीले और लाल कमलके समान अनेक रङ्गोंसे सुशोभित, मण्डलाकार घूमनेवाला, भँवरके समान गहन चक्कर लगानेवाला, सागरकी लहरोंके समान ऊपर नीचे होनेवाला, विचित्र मणिमालाओंसे अलंकृत और शङ्खध्वनिसे परिपूर्ण सर्वोत्तम विमान प्राप्त करता है ॥ ४६-४७ ॥

स्फाटिकैर्वज्रसारैश्च स्तम्भैः सुकृतवेदिकम् ।
आरोहति महद् यानं हंससारसनादितम् ॥ ४८ ॥

उसमें स्फटिक और वज्रसारमणिके खम्भे लगे होते हैं। उसपर सुन्दर ढंगसे बनी हुई वेदी शोभा पाती है तथा वहाँ हंस और सारस पक्षी कलरव करते रहते हैं। ऐसे विशाल विमानपर चढ़ता और स्वच्छन्द घूमता है ॥ ४८ ॥

एकादशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ४९ ॥
परस्त्रियं नाभिलषेद् वाचाथ मनसापि वा ।
अनृतं च न भाषेत मातापित्रोः कृतेऽपि वा ॥ ५० ॥
अभिगच्छेन्महादेवं विमानस्थं महाबलम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ प्रति ग्यारहवें दिन एक बार हविष्यान्न ग्रहण करता है, मन-वाणीसे भी कभी परस्त्रीकी अभिलाषा नहीं करता है और माता-पिताके लिये भी कभी झूठ नहीं बोलता है, वह विमानमें विराजमान परम शक्तिमान् महादेवजीके समीप जाता और हजार अश्वमेध यज्ञोंका सर्वोत्तम फल पाता है ॥ ४९-५१ ॥

स्वायम्भुवं च पश्येत विमानं समुपस्थितम् ।
कुमार्यः काञ्चनाभासा रूपवत्यो नयन्ति तम् ॥ ५२ ॥
रुद्राणां तमधीवासं दिवि दिव्यं मनोहरम् ।

वह अपने पास ब्रह्माजीका भेजा हुआ विमान स्वतः उपस्थित देखता है। सुवर्णके समान रङ्गवाली रूपवती कुमारियाँ उसे उस विमानद्वारा द्युलोकमें दिव्य मनोहर रुद्रलोकमें ले जाती हैं ॥ ५२½ ॥

वर्षाण्यपरिमेयानि युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५३ ॥
कोटीशतसहस्रं च दशकोटिशतानि च ।
रुद्रं नित्यं प्रणमते देवदानवसम्मतम् ॥ ५४ ॥
स तस्मै दर्शनं प्राप्तो दिवसे दिवसे भवेत् ।

वहाँ वह प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी शरीर धारण करके असंख्य वर्षोंतक एक लाख एक हजार करोड़ वर्षोंतक निवास करता हुआ प्रतिदिन देवदानव-सम्मानित भगवान् रुद्रको प्रणाम करता है। वे भगवान् उसे नित्य-प्रति दर्शन देते रहते हैं ॥ ५३-५४½ ॥

दिवसे द्वादशे यस्तु प्राप्ते वै प्राशते हविः ॥ ५५ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सर्वमेधफलं लभेत् ।

जो बारह महीनोंतक प्रति बारहवें दिन केवल हविष्यान्न ग्रहण करता है, उसे सर्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥५५½॥

आदित्यैर्द्वादशैस्तस्य विमानं संविधीयते ॥ ५६ ॥
मणिमुक्ताप्रवालैश्च महार्हैरुपशोभितम् ।
हंसमालापरिक्षिप्तं नागवीथीसमाकुलम् ॥ ५७ ॥
मयूरैश्चक्रवाकैश्च कूजद्भिरुपशोभितम् ।
अट्टैर्महद्भिः संयुक्तं ब्रह्मलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥
नित्यमावसथं राजन् नरनारीसमावृतम् ।
ऋषिरेवं महाभागस्त्वङ्गिरा प्राह धर्मवित् ॥ ५९ ॥

उसके लिये बारह सूर्योंके समान तेजस्वी विमान प्रस्तुत किया जाता है। बहुमूल्य मणि, मुक्ता और मूँगे उस विमानकी शोभा बढ़ाते हैं। हंसश्रेणीसे परिवेष्टित और नागवीथीसे परिव्याप्त वह विमान कलरव करते हुए मोरों और चक्रवाकोंसे सुशोभित तथा ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित है। उसके भीतर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। राजन्! वह नित्य-निवासस्थान अनेक नर-नारियोंसे भरा हुआ होता है। यह बात महाभाग धर्मज्ञ ऋषि अङ्गिराने कही थी ॥ ५६-५९ ॥

त्रयोदशे तु दिवसे प्राप्ते यः प्राशते हविः।
सदा द्वादशमासान् वै देवसत्रफलं लभेत् ॥ ६० ॥

जो बारह महीनोंतक सदा तेरहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है, उसे देवसत्रका फल प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

रक्तपद्मोदयं नाम विमानं साधयेन्नरः।
जातरूपप्रयुक्तं च रत्नसंचयभूषितम् ॥ ६१ ॥
देवकन्याभिराकीर्णं दिव्याभरणभूषितम्।
पुण्यगन्धोदयं दिव्यं वायव्यैरुपशोभितम् ॥ ६२ ॥

उस मनुष्यको रक्तपद्मोदय नामक विमान उपलब्ध होता है, जो सुवर्णसे जटित तथा रत्नसमूहसे विभूषित है। उसमें देवकन्याएँ भरी रहती हैं, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित उस विमानकी बड़ी शोभा होती है। उससे पवित्र सुगन्ध प्रकट होती रहती है तथा वह दिव्य विमान वायव्यास्त्रसे शोभायमान होता है ॥ ६१-६२ ॥

तत्र शङ्खपताके द्वे युगान्तं कल्पमेव च।
अयुतायुतं तथा पद्मं समुद्रं च तथा वसेत् ॥ ६३ ॥

वह व्रतधारी पुरुष दो शङ्ख, दो पताका (महापद्म), एक कल्प एवं एक चतुर्युग तथा दस करोड़ एवं चार पद्म वर्षोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करता है ॥ ६३ ॥

गीतगन्धर्वघोषैश्च भेरीपणवनिःस्वनैः।
सदा प्रह्लादितस्ताभिर्देवकन्याभिरिज्यते ॥ ६४ ॥

वहाँ देवकन्याएँ गीत और वाद्योंके घोष तथा भेरी और पणवकी मधुर ध्वनिसे उस पुरुषको आनन्द प्रदान करती हुई सदा उसका पूजन करती हैं ॥ ६४ ॥

चतुर्दशे तु दिवसे यः पूर्णे प्राशते हविः।
सदा द्वादशमासांस्तु महामेधफलं लभेत् ॥ ६५ ॥

जो बारह महीनेतक प्रति चौदहवें दिन हविष्यान्न भोजन करता है, वह महामेध यज्ञका फल पाता है ॥ ६५ ॥

अनिर्देश्यवयोरूपा देवकन्याः स्वलंकृताः।
मृष्टतप्ताङ्गदधरा विमानैरुपयान्ति तम् ॥ ६६ ॥

जिनके यौवन तथा रूपका वर्णन नहीं हो सकता, ऐसी देवकन्याएँ तपाये हुए शुद्ध स्वर्णके अङ्गद (बाजूबन्द) और अन्यान्य अलङ्कार धारण करके विमानोंद्वारा उस पुरुषकी सेवामें उपस्थित होती हैं ॥ ६६ ॥

कलहंसविनिर्घोषैर्नूपुराणां च निःस्वनैः।
काञ्चीनां च समुत्कर्षैस्तत्र तत्र निबोध्यते ॥ ६७ ॥

वह सो जानेपर कलहंसोंके कलरवों, नूपुरोंकी मधुर झनकारों तथा काञ्चीकी मनोहर ध्वनियोंद्वारा जगाया जाता है ॥ ६७ ॥

देवकन्यानिवासे च तस्मिन् वसति मानवः।
जाह्नवीवालुकाकीर्णं पूर्णं संवत्सरं नरः ॥ ६८ ॥

वह मानव देवकन्याओंके उस निवासस्थानमें उतने वर्षोंतक निवास करता है, जितने कि गङ्गाजीमें बालूके कण हैं ॥ ६८ ॥

यस्तु पक्षे गते भुङ्क्ते एकभक्तं जितेन्द्रियः।
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ६९ ॥
राजसूयसहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम्।
यानमारोहते दिव्यं हंसबर्हिणसेवितम् ॥ ७० ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुष बारह महीनोंतक प्रति पंद्रहवें दिन एक बार खाता और प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वह एक हजार राजसूय यज्ञका सर्वोत्तम फल पाता है और हंस तथा मोरोंसे सेवित दिव्य विमानपर आरूढ़ होता है ॥ ६९-७० ॥

मणिमण्डलकैश्चित्रं जातरूपसमावृतम्।
दिव्याभरणशोभाभिर्वरस्त्रीभिरलंकृतम् ॥ ७१ ॥

वह विमान सुवर्णपत्रसे जटित तथा मणिमय मण्डलाकार चिह्नोंसे विचित्र शोभासम्पन्न है। दिव्य वस्त्राभूषणोंसे शोभायमान सुन्दरी रमणियाँ उसे सुशोभित किये रहती हैं ॥ ७१ ॥

एकस्तम्भं चतुर्द्वारं सप्तभौमं सुमङ्गलम्।
वैजयन्तीसहस्रैश्च शोभितं गीतनिःस्वनैः ॥ ७२ ॥

उस विमानमें एक ही खम्भा होता है, चार दरवाजे लगे होते हैं। वह सात तल्लोंसे युक्त एवं परममङ्गलमय विमान सहस्रों वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित तथा गीतोंकी मधुर-ध्वनिसे व्याप्त होता है ॥ ७२ ॥

दिव्यं दिव्यगुणोपेतं विमानमधिरोहति।
मणिमुक्ताप्रवालैश्च भूषितं वैद्युतप्रभम् ॥ ७३ ॥
वसेद् युगसहस्रं च खड्गकुञ्जरवाहनः।

मणि, मोती और मूँगोंसे विभूषित वह दिव्य विमान विद्युत-की-सी प्रभासे प्रकाशित तथा दिव्य गुणोंसे सम्पन्न होता है। वह व्रतधारी पुरुष उसी विमानपर आरूढ़ होता है। उसमें गेंडे और हाथी जुते होते हैं तथा वहाँ एक सहस्र युगोंतक वह निवास करता है ॥ ७३½ ॥

षोडशे दिवसे प्राप्ते यः कुर्यादेकभोजनम् ॥ ७४ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सोमयज्ञफलं लभेत्।

जो बारह महीनोंतक प्रति सोलहवें दिन एक बार भोजन करता है, उसे सोमयागका फल मिलता है ॥ ७४½ ॥

सोमकन्यानिवासेषु सोऽध्यावसति नित्यशः ॥ ७५ ॥
सौम्यगन्धानुलिप्तश्च कामकारगतिर्भवेत्।

वह सोम-कन्याओंके महलोंमें नित्य निवास करता है, उसके अङ्गोंमें सौम्य गन्धयुक्त अनुलेप लगाया जाता है। वह अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहता है, घूमता है ॥ ७५½ ॥

सुदर्शनाभिर्नारीभिर्मधुराभिस्तथैव च ॥ ७६ ॥
अर्च्यते वै विमानस्थः कामभोगैश्च सेव्यते।

वह विमानपर विराजमान होता है और देखनेमें परम सुन्दरी तथा मधुरभाषिणी दिव्य नारियाँ उसकी पूजा करती तथा उसे काम-भोगका सेवन कराती हैं ॥ ७६½ ॥

फलं पद्मशतप्रख्यं महाकल्पं दशाधिकम् ॥ ७७ ॥
आवर्तनानि चत्वारि साधयेच्चाप्यसौ नरः।

वह पुरुष सौ पद्म वर्षोंके समान दस महाकल्प तथा चार चतुर्युगी तक अपने पुण्यका फल भोगता है ॥ ७७½ ॥

दिवसे सप्तदशमे यः प्राप्ते प्राशते हविः ॥ ७८ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
स्थानं वारुणमैन्द्रं च रौद्रं वाप्यधिगच्छति ॥ ७९ ॥
मारुतौशनसे चैव ब्रह्मलोकं स गच्छति।
तत्र दैवतकन्याभिरासनेनोपचर्यते ॥ ८० ॥

जो मनुष्य बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ सोलह दिन उपवास करके सत्रहवें दिन केवल हविष्यान्न भोजन करता है, वह वरुण, इन्द्र, रुद्र, मरुत, शुक्राचार्यजी तथा ब्रह्माजीके लोकमें जाता है और उन लोकोंमें देवताओंकी कन्याएँ आसन देकर उसका पूजन करती हैं ॥ ७८–८० ॥

भूर्भुवं चापि देवर्षिं विश्वरूपमवेक्षते।
तत्र देवाधिदेवस्य कुमार्यो रमयन्ति तम् ॥ ८१ ॥
द्वात्रिंशद् रूपधारिण्यो मधुराः समलंकृताः।

वह पुरुष भूर्लोक, भुवर्लोक तथा विश्वरूपधारी देवर्षिका वहाँ दर्शन करता है और देवाधिदेवकी कुमारियाँ उसका मनोरञ्जन करती हैं। उनकी संख्या बत्तीस है। वे मनोहर रूपधारिणी, मधुरभाषिणी तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलङ्कृत होती हैं ॥ ८१½ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ यावद् गगने चरतः प्रभो ॥ ८२ ॥
तावच्चरत्यसौ धीरः सुधामृतरसाशनः।

प्रभो! जबतक आकाशमें चन्द्रमा और सूर्य विचरते हैं, तबतक वह धीर पुरुष सुधा एवं अमृतरसका भोजन करता हुआ ब्रह्मलोकमें विहार करता है ॥ ८२½ ॥

अष्टादशे यो दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ ८३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सप्तलोकान् स पश्यति।

जो लगातार बाहर महीनोंतक प्रति अठारहवें दिन एक बार भोजन करता है, वह भू आदि सातों लोकोंका दर्शन करता है ॥ ८३½ ॥

रथैः सनन्दिघोषैश्च पृष्ठतः सोऽनुगम्यते ॥ ८४ ॥
देवकन्याधिरूढैस्तु भ्राजमानैः स्वलंकृतैः।

उसके पीछे आनन्दपूर्वक जय घोष करते हुए बहुत-से तेजस्वी एवं सजे-सजाये रथ चलते हैं। उन रथोंपर देव-कन्याएँ बैठी होती हैं ॥ ८४½ ॥

व्याघ्रसिंहप्रयुक्तं च मेघस्वननिनादितम् ॥ ८५ ॥
विमानमुत्तमं दिव्यं सुसुखी ह्यधिरोहति।

उसके सामने व्याघ्र और सिंहोंसे जुता हुआ तथा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाला दिव्य एवं उत्तम विमान प्रस्तुत होता है, जिसपर वह अत्यन्त सुखपूर्वक आरोहण करता है ॥ ८५½ ॥

तत्र कल्पसहस्रं स कन्याभिः सह मोदते ॥ ८६ ॥
सुधारसं च भुञ्जीत अमृतोपममुत्तमम्।

उस दिव्य लोकमें वह एक हजार कल्पोंतक देवकन्याओंके साथ आनन्द भोगता और अमृतके समान उत्तम सुधारसका पान करता है ॥ ८६½ ॥

एकोनविंशतिदिने यो भुङ्क्ते एकभोजनम् ॥ ८७ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सप्तलोकान् स पश्यति।

जो लगातार बारह महीनोंतक उन्नीसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह भी भू आदि सातों लोकोंका दर्शन करता है ॥ ८७½ ॥

उत्तमं लभते स्थानमप्सरोगणसेवितम् ॥ ८८ ॥
गन्धर्वैरुपगीतं च विमानं सूर्यवर्चसम्।

उसे अप्सराओंद्वारा सेवित उत्तम स्थान—गन्धर्वोंके गीतोंसे गूँजता हुआ सूर्यके समान तेजस्वी विमान प्राप्त होता है ॥ ८८½ ॥

तत्रामरवरस्त्रीभिर्मोदते विगतज्वरः ॥ ८९ ॥
दिव्याम्बरधरः श्रीमानयुतानां शतं शतम्।

उस विमानमें वह सुन्दरी देवाङ्गनाओंके साथ आनन्द भोगता है। उसे कोई चिन्ता तथा रोग नहीं सताते। दिव्य-वस्त्रधारी और श्रीसम्पन्न रूप धारण करके वह दस करोड़ वर्षोंतक वहाँ निवास करता है ॥ ८९½ ॥

पूर्णेऽथ विंशे दिवसे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९० ॥
सदा द्वादशमासांस्तु सत्यवादी धृतव्रतः।
अमांसाशी ब्रह्मचारी सर्वभूतहिते रतः ॥ ९१ ॥
स लोकान् विपुलान् रम्यानादित्यानामुपाश्नुते।

जो लगातार बारह महीनेतक पूरे बीस दिनपर एक बार भोजन करता, सत्य बोलता, व्रतका पालन करता, मांस नहीं खाता, ब्रह्मचर्यका पालन करता तथा समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहता है, वह सूर्यदेवके विशाल एवं रमणीय लोकोंमें जाता है ॥ ९०–९१½ ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च दिव्यमाल्यानुलेपनैः ॥ ९२ ॥

विमानैः काञ्चनैर्हृद्यैः पृष्ठतश्चानुगम्यते।

उसके पीछे-पीछे दिव्यमाला और अनुलेपन धारण करनेवाले गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे सेवित सोनेके मनोरम विमान चलते हैं ॥ ९२½ ॥

एकविंशे तु दिवसे यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९३ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
लोकमौशनसं दिव्यं शक्रलोकं च गच्छति ॥ ९४ ॥
अश्विनोर्मरुतां चैव सुखेष्वभिरतः सदा।
अनभिज्ञश्च दुःखानां विमानवरमास्थितः ॥ ९५ ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीभिः क्रीडत्यमरवत् प्रभुः।

जो लगातार बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ इक्कीसवें दिनपर एक बार भोजन करता है, वह शुक्राचार्य तथा इन्द्रके दिव्यलोकमें जाता है। इतना ही नहीं, उसे अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंके लोकोंकी भी प्राप्ति होती है। उन लोकोंमें वह सदा सुख भोगनेमें ही तत्पर रहता है। दुःखोंका तो वह नाम भी नहीं जानता है और श्रेष्ठ विमानपर विराजमान हो सुन्दरी स्त्रियोंसे सेवित होता हुआ शक्तिशाली देवताके समान क्रीड़ा करता है ॥ ९३–९५½ ॥

द्वाविंशे दिवसे प्राप्ते यो भुङ्क्ते ह्येकभोजनम् ॥ ९६ ॥
सदा द्वादशमासान् वै जुह्वानो जातवेदसम्।
अहिंसानिरतो धीमान् सत्यवागनसूयकः ॥ ९७ ॥
लोकान् वसूनामाप्नोति दिवाकरसमप्रभः।
कामचारी सुधाहारो विमानवरमास्थितः ॥ ९८ ॥
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः।

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ बाईसवाँ दिन प्राप्त होनेपर एक बार भोजन करता है तथा अहिंसामें तत्पर, बुद्धिमान्, सत्यवादी और दोषदृष्टिसे रहित होता है, वह सूर्यके समान तेजस्वी रूप धारण करके श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो वसुओंके लोकमें जाता है। वहाँ इच्छानुसार विचरता, अमृत पीकर रहता और दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥ ९६–९८½ ॥

त्रयोविंशे तु दिवसे प्राशेद् यस्त्वेकभोजनम् ॥ ९९ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु मिताहारो जितेन्द्रियः।
वायोरुशनसश्चैव रुद्रलोकं च गच्छति ॥ १०० ॥

जो लगातार बारह महीनोंतक मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर तेईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह वायु, शुक्राचार्य तथा रुद्रके लोकमें जाता है ॥ ९९-१०० ॥

कामचारी कामगमः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः।
अनेकगुणपर्यन्तं विमानवरमास्थितः ॥ १०१ ॥
रमते देवकन्याभिर्दिव्याभरणभूषितः।

वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो इच्छानुसार विचरता, जहाँ इच्छा होती वहाँ जाता और अप्सराओंद्वारा पूजित होता है। उन लोकोंमें वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥ १०१½ ॥

चतुर्विंशे तु दिवसे यः प्राप्ते प्राशते हविः ॥ १०२ ॥
सदा द्वादशमासांश्च जुह्वानो जातवेदसम्।
आदित्यानामधीवासे मोदमानो वसेच्चिरम् ॥ १०३ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः।

जो लगातार बारह महीनोंतक अग्निहोत्र करता हुआ चौबीसवें दिन एक बार हविष्यान्न भोजन करता है, वह दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्यगन्ध तथा दिव्य अनुलेपन धारण करके सुदीर्घकालतक आदित्यलोकमें सानन्द निवास करता है ॥ १०२–१०३½ ॥

विमाने काञ्चने दिव्ये हंसयुक्ते मनोरमे ॥ १०४ ॥
रमते देवकन्यानां सहस्रैरयुतैस्तथा।

वहाँ हंसयुक्त मनोरम एवं दिव्य सुवर्णमय विमानपर वह सहस्रों तथा अयुतों देवकन्याओंके साथ रमण करता है ॥

पञ्चविंशे तु दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ॥ १०५ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु पुष्कलं यानमारुहेत्।

जो लगातार बारह महीनोंतक पचीसवें दिन एक बार भोजन करता है, उसको सवारीके लिये बहुत-से विमान या वाहन प्राप्त होते हैं ॥ १०५½ ॥

सिंहव्याघ्रप्रयुक्तैस्तु मेघनिःस्वननादितैः ॥ १०६ ॥
स रथैर्नन्दिघोषैश्च पृष्ठतो ह्यनुगम्यते।
देवकन्यासमारूढैः काञ्चनैर्विमलैः शुभैः ॥ १०७ ॥

उसके पीछे सिंहों और व्याघ्रोंसे जुते हुए तथा मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे निनादित बहुसंख्यक रथ सानन्द विजयघोष करते हुए चलते हैं। उन सुवर्णमय, निर्मल एवं मङ्गलकारी रथोंपर देवकन्याएँ आरूढ़ होती हैं ॥ १०६–१०७ ॥

विमानमुत्तमं दिव्यमास्थाय सुमनोहरम्।
तत्र कल्पसहस्रं वै वसते स्त्रीशतावृते ॥ १०८ ॥
सुधारसं चोपजीवन्नमृतोपममुत्तमम्।

वह दिव्य, उत्तम एवं मनोहर विमानपर विराजमान हो सैकड़ों सुन्दरियोंसे भरे हुए महलमें सहस्र कल्पोंतक निवास करता है। वहाँ देवताओंके भोज्य अमृतके समान उत्तम सुधारसको पीकर वह जीवन बिताता है ॥ १०८½ ॥

षड्विंशे दिवसे यस्तु प्रकुर्यादेकभोजनम् ॥ १०९ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु नियतो नियताशनः।
जितेन्द्रियो वीतरागो जुह्वानो जातवेदसम् ॥ ११० ॥
स प्राप्नोति महाभागः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः।
सप्तानां मरुतां लोकान् वसूनां चापि सोऽश्नुते ॥ १११ ॥

जो लगातार बारह महीनोंतक मन और इन्द्रियों-

को संयममें रखकर मिताहारी हो छब्बीसवें दिन एक बार भोजन करता है तथा वीतराग और जितेन्द्रिय हो प्रतिदिन अग्निमें आहुति देता है, वह महाभाग मनुष्य अप्सराओंसे पूजित हो सात मरुद्गणों और आठ वसुओंके लोकोंमें जाता है ॥ १०९—१११ ॥

विमानैः स्फाटिकैर्दिव्यैः सर्वरत्नैरलंकृतैः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पूज्यमानः प्रमोदते ॥ ११२ ॥
द्वे युगानां सहस्रे तु दिव्ये दिव्येन तेजसा ।

सम्पूर्ण रत्नोंसे अलंकृत स्फटिक मणिमय दिव्य विमानोंसे सम्पन्न हो गन्धर्वों और अप्सराओंद्वारा पूजित होता हुआ दिव्य तेजसे युक्त हो देवताओंके दो हजार दिव्य युगोंतक वह उन लोकोंमें आनन्द भोगता है ॥ ११२½ ॥

सप्तविंशेऽथ दिवसे यः कुर्यादेकभोजनम् ॥ ११३ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम् ।
फलं प्राप्नोति विपुलं देवलोके च पूज्यते ॥ ११४ ॥

जो बारह महीनोंतक प्रतिदिन अग्निहोत्र करता हुआ हर सत्ताईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह प्रचुर फलका भागी होता और देवलोकमें सम्मान पाता है । ११३-११४ ।

अमृताशी वसंस्तत्र स वितृष्णः प्रमोदते ।
देवर्षिचरितं राजन् राजर्षिभिरनुष्ठितम् ॥ ११५ ॥
अध्यावसति दिव्यात्मा विमानवरमास्थितः ।
स्त्रीभिर्मनोभिरामाभी रममाणो मदोत्कटः ॥ ११६ ॥
युगकल्पसहस्राणि त्रीण्यावसति वै सुखम् ।

वहाँ उसे अमृतका आहार प्राप्त होता है तथा वह तृष्णारहित हो वहाँ रहकर आनन्द भोगता है । राजन् ! वह दिव्यरूपधारी पुरुष राजर्षियोंद्वारा वर्णित देवर्षियोंके चरित्रका श्रवण-मनन करता है और श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ हो मनोरम सुन्दरियोंके साथ मदोन्मत्तभावसे रमण करता हुआ तीन हजार युगों एवं कल्पोंतक वहाँ सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ११५-११६½ ॥

योऽष्टाविंशे तु दिवसे प्राश्नीयादेकभोजनम् ॥ ११७ ॥
सदा द्वादशमासांस्तु जितात्मा विजितेन्द्रियः ।
फलं देवर्षिचरितं विपुलं समुपाश्नुते ॥ ११८ ॥

जो बारह महीनोंतक सदा अपने मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर अट्ठाईसवें दिन एक बार भोजन करता है, वह देवर्षियोंको प्राप्त होनेवाले महान् फलका उपभोग करता है ॥ ११७-११८ ॥

भोगवांस्तेजसा भाति सहस्रांशुरिवामलः ।
सुकुमार्यश्च नार्यस्तं रममाणाः सुवर्चसः ॥ ११९ ॥
पीनस्तनोरुजघना दिव्याभरणभूषिताः ।
रमयन्ति मनःकान्ते विमाने सूर्यसंनिभे ॥ १२० ॥
सर्वकामगमे दिव्ये कल्पायुतशतं समाः ।

वह भोगसे सम्पन्न हो अपने तेजसे निर्मल सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता है और सुन्दर कान्तिवाली, पीन उरोज, जाँघ और जघन प्रदेशवाली, दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुकुमारी रमणियाँ सूर्यके समान प्रकाशित और सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाले मनोरम दिव्य विमानपर बैठकर उस पुण्यात्मा पुरुषका दस लाख कल्पोंके वर्षोंतक मनोरंजन करती हैं ॥ ११९-१२०½ ॥

एकोनत्रिंशे दिवसे यः प्राशेदेकभोजनम् ॥ १२१ ॥
सदा द्वादशमासान् वै सत्यव्रतपरायणः ।
तस्य लोकाः शुभा दिव्या देवराजर्षिपूजिताः ॥ १२२ ॥

जो बारह महीनोंतक सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर हो उन्तीसवें दिन एक बार भोजन करता है, उसे देवर्षियों तथा राजर्षियोंद्वारा पूजित दिव्य मङ्गलमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ १२१-१२२ ॥

विमानं सूर्यचन्द्राभं दिव्यं समधिगच्छति ।
जातरूपमयं युक्तं सर्वरत्नसमन्वितम् ॥ १२३ ॥

वह सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित तथा आवश्यक सामग्रियोंसे युक्त सुवर्णमय दिव्य विमान प्राप्त करता है ॥ १२३ ॥

अप्सरोगणसम्पूर्णं गन्धर्वैरभिनादितम् ।
तत्र चैनं शुभा नार्यो दिव्याभरणभूषिताः ॥ १२४ ॥
मनोऽभिरामा मधुरा रमयन्ति मदोत्कटाः ।

उस विमानमें अप्सराएँ भरी रहती हैं, गन्धर्वोंके गीतोंकी मधुर ध्वनिसे वह विमान गूँजता रहता है । उस विमानमें दिव्य आभूषणोंसे विभूषित, शुभ लक्षणसम्पन्न, मनोभिराम, मदमत्त एवं मधुरभाषिणी रमणियाँ उस पुरुषका मनोरंजन करती हैं ॥ १२४½ ॥

भोगवांस्तेजसा युक्तो वैश्वानरसमप्रभः ॥ १२५ ॥
दिव्यो दिव्येन वपुषा भ्राजमान इवामरः ।
वसूनां मरुतां चैव साध्यानामश्विनोस्तथा ॥ १२६ ॥
रुद्राणां च तथा लोकं ब्रह्मलोकं च गच्छति ।

वह पुरुष भोगसम्पन्न, तेजस्वी, अग्निके समान दीप्तिमान्, अपने दिव्य शरीरसे देवताकी भाँति प्रकाशमान तथा दिव्यभावसे युक्त हो वसुओं, मरुद्गणों, साध्यगणों, अश्विनीकुमारों, रुद्रों तथा ब्रह्माजीके लोकमें भी जाता है ॥ १२५-१२६½ ॥

यस्तु मासे गते भुङ्क्ते एकभक्तं शमात्मकः ॥ १२७ ॥
सदा द्वादशमासान् वै ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

जो बारह महीनोंतक प्रत्येक मास व्यतीत होनेपर तीसवें दिन एक बार भोजन करता और सदा शान्तभावसे रहता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ १२७½ ॥

सुधारसकृताहारः श्रीमान् सर्वमनोहरः ॥१२८॥
तेजसा वपुषा लक्ष्म्या भ्राजते रश्मिवानिव ।

वह वहाँ सुधारसका भोजन करता और सबके मनको हर लेनेवाला कान्तिमान् रूप धारण करता है। वह अपने तेज, सुन्दर शरीर तथा अङ्गकान्तिसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित होता है ॥ १२८½ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥१२९॥
सुखेष्वभिरतो भोगी दुःखानामविजानकः ।

दिव्यमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्यगन्ध और दिव्य अनुलेपन धारण करके वह भोगकी शक्ति और साधनसे सम्पन्न हो सुख-भोगमें ही रत रहता है। दुःखोंका उसे कभी अनुभव नहीं होता है ॥ १२९½ ॥

स्वयंप्रभाभिर्नारीभिर्विमानस्थो महीयते ॥१३०॥
रुद्रदेवर्षिकन्याभिः सततं चाभिपूज्यते ।
नानारमणरूपाभिर्नानारागाभिरेव च ॥१३१॥
नानामधुरभाषाभिर्नानारतिभिरेव च ।

वह विमानपर आरूढ़ हो अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारियोंद्वारा सम्मानित होता है। रुद्रों तथा देवर्षियोंकी कन्याएँ सदा उसकी पूजा करती हैं। वे कन्याएँ नाना प्रकारके रमणीय रूप, विभिन्न प्रकारके राग, भाँति-भाँतिकी मधुर भाषणकला तथा अनेक तरहकी रति-क्रीडाओंसे सुशोभित होती हैं ॥ १३०-१३१½ ॥

विमाने गगनाकारे सूर्यवैदूर्यसंनिभे ॥१३२॥
पृष्ठतः सोमसंकाशे उदर्के चाभ्रवन्निभे ।
दक्षिणायां तु रक्ताभे अधस्तान्नीलमण्डले ॥१३३॥
ऊर्ध्वे विचित्रसंकाशे नैको वसति पूजितः ।

जिस विमानपर वह विराजमान होता है, वह आकाशके समान विशाल दिखायी देता है। सूर्य और वैदूर्यमणिके समान तेजस्वी जान पड़ता है। उसका पिछला भाग चन्द्रमा-समान, वामभाग मेघके सदृश, दाहिना भाग लाल प्रभासे युक्त, निचला भाग नीलमण्डलके समान तथा ऊपरका भाग अनेक रंगोंके सम्मिश्रणसे विचित्र-सा प्रतीत होता है। उसमें वह अनेक नर-नारियोंके साथ सम्मानित होकर रहता है ॥ १३२-१३३½ ॥

यावद् वर्षसहस्रं वै जम्बुद्वीपे प्रवर्षति ॥१३४॥
तावत् संवत्सराः प्रोक्ता ब्रह्मलोकेऽस्य धीमतः ।

मेघ जम्बूद्वीपमें जितने जलबिन्दुओंकी वर्षा करता है, उतने हजार वर्षोंतक उस बुद्धिमान् पुरुषका ब्रह्मलोकमें निवास बताया गया है ॥ १३४½ ॥

विप्रुषश्चैव यावन्त्यो निपतन्ति नभस्तलात् ॥१३५॥
वर्षासु वर्षतस्तावन्निवसत्यमरप्रभः ।

वर्षा ऋतुमें आकाशसे धरतीपर जितनी बूँदें गिरती हैं, उतने वर्षोंतक वह देवोपम तेजस्वी पुरुष ब्रह्मलोकमें निवास करता है ॥ १३५½ ॥

मासोपवासी वर्षैस्तु दशभिः स्वर्गमुत्तमम् ॥१३६॥
महर्षित्वमथासाद्य सशरीरगतिर्भवेत् ।

दस वर्षोंतक एक-एक मास उपवास करके एकतीसवें दिन भोजन करनेवाला पुरुष उत्तम स्वर्ग लोकको जाता है। वह महर्षि पदको प्राप्त होकर सशरीर दिव्यलोककी यात्रा करता है ॥ १३६½ ॥

मुनिर्दान्तो जितक्रोधो जितशिश्नोदरः सदा ॥१३७॥
जुह्वन्नग्नींश्च नियतः संध्योपासनसेविता ।
बहुभिर्नियमैरेवं शुचिरश्नाति यो नरः ॥१३८॥
अभ्रावकाशशीलश्च तस्य भानोरिव त्विषः ।

जो मनुष्य सदा मुनि, जितेन्द्रिय, क्रोधको जीतनेवाला, शिश्न और उदरके वेगको सदा काबूमें रखनेवाला, नियमपूर्वक तीनों अग्नियोंमें आहुति देनेवाला और संध्योपासनामें तत्पर रहनेवाला है तथा जो पवित्र होकर इन पहले बताये हुए अनेक प्रकारके नियमोंके पालनपूर्वक भोजन करता है, वह आकाशके समान निर्मल होता है और उसकी कान्ति सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होती है ॥ १३७-१३८½ ॥

दिवं गत्वा शरीरेण स्वेन राजन् यथामरः ॥१३९॥
स्वर्गं पुण्यं यथाकाममुपभुङ्क्ते तथाविधः ।

राजन्! ऐसे गुणोंसे युक्त पुरुष देवताके समान अपने शरीरके साथ ही देवलोकमें जाकर वहाँ इच्छाके अनुसार स्वर्गके पुण्यफलका उपभोग करता है ॥ १३९½ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ यज्ञानां विधिरुत्तमः ॥१४०॥
व्याख्यातो ह्यानुपूर्व्येण उपवासफलात्मकः ।
दरिद्रैर्मनुजैः पार्थ प्राप्तं यज्ञफलं यथा ॥१४१॥

भरतश्रेष्ठ! यह तुम्हें यज्ञोंका उत्तम विधान क्रमशः विस्तारपूर्वक बताया गया है। इसमें उपवासके फलपर प्रकाश डाला गया है। कुन्तीनन्दन! दरिद्र मनुष्योंने इन उपवासात्मक व्रतोंका अनुष्ठान करके यज्ञोंका फल प्राप्त किया है ॥

उपवासानिमान् कृत्वा गच्छेच्च परमां गतिम् ।
देवद्विजातिपूजायां रतो भरतसत्तम ॥१४२॥

भरतश्रेष्ठ! देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजामें तत्पर रहकर जो इन उपवासोंका पालन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥

उपवासविधिस्त्वेष विस्तरेण प्रकीर्तितः ।
नियतेष्वप्रमत्तेषु शौचवत्सु महात्मसु ॥१४३॥
दम्भद्रोहनिवृत्तेषु कृतबुद्धिषु भारत ।

अचलेष्वप्रकम्पेषु मा ते भूदत्र संशयः ॥१४४॥

भारत ! नियमशील, सावधान, शौचाचारसे सम्पन्न, महामनस्वी, दम्भ और द्रोहसे रहित, विशुद्ध बुद्धि, अचल और स्थिर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये मैंने यह उपवासकी विधि विस्तारपूर्वक बतायी है। इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये ॥ १४३-१४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उपवासविधिर्नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उपवासकी विधिनामक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

मानस तथा पार्थिव तीर्थकी महत्ता

युधिष्ठिर उवाच

यद् वरं सर्वतीर्थानां तन्मे ब्रूहि पितामह ।
यत्र चैव परं शौचं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ हो तथा जहाँ जानेसे परम शुद्धि हो जाती हो, उस तीर्थको मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणः ।
यत्तु तीर्थं च शौचं च तन्मे शृणु समाहितः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सब मनीषी पुरुषोंके लिये गुणकारी होते हैं; किंतु उन सबमें जो परम पवित्र और प्रधान तीर्थ हैं, उसका वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ ३ ॥

जिसमें धैर्यरूप कुण्ड और सत्यरूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल एवं अत्यन्त शुद्ध है, उस मानस तीर्थमें सदा परमात्माका आश्रय लेकर स्नान करना चाहिये ॥

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥ ४ ॥

कामना और याचनाका अभाव, सरलता, सत्य, मृदुता, अहिंसा, समस्त प्राणियोंके प्रति क्रूरताका अभाव-दया, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये ही इस मानस तीर्थके सेवनसे प्राप्त होनेवाली पवित्रताके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥ ५ ॥

जो ममता, अहंकार, राग-द्वेषादि द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित एवं भिक्षासे जीवन निर्वाह करते हैं, वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले साधु पुरुष तीर्थस्वरूप हैं ॥ ५ ॥

तत्त्ववित्त्वनहंबुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते ।
(नारायणेऽथ रुद्रे वा भक्तिस्तीर्थं परं मता ।)
शौचलक्षणमेतत् ते सर्वत्रैवान्ववेक्षतः ॥ ६ ॥

किंतु जिसकी बुद्धिमें अहंकारका नाम भी नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ तीर्थ कहलाता है। भगवान् नारायण अथवा भगवान् शिवमें जो भक्ति होती है, वह भी उत्तम तीर्थ मानी गयी है। पवित्रताका यह लक्षण तुम्हें विचार करनेपर सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होगा ॥ ६ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो येषां निर्धौतमात्मनः ।
शौचाशौचसमायुक्ताः स्वकार्यपरिमार्गिणः ॥ ७ ॥
सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ये ॥ ८ ॥

जिनके अन्तःकरणसे तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण धुल गये हैं अर्थात् जो तीनों गुणोंसे रहित हैं, जो बाह्य पवित्रता और अपवित्रतासे युक्त रहकर भी अपने कर्तव्य (तत्त्व-विचार, ध्यान, उपासना आदि) का ही अनुसंधान करते हैं। जो सर्वस्वके त्यागमें ही अभिरुचि रखते हैं, सर्वज्ञ और समदर्शी होकर शौचाचारके पालनद्वारा आत्मशुद्धिका सम्पादन करते हैं, वे सत्पुरुष ही परम पवित्र तीर्थस्वरूप हैं ॥

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ९ ॥

शरीरको केवल पानीसे भिगो लेना ही स्नान नहीं कहलाता है। सच्चा स्नान तो उसीने किया है, जिसने मन-इन्द्रियके संयमरूपी जलमें गोता लगाया है। वही बाहर और भीतरसे भी पवित्र माना गया है ॥ ९ ॥

अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः ।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ॥ १० ॥

जो बीते या नष्ट हुए विषयोंकी अपेक्षा नहीं रखते, प्राप्त हुए पदार्थोंमें ममताशून्य होते हैं तथा जिनके मनमें कोई इच्छा पैदा ही नहीं होती, उन्हींमें परम पवित्रता होती है ॥

प्रज्ञानं शौचमेवेह शरीरस्य विशेषतः ।
तथा निष्किंचनत्वं च मनसश्च प्रसन्नता ॥ ११ ॥

इस जगत्में प्रज्ञान ही शरीर-शुद्धिका विशेष साधन है।

इसी प्रकार अकिंचनता और मनकी प्रसन्नता भी शरीरको शुद्ध करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचमतः परम्।
ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम् ॥ १२ ॥

शुद्धि चार प्रकारकी मानी गयी है—आचारशुद्धि, मनःशुद्धि, तीर्थशुद्धि और ज्ञानशुद्धि; इनमें ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली शुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है ॥ १२ ॥

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥

जो प्रसन्न एवं शुद्ध मनसे ब्रह्मज्ञानरूपी जलके द्वारा मानसतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्त्वदर्शी ज्ञानीका स्नान माना गया है ॥ १३ ॥

समारोपितशौचस्तु नित्यं भावसमाहितः।
केवलं गुणसम्पन्नः शुचिरेव नरः सदा ॥ १४ ॥

जो सदा शौचाचारसे सम्पन्न, विशुद्ध भावसे युक्त और केवल सद्गुणोंसे विभूषित है, उस मनुष्यको सदा शुद्ध ही समझना चाहिये ॥ १४ ॥

शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तान्येतानि भारत।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि शृणु तान्यपि ॥ १५ ॥

भारत! यह मैंने शरीरमें स्थित तीर्थोंका वर्णन किया; अब पृथ्वीपर जो पुण्यतीर्थ हैं, उनका महत्त्व भी सुनो ॥ १५ ॥

शरीरस्य यथोद्देशाः शुचयः परिकीर्तिताः।
तथा पृथिव्या भागाश्च पुण्यानि सलिलानि च ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके विभिन्न स्थान पवित्र बताये गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीके भिन्न-भिन्न भाग भी पवित्र तीर्थ हैं और वहाँका जल पुण्यदायक है ॥ १६ ॥

कीर्तनाच्चैव तीर्थस्य स्नानाच्च पितृतर्पणात्।
धुनन्ति पापं तीर्थेषु ते प्रयान्ति सुखं दिवम् ॥ १७ ॥

जो लोग तीर्थोंके नाम लेकर तीर्थोंमें स्नान करके तथा उनमें पितरोंका तर्पण करके अपने पाप धो डालते हैं, वे बड़े सुखसे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १७ ॥

परिग्रहाच्च साधूनां पृथिव्याश्चैव तेजसा।
अतीव पुण्यभागास्ते सलिलस्य च तेजसा ॥ १८ ॥

पृथ्वीके कुछ भाग साधु पुरुषोंके निवाससे तथा स्वयं पृथ्वी और जलके तेजसे अत्यन्त पवित्र माने गये हैं ॥ १८ ॥

मनसश्च पृथिव्याश्च पुण्यास्तीर्थास्तथापरे।
उभयोरेव यः स्नायात् स सिद्धिं शीघ्रमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

इस प्रकार पृथ्वीपर और मनमें भी अनेक पुण्यमय तीर्थ हैं। जो इन दोनों प्रकारके तीर्थोंमें स्नान करता है, वह शीघ्र ही परमात्मप्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १९ ॥

यथा बलं क्रियाहीनं क्रिया वा बलवर्जिता।
नेह साधयते कार्यं समायुक्ता तु सिध्यति ॥ २० ॥
एवं शरीरशौचेन तीर्थशौचेन चान्वितः।
शुचिः सिद्धिमवाप्नोति द्विविधं शौचमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जैसे क्रियाहीन बल अथवा बलरहित क्रिया इस जगत्‌में कार्यका साधन नहीं कर सकती। बल और क्रिया दोनोंके संयुक्त होनेपर ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसी प्रकार शरीर-शुद्धि और तीर्थशुद्धिसे युक्त पुरुष ही पवित्र होकर परमात्म-प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त करता है। अतः दोनों प्रकारकी शुद्धि ही उत्तम मानी गयी है ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शौचानुपृच्छा नामाष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शुद्धिकी जिज्ञासानामक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २१½ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

प्रत्येक मासकी द्वादशी तिथिको उपवास और भगवान् विष्णुकी पूजा करनेका विशेष माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामुपवासानां यच्छ्रेयः सुमहत्फलम्।
यच्चाप्यसंशयं लोके तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! समस्त उपवासोंमें जो सबसे श्रेष्ठ और महान् फल देनेवाला है तथा जिसके विषयमें लोगोंको कोई संशय नहीं है, वह आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथा गीतं स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यत् कृत्वा निर्वृतो भूयात् पुरुषो नात्र संशयः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! स्वयम्भू भगवान् विष्णुने इस विषयमें जैसा कहा है, उसे बताता हूँ, सुनो। उसका अनुष्ठान करके पुरुष परम सुखी हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

द्वादश्यां मार्गशीर्षे तु अहोरात्रेण केशवम्।
अर्च्याश्वमेधं प्राप्नोति दुष्कृतं चास्य नश्यति ॥ ३ ॥

मार्गशीर्षमासमें द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् केशवकी पूजा-अर्चा करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पा लेता है और उसका सारा पाप नष्ट हो जाता है ॥

तथैव पौषमासे तु पूज्यो नारायणेति च।

वाजपेयमवाप्नोति सिद्धिं च परमां व्रजेत् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार पौषमासमें द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक भगवान् नारायणकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाले पुरुषको वाजपेय यज्ञका फल मिलता है और वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां माघमासे तु माधवम्।
राजसूयमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ५ ॥

माघमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् माधवकी पूजा करनेसे उपासकको राजसूय यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥

तथैव फाल्गुने मासि गोविन्देति च पूजयन्।
अतिरात्रमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ६ ॥

इसी तरह फाल्गुनमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक गोविन्द नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष अतिरात्र यज्ञका फल पाता है और मृत्युके पश्चात् सोमलोकमें जाता है ॥ ६ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां चैत्रे विष्णुरिति स्मरन्।
पौण्डरीकमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ७ ॥

चैत्रमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके विष्णुनामसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला मनुष्य पौण्डरीक यज्ञका फल पाता है और देवलोकमें जाता है ॥ ७ ॥

वैशाखमासे द्वादश्यां पूजयन् मधुसूदनम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ८ ॥

वैशाखमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक भगवान् मधुसूदनका पूजन करनेवाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता और सोमलोकमें जाता है ॥ ८ ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां ज्येष्ठे मासि त्रिविक्रमम्।
गवां मेधमवाप्नोति अप्सरोभिश्च मोदते ॥ ९ ॥

ज्येष्ठमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके जो भगवान् त्रिविक्रमकी पूजा करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता और अप्सराओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ९ ॥

आषाढे मासि द्वादश्यां वामनेति च पूजयन्।
नरमेधमवाप्नोति पुण्यं च लभते महत् ॥ १० ॥

आषाढ़मासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक वामन नामसे भगवान्‌का पूजन करनेवाला पुरुष नरमेध यज्ञका फल पाता और महान् पुण्यका भागी होता है ॥ १० ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधरम्।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति विमानस्थश्च मोदते ॥ ११ ॥

श्रावणमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके जो भगवान् श्रीधरकी आराधना करता है, वह पञ्च महायज्ञोंका फल पाता और विमानपर बैठकर सुख भोगता है ॥ ११ ॥

तथा भाद्रपदे मासि हृषीकेशेति पूजयन्।
सौत्रामणिमवाप्नोति पूतात्मा भवते च हि ॥ १२ ॥

भाद्रपदमासकी द्वादशी तिथिको उपवासपूर्वक हृषीकेश नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला मनुष्य सौत्रामणि यज्ञका फल पाता और पवित्रात्मा होता है ॥ १२ ॥

द्वादश्यामाश्विने मासि पद्मनाभेति चार्चयन्।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ १३ ॥

आश्विनमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके पद्मनाभ नामसे भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष सहस्र गोदानका पुण्यफल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

द्वादश्यां कार्तिके मासि पूज्य दामोदरेति च।
गवां यज्ञमवाप्नोति पुमान् स्त्री वा न संशयः ॥ १४ ॥

कार्तिकमासकी द्वादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके भगवान् दामोदरकी पूजा करनेसे स्त्री हो या पुरुष गो-यज्ञका फल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

अर्चयेत् पुण्डरीकाक्षमेवं संवत्सरं तु यः।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो एक वर्षतक कमलनयन भगवान् विष्णुका पूजन करता है, वह पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेवाला होता है और उसे बहुत-सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है ॥

अहन्यहनि तद्भावमुपेन्द्रं योऽधिगच्छति।
समाप्ते भोजयेद् विप्रानथवा दापयेद् घृतम् ॥ १६ ॥

जो प्रतिदिन इसी प्रकार भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, वह विष्णुभावको प्राप्त होता है। यह व्रत समाप्त होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन करावे अथवा उन्हें घृतदान करे ॥ १६ ॥

अतः परं नोपवासो भवतीति विनिश्चयः।
उवाच भगवान् विष्णुः स्वयमेव पुरातनम् ॥ १७ ॥

इस उपवाससे बढ़कर दूसरा कोई उपवास नहीं है, इसे निश्चय समझना चाहिये। साक्षात् भगवान् विष्णुने ही इस पुरातन व्रतके विषयमें बताया है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विष्णोर्द्वादशकं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भगवान् विष्णुका द्वादशी-व्रत नामक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

रूप-सौन्दर्य और लोकप्रियताकी प्राप्तिके लिये मार्गशीर्षमासमें चन्द्र-व्रत करनेका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगतं भीष्मं वृद्धं कुरुपितामहम्।
उपगम्य महाप्राज्ञः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाज्ञानी युधिष्ठिरने बाणशय्यापर सोये हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीके निकट जाकर इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अङ्गानां रूपसौभाग्यं प्रियं चैव कथं भवेत्।
धर्मार्थकामसंयुक्तः सुखभागी कथं भवेत् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मनुष्यके अङ्गोंको सुन्दर रूपका सौभाग्य कैसे प्राप्त होता है ? मनुष्यमें लोकप्रियता कैसे आती है ? धर्म, अर्थ और कामसे युक्त पुरुष किस प्रकार सुखका भागी हो सकता है ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते।
पादौ मूलेन राजेन्द्र जङ्घायामथ रोहिणीम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! मार्गशीर्षमासके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको मूल नक्षत्रसे चन्द्रमाका योग होनेपर चन्द्रसम्बन्धी व्रत आरम्भ करे। चन्द्रमाके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। देवतासहित मूलनक्षत्रके द्वारा उनके दोनों चरणोंकी भावना करे और पिण्डलियोंमें रोहिणीको स्थापित करे ॥ ३ ॥

अश्विन्यां सक्थिनी चैव ऊरू चाषाढयोस्तथा।
गुह्यं तु फाल्गुनी विद्यात् कृत्तिका कटिकास्तथा ॥ ४ ॥

जाँघोंमें अश्विनी नक्षत्र, ऊरुओंमें पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र, गुह्य भागमें पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र तथा कटिभागमें कृत्तिकाकी स्थिति समझे ॥ ४ ॥

नाभिं भाद्रपदे विद्याद् रेवत्यामक्षिमण्डलम्।
पृष्ठमेव धनिष्ठासु अनुराधोत्तरास्तथा ॥ ५ ॥

नाभिमें पूर्वाभाद्रपदा और उत्तराभाद्रपदाको जाने, नेत्रमण्डलमें रेवती, पृष्ठभागमें धनिष्ठा, अनुराधा तथा उत्तराको स्थापित समझे ॥ ५ ॥

बाहुभ्यां तु विशाखासु हस्तौ हस्तेन निर्दिशेत्।
पुनर्वस्वङ्गुली राजन्नाश्लेषासु नखास्तथा ॥ ६ ॥

राजन् ! दोनों भुजाओंमें विशाखाका, हाथोंमें हस्तका, अङ्गुलियोंमें पुनर्वसुका तथा नखोंमें आश्लेषाकी स्थापना करे॥

ग्रीवां ज्येष्ठा च राजेन्द्र श्रवणेन तु कर्णयोः।
मुखं पुष्येण दानेन दन्तोष्ठौ स्वातिरुच्यते ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! ज्येष्ठा नक्षत्रसे ग्रीवाकी, श्रवणसे दोनों कानोंकी, पुष्य नक्षत्रकी स्थापनासे मुखकी तथा स्वाती नक्षत्रसे दाँतों-और ओठोंकी भावना बतायी जाती है ॥ ७ ॥

हासं शतभिषां चैव मघां चैवाथ नासिकाम्।
नेत्रे मृगशिरो विद्याल्ललाटे मित्रमेव तु ॥ ८ ॥

शतभिषाको हास, मघाको नासिका, मृगशिराको नेत्र और मित्र (अनुराधा) को ललाट समझे ॥ ८ ॥

भरण्यां तु शिरो विद्यात् केशानार्द्रा नराधिप।
समाप्ते तु घृतं दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! भरणीको सिर और आर्द्राको चन्द्रमाके केश समझे। (इस प्रकार विभिन्न अङ्गोंमें नक्षत्रोंकी स्थापना करके तत्सम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उन-उन अङ्गोंकी पूजा एवं जप) होम आदि प्रतिदिन करे। पौर्णमासीको व्रत समाप्त होनेपर वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको घृत दान करे ॥ ९ ॥

सुभगो दर्शनीयश्च ज्ञानभाग्यथ जायते।
जायते परिपूर्णाङ्गः पौर्णमास्येव चन्द्रमाः ॥ १० ॥

ऐसा करनेसे मनुष्य पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति परिपूर्णाङ्ग, सौभाग्यशाली, दर्शनीय तथा ज्ञानका भागी होता है॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिका युधिष्ठिरसे प्राणियोंके जन्मके प्रकारका और नानाविध पापोंके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति एवं तिर्यग्योनियोंमें जन्म लेनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! अब मैं मनुष्योंकी संसारयात्राके निर्वाहकी उत्तम विधि सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा भुवि ।
प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्य किस बर्तावसे उत्तम स्वर्गलोक पाते हैं ? और नरेश्वर ! कैसा बर्ताव करनेसे वे नरकमें पड़ते हैं ? ॥ २ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
प्रयान्त्यमुं लोकमितः को वैताननुगच्छति ॥ ३ ॥

लोग अपने मृत शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान छोड़कर जब यहाँसे परलोककी राह लेते हैं, उस समय उनके पीछे कौन जाता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

अयमायाति भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः ।
पृच्छैनं सुमहाभागमेतद् गुह्यं सनातनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! ये उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पतिजी यहाँ पधार रहे हैं । इन्हीं महाभागसे इस सनातन गूढ़ विषयको पूछो ॥ ४ ॥

नैतदन्येन शक्यं हि वक्तुं केनचिदद्य वै ।
वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते क्वचित् ॥ ५ ॥

आज दूसरा कोई इस विषयका प्रतिपादन नहीं कर सकता । बृहस्पतिजीके समान वक्ता दूसरा कोई कहीं भी नहीं है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तयोः संवदतोरेवं पार्थगाङ्गेययोस्तदा ।
आजगाम विशुद्धात्मा नाकपृष्ठाद् बृहस्पतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर और गङ्गानन्दन भीष्म, इन दोनोंमें इस प्रकार बात हो ही रही थी कि विशुद्ध अन्तःकरणवाले बृहस्पतिजी स्वर्गलोकसे वहाँ आ पहुँचे ॥ ६ ॥

ततो राजा समुत्थाय धृतराष्ट्रपुरोगमः ।
पूजामनुपमां चक्रे सर्वे ते च सभासदः ॥ ७ ॥

उन्हें देखते ही राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको आगे करके खड़े हो गये । फिर उन्होंने तथा उन सभी सभासदोंने बृहस्पतिजीकी अनुपम पूजा की ॥ ७ ॥

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम् ।
उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ तत्त्वतः ॥ ८ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भगवान् बृहस्पतिजीके समीप जाकर यथोचित रीतिसे यह तात्त्विक प्रश्न उपस्थित किया ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥ ९ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ।
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ॥ १० ॥
गच्छन्त्यमुत्र लोकं वै क एनमनुगच्छति ।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सब शास्त्रोंके विद्वान् हैं; अतः बताइये, पिता, माता, पुत्र, गुरु, सजातीय सम्बन्धी और मित्र आदिमेंसे मनुष्यका सच्चा सहायक कौन है ? जब सब लोग अपने मरे हुए शरीरको काठ और ढेलेके समान त्यागकर चले जाते हैं, तब इस जीवके साथ परलोकमें कौन जाता है? ॥ ९-१०½ ॥

बृहस्पतिरुवाच

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति ॥ ११ ॥
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ।

बृहस्पतिजीने कहा—राजन् ! प्राणी अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही मरता, अकेला ही दुःखसे पार होता तथा अकेला ही दुर्गति भोगता है ॥ ११½ ॥

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः ॥ १२ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ।

पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, जाति, सम्बन्धी तथा मित्रवर्ग—ये कोई भी उसके सहायक नहीं होते ॥ १२½ ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ॥ १३ ॥
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ।

लोग उसके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी तरह फेंककर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओरसे मुँह फेरकर चल देते हैं ॥ १३½ ॥

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ॥ १४ ॥
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ।

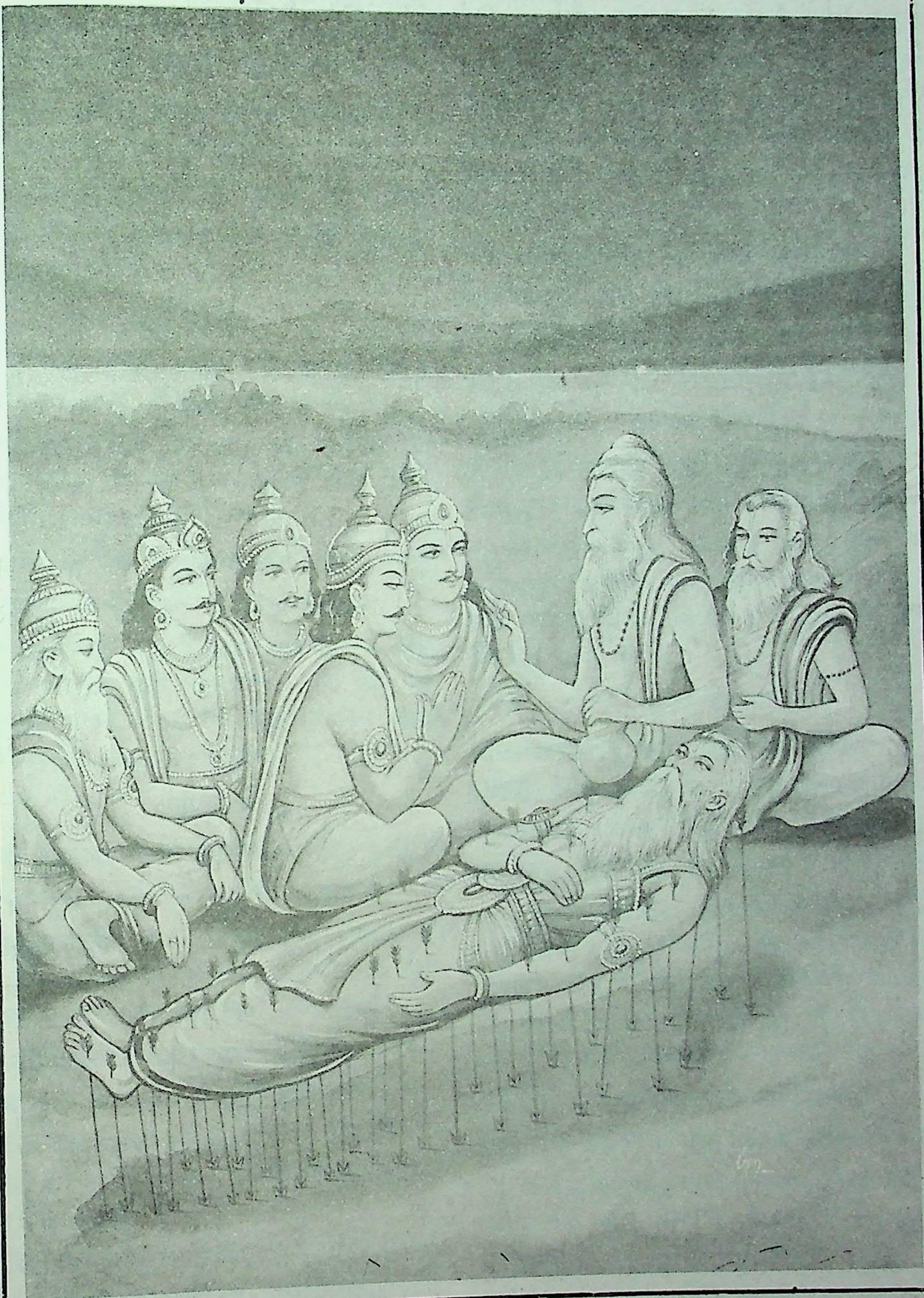
वे कुटुम्बीजन तो उसके शरीरका परित्याग करके चले जाते हैं, किंतु एकमात्र धर्म ही उस जीवात्माका अनुसरण करता है; इसलिये धर्म ही सच्चा सहायक है । अतः मनुष्योंको सदा धर्मका ही सेवन करना चाहिये ॥ १४½ ॥

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम् ॥ १५ ॥
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते ।

धर्मयुक्त प्राणी ही उत्तम स्वर्गमें जाता है और अधर्मपरायण जीव नरकमें पड़ता है ॥ १५½ ॥

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः ॥ १६ ॥
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः ।

इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि न्यायसे प्राप्त हुए धनके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करे । एकमात्र धर्म ही परलोकमें मनुष्योंका सहायक है ॥ १६½ ॥



बृहस्पतिजीका युधिष्ठिरको उपदेश

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद् वाप्यबहुश्रुतः ॥ १७ ॥
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ।

जो बहुश्रुत नहीं है, वही मनुष्य लोभ और मोहके वशीभूत हो दूसरेके लिये लोभ, मोह, दया अथवा भयसे न करने योग्य पापकर्म कर बैठता है ॥ १७½ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ॥ १८ ॥
एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ।

धर्म, अर्थ और काम—ये तीन जीवनके फल हैं, अतः मनुष्यको अधर्मके त्यागपूर्वक इन तीनोंको उपलब्ध करना चाहिये ॥ १८½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं भगवतो वाक्यं धर्मयुक्तं परं हितम् ॥ १९ ॥
शरीरनिचयं ज्ञातुं बुद्धिस्तु मम जायते ।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! आपके मुँहसे मैंने धर्मयुक्त परम हितकर बात सुनी । अब शरीरकी स्थिति जाननेके लिये मेरा विचार हो रहा है ॥ १९½ ॥

मृतं शरीरं हि नृणां सूक्ष्ममव्यक्ततां गतम् ॥ २० ॥
अचक्षुर्विषयं प्राप्तं कथं धर्मोऽनुगच्छति ।

मनुष्यका स्थूल शरीर तो मरकर यहीं पड़ा रह जाता है और उसका सूक्ष्म शरीर अव्यक्तभावको प्राप्त हो जाता है—नेत्रोंकी पहुँचसे परे है । ऐसी दशामें धर्म किस प्रकार उसका अनुसरण करता है ? ॥ २०½ ॥

बृहस्पतिरुवाच

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनोऽन्तकः ॥ २१ ॥
बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा ।

बृहस्पतिजीने कहा—धर्मराज ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, यम, बुद्धि और आत्मा—ये सब सदा एक साथ मनुष्यके धर्मपर दृष्टि रखते हैं ॥ २१½ ॥

प्राणिनामिह सर्वेषां साक्षिभूता निशानिशम् ॥ २२ ॥
एतैश्च सह धर्मोऽपि तं जीवमनुगच्छति ।

दिन और रात भी इस जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मोंके साक्षी हैं । इन सबके साथ धर्म भी जीवका अनुसरण करता है ॥ २२½ ॥

त्वगस्थिमांसं शुक्रं च शोणितं च महामते ॥ २३ ॥
शरीरं वर्जयन्त्येते जीवितेन विवर्जितम् ।

महामते ! त्वचा, अस्थि, मांस, शुक्र और शोणित—ये सब धातु निष्प्राण शरीरका परित्याग कर देते हैं अर्थात् ये उस शरीरधारी जीवात्माका साथ छोड़ देते हैं, एक धर्म ही उसके साथ जाता है ॥ २३½ ॥

ततो धर्मसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि ॥ २४ ॥
ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम् ।
देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २५ ॥

इसलिये धर्मयुक्त जीव ही परमगति प्राप्त करता है । फिर परलोकमें अपने कर्मोंका भोग समाप्त करके प्राणी जब दूसरा शरीर धारण करता है, उस समय उसके शरीरके पाँचों भूतोंमें स्थित अधिष्ठाता देवता उस जीवके शुभ और अशुभ कर्मोंको देखते हैं । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २४-२५ ॥

ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते ।
इहलोके परे चैव किं भूयः कथयामि ते ॥ २६ ॥

तदनन्तर धर्मयुक्त वह जीव इहलोक और परलोकमें सुखका अनुभव करता है । अब तुम्हें और क्या बताऊँ ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

तद् दर्शितं भगवता यथा धर्मोऽनुगच्छति ।
एतत् तु ज्ञातुमिच्छामि कथं रेतः प्रवर्तते ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! धर्म जिस प्रकार जीवका अनुसरण करता है, वह तो आपने समझा दिया । अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस शरीरमें वीर्यकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ॥ २७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

अन्नमश्नन्ति यद् देवाः शरीरस्था नरेश्वर ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा ॥ २८ ॥
ततस्तृप्तेषु राजेन्द्र तेषु भूतेषु पञ्चसु ।
मनःषष्ठेषु शुद्धात्मन् रेतः सम्पद्यते महत् ॥ २९ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—शुद्धात्मन् ! नरेश्वर ! राजेन्द्र ! इस शरीरमें स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मनके अधिष्ठाता देवता जो अन्न भक्षण करते हैं और उस अन्नसे मनसहित वे पाँचों भूत जब पूर्ण तृप्त होते हैं, तब महान् रेतस् (वीर्य) की उत्पत्ति होती है ॥ २८-२९ ॥

ततो गर्भः सम्भवति श्लेषात् स्त्रीपुंसयोर्नृप ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं भूयः किं श्रोतुमिच्छसि ॥ ३० ॥

राजन् ! फिर स्त्री-पुरुषका संयोग होनेपर वही वीर्य गर्भका रूप धारण करता है । ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

आख्यातं मे भगवता गर्भः संजायते यथा ।
यथा जातस्तु पुरुषः प्रपद्यति तदुच्यताम् ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! गर्भ जिस प्रकार उत्पन्न

होता है, वह आपने बताया। अब यह बताइये कि उत्पन्न हुआ पुरुष पुनः किस प्रकार बन्धनमें पड़ता है॥ ३१॥

बृहस्पतिरुवाच

आसन्नमात्रः पुरुषस्तैर्भूतैरभिभूयते।
विप्रयुक्तश्च तैर्भूतैः पुनर्यात्यपरां गतिम्॥ ३२॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन्! जीव उस वीर्यमें प्रविष्ट होकर जब गर्भमें संनिहित होता है, तब वे पाँचों भूत शरीररूपमें परिणत हो उसे बाँध लेते हैं, फिर उन्हीं भूतोंसे विलग होनेपर वह दूसरी गतिको प्राप्त होता है॥ ३२॥

सर्वभूतसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि।
ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम्।
देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ३३॥

शरीरमें सम्पूर्ण भूतोंसे युक्त हुआ वह जीव ही सुख या दुःख पाता है। उस समय पाँचों भूतोंमें स्थित उनके अधिष्ठाता देवता जीवके शुभ या अशुभ कर्मको देखते हैं। अब और क्या सुनना चाहते हो?॥ ३३॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वगस्थिमांसमुत्सृज्य तैश्च भूतैर्विवर्जितः।
जीवः स भगवन् क्वस्थः सुखदुःखे समश्नुते॥ ३४॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! जीव त्वचा, अस्थि और मांसमय शरीरका त्याग करके जब पाँचों भूतोंके सम्बन्धसे पृथक् हो जाता है, तब कहाँ रहकर वह सुख-दुःखका उपभोग करता है?॥ ३४॥

बृहस्पतिरुवाच

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः।
स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत॥ ३५॥

बृहस्पतिजीने कहा—भारत! जीव अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर शीघ्र ही वीर्यभावको प्राप्त होता है और स्त्रीके रजमें प्रविष्ट होकर समयानुसार जन्म धारण करता है॥ ३५॥

यमस्य पुरुषैः क्लेशं यमस्य पुरुषैर्वधम्।
दुःखं संसारचक्रं च नरः क्लेशं स विन्दति॥ ३६॥

(गर्भमें आनेके पहले सूक्ष्मशरीरमें स्थित होकर अपने दुष्कर्मोंके कारण) वह यमदूतोंद्वारा नाना प्रकारके क्लेश पाता, उनके प्रहार सहता और दुःखमय संसारचक्रमें भाँति-भाँतिके कष्ट भोगता है॥ ३६॥

इहलोके च स प्राणी जन्मप्रभृति पार्थिव।
सुकृतं कर्म वै भुङ्क्ते धर्मस्य फलमाश्रितः॥ ३७॥
यदि धर्मं यथाशक्ति जन्मप्रभृति सेवते।
ततः स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम्॥ ३८॥

पृथ्वीनाथ! यदि प्राणी इस लोकमें जन्मसे ही पुण्यकर्ममें लगा रहता है तो वह धर्मके फलका आश्रय लेकर उसके अनुसार सुख भोगता है। यदि अपनी शक्तिके अनुसार बाल्यकालसे ही धर्मका सेवन करता है तो वह मनुष्य होकर सदा सुखका अनुभव करता है॥ ३७-३८॥

अथान्तरा तु धर्मस्याप्यधर्ममुपसेवते।
सुखस्यानन्तरं दुःखं स जीवोऽप्यधिगच्छति॥ ३९॥

किंतु धर्मके बीचमें यदि कभी-कभी वह अधर्मका भी आचरण कर बैठता है तो उसे सुखके बाद दुःख भी भोगना पड़ता है॥ ३९॥

अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः।
महद् दुःखं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते॥ ४०॥

अधर्मपरायण मनुष्य यमलोकमें जाता है और वहाँ महान् दुःख भोगकर यहाँ पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है॥

कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते।
जीवो मोहसमायुक्तस्तन्मे निगदतः शृणु॥ ४१॥

जीव मोहके वशीभूत होकर जिस-जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे जैसी-जैसी योनिमें जन्म धारण करता है, उसे बता रहा हूँ, सुनो॥ ४१॥

यदेतदुच्यते शास्त्रे सेतिहासे च च्छन्दसि।
यमस्य विषयं घोरं मर्त्यो लोकः प्रपद्यते॥ ४२॥

शास्त्र, इतिहास और वेदमें जो यह बात बतायी गयी है कि मनुष्य इस लोकमें पाप करनेपर मृत्युके पश्चात् यमराजके भयंकर लोकमें जाता है, यह सत्य ही है॥ ४२॥

इह स्थानानि पुण्यानि देवतुल्यानि भूपते।
तिर्यग्योन्यतिरिक्तानि गतिमन्ति च सर्वशः॥ ४३॥

भूपाल! इस यमलोकमें देवलोकके समान पुण्यमय स्थान भी हैं, जिनमें तिर्यक् (तथा कीट-पतंग आदि) योनिके प्राणियोंको छोड़कर समस्त पुण्यात्मा जङ्गम जीव जाते हैं॥ ४३॥

यमस्य भवने दिव्ये ब्रह्मलोकसमे गुणैः।
कर्मभिर्नियतैर्बद्धो जन्तुर्दुःखान्युपाश्नुते॥ ४४॥

यमराजका भवन सौन्दर्य आदि गुणोंके कारण ब्रह्मलोकके समान दिव्य भी है। परंतु अपने नियत पापकर्मोंसे बँधा हुआ जीव वहाँ भी नरकमें पड़कर दुःख भोगता है॥ ४४॥

येन येन तु भावेन कर्मणा पुरुषो गतिम्।
प्रयाति परुषां घोरां तत्ते वक्ष्याम्यतः परम्॥ ४५॥

मनुष्य जिस-जिस भाव और जिस-जिस कर्मसे निष्ठुरतापूर्ण भयंकर गतिको प्राप्त होता है, अब उसीको बता रहा हूँ॥

अधीत्य चतुरो वेदान् द्विजो मोहसमन्वितः।
पतितात् प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते॥ ४६॥

जो द्विज चारों वेदोंका अध्ययन करनेके बाद भी मोहवश पतित मनुष्योंसे दान लेता है, उसका गदहेकी योनिमें जन्म होता है ॥ ४६ ॥

खरो जीवति वर्षाणि दस पञ्च च भारत।
खरो मृतो बलीवर्दः सप्त वर्षाणि जीवति ॥ ४७ ॥

भारत! गदहेकी योनिमें वह पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है। उसके बाद मरकर बैल होता है। उस योनिमें वह सात वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४७ ॥

बलीवर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः।
ब्रह्मरक्षश्च मासांस्त्रींस्ततो जायति ब्राह्मणः ॥ ४८ ॥

जब बैलका शरीर छूट जाता है, तब वह ब्रह्मराक्षस होता है। तीन मासतक ब्रह्मराक्षस रहनेके बाद फिर वह ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ४८ ॥

पतितं याजयित्वा तु कृमियोनौ प्रजायते।
तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ॥ ४९ ॥

भारत! जो ब्राह्मण पतित पुरुषका यज्ञ कराता है, वह मरनेके बाद कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है और उस योनिमें पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है ॥ ४९ ॥

कृमिभावाद् विमुक्तस्तु ततो जायति गर्दभः।
गर्दभः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि सूकरः ॥ ५० ॥
कुक्कुटः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि जम्बुकः।
श्वा वर्षमेकं भवति ततो जायति मानवः ॥ ५१ ॥

कीड़ेकी योनिसे छूटनेपर वह गदहेका जन्म पाता है। पाँच वर्षतक गदहा रहकर पाँच वर्ष सूअर, पाँच वर्ष मुर्गा, पाँच वर्ष सियार और एक वर्ष कुत्ता होता है। उसके बाद वह मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५०-५१ ॥

उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान्।
स जीव इह संसारांस्त्रीनाप्नोति न संशयः ॥ ५२ ॥
प्राक् श्वा भवति राजेन्द्र ततः क्रव्यात्ततः खरः।
ततः प्रेतः परिक्लिष्टः पश्चाज्जायति ब्राह्मणः ॥ ५३ ॥

जो मूर्ख शिष्य अपने अध्यापकका अपराध करता है, वह यहाँ निम्नाङ्कित तीन योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है, इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र! पहले तो वह कुत्ता होता है, फिर राक्षस और गदहा होता है। उसके बाद मरकर प्रेतावस्थामें अनेक कष्ट भोगनेके पश्चात् ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ५२-५३ ॥

मनसापि गुरोर्भार्यां यः शिष्यो याति पापकृत्।
स उग्रान् प्रैति संसारानधर्मेणेह चेतसा ॥ ५४ ॥

जो पापाचारी शिष्य गुरुपत्नीके साथ समागमका विचार भी मनमें लाता है, वह अपने मानसिक पापके कारण भयंकर योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

श्वयोनौ तु स सम्भूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति।
तत्रापि निधनं प्राप्तः कृमियोनौ प्रजायते ॥ ५५ ॥
कृमिभावमनुप्राप्तो वर्षमेकं तु जीवति।
ततस्तु निधनं प्राप्तो ब्रह्मयोनौ प्रजायते ॥ ५६ ॥

पहले कुत्तेकी योनिमें जन्म लेकर वह तीन वर्षतक जीवन धारण करता है। उस योनिमें मृत्युको प्राप्त होकर वह कीड़ेकी योनिमें उत्पन्न होता है। कीटयोनिमें जन्म लेकर वह एक वर्षतक जीवित रहता है। फिर मरनेके बाद उसका ब्राह्मण-योनिमें जन्म होता है ॥ ५५-५६ ॥

यदि पुत्रसमं शिष्यं गुरुर्हन्यादकारणे।
आत्मनः कामकारेण सोऽपि हिंस्रः प्रजायते ॥ ५७ ॥

यदि गुरु अपने पुत्रके समान शिष्यको बिना कारणके ही मारता-पीटता है तो वह अपनी स्वेच्छाचारिताके कारण हिंसक पशुकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ५७ ॥

पितरं मातरं चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः पूर्वं जायेत गर्दभः ॥ ५८ ॥

राजन्! जो पुत्र अपने माता-पिताका अनादर करता है, वह भी मरनेके बाद पहले गदहा नामक प्राणी होता है ॥

गर्दभत्वं तु सम्प्राप्य दश वर्षाणि जीवति।
संवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो जायेत मानवः ॥ ५९ ॥

गदहेका शरीर पाकर वह दस वर्षोंतक जीवित रहता है। फिर एक सालतक घड़ियाल रहनेके बाद मानव-योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ५९ ॥

पुत्रस्य मातापितरौ यस्य रुष्टावुभावपि।
गुर्वपध्यानतः सोऽपि मृतो जायति गर्दभः ॥ ६० ॥

जिस पुत्रके ऊपर माता और पिता दोनों ही रुष्ट होते हैं, वह गुरुजनोंके अनिष्टचिन्तनके कारण मृत्युके बाद गदहा होता है ॥ ६० ॥

खरो जीवति मासांस्तु दश श्वा च चतुर्दश।
बिडालः सप्तमासांस्तु ततो जायति मानवः ॥ ६१ ॥

गदहेकी योनिमें वह दस मासतक जीवित रहता है। उसके बाद चौदह महीनोंतक कुत्ता और सात मासतक बिलाव होकर अन्तमें वह मनुष्यकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ६१ ॥

मातापितरावाक्रुश्य सारिकः सम्प्रजायते।
ताडयित्वा तु तावेव जायते कच्छपो नृप ॥ ६२ ॥

माता-पिताकी निन्दा करके अथवा उन्हें गाली देकर मनुष्य दूसरे जन्ममें मैना होता है। नरेश्वर! जो माता-पिताको मारता है, वह कछुआ होता है ॥ ६२ ॥

कच्छपो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि शल्यकः।
व्यालो भूत्वा च षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ६३ ॥

दस वर्षतक कछुआ रहनेके पश्चात् तीन वर्ष साही और छः महीनेतक सर्प होता है। उसके अनन्तर वह मनुष्यकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ६३ ॥

भर्तृपिण्डमुपाश्नन् यो राजद्विष्टानि सेवते।
सोऽपि मोहसमापन्नो मृतो जायति वानरः ॥ ६४ ॥

जो पुरुष राजाके टुकड़े खाकर पलता हुआ भी मोहवश उसके शत्रुओंकी सेवा करता है, वह मरनेके बाद वानर होता है ॥ ६४ ॥

वानरो दश वर्षाणि पञ्च वर्षाणि मूषिकः।
श्वाथ भूत्वा तु षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥ ६५ ॥

दस वर्षोंतक वानर, पाँच वर्षोंतक चूहा और छः महीनोंतक कुत्ता होकर वह मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ६५ ॥

न्यासापहर्ता तु नरो यमस्य विषयं गतः।
संसाराणां शतं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ॥ ६६ ॥

दूसरोंकी धरोहर हड़प लेनेवाला मनुष्य यमलोकमें जाता और क्रमशः सौ योनियोंमें भ्रमण करके अन्तमें कीड़ा होता है ॥ ६६ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत।
दुष्कृतस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥ ६७ ॥

भारत! कीड़ेकी योनिमें वह पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है और अपने पापोंका क्षय करके अन्तमें मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ६७ ॥

असूयको नरश्चापि मृतो जायति शार्ङ्गकः।
विश्वासहर्ता तु नरो मीनो जायति दुर्मतिः ॥ ६८ ॥

दूसरोंके दोष ढूँढ़नेवाला मनुष्य हरिणकी योनिमें जन्म लेता है तथा जो अपनी खोटी बुद्धिके कारण किसीके साथ विश्वासघात करता है, वह मनुष्य मछली होता है ॥ ६८ ॥

भूत्वा मीनोऽष्ट वर्षाणि मृतो जायति भारत।
मृगस्तु चतुरो मासांस्ततश्छागः प्रजायते ॥ ६९ ॥

भारत! आठ वर्षोंतक मछली रहकर मरनेके बाद वह चार मासतक मृग होता है। उसके बाद बकरेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ६९ ॥

छागस्तु निधनं प्राप्य पूर्णे संवत्सरे ततः।
कीटः संजायते जन्तुस्ततो जायति मानुषः ॥ ७० ॥

बकरा पूरे एक वर्षपर मृत्युको प्राप्त होनेके पश्चात् कीड़ा होता है। उसके बाद उस जीवको मनुष्यका जन्म मिलता है॥

धान्यान् यवांस्तिलान् माषान् कुलत्थान् सर्षपांश्चणान्
कलापानथ मुद्गांश्च गोधूमानतसींस्तथा ॥ ७१ ॥
सस्यस्यान्यस्य हर्ता च मोहाज्जन्तुरचेतनः।
स जायते महाराज मूषिको निरपत्रपः ॥ ७२ ॥

महाराज! जो पुरुष लज्जाका परित्याग करके अज्ञान और मोहके वशीभूत होकर धान, जौ, तिल, उड़द, कुलथी, सरसों, चना, मटर, मूँग, गेहूँ और तीसी तथा दूसरे-दूसरे अनाजोंकी चोरी करता है, वह मरनेके बाद पहले चूहा होता है ॥ ७१-७२ ॥

ततः प्रेत्य महाराज मृतो जायति सूकरः।
सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ॥ ७३ ॥

राजन्! फिर वह चूहा मृत्युके पश्चात् सूअर होता है। नरेश्वर! वह सूअर जन्म लेते ही रोगसे मर जाता है ॥७३॥

श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव।
भूत्वा श्वा पञ्च वर्षाणि ततो जायति मानवः ॥ ७४ ॥

पृथ्वीनाथ! फिर उसी कर्मसे वह मूढ़ जीव कुत्ता होता है और पाँच वर्षतक कुत्ता रहकर अन्तमें मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ७४ ॥

परदाराभिमर्शं तु कृत्वा जायति वै वृकः।
श्वा शृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कङ्को बकस्तथा ॥ ७५ ॥

परस्त्रीगमनका पाप करके मनुष्य क्रमशः भेड़िया, कुत्ता, सियार, गीध, साँप, कङ्क और बगुला होता है॥ ७५ ॥

भ्रातुर्भार्यां तु पापात्मा यो धर्षयति मोहितः।
पुंस्कोकिलत्वमाप्नोति सोऽपि संवत्सरं नृप ॥ ७६ ॥

नरेश्वर! जो पापात्मा मोहवश भाईकी स्त्रीके साथ बलात्कार करता है, वह एक वर्षतक कोयलकी योनिमें पड़ा रहता है ॥ ७६ ॥

सखिभार्यां गुरोर्भार्यां राजभार्यां तथैव च।
प्रधर्षयित्वा कामाय मृतो जायति सूकरः ॥ ७७ ॥

जो कामनाकी पूर्तिके लिये मित्र, गुरु और राजाकी स्त्रीका सतीत्व भङ्ग करता है, वह मरनेके बाद सूअर होता है॥

सूकरः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि श्वाविधः।
बिडालः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि कुक्कुटः ॥ ७८ ॥
पिपीलिकस्तु मासांस्त्रीन् कीटः स्यान्मासमेव तु।
एतानासाद्य संसारान् कृमियोनौ प्रजायते ॥ ७९ ॥

पाँच वर्षतक सूअर रहकर दस वर्ष भेड़िया, पाँच वर्ष बिलाव, दस वर्ष मुर्गा, तीन महीने चींटी और एक महीने कीड़ेकी योनिमें रहता है। इन सभी योनियोंमें चक्कर लगानेके बाद वह पुनः कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७८-७९ ॥

तत्र जीवति मासांस्तु कृमियोनौ चतुर्दश।
ततोऽधर्मक्षयं कृत्वा पुनर्जायति मानवः ॥ ८० ॥

उस कीट-योनिमें वह चौदह महीनोंतक जीवन धारण करता है। तदनन्तर पापक्षय करके वह पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ८० ॥

उपस्थिते विवाहे तु यज्ञे दानेऽपि वा विभो।
मोहात् करोति यो विघ्नं स मृतो जायते कृमिः ॥ ८१ ॥

प्रभो ! जो विवाह, यज्ञ अथवा दानका अवसर आनेपर मोहवश उसमें विघ्न डालता है, वह भी मरनेके बाद कीड़ा ही होता है ॥ ८१ ॥

कृमिर्जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानवः ॥ ८२ ॥

भारत ! वह कीट पंद्रह वर्षोंतक जीवित रहता है। फिर पापोंका क्षय करके वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ ८२ ॥

पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये दातुमिच्छति।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः कृमियोनौ प्रजायते॥ ८३ ॥

राजन् ! जो पहले एक व्यक्तिको कन्यादान करके फिर दूसरेको उसी कन्याका दान करना चाहता है, वह भी मरनेके बाद कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ८३ ॥

तत्र जीवति वर्षाणि त्रयोदश युधिष्ठिर।
अधर्मसंक्षये युक्तस्ततो जायति मानवः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर ! उस योनिमें वह तेरह वर्षोंतक जीवन धारण करता है । तदनन्तर पापक्षयके पश्चात् वह पुनः मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ८४ ॥

देवकार्यमकृत्वा तु पितृकार्यमथापि वा।
अनिर्वाप्य समश्नन् वै मृतो जायति वायसः ॥ ८५ ॥

जो देवकार्य अथवा पितृकार्य न करके बलिवैश्वदेव किये बिना ही अन्न ग्रहण करता है, वह मरनेके बाद कौएकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ८५ ॥

वायसः शतवर्षाणि ततो जायति कुक्कुटः।
जायते व्यालकश्चापि मासं तस्मात् तु मानुषः ॥ ८६ ॥

सौ वर्षोंतक कौएके शरीरमें रहकर वह मुर्गा होता है। उसके बाद एक मासतक सर्प रहता है। तत्पश्चात् मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ८६ ॥

ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते।
सोऽपि मृत्युमुपागम्य क्रौञ्चयोनौ प्रजायते ॥ ८७ ॥

बड़ा भाई पिताके समान आदरणीय है, जो उसका अपमान करता है, उसे मृत्युके बाद क्रौञ्च पक्षीकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ ८७ ॥

क्रौञ्चो जीवति वर्षं तु ततो जायति चीरकः।
ततो निधनमापन्नो मानुषत्वमुपाश्नुते ॥ ८८ ॥

क्रौञ्च होकर वह एक वर्षतक जीवित रहता है। उसके बाद चीरक जातिका पक्षी होता है और फिर मरनेके बाद मनुष्य-योनिमें जन्म पाता है ॥ ८८ ॥

वृषलो ब्राह्मणीं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते।
ततः सम्प्राप्य निधनं जायते सूकरः पुनः ॥ ८९ ॥

शूद्र-जातिका पुरुष ब्राह्मणजातिकी स्त्रीके साथ समागम करके देहत्यागके पश्चात् पहले कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है। फिर मरनेके बाद सूअर होता है ॥ ८९ ॥

सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप।
श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव ॥ ९० ॥

नरेश्वर ! सूअरकी योनिमें जन्म लेते ही वह रोगसे मर जाता है। पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् वह मूढ़ जीव उसी पाप-कर्मके कारण कुत्ता होता है ॥ ९० ॥

श्वा भूत्वा कृतकर्मासौ जायते मानुषस्ततः।
तत्रापत्यं समुत्पाद्य मृतो जायति मूषिकः ॥ ९१ ॥

कुत्ता होनेपर पापकर्मका भोग समाप्त करके वह मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है। मनुष्ययोनिमें भी वह एक ही संतान पैदा करके मर जाता और शेष पापका फल भोगनेके लिये चूहा होता है ॥ ९१ ॥

कृतघ्नस्तु मृतो राजन् यमस्य विषयं गतः।
यमस्य पुरुषैः क्रुद्धैर्वधं प्राप्नोति दारुणम् ॥ ९२ ॥

राजन् ! कृतघ्न मनुष्य मरनेके बाद यमराजके लोकमें जाता है। वहाँ क्रोधमें भरे हुए यमदूत उसके ऊपर बड़ी निर्दयताके साथ प्रहार करते हैं ॥ ९२ ॥

दण्डं समुद्गरं शूलमग्निकुम्भं च दारुणम्।
असिपत्रवनं घोरवालुकं कूटशाल्मलीम् ॥ ९३ ॥
एताश्चान्याश्च बह्वीश्च यमस्य विषयं गतः।
यातनाः प्राप्य तत्रोग्रास्ततो वध्यति भारत ॥ ९४ ॥

भारत ! वह दण्ड, मुद्गर और शूलकी चोट खाकर दारुण अग्निकुम्भ (कुम्भीपाक), असिपत्रवन, तपी हुई भयंकर बालू, काँटोंसे भरी हुई शाल्मली आदि नरकोंमें कष्ट भोगता है। यमलोकमें पहुँचकर इन ऊपर बताये हुए तथा और भी बहुत-से नरकोंकी भयंकर यातनाएँ भोगकर वह वहाँ यमदूतोंद्वारा पीटा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

ततो हतः कृतघ्नः स तत्रोग्रैर्भरतर्षभ।
संसारचक्रमासाद्य कृमियोनौ प्रजायते ॥ ९५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार निर्दयी यमदूतोंसे पीड़ित हुआ कृतघ्न पुरुष पुनः संसारचक्रमें आता और कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ९५ ॥

कृमिर्भवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत।
ततो गर्भं समासाद्य तत्रैव म्रियते शिशुः ॥ ९६ ॥

भारत ! पंद्रह वर्षोंतक वह कीड़ेकी योनिमें रहता है। फिर गर्भमें आकर वहीं गर्भस्थ शिशुकी दशामें ही मर जाता है ॥ ९६ ॥

ततो गर्भशतैर्जन्तुर्बहुभिः सम्प्रपद्यते।
संसारांश्च बहून् गत्वा ततस्तिर्यक्षु जायते ॥ ९७॥

इस तरह कई सौ बार वह जीव गर्भकी यन्त्रणा भोगता है। तदनन्तर बहुत बार जन्म लेनेके पश्चात् वह तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ९७ ॥

ततो दुःखमनुप्राप्य बहु वर्षगणानिह।
अपुनर्भवसंयुक्तस्ततः कूर्मः प्रजायते ॥ ९८॥

इन योनियोंमें बहुत वर्षोंतक दुःख भोगनेके पश्चात् वह फिर मनुष्ययोनिमें न आकर दीर्घकालके लिये कछुआ हो जाता है ॥ ९८ ॥

दधि हृत्वा बकश्चापि प्लवो मत्स्यानसंस्कृतान्।
चोरयित्वा तु दुर्बुद्धिर्मधु दंशः प्रजायते ॥ ९९॥

दुर्बुद्धि मनुष्य दहीकी चोरी करके बगला होता है, कच्ची मछलियोंकी चोरी करके वह कारण्डव नामक जलपक्षी होता है और मधुका अपहरण करके वह डाँस (मच्छर) की योनिमें जन्म लेता है ॥ ९९ ॥

फलं वा मूलकं हृत्वा अपूपं वा पिपीलिकाः।
चोरयित्वा च निष्पावं जायते हलगोलकः ॥१००॥

फल, मूल अथवा पूएकी चोरी करनेपर मनुष्यको चींटीकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। निष्पाव (मटर या उड़द) की चोरी करनेवाला हलगोलक नामवाला कीड़ा होता है ॥

पायसं चोरयित्वा तु तित्तिरित्वमवाप्नुते।
हृत्वा पिष्टमयं पूपं कुम्भोलूकः प्रजायते ॥१०१॥

खीरकी चोरी करनेवाला तीतरकी योनिमें जन्म लेता है। आटेका पूआ चुराकर मनुष्य मरनेके बाद उल्लू होता है ॥ १०१ ॥

अयो हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्वायसो जायते नरः।
कांस्यं हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्हारितो जायते नरः ॥१०२॥

लोहेकी चोरी करनेवाला मूर्ख मानव कौवा होता है। काँसकी चोरी करके खोटी बुद्धिवाला मनुष्य हारीत नामक पक्षी होता है ॥ १०२ ॥

राजतं भाजनं हृत्वा कपोतः सम्प्रजायते।
हृत्वा तु काञ्चनं भाण्डं कृमियोनौ प्रजायते ॥१०३॥

चाँदीका बर्तन चुरानेवाला कबूतर होता है और सुवर्णमय भाण्डकी चोरी करके मनुष्यको कीड़ेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १०३ ॥

पत्रोर्णं चोरयित्वा तु कृकलत्वं निगच्छति।
कौशिकं तु ततो हृत्वा नरो जायति वर्तकः ॥१०४॥

ऊनी वस्त्र चुरानेवाला कृकल (गिरगिट) की योनिमें जन्म लेता है। कौशेय (रेशमी) वस्त्रकी चोरी करनेपर मनुष्य बत्तक होता है ॥ १०४ ॥

अंशुकं चोरयित्वा तु शुको जायति मानवः।
चोरयित्वा दुकूलं तु मृतो हंसः प्रजायते ॥१०५॥

अंशुक (महीन कपड़े) की चोरी करके मनुष्य तोतेका जन्म पाता है तथा दुकूल (उत्तरीय वस्त्र) की चोरी करके मृत्युको प्राप्त हुआ मानव हंसकी योनिमें जन्म लेता है ॥

क्रौञ्चः कार्पासिकं हृत्वा मृतो जायति मानवः।
चोरयित्वा नरः पट्टं त्वाविकं चैव भारत ॥१०६॥
क्षौमं च वस्त्रमादाय शशो जन्तुः प्रजायते।

सूती वस्त्रकी चोरी करके मरा हुआ मनुष्य क्रौञ्च पक्षीकी योनिमें जन्म लेता है। भारत ! पाटम्बर, भेड़के ऊनका बना हुआ तथा क्षौम (रेशमी) वस्त्र चुरानेवाला मनुष्य खरगोश नामक जन्तु होता है ॥ १०६½ ॥

वर्णान् हृत्वा तु पुरुषो मृतो जायति बर्हिणः ॥१०७॥
हृत्वा रक्तानि वस्त्राणि जायते जीवजीवकः।

अनेक प्रकारके रंगोंकी चोरी करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष मोर होता है। लाल कपड़े चुरानेवाला मनुष्य चकोरकी योनिमें जन्म लेता है ॥ १०७½ ॥

वर्णकादींस्तथा गन्धांश्चोरयित्वेह मानवः ॥१०८॥
छुच्छुन्दरित्वमाप्नोति राजल्लँोभपरायणः।
तत्र जीवति वर्षाणि ततो दश च पञ्च च ॥१०९॥

राजन् ! जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर वर्णक (अनुलेपन) आदि तथा चन्दनकी चोरी करता है, वह छछूँदर होता है। उस योनिमें वह पंद्रह वर्षतक जीवित रहता है ॥ १०८-१०९ ॥

अधर्मस्य क्षयं गत्वा ततो जायति मानुषः।
चोरयित्वा पयश्चापि बलाका सम्प्रजायते ॥११०॥

फिर अधर्मका क्षय हो जानेपर वह मनुष्यका जन्म पाता है। दूध चुरानेवाली स्त्री बगुली होती है ॥ ११० ॥

यस्तु चोरयते तैलं नरो मोहसमन्वितः।
सोऽपि राजन् मृतो जन्तुस्तैलपायी प्रजायते ॥१११॥

राजन् ! जो मनुष्य मोहयुक्त होकर तेल चुराता है, वह मरनेपर तेलपायी नामक कीड़ा होता है ॥ १११ ॥

अशस्त्रं पुरुषं हृत्वा सशस्त्रः पुरुषाधमः।
अर्थार्थी यदि वा वैरी स मृतो जायते खरः ॥११२॥

जो नीच मनुष्य धनके लोभसे अथवा शत्रुताके कारण हथियार लेकर निहत्थे पुरुषको मार डालता है, वह अपनी मृत्युके बाद गदहेकी योनिमें जन्म पाता है ॥ ११२ ॥

खरो जीवति वर्षे द्वे ततः शस्त्रेण वध्यते ।
स मृतो मृगयोनौ तु नित्योद्विग्नोऽभिजायते ॥११३॥

गदहा होकर वह दो वर्षोंतक जीवित रहता है । फिर शस्त्रसे उसका वध होता है । इस प्रकार मरकर वह मृगकी योनिमें जन्म लेता और हिंसकोंके भयसे सदा उद्विग्न रहता है ॥ ११३ ॥

मृगो वध्यति शस्त्रेण गते संवत्सरे तु सः ।
हतो मृगस्ततो मीनः सोऽपि जालेन वध्यते ॥११४॥

मृग होकर वह सालभरमें ही शस्त्रद्वारा मारा जाता है। मरनेपर मत्स्य होता है, फिर वह भी जालसे बँधता है॥११४॥

मासे चतुर्थे सम्प्राप्ते श्वापदः सम्प्रजायते।
श्वापदो दश वर्षाणि द्वीपी वर्षाणि पञ्च च ॥११५॥

वह किसी प्रकार जालसे छूटा हुआ भी चौथे महीनेमें मृत्युको प्राप्त हो हिंसक जन्तु भेड़िया आदि होता है। उस योनिमें दस वर्षोंतक रहकर वह पाँच वर्षोंतक व्याघ्र या चीतेकी योनिमें पड़ा रहता है॥ ११५॥

ततस्तु निधनं प्राप्तः कालपर्यायचोदितः ।
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥११६॥

तदनन्तर पापका क्षय होनेपर कालकी प्रेरणासे मृत्युको प्राप्त हो वह पुनः मनुष्य होता है ॥ ११६ ॥

स्त्रियं हत्वा तु दुर्बुद्धिर्यमस्य विषयं गतः ।
बहून् क्लेशान् समासाद्य संसारांश्चैव विंशतिम् ११७

जो खोटी बुद्धिवाला पुरुष स्त्रीकी हत्या कर डालता है, वह यमराजके लोकमें जाकर नाना प्रकारके क्लेश भोगनेके पश्चात् बीस बार दुःखद योनियोंमें जन्म लेता है ॥११७॥

ततः पश्चान्महाराज कृमियोनौ प्रजायते ।
कृमिर्विंशतिवर्षाणि भूत्वा जायति मानुषः ॥११८॥

महाराज ! तदनन्तर वह कीड़ेकी योनिमें जन्म लेता है और बीस वर्षोंतक कीट-योनिमें रहकर अन्तमें मनुष्य होता है॥

भोजनं चोरयित्वा तु मक्षिका जायते नरः ।
मक्षिकासंघवशगो बहून् मासान् भवत्युत ॥११९॥
ततः पापक्षयं कृत्वा मानुषत्वमवाप्नुते ।

भोजनकी चोरी करके मनुष्य मक्खी होता है और कई महीनोंतक मक्खियोंके समुदायके अधीन रहता है । तत्पश्चात् पापोंका भोग समाप्त करके वह पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है ॥ ११९½ ॥

धान्यं हत्वा तु पुरुषो लोमशः सम्प्रजायते ॥१२०॥
तथा पिण्याकसम्मिश्रमशनं चोरयेन्नरः ।
स जायते बभ्रुसमो दारुणो मूषिको नरः ॥१२१॥
दशन् वै मानुषान्नित्यं पापात्मा स विशाम्पते ।

धान्यकी चोरी करनेवाले मनुष्यके शरीरमें दूसरे जन्ममें बहुत-से रोएँ पैदा होते हैं। प्रजानाथ ! जो मानव तिलके चूर्णसे मिश्रित भोजनकी चोरी करता है, वह नेवलेके समान आकारवाला भयानक चूहा होता है तथा वह पापी सदा मनुष्योंको काटा करता है ॥ १२०-१२१½ ॥

घृतं हत्वा तु दुर्बुद्धिः काकमद्गुः प्रजायते ॥१२२॥
मत्स्यमांसमथो हत्वा काको जायति दुर्मतिः ।
लवणं चोरयित्वा तु चिरिकाकः प्रजायते ॥१२३॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य घी चुराता है, वह काकमद्गु (सींगवाला जल-पक्षी) होता है। जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य मत्स्य और मांसकी चोरी करता है, वह कौवा होता है। नमककी चोरी करनेसे मनुष्यको चिरिकाक-योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १२२-१२३ ॥

विश्वासेन तु निक्षिप्तं यो विनिह्नोति मानवः ।
स गतायुर्नरस्तात मत्स्ययोनौ प्रजायते ॥१२४॥

तात ! जो मानव विश्वासपूर्वक रक्खी हुई दूसरेकी धरोहरको हड़प लेता है, वह गतायु होनेपर मत्स्यकी योनिमें जन्म लेता है ॥ १२४ ॥

मत्स्ययोनिमनुप्राप्य मृतो जायति मानुषः ।
मानुषत्वमनुप्राप्य क्षीणायुरुपपद्यते ॥१२५॥

मत्स्ययोनिमें जन्म लेनेके बाद जब मरता है, तब पुनः मनुष्यका जन्म पाता है । मानव-योनिमें आकर उसकी आयु बहुत कम होती है ॥ १२५ ॥

पापानि तु नराः कृत्वा तिर्यग् जायन्ति भारत ।
न चात्मनः प्रमाणं ते धर्मं जानन्ति किंचन ॥१२६॥

भारत ! पाप करके मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। वहाँ उन्हें अपने उद्धार करनेवाले धर्मका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ॥ १२६ ॥

ये पापानि नराः कृत्वा निरस्यन्ति व्रतैः सदा।
सुखदुःखसमायुक्ता व्यथितास्ते भवन्त्युत ॥१२७॥
असंवासाः प्रजायन्ते म्लेच्छाश्चापि न संशयः ।
नराः पापसमाचारा लोभमोहसमन्विताः ॥१२८॥

जो पापाचारी पुरुष लोभ और मोहके वशीभूत हो पाप करके उसे व्रत आदिके द्वारा दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, वे सदा सुख-दुःख भोगते हुए व्यथित रहते हैं। उन्हें कहीं रहनेको ठौर नहीं मिलता तथा वे म्लेच्छ होकर सदा मारे-मारे फिरते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ १२७-१२८ ॥

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ।
अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ॥१२९॥

जो मनुष्य जन्मसे ही पापका परित्याग कर देते हैं, वे नीरोग, रूपवान् और धनी होते हैं ॥ १२९ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा पापमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ १३० ॥

स्त्रियाँ भी यदि पूर्वोक्त पापकर्म करती हैं तो पापकी भागिनी होती हैं और वे उन पापभोगी प्राणियोंकी ही पत्नी होती हैं ॥ १३० ॥

परस्वहरणे दोषाः सर्व एव प्रकीर्तिताः ।
एतद्धि लेशमात्रेण कथितं ते मयानघ ॥ १३१ ॥

निष्पाप नरेश ! पराये धनका अपहरण करनेसे जो दोष होते हैं, वे सब बताये गये । यहाँ मेरे द्वारा संक्षेपसे ही इस विषयका दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १३१ ॥

अपरस्मिन् कथायोगे भूयः श्रोष्यसि भारत ।
एतन्मया महाराज ब्रह्मणो वदतः पुरा ॥ १३२ ॥
सुरर्षीणां श्रुतं मध्ये पृष्टश्चापि यथातथम् ।
मयापि तच्च कार्त्स्न्येन यथावदनुवर्णितम् ।
एतच्छ्रुत्वा महाराज धर्मे कुरु मनः सदा ॥ १३३ ॥

भरतनन्दन ! अब दूसरी बार बातचीतके प्रसङ्गमें फिर कभी इस विषयको सुनना । महाराज ! पूर्वकालमें ब्रह्माजी देवर्षियोंके बीच यह प्रसङ्ग सुना रहे थे । वहाँ उन्हींके मुँहसे मैंने ये सारी बातें सुनी थीं और तुम्हारे पूछनेपर उन्हीं सब बातोंका मैंने भी यथार्थरूपसे वर्णन किया है । राजन् ! यह सुनकर तुम सदा धर्ममें मन लगाओ ॥ १३२-१३३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रं नाम एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्र नामक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

पापसे छूटनेके उपाय तथा अन्नदानकी विशेष महिमा

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मस्य गतिर्ब्रह्मन् कथिता मे त्वयानघ ।
धर्मस्य तु गतिं श्रोतुमिच्छामि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन् ! आपने अधर्मकी गति बतायी । पापरहित वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! अब मैं धर्मकी गति सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कृत्वा कर्माणि पापानि कथं यान्ति शुभां गतिम् ।
कर्मणा च कृतेनेह केन यान्ति शुभां गतिम् ॥ २ ॥

मनुष्य पाप कर्म करके कैसे शुभगतिको प्राप्त होते हैं तथा किस कर्मके अनुष्ठानसे उन्हें उत्तम गति प्राप्त होती है ? ॥

बृहस्पतिरुवाच

कृत्वा पापानि कर्माणि अधर्मवशमागतः ।
मनसा विपरीतेन निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन् ! जो मनुष्य पापकर्म करके अधर्मके वशीभूत हो जाता है, उसका मन धर्मके विपरीत मार्गमें जाने लगता है; इसलिये वह नरकमें गिरता है ॥ ३ ॥

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते ।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥ ४ ॥

परंतु जो अज्ञानवश अधर्म बन जानेपर पुनः उसके लिये पश्चात्ताप करता है, उसे चाहिये कि मनको वशमें रखकर वह फिर कभी पापका सेवन न करे ॥ ४ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते ।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ ५ ॥

मनुष्यका मन ज्यों-ज्यों पापकर्मकी निन्दा करता है त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्मके बन्धनसे मुक्त होता जाता है ॥ ५ ॥

यदि व्याहरते राजन् विप्राणां धर्मवादिनाम् ।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपवादात् प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

राजन् ! यदि पापी पुरुष धर्मज्ञ ब्राह्मणोंसे अपना पाप बता दे तो वह उस पापके कारण होनेवाली निन्दासे शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है ॥ ६ ॥

यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते ।
समाहितेन मनसा विमुच्येत तथा तथा ।
भुजङ्ग इव निर्मोकात् पूर्वमुक्ताज्जरान्वितात् ॥ ७ ॥

मनुष्य अपने मनको स्थिर करके जैसे-जैसे अपना पाप प्रकट करता है, वैसे-ही-वैसे वह मुक्त होता जाता है । ठीक उसी तरह जैसे सर्प पूर्वमुक्त, जराजीर्ण केचुलसे छूट जाता है ॥

दत्त्वा विप्रस्य दानानि विविधानि समाहितः ।
मनःसमाधिसंयुक्तः सुगतिं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

मनुष्य एकाग्रचित्त होकर सावधान हो ब्राह्मणको यदि नाना प्रकारके दान करे तो वह उत्तम गतिको पाता है ॥ ८ ॥

प्रदानानि तु वक्ष्यामि यानि दत्त्वा युधिष्ठिर ।
नरः कृत्वाप्यकार्याणि ततो धर्मेण युज्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं उन उत्कृष्ट दानोंका वर्णन करूँगा, जिन्हें देकर मनुष्य यदि उससे न करने योग्य कर्म बन जायँ तो भी धर्मके फलसे संयुक्त होता है ॥ ९ ॥

सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम् ।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥ १० ॥

सब प्रकारके दानोंमें अन्नका दान श्रेष्ठ बताया गया है। अतः धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको सरलभावसे पहले अन्नका ही दान करना चाहिये ॥ १० ॥

प्राणा ह्यन्नं मनुष्याणां तस्माज्जन्तुश्च जायते।
अन्ने प्रतिष्ठितो लोकस्तस्मादन्नं प्रशस्यते ॥ ११ ॥

अन्न मनुष्योंका प्राण है, अन्नसे ही प्राणीका जन्म होता है, अन्नके ही आधारपर सारा-संसार टिका हुआ है। इसलिये अन्न सबसे उत्तम माना गया है ॥ ११ ॥

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवर्षिपितृमानवाः ।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः ॥ १२ ॥

देवता, ॠषि, पितर और मनुष्य अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं। अन्नके ही दानसे राजा रन्तिदेव स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजातिभ्योऽन्नमुत्तमम् ।
स्वाध्यायं समुपेतेभ्यः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १३ ॥

अतः स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणोंके लिये प्रसन्न चित्तसे न्यायोपार्जित उत्तम अन्नका दान करना चाहिये॥१३॥

यस्य ह्यन्नमुपाश्नन्ति ब्राह्मणानां शतं दश ।
हृष्टेन मनसा दत्तं न स तिर्यग्गतिर्भवेत् ॥ १४ ॥

जिस पुरुषके प्रसन्न चित्तसे दिये हुए अन्नको एक हजार ब्राह्मण खा लेते हैं, वह पशु-पक्षीकी योनिमें नहीं जन्म लेता ॥ १४ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि दश भोज्य नरर्षभ ।
नरोऽधर्मात् प्रमुच्येत योगेष्वभिरतः सदा ॥ १५ ॥

नरश्रेष्ठ ! जो मनुष्य सदा योग-साधनमें संलग्न रहकर दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन करा देता है, वह पापके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

भैक्ष्येणान्नं समाहृत्य विप्रो वेदपुरस्कृतः ।
स्वाध्यायनिरते विप्रे दत्त्वेह सुखमेधते ॥ १६ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण भिक्षासे अन्न लाकर यदि स्वाध्याय-परायण विप्रको दान देता है तो इस लोकमें सुखी होता है ॥

(भैक्ष्येणापि समाहृत्य दद्यादन्नं द्विजेषु वै ।
सुवर्णदानात् पापानि नश्यन्ति सुबहून्यपि ॥

जो भिक्षासे भी अन्न लाकर ब्राह्मणोंको देता है और सुवर्णका दान करता है, उसके बहुत-से पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥

दत्त्वा वृत्तिकरीं भूमिं पातकेनापि मुच्यते ।
पारायणैः पुराणानां मुच्यते पातकैर्द्विजः ॥

जीविका चलानेवाली भूमिका दान करके भी मनुष्य पातकसे मुक्त हो जाता है। पुराणोंके पाठसे भी ब्राह्मण पातकोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

गायत्र्याश्चैव लक्षेण गोसहस्रस्य तर्पणात् ।
वेदार्थं ज्ञापयित्वा तु शुद्धान् विप्रान् यथार्थतः ॥
सर्वत्यागादिभिश्चापि मुच्यते पातकैर्द्विजः ।
सर्वातिथ्यं परं ह्येषां तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥)

एक लाख गायत्री जपनेसे, एक हजार गौओंको तृप्त करनेसे, विशुद्ध ब्राह्मणोंको यथार्थरूपसे वेदार्थका ज्ञान करानेसे तथा सर्वस्वके त्याग आदिसे भी द्विज पापमुक्त हो जाता है। इन सबमें सबका अन्नके द्वारा आतिथ्य-सत्कार करना ही सबसे श्रेष्ठ कर्म है। इसलिये अन्नको सबसे उत्तम माना गया है ॥

अहिंसन् ब्राह्मणस्वानि न्यायेन परिपाल्य च ।
क्षत्रियस्तरसा प्राप्तमन्नं यो वै प्रयच्छति ॥ १७ ॥
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यः प्रयतः सुसमाहितः ।
तेनापोहति धर्मात्मन् दुष्कृतं कर्म पाण्डव ॥ १८ ॥

धर्मात्मा पाण्डुनन्दन ! जो क्षत्रिय ब्राह्मणके धनका अपहरण न करके न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने बाहुबलसे प्राप्त किया हुआ अन्न वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको भलीभाँति शुद्ध एवं समाहित चित्तसे दान करता है, वह उस अन्न-दानके प्रभावसे अपने पूर्वकृत पापोंका नाश कर डालता है ॥ १७-१८ ॥

षड्भागपरिशुद्धं च कृषेर्भागमुपार्जितम् ।
वैश्यो ददद् द्विजातिभ्यः पापेभ्यः परिमुच्यते ॥ १९ ॥

जो वैश्य खेतीसे अन्न पैदा करके उसका छठा भाग राजाको देकर बचे हुएमेंसे शुद्ध अन्नका ब्राह्मणको दान करता है, वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अवाप्य प्राणसंदेहं कार्कश्येन समार्जितम् ।
अन्नं दत्त्वा द्विजातिभ्यः शूद्रः पापात् प्रमुच्यते ॥ २० ॥

शूद्र भी यदि प्राणोंकी परवा न करके कठोर परिश्रमसे कमाया हुआ अन्न ब्राह्मणोंको दान करता है तो पापसे छुटकारा पा जाता है ॥ २० ॥

औरसेन बलेनान्नमर्जयित्वाविहिंसकः ।
यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि पश्यति ॥ २१ ॥

जो किसी प्राणीकी हिंसा न करके अपनी छातीके बलसे पैदा किया हुआ अन्न विप्रोंको दान करता है, वह कभी संकटका अनुभव नहीं करता ॥ २१ ॥

न्यायेनैवाप्तमन्नं तु नरो हर्षसमन्वितः ।
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यो दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते ॥ २२ ॥

न्यायके अनुसार अन्न प्राप्त करके उसे वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको

हर्षपूर्वक दान देनेवाला मनुष्य अपने पापोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२ ॥

अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः।
सतां पन्थानमावृत्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

संसारमें अन्न ही बलकी वृद्धि करनेवाला है, अतः अन्नका दान करके मनुष्य बलवान् होता है और सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय लेकर समस्त पापोंसे छूट जाता है ॥ २३ ॥

दानवद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः ॥ २४ ॥

दाता पुरुषोंने जिस मार्गको चालू किया है, उसीसे मनीषी पुरुष चलते हैं। अन्नदान करनेवाले मनुष्य वास्तवमें प्राणदान करनेवाले हैं। उन्हीं लोगोंसे सनातन धर्मकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

सर्वावस्थं मनुष्येण न्यायेनान्नमुपार्जितम्।
कार्यं पात्रागतं नित्यमन्नं हि परमा गतिः ॥ २५ ॥

मनुष्यको प्रत्येक अवस्थामें न्यायतः उपार्जित किया हुआ अन्न सत्पात्रके लिये अर्पित करना चाहिये; क्योंकि अन्न ही सब प्राणियोंका परम आधार है ॥ २५ ॥

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो रौद्रं न सेवते।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्यायपरिवर्जितम् ॥ २६ ॥

अन्न-दान करनेसे मनुष्यको कभी नरककी भयंकर यातना नहीं भोगनी पड़ती; अतः न्यायोपार्जित अन्नका ही सदा दान करना चाहिये ॥ २६ ॥

यतेद् ब्राह्मणपूर्वं हि भोक्तुमन्नं गृही सदा।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यादन्नदानेन मानवः ॥ २७ ॥

प्रत्येक गृहस्थको उचित है कि वह पहले ब्राह्मणको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करनेका प्रयत्न करे तथा अन्न-दानके द्वारा प्रत्येक दिनको सफल बनावे ॥ २७ ॥

भोजयित्वा दशशतं नरो वेदविदां नृप।
न्यायविद्धर्मविदुषामितिहासविदां तथा ॥ २८ ॥
न याति नरकं घोरं संसारांश्च न सेवते।
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम् ॥ २९ ॥

नरेश्वर! जो मनुष्य वेद, न्याय, धर्म और इतिहासके जाननेवाले एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, वह घोर नरक और संसारचक्रमें नहीं पड़ता। इहलोकमें उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और मरनेके बाद वह परलोकमें सुख भोगता है ॥ २८-२९ ॥

एवं खलु समायुक्तो रमते विगतज्वरः।
रूपवान् कीर्तिमांश्चैव धनवांश्चोपपद्यते ॥ ३० ॥

इस प्रकार अन्न-दानमें संलग्न हुआ पुरुष निश्चिन्त हो सुखका अनुभव करता है और रूपवान्, कीर्तिमान् तथा धनवान् होता है ॥ ३० ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमन्नदानफलं महत्।
मूलमेतत् तु धर्माणां प्रदानानां च भारत ॥ ३१ ॥

भारत! अन्न-दान सब प्रकारके धर्मों और दानोंका मूल है। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह अन्नदानका सारा महान् फल बताया है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिजीका युधिष्ठिरको अहिंसा एवं धर्मकी महिमा बताकर स्वर्गलोकको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अहिंसा वैदिकं कर्म ध्यानमिन्द्रियसंयमः।
तपोऽथ गुरुशुश्रूषा किं श्रेयः पुरुषं प्रति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! अहिंसा, वेदोक्त कर्म, ध्यान, इन्द्रिय-संयम, तपस्या और गुरु-शुश्रूषा—इनमेंसे कौन-सा कर्म मनुष्यका (विशेष) कल्याण कर सकता है ॥

बृहस्पतिरुवाच

सर्वाण्येतानि धर्म्याणि पृथग्द्वाराणि सर्वशः।
शृणु संकीर्त्यमानानि षडेव भरतर्षभ ॥ २ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! ये छः प्रकारके कर्म ही धर्मजनक हैं तथा सब-के-सब भिन्न-भिन्न कारणोंसे प्रकट हुए हैं। मैं इन छहोंका वर्णन करता हूँ; तुम सुनो ॥

हन्त निःश्रेयसं जन्तोरहं वक्ष्याम्यनुत्तमम्।
अहिंसापाश्रयं धर्मं यः साधयति वै नरः ॥ ३ ॥
त्रीन् दोषान् सर्वभूतेषु निधाय पुरुषः सदा।
कामक्रोधौ च संयम्य ततः सिद्धिमवाप्नुते ॥ ४ ॥

अब मैं मनुष्यके लिये कल्याणके सर्वश्रेष्ठ उपायका वर्णन करता हूँ। जो मनुष्य अहिंसायुक्त धर्मका पालन करता

है, वह मोह, मद और मत्सरतारूप तीनों दोषोंको अन्य समस्त प्राणियोंमें स्थापित करके एवं सदा काम-क्रोधका संयम करके सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अपने सुखकी इच्छा रखकर अहिंसक प्राणियोंको डंडेसे मारता है, वह परलोकमें सुखी नहीं होता है ॥ ५ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सब भूतोंको अपने समान समझता, किसीपर प्रहार नहीं करता (दण्डको हमेशाके लिये त्याग देता है) और क्रोधको अपने काबूमें रखता है, वह मृत्युके पश्चात् सुख भोगता है ॥ ६ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ७ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, अर्थात् सबकी आत्माको अपनी ही आत्मा समझता है तथा जो सब भूतोंको समान भावसे देखता है, उस गमनागमनसे रहित ज्ञानीकी गतिका पता लगाते समय देवता भी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो बात अपनेको अच्छी न लगे, वह दूसरोंके प्रति भी नहीं करनी चाहिये। यही धर्मका संक्षिप्त लक्षण है। इससे भिन्न जो बर्ताव होता है, वह कामनामूलक है ॥ ८ ॥

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ ९ ॥

माँगनेपर देने और इनकार करनेसे, सुख और दुःख पहुँचानेसे तथा प्रिय और अप्रिय करनेसे पुरुषको स्वयं जैसे हर्ष-शोकका अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरोंके लिये भी समझे ॥ ९ ॥

यथा परः प्रक्रमते परेषु
तथापरे प्रक्रमन्ते परस्मिन्।
तथैव तेऽस्तूपमा जीवलोके
यथा धर्मो नैपुणेनोपदिष्टः ॥ १० ॥

जैसे एक मनुष्य दूसरोंपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार अवसर आनेपर दूसरे भी उसके ऊपर आक्रमण करते हैं। इसीको तुम जगत्में अपने लिये भी दृष्टान्त समझो। अतः किसीपर आक्रमण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार यहाँ कौशलपूर्वक धर्मका उपदेश किया है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं सुरगुरुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
दिवमाचक्रमे धीमान् पश्यतामेव नस्तदा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहकर परम बुद्धिमान् देवगुरु बृहस्पतिजी उस समय हमलोगोंके देखते-देखते स्वर्गलोकको चले गये॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि संसारचक्रसमाप्तौ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें संसारचक्रकी समाप्तिविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

हिंसा और मांसभक्षणकी घोर निन्दा

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शरतल्पे पितामहम्।
पुनरेव महातेजाः पप्रच्छ वदतां वरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महातेजस्वी और वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने बाणशय्या-पर पड़े हुए पितामह भीष्मसे पुनः प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ २ ॥
कर्मणा मनुजः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम।
वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामते ! देवता, ऋषि और ब्राह्मण वैदिक प्रमाणके अनुसार सदा अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं। अतः नृपश्रेष्ठ ! मैं पूछता हूँ कि मन, वाणी और क्रियासे भी हिंसाका ही आचरण करनेवाला मनुष्य किस प्रकार उसके दुःखसे छुटकारा पा सकता है ? ॥ २-३ ॥

भीष्म उवाच

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—शत्रुसूदन ! ब्रह्मवादी पुरुषोंने (मनसे, वाणीसे तथा कर्मसे हिंसा न करना एवं मांस न खाना—इन) चार उपायोंसे अहिंसाधर्मका पालन बतलाया

है। इनमेंसे किसी एक अंशकी भी कमी रह गयी तो अहिंसा-धर्मका पूर्णतः पालन नहीं होता ॥ ४ ॥

यथा सर्वश्चतुष्पाद् वै त्रिभिः पादैर्न तिष्ठति ।
तथैवेयं महीपाल कारणैः प्रोच्यते त्रिभिः ॥ ५ ॥

महीपाल ! जैसे चार पैरोंवाला पशु तीन पैरोंसे नहीं खड़ा रह सकता, उसी प्रकार केवल तीन ही कारणोंसे पालित हुई अहिंसा पूर्णतः अहिंसा नहीं कही जा सकती ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ ६ ॥
एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः पुरा ।

जैसे हाथीके पैरके चिह्नमें सभी पदगामी प्राणियोंके पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें इस जगत्के भीतर धर्मतः अहिंसाका निर्देश किया गया है अर्थात् अहिंसा धर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है। ऐसा माना गया है ॥ ६½ ॥

कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसापि च ॥ ७ ॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाथ कर्मणा ।
न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ॥ ८ ॥

जीव मन, वाणी और क्रियाके द्वारा हिंसाके दोषसे लिप्त होता है, किंतु जो क्रमशः पहले मनसे, फिर वाणीसे और फिर क्रियाद्वारा हिंसाका त्याग करके कभी मांस नहीं खाता, वह पूर्वोक्त तीनों प्रकारकी हिंसाके दोषसे भी मुक्त हो जाता है ॥ ७-८ ॥

त्रिकारणं तु निर्दिष्टं श्रूयते ब्रह्मवादिभिः ।
मनो वाचि तथाऽऽस्वादे दोषा ह्येषु प्रतिष्ठिताः ॥ ९ ॥

ब्रह्मवादी महात्माओंने हिंसादोषके प्रधान तीन कारण बतलाये हैं—मन (मांस खानेकी इच्छा), वाणी (मांस खानेका उपदेश) और आस्वाद (प्रत्यक्षरूपमें मांसका स्वाद लेना)। ये तीनों ही हिंसा-दोषके आधार हैं ॥ ९ ॥

न भक्षयन्त्यतो मांसं तपोयुक्ता मनीषिणः ।
दोषांस्तु भक्षणे राजन् मांसस्येह निबोध मे ॥ १० ॥

इसलिये तपस्यामें लगे हुए मनीषी पुरुष कभी मांस नहीं खाते हैं। राजन् ! अब मैं मांसभक्षणमें जो दोष है, उनको यहाँ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १० ॥

पुत्रमांसोपमं जानन् खादते योऽविचक्षणः ।
मांसं मोहसमायुक्तः पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ ११ ॥

जो मूर्ख यह जानते हुए भी कि पुत्रके मांसमें और दूसरे साधारण मांसोंमें कोई अन्तर नहीं है, मोहवश मांस खाता है, वह नराधम है ॥ ११ ॥

पितृमातृसमायोगे पुत्रत्वं जायते यथा ।
हिंसां कृत्वावशः पापो भूयिष्ठं जायते तथा ॥ १२ ॥

जैसे पिता और माताके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार हिंसा करनेसे पापी पुरुषको विवश होकर बारंबार पापयोनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १२ ॥

रसं च प्रतिजिह्वाया ज्ञानं प्रज्ञायते यथा ।
तथा शास्त्रेषु नियतं रागो ह्यास्वादिताद् भवेत् ॥ १३ ॥

जैसे जीभसे जब रसका ज्ञान होता है, तब उसके प्रति वह आकृष्ट होने लगती है, उसी प्रकार मांसका आस्वादन करनेपर उसके प्रति आसक्ति बढ़ती है। शास्त्रोंमें भी कहा है कि विषयोंके आस्वादनसे उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है ॥ १३ ॥

संस्कृतासंस्कृताः पक्का लवणालवणास्तथा ।
प्रजायन्ते यथा भावास्तथा चित्तं निरुध्यते ॥ १४ ॥

संस्कृत (मसाले आदि डालकर संस्कृत किया हुआ) असंस्कृत (मसाला आदिके संस्कारसे रहित), पक्व, केवल नमक मिला हुआ और अलोना—ये मांसकी जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं-उन्हींमें रुचिभेदसे मांसाहारी मनुष्यका चित्त आसक्त होता है ॥ १४ ॥

भेरीमृदङ्गशब्दांश्च तन्त्रीशब्दांश्च पुष्कलान् ।
निषेविष्यन्ति वै मन्दा मांसभक्षाः कथं नराः ॥ १५ ॥

मांसभक्षी मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें पूर्णतः सुलभ होनेवाले भेरी, मृदङ्ग और वीणाके दिव्य मधुर शब्दोंका सेवन कैसे कर सकेंगे; क्योंकि वे स्वर्गमें नहीं जा सकते ॥ १५ ॥

(परेषां धनधान्यानां हिंसकास्तावकास्तथा ।
प्रशंसकाश्च मांसस्य नित्यं स्वर्गे बहिष्कृताः ॥)

दूसरोंके धन-धान्यको नष्ट करनेवाले तथा मांसभक्षणकी स्तुति-प्रशंसा करनेवाले मनुष्य सदा ही स्वर्गसे बहिष्कृत होते हैं।

अचिन्तितमनिर्दिष्टमसंकल्पितमेव च ।
रसगृद्ध्याभिभूता ये प्रशंसन्ति फलार्थिनः ॥ १६ ॥

जो मांसके रसमें होनेवाली आसक्तिसे अभिभूत होकर उसी अभीष्ट फल मांसकी अभिलाषा रखते हैं तथा उसके बारंबार गुण गाते हैं, उन्हें ऐसी दुर्गति प्राप्त होती है, जो कभी चिन्तनमें नहीं आयी है। जिसका वाणीद्वारा कहीं निर्देश नहीं किया गया है तथा जो कभी मनकी कल्पनामें भी नहीं आयी है ॥ १६ ॥

(भस्म विष्ठा कृमिर्वापि निष्ठा यस्येदृशी ध्रुवा ।
स कायः परपीडाभिः कथं धार्यो विपश्चिता ॥)
प्रशंसा ह्येव मांसस्य दोषकर्मफलान्विता ॥ १७ ॥

जो मृत्युके पश्चात् चितापर जला देनेसे भस्म हो जाता है अथवा किसी हिंसक प्राणीका खाद्य बनकर उसकी विष्ठाके रूपमें परिणत हो जाता है, या यों ही फेंक देनेसे जिसमें

कीड़े पड़ जाते हैं—इन तीनोंमेंसे यह एक-न-एक परिणाम जिसके लिये सुनिश्चित है, उस शरीरको विद्वान् पुरुष दूसरोंको पीडा देकर उसके मांससे कैसे पोषण कर सकता है ? मांसकी प्रशंसा भी पापमय कर्मफलसे सम्बन्ध कर देती है॥

जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः ।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः ॥ १८ ॥

उशीनर शिवि आदि बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण देकर, अपने मांससे दूसरोंके मांसकी रक्षा करके स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ १८ ॥

एवमेषा महाराज चतुर्भिः कारणैर्वृता ।
अहिंसा तव निर्दिष्टा सर्वधर्मानुसंहिता ॥ १९ ॥

महाराज ! इस प्रकार चार उपायोंसे जिसका पालन होता है, उस अहिंसा-धर्मका तुम्हारे लिये प्रतिपादन किया गया । यह सम्पूर्ण धर्मोंमें ओतप्रोत है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मांसवर्जनकथने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मांसके परित्यागका उपदेशविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

मद्य और मांसके भक्षणमें महान् दोष, उनके त्यागकी महिमा एवं त्यागमें परम लाभका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया ।
जातो नः संशयो धर्मे मांसस्य परिवर्जने ।
दोषो भक्षयतः कः स्यात् कश्चाभक्षयतो गुणः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने बहुत बार यह बात कही है कि अहिंसा परम धर्म है; अतः मांसके परित्यागरूप धर्मके विषयमें मुझे संदेह हो गया है । इसलिये मैं यह जानना चाहता हूँ कि मांस खानेवालेकी क्या हानि होती है और जो मांस नहीं खाता उसे कौन-सा लाभ मिलता है ? ॥ १ ॥

हत्वा भक्षयतो वापि परेणोपहृतस्य वा ।
हन्याद् वा यः परस्यार्थे क्रीत्वा वा भक्षयेन्नरः ॥ २ ॥

जो स्वयं पशुका वध करके उसका मांस खाता है या दूसरेके दिये हुए मांसका भक्षण करता है या जो दूसरेके खानेके लिये पशुका वध करता है अथवा जो खरीदकर मांस खाता है, उसको क्या दण्ड मिलता है ? ॥ २ ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन कथ्यमानं त्वयानघ ।
निश्चयेन चिकीर्षामि धर्ममेतं सनातनम् ॥ ३ ॥

निष्पाप पितामह ! मैं चाहता हूँ कि आप इस विषयका यथार्थरूपसे विवेचन करें । मैं निश्चितरूपसे इस सनातन धर्मके पालनकी इच्छा रखता हूँ ॥ ३ ॥

कथमायुरवाप्नोति कथं भवति सत्त्ववान् ।
कथमव्यङ्गतामेति लक्षण्यो जायते कथम् ॥ ४ ॥

मनुष्य किस प्रकार आयु प्राप्त करता है, कैसे बलवान् होता है, किस तरह उसे पूर्णाङ्गता प्राप्त होती है और कैसे वह शुभलक्षणोंसे संयुक्त होता है ? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

मांसस्याभक्षणाद् राजन् यो धर्मः कुरुनन्दन ।
तन्मे शृणु यथातत्त्वं यथास्य विधिरुत्तमः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कुरुनन्दन ! मांस न खानेसे जो धर्म होता है, उसका मुझसे यथार्थ वर्णन सुनो तथा उस धर्मकी जो उत्तम विधि है, वह भी जान लो ॥५॥

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥ ६ ॥

जो सुन्दर रूप, पूर्णाङ्गता, पूर्ण आयु, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरणशक्ति प्राप्त करना चाहते थे, उन महात्मा पुरुषोंने हिंसाका सर्वथा त्याग कर दिया था ॥ ६ ॥

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुनन्दन ।
बभूव तेषां तु मतं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस विषयको लेकर ऋषियोंमें अनेक बार प्रश्नोत्तर हो चुका है । अन्तमें उन सबकी रायसे जो सिद्धान्त निश्चित हुआ है, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥७॥

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन्मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो पुरुष नियमपूर्वक व्रतका पालन करता हुआ प्रतिमास अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करता है तथा जो केवल मद्य और मांसका परित्याग करता है, उन दोनोंको एक-सा ही फल मिलता है ॥ ८ ॥

सप्तर्षयो वालखिल्यास्तथैव च मरीचिपाः ।
अमांसभक्षणं राजन् प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ९ ॥

राजन् ! सप्तर्षि, वालखिल्य तथा सूर्यकी किरणोंका पान

करनेवाले अन्यान्य मनीषी महर्षि मांस न खानेकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ९ ॥

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

स्वायम्भुव मनुका कथन है कि जो मनुष्य न मांस खाता और न पशुकी हिंसा करता और न दूसरेसे ही हिंसा कराता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका मित्र है ॥ १० ॥

अधृष्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां सम्मतो नित्यं भवेन्मांसं विवर्जयन् ॥ ११ ॥

जो पुरुष मांसका परित्याग कर देता है, उसका कोई भी प्राणी तिरस्कार नहीं करता है, वह सब प्राणियोंका विश्वास-पात्र हो जाता है तथा श्रेष्ठ पुरुष उसका सदा सम्मान करते हैं ॥ ११ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति ॥ १२ ॥

धर्मात्मा नारदजी कहते हैं—जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह निश्चय ही दुःख उठाता है ॥

ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्त्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥ १३ ॥

बृहस्पतिजीका कथन है—जो मद्य और मांस त्याग देता है, वह दान देता, यज्ञ करता और तप करता है अर्थात् उसे दान, यज्ञ और तपस्याका फल प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम ॥ १४ ॥

जो सौ वर्षोंतक प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है और जो कभी मांस नहीं खाता है—इन दोनोंका समान फल माना गया है ॥ १४ ॥

सदा यजति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसविवर्जनात् ॥ १५ ॥

मद्य और मांसका परित्याग करनेसे मनुष्य सदा यज्ञ करनेवाला, सदा दान देनेवाला और सदा तप करनेवाला होता है ॥ १५ ॥

सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्तते ॥ १६ ॥

भारत ! जो पहले मांस खाता रहा हो और पीछे उसका सर्वथा परित्याग कर दे, उसको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, उसे सम्पूर्ण वेद और यज्ञ भी नहीं प्राप्त करा सकते ॥ १६॥

दुष्करं च रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम् ।
चर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम् ॥ १७ ॥

मांसके रसका आस्वादन एवं अनुभव कर लेनेपर उसे त्यागना और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाले इस सर्वश्रेष्ठ अहिंसाव्रतका आचरण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १७ ॥

सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥ १८ ॥

जो विद्वान् सब जीवोंको अभयदान कर देता है, वह इस संसारमें निःसंदेह प्राणदाता माना जाता है ॥ १८ ॥

एवं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ।
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ॥ १९ ॥

इस प्रकार मनीषी पुरुष अहिंसारूप परमधर्मकी प्रशंसा करते हैं । जैसे मनुष्यको अपने प्राण प्रिय होते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंको अपने-अपने प्राण प्रिय जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः ।
मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम् ॥ २० ॥
किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम् ।
अरोगाणामपापानां पापैर्मांसोपजीविभिः ॥ २१ ॥

अतः जो बुद्धिमान् और पुण्यात्मा है, उन्हें चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने समान समझें । जब अपने कल्याण-की इच्छा रखनेवाले विद्वानोंको भी मृत्युका भय बना रहता है, तब जीवित रहनेकी इच्छावाले नीरोग और निर-पराध प्राणियोंको, जो मांसपर जीविका चलानेवाले पापी पुरुषोंद्वारा बलपूर्वक मारे जाते हैं, क्यों न भय प्राप्त होगा ॥ २०-२१ ॥

तस्माद् विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥ २२ ॥

इसलिये महाराज ! तुम्हें यह विदित होना चाहिये कि मांसका परित्याग ही धर्म, स्वर्ग और सुखका सर्वोत्तम आधार है ॥ २२ ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है; क्योंकि उसीसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है ॥ २३ ॥

न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद् वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ॥ २४ ॥

तृणसे, काठसे अथवा पत्थरसे मांस नहीं पैदा होता है, वह जीवकी हत्या करनेपर ही उपलब्ध होता है; अतः उसके खानेमें महान् दोष है ॥ २४ ॥

स्वाहास्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥ २५ ॥

जो लोग स्वाहा (देवयज्ञ) और स्वधा (पितृयज्ञ) का अनुष्ठान करके यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करनेवाले तथा सत्य और सरलताके प्रेमी हैं, वे देवता हैं; किंतु जो कुटिलता और असत्य-भाषणमें प्रवृत्त होकर सदा मांसभक्षण किया करते हैं, उन्हें राक्षस समझो ॥ २५ ॥

कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च।
रात्रावहनि संध्यासु चत्वरेषु सभासु च ॥ २६ ॥
उद्यतेषु च शस्त्रेषु मृगव्यालभयेषु च।
अमांसभक्षणे राजन् भयमन्यैर्न गच्छति ॥ २७ ॥

राजन्! जो मनुष्य मांस नहीं खाता, उसे संकटपूर्ण स्थानों, भयंकर दुर्गों एवं गहन वनोंमें, रात-दिन और दोनों संध्याओंमें, चौराहोंपर तथा सभाओंमें भी दूसरोंसे भय नहीं प्राप्त होता तथा यदि अपने विरुद्ध हथियार उठाये गये हों अथवा हिंसक पशु एवं सर्पोंके भय सामने हों तो भी वह दूसरोंसे नहीं डरता है ॥ २६-२७ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥ २८ ॥

इतना ही नहीं, वह समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाला और उन सबका विश्वासपात्र होता है। संसारमें न तो वह दूसरेको उद्वेगमें डालता है और न स्वयं ही कभी किसीसे उद्विग्न होता है ॥ २८ ॥

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः ॥ २९ ॥

यदि कोई भी मांस खानेवाला न रह जाय तो पशुओंकी हिंसा करनेवाला भी कोई न रहे; क्योंकि हत्यारा मनुष्य मांस खानेवालोंके लिये ही पशुओंकी हिंसा करता है ॥२९॥

अभक्ष्यमेतदिति वै इति हिंसा निवर्तते।
खादकार्थमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥ ३० ॥

यदि मांसको अभक्ष्य समझकर सब लोग उसे खाना छोड़ दें तो पशुओंकी हत्या स्वतः ही बंद हो जाय; क्योंकि मांस खानेवालोंके लिये ही मृग आदि पशुओंकी हत्या होती है ॥ ३० ॥

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥ ३१ ॥

महातेजस्वी नरेश! हिंसकोंकी आयुको उनका पाप ग्रस लेता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता हो, वह मनुष्य मांसका सर्वथा परित्याग कर दे ॥ ३१ ॥

त्रातारं नाधिगच्छन्ति रौद्राः प्राणिविहिंसकाः।
उद्वेजनीया भूतानां यथा व्यालमृगास्तथा ॥ ३२ ॥

जैसे यहाँ हिंसक पशुओंका लोग शिकार खेलते हैं और वे पशु अपने लिये कहीं कोई रक्षक नहीं पाते, उसी प्रकार प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले भयंकर मनुष्य दूसरे जन्ममें सभी प्राणियोंके उद्वेगपात्र होते हैं और अपने लिये कोई संरक्षक नहीं पाते हैं ॥ ३२ ॥

लोभाद् वा बुद्धिमोहाद् वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम् ॥ ३३ ॥

लोभसे, बुद्धिके मोहसे, बल-वीर्यकी प्राप्तिके लिये अथवा पापियोंके संसर्गमें आनेसे मनुष्योंकी अधर्ममें रुचि हो जाती है ॥ ३३ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥ ३४ ॥

जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, चैनसे नहीं रहने पाता है॥३४॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥ ३५ ॥

नियमपरायण महर्षियोंने मांस-भक्षणके त्यागको ही धन, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्तिका प्रधान उपाय और परमकल्याणका साधन बतलाया है ॥ ३५ ॥

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥ ३६ ॥

कुन्तीनन्दन! मांसभक्षणमें जो दोष हैं, उन्हें बतलाते हुए मार्कण्डेयजीके मुखसे मैंने पूर्वकालमें ऐसा सुन रखा है— ॥ ३६ ॥

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम्।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥ ३७ ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंको मारकर अथवा उनके स्वयं मर जानेपर उनका मांस खाता है, वह न मारनेपर भी उन प्राणियोंका हत्यारा ही समझा जाता है ॥

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥ ३८ ॥

खरीदनेवाला धनके द्वारा, खानेवाला उपभोगके द्वारा और घातक वध एवं बन्धनके द्वारा पशुओंकी हिंसा करता है। इस प्रकार यह तीन तरहसे प्राणियोंका वध होता है।३८।

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥ ३९ ॥

'जो मांसको स्वयं नहीं खाता पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है ॥

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥ ४० ॥

'जो मनुष्य मांस नहीं खाता और इस जगत्में सब जीवोंपर दया करता है, उसका कोई भी प्राणी तिरस्कार नहीं करते और वह सदा दीर्घायु एवं नीरोग होता है ॥४०॥

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥ ४१ ॥

'सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करनेसे जो धर्म प्राप्त होता है, मांसका भक्षण न करनेसे उसकी अपेक्षा भी विशिष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है । यह हमारे सुननेमें आया है ॥

खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः।
महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः॥ ४२॥

'जो मांस खानेवालोंके लिये पशुओंकी हत्या करता है, वह मनुष्योंमें अधम है । घातकको बहुत भारी दोष लगता है । मांस खानेवालेको उतना दोष नहीं लगता ॥ ४२ ॥

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥ ४३ ॥

'जो मांसलोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गोंके नामपर प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है ॥ ४३ ॥

भक्षयित्वापि यो मांसं पश्चादपि निवर्तते ।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद् विनिवर्तते ॥ ४४ ॥

'जो पहले मांस खानेके बाद फिर उससे निवृत्त हो जाता है, उसको भी अत्यन्त महान् धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वह पापसे निवृत्त हो गया है ॥ ४४ ॥

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चापभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य हत्याके लिये पशु लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेंचता, पकाता और खाता है, वे सब-के-सब खानेवाले ही माने जाते हैं । अर्थात् वे सब खानेवालेके समान ही पापके भागी होते हैं' ॥ ४५ ॥

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम् ।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम् ॥४६ ॥

अब मैं इस विषयमें एक दूसरा प्रमाण बता रहा हूँ' जो साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा प्रतिपादित, पुरातन, ऋषियोंद्वारा सेवित तथा वेदोंमें प्रतिष्ठित है ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः प्रजार्थिभिरुदाहृतः ।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम्॥ ४७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रजार्थी पुरुषोंने प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है; परंतु वह मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले विरक्त पुरुषोंके लिये अभीष्ट नहीं है ॥ ४७ ॥

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य अपने आपको अत्यन्त उपद्रवरहित बनाये रखना चाहता हो, वह इस जगत्में प्राणियोंके मांसका सर्वथा परित्याग कर दे ॥ ४८ ॥

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ४९ ॥

सुना है, पूर्वकल्पमें मनुष्योंके यज्ञमें पुरोडाश आदिके रूपमें अन्नमय पशुका ही उपयोग होता था । पुण्यलोककी प्राप्तिके साधनोंमें लगे रहनेवाले याज्ञिक पुरुष उस अन्नके द्वारा ही यज्ञ करते थे ॥ ४९ ॥

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा ।
अभक्ष्यमपि मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ॥ ५० ॥

प्रभो ! प्राचीन कालमें ऋषियोंने चेदिराज वसुसे अपना संदेह पूछा था । उस समय वसुने मांसको भी जो सर्वथा अभक्ष्य है, भक्ष्य बता दिया ॥ ५० ॥

आकाशादवनिं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः ।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ॥ ५१ ॥

उस समय आकाशचारी राजा वसु अनुचित निर्णय देनेके कारण आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े । तदनन्तर पृथ्वी-पर भी फिर यही निर्णय देनेके कारण वे पातालमें समा गये ॥ ५१ ॥

इदं तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ॥ ५२ ॥

निष्पाप राजेन्द्र ! मनुजेश्वर ! मेरी कही हुई यह बात भी सुनो—मांस भक्षण न करनेसे सब प्रकारका सुख मिलता है ॥ ५२ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत् सुदारुणम् ।
यश्चैव वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम ॥ ५३ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक कठोर तपस्या करता है तथा जो केवल मांसका परित्याग कर देता है—ये दोनों मेरी दृष्टिमें एक समान हैं ॥ ५३ ॥

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप ।
वर्जयेन्मधुमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ॥ ५४ ॥

नरेश्वर ! विशेषतः शरद्‌ऋतु, शुक्लपक्षमें मद्य और मांसका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि ऐसा करनेमें धर्म होता है ॥

चतुरो वार्षिकान् मासान् यो मांसं परिवर्जयेत् ।
चत्वारि भद्राण्यवाप्नोति कीर्तिमायुर्यशो बलम् ॥५५ ॥

जो मनुष्य वर्षाके चार महीनोंमें मांसका परित्याग कर

देता है, वह चार कल्याणमयी वस्तुओं—कीर्ति, आयु, यश और बलको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

अथवा मासमेकं वै सर्वं मांसान्यभक्षयन् ।
अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवन्निरामयः ॥ ५६ ॥

अथवा एक महीनेतक सब प्रकारके मांसोंका त्याग करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो सुखी एवं नीरोग जीवन व्यतीत करता है ॥ ५६ ॥

वर्जयन्ति हि मांसानि मासशः पक्षशोऽपि वा।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ॥ ५७ ॥

जो एक-एक मास अथवा एक-एक पक्षतक मांस खाना छोड़ देते हैं, हिंसासे दूर हटे हुए उन मनुष्योंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है (फिर जो कभी भी मांस नहीं खाते, उनके लाभकी तो कोई सीमा ही नहीं है) ॥ ५७ ॥

मांसं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्थैर्विदितार्थपरावरैः ॥ ५८ ॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुनाथानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः ॥५९॥
कार्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विष्वगश्वेन तथैव शशबिन्दुना ॥ ६० ॥
युवनाश्वेन च तथा शिबिनौशीनरेण च ।
मुचुकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वा विभो ॥ ६१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिन राजाओंने आश्विन मासके दोनों पक्ष अथवा एक पक्षमें मांस-भक्षणका निषेध किया था, वे सम्पूर्ण भूतोंके आत्मरूप हो गये थे और उन्हें परावर तत्त्वका ज्ञान हो गया था। उनके नाम इस प्रकार हैं—नाभाग, अम्बरीष, महात्मा गय, आयु, अनरण्य, दिलीप, रघु, पूरु, कार्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विष्वगश्व, शशबिन्दु, युवनाश्व, उशीनरपुत्र शिबि, मुचुकुन्द, मान्धाता अथवा हरिश्चन्द्र ॥ ५८-६१ ॥

सत्यं वदत मासत्यं सत्यं धर्मः सनातनः ।
हरिश्चन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत् ॥ ६२ ॥

सत्य बोलो, असत्य न बोलो, सत्य ही सनातन धर्म है। राजा हरिश्चन्द्र सत्यके प्रभावसे आकाशमें चन्द्रमाके समान विचरते हैं ॥ ६२ ॥

श्येनचित्रेण राजेन्द्र सोमकेन वृकेण च ।
रैवते रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च ॥ ६३ ॥
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र कृपेण भरतेन च ।
दुष्यन्तेन करूषेण रामालर्कनरैस्तथा ॥ ६४ ॥
विरूपाश्वेन निमिना जनकेन च धीमता ।
ऐलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह ॥ ६५ ॥
इक्ष्वाकुणा शम्भुना च श्वेतेन सगरेण च ।
अजेन धुन्धुना चैव तथैव च सुबाहुना ॥ ६६ ॥
हर्यश्वेन च राजेन्द्र क्षुपेण भरतेन च ।
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ॥ ६७ ॥

राजेन्द्र ! श्येनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, सृञ्जय, अन्यान्य नरेश, कृप, भरत, दुष्यन्त, करूष, राम, अलर्क, नर, विरूपाश्व, निमि, बुद्धिमान् जनक, पुरूरवा, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शम्भु, श्वेतसागर, अज, धुन्धु, सुबाहु, हर्यश्व, क्षुप, भरत—इन सबने तथा अन्यान्य राजाओंने भी कभी मांस नहीं खाया था ॥ ६३—६७ ॥

ब्रह्मलोके च तिष्ठन्ति ज्वलमानाः श्रियान्विताः।
उपास्यमाना गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसमन्विताः ॥ ६८ ॥

वे सब नरेश अपनी कान्तिसे प्रज्वलित होते हुए वहाँ ब्रह्मलोकमें विराज रहे हैं, गन्धर्व उनकी उपासना करते हैं और सहस्रों दिव्याङ्गनाएँ उन्हें घेरे रहती हैं ॥ ६८ ॥

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसाधर्मलक्षणम् ।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥ ६९ ॥

अतः यह अहिंसारूप धर्म सब धर्मोंसे उत्तम है। जो महात्मा इसका आचरण करते हैं, वे स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥ ६९ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥ ७० ॥

जो धर्मात्मा पुरुष जन्मसे ही इस जगत्में शहद, मद्य और मांसका सदाके लिये परित्याग कर देते हैं, वे सब-के-सब मुनि माने गये हैं ॥ ७० ॥

इमं धर्मममांसादं यश्चरेच्छ्रावयीत वा ।
अपि चेत् सुदुराचारो न जातु निरयं व्रजेत् ॥ ७१ ॥

जो मांस-भक्षणके परित्यागरूप इस धर्मका आचरण करता अथवा इसे दूसरोंको सुनाता है, वह कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, नरकमें नहीं पड़ता ॥ ७१ ॥

पठेद् वा य इदं राजञ्छृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः।
अमांसभक्षणविधिं पवित्रमृषिपूजितम् ॥ ७२ ॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वकामैर्महीयते ।
विशिष्टतां ज्ञातिषु च लभते नात्र संशयः ॥ ७३ ॥

राजन् ! जो ऋषियोंद्वारा सम्मानित एवं पवित्र इस मांस-भक्षणके त्यागके प्रकरणको पढ़ता अथवा बारंबार सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंद्वारा सम्मानित होता है और अपने सजातीय बन्धुओंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७२-७३ ॥

आपन्नश्चापदो मुच्येद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
मुच्येत्तथाऽऽतुरो रोगाद् दुःखान्मुच्येत दुःखितः ७४

इतना ही नहीं, इसके श्रवण अथवा पठनसे आपत्तिमें पड़ा हुआ आपत्तिसे, बन्धनमें बँधा हुआ बन्धनसे, रोगी रोगसे और दुखी दुःखसे छुटकारा पा जाता है ॥ ७४ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेत रूपवांश्च भवेन्नरः ।
ऋद्धिमान् वै कुरुश्रेष्ठ प्राप्नुयाच्च महद् यशः ॥ ७५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! इसके प्रभावसे मनुष्य तिर्यग्योनिमें नहीं पड़ता तथा उसे सुन्दर रूप, सम्पत्ति और महान् यशकी प्राप्ति होती है ॥ ७५ ॥

एतत् ते कथितं राजन् मांसस्य परिवर्जने ।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च विधानमृषिनिर्मितम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! यह मैंने तुम्हें ऋषियोंद्वारा निर्मित मांस-त्यागका विधान तथा प्रवृत्तिविषयक धर्म भी बताया है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मांसभक्षणनिषेधे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मांसभक्षणका निषेधविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

मांस न खानेसे लाभ और अहिंसाधर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः ।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव ॥ १ ॥

युधिष्ठिर कहते हैं—पितामह ! बड़े खेदकी बात है कि संसारके ये निर्दयी मनुष्य अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थोंका परित्याग करके महान् राक्षसोंके समान मांसका स्वाद लेना चाहते हैं ॥ १ ॥

अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च ।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम् ॥ २ ॥

भाँति-भाँतिके मालपूओं, नाना प्रकारके शाकों तथा रसीली मिठाइयोंकी भी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी रुचि मांसके लिये रखते हैं ॥ २ ॥

तदिच्छामि गुणाञ्श्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो ।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

प्रभो ! पुरुषप्रवर ! अतः मैं मांस न खानेसे होनेवाले लाभ और उसे खानेसे होनेवाली हानियोंको पुनः सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ यथावदिह धर्मतः ।
किं च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

धर्मज्ञ पितामह ! इस समय धर्मके अनुसार यथावत्‌रूपसे यहाँ सब बातें ठीक-ठीक बताइये। इसके सिवा यह भी कहिये कि भोजन करने योग्य क्या वस्तु है और भोजन न करने योग्य क्या वस्तु है ॥ ४ ॥

यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने ।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! मांसका जो स्वरूप है, यह जैसा है, इसका त्याग कर देनेमें जो लाभ है और इसे खानेवाले पुरुषको जो दोष प्राप्त होते हैं—ये सब बातें मुझे बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणु ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! भरतनन्दन ! तुम जैसा कहते हो ठीक वैसी ही बात है। कौरवनन्दन ! मांस न खानेमें बहुत-से लाभ हैं, जो वैसे मनुष्योंको सुलभ होते हैं; मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ६ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥ ७ ॥

जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है ॥ ७ ॥

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ ८ ॥

जगत्‌में अपने प्राणोंसे अधिक प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिये मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरोंपर भी दया करे ॥ ८ ॥

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥ ९ ॥

तात ! मांस-भक्षण करनेमें महान् दोष है; क्योंकि मांसकी उत्पत्ति वीर्यसे होती है, इसमें संशय नहीं है। अतः उससे निवृत्त होनेमें ही पुण्य बताया गया है ॥ ९ ॥

न ह्यतः सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च ।
यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ॥ १० ॥

कौरवनन्दन ! इस लोक और परलोकमें इसके समान दूसरा कोई पुण्यकार्य नहीं है कि इस जगत्‌में समस्त प्राणियोंपर दया की जाय ॥ १० ॥

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम् ॥ ११ ॥

इस जगत्में दयालु मनुष्यको कभी भयका सामना नहीं करना पड़ता। दयालु और तपस्वी पुरुषोंके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद होते हैं ॥ ११ ॥

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
यदहिंसात्मकं कर्म तत् कुर्यादात्मवान् नरः ॥ १२ ॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्मका लक्षण है। मनस्वी पुरुष वही कर्म करे, जो अहिंसात्मक हो ॥ १२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥ १३ ॥

जो दयापरायण पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं। ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ १३ ॥

क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम्।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च ॥ १४ ॥

वह घायल हो, लड़खड़ाता हो, गिर पड़ा हो, पानीके बहावमें खिंचकर बहा जाता हो, आहत हो अथवा किसी भी सम विषम अवस्थामें पड़ा हो, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं॥

नैनं व्यालमृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः।
मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद् यो भये परान् ॥ १५ ॥

जो दूसरोंको भयसे छुड़ाता है, उसे न हिंसक पशु मारते हैं और न पिशाच तथा राक्षस ही उसपर प्रहार करते हैं। वह भयका अवसर आनेपर उससे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम् ॥ १६ ॥

प्राणदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मासे बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है। यह निश्चित बात है ॥ १६ ॥

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः ॥ १७ ॥

भरतनन्दन! किसी भी प्राणीको मृत्यु अभीष्ट नहीं है; क्योंकि मृत्युकालमें सभी प्राणियोंका शरीर तुरंत काँप उठता है ॥ १७ ॥

जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च ॥ १८ ॥

इस संसार-समुद्रमें समस्त प्राणी सदा गर्भवास, जन्म और बुढ़ापा आदिके दुःखोंसे दुखी होकर चारों ओर भटकते रहते हैं। साथ ही मृत्युके भयसे उद्विग्न रहा करते हैं ॥१८॥

गर्भवासेषु पच्यन्ते क्षाराम्लकटुकै रसैः।
मूत्रस्वेदपुरीषाणां परुषैर्भृशदारुणैः ॥ १९ ॥

गर्भमें आये हुए प्राणी मल मूत्र और पसीनोंके बीचमें रहकर खारे, खट्टे और कड़वे आदि रसोंसे, जिनका स्पर्श अत्यन्त कठोर और दुःखदायी होता है, पकते रहते हैं, जिससे उन्हें बड़ा भारी कष्ट होता है ॥ १९ ॥

जाताश्चाप्यवशास्तत्र छिद्यमानाः पुनः पुनः।
पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः ॥ २० ॥

मांसलोलुप जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह बेवशी प्रत्यक्ष देखी जाती है ॥ २० ॥

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः ॥ २१ ॥

वे अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें राँधे जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें बारंबार संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है ॥ २१ ॥

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात् प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत् ॥ २२ ॥

इस भूमण्डलपर अपने आत्मासे बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपना आत्मा ही समझे ॥ २२ ॥

सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ २३ ॥

राजन्! जो जीवनभर किसी भी प्राणीका मांस नहीं खाता, वह स्वर्गमें श्रेष्ठ एवं विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥ २४ ॥

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंद्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ २४ ॥

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) 'मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है—इसे ही मांस शब्दका तात्पर्य समझो॥

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षिता।
आक्रोष्टा क्रुध्यते राजंस्तथा द्वेष्यत्वमाप्नुते ॥ २६ ॥

राजन्! इस जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने घातकका वध करता है। फिर

भक्षण करनेवालेको भी मार डालता है। जो दूसरोंकी निन्दा करता है, वह स्वयं भी दूसरोंके क्रोध और द्वेषका पात्र होता है॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते॥ २७॥

जो जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, वह उस-उस शरीरसे भी उस-उस कर्मका फल भोगता है॥ २७॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥ २८॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है॥ २८॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥ २९॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है॥ २९॥

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥ ३०॥

सम्पूर्ण यज्ञोंमें जो दान किया जाता है, समस्त तीर्थोंमें जो गोता लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण दानोंका जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसाके बराबर नहीं हो सकता॥ ३०॥

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥ ३१॥

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है॥ ३१॥

एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि॥ ३२॥

कुरुश्रेष्ठ! यह अहिंसाका फल है। यही क्या, अहिंसाका तो इससे भी अधिक फल है। अहिंसासे होनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अहिंसाफलकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अहिंसाके फलका वर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११६॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

शुभ कर्मसे एक कीड़ेको पूर्व-जन्मकी स्मृति होना और कीट-योनिमें भी मृत्युका भय एवं सुखकी अनुभूति बताकर कीड़ेका अपने कल्याणका उपाय पूछना

युधिष्ठिर उवाच

अकामाश्च सकामाश्च ये हताः स्म महामृधे।
कां गतिं प्रतिपन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो योद्धा महासमरमें इच्छा या अनिच्छासे मारे गये हैं, वे किस गतिको प्राप्त हुए हैं? यह मुझे बताइये॥ १॥

दुःखं प्राणपरित्यागः पुरुषाणां महामृधे।
जानासि त्वं महाप्राज्ञ प्राणत्यागं सुदुष्करम्॥ २॥

महाप्राज्ञ! आप तो जानते ही हैं कि महासंग्राममें मनुष्योंके लिये प्राणोंका परित्याग करना कितना दुःखदायक होता है। प्राणोंका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है॥ २॥

समृद्धो वासमृद्धो वा शुभे वा यदि वाशुभे।
कारणं तत्र मे ब्रूहि सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः॥ ३॥

प्राणी उन्नति या अवनति, शुभ या अशुभ किसी भी अवस्थामें मरना नहीं चाहते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये; क्योंकि मेरी दृष्टिमें आप सर्वज्ञ हैं॥ ३॥

भीष्म उवाच

समृद्धौ वासमृद्धौ वा शुभे वा यदि वाशुभे।
संसारेऽस्मिन् समायाताः प्राणिनः पृथिवीपते॥ ४॥
निरता येन भावेन तत्र मे शृणु कारणम्।
सम्यक् चायमनुप्रश्नस्त्वयोक्तस्तु युधिष्ठिर॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—पृथ्वीनाथ! इस संसारमें आये हुए प्राणी उन्नतिमें या अवनतिमें तथा शुभ या अशुभ अवस्थामें ही सुख मानते हैं। मरना नहीं चाहते। इसका क्या कारण है, यह बताता हूँ, सुनो। युधिष्ठिर! यह तुमने बहुत अच्छा प्रश्न उपस्थित किया है॥ ४-५॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तमिदं नृप।
द्वैपायनस्य संवादं कीटस्य च युधिष्ठिर॥ ६॥

नरेश्वर! युधिष्ठिर! इस विषयमें द्वैपायन व्यास और एक कीड़ेका संवादरूप जो यह प्राचीन वृत्तान्त प्रसिद्ध है, वही तुम्हें बता रहा हूँ॥ ६॥

ब्रह्मभूतश्चरन् विप्रः कृष्णद्वैपायनः पुरा।
ददर्श कीटं धावन्तं शीघ्रं शकटवर्त्मनि॥ ७॥

पहलेकी बात है, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायन विप्रवर व्यासजी कहीं जा रहे थे । उन्होंने एक कीड़ेको गाड़ीकी लीकसे बड़ी तेजीके साथ भागते देखा ॥ ७ ॥

गतिज्ञः सर्वभूतानां भाषाज्ञश्च शरीरिणाम् ।
सर्वज्ञः स तदा दृष्ट्वा कीटं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ व्यासजी सम्पूर्ण प्राणियोंकी गतिके ज्ञाता तथा सभी देहधारियोंकी भाषाको समझनेवाले हैं । उन्होंने उस कीड़ेको देखकर उससे इस प्रकारकी बातचीत की ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

कीट संत्रस्तरूपोऽसि त्वरितश्चैव लक्ष्यसे ।
क्व धावसि तदाचक्ष्व कुतस्ते भयमागतम् ॥ ९ ॥

व्यासजीने पूछा—कीट ! आज तुम बहुत डरे हुए और उतावले दिखायी दे रहे हो, बताओ तो सही—कहाँ भागे जा रहे हो ? कहाँसे तुम्हें भय प्राप्त हुआ है ? ॥ ९ ॥

कीट उवाच

शकटस्यास्य महतो घोषं श्रुत्वा भयं मम ।
आगतं वै महाबुद्धे स्वन एष हि दारुणः ॥ १० ॥

कीड़ेने कहा—महामते ! यह जो बहुत बड़ी बैलगाड़ी आ रही है, इसीकी घर्घराहट सुनकर मुझे भय हो गया है; क्योंकि उसकी यह आवाज बड़ी भयंकर है ॥ १० ॥

श्रूयते न च मां हन्यादिति ह्यस्मादपक्रमे ।
श्वसतां च शृणोम्येनं गोपुत्राणां प्रतोदताम् ॥ ११ ॥
वहतां सुमहाभारं संनिकर्षे स्वनं प्रभो ।
नृणां च संवाहयतां श्रूयते विविधः स्वनः ॥ १२ ॥

यह आवाज जब कानोंमें पड़ती है, तब यह संदेह होता है कि कहीं गाड़ी आकर मुझे कुचल न डाले । इसीलिये यहाँसे जल्दी-जल्दी भाग रहा हूँ । यह देखिये बैलोंपर चाबुककी मार पड़ रही है और वे बहुत भारी बोझ लिये हाँफते हुए इधर आ रहे हैं । प्रभो ! मुझे उनकी आवाज बहुत निकट सुनायी पड़ती है । गाड़ीपर बैठे हुए मनुष्योंके भी नाना प्रकारके शब्द कानोंमें पड़ रहे हैं ॥ ११-१२ ॥

श्रोतुमस्मद्विधेनैष न शक्यः कीटयोनिना ।
तस्मादतिक्रमाम्येष भयादस्मात् सुदारुणात् ॥ १३ ॥

मेरे जैसे कीड़ेके लिये इस भयंकर शब्दको धैर्यपूर्वक सुन सकना असम्भव है । अतः इस अत्यन्त दारुण भयसे अपनी रक्षा करनेके लिये मैं यहाँसे भाग रहा हूँ ॥ १३ ॥

दुःखं हि मृत्युर्भूतानां जीवितं च सुदुर्लभम् ।
अतो भीतः पलायामि गच्छेयं नासुखं सुखात् ॥ १४ ॥

प्राणियोंके लिये मृत्यु बड़ी दुःखदायिनी होती है । अपना जीवन सबको अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ता है । अतः डरकर भागा जा रहा हूँ । कहीं ऐसा न हो कि मैं सुखसे दुःखमें पड़ जाऊँ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तु तं प्राह कुतः कीट सुखं तव ।
मरणं ते सुखं मन्ये तिर्यग्योनौ तु वर्तसे ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कीड़ेके ऐसा कहनेपर व्यासजीने उससे पूछा—'कीट ! तुम्हें सुख कहाँ है ? मेरी समझमें तो तुम्हारा मर जाना ही तुम्हारे लिये सुखकी बात है; क्योंकि तुम तिर्यक् योनि—अधम कीट-योनिमें पड़े हो ॥ १५ ॥

शब्दं स्पर्शं रसं गन्धं भोगांश्चोच्चावचान् बहून् ।
नाभिजानासि कीट त्वं श्रेयो मरणमेव ते ॥ १६ ॥

'कीट ! तुम्हें शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा बहुत-से छोटे-बड़े भोगोंका अनुभव नहीं होता है । अतः तुम्हारा तो मर जाना ही अच्छा है' ॥ १६ ॥

कीट उवाच

सर्वत्र निरतो जीव इतश्चापि सुखं मम ।
चिन्तयामि महाप्राज्ञ तस्मादिच्छामि जीवितुम् ॥ १७ ॥

कीड़ेने कहा—महाप्राज्ञ ! जीव सभी योनियोंमें सुखका अनुभव करते हैं । मुझे भी इस योनिमें सुख मिलता है और यही सोचकर जीवित रहना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

इहापि विषयः सर्वो यथादेहं प्रवर्तितः ।
मानुषाः स्थावरजाश्चैव पृथग्भोगा विशेषतः ॥ १८ ॥

यहाँ भी इस शरीरके अनुसार सारे विषय उपलब्ध होते हैं । मनुष्यों और स्थावर प्राणियोंके भोग अलग अलग हैं ॥

अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो ।
अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो वृद्धिजीवनः ॥ १९ ॥

प्रभो ! पहले जन्ममें मैं एक मनुष्य, उसमें भी बहुत धनी शूद्र हुआ था । ब्राह्मणोंके प्रति मेरे मनमें आदरका भाव न था । मैं कंजूस, क्रूर और व्याजखोर था ॥ १९ ॥

वाक्तीक्ष्णो निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा विश्वस्य सर्वशः ।
मिथ्याकृतोऽपि विधिना परस्वहरणे रतः ॥ २० ॥

सबसे तीखे वचन बोलना, बुद्धिमानीके साथ लोगोंको ठगना और संसारके सभी लोगोंसे द्वेष रखना, यह मेरा स्वभाव हो गया था । झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देना और दूसरोंके मालको हड़प लेनेमें संलग्न रहना—यही मेरा काम था ॥ २० ॥

भृत्यातिथिजनश्चापि गृहे पर्यशितो मया ।
मात्सर्यात् स्वादुकामेन नृशंसेन बुभुक्षता ॥ २१ ॥

मैं इतना निर्दयी था कि केवल स्वाद लेनेकी कामनासे अकेला ही भोजनकी इच्छा रखता और ईर्ष्यावश घरपर आये हुए अतिथियों और आश्रितजनोंको भोजन कराये बिना ही भोजन कर लेता था ॥ २१ ॥

देवार्थं पितृयज्ञार्थमन्नं श्रद्धाऽऽहृतं मया ।
न दत्तमर्थकामेन देयमन्नं पुरा किल ॥ २२ ॥

पूर्वजन्ममें मैं देवताओं और पितरोंके यजनके लिये श्रद्धापूर्वक अन्न एकत्र करता; परंतु धन-संग्रहकी कामनासे उस देनेयोग्य अन्नका भी दान नहीं करता था ॥ २२ ॥

गुप्तं शरणमाश्रित्य भयेषु शरणागताः ।
अकस्मात् ते मया त्यक्ता न त्राता अभयैषिणः ॥ २३ ॥

भयके समय अभय पानेकी इच्छासे कितने ही शरणार्थी मेरे पास आते, किंतु मैं उन्हें शरण लेनेयोग्य सुरक्षित स्थानमें पहुँचाकर भी अकस्मात् वहाँसे निकाल देता । उनकी रक्षा नहीं करता था ॥ २३ ॥

धनं धान्यं प्रियान् दारान् यानं वासस्तथाद्भुतम् ।
श्रियं दृष्ट्वा मनुष्याणामसूयामि निरर्थकम् ॥ २४ ॥

दूसरे मनुष्योंके पास धन-धान्य, सुन्दरी स्त्री, अच्छी-अच्छी सवारियाँ, अद्भुत वस्त्र और उत्तम लक्ष्मी देखकर मैं अकारण ही उनसे कुढ़ता रहता था ॥ २४ ॥

ईर्ष्युः परसुखं दृष्ट्वा अन्यस्य न बुभूषकः ।
त्रिवर्गहन्ता चान्येषामात्मकामानुवर्तकः ॥ २५ ॥

दूसरोंका सुख देखकर मुझे ईर्ष्या होती थी, दूसरे किसीकी उन्नति हो यह मैं नहीं चाहता था, औरोंके धर्म, अर्थ और काममें बाधा डालता और अपनी ही इच्छाका अनुसरण करता था ॥ २५ ॥

नृशंसगुणभूयिष्ठं पुरा कर्म कृतं मया ।
स्मृत्वा तदनुतप्येऽहं हित्वा प्रियमिवात्मजम् ॥ २६ ॥

पूर्वजन्ममें प्रायः मैंने वे ही कर्म किये हैं, जिनमें निर्दयता अधिक थी । उनकी याद आनेसे मुझे उसी तरह पश्चात्ताप होता है, जैसे कोई अपने प्यारे पुत्रको त्यागकर पछताता है ॥ २६ ॥

शुभानां नाभिजानामि कृतानां कर्मणां फलम् ।
माता च पूजिता वृद्धा ब्राह्मणश्चार्चितो मया ॥ २७ ॥
सकृज्जातिगुणोपेतः सङ्गत्या गृहमागतः ।
अतिथिः पूजितो ब्रह्मंस्तेन मां नाजहात् स्मृतिः ॥ २८ ॥

मुझे पहलेके अपने किये हुए शुभकर्मोंके फलका अबतक अनुभव नहीं हुआ है । पूर्वजन्ममें मैंने केवल अपनी बूढ़ी माताकी सेवा की थी तथा एक दिन किसीके साथ हो जानेसे अपने घरपर आये हुए ब्राह्मण अतिथिका जो अपने जातीय गुणोंसे सम्पन्न थे, स्वागत-सत्कार किया था । ब्रह्मन् ! उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे आजतक पूर्वजन्मकी स्मृति छोड़ न सकी है ॥ २७-२८ ॥

कर्मणा पुनरेवाहं सुखमागामि लक्षये ।
तच्छ्रोतुमहमिच्छामि त्वत्तः श्रेयस्तपोधन ॥ २९ ॥

तपोधन ! अब मैं पुनः किसी शुभकर्मके द्वारा भविष्यमें सुख पानेकी आशा रखता हूँ । वह कल्याणकारी कर्म क्या है, इसे मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीटका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका क्रमशः क्षत्रिययोनिमें जन्म लेकर व्यासजीका दर्शन करना और व्यासजीका उसे ब्राह्मण होने तथा स्वर्गसुख और अक्षय सुखकी प्राप्ति होनेका वरदान देना

व्यास उवाच

शुभेन कर्मणा यद् वै तिर्यग्योनौ न मुह्यसे ।
ममैव कीट तत् कर्म येन त्वं न प्रमुह्यसे ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—कीट ! तुम जिस शुभकर्मके प्रभावसे तिर्यग् योनिमें जन्म लेकर भी मोहित नहीं हुए हो, वह मेरा ही कर्म है । मेरे दर्शनके प्रभावसे ही तुम्हें मोह नहीं हो रहा है ॥ १ ॥

अहं त्वां दर्शनादेव तारयामि तपोबलात् ।
तपोबलाद्धि बलवद् बलमन्यन्न विद्यते ॥ २ ॥

मैं अपने तपोबलसे केवल दर्शनमात्र देकर तुम्हारा उद्धार कर दूँगा; क्योंकि तपोबलसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ बल नहीं है ॥ २ ॥

जानामि पापैः स्वकृतैर्गतं त्वां कीट कीटताम् ।
अवाप्स्यसि पुनर्धर्मं धर्मं तु यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

कीट ! मैं जानता हूँ, अपने पूर्वकृत पापोंके कारण तुम्हें कीटयोनिमें आना पड़ा है । यदि इस समय तुम्हारी धर्मके प्रति श्रद्धा है तो तुम्हें धर्म अवश्य प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

कर्म भूमिकृतं देवा भुञ्जते तिर्यगाश्च ये ।
धर्मोऽपि हि मनुष्येषु कामार्थश्च तथा गुणाः ॥ ४ ॥

देवता, मनुष्य और तिर्यग् योनिमें पड़े हुए प्राणी इस कर्मभूमिमें किये हुए कर्मोंका ही फल भोगते हैं । अज्ञानी मनुष्यका धर्म भी कामनाको लेकर ही होता है तथा वे कामनाकी सिद्धिके लिये ही गुणोंको अपनाते हैं ॥ ४ ॥

वाग्बुद्धिपाणिपादैश्च व्यपेतस्य विपश्चितः।
किं हास्यति मनुष्यस्य मन्दस्यापि हि जीवतः॥ ५ ॥

मनुष्य मूर्ख हो या विद्वान्, यदि वह वाणी, बुद्धि और हाथ-पैरसे रहित होकर जीवित है तो उसे कौन-सी वस्तु त्यागेगी, वह तो सभी पुरुषार्थोंसे स्वयं ही परित्यक्त है ॥५॥

जीवन् हि कुरुते पूजां विप्राग्र्यः शशिसूर्ययोः।
ब्रुवन्नपि कथां पुण्यां तत्र कीट त्वमेष्यसि॥ ६ ॥

कीट ! एक जगह एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते हैं। वे जीवनमें सदा सूर्य और चन्द्रमाकी पूजा किया करते हैं तथा लोगोंको पवित्र कथाएँ सुनाया करते हैं। उन्हींके यहाँ तुम (क्रमशः) पुत्ररूपसे जन्म लोगे ॥ ६ ॥

गुणभूतानि भूतानि तत्र त्वमुपभोक्ष्यसे।
तत्र तेऽहं विनेष्यामि ब्रह्म त्वं यत्र वैष्यसि॥ ७ ॥

वहाँ विषयोंको पञ्चभूतोंका विकार मानकर अनासक्तभावसे उपभोग करोगे। उस समय मैं तुम्हारे पास आकर ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा तथा तुम जिस लोकमें जाना चाहोगे, वहीं तुम्हें पहुँचा दूँगा ॥ ७ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य कीटो वर्त्मन्यतिष्ठत।
शकटो व्रजंश्च सुमहानागतश्च यदृच्छया॥ ८ ॥
चक्राक्रमेण भिन्नश्च कीटः प्राणान् मुमोच ह।

व्यासजीके इस प्रकार कहनेपर उस कीड़ेने बहुत अच्छा कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और बीच रास्तेमें जाकर वह ठहर गया। इतनेहीमें वह विशाल छकड़ा अकस्मात् वहाँ आ पहुँचा और उसके पहियेसे दबकर चूर-चूर हो कीड़ेने प्राण त्याग दिये ॥ ८½ ॥

सम्भूतः क्षत्रियकुले प्रसादादमितौजसः॥ ९ ॥
तमृषिं द्रष्टुमगमत् सर्वास्वन्यासु योनिषु।
श्वाविद्गोधावराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम्॥ १० ॥
श्वपाकशूद्रवैश्यानां क्षत्रियाणां च योनिषु।

तत्पश्चात् वह क्रमशः शाही, गोधा, सूअर, मृग, पक्षी, चाण्डाल, शूद्र और वैश्यकी योनिमें जन्म लेता हुआ क्षत्रियजातिमें उत्पन्न हुआ। अन्य सारी योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद अमित तेजस्वी व्यासजीकी कृपासे क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर वह उन महर्षिका दर्शन करनेके लिये उनके पास गया ॥ ९-१०½ ॥

स कीट एवमाभाष्य ऋषिणा सत्यवादिना।
प्रतिस्मृत्याथ जग्राह पादौ मूर्ध्ना कृताञ्जलिः॥ ११ ॥

वह कीट-योनिमें उन सत्यवादी महर्षि वेदव्यासजीके साथ बातचीत करके जो इस प्रकार उन्नतिशील हुआ था, उसकी याद करके उस क्षत्रियने हाथ जोड़कर ऋषिके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया ॥ ११ ॥

कीट उवाच

इदं तदतुलं स्थानमीप्सितं दशभिर्गुणैः।
यदहं प्राप्य कीटत्वमागतो राजपुत्रताम्॥ १२ ॥

कीट (क्षत्रिय) ने कहा—भगवन् ! आज मुझे वह स्थान मिला है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। इसे मैं दस जन्मोंसे पाना चाहता था। यह आपहीकी कृपा है कि मैं अपने दोषसे कीड़ा होकर भी आज राजकुमार हो गया हूँ ॥ १२॥

वहन्ति मामतिबलाः कुञ्जरा हेममालिनः।
स्यन्दनेषु च काम्बोजा युक्ताः परमवाजिनः॥ १३ ॥

अब सोनेकी मालाओंसे सुशोभित अत्यन्त बलवान् गजराज मेरी सवारीमें रहते हैं। उत्तम जातिके काबुली घोड़े मेरे रथोंमें जोते जाते हैं ॥ १३ ॥

उष्ट्राश्वतरयुक्तानि यानानि च वहन्ति माम्।
सबान्धवः सहामात्यश्चाश्नामि पिशितौदनम्॥ १४ ॥

ऊँटों और खच्चरोंसे जुती हुई गाड़ियाँ मुझे ढोती हैं। मैं भाई-बन्धुओं और मन्त्रियोंके साथ मांस-भात खाता हूँ ॥१४॥

गृहेषु स्वनिवासेषु सुखेषु शयनेषु च।
वरार्हेषु महाभाग स्वपामि च सुपूजितः॥ १५ ॥

महाभाग ! श्रेष्ठ पुरुषोंके रहने योग्य अपने निवासभूत सुन्दर महलोंके भीतर सुखद शय्याओंपर मैं बड़े सम्मानके साथ शयन करता हूँ ॥ १५ ॥

सर्वेष्वपररात्रेषु सूतमागधबन्दिनः।
स्तुवन्ति मां यथा देवा महेन्द्रं प्रियवादिनः॥ १६ ॥

प्रतिदिन रातके पिछले पहरोंमें सूत, मागध और वन्दीजन मेरी स्तुति करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे देवता प्रिय वचन बोलकर महेन्द्रके गुण गाते हैं ॥ १६ ॥

प्रसादात् सत्यसंधस्य भवतोऽमिततेजसः।
यदहं कीटतां प्राप्य सम्प्राप्तो राजपुत्रताम्॥ १७ ॥

आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, अमित तेजस्वी हैं, आपके प्रसादसे ही आज मैं कीड़ेसे राजपूत हो गया हूँ ॥ १७ ॥

नमस्तेऽस्तु महाप्राज्ञ किं करोमि प्रशाधि माम्।
त्वत्तपोबलनिर्दिष्टमिदं ह्यधिगतं मया॥ १८ ॥

महाप्राज्ञ ! आपको नमस्कार है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; आपके तपोबलसे ही मुझे राजपद प्राप्त हुआ है ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अर्चितोऽहं त्वया राजन् वाग्भिरद्य यदृच्छया।
अद्य ते कीटतां प्राप्य स्मृतिर्जाता जुगुप्सिता॥ १९ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! आज तुमने अपनी वाणीसे मेरा भलीभाँति स्तवन किया है। अभीतक तुम्हें अपनी कीट-

योनिकी घृणित स्मृति अर्थात् मांस खानेकी वृत्ति बनी हुई है॥

न तु नाशोऽस्ति पापस्य यस्त्वयोपचितः पुरा।
शूद्रेणार्थप्रधानेन नृशंसेनाततायिना ॥ २० ॥

तुमने पूर्वजन्ममें अर्थपरायण, नृशंस और आततायी शूद्र होकर जो पाप संचय किया था, उसका सर्वदा नाश नहीं हुआ है ॥ २० ॥

मम ते दर्शनं प्राप्तं तच्च वै सुकृतं त्वया।
तिर्यग्योनौ स्म जातेन मम चाभ्यर्चनात् तथा ॥ २१ ॥
इतस्त्वं राजपुत्रत्वाद् ब्राह्मण्यं समवाप्स्यसि।

कीट-योनिमें जन्म लेकर भी जो तुमने मेरा दर्शन किया, उसी पुण्यका यह फल है कि तुम राजपूत हुए और आज जो तुमने मेरी पूजा की, इसके फलस्वरूप तुम इस क्षत्रिय-योनिके पश्चात् ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे ॥ २१½ ॥

गोब्राह्मणकृते प्राणान् हुत्वाऽऽत्मानं रणाजिरे ॥ २२ ॥
राजपुत्र सुखं प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
अथ मोदिष्यसे स्वर्गे ब्रह्मभूतोऽव्ययः सुखी ॥ २३ ॥

राजकुमार! तुम नाना प्रकारके सुख भोगकर अन्तमें गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये संग्रामभूमिमें अपने प्राणोंकी आहुति दोगे। तदनन्तर ब्राह्मणरूपमें पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गसुखका उपभोग करोगे। तत्पश्चात् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप होकर अक्षय आनन्दका अनुभव करोगे ॥ २२-२३ ॥

तिर्यग्योन्याः शूद्रतामभ्युपैति
शूद्रो वैश्यं क्षत्रियत्वं च वैश्यः।
वृत्तश्लाघी क्षत्रियो ब्राह्मणत्वं
स्वर्गं पुण्यं ब्राह्मणः साधुवृत्तः ॥ २४ ॥

तिर्यग्-योनिमें पड़ा हुआ जीव जब ऊपरकी ओर उठता है, तब वहाँसे पहले शूद्र-भावको प्राप्त होता है। शूद्र वैश्ययोनिको, वैश्य क्षत्रिययोनिको और सदाचारसे सुशोभित क्षत्रिय ब्राह्मणयोनिको प्राप्त होता है। फिर सदाचारी ब्राह्मण पुण्यमय स्वर्गलोकको जाता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका ब्राह्मणयोनिमें जन्म लेकर ब्रह्मलोकमें जाकर सनातनब्रह्मको प्राप्त करना

भीष्म उवाच

क्षत्रधर्ममनुप्राप्तः स्मरन्नेव च वीर्यवान्।
त्यक्त्वा स कीटतां राजंश्चचार विपुलं तपः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार कीटयोनिका त्याग करके अपने पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाला वह जीव अब क्षत्रिय-धर्मको प्राप्त हो विशेष शक्तिशाली हो गया और बड़ी भारी तपस्या करने लगा ॥ १ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो दृष्ट्वा तद् विपुलं तपः।
आजगाम द्विजश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ २ ॥

तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उस राजकुमारकी उग्र तपस्या देखकर विप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी उसके पास आये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

क्षात्रं देवव्रतं कीट भूतानां परिपालनम्।
क्षात्रं देवव्रतं ध्यायंस्ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—पूर्वजन्मके कीट! प्राणियोंकी रक्षा करना देवताओंका व्रत है और यही क्षात्रधर्म है। इसका चिंतन और पालन करके तुम अगले जन्ममें ब्राह्मण हो जाओगे ॥ ३ ॥

पाहि सर्वाः प्रजाः सम्यक् शुभाशुभविदात्मवान्।
शुभैः संविभजन् कामैरशुभानां च पावनैः ॥ ४ ॥
आत्मवान् भव सुप्रीतः स्वधर्माचरणे रतः।
क्षात्रीं तनुं समुत्सृज्य ततो विप्रत्वमेष्यसि ॥ ५ ॥

तुम शुभ और अशुभका ज्ञान प्राप्त करो तथा अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करके भलीभाँति प्रजाका पालन करो। उत्तम भोगोंका दान करते हुए अशुभ दोषोंका मार्जन करके प्रजाको पावन बनाकर आत्मज्ञानी एवं सुप्रसन्न हो जाओ तथा सदा स्वधर्मके आचरणमें तत्पर रहो। तदनन्तर क्षत्रिय-शरीरका त्याग करके ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे ॥४-५॥

भीष्म उवाच

सोऽप्यरण्यमनुप्राप्य पुनरेव युधिष्ठिर।
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रजा धर्मेण पाल्य च ॥ ६ ॥
अचिरेणैव कालेन कीटः पार्थिवसत्तम।
प्रजापालनधर्मेण प्रेत्य विप्रत्वमागतः ॥ ७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह भूतपूर्व

कीट महर्षि वेदव्यासका वचन सुनकर धर्मके अनुसार प्रजाका पालन करने लगा। तत्पश्चात् वह पुनः वनमें जाकर थोड़े ही समयमें परलोकवासी हो प्रजापालनरूप धर्मके प्रभावसे ब्राह्मण-कुलमें जन्म पा गया ॥ ६-७ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा पुनरेव महायशाः।
आजगाम महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ८ ॥

उसे ब्राह्मण हुआ जान महायशस्वी महाज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पुनः उसके पास आये ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

भो भो ब्रह्मर्षभ श्रीमन् मा व्यथिष्ठाः कथंचन।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ॥ ९ ॥

व्यासजीने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! अब तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम योनियोंमें और पाप करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ ९ ॥

उपपद्यति धर्मज्ञ यथापापफलोपगम्।
तस्मान्मृत्युभयात् कीट मा व्यथिष्ठाः कथंचन ॥ १० ॥
धर्मलोपभयं ते स्यात् तस्माद् धर्मं चरोत्तमम्।

धर्मज्ञ! मनुष्य जैसा पाप करता है, उसके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है। अतः भूतपूर्व कीट! अब तुम मृत्युके भयसे किसी प्रकार व्यथित न होओ। हाँ, तुम्हें धर्मके लोपका भय अवश्य होना चाहिये, इसलिये उत्तम धर्मका आचरण करते रहो ॥ १०½ ॥

कीट उवाच

सुखात् सुखतरं प्राप्तो भगवंस्त्वत्कृते ह्यहम् ॥ ११ ॥
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य पाप्मा नष्ट इहाद्य मे।

भूतपूर्व कीटने कहा—भगवन्! आपके ही प्रयत्नसे मैं अधिकाधिक सुखकी अवस्थाको प्राप्त होता गया हूँ। अब इस जन्ममें धर्ममूलक सम्पत्ति पाकर मेरा सारा पाप नष्ट हो गया ॥ ११½ ॥

भीष्म उवाच

भगवद्वचनात् कीटो ब्राह्मण्यं प्राप्य दुर्लभम् ॥ १२ ॥
अकरोत् पृथिवीं राजन् यज्ञयूपशताङ्किताम्।
ततः सालोक्यमगमद् ब्रह्मणो ब्रह्मवित्तमः ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भगवान् व्यासके कथनानुसार उस भूतपूर्व कीटने दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर पृथ्वीको सैकड़ों यज्ञयूपोंसे अङ्कित कर दिया। तदनन्तर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होकर उसने ब्रह्मसालोक्य प्राप्त किया अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त किया ॥

अवाप च पदं कीटः पार्थ ब्रह्म सनातनम्।
स्वकर्मफलनिर्वृत्तं व्यासस्य वचनात् तदा ॥ १४ ॥

पार्थ! व्यासजीके कथनानुसार उसने स्वधर्मका पालन किया था। उसीका यह फल हुआ कि उस कीटने सनातन ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया ॥ १४ ॥

तेऽपि यस्मात् प्रभावेण हताः क्षत्रियपुङ्गवाः।
सम्प्राप्तास्ते गतिं पुण्यां तस्मान्मा शोच पुत्रक ॥ १५ ॥

बेटा! (क्षत्रिययोनिमें उस कीटने युद्ध करके प्राण त्याग किया था, इसलिये उसे उत्तम गतिकी प्राप्ति हुई।) इसी प्रकार जो प्रधान-प्रधान क्षत्रिय अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस रणभूमिमें मारे गये हैं, वे भी पुण्यमयी गतिको प्राप्त हुए हैं। अतः उसके लिये तुम शोक न करो ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास और मैत्रेयका संवाद—दानकी प्रशंसा और कर्मका रहस्य

युधिष्ठिर उवाच

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! विद्या, तप और दान—इनमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है? यह मैं आपसे पूछता हूँ, मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और मैत्रेयके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन्।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले ॥ ३ ॥

नरेश्वर! एक समयकी बात है—भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी गुप्तरूपसे विचरते हुए वाराणसीपुरीमें जा पहुँचे। वहाँ मुनियोंकी मण्डलीमें बैठे हुए मुनिवर मैत्रेयजीके यहाँ वे उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तम।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम् ॥ ४ ॥

पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजीको पहचानकर मैत्रेयजीने उनका पूजन किया और उन्हें उत्तम अन्न भोजन कराया ॥ ४ ॥

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत् सार्वकामिकम्।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः ॥ ५ ॥

वह उत्तम लाभदायक और सबकी रुचिके अनुकूल अन्न भोजन करके महामना व्यासजी बहुत संतुष्ट हुए। फिर जब वे वहाँसे चलने लगे तो मुस्कराये ॥ ५ ॥

तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत्।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन् व्यस्मयिष्ठाः कुतश्च ते ॥ ६ ॥
तपस्विनो धृतिमतः प्रमोदः समुपागतः।
एतत् पृच्छामि ते विद्वन्नभिवाद्य प्रणम्य च ॥ ७ ॥

उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजीने व्यासजीसे पूछा—'धर्मात्मन्! विद्वन्! मैं आपको अभिवादन एवं प्रणाम[1] करके यह पूछता हूँ कि आप अभी-अभी जो मुस्कराए हैं, उसका क्या कारण है? आपको हँसी कैसे आयी? आप तो तपस्वी और धैर्यवान् हैं। आपको कैसे सहसा उल्लास हो आया? यह मुझे बताइये ॥ ६-७ ॥

आत्मनश्च तपोभाग्यं महाभाग्यं तवेह च।
पृथगाचरतस्तात पृथगात्मसुखात्मनोः।
अल्पान्तरमहं मन्ये विशिष्टमपि चान्वयात् ॥ ८ ॥

'तात! मैं अपनेमें तपस्याजनित सौभाग्य देखता हूँ और आपमें यहाँ सहज महाभाग्य प्रतिष्ठित है (क्योंकि आप मेरे गुरुपुत्र हैं)। जीवात्मा और परमात्मामें मैं बहुत थोड़ा अन्तर मानता हूँ। परमात्माका सभी पदार्थोंके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है। इसीलिये मैं उसे जीवात्माकी अपेक्षा श्रेष्ठ भी मानता हूँ, किंतु आप तो जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न जाननेवाले हैं, फिर आपका आचरण इस मान्यतासे भिन्न हो रहा है; क्योंकि आपको कुछ विस्मय हुआ है और मुझे नहीं हुआ है' ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत् ॥ ९ ॥

व्यासजीने कहा—ब्रह्मन्! अतिथिको अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छाके अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है और वाणीद्वारा अतिथिके गौरवका जो प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अतिवाद' कहते हैं। मुझे यहाँ अतिच्छन्द और अतिवाद दोनों प्राप्त हुए हैं, इसीलिये मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। (दान और आतिथ्य आदिका महत्त्व वेदोंके द्वारा प्रतिपादित हुआ है।) वेदोंका वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद क्यों असत्य कहेगा? ॥ ९ ॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत् ॥ १० ॥

वेद मनुष्यके लिये तीन बातोंको उत्तम व्रत बताते हैं—(१) किसीके प्रति द्रोह न करे, (२) दान दे तथा (३) दूसरोंसे सदा सत्य बोले ॥ १० ॥

इति वेदोक्तमृषिभिः पुरस्तात् परिकल्पितम्।
इदानीं चैव नः कृत्यं पुरस्ताच्च परिश्रुतम् ॥ ११ ॥

वेदके इस कथनका सबसे पहले ऋषियोंने पालन किया। हमने भी बहुत पहलेसे इसे सुन रखा है और इस समय भी वेदकी इस आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है ॥ ११ ॥

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः।
तृषिताय च ते दत्तं हृदयेनानसूयता ॥ १२ ॥

शास्त्रविधिके अनुसार दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् फल देनेवाला होता है। तुमने ईर्ष्यारहित हृदयसे भूखे-प्यासे अतिथिको अन्न-जलका दान किया है ॥ १२ ॥

तृषितस्तृषिताय त्वं दत्त्वैतद् दर्शनं मम।
अजैषीर्महतो लोकान् महायज्ञैरिव प्रभो ॥ १३ ॥

प्रभो! मैं भूखा और प्यासा था। तुमने मुझ भूखे-प्यासेको अन्न-जल देकर तृप्त किया। इस पुण्यके प्रभावसे महान् यज्ञोंद्वारा प्राप्त होनेवाले बड़े-बड़े लोकोंपर तुमने विजय पायी है—यह मुझे प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ १३ ॥

ततो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च।
पुण्यस्यैव हि ते सत्त्वं पुण्यस्यैव च दर्शनम् ॥ १४ ॥

इस दानके द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्यासे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्यका ही बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्यका ही दर्शन है ॥ १४ ॥

पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते मन्ये कर्मविधानजम्।
अधिकं मार्जनात् तात तथा चैवानुलेपनात् ॥ १५ ॥

तुम्हारे शरीरसे जो सदा पुण्यकी ही सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं इस दानरूप पुण्यकर्मके अनुष्ठानका ही फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक व्रतकी पूर्तिसे भी बढ़कर है ॥ १५ ॥

शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज।

---

१. आदरणीय पुरुषके चरणोंको हाथसे पकड़कर जो नमस्कार किया जाता है, उसे अभिवादन कहते हैं और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर उसे अपने ललाटसे लगाकर जो वन्दनीय पुरुषको मस्तक झुकाया जाता है, उसका नाम प्रणाम है।

नो चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत् ॥ १६ ॥

ब्रह्मन् ! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओंसे श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रोंमें उसकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती ॥ १६ ॥

यानीमान्युत्तमानीह वेदोक्तानि प्रशंससि।
तेषां श्रेष्ठतरं दानमिति मे नात्र संशयः ॥ १७ ॥

तुम जिन-जिन वेदोक्त उत्तम कर्मोंकी यहाँ प्रशंसा करते हो, उन सबमें दान ही श्रेष्ठतर है, इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ १७ ॥

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥ १८ ॥

दाताओंने जो मार्ग बना दिया है, उसीसे मनीषी पुरुष चलते हैं। दान करनेवाले प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हींमें धर्म प्रतिष्ठित है ॥ १८ ॥

यथा वेदाः स्वधीताश्च यथा चेन्द्रियसंयमः।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम् ॥ १९ ॥

जैसे वेदोंका स्वाध्याय, इन्द्रियोंका संयम और सर्वस्वका त्याग उत्तम है, उसी प्रकार इस संसारमें दान भी अत्यन्त उत्तम माना गया है ॥ १९ ॥

त्वं हि तात महाबुद्धे सुखमेष्यसि शोभनम्।
सुखात् सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ॥ २० ॥

तात ! महाबुद्धे ! तुमको इस दानके कारण उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमान् मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है ॥ २० ॥

तन्नः प्रत्यक्षमेवेदमुपलभ्यमसंशयम्।
श्रीमन्तः प्राप्नुवन्त्यर्थान् दानं यज्ञं तथा सुखम् ॥ २१ ॥

यह बात हमलोगोंके सामने प्रत्यक्ष है। हमें निःसंदेह ऐसा ही समझना चाहिये। तुम-जैसे श्रीसम्पन्न पुरुष जब धन पाते हैं, तब उससे दान, यज्ञ और सुख भोग करते हैं ॥

सुखादेव परं दुःखं दुःखादप्यपरं सुखम्।
दृश्यते हि महाप्राज्ञ नियतं वै स्वभावतः ॥ २२ ॥

महाप्राज्ञ ! किंतु जो लोग विषयसुखोंमें आसक्त हैं, वे सुखसे ही महान् दुःखमें पड़ते हैं और जो तपस्या आदिके द्वारा दुःख उठाते हैं, उन्हें दुःखसे ही सुखकी प्राप्ति होती देखी जाती है। सुख और दुःख मनुष्यके स्वभावके अनुसार नियत हैं ॥ २२ ॥

त्रिविधानीह वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः।
पुण्यमन्यत् पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम् ॥ २३ ॥

इस जगत्‌में मनीषी पुरुषोंने मनुष्यके तीन प्रकारके आचरण बतलाये हैं—पुण्यमय, पापमय तथा पुण्य-पाप दोनोंसे रहित ॥ २३ ॥

न वृत्तं मन्यते तस्य मन्यते न च पातकम्।
तथा स्वकर्मनिर्वृत्तं न पुण्यं न च पापकम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है। अतः उसके किये हुए कर्मको न पुण्य माना जाता है न पाप। उसे अपने कर्मजनित पुण्य और पापकी प्राप्ति होती ही नहीं है ॥ २४ ॥

यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः ॥ २५ ॥

जो यज्ञ, दान और तपस्यामें प्रवीण रहते हैं, वे ही मनुष्य पुण्य कर्म करनेवाले हैं तथा जो प्राणियोंसे द्रोह करते हैं, वे ही पापाचारी समझे जाते हैं ॥ २५ ॥

द्रव्याण्याददते चैव दुःखं यान्ति पतन्ति च।
ततोऽन्यत् कर्म यत्किंचिन्न पुण्यं न च पातकम् ॥ २६ ॥

जो मनुष्य दूसरोंके धन चुराते हैं, वे दुःख पाते और नरकमें पड़ते हैं। इन उपर्युक्त शुभाशुभ कर्मोंसे भिन्न जो साधारण चेष्टा है, वह न तो पुण्य है और न तो पाप ही है ॥

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च।
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः ॥ २७ ॥

महर्षे ! तुम आनन्दपूर्वक स्वधर्म-पालनमें रत रहो, तुम्हारी निरन्तर उन्नति हो, तुम प्रसन्न रहो, दान दो और यज्ञ करो। विद्वान् और तपस्वी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मणको अन्नदानकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच मैत्रेयः कर्मपूजकः।
अत्यन्तश्रीमति कुले जातः प्राज्ञो बहुश्रुतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजीके ऐसा कहने

पर कर्मपूजक मैत्रेयने जो अत्यन्त श्रीसम्पन्न कुलमें उत्पन्न हुए बहुश्रुत विद्वान् थे, उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १॥

मैत्रेय उवाच

असंशयं महाप्राज्ञ यथैवात्थ तथैव तत्।
अनुज्ञातश्च भवता किंचिद् ब्रूयामहं विभो ॥ २ ॥

मैत्रेय बोले—महाप्राज्ञ ! आप जैसा कहते हैं ठीक वैसी ही बात है, इसमें संशय नहीं है। प्रभो ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं कुछ कहूँ ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यद् यदिच्छसि मैत्रेय यावद् यावद् यथा यथा।
ब्रूहि तत्त्वं महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ मैत्रेय ! तुम जो-जो, जितनी-जितनी और जैसी-जैसी बातें कहना चाहो, कहो। मैं तुम्हारी बातें सुनूँगा ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

निर्दोषं निर्मलं चैवं वचनं दानसंहितम्।
विद्यातपोभ्यां हि भवान् भावितात्मा न संशयः॥ ४ ॥

मैत्रेय बोले—मुने ! आपने दानके सम्बन्धमें जो बातें बतायी हैं, वे दोषरहित और निर्मल हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपने विद्या और तपस्यासे अपने अन्तःकरणको परम पवित्र बना लिया है ॥ ४ ॥

भवतो भावितात्मत्वाल्लाभोऽयं सुमहान् मम।
भूयो बुद्ध्यानुपश्यामि सुसमृद्धतपा इव ॥ ५ ॥

आप शुद्धचित्त हैं, इसलिये आपके समागमसे मुझे यह महान् लाभ पहुँचा है। यह बात मैं समृद्धिशाली तपवाले महर्षिके समान बुद्धिसे बारंबार विचारकर प्रत्यक्ष देखता हूँ॥

अपि नो दर्शनादेव भवतोऽभ्युदयो भवेत्।
मन्ये भवत्प्रसादोऽयं तद्धि कर्म स्वभावतः ॥ ६ ॥

आपके दर्शनसे ही हमलोगोंका महान् अभ्युदय हो सकता है। आपने जो दर्शन दिया, यह आपकी बहुत बड़ी कृपा है। मैं ऐसा ही मानता हूँ। यह कर्म भी आपकी कृपासे ही स्वभावतः बन गया है ॥ ६ ॥

तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणत्वके तीन कारण माने गये हैं—तपस्या, शास्त्रज्ञान और विशुद्ध ब्राह्मणकुलमें जन्म। जो इन तीनों गुणोंसे सम्पन्न है, वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ७ ॥

अस्मिंस्तृप्ते च तृप्यन्ते पितरो दैवतानि च।
न हि श्रुतवतां किंचिदधिकं ब्राह्मणादृते ॥ ८ ॥

ऐसे ब्राह्मणके तृप्त होनेपर देवता और पितर भी तृप्त हो जाते हैं। विद्वानोंके लिये ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई मान्य नहीं है ॥ ८ ॥

अन्धं स्यात् तम एवेदं न प्रज्ञायेत किंचन।
चातुर्वर्ण्यं न वर्तेत धर्माधर्मावृतानृते ॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मण न हों तो यह सारा जगत् अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न हो जाय। किसीको कुछ सूझ न पड़े तथा चारों वर्णोंकी स्थिति, धर्म-अधर्म और सत्यासत्य कुछ भी न रह जाय ॥ ९ ॥

यथा हि सुकृते क्षेत्रे फलं विन्दति मानवः।
एवं दत्त्वा श्रुतवति फलं दाता समश्नुते ॥ १० ॥

जैसे मनुष्य अच्छी तरह जोतकर तैयार किये हुए खेतमें बीज डालनेपर उसका फल पाता है, उसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मणको दान देकर दाता निश्चय ही उसके फलका भागी होता है ॥ १० ॥

ब्राह्मणश्चेन्न विन्देत श्रुतवृत्तोपसंहितः।
प्रतिग्रहीता दानस्य मोघं स्याद् धनिनां धनम् ॥ ११ ॥

यदि विद्या और सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मण जो दान लेनेका प्रधान अधिकारी है, धन न पा सके तो धनियोंका धन व्यर्थ हो जाय ॥ ११ ॥

अदन्नविद्वान् हन्त्यन्नमद्यमानं च हन्ति तम्।
तं चान्नं पाति यश्चान्नं स हन्ता हन्यतेऽबुधः ॥ १२ ॥

मूर्ख मनुष्य यदि किसीका अन्न खाता है तो वह उस अन्नको नष्ट करता है (अर्थात् कर्ताको उसका कुछ फल नहीं मिलता)। इसी प्रकार वह अन्न भी उस मूर्खको नष्ट कर डालता है। जो सुपात्र होनेके कारण अन्न और दाता-की रक्षा करता है, उसकी भी वह अन्न रक्षा करता है। जो मूर्ख दानके फलका हनन करता है, वह स्वयं भी मारा जाता है ॥ १२ ॥

प्रभुर्ह्यन्नमदन् विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः।
स चान्नाज्जायते तस्मात् सूक्ष्म एष व्यतिक्रमः॥ १३ ॥

प्रभाव और शक्तिसे सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण यदि अन्न भोजन करता है तो वह पुनः अन्नका उत्पादन करता है, किंतु वह स्वयं अन्नसे उत्पन्न होता है, इसलिये यह व्यतिक्रम सूक्ष्म (दुर्विज्ञेय) है अर्थात् यद्यपि वृष्टिसे अन्नकी और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है; किंतु यह प्रजा (विद्वान् ब्राह्मण) से अन्नकी उत्पत्तिका विषय दुर्विज्ञेय है ॥ १३ ॥

यदेव ददतः पुण्यं तदेव प्रतिगृह्णतः।
न ह्येकचक्रं वर्तेत इत्येवमृषयो विदुः ॥ १४ ॥

'दान देनेवालेको जो पुण्य होता है, वही दान लेनेवाले-को भी (यदि वह योग्य अधिकारी है तो) होता है। (क्योंकि दोनों एक दूसरेके उपकारक होते हैं) एक पहियेसे गाड़ी

नहीं चलती—प्रतिग्रहीताके बिना दाताका दान सफल नहीं हो सकता ।' ऐसी ऋषियोंकी मान्यता है ॥ १४ ॥

यत्र वै ब्राह्मणाः सन्ति श्रुतवृत्तोपसंहिताः ।
तत्र दानफलं पुण्यमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ १५ ॥

जहाँ विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण रहते हैं, वहीं दिये हुए दानका फल इहलोक और परलोकमें मनुष्य भोगता है ॥

ये योनिशुद्धाः सततं तपस्यभिरता भृशम् ।
दानाध्ययनसम्पन्नास्ते वै पूज्यतमाः सदा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण विशुद्ध कुलमें उत्पन्न, निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले, बहुत दानपरायण तथा अध्ययनसम्पन्न हैं, वे ही सदा पूज्य माने गये हैं ॥ १६ ॥

तैर्हि सद्भिः कृतः पन्थास्तेन यातो न मुह्यते ।
ते हि स्वर्गस्य नेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ॥ १७ ॥

ऐसे सत्पुरुषोंने जिस मार्गका निर्माण किया है, उससे चलनेवालेको कभी मोह नहीं होता; क्योंकि वे मनुष्योंको स्वर्गलोकमें ले जानेवाले तथा सनातन यज्ञनिर्वाहक हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायामेकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—तपकी प्रशंसा तथा गृहस्थके उत्तम कर्तव्यका निर्देश

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् मैत्रेयं प्रत्यभाषत ।
दिष्ट्यैवं त्वं विजानासि दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! मैत्रेयके इस प्रकार कहनेपर भगवान् वेदव्यास उनसे इस प्रकार बोले–'ब्रह्मन् ! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, जो ऐसी बातोंका ज्ञान रखते हो। भाग्यसे ही तुमको ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है ॥ १ ॥

लोको ह्यार्यगुणानेव भूयिष्ठं तु प्रशंसति ।
रूपमानवयोमानश्रीमानाश्चाप्यसंशयम् ॥ २ ॥
दिष्ट्या नाभिभवन्ति त्वां दैवस्तेऽयमनुग्रहः ।

'संसारके लोग उत्तम गुणवाले पुरुषकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं । सौभाग्यकी बात है कि रूप, अवस्था और सम्पत्तिके अभिमान तुम्हारे ऊपर प्रभाव नहीं डालते हैं । यह तुमपर देवताओंका महान् अनुग्रह है। इसमें संशय नहीं है ॥ २½ ॥

यत् ते भृशतरं दानाद् वर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ३ ॥
यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम ॥ ४ ॥

'अस्तु, अब मैं दानसे भी उत्तम धर्मका तुमसे वर्णन करता हूँ, सुनो । इस जगत्में जितने शास्त्र और जो कोई भी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब वेदको ही सामने रखकर क्रमशः प्रचलित हुए हैं ॥ ३-४ ॥

अहं दानं प्रशंसामि भवानपि तपःश्रुते ।
तपः पवित्रं वेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम् ॥ ५ ॥

'मैं दानकी प्रशंसा करता हूँ, तुम भी तपस्या और शास्त्रज्ञानकी प्रशंसा करते हो, वास्तवमें तपस्या पवित्र और वेदाध्ययन एवं स्वर्गका उत्तम साधन है ॥ ५ ॥

तपसा महदाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम् ।
तपसैव चापनुदेद् यच्चान्यदपि दुष्कृतम् ॥ ६ ॥

'मैंने सुना है कि तपस्या और विद्या दोनोंसे ही मनुष्य महान् पदको प्राप्त करता है । अन्यान्य जो पाप हैं, उन्हें भी तपस्यासे ही वह दूर कर सकता है ॥ ६ ॥

यद् यद्धि किंचित् संधाय पुरुषस्तप्यते तपः ।
सर्वमेतदवाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

'जो कोई भी उद्देश्य लेकर पुरुष तपस्यामें प्रवृत्त होता है, वह सब उसे तप और विद्यासे प्राप्त हो जाता है; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ७ ॥

दुरन्वयं दुष्प्रधर्षं दुरापं दुरतिक्रमम् ।
सर्वं वै तपसाभ्येति तपो हि बलवत्तरम् ॥ ८ ॥

'जिससे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है, जो दुर्धर्ष, दुर्लभ और दुर्लङ्घ्य है, वह सब तपस्यासे सुलभ हो जाता है; क्योंकि तपस्याका बल सबसे बड़ा है ॥ ८ ॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसा तरते सर्वमेनसश्च प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

'शराबी, चोर, गर्भहत्यारा, गुरुकी शय्यापर शयन करनेवाला पापी भी तपस्याद्वारा सम्पूर्ण संसारसे पार हो जाता है और अपने पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ९ ॥

सर्वविद्यस्तु चक्षुष्मानपि यादृशतादृशम् ।
तपस्विनं तथैवाहुस्ताभ्यां कार्यं सदा नमः ॥ १० ॥

'जो सब प्रकारकी विद्याओंमें प्रवीण है, वही नेत्रवान्

है और तपस्वी, चाहे जैसा हो उसे भी नेत्रवान् ही कहा जाता है। इन दोनोंको सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ १० ॥

सर्वे पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
दानप्रदाः सुखं प्रेत्य प्राप्नुवन्तीह च श्रियम् ॥ ११ ॥

'जो विद्याके धनी और तपस्वी हैं, वे सब पूजनीय हैं तथा दान देनेवाले भी इस लोकमें धन-सम्पत्ति और परलोकमें सुख पाते हैं ॥ ११ ॥

इमं च ब्रह्मलोकं च लोकं च बलवत्तरम्।
अन्नदानैः सुकृतिनः प्रतिपद्यन्ति लौकिकाः ॥ १२ ॥

संसारके पुण्यात्मा पुरुष अन्न-दान देकर इस लोकमें भी सुखी होते हैं और मृत्युके बाद ब्रह्मलोक तथा दूसरे शक्तिशाली लोकको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १२ ॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च।
स दाता यत्र यत्रेति सर्वतः सम्प्रणूयते ॥ १३ ॥

'दानी स्वयं पूजित और सम्मानित होकर दूसरोंका पूजन और सम्मान करते हैं। दाता जहाँ-जहाँ जाते हैं, सब ओर उनकी स्तुति की जाती है ॥ १३ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च लभते यस्य यादृशम्।
यदि चोर्ध्वं यद्यधो वा स्वाल्ँलोकानभियास्यति ॥ १४ ॥

'मनुष्य दान करता हो या न करता हो, वह ऊपरके लोकमें रहता हो या नीचेके लोकमें, जिसे कर्मानुसार जैसा लोक प्राप्त होगा, वह अपने उसी लोकमें जायगा ॥ १४ ॥

प्राप्स्यसि त्वन्नपानानि यानि वाञ्छसि कानिचित्।
मेधाव्यसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ॥ १५ ॥
कौमारचारी व्रतवान् मैत्रेय निरतो भव।
एतद् गृहाण प्रथमं प्रशस्तं गृहमेधिनाम् ॥ १६ ॥

'मैत्रेयजी! तुम जो कुछ चाहोगे, उसके अनुसार तुमको अन्न-पानकी सामग्री प्राप्त होगी। तुम बुद्धिमान्, कुलीन, शास्त्रज्ञ और दयालु हो। तुम्हारी तरुण अवस्था है और तुम व्रतधारी हो। अतः सदा धर्म-पालनमें लगे रहो और गृहस्थोंके लिये जो सबसे उत्तम एवं मुख्य कर्तव्य है, उसे ग्रहण करो—ध्यान देकर सुनो ॥ १५-१६ ॥

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।
यस्मिन्नेवं कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते ॥ १७ ॥

'जिस कुलमें पति अपनी पत्नीसे और पत्नी अपने पतिसे संतुष्ट रहती हो, वहाँ सदा कल्याण होता है ॥ १७ ॥

अद्भिर्गात्रान्मलमिव तमोऽग्निप्रभया यथा।
दानेन तपसा चैव सर्वपापमपोहति ॥ १८ ॥

'जिस प्रकार जलसे शरीरका मल धुल जाता है और अग्निकी प्रभासे अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार दान और तपस्यासे मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

(दानेन तपसा चैव विष्णोरभ्यर्चनेन च।
ब्राह्मणः स महाभाग तरेत् संसारसागरात् ॥
स्वकर्मशुद्धसत्त्वानां तपोभिर्निर्मलात्मनाम्।
विद्यया गतमोहानां तारणाय हरिः स्मृतः ॥
तदर्चनपरो नित्यं तद्भक्तस्तं नमस्कुरु।
तद्भक्ता न विनश्यन्ति ह्यष्टाक्षरपरायणाः ॥
प्रणवोपासनपराः परमार्थपरास्त्विह।
एतैः पावय चात्मानं सर्वपापमपोह्य च ॥)

'महाभाग! ब्राह्मण दान, तपस्या और भगवान् विष्णुकी आराधनाके द्वारा संसारसागरसे पार हो जाता है। जिन्होंने अपने वर्णोचित्त कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तःकरणको शुद्ध बना लिया है, तपस्याद्वारा जिनका चित्त निर्मल हो गया है तथा विद्याके प्रभावसे जिनका मोह दूर हो गया है, ऐसे मनुष्योंके उद्धारके लिये भगवान् श्रीहरि माने गये हैं अर्थात् उनका स्मरण करते ही वे अवश्य उद्धार करते हैं। अतः तुम भगवान् विष्णुकी आराधनामें तत्पर हो सदा उनके भक्त बने रहो और निरन्तर उन्हें नमस्कार करो। अष्टाक्षर मन्त्रके जपमें तत्पर रहनेवाले भगवद्भक्त कभी नष्ट नहीं होते। जो इस जगत्में प्रणवोपासनामें संलग्न और परमार्थ-साधनमें तत्पर हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके सङ्गसे सारा पाप दूर करके अपने आपको पवित्र करो ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि मैत्रेय गृहान् साधु व्रजाम्यहम्।
एतन्मनसि कर्तव्यं श्रेय एवं भविष्यति ॥ १९ ॥

'मैत्रेय! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं सावधानीके साथ अपने आश्रमको जा रहा हूँ। मैंने जो कुछ बताया है, उसे याद रखना; इससे तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ १९ ॥

तं प्रणम्याथ मैत्रेयः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
स्वस्ति प्राप्नोतु भगवानित्युवाच कृताञ्जलिः ॥ २० ॥

तब मैत्रेयजीने व्यासजीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप मङ्गल प्राप्त करें' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)



देवलोकमें पतिव्रता शाण्डिली और सुमनाकी बातचीत

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शाण्डिली और सुमनाका संवाद—पतिव्रता स्त्रियोंके कर्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मविदां वर ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ पितामह ! साध्वी स्त्रियोंके सदाचारका क्या स्वरूप है ? यह मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ। उसे मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम् ।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! देवलोककी बात है सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली सर्वज्ञा एवं मनस्विनी शाण्डिलीदेवीसे केकयराजकी पुत्री सुमनाने इस प्रकार प्रश्न किया—॥ २ ॥

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा ।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥ ३ ॥

'कल्याणि ! तुमने किस बर्ताव अथवा किस सदाचारके प्रभावसे समस्त पापोंका नाश करके देवलोकमें पदार्पण किया है ? ॥ ३ ॥

हुताशनशिखेव त्वं ज्वलमाना स्वतेजसा ।
सुता ताराधिपस्येव प्रभया दिवमागता ॥ ४ ॥

'तुम अपने तेजसे अग्निकी ज्वालाके समान प्रज्वलित हो रही हो और चन्द्रमाकी पुत्रीके समान अपनी उज्ज्वल-प्रभासे प्रकाशित होती हुई स्वर्गलोकमें आयी हो ॥ ४ ॥

अरजांसि च वस्त्राणि धारयन्ती गतक्लमा ।
विमानस्था शुभा भासि सहस्रगुणमोजसा ॥ ५ ॥

'निर्मल वस्त्र धारण किये थकावट और परिश्रमसे रहित होकर विमानपर बैठी हो। तुम्हारी मङ्गलमयी आकृति है, तुम अपने तेजसे सहस्रगुनी शोभा पा रही हो ॥ ५ ॥

न त्वमल्पेन तपसा दानेन नियमेन वा ।
इमं लोकमनुप्राप्ता त्वं हि तत्त्वं वदस्व मे ॥ ६ ॥

'थोड़ी-सी तपस्या, थोड़े-से दान या छोटे-मोटे नियमोंका पालन करके तुम इस लोकमें नहीं आयी हो। अतः अपनी साधनाके सम्बन्धमें सच्ची-सच्ची बात बताओ' ॥ ६ ॥

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी ।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सुमनाके इस प्रकार मधुर वाणीमें पूछनेपर मनोहर मुसकानवाली शाण्डिलीने उससे नम्रतापूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार कहा— ॥ ७ ॥

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी ।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥ ८ ॥

'देवि ! मैंने गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया, वल्कलवस्त्र नहीं पहना, मूँड़ नहीं मुड़ाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ नहीं रखायीं। वह सब करके मैं देवलोकमें नहीं आयी हूँ ॥८॥

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥ ९ ॥

'मैंने सदा सावधान रहकर अपने पतिदेवके प्रति मुँहसे कभी अहितकर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं ॥ ९ ॥

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ॥ १० ॥

'मैं सदा सास-ससुरकी आज्ञामें रहती और देवता, पितर तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें सदा सावधान होकर संलग्न रहती थी ॥ १० ॥

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ॥ ११ ॥

'किसीकी चुगली नहीं खाती थी। चुगली करना मेरे मनको बिल्कुल नहीं भाता था। मैं घरका दरवाजा छोड़कर अन्यत्र नहीं खड़ी होती और देरतक किसीसे बात नहीं करती थी ॥ ११ ॥

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ॥ १२ ॥

'मैंने कभी एकान्तमें या सबके सामने किसीके साथ अश्लील परिहास नहीं किया तथा मेरी किसी क्रियाद्वारा किसीका अहित भी नहीं हुआ। मैं ऐसे कार्योंमें कभी प्रवृत्त नहीं होती थी ॥ १२ ॥

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ॥ १३ ॥

'यदि मेरे स्वामी किसी कार्यसे बाहर जाकर फिर घरको लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठनेके लिये आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी ॥ १३ ॥

यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ॥ १४ ॥

'मेरे स्वामी जिस अन्नको ग्रहण करने योग्य नहीं समझते थे तथा जिस भक्ष्य, भोज्य या लेह्य आदिको वे नहीं पसंद करते थे, उन सबको मैं भी त्याग देती थी ॥१४॥

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु ।

प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ॥ १५ ॥

'सारे कुटुम्बके लिये जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं सबेरे ही उठकर कर-करा लेती थी ॥ १५ ॥

(अग्निसंरक्षणपरा गृहशुद्धिं च कारये ।
कुमारान् पालये नित्यं कुमारीं परिशिक्षये ॥
आत्मप्रियाणि हित्वापि गर्भसंरक्षणे रता ।
बालानां वर्जये नित्यं शापं कोपं प्रतापनम् ॥
अविक्षिप्तानि धान्यानि नान्नविक्षेपणं गृहे ।
रत्नवत् स्पृहये गेहे गावः सयवसोदकाः ॥
समुद्गम्य च शुद्धाहं भिक्षां दद्यां द्विजातिषु।)

'मैं अग्निहोत्रकी रक्षा करती और घरको लीप-पोतकर शुद्ध रखती थी। बच्चोंका प्रतिदिन पालन करती और कन्याओंको नारीधर्मकी शिक्षा देती थी। अपनेको प्रिय लगनेवाली खाद्य वस्तुएँ त्यागकर भी गर्भकी रक्षामें ही सदा संलग्न रहती थी। बच्चोंको शाप (गाली) देना, उनपर क्रोध करना अथवा उन्हें सताना आदि मैं सदाके लिये त्याग चुकी थी। मेरे घरमें कभी अनाज छींटे नहीं जाते थे। किसी भी अन्नको बिखेरा नहीं जाता था। मैं अपने घरमें गौओंको घास-भूसा खिलाकर, पानी पिलाकर तृप्त करती थी और रत्नकी भाँति उन्हें सुरक्षित रखनेकी इच्छा करती थी तथा शुद्ध अवस्थामें मैं आगे बढ़कर ब्राह्मणोंको भिक्षा देती थी ॥

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा ॥ १६ ॥

'यदि मेरे पति किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियमसे रहकर उनके कल्याणके लिये नाना प्रकारके माङ्गलिक कार्य किया करती थी ॥ १६ ॥

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥ १७ ॥

'स्वामीके बाहर चले जानेपर मैं आँखोंमें आँजन लगाना, ललाटमें गोरोचनका तिलक करना, तैलाभ्यङ्गपूर्वक स्नान करना, फूलोंकी माला पहनना, अङ्गोंमें अङ्गराग लगाना तथा शृङ्गार करना पसंद नहीं करती थी ॥ १७ ॥

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ॥ १८ ॥

'जब स्वामी सुखपूर्वक सो जाते उस समय आवश्यक कार्य आ जानेपर भी मैं उन्हें कभी नहीं जगाती थी। इससे मेरे मनको विशेष संतोष प्राप्त होता था ॥ १८ ॥

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशना ॥ १९ ॥

'परिवारके पालन-पोषणके कार्यके लिये भी मैं उन्हें कभी नहीं तंग करती थी। घरकी गुप्त बातोंको सदा छिपाये रखती और घर-आँगनको सदा झाड़-बुहारकर साफ रखती थी ॥ १९ ॥

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ॥ २० ॥

'जो स्त्री सदा सावधान रहकर इस धर्ममार्गका पालन करती है, वह नारियोंमें अरुन्धतीके समान आदरणीय होती है और स्वर्गलोकमें भी उसकी विशेष प्रतिष्ठा होती है' ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

एतदाख्याय सा देवी सुमनायै तपस्विनी ।
पतिधर्मं महाभागा जगामादर्शनं तदा ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुमनाको इस प्रकार पातिव्रत्य धर्मका उपदेश देकर तपस्विनी महाभाग शाण्डिली देवी तत्काल वहाँ अदृश्य हो गयीं ॥ २१ ॥

यश्चेदं पाण्डवाख्यानं पठेत् पर्वणि पर्वणि ।
स देवलोकं सम्प्राप्य नन्दने स सुखी वसेत्॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन ! जो प्रत्येक पर्वके दिन इस आख्यानका पाठ करता है, वह देवलोकमें पहुँचकर नन्दनवनमें सुखपूर्वक निवास करता है ॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शाण्डिलीसुमनासंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शाण्डिली और सुमनाका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारदका पुण्डरीकको भगवान् नारायणकी आराधनाका उपदेश तथा उन्हें भगवद्धामकी प्राप्ति, सामगुणकी प्रशंसा, ब्राह्मणका राक्षसके सफेद और दुर्बल होनेका कारण बताना

(*युधिष्ठिर उवाच*

यज्ज्ञेयं परमं कृत्यमनुष्ठेयं महात्मभिः ।
सारं मे सर्वशास्त्राणां वक्तुमर्हस्यनुग्रहात् ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! जो सर्वोत्तम कर्तव्य-

रूपसे जानने योग्य है, महात्मा पुरुष जिसका अनुष्ठान करना अपना धर्म समझते हैं तथा जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है, उस श्रेयका कृपापूर्वक वर्णन कीजिये ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतामिदमत्यन्तं गूढं संसारमोचनम् ।
श्रोतव्यं च त्वया सम्यग् ज्ञातव्यं च विशाम्पते॥

भीष्मजीने कहा—प्रजानाथ ! जो अत्यन्त गूढ़, संसारबन्धनसे मुक्त करनेवाला और तुम्हारे द्वारा श्रवण करने एवं भलीभाँति जाननेके योग्य है, उस परम श्रेयका वर्णन सुनो ॥

पुण्डरीकः पुरा विप्रः पुण्यतीर्थे जपान्वितः ।
नारदं परिपप्रच्छ श्रेयो योगपरं मुनिम् ॥
नारदश्चाब्रवीदेनं ब्रह्मणोक्तं महात्मना ॥

प्राचीन कालकी बात है, पुण्डरीक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण किसी पुण्यतीर्थमें सदा जप किया करते थे। उन्होंने योगपरायण मुनिवर नारदजीसे श्रेय (कल्याणकारी साधन) के विषयमें पूछा। तब नारदजीने महात्मा ब्रह्माजीके द्वारा बताये हुए श्रेयका उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया ॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहितस्तात ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
अप्रभूतं प्रभूतार्थं वेदशास्त्रार्थसारकम् ॥

नारदजीने कहा—तात ! तुम सावधान होकर परम उत्तम ज्ञानयोगका वर्णन सुनो। यह किसी व्यक्तिविशेषसे नहीं प्रकट हुआ है—अनादि है, प्रचुर अर्थका साधक है तथा वेदों और शास्त्रोंके अर्थका सारभूत है ॥

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः ।
स एव सर्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते ॥

जो चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिसे उसका साक्षिभूत पचीसवाँ तत्त्व पुरुष कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, उसीको नर कहते हैं ॥

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः ।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥

नरसे सम्पूर्ण तत्त्व प्रकट हुए हैं, इसलिये उन्हें नार कहते हैं। नार ही भगवान्‌का अयन—निवासस्थान है, इसलिये वे नारायण कहलाते हैं ॥

नारायणाज्जगत् सर्वं सर्गकाले प्रजायते ।
तस्मिन्नेव पुनस्तच्च प्रलये सम्प्रलीयते ॥

सृष्टिकालमें यह सारा जगत् नारायणसे ही प्रकट होता है और प्रलयकालमें फिर उन्हींमें इसका लय होता है ॥

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परात् परम् ॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, परमपुरुष नारायण ही सम्पूर्ण तत्त्व हैं, वे ही परसे भी परे हैं। उनके सिवा दूसरा कोई परात्पर तत्त्व नहीं है ॥

वासुदेवं तथा विष्णुमात्मानं च तथा विदुः ।
संज्ञाभेदैः स एवैकः सर्वशास्त्राभिसंस्कृतः ॥

उन्हींको वासुदेव, विष्णु तथा आत्मा कहते हैं। संज्ञा-भेदसे एकमात्र नारायण ही सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा वर्णित होते हैं ॥

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

समस्त शास्त्रोंका आलोडन करके बारंबार विचार करने-पर एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये ॥

तस्मात्त्वं गहनान् सर्वांस्त्यक्त्वा शास्त्रार्थविस्तरान् ।
अनन्यचेता ध्यायस्व नारायणमजं विभुम् ॥

अतः तुम शास्त्रार्थके सम्पूर्ण गहन विस्तारका त्याग करके अनन्यचित्त होकर सर्वव्यापी अजन्मा भगवान् नारायणका ध्यान करो ॥

मुहूर्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः ।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः ॥

जो आलस्य छोड़कर दो घड़ी भी नारायणका ध्यान करता है, वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। फिर जो निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें तत्पर रहता है, उसकी तो बात ही क्या है ॥

नमो नारायणायेति यो वेद ब्रह्म शाश्वतम् ।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

जो 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रको सनातन ब्रह्मरूप जानता है और अन्तकालमें इसका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥

श्रवणान्मननाच्चैव गीतिस्तुत्यर्चनादिभिः ।
आराध्यं सर्वदा ब्रह्म पुरुषेण हितैषिणा ॥

जो मनुष्य अपना हित चाहता हो, वह सदा श्रवण, मनन, गीत, स्तुति और पूजन आदिके द्वारा सर्वदा ब्रह्मस्वरूप नारायणकी आराधना करे ॥

लिप्यते न स पापेन नारायणपरायणः ।
पुनाति सकलं लोकं सहस्रांशुरिवोदितः ॥

नारायणके भजनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता। वह उदित हुए सहस्र किरणोंवाले सूर्यकी भाँति समस्त लोकको पवित्र कर देता है ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
केशवाराधनं हित्वा नैव यान्ति परां गतिम् ॥

ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थ हो या संन्यासी, भगवान् विष्णुकी आराधना छोड़ देनेपर ये कोई भी परम गतिको नहीं प्राप्त होते हैं ॥

जन्मान्तरसहस्रेषु दुर्लभा तद्गता मतिः ।
तद्भक्तवत्सलं देवं समाराधय सुव्रत ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुण्डरीक! सहस्रों जन्म धारण करनेपर भी भगवान् विष्णुमें मन और बुद्धिका लगना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम उन भक्तवत्सल नारायणदेवकी भलीभाँति आराधना करो ॥

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तस्तु स विप्रोऽभ्यर्चयद्धरिम् ।
स्वप्नेऽपि पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
किरीटकुण्डलधरं लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभम् ।
तं दृष्ट्वा देवदेवेशं प्राणमत् सम्भ्रमान्वितः ॥

भीष्मजी कहते हैं--राजन् ! नारदजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर विप्रवर पुण्डरीक भगवान् श्रीहरिकी आराधना करने लगे। वे स्वप्नमें भी शङ्ख-चक्र-गदाधारी, किरीट और कुण्डलसे सुशोभित, सुन्दर श्रीवत्स-चिह्न एवं कौस्तुभ मणि धारण करनेवाले कमलनयन नारायण देवका दर्शन करते थे और उन देवदेवेश्वरको देखते ही बड़े वेगसे उठकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे ॥

अथ कालेन महता तथा प्रत्यक्षतां गतः ।
संस्तुतः स्तुतिभिर्वेदैर्देवगन्धर्वकिन्नरैः ॥

तदनन्तर दीर्घकालके बाद भगवान्ने उसी रूपमें पुण्डरीकको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस समय सम्पूर्ण वेद तथा देवता, गन्धर्व और किन्नर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते थे ॥

अथ तेनैव भगवानात्मलोकमधोक्षजः ।
गतः सम्पूजितः सर्वैः स योगनिलयो हरिः ॥

योग ही जिनका निवासस्थान है, वे भगवान् अधोक्षज श्रीहरि सबके द्वारा पूजित हो उस भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर ही पुनः अपने धामको चले गये ॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र तद्भक्तस्तत्परायणः ।
अर्चयित्वा यथायोगं भजस्व पुरुषोत्तमम् ॥

राजेन्द्र ! इसलिये तुम भी भगवान्के भक्त एवं शरणागत होकर उनकी यथायोग्य पूजा करके उन्हीं पुरुषोत्तमके भजनमें लगे रहो ॥

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।
निरुपममुपमेयं योगिविज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं सम्प्रपद्यस्व विष्णुम् ॥)

जो अजर, अमर, एक (अद्वितीय), ध्येय, अनादि, अनन्त, सगुण, निर्गुण, सबके आदि कारण, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, उपमारहित, उपमाके योग्य तथा योगियोंके लिये ज्ञान-गम्य हैं, उन त्रिभुवनगुरु भगवान् विष्णुकी शरण लो ॥

युधिष्ठिर उवाच

साम्नि चापि प्रदाने च ज्यायः किं भवतो मतम्।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा--भरतश्रेष्ठ ! आपके मतमें साम और दानमें कौन-सा श्रेष्ठ है ? इनमें जो उत्कृष्ट हो, उसे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

साम्ना प्रसाद्यते कश्चिद् दानेन च तथा परः।
पुरुषप्रकृतिं ज्ञात्वा तयोरेकतरं भजेत् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा--बेटा ! कोई मनुष्य सामसे प्रसन्न होता है और कोई दानसे। अतः पुरुषके स्वभावको समझकर दोनोंमेंसे एकको अपनाना चाहिये ॥ २ ॥

गुणांस्तु शृणु मे राजन् सान्त्वस्य भरतर्षभ ।
दारुणान्यपि भूतानि सान्त्वेनाराधयेद् यथा ॥ ३ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! अब तुम सामके गुणोंको सुनो। सामके द्वारा मनुष्य भयानक-से-भयानक प्राणीको वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गृहीत्वा रक्षसा मुक्तो द्विजातिः कानने यथा॥ ४ ॥

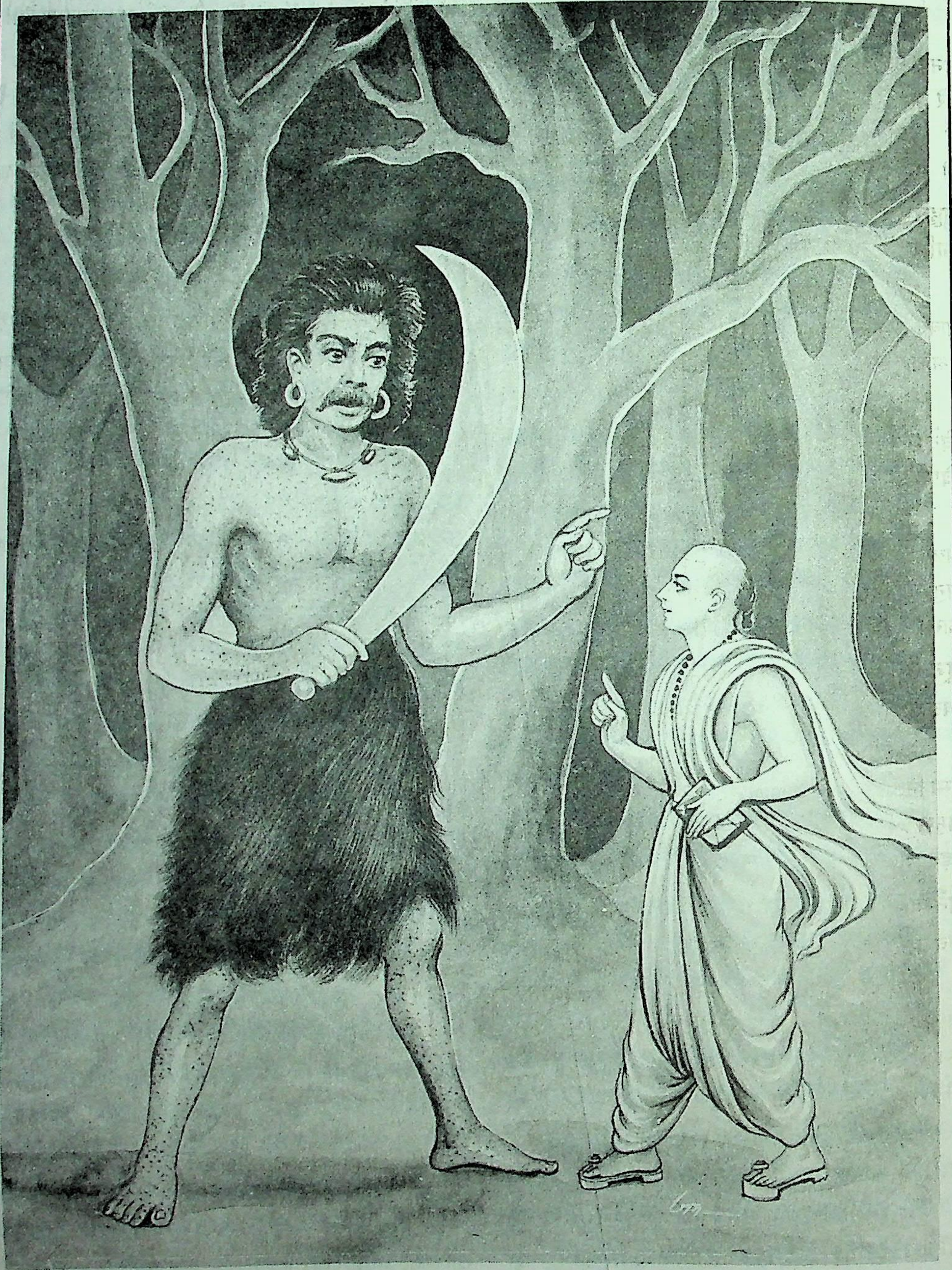
इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जिसके अनुसार कोई ब्राह्मण किसी जङ्गलमें किसी राक्षसके चङ्गुलमें फँसकर भी सामनीतिके द्वारा उससे मुक्त हो गया था ॥ ४ ॥

कश्चिद् वाग्बुद्धिसम्पन्नो ब्राह्मणो विजने वने ।
गृहीतः कृच्छ्रमापन्नो रक्षसा भक्षयिष्यता ॥ ५ ॥

एक बुद्धिमान् एवं वाचाल ब्राह्मण किसी निर्जन वनमें घूम रहा था। उसी समय किसी राक्षसने आकर उसे खानेकी इच्छासे पकड़ लिया। बेचारा ब्राह्मण बड़े कष्टमें पड़ गया॥ ५॥

स बुद्धिश्रुतिसम्पन्नस्तं दृष्ट्वातीव भीषणम् ।
सामैवास्मिन् प्रयुयुजे न मुमोह न विव्यथे ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकी बुद्धि तो अच्छी थी ही, वह शास्त्रोंका विद्वान् भी था। इसलिये उस अत्यन्त भयानक राक्षसको देखकर भी वह न तो घबराया और न व्यथित ही हुआ। बल्कि



सामनीतिकी विजय

उसके प्रति उसने साम नीतिका ही प्रयोग किया ॥ ६ ॥

रक्षस्तु वाचं सम्पूज्य प्रश्नं पप्रच्छ तं द्विजम्।
मोक्ष्यसे ब्रूहि मे प्रश्नं केनासि हरिणः कृशः॥ ७ ॥

राक्षसने ब्राह्मणके शान्तिमय वचनोंकी प्रशंसा करके उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया और कहा—'यदि मेरे प्रश्नका उत्तर दे दोगे तो तुम्हें छोड़ दूँगा ! बताओ, मैं किस कारणसे अत्यन्त दुर्बल और सफेद (पाण्डु) हो गया हूँ' ॥ ७ ॥

मुहूर्तमथ संचिन्त्य ब्राह्मणस्तस्य रक्षसः ।
आभिर्गाथाभिरव्यग्रः प्रश्नं प्रतिजगाद ह ॥ ८ ॥

यह सुनकर ब्राह्मणने दो घड़ीतक विचार करके शान्तभावसे निम्नाङ्कित गाथाओं (वचनोंद्वारा) उस राक्षसके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

विदेशस्थो विलोकस्थो विना नूनं सुहृज्जनैः ।
विषयानतुलान् भुङ्क्षे तेनासि हरिणः कृशः॥ ९ ॥

ब्राह्मण बोला—राक्षस ! निश्चय ही तुम सुहृद्जनोंसे अलग होकर परदेशमें दूसरे लोगोंके साथ रहते और अनुपम विषयोंका उपभोग करते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण तुम दुबले एवं सफेद होते जा रहे हो ॥ ९ ॥

नूनं मित्राणि ते रक्षः साधूपचरितान्यपि ।
स्वदोषादपरज्यन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १० ॥

निशाचर ! तुम्हारे मित्र तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सम्मानित होनेपर भी अपने स्वभावदोषके कारण तुमसे विमुख रहते हैं; इसीलिये तुम चिन्तावश दुबले होकर सफेद पड़ते जा रहे हो ॥ १० ॥

धनैश्वर्याधिकाः स्तब्धास्त्वद्गुणैः परमावराः ।
अवजानन्ति नूनं त्वां तेनासि हरिणः कृशः ॥ ११ ॥

जो गुणोंमें तुम्हारी अपेक्षा निम्नश्रेणीके हैं, वे जड मनुष्य भी धन और ऐश्वर्यमें अधिक होनेके कारण निश्चय ही सदा तुम्हारी अवहेलना किया करते हैं; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद (पीले) होते जा रहे हो ॥ ११ ॥

गुणवान् विगुणानन्यान् नूनं पश्यसि सत्कृतान् ।
प्राज्ञोऽप्राज्ञान् विनीतात्मा तेनासि हरिणः कृशः॥ १२ ॥

तुम गुणवान्, विद्वान् एवं विनीत होनेपर भी सम्मान नहीं पाते और गुणहीन तथा मूढ़ व्यक्तियोंको सम्मानित होते देखते हो; इसीलिये तुम्हारे शरीरका रंग फीका पड़ गया है और तुम दुर्बल हो गये हो ॥ १२ ॥

अवृत्त्या क्लिश्यमानोऽपि वृत्त्युपायान् विगर्हयन् ।
माहात्म्याद् व्यथसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १३ ॥

जीवन-निर्वाहका कोई उपाय न होनेसे तुम क्लेश उठाते होगे, किंतु अपने गौरवके कारण जीविकाके प्रतिग्रह आदि उपायोंकी निन्दा करते हुए उन्हें स्वीकार नहीं करते होगे । यही तुम्हारी उदासी और दुर्बलताका कारण है ॥ १३ ॥

सम्पीड्यात्मानमार्यत्वात् त्वया कश्चिदुपस्कृतः ।
जितं त्वां मन्यते साधो तेनासि हरिणः कृशः॥ १४ ॥

साधो ! तुम सज्जनताके कारण अपने शरीरको कष्ट देकर भी जब किसीका उपकार करते हो, तब वह तुम्हें अपनी शक्तिसे पराजित समझता है; इसीलिये तुम कृशकाय और सफेद होते जा रहे हो ॥ १४ ॥

क्लिश्यमानान् विमार्गेषु कामक्रोधावृतात्मनः ।
मन्ये त्वं ध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ १५ ॥

जिनका चित्त काम और क्रोधसे आक्रान्त है, अतएव जो कुमार्गपर चलकर कष्ट भोग रहे हैं । सम्भवतः ऐसे ही लोगोंके लिये तुम सदा चिन्तित रहते हो; इसीलिये दुर्बल होकर सफेद (पीले) पड़ते जा रहे हो ॥ १५ ॥

प्रज्ञासम्भावितो नूनमप्रज्ञैरुपसंहितः ।
ह्रीयमाणोऽसि दुर्वृत्तैस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ १६ ॥

यद्यपि तुम अपनी उत्तम बुद्धिके द्वारा सम्मानके योग्य हो तो भी अज्ञानी पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ाते हैं और दुराचारी मनुष्य तुम्हारा तिरस्कार करते हैं । इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर सूखकर पीला पड़ता जा रहा है ॥ १६ ॥

नूनं मित्रमुखः शत्रुः कश्चिदार्यवदाचरन् ।
वञ्चयित्वा गतस्त्वां वै तेनासि हरिणः कृशः॥ १७ ॥

निश्चय ही कोई शत्रु मुँहसे मित्रताकी बातें करता हुआ आया, श्रेष्ठ पुरुषके समान वर्ताव करने लगा और तुम्हें ठगकर चला गया; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद होते जा रहे हो ॥ १७ ॥

प्रकाशार्थगतिर्नूनं रहस्यकुशलः कृती ।
तज्ज्ञैर्न पूज्यसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ १८ ॥

तुम्हारी अर्थगति—कार्यपद्धति सबको विदित है, तुम रहस्यकी बातें समझानेमें कुशल और विद्वान् हो तो भी गुणज्ञ पुरुष तुम्हारा आदर नहीं करते हैं; इसीसे तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो ॥ १८ ॥

असत्स्वपि निविष्टेषु ब्रुवतो मुक्तसंशयम् ।
गुणास्ते न विराजन्ते तेनासि हरिणः कृशः ॥ १९ ॥

तुम दुराग्रही दुष्ट पुरुषोंके बीचमें ही संशयरहित होकर उत्तम बात कहते हो, तो भी तुम्हारे गुण वहाँ प्रकाशित नहीं होते; इसीलिये तुम दुर्बल होते और फीके पड़ते जा रहे हो ॥ १९ ॥

धनबुद्धिश्रुतैर्हीनः केवलं तेजसान्वितः ।

महत् प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २० ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम धन, बुद्धि और विद्यासे हीन होकर भी केवल शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होकर ऊँचा पद चाहते रहे हो और इसमें तुम्हें सफलता न मिली हो; इसीलिये तुम पाण्डुवर्णके हो गये हो और तुम्हारा शरीर भी सूखता जा रहा है ॥ २० ॥

तपःप्रणिहितात्मानं मन्ये त्वारण्यकाङ्क्षिणम् ।
बान्धवा नाभिनन्दन्ति तेनासि हरिणः कृशः ॥ २१ ॥

मुझे यह भी जान पड़ता है कि तुम्हारा मन तपस्यामें लगा है और इसीलिये तुम जंगलमें रहना चाहते हो, परंतु तुम्हारे भाई-बन्धु इस बातको पसंद नहीं करते हैं; इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो गये हो ॥ २१ ॥

(सुदुर्विनीतः पुत्रो वा जामाता वा प्रमार्जकः ।
दारा वा प्रतिकूलास्ते तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुम्हारा पुत्र दुर्विनीत—उद्दण्ड हो, या दामाद घरकी सारी सम्पत्ति झाड़-पोंछकर ले जानेवाला हो या तुम्हारी पत्नी प्रतिकूल स्वभावकी हो; इसीसे तुम कृशकाय और पीले होते जा रहे हो ॥

भ्रातरोऽतीव विषमाः पिता वा क्षुत्क्षतो मृतः ।
माता ज्येष्ठो गुरुर्वापि तेनासि हरिणः कृशः ॥

तुम्हारे भाई बड़े बेईमान हों अथवा तुम्हारे पिता, माता या ज्येष्ठ भाई एवं गुरुजन भूखसे दुर्बल होकर मर गये हों, इस बातकी भी सम्भावना है। शायद इसीसे तुम्हारे शरीरका रंग सफेद हो गया है और तुम सूखते चले जा रहे हो ॥

ब्राह्मणो वा हतो गौर्वा ब्रह्मस्वं वा हृतं पुरा ।
देवस्वं वाधिकं काले तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी अनुमान होता है कि पहले तुमने किसी ब्राह्मण या गौकी हत्या की हो, किसी ब्राह्मण या देवताका किसी समय अधिक-से-अधिक धन चुरा लिया हो, इसीलिये तुम कृशकाय और पीले हो रहे हो ॥

हृतदारोऽथ वृद्धो वा लोके द्विष्टोऽथ वा नरैः ।
अविज्ञानेन वा वृद्धस्तेनासि हरिणः कृशः ॥

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्रीका किसीने अपहरण कर लिया हो । अथवा तुम बूढ़े हो चले हो या जगत्‌के मनुष्य तुमसे द्वेष करने लगे हों । अथवा अज्ञानके द्वारा ही तुम बढ़े-चढ़े हो और इसीलिये चिन्ताके कारण तुम्हारा शरीर सफेद तथा दुर्बल हो गया हो ॥

वार्धक्यार्थं धनं दृष्ट्वा स्वा श्रीर्वापि परैर्हृता ।
वृत्तिर्वा दुर्जनापेक्षा तेनासि हरिणः कृशः ॥)

बुढ़ापेके लिये तुम्हारे पास धनका संग्रह देखकर दूसरोंने तुम्हारी उस निजी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया हो अथवा जीविकाके लिये दुष्ट पुरुषोंकी अपेक्षा रखनी पड़ती हो, इसकी भी सम्भावना जान पड़ती है। शायद इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर दुबला होता और पीला पड़ता जा रहा हो ॥

इष्टभार्यस्य ते नूनं प्रातिवेश्यो महाधनः ।
युवा सुललितः कामी तेनासि हरिणः कृशः ॥ २२ ॥

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्री परम सुन्दरी होनेके कारण तुम्हें बहुत प्रिय हो और तुम्हारे पड़ोसमें ही कोई बहुत सुन्दर, महाधनी और कामी नवयुवक निवास करता हो ! इसी चिन्तासे तुम दुबले और पीले पड़ते जा रहे हो ॥ २२ ॥

नूनमर्थवतां मध्ये तव वाक्यमनुत्तमम् ।
न भाति कालेऽभिहितं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २३ ॥

निश्चय ही तुम धनवानोंके बीच परम उत्तम और समयोचित बात कहते होगे, किंतु वह उन्हें पसंद न आती होगी। इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो ॥ २३ ॥

दृढपूर्वं श्रुतं मूर्खं कुपितं हृदयप्रियम् ।
अनुनेतुं न शक्नोषि तेनासि हरिणः कृशः ॥ २४ ॥

तुम्हारा कोई पहलेका दृढ़ निश्चयवाला प्रिय व्यक्ति मूर्खताके कारण तुमपर कुपित हो गया होगा और तुम उसे किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त नहीं कर पाते होगे। इसीलिये तुम दुर्बल और फीके पड़ते जा रहे हो ॥ २४ ॥

नूनमासंजयित्वा त्वां कृत्ये कस्मिंश्चिदीप्सिते ।
कश्चिदर्थयते नित्यं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २५ ॥

निश्चय ही कोई मनुष्य तुम्हें अपनी इच्छाके अनुसार किसी अभीष्ट कार्यमें नियुक्त करके सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है; इसीलिये तुम श्वेत (पीत) वर्णके और दुबले हो रहे हो ॥ २५ ॥

नूनं त्वां सुगुणैर्युक्तं पूजयानं सुहृद्ध्रुवम् ।
ममार्थ इति जानीते तेनासि हरिणः कृशः ॥ २६ ॥

अवश्य ही तुम सद्‌गुणोंसे युक्त होनेके कारण दूसरे लोगोंद्वारा पूजित होते हो; परंतु तुम्हारा मित्र समझता है कि यह मेरे ही प्रभावसे आदर पा रहा है। इसीलिये तुम चिन्तासे दुर्बल एवं पीले होते जा रहे हो ॥ २६ ॥

अन्तर्गतमभिप्रायं नूनं नेच्छसि लज्जया ।
विवेक्तुं प्राप्तिशैथिल्यात् तेनासि हरिणः कृशः ॥ २७ ॥

निश्चय ही तुम लज्जावश किसीपर अपना आन्तरिक अभिप्राय नहीं प्रकट करना चाहते, क्योंकि तुम्हें अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके विषयमें संदेह है, इसीलिये चिन्तावश सूखते और पीले पड़ते जा रहे हो ॥ २७ ॥

नानाबुद्धिरुचो लोके मनुष्यान् नूनमिच्छसि ।
ग्रहीतुं स्वगुणैः सर्वांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ २८ ॥

निश्चय ही संसारमें नाना प्रकारकी बुद्धि और भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले लोग रहते हैं। उन सबको तुम अपने गुणोंसे वशमें करना चाहते हो। इसीलिये क्षीणकाय और पाण्डुवर्णके हो रहे हो ॥ २८ ॥

अविद्वान् भीरुरल्पार्थो विद्याविक्रमदानजम्।
यशः प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ २९ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम विद्वान् न होकर भी विद्यासे मिलनेवाले यशको पाना चाहते हो। डरपोक और कायर होनेपर भी पराक्रमजनित कीर्ति पानेकी अभिलषा रखते हो और अपने पास बहुत थोड़ा धन होनेपर भी दानवीर होनेका यश पानेके लिये उत्सुक हो। इसीलिये कृशकाय और पीले हो रहे हो ॥ २९ ॥

चिराभिलषितं किंचित्फलमप्राप्तमेव ते।
कृतमन्यैरपहृतं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३० ॥

तुमने कोई कार्य किया, जिसका चिरकालसे अभिलषित कोई फल तुम्हें प्राप्त होनेवाला था, किंतु तुम्हें तो वह प्राप्त हुआ नहीं और दूसरे लोग उसे हर ले गये। इसीलिये तुम्हारे शरीरकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और दिनोंदिन दुबले होते जा रहे हो ॥ ३० ॥

नूनमात्मकृतं दोषमपश्यन् किंचिदात्मनः।
अकारणेऽभिशप्तोऽसि तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३१ ॥

एक बात यह भी ध्यानमें आती है कि तुम्हें तो अपना कोई दोष दिखायी नहीं देता तथापि दूसरे लोग अकारण ही तुम्हें कोसते रहते हैं। शायद इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल होते जा रहे हो ॥ ३१ ॥

साधून् गृहस्थान् दृष्ट्वा च तथा साधून् वनेचरान्।
मुक्तांश्चावसथे सक्तांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३२ ॥

तुम विरक्त साधुओंको गृहस्थ, दुर्जनोंको वनवासी तथा संन्यासियोंको मठ-मन्दिरमें आसक्त देखते हो; इसीलिये सफेद और दुर्बल होते जा रहे हो ॥ ३२ ॥

सुहृदां दुःखमार्तानां न प्रमोक्ष्यसि चार्तिजम्।
अलमर्थगुणैर्हीनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३३ ॥

तुम्हारे स्नेही बन्धु-बान्धव रोग आदिसे पीड़ित होकर महान् दुःख भोगते हैं और तुम उन्हें उस पीडाजनित कष्टसे मुक्त नहीं कर पाते हो तथा अपने आपको भी तुम अर्थलाभसे हीन पाते हो; शायद इसीलिये तुम सफेद और दुबले-पतले हो गये हो ॥ ३३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं च काम्यं च काले चाभिहितं वचः।
न प्रतीयन्ति ते नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३४ ॥

तुम्हारी बातें धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल एवं सामयिक होती हैं, तो भी दूसरे लोग उनपर ठीक विश्वास नहीं करते हैं। इसलिये तुम कान्तिहीन एवं कृशकाय हो रहे हो ॥ ३४ ॥

दत्तानकुशलैरर्थान् मनीषी संजिजीविषुः।
प्राप्य वर्तयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३५ ॥

मनीषी होनेपर भी तुम जीवन-निर्वाहकी इच्छासे ही अज्ञानी पुरुषोंके दिये हुए धनको लेकर उसीपर गुजारा करते हो; इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल हो ॥ ३५ ॥

पापान् प्रवर्धतो दृष्ट्वा कल्याणानावसीदतः।
ध्रुवं गर्हयसे नित्यं तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३६ ॥

पापियोंको आगे बढ़ते और कल्याणकारी कर्मोंमें लगे हुए पुण्यात्मा पुरुषोंको दुःख उठाते देखकर अवश्य ही तुम सदा इस परिस्थितिकी निन्दा करते हो; इसीलिये दुर्बल और पाण्डुवर्णके हो गये हो ॥ ३६ ॥

परस्परविरुद्धानां प्रियं नूनं चिकीर्षसि।
सुहृदामुपरोधेन तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३७ ॥

एक दूसरेसे विरोध रखनेवाले अपने सुहृदोंको रोककर तुम निश्चय ही उनका प्रिय करना चाहते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण श्रीहीन और दुर्बल हो गये हो ॥ ३७ ॥

श्रोत्रियांश्च विकर्मस्थान् प्राज्ञांश्चाप्यजितेन्द्रियान्।
मन्येऽनुध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः ॥ ३८ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मणोंको वेदविरुद्ध कर्ममें तत्पर और विद्वानोंको इन्द्रियोंके अधीन देखकर मेरी समझमें तुम निरन्तर चिन्तित रहते हो। सम्भवतः इसीलिये तुम्हारा शरीर सफेद (पीला) पड़ गया है और तुम दुर्बल हो गये हो ॥ ३८ ॥

एवं सम्पूजितं रक्षो विप्रं तं प्रत्यपूजयत्।
सखायमकरोच्चैनं संयोज्यार्थैर्मुमोच ह ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर जब उस ब्राह्मणने राक्षसका समादर किया, तब राक्षसने भी ब्राह्मणका विशेष सत्कार किया। उसने ब्राह्मणको अपना मित्र बना लिया और उसे धन देकर छोड़ दिया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि हरिणकृशकाख्याने चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्म पर्वमें दुर्बल और पाण्डुवर्णके राक्षसका आख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २८½ श्लोक मिलाकर कुल ६७½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्राद्धके विषयमें देवदूत और पितरोंका, पापोंसे छूटनेके विषयमें महर्षि विद्युत्प्रभ और इन्द्रका, धर्मके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका तथा वृषोत्सर्ग आदिके विषयमें देवताओं, ऋषियों और पितरोंका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

जन्म मानुष्यकं प्राप्य कर्मक्षेत्रं सुदुर्लभम्।
श्रेयोऽर्थिना दरिद्रेण किं कर्तव्यं पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्यकुलमें जन्म और परम दुर्लभ कर्मक्षेत्र पाकर अपना कल्याण चाहनेवाले दरिद्र पुरुषको क्या करना चाहिये?॥ १॥

दानानामुत्तमं यच्च देयं यच्च यथा यथा।
मान्यान् पूज्यांश्च गाङ्गेय रहस्यं वक्तुमर्हसि॥ २॥

गङ्गानन्दन! सब दानोंमें जो उत्तम दान है, जिस वस्तुका जिस-जिस प्रकारसे दान करना उचित है तथा जो माननीय और पूजनीय हैं—इन सब रहस्यमय (गोपनीय) विषयोंका वर्णन कीजिये॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टो नरेन्द्रेण पाण्डवेन यशस्विना।
धर्माणां परमं गुह्यं भीष्मः प्रोवाच पार्थिवम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यशस्वी पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भीष्मजीने उनसे धर्मका परम गुह्य रहस्य बताना आरम्भ किया॥ ३॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् धर्मगुह्यानि भारत।
यथा हि भगवान् व्यासः पुरा कथितवान् मयि॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भरतनन्दन! पूर्वकालमें भगवान् वेदव्यासने मुझे धर्मके जो गूढ़ रहस्य बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ ४॥

देवगुह्यमिदं राजन् यमेनाक्लिष्टकर्मणा।
नियमस्थेन युक्तेन तपसो महतः फलम्॥ ५॥

राजन्! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले यमने नियमपरायण और योगयुक्त होकर महान् तपके फलस्वरूप इस देवगुह्य रहस्यको प्राप्त किया था॥ ५॥

येन यः प्रीयते देवः प्रीयन्ते पितरस्तथा।
ऋषयः प्रमथाः श्रीश्च चित्रगुप्तो दिशां गजाः॥ ६॥

जिससे देवता, पितर, ऋषि, प्रमथगण, लक्ष्मी, चित्रगुप्त और दिग्गज प्रसन्न होते हैं॥ ६॥

ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः।
महादानफलं चैव सर्वयज्ञफलं तथा॥ ७॥

जिसमें महान् फल देनेवाले ऋषिधर्मका रहस्यसहित समावेश हुआ है तथा जिसके अनुष्ठानसे बड़े-बड़े दानों और सम्पूर्ण यज्ञोंका फल मिलता है॥ ७॥

यश्चैतदेवं जानीयाज्ज्ञात्वा वा कुरुतेऽनघ।
सदोषोऽदोषवांश्चेह तैर्गुणैः सह युज्यते॥ ८॥

निष्पाप नरेश! जो उस धर्मको इस प्रकार जानता और जानकर इसके अनुसार आचरण करता है, वह सदोष (पापी) रहा हो भी तो उस दोषसे मुक्त होकर उन सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है॥ ८॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः॥ ९॥

दस कसाइयोंके समान एक तेली, दस तेलियोंके समान एक कलवार, दस कलवारोंके समान एक वेश्या और दस वेश्याओंके समान एक राजा है॥ ९॥

अर्धेनैतानि सर्वाणि नृपतिः कथ्यतेऽधिकः।
त्रिवर्गसहितं शास्त्रं पवित्रं पुण्यलक्षणम्॥ १०॥

राजा इन सबकी अपेक्षा अधिक दोषयुक्त बताया जाता है, इसलिये ये सब पाप राजाके आधेसे भी कम हैं। (अतः राजाका दान लेना निषिद्ध है।) धर्म, अर्थ और कामका प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र है, वह पवित्र एवं पुण्यका परिचय करानेवाला है॥ १०॥

धर्मव्याकरणं पुण्यं रहस्यश्रवणं महत्।
श्रोतव्यं धर्मसंयुक्तं विहितं त्रिदशैः स्वयम्॥ ११॥

उसमें धर्म और उसके रहस्योंकी व्याख्या है वह परम पवित्र, महान् रहस्यमय तत्त्वका श्रवण करानेवाला, धर्मयुक्त और साक्षात् देवताओंद्वारा निर्मित है। उसका श्रवण करना चाहिये॥ ११॥

पितॄणां यत्र गुह्यानि प्रोच्यन्ते श्राद्धकर्मणि।
देवतानां च सर्वेषां रहस्यं कथ्यतेऽखिलम्॥ १२॥

ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः ।
महायज्ञफलं चैव सर्वदानफलं तथा ॥ १३ ॥

जिसमें पितरोंके श्राद्धके विषयमें गूढ़ बातें बतायी गयी हैं, जहाँ सम्पूर्ण देवताओंके रहस्यका पूरा-पूरा वर्णन है तथा जिसमें रहस्यसहित महान् फलदायी ऋषिधर्मका एवं बड़े-बड़े यज्ञों और सम्पूर्ण दानोंके फलका प्रतिपादन किया गया है ॥ १२-१३ ॥

ये पठन्ति सदा मर्त्या येषां चैवोपतिष्ठति ।
श्रुत्वा च फलमाचष्टे स्वयं नारायणः प्रभुः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य उस शास्त्रको सदा पढ़ते हैं, जिन्हें उसका तत्त्व हृदयङ्गम हो जाता है तथा जो उसका फल सुनकर दूसरोंके सामने व्याख्या करते हैं, वे साक्षात् भगवान् नारायणस्वरूप हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गवां फलं तीर्थफलं यज्ञानां चैव यत् फलम् ।
एतत् फलमवाप्नोति यो नरोऽतिथिपूजकः ॥ १५ ॥

जो मानव अतिथियोंकी पूजा करता है, वह गोदान, तीर्थस्नान और यज्ञानुष्ठानका फल पा लेता है ॥ १५ ॥

श्रोतारः श्रद्दधानाश्च येषां शुद्धं च मानसम् ।
तेषां व्यक्तं जिता लोकाः श्रद्दधानेन साधुना ॥ १६ ॥

जो श्रद्धापूर्वक धर्मशास्त्रका श्रवण करते हैं तथा जिनका हृदय शुद्ध हो गया है, वे श्रद्धालु एवं श्रेष्ठ मनके द्वारा अवश्य ही पुण्यलोकपर विजय प्राप्त कर लेते हैं ॥ १६ ॥

मुच्यते किल्बिषाच्चैव न स पापेन लिप्यते ।
धर्मं च लभते नित्यं प्रेत्य लोकगतो नरः ॥ १७ ॥

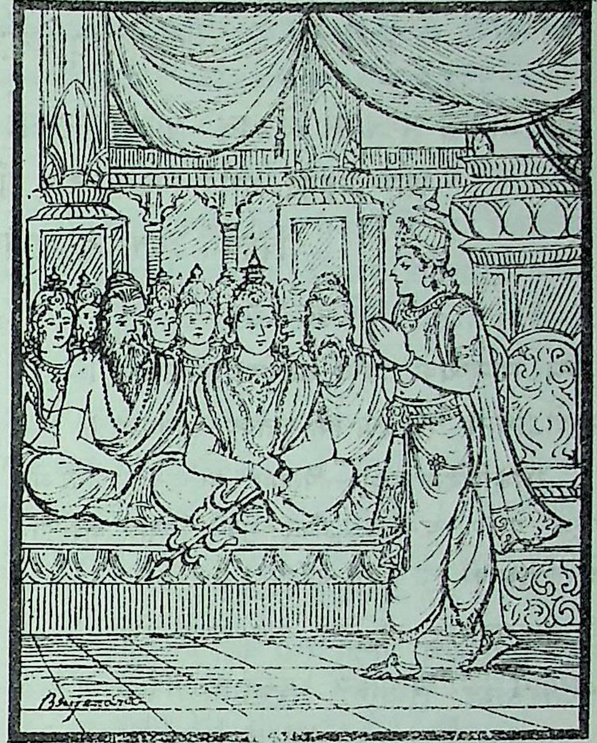
शुद्धचित्त पुरुष श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करनेसे पूर्व पापसे मुक्त हो जाता है तथा वह भविष्यमें भी पापसे लिप्त नहीं होता है। नित्य-प्रति धर्मका अनुष्ठान करता है और मरनेके बाद उसे उत्तम लोककी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य देवदूतो यदृच्छया ।
स्थितो ह्यन्तर्हितो भूत्वा पर्यभाषत वासवम् ॥ १८ ॥

एक समयकी बात है, एक देवदूतने अकस्मात् पहुँचकर आकाशमें स्थित हो इन्द्रसे कहा---॥ १८ ॥

यौ तौ कामगुणोपेतावश्विनौ भिषजां वरौ ।
आज्ञयाहं तयोः प्राप्तः सनरान् पितृदैवतान् ॥ १९ ॥

'वे जो कमनीय गुणोंसे सम्पन्न वैद्यप्रवर अश्विनीकुमार हैं, उन दोनोंकी आज्ञासे मैं यहाँ देवताओं, पितरों और मनुष्योंके पास आया हूँ ॥ १९ ॥



कस्माद्धि मैथुनं श्राद्धे दातुर्भोक्तुश्च वर्जितम् ।
किमर्थं च त्रयः पिण्डाः प्रविभक्ताः पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

'मेरे मनमें यह जिज्ञासा हुई है कि श्राद्धके दिन श्राद्धकर्ता और श्राद्धान्न भोजन करनेवाले ब्राह्मणके लिये जो मैथुनका निषेध किया गया है, उसका क्या कारण है ? तथा श्राद्धमें पृथक्-पृथक् तीन पिण्ड किसलिये दिये जाते हैं ?॥ २० ॥

प्रथमः कस्य दातव्यो मध्यमः क्व च गच्छति ।
उत्तरश्च स्मृतः कस्य एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २१ ॥

'प्रथम पिण्ड किसे देना चाहिये ? दूसरा पिण्ड किसे प्राप्त होता तथा तीसरे पिण्डपर किसका अधिकार माना गया है ? यह सब कुछ मैं जानना चाहता हूँ' ॥ २१ ॥

श्रद्दधानेन दूतेन भाषितं धर्मसंहितम् ।
पूर्वस्थास्त्रिदशाः सर्वे पितरः पूज्य खेचरम् ॥ २२ ॥

उस श्रद्धालु देवदूतके इस प्रकार धर्मयुक्त भाषण करनेपर पूर्वदिशामें स्थित हुए सभी देवताओं और पितरोंने उस आकाशचारी पुरुषकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ २२ ॥

पितर ऊचुः

स्वागतं तेऽस्तु भद्रं ते श्रूयतां खेचरोत्तम ।
गूढार्थः परमः प्रश्नो भवता समुदीरितः ॥ २३ ॥

पितर बोले—आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत ! तुम्हारा स्वागत है । तुम कल्याणके भागी होओ । तुमने गूढ़ अभिप्रायसे युक्त बहुत उत्तम प्रश्न उपस्थित किया है । इसका उत्तर सुनो ॥ २३ ॥

श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत् ।

पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते ॥ २४ ॥

जो पुरुष श्राद्धका दान और भोजन करके स्त्रीके साथ समागम करता है, उसके पितर उस महीनेभर उसीवीर्यमें शयन करते हैं ॥ २४ ॥

प्रविभागं तु पिण्डानां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
पिण्डो ह्यधस्ताद् गच्छंस्तु अप आविश्य भावयेत् ।२५।
पिण्डं तु मध्यमं तत्र पत्नी त्वेका समश्नुते ।
पिण्डस्तृतीयो यस्तेषां तं दद्याज्जातवेदसि ॥ २६ ॥

अब मैं पिण्डोंका क्रमशः विभाग बताऊँगा । श्राद्धमें जो तीन पिण्डोंका विधान है, उनमें पहला पिण्ड जलमें डाल देना चाहिये । मध्यम पिण्ड केवल श्राद्धकर्ताकी पत्नीको भोजन करना चाहिये और उनमें जो तीसरा पिण्ड है, उसे आगमें डाल देना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

एष श्राद्धविधिः प्रोक्तो यथा धर्मो न लुप्यते ।
पितरस्तस्य तुष्यन्ति प्रहृष्टमनसः सदा ॥ २७ ॥
प्रजा विवर्धते चास्य अक्षयं चोपतिष्ठति ।

यही श्राद्धकी विधि बतायी गयी है, जिसके अनुसार चलनेपर धर्मका लोप नहीं होता । जो इस धर्मका पालन करता है, उसके पितर सदा प्रसन्नचित्त एवं संतुष्ट रहते हैं। उसकी संतति बढ़ती है और कभी क्षीण नहीं होती ॥२७½॥

देवदूत उवाच

आनुपूर्व्येण पिण्डानां प्रविभागः पृथक् पृथक् ॥ २८ ॥
पितृणां त्रिषु सर्वेषां निरुक्तं कथितं त्वया ।

देवदूतने पूछा—पितृगण ! आपलोगोंने क्रमशः पिण्डोंका विभाग बतलाया और तीनों लोकोंमें जो समस्त पितर हैं, उनको पिण्डदान करनेका शास्त्रोक्त प्रकार भी बतला दिया ॥ २८½ ॥

एकः समुद्धृतः पिण्डो ह्यधस्तात् कस्य गच्छति ॥ २९ ॥
कं वा प्रीणयते देवं कथं तारयते पितॄन् ।

किंतु पहले पिण्डको उठाकर जो नीचे जलमें डाल देने की बात कही गयी है, उसके अनुसार यदि वह जलमें डाला जाय तो वह किसको प्राप्त होता है ? किस देवताको तृप्त करता है ? और किस प्रकार पितरोंको तारता है ? ॥ २९½ ॥

मध्यमं तु तदा पत्नी भुङ्क्तेऽनुज्ञातमेव हि ॥ ३० ॥
किमर्थं पितरस्तस्य कव्यमेव च भुञ्जते ।

इसी प्रकार यदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार मध्यम पिण्ड पत्नी ही खाती है तो उसके पितर किस प्रकार उस पिण्डका उपभोग करते हैं ? ॥ ३०½ ॥

अथ यस्त्वन्तिमः पिण्डो गच्छते जातवेदसम् ॥ ३१ ॥
भवते का गतिस्तस्य कं वा समनुगच्छति ।

तथा अन्तिम पिण्ड जब अग्निमें डाल दिया जाता है, तब उसकी क्या गति होती है ? वह किस देवताको प्राप्त होता है ? ॥ ३१½ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पिण्डेषु त्रिषु या गतिः ॥ ३२ ॥
फलं वृत्तिं च मार्गं च यश्चैनं प्रतिपद्यते ।

यह सब मैं सुनना चाहता हूँ । तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका जो फल, वृत्ति और मार्ग है तथा जो देवता उस पिण्डको पाता है, उन सबपर प्रकाश डालिये३२½

पितर ऊचुः

सुमहानेष प्रश्नो वै यस्त्वया समुदीरितः ॥ ३३ ॥
रहस्यमद्भुतं चापि पृष्टाः स्म गगनेचर ।
एतदेव प्रशंसन्ति देवाश्च मुनयस्तथा ॥ ३४ ॥

पितरोंने कहा—आकाशचारी देवदूत ! तुमने यह महान् प्रश्न उपस्थित किया है और हमलोगोंसे अद्भुत रहस्य की बात पूछी है । देवता और मुनि भी इस पितृकर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

तेऽप्येवं नाभिजानन्ति पितृकार्यविनिश्चयम् ।
वर्जयित्वा महात्मानं चिरजीविनमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
पितृभक्तस्तु यो विप्रो वरलब्धो महायशाः ।

परंतु वे भी इस प्रकार पितृकार्यके रहस्यको निश्चित रूपमें नहीं जानते हैं । जो पिताके भक्त हैं और जिन महायशस्वी ब्राह्मणको वर प्राप्त हुआ है, उन सर्वश्रेष्ठ चिरजीवी महात्मा मार्कण्डेयको छोड़कर और किसीको उसका पता नहीं है ॥ ३५½ ॥

त्रयाणामपि पिण्डानां श्रुत्वा भगवतो गतिम् ॥ ३६ ॥
देवदूतेन यः पृष्टः श्राद्धस्य विधिनिश्चयः ।
गतिं त्रयाणां पिण्डानां शृणुष्वावहितो मम ॥ ३७ ॥

उन्होंने भगवान् विष्णुसे तीनों पिण्डोंकी गति सुनकर श्राद्धका रहस्य जान लिया है ! देवदूत ! तुमने जो श्राद्धविषिका निर्णय पूछा है, उसके अनुसार तीनों पिण्डोंकी गति बतायी जा रही है । सावधान होकर मुझसे सुनो॥ ३६-३७॥

अपो गच्छति यो ह्यत्र शशिनं ह्येष प्रीणयेत् ।
शशी प्रीणयते देवान् पितॄंश्चैव महामते ॥ ३८ ॥

महामते ! इस श्राद्धमें जो पहला पिण्ड पानीके भीतर चला जाता है, वह चन्द्रमाको तृप्त करता है और चन्द्रमा स्वयं देवता तथा पितरोंको तृप्त करते हैं ॥ ३८ ॥

भुङ्क्ते तु पत्नी यं चैषामनुज्ञाता तु मध्यमम् ।
पुत्रकामाय पुत्रं तु प्रयच्छन्ति पितामहाः ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार श्राद्धकर्ताकी पत्नी गुरुजनोंकी आज्ञासे जो मध्यम पिण्डका भक्षण करती है, उससे प्रसन्न हुए पितामह पुत्रकी कामनावाले पुरुषको पुत्र प्रदान करते हैं ॥ ३९ ॥

हव्यवाहे तु यः पिण्डो दीयते तन्निबोध मे।
पितरस्तेन तृप्यन्ति प्रीताः कामान् दिशन्ति च॥ ४०॥

अग्निमें जो पिण्ड डाला जाता है, उसके विषयमें भी मुझसे समझ लो। उससे पितर तृप्त होते हैं और तृप्त होकर वे मनुष्यकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं॥ ४०॥

एतत् ते कथितं सर्वं त्रिषु पिण्डेषु या गतिः।
ऋत्विग्यो यजमानस्य पितृत्वमनुगच्छति॥ ४१॥
तस्मिन्नहनि मन्यन्ते परिहार्यं हि मैथुनम्।
शुचिना तु सदा श्राद्धं भोक्तव्यं खेचरोत्तम॥ ४२॥

इस प्रकार तुम्हें यह सब कुछ बताया गया। तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका भी प्रतिपादन किया गया। श्राद्धमें भोजनके लिये निमन्त्रित हुआ ब्राह्मण उस दिनके लिये यजमानके पितृभावको प्राप्त हो जाता है; अतः उस दिन उसके लिये मैथुनको त्याज्य मानते हैं। आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत! ब्राह्मणको स्नान आदिसे पवित्र होकर सदा श्राद्धमें भोजन करना चाहिये॥ ४१-४२॥

ये मया कथिता दोषास्ते तथा स्युर्न चान्यथा।
तस्मात् स्नातः शुचिः क्षान्तः श्राद्धं भुञ्जीत वै द्विजः॥ ४३॥

मैंने जो दोष बताये हैं, वे वैसे ही प्राप्त होते हैं। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; अतः ब्राह्मण स्नान करके पवित्र एवं क्षमाशील हो श्राद्धमें भोजन करे॥ ४३॥

प्रजा विवर्धते चास्य यश्चैवं सम्प्रयच्छति।
ततो विद्युत्प्रभो नाम ऋषिराह महातपाः॥ ४४॥

जो इस प्रकार श्राद्धका दान देता है, उसकी संतति बढ़ती है। पितरोंके इस प्रकार कहनेके बाद विद्युत्प्रभ नामवाले एक महातपस्वी महर्षिने अपना प्रश्न उपस्थित किया॥ ४४॥

आदित्यतेजसा तस्य तुल्यं रूपं प्रकाशते।
स च धर्मरहस्यानि श्रुत्वा शक्रमथाब्रवीत्॥ ४५॥

उनका रूप सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने धर्मके रहस्यको सुनकर इन्द्रसे पूछा—॥ ४५॥

तिर्यग्योनिगतान् सत्त्वान् मर्त्या हिंसन्ति मोहिताः।
कीटान् पिपीलिकान् सर्पान् मेषान् समृगपक्षिणः॥
किल्बिषं सुबहु प्राप्ताः किंस्विदेषां प्रतिक्रिया।

'देवराज! मनुष्य मोहवश जो तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियों, मृग, पक्षी और भेड़ आदिको तथा कीड़ों, चींटे-चींटियों एवं सर्पोंकी हिंसा करते हैं, इससे वे बहुत-सा पाप बटोर लेते हैं। उनके लिये इन पापोंसे छूटनेका क्या उपाय है?'॥ ४६½॥

ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः॥ ४७॥
पितरश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म तं मुनिम्।

उनका यह प्रश्न सुनकर सम्पूर्ण देवता, तपोधन ऋषि तथा महाभाग पितर विद्युत्प्रभ मुनिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ४७½॥

शक्र उवाच

कुरुक्षेत्रं गयां गङ्गां प्रभासं पुष्कराणि च॥ ४८॥
एतानि मनसा ध्यात्वा अवगाहेत् ततो जलम्।
तथा मुच्यति पापेन राहुणा चन्द्रमा यथा॥ ४९॥

इन्द्र बोले—मुने! मनुष्यको चाहिये कि कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, प्रभास और पुष्करक्षेत्रका मन-ही-मन चिन्तन करके जलमें स्नान करे। ऐसा करनेसे वह पापसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे॥ ४८-४९॥

त्र्यहं स्नातः स भवति निराहारश्च वर्तते।
स्पृशते यो गवां पृष्ठं बालधिं च नमस्यति॥ ५०॥

जो मनुष्य गायकी पीठ छूता और उसकी पूँछको नमस्कार करता है, वह मानो उपर्युक्त तीर्थोंमें तीन दिन-तक उपवासपूर्वक रहकर स्नान कर लेता है॥ ५०॥

ततो विद्युत्प्रभो वाक्यमभ्यभाषत वासवम्।
अयं सूक्ष्मतरो धर्मस्तं निबोध शतक्रतो॥ ५१॥

तदनन्तर विद्युत्प्रभने इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! यह सूक्ष्मतर धर्म मैं बता रहा हूँ। इसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥

घृष्टो वटकषायेण अनुलिप्तः प्रियंगुणा।
क्षीरेण षष्टिकान् भुक्त्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५२॥

'बरगदकी जटासे अपने शरीरको रगड़े, राईका उबटन लगाये और दूधके साथ साठीके चावलोंकी खीर बनाकर भोजन करे तो मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ५२॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यमृषिचिन्तितम्।
श्रुतं मे भाषमाणस्य स्थाणोः स्थाने बृहस्पतेः॥ ५३॥
रुद्रेण सह देवेश तन्निबोध शचीपते।

'एक दूसरा गूढ़ रहस्य, जिसका ऋषियोंने चिन्तन किया है, सुनिये। इसे मैंने भगवान् शङ्करके स्थानमें भाषण करते हुए बृहस्पतिजीके मुखसे भगवान् रुद्रके साथ ही सुना था। देवेश! शचीपते! उसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥ ५३½॥

पर्वतारोहणं कृत्वा एकपादो विभावसुम्॥ ५४॥
निरीक्षेत निराहार ऊर्ध्वबाहुः कृताञ्जलिः।
तपसा महता युक्त उपवासफलं लभेत्॥ ५५॥

'जो पर्वतपर चढ़कर भोजनसे पूर्व एक पैरसे खड़ा हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये हाथ जोड़े वहाँ अग्निदेवकी ओर देखता है, वह महान् तपस्यासे युक्त होकर उपवास करनेका फल पाता है॥ ५४-५५॥

रश्मिभिस्तापितोऽर्कस्य सर्वपापमपोहति।
ग्रीष्मकालेऽथ वा शीते एवं पापमपोहति॥ ५६॥

ततः पापात् प्रमुक्तस्य द्युतिर्भवति शाश्वती ।
तेजसा सूर्यवद् दीप्तो भ्राजते सोमवत् पुनः ॥ ५७ ॥

'जो ग्रीष्म अथवा शीतकालमें सूर्यकी किरणोंसे तापित होता है, वह अपने सारे पापोंका नाश कर देता है । इस प्रकार मनुष्य पापमुक्त हो जाता है । पापसे मुक्त हुए पुरुषको सनातन कान्ति प्राप्त होती है । वह अपने तेजसे सूर्यके समान देदीप्यमान और चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है' ॥ ५६-५७ ॥

मध्ये त्रिदशवर्गस्य देवराजः शतक्रतुः ।
उवाच मधुरं वाक्यं बृहस्पतिमनुत्तमम् ॥ ५८ ॥

तत्पश्चात् देवराज शतक्रतु इन्द्रने देवमण्डलीके बीचमें अपने सर्वश्रेष्ठ गुरु बृहस्पतिजीसे मधुर वाणीमें कहा—॥५८॥

धर्मगुह्यं तु भगवन् मानुषाणां सुखावहम् ।
सरहस्याश्च ये दोषास्तान् यथावदुदीरय ॥ ५९ ॥

'भगवन् ! मनुष्योंको सुख देनेवाले धर्मके गूढ़स्वरूपका तथा रहस्योंसहित जो दोष हैं, उनका भी यथावत्‌रूपसे वर्णन कीजिये' ॥५९ ॥

बृहस्पतिरुवाच

प्रतिमेहन्ति ये सूर्यमनिलं द्विषते च ये ।
हव्यवाहे प्रदीप्ते च समिधं ये न जुह्वति ॥ ६० ॥
बालवत्सां च ये धेनुं दुहन्ति क्षीरकारणात् ।
तेषां दोषान् प्रवक्ष्यामि तान् निबोध शचीपते ॥ ६१ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—शचीपते ! जो सूर्यकी ओर मुँह करके मूत्र त्याग करते हैं, वायुदेवसे द्वेष रखते हैं अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्र त्याग करते हैं, जो प्रज्वलित अग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते तथा जो दूधके लोभसे बहुत छोटे बछड़ेवाली धेनुको भी दुह लेते हैं, उन सबके दोषोंका वर्णन करता हूँ । ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ६०-६१ ॥

भानुमाननिलश्चैव हव्यवाहश्च वासव ।
लोकानां मातरश्चैव गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥ ६२ ॥

वासव ! साक्षात् ब्रह्माजीने सूर्य, वायु, अग्नि तथा लोकमाता गौओंकी सृष्टि की है ॥ ६२ ॥

लोकांस्तारयितुं शक्ता मर्त्येष्वेतेषु देवताः ।
सर्वे भवन्तः शृण्वन्तु एकैकं धर्मनिश्चयम् ॥ ६३ ॥

ये मर्त्यलोकके देवता हैं तथा सम्पूर्ण जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति रखते हैं । आप सब लोग सुनें, मैं एक-एक धर्मका निश्चय बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

वर्षाणि षडशीतिं तु दुर्वृत्ताः कुलपांसनाः ।
स्त्रियः सर्वाश्च दुर्वृत्ताः प्रतिमेहन्ति या रविम् ॥ ६४ ॥
अनिलद्वेषिणः शक्र गर्भस्था च्यवते प्रजा ।

इन्द्र ! जो दुराचारी और कुलाङ्गार पुरुष तथा जो समस्त दुराचारिणी स्त्रियाँ सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करती हैं और जो लोग वायुसे द्वेष रखते अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्रत्याग करते हैं, उन सबकी छियासी वर्षोंतक गर्भमें आयी हुई संतान गिर जाती है ॥ ६४½ ॥

हव्यवाहस्य दीप्तस्य समिधं ये न जुह्वति ॥ ६५ ॥
अग्निकार्येषु वै तेषां हव्यं नाश्नाति पावकः ।

जो प्रज्वलित यज्ञाग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते, उनके अग्निहोत्रमें अग्निदेव हविष्य ग्रहण नहीं करते हैं (अतः अग्नि प्रज्वलित किये बिना उसे आहुति नहीं देनी चाहिये)॥ ६५½ ॥

क्षीरं तु बालवत्सानां ये पिबन्तीह मानवाः ॥ ६६ ॥
न तेषां क्षीरपाः केचिज्जायन्ते कुलवर्धनाः ।
प्रजाक्षयेण युज्यन्ते कुलवंशक्षयेण च ॥ ६७ ॥

जो मानव छोटे बछड़ेवाली गौओंके दूध दुहकर पी जाते हैं, उनके वंशमें दूध पीनेवाले और कुलकी वृद्धि करनेवाले कोई बालक नहीं उत्पन्न होते हैं । उनकी संतान नष्ट हो जाती है तथा उनके कुल एवं वंशका क्षय हो जाता है ॥ ६६-६७ ॥

एवमेतत् पुरा दृष्टं कुलवृद्धैर्द्विजातिभिः ।
तस्माद् वर्ज्यानि वर्ज्यानि कार्यं कार्यं च नित्यशः ॥ ६८ ॥
भूतिकामेन मर्त्येन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

इस प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंने पूर्वकालमें यह प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया है; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको शास्त्रमें जिन्हें त्याज्य बतलाया है, उन कर्मोंको त्याग देना चाहिये और जो कर्तव्य कर्म है, उसका सदा अनुष्ठान करते रहना चाहिये । यह मैं तुम्हें सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ६८½ ॥

ततः सर्वा महाभाग देवताः समरुद्गणाः ॥ ६९ ॥
ऋषयश्च महाभागाः पृच्छन्ति स्म पितॄंस्ततः ।

तब मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण महाभाग देवता और परम सौभाग्यशाली ऋषियोंने पितरोंसे पूछा—॥ ६९½ ॥

पितरः केन तुष्यन्ति मर्त्यानामल्पचेतसाम् ॥ ७० ॥
अक्षय्यं च कथं दानं भवेच्चैवौर्ध्वदेहिकम् ।
आनृण्यं वा कथं मर्त्या गच्छेयुः केन कर्मणा ॥ ७१ ॥
एतदिच्छामहे श्रोतुं परं कौतूहलं हि नः ।

'मनुष्योंकी बुद्धि थोड़ी होती है; अतः वे कौन-सा कर्म करें, जिससे आप सम्पूर्ण पितर उनके ऊपर संतुष्ट होंगे ? श्राद्धमें दिया हुआ दान किस प्रकार अक्षय हो सकता है ? अथवा मनुष्य किस कर्मसे किस प्रकार पितरोंके ऋणसे छुटकारा पा सकते हैं ? हम यह सुनना चाहते हैं । यह सब सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ ७०-७१½ ॥

पितर ऊचुः

न्यायतो वै महाभागाः संशयः समुदाहृतः ॥ ७२ ॥
श्रूयतां येन तुष्यामो मर्त्यानां साधुकर्मणाम् ।

पितरोंने कहा—महाभाग देवताओ ! आपने न्यायतः अपना संदेह उपस्थित किया है । उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्योंके जिस कार्यसे हम संतुष्ट होते हैं, उसको सुनिये ॥

नीलषण्डप्रमोक्षेण अमावास्यां तिलोदकैः ॥ ७३ ॥
वर्षासु दीपकैश्चैव पितॄणामनृणो भवेत् ।

नीले रंगके साँड़ छोड़नेसे, अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे और वर्षा ऋतुमें पितरोंके लिये दीप देनेसे मनुष्य उनके ऋणसे मुक्त हो सकता है ॥७३½॥

अक्षयं निर्व्यलीकं च दानमेतन्महाफलम् ॥ ७४ ॥
अस्माकं परितोषश्च अक्षयः परिकीर्त्यते ।

इस तरह निष्कपट भावसे किया हुआ दान अक्षय एवं महान् फलदायक होता है और उससे हमें भी अक्षय संतोष प्राप्त होता है—ऐसा शास्त्रका कथन है ॥७४½॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या आहरिष्यन्ति संततिम् ॥ ७५ ॥
दुर्गात् ते तारयिष्यन्ति नरकात् प्रपितामहान् ।

जो मनुष्य पितरोंमें श्रद्धा रखकर संतान उत्पन्न करेंगे, वे अपने प्रपितामहोंका दुर्गम नरकसे उद्धार कर देंगे ७५½

पितॄणां भाषितं श्रुत्वा हृष्टरोमा तपोधनः ॥ ७६ ॥
वृद्धगार्ग्यो महातेजास्तानेवं वाक्यमब्रवीत् ।

पितरोंका यह भाषण सुनकर तपस्याके धनी महातेजस्वी वृद्धगार्ग्यके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और उनसे इस प्रकार पूछा—॥ ७६½ ॥

के गुणा नीलषण्डस्य प्रमुक्तस्य तपोधनाः ॥ ७७ ॥
वर्षासु दीपदानेन तथैव च तिलोदकैः ।

'तपोधनो ! नीले रंगके साँड़ छोड़ने, वर्षा ऋतुमें दीप देने और अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे क्या लाभ होते हैं ?' ॥ ७७½ ॥

पितर ऊचुः

नीलषण्डस्य लाङ्गूलं तोयमभ्युद्धरेद् यदि ॥ ७८ ॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः ।

पितरोंने कहा—मुने ! छोड़े हुए नीले रंगके साँड़की पूँछ यदि नदी आदिके जलमें भीगकर उस जलको ऊपर उछालती है तो जिसने उस साँड़को छोड़ा है, उसके पितर साठ हजार वर्षोंतक उस जलसे तृप्त रहते हैं ॥ ७८½ ॥

यस्तु शृङ्गगतं पङ्कं कूलादुद्धृत्य तिष्ठति ॥ ७९ ॥
पितरस्तेन गच्छन्ति सोमलोकमसंशयम् ।

जो नदी या तालाबके तटसे अपने सींगोंद्वारा कीचड़ उछालकर खड़ा होता है, उससे वृषोत्सर्ग करनेवालेके पितर निस्संदेह चन्द्रलोकमें जाते हैं ॥ ७९½ ॥

वर्षासु दीपदानेन शशिवच्छोभते नरः ॥ ८० ॥
तमोरूपं न तस्यास्ति दीपकं यः प्रयच्छति ।

वर्षा ऋतुमें दीपदान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान शोभा पाता है । जो दीपदान करता है, उसके लिये नरकका अन्धकार है ही नहीं ॥ ८०½ ॥

अमावास्यां तु ये मर्त्याः प्रयच्छन्ति तिलोदकम् ॥ ८१ ॥
पात्रमौदुम्बरं गृह्य मधुमिश्रं तपोधन ।
कृतं भवति तैः श्राद्धं सरहस्यं यथार्थवत् ॥ ८२ ॥

तपोधन ! जो मनुष्य अमावास्याके दिन ताँबेके पात्रमें मधु एवं तिलसे मिश्रित जल लेकर उसके द्वारा पितरोंका तर्पण करते हैं, उनके द्वारा रहस्यसहित श्राद्धकर्म यथार्थरूपसे सम्पादित हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥

हृष्टपुष्टमनास्तेषां प्रजा भवति नित्यदा ।
कुलवंशस्य वृद्धिस्तु पिण्डदस्य फलं भवेत् ।
श्रद्दधानस्तु यः कुर्यात् पितॄणामनृणो भवेत् ॥ ८३ ॥

उनकी प्रजा सदा हृष्ट-पुष्ट मनवाली होती है । कुल और वंश-परम्पराकी वृद्धि श्राद्धका फल है । पिण्डदान करनेवालेको यह फल सुलभ होता है । जो श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, वह उनके ऋणसे छुटकारा पा जाता है ॥ ८३ ॥

एवमेव समुद्दिष्टः श्राद्धकालक्रमस्तथा ।
विधिः पात्रं फलं चैव यथावदनुकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार यह श्राद्धके काल, क्रम, विधि, पात्र और फलका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया गया है ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पितृरहस्यं नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पितरोंका रहस्य नामक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

विष्णु, बलदेव, देवगण, धर्म, अग्नि, विश्वामित्र, गोसमुदाय और ब्रह्माजीके द्वारा धर्मके गूढ़ रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

केन ते च भवेत् प्रीतिः कथं तुष्टिं तु गच्छसि ।
इति पृष्टः सुरेन्द्रेण प्रोवाच हरिरीश्वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्राचीन कालकी बात है, एक बार देवराज इन्द्रने भगवान् विष्णुसे पूछा—'भगवन्! आप किस कर्मसे प्रसन्न होते हैं ? किस प्रकार आपको संतुष्ट किया जा सकता है ?' सुरेन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर जगदीश्वर श्रीहरिने कहा ॥ १ ॥

विष्णुरुवाच

ब्राह्मणानां परीवादो मम विद्वेषणं महत् ।
ब्राह्मणैः पूजितैर्नित्यं पूजितोऽहं न संशयः ॥ २ ॥

भगवान् विष्णु बोले—इन्द्र ! ब्राह्मणोंकी निन्दा करना मेरे साथ महान् द्वेष करनेके समान है तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे सदा मेरी भी पूजा हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

नित्याभिवाद्या विप्रेन्द्रा भुक्त्वा पादौ तथात्मनः ।
तेषां तुष्यामि मर्त्यानां यश्चक्रे च बलिं हरेत् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये । भोजनके पश्चात् अपने दोनों पैरोंकी भी सेवा करे अर्थात् पैरोंको भलीभाँति धो ले तथा तीर्थकी मृत्तिकासे सुदर्शन चक्र बनाकर उसपर मेरी पूजा करे और नाना प्रकारकी भेंट चढ़ावे । जो ऐसा करते हैं, उन मनुष्योंपर मैं संतुष्ट होता हूँ ॥ ३ ॥

वामनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा वराहं च जलोत्थितम् ।
उद्धृतां धरणीं चैव मूर्ध्ना धारयते तु यः ॥ ४ ॥
न तेषामशुभं किंचित् कल्मषं चोपपद्यते ।

जो मनुष्य बौने ब्राह्मण और पानीसे निकले हुए वराहको देखकर नमस्कार करता और उनकी उठायी मृत्तिकाको मस्तकसे लगाता है, ऐसे लोगोंको कभी कोई अशुभ या पाप नहीं प्राप्त होता ॥ ४½ ॥

अश्वत्थं रोचनां गां च पूजयेद् यो नरः सदा ॥ ५ ॥
पूजितं च जगत् तेन सदेवासुरमानुषम् ।

जो मनुष्य अश्वत्थ वृक्ष, गोरोचना और गौकी सदा पूजा करता है, उसके द्वारा देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्की पूजा हो जाती है ॥ ५½ ॥

तेन रूपेण तेषां च पूजां गृह्णामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥
पूजा ममैषा नास्त्यन्या यावल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ।

उस रूपमें उनके द्वारा की हुई पूजाको मैं यथार्थरूपसे अपनी पूजा मानकर ग्रहण करता हूँ । जबतक ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं, तबतक यह पूजा ही मेरी पूजा है। इससे भिन्न दूसरे प्रकारकी पूजा मेरी पूजा नहीं है ॥ ६½ ॥

अन्यथा हि वृथा मर्त्याः पूजयन्त्यल्पबुद्धयः ॥ ७ ॥
नाहं तत् प्रतिगृह्णामि न सा तुष्टिकरी मम ॥ ८ ॥

अल्पबुद्धि मानव अन्य प्रकारसे मेरी व्यर्थ पूजा करते हैं । मैं उसे ग्रहण नहीं करता हूँ । वह पूजा मुझे संतोष प्रदान करनेवाली नहीं है ॥ ७-८ ॥

इन्द्र उवाच

चक्रं पादौ वराहं च ब्राह्मणं चापि वामनम् ।
उद्धृतां धरणीं चैव किमर्थं त्वं प्रशंससि ॥ ९ ॥

इन्द्रने पूछा—भगवन् ! आप चक्र, दोनों पैर, बौने ब्राह्मण, वराह और उनके द्वारा उठायी हुई मिट्टीकी प्रशंसा किस लिये करते हैं ? ॥ ९ ॥

भवान् सृजति भूतानि भवान् संहरति प्रजाः ।
प्रकृतिः सर्वभूतानां समर्त्यानां सनातनी ॥ १० ॥

आप ही प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं, आप ही समस्त प्रजाका संहार करते हैं और आप ही मनुष्योंसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी सनातन प्रकृति (मूल कारण) हैं ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

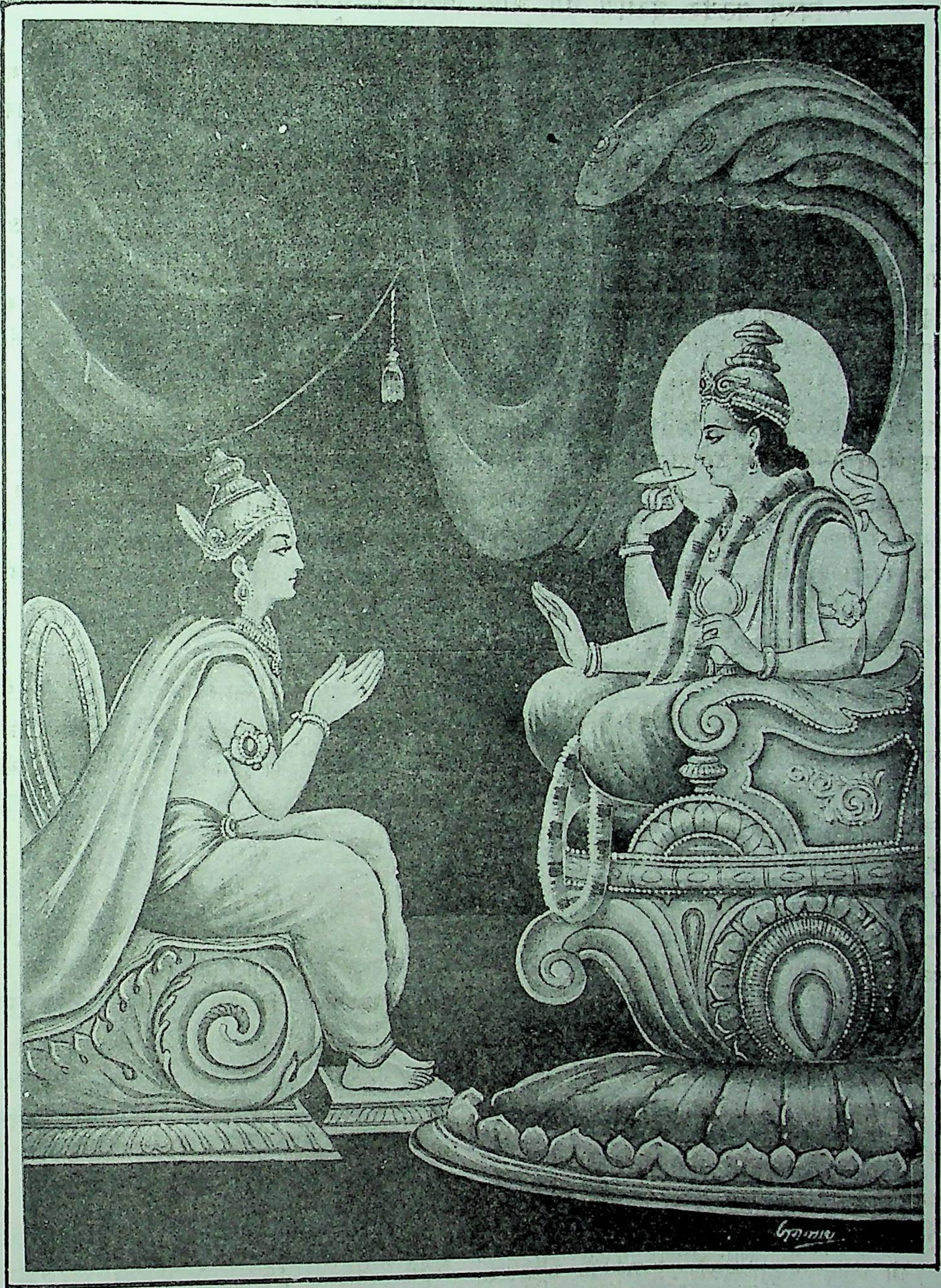
सम्प्रहस्य ततो विष्णुरिदं वचनमब्रवीत् ।
चक्रेण निहता दैत्याः पद्भ्यां क्रान्ता वसुन्धरा ॥ ११ ॥
वाराहं रूपमास्थाय हिरण्याक्षो निपातितः ।
वामनं रूपमास्थाय जितो राजा मया बलिः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब भगवान् विष्णुने हँसकर इस प्रकार कहा—'देवराज ! मैंने चक्रसे दैत्योंको मारा है । दोनों पैरोंसे पृथ्वीको आक्रान्त किया है । वाराहरूप धारण करके हिरण्याक्ष दैत्यको धराशायी किया है और बौने ब्राह्मणका रूप ग्रहण करके मैंने राजा बलिको जीता है ॥

परितुष्टो भवाम्येवं मानुषाणां महात्मनाम् ।
तन्मां ये पूजयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः ॥ १३ ॥

'इस तरह इन सबकी पूजा करनेसे मैं महामना मनुष्योंपर संतुष्ट होता हूँ । जो मेरी पूजा करेंगे, उनका कभी पराभव नहीं होगा ॥ १३ ॥

अपि वा ब्राह्मणं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमागतम् ।



इन्द्रका भगवान् विष्णुके साथ प्रश्नोत्तर

ब्राह्मणाग्र्याहुतिं दत्त्वा अमृतं तस्य भोजनम् ॥ १४ ॥

'ब्रह्मचारी ब्राह्मणको घरपर आया देख गृहस्थ पुरुष ब्राह्मणको प्रथम भोजन कराये, तत्पश्चात् स्वयं अवशिष्ट अन्नको ग्रहण करे तो उसका वह भोजन अमृतके समान माना गया है ॥ १४ ॥

ऐन्द्रीं संध्यामुपासित्वा आदित्याभिमुखः स्थितः।
सर्वतीर्थेषु स स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १५ ॥

'जो प्रातःकालकी संध्या करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होता है, उसे समस्त तीर्थोंमें स्नानका फल मिलता है और वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १५ ॥

एतद् वः कथितं गुह्यमखिलेन तपोधनाः।
संशयं पृच्छमानानां किं भूयः कथयाम्यहम् ॥ १६ ॥

'तपोधनो ! तुमलोगोंने जो संशय पूछा है, उसके समाधानके लिये मैंने यह सारा गूढ़ रहस्य तुम्हें बताया है। बताओ और क्या कहूँ' ॥ १६ ॥

बलदेव उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं मानुषाणां सुखावहम्।
अजानन्तो यदबुधाः क्लिश्यन्ते भूतपीडिताः ॥ १७ ॥

बलदेवजीने कहा—जो मनुष्योंको सुख देनेवाला है तथा मूर्ख मानव जिसे न जाननेके कारण भूतोंसे पीड़ित हो नाना प्रकारके कष्ट उठाते रहते हैं, वह परम गोपनीय विषय मैं बता रहा हूँ; उसे सुनो ॥ १७ ॥

कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि।
सर्षपं च प्रियङ्गुं च कल्मषात् प्रतिमुच्यते ॥ १८ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गाय, घी, दही, सरसों और राईका स्पर्श करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

भूतानि चैव सर्वाणि अग्रतः पृष्ठतोऽपि वा।
उच्छिष्टं वापि च्छिद्रेषु वर्जयन्ति तपोधनाः ॥ १९ ॥

तपस्वी पुरुष आगे या पीछेसे आनेवाले सभी हिंसक जन्तुओंको त्याग देते—उन्हें छोड़कर दूर हट जाते हैं। इसी प्रकार संकटके समय भी वे उच्छिष्ट वस्तुका सदा परित्याग ही करते हैं ॥ १९ ॥

देवा ऊचुः

प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं तोयपूर्णमुदङ्मुखः।
उपवासं तु गृह्णीयाद् यद् वा संकल्पयेद् व्रतम् ॥ २० ॥

देवता बोले—मनुष्य जलसे भरा हुआ ताँबेका पात्र लेकर उत्तराभिमुख हो उपवासका नियम ले अथवा और किसी व्रतका संकल्प करे ॥ २० ॥

देवतास्तस्य तुष्यन्ति कामिकं चापि सिध्यति।
अन्यथा हि वृथा मर्त्याः कुर्वते स्वल्पबुद्धयः ॥ २१ ॥

जो ऐसा करता है, उसके ऊपर देवता संतुष्ट होते हैं और उसकी सारी मनोवाञ्छा सिद्ध हो जाती है; परंतु मन्द-बुद्धि मानव ऐसा न करके व्यर्थ दूसरे-दूसरे कार्य किया करते हैं ॥ २१ ॥

उपवासे बलौ चापि ताम्रपात्रं विशिष्यते।
बलिर्भिक्षा तथार्घ्यं च पितॄणां च तिलोदकम् ॥ २२ ॥
ताम्रपात्रेण दातव्यमन्यथाल्पफलं भवेत्।
गुह्यमेतत् समुद्दिष्टं यथा तुष्यन्ति देवताः ॥ २३ ॥

उपवासका संकल्प लेने और पूजाका उपचार समर्पित करनेमें ताम्रपात्रको उत्तम माना गया है। पूजन-सामग्री, भिक्षा, अर्घ्य तथा पितरोंके लिये तिलमिश्रित जल ताम्रपात्रके द्वारा देने चाहिये अन्यथा उनका फल बहुत थोड़ा होता है। यह अत्यन्त गोपनीय बात बतायी गयी है। इसके अनुसार कार्य करनेसे देवता संतुष्ट होते हैं ॥ २२-२३ ॥

धर्म उवाच

राजपौरुषिके विप्रे घाण्टिके परिचारिके।
गोरक्षके वाणिजके तथा कारुकुशीलवे ॥ २४ ॥
मित्रद्रुह्यनधीयाने यश्च स्याद् वृषलीपतिः।
एतेषु दैवं पित्र्यं वा न देयं स्यात् कथंचन ॥ २५ ॥
पिण्डदास्तस्य हीयन्ते न च प्रीणाति वै पितॄन्।

धर्मने कहा—ब्राह्मण यदि राजाका कर्मचारी हो, वेतन लेकर घण्टा बजानेका काम करता हो, दूसरोंका सेवक हो, गोरक्षा एवं वाणिज्यका व्यवसाय करता हो, शिल्पी या नट हो, मित्रद्रोही हो, वेद न पढ़ा हो, अथवा शूद्र जातिकी स्त्रीका पति हो; ऐसे लोगोंको किसी तरह भी देवकार्य (यज्ञ) और पितृकार्य (श्राद्ध) का अन्न आदि नहीं देना चाहिये। जो इन्हें पिण्ड या अन्न देते हैं, उनकी अवनति होती है तथा उनके पितरोंको भी तृप्ति नहीं होती ॥ २४-२५½ ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ॥ २६ ॥
पितरस्तस्य देवाश्च अग्नयश्च तथैव हि।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति अतिथेरप्रतिग्रहात् ॥ २७ ॥

जिसके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है, उसके यहाँसे अतिथिका सत्कार न होनेके कारण देवता, पितर तथा अग्नि भी निराश लौट जाते हैं ॥ २६-२७ ॥

स्त्रीघ्नैर्गोघ्नैः कृतघ्नैश्च ब्रह्मघ्नैर्गुरुतल्पगैः।
तुल्यदोषो भवत्येभिर्यस्यातिथिरनर्चितः ॥ २८ ॥

जिसके यहाँ अतिथिका सत्कार नहीं होता, उस पुरुषको स्त्रीहत्यारों, गोघातकों, कृतघ्नों, ब्रह्मघातियों और गुरुपत्नी-गामियोंके समान पाप लगता है ॥ २८ ॥

अग्निरुवाच

पादमुद्यस्य यो मर्त्यः स्पृशेद् गाश्च सुदुर्मतिः ।
ब्राह्मणं वा महाभागं दीप्यमानं तथानलम् ॥ २९ ॥
तस्य दोषान् प्रवक्ष्यामि तच्छृणुध्वं समाहिताः ।

अग्नि बोले—जो दुर्बुद्धि मनुष्य लात उठाकर उससे गौका, महाभाग ब्राह्मणका अथवा प्रज्वलित अग्निका स्पर्श करता है, उसके दोष बता रहा हूँ, सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २९½ ॥

दिवं स्पृशत्यशब्दोऽस्य त्रस्यन्ति पितरश्च वै ॥ ३० ॥
वैमनस्यं च देवानां कृतं भवति पुष्कलम् ।
पावकश्च महातेजा हव्यं न प्रतिगृह्णति ॥ ३१ ॥

ऐसे मनुष्यकी अपकीर्ति स्वर्गतक फैल जाती है । उसके पितर भयभीत हो उठते हैं । देवताओंमें भी उसके प्रति भारी वैमनस्य हो जाता है तथा महातेजस्वी पावक उसके दिये हुए हविष्यको नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ३०-३१ ॥

आजन्मनां शतं चैव नरके पच्यते तु सः ।
निष्कृतिं च न तस्यापि अनुमन्यन्ति कर्हिचित् ॥ ३२ ॥

वह सौ जन्मोंतक नरकमें पकाया जाता है । ऋषिगण कभी उसके उद्धारका अनुमोदन नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

तस्माद् गावो न पादेन स्प्रष्टव्या वै कदाचन ।
ब्राह्मणश्च महातेजा दीप्यमानस्तथानलः ॥ ३३ ॥
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता ।
एते दोषा मया प्रोक्तास्त्रिषु यः पादमुत्सृजेत् ॥ ३४ ॥

इसलिये अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु पुरुषको गौओंका, महातेजस्वी ब्राह्मणका तथा प्रज्वलित अग्निका भी कभी पैरसे स्पर्श नहीं करना चाहिये । जो इन तीनोंपर पैर उठाता है, उसे प्राप्त होनेवाले इन दोषोंका मैंने वर्णन किया है ॥

विश्वामित्र उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम् ।
परमान्नेन यो दद्यात् पितृणामौपहारिकम् ॥ ३५ ॥
गजच्छायायां पूर्वस्यां कुतपे दक्षिणामुखः ।
यदा भाद्रपदे मासि भवते बहुले मघा ॥ ३६ ॥
श्रूयतां तस्य दानस्य यादृशो गुणविस्तरः ।
कृतं तेन महच्छ्राद्धं वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र बोले—देवताओ ! यह धर्मसम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य सुनो, जब भाद्रपदमासके कृष्णपक्षमें त्रयोदशी तिथिको मघा नक्षत्रका योग हो, उस समय जो मनुष्य दक्षिणाभिमुख हो कुतप कालमें (मध्याह्नके बाद आठवें मुहूर्तमें) जब कि हाथीकी छाया पूर्व दिशाकी ओर पड़ रही हो, उस छायामें ही स्थित हो पितरोंके निमित्त उपहारके रूपमें उत्तम अन्नका दान करता है, उस दानका जैसा विस्तृत फल बताया गया है, वह सुनो । दान करनेवाले उस पुरुषने इस जगत्में तेरह वर्षोंके लिये पितरोंका महान् श्राद्ध सम्पन्न कर दिया, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५–३७ ॥

गाव ऊचुः

बहुले समंगे ह्यकुतोऽभये च
क्षेमे च सख्येव हि भूयसी च ।
यथा पुरा ब्रह्मपुरे सवत्सा
शतक्रतोर्वज्रधरस्य यज्ञे ॥ ३८ ॥
भूयश्च या विष्णुपदे स्थिता या
विभावसोश्चापि पथे स्थिता या ।
देवाश्च सर्वे सह नारदेन
प्रकुर्वते सर्वसहेति नाम ॥ ३९ ॥

गौओंने कहा—पूर्वकालमें ब्रह्मलोकके भीतर वज्रधारी इन्द्रके यज्ञमें 'बहुले ! समङ्गे ! अकुतोभये ! क्षेमे ! सखी, भूयसी' इन नामोंका उच्चारण करके बछड़ोंसहित गौओंकी स्तुति की गयी थी, फिर जो-जो गौएँ आकाशमें स्थित थीं और जो सूर्यके मार्गमें विद्यमान थीं, नारदसहित सम्पूर्ण देवताओंने उनका 'सर्वसहा' नाम रख दिया ॥ ३८-३९ ॥

मन्त्रेणैतेनाभिवन्देत यो वै
विमुच्यते पापकृतेन कर्मणा ।
लोकानवाप्नोति पुरंदरस्य
गवां फलं चन्द्रमसो द्युतिं च ॥ ४० ॥

ये दोनों श्लोक मिलकर एक मन्त्र है । उस मन्त्रसे जो गौओंकी वन्दना करता है, वह पापकर्मसे मुक्त हो जाता है । गोसेवाके फलस्वरूप उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है तथा वह चन्द्रमाके समान कान्तिलाभ करता है ॥ ४० ॥

एतं हि मन्त्रं त्रिदशाभिजुष्टं
पठेत यः पर्वसु गोष्ठमध्ये ।
न तस्य पापं न भयं न शोकः
सहस्रनेत्रस्य च याति लोकम् ॥ ४१ ॥

जो पर्वके दिन गोशालामें इस देवसेवित मन्त्रका पाठ करता है, उसे न पाप होता है, न भय होता है और न शोक ही प्राप्त होता है । वह सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके लोकमें जाता है ॥

भीष्म उवाच

अथ सप्त महाभागा ऋषयो लोकविश्रुताः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ब्रह्माणं पद्मसम्भवम् ॥ ४२ ॥
प्रदक्षिणमभिक्रम्य सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महान् सौभाग्यशाली विश्वविख्यात वसिष्ठ आदि सभी सप्तर्षियोंने कमलयोनि ब्रह्माजीकी प्रदक्षिणा की और सब-के-सब हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये ॥ ४२½ ॥

उवाच वचनं तेषां वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः ॥ ४३ ॥
सर्वप्राणिहितं प्रश्नं ब्रह्मक्षत्रे विशेषतः ।

उनमेंसे ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिने समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रियजातिके लिये लाभदायक प्रश्न उपस्थित किया—॥ ४३½ ॥

द्रव्यहीनाः कथं मर्त्या दरिद्राः साधुवर्तिनः ॥ ४४ ॥
प्राप्नुवन्तीह यज्ञस्य फलं केन च कर्मणा ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ ४५ ॥

'भगवन् ! इस संसारमें सदाचारी मनुष्य प्रायः दरिद्र एवं द्रव्यहीन हैं । वे किस कर्मसे किस तरह यहाँ यज्ञका फल पा सकते हैं ?' उनकी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा॥

ब्रह्मोवाच

अहो प्रश्नो महाभागा गूढार्थः परमः शुभः ।
सूक्ष्मः श्रेयांश्च मर्त्यानां भवद्भिः समुदाहृतः ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महान् भाग्यशाली सप्तर्षियो ! तुम लोगोंने परम शुभकारक, गूढ़ अर्थसे युक्त, सूक्ष्म एवं मनुष्योंके लिये कल्याणकारी प्रश्न सामने रखा है ॥ ४६ ॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये निखिलेन तपोधनाः ।
यथा यज्ञफलं मर्त्यो लभते नात्र संशयः ॥ ४७ ॥

तपोधनो ! मनुष्य जिस प्रकार बिना किसी संशयके यज्ञका फल पाता है, वह सब पूर्णरूपसे बताऊँगा, सुनो ॥ ४७ ॥

पौषमासस्य शुक्ले वै यदा युज्येत रोहिणी ।
तेन नक्षत्रयोगेन आकाशशयनो भवेत् ॥ ४८ ॥
एकवस्त्रः शुचिः स्नातः श्रद्दधानः समाहितः ।
सोमस्य रश्मयः पीत्वा महायज्ञफलं लभेत् ॥ ४९ ॥

पौषमासके शुक्ल पक्षमें जिस दिन रोहिणी नक्षत्रका योग हो, उस दिनकी रातमें मनुष्य स्नान आदिसे शुद्ध हो एक वस्त्र धारण करके श्रद्धा और एकाग्रताके साथ खुले मैदानमें आकाशके नीचे शयन करे और चन्द्रमाकी किरणोंका ही पान करता रहे । ऐसा करनेसे उसको महान् यज्ञका फल मिलता है॥

एतद् वः परमं गुह्यं कथितं द्विजसत्तमाः ।
यन्मां भवन्तः पृच्छन्ति सूक्ष्मतत्त्वार्थदर्शिनः ॥ ५० ॥

विप्रवरो ! तुमलोग सूक्ष्मतत्त्व एवं अर्थके ज्ञाता हो । तुमने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसके अनुसार मैंने तुम्हें यह परम गूढ़ रहस्य बताया है ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अग्नि, लक्ष्मी, अङ्गिरा, गार्ग्य, धौम्य तथा जमदग्निके द्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

विभावसुरुवाच

सलिलस्याञ्जलिं पूर्णमक्षतांश्च घृतोत्तरान् ।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य तज्जलं चाक्षतांश्च तान् ॥ १ ॥
स्थितो ह्यभिमुखो मर्त्यः पौर्णमास्यां बलिं हरेत् ।
अग्निकार्यं कृतं तेन हुताश्चास्याग्नयस्त्रयः ॥ २ ॥

अग्निदेवने कहा—जो मनुष्य पूर्णिमा तिथिको चन्द्रोदयके समय चन्द्रमाकी ओर मुँह करके उन्हें जलकी भरी हुई एक अञ्जलि घी और अक्षतके साथ भेंट करता है, उसने अग्निहोत्रका कार्य सम्पन्न कर लिया । उसके द्वारा गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियोंको भलीभाँति आहुति दे दी गयीं ॥ १-२ ॥

वनस्पतिं च यो हन्यादमावास्यामबुद्धिमान् ।
अपि ह्येकेन पत्रेण लिप्यते ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

जो मूर्ख अमावास्याके दिन किसी वनस्पतिका एक पत्ता भी तोड़ता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है ॥ ३ ॥

दन्तकाष्ठं तु यः खादेदमावास्यामबुद्धिमान् ।
हिंसितश्चन्द्रमास्तेन पितरश्चोद्विजन्ति च ॥ ४ ॥

जो बुद्धिहीन मानव अमावास्या तिथिको दन्तधावन काष्ठ चबाता है, उसके द्वारा चन्द्रमाकी हिंसा होती है और पितर भी उससे उद्विग्न हो उठते हैं ॥ ४ ॥

हव्यं न तस्य देवाश्च प्रतिगृह्णन्ति पर्वसु ।
कुप्यन्ते पितरश्चास्य कुले वंशोऽस्य हीयते ॥ ५ ॥

पर्वके दिन उसके दिये हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं । उसके पितर भी कुपित हो जाते हैं और उसके कुलमें वंशकी हानि होती है ॥ ५ ॥

श्रीरुवाच

प्रकीर्णं भाजनं यत्र भिन्नभाण्डमथासनम् ।
योषितश्चैव हन्यन्ते कश्मलोपहते गृहे ॥ ६ ॥
देवताः पितरश्चैव उत्सवे पर्वणीषु वा ।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति कश्मलोपहताद् गृहात् ॥ ७ ॥

लक्ष्मी बोलीं—जिस घरमें सब पात्र इधर-उधर बिखरे पड़े हों, बर्तन फूटे और आसन फटे हों तथा जहाँ स्त्रियाँ मारी-पीटी जाती हों, वह घर पापके कारण दूषित होता है । पापसे दूषित हुए उस गृहसे उत्सव और पर्वके

अवसरोंपर देवता और पितर निराश लौट जाते हैं—उस घरकी पूजा नहीं स्वीकार करते ॥ ६-७ ॥

अङ्गिरा उवाच

यस्तु संवत्सरं पूर्णं दद्याद् दीपं करञ्जके।
सुवर्चलामूलहस्तः प्रजा तस्य विवर्धते ॥ ८ ॥

अङ्गिराने कहा—जो पूरे एक वर्षतक करंज (करज) वृक्षके नीचे दीपदान करे और ब्राह्मीबूटीकी जड़ हाथमें लिये रहे, उसकी संतति बढ़ती है ॥ ८ ॥

गार्ग्य उवाच

आतिथ्यं सततं कुर्याद् दीपं दद्यात् प्रतिश्रये।
वर्जयानो दिवा स्वापं न च मांसानि भक्षयेत् ॥ ९ ॥
गोब्राह्मणं न हिंस्याच्च पुष्कराणि च कीर्तयेत्।
एष श्रेष्ठतमो धर्मः सरहस्यो महाफलः ॥ १० ॥

गार्ग्यने कहा—सदा अतिथियोंका सत्कार करे, घरमें दीपक जलाये, दिनमें सोना छोड़ दे। मांस कभी न खाय। गौ और ब्राह्मणकी हत्या न करे तथा तीनों पुष्कर तीर्थोंका प्रतिदिन नाम लिया करे। यह रहस्यसहित श्रेष्ठतम धर्म महान् फल देनेवाला है ॥ ९-१० ॥

अपि क्रतुशतैरिष्ट्वा क्षयं गच्छति तद्धविः।
न तु क्षीयन्ति ते धर्माः श्रद्दधानैः प्रयोजिताः ॥ ११ ॥

सैकड़ों बार किये हुए यज्ञका फल भी क्षीण हो जाता है; किंतु श्रद्धालु पुरुषोंद्वारा उपर्युक्त धर्मोंका पालन किया जाय तो वे कभी क्षीण नहीं होते ॥ ११ ॥

इदं च परमं गुह्यं सरहस्यं निबोधत।
श्राद्धकल्पे च दैवे च तैर्थिके पर्वणीषु च ॥ १२ ॥
रजस्वला च या नारी श्वित्रिकापुत्रिका च या।
एताभिश्चक्षुषा दृष्टं हविर्नाशन्ति देवताः ॥ १३ ॥
पितरश्च न तुष्यन्ति वर्षाण्यपि त्रयोदश।

यह परम गोपनीय रहस्यकी बात सुनो। श्राद्धमें, यज्ञमें, तीर्थमें और पर्वोंके दिन देवताओंके लिये जो हविष्य तैयार किया जाता है, उसे यदि रजस्वला, कोढ़ी अथवा वन्ध्या स्त्री देख ले तो उनके नेत्रोंद्वारा देखे हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं तथा पितर भी तेरह वर्षोंतक असंतुष्ट रहते हैं ॥ १२-१३½ ॥

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्।
कीर्तयेद् भारतं चैव तथा स्यादक्षयं हविः ॥ १४ ॥

श्राद्ध और यज्ञके दिन मनुष्य स्नान आदिसे पवित्र होकर श्वेत वस्त्र धारण करे। ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराये तथा महाभारत (गीता आदि) का पाठ करे। ऐसा करनेसे उसका हव्य और कव्य अक्षय होता है ॥ १४ ॥

धौम्य उवाच

भिन्नभाण्डं च खट्वां च कुक्कुटं शुनकं तथा।
अप्रशस्तानि सर्वाणि यश्च वृक्षो गृहेरुहः ॥ १५ ॥

धौम्य बोले—घरमें फूटे बर्तन, टूटी खाट, मुर्गा, कुत्ता और अश्वत्थादि वृक्षका होना अच्छा नहीं माना गया है ॥ १५ ॥

भिन्नभाण्डे कलिं प्राहुः खट्वायां तु धनक्षयः।
कुक्कुटे शुनके चैव हविर्नाश्नन्ति देवताः।
वृक्षमूले ध्रुवं सत्त्वं तस्माद् वृक्षं न रोपयेत् ॥ १६ ॥

फूटे बर्तनमें कलियुगका वास कहा गया है। टूटी खाट रहनेसे धनकी हानि होती है। मुर्गे और कुत्तेके रहनेपर देवता उस घरमें हविष्य नहीं ग्रहण करते तथा मकानके अंदर कोई बड़ा वृक्ष होनेपर उसकी जड़के अंदर साँप, बिच्छू आदि जन्तुओंका रहना अनिवार्य हो जाता है; इसलिये घरके भीतर पेड़ न लगावे ॥ १६ ॥

जमदग्निरुवाच

यो यजेदश्वमेधेन वाजपेयशतेन ह।
अवाक्शिरा वा लम्बेत सत्त्रं वा स्फीतमाहरेत् ॥ १७ ॥
न यस्य हृदयं शुद्धं नरकं स ध्रुवं व्रजेत्।
तुल्यं यज्ञश्च सत्यं च हृदयस्य च शुद्धता ॥ १८ ॥

जमदग्नि बोले—कोई अश्वमेध या सैकड़ों बाजपेय यज्ञ करे, नीचे मस्तक करके वृक्षमें लटके अथवा समृद्धिशाली सत्र खोल दे; किंतु जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, वह पापी निश्चय ही नरकमें जाता है; क्योंकि यज्ञ, सत्य और हृदयकी शुद्धि तीनों बराबर हैं (फिर भी हृदयकी शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है) ॥ १७-१८ ॥

शुद्धेन मनसा दत्त्वा सक्तुप्रस्थं द्विजातये।
ब्रह्मलोकमनुप्राप्तः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १९ ॥

(प्राचीन समयमें एक ब्राह्मण) शुद्ध हृदयसे ब्राह्मणको सेरभर सत्तू दान करके ही ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ था। हृदयकी शुद्धिका महत्त्व बतानेके लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

वायुके द्वारा धर्माधर्मके रहस्यका वर्णन

वायुरुवाच

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि मानुषाणां सुखावहम्।
सरहस्याश्च ये दोषास्ताञ्शृणुध्वं समाहिताः॥ १॥

वायुदेवने कहा—मैं मनुष्योंके लिये सुखदायक धर्मका किंचित् वर्णन करता हूँ और रहस्यसहित जो दोष हैं, उन्हें भी बतलाता हूँ। तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो॥

अग्निकार्यं च कर्तव्यं परमान्नेन भोजनम्।
दीपकश्चापि कर्तव्यः पितॄणां सतिलोदकः॥ २॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिये। श्राद्धके दिन उत्तम अन्नके द्वारा ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। पितरोंके लिये दीप-दान तथा तिलमिश्रित जलसे तर्पण करना चाहिये॥

एतेन विधिना मर्त्यः श्रद्दधानः समाहितः।
चतुरो वार्षिकान् मासान् यो ददाति तिलोदकम्॥ ३॥
भोजनं च यथाशक्त्या ब्राह्मणे वेदपारगे।
पशुबन्धशतस्येह फलं प्राप्नोति पुष्कलम्॥ ४॥

जो मनुष्य श्रद्धा और एकाग्रताके साथ इस विधिसे वर्षाके चार महीनोंतक पितरोंको तिलमिश्रित जलकी अञ्जलि देता है और वेद-शास्त्रके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको यथाशक्ति भोजन कराता है, वह सौ यज्ञोंका पूरा फल प्राप्त कर लेता है॥ ३-४॥

इदं चैवापरं गुह्यमप्रशस्तं निबोधत।
अग्नेस्तु वृषलो नेता हविर्मूढाश्च योषितः॥ ५॥
मन्यते धर्म एवेति स चाधर्मेण लिप्यते।
अग्नयस्तस्य कुप्यन्ति शूद्रयोनिं स गच्छति॥ ६॥

अब यह दूसरी उस गोपनीय बातको सुनो, जो उत्तम नहीं है अर्थात् निन्दनीय है। यदि शूद्र किसी द्विजके अग्निहोत्रकी अग्निको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाता है तथा मूर्ख स्त्रियाँ यज्ञसम्बन्धी हविष्यको ले जाती हैं—इस कार्यको जो धर्म ही समझता है, वह अधर्मसे लिप्त होता है। उसके ऊपर अग्नियोंका कोप होता है और वह शूद्रयोनिमें जन्म लेता है॥ ५-६॥

पितरश्च न तुष्यन्ति सह देवैर्विशेषतः।
प्रायश्चित्तं तु यत् तत्र ब्रुवतस्तन्निबोध मे॥ ७॥

उसके ऊपर देवताओंसहित पितर भी विशेष संतुष्ट नहीं होते हैं। ऐसे स्थलोंपर जो प्रायश्चित्तका विधान है, उसे बताता हूँ, सुनो॥ ७॥

यत् कृत्वा तु नरः सम्यक् सुखी भवति विज्वरः।
गवां मूत्रपुरीषेण पयसा च घृतेन च॥ ८॥
अग्निकार्यं त्र्यहं कुर्यान्निराहारः समाहितः।
ततः संवत्सरे पूर्णे प्रतिगृह्णन्ति देवताः॥ ९॥
हृष्यन्ति पितरश्चास्य श्राद्धकाल उपस्थिते।

उसका भलीभाँति अनुष्ठान करके मनुष्य सुखी और निश्चिन्त हो जाता है। द्विजको चाहिये कि वह निराहार एवं एकाग्रचित्त होकर तीन दिनोंतक गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध और गोघृतसे अग्निमें आहुति दे। तत्पश्चात् एक वर्ष पूर्ण होनेपर देवता उसकी पूजा ग्रहण करते हैं और पितर भी उसके यहाँ श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर प्रसन्न होते हैं॥ ८-९½॥

एष ह्यधर्मो धर्मश्च सरहस्यः प्रकीर्तितः॥ १०॥
मर्त्यानां स्वर्गकामानां प्रेत्य स्वर्गसुखावहः॥ ११॥

इस प्रकार मैंने रहस्यसहित धर्म और अधर्मका वर्णन किया। यह स्वर्गकी कामनावाले मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् स्वर्गीय सुखकी प्राप्ति करानेवाला है॥ १०-११॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लोमशद्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

लोमश उवाच

परदारेषु ये सक्ता अकृत्वा दारसंग्रहम्।
निराशाः पितरस्तेषां श्राद्धकाले भवन्ति वै॥ १॥

लोमशजीने कहा—जो स्वयं विवाह न करके परायी स्त्रियोंमें आसक्त हैं, उनके यहाँ श्राद्ध-काल आनेपर पितर निराश हो जाते हैं॥ १॥

परदाररतिर्यश्च यश्च वन्ध्यामुपासते।
ब्रह्मस्वं हरते यश्च समदोषा भवन्ति ते॥ २॥

जो परायी स्त्रीमें आसक्त है, जो वन्ध्या स्त्रीका सेवन करता है तथा जो ब्राह्मणका धन हर लेता है—ये तीनों समान दोषके भागी होते हैं ॥ २ ॥

असम्भाष्या भवन्त्येते पितॄणां नात्र संशयः।
देवताः पितरश्चैषां नाभिनन्दन्ति तद्धविः ॥ ३ ॥

ये पितरोंकी दृष्टिमें बात करनेके योग्य नहीं रह जाते हैं, इसमें संशय नहीं है और देवता तथा पितर उसके हविष्यको आदर नहीं देते हैं ॥ ३ ॥

तस्मात् परस्य वै दारांस्त्यजेद् वन्ध्यां च योषितम्।
ब्रह्मस्वं हि न हर्तव्यमात्मनो हितमिच्छता ॥ ४ ॥

अतः अपना हित चाहनेवाले पुरुषको परायी स्त्री और वन्ध्या स्त्रीका त्याग कर देना चाहिये तथा ब्राह्मणके धनका कभी अपहरण नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम्।
श्रद्दधानेन कर्तव्यं गुरूणां वचनं सदा ॥ ५ ॥

अब दूसरी धर्मयुक्त गोपनीय रहस्यकी बात सुनो। सदा श्रद्धापूर्वक गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

द्वादश्यां पौर्णमास्यां च मासि मासि घृताक्षतम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छेत तस्य पुण्यं निबोधत ॥ ६ ॥

प्रत्येक मासकी द्वादशी और पूर्णिमाके दिन ब्राह्मणोंको घृतसहित चावलोंका दान करे। इसका जो पुण्य है, उसे सुनो ॥ ६ ॥

सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः।
अश्वमेधचतुर्भागं फलं सृजति वासवः ॥ ७ ॥

उस दानसे चन्द्रमा तथा महोदधि समुद्रकी वृद्धि होती है और उस दाताको इन्द्र अश्वमेध यज्ञका चतुर्थांश फल देते हैं ॥ ७ ॥

दानेनैतेन तेजस्वी वीर्यवांश्च भवेन्नरः।
प्रीतश्च भगवान् सोम इष्टान् कामान् प्रयच्छति॥ ८ ॥

उस दानसे मनुष्य तेजस्वी और बलवान् होता है और भगवान् सोम प्रसन्न होकर उसे अभीष्ट कामनाएँ प्रदान करते हैं ॥ ८ ॥

श्रूयतां चापरो धर्मः सरहस्यो महाफलः।
इदं कलियुगं प्राप्य मनुष्याणां सुखावहः ॥ ९ ॥

अब दूसरे महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका वर्णन सुनो। जो इस कलियुगको पाकर मनुष्योंके लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ९ ॥

कल्यमुत्थाय यो मर्त्यः स्नातः शुक्लेन वाससा।
तिलपात्रं प्रयच्छेत ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ १० ॥
तिलोदकं च यो दद्यात् पितॄणां मधुना सह।
दीपकं कृसरं चैव श्रूयतां तस्य यत् फलम् ॥ ११ ॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर स्नान करके पवित्र सफेद वस्त्रसे युक्त हो मनको एकाग्र करके ब्राह्मणोंको तिल-पात्रका दान करता है और पितरोंके लिये मधुयुक्त तिलोदक, दीपक एवं खिचड़ी देता है, उसको जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो ॥ १०-११ ॥

तिलपात्रे फलं प्राह भगवान् पाकशासनः।
गोप्रदानं च यः कुर्याद् भूमिदानं च शाश्वतम्॥ १२ ॥
अग्निष्टोमं च यो यज्ञं यजेत बहुदक्षिणम्।
तिलपात्रं सहैतेन समं मन्यन्ति देवताः ॥ १३ ॥

भगवान् इन्द्रने तिल-पात्रके दानका फल इस प्रकार बतलाया है—जो सदा गो-दान और भूमि-दान करता है तथा जो बहुत-सी दक्षिणावाले अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसके इन पुण्य-कर्मोंके समान ही देवतालोग तिल-पात्रके दानको भी मानते हैं ॥ १२-१३ ॥

तिलोदकं सदा श्राद्धे मन्यन्ते पितरोऽक्षयम्।
दीपे च कृसरे चैव तुष्यन्तेऽस्य पितामहाः ॥ १४ ॥

पितरलोग सदा श्राद्धमें तिलसहित जलका दान करना अक्षय मानते हैं। दीपदान और खिचड़ीके दानसे उसके पितामह संतुष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

स्वर्गे च पितृलोके च पितृदेवाभिपूजितम्।
एवमेतन्मयोद्दिष्टमृषिदृष्टं पुरातनम् ॥ १५ ॥

यह पुरातन धर्म-रहस्य ऋषियोंद्वारा देखा गया है। स्वर्गलोक और पितृलोकमें भी देवताओं तथा पितरोंने इसका समादर किया है। इस प्रकार इस धर्मका मैंने वर्णन किया है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोमशरहस्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोमशवर्णित धर्मका रहस्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अरुन्धती, धर्मराज और चित्रगुप्तद्वारा धर्मसम्बन्धी रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

ततस्त्वृषिगणाः सर्वे पितरश्च सदेवताः।
अरुन्धतीं तपोवृद्धामपृच्छन्त समाहिताः॥ १॥
समानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।
त्वत्तो धर्मरहस्यानि श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
यत्ते गुह्यतमं भद्रे तत् प्रभाषितुमर्हसि॥ २॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी ऋषियों, पितरों और देवताओंने तपस्यामें बढ़ी-चढ़ी हुई अरुन्धती देवीसे, जो शील और शक्तिमें महात्मा वसिष्ठजीके ही समान थीं, एकाग्रचित्त होकर पूछा—'भद्रे! हम आपके मुँहसे धर्मका रहस्य सुनना चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें जो गुह्यतम धर्म हो, उसे बतानेकी कृपा करें'॥ १-२॥

अरुन्धत्युवाच

तपोवृद्धिर्मया प्राप्ता भवतां स्मरणेन वै।
भवतां च प्रसादेन धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ३॥
सगुह्यान् सरहस्यांश्च ताञ्छृणुध्वमशेषतः।
श्रद्दधाने प्रयोक्तव्या यस्य शुद्धं तथा मनः॥ ४॥

अरुन्धती बोलीं—देवगण! आपलोगोंने मुझे स्मरण किया, इससे मेरे तपकी वृद्धि हुई है। अब मैं आप ही लोगोंकी कृपासे गोपनीय रहस्योंसहित सनातन धर्मोंका वर्णन करती हूँ, आपलोग वह सब सुनें। जिसका मन शुद्ध हो, उस श्रद्धालु पुरुषको ही इन धर्मोंका उपदेश करना चाहिये॥ ३-४॥

अश्रद्दधानो मानी च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
असम्भाष्या हि चत्वारो नैषां धर्मः प्रकाशयेत्॥ ५॥

जो श्रद्धासे रहित, अभिमानी, ब्रह्महत्यारे और गुरुस्त्रीगामी हैं, इन चार प्रकारके मनुष्योंसे बात भी नहीं करनी चाहिये। इनके सामने धर्मके रहस्यको प्रकाशित न करे॥ ५॥

अहन्यहनि यो दद्यात् कपिलां द्वादशीः समाः।
मासि मासि च सत्रेण यो यजेत सदा नरः॥ ६॥
गवां शतसहस्रं च यो दद्याज्ज्येष्ठपुष्करे।
न तद्धर्मफलं तुल्यमतिथिर्यस्य तुष्यति॥ ७॥

जो मनुष्य बारह वर्षोंतक प्रतिदिन एक-एक कपिला गौका दान करता, हर महीनेमें निरन्तर सत्रयाग चलाता और ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें जाकर एक लाख गोदान करता है, उसके धर्मका फल उस मनुष्यके बराबर नहीं हो सकता, जिसके द्वारा की हुई सेवासे अतिथि संतुष्ट हो जाता है॥

श्रूयतां चापरो धर्मो मनुष्याणां सुखावहः।
श्रद्दधानेन कर्तव्यः सरहस्यो महाफलः॥ ८॥

अब मनुष्योंके लिये सुखदायक तथा महान् फल देनेवाले दूसरे धर्मका रहस्यसहित वर्णन सुनो। श्रद्धापूर्वक इसका पालन करना चाहिये॥ ८॥

कल्यमुत्थाय गोमध्ये गृह्य दर्भान् सहोदकान्।
निषिञ्चेत गवां शृङ्गे मस्तकेन च तज्जलम्॥ ९॥
प्रतीच्छेत निराहारस्तस्य धर्मफलं शृणु।

सबेरे उठकर कुश और जल हाथमें ले गौओंके बीचमें जाय। वहाँ गौओंके सींगपर जल छिड़के और सींगसे गिरे हुए जलको अपने मस्तकपर धारण करे। साथ ही उस दिन निराहार रहे। ऐसे पुरुषको जो धर्मका फल मिलता है, उसे सुनो॥ ९½॥

श्रूयन्ते यानि तीर्थानि त्रिषु लोकेषु कानिचित्॥ १०॥
सिद्धचारणजुष्टानि सेवितानि महर्षिभिः।
अभिषेकः समस्तेषां गवां शृङ्गोदकस्य च॥ ११॥

तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंसे सेवित जो कोई भी तीर्थ सुने जाते हैं, उन सबमें स्नान करनेसे जो फल मिलता है, वही गायोंके सींगके जलसे अपने मस्तकको सींचनेसे प्राप्त होता है॥ १०-११॥

साधु साध्विति चोद्दिष्टे दैवतैः पितृभिस्तथा।
भूतैश्चैव सुसंहृष्टैः पूजिता साप्यरुन्धती॥ १२॥

यह सुनकर देवता, पितर और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। उन सबने उन्हें साधुवाद दिया और अरुन्धती देवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ १२॥

पितामह उवाच

अहो धर्मो महाभागे सरहस्य उदाहृतः।
वरं ददामि ते धन्ये तपस्ते वर्धतां सदा॥ १३॥

ब्रह्माजीने कहा—महाभागे! तुम धन्य हो, तुमने रहस्यसहित अद्भुत धर्मका वर्णन किया है। मैं तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम्हारी तपस्या सदा बढ़ती रहे॥ १३॥

यम उवाच

रमणीया कथा दिव्या युष्मत्तो या मया श्रुता।
श्रूयतां चित्रगुप्तस्य भाषितं मम च प्रियम्॥ १४॥

यमराजने कहा—देवताओ और महर्षियो! मैंने आपलोगोंके मुखसे दिव्य एवं मनोरम कथा सुनी है। अब आपलोग चित्रगुप्तका तथा मेरा भी प्रिय भाषण सुनिये॥

रहस्यं धर्मसंयुक्तं शक्यं श्रोतुं महर्षिभिः।
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता॥ १५॥

इस धर्मयुक्त रहस्यको महर्षि भी सुन सकते हैं। अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु मनुष्यको भी इसे श्रवण करना चाहिये ॥ १५ ॥

न हि पुण्यं तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति।
पर्वकाले च यत् किंचिदादित्यं चाधितिष्ठति॥ १६ ॥

मनुष्यका किया हुआ कोई भी पुण्य तथा पाप भोगके बिना नष्ट नहीं होता। पर्वकालमें जो कुछ भी दान किया जाता है, वह सब सूर्यदेवके पास पहुँचता है ॥ १६ ॥

प्रेतलोकं गते मर्त्ये तत् तत् सर्वं विभावसुः।
प्रतिजानाति पुण्यात्मा तच्च तत्रोपयुज्यते ॥ १७ ॥

जब मनुष्य प्रेतलोकको जाता है, उस समय सूर्यदेव वे सारी वस्तुएँ उसे अर्पित कर देते हैं और पुण्यात्मा पुरुष परलोकमें उन वस्तुओंका उपभोग करता है ॥ १७ ॥

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि चित्रगुप्तमतं शुभम्।
पानीयं चैव दीपं च दातव्यं सततं तथा ॥ १८ ॥

अब मैं चित्रगुप्तके मतके अनुसार कुछ कल्याणकारी धर्मका वर्णन करता हूँ। मनुष्यको जलदान और दीपदान सदा ही करने चाहिये ॥ १८ ॥

उपानहौ च च्छत्रं च कपिला च यथातथम्।
पुष्करे कपिला देया ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ १९ ॥
अग्निहोत्रं च यत्नेन सर्वशः प्रतिपालयेत्।

उपानह (जूता), छत्र तथा कपिला गौका भी यथोचित रीतिसे दान करना चाहिये। पुष्कर तीर्थमें वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको कपिला गाय देनी चाहिये और अग्निहोत्रके नियमका सब तरहसे प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ॥

अयं चैवापरो धर्मश्चित्रगुप्तेन भाषितः ॥ २० ॥
फलमस्य पृथक्त्वेन श्रोतुमर्हन्ति सत्तमाः।
प्रलयं सर्वभूतैस्तु गन्तव्यं कालपर्ययात् ॥ २१ ॥

इसके सिवा यह एक दूसरा धर्म भी चित्रगुप्तने बताया है। उसके पृथक्-पृथक् फलका वर्णन सभी साधु पुरुष सुनें। समस्त प्राणी कालक्रमसे प्रलयको प्राप्त होते हैं ॥ २०-२१॥

तत्र दुर्गमनुप्राप्ताः क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः।
दह्यमाना विपच्यन्ते न तत्रास्ति पलायनम् ॥ २२ ॥

पापोंके कारण दुर्गम नरकमें पड़े हुए प्राणी भूख-प्याससे पीड़ित हो आगमें जलते हुए पकाये जाते हैं। वहाँ उस यातनासे निकल भागनेका कोई उपाय नहीं है ॥ २२ ॥

अन्धकारं तमो घोरं प्रविशन्त्यल्पबुद्धयः।
तत्र धर्मं प्रवक्ष्यामि येन दुर्गाणि संतरेत् ॥ २३ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही नरकके घोर दुःखमय अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। उस अवसरके लिये मैं धर्मका उपदेश करता हूँ, जिससे मनुष्य दुर्गम नरकसे पार हो सकता है ॥ २३॥

अल्पव्ययं महार्थं च प्रेत्य चैव सुखोदयम्।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोके विशेषतः ॥ २४॥

उस धर्ममें व्यय बहुत थोड़ा है, परंतु लाभ महान् है। उससे मृत्युके पश्चात् भी उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। जलके गुण दिव्य हैं। प्रेतलोकमें ये गुण विशेषरूपसे लक्षित होते हैं ॥ २४ ॥

तत्र पुण्योदका नाम नदी तेषां विधीयते।
अक्षयं सलिलं तत्र शीतलं ह्यमृतोपमम् ॥ २५॥

वहाँ पुण्योदका नामसे प्रसिद्ध नदी है, जो यमलोकनिवासियोंके लिये विहित है। उसमें अमृतके समान मधुर, शीतल एवं अक्षय जल भरा रहता है ॥ २५ ॥

स तत्र तोयं पिबति पानीयं यः प्रयच्छति।
प्रदीपस्य प्रदानेन श्रूयतां गुणविस्तरः ॥ २६॥

जो यहाँ जलदान करता है, वही परलोकमें जानेपर उस नदीका जल पीता है। अब दीपदानसे जो अधिकाधिक लाभ होता है, उसको सुनो ॥ २६ ॥

तमोऽन्धकारं नियतं दीपदो न प्रपश्यति।
प्रभां चास्य प्रयच्छन्ति सोमभास्करपावकाः ॥ २७॥

दीपदान करनेवाला मनुष्य नरकके नियत अन्धकारका दर्शन नहीं करता। उसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि प्रकाश देते रहते हैं ॥ २७ ॥

देवताश्चानुमन्यन्ते विमलाः सर्वतो दिशः।
द्योतते च यथाऽऽदित्यः प्रेतलोकगतो नरः ॥ २८॥

देवता भी दीपदान करनेवालेका आदर करते हैं। उसके लिये सम्पूर्ण दिशाएँ निर्मल होती हैं तथा प्रेतलोकमें जानेपर वह मनुष्य सूर्यके समान प्रकाशित होता है ॥ २८॥

तस्माद् दीपः प्रदातव्यः पानीयं च विशेषतः।
कपिलां ये प्रयच्छन्ति ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ २९॥
पुष्करे च विशेषेण श्रूयतां तस्य यत् फलम्।
गोशतं सवृषं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ॥ ३० ॥

इसलिये विशेष यत्न करके दीप और जलका दान करना चाहिये। विशेषतः पुष्कर तीर्थमें जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको कपिला दान करते हैं, उन्हें उस दानका जो फल मिलता है, उसे सुनो। उसे साँड़ोंसहित सौ गौओंके दानका शाश्वत फल प्राप्त होता है ॥ २९-३० ॥

पापं कर्म च यत् किंचिद् ब्रह्महत्यासमं भवेत्।
शोधयेत् कपिला ह्येका प्रदत्तं गोशतं यथा ॥ ३१ ॥
तस्मात्तु कपिला देया कौमुद्यां ज्येष्ठपुष्करे।

ब्रह्महत्याके समान जो कोई पाप होता है, उसे एकमात्र

कपिलाका दान शुद्ध कर देता है। वह एक ही गोदान सौ गोदानोंके बराबर है। इसलिये ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें कार्तिककी पूर्णिमाको अवश्य कपिला गौका दान करना चाहिये॥ ३१½॥

न तेषां विषमं किंचिन्न दुःखं न च कण्टकाः॥ ३२॥
उपानहौ च यो दद्यात् पात्रभूते द्विजोत्तमे।
छत्रदाने सुखां छायां लभते परलोकगः॥ ३३॥

जो श्रेष्ठ एवं सुपात्र ब्राह्मणको उपानह् (जूता) दान करता है, उसके लिये कहीं कोई विषम स्थान नहीं है। न उसे दुःख उठाना पड़ता है और न काँटोंका ही सामना करना पड़ता है। छत्र-दान करनेसे परलोकमें जानेपर दाताको सुखदायिनी छाया सुलभ होती है॥ ३२-३३॥

न हि दत्तस्य दानस्य नाशोऽस्तीह कदाचन।
चित्रगुप्तमतं श्रुत्वा हृष्टरोमा विभावसुः॥ ३४॥
उवाच देवताः सर्वाः पितॄंश्चैव महाद्युतिः।
श्रुतं हि चित्रगुप्तस्य धर्मगुह्यं महात्मनः॥ ३५॥

इस लोकमें दिये हुए दानका कभी नाश नहीं होता। चित्रगुप्तका यह मत सुनकर भगवान् सूर्यके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन महातेजस्वी सूर्यने सम्पूर्ण देवताओं और पितरोंसे कहा—'आपलोगोंने महामना चित्रगुप्तके धर्म-विषयक गुप्त रहस्यको सुन लिया॥ ३४-३५॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या ब्राह्मणेषु महात्मसु।
दानमेतत् प्रयच्छन्ति न तेषां विद्यते भयम्॥ ३६॥

'जो मनुष्य महामनस्वी ब्राह्मणोंपर श्रद्धा करके यह दान देते हैं, उन्हें भय नहीं होता'॥ ३६॥

धर्मदोषास्त्विमे पञ्च येषां नास्तीह निष्कृतिः।
असम्भाष्या अनाचारा वर्जनीया नराधमाः॥ ३७॥

आगे बताये जानेवाले पाँच धर्मविषयक दोष जिनमें विद्यमान हैं, उनका यहाँ कभी उद्धार नहीं होता। ऐसे अनाचारी नराधमोंसे बात नहीं करनी चाहिये। उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये॥ ३७॥

ब्रह्महा चैव गोघ्नश्च परदाररतश्च यः।
अश्रद्दधानश्च नरः स्त्रियं यश्चोपजीवति॥ ३८॥

ब्रह्महत्यारा, गोहत्या करनेवाला, परस्त्रीलम्पट, अश्रद्धालु तथा जो स्त्रीपर निर्भर रहकर जीविका चलाता है—ये ही पूर्वोक्त पाँच प्रकारके दुराचारी हैं॥ ३८॥

प्रेतलोकगता ह्येते नरके पापकर्मिणः।
पच्यन्ते वै यथा मीनाः पूयशोणितभोजनाः॥ ३९॥

ये पापकर्मी मनुष्य प्रेतलोकमें जाकर नरककी आगमें मछलियोंकी तरह पकाये जाते हैं और पीब तथा रक्त भोजन करते हैं॥ ३९॥

असम्भाष्याः पितॄणां च देवानां चैव पञ्च ते।
स्नातकानां च विप्राणां ये चान्ये च तपोधनाः॥ ४०॥

इन पाँचों पापाचारियोंसे देवताओं, पितरों, स्नातक ब्राह्मणों तथा अन्यान्य तपोधनोंको बातचीत भी नहीं करनी चाहिये॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अरुन्धतीचित्रगुप्तरहस्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अरुन्धती और चित्रगुप्तका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

प्रमथगणोंके द्वारा धर्माधर्मसम्बन्धी रहस्यका कथन

भीष्म उवाच

ततः सर्वे महाभागा देवाश्च पितरश्च ह।
ऋषयश्च महाभागाः प्रमथान् वाक्यमब्रुवन्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी महाभाग देवता, पितर तथा महान् भाग्यशाली महर्षि प्रमथगणोंसे बोले—॥ १॥

भवन्तो वै महाभागा अपरोक्षनिशाचराः।
उच्छिष्टानशुचीन् क्षुद्रान् कथं हिंसथ मानवान्॥ २॥

'महाभागगण! आपलोग प्रत्यक्ष निशाचर हैं। बताइये, अपवित्र, उच्छिष्ट और क्षुद्र मनुष्योंकी किस तरह और क्यों हिंसा करते हैं?॥ २॥

के च स्मृताः प्रतीघाता येन मर्त्यान् न हिंसथ।
रक्षोघ्नानि च कानि स्युर्यैर्गृहेषु प्रणश्यथ।
श्रोतुमिच्छाम युष्माकं सर्वमेतन्निशाचराः॥ ३॥

'वे कौन-से प्रतिघात (शत्रुके आघातको रोक देनेवाले उपाय) हैं, जिनका आश्रय लेनेसे आपलोग उन मनुष्योंकी हिंसा नहीं करते। वे रक्षोघ्न मन्त्र कौन-से हैं, जिनका उच्चारण करनेसे आपलोग घरमें ही नष्ट हो जायँ या भाग जायँ? निशाचरो! ये सारी बातें हम आपके मुखसे सुनना चाहते हैं'॥ ३॥

प्रमथा ऊचुः

मैथुनेन सदोच्छिष्टाः कृते चैवाधरोत्तरे।

मोहान्मांसानि खादेत वृक्षमूले च यः स्वपेत् ॥ ४ ॥
आमिषं शीर्षतो यस्य पादतो यश्च संविशेत् ।
तत उच्छिष्टकाः सर्वे बहुच्छिद्राश्च मानवाः ॥ ५ ॥
उदके चाप्यमेध्यानि श्लेष्माणं च प्रमुञ्चति ।
एते भक्ष्याश्च वध्याश्च मानुषा नात्र संशयः ॥ ६ ॥

प्रमथ बोले—जो मनुष्य सदा स्त्री-सहवासके कारण दूषित रहते, बड़ोंका अपमान करते, मूर्खतावश मांस खाते, वृक्षकी जड़में सोते, सिरपर मांसका बोझा ढोते, बिछौनोंपर पैर रखनेकी जगह सिर रखकर सोते, वे सब-के-सब मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) तथा बहुत-से छिद्रोंवाले माने गये हैं। जो पानीमें मल मूत्र एवं थूक फेंकते हैं, वे भी उच्छिष्टकी ही कोटिमें आते हैं। ये सभी मानव हमारी दृष्टिमें भक्षण और वधके योग्य हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ४–६ ॥

एवंशीलसमाचारान् धर्षयामो हि मानवान् ।
श्रूयतां च प्रतीघातान् यैर्न शक्नुम हिंसितुम् ॥ ७ ॥

जिनके ऐसे शील और आचार हैं, उन मनुष्योंको हम धर दबाते हैं। अब उन प्रतिरोधक उपायोंको सुनिये, जिनके कारण हम मनुष्योंकी हिंसा नहीं कर पाते ॥ ७ ॥

गोरोचनासमालम्भो वचाहस्तश्च यो भवेत् ।
घृताक्षतं च यो दद्यान्मस्तके तत्परायणः ॥ ८ ॥
ये च मांसं न खादन्ति तान् न शक्नुम हिंसितुम् ।

जो अपने शरीरमें गोरोचन लगाता, हाथमें वच नामक औषध लिये रहता, ललाटमें घी और अक्षत धारण करता तथा मांस नहीं खाता—ऐसे मनुष्योंकी हिंसा हम नहीं कर सकते ॥ ८½ ॥

यस्य चाग्निर्गृहे नित्यं दिवारात्रौ च दीप्यते ॥ ९ ॥
तरक्षोश्चर्म दंष्ट्राश्च तथैव गिरिकच्छपः ।
आज्यधूमो बिडालश्चच्छागः कृष्णोऽथ पिङ्गलः ॥ १० ॥
येषामेतानि तिष्ठन्ति गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
तान्यधृष्याण्यगाराणि पिशिताशैः सुदारुणैः ॥ ११ ॥

जिसके घरमें अग्निहोत्रकी अग्नि नित्य-दिन-रात देदीप्यमान रहती है, छोटे जातिके बाघ (जरख)का चर्म, उसीकी दाढ़ें तथा पहाड़ी कछुआ मौजूद रहता है, घीकी आहुतिसे सुगन्धित धूम निकलता रहता है, बिलाव तथा काला या पीला बकरा रहता है, जिन गृहस्थोंके घरोंमें ये सभी वस्तुएँ स्थित होती हैं, उन घरोंपर भयङ्कर मांसभक्षी निशाचर आक्रमण नहीं करते हैं ॥ ९–११ ॥

लोकानस्मद्विधा ये च विचरन्ति यथासुखम् ।
तस्मादेतानि गेहेषु रक्षोघ्नानि विशाम्पते ।
एतद् वः कथितं सर्वं यत्र वः संशयो महान् ॥ १२ ॥

हमारे-जैसे जो भी निशाचर अपनी मौजसे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हैं वे उपर्युक्त घरोंको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते; अतः प्रजानाथ ! अपने घरोंमें इन रक्षोघ्न वस्तुओंको अवश्य रखना चाहिये। यह सब विषय, जिसमें आपलोगोंको महान् संदेह था, मैंने कह सुनाया ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रमथरहस्ये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रमथगणोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्य एवं प्रभाव

भीष्म उवाच

ततः पद्मप्रतीकाशः पद्मोद्भूतः पितामहः ।
उवाच वचनं देवान् वासवं च शचीपतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कमलके समान कान्तिमान् कमलोद्भव ब्रह्माजीने देवताओं तथा शचीपति इन्द्रसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अयं महाबलो नागो रसातलचरो बली ।
तेजस्वी रेणुको नाम महासत्त्वपराक्रमः ॥ २ ॥
अतितेजस्विनः सर्वे महावीर्या महागजाः ।
धारयन्ति महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम् ॥ ३ ॥

'यह रसातलमें विचरनेवाला, महाबली, शक्तिशाली, महान् सत्त्व और पराक्रमसे युक्त तेजस्वी रेणुक नामवाला नाग यहाँ उपस्थित है। सब-के-सब महान् गजराज (दिग्गज) अत्यन्त तेजस्वी और महापराक्रमी होते हैं। वे पर्वत, वन और काननोंसहित समूची पृथ्वीको धारण करते हैं ॥ २-३ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो रेणुकस्तान् महागजान् ।
धर्मगुह्यानि सर्वाणि गत्वा पृच्छतु तत्र वै ॥ ४ ॥

'यदि आपलोग आज्ञा दें तो रेणुक उन महान् गजोंके पास जाकर धर्मके समस्त गोपनीय रहस्योंको पूछे' ॥ ४ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा ते देवा रेणुकं तदा ।
प्रेषयामासुरव्यग्रा यत्र ते धरणीधराः ॥ ५ ॥

पितामह ब्रह्माजीकी बात सुनकर शान्त चित्तवाले देवताओंने उस समय रेणुकको उस स्थानपर भेजा, जहाँ पृथ्वीको धारण करनेवाले वे दिग्गज मौजूद थे ॥ ५ ॥

रेणुक उवाच

अनुज्ञातोऽस्मि देवैश्च पितृभिश्च महाबलाः ।
धर्मगुह्यानि युष्माकं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथयध्वं महाभागा यद् वस्तत्त्वं मनीषितम् ॥ ६ ॥

रेणुकने कहा—महाबली दिग्गजो ! मुझे देवताओं और पितरोंने आज्ञा दी है, इसलिये यहाँ आया हूँ और आपलोगोंके जो धर्मविषयक गूढ़ विचार हैं, उन्हें मैं यथार्थ रूपसे सुनना चाहता हूँ । महाभाग दिग्गजो ! आपकी बुद्धिमें जो धर्मका तत्त्व निहित हो, उसे कहिये ॥ ६ ॥

दिग्गजा ऊचुः

कार्तिके मासि चाश्लेषा बहुलस्याष्टमी शिवा ।
तेन नक्षत्रयोगेन यो ददाति गुडौदनम् ॥ ७ ॥
इमं मन्त्रं जपञ्छ्राद्धे यताहारो ह्यकोपनः ।

दिग्गजोंने कहा—कार्तिक मासके कृष्णपक्षमें आश्लेषा नक्षत्र और मङ्गलमयी अष्टमी तिथिका योग होनेपर जो मनुष्य आहार-संयमपूर्वक क्रोधशून्य हो निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करते हुए श्राद्धके अवसरपर हमारे लिये गुड़मिश्रित भात देता है (वह महान् फलका भागी होता है) ॥ ७½ ॥

बलदेवप्रभृतयो ये नागा बलवत्तराः ॥ ८ ॥
अनन्ता ह्यक्षया नित्यं भोगिनः सुमहाबलाः ।
तेषां कुलोद्भवा ये च महाभूता भुजङ्गमाः ॥ ९ ॥
ते मे बलिं प्रतीच्छन्तु बलतेजोऽभिवृद्धये ।
यदा नारायणः श्रीमानुज्जहार वसुंधराम् ॥ १० ॥
तद् बलं तस्य देवस्य धरामुद्धरतस्तथा ।

'बलदेव (शेष या अनन्त) आदि जो अत्यन्त बलशाली नाग हैं, वे अनन्त, अक्षय, नित्य फनधारी और महाबली हैं । वे तथा उनके कुलमें उत्पन्न हुए जो अन्य विशाल भुजंगम हों, वे भी मेरे तेज और बलकी वृद्धिके लिये मेरी दी हुई इस बलिको ग्रहण करें । जब श्रीमान् भगवान् नारायणने इस पृथ्वीका एकार्णवके जलसे उद्धार किया था, उस समय इस वसुन्धराका उद्धार करते हुए उन भगवान्‌के श्रीविग्रहमें जो बल था, वह मुझे प्राप्त हो' ॥ ८–१०½ ॥

एवमुक्त्वा बलिं तत्र वल्मीके तु निवेदयेत् ॥ ११ ॥
गजेन्द्रकुसुमाकीर्णं नीलवस्त्रानुलेपनम् ।
निर्वपेत् तं तु वल्मीके अस्तं याते दिवाकरे ॥ १२ ॥

इस प्रकार कहकर किसी बाँबीपर बलि निवेदन करे । उसपर नागकेसर बिखेर दे, चन्दन चढ़ा दे और उसे नीले कपड़ेसे ढक दे तथा सूर्यास्त होनेपर उस बलिको बाँबीके पास रख दे ॥ ११-१२ ॥

एवं तुष्टास्ततः सर्वे अधस्ताद्भारपीडिताः ।
श्रमं तं नावबुध्यामो धारयन्तो वसुंधराम् ॥ १३ ॥
एवं मन्यामहे सर्वे भारार्ता निरपेक्षिणः ।

इस प्रकार संतुष्ट होकर पृथ्वीके नीचे भारसे पीड़ित होनेपर भी हम सब लोगोंको वह परिश्रम प्रतीत नहीं होता है और हमलोग सुखपूर्वक वसुधाका भार वहन करते हैं । भारसे पीड़ित होनेपर भी किसीसे कुछ न चाहनेवाले हम सब लोग ऐसा ही मानते हैं ॥ १३½ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यद्युपोषितः ॥ १४ ॥
एवं संवत्सरं कृत्वा दानं बहुफलं लभेत् ।
वल्मीके बलिमादाय तन्नो बहुफलं मतम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र यदि उपवासपूर्वक एक वर्षतक इस प्रकार हमारे लिये बलिदान करे तो उसका महान् फल होता है । बाँबीके निकट बलि अर्पित करनेपर वह हमारे लिये अधिक फल देनेवाला माना गया है ॥ १४-१५ ॥

ये च नागा महावीर्यास्त्रिषु लोकेषु कृत्स्नशः ।
कृतातिथ्या भवेयुस्ते शतं वर्षाणि तत्त्वतः ॥ १६ ॥

तीनों लोकोंमें जो समस्त महापराक्रमी नाग हैं, वे इस बलिदानसे सौ वर्षोंके लिये यथार्थरूपसे सत्कृत हो जाते हैं ॥

दिग्गजानां च तच्छ्रुत्वा देवताः पितरस्तथा ।
ऋषयश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म रेणुकम् ॥ १७ ॥

दिग्गजोंके मुखसे यह बात सुनकर महाभाग देवता, पितर और ऋषि रेणुक नागकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दिग्गजानां रहस्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्य

महेश्वर उवाच

सारमुद्धृत्य युष्माभिः साधुधर्म उदाहृतः ।
धर्मगुह्यमिदं मत्तः शृणुध्वं सर्व एव ह ॥ १ ॥

(ऋषि, मुनि, देवता और पितरोंसे) **महेश्वर**

बोले—तुमलोगोंने धर्मशास्त्रका सार निकालकर उत्तम धर्मका वर्णन किया है। अब सब लोग मुझसे धर्म-सम्बन्धी इस गूढ़ रहस्यका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

येषां धर्माश्रिता बुद्धिः श्रद्दधानाश्च ये नराः।
तेषां स्यादुपदेष्टव्यः सरहस्यो महाफलः ॥ २ ॥

जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है और जो मनुष्य परम श्रद्धालु हैं, उन्हींको इस महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका उपदेश देना चाहिये ॥ २ ॥

निरुद्विग्नस्तु यो दद्यान्मासमेकं गवाह्निकम्।
एकभक्तं तथाश्नीयाच्छ्रूयतां तस्य यत् फलम् ॥ ३ ॥

जो उद्वेगरहित होकर एक मासतक प्रतिदिन गौको भोजन देता है और स्वयं एक ही समय खाता है, उसे जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो ॥ ३ ॥

इमा गावो महाभागाः पवित्रं परमं स्मृताः।
त्रीँल्लोकान् धारयन्ति स्म सदेवासुरमानुषान् ॥ ४ ॥

ये गौएँ परम सौभाग्यशालिनी और अत्यन्त पवित्र मानी गयी हैं। ये देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोकोंको धारण करती हैं ॥ ४ ॥

तासु चैव महापुण्यं शुश्रूषा च महाफलम्।
अहन्यहनि धर्मेण युज्यते वै गवाह्निकः ॥ ५ ॥

इनकी सेवा करनेसे बहुत बड़ा पुण्य और महान् फल प्राप्त होता है। प्रतिदिन गौओंको भोजन देनेवाला मनुष्य नित्य महान् धर्मका उपार्जन करता है ॥ ५ ॥

मया ह्येता ह्यनुज्ञाताः पूर्वमासन् कृते युगे।
ततोऽहमनुनीतो वै ब्रह्मणा पद्मयोनिना ॥ ६ ॥

मैंने पहले सत्ययुगमें गौओंको अपने पास रहनेकी आज्ञा दी थी। पद्मयोनि ब्रह्माजीने इसके लिये मुझसे बहुत अनुनय-विनय की थी ॥ ६ ॥

तस्माद् व्रजस्थानगतस्तिष्ठत्युपरि मे वृषः।
रमेऽहं सह गोभिश्च तस्मात् पूज्याः सदैव ताः ॥ ७ ॥

इसलिये मेरी गौओंके झुंडमें रहनेवाला वृषभ मुझसे ऊपर मेरे रथकी ध्वजामें विद्यमान है। मैं सदा गौओंके साथ रहनेमें ही आनन्दका अनुभव करता हूँ। अतः उन गौओंकी सदा ही पूजा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

महाप्रभावा वरदा वरं दद्युरुपासिताः।
ता गावोऽस्यानुमन्यन्ते सर्वकर्मसु यत् फलम् ॥ ८ ॥
तस्य तत्र चतुर्भागो यो ददाति गवाह्निकम् ॥ ९ ॥

गौओंका प्रभाव बहुत बड़ा है। वे वरदायिनी हैं। इसलिये उपासना करनेपर अभीष्ट वर देती हैं। उसे सम्पूर्ण कर्मोंमें जो फल अभीष्ट होता है, उसके लिये वे गौएँ अनुमोदन करती—उसकी सिद्धिके लिये वरदान देती हैं। जो पूर्वोक्त रूपसे गौको नित्य भोजन देता है, उसे सदा की जानेवाली गोसेवाके फलका एक चौथाई पुण्य प्राप्त होता है ८-९

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवरहस्ये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्कन्ददेवका धर्मसम्बन्धी रहस्य तथा भगवान् विष्णु और भीष्मजीके द्वारा माहात्म्यका वर्णन

स्कन्द उवाच

ममाप्यनुमतो धर्मस्तं शृणुध्वं समाहिताः।
नीलषण्डस्य शृंगाभ्यां गृहीत्वा मृत्तिकां तु यः ॥ १ ॥
अभिषेकं त्र्यहं कुर्यात् तस्य धर्मं निबोधत।

स्कन्दने कहा—देवताओ! अब एकाग्रचित्त होकर मेरी मान्यताके अनुसार भी धर्मका गोपनीय रहस्य सुनो। जो मनुष्य नीले रंगके साँड़की सींगोंमें लगी हुई मिट्टी लेकर उससे तीन दिनोंतक स्नान करता है, उसे प्राप्त होनेवाले पुण्यका वर्णन सुनो ॥ १½ ॥

शोधयेदशुभं सर्वमाधिपत्यं परत्र च ॥ २ ॥
यावच्च जायते मर्त्यस्तावच्छूरो भविष्यति।

वह अपने सारे पापोंको धो डालता है और परलोकमें आधिपत्य प्राप्त करता है। फिर जब वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है, तब शूरवीर होता है ॥ २½ ॥

इदं चाप्यपरं गुह्यं सरहस्यं निबोधत ॥ ३ ॥
प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं पक्वान्नं मधुना सह।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य पौर्णमास्यां बलिं हरेत् ॥ ४ ॥
तस्य धर्मफलं नित्यं श्रद्दधाना निबोधत।
साध्या रुद्रास्तथादित्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ ॥ ५ ॥
मरुतो वसवश्चैव प्रतिगृह्णन्ति तं बलिम्।
सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः ॥ ६ ॥
एष धर्मो मयोद्दिष्टः सरहस्यः सुखावहः ॥ ७ ॥

अब धर्मका यह दूसरा गुप्त रहस्य सुनो। पूर्णमासी तिथिको चन्द्रोदयके समय ताँबेके बर्तनमें मधु मिलाया हुआ पकवान लेकर जो चन्द्रमाके लिये बलि अर्पण करता है, उसे जिस नित्य धर्म-फलकी प्राप्ति होती है, उसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। उस पुरुषकी दी हुई उस बलिको साध्य, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण और वसुदेवता भी ग्रहण करते हैं तथा उससे चन्द्रमा और समुद्रकी वृद्धि होती है। इस प्रकार मैंने रहस्यसहित सुखदायक धर्मका वर्णन किया है॥ ३—७॥

विष्णुरुवाच

धर्मगुह्यानि सर्वाणि देवतानां महात्मनाम्।
ऋषीणां चैव गुह्यानि यः पठेदाह्निकं सदा॥ ८॥
शृणुयाद् वानसूयुर्यः श्रद्दधानः समाहितः।
नास्य विघ्नः प्रभवति भयं चास्य न विद्यते॥ ९॥

भगवान् विष्णु बोले—जो देवताओं तथा महात्मा



ऋषियोंके बताये हुए धर्मसम्बन्धी इन सभी गूढ़ रहस्योंका प्रतिदिन पाठ करेगा अथवा दोषदृष्टिसे रहित हो सदा एकाग्रचित्त रहकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करेगा, उसपर किसी विघ्नका प्रभाव नहीं पड़ेगा तथा उसे कोई भय भी नहीं प्राप्त होगा८-९

ये च धर्माः शुभाः पुण्याः सरहस्या उदाहृताः।
तेषां धर्मफलं तस्य यः पठेत जितेन्द्रियः॥ १०॥

यहाँ जिन-जिन पवित्र एवं कल्याणकारी धर्मोंका रहस्योंसहित वर्णन किया गया है, उन सबका जो इन्द्रियसंयमपूर्वक पाठ करेगा, उसे उन धर्मोंका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा। १०।

नास्य पापं प्रभवति न च पापेन लिप्यते।
पठेद् वा श्रावयेद् वापि श्रुत्वा वा लभते फलम्॥ ११॥
भुञ्जते पितरो देवा हव्यं कव्यमथाक्षयम्।

उसके ऊपर कभी पापका प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होगा। जो इस प्रसङ्गको पढ़ेगा, दूसरोंको सुनायेगा अथवा स्वयं सुनेगा, उसे भी उन धर्मोंके आचरणका फल मिलेगा। उसका दिया हुआ हव्य-कव्य अक्षय होगा तथा उसे देवता और पितर बड़ी प्रसन्नतासे ग्रहण करेंगे॥ ११½॥

श्रावयंश्चापि विप्रेन्द्रान् पर्वसु प्रयतो नरः॥ १२॥
ऋषीणां देवतानां च पितॄणां चैव नित्यदा।
भवत्यभिमतः श्रीमान् धर्मेषु प्रयतः सदा॥ १३॥

जो मनुष्य पर्वके दिन शुद्धचित्त होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धर्मके इन रहस्योंका श्रवण करायेगा, वह सदा देवता, ऋषि और पितरोंके आदरका पात्र एवं श्रीसम्पन्न होगा। उसकी सदा धर्मोंमें प्रवृत्ति बनी रहेगी॥ १२-१३॥

कृत्वापि पापकं कर्म महापातकवर्जितम्।
रहस्यधर्मं श्रुत्वेमं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १४॥

मनुष्य महापातकको छोड़कर अन्य पापोंका आचरण करके भी यदि इस रहस्य-धर्मको सुन लेगा तो उन सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ १४॥

भीष्म उवाच

एतद् धर्मरहस्यं वै देवतानां नराधिप।
व्यासोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सर्वदेवनमस्कृतम्॥ १५॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! देवताओंके बताये हुए इस धर्मरहस्यको व्यासजीने मुझसे कहा था। उसीको मैंने तुम्हें बताया है। यह सब देवताओंद्वारा समादृत है॥१५॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा ज्ञानं चेदमनुत्तमम्।
इदमेव ततः श्राव्यमिति मन्येत धर्मवित्॥ १६॥

एक ओर रत्नोंसे भरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त होती हो और दूसरी ओर यह सर्वोत्तम ज्ञान मिल रहा हो तो उस पृथ्वीको छोड़कर इस सर्वोत्तम ज्ञानको ही श्रवण एवं ग्रहण करना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही माने॥ १६॥

नाश्रद्दधानाय न नास्तिकाय
न नष्टधर्माय न निर्घृणाय।
न हेतुदुष्टाय गुरुद्विषे वा
नानात्मभूताय निवेद्यमेतत्॥ १७॥

न श्रद्धाहीनको, न नास्तिकको, न धर्म नष्ट करनेवाले-को, न निर्दयीको, न युक्तिवादका सहारा लेकर दुष्टता करने-वालेको, न गुरुद्रोहीको और न देहाभिमानी व्यक्तिको ही इस धर्मका उपदेश देना चाहिये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्कन्ददेवरहस्ये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्कन्ददेवका रहस्यविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

जिनका अन्न ग्रहण करने योग्य है और जिनका ग्रहण करने योग्य नहीं है, उन मनुष्योंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के भोज्या ब्राह्मणस्येह के भोज्याः क्षत्रियस्य ह ।
तथा वैश्यस्य के भोज्याः के शूद्रस्य च भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! इस जगत्में ब्राह्मणको किनके यहाँ भोजन करना चाहिये, क्षत्रियको किनके घरका अन्न ग्रहण करना चाहिये तथा वैश्य और शूद्रको किन-किन लोगोंके घर भोजन करना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणा ब्राह्मणस्येह भोज्या ये चैव क्षत्रियाः ।
वैश्याश्चापि तथा भोज्याः शूद्राश्च परिवर्जिताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस लोकमें ब्राह्मणको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर भोजन करना चाहिये । शूद्रके घर भोजन करना उसके लिये निषिद्ध है ॥ २ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या भोज्या वै क्षत्रियस्य ह ।
वर्जनीयास्तु वै शूद्राः सर्वभक्षा विकर्मिणः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार क्षत्रियको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर ही भोजन ग्रहण करना चाहिये । भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके सब कुछ खानेवाले और शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्रोंका अन्न उसके लिये भी त्याज्य है ॥ ३ ॥

वैश्यास्तु भोज्या विप्राणां क्षत्रियाणां तथैव च ।
नित्याग्नयो विविक्ताश्च चातुर्मास्यरताश्च ये ॥ ४ ॥

वैश्योंमें भी जो नित्य अग्निहोत्र करनेवाले, पवित्रतासे रहनेवाले और चातुर्मास्य-व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन्हींका अन्न ब्राह्मण और क्षत्रियोंके लिये ग्राह्य है ॥ ४ ॥

शूद्राणामथ यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
मलं नृणां स पिबति मलं भुङ्क्ते जनस्य च ॥ ५ ॥

जो द्विज शूद्रोंके घरका अन्न खाता है, वह समस्त पृथ्वी और सम्पूर्ण मनुष्योंके मलका ही पान और भक्षण करता है ॥ ५ ॥

शूद्राणां यस्तथा भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
पृथिवीमलमश्नन्ति ये द्विजाः शूद्रभोजिनः ॥ ६ ॥

जो शूद्रोंका अन्न खाता है, वह पृथ्वीका मल खाता है। शूद्रान्न भोजन करनेवाले सभी द्विज पृथ्वीका मल ही खाते हैं ॥ ६ ॥

शूद्रस्य कर्मनिष्ठायां विकर्मस्थोऽपि पच्यते ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो विकर्मस्थश्च पच्यते ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रके कर्मोंमें संलग्न रहनेवाला हो, वह यदि विशिष्ट कर्म—संध्या-वन्दन आदिमें संलग्न रहनेवाला हो, तो भी नरकमें पकाया जाता है । यदि शूद्रके कर्म न करके भी वह शास्त्र-विरुद्ध कर्ममें संलग्न रहता हो तो भी उसे नरककी यातना भोगनी पड़ती है ॥ ७ ॥

स्वाध्यायनिरता विप्रास्तथा स्वस्त्ययने नृणाम् ।
रक्षणे क्षत्रियं प्राहुर्वैश्यं पुष्ट्यर्थमेव च ॥ ८ ॥

ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और मनुष्योंके लिये मङ्गलकारी कार्यमें लगे रहनेवाले होते हैं । क्षत्रियको सबकी रक्षामें तत्पर बताया गया है और वैश्यको प्रजाकी पुष्टिके लिये कृषि, गोरक्षा आदि कार्य करने चाहिये ॥ ८ ॥

करोति कर्म यद् वैश्यस्तद् गत्वा ह्युपजीवति ।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमकुत्सा वैश्यकर्मणि ॥ ९ ॥

वैश्य जो कर्म करता है, उसका आश्रय लेकर सब लोग जीविका चलाते हैं । कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—ये वैश्यके अपने कर्म हैं । इससे उसको घृणा नहीं होनी चाहिये ॥ ९ ॥

शूद्रकर्म तु यः कुर्यादवहाय स्वकर्म च ।
स विज्ञेयो यथा शूद्रो न च भोज्यः कदाचन ॥ १० ॥

जो वैश्य अपना कर्म छोड़कर शूद्रका कर्म करता है, उसे शूद्रके समान ही जानना चाहिये और उसके यहाँ कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

चिकित्सकः काण्डपृष्ठः पुराध्यक्षः पुरोहितः ।
सांवत्सरो वृथाध्यायी सर्वे ते शूद्रसम्मिताः ॥ ११ ॥

जो चिकित्सा करनेवाला, शस्त्र बेचकर जीविका चलाने-वाला, ग्रामाध्यक्ष, पुरोहित, वर्षफल बतानेवाला ज्योतिषी और वेद-शास्त्रसे भिन्न व्यर्थकी पुस्तकें पढ़नेवाला है, वे सबके सब ब्राह्मण शूद्रके समान हैं ॥ ११ ॥

शूद्रकर्मस्वथैतेषु यो भुङ्क्ते निरपत्रपः ।
अभोज्यभोजनं भुक्त्वा भयं प्राप्नोति दारुणम् ॥ १२ ॥

जो निर्लज्ज मनुष्य शूद्रोचित कर्म करनेवाले इन द्विजोंके घर भोजन करता है, वह अभक्ष्य-भक्षणका पाप करके दारुण भयको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

कुलं वीर्यं च तेजश्च तिर्यग्योनित्वमेव च ।
स प्रयाति यथा श्वा वै निष्क्रियो धर्मवर्जितः ॥ १३ ॥

उसके कुल, वीर्य और तेज नष्ट हो जाते हैं तथा वह धर्म-कर्मसे हीन होकर कुत्तेकी भाँति तिर्यक योनिमें पड़ जाता है ॥ १३ ॥

भुङ्क्ते चिकित्सकस्यान्नं तदन्नं च पुरीषवत् ।
पुंश्चल्यन्नं च मूत्रं स्यात् कारुकान्नं च शोणितम् ॥ १४ ॥

जो चिकित्सा करनेवाले वैद्यका अन्न खाता है, उसका वह अन्न विष्ठाके समान है । व्यभिचारिणी स्त्री या वेश्याका अन्न मूत्रके समान है । कारीगरका अन्न रक्तके तुल्य है ॥

विद्योपजीविनोऽन्नं च यो भुङ्क्ते साधुसम्मतः ।
तदप्यन्नं यथा शौद्रं तत् साधुः परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित पुरुष विद्या बेचकर जीविका चलानेवाले ब्राह्मणका अन्न खाता है, उसका वह अन्न भी शूद्रान्नके ही समान है । अतः साधु पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये ॥ १५ ॥

वचनीयस्य यो भुङ्क्ते तमाहुः शोणितं ह्रदम् ।
पिशुनं भोजनं भुङ्क्ते ब्रह्महत्यासमं विदुः ॥ १६ ॥
असत्कृतमवज्ञातं न भोक्तव्यं कदाचन ॥ १७ ॥

जो कलङ्कित मनुष्यका अन्न ग्रहण करता है, उसे रक्तका कुण्ड कहते हैं । जो चुगलखोरके यहाँ भोजन करता है, उसका वह भोजन करना ब्रह्महत्याके समान माना गया है । असत्कार और अवहेलनापूर्वक मिले हुए भोजनको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

व्याधिं कुलक्षयं चैव क्षिप्रं प्राप्नोति ब्राह्मणः ।
नगरीरक्षिणो भुङ्क्ते श्वपचप्रवणो भवेत् ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण ऐसे अन्नको भोजन करता है, वह रोगी होता है और शीघ्र ही उसके कुलका संहार हो जाता है । जो नगररक्षकका अन्न खाता है, वह चाण्डालके समान होता है ॥ १८ ॥

गोघ्ने च ब्राह्मणघ्ने च सुरापे गुरुतल्पगे ।
भुक्त्वान्नं जायते विप्रो रक्षसां कुलवर्धनः ॥ १९ ॥

गोवध, ब्राह्मणवध, सुरापान और गुरुपत्नीगमन करनेवाले मनुष्यके यहाँ भोजन कर लेनेपर ब्राह्मण राक्षसोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होता है ॥ १९ ॥

न्यासापहारिणो भुक्त्वा कृतघ्ने क्लीबवर्तिनि ।
जायते शबरावासे मध्यदेशबहिष्कृते ॥ २० ॥

धरोहर हड़पनेवाले, कृतघ्न तथा नपुंसकका अन्न खा लेनेसे मनुष्य मध्यदेशबहिष्कृत भीलोंके घरमें जन्म लेता है ॥ २० ॥

अभोज्याश्चैव भोज्याश्च मया प्रोक्ता यथाविधि ।
किमन्यदद्य कौन्तेय मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ २१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जिनके यहाँ खाना चाहिये और जिनके यहाँ नहीं खाना चाहिये, ऐसे लोगोंका मैंने विधिवत् परिचय दे दिया । अब मुझसे और क्या सुनना चाहते हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भोज्याभोज्यान्नकथनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भोज्याभोज्यान्नकथन नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दान लेने और अनुचित भोजन करनेका प्रायश्चित्त

युधिष्ठिर उवाच

उक्तास्तु भवता भोज्यास्तथाभोज्याश्च सर्वशः ।
अत्र मे प्रश्नसंदेहस्तन्मे वद पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपने भोज्यान्न और अभोज्यान्न सभी तरहके मनुष्योंका वर्णन किया; किंतु इस विषयमें मुझे पूछनेयोग्य एक संदेह उत्पन्न हो गया । उसका मेरे लिये समाधान कीजिये ॥ १ ॥

ब्राह्मणानां विशेषेण हव्यकव्यप्रतिग्रहे ।
नानाविधेषु भोज्येषु प्रायश्चित्तानि शंस मे ॥ २ ॥

प्रायः ब्राह्मणोंको ही हव्य और कव्यका प्रतिग्रह लेना पड़ता है और उन्हें ही नाना प्रकारके अन्न ग्रहण करनेका अवसर आता है । ऐसी दशामें उन्हें पाप लगते हैं, उनका क्या प्रायश्चित्त है ? यह मुझे बतावें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते राजन् ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
प्रतिग्रहेषु भोज्ये च मुच्यते येन पाप्मनः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महात्मा ब्राह्मणोंको प्रति-

ग्रह लेने और भोजन करनेके पापसे जिस प्रकार छुटकारा मिलता है, वह प्रायश्चित्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

घृतप्रतिग्रहे चैव सावित्री समिदाहुतिः।
तिलप्रतिग्रहे चैव सममेतद् युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! ब्राह्मण यदि घीका दान ले तो गायत्री मन्त्र पढ़कर अग्निमें समिधाकी आहुति दे ! तिलका दान लेनेपर भी यही प्रायश्चित्त करना चाहिये। ये दोनों कार्य समान हैं ॥

मांसप्रतिग्रहे चैव मधुनो लवणस्य च।
आदित्योदयनं स्थित्वा पूतो भवति ब्राह्मणः ॥ ५ ॥

फलका गुदा, मधु और नमकका दान लेनेपर उस समयसे लेकर सूर्योदयतक खड़े रहनेसे ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है ॥ ५ ॥

काञ्चनं प्रतिगृह्याथ जपमानो गुरुश्रुतिम्।
कृष्णायसं च विवृतं धारयन् मुच्यते द्विजः ॥ ६ ॥

सुवर्णका दान लेकर गायत्री-मन्त्रका जप करने और खुले तौरपर काले लोहेका दंड धारण करनेसे ब्राह्मण उसके दोषसे छुटकारा पाता है ॥ ६ ॥

एवं प्रतिगृहीतेऽथ धने वस्त्रे तथा स्त्रियाम्।
एवमेव नरश्रेष्ठ सुवर्णस्य प्रतिग्रहे ॥ ७ ॥
अन्नप्रतिग्रहे चैव पायसेक्षुरसे तथा।

नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार धन, वस्त्र, कन्या, अन्न, खीर और ईखके रसका दान ग्रहण करनेपर भी सुवर्ण-दानके समान ही प्रायश्चित्त करे ॥ ७½ ॥

इक्षुतैलपवित्राणां त्रिसंध्येऽप्सु निमज्जनम्॥ ८ ॥
व्रीहौ पुष्पे फले चैव जले पिष्टमये तथा।
यावके दधिदुग्धे च सावित्रीं शतशोऽन्विताम्॥ ९ ॥

गन्ना, तेल और कुशोंका प्रतिग्रह स्वीकार करनेपर त्रिकाल स्नान करना चाहिये। धान, फूल, फल, जल, पूआ, जौकी लपसी और दही-दूधका दान लेनेपर सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

उपानहौ च च्छत्रं च प्रतिगृह्यौर्ध्वदेहिके।
जपेच्छतं समायुक्तस्तेन मुच्येत पाप्मना ॥ १० ॥

श्राद्धमें जूता और छाता ग्रहण करनेपर एकाग्रचित्त हो यदि सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करे तो उस प्रतिग्रहके दोषसे छुटकारा मिल जाता है ॥ १० ॥

क्षेत्रप्रतिग्रहे चैव ग्रहसूतकयोस्तथा।
त्रीणि रात्राण्युपोषित्वा तेन पापाद् विमुच्यते ॥ ११ ॥

ग्रहणके समय अथवा अशौचमें किसीके दिये हुए खेतका दान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे उसके दोषसे छुटकारा मिलता है॥ ११ ॥

कृष्णपक्षे तु यः श्राद्धं पितृणामश्नुते द्विजः।
अन्नमेतदहोरात्रात् पूतो भवति ब्राह्मणः ॥ १२ ॥

जो द्विज कृष्णपक्षमें किये हुए पितृश्राद्धका अन्न भोजन करता है, वह एक दिन और एक रात बीत जानेपर शुद्ध होता है ॥ १२ ॥

न च संध्यामुपासीत न च जाप्यं प्रवर्तयेत्।
न संकिरेत् तदन्नं च ततः पूयेत ब्राह्मणः ॥ १३ ॥

ब्राह्मण जिस दिन श्राद्धका अन्न भोजन करे, उस दिन संध्या, गायत्री-जप और दुबारा भोजन त्याग दे। इससे उसकी शुद्धि होती है ॥ १३ ॥

इत्यर्थमपराह्णे तु पितृणां श्राद्धमुच्यते।
यथोक्तानां यदश्नीयुर्ब्राह्मणाः पूर्वकीर्तिताः ॥ १४ ॥

इसीलिये अपराह्णकालमें पितरोंके श्राद्धका विधान किया गया है । (जिससे सबेरेकी संध्योपासना हो जाय और शामको पुनर्भोजनकी आवश्यकता ही न पड़े) ब्राह्मणोंको एक दिन पहले श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहिये। जिससे वे पूर्वोक्त प्रकारसे विशुद्ध पुरुषोंके यहाँ यथावत् रूपसे भोजन कर सकें ॥ १४ ॥

मृतकस्य तृतीयाहे ब्राह्मणो योऽन्नमश्नुते।
स त्रिवेलं समुन्मज्ज्य द्वादशाहेन शुध्यति ॥ १५ ॥

जिसके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, उसके यहाँ मरणाशौचके तीसरे दिन अन्न ग्रहण करनेवाला ब्राह्मण बारह दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है ॥ १५ ॥

द्वादशाहे व्यतीते तु कृतशौचो विशेषतः।
ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्त्वा मुच्यते तेन पाप्मना ॥ १६ ॥

बारह दिनोंतक स्नानका नियम पूर्ण हो जानेपर तेरहवें दिन वह विशेषरूपसे स्नान आदिके द्वारा पवित्र हो ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे। तब उस पापसे मुक्त हो सकता है ॥ १६ ॥

मृतस्य दशरात्रेण प्रायश्चित्तानि दापयेत्।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम् ॥ १७ ॥

जो मनुष्य किसीके यहाँ मरणाशौचमें दस दिन तक अन्न खाता है, उसे गायत्री-मन्त्र, रैवत साम, पवित्रेष्टि कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षणका जप करके उस दोषका प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ १७ ॥

---

१. कुछ लोग 'ग्रहसूतकयोः'का अर्थ करते हैं कारागारस्याशौचवतो' इसके अनुसार जो जेलमें रह आया हो तथा जो जनन-मरणसम्बन्धी अशौचसे युक्त हो ऐसे लोगोंका दिया हुआ क्षेत्रदान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे प्रतिग्रह-दोषसे छुटकारा मिलता है।

सूतकस्य त्रिरात्रे यः समुद्दिष्टे समश्नुते ।
सप्त त्रिषवणं स्नात्वा पूतो भवति ब्राह्मणः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो मरणाशौचवाले घरमें लगातार तीन रात भोजन करता है, वह ब्राह्मण सात दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है ॥ १८ ॥

सिद्धिमाप्नोति विपुलामापदं चैव नाप्नुयात् ॥ १९ ॥

यह प्रायश्चित्त करनेके बाद उसे सिद्धि प्राप्त होती है और वह भारी आपत्तिमें कभी नहीं पड़ता है ॥ १९ ॥

यस्तु शूद्रैः समश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने ।
अशौचं विधिवत् तस्य शौचमत्र विधीयते ॥ २० ॥

जो ब्राह्मण शूद्रोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन कर लेता है, वह अशुद्ध हो जाता है । अतः उसकी शुद्धिके लिये शास्त्रीय विधिके अनुसार यहाँ शौचका विधान है ॥ २० ॥

यस्तु वैश्यैः सहाश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने ।
स वै त्रिरात्रं दीक्षित्वा मुच्यते तेन कर्मणा ॥ २१ ॥

जो ब्राह्मण वैश्योंके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन करता है, वह तीन राततक व्रत करनेपर उस कर्मदोषसे मुक्त होता है ॥ २१ ॥

क्षत्रियैः सह योऽश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने ।
आप्लुतः सह वासोभिस्तेन मुच्येत पाप्मना ॥ २२ ॥

जो ब्राह्मण क्षत्रियोंके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन करता है, वह वस्त्रोंसहित स्नान करनेसे पापमुक्त होता है ॥ २२ ॥

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान् ।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणका तेज उसके साथ भोजन करनेवाले शूद्रके कुलका, वैश्यके पशु और बान्धवोंका तथा क्षत्रियकी सम्पत्तिका नाश कर डालता है ॥ २३ ॥

प्रायश्चित्तं च शान्तिं च जुहुयात् तेन मुच्यते ।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम् ॥ २४ ॥

इसके लिये प्रायश्चित्त और शान्तिहोम करना चाहिये । गायत्री-मन्त्र, रैवत साम, पवित्रेष्टि, कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षण मन्त्रका जप भी आवश्यक है ॥ २४ ॥

तथोच्छिष्टमथान्योन्यं सम्प्राशेन्नात्र संशयः ।
रोचना विरजा रात्रिर्मङ्गलालम्भनानि च ॥ २५ ॥

किसीका जूठा अथवा उसके साथ एक पङ्क्तिमें भोजन नहीं करना चाहिये । उपर्युक्त प्रायश्चित्तके विषयमें संशय नहीं करना चाहिये । प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर गोरोचन, दूर्वा और हल्दी आदि माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रायश्चित्तविधिर्नाम षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रायश्चित्तविधि नामक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दानसे स्वर्गलोकमें जानेवाले राजाओंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानेन वर्ततेत्याह तपसा चैव भारत ।
तदेतन्मे मनोदुःखं व्यपोह त्वं पितामह ।
किंस्वित् पृथिव्यां ह्येतन्मे भवाञ्छंसितुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! पितामह ! आप कहते हैं कि दान और तप दोनोंसे ही मनुष्य स्वर्गमें जाता है, परंतु मेरे मनमें संशयजनित दुःख हो रहा है । आप इसका निवारण कीजिये । इस पृथ्वीपर दान और तपमेंसे कौन-सा साधन श्रेष्ठ है, यह बतानेकी कृपा करें ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु यैर्धर्मनिरतैस्तपसा भावितात्मभिः ।
लोका ह्यसंशयं प्राप्ता दानपुण्यरतैर्नृपैः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले जिन धर्मात्मा राजाओंने दान-पुण्यमें तत्पर रहकर निःसंदेह बहुत-से उत्तम लोक प्राप्त किये हैं, उनके नाम बता रहा हूँ, सुनो ॥ २ ॥

सत्कृतश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम् ।
उपदिश्य तदा राजन् गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३ ॥

राजन् ! लोकसम्मानित महर्षि आत्रेय अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंमें गये हैं ॥ ३ ॥

शिबिरौशीनरः प्राणान् प्रियस्य तनयस्य च ।
ब्राह्मणार्थमुपाकृत्य नाकपृष्ठमितो गतः ॥ ४ ॥

उशीनरकुमार शिबि अपने प्यारे पुत्रके प्राणोंको ब्राह्मणके लिये निछावर करके यहाँसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ४ ॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय तनयं स्वकम् ।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ ५ ॥

काशीके राजा प्रतर्दनने अपने प्यारे पुत्रको ब्राह्मणकी सेवामें अर्पित कर दिया, जिसके कारण उन्हें इस लोकमें

अनुपम कीर्ति मिली और परलोकमें भी वे अक्षय आनन्दका उपभोग कर रहे हैं ॥ ५ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अर्घ्यं प्रदाय विधिवल्लेभे लोकाननुत्तमान् ॥ ६ ॥

सङ्कृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठ मुनिको विधिवत् अर्घ्यदान किया, जिससे उन्हें श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥ ६ ॥

दिव्यं शतशलाकं च यज्ञार्थं काञ्चनं शुभम्।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा ब्राह्मणायास्थितो दिवम् ॥ ७ ॥

देवावृध नामक राजा यज्ञमें सोनेकी सौ तीलियोंवाले सुन्दर दिव्य छत्रका ब्राह्मणको दान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

भगवानम्बरीषश्च ब्राह्मणायामितौजसे।
प्रदाय सकलं राष्ट्रं सुरलोकमवाप्तवान् ॥ ८ ॥

ऐश्वर्यशाली राजा अम्बरीष अमित तेजस्वी ब्राह्मणको अपना सारा राज्य सौंपकर देवलोकको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

सावित्रः कुण्डलं दिव्यं यानं च जनमेजयः।
ब्राह्मणाय च गा दत्त्वा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ९ ॥

सूर्यपुत्र कर्ण अपना दिव्य कुण्डल देकर तथा महाराज जनमेजय ब्राह्मणको सवारी और गौ दान करके उत्तम लोकोंमें गये हैं ॥ ९ ॥

वृषादर्भिश्च राजर्षी रत्नानि विविधानि च।
रम्यांश्चावसथान् दत्त्वा द्विजेभ्यो दिवमागतः ॥ १० ॥

राजर्षि वृषादर्भिने ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न तथा रमणीय गृह प्रदान करके स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त किया है ॥

निमी राष्ट्रं च वैदर्भिः कन्यां दत्त्वा महात्मने।
अगस्त्याय गतः स्वर्गं सपुत्रपशुबान्धवः ॥ ११ ॥

विदर्भके पुत्र राजा निमि अगस्त्य मुनिको अपनी कन्या और राज्यका दान करके पुत्र, पशु और बान्धवोंसहित स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ११ ॥

जामदग्न्यश्च विप्राय भूमिं दत्त्वा महायशाः।
रामोऽक्षयांस्तथा लोकान् जगाम मनसोऽधिकान् ॥ १२ ॥

महायशस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामजीने ब्राह्मणको भूमिदान करके उन अक्षय लोकोंको प्राप्त किया है, जिन्हें पानेकी मनमें कल्पना भी नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि देवराट्।
वसिष्ठो जीवयामास येन यातोऽक्षयां गतिम् ॥ १३ ॥

एक बार संसारमें वर्षा न होनेपर मुनिवर वसिष्ठजीने समस्त प्राणियोंको जीवन दान दिया था, जिससे उन्हें अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥ १३ ॥

रामो दाशरथिश्चैव हुत्वा यज्ञेषु वै वसु।
स गतो ह्यक्षयाँल्लोकान् यस्य लोके महद् यशः ॥ १४ ॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यज्ञोंमें प्रचुर धनकी आहुति देकर संसारमें अपने महान् यशकी स्थापना करके अक्षय लोकोंमें चले गये ॥ १४ ॥

कक्षसेनश्च राजर्षिर्वसिष्ठाय महात्मने।
न्यासं यथावत् संन्यस्य जगाम सुमहायशाः ॥ १५ ॥

महायशस्वी राजर्षि कक्षसेन महात्मा वसिष्ठको अपना सर्वस्व समर्पण करके स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ १५ ॥

करन्धमस्य पौत्रस्तु मरुत्तोऽविक्षितः सुतः।
कन्यामाङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम सः ॥ १६ ॥

करन्धमके पौत्र, अविक्षित्‌के पुत्र महाराज मरुत्तने अङ्गिराके पुत्र संवर्तको कन्यादान करके शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया ॥ १६ ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वरः।
निधिं शङ्खमनुज्ञाप्य जगाम परमां गतिम् ॥ १७ ॥

पाञ्चालदेशके राजा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको शङ्खनामक निधि प्रदान करके परम गति प्राप्त कर ली थी ॥ १७ ॥

राजा मित्रसहश्चैव वसिष्ठाय महात्मने।
मदयन्तीं प्रियां भार्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः ॥ १८ ॥

राजा मित्रसह महात्मा वसिष्ठ मुनिको अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती सेवाके लिये देकर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १८ ॥

मनोः पुत्रश्च सुद्युम्नो लिखिताय महात्मने।
दण्डमुद्धृत्य धर्मेण गतो लोकाननुत्तमान् ॥ १९ ॥

मनुपुत्र राजा सुद्युम्न महात्मा लिखितको धर्मतः दण्ड देकर परम उत्तम लोकोंमें गये ॥ १९ ॥

सहस्रचित्यो राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २० ॥

महान् यशस्वी राजर्षि सहस्रचित्य ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंकी बलि देकर श्रेष्ठ लोकोंमें गये हैं ॥ २० ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम्।
मौद्गल्याय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ २१ ॥

महाराजा शतद्युम्नने मौद्गल्य नामक ब्राह्मणको समस्त कामनाओंसे परिपूर्ण सुवर्णमय गृह दान देकर स्वर्ग प्राप्त किया है ॥ २१ ॥

भक्ष्यभोज्यस्य च कृतान् राशयः पर्वतोपमान्।
शाण्डिल्याय पुरा दत्त्वा सुमन्युर्दिवमास्थितः ॥ २२ ॥

राजा सुमन्युने भक्ष्य, भोज्य पदार्थोंके पर्वत-जैसे कितने

ही ढेर लगाकर उन्हें शाण्डिल्यको दान दिया था। जिससे उन्होंने स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया ॥ २२ ॥

नाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजो महाद्युतिः।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २३ ॥

महातेजस्वी शाल्वराज द्युतिमान् महर्षि ऋचीकको राज्य देकर सर्वोत्तम लोकोंमें चले गये ॥ २३ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम्।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरधिष्ठितान् ॥ २४ ॥

राजर्षि मदिराश्व अपनी सुन्दरी कन्या विप्रवर हिरण्यहस्तको देकर देवताओंके लोकमें चले गये ॥ २४ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वैः कामैरयुज्यत ॥ २५ ॥

प्रभावशाली राजर्षि लोमपादने मुनिवर ऋष्यशृंगको अपनी शान्ता नामवाली कन्या दान की थी, इससे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्णरूपसे सफल हुईं ॥ २५ ॥

कौत्साय दत्त्वा कन्यां तु हंसीं नाम यशस्विनीम्।
गतोऽक्षयानतो लोकान् राजर्षिश्च भगीरथः ॥ २६ ॥

राजर्षि भगीरथ अपनी यशस्विनी कन्या हंसीका कौत्स ऋषिको दान करके अक्षय लोकोंमें गये हैं ॥ २६ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा भगीरथः।
सवत्सानां कोहलाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २७ ॥

राजा भगीरथने कोहल नामक ब्राह्मणको एक लाख सवत्सा गौएँ दान कीं, जिससे उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसा च ह।
युधिष्ठिर गताः स्वर्गं विवर्तन्ते पुनः पुनः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर! ये तथा और भी बहुत-से राजा दान और तपस्याके प्रभावसे बारंबार स्वर्गलोकको जाते और पुनः वहाँसे इस लोकमें लौट आते हैं ॥ २८ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी।
गृहस्थैर्दानतपसा यैर्लोका वै विनिर्जिताः ॥ २९ ॥

जिन गृहस्थोंने दान और तपस्याके बलसे उत्तम लोकोंपर विजय पायी है, उनकी कीर्ति इस लोकमें तबतक प्रतिष्ठित रहेगी, जबतक कि यह पृथ्वी स्थिर रहेगी ॥ २९ ॥

शिष्टानां चरितं ह्येतत् कीर्तितं मे युधिष्ठिर।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमास्थिताः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर! यह शिष्ट पुरुषोंका चरित्र बताया गया है। ये सब नरेश दान, यज्ञ और संतानोत्पादन करके स्वर्गमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ ३० ॥

दत्त्वा तु सततं तेऽस्तु कौरवाणां धुरन्धर।
दानयज्ञक्रियायुक्ता बुद्धिर्धर्मोपचायिनी ॥ ३१ ॥

कौरवधुरंधर! तुम भी सदा दान करते रहो। तुम्हारी बुद्धि दान और यज्ञकी क्रियामें संलग्न हो धर्मकी उन्नति करती रहे ॥ ३१ ॥

यत्र ते नृपशार्दूल संदेहो वै भविष्यति।
श्वः प्रभाते हि वक्ष्यामि संध्या हि समुपस्थिता ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ! अब तुम्हें जिस विषयमें संदेह होगा, उसे मैं कल सबेरे बताऊँगा; क्योंकि इस समय संध्याकाल उपस्थित है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाँच प्रकारके दानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं मे भवतस्तात सत्यव्रतपराक्रम।
दानधर्मेण महता ये प्राप्तास्त्रिदिवं नृपाः ॥ १ ॥

(दूसरे दिन प्रातःकाल) युधिष्ठिरने पूछा— सत्यव्रती और पराक्रमसम्पन्न तात! दानजनित महान् धर्मके प्रभावसे जो-जो नरेश स्वर्गलोकमें गये हैं, उन सबका परिचय मैंने आपके मुखसे सुना है ॥ १ ॥

इमांस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मान् धर्मभृतां वर।
दानं कतिविधं देयं किं तस्य च फलं लभेत् ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! अब मैं दानके सम्बन्धमें इन धर्मोंको सुनना चाहता हूँ कि दानके कितने भेद हैं! और जो दान दिया जाता है, उसका क्या फल मिलता है ? ॥

कथं केभ्यश्च धर्म्यं च दानं दातव्यमिष्यते।
कैः कारणैः कतिविधं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

कैसे और किन लोगोंको धर्मके अनुसार दान देना अभीष्ट है ? किन कारणोंसे देना चाहिये ? और दानके कितने भेद हो जाते हैं ? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥

भीष्म उवाच

शृणु तत्त्वेन कौन्तेय दानं प्रति ममानघ।

यथा दानं प्रदातव्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप कुन्तीकुमार ! भरतनन्दन ! दानके सम्बन्धमें मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, सुनो। सभी वर्णोंके लोगोंको दान किस प्रकार करना चाहिये—यह बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

धर्मादर्थाद् भयात् कामात् कारुण्यादिति भारत।
दानं पञ्चविधं ज्ञेयं कारणैर्यैर्निबोध तत् ॥ ५ ॥

भारत ! धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया—इन पाँच हेतुओंसे दानको पाँच प्रकारका जानना चाहिये। अब जिन कारणोंसे दान देना उचित है, उनको सुनो ॥ ५ ॥

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।
इति दानं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्योऽनसूयता ॥ ६ ॥

दान करनेवाला मनुष्य इहलोकमें कीर्ति और परलोकमें सर्वोत्तम सुख पाता है। इसलिये ईर्ष्यारहित होकर मनुष्य ब्राह्मणोंको अवश्य दान दे (यह धर्ममूलक दान है) ॥ ६ ॥

ददाति वा दास्यति वा मह्यं दत्तमनेन वा।
इत्यर्थिभ्यो निशम्यैव सर्वं दातव्यमर्थिने ॥ ७ ॥

'ये दान देते हैं, ये दान देंगे अथवा इन्होंने मुझे दान दिया है' याचकोंके मुखसे ये बातें सुनकर अपनी कीर्तिकी इच्छासे प्रत्येक याचकको उसकी इच्छाके अनुसार सब कुछ देना चाहिये (यह अर्थमूलक दान है) ॥ ७ ॥

नास्याहं न मदीयोऽयं पापं कुर्याद् विमानितः।
इति दद्याद् भयादेव दृढं मूढाय पण्डितः ॥ ८ ॥

'न मैं इसका हूँ न यह मेरा है तो भी यदि इसको कुछ न दूँ तो अपमानित होकर मेरा अनिष्ट कर डालेगा।' इस भयसे ही विद्वान् पुरुष जब किसी मूर्खको दान दे तो यह भयमूलक दान है ॥ ८ ॥

प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहमिति सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान्।
वयस्यायैवमक्लिष्टं दानं दद्यादतन्द्रितः ॥ ९ ॥

'यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ' यह विचार कर बुद्धिमान् मनुष्य आलस्य छोड़कर अपने मित्रको प्रसन्नतापूर्वक दान दे (यह कामनामूलक दान है) ॥ ९ ॥

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ॥ १० ॥

'यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझसे याचना कर रहा है। थोड़ा देनेसे भी संतुष्ट हो जायगा।' यह सोचकर दरिद्र मनुष्यके लिये सर्वथा दयावश दान देना चाहिये ॥

इति पञ्चविधं दानं पुण्यकीर्तिविवर्धनम्।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः ॥ ११ ॥

यह पाँच प्रकारका दान पुण्य और कीर्तिको बढ़ानेवाला है। यथाशक्ति सबको दान देना चाहिये। ऐसा प्रजापतिका कथन है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी श्रीकृष्णके पास ऋषियोंका आना, उनका प्रभाव देखना और उनसे वार्तालाप करना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
आगमैर्बहुभिः स्फीतो भवान् नः प्रवरे कुले ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह ! आप हमारे श्रेष्ठ कुलमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् और अनेक आगमोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

त्वत्तो धर्मार्थसंयुक्तमायत्यां च सुखोदयम्।
आश्चर्यभूतं लोकस्य श्रोतुमिच्छाम्यरिंदम ॥ २ ॥

शत्रुदमन ! मैं आपके मुखसे अब ऐसे विषयका वर्णन सुनना चाहता हूँ, जो धर्म और अर्थसे युक्त, भविष्यमें सुख देनेवाला और संसारके लिये अद्भुत हो ॥ २ ॥

अयं च कालः सम्प्राप्तो दुर्लभो ज्ञातिबान्धवैः।
शास्ता च न हि नः कश्चित् त्वामृते पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

पुरुषप्रवर ! हमारे बन्धु-बान्धवोंको यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। हमारे लिये आपके सिवा दूसरा कोई समस्त धर्मोंका उपदेश करनेवाला नहीं है ॥ ३ ॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
वक्तुमर्हसि नः प्रश्नं यत् त्वां पृच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

अनघ ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह हो तो पृथ्वीनाथ ! मैं आपसे जो प्रश्न पूछता हूँ, उसका हम सब लोगोंके लिये उत्तर दीजिये ॥ ४ ॥

अयं नारायणः श्रीमान् सर्वपार्थिवसम्मतः।
भवन्तं बहुमानेन प्रश्रयेण च सेवते ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण नरेशोंद्वारा सम्मानित ये श्रीमान् भगवान् नारायण श्रीकृष्ण बड़े आदर और विनयके साथ आपकी सेवा करते हैं ॥

अस्य चैव समक्षं त्वं पार्थिवानां च सर्वशः।



भगवान् श्रीकृष्णकी तपस्या

भ्रातॄणां च प्रियार्थं मे स्नेहाद् भाषितुमर्हसि॥ ६ ॥

इनके तथा इन भूपतियोंके सामने मेरा और मेरे भाइयोंका सब प्रकारसे प्रिय करनेके लिये इस पूछे हुए विषयका सस्नेह वर्णन कीजिये ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भीष्मो भागीरथीपुत्र इदं वचनमब्रवीत्॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर स्नेहके आवेशसे युक्त हो गङ्गापुत्र भीष्मने यह बात कही ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अहं ते कथयिष्यामि कथामतिमनोहराम्।
अस्य विष्णोः पुरा राजन् प्रभावो यो मया श्रुतः॥ ८ ॥
यश्च गोवृषभाङ्कस्य प्रभावस्तं च मे शृणु।
रुद्राण्याः संशयो यश्च दम्पत्योस्तं च मे शृणु॥ ९ ॥

भीष्मजी बोले—बेटा! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त मनोहर कथा सुना रहा हूँ। राजन्! पूर्वकालमें इन भगवान् नारायण और महादेवजीका जो प्रभाव मैंने सुन रक्खा है, उसको तथा पार्वतीजीके संदेह करनेपर शिव और पार्वतीमें जो संवाद हुआ था, उसको भी बता रहा हूँ; सुनो ॥८-९॥

व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्।
दीक्षितं चागतौ द्रष्टुमुभौ नारदपर्वतौ॥ १०॥

पहलेकी बात है, धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले व्रतकी दीक्षा लेकर (एक पर्वतके ऊपर) कठोर तपस्या कर रहे थे। उस समय उनका दर्शन करनेके लिये नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि वहाँ पधारे ॥ १०॥

कृष्णद्वैपायनश्चैव धौम्यश्च जपतां वरः।
देवलः काश्यपश्चैव हस्तिकाश्यप एव च॥ ११॥
अपरे चर्षयः सन्तो दीक्षादमसमन्विताः।
शिष्यैरनुगताः सिद्धैर्देवकल्पैस्तपोधनैः॥ १२॥

इनके सिवा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्य, देवल, काश्यप, हस्तिकाश्यप तथा अन्य साधु-महर्षि जो दीक्षा और इन्द्रियसंयमसे सम्पन्न थे, अपने देवोपम, तपस्वी एवं सिद्ध शिष्योंके साथ वहाँ आये ॥ ११-१२॥

तेषामतिथिसत्कारमर्चनीयं कुलोचितम्।
देवकीतनयः प्रीतो देवकल्पमकल्पयत्॥ १३॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ देवोचित उपचारोंसे उन महर्षियोंका अपने कुलके अनुरूप आतिथ्य-सत्कार किया ॥ १३ ॥

हरितेषु सुवर्णेषु बर्हिष्केषु नवेषु च।
उपोपविविशुः प्रीता विष्टरेषु महर्षयः॥ १४॥

भगवान्के दिये हुए हरे और सुनहरे रंगवाले कुशोंके नवीन आसनोंपर वे महर्षि प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हुए ॥

कथाश्चक्रुस्ततस्ते तु मधुरा धर्मसंहिताः।
राजर्षीणां सुराणां च ये वसन्ति तपोधनाः॥ १५॥

तदनन्तर वे राजर्षियों, देवताओं और जो तपस्वी मुनि वहाँ रहते थे, उनके सम्बन्धमें धर्मयुक्त मधुर कथाएँ कहने लगे ॥ १५ ॥

ततो नारायणं तेजो व्रतचर्येन्धनोत्थितम्।
वक्त्रान्निःसृत्य कृष्णस्य वह्निरद्भुतकर्मणः॥ १६॥
सोऽग्निर्ददाह तं शैलं सद्रुमं सलताक्षुपम्।
सपक्षिमृगसंघातं सश्वापदसरीसृपम्॥ १७॥

तत्पश्चात् व्रतचर्यारूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ भगवान् नारायणका तेज अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकलकर अग्निरूपमें प्रकट हो वृक्ष, लता, झाड़ी, पक्षी, मृग-समुदाय, हिंसक जन्तु तथा सर्पोंसहित उस पर्वतको जलाने लगा ॥ १६-१७ ॥

मृगैश्च विविधाकारैर्हाहाभूतमचेतनम्।
शिखरं तस्य शैलस्य मथितं दीनदर्शनम्॥ १८॥

उस समय नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंका आर्तनाद चारों ओर फैल रहा था, मानो पर्वतका वह अचेतन शिखर स्वयं ही हाहाकार कर रहा हो। उस तेजसे दग्ध हो जानेके कारण वह पर्वतशिखर बड़ा दयनीय दिखायी देता था ॥

स तु वह्निर्महाज्वालो दग्ध्वा सर्वमशेषतः।
विष्णोः समीपमागम्य पादौ शिष्यवदस्पृशत्॥ १९॥

बड़ी-बड़ी लपटोंवाली उस आगने समस्त पर्वतशिखरको दग्ध करके भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण)के समीप आकर जैसे शिष्य गुरुके चरण छूता है, उसी प्रकार उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया और उन्हींमें वह विलीन हो गयी ॥

ततो विष्णुर्गिरिं दृष्ट्वा निर्दग्धमरिकर्शनः।
सौम्यैर्दृष्टिनिपातैस्तं पुनः प्रकृतिमानयत्॥ २०॥

तदनन्तर शत्रुसूदन श्रीकृष्णने उस पर्वतको दग्ध हुआ देखकर अपनी सौम्य दृष्टि डाली और उसे पुनः प्रकृतावस्थामें पहुँचा दिया—पहलेकी भाँति हरा-भरा कर दिया ॥ २० ॥

तथैव स गिरिर्भूयः प्रपुष्पितलताद्रुमः।
सपक्षिगणसंघुष्टः सश्वापदसरीसृपः॥ २१॥

वह पर्वत फिर पहलेकी ही भाँति खिली हुई लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित होने लगा। वहाँ पक्षी चहचहाने लगे। वहाँ हिंसक पशु और सर्प आदि जीव-जन्तु जी उठे ॥ २१ ॥

(सिद्धचारणसंघैश्च प्रसन्नैरुपशोभितः।
मत्तवारणसंयुक्तो नानापक्षिगणैर्युतः॥)

सिद्धों और चारणोंके समुदाय प्रसन्न होकर उस पर्वतकी शोभा बढ़ाने लगे। वह स्थान पुनः मतवाले हाथियों और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सम्पन्न हो गया ॥

तमद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा मुनिगणस्तदा।
विस्मितो हृष्टरोमा च बभूवास्राविलेक्षणः ॥ २२ ॥

इस अद्भुत और अचिन्त्य घटनाको देखकर ऋषियोंका समुदाय विस्मित और रोमाञ्चित हो उठा। उन सबके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आये ॥ २२ ॥

ततो नारायणो दृष्ट्वा तानृषीन् विस्मयान्वितान्।
प्रश्रितं मधुरं स्निग्धं पप्रच्छ वदतां वरः ॥ २३ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने उन ऋषियोंको विस्मयविमुग्ध हुआ देख विनय और स्नेहसे युक्त मधुर वाणीमें पूछा—॥ २३ ॥

किमर्थमृषिपूगस्य त्यक्तसङ्गस्य नित्यशः।
निर्ममस्यागमवतो विस्मयः समुपागतः ॥ २४ ॥

'महर्षियो! ऋषिसमुदाय तो आसक्ति और ममतासे रहित है! सबको शास्त्रोंका ज्ञान है, फिर भी आपलोगोंको आश्चर्य क्यों हो रहा है?॥ २४ ॥

एतन्मे संशयं सर्वं याथातथ्यमनिन्दिताः।
ऋषयो वक्तुमर्हन्ति निश्चितार्थं तपोधनाः ॥ २५ ॥

'तपोधन ऋषियो! आप सब लोग सबके द्वारा प्रशंसित हैं, अतः मेरे इस संशयको निश्चित एवं यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें' ॥ २५ ॥

ऋषय ऊचुः

भवान् विसृजते लोकान् भवान् संहरते पुनः।
भवान् शीतं भवानुष्णं भवानेव च वर्षति ॥ २६ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आप ही संसारको बनाते और आप ही पुनः उसका संहार करते हैं। आप ही सर्दी, आप ही गर्मी और आप ही वर्षा करते हैं ॥ २६ ॥

पृथिव्यां यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
तेषां पिता त्वं माता त्वं प्रभुः प्रभव एव च ॥ २७ ॥

इस पृथ्वीपर जो भी चराचर प्राणी हैं, उनके पिता-माता, प्रभु और उत्पत्तिस्थान भी आप ही हैं ॥ २७ ॥

एवं नो विस्मयकरं संशयं मधुसूदन।
त्वमेवार्हसि कल्याण वक्तुं वह्नेर्विनिर्गमम् ॥ २८ ॥

मधुसूदन! आपके मुखसे अग्निका प्रादुर्भाव हमारे लिये इस प्रकार विस्मयजनक हुआ है। हम संशयमें पड़ गये हैं। कल्याणमय श्रीकृष्ण! आप ही इसका कारण बताकर हमारे संदेह और विस्मयका निवारण कर सकते हैं ॥ २८ ॥

ततो विगतसंत्रासा वयमप्यरिकर्शन।
यच्छ्रुतं यच्च दृष्टं नस्तत् प्रवक्ष्यामहे हरे ॥ २९ ॥

शत्रुसूदन हरे! उसे सुनकर हम भी निर्भय हो जायँगे और हमने जो आश्चर्यकी बात देखी या सुनी है, उसका हम आपके सामने वर्णन करेंगे ॥ २९ ॥

वासुदेव उवाच

एतद् वै वैष्णवं तेजो मम वक्त्राद् विनिःसृतम्।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो येनायं मथितो गिरिः ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण बोले—मुनिवरो! मेरे मुखसे यह मेरा वैष्णव तेज प्रकट हुआ था; जिसने प्रलयकालकी अग्निके समान रूप धारण करके इस पर्वतको दग्ध कर डाला था ॥ ३० ॥

ऋषयश्चार्तिमापन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
भवन्तो व्यथिताश्चासन् देवकल्पास्तपोधनाः ॥ ३१ ॥

उसी तेजसे आप-जैसे तपस्याके धनी, देवोपम शक्तिशाली, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय ऋषि भी पीड़ित और व्यथित हो गये थे ॥ ३१ ॥

व्रतचर्यापरीतस्य तपस्विव्रतसेवया।
मम वह्निः समुद्भूतो न वै व्यथितुमर्हथ ॥ ३२ ॥

मैं व्रतचर्यामें लगा हुआ था, तपस्वी जनोंके उस व्रतका सेवन करनेसे मेरा तेज ही अग्निरूपमें प्रकट हुआ था! अतः आपलोग उससे व्यथित न हों ॥ ३२ ॥

व्रतं चर्तुमिहायातस्त्वहं गिरिमिमं शुभम्।
पुत्रं चात्मसमं वीर्ये तपसा लब्धुमागतः ॥ ३३ ॥

मैं तपस्याद्वारा अपने ही समान वीर्यवान् पुत्र पानेकी इच्छासे व्रत करनेके लिये इस मङ्गलकारी पर्वतपर आया हूँ॥

ततो ममात्मा यो देहे सोऽग्निर्भूत्वा विनिःसृतः।
गतश्च वरदं द्रष्टुं सर्वलोकपितामहम् ॥ ३४ ॥

मेरे शरीरमें स्थित प्राण ही अग्निके रूपमें बाहर निकलकर सबको वर देनेवाले सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये उनके लोकमें गया था ॥ ३४ ॥

तेन चात्मानुशिष्टो मे पुत्रत्वे मुनिसत्तमाः।
तेजसोऽर्धेन पुत्रस्ते भवितेति वृषध्वजः ॥ ३५ ॥

मुनिवरो! उन ब्रह्माजीने मेरे प्राणको यह संदेश देकर भेजा है कि साक्षात् भगवान् शंकर अपने तेजके आधे भागसे आपके पुत्र होंगे ॥ ३५ ॥

सोऽयं वह्निरुपागम्य पादमूले ममान्तिकम्।
शिष्यवत् परिचर्यार्थं शान्तः प्रकृतिमागतः ॥ ३६ ॥

वही यह अग्निरूपी प्राण मेरे पास लौटकर आया है और निकट पहुँचनेपर शिष्यकी भाँति परिचर्या करनेके लिये उसने मेरे चरणोंमें प्रणाम किया है। इसके बाद शान्त होकर वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो गया है ॥ ३६ ॥

एतदेव रहस्यं वः पद्मनाभस्य धीमतः।
मया प्रोक्तं समासेन न भीः कार्या तपोधनाः॥ ३७॥

तपोधनो ! यह मैंने आपलोगोंके निकट बुद्धिमान् भगवान् विष्णुका गुप्त रहस्य संक्षेपसे बताया है। आपलोगोंको भय नहीं मानना चाहिये ॥ ३७ ॥

सर्वत्र गतिरव्यग्रा भवतां दीर्घदर्शनात्।
तपस्विव्रतसंदीप्ता ज्ञानविज्ञानशोभिताः ॥ ३८॥

आपलोगोंकी गति सर्वत्र है, उसका कहीं भी प्रतिरोध नहीं है; क्योंकि आपलोग दूरदर्शी हैं। तपस्वी जनोंके योग्य व्रतका आचरण करनेसे आपलोग देदीप्यमान हो रहे हैं तथा ज्ञान और विज्ञान आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३८ ॥

यच्छ्रुतं यच्च वो दृष्टं दिवि वा यदि वा भुवि।
आश्चर्यं परमं किंचित् तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे ॥ ३९॥

इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि आपलोगोंने इस पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई महान् आश्चर्यकी बात देखी या सुनी हो तो उसको मुझे बतलाइये ॥ ३९ ॥

तस्यामृतनिकाशस्य वाङ्मधोरस्ति मे स्पृहा।
भवद्भिः कथितस्येह तपोवननिवासिभिः ॥ ४०॥

आपलोग तपोवनमें निवास करनेवाले हैं, इस जगत्में आपके द्वारा कथित अमृतके समान मधुर वचन सुननेकी इच्छा मुझे सदा बनी रहती है ॥ ४० ॥

यद्यप्यहमदृष्टं वो दिव्यमद्भुतदर्शनम्।
दिवि वा भुवि वा किंचित् पश्याम्यमरदर्शनाः ॥ ४१॥
प्रकृतिः सा मम परा न क्वचित् प्रतिहन्यते।
न चात्मगतमैश्वर्यमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ४२॥
श्रद्धेयः कथितो ह्यर्थः सज्जनश्रवणं गतः।
चिरं तिष्ठति मेदिन्यां शैले लेख्यामिवार्पितम्॥ ४३॥

महर्षियो! आपका दर्शन देवताओंके समान दिव्य है। यद्यपि द्युलोक अथवा पृथिवीमें जो दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देनेवाली वस्तु है, जिसे आपलोगोंने भी नहीं देखा है, वह सब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ। सर्वज्ञता मेरा उत्तम स्वभाव है। वह कहीं भी प्रतिहत नहीं होता तथा मुझमें जो ऐश्वर्य है, वह मुझे आश्चर्यरूप नहीं जान पड़ता तथापि सत्पुरुषोंके कानोंमें पड़ा हुआ कथित विषय विश्वासके योग्य होता है और वह पत्थरपर खिंची हुई लकीरकी भाँति इस पृथ्वीपर बहुत दिनोंतक कायम रहता है ॥ ४१-४३ ॥

तदहं सज्जनमुखान्निःसृतं तत्समागमे।
कथयिष्याम्यहमहो बुद्धिदीपकरं नृणाम् ॥ ४४॥

अतः मैं आप साधु-संतोंके मुखसे निकले हुए वचनको मनुष्योंकी बुद्धिका उद्दीपक (प्रकाशक) मानकर उसे सत्पुरुषोंके समाजमें कहूँगा ॥ ४४ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे विस्मिताः कृष्णसंनिधौ।
नेत्रैः पद्मदलप्रख्यैरपश्यंस्तं जनार्दनम् ॥ ४५॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप बैठे हुए सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे कमलदलके समान खिले हुए नेत्रोंसे उनकी ओर देखने लगे ॥ ४५ ॥

वर्धयन्तस्तथैवान्ये पूजयन्तस्तथापरे।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तुवन्तो मधुसूदनम्॥ ४६॥

कोई उन्हें बधाई देने लगा, कोई उनकी पूजा-प्रशंसा करने लगा और कोई ऋग्वेदकी अर्थयुक्त ऋचाओंद्वारा उन मधुसूदनकी स्तुति करने लगा ॥ ४६ ॥

ततो मुनिगणाः सर्वे नारदं देवदर्शनम्।
तदा नियोजयामासुर्वचने वाक्यकोविदम् ॥ ४७॥

तदनन्तर उन सभी मुनियोंने बातचीत करनेमें कुशल देवदर्शी नारदको भगवान्‌की बातचीतका उत्तर देनेके लिये नियुक्त किया ॥ ४७ ॥

मुनय ऊचुः

यदाश्चर्यमचिन्त्यं च गिरौ हिमवति प्रभो।
अनुभूतं मुनिगणैस्तीर्थयात्रापरैर्मुने ॥ ४८॥
तद् भवानृषिसंघस्य हितार्थं सर्वमादितः।
यथा दृष्टं हृषीकेशे सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ ४९॥

मुनि बोले—प्रभो ! मुने ! तीर्थयात्रापरायण मुनियोंने हिमालय पर्वतपर जिस अचिन्त्य आश्चर्यका दर्शन एवं अनुभव किया है, वह सब आप आरम्भसे ही ऋषिसमूहके हितके लिये भगवान् श्रीकृष्णको बताइये ॥ ४८-४९ ॥

एवमुक्तः स मुनिभिर्नारदो भगवान् मुनिः।
कथयामास देवर्षिः पूर्ववृत्तामिमां कथाम् ॥ ५०॥

मुनियोंके ऐसा कहनेपर देवर्षि भगवान् नारदमुनिने यह पूर्वघटित कथा कही ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा हिमालय पर्वतपर भूतगणोंके सहित शिवजीकी शोभाका विस्तृत वर्णन, पार्वतीका आगमन, शिवजीकी दोनों आँखोंको अपने हाथोंसे बंद करना और तीसरे नेत्रका प्रकट होना, हिमालयका भस्म होना और पुनः प्राकृत अवस्थामें हो जाना तथा शिव-पार्वतीके धर्मविषयक संवादकी उत्थापना

भीष्म उवाच

ततो नारायणसुहृन्नारदो भगवानृषिः।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर श्रीनारायणके सुहृद् भगवान् नारदमुनिने शंकरजीका पार्वतीके साथ जो संवाद हुआ था, उसे बताना आरम्भ किया ॥ १ ॥

नारद उवाच

तपश्चचार धर्मात्मा वृषभाङ्कः सुरेश्वरः।
पुण्ये गिरौ हिमवति सिद्धचारणसेविते ॥ २ ॥
नानौषधियुते रम्ये नानापुष्पसमाकुले।
अप्सरोगणसंकीर्णे भूतसंघनिषेविते ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—भगवन् ! जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जो नाना प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न तथा भाँति-भाँतिके फूलोंसे व्याप्त होनेके कारण रमणीय जान पड़ता है, जहाँ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ भरी रहती हैं और भूतोंकी टोलियाँ निवास करती हैं; उस परम पवित्र हिमालयपर्वतपर धर्मात्मा देवाधिदेव भगवान् शङ्कर तपस्या कर रहे थे ॥२-३॥

तत्र देवो मुदा युक्तो भूतसंघशतैर्वृतः।
नानारूपैर्विरूपैश्च दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ ४ ॥

उस स्थानपर महादेवजी सैकड़ों भूतसमुदायोंसे घिरे रहकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। उन भूतोंके रूप नाना प्रकारके एवं विकृत थे, किन्हीं-किन्हींके रूप दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

सिंहव्याघ्रगजप्रख्यैः सर्वजातिसमन्वितैः।
क्रोष्टुकद्वीपिवदनैर्ऋक्षर्षभमुखैस्तथा ॥ ५ ॥

कुछ भूतोंकी आकृति सिंहों, व्याघ्रों एवं गजराजोंके समान थी। उनमें सभी जातियोंके प्राणी सम्मिलित थे। कितने ही भूतोंके मुख सियारों, चीतों, रीछों और बैलोंके समान थे॥

उलूकवदनैर्भीमैर्वृकश्येनमुखैस्तथा।
नानावर्णैर्मृगमुखैः सर्वजातिसमन्वितैः ॥ ६ ॥

कितने ही उल्लू-जैसे मुखवाले थे। बहुत-से भयंकर भूत भेड़ियों और बाजोंके समान मुख धारण करते थे। और कितनोंके मुख हरिणोंके समान थे। उन सबके वर्ण अनेक प्रकारके थे तथा वे सभी जातियोंसे सम्पन्न थे ॥ ६ ॥

किंनरैर्यक्षगन्धर्वै रक्षोभूतगणैस्तथा।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णं दिव्यज्वालासमाकुलम् ॥ ७ ॥
दिव्यचन्दनसंयुक्तं दिव्यधूपेन धूपितम्।
तत् सदो वृषभाङ्कस्य दिव्यवादित्रनादितम् ॥ ८ ॥
मृदङ्गपणवोद्घुष्टं शङ्खभेरीनिनादितम्।
नृत्यद्भिर्भूतसंघैश्च बर्हिणैश्च समन्ततः ॥ ९ ॥

इनके सिवा बहुत-से किन्नरों, यक्षों, गन्धर्वों, राक्षसों तथा भूतगणोंने भी महादेवजीको घेर रक्खा था। भगवान् शङ्करकी वह सभा दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित, दिव्य तेजसे व्याप्त, दिव्य चन्दनसे चर्चित और दिव्य धूपकी सुगन्धसे सुवासित थी। वहाँ दिव्य वाद्योंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। मृदङ्ग और पणवका घोष छाया रहता था। शङ्ख और भेरियोंके नाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे। चारों ओर नाचते हुए भूतसमुदाय और मयूर उसकी शोभा बढ़ाते थे ॥७-९॥

प्रनृत्ताप्सरसं दिव्यं देवर्षिगणसेवितम्।
दृष्टिकान्तमनिर्देश्यं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १० ॥

वहाँ अप्सराएँ नृत्य करती थीं, वह दिव्य सभा देवर्षियोंके समुदायोंसे शोभित, देखनेमें मनोहर, अनिर्वचनीय, अलौकिक और अद्भुत थी ॥ १० ॥

स गिरिस्तपसा तस्य गिरिशस्य व्यरोचत।
स्वाध्यायपरमैर्विप्रैर्ब्रह्मघोषो निनादितः ॥ ११ ॥

भगवान् शङ्करकी तपस्यासे उस पर्वतकी बड़ी शोभा हो रही थी। स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी ॥ ११ ॥

षट्पदैरुपगीतैश्च माधवाप्रतिमो गिरिः।
तन्महोत्सवसंकाशं भीमरूपधरं ततः ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा मुनिगणस्यासीत् परा प्रीतिर्जनार्दन।

माधव ! वह अनुपम पर्वत भ्रमरोंके गीतोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। जनार्दन ! वह स्थान अत्यन्त भयंकर होनेपर भी महान् उत्सवसे सम्पन्न-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर मुनियोंके समुदायको बड़ी प्रसन्नता हुई॥१२½॥

मुनयश्च महाभागाः सिद्धाश्चैवोर्ध्वरेतसः ॥ १३ ॥
मरुतो वसवः साध्या विश्वेदेवाः सवासवाः।
यक्षा नागाः पिशाचाश्च लोकपाला हुताशनाः ॥ १४ ॥

वाताः सर्वे महाभूतास्तत्रैवासन् समागताः।

महान् सौभाग्यशाली मुनि, ऊर्ध्वरेता सिद्धगण, मरुद्गण, वसुगण, साध्यगण, इन्द्रसहित विश्वेदेवगण, यक्ष और नाग, पिशाच, लोकपाल, अग्नि, समस्त वायु और प्रधान भूतगण वहाँ आये हुए थे ॥ १३-१४½ ॥

ऋतवः सर्वपुष्पैश्च व्यकिरन्त महाद्भुतैः ॥ १५ ॥
ओषध्यो ज्वलमानाश्च द्योतयन्ति स्म तद् वनम्।

ऋतुएँ वहाँ उपस्थित हो सब प्रकारके अत्यन्त अद्भुत पुष्प बिखेर रही थीं। ओषधियाँ प्रज्वलित हो उस वनको प्रकाशित कर रही थीं ॥ १५½ ॥

विहङ्गाश्च मुदा युक्ताः प्रानृत्यन् व्यनदंश्च ह ॥ १६ ॥
गिरिपृष्ठेषु रम्येषु व्याहरन्तो जनप्रियाः।

वहाँके रमणीय पर्वतशिखरोंपर लोगोंको प्रिय लगनेवाली बोली बोलते हुए पक्षी प्रसन्नतासे युक्त हो नाचते और कलरव करते थे ॥ १६½ ॥

तत्र देवो गिरितटे दिव्यधातुविभूषिते ॥ १७ ॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो महामनाः।

दिव्य धातुओंसे विभूषित पर्यङ्कके समान उस पर्वत-शिखरपर बैठे हुए महामना महादेवजी बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १७½ ॥

व्याघ्रचर्माम्बरधरः सिंहचर्मोत्तरच्छदः ॥ १८ ॥
व्यालयज्ञोपवीती च लोहिताङ्गदभूषणः।
हरिश्मश्रुर्जटी भीमो भयकर्ता सुरद्विषाम् ॥ १९ ॥
अभयः सर्वभूतानां भक्तानां वृषभध्वजः।

उन्होंने व्याघ्रचर्मको ही वस्त्रके रूपमें धारण कर रक्खा था। सिंहका चर्म उनके लिये उत्तरीय वस्त्र (चादर) का काम देता था। उनके गलेमें सर्पमय यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। वे लाल रंगके बाजूबंदसे विभूषित थे। उनकी मूँछ काली थी, मस्तकपर जटाजूट शोभा पाता था। वे भीमस्वरूप रुद्र देवद्रोहियोंके मनमें भय उत्पन्न करते थे। अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण करनेवाले वे भगवान् शिव भक्तों तथा सम्पूर्ण भूतोंके भयका निवारण करते थे॥

दृष्ट्वा महर्षयः सर्वे शिरोभिरवनिं गताः ॥ २० ॥
(गीर्भिः परमशुद्धाभिस्तुष्टुवुश्च मनोहरम् ॥)
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः क्षान्ता विगतकल्मषाः।

भगवान् शङ्करका दर्शन करके उन सभी महर्षियोंने पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया और परम शुद्ध वाणीद्वारा उनकी मनोहर स्तुति की। वे सभी ऋषि सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, क्षमाशील और कल्मषरहित थे ॥२०½॥

तस्य भूतपतेः स्थानं भीमरूपधरं बभौ ॥ २१ ॥
अप्रधृष्यतरं चैव महोरगसमाकुलम्।

भगवान् भूतनाथका वह भयानक स्थान बड़ी शोभा पा रहा था। वह अत्यन्त दुर्धर्ष और बड़े-बड़े सर्पोंसे भरा हुआ था ॥ २१½ ॥

क्षणेनैवाभवत् सर्वमद्भुतं मधुसूदन ॥ २२ ॥
तत् सदो वृषभाङ्कस्य भीमरूपधरं बभौ।

मधुसूदन! वृषभध्वजका वह भयानक सभास्थल क्षण-भरमें अद्भुत शोभा पाने लगा ॥ २२½ ॥

तमभ्ययाच्छैलसुता भूतस्त्रीगणसंवृता ॥ २३ ॥
हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतधारिणी।
बिभ्रती कलशं रौक्मं सर्वतीर्थजलोद्भवम् ॥ २४ ॥

उस समय भूतोंकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गिरिराजनन्दिनी उमा सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे भरा हुआ सोनेका कलश लिये उनके पास आयीं। उन्होंने भी भगवान् शङ्करके समान ही वस्त्र धारण किया था। वे भी उन्हींकी भाँति उत्तम व्रतका पालन करती थीं ॥ २३-२४ ॥

गिरिस्रवाभिः सर्वाभिः पृष्ठतोऽनुगता शुभा।
पुष्पवृष्ट्याभिवर्षन्ती गन्धैर्बहुविधैस्तथा।
सेवन्ती हिमवत् पार्श्वं हरपार्श्वमुपागमत् ॥ २५ ॥

उनके पीछे-पीछे उस पर्वतसे गिरनेवाली सभी नदियाँ चल रही थीं। शुभलक्षणा पार्वती फूलोंकी वर्षा करती और नाना प्रकारकी सुगन्ध बिखेरती हुई भगवान् शिवके पास आयीं। वे भी हिमालयके पार्श्वभागका ही सेवन करती थीं ॥ २५ ॥

ततः स्मयन्ती पाणिभ्यां नर्मार्थं चारुहासिनी।
हरनेत्रे शुभे देवी सहसा सा समावृणोत् ॥ २६ ॥

आते ही मनोहर हास्यवाली देवी उमाने मनोरञ्जन या हास-परिहासके लिये मुसकराकर अपने दोनों हाथोंसे सहसा भगवान् शङ्करके दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ २६ ॥

संवृताभ्यां तु नेत्राभ्यां तमोभूतमचेतनम्।
निर्होमं निर्वषट्कारं जगद् वै सहसाभवत् ॥ २७ ॥

उनके दोनों नेत्रोंके आच्छादित होते ही सारा जगत् सहसा अन्धकारमय, चेतनाशून्य तथा होम और वषट्कार-से रहित हो गया ॥ २७ ॥

जनश्च विमनाः सर्वोऽभवत् त्राससमन्वितः।
निमीलिते भूतपतौ नष्टसूर्य इवाभवत् ॥ २८ ॥

सब लोग अनमने हो गये, सबके ऊपर त्रास छा गया। भूतनाथके नेत्र बंद कर लेनेपर इस संसारकी वैसी ही दशा हो गयी, मानो सूर्यदेव नष्ट हो गये हैं ॥ २८ ॥

ततो वितिमिरो लोकः क्षणेन समपद्यत।
ज्वाला च महती दीप्ता ललाटात् तस्य निःसृता ॥ २९ ॥

तदनन्तर क्षणभरमें सारे जगत्का अन्धकार दूर हो

गया। भगवान् शिवके ललाटसे अत्यन्त दीप्तिशालिनी महाज्वाला प्रकट हो गयी ॥ २९ ॥

तृतीयं चास्य सम्भूतं नेत्रमादित्यसंनिभम्।
युगान्तसदृशं दीप्तं येनासौ मथितो गिरिः ॥ ३० ॥

उनके ललाटमें आदित्यके समान तेजस्वी तीसरे नेत्रका आविर्भाव हो गया। वह नेत्र प्रलयाग्निके समान देदीप्यमान हो रहा था। उस नेत्रसे प्रकट हुई ज्वालाने उस पर्वतको जलाकर मथ डाला ॥ ३० ॥

ततो गिरिसुता दृष्ट्वा दीप्ताग्निसदृशेक्षणम्।
हरं प्रणम्य शिरसा ददर्शायतलोचना ॥ ३१ ॥

तब महादेवजीको प्रज्वलित अग्निके सदृश तीसरे नेत्रसे युक्त हुआ देख गिरिराजनन्दिनी विशाललोचना उमाने सिरसे प्रणाम करके उनकी ओर चकित दृष्टिसे देखा ॥ ३१ ॥

दह्यमाने वने तस्मिन् ससालसरलद्रुमे।
सचन्दनवरे रम्ये दिव्यौषधिविदीपिते ॥ ३२ ॥

साल और सरल आदि वृक्षोंसे युक्त, श्रेष्ठ चन्दन-वृक्षसे सुशोभित तथा दिव्य ओषधियोंसे प्रकाशित उस रमणीय वनमें आग लग गयी थी और वह सब ओरसे जल रहा था ॥ ३२ ॥

मृगयूथैर्द्रुतैर्भीतैर्हरपार्श्वमुपागतैः ।
शरणं चाप्यविन्दद्भिस्तत् सदः संकुलं बभौ ॥ ३३ ॥

भयभीत मृगोंके झुंडोंको जब कहीं भी शरण न मिली, तब वे भागते हुए महादेवजीके पास आ पहुँचे। उनसे वह सारा सभास्थल भर गया और उसकी अपूर्व शोभा होने लगी ॥

ततो नभःस्पृशज्ज्वालो विद्युल्लोलाग्निरुल्बणः।
द्वादशादित्यसदृशो युगान्ताग्निरिवापरः ॥ ३४ ॥

वहाँ लगी हुई आगकी लपटें आकाशको चूम रही थीं। विद्युत्‌के समान चञ्चल हुई वह आग बड़ी भयानक प्रतीत हो रही थी, वह बारह सूर्योंके समान प्रकाशित होकर दूसरी प्रलयाग्निके समान प्रतीत होती थी ॥ ३४ ॥

क्षणेन तेन निर्दग्धो हिमवानभवन्नगः।
सधातुशिखराभोगो दीप्तदग्धलतौषधिः ॥ ३५ ॥

उसने क्षणभरमें हिमालय पर्वतको धातु और विशाल शिखरोंसहित दग्ध कर डाला। उसकी लताएँ और ओषधियाँ प्रज्वलित हो जलकर भस्म हो गयीं ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा मथितं शैलं शैलराजसुता ततः।
भगवन्तं प्रपन्ना वै साञ्जलिप्रग्रहा स्थिता ॥ ३६ ॥

उस पर्वतको दग्ध हुआ देख गिरिराजकुमारी उमा दोनों हाथ जोड़कर भगवान् शङ्करकी शरणमें गयीं ॥ ३६ ॥

उमां शर्वस्तदा दृष्ट्वा स्त्रीभावगतमार्दवाम्।
पितुर्दैन्यमनिच्छन्तीं प्रीत्यापश्यत् तदा गिरिम् ॥ ३७ ॥

उस समय उमामें नारी-स्वभाववश मृदुता (कातरता) आ गयी थी। वे पिताकी दयनीय अवस्था नहीं देखना चाहती थीं। उनकी ऐसी दशा देख भगवान् शङ्करने हिमवान् पर्वतकी ओर प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे देखा ॥ ३७ ॥

क्षणेन हिमवान् सर्वः प्रकृतिस्थः सुदर्शनः।
प्रहृष्टविहगश्चैव सुपुष्पितवनद्रुमः ॥ ३८ ॥

उनकी दृष्टि पड़नेपर क्षणभरमें सारा हिमालय पर्वत पहली स्थितिमें आ गया। देखनेमें परम सुन्दर हो गया। वहाँ हर्षमें भरे हुए पक्षी कलरव करने लगे। उस वनके वृक्ष सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित हो गये ॥ ३८ ॥

प्रकृतिस्थं गिरिं दृष्ट्वा प्रीता देवं महेश्वरम्।
उवाच सर्वलोकानां पतिं शिवमनिन्दिता ॥ ३९ ॥

पर्वतको पूर्वावस्थामें स्थित हुआ देख पतिव्रता पार्वती देवी बहुत प्रसन्न हुईं। फिर उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी कल्याणस्वरूप महेश्वरदेवसे पूछा ॥ ३९ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश शूलपाणे महाव्रत।
संशयो मे महान् जातस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४० ॥

उमा बोलीं—भगवन्! सर्वभूतेश्वर! शूलपाणे! महान् व्रतधारी महेश्वर! मेरे मनमें एक महान् संशय उत्पन्न हुआ है। आप मुझसे उसकी व्याख्या कीजिये ॥ ४० ॥

किमर्थं ते ललाटे वै तृतीयं नेत्रमुत्थितम्।
किमर्थं च गिरिर्दग्धः सपक्षिगणकाननः ॥ ४१ ॥
किमर्थं च पुनर्देव प्रकृतिस्थस्त्वया कृतः।
तथैव द्रुमसंछन्नः कृतोऽयं ते पिता मम ॥ ४२ ॥

क्यों आपके ललाटमें तीसरा नेत्र प्रकट हुआ? किसलिये आपने पक्षियों और वनोंसहित पर्वतको दग्ध किया और देव! फिर किसलिये आपने उसे पूर्वावस्थामें ला दिया। मेरे इन पिताको आपने जो पूर्ववत् वृक्षोंसे आच्छादित कर दिया, इसका क्या कारण है? ॥ ४१-४२ ॥

(एष मे संशयो देव हृदि मे सम्प्रवर्तते।
देवदेव नमस्तुभ्यं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

देवदेव! मेरे हृदयमें यह संदेह विद्यमान है। आप इसका समाधान करनेकी कृपा करें। आपको मेरा सादर नमस्कार है ॥

नारद उवाच

एवमुक्तस्तथा देव्या प्रीयमाणोऽब्रवीद् भवः ॥)

नारदजी कहते हैं—देवी पार्वतीके ऐसा कहनेपर भगवान् शंकर प्रसन्न होकर बोले ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(स्थाने संशयितुं देवि धर्मज्ञे प्रियभाषिणि ॥
त्वदृते मां हि वै प्रष्टुं न शक्यं केनचित् प्रिये ।

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मको जानने तथा प्रिय वचन बोलनेवाली देवि ! तुमने जो संशय उपस्थित किया है, वह उचित ही है । प्रिये ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मुझसे ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥

प्रकाशं यदि वा गुह्यं प्रियार्थं प्रब्रवीम्यहम् ॥
शृणु तत् सर्वमखिलमस्यां संसदि भामिनि ।

भामिनि ! प्रकट या गुप्त जो भी बात होगी, तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं सब कुछ बताऊँगा । तुम इस सभामें मुझसे सारी बातें सुनो ॥

सर्वेषामेव लोकानां कूटस्थं विद्धि मां प्रिये ॥
मदधीनास्त्रयो लोका यथा विष्णौ तथा मयि ।
स्रष्टा विष्णुरहं गोप्ता इत्येतद् विद्धि भामिनि ॥

प्रिये ! सभी लोकोंमें मुझे कूटस्थ समझो । तीनों लोक मेरे अधीन है । ये जैसे भगवान् विष्णुके अधीन हैं, उसी प्रकार मेरे भी अधीन हैं । भामिनि ! तुम यही जान लो कि भगवान् विष्णु जगत्के स्रष्टा हैं और मैं इसकी रक्षा करनेवाला हूँ ॥

तस्माद् यदा मां स्पृशति शुभं वा यदि वेतरत् ।
तथैवेदं जगत् सर्वं तत्तद् भवति शोभने ॥)

शोभने ! इसीलिये जब मुझसे शुभ या अशुभका स्पर्श होता है, तब यह सारा जगत् वैसा ही शुभ या अशुभ हो जाता है ॥

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते ।
नष्टालोकस्तदा लोकः क्षणेन समपद्यत ॥ ४३ ॥

देवि ! अनिन्दिते ! तुमने अपने भोलेपनके कारण मेरी दोनों आँखें बंद कर दीं । इससे क्षणभरमें समस्त संसारका प्रकाश तत्काल नष्ट हो गया ॥ ४३ ॥

नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे ।
तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं मे रक्षता प्रजाः ॥ ४४ ॥

गिरिराजकुमारी ! संसारमें जब सूर्य अदृश्य हो गये और सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया, तब मैंने प्रजाकी रक्षाके लिये अपने तीसरे तेजस्वी नेत्रकी सृष्टि की है ॥४४॥

तस्य चाक्ष्णो महत् तेजो येनायं मथितो गिरिः ।
त्वत्प्रियार्थं च मे देवि प्रकृतिस्थः पुनः कृतः ॥ ४५ ॥

उसी तीसरे नेत्रका यह महान् तेज था, जिसने इस पर्वतको मथ डाला । देवि ! फिर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैंने इस गिरिराज हिमवान्को पुनः प्रकृतिस्थ कर दिया है ॥

उमोवाच

भगवन् केन ते वक्त्रं चन्द्रवत् प्रियदर्शनम् ।
पूर्वं तथैव श्रीकान्तमुत्तरं पश्चिमं तथा ॥ ४६ ॥
दक्षिणं च मुखं रौद्रं केनोर्ध्वं कपिला जटाः ।
केन कण्ठश्च ते नीलो बर्हिबर्हनिभः कृतः ॥ ४७ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! (आपके चार मुख क्यों हैं ।) आपका पूर्व दिशावाला मुख चन्द्रमाके समान कान्तिमान् एवं देखनेमें अत्यन्त प्रिय है। उत्तर और पश्चिम दिशाके मुख भी पूर्वकी ही भाँति कमनीय कान्तिसे युक्त हैं । परंतु दक्षिण दिशावाला मुख बड़ा भयंकर है । यह अन्तर क्यों ? तथा आपके सिरपर कपिल वर्णकी जटाएँ कैसे हुईं?क्या कारण है कि आपका कण्ठ मोरकी पाँखके समान नीला हो गया ? ॥४६-४७॥

हस्ते देव पिनाकं ते सततं केन तिष्ठति ।
जटिलो ब्रह्मचारी च किमर्थमसि नित्यदा ॥ ४८ ॥

देव ! आपके हाथमें पिनाक क्यों सदा विद्यमान रहता है ? आप किसलिये नित्य जटाधारी ब्रह्मचारीके वेशमें रहते हैं ? ॥ ४८ ॥

एतन्मे संशयं सर्वं वक्तुमर्हसि वै प्रभो ।
सधर्मचारिणी चाहं भक्ता चेति वृषध्वज ॥ ४९ ॥

प्रभो ! वृषध्वज ! मेरे इस सारे संशयका समाधान कीजिये; क्योंकि मैं आपकी सहधर्मिणी और भक्त हूँ ॥ ४९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् शैलपुत्र्या पिनाकधृत् ।
तस्या धृत्या च बुद्ध्या च प्रीतिमानभवत् प्रभुः ॥ ५० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! गिरिराजकुमारी उमाके इस प्रकार पूछनेपर पिनाकधारी भगवान् शिव उनके धैर्य और बुद्धिसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

ततस्तामब्रवीद् देवः सुभगे श्रूयतामिति ।
हेतुभिर्यैर्ममैतानि रूपाणि रुचिरानने ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पार्वतीजीसे कहा—'सुभगे ! रुचिरानने ! जिन हेतुओंसे मेरे ये रूप हुए हैं, उन्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादनामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ५७½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शिव-पार्वतीका धर्मविषयक संवाद—वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी आचार एवं प्रवृत्ति-निवृत्तरूप धर्मका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

तिलोत्तमा नाम पुरा ब्रह्मणा योषिदुत्तमा।
तिलं तिलं समुद्धृत्य रत्नानां निर्मिता शुभा॥ १॥

भगवान् शिवने कहा—प्रिये! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने एक सर्वोत्तम नारीकी सृष्टि की थी। उन्होंने सम्पूर्ण रत्नोंका तिल-तिलभर सार उद्धृत करके उस शुभलक्षणा सुन्दरीके अङ्गोंका निर्माण किया था; इसलिये वह तिलोत्तमा नामसे प्रसिद्ध हुई॥ १॥

साभ्यगच्छत मां देवि रूपेणाप्रतिमा भुवि।
प्रदक्षिणं लोभयन्ती मां शुभे रुचिरानना॥ २॥

देवि! शुभे! इस पृथ्वीपर तिलोत्तमाके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुमुखी बाला मुझे लुभाती हुई मेरी परिक्रमा करनेके लिये आयी॥ २॥

यतो यतः सा सुदती मामुपाधावदन्तिके।
ततस्ततो मुखं चारु मम देवि विनिर्गतम्॥ ३॥

देवि! वह सुन्दर दाँतोंवाली सुन्दरी निकटसे मेरी परिक्रमा करती हुई जिस-जिस दिशाकी ओर गयी, उस-उस दिशाकी ओर मेरा मनोरम मुख प्रकट होता गया॥ ३॥

तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः।
चतुर्मुखश्च संवृत्तो दर्शयन् योगमुत्तमम्॥ ४॥

तिलोत्तमाके रूपको देखनेकी इच्छासे मैं योगबलसे चतुर्मूर्ति एवं चतुर्मुख हो गया। इस प्रकार मैंने लोगोंको उत्तम योगशक्तिका दर्शन कराया॥ ४॥

पूर्वेण वदनेनाहमिन्द्रत्वमनुशास्मि ह।
उत्तरेण त्वया सार्धं रमाम्यहमनिन्दिते॥ ५॥

मैं पूर्व दिशावाले मुखके द्वारा इन्द्रपदका अनुशासन करता हूँ। अनिन्दिते! मैं उत्तरवर्ती मुखके द्वारा तुम्हारे साथ वार्तालापके सुखका अनुभव करता हूँ॥ ५॥

पश्चिमं मे मुखं सौम्यं सर्वप्राणिसुखावहम्।
दक्षिणं भीमसंकाशं रौद्रं संहरति प्रजाः॥ ६॥

मेरा पश्चिमवाला मुख सौम्य है और सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाला है तथा दक्षिण दिशावाला भयानक मुख रौद्र है, जो समस्त प्रजाका संहार करता है॥ ६॥

जटिलो ब्रह्मचारी च लोकानां हितकाम्यया।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं पिनाकं मे करे स्थितम्॥ ७॥

लोगोंके हितकी कामनासे ही मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके वेषमें रहता हूँ। देवताओंका हित करनेके लिये पिनाक सदा मेरे हाथमें रहता है॥ ७॥

इन्द्रेण च पुरा वज्रं क्षिप्तं श्रीकाङ्क्षिणा मम।
दग्ध्वा कण्ठं तु तद् यातं तेन श्रीकण्ठता मम॥ ८॥

पूर्वकालमें इन्द्रने मेरी श्री प्राप्त करनेकी इच्छासे मुझपर वज्रका प्रहार किया था। वह वज्र मेरा कण्ठ दग्ध करके चला गया। इससे मेरी श्रीकण्ठ नामसे ख्याति हुई॥ ८॥

(पुरा युगान्तरे यत्नादमृतार्थं सुरासुरैः।
बलवद्भिर्विमथितश्चिरकालं महोदधिः॥

प्राचीन कालके दूसरे युगकी बात है, बलवान् देवताओं और असुरोंने मिलकर अमृतकी प्राप्तिके लिये महान् प्रयास करते हुए चिरकालतक महासागरका मन्थन किया था॥

रज्जुना नागराजेन मथ्यमाने महोदधौ।
विषं तत्र समुद्भूतं सर्वलोकविनाशनम्॥

नागराज वासुकिकी रस्सीसे बँधी हुई मन्दराचलरूपी मथानीद्वारा जब महासागर मथा जाने लगा, तब उससे सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेवाला विष प्रकट हुआ॥

तद् दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे तदा विमनसोऽभवन्।
ग्रस्तं हि तन्मया देवि लोकानां हितकारणात्॥

उसे देखकर सब देवताओंका मन उदास हो गया। देवि! तब मैंने तीनों लोकोंके हितके लिये उस विषको स्वयं पी लिया॥

तत्कृता नीलता चासीत् कण्ठे बर्हिनिभा शुभे।
तदाप्रभृति चैवाहं नीलकण्ठ इति स्मृतः॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।

शुभे! उस विषके ही कारण मेरे कण्ठमें मोरपङ्खके समान नीले रंगका चिह्न बन गया। तभीसे मैं नीलकण्ठ कहा जाने लगा। ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दीं। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

नीलकण्ठ नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखावह॥
बहूनामायुधानां त्वं पिनाकं धर्तुमिच्छसि।
किमर्थं देवदेवेश तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले नीलकण्ठ! आपको नमस्कार है। देवदेवेश्वर! बहुतसे आयुधोंके होते हुए भी आप पिनाकको ही किस लिये धारण करना चाहते हैं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शस्त्रागमं ते वक्ष्यामि शृणु धर्म्यं शुचिस्मिते।
युगान्तरे महादेवि कण्वो नाम महामुनिः ॥
स हि दिव्यां तपश्चर्यां कर्तुमेवोपचक्रमे।

श्रीमहेश्वरने कहा—पवित्र मुसकानवाली महादेवि ! सुनो। मुझे जिस प्रकार धर्मानुकूल शस्त्रोंकी प्राप्ति हुई है, उसे बता रहा हूँ। युगान्तरमें कण्वनामसे प्रसिद्ध एक महामुनि हो गये हैं। उन्होंने दिव्य तपस्या करनी आरम्भ की ॥

तथा तस्य तपो घोरं चरतः कालपर्ययात् ॥
वल्मीकं पुनरुद्भूतं तस्यैव शिरसि प्रिये।
धरमाणश्च तत् सर्वं तपश्चर्यां तथाकरोत्।

प्रिये ! उसके अनुसार घोर तपस्या करते हुए मुनिके मस्तकपर कालक्रमसे बाँबी जम गयी। वह सब अपने मस्तकपर लिये-दिये वे पूर्ववत् तपश्चर्यामें लगे रहे ॥

तस्मै ब्रह्मा वरं दातुं जगाम तपसार्चितः ॥
दत्त्वा तस्मै वरं देवो वेणुं दृष्ट्वा त्वचिन्तयत्।

मुनिकी तपस्यासे पूजित हुए ब्रह्माजी उन्हें वर देनेके लिये गये। वर देकर भगवान् ब्रह्माने वहाँ एक बाँस देखा और उसके उपयोगके लिये कुछ विचार किया॥

लोककार्यं समुद्दिश्य वेणुनानेन भामिनि ॥
चिन्तयित्वा तमादाय कार्मुकार्थे न्ययोजयत्।

भामिनि ! उस बाँसके द्वारा जगत्का उपकार करनेके उद्देश्यसे कुछ सोचकर ब्रह्माजीने उस वेणुको हाथमें ले लिया और उसे धनुषके उपयोगमें लगाया ॥

विष्णोर्मम च सामर्थ्यं ज्ञात्वा लोकपितामहः ॥
धनुषी द्वे तदा प्रादाद् विष्णवे मम चैव तु।

लोकपितामह ब्रह्माने भगवान् विष्णुकी और मेरी शक्ति जानकर उनके और मेरे लिये तत्काल दो धनुष बनाकर दिये ॥

पिनाकं नाम मे चापं शार्ङ्गं नाम हरेर्धनुः ॥
तृतीयमवशेषेण गाण्डीवमभवद् धनुः।

मेरे धनुषका नाम पिनाक हुआ और श्रीहरिके धनुषका नाम शार्ङ्ग। उस वेणुके अवशेष भागसे एक तीसरा धनुष बनाया गया, जिसका नाम गाण्डीव हुआ ॥

तच्च सोमाय निर्दिश्य ब्रह्मा लोकं गतः पुनः ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं शस्त्रागममनिन्दिते।)

गाण्डीव धनुष सोमको देकर ब्रह्माजी फिर अपने लोकको चले गये। अनिन्दिते ! शस्त्रोंकी प्राप्तिका यह सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥

उमोवाच

वाहनेष्वत्र सर्वेषु श्रीमत्स्वन्येषु सत्तम।
कथं च वृषभो देव वाहनत्वमुपागतः ॥ ९ ॥

उमाने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महादेव ! इस जगत्में अन्य सब सुन्दर वाहनोंके होते हुए क्यों वृषभ ही आपका वाहन बना है ? ॥ ९ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

सुरभीमसृजद् ब्रह्मा देवधेनुं पयोमुचम्।
सा सृष्टा बहुधा जाता क्षरमाणा पयोऽमृतम्॥ १० ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! ब्रह्माजीने देवताओंके लिये दूध देनेवाली सुरभि नामक गायकी सृष्टि की, जो मेघके समान दूधरूपी जलकी वर्षा करनेवाली थी। उत्पन्न हुई सुरभि अमृतमय दूध बहाती हुई अनेक रूपोंमें प्रकट हो गयी ॥ १० ॥

तस्या वत्समुखोत्सृष्टः फेनो मद्गात्रमागतः।
ततो दग्धा मया गावो नानावर्णत्वमागताः ॥ ११ ॥

एक दिन उसके बछड़ेके मुखसे निकला हुआ फेन मेरे शरीरपर पड़ गया। इससे मैंने कुपित होकर गौओंको ताप देना आरम्भ किया। मेरे रोषसे दग्ध हुई गौओंके रंग नाना प्रकारके हो गये ॥ ११ ॥

ततोऽहं लोकगुरुणा शमं नीतोऽर्थवेदिना।
वृषं चैनं ध्वजार्थं मे ददौ वाहनमेव च ॥ १२ ॥

तब अर्थनीतिके ज्ञाता लोकगुरु ब्रह्माने मुझे शान्त किया तथा ध्वज-चिह्न और वाहनके रूपमें यह वृषभ मुझे प्रदान किया ॥ १२ ॥

उमोवाच

निवासा बहुरूपास्ते दिवि सर्वगुणान्विताः।
तांश्च संत्यज्य भगवञ्श्मशाने रमसे कथम् ॥ १३ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! स्वर्गलोकमें अनेक प्रकारके सर्वगुणसम्पन्न निवासस्थान हैं, उन सबको छोड़कर आप श्मशान-भूमिमें कैसे रमते हैं ? ॥ १३ ॥

केशास्थिकलिले भीमे कपालघटसंकुले।
गृध्रगोमायुबहुले चितागिनशतसंकुले ॥ १४ ॥
अशुचौ मांसकलिले वसाशोणितकर्दमे।
विकीर्णान्त्रास्थिनिचये शिवानादविनादिते ॥ १५ ॥

श्मशानभूमि तो केशों और हड्डियोंसे भरी होती है। उस भयानक भूमिमें मनुष्योंकी खोपड़ियाँ और घड़े पड़े रहते हैं। गीधों और गीदड़ोंकी जमातें जुटी रहती हैं। वहाँ सब ओर चिताएँ जला करती हैं। मांस, वसा और रक्तकी कीच-सी मची रहती है। बिखरी हुई आँतोंवाली हड्डियोंके ढेर पड़े रहते हैं और सियारिनोंकी हुआँ-हुआँ-

की ध्वनि वहाँ गूँजती रहती है, ऐसे अपवित्र स्थानमें आप क्यों रहते हैं ? ॥ १४-१५ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मेध्यान्वेषी महीं कृत्स्नां विचराम्यनिशं सदा।
न च मेध्यतरं किंचिच्छ्मशानादिह लक्ष्यते॥ १६ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! मैं पवित्र स्थान ढूँढ़नेके लिये सदा सारी पृथ्वीपर दिन-रात विचरता रहता हूँ, परंतु श्मशानसे बढ़कर दूसरा कोई पवित्रतर स्थान यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रहा है ॥ १६ ॥

तेन मे सर्ववासानां श्मशाने रमते मनः।
न्यग्रोधशाखासंछन्ने निर्भुग्नस्रग्विभूषिते ॥ १७ ॥

इसलिये सम्पूर्ण निवासस्थानोंमेंसे श्मशानमें ही मेरा मन अधिक रमता है। वह श्मशान-भूमि बरगदकी डालियोंसे आच्छादित और मुर्दोंके शरीरसे टूटकर गिरी हुई पुष्प-मालाओंके द्वारा विभूषित होती है ॥ १७ ॥

तत्र चैव रमन्तीमे भूतसंघाः शुचिस्मिते।
न च भूतगणैर्देवि विनाहं वस्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥

पवित्र मुसकानवाली देवि ! ये मेरे भूतगण श्मशानमें ही रमते हैं। इन भूतगणोंके बिना मैं कहीं भी रह नहीं सकता ॥ १८ ॥

एष वासो हि मे मेध्यः स्वर्गीयश्च मतः शुभे।
पुण्यः परमकश्चैव मेध्यकामैरुपास्यते ॥ १९ ॥

शुभे ! यह श्मशानका निवास ही मैंने अपने लिये पवित्र और स्वर्गीय माना है। यही परम पुण्यस्थली है। पवित्र वस्तुकी कामना रखनेवाले उपासक इसीकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥

(अस्माच्छ्मशानमेध्यं तु नास्ति किंचिदनिन्दिते।
निस्सम्पातान्मनुष्याणां तस्माच्छुचितमं स्मृतम्॥

अनिन्दिते! इस श्मशानभूमिसे अधिक पवित्र दूसरा कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वहाँ मनुष्योंका अधिक आना-जाना नहीं होता। इसीलिये वह स्थान पवित्रतम माना गया है॥

स्थानं मे तत्र विहितं वीरस्थानमिति प्रिये।
कपालशतसम्पूर्णमभिरूपं भयानकम् ॥

प्रिये ! वह वीरोंका स्थान है, इसलिये मैंने वहाँ अपना निवास बनाया है। वह मृतकोंकी सैकड़ों खोपड़ियोंसे भरा हुआ भयानक स्थान भी मुझे सुन्दर लगता है॥

मध्याह्ने संध्ययोस्तत्र नक्षत्रे रुद्रदैवते।
आयुष्कामैरशुद्धैर्वा न गन्तव्यमिति स्थितिः ॥

दोपहरके समय, दोनों संध्याओंके समय तथा आर्द्रा नक्षत्रमें दीर्घायुकी कामना रखनेवाले अथवा अशुद्ध पुरुषोंको वहाँ नहीं जाना चाहिये, ऐसी मर्यादा है ॥

मदन्येन न शक्यं हि निहन्तुं भूतजं भयम्।
तत्रस्थोऽहं प्रजाः सर्वाः पालयामि दिने दिने॥

मेरे सिवा दूसरा कोई भूतजनित भयका नाश नहीं कर सकता। इसलिये मैं श्मशानमें रहकर समस्त प्रजाओंका प्रतिदिन पालन करता हूँ ॥

मन्नियोगाद् भूतसंघा न च घ्नन्तीह कंचन।
तांस्तु लोकहितार्थाय श्मशाने रमयाम्यहम्॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।

मेरी आज्ञा मानकर ही भूतोंके समुदाय अब इस जगत्‌में किसीकी हत्या नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये मैं उन भूतोंको श्मशान-भूमिमें रमाये रखता हूँ। श्मशान-भूमिमें रहनेका यह सारा रहस्य मैंने तुमको बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश त्रिनेत्र वृषभध्वज।
पिङ्गलं विकृतं भाति रूपं ते तु भयानकम् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! त्रिनेत्र ! वृषभध्वज ! आपका रूप पिङ्गल, विकृत और भयानक प्रतीत होता है ॥

भस्मदिग्धं विरूपाक्षं तीक्ष्णदंष्ट्रं जटाकुलम्।
व्याघ्रोदरत्वक्संवीतं कपिलश्मश्रुसंततम् ॥

आपके सारे शरीरमें भभूति पुती हुई है, आपकी आँख विकराल दिखायी देती है, दाढ़ें तीखी हैं और सिरपर जटाओंका भार लदा हुआ है, आप बाघम्बर लपेटे हुए हैं और आपके मुखपर कपिल रंगकी दाढ़ी-मूँछ फैली हुई है ॥

रौद्रं भयानकं घोरं शूलपट्टिशसंयुतम्।
किमर्थं त्वीदृशं रूपं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

आपका रूप ऐसा रौद्र, भयानक, घोर तथा शूल और पट्टिश आदिसे युक्त किसलिये है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता।
द्विविधो लौकिको भावः शीतमुष्णमिति प्रिये॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! मैं इसका भी यथार्थ कारण बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। जगत्‌के सारे पदार्थ दो भागोंमें विभक्त हैं—शीत और उष्ण (अग्नि और सोम) ॥

१ यहाँ आचार्य नीलकण्ठके मतमें श्मशान शब्दसे काशीका महाश्मशान ही गृहीत होता है। इसीलिये वहाँ शवके दर्शनसे शिवके दर्शनका फल माना जाता है।

तयोर्हि ग्रथितं सर्वं सौम्याग्नेयमिदं जगत्।
सौम्यत्वं सततं विष्णौ मय्याग्नेयं प्रतिष्ठितम्॥
अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् बिभर्म्यहम्।

अग्नि-सोम-रूप यह सम्पूर्ण जगत् उन शीत और उष्ण तत्त्वोंमें गुँथा हुआ है। सौम्य गुणकी स्थिति सदा भगवान् विष्णुमें है और मुझमें आग्नेय (तैजस) गुण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इस विष्णु और शिवरूप शरीरसे मैं सदा समस्त लोकोंकी रक्षा करता हूँ॥

रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टिशसंयुतम्।
आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहिते रतम्॥

देवि! यह जो विकराल नेत्रोंसे युक्त और शूल-पट्टिशसे सुशोभित भयानक आकृतिवाला मेरा रूप है, यही आग्नेय है। यह सम्पूर्ण जगत्के हितमें तत्पर रहता है॥

यद्यहं विपरीतः स्यामेतत् त्यक्त्वा शुभानने।
तदैव सर्वलोकानां विपरीतं प्रवर्तते॥

शुभानने! यदि मैं इस रूपको त्यागकर इसके विपरीत हो जाऊँ तो उसी समय सम्पूर्ण लोकोंकी दशा विपरीत हो जायगी॥

तस्मान्मयेदं ध्रियते रूपं लोकहितैषिणा।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

देवि! इसलिये लोकहितकी इच्छासे ही मैंने यह रूप धारण किया है। अपने रूपका यह सारा रहस्य बता दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवति देवेशे विस्मिता परमर्षयः।
वाग्भिः साञ्जलिमालाभिरभितुष्टुवुरीश्वरम्॥

नारदजी कहते हैं—देवेश्वर भगवान् शङ्करके ऐसा कहनेपर सभी महर्षि बड़े विस्मित हुए और हाथ जोड़कर अपनी वाणीद्वारा उन महादेवजीकी स्तुति करने लगे॥

ऋषय ऊचुः

नमः शङ्कर सर्वेश नमः सर्वजगद्गुरो।
नमो देवादिदेवाय नमः शशिकलाधर॥

ऋषि बोले—सर्वेश्वर शङ्कर! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्के गुरुदेव! आपको नमस्कार है। देवताओंके भी आदि देवता! आपको नमस्कार है। चन्द्रकलाधारी शिव! आपको नमस्कार है॥

नमो घोरतराद् घोर नमो रुद्राय शङ्कर।
नमः शान्ततराच्छान्त नमश्चन्द्रस्य पालक॥

अत्यन्त घोरसे भी घोर रुद्रदेव! शङ्कर! आपको बार-बार नमस्कार है। अत्यन्त शान्तसे भी शान्त शिव! आपको नमस्कार है। चन्द्रमाके पालक! आपको नमस्कार है॥

नमः सोमाय देवाय नमस्तुभ्यं चतुर्मुख।
नमो भूतपते शम्भो जह्नुकन्याम्बुशेखर॥

उमासहित महादेवजीको नमस्कार है। चतुर्मुख! आपको नमस्कार है। गङ्गाजीके जलको सिरपर धारण करनेवाले भूतनाथ शम्भो! आपको नमस्कार है॥

नमस्त्रिशूलहस्ताय पन्नगाभरणाय च।
नमोऽस्तु विषमाक्षाय दक्षयज्ञप्रदाहक॥

हाथोंमें त्रिशूल धारण करनेवाले तथा सर्पमय आभूषणोंसे विभूषित आप महादेवको नमस्कार है। दक्षयज्ञको दग्ध करनेवाले त्रिलोचन! आपको नमस्कार है॥

नमोऽस्तु बहुनेत्राय लोकरक्षणतत्पर।
अहो देवस्य माहात्म्यमहो देवस्य वै कृपा॥
एवं धर्मपरत्वं च देवदेवस्य चार्हति।

लोकरक्षामें तत्पर रहनेवाले शंकर! आपके बहुतसे नेत्र हैं, आपको नमस्कार है। अहो! महादेवजीका कैसा माहात्म्य है। अहो! रुद्रदेवकी कैसी कृपा है। ऐसी धर्मपरायणता देवदेव महादेवके ही योग्य है॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवत्सु मुनिषु वचो देव्यब्रवीद्धरम्।
सम्प्रीत्यर्थं मुनीनां सा क्षणज्ञा परमं हितम्॥)

नारदजी कहते हैं—जब मुनि इस प्रकार स्तुति कर रहे थे, उसी समय अवसरको जाननेवाली देवी पार्वती मुनियोंकी प्रसन्नताके लिये भगवान् शंकरसे परम हितकी बात बोलीं॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वधर्मविदां वर।
पिनाकपाणे वरद संशयो मे महानयम्॥ २०॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ! सर्वभूतेश्वर! भगवन्! वरदायक! पिनाकपाणे! मेरे मनमें यह एक और महान् संशय है॥ २०॥

अयं मुनिगणः सर्वस्तपस्तेप इति प्रभो।
तपोवेषकरो लोके भ्रमते विविधाकृतिः॥ २१॥
अस्य चैवर्षिसंघस्य मम च प्रियकाम्यया।
एतं ममेह संदेहं वक्तुमर्हस्यरिंदम॥ २२॥

प्रभो! यह जो मुनियोंका सारा समुदाय यहाँ उपस्थित है, सदा तपस्यामें संलग्न रहा है और तपस्वीका वेष धारण किये लोकमें भ्रमण कर रहा है; इन सबकी आकृति भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। शत्रुदमन शिव! इस ऋषिसमुदायका तथा मेरा भी प्रिय करनेकी इच्छासे आप मेरे इस संदेहका समाधान करें॥ २१-२२॥

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं वा चरितुं नरैः।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! धर्मज्ञ ! धर्मका क्या लक्षण बताया गया है ? तथा जो धर्मको नहीं जानते हैं ऐसे मनुष्य उस धर्मका आचरण कैसे कर सकते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २३ ॥

नारद उवाच

ततो मुनिगणः सर्वस्तां देवीं प्रत्यपूजयत्।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तवैश्चार्थविशारदैः॥ २४ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर समस्त मुनिसमुदायने देवी पार्वतीकी ऋग्वेदके मन्त्रार्थोंसे सुशोभित वाणी तथा उत्तम अर्थयुक्त स्तोत्रोंद्वारा स्तुति एवं प्रशंसा की ॥ २४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥ २५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! किसी भी जीवकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियोंपर दया करना, मन और इन्द्रियोंपर काबू रखना तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान देना गृहस्थ-आश्रमका उत्तम धर्म है ॥ २५ ॥

परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥ २६ ॥
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ॥ २७ ॥

(उक्त गृहस्थ-धर्मका पालन करना,) परायी स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना, धरोहर और स्त्रीकी रक्षा करना, बिना दिये किसीकी वस्तु न लेना तथा मांस और मदिराको त्याग देना—ये धर्मके पाँच भेद हैं, जो सुखकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इनमेंसे एक-एक धर्मकी अनेक शाखाएँ हैं। धर्मको श्रेष्ठ माननेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे पुण्यप्रद धर्मका पालन अवश्य करें ॥ २६-२७ ॥

उमोवाच

भगवन् संशयः पृष्टस्तन्मे शंसितुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य यो धर्मः स्वे स्वे वर्णे गुणावहः॥ २८ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मैं एक और संशय उपस्थित करती हूँ; चारों वर्णोंका जो-जो धर्म अपने-अपने वर्णके लिये विशेष लाभकारी हो, वह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ २८ ॥

ब्राह्मणे कीदृशो धर्मः क्षत्रिये कीदृशोऽभवत्।
वैश्ये किंलक्षणो धर्मः शूद्रे किंलक्षणो भवेत् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणके लिये धर्मका स्वरूप कैसा है, क्षत्रियके लिये कैसा है, वैश्यके लिये उपयोगी धर्मका क्या लक्षण है तथा शूद्रके धर्मका भी क्या लक्षण है ? ॥ २९ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(एतत्ते कथयिष्यामि यत्ते देवि मनःप्रियम्।
शृणु तत् सर्वमखिलं धर्मं वर्णाश्रमाश्रितम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारे मनको प्रिय लगनेवाला जो यह धर्मका विषय है, उसे बताऊँगा। तुम वर्णों और आश्रमोंपर अवलम्बित समस्त धर्मका पूर्णरूपसे वर्णन सुनो ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधम्।
ब्रह्मणा विहिताः पूर्वं लोकतन्त्रमभीप्सता ॥
कर्माणि च तदर्हाणि शास्त्रेषु विहितानि वै।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये वर्णोंके चार भेद हैं। लोकतन्त्रकी इच्छा रखनेवाले विधाताने सबसे पहले ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है और शास्त्रोंमें उनके योग्य कर्मोंका विधान किया है ॥

यदीदमेकवर्णं स्याज्जगत् सर्वं विनश्यति ॥
सहैव देवि वर्णानि चत्वारि विहितान्यतः।

देवि ! यदि यह सारा जगत् एक ही वर्णका होता तो सब साथ ही नष्ट हो जाता। इसलिये विधाताने चार वर्ण बनाये हैं ॥

मुखतो ब्राह्मणाः सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदाः॥
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् ते बाहुगर्विताः।

ब्राह्मणोंकी सृष्टि विधाताके मुखसे हुई है, इसीलिये वे वाणीविशारद होते हैं। क्षत्रियोंकी सृष्टि दोनों भुजाओंसे हुई है, इसीलिये उन्हें अपने बाहुबलपर गर्व होता है ॥

उदरादुद्गता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः ॥
शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारकाः।
तेषां धर्मांश्च कर्माणि शृणु देवि समाहिता ॥

वैश्योंकी उत्पत्ति उदरसे हुई है, इसीलिये वे उदरपोषणके निमित्त कृषि, वाणिज्यादि वार्तावृत्तिका आश्रय ले जीवननिर्वाह करते हैं। शूद्रोंकी सृष्टि पैरसे हुई है, इसलिये वे परिचारक होते हैं। देवि ! अब तुम एकाग्रचित्त होकर चारों वर्णोंके धर्म और कर्मोंका वर्णन सुनो ॥

विप्राः कृता भूमिदेवा लोकानां धारणे कृताः।
ते कैश्चिन्नावमन्तव्या ब्राह्मणा हितमिच्छुभिः॥

ब्राह्मणको इस भूमिका देवता बनाया गया है। वे सब लोकोंकी रक्षाके लिये उत्पन्न किये गये हैं। अतः अपने हितकी इच्छा रखनेवाले किसी भी मनुष्यको ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्दानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात् समासतः ॥

देवि ! यदि दान और योगका वहन करनेवाले वे ब्राह्मण

न हों तो लोक और परलोक दोनोंकी स्थिति कदापि नहीं रह सकती ॥

ब्राह्मणान् योऽवमन्येत निन्देच्च क्रोधयेच्च वा।
प्रहरेत हरेद् वापि धनं तेषां नराधमः ॥
कारयेद्धीनकर्माणि कामलोभविमोहनात् ।
स च मामवमन्येत मां क्रोधयति निन्दति ॥
मामेव प्रहरेन्मूढो मद्धनस्यापहारकः ।
मामेव प्रेषणं कृत्वा निन्दते मूढचेतनः ॥

जो ब्राह्मणोंका अपमान और निन्दा करता अथवा उन्हें क्रोध दिलाता या उनपर प्रहार करता, अथवा उनका धन हर लेता है या काम, लोभ एवं मोहके वशीभूत होकर उनसे नीच कर्म कराता है, वह नराधम मेरा ही अपमान या निन्दा करता है । मुझे ही क्रोध दिलाता है, मुझपर ही प्रहार करता है, वह मूढ़ मेरे ही धनका अपहरण करता है तथा वह मूढ़-चित्त मानव मुझे ही इधर-उधर भेजकर नीच कर्म कराता और निन्दा करता है ॥

स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः ।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः ॥
सत्यं शान्तिस्तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः ।

वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मणका धर्म है, यह शास्त्रका निर्णय है । वेदोंको पढ़ाना, यजमानका यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी जीविकाके साधनभूत कर्म हैं । सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचारका पालन—यह उसका सनातन धर्म है ॥

विक्रयो रसधान्यानां ब्राह्मणस्य विगर्हितः ॥

रस और धान्य (अनाज) का विक्रय करना ब्राह्मणके लिये निन्दित है ॥

तप एव सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः ।
स तु धर्मार्थमुत्पन्नः पूर्वं धात्रा तपोबलात् ॥)

सदा तप करना ही ब्राह्मणका धर्म है, इसमें संशय नहीं है । विधाताने पूर्वकालमें धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये ही अपने तपोबलसे ब्राह्मणको उत्पन्न किया था ॥

न्यायतस्ते महाभागे सर्वशः समुदीरितः ।
भूमिदेवा महाभागाः सदा लोके द्विजातयः ॥ ३० ॥

महाभागे ! मैंने तुम्हारे निकट सब प्रकारसे धर्मका निर्णय किया है । महाभाग ब्राह्मण इस लोकमें सदा भूमिदेव माने गये हैं ॥ ३० ॥

उपवासः सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः ।
स हि धर्मार्थसम्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥

इसमें संशय नहीं कि उपवास (इन्द्रियसंयम) व्रतका आचरण करना ब्राह्मणके लिये सदा धर्म बतलाया गया है । धर्मार्थसम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

तस्य धर्मक्रिया देवि ब्रह्मचर्या च न्यायतः ।
व्रतोपनयनं चैव द्विजो येनोपपद्यते ॥ ३२ ॥

देवि ! उसे धर्मका अनुष्ठान और न्यायतः ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । व्रतके पालनपूर्वक उपनयन-संस्कार-का होना उसके लिये परम आवश्यक है, क्योंकि उसीसे वह द्विज होता है ॥ ३२ ॥

गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः ।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ॥ ३३ ॥

गुरु और देवताओंकी पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यास-रूप धर्मका पालन ब्राह्मणको अवश्य करना चाहिये । धर्म-परायण देहधारियोंको उचित है कि वे पुण्यप्रद धर्मका आचरण अवश्य करें ॥ ३३ ॥

उमोवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं वै नैपुण्येन प्रकीर्तय ॥ ३४ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! मेरे मनमें अभी संशय रह गया है । अतः उसकी व्याख्या करके मुझे समझाइये । चारों वर्णोंका जो धर्म है, उसका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कीजिये ॥ ३४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम् ।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम् ॥ ३५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मका रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रतका पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रम-का धर्म है ॥ ३५ ॥

भैक्षचर्या परो धर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता ।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा ॥ ३६ ॥

ब्रह्मचारीके लिये भैक्षचर्या (गाँवोंमेंसे भिक्षा माँगकर लाना और गुरुको समर्पित करना) परम धर्म है । नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेदका स्वाध्याय करना और ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंके पालनमें लगे रहना, ब्रह्मचारीका प्रधान धर्म है ॥ ३६ ॥

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः ।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यकी अवधि समाप्त होनेपर द्विज अपने गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्तन करे और घर आकर अनुरूप स्त्रीसे विधिपूर्वक विवाह करे ॥ ३७ ॥

शूद्रान्नवर्जनं धर्मस्तथा सत्पथसेवनम् ।
धर्मो नित्योपवासित्वं ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणको शूद्रका अन्न नहीं खाना चाहिये, यह उसका धर्म है। सन्मार्गका सेवन, नित्य उपवास-व्रत और ब्रह्मचर्यका पालन भी धर्म है ॥ ३८ ॥

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक् शुचिः॥ ३९ ॥

गृहस्थको अग्निस्थापनपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला, स्वाध्यायशील, होमपरायण, जितेन्द्रिय, विघसाशी, मिताहारी सत्यवादी और पवित्र होना चाहिये ॥ ३९ ॥

अतिथिव्रतता धर्मो धर्मस्त्रेताग्निधारणम्।
इष्टीश्च पशुबन्धांश्च विधिपूर्वं समाचरेत् ॥ ४०॥

अतिथि सत्कार करना और गार्हपत्य आदि त्रिविध अग्नियोंकी रक्षा करना उसके लिये धर्म है। वह नाना प्रकारकी इष्टियों और पशुरक्षाकर्मका भी विधिपूर्वक आचरण करे ॥ ४० ॥

यज्ञश्च परमो धर्मस्तथाहिंसा च देहिषु।
अपूर्वभोजनं धर्मो विघसाशित्वमेव च ॥ ४१ ॥

यज्ञ करना तथा किसी भी जीवकी हिंसा न करना उसके लिये परम धर्म है। घरमें पहले भोजन न करना तथा विघसाशी होना—कुटुम्बके लोगोंके भोजन करानेके बाद ही अवशिष्ट अन्नका भोजन करना—यह भी उसका धर्म है ॥ ४१ ॥

भुक्ते परिजने पश्चाद् भोजनं धर्म उच्यते।
ब्राह्मणस्य गृहस्थस्य श्रोत्रियस्य विशेषतः ॥ ४२ ॥

जब कुटुम्बीजन भोजन कर लें उसके पश्चात् स्वयं भोजन करना—यह गृहस्थ ब्राह्मणका विशेषतः श्रोत्रियका मुख्य धर्म बताया गया है ॥ ४२ ॥

दम्पत्योः समशीलत्वं धर्मः स्याद् गृहमेधिनः।
गृह्याणां चैव देवानां नित्यपुष्पबलिक्रिया ॥ ४३ ॥
नित्योपलेपनं धर्मस्तथा नित्योपवासिता।

पति और पत्नीका स्वभाव एक-सा होना चाहिये। यह गृहस्थका धर्म है। घरके देवताओंकी प्रतिदिन पुष्पोंद्वारा पूजा करना, उन्हें अन्नकी बलि समर्पित करना, रोज-रोज घर लीपना और प्रतिदिन व्रत रखना भी गृहस्थका धर्म है ॥ ४३½ ॥

सुसम्मृष्टोपलिप्ते च साज्यधूमो भवेद् गृहे ॥ ४४ ॥
एष द्विजजने धर्मो गार्हस्थ्यो लोकधारणः।
द्विजानां च सतां नित्यं सदैवैष प्रवर्तते ॥ ४५ ॥

झाड़-बुहार, लीप-पोतकर स्वच्छ किये हुए घरमें घृतयुक्त आहुति करके उसका धुआँ फैलाना चाहिये। यह ब्राह्मणोंका गार्हस्थ्य धर्म बतलाया, जो संसारकी रक्षा करनेवाला है। अच्छे ब्राह्मणोंके यहाँ सदा ही इस धर्मका पालन किया जाता है ॥ ४४-४५ ॥

यस्तु क्षत्रगतो देवि मया धर्म उदीरितः।
तमहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे शृणु समाहिता ॥ ४६ ॥

देवि! मेरे द्वारा जो क्षत्रिय-धर्म बताया गया है, उसीका अब तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ, तुम मुझसे एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४६ ॥

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ ४७ ॥

क्षत्रियका सबसे पहला धर्म है प्रजाका पालन करना। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है ॥ ४७ ॥

(क्षत्रियास्तु ततो देवि द्विजानां पालने स्मृताः।
यदि न क्षत्रियो लोके जगत् स्यादधरोत्तरम् ॥
रक्षणात् क्षत्रियैरेव जगद् भवति शाश्वतम्।

देवि! क्षत्रिय ब्राह्मणोंके पालनमें तत्पर रहते हैं। यदि संसारमें क्षत्रिय न होता तो इस जगत्‌में भारी उलट-फेर या विप्लव मच जाता। क्षत्रियोंद्वारा रक्षा होनेसे ही यह जगत् सदा टिका रहता है ॥

सम्यग्गुणहितो धर्मो धर्मः पौरहितक्रिया।
व्यवहारस्थितिर्नित्यं गुणयुक्तो महीपतिः ॥)

उत्तम गुणोंका सम्पादन और पुरवासियोंका हित-साधन उसके लिये धर्म है। गुणवान् राजा सदा न्याययुक्त व्यवहारमें स्थित रहे ॥

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः।
तस्य धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः ॥ ४८ ॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसे उसके प्रजापालनरूपी धर्मके प्रभावसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥ ४९ ॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥ ५० ॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥ ५१ ॥

राजाका परम धर्म है—इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्यका सम्पादन, पोष्यवर्गका भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना, अपराधके अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना, व्यवहारमें न्यायकी रक्षा करना और सत्यभाषणमें अनुरक्त होना। ये सभी कर्म राजाके लिये धर्म ही हैं ॥ ४९—५१ ॥

आर्तहस्तप्रदो राजा प्रेत्य चेह महीयते।
गोब्राह्मणार्थे विक्रान्तः संग्रामे निधनं गतः॥ ५२॥
अश्वमेधजिताँल्लोकानाप्नोति त्रिदिवालये॥ ५३॥

जो राजा दुखी मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, वह इस लोक और परलोकमें भी सम्मानित होता है। गौओं और ब्राह्मणोंको संकटसे बचानेके लिये जो पराक्रम दिखाकर संग्राममें मृत्युको प्राप्त होता है, वह स्वर्गमें अश्वमेध यज्ञोंद्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार जमा लेता है॥ ५२-५३॥

(तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।)

देवि! इसी प्रकार वैश्य भी लोगोंकी जीवन-यात्राके निर्वाहमें सहायक माने गये हैं। दूसरे वर्णोंके लोग उन्हींके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं। यदि वैश्य न हों तो दूसरे वर्णके लोग भी न रहें॥

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥ ५४॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥ ५५॥

पशुओंका पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्गका आश्रय लेकर सदाचारका पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत और त्याग—ये सब वैश्योंके सनातन धर्म हैं॥ ५४-५५॥

तिलान् गन्धान् रसांश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्यः सत्पथमाश्रितः॥ ५६॥
सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।

व्यापार करनेवाले सदाचारी वैश्यको तिल, चन्दन और रसकी विक्री नहीं करनी चाहिये तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इस त्रिवर्गका सब प्रकारसे यथाशक्ति यथायोग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिये॥ ५६½॥

शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु॥ ५७॥
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्॥ ५८॥

शूद्रका परम धर्म है तीनों वर्णोंकी सेवा। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा करनेवाला है, वह महान् तपका संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिये कठोर तप है॥ ५७-५८॥

नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान्॥ ५९॥

नित्य सदाचारका पालन और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाले बुद्धिमान् शूद्रको धर्मका मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है॥ ५९॥

(तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः।
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते॥

इसी प्रकार शूद्र भी सम्पूर्ण धर्मोंके साधक बताये गये हैं। यदि शूद्र न हों तो सेवाका कार्य करनेवाला कोई नहीं है॥

त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः॥

पहलेके जो तीन वर्ण हैं, वे सब शूद्रमूलक ही हैं, क्योंकि शूद्र ही सेवाका कर्म करनेवाले माने गये हैं। ब्राह्मण आदिकी सेवा ही दास या शूद्रका धर्म माना गया है॥

वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो दैवतद्विजवन्दकः॥

वाणिज्य, कारीगरके कार्य, शिल्प तथा नाट्य भी शूद्रका धर्म है। उसे अहिंसक, सदाचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये॥

शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपयुज्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः॥)

ऐसा शूद्र अपने धर्मसे सम्पन्न और उसके अभीष्ट फलोंका भागी होता है। यह तथा और भी शूद्र-धर्म कहा गया है॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं चातुर्वर्ण्यस्य शोभने।
एकैकस्येह सुभगे किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥ ६०॥

शोभने! इस प्रकार मैंने तुम्हें एक-एक करके चारों वर्णोंका सारा धर्म बतलाया। सुभगे! अब और क्या सुनना चाहती हो?॥ ६०॥

उमोवाच

(भगवन् देवदेवेश नमस्ते वृषभध्वज।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव धर्ममाश्रमिणां विभो॥

उमा बोलीं—भगवन्! देवदेवेश्वर! वृषभध्वज! देव! आपको नमस्कार है। प्रभो! अब मैं आश्रमियोंका धर्म सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तथाश्रमगतं धर्मं शृणु देवि समाहिता।
आश्रमाणां तु यो धर्मः क्रियते ब्रह्मवादिभिः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! एकाग्रचित्त होकर आश्रम-धर्मका वर्णन सुनो। ब्रह्मवादी मुनियोंने आश्रमोंका जो धर्म निश्चित किया है, वही यहाँ बताया जा रहा है॥

गृहस्थः प्रवरस्तेषां गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रितः ।
पञ्चयज्ञक्रिया शौचं दारतुष्टिरतन्द्रिता ॥
ऋतुकालाभिगमनं दानयज्ञतपांसि च ।
अविप्रवासस्तस्येष्टः स्वाध्यायश्चाग्निपूर्वकम् ॥

आश्रमोंमें गृहस्थ-आश्रम सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह गार्हस्थ्य धर्मपर प्रतिष्ठित है । पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान, बाहर-भीतरकी पवित्रता, अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहना, आलस्यको त्याग देना, ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करना, दान, यज्ञ और तपस्यामें लगे रहना, परदेश न जाना और अग्निहोत्रपूर्वक वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना—ये गृहस्थके अभीष्ट धर्म हैं ॥

तथैव वानप्रस्थस्य धर्माः प्रोक्ताः सनातनाः ।
गृहवासं समुत्सृज्य निश्चित्यैकमनाः शुभैः ॥
वन्यैरेव सदाहारैर्वर्तयेदिति च स्थितिः ।

इसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रमके सनातन धर्म बताये गये हैं । वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छावाला पुरुष एकचित्त होकर निश्चय करनेके पश्चात् घरका रहना छोड़कर वनमें चला जाय और वनमें प्राप्त होनेवाले उत्तम आहारोंसे ही जीवन-निर्वाह करे । यही उसके लिये शास्त्र-विहित मर्यादा है ॥

भूमिशय्या जटाश्मश्रुचर्मवल्कलधारणम् ॥
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम् ।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते ॥
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः ।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते ॥

पृथ्वीपर सोना, जटा और दाढ़ी-मूँछ रखना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करना, महान् कष्ट सहकर भी देवताओंकी पूजा आदिका निर्वाह करना—यह वानप्रस्थका नियम है । उसके लिये प्रतिदिन अग्निहोत्र और त्रिकाल-स्नानका विधान है । ब्रह्मचर्य, क्षमा और शौच आदि उसका सनातन धर्म है । ऐसा करनेवाला वानप्रस्थ प्राणत्यागके पश्चात् देवलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥

यतिधर्मास्तथा देवि गृहांस्त्यक्त्वा यतस्ततः ।
आकिञ्चन्यमनारम्भः सर्वतः शौचमार्जवम् ॥
सर्वत्र भैक्षचर्या च सर्वत्रैव विवासनम् ।
सदा ध्यानपरत्वं च दोषशुद्धिः क्षमा दया ॥
तत्त्वानुगतबुद्धित्वं तस्य धर्मविधिर्भवेत् ।

देवि ! यतिधर्म इस प्रकार है । संन्यासी घर छोड़कर इधर-उधर विचरता रहे । वह अपने पास किसी वस्तुका संग्रह न करे । कर्मोंके आरम्भ या आयोजनसे दूर रहे । सब ओरसे पवित्रता और सरलताको वह अपने भीतर स्थान दे । सर्वत्र भिक्षासे जीविका चलावे । सभी स्थानोंसे वह विलग रहे । सदा ध्यानमें तत्पर रहना, दोषोंसे शुद्ध होना, सबपर क्षमा और दयाका भाव रखना तथा बुद्धिको तत्त्वके चिन्तनमें लगाये रखना—ये सब संन्यासीके लिये धर्मकार्य हैं ॥

बुभुक्षितं पिपासार्तमतिथिं श्रान्तमागतम् ।
अर्चयन्ति वरारोहे तेषामपि फलं महत् ॥

वरारोहे ! जो भूख-प्याससे पीड़ित और थके-मादे आये हुए अतिथिकी सेवा-पूजा करते हैं, उन्हें भी महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

पात्रमित्येव दातव्यं सर्वस्मै धर्मकाङ्क्षिभिः ।
आगमिष्यति यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति ॥

धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि अपने घरपर आये हुए सभी अतिथियोंको दानका उत्तम पात्र समझकर दान दें । उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि आज जो पात्र आयेगा, वह हमारा उद्धार कर देगा ॥

काले सम्प्राप्तमतिथिं भोक्तुकाममुपस्थितम् ।
यस्तं सम्भावयेत् तत्र व्यासोऽयं समुपस्थितः ॥

समयपर भोजनकी इच्छासे आये अथवा उपस्थित हुए अतिथिका जो समादर करता है, वहाँ ये साक्षात् भगवान् व्यास उपस्थित होते हैं ॥

तस्य पूजां यथाशक्त्या सौम्यचित्तः प्रयोजयेत् ।
चित्तमूलो भवेद् धर्मो धर्ममूलं भवेद् यशः ॥

अतः कोमलचित्त होकर उस अतिथिकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये; क्योंकि धर्मका मूल है चित्तका विशुद्ध भाव और यशका मूल है धर्म ॥

तस्मात् सौम्येन चित्तेन दातव्यं देवि सर्वथा ।
सौम्यचित्तस्तु यो दद्यात् तद्धि दानमनुत्तमम् ॥

अतः देवि ! सर्वथा सौम्य चित्तसे दान देना चाहिये; क्योंकि जो सौम्यचित्त होकर दान देता है, उसका वह दान सर्वोत्तम है ॥

यथाम्बुबिन्दुभिः सूक्ष्मैः पतद्भिर्मेदिनीतले ।
केदाराश्च तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ॥
तोयपूर्णानि दृश्यन्ते अप्रतर्क्यानि शोभने ।
अल्पमल्पमपि ह्येकं दीयमानं विवर्धते ॥

शोभने ! जैसे भूतलपर वर्षाके समय गिरती हुई जलकी छोटी-छोटी बूँदोंसे ही खेतोंकी क्यारियाँ, तालाब, सरोवर और सरिताएँ अतर्क्य भावसे जलपूर्ण दिखायी देती हैं, उसी प्रकार एक-एक करके थोड़ा-थोड़ा दिया हुआ दान भी बढ़ जाता है ॥

पीडयापि च भृत्यानां दानमेव विशिष्यते ।
पुत्रदारधनं धान्यं न मृताननुगच्छति ॥

भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंको थोड़ा-सा कष्ट देकर भी यदि दान किया जा सके तो दान ही श्रेष्ठ माना गया है । स्त्री-पुत्र, धन और धान्य—ये वस्तुएँ मरे हुए पुरुषोंके साथ नहीं जाती हैं ॥

श्रेयो दानं च भोगश्च धनं प्राप्य यशस्विनि ।
दानेन हि महाभागा भवन्ति मनुजाधिपाः ॥
नास्ति भूमौ दानसमं नास्ति दानसमो निधिः ।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ॥

यशस्विनि ! धन पाकर उसका दान और भोग करना भी श्रेष्ठ है; परंतु दान करनेसे मनुष्य महान् सौभाग्यशाली नरेश होते हैं । इस पृथ्वीपर दानके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है । दानके समान कोई निधि नहीं है । सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पातक नहीं है ॥

आश्रमे यस्तु तप्येत तपो मूलफलाशनः ।
आदित्याभिमुखो भूत्वा जटावल्कलसंवृतः ॥
मण्डूकशायी हेमन्ते ग्रीष्मे पञ्चतपा भवेत् ।
सम्यक् तपश्चरन्तीह श्रद्दधाना वनाश्रमे ॥
गृहाश्रमस्य ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

जो वानप्रस्थ आश्रममें फल-मूल खाकर जटा बढ़ाये, वल्कल पहने, सूर्यकी ओर मुँह करके तपस्या करता है, हेमन्त ऋतुमें मेढककी भाँति जलमें सोता है और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्निका ताप सहन करता है । इस प्रकार जो लोग वानप्रस्थ आश्रममें रहकर श्रद्धापूर्वक उत्तम तप करते हैं, वे भी गृहस्थाश्रमके पालनसे होनेवाले धर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते ॥

उमोवाच

गृहाश्रमस्य या चर्या व्रतानि नियमाश्च ये ॥
यथा च देवताः पूज्याः सततं गृहमेधिना ।
यद् यच्च परिहर्तव्यं गृहिणा तिथिपर्वसु ॥
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि कथ्यमानं त्वया विभो ।

उमाने कहा—प्रभो ! गृहस्थाश्रमका जो आचार है, जो व्रत और नियम हैं, गृहस्थको सदा जिस प्रकारसे देवताओंकी पूजा करनी चाहिये तथा तिथि और पर्वोंके दिन उसे जिस-जिस वस्तुका त्याग करना चाहिये, वह सब मैं आपके मुखसे सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

गृहाश्रमस्य यन्मूलं फलं धर्मोऽयमुत्तमः ॥
पादैश्चतुर्भिः सततं धर्मो यत्र प्रतिष्ठितः ।
सारभूतं वरारोहे दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥
तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रूयतां धर्मचारिणि ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! गृहस्थ-आश्रमका जो मूल और फल है, यह उत्तम धर्म जहाँ अपने चारों चरणोंसे सदा विराजमान रहता है, वरारोहे ! जैसे दहीसे घी निकाला जाता है, उसी प्रकार जो सब धर्मोंका सारभूत है, उसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ । धर्मचारिणि ! सुनो ॥

शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे ॥
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः ।
तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते ।

जो लोग गृहस्थाश्रममें रहकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है तथा जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र कर्म करते हैं, उन सबपर इन्द्र आदि देवता, पितृलोकनिवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्मसे आनन्दित होता है ॥

उमोवाच

मातापितृवियुक्तानां का चर्या गृहमेधिनाम् ॥
विधवानां च नारीणां भवानेतद् ब्रवीतु मे ।

उमाने पूछा—जिन गृहस्थोंके माता-पिता न हों, उनकी अथवा विधवा स्त्रियोंकी जीवनचर्या क्या होनी चाहिये ! यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवतातिथिशुश्रूषा गुरुवृद्धाभिवादनम् ॥
अहिंसा सर्वभूतानामलोभः सत्यसंधता ।
ब्रह्मचर्यं शरण्यत्वं शौचं पूर्वाभिभाषणम् ॥
कृतज्ञत्वमपैशुन्यं सततं धर्मशीलता ।
दिने द्विरभिषेकं च पितृदैवतपूजनम् ॥
गवाह्निकप्रदानं च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
दीपं प्रतिश्रयं चैव दद्यात् पाद्यासनं तथा ॥
पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा द्वादशेऽप्यष्टमेऽपि वा ।
चतुर्दशे पञ्चदशे ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥
श्मश्रुकर्म शिरोऽभ्यङ्गमञ्जनं दन्तधावनम् ।
नैतेष्वहस्सु कुर्वीत तेषु लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवता और अतिथियोंकी सेवा, गुरुजनों तथा वृद्ध पुरुषोंका अभिवादन, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, लोभको त्याग देना, सत्यप्रतिज्ञ होना, ब्रह्मचर्य, शरणागतवत्सलता, शौचाचार, पहले बातचीत करना, उपकारीके प्रति कृतज्ञ होना, किसीकी चुगली न खाना, सदा धर्मशील रहना, दिनमें दो बार स्नान करना, देवता और पितरोंका पूजन करना, गौओंको प्रतिदिन अन्नका ग्रास और घास देना, अतिथियोंको विभागपूर्वक भोजन देना, दीप, ठहरनेके लिये स्थान तथा पाद्य और

आसन देना, पञ्चमी, षष्ठी, द्वादशी, अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमाको सदा ब्रह्मचर्यका पालन करना, इन तिथियोंपर मूँछ मुड़ाने, सिरमे तेल लगाने, आँखमें अञ्जन करने तथा दाँतुन करने एवं दाँत धोने आदिका कार्य न करे। जो इन विधि-निषेधोंका पालन करते हैं, उनके यहाँ लक्ष्मी प्रतिष्ठित होती है ॥

व्रतोपवासनियमस्तपो दानं च शक्तितः।
भरणं भृत्यवर्गस्य दीनानामनुकम्पनम् ॥
परदारनिवृत्तिश्च स्वदारेषु रतिः सदा।

व्रत और उपवासका नियम पालना, तपस्या करना यथाशक्ति दान देना, पोष्यवर्गका पोषण करना, दीनोंपर कृपा रखना, परायी स्त्रीसे दूर रहना तथा सदा ही अपनी स्त्रीसे प्रेम रखना गृहस्थका धर्म है ॥

शरीरमेकं दम्पत्योर्विधात्रा पूर्वनिर्मितम् ॥
तस्मात् स्वदारनिरतो ब्रह्मचारी विधीयते।

विधाताने पूर्व कालमें पति-पत्नीका एक ही शरीर बनाया था; अतः अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी माना जाता है ॥

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च ॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च ॥
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।

जो शील और सदाचारसे विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें कर रक्खा है, जो सरलतापूर्ण बर्ताव करता है और समस्त प्राणियोंका हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थके लिये अन्य आश्रमोंकी क्या आवश्यकता है ? ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं ॥

राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रङ्गोपजीविनः ॥
व्यालग्राहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः ॥
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम् ॥

राजा, पाखण्डी, नट, सपेरा, दम्भ, चोर, राजपुरुष, विद्वान्, सम्पूर्ण शीलोंके जानकार, सभी संशयालु तथा दूरके रास्तेपर आये हुए पाथेयरहित राही—ये तथा और भी बहुत-से मनुष्य गृहस्थाश्रमपर ही ताक लगाये रहते हैं ॥

मार्जारा मूषिकाः श्वानः सूकराश्च शुकास्तथा।
कपोतका कर्कटकाः सरीसृपनिषेवणाः ॥
अरण्यवासिनश्चान्ये सङ्घा ये मृगपक्षिणाम्।
एवं बहुविधा देवि लोकेऽस्मिन् सचराचराः ॥
गृहे क्षेत्रे बिले चैव शतशोऽथ सहस्रशः।
गृहस्थेन कृतं कर्म सर्वैस्तैरिह भुज्यते ॥

देवि ! चूहे, बिल्ली, कुत्ते, सूअर, तोते, कबूतर, कर्कटक (काक आदि), सरीसृपसेवी—ये तथा और भी बहुत-से मृग-पक्षियोंके वनवासी समुदाय हैं तथा इसी तरह इस जगत्में जो नाना प्रकारके सैकड़ों और हजारों चराचर प्राणी घर, क्षेत्र और बिलमें निवास करते हैं, वे सब-के-सब यहाँ गृहस्थके किये हुए कर्मको ही भोगते हैं ॥

उपयुक्तं च यत् तेषां मतिमान् नानुशोचति।
धर्म इत्येव संकल्प्य यस्तु तस्य फलं शृणु ॥

जो वस्तु उनके उपयोगमें आ गयी, उसके लिये जो बुद्धिमान् पुरुष कभी शोक नहीं करता, इन सबका पालन करना धर्म ही है, ऐसा समझकर संतुष्ट रहता है, उसे मिलनेवाले फलका वर्णन सुनो ॥

सर्वयज्ञप्रणीतस्य हयमेधेन यत् फलम्।
वर्षे स द्वादशे देवि फलेनैतेन युज्यते ॥)

देवि ! जो सम्पूर्ण यज्ञोंका सम्पादन कर चुका है, उसे अश्वमेधयज्ञसे जो फल मिलता है, वही फल इस गृहस्थको बारह वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमोंका पालन करनेसे प्राप्त हो जाता है ॥

उमोवाच

उक्तस्त्वया पृथग्धर्मश्चातुर्वर्ण्यहितः शुभः।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ॥ ६१ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आपने चारों वर्णोंके लिये हितकारी एवं शुभ धर्मका पृथक्-पृथक् वर्णन किया। अब मुझे वह धर्म बतलाइये, जो सब वर्णोंके लिये समानरूपसे उपयोगी हो ॥ ६१ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणा लोकसारेण सृष्टा धात्रा गुणार्थिना।
लोकांस्तारयितुं कृत्स्नान् मर्त्येषु क्षितिदेवताः ॥ ६२ ॥
तेषामपि प्रवक्ष्यामि धर्मकर्मफलोदयम्।
ब्राह्मणेषु हि यो धर्मः स धर्मः परमो मतः ॥ ६३ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! गुणोंकी अभिलाषा रखनेवाले जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने समस्त लोकोंका उद्धार करनेके लिये जगत्की सार वस्तुद्वारा मृत्युलोकमें ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है। ब्राह्मण इस भूमण्डलके देवता हैं, अतः पहले

उनके ही धर्म-कर्म और उनके फलोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि ब्राह्मणोंमें जो धर्म होता है, उसे ही परम धर्म माना जाता है ॥ ६२-६३ ॥

इमे ते लोकधर्मार्थं त्रयः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
पृथिव्यां सर्जने नित्यं सृष्टांस्तानपि मे शृणु ॥ ६४ ॥

ब्रह्माजीने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये तीन प्रकारके धर्मका विधान किया है। पृथ्वीकी सृष्टिके साथ ही इन तीनों धर्मोंकी सृष्टि हो गयी है, इनको भी तुम मुझसे सुनो॥

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः ।
शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः ॥ ६५॥

पहला है वेदोक्त धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट धर्म है। दूसरा है वेदानुकूल स्मृति-शास्त्रमें वर्णित—स्मार्तधर्म और तीसरा है शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म (शिष्टाचार)। ये तीनों धर्म सनातन हैं ॥ ६५ ॥

त्रैविद्यो ब्राह्मणो विद्वान् न चाध्ययनजीवकः ।
त्रिकर्मा त्रिपरिक्रान्तो मैत्र एष स्मृतो द्विजः ॥ ६६ ॥

जो तीनों वेदोंका ज्ञाता और विद्वान् हो; पढ़ने-पढ़ानेका काम करके जीविका न चलाता हो; दान, धर्म और यज्ञ—इन तीन कर्मोंका सदा अनुष्ठान करता हो; काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों दोषोंका त्याग कर चुका हो और सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखता हो—ऐसा पुरुष ही वास्तवमें ब्राह्मण माना गया है॥ ६६ ॥

षडिमानि तु कर्माणि प्रोवाच भुवनेश्वरः ।
वृत्त्यर्थं ब्राह्मणानां वै शृणु धर्मान् सनातनान् ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण भुवनोंके स्वामी ब्रह्माजीने ब्राह्मणोंकी जीविकाके लिये ये छः कर्म बताये हैं; जो उनके लिये सनातन धर्म हैं। इनके नाम सुनो ॥ ६७ ॥

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ ।
अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग् द्विजः ॥ ६८ ॥

यजन-याजन (यज्ञ करना-कराना) दान देना दान लेना, वेद पढ़ना और वेद पढ़ाना। इन छः कर्मोंका आश्रय लेनेवाला ब्राह्मण धर्मका भागी होता है ॥ ६८ ॥

नित्यः स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः ।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि ॥ ६९ ॥

इनमें भी सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसके लिये प्रशस्त धर्म है ॥ ६९ ॥

शमस्तु परमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः ।
गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान् ॥ ७० ॥

सब प्रकारके विषयोंसे उपरत होना शम कहलाता है। यह सत्पुरुषोंमें सदा दृष्टिगोचर होता है। इसका पालन करनेसे शुद्धचित्तवाले गृहस्थोंको महान् धर्मराशिकी प्राप्ति होती है॥

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः ।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंसृष्टनिवेशनः ॥ ७१ ॥
अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा ।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः ॥ ७२ ॥
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा ।
दीपं प्रतिश्रयं चैव यो ददाति स धार्मिकः ॥ ७३ ॥

गृहस्थ पुरुषको पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने मनको शुद्ध बनाना चाहिये। जो गृहस्थ सदा सत्य बोलता, किसीके दोष नहीं देखता, दान देता, ब्राह्मणोंका सत्कार करता, अपने घरको झाड़-बुहारकर साफ रखता, अभिमानका त्याग देता, सदा सरल भावसे रहता, स्नेहयुक्त वचन बोलता, अतिथि और अभ्यागतोंकी सेवामें मन लगाता, यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता और अतिथिको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक तथा ठहरनेके लिये गृह प्रदान करता है, उसे धार्मिक समझना चाहिये ॥ ७१-७३ ॥

प्रातरुत्थाय चाचम्य भोजनेनोपमन्त्र्य च ।
सत्कृत्यानुव्रजेद् यस्तु तस्य धर्मः सनातनः ॥ ७४ ॥

जो प्रातःकाल उठकर आचमन करके ब्राह्मणको भोजनके लिये निमन्त्रण देता और उसे ठीक समयपर सत्कारपूर्वक भोजन करानेके बाद कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाता है, उसके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है ॥ ७४ ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति निशानिशम् ।
शूद्रधर्मः समाख्यातस्त्रिवर्गपरिचारणम् ॥ ७५ ॥

शूद्र गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार तीनों वर्णोंका निरन्तर सब प्रकारसे आतिथ्य-सत्कार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंकी परिचर्यामें रहना उसके लिये प्रधान धर्म बतलाया गया है ॥ ७५ ॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते ।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ७६ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्मका विधान गृहस्थोंके लिये किया गया है। वह सब प्राणियोंका हितकारी और शुभ है। अब मैं उसीका वर्णन करता हूँ ॥ ७६ ॥

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत् तथा ।
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ७७ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको सदा अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये। सदा यज्ञ करना चाहिये और सदा ही पुष्टिजनक कर्म करते रहना चाहिये ॥ ७७ ॥

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम् ।

कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः ॥ ७८ ॥

मनुष्यको धर्मके द्वारा धनका उपार्जन करना चाहिये। धर्मसे उपार्जित हुए धनके तीन भाग करने चाहिये और प्रयत्नपूर्वक धर्मप्रधान कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ७८ ॥

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत् ॥ ७९ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको धनके उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भागके द्वारा धर्म और अर्थकी सिद्धि करनी चाहिये। दूसरे भागको उपभोगमें लगाना चाहिये और तीसरे अंशको बढ़ाना चाहिये (प्रवृत्तिधर्मका वर्णन किया गया है) ॥ ७९ ॥

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे देवि तत्त्वतः ॥ ८० ॥

इससे भिन्न निवृत्तिरूप धर्म है। वह मोक्षका साधन है। देवि! मैं यथार्थरूपसे उसका स्वरूप बताता हूँ, उसे सुनो ॥ ८० ॥

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥ ८१ ॥

मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। यही उनका धर्म है। उन्हें सदा एक ही गाँवमें नहीं रहना चाहिये और अपने आशारूपी बन्धनोंको तोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये। यही मुमुक्षुके लिये प्रशंसाकी बात है ॥ ८१ ॥

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये ॥ ८२ ॥

मोक्षाभिलाषी पुरुषको न तो कुटीमें आसक्ति रखनी चाहिये न जलमें, न वस्त्रमें, न आसनमें; न त्रिदण्डमें, न शय्यामें; न अग्निमें और न किसी निवासस्थानमें ही आसक्त होना चाहिये ॥ ८२ ॥

अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च ॥ ८३ ॥

मुमुक्षुको अध्यात्मज्ञानका ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसे उसीमें सदा स्थित रहना चाहिये। निरन्तर योगाभ्यासमें प्रवृत्त होकर तत्त्वका विचार करते रहना चाहिये ॥ ८३ ॥

वृक्षमूलपरो नित्यं शून्यागारनिवेशनः।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः ॥ ८४ ॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्जेत वै द्विजः ॥ ८५ ॥

संन्यासी द्विजको उचित है कि वह सब प्रकारकी आसक्तियों और स्नेहबन्धनोंसे मुक्त होकर सर्वदा वृक्षके नीचे, सूने घरमें अथवा नदीके किनारे रहता हुआ अपने अन्तःकरणमें ही परमात्माका ध्यान करे ॥ ८४-८५ ॥

स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा।
परिव्रजेति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः ॥ ८६ ॥

जो युक्तचित्त होकर संन्यासी होता है और मोक्षोपयोगी कर्म श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा समय व्यतीत करता हुआ निराहार (विषयसेवनसे रहित) और ठूठे काठकी भाँति स्थिर रहता है, उसको सनातन धर्मका मोक्षरूप धर्म प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

न चैकत्र समासक्तो न चैकग्रामगोचरः।
मुक्तो ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः ॥ ८७ ॥

संन्यासी किसी एक स्थानमें आसक्ति न रखे, एक ही ग्राममें न रहे तथा किसी एक ही किनारेपर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिये ॥ ८७ ॥

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते ॥ ८८ ॥

यह मोक्षधर्मके ज्ञाता सत्पुरुषोंका वेदप्रतिपादित धर्म एवं सन्मार्ग है। जो इस मार्गपर चलता है, उसको ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ ८८ ॥

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः ॥ ८९ ॥

संन्यासी चार प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥ ८९ ॥

अतः परतरं नास्ति नावरं न तिरोग्रतः।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम् ॥ ९० ॥

इस परमहंस धर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानसे बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। यह परमहंस-ज्ञान किसीसे निष्कृष्ट नहीं है। परमहंस-ज्ञानके सम्मुख परमात्मा तिरोहित नहीं है। यह दुःख-सुखसे रहित सौम्य अजर-अमर और अविनाशी पद है ॥ ९० ॥

उमोवाच

गार्हस्थ्यो मोक्षधर्मश्च सज्जनाचरितस्त्वया।
भाषितो जीवलोकस्य मार्गः श्रेयस्करो महान् ॥ ९१ ॥

उमा बोलीं—भगवन्! आपने सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए गार्हस्थ्यधर्म और मोक्षधर्मका वर्णन किया। ये दोनों ही मार्ग जीवजगत्‌का महान् कल्याण करनेवाले हैं ॥ ९१ ॥

ऋषिधर्मं तु धर्मज्ञ श्रोतुमिच्छाम्यतः परम्।
स्पृहा भवति मे नित्यं तपोवननिवासिषु ॥ ९२ ॥

धर्मज्ञ ! अब मैं ऋषिधर्म सुनना चाहती हूँ । तपोवन-निवासी मुनियोंके प्रति सदा ही मेरे मनमें स्नेह बना रहता है ॥ ९२ ॥

आज्यधूमोद्भवो गन्धो रुणद्धीव तपोवनम् ।
तं दृष्ट्वा मे मनः प्रीतं महेश्वर सदा भवेत् ॥ ९३ ॥

महेश्वर ! ये ऋषिलोग जब अग्निमें घीकी आहुति देते हैं, उस समय उसके धूमसे प्रकट हुई सुगन्ध मानो सारे तपोवनमें छा जाती है । उसे देखकर मेरा चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥ ९३ ॥

एतन्मे संशयं देव मुनिधर्मकृतं विभो ।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञ देवदेव वदस्व मे ।
निखिलेन मया पृष्टं महादेव यथातथम् ॥ ९४ ॥

विभो ! देव ! यह मैंने मुनिधर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट की है । देवदेव ! आप सम्पूर्ण धर्मोंका तत्त्व जाननेवाले हैं, अतः महादेव ! मैंने जो कुछ पूछा है, उसका पूर्णरूपसे यथावत् वर्णन कीजिये ॥ ९४ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि मुनिधर्ममनुत्तमम् ।
यं कृत्वा मुनयो यान्ति सिद्धिं स्वतपसा शुभे ॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—शुभे ! तुम्हारे इस प्रश्नसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । अब मैं मुनियोंके सर्वोत्तम धर्मका वर्णन करता हूँ, जिसका पालन करके वे अपनी तपस्याके द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ९५ ॥

फेनपानामृषीणां यो धर्मो धर्मविदां सताम् ।
तन्मे शृणु महाभागे धर्मज्ञे धर्ममादितः ॥ ९६ ॥

महाभागे ! धर्मज्ञे ! सबसे पहले धर्मवेत्ता साधुपुरुष फेनप ऋषियोंका जो धर्म है, उसीका मुझसे वर्णन सुनो ॥

उञ्छन्ति सततं ये ते ब्राह्मयं फेनोत्करं शुभम् ।
अमृतं ब्रह्मणा पीतमध्वरे प्रसृतं दिवि ॥ ९७ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने यज्ञ करते समय जिसका पान किया था तथा जो स्वर्गमें फैला हुआ है, वह अमृत (ब्रह्माजीके द्वारा पीया गया इसलिये) ब्राह्म कहलाता है । उसके फेनको जो थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सदा पान करते हैं (और उसीके आधारपर जीवन-निर्वाह करके तपस्यामें लगे रहते हैं,) वे फेनप[1] कहलाते हैं ॥ ९७ ॥

एष तेषां विशुद्धानां फेनपानां तपोधने ।
धर्मचर्याकृतो मार्गो बालखिल्यगणैः शृणु ॥ ९८ ॥

तपोधने ! यह धर्माचरणका मार्ग उन विशुद्ध फेनप महात्माओंका ही मार्ग है । अब बालखिल्य नामवाले ऋषिगणोंद्वारा जो धर्मका मार्ग बताया गया है, उसको सुनो ॥

बालखिल्यास्तपःसिद्धा मुनयः सूर्यमण्डले ।
उञ्छे तिष्ठन्ति धर्मज्ञाः शाकुनीं वृत्तिमास्थिताः ॥ ९९ ॥

बालखिल्यगण तपस्यासे सिद्ध हुए मुनि हैं । वे सब धर्मके ज्ञाता हैं और सूर्यमण्डलमें निवास करते हैं । वहाँ वे उञ्छवृत्तिका आश्रय ले पक्षियोंकी भाँति एक-एक दाना बीनकर उसीसे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ९९ ॥

मृगनिर्मोकवसनाश्चीरवल्कलवाससः ।
निर्द्वन्द्वाः सत्पथं प्राप्ता बालखिल्यास्तपोधनाः ॥ १०० ॥

मृगछाला, चीर और वल्कल—ये ही उनके वस्त्र हैं । वे बालखिल्य शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, सन्मार्गपर चलनेवाले और तपस्याके धनी हैं ॥ १०० ॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्रा ये भूत्वा स्वे स्वे व्यवस्थिताः ।
तपश्चरणमीहन्ते तेषां धर्मफलं महत् ॥ १०१ ॥

उनमेंसे प्रत्येकका शरीर अङ्गूठेके सिरेके बराबर है । इतने लघुकाय होनेपर भी वे अपने-अपने कर्तव्यमें स्थित हो सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं । उनके धर्मका फल महान् है ॥

ते सुरैः समतां यान्ति सुरकार्यार्थसिद्धये ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ १०२ ॥

वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उनके समान रूप धारण करते हैं । वे तपस्यासे सम्पूर्ण पापोंको दग्ध करके अपने तेजसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं ॥ १०२ ॥

ये त्वन्ये शुद्धमनसो दयाधर्मपरायणाः ।
सन्तश्चक्रचराः पुण्याः सोमलोकचराश्च ये ॥ १०३ ॥
पितृलोकसमीपस्थास्त उञ्छन्ति यथाविधि ।

इनके अतिरिक्त दूसरे भी बहुत-से शुद्धचित्त, दयाधर्मपरायण एवं पुण्यात्मा संत हैं, जिनमें कुछ चक्रचर (चक्रके समान विचरनेवाले), कुछ सोमलोकमें रहनेवाले तथा कुछ पितृलोकके निकट निवास करनेवाले हैं । ये सब शास्त्रीय विधिके अनुसार उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥ १०३½ ॥

सम्प्रक्षालाश्मकुट्टाश्च दन्तोलूखलिकाश्च ते ॥ १०४ ॥
सोमपानां च देवानामूष्मपाणां तथैव च ।
उञ्छन्ति ये समीपस्थाः सदारा नियतेन्द्रियाः ॥ १०५ ॥

कोई ऋषि सम्प्रक्षाल[1], कोई अश्मकुट्ट[2] और कोई दन्तो-

---

१. कुछ लोग दूध पीनेके समय बछड़ोंके मुँहमें लगे हुए फेनको ही वह अमृत मानते हैं, उसीका पान करनेवाले उनके मतमें फेनप हैं । आचार्य नीलकण्ठ अन्नके अग्रभाग (रसोईसे निकाले गये अग्राशन) को फेन और उसका उपयोग करनेवालेको फेनप कहते हैं ।

१. जो भोजनके पश्चात् पात्रको धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे दिनके लिये कुछ भी नहीं बचाते हैं, उन्हें सम्प्रक्षाल कहते हैं ।

२. पत्थरसे फोड़कर खानेवालेको अश्मकुट्ट कहते हैं ।

लूखलिक[1] हैं। ये लोग सोमप (चन्द्रमाकी किरणोंका पान करनेवाले) और उष्णप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) देवताओंके निकट रहकर अपनी स्त्रियोंसहित उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते और इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं ॥

तेषामग्निपरिस्पन्दः पितृणां चार्चनं तथा।
यज्ञानां चैव पञ्चानां यजनं धर्म उच्यते ॥१०६॥

अग्निहोत्र, पितरोंका पूजन (श्राद्ध) और पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान यह उनका मुख्य धर्म कहा जाता है॥१०६॥

एष चक्रचरैर्देवि देवलोकचरैर्द्विजैः।
ऋषिधर्मः सदा चीर्णो योऽन्यस्तमपि मे शृणु ॥१०७॥

देवि! चक्रकी तरह विचरनेवाले और देवलोकमें निवास करनेवाले पूर्वोक्त ब्राह्मणोंने इस ऋषिधर्मका सदा ही अनुष्ठान किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा भी जो ऋषियोंका धर्म है, उसे मुझसे सुनो ॥ १०७॥

सर्वेष्वेवर्षिधर्मेषु ज्ञेयोऽऽत्मा संयतेन्द्रियैः।
कामक्रोधौ ततः पश्चाज्जेतव्याविति मे मतिः ॥१०८॥

सभी आर्षधर्मोंमें इन्द्रियसंयमपूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। फिर काम और क्रोधको भी जीतना चाहिये। ऐसा मेरा मत है ॥ १०८ ॥

अग्निहोत्रपरिस्पन्दो धर्मरात्रिसमासनम्।
सोमयज्ञाभ्यनुज्ञानं पञ्चमी यज्ञदक्षिणा ॥१०९॥

प्रत्येक ऋषिके लिये अग्निहोत्रका सम्पादन, धर्मसत्रमें स्थिति, सोमयज्ञका अनुष्ठान, यज्ञविधिका ज्ञान और यज्ञमें दक्षिणा देना—इन पाँच कर्मोंका विधान आवश्यक है॥१०९॥

नित्यं यज्ञक्रिया धर्मः पितृदेवार्चने रतिः।
सर्वातिथ्यं च कर्तव्यमन्नेनोञ्छार्जितेन वै ॥११०॥

नित्य यज्ञका अनुष्ठान और धर्मका पालन करना चाहिये। देवपूजा और श्राद्धमें प्रीति रखना चाहिये। उञ्छवृत्तिसे उपार्जित किये हुए अन्नके द्वारा सबका आतिथ्य-सत्कार करना ऋषियोंका परम कर्तव्य है ॥ ११० ॥

निवृत्तिरुपभोगेषु गोरसानां शमे रतिः।
स्थण्डिले शयने योगः शाकपर्णनिषेवणम् ॥१११॥
फलमूलाशनं वायुरापः शैवलभक्षणम्।
ऋषीणां नियमा ह्येते यैर्जयन्त्यजितां गतिम् ॥११२॥

विषयभोगोंसे निवृत्त रहना, गोरसका आहार करना, शमके साधनमें प्रेम रखना, खुले मैदान चबूतरेपर सोना, योगका अभ्यास करना, साग-पातका सेवन करना, फल-मूल खाकर रहना, वायु, जल और सेवारका आहार करना—ये ऋषियोंके नियम हैं। इनका पालन करनेसे वे अजित—सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं ॥ १११-११२ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके ॥११३॥
अतिथिं काङ्क्षमाणो वै शेषान्नकृतभोजनः।
सत्यधर्मरतः शान्तो मुनिधर्मेण युज्यते ॥११४॥
न स्तम्भी न च मानी स्यान्नाप्रसन्नो न विस्मितः।
मित्रामित्रसमो मैत्रो यः स धर्मविदुत्तमः ॥११५॥

जब गृहस्थोंके यहाँ रसोईघरका धुआँ निकलना बंद हो जाय, मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न आये—सन्नाटा छाया रहे, चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर चुकें, बर्तनोंका इधर-उधर ले जाया जाना रुक जाय और भिक्षुक भीख माँगकर लौट गये हों, ऐसे समयतक ऋषिको अतिथियोंकी बाट जोहनी चाहिये और उसके बचे-खुचे अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेसे सत्यधर्ममें अनुराग रखनेवाला शान्त पुरुष मुनिधर्मसे युक्त होता है अर्थात् उसे मुनिधर्मके पालनका फल मिलता है। जिसे गर्व और अभिमान नहीं है, जो अप्रसन्न और विस्मित नहीं होता, शत्रु और मित्रको समान समझता तथा सबके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, वही धर्मवेत्ताओंमें उत्तम ऋषि है ११३–११५

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०६½ श्लोक मिलाकर कुल २२१½ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

उमा-महेश्वर-संवाद, वानप्रस्थ धर्म तथा उसके पालनकी विधि और महिमा

उमोवाच

देशेषु रमणीयेषु नदीनां निर्झरेषु च।
स्रवन्तीनां निकुञ्जेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १ ॥
देशेषु च पवित्रेषु फलवत्सु समाहिताः।
मूलवत्सु च मध्येषु वसन्ति नियतव्रताः॥ २ ॥

पार्वतीने कहा—भगवन्! नियमपूर्वक व्रतका पालन

१. जो दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं अर्थात् अन्नको ओखलीमें न कूटकर दाँतोंसे ही चबाकर खाते हैं। वे दन्तोलूखलिक कहलाते हैं।

करनेवाले एकाग्रचित्त वानप्रस्थी महात्मा नदियोंके रमणीय तटप्रदेशोंमें, झरनोंमें, सरिताओंके तटवर्ती निकुञ्जोंमें, पर्वतोंपर, वनोंमें और फल-मूलसे सम्पन्न पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं ॥ १-२ ॥

तेषामपि विधिं पुण्यं श्रोतुमिच्छामि शङ्कर ।
वानप्रस्थेषु देवेश स्वशरीरोपजीविषु ॥ ३ ॥

कल्याणकारी देवेश्वर ! वानप्रस्थी महात्मा अपने शरीरको ही कष्ट पहुँचाकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः उनके पालन करने योग्य जो पवित्र कर्तव्य या नियम है, उसीको मैं सुनना चाहती हूँ ॥ ३ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

वानप्रस्थेषु यो धर्मस्तं मे शृणु समाहिता ।
श्रुत्वा चैकमना देवि धर्मबुद्धिपरा भव ॥ ४ ॥

भगवान् महेश्वरने कहा—देवि ! (गृहस्थ एवं) वानप्रस्थोंका जो धर्म है, उसको मुझसे एकाग्रचित होकर सुनो और सुनकर एकचित्त हो अपनी बुद्धिको धर्ममें लगाओ ॥ ४ ॥

संसिद्धैर्नियमैः सद्भिर्वनवासमुपागतैः ।
वानप्रस्थैरिदं कर्म कर्तव्यं शृणु यादृशम् ॥ ५ ॥

नियमोंका पालन करके सिद्ध हुए वनवासी साधु वानप्रस्थोंको यह कर्म करना चाहिये । कैसा कर्म ? यह बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

(भूत्वा पूर्वं गृहस्थस्तु पुत्रानृण्यमवाप्य च ।
कलत्रकार्यं संतृप्य कारणात् संत्यजेद् गृहम् ॥

मनुष्य पहले गृहस्थ होकर पुत्रोंके उत्पादनद्वारा पितरोंके ऋणसे उऋण हो पत्नीसे सम्पन्न होनेवाले कार्यकी पूर्ति करके धर्मसम्पादनके लिये गृहका परित्याग कर दे ॥

अवस्थाप्य मनो धृत्या व्यवसायपुरस्सरः ।
निर्द्वन्द्वो वा सदारो वा वनवासाय संव्रजेत् ॥

मनको धैर्यपूर्वक स्थिर करके मनुष्य दृढ़ निश्चयके साथ निर्द्वन्द्व (एकाकी) होकर अथवा स्त्रीको साथ रखकर वनवासके लिये प्रस्थान करे ॥

देशाः परमपुण्या ये नदीवनसमन्विताः ।
अबोधमुक्ताः प्रायेण तीर्थायतनसंयुताः ॥
तत्र गत्वा विधिं ज्ञात्वा दीक्षां कुर्याद् यथाक्रमम् ।
दीक्षितश्चैकमना भूत्वा परिचर्यां समाचरेत् ॥

नदी और वनसे युक्त जो परम पुण्यमय प्रदेश हैं, वे प्रायः अज्ञानसे मुक्त और तीर्थों तथा देवस्थानोंसे सुशोभित हैं । उनमें जाकर विधिका ज्ञान प्राप्त करके क्रमशः ऋषिधर्मकी दीक्षा ग्रहण करे और दीक्षित होनेके पश्चात् एकचित्त हो परिचर्या आरम्भ करे ॥

कल्योत्थानं च शौचं च सर्वदेवप्रणामनम् ।
शकृदालेपनं काये त्यक्तदोषप्रमादता ॥
सायम्प्रातश्चाभिषेकं चाग्निहोत्रं यथाविधि ।
काले शौचं च कार्यं च जटावल्कलधारणम् ॥
सततं वनचर्या च समित्कुसुमकारणात् ।
नीवाराग्रयणं काले शाकमूलोपचायनम् ॥
सदायतनशौचं च तस्य धर्माय चेष्यते ।

सवेरे उठना, शौचाचारका पालन करना, सब देवताओंको मस्तक झुकाना, शरीरमें गायका गोबर लगाकर नहाना, दोष और प्रमादका त्याग करना, सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं विधिवत् अग्निहोत्र करना, ठीक समयपर शौचाचारका पालन करना, सिरपर जटा और कटिप्रदेशमें वल्कल धारण करना, समिधा और पुष्पका संग्रह करनेके लिये सदा वनमें विचरना, समयपर नीवारसे आग्रयण कर्म (नवशस्येष्टि यज्ञका सम्पादन) करना, साग और मूलका संकलन करना तथा सदा अपने घरको शुद्ध रखना—आदि कार्य वानप्रस्थ मुनिके लिये अभीष्ट है । इनसे उसके धर्मकी सिद्धि होती है ॥

अतिथीनामाभिमुख्यं तत्परत्वं च सर्वदा ॥
पाद्यासनाभ्यां सम्पूज्य तथाहारनिमन्त्रणम् ।
अग्राम्यपचनं काले पितृदेवार्चनं तथा ॥
पश्चादतिथिसत्कारस्तस्य धर्माः सनातनाः ।

पहले अतिथियोंके सम्मुख जाय, फिर सदा उनकी सेवामें तत्पर रहे । पाद्य और आसन आदिके द्वारा उनकी पूजा करके उन्हें भोजनके लिये बुलावे । समयपर ऐसी वस्तुओंसे रसोई बनावे, जो गाँवमें पैदा न हुई हों । उस रसोइके द्वारा पहले देवताओं और पितरोंका पूजन करे । तत्पश्चात् अतिथिको सत्कारपूर्वक भोजन करावे । ऐसा करनेवाले वानप्रस्थको सनातन धर्मकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥

शिष्टैर्धर्मासने चैव धर्मार्थसहिताः कथाः ॥
प्रतिश्रयविभागश्च भूमिशय्या शिलासु वा ।

धर्मासनपर बैठे हुए शिष्ट पुरुषोंद्वारा उसे धर्मार्थयुक्त कथाएँ सुननी चाहिये । उसे अपने लिये पृथक् आश्रम बना लेना चाहिये । वह पृथ्वी अथवा प्रस्तरकी शय्यापर सोये ॥

व्रतोपवासयोगश्च क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ॥
दिवारात्रं यथायोगं शौचं धर्मस्य चिन्तनम् ।)

वानप्रस्थ मुनि व्रत और उपवासमें तत्पर रहे, दूसरोंपर क्षमाका भाव रक्खे, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे । दिन-रात यथासम्भव शौचाचारका पालन करके धर्मका चिन्तन करे ॥

त्रिकालमभिषेकं च पितृदेवार्चनं तथा ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्द इष्टिहोमविधिस्तथा ॥ ६ ॥

उन्हें दिनमें तीन बार स्नान, पितरों और देवताओंका पूजन, अग्निहोत्र तथा विधिवत् यज्ञ करने चाहिये ॥ ६ ॥

नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम् ।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थे च निषेवणम् ॥ ७ ॥

वानप्रस्थको जीविकाके लिये नीवार (तिन्नीका चावल) और फल-मूलका सेवन करना चाहिये तथा शरीरमें स्निग्धता लाने या तेलसे होनेवाले कार्योंके निर्वाहके लिये इंगुद और रेंड़ीके तेलका सेवन करना उचित है ॥ ७ ॥

योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोधविवर्जितैः ।
वीरशय्यामुपासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः ॥ ८ ॥

उन्हें योगका अभ्यास करके उसमें सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये । काम और क्रोधको त्याग देना चाहिये । वीरासनसे बैठकर वीरस्थान (विशाल और घने जंगल) में निवास करने चाहिये ॥ ८ ॥

युक्तैर्योगवहैः सद्भिर्ग्रीष्मे पञ्चतपैस्तथा ।
मण्डूकयोगनियतैर्यथान्यायं निषेविभिः ॥ ९ ॥

मनको एकाग्र रखकर योगसाधनमें तत्पर रहना चाहिये । श्रेष्ठ वानप्रस्थको गर्मीमें पञ्चाग्नि सेवन करना चाहिये । हठ-योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अभ्यासमें नियमपूर्वक लगे रहना चाहिये । किसी भी वस्तुका न्यायानुकूल सेवन करना चाहिये ॥ ९ ॥

वीरासनरतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनं तथा ।
शीततोयाग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ १० ॥

सदा वीरासनसे बैठना और वेदी या चबूतरेपर सोना चाहिये । धर्ममें बुद्धि रखनेवाले वानस्थ मुनियोंको शीत-तोयाग्नियोगका आचरण करना चाहिये अर्थात् उन्हें सर्दीकी मौसममें रातको जलके भीतर बैठना या खड़े रहना, बरसात-में खुले मैदानमें सोना और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्निका सेवन करना चाहिये ॥ १० ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शैवलोत्तरभोजनैः ।
अश्मकुट्टैस्तथा दान्तैः सम्प्रक्षालैस्तथापरैः ॥ ११ ॥

वे वायु अथवा जल पीकर रहें । सेवारका भोजन करें । पत्थरसे अन्न या फलको कूँचकर खायँ अथवा दाँतोंसे चबाकर ही भक्षण करें । सम्प्रक्षालके नियमसे रहें अर्थात् दूसरे दिनके लिये आहार संग्रह करके न रक्खें ॥ ११ ॥

चीरवल्कलसंवीतैर्मृगचर्मनिवासिभिः ।
कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मं यथाविधि ॥ १२ ॥

अधोवस्त्रकी जगह चीर और वल्कल पहनें, उत्तरीयके स्थानमें मृगछालेसे ही अपने अङ्गोंको आच्छादित करें । उन्हें समयके अनुसार धर्मके उद्देश्यसे विधिपूर्वक तीर्थ आदि स्थानोंकी ही यात्रा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः ॥ १३ ॥

वानप्रस्थको सदा वनमें ही रहना, वनमें ही विचरना; वनमें ही ठहरना, वनके ही मार्गपर चलना और गुरुकी भाँति वनकी शरण लेकर वनमें ही जीवन-निर्वाह करना चाहिये ॥ १३ ॥

तेषां होमक्रिया धर्मः पञ्चयज्ञनिषेवणम् ।
भागं च पञ्चयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम् ॥ १४ ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र और पञ्चमहायज्ञोंका सेवन वानप्रस्थोंका धर्म है । उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पञ्चयज्ञोंका निरन्तर पालन करना चाहिये ॥ १४ ॥

अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम् ।
पौर्णमासादयो यज्ञा नित्ययज्ञस्तथैव च ॥ १५ ॥

अष्टमी तिथिको होनेवाले अष्टका श्राद्धरूप यज्ञमें तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रतका सेवन करना, पौर्णमास और दर्शादि यज्ञ तथा नित्ययज्ञका अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनिका धर्म है ॥ १५ ॥

विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरैः ।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने ॥ १६ ॥

वानप्रस्थ मुनि स्त्री-समागम, सब प्रकारके संकर तथा सम्पूर्ण पापोंसे दूर रहकर वनमें विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥

स्रुग्भाण्डपरमा नित्यं त्रेताग्निशरणाः सदा ।
सन्तः सत्पथनित्या ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १७ ॥

स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञपात्र ही उनके लिये उत्तम उपकरण हैं । वे सदा आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियोंकी शरण लेकर सदा उन्हींकी परिचर्यामें लगे रहते हैं और नित्य सन्मार्गपर चलते हैं । इस प्रकार अपने धर्ममें तत्पर रहनेवाले वे श्रेष्ठ पुरुष परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकं महापुण्यं सोमलोकं च शाश्वतम् ।
गच्छन्ति मुनयः सिद्धाः सत्यधर्मव्यपाश्रयाः ॥ १८ ॥

वे मुनि सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले और सिद्ध होते हैं, अतः महान् पुण्यमय ब्रह्मलोक तथा सनातन सोमलोकमें जाते हैं ॥ १८ ॥

एष धर्मो मया देवि वानप्रस्थाश्रितः शुभः ।
विस्तरेणाथ सम्पन्नो यथास्थूलमुदाहृतः ॥ १९ ॥

देवि ! यह मैंने तुम्हारे निकट विस्तारयुक्त एवं मङ्गल-मय वानप्रस्थधर्मका स्थूलभावसे वर्णन किया है ॥ १९ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वभूतनमस्कृत ।
यो धर्मो मुनिसंघस्य सिद्धिवादेषु तं वद ॥ २० ॥

उमादेवी बोलीं—भगवन्! सर्वभूतेश्वर! समस्त प्राणियोंद्वारा वन्दित महेश्वर! ज्ञानगोष्ठियोंमें मुनिसमुदाय-का जो धर्म निश्चित किया गया है, उसे बताइये ॥ २० ॥

सिद्धिवादेषु संसिद्धास्तथा वननिवासिनः।
स्वैरिणो दारसंयुक्तास्तेषां धर्मः कथं स्मृतः ॥ २१ ॥

ज्ञानगोष्ठियोंमें जो सम्यक् सिद्ध बताये गये हैं, वे वनवासी मुनि कोई तो एकाकी ही स्वच्छन्द विचरते हैं, कोई पत्नीके साथ रहते हैं। उनका धर्म कैसा माना गया है? ॥ २१ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्वैरिणस्तपसा देवि सर्वे दारविहारिणः।
तेषां मौण्ड्यं कषायश्च वासे रात्रिश्च कारणम् ॥ २२ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! सभी वानप्रस्थ तपस्यामें संलग्न रहते हैं, उनमेंसे कुछ तो स्वच्छन्द विचरनेवाले होते हैं (स्त्रीको साथ नहीं रखते) और कुछ अपनी-अपनी स्त्रीके साथ रहते हैं। स्वच्छन्द विचरनेवाले मुनि सिर मुड़ा-कर गेरुए वस्त्र पहनते हैं; (उनका कोई एक स्थान नहीं होता) किंतु जो स्त्रीके साथ रहते हैं, वे रात्रिको अपने आश्रममें ही ठहरते हैं ॥ २२ ॥

त्रिकालमभिषेकश्च होत्रं त्वृषिकृतं महत्।
समाधिसत्पथस्थानं यथोद्दिष्टनिषेवणम् ॥ २३ ॥

दोनों प्रकारके ही ऋषियोंका यह महान् कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन तीनों समय जलमें स्नान करें और अग्निमें आहुति डालें। समाधि लगावें, सन्मार्गपर चलें और शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करें ॥ २३ ॥

ये च ते पूर्वकथिता धर्मास्ते वनवासिनाम्।
यदि सेवन्ति धर्मांस्तानाप्नुवन्ति तपःफलम् ॥ २४ ॥

पहले जो तुम्हारे समक्ष वनवासियोंके धर्म बताये गये हैं, उन सबका यदि वे पालन करते हैं तो उन्हें अपनी तपस्या-का पूर्ण फल मिलता है ॥ २४ ॥

ये च दम्पतिधर्माणः स्वदारनियतेन्द्रियाः।
चरन्ति विधिवद् दृष्टं तदनुकालाभिगामिनः ॥ २५ ॥
तेषामृषिकृतो धर्मो धर्मिणामुपपद्यते।
न कामकारात् कामोऽन्यः संसेव्यो धर्मदर्शिभिः ॥ २६ ॥

जो गृहस्थ दाम्पत्य धर्मका पालन करते हुए स्त्रीको अपने साथ रखते हैं, उसके साथ ही इन्द्रियसंयमपूर्वक वेदविहित धर्मका आचरण करते हैं और केवल ऋतु-कालमें ही स्त्री-समागम करते हैं, उन धर्मात्माओंको ऋषियोंके बताये हुए धर्मोंके पालन करनेका फल मिलता है। धर्मदर्शी पुरुषोंको कामनावश किसी भोगका सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

सर्वभूतेषु यः सम्यग् ददात्यभयदक्षिणाम्।
हिंसादोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते ॥ २७ ॥

जो हिंसा दोषसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दान कर देता है, उसीको धर्मका फल प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते ॥ २८ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता, सबके साथ सरलता-का बर्ताव करता और समस्त भूतोंको आत्मभावसे देखता है, वही धर्मके फलसे युक्त होता है ॥ २८ ॥

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे एते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २९ ॥

चारों वेदोंमें निष्णात होना और सब जीवोंके प्रति सरलताका बर्ताव करना—ये दोनों एक समान समझे जाते हैं। अथवा सरलताका ही महत्त्व अधिक माना जाता है ॥

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३० ॥

सरलताको धर्म कहते हैं और कुटिलताको अधर्म। सरलभावसे युक्त मनुष्य ही यहाँ धर्मके फलका भागी होता है ॥

आर्जवे तु रतो नित्यं वसत्यमरसंनिधौ।
तस्मादार्जवयुक्तः स्याद् य इच्छेद् धर्ममात्मनः ॥ ३१ ॥

जो सदा सरल बर्तावमें तत्पर रहता है, वह देवताओंके समीप निवास करता है। इसलिये जो अपने धर्मका फल पाना चाहता हो, उसे सरलतापूर्ण बर्तावसे युक्त होना चाहिये ॥ ३१ ॥

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतो विहिंसकः।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते ॥ ३२ ॥

क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, धर्मनिष्ठ, अहिंसक और सदा धर्मपरायण मनुष्य ही धर्मके फलका भागी होता है ॥

व्यपेततन्द्रिर्धर्मात्मा शक्त्या सत्पथमाश्रितः।
चारित्रपरमो बुद्धो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३३ ॥

जो पुरुष आलस्यरहित, धर्मात्मा, शक्तिके अनुसार श्रेष्ठ मार्गपर चलनेवाला, सच्चरित्र और ज्ञानी होता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

उमोवाच

(एषां यायावराणां तु धर्ममिच्छामि मानद।
कृपया परयाऽऽविष्टस्तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥

सबको मान देनेवाले महेश्वर! मैं यायावरोंके धर्मको सुनना चाहती हूँ, आप महान् अनुग्रह करके मुझे यह बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मं यायावराणां त्वं शृणु भामिनि तत्परा ॥
व्रतोपवासशुद्धाङ्गास्तीर्थस्नानपरायणाः ।

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि ! तुम तत्पर होकर यायावरोंके धर्म सुनो। व्रत और उपवाससे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शुद्ध हो जाते हैं तथा वे तीर्थ-स्नानमें तत्पर रहते हैं ॥

धृतिमन्तः क्षमायुक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ॥
पक्षमासोपवासैश्च कर्शिता धर्मदर्शिनः ।

उनमें धैर्य और क्षमाका भाव होता है। वे सत्यव्रत-परायण होकर एक एक पक्ष और एक-एक मासका उपवास करके अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। उनकी दृष्टि सदा धर्मपर ही रहती है ॥

वर्षैः शीतातपैरेव कुर्वन्तः परमं तपः ॥
कालयोगेन गच्छन्ति शक्रलोकं शुचिस्मिते ।

पवित्र मुसकानवाली देवि ! वे सर्दी, गर्मी और वर्षाका कष्ट सहन करते हुए बड़ी भारी तपस्या करते हैं और काल-योगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

तत्र ते भोगसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विताः ॥
दिव्यभूषणसंयुक्ता विमानवरसंयुताः ।
विचरन्ति यथाकामं दिव्यस्त्रीगणसंयुताः ॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

वहाँ भी नाना प्रकारके भोगोंसे संयुक्त और दिव्यगन्धसे सम्पन्न हो दिव्य आभूषण धारण करके सुन्दर विमानोंपर बैठते और दिव्याङ्गनाओंके साथ इच्छानुसार विहार करते हैं। देवि ! यह सब यायावरोंका धर्म मैंने तुम्हें बताया। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

तेषां चक्रचराणां च धर्ममिच्छामि वै प्रभो ॥

उमाने कहा—प्रभो ! वानप्रस्थ ऋषियोंमें जो चक्रचर (छकड़ेसे यात्रा करनेवाले) हैं, उनके धर्मको मैं जानना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

एतत् ते कथयिष्यामि शृणु शाकटिकं शुभे ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभे ! यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ। चक्रचारी या शाकटिक मुनियोंका धर्म सुनो ॥

संवहन्तो धुरं दारैः शकटानां तु सर्वदा ।
प्रार्थयन्ते यथाकालं शकटैर्भैक्षचर्यया ॥
तपोऽर्जनपरा धीरास्तपसा क्षीणकल्मषाः ।
पर्यटन्तो दिशः सर्वाः कामक्रोधविवर्जिताः ॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ सदा छकड़ोंके बोझ ढोते हुए यथासमय छकड़ोंद्वारा ही जाकर भिक्षाकी याचना करते हैं। सदा तपस्याके उपार्जनमें लगे रहते हैं। वे धीर मुनि तपस्याद्वारा अपने सारे पापोंका नाश कर डालते हैं तथा काम और क्रोधसे रहित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें पर्यटन करते हैं ॥

तेनैव कालयोगेन त्रिदिवं यान्ति शोभने ।
तत्र प्रमुदिता भोगैर्विचरन्ति यथासुखम् ॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

शोभने ! उसी जीवनचर्यासे रहते हुए वे कालयोगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गमें जाते हैं और वहाँ दिव्य भोगोंसे आनन्दित हो अपने मौजसे घूमते-फिरते हैं। देवि ! तुम्हारे इस प्रश्नका भी उत्तर दे दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो ॥

उमोवाच

वैखानसानां वै धर्मं श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥

उमाने कहा—प्रभो ! अब मैं वैखानसोंका धर्म सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ते वै वैखानसा नाम वानप्रस्थाः शुभेक्षणे ।
तीव्रेण तपसा युक्ता दीप्तिमन्तः स्वतेजसा ॥
सत्यव्रतपरा धीरास्तेषां निष्कल्मषं तपः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभेक्षणे ! वे जो वैखानस नाम-वाले वानप्रस्थ हैं, बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। अपने तेजसे देदीप्यमान होते हैं। सत्यव्रतपरायण और धीर होते हैं। उनकी तपस्यामें पापका लेश भी नहीं होता है॥

अश्मकुट्टास्तथान्ये च दन्तोलूखलिनस्तथा ।
शीर्णपर्णाशिनश्चान्ये उञ्छवृत्तास्तथा परे ॥
कपोतवृत्तयश्चान्ये कापोतीं वृत्तिमास्थिताः ।
पशुप्रचारनिरताः फेनपाश्च तथा परे ॥
मृगवन्मृगचर्यायां संचरन्ति तथा परे ।

उनमेंसे कुछ लोग अश्मकुट्ट (पत्थरसे ही अन्न या फलको कूँचकर खानेवाले) होते हैं। दूसरे दाँतोंसे ही ओखली-का काम लेते हैं, तीसरे सूखे पत्ते चबाकर रहते हैं, चौथे उञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले होते हैं। कुछ कापोती वृत्तिका आश्रय लेकर कबूतरोंके समान अन्नके एक-एक दाने बीनते हैं। कुछ लोग पशुचर्याको अपनाकर पशुओंके साथ ही चलते और उन्हींकी भाँति तृण खाकर रहते हैं। दूसरे लोग फेन चाटकर रहते हैं तथा अन्य बहुतेरे वैखानस मृगचर्याका आश्रय लेकर मृगोंके समान उन्हींके साथ विचरते हैं ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च निराहारास्तथैव च ॥
केचिच्चरन्ति सद्विष्णोः पादपूजनमुत्तमम् ।

कुछ लोग जल पीकर रहते, कुछ लोग हवा खाकर निर्वाह करते और कितने ही निराहार रह जाते हैं। कुछ लोग भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंका उत्तम रीतिसे पूजन करते हैं॥

संचरन्ति तपो घोरं व्याधिमृत्युविवर्जिताः ॥
स्ववशादेव ते मृत्युं भीषयन्ति च नित्यशः ॥
इन्द्रलोके तथा तेषां निर्मिता भोगसंचयाः ।
अमरैः समतां यान्ति देववद्भोगसंयुताः ॥

वे रोग और मृत्युसे रहित हो घोर तपस्या करते हैं और अपनी ही शक्तिसे प्रतिदिन मृत्युको डराया करते हैं। उनके लिये इन्द्रलोकमें ढेर-के-ढेर भोग संचित रहते हैं। वे देवतुल्य भोगोंसे सम्पन्न हो देवताओंकी समानता प्राप्त कर लेते हैं॥

वराप्सरोभिः संयुक्ताश्चिरकालमनिन्दिते ।
एतत् ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

सती साध्वी देवि ! वे चिरकालतक श्रेष्ठ अप्सराओंके साथ रहकर सुखका अनुभव करते हैं। यह तुमसे वैखानसों-का धर्म बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि वालखिल्यांस्तपोधनान् ॥

उमाने कहा—भगवन् ! अब मैं तपस्याके धनी वालखिल्योंका परिचय सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मचर्यां तथा देवि वालखिल्यगतां शृणु ॥
मृगनिर्मोकवसना निर्द्वन्द्वास्ते तपोधनाः ।
अङ्गुष्ठमात्राः सुश्रोणि तेष्वेवाङ्गेषु संयुताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! वालखिल्योंकी धर्मचर्याका वर्णन सुनो। वे मृगछाला पहनते हैं, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तपस्या ही उनका धन है। सुश्रोणि ! उनके शरीरकी लंबाई एक अंगूठेके बराबर है, उन्हीं शरीरोंमें वे सब एक साथ रहते हैं॥

उद्यन्तं सततं सूर्यं स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ।
भास्करस्येव किरणैः सहसा यान्ति नित्यदा ॥
द्योतयन्तो दिशः सर्वा धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥

वे प्रतिदिन नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा निरन्तर उगते हुए सूर्यकी स्तुति करते हुए सहसा आगे बढ़ते जाते हैं और अपनी सूर्यतुल्य किरणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं। वे सब-के-सब धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं॥

तेष्वेव निर्मलं सत्यं लोकार्थं तु प्रतिष्ठितम् ।
लोकोऽयं धार्यते देवि तेषामेव तपोबलात् ॥
महात्मनां तु तपसा सत्येन च शुचिस्मिते ।
क्षमया च महाभागे भूतानां संस्थितिं विदुः ॥

उन्हींमें लोकरक्षाके लिये निर्मल सत्य प्रतिष्ठित है। देवि ! उन वालखिल्योंके ही तपोबलसे यह सारा जगत् टिका हुआ है। पवित्र मुसकानवाली महाभागे ! उन्हीं महात्माओं-की तपस्या, सत्य और क्षमाके प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति बनी हुई है, ऐसा मनीषी पुरुष मानते हैं॥

प्रजार्थमपि लोकार्थं महद्भिः क्रियते तपः ।
तपसा प्राप्यते सर्वं तपसा प्राप्यते फलम् ॥
दुष्प्रापमपि यल्लोके तपसा प्राप्यते हि तत् ॥)

महान् पुरुष समस्त प्रजावर्ग तथा सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये तपस्या करते हैं। तपस्यासे सब कुछ प्राप्त होता है। तपस्यासे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। लोकमें जो दुर्लभ वस्तु है, वह भी तपस्यासे सुलभ हो जाती है॥

उमोवाच

आश्रमाभिरता देव तापसा ये तपोधनाः ।
दीप्तिमन्तः कया चैव चर्ययाथ भवन्ति ते ॥ ३४ ॥

उमाने पूछा—देव ! जो तपस्याके धनी तपस्वी अपने आश्रमधर्ममें ही रम रहे हैं, वे किस आचरणसे तपस्वी होते हैं ? ॥ ३४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च निर्धना ये महाधनाः ।
कर्मणा केन भगवन् प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥ ३५ ॥

भगवन् ! जो राजा या राजकुमार हैं अथवा जो निर्धन या महाधनी हैं, वे किस कर्मके प्रभावसे महान् फलके भागी होते हैं ? ॥ ३५ ॥

नित्यं स्थानमुपागम्य दिव्यचन्दनभूषिताः ।
केन वा कर्मणा देव भवन्ति वनगोचराः ॥ ३६ ॥

देव ! वनवासी मुनि किस कर्मसे दिव्य स्थानको पाकर दिव्य चन्दनसे विभूषित होते हैं ? ॥ ३६ ॥

एतन्मे संशयं देव तपश्चर्याऽऽश्रितं शुभम् ।
शंस सर्वमशेषेण त्र्यक्ष त्रिपुरनाशन ॥ ३७ ॥

देव ! त्रिपुरनाशन त्रिलोचन ! तपस्याके आश्रित शुभ फलके विषयमें मेरा यही संदेह है। इस सारे संदेहका उत्तर आप पूर्णरूपसे प्रदान करें ॥ ३७ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

उपवासव्रतैर्दान्ता ह्यहिंस्राः सत्यवादिनः ।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः ॥ ३८ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो उपवास व्रतसे सम्पन्न, जितेन्द्रिय, हिंसारहित और सत्यवादी होकर सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं, वे मृत्युके पश्चात् रोग-शोकसे रहित हो गन्धर्वोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३८ ॥

मण्डूकयोगशयनो यथान्यायं यथाविधि ।
दीक्षां चरति धर्मात्मा स नागैः सह मोदते ॥ ३९ ॥

जो धर्मात्मा पुरुष न्यायानुसार विधिपूर्वक हठयोग-प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अनुसार शयन करता और यज्ञकी दीक्षा लेता है, वह नागलोकमें नागोंके साथ सुख भोगता है ॥ ३९ ॥

शष्पं मृगमुखोच्छिष्टं यो मृगैः सह भक्षति ।
दीक्षितो वै मुदा युक्तः स गच्छत्यमरावतीम् ॥ ४० ॥

जो मृगचर्या-व्रतकी दीक्षा ले मृगोंके मुखसे उच्छिष्ट हुई घासको प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके साथ रहकर भक्षण करता है, वह मृत्युके पश्चात् अमरावती पुरीमें जाता है ॥ ४० ॥

शैवालं शीर्णपर्णं वा तद्व्रती यो निषेवते ।
शीतयोगवहो नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

जो व्रतधारी वानप्रस्थ मुनि सेवार अथवा जीर्ण-शीर्ण पत्तेका आहार करता तथा जाड़ेमें प्रतिदिन शीतका कष्ट सहन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा फलमूलाशनोऽपि वा ।
यक्षेष्वैश्वर्यमाधाय मोदतेऽप्सरसां गणैः ॥ ४२ ॥

जो वायु, जल, फल अथवा मूल खाकर रहता है, वह यक्षोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अप्सराओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ४२ ॥

अग्नियोगवहो ग्रीष्मे विधिदृष्टेन कर्मणा ।
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि राजा भवति पार्थिवः ॥ ४३ ॥

जो गर्मीमें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पञ्चाग्नि सेवन करता है, वह बारह वर्षोंतक उक्त व्रतका पालन करके जन्मान्तरमें भूमण्डलका राजा होता है ॥ ४३ ॥

आहारनियमं कृत्वा मुनिर्द्वादशवार्षिकम् ।
मरुं संसाध्य यत्नेन राजा भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥

जो मुनि बारह वर्षोंतक आहारका संयम करता हुआ यत्नपूर्वक मरु-साधना करके अर्थात् जलको भी त्यागकर तप करता है, वह भी इस पृथ्वीका राजा होता है ॥ ४४ ॥

स्थण्डिले शुद्धमाकाशं परिगृह्य समन्ततः ।
प्रविश्य च मुदा युक्तो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४५ ॥
देहं चानशने त्यक्त्वा स स्वर्गे सुखमेधते ।

जो वानप्रस्थ अपने चारों ओर विशुद्ध आकाशको ग्रहण करता हुआ खुले मैदानमें वेदीपर सोता और बारह वर्षोंके लिये प्रसन्नतापूर्वक व्रतकी दीक्षा ले उपवास करके अपना शरीर त्याग देता है, वह स्वर्गलोकमें सुख भोगता है ॥ ४५½ ॥

स्थण्डिलस्य फलान्याहुर्यानानि शयनानि च ॥ ४६ ॥
गृहाणि च महार्हाणि चन्द्रशुभ्राणि भामिनि ।

भामिनि ! वेदीपर शयन करनेसे प्राप्त होनेवाले फल इस प्रकार बताये गये हैं—सवारी, शय्या और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल बहुमूल्य गृह ॥ ४६½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो नियतो नियताशनः ॥ ४७ ॥
देहं वानशने त्यक्त्वा स स्वर्गं समुपाश्नुते ।

जो केवल अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ नियमपूर्वक रहता और नियमित भोजन करता है अथवा अनशन व्रतका आश्रय ले शरीरको त्याग देता है, वह स्वर्गका सुख भोगता है ॥ ४७½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४८ ॥
त्यक्त्वा महार्णवे देहं वारुणं लोकमश्नुते ।

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ बारह वर्षोंकी दीक्षा ले महासागरमें अपने शरीरका त्याग कर देता है, वह वरुणलोकमें सुख भोगता है ॥ ४८½ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ॥ ४९ ॥
अश्मना चरणौ भित्त्वा गुह्यकेषु स मोदते ।
साधयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ५० ॥

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ निर्द्वन्द्व और परिग्रहशून्य हो बारह वर्षोंके लिये व्रतकी दीक्षा ले अन्तमें पत्थरसे अपने पैरोंको विदीर्ण करके स्वयं ही अपने शरीरको त्याग देता है, वह गुह्यकलोकमें आनन्द भोगता है ॥ ४९-५० ॥

चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम् ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति देवैश्च सह मोदते ॥ ५१ ॥

जो बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करता है, वह स्वर्गलोकमें जाता और देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥ ५१ ॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
हुत्वाग्नौ देहमुत्सृज्य वह्निलोके महीयते ॥ ५२ ॥

जो बारह वर्षोंके लिये व्रत-पालनकी दीक्षा ले अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ अपने शरीरको अग्निमें होम देता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ५२ ॥

यस्तु देवि यथान्यायं दीक्षितो नियतो द्विजः ।
आत्मन्यात्मानमाधाय निर्ममो धर्मलालसः ॥ ५३ ॥
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम् ।
अरणीसहितं स्कन्धे बद्ध्वा गच्छत्यनावृतः ॥ ५४ ॥

वीराध्वानमगतो नित्यं वीरासनरतस्तथा।
वीरस्थायी च सततं स वीरगतिमाप्नुयात्॥ ५५॥

देवि! जो ब्राह्मण नियमपूर्वक रहकर यथोचित रीतिसे वनवास-व्रतकी दीक्षा ले अपने मनको परमात्मचिन्तनमें लगाकर ममताशून्य और धर्मका अभिलाषी होकर बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करके अरणीसहित अग्निको वृक्षकी डालीमें बाँधकर अर्थात् अग्निका परित्याग करके अनावृत भावसे यात्रा करता है, सदा वीर मार्गसे चलता है, वीरासनपर बैठता है और वीरकी भाँति खड़ा होता है, वह वीरगतिको प्राप्त होता है॥ ५३—५५॥

स शक्रलोकगो नित्यं सर्वकामपुरस्कृतः।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णो दिव्यचन्दनभूषितः॥ ५६॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर सदा सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न होता है। उसके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होती है तथा वह दिव्य चन्दनसे विभूषित होता है॥ ५६॥

सुखं वसति धर्मात्मा दिवि देवगणैः सह।
वीरलोकगतो नित्यं वीरयोगसहः सदा॥ ५७॥

वह धर्मात्मा देवलोकमें देवताओंके साथ सुखपूर्वक निवास करता है और निरन्तर वीरलोकमें रहकर वीरोंके साथ संयुक्त होता है॥ ५७॥

सत्त्वस्थः सर्वमुत्सृज्य दीक्षितो नियतः शुचिः।
वीराध्वानं प्रपद्येद् यस्तस्य लोकाः सनातनाः॥ ५८॥

जो सब कुछ त्यागकर वनवासकी दीक्षा ले सत्त्वगुणमें स्थित नियमपरायण एवं पवित्र हो वीरपथका आश्रय लेता है, उसे सनातन लोक प्राप्त होते हैं॥ ५८॥

कामगेन विमानेन स वै चरति छन्दतः।
शक्रलोकगतः श्रीमान् मोदते च निरामयः॥ ५९॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर नीरोग और दिव्य शोभासे सम्पन्न हो आनन्द भोगता है और इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा स्वच्छन्द विचरता रहता है॥ ५९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३७½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणादि वर्णोंकी प्राप्तिमें मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंकी प्रधानताका प्रतिपादन

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न पूष्णो दन्तनिपातन।
दक्षक्रतुहर त्र्यक्ष संशयो मे महानयम्॥ १॥

पार्वतीजीने पूछा—भगदेवताकी आँख फोड़कर पूषाके दाँत तोड़ डालनेवाले दक्षयज्ञविध्वंसी भगवान् त्रिलोचन! मेरे मनमें यह एक महान् संशय है॥ १॥

चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा।
केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम्॥ २॥

भगवान् ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन चार वर्णोंकी सृष्टि की है, उनमेंसे वैश्य किस कर्मके परिणामसे शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है?॥ २॥

वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत्।
प्रतिलोमः कथं देव शक्यो धर्मो निवर्तितुम्॥ ३॥

अथवा क्षत्रिय किस कर्मसे वैश्य होता है और ब्राह्मण किस कर्मसे क्षत्रिय हो जाता है? देव! प्रतिलोम धर्मको कैसे निवृत्त किया जा सकता है?॥ ३॥

केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते।
क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विभो॥ ४॥

प्रभो! कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण शूद्र-योनिमें जन्म लेता है! अथवा किस कर्मसे क्षत्रिय शूद्र हो जाता है॥ ४॥

एतन्मे संशयं देव वद भूतपतेऽनघ।
त्रयो वर्णाः प्रकृत्येह कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः॥ ५॥

देव! पापरहित भूतनाथ! मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय—इन तीन वर्णोंके लोग किस प्रकार स्वभावतः ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकते हैं?॥ ५॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे।
क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः॥ ६॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। शुभे! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण मेरे विचारसे नैसर्गिक (प्राकृतिक या स्वभावसिद्ध) हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ६॥

कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद् भ्रश्यति वै द्विजः।
ज्येष्ठं वर्णमनुप्राप्य तस्माद् रक्षेद् वै द्विजः॥ ७॥

इतना अवश्य है कि यहाँ पापकर्म करनेसे द्विज अपने स्थानसे—अपनी महत्तासे नीचे गिर जाता है। अतः द्विजको उत्तम वर्णमें जन्म पाकर अपनी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये॥

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति ।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ८ ॥

यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्राह्मण-धर्मका पालन करते हुए ब्राह्मणत्वका सहारा लेता है तो वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते ।
ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते ॥ ९ ॥

जो ब्राह्मण ब्राह्मणत्वका त्याग करके क्षत्रिय-धर्मका सेवन करता है, वह अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर क्षत्रिय योनिमें जन्म लेता है ॥ ९ ॥

वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ॥ १० ॥
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् ।
स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ११ ॥

जो विप्र दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर लोभ और मोहके वशीभूत हो अपनी मन्दबुद्धिताके कारण वैश्यका कर्म करता है, वह वैश्ययोनिमें जन्म लेता है। अथवा यदि वैश्य शूद्रके कर्मको अपनाता है, तो वह भी शूद्रत्वको प्राप्त होता है। शूद्रोचित कर्म करके अपने धर्मसे भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ १०-११ ॥

तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः ।
ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण-जातिका पुरुष शूद्र-कर्म करनेके कारण अपने वर्णसे भ्रष्ट होकर जातिसे बहिष्कृत हो जाता है और मृत्युके पश्चात् वह ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नरकमें पड़ता है। इसके बाद वह शूद्रकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥

क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि ।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्म निषेवते ॥ १३ ॥
स्वस्थानात् स परिभ्रष्टो वर्णसङ्करतां गतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः ॥ १४ ॥

महाभागे ! धर्मचारिणि ! क्षत्रिय अथवा वैश्य भी अपने-अपने कर्मोंको छोड़कर यदि शूद्रका काम करने लगता है तो वह अपनी जातिसे भ्रष्ट होकर वर्णसंकर हो जाता है और दूसरे जन्ममें शूद्रकी योनिमें जन्म पाता है। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कोई भी क्यों न हो, वह शूद्रभावको प्राप्त होता है ॥ १३-१४ ॥

यस्तु बुद्धः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवाञ्शुचिः ।
धर्मज्ञो धर्मनिरतः स धर्मफलमश्नुते ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने वर्णधर्मका पालन करते हुए बोध प्राप्त करता है और ज्ञानविज्ञानसे सम्पन्न, पवित्र तथा धर्मज्ञ होकर धर्ममें ही लगा रहता है, वही धर्मके वास्तविक फलका उपभोग करता है ॥ १५ ॥

इदं चैवापरं देवि ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
अध्यात्मं नैष्ठिकं सद्भिर्धर्मकामैर्निषेव्यते ॥ १६ ॥

देवि ! ब्रह्माजीने यह एक बात और बतायी है—धर्मकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंको आजीवन अध्यात्मतत्त्वका ही सेवन करना चाहिये ॥ १६ ॥

उग्रान्नं गर्हितं देवि गणान्नं श्राद्धसूतकम् ।
दुष्टान्नं नैव भोक्तव्यं शूद्रान्नं नैव कर्हिचित् ॥ १७ ॥

देवि ! उग्रस्वभावके मनुष्यका अन्न निन्दित माना गया है। किसी समुदायका, श्राद्धका, जननाशौचका, दुष्ट पुरुषका और शूद्रका अन्न भी निषिद्ध है—उसे कभी नहीं खाना चाहिये ॥ १७ ॥

शूद्रान्नं गर्हितं देवि सदा देवैर्महात्मभिः ।
पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः ॥ १८ ॥

देवताओं और महात्मा पुरुषोंने शूद्रके अन्नकी सदा ही निन्दा की है। इस विषयमें पितामह ब्रह्माजीके श्रीमुखका वचन प्रमाण है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १८ ॥

शूद्रान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः ।
आहिताग्निस्तथा यज्वा स शूद्रगतिभाग् भवेत् ॥ १९ ॥

जो ब्राह्मण पेटमें शूद्रका अन्न लिये मर जाता है, वह अग्निहोत्री अथवा यज्ञ करनेवाला ही क्यों न रहा हो, उसे शूद्रकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १९ ॥

तेन शूद्रान्नशेषेण ब्रह्मस्थानादपाकृतः ।
ब्राह्मणः शूद्रतामेति नास्ति तत्र विचारणा ॥ २० ॥

उदरमें शूद्रान्नका शेषभाग स्थित होनेके कारण ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे वञ्चित हो शूद्रभावको प्राप्त होता है; इसमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

यस्यान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः ।
तां तां योनिं व्रजेद् विप्रो यस्यान्नमुपजीवति ॥ २१ ॥

उदरमें जिसके अन्नका अवशेष लेकर जो ब्राह्मण मृत्युको प्राप्त होता है, वह उसीकी योनिमें जाता है। जिसके अन्नसे जीवन-निर्वाह करता है, उसीकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणत्वं शुभं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते ।
अभोज्यान्नानि चाश्नाति स द्विजत्वात् पतेत वै ॥ २२ ॥

जो शुभ एवं दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर उसकी अवहेलना करता है और नहीं खानेयोग्य अन्न खाता है, वह निश्चय ही ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है ॥ २२ ॥

सुरापो ब्रह्महा क्षुद्रश्चोरो भग्नव्रतोऽशुचिः।
स्वाध्यायवर्जितः पापो लुब्धो नैकृतिकः शठः ॥ २३ ॥
अव्रती वृषलीभर्ता कुण्डाशी सोमविक्रयी।
निहीनसेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः ॥ २४ ॥

शराबी, ब्रह्महत्यारा, नीच, चोर, व्रतभङ्ग करनेवाला, अपवित्र, स्वाध्यायहीन, पापी, लोभी, कपटी, शठ, व्रतका पालन न करनेवाला, शूद्रजातिकी स्त्रीका स्वामी, कुण्डाशी (पतिके जीते-जी उत्पन्न किये हुए जारज पुत्रके घरमें खानेवाला अथवा पाकपात्रमें ही भोजन करनेवाला), सोमरस बेचनेवाला और नीचसेवी ब्राह्मण ब्राह्मणकी योनिसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २३-२४ ॥

गुरुतल्पी गुरुद्रोही गुरुकुत्सारतिश्च यः।
ब्रह्मविच्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः ॥ २५ ॥

जो गुरुकी शय्यापर सोनेवाला, गुरुद्रोही और गुरुनिन्दामें अनुरक्त है, वह ब्राह्मण वेदवेत्ता होनेपर भी ब्रह्मयोनिसे नीचे गिर जाता है ॥ २५ ॥

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ॥ २६ ॥

देवि ! इन्हीं शुभ कर्मों और आचरणोंसे शूद्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है और वैश्य क्षत्रियत्वको ॥ २६ ॥

शूद्रकर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि।
शुश्रूषां परिचर्यां च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः ॥ २७ ॥
कुर्यादविमनाः शूद्रः सततं सत्पथे स्थितः।
देवद्विजातिसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः ॥ २८ ॥
ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः।
चोक्षश्चोक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ॥ २९ ॥
वृथामांसं न भुञ्जीत शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति।

शूद्र अपने सभी कर्मोंको न्यायानुसार विधिपूर्वक सम्पन्न करे। अपनेसे ज्येष्ठ वर्णकी सेवा और परिचर्यामें प्रयत्नपूर्वक लगा रहे। अपने कर्तव्यपालनसे कभी ऊबे नहीं। सदा सन्मार्गपर स्थित रहे। देवताओं और द्विजोंका सत्कार करे। सबके आतिथ्यका व्रत लिये रहे। ऋतुकालमें ही स्त्रीके साथ समागम करे। नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। स्वयं शुद्ध रहकर शुद्ध पुरुषोंका ही अन्वेषण करे। अतिथि-सत्कार और कुटुम्बी जनोंके भोजनसे बचे हुए अन्नका ही आहार करे और मांस न खाय। इस नियमसे रहनेवाला शूद्र (मृत्युके पश्चात् पुण्यकर्मोंका फल भोगकर) वैश्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ २७-२९½ ॥

ऋतवागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः ॥ ३० ॥
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः।
दान्तो ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णबुभूषकः ॥ ३१ ॥
गृहस्थव्रतमातिष्ठन् द्विकालकृतभोजनः।
शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः ॥ ३२ ॥
अग्निहोत्रमुपासंश्च जुह्वानश्च यथाविधि।
सर्वातिथ्यमुपातिष्ठञ्शेषान्नकृतभोजनः ॥ ३३ ॥
त्रेताग्निमन्त्रविहितो वैश्यो भवति वै द्विजः।
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते ॥ ३४ ॥

वैश्य सत्यवादी, अहंकारशून्य, निर्द्वन्द्व, शान्तिके साधनोंका ज्ञाता, स्वाध्यायपरायण और पवित्र होकर नित्य यज्ञोंद्वारा यजन करे। जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणोंका सत्कार करते हुए समस्त वर्णोंकी उन्नति चाहे। गृहस्थके व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन दो ही समय भोजन करे। यज्ञशेष अन्नका ही आहार करे। आहारपर काबू रक्खे। सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग दे। अहंकारशून्य होकर विधिपूर्वक आहुति देते हुए अग्निहोत्र कर्मका सम्पादन करे। सबका आतिथ्य-सत्कार करके अवशिष्ट अन्नका स्वयं भोजन करे। त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रोच्चारणपूर्वक परिचर्या करे। ऐसा करनेवाला वैश्य द्विज होता है। वह वैश्य पवित्र एवं महान् क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेता है ॥ ३०—३४ ॥

स वैश्यः क्षत्रियो जातो जन्मप्रभृति संस्कृतः।
उपनीतो व्रतपरो द्विजो भवति सत्कृतः ॥ ३५ ॥
ददाति यजते यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
अधीत्य स्वर्गमन्विच्छंस्त्रेताग्निशरणः सदा ॥ ३६ ॥
आर्तहस्तप्रदो नित्यं प्रजा धर्मेण पालयन्।
सत्यः सत्यानि कुरुते नित्यं यः सुखदर्शनः ॥ ३७ ॥

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ वह वैश्य जन्मसे ही क्षत्रियोचित संस्कारसे सम्पन्न हो उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें तत्पर हो सर्वसम्मानित द्विज होता है। वह दान देता है, पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करता है, वेदोंका अध्ययन करके स्वर्गकी इच्छा रखकर सदा त्रिविध अग्नियोंकी शरण ले उनकी आराधना करता है, दुखी एवं पीड़ित मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, प्रतिदिन प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है, स्वयं सत्यपरायण होकर सत्यपूर्ण व्यवहार करता है तथा दर्शनसे ही सबके लिये सुखद होता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय अथवा राजा है ॥ ३५-३७ ॥

धर्मदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासकः।
यन्त्रितः कार्यकरणैः षड्भागकृतलक्षणः ॥ ३८ ॥

धर्मानुसार अपराधीको दण्ड दे। दण्डका त्याग न करे। प्रजाको धर्मकार्यका उपदेश दे। राजकार्य करनेके लिये नियम और विधानसे बँधा रहे। प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

ग्राम्यधर्मं न सेवेत स्वच्छन्देनार्थकोविदः।
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीमुपशयेत् सदा ॥ ३९ ॥

कार्यकुशल धर्मात्मा क्षत्रिय स्वच्छन्दतापूर्वक ग्राम्य धर्म (मैथुन)का सेवन न करे। केवल ऋतुकालमें ही सदा पत्नीके निकट शयन करे ॥ ३९ ॥

सदोपवासी नियतः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
बर्हिष्कान्तरिते नित्यं शयानोऽग्निगृहे सदा ॥ ४० ॥

सदा उपवास करे अर्थात् एकादशी आदिके दिन उपवास करे और दूसरे दिन भी सदा दो ही समय भोजन करे। बीचमें कुछ न खाय। नियमपूर्वक रहे, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहे, पवित्र हो प्रतिदिन अग्निशालामें कुशकी चटाईपर शयन करे ॥ ४० ॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य कुर्वाणः सुमनाः सदा।
शूद्राणां चान्नकामानां नित्यं सिद्धमिति ब्रुवन् ॥ ४१ ॥

क्षत्रिय सदा प्रसन्नतापूर्वक सबका आतिथ्य-सत्कार करते हुए धर्म, अर्थ और कामका सेवन करें। शूद्र भी यदि अन्नकी इच्छा रखकर उसके लिये प्रार्थना करे तो क्षत्रिय उनके लिये सदा यही उत्तर दे कि तुम्हारे लिये भोजन तैयार है, चलो कर लो ॥ ४१ ॥

अर्थाद् वा यदि वा कामान्न किंचिदुपलक्षयेत्।
पितृदेवातिथिकृते साधनं कुरुते च यः ॥ ४२ ॥

वह स्वार्थ या कामनावश किसी वस्तुका प्रदर्शन न करे। जो पितरों, देवताओं तथा अतिथियोंकी सेवाके लिये चेष्टा करता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय है ॥ ४२ ॥

स्ववेश्मनि यथान्यायमुपास्ते भैक्ष्यमेव च।
त्रिकालमग्निहोत्रं च जुह्वानो वै यथाविधि ॥ ४३ ॥

क्षत्रिय अपने ही घरमें न्यायपूर्वक भिक्षा(भोजन) करे। तीनों समय विधिवत् अग्निहोत्र करता रहे ॥ ४३ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय रणे चाभिमुखो हतः।
त्रेताग्निमन्त्रपूतात्मा समाविश्य द्विजो भवेत् ॥ ४४ ॥

वह धर्ममें स्थित हो त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रपूर्वक परिचर्यासे पवित्रचित्त हो यदि गौओं तथा ब्राह्मणोंके हितके लिये समरमें शत्रुका सामना करते हुए मारा जाय तो दूसरे जन्ममें ब्राह्मण होता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः संस्कृतो वेदपारगः।
विप्रो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय अपने कर्मसे जन्मान्तरमें ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, संस्कारयुक्त तथा वेदोंका पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण होता है ॥ ४५ ॥

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः ॥ ४६ ॥

देवि! इन कर्मफलोंके प्रभावसे नीच जाति एवं हीन कुलमें उत्पन्न हुआ शूद्र भी जन्मान्तरमें शास्त्रज्ञानसम्पन्न और संस्कारयुक्त ब्राह्मण होता है ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः ॥ ४७ ॥

ब्राह्मण भी यदि दुराचारी होकर सम्पूर्ण संकर जातियोंके घर भोजन करने लगे तो वह ब्राह्मणत्वका परित्याग करके वैसा ही शूद्र बन जाता है ॥ ४७ ॥

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम् ॥ ४८ ॥

देवि! शूद्र भी यदि जितेन्द्रिय होकर पवित्र कर्मोंके अनुष्ठानसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह द्विजकी ही भाँति सेव्य होता है—यह साक्षात् ब्रह्माजीका कथन है ॥ ४८ ॥

स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ॥ ४९ ॥

मेरा तो ऐसा विचार है कि यदि शूद्रके स्वभाव और कर्म दोनों ही उत्तम हों तो वह द्विजातिसे भी बढ़कर मानने योग्य है ॥ ४९ ॥

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ ५० ॥

ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिमें न तो केवल योनि, न संस्कार, न शास्त्रज्ञान और न संतति ही कारण है। ब्राह्मणत्वका प्रधान हेतु तो सदाचार ही है ॥ ५० ॥

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति ॥ ५१ ॥

लोकमें यह सारा ब्राह्मणसमुदाय सदाचारसे ही अपने पदपर बना हुआ है। सदाचारमें स्थित रहनेवाला शूद्र भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकता है ॥ ५१ ॥

ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि समः सर्वत्र मे मतिः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः ॥ ५२ ॥

सुश्रोणि! ब्रह्मका स्वभाव सर्वत्र समान है। जिसके भीतर उस निर्गुण और निर्मल ब्रह्मका ज्ञान है, वही वास्तवमें ब्राह्मण है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ५२ ॥

एते योनिफला देवि स्थानभागनिदर्शकाः।
स्वयं च वरदेनोक्ता ब्रह्मणा सृजता प्रजाः ॥ ५३ ॥

देवि! ये जो चारों वर्णोंके स्थान और विभाग बतलाये गये हैं, ये उस-उस जातिमें जन्म ग्रहण करनेके फल हैं। प्रजाकी सृष्टि करते समय वरदाता ब्रह्माजीने स्वयं ही यह बात कही है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणोऽपि महत् क्षेत्रं लोके चरति पादवत्।
यत् तत्र बीजं वपति सा कृषिः प्रेत्य भाविनि ॥ ५४ ॥

भामिनि ! ब्राह्मण संसारमें एक महान् क्षेत्र है। दूसरे क्षेत्रोंकी अपेक्षा इसमें विशेषता इतनी ही है कि यह पैरोंसे युक्त चलता-फिरता खेत है। इस क्षेत्रमें जो बीज डाला जाता है, वह परलोकके लिये जीविकाकी साधनरूप खेतीके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ ५४ ॥

विघसाशिना सदा भाव्यं सत्पथालम्बिना तथा।
ब्राह्मं हि मार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता ॥ ५५ ॥

अपना कल्याण चाहनेवाले ब्राह्मणको उचित है कि वह सज्जनोंके मार्गका अवलम्बन करके सदा अतिथि और पोष्यवर्गको भोजन करानेके बाद अन्न ग्रहण करे, वेदोक्त पथका आश्रय लेकर उत्तम बर्ताव करे ॥ ५५ ॥

संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना।
नित्यं स्वाध्यायिना भाव्यं न चाध्ययनजीविना॥ ५६ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण घरमें रहकर प्रतिदिन संहिताका पाठ और शास्त्रोंका स्वाध्याय करे। अध्ययनको जीविकाका साधन न बनावे ॥ ५६ ॥

एवंभूतो हि यो विप्रः सत्पथं सत्पथे स्थितः।
आहिताग्निरधीयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५७ ॥

इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्मार्गपर स्थित हो सत्पथका ही अनुसरण करता है तथा अग्निहोत्र एवं स्वाध्यायपूर्वक जीवन बिताता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण्यं देवि सम्प्राप्य रक्षितव्यं यतात्मना।
योनिप्रतिग्रहादानैः कर्मभिश्च शुचिस्मिते ॥ ५८ ॥

देवि ! शुचिस्मिते ! मनुष्यको चाहिये कि वह ब्राह्मणत्वको पाकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए योनि, प्रतिग्रह और दानकी शुद्धि एवं सत्कर्मोंद्वारा उसकी रक्षा करे ॥ ५८ ॥

एतत् ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद् द्विजः।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद् यथा शूद्रत्वमाप्नुते ॥ ५९ ॥

गिरिराजकुमारी ! शूद्र धर्माचरण करनेसे जिस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त करता है तथा ब्राह्मण स्वधर्मका त्याग करके जातिसे भ्रष्ट होकर जिस प्रकार शूद्र हो जाता है, यह गूढ़ रहस्यकी बात मैंने तुम्हें बतला दी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्धन-मुक्ति, स्वर्ग, नरक एवं दीर्घायु और अल्पायु प्रदान करनेवाले शरीर, वाणी और मनद्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश देवासुरनमस्कृत ।
धर्माधर्मौ नृणां देव ब्रूहि मेऽसंशयं विभो ॥ १ ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! देवासुरवन्दित देव ! विभो ! अब मुझे धर्म और अधर्मका स्वरूप बताइये; जिससे उनके विषयमें मेरा संदेह दूर हो जाय ॥ १ ॥

कर्मणा मनसा वाचा त्रिविधं हि नरः सदा।
बध्यते बन्धनैः पाशैर्मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ॥ २ ॥

मनुष्य मन, वाणी और क्रिया—इन तीन प्रकारके बन्धनोंसे सदा बँधता है और फिर उन बन्धनोंसे मुक्त होता है ॥

केन शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥ ३ ॥

प्रभो ! किस शील-स्वभावसे, किस बर्तावसे, कैसे कर्मसे तथा किन सदाचारों अथवा गुणोंद्वारा मनुष्य बँधते, मुक्त होते एवं स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्धनः ॥ ४ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाली, सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली, इन्द्रियसयमपरायणे देवि ! तुम्हारा प्रश्न समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा बुद्धिको बढ़ानेवाला है, इसका उत्तर सुनो ॥ ४ ॥

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य धर्मसे उपार्जित किये हुए धनको भोगते हैं, सम्पूर्ण आश्रमसम्बन्धी चिह्नोंसे बिलग रहकर भी सत्य, धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ५ ॥

नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ॥ ६ ॥

जिनके सब प्रकारके संदेह दूर हो गये हैं, जो प्रलय

और उत्पत्तिके तत्त्वको जाननेवाले, सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा हैं, वे महात्मा न तो धर्मसे बँधते हैं और न अधर्मसे ॥ ६ ॥

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन॥ ७ ॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसीकी हिंसा नहीं करते हैं और जिनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी है, वे पुरुष कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित् ते न बद्ध्यन्ति कर्मभिः ।
प्राणातिपाताद् विरताः शीलवन्तो दयान्विताः ॥ ८ ॥
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ।

जो कहीं आसक्त नहीं होते, किसीके प्राणोंकी हत्यासे दूर रहते हैं तथा जो सुशील और दयालु हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनोंमें नहीं पड़ते, जिनके लिये शत्रु और प्रिय मित्र दोनों समान हैं, वे जितेन्द्रिय पुरुष कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ८½ ॥

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ॥ ९ ॥
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो सब प्राणियोंपर दया करनेवाले, सब जीवोंके विश्वासपात्र तथा हिंसामय आचरणोंको त्याग देनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ९½ ॥

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः ॥ १० ॥
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो दूसरोंके धनपर ममता नहीं रखते, परायी स्त्रीसे सदा दूर रहते और धर्मके द्वारा प्राप्त किये अन्नको ही भोजन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १०½ ॥

मातृवत् स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये ॥ ११ ॥
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो मानव परायी स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर तदनुरूप बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ११½ ॥

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेन च॥ १२ ॥
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो सदा अपने ही धनसे संतुष्ट रहकर चोरी-चमारीसे अलग रहते हैं तथा जो अपने भाग्यपर ही भरोसा रखकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥१२½॥

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ॥ १३ ॥
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहकर ऋतुकालमें ही उसके साथ समागम करते हैं और ग्राम्य सुख-भोगोंमें आसक्त नहीं होते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १३½ ॥

परदारेषु ये नित्यं चारित्रावृतलोचनाः ॥ १४ ॥
जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।

जो अपने सदाचारके द्वारा सदा ही परायी स्त्रियोंकी ओरसे अपनी आँखें बंद किये रहते हैं, वे जितेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ १४½ ॥

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः ॥ १५ ॥
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ।

यह देवताओंका बनाया हुआ मार्ग है । राग और द्वेषको दूर करनेके लिये इस मार्गकी प्रवृत्ति हुई है । अतः साधारण मनुष्यों तथा विद्वान् पुरुषोंको भी सदा ही इसका सेवन करना चाहिये ॥ १५½ ॥

दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ॥ १६ ॥
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः ।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥ १७ ॥

यह दान, धर्म और तपस्यासे युक्त तथा शील, शौच और दयामय मार्ग है । मनुष्यको जीविका एवं धर्मके लिये सदा ही इस मार्गका सेवन करना चाहिये । जो स्वर्गलोकमें निवास करना चाहते हों, उनके लिये सेवन करने योग्य इससे बढ़कर उत्कृष्ट मार्ग नहीं है ॥ १६-१७ ॥

उमोवाच

वाचा तु बद्ध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥ १८ ॥

उमाने पूछा—निष्पाप भूतनाथ ! महादेव ! कैसी वाणी बोलने अथवा उस वाणीद्वारा कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता या उस बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ? उन वाचिक कर्मोंका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १८ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात् तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १९ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो हँसी और परिहासका सहारा लेकर भी अपने या दूसरेके लिये कभी झूठ नहीं बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २० ॥

जो आजीविका अथवा धर्मके लिये तथा स्वेच्छाचारसे भी कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २० ॥

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २१ ॥

जो स्निग्ध, मधुर, बाधारहित और पापशून्य तथा स्वागत-

सत्कारके भावसे युक्त वाणी बोलते हैं, वे मानव स्वर्ग-लोकमें जाते हैं ॥ २१ ॥

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा ।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २२ ॥

जो किसीकी चुगली नहीं खाते और कभी किसीसे रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात मुँहसे नहीं निकालते; वे सज्जन पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ २२ ॥

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम् ।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २३ ॥

जो दो मित्रोंमें फूट डालनेवाली चुगलीकी बातें नहीं करते हैं, सत्य और मैत्रीभावसे युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः ।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २४ ॥

जो मानव दूसरोंसे तीखी बातें बोलना और द्रोह करना छोड़ देते हैं, सब प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ २४ ॥

शठप्रलापाद् विरता विरुद्धपरिवर्जकाः ।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २५ ॥

जिनके मुँहसे कभी शठतापूर्ण बात नहीं निकलती, जो विरोधयुक्त वाणीका परित्याग करते हैं और सदा सौम्य (कोमल) वाणी बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

न कोपाद् व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम् ।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २६ ॥

जो क्रोधमें आकर भी हृदयको विदीर्ण करनेवाली बात मुँहसे नहीं निकालते हैं तथा क्रुद्ध होनेपर भी सान्त्वनापूर्ण वचन ही बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ २६ ॥

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः ।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः ॥ २७ ॥

देवि ! यह वाणीजनित धर्म बताया गया है । मनुष्यों-को सदा इसका सेवन करना चाहिये । विद्वानोंको उचित है कि वे सदा शुभ और सत्य वचन बोलें तथा मिथ्याका परित्याग करें * ॥ २७ ॥

उमोवाच

मनसा बद्ध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा ।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृत् ॥ २८ ॥

उमाने पूछा—महाभाग ! पिनाकधारी देवदेव ! जिस मानसिक कर्मसे मनुष्य सदा बन्धनमें पड़ता है, उसको मुझे बताइये ॥ २८ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा ।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु॥ २९ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! जो सदा मानसिक धर्म-से युक्त हैं अर्थात् मनसे धर्मका ही चिन्तन और आचरण करते हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ! मैं इस विषयमें जो बताता हूँ, उसे सुनो ॥ २९ ॥

दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततरा कृतिः ।
मनो बद्ध्यति येनेह शृणु वाक्यं शुभानने ॥ ३० ॥

शुभानने ! मनमें दुर्विचार आनेसे मनुष्यके कार्य भी दुर्नीतिपूर्ण एवं दूषित होते हैं, जिससे मन बन्धनमें पड़ जाता है । इस विषयमें मेरी बात सुनो ॥ ३० ॥

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३१ ॥

जब दूसरेका धन निर्जन वनमें पड़ा हुआ दिखायी दे, उस समय भी जो उसकी ओर मन ललचाकर किसीकी हिंसा नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३१ ॥

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम् ।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३२ ॥

गाँव या घरके एकान्त स्थानमें पड़े हुए पराये धनका जो कभी अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३२ ॥

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान् ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार जो मनुष्य एकान्तमें प्राप्त हुई कामासक्त परायी स्त्रियोंको मनसे भी उनके साथ अन्याय करनेका विचार नहीं करते, वे स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३३ ॥

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः ।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३४ ॥

जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखकर सबसे मिलते तथा शत्रु और मित्रको भी सदा समान हृदयसे अपनाते हैं, वे मानव स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३४ ॥

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः ।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३५ ॥

जो शास्त्रज्ञ, दयालु, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ और अपने ही धनसे संतुष्ट होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ ३५ ॥

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा ।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३६ ॥

* उपर्युक्त कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले पुरुषको परमात्मपदकी प्राप्ति हो जाती है ।

जिनके मनमें किसीके प्रति वैर नहीं है, जो आयासरहित, मैत्रीभावसे पूर्ण हृदयवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति सदा ही दयाभाव रखनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३६ ॥

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः ।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३७ ॥

जो श्रद्धालु, दयालु, शुद्ध, शुद्ध जनोंके प्रेमी तथा धर्म और अधर्मके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ३७ ॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३८ ॥

देवि ! जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फल-संचयके विषयमें परिणामके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा ।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३९ ॥

जो न्यायशील, गुणवान्, देवताओं और द्विजोंके भक्त तथा उत्थानको प्राप्त हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं ॥३९॥

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः ।
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि ॥ ४० ॥

देवि ! जो शुभ कर्मोंके फलोंसे स्वर्गलोकके मार्गमें स्थित हैं, उनका वर्णन मैंने यहाँ किया है । अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ? ॥ ४० ॥

उमोवाच

महान् मे संशयः कश्चिन्मर्त्यान् प्रति महेश्वर ।
तस्मात् त्वं नैपुणेनाद्य मम व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४१ ॥

उमाने पूछा—महेश्वर ! मुझे मनुष्योंके विषयमें एक महान् संशय है । आप अच्छी तरह उस संशयका समाधान करें ॥ ४१ ॥

केनायुर्लभते दीर्घं कर्मणा पुरुषः प्रभो ।
तपसा वापि देवेश केनायुर्लभते महत् ॥ ४२ ॥

प्रभो ! मनुष्य किस कर्मसे दीर्घायु प्राप्त करता है ? तथा देवेश्वर ! किस तपस्यासे मनुष्यको बड़ी आयु प्राप्त होती है ? ॥

क्षीणायुः केन भवति कर्मणा भुवि मानवः ।
विपाकं कर्मणां देव वक्तुमर्हस्यनिन्दित ॥ ४३ ॥

अनिन्द्य महादेव ! इस भूतलपर कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण हो जाती है ? आप मुझसे कर्म-विपाकका वर्णन करें ॥ ४३ ॥

अपरे च महाभाग्या मन्दभाग्यास्तथापरे ।
अकुलीनास्तथा चान्ये कुलीनाश्च तथापरे ॥ ४४ ॥

इस जगत्में कुछ लोग महान् भाग्यशाली हैं तो कुछ लोग मन्दभाग्य हैं, कुछ लोग निन्दित कुलमें उत्पन्न हैं तो दूसरे लोग उच्चकुलमें ॥ ४४ ॥

दुर्दर्शाः केचिदाभान्ति नराः काष्ठमया इव ।
प्रियदर्शास्तथा चान्ये दर्शनादेव मानवाः ॥ ४५ ॥

कुछ मनुष्य दुर्दशाके मारे काष्ठमय (जडवत्) प्रतीत हो रहे हैं, उनकी ओर देखना कठिन जान पड़ता है और दूसरे कितने ही मनुष्य दर्शनमात्रसे मन प्रसन्न कर देते हैं, उनकी ओर देखना प्रिय लगता है ॥ ४५ ॥

दुष्प्रज्ञाः केचिदाभान्ति केचिदाभान्ति पण्डिताः ।
महाप्राज्ञास्तथैवान्ये ज्ञानविज्ञानभाविनः ॥ ४६ ॥

कुछ लोग दुर्बुद्धि जान पड़ते हैं और कुछ विद्वान् तथा कितने ही ज्ञान-विज्ञानशाली महाप्राज्ञ प्रतीत होते हैं ॥ ४६ ॥

अल्पाबाधास्तथा केचिन्महाबाधास्तथापरे ।
दृश्यन्ते पुरुषा देव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४७ ॥

देव ! कुछ लोग साधारण एवं स्वल्प बाधाओंसे ग्रस्त होते हैं और कुछ लोगोंको बड़ी-बड़ी बाधाएँ घेरे रहती हैं । इस तरह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी विषम अवस्थामें पड़े हुए पुरुष दिखायी देते हैं, उनकी इस विषमताका क्या कारण है ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥ ४७ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि देवि कर्मफलोदयम् ।
मर्त्यलोके नरः सर्वो येन स्वफलमश्नुते ॥ ४८ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्मके फलका उदय किस प्रकार होता है और मर्त्यलोकके सभी मनुष्य किस प्रकार अपनी-अपनी करनीका फल भोगते हैं ॥ ४८ ॥

प्राणातिपाते यो रौद्रो दण्डहस्तोद्यतः सदा ।
नित्यमुद्यतशस्त्रश्च हन्ति भूतगणान् नरः ॥ ४९ ॥
निर्दयः सर्वभूतानां नित्यमुद्वेगकारकः ।
अपि कीटपिपीलानामशरण्यः सुनिर्घृणः ॥ ५० ॥
एवंभूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते ।

देवि ! जो मनुष्य दूसरोंका प्राण लेनेके लिये हाथमें डंडा लेकर सदा भयंकर रूप धारण किये रहता है, जो प्रतिदिन हथियार उठाये जगत्के प्राणियोंकी हत्या किया करता है, जिसके भीतर किसीके प्रति दया नहीं होती, जो समस्त प्राणियोंको सदा उद्वेगमें डाले रहता है और जो अत्यन्त क्रूर होनेके कारण चींटी और कीड़ोंको भी शरण नहीं देता, ऐसा मानव घोर नरकमें पड़ता है ॥ ४९-५०½ ॥

विपरीतस्तु धर्मात्मा रूपवानभिजायते ॥ ५१ ॥
पापेन कर्मणा देवि वध्यो हिंसारतिर्नरः ।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥ ५२ ॥

जिसका स्वभाव इसके विपरीत है, वह धर्मात्मा और रूपवान् होता है। देवि! हिंसाप्रेमी मनुष्य अपने पापकर्मके कारण दूसरोंका वध्य, सब प्राणियोंका अप्रिय तथा अल्पायु होता है ॥ ५१-५२ ॥

निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः।
यातनां निरये रौद्रां स कृच्छ्रां लभते नरः ॥ ५३ ॥

जिसका चित्त हिंसामें लगा होता है, वह नरकमें गिरता है और जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह स्वर्गमें जाता है। नरकमें पड़े हुए जीवको बड़ी कष्टदायक और भयङ्कर यातना भोगनी पड़ती है ॥ ५३ ॥

यः कश्चिन्निरयात् तस्मात् समुत्तरति कर्हिचित्।
मानुष्यं लभते चापि हीनायुस्तत्र जायते ॥ ५४ ॥

यदि कभी कोई उस नरकसे छुटकारा पाता है तो मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है, किंतु वहाँ उसकी आयु बहुत थोड़ी होती है ॥ ५४ ॥

पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नरः।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥ ५५ ॥

देवि! पापकर्मसे बँधा हुआ हिंसापरायण मनुष्य समस्त प्राणियोंका अप्रिय होनेके कारण अल्पायु हो जाता है ॥५५॥

यस्तु शुक्लाभिजातीयः प्राणिघातविवर्जकः।
निक्षिप्तशस्त्रो निर्दण्डो न हिंसति कदाचन ॥ ५६ ॥
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथापरे ॥ ५७ ॥
ईदृशः पुरुषोत्कर्षो देवि देवत्वमश्नुते।
उपपन्नान् सुखान् भोगानुपाश्नाति मुदा युतः॥ ५८ ॥

इसके विपरीत जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न और जीवहिंसासे अलग रहनेवाला है, जिसने शस्त्र और दण्डका परित्याग कर दिया है, जिसके द्वारा कभी किसीकी हिंसा नहीं होती, जो न मारता है, न मारनेकी आज्ञा देता है और न मारनेवालेका अनुमोदन ही करता है। जिसके मनमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह बना रहता है तथा जो अपने ही समान दूसरोंपर भी दयादृष्टि रखता है। देवि! ऐसा श्रेष्ठ पुरुष देवत्वको प्राप्त होता है और देवलोकमें प्रसन्नतापूर्वक स्वतः उपलब्ध हुए सुखद भोगोंका अनुभव करता है ॥ ५६-५८ ॥

अथ चेन्मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते।
तत्र दीर्घायुरुत्पन्नः स नरः सुखमेधते ॥ ५९ ॥

अथवा यदि कदाचित् वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है तो वह मनुष्य दीर्घायु और सुखी होता है ॥ ५९ ॥

एष दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मिणाम्।
प्राणिहिंसाविमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः ॥ ६० ॥

यह सत्कर्मका अनुष्ठान करनेवाले सदाचारी एवं दीर्घ-जीवी मनुष्योंका लक्षण है। स्वयं ब्रह्माजीने इस मार्गका उपदेश किया है। समस्त प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग करनेसे ही इसकी उपलब्धि होती है ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्ग और नरक तथा उत्तम और अधम कुलमें जन्मकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

किंशीलः किंसमाचारः पुरुषः कैश्च कर्मभिः।
स्वर्गं समभिपद्येत सम्प्रदानेन केन वा ॥ १ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन्! मनुष्य किस प्रकारके शील, कैसे सदाचार और किन कर्मोंसे युक्त होकर अथवा किस दानके द्वारा स्वर्गमें जाता है? ॥ १ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता दीनार्तकृपणादिषु।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानां वाससां च प्रदायकः ॥ २ ॥
प्रतिश्रयान् सभाः कूपान् प्रपाः पुष्करिणीस्तथा।
नैत्यकानि च सर्वाणि किमिच्छकमतीव च ॥ ३ ॥
आसनं शयनं यानं गृहं रत्नं धनं तथा।
सस्यजातानि सर्वाणि गाः क्षेत्राण्यथ योषितः ॥ ४ ॥
सुप्रतीतमना नित्यं यः प्रयच्छति मानवः।
एवंभूतो नरो देवि देवलोकेऽभिजायते ॥ ५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य ब्राह्मणोंका सम्मान और दान करता है, दीन, दुखी और दरिद्र आदि मनुष्योंको भक्ष्य-भोज्य, अन्न-पान और वस्त्र प्रदान करता है, ठहरनेके स्थान, धर्मशाला, कुआँ, प्याऊ, पोखरी या बावड़ी आदि बनवाता है, लेनेवाले लोगोंकी इच्छा पूछ-पूछकर नित्य देनेयोग्य वस्तुएँ दान करता है, समस्त नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता है, आसन, शय्या, सवारी, गृह, रत्न, धन, धान्य, गौ, खेत और कन्याओंका प्रसन्नतापूर्वक

दान करता है, देवि ! ऐसा मनुष्य देवलोकमें जन्म लेता है ॥ २–५ ॥

तत्रोष्य सुचिरं कालं भुक्त्वा भोगाननुत्तमान्।
सहाप्सरोभिर्मुदितो रमते नन्दनादिषु ॥ ६ ॥

वहाँ चिरकालतक निवास करके उत्तम भोगोंका भोग करते हुए नन्दन आदि वनोंमें अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रमण करता है ॥ ६ ॥

तस्मात् स्वर्गाच्च्युतो लोकान् मानुषेषु प्रजायते।
महाभोगकुले देवि धनधान्यसमन्वितः ॥ ७ ॥

देवि ! फिर वह स्वर्गलोकसे नीचे आनेपर मनुष्यजातिके भीतर महान् भोगोंसे सम्पन्न कुलमें जन्म लेता है और धन-धान्यसे सम्पन्न होता है ॥ ७ ॥

तत्र कामगुणैः सर्वैः समुपेतो मुदा युतः।
महाभोगो महाकोशो धनी भवति मानवः ॥ ८ ॥

मानव-योनिमें वह समस्त कमनीय गुणोंसे सम्पन्न एवं प्रसन्न होता है । उसके पास महान् भोगसामग्री संचित रहती है । उसका खजाना भी विशाल होता है । वह मनुष्य सभी दृष्टियोंसे धनवान् होता है ॥ ८ ॥

एते देवि महाभागाः प्राणिनो दानशीलिनः।
ब्रह्मणा वै पुरा प्रोक्ताः सर्वस्य प्रियदर्शनाः ॥ ९ ॥

देवि ! ये दानशील प्राणी ही ऐसे महान् सौभाग्यसे सम्पन्न होते हैं । पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनका ऐसा ही परिचय दिया है । दाता मनुष्य सभीकी दृष्टिमें प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

अपरे मानवा देवि प्रदानकृपणा द्विजैः।
याचिता न प्रयच्छन्ति विद्यमानेऽप्यबुद्धयः॥ १० ॥

देवि ! दूसरे बहुत-से मनुष्य दान देनेमें कृपण होते हैं । वे मन्दबुद्धि मानव ब्राह्मणोंके माँगनेपर अपने पास धन होते हुए भी उन्हें कुछ नहीं देते ॥ १० ॥

दीनान्धकृपणान् दृष्ट्वा भिक्षुकानतिथीनपि।
याच्यमाना निवर्तन्ते जिह्वालोभसमन्विताः ॥ ११ ॥

वे दीनों, अन्धों, दरिद्रों, भिखमंगों और अतिथियोंको देखते ही हट जाते हैं । उनके याचना करनेपर भी जिह्वाकी लोलुपताके कारण उन्हें अन्न नहीं देते ॥ ११॥

न धनानि न वासांसि न भोगान् न च काञ्चनम्।
न गावो नान्नविकृतिं प्रयच्छन्ति कदाचन ॥ १२ ॥

वे न धन, न वस्त्र, न भोग, न सुवर्ण, न गौ और न अन्नकी बनी हुई नाना प्रकारकी खाद्य वस्तुओंका कभी दान करते हैं ॥ १२ ॥

अप्रवृत्ताश्च ये लुब्धा नास्तिका दानवर्जिताः।
एवंभूता नरा देवि निरयं यान्त्यबुद्धयः ॥ १३ ॥

देवि ! ऐसे अकर्मण्य, लोभी, नास्तिक तथा दानधर्मसे दूर रहनेवाले बुद्धिहीन मनुष्य नरकमें पड़ते हैं ॥ १३ ॥

ते वै मनुष्यतां यान्ति यदा कालस्य पर्ययात्।
धनरिक्ते कुले जन्म लभन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ १४ ॥

यदि कालचक्रके फेरसे वे मन्दबुद्धि मानव पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेते हैं तो निर्धन कुलमें ही उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

क्षुत्पिपासापरीताश्च सर्वलोकबहिष्कृताः।
निराशाः सर्वभोगेभ्यो जीवन्त्यधर्मजीविकाम् ॥ १५ ॥

वहाँ सदा भूख-प्यासका कष्ट सहते हैं । सब लोग उन्हें समाजसे बाहर कर देते हैं तथा वे सब प्रकारके भोगोंसे निराश होकर पापाचारसे जीविका चलाते हैं ॥ १५ ॥

अल्पभोगकुले जाता अल्पभोगरता नराः।
अनेन कर्मणा देवि भवन्त्यधनिनो नराः ॥ १६ ॥

देवि ! इस पापकर्मसे ही मनुष्य अल्प भोगवाले कुलमें जन्म लेते, थोड़े-से ही भोग भोगते और सदा निर्धन रहते हैं ॥ १६ ॥

अपरे स्तम्भिनो नित्यं मानिनः पापतो रताः।
आसनार्हस्य ये पीठं न प्रयच्छन्त्यचेतसः ॥ १७ ॥

इनके सिवा दूसरे भी ऐसे मनुष्य हैं, जो सदा गर्व और अभिमानमें फूले तथा पापमें रत रहते हैं । वे मूर्ख आसन देने योग्य पूज्य पुरुषको बैठनेके लिये कोई पीढ़ा या चौकीतक नहीं देते हैं ॥ १७ ॥

मार्गार्हस्य च ये मार्गं न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
पाद्यार्हस्य च ये पाद्यं न ददत्यल्पबुद्धयः ॥ १८ ॥

वे बुद्धिहीन अथवा मन्दबुद्धि पुरुष मार्ग देने योग्य पुरुषोंको जानेके लिये मार्ग नहीं देते और पाद्य अर्पण करने योग्य पूजनीय पुरुषोंको पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) नहीं देते हैं ॥ १८ ॥

अर्घ्यार्हान् न च सत्कारैरर्चयन्ति यथाविधि।
अर्घ्यमाचमनीयं वा न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः ॥ १९ ॥

इतना ही नहीं, वे अर्घ्य देने योग्य माननीय व्यक्तियोंका नाना प्रकारके सत्कारोंद्वारा विधिपूर्वक पूजन नहीं करते अथवा वे मूर्ख उन्हें अर्घ्य या आचमनीय नहीं देते हैं॥१९॥

गुरुं चाभिगतं प्रेम्णा गुरुवन्न बुभूषते।
अभिमानप्रवृत्तेन लोभेन समवस्थिताः ॥ २० ॥
सम्मान्यांश्चावमन्यन्ते वृद्धान् परिभवन्ति च।
एवंविधा नरा देवि सर्वे निरयगामिनः ॥ २१ ॥

गुरुके आनेपर प्रेमपूर्वक उनकी पूजा नहीं करते— उन्हें गुरुवत् सम्मान नहीं देना चाहते, अभिमान और

लोभके वशीभूत होकर वे सम्माननीय मनुष्योंका अपमान और बड़े-बूढ़ोंका तिरस्कार करते हैं । देवि ! ऐसा करनेवाले सभी मनुष्य नरकगामी होते हैं ॥ २०-२१ ॥

ते वै यदि नरास्तस्मान्निरयादुत्तरन्ति वै ।
वर्षपूगैस्ततो जन्म लभन्ते कुत्सिते कुले ॥ २२ ॥
श्वपाकपुल्कसादीनां कुत्सितानामचेतसाम् ।
कुलेषु तेषु जायन्ते गुरुवृद्धापचायिनः ॥ २३ ॥

बहुत वर्षोंके बाद जब वे उस नरकसे छुटकारा पाते हैं तो श्वपाक और पुल्कस आदि निन्दित और मूढ़ मनुष्योंके कुत्सित कुलमें जन्म लेते हैं । गुरुजनों और वृद्धोंका तिरस्कार करनेवाले वे अधम मानव चाण्डालोंके उन्हीं निन्दित कुलोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २२-२३ ॥

न स्तम्भी न च मानी यो देवताद्विजपूजकः ।
लोकपूज्यो नमस्कर्ता प्रश्रितो मधुरं वचः ॥ २४ ॥
सर्ववर्णप्रियकरः सर्वभूतहितः सदा ।
अद्वेषी सुमुखः श्लक्ष्णःस्निग्धवाणीप्रदः सदा ॥ २५ ॥
स्वागतेनैव सर्वेषां भूतानामविहिंसकः ।
यथार्हसत्क्रियापूर्वमर्चयन्नवतिष्ठति ॥ २६ ॥
मार्गार्हाय ददन्मार्गं गुरुं गुरुवदर्चयन् ।
अतिथिप्रग्रहरतस्तथाभ्यागतपूजकः ॥ २७ ॥
एवंभूतो नरो देवि स्वर्गतिं प्रतिपद्यते ।
ततो मानुषतां प्राप्य विशिष्टकुलजो भवेत् ॥ २८ ॥

देवि ! जो न तो उद्दण्ड है, न अभिमानी है तथा जो देवताओं और द्विजोंकी पूजा करता है, संसारके लोग जिसे पूज्य मानते हैं, जो बड़ोंको प्रणाम करनेवाला, विनयी, मीठे वचन बोलनेवाला, सब वर्णोंका प्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंका हित करनेवाला है, जिसका किसीके साथ द्वेष नहीं है, जिसका मुख प्रसन्न और स्वभाव कोमल है, जो सदा स्वागतपूर्वक स्नेहभरी वाणी बोलता है, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता तथा सबका यथायोग्य सत्कारपूर्वक पूजन करता रहता है, जो मार्ग देने योग्य पुरुषोंको मार्ग देता और गुरुका उसके योग्य समादर करता है, अतिथियोंको आमन्त्रित करके उनकी सेवामें लगा रहता तथा स्वयं आये हुए अतिथियोंका भी पूजन करता है, ऐसा मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है । तत्पश्चात् मानवयोनिमें आकर विशिष्ट कुलमें जन्म लेता है ॥ २४-२८ ॥

तत्रासौ विपुलैर्भोगैः सर्वरत्नसमायुतः ।
यथार्हदाता चार्हेषु धर्मचर्यापरो भवेत् ॥ २९ ॥

उस जन्ममें वह महान् भोगों और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न हो सुयोग्य ब्राह्मणोंको यथायोग्य दान देता और धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहता है ॥ २९ ॥

सम्मतः सर्वभूतानां सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्वकर्मफलमाप्नोति स्वयमेव नरः सदा ॥ ३० ॥

वहाँ सब प्राणी उसका सम्मान करते हैं और सब लोग उसके सामने नतमस्तक होते हैं । इस प्रकार मनुष्य अपने कर्मोंका फल सदा स्वयं ही भोगता है ॥ ३० ॥

उदात्तकुलजातीय उदात्ताभिजनः सदा ।
एष धर्मो मया प्रोक्तो विधात्रा स्वयमीरितः ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा मनुष्य सर्वदा उत्तम कुल, उत्तम जाति और उत्तम स्थानमें जन्म धारण करता है । यह साक्षात् ब्रह्माजीके बताये हुए धर्मका मैंने वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

यस्तु रौद्रसमाचारः सर्वसत्त्वभयंकरः ।
हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्ज्वा दण्डेन वा पुनः ॥ ३२ ॥
लोष्टैः स्तम्भैरायुधैर्वा जन्तून् बाधति शोभने ।
हिंसार्थं निकृतिप्रज्ञः प्रोद्वेजयति चैव ह ॥ ३३ ॥
उपक्रामति जन्तूंश्च उद्वेगजननः सदा ।
एवंशीलसमाचारो निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

शोभने ! जिस मनुष्यका आचरण क्रूरतासे भरा हुआ है, जिससे समस्त जीवोंको भय प्राप्त होता है, जो हाथ, पैर, रस्सी, डंडे और ढेलेसे मारकर, खम्भोंमें बाँधकर तथा घातक शस्त्रोंका प्रहार करके जीव-जन्तुओंको सताता है, छल-कपटमें प्रवीण होकर हिंसाके लिये उन जीवोंमें उद्वेग पैदा करता है तथा उद्वेगजनक होकर सदा उन जन्तुओंपर आक्रमण करता है, ऐसे स्वभाव और आचारवाले मनुष्यको नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ३२-३४ ॥

स वै मनुष्यतां गच्छेद् यदि कालस्य पर्ययात् ।
बह्वाबाधपरिक्लिष्टे जायते सोऽधमे कुले ॥ ३५ ॥

यदि वह कालचक्रके फेरसे फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे कष्ट उठानेवाले अधम कुलमें उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

लोकद्वेष्योऽधमः पुंसां स्वयं कर्मफलैः कृतैः ।
एष देवि मनुष्येषु बोद्धव्यो ज्ञातिबन्धुषु ॥ ३६ ॥

देवि ! ऐसा मनुष्य अपने ही किये हुए कर्मोंके फलके अनुसार मनुष्योंमें तथा जाति-बन्धुओंमें नीच समझा जाता है और सब लोग उससे द्वेष रखते हैं ॥ ३६ ॥

अपरः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति ।
मैत्रदृष्टिः पितृसमो निर्वैरो नियतेन्द्रियः ॥ ३७ ॥
नोद्वेजयति भूतानि न विघातयते तथा ।
हस्तपादैः सुनियतैर्विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ॥ ३८ ॥
न रज्ज्वा न च दण्डेन न लोष्टैर्नायुधेन च ।
उद्वेजयति भूतानि श्लक्ष्णकर्मा दयापरः ॥ ३९ ॥
एवंशीलसमाचारः स्वर्गे समुपजायते ।
तत्रासौ भवने दिव्ये मुदा वसति देववत् ॥ ४० ॥

इसके विपरीत जो मनुष्य सब प्राणियोंके प्रति दया-दृष्टि रखता है, सबको मित्र समझता है, सबके ऊपर पिताके समान स्नेह रखता है, किसीके साथ वैर नहीं करता और इन्द्रियोंको वशमें किये रहता है, जो हाथ-पैर आदिको अपने अधीन रखकर किसी भी जीवको न तो उद्वेगमें डालता और न मारता ही है, जिसपर सब प्राणी विश्वास करते हैं, जो रस्सी, डंडे, ढेले और घातक अस्त्र-शस्त्रोंसे प्राणियोंको कष्ट नहीं पहुँचाता, जिसके कर्म कोमल एवं निर्दोष होते हैं तथा जो सदा ही दयापरायण होता है, ऐसे स्वभाव और आचरण-वाला पुरुष स्वर्गलोकमें दिव्य शरीर धारण करता है और वहाँके दिव्य भवनमें देवताओंके समान आनन्दपूर्वक निवास करता है ॥ ३७–४० ॥

स चेत् कर्मक्षयान्मर्त्यो मनुष्येषूपजायते ।
अल्पाबाधो निरातङ्कः स जातः सुखमेधते ॥ ४१ ॥
सुखभागी निरायासो निरुद्वेगः सदा नरः ।
एष देवि सतां मार्गो बाधा यत्र न विद्यते ॥ ४२ ॥

फिर पुण्यकर्मोंके क्षीण होनेपर यदि वह मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तो उसके ऊपर बाधाओंका आक्रमण कम होता है । वह निर्भय हो सुखसे अपनी उन्नति करता है । सुखका भागी होकर आयास और उद्वेगसे रहित जीवन व्यतीत करता है । देवि ! यह सत्पुरुषोंका मार्ग है, जहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा नहीं आने पाती है ॥ ४१-४२ ॥

उमोवाच

इमे मनुष्या दृश्यन्ते ऊहापोहविशारदाः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः प्रज्ञावन्तोऽर्थकोविदाः ॥ ४३ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन् ! इन मनुष्योंमेंसे कुछ तो ऊहापोहमें कुशल, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, बुद्धिमान् और अर्थनिपुण देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

दुष्प्रज्ञाश्चापरे देव ज्ञानविज्ञानवर्जिताः ।
केन कर्मविशेषेण प्रज्ञावान् पुरुषो भवेत् ॥ ४४ ॥

देव ! कुछ दूसरे मानव ज्ञान-विज्ञानसे शून्य और दुर्बुद्धि दिखायी देते हैं । ऐसी दशामें मनुष्य कौन-सा विशेष कर्म करनेसे बुद्धिमान् हो सकता है ? ॥ ४४ ॥

अल्पप्रज्ञो विरूपाक्ष कथं भवति मानवः ।
एतन्मे संशयं छिन्धि सर्वधर्मविदां वर ॥ ४५ ॥

विरूपाक्ष ! मनुष्य मन्दबुद्धि कैसे होता है ? सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महादेव ! आप मेरे इस संदेहका निवारण कीजिये ॥ ४५ ॥

जात्यन्धाश्चापरे देव रोगार्ताश्चापरे तथा ।
नराः क्लीबाश्च दृश्यन्ते कारणं ब्रूहि तत्र वै ॥ ४६ ॥

देव ! कुछ लोग जन्मान्ध, कुछ रोगसे पीड़ित और कितने ही नपुंसक देखे जाते हैं । इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ४६ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणान् वेदविदुषः सिद्धान् धर्मविदस्तथा ।
परिपृच्छन्त्यहरहः कुशलाः कुशलं तथा ॥ ४७ ॥
वर्जयन्तोऽशुभं कर्म सेवमानाः शुभं तथा ।
लभन्ते स्वर्गतिं नित्यमिहलोके तथा सुखम् ॥ ४८ ॥

श्रीमहादेवजीने कहा—देवि ! जो कुशल मनुष्य सिद्ध, वेदवेत्ता और धर्मज्ञ ब्राह्मणोंसे प्रतिदिन उनकी कुशल पूछते हैं और अशुभ कर्मका परित्याग करके शुभकर्मका सेवन करते हैं, वे परलोकमें स्वर्ग और इहलोकमें सदा सुख पाते हैं ॥ ४७-४८ ॥

स चेन्मानुषतां याति मेधावी तत्र जायते ।
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य कल्याणमुपजायते ॥ ४९ ॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष यदि स्वर्गसे लौटकर फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो वह मेधावी होता है । शास्त्र उसकी बुद्धिका अनुसरण करता है, अतः वह सदा कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

परदारेषु ये चापि चक्षुर्दुष्टं प्रयुञ्जते ।
तेन दुष्टस्वभावेन जात्यन्धास्ते भवन्ति ह ॥ ५० ॥

जो परायी स्त्रियोंके प्रति सदा दोषभरी दृष्टि डालते हैं, उस दुष्ट स्वभावके कारण वे जन्मान्ध होते हैं ॥ ५० ॥

मनसा तु प्रदुष्टेन नग्नां पश्यन्ति ये स्त्रियम् ।
रोगार्तास्ते भवन्तीह नरा दुष्कृतकर्मिणः ॥ ५१ ॥

जो दूषित हृदयसे किसी नंगी स्त्रीकी ओर निहारते हैं, वे पापकर्मी मनुष्य इस लोकमें रोगसे पीड़ित होते हैं ॥ ५१ ॥

ये तु मूढा दुराचारा वियोनौ मैथुने रताः ।
पुरुषेषु सुदुष्प्रज्ञाः क्लीबत्वमुपयान्ति ते ॥ ५२ ॥

जो दुराचारी, दुर्बुद्धि एवं मूढ़ मनुष्य पशु आदिकी योनिमें मैथुन करते हैं, वे पुरुषोंमें नपुंसक होते हैं ॥ ५२ ॥

पशूंश्च ये घातयन्ति ये चैव गुरुतल्पगाः ।
प्रकीर्णमैथुना ये च क्लीबा जायन्ति ते नराः ॥ ५३ ॥

जो पशुओंकी हत्या कराते, गुरुकी शय्यापर सोते और वर्णसंकर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करते हैं, वे मनुष्य नपुंसक होते हैं ॥ ५३ ॥

उमोवाच

सावद्यं किन्नु वै कर्म निरवद्यं तथैव च ।
श्रेयः कुर्वन्नवाप्नोति मानवो देवसत्तम ॥ ५४ ॥

पार्वतीने पूछा—देवश्रेष्ठ ! कौन सदोष कर्म है और

कौन निर्दोष, कौन-सा कर्म करके मनुष्य कल्याणका भागी होता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

श्रेयांसं मार्गमन्विच्छन् सदा यः पृच्छति द्विजान्।
धर्मान्वेषी गुणाकाङ्क्षी स स्वर्गं समुपाश्नुते॥ ५५॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो श्रेष्ठ मार्गको पानेकी इच्छा रखकर सदा ही ब्राह्मणोंसे उसके विषयमें पूछता है, धर्मका अन्वेषण करता और सद्गुणोंकी अभिलाषा रखता है, वही स्वर्गलोकके सुखका अनुभव करता है ॥ ५५ ॥

यदि मानुषतां देवि कदाचित् स निगच्छति।
मेधावी धारणायुक्तः प्रायस्तत्राभिजायते॥ ५६॥

देवि ! ऐसा मनुष्य यदि कभी मानवयोनिको प्राप्त होता है तो वहाँ प्रायः मेधावी एवं धारणा शक्तिसे सम्पन्न होता है॥

एष देवि सतां धर्मो मन्तव्यो भूतिकारकः।
नृणां हितार्थाय मया तव वै समुदाहृतः॥ ५७॥

देवि ! यह सत्पुरुषोंका धर्म है, उसे कल्याणकारी मानना चाहिये। मैंने मनुष्योंके हितके लिये इस धर्मका तुम्हें भलीभाँति उपदेश किया है ॥ ५७ ॥

उमोवाच

अपरे स्वल्पविज्ञाना धर्मविद्वेषिणो नराः।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो नेच्छन्ति परिसर्पितुम्॥ ५८॥

पार्वतीने पूछा—भगवन् ! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो अल्पबुद्धि होनेके कारण धर्मसे द्वेष करते हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पास नहीं जाना चाहते हैं ॥ ५८ ॥

व्रतवन्तो नराः केचिच्छ्रद्धाधर्मपरायणाः।
अव्रता भ्रष्टनियमास्तथान्ये राक्षसोपमाः॥ ५९॥

कुछ मनुष्य व्रतधारी, श्रद्धालु और धर्मपरायण होते हैं तथा दूसरे व्रतहीन, नियमभ्रष्ट तथा राक्षसोंके समान होते हैं॥ ५९॥

यज्वानश्च तथैवान्ये निर्होमाश्च तथापरे।
केन कर्मविपाकेन भवन्तीह वदस्व मे॥ ६०॥

कितने ही यज्ञशील होते हैं और दूसरे मनुष्य होम और यज्ञसे दूर ही रहते हैं। किस कर्मविपाकसे मनुष्य इस प्रकार परस्परविरोधी स्वभावके हो जाते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ६० ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आगमा लोकधर्माणां मर्यादाः सर्वनिर्मिताः।
प्रामाण्येनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते च दृढव्रताः॥ ६१॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! शास्त्र लोकधर्मोंकी उन मर्यादाओंको स्थापित करते हैं, जो सबके हितके लिये निर्मित हुई हैं। जो उन शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं, वे दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते देखे जाते हैं ॥ ६१ ॥

अधर्मं धर्ममित्याहुर्ये च मोहवशं गताः।
अव्रता नष्टमर्यादास्ते प्रोक्ता ब्रह्मराक्षसाः॥ ६२॥

जो मोहके वशीभूत होकर अधर्मको धर्म कहते हैं, वे व्रतहीन मर्यादाको नष्ट करनेवाले पुरुष ब्रह्मराक्षस कहे गये हैं ॥ ६२ ॥

ते चेत्कालकृतोद्योगात् सम्भवन्तीह मानुषाः।
निर्होमा निर्वषट्कारास्ते भवन्ति नराधमाः॥ ६३॥

वे मनुष्य यदि कालयोगसे इस संसारमें मनुष्य होकर जन्म लेते हैं तो होम और वषट्कारसे रहित तथा नराधम होते हैं॥

एष देवि मया सर्वः संशयच्छेदनाय ते।
कुशलाकुशलो नृणां व्याख्यातो धर्मसागरः॥ ६४॥

देवि ! यह धर्मका समुद्र, धर्मात्माओंके लिये प्रिय और पापात्माओंके लिये अप्रिय है। मैंने तुम्हारे संदेहका निवारण करनेके लिये यह सब विस्तारपूर्वक बताया है ॥ ६४ ॥

[राजधर्मका वर्णन]

(उमोवाच

देवदेव नमस्तुभ्यं त्रियक्ष वृषभध्वज।
श्रुतं मे भगवन् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

उमाने कहा—देवदेव ! त्रिलोचन ! वृषभध्वज ! भगवन् ! महेश्वर ! आपकी कृपासे मैंने पूर्वोक्त सब विषयोंको सुना है ॥

संगृहीतं मया तच्च तव वाक्यमनुत्तमम्।
इदानीमस्ति संदेहो मानुषेष्विह कश्चन॥

सुनकर आपके उस परम उत्तम उपदेशको मैंने बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया है। इस समय मनुष्योंके विषयमें एक संदेह ऐसा रह गया है, जिसका समाधान आवश्यक है ॥

तुल्यप्राणशिरःकायो राजायमिति दृश्यते।
केन कर्मविपाकेन सर्वप्राधान्यमर्हति॥

मनुष्योंमें यह जो राजा दिखायी देता है, उसके भी प्राण, सिर और धड़ दूसरे मनुष्योंके समान ही हैं; फिर किस कर्मके फलसे यह सबमें प्रधान पद पानेका अधिकारी हुआ है ? ॥

स चापि दण्डयन् मर्त्यान् भर्त्सयन् विविधानपि।
प्रेत्यभावे कथं लोकाँल्लभते पुण्यकर्मणाम्॥
राजवृत्तमहं तस्माच्छ्रोतुमिच्छामि मानद।

यह राजा नाना प्रकारके मनुष्योंको दण्ड देता और उन्हें डाँटता-फटकारता है। यह मृत्युके पश्चात् कैसे पुण्यात्माओंके लोक पाता है ? मानद ! अतः मैं राजाके आचार-व्यवहारका वर्णन सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि राजधर्मं शुभानने ॥
राजायत्तं हि यत् सर्वं लोकवृत्तं शुभाशुभम् ।
महतस्तपसो देवि फलं राज्यमिति स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभानने ! अब मैं तुम्हें राजधर्मकी बात बताऊँगा; क्योंकि जगत्‌का सारा शुभाशुभ आचार-व्यवहार राजाके ही अधीन है। देवि ! राज्यको बहुत बड़ी तपस्याका फल माना गया है ॥

अराजके पुरा त्वासीत् प्रजानां संकुलं महत् ।
तद् दृष्ट्वा संकुलं ब्रह्मा मनुं राज्ये न्यवेशयत् ॥

प्राचीन कालकी बात है, सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। प्रजापर महान् संकट आ गया। प्रजाकी यह संकटापन्न अवस्था देख ब्रह्माजीने मनुको राजसिंहासनपर बिठाया ॥

तदाप्रभृति संदृष्टं राज्ञां वृत्तं शुभाशुभम् ।
तन्मे शृणु वरारोहे तस्य पथ्यं जगद्धितम् ॥

तभीसे राजाओंका शुभाशुभ बर्ताव देखनेमें आया है। वरारोहे ! राजाका जो आचरण जगत्‌के लिये हितकर और लाभदायक है, वह मुझसे सुनो ॥

यथा प्रेत्य लभेत् स्वर्गं यथा वीर्यं यशस्तथा ।
पित्र्यं वा भूतपूर्वं वा स्वयमुत्पाद्य वा पुनः ॥
राज्यधर्ममनुष्ठाय विधिवद् भोक्तुमर्हति ॥

जिस बर्तावके कारण वह मृत्युके पश्चात् स्वर्गका भागी हो सकता है, वही बता रहा हूँ। उसमें जैसा पराक्रम और जैसा यश होना चाहिये, वह भी सुनो। पिताकी ओरसे प्राप्त हुए अथवा और पहलेसे चले आते हुए अथवा स्वयं ही पराक्रमद्वारा प्राप्त करके वशमें किये हुए राज्यको राजा धर्मका आश्रय ले विधिपूर्वक उपभोगमें लाये ॥

आत्मानमेव प्रथमं विनयैरुपपादयेत् ।
अनुभृत्यान् प्रजाः पश्चादित्येष विनयक्रमः ॥

पहले अपने आपको ही विनयसे सम्पन्न करे। तत्पश्चात् सेवकों और प्रजाओंको विनयकी शिक्षा दे। यही विनयका क्रम है ॥

स्वामिनं चोपमां कृत्वा प्रजास्तद्वृत्तकाङ्क्षया ।
स्वयं विनयसम्पन्ना भवन्तीह शुभेक्षणे ॥

शुभेक्षणे ! राजाको ही आदर्श मानकर उसके आचरण सीखनेकी इच्छासे प्रजावर्गके लोग स्वयं भी विनयसे सम्पन्न होते हैं ॥

स्वस्मात् पूर्वतरं राजा विनयत्येव वै प्रजाः ।
अपहास्यो भवेत्तादृक् स्वदोषस्यानवेक्षणात् ॥

जो राजा स्वयं विनय सीखनेके पहले प्रजाको ही विनय सिखाता है, वह अपने दोषोंपर दृष्टि न डालनेके कारण उपहासका पात्र होता है ॥

विद्याभ्यासैर्वृद्धयोगैरात्मानं विनयं नयेत् ।
विद्या धर्मार्थफलिनी तद्विदो वृद्धसंज्ञिताः ॥

विद्याके अभ्यास और वृद्ध पुरुषोंके सङ्गसे अपने आपको विनयशील बनाये। विद्या धर्म और अर्थरूप फल देनेवाली है। जो उस विद्याके ज्ञाता हैं, उन्हींको वृद्ध कहते हैं ॥

इन्द्रियाणां जयो देवि अत ऊर्ध्वमुदाहृतः ।
अजये सुमहान् दोषो राजानं विनिपातयेत् ॥

देवि ! इसके बाद राजाको अपनी इन्द्रियोंपर विजय पाना चाहिये—यह बात बतायी गयी। इन्द्रियोंको काबूमें न करनेसे जो महान् दोष प्राप्त होता है, वह राजाको नीचे गिरा देता है ॥

पञ्चैव स्ववशे कृत्वा तदर्थान् पञ्च शोषयेत् ।
षडुत्सृज्य यथायोगं ज्ञानेन विनयेन च ॥
शास्त्रचक्षुर्नयपरो भूत्वा भृत्यान् समाहरेत् ॥

पाँचों इन्द्रियोंको अपने अधीन करके उनके पाँचों विषयोंको सुखा डाले। ज्ञान और विनयके द्वारा आवश्यक प्रयत्न करके काम-क्रोध आदि छः दोषोंको त्याग दे तथा शास्त्रीय दृष्टिका सहारा लेकर न्यायपरायण हो सेवकोंका संग्रह करे ॥

वृत्तश्रुतकुलोपेतानुपधाभिः परीक्षितान् ।
अमात्यानुपधातीतान् सापसर्पान् जितेन्द्रियान् ॥
योजयेत यथायोगं यथार्हं स्वेषु कर्मसु ॥

जो सदाचार, शास्त्रज्ञान और उत्तम कुलसे सम्पन्न हों, जिनकी सचाई और ईमानदारीकी परीक्षा ले ली गयी हो, जो उस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हों, जिनके साथ बहुत-से जासूस हों और जो जितेन्द्रिय हों—ऐसे अमात्योंको यथायोग्य अपने कर्मोंमें उनकी योग्यताके अनुसार नियुक्त करे ॥

अमात्या बुद्धिसम्पन्ना राष्ट्रं बहुजनप्रियम् ।
दुराधर्षं पुरश्रेष्ठं कोशः कृच्छ्रसहः स्मृतः ॥
अनुरक्तं बलं साम्नामद्वैधं मित्रमेव च ।
एताः प्रकृतयः स्वेषु स्वामी विनयतत्त्ववित् ॥

बुद्धिमान् मन्त्री, बहुजनप्रिय राष्ट्र, दुर्धर्ष श्रेष्ठ नगर या दुर्ग, कठिन अवसरोंपर काम देनेवाला कोष, सामनीतिके द्वारा राजामें अनुराग रखनेवाली सेना, दुविधेमें न पड़ा हुआ मित्र और विनयके तत्त्वको जाननेवाला राज्यका स्वामी—ये सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥

प्रजानां रक्षणार्थाय सर्वमेतद् विनिर्मितम् ।
आभिः करणभूताभिः कुर्याल्लोकहितं नृपः ॥

प्रजाकी रक्षाके लिये ही यह सारा प्रबन्ध किया गया है। रक्षाकी हेतुभूत जो ये प्रकृतियाँ हैं, इनके सहयोगसे राजा लोकहितका सम्पादन करे ॥

आत्मरक्षा नरेन्द्रस्य प्रजारक्षार्थमिष्यते ।
तस्मात् सततमात्मानं संरक्षेदप्रमादवान् ॥

राजाको प्रजाकी रक्षाके लिये ही अपनी रक्षा अभीष्ट होती है, अतः वह सदा सावधान होकर आत्मरक्षा करे ॥

भोजनाच्छादनस्नानाद् बहिर्निष्क्रमणादपि ।
नित्यं स्त्रीगणसंयोगाद् रक्षेदात्मानमात्मवान् ॥

मनको वशमें रखनेवाला राजा भोजन-आच्छादन-स्नान, बाहर निकलना तथा सदा स्त्रियोंके समुदायसे संयोग रखना—इन सबसे अपनी रक्षा करे ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च शस्त्रादपि विषादपि ।
सततं पुत्रदारेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ॥

वह मनको सदा अपने अधीन रखकर स्वजनोंसे, दूसरोंसे, शस्त्रसे, विषसे तथा स्त्री-पुत्रोंसे भी निरन्तर अपनी रक्षा करे ॥

सर्वेभ्य एव स्थानेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ।
प्रजानां रक्षणार्थाय प्रजाहितकरो भवेत् ॥

आत्मवान् राजा प्रजाकी रक्षाके लिये सभी स्थानोंसे अपनी रक्षा करे और सदा प्रजाके हितमें संलग्न रहे ॥

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्यं तु तत्सुखम्।
प्रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं तु प्रजाहितम् ॥
प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते ॥

प्रजाका कार्य ही राजाका कार्य है, प्रजाका सुख ही उसका सुख है, प्रजाका प्रिय ही उसका प्रिय है तथा प्रजाके हितमें ही उसका अपना हित है। प्रजाके हितके लिये ही उसका सर्वस्व है, अपने लिये कुछ भी नहीं है ॥

प्रकृतीनां हि रक्षार्थं रागद्वेषौ व्युदस्य च ।
उभयोः पक्षयोर्वादं श्रुत्वा चैव यथातथम् ॥
तमर्थं विमृशेद् बुद्ध्या स्वयमातत्त्वदर्शनात् ॥

प्रकृतियोंकी रक्षाके लिये राग-द्वेष छोड़कर किसी विवादके निर्णयके लिये पहले दोनों पक्षोंकी यथार्थ बातें सुन ले। फिर अपनी बुद्धिके द्वारा स्वयं उस मामलेपर तबतक विचार करे, जबतक कि उसे यथार्थताका सुस्पष्ट ज्ञान न हो जाय ॥

तत्त्वविद्भिश्च बहुभिः सहासीनो नरोत्तमैः ।
कर्तारमपराधं च देशकालौ नयानयौ ॥
ज्ञात्वा सम्यग्यथाशास्त्रं ततो दण्डं नयेन्नृपु ॥

तत्त्वको जाननेवाले अनेक श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ बैठकर परामर्श करनेके बाद अपराधी, अपराध, देश, काल, न्याय और अन्यायका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके फिर शास्त्रके अनुसार राजा अपराधी मनुष्योंको दण्ड दे ॥

एवं कुर्वल्लभेद् धर्मं पक्षपातविवर्जनात् ॥
प्रत्यक्षासोपदेशाभ्यामनुमानेन वा पुनः ।
बोद्धव्यं सततं राज्ञा देशवृत्तं शुभाशुभम् ॥

पक्षपात छोड़कर ऐसा करनेवाला राजा धर्मका भागी होता है। प्रत्यक्ष देखकर, माननीय पुरुषोंके उपदेश सुनकर अथवा युक्तियुक्त अनुमान करके राजाको सदा ही अपने देशके शुभाशुभ वृत्तान्तको जानना चाहिये ॥

चारैः कर्मप्रवृत्त्या च तद् विज्ञाय विचारयेत् ।
अशुभं निर्हरेत् सद्यो जोषयेच्छुभमात्मनः ॥

गुप्तचरोंद्वारा और कार्यकी प्रवृत्तिसे देशके शुभाशुभ वृत्तान्तको जानकर उसपर विचार करे। तत्पश्चात् अशुभका तत्काल निवारण करे और अपने लिये शुभका सेवन करे ॥

गर्ह्यान् विगर्हयेदेव पूज्यान् सम्पूजयेत् तथा ।
दण्ड्यांश्च दण्डयेद् देवि नात्र कार्या विचारणा॥

देवि ! राजा निन्दनीय मनुष्योंकी निन्दा ही करे, पूजनीय पुरुषोंका पूजन करे और दण्डनीय अपराधियोंको दण्ड दे। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥

पञ्चापेक्षं सदा मन्त्रं कुर्याद् बुद्धियुतैर्नरैः ।
कुलवृत्तश्रुतोपेतैर्नित्यं मन्त्रपरो भवेत् ॥

पाँच व्यक्तियोंकी अपेक्षा रखकर अर्थात् पाँच मन्त्रियोंके साथ बैठकर सदा ही राज-कार्यके विषयमें गुप्त मन्त्रणा करे। जो बुद्धिमान्, कुलीन, सदाचारी और शास्त्रज्ञानसम्पन्न हों, उन्हींके साथ राजाको सदा मन्त्रणा करनी चाहिये ॥

कामकारेण वैमुख्यैर्नैव मन्त्रमना भवेत् ।
राजा राष्ट्रहितापेक्षं सत्यधर्माणि कारयेत् ॥

जो इच्छानुसार राजकार्यसे विमुख हो जाते हों, ऐसे लोगोंके साथ मन्त्रणा करनेका विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये। राजाको राष्ट्रके हितका ध्यान रखकर सत्य-धर्मका पालन करना और कराना चाहिये ॥

सर्वोद्योगं स्वयं कुर्याद् दुर्गादिषु सदा नृषु ।
देशवृद्धिकरान् भृत्यानप्रमादेन कारयेत् ॥
देशक्षयकरान् सर्वानप्रियांश्च विसर्जयेत् ।
अहन्यहनि सम्पश्येदनुजीविगणं स्वयम् ॥

दुर्ग आदि तथा मनुष्योंकी देखभालके लिये राजा

सम्पूर्ण उद्योग सदा स्वयं ही करे । वह देशकी उन्नति करनेवाले भृत्योंको सावधानीके साथ कार्यमें नियुक्त करे और देशको हानि पहुँचानेवाले समस्त अप्रियजनोंका परित्याग कर दे । जो राजाके आश्रित होकर जीविका चला रहे हों, ऐसे लोगोंकी देख-भाल भी राजा प्रतिदिन स्वयं ही करे ॥

सुमुखः सुप्रियो दत्त्वा सम्यग्वृत्तं समाचरेत् ।
अधर्म्यं परुषं तीक्ष्णं वाक्यं वक्तुं न चार्हति ॥

वह प्रसन्नमुख और सबका परम प्रिय होकर लोगोंको जीविका दे, उनके साथ उत्तम बर्ताव करे । किसीसे पापपूर्ण, रूखा और तीखा वचन बोलना उसके लिये कदापि उचित नहीं ॥

अविश्वास्यं हि वचनं वक्तुं सत्सु न चार्हति ।
नरे नरे गुणान् दोषान् सम्यग्वेदितुमर्हति ॥

सत्पुरुषोंके बीचमें वह कभी ऐसी बात न कहे, जो विश्वासके योग्य न हो । प्रत्येक मनुष्यके गुणों और दोषोंको उसे अच्छी तरह समझना चाहिये ॥

स्वेङ्गितं वृणुयाद् धैर्यान्न कुर्यात् क्षुद्रसंविदम् ।
परेङ्गितज्ञो लोकेषु भूत्वा संसर्गमाचरेत् ॥

अपनी चेष्टाको धैर्यपूर्वक छिपाये रखे । क्षुद्र बुद्धिका प्रदर्शन न करे अथवा मनमें क्षुद्र विचार न लाये । दूसरेकी चेष्टाको अच्छी तरह समझकर संसारमें उनके साथ सम्पर्क स्थापित करे ॥

स्वतश्च परतश्चैव परस्परभयादपि ।
अमानुषभयेभ्यश्च स्वाः प्रजाः पालयेन्नृपः ॥

राजाको चाहिये कि वह अपने भयसे, दूसरोंके भयसे, पारस्परिक भयसे तथा अमानुष भयोंसे अपनी प्रजाको सुरक्षित रखे ॥

लुब्धाः कठोराश्चाप्यस्य मानवा दस्युवृत्तयः ।
निग्राह्या एव ते राज्ञा संगृहीत्वा यतस्ततः ॥

जो लोभी, कठोर तथा डाका डालनेवाले मनुष्य हों, उन्हें जहाँ-तहाँसे पकड़वाकर राजा कैदमें डाल दे ॥

कुमारान् विनयैरेव जन्मप्रभृति योजयेत् ।
तेषामात्मगुणोपेतं यौवराज्येन योजयेत् ॥

राजकुमारोंको जन्मसे ही विनयशील बनावे । उनमेंसे जो भी अपने अनुरूप गुणोंसे युक्त हो, उसे युवराज-पदपर नियुक्त करे ॥

अराजकं क्षणमपि राज्यं न स्याद्धि शोभने ।
आत्मनोऽनुविधानाय यौवराज्यं सदेष्यते ॥

शोभने ! एक क्षणके लिये भी बिना राजाका राज्य नहीं रहना चाहिये । अतः अपने पीछे राजा होनेके लिये एक युवराजको नियत करना सदा ही आवश्यक है ॥

कुलजानां च वैद्यानां श्रोत्रियाणां तपस्विनाम् ।
अन्येषां वृत्तियुक्तानां विशेषं कर्तुमर्हति ॥
आत्मार्थं राज्यतन्त्रार्थं कोशार्थं च समाचरेत् ॥

कुलीन पुरुषों, वैद्यों, श्रोत्रिय ब्राह्मणों, तपस्वी मुनियों तथा वृत्तियुक्त दूसरे पुरुषोंका भी राजा विशेष सत्कार करे । अपने लिये, राज्यके हितके लिये तथा कोष-संग्रहके लिये ऐसा करना आवश्यक है ॥

चतुर्धा विभजेत् कोशं धर्मभृत्यात्मकारणात् ।
आपदर्थं च नीतिज्ञो देशकालवशेन तु ॥

नीतिज्ञ पुरुष अपने कोषको चार भागोंमें विभक्त करे—धर्मके लिये, पोष्य वर्गके पोषणके लिये, अपने लिये तथा देश-कालवश आनेवाली आपत्तिके लिये ॥

अनाथान् व्याधितान् वृद्धान् स्वदेशे पोषयेन्नृपः ॥
सन्धिं च विग्रहं चैव तद्विशेषांस्तथा परान् ।
यथावत् संविमृश्यैव बुद्धिपूर्वं समाचरेत् ॥

राजाको चाहिये कि अपने देशमें जो अनाथ, रोगी और वृद्ध हों, उनका स्वयं पोषण करे । संधि, विग्रह तथा अन्य नीतियोंका बुद्धिपूर्वक भलीभाँति विचार करके प्रयोग करे ॥

सर्वेषां सम्प्रियो भूत्वा मण्डलं सततं चरेत् ।
शुभेष्वपि च कार्येषु न चैकान्तः समाचरेत् ॥

राजा सबका प्रिय होकर सदा अपने मण्डल (देशके भिन्न-भिन्न भाग) में विचरे । शुभ कार्योंमें भी वह अकेला कुछ न करे ॥

स्वतश्च परतश्चैव व्यसनानि विमृश्य सः ।
परेण धार्मिकान् योगान् नातीयाद् द्वेषलोभतः ॥

अपने और दूसरोंसे संकटकी सम्भावनाका विचार करके द्वेष या लोभवश धार्मिक पुरुषोंके साथ सम्बन्धका त्याग न करे ॥

रक्ष्यत्वं वै प्रजाधर्मः क्षत्रधर्मस्तु रक्षणम् ।
कुनृपैः पीडितास्तस्मात् प्रजाः सर्वत्र पालयेत् ॥

प्रजाका धर्म है रक्षणीयता और क्षत्रिय राजाका धर्म है रक्षा; अतः दुष्ट राजाओंसे पीड़ित हुई प्रजाकी सर्वत्र रक्षा करे ॥

व्यसनेभ्यो बलं रक्षेन्नयतो व्ययतोऽपि वा ।
प्रायशो वर्जयेद् युद्धं प्राणरक्षणकारणात् ॥

सेनाको संकटोंसे बचावे, नीतिसे अथवा धन खर्च करके भी प्रायः युद्धको टाले । सैनिकों तथा प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही ऐसा करना चाहिये ॥

कारणादेव योद्धव्यं नात्मनः परदोषतः ।
सुयुद्धे प्राणमोक्षश्च तस्य धर्माय इष्यते ॥

अनिवार्य कारण उपस्थित होनेपर ही युद्ध करना चाहिये, अपने या पराये दोषसे नहीं । उत्तम युद्धमें प्राण-विसर्जन करना वीर योद्धाके लिये धर्मकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥

अभियुक्तो बलवता कुर्यादापद्विधिं नृपः ।
अनुनीय तथा सर्वान् प्रजानां हितकारणात् ॥
एष देवि समासेन राजधर्मः प्रकीर्तितः ॥

किसी बलवान् शत्रुके आक्रमण करनेपर राजा उस आपत्तिसे बचनेका उपाय करे । प्रजाके हितके लिये समस्त विरोधियोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल बना ले । देवि ! यह संक्षेपसे राजधर्म बताया गया है ॥

एवं संवर्तमानस्तु दण्डयन् भर्त्सयन् प्रजाः ।
निष्कल्मषमवाप्नोति पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

इस प्रकार बर्ताव करनेवाला राजा प्रजाको दण्ड देता और फटकारता हुआ भी जलसे लिप्त न होनेवाले कमलदलके समान पापसे अछूता ही रहता है ॥

एवं संवर्तमानस्य कालधर्मो यदा भवेत् ।
स्वर्गलोके तदा राजा त्रिदशैः सह तोष्यते ॥

इस बर्तावसे रहनेवाले राजाकी जब मृत्यु होती है, तब वह स्वर्गलोकमें जाकर देवताओंके साथ आनन्द भोगता है ॥

(दाक्षिणात्यप्रतिमें अध्याय समाप्त)

[योद्धाओंके धर्मका वर्णन तथा रणयज्ञमें प्राणोत्सर्गकी महिमा]

श्रीमहेश्वर उवाच

अथ यस्तु सहायार्थमुक्तः स्यात् पार्थिवैर्नरैः ॥
भोगानां संविभागेन वस्त्राभरणभूषणैः ।
सहभोजनसम्बन्धैः सत्कारैर्विविधैरपि ॥
सहायकाले सम्प्राप्ते संग्रामे शस्त्रमुद्धरेत् ॥

भगवान् महेश्वर कहते हैं—राजा भाँति-भाँतिके भोग, वस्त्र और आभूषण देकर जिन लोगोंको अपनी सहायताके लिये बुलाता और रखता है, उनके साथ भोजन करके घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है और नाना प्रकारके सत्कारोंद्वारा उन्हें संतुष्ट करता है; ऐसे योद्धाओंको उचित है कि युद्ध छिड़ जानेपर सहायताके समय उस राजाके लिये शस्त्र उठावे ॥

हन्यमानेष्वभिघ्नत्सु शूरेषु रणसंकटे ।
पृष्ठं दत्त्वा च ये तत्र नायकस्य नराधमाः ॥
अनाहता निवर्तन्ते नायके चाप्यनीप्सति ।
ते दुष्कृतं प्रपद्यन्ते नायकस्याखिलं नराः ॥
यच्चास्ति सुकृतं तेषां युज्यते तेन नायकः ॥

जब घोर संग्राममें शूरवीर एक-दूसरेको मारते और मारे जाते हों, उस अवसरपर जो नराधम सैनिक पीठ देकर सेनानायककी इच्छा न होते हुए भी बिना घायल हुए ही युद्धसे मुँह मोड़ लेते हैं, वे सेनापतिके सम्पूर्ण पापोंको स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं और उन भगेड़ोंके पास जो कुछ भी पुण्य होता है, वह सेनानायकको प्राप्त हो जाता है ॥

अहिंसा परमो धर्म इति येऽपि नरा विदुः ।
संग्रामेषु न युध्यन्ते भृत्याश्चैवानुरूपतः ॥
नरकं यान्ति ते घोरं भर्तृपिण्डापहारिणः ॥

'अहिंसा परम धर्म है,' ऐसी जिनकी मान्यता है, वे भी यदि राजाके सेवक हैं, उनसे भरण-पोषणकी सुविधा एवं भोजन पाते हैं, ऐसी दशामें भी वे अपनी शक्तिके अनुरूप संग्रामोंमें जूझते नहीं हैं तो घोर नरकमें पड़ते हैं; क्योंकि वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले हैं ॥

यस्तु प्राणान् परित्यज्य प्रविशेदुद्यतायुधः ।
संग्राममग्निप्रतिमं पतंग इव निर्भयः ॥
स्वर्गमाविशते ज्ञात्वा योधस्य गतिनिश्चयम् ॥

जो अपने प्राणोंकी परवाह छोड़कर पतंगकी भाँति निर्भय हो हाथमें हथियार उठाये अग्निके समान विनाशकारी संग्राममें प्रवेश कर जाता है और योद्धाको मिलनेवाली निश्चित गतिको जानकर उत्साहपूर्वक जूझता है, वह स्वर्गलोकमें जाता है ॥

यस्तु स्वं नायकं रक्षेदतिघोरे रणाङ्गणे ।
तापयन्नरिसैन्यानि सिंहो मृगगणानिव ॥
आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यो रणाजिरे ॥
निर्दयो यस्तु संग्रामे प्रहरन्नुद्यतायुधः ।
यजते स तु पूतात्मा संग्रामेण महाक्रतुम् ॥

जो अत्यन्त घोर समराङ्गणमें मृगोंके झुंडोंको संतप्त करनेवाले सिंहके समान शत्रुसैनिकोंको ताप देता हुआ अपने नायक (राजा या सेनापति) की रक्षा करता है, मध्याह्न कालके सूर्यकी भाँति रणक्षेत्रमें जिसकी ओर देखना शत्रुओंके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा जो संग्राममें शस्त्र उठाये निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है; वह शुद्धचित्त होकर उस युद्धके द्वारा ही मानो महान् यज्ञका अनुष्ठान करता है ॥

चर्म कृष्णाजिनं तस्य दन्तकाष्ठं धनुः स्मृतम् ।
रथो वेदिर्ध्वजो यूपः कुशाश्च रथरश्मयः ॥
मानो दर्पस्त्वहङ्कारस्त्रयस्त्रेताग्नयः स्मृताः ।
प्रतोदश्च स्रुवस्तस्य उपाध्यायो हि सारथिः ॥
स्रुग्भाण्डं चापि यत् किंचिद् यज्ञोपकरणानि च ॥
आयुधान्यस्य तत् सर्वं समिधः सायकाः स्मृताः ॥

उस समय कवच ही उसका काला मृगचर्म है, धनुष ही दाँतुन या दन्तकाष्ठ है, रथ ही वेदी है, ध्वज यूप है और रथकी

रस्सियाँ ही बिछे हुए कुशोंका काम देती हैं। मान, दर्प और अहंकार—ये त्रिविध अग्नियाँ हैं, चाबुक स्रुवा है, सारथि उपाध्याय है, स्रुक्-भाण्ड आदि जो कुछ भी यज्ञकी सामग्री है, उसके स्थानमें उस योद्धाके भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्र हैं। सायकोंको ही समिधा माना गया है ॥

स्वेदस्रवश्च गात्रेभ्यः क्षौद्रं तस्य यशस्विनः।
पुरोडाशा नृशीर्षाणि रुधिरं चाहुतिः स्मृता॥
तूणाश्चैव चरुर्ज्ञेया वसोर्धारा वसाः स्मृताः॥
क्रव्यादा भूतसंघाश्च तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः।
तेषां भक्तान्नपानानि हता नृगजवाजिनः॥

उस यशस्वी वीरके अङ्गोंसे जो पसीने ढलते हैं, वे ही मानो मधु हैं। मनुष्योंके मस्तक पुरोडाश हैं, रुधिर आहुति है, तूणीरोको चरु समझना चाहिये। वसाको ही वसुधारा माना गया है, मांसभक्षी भूतोंके समुदाय ही उस यज्ञमें द्विज हैं। मारे गये मनुष्य, हाथी और घोड़े ही उनके भोजन और अन्नपान हैं ॥

निहतानां तु योधानां वस्त्राभरणभूषणम्।
हिरण्यं च सुवर्णं च यद् वै यज्ञस्य दक्षिणा॥

मारे गये योद्धाओंके जो वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण हैं, वे ही मानो उस रणयज्ञकी दक्षिणा हैं ॥

यस्तत्र हन्यते देवि गजस्कन्धगतो नरः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति रणेष्वभिमुखो हतः॥

देवि ! जो संग्राममें हाथीकी पीठपर बैठा हुआ युद्धके मुहानेपर मारा जाता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ।

रथमध्यगतो वापि हयपृष्ठगतोऽपि वा।
हन्यते यस्तु संग्रामे शक्रलोके महीयते॥

रथके बीचमें बैठा हुआ या घोड़ेकी पीठपर चढ़ा हुआ जो वीर युद्धमें मारा जाता है, वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है ॥

स्वर्गे हताः प्रपूज्यन्ते हन्ता त्वत्रैव पूज्यते।
द्वावेतौ सुखमेधेते हन्ता यश्चैव हन्यते॥

मारे गये योद्धा स्वर्गमें पूजित होते हैं; किंतु मारनेवाला इसी लोकमें प्रशंसित होता है। अतः युद्धमें दोनों ही सुखी होते हैं—जो मारता है वह और जो मारा जाता है वह ॥

तस्मात् संग्राममासाद्य प्रहर्तव्यमभीतवत्॥
निर्भयो यस्तु संग्रामे प्रहरेदुद्यतायुधः॥
यथा नदीसहस्राणि प्रविष्टानि महोदधिम्।
तथा सर्वे न संदेहो धर्मा धर्मभृतां वरम्॥

अतः संग्रामभूमिमें पहुँच जानेपर निर्भय होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये। जो हथियार उठाकर संग्राममें निर्भय होकर प्रहार करता है, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उस वीरको निस्संदेह सभी धर्म प्राप्त होते हैं। ठीक उसी तरह जैसे महासागरमें सहस्रों नदियाँ आकर मिलती हैं ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यः पार्थिवेन विशेषतः॥

धर्म ही, यदि उसका हनन किया जाय तो मारता है और धर्म ही सुरक्षित होनेपर रक्षा करता है; अतः प्रत्येक मनुष्यको, विशेषतः राजाको धर्मका हनन नहीं करना चाहिये ॥

प्रजाः पालयते यत्र धर्मेण वसुधाधिपः।
षट्कर्मनिरता विप्राः पूज्यन्ते पितृदैवतैः॥
नैव तस्मिन्ननावृष्टिर्न रोगा नाप्युपद्रवाः।
धर्मशीलाः प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरते नृपे॥

जहाँ राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है तथा जहाँ पितरों और देवताओंके साथ षट्कर्मपरायण ब्राह्मणोंकी पूजा होती है, उस देशमें न तो कभी अनावृष्टि होती है, न रोगोंका आक्रमण होता है और न किसी तरहके उपद्रव ही होते हैं। राजाके स्वधर्मपरायण होनेपर वहाँकी सारी प्रजा धर्मशील होती है ॥

एष्टव्यः सततं देवि युक्ताचारो नराधिपः।
छिद्रज्ञश्चैव शत्रूणामप्रमत्तः प्रतापवान्॥

देवि ! प्रजाको सदा ऐसे नरेशकी इच्छा रखनी चाहिये, जो सदाचारी तो हो ही, देशमें सब ओर गुप्तचर नियुक्त करके शत्रुओंके छिद्रोंकी जानकारी रखता हो। सदा ही प्रमादशून्य और प्रतापी हो ॥

क्षुद्राः पृथिव्यां बहवो राज्ञां बहुविनाशकाः।
तस्मात् प्रमादं सुश्रोणि न कुर्यात् पण्डितो नृपः॥

सुश्रोणि ! पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे क्षुद्र मनुष्य हैं, जो राजाओंका महान् विनाश करनेपर तुले रहते हैं; अतः विद्वान् राजाको कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये (आत्मरक्षाके लिये सदा सावधान रहना चाहिये।) ॥

तेषु मित्रेषु त्यक्तेषु तथा मर्त्येषु हस्तिषु।
विस्रम्भो नोपगन्तव्यः स्नानपानेषु नित्यशः॥

पहलेके छोड़े हुए मित्रोंपर, अन्यान्य मनुष्योंपर, हाथियोंपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। प्रतिदिनके स्नान और खानपानमें भी किसीका पूर्णतः विश्वास करना उचित नहीं है ॥

राज्ञो वल्लभतामेति कुलं भावयते स्वकम्।
यस्तु राष्ट्रहितार्थाय गोब्राह्मणकृते तथा॥
बन्दीग्रहाय मित्रार्थे प्राणांस्त्यजति दुस्त्यजान्॥

जो राष्ट्रके हितके लिये, गौ और ब्राह्मणोंके उपकारके लिये, किसीको बन्धनसे मुक्त करनेके लिये और मित्रोंकी

सहायताके निमित्त अपने दुस्त्यज प्राणोंका परित्याग कर देता है, वह राजाको प्रिय होना है और अपने कुलको उन्नति-के शिखरपर पहुँचा देता है ॥

सर्वकामदुघां धेनुं धरणीं लोकधारिणीम् ।
समुद्रान्तां वरारोहे सशैलवनकाननाम् ॥
दद्याद् देवि द्विजातिभ्यो वसुपूर्णां वसुन्धराम् ॥
न तत्समं वरारोहे प्राणत्यागी विशिष्यते ॥

वरारोहे ! यदि कोई सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनुको तथा पर्वत और वनोंसहित समुद्रपर्यन्त लोक धारिणी पृथ्वीको धनसे परिपूर्ण करके द्विजोंको दान कर देता है, उसका वह दान भी पूर्वोक्त प्राणत्यागी योद्धाके त्यागके समान नहीं है। वह प्राणत्यागी ही उस दातासे बढ़कर है ॥

सहस्रमपि यज्ञानां यजते च धनर्द्धिमान् ।
यज्ञैस्तस्य किमाश्चर्यं प्राणत्यागः सुदुष्करः ॥

जिसके पास धन और सम्पत्ति है, वह सहस्रों यज्ञ कर सकता है। उसके उन यज्ञोंसे कौन-सी आश्चर्यकी बात हो गयी ! प्राणोंका परित्याग करना तो सभीके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥

तस्मात् सर्वेषु यज्ञेषु प्राणयज्ञो विशिष्यते ।
एवं संग्रामयज्ञास्ते यथार्थं समुदाहृताः ॥

अतः सम्पूर्ण यज्ञोंमें प्राणयज्ञ ही बढ़कर है। देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष रणयज्ञका यथार्थरूपसे वर्णन किया है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[संक्षेपसे राजधर्मका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सम्प्रहासश्च भृत्येषु न कर्तव्यो नराधिपैः ।
लघुत्वं चैव प्राप्नोति आज्ञा चास्य निवर्तते ॥

श्रीमहादेवजी कहते हैं—देवि ! राजाओंको अपने सेवकोंके साथ हास-परिहास नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे उन्हें लघुता प्राप्त होती है और उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया जाता है ॥

भृत्यानां सम्प्रहासेन पार्थिवः परिभूयते ।
अयाच्यानि च याचन्ति अवक्तव्यं ब्रुवन्ति च ॥

सेवकोंके साथ हँसी-परिहास करनेसे राजाका तिरस्कार होता है। वे धृष्ट सेवक न माँगने योग्य वस्तुओंको भी माँग बैठते हैं और न कहने योग्य बातें भी कह डालते हैं ॥

पूर्वमप्युचितैर्लाभैः परितोषं न यान्ति ते ।
तस्माद् भृत्येषु नृपतिः सम्प्रहासं विवर्जयेत् ॥

पहलेसे ही उचित लाभ मिलनेपर भी वे संतुष्ट नहीं होते; इसलिये राजा सेवकोंकेसाथ हँसी-मजाक करना छोड़ दे॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते न च विश्वसेत् ।
सगोत्रेषु विशेषेण सर्वोपायैर्न विश्वसेत् ॥

राजा अविश्वस्त पुरुषपर कभी विश्वास न करे। जो विश्वस्त हो, उसपर भी पूरा विश्वास न करे; विशेषतः अपने समान गोत्रवाले भाई-बन्धुओंपर किसी भी उपायसे कदापि विश्वास न करे ॥

विश्वासाद् भयमुत्पन्नं हन्याद् वृक्षमिवाशनिः ।
प्रमादाद्धन्यते राजा लोभेन च वशीकृतः ॥
तस्मात् प्रमादं लोभं च न च कुर्यान्न विश्वसेत् ॥

जैसे वज्र वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय राजाको नष्ट कर डालता है। प्रमादवश लोभके वशीभूत हुआ राजा मारा जाता है। अतः प्रमाद और लोभको अपने भीतर न आने दे तथा किसीपर भी विश्वास न करे ॥

भयार्तानां भयात् त्राता दीनानुग्रहकारणात् ।
कार्याकार्यविशेषज्ञो नित्यं राष्ट्रहिते रतः ॥

राजा भयातुर मनुष्योंकी भयसे रक्षा करे, दीन-दुखियों-पर अनुग्रह करे, कर्तव्य और अकर्तव्यको विशेषरूपसे समझे और सदा राष्ट्रके हितमें संलग्न रहे ॥

सत्यः संधस्थितो राज्ये प्रजापालनतत्परः ।
अलुब्धो न्यायवादी च षड्भागमुपजीवति ॥

अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखावे। राज्यमें स्थित रहकर प्रजाके पालनमें तत्पर रहे। लोभशून्य होकर न्याययुक्त बात कहे और प्रजाकी आयका छठा भागमात्र लेकर जीवन-निर्वाह करे ॥

कार्याकार्यविशेषज्ञः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
स्वराष्ट्रेषु दयां कुर्यादकार्ये न प्रवर्तते ॥

कर्तव्य-अकर्तव्यको समझे। सबको धर्मकी दृष्टिसे देखे। अपने राष्ट्रके निवासियोंपर दया करे और कभी न करने योग्य कर्ममें प्रवृत्त न हो ॥

ये चैवैनं प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ।
शत्रुं च मित्रवत् पश्येदपराधविवर्जितम् ॥

जो मनुष्य राजाकी प्रशंसा करते हैं और जो उसकी निन्दा करते हैं, इनमेंसे शत्रु भी यदि निरपराध हो तो उसे मित्रके समान देखे ॥

अपराधानुरूपेण दुष्टं दण्डेन शासयेत् ।
धर्मः प्रवर्तते तत्र यत्र दण्डरुचिर्नृपः ॥

दुष्टको अपराधके अनुसार दण्ड देकर उसका शासन करे। जहाँ राजा न्यायोचित दण्डमें रुचि रखता है, वहाँ धर्मका पालन होता है ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र यत्र राजाक्षमान्वितः ॥
अशिष्टशासनं धर्मः शिष्टानां परिपालनम् ।

जहाँ राजा क्षमाशील न हो, वहाँ अधर्म नहीं होता। अशिष्ट पुरुषोंको दण्ड देना और शिष्ट पुरुषोंका पालन करना राजाका धर्म है ॥

वध्यांश्च घातयेद् यस्तु अवध्यान् परिरक्षति ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो दूताश्चैव पिता तथा ।
विद्यां ग्राहयते यश्च ये च पूर्वोपकारिणः ॥
स्त्रियश्चैव न हन्तव्या यश्च सर्वातिथिर्नरः ॥

राजा वधके योग्य पुरुषोंका वध करे और जो वधके योग्य न हों, उनकी रक्षा करे। ब्राह्मण, गौ, दूत, पिता, जो विद्या पढ़ाता है वह अध्यापक तथा जिन्होंने पहले कभी उपकार किये हैं वे मनुष्य—ये सब-के-सब अवध्य माने गये हैं। स्त्रियोंका तथा जो सबका अतिथि-सत्कार करनेवाला हो, उस मनुष्यका भी वध नहीं करना चाहिये ॥

धरणीं गां हिरण्यं च सिद्धान्नं च तिलान् घृतम् ।
ददन्नित्यं द्विजातिभ्यो मुच्यते राजकिल्बिषात् ॥

पृथ्वी, गौ, सुवर्ण, सिद्धान्न, तिल और घी—इन वस्तुओंका ब्राह्मणके लिये प्रतिदिन दान करनेवाला राजा पापसे मुक्त हो जाता है ॥

एवं चरति यो नित्यं राजा राष्ट्रहिते रतः ।
तस्य राष्ट्रं धनं धर्मो यशः कीर्तिश्च वर्धते ॥

जो राजा इस प्रकार राष्ट्रके हितमें तत्पर हो प्रतिदिन ऐसा बर्ताव करता है, उसके राष्ट्र, धन, धर्म, यश और कीर्तिका विस्तार होता है ॥

न च पापैर्न चानर्थैर्युज्यते स नराधिपः ॥
षड्भागमुपयुञ्जन् यः प्रजा राजा न रक्षति ॥
स्वचक्रपरचक्राभ्यां धर्मैर्वा विक्रमेण वा ।
निरुद्योगो नृपो यश्च परराष्ट्रविघातने ॥
स्वराष्ट्रं निष्प्रतापस्य परचक्रेण हन्यते ॥

ऐसा राजा पाप और अनर्थका भागी नहीं होता। जो नरेश प्रजाकी आयके छठे भागका उपयोग तो करता है; परंतु धर्म या पराक्रमद्वारा स्वचक्र (अपनी मण्डलीके लोगों) तथा परचक्र (शत्रुमण्डलीके लोगों) से प्रजाकी रक्षा नहीं करता एवं जो राजा दूसरेके राष्ट्रपर आक्रमण करनेके विषयमें सदा उद्योगहीन बना रहता है, उस प्रतापहीन राजाका राज्य शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है ॥

यत् पापं परचक्रस्य परराष्ट्राभिघातने ।
तत् पापं सकलं राजा हतराष्ट्रः प्रपद्यते ॥

दूसरे चक्रके राजाके लिये दूसरेके राष्ट्रका विनाश करनेपर जो पाप लागू होता है, वह समूचा पाप उस राजाको भी प्राप्त होता है, जिसका राज्य उसीकी दुर्बलताके कारण शत्रुओंद्वारा नष्ट कर दिया जाता है ॥

मातुलं भागिनेयं वा मातरं श्वशुरं गुरुम् ।
पितरं वर्जयित्वैकं हन्याद् घातकमागतम् ॥

मामा, भानजा, माता, श्वशुर, गुरु तथा पिता—इनमेंसे प्रत्येकको छोड़कर यदि दूसरा कोई मनुष्य मारनेकी नीयतसे आ जाय तो उसे (आततायी समझकर) मार डालना चाहिये ॥

स्वस्य राष्ट्रस्य रक्षार्थं युध्यमानस्तु यो हतः ।
संग्रामे परचक्रेण श्रूयतां तस्य या गतिः ॥

जो राजा अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्धमें जूझता हुआ शत्रुमण्डलके द्वारा मारा जाता है, उसे जो गति मिलती है, उसको श्रवण करो ॥

विमाने तु वरारोहे अप्सरोगणसेविते ।
शक्रलोकमितो याति संग्रामे निहतो नृपः ॥

वरारोहे ! संग्राममें मारा गया नरेश अप्सराओंसे सेवित विमानपर आरूढ़ हो इस लोकसे इन्द्रलोकमें जाता है ॥

यावन्तो रोमकूपाः स्युस्तस्य गात्रेषु सुन्दरि ।
तावद्वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

सुन्दरि ! उसके अङ्गोंमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें सम्मानित होता है ॥

यदि वै मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते ।
राजा वा राजमात्रो वा भूयो भवति वीर्यवान् ॥

यदि कदाचित् वह फिर मनुष्यलोकमें आता है तो पुनः राजा या राजाके तुल्य ही शक्तिशाली पुरुष होता है ॥

तस्माद् यत्नेन कर्तव्यं स्वराष्ट्रपरिपालनम् ।
व्यवहाराश्च चारश्च सततं सत्यसंधता ॥
अप्रमादः प्रमोदश्च व्यवसायेऽप्यचण्डता ।
भरणं चैव भृत्यानां वाहनानां च पोषणम् ॥
योधानां चैव सत्कारः कृते कर्मण्यमोघता ।
श्रेय एव नरेन्द्राणामिह चैव परत्र च ॥

इसलिये राजाको यत्नपूर्वक अपने राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। राजोचित व्यवहारोंका पालन, गुप्तचरोंकी नियुक्ति, सदा सत्यप्रतिज्ञ होना, प्रमाद न करना, प्रसन्न रहना, व्यवसायमें अत्यन्त कुपित न होना, भृत्यवर्गका भरण और वाहनोंका पोषण करना, योद्धाओंका सत्कार करना और किये हुए कार्यमें सफलता लाना—यह सब राजाओंका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे उन्हें इहलोक और परलोकमें भी श्रेयकी प्राप्ति होती है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अहिंसाकी और इन्द्रिय-संयमकी प्रशंसा तथा दैवकी प्रधानता]

उमोवाच

देवदेव महादेव सर्वदेवनमस्कृत ।
यानि धर्मरहस्यानि श्रोतुमिच्छामि तान्यहम् ॥

उमाने कहा—सर्वदेववन्दित देवाधिदेव महादेव ! अब मैं धर्मके रहस्योंको सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम् ।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा परम सुख है ! सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको परमपद बताया गया है ॥

देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता ।
वेदाध्ययनयज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा ॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थाभिगमनं तथा ।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातं परमार्चितम् ॥

वरारोहे ! देवताओं और अतिथियोंकी सेवा, निरन्तर धर्मशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान, दम, गुरु और आचार्यकी सेवा तथा तीर्थोंकी यात्रा—ये सब अहिंसाधर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं। यह मैंने तुम्हें धर्मका परम गुह्य रहस्य बताया है, जिसकी शास्त्रोंमें भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है ॥

निरुणद्धीन्द्रियाण्येव स सुखी स विचक्षणः ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन दानेन च दमेन च ।
नरः सर्वमवाप्नोति मनसा यद् यदिच्छति ॥

जो अपनी इन्द्रियोंका निरोध करता है, वही सुखी है और वही विद्वान् है। इन्द्रियोंके निरोधसे, दानसे और इन्द्रिय-संयमसे मनुष्य मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह सब पा लेता है ॥

यतो यतो महाभागे हिंसा स्यान्महती ततः।
निवृत्तो मधुमांसाभ्यां हिंसा त्वल्पतरा भवेत्॥

महाभागे ! जिस-जिस ओरसे भारी हिंसाकी सम्भावना हो, उससे तथा मद्य और मांससे मनुष्यको निवृत्त हो जाना चाहिये । इससे हिंसाकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है ॥

निवृत्तिः परमो धर्मो निवृत्तिः परमं सुखम्।
मनसा विनिवृत्तानां धर्मस्य निचयो महान् ॥

निवृत्ति परम धर्म है, निवृत्ति परम सुख है, जो मनसे विषयोंकी ओरसे निवृत्त हो गये हैं, उन्हें विशाल धर्मराशिकी प्राप्ति होती है ॥

मनःपूर्वागमा धर्मा अधर्मोश्च न संशयः ।
मनसा बद्ध्यते चापि मुच्यते चापि मानवः ॥
निगृहीते भवेत् स्वर्गो विसृष्टे नरको ध्रुवः ।

इसमें संदेह नहीं कि धर्म और अधर्म पहले मनमें ही आते हैं । मनसे ही मनुष्य बँधता है और मनसे ही मुक्त होता है । यदि मनको वशमें कर लिया जाय, तब तो स्वर्ग मिलता है और यदि उसे खुला छोड़ दिया जाय तो नरककी प्राप्ति अवश्यम्भावी है ॥

जीवाः पुराकृतेनैव तिर्यग्योनिसरीसृपाः ।
नानायोनिषु जायन्ते स्वकर्मपरिवेष्टिताः ॥

जीव अपने पूर्वकृत कर्मके ही फलसे पशु-पक्षी एवं कीट आदि होते हैं । अपने-अपने कर्मोंसे बँधे हुए प्राणी ही भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥

जायमानस्य जीवस्य मृत्युः पूर्वं प्रजायते ।
सुखं वा यदि वा दुःखं यथापूर्वं कृतं तु वा ॥

जो जीव जन्म लेता है, उसकी मृत्यु पहले ही पैदा हो जाती है । मनुष्यने पूर्व जन्ममें जैसा कर्म किया है, तदनुसार ही उसे सुख या दुःख प्राप्त होता है ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु विधिर्जागर्ति जन्तुषु ।
न हि तस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यो न च मध्यमः ॥

प्राणी प्रमादमें पड़कर भले ही सो जायँ, परंतु उनका प्रारब्ध या दैव प्रमादशून्य—सावधान होकर सदा जागता रहता है । उसका न कोई प्रिय है, न द्वेषपात्र है और न कोई मध्यस्थ ही है ॥

समः सर्वेषु भूतेषु कालः कालं निरीक्षते ।
गतायुषो ह्याक्षिपते जीवः सर्वस्य देहिनः ॥

काल समस्त प्राणियोंके प्रति समान है । वह अवसरकी प्रतीक्षा करता रहता है। जिनकी आयु समाप्त हो गयी है, उन्हीं प्राणियोंका वह संहार करता है । वही समस्त देहधारियोंका जीवन है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[त्रिवर्गका निरूपण तथा कल्याणकारी आचार-व्यवहारका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

विद्या वार्ता च सेवा च कारुत्वं नाट्यता तथा।
इत्येते जीवनार्थाय मर्त्यानां विहिताः प्रिये ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! विद्या, वार्ता, सेवा, शिल्पकला और अभिनय-कला—ये मनुष्योंके जीवन-निर्वाहके लिये पाँच वृत्तियाँ बनायी गयी हैं ॥

विद्यायोगस्तु सर्वेषां पूर्वमेव विधीयते ।
कार्याकार्यं विजानन्ति विद्यया देवि नान्यथा ॥

देवि ! सभी मनुष्योंके लिये विद्याका योग पहले ही निश्चित कर दिया जाता है। विद्यासे लोग कर्तव्य और अकर्तव्यको जानते हैं, अन्यथा नहीं ॥

विद्यया स्फीयते ज्ञानं ज्ञानात् तत्त्वविदर्शनम्।
दृष्टतत्त्वो विनीतात्मा सर्वार्थस्य च भाजनम् ॥

विद्यासे ज्ञान बढ़ता है, ज्ञानसे तत्त्वका दर्शन होता है और तत्त्वका दर्शन कर लेनेके पश्चात् मनुष्य विनीतचित्त होकर समस्त पुरुषार्थोंका भाजन हो जाता है ॥

शक्यं विद्याविनीतेन लोके संजीवनं शुभम् ॥
आत्मानं विद्यया तस्मात् पूर्वं कृत्वा तु भाजनम्।
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो भूतात्मानं तु भावयेत् ॥

विद्यासे विनीत हुआ पुरुष संसारमें शुभ जीवन बिता सकता है; अतः अपने आपको पहले विद्याद्वारा पुरुषार्थका भाजन बनाकर क्रोधविजयी एवं जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा–परमात्माका चिन्तन करे ॥

भावयित्वा तदाऽऽत्मानं पूजनीयः सतामपि ॥
कुलानुवृत्तं वृत्तं वा पूर्वमात्मा समाश्रयेत् ।

परमात्माका चिन्तन करके मनुष्य सत्पुरुषोंके लिये भी पूजनीय बन जाता है। जीवात्मा पहले कुलपरम्परासे चले आते हुए सदाचारका ही आश्रय ले ॥

यदि चेद् विद्यया चैव वृत्तिं काङ्क्षेदथात्मनः ॥
राजविद्यां तु वा देवि लोकविद्यामथापि वा।
तीर्थतश्चापि गृह्णीयाच्छुश्रूषादिगुणैर्युतः ॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव दृढं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥

देवि ! यदि विद्यासे अपनी जीविका चलानेकी इच्छा हो तो शुश्रूषा आदि गुणोंसे सम्पन्न हो किसी गुरुसे राजविद्या अथवा लोकविद्याकी शिक्षा ग्रहण करे और उसे ग्रन्थ एवं अर्थ-के अभ्यासद्वारा प्रयत्नपूर्वक दृढ़ करे ॥

एवं विद्याफलं देवि प्राप्नुयान्नान्यथा नरः।
न्यायाद् विद्याफलानीच्छेदधर्मं तत्र वर्जयेत् ॥

देवि ! ऐसा करनेसे मनुष्य विद्याका फल पा सकता है, अन्यथा नहीं। न्यायसे ही विद्याजनित फलोंको पानेकी इच्छा करे। वहाँ अधर्मको सर्वथा त्याग दे ॥

यदिच्छेद् वार्तया वृत्तिं काङ्क्षेत विधिपूर्वकम्।
क्षेत्रे जलोपपन्ने च तद्योग्यं कृषिमाचरेत् ॥

यदि वार्तावृत्तिके द्वारा जीविका चलानेकी इच्छा हो तो जहाँ सींचनेके लिये जलकी व्यवस्था हो, ऐसे खेतमें तदनुरूप कार्य विधिपूर्वक करे ॥

वाणिज्यं वा यथाकालं कुर्यात् तद्देशयोगतः।
मूल्यमर्थं प्रयासं च विचार्यैव व्ययोदयौ।

अथवा यथासमय उस देशकी आवश्यकताके अनुसार वस्तु, उसके मूल्य, व्यय, लाभ और परिश्रम आदिका भली-भाँति विचार करके व्यापार करे ॥

पशुसंजीवनं चैव देशगः पोषयेद् ध्रुवम् ॥
बहुप्रकारा बह्वः पशवस्तस्य साधकाः ॥

देशवासी पुरुषको पशुओंका पालन-पोषण भी अवश्य करना चाहिये। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक पशु भी उसके लिये अर्थप्राप्तिके साधक हो सकते हैं ॥

यः कश्चित् सेवया वृत्तिं काङ्क्षेत मतिमान् नरः।
यतात्मा श्रवणीयानां भवेद् वै सम्प्रयोजकः ॥

जो कोई बुद्धिमान् मनुष्य सेवाद्वारा जीवननिर्वाह करना चाहे तो वह मनको संयममें रखकर श्रवण करनेयोग्य मीठे वचनोंका प्रयोग करे ॥

यथा यथा स तुष्येत तथा संतोषयेत् तु तम्।
अनुजीविगुणोपेतः कुर्यात्मानमाश्रितम् ॥

जैसे-जैसे सेव्य स्वामी संतुष्ट रहे, वैसे ही वैसे उसे संतोष दिलावे। सेवकके गुणोंसे सम्पन्न हो अपने-आपको स्वामीके आश्रित रखे ॥

विप्रियं नाचरेत् तस्य एषा सेवा समासतः ॥
विप्रयोगात् पुरा तेन गतिमन्यां न लक्षयेत् ॥

स्वामीका कभी अप्रिय न करे, यही संक्षेपसे सेवाका स्वरूप है। उसके साथ वियोग होनेसे पहले अपने लिये दूसरी कोई गति न देखे ॥

कारुकर्म च नाट्यं च प्रायशो नीचयोनिषु।
तयोरपि यथायोगं न्यायतः कर्मवेतनम् ॥

शिल्पकर्म अथवा कारीगरी और नाट्यकर्म प्रायः निम्न जातिके लोगोंमें चलते हैं। शिल्प और नाट्यमें भी यथायोग्य न्यायानुसार कार्यका वेतन लेना चाहिये ॥

आर्जवेभ्योऽपि सर्वेभ्यः स्वार्जवाद् वेतनं हरेत्।
अनार्जवादाहरतस्तत् तु पापाय कल्पते ॥

सरल व्यवहारवाले सभी मनुष्योंसे सरलतासे ही वेतन लेना चाहिये। कुटिलतासे वेतन लेनेवालेके लिये वह पापका कारण बनता है ॥

सर्वेषां पूर्वमारम्भांश्चिन्तयेन्नयपूर्वकम्।
आत्मशक्तिमुपायांश्च देशकालौ च युक्तितः ॥
कारणानि प्रवासं च प्रक्षेपं च फलोदयम् ॥
एवमादीनि संचिन्त्य दृष्ट्वा दैवानुकूलताम्।
अतः परं समारम्भेद् यत्रात्महितमाहितम् ॥

जीविका-साधनके जितने उपाय हैं, उन सबके आरम्भों-पर पहले न्यायपूर्वक विचार करे। अपनी शक्ति, उपाय,

देश, काल, कारण, प्रवास, प्रक्षेप और फलोदय आदिके विषयमें युक्तिपूर्वक विचार एवं चिन्तन करके दैवकी अनुकूलता देखकर जिसमें अपना हित निहित दिखायी दे, उसी उपायका आलम्बन करे ॥

वृत्तिमेवं समासाद्य तां सदा परिपालयेत्।
दैवमानुषविघ्नेभ्यो न पुनर्भ्रश्यते यथा ॥

इस प्रकार अपने लिये जीविकावृत्ति चुनकर उसका सदा ही पालन करे और ऐसा प्रयत्न करे, जिससे वह दैव और मानुष विघ्नोंसे पुनः उसे छोड़ न बैठे ॥

पालयन् वर्धयन् भुञ्जंस्तां प्राप्य न विनाशयेत्।
क्षीयते गिरिसंकाशमश्नतो ह्यनपेक्षया ॥

रक्षा, वृद्धि और उपभोग करते हुए उस वृत्तिको पाकर नष्ट न करे। यदि रक्षा आदिकी चिन्ता छोड़कर केवल उपभोग ही किया जाय तो पर्वत-जैसी धनराशि भी नष्ट हो जाती है ॥

आजीवेभ्यो धनं प्राप्य चतुर्धा विभजेद् बुधः।
धर्मायार्थाय कामाय आपत्प्रशमनाय च ॥

आजीविकाके उपायोंसे धनका उपार्जन करके विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ, काम तथा संकट-निवारण—इन चारोंके उद्देश्यसे उस धनके चार भाग करे ॥

चतुर्ष्वपि विभागेषु विधानं शृणु भामिनि ॥
यज्ञार्थं चान्नदानार्थं दीनानुग्रहकारणात्।
देवब्राह्मणपूजार्थं पितृपूजार्थमेव च ॥
मूलार्थं संनिवासार्थं क्रियानित्यैश्च धार्मिकैः।
एवमादिषु चान्येषु धर्मार्थं संत्यजेद् धनम् ॥

भामिनि! इन चारों विभागोंमें भी जैसा विधान है, उसे सुनो। यज्ञ करने, दीन दुखियोंपर अनुग्रह करके अन्न देने, देवताओं, ब्राह्मणों तथा पितरोंकी पूजा करने, मूलधनकी रक्षा करने,, सत्पुरुषोंके रहने तथा क्रियापरायण धर्मात्मा पुरुषोंके सहयोगके लिये तथा इसी प्रकार अन्यान्य सत्कर्मोंके उद्देश्यसे धर्मार्थ धनका दान करे ॥

धर्मकार्ये धनं दद्यादनवेक्ष्य फलोदयम्।
ऐश्वर्यस्थानलाभार्थं राजवाल्लभ्यकारणात् ॥
वार्तायां च समारम्भेऽमात्यमित्रपरिग्रहे।
आवाहे च विवाहे च पूर्णानां वृत्तिकारणात् ॥
अर्थोदयसमावाप्तावनर्थस्य विघातने।
एवमादिषु चान्येषु अर्थार्थं विसृजेद् धनम् ॥

फलकी प्राप्तिका विचार न करके धर्मके कार्यमें धन देना चाहिये। ऐश्वर्यपूर्ण स्थानकी प्राप्तिके लिये, राजाका प्रिय होनेके लिये, कृषि, गोरक्षा अथवा वाणिज्यके आरम्भके लिये, मन्त्रियों और मित्रोंके संग्रहके लिये, आमन्त्रण और विवाहके लिये, पूर्ण पुरुषोंकी वृत्तिके लिये, धनकी उत्पत्ति एवं प्राप्तिके लिये तथा अनर्थके निवारण और ऐसे ही अन्य कार्योंके लिये अर्थार्थ धनका त्याग करना चाहिये ॥

अनुबन्धं हेतुयुक्तं दृष्ट्वा वित्तं परित्यजेत्।
अनर्थं बाधते ह्यर्थो अर्थं चैव फलान्युत ॥

हेतुयुक्त अनुबन्ध (सकारण सम्बन्ध) देखकर उसके लिये धनका त्याग करना चाहिये। अर्थ अनर्थका निवारण करता है तथा धन एवं अभीष्ट फलकी प्राप्ति कराता है ॥

नाधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थं नरा यत्नशतैरपि।
तस्माद् धनं रक्षितव्यं दातव्यं च विधानतः ॥

निर्धन मनुष्य सैकड़ों यत्न करके भी धन नहीं पा सकते। अतः धनकी रक्षा करनी चाहिये तथा विधिपूर्वक उसका दान करना चाहिये ॥

शरीरपोषणार्थाय आहारस्य विशेषणे।
एवमादिषु चान्येषु कामार्थं विसृजेद् धनम् ॥

शरीरके पोषणके लिये विशेष प्रकारके आहारकी व्यवस्था तथा ऐसे ही अन्य कार्योंके निमित्त कामार्थ धनका व्यय करना उचित है ॥

विचार्य गुणदोषौ तु त्रयाणां तत्र संत्यजेत्।
चतुर्थं संनिदध्याच्च आपदर्थं शुचिस्मिते ॥

गुण-दोषका विचार करके धर्म, अर्थ और काम-सम्बन्धी धनोंका तत्तत् कार्योंमें व्यय करना चाहिये। शुचिस्मिते! धनका जो चौथा भाग है, उसे आपत्तिकालके लिये सदा सुरक्षित रखे ॥

राज्यभ्रंशविनाशार्थं दुर्भिक्षार्थं च शोभने।
महाव्याधिविमोक्षार्थं वार्धकव्यस्यैव कारणात् ॥
शत्रूणां प्रतिकाराय साहसैश्चाप्यमर्षणात्।
प्रस्थाने चान्यदेशार्थमापदां विप्रमोक्षणे ॥
एवमादि समुद्दिश्य संनिदध्यात् स्वकं धनम् ॥

शोभने! राज्य विध्वंसका निवारण करने, दुर्भिक्षके समय काम आने, बड़े-बड़े रोगोंसे छुटकारा पाने, बुढ़ापेमें जीवन-निर्वाह करने, साहस और अमर्षपूर्वक शत्रुओंसे बदला लेने, विदेश-यात्रा करने तथा सब प्रकारकी आपत्तियोंसे छुटकारा पाने आदिके उद्देश्यसे अपने धनको अपने निकट बचाये रखना चाहिये ॥

सुखमर्थवतां लोके कृच्छ्राणां विप्रमोक्षणम्।

धन संकटोंसे छुड़ानेवाला है, इसलिये इस जगत्में धनवानोंको सुख होता है ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं च परमं यशः।
त्रिवर्गो हि वशे युक्तः सर्वेषां शं विधीयते ॥
तथा संवर्तमानास्तु लोकयोर्हितमाप्नुयुः ॥

वह धन यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। इतना ही नहीं, वह परम यशस्वरूप है। धर्म, अर्थ

और काम यह त्रिवर्ग कहलाता है। वह जिनके वशमें होता है, उन सबके लिये कल्याणकारी होता है। ऐसा बर्ताव करनेवाले लोग उभय लोकमें अपना हित साधन करते हैं ॥

काल्योत्थानं च शौचं च देवब्राह्मणभक्तितः।
गुरूणामेव शुश्रूषा ब्राह्मणेष्वभिवादनम् ॥
प्रत्युत्थानं च वृद्धानां देवस्थानप्रणामनम्।
आभिमुख्यं पुरस्कृत्य अतिथीनां च पूजनम् ॥
वृद्धोपदेशकरणं श्रवणं हितपथ्ययोः।
पोषणं भृत्यवर्गस्य सान्त्वदानपरिग्रहैः ॥
न्यायतः कर्मकरणमन्यायाहितवर्जितम्।
सम्यग्वृत्तं स्वदारेषु दोषाणां प्रतिषेधनम् ॥
पुत्राणां विनयं कुर्यात् तत्तत्कार्यनियोजनम्।
वर्जनं चाशुभार्थानां शुभानां जोषणं तथा ॥
कुलोचितानां धर्माणां यथावत् परिपालनम्।
कुलसंधारणं चैव पौरुषेणैव सर्वशः ॥
एवमादि शुभं सर्वं तस्य वृत्तमिति स्थितम् ॥

प्रातःकाल उठना, शौच-स्नान करके शुद्ध होना, देवताओं और ब्राह्मणोंमें भक्ति रखते हुए गुरुजनोंकी सेवा तथा ब्राह्मण-वर्गको प्रणाम करना, बड़े-बूढ़ोंके आनेपर उठकर उनका स्वागत करना, देवस्थानमें मस्तक झुकाना, अतिथियोंके सम्मुख होकर उनका उचित आदर-सत्कार करना, बड़े-बूढ़ोंके उपदेशको मानना और आचरणमें लाना, उनके हितकर और लाभदायक वचनोंको सुनना, भृत्यवर्गको सान्त्वना और अभीष्ट वस्तुका दान देकर अपनाते हुए उसका पालन-पोषण करना, न्याययुक्त कर्म करना, अन्याय और अहितकर कार्यको त्याग देना, अपनी स्त्रीके साथ अच्छा बर्ताव करना, दोषोंका निवारण करना, पुत्रोंको विनय सिखाना, उन्हें भिन्न-भिन्न आवश्यक कार्योंमें लगाना, अशुभ पदार्थोंको त्याग देना, शुभ पदार्थोंका सेवन करना, कुलोचित धर्मोंका यथावत् रूपसे पालन करना और अपने ही पुरुषार्थसे सर्वथा अपने कुलकी रक्षा करना इत्यादि सारे शुभ व्यवहार वृत्त कहे गये हैं ॥

वृद्धसेवी भवेन्नित्यं हितार्थं ज्ञानकाङ्क्षया।
परार्थं नाहरेद् द्रव्यमनामन्त्र्य तु सर्वदा ॥

प्रतिदिन अपने हितके लिये और ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे वृद्ध पुरुषोंका सेवन करे। दूसरेके द्रव्यको उससे पूछे बिना कदापि न ले ॥

न याचेत परान् धीरः स्वबाहुबलमाश्रयेत् ॥
स्वशरीरं सदा रक्षेदाहाराचारयोरपि।
हितं पथ्यं सदाहारं जीर्णं भुञ्जीत मात्रया ॥

धीर पुरुष दूसरेसे याचना न करे। अपने बाहुबलका भरोसा रक्खे। आहार और आचार-व्यवहारमें भी सदा अपने शरीरकी रक्षा करे। जो भोजन हितकर एवं लाभदायक हो तथा अच्छी तरह पक गया हो, उसीको नियत मात्रामें ग्रहण करे ॥

देवतातिथिसत्कारं कृत्वा सर्वं यथाविधि।
शेषं भुञ्जेच्छुचिर्भूत्वा न च भाषेत विप्रियम् ॥

देवताओं और अतिथियोंको पूर्णरूपसे विधिपूर्वक सत्कार करके शेष अन्नका पवित्र होकर भोजन करे और कभी किसीसे अप्रिय वचन न बोले ॥

प्रतिश्रयं च पानीयं बलिं भिक्षां च सर्वतः।
गृहस्थवासी व्रतवान् दद्याद् गाश्चैव पोषयेत् ॥

गृहस्थ पुरुष धर्मपालनका व्रत लेकर अतिथिके लिये ठहरनेका स्थान, जल, उपहार और भिक्षा दे तथा गौओंका पालन-पोषण करे ॥

बहिर्निष्क्रमणं चैव कुर्यात् कारणतोऽपि वा।
मध्याह्ने वार्धरात्रे वा गमनं नैव रोचयेत् ॥

वह किसी विशेष कारणसे बाहरकी यात्रा भी कर सकता है, परंतु दोपहर या आधी रातके समय उसे प्रस्थान करनेका विचार नहीं करना चाहिये ॥

विषयान् नावगाहेत स्वशक्त्या तु समाचरेत्।
यथाऽऽयव्ययता लोके गृहस्थानां प्रपूजिता ॥

विषयोंमें डूबा न रहे। अपनी शक्तिके अनुसार धर्माचरण करे। गृहस्थ पुरुषकी जैसी आय हो, उसके अनुसार ही यदि उसका व्यय हो तो लोकमें उसकी प्रशंसा की जाती है ॥

अयशस्करमर्थघ्नं कर्म यत् परपीडनम्।
भयाद् वा यदि वा लोभान्न कुर्वीत कदाचन ॥

भय अथवा लोभवश कभी ऐसा कर्म न करे जो यश और अर्थका नाशक तथा दूसरोंको पीड़ा देनेवाला हो ॥

बुद्धिपूर्वं समालोक्य दूरतो गुणदोषतः।
आरभेत तदा कर्म शुभं वा यदि वेतरत् ॥

किसी कर्मके गुण और दोषको दूरसे ही बुद्धिपूर्वक देखकर तदनन्तर उस शुभ कर्मको लाभदायक समझे तो आरम्भ करे या अशुभका त्याग करे ॥

आत्मसाक्षी भवेन्नित्यमात्मनस्तु शुभाशुभे।
मनसा कर्मणा वाचा न च काङ्क्षेत पातकम् ॥

अपने शुभ और अशुभ कर्ममें सदा अपने-आपको ही साक्षी माने और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी पाप करनेकी इच्छा न करे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[विविध प्रकारके कर्मफलोंका वर्णन]

उमोवाच

सुरासुरपते देव वरद प्रीतिवर्धन ।
मानुषेष्वेव ये केचिदाढ्याः क्लेशविवर्जिताः ॥
भुञ्जाना विविधान् भोगान् दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ॥
अपरे क्लेशसंयुक्ता दरिद्रा भोगवर्जिताः ॥
किमर्थं मानुषे लोके न समत्वेन कल्पिताः ।
एतच्छ्रोतुं महादेव कौतूहलमतीव मे ॥

उमाने पूछा—सुरासुरपते ! सबकी प्रीति बढ़ानेवाले वरदायक देव ! मनुष्योंमें ही कितने ही लोग क्लेशशून्य, उपद्रवरहित एवं धन-धान्यसे सम्पन्न होकर भाँति-भाँतिके भोग भोगते देखे जाते हैं और दूसरे बहुत-से मनुष्य क्लेशयुक्त, दरिद्र एवं भोगोंसे वञ्चित पाये जाते हैं । महादेव ! मनुष्य-लोकमें सब लोग समान क्यों नहीं बनाये गये (वहाँ इतनी विषमता क्यों है)? यह सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ।
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति॥

श्रीमहेश्वर कहते हैं—देवि ! जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है । वह अपने किये हुएका फल स्वयं ही भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं है ॥

अपरे धर्मकामेभ्यो निवृत्ताश्च शुभेक्षणे ।
कदर्या निरनुक्रोशाः प्रायेणात्मपरायणाः ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
दरिद्राः क्लेशभूयिष्ठा भवन्त्येव न संशयः ॥

शुभेक्षणे ! जो लोग धर्म और कामसे निवृत्त हो लोभी, निर्दयी और प्रायः अपने ही शरीरके पोषक हो जाते हैं, शोभने ! ऐसे लोग मृत्युके पश्चात् जब पुनः जन्म लेते हैं, तब दरिद्र और अधिक क्लेशके भागी होते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥

उमोवाच

मानुषेष्वथ ये केचिद् धनधान्यसमन्विताः ।
भोगहीनाः प्रदृश्यन्ते सर्वभोगेषु सत्स्वपि ॥
न भुञ्जते किमर्थं ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंमें जो लोग धन-धान्यसे सम्पन्न हैं, उनमेंसे भी कितने ही ऐसे हैं, जो सम्पूर्ण भोगोंके होनेपर भी भोगहीन देखे जाते हैं । वे उन भोगोंको क्यों नहीं भोगते ! यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

परैः संचोदिता धर्मं कुर्वते न स्वकामतः ।
धर्मश्रद्धां बहिष्कृत्य कुर्वन्ति च रुदन्ति च ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
फलानि तानि सम्प्राप्य भुञ्जते न कदाचन ॥
रक्षन्तो वर्धयन्तश्च आसते निधिपालवत् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो दूसरोंसे प्रेरित होकर धर्म करते हैं, स्वेच्छासे नहीं तथा धर्मविषयक श्रद्धाको दूर करके अश्रद्धासे दान या धर्म करते हैं और उसके लिये रोते या पछताते हैं; शोभने ! ऐसे लोग जब मृत्युको प्राप्त होकर फिर जन्म लेते हैं तो धर्मके उन फलोंको पाकर कभी भोगते नहीं हैं । केवल खजानेकी रक्षा करनेवाले सिपाहीकी भाँति उस धनकी रखवाली करते हुए उसे बढ़ाते रहते हैं ॥

उमोवाच

केचिद् धनवियुक्ताश्च भोगयुक्ता महेश्वर ।
मानुषाः सम्प्रदृश्यन्ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—महेश्वर ! कितने ही मनुष्य धनहीन होनेपर भी भोगयुक्त दिखायी देते हैं । इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नित्यं ये दातुमनसो नरा वित्तेष्वसत्स्वपि ॥
कालधर्मवशं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
एते धनविहीनाश्च भोगयुक्ता भवन्त्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो धन न होनेपर भी सदा दान देनेकी इच्छा रखते हैं, वे मनुष्य मृत्युके पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं, तब निर्धन होनेके साथ ही भोगयुक्त होते हैं (धर्मके प्रभावसे उनके योगक्षेमकी व्यवस्था होती रहती है)॥

धर्मदानोपदेशं वा कर्तव्यमिति निश्चयः ।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

अतः धर्म और दानका उपदेश करना चाहिये—यह विद्वानोंका निश्चय है । देवि ! तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर तो दे दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो ! ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश त्रियक्ष वृषभध्वज ।
मानुषास्त्रिविधा देव दृश्यन्ते सततं विभो ॥

उमाने कहा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! त्रिलोचन ! वृषभध्वज ! देव ! विभो ! मनुष्य तीन प्रकारके दिखायी देते हैं ॥

आसीना एव भुञ्जन्ते स्थानैश्वर्यपरिग्रहैः ।
अपरे यत्नपूर्वं तु लभन्ते भोगसंग्रहम् ॥
अपरे यतमानाश्च न लभन्ते तु किंचन ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कुछ लोग बैठे-बैठे ही उत्तम स्थान, ऐश्वर्य और विविध भोगोंका संग्रह पाकर उनका उपभोग करते हैं । दूसरे लोग यत्नपूर्वक भोगोंका संग्रह कर पाते हैं, और तीसरे ऐसे हैं, जो

यत्न करनेपर भी कुछ नहीं पाते। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

न्यायतस्त्वं महाभागे श्रोतुकामासि भामिनि ॥
ये लोके मानुषा देवि दानधर्मपरायणाः।
पात्राणि विधिवज्ज्ञात्वा दूरतोऽप्यनुमानतः॥
अभिगम्य स्वयं तत्र ग्राहयन्ति प्रसाद्य च।
दानादि चेङ्गितैरेव तैरविज्ञातमेव वा॥
पुनर्जन्मनि ते देवि तादृशाः शोभना नराः।
अयत्नतस्तु तान्येव फलानि प्राप्नुवन्त्युत॥
आसीना एव भुञ्जन्ते भोगान् सुकृतभागिनः।

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे! भामिनि! तुम न्यायतः मेरा उपदेश सुनना चाहती हो, अतः सुनो। देवि! दानधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो मनुष्य संसारमें दानके सुयोग्य पात्रोंका विधिवत् ज्ञान प्राप्त करके अथवा अनुमानसे भी उन्हें जानकर दूरसे भी स्वयं उनके पास चले जाते और उन्हें प्रसन्न करके अपनी दी हुई वस्तुएँ उन्हें स्वीकार करवाते हैं, उनके दान आदि कर्म संकेतसे ही होते हैं; अतः दान-पात्रोंको जनाये बिना ही जो उनके लिये दानकी वस्तुएँ दे देते हैं; देवि! वे ही पुनर्जन्ममें वैसे श्रेष्ठ पुरुष होते हैं तथा वे बिना यत्नके ही उन कर्मोंके फलोंको प्राप्त कर लेते हैं और पुण्यके भागी होनेके कारण बैठे-बैठाये ही सब तरहके भोग भोगते हैं॥

अपरे ये च दानानि ददत्येव प्रयाचिताः॥
यदा यदार्थिने दत्त्वा पुनर्दानं च याचिताः।
तावत्कालं ततो देवि पुनर्जन्मनि ते नराः।
यत्नतः श्रमसंयुक्ताः पुनस्तान् प्राप्नुवन्ति च॥

दूसरे जो लोग याचकोंके माँगनेपर दान देते ही हैं और जब-जब याचकने माँगा, तब-तब उसे दान देकर उसके पुनः याचना करनेपर फिर दान दे देते हैं; देवि! वे मनुष्य पुनर्जन्म पानेपर यत्न और परिश्रमसे बारंबार उन दान-कर्मोंके फल पाते रहते हैं॥

याचिता अपि केचित् तु न ददत्येव किंचन।
अभ्यसूयापरा मर्त्या लोभोपहतचेतसः॥

कुछ लोग ऐसे हैं, जो याचना करनेपर भी याचकको कुछ नहीं देते। उनका चित्त लोभसे दूषित होता है और वे सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं॥

ते पुनर्जन्मनि शुभे यतन्तो बहुधा नराः।
न प्राप्नुवन्ति मनुजा मार्गन्तस्तेऽपि किंचन॥

शुभे! ऐसे लोग फिर जन्म लेनेपर बहुत यत्न करते रहते हैं तो भी कुछ नहीं पाते। बहुत ढूँढ़नेपर भी उन्हें कोई भोग सुलभ नहीं होता॥

नानुप्तं रोहते सस्यं तद्वद् दानफलं विदुः।
यद् यद् ददाति पुरुषस्तत् तत् प्राप्नोति केवलम्॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

जैसे बीज बोये बिना खेती नहीं उपजती, यही बात दानके फलके विषयमें भी समझनी चाहिये—दिये बिना किसीको कुछ नहीं मिलता। मनुष्य जो-जो देता है, केवल उसीको पाता है। देवि! यह विषय तुम्हें बताया गया। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न केचिद् वार्धक्यसंयुताः।
अभोगयोग्यकाले तु भोगांश्चैव धनानि च॥
लभन्ते स्थविरा भूता भोगैश्वर्यं यतस्ततः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! भगदेवताका नेत्र नष्ट करनेवाले महादेव! कुछ लोग बूढ़े हो जानेपर, जब कि उनके लिये भोग भोगने योग्य समय नहीं रह जाता, बहुत-से भोग और धन पा जाते हैं। वे वृद्ध होनेपर भी जहाँ-तहाँसे भोग और ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं; ऐसा किस कर्म-विपाकसे सम्भव होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता॥
धर्मकार्यं चिरं कालं विस्मृत्य धनसंयुताः।
प्राणान्तकाले सम्प्राप्ते व्याधिभिश्च निपीडिताः॥
आरभन्ते पुनर्धर्मान् दातुं दानानि वा नराः॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे भूत्वा दुःखपरिप्लुताः।
अतीतयौवने काले स्थविरत्वमुपागताः॥
लभन्ते पूर्वदत्तानां फलानि शुभलक्षणे॥
एतत् कर्मफलं देवि कालयोगाद् भवत्युत॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे इसका उत्तर देता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर इसका तात्त्विक विषय सुनो। जो लोग धनसे सम्पन्न होनेपर भी दीर्घकालतक धर्मकार्यको भूले रहते हैं और जब रोगोंसे पीड़ित होते हैं, तब प्राणान्त-काल निकट आनेपर धर्म करना या दान देना आरम्भ करते हैं, शुभे! वे पुनर्जन्म लेनेपर दुःखमें मग्न हो यौवनका समय बीत जानेपर जब बूढ़े होते हैं, तब पहलेके दिये हुए दानोंके फल पाते हैं। शुभलक्षणे! देवि! यह कर्म-फल काल-योगसे प्राप्त होता है॥

उमोवाच

भोगयुक्ता महादेव केचिद् व्याधिपरिप्लुताः।
असमर्थाश्च तान् भोक्तुं भवन्ति किल कारणम्॥

उमाने पूछा—महादेव! कुछ लोग युवावस्थामें ही भोगसे सम्पन्न होनेपर भी रोगोंसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें भोगनेमें असमर्थ हो जाते हैं, इसका क्या कारण है?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

व्याधियोगपरिक्लिष्टा ये निराशाः स्वजीविते ।
आरभन्ते तदा कर्तुं दानानि शुभलक्षणे ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्य तानि फलान्युत ।
असमर्थाश्च तान् भोक्तुं व्याधितास्ते भवन्त्युत॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभलक्षणे ! जो रोगोंसे कष्टमें पड़ जानेपर जब जीवनसे निराश हो जाते हैं, तब दान करना आरम्भ करते हैं । शुभे ! वे ही पुनर्जन्म लेनेपर उन फलोंको पाकर रोगोंसे आक्रान्त हो उन्हें भोगनेमें असमर्थ हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वेव केचन ।
रूपयुक्ताः प्रदृश्यन्ते शुभाङ्गाः प्रियदर्शनाः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें कुछ ही लोग रूपवान्, शुभ लक्षणसम्पन्न और प्रिय-दर्शन (परम मनोहर) देखे जाते हैं, किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि श्रृणु तत्त्व समाहिता ॥
ये पुरा मानुषा देवि लज्जायुक्ताः प्रियंवदाः ।
शक्ताः सुमधुरा नित्यं भूत्वा चैव स्वभावतः ॥
अमांसभोजिनश्चैव सदा प्राणिदयायुताः ।
प्रतिकर्मप्रदा वापि वस्त्रदा धर्मकारणात् ॥
भूमिशुद्धिकरा वापि कारणादग्निपूजकाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
रूपेण स्पृहणीयास्तु भवन्त्येव न संशयः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक इसका रहस्य बताता हूँ । तुम एकाग्रचित होकर सुनो । जो मनुष्य पूर्वजन्ममें लज्जायुक्त, प्रिय वचन बोलनेवाले, शक्तिशाली और सदा स्वभावतः मधुर स्वभाववाले होकर सर्वदा समस्त प्राणियोंपर दया करते हैं, कभी मांस नहीं खाते हैं, धर्मके उद्देश्यसे वस्त्र और आभूषणोंका दान करते हैं, भूमिकी शुद्धि करते हैं, कारणवश अग्निकी पूजा करते हैं; ऐसे सदाचारसम्पन्न मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर रूप-सौन्दर्यकी दृष्टिसे स्पृहणीय होते ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

उमोवाच

विरूपाश्च प्रदृश्यन्ते मानुषेष्वेव केचन ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंमें ही कुछ लोग बड़े कुरूप दिखायी देते हैं, इसमें कौन-सा कर्मविपाक कारण है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणु कल्याणि कारणम् ॥
रूपयोगात् पुरा मर्त्या दर्पाहंकारसंयुताः ।
विरूपहासकाश्चैव स्तुतिनिन्दादिभिर्भृशम् ॥
परोपतापिनश्चैव मांसादाश्च तथैव च ।
अभ्यसूयापराश्चैव अशुद्धाश्च तथा नराः ॥
एवंयुक्तसमाचारा यमलोके सुदण्डिताः ।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते रूपवर्जिताः ॥
विरूपाः सम्भवन्त्येव नास्ति तत्र विचारणा ।

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! सुनो, मैं तुमको इसका कारण बताता हूँ । पूर्वजन्ममें सुन्दर रूप पाकर जो मनुष्य दर्प और अहंकारसे युक्त हो स्तुति और निन्दा आदिके द्वारा कुरूप मनुष्योंकी बहुत हँसी उड़ाया करते हैं, दूसरोंको सताते, मांस खाते, पराया दोष देखते और सदा अशुद्ध रहते हैं, ऐसे अनाचारी मनुष्य यमलोकमें भलीभाँति दण्ड पाकर जब फिर किसी प्रकार मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं, तब रूपहीन और कुरूप होते ही हैं । इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश केचित् सौभाग्यसंयुताः ।
रूपभोगविहीनाश्च दृश्यन्ते प्रमदाप्रियाः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! कुछ मनुष्य सौभाग्यशाली होते हैं, जो रूप और भोगसे हीन होनेपर भी नारीको प्रिय लगते हैं । किस कर्म-विपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मानुषा देवि सौम्यशीलाः प्रियंवदाः ।
स्वदारैरेव संतुष्टा दारेषु समवृत्तयः ॥
दाक्षिण्येनैव वर्तन्ते प्रमदास्वप्रियास्वपि ।
न तु प्रत्यादिशन्त्येव स्त्रीदोषान् गुणसंश्रितान् ॥
अन्नपानीयदाः काले नृणां स्वादुप्रदाश्च ये ।
स्वदारव्रतिनश्चैव धृतिमन्तो निरत्ययाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
मानुषास्ते भवन्त्येव सततं सुभगा भृशम् ॥
अर्थहतेऽपि ते देवि भवन्ति प्रमदाप्रियाः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले सौम्य-स्वभावके तथा प्रिय वचन बोलनेवाले होते हैं, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहते हैं, यदि कई पत्नियाँ हों तो उन सबपर समान भाव रखते हैं, अपने स्वभावके कारण अप्रिय लगने-वाली स्त्रियोंके प्रति भी उदारतापूर्ण बर्ताव करते हैं, स्त्रियोंके

दोषोंकी चर्चा नहीं करते, उनके गुणोंका ही बखान करते हैं, समयपर अन्न और जलका दान करते हैं, अतिथियोंको स्वादिष्ट अन्न भोजन कराते हैं, अपनी पत्नीके प्रति ही अनुरक्त रहनेका नियम लेते हैं, धैर्यवान् और दुःखरहित होते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर सदा सौभाग्यशाली होते ही हैं। देवि ! वे धनहीन होनेपर भी अपनी पत्नीके प्रीतिपात्र होते हैं ॥

उमोवाच

दुर्भगाः सम्प्रदृश्यन्ते आर्या भोगयुता अपि ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष भोगोंसे सम्पन्न होनेपर भी दुर्भाग्यके मारे दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा सम्भव होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सर्वं समाहिता ॥
ये पुरा मनुजा देवि स्वदारेष्वनपेक्षया ।
यथेष्टवृत्तयश्चैव निर्लज्जा वीतसम्भ्रमाः ॥
परेषां विप्रियकरा वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
निराश्रया निराहाराः स्त्रीणां हृदयकोपनाः ॥
एवं युक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
दुर्भगास्तु भवन्त्येव स्त्रीणां हृदयविप्रियाः ॥
नास्ति तेषां रतिसुखं स्वदारेष्वपि किंचन ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! इस बातको मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सारी बातें सुनो। जो मनुष्य पहले अपनी पत्नीकी उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, लज्जा और भयको छोड़ देते हैं, मन, वाणी और शरीर तथा क्रियाद्वारा दूसरोंकी बुराई करते हैं और आश्रयहीन एवं निराहार रहकर पत्नीके हृदयमें क्रोध उत्पन्न करते हैं; ऐसे दूषित आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर दुर्भाग्ययुक्त और नारी जातिके लिये अप्रिय ही होते हैं। ऐसे भाग्यहीनोंको अपनी पत्नीसे भी अनुरागजनित सुख नहीं सुलभ होता ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वपि केचन ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना बुद्धिमन्तो विचक्षणाः ॥
दुर्गतास्तु प्रदृश्यन्ते यतमाना यथाविधि ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमेंसे कुछ लोग ज्ञान विज्ञानसे सम्पन्न, बुद्धिमान् और विद्वान् होनेपर भी दुर्गतिमें पड़े दिखायी देते हैं। वे विधिपूर्वक यत्न करके भी उस दुर्गतिसे नहीं छूट पाते। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ! यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि श्रुतवन्तोऽपि केवलम् ।
निराश्रया निराहारा भृशमात्मपरायणाः ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे ज्ञानबुद्धियुता अपि ।
निष्किंचना भवन्त्येव अनुप्तं हि न रोहति ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! सुनो, मैं इसका कारण तुम्हें बताता हूँ। देवि ! जो मनुष्य पहले केवल विद्वान् होनेपर भी आश्रयहीन और भोजन-सामग्रीसे वञ्चित होकर केवल अपने ही उदर-पोषणके प्रयत्नमें लगे रहते हैं, शुभे ! वे पुनर्जन्म लेनेपर ज्ञान और बुद्धिसे युक्त होनेपर भी अकिञ्चन ही रह जाते हैं, क्योंकि बिना बोया हुआ बीज नहीं जमता है ॥

उमोवाच

मूर्खा लोके प्रदृश्यन्ते दृढमूला विचेतसः ।
ज्ञानविज्ञानरहिताः समृद्धाश्च समन्ततः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस जगत्में मूर्ख, अचेत तथा ज्ञान-विज्ञानसे रहित मनुष्य भी सब ओरसे समृद्धिशाली और दृढ़मूल दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि बालिशा अपि सर्वतः ।
समाचरन्ति दानानि दीनानुग्रहकारणात् ॥
अबुद्धिपूर्वं वा दानं ददत्येव ततस्ततः ।
ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्नुवन्त्येव तत् तथा ॥
पण्डितोऽपण्डितो वापि भुङ्क्ते दानफलं नरः ।
बुद्ध्याऽनपेक्षितं दानं सर्वथा तत् फलत्युत ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले मूर्ख होनेपर भी सब ओर दीन-दुखियोंपर अनुग्रह करके उन्हें दान देते रहे हैं, जो पहलेसे दानके महत्त्वको न समझकर भी जहाँ-तहाँ दान देते ही रहे हैं, शुभे ! वे मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त होनेपर वैसी अवस्थाको प्राप्त होते ही हैं। कोई मूर्ख हो या पण्डित, प्रत्येक मनुष्य दानका फल भोगता है। बुद्धिसे अनपेक्षित दान भी सर्वथा फल देता ही है ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेषु च केचन ।
मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें ही कुछ लोग बड़े मेधावी, किसी बातको एक बार सुनकर ही

उसे याद कर लेनेवाले और विशद अक्षर-ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि गुरुशुश्रूषका भृशम् ।
ज्ञानार्थं ते तु संगृह्य तीर्थं ते विधिपूर्वकम् ॥
विधिनैव परांश्चैव ग्राहयन्ति च नान्यथा ।
अश्लाघमाना ज्ञानेन प्रशान्ता यतवाचकाः ॥
विद्यास्थानानि ये लोके स्थापयन्ति च यत्नतः ।
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले गुरुकी अत्यन्त सेवा करनेवाले रहे हैं और ज्ञानके लिये विधिपूर्वक गुरुका आश्रय लेकर स्वयं भी दूसरोंको विधिसे ही अपनी विद्या ग्रहण कराते रहे हैं, अविधिसे नहीं। अपने ज्ञानके द्वारा जो कभी अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते रहे हैं, अपितु शान्त और मौन रहे हैं तथा जो जगत्‌में यत्नपूर्वक विद्यालयों-की स्थापना करते रहे हैं, शोभने ! ऐसे पुरुष जब मृत्युको प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेते हैं, तब मेधावी, किसी बातको एक बार ही सुनकर उसे याद कर लेनेवाले और विशद अक्षर-ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं ॥

उमोवाच

अपरे मानुषा देव यतन्तोऽपि यतस्ततः ।
बहिष्कृताः प्रदृश्यन्ते श्रुतविज्ञानबुद्धितः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—देव ! दूसरे मनुष्य यत्न करनेपर भी जहाँ-तहाँ शास्त्रज्ञान और बुद्धिसे बहिष्कृत दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि ज्ञानदर्पसमन्विताः ।
श्लाघमानाश्च तत् प्राप्य ज्ञानाहङ्कारमोहिताः ॥
वदन्ति ये परान् नित्यं ज्ञानाधिक्येन दर्पिताः ।
ज्ञानादसूयां कुर्वन्ति न सहन्ते हि चापरान् ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य तत्र बोधविवर्जिताः ॥
भवन्ति सततं देवि यतन्तो हीनमेधसः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य ज्ञानके घमंडमें आकर अपनी झूठी प्रशंसा करते हैं और ज्ञान पाकर उस-के अहंकारसे मोहित हो दूसरोंपर आक्षेप करते हैं, जिन्हें सदा अपने अधिक ज्ञानका गर्व रहता है, जो ज्ञानसे दूसरोंके दोष प्रकट किया करते हैं और दूसरे ज्ञानियोंको नहीं सहन कर पाते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म लेनेपर चिरकालके बाद मनुष्य-योनि पाते हैं । देवि ! उस जन्ममें वे सदा यत्न करनेपर भी बोधहीन और बुद्धिरहित होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् सर्वकल्याणसंयुताः ।
पुत्रैर्दारैर्गुणयुतैर्दासीदासपरिच्छदैः ॥
परस्परर्द्धिसंयुक्ताः स्थानैश्वर्यमनोहरैः ।
व्याधिहीना निराबाधा रूपारोग्यबलैर्युताः ॥
धनधान्येन सम्पन्नाः प्रासादैर्यानवाहनैः ।
सर्वोपभोगसंयुक्ता नानाचित्रैर्मनोहरैः ॥
ज्ञातिभिः सह मोदन्ते अविघ्नं तु दिने दिने ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कितने ही मनुष्य समस्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त होते हैं । वे गुणवान् स्त्री-पुत्र, दास-दासी तथा अन्य उपकरणोंसे सम्पन्न होते हैं । स्थान, ऐश्वर्य तथा मनोहर भोगों और पारस्परिक समृद्धिसे संयुक्त होते हैं । रोगहीन, बाधाओंसे रहित, रूप-आरोग्य और बलसे सम्पन्न, धन-धान्यसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके विचित्र एवं मनोहर महल, यान और वाहनोंसे युक्त एवं सब प्रकारके भोगोंसे संयुक्त हो वे प्रतिदिन जाति-भाइयोंके साथ निर्विघ्न आनन्द भोगते हैं । किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सर्वं समाहिता ॥
ये पुरा मनुजा देवि आढ्या वा इतरेऽपि वा ।
श्रुतवृत्तसमायुक्ता दानकामाः श्रुतप्रियाः ॥
परेङ्गितपरा नित्यं दातव्यमिति निश्चिताः ।
सत्यसंधाः क्षमाशीला लोभमोहविवर्जिताः ॥
दातारः पात्रतो दानं व्रतैर्नियमसंयुताः ।
स्वदुःखमिव संस्मृत्य परदुःखविवर्जिताः ॥
सौम्यशीलाः शुभाचारा देवब्राह्मणपूजकाः ॥
एवंशीलसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
दिवि वा भुवि वा देवि जायन्ते कर्मभोगिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सब बातें सुनो । जो धनाढ्य या निर्धन मनुष्य पहले शास्त्रज्ञान और सदाचारसे युक्त, दान करनेके इच्छुक, शास्त्रप्रेमी, दूसरोंके इशारेको समझकर सदा दान देनेके लिये दृढ़ विचार रखनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ, क्षमाशील, लोभ-मोहसे रहित, सुपात्रको दान देनेवाले, व्रत और नियमों-से युक्त तथा अपने दुःखके समान ही दूसरोंके भी दुःखको समझकर किसीको दुःख न देनेवाले होते हैं, जिनका शील-स्वभाव सौम्य होता है, आचार-व्यवहार शुभ होते हैं, जो

देवताओं तथा ब्राह्मणोंके पूजक होते हैं, शोभामयी देवि ! ऐसे शील-सदाचारवाले मानव पुनर्जन्म पानेपर स्वर्गमें या पृथ्वीपर अपने सत्कर्मोंके फल भोगते हैं ॥

मानुषेष्वपि ये जातास्तादृशाः सम्भवन्ति ते।
यादृशास्तु त्वया प्रोक्ताः सर्वे कल्याणसंयुताः॥
रूपं द्रव्यं बलं चायुर्भोगैश्वर्यं कुलं श्रुतम्।
इत्येतत् सर्वसाद्गुण्यं दानाद् भवति नान्यथा॥
तपोदानमयं सर्वमिति विद्धि शुभानने॥

वैसे पुरुष जब मनुष्योंमें जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे सभी तुम्हारे बताये अनुसार कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न होते हैं। उन्हें रूप, द्रव्य, बल, आयु, भोग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल और शास्त्रज्ञान प्राप्त होते हैं। इन सभी सद्गुणोंकी प्राप्ति दानसे ही होती है, अन्यथा नहीं। शुभानने! तुम यह जान लो कि सब कुछ तपस्या और दानका ही फल है ॥

उमोवाच

अथ केचित् प्रदृश्यन्ते मानुषेष्वेव मानुषाः।
दुर्गताः क्लेशभूयिष्ठा दानभोगविवर्जिताः॥
भयैस्त्रिभिः समायुक्ता व्याधिक्षुद्भयसंयुताः।
दुष्कलत्राभिभूताश्च सततं विघ्नदर्शकाः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—प्रभो ! मनुष्योंमें ही कुछ लोग दुर्गतियुक्त, अधिक क्लेशसे पीड़ित, दान और भोगसे वञ्चित, तीन प्रकारके भयोंसे युक्त, रोग और भोगके भयसे पीड़ित, दुष्ट पत्नीसे तिरस्कृत तथा सदा सभी कार्योंमें विघ्नका ही दर्शन करनेवाले होते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि आसुरं भावमाश्रिताः।
क्रोधलोभसमायुक्ता निरन्नाद्याश्च निष्क्रियाः॥
नास्तिकाश्चैव धूर्ताश्च मूर्खाश्चात्मपरायणाः।
परोपतापिनो देवि प्रायशः प्राणिनिर्दयाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते दुःखपीडिताः॥
सर्वतः सम्भवन्त्येव पूर्वमात्मप्रमादतः।
यथा ते पूर्वकथितास्तथा ते सम्भवन्त्युत॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले आसुरभावके आश्रित, क्रोध और लोभसे युक्त, भोजनसामग्रीसे वञ्चित, अकर्मण्य, नास्तिक, धूर्त, मूर्ख, अपना ही पेट पालनेवाले, दूसरोंको सतानेवाले तथा प्रायः सभी प्राणियोंके प्रति निर्दय होते हैं। शोभने ! ऐसे आचार-व्यवहारसे युक्त मनुष्य पुनर्जन्मके समय किसी प्रकार मनुष्ययोनिको पाकर जहाँ-कहीं भी उत्पन्न होते हैं, सर्वत्र अपने ही प्रमादके कारण दुःखसे पीड़ित होते हैं और जैसा तुमने बताया है, वैसे ही अवाञ्छनीय दोषसे युक्त होते हैं ॥

शुभाशुभं कृतं कर्म सुखदुःखफलोदयम्।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

देवि ! मनुष्यका किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म ही उसे सुख या दुःखरूप फलकी प्राप्ति करानेवाला है। यह बात मैंने तुम्हें बता दी। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अन्धत्व और पंगुत्व आदि नाना प्रकारके दोषों और रोगोंके कारणभूत दुष्कर्मोंका वर्णन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मम प्रीतिविवर्धन।
जात्यन्धाश्चैव दृश्यन्ते जाता वा नष्टचक्षुषः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि।

उमाने कहा—भगवन् ! मेरी प्रीति बढ़ानेवाले देवदेवेश्वर ! इस संसारमें कुछ लोग जन्मसे ही अन्धे दिखायी देते हैं और कुछ लोगोंके जन्म लेनेके पश्चात् उनकी आँखें नष्ट हो जाती हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा कामकारेण परवेश्मसु लोलुपाः।
परस्त्रियोऽभिवीक्षन्ते दुष्टेनैव स्वचक्षुषा॥
अन्धीकुर्वन्ति ये मर्त्याः क्रोधलोभसमन्विताः।
लक्षणज्ञाश्च रूपेषु अयथावत्प्रदर्शकाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मवशास्तु ते।
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! जो पूर्वजन्ममें काम या स्वेच्छाचारवश पराये घरोंमें अपनी लोलुपताका परिचय देते हैं और परायी स्त्रियोंपर अपनी दूषित दृष्टि डालते हैं तथा जो मनुष्य क्रोध और लोभके वशीभूत होकर दूसरोंको अन्धा बना देते हैं, अथवा रूपविषयक लक्षणोंको जानकर उसका मिथ्या प्रदर्शन करते हैं। ऐसे आचारवाले मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर यमदण्डसे दण्डित हो चिरकालतक नरकोंमें पड़े रहते हैं ॥

यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथापि वा।
स्वभावतो वा जाता वा अन्धा एव भवन्ति ते॥
अक्षिरोगयुता वापि नास्ति तत्र विचारणा॥

उसके बाद यदि वे मनुष्ययोनिमें जन्म लेते हैं, तब स्वभावतः अन्धे होते हैं अथवा जन्म लेनेके बाद अन्धे हो

जाते हैं या सदा ही नेत्ररोगसे पीड़ित रहते हैं। इस विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

उमोवाच

मुखरोगयुताः केचिद् दृश्यन्ते सततं नराः।
दन्तकण्ठकपोलस्थैर्व्याधिभिर्बहुपीडिताः ॥
आदिप्रभृति वै मर्त्या जाता वाप्यथ कारणात्।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—प्रभो! कुछ मनुष्य सदा मुखके रोगसे व्यथित रहते हैं, दाँत, कण्ठ और कपोलोंके रोगसे अत्यन्त कष्ट भोगते हैं, कुछ तो जन्मसे ही रोगी होते हैं और कुछ जन्म लेनेके बाद कारणवश उन रोगोंके शिकार हो जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु देवि समाहिता ॥
कुवक्तारस्तु ये देवि जिह्वया कटुकं भृशम्।
असत्यं परुषं घोरं गुरून् प्रति परान् प्रति ॥
जिह्वाबाधां तदान्येषां कुर्वते कोपकारणात्।
प्रायशोऽनृतभूयिष्ठा नराः कार्यवशेन वा ॥
तेषां जिह्वाप्रदेशस्था व्याधयः सम्भवन्ति ते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! एकाग्रचित्त होकर सुनो, मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें सब कुछ बताता हूँ। जो कुवाक्य बोलनेवाले मनुष्य अपनी जिह्वासे गुरुजनों या दूसरोंके प्रति अत्यन्त कड़वे, झूठे, रूखे तथा घोर वचन बोलते हैं, जो क्रोधके कारण दूसरोंकी जीभ काट लेते हैं अथवा जो कार्यवश प्रायः अधिकाधिक झूठ ही बोलते हैं, उनके जिह्वाप्रदेशमें ही रोग होते हैं ॥

कुश्रोतारस्तु ये चार्थं परेषां कर्णनाशकाः।
कर्णरोगान् बहुविधाँल्लभन्ते ते पुनर्भवे ॥

जो परदोष और निन्दादियुक्त कुवचन सुनते हैं तथा जो दूसरोंके कानोंको हानि पहुँचाते हैं, वे दूसरे जन्ममें कर्ण-सम्बन्धी नाना प्रकारके रोगोंका कष्ट भोगते हैं ॥

दन्तरोगशिरोरोगकर्णरोगास्तथैव च।
अन्ये मुखाश्रिता दोषाः सर्वे चात्मकृतं फलम् ॥

ऐसे ही लोगोंको दन्तरोग, शिरोरोग, कर्णरोग तथा अन्य सभी मुखसम्बन्धी दोष अपनी करनीके फलरूपसे प्राप्त होते हैं ॥

उमोवाच

पीड्यन्ते सततं देव मानुषेष्वेव केचन।
कुक्षिपक्षाश्रितैर्दोषैर्व्याधिभिश्चोदराश्रितैः ॥

उमाने पूछा—देव! मनुष्योंमें कुछ लोग सदा कुक्षि और पक्षसम्बन्धी दोषों तथा उदरसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित रहते हैं ॥

तीक्ष्णशूलैश्च पीड्यन्ते नरा दुःखपरिप्लुताः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कुछ लोगोंके उदरमें तीखे शूल-से उठते हैं, जिनसे वे बहुत पीड़ित होते और दुःखमें डूब जाते हैं। किस कर्म-विपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि कामक्रोधवशा भृशम्।
आत्मार्थमेव चाहारं भुञ्जन्ते निरपेक्षकाः ॥
अभक्ष्याहारदानैश्च विश्वस्तानां विषप्रदाः।
अभक्ष्यभक्षदाश्चैव शौचमङ्गलवर्जिताः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते व्याधिपीडिताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! पहले जो मनुष्य काम और क्रोधके अत्यन्त वशीभूत हो दूसरोंकी परवा न करके केवल अपने ही लिये आहार जुटाते और खाते हैं, अभक्ष्य भोजनका दान करते हैं, विश्वस्त मनुष्योंको जहर दे देते हैं, न खानेयोग्य वस्तुएँ खिला देते हैं, शौच और मङ्गलाचारसे रहित होते हैं; शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्म लेनेपर किसी तरह मानवशरीरको पाकर उन्हीं रोगोंसे पीड़ित होते हैं ॥

तैस्तैर्बहुविधाकारैर्व्याधिभिर्दुःखसंश्रिताः।
भवन्त्येव तथा देवि यथा चैव कृतं पुरा ॥

देवि! नाना प्रकारके रूपवाले उन रोगोंसे पीड़ित हो वे दुःखमें निमग्न हो जाते हैं। पूर्वजन्ममें जैसा किया था वैसा भोगते हैं ॥

उमोवाच

दृश्यन्ते सततं देव व्याधिभिर्मेहनाश्रितैः।
पीड्यमानास्तथा मर्त्या अश्मरीशर्करादिभिः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—देव! बहुत-से मनुष्य प्रमेहसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित देखे जाते हैं, कितने ही पथरी और शर्करा (पेशाबसे चीनी आना) आदि रोगोंके शिकार हो जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि परदारप्रधर्षकाः।
तिर्यग्योनिषु धूर्ता वै मैथुनार्थं चरन्ति च ॥
कामदोषेण ये धूर्ताः कन्यासु विधवासु च।
बलात्कारेण गच्छन्ति रूपदर्पसमन्विताः ॥

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः॥
मेहनस्थैस्ततो घोरैः पीड्यन्ते व्याधिभिः प्रिये।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पूर्वजन्ममें परायी स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेवाले होते हैं, जो धूर्त मानव पशुयोनिमें मैथुनके लिये चेष्टा करते हैं, रूपके घमंडमें भरे हुए जो धूर्त काम-दोषसे कुमारी कन्याओं और विधवाओंके साथ बलात्कार करते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं; तब मनुष्ययोनिमें आनेके बाद वैसे ही रोगी होते हैं । प्रिये ! वे प्रमेहसम्बन्धी भयङ्कर रोगोंसे पीड़ित रहते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते शोषिणः कृशाः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कुछ मनुष्य सूखारोग (जिसमें शरीर सूख जाता है) से पीड़ित एवं दुर्बल दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि मांसलुब्धाः सुलोलुपाः।
आत्मार्थे स्वादुगृद्धाश्च परभोगोपतापिनः॥
अभ्यसूयापराश्चापि परभोगेषु ये नराः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
शोषव्याधियुतास्तत्र नरा धमनिसंततः॥
भवन्त्येव नरा देवि पापकर्मोपभोगिनः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य मांसपर लुभाये रहते हैं, अत्यन्त लोलुप हैं, अपने लिये स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं, दूसरोंकी भोगसामग्री देखकर जलते हैं तथा जो दूसरोंके भोगोंमें दोषदृष्टि रखते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर सूखारोगसे पीड़ित हो इतने दुर्बल हो जाते हैं कि उनके शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँतक दिखायी देती हैं। देवि ! वे पापकर्मोंका फल भोगनेवाले मनुष्य वैसे ही होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् क्लिश्यन्ते कुष्ठरोगिणः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कुछ मनुष्य कोढ़ी होकर कष्ट पाते हैं, यह किस कर्मविपाकका फल है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि परेषां रूपनाशनाः।
आघातवधबन्धैश्च वृथा दण्डेन मोहिताः॥
इष्टनाशकरा ये तु अपथ्याहारदा नराः।
चिकित्सका वा दुष्टाश्च द्वेषलोभसमन्विताः॥
निर्दयाः प्राणिहिंसायां मलदाश्चित्तनाशनाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि वै मानुषं जन्म लभेरंस्तेषु दुःखिताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले मोहवश आघात, वध, बन्धन तथा व्यर्थ दण्डके द्वारा दूसरोंके रूपका नाश करते हैं, किसीकी प्रिय वस्तु नष्ट कर देते हैं, चिकित्सक होकर दूसरोंको अपथ्य भोजन देते हैं, द्वेष और लोभके वशीभूत होकर दुष्टता करते हैं, प्राणियोंकी हिंसाके लिये निर्दय बन जाते हैं, मल देते और दूसरोंकी चेतनाका नाश करते हैं; शोभने ! ऐसे आचरणवाले पुरुष पुनर्जन्मके समय यदि मनुष्य-जन्म पाते हैं तो मनुष्योंमें सदा दुखी ही रहते हैं ॥

अत्र ते क्लेशसंयुक्ताः कुष्ठरोगशतैर्वृताः॥
केचित् त्वग्दोषसंयुक्ता व्रणकुष्ठैश्च संयुताः।
श्वित्रकुष्ठयुता वापि बहुधा कुष्ठसंयुताः॥
भवन्त्येव नरा देवि यथा येन कृतं फलम्॥

उस जन्ममें वे सैकड़ों कुष्ठ रोगोंसे घिरकर क्लेशसे पीड़ित होते हैं । कोई चर्मदोषसे युक्त होते हैं, कोई व्रणकुष्ठ (कोढ़के घाव) से पीड़ित होते हैं अथवा कोई सफेद कोढ़से लाञ्छित दिखायी देते हैं । देवि ! जिसने जैसा किया है उसके अनुसार फल पाकर वे सब मनुष्य नाना प्रकारके कुष्ठ रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिदङ्गहीनाश्च पङ्गवः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन् ! किस कर्मके विपाकसे कुछ मनुष्य अङ्गहीन एवं पङ्गु हो जाते हैं, यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि लोभमोहसमावृताः।
प्राणिनां प्राणहिंसार्थमङ्गविघ्नं प्रकुर्वते॥
शस्त्रेणोत्कृत्य वा देवि प्राणिनां चेष्टनाशकाः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
तदङ्गहीना वै प्रेत्य भवन्त्येव न संशयः॥
स्वभावतो वा जाता वा पङ्गवस्ते भवन्ति वै॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो मनुष्य पहले लोभ और मोहसे आच्छादित होकर प्राणियोंके प्राणोंकी हिंसा करनेके लिये उनके अङ्ग-भङ्ग कर देते हैं, शस्त्रोंसे काटकर उन प्राणियोंको निश्चेष्ट बना देते हैं, शोभने ! ऐसे आचारवाले पुरुष मरनेके बाद पुनर्जन्म लेनेपर अङ्गहीन

होते हैं; इसमें संशय नहीं है। वे स्वभावतः पङ्गुरूपमें उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेनेके बाद पङ्गु हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् ग्रन्थिभिः पिल्लकैस्तथा।
क्लिश्यमानाः प्रदृश्यन्ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! कुछ मनुष्य ग्रन्थि (गठिया), पिल्लक (फीलपाँव) आदि रोगोंसे कष्ट पाते देखे जाते हैं, इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि ग्रन्थिभेदकरा नृणाम्।
मुष्टिप्रहारपरुषा नृशंसाः पापकारिणः ॥
पाटकास्तोटकाश्चैव शूलतुन्दास्तथैव च।
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
ग्रन्थिभिः पिल्लकैश्चैव क्लिश्यन्ते भृशदुःखिताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले लोगोंकी ग्रन्थियोंका भेदन करनेवाले रहे हैं; जो मुष्टि प्रहार करनेमें निर्दय, नृशंस, पापाचारी, तोड़-फाड़ करनेवाले और शूल चुभाकर पीड़ा देनेवाले रहे हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग फिर जन्म लेनेपर गठिया और फीलपाँवसे कष्ट पाते तथा अत्यन्त दुखी होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् पादरोगसमन्विताः।
दृश्यन्ते सततं देव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! देव! कुछ मनुष्य सदा पैरोंके रोगोंसे पीड़ित दिखायी देते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि क्रोधलोभसमन्विताः।
मनुजा देवतास्थानं स्वपादैर्भ्रंशयन्त्युत ॥
जानुभिः पार्ष्णिभिश्चैव प्राणिहिंसां प्रकुर्वते ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
पादरोगैर्बहुविधैर्बाध्यन्ते श्वपदादिभिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले क्रोध और लोभके वशीभूत होकर देवताके स्थानको अपने पैरोंसे भ्रष्ट करते, घुटनों और एड़ियोंसे मारकर प्राणियोंकी हिंसा करते हैं; शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्म लेनेपर श्वपद आदि नाना प्रकारके पाद-रोगोंसे पीड़ित होते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते बहवो भुवि।
वातजैः पित्तजै रोगैर्युगपत् संनिपातकैः ॥
रोगैर्बहुविधैर्देव क्लिश्यमानाः सुदुःखिताः।

उमाने पूछा—भगवन्! देव! इस भूतलपर कुछ ऐसे लोगोंकी बहुत बड़ी संख्या दिखायी देती है, जो वात, पित्त और कफजनित रोगोंसे तथा एक ही साथ इन तीनोंके संनिपातसे तथा दूसरे-दूसरे अनेक रोगोंसे कष्ट पाते हुए बहुत दुखी रहते हैं ॥

असमस्तैः समस्तैश्च आढ्या वा दुर्गतास्तथा ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

वे धनी हों या दरिद्र, पूर्वोक्त रोगोंमेंसे कुछके द्वारा अथवा समस्त रोगोंके द्वारा कष्ट पाते रहते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि त्वासुरं भावमाश्रिताः।
स्ववशाः कोपनपरा गुरुविद्वेषिणस्तथा ॥
परेषां दुःखजनका मनोवाक्कायकर्मभिः।
छिन्दन् भिन्दंस्तुदन्नेव नित्यं प्राणिषु निर्दयाः ॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
यदि वै मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि! इसका कारण मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो। देवि! जो मनुष्य पूर्वजन्ममें आसुरभावका आश्रय ले स्वच्छन्दचारी, क्रोधी और गुरुद्रोही हो जाते हैं, मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा दूसरोंको दुःख देते हैं, काटते, विदीर्ण करते और पीड़ा देते हुए सदा ही प्राणियोंके प्रति निर्दयता दिखाते हैं। शोभने! ऐसे आचरणवाले लोग पुनर्जन्मके समय यदि मनुष्य जन्म पाते हैं तो वे वैसे ही होते हैं ॥

तत्र ते बहुभिर्घोरैस्तप्यन्ते व्याधिभिः प्रिये ॥
केचिच्च छर्दिसंयुक्ताः केचित्काससमन्विताः।
ज्वरातिसारतृष्णाभिः पीड्यमानास्तथा परे ॥
पादगुल्मैश्च बहुभिः श्लेष्मदोषसमन्विताः।
पादरोगैश्च विविधैर्व्रणकुष्ठभगन्दरैः ॥
आढ्या वा दुर्गता वापि दृश्यन्ते व्याधिपीडिताः ॥

प्रिये! उस शरीरमें वे बहुतेरे भयंकर रोगोंसे संतप्त होते हैं। किसीको उलटी होती है तो कोई खाँसीसे कष्ट पाते हैं। दूसरे बहुत-से मनुष्य ज्वर, अतिसार और तृष्णासे पीड़ित रहते हैं। किन्हींको अनेक प्रकारके पादगुल्म सताते हैं। कुछ लोग कफदोषसे पीड़ित होते हैं। कितने ही नाना प्रकारके पादरोग, व्रणकुष्ठ और भगन्दर रोगोंसे रुग्ण रहते हैं। वे धनी हों या दरिद्र सब लोग रोगोंसे पीड़ित दिखायी देते हैं ॥

एवमात्मकृतं कर्म भुञ्जते तत्र तत्र ते।

ग्रहीतुं न च शक्यं हि केनचिद्ध्यकृतं फलम्॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

इस प्रकार उन-उन शरीरोंमें वे अपने किये हुए कर्मका ही फल भोगते हैं। कोई भी बिना किये हुए कर्मके फलको नहीं पा सकता। देवि! इस प्रकार यह विषय मैंने तुम्हें बताया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश भूतपाल नमोऽस्तु ते।
ह्रस्वाङ्गाश्चैव वक्राङ्गाः कुब्जा वामनकास्तथा॥
अपरे मानुषा देव दृश्यन्ते कुणिबाहवः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! भूतनाथ! आपको नमस्कार है। देव! दूसरे मनुष्य छोटे शरीरवाले, टेढ़े-मेढ़े अङ्गोंवाले, कुबड़े, बौने और लूले दिखायी देते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि लोभमोहसमन्विताः।
धान्यमानान् विकुर्वन्ति क्रयविक्रयकारणात्॥
तुलादोषं तदा देवि धृतमानेषु नित्यशः।
अर्धापकर्षणाच्चैव सर्वेषां क्रयविक्रये॥
अङ्गदोषकरा ये तु परेषां कोपकारणात्।
मांसादाश्चैव ये मूर्खा अयथावत्प्रथाः सदा॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
ह्रस्वाङ्गा वामनाश्चैव कुब्जाश्चैव भवन्ति ते॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले लोभ और मोहसे युक्त हो खरीद-बिक्रीके लिये अनाज तौलनेके बाटोंको तोड़-फोड़कर छोटे कर देते हैं, तराजूमें भी कुछ दोष रख लेते हैं और प्रतिदिन क्रय-विक्रयके समय जब उन बाटोंको रखकर अनाज तौलते हैं, तब सभीके मालमेंसे आधेकी चोरी कर लेते हैं। जो क्रोध करते, दूसरोंके शरीरपर चोट करके उसके अङ्गोंमें दोष उत्पन्न कर देते हैं, जो मूर्ख मांस खाते और सदा झूठ बोलते हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर छोटे शरीरवाले बौने और कुबड़े होते हैं॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते मानुषेषु वै।
उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च पर्यटन्तो यतस्ततः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! मनुष्योंमेंसे कुछ लोग उन्मत्त और पिशाचोंके समान इधर-उधर घूमते दिखायी देते हैं। उनकी ऐसी अवस्थामें कौन-सा कर्म-फल कारण है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि दर्पाहङ्कारसंयुताः।
बहुधा प्रलपन्त्येव हसन्ति च परान् भृशम्॥
मोहयन्ति परान् भोगैर्मदनैर्लोभकारणात्।
वृद्धान् गुरूंश्च ये मूर्खा वृथैवापहसन्ति च॥
शौण्डा विदग्धाः शास्त्रेषु तथैवानृतवादिनः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च भवन्त्येव न संशयः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले दर्प और अहंकारसे युक्त हो नाना प्रकारकी अंटशंट बातें करते हैं, दूसरोंकी खूब हँसी उड़ाते हैं, लोभवश, उन्मत्त बना देनेवाले भोगोंद्वारा दूसरोंको मोहित करते हैं, जो मूर्ख बूढ़ों और गुरुजनोंका व्यर्थ ही उपहास करते हैं तथा शास्त्रज्ञानमें चतुर एवं प्रवीण होनेपर भी सदा झूठ बोलते हैं, शोभने! ऐसे आचरणवाले मनुष्य पुनर्जन्म लेनेपर उन्मत्तों और पिशाचोंके समान भटकते फिरते हैं; इसमें संशय नहीं है॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिन्निरपत्याः सुदुःखिताः।
यतन्तो न लभन्त्येव अपत्यानि यतस्ततः॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! कुछ मनुष्य संतानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुखी रहते हैं। वे जहाँ-तहाँसे प्रयत्न करनेपर भी संतानलाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि सर्वप्राणिषु निर्दयाः।
घ्नन्ति बालांश्च भुञ्जन्ते मृगाणां पक्षिणामपि॥
गुरुविद्वेषिणश्चैव परपुत्राभ्यसूयकाः।
पितृपूजां न कुर्वन्ति यथोक्तां चाष्टकादिभिः॥
एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।
मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य निरपत्या भवन्ति ते।
पुत्रशोकयुताश्चापि नास्ति तत्र विचारणा॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले समस्त प्राणियोंके प्रति निर्दयताका बर्ताव करते हैं, मृगों और पक्षियोंके भी बच्चोंको मारकर खा जाते हैं, गुरुसे द्वेष रखते, दूसरोंके पुत्रोंके दोष देखते हैं, पार्वण आदि श्राद्धोंके द्वारा शास्त्रोक्त रीतिसे पितरोंकी पूजा नहीं करते; शोभने! ऐसे आचरणवाले जीव फिर जन्म लेनेपर दीर्घकालके पश्चात् मानवयोनिको पाकर संतानहीन तथा पुत्रशोकसे संतप्त होते हैं; इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् प्रदृश्यन्ते सुदुःखिताः।
उद्वेगवासनिरताः सोद्वेगाश्च यतव्रताः ॥
नित्यं शोकसमाविष्टा दुर्गताश्च तथैव च।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—भगवन्! मनुष्योंमें कुछ लोग अत्यन्त दुखी दिखायी देते हैं। उनके निवासस्थानमें उद्वेगका वातावरण छाया रहता है। वे उद्विग्न रहकर संयमपूर्वक व्रतका पालन करते हैं। नित्य शोकमग्न तथा दुर्गतिग्रस्त रहते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा नित्यमुत्कोचनपरायणाः।
भीषयन्ति परान् नित्यं विकुर्वन्ति तथैव च ॥
ऋणवृद्धिकराश्चैव दरिद्रेभ्यो यथेष्टतः।
ये श्वभिः क्रीडमानाश्च त्रासयन्ति वने मृगान्।
प्राणिहिंसां तथा देवि कुर्वन्ति च यतस्ततः ॥
येषां गृहेषु वै श्वानः त्रासयन्ति वृथा नरान् ॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मगताः पुनः।
पीडिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ॥
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते दुःखसंयुताः ॥
कुदेशे दुःखभूयिष्ठे व्याघातशतसंकुले।
जायन्ते तत्र शोचन्तः सोद्वेगाश्च यतस्ततः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य पहले प्रतिदिन घूस लेते हैं, दूसरोंको डराते और उनके मनमें विकार उत्पन्न कर देते हैं, अपने इच्छानुसार दरिद्रोंका ऋण बढ़ाते हैं, जो कुत्तोंसे खेलते और वनमें मृगोंको त्रास पहुँचाते हैं, जहाँ-तहाँ प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, जिनके घरोंमें पले हुए कुत्ते व्यर्थ ही लोगोंको डराते रहते हैं, प्रिये! ऐसे आचरणवाले मनुष्य मृत्युको प्राप्त होकर यमदण्डसे पीड़ित हो चिरकालतक नरकमें पड़े रहते हैं। फिर किसी प्रकार मनुष्यका जन्म पाकर अधिक दुःखसे भरे हुए सैकड़ों बाधाओंसे व्याप्त कुत्सित देशमें उत्पन्न हो वहाँ दुखी, शोकमग्न और सब ओरसे उद्विग्न बने रहते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न मानुषेषु च केचन।
क्लीबा नपुंसकाश्चैव दृश्यन्ते षण्डकास्तथा ॥
नीचकर्मरता नीचा नीचसख्यास्तथा भुवि।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! भगदेवताके नेत्रको नष्ट करनेवाले महादेव! मनुष्योंमें कुछ लोग कायर, नपुसक और हींजड़े देखे जाते हैं, जो इस भूतलपर स्वयं तो नीच हैं ही, नीच कर्मोंमें तत्पर रहते और नीचोंका ही साथ करते हैं। उनके नपुंसक होनेमें कौन-सा कर्मविपाक कारण होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम्।
ये पुरा मनुजा भूत्वा घोरकर्मरतास्तथा।
पशुपुंस्त्वोपघातेन जीवन्ति च रमन्ति च ॥
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मं गतास्तु ते ॥
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ॥
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथाविधाः।
क्लीबा वर्षवराश्चैव षण्डकाश्च भवन्ति ते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि! मैं वह कारण तुम्हें बताता हूँ, सुनो। जो मनुष्य पहले भयंकर कर्मोंमें तत्पर होकर पशुके पुरुषत्वका नाश करने अर्थात् पशुओंको बधिया करनेके कार्यद्वारा जीवननिर्वाह करते और उसीमें सुख मानते हैं, प्रिये! ऐसे आचरणवाले मनुष्य मृत्युको पाकर यमदण्डसे दण्डित हो चिरकालतक नरकमें निवास करते हैं। यदि मनुष्यजन्म धारण करते हैं तो वैसे ही कायर, नपुंसक और हीजड़े होते हैं ॥

स्त्रीणामपि तथा देवि यथा पुंसां तु कर्मजम्।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

देवि! जैसे पुरुषोंको कर्मजनित फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्त्रियोंको भी अपने-अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यह विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[उमा-महेश्वर-संवादमें कितने ही महत्त्वपूर्ण विषयोंका विवेचन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश प्रमदा विधवा भृशम्।
दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्वकल्याणवर्जिताः ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! मनुष्यलोकमें बहुत-सी युवती स्त्रियाँ समस्त कल्याणोंसे रहित विधवा दिखायी देती हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

याः पुरा मनुजा देवि बुद्धिमोहसमन्विताः।
कुटुम्बं तत्र वै पत्युर्नाशयन्ति वृथा तथा ॥
विषदाश्चाग्निदाश्चैव पतीन् प्रति सुनिर्दयाः।
अन्यासां हि पतीन् यान्ति स्वपतीन् द्वेष्यकारणात् ॥
एवंयुक्तसमाचारा यमलोके सुदण्डिताः ॥

निरयस्थाश्चिरं कालं कथंचित् प्राप्य मानुषम् ॥
तत्र ता भोगरहिता विधवाश्च भवन्ति वै ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जो स्त्रियाँ पहले जन्ममें बुद्धिमें मोह छा जानेके कारण पतिके कुटुम्बका व्यर्थ नाश करती हैं, विष देती, आग लगाती और पतियोंके प्रति अत्यन्त निर्दय होती हैं, अपने पतियोंसे द्वेष रखनेके कारण दूसरी स्त्रियोंके पतियोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, ऐसे आचरण-वाली नारियाँ यमलोकमें भलीभाँति दण्डित हो चिरकालतक नरकमें पड़ी रहती हैं। फिर किसी तरह मनुष्य-योनि पाकर वे भोगरहित विधवा हो जाती हैं ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषेष्वेव केचन।
दासभूताः प्रदृश्यन्ते सर्वकर्मपरा भृशम् ॥
आघातभर्त्सनसहाः पीड्यमानाश्च सर्वशः।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! मनुष्योंमें ही कोई दासभावको प्राप्त दिखायी देते हैं, जो सब प्रकारके कर्मोंमें सर्वथा संलग्न रहते हैं। वे पीटे जाते हैं, डाँट-फटकार सहते हैं और सब तरहसे सताये जाते हैं। किस कर्मविपाकसे ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ॥
ये पुरा मनुजा देवि परेषां वित्तहारकाः ॥
ऋणवृद्धिकरं क्रौर्यान्न्यासदत्तं तथैव च।
निक्षेपकारणाद् दत्तपरद्रव्यापहारिणः ॥
प्रमादाद् विस्मृतं नष्टं परेषां धनहारकाः।
वधबन्धपरिक्लेशैर्दासत्वं कुर्वते परान् ॥
तादृशा मरणं प्राप्ता दण्डिता यमशासनैः।
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते देवि सर्वथा ॥
दासभूता भविष्यन्ति जन्मप्रभृति मानवाः ॥
तेषां कर्माणि कुर्वन्ति येषां ते धनहारकाः।
आसमाप्तेः स्वपापस्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! वह कारण मैं बताता हूँ, सुनो। देवि ! जो मनुष्य पहले दूसरोंके धनका अपहरण करते हैं, जो क्रूरतावश किसीके ऐसे धनको हड़प लेते हैं, जिसके कारण उसके ऊपर ऋण बढ़ जाता है, जो रखनेके लिये दिये हुए या धरोहरके तौरपर रखे हुए पराये धनको दबा लेते हैं अथवा प्रमादवश दूसरोंके भूले या खोये हुए धनको हर लेते हैं, दूसरोंको वध-बन्धन और क्लेशमें डालकर उनसे अपनी दासता कराते हैं; देवि ! ऐसे लोग मृत्युको प्राप्त हो यमदण्डसे दण्डित होकर जब किसी तरह मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं, तब जन्मसे ही दास होते हैं और उन्हीं-की सेवा करते हैं, जिनका धन उन्होंने पूर्वजन्ममें हर लिया है। जबतक उनके पापका भोग समाप्त नहीं हो जाता, तबतक वे दासकर्म ही करते रहते हैं, यही शास्त्रका निश्चय है ॥

पशुभूतास्तथा चान्ये भवन्ति धनहारकाः।
तत् तथा क्षीयते कर्म तेषां पूर्वापराधजम् ॥

पराये धनका अपहरण करनेवाले दूसरे लोग पशु होकर भी धनीकी सेवा करते हैं। ऐसा करनेसे उनका पूर्वापराध-जनित कर्म क्षीण होता है ॥

किंतु मोक्षविधिस्तेषां सर्वथा तत्प्रसादनम्।
अयथावन्मोक्षकामः पुनर्जन्मनि चेष्यते ॥

सब प्रकारसे उस धनके स्वामीको प्रसन्न कर लेना ही उसके ऋणसे छुटकारा पानेका उपाय है, किंतु जो यथावत् रूपसे उस ऋणसे छूटना नहीं चाहता, उसे पुनर्जन्म लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है ॥

मोक्षकामी यथान्यायं कुर्वन् कर्माणि सर्वशः।
भर्तुः प्रसादमाकाङ्क्षेदायासान् सर्वथा सहन् ॥

जो उस बन्धनसे छूटना चाहता हो, वह यथोचित रूपसे सारे काम करता और परिश्रमको सर्वथा सहता हुआ स्वामीको प्रसन्न करनेकी आकाङ्क्षा रखे ॥

प्रीतिपूर्वं तु यो भर्त्रा मुक्तो मुक्तः स पावनः।
तथाभूतान् कर्मकरान् सदा संतोषयेत् पतिः ॥

जिसे स्वामी प्रसन्नतापूर्वक दासताके बन्धनसे मुक्त कर देता है, वह मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है। स्वामीको भी चाहिये कि वह ऐसे सेवकोंको सदा संतुष्ट रखे ॥

यथार्हं कारयेत् कर्म दण्डं कारणतः क्षिपेत्।
वृद्धान् बालांस्तथा क्षीणान् पालयन् धर्ममाप्नुयात् ॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

उनसे यथायोग्य कार्य कराये और विशेष कारणसे ही उन्हें दण्ड दे। जो वृद्धों, बालकों और दुर्बल मनुष्योंका पालन करता है, वह धर्मका भागी होता है। देवि ! यह विषय तुम्हें बताया गया। अब और क्या सुनना चाहती हो ॥

उमोवाच

भगवन् भुवि मर्त्यानां दण्डितानां नरेश्वरैः।
दण्डेनैव कृतेनेह पापनाशो भवेन्न वा ॥
एतन्मया संशयितं तद् भवांश्छेत्तुमर्हति ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस भूतलपर राजा लोग जिन मनुष्योंको दण्ड दे देते हैं, अब उस दण्डसे ही उनके पापोंका नाश हो जाता है या नहीं ? यह मेरा संदेह है। आप इसका निवारण करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वं समाहिता ॥
ये नृपैर्दण्डिता भूमावपराधापदेशतः ।
यमलोके न दण्ड्यन्ते तत्र ते यमदण्डनैः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारा संदेह ठीक है, तुम एकाग्रचित्त होकर इसका यथार्थ उत्तर सुनो। इस भूमिपर राजालोग जिस अपराधका नाम लेकर जिन मनुष्योंको दण्ड दे देते हैं, उसके लिये वे यमलोकमें यमराजके दण्डद्वारा दण्डित नहीं होते हैं ॥

अदण्डिता वा ये तथ्या मिथ्या वा दण्डिता भुवि।
तान् यमो दण्डयत्येव स हि वेद कृताकृतम् ॥

इस पृथ्वीपर जो वास्तविक अपराधी विना दण्ड पाये रह जाते हैं अथवा झूठे ही दूसरे लोग दण्डित हो जाते हैं, उस दशामें यमराज उन वास्तविक अपराधियोंको अवश्य दण्ड देते हैं; क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि किसने अपराध किया है और किसने नहीं किया है ॥

नातिक्रमेद् यमं कश्चित् कर्म कृत्वेह मानुषः ।
राजा यमश्च कुर्वाते दण्डमात्रं तु शोभने ॥

कोई भी मनुष्य इस लोकमें कर्म करके यमराजको नहीं लाँघ सकता, उसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ता है। शोभने! राजा और यम सबको भरपूर दण्ड देते हैं ॥

नास्ति कर्मफलच्छेत्ता कश्चिल्लोकत्रयेऽपि च ।
इति ते कथितं सर्वं निर्विशङ्का भव प्रिये ॥

तीनों लोकोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो कर्मोंके फलका विना भोगे नाश कर सके। प्रिये! इस विषयमें तुम्हें सारी बातें बता दीं। अब संदेहरहित हो जाओ ॥

उमोवाच

किमर्थं दुष्कृतं कृत्वा मानुषा भुवि नित्यशः ।
पुनस्तत्कर्मनाशाय प्रायश्चित्तानि कुर्वते ॥

उमाने पूछा—भगवन्! यदि ऐसी बात है तो भूमण्डलके मनुष्य पाप-कर्म करके उसके निवारणके लिये प्रायश्चित्त क्यों करते हैं? ॥

सर्वपापहरं चेति हयमेधं वदन्ति च।
प्रायश्चित्तानि चान्यानि पापनाशाय कुर्वते ॥
तस्मान्मया संशयितं त्वं तच्छेत्तुमिहार्हसि ।

कहते हैं कि अश्वमेधयज्ञ सम्पूर्ण पापोंको हर लेनेवाला है। लोग दूसरे-दूसरे प्रायश्चित्त भी पापोंका नाश करनेके लिये ही करते हैं। (इधर आप कहते हैं कि तीनों लोकोंमें कोई कर्मफलका नाश करनेवाला है ही नहीं) अतः इस विषयमें मुझे संदेह हो गया है। आप मेरे इस संदेहका निवारण करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वं समाहिता ।
संशयो हि महानेव पूर्वेषां च मनीषिणाम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! तुमने ठीक संशय उपस्थित किया है। अब एकाग्रचित्त होकर इसका वास्तविक उत्तर सुनो। पहलेके महर्षियोंके मनमें भी यह महान् संदेह बना रहा है ॥

द्विधा तु क्रियते पापं सद्भिश्चासद्भिरेव च।
अभिसंधाय वा नित्यमन्यथा वा यदृच्छया ॥

सज्जन हों या असज्जन, सभीके द्वारा दो प्रकारका पाप बनता है, एक तो वह पाप है, जिसे सदा किसी उद्देश्यको मनमें लेकर जान-बूझकर किया जाता है और दूसरा वह है, जो अकस्मात् दैवेच्छासे विना जाने ही बन जाता है ॥

केवलं चाभिसंधाय संरम्भाच्च करोति यत्।
कर्मणस्तस्य नाशस्तु न कथंचन विद्यते ॥

जो उद्देश्य-सिद्धिकी कामना रखकर क्रोधपूर्वक कोई असत् कर्म करता है, उसके उस कर्मका किसी तरह नाश नहीं होता है ॥

अभिसंधिकृतस्यैव नैव नाशोऽस्ति कर्मणः।
अश्वमेधसहस्रैश्च प्रायश्चित्तशतैरपि ॥
अन्यथा यत् कृतं पापं प्रमादाद् वा यदृच्छया।
प्रायश्चित्ताश्वमेधाभ्यां श्रेयसा तत् प्रणश्यति ॥

फलाभिसन्धिपूर्वक किये गये कर्मोंका नाश सहस्रों अश्वमेध यज्ञों और सैकड़ों प्रायश्चित्तोंसे भी नहीं होता। इसके सिवा और प्रकारसे—असावधानी या दैवेच्छासे जो पाप बन जाता है, वह प्रायश्चित्त और अश्वमेधयज्ञसे तथा दूसरे किसी श्रेष्ठ कर्मसे नष्ट हो जाता है ॥

विद्धयेवं पापके कार्ये निर्विशंका भव प्रिये।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

प्रिये! इस प्रकार पाप कर्मके विषयमें तुम्हारा यह संदेह अब दूर हो जाना चाहिये। देवि! यह विषय मैंने तुम्हें बताया। अब और क्या सुनना चाहती हो? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश मानुषाश्चेतरा अपि।
म्रियन्ते मानुषा लोके कारणाकारणादपि ॥
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! जगत्के मनुष्य तथा दूसरे प्राणी, जो किसी कारणसे या अकारण भी मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं, इसमें कौन-सा कर्मविपाक कारण है? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ये पुरा मनुजा देवि कारणाकारणादपि।
यथासुभिर्वियुज्यन्ते प्राणिनः प्राणिनिर्दयाः ॥
तथैव ते प्राप्नुवन्ति यथैवात्मकृतं फलम्।
विषदास्तु विषेणैव शस्त्रैः शस्त्रेण घातकाः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो निर्दयी मनुष्य पहले किसी कारणसे या अकारण भी दूसरे प्राणियोंके प्राण लेते हैं, वे उसी प्रकार अपनी करनीका फल पाते हैं। विष देनेवाले विषसे ही मरते हैं और शस्त्रद्वारा दूसरोंकी हत्या करनेवाले लोग स्वयं भी जन्मान्तरमें शस्त्रोंके आघातसे ही मारे जाते हैं ॥

इति सत्यं प्रजानीहि लोके तत्र विधिं प्रति।
कर्मकर्ता नरोऽभोक्ता स नास्ति दिवि वा भुवि।

तुम इसीको सत्य समझो। कर्म करनेवाला मनुष्य उन कर्मोंका फल न भोगे, ऐसा कोई पुरुष न इस पृथ्वीपर है न स्वर्गमें ॥

न शक्यं कर्म चाभोक्तुं सदेवासुरमानुषैः ॥
कर्मणा ग्रथितो लोक आदिप्रभृति वर्तते।

देवता, असुर और मनुष्य कोई भी अपने कर्मोंका फल भोगे बिना नहीं रह सकता। आदिकालसे ही यह संसार कर्मसे गुँथा हुआ है ॥

एतदुद्देशतः प्रोक्तं कर्मपाकफलं प्रति ॥
यदन्यच्च मया नोक्तं यस्मिंस्ते कर्मसंग्रहे।
बुद्धितर्केण तत् सर्वं तथा वेदितुमर्हसि ॥
कथितं श्रोतुकामाया भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

कर्मोंके परिणामके विषयमें ये बातें संक्षेपसे बतायी गयी हैं। कर्मसंचयके विषयमें जो बात मैंने अबतक नहीं कही हो, उसे भी तुम्हें अपनी बुद्धिद्वारा तर्क--ऊहापोह करके जान लेना चाहिये। तुम्हें सुननेकी इच्छा थी, इसलिये मैंने ये सारी बातें बतायीं। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न मानुषाणां विचेष्टितम्।
सर्वमात्मकृतं चेति श्रुतं मे भगवन्मतम् ॥
लोके ग्रहकृतं सर्वं मत्वा कर्म शुभाशुभम्।
तदेव ग्रहनक्षत्रं प्रायशः पर्युपासते ॥
एष मे संशयो देव तं मे त्वं छेत्तुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! भगनेत्रनाशन! आपका मत है कि मनुष्योंकी जो भली-बुरी अवस्था है, वह सब उनकी अपनी ही करनीका फल है। आपके इस मतको मैंने अच्छी तरह सुना; परंतु लोकमें यह देखा जाता है कि लोग समस्त शुभाशुभ कर्मफलको ग्रहजनित मानकर प्रायः उन ग्रह-नक्षत्रोंकी ही आराधना करते रहते हैं। क्या उनकी यह मान्यता ठीक है? देव! यही मेरा संशय है। आप मेरे इस संदेहका निवारण कीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि शृणु तत्त्वविनिश्चयम् ॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः।
मानवानां महाभागे न तु कर्मकराः स्वयम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! तुमने उचित संदेह उपस्थित किया है। इस विषयमें जो सिद्धान्त मत है, उसे सुनो। महाभागे! ग्रह और नक्षत्र मनुष्योंके शुभ और अशुभकी सूचनामात्र देनेवाले हैं। वे स्वयं कोई काम नहीं करते हैं ॥

प्रजानां तु हितार्थाय शुभाशुभविधिं प्रति।
अनागतमतिक्रान्तं ज्योतिश्चक्रेण बोध्यते ॥

प्रजाके हितके लिये ज्यौतिषचक्र (ग्रह-नक्षत्र मण्डल) के द्वारा भूत और भविष्यके शुभाशुभ फलका बोध कराया जाता है ॥

किंतु तत्र शुभं कर्म सुग्रहैस्तु निवेद्यते।
दुष्कृतस्याशुभैरेव समवायो भवेदिति ॥

किंतु वहाँ शुभ कर्मफलकी सूचना उत्तम (शुभ) ग्रहोंद्वारा प्राप्त होती है और दुष्कर्मके फलकी सूचना अशुभ ग्रहोंद्वारा ॥

केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्।
सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादो ग्रहा इति ॥

केवल ग्रह और नक्षत्र ही शुभाशुभ कर्मफलको उपस्थित नहीं करते हैं। सारा अपना ही किया हुआ कर्म शुभाशुभ फलका उत्पादक होता है। ग्रहोंने कुछ किया है—यह कथन लोगोंका प्रवादमात्र है ॥

उमोवाच

भगवन् विविधं कर्म कृत्वा जन्तुः शुभाशुभम्।
किं तयोः पूर्वकतरं भुङ्क्ते जन्मान्तरे पुनः ॥
एष मे संशयो देव तं मे त्वं छेत्तुमर्हसि।

उमाने पूछा—भगवन्! जीव नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करके जब दूसरा जन्म धारण करता है, तब दोनोंमेंसे पहले किसका फल भोगता है, शुभका या अशुभका? देव! यह मेरा संशय है। आप इसे मिटा दीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थाने संशयितं देवि तत् ते वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥
अशुभं पूर्वमित्याहुरपरे शुभमित्यपि।
मिथ्या तदुभयं प्रोक्तं केवलं तद् ब्रवीमि ते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! तुम्हारा संदेह उचित ही है, अब मैं तुम्हें इसका यथार्थ उत्तर देता हूँ। कुछ लोगोंका कहना है कि पहले अशुभ कर्मका फल मिलता है, दूसरे कहते हैं कि पहले शुभ कर्मका फल प्राप्त होता है। परंतु ये दोनों ही बातें मिथ्या कही गयी हैं। सच्ची बात क्या है ? यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥

भुञ्जानाश्चापि दृश्यन्ते क्रमशो भुवि मानवाः।
ऋद्धिं हानिं सुखं दुःखं तत् सर्वमभयं भयम् ॥

इस पृथ्वीपर मनुष्य क्रमशः दोनों प्रकारके फल भोगते देखे जाते हैं। कभी धनकी वृद्धि होती है कभी हानि, कभी सुख मिलता है कभी दुःख, कभी निर्भयता रहती है और कभी भय प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी फल क्रमशः भोगने पड़ते हैं ॥

दुःखान्यनुभवन्त्याढ्या दरिद्राश्च सुखानि च।
यौगपद्याद्धि भुञ्जाना दृश्यन्ते लोकसाक्षिकम् ॥

कभी धनाढ्य लोग दुःखका अनुभव करते हैं और कभी दरिद्र भी सुख भोगते हैं। इस प्रकार एक ही साथ लोग शुभ और अशुभका भोग करते देखे जाते हैं। सारा जगत् इस बातका साक्षी है ॥

नरके स्वर्गलोके च न तथा संस्थितिः प्रिये।
नित्यं दुःखं हि नरके स्वर्गे नित्यं सुखं तथा ॥

प्रिये ! किंतु नरक और स्वर्गलोकमें ऐसी स्थिति नहीं है। नरकमें सदा दुःख ही दुःख है और स्वर्गमें सदा सुख ही सुख ॥

तत्रापि सुमहद् भुक्त्वा पूर्वमल्पं पुनः शुभे।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

शुभे ! वहाँ भी शुभ या अशुभमेंसे जो बहुत अधिक होता है, उसका भोग पहले और जो बहुत कम होता है, उसका भोग पीछे होता है। ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दीं, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् प्राणिनो लोके म्रियन्ते केन हेतुना।
जाता जाता न तिष्ठन्ति तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस लोकमें प्राणी किस कारणसे मर जाते हैं ? जन्म ले-लेकर वे यहीं बने क्यों नहीं रहते हैं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सत्यं समाहिता।
आत्मा कर्मक्षयाद् देहं यथा मुञ्चति तच्छृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! इस विषयमें जो यथार्थ बात है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ। कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर आत्मा इस शरीरको कैसे छोड़ता है ? यह एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

शरीरात्मसमाहारो जन्तुरित्यभिधीयते।
तत्रात्मानं नित्यमाहुरनित्यं क्षेत्रमुच्यते ॥

शरीर और आत्माका (जड और चेतनका) जो संयोग है, उसीको जीव या प्राणी कहते हैं। इनमें आत्माको नित्य और शरीरको अनित्य बताया जाता है ॥

एवं कालेन संक्रान्तं शरीरं जर्जरीकृतम्।
अकर्मयोग्यं संशीर्णं त्यक्त्वा देही ततो व्रजेत् ॥

जब कालसे आक्रान्त होकर शरीर जरावस्थासे जर्जर हो जाता है, कोई कर्म करने योग्य नहीं रह जाता और सर्वथा गल जाता है, तब देहधारी जीव उसे त्यागकर चल देता है ॥

नित्यस्यानित्यसंत्यागाल्लोके तन्मरणं विदुः।
कालं नातिक्रमेरन् हि सदेवासुरमानवाः ॥

नित्य जीवात्मा जब अनित्य शरीरको त्यागकर चला जाता है, तब लोकमें उस प्राणीकी मृत्यु हुई मानी जाती है। देवता, असुर और मनुष्य कोई भी कालका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥

यथाऽऽकाशे न तिष्ठेत द्रव्यं किंचिदचेतनम्।
तथा धावति कालोऽयं क्षणं किंचिन्न तिष्ठति ॥

जैसे आकाशमें कोई भी जड द्रव्य स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार यह काल निरन्तर दौड़ लगाता रहता है। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता ॥

स पुनर्जायतेऽन्यत्र शरीरं नवमाविशन्।
एवं लोकगतिर्नित्यमादिप्रभृति वर्तते ॥

वह जीव फिर किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश करके अन्यत्र जन्म लेता है। इस प्रकार आदि कालसे ही लोककी सदा ऐसी ही गति चल रही है ॥

उमोवाच

भगवन् प्राणिनो बाला दृश्यन्ते मरणं गताः।
अतिवृद्धाश्च जीवन्तो दृश्यन्ते चिरजीविनः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! इस संसारमें बाल्यावस्थामें भी प्राणियोंकी मृत्यु होती देखी जाती है और अत्यन्त वृद्ध मनुष्य भी चिरजीवी होकर जीवित दिखायी देते हैं ॥

केवलं कालमरणं न प्रमाणं महेश्वर।
तस्मान्मे संशयं ब्रूहि प्राणिनां जीवकारणम् ॥

महेश्वर ! केवल काल-मृत्यु अर्थात् वृद्धावस्थामें ही मृत्यु होनेकी बात प्रमाणभूत नहीं रह गयी है; अतः प्राणियोंके जीवनके लिये उठे हुए मेरे इस संदेहका आप निवारण कीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु तत् कारणं देवि निर्णयस्त्वेक एव सः।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! इसका कारण सुनो। इस विषयमें एक ही निर्णय है॥

यावत् पूर्वकृतं कर्म तावज्जीवति मानवः।
तत्र कर्मवशाद् बाला म्रियन्ते कालसंक्षयात्॥
चिरं जीवन्ति वृद्धाश्च तथा कर्मप्रमाणतः।
इति ते कथितं देवि निर्विशङ्का भव प्रिये॥

जबतक पूर्वकृत कर्म (प्रारब्ध) शेष है, तबतक मनुष्य जीवित रहता है। उसी कर्मके अधीन होकर प्रारब्ध भोगका काल समाप्त होनेपर बालक भी मर जाते हैं और उसी कर्मकी मात्राके अनुसार वृद्ध पुरुष भी दीर्घकालतक जीवित रहते हैं। देवि! यह सब विषय तुम्हें बताया गया। प्रिये! इस विषयमें अब तुम संशयरहित हो जाओ॥

उमोवाच

भगवन् केन वृत्तेन भवन्ति चिरजीविनः।
अल्पायुषो नराः केन तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—भगवन्! किस आचरणसे मनुष्य चिरजीवी होते हैं और किससे अल्पायु हो जाते हैं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु तत् सर्वमखिलं गुह्यं पथ्यतरं नृणाम्।
येन वृत्तेन सम्पन्ना भवन्ति चिरजीविनः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! यह सारा गूढ़ रहस्य मनुष्योंके लिये परम लाभदायक है। जिस आचरणसे सम्पन्न मनुष्य चिरजीवी होते हैं, वह सब सुनो॥

अहिंसा सत्यवचनमक्रोधः क्षान्तिरार्जवम्।
गुरूणां नित्यशुश्रूषा वृद्धानामपि पूजनम्॥
शौचादकार्यसंत्यागः सदा पथ्यस्य भोजनम्।
एवमादिगुणं वृत्तं नराणां दीर्घजीविनाम्॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधका त्याग, क्षमा, सरलता, गुरुजनोंकी नित्य सेवा, बड़े-बूढ़ोंका पूजन, पवित्रताका ध्यान रखकर न करनेयोग्य कर्मोंका त्याग, सदा ही पथ्य भोजन इत्यादि गुणोंवाला आचार दीर्घजीवी मनुष्योंका है॥

तपसा ब्रह्मचर्येण रसायननिषेवणात्।
उदग्रसत्त्वा बलिनो भवन्ति चिरजीविनः॥

तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा रसायनके सेवनसे मनुष्य अधिक धैर्यशाली, बलवान् और चिरजीवी होते हैं॥

स्वर्गे वा मानुषे वापि चिरं तिष्ठन्ति धार्मिकाः॥
अपरे पापकर्माणः प्रायशोऽनृतवादिनः।
हिंसाप्रिया गुरुद्विष्टा निष्क्रियाः शौचवर्जिताः॥
नास्तिका घोरकर्माणः सततं मांसपानपाः।
पापाचारा गुरुद्विष्टाः कोपनाः कलहप्रियाः॥
एवमेवाशुभाचारास्तिष्ठन्ति निरये चिरम्।
तिर्यग्योनौ तथात्यन्तमल्पास्तिष्ठन्ति मानवाः॥

धर्मात्मा पुरुष स्वर्गमें हो या मनुष्यलोकमें, वे दीर्घकालतक अपने पदपर बने रहते हैं। इनके सिवा दूसरे जो पापकर्मी प्रायः झूठ बोलनेवाले, हिंसाप्रेमी, गुरुद्रोही, अकर्मण्य, शौचाचारसे रहित, नास्तिक, घोरकर्मी, सदा मांस खाने और मद्य पीनेवाले, पापाचारी, गुरुसे द्वेष रखनेवाले, क्रोधी और कलहप्रेमी हैं, ऐसे असदाचारी पुरुष चिरकालतक नरकमें पड़े रहते हैं तथा तिर्यग्योनिमें स्थित होते हैं, वे मनुष्य शरीरमें अत्यन्त अल्प समयतक ही रहते हैं॥

तस्मादल्पायुषो मर्त्यास्तादृशाः सम्भवन्ति ते॥
अगम्यदेशगमनादपथ्यानां च भोजनात्।
आयुःक्षयो भवेन्नृणामायुःक्षयकरा हि ते॥

इसीलिये ऐसे मनुष्य अल्पायु होते हैं। अगम्य स्थानोंमें जानेसे, अपथ्य वस्तुओंका भोजन करनेसे मनुष्योंकी आयु क्षीण होती है, क्योंकि वे आयुका नाश करनेवाले हैं॥

भवन्त्यल्पायुषस्तैस्तैरन्यथा चिरजीविनः।
एतत् ते कथितं सर्वं भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

ऊपर बताये हुए कारणोंसे मनुष्य अल्पायु होते हैं, अन्यथा चिरजीवी होते हैं। यह सारा विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

देवदेव महादेव श्रुतं मे भगवन्निदम्।
आत्मनो जातिसम्बन्धं ब्रूहि स्त्रीपुरुषान्तरे॥

उमाने पूछा—देवदेव! महादेव! भगवन्! यह विषय तो मैंने अच्छी तरह सुन लिया। अब यह बताइये कि आत्माका स्त्री या पुरुषमेंसे किस जातिके साथ सम्बन्ध है?॥

स्त्रीप्राणः पुरुषप्राण एकः स पृथगेव वा।
एष मे संशयो देव तं मे छेत्तुं त्वमर्हसि॥

जीवात्मा स्त्री-रूप है या पुरुषरूप? एक है या अलग-अलग? देव! यह मेरा संशय है। आप इसका निवारण करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

निर्विकारः सदैवात्मा स्त्रीत्वं पुंस्त्वं न चात्मनि।
कर्मप्रकारेण तथा जात्यां जात्यां प्रजायते॥
कृत्वा तु पौरुषं कर्म स्त्री पुमानपि जायते।
स्त्रीभावयुक् पुमान् कृत्वा कर्मणा प्रमदा भवेत्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जीवात्मा सदा ही निर्विकार है। वह न स्त्री है न पुरुष। वह कर्मके अनुसार विभिन्न जातियोंमें जन्म लेता है। पुरुषोचित कर्म करके स्त्री भी पुरुष हो सकती है और स्त्री-भावनासे युक्त पुरुष तदनुरूप कर्म करके उस कर्मके अनुसार स्त्री हो सकता है॥

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश कर्मात्मा न करोति चेत्।
कोऽन्यः कर्मकरो देहे तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥

उमाने पूछा-भगवन्! सर्वलोकेश्वर! यदि आत्मा कर्म नहीं करता तो शरीरमें दूसरा कौन कर्म करनेवाला है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु भामिनि कर्तारमात्मा हि न च कर्मकृत्।
प्रकृत्या गुणयुक्तेन क्रियते कर्म नित्यशः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि! कर्ता कौन है? यह सुनो। आत्मा कर्म नहीं करता है। प्रकृतिके गुणोंसे युक्त प्राणीद्वारा ही सदा कर्म किया जाता है॥

शरीरं प्राणिनां लोके यथा पित्तकफानिलैः।
व्याप्तमेभिस्त्रिभिर्दोषैस्तथा व्याप्तं त्रिभिर्गुणैः॥

जगत्‌में प्राणियोंका शरीर जैसे वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषोंसे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार प्राणी सत्त्व, रज और तम-इन गुणोंसे व्याप्त होता है॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्त्वेते शरीरिणः।
प्रकाशात्मकमेतेषां सत्त्वं सततमिष्यते॥
रजो दुःखात्मकं तत्र तमो मोहात्मकं स्मृतम्।
त्रिभिरेतैर्गुणैर्युक्तं लोके कर्म प्रवर्तते॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों शरीरधारीके गुण हैं। इनमेंसे सत्त्व सदा प्रकाशस्वरूप माना गया है। रजोगुण दुःखरूप और तमोगुण मोहरूप बताया गया है। लोकमें इन तीनों गुणोंसे युक्त कर्मकी प्रवृत्ति होती है॥

सत्यं प्राणिदया शौचं श्रेयः प्रीतिः क्षमा दमः।
एवमादि तथान्यच्च कर्म सात्त्विकमुच्यते॥

सत्यभाषण, प्राणियोंपर दया, शौच, श्रेय, प्रीति, क्षमा और इन्द्रिय-संयम—ये तथा ऐसे ही अन्य कर्म भी सात्त्विक कहलाते हैं॥

दाक्ष्यं कर्मपरत्वं च लोभो मोहो विधिं प्रति।
कलत्रसङ्गो माधुर्यं नित्यमैश्वर्यलुब्धता॥
रजसश्चोद्भवं चैतत् कर्म नानाविधं सदा॥

दक्षता, कर्मपरायणता, लोभ, विधिके प्रति मोह, स्त्री-सङ्ग, माधुर्य तथा सदा ऐश्वर्यका लोभ—ये नाना प्रकारके भाव और कर्म रजोगुणसे प्रकट होते हैं॥

अनृतं चैव पारुष्यं धृतिर्विद्वेषिता भृशम्।
हिंसासत्यं च नास्तिक्यं निद्रालस्यभयानि च॥
तमसश्चोद्भवं चैतत् कर्म पापयुतं तथा॥

असत्यभाषण, रूखापन, अत्यन्त अधीरता, हिंसा, असत्य, नास्तिकता, निद्रा, आलस्य और भय—ये तथा पापयुक्त कर्म तमोगुणसे प्रकट होते हैं॥

तस्माद् गुणमयः सर्वः कार्यारम्भः शुभाशुभः।
तस्मादात्मानमव्यग्रं विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

इसलिये समस्त शुभाशुभ कार्यारम्भ गुणमय है, अतः आत्माको व्यग्रतारहित, अकर्ता और अविनाशी समझो॥

सात्त्विकाः पुण्यलोकेषु राजसा मानुषे पदे।
तिर्यग्योनौ च नरके तिष्ठेयुस्तामसा नराः॥

सात्त्विक मनुष्य पुण्यलोकोंमें जाते हैं। राजस जीव मनुष्यलोकमें स्थित होते हैं तथा तमोगुणी मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिमें और नरकमें स्थित होते हैं॥

उमोवाच

किमर्थमात्मा भिन्नेऽस्मिन् देहे शस्त्रेण वा हते।
स्वयं प्रयास्यति तदा तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—इस शरीरके भेदनसे अथवा शस्त्रद्वारा मारे जानेसे आत्मा स्वयं ही क्यों चला जाता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम्।
एतन्नैर्मापिकैश्चापि मुह्यन्ते सूक्ष्मबुद्धिभिः॥

श्रीमहेश्वरने कहा-कल्याणि! इसका कारण मैं बताता हूँ, सुनो। इस विषयमें सूक्ष्म बुद्धिवाले विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

कर्मक्षये तु सम्प्राप्ते प्राणिनां जन्मधारिणाम्।
उपद्रवो भवेद् देहे येन केनापि हेतुना॥
तन्निमित्तं शरीरी तु शरीरं प्राप्य संक्षयम्।
अपयाति परित्यज्य ततः कर्मवशेन सः॥

जन्मधारी प्राणियोंके कर्मोंका क्षय हो जानेपर इस देहमें जिस किसी भी कारणसे उपद्रव होने लगता है। उसके कारण शरीरका क्षय हो जानेपर देहाभिमानी जीव कर्मके अधीन हो उस शरीरको त्यागकर चला जाता है॥

देहः क्षयति नैवात्मा वेदनाभिर्न चाल्यते।
तिष्ठेत् कर्मफलं यावद् व्रजेत् कर्मक्षये पुनः॥

शरीर क्षीण होता है, आत्मा नहीं। वह वेदनाओंसे भी विचलित नहीं होता। जबतक कर्मफल शेष रहता है, तबतक

जीवात्मा इस शरीरमें स्थित रहता है और कर्मोंका क्षय होनेपर पुनः चला जाता है ॥

आदिप्रभृति लोकेऽस्मिन्नेवमात्मगतिः स्मृता ।
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

आदिकालसे ही इस जगत्‌में आत्माकी ऐसी ही गति मानी गयी है । देवि ! यह सब विषय तुम्हें बताया गया । अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[प्राणियोंके चार भेदोंका निरूपण, पूर्वजन्मकी स्मृतिका रहस्य, मरकर फिर लौटनेमें कारण स्वप्नदर्शन, दैव और पुरुषार्थ तथा पुनर्जन्मका विवेचन]

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश कर्मणैव शुभाशुभम् ।
यथायोगं फलं जन्तुः प्राप्नोतीति विनिश्चयः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! जीव अपने कर्मसे ही यथायोग्य शुभाशुभ फल पाता है यह निश्चय हुआ ॥

परेषां विप्रियं कुर्वन् यथा सम्प्राप्नुयाच्छुभम् ।
यदेतदस्मिश्चेद् देहे तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

दूसरोंका अप्रिय करके भी इस शरीरमें स्थित हुआ जीवात्मा किस प्रकार शुभ फल पाता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदप्यस्ति महाभागे अभिसंधिबलान्नृणाम् ।
हितार्थं दुःखमन्येषां कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे ! ऐसा भी होता है कि शुभ संकल्पके बलसे मनुष्योंके हितके लिये उन्हें दुःख देकर भी पुरुष सुख प्राप्त कर सके ॥

दण्डयन् भर्त्सयन् राजा प्रजाः पुण्यमवाप्नुयात् ।
गुरुः संतर्जयञ्शिष्यान् भर्ता भृत्यजनान् स्वकान् ॥

राजा प्रजाको अपराधके कारण दण्ड देता और फटकारता है तो भी वह पुण्यका ही भागी होता है । गुरु अपने शिष्योंको और स्वामी अपने सेवकोंको उनके सुधारके लिये यदि डाँटता-फटकारता है तो इससे सुखका ही भागी होता है ॥

उन्मार्गप्रतिपन्नांश्च शास्ता धर्मफलं लभेत् ॥
चिकित्सकश्च दुःखानि जनयन् हितमाप्नुयात् ।

जो कुमार्गपर चल रहे हों, उनका शासन करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है । चिकित्सक रोगीकी चिकित्सा करते समय उसे कष्ट ही देता है तथापि रोग मिटानेका प्रयत्न करनेके कारण वह हितका ही भागी होता है ॥

एवमन्ये सुमनसो हिंसकाः स्वर्गमाप्नुयुः ॥
एकस्मिन् निहते भद्रे बहवः सुखमाप्नुयुः ।
तस्मिन् हते भवेद् धर्मः कुत एव तु पातकम् ॥

इस प्रकार दूसरे लोग भी यदि शुद्ध हृदयसे किसीको कष्ट पहुँचाते हैं तो स्वर्गलोकमें जाते हैं । भद्रे ! जहाँ किसी एक दुष्टके मारे जानेपर बहुत-से सत्पुरुषोंको सुख प्राप्त होता हो तो उसके मारनेपर पातक क्या लगेगा, उलटे धर्म होता है ॥

अभिसंधेरजिह्मत्वाच्छुद्धे धर्मस्य गौरवात् ।
एतत् कृत्वा तु पापेभ्यो न दोषं प्राप्नुयुः क्वचित् ॥

यदि उद्देश्य कुटिलतापूर्ण न हो, अपितु धर्मके गौरवसे शुद्ध हो तो पापियोंके प्रति ऐसा व्यवहार करके भी कहीं दोषकी प्राप्ति नहीं होती ॥

उमोवाच

चतुर्विधानां जन्तूनां कथं ज्ञानमिह स्मृतम् ।
कृत्रिमं तत्स्वभावं वा तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—इस जगत्‌में रहनेवाले चार प्रकारके प्राणियोंको कैसे ज्ञान प्राप्त होता है ? वह कृत्रिम है या स्वाभाविक ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्थावरं जङ्गमं चेति जगद् द्विविधमुच्यते ।
चतस्रो योनयस्तत्र प्रजानां क्रमशो यथा ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! यह जगत् स्थावर और जङ्गमके भेदसे दो प्रकारका पाया जाता है ! इसमें प्रजाकी क्रमशः चार योनियाँ हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ॥

तेषामुद्भिदजा वृक्षा लतावल्ल्यश्च वीरुधः ।
दंशयूकादयश्चान्ये स्वेदजाः कृमिजातयः ॥

इनमेंसे वृक्ष, लता, वल्ली और तृण आदि उद्भिज कहलाते हैं । डाँस और जूँ आदि कीट जातिके प्राणी स्वेदज कहे गये हैं ॥

पक्षिणश्छिद्रकर्णाश्च प्राणिनस्त्वण्डजा मताः ।
मृगव्यालमनुष्यांश्च विद्धि तेषां जरायुजान् ॥

जिनके पंख होते हैं और कानके स्थानमें एक छिद्र मात्र होता है, ऐसे प्राणी अण्डज माने गये हैं । पशु, व्याल (हिंसक जन्तु बाघ, चीते आदि)और मनुष्य—इनको जरायुज समझो ॥

एवं चतुर्विधां जातिमात्मा संसृत्य तिष्ठति ॥

इस तरह आत्मा इन चार प्रकारकी जातियोंका आश्रय लेकर रहता है ॥

तथा भूम्यम्बुसंयोगाद् भवन्त्युद्भिदजाः प्रिये ।
शीतोष्णयोस्तु संयोगाज्जायन्ते स्वेदजाः प्रिये॥

प्रिये ! पृथ्वी और जलके संयोगसे उद्भिज्ज प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है तथा स्वेदज जीव सर्दी और गर्मीके संयोगसे जीवन ग्रहण करते हैं ॥

अण्डजाश्चापि जायन्ते संयोगात् क्लेदबीजयोः ।
शुक्रशोणितसंयोगात् सम्भवन्ति जरायुजाः ॥
जरायुजानां सर्वेषां मानुषं पदमुत्तमम् ॥

क्लेद और बीजके संयोगसे अण्डज प्राणियोंका जन्म होता है और जरायुज प्राणी रज-वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। समस्त जरायुजोंमें मनुष्यका स्थान सबसे ऊँचा है ॥

अतः परं तमोत्पत्तिं श्रृणु देवि समाहिता ।
द्विविधं हि तमो लोके शार्वरं देहजं तथा ॥

देवि ! अब एकाग्रचित्त होकर तमकी उत्पत्ति सुनो । लोकमें दो प्रकारका तम बताया गया है—रात्रिका और देहजनित ॥

ज्योतिर्भिश्च तमो लोके नाशं गच्छति शार्वरम् ।
देहजं तु तमो लोके तैः समस्तैर्न शाम्यति ॥

लोकमें ज्योति या तेजके द्वारा रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है; परंतु जो देहजनित तम है, वह सम्पूर्ण ज्योतियोंके प्रकाशित होनेपर भी नहीं शान्त होता ॥

तमसस्तस्य नाशार्थं नोपायमधिजग्मिवान् ।
तपश्चचार विपुलं लोककर्ता पितामहः ॥

लोककर्ता पितामह ब्रह्माजीको जब उस तमका नाश करनेके लिये कोई उपाय नहीं सूझा, तब वे बड़ी भारी तपस्या करने लगे ॥

चरतस्तु समुद्भूता वेदाः साङ्गाः सहोत्तराः ।
ताँल्लब्ध्वा मुमुदे ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥
देहजं तत् तमो घोरं वेदैरेव विनाशितम् ॥

तपस्या करते समय उनके मुखसे छहों अङ्गों और उपनिषदोंसहित चारों वेद प्रकट हुए । उन्हें पाकर ब्रह्माजी बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने लोकोंके हितकी कामनासे वेदोंके ज्ञानद्वारा ही उस देहजनित घोर तमका नाश किया ॥

कार्याकार्यमिदं चेति वाच्यावाच्यमिदं त्विति ।
यदि चेन्न भवेल्लोके श्रुतं चारित्रदैशिकम् ॥
पशुभिर्निर्विशेषं तु चेष्टन्ते मानुषा अपि ॥

यह वेदज्ञान कर्तव्य और अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाला है, वाच्य और अवाच्यका बोध करानेवाला है । यदि संसारमें सदाचारकी शिक्षा देनेवाली श्रुति न हो तो मनुष्य भी पशुओंके समान ही मनमानी चेष्टा करने लगें ॥

यज्ञादीनां समारम्भः श्रुतेनैव विधीयते ।
यज्ञस्य फलयोगेन देवलोकः समृद्ध्यते ॥

वेदोंके द्वारा ही यज्ञ आदि कर्मोंका आरम्भ किया जाता है । यज्ञफलके संयोगसे देवलोककी समृद्धि बढ़ती है ॥

प्रीतियुक्ताः पुनर्देवा मानुषाणां भवन्त्युत ।
एवं नित्यं प्रवर्धेते रोदसी च परस्परम् ॥

इससे देवता मनुष्योंपर प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार पृथ्वी और स्वर्गलोक दोनों एक-दूसरेकी उन्नतिमें सदा सहयोगी होते हैं ॥

लोकसंधारणं तस्माच्छ्रुतमित्यवधारय ।
ज्ञानाद् विशिष्टं जन्तूनां नास्ति लोकत्रयेऽपि च ॥

अतः तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि वेद ही धर्मकी प्रवृत्तिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाला है । जीवोंके लिये इस त्रिलोकीमें ज्ञानसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥

सम्प्रगृह्य श्रुतं सर्वं कृतकृत्यो भवत्युत ।
उपर्युपरि मर्त्यानां देववत् सम्प्रकाशते ॥

सम्पूर्ण वेदोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके द्विज कृतकृत्य हो जाता है और साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा ऊँची स्थितिमें पहुँचकर देवताके समान प्रकाशित होने लगता है ॥

कामं क्रोधं भयं दर्पमज्ञानं चैव बुद्धिजम् ।
तच्छ्रुतं नुदति क्षिप्रं यथा वायुर्बलाहकान् ॥

जैसे हवा बादलोंको उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार वेदशास्त्रजनित ज्ञान काम, क्रोध, भय, दर्प और बौद्धिक अज्ञानको भी शीघ्र ही दूर कर देता है ॥

अल्पमात्रं कृतो धर्मो भवेज्ज्ञानवता महान् ।
महानपि कृतो धर्मो ह्यज्ञानान्निष्फलो भवेत् ॥

ज्ञानवान् पुरुषके द्वारा किया हुआ थोड़ा-सा धर्म भी महान् बन जाता है और अज्ञानपूर्वक किया हुआ महान् धर्म भी निष्फल हो जाता है ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिज्जातिस्मरणसंयुताः ।
किमर्थमभिजायन्ते जानन्तः पौर्वदैहिकम् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कुछ मनुष्योंको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण होता है । वे किसलिये पूर्व शरीरके वृत्तान्तको जानते हुए जन्म लेते हैं ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणु तत्त्वं समाहिता ॥
ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः ।
तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कंचित् कालं हि तिष्ठति ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं तुम्हें तत्त्वकी बात बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। जो मनुष्य सहसा मृत्युको प्राप्त होकर फिर कहीं सहसा जन्म ले लेते हैं, उनका पुराना अभ्यास या संस्कार कुछ कालतक बना रहता है ॥

तस्माज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः ।
तेषां विवर्धतां संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति ॥
परलोकस्य चास्तित्वे मूढानां कारणं त्विदम् ॥

इसलिये वे लोकमें पूर्वजन्मकी बातोंके ज्ञानसे युक्त होकर जन्म लेते हैं और जातिस्मर (पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाले) कहलाते हैं। फिर ज्यों-ज्यों वे बढ़ने लगते हैं, त्यों-त्यों उनकी स्वप्न-जैसी वह पुरानी स्मृति नष्ट होने लगती है। ऐसी घटनाएँ मूर्ख मनुष्योंको परलोककी सत्तापर विश्वास करानेमें कारण बनती हैं ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचिन्मृता भूत्वापि सम्प्रति ।
निवर्तमाना दृश्यन्ते देहेष्वेव पुनर्नराः ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! कई मनुष्य मरनेके बाद भी फिर उसी शरीरमें लौटते देखे जाते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि कारणं शृणु शोभने ॥
प्राणैर्वियुज्यमानानां बहुत्वात् प्राणिनां क्षये ।
तथैव नामसामान्याद् यमदूता नृणां प्रति ॥
वहन्ति ते कचिन्मोहादन्यं मर्त्यं तु धार्मिकाः ।
निर्विकारं हि तत् सर्वं यमो वेद कृताकृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने ! वह कारण मैं बताता हूँ, सुनो। प्राणी बहुत हैं और मृत्युकाल आनेपर सभीका अपने प्राणोंसे वियोग हो जाता है। धार्मिक यमदूत कभी-कभी कई मनुष्योंके एक ही नाम होनेके कारण मोहवश एकके बदले दूसरे मनुष्यको पकड़ ले जाते हैं, परंतु यमराज निर्विकार भावसे दूतोंके द्वारा किये गये और नहीं किये गये, सभी कार्योंको जानते हैं ॥

तस्मात् संयमनीं प्राप्य यमेनैकेन मोक्षिताः ।
पुनरेवं निवर्तन्ते शेषं भोक्तुं स्वकर्मणः ॥
स्वकर्मण्यसमाप्ते तु निवर्तन्ते हि मानवाः ॥

अतः संयमनीपुरीमें जानेपर भूलसे गये हुए मनुष्यको एकमात्र यमराज फिर छोड़ देते हैं; अतः वे अपने प्रारब्ध कर्मका शेष भाग भोगनेके लिये पुनः लौट आते हैं। वे ही मनुष्य लौटते हैं, जिनका कर्म-भोग समाप्त नहीं हुआ होता है ॥

उमोवाच

भगवन् सुप्तमात्रेण प्राणिनां स्वप्नदर्शनम् ।
किं तत् स्वभावमन्यद् वा तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! सोनेमात्रसे प्राणियोंको स्वप्नका दर्शन होने लगता है। यह उनका स्वभाव है, या और कोई बात है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

सुप्तानां तु मनश्चेष्टा स्वप्न इत्यभिधीयते ।
अनागतमतिक्रान्तं पश्यते संचरन्मनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! सोये हुए प्राणियोंके मनकी जो चेष्टा है, उसीको स्वप्न कहते हैं। स्वप्नमें विचरता हुआ मन भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखता है ॥

निमित्तं च भवेत् तस्मात् प्राणिनां स्वप्नदर्शनम् ।
एतत् ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

अतः उन घटनाओंके देखनेमें प्राणियोंके लिये स्वप्न-दर्शन निमित्त बनता है। देवि ! तुम्हें स्वप्नका विषय बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश लोके कर्मक्रियापथे ।
दैवात् प्रवर्तते सर्वमिति केचिद् व्यवस्थिताः ॥

उमाने कहा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! जगत्‌में दैवकी प्रेरणासे ही सबकी कर्ममार्गमें प्रवृत्ति होती है। ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है ॥

अपरे चेष्टया चेति दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः क्रियाम् ।
पक्षभेदे द्विधा चास्मिन् संशयस्थं मनो मम ॥
तत्त्वं वद महादेव श्रोतुं कौतूहलं हि मे ॥

दूसरे लोग क्रियाको प्रत्यक्ष देखकर ऐसा मानते हैं कि चेष्टासे ही सबकी प्रवृत्ति होती है, दैवसे नहीं। ये दो पक्ष हैं। इनमें मेरा मन संशयमें पड़ जाता है; अतः महादेव ! यथार्थ बात बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता ।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं तुम्हें तत्त्वकी बात बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

लक्ष्यते द्विविधं कर्म मानुषेष्वेव तच्छृणु ।
पुराकृतं तयोरेकमैहिकं त्वितरत् तथा ॥

मनुष्योंमें दो प्रकारका कर्म देखा जाता है, उसे सुनो। इनमें एक तो पूर्वकृत कर्म है और दूसरा इहलोकमें किया गया है ॥

लौकिकं तु प्रवक्ष्यामि दैवमानुषनिर्मितम्।
कृषौ तु दृश्यते कर्म कर्षणं वपनं तथा॥
रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम्।
दैवादसिद्धिश्च भवेद् दुष्कृतं चास्ति पौरुषे॥

अब मैं दैव और मनुष्य दोनोंसे सम्पादित होनेवाले लौकिक कर्मका वर्णन करता हूँ। कृषिमें जो जुताई, बोवाई, रोपनी, कटनी तथा ऐसे ही और भी जो कार्य देखे जाते हैं, वे सब मानुष कहे गये हैं। दैवसे उस कर्ममें सफलता और असफलता होती है। मानुष कर्ममें बुराई भी सम्भव है॥

सुयत्नाल्लभ्यते कीर्तिर्दुर्यत्नादयशस्तथा।
एवं लोकगतिर्देवि आदिप्रभृति वर्तते॥

उत्तम प्रयत्न करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है और बुरे उपायोंके अवलम्बनसे अपयश। देवि! आदिकालसे ही जगत्‌की ऐसी ही अवस्था है॥

रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम्॥
काले वृष्टिः सुवापं च प्ररोहः पंक्तिरेव च।
एवमादि तु यच्चान्यत् तद् दैवतमिति स्मृतम्॥

बीजका रोपना और काटना आदि मनुष्यका काम है; परंतु समयपर वर्षा होना, बोवाईका सुन्दर परिणाम निकलना, बीजमें अङ्कुर उत्पन्न होना और शस्यका श्रेणीबद्ध होकर प्रकट होना इत्यादि कार्य देवसम्बन्धी बताये गये हैं। दैवकी अनुकूलतासे ही इन कार्योंका सम्पादन होता है॥

पञ्चभूतस्थितिश्चैव ज्योतिषामयनं तथा।
अबुद्धिगम्यं यन्मर्त्यैर्हेतुभिर्वा न विद्यते॥
तादृशं कारणं दैवं शुभं वा यदि वेतरत्।
यादृशं चात्मना शक्यं तत् पौरुषमिति स्मृतम्॥

पञ्चभूतोंकी स्थिति, ग्रहनक्षत्रोंका चलना-फिरना तथा जहाँ मनुष्योंकी बुद्धि न पहुँच सके अथवा किन्हीं कारणों या युक्तियोंसे भी समझमें न आ सके—ऐसा कर्म शुभ हो या अशुभ दैव माना जाता है और जिस बातको मनुष्य स्वयं कर सके, उसे पौरुष कहा गया है॥

केवलं फलनिष्पत्तिरेकेन तु न शक्यते।
पौरुषेणैव दैवेन युगपद् ग्रथितं प्रिये॥

केवल दैव या पुरुषार्थसे फलकी सिद्धि नहीं होती। प्रिये! प्रत्येक वस्तु या कार्य एक ही साथ पुरुषार्थ और दैव दोनोंसे ही गुँथा हुआ है॥

तयोः समाहितं कर्म शीतोष्णं युगपत् तथा।
पौरुषं तु तयोः पूर्वमारब्धव्यं विजानता॥
आत्मना तु न शक्यं हि तथा कीर्तिमवाप्नुयात्॥

दैव और पुरुषार्थ दोनोंके समानकालिक सहयोगसे कर्म सम्पन्न होता है। जैसे एक ही कालमें सर्दी और गर्मी दोनों होती हैं, उसी प्रकार एक ही समय दैव और पुरुषार्थ दोनों काम करते हैं। इन दोनोंमें जो पुरुषार्थ है, उसका आरम्भ विज्ञ पुरुषको पहले करना चाहिये। जो अपने-आप होना सम्भव नहीं है, उसको आरम्भ करनेसे मनुष्य कीर्तिका भागी होता है॥

खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा।
तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता॥

जैसे लोकमें भूमि खोदनेसे जल तथा काष्ठका मन्थन करनेसे अग्निकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करनेपर दैवका सहयोग स्वतः प्राप्त हो जाता है॥

नरस्याकुर्वतः कर्म दैवसम्पन्न लभ्यते।
तस्मात् सर्वसमारम्भो दैवमानुषनिर्मितः॥

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, उसको दैवी सहायता नहीं प्राप्त होती; अतः समस्त कार्योंका आरम्भ दैव और पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है॥

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश लोकनाथ वृषध्वज।
नास्त्यात्मा कर्मभोक्तेति मृतो जन्तुर्न जायते॥

उमाने पूछा—भगवन्! सर्वलोकेश्वर! लोकनाथ! वृषध्वज! कर्मोंका फल भोगनेवाले जीवात्मा नामक किसी द्रव्यकी सत्ता नहीं है; इसलिये मरा हुआ जीव फिर जन्म नहीं लेता है॥

स्वभावाज्जायते सर्वं यथा वृक्षफलं तथा।
यथोर्मयः सम्भवन्ति तथैव जगदाकृतिः॥

जैसे वृक्षसे फल पैदा होता है, उसी प्रकार स्वभावसे ही सब कुछ उत्पन्न होता है और जैसे समुद्रसे लहरें प्रकट होती हैं, उसी प्रकार स्वभावसे ही जगत्‌की आकृति प्रकट होती है॥

तपोदानानि यत् कर्म तत्र तद् दृश्यते वृथा।
नास्ति पौनर्भवं जन्म इति केचिद् व्यवस्थिताः॥

तप और दान आदि जो कर्म हैं, वे सब व्यर्थ दिखायी देते हैं, किंतु जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसी कुछ लोगोंकी मान्यता है॥

परोक्षवचनं श्रुत्वा न प्रत्यक्षस्य दर्शनात्।
तत् सर्वं नास्ति नास्तीति संशयस्थास्तथा परे॥
पक्षभेदान्तरे चास्मिंस्तत्त्वं मे वक्तुमर्हसि।
उक्तं भगवता यत् तु तत् तु लोकस्य संस्थितिः॥

शास्त्रोंके परोक्षवादी वचन सुनकर और प्रत्यक्ष दर्शन न होनेसे कितने ही लोग इस संशयमें पड़े रहते हैं कि वह

सब (परलोक) नहीं है, नहीं है। इस पक्षभेदके भीतर यथार्थवाद क्या है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें। भगवन्! आपने जो कुछ बताया है, वही लोककी स्थिति है ॥

नारद उवाच

प्रश्नमेतत् तु पृच्छन्त्या रुद्राण्या परिषत् तदा।
कौतूहलयुता श्रोतुं समाहितमनाभवत् ॥

नारदजी कहते हैं—रुद्राणीके यह प्रश्न उपस्थित करनेपर सारी मुनिमण्डली एकाग्रचित्त होकर इसका उत्तर सुननेके लिये उत्कण्ठित हो गयी ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नैतदस्ति महाभागे यद् वदन्तीह नास्तिकाः।
एतदेवाभिशस्तानां श्रुतविद्वेषिणां मतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे! इस विषयमें नास्तिक लोग जो कुछ कहते हैं, वह ठीक नहीं है। यह तो कलङ्कित शास्त्रद्रोही पुरुषोंका मत है ॥

सर्वमर्थं श्रुतं दृष्टं यत् प्रागुक्तं मया तव।
तदाप्रभृति मर्त्यानां श्रुतमाश्रित्य पण्डिताः ॥
कामान् संछिद्य परिघान् धृत्या वै परमासनाः।
अभियान्त्येव ते स्वर्गं पश्यन्तः कर्मणः फलम् ॥

मैंने पहले तुमसे जो कुछ कहा है, वह सारा विषय शास्त्रसम्मत तथा अनुभूत है। तभीसे मनुष्योंमें जो विद्वान् पुरुष हैं, वे वेद-शास्त्रका आश्रय ले परिघ-जैसी कामनाओंका उच्छेद करके धैर्यपूर्वक उत्तम आसन लगाये ध्यानमग्न रहते हैं, वे कर्मोंका फल प्रत्यक्ष देखते हुए स्वर्ग (ब्रह्म) लोकको ही जाते हैं ॥

एवं श्रद्धाभवं लोके परतः सुमहत् फलम्।
बुद्धिः श्रद्धा च विनयः करणानि हितैषिणाम् ॥

इस प्रकार परलोकमें श्रद्धाजनित महान् फलकी प्राप्ति होती है। जो अपना हित चाहते हैं, उन पुरुषोंके लिये बुद्धि, श्रद्धा और विनय—ये करण (उन्नतिके साधन) हैं ॥

तस्मात् स्वर्गाभिगन्तारः कतिचित् त्वभवन् नराः।
अन्ये करणहीनत्वान्नास्तिक्यं भावमाश्रिताः ॥

अतः कुछ ही लोग उक्त साधनसे सम्पन्न होनेके कारण स्वर्ग आदि पुण्यलोकोंमें जाते हैं। दूसरे लोग उन साधनोंसे हीन होनेके कारण नास्तिकभावका अवलम्बन लेते हैं ॥

श्रुतविद्वेषिणो मूर्खा नास्तिका दृढनिश्चयाः।
निष्क्रियास्तु निरन्नादाः पतन्त्येवाधमां गतिम् ॥

वेदविद्वेषी मूर्ख, नास्तिक, अदृढनिश्चयवाले, क्रियाहीन तथा अन्नार्थियोंको बिना कुछ दिये ही घरसे निकाल देनेवाले पापी मनुष्य अधम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

नास्त्यस्तीति पुनर्जन्म कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
नाधिगच्छन्ति तन्नित्यं हेतुवादशतैरपि ॥

पुनर्जन्म नहीं होता है या होता है, इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। वे सैकड़ों युक्तिवादोंद्वारा भी उसे सर्वथा नहीं समझ पाते हैं ॥

एषा ब्रह्मकृता माया दुर्विज्ञेया सुरासुरैः।
किं पुनर्मानवैर्लोके ज्ञातुकामैः कुबुद्धिभिः ॥

यह ब्रह्माजीके द्वारा रची माया है, जिसे देवता और असुर भी बड़ी कठिनाईसे समझ पाते हैं; फिर दूषित बुद्धिवाले मानव यदि लोकमें इस विषयको जानना चाहें तो कैसे जान सकते हैं ॥

केवलं श्रद्धया देवि श्रुतिमात्रनिविष्टया।
ततोऽस्तीत्येव मन्तव्यं तथा हितमवाप्नुयात् ॥

देवि! केवल वेदमें पूर्णतः श्रद्धा करके 'परलोक एवं पुनर्जन्म होता है' ऐसा मानना चाहिये। इससे आस्तिक मनुष्यका हित होता है ॥

दैवगुह्येषु चान्येषु हेतुर्देवि निरर्थकः।
बधिरान्धवदेवात्र वर्तितव्यं हितैषिणा ॥
एतत् ते कथितं देवि ऋषिगुह्यं प्रजाहितम् ॥

देवि! देवसम्बन्धी जो दूसरे-दूसरे गुह्य विषय हैं, उनमें युक्तिवाद काम नहीं देता। जो अपना हित चाहनेवाले हैं, उन्हें इस विषयमें अन्धे और बहरेके समान बर्ताव करना चाहिये। अर्थात् नास्तिकोंकी ओर न तो देखे और न उनकी बातें ही सुने। देवि! यह ऋषियोंके लिये गोपनीय तथा प्रजाके लिये हितकर विषय तुम्हें बताया गया है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[यमलोक तथा वहाँके मार्गोंका वर्णन, पापियोंकी नरकयातनाओं तथा कर्मानुसार विभिन्न योनियोंमें उनके जन्मका उल्लेख]

उमोवाच

भगवन् सर्वलोकेश त्रिपुरार्दन शङ्कर।
कीदृशा यमदण्डास्ते कीदृशाः परिचारकाः ॥

उमाने पूछा—भगवन्! सर्वलोकेश्वर! त्रिपुरनाशन शङ्कर! यमदण्ड कैसे होते हैं? तथा यमराजके सेवक किस तरहके होते हैं? ॥

कथं मृतास्ते गच्छन्ति प्राणिनो यमसादनम्।
कीदृशं भवनं तस्य कथं दण्डयति प्रजाः ॥
एतत् सर्वं महादेव श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥

मृत प्राणी यमलोकको कैसे जाते हैं? यमराजका भवन कैसा है? तथा वे प्रजावर्गको किस तरह दण्ड देते हैं? प्रभो! महादेव! मैं यह सब सुनना चाहती हूँ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु कल्याणि तत् सर्वं यत् ते देवि मनःप्रियम् ।
दक्षिणस्यां दिशि शुभे यमस्य सदनं महत् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि ! देवि ! तुम्हारे मनमें जो-जो पूछने योग्य बातें हैं, उन सबका उत्तर सुनो । शुभे ! दक्षिणदिशामें यमराजका विशाल भवन है ॥

विचित्रं रमणीयं च नानाभावसमन्वितम् ।
पितृभिः प्रेतसंघैश्च यमदूतैश्च संततम् ॥

वह बहुत ही विचित्र, रमणीय एवं नाना प्रकारके भावोंसे युक्त है । पितरों, प्रेतों और यमदूतोंसे व्याप्त है ॥

प्राणिसंघैश्च बहुभिः कर्मवश्यैश्च पूरितम् ।
तत्रास्ते दण्डयन् नित्यं यमो लोकहिते रतः ॥

कर्मोंके अधीन हुए बहुत-से प्राणियोंके समुदाय उस यमलोकको भरे हुए हैं । वहाँ लोकहितमें तत्पर रहनेवाले यम पापियोंको सदा दण्ड देते हुए निवास करते हैं ॥

मायया सततं वेत्ति प्राणिनां यच्छुभाशुभम् ।
मायया संहरंस्तत्र प्राणिसङ्घान् यतस्ततः ॥

वे अपनी मायाशक्तिसे ही सदा प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मको जानते हैं और मायाद्वारा ही जहाँ-तहाँसे प्राणि-समुदायका संहार कर लाते हैं ॥

तस्य मायामयाः पाशा न वेद्यन्ते सुरासुरैः ।
को हि मानुषमात्रस्तु देवस्य चरितं महत् ॥

उनके मायामय पाश हैं, जिन्हें न देवता जानते हैं, न असुर । फिर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो उन यमदेवके महान् चरित्रको जान सके ॥

एवं संवसतस्तस्य यमस्य परिचारकाः ।
गृहीत्वा संनयन्त्येव प्राणिनः क्षीणकर्मणः ॥

इस प्रकार यमलोकमें निवास करते हुए यमराजके दूत जिनके प्रारब्धकर्म क्षीण हो गये हैं, उन प्राणियोंको पकड़कर उनके पास ले जाते हैं ॥

येन केनापदेशेन त्वपदेशस्तदुद्भवः ।
कर्मणा प्राणिनो लोके उत्तमाधममध्यमाः ॥
यथार्हं तान् समादाय नयन्ति यमसादनम् ।

जिस किसी निमित्तसे वे प्राणियोंको ले जाते हैं, वह निमित्त वे स्वयं बना लेते हैं । जगत्में कर्मानुसार उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके प्राणी होते हैं । यथायोग्य उन सभी प्राणियोंको लेकर वे यमलोकमें पहुँचाते हैं ॥

धार्मिकानुत्तमान् विद्धि स्वर्गिणस्ते यथामराः॥
नृषु जन्म लभन्ते ये कर्मणा मध्यमाः स्मृताः ।

धार्मिक पुरुषोंको उत्तम समझो । वे देवताओंके समान स्वर्गके अधिकारी होते हैं । जो अपने कर्मके अनुसार मनुष्योंमें जन्म लेते हैं, वे मध्यम माने गये हैं ॥

तिर्यङ्नरकगन्तारो ह्यधमास्ते नराधमाः ॥
पन्थानस्त्रिविधा दृष्टाः सर्वेषां गतजीविनाम् ।
रमणीयं निराबाधं दुर्दर्शमिति नामतः ॥

जो नराधम पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकमें जानेवाले हैं, वे अधमकोटिके अन्तर्गत हैं । सभी मरे हुए प्राणियोंके लिये तीन प्रकारके मार्ग देखे गये हैं—एक रमणीय, दूसरा निराबाध और तीसरा दुर्दर्श ॥

रमणीयं तु यन्मार्गं पताकाध्वजसङ्कुलम् ।
धूपितं सिक्तसम्मृष्टं पुष्पमालाभिसङ्कुलम् ॥
मनोहरं सुखस्पर्शं गच्छतामेव तद् भवेत् ।
निराबाधं यथालोकं सुप्रशस्तं कृतं भवेत् ॥

जो रमणीय मार्ग है, वह ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित और फूलोंकी मालाओंसे अलंकृत है । उसे झाड़-बुहारकर उसके ऊपर जलका छिड़काव किया गया होता है । वहाँ धूपकी सुगन्ध छायी रहती है । उसका स्पर्श चलनेवालोंके लिये सुखद और मनोहर होता है । निराबाध वह मार्ग है, जो लौकिक मार्गोंके समान सुन्दर एवं प्रशस्त बनाया गया है । वहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ॥

तृतीयं यत् तु दुर्दर्शं दुर्गन्धि तमसा वृतम् ।
परुषं शर्कराकीर्णं श्वदंष्ट्राबहुलं भृशम् ॥
कृमिकीटसमाकीर्णं भजतामतिदुर्गमम् ।

जो तीसरा मार्ग है, वह देखनेमें भी दुःखद होनेके कारण दुर्दर्श कहलाता है । वह दुर्गन्धयुक्त एवं अन्धकारसे आच्छन्न है । कंकड़-पत्थरोंसे व्याप्त और कठोर जान पड़ता है । वहाँ कुत्ते और दाढ़ोंवाले हिंसक जन्तु अधिक रहते हैं । कृमि और कीट सब ओर छाये रहते हैं । उस मार्गसे चलनेवालोंको वह अत्यन्त दुर्गम प्रतीत होता है ॥

मार्गैरेवं त्रिभिर्नित्यमुत्तमाधममध्यमान् ॥
संनयन्ति यथा काले तन्मे शृणु शुचिस्मिते ।

शुचिस्मिते ! इस प्रकार तीन मार्गोंद्वारा वे सदा यथासमय उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंको जिस प्रकार ले जाते हैं, वह मुझसे सुनो ॥

उत्तमानन्तकाले तु यमदूताः सुसंवृताः ।
नयन्ति सुखमादाय रमणीयपथेन वै ॥

उत्तम पुरुषोंको अन्तके समय ले जानेके लिये जो यमदूत आते हैं, वे सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होते हैं और उन पुरुषोंको साथ ले रमणीय मार्गद्वारा सुखपूर्वक ले जाते हैं ॥

मध्यमान् योधवेषेण मध्यमेन पथा तथा ॥

चण्डालवेषास्त्वधमान् गृहीत्वा भर्त्सतर्जनैः।
आकर्षन्तस्तथा पाशैर्दुर्दर्शेन नयन्ति तान्॥
त्रिविधानेवमादाय नयन्ति यमसादनम्॥

मध्यमकोटिके प्राणियोंको मध्यम मार्गके द्वारा योद्धाका वेष धारण किये हुए यमदूत अपने साथ ले जाते हैं तथा चाण्डालका वेष धारण करके अधमकोटिके प्राणियोंको पकड़कर उन्हें डाँटते-फटकारते तथा पाशोंद्वारा बाँधकर घसीटते हुए दुर्दर्श नामक मार्गसे ले जाते हैं। इस प्रकार त्रिविध प्राणियोंको लेकर वे उन्हें यमलोकमें पहुँचाते हैं॥

धर्मासनगतं दक्षं भ्राजमानं स्वतेजसा।
लोकपालं सभाध्यक्षं तथैव परिषद्गतम्॥
दर्शयन्ति महाभागे यामिकास्तं निवेद्य ते।

महाभागे! वहाँ धर्मके आसनपर अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए अपनी सभाके सभापतिके रूपमें चतुर लोकपाल यम बैठे होते हैं। यमदूत उन्हें सूचना देकर अपने साथ लाये हुए प्राणीको दिखाते हैं॥

पूजयन् दण्डयन् कांश्चित् तेषां शृण्वञ्शुभाशुभम्।
व्यापृतो बहुसाहस्रैस्तत्रास्ते सततं यमः॥

यमराज कई सहस्र सदस्योंसे घिरे हुए अपनी सभामें विराजमान होते हैं। वे वहाँ आये हुए प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरेवार वर्णन सुनकर उनमेंसे किन्हींका आदर करते हैं और किन्हींको दण्ड देते हैं॥

गतानां तु यमस्तेषामुत्तमानभिपूजयेत्।
अभिसंगृह्य विधिवत् पृष्ट्वा स्वागतकौशलम्॥

यमलोकमें गये हुए प्राणियोंमेंसे जो उत्तम होते हैं, उन्हें विधिपूर्वक अपनाकर स्वागतपूर्वक उनका कुशल-समाचार पूछकर यमराज उनकी पूजा करते हैं॥

प्रस्तुत्य तत् कृतं तेषां लोकं संदिशते यमः॥
यमेनैवमनुज्ञाता यान्ति पश्चात् त्रिविष्टपम्॥

उनके कर्मोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके यमराज उन्हें यह संदेश देते हैं कि 'आपको अमुक पुण्य लोकमें जाना है।' यमराजकी ऐसी आज्ञा पानेके पश्चात् वे स्वर्गलोकमें जाते हैं॥

मध्यमानां यमस्तेषां श्रुत्वा कर्म यथातथम्।
जायन्तां मानुषेष्वेव इति संदिशते च तान्॥

मध्यम कोटिके पुरुषोंके कर्मोंका यथावत् वर्णन सुनकर यमराज उनके लिये यह आज्ञा देते हैं कि 'ये लोग फिर मनुष्योंमें ही जन्म लें'॥

अधमान् पाशसंयुक्तान् यमो नावेक्षते गतान्।
यमस्य पुरुषा घोराश्चण्डालसमदर्शनाः॥
यातनाः प्रापयन्त्येतांल्लोकपालस्य शासनात्॥

पाशोंमें बँधे हुए जो अधम कोटिके प्राणी आते हैं, यमराज उनकी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं हैं। चाण्डालके समान दिखायी देनेवाले भयङ्कर यमदूत ही लोकपाल यमकी आज्ञासे उन पापियोंको यातनाके स्थानोंमें ले जाते हैं॥

भिन्दन्तश्च तुदन्तश्च प्रकर्षन्तो यतस्ततः।
क्रोशन्तः पातयन्त्येतान् मिथो गर्तेष्ववाङ्मुखान्॥

वे उन्हें विदीर्ण किये डालते हैं, भाँति-भाँतिकी पीड़ाएँ देते हैं, जहाँ-तहाँ घसीटकर ले जाते हैं तथा उन्हें कोसते हुए नीचे मुँह करके नरकके गड्ढोंमें गिरा देते हैं॥

संयामिन्यः शिलाश्चैषां पतन्ति शिरसि प्रिये।
अयोमुखाः कङ्कबला भक्षयन्ति सुदारुणाः॥

प्रिये! फिर उनके सिरपर ऊपरसे संयामिनी शिलाएँ गिरायी जाती हैं तथा लोहेकी-सी चोंचवाले अत्यन्त भयङ्कर कौए और बगले उन्हें नोच खाते हैं॥

असिपत्रवने घोरे चारयन्ति तथा परान्।
तीक्ष्णदंष्ट्रास्तथा श्वानः कांश्चित् तत्र ह्यदन्ति वै॥

दूसरे पापियोंको यमदूत घोर असिपत्रवनमें घुमाते हैं। वहाँ तीखी दाढ़ोंवाले कुत्ते कुछ पापियोंको काट खाते हैं॥

तत्र वैतरणी नाम नदी ग्राहसमाकुला।
दुष्प्रवेशा च घोरा च मूत्रशोणितवाहिनी॥

यमलोकमें वैतरणी नामवाली एक नदी है, जो पानीकी जगह मूत और रक्त बहाती है। ग्राहोंसे भरी होनेके कारण वह बड़ी भयङ्कर जान पड़ती है। उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है॥

तस्यां सम्मज्जयन्त्येते तृषितान् पाययन्ति तान्।
आरोपयन्ति वै कांश्चित् तत्र कण्टकशाल्मलीम्॥

यमदूत इन पापियोंको उसी नदीमें डुबो देते हैं। प्यासे प्राणियोंको उस वैतरणीका ही जल पिलाते हैं। वहाँ कितने ही काँटेदार सेमलके वृक्ष हैं। यमदूत कुछ पापियोंको उन्हीं वृक्षोंपर चढ़ाते हैं॥

यन्त्रचक्रेषु तिलवत् पीड्यन्ते तत्र केचन।
अङ्गारेषु च दह्यन्ते तथा दुष्कृतकारिणः॥

जैसे कोल्हूमें तिल पेरे जाते हैं, उसी प्रकार कितने ही पापी मशीनके चक्कोंमें पेरे जाते हैं। कितने ही अङ्गारोंमें डालकर जलाये जाते हैं॥

कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते पच्यन्ते सिकतासु वै।
पाट्यन्ते तरुवच्छस्त्रैः पापिनः क्रकचादिभिः॥

कुछ कुम्भीपाकोंमें पकाये जाते हैं, कुछ तपी हुई बालुकाओंमें भूने जाते हैं और कितने ही पापी आरे आदि शस्त्रोंद्वारा वृक्षकी भाँति चीरे जाते हैं॥

भिद्यन्ते भागशः शूलैस्तुद्यन्ते सूक्ष्मसूचिभिः ॥
एवं त्वया कृतो दोषस्तदर्थं दण्डनं त्विति ।
वाचैवं घोषयन्ति स्म दण्डमानाः समन्ततः ॥

कितनोंके शूलोंद्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। कुछ पापियोंके शरीरोंमें महीन सूइयाँ चुभोयी जाती हैं। दण्ड देनेवाले यमदूत अपनी वाणीद्वारा सब ओर यह घोषित करते रहते हैं कि तूने अमुक पाप किया है, जिसके लिये यह दण्ड तुझे मिल रहा है ॥

एवं ते यातनां प्राप्य शरीरैर्यातनाशयैः ।
प्रसहन्तश्च तद् दुःखं स्मरन्तः स्वापराधजम् ॥
क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च न मुच्यन्ते कथंचन ।
स्मरन्तस्तत्र तप्यन्ते पापमात्मकृतं भृशम् ॥

इस प्रकार यातनाधीन शरीरोंद्वारा यातना पाकर नारकी जीव उसके दुःखको सहते और अपने पापको स्मरण करते हुए चीखते-चिल्लाते एवं रोते रहते हैं, किंतु किसी तरह उस यातनासे छुटकारा नहीं पाते हैं। अपने किये हुए पापको याद करके वे अत्यन्त संतप्त हो उठते हैं ॥

एवं बहुविधा दण्डा भुज्यन्ते पापकारिभिः ।
यातनाभिश्च पच्यन्ते नरकेषु पुनः पुनः ॥

इस प्रकार पापाचारी प्राणियोंको नाना प्रकारके दण्ड भोगने पड़ते हैं। वे बारंबार नरकोंमें विविध यातनाओं-द्वारा पकाये जाते हैं ॥

अपरे यातना भुक्त्वा मुच्यन्ते तत्र किल्बिषात् ॥
पापदोषक्षयकरा यातना संस्मृता नृणाम् ।
बहु तप्तं यथा लोहममलं तत् तथा भवेत् ॥

दूसरे लोग वहाँ यातनाएँ भोगकर उस पापसे मुक्त हो जाते हैं। जैसे अधिक तपाया हुआ लोहा निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंको जो नरकोंमें यातनाएँ प्राप्त होती हैं, वे उनके पाप-दोषका विनाश करनेवाली मानी गयी हैं ॥

उमोवाच

भगवंस्ते कथं तत्र दण्ड्यन्ते नरकेषु वै ।
कति ते नरका घोराः कीदृशास्ते महेश्वर ॥

उमाने पूछा—भगवन्! महेश्वर! नरकोंमें पापियोंको किस प्रकार दण्ड दिया जाता है? वे भयानक नरक कितने और कैसे हैं? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शृणु भामिनि तत् सर्वं पञ्चैते नरकाः स्मृताः ।
भूमेरधस्ताद् विहिता घोरा दुष्कृतकर्मणाम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि! तुमने जो पूछा है, वह सब सुनो। पापाचारी प्राणियोंके लिये भूमिके नीचे जो भयानक नरक बनाये गये हैं, वे मुख्यतः पाँच माने गये हैं ॥

प्रथमं रौरवं नाम शतयोजनमायतम् ।
तावत्प्रमाणविस्तीर्णं तामसं पापपीडितम् ॥

उनमें पहला रौरव नामक नरक है, जिसकी लंबाई सौ योजन है। उसकी चौड़ाई भी उतनी ही है। वह तमोमय नरक पापके कारण प्राप्त होनेवाली पीड़ाओंसे परिपूर्ण है ॥

भृशं दुर्गन्धि परुषं कृमिभिर्दारुणैर्युतम् ।
अतिघोरमनिर्देश्यं प्रतिकूलं ततस्ततः ॥

उससे बड़ी दुर्गन्ध निकलती है, वह कठोर नरक क्रूर स्वभाववाले कीटोंसे भरा हुआ है। वह अत्यन्त घोर, अवर्णनीय और सर्वथा प्रतिकूल है ॥

ते चिरं तत्र तिष्ठन्ति न तत्र शयनासने ।
कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च विष्ठागन्धसमायुताः ॥

वे पापी उस नरकमें सुदीर्घकालतक खड़े रहते हैं। वहाँ सोने और बैठनेकी सुविधा नहीं है। विष्ठाकी दुर्गन्धमें सने हुए उन पापियोंको वहाँके कीड़े खाते रहते हैं ॥

एवं प्रमाणमुद्विग्ना यावत् तिष्ठन्ति तत्र ते ।
यातनाभ्यो दशगुणं नरके दुःखमिष्यते ॥

ऐसे विशाल नरकमें वे जबतक रहते हैं, उद्विग्न भावसे खड़े रहते हैं। साधारण यातनाओंकी अपेक्षा नरकमें दसगुना दुःख होता है ॥

तत्र चात्यन्तिकं दुःखमिष्यते च शुभेक्षणे ।
क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनास्तत्र भुञ्जते ॥

शुभेक्षणे! वहाँ आत्यन्तिक दुःखकी प्राप्ति होती है। पापी जीव चीखते-चिल्लाते और रोते हुए वहाँकी यातनाएँ भोगते हैं ॥

भ्रमन्ति दुःखमोक्षार्थं ज्ञाता कश्चिन्न विद्यते ।
दुःखस्यान्तरमात्रं तु ज्ञानं वा न च लभ्यते ॥

वे दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये चारों ओर चक्कर काटते हैं; परंतु कोई भी उन्हें जाननेवाला वहाँ नहीं होता। उस दुःखमें तनिक भी अन्तर नहीं होता और न उसे छुड़ानेवाला ज्ञान ही उपलब्ध होता है ॥

महारौरवसंज्ञं तु द्वितीयं नरकं प्रिये ।
तस्माद् द्विगुणितं विद्धि माने दुःखे च रौरवात् ॥

प्रिये! दूसरे नरकका नाम है महारौरव। वह लंबाई, चौड़ाई और दुःखमें रौरवसे दूना बड़ा है ॥

तृतीयं नरकं तत्र कण्टकावनसंज्ञितम् ।
ततो द्विगुणितं तच्च पूर्वाभ्यां दुःखमानयोः ॥

महापातकसंयुक्ता घोरास्तस्मिन् विशन्ति हि ॥

वहाँ तीसरा नरक है कण्टकावन, जो दुःख और लंबाई-चौड़ाईमें पहलेके दोनों नरकोंसे दुगुना बड़ा है। उसमें घोर महापातकयुक्त प्राणी प्रवेश करते हैं ॥

अग्निकुण्डमिति ख्यातं चतुर्थं नरकं प्रिये।
एतद् द्विगुणितं तस्माद् यथानिष्टसुखं तथा ॥
ततो दुःखं हि सुमहदमानुषमिति स्मृतम्।
भुञ्जते तत्र तत्रैव दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

प्रिये! चौथा नरक अग्निकुण्डके नामसे विख्यात है। यह पहलेकी अपेक्षा दूना दुःख देनेवाला है। वहाँ महान् अमानुषिक दुःख भोगने पड़ते हैं। उन सभीमें पापाचारी प्राणी दुःख भोगते हैं ॥

पञ्चकष्टमिति ख्यातं नरकं पञ्चमं प्रिये।
तत्र दुःखमनिर्देश्यं महाघोरं यथातथम् ॥

प्रिये! पाँचवें नरकका नाम पञ्चकष्ट है। वहाँ जो महाघोर दुःख प्राप्त होता है, उसका यथावत् वर्णन नहीं किया जा सकता ॥

पञ्चेन्द्रियैरसह्यत्वात् पञ्चकष्टमिति स्मृतम्।
भुञ्जते तत्र तत्रैवं दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

पाँचों इन्द्रियोंसे असह्य होनेके कारण उसका नाम 'पञ्चकष्ट' है। पापी पुरुष उन-उन नरकोंमें महान् दुःख भोगते हैं ॥

अमानुषार्हजं दुःखं महाभूतैश्च भुज्यते।
अतिघोरं चिरं कृत्वा महाभूतानि यान्ति तम् ॥

वहाँ बड़े-बड़े जीव चिरकालतक अत्यन्त घोर अमानुषिक दुःख भोगते हैं और महान् भूतोंके समुदाय उस पापी पुरुषका अनुसरण करते हैं ॥

पञ्चकष्टेन हि समं नास्ति दुःखं तथा परम्।
दुःखस्थानमिति प्राहुः पञ्चकष्टमिति प्रिये ॥

प्रिये! पञ्चकष्टके समान या उससे बढ़कर दुःख कोई नहीं है। पञ्चकष्टको समस्त दुःखोंका निवासस्थान बताया गया है ॥

एवं त्वेतेषु तिष्ठन्ति प्राणिनो दुःखभागिनः।
अन्ये च नरकाः सन्त्यवीचिप्रमुखाः प्रिये ॥

इस प्रकार इन नरकोंमें दुःख भोगनेवाले प्राणी निवास करते हैं। प्रिये! इन नरकोंके सिवा और भी बहुत-से अवीचि आदि नरक हैं ॥

क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनार्ता भृशातुराः।
केचिद् भ्रमन्तश्चेष्टन्ते केचिद् धावन्ति चातुराः॥

वेदनासे पीड़ित हो अत्यन्त आतुर हुए नरकनिवासी जीव रोते-चिल्लाते रहते हैं। कोई चारों ओर चक्कर काटते हैं, कोई पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटाते हैं और कोई आतुर होकर दौड़ते रहते हैं ॥

आधावन्तो निवार्यन्ते शूलहस्तैर्यतस्ततः।
रुजार्दितास्तृषायुक्ताः प्राणिनः पापकारिणः ॥

कोई दौड़ते हुए प्राणी हाथमें त्रिशूल लिये हुए यमदूतों द्वारा जहाँ-तहाँ रोके जाते हैं। वहाँ पापाचारी जीव रोगोंसे व्यथित और प्याससे पीड़ित रहते हैं ॥

यावत् पूर्वकृतं तावन्न मुच्यन्ते कथंचन।
कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च वेदनार्तास्तृषान्विताः ॥

जबतक पूर्वकृत पापका भोग शेष है, तबतक किसी तरह उन्हें नरकोंसे छुटकारा नहीं मिलता है। उनको कीड़े काटते रहते हैं तथा वे वेदनासे पीड़ित और प्याससे व्याकुल होते हैं ॥

संस्मरन्तः स्वकं पापं कृतमात्मापराधजम्।
शोचन्तस्तत्र तिष्ठन्ति यावत् पापक्षयं प्रिये ॥
एवं भुक्त्वा तु नरकं मुच्यन्ते पापसंक्षयात् ॥

प्रिये! जबतक सारे पापोंका क्षय नहीं हो जाता तबतक वे अपने ही किये हुए अपराधजनित पापको याद करके वहाँ शोकमग्न होते रहते हैं। इस प्रकार नरक भोगकर पापोंका नाश करनेके पश्चात् वे उस कष्टसे मुक्त हो जाते हैं ॥

उमोवाच

भगवन् कति कालं ते तिष्ठन्ति नरकेषु वै।
एतद् वेदितुमिच्छामि तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥

उमाने पूछा--भगवन्! महेश्वर! पापी जीव कितने समयतक नरकोंमें रहते हैं, यह मैं जानना चाहती हूँ? अतः मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शतवर्षसहस्राणामादिं कृत्वा हि जन्तवः।
तिष्ठन्ति नरकावासाः प्रलयान्तमिति स्थितिः॥

श्रीमहेश्वरने कहा--प्राणी अपने पापोंके अनुसार एक लाख वर्षोंसे लेकर महाप्रलयकालतक नरकोंमें निवास करते हैं, ऐसा शास्त्रोंका निश्चय है ॥

उमोवाच

भगवंस्तेषु के तत्र तिष्ठन्तीति वद प्रभो ॥

उमाने पूछा--भगवन्! प्रभो! उन नरकोंमें किस-किस तरहके पापी निवास करते हैं? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

रौरवे शतसाहस्रं वर्षाणामिति संस्थितिः।
मानुषघ्नाः कृतघ्नाश्च तथैवानृतवादिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—रौरव नरकमें एक लाख वर्षों-तक रहनेका नियम है। उसमें मनुष्योंकी हत्या करनेवाले, कृतघ्न तथा असत्यवादी मनुष्य जाते हैं ॥

द्वितीये द्विगुणं कालं पच्यन्ते तादृशा नराः।
महापातकयुक्तास्तु तृतीये दुःखमाप्नुयुः ॥

दूसरे नरक (महारौरव) में वैसे ही पापी मनुष्य दूने काल (दो लाख वर्ष) तक पकाये जाते हैं। तीसरे (कण्टकावन) में महापातकी मनुष्य कष्ट भोगते हैं ॥

चतुर्थे परितप्यन्ते यावद् युगविपर्ययः ॥

चौथे नरकमें पापी लोग तबतक संतप्त होते हैं, जब-तक कि महाप्रलय नहीं हो जाता ॥

सहन्तस्तादृशं घोरं पञ्चकष्टे तु यादृशम्।
तत्रास्य चिरदुःखस्य ह्यधोऽन्यान् विद्धि मानुषान् ॥

पञ्चकष्ट नरकमें जैसा घोर दुःख होता है, उसको भी यहाँ सहन करते हैं। दीर्घकालतक दुःख देनेवाले इस घोर नरकसे नीचे मानवसम्बन्धी अन्य नरकोंकी स्थिति समझो॥

एवं ते नरकान् भुक्त्वा तत्र क्षपितकल्मषाः।
नरकेभ्यो विमुक्ताश्च जायन्ते कृमिजातिषु ॥

इस प्रकार नरकोंका कष्ट भोग लेनेके बाद पाप कट जानेपर मनुष्य उन नरकोंसे छूटकर कीट-योनिमें जन्म लेते हैं ॥

उद्भेदजेषु वा केचिदत्रापि क्षीणकल्मषाः।
पुनरेव प्रजायन्ते मृगपक्षिषु शोभने ॥
मृगपक्षिषु तद् भुक्त्वा लभन्ते मानुषं पदम् ॥

शोभने ! अथवा कोई-कोई उद्भिज योनिमें जन्म लेते हैं। उसमें भी कुछ पापोंका क्षय होनेके बाद वे पुनः पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म पाते हैं। वहाँ कर्मफल भोग लेनेपर उन्हें मनुष्यशरीरकी प्राप्ति होती है ॥

उमोवाच

नानाजातिषु केनैव जायन्ते पापकारिणः ॥

उमाने पूछा—प्रभो ! पापाचारी मनुष्य किस प्रकारसे नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेते हैं ?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि यत् त्वमिच्छसि शोभने।
सर्वदाऽऽत्मा कर्मवशो नानाजातिषु जायते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने ! तुम जो चाहती हो, उसे बता रहा हूँ। जीवात्मा सदा कर्मके अधीन होकर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है ॥

यश्च मांसप्रियो नित्यं काकगृध्रान् स संस्पृशेत्।
सुरापः सततं मर्त्यः सूकरत्वं व्रजेद् ध्रुवम् ॥

जो प्रतिदिन मांसके लिये लालायित रहता है, वह कौओं और गीधोंकी योनिमें जन्म लेता है। सदा शराब पीनेवाला मनुष्य निश्चय ही सूअर होता है ॥

अभक्ष्यभक्षणो मर्त्यः काकजातिषु जायते।
आत्मघ्नो यो नरः कोपात् प्रेतजातिषु तिष्ठति ॥

अभक्ष्य भक्षण करनेवाला मनुष्य कौएके कुलमें उत्पन्न होता है तथा क्रोधपूर्वक आत्महत्या करनेवाला पुरुष प्रेत-योनिमें पड़ा रहता है ॥

पैशुन्यात् परिवादाच्च कुक्कुटत्वमवाप्नुयात्।
नास्तिकश्चैव यो मूर्खो मृगजातिं स गच्छति ॥

दूसरोंकी चुगली और निन्दा करनेसे मुर्गेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो मूर्ख नास्तिक होता है, वह मृग-जातिमें जन्म ग्रहण करता है ॥

हिंसाविहारस्तु नरः कृमिकीटेषु जायते।
अतिमानयुतो नित्यं प्रेत्य गर्दभतां व्रजेत् ॥

हिंसा या शिकारके लिये भ्रमण करनेवाला मानव कीड़ोंकी योनिमें जन्म लेता है। अत्यन्त अभिमानयुक्त पुरुष सदा मृत्युके पश्चात् गदहेकी योनिमें जन्म पाता है ॥

अगम्यागमनाच्चैव परदारनिषेवणात्।
मूषिकत्वं व्रजेन्मर्त्यो नास्ति तत्र विचारणा ॥

अगम्या-गमन और परस्त्रीसेवन करनेसे मनुष्य चूहा होता है, इसमें शङ्का करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु।
कृतघ्नः पुत्रघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति ॥

कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियोंकी योनिमें जन्म लेता है। दूसरोंके किये हुए उपकारको न मानने-वाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावरयोनिमें जन्म लेता है ॥

एवमाद्यशुभं कृत्वा नरा निरयगामिनः।
तां तां योनिं प्रपद्यन्ते स्वकृतस्यैव कारणात् ॥

इत्यादि प्रकारके अशुभ कर्म करके मनुष्य नरकगामी होते हैं और अपनी ही करनीके कारण पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥

एवं जातिषु निर्देश्याः प्राणिनः पापकारिणः।
कथंचित् पुनरुत्पद्य लभन्ते मानुषं पदम् ॥

इसी तरह विभिन्न जातियोंमें जन्म लेनेवाले पापाचारी प्राणियोंका निर्देश करना चाहिये। ये किसी तरह उन योनियों-से छूटकर जब पुनः जन्म लेते हैं, तब मनुष्यका पद पाते हैं ॥

बहुशश्चाग्निसंक्रान्तं लोहं शुचिमयं यथा।
बहुदुःखाभिसंतप्तस्तथाऽऽत्मा शोध्यते बलात् ॥
तस्मात् सुदुर्लभं चेति विद्धि जन्मसु मानुषम् ॥

जैसे लोहेको बार-बार आगमें तपानेसे वह शुद्ध होता है, उसी प्रकार बहुत दुःखसे संतप्त हुआ जीवात्मा बलात् शुद्ध हो जाता है। अतः सभी जन्मोंमें मानव-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ समझो ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[शुभाशुभ मानस आदि तीन प्रकारके कर्मोंका स्वरूप और उनके फलका एवं मद्यसेवनके दोषोंका वर्णन, आहार-शुद्धि, मांसभक्षणसे दोष, मांस न खानेसे लाभ, जीवदयाके महत्त्व, गुरुपूजाकी विधि, उपवास-विधि, ब्रह्मचर्यपालन, तीर्थचर्चा, सर्वसाधारण द्रव्यके दानसे पुण्य, अन्न, सुवर्ण, गौ, भूमि, कन्या और विद्यादानका माहात्म्य, पुण्यतम देश-काल, दिये हुए दान और धर्मकी निष्फलता, विविध प्रकारके दान, लौकिक-वैदिक यज्ञ तथा देवताओंकी पूजाका निरूपण]

उमोवाच

श्रोतुं भूयोऽहमिच्छामि प्रजानां हितकारणात्।
शुभाशुभमिति प्रोक्तं कर्म स्वं स्वं समासतः॥

उमाने पूछा—भगवन्! अब मैं पुनः प्रजावर्गके हितके लिये शुभ और अशुभ कहे जानेवाले अपने-अपने कर्मका संक्षेपसे वर्णन सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं शृणु शोभने।
सुकृतं दुष्कृतं चेति द्विविधं कर्मविस्तरम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने! वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो। जहाँतक कर्मोंका विस्तार है, उसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। पहला भाग सुकृत (पुण्य) और दूसरा दुष्कृत (पाप)॥

तयोर्यद् दुष्कृतं कर्म तच्च संजायते त्रिधा।
मनसा कर्मणा वाचा बुद्धिमोहसमुद्भवात्॥

उन दोनोंमें जो दुष्कृत कर्म है, वह तीन प्रकारका होता है। एक मनसे, दूसरा क्रियासे और तीसरा वाणीसे होनेवाला दुष्कर्म है। बुद्धिमें मोहका प्रादुर्भाव होनेसे ही ये पाप बनते हैं॥

मनःपूर्वं तु वा कर्म वर्तते वाङ्मयं ततः।
जायते वै क्रियायोगमनु चेष्टाक्रमः प्रिये॥

प्रिये! पहले मनके द्वारा कर्मका चिन्तन होता है, फिर वाणीद्वारा उसे प्रकाशमें लाया जाता है। तदनन्तर क्रियाद्वारा उसे सम्पन्न किया जाता है। इसके साथ चेष्टाका क्रम चलता रहता है॥

अभिद्रोहोऽभ्यसूया च परार्थेषु च स्पृहा।
धर्मकार्ये यदाश्रद्धा पापकर्मणि हर्षणम्॥
एवमाद्यशुभं कर्म मनसा पापमुच्यते।

अभिद्रोह, असूया, पराये अर्थकी अभिलाषा—ये मानसिक अशुभ कर्म हैं। जब धर्म-कार्यमें अश्रद्धा हो, पापकर्ममें हर्ष और उत्साह बढ़े तो इस तरहके अशुभ कर्म मानसिक पाप कहलाते हैं॥

अनृतं यच्च परुषमबद्धं यच्च शंकरि।
असत्यं परिवादश्च पापमेतत् तु वाङ्मयम्॥

कल्याण करनेवाली देवि! जो झूठ, कठोर तथा असम्बद्ध वचन बोला जाता है, असत्य भाषण तथा दूसरोंकी निन्दा की जाती है—यह सब वाणीसे होनेवाला पाप है॥

अगम्यागमनं चैव परदारनिषेवणम्।
वधबन्धपरिक्लेशैः परप्राणोपतापनम्॥
चौर्यं परेषां द्रव्याणां हरणं नाशनं तथा।
अभक्ष्यभक्षणं चैव व्यसनेष्वभिषङ्गता॥
दर्पात् स्तम्भाभिमानाच्च परेषामुपतापनम्।
अकार्याणां च करणमशौचं पानसेवनम्॥
दौःशील्यं पापसम्पर्कं साहाय्यं पापकर्मणि।
अधर्म्यमयशस्यं च कार्यं तस्य निषेवणम्॥
एवमाद्यशुभं चान्यच्छारीरं पापमुच्यते॥

अगम्या स्त्रीके साथ समागम, परायी स्त्रीका सेवन, प्राणियोंका वध, बन्धन तथा नाना प्रकारके क्लेशोंद्वारा दूसरे प्राणियोंको सताना, पराये धनकी चोरी, अपहरण तथा नाश करना, अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण, दुर्व्यसनोंमें आसक्ति, दर्प, उद्दण्डता और अभिमानसे दूसरोंको सताना, न करने योग्य काम करना, अपवित्र वस्तुको पीना अथवा उसका सेवन करना, पापियोंके सम्पर्कमें रहकर दुराचारी होना, पापकर्ममें सहायता करना, अधर्म और अपयश बढ़ानेवाले कार्योंको अपनाना इत्यादि जो दूसरे-दूसरे अशुभ कर्म हैं, वे शारीरिक पाप कहलाते हैं॥

मानसाद् वाङ्मयं पापं विशिष्टमिति लक्ष्यते।
वाङ्मयादपि वै पापाच्छारीरं गण्यते बहु॥

मानस पापसे वाणीका पाप बढ़कर समझा जाता है। वाचिक पापसे शारीरिक पापको अधिक गिना जाता है॥

एवं पापयुतं कर्म त्रिविधं पातयेन्नरम्।
परोपतापजननमत्यन्तं पातकं स्मृतम्॥

इस प्रकार जो तीन तरहका पापकर्म है, वह मनुष्यको नीचे गिराता है। दूसरोंको संताप देना अत्यन्त पातक माना गया है॥

त्रिविधं तत् कृतं पापं कर्तारं पापकं नयेत्।
पातकं चापि यत् कर्म कर्मणा बुद्धिपूर्वकम्॥
सापदेशमवश्यं तु कर्तव्यमिति तत् कृतम्।
कथंचित् तत् कृतमपि कर्ता तेन न लिप्यते॥

अपना किया हुआ त्रिविध पाप कर्ताको पापमय योनिमें ले जाता है। पातकरूप कर्म भी यदि बुद्धिपूर्वक किसीके प्राण बचाने आदिके उद्देश्यसे अवश्यकर्तव्य मानकर क्रिया (शरीर) द्वारा किसी प्रकार किया गया हो तो उससे कर्ता लिप्त नहीं होता॥

उमोवाच

भगवन् पापकं कर्म यथा कृत्वा न लिप्यते॥

उमाने पूछा—भगवन्! किस तरह पापकर्म करके मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

यो नरोऽनपराधी च स्वात्मप्राणस्य रक्षणात्।
शत्रुमुद्यतशस्त्रं वा पूर्वं तेन हतोऽपि वा॥
प्रतिहन्यान्नरो हिंस्यान्न स पापेन लिप्यते।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो निरपराध मनुष्य शस्त्र उठाकर मारनेके लिये आये हुए शत्रुको पहले उसीके

द्वारा आघात होनेपर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये उसपर बदलेमें प्रहार करे और मार डाले, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥

चोरादधिकसंत्रस्तस्तत्प्रतीकारचेष्टया ।
यः प्रजघ्नन् नरो हन्याच्च स पापेन लिप्यते ॥

जो चोरसे अधिक भयभीत हो उससे बदला लेनेकी चेष्टा करते हुए उसपर प्रहार करता और उसे मार डालता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥

ग्रामार्थे भर्तृपिण्डार्थे दीनानुग्रहकारणात् ।
वधबन्धपरिक्लेशान् कुर्वन् पापात् प्रमुच्यते ॥

जो ग्रामरक्षाके लिये, स्वामीके अन्नका बदला चुकानेके लिये अथवा दीन-दुखियोंपर अनुग्रह करके किसी शत्रुका वध करता या उसे बन्धनमें डालकर क्लेश पहुँचाता है, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥

दुर्भिक्षे चात्मवृत्त्यर्थमेकायनगतस्तथा ।
अकार्यं वाप्यभक्ष्यं वा कृत्वा पापाच्च लिप्यते॥

जो अकालमें अपनी जीविका चलानेके लिये तथा दूसरा कोई मार्ग न रह जानेपर अकार्य या अभक्ष्य भक्षण करता है, वह उसके पापसे लिप्त नहीं होता ॥

केचिद्धसन्ति तत् पीत्वा प्रवदन्ति तथा परे ।
नृत्यन्ति मुदिताः केचिद् गायन्ति च शुभाशुभान् ॥

(अब मदिरा पीनेके दोष बताता हूँ) मदिरा पीनेवाले उसे पीकर नशेमें अट्टहास करते हैं, अंट-संट बातें बकते हैं, कितने ही प्रसन्न होकर नाचते हैं और भले-बुरे गीत गाते हैं ॥

कलिं ते कुर्वतेऽभीष्टं प्रहरन्ति परस्परम् ।
क्वचिद् धावन्ति सहसा प्रस्खलन्ति पतन्ति च ॥

वे आपसमें इच्छानुसार कलह करते और एक दूसरेको मारते-पीटते हैं । कभी सहसा दौड़ पड़ते हैं, कभी लड़खड़ाते और गिरते हैं ॥

अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्र क्वचन शोभने ।
नग्ना विक्षिप्य गात्राणि नष्टज्ञाना इवासते ॥

शोभने ! वहाँ जहाँ कहीं भी अनुचित बातें बकने लगते हैं और कभी नंग-धड़ंग हो हाथ-पैर पटकते हुए अचेत-से हो जाते हैं ॥

एवं बहुविधान् भावान् कुर्वन्ति भ्रान्तचेतनाः ।
ये पिबन्ति महामोहं पानं पापयुता नराः ॥

इस प्रकार भ्रान्तचित्त होकर वे नाना प्रकारके भाव प्रकट करते हैं । जो महामोहमें डालनेवाली मदिरा पीते हैं, वे मनुष्य पापी होते हैं ॥

धृतिं लज्जां च बुद्धिं च पानं पीतं प्रणाशयेत् ।
तस्मान्नराः सम्भवन्ति निर्लज्जा निरपत्रपाः ॥

पी हुई मदिरा मनुष्यके धैर्य, लज्जा और बुद्धिको नष्ट कर देती है । इससे मनुष्य निर्लज्ज और बेहया हो जाते हैं ॥

पानपस्तु सुरां पीत्वा तदा बुद्धिप्रणाशनात् ।
कार्याकार्यस्य चाज्ञानाद् यथेष्टकरणात् स्वयम् ॥
विदुषामविधेयत्वात् पापमेवाभिपद्यते ॥

शराब पीनेवाला मनुष्य उसे पीकर बुद्धिका नाश हो जानेसे कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रह जानेसे, इच्छानुसार कार्य करनेसे तथा विद्वानोंकी आज्ञाके अधीन न रहनेसे पापको ही प्राप्त होता है ॥

परिभूतो भवेल्लोके मद्यपो मित्रभेदकः ।
सर्वकालमशुद्धश्च सर्वभक्षस्तथा भवेत् ॥

मदिरा पीनेवाला पुरुष जगत्में अपमानित होता है । मित्रोंमें फूट डालता है, सब कुछ खाता और हर समय अशुद्ध रहता है ॥

विनष्टो ज्ञानविद्वद्भ्यः सततं कलिभावगः ।
परुषं कटुकं घोरं वाक्यं वदति सर्वशः ॥

वह स्वयं हर प्रकारसे नष्ट होकर विद्वान् विवेकी पुरुषोंसे झगड़ा किया करता है । सर्वथा रूखा, कड़वा और भयंकर वचन बोलता रहता है ॥

गुरूनतिवदेन्मत्तः परदारान् प्रधर्षयेत् ।
संविदं कुरुते शौण्डैर्न शृणोति हितं क्वचित् ॥

वह मतवाला होकर गुरुजनोंसे बहकी-बहकी बातें करता है, परायी स्त्रियोंसे बलात्कार करता है, धूर्तों और जुआरियोंके साथ बैठकर सलाह करता है और कभी किसीकी कही हुई हितकर बात भी नहीं सुनता है ॥

एवं बहुविधा दोषाः पानपे सन्ति शोभने ।
केवलं नरकं यान्ति नास्ति तत्र विचारणा ॥

शोभने ! इस प्रकार मदिरा पीनेवालेमें बहुत-से दोष हैं । वे केवल नरकमें जाते हैं, इस विषयमें कोई विचार करनेकी बात नहीं है ॥

तस्मात् तद् वर्जितं सद्भिः पानमात्महितैषिभिः ।
यदि पानं न वर्जेरन् सन्तश्चारित्रकारणात् ।
भवेदेतज्जगत् सर्वममर्यादं च निष्क्रियम् ॥

इसलिये अपना हित चाहनेवाले सत्पुरुषोंने मदिरापानका सर्वथा त्याग किया है । यदि सदाचारकी रक्षाके लिये सत्पुरुष मदिरा पीना न छोड़े तो यह सारा जगत् मर्यादारहित और अकर्मण्य हो जाय (यह शरीर-सम्बन्धी महापाप है) ॥

तस्माद् बुद्धेर्हि रक्षार्थं सद्भिः पानं विवर्जितम् ।

अतः श्रेष्ठ पुरुषोंने बुद्धिकी रक्षाके लिये मद्यपानको त्याग दिया है ॥

विधानं सुकृतस्यापि भूयः शृणु शुचिस्मिते ।
प्रोच्यते तत् त्रिधा देवि सुकृतं च समासतः ॥

शुचिस्मिते ! अब पुण्यका भी विधान सुनो । देवि ! थोड़ेमें तीन प्रकारका पुण्य भी बताया गया है ॥

त्रैविध्यदोषोपरमे यस्तु दोषव्यपेक्षया ।
स हि प्राप्नोति सकलं सर्वदुष्कृतवर्जनात् ॥

मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों दोषोंकी निवृत्ति हो जानेपर जो दोषकी उपेक्षा करके सम्पूर्ण दुष्कर्मोंका त्याग कर देता है, वही समस्त शुभ कर्मोंका फल पाता है ॥

प्रथमं वर्जयेद् दोषान् युगपत् पृथगेव वा ।

तथा धर्ममवाप्नोति दोषत्यागो हि दुष्करः ॥

पहले सब दोषोंको एक साथ या बारी-बारीसे त्याग देना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यको धर्माचरणका फल प्राप्त होता है; क्योंकि दोषोंका परित्याग करना बहुत ही कठिन है ॥

दोषसाकल्यसंत्यागान्मुनिर्भवति मानवः ॥
सौकर्यं पश्य धर्मस्य कार्यारम्भाद्दतेऽपि च ।
आत्मोपलब्धोपरमाल्लभन्ते सुकृतं परम् ॥

समस्त दोषोंका त्याग कर देनेसे मनुष्य मुनि हो जाता है। देखो, धर्म करनेमें कितनी सुविधा या सुगमता है कि कोई कार्य किये बिना ही अपनेको प्राप्त हुए दोषोंका त्याग कर देनेमात्रसे मनुष्य परम पुण्य प्राप्त कर लेते हैं ॥

अहो नृशंसाः पच्यन्ते मानुषाः स्वल्पबुद्धयः ।
ये तादृशं न बुध्यन्ते आत्माधीनं च निर्वृताः ॥
दुष्कृतत्यागमात्रेण पदमूर्ध्वं हि लभ्यते ॥

अहो ! अल्पबुद्धि मानव कैसे क्रूर हैं कि पाप कर्म करके अपने-आपको नरककी आगमें पकाते हैं। वे संतोषपूर्वक यह नहीं समझ पाते कि वैसा पुण्यकर्म सर्वथा अपने अधीन है। दुष्कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे ऊर्ध्वपद (स्वर्गलोक) की प्राप्ति होती है ॥

पापभीरुत्वमात्रेण दोषाणां परिवर्जनात् ।
सुशोभनो भवेद् देवि ऋजुर्धर्मव्यपेक्षया ॥

देवि ! पापसे डरने, दोषोंको त्यागने और निष्कपट धर्मकी अपेक्षा रखनेसे मनुष्य उत्तम परिणामका भागी होता है ॥

श्रुत्वा च बुद्धसंयोगादिन्द्रियाणां च निग्रहात् ।
संतोषाच्च धृतेश्चैव शक्यते दोषवर्जनम् ॥

ज्ञानी पुरुषोंके सम्पर्कसे धर्मोपदेश सुनकर इन्द्रियोंका निग्रह करने तथा संतोष और धैर्य धारण करनेसे दोषोंका परित्याग किया जा सकता है ॥

तदेव धर्ममित्याहुर्दोषसंयमनं प्रिये ।
यमधर्मेण धर्मोऽस्ति नान्यः शुभतरः प्रिये ॥

प्रिये ! दोष-संयमको धर्म कहा गया है। संयमरूप धर्मका पालन करनेसे जो धर्म होता है, वही सबसे अधिक कल्याणकारी है, दूसरा नहीं ॥

यमधर्मेण यतयः प्राप्नुवन्त्युत्तमां गतिम् ॥
ईश्वराणां प्रभवतां दरिद्राणां च वै नृणाम् ।
सफलो दोषसंत्यागो दानादपि शुभादपि ॥

संयमधर्मके पालनसे यतिजन उत्तम गतिको पाते हैं। प्रभावशाली धनियोंके दान करनेसे और दरिद्र मनुष्योंके शुभकर्मोंके आचरणसे भी दोषोंका त्याग क्षणिक फल देनेवाला है ॥

तपो दानं महादेवि दोषमल्पं हि निर्हरेत् ।
सुकृतं यामिकं चोक्तं वक्ष्ये निरुपसाधनम् ॥

महादेवि ! तप और दान अल्प दोषको हर लेते हैं। यहाँ संयमसम्बन्धी सुकृत बताया गया। अब सहायक साधनोंके बिना होनेवाले सुकृतका वर्णन करूँगा ॥

सुखाभिसंधिर्लोकानां सत्यं शौचमथार्जवम् ।
व्रतोपवासः प्रीतिश्च ब्रह्मचर्यं दमः शमः ॥
एवमादि शुभं कर्म सुकृतं नियमाश्रितम् ।
शृणु तेषां विशेषांश्च कीर्तयिष्यामि भामिनि ॥

जगत्के लोगोंके सुखी होनेकी कामना, सत्य, शौच, सरलता, व्रतसम्बन्धी उपवास, प्रीति, ब्रह्मचर्य, दम और शम—इत्यादि शुभ कर्म नियमोंपर अवलम्बित सुकृत है। भामिनि ! अब उनके विशेष भेदोंका वर्णन करूँगा, सुनो ॥

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ।
नास्ति सत्यात् परं दानं नास्ति सत्यात् परं तपः ॥

जैसे नौका या जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीका काम देता है। सत्यसे बढ़कर दान नहीं है और सत्यसे बढ़कर तप नहीं है ॥

यथा श्रुतं यथा दृष्टमात्मना यद् यथा कृतम् ।
तथा तस्याविकारेण वचनं सत्यलक्षणम् ॥

जो जैसा सुना गया हो, जैसा देखा गया हो और अपने द्वारा जैसा किया गया हो, उसको बिना किसी परिवर्तनके वाणीद्वारा प्रकट करना सत्यका लक्षण है ॥

यच्छलेनाभिसंयुक्तं सत्यरूपं मृषैव तत् ।
सत्यमेव प्रवक्तव्यं पारावर्यं विजानता ॥

जो सत्य छलसे युक्त हो, वह मिथ्या ही है। अतः सत्यासत्यके भले-बुरे परिणामको जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि वह सदा सत्य ही बोले ॥

दीर्घायुश्च भवेत् सत्यात् कुलसंतानपालकः ।
लोकसंस्थितिपालश्च भवेत् सत्येन मानवः ॥

सत्यके पालनसे मनुष्य दीर्घायु होता है। सत्यसे कुलपरम्पराका पालक होता है और सत्यका आश्रय लेनेसे वह लोकमर्यादाका संरक्षक होता है ॥

उमोवाच

कथं संधारयन् मर्त्यो व्रतं शुभमवाप्नुयात् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्य किस प्रकार व्रत धारण करके शुभ फलको पाता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

पूर्वमुक्तं तु यत् पापं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
व्रतवत् तस्य संत्यागस्तपोव्रतमिति स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! पहले जो मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाले पापोंका वर्णन किया गया है, व्रतकी भाँति उनके त्यागका नियम लेना तपोव्रत कहा गया है ॥

शुद्धकायो नरो भूत्वा स्नात्वा तीर्थे यथाविधि ।
पञ्चभूतानि चन्द्रार्कौ संध्ये धर्मयमौ पितॄन् ॥
आत्मनैव तथाऽऽत्मानं निवेद्य व्रतवच्चरेत् ।

मनुष्य तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके शुद्धशरीर हो स्वयं ही अपने आपको पञ्च महाभूत, चन्द्रमा, सूर्य, दोनों

कालकी संध्या, धर्म, यम तथा पितरोंकी सेवामें निवेदन करके व्रत लेकर धर्माचरण करे ॥

व्रतमामरणाद् वापि कालच्छेदेन वा हरेत् ॥
शाकादिषु व्रतं कुर्यात् तथा पुष्पफलादिषु ।
ब्रह्मचर्यव्रतं कुर्यादुपवासव्रतं तथा ॥

अपने व्रतको मृत्युपर्यन्त निभावे अथवा समयकी सीमा बाँधकर उतने समयतक उसका निर्वाह करे। शाक आदि तथा फल-फूल आदिका आहार करके व्रत करे। उस समय ब्रह्मचर्यका पालन तथा उपवास भी करना चाहिये ॥

एवमन्येषु बहुषु व्रतं कार्यं हितैषिणा ।
व्रतभङ्गो यथा न स्याद् रक्षितव्यं तथा बुधैः ॥

अपना हित चाहनेवाले पुरुषको दुग्ध आदि अन्य बहुत-सी वस्तुओंमेंसे किसी एकका उपयोग करके व्रतका पालन करना चाहिये। विद्वानोंको उचित है कि वे अपने व्रतको भङ्ग न होने दें। सब प्रकारसे उसकी रक्षा करें ॥

व्रतभङ्गे महत् पापमिति विद्धि शुभेक्षणे ॥
औषधार्थं यदज्ञानाद् गुरूणां वचनादपि ।
अनुग्रहार्थं बन्धूनां व्रतभङ्गो न दुष्यते ॥

शुभेक्षणे ! तुम यह जान लो कि व्रत भङ्ग करनेसे महान् पाप होता है, परंतु ओषधिके लिये, अनजानमें, गुरुजनोंकी आज्ञासे तथा बन्धुजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये यदि व्रतभङ्ग हो जाय तो वह दूषित नहीं होता ॥

व्रतापवर्गकाले तु दैवब्राह्मणपूजनम् ।
नरेण तु यथावद्धि कार्यसिद्धिं यथाप्नुयात् ॥

व्रतकी समाप्तिके समय मनुष्यको देवताओं और ब्राह्मणोंकी यथावत् पूजा करनी चाहिये। इससे उसे अपने कार्यमें सफलता प्राप्त होती है ॥

उमोवाच

कथं शौचविधिस्तत्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! व्रत ग्रहण करनेके समय शौचाचारका विधान कैसा है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौचमिष्यते ।
मानसं सुकृतं यत् तच्छौचमाभ्यन्तरं स्मृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! शौच दो प्रकारका माना गया है—एक बाह्य शौच, दूसरा आभ्यन्तर शौच। जिसे पहले मानसिक सुकृत बताया गया है, उसीको यहाँ आभ्यन्तर शौच कहा गया है ॥

सदाऽऽहारविशुद्धिश्च कायप्रक्षालनं तु यत् ।
बाह्यशौचं भवेदेतत् तथैवाचमनादिना ॥

सदा ही विशुद्ध आहार ग्रहण करना, शरीरको धो-पोंछकर साफ रखना तथा आचमन आदिके द्वारा भी शरीरको शुद्ध बनाये रखना, यह बाह्य शौच है ॥

मृच्चैव शुद्धदेशस्था गोशकृन्मूत्रमेव च ।
द्रव्याणि गन्धयुक्तानि यानि पुष्टिकराणि च ॥
एतैः सम्मार्जनैः कायमम्भसा च पुनः पुनः ।

अच्छे स्थानकी मिट्टी, गोबर, गोमूत्र, सुगन्धित द्रव्य तथा पौष्टिक पदार्थ—इन सब वस्तुओंसे मिश्रित जलके द्वारा मार्जन करके शरीरको बारंबार जलसे प्रक्षालित करे ॥

अक्षोभ्यं यत् प्रकीर्णं च नित्यस्रोतश्च यज्जलम् ॥
प्रायशस्तादृशे मज्जेदन्यथा च विवर्जयेत् ॥

जहाँका जल अक्षोभ्य (नहानेसे गँदला न होनेवाला) और फैला हुआ हो, जिसका प्रवाह कभी टूटता न हो। प्रायः ऐसे ही जलमें गोता लगाना चाहिये। अन्यथा उस जलको त्याग देना चाहिये ॥

त्रिस्त्रिराचमनं श्रेष्ठं निर्मलैरुद्धृतैर्जलैः ।
तथा विण्मूत्रयोः शुद्धिरद्भिर्बहुमृदा भवेत् ॥

निर्मल जलको हाथमें लेकर उसके द्वारा तीन-तीन बार आचमन करना श्रेष्ठ माना गया है। मल और मूत्रके स्थानोंकी शुद्धि बहुत-सी मिट्टी लगाकर जलके द्वारा धोनेसे होती है ॥

तथैव जलसंशुद्धिर्यत् संशुद्धं तु संस्पृशेत् ॥

इसी प्रकार जलकी शुद्धिका भी ध्यान रखना आवश्यक है। जो शुद्ध जल हो उसीका स्पर्श करे—उसीसे हाथ-मुँह धोकर कुल्ला करे और नहाये ॥

शकृता भूमिशुद्धिः स्याल्लोहानां भस्मना स्मृतम् ।
तक्षणं घर्षणं चैव दारवाणां विशोधनम् ॥

गोबरसे लीपनेपर भूमिकी शुद्धि होती है, राखसे मलनेपर धातुके पात्रोंकी शुद्धि होती है। लकड़ीके बने हुए पात्रोंकी शुद्धि छीलने, काटने और रगड़नेसे होती है ॥

दहनं मृण्मयानां च मर्त्यानां कृच्छ्रधारणम् ।
शेषाणां देवि सर्वेषामातपेन जलेन च ॥
ब्राह्मणानां च वाक्येन सदा संशोधनं भवेत् ।

मिट्टीके पात्रोंकी शुद्धि आगमें जलानेसे होती है, मनुष्योंकी शुद्धि कृच्छ्र सांतपन आदि व्रत धारण करनेसे होती है। देवि ! शेष सब वस्तुओंकी शुद्धि सदा धूपमें तपाने, जलके द्वारा धोने और ब्राह्मणोंके वचनसे होती है ॥

अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ।
एवमापदि संशुद्धिरेवं शौचं विधीयते ॥

जिसका दोष देखा न गया हो ऐसी वस्तुको जलसे धो दिया जाय तो वह शुद्ध हो जाता है। जिसकी वाणीद्वारा प्रशंसा की जाती है, वह भी शुद्ध ही समझना चाहिये। इसी प्रकार आपत्तिकालमें शुद्धिकी व्यवस्था है और इसी तरह शौचका विधान है ॥

उमोवाच

आहारशुद्धिस्तु कथं देवदेव महेश्वर ॥

उमाने पूछा—देवदेव ! महेश्वर ! आहारकी शुद्धि कैसे होती है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अमांसमद्यमक्लेद्यमपर्युषितमेव च ।
अतिकट्वम्ललवणहीनं च शुभगन्धि च ॥
कृमिकेशमलैर्हीनं संवृतं शुद्धदर्शनम् ।

एवंविधं सदाऽऽहार्यं देवब्राह्मणसत्कृतम् ॥
श्रेष्ठमित्येव तज्ज्ञेयमन्यथा मन्यतेऽशुभम्।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! जिसमें मांस और मद्य न हो, जो सड़ा हुआ या पसीजा न हो, बासी न हो, अधिक कड़वा, अधिक खट्टा और अधिक नमकीन न हो, जिससे उत्तम गन्ध आती हो, जिसमें कीड़े या केश न पड़े हों, जो निर्मल हो, ढका हुआ हो और देखनेमें भी शुद्ध हो, जिसका देवताओं और ब्राह्मणोंद्वारा सत्कार किया गया हो, ऐसे अन्नको सदा भोजन करना चाहिये । उसे श्रेष्ठ ही जानना चाहिये । इसके विपरीत जो अन्न है, उसे अशुभ माना गया है ॥

ग्राम्यादारण्यकैः सिद्धं श्रेष्ठमित्यवधारय ॥
अतिमात्रगृहीतात् तु अल्पदत्तं भवेच्छुचि।

ग्राम्य अन्नकी अपेक्षा वनमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे बना हुआ अन्न श्रेष्ठ होता है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो । अधिक-से-अधिक ग्रहण किये हुए अन्नकी अपेक्षा थोड़ा-सा दिया हुआ अन्न पवित्र होता है ॥

यज्ञशेषं हविःशेषं पितृशेषं च निर्मलम् ॥
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

यज्ञशेष (देवताओंको अर्पण करनेसे बचा हुआ), हविःशेष (अग्निमें आहुति देनेसे बचा हुआ) तथा पितृशेष (श्राद्धसे अवशिष्ट) अन्न निर्मल माना गया है । देवि ! यह विषय तुम्हें बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भक्षयन्त्यपरे मांसं वर्जयन्त्यपरे विभो।
तन्मे वद महादेव भक्ष्याभक्ष्यविनिर्णयम् ॥

उमाने पूछा—प्रभो ! कुछ लोग तो मांस खाते हैं और दूसरे लोग उसका त्याग कर देते हैं । महादेव ! ऐसी दशामें मुझे भक्ष्य-अभक्ष्यका निर्णय करके बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मांसस्य भक्षणे दोषो यश्चास्याभक्षणे गुणः।
तदहं कीर्तयिष्यामि तन्निबोध यथातथम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मांस खानेमें जो दोष है और उसे न खानेमें जो गुण है, उसका मैं यथार्थ रूपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनो ॥

इष्टं दत्तमधीतं च क्रतवश्च सदक्षिणाः।
अमांसभक्षणस्यैव कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

यज्ञ, दान, वेदाध्ययन तथा दक्षिणासहित अनेकानेक क्रतु—ये सब मिलकर मांस-भक्षणके परित्यागकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं होते ॥

आत्मार्थं यः परप्राणान् हिंस्यात् स्वादुफलेप्सया।
व्याघ्रगृध्रशृगालैश्च राक्षसैश्च समस्तु सः ॥

जो स्वादकी इच्छासे अपने लिये दूसरेके प्राणोंकी हिंसा करता है, वह बाघ, गीध, सियार और राक्षसोंके समान है ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासं लभते यत्र यत्रोपजायते ॥

जो पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ-कहीं भी जन्म लेता है वहीं उद्वेगमें पड़ा रहता है ॥

संछेदनं स्वमांसस्य यथा संजनयेद् रुजम्।
तथैव परमांसेऽपि वेदितव्यं विजानता ॥

जैसे अपने मांसको काटना अपने लिये पीड़ाजनक होता है, उसी तरह दूसरेका मांस काटनेपर उसे भी पीड़ा होती है। यह प्रत्येक विज्ञ पुरुषको समझना चाहिये ॥

यस्तु सर्वाणि मांसानि यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स स्वर्गे विपुलं स्थानं लभते नात्र संशयः ॥

जो जीवनभर सब प्रकारके मांस त्याग देता है—कभी मांस नहीं खाता, वह स्वर्गमें विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

यत् तु वर्षशतं पूर्णं तप्यते परमं तपः।
यच्चापि वर्जयेन्मांसं सममेतन्न वा समम् ॥

मनुष्य जो पूरे सौ वर्षोंतक उत्कृष्ट तपस्या करता है और जो वह सदाके लिये मांसका परित्याग कर देता है—उसके ये दोनों कर्म समान हैं अथवा समान नहीं भी हो सकते हैं [मांसका त्याग तपस्यासे भी उत्कृष्ट है] ॥

न हि प्राणैः प्रियतमं लोके किंचन विद्यते।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽऽत्मनि तथा परे॥

संसारमें प्राणोंके समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है । अतः समस्त प्राणियोंपर दया करनी चाहिये । जैसे अपने ऊपर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरोंपर भी होनी चाहिये ॥

इत्येवं मुनयः प्राहुर्मांसस्याभक्षणे गुणान्।

इस प्रकार मुनियोंने मांस न खानेमें गुण बताये हैं ।

उमोवाच

गुरुपूजा कथं देव क्रियते धर्मचारिभिः ॥

उमाने पूछा—देव ! धर्मचारी मनुष्य गुरुजनोंकी पूजा कैसे करते हैं ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

गुरुपूजां प्रवक्ष्यामि यथावत् तव शोभने।
कृतज्ञानां परो धर्म इति वेदानुशासनम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शोभने ! अब मैं तुम्हें यथावत् रूपसे गुरुजनोंकी पूजाकी विधि बता रहा हूँ । वेदकी यह आज्ञा है कि कृतज्ञ पुरुषोंके लिये गुरुजनोंकी पूजा परम धर्म है ॥

तस्मात् स्वगुरवः पूज्यास्ते हि पूर्वोपकारिणः।
गुरूणां च गरीयांसस्त्रयो लोकेषु पूजिताः ॥
उपाध्यायः पिता माता सम्पूज्यास्ते विशेषतः।

अतः सबको अपने-अपने गुरुजनोंका पूजन करना चाहिये; क्योंकि वे गुरुजन संतान और शिष्यपर पहले उपकार करनेवाले हैं । गुरुजनोंमें उपाध्याय (अध्यापक), पिता और माता—ये तीन अधिक गौरवशाली हैं । इनकी

तीनों लोकोंमें पूजा होती है; अतः इन सबका विशेषरूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये ॥

ये पितुर्भ्रातरो ज्येष्ठा ये च तस्यानुजास्तथा ॥
पितुः पिता च सर्वे ते पूजनीयाः पिता तथा ॥

जो पिताके बड़े तथा छोटे भाई हों, वे तथा पिताके भी पिता—ये सब-के-सब पिताके ही तुल्य पूजनीय हैं ॥

मातुर्या भगिनी ज्येष्ठा मातुर्या च यवीयसी।
मातामही च धात्री च सर्वास्ता मातरः स्मृताः ॥

माताकी जो जेठी बहिन तथा छोटी बहिन हैं, वे और नानी एवं धाय—इन सबको माताके ही तुल्य माना गया है ॥

उपाध्यायस्य यः पुत्रो यश्च तस्य भवेद् गुरुः।
ऋत्विग् गुरुः पिता चेति गुरवः सम्प्रकीर्तिताः ॥

उपाध्यायका जो पुत्र है वह गुरु है, उसका जो गुरु है वह भी अपना गुरु है, ऋत्विक् गुरु है और पिता भी गुरु हैं—ये सब-के-सब गुरु कहे गये हैं ॥

ज्येष्ठो भ्राता नरेन्द्रश्च मातुलः श्वशुरस्तथा।
भयत्राता च भर्ता च गुरवस्ते प्रकीर्तिताः ॥

बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वशुर, भयसे रक्षा करनेवाला तथा भर्ता (स्वामी)—ये सब गुरु कहे गये हैं ॥

इत्येष कथितः साध्वि गुरूणां सर्वसंग्रहः।
अनुवृत्तिं च पूजां च तेषामपि निबोध मे ॥

पतिव्रते ! यह गुरु-कोटिमें जिनकी गणना है, उन सबका संग्रह करके यहाँ बताया गया है। अब उनकी अनुवृत्ति और पूजाकी भी बात सुनो ॥

आराध्या मातापितरावुपाध्यायस्तथैव च।
कथंचिन्नावमन्तव्या नरेण हितमिच्छता ॥

अपना हित चाहनेवाले पुरुषको माता, पिता और उपाध्याय—इन तीनोंकी आराधना करनी चाहिये। किसी तरह भी इनका अपमान नहीं करना चाहिये ॥

तेन प्रीणन्ति पितरस्तेन प्रीतः प्रजापतिः।
येन प्रीणाति चेन्माता प्रीताः स्युर्देवमातरः ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायो ब्रह्मा तेनाभिपूजितः।
अप्रीतेषु पुनस्तेषु नरो नरकमेति हि ॥

इससे पितर प्रसन्न होते हैं। प्रजापतिको प्रसन्नता होती है। जिस आराधनाके द्वारा वह माताको प्रसन्न करता है, उससे देवमाताएँ प्रसन्न होती हैं। जिससे वह उपाध्यायको संतुष्ट करता है, उससे ब्रह्माजी पूजित होते हैं। यदि मनुष्य आराधनाद्वारा इन सबको संतुष्ट न करे तो वह नरकमें जाता है॥

गुरूणां वैरनिर्बन्धो न कर्तव्यः कथंचन।
नरकं स्वगुरुप्रीत्या मनसापि न गच्छति ॥

गुरुजनोंके साथ कभी वैर नहीं बाँधना चाहिये। अपने गुरुजनके प्रसन्न होनेपर मनुष्य कभी मनसे भी नरकमें नहीं पड़ता ॥

न ब्रूयाद् विप्रियं तेषामनिष्टं न प्रवर्तयेत्।
विगृह्य न वदेत् तेषां समीपे स्पर्धया क्वचित् ॥

उन्हें जो अप्रिय लगे, ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिये, जिससे उनका अनिष्ट हो, ऐसा काम भी नहीं करना चाहिये। उनसे झगड़कर नहीं बोलना चाहिये और उनके समीप कभी किसी बातके लिये होड़ नहीं लगानी चाहिये ॥

यद् यदिच्छन्ति ते कर्तुमस्वतन्त्रस्तदाचरेत्।
वेदानुशासनसमं गुरुशासनमिष्यते ॥

वे जो-जो काम कराना चाहें, उनकी आज्ञाके अधीन रहकर वह सब कुछ करना चाहिये। वेदोंकी आज्ञाके समान गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन अभीष्ट माना गया है ॥

कलहांश्च विवादांश्च गुरुभिः सह वर्जयेत्।
कैतवं परिहासांश्च मन्युकामाश्रयांस्तथा ॥

गुरुजनोंके साथ कलह और विवाद छोड़ दे, उनके साथ छल-कपट, परिहास तथा काम-क्रोधके आधारभूत बर्ताव भी न करे ॥

गुरूणां योऽनहंवादी करोत्याज्ञामतन्द्रितः।
न तस्मात् सर्वमर्त्येषु विद्यते पुण्यकृत्तमः ॥

जो आलस्य और अहंकार छोड़कर गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करता है, समस्त मनुष्योंमें उससे बढ़कर पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं है ॥

असूयामपवादं च गुरूणां परिवर्जयेत्।
तेषां प्रियहितान्वेषी भूत्वा परिचरेत् सदा ॥

गुरुजनोंके दोष देखना और उनकी निन्दा करना छोड़ दे, उनके प्रिय और हितका ध्यान रखते हुए सदा उनकी परिचर्या करे ॥

न तद् यज्ञफलं कुर्यात् तपो वाऽऽचरितं महत्।
यत् कुर्यात् पुरुषस्येह गुरुपूजा सदा कृता ॥

यज्ञोंका फल और किया हुआ महान् तप भी इस जगत्में मनुष्यको वैसा लाभ नहीं पहुँचा सकता, जैसा सदा किया हुआ गुरुपूजन पहुँचा सकता है ॥

अनुवृत्तेर्विना धर्मो नास्ति सर्वाश्रमेष्वपि।
तस्मात् क्षमावृतः क्षान्तो गुरुवृत्तिं समाचरेत् ॥

सभी आश्रमोंमें अनुवृत्ति (गुरुसेवा) के बिना कोई भी धर्म सफल नहीं हो सकता। इसलिये क्षमासे युक्त और सहनशील होकर गुरुसेवा करे ॥

स्वमर्थं स्वशरीरं च गुर्वर्थे संत्यजेद् बुधः।
विवादं धनहेतोर्वा मोहाद् वा तैर्न रोचयेत् ॥

विद्वान् पुरुष गुरुके लिये अपने धन और शरीरको समर्पण कर दे। धनके लिये अथवा मोहवश उनके साथ विवाद न करे ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च दानानि विविधानि च।
गुरुभिः प्रतिषिद्धस्य सर्वमेतदपार्थकम् ॥

जो गुरुजनोंसे अभिशप्त है, उसके किये हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा और नाना प्रकारके दान—ये सब व्यर्थ हो जाते हैं ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्युर्मनसा कर्मणा वा।

तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तेभ्यो नान्यः पापकृदस्ति लोके॥

जो लोग उपाध्याय, पिता और माताके साथ मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा द्रोह करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी बड़ा पाप लगता है। उनसे बढ़कर पापाचारी इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है॥

उमोवाच

उपवासविधिं तत्र तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने कहा—प्रभो! अब आप मुझे उपवासकी विधि बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शरीरमलशान्त्यर्थमिन्द्रियोच्छोषणाय च।
एकभुक्तोपवासैस्तु धारयन्ते व्रतं नराः॥
लभन्ते विपुलं धर्मं तथाऽऽहारपरिक्षयात्।

श्रीमहेश्वर बोले—प्रिये! शारीरिक दोषकी शान्तिके लिये और इन्द्रियोंको सुखाकर वशमें करनेके लिये मनुष्य एक समय भोजन अथवा दोनों समय उपवासपूर्वक व्रत धारण करते हैं और आहार क्षीण कर देनेके कारण महान् धर्मका फल पाते हैं॥

बहूनामुपरोधं तु न कुर्यादात्मकारणात्॥
जीवोपघातं च तथा स जीवन् धन्य इष्यते।

जो अपने लिये बहुतसे प्राणियोंको बन्धनमें नहीं डालता और न उनका वध ही करता है, वह जीवन भर धन्य माना जाता है॥

तस्मात् पुण्यं लभेन्मर्त्यः स्वयमाहारकर्शनात्॥
तद् गृहस्थैर्यथाशक्ति कर्तव्यमिति निश्चयः॥

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वयं आहारको घटा देनेसे मनुष्य अवश्य पुण्यका भागी होता है। इसलिये गृहस्थोंको यथाशक्ति आहार-संयम करना चाहिये, यह शास्त्रोंका निश्चित आदेश है॥

उपवासार्दिते काये आपदर्थं पयो जलम्।
भुञ्जन्नप्रतिघाती स्याद् ब्राह्मणाननुमान्य च॥

उपवाससे जब शरीरको अधिक पीड़ा होने लगे, तब उस आपत्तिकालमें ब्राह्मणोंसे आज्ञा लेकर यदि मनुष्य दूध अथवा जल ग्रहण कर ले तो इससे उसका व्रत भङ्ग नहीं होता॥

उमोवाच

ब्रह्मचर्यं कथं देव रक्षितव्यं विजानता॥

उमाने पूछा—देव! विज्ञ पुरुषको ब्रह्मचर्यकी रक्षा कैसे करनी चाहिये?॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता॥
ब्रह्मचर्यं परं शौचं ब्रह्मचर्यं परं तपः।
केवलं ब्रह्मचर्येण प्राप्यते परमं पदम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! यह विषय मैं तुम्हें बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम शौचाचार है, ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तपस्या है तथा केवल ब्रह्मचर्यसे भी परमपदकी प्राप्ति होती है॥

संकल्पाद् दर्शनाच्चैव तद्युक्तवचनादपि।
संस्पर्शादथ संयोगात् पञ्चधा रक्षितं व्रतम्॥

संकल्पसे, दृष्टिसे, न्यायोचित वचनसे, स्पर्शसे और संयोगसे—इन पाँच प्रकारोंसे व्रतकी रक्षा होती है॥

व्रतवद्धारितं चैव ब्रह्मचर्यमकल्मषम्।
नित्यं संरक्षितं तस्य नैष्ठिकानां विधीयते॥

व्रतपूर्वक धारण किया हुआ निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य सदा सुरक्षित रहे, ऐसा नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके लिये विधान है॥

तदिष्यते गृहस्थानां कालमुद्दिश्य कारणम्॥
जन्मनक्षत्रयोगेषु पुण्यवासेषु पर्वसु।
देवताधर्मकार्येषु ब्रह्मचर्यव्रतं चरेत्॥

वही ब्रह्मचर्य गृहस्थोंके लिये भी अभीष्ट है, इसमें काल ही कारण है। जन्म-नक्षत्रका योग आनेपर पवित्र स्थानोंमें पर्वोंके दिन तथा देवतासम्बन्धी धर्म-कृत्योंमें गृहस्थोंको ब्रह्मचर्य व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये॥

ब्रह्मचर्यव्रतफलं लभेद् दारव्रती सदा।
शौचमायुस्तथाऽऽरोग्यं लभ्यते ब्रह्मचारिभिः॥

जो सदा एकपत्नीव्रती रहता है, वह ब्रह्मचर्य व्रतके पालनका फल पाता है। ब्रह्मचारियोंको पवित्रता, आयु तथा आरोग्यकी प्राप्ति होती है॥

उमोवाच

तीर्थचर्याव्रतं देव क्रियते धर्मकाङ्क्षिभिः।
कानि तीर्थानि लोकेषु तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—देव! बहुत-से धर्माभिलाषी पुरुष तीर्थयात्राका व्रत धारण करते हैं; अतः लोकोंमें कौन-कौनसे तीर्थ हैं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि तीर्थस्नानविधिं प्रिये।
पावनार्थं च शौचार्थं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें तीर्थस्नानकी विधि बताता हूँ, सुनो। पूर्वकालमें ब्रह्माजीने दूसरोंको पवित्र करने तथा स्वयं भी पवित्र होनेके लिये इस विधिका निर्माण किया था॥

यास्तु लोके महानद्यस्ताः सर्वास्तीर्थसंज्ञिकाः।
तासां प्राक्स्रोतसः श्रेष्ठाः सङ्गमश्च परस्परम्॥

लोकमें जो बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, उन सबका नाम तीर्थ है। उनमें भी जिनका प्रवाह पूरबकी ओर है, वे श्रेष्ठ हैं और जहाँ दो नदियाँ परस्पर मिलती हैं, वह स्थान भी उत्तम तीर्थ कहा गया है॥

तासां सागरसंयोगो वरिष्ठश्चेति विद्यते॥
तासामुभयतः कूलं तत्र तत्र मनीषिभिः।
देवैर्वा सेवितं देवि तत् तीर्थं परमं स्मृतम्॥

और उन नदियोंका जहाँ समुद्रके साथ संयोग हुआ है, वह स्थान सबसे श्रेष्ठ तीर्थ बताया गया है। देवि! उन

नदियोंके दोनों तटोंपर मनीषी पुरुषोंने जिस स्थानका सेवन किया है, वह उत्कृष्ट तीर्थ माना गया है ॥

समुद्रश्च महातीर्थं पावनं परमं शुभम्।
तस्य कूलगतास्तीर्था महद्भिश्च समाप्लुताः ॥

समुद्र भी परम पावन एवं शुभ महातीर्थ है। उसके तट-पर जो तीर्थ हैं, उनमें महात्मा पुरुषोंने गोता लगाया है ॥

स्रोतसां पर्वतानां च जोषितानां महर्षिभिः।
अपि कूलं तटाकं वा सेवितं मुनिभिः प्रिये ॥

प्रिये ! महर्षियोंद्वारा सेवित जो जलस्रोत और पर्वत हैं, उनके तटों और तड़ागोंपर भी बहुतसे मुनि निवास करते हैं॥

तत् तु तीर्थमिति ज्ञेयं प्रभावात् तु तपस्विनाम् ॥
तदाप्रभृति तीर्थत्वं लभेल्लोकहिताय वै।
एवं तीर्थं भवेद् देवि तस्य स्नानविधिं शृणु ॥

उन तपस्वी मुनियोंके प्रभावसे उस स्थानको तीर्थ समझना चाहिये। ऋषियोंके निवासकालसे ही वह स्थान जगत्के हितके लिये तीर्थत्व प्राप्त कर लेता है। देवि ! इस प्रकार स्थानविशेष तीर्थ बन जाता है। अब उसकी स्नानविधि सुनो॥

जन्मना व्रतभूयिष्ठो गत्वा तीर्थानि काङ्क्षया।
उपवासत्रयं कुर्यादेकं वा नियमान्वितः ॥

जो जन्मकालसे ही बहुत-से व्रत करता आया हो, वह पुरुष तीर्थोंके सेवनकी इच्छासे यदि वहाँ जाय तो नियमसे रहकर तीन या एक उपवास करे ॥

पुण्यमासयुते काले पौर्णमास्यां यथाविधि।
बहिरेव शुचिर्भूत्वा तत् तीर्थं मनसा विशेत् ॥

पवित्र माससे युक्त समयमें पूर्णिमाको विधिपूर्वक बाहर ही पवित्र हो मुझमें मन लगाकर उस तीर्थके भीतर प्रवेश करे॥

त्रिराप्लुत्य जलाभ्याशे दत्त्वा ब्राह्मणदक्षिणाम्।
अभ्यर्च्य देवायतनं ततः प्रायाद् यथागतम् ॥

उसमें तीन बार गोता लगाकर जलके निकट ही ब्राह्मण-को दक्षिणा दे, फिर देवालयमें देवताकी पूजा करके जहाँ इच्छा हो, वहाँ जाय ॥

एतद् विधानं सर्वेषां तीर्थं तीर्थमिति प्रिये।
समीपतीर्थस्नानात् तु दूरतीर्थं सुपूजितम् ॥

प्रिये ! प्रत्येक तीर्थमें सबके लिये स्नानका यही विधान है। निकटवर्ती तीर्थमें स्नान करनेकी अपेक्षा दूरवर्ती तीर्थमें स्नान आदि करना अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है ॥

आदिप्रभृति शुद्धस्य तीर्थस्नानं शुभं भवेत्।
तपोऽर्थं पापनाशार्थं शौचार्थं तीर्थगाहनम् ॥

जो पहलेसे ही शुद्ध हो, उसके लिये तीर्थस्नान शुभकारक माना जाता है। तपस्या, पापनाश और बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये तीर्थोंमें स्नान किया जाता है ॥

एवं पुण्येषु तीर्थेषु तीर्थस्नानं शुभं भवेत्।
एतन्नैयमिकं सर्वं सुकृतं कथितं तव ॥

इस प्रकार पुण्यतीर्थोंमें स्नान करना कल्याणकारी होता है। यह सब नियमपूर्वक सम्पादित होनेवाले पुण्यका तुम्हारे सामने वर्णन किया गया है ॥

उमोवाच

लोकसिद्धं तु यद् द्रव्यं सर्वसाधारणं भवेत्।
तद् ददत् सर्वसामान्यं कथं धर्मं लभेन्नरः ॥

उमाने पूछा--भगवन् ! जो द्रव्य लोकमें सबको प्राप्त है, जो सर्वसाधारणकी वस्तु है, उस सर्वसामान्य वस्तुका दान करनेवाला मनुष्य कैसे धर्मका भागी होता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

लोके भूतमयं द्रव्यं सर्वसाधारणं तथा।
तथैव तद् ददन्मर्त्यो लभेत् पुण्यं स तच्छृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा--देवि ! लोकमें जो भौतिक द्रव्य हैं, वे सबके लिये साधारण हैं; उन वस्तुओंका दान करनेवाला मनुष्य किस तरह पुण्यका भागी होता है, यह बताता हूँ, सुनो ॥

दाता प्रतिग्रहीता च देयं सोपक्रमं तथा।
देशकालौ च यत् त्वेतद् दानं षड्गुणमुच्यते॥

दान देनेवाला, उसे ग्रहण करनेवाला, देय वस्तु, उप-क्रम (उसे देनेका प्रयत्न), देश और काल--इन छः वस्तुओं-के गुणोंसे युक्त दान उत्तम बताया जाता है ॥

तेषां सम्पद्विशेषांश्च कीर्त्यमानान् निबोध मे।
आदिप्रभृति यः शुद्धो मनोवाक्कायकर्मभिः।
सत्यवादी जितक्रोधस्त्वलुब्धो नाभ्यसूयकः ॥
श्रद्धावानास्तिकश्चैव एवं दाता प्रशस्यते ॥

अब मैं इन छहोंके विशेष गुणोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। जो आदिकालसे ही मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा शुद्ध हो, सत्यवादी, क्रोधविजयी, लोभहीन, अदोषदर्शी, श्रद्धालु और आस्तिक हो, ऐसा दाता उत्तम बताया गया है॥

शुद्धो दान्तो जितक्रोधस्तथादीनकुलोद्भवः।
श्रुतचारित्रसम्पन्नस्तथा बहुकलत्रवान् ॥
पञ्चयज्ञपरो नित्यं निर्विकारशरीरवान्।
एतान् पात्रगुणान् विद्धि तादृक् पात्रं प्रशस्यते॥

जो शुद्ध, जितेन्द्रिय, क्रोधको जीतनेवाला, उदार एवं उच्च कुलमें उत्पन्न, शास्त्रज्ञान एवं सदाचारसे सम्पन्न, बहुतसे स्त्री-पुत्रोंसे संयुक्त, पञ्चयज्ञपरायण तथा सदा नीरोग शरीरसे युक्त हो, वही दान लेनेका उत्तम पात्र है। उपर्युक्त गुणोंको ही दानपात्रके उत्तम गुण समझो। ऐसे पात्रकी ही प्रशंसा की जाती है ॥

पितृदेवाग्निकार्येषु तस्य दत्तं महत् फलम्।
यद् यदर्हति यो लोके पात्रं तस्य भवेच्च सः ॥

देवता, पितर और अग्निहोत्रसम्बन्धी कार्योंमें उसको दिये हुए दानका महान् फल होता है। लोकमें जो जिस वस्तुके योग्य हो, वही उस वस्तुको पानेका पात्र होता है ॥

मुच्येदापदमापन्नो येन पात्रं तदस्य तु।
अन्नस्य क्षुधितं पात्रं तृषितं तु जलस्य वै ॥

एवं पात्रेषु नानात्वमिष्यते पुरुषं प्रति ।

जिस वस्तुके पानेसे आपत्तिमें पड़ा हुआ मनुष्य आपत्तिसे छूट जाय, उस वस्तुका वही पात्र है । भूखा मनुष्य अन्नका और प्यासा जलका पात्र है । इस प्रकार प्रत्येक पुरुषके लिये दानके भिन्न-भिन्न पात्र होते हैं ॥

जारश्चोरश्च षण्ढश्च हिंस्रः समयभेदकः ।
लोकविघ्नकराश्चान्ये वर्जिताः सर्वशः प्रिये ॥

प्रिये ! चोर, व्यभिचारी, नपुंसक, हिंसक, मर्यादा-भेदक और लोगोंके कार्यमें विघ्न डालनेवाले अन्यान्य पुरुष सब प्रकारसे दानमें वर्जित हैं अर्थात् उन्हें दान नहीं देना चाहिये ॥

परोपघाताद् यद् द्रव्यं चौर्याद् वा लभ्यते नृभिः ।
निर्दयाल्लभ्यते यच्च धूर्तभावेन वै तथा ॥
अधर्मादर्थमोहाद् वा बहूनामुपरोधनात् ।
लभ्यते यद् धनं देवि तदत्यन्तविगर्हितम् ॥

देवि ! दूसरोंका वध या चोरी करनेसे मनुष्योंको जो धन मिलता है, निर्दयता तथा धूर्तता करनेसे जो प्राप्त होता है, अधर्मसे, धनविषयक मोहसे तथा बहुत-से प्राणियोंकी जीविकाका अवरोध करनेसे जो धन प्राप्त होता है, वह अत्यन्त निन्दित है ॥

तादृशेन कृतं धर्मं निष्फलं विद्धि भामिनि ।
तस्मान्न्यायागतेनैव दातव्यं शुभमिच्छता ॥

भामिनि ! ऐसे धनसे किये हुए धर्मको निष्फल समझो । अतः शुभकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको न्यायतः प्राप्त हुए धनके द्वारा ही दान करना चाहिये ॥

यद् यदात्मप्रियं नित्यं तत् तद् देयमिति स्थितिः।
उपक्रममिमं विद्धि दातॄणां परमं हितम् ॥

जो-जो अपनेको प्रिय लगे, उसी-उसी वस्तुका सदा दान करना चाहिये; यही मर्यादा है । इस प्रयत्न या चेष्टाको ही उपक्रम समझो । यह दाताओंके लिये परम हितकारक है ॥

पात्रभूतं तु दूरस्थमभिगम्य प्रसाद्य च ।
दाता दानं तथा दद्याद् यथा तुष्येत तेन सः ॥

दानका सुयोग्य पात्र ब्राह्मण यदि दूरका निवासी हो तो उसके पास जाकर उसे प्रसन्न करके दाता इस प्रकार दान दे, जिससे वह संतुष्ट हो जाय ॥

एष दानविधिः श्रेष्ठः समाहूय तु मध्यमः ॥
पूर्वं च पात्रतां ज्ञात्वा समाहूय निवेद्य च ।
शौचाचमनसंयुक्तं दातव्यं श्रद्धया प्रिये ॥

यह दानकी श्रेष्ठ विधि है । दानपात्रको जो अपने घर बुलाकर दान दिया जाता है, वह मध्यम श्रेणीका दान है । प्रिये ! पहले पात्रताका ज्ञान प्राप्त करके फिर उस सुपात्र ब्राह्मणको घर बुलावे । उसके सामने अपना दानविषयक विचार प्रस्तुत करे । पश्चात् स्वयं ही स्नान आदिसे पवित्र हो आचमन करके श्रद्धापूर्वक अभीष्ट वस्तुका दान करे ॥

याचितॄणां तु परममाभिमुख्यं पुरस्कृतम् ।
सम्मानपूर्वं संग्राह्यं दातव्यं देशकालयोः ॥
अपात्रेभ्योऽपि चान्येभ्यो दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

याचकोंको सामने पाकर उन्हें सम्मानपूर्वक अपनाना और देश-कालके अनुसार दान देना चाहिये । ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे दूसरे अपात्र पुरुषोंको भी आवश्यकता होनेपर अन्न-वस्त्र आदिका दान करें ॥

पात्राणि सम्परीक्ष्यैव दात्रा वै दानमात्रया ।
अतिशक्त्या परं दानं यथाशक्त्या तु मध्यमम् ॥
तृतीयं चापरं दानं नानुरूपमिवात्मनः ॥

पात्रोंकी परीक्षा करके दाता यदि दानकी मात्रा अपनी शक्तिसे भी अधिक करे तो वह उत्तम दान है । यथाशक्ति किया हुआ दान मध्यम है और तीसरा अधम श्रेणीका दान है, जो अपनी शक्तिके अनुरूप न हो ॥

यथा सम्भावितं पूर्वं दातव्यं तत् तथैव च ।
पुण्यक्षेत्रेषु यद् दत्तं पुण्यकालेषु वा तथा ॥
तच्छोभनतरं विद्धि गौरवाद् देशकालयोः ।

पहले जैसा बताया गया है, उसी प्रकार दान देना चाहिये । पुण्य क्षेत्रोंमें तथा पुण्यके अवसरोंपर जो कुछ दिया जाता है, उसे देश और कालके गौरवसे अत्यन्त शुभ-कारक समझो ॥

उमोवाच

यश्च पुण्यतमो देशस्तथा कालश्च शंस मे ॥

उमाने पूछा—प्रभो ! पवित्रतम देश और काल क्या है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

कुरुक्षेत्रं महानद्यो यच्च देवर्षिसेवितम् ।
गिरिर्वरश्च तीर्थानि देशभागेषु पूजितः ॥
ग्रहीतुमीप्सते यत्र तत्र दत्तं महाफलम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! कुरुक्षेत्र, गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ, देवताओं तथा ऋषियोंद्वारा सेवित स्थान एवं श्रेष्ठ पर्वत—ये सब-के-सब तीर्थ हैं । जहाँ देशके सभी मार्गोंमें पूजित श्रेष्ठ पुरुष दान ग्रहण करना चाहता हो, वहाँ दिये हुए दानका महान् फल होता है ॥

शरद्वसन्तकालश्च पुण्यमासस्तथैव च ।
शुक्लपक्षश्च पक्षाणां पौर्णमासी च पर्वसु ॥
पितृदैवतनक्षत्रनिर्मलो दिवसस्तथा ।
तच्छोभनतरं विद्धि चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ॥

शरद् और वसन्तका समय, पवित्र मास, पक्षोंमें शुक्ल-पक्ष, पर्वोंमें पौर्णमासी, मघानक्षत्रयुक्त निर्मल दिवस, चन्द्र ग्रहण और सूर्यग्रहण—इन सबको अत्यन्त शुभकारक काल समझो ॥

दाता देयं च पात्रं च उपक्रमयुता क्रिया ।
देशकालं तथेत्येषां सम्पच्छुद्धिः प्रकीर्तिता ॥

दाता हो, देनेकी वस्तु हो, दान लेनेवाला पात्र हो, उपक्रमयुक्त क्रिया हो और उत्तम देश-काल हो—इन सबका सम्पन्न होना शुद्धि कही गयी है ॥

यदैव युगपत् सम्पत् तत्र दानं महद् भवेत् ॥
अत्यल्पमपि यद् दानमेभिः षड्भिर्गुणैर्युतम् ।
भूत्वानन्तं नयेत् स्वर्गं दातारं दोषवर्जितम् ॥

जब कभी एक समय इन सबका संयोग जुट जाय तभी दान देना महान् फलदायक होता है। इन छः गुणोंसे युक्त जो दान है, वह अत्यन्त अल्प होनेपर भी अनन्त होकर निर्दोष दाताको स्वर्गलोकमें पहुँचा देता है ॥

उमोवाच

एवंगुणयुतं दानं दत्तं चाफलतां व्रजेत् ।

उमाने पूछा—प्रभो ! इन गुणोंसे युक्त दान दिया गया हो तो क्या वह भी निष्फल हो सकता है ?

श्रीमहेश्वर उवाच

तदप्यस्ति महाभागे नराणां भावदोषतः ॥
कृत्वा धर्मं तु विधिवत् पश्चात्तापं करोति चेत् ।
श्लाघया वा यदि ब्रूयाद् वृथा संसदि यत् कृतम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे ! मनुष्योंके भाव-दोषसे ऐसा भी होता है। यदि कोई विधिपूर्वक धर्मका सम्पादन करके फिर उसके लिये पश्चात्ताप करने लगता है अथवा भरी सभामें उसकी प्रशंसा करते हुए बड़ी-बड़ी बातें बनाने लगता है, उसका वह धर्म व्यर्थ हो जाता है ॥

एते दोषा विवर्ज्याश्च दातृभिः पुण्यकाङ्क्षिभिः॥
सनातनमिदं वृत्तं सद्भिराचरितं तथा ।

पुण्यकी अभिलाषा रखनेवाले दाताओंको चाहिये कि वे इन दोषोंको त्याग दें। यह दानसम्बन्धी आचार सनातन है। सत्पुरुषोंने सदा इसका आचरण किया है ॥

अनुग्रहात् परेषां तु गृहस्थानामृणं हि तत् ॥
इत्येवं मन आविश्य दातव्यं सततं बुधैः ॥

दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये दान किया जाता है। गृहस्थोंपर तो दूसरे प्राणियोंका ऋण होता है, जो दान करनेसे उतरता है, ऐसा मनमें समझकर विद्वान् पुरुष सदा दान करता रहे ॥

एवमेव कृतं नित्यं सुकृतं तद् भवेन्महत् ।
सर्वसाधारणं द्रव्यमेवं दत्त्वा महत् फलम् ॥

इस तरह दिया हुआ सुकृत सदा महान् होता है। सर्व-साधारण द्रव्यका भी इसी तरह दान करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

उमोवाच

भगवन् कानि देयानि धर्ममुद्दिश्य मानवैः ।
तान्यहं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंको धर्मके उद्देश्यसे किन-किन वस्तुओंका दान करना चाहिये ? यह मैं सुनना चाहती हूँ। आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अजस्रं धर्मकार्यं च तथा नैमित्तिकं प्रिये ।
अन्नं प्रतिश्रयो दीपः पानीयं तृणमिन्धनम् ॥
स्नेहो गन्धश्च भैषज्यं तिलाश्च लवणं तथा ।
एवमादि तथान्यच्च दानमाजस्रमुच्यते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! निरन्तर धर्मकार्य तथा नैमित्तिक कर्म करने चाहिये। अन्न, निवासस्थान, दीप, जल, तृण, ईंधन, तेल, गन्ध, ओषधि, तिल और नमक—ये तथा और भी बहुत-सी वस्तुएँ निरन्तर दान करनेकी वस्तुएँ बतायी गयी हैं ॥

अन्नं प्राणो मनुष्याणामन्नदः प्राणदो भवेत् ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छति मानवः ॥

अन्न मनुष्योंका प्राण है। जो अन्न दान करता है, वह प्राणदान करनेवाला होता है। अतः मनुष्य विशेषरूपसे अन्नका दान करना चाहता है ॥

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमीप्सितम् ।
निदधाति निधिश्रेष्ठं सोऽनन्तं पारलौकिकम् ॥

अनुरूप ब्राह्मणको जो अभीष्ट अन्न प्रदान करता है, वह परलोकमें अपने लिये अनन्त एवं उत्तम निधिकी स्थापना करता है ॥

श्रान्तमध्वपरिश्रान्तमतिथिं गृहमागतम् ।
अर्चयीत प्रयत्नेन स हि यज्ञो वरप्रदः ॥

रास्तेका थका-माँदा अतिथि यदि घरपर आ जाय तो यत्नपूर्वक उसका आदर-सत्कार करे; क्योंकि वह अतिथि-सत्कार मनोवाञ्छित फल देनेवाला यज्ञ है ॥

पितरस्तस्य नन्दन्ति सुवृष्ट्या कर्षका इव ।
पुत्रो यस्य तु पौत्रो वा श्रोत्रियं भोजयिष्यति ॥

जिसका पुत्र अथवा पौत्र किसी श्रोत्रिय ब्राह्मणको भोजन कराता है, उसके पितर उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जैसे अच्छी वर्षा होनेसे किसान ॥

अपि चाण्डालशूद्राणामन्नदानं न गर्ह्यते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दद्यादन्नममत्सरः ॥

चाण्डाल और शूद्रोंको भी दिया हुआ अन्नदान निन्दित नहीं होता। अतः ईर्ष्या छोड़कर सब प्रकारके प्रयत्नद्वारा अन्नदान करना चाहिये ॥

अन्नदानाच्च लोकांस्तान् सम्प्रवक्ष्याम्यनिन्दिते ।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ॥

अनिन्दिते ! अन्नदानसे जो लोक प्राप्त होते हैं उनका वर्णन करता हूँ। उन महामना दानी पुरुषोंको मिले हुए भवन देवलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥

अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ।
वैडूर्यार्चिःप्रकाशानि हेमरूप्यनिभानि च ॥
नानारूपाणि संस्थानां नानारत्नमयानि च ।
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किंकिणीजालवन्ति च ॥
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ।
यथेष्टभक्ष्यभोज्यानि शयनासनवन्ति च ॥
सर्वकामफलाश्चात्र वृक्षा भवनसंस्थिताः ।
वाप्यो बह्व्यश्च कूपाश्च दीर्घिकाश्च सहस्रशः ॥

उन भव्य भवनोंमें सैकड़ों तल्ले हैं। उनके भीतर जल और वन हैं। वे वैदूर्यमणिके तेजसे प्रकाशित होते हैं। उनमें सोने और चाँदी-जैसी चमक है। उन गृहोंके अनेक रूप हैं। नाना प्रकारके रत्नोंसे उनका निर्माण हुआ है। वे चन्द्रमण्डलके समान उज्ज्वल और क्षुद्र घण्टिकाओंकी झालरोंसे सुशोभित हैं। किन्हीं-किन्हींकी कान्ति प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होती है। उन महात्माओंके वे भवन स्थावर भी हैं और जङ्गम भी। उनमें इच्छानुसार भक्ष्य-भोज्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। उत्तम शय्या और आसन बिछे रहते हैं। वहाँ सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देनेवाले कल्पवृक्ष प्रत्येक घरमें विराजमान हैं। वहाँ बहुत-सी बावड़ियाँ, कुएँ और सहस्रों जलाशय हैं॥

अरुजानि विशोकानि नित्यानि विविधानि च।
भवनानि विचित्राणि प्राणदानां त्रिविष्टपे॥

प्राणस्वरूप अन्न-दान करनेवाले लोगोंको स्वर्गमें जो भाँति-भाँतिके विचित्र भवन प्राप्त होते हैं, वे रोग-शोकसे रहित और नित्य (चिरस्थायी) हैं॥

विवस्वतश्च सोमस्य ब्रह्मणश्च प्रजापतेः।
विशन्ति लोकांस्ते नित्यं जगत्यन्नोदकप्रदाः॥

जगत्‌में सदा अन्न और जलका दान करनेवाले मनुष्य सूर्य, चन्द्रमा तथा प्रजापति ब्रह्माजीके लोकोंमें जाते हैं॥

तत्र ते सुचिरं कालं विहृत्याप्सरसां गणैः।
जायन्ते मानुषे लोके सर्वकल्याणसंयुताः॥

वे वहाँ चिरकालतक अप्सराओंके साथ विहार करके पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लेते और समस्त कल्याणकारी गुणोंसे संयुक्त होते हैं॥

बलसंहननोपेता नीरोगाश्चिरजीविनः।
कुलीना मतिमन्तश्च भवन्त्यन्नप्रदा नराः॥

वे सबल शरीरसे सम्पन्न, नीरोग, चिरजीवी, कुलीन, बुद्धिमान् तथा अन्नदाता होते हैं॥

तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता।
सर्वकालं च सर्वस्य सर्वत्र च सदैव च॥

अतः अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा, सर्वत्र, सबके लिये, सब समय विशेषरूपसे अन्नदान करना चाहिये॥

सुवर्णदानं परमं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
तस्मात् ते वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
अपि पापकृतं क्रूरं दत्तं रुक्मं प्रकाशयेत्॥

सुवर्णदान परम उत्तम, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और महान् कल्याणकारी है। इसलिये तुमसे क्रमशः उसीका यथावत्‌रूपसे वर्णन करूँगा। दिया हुआ सुवर्णका दान क्रूर और पापाचारीको भी प्रकाशित कर देता है॥

सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियेभ्यः सुचेतसः।
देवतास्ते तर्पयन्ति समस्ता इति वैदिकम्॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको सुवर्णका दान करते हैं, वे समस्त देवताओंको तृप्त कर देते हैं। यह वेदका मत है॥

अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं चाग्निरुच्यते।
तस्मात् सुवर्णदानेन तृप्ताः स्युः सर्वदेवताः॥

अग्नि सम्पूर्ण देवताओंके स्वरूप हैं और सुवर्णको भी अग्निरूप ही बताया जाता है। इसलिये सुवर्णके दानसे समस्त देवता तृप्त होते हैं॥

अग्न्यभावे तु कुर्वन्ति वह्निस्थानेषु काञ्चनम्।
तस्मात् सुवर्णदातारः सर्वान् कामानवाप्नुयुः॥

अग्निके अभावमें उसकी जगह सुवर्णको स्थापित करते हैं। अतः सुवर्णका दान करनेवाले पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेते हैं॥

आदित्यस्य हुताशस्य लोकान् नानाविधाञ्शुभान्।
काञ्चनं सम्प्रदायाशु प्रविशन्ति न संशयः॥

सुवर्णका दान करके मनुष्य शीघ्र ही सूर्य एवं अग्निके नाना प्रकारके मङ्गलकारी लोकोंमें प्रवेश करते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

अलंकारं कृतं चापि केवलात् प्रविशिष्यते।
सौवर्णैर्ब्राह्मणं काले तैरलंकृत्य भोजयेत्॥
य एतत् परमं दानं दत्त्वा सौवर्णमद्भुतम्।
द्युतिं मेधां वपुः कीर्तिं पुनर्जाते लभेद् ध्रुवम्॥

केवल सुवर्णकी अपेक्षा उसका आभूषण बनवाकर दान देना श्रेष्ठ माना गया है। अतः दानकालमें ब्राह्मणको सोनेके आभूषणोंसे विभूषित करके भोजन करावे। जो यह अद्भुत एवं उत्कृष्ट सुवर्ण-दान करता है, वह पुनर्जन्म लेनेपर निश्चय ही सुन्दर शरीर, कान्ति, बुद्धि और कीर्ति पाता है॥

तस्मात् स्वशक्त्या दातव्यं काञ्चनं भुवि मानवैः।
न ह्येतस्मात् परं लोकेष्वन्यत् पापात् प्रमुच्यते॥

अतः मनुष्योंको अपनी शक्तिके अनुसार पृथ्वीपर सुवर्ण-दान अवश्य करना चाहिये। संसारमें इससे बढ़कर कोई दान नहीं है। सुवर्णदान करके मनुष्य पापसे मुक्त हो जाता है॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गवां दानमनिन्दिते।
न हि गोभ्यः परं दानं विद्यते जगति प्रिये॥

अनिन्दिते! इसके बाद मैं गोदानका वर्णन करूँगा। प्रिये! इस संसारमें गौओंके दानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥

लोकान् सिसृक्षुणा पूर्वं गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा।
वृत्त्यर्थं सर्वभूतानां तस्मात् ता मातरः स्मृताः॥

पूर्वकालमें लोकसृष्टिकी इच्छावाले स्वयम्भू ब्रह्माजीने समस्त प्राणियोंकी जीवन-वृत्तिके लिये गौओंकी सृष्टि की थी। इसलिये वे सबकी माताएँ मानी गयी हैं॥

लोकज्येष्ठा लोकवृत्त्यां प्रवृत्ता
मय्यायत्ताः सोमनिष्यन्दभूताः।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च
तस्मात् पूज्याः पुण्यकामैर्मनुष्यैः॥

गौएँ सम्पूर्ण जगत्‌में ज्येष्ठ हैं। वे लोगोंको जीविका देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई हैं। मेरे अधीन हैं और चन्द्रमाके अमृतमय द्रवसे प्रकट हुई हैं। वे सौम्य, पुण्यमयी, कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली तथा प्राणदायिनी हैं। इसलिये पुण्याभिलाषी मनुष्योंके लिये पूजनीय हैं॥

धेनुं दत्त्वा निभृतां सुशीलां
कल्याणवत्सां च पयस्विनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावत्समाः स्वर्गफलानि भुङ्क्ते॥

जो हृष्ट-पुष्ट, अच्छे स्वभाववाली, उत्तम बछड़ेसे युक्त एवं दूध देनेवाली गायका दान करता है, वह उस गायके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक स्वर्गीय फल भोगता है॥

प्रयच्छते यः कपिलां सचैलां
सकांस्यदोहां कनकाग्र्यशृङ्गीम्।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र॥

जो काँसके दुग्धपात्र और सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली कपिला गौका वस्त्रसहित दान करता है, वह अपने पुत्रों, पौत्रों तथा सातवीं पीढ़ीतकके समस्त कुलका परलोकमें उद्धार कर देता है॥

अन्तर्जाताः क्रीतका द्यूतलब्धाः
प्राणक्रीताः सोदकाश्चौजसा वा।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणार्थागताश्च
द्वारैरेतैस्ताः प्रलब्धाः प्रदद्यात्॥

जो अपने ही यहाँ पैदा हुई हों, खरीदकर लायी गयी हों, जुएमें जीत ली गयी हों, बदलेमें दूसरा कोई प्राणी देकर खरीदी गयी हों, जल हाथमें लेकर संकल्पपूर्वक दी गयी हों, अथवा युद्धमें बलपूर्वक जीती गयी हों, संकटसे छुड़ाकर लायी गयी हों, या पालन-पोषणके लिये आयी हों—इन द्वारोंसे प्राप्त हुई गौओंका दान करना चाहिये॥

कृशाय बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
प्रदाय नीरुजां धेनुं लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान्॥

जीविकाके बिना दुर्बल, अनेक पुत्रवाले, अग्निहोत्री, श्रोत्रिय ब्राह्मणको दूध देनेवाली नीरोग गायका दान करके दाता सर्वोत्तम लोकोंको प्राप्त होता है॥

नृशंसस्य कृतघ्नस्य लुब्धस्यानृतवादिनः।
हव्यकव्यव्यपेतस्य न दद्याद् गाः कथंचन॥

जो क्रूर, कृतघ्न, लोभी, असत्यवादी और हव्य-कव्यसे दूर रहनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको किसी तरह गौएँ नहीं देनी चाहिये॥

समानवत्सां यो दद्याद् धेनुं विप्रे पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नां सोमलोके महीयते॥

जो मनुष्य समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी एवं दूध देनेवाली गायको वस्त्र ओढ़ाकर ब्राह्मणको दान करता है, वह सोमलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

समानवत्सां यो दद्यात् कृष्णां धेनुं पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नां लोकान् प्राप्नोत्यपाम्पतेः॥

जो समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी एवं दूध देनेवाली काली गौको वस्त्र ओढ़ाकर उसका ब्राह्मणको दान करता है, वह जलके स्वामी वरुणके लोकोंमें जाता है॥

हिरण्यवर्णां पिङ्गाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंछन्नां यान्ति कौबेरसद्मनः॥

जिसके शरीरका रंग सुनहरा, आँखें भूरी, साथमें बछड़ा और काँसकी दुहानी हो, उस गौको वस्त्र ओढ़ाकर दान करनेसे मनुष्य कुबेरके धाममें जाते हैं॥

वायुरेणुसवर्णां च सवत्सां कांस्यदोहनाम्।
प्रदाय वस्त्रसंछन्नां वायुलोके महीयते॥

वायुसे उड़ी हुई धूलिके समान रंगवाली, बछड़ेसहित, दूध देनेवाली गायको कपड़ा ओढ़ाकर काँसेके दुहानीके साथ दान देकर दाता वायुलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

समानवत्सां यो धेनुं दत्त्वा गौरीं पयस्विनीम्।
सुवृत्तां वस्त्रसंछन्नामग्निलोके महीयते॥

जो समान रंगके बछड़ेवाली, सीधी-सादी, धौरी एवं दूध देनेवाली धेनुको वस्त्रसे आच्छादित करके उसका दान करता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

युवानं बलिनं श्यामं शतेन सह यूथपम्।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिशृङ्गमलंकृतम्॥
ऋषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाणां महात्मनाम्।
ऐश्वर्यमभिजायन्ते जायमानाः पुनः पुनः॥

जो लोग महामनस्वी श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको नौजवान, बड़े सींगवाले, बलवान्, श्यामवर्ण, एक सौ गौओंसहित यूथपति गवेन्द्र (साँड़) को पूर्णतः अलंकृत करके उसे श्रेष्ठ ब्राह्मणके हाथमें दे देते हैं, वे बारंबार जन्म लेनेपर ऐश्वर्यके साथ ही जन्म लेते हैं॥

गवां मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासां मांसमश्नीयाद् गोषु भक्तः सदा भवेत्॥

गौओंके मल-मूत्रसे कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये और उनका मांस कभी नहीं खाना चाहिये। सदा गौओंका भक्त होना चाहिये॥

ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं शुचिः।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत् सार्वकामिकम्॥

जो पवित्र भावसे रहकर एक वर्षतक दूसरेकी गायको एक मुट्ठी ग्रास खिलाता है और स्वयं आहार नहीं करता, उसका वह व्रत सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला होता है॥

गवामुभयतः काले नित्यं स्वस्त्ययनं वदेत्।
न चासां चिन्तयेत् पापमिति धर्मविदो विदुः॥

गौओंके पास प्रतिदिन दोनों समय उनके कल्याणकी बात कहनी चाहिये। कभी उनका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करना चाहिये। ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है॥

गावः पवित्रं परमं गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
कथंचिन्नावमन्तव्या गावो लोकस्य मातरः ॥

गौएँ परम पवित्र वस्तु हैं, गौओंमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। अतः किसी तरह गौओंका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सम्पूर्ण जगत्‌की माताएँ हैं ॥

तस्मादेव गवां दानं विशिष्टमिति कथ्यते ।
गोषु पूजा च भक्तिश्च नरस्यायुष्यतां वहेत् ॥

इसीलिये गौओंका दान सबसे उत्कृष्ट बताया जाता है। गौओंकी पूजा तथा उनके प्रति की हुई भक्ति मनुष्यकी आयु बढ़ानेवाली होती है ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानं महाफलम् ।
भूमिदानसमं दानं लोके नास्तीति निश्चयः ॥

इसके बाद मैं भूमिदानका महत्त्व बतलाऊँगा। भूमिदान-का महान् फल है। संसारमें भूमिदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है। यही धर्मात्मा पुरुषोंका निश्चय है ॥

गृहयुक् क्षेत्रयुग् वापि भूमिभागः प्रदीयते ।
सुखभोगं निराक्रोशं वास्तुपूर्वं प्रकल्प्य च ॥
ग्रहीतारमलंकृत्य वस्त्रपुष्पानुलेपनैः ।
सभृत्यं सपरीवारं भोजयित्वा यथेष्टतः ॥
यो दद्याद् दक्षिणां काले त्रिरद्भिर्गृह्यतामिति ॥

गृह अथवा क्षेत्रसे युक्त भू-भागका दान करना चाहिये। जहाँ सुख भोगनेकी सुविधा हो, जो अनिन्दनीय स्थान हो, वहाँ वास्तुपूजनपूर्वक गृह बनाकर दान लेनेवालेको वस्त्र, पुष्पमाला तथा चन्दनसे अलंकृत करके सेवक और परिवार-सहित उसे यथेष्ट भोजन करावे। तत्पश्चात् यथासमय तीन बार हाथमें जल लेकर 'दान ग्रहण कीजिये' ऐसा कहकर उसे उस भूमिका दान एवं दक्षिणा दे ॥

एवं भूम्यां प्रदत्तायां श्रद्धया वीतमत्सरैः ।
यावत् तिष्ठति सा भूमिस्तावत् तस्य फलं विदुः ।

इस प्रकार ईर्ष्यारहित पुरुषोंद्वारा श्रद्धापूर्वक भूदान दिये जानेपर जबतक वह भूमि रहती है, तबतक दाता उसके दानजनित फलका उपभोग करते हैं ॥

भूमिदः स्वर्गमारुह्य रमते शाश्वतीः समाः ।
अचला ह्यक्षया भूमिः सर्वकामान् दुधुक्षति ॥

भूमिदान देनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें जाकर सदा ही सुख भोगता है; क्योंकि यह अचल एवं अक्षय भूमि सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करती है ॥

यत् किंचित् कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः ।
अपि गोकर्णमात्रेण भूमिदानेन मुच्यते ॥

जीविकाके लिये कष्ट पानेवाला पुरुष जो कोई भी पाप करता है, गायके कान बराबर भूमिका दान करनेसे भी मुक्त हो जाता है ॥

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च ।
सर्वमेतन्महाभागे भूमिदाने प्रतिष्ठितम् ॥

महाभागे! भूमिदानमें सुवर्ण, रजत, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान प्रतिष्ठित है ॥

भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकाय संसिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥

स्वामीके कल्याण-साधनमें तत्पर हो युद्धमें मारे जाकर अपने शरीरका परित्याग करनेवाले शूरवीर योद्धा उत्तम सिद्धि पाकर ब्रह्मलोककी यात्रा करते हैं; परंतु वे भी भूमिदान करनेवालेको लाँघ नहीं पाते हैं ॥

हलकृष्टां महीं दद्याद् यत्सबीजफलान्विताम् ।
सुकूपशरणां वापि सा भवेत् सर्वकामदा ॥

जहाँ सुन्दर कूआँ और रहनेके लिये घर बना हो, जो हलसे जोती गयी हो और जिसमें बीजसहित फल लगे हों, ऐसी भूमिका दान करना चाहिये। वह सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली होती है ॥

निष्पन्नसस्यां पृथिवीं यो ददाति द्विजन्मनाम् ।
विमुक्तः कलुषैः सर्वैः शक्रलोकं स गच्छति ॥

जो उपजी हुई खेतीसे युक्त भूमिका ब्राह्मणोंके लिये दान करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो इन्द्रलोकमें जाता है ॥

यथा जनित्री क्षीरेण स्वपुत्रमभिवर्धयेत् ।
एवं सर्वफलैर्भूमिर्दातारमभिवर्धयेत् ॥

जैसे माता दूध पिलाकर अपने पुत्रका पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार भूमि सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फल देकर दाताको अभ्युदयशील बनाती है ॥

ब्राह्मणं वृत्तसम्पन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम् ।
ग्राहयित्वा निजां भूमिं न यान्ति यमसादनम् ॥

जो लोग उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, अग्निहोत्री एवं सदाचारी ब्राह्मणको अपनी भूमि देते हैं, वे यमलोकमें कभी नहीं जाते हैं ॥

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि दृश्यते ।
तथा भूमेः कृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥

जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमाकी प्रतिदिन वृद्धि होती देखी जाती है, उसी प्रकार किये हुए भूमिदानका महत्त्व प्रत्येक नयी फसल पैदा होनेपर बढ़ता जाता है ॥

यथा बीजानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले ।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानगुणार्जिताः ॥

जैसे पृथ्वीपर बिखेरे हुए बीज अंकुरित हो जाते हैं, उसी प्रकार भूमिदानके गुणोंसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग अंकुरित होते और बढ़ते हैं ॥

पितरः पितृलोकस्था देवताश्च दिवि स्थिताः ।
संतर्पयन्ति भोगैस्तं यो ददाति वसुंधराम् ॥

जो भूमिका दान करता है, उसे पितृलोकनिवासी पितर और स्वर्गवासी देवता अभीष्ट भोगोंद्वारा तृप्त करते हैं ॥

दीर्घायुष्यं वराङ्गत्वं स्फीतां च श्रियमुत्तमाम् ।
परत्र लभते मर्त्यः सम्प्रदाय वसुंधराम् ॥

भूमिदान करके मनुष्य परलोकमें दीर्घायु, सुन्दर शरीर और बढ़ी-चढ़ी उत्तम सम्पत्ति पाता है ॥

एतत् सर्वं मयोद्दिष्टं भूमिदानस्य यत् फलम्।
श्रद्दधानैर्नरैर्नित्यं श्राव्यमेतत् सनातनम् ॥

यह सब मैंने भूमिदानका फल बताया है। श्रद्धालु पुरुषोंको प्रतिदिन यह सनातन दानमाहात्म्य सुनना चाहिये ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कन्यादानं यथाविधि।
कन्या देया महादेवि परेषामात्मनोऽपि वा ॥

अब मैं विधिपूर्वक कन्यादानका माहात्म्य बताऊँगा। महादेवि ! दूसरोंकी और अपनी भी कन्याका दान करना चाहिये ॥

कन्यां शुद्धव्रताचारां कुलरूपसमन्विताम्।
यस्मै दित्सति पात्राय तेनापि भृशकामिताम् ॥

जो शुद्ध व्रत एवं आचारवाली, कुलीन एवं सुन्दर रूपवाली कन्याका किसी सुपात्र पुरुषको दान करना चाहता है, उसे इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि वह सुपात्र व्यक्ति उस कन्याको बहुत चाहता है या नहीं (वह पुरुष उसे चाहता हो तभी उसके साथ उस कन्याका विवाह करना चाहिये) ॥

प्रथमं तां समाकल्प्य बन्धुभिः कृतनिश्चयाम्।
कारयित्वा गृहं पूर्वं दासीदासपरिच्छदैः ॥
गृहोपकरणैश्चैव पशुधान्येन संयुताम्।
तदर्थिने तदर्हाय कन्यां तां समलङ्कृताम् ॥
सविवाहं यथान्यायं प्रयच्छेदग्निसाक्षिकम् ॥

पहले बन्धुओंके साथ सलाह करके कन्याके विवाहका निश्चय करे, तत्पश्चात् उसे वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित करे। फिर उसके लिये मण्डप बनाकर दास-दासी, अन्यान्य सामग्री, घरके आवश्यक उपकरण, पशु और धान्यसे सम्पन्न एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुई उस कन्याका उसे चाहनेवाले योग्य वरको अग्निदेवकी साक्षितामें यथोचित रीतिसे विवाह-पूर्वक दान करे ॥

वृत्त्यायतीं यथा कृत्वा सद्गृहे तौ निवेशयेत् ॥
एवं कृत्वा वधूदानं तस्य दानस्य गौरवात्।
प्रेत्यभावे महीयेत स्वर्गलोके यथासुखम् ॥
पुनर्जातश्च सौभाग्यं कुलवृद्धिं तथाऽऽप्नुयात् ॥

भविष्यमें जीवन-निर्वाहके लिये पूर्ण व्यवस्था करके उन दोनों दम्पतिको उत्तम गृहमें ठहरावे। इस प्रकार वधूवेषमें कन्या-का दान करके उस दानकी महिमासे दाता मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें सुख और सम्मानके साथ रहता है। फिर जन्म लेनेपर उसे सौभाग्य प्राप्त होता है तथा वह अपने कुलको बढ़ाता है ॥

विद्यादानं तथा देवि पात्रभूताय वै ददत्।
प्रेत्यभावे लभेन्मर्त्यो मेधां बुद्धिं धृतिं स्मृतिम् ॥

देवि ! सुपात्र शिष्यको विद्यादान देनेवाला मनुष्य मृत्युके पश्चात् वृद्धि, बुद्धि, धृति और स्मृति प्राप्त करता है ॥

अनुरूपाय शिष्याय यश्च विद्यां प्रयच्छति।
यथोक्तस्य प्रदानस्य फलमानन्त्यमश्नुते ॥

जो सुयोग्य शिष्यको विद्या दान करता है, उसे शास्त्रोक्त दानका अक्षय फल प्राप्त होता है ॥

दापनं त्वथ विद्यानां दरिद्रेभ्योऽर्थवेदनैः।
स्वयं दत्तेन तुल्यं स्यादिति विद्धि शुभानने ॥

शुभानने ! निर्धन छात्रोंको धनकी सहायता देकर विद्या प्राप्त कराना भी स्वयं किये हुए विद्यादानके समान है, ऐसा समझो ॥

एवं ते कथितान्येव महादानानि मानिनि।
त्वत्प्रियार्थं मया देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

मानिनि ! देवि ! इस प्रकार मैंने तुम्हारी प्रसन्नताके लिये ये बड़े-बड़े दान बताये हैं। अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश कथं देयं तिलान्वितम्।
तस्य तस्य फलं ब्रूहि दत्तस्य च कृतस्य च ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! तिलका दान कैसे करना चाहिये ? और करनेका क्या फल होता है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तिलकल्पविधिं देवि तन्मे शृणु समाहिता ॥
समृद्धैरसमृद्धैर्वा तिला देया विशेषतः।
तिलाः पवित्राः पापघ्नाः सुपुण्या इति संस्मृताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—तुम एकाग्रचित्त होकर मुझसे तिलकल्पकी विधि सुनो। मनुष्य धनी हों या निर्धन, उन्हें विशेषरूपसे तिलोंका दान करना चाहिये; क्योंकि तिल पवित्र, पापनाशक और पुण्यमय माने गये हैं ॥

न्यायतस्तु तिलाञ्शुद्धान् संहृत्याथ स्वशक्तितः।
तिलराशिं पुनः कुर्यात् पर्वताभं सरत्नकम् ॥
महान्तं यदि वा स्तोकं नानाद्रव्यसमन्वितम् ॥
सुवर्णरजताभ्यां च मणिमुक्ताप्रवालकैः।
अलंकृत्य यथायोगं सपताकं सवेदिकम् ॥
सभूषणं सवस्त्रं च शयनासनसम्मितम् ॥
प्रायशः कौमुदीमासे पौर्णमास्यां विशेषतः।
भोजयित्वा च विधिवद् ब्राह्मणानर्हतो बहून् ॥
स्वयं कृतोपवासश्च वृत्तशौचसमन्वितः।
दद्यात् प्रदक्षिणीकृत्य तिलराशिं सदक्षिणम् ॥

अपनी शक्तिके अनुसार न्यायपूर्वक शुद्ध तिलोंका संग्रह करके उनकी पर्वताकार राशि बनावे। वह राशि छोटी हो या बड़ी उसे नाना प्रकारके द्रव्यों तथा रत्नोंसे युक्त करे। फिर यथाशक्ति सोना, चाँदी, मणि, मोती और मूँगोंसे अलंकृत करके पताका, वेदी, भूषण, वस्त्र, शय्या और आसनसे सुशोभित करे। प्रायः आश्विन मासमें विशेषतः पूर्णिमा तिथिको बहुत-से सुयोग्य ब्राह्मणोंको विधिवत् भोजन कराकर स्वयं उपवास करके शौचाचारसम्पन्न हो उन

ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके दक्षिणासहित उस तिलराशिका दान करे ॥

एकस्यापि बहूनां वा दातव्यं भूतिमिच्छता ।
तस्य दानफलं देवि अग्निष्टोमेन संयुतम् ॥

कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह एक ही पुरुषको या अनेक व्यक्तियोंको दान दे। देवि ! उसके दानका फल अग्निष्टोम यज्ञके समान होता है ॥

केवलं वा तिलैरेव भूमौ कृत्वा गवाकृतिम् ।
सवत्सकं सरत्नं च पुंसा गोदानकाङ्क्षिणा ॥
तदर्हाय प्रदातव्यं तस्य गोदानतः फलम् ॥

अथवा पृथ्वीपर केवल तिलोंसे ही गौकी आकृति बनाकर गोदानके फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य रत्न और वत्ससहित उस तिल-धेनुका सुयोग्य ब्राह्मणको दान करे। इससे दाताको गोदान करनेका फल मिलता है ॥

शरावांस्तिलसम्पूर्णान् सहिरण्यान् सचम्पकान् ।
नृपो ददद् ब्राह्मणाय स पुण्यफलभाग् भवेत् ॥

जो राजा सुवर्ण और चम्पासे युक्त तथा तिलसे भरे हुए शरावों (पुरवों) का ब्राह्मणको दान करता है, वह पुण्य-फलका भागी होता है ॥

एवं तिलमयं देयं नरेण हितमिच्छता ।
नानादानफलं भूयः शृणु देवि समाहिता ॥

देवि ! अपना हित चाहनेवाले मनुष्यको इसी प्रकार तिलमयी धेनुका दान करना चाहिये। अब पुनः एकाग्रचित्त होकर नाना प्रकारके दानोंका फल सुनो ॥

बलमायुष्यमारोग्यमन्नदानाल्लभेन्नरः ।
पानीयदस्तु सौभाग्यं रसज्ञानं लभेन्नरः ॥

अन्नदान करनेसे मनुष्यको बल, आयु और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। जलदान करनेवाला पुरुष सौभाग्य तथा रसका ज्ञान प्राप्त करता है ॥

वस्त्रदानाद् वपुःशोभामलंकारं लभेन्नरः ।
दीपदो बुद्धिवैशद्यं द्युतिशोभां लभेन्नरः ॥

वस्त्रदान करनेसे मनुष्य शारीरिक शोभा और आभूषण लाभ करता है। दीपदान करनेवालेकी बुद्धि निर्मल होती है तथा उसे द्युति एवं शोभाकी प्राप्ति होती है ॥

राजबीजाविमोक्षं तु छत्रदो लभते फलम् ।
दासीदासप्रदानात् तु भवेत् कर्मान्तभाङ् नरः ॥
दासीदासं च विविधं लभेत् प्रेत्य गुणान्वितम् ॥

छत्रदान करनेवाला पुरुष किसी भी जन्ममें राजवंशसे अलग नहीं होता। दासी और दासोंका दान करनेसे मनुष्य कर्मोंका अन्त कर देता है और मृत्युके पश्चात् उत्तम गुणोंसे युक्त भाँति-भाँतिके दासों और दासियोंको प्राप्त करता है ॥

यानानि वाहनं चैव तदर्हाय ददन्नरः ।
पादरोगपरिक्लेशान्मुक्तः श्वसनवाहवान् ॥
विचित्रं रमणीयं च लभते यानवाहनम् ॥

जो मनुष्य सुयोग्य ब्राह्मणको रथ आदि यानों और वाहनोंका दान करता है, वह पैरसम्बन्धी रोगों और क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। उसकी सवारीमें वायुके समान वेगशाली घोड़े मिलते हैं। वह विचित्र एवं रमणीय यान और वाहन पाता है ॥

सेतुकूपतटाकानां कर्ता तु लभते नरः ।
दीर्घायुष्यं च सौभाग्यं तथा प्रेत्य गतिं शुभाम् ॥

पुल, कुआँ और पोखरा बनवानेवाला मानव दीर्घायु, सौभाग्य तथा मृत्युके पश्चात् शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥

वृक्षसंरोपको यस्तु छायापुष्पफलप्रदः ।
प्रेत्यभावे लभेत् पुण्यमभिगम्यो भवेन्नरः ॥

जो वृक्ष लगानेवाला तथा छाया, फूल और फल प्रदान करनेवाला है, वह मृत्युके पश्चात् पुण्यलोक पाता है और सबके लिये मिलनेके योग्य हो जाता है ॥

यस्तु संक्रमकृल्लोके नदीषु जलहारिणाम् ।
लभेत् पुण्यफलं प्रेत्य व्यसनेभ्यो विमोक्षणम् ॥

जो मनुष्य इस जगत्में नदियोंपर जल ले जानेवाले पुरुषोंकी सुविधाके लिये पुल निर्माण कराता है, वह मृत्युके पश्चात् उसका पुण्यफल पाता है और सब प्रकारके सङ्कटोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

मार्गकृत् सततं मर्त्यो भवेत् संतानवान् पुनः ।
कायदोषविमुक्तस्तु तीर्थकृत् सततं भवेत् ॥

जो मनुष्य सदा मार्गका निर्माण करता है, वह संतानवान् होता है। तथा जो जलमें उतरनेके लिये सीढ़ी एवं पक्के घाट बनवाता है, वह शारीरिक दोषसे मुक्त हो जाता है ॥

औषधानां प्रदानात् तु सततं कृपयान्वितः ।
भवेद् व्याधिविहीनश्च दीर्घायुश्च विशेषतः ॥

जो सदा कृपापूर्वक रोगियोंको औषध प्रदान करता है, वह रोगहीन और विशेषतः दीर्घायु होता है ॥

अनाथान् पोषयेद् यस्तु कृपणान्धकपङ्गुकान् ।
स तु पुण्यफलं प्रेत्य लभते कृच्छ्रमोक्षणम् ॥

जो अनाथों, दीन-दुखियों, अन्धों और पङ्गु मनुष्योंका पोषण करता है, वह मृत्युके पश्चात् उसका पुण्यफल पाता और सङ्कटसे मुक्त हो जाता है ॥

वेदगोष्ठाः सभाः शाला भिक्षूणां च प्रतिश्रयम् ।
यः कुर्याल्लभते नित्यं नरः प्रेत्य शुभं फलम् ॥

जो मनुष्य वेदविद्यालय, सभाभवन, धर्मशाला तथा भिक्षुओंके लिये आश्रम बनाता है, वह मृत्युके पश्चात् शुभ फल पाता है ॥

विविधं विविधाकारं भक्ष्यभोज्यगुणान्वितम् ।
रम्यं सदैव गोवाटं यः कुर्याल्लभते नरः ॥
प्रेत्यभावे शुभां जातिं व्याधिमोक्षं तथैव च ।
एवं नानाविधं द्रव्यं दानकर्ता लभेत् फलम् ॥

जो मानव उत्तम भक्ष्य-भोज्यसम्बन्धी गुणोंसे युक्त तथा नाना प्रकारकी आकृतिवाली भाँति-भाँतिकी रमणीय गोशालाओंका सदैव निर्माण करता है, वह मृत्युके पश्चात्

उत्तम जन्म पाता और रोगमुक्त होता है। इस प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंका दान करनेवाला मनुष्य पुण्यफलका भागी होता है ॥

बुद्धिमायुष्यमारोग्यं बलं भाग्यं तथाऽऽगमम्।
रूपेण सप्तधा भूत्वा मानुष्यं फलति ध्रुवम् ॥

बुद्धि, आयुष्य, आरोग्य, बल, भाग्य, आगम तथा रूप—इन सात भागोंमें प्रकट होकर मनुष्यका पुण्यकर्म अवश्य अपना फल देता है ॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश विशिष्टं यज्ञमुच्यते।
लौकिकं वैदिकं चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—भगवन्! देवदेवेश्वर! लौकिक और वैदिक यज्ञको उत्तम बताया जाता है। अतः इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवतानां तु पूजा या यज्ञेष्वेव समाहिता।
यज्ञा वेदेष्वधीताश्च वेदा ब्राह्मणसंयुताः ॥

श्रीमहेश्वर बोले—देवि! देवताओंकी जो पूजा है, वह यज्ञोंके ही अन्तर्गत है। यज्ञोंका वेदोंमें वर्णन है और वेद ब्राह्मणोंके साथ हैं ॥

इदं तु सकलं द्रव्यं दिवि वा भुवि वा प्रिये।
यज्ञार्थं विद्धि तत् सृष्टं लोकानां हितकाम्यया ॥

प्रिये! स्वर्गलोकमें या पृथ्वीपर जो द्रव्य दृष्टिगोचर होता है, इस सबकी सृष्टि विधाताद्वारा लोकहितकी कामनासे यज्ञके लिये की गयी है, ऐसा समझो ॥

एवं विज्ञाय तत् कर्ता सदारः सततं द्विजः।
प्रेत्यभावे लभेल्लोकान् ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

ऐसा समझकर जो द्विज सदा अपनी स्त्रीके साथ रहकर यज्ञ-कर्म करता है, वह ब्रह्मकर्ममें तत्पर रहनेके कारण मृत्युके पश्चात् पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥

ब्राह्मणेष्वेव तद् ब्रह्म नित्यं देवि समाहितम् ॥
तस्माद् विप्रैर्यथाशास्त्रं विधिदृष्टेन कर्मणा।
यज्ञकर्म कृतं सर्वं देवता अभितर्पयेत् ॥

देवि! वह ब्रह्म (वेद) सदा ब्राह्मणोंमें ही स्थित है, अतः शास्त्र-विधिके अनुसार ब्राह्मणोंद्वारा किया हुआ सम्पूर्ण यज्ञकर्म देवताओंको तृप्त करता है ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव यज्ञार्थं प्रायशः स्मृताः ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्वेदेषु परिकल्पितैः।
सुशुद्धैर्यजमानैश्च ऋत्विग्भिश्च यथाविधि ॥
शुद्धैर्द्रव्योपकरणैर्यष्टव्यमिति निश्चयः ॥

ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी उत्पत्ति प्रायः यज्ञके लिये ही मानी गयी है। शुद्ध यजमानों तथा ऋत्विजोंद्वारा किये गये वेदवर्णित अग्निष्टोम आदि यज्ञों एवं विशुद्ध द्रव्योपकरणोंसे यजन करना चाहिये, यह शास्त्रका निश्चय है ॥

तथा कृतेषु यज्ञेषु देवानां तोषणं भवेत्।
तुष्टेषु सर्वदेवेषु यज्वा यज्ञफलं लभेत् ॥

इस प्रकार किये गये यज्ञोंमें देवताओंको संतोष होता है और सम्पूर्ण देवताओंके संतुष्ट होनेपर यजमानको यज्ञका पूरा-पूरा फल मिलता है ॥

देवाः संतोषिता यज्ञैर्लोकान् संवर्धयन्त्युत।

यज्ञोंद्वारा संतुष्ट किये हुए देवता सम्पूर्ण लोकोंकी वृद्धि करते हैं।

तस्माद् यज्वा दिवं गत्वामरैः सह मोदते।
नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो निधिः ॥
सर्वधर्मसमुद्देशो देवि यज्ञे समाहितः।

इसलिये यजमान स्वर्गलोकमें जाकर देवताओंके साथ आनन्द भोगता है। यज्ञके समान कोई दान नहीं है और यज्ञके समान कोई निधि नहीं है। देवि! सम्पूर्ण धर्मोंका उद्देश्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥

एषा यज्ञकृता पूजा लौकिकीमपरां शृणु ॥
देवसत्कारमुद्दिश्य क्रियते लौकिकोत्सवः ॥

यह यज्ञद्वारा की गयी देवपूजा वैदिकी है। इससे भिन्न जो दूसरी लौकिकी पूजा है, उसका वर्णन सुनो। देवताओंके सत्कारके लिये लोकमें समय-समयपर उत्सव किया जाता है ॥

देवगोष्ठेऽधिसंस्कृत्य चोत्सवं यः करोति वै।
यागान् देवोपहारांश्च शुचिर्भूत्वा यथाविधि ॥
देवान् संतोषयित्वा स देवि धर्ममवाप्नुयात् ॥

देवि! जो देवालयमें देवताका संस्कार करके उत्सव मनाता है और पवित्र होकर विधिपूर्वक यज्ञ एवं देवताओंको उपहार समर्पित करके उन्हें संतुष्ट करता है, वह धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त करता है ॥

गन्धमाल्यैश्च विविधैः परमान्नेन धूपनैः।
बह्वीभिः स्तुतिभिश्चैव स्तुवद्भिः प्रयतैर्नरैः ॥
नृत्तैर्वाद्यैश्च गान्धर्वैरन्यैर्दृष्टिविलोभनैः।
देवसत्कारमुद्दिश्य कुर्वते ये नरा भुवि ॥
तेषां भक्तिकृतेनैव सत्कारेणैव पूजिताः।
तेनैव तोषं संयान्ति देवि देवास्त्रिविष्टपे ॥

देवि! इस भूतलपर जो मनुष्य देवताओंके सत्कारके उद्देश्यसे नाना प्रकारके गन्ध, माल्य, उत्तम अन्न, धूपदान तथा बहुत-सी स्तुतियोंद्वारा स्तवन करते हैं और शुद्धचित्त हो नृत्य, वाद्य, गान तथा दृष्टिको लुभानेवाले अन्यान्य कार्यक्रमोंद्वारा देवाराधन करते हैं, उनके भक्तिजनित सत्कारसे ही पूजित हो देवता स्वर्गमें उतनेसे ही संतुष्ट हो जाते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[श्राद्धविधान आदिका वर्णन, दानकी त्रिविधतासे उसके फलकी भी त्रिविधताका उल्लेख, दानके पाँच फल, नाना प्रकारके धर्म और उनके फलोंका प्रतिपादन]

उमोवाच

पितृमेधः कथं देव तन्मे शंसितुमर्हसि।
सर्वेषां पितरः पूज्याः सर्वसम्पत्प्रदायिनः ॥

उमाने पूछा—देव ! पितृमेध (श्राद्ध) कैसे किया जाता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें । सम्पूर्ण सम्पदाओंके दाता पितर सभीके लिये पूजनीय होते हैं ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

पितृमेधं प्रवक्ष्यामि यथावत् तन्मनाः शृणु ।
देशकालौ विधानं च तत्क्रियायाः शुभाशुभम् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! मैं पितृमेधका यथावत् रूपसे वर्णन करता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । देश, काल, विधान तथा क्रियाके शुभाशुभ फलका भी वर्णन करूँगा ॥

लोकेषु पितरः पूज्या देवतानां च देवताः ।
शुचयो निर्मलाः पुण्या दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥

सभी लोकोंमें पितर पूजनीय होते हैं । वे देवताओंके भी देवता हैं । उनका स्वरूप शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र है । वे दक्षिणदिशामें निवास करते हैं ॥

यथा वृष्टिं प्रतीक्षन्ते भूमिष्ठाः सर्वजन्तवः ।
पितरश्च तथा लोके पितृमेधं शुभेक्षणे ॥

शुभेक्षणे ! जैसे भूमिपर रहनेवाले सभी प्राणी वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार पितृलोकमें रहनेवाले पितर श्राद्धकी प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥

तस्य देशाः कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा सरस्वती ।
प्रभासं पुष्करं चेति तेषु दत्तं महाफलम् ॥

श्राद्धके लिये पवित्र देश हैं—कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, सरस्वती, प्रभास और पुष्कर—इन तीर्थस्थानोंमें दिया गया श्राद्धका दान महान् फलदायक होता है ॥

तीर्थानि सरितः पुण्या विविक्तानि वनानि च ।
नदीनां पुलिनानीति देशाः श्राद्धस्य पूजिताः ॥

तीर्थ, पवित्र नदियाँ, एकान्त वन तथा नदियोंके तट—ये श्राद्धके लिये प्रशंसित देश हैं ॥

माघप्रोष्ठपदौ मासौ श्राद्धकर्मणि पूजितौ ।
पक्षयोः कृष्णपक्षश्च पूर्वपक्षात् प्रशस्यते ॥

श्राद्ध-कर्ममें माघ और भाद्रपदमास प्रशंसित हैं । दोनों पक्षोंमें पूर्वपक्ष (शुक्ल) की अपेक्षा कृष्णपक्ष उत्तम बताया जाता है।

अमावास्यां त्रयोदश्यां नवम्यां प्रतिपत्सु च ।
तिथिष्वेतासु तुष्यन्ति दत्तेनेह पितामहाः ॥

अमावास्या, त्रयोदशी, नवमी और प्रतिपदा—इन तिथियोंमें यहाँ श्राद्धका दान करनेसे पितृगण संतुष्ट होते हैं ॥

पूर्वाह्णे शुक्लपक्षे च रात्रौ जन्मदिनेषु वा ।
युग्मेष्वहस्सु च श्राद्धं न च कुर्वीत पण्डितः ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि पूर्वाह्णमें, शुक्लपक्षमें, रात्रिमें, अपने जन्मके दिनमें और युग्म दिनोंमें श्राद्ध न करे ॥

एष कालो मया प्रोक्तः पितृमेधस्य पूजितः ।
यस्मिंश्च ब्राह्मणं पात्रं पश्येत् कालः स च स्मृतः ॥

यह मैंने श्राद्धका प्रशस्त समय बताया है। जिस दिन सुपात्र ब्राह्मणका दर्शन हो, वह भी श्राद्धका उत्तम समय माना गया है॥

अपाङ्क्तेया द्विजा वर्ज्या ग्राह्यास्ते पङ्क्तिपावनाः ।
भोजयेद् यदि पापिष्ठाञ्छ्राद्धेषु नरकं व्रजेत् ॥

श्राद्धमें अपाङ्क्तेय ब्राह्मणोंका त्याग और पङ्क्तिपावन ब्राह्मणोंको ग्रहण करना चाहिये । यदि कोई श्राद्धमें पापिष्ठोंको भोजन कराता है तो वह नरकमें पड़ता है ॥

वृत्तश्रुतकुलोपेतान् सकलत्रान् गुणान्वितान् ।
तदर्हाञ्श्रोत्रियान् विद्धि ब्राह्मणानयुजः शुभे ॥

शुभे ! जो सदाचार, शास्त्रज्ञान और उत्तम कुलसे सम्पन्न, सपत्नीक तथा सद्गुणी हों, ऐसे श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको तुम श्राद्धके योग्य समझो । श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी संख्या विषम होनी चाहिये ॥

एतान् निमन्त्रयेद् विद्वान् पूर्वेद्युः प्रातरेव वा ।
ततः श्राद्धक्रियां पश्चादारभेत यथाविधि ॥

विद्वान् पुरुष इन ब्राह्मणोंको श्राद्धके पहले ही दिन अथवा श्राद्धके ही दिन प्रातःकाल निमन्त्रण दे । तत्पश्चात् विधिपूर्वक श्राद्धकर्म आरम्भ करे ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र हैं—दौहित्र, कुतपकाल (दिनके पंद्रह भागमेंसे आठवाँ भाग) तथा तिल । इस कार्यमें तीन गुणोंकी प्रशंसा की जाती है । पवित्रता, क्रोधहीनता और अत्वरा (जल्दीबाजी न करना) ॥

कुतपः खड्गपात्रं च कुशा दर्भास्तिला मधु ।
कालशाकं गजच्छाया पवित्रं श्राद्धकर्मसु ॥

कुतप, खड्गपात्र, कुशा, दर्भ, तिल, मधु, कालशाक और गजच्छाया—ये वस्तुएँ श्राद्धकर्ममें पवित्र मानी गयी हैं ॥

तिलानवकिरेत् तत्र नानावर्णान् समन्ततः ।
अशुद्धमपवित्रं च तिलैः शुध्यति शोभने ॥

श्राद्धके स्थानमें चारों ओर अनेक वर्णवाले तिल बिखेरने चाहिये । शोभने ! तिलोंसे अशुद्ध और अपवित्र स्थान शुद्ध हो जाता है ॥

नीलकाषायवस्त्रं च भिन्नवर्णं नवव्रणम् ।
हीनाङ्गमशुचिं वापि वर्जयेत् तत्र दूरतः ॥

श्राद्धमें नीला और गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाले, विभिन्न वर्णवाले, नये घाववाले, किसी अङ्गसे हीन और अपवित्र मनुष्यको दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥

उपकल्प्य तदाहारं ब्राह्मणानर्चयेत् ततः ॥
श्मश्रुकर्मशिरस्स्नातान् समारोप्यासनं क्रमात् ।
सुगन्धमाल्याभरणैः स्रग्भिरेतान् विभूषयेत् ॥

श्राद्धकी रसोई तैयार करके ब्राह्मणोंकी पूजा करे । हजामत बनवाकर सिरसे नहाये हुए उन ब्राह्मणोंको क्रमशः आसनपर बिठाकर सुगन्ध, माला, आभूषणों तथा पुष्पहारोंसे विभूषित करे ॥

अलंकृत्योपविष्टांस्तान् पिण्डावापं निवेदयेत् ॥
ततः प्रस्तीर्य दर्भाणां प्रस्तरं दक्षिणामुखम् ।

तत्समीपेऽग्निमिद्ध्वा च स्वधां च जुहुयात् ततः॥

अलंकृत होकर बैठे हुए उन ब्राह्मणोंको यह निवेदन करे कि अब मैं पिण्डदान करूँगा। तदनन्तर दक्षिणाभिमुख कुश बिछाकर उनके समीप अग्नि प्रज्वलित करके उसमें श्राद्धान्नकी आहुति दे (आहुतिके मन्त्र इस प्रकार हैं— अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा) ॥

समीपे त्वग्नीषोमाभ्यां पितृभ्यो जुहुयात् तदा॥
तथा दर्भेषु पिण्डांस्त्रीन् निर्वपेद् दक्षिणामुखः।
अपसव्यमपाङ्गुष्ठं नामधेयपुरस्कृतम्॥

इस प्रकार अग्नि और सोमके लिये आहुति देकर उनके समीप पितरोंके निमित्त होम करे तथा दक्षिणाभिमुख हो अपसव्य होकर अर्थात् जनेऊको दाहिने कंधेपर रखकर पितरोंके नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए कुशोंपर तीन पिण्ड दे। उन पिण्डोंका अङ्गुष्ठसे स्पर्श न हो॥

एतेन विधिना दत्तं पितॄणामक्षयं भवेत्।
ततो विप्रान् यथाशक्ति पूजयेन्नियतः शुचिः॥
सदक्षिणं ससम्भारं यथा तुष्यन्ति ते द्विजाः॥

इस विधिसे दिया हुआ पिण्डदान पितरोंके लिये अक्षय होता है। तत्पश्चात् मनको वशमें रखकर पवित्र हो यथाशक्ति दक्षिणा और सामग्री देकर ब्राह्मणोंकी यथाशक्ति पूजा करे। जिससे वे संतुष्ट हो जायँ॥

यत्र तत् क्रियते तत्र न जल्पेन्न जपेन्मिथः।
नियम्य वाचं देहं च श्राद्धकर्म समारभेत्॥

जहाँ यह श्राद्ध या पूजन किया जाता है, वहाँ न तो कुछ बोले और न आपसमें ही कुछ दूसरी बात करे। वाणी और शरीरको संयममें रखकर श्राद्धकर्म आरम्भ करे॥

ततो निर्वपने वृत्ते तान् पिण्डांस्तदनन्तरम्।
ब्राह्मणोऽग्निरजो गौर्वा भक्षयेदप्सु वा क्षिपेत्॥

पिण्डदानका कार्य पूर्ण हो जानेपर उन पिण्डोंको ब्राह्मण, अग्नि, बकरा अथवा गौ भक्षण कर ले या उन्हें जलमें डाल दिया जाय॥

पत्नी वा मध्यमं पिण्डं पुत्रकामां हि प्राशयेत्।
आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्॥

यदि श्राद्धकर्ताकी पत्नीको पुत्रकी कामना हो, तो वह मध्यम पिण्ड अर्थात् पितामहको अर्पित किये हुए पिण्डको खा ले और प्रार्थना करे कि 'पितरो! आपलोग मेरे गर्भमें कमलोंकी मालासे अलंकृत एक सुन्दर कुमारकी स्थापना करें॥'

तृप्तानुत्थाप्य तान् विप्रानन्नशेषं निवेदयेत्।
तच्छेषं बहुभिः पश्चात् सभृत्यो भक्षयेन्नरः॥

जब ब्राह्मणलोग भोजन करके तृप्त हो जायँ, तब उन्हें उठाकर शेष अन्न दूसरोंको निवेदन करे। तत्पश्चात् बहुत-से लोगोंके साथ मनुष्य भृत्यवर्गसहित शेष अन्नका स्वयं भोजन करे॥

एष प्रोक्तः समासेन पितृयज्ञः सनातनः।
पितरस्तेन तुष्यन्ति कर्ता च फलमाप्नुयात्॥

यह सनातन पितृयज्ञका संक्षेपसे वर्णन किया गया। इससे पितर संतुष्ट होते हैं और श्राद्धकर्ताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है॥

अहन्यहनि वा कुर्यान्मासे मासेऽथवा पुनः।
संवत्सरं द्विः कुर्याच्च चतुर्वापि स्वशक्तितः॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन, प्रतिमास, सालमें दो बार अथवा चार बार भी श्राद्ध करे॥

दीर्घायुश्च भवेत् स्वस्थः पितृमेधेन वा पुनः।
सपुत्रो बहुभृत्यश्च प्रभूतधनधान्यवान्॥

श्राद्ध करनेसे मनुष्य दीर्घायु एवं स्वस्थ होता है। वह बहुत-से पुत्र, सेवक तथा धन-धान्यसे सम्पन्न होता है॥

श्राद्धदः स्वर्गमाप्नोति निर्मलं विविधात्मकम्।
अप्सरोगणसंघुष्टं विरजस्कमनन्तरम्॥

श्राद्धका दान करनेवाला पुरुष विविध आकृतियोंवाले, निर्मल, रजोगुणरहित और अप्सराओंसे सेवित स्वर्गलोकमें निरन्तर निवास पाता है॥

श्राद्धानि पुष्टिकामा वै ये प्रकुर्वन्ति पण्डिताः।
तेषां पुष्टिं प्रजां चैव दास्यन्ति पितरः सदा॥

जो पुष्टिकी इच्छा रखनेवाले पण्डित श्राद्ध करते हैं, उन्हें पितर सदा पुष्टि एवं संतान प्रदान करते हैं॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं शत्रुविनाशनम्।
कुलसंधारकं चेति श्राद्धमाहुर्मनीषिणः॥

मनीषी पुरुष श्राद्धको धन, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, शत्रुनाशक एवं कुलधारक बताते हैं॥

प्रमाणकल्पनां देवि दानस्य शृणु भामिनि॥
यत्सारस्तु नरो लोके तद् दानं चोत्तमं स्मृतम्।
सर्वदानविधिं प्राहुस्तदेव भुवि शोभने॥

देवि! भामिनि! दानके फलका जो प्रमाण माना गया है, उसे सुनो। जगत्‌में मनुष्यके पास जो सार वस्तु है, उसका दान उसके लिये उत्तम माना गया है। शोभने! इस पृथ्वीपर उसीको सम्पूर्ण दानकी विधि कही गयी है॥

प्रस्थं सारं दरिद्रस्य सारं कोटिधनस्य च।
प्रस्थसारस्तु तत् प्रस्थं ददन्महदवाप्नुयात्॥
कोटिसारस्तु तां कोटिं ददन्महदवाप्नुयात्।
उभयं तन्महत् तच्च फलेनैव समं स्मृतम्॥

दरिद्रका सार है सेरभर अन्न और जो करोड़पति है उसका सार है करोड़। जिसका सेरभर अनाज ही सार है, वह उसीका दान करके महान् फल प्राप्त कर लेता है और जिसका सार एक करोड़ मुद्रा है, वह उसीका दान कर दे तो महान् फलका भागी होता है। ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण दान हैं और दोनोंका फल महान् माना गया है॥

धर्मार्थकामभोगेषु शक्त्यभावस्तु मध्यमम्।
स्वद्रव्यादतिहीनं तु तद् दानमधमं स्मृतम्॥

धर्म, अर्थ और काम भोगमें शक्तिका अभाव हो जाय और उस अवस्थामें कुछ दान किया जाय तो वह दान मध्यम कोटिका है और अपने धन एवं शक्तिसे अत्यन्त हीन

कोटिका दान अधम माना गया है ॥

शृणु दत्तस्य वै देवि पञ्चधा फलकल्पनाम् ।
आनन्त्यं च महच्चैव समं हीनं हि पातकम् ॥

देवि ! दानके फलकी पाँच प्रकारसे कल्पना की गयी है, उसको सुनो । अनन्त, महान्, सम, हीन और पाप—ये पाँच तरहके फल होते हैं ॥

तेषां विशेषं वक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता ।
दुस्त्यजस्य च वै दानं पात्र आनन्त्यमुच्यते ॥

देवि ! इन पाँचोंकी जो विशेषता है, उसे बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो । जिस धनका त्याग करना अत्यन्त कठिन हो, उसे सुपात्रको देना 'आनन्त्य' कहलाता है अर्थात् उस दानका फल अनन्त—अक्षय होता है ॥

दानं षड्गुणयुक्तं तु महदित्यभिधीयते ।
यथाश्रद्धं तु वै दानं यथार्हं सममुच्यते ॥

पूर्वोक्त छः गुणोंसे युक्त जो दान है, उसीको 'महान्' कहा गया है। जैसी अपनी श्रद्धा हो उसीके अनुसार यथायोग्य दान देना 'सम' कहलाता है ॥

गुणतस्तु तथा हीनं दानं हीनमिति स्मृतम् ।
दानं पातकमित्याहुः षड्गुणानां विपर्यये ॥

गुणहीन दानको 'हीन' कहा गया है । यदि पूर्वोक्त छः गुणोंके विपरीत दान किया जाय तो वह 'पातक'रूप कहा गया है ॥

देवलोके महत् कालमानन्त्यस्य फलं विदुः ।
महतस्तु तथा कालं स्वर्गलोके तु पूज्यते ॥

आनन्त्य या 'अनन्त' नामक दानका फल देवलोकमें दीर्घ कालतक भोगा जाता है । महद् दानका फल यह है कि मनुष्य स्वर्गलोकमें अधिक कालतक पूजित होता है ॥

समस्य तु तदा दानं मानुष्यं भोगमावहेत् ।
दानं निष्फलमित्याहुर्विहीनं क्रियया शुभे ॥

सम-दान मनुष्यलोकका भोग प्रस्तुत करता है । शुभे ! क्रियासे हीन दान निष्फल बताया गया है ॥

अथवा म्लेच्छदेशेषु तत्र तत्फलतां व्रजेत् ।
नरकं प्रेत्य तिर्यक्षु गच्छेदशुभदानतः ॥

अथवा म्लेच्छ देशोंमें जन्म लेकर मनुष्य वहाँ उसका फल पाता है । अशुभदानसे पाप लगता है और उसका फल भोगनेके लिये वह दाता मृत्युके पश्चात् नरक या तिर्यक् योनियोंमें जाता है ॥

उमोवाच

अशुभस्यापि दानस्य शुभं स्याच फलं कथम् ।

उमाने पूछा—भगवन् ! अशुभदानका भी फल शुभ कैसे होता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मनसा तत्त्वतः शुद्धमानृशंस्यपुरस्सरम् ।
प्रीत्या तु सर्वदानानि दत्त्वा फलमवाप्नुयात् ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये ! जो दान शुद्ध हृदयसे अर्थात् निष्काम भावसे दिये जानेके कारण तत्त्वतः शुद्ध हो, जिसमें क्रूरताका अभाव हो, जो दयापूर्वक दिया गया हो, वह शुभ फल देनेवाला है । सभी प्रकारके दानोंको प्रसन्नताके साथ देकर दाता शुभ फलका भागी होता है ॥

रहस्यं सर्वदानानामेतद् विद्धि शुभेक्षणे ।
अन्यानि धर्मकार्याणि शृणु सद्भिः कृतानि च ॥

शुभेक्षणे ! इसीको तुम सम्पूर्ण दानोंका रहस्य समझो । अब सत्पुरुषोंद्वारा किये गये अन्य धर्म-कार्योंका वर्णन सुनो ॥

आरामदेवगोष्ठानि संक्रमाः कूप एव च ।
गोवाटश्च तटाकश्च सभा शाला च सर्वशः ॥
पाषण्डावसथश्चैव पानीयं गोतृणानि च ।
व्याधितानां च भैषज्यमनाथानां च पोषणम् ॥
अनाथशवसंस्कारस्तीर्थमार्गविशोधनम् ।
व्यसनाभ्यवपत्तिश्च सर्वेषां च स्वशक्तितः ॥
एतत् सर्वं समासेन धर्मकार्यमिति स्मृतम् ।
तत् कर्तव्यं मनुष्येण स्वशक्त्या श्रद्धया शुभे ॥

बगीचा लगाना, देवस्थान बनाना, पुल और कुआँका निर्माण करना, गोशाला, पोखरा, धर्मशाला, सबके लिये घर, पाखण्डीतकको भी आश्रय देना, पानी पिलाना, गौओंको घास देना, रोगियोंके लिये दवा और पथ्यकी व्यवस्था करना, अनाथ बालकोंका पालन-पोषण करना, अनाथ मुर्दोंका दाह-संस्कार कराना, तीर्थ-मार्गका शोधन करना, अपनी शक्तिके अनुसार सभीके संकटको दूर करनेका प्रयत्न करना—यह सब संक्षेपसे धर्मकार्य बताया गया । शुभे ! मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक यह धर्मकार्य करना चाहिये ॥

प्रेत्यभावे लभेत् पुण्यं नास्ति तत्र विचारणा ।
रूपं सौभाग्यमारोग्यं बलं सौख्यं लभेन्नरः ॥
स्वर्गे वा मानुषे वापि तैस्तैराप्यायते हि सः ॥

यह सब करनेसे मृत्युके पश्चात् मनुष्यको पुण्य प्राप्त होता है, इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । वह धर्मात्मा पुरुष रूप, सौभाग्य, आरोग्य, बल और सुख पाता है । वह स्वर्गलोकमें रहे या मनुष्यलोकमें, उन-उन पुण्य-फलोंसे तृप्त होता रहता है ॥

उमोवाच

भगवँल्लोकपालेश धर्मस्तु कतिभेदकः ।
दृश्यते परितः सद्भिस्तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमाने कहा—भगवन् ! लोकपालेश्वर ! धर्मके कितने भेद हैं ? साधु पुरुष सब ओर उसके कितने भेद देखते हैं ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्मृतिधर्मश्च बहुधा सद्भिराचार इष्यते ॥
देशधर्माश्च दृश्यन्ते कुलधर्मास्तथैव च ।
जातिधर्माश्च वै धर्मा गणधर्माश्च शोभने ॥

स्मृतिकथित धर्म अनेक प्रकारका है । श्रेष्ठ पुरुषोंको आचार-धर्म अभीष्ट होता है । शोभने ! देश-धर्म, कुल-

धर्म, जाति-धर्म तथा समुदाय-धर्म भी दृष्टिगोचर होते हैं ॥

शरीरकालवैषम्यादापद्धर्मश्च दृश्यते ।
एतद् धर्मस्य नानात्वं क्रियते लोकवासिभिः ॥

शरीर और कालकी विषमतासे आपद्धर्म भी देखा जाता है । इस जगत्में रहनेवाले मनुष्य ही धर्मके ये नाना भेद करते हैं ॥

तत्कारणसमायोगे लभेत् कुर्वन् फलं नरः ॥

कारणका संयोग होनेपर धर्माचरण करनेवाला मनुष्य उस धर्मके फलको प्राप्त करता है ॥

श्रौतस्मार्तस्तु धर्माणां प्रकृतो धर्म उच्यते ।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

धर्मोंमें जो श्रौत (वेद-कथित) और स्मार्त (स्मृति-कथित) धर्म है, उसे प्रकृत धर्म कहते हैं । देवि ! इस प्रकार तुम्हें धर्मकी बात बतायी गयी । अब और क्या सुनना चाहती हो ? ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[प्राणियोंकी शुभ और अशुभ गतिका निश्चय करानेवाले लक्षणोंका वर्णन, मृत्युके दो भेद और यत्नसाध्य मृत्युके चार भेदोंका कथन, कर्तव्य-पालनपूर्वक शरीरत्यागका महान् फल और काम, क्रोध आदिद्वारा देहत्याग करनेसे नरककी प्राप्ति]

उमोवाच

मानुषेष्वेव जीवत्सु गतिर्विज्ञायते न वा ।
यथा शुभगतिर्जीवन् नासौ त्वशुभभागिति ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे शंसितुमर्हसि ।

उमाने पूछा—प्रभो ! मनुष्योंके जीते-जी उनकी गतिका ज्ञान होता है या नहीं ? शुभगतिवाले मनुष्यका जैसा जीवन है, वैसा ही अशुभ गतिवालेका नहीं हो सकता । इस विषयको मैं सुनना चाहती हूँ, आप मुझे बताइये ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि जीवितं विद्यते यथा ।
द्विविधाः प्राणिनो लोके दैवासुरसमाश्रिताः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि ! प्राणियोंका जीवन जैसा होता है, वह मैं तुम्हें बताऊँगा । संसारमें दो प्रकारके प्राणी होते हैं—एक देवभावके आश्रित और दूसरे आसुर भावके आश्रित ॥

मनसा कर्मणा वाचा प्रतिकूला भवन्ति ये ।
तादृशानासुरान् विद्धि मर्त्यास्ते नरकालयाः ॥

जो मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, उनको आसुर समझो । उन्हें नरकमें निवास करना पड़ता है ॥

हिंस्राश्चोराश्च धूर्ताश्च परदाराभिमर्शकाः ।
नीचकर्मरता ये च शौचमङ्गलवर्जिताः ॥
शुचिविद्वेषिणः पापा लोकचारित्रदूषकाः ।
एवंयुक्तसमाचारा जीवन्तो नरकालयाः ॥

जो हिंसक, चोर, धूर्त, परस्त्रीगामी, नीचकर्मपरायण, शौच और मङ्गलाचारसे रहित, पवित्रतासे द्वेष रखनेवाले, पापी और लोगोंके चरित्रपर कलङ्क लगानेवाले हैं, ऐसे आचारवाले अर्थात् आसुरी स्वभाववाले मनुष्य जीते-जी ही नरकमें पड़े हुए हैं ॥

लोकोद्वेगकराश्चान्ये पशवश्च सरीसृपाः ।
वृक्षाः कण्टकिनो रूक्षास्तादृशान् विद्धि चासुरान् ॥

जो लोगोंको उद्वेगमें डालनेवाले पशु, साँप-बिच्छू आदि जन्तु तथा रूखे और कँटीले वृक्ष हैं, वे सब पहले आसुर स्वभावके मनुष्य ही थे, ऐसा समझो ॥

अपरान् देवपक्षांस्तु शृणु देवि समाहिता ॥
मनोवाक्कर्मभिर्नित्यमनुकूला भवन्ति ये ।
तादृशानमरान् विद्धि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

देवि ! अब तुम एकाग्रचित्त होकर दूसरे देवपक्षीय अर्थात् दैवी प्रकृतिवाले मनुष्योंका परिचय सुनो । जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा सदा सबके अनुकूल होते हैं, ऐसे मनुष्योंको अमर (देवता) समझो । वे स्वर्गगामी होते हैं ॥

शौचार्जवपरा धीराः परार्थान् न हरन्ति ये ।
ये समाः सर्वभूतेषु ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो शौच और सरलतामें तत्पर तथा धीर हैं, जो दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करते हैं और समस्त प्राणियोंके प्रति समानभाव रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

धार्मिकाः शौचसम्पन्नाः शुक्ला मधुरवादिनः ।
नाकार्यं मनसेच्छन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो धार्मिक, शौचाचारसम्पन्न, शुद्ध और मधुरभाषी होकर कभी मनसे भी न करने योग्य कार्य करना नहीं चाहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

दरिद्रा अपि ये केचिद् याचिताः प्रीतिपूर्वकम् ।
ददत्येव च यत् किंचित् ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो कोई दरिद्र होनेपर भी किसी याचकके माँगनेपर उसे प्रसन्नतापूर्वक कुछ-न-कुछ देते ही हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥

आस्तिका मङ्गलपराः सततं वृद्धसेविनः ।
पुण्यकर्मपरा नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो आस्तिक, मङ्गलपरायण, सदा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाले और प्रतिदिन पुण्यकर्ममें संलग्न रहनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

निर्ममा निरहंकाराः सानुक्रोशाः स्वबन्धुषु ।
दीनानुकम्पिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो ममता और अहङ्कारसे शून्य, अपने बन्धुजनोंपर अनुग्रह रखनेवाले और सदा दीनोंपर दया करनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

स्वदुःखमिव मन्यन्ते परेषां दुःखवेदनम् ।
गुरुशुश्रूषणपरा देवब्राह्मणपूजकाः ॥
कृतज्ञाः कृतविद्याश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो दूसरोंकी दुःख-वेदनाको अपने दुःखके समान ही मानते हैं, गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहते हैं, देवताओं और

ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, कृतज्ञ तथा विद्वान् हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

जितेन्द्रिया जितक्रोधा जितमानमदास्तथा।
लोभमात्सर्यहीना ये ते नराः स्वर्गगामिनः॥
शक्त्या चाभ्युपपद्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो जितेन्द्रिय, क्रोधपर विजय पानेवाले और मान तथा मदको परास्त करनेवाले हैं तथा जिनमें लोभ और मात्सर्यका अभाव है, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं; जो यथाशक्ति परोपकारमें तत्पर रहते हैं, वे मनुष्य भी स्वर्गलोकमें जाते हैं॥

व्रतिनो दानशीलाश्च धर्मशीलाश्च मानवाः।
ऋजवो मृदवो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो व्रती, दानशील, धर्मशील, सरल और सदा कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले हैं, वे मनुष्य सदा स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥

ऐहिकेन तु वृत्तेन पारत्रमनुमीयते।
एवंविधा नरा लोके जीवन्तः स्वर्गगामिनः॥

इस लोकके आचारसे परलोकमें प्राप्त होनेवाली गतिका अनुमान किया जाता है। जगत्‌में ऐसा जीवन बितानेवाले मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

यदन्यच्च शुभं लोके प्रजानुग्रहकारि च।
पशवश्चैव वृक्षाश्च प्रजानां हितकारिणः॥
तादृशान् देवपक्षस्थानिति विद्धि शुभानने॥

लोकमें और भी जो शुभ एवं प्रजापर अनुग्रह करनेवाला कर्म है, वह स्वर्गकी प्राप्तिका साधन है। शुभानने! जो प्रजाका हित करनेवाले पशु एवं वृक्ष हैं, उन सबको देवपक्षीय जानो ॥

शुभाशुभमयं लोके सर्वं स्थावरजङ्गमम्।
दैवं शुभमिति प्राहुरासुरं चाशुभं प्रिये॥

जगत्‌में सारा चराचरसमुदाय शुभाशुभमय है। प्रिये! इनमें जो शुभ है, उसे दैव और जो अशुभ है, उसे आसुर समझो ॥

उमोवाच

भगवन् मानुषाः केचित् कालधर्ममुपस्थिताः।
प्राणमोक्षं कथं कृत्वा परत्र हितमाप्नुयुः॥

उमाने पूछा—भगवन्! जो कोई मनुष्य मृत्युके निकट पहुँचे हुए हैं, वे किस प्रकार अपने प्राणोंका परित्याग करें, जिससे परलोकमें उन्हें कल्याणकी प्राप्ति हो? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु देवि समाहिता।
द्विविधं मरणं लोके स्वभावाद् यत्नतस्तथा॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे इस विषयका वर्णन करता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। लोकमें दो प्रकारकी मृत्यु होती है, एक स्वाभाविक और दूसरी यत्नसाध्य ॥

तयोः स्वभावं नापायं यत्नतः करणोद्भवम्।
एतयोरुभयोर्देवि विधानं शृणु शोभने॥

देवि! इन दोनोंमें जो स्वाभाविक मृत्यु है, वह अटल है, उसमें कोई बाधा नहीं है। परंतु जो यत्नसाध्य मृत्यु है, वह साधनसामग्रीद्वारा सम्भव होती है। शोभने! इन दोनोंमें जो विधान है; वह मुझसे सुनो ॥

कल्याकल्यशरीरस्य यत्नजं द्विविधं स्मृतम्।
यत्नजं नाम मरणमात्मत्यागो मुमूर्षया॥

जो यत्नसाध्य मृत्यु है, वह समर्थ और असमर्थ शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण दो प्रकारकी मानी गयी है। मरनेकी इच्छासे जो जान-बूझकर अपने शरीरका परित्याग किया जाता है, उसीका नाम है यत्नसाध्य मृत्यु ॥

तत्राकल्यशरीरस्य जरा व्याधिश्च कारणम्।
महाप्रस्थानगमनं तथा प्रायोपवेशनम्॥
जलावगाहनं चैव अग्निचित्याप्रवेशनम्।
एवं चतुर्विधः प्रोक्त आत्मत्यागो मुमूर्षताम्॥

जो असमर्थ शरीरसे युक्त है अर्थात् बुढ़ापेके कारण या रोगके कारण असमर्थ हो गया है, उसकी मृत्युमें कारण है महाप्रस्थानगमन, आमरण उपवास, जलमें प्रवेश अथवा चिताकी आगमें जल मरना। यह चार प्रकारका देहत्याग बताया गया है, जिसे मरनेकी इच्छावाले पुरुष करते हैं ॥

एतेषां क्रमयोगेन विधानं शृणु शोभने॥
स्वधर्मयुक्तं गार्हस्थ्यं चिरमूढ्वा विधानतः।
तत्रानृण्यं च सम्प्राप्य वृद्धो वा व्याधितोऽपि वा॥
दर्शयित्वा स्वदौर्बल्यं सर्वानेवानुमान्य च।
सर्वं विहाय बन्धूंश्च कर्मणां भरणं तथा॥
दानानि विधिवत् कृत्वा धर्मकार्यार्थमात्मनः।
अनुज्ञाप्य जनं सर्वं वाचा मधुरया ब्रुवन्॥
अहतं वस्त्रमाच्छाद्य बद्ध्वा तत् कुशरज्जुना।
उपस्पृश्य प्रतिज्ञाय व्यवसायपुरस्सरम्॥
परित्यज्य ततो ग्राम्यं धर्मं कुर्याद् यथेप्सितम्॥

शोभने! अब क्रमशः इनकी विधि सुनो—मनुष्य स्वधर्मयुक्त गार्हस्थ्य-आश्रमका दीर्घकालतक विधिपूर्वक निर्वाह करके उससे उऋण हो वृद्ध अथवा रोगी हो जानेपर अपनी दुर्बलता दिखा सभी लोगोंसे गृहत्यागके लिये अनुमति ले फिर समस्त भाई-बन्धुओं और कर्मानुष्ठानोंका त्याग करके अपने धर्मकार्यके लिये विधिवत् दान करनेके पश्चात् मीठी वाणी बोलकर सब लोगोंसे आज्ञा ले नूतन वस्त्र धारण करके उसे कुशकी रस्सीसे बाँध ले। इसके बाद आचमनपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ आत्मत्यागकी प्रतिज्ञा करके ग्राम्यधर्मको छोड़कर इच्छानुसार कार्य करे ॥

महाप्रस्थानमिच्छेच्चेत् प्रतिष्ठेतोत्तरां दिशम्॥
भूत्वा तावन्निराहारो यावत् प्राणविमोक्षणम्।
चेष्टाहानौ शयित्वापि तन्मनाः प्राणमुत्सृजेत्॥
एवं पुण्यकृतां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥

यदि महाप्रस्थानकी इच्छा हो तो निराहार रहकर जबतक प्राण निकल न जायँ तबतक उत्तर दिशाकी ओर निरन्तर

प्रस्थान करे। जब शरीर निश्चेष्ट हो जाय, तब वहीं सोकर उन परमेश्वरमें मन लगाकर प्राणोंका परित्याग कर दे। ऐसा करनेसे वह पुण्यात्माओंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है॥

प्रायोपवेशनं चेच्छेत् तेनैव विधिना नरः।
देशे पुण्यतमे श्रेष्ठे निराहारस्तु संविशेत्॥

यदि मनुष्य प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) करना चाहे तो पूर्वोक्त विधिसे ही घर छोड़कर परम पवित्र श्रेष्ठतम देशमें निराहार होकर बैठ जाय॥

आप्राणान्तं शुचिर्भूत्वा कुर्वन् दानं स्वशक्तितः।
हरिं स्मरंस्त्यजेत् प्राणानेष धर्मः सनातनः॥

जबतक प्राणोंका अन्त न हो तबतक शुद्ध होकर अपनी शक्तिके अनुसार दान करते हुए भगवान्के स्मरणपूर्वक प्राणोंका परित्याग करे। यह सनातन धर्म है॥

एवं कलेवरं त्यक्त्वा स्वर्गलोके महीयते॥
अग्निप्रवेशनं चेच्छेत् तेनैव विधिना शुभे।
कृत्वा काष्ठमयं चित्यं पुण्यक्षेत्रे नदीषु वा॥
दैवतेभ्यो नमस्कृत्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
भूत्वा शुचिर्व्यवसितः स्मरन् नारायणं हरिम्॥
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्वा प्रविशेदग्निसंस्तरम्॥

शुभे! इस प्रकार शरीरका त्याग करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। यदि मनुष्य अग्निमें प्रवेश करना चाहे तो उसी विधिसे विदा लेकर किसी पुण्यक्षेत्रमें अथवा नदियोंके तटपर काठकी चिता बनावे। फिर देवताओंको नमस्कार और परिक्रमा करके शुद्ध एवं दृढ़निश्चयसे युक्त हो श्रीनारायण हरिका स्मरण करते हुए ब्राह्मणोंको मस्तक नवाकर उस प्रज्वलित चिताग्निमें प्रवेश कर जाय॥

सोऽपि लोकान् यथान्यायं प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥
जलावगाहनं चेच्छेत् तेनैव विधिना शुभे।
ख्याते पुण्यतमे तीर्थे निमज्जेत् सुकृतं स्मरन्॥
सोऽपि पुण्यतमाँल्लोकान् निसर्गात् प्रतिपद्यते॥

ऐसा पुरुष भी यथोचितरूपसे उक्त कार्य करके पुण्यात्माओंके लोक प्राप्त कर लेता है। शुभे! यदि कोई जलमें प्रवेश करना चाहे तो उसी विधिसे किसी विख्यात पवित्रतम तीर्थमें पुण्यका चिन्तन करते हुए डूब जाय। ऐसा मनुष्य भी स्वभावतः पुण्यतम लोकोंमें जाता है॥

ततः कल्यशरीरस्य संत्यागं शृणु तत्त्वतः॥
रक्षार्थं क्षत्रियस्येष्टः प्रजापालनकारणात्॥
योधानां भर्तृपिण्डार्थं गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणाम्॥
गोब्राह्मणार्थं सर्वेषां प्राणत्यागो विधीयते॥

इसके बाद समर्थ शरीरवाले पुरुषके आत्मत्यागकी तात्त्विक विधि बताता हूँ, सुनो। क्षत्रियके लिये दीन-दुखियोंकी रक्षा और प्रजापालनके निमित्त प्राणत्याग अभीष्ट बताया गया है। योद्धा अपने स्वामीके अन्नका बदला चुकानेके लिये, ब्रह्मचारी गुरुके हितके लिये तथा सब लोग गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंको निछावर कर दें, यह शास्त्रका विधान है॥

स्वराज्यरक्षणार्थं वा कुनृपैः पीडिताः प्रजाः।
मोक्तुकामस्त्यजेत् प्राणान् युद्धमार्गे यथाविधि॥

राजा अपने राज्यकी रक्षाके लिये, अथवा दुष्ट नरेशों-द्वारा पीड़ित हुई प्रजाको सङ्कटसे छुड़ानेके लिये विधिपूर्वक युद्धके मार्गपर चलकर प्राणोंका परित्याग करे॥

सुसन्नद्धो व्यवसितः सम्प्रविश्यापराङ्मुखः॥
एवं राजा मृतः सद्यः स्वर्गलोके महीयते।
तादृशी सुगतिर्नास्ति क्षत्रियस्य विशेषतः॥

जो राजा कवच बाँधकर मनमें दृढ़ निश्चय ले युद्धमें प्रवेश करके पीठ नहीं दिखाता और शत्रुओंका सामना करता हुआ मारा जाता है, वह तत्काल स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। सामान्यतः सबके लिये और विशेषतः क्षत्रियके लिये वैसी उत्तम गति दूसरी नहीं है॥

भृत्यो वा भर्तृपिण्डार्थं भर्तृकर्मण्युपस्थिते।
कुर्वंस्तत्र तु साहाय्यमात्मप्राणानपेक्षया॥
स्वाम्यर्थं संत्यजेत् प्राणान् पुण्याँल्लोकान् स गच्छति
स्पृहणीयः सुरगणैस्तत्र नास्ति विचारणा।

जो भृत्य स्वामीके अन्नका बदला देनेके लिये उनका कार्य उपस्थित होनेपर अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी सहायता करता है और स्वामीके लिये प्राण त्याग देता है, वह देवसमूहोंके लिये स्पृहणीय हो पुण्यलोकोंमें जाता है। इस विषयमें कोई विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥

एवं गोब्राह्मणार्थं वा दीनार्थं वा त्यजेत् तनुम्॥
सोऽपि पुण्यमवाप्नोति आनृशंस्यव्यपेक्षया॥
इत्येते जीवितत्यागे मार्गास्ते समुदाहृताः॥

इस प्रकार जो गौओं, ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंकी रक्षाके लिये शरीरका त्याग करता है, वह भी दयाधर्मको अपनानेके कारण पुण्यलोकोंमें जाता है। इस तरह ये प्राण-त्यागके समुचित मार्ग तुम्हें बताये गये हैं॥

कामात् क्रोधाद् भयाद् वापि यदि चेत् संत्यजेत् तनुम्।
सोऽनन्तं नरकं याति आत्महन्तृत्वकारणात्॥

यदि कोई काम, क्रोध अथवा भयसे शरीरका त्याग करे तो वह आत्महत्या करनेके कारण अनन्त नरकमें जाता है॥

स्वभावं मरणं नाम न तु चात्मेच्छया भवेत्।
यथा मृतानां यत् कार्यं तन्मे शृणु यथाविधि॥

स्वाभाविक मृत्यु वह है, जो अपनी इच्छासे नहीं होती, स्वतः प्राप्त हो जाती है। उसमें जिस प्रकार मरे हुए लोगोंके लिये जो कर्तव्य है, वह मुझसे विधिपूर्वक सुनो॥

तत्रापि मरणं त्यागो मूढत्यागाद् विशिष्यते।
भूमौ संवेशयेद् देहं नरस्य विनशिष्यतः॥
निर्जीवं वृणुयात् सद्यो वाससा तु कलेवरम्।
माल्यगन्धैरलङ्कृत्य सुवर्णेन च भामिनि॥
श्मशाने दक्षिणे देशे चिताग्नौ प्रदहेन्मृतम्।
अथवा निक्षिपेद् भूमौ शरीरं जीववर्जितम्॥

उसमें भी जो मरण या त्याग होता है, वह किसी मूर्खके

देहत्यागसे बढ़कर है। मरनेवाले मनुष्यके शरीरको पृथ्वीपर लिटा देना चाहिये और जब प्राण निकल जाय, तब तत्काल उसके शरीरको नूतन वस्त्रसे ढक देना चाहिये। भामिनि! फिर उसे माला, गन्ध और सुवर्णसे अलङ्कृत करके श्मशान-भूमिमें दक्षिण दिशाकी ओर चिताकी आगमें उस शवको जला देना चाहिये। अथवा निर्जीव शरीरको वहाँ भूमिपर ही डाल दे॥

दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च।
मुमूर्षूणां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्॥

दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणका समय मुमूर्षुओंके लिये उत्तम है। इसके विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन निन्दित हैं॥

औदकं चाष्टकाश्राद्धं बहुभिर्बहुभिः कृतम्।
आप्यायनं मृतानां तत् परलोके भवेच्छुभम्॥
एतत् सर्वं मया प्रोक्तं मानुषाणां हितं वचः॥

बहुत-से पुरुषोंद्वारा किया गया जलदान और अष्टका-श्राद्ध परलोकमें मृत पुरुषोंको तृप्त करनेवाला और शुभ होता है। यह सब मैंने मनुष्योंके लिये हितकारक बात बतायी है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[मोक्षधर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन, मोक्षसाधक ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय और मोक्षकी प्राप्तिमें वैराग्यकी प्रधानता]

उमोवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु कालसूदन शंकर।
लोकेषु विविधा धर्मास्त्वत्प्रसादान्मया श्रुताः॥
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यः शाश्वतं ध्रुवमव्ययम्।

उमाने कहा—देवदेव! कालसूदन शंकर! आपको नमस्कार है। आपकी कृपासे मैंने अनेक प्रकारके धर्म सुने। अब यह बताइये कि सम्पूर्ण धर्मोंसे श्रेष्ठ, सनातन, अटल और अविनाशी धर्म क्या है?॥

नारद उवाच

एवं पृष्टस्त्वया देव्या महादेवः पिनाकधृक्।
प्रोवाच मधुरं वाक्यं सूक्ष्ममध्यात्मसंश्रितम्॥

नारदजीने कहा—देवी पार्वतीके इस प्रकार पूछनेपर पिनाकधारी महादेवजीने सूक्ष्म अध्यात्म-भावसे युक्त मधुरवाणीमें इस प्रकार कहा॥

श्रीमहेश्वर उवाच

न्यायतस्त्वं महाभागे श्रोतुकामासि निश्चयम्।
एतदेव विशिष्टं ते यत् त्वं पृच्छसि मां प्रिये॥

श्रीमहेश्वर बोले—महाभागे! तुमने न्यायतः सुननेकी निश्चित इच्छा प्रकट की है, प्रिये! तुम मुझसे जो पूछती हो, यही तुम्हारा विशिष्ट गुण है॥

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्गलोकफलाश्रितः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥

सर्वत्र स्वर्गलोकरूपी फलके आश्रयभूत धर्मका विधान किया गया है। धर्मके बहुत-से द्वार हैं और उसकी कोई क्रिया यहाँ निष्फल नहीं होती॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
तं तमेवाभिजानाति नान्यं धर्मं शुचिस्मिते॥

शुचिस्मिते! जो-जो जिस-जिस विषयमें निश्चयको प्राप्त होता है, वह-वह उसी-उसीको धर्म समझता है, दूसरेको नहीं॥

शृणु देवि समासेन मोक्षद्वारमनुत्तमम्।
एतद्धि सर्वधर्माणां विशिष्टं शुभमव्ययम्॥

देवि! अब तुम संक्षेपसे परम उत्तम मोक्ष-द्वारका वर्णन सुनो। यही सब धर्मोंमें उत्तम, शुभ और अविनाशी है॥

नास्ति मोक्षात् परं देवि नास्ति मोक्षात् परा गतिः।
सुखमात्यन्तिकं श्रेष्ठमनिवृत्तं च तद् विदुः॥

देवि! मोक्षसे उत्तम कोई तत्त्व नहीं है और मोक्षसे श्रेष्ठ कोई गति नहीं है। ज्ञानी पुरुष मोक्षको कभी निवृत्त न होनेवाला, श्रेष्ठ एवं आत्यन्तिक सुख मानते हैं॥

नात्र देवि जरा मृत्युः शोको वा दुःखमेव वा।
अनुत्तममचिन्त्यं च तद् देवि परमं सुखम्॥

देवि! इसमें जरा, मृत्यु, शोक अथवा दुःख नहीं है। वह सर्वोत्तम अचिन्त्य परमसुख है॥

ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानं मोक्षज्ञानं विदुर्बुधाः।
ऋषिभिर्देवसङ्घैश्च प्रोच्यते परमं पदम्॥

विद्वान् पुरुष मोक्षज्ञानको सब ज्ञानोंमें उत्तम मानते हैं। ऋषि और देवसमुदाय उसे परमपद कहते हैं॥

नित्यमक्षरमक्षोभ्यमजेयं शाश्वतं शिवम्।
विशन्ति तत् पदं प्राज्ञाः स्पृहणीयं सुरासुरैः॥

नित्य, अविनाशी, अक्षोभ्य, अजेय, शाश्वत और शिवस्वरूप वह मोक्षपद देवताओं और असुरोंके लिये भी स्पृहणीय है। ज्ञानी पुरुष उसमें प्रवेश करते हैं॥

दुःखादिश्च दुरन्तश्च संसारोऽयं प्रकीर्तितः।
शोकव्याधिजरादोषैर्मरणेन च संयुतः॥

यह संसार आदि और अन्तमें दुःखमय कहा गया है। यह शोक, व्याधि, जरा और मृत्युके दोषोंसे युक्त है॥

यथा ज्योतिर्गणा व्योम्नि निवर्तन्ते पुनः पुनः।
एवं जीवा अमी लोके निवर्तन्ते पुनः पुनः॥
तस्य मोक्षस्य मार्गोऽयं श्रूयतां शुभलक्षणे॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तश्च संसारो यः प्रकीर्तितः।
संसारे प्राणिनः सर्वे निवर्तन्ते यथा पुनः॥

जैसे आकाशमें नक्षत्रगण बारंबार आते और निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ये जीव लोकमें बारंबार लौटते रहते हैं। शुभलक्षणे! उसके मोक्षका यह मार्ग सुनो। ब्रह्माजीसे लेकर स्थावर वृक्षोंतक जो संसार बताया गया है, इसमें सभी प्राणी बारंबार लौटते हैं॥

तत्र संसारचक्रस्य मोक्षो ज्ञानेन दृश्यते।
अध्यात्मतत्त्वविज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते॥

ज्ञानस्य ग्रहणोपायमाचारं ज्ञानिनस्तथा ।
यथावत् सम्प्रवक्ष्यामि तत् त्वमेकमनाः शृणु ॥

वहाँ संसार-चक्रका ज्ञानके द्वारा मोक्ष देखा जाता है। अध्यात्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लेना ही ज्ञान कहलाता है। प्रिये! उस ज्ञानको ग्रहण करनेका जो उपाय है तथा ज्ञानीका जो आचार है, उसका मैं यथावत् रूपसे वर्णन करूँगा। तुम एकचित्त होकर इसे सुनो॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि भूत्वा पूर्वं गृहे स्थितः ।
आनृण्यं सर्वतः प्राप्य ततस्तान् संत्यजेद् गृहान् ॥
ततः संत्यज्य गार्हस्थ्यं निश्चितो वनमाश्रयेत् ॥
वने गुरुं समाज्ञाय दीक्षितो विधिपूर्वकम् ।
दीक्षां प्राप्य यथान्यायं स्ववृत्तं परिपालयेत् ॥
गृह्णीयादप्युपाध्यायान्मोक्षज्ञानमनिन्दितः ।
द्विविधं च पुनर्मोक्षं सांख्यं योगमिति स्मृतिः ॥

ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय पहले घरमें स्थित रहकर सब प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो अन्तमें उन घरोंका परित्याग कर दे। इस तरह गार्हस्थ्य-आश्रमको त्यागकर वह निश्चितरूपसे वनका आश्रय ले। वनमें गुरुकी आज्ञा ले विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करे और दीक्षा पाकर यथोचित रीतिसे अपने सदाचारका पालन करे। तदनन्तर गुरुसे मोक्षज्ञानको ग्रहण करे और अनिन्द्य आचरणसे रहे। मोक्ष भी दो प्रकारका है—एक सांख्य-साध्य और दूसरा योग-साध्य। ऐसा शास्त्रका कथन है॥

पञ्चविंशतिविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते ।
ऐश्वर्यं देवसारूप्यं योगशास्त्रस्य निर्णयः ॥
तयोरन्यतरं ज्ञानं शृणुयाच्छिष्यतां गतः ।
नाकालो नाप्यकाषायी नाप्यसंवत्सरोषितः ।
नासांख्ययोगो नाश्रद्धं गुरुणा स्नेहपूर्वकम् ॥

पचीस तत्त्वोंका ज्ञान सांख्य कहलाता है। अणिमा आदि ऐश्वर्य और देवताओंके समान रूप—यह योगशास्त्रका निर्णय है। इन दोनोंमेंसे किसी एक ज्ञानका शिष्यभावसे श्रवण करे। न तो असमयमें, न गेरुआ वस्त्र धारण किये बिना, न एक वर्षतक गुरुकी सेवामें रहे बिना, न सांख्य या योगमेंसे किसीको अपनाये बिना और न श्रद्धाके बिना ही गुरुका स्नेहपूर्वक उपदेश ग्रहण करे॥

समः शीतोष्णहर्षादीन् विषहेत स वै मुनिः ॥
अमृष्यः क्षुत्पिपासाभ्यामुचितेभ्यो निवर्तयेत् ।
त्यजेत् संकल्पजान् ग्रन्थीन् सदा ध्यानपरो भवेत् ॥
कुण्डिका चमसं शिक्यं छत्रं यष्टिमुपानहौ ।
चैलमित्येव नैतेषु स्थापयेत् स्वाम्यमात्मनः ॥
गुरोः पूर्वं समुत्तिष्ठेज्जघन्यं तस्य संविशेत् ।
नैवाविज्ञाप्य भर्तारमावश्यकमपि व्रजेत् ॥
द्विरह्नि स्नानशाटेन संध्ययोरभिषेचनम् ।
एककालाशनं चास्य विहितं यतिभिः पुरा ॥

जो सर्वत्र समान भाव रखते हुए सर्दी-गर्मी और हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको सहन करे, वही मुनि है। भूख-प्यासके वशीभूत न हो, उचित भोगोंसे भी अपने मनको हटा ले, संकल्पजनित ग्रन्थियोंको त्याग दे और सदा ध्यानमें तत्पर रहे। कुंडी, चमस (प्याली), छींका, छाता, लाठी, जूता और वस्त्र—इन वस्तुओंमें भी अपना स्वामित्व स्थापित न करे। गुरुसे पहले उठे और उनसे पीछे सोवे। स्वामी (गुरु) को सूचित किये बिना किसी आवश्यक कार्यके लिये भी न जाय। प्रतिदिन दिनमें दो बार दोनों संध्याओंके समय वस्त्र-सहित स्नान करे। उसके लिये चौबीस घंटेमें एक समय भोजनका विधान है। पूर्वकालके यतियोंने ऐसा ही किया है॥

भैक्षं सर्वत्र गृह्णीयाच्चिन्तयेत् सततं निशि ।
कारणे चापि सम्प्राप्ते न कुप्येत कदाचन ॥

सर्वत्र भिक्षा ग्रहण करे, रातमें सदा परमात्माका चिन्तन करे, कोपका कारण प्राप्त होनेपर भी कभी कुपित न हो॥

ब्रह्मचर्यं वने वासः शौचमिन्द्रियसंयमः ।
दया च सर्वभूतेषु तस्य धर्मः सनातनः ॥

ब्रह्मचर्य, वनवास, पवित्रता, इन्द्रियसंयम और समस्त प्राणियोंपर दया—यह संन्यासीका सनातन धर्म है॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
आत्मयुक्तः परां बुद्धिं लभते पापनाशिनीम् ॥

वह समस्त पापोंसे दूर रहकर हल्का भोजन करे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे और परमात्मचिन्तनमें लगा रहे। इससे उसे पापनाशिनी श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त होती है॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
अनिष्ठुरोऽनहङ्कारो निर्द्वन्द्वो वीतमत्सरः ।
वीतशोकभयाबाधः पदं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
समः शत्रौ च मित्रे च निर्वाणमधिगच्छति ॥

जब मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता, तब वह यति ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। निष्ठुरताशून्य, अहंकाररहित, द्वन्द्वातीत और मात्सर्य-हीन यति शोक, भय और बाधासे रहित हो सर्वोत्तम ब्रह्मपद-को प्राप्त होता है। जिसकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान है, जो मौन रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है तथा जिसका शत्रु और मित्रके प्रति समभाव है, वह निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है॥

एवंयुक्तसमाचारस्तत्परोऽध्यात्मचिन्तकः ।
ज्ञानाभ्यासेन तेनैव प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

ऐसे आचरणसे युक्त, तत्पर और अध्यात्मचिन्तनशील यति उसी ज्ञानाभ्याससे परमगतिको प्राप्त कर लेता है॥

अनुद्विग्नमतेर्जन्तोरस्मिन् संसारमण्डले ।
शोकव्याधिजरादुःखैर्निर्वाणं नोपपद्यते ॥
तस्मादुद्वेगजननं मनोऽवस्थापनं तथा ।
ज्ञानं ते सम्प्रवक्ष्यामि तन्मूलममृतं हि वै ॥

इस संसार-मण्डलमें जिस प्राणीकी बुद्धि उद्वेगशून्य है,

वह शोक, व्याधि और वृद्धावस्थाके दुःखोंसे मुक्त हो निर्वाणको प्राप्त होता है। इसलिये संसारसे वैराग्य उत्पन्न करानेवाले और मनको स्थिर रखनेवाले ज्ञानका तुम्हारे लिये उपदेश करूँगा; क्योंकि अमृत(मोक्ष) का मूल कारण ज्ञान ही है॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे मूर्ख मनुष्यपर ही प्रतिदिन प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्य पदमाव्रजेत्॥

धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तो 'अहो! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ गया।' ऐसा सोचता हुआ मनुष्य शोकके आश्रयमें आ जाता है॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये शुभास्तान् न चिन्तयेत्।
ताननाद्रियमाणस्य शोकबन्धः प्रणश्यति॥

किसी भी द्रव्यके नष्ट हो जानेपर जो उसके शुभ गुण हैं, उनका चिन्तन न करे। उन गुणोंका आदर न करनेवाले पुरुषके शोकका बन्धन नष्ट हो जाता है॥

सम्प्रयोगादनिष्टस्य विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मानुषा मानसैर्दुःखैः संयुज्यन्तेऽल्पबुद्धयः॥

अप्रिय वस्तुका संयोग और प्रिय वस्तुका वियोग प्राप्त होनेपर अल्पबुद्धि मनुष्य मानसिक दुःखोंसे संयुक्त हो जाते हैं॥

मृतं या यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
संतापेन च युज्येत तच्चास्य न निवर्तते॥
उत्पन्नमिह मानुष्ये गर्भप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥

जो मरे हुए पुरुष या खोयी हुई वस्तुके लिये शोक करता है, वह केवल संतापका भागी होता है। उसका वह दुःख मिटता नहीं है। मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए मानवके पास गर्भावस्थासे ही नाना प्रकारके दुःख और सुख आते रहते हैं॥

तयोरेकतरो मार्गो यद्येनमभिसंनमेत्।
सुखं प्राप्य न संहृष्येन्न दुःखं प्राप्य संज्वरेत्॥

उनमेंसे कोई एक मार्ग यदि इसे प्राप्त हो तो यह मनुष्य सुख पाकर हर्ष न करे और दुःख पाकर चिन्तित न हो॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र स्नेहः प्रवर्तते।
अनिष्टेनान्वितं पश्येद् यथा क्षिप्रं विरज्यते॥

जहाँ आसक्ति हो रही हो, वहाँ दोष देखना चाहिये। उस वस्तुको अनिष्टकी दृष्टिसे देखे, जिससे उसकी ओरसे शीघ्र ही वैराग्य हो जाय॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वज्ज्ञातिसमागमः॥

जैसे महासागरमें दो काठ इधर-उधरसे आकर मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार जाति-भाइयोंका समागम होता है॥

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
स्नेहस्तत्र न कर्तव्यो विप्रयोगो हि तैर्ध्रुवः॥

सब लोग अदृश्य स्थानसे आये थे और पुनः अदृश्य स्थानको चले गये हैं। उनके प्रति स्नेह नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनके साथ वियोग होना निश्चित था॥

कुटुम्बपुत्रदाराश्च शरीरं धनसंचयः।
ऐश्वर्यं स्वस्थता चेति न मुह्येत् तत्र पण्डितः॥
सुखमेकान्ततो नास्ति शक्रस्यापि त्रिविष्टपे।
तत्रापि सुमहद् दुःखं सुखमल्पतरं भवेत्॥

कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, शरीर, धनसंचय, ऐश्वर्य और स्वस्थता—इनके प्रति विद्वान् पुरुषको आसक्त नहीं होना चाहिये। स्वर्गमें रहनेवाले देवराज इन्द्रको भी केवल सुख-ही-सुख नहीं मिलता। वहाँ भी दुःख अधिक और सुख बहुत कम है॥

न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्॥

किसीको भी न तो सदा दुःख मिलता है और न सदा सुख ही मिलता है। सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहता है॥

क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
उच्छ्रयान् विनिपातांश्च दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः स्वयम्।
अनित्यमसुखं चेति व्यवस्येत् सर्वमेव च॥

सारे संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है। उत्थान और पतनको स्वयं ही प्रत्यक्ष देखकर यह निश्चय करे कि यहाँका सब कुछ अनित्य और दुःखरूप है॥

अर्थानामार्जने दुःखमार्जितानां तु रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जित हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाश और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है॥

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः।
राजा चोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च॥
अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय।
न ह्यनर्थाः प्रबाधन्ते नरमर्थविवर्जितम्॥

धनवान् मनुष्यपर सदा पाँच शत्रु चोट करते रहते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय। प्रिये! इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो। धनरहित पुरुषको अनर्थ बाधा नहीं देते हैं॥

अर्थप्राप्तिर्महद् दुःखमाकिंचन्यं परं सुखम्।
उपद्रवेषु चार्थानां दुःखं हि नियतं भवेत्॥

धनकी प्राप्ति महान् दुःख है और अकिंचनता (निर्धनता) परम सुख है; क्योंकि जब धनपर उपद्रव आते हैं, तब निश्चय ही बड़ा दुःख होता है॥

धनलोभेन तृष्णाया न तृप्तिरुपलभ्यते।

लब्धाश्रयो विवर्धेत समिद्ध इव पावकः ॥

धनके लोभसे तृष्णाकी कभी तृप्ति नहीं होती है। तृष्णा या लोभको आश्रय मिल जाय तो प्रज्वलित अग्निके समान उसकी वृद्धि होने लगती है ॥

जित्वापि पृथिवीं कृत्स्नां चतुःसागरमेखलाम्।
सागराणां पुनः पारं जेतुमिच्छत्यसंशयम् ॥

चारों समुद्र जिसकी मेखला है, उस सारी पृथ्वीको जीतकर भी मनुष्य संतुष्ट नहीं होता। वह फिर समुद्रके पारवाले देशोंको भी जीतनेकी इच्छा करता है, इसमें संशय नहीं है ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कोशकारः कृमिर्देवि बध्यते हि परिग्रहात् ॥

परिग्रह (संग्रह) से यहाँ कोई लाभ नहीं; क्योंकि परिग्रह दोषसे भरा हुआ है। देवि ! रेशमका कीड़ा परिग्रहसे ही बन्धनको प्राप्त होता है ॥

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति च।
एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृपः ॥

तस्मिन् राष्ट्रेऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति।
नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम् ॥

जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्रमें निवास करता है। उस राष्ट्रमें भी किसी एक ही नगरमें रहता है। उस नगरमें भी किसी एक ही घरमें उसका निवास होता है ॥

एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद्गृहेऽपि च।
आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते ॥

उस घरमें भी उसके लिये एक ही कमरा नियत होता है। उस कमरेमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥

शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रियाश्चार्धं विधीयते।
तदनेन प्रसङ्गेन स्वल्पेनैवेह युज्यते ॥
सर्वं ममेति सम्मूढो बलं पश्यति बालिशः।
एवं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम् ॥
तण्डुलप्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वदेहिनाम्।
ततो भूयस्तरो भोगो दुःखाय तपनाय च ॥

उस शय्याका भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानीके काम आता है। इस प्रसङ्गसे वह अपने लिये थोड़ेसे ही भागका उपयोग कर पाता है। तो भी वह मूर्ख गवाँर सारे भूमण्डलको अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही बल देखता है। इस प्रकार सभी वस्तुओंके उपयोगोंमें उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन सेरभर चावलसे ही समस्त देहधारियोंकी प्राणयात्राका निर्वाह होता है। उससे अधिक भोग दुःख और संतापका कारण होता है ॥

नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं है, त्यागके समान कोई सुख नहीं है। समस्त कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्यके बूढ़े हो जानेपर स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग कहा गया है, उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता है ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

भोगोंकी तृष्णा कभी भोग भोगनेसे शान्त नहीं होती, अपितु घीसे प्रज्वलित होनेवाली आगके समान अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥

अलाभेनैव कामानां शोकं त्यजति पण्डितः।
आयासविटपस्तीव्रः कामाग्निः कर्षणारणिः ॥
इन्द्रियार्थेन सम्मोह्य दहत्यकुशलं जनम् ॥

भोगोंकी प्राप्ति न होनेसे ही विद्वान् पुरुष शोकको त्याग देता है। आयासरूपी वृक्षपर तीव्रवेगसे प्रज्वलित और आकर्षणरूपी अग्निसे प्रकट हुई कामनारूप अग्नि मूर्ख मनुष्यको विषयोंद्वारा मोहित करके जला डालती है ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य पर्याप्तमिति पश्यन्न मुह्यति ॥

इस पृथ्वीपर जो धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर एक पुरुषके लिये पर्याप्त नहीं हैं। ऐसा देखने और समझनेवाला पुरुष मोहमें नहीं पड़ता है ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

लोकमें जो काम-सुख है और परलोकमें जो महान् दिव्य सुख है—ये दोनों मिलकर तृष्णाक्षयजनित सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु नैव धीरो नियोजयेत्।
मनःषष्ठानि संयम्य नित्यमात्मनि योजयेत् ॥
इन्द्रियाणां विसर्गेण दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य नु तान्येव ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
षण्णामात्मनि युक्तानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न च पापैर्न चानर्थैः संयुज्येत विचक्षणः ॥

धीर पुरुष अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें न लगावे। मनसहित उनका संयम करके उन्हें सदा परमात्माके ध्यानमें नियुक्त करे। इन्द्रियोंको खुली छोड़ देनेसे निश्चय ही दोषकी प्राप्ति होती है और उन्हींका संयम कर लेनेसे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जो परमात्म-चिन्तनमें लगी हुई मनसहित छहों इन्द्रियोंपर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है, वह विद्वान् पापों और अनर्थोंसे संयुक्त नहीं होता है ॥

अप्रमत्तः सदा रक्षेदिन्द्रियाणि विचक्षणः।
अरक्षितेषु तेष्वाशु नरो नरकमेति हि ॥

विद्वान् पुरुष सावधान रहकर सदा अपनी इन्द्रियोंकी रक्षा करे; क्योंकि उनकी रक्षा न होनेपर मनुष्य शीघ्र ही नरकमें गिर जाता है ॥

हृदि काममयश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।
अज्ञानरूढमूलस्तु विधित्सापरिषेचनः ॥
रोषलोभमहास्कन्धः पुरा दुष्कृतसारवान् ।
आयासविटपस्तीव्रशोकपुष्पो भयाङ्कुरः ॥
नानासंकल्पपत्राढ्यः प्रमादात् परिवर्धितः ।
महतीभिः पिपासाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥
संरोहत्यकृतप्रज्ञे पादपः कामसम्भवः ॥
नैव रोहति तत्त्वज्ञे रूढो वा छिद्यते पुनः ॥
कृच्छ्रोपायेष्वनित्येषु निस्सारेषु फलेषु च ।
दुःखादिषु दुरन्तेषु कामयोगेषु का रतिः ॥

एक काममय वृक्ष है, जो मोह-संचयरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है । वह काममय विचित्र वृक्ष हृदयदेशमें ही स्थित है । अज्ञान ही उसकी मजबूत जड़ है । सकाम कर्म करनेकी इच्छा ही उसे सींचना है । रोष और लोभ ही उसका विशाल तना है । पाप ही उसका सार भाग है । आयास-प्रयास ही उसकी शाखाएँ हैं । तीव्रशोक पुष्प है, भय अङ्कुर है । नाना प्रकारके संकल्प उसके पत्ते हैं । यह प्रमादसे बढ़ा हुआ है । बड़ी भारी पिपासा या तृष्णा ही लता बनकर उस काम-वृक्षमें सब ओरसे लिपटी हुई है । अज्ञानी मनुष्यमें ही यह काममय वृक्ष उत्पन्न होता और बढ़ता है । तत्त्वज्ञ पुरुषमें यह नहीं अङ्कुरित होता है । यदि हुआ भी तो पुनः कट जाता है । यह काम कठिन उपायोंसे साध्य है, अनित्य है, उसके फल निःसार हैं, उसका आदि और अन्त भी दुःखमय है, उससे सम्बन्ध जोड़नेमें क्या अनुराग हो सकता है ? ॥

इन्द्रियेषु च जीर्यत्सु च्छिद्यमाने तथाऽऽयुषि ।
पुरस्ताच्च स्थिते मृत्यौ किं सुखं पश्यतः शुभे ॥

शुभे ! इन्द्रियाँ सदा जीर्ण हो रही हैं, आयु नष्ट होती चली जा रही है और मौत सामने खड़ी है—यह सब देखते हुए किसीको संसारमें क्या सुख प्रतीत होगा ? ॥

व्याधिभिः पीड्यमानस्य नित्यं शारीरमानसैः ।
नरस्याकृतकृत्यस्य किं सुखं मरणे सति ॥

मनुष्य सदा शारीरिक और मानसिक व्याधियोंसे पीड़ित होता है और अपनी अधूरी इच्छाएँ लिये ही मर जाता है । अतः यहाँ कौन-सा सुख है ? ॥

संचिन्तयानमेवार्थं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवारण्ये मृत्युरादाय गच्छति ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानस्तु पापान्नोद्विजते जनः ॥

मानव अपने मनोरथोंकी पूर्तिका उपाय सोचता रहता है और कामनाओंसे अतृप्त ही बना रहता है । तभी जैसे जंगलमें बाघ आकर सहसा किसी पशुको दबोच लेता है, उसी प्रकार मौत उसे उठा ले जाती है । जन्म, मृत्यु और जरा-सम्बन्धी दुःखोंसे सदा आक्रान्त होकर संसारमें मनुष्य पकाया जा रहा है, तो भी वह पापसे उद्विग्न नहीं हो रहा है ॥

उमोवाच

केनोपायेन मर्त्यानां निवर्तेते जरान्तकौ ।
यद्यस्ति भगवन् मह्यमेतदाचक्ष्व मा चिरम् ॥

उमाने पूछा—भगवन् ! मनुष्योंकी वृद्धावस्था और मृत्यु किस उपायसे निवृत्त होती है ? यदि इसका कोई उपाय है तो यह मुझे बताइये, विलम्ब न कीजिये ॥

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
रसायनप्रयोगैर्वा केनात्येति जरान्तकौ ॥

महान् तप, कर्म, शास्त्रज्ञान अथवा रासायनिक प्रयोग—किस उपायसे मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है ? ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

नैतदस्ति महाभागे जरामृत्युनिवर्तनम् ।
सर्वलोकेषु जानीहि मोक्षादन्यत्र भामिनि ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—महाभागे ! ऐसी बात नहीं होती । भामिनि ! तुम यह जान लो कि सम्पूर्ण संसारमें मोक्षके सिवा अन्यत्र जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती ॥

न धनेन न राज्येन नाग्र्येण तपसापि वा ।
मरणं नातितरते विना मुक्त्या शरीरिणः ॥

आत्माकी मुक्तिके बिना मनुष्य न तो धनसे, न राज्यसे और न श्रेष्ठ तपस्यासे ही मृत्युको लाँघ सकता है ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
न तरन्ति जरामृत्यू निर्वाणाधिगमाद् विना ॥

सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ भी मोक्षकी उपलब्धि हुए बिना जरा और मृत्युको नहीं लाँघ सकते ॥

ऐश्वर्यं धनधान्यं च विद्यालाभस्तपस्तथा ।
रसायनप्रयोगो वा न तरन्ति जरान्तकौ ॥

ऐश्वर्य, धन-धान्य, विद्यालाभ, तप और रसायनप्रयोग—ये कोई भी जरा और मृत्युके पार नहीं जा सकते ॥

देवदानवगन्धर्वकिंनरोरगराक्षसान् ।
स्ववशे कुरुते कालो न कालस्यास्त्यगोचरः ॥
न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः ।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानमजस्रं ध्रुवमव्ययम् ॥
स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानामहोरात्रेषु संततम् ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, किंनर, नाग तथा राक्षसोंको भी काल अपने वशमें कर लेता है । कोई भी कालकी पहुँचसे परे नहीं है । गये हुए दिन, मास और रात्रियाँ फिर नहीं लौटती हैं । यह जीवात्मा उस निरन्तर चालू रहनेवाले अटल और अविनाशी मार्गको ग्रहण करता है । सरिताओंके स्रोतकी भाँति बीतती हुई आयुके दिन वापस नहीं लौटते हैं । दिन और रातोंमें व्याप्त हुई मनुष्योंकी आयु लेकर काल यहाँसे चल देता है ॥

जीवितं सर्वभूतानामक्षयः क्षपयन्नसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ॥

अक्षय सूर्य सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनको क्षीण करता हुआ अस्त होता और पुनः उदय होता रहता है ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं भवेत्।
गाधोदके मत्स्य इव किं नु तस्य कुमारता ॥

एक-एक रात बीतनेपर आयु बहुत थोड़ी होती चली जाती है। जैसे थाह जलमें रहनेवाला मत्स्य सुखी नहीं रहता, उसी प्रकार जिसकी आयु क्षीण होती जा रही है, उस परिमित आयुवाले पुरुषको कुमारावस्थाका क्या सुख है ? ॥

मरणं हि शरीरस्य नियतं ध्रुवमेव च।
तिष्ठन्नपि क्षणं सर्वः कालस्यैति वशं पुनः ॥

शरीरकी मृत्यु निश्चित और अटल है। सब लोग यहाँ क्षणभर ठहरकर पुनः कालके अधीन हो जाते हैं ॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् यदि स्युः सर्वदेहिनः।
न चानिष्टं प्रवर्तेत शोको वा प्राणिनां क्वचित् ॥

यदि समस्त देहधारी प्राणी न मरें और न बूढ़े हों तो न उन्हें अनिष्टकी प्राप्ति हो और न शोककी ही ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो भूतेषु तिष्ठति।
अप्रमत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
कोऽपि तद् वेद यत्रासौ मृत्युना नाभिवीक्षितः ॥

समस्त प्राणियोंके असावधान रहनेपर भी काल सदा सावधान रहता है। उस सावधान कालके आश्रयमें आया हुआ कोई भी प्राणी बच नहीं सकता ॥

कलका कार्य आज ही कर डाले, जिसे अपराह्णमें करना हो उसे पूर्वाह्णमें ही पूरा कर डाले। कौन उस स्थानको जानता है, जहाँ उसपर मृत्युकी दृष्टि नहीं पड़ी होगी ॥

वर्षास्विदं करिष्यामि इदं ग्रीष्मवसन्तयोः।
इति बालश्चिन्तयति अन्तरायं न बुध्यते ॥
इदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवं मनसा नराः।
अनवाप्तेषु कामेषु ह्रियन्ते मरणं प्रति ॥
कालपाशेन बद्धानामहन्यहनि जीर्यताम्।
का श्रद्धा प्राणिनां मार्गे विषमे भ्रमतां सदा ॥
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम्।
फलानामिव पक्वानां सदा हि पतनाद् भयम् ॥

अविवेकी मनुष्य यह सोचता रहता है कि आगामी बरसातमें यह कार्य करूँगा और गर्मी तथा वसन्त ऋतुमें अमुक कार्य आरम्भ करूँगा; परंतु उसमें जो मौत विघ्न बनकर खड़ी रहती है, उसकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता है। 'मेरे पास यह हो जाय, वह हो जाय' इस प्रकार मन-ही-मन मनुष्य मनसूबे बाँधा करता है। उसकी कामनाएँ अप्राप्त ही रह जाती हैं और वह मृत्युकी ओर खिंचता चला जाता है। कालके बन्धनमें बँधकर प्रतिदिन जीर्ण होते और विषम-मार्गमें भटकते हुए प्राणियोंका इस जीवनपर क्या विश्वास हो सकता है। युवावस्थासे ही मनुष्य धर्मशील हो; क्योंकि जीवनका कोई सुदृढ़ निमित्त नहीं है। इसे पके हुए फलोंकी भाँति सदा ही पतनका भय बना रहता है ॥

मर्त्यस्य किमु तैर्दारैः पुत्रैर्भोगैः प्रियैरपि।
एकाह्ना सर्वमुत्सृज्य मृत्योस्तु वशमन्वियात् ॥

मनुष्यको उन स्त्रियों, पुत्रों और प्रिय भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है, जब कि वह एक ही दिनमें सबको छोड़कर मृत्युकी ओर चला जाता है ॥

जायमानांश्च सम्प्रेक्ष्य म्रियमाणांस्तथैव च।
न संवेगोऽस्ति चेत् पुंसः काष्ठलोष्टसमो हि सः ॥
विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्मित्रपरिग्रहैश्च।
विहाय यद् गच्छति सर्वमेवं
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥

संसारमें जन्म लेने और मरनेवालोंको देखकर भी यदि मनुष्यको वैराग्य नहीं होता तो वह चेतन नहीं, काठ और मिट्टीके ढेलेके समान जड है। जो विनाशशील है, जिसका जीवन निश्चित नहीं है, ऐसे पुरुषको बन्धुओं और मित्रोंके संग्रहसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि वह सबको क्षणभरमें छोड़कर चल देता है और जाकर फिर कभी लौटता नहीं है ॥

एवं चिन्तयतो नित्यं सर्वार्थानामनित्यताम्।
उद्वेगो जायते शीघ्रं निर्वाणस्य परस्परम् ॥
तेनोद्वेगेन चाप्यस्य विमर्शो जायते पुनः।
विमर्शो नाम वैराग्यं सर्वद्रव्येषु जायते ॥
वैराग्येण परां शान्तिं लभन्ते मानवाः शुभे।
मोक्षस्योपनिषद् दिव्यं वैराग्यमिति निश्चितम् ॥
एतत् ते कथितं देवि वैराग्योत्पादनं वचः।
एवं संचिन्त्य संचिन्त्य मुच्यन्ते हि मुमुक्षवः ॥

इस प्रकार सदा सभी पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करते हुए पुरुषको शीघ्र ही एक दूसरेसे वैराग्य होता है, जो मोक्षका कारण है। उस उद्वेगसे उसके मनमें पुनः विमर्श पैदा होता है। समस्त द्रव्योंकी ओरसे जो वैराग्य पैदा होता है, उसीका नाम विमर्श है। शुभे ! वैराग्यसे मनुष्योंको बड़ी शान्ति मिलती है। वैराग्य मोक्षका निकटतम एवं दिव्य साधन है, यह निश्चितरूपसे कहा गया है। देवि ! यह तुमसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाला वचन कहा गया है। मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार बारंबार विचार करनेसे मुक्त हो जाते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सांख्यज्ञानका प्रतिपादन करते हुए अव्यक्तादि चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति आदिका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि यथावत् ते शुचिस्मिते।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मर्त्यः संसारेषु प्रवर्तते ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुचिस्मिते ! अब मैं तुमसे सांख्यज्ञानका यथावत् वर्णन करूँगा, जिसे जानकर मनुष्य फिर संसार-बन्धनमें नहीं पड़ता ॥

ज्ञानेनैव विमुक्तास्ते सांख्याः संन्यासकोविदाः।
शारीरं तु तपो घोरं सांख्याः प्राहुर्निरर्थकम् ॥

संन्यासकुशल सांख्यज्ञानी ज्ञानसे ही मुक्त हो जाते हैं। वे घोर शारीरिक तपको व्यर्थ बताते हैं ॥

पञ्चविंशतिकं ज्ञानं तेषां ज्ञानमिति स्मृतम् ।
मूलप्रकृतिरव्यक्तमव्यक्ताज्जायते महान् ॥
महतोऽभूदहंकारस्तस्मात् तन्मात्रपञ्चकम् ।
इन्द्रियाणि दशैकं च तन्मात्रेभ्यो भवन्त्युत ॥
तेभ्यो भूतानि पञ्चभ्यः शरीरं वै प्रवर्तते ।
इति क्षेत्रस्य संक्षेपः चतुर्विंशतिरिष्यते ॥
पञ्चविंशतिरित्याहुः पुरुषेणेह संख्यया ॥

पचीस तत्त्वोंका ज्ञान ही सांख्यज्ञान माना गया है । मूलप्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं, अव्यक्तसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है । महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है और अहंकारसे पाँच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है । तन्मात्राओंसे दस इन्द्रियों और एक मनकी उत्पत्ति होती है । उनसे पाँच भूत प्रकट होते हैं और पाँच भूतोंसे इस शरीरका निर्माण होता है । यही क्षेत्रका संक्षेप स्वरूप है । इसीको चौबीस तत्त्वोंका समुदाय कहते हैं । इनमें पुरुषकी भी गणना कर लेनेपर कुल पचीस तत्त्व बताये गये हैं ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
तैः सृजत्यखिलं लोकं प्रकृतिस्त्वात्मजैर्गुणैः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
विकाराः प्रकृतेश्चैते वेदितव्या मनीषिभिः ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिजनित गुण हैं । प्रकृति इन तीनों आत्मज गुणोंसे सम्पूर्ण लोककी सृष्टि करती है । इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना और धृति—इन्हें मनीषी पुरुषोंको प्रकृतिके विकार जानना चाहिये ॥

लक्षणं चापि सर्वेषां विकल्पस्त्वादितः पृथक् ।
विस्तरेणैव वक्ष्यामि तस्य व्याख्यामहं शृणु ॥

इन सबका लक्षण और आरम्भसे ही पृथक्-पृथक् विकल्प मैं विस्तारपूर्वक बताऊँगा, उसकी व्याख्या सुनो ॥

नित्यमेकमणु व्यापि क्रियाहीनमहेतुकम् ।
अग्राह्यमिन्द्रियैः सर्वैरेतदव्यक्तलक्षणम् ॥
अव्यक्तं प्रकृतिर्मूलं प्रधानं योनिरव्ययम् ।
अव्यक्तस्यैव नामानि शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥

नित्य, एक, अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, क्रियाहीन, हेतुरहित और सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य होना—यह अव्यक्तका लक्षण है । अव्यक्त, प्रकृति, मूल, प्रधान, योनि और अविनाशी—इन पर्यायवाची शब्दोंद्वारा अव्यक्तके ही नाम बताये जाते हैं ॥

तत् सूक्ष्मत्वादनिर्देश्यं तत् सदित्यभिधीयते ।
तन्मूलं च जगत् सर्वं तन्मूला सृष्टिरिष्यते ॥

वह अव्यक्त अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अनिर्देश्य है—उसका वाणीद्वारा कोई संकेत नहीं किया जा सकता । वह 'सत्' कहलाता है । सम्पूर्ण जगत्का मूल वही है और सृष्टिका मूल भी उसीको बताया गया है ॥

सत्त्वादयः प्रकृतिजा गुणास्तान् प्रब्रवीम्यहम् ॥
सुखं तुष्टिः प्रकाशश्च त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ।
रागद्वेषौ सुखं दुःखं स्तम्भश्च रजसो गुणाः ॥

सत्त्व आदि जो प्राकृत गुण हैं, उनको बता रहा हूँ । सुख, संतोष, प्रकाश—ये तीन सात्त्विक गुण हैं । राग-द्वेष, सुख-दुःख तथा उद्दण्डता—ये रजोगुणके गुण हैं ॥

अप्रकाशो भयं मोहस्तन्द्री च तमसो गुणाः ॥
श्रद्धा प्रहर्षो विज्ञानमसम्मोहो दया धृतिः ।
सत्त्वे प्रवृद्धे वर्धन्ते विपरीते विपर्ययः ॥

प्रकाशका अभाव, भय, मोह और आलस्यको तमोगुणके गुण समझो । श्रद्धा, हर्ष, विज्ञान, असम्मोह, दया और धैर्य—ये भाव सत्त्वगुणके बढ़नेपर बढ़ते हैं और तमोगुणके बढ़नेपर इनके विपरीत भाव अश्रद्धा आदिकी वृद्धि होती है ॥

कामक्रोधौ मनस्तापो लोभो मोहस्तथा मृषा ।
प्रवृद्धे परिवर्धन्ते रजस्येतानि सर्वशः ॥
विषादः संशयो मोहस्तन्द्री निद्रा भयं तथा ।
तमस्येतानि वर्धन्ते प्रवृद्धे हेत्वहेतुकम् ॥

काम, क्रोध, मानसिक संताप, लोभ, मोह (आसक्ति) तथा मिथ्याभाषण—ये सारे दोष रजोगुणकी वृद्धि होनेपर बढ़ते हैं । विषाद, संशय, मोह, आलस्य, निद्रा, भय—ये तमोगुणकी वृद्धि होनेपर बढ़ते हैं ॥

एवमन्योन्यमेतानि वर्धन्ते च पुनः पुनः ।
हीयन्ते च तथा नित्यमभिभूतानि भूरिशः ॥

इस प्रकार ये तीनों गुण बारंबार परस्पर बढ़ते हैं और एक-दूसरेसे अभिभूत होनेपर सदा ही क्षीण होते हैं ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं कायेन मनसापि वा ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तदा ॥
यदा संतापसंयुक्तं चित्तक्षोभकरं भवेत् ।
वर्तते रज इत्येव तदा तदभिचिन्तयेत् ॥

इनमें शरीर अथवा मनसे जो प्रसन्नतायुक्त भाव हो, उसे सात्त्विक भाव है—ऐसा माने और अन्य भावोंकी उपेक्षा कर दे । जब चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला संतापयुक्त भाव हो, तब उसे रजोगुणकी प्रवृत्ति माने ॥

यदा सम्मोहसंयुक्तं यद् विषादकरं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥
समासात् सात्त्विको धर्मः समासाद् राजसं धनम् ।
समासात् तामसः कामस्त्रिवर्गे त्रिगुणाः क्रमात् ॥
ब्रह्मादिदेवसृष्टिर्या सात्त्विकीति प्रकीर्त्यते ।
राजसी मानुषी सृष्टिः तिर्यग्योनिस्तु तामसी ॥

जब मोहयुक्त और विषाद उत्पन्न करनेवाला भाव अतर्क्य और अज्ञातरूपसे प्रकट हो, तब उसे तमोगुणका कार्य समझना चाहिये । धर्म सात्त्विक है, धन राजस है और काम तामस बताया गया है । इस प्रकार त्रिवर्गमें क्रमशः तीनों गुणोंकी स्थिति संक्षेपमें बतायी गयी है । ब्रह्मा आदि देवताओंकी जो सृष्टि है, वह सात्त्विकी बतायी जाती है । मनुष्योंकी राजसी सृष्टि है और तिर्यग्योनि तामसी कही गयी है ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

देवमानुषतिर्यक्षु यद्भूतं सचराचरम्।
आदिप्रभृति संयुक्तं व्याप्तमेभिस्त्रिभिर्गुणैः॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि महदादीनि लिङ्गतः।
विज्ञानं च विवेकश्च महतो लक्षणं भवेत्॥

सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले पुरुष ऊर्ध्व लोक (स्वर्ग आदि) में जाते हैं, रजोगुणी पुरुष मध्यलोक (मनुष्य-योनि) में स्थित होते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको–कीट-पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरक आदिको प्राप्त होते हैं। देवता, मनुष्य तथा तिर्यक् आदि योनियोंमें जो चराचर प्राणी हैं, वे आदि कालसे ही इन तीनों गुणोंद्वारा संयुक्त एवं व्याप्त हैं। अब मैं महत् आदि तत्त्वोंके लक्षण बताऊँगा। बुद्धिके द्वारा जो विवेक और ज्ञान होता है, वही शरीरमें महत्तत्त्वका लक्षण है॥

महान् बुद्धिर्मतिः प्रज्ञा नामानि महतो विदुः।
अहङ्कारः स विज्ञेयो लक्षणेन समासतः॥
अहङ्कारेण भूतानां सर्गो नानाविधो भवेत्।
अहङ्कारनिवृत्तिर्हि निर्वाणायोपपद्यते॥

महान्, बुद्धि, मति और प्रज्ञा–ये महत्तत्त्वके नाम माने गये हैं। संक्षेपसे लक्षणद्वारा अहंकारका विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अहंकारसे ही प्राणियोंकी नाना प्रकारकी सृष्टि होती है। अहंकारकी निवृत्ति मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली होती है॥

खं वायुरग्निः सलिलं पृथिवी चेति पञ्चमी।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पाँचवीं पृथ्वी–ये पाँच महाभूत हैं। ये ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम्।
स्पर्शवत् प्राणिनां चेष्टा पवनस्य गुणाः स्मृताः॥

शब्द, श्रवणेन्द्रिय तथा इन्द्रियोंके छिद्र–ये तीनों आकाशसे प्रकट हुए हैं। स्पर्श और प्राणियोंकी चेष्टा–ये वायुके गुण माने गये हैं॥

रूपं पाकोऽक्षिणी ज्योतिश्चत्वारस्तेजसो गुणाः।
रसः स्नेहस्तथा जिह्वा शैत्यं च जलजा गुणाः॥

रूप, पाक, नेत्र और ज्योति–ये चार तेजके गुण हैं। रस, स्नेह, जिह्वा और शीतलता–ये चार जलके गुण हैं॥

गन्धो घ्राणं शरीरं च पृथिव्यास्ते गुणास्त्रयः।
इति सर्वगुणा देवि विख्याताः पाञ्चभौतिकाः॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर–ये पृथ्वीके तीन गुण हैं। देवि! इस प्रकार पाचों भूतोंके समस्त गुण विख्यात हैं॥

गुणान् पूर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तराणि तु।
तस्मान्नैकगुणाश्चेह दृश्यन्ते भूतसृष्टयः॥
उपलभ्याप्सु ये गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः।
अपां गन्धगुणं प्राज्ञा नेच्छन्ति कमलेक्षणे॥

उत्तरोत्तर भूत पूर्व-पूर्व भूतके गुण ग्रहण करते हैं। इसीलिये यहाँ प्राणियोंकी सृष्टि अनेक गुणोंसे युक्त दिखायी देती है। कमलेक्षणे! कुछ अयोग्य मनुष्य जो जलमें सुगन्ध या दुर्गन्ध पाकर गन्धको जलका गुण बताते हैं, उसे विद्वान् पुरुष नहीं स्वीकार करते हैं॥

तद् गन्धत्वमपां नास्ति पृथिव्या एव तद् गुणः।
भूमिर्गन्धे रसे स्नेहो ज्योतिश्चक्षुषि संस्थितम्॥

जलमें गन्ध नहीं है, गन्ध पृथ्वीका ही गुण है। गन्धमें भूमि, रसमें जल तथा नेत्रमें तेजकी स्थिति है॥

प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशः शरीरिणाम्।
केशास्थिनखदन्तत्वक्पाणिपादशिरांसि च।
पृष्ठोदरकटिग्रीवाः सर्वं भूम्यात्मकं स्मृतम्॥

प्राण और अपानका आश्रय वायु है। देहधारियोंके शरीरमें जितने छिद्र हैं, उन सबमें आकाश व्याप्त है। केश, हड्डी, नख, दाँत, त्वचा, हाथ, पैर, सिर, पीठ, पेट, कमर और गर्दन–ये सब भूमिके कार्य माने गये हैं॥

यत् किंचिदपि कायेऽस्मिन् धातुदोषमलाश्रितम्।
तत् सर्वं भौतिकं विद्धि देहैरेवास्य स्वामिकम्॥

इस शरीरमें जो कुछ भी धातु, दोष और मलसम्बन्धी वस्तुएँ हैं, उन सबको पाञ्चभौतिक समझो। शरीरोंके द्वारा ही इस विश्वपर पञ्चभूतोंका स्वामित्व है॥

बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षुर्जिह्वाथ नासिका।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादौ मेढ्रं गुदस्तथा॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
बुद्धीन्द्रियार्थान् जानीयाद् भूतेभ्यस्त्वभिनिःसृतान्॥

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका–ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, वाक्, मेढ्र (लिङ्ग) और गुदा–ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध–इन्हें ज्ञानेन्द्रियोंके विषय समझें। ये पाँचों भूतोंसे प्रकट हुए हैं॥

वाक्यं क्रिया गतिः प्रीतिरुत्सर्गश्चेति पञ्चधा।
कर्मेन्द्रियार्थान् जानीयात् ते च भूतोद्भवा मताः॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते।
प्रार्थनालक्षणं तच्च इन्द्रियं तु मनः स्मृतम्॥

वाक्य, क्रिया, गति, प्रीति और उत्सर्ग–ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय जानें। ये भी पञ्चभूतोंसे उत्पन्न हुए माने गये हैं। समस्त इन्द्रियोंका स्वामी या प्रेरक मन कहलाता है। उसका लक्षण है प्रार्थना (किसी वस्तुकी चाह)। मनको भी इन्द्रिय ही माना गया है॥

नियुङ्क्ते च सदा तानि भूतानि मनसा सह।
नियमे च विसर्गे च मनसः कारणं प्रभुः॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना धृतिः।
भूताभूतविकारश्च शरीरमिति संस्थितम्॥

जो प्रभु (आत्मा) मनके नियन्त्रण और सृष्टिमें कारण है, वही मनसहित सम्पूर्ण भूतोंको सदा विभिन्न कार्योंमें नियुक्त करता है। इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, धृति तथा भूताभूत-विकार–ये सब मिलकर शरीर हैं॥

शरीराच्च परो देही शरीरं च व्यपाश्रितः।

शरीरिणः शरीरस्य सोऽन्तरं वेत्ति वै मुनिः ॥

शरीरसे परे शरीरधारी आत्मा है, जो शरीरका ही आश्रय लेकर रहता है। जो शरीर और शरीरीका अन्तर जानता है, वही मुनि है ॥

रसः स्पर्शश्च गन्धश्च रूपं शब्दविवर्जितम्।
अशरीरं शरीरेषु दिदृक्षेत निरिन्द्रियम् ॥

रस, स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्दसे रहित, इन्द्रियहीन अशरीरी आत्माको शरीरके भीतर देखनेकी इच्छा करे ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येष्वमरमाश्रितम्।
यः पश्येत् परमात्मानं बन्धनैः स विमुच्यते ॥

जो सम्पूर्ण मर्त्य शरीरोंमें अव्यक्त भावसे स्थित एवं अमर है, उस परमात्माको जो देखता है, वह बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
वसत्येको महावीर्यो नानाभावसमन्वितः ॥
नैव चोर्ध्वं न तिर्यक् च नाधस्तान्न कदाचन।
इन्द्रियैरिह बुद्ध्या वा न दृश्येत कदाचन ॥

नाना भावोंसे युक्त वह महापराक्रमी परमात्मा अकेला ही सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें निवास करता है। वह न ऊपर, न अगल-बगलमें और न नीचे ही कभी दिखायी देता है। वह यहाँ इन्द्रियों अथवा बुद्धिके द्वारा कदापि दिखायी नहीं देता ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा सततं नियतो वशी।
ईश्वरः सर्वलोकेषु स्थावरस्य चरस्य च ॥
तमेवाहुरणुभ्योऽणुं तं महद्भ्यो महत्तरम्।
बहुधा सर्वभूतानि व्याप्य तिष्ठति शाश्वतम् ॥
क्षेत्रज्ञमेकतः कृत्वा सर्वं क्षेत्रमथैकतः।
एवं संविमृशेज्ज्ञानी संयतः सततं हृदि ॥

नौ द्वारवाले नगर (शरीर) में जाकर वह सदा नियमपूर्वक निवास करता है। सबको वशमें रखता है। सम्पूर्ण लोकोंमें चराचर प्राणियोंका शासन करनेवाला ईश्वर भी वही है। उसे अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहते हैं। वह नाना प्रकारके सभी प्राणियोंको व्याप्त करके सदा स्थित रहता है। क्षेत्रज्ञको एक ओर करके दूसरी ओर सम्पूर्ण क्षेत्रको पृथक् करके रक्खे। संयमपूर्वक रहनेवाला ज्ञानी पुरुष सदा इस प्रकार अपने हृदयमें विचार करता रहे—जड और चेतनकी पृथक्ताका विवेचन किया करे ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
अकर्तालेपको नित्यो मध्यस्थः सर्वकर्मणाम् ॥

पुरुष प्रकृतिमें स्थित रहकर ही उससे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है। वह अकर्ता, निर्लेप, नित्य और समस्त कर्मोंका मध्यस्थ है ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
अजरोऽयमचिन्त्योऽयमव्यक्तोऽयं सनातनः।
देही तेजोमयो देहे तिष्ठतीत्यपरे विदुः ॥
अपरे सर्वलोकांश्च व्याप्य तिष्ठन्तमीश्वरम्।
ब्रुवते केचिदत्रैव तिलतैलवदास्थितम् ॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है। दूसरे लोग ऐसा मानते हैं कि तेजोमय आत्मा इस शरीरके भीतर स्थित है। यह अजर, अचिन्त्य, अव्यक्त और सनातन है। कुछ विचारक सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हुए परमेश्वरको ही तिलमें तेलकी भाँति इस शरीरमें जीवात्मारूपसे विद्यमान बताते हैं ॥

अपरे नास्तिका मूढा भिन्नत्वात् स्थूललक्षणैः।
नास्त्यात्मेति विनिश्चित्य प्रजास्ते निरयालयाः॥
एवं नानाविधानेन विमृशन्ति महेश्वरम् ॥

दूसरे मूर्ख नास्तिक मनुष्य स्थूल लक्षणोंसे भिन्न होनेके कारण आत्माकी सत्ता ही नहीं मानते हैं। 'आत्मा नहीं है' ऐसा निश्चय कर वे लोग नरकके निवासी होते हैं। इस प्रकार महेश्वरके विषयमें नाना प्रकारसे विचार करते हैं ॥

उमोवाच

ऊहवान् ब्राह्मणो लोके नित्यमक्षरमव्ययम्।
अस्त्यात्मा सर्वदेहेषु हेतुस्तत्र सुदुर्गमः ॥

उमाने कहा—भगवन्! लोकमें जो विचारशील ब्राह्मण है, वह तो यही बताता है कि सम्पूर्ण शरीरोंमें नित्य, अक्षर, अविनाशी आत्मा अवश्य है। परंतु इसकी सत्यतामें क्या कारण है, इसे जानना अत्यन्त कठिन है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ऋषिभिश्चापि देवैश्च व्यक्तमेष न दृश्यते।
दृष्ट्वा तु तं महात्मानं पुनस्तत्र निवर्तते ॥
तस्मात् तद्दर्शनादेव विन्दते परमां गतिम्।
इति ते कथितो देवि सांख्यधर्मः सनातनः ॥
कपिलादिभिराचार्यैः सेवितः परमर्षिभिः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! ऋषि और देवता भी इस परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते हैं। जो वास्तवमें उन परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, वह पुनः इस संसारमें नहीं लौटता है। देवि! अतः उस परमात्माके दर्शनसे ही परमगतिकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह सनातन सांख्यधर्म तुम्हें बताया गया है; जो कपिल आदि आचार्यों एवं महर्षियोंद्वारा सेवित है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[योगधर्मका प्रतिपादनपूर्वक उसके फलका वर्णन]

श्रीमहेश्वर उवाच

सांख्यज्ञाने नियुक्तानां यथावत् कीर्तितं मया।
योगधर्मं पुनः कृत्स्नं कीर्तयिष्यामि ते शृणु ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो लोग सांख्यज्ञानमें नियुक्त हैं, उनके धर्मका मैंने यथावत् रूपसे वर्णन किया। अब तुमसे पुनः सम्पूर्ण योगधर्मका प्रतिपादन करूँगा, सुनो ॥

स च योगो द्विधा भिन्नो ब्रह्मदेवर्षिसम्मतः।
समानमुभयत्रापि वृत्तं शास्त्रप्रचोदितम् ॥

वह ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंद्वारा सम्मत योग सबीज और निर्बीजके भेदसे दो प्रकारका है। उन दोनोंमें ही शास्त्रोक्त सदाचार समान है ॥

स चाष्टगुणमैश्वर्यमधिकृत्य विधीयते।
सायुज्यं सर्वदेवानां योगधर्मः पराश्रितः॥
ज्ञानं सर्वस्य योगस्य मूलमित्यवधारय।
व्रतोपवासनियमैः तत् सर्वं चापि बृंहयेत्॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व—इन आठ भेदोंवाले ऐश्वर्यपर अधिकार करके योगका अनुष्ठान किया जाता है। सम्पूर्ण देवताओंका सायुज्य पराश्रित योगधर्म है। ज्ञान सम्पूर्ण योगका मूल है, ऐसा समझो। साधकको व्रत, उपवास और नियमोंद्वारा उस सम्पूर्ण ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये ॥

ऐकाग्र्यं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः।
आत्मनोऽव्ययिनः प्राज्ञे ज्ञानमेतत् तु योगिनाम्॥
अर्चयेद् ब्राह्मणानग्निं देवतायतनानि च।
वर्जयेदशिवं भावं सर्वसत्त्वमुपाश्रितः॥

बुद्धिमती पार्वती! अविनाशी आत्मामें बुद्धि, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी एकाग्रता हो, यही योगियोंका ज्ञान है। ब्राह्मण, अग्नि और देवमन्दिरोंकी पूजा करे तथा पूर्णतः सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अमाङ्गलिक भावको त्याग दे ॥

दानमध्ययनं श्रद्धा व्रतानि नियमास्तथा।
सत्यमाहारशुद्धिश्च शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥
एतैश्च वर्धते तेजः पापं चाप्यवधूयते॥

दान, अध्ययन, श्रद्धा, व्रत, नियम, सत्य, आहारशुद्धि, शौच और इन्द्रिय-निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पाप धुल जाता है ॥

निर्धूतपापस्तेजस्वी निराहारो जितेन्द्रियः।
अमोघो निर्मलो दान्तः पश्चाद् योगं समाचरेत्॥

जिसका पाप धुल गया है, वह पहले तेजस्वी, निराहार, जितेन्द्रिय, अमोघ, निर्मल और मनका दमन करनेमें समर्थ हो जाय। तत्पश्चात् योगका अभ्यास करे ॥

एकान्ते विजने देशे सर्वतः संवृते शुचौ।
कल्पयेदासनं तत्र स्वास्तीर्णं मृदुभिः कुशैः॥

एकान्त निर्जन प्रदेशमें, जो सब ओरसे घिरा हुआ और पवित्र हो, कोमल कुशोंसे एक आसन बनावे और उसे वहाँ भलीभाँति बिछा दे ॥

उपविश्यासने तस्मिन्नृजुकायशिरोधरः।
अव्यग्रः सुखमासीनः स्वाङ्गानि न विकम्पयेत्॥
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

उस आसनपर बैठकर अपने शरीर और गर्दनको सीधी किये रहे। मनमें किसी प्रकारकी व्यग्रता न आने दे। सुखपूर्वक बैठकर अपने अङ्गोंको हिलने-डुलने न दे। अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात न करते हुए ध्यानमग्न हो जाय ॥

मनोऽवस्थापनं देवि योगस्योपनिषद् भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मनोऽवस्थापयेत् सदा॥
त्वक्छ्रोत्रं च ततो जिह्वां घ्राणं चक्षुश्च संहरेत्।
पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् बुधः॥

देवि! मनको दृढ़तापूर्वक स्थापित करना योगकी सिद्धिका सूचक है; अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मनको सदा स्थिर रखे। त्वचा, कान, जिह्वा, नासिका और नेत्र—इन सबको विषयोंकी ओरसे समेटे। पाँचों इन्द्रियोंको एकाग्र करके विद्वान् पुरुष उन्हें मनमें स्थापित करे ॥

सर्वं चापोह्य संकल्पमात्मनि स्थापयेन्मनः।
यदैतान्यवतिष्ठन्ते मनःषष्ठानि चात्मनि॥
प्राणापानौ तदा तस्य युगपत् तिष्ठतो वशे।
प्राणे हि वशमापन्ने योगसिद्धिर्ध्रुवा भवेत्॥
शरीरं चिन्तयेत् सर्वं विपाट्य च समीपतः।
अन्तर्देहगतिं चापि प्राणानां परिचिन्तयेत्॥

फिर सारे संकल्पोंको हटाकर मनको आत्मामें स्थापित करे। जब मनसहित ये पाँचों इन्द्रियाँ आत्मामें स्थिर हो जाती हैं, तब प्राण और अपान वायु एक ही साथ वशमें हो जाते हैं। प्राणके वशमें हो जानेपर योगसिद्धि अटल हो जाती है। सारे शरीरको निकटसे उघाड़-उघाड़कर देखे और यह क्या है? इसका चिन्तन करे। शरीरके भीतर जो प्राणोंकी गति है, उसपर भी विचार करे ॥

ततो मूर्धानमग्निं च शरीरं परिपालयेत्।
प्राणो मूर्धनि च श्वासो वर्तमानो विचेष्टते॥
सन्नस्तु सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयाश्च सः॥
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं च समाश्रितः।
वहन् मूत्रं पुरीषं च सदापानः प्रवर्तते॥
अथ प्रवृत्तिर्देहेषु कर्मापानस्य सम्मतम्।
उदीरयन् सर्वधातून् अत ऊर्ध्वं प्रवर्तते॥
उदान इति तं विदुरध्यात्मकुशला जनाः॥

तत्पश्चात् मूर्धा, अग्नि और शरीरका परिपालन करे। मूर्धामें प्राणकी स्थिति है, जो श्वासरूपमें वर्तमान होकर चेष्टा करता है। सदा सन्नद्ध रहनेवाला प्राण ही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है। वही मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चभूत और विषयरूप है। वस्तिके मूलभाग, गुदा और अग्निके आश्रित हो अपानवायु सदा मल-मूत्रका वहन करती हुई अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है। देहोंमें प्रवृत्ति अपानवायुका कर्म मानी गयी है। जो वायु समस्त धातुओंको ऊपर उठाती हुई अपानसे ऊपरकी ओर प्रवृत्त होती है, उसे अध्यात्म-कुशल मनुष्य 'उदान' मानते हैं ॥

संधौ संधौ स निर्विष्टः सर्वचेष्टाप्रवर्तकः।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते॥
धातुष्वग्नौ च विततः समानोऽग्निः समीरणः।
स एव सर्वचेष्टानामन्तकाले निवर्तकः॥

जो वायु मनुष्योंके शरीरोंकी एक-एक संधिमें व्याप्त

होकर उनकी सम्पूर्ण चेष्टाओंमें प्रवर्त्तक होती है, उसे 'व्यान' कहते हैं। जो धातुओं और अग्निमें भी व्याप्त है, वह अग्निस्वरूप 'समान' वायु है। वही अन्तकालमें समस्त चेष्टाओंका निवर्त्तक होता है ॥

प्राणानां संनिपातेषु संसर्गाद् यः प्रजायते।
ऊष्मा सोऽग्निरिति ज्ञेयः सोऽन्नं पचति देहिनाम्॥
अपानप्राणयोर्मध्ये व्यानोदानावुपाश्रितौ।
समन्वितः समानेन सम्यक् पचति पावकः॥
शरीरमध्ये नाभिः स्यात्तस्यामग्निः प्रतिष्ठितः।
अग्नौ प्राणाश्च संयुक्ताः प्राणेष्वात्मा व्यवस्थितः॥

समस्त प्राणोंका परस्पर संयोग होनेपर संसर्गवश जो ताप प्रकट होता है, उसीको अग्नि जानना चाहिये। वह अग्नि देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाती है। अपान और प्राण वायुके मध्यभागमें व्यान और उदान वायु स्थित है। समान वायुसे युक्त हुई अग्नि सम्यक् रूपसे अन्नका पाचन करती है। शरीरके मध्यभागमें नाभि है। नाभिके भीतर अग्नि प्रतिष्ठित है। अग्निसे प्राण जुड़े हुए हैं और प्राणोंमें आत्मा स्थित है ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभेरूर्ध्वमामाशयस्तथा।
नाभिर्मध्ये शरीरस्य सर्वप्राणाश्च संश्रिताः॥
स्थिताः प्राणादयः सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधश्चराः।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणाग्निचोदिताः॥
योगिनामेष मार्गस्तु पञ्चस्वेतेषु तिष्ठति।
जितश्रमः समासीनो मूर्धन्यात्मानमादधेत्॥

नाभिके नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है। शरीरके ठीक मध्यभागमें नाभि है और समस्त प्राण उसीका आश्रय लेकर स्थित हैं। समस्त प्राण आदि ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलमें विचरनेवाले हैं। दस प्राणोंसे तथा अग्निसे प्रेरित हो नाड़ियाँ अन्नरसका वहन करती हैं। यह योगियोंका मार्ग है, जो पाँचों प्राणोंमें स्थित है। साधकको चाहिये कि श्रमको जीतकर आसनपर आसीन हो आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापित करे ॥

मूर्धन्यात्मानमाधाय भ्रुवोर्मध्ये मनस्तथा।
संनिरुध्य ततः प्राणानात्मानं चिन्तयेत् परम्॥
प्राणे त्वपानं युञ्जीत प्राणांश्चापानकर्मणि।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरो भवेत्॥

मूर्धामें आत्माको स्थापित करके दोनों भौंहोंके बीचमें मनका अवरोध करे। तत्पश्चात् प्राणको भलीभाँति रोककर परमात्माका चिन्तन करे। प्राणमें अपानका और अपान कर्ममें प्राणोंका योग करे। फिर प्राण और अपानकी गतिको अवरुद्ध करके प्राणायाममें तत्पर हो जाय ॥

एवमन्तः प्रयुञ्जीत पञ्च प्राणान् परस्परम्।
विजने सम्मिताहारो मुनिस्तूर्ष्णी निरुच्छ्वसन्॥
अश्रान्तश्चिन्तयेद् योगी उत्थाय च पुनः पुनः।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् वापि युञ्जीतैवमतन्द्रितः॥

इस प्रकार एकान्त प्रदेशमें बैठकर मिताहारी मुनि अपने अन्तःकरणमें पाँचों प्राणोंका परस्पर योग करे और चुपचाप उच्छ्वासरहित हो बिना किसी थकावटके ध्यानमग्न रहे। योगी पुरुष बारंबार उठकर भी चलते, सोते या ठहरते हुए भी आलस्य छोड़कर योगाभ्यासमें ही लगा रहे ॥

एवं नियुञ्जतस्तस्य योगिनो युक्तचेतसः।
प्रसीदति मनः क्षिप्रं प्रसन्ने दृश्यते परम्॥
विधूम इव दीप्तोऽग्निरादित्य इव रश्मिमान्।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे पुरुषो दृश्यतेऽव्ययः॥

इस प्रकार जिसका चित्त ध्यानमें लगा हुआ है, ऐसे योगाभ्यासपरायण योगीका मन शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और मनके प्रसन्न होनेपर परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। उस समय अविनाशी पुरुष परमात्मा धूमरहित प्रकाशित अग्नि, अंशुमाली सूर्य और आकाशमें चमकनेवाली बिजलीके समान दिखायी देता है ॥

दृष्ट्वा तदा मनो ज्योतिरैश्वर्याष्टगुणैर्युतः।
प्राप्नोति परमं स्थानं स्पृहणीयं सुरैरपि॥

उस अवस्थामें मनके द्वारा ज्योतिर्मय परमेश्वरका दर्शन करके योगी अणिमा आदि आठ ऐश्वर्योंसे युक्त हो देवताओंके लिये भी स्पृहणीय परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥

इमान् योगस्य दोषांश्च दशैव परिचक्षते।
दोषैर्विघ्नो वरारोहे योगिनां कविभिः स्मृतः॥

वरारोहे! विद्वानोंने दोषोंसे योगियोंके मार्गमें विघ्नकी प्राप्ति बतायी है। वे योगके निम्नाङ्कित दस ही दोष बताते हैं॥

कामः क्रोधो भयं स्वप्नः स्नेहमत्यशनं तथा।
वैचित्त्यं व्याधिरालस्यं लोभश्च दशमः स्मृतः॥

काम, क्रोध, भय, स्वप्न, स्नेह, अधिक भोजन, वैचित्त्य (मानसिक विकलता), व्याधि, आलस्य और लोभ—ये ही उन दोषोंके नाम हैं। इनमें लोभ दसवाँ दोष है ॥

एतैस्तेषां भवेद् विघ्नो दशभिर्दैवकारितैः।
तस्मादेतानपास्यादौ युञ्जीत च परं मनः॥
इमानपि गुणानष्टौ योगस्य परिचक्षते।
गुणैस्तैरष्टभिर्दिव्यमैश्वर्यमधिगम्यते ॥

देवताओंद्वारा पैदा किये गये इन दस दोषोंसे योगियोंको विघ्न होता है; अतः पहले इन दस दोषोंको हटाकर मनको परमात्मामें लगावे। योगके निम्नाङ्कित आठ गुण बताये जाते हैं, जिनसे युक्त दिव्य ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है ॥

अणिमा महिमा चैव प्राप्तिः प्राकाम्यमेव हि।
ईशित्वं च वशित्वं च यत्र कामावसायिता॥
एतानष्टौ गुणान् प्राप्य कथंचिद् योगिनां वराः।
ईशाः सर्वस्य लोकस्य देवानप्यतिशेरते॥
योगोऽस्ति नैवात्यशिनो न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य नातिजागरतस्तथा॥

अणिमा, महिमा और गरिमा, लघिमा तथा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, जिसमें इच्छाओंकी पूर्ति होती है। योगियोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी तरह इन आठ गुणोंको पाकर सम्पूर्ण जगत्पर शासन करनेमें समर्थ हो देवताओंसे

भी बढ़ जाते हैं। जो अधिक खानेवाला अथवा सर्वथा न खानेवाला है, अधिक सोनेवाला अथवा सर्वथा जागनेवाला है, उसका योग सिद्ध नहीं होता ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
अनेनैव विधानेन सायुज्यं तत् प्रकल्प्यते ।
सायुज्यं देवसात् कृत्वा प्रयुञ्जीतात्मभक्तितः ॥
अनन्यमनसा देवि नित्यं तद्गतचेतसा ।
सायुज्यं प्राप्यते देवैर्यत्नेन महता चिरात् ॥
हविर्भिरर्चनैर्होमैः प्रणामैर्नित्यचिन्तया ।
अर्चयित्वा यथाशक्ति स्वकं देवं विशन्ति ते ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग उसी पुरुषका सिद्ध होता है, जो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाला है, कर्मोंमें उपयुक्त चेष्टा करता है तथा उचित मात्रामें सोता और जागता है। इसी विधानसे देवसायुज्य प्राप्त होता है। अपनी भक्तिसे देवताओंका सायुज्य प्राप्त करके योगसाधनामें तत्पर रहे। देवि! प्रतिदिन एकाग्र और अनन्य चित्त हो चिरकालतक महान् यत्न करनेसे देवताओंके साथ सायुज्य प्राप्त होता है। योगीजन हविष्य, पूजा, हवन, प्रणाम तथा नित्य चिन्तनके द्वारा यथाशक्ति आराधना करके अपने इष्टदेवके स्वरूपमें प्रवेश कर जाते हैं ॥

सायुज्यानां विशिष्टं च मामकं वैष्णवं तथा ।
मां प्राप्य न निवर्तन्ते विष्णुं वा शुभलोचने ।
इति ते कथितो देवि योगधर्मः सनातनः ।
न शक्यं प्रष्टुमन्यैर्यो योगधर्मस्त्वया विना ॥

शुभलोचने! सायुज्योंमें मेरा तथा श्रीविष्णुका सायुज्य श्रेष्ठ हैं। मुझे या भगवान् विष्णुको प्राप्त करके मनुष्य पुनः संसारमें नहीं लौटते हैं। देवि! इस प्रकार मैंने तुमसे सनातन योग-धर्मका वर्णन किया है। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई इस योगधर्मके विषयमें प्रश्न नहीं कर सकता था ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[पाशुपत योगका वर्णन तथा शिवलिङ्ग-पूजनका माहात्म्य]

उमोवाच

त्रियक्ष त्रिदशश्रेष्ठ त्र्यम्बक त्रिदशाधिप ।
त्रिपुरान्तक कामाङ्गहर त्रिपथगाधर ॥
दक्षयज्ञप्रमथन शूलपाणेऽरिसूदन ।
नमस्ते लोकपालेश लोकपालवरप्रद ॥

उमाने पूछा—तीन नेत्रधारी! त्रिदशश्रेष्ठ! देवेश्वर त्र्यम्बक! त्रिपुरोंका विनाश और कामदेवके शरीरको भस्म करनेवाले गङ्गाधर! दक्षयज्ञका नाश करनेवाले त्रिशूलधारी! शत्रुसूदन! लोकपालोंको भी वर देनेवाले लोकपालेश्वर! आपको नमस्कार है ॥

नैकशाखमपर्यन्तमध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सांख्ययोगसमन्वितम् ॥
भवता परिपृष्टेन शृण्वन्त्या मम भाषितम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि सायुज्यं त्वद्गतं विभो ॥
कथं परिचरन्त्येते भक्तास्त्वां परमेष्ठिनम् ।
आचारः कीदृशस्तेषां केन तुष्टो भवेद् भवान् ॥
वर्ण्यमानं त्वया साक्षात् प्रीणयत्यधिकं हि माम् ॥

आपने मेरे पूछनेपर सुननेके लिये उत्सुक हुई मुझ दासीको वह उत्तम अध्यात्मज्ञान बताया है, जो अनेक शाखाओंसे युक्त, अनन्त, अतर्क्य, अविज्ञेय और सांख्ययोगसे युक्त है। प्रभो! इस समय मैं आपसे आपका ही सायुज्य सुनना चाहती हूँ। ये भक्तजन आप परमेष्ठीकी परिचर्या कैसे करते हैं? उनका आचार कैसा होता है? किस साधनसे आप संतुष्ट होते हैं? साक्षात् आपके द्वारा प्रतिपादित होनेपर यह विषय मुझे अधिक प्रसन्नता प्रदान करता है ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम सायुज्यमद्भुतम् ।
येन ते न निवर्तन्ते युक्ताः परमयोगिनः ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुमसे अपने अद्भुत सायुज्यका वर्णन करता हूँ, जिससे युक्त हो वे परम योगी पुरुष फिर संसारमें नहीं लौटते हैं ॥

अव्यक्तोऽहमचिन्त्योऽहं पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
सांख्ययोगौ मया सृष्टौ सर्वं चापि चराचरम् ॥

पहलेके मुमुक्षुओंद्वारा भी मैं अव्यक्त और अचिन्त्य ही रहा हूँ। मैंने ही सांख्य और योगकी सृष्टि की है। समस्त चराचर जगत्को भी मैंने ही उत्पन्न किया है ॥

अर्चनीयोऽहमीशोऽहमव्ययोऽहं सनातनः ।
अहं प्रसन्नो भक्तानां ददाम्यमरतामपि ॥

मैं पूजनीय ईश्वर हूँ। मैं ही अविनाशी सनातन पुरुष हूँ। मैं प्रसन्न होकर अपने भक्तोंको अमरत्व भी देता हूँ ॥

न मां विदुः सुरगणा मुनयश्च तपोधनाः ।
त्वत्प्रियार्थमहं देवि मद्विभूतिं ब्रवीमि ते ॥
आश्रमेभ्यश्चतुर्भ्योऽहं चतुरो ब्राह्मणाञ्शुभे ।
मद्भक्तान् निर्मलान् पुण्यान् समानीय तपस्विनः ॥
व्याचख्येऽहं तथा देवि योगं पाशुपतं महत् ॥

देवता तथा तपोधन मुनि भी मुझे अच्छी तरह नहीं जानते हैं। देवि! तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं अपनी विभूति बतलाता हूँ। शुभे! देवि! मैंने चारों आश्रमोंसे चार पुण्यात्मा तपस्वी ब्राह्मणोंको, जो मेरे भक्त और निर्मलचित्त थे, लाकर उनके समक्ष महान् पाशुपत योगकी व्याख्या की थी ॥

गृहीतं तच्च तैः सर्वं मुखाच्च मम दक्षिणात् ।
श्रुत्वा तत् त्रिषु लोकेषु स्थापितं चापि तैः पुनः ॥
इदानीं च त्वया पृष्टो वक्ष्याम्येकमनाः शृणु ॥
अहं पशुपतिर्नाम मद्भक्ता ये च मानवाः ।
सर्वे पाशुपता ज्ञेया भस्मदिग्धतनूरुहाः ॥

मेरे दक्षिणवर्ती मुखसे वह सब उपदेश सुनकर उन्होंने ग्रहण किया और पुनः उसकी तीनों लोकोंमें स्थापना की। इस समय तुम्हारे पूछनेपर मैं उसी पाशुपत योगका वर्णन करता हूँ, एकचित्त होकर सुनो। मेरा ही नाम पशुपति है। अपने

रोम-रोममें भस्म रमाये रहनेवाले जो मेरे भक्त मनुष्य हैं, उन्हें पाशुपत जानना चाहिये ॥

रक्षार्थं मङ्गलार्थं च पवित्रार्थं च भामिनि ।
लिङ्गार्थं चैव भक्तानां भस्म दत्तं मया पुरा ॥
तेन संदिग्धसर्वाङ्गा भस्मना ब्रह्मचारिणः ।
जटिला मुण्डिता वापि नानाकारशिखण्डिनः ॥
विकृताः पिङ्गलाभाश्च नग्ना नानाप्रकारिणः ।
भैक्षं चरन्तः सर्वत्र निःस्पृहा निष्परिग्रहाः ॥
मृत्पात्रहस्ता मद्भक्ता मन्निवेशितबुद्धयः ।
चरन्तो निखिलं लोकं मम हर्षविवर्धनाः ॥

भामिनि ! पूर्वकालमें मैंने रक्षाके लिये, मङ्गलके लिये, पवित्रताके लिये और पहचानके लिये भी अपने भक्तोंको भस्म प्रदान किया था। उस भस्मसे सम्पूर्ण अङ्गोंको लिप्त करके ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले जटाधारी, मुण्डित अथवा नाना प्रकारकी शिखा धारण करनेवाले, विकृत वेश, पिङ्गलवर्ण, नग्न देह और नाना वेश धारण किये मेरे निःस्पृह और परिग्रहशून्य भक्त मुझमें ही मन-बुद्धि लगाये, मिट्टीका पात्र हाथमें लिये सब ओर भिक्षाके लिये विचरते रहते हैं। समस्त लोकमें विचरते हुए वे भक्तजन मेरे हर्षकी वृद्धि करते हैं॥

मम पाशुपतं दिव्यं योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
सूक्ष्मं सर्वेषु लोकेषु विमृशन्तश्चरन्ति ते ॥

सभी लोकोंमें मेरे परम उत्तम सूक्ष्म एवं दिव्य पाशुपत योगशास्त्रका विचार करते हुए वे विचरण करते हैं ॥

एवं नित्याभियुक्तानां मद्भक्तानां तपस्विनाम् ।
उपायं चिन्तयाम्याशु येन मामुपयान्ति ते ॥

इस तरह नित्य मेरे ही चिन्तनमें संलग्न रहनेवाले अपने तपस्वी भक्तोंके लिये मैं ऐसा उपाय सोचता रहता हूँ, जिससे वे शीघ्र मुझे प्राप्त हो जाते हैं ॥

स्थापितं त्रिषु लोकेषु शिवलिङ्गं मया मम ।
नमस्कारेण वा तस्य मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥
इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
शिवलिङ्गप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

तीनों लोकोंमें मैंने अपने स्वरूपभूत शिवलिङ्गोंकी स्थापना की है, जिनको नमस्कारमात्र करके मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। होम, दान, अध्ययन और बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञ भी शिवलिङ्गको प्रणाम करनेसे मिले हुए पुण्यकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥

अर्चया शिवलिङ्गस्य परितुष्याम्यहं प्रिये ।
शिवलिङ्गार्चनायां तु विधानमपि मे शृणु ॥

प्रिये ! शिवलिङ्गकी पूजासे मैं बहुत संतुष्ट होता हूँ। तुम शिवलिङ्ग-पूजनका विधान मुझसे सुनो ॥

गोक्षीरनवनीताभ्यामर्चयेद् यः शिवं मम ।
इष्टस्य हयमेधस्य यत् फलं तत् फलं भवेत् ॥
घृतमण्डेन यो नित्यमर्चयेद् यः शिवं मम ।
स फलं प्राप्नुयान्मर्त्यो ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ॥
केवलेनापि तोयेन स्नापयेद् यः शिवं मम ।
स चापि लभते पुण्यं प्रियं च लभते नरः ॥

जो गोदुग्ध और माखनसे मेरे शिवलिङ्गकी पूजा करता है, उसे वही फल प्राप्त होता है जो कि अश्वमेध यज्ञ करनेसे मिलता है। जो प्रतिदिन घृतमण्डसे मेरे शिवलिङ्गका पूजन करता है, वह मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मणके समान पुण्यफलका भागी होता है। जो केवल जलसे भी मेरे शिवलिङ्गको नहलाता है, वह भी पुण्यका भागी होता और अभीष्ट फल पा लेता है ॥

सघृतं गुग्गुलं सम्यग् धूपयेद् यः शिवान्तिके ।
गोसवस्य तु यज्ञस्य यत् फलं तस्य तद् भवेत् ॥
यस्तु गुग्गुलपिण्डेन केवलेनापि धूपयेत् ।
तस्य रुक्मप्रदानस्य यत् फलं तस्य तद् भवेत् ॥
यस्तु नानाविधैः पुष्पैर्मम लिङ्गं समर्चयेत् ।
स हि धेनुसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥
यस्तु देशान्तरं गत्वा शिवलिङ्गं समर्चयेत् ।
तस्मात् सर्वमनुष्येषु नास्ति मे प्रियकृत्तमः ॥

जो शिवलिङ्गके निकट घृतमिश्रित गुग्गुलका उत्तम धूप निवेदन करता है, उसे गोसव नामक यज्ञका फल प्राप्त होता है। जो केवल गुग्गुलके पिण्डसे धूप देता है, उसे सुवर्णदानका फल मिलता है। जो नाना प्रकारके फूलोंसे मेरे लिङ्गकी पूजा करता है, उसे सहस्र धेनुदानका फल प्राप्त होता है। जो देशान्तरमें जाकर शिवलिङ्गकी पूजा करता है, उससे बढ़कर समस्त मनुष्योंमें मेरा प्रिय करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥

एवं नानाविधैर्द्रव्यैः शिवलिङ्गं समर्चयेत् ।
मत्समानो मनुष्येषु न पुनर्जायते नरः ॥
अर्चनाभिर्नमस्कारैरुपहारैः स्तवैरपि ।
भक्तो मामर्चयेन्नित्यं शिवलिङ्गेष्वतन्द्रितः ॥
पलाशबिल्वपत्राणि राजवृक्षस्रजस्तथा ।
अर्कपुष्पाणि मेध्यानि मत्प्रियाणि विशेषतः ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंद्वारा जो शिवलिङ्गकी पूजा करता है, वह मनुष्योंमें मेरे समान है। वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता है। अतः भक्त पुरुष अर्चनाओं, नमस्कारों, उपहारों और स्तोत्रोंद्वारा प्रतिदिन आलस्य छोड़कर शिवलिङ्गोंके रूपमें मेरी पूजा करे। पलाश और बेलके पत्ते, राजवृक्षके फूलोंकी मालाएँ तथा आकके पवित्र फूल मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

फलं वा यदि वा शाकं पुष्पं वा यदि वा जलम् ।
दत्तं सम्प्रीणयेद् देवि भक्तैर्मद्गतमानसैः ॥
ममापि परितुष्टस्य नास्ति लोकेषु दुर्लभम् ।
तस्मात् ते सततं भक्ता मामेवाभ्यर्चयन्त्युत ॥

देवि ! मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्तोंका दिया हुआ फल, फूल, साग अथवा जल भी मुझे विशेष प्रिय लगता है। मेरे संतुष्ट हो जानेपर लोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है; इसलिये भक्तजन सदा मेरी ही पूजा किया करते हैं ॥

मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।

मद्भक्ताः सर्वलोकेषु पूजनीया विशेषतः ॥
मद्द्वेषिणश्च ये मर्त्या मद्भक्तद्वेषिणोऽपि वा ।
यान्ति ते नरकं घोरमिष्ट्वा क्रतुशतैरपि ॥

मेरे भक्त कभी नष्ट नहीं होते । उनके सारे पाप दूर हो जाते हैं तथा मेरे भक्त तीनों लोकोंमें विशेषरूपसे पूजनीय हैं । जो मनुष्य मुझसे या मेरे भक्तोंसे द्वेष करते हैं, वे सौ यज्ञोंका अनुष्ठान कर लें तो भी घोर नरकमें पड़ते हैं ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं योगं पाशुपतं महत् ।
मद्भक्तैर्मनुजैर्देवि श्राव्यमेतद् दिने दिने ॥
शृणुयाद् यः पठेद् वापि ममेदं धर्मनिश्चयम् ।
स्वर्गं कीर्तिं धनं धान्यं लभते स नरोत्तमः ॥

देवि ! इस प्रकार मैंने तुमसे महान् पाशुपत योगकी व्याख्या की है । मुझमें भक्ति रखनेवाले मनुष्योंको प्रतिदिन इसका श्रवण करना चाहिये। जो श्रेष्ठ मानव मेरे इस धर्म-निश्चयका श्रवण अथवा पाठ करता है, वह इस लोकमें धनधान्य और कीर्ति तथा परलोकमें स्वर्ग पाता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२०९ श्लोक मिलाकर कुल १२७३ श्लोक हैं)

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पार्वतीजीके द्वारा स्त्री-धर्मका वर्णन

नारद उवाच

एवमुक्त्वा महादेवः श्रोतुकामः स्वयं प्रभुः ।
अनुकूलां प्रियां भार्यां पार्श्वस्थां समभाषत ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—ऐसा कहकर महादेवजी स्वयं भी पार्वतीजीके मुँहसे कुछ सुननेकी इच्छा करने लगे । अतएव स्वयं भगवान् शिवने पास ही बैठी हुई अपनी प्रिय एवं अनुकूल भार्या पार्वतीसे कहा ॥ १ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

परावरज्ञे धर्मज्ञे तपोवननिवासिनि ।
साध्वि सुभ्रु सुकेशान्ते हिमवत्पर्वतात्मजे ॥ २ ॥
दक्षे शमदमोपेते निर्ममे धर्मचारिणि ।
पृच्छामि त्वां वरारोहे पृष्टा वद ममेप्सितम् ॥ ३ ॥

श्रीमहेश्वर बोले–तपोवनमें निवास करनेवाली देवि ! तुम भूत और भविष्यको जाननेवाली, धर्मके तत्त्वको समझनेवाली और स्वयं भी धर्मका आचरण करनेवाली हो। सुन्दर केशों और भौंहोंवाली सती-साध्वी हिमवान्‌कुमारी ! तुम कार्यकुशल हो, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे भी सम्पन्न हो । तुममें अहंता और ममताका सर्वथा अभाव है; अतः वरारोहे ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ । मेरे पूछनेपर तुम मुझे मेरे अभीष्ट विषयको बताओ ॥ २-३ ॥

सावित्री ब्रह्मणःसाध्वी कौशिकस्य शची सती ।
(लक्ष्मीर्विष्णोः प्रिया भार्या धृतिर्भार्या यमस्य तु)
मार्कण्डेयस्य धूमोर्णा ऋद्धिर्वैश्रवणस्य च ॥ ४ ॥
वरुणस्य तथा गौरी सूर्यस्य च सुवर्चला ।
रोहिणी शशिनः साध्वी स्वाहा चैव विभावसोः ॥ ५ ॥
अदितिः कश्यपस्याथ सर्वास्ताः पतिदेवताः ।
पृष्टाश्चोपासिताश्चैव तास्त्वया देवि नित्यशः ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्री साध्वी हैं । इन्द्रपत्नी शची भी सती हैं । विष्णुकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी पतिव्रता हैं । इसी प्रकार यमकी भार्या धृति, मार्कण्डेयकी पत्नी धूमोर्णा, कुबेर-की स्त्री ऋद्धि, वरुणकी भार्या गौरी, सूर्यकी पत्नी सुवर्चला, चन्द्रमाकी साध्वी स्त्री रोहिणी, अग्निकी भार्या स्वाहा और कश्यपकी पत्नी अदिति—ये सब-की-सब पतिव्रता देवियाँ हैं । देवि ! तुमने इन सबका सदा संग किया है और इन सबसे धर्मकी बात पूछी है ॥ ४-६ ॥

तेन त्वां परिपृच्छामि धर्मज्ञे धर्मवादिनि ।
स्त्रीधर्मं श्रोतुमिच्छामि त्वयोदाहृतमादितः ॥ ७ ॥

अतः धर्मवादिनि धर्मज्ञे ! मैं तुमसे स्त्री-धर्मके विषयमें प्रश्न करता हूँ और तुम्हारे मुखसे वर्णित नारीधर्म आद्योपान्त सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

सधर्मचारिणी मे त्वं समशीला समव्रता ।
समानसारवीर्या च तपस्तीव्रं कृतं च ते ॥ ८ ॥

तुम मेरी सहधर्मिणी हो । तुम्हारा शील-स्वभाव तथा व्रत मेरे समान ही है । तुम्हारी सारभूत शक्ति भी मुझसे कम नहीं है । तुमने तीव्र तपस्या भी की है ॥ ८ ॥

त्वया ह्युक्तो विशेषेण गुणवान् स भविष्यति ।
लोके चैव त्वया देवि प्रमाणत्वमुपैष्यति ॥ ९ ॥

अतः देवि ! तुम्हारे द्वारा कहा गया स्त्रीधर्म विशेष गुणवान् होगा और लोकमें प्रमाणभूत माना जायगा ॥ ९ ॥

स्त्रियश्चैव विशेषेण स्त्रीजनस्य गतिः परा ।
गौर्या गच्छति सुश्रोणि लोकेष्वेषा गतिः सदा ॥ १० ॥

विशेषतः स्त्रियाँ ही स्त्रियोंकी परम गति हैं । सुश्रोणि ! संसारमें भूतलपर यह बात सदासे प्रचलित है ॥ १० ॥

मम चार्धं शरीरस्य तव चार्धेन निर्मितम् ।
सुरकार्यकरी च त्वं लोकसंतानकारिणी ॥ ११ ॥

मेरा आधा शरीर तुम्हारे आधे शरीरसे निर्मित हुआ है । तुम देवताओंका कार्य सिद्ध करनेवाली तथा लोक-संततिका विस्तार करनेवाली हो ॥ ११ ॥

(प्रमदोक्तं तु यत् किंचित् तत् स्त्रीषु बहु मन्यते।
न तथा मन्यते स्त्रीषु पुरुषोक्तमनिन्दिते ॥)

अनिन्दिते ! नारीकी कही हुई जो बात होती है, उसे ही स्त्रियोंमें अधिक महत्त्व दिया जाता है । पुरुषोंकी कही

हुई बातको स्त्रियोंमें वैसा महत्त्व नहीं दिया जाता ॥

तव सर्वः सुविदितः स्त्रीधर्मः शाश्वतः शुभे।
तस्मादशेषतो ब्रूहि स्वधर्मं विस्तरेण मे ॥ १२ ॥

शुभे ! तुम्हें सम्पूर्ण सनातन स्त्रीधर्मका भलीभाँति ज्ञान है; अतः अपने धर्मका पूर्णरूपसे विस्तारपूर्वक मेरे आगे वर्णन करो ॥ १२ ॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश भूतभव्यभवोत्तम।
त्वत्प्रभावादियं देव वाक् चैव प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥
इमास्तु नद्यो देवेश सर्वतीर्थोदकैर्युताः।
उपस्पर्शनहेतोस्त्वामुपयान्ति समीपतः ॥ १४ ॥
एताभिः सह सम्मन्त्र्य प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
प्रभवन् योऽनहंवादी स वै पुरुष उच्यते ॥ १५ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! सर्वभूतेश्वर ! भूत, भविष्य और वर्तमानकालस्वरूप सर्वश्रेष्ठ महादेव ! आपके प्रभावसे मेरी यह वाणी प्रतिभासम्पन्न हो रही है—अब मैं स्त्री-धर्मका वर्णन कर सकती हूँ। किंतु देवेश्वर ! ये नदियाँ सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे सम्पन्न हो आपके स्नान और आचमन आदिके लिये अथवा आपके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये यहाँ आपके निकट आ रही हैं। मैं इन सबके साथ सलाह करके क्रमशः स्त्रीधर्मका वर्णन करूँगी। जो व्यक्ति समर्थ होकर भी अहंकारशून्य हो, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३–१५ ॥

स्त्री च भूतेश सततं स्त्रियमेवानुधावति।
मया सम्मानिताश्चैव भविष्यन्ति सरिद्वराः ॥ १६ ॥

भूतनाथ ! स्त्री सदा स्त्रीका ही अनुसरण करती है। मेरे ऐसा करनेसे ये श्रेष्ठ सरिताएँ मेरे द्वारा सम्मानित होंगी ॥ १६ ॥

एषा सरस्वती पुण्या नदीनामुत्तमा नदी।
प्रथमा सर्वसरितां नदी सागरगामिनी ॥ १७ ॥
विपाशा च वितस्ता च चन्द्रभागा इरावती।
शतद्रूर्देविका सिन्धुः कौशिकी गौतमी तथा ॥ १८ ॥
(यमुनां नर्मदां चैव कावेरीमथ निम्नगाम्)

ये नदियोंमें उत्तम पुण्यसलिला सरस्वती विराजमान हैं, जो समुद्रमें मिली हुई हैं। ये समस्त सरिताओंमें प्रथम (प्रधान) मानी जाती हैं। इनके सिवा विपाशा (व्यास), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चनाव), इरावती (रावी), शतद्रू (शतलज), देविका, सिन्धु, कौशिकी (कोसी), गौतमी (गोदावरी), यमुना, नर्मदा तथा कावेरी नदी भी यहाँ विद्यमान हैं ॥ १७-१८ ॥

तथा देवनदी चेयं सर्वतीर्थाभिसम्भृता।
गगनाद् गां गता देवी गङ्गा सर्वसरिद्वरा ॥ १९ ॥

ये समस्त तीर्थोंसे सेवित तथा सम्पूर्ण सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी गङ्गादेवी भी, जो आकाशसे पृथ्वीपर उतरी हैं, यहाँ विराजमान हैं ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा देवदेवस्य पत्नी धर्मभृतां वरा।
स्मितपूर्वमथाभाष्य सर्वास्ताः सरितस्तथा ॥ २० ॥
अपृच्छद् देवमहिषी स्त्रीधर्मं धर्मवत्सला।
स्त्रीधर्मकुशलास्ता वै गङ्गाद्याः सरितां वराः ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर देवाधिदेव महादेवजीकी पत्नी, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, धर्मवत्सला, देवमहिषी उमाने स्त्रीधर्मके ज्ञानमें निपुण गङ्गा आदि उन समस्त श्रेष्ठ सरिताओंको मन्द मुसकानके साथ सम्बोधित करके उनसे स्त्रीधर्मके विषयमें प्रश्न किया ॥

उमोवाच

(हे पुण्याः सरितः श्रेष्ठाः सर्वपापविनाशिकाः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः शृणुध्वं वचनं मम ॥)
अयं भगवता प्रोक्तः प्रश्नः स्त्रीधर्मसंश्रितः।
तं तु सम्मन्त्र्य युष्माभिर्वक्तुमिच्छामि शंकरम् ॥ २२ ॥

उमा बोलीं—हे समस्त पापोंका विनाश करनेवाली, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न पुण्यसलिला श्रेष्ठ नदियो ! मेरी बात सुनो। भगवान् शिवने यह स्त्रीधर्मसम्बन्धी प्रश्न उपस्थित किया है। उसके विषयमें मैं तुमलोगोंसे सलाह लेकर ही भगवान् शङ्करसे कुछ कहना चाहती हूँ ॥ २२ ॥

न चैकसाध्यं पश्यामि विज्ञानं भुवि कस्यचित्।
दिवि वा सागरगमास्तेन वो मानयाम्यहम् ॥ २३ ॥

समुद्रगामिनी सरिताओ ! पृथ्वीपर या स्वर्गमें मैं किसीका भी ऐसा कोई विज्ञान नहीं देखती, जिसे उसने अकेले ही—दूसरोंका सहयोग लिये बिना ही सिद्ध कर लिया हो, इसीलिये मैं आपलोगोंसे सादर सलाह लेती हूँ ॥ २३ ॥

एवं सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः पृष्टाः पुण्यतमाः शिवाः।
ततो देवनदी गङ्गा नियुक्ता प्रतिपूज्य च ॥ २४ ॥

इस प्रकार उमाने जब समस्त कल्याणस्वरूपा परम पुण्यमयी श्रेष्ठ सरिताओंके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया, तब उन्होंने इसका उत्तर देनेके लिये देवनदी गङ्गाको सम्मानपूर्वक नियुक्त किया ॥ २४ ॥

बह्वीभिर्बुद्धिभिः स्फीता स्त्रीधर्मज्ञा शुचिस्मिता।
शैलराजसुतां देवीं पुण्या पापभयापहा ॥ २५ ॥
बुद्ध्या विनयसम्पन्ना सर्वधर्मविशारदा।
सस्मितं बहुबुद्ध्याढ्या गङ्गा वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

पवित्र मुसकानवाली गङ्गाजी अनेक बुद्धियोंसे बढ़ी-चढ़ी, स्त्री-धर्मको जाननेवाली, पाप-भयको दूर करनेवाली, पुण्यमयी, बुद्धि और विनयसे सम्पन्न, सर्वधर्मविशारद तथा प्रचुर बुद्धिसे संयुक्त थीं। उन्होंने गिरिराजकुमारी उमादेवीसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा ॥ २५-२६ ॥

गङ्गोवाच

धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि देवि धर्मपरायणे।
या त्वं सर्वजगन्मान्या नदीं मानयसेऽनघे ॥ २७ ॥

गङ्गाजीने कहा—देवि ! धर्मपरायणे ! अनघे ! मैं धन्य हूँ। मुझपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है; क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्की सम्माननीया होनेपर भी एक तुच्छ नदीको मान्यता प्रदान कर रही हैं ॥ २७ ॥

प्रभवन् पृच्छते यो हि सम्मानयति वा पुनः।
नूनं जनमदुष्टात्मा पण्डिताख्यां स गच्छति ॥ २८ ॥

जो सब प्रकारसे समर्थ होकर भी दूसरोंसे पूछता तथा उन्हें सम्मान देता है और जिसके मनमें कभी दुष्टता नहीं आती, वह मनुष्य निस्संदेह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥



पार्वतीजी भगवान् शंकरको शरीरधारिणी समस्त नदियोंका परिचय दे रही हैं

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नानूहापोहविशारदान् ।
प्रवक्तॄन् पृच्छते योऽन्यान् स वै नापदमृच्छति ॥ २९ ॥
अन्यथा बहुबुद्ध्याढ्यो वाक्यं वदति संसदि ।
अन्यथैव ह्यहंवादी दुर्बलं वदते वचः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न और ऊहापोहमें कुशल दूसरे-दूसरे वक्ताओंसे अपना संदेह पूछता है, वह आपत्तिमें नहीं पड़ता है। विशेष बुद्धिमान् पुरुष सभामें और तरहकी बात करता है और अहंकारी मनुष्य और ही तरहकी दुर्बलतायुक्त बातें करता है ॥ २९-३० ॥

दिव्यज्ञाने दिवि श्रेष्ठे दिव्यपुण्यैः सहोत्थिते ।
त्वमेवार्हसि नो देवि स्त्रीधर्माननुभाषितुम् ॥ ३१ ॥

देवि! तुम दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न और देवलोकमें सर्वश्रेष्ठ हो। दिव्य पुण्योंके साथ तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम्हीं हम सब लोगोंको स्त्री-धर्मका उपदेश देनेके योग्य हो ॥

ततः साऽऽराधिता देवी गङ्गया बहुभिर्गुणैः ।
प्राह सर्वमशेषेण स्त्रीधर्मं सुरसुन्दरी ॥ ३२ ॥

तदनन्तर गङ्गाजीके द्वारा अनेक गुणोंका बखान करके पूजित होनेपर देवसुन्दरी देवी उमाने सम्पूर्ण स्त्री-धर्मका पूर्णतः वर्णन किया ॥ ३२ ॥

उमोवाच

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रतिभाति यथाविधि ।
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रथिता भव ॥ ३३ ॥

उमा बोलीं—स्त्री-धर्मका स्वरूप मेरी बुद्धिमें जैसा प्रतीत होता है, उसे मैं विधिपूर्वक बताऊँगी। तुम विनय और उत्सुकतासे युक्त होकर इसे सुनो ॥ ३३ ॥

स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः ।
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः ॥ ३४ ॥

विवाहके समय कन्याके भाई-बन्धु पहले ही उसे स्त्री-धर्मका उपदेश कर देते हैं। जब कि वह अग्निके समीप अपने पतिकी सहधर्मिणी बनती है ॥ ३४ ॥

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ३५ ॥
सा भवेद् धर्मपरमा सा भवेद् धर्मभागिनी ।
देववत् सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति ॥ ३६ ॥

जिसके स्वभाव, बात-चीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी पुरुषमें मन नहीं लगाती हो और स्वामीके समक्ष सदा प्रसन्नमुखी रहती हो, वह स्त्री धर्माचरण करनेवाली मानी गयी है। जो साध्वी स्त्री अपने स्वामीको सदा देवतुल्य समझती है, वही धर्मपरायणा और वही धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ३५-३६ ॥

शुश्रूषां परिचारं च देववद् या करोति च ।
नान्यभावा ह्यविमनाः सुव्रता सुखदर्शना ॥ ३७ ॥
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते ।
या साध्वी नियताहारा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥ ३८ ॥

जो पतिकी देवताके समान सेवा और परिचर्या करती है, पतिके सिवा दूसरे किसीसे हार्दिक प्रेम नहीं करती, कभी नाराज नहीं होती तथा उत्तम व्रतका पालन करती है, जिसका दर्शन पतिको सुखद जान पड़ता है, जो पुत्रके मुखकी भाँति स्वामीके मुखकी ओर सदा निहारती रहती है तथा जो साध्वी एवं नियमित आहारका सेवन करनेवाली है, वह स्त्री धर्मचारिणी कही गयी है ॥ ३७-३८ ॥

श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम् ।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता ॥ ३९ ॥

'पति और पत्नीको एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिये।' इस मङ्गलमय दाम्पत्य धर्मको सुनकर जो स्त्री धर्मपरायण हो जाती है, वह पतिके समान व्रतका पालन करनेवाली (पतिव्रता) है ॥ ३९ ॥

देववत् सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति ।
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः ॥ ४० ॥

साध्वी स्त्री सदा अपने पतिको देवताके समान समझती है। पति और पत्नीका यह सहधर्म (साथ-साथ रहकर धर्माचरण करना) रूप धर्म परम मङ्गलमय है ॥ ४० ॥

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती ।
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥ ४१ ॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता ॥ ४२ ॥

जो अपने हृदयके अनुरागके कारण स्वामीके अधीन रहती है, अपने चित्तको प्रसन्न रखती है, देवताके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करती है, उत्तम व्रतका आश्रय लेती है और पतिके लिये सुखदायक सुन्दर वेष धारण किये रहती है, जिसका चित्त पतिके सिवा और किसीकी ओर नहीं जाता, पतिके समक्ष प्रसन्नवदन रहनेवाली वह स्त्री धर्मचारिणी मानी गयी है। जो स्वामीके कठोर वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टिसे देखनेपर भी प्रसन्नतासे मुस्कराती रहती है, वही स्त्री पतिव्रता है ॥ ४१-४२ ॥

न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते ।
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥ ४३ ॥
दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम् ।
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४४ ॥

जो सुन्दरी नारी पतिके सिवा पुरुष नामधारी चन्द्रमा, सूर्य और किसी वृक्षकी ओर भी दृष्टि नहीं डालती, वही पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली है। जो नारी अपने दरिद्र, रोगी, दीन अथवा रास्तेकी थकावटसे खिन्न हुए पतिकी पुत्रके समान सेवा करती है, वह धर्मफलकी भागिनी होती है ४३-४४

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४५ ॥
शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा ।
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥ ४६ ॥

जो स्त्री अपने हृदयको शुद्ध रखती, गृहकार्य करनेमें कुशल और पुत्रवती होती, पतिसे प्रेम करती और पतिको ही अपने प्राण समझती है, वही धर्मफल पानेकी अधिकारिणी होती है। जो सदा प्रसन्नचित्तसे पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती

है, पतिके ऊपर पूर्ण विश्वास रखती और उसके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करती है, वही नारी धर्मके श्रेष्ठ फलकी भागिनी होती है ॥ ४५-४६ ॥

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी॥ ४७ ॥

जिसके हृदयमें पतिके लिये जैसी चाह होती है, वैसी काम, भोग और सुखके लिये भी नहीं होती। वह स्त्री पातिव्रत-धर्मकी भागिनी होती है ॥ ४७ ॥

कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता।
सुसम्मृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना ॥ ४८ ॥
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा।
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह ॥ ४९ ॥
शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि।
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते ॥ ५० ॥

जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठनेमें रुचि रखती है, घरोंके काम-काजमें योग देती है, घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती है और गोबरसे लीप-पोतकर पवित्र बनाये रहती है, जो पतिके साथ रहकर प्रतिदिन अग्निहोत्र करती है, देवताओंको पुष्प और बलि अर्पण करती है तथा देवता, अतिथि और पोष्यवर्गको भोजनसे तृप्त करके न्याय और विधिके अनुसार शेष अन्नका स्वयं भोजन करती है तथा घरके लोगोंको हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट रखती है, ऐसी ही नारी सती-धर्मके फलसे युक्त होती है ॥ ४८–५० ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता।
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान् दीनान्धकृपणांस्तथा।
बिभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५२ ॥

जो उत्तम गुणोंसे युक्त होकर सदा सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें संलग्न रहती है तथा माता-पिताके प्रति भी सदा उत्तम भक्तिभाव रखती है, वह स्त्री तपस्यारूपी [illegible] सम्पन्न मानी गयी है। जो नारी ब्राह्मणों, दुर्बलों, अनाथों, दीनों, अन्धों और कृपणों (कंगालों) का अन्नके द्वारा भरण-पोषण करती है, वह पातिव्रतधर्मके पालनका फल पाती है ॥ ५१-५२ ॥

व्रतं चरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्त्वया।
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५३ ॥

जो प्रतिदिन शीघ्रतापूर्वक मर्यादाका बोध करानेवाली बुद्धिके द्वारा दुष्कर व्रतका आचरण करती है, पतिमें ही मन लगाती है और निरन्तर पतिके हितसाधनमें लगी रहती है, उसे पतिव्रत-धर्मके पालनका सुख प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

पुण्यमेतत् तपश्चैतत् स्वर्गश्चैष सनातनः।
या नारी भर्तृपरमा भवेद् भर्तृव्रता सती ॥ ५४ ॥

जो साध्वी नारी पतिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पतिकी सेवामें लगी रहती है, उसका यह कार्य महान् पुण्य, बड़ी भारी तपस्या और सनातन स्वर्गका साधन है ॥ ५४ ॥

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥ ५५ ॥

पति ही नारियोंका देवता, पति ही बन्धु-बान्धव और पति ही उनकी गति है। नारीके लिये पतिके समान न दूसरा कोई सहारा है और न दूसरा कोई देवता ॥ ५५ ॥

पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत्।
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वरे ॥ ५६ ॥

एक ओर पतिकी प्रसन्नता और दूसरी ओर स्वर्ग—ये दोनों नारीकी दृष्टिमें समान हो सकते हैं या नहीं, इसमें संदेह है। मेरे प्राणनाथ महेश्वर! मैं तो आपको अप्रसन्न रखकर स्वर्गको नहीं चाहती ॥ ५६ ॥

यद्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम्।
पतिर्ब्रूयाद् दरिद्रो वा व्याधितो वा कथंचन ॥ ५७ ॥
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोऽपि वा।
आपद्धर्माननुप्रेक्ष्य तत्कार्यमविशङ्कया ॥ ५८ ॥

पति दरिद्र हो जाय, किसी रोगसे घिर जाय, आपत्तिमें फँस जाय, शत्रुओंके बीचमें पड़ जाय अथवा ब्राह्मणके शापसे कष्ट पा रहा हो, उस अवस्थामें वह न करनेयोग्य कार्य, अधर्म अथवा प्राणत्यागकी भी आज्ञा दे दे, तो उसे आपत्तिकालका धर्म समझकर निःशङ्कभावसे तुरंत पूरा करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

एष देव मया प्रोक्तः स्त्रीधर्मो वचनात् तव।
या त्वेवंभाविनी नारी सा पतिव्रतभागिनी ॥ ५९ ॥

देव! आपकी आज्ञासे मैंने यह स्त्रीधर्मका वर्णन किया है। जो नारी ऊपर बताये अनुसार अपना जीवन बनाती है, वह पातिव्रत-धर्मके फलकी भागिनी होती है ॥ ५९ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तु देवेशः प्रतिपूज्य गिरेः सुताम्।
लोकान् विसर्जयामास सर्वैरनुचरैर्वृतान् ॥ ६० ॥
ततो ययुर्भूतगणाः सरितश्च यथागतम्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव प्रणम्य शिरसा भवम् ॥ ६१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पार्वतीजीके द्वारा इस प्रकार नारीधर्मका वर्णन सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने गिरिराजकुमारीका बड़ा आदर किया और वहाँ समस्त अनुचरोंके साथ आये हुए लोगोंको जानेकी आज्ञा दी। तब समस्त भूतगण, सरिताएँ, गन्धर्व और अप्सराएँ भगवान् शङ्करको सिरसे प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चली गयीं ॥६०-६१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे स्त्रीधर्मकथने षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमा-महेश्वरसंवादके प्रसङ्गमें स्त्रीधर्मका वर्णनविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं)



भगवान् शंकर श्रीकृष्णका माहात्म्य कह रहे हैं

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वंशपरम्पराका कथन और भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्यका वर्णन

ऋषय ऊचुः

पिनाकिन् भगनेत्रघ्न सर्वलोकनमस्कृत।
माहात्म्यं वासुदेवस्य श्रोतुमिच्छामि शङ्कर॥ १॥

ऋषियोंने कहा—भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले पिनाकधारी विश्ववन्दित भगवान् शङ्कर! अब हम वासुदेव (श्रीकृष्ण) का माहात्म्य सुनना चाहते हैं॥ १॥

ईश्वर उवाच

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः॥ २॥

महेश्वरने कहा—मुनिवरो! भगवान् सनातन पुरुष श्रीकृष्ण ब्रह्माजीसे भी श्रेष्ठ हैं। वे श्रीहरि जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान श्याम कान्तिसे युक्त हैं। बिना बादलके आकाशमें उदित सूर्यके समान तेजस्वी हैं॥ २॥

दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥ ३॥

उनकी भुजाएँ दस हैं, वे महान् तेजस्वी हैं, देवद्रोहियोंका नाश करनेवाले श्रीवत्सभूषित भगवान् हृषीकेश सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होते हैं॥ ३॥

ब्रह्मा तस्योदरभवस्तस्याहं च शिरोभवः।
शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः॥ ४॥

ब्रह्माजी उनके उदरसे और मैं उनके मस्तकसे प्रकट हुआ हूँ। उनके शिरके केसोंसे नक्षत्रों और ताराओंका प्रादुर्भाव हुआ है। रोमावलियोंसे देवता और असुर प्रकट हुए हैं॥ ४॥

ऋषयो देहसम्भूतास्तस्य लोकाश्च शाश्वताः।
पितामहगृहं साक्षात् सर्वदेवगृहं च सः॥ ५॥

समस्त ऋषि और सनातन लोक उनके श्रीविग्रहसे उत्पन्न हुए हैं। वे श्रीहरि स्वयं ही सम्पूर्ण देवताओंके गृह और ब्रह्माजीके भी निवासस्थान हैं॥ ५॥

सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः।
संहर्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च॥ ६॥

इस सम्पूर्ण पृथ्वीके स्रष्टा और तीनों लोकोंके स्वामी भी वे ही हैं। वे ही चराचर प्राणियोंका संहार भी करते हैं॥

स हि देववरः साक्षाद् देवनाथः परंतपः।
सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः॥ ७॥

वे देवताओंमें श्रेष्ठ, देवताओंके रक्षक, शत्रुओंको संताप देनेवाले, सर्वज्ञ, सबमें ओतप्रोत, सर्वव्यापक तथा सब ओर मुखवाले हैं॥ ७॥

परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापी महेश्वरः।
न तस्मात् परमं भूतं त्रिषु लोकेषु किंचन॥ ८॥

वे ही परमात्मा, इन्द्रियोंके प्रेरक और सर्वव्यापी महेश्वर हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है॥ ८॥

सनातनो वै मधुहा गोविन्द इति विश्रुतः।
स सर्वान् पार्थिवान् संख्ये घातयिष्यति मानदः॥ ९॥

वे ही सनातन, मधुसूदन और गोविन्द आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। सज्जनोंको आदर देनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण महाभारत-युद्धमें समस्त राजाओंका संहार करायेंगे॥ ९॥

सुरकार्यार्थमुत्पन्नो मानुषं वपुरास्थितः।
न हि देवगणाः सक्तास्त्रिविक्रमविनाकृताः॥ १०॥

वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पृथ्वीपर मानव-शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं। उन भगवान् त्रिविक्रमकी शक्ति और सहायताके बिना सम्पूर्ण देवता भी कोई कार्य नहीं कर सकते॥ १०॥

भुवने देवकार्याणि कर्तुं नायकवर्जिताः।
नायकः सर्वभूतानां सर्वदेवनमस्कृतः॥ ११॥

संसारमें नेताके बिना देवता अपना कोई भी कार्य करनेमें असमर्थ हैं और ये भगवान् श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके नेता हैं। इसलिये समस्त देवता उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं॥ ११॥

एतस्य देवनाथस्य देवकार्यपरस्य च।
ब्रह्मभूतस्य सततं ब्रह्मर्षिशरणस्य च॥ १२॥
ब्रह्मा वसति गर्भस्थः शरीरे सुखसंस्थितः।
शर्वः सुखं संश्रितश्च शरीरे सुखसंस्थितः॥ १३॥

देवताओंकी रक्षा और उनके कार्यसाधनमें संलग्न रहनेवाले वे भगवान् वासुदेव ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मर्षियोंको सदा शरण देते हैं। ब्रह्माजी उनके शरीरके भीतर अर्थात् उनके गर्भमें बड़े सुखके साथ रहते हैं। सदा सुखी रहनेवाला मैं शिव भी उनके श्रीविग्रहके भीतर सुखपूर्वक निवास करता हूँ॥ १२-१३॥

सर्वाः सुखं संश्रिताश्च शरीरे तस्य देवताः।
स देवः पुण्डरीकाक्षः श्रीगर्भः श्रीसहोषितः॥ १४॥

सम्पूर्ण देवता उनके श्रीविग्रहमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। वे कमलनयन श्रीहरि अपने गर्भ (वक्षःस्थल) में लक्ष्मीको निवास देते हैं। लक्ष्मीके साथ ही वे रहते हैं॥ १४॥

शार्ङ्गचक्रायुधः खड्गी सर्वनागरिपुध्वजः।
उत्तमेन स शीलेन दमेन च शमेन च॥ १५॥

पराक्रमेण वीर्येण वपुषा दर्शनेन च ।
आरोहेण प्रमाणेन धैर्येणार्जवसम्पदा ॥ १६ ॥
आनृशंस्येन रूपेण बलेन च समन्वितः ।
अस्त्रैः समुदितः सर्वैर्दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥ १७ ॥

शार्ङ्गधनुष, सुदर्शनचक्र और नन्दक नामक खड्ग—उनके आयुध हैं । उनकी ध्वजामें सम्पूर्ण नागोंके शत्रु गरुड़का चिह्न सुशोभित है । वे उत्तम शील, शम, दम, पराक्रम, वीर्य, सुन्दर शरीर, उत्तम दर्शन, सुडौल आकृति, धैर्य, सरलता, कोमलता, रूप और बल आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं । सब प्रकारके दिव्य और अद्भुत अस्त्र-शस्त्र उनके पास सदा मौजूद रहते हैं ॥ १५-१७ ॥

योगमायः सहस्राक्षो निरपायो महामनाः ।
वीरो मित्रजनश्लाघी ज्ञातिबन्धुजनप्रियः ॥ १८ ॥
क्षमावांश्चानहंवादी ब्रह्मण्यो ब्रह्मनायकः ।
भयहर्ता भयार्तानां मित्राणां नन्दिवर्धनः ॥ १९ ॥

वे योगमायासे सम्पन्न और हजारों नेत्रोंवाले हैं । उनका हृदय विशाल है । वे अविनाशी, वीर, मित्रजनोंके प्रशंसक, ज्ञाति एवं बन्धु-बान्धवोंके प्रिय, क्षमाशील, अहङ्काररहित, ब्राह्मणभक्त, वेदोंका उद्धार करनेवाले, भयातुर पुरुषोंका भय दूर करनेवाले और मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले हैं ॥१८-१९॥

शरण्यः सर्वभूतानां दीनानां पालने रतः ।
श्रुतवानर्थसम्पन्नः सर्वभूतनमस्कृतः ॥ २० ॥
समाश्रितानां वरदः शत्रूणामपि धर्मवित् ।
नीतिज्ञो नीतिसम्पन्नो ब्रह्मवादी जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

वे समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले, दीन-दुखियोंके पालनमें तत्पर, शास्त्रज्ञानसम्पन्न, धनवान्, सर्वभूतवन्दित, शरणमें आये हुए शत्रुओंको भी वर देनेवाले, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, नीतिमान्, ब्रह्मवादी और जितेन्द्रिय हैं ॥ २०-२१ ॥

भवार्थमिह देवानां बुद्ध्या परमया युतः ।
प्राजापत्ये शुभे मार्गे मानवे धर्मसंस्कृते ॥ २२ ॥
समुत्पत्स्यति गोविन्दो मनोर्वंशे महात्मनः ।
अङ्गो नाम मनोः पुत्रो अन्तर्धामा ततः परः ॥ २३ ॥

परम बुद्धिसे सम्पन्न भगवान् गोविन्द यहाँ देवताओंकी उन्नतिके लिये प्रजापतिके शुभमार्गपर स्थित हो मनुके धर्मसंस्कृत कुलमें अवतार लेंगे । महात्मा मनुके वंशमें मनुपुत्र अङ्ग नामक राजा होंगे । उनसे अन्तर्धामा नामवाले पुत्रका जन्म होगा ॥ २२-२३ ॥

अन्तर्धाम्नो हविर्धामा प्रजापतिरनिन्दितः ।
प्राचीनबर्हिर्भविता हविर्धाम्नः सुतो महान् ॥ २४ ॥

अन्तर्धामासे अनिन्द्य प्रजापति हविर्धामाकी उत्पत्ति होगी । हविर्धामाके पुत्र महाराज प्राचीनबर्हि होंगे ॥ २४ ॥

तस्य प्रचेतःप्रमुखा भविष्यन्ति दशात्मजाः ।
प्राचेतसस्तथा दक्षो भवितेह प्रजापतिः ॥ २५ ॥

प्राचीनबर्हिके प्रचेता आदि दस पुत्र होंगे । उन दसों प्रचेताओंसे इस जगत्में प्रजापति दक्षका प्रादुर्भाव होगा ॥

दाक्षायण्यास्तथाऽऽदित्यो मनुरादित्यतस्तथा ।
मनोश्च वंशज इला सुद्युम्नश्च भविष्यति ॥ २६ ॥

दक्षकन्या अदितिसे आदित्य (सूर्य). उत्पन्न होंगे । सूर्यसे मनु उत्पन्न होंगे । मनुके वंशमें इलानामक कन्या होगी, जो आगे चलकर सुद्युम्न नामक पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी ॥ २६ ॥

बुधात् पुरूरवाश्चापि तस्मादायुर्भविष्यति ।
नहुषो भविता तस्माद् ययातिस्तस्य चात्मजः ॥ २७ ॥

कन्यावस्थामें बुधसे समागम होनेपर उससे पुरूरवाका जन्म होगा । पुरूरवासे आयुनामक पुत्रकी उत्पत्ति होगी । आयुके पुत्र नहुष और नहुषके ययाति होंगे ॥ २७ ॥

यदुस्तस्मान्महासत्त्वः क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति ।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो वृजिनीवान् भविष्यति ॥ २८ ॥

ययातिसे महान् बलशाली यदु होंगे । यदुसे क्रोष्टाका जन्म होगा, क्रोष्टासे महान् पुत्र वृजिनीवान् होंगे ॥ २८ ॥

वृजिनीवतश्च भविता उषङ्गुरपराजितः ।
उषङ्गोर्भविता पुत्रः शूरश्चित्ररथस्तथा ॥ २९ ॥

वृजिनीवान्से विजयी वीर उषङ्गुका जन्म होगा । उषङ्गुका पुत्र शूरवीर चित्ररथ होगा ॥ २९ ॥

तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ।
तेषां विख्यातवीर्याणां चरित्रगुणशालिनाम् ॥ ३० ॥
यज्वनां सुविशुद्धानां वंशे ब्राह्मणसम्मते ।
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो महावीर्यो महायशाः ॥
स्ववंशविस्तरकरं जनयिष्यति मानदः ॥ ३१ ॥
वसुदेव इति ख्यातं पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥ ३२ ॥

उसका छोटा पुत्र शूर नामसे विख्यात होगा । वे सभी यदुवंशी विख्यात पराक्रमी, सदाचार और सद्गुणसे सुशोभित, यज्ञशील और विशुद्ध आचार-विचारवाले होंगे । उनका कुल ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित होगा । उस कुलमें महापराक्रमी, महायशस्वी और दूसरोंको सम्मान देनेवाले क्षत्रिय-शिरोमणि शूर अपने वंशका विस्तार करनेवाले वसुदेवनामक पुत्रको जन्म देंगे, जिसका दूसरा नाम आनकदुन्दुभि होगा । उन्हींके पुत्र चार भुजाधारी भगवान् वासुदेव होंगे ॥३०-३२॥

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता ब्रह्मभूतो द्विजप्रियः ।
राज्ञो मागधसंरुद्धान् मोक्षयिष्यति यादवः ॥ ३३ ॥

भगवान् वासुदेव दानी, ब्राह्मणोंका सत्कार करनेवाले, ब्रह्मभूत और ब्राह्मणप्रिय होंगे । वे यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण मगधराज जरासंधकी कैदमें पड़े हुए राजाओंको बन्धनसे छुड़ायेंगे ॥ ३३ ॥

जरासंधं तु राजानं निर्जित्य गिरिगह्वरे।
सर्वपार्थिवरत्नाढ्यो भविष्यति स वीर्यवान्॥ ३४॥

वे पराक्रमी श्रीहरि पर्वतकी कन्दरा (राजगृह) में राजा जरासंधको जीतकर समस्त राजाओंके द्वारा उपहृत रत्नोंसे सम्पन्न होंगे॥ ३४॥

पृथिव्यामप्रतिहतो वीर्येण च भविष्यति।
विक्रमेण च सम्पन्नः सर्वपार्थिवपार्थिवः॥ ३५॥

वे इस भूमण्डलमें अपने बल-पराक्रमद्वारा अजेय होंगे। विक्रमसे सम्पन्न तथा समस्त राजाओंके भी राजा होंगे॥

शूरसेनेषु भूत्वा स द्वारकायां वसन् प्रभुः।
पालयिष्यति गां देवीं विजित्य नयवित् सदा॥ ३६॥

नीतिवेत्ता भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेन देश (मथुरामण्डल) में अवतीर्ण होकर वहाँसे द्वारकापुरीमें जाकर रहेंगे और समस्त राजाओंको जीतकर सदा इस पृथ्वीदेवीका पालन करेंगे॥ ३६॥

तं भवन्तः समासाद्य वाङ्माल्यैरर्हणैर्वरैः।
अर्चयन्तु यथान्यायं ब्रह्माणमिव शाश्वतम्॥ ३७॥

आपलोग उन्हीं भगवान्‌की शरण लेकर अपनी वाङ्मयी मालाओं तथा श्रेष्ठ पूजनोपचारोंसे सनातन ब्रह्माकी भाँति उनका यथोचित पूजन करें॥ ३७॥

यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं च पितामहम्।
द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान्॥ ३८॥

जो मेरा और पितामह ब्रह्माजीका दर्शन करना चाहता हो, उसे प्रतापी भगवान् वासुदेवका दर्शन करना चाहिये॥

दृष्टे तस्मिन्नहं दृष्टो न मेऽत्रास्ति विचारणा।
पितामहो वा देवेश इति वित्त तपोधनाः॥ ३९॥

तपोधनो! उनका दर्शन हो जानेपर मेरा ही दर्शन हो गया, अथवा उनके दर्शनसे देवेश्वर ब्रह्माजीका दर्शन हो गया ऐसे समझो, इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है अर्थात् संदेह नहीं है॥ ३९॥

स यस्य पुण्डरीकाक्षः प्रीतियुक्तो भविष्यति।
तस्य देवगणः प्रीतो ब्रह्मपूर्वो भविष्यति॥ ४०॥

जिसपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे, उसके ऊपर ब्रह्मा आदि देवताओंका समुदाय प्रसन्न हो जायगा॥ ४०॥

यश्च तं मानवे लोके संश्रयिष्यति केशवम्।
तस्य कीर्तिर्जयश्चैव स्वर्गश्चैव भविष्यति॥ ४१॥

मानवलोकमें जो भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेगा, उसे कीर्ति, विजय तथा उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होगी॥ ४१॥

धर्माणां देशिकः साक्षात् स भविष्यति धर्मभाक्।
धर्मवद्भिः स देवेशो नमस्कार्यः सदोद्यतैः॥ ४२॥

इतना ही नहीं, वह धर्मोंका उपदेश देनेवाला साक्षात् धर्माचार्य एवं धर्मफलका भागी होगा। अतः धर्मात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा उत्साहित रहकर देवेश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करें॥ ४२॥

धर्म एव परो हि स्यात् तस्मिन्नभ्यर्चिते विभौ।
स हि देवो महातेजाः प्रजाहितचिकीर्षया॥ ४३॥
धर्मार्थं पुरुषव्याघ्र ऋषिकोटीः ससर्ज ह।
ताः सृष्टास्तेन विभुना पर्वते गन्धमादने॥ ४४॥
सनत्कुमारप्रमुखास्तिष्ठन्ति तपसान्विताः।
तस्मात् स वाग्मी धर्मज्ञो नमस्यो द्विजपुङ्गवाः॥ ४५॥

उन सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करनेसे परम धर्मकी सिद्धि होगी। वे महान् तेजस्वी देवता हैं। उन पुरुषसिंह श्रीकृष्णने प्रजाका हित करनेकी इच्छासे धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये करोड़ों ऋषियोंकी सृष्टि की है। भगवान्‌के उत्पन्न किये हुए वे सनत्कुमार आदि ऋषि गन्धमादन पर्वत-पर सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं। अतः द्विजवरो! उन प्रवचनकुशल, धर्मज्ञ वासुदेवको सदा प्रणाम करना चाहिये॥

दिवि श्रेष्ठो हि भगवान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
वन्दितो हि स वन्देत मानितो मानयीत च।
अर्हितश्चार्हयेन्नित्यं पूजितः प्रतिपूजयेत्॥ ४६॥

वे भगवान् नारायण हरि देवलोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं। जो उनकी वन्दना करता है, उसकी वे भी वन्दना करते हैं। जो उनका आदर करता है, उसका वे भी आदर करते हैं। इसी प्रकार अर्चित होनेपर वे भी अर्चना करते और पूजित या प्रशंसित होनेपर वे भी पूजा या प्रशंसा करते हैं॥ ४६॥

दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत्।
अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजसत्तमाः॥ ४७॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! जो प्रतिदिन उनका दर्शन करता है, उसकी ओर वे भी कृपादृष्टि करते हैं। जो उनका आश्रय लेता है, उसके हृदयमें वे भी आश्रय लेते हैं तथा जो उनकी पूजा करता है, उसकी वे भी सदा पूजा करते हैं॥ ४७॥

एतत् तस्यानवद्यस्य विष्णोर्वै परमं व्रतम्।
आदिदेवस्य महतः सज्जनाचरितं सदा॥ ४८॥

उन प्रशंसनीय आदि देवता भगवान् महाविष्णुका यह उत्तम व्रत है, जिसका साधु पुरुष सदा आचरण करते आये हैं॥ ४८॥

भुवनेऽभ्यर्चितो नित्यं देवैरपि सनातनः।
अभयेनानुरूपेण युज्यन्ते तमनुव्रताः॥ ४९॥

वे सनातन देवता हैं, अतः इस त्रिभुवनमें देवता भी सदा उन्हींकी पूजा करते हैं। जो उनके अनन्य भक्त हैं, वे अपने भजनके अनुरूप ही निर्भय पद प्राप्त करते हैं॥४९॥

कर्मणा मनसा वाचा स नमस्यो द्विजैः सदा।
यत्नवद्भिरुपस्थाय द्रष्टव्यो देवकीसुतः॥ ५०॥

द्विजोंको चाहिये कि वे मन, वाणी और कर्मसे सदा उन भगवान्‌को प्रणाम करें और यत्नपूर्वक उपासना करके उन देवकीनन्दनका दर्शन करें ॥ ५० ॥

एष वोऽभिहितो मार्गो मया वै मुनिसत्तमाः ।
तं दृष्ट्वा सर्वशो देवं दृष्टाः स्युः सुरसत्तमाः ॥ ५१ ॥

मुनिवरो ! यह मैंने आपलोगोंको उत्तम मार्ग बता दिया है । उन भगवान् वासुदेवका सब प्रकारसे दर्शन कर लेनेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवताओंका दर्शन करना हो जायगा ॥ ५१ ॥

महावराहं तं देवं सर्वलोकपितामहम् ।
अहं चैव नमस्यामि नित्यमेव जगत्पतिम् ॥ ५२ ॥

मैं भी महावराहरूप धारण करनेवाले उन सर्वलोक-पितामह जगदीश्वरको नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ ५२ ॥

तत्र च त्रितयं दृष्टं भविष्यति न संशयः ।
समस्ता हि वयं देवास्तस्य देहे वसामहे ॥ ५३ ॥

हम सब देवता उनके श्रीविग्रहमें निवास करते हैं । अतः उनका दर्शन करनेसे तीनों देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) का दर्शन हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

तस्य चैवाग्रजो भ्राता सिताद्रिनिचयप्रभः ।
हली बल इति ख्यातो भविष्यति धराधरः ॥ ५४ ॥

उनके बड़े भाई कैलासकी पर्वतमालाओंके समान श्वेत कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले हलधर और बलरामके नामसे विख्यात होंगे । पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनाग ही बलरामके रूपमें अवतीर्ण होंगे ॥ ५४ ॥

त्रिशिरास्तस्य दिव्यश्च शातकुम्भमयो द्रुमः ।
ध्वजस्तृणेन्द्रो देवस्य भविष्यति रथाश्रितः ॥ ५५ ॥

बलदेवजीके रथपर तीन शिखाओंसे युक्त दिव्य सुवर्ण-मय तालवृक्ष ध्वजके रूपमें सुशोभित होगा ॥ ५५ ॥

शिरो नागैर्महाभोगैः परिकीर्णं महात्मभिः ।
भविष्यति महाबाहोः सर्वलोकेश्वरस्य च ॥ ५६ ॥

सर्वलोकेश्वर महाबाहु बलरामजीका मस्तक बड़े-बड़े फन वाले विशालकाय सर्पोंसे घिरा हुआ होगा ॥ ५६ ॥

चिन्तितानि समेष्यन्ति शस्त्राण्यस्त्राणि चैव ह ।
अनन्तश्च स एवोक्तो भगवान् हरिरव्ययः ॥ ५७ ॥

उनके चिन्तन करते ही सम्पूर्ण दिव्य अस्त्र-शस्त्र उन्हें प्राप्त हो जायँगे । अविनाशी भगवान् श्रीहरि ही अनन्त शेषनाग कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

समादिष्टश्च विबुधैर्दर्शय त्वमिति प्रभो ।
सुपर्णो यस्य वीर्येण कश्यपस्यात्मजो बली ।
अन्तं नैवाशकद् द्रष्टुं देवस्य परमात्मनः ॥ ५८ ॥

पूर्वकालमें देवताओंने गरुड़जीसे यह अनुरोध किया कि 'आप हमें भगवान् शेषका अन्त दिखा दीजिये ।' तब कश्यपके बलवान् पुत्र गरुड़ अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उन परमात्मदेव अनन्तका अन्त न देख सके ॥ ५८ ॥

स च शेषो विचरते परया वै मुदा युतः ।
अन्तर्वसति भोगेन परिरभ्य वसुन्धराम् ॥ ५९ ॥

वे भगवान् शेष बड़े आनन्दके साथ सर्वत्र विचरते हैं और अपने विशाल शरीरसे पृथिवीको आलिङ्गनपाशमें बाँधकर पाताललोकमें निवास करते हैं ॥ ५९ ॥

य एव विष्णुः सोऽनन्तो भगवान् वसुधाधरः ।
यो रामः स हृषीकेशो योऽच्युतः स धराधरः ॥ ६० ॥

जो भगवान् विष्णु हैं, वे ही इस पृथ्वीको धारण करने-वाले भगवान् अनन्त हैं । जो बलराम हैं वे ही श्रीकृष्ण हैं, जो श्रीकृष्ण हैं वे ही भूमिधर बलराम हैं ॥ ६० ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ दिव्यपराक्रमौ ।
द्रष्टव्यौ माननीयौ च चक्रलाङ्गलधारिणौ ॥ ६१ ॥

वे दोनों दिव्य रूप और दिव्य पराक्रमसे सम्पन्न पुरुषसिंह बलराम और श्रीकृष्ण क्रमशः चक्र एवं हल धारण करनेवाले हैं । तुम्हें उन दोनोंका दर्शन एवं सम्मान करना चाहिये ॥

एष वोऽनुग्रहः प्रोक्तो मया पुण्यस्तपोधनाः ।
यद् भवन्तो यदुश्रेष्ठं पूजयेयुः प्रयत्नतः ॥ ६२ ॥

तपोधनो ! आपलोगोंपर अनुग्रह करके मैंने भगवान्‌का पवित्र माहात्म्य इसलिये बताया है कि आप प्रयत्नपूर्वक उन यदुकुलतिलक श्रीकृष्णकी पूजा करें ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पुरुषमाहात्म्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें परमपुरुष श्रीकृष्णका माहात्म्यविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन और भीष्मजीका युधिष्ठिरको राज्य करनेके लिये आदेश देना

नारद उवाच

अथ व्योम्नि महाञ्छब्दः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
मेघैश्च गगनं नीलं संरुद्धमभवद् घनैः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर आकाशमें बिजलीकी गड़गड़ाहट और मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ महान् शब्द होने लगा । मेघोंकी घनघोर घटासे घिरकर सारा आकाश नीला हो गया ॥ १ ॥

प्रावृषीव च पर्जन्यो ववृषे निर्मलं पयः ।
तमश्चैवाभवद् घोरं दिशश्च न चकाशिरे ॥ २ ॥

वर्षाकालकी भाँति मेघसमूह निर्मल जलकी वर्षा करने लगा। सब ओर घोर अन्धकार छा गया। दिशाएँ नहीं सूझती थीं ॥ २ ॥

ततो देवगिरौ तस्मिन् रम्ये पुण्ये सनातने ।
न शर्वं भूतसंघं वा ददृशुर्मुनयस्तदा ॥ ३ ॥

उस समय उस रमणीय, पवित्र एवं सनातन देवगिरिपर ऋषियोंने जब दृष्टिपात किया, तब उन्हें वहाँ न तो भगवान् शङ्कर दिखायी दिये और न भूतोंके समुदायका ही दर्शन हुआ॥

व्यभ्रं च गगनं सद्यः क्षणेन समपद्यत ।
तीर्थयात्रां ततो विप्रा जग्मुश्चान्ये यथागतम् ॥ ४ ॥

फिर तो तत्काल एक ही क्षणमें सारा आसमान साफ हो गया। कहीं भी बादल नहीं रह गया। तब ब्राह्मणलोग वहाँसे तीर्थयात्राके लिये चल दिये और अन्य लोग भी जैसे आये थे वैसे ही लौट गये ॥ ४ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा ते विस्मिताऽभवन् ।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादं त्वत्कथाश्रयम् ॥ ५ ॥
स भवान् पुरुषव्याघ्र ब्रह्मभूतः सनातनः ।
यदर्थमनुशिष्टाः स्मो गिरिपृष्ठे महात्मना ॥ ६ ॥

यह अद्भुत और अचिन्त्य घटना देखकर सब लोग आश्चर्यचकित हो उठे। पुरुषसिंह देवकीनन्दन! भगवान् शङ्करका पार्वतीजीके साथ जो आपके सम्बन्धमें संवाद हुआ, उसे सुनकर हम इस निश्चयपर पहुँच गये हैं कि वे ब्रह्मभूत सनातन पुरुष आप ही हैं। जिनके लिये हिमालयके शिखरपर महादेवजीने हमलोगोंको उपदेश दिया था ॥ ५-६ ॥

द्वितीयं त्वद्भुतमिदं त्वत्तेजः कृतमद्य वै ।
दृष्ट्वा च विस्मिताः कृष्ण सा च नः स्मृतिरागता ॥७॥

श्रीकृष्ण! आपके तेजसे दूसरी अद्भुत घटना आज यह घटित हुई है, जिसे देखकर हम चकित हो गये हैं और हमें पूर्वकालकी वह शङ्करजीवाली बात पुनः स्मरण हो रही है ॥ ७ ॥

एतत् ते देवदेवस्य माहात्म्यं कथितं प्रभो ।
कपर्दिनो गिरीशस्य महाबाहो जनार्दन ॥ ८ ॥

प्रभो! महाबाहु जनार्दन! यह मैंने आपके समक्ष जटाजूटधारी देवाधिदेव गिरीशके माहात्म्यका वर्णन किया है ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्णस्तपोवननिवासिभिः ।
मानयामास तान् सर्वानृषीन् देवकिनन्दनः ॥ ९ ॥

तपोवननिवासी मुनियोंके ऐसा कहनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस समय उन सबका विशेष सत्कार किया ॥ ९ ॥

अथर्षयः सम्प्रहृष्टाः पुनस्ते कृष्णमब्रुवन् ।
पुनः पुनः दर्शयास्मान् सदैव मधुसूदन ॥ १० ॥

तदनन्तर वे महर्षि पुनः हर्षमें भरकर श्रीकृष्णसे बोले—'मधुसूदन! आप सदा ही हमें बारंबार दर्शन देते रहें ॥

न हि नः सा रतिः स्वर्गे या च त्वद्दर्शने विभो ।
तदृतं च महाबाहो यदाह भगवान् भवः ॥ ११ ॥

'प्रभो! आपके दर्शनमें हमारा जितना अनुराग है, उतना स्वर्गमें भी नहीं है। महाबाहो! भगवान् शिवने जो कहा था, वह सर्वथा सत्य हुआ ॥ ११ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं रहस्यमरिकर्शन ।
त्वमेव ह्यर्थतत्त्वज्ञः पृष्टोऽस्मान् पृच्छसे यदा ॥ १२ ॥
तदस्माभिरिदं गुह्यं त्वत्प्रियार्थमुदाहृतम् ।
न च तेऽविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ १३ ॥

'शत्रुसूदन! यह सारा रहस्य मैंने आपसे कहा है, आप ही अर्थ-तत्त्वके ज्ञाता हैं। हमने आपसे पूछा था, परंतु आप स्वयं ही जब हमसे प्रश्न करने लगे, तब हमलोगोंने आपकी प्रसन्नताके लिये इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है! तीनों लोकोंमें कोई ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ १२-१३ ॥

जन्म चैव प्रसूतिश्च यच्चान्यत् कारणं विभो ।
वयं तु बहुचापल्यादशक्ता गुह्यधारणे ॥ १४ ॥

'प्रभो! आपका जो यह अवतार अर्थात् मानव शरीरमें जन्म हुआ है तथा जो इसका गुप्त कारण है, यह सब तथा अन्य बातें आपसे छिपी नहीं हैं। हमलोग तो अपनी अत्यन्त चपलताके कारण इस गूढ़ विषयको अपने मनमें ही छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये हैं ॥ १४ ॥

ततः स्थिते त्वयि विभो लघुत्वात् प्रलपामहे ।
न हि किंचित् तदाश्चर्यं यन्न वेत्ति भवानिह ॥ १५ ॥
दिवि वा भुवि वा देव सर्वं हि विदितं तव ।

'भगवन्! इसीलिये आपके रहते हुए भी हम अपने ओछेपनके कारण प्रलाप करते हैं—छोटे मुँह बड़ी बात कर रहे हैं। देव! पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई भी ऐसी आश्चर्यकी बात नहीं है, जिसे आप नहीं जानते हों। आपको सब कुछ ज्ञात है ॥ १५½ ॥

साधयाम वयं कृष्ण बुद्धिं पुष्टिमवाप्नुहि ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण! अब आप हमें जानेकी आज्ञा दें, जिससे हम अपना कार्य साधन करें। आपको उत्तम बुद्धि और पुष्टि प्राप्त हो ॥ १६ ॥

पुत्रस्ते सदृशस्तात विशिष्टो वा भविष्यति ।
महाप्रभावसंयुक्तो दीप्तिकीर्तिकरः प्रभुः ॥ १७ ॥

तात! आपको आपके समान अथवा आपसे भी बढ़कर

पुत्र प्राप्त हो। वह महान् प्रभावसे युक्त, दीप्तिमान्, कीर्तिका विस्तार करनेवाला और सर्वसमर्थ हो' ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

ततः प्रणम्य देवेशं यादवं पुरुषोत्तमम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य प्रजग्मुस्ते महर्षयः ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर वे महर्षि उन यदुकुलरत्न देवेश्वर पुरुषोत्तमको प्रणाम और उनकी परिक्रमा करके चले गये ॥ १८ ॥

सोऽयं नारायणः श्रीमान् दीप्त्या परमया युतः।
व्रतं यथावत् तच्चीर्त्वा द्वारकां पुनरागमत् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् परम कान्तिसे युक्त ये श्रीमान् नारायण अपने व्रतको यथावत्‌रूपसे पूर्ण करके पुनः द्वारकापुरीमें चले आये ॥

पूर्णे च दशमे मासि पुत्रोऽस्य परमाद्भुतः।
रुक्मिण्यां सम्मतो जज्ञे शूरो वंशधरः प्रभो ॥ २० ॥

प्रभो ! दसवाँ मास पूर्ण होनेपर इन भगवान्‌के रुक्मिणी देवीके गर्भसे एक परम अद्भुत, मनोरम एवं शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इनका वंश चलानेवाला है ॥ २० ॥

स कामः सर्वभूतानां सर्वभावगतो नृप।
असुराणां सुराणां च चरत्यन्तर्गतः सदा ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! जो सम्पूर्ण प्राणियोंके मानसिक संकल्पमें व्याप्त रहनेवाला है और देवताओं तथा असुरोंके भी अन्तःकरणमें सदा विचरता रहता है, वह कामदेव ही भगवान् श्रीकृष्णका वंशधर है ॥ २१ ॥

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः ॥ २२ ॥

वे ही ये चार भुजाधारी घनश्याम पुरुषसिंह श्रीकृष्ण प्रेमपूर्वक तुम पाण्डवोंके आश्रित हैं और तुमलोग भी इनके शरणागत हो ॥ २२ ॥

कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिश्चैव स्वर्गमार्गस्तथैव च।
यत्रैष संस्थितस्तत्र देवो विष्णुस्त्रिविक्रमः ॥ २३ ॥

ये त्रिविक्रम विष्णुदेव जहाँ विद्यमान हैं, वहीं कीर्ति, लक्ष्मी, धृति तथा स्वर्गका मार्ग है ॥ २३ ॥

सेन्द्रा देवास्त्रयस्त्रिंशदेष नात्र विचारणा।
आदिदेवो महादेवः सर्वभूतप्रतिश्रयः ॥ २४ ॥

इन्द्र आदि तैंतीस देवता इन्हींके स्वरूप हैं, इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेवाले आदिदेव महादेव हैं ॥ २४ ॥

अनादिनिधनोऽव्यक्तो महात्मा मधुसूदनः।
अयं जातो महातेजाः सुराणामर्थसिद्धये ॥ २५ ॥

इनका न आदि है न अन्त। ये अव्यक्तस्वरूप, महातेजस्वी महात्मा मधुसूदन देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये यदुकुलमें उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

सुदुस्तरार्थतत्त्वस्य वक्ता कर्ता च माधवः।
तव पार्थ जयः कृत्स्नस्तव कीर्तिस्तथातुला ॥ २६ ॥
तवेयं पृथिवी देवी कृत्स्ना नारायणाश्रयात्।
अयं नाथस्तवाचिन्त्यो यस्य नारायणो गतिः ॥ २७ ॥

ये माधव दुर्बोध तत्त्वके वक्ता और कर्ता हैं। कुन्तीनन्दन ! तुम्हारी सम्पूर्ण विजय, अनुपम कीर्ति और अखिल भूमण्डलका राज्य—ये सब भगवान् नारायणका आश्रय लेनेसे ही तुम्हें प्राप्त हुए हैं। ये अचिन्त्यस्वरूप नारायण ही तुम्हारे रक्षक और परमगति हैं ॥ २६-२७ ॥

स भवांस्त्वमुपाध्वर्यू रणाग्नौ हुतवान् नृपान्।
कृष्णस्रुवेण महता युगान्ताग्निसमेन वै ॥ २८ ॥

तुमने स्वयं होता बनकर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी श्रीकृष्णरूपी विशाल स्रुवाके द्वारा समराग्निकी ज्वालामें सम्पूर्ण राजाओंकी आहुति दे डाली है ॥ २८ ॥

दुर्योधनश्च शोच्योऽसौ सपुत्रभ्रातृबान्धवः।
कृतवान् योऽबुधिः क्रोधाद्धरिगाण्डीविविग्रहम् ॥ २९ ॥

आज वह दुर्योधन अपने पुत्र, भाई और सम्बन्धियोंसहित शोकके विषय हो गया है; क्योंकि उस मूर्खने क्रोधके आवेशमें आकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध ठाना था ॥

दैतेया दानवेन्द्राश्च महाकाया महाबलाः।
चक्राग्नौ क्षयमापन्ना दावाग्नौ शलभा इव ॥ ३० ॥

कितने ही विशाल शरीरवाले महाबली दैत्य और दानव दावानलमें दग्ध होनेवाले पतङ्गोंकी तरह श्रीकृष्णकी चक्राग्निमें स्वाहा हो चुके हैं ॥ ३० ॥

प्रतियोद्धुं न शक्यो हि मानुषैरेष संयुगे।
विहीनैः पुरुषव्याघ्र सत्त्वशक्तिबलादिभिः ॥ ३१ ॥

पुरुषसिंह ! सत्त्व (धैर्य), शक्ति और बल आदिसे स्वभावतः हीन मनुष्य युद्धमें इन श्रीकृष्णका सामना नहीं कर सकते ॥ ३१ ॥

जयो योगी युगान्ताभः सव्यसाची रणाग्रगः।
तेजसा हतवान् सर्वं सुयोधनबलं नृप ॥ ३२ ॥

अर्जुन भी योगशक्तिसे सम्पन्न और युगान्तकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं। ये बायें हाथसे भी बाण चलाते हैं और रणभूमिमें सबसे आगे रहते हैं। नरेश्वर ! इन्होंने अपने तेजसे दुर्योधनकी सारी सेनाका संहार कर डाला है ॥

यत् तु गोवृषभांकेन मुनिभ्यः समुदाहृतम्।
पुराणं हिमवत्पृष्ठे तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३३ ॥

वृषभध्वज भगवान् शङ्करने हिमालयके शिखरपर मुनियोंसे जो पुरातन रहस्य बताया था, वह मेरे मुँहसे सुनो ॥

यावत् तस्य भवेत् पुष्टिस्तेजो दीप्तिः पराक्रमः।
प्रभावः सन्नतिर्जन्म कृष्णे तत्त्रिगुणं विभो ॥ ३४ ॥

विभो ! अर्जुनमें जैसी पुष्टि है, जैसा तेज, दीप्ति, पराक्रम,

प्रभाव, विनय और जन्मकी उत्तमता है, वह सब कुछ श्रीकृष्णमें अर्जुनसे तिगुना है ॥ ३४ ॥

कः शक्नोत्यन्यथाकर्तुं तद् यदि स्यात् तथा शृणु ।
यत्र कृष्णो हि भगवांस्तत्र पुष्टिरनुत्तमा ॥ ३५ ॥

संसारमें कौन ऐसा है जो मेरे इस कथनको अन्यथा सिद्ध कर सके। श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव है, उसे सुनो—जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहाँ सर्वोत्तम पुष्टि विद्यमान है॥

वयं त्विहाल्पमतयः परतन्त्राः सुविक्लवाः ।
ज्ञानपूर्वं प्रपन्नाः स्मो मृत्योः पन्थानमव्ययम् ॥ ३६ ॥

हम इस जगत्‌में मन्दबुद्धि, परतन्त्र और व्याकुल-चित्त मनुष्य हैं। हमने जान-बूझकर मृत्युके अटल मार्गपर पैर रक्खा है ॥ ३६ ॥

भवांश्चाप्यार्जवपरः पूर्वं कृत्वा प्रतिश्रयम् ।
राजवृत्तं न लभते प्रतिज्ञापालने रतः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर! तुम अत्यन्त सरल हो, इसीसे तुमने पहले ही भगवान् वासुदेवकी शरण ली और अपनी प्रतिज्ञाके पालनमें तत्पर रहकर राजोचित बर्तावको तुम ग्रहण नहीं कर रहे हो ॥ ३७ ॥

अप्येवात्मवधं लोके राजंस्त्वं बहु मन्यसे ।
न हि प्रतिज्ञा या दत्ता तां प्रहातुमरिंदम ॥ ३८ ॥

राजन्! तुम इस संसारमें अपनी हत्या कर लेनेको ही अधिक महत्त्व दे रहे हो। शत्रुदमन! जो प्रतिज्ञा तुमने कर ली है, उसे मिटा देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है (तुमने शत्रुओंको जीतकर न्यायपूर्वक प्रजापालनका व्रत लिया है। अब शोकवश आत्महत्याका विचार मनमें लाकर तुम उस व्रतसे गिर रहे हो, यह ठीक नहीं है) ॥ ३८ ॥

कालेनायं जनः सर्वो निहतो रणमूर्धनि ।
वयं च कालेन हताः कालो हि परमेश्वरः ॥ ३९ ॥

ये सब राजालोग युद्धके मुहानेपर कालके द्वारा मारे गये हैं, हम भी कालसे ही मारे गये हैं; क्योंकि काल ही परमेश्वर है ॥ ३९ ॥

न हि कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हसि ।
कालो लोहितरक्ताक्षः कृष्णो दण्डी सनातनः ॥४०॥

जो कालके स्वरूपको जानता है, वह कालके थपेड़े खाकर भी शोक नहीं करता। श्रीकृष्ण ही लाल नेत्रोंवाले दण्डधारी सनातन काल हैं ॥ ४० ॥

तस्मात् कुन्तीसुत ज्ञातीन् नेह शोचितुमर्हसि ।
व्यपेतमन्युर्नित्यं त्वं भव कौरवनन्दन ॥ ४१ ॥
माधवस्यास्य माहात्म्यं श्रुतं यत् कथितं मया ।
तदेव तावत् पर्याप्तं सज्जनस्य निदर्शनम् ॥ ४२ ॥

अतः कुन्तीनन्दन! तुम्हें अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंके लिये यहाँ शोक नहीं करना चाहिये। कौरव कुलका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर! तुम सदा क्रोध-हीन एवं शान्त रहो। मैंने इन माधव श्रीकृष्णका माहात्म्य जैसा सुना था, वैसा कह सुनाया। इनकी महिमाको समझनेके लिये इतना ही पर्याप्त है। सज्जनके लिये दिग्दर्शन मात्र उपस्थित होता है ॥ ४१-४२ ॥

व्यासस्य वचनं श्रुत्वा नारदस्य च धीमतः ।
स्वयं चैव महाराज कृष्णस्यार्हतमस्य वै ॥ ४३ ॥
प्रभावश्चर्षिपूगस्य कथितः सुमहान् मया ।
महेश्वरस्य संवादं शैलपुत्र्याश्च भारत ॥ ४४ ॥

महाराज! व्यासजी तथा बुद्धिमान् नारदजीके वचन सुनकर मैंने परम पूज्य श्रीकृष्ण तथा महर्षियोंके महान् प्रभाव-का वर्णन किया है। भारत! गिरिराजनन्दिनी उमा और महेश्वरका जो संवाद हुआ था, उसका भी मैंने उल्लेख किया है ॥ ४३-४४ ॥

धारयिष्यति यश्चैनं महापुरुषसम्भवम् ।
शृणुयात् कथयेद् वा यः स श्रेयो लभते परम् ॥४५॥

जो महापुरुष श्रीकृष्णके इस प्रभावको सुनेगा, कहेगा और याद रखेगा, उसको परम कल्याणकी प्राप्ति होगी ॥४५॥

भवितारश्च तस्याथ सर्वे कामा यथेप्सिताः ।
प्रेत्य स्वर्गं च लभते नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ४६ ॥

उसके सारे अभीष्ट मनोरथ पूर्ण होंगे और वह मनुष्य मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४६ ॥

न्याय्यं श्रेयोऽभिकामेन प्रतिपत्तुं जनार्दनः ।
एष एवाक्षयो विप्रैः स्तुतो राजन् जनार्दनः ॥ ४७ ॥

अतः जिसे कल्याणकी इच्छा हो, उस पुरुषको जनार्दन-की शरण लेनी चाहिये। राजन्! इन अविनाशी श्रीकृष्णकी ही ब्राह्मणोंने स्तुति की है ॥ ४७ ॥

महेश्वरमुखोत्सृष्टा ये च धर्मगुणाः स्मृताः ।
ते त्वया मनसा धार्याः कुरुराज दिवानिशम् ॥ ४८ ॥

कुरुराज! भगवान् शङ्करके मुखसे जो धर्म-सम्बन्धी गुण प्रतिपादित हुए हैं, उन सबको तुम्हें दिन-रात अपने हृदयमें धारण करना चाहिये ॥ ४८ ॥

एवं ते वर्तमानस्य सम्यग्दण्डधरस्य च ।
प्रजापालनदक्षस्य स्वर्गलोको भविष्यति ॥ ४९ ॥

ऐसा बर्ताव करते हुए यदि तुम न्यायोचित रीतिसे दण्ड धारण करके प्रजापालनमें कुशलतापूर्वक लगे रहोगे तो तुम्हें स्वर्गलोक प्राप्त होगा ॥ ४९ ॥

धर्मेणापि सदा राजन् प्रजा रक्षितुमर्हसि ।
यस्तस्य विपुलो दण्डः सम्यग्धर्मः स कीर्त्यते ॥ ५० ॥

राजन्! तुम धर्मपूर्वक सदा प्रजाकी रक्षा करते रहो।

प्रजापालनके लिये जो दण्डका उचित उपयोग किया जाता है, वह धर्म ही कहलाता है ॥ ५० ॥

य एष कथितो राजन् मया सज्जनसंनिधौ ।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादो धर्मसंहितः ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! भगवान् शङ्करका पार्वतीजीके साथ जो धर्मविषयक संवाद हुआ था, उसे इन सत्पुरुषोंके निकट मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा वा श्रोतुकामो वाप्यर्चयेद् वृषभध्वजम् ।
विशुद्धेनेह भावेन य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ५२ ॥

जो अपना कल्याण चाहता हो, वह पुरुष यह संवाद सुनकर अथवा सुननेकी कामना रखकर विशुद्धभावसे भगवान् शङ्करकी पूजा करे ॥ ५२ ॥

एष तस्यानवद्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
संदेशो देवपूजार्थं तं तथा कुरु पाण्डव ॥ ५३ ॥

पाण्डुनन्दन ! उन अनिन्द्य महात्मा देवर्षि नारदजीका ही यह संदेश है कि महादेवजीकी पूजा करनी चाहिये । इसलिये तुम भी ऐसा ही करो ॥ ५३ ॥

एतदत्यद्भुतं वृत्तं पुण्ये हि भवति प्रभो ।
वासुदेवस्य कौन्तेय स्थाणोश्चैव स्वभावजम् ॥ ५४ ॥

प्रभो ! कुन्तीनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्ण और महादेवजी-का यह अद्भुत एवं स्वाभाविक वृत्तान्त पूर्वकालमें पुण्यमय पर्वत हिमालयपर संघटित हुआ था ॥ ५४ ॥

दशवर्षसहस्राणि बदर्यामेष शाश्वतः ।
तपश्चचार विपुलं सह गाण्डीवधन्वना ॥ ५५ ॥

इन सनातन श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ (नर-नारायणरूपमें रहकर) बदरिकाश्रममें दस हजार वर्षों-तक बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ ५५ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ।
विदितौ नारदादेतौ मम व्यासाच्च पार्थिव ॥ ५६ ॥

पृथ्वीनाथ ! कमलनयन श्रीकृष्ण और अर्जुन—ये दोनों सत्ययुग आदि तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण त्रियुग कहलाते हैं । देवर्षि नारद तथा व्यासजीने इन दोनोंके स्वरूपका परिचय दिया था ॥ ५६ ॥

बाल एव महाबाहुश्चकार कदनं महत् ।
कंसस्य पुण्डरीकाक्षो ज्ञातित्राणार्थकारणात् ॥ ५७ ॥

महाबाहु कमलनयन श्रीकृष्णने बचपनमें ही अपने बन्धु-बान्धवोंकी रक्षाके लिये कंसका बड़ा भारी संहार किया था ॥ ५७ ॥

कर्मणामस्य कौन्तेय नान्तं संख्यातुमुत्सहे ।
शाश्वतस्य पुराणस्य पुरुषस्य युधिष्ठिर ॥ ५८ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! इन सनातन पुराणपुरुष श्रीकृष्ण-के चरित्रोंकी कोई सीमा या संख्या नहीं बतायी जा सकती ॥

ध्रुवं श्रेयः परं तात भविष्यति तवोत्तमम् ।
यस्य ते पुरुषव्याघ्रः सखा चायं जनार्दनः ॥ ५९ ॥

तात ! तुम्हारा तो अवश्य ही परम उत्तम कल्याण होगा; क्योंकि ये पुरुषसिंह जनार्दन तुम्हारे मित्र हैं ॥ ५९ ॥

दुर्योधनं तु शोचामि प्रेत्य लोकेऽपि दुर्मतिम् ।
यत्कृते पृथिवी सर्वा विनष्टा सहयद्विपा ॥ ६० ॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन यद्यपि परलोकमें चला गया है, तो भी मुझे तो उसीके लिये अधिक शोक हो रहा है; क्योंकि उसीके कारण हाथी, घोड़े आदि वाहनोंसहित सारी पृथ्वीका नाश हुआ है ॥ ६० ॥

दुर्योधनापराधेन कर्णस्य शकुनेस्तथा ।
दुःशासनचतुर्थानां कुरवो निधनं गताः ॥ ६१ ॥

दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि—इन्हीं चारोंके अपराधसे सारे कौरव मारे गये हैं ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु गाङ्गेये पुरुषर्षभे ।
तूष्णीं बभूव कौरव्यो मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरुषप्रवर गङ्गानन्दन भीष्मजीके ऐसा कहनेपर उन महामनस्वी पुरुषोंके बीचमें बैठे हुए कुरुकुलकुमार युधिष्ठिर चुप हो गये ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा विस्मयं जग्मुर्धृतराष्ट्रादयो नृपाः ।
सम्पूज्य मनसा कृष्णं सर्वे प्राञ्जलयोऽभवन् ॥ ६३ ॥

भीष्मजीकी बात सुनकर धृतराष्ट्र आदि राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ और वे सभी मन-ही-मन श्रीकृष्णकी पूजा करते हुए उन्हें हाथ जोड़ने लगे ॥ ६३ ॥

ऋषयश्चापि ते सर्वे नारदप्रमुखास्तदा ।
प्रतिगृह्याभ्यनन्दन्त तद्वाक्यं प्रतिपूज्य च ॥ ६४ ॥

नारद आदि सम्पूर्ण महर्षि भी भीष्मजीके वचन सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

इत्येतदखिलं सर्वैः पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
श्रुतवान् सुमहाश्चर्यं पुण्यं भीष्मानुशासनम् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंके साथ यह भीष्मजीका सारा पवित्र अनुशासन सुना, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक था ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरस्तु गाङ्गेयं विश्रान्तं भूरिदक्षिणम् ।
पुनरेव महाबुद्धिः पर्यपृच्छन्महीपतिः ॥ ६६ ॥

तदनन्तर बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंका दान करनेवाले गङ्गा-नन्दन भीष्मजी जब विश्राम ले चुके, तब महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर पुनः प्रश्न करने लगे ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महापुरुषप्रस्तावे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महापुरुष श्रीकृष्णकी प्रशंसाविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्

(यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

जिनके स्मरण करनेमात्रसे मनुष्य जन्म-मृत्यु-रूप संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते ।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥)

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत, पृथ्वीको धारण करनेवाले, अनेक रूपधारी और सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुको प्रणाम है ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः ।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण विधिरूप धर्म तथा पापोंका क्षय करनेवाले धर्मरहस्योंको सब प्रकार सुनकर शान्तनुपुत्र भीष्मसे फिर पूछा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—दादाजी ! समस्त जगत्में एक ही देव कौन है तथा इस लोकमें एक ही परम आश्रयस्थान कौन है ? किस देवकी स्तुति—गुण-कीर्तन करनेसे तथा किस देवका नाना प्रकारसे बाह्य और आन्तरिक पूजन करनेसे मनुष्य कल्याण-की प्राप्ति कर सकते हैं ? ॥ २ ॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥ ३ ॥

आप समस्त धर्मोंमें किस धर्मको परम श्रेष्ठ मानते हैं ? तथा किसका जप करनेसे जीव जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! स्थावर-जङ्गमरूप संसारके स्वामी, ब्रह्मादि देवोंके देव, देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, क्षर-अक्षरसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तमका सहस्रनामोंके द्वारा निरन्तर तत्पर रहकर गुण-संकीर्तन करनेसे पुरुष सब दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ४ ॥

तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायन् स्तुवन् नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ५ ॥

तथा उसी विनाशरहित पुरुषका सब समय भक्तिसे युक्त होकर पूजन करनेसे, उसीका ध्यान करनेसे तथा स्तवन एवं नमस्कार करनेसे पूजा करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

उस जन्म-मृत्यु आदि छः भावविकारोंसे रहित, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर, लोकाध्यक्ष देवकी निरन्तर स्तुति करनेसे मनुष्य सब दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणोंके हितकारी, सब धर्मोंको जाननेवाले, प्राणियोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी, समस्त भूतोंके उत्पत्ति-स्थान एवं संसारके कारणरूप परमेश्वरका स्तवन करनेसे मनुष्य सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ७ ॥

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंमें मैं इसी धर्मको सबसे बड़ा मानता हूँ कि मनुष्य कमलनयन भगवान् वासुदेवका भक्तिपूर्वक गुण-संकीर्तनरूप स्तुतियोंसे सदा अर्चन करे ॥ ८ ॥

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥ ११ ॥
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते ।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम् ॥ १२ ॥

पृथ्वीपते ! जो परम महान् तेजःस्वरूप है, जो परम महान् तपःस्वरूप है, जो परम महान् ब्रह्म है, जो सबका परम आश्रय है, जो पवित्र करनेवाले तीर्थादिकोंमें परम पवित्र है, मङ्गलोंका भी मङ्गल है, देवोंका भी देव है तथा जो भूतप्राणियोंका अविनाशी पिता है, कल्पके आदिमें जिससे सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और फिर युगका क्षय होनेपर महाप्रलयमें जिसमें वे विलीन हो जाते हैं, उस लोकप्रधान, संसारके स्वामी, भगवान् विष्णुके हजार नामोंको मुझसे सुनो, जो पाप और संसारभयको दूर करनेवाले हैं ॥ ९—१२ ॥

यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः ।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥ १३ ॥

महान् आत्मस्वरूप विष्णुके जो नाम गुणके कारण

प्रवृत्त हुए हैं, उनमेंसे जो-जो प्रसिद्ध हैं और मन्त्रद्रष्टा मुनियोंद्वारा जो सर्वत्र गाये गये हैं, उन समस्त नामोंको पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद् भूतभृद् भावो भूतात्मा भूतभावनः ॥ १४ ॥

ॐसच्चिदानन्दस्वरूप, १ **विश्वम्**–विराट्स्वरूप, २ **विष्णुः**–सर्वव्यापी, ३ **वषट्कारः**–जिनके उद्देश्यसे यज्ञमें वषट् क्रिया की जाती है, ऐसे यज्ञस्वरूप, ४ **भूतभव्यभवत्प्रभुः**–भूत, भविष्यत् और वर्तमानके स्वामी, ५ **भूतकृत्**–रजोगुणको स्वीकार करके ब्रह्मारूपसे सम्पूर्ण भूतोंकी रचना करनेवाले, ६ **भूतभृत्**–सत्त्वगुणको स्वीकार करके सम्पूर्ण भूतोंका पालन-पोषण करनेवाले, ७ **भावः**–नित्यस्वरूप होते हुए भी स्वतः उत्पन्न होनेवाले, ८ **भूतात्मा**–सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा, ९ **भूतभावनः**–भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले ॥ १४ ॥

पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥ १५ ॥

१० **पूतात्मा**–पवित्रात्मा, ११ **परमात्मा**–परमश्रेष्ठ नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, १२ **मुक्तानां परमा गतिः**–मुक्त पुरुषोंकी सर्वश्रेष्ठ गतिस्वरूप, १३ **अव्ययः**–कभी विनाशको प्राप्त न होनेवाले, १४ **पुरुषः**–पुर अर्थात् शरीरमें शयन करनेवाले, १५ **साक्षी**–बिना किसी व्यवधानके सब कुछ देखनेवाले, १६ **क्षेत्रज्ञः**–क्षेत्र अर्थात् समस्त प्रकृतिरूप शरीरको पूर्णतया जाननेवाले, १७ **अक्षरः**–कभी क्षीण न होनेवाले ॥ १५ ॥

योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः ।
नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥

१८ **योगः**–मनसहित सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंके निरोधरूप योगसे प्राप्त होनेवाले, १९ **योगविदां नेता**–योगको जाननेवाले भक्तोंके स्वामी, २० **प्रधानपुरुषेश्वरः**–प्रकृति और पुरुषके स्वामी, २१ **नारसिंहवपुः**–मनुष्य और सिंह दोनोंके-जैसा शरीर धारण करनेवाले नरसिंहरूप, २२ **श्रीमान्**–वक्षःस्थलमें सदा श्रीको धारण करनेवाले, २३ **केशवः**–(क) ब्रह्मा, (अ) विष्णु और (ईश) महादेव–इस प्रकार त्रिमूर्तिस्वरूप, २४ **पुरुषोत्तमः**–क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे सर्वथा उत्तम ॥ १६ ॥

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।
सम्भवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥ १७ ॥

२५ **सर्वः**–सर्वरूप, २६ **शर्वः**–सारी प्रजाका प्रलयकालमें संहार करनेवाले, २७ **शिवः**–तीनों गुणोंसे परे कल्याणस्वरूप, २८ **स्थाणुः**–स्थिर, २९ **भूतादिः**–भूतोंके आदिकारण, ३० **निधिरव्ययः**–प्रलयकालमें सब प्राणियोंके लीन होनेके लिये अविनाशी स्थानरूप, ३१ **सम्भवः**–अपनी इच्छासे भली प्रकार प्रकट होनेवाले, ३२ **भावनः**–समस्त भोक्ताओंके फलोंको उत्पन्न करनेवाले, ३३ **भर्ता**–सबका भरण करनेवाले, ३४ **प्रभवः**–उत्कृष्ट (दिव्य) जन्मवाले, ३५ **प्रभुः**–सबके स्वामी, ३६ **ईश्वरः**–उपाधिरहित ऐश्वर्यवाले ॥ १७ ॥

स्वयम्भूः शम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः ।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥ १८ ॥

३७ **स्वयम्भूः**–स्वयं उत्पन्न होनेवाले, ३८ **शम्भुः**–भक्तोंके लिये सुख उत्पन्न करनेवाले, ३९ **आदित्यः**–द्वादश आदित्योंमें विष्णुनामक आदित्य, ४० **पुष्कराक्षः**–कमलके समान नेत्रवाले, ४१ **महास्वनः**–वेदरूप अत्यन्त महान् घोषवाले, ४२ **अनादिनिधनः**–जन्म-मृत्युसे रहित, ४३ **धाता**– विश्वको धारण करनेवाले, ४४ **विधाता**–कर्म और उसके फलोंकी रचना करनेवाले, ४५ **धातुरुत्तमः**–कार्यकारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चको धारण करनेवाले एवं सर्वश्रेष्ठ॥

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः॥ १९ ॥

४६ **अप्रमेयः**–प्रमाणादिसे जाननेमें न आ सकनेवाले, ४७ **हृषीकेशः**–इन्द्रियोंके स्वामी, ४८ **पद्मनाभः**–जगत्के कारणरूप कमलको अपनी नाभिमें स्थान देनेवाले, ४९ **अमरप्रभुः**–देवताओंके स्वामी, ५० **विश्वकर्मा**—सारे जगत्की रचना करनेवाले, ५१ **मनुः**–प्रजापति मनुरूप, ५२ **त्वष्टा**–संहारके समय सम्पूर्ण प्राणियोंको क्षीण करनेवाले, ५३ **स्थविष्ठः**–अत्यन्त स्थूल, ५४ **स्थविरो ध्रुवः**–अति प्राचीन एवं अत्यन्त स्थिर ॥ १९ ॥

अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मङ्गलं परम् ॥ २० ॥

५५ **अग्राह्यः**–मनसे भी ग्रहण न किये जा सकनेवाले, ५६ **शाश्वतः**–सब कालमें स्थित रहनेवाले, ५७ **कृष्णः**–सबके चित्तको बलात्कारसे अपनी ओर आकर्षित करनेवाले परमानन्दस्वरूप, ५८ **लोहिताक्षः**–लाल नेत्रोंवाले, ५९ **प्रतर्दनः**–प्रलयकालमें प्राणियोंका संहार करनेवाले, ६० **प्रभूतः**–ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, ६१ **त्रिककुब्धाम**—ऊपर-नीचे और मध्यभेदवाली तीनों दिशाओंके आश्रयरूप, ६२ **पवित्रम्**–सबको पवित्र करनेवाले, ६३ **मङ्गलं परम्**–परम मङ्गलस्वरूप ॥ २० ॥

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥ २१ ॥

६४ **ईशानः**–सर्वभूतोंके नियन्ता, ६५ **प्राणदः**–सबके प्राणदाता, ६६ **प्राणः**–प्राणस्वरूप, ६७ **ज्येष्ठः**–सबके कारण होनेसे सबसे बड़े, ६८ **श्रेष्ठः**–सबमें उत्कृष्ट होनेसे परम श्रेष्ठ, ६९ **प्रजापतिः**–ईश्वररूपसे सारी प्रजाओंके

स्वामी, ७० **हिरण्यगर्भः**—ब्रह्माण्डरूप हिरण्मय अण्डके भीतर ब्रह्मारूपसे व्याप्त होनेवाले, ७१ **भूगर्भः**—पृथ्वीको गर्भमें रखनेवाले, ७२ **माधवः**—लक्ष्मीके पति, ७३ **मधुसूदनः**—मधुनामक दैत्यको मारनेवाले ॥ २१ ॥

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः ।
अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥ २२ ॥

७४ **ईश्वरः**—सर्वशक्तिमान् ईश्वर, ७५ **विक्रमी**—शूरवीरतासे युक्त, ७६ **धन्वी**—शार्ङ्गधनुष रखनेवाले, ७७ **मेधावी**—अतिशय बुद्धिमान्, ७८ **विक्रमः**—गरुड़ पक्षीद्वारा गमन करनेवाले, ७९ **क्रमः**—क्रमविस्तारके कारण, ८० **अनुत्तमः**—सर्वोत्कृष्ट, ८१ **दुराधर्षः**—किसीसे भी तिरस्कृत न हो सकनेवाले, ८२ **कृतज्ञः**—अपने निमित्तसे थोड़ा-सा भी त्याग किये जानेपर उसे बहुत माननेवाले यानी पत्र-पुष्पादि थोड़ी-सी वस्तु समर्पण करनेवालोंको भी मोक्ष दे देनेवाले, ८३ **कृतिः**—पुरुष-प्रयत्नके आधाररूप, ८४ **आत्मवान्**—अपनी ही महिमामें स्थित ॥ २२ ॥

सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः ।
अहः संवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥ २३ ॥

८५ **सुरेशः**—देवताओंके स्वामी, ८६ **शरणम्**—दीन-दुखियोंके परम आश्रय, ८७ **शर्म**—परमानन्दस्वरूप, ८८ **विश्वरेताः**—विश्वके कारण, ८९ **प्रजाभवः**—सारी प्रजाको उत्पन्न करनेवाले, ९० **अहः**—प्रकाशरूप, ९१ **संवत्सरः**—कालरूपसे स्थित, ९२ **व्यालः**—शेषनागस्वरूप, ९३ **प्रत्ययः**—उत्तम बुद्धिसे जाननेमें आनेवाले, ९४ **सर्वदर्शनः**—सबके द्रष्टा ॥ २३ ॥

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥ २४ ॥

९५ **अजः**—जन्मरहित, ९६ **सर्वेश्वरः**—समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर, ९७ **सिद्धः**—नित्यसिद्ध, ९८ **सिद्धिः**—सबके फलस्वरूप, ९९ **सर्वादिः**—सब भूतोंके आदि कारण, १०० **अच्युतः**—अपनी स्वरूप-स्थितिसे कभी त्रिकालमें भी च्युत न होनेवाले, १०१ **वृषाकपिः**—धर्म और वराहरूप, १०२ **अमेयात्मा**—अप्रमेयस्वरूप, १०३ **सर्वयोगविनिःसृतः**—नाना प्रकारके शास्त्रोक्त साधनोंसे जाननेमें आनेवाले॥ २४ ॥

वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मासम्मितः समः ।
अमोघः पुण्डरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥ २५ ॥

१०४ **वसुः**—सब भूतोंके वासस्थान, १०५ **वसुमनाः**—उदार मनवाले, १०६ **सत्यः**—सत्यस्वरूप, १०७ **समात्मा**—सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्मारूपसे विराजनेवाले, १०८ **असम्मितः**—समस्त पदार्थोंसे मापे न जा सकनेवाले, १०९ **समः**—सब समय समस्त विकारोंसे रहित, ११० **अमोघः**—भक्तोंके द्वारा पूजन, स्तवन अथवा स्मरण किये जानेपर उन्हें वृथा न करके पूर्णरूपसे उनका फल प्रदान करनेवाले, १११ **पुण्डरीकाक्षः**—कमलके समान नेत्रोंवाले, ११२ **वृषकर्मा**—धर्ममय कर्म करनेवाले, ११३ **वृषाकृतिः**—धर्मकी स्थापना करनेके लिये विग्रह धारण करनेवाले ॥२५॥

रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः ।
अमृतः शाश्वतस्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥ २६ ॥

११४ **रुद्रः**—दुःखके कारणको दूर भगा देनेवाले, ११५ **बहुशिराः**—बहुत-से सिरोंवाले, ११६ **बभ्रुः**—लोकोंका भरणकरनेवाले, ११७ **विश्वयोनिः**—विश्वको उत्पन्न करनेवाले ११८ **शुचिश्रवाः**—पवित्र कीर्तिवाले, ११९ **अमृतः**—कभी न मरनेवाले, १२० **शाश्वतस्थाणुः**—नित्य सदा एकरस रहनेवाले एवं स्थिर, १२१ **वरारोहः**—आरूढ़ होनेके लिये परम उत्तम अपुनरावृत्तिस्थानरूप, १२२ **महातपाः**—प्रताप (प्रभाव) रूप महान् तपवाले ॥ २६ ॥

सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः ।
वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित् कविः ॥ २७ ॥

१२३ **सर्वगः**—कारणरूपसे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले, १२४ **सर्वविद्भानुः**—सब कुछ जाननेवाले प्रकाशरूप, १२५ **विष्वक्सेनः**—युद्धके लिये की हुई तैयारीमात्रसे ही दैत्यसेनाको तितर-बितर कर डालनेवाले, १२६ **जनार्दनः**—भक्तोंके द्वारा अभ्युदयनिःश्रेयसरूप परम पुरुषार्थकी याचना किये जानेवाले, १२७ **वेदः**—वेदरूप, १२८ **वेदवित्**—वेद तथा वेदके अर्थको यथावत् जाननेवाले, १२९ **अव्यङ्गः**—ज्ञानादिसे परिपूर्ण अर्थात् किसी प्रकार अधूरे न रहनेवाले सर्वाङ्गपूर्ण, १३० **वेदाङ्गः**—वेदरूप अङ्गोंवाले, १३१ **वेदवित्**—वेदोंको विचारनेवाले, १३२ **कविः**—सर्वज्ञ ॥ २७ ॥

लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः।
चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥ २८ ॥

१३३ **लोकाध्यक्षः**—समस्त लोकोंके अधिपति, १३४ **सुराध्यक्षः**—देवताओंके अध्यक्ष, १३५ **धर्माध्यक्षः**—अनुरूप फल देनेके लिये धर्म और अधर्मका निर्णय करनेवाले, १३६ **कृताकृतः**—कार्यरूपसे कृत और कारणरूपसे अकृत, १३७ **चतुरात्मा**—ब्रह्मा, विष्णु, महेश और निराकार ब्रह्म-इन चार स्वरूपोंवाले, १३८ **चतुर्व्यूहः**—उत्पत्ति, स्थिति, नाश और रक्षारूप चार व्यूहवाले, १३९ **चतुर्दंष्ट्रः**—चार दाढ़ोंवाले नरसिंहरूप, १४० **चतुर्भुजः**—चार भुजाओंवाले, वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु ॥ २८ ॥

भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः ।
अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥ २९ ॥

१४१ **भ्राजिष्णुः**—एकरस प्रकाशस्वरूप, १४२ **भोजनम्**—ज्ञानियोंद्वारा भोगनेयोग्य अमृतस्वरूप, १४३ **भोक्ता**—पुरुषरूपसे भोक्ता, १४४ **सहिष्णुः**—सहनशील,

१४५ जगदादिजः–जगत्‌के आदिमें हिरण्यगर्भ रूपसे स्वयं उत्पन्न होनेवाले, **१४६ अनघः**–पापरहित, **१४७ विजयः**–ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंमें सबसे बढ़कर, **१४८ जेता**–स्वभावसे ही समस्त भूतोंको जीतनेवाले, **१४९ विश्वयोनिः**–सबके कारणरूप, **१५० पुनर्वसुः**–पुनः-पुनः अवतार-शरीरोंमें निवास करनेवाले ॥ २९ ॥

उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः ।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥ ३० ॥

१५१ उपेन्द्रः–इन्द्रके छोटे भाई, **१५२ वामनः**–वामनरूपसे अवतार लेनेवाले, **१५३ प्रांशुः**–तीनों लोकोंको लाँघनेके लिये त्रिविक्रमरूपसे ऊँचे होनेवाले, **१५४ अमोघः**–अव्यर्थ चेष्टावाले, **१५५ शुचिः**–स्मरण, स्तुति और पूजन करनेवालोंको पवित्र कर देनेवाले, **१५६ ऊर्जितः**–अत्यन्त बलशाली, **१५७ अतीन्द्रः**–स्वयंसिद्ध ज्ञान-ऐश्वर्यादिके कारण इन्द्रसे भी बढ़े-चढ़े हुए, **१५८ संग्रहः**–प्रलयके समय सबको समेट लेनेवाले, **१५९ सर्गः**–सृष्टिके कारणरूप, **१६० धृतात्मा**–जन्मादिसे रहित रहकर स्वेच्छासे स्वरूप धारण करनेवाले, **१६१ नियमः**–प्रजाको अपने-अपने अधिकारोंमें नियमित करनेवाले, **१६२ यमः**–अन्तःकरणमें स्थित होकर नियमन करनेवाले ॥ ३० ॥

वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः ।
अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ॥ ३१ ॥

१६३ वेद्यः–कल्याणकी इच्छावालोंके द्वारा जानने योग्य, **१६४ वैद्यः**–सब विद्याओंके जाननेवाले, **१६५ सदायोगी**–सदा योगमें स्थित रहनेवाले, **१६६ वीरहा**–धर्मकी रक्षाके लिये असुर योद्धाओंको मार डालनेवाले, **१६७ माधवः**–विद्याके स्वामी, **१६८ मधुः**–अमृतकी तरह सबको प्रसन्न करनेवाले, **१६९ अतीन्द्रियः**–इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत, **१७० महामायः**–मायावियोंपर भी माया डालनेवाले, महान् मायावी, **१७१ महोत्साहः**–जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये तत्पर रहनेवाले परम उत्साही, **१७२ महाबलः**–महान् बलशाली ॥ ३१ ॥

महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः ।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥ ३२ ॥

१७३ महाबुद्धिः–महान् बुद्धिमान्, **१७४ महावीर्यः**–महान् पराक्रमी, **१७५ महाशक्तिः**–महान् सामर्थ्यवान्, **१७६ महाद्युतिः**–महान् कान्तिमान्, **१७७ अनिर्देश्यवपुः**–वर्णन करनेमें न आनेयोग्य स्वरूप, **१७८ श्रीमान्**–ऐश्वर्यवान्, **१७९ अमेयात्मा**–जिसका अनुमान न किया जा सके ऐसे आत्मावाले, **१८० महाद्रिधृक्**–अमृतमन्थन और गोरक्षणके समय मन्दराचल और गोवर्धन नामक महान् पर्वतोंको धारण करनेवाले ॥ ३२ ॥

महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः ।
अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदां पतिः ॥ ३३ ॥

१८१ महेष्वासः–महान् धनुषवाले, **१८२ महीभर्ता**–पृथ्वीको धारण करनेवाले, **१८३ श्रीनिवासः**–अपने वक्षःस्थलमें श्रीको निवास देनेवाले, **१८४ सतां गतिः**–सत्पुरुषोंके परम आश्रय, **१८५ अनिरुद्धः**–किसीके भी द्वारा न रुकनेवाले, **१८६ सुरानन्दः**–देवताओंको आनन्दित करनेवाले, **१८७ गोविन्दः**–वेदवाणीके द्वारा अपनेको प्राप्त करा देनेवाले, **१८८ गोविदां पतिः**–वेदवाणीको जाननेवालोंके स्वामी ॥ ३३ ॥

मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः ।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥ ३४ ॥

१८९ मरीचिः–तेजस्वियोंके भी परम तेजरूप, **१९० दमनः**–प्रमाद करनेवाली प्रजाको यम आदिके रूपसे दमन करनेवाले, **१९१ हंसः**–पितामह ब्रह्माको वेदका ज्ञान करानेके लिये हंसरूप धारण करनेवाले, **१९२ सुपर्णः**–सुन्दर पंखवाले गरुड़स्वरूप, **१९३ भुजगोत्तमः**–सर्पोंमें श्रेष्ठ शेषनागरूप, **१९४ हिरण्यनाभः**–सुवर्णके समान रमणीय नाभिवाले, **१९५ सुतपाः**–बदरिकाश्रममें नर-नारायणरूपसे सुन्दर तप करनेवाले, **१९६ पद्मनाभः**–कमलके समान सुन्दर नाभिवाले, **१९७ प्रजापतिः**–सम्पूर्ण प्रजाओंके पालनकर्ता ॥

अमृत्युः सर्वदृक् सिंहः संधाता सन्धिमान्स्थिरः ।
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ॥ ३५ ॥

१९८ अमृत्युः–मृत्युसे रहित, **१९९ सर्वदृक्**–सब कुछ देखनेवाले, **२०० सिंहः**–दुष्टोंका विनाश करनेवाले, **२०१ संधाता**–प्राणियोंको उनके कर्मोंके फलोंसे संयुक्त करनेवाले, **२०२ सन्धिमान्**–सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंके फलोंको भोगनेवाले, **२०३ स्थिरः**–सदा एक रूप, **२०४ अजः**–दुर्गुणोंको दूर हटा देनेवाले, **२०५ दुर्मर्षणः**–किसीसे भी सहन नहीं किये जा सकनेवाले, **२०६ शास्ता**–सबपर शासन करनेवाले, **२०७ विश्रुतात्मा**–वेदशास्त्रोंमें प्रसिद्ध स्वरूपवाले, **२०८ सुरारिहा**–देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाले ॥ ३५ ॥

गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥ ३६ ॥

२०९ गुरुः–सब विद्याओंका उपदेश करनेवाले, **२१० गुरुतमः**–ब्रह्मा आदिको भी ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाले, **२११ धाम**–सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रय, **२१२ सत्यः**–सत्यस्वरूप, **२१३ सत्यपराक्रमः**–अमोघ पराक्रमवाले, **२१४ निमिषः**–योगनिद्रासे मुँदे हुए नेत्रोंवाले, **२१५ अनिमिषः**–मत्स्यरूपसे अवतार लेनेवाले, **२१६ स्रग्वी**–वैजयन्तीमाला धारण करनेवाले, **२१७ वाचस्पतिरुदारधीः**–सारे पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाली बुद्धिसे युक्त समस्त विद्याओंके पति ॥ ३६ ॥

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो नेता समीरणः ।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ ३७ ॥

२१८ **अग्रणीः**–मुमुक्षुओंको उत्तम पदपर ले जानेवाले, २१९ **ग्रामणीः**–भूतसमुदायके नेता, २२० **श्रीमान्**–सबसे बढ़ी-चढ़ी कान्तिवाले, २२१ **न्यायः**–प्रमाणोंके आश्रयभूत तर्ककी मूर्ति, २२२ **नेता**–जगत्-रूप यन्त्रको चलानेवाले, २२३ **समीरणः**–श्वासरूपसे प्राणियोंसे चेष्टा करानेवाले, २२४ **सहस्रमूर्धा**–हजार सिरवाले, २२५ **विश्वात्मा**–विश्वके आत्मा, २२६ **सहस्राक्षः**–हजार आँखोंवाले, २२७ **सहस्रपात्**–हजार पैरोंवाले ॥ ३७ ॥

आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः सम्प्रमर्दनः ।
अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥ ३८ ॥

२२८ **आवर्तनः**–संसारचक्रको चलानेके स्वभाववाले, २२९ **निवृत्तात्मा**–संसारबन्धनसे नित्य मुक्तस्वरूप, २३० **संवृतः**–अपनी योगमायासे ढके हुए, २३१ **सम्प्रमर्दनः**–अपने रुद्र आदि स्वरूपसे सबका मर्दन करनेवाले, २३२ **अहःसंवर्तकः**–सूर्यरूपसे सम्यकतया दिनके प्रवर्तक, २३३ **वह्निः**–हविको वहन करनेवाले अग्निदेव, २३४ **अनिलः**–प्राणरूपसे वायुस्वरूप, २३५ **धरणीधरः**–वराह और शेषरूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ३८ ॥

सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग् विश्वभुग् विभुः ।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ॥ ३९ ॥

२३६ **सुप्रसादः**–शिशुपालादि अपराधियोंपर भी कृपा करनेवाले, २३७ **प्रसन्नात्मा**–प्रसन्न स्वभाववाले, २३८ **विश्वधृक्**–जगत्‌को धारण करनेवाले, २३९ **विश्वभुक्**–विश्वका पालन करनेवाले, २४० **विभुः**–सर्वव्यापी, २४१ **सत्कर्ता**–भक्तोंका सत्कार करनेवाले, २४२ **सत्कृतः**–पूजितोंसे भी पूजित, २४३ **साधुः**–भक्तोंके कार्य साधनेवाले, २४४ **जह्नुः**–संहारके समय जीवोंका लय करनेवाले, २४५ **नारायणः**–जलमें शयन करनेवाले, २४६ **नरः**–भक्तोंको परमधाममें ले जानेवाले ॥ ३९ ॥

असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ॥ ४० ॥

२४७ **असंख्येयः**–जिसके नाम और गुणोंकी संख्या न की जा सके, २४८ **अप्रमेयात्मा**–किसीसे भी मापे न जा सकनेवाले, २४९ **विशिष्टः**–सबसे उत्कृष्ट, २५० **शिष्टकृत्**–श्रेष्ठ बनानेवाले, २५१ **शुचिः**–परम शुद्ध, २५२ **सिद्धार्थः**–इच्छित अर्थको सर्वथा सिद्ध कर चुकनेवाले, २५३ **सिद्धसंकल्पः**–सत्यसंकल्पवाले, २५४ **सिद्धिदः**–कर्म करनेवालोंको उनके अधिकारके अनुसार फल देनेवाले, २५५ **सिद्धिसाधनः**–सिद्धिरूप क्रियाके साधक ॥ ४० ॥

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥ ४१ ॥

२५६ **वृषाही**–द्वादशाहादि यज्ञोंको अपनेमें स्थित रखनेवाले, २५७ **वृषभः**–भक्तोंके लिये इच्छित वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले, २५८ **विष्णुः**–शुद्ध सत्त्वमूर्ति, २५९ **वृषपर्वा**–परमधाममें आरूढ़ होनेकी इच्छावालोंके लिये धर्मरूप सीढ़ियोंवाले, २६० **वृषोदरः**–अपने उदरमें धर्मको धारण करनेवाले, २६१ **वर्धनः**–भक्तोंको बढ़ानेवाले, २६२ **वर्धमानः**–संसाररूपसे बढ़नेवाले, २६३ **विविक्तः**–संसारसे पृथक् रहनेवाले, २६४ **श्रुतिसागरः**–वेदरूप जलके समुद्र ॥

सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥ ४२ ॥

२६५ **सुभुजः**–जगत्‌की रक्षा करनेवाली अति सुन्दर भुजाओंवाले, २६६ **दुर्धरः**–ध्यानद्वारा कठिनतासे धारण किये जा सकनेवाले, २६७ **वाग्मी**–वेदमयी वाणीको उत्पन्न करनेवाले, २६८ **महेन्द्रः**–ईश्वरोंके भी ईश्वर, २६९ **वसुदः**–धन देनेवाले, २७० **वसुः**–धनरूप, २७१ **नैकरूपः**–अनेक रूपधारी, २७२ **बृहद्रूपः**–विश्वरूपधारी, २७३ **शिपिविष्टः**–सूर्यकिरणोंमें स्थित रहनेवाले, २७४ **प्रकाशनः**–सबको प्रकाशित करनेवाले ॥ ४२ ॥

ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥ ४३ ॥

२७५ **ओजस्तेजोद्युतिधरः**–प्राण और बल, शूरवीरता आदि गुण तथा ज्ञानकी दीप्तिको धारण करनेवाले, २७६ **प्रकाशात्मा**–प्रकाशरूप, २७७ **प्रतापनः**–सूर्य आदि अपनी विभूतियोंसे विश्वको तप्त करनेवाले, २७८ **ऋद्धः**–धर्म, ज्ञान और वैराग्यादिसे सम्पन्न, २७९ **स्पष्टाक्षरः**–ओंकाररूप स्पष्ट अक्षरवाले, २८० **मन्त्रः**–ऋक्, साम और यजुके मन्त्रस्वरूप २८१ **चन्द्रांशुः**–संसारतापसे संतप्तचित्त पुरुषोंको चन्द्रमाकी किरणोंके समान आह्लादित करनेवाले, २८२ **भास्करद्युतिः**–सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप ॥ ४३ ॥

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥ ४४ ॥

२८३ **अमृतांशूद्भवः**–समुद्रमन्थन करते समय चन्द्रमाको उत्पन्न करनेवाले, २८४ **भानुः**–भासनेवाले, २८५ **शशबिन्दुः**–खरगोशके समान चिह्नवाले चन्द्रस्वरूप, २८६ **सुरेश्वरः**–देवताओंके ईश्वर, २८७ **औषधम्**–संसाररोगको मिटानेके लिये औषधरूप, २८८ **जगतः सेतुः**–संसारसागरको पार करानेके लिये सेतुरूप, २८९ **सत्यधर्मपराक्रमः**–सत्यस्वरूप धर्म और पराक्रमवाले ॥ ४४ ॥

भूतभव्यभवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः ।
कामहा कामकृत् कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥ ४५ ॥

२९० **भूतभव्यभवन्नाथः**–भूत, भविष्य और वर्तमानके

स्वामी, २९१ पवनः-वायुरूप, २९२ पावनः-जगत्को पवित्र करनेवाले, २९३ अनलः-अग्निस्वरूप, २९४ कामहा-अपने भक्तजनोंके सकामभावको नष्ट करनेवाले, २९५ कामकृत्-भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, २९६ कान्तः-कमनीयरूप, २९७कामः-(क) ब्रह्मा, (अ) विष्णु (म) महादेव—इस प्रकार त्रिदेवरूप, २९८ कामप्रदः-भक्तोंको उनकी कामना की हुई वस्तुएँ प्रदान करनेवाले, २९९ प्रभुः-सर्वसामर्थ्यवान् ॥ ४५ ॥

युगादिकृद् युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्योऽव्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ॥ ४६ ॥

३०० युगादिकृत्-युगादिका आरम्भ करनेवाले, ३०१ युगावर्तः-चारों युगोंको चक्रके समान घुमानेवाले, ३०२ नैकमायः- अनेकों मायाओंको धारण करनेवाले, ३०३ महाशनः-कल्पके अन्तमें सबको ग्रसन करनेवाले, ३०४ अदृश्यः-समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके अविषय, ३०५ अव्यक्तरूपः-निराकार स्वरूपवाले, ३०६सहस्रजित्-युद्धमें हजारों देवशत्रुओंको जीतनेवाले, ३०७ अनन्तजित्-युद्ध और क्रीडा आदिमें सर्वत्र समस्त भूतोंको जीतनेवाले ॥ ४६ ॥

इष्टोऽविशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥ ४७ ॥

३०८ इष्टः-परमानन्दरूप होनेसे सर्वप्रिय, ३०९ अविशिष्टः-सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित, ३१० शिष्टेष्टः-शिष्ट पुरुषोंके इष्टदेव, ३११ शिखण्डी-मयूरपिच्छको अपना शिरोभूषण बना लेनेवाले, ३१२ नहुषः-भूतोंको मायासे बाँधनेवाले, ३१३ वृषः-कामनाओंको पूर्ण करनेवाले धर्म-स्वरूप, ३१४क्रोधहा-क्रोधका नाश करनेवाले, ३१५क्रोधकृत्कर्ता-क्रोध करनेवाले दैत्यादिके विनाशक, ३१६ विश्वबाहुः-सब ओर बाहुओंवाले, ३१७ महीधरः-पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ४७ ॥

अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपां निधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥ ४८ ॥

३१८ अच्युतः-छः भावविकारोंसे रहित, ३१९ प्रथितः-जगत्की उत्पत्ति आदि कर्मोंके कारण विख्यात, ३२० प्राणः-हिरण्यगर्भरूपसे प्रजाको जीवित रखनेवाले, ३२१ प्राणदः-सबका भरण-पोषण करनेवाले, ३२२ वासवानुजः-वामनावतारमें इन्द्रके अनुजरूपमें उत्पन्न होनेवाले, ३२३ अपां निधिः-जलको एकत्र रखनेवाले समुद्ररूप, ३२४ अधिष्ठानम्-उपादान कारणरूपसे सब भूतोंके आश्रय, ३२५ अप्रमत्तः-कभी प्रमाद न करनेवाले, ३२६ प्रतिष्ठितः-अपनी महिमामें स्थित ॥ ४८ ॥

स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरंदरः ॥ ४९ ॥

३२७स्कन्दः-स्वामिकार्तिकेयरूप, ३२८ स्कन्दधरः-धर्मपथको धारण करनेवाले, ३२९ धुर्यः-समस्त भूतोंके जन्मादिरूप धुरको धारण करनेवाले, ३३० वरदः-इच्छित वर देनेवाले, ३३१ वायुवाहनः-सारे वायुभेदोंको चलानेवाले, ३३२ वासुदेवः- सब भूतोंमें सर्वात्मारूपसे बसनेवाले, ३३३ बृहद्भानुः-महान् किरणोंसे युक्त एवं सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करनेवाले सूर्यरूप, ३३४ आदिदेवः-सबके आदि-कारण देव, ३३५ पुरंदरः-असुरोंके नगरोंका ध्वंस करनेवाले ॥ ४९ ॥

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥ ५० ॥

३३६ अशोकः-सब प्रकारके शोकसे रहित, ३३७ तारणः-संसारसागरसे तारनेवाले, ३३८ तारः-जन्म-जरा-मृत्युरूप भयसे तारनेवाले, ३३९ शूरः-पराक्रमी, ३४० शौरिः-शूरवीर श्रीवसुदेवजीके पुत्र, ३४१जनेश्वरः-समस्त जीवोंके स्वामी, ३४२ अनुकूलः-आत्मारूप होनेसे सबके अनुकूल, ३४३ शतावर्तः-धर्मरक्षाके लिये सैकड़ों अवतार लेनेवाले, ३४४ पद्मी-अपने हाथमें कमल धारण करनेवाले, ३४५ पद्मनिभेक्षणः-कमलके समान कोमल दृष्टिवाले ॥ ५० ॥

पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
महर्द्धिर्ऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥ ५१ ॥

३४६पद्मनाभः-हृदय-कमलके मध्य निवास करनेवाले, ३४७ अरविन्दाक्षः-कमलके समान आँखोंवाले, ३४८ पद्मगर्भः-हृदयकमलमें ध्यान करनेयोग्य, ३४९ शरीरभृत्-अन्नरूपसे सबके शरीरोंका भरण करनेवाले, ३५० महर्द्धिः-महान् विभूतिवाले, ३५१ ऋद्धः-सबमें बढ़े-चढ़े, ३५२ वृद्धात्मा-पुरातन स्वरूप, ३५३ महाक्षः-विशाल नेत्रोंवाले, ३५४ गरुडध्वजः- गरुडके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले ॥ ५१ ॥

अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान् समितिञ्जयः ॥ ५२ ॥

३५५ अतुलः-तुलनारहित, ३५६ शरभः-शरीरोंको प्रत्यगात्मरूपसे प्रकाशित करनेवाले, ३५७ भीमः-जिससे पापियोंको भय हो ऐसे भयानक, ३५८ समयज्ञः-सम-भावरूप यज्ञसे सम्पन्न, ३५९ हविर्हरिः-यज्ञोंमें हविर्भागको और अपना स्मरण करनेवालोंके पापोंको हरण करनेवाले, ३६० सर्वलक्षणलक्षण्यः-समस्त लक्षणोंसे लक्षित होनेवाले, ३६१ लक्ष्मीवान्-अपने वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजीको सदा बसानेवाले, ३६२ समितिञ्जयः-संग्रामविजयी ॥ ५२ ॥

विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥ ५३ ॥

३६३ **विक्षरः**—नाशरहित, ३६४ **रोहितः**—मत्स्यविशेषका स्वरूप धारण करके अवतार लेनेवाले, ३६५ **मार्गः**—परमानन्दप्राप्तिके साधन-स्वरूप, ३६६ **हेतुः**—संसारके निमित्त और उपादान कारण, ३६७ **दामोदरः**—यशोदाजीद्वारा रस्सीसे बँधे हुए उदरवाले, ३६८ **सहः**—भक्तजनोंके अपराधोंको सहन करनेवाले, ३६९ **महीधरः**—पृथ्वीको धारण करनेवाले, ३७० **महाभागः**—महान् भाग्यशाली, ३७१ **वेगवान्**—तीव्रगतिवाले ३७२ **अमिताशनः**—प्रलयकालमें सारे विश्वको भक्षण करनेवाले ॥ ५३ ॥

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥ ५४ ॥

३७३ **उद्भवः**—जगत्‌की उत्पत्तिके उपादानकारण, ३७४ **क्षोभणः**—जगत्‌की उत्पत्तिके समय प्रकृति और पुरुषमें प्रविष्ट होकर उन्हें क्षुब्ध करनेवाले, ३७५ **देवः**—प्रकाशस्वरूप, ३७६ **श्रीगर्भः**—सम्पूर्ण ऐश्वर्यको अपने उदरमें रखनेवाले, ३७७ **परमेश्वरः**—सर्वश्रेष्ठ शासन करनेवाले, ३७८ **करणम्**—संसारकी उत्पत्तिके सबसे बड़े साधन, ३७९ **कारणम्**—जगत्‌के उपादान और निमित्तकारण, ३८० **कर्ता**—सबके रचयिता, ३८१ **विकर्ता**—विचित्र भुवनोंकी रचना करनेवाले, ३८२ **गहनः**—अपने विलक्षण स्वरूप, सामर्थ्य और लीलादिके कारण पहचाने न जा सकनेवाले, ३८३ **गुहः**—मायासे अपने स्वरूपको ढक लेनेवाले ॥ ५४ ॥

व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः।
परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ॥ ५५ ॥

३८४ **व्यवसायः**—ज्ञानस्वरूप, ३८५ **व्यवस्थानः**—लोकपालादिकोंको, समस्त जीवोंको, चारों वर्णाश्रमोंको एवं उनके धर्मोंको व्यवस्थापूर्वक रचनेवाले, ३८६ **संस्थानः**—प्रलयके सम्यक् स्थान, ३८७ **स्थानदः**—ध्रुवादि भक्तोंको स्थान देनेवाले, ३८८ **ध्रुवः**—अचल स्वरूप, ३८९ **परर्द्धिः**—श्रेष्ठ विभूतिवाले, ३९० **परमस्पष्टः**—ज्ञानस्वरूप होनेसे परम स्पष्टरूप, ३९१ **तुष्टः**—एकमात्र परमानन्दस्वरूप, ३९२ **पुष्टः**—एकमात्र सर्वत्र परिपूर्ण, ३९३ **शुभेक्षणः**—दर्शनमात्रसे कल्याण करनेवाले ॥ ५५ ॥

रामो विरामो विरजो मार्गो नेयो नयोऽनयः।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः ॥ ५६ ॥

३९४ **रामः**—योगीजनोंके रमण करनेके लिये नित्यानन्दस्वरूप, ३९५ **विरामः**—प्रलयके समय प्राणियोंको अपनेमें विराम देनेवाले, ३९६ **विरजः**—रजोगुण तथा तमोगुणसे सर्वथा शून्य, ३९७ **मार्गः**—मुमुक्षुजनोंके अमर होनेके साधनस्वरूप, ३९८ **नेयः**—उत्तम ज्ञानसे ग्रहण करनेयोग्य, ३९९ **नयः**—सबको नियममें रखनेवाले, ४०० **अनयः**—स्वतन्त्र, ४०१ **वीरः**—पराक्रमशाली, ४०२ **शक्तिमतां श्रेष्ठः**—शक्तिमानोंमें भी अतिशय शक्तिमान्, ४०३ **धर्मः**—धर्मस्वरूप, ४०४ **धर्मविदुत्तमः**—समस्त धर्मवेत्ताओंमें उत्तम ॥ ५६ ॥

वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ॥ ५७ ॥

४०५ **वैकुण्ठः**—परमधामस्वरूप, ४०६ **पुरुषः**—विश्वरूप शरीरमें शयन करनेवाले, ४०७ **प्राणः**—प्राणवायुरूपसे चेष्टा करनेवाले, ४०८ **प्राणदः**—सर्गके आदिमें प्राण प्रदान करनेवाले, ४०९ **प्रणवः**—ओंकारस्वरूप, ४१० **पृथुः**—विराट्‌रूपसे विस्तृत होनेवाले, ४११ **हिरण्यगर्भः**—ब्रह्मारूपसे प्रकट होनेवाले, ४१२ **शत्रुघ्नः**—देवताओंके शत्रुओंको मारनेवाले, ४१३ **व्याप्तः**—कारणरूपसे सब कार्योंमें व्याप्त, ४१४ **वायुः**—पवनरूप, ४१५ **अधोक्षजः**—अपने स्वरूपसे क्षीण न होनेवाले ॥ ५७ ॥

ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ॥ ५८ ॥

४१६ **ऋतुः**—ऋतुस्वरूप, ४१७ **सुदर्शनः**—भक्तोंको सुगमतासे ही दर्शन दे देनेवाले, ४१८ **कालः**—सबकी गणना करनेवाले, ४१९ **परमेष्ठी**—अपनी प्रकृष्ट महिमामें स्थित रहनेके स्वभाववाले, ४२० **परिग्रहः**—शरणार्थियोंके द्वारा सब ओरसे ग्रहण किये जानेवाले, ४२१ **उग्रः**—सूर्यादिके भी भयके कारण, ४२२ **संवत्सरः**—सम्पूर्ण भूतोंके वासस्थान, ४२३ **दक्षः**—सब कार्योंको बड़ी कुशलतासे करनेवाले, ४२४ **विश्रामः**—विश्रामकी इच्छावाले मुमुक्षुओंको मोक्ष देनेवाले, ४२५ **विश्वदक्षिणः**—बलिके यज्ञमें समस्त विश्वको दक्षिणारूपमें प्राप्त करनेवाले ॥ ५८ ॥

विस्तारः स्थावरस्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम्।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥ ५९ ॥

४२६ **विस्तारः**—समस्त लोकोंके विस्तारके स्थान, ४२७ **स्थावरस्थाणुः**—स्वयं स्थितिशील रहकर पृथ्वी आदि, स्थितिशील पदार्थोंको अपनेमें स्थित रखनेवाले, ४२८ **प्रमाणम्**—ज्ञानस्वरूप होनेके कारण स्वयं प्रमाणरूप, ४२९ **बीजमव्ययम्**—संसारके अविनाशी कारण, ४३० **अर्थः**—सुखस्वरूप होनेके कारण सबके द्वारा प्रार्थनीय, ४३१ **अनर्थः**—पूर्णकाम होनेके कारण प्रयोजनरहित, ४३२ **महाकोशः**—बड़े खजानेवाले, ४३३ **महाभोगः**—यथार्थ सुखरूप महान् भोगवाले, ४३४ **महाधनः**—अतिशय यथार्थ धनस्वरूप ॥ ५९ ॥

अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः ॥ ६० ॥

४३५ **अनिर्विण्णः**—उकताहटरूप विकारसे रहित, ४३६ **स्थविष्ठः**—विराट्‌रूपसे स्थित, ४३७ **अभूः**—अजन्मा, ४३८ **धर्मयूपः**—धर्मके स्तम्भरूप, ४३९ **महामखः**—महान्

यज्ञस्वरूप, ४४० **नक्षत्रनेमिः**–समस्त नक्षत्रोंके केन्द्रस्वरूप, ४४१ **नक्षत्री**–चन्द्ररूप, ४४२ **क्षमः**–समस्त कार्योंमें समर्थ, ४४३ **क्षामः**–समस्त जगत्के निवासस्थान, ४४४ **समीहनः**–सृष्टि आदिके लिये भलीभाँति चेष्टा करनेवाले ॥ ६० ॥

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥ ६१ ॥

४४५ **यज्ञः**–भगवान् विष्णु, ४४६ **इज्यः**–पूजनीय, ४४७ **महेज्यः**–सबसे अधिक उपासनीय, ४४८ **क्रतुः**–स्तम्भयुक्त यज्ञस्वरूप, ४४९ **सत्रम्**–सत्पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले, ४५० **सतां गतिः**–सत्पुरुषोंकी परम गति, ४५१ **सर्वदर्शी**–समस्त प्राणियोंको और उनके कार्योंको देखनेवाले, ४५२ **विमुक्तात्मा**–सांसारिक बन्धनसे नित्यमुक्त आत्मस्वरूप, ४५३ **सर्वज्ञः**–सबको जाननेवाले, ४५४ **ज्ञानमुत्तमम्**–सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप ॥ ६१ ॥

सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत्।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥ ६२ ॥

४५५ **सुव्रतः**–प्रणतपालनादि श्रेष्ठ व्रतोंवाले, ४५६ **सुमुखः**–सुन्दर और प्रसन्न मुखवाले, ४५७ **सूक्ष्मः**–अणुसे भी अणु, ४५८ **सुघोषः**–सुन्दर और गम्भीर वाणी बोलनेवाले, ४५९ **सुखदः**–अपने भक्तोंको सब प्रकारसे सुख देनेवाले, ४६० **सुहृत्**–प्राणिमात्रपर अहैतुकी दया करनेवाले परम मित्र, ४६१ **मनोहरः**–अपने रूप-लावण्य और मधुर भाषणादिसे सबके मनको हरनेवाले, ४६२ **जितक्रोधः**–क्रोधपर विजय करनेवाले अर्थात् अपने साथ अत्यन्त अनुचित व्यवहार करनेवालेपर भी क्रोध न करनेवाले, ४६३ **वीरबाहुः**–अत्यन्त पराक्रमशील भुजाओंसे युक्त, ४६४ **विदारणः**–अधर्मियोंको नष्ट करनेवाले ॥ ६२ ॥

स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत्।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥ ६३ ॥

४६५ **स्वापनः**–प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको अज्ञाननिद्रामें शयन करानेवाले, ४६६ **स्ववशः**–स्वतन्त्र, ४६७ **व्यापी**–आकाशकी भाँति सर्वव्यापी, ४६८ **नैकात्मा**–प्रत्येक युगमें लोकोद्धारके लिये अनेक रूप धारण करनेवाले, ४६९ **नैककर्मकृत्**–जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंमें मनोहर लीलारूप अनेक कर्म करनेवाले, ४७० **वत्सरः**–सबके निवास-स्थान, ४७१ **वत्सलः**–भक्तोंके परम स्नेही, ४७२ **वत्सी**–वृन्दावनमें बछड़ोंका पालन करनेवाले, ४७३ **रत्नगर्भः**–रत्नोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाले समुद्ररूप, ४७४ **धनेश्वरः**–सब प्रकारके धनोंके स्वामी ॥ ६३ ॥

धर्मगुब् धर्मकृद् धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम्।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥ ६४ ॥

४७५ **धर्मगुप्**–धर्मकी रक्षा करनेवाले, ४७६ **धर्मकृत्**–धर्मकी स्थापना करनेके लिये स्वयं धर्मका आचरण करनेवाले, ४७७ **धर्मी**–सम्पूर्ण धर्मोंके आधार, ४७८ **सत्**–सत्यस्वरूप, ४७९ **असत्**–स्थूल जगत्स्वरूप, ४८० **क्षरम्**–सर्वभूतमय, ४८१ **अक्षरम्**–अविनाशी, ४८२ **अविज्ञाता**–क्षेत्रज्ञ जीवात्माको विज्ञाता कहते हैं, उनसे विलक्षण भगवान् विष्णु, ४८३ **सहस्रांशुः**–हजारों किरणोंवाले सूर्यस्वरूप, ४८४ **विधाता**–सबको अच्छी प्रकार धारण करनेवाले, ४८५ **कृतलक्षणः**–श्रीवत्स आदि चिह्नोंको धारण करनेवाले ॥ ६४ ॥

गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥ ६५ ॥

४८६ **गभस्तिनेमिः**–किरणोंके बीचमें सूर्यरूपसे स्थित, ४८७ **सत्त्वस्थः**–अन्तर्यामीरूपसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित रहनेवाले, ४८८ **सिंहः**–भक्त प्रह्लादके लिये नृसिंहरूप धारण करनेवाले, ४८९ **भूतमहेश्वरः**–सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर, ४९० **आदिदेवः**–सबके आदि कारण और दिव्यस्वरूप, ४९१ **महादेवः**–ज्ञानयोग और ऐश्वर्य आदि महिमाओंसे युक्त, ४९२ **देवेशः**–समस्त देवोंके स्वामी, ४९३ **देवभृद्गुरुः**–देवोंका विशेषरूपसे भरण-पोषण करनेवाले उनके परम गुरु ॥ ६५ ॥

उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः।
शरीरभूतभृद् भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ॥ ६६ ॥

४९४ **उत्तरः**–संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाले और सर्वश्रेष्ठ, ४९५ **गोपतिः**–गोपालरूपसे गायोंकी रक्षा करनेवाले, ४९६ **गोप्ता**–समस्त प्राणियोंका पालन और रक्षा करनेवाले, ४९७ **ज्ञानगम्यः**–ज्ञानके द्वारा जाननेमें आनेवाले, ४९८ **पुरातनः**–सदा एकरस रहनेवाले, सबके आदि पुराणपुरुष, ४९९ **शरीरभूतभृत्**–शरीरके उत्पादक पञ्चभूतोंका प्राणरूपसे पालन करनेवाले, ५०० **भोक्ता**–निरतिशय आनन्दपुञ्जको भोगनेवाले, ५०१ **कपीन्द्रः**–बंदरोंके स्वामी श्रीराम, ५०२ **भूरिदक्षिणः**–श्रीरामादि अवतारोंमें यज्ञ करते समय बहुत-सी दक्षिणा प्रदान करनेवाले ॥ ६६ ॥

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित् पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥ ६७ ॥

५०३ **सोमपः**–यज्ञोंमें देवरूपसे और यजमानरूपसे सोमरसका पान करनेवाले, ५०४ **अमृतपः**–समुद्रमन्थनसे निकाला हुआ अमृत देवोंको पिलाकर स्वयं पीनेवाले, ५०५ **सोमः**–ओषधियोंका पोषण करनेवाले चन्द्रमारूप,

५०६ **पुरुजित्**–बहुतोंको विजय लाभ करनेवाले, ५०७ **पुरुसत्तमः**–विश्वरूप और अत्यन्त श्रेष्ठ, ५०८ **विनयः**–दुष्टोंको दण्ड देनेवाले, ५०९ **जयः**–सबपर विजय प्राप्त करनेवाले, ५१० **सत्य संधः**–सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले, ५११ **दाशार्हः**–दाशार्हकुलमें प्रकट होनेवाले, ५१२ **सात्वतां पतिः**–यादवोंके और अपने भक्तोंके स्वामी ॥ ६७ ॥

जीवो विनयितासाक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः ।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ॥ ६८ ॥

५१३ **जीवः**–क्षेत्रज्ञरूपसे प्राणोंको धारण करनेवाले, ५१४ **विनयितासाक्षी**–अपने शरणापन्न भक्तोंके विनय-भावको तत्काल प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले, ५१५ **मुकुन्दः**–मुक्तिदाता, ५१६ **अमितविक्रमः**–वामनावतारमें पृथ्वी नापते समय अत्यन्त विस्तृत पैर रखनेवाले, ५१७ **अम्भोनिधिः**–जलके निधान समुद्रस्वरूप, ५१८ **अनन्तात्मा**–अनन्तमूर्ति, ५१९ **महोदधिशयः**–प्रलयकालके महान् समुद्रमें शयन करनेवाले, ५२० **अन्तकः**–प्राणियोंका संहार करनेवाले मृत्युस्वरूप ॥ ६८ ॥

अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः ।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥ ६९ ॥

५२१ **अजः**–अकार भगवान् विष्णुका वाचक है, उससे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मास्वरूप, ५२२ **महार्हः**–पूजनीय, ५२३ **स्वाभाव्यः**–नित्य सिद्ध होनेके कारण स्वभावसे ही उत्पन्न न होनेवाले, ५२४ **जितामित्रः**–रावण-शिशुपालादि शत्रुओंको जीतनेवाले, ५२५ **प्रमोदनः**–स्मरणमात्रसे नित्य प्रमुदित करनेवाले, ५२६ **आनन्दः**–आनन्दस्वरूप, ५२७ **नन्दनः**–सबको प्रसन्न करनेवाले, ५२८ **नन्दः**–सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे सम्पन्न, ५२९ **सत्यधर्मा**–धर्मज्ञानादि सब गुणोंसे युक्त, ५३० **त्रिविक्रमः**–तीन डगमें तीनों लोकोंको नापनेवाले ॥ ६९ ॥

महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः ।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ॥ ७० ॥

५३१ **महर्षिः कपिलाचार्यः**–सांख्यशास्त्रके प्रणेता भगवान् कपिलाचार्य, ५३२ **कृतज्ञः**–अपने भक्तोंकी सेवाको बहुत मानकर अपनेको उनका ऋणी समझनेवाले, ५३३ **मेदिनीपतिः**–पृथ्वीके स्वामी, ५३४ **त्रिपदः**–त्रिलोकीरूप तीन पैरोंवाले विश्वरूप, ५३५ **त्रिदशाध्यक्षः**–देवताओंके स्वामी, ५३६ **महाशृङ्गः**–मत्स्यावतारमें महान् सींग धारण करनेवाले, ५३७ **कृतान्तकृत्**–स्मरण करनेवालोंके समस्त कर्मोंका अन्त करनेवाले ॥ ७० ॥

महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥ ७१ ॥

५३८ **महावराहः**–हिरण्याक्षका वध करनेके लिये महावराहरूप धारण करनेवाले, ५३९ **गोविन्दः**–नष्ट हुई पृथ्वीको पुनः प्राप्त कर लेनेवाले, ५४० **सुषेणः**–पार्षदोंके समुदायरूप सुन्दर सेनासे सुसज्जित, ५४१ **कनकाङ्गदी**–सुवर्णका बाजूबंद धारण करनेवाले, ५४२ **गुह्यः**–हृदयाकाशमें छिपे रहनेवाले, ५४३ **गभीरः**–अतिशय गम्भीर स्वभाववाले, ५४४ **गहनः**–जिनके स्वरूपमें प्रविष्ट होना अत्यन्त कठिन हो—ऐसे, ५४५ **गुप्तः**–वाणी और मनसे जाननेमें न आनेवाले, ५४६ **चक्रगदाधरः**–भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये चक्र और गदा आदि दिव्य आयुधोंको धारण करनेवाले ॥ ७१ ॥

वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णो दृढः सङ्कर्षणोऽच्युतः ।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥ ७२ ॥

५४७ **वेधाः**–सब कुछ विधान करनेवाले, ५४८ **स्वाङ्गः**–कार्य करनेमें स्वयं ही सहकारी, ५४९ **अजितः**–किसीके द्वारा न जीते जानेवाले, ५५० **कृष्णः**–श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, ५५१ **दृढः**–अपने स्वरूप और सामर्थ्यसे कभी भी च्युत न होनेवाले, ५५२ **सङ्कर्षणोऽच्युतः**–प्रलयकालमें एक साथ सबका संहार करनेवाले और जिनका कभी किसी भी कारणसे पतन न हो सके—ऐसे अविनाशी, ५५३ **वरुणः**–जलके स्वामी वरुणदेवता, ५५४ **वारुणः**–वरुणके पुत्र वशिष्ठस्वरूप, ५५५ **वृक्षः**–अश्वत्थवृक्षरूप, ५५६ **पुष्कराक्षः**–कमलके समान नेत्रवाले ५५७ **महामनाः**–संकल्पमात्रसे उत्पत्ति, पालन और संहार आदि समस्त लीला करनेकी शक्तिवाले ॥ ७२ ॥

भगवान् भगहानन्दी वनमाली हलायुधः ।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥ ७३ ॥

५५८ **भगवान्**–उत्पत्ति और प्रलय, आना और जाना तथा विद्या और अविद्याको जाननेवाले, एवं सर्वैश्वर्यादि छहों भगोंसे युक्त, ५५९ **भगहा**–अपने भक्तोंका प्रेम बढ़ानेके लिये उनके ऐश्वर्यका हरण करनेवाले, ५६० **आनन्दी**–परम सुखस्वरूप, ५६१ **वनमाली**–वैजयन्ती वनमाला धारण करनेवाले, ५६२ **हलायुधः**–हलरूप शस्त्रको धारण करनेवाले बलभद्रस्वरूप, ५६३ **आदित्यः**–अदितिपुत्र वामन भगवान्, ५६४ **ज्योतिरादित्यः**–सूर्यमण्डलमें विराजमान ज्योतिःस्वरूप, ५६५ **सहिष्णुः**–समस्त द्वन्द्वोंको सहन करनेमें समर्थ, ५६६ **गतिसत्तमः**–सर्वश्रेष्ठ गतिस्वरूप ॥ ७३ ॥

सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः ।
दिविस्पृक् सर्वदृग् व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥ ७४ ॥

५६७ **सुधन्वा**–अतिशय सुन्दर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले, ५६८ **खण्डपरशुः**–शत्रुओंका खण्डन करनेवाले फरसेको धारण करनेवाले परशुरामस्वरूप, ५६९ **दारुणः**–सन्मार्गविरोधियोंके लिये महान् भयंकर, ५७० **द्रविणप्रदः**–अर्थार्थी भक्तोंको धन-सम्पत्ति प्रदान करनेवाले, ५७१

दिविस्पृक्–स्वर्गलोकतक व्याप्त, ५७२ **सर्वदृग्व्यासः**–सबके द्रष्टा एवं वेदका विभाग करनेवाले श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससरूप, ५७३ **वाचस्पतिरयोनिजः**–विद्याके स्वामी तथा बिना योनिके स्वयं ही प्रकट होनेवाले ॥ ७४ ॥

त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक्।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिः परायणम्॥७५॥

५७४ **त्रिसामा**–देवव्रत आदि तीन साम श्रुतियोंद्वारा जिनकी स्तुति की जाती है—ऐसे परमेश्वर, ५७५ **सामगः**–सामवेदका गान करनेवाले, ५७६ **साम**–सामवेदस्वरूप, ५७७ **निर्वाणम्**–परमशान्तिके निधान परमानन्दस्वरूप, ५७८ **भेषजम्**–संसार-रोगकी ओषधि, ५७९ **भिषक्**–संसाररोगका नाश करनेके लिये गीतारूप उपदेशामृतका पान करानेवाले परमवैद्य, ५८० **संन्यासकृत्**–मोक्षके लिये संन्यासाश्रम और संन्यासयोगका निर्माण करनेवाले, ५८१ **शमः**–उपशमताका उपदेश देनेवाले, ५८२ **शान्तः**–परमशान्तस्वरूप ५८३ **निष्ठा**–सबकी स्थितिके आधार अधिष्ठानस्वरूप, ५८४ **शान्तिः**–परम शान्तिस्वरूप, ५८५ **परायणम्**–मुमुक्षु पुरुषोंके परम प्राप्य-स्थान ॥ ७५ ॥

शुभाङ्गः शान्तिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥ ७६ ॥

५८६ **शुभाङ्गः**–अति मनोहर परम सुन्दर अङ्गोंवाले, ५८७ **शान्तिदः**–परम शान्ति देनेवाले, ५८८ **स्रष्टा**–सर्गके आदिमें सबकी रचना करनेवाले, ५८९ **कुमुदः**–पृथ्वीपर प्रसन्नतापूर्वक लीला करनेवाले, ५९० **कुवलेशयः**–जलमें शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले, ५९१ **गोहितः**–गोपालरूपसे गायोंका और अवतार धारण करके भार उतारकर पृथ्वीका हित करनेवाले, ५९२ **गोपतिः**–पृथ्वीके और गायोंके स्वामी, ५९३ **गोप्ता**–अवतार धारण करके सबके सम्मुख प्रकट होते समय अपनी मायासे अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले,५९४ **वृषभाक्षः**–समस्त कामनाओंकी वर्षा करनेवाली कृपादृष्टिसे युक्त, ५९५ **वृषप्रियः**–धर्मसे प्यार करनेवाले ॥ ७६ ॥

अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ॥ ७७ ॥

५९६ **अनिवर्ती**–रणभूमिमें और धर्मपालनमें पीछे न हटनेवाले, ५९७ **निवृत्तात्मा**–स्वभावसे ही विषय-वासनारहित नित्य शुद्ध मनवाले, ५९८ **संक्षेप्ता**–विस्तृत जगत्‌को संहारकालमें संक्षिप्त यानी सूक्ष्म करनेवाले, ५९९ **क्षेमकृत्**–शरणागतकी रक्षा करनेवाले, ६०० **शिवः**–स्मरणमात्रसे पवित्र करनेवाले कल्याणस्वरूप, ६०१ **श्रीवत्सवक्षाः**–श्रीवत्स नामक चिह्नको वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले, ६०२ **श्रीवासः**–श्रीलक्ष्मीजीके वासस्थान, ६०३ **श्रीपतिः**–परमशक्तिरूपा श्रीलक्ष्मीजीके स्वामी, ६०४ **श्रीमतां वरः**–सब प्रकारकी सम्पत्ति और ऐश्वर्यसे युक्त ब्रह्मादि समस्त लोकपालोंसे श्रेष्ठ ॥ ७७ ॥

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः ॥ ७८ ॥

६०५ **श्रीदः**–भक्तोंको श्री प्रदान करनेवाले, ६०६ **श्रीशः**–लक्ष्मीके नाथ, ६०७ **श्रीनिवासः**–श्रीलक्ष्मीजीके अन्तःकरणमें नित्य निवास करनेवाले, ६०८ **श्रीनिधिः**–समस्त श्रियोंके आधार, ६०९ **श्रीविभावनः**–सब मनुष्योंके लिये उनके कर्मानुसार नाना प्रकारके ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, ६१० **श्रीधरः**–जगज्जननी श्रीको वक्षःस्थलमें धारण करनेवाले, ६११ **श्रीकरः**–स्मरण, स्तवन और अर्चन आदि करनेवाले, भक्तोंके लिये श्रीका विस्तार करनेवाले, ६१२ **श्रेयः**–कल्याणस्वरूप, ६१३ **श्रीमान्**–सब प्रकारकी श्रियोंसे युक्त, ६१४ **लोकत्रयाश्रयः**–तीनों लोकोंके आधार ॥ ७८ ॥

स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः।
विजितात्माविधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः ॥७९॥

६१५ **स्वक्षः**–मनोहर कृपाकटाक्षसे युक्त परम सुन्दर आँखोंवाले, ६१६ **स्वङ्गः**–अतिशय कोमल परम सुन्दर मनोहर अङ्गोंवाले, ६१७ **शतानन्दः**–लीलाभेदसे सैकड़ों विभागोंमें विभक्त आनन्दस्वरूप, ६१८ **नन्दिः**–परमानन्दस्वरूप, ६१९ **ज्योतिर्गणेश्वरः**–नक्षत्रसमुदायोंके ईश्वर, ६२० **विजितात्मा**–जिते हुए मनवाले,६२१ **अविधेयात्मा**–जिनके असली स्वरूपका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सके–ऐसे अनिर्वचनीयस्वरूप, ६२२ **सत्कीर्तिः**–सच्ची कीर्तिवाले, ६२३ **छिन्नसंशयः**–सब प्रकारके संशयोंसे रहित ॥ ७९ ॥

उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतस्थिरः।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ॥ ८० ॥

६२४ **उदीर्णः**–सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ, ६२५ **सर्वतश्चक्षुः**–समस्त वस्तुओंको सब दिशाओंमें सदा-सर्वदा देखनेकी शक्तिवाले, ६२६ **अनीशः**–जिनका दूसरा कोई शासक न हो–ऐसे स्वतन्त्र, ६२७ **शाश्वतस्थिरः**–सदा एकरस स्थिर रहनेवाले, निर्विकार, ६२८ **भूशयः**–लंकागमनके लिये मार्गकी याचना करते समय समुद्रतटकी भूमिपर शयन करनेवाले, ६२९ **भूषणः**–स्वेच्छासे नाना अवतार लेकर अपने चरण-चिह्नोंसे भूमिकी शोभा बढ़ानेवाले, ६३० **भूतिः**–समस्त विभूतियोंके आधारस्वरूप, ६३१ **विशोकः**–सब प्रकारसे शोकरहित, ६३२ **शोकनाशनः**–स्मृतिमात्रसे भक्तोंके शोकका समूल नाश करनेवाले ॥ ८० ॥

अर्चिष्मानर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः ॥ ८१ ॥

६३३ **अर्चिष्मान्**–चन्द्र-सूर्य आदि समस्त ज्योतियोंको

देदीप्यमान करनेवाली अतिशय प्रकाशमय अनन्त किरणोंसे युक्त, ६३४ **अर्चितः**–ब्रह्मादि समस्त लोकोंसे पूजे जानेवाले, ६३५ **कुम्भः**–घटकी भाँति सबके निवासस्थान, ६३६ **विशुद्धात्मा**–परम शुद्ध निर्मल आत्मस्वरूप, ६३७ **विशोधनः**–स्मरणमात्रसे समस्त पापोंका नाश करके भक्तोंके अन्तःकरणको परम शुद्ध कर देनेवाले, ६३८ **अनिरुद्धः**–जिनको कोई बाँधकर नहीं रख सके—ऐसे चतुर्व्यूहमें अनिरुद्धस्वरूप, ६३९ **अप्रतिरथः**–प्रतिपक्षसे रहित, ६४० **प्रद्युम्नः**–परमश्रेष्ठ अपार धनसे युक्त चतुर्व्यूहमें प्रद्युम्नस्वरूप, ६४१ **अमितविक्रमः**–अपार पराक्रमी ॥ ८१ ॥

कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः॥ ८२ ॥

६४२ **कालनेमिनिहा**–कालनेमि नामक असुरको मारनेवाले, ६४३ **वीरः**–परम शूरवीर, ६४४ **शौरिः**–शूरकुलमें उत्पन्न होनेवाले श्रीकृष्णस्वरूप, ६४५ **शूरजनेश्वरः**–अतिशय शूरवीरताके कारण इन्द्रादि शूरवीरोंके भी इष्ट, ६४६ **त्रिलोकात्मा**–अन्तर्यामीरूपसे तीनों लोकोंके आत्मा, ६४७ **त्रिलोकेशः**–तीनों लोकोंके स्वामी, ६४८ **केशवः**–ब्रह्मा, विष्णु और शिव-स्वरूप, ६४९ **केशिहा**–केशी नामके असुरको मारनेवाले, ६५० **हरिः**–स्मरणमात्रसे समस्त पापोंका हरण करनेवाले ॥ ८२ ॥

कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनंजयः ॥ ८३ ॥

६५१ **कामदेवः**–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा अभिलषित समस्त कामनाओंके अधिष्ठाता परमदेव, ६५२ **कामपालः**–सकामी भक्तोंकी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले, ६५३ **कामी**–अपने प्रियतमोंको चाहनेवाले, ६५४ **कान्तः**–परम मनोहर स्वरूप, ६५५ **कृतागमः**–समस्त वेद और शास्त्रोंको रचनेवाले, ६५६ **अनिर्देश्यवपुः**–जिनके दिव्य स्वरूपका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सके—ऐसे अनिर्वचनीय शरीरवाले, ६५७ **विष्णुः**–शेषशायी भगवान् विष्णु, ६५८ **वीरः**–बिना ही पैरोंके गमन करनेकी दिव्य शक्तिसे युक्त, ६५९ **अनन्तः**–जिनके स्वरूप, शक्ति, ऐश्वर्य, सामर्थ्य और गुणोंका कोई भी पार नहीं पा सकता—ऐसे अविनाशी गुण, प्रभाव और शक्तियोंसे युक्त, ६६० **धनञ्जयः**–अर्जुनरूपसे दिग्विजयके समय बहुत-सा धन जीतकर लानेवाले ॥ ८३ ॥

ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।
ब्रह्मविद् ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥ ८४ ॥

६६१ **ब्रह्मण्यः**–तप, वेद, ब्राह्मण और ज्ञानकी रक्षा करनेवाले, ६६२ **ब्रह्मकृत्**–पूर्वोक्त तप आदिकी रचना करनेवाले, ६६३ **ब्रह्मा**–ब्रह्मारूपसे जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, ६६४ **ब्रह्म**–सच्चिदानन्दस्वरूप, ६६५ **ब्रह्मविवर्धनः**–पूर्वोक्त ब्रह्मशब्दवाची तप आदिकी वृद्धि करनेवाले, ६६६ **ब्रह्मवित्**–वेद और वेदार्थको पूर्णतया जाननेवाले, ६६७ **ब्राह्मणः**–समस्त वस्तुओंको ब्रह्मरूपसे देखनेवाले, ६६८ **ब्रह्मी**–ब्रह्मशब्दवाची तपादि समस्त पदार्थोंके अधिष्ठान, ६६९ **ब्रह्मज्ञः**–अपने आत्मस्वरूप ब्रह्मशब्दवाची वेदको पूर्णतया यथार्थ जाननेवाले, ६७० **ब्राह्मणप्रियः**–ब्राह्मणोंको अतिशय प्रिय माननेवाले ॥ ८४ ॥

महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरगः ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ॥ ८५ ॥

६७१ **महाक्रमः**–बड़े वेगसे चलनेवाले, ६७२ **महाकर्मा**–भिन्न-भिन्न अवतारोंमें नाना प्रकारके महान् कर्म करनेवाले, ६७३ **महातेजाः**–जिसके तेजसे समस्त सूर्य आदि तेजस्वी देदीप्यमान होते हैं—ऐसे महान् तेजस्वी, ६७४ **महोरगः**–बड़े भारी सर्प यानी वासुकिस्वरूप, ६७५ **महाक्रतुः**–महान् यज्ञस्वरूप, ६७६ **महायज्वा**–लोकसंग्रहके लिये बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, ६७७ **महायज्ञः**–जपयज्ञ आदि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप समस्त यज्ञ जिनकी विभूतियाँ हैं—ऐसे महान् यज्ञस्वरूप, ६७८ **महाहविः**–ब्रह्मरूप अग्निमें हवन किये जाने योग्य प्रपञ्चरूप हवि जिनका स्वरूप है—ऐसे महान् हविःस्वरूप ॥ ८५ ॥

स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥ ८६ ॥

६७९ **स्तव्यः**–सबके द्वारा स्तुति किये जाने योग्य, ६८० **स्तवप्रियः**–स्तुतिसे प्रसन्न होनेवाले, ६८१ **स्तोत्रम्**–जिनके द्वारा भगवान्‌के गुण-प्रभावका कीर्तन किया जाता है, वह स्तोत्र, ६८२ **स्तुतिः**–स्तवनक्रियास्वरूप, ६८३ **स्तोता**–स्तुति करनेवाले, ६८४ **रणप्रियः**–युद्धमें प्रेम करनेवाले, ६८५ **पूर्णः**–समस्त ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य और गुणोंसे परिपूर्ण, ६८६ **पूरयिता**–अपने भक्तोंको सब प्रकारसे परिपूर्ण करनेवाले, ६८७ **पुण्यः**–स्मरणमात्रसे पापोंका नाश करनेवाले पुण्यस्वरूप, ६८८ **पुण्यकीर्तिः**–परमपावन कीर्तिवाले, ६८९ **अनामयः**–आन्तरिक और बाह्य सब प्रकारकी व्याधियोंसे रहित ॥ ८६ ॥

मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः ।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ॥ ८७ ॥

६९० **मनोजवः**–मनकी भाँति वेगवाले, ६९१ **तीर्थकरः**–समस्त विद्याओंके रचयिता और उपदेशकर्ता, ६९२ **वसुरेताः**–हिरण्यमय पुरुष (प्रथम पुरुषसृष्टिका बीज) जिनका वीर्य है—ऐसे सुवर्णवीर्य, ६९३ **वसुप्रदः**–प्रचुर धन प्रदान करनेवाले, ६९४ **वसुप्रदः**–अपने भक्तोंको मोक्षरूप महान् धन देनेवाले, ६९५ **वासुदेवः**–वसुदेवपुत्र

श्रीकृष्ण, ६९६ **वसुः**–सबके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले, ६९७ **वसुमनाः**–समानभावसे सबमें निवास करनेकी शक्तिसे युक्त मनवाले, ६९८ **हविः**–यज्ञमें हवन किये जाने योग्य हविःस्वरूप ॥ ८७ ॥

सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ॥ ८८ ॥

६९९ **सद्गतिः**–सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य गतिस्वरूप, ७०० **सत्कृतिः**–जगत्‌की रक्षा आदि सत्कार्य करनेवाले, ७०१ **सत्ता**–सदा-सर्वदा विद्यमान सत्तास्वरूप, ७०२ **सद्भूतिः**-बहुत प्रकारसे बहुत रूपोंमें भासित होनेवाले, ७०३ **सत्परायणः**–सत्पुरुषोंके परम प्रापणीय स्थान, ७०४ **शूरसेनः**–हनुमानादि श्रेष्ठ शूरवीर योद्धाओंसे युक्त सेनावाले, ७०५ **यदुश्रेष्ठः**-यदुवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ, ७०६ **सन्निवासः**–सत्पुरुषोंके आश्रय, ७०७ **सुयामुनः**–जिनके परिकर यमुना-तटनिवासी गोपालबाल आदि अति सुन्दर हैं, ऐसे श्रीकृष्ण ॥ ८८ ॥

भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥ ८९ ॥

७०८ **भूतावासः**–समस्त प्राणियोंके मुख्य निवासस्थान, ७०९ **वासुदेवः**–अपनी मायासे जगत्‌को आच्छादित करनेवाले परमदेव, ७१० **सर्वासुनिलयः**–समस्त प्राणियोंके आधार, ७११ **अनलः**–अपार शक्ति और सम्पत्तिसे युक्त, ७१२ **दर्पहा**–धर्मविरुद्ध मार्गमें चलनेवालोंके घमण्डको नष्ट करनेवाले, ७१३ **दर्पदः**–अपने भक्तोंको विशुद्ध उत्साह प्रदान करनेवाले, ७१४ **दृप्तः**–नित्यानन्दमग्न, ७१५ **दुर्धरः**–बड़ी कठिनतासे हृदयमें धारित होनेवाले, ७१६ **अपराजितः**–दूसरोंसे अजित ॥ ८९ ॥

विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥ ९० ॥

७१७ **विश्वमूर्तिः**–समस्त विश्व ही जिनकी मूर्ति है—ऐसे विराट्स्वरूप, ७१८ **महामूर्तिः**– बड़े रूपवाले, ७१९ **दीप्तमूर्तिः**–स्वेच्छासे धारण किये हुए देदीप्यमान स्वरूपसे युक्त,७२० **अमूर्तिमान्**–जिनकी कोई मूर्ति नहीं—ऐसे निराकार, ७२१ **अनेकमूर्तिः**–नाना अवतारोंमें स्वेच्छासे लोगोंका उपकार करनेके लिये बहुत मूर्तियोंको धारण करनेवाले, ७२२ **अव्यक्तः**–अनेक मूर्ति होते हुए भी जिनका स्वरूप किसी प्रकार व्यक्त न किया जा सके—ऐसे अप्रकटस्वरूप, ७२३ **शतमूर्तिः**–सैकड़ों मूर्तियोंवाले, ७२४ **शताननः**–सैकड़ों मुखोंवाले ॥ ९० ॥

एको नैकः सवः कः किं यत् तत् पदमनुत्तमम् ।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ९१ ॥

७२५ **एकः**–सब प्रकारके भेद-भावोंसे रहित अद्वितीय, ७२६ **नैकः**–अवतार-भेदसे अनेक, ७२७ **सवः**–जिनमें सोमनामकी ओषधिका रस निकाला जाता है—ऐसे यज्ञस्वरूप, ७२८ **कः**–सुखस्वरूप, ७२९ **किम्**–विचारणीय ब्रह्मस्वरूप, ७३० **यत्**–स्वतःसिद्ध, ७३१ **तत्**–विस्तार करनेवाले, ७३२ **पदमनुत्तमम्**–मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य अत्युत्तम परमपदस्वरूप, ७३३ **लोकबन्धुः**–समस्त प्राणियोंके हित करनेवाले परम मित्र, ७३४ **लोकनाथः**–सबके द्वारा याचना किये जानेयोग्य लोकस्वामी, ७३५ **माधवः**–मधुकुलमें उत्पन्न होनेवाले, ७३६ **भक्तवत्सलः**–भक्तोंसे प्रेम करनेवाले ॥ ९१ ॥

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥ ९२ ॥

७३७ **सुवर्णवर्णः**–सोनेके समान पीतवर्णवाले, ७३८ **हेमाङ्गः**–सोनेके समान चमकीले अङ्गोंवाले, ७३९ **वराङ्गः**–परम श्रेष्ठ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंवाले, ७४० **चन्दनाङ्गदी**–चन्दनके लेप और बाजूबंदसे सुशोभित, ७४१ **वीरहा**–शूरवीर असुरोंको नाश करनेवाले, ७४२ **विषमः**–जिनके समान दूसरा कोई नहीं—ऐसे अनुपम, ७४३ **शून्यः**–समस्त विशेषणोंसे रहित, ७४४ **घृताशीः**–अपने आश्रित जनोंके लिये कृपासे सने हुए द्रवित संकल्प करनेवाले, ७४५ **अचलः**–किसी प्रकार भी विचलित न होनेवाले—अविचल, ७४६ **चलः**–वायुरूपसे सर्वत्र गमन करनेवाले ॥ ९२ ॥

अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक्।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥ ९३ ॥

७४७ **अमानी**–स्वयं मान न चाहनेवाले, ७४८ **मानदः**–दूसरोंको मान देनेवाले, ७४९ **मान्यः**–सबके पूजनेयोग्य माननीय, ७५० **लोकस्वामी**–चौदह भुवनोंके स्वामी, ७५१ **त्रिलोकधृक्**–तीनों लोकोंको धारण करनेवाले, ७५२ **सुमेधाः**–अति उत्तम सुन्दर बुद्धिवाले, ७५३ **मेधजः**–यज्ञमें प्रकट होनेवाले, ७५४ **धन्यः**–नित्य कृतकृत्य होनेके कारण सर्वथा धन्यवादके पात्र, ७५५ **सत्यमेधाः**–सच्ची और श्रेष्ठ बुद्धिवाले, ७५६ **धराधरः**–अनन्त भगवान्‌के रूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले ॥ ९३ ॥

तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥ ९४ ॥

७५७ **तेजोवृषः**–अपने भक्तोंपर आनन्दमय तेजकी वर्षा करनेवाले, ७५८ **द्युतिधरः**–परम कान्तिको धारण करनेवाले, ७५९ **सर्वशस्त्रभृतां वरः**–समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, ७६० **प्रग्रहः**–भक्तोंके द्वारा अर्पित पत्र-पुष्पादिको ग्रहण करनेवाले, ७६१ **निग्रहः**–सबका निग्रह करनेवाले, ७६२ **व्यग्रः**–अपने भक्तोंको अभीष्ट फल देनेमें लगे हुए, ७६३ **नैकशृङ्गः**–नाम, आख्यात, उपसर्ग और

निघातरूप चार सींगोंको धारण करनेवाले शब्दब्रह्मस्वरूप, ७६४ गदाग्रजः—गदसे पहले जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण ॥ ९४ ॥

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥ ९५ ॥

७६५ चतुर्मूर्तिः—राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नरूप चार मूर्तियोंवाले, ७६६ चतुर्बाहुः—चार भुजाओंवाले, ७६७ चतुर्व्यूहः—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार व्यूहोंसे युक्त, ७६८ चतुर्गतिः—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यरूप चार परम गतिस्वरूप, ७६९ चतुरात्मा—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप चार अन्तःकरणवाले, ७७० चतुर्भावः—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंके उत्पत्तिस्थान, ७७१ चतुर्वेदवित्—चारों वेदोंके अर्थको भलीभाँति जाननेवाले, ७७२ एकपात्—एक पादवाले यानी एक पाद (अंश) से समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाले ॥ ९५ ॥

समावर्तोऽनिवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥ ९६ ॥

७७३ समावर्तः—संसारचक्रको भलीभाँति घुमानेवाले, ७७४ अनिवृत्तात्मा—सर्वत्र विद्यमान होनेके कारण जिनका आत्मा कहींसे भी हटा हुआ नहीं है, ऐसे, ७७५ दुर्जयः—किसीसे भी जीतनेमें न आनेवाले, ७७६ दुरतिक्रमः—जिनकी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सके, ऐसे, ७७७ दुर्लभः—बिना भक्तिके प्राप्त न होनेवाले, ७७८ दुर्गमः—कठिनतासे जाननेमें आनेवाले, ७७९ दुर्गः—कठिनतासे प्राप्त होनेवाले, ७८० दुरावासः—बड़ी कठिनतासे योगीजनोंद्वारा हृदयमें बसाये जानेवाले, ७८१ दुरारिहा—दुष्ट मार्गमें चलनेवाले दैत्योंका वध करनेवाले ॥ ९६ ॥

शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥ ९७ ॥

७८२ शुभाङ्गः—कल्याणकारक सुन्दर अङ्गोंवाले, ७८३ लोकसारङ्गः—लोकोंके सारको ग्रहण करनेवाले, ७८४ सुतन्तुः—सुन्दर विस्तृत जगत्‌रूप तन्तुवाले, ७८५ तन्तुवर्धनः—पूर्वोक्त जगत्-तन्तुको बढ़ानेवाले, ७८६ इन्द्रकर्मा—इन्द्रके समान कर्मवाले, ७८७ महाकर्मा—बड़े-बड़े कर्म करनेवाले, ७८८ कृतकर्मा—जो समस्त कर्तव्य कर्म कर चुके हों, जिनका कोई कर्तव्य शेष न रहा हो—ऐसे कृतकृत्य, ७८९ कृतागमः—स्वोचित अनेक कार्योंको पूर्ण करनेके लिये अवतार धारण करके आनेवाले ॥ ९७ ॥

उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥ ९८ ॥

७९० उद्भवः—स्वेच्छासे श्रेष्ठ जन्म धारण करनेवाले, ७९१ सुन्दरः—परम सुन्दर, ७९२ सुन्दः—परम करुणाशील, ७९३ रत्ननाभः—रत्नके समान सुन्दर नाभिवाले, ७९४ सुलोचनः—सुन्दर नेत्रोंवाले, ७९५ अर्कः—ब्रह्मादि पूज्य पुरुषोंके भी पूजनीय, ७९६ वाजसनः—याचकोंको अन्न प्रदान करनेवाले, ७९७ शृङ्गी—प्रलयकालमें सींगयुक्त मत्स्य विशेषका रूप धारण करनेवाले, ७९८ जयन्तः—शत्रुओंको पूर्णतया जीतनेवाले, ७९९ सर्वविज्जयी—सब कुछ जाननेवाले और सबको जीतनेवाले ॥ ९८ ॥

सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥ ९९ ॥

८०० सुवर्णबिन्दुः—सुन्दर अक्षर और बिन्दुसे युक्त ओंकारस्वरूप, ८०१ अक्षोभ्यः—किसीके द्वारा भी क्षुभित न किये जा सकनेवाले, ८०२ सर्ववागीश्वरेश्वरः—समस्त वाणीपतियोंके यानी ब्रह्मादिके भी स्वामी, ८०३ महाह्रदः—ध्यान करनेवाले जिसमें गोता लगाकर आनन्दमें मग्न होते हैं, ऐसे परमानन्दके महान् सरोवर, ८०४ महागर्तः—महान् रथवाले, ८०५ महाभूतः—त्रिकालमें कभी नष्ट न होनेवाले महाभूतस्वरूप, ८०६ महानिधिः—सबके महान् निवास-स्थान ॥ ९९ ॥

कुमुदः सुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥ १०० ॥

८०७ कुमुदः—कु अर्थात् पृथ्वीको उसका भार उतारकर प्रसन्न करनेवाले, ८०८ कुन्दरः—हिरण्याक्षको मारनेके लिये पृथ्वीको विदीर्ण करनेवाले, ८०९ कुन्दः—परशुराम-अवतारमें पृथ्वी प्रदान करनेवाले, ८१० पर्जन्यः—बादलकी भाँति समस्त इष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले, ८११ पावनः—स्मरणमात्रसे पवित्र करनेवाले, ८१२ अनिलः—सदा प्रबुद्ध रहनेवाले, ८१३ अमृताशः—जिनकी आशा कभी विफल न हो—ऐसे अमोघसंकल्प, ८१४ अमृतवपुः—जिनका कलेवर कभी नष्ट न हो—ऐसे नित्य-विग्रह, ८१५ सर्वज्ञः—सदा-सर्वदा सब कुछ जाननेवाले, ८१६ सर्वतोमुखः—सब ओर मुखवाले यानी जहाँ कहीं भी उनके भक्त भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्पादि जो कुछ भी अर्पण करें, उसे भक्षण करनेवाले ॥

सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥ १०१ ॥

८१७ सुलभः—नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवालेको और एकनिष्ठ श्रद्धालु भक्तको बिना ही परिश्रमके सुगमतासे प्राप्त होनेवाले, ८१८ सुव्रतः—सुन्दर भोजन करनेवाले यानी अपने भक्तोंद्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादि मामूली भोजनको भी परम श्रेष्ठ मानकर खानेवाले, ८१९ सिद्धः—स्वभावसे ही समस्त सिद्धियोंसे युक्त, ८२० शत्रुजित्—देवता और सत्पुरुषोंके शत्रुओंको जीतनेवाले, ८२१ शत्रु-

तापनः—देव-शत्रुओंको तपानेवाले, ८२२ **न्यग्रोधः**—वटवृक्ष-रूप, ८२३ **उदुम्बरः**—कारणरूपसे आकाशके भी ऊपर रहनेवाले, ८२४ **अश्वत्थः**—पीपल वृक्षस्वरूप, ८२५ **चाणूरान्ध्रनिषूदनः**—चाणूर नामक अन्ध्रजातिके वीर मल्लको मारनेवाले ॥ १०१ ॥

सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद् भयनाशनः ॥१०२॥

८२६ **सहस्रार्चिः**—अनन्त किरणोंवाले सूर्यरूप, ८२७ **सप्तजिह्वः**—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचि—इन सात जिह्वाओंवाले अग्निस्वरूप, ८२८ **सप्तैधाः**—सात दीप्तिवाले अग्निस्वरूप, ८२९ **सप्तवाहनः**—सात घोड़ोंवाले सूर्यरूप, ८३० **अमूर्तिः**—मूर्तिरहित निराकार, ८३१ **अनघः**—सब प्रकारसे निष्पाप, ८३२ **अचिन्त्यः**—किसी प्रकार भी चिन्तन करनेमें न आनेवाले अव्यक्तस्वरूप, ८३३ **भयकृत्**—दुष्टोंको भयभीत करनेवाले, ८३४ **भयनाशनः**—स्मरण करनेवालोंके और सत्पुरुषोंके भयका नाश करनेवाले ॥ १०२ ॥

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥१०३॥

८३५ **अणुः**—अत्यन्त सूक्ष्म, ८३६ **बृहत्**—सबसे बड़े, ८३७ **कृशः**—अत्यन्त पतले और हलके, ८३८ **स्थूलः**—अत्यन्त मोटे और भारी, ८३९ **गुणभृत्**—समस्त गुणोंको धारण करनेवाले, ८४० **निर्गुणः**—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अतीत, ८४१ **महान्**—गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और ज्ञान आदिकी अतिशयताके कारण परम महत्त्वसम्पन्न, ८४२ **अधृतः**—जिनको कोई भी धारण नहीं कर सकता—ऐसे निराधार, ८४३ **स्वधृतः**—अपने आपसे धारित यानी अपनी ही महिमामें स्थित, ८४४ **स्वास्यः**—सुन्दर मुखवाले, ८४५ **प्राग्वंशः**—जिनसे समस्त वंशपरम्परा आरम्भ हुई है—ऐसे समस्त पूर्वजोंके भी पूर्वज आदिपुरुष, ८४६ **वंशवर्धनः**—जगत्-प्रपञ्चरूप वंशको और यादव वंशको बढ़ानेवाले ॥१०३॥

भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥१०४॥

८४७ **भारभृत्**—शेषनाग आदिके रूपमें पृथ्वीका भार उठानेवाले और अपने भक्तोंके योगक्षेमरूप भारको वहन करनेवाले, ८४८ **कथितः**—वेद-शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा जिनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका बारंबार कथन किया गया है, ऐसे सबके द्वारा वर्णित, ८४९ **योगी**—नित्य समाधियुक्त, ८५० **योगीशः**—समस्त योगियोंके स्वामी, ८५१ **सर्वकामदः**—समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, ८५२ **आश्रमः**—सबको विश्राम देनेवाले, ८५३ **श्रमणः**—दुष्टोंको संतप्त करनेवाले, ८५४ **क्षामः**—प्रलयकालमें सब प्रजाका क्षय करनेवाले, ८५५ **सुपर्णः**—वेदरूप सुन्दर पत्तोंवाले (संसारवृक्षस्वरूप), ८५६ **वायुवाहनः**—वायुको गमन करनेके लिये शक्ति देनेवाले ॥ १०४ ॥

धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमोऽयमः ॥१०५॥

८५७ **धनुर्धरः**—धनुषधारी श्रीराम, ८५८ **धनुर्वेदः**—धनुर्विद्याको जाननेवाले श्रीराम, ८५९ **दण्डः**—दमन करनेवालोंकी दमनशक्ति, ८६० **दमयिता**—यम और राजा आदिके रूपमें दमन करनेवाले, ८६१ **दमः**—दण्डका कार्य यानी जिनको दण्ड दिया जाता है, उनका सुधार, ८६२ **अपराजितः**—शत्रुओंद्वारा पराजित न होनेवाले, ८६३ **सर्वसहः**—सब कुछ सहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त, अतिशय तितिक्षु, ८६४ **नियन्ता**—सबको अपने-अपने कर्तव्यमें नियुक्त करनेवाले, ८६५ **अनियमः**—नियमोंसे न बँधे हुए, जिनका कोई भी नियन्त्रण करनेवाला नहीं, ऐसे परमस्वतन्त्र, ८६६ **अयमः**—जिनका कोई शासक नहीं ॥ १०५ ॥

सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्धनः ॥१०६॥

८६७ **सत्त्ववान्**—बल, वीर्य, सामर्थ्य आदि समस्त तत्त्वोंसे सम्पन्न, ८६८ **सात्त्विकः**—सत्त्वगुणप्रधानविग्रह, ८६९ **सत्यः**—सत्यभाषणस्वरूप, ८७० **सत्यधर्मपरायणः**—यथार्थ भाषण और धर्मके परम आधार, ८७१ **अभिप्रायः**—प्रेमीजन जिनको चाहते हैं—ऐसे परम इष्ट, ८७२ **प्रियार्हः**—अत्यन्त प्रिय वस्तु समर्पण करनेके लिये योग्य पात्र, ८७३ **अर्हः**—सबके परम पूज्य, ८७४ **प्रियकृत्**—भजनेवालोंका प्रिय करनेवाले, ८७५ **प्रीतिवर्धनः**—अपने प्रेमियोंके प्रेमको बढ़ानेवाले ॥ १०६ ॥

विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग् विभुः।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥१०७॥

८७६ **विहायसगतिः**—आकाशमें गमन करनेवाले, ८७७ **ज्योतिः**—स्वयंप्रकाशस्वरूप, ८७८ **सुरुचिः**—सुन्दर रुचि और कान्तिवाले, ८७९ **हुतभुक्**—यज्ञमें हवन की हुई समस्त हविको अग्निरूपसे भक्षण करनेवाले, ८८० **विभुः**—सर्वव्यापी, ८८१ **रविः**—समस्त रसोंका शोषण करनेवाले सूर्य, ८८२ **विरोचनः**—विविध प्रकारसे प्रकाश फैलानेवाले, ८८३ **सूर्यः**—शोभाको प्रकट करनेवाले, ८८४ **सविता**—समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, ८८५ **रविलोचनः**—सूर्यरूप नेत्रोंवाले ॥ १०७ ॥

अनन्तो हुतभुग् भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥१०८॥

८८६ **अनन्तः**—सब प्रकारसे अन्तरहित,

८८७ हुतभुक्–यज्ञमें हवन की हुई सामग्रीको उन-उन देवताओंके रूपमें भक्षण करनेवाले, ८८८ भोक्ता–जगत्का पालन करनेवाले, ८८९ सुखदः–भक्तोंको दर्शनरूप परम सुख देनेवाले, ८९० नैकजः–धर्मरक्षा, साधुरक्षा आदि परम विशुद्ध हेतुओंसे स्वेच्छापूर्वक अनेक जन्म धारण करनेवाले, ८९१ अग्रजः–सबसे पहले जन्मनेवाले आदिपुरुष, ८९२ अनिर्विण्णः–पूर्णकाम होनेके कारण उकताहटसे रहित, ८९३ सदामर्षी–सत्पुरुषोंपर क्षमा करनेवाले, ८९४ लोकाधिष्ठानम्–समस्त लोकोंके आधार, ८९५ अद्भुतः–अत्यन्त आश्चर्यमय ॥ १०८ ॥

सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरप्ययः।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः॥१०९॥

८९६ सनात्–अनन्तकालस्वरूप, ८९७ सनातनतमः–सबके कारण होनेसे ब्रह्मादि पुरुषोंकी अपेक्षा भी परम पुराणपुरुष, ८९८ कपिलः–महर्षि कपिलावतार, ८९९ कपिः–सूर्यदेव, ९०० अप्ययः–सम्पूर्ण जगत्के लयस्थान, ९०१ स्वस्तिदः–परमानन्दरूप मङ्गल देनेवाले, ९०२ स्वस्तिकृत्–आश्रितजनोंका कल्याण करनेवाले, ९०३ स्वस्ति–कल्याणस्वरूप, ९०४ स्वस्तिभुक्–भक्तोंके परम कल्याणकी रक्षा करनेवाले, ९०५ स्वस्तिदक्षिणः–कल्याण करनेमें समर्थ और शीघ्र कल्याण करनेवाले ॥ १०९ ॥

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः॥११०॥

९०६ अरौद्रः–सब प्रकारके रुद्र (क्रूर) भावोंसे रहित शान्तमूर्ति, ९०७ कुण्डली–सूर्यके समान प्रकाशमान मकराकृति कुण्डलोंको धारण करनेवाले, ९०८ चक्री–सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले, ९०९ विक्रमी–सबसे विलक्षण पराक्रमशील, ९१० ऊर्जितशासनः–जिनका श्रुति-स्मृतिरूप शासन अत्यन्त श्रेष्ठ है—ऐसे अतिश्रेष्ठ शासन करनेवाले, ९११ शब्दातिगः–शब्दकी जहाँ पहुँच नहीं, ऐसे वाणीके अविषय, ९१२ शब्दसहः–कठोर शब्दोंको सहन करनेवाले, ९१३ शिशिरः–त्रितापपीड़ितोंको शान्ति देनेवाले शीतलमूर्ति, ९१४ शर्वरीकरः–ज्ञानियोंकी रात्रि संसार और अज्ञानियोंकी रात्रि ज्ञान—इन दोनोंको उत्पन्न करनेवाले ॥ ११० ॥

अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणां वरः।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः॥१११॥

९१५ अक्रूरः–सब प्रकारके क्रूरभावोंसे रहित, ९१६ पेशलः–मन, वाणी और कर्म—सभी दृष्टियोंसे सुन्दर होनेके कारण परम सुन्दर, ९१७ दक्षः–सब प्रकारसे समृद्ध, परमशक्तिशाली और क्षणमात्रमें बड़े-से-बड़ा कार्य कर देनेवाले महान् कार्यकुशल, ९१८ दक्षिणः–संहारकारी, ९१९ क्षमिणां वरः–क्षमा करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ, ९२० विद्वत्तमः–विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ परम विद्वान्, ९२१ वीतभयः–सब प्रकारके भयसे रहित, ९२२ पुण्यश्रवणकीर्तनः–जिनके नाम, गुण, महिमा और स्वरूपका श्रवण और कीर्तन परम पावन हैं; ऐसे ॥ १११ ॥

उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः।
वीरहा रक्षणः सन्तो जीवनः पर्यवस्थितः॥११२॥

९२३ उत्तारणः–संसार-सागरसे पार करनेवाले, ९२४ दुष्कृतिहा–पापोंका और पापियोंका नाश करनेवाले, ९२५ पुण्यः–स्मरण आदि करनेवाले समस्त पुरुषोंको पवित्र कर देनेवाले, ९२६ दुःस्वप्ननाशनः–ध्यान, स्मरण, कीर्तन और पूजन करनेसे बुरे स्वप्नोंका नाश करनेवाले, ९२७ वीरहा–शरणागतोंकी विविध गतियोंका यानी संसार-चक्रका नाश करनेवाले, ९२८ रक्षणः–सब प्रकारसे रक्षा करनेवाले, ९२९ सन्तः–विद्या, विनय और धर्म आदिका प्रचार करनेके लिये संतोंके रूपमें प्रकट होनेवाले, ९३० जीवनः–समस्त प्रजाको प्राणरूपसे जीवित रखनेवाले, ९३१ पर्यवस्थितः–समस्त विश्वको व्याप्त करके स्थित रहनेवाले ॥

अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः।
चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः॥११३॥

९३२ अनन्तरूपः–अमितरूपवाले, ९३३ अनन्तश्रीः–अपरिमित शोभासम्पन्न, ९३४ जितमन्युः–सब प्रकारसे क्रोधको जीत लेनेवाले, ९३५ भयापहः–भक्तभयहारी, ९३६ चतुरस्रः–मङ्गलमूर्ति, ९३७ गभीरात्मा–गम्भीर मनवाले, ९३८ विदिशः–अधिकारियोंको उनके कर्मानुसार विभागपूर्वक नाना प्रकारके फल देनेवाले, ९३९ व्यादिशः–सबको यथायोग्य विविध आज्ञा देनेवाले, ९४० दिशः–वेदरूपसे समस्त कर्मोंका फल बतलानेवाले ॥ ११३ ॥

अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः॥११४॥

९४१ अनादिः–जिसका आदि कोई न हो ऐसे सबके कारणस्वरूप, ९४२ भूर्भुवः–पृथ्वीके भी आधार, ९४३ लक्ष्मीः–समस्त शोभायमान वस्तुओंकी शोभास्वरूप, ९४४ सुवीरः–उत्तम योधा, ९४५ रुचिराङ्गदः–परम रुचिकर कल्याणमय बाजूबंदोंको धारण करनेवाले, ९४६ जननः–प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाले, ९४७ जनजन्मादिः–जन्म लेनेवालोंके जन्मके मूल कारण, ९४८ भीमः–दुष्टोंको भय देनेवाले, ९४९ भीमपराक्रमः–अतिशय भय उत्पन्न करनेवाले, पराक्रमसे युक्त ॥ ११४ ॥

आधारनिलयोऽधाता पुष्पहासः प्रजागरः।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः॥११५॥

९५० आधारनिलयः–आधारस्वरूप पृथ्वी आदि

समस्त भूतोंके स्थान, ९५१ **अधाता**-जिसका कोई भी बनानेवाला न हो ऐसे स्वयं स्थित, ९५२ **पुष्पहासः**-पुष्पकी भाँति विकसित हास्यवाले, ९५३ **प्रजागरः**-भली प्रकार जाग्रत् रहनेवाले नित्यप्रबुद्ध, ९५४ **ऊर्ध्वगः**-सबसे ऊपर रहनेवाले, ९५५ **सत्पथाचारः**-सत्पुरुषोंके मार्गका आचरण करनेवाले मर्यादापुरुषोत्तम, ९५६ **प्राणदः**-परीक्षित् आदि मरे हुओंको भी जीवन देनेवाले, ९५७ **प्रणवः**-ॐकारस्वरूप, ९५८ **पणः**-यथायोग्य व्यवहार करनेवाले ॥ ११५ ॥

प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत् प्राणजीवनः।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥११६॥

९५९ **प्रमाणम्**-स्वतःसिद्ध होनेसे स्वयं प्रमाणस्वरूप, ९६० **प्राणनिलयः**-प्राणोंके आधारभूत, ९६१ **प्राणभृत्**-समस्त प्राणोंका पोषण करनेवाले, ९६२ **प्राणजीवनः**-प्राणवायुके संचारसे प्राणियोंको जीवित रखनेवाले, ९६३ **तत्त्वम्**-यथार्थ तत्त्वरूप, ९६४ **तत्त्ववित्**-यथार्थ तत्त्वको पूर्णतया जाननेवाले, ९६५ **एकात्मा**-अद्वितीयस्वरूप, ९६६ **जन्ममृत्युजरातिगः**-जन्म, मृत्यु और बुढ़ापा आदि शरीरके धर्मोंसे सर्वथा अतीत ॥ ११६ ॥

भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥११७॥

९६७ **भूर्भुवःस्वस्तरुः**-भूः भुवः स्वः तीनों लोकोंवाले, संसारवृक्षस्वरूप, ९६८ **तारः**-संसार-सागरसे पार उतारनेवाले, ९६९ **सविता**-सबको उत्पन्न करनेवाले, ९७० **प्रपितामहः**-पितामह ब्रह्माके भी पिता, ९७१ **यज्ञः**-यज्ञस्वरूप, ९७२ **यज्ञपतिः**-समस्त यज्ञोंके अधिष्ठाता, ९७३ **यज्वा**-यजमानरूपसे यज्ञ करनेवाले, ९७४ **यज्ञाङ्गः**-समस्त यज्ञरूप अङ्गोंवाले, वाराहस्वरूप, ९७५ **यज्ञवाहनः**-यज्ञोंको चलनेवाले ॥ ११७ ॥

यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञी यज्ञभुग् यज्ञसाधनः।
यज्ञान्तकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥११८॥

९७६ **यज्ञभृत्**-यज्ञोंको धारण करनेवाले, ९७७ **यज्ञकृत्**-यज्ञोंके रचयिता, ९७८ **यज्ञी**-समस्त यज्ञ जिसमें समाप्त होते हैं— ऐसे यज्ञशेषी, ९७९ **यज्ञभुक्**-समस्त यज्ञोंके भोक्ता, ९८० **यज्ञसाधनः**-ब्रह्मयज्ञ, जपयज्ञ आदि बहुत-से यज्ञ जिनकी प्राप्तिके साधन हैं ऐसे, ९८१ **यज्ञान्तकृत्**-यज्ञोंका फल देनेवाले, ९८२ **यज्ञगुह्यम्**-यज्ञोंमें गुप्त निष्काम यज्ञस्वरूप, ९८३ **अन्नम्**-समस्त प्राणियोंके अन्न यानी अन्नकी भाँति उनकी सब प्रकारसे तुष्टि-पुष्टि करनेवाले, ९८४ **अन्नादः**-समस्त अन्नोंके भोक्ता ॥ ११८ ॥

आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥११९॥

९८५ **आत्मयोनिः**-जिनका कारण दूसरा कोई नहीं ऐसे स्वयं योनिस्वरूप, ९८६ **स्वयंजातः**-स्वयं अपने आप स्वेच्छापूर्वक प्रकट होनेवाले, ९८७ **वैखानः**-पातालवासी हिरण्याक्षका वध करनेके लिये पृथ्वीको खोदनेवाले, वाराह-अवतारधारी, ९८८ **सामगायनः**-सामवेदका गान करनेवाले, ९८९ **देवकीनन्दनः**-देवकीपुत्र, ९९० **स्रष्टा**-समस्त लोकोंके रचयिता, ९९१ **क्षितीशः**-पृथ्वीपति, ९९२ **पापनाशनः**-स्मरण, कीर्तन, पूजन और ध्यान आदि करनेसे समस्त पापसमुदायका नाश करनेवाले ॥ ११९ ॥

शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥१२०॥

९९३ **शङ्खभृत्**-पाञ्चजन्यशङ्खको धारण करनेवाले, ९९४ **नन्दकी**-नन्दकनामक खड्ग धारण करनेवाले, ९९५ **चक्री**-सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले, ९९६ **शार्ङ्गधन्वा**-शार्ङ्गधनुषधारी, ९९७ **गदाधरः**-कौमोदकी नामकी गदा धारण करनेवाले, ९९८ **रथाङ्गपाणिः**-भीष्मकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये सुदर्शन चक्रको हाथमें धारण करनेवाले श्रीकृष्ण, ९९९ **अक्षोभ्यः**-जो किसी प्रकार भी विचलित नहीं किये जा सकें, ऐसे, १००० **सर्वप्रहरणायुधः**-ज्ञात और अज्ञात जितने भी युद्धादिमें काम आनेवाले अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबको धारण करनेवाले ॥ १२० ॥

सर्वप्रहरणायुध ॐ नम इति

यहाँ हजार नामोंकी समाप्ति दिखलानेके लिये अन्तिम नामको दुबारा लिखा गया है। मङ्गलवाची होनेसे ॐकारका स्मरण किया गया है। अन्तमें नमस्कार करके भगवान्की पूजा की गयी है।

इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥१२१॥

इस प्रकार यह कीर्तन करने योग्य महात्मा केशवके दिव्य एक हजार नामोंका पूर्णरूपसे वर्णन कर दिया ॥१२१॥

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचित् सोऽमुत्रेह च मानवः ॥१२२॥

जो मनुष्य इस विष्णुसहस्रनामका सदा श्रवण करता है और जो प्रतिदिन इसका कीर्तन या पाठ करता है, उसका इस लोकमें तथा परलोकमें कहीं भी कुछ अशुभ नहीं होता ॥ १२२ ॥

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥१२३॥

इस विष्णुसहस्रनामका श्रवण, पठन और कीर्तन करनेसे ब्राह्मण वेदान्त-पारगामी हो जाता है, क्षत्रिय युद्धमें विजय पाता है, वैश्य धनसे सम्पन्न होता है और शूद्र सुख पाता है ॥ १२३ ॥

धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात्।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात् प्रजाम्॥१२४॥

धर्मकी इच्छावाला धर्मको पाता है, अर्थकी इच्छावाला अर्थ पाता है, भोगोंकी इच्छावाला भोग पाता है और संतानकी इच्छावाला संतान पाता है ॥ १२४ ॥

भक्तिमान् यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत् प्रकीर्तयेत् ॥१२५॥
यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥१२६॥
न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति।
भवत्यरोगो द्युतिमान् बलरूपगुणान्वितः ॥१२७॥

जो भक्तिमान् पुरुष सदा प्रातःकालमें उठकर स्नान करके पवित्र हो मनमें विष्णुका ध्यान करता हुआ इस वासुदेव-सहस्रनामका भली प्रकार पाठ करता है, वह महान् यश पाता है, जातिमें महत्त्व पाता है, अचल सम्पत्ति पाता है और अति उत्तम कल्याण पाता है तथा उसको कहीं भय नहीं होता। वह वीर्य और तेजको पाता है तथा आरोग्यवान्, कान्तिमान्, बलवान्, रूपवान् और सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है ॥ १२५–१२७ ॥

रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥१२८॥

रोगातुर पुरुष रोगसे छूट जाता है, बन्धनमें पड़ा हुआ पुरुष बन्धनसे छूट जाता है, भयभीत भयसे छूट जाता है और आपत्तिमें पड़ा हुआ आपत्तिसे छूट जाता है ॥ १२८ ॥

दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन् नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥१२९॥

जो पुरुष भक्तिसम्पन्न होकर इस विष्णुसहस्रनामसे पुरुषोत्तम भगवान्‌की प्रतिदिन स्तुति करता है, वह शीघ्र ही समस्त संकटोंसे पार हो जाता है ॥ १२९ ॥

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३०॥

जो मनुष्य वासुदेवके आश्रित और उनके परायण है, वह समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध अन्तःकरणवाला हो सनातन परब्रह्मको पाता है ॥ १३० ॥

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥१३१॥

वासुदेवके भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता है तथा उनको जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिका भी भय नहीं रहता है ॥ १३१ ॥

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥१३२॥

जो पुरुष श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे इस विष्णुसहस्रनामका पाठ करता है, वह आत्मसुख, क्षमा, लक्ष्मी, धैर्य, स्मृति और कीर्तिको पाता है ॥ १३२ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥१३३॥

पुरुषोत्तमके पुण्यात्मा भक्तोंको किसी दिन क्रोध नहीं आता, ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती, लोभ नहीं होता और उनकी बुद्धि कभी अशुद्ध नहीं होती ॥ १३३ ॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥१३४॥

स्वर्ग, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रसहित आकाश, दस दिशाएँ, पृथ्वी और महासागर—ये सब महात्मा वासुदेवके प्रभावसे धारण किये गये हैं ॥ १३४ ॥

ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
जगद् वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥१३५॥

देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, सर्प और राक्षससहित यह स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्णके अधीन रहकर यथायोग्य बरत रहे हैं ॥ १३५ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥१३६॥

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धीरज, क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये सब-के-सब श्रीवासुदेवके रूप हैं, ऐसा वेद कहते हैं ॥ १३६ ॥

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥१३७॥

सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं ॥ १३७ ॥

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥१३८॥

ऋषि, पितर, देवता, पञ्च महाभूत, धातुएँ और स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत्—ये सब नारायणसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ १३८ ॥

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्या शिल्पादि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात् ॥१३९॥

योग, ज्ञान, सांख्य, विद्याएँ, शिल्प आदि कर्म, वेद, शास्त्र और विज्ञान—ये सब विष्णुसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १३९ ॥

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः॥१४०॥

वे समस्त विश्वके भोक्ता और अविनाशी विष्णु ही एक ऐसे हैं, जो अनेक रूपोंमें विभक्त होकर भिन्न-भिन्न भूतविशेषोंके अनेकों रूपोंको धारण कर रहे हैं तथा त्रिलोकीमें व्याप्त होकर सबको भोग रहे हैं ॥ १४० ॥

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेद् य इच्छेत् पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥ १४१ ॥

जो पुरुष परम श्रेय और सुख पाना चाहता हो, वह भगवान् व्यासजीके कहे हुए इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्रका पाठ करे ॥ १४१ ॥

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥ १४२ ॥

जो विश्वके ईश्वर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करनेवाले जन्मरहित कमललोचन भगवान् विष्णुका भजन करते हैं, वे कभी पराभव नहीं पाते हैं ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि विष्णुसहस्रनामकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत व्यासनिर्मित शतसाहस्रीय संहितासम्बन्धी अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें विष्णुसहस्रनामकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जपने योग्य मन्त्र और सबेरे-शाम कीर्तन करनेयोग्य देवता, ऋषियों और राजाओंके मङ्गलमय नामोंका कीर्तन-माहात्म्य तथा गायत्रीजपका फल

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद् धर्मफलं महत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप महाज्ञानी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं । अतः मैं पूछता हूँ कि प्रतिदिन किस स्तोत्र या मन्त्रका जप करनेसे धर्मके महान् फलकी प्राप्ति हो सकती है ? ॥ १ ॥

प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रवृत्ते वापि कर्मणि ।
दैवे वा श्राद्धकाले वा किं जप्यं कर्मसाधनम् ॥ २ ॥

यात्रा, गृहप्रवेश अथवा किसी कर्मका आरम्भ करते समय, देवयज्ञमें या श्राद्धके समय किस मन्त्रका जप करनेसे कर्मकी पूर्ति हो जाती है ? ॥ २ ॥

शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम् ।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ३ ॥

शान्ति, पुष्टि, रक्षा, शत्रुनाश तथा भय-निवारण करनेवाला कौन-सा ऐसा जपनीय मन्त्र है, जो वेदके समान माननीय है ? आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

व्यासप्रोक्तमिमं मन्त्रं शृणुष्वैकमना नृप ।
सावित्र्या विहितं दिव्यं सद्यः पापविमोचनम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! महर्षि वेदव्यासका बताया हुआ यह एक मन्त्र है, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो । सावित्री देवीने इस दिव्यमन्त्रकी सृष्टि की है तथा यह तत्काल ही पापसे छुटकारा दिलानेवाला है ॥ ४ ॥

शृणु मन्त्रविधिं कृत्स्नं प्रोच्यमानं मयानघ ।
यं श्रुत्वा पाण्डवश्रेष्ठ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

अनघ ! पाण्डवश्रेष्ठ ! मैं इस मन्त्रकी सम्पूर्ण विधि बताता हूँ, सुनो । उसे सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ नरेश्वर ! जो रात-दिन इस मन्त्रका जप करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता । वही मन्त्र मैं तुम्हें बता रहा हूँ, एकचित्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज ।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ७ ॥

राजकुमार ! जो इस मन्त्रको सुनता है, वह पुरुष दीर्घजीवी तथा सफलमनोरथ होता है, इहलोक और परलोकमें भी आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः ।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ॥ ८ ॥

राजन् ! प्राचीनकालमें क्षत्रियधर्मका पालन करनेवाले और सदा सत्य व्रतके आचरणमें संलग्न रहनेवाले राजर्षि-शिरोमणि इस मन्त्रका सदा ही जप किया करते थे ॥ ८ ॥

इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदा ।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ॥ ९ ॥

भरतसिंह ! जो राजा मन और इन्द्रियोंको वशमें करके शान्तिपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्रका जप करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

नमो वसिष्ठाय महाव्रताय
पराशरं वेदनिधिं नमस्ये ।
नमोऽस्त्वनन्ताय महोरगाय
नमोऽस्तु सिद्धेभ्य इहाक्षयेभ्यः ॥ १० ॥
नमोऽस्त्वृषिभ्यः परमं परेषां
देवेषु देवं वरदं वराणाम् ।

सहस्रशीर्षाय नमः शिवाय
सहस्रनामाय जनार्दनाय ॥ ११ ॥

(यह मन्त्र इस प्रकार है—) महान् व्रतधारी वसिष्ठको नमस्कार है, वेदनिधि पराशरको नमस्कार है, विशाल सर्परूपधारी अनन्त (शेषनाग) को नमस्कार है, अक्षय सिद्धगणको नमस्कार है, ऋषिवृन्दको नमस्कार है तथा परात्पर, देवाधिदेव, वरदाता परमेश्वरको नमस्कार है एवं सहस्र मस्तकवाले शिवको और सहस्रों नाम धारण करनेवाले भगवान् जनार्दनको नमस्कार है ॥ १०-११ ॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः।
ऋतश्च पितृरूपश्च त्र्यम्बकश्च महेश्वरः ॥ १२ ॥
वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ १३ ॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, ऋत, पितृरूप त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हवन और ईश्वर—ये ग्यारह रुद्र विख्यात हैं; जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ १२-१३ ॥

शतमेतत् समाम्नातं शतरुद्रे महात्मनाम्।
अंशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः ॥ १४ ॥
तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥ १५ ॥
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः।

वेदके शतरुद्रिय प्रकरणमें महात्मा रुद्रके सैकड़ों नाम बताये गये हैं। अंश, भग, मित्र, जलेश्वर वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र तथा विष्णु—ये बारह आदित्य कहलाते हैं। ये सब-के-सब कश्यपके पुत्र हैं ॥ १४-१५½ ॥

धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोऽथानिलोऽनलः ॥ १६ ॥
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।

धर, ध्रुव, सोम, सावित्र, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं ॥ १६½ ॥

नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ॥ १७ ॥
मार्तण्डस्यात्मजावेतौ संज्ञानासाविनिर्गतौ।

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमारके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति भगवान् सूर्यके वीर्यसे हुई है। ये अश्वरूपधारिणी संज्ञा देवीके नाकसे प्रकट हुए थे (ये सब मिलाकर तैंतीस देवता हैं) ॥ १७½ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि लोकानां कर्मसाक्षिणः ॥ १८ ॥
अपि यज्ञस्य वेत्तारो दत्तस्य सुकृतस्य च।
अदृश्याः सर्वभूतेषु पश्यन्ति त्रिदशेश्वराः ॥ १९ ॥
शुभाशुभानि कर्माणि मृत्युः कालश्च सर्वशः।
विश्वेदेवाः पितृगणा मूर्तिमन्तस्तपोधनाः ॥ २० ॥
मुनयश्चैव सिद्धाश्च तपोमोक्षपरायणाः।
शुचिस्मिताः कीर्तयतां प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम्॥ २१ ॥

अब मैं जगत्के कर्मपर दृष्टि रखनेवाले तथा यज्ञ, दान और सुकृतको जाननेवाले देवताओंका परिचय देता हूँ। ये देवगण स्वयं अदृश्य रहकर समस्त प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंको देखते रहते हैं। इनके नाम ये हैं—मृत्यु, काल, विश्वेदेव और मूर्तिमान् पितृगण। इनके सिवा तपस्वी मुनि तथा तप एवं मोक्षमें संलग्न सिद्ध महर्षि भी सम्पूर्ण जगत्पर हितकी दृष्टि रखते हैं। ये सब अपना नाम-कीर्तन करनेवाले मनुष्योंको शुभ फल देते हैं ॥ १८-२१ ॥

प्रजापतिकृतानेताँल्लोकान् दिव्येन तेजसा।
वसन्ति सर्वलोकेषु प्रयताः सर्वकर्मसु ॥ २२ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने जिन लोकोंकी रचना की है, उन सबमें ये अपने दिव्य तेजसे निवास करते हैं तथा शुद्धभावसे सबके कर्मोंका निरीक्षण करते हैं ॥ २२ ॥

प्राणानामीश्वरानेतान् कीर्तयन् प्रयतो नरः।
धर्मार्थकामैर्विपुलैर्युज्यते सह नित्यशः ॥ २३ ॥

ये सबके प्राणोंके स्वामी हैं। जो मनुष्य शुद्धभावसे नित्य इनका कीर्तन करता है, उसे प्रचुरमात्रामें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

लोकांश्च लभते पुण्यान् विश्वेश्वरकृताञ्छुभान्।
एते देवास्त्रयस्त्रिंशत् सर्वभूतगणेश्वराः ॥ २४ ॥

वह लोकनाथ ब्रह्माजीके रचे हुए मङ्गलमय पवित्र लोकोंमें जाता है। ऊपर बताये हुए तैंतीस देवता सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी हैं ॥ २४ ॥

नन्दीश्वरो महाकायो ग्रामणीर्वृषभध्वजः।
ईश्वराः सर्वलोकानां गणेश्वरविनायकाः ॥ २५ ॥
सौम्या रौद्रा गणाश्चैव योगभूतगणास्तथा।
ज्योतींषि सरितो व्योम सुपर्णः पतगेश्वरः ॥ २६ ॥
पृथिव्यां तपसा सिद्धाः स्थावराश्च चराश्च ह।
हिमवान् गिरयः सर्वे चत्वारश्च महार्णवाः ॥ २७ ॥
भवस्यानुचराश्चैव हरतुल्यपराक्रमाः।
विष्णुर्देवोऽथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह॥ २८ ॥
कीर्तयन् प्रयतः सर्वान् सर्वपापैः प्रमुच्यते।

इसी प्रकार नन्दीश्वर, महाकाय, ग्रामणी, वृषभध्वज, सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी गणेश, विनायक, सौम्यगण, रुद्रगण, योगगण, भूतगण, नक्षत्र, नदियाँ, आकाश, पक्षिराज गरुड़, पृथ्वीपर तपसे सिद्ध हुए महात्मा, स्थावर, जङ्गम, हिमालय, समस्त पर्वत, चारों समुद्र, भगवान् शङ्करके तुल्य पराक्रमवाले उनके अनुचरगण, विष्णुदेव, जिष्णु, स्कन्द और अम्बिका—इन सबके नामोंका शुद्धभावसे कीर्तन करनेवाले मनुष्यके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २५-२८½ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मानवानृषिसत्तमान् ॥ २९ ॥
यवक्रीतश्च रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुतः ॥ ३० ॥
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा ।
ब्रह्मतेजोमयाः सर्वे कीर्तिता लोकभावनाः ॥ ३१ ॥

अब श्रेष्ठ महर्षियोंके नाम बता रहा हूँ—यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, उशिजके पुत्र कक्षीवान्, अङ्गिरानन्दन बल, मेधातिथिके पुत्र कण्व ऋषि और बर्हिषद—ये सब ऋषि ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और लोकस्रष्टा बतलाये गये हैं ॥

लभन्ते हि शुभं सर्वे रुद्रानलवसुप्रभाः ।
भुवि कृत्वा शुभं कर्म मोदन्ते दिवि दैवतैः ॥ ३२ ॥

इनका तेज रुद्र, अग्नि तथा वसुओंके समान है। ये पृथ्वीपर शुभकर्म करके अब स्वर्गमें देवताओंके साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं और शुभफलका उपभोग करते हैं ॥

महेन्द्रगुरवः सप्त प्राचीं वै दिशमाश्रिताः ।
प्रयतः कीर्तयेदेतान्शक्रलोके महीयते ॥ ३३ ॥

महेन्द्रके गुरु सातों महर्षि पूर्व दिशामें निवास करते हैं। जो पुरुष शुद्धचित्तसे इनका नाम लेता है, वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३३ ॥

उन्मुचुः प्रमुचुश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ।
दृढव्यश्चोर्ध्वबाहुश्च तृणसोमाङ्गिरास्तथा ॥ ३४ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
धर्मराजर्त्विजः सप्त दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ ३५ ॥

उन्मुचु, प्रमुचु, शक्तिशाली स्वस्त्यात्रेय, दृढव्य, ऊर्ध्वबाहु, तृणसोमाङ्गिरा और मित्रावरुणके पुत्र महाप्रतापी अगस्त्य मुनि—ये सात धर्मराज (यम) के ऋत्विज हैं और दक्षिण दिशामें निवास करते हैं ॥ ३४-३५ ॥

दृढेयुश्च ऋतेयुश्च परिव्याधश्च कीर्तिमान् ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसंनिभाः ॥ ३६ ॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा ऋषिः सारस्वतस्तथा ।
वरुणस्यर्त्विजः सप्त पश्चिमां दिशमाश्रिताः ॥ ३७ ॥

दृढेयु, ऋतेयु, कीर्तिमान् परिव्याध, सूर्यके सदृश तेजस्वी एकत, द्वित, त्रित तथा धर्मात्मा अत्रिके पुत्र सारस्वत मुनि—ये सात वरुणके ऋत्विज हैं और पश्चिम दिशामें इनका निवास है ॥ ३६-३७ ॥

अत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥ ३८ ॥
ऋचीकतनयश्चोग्रो जमदग्निः प्रतापवान् ।
धनेश्वरस्य गुरवः सप्तैते उत्तराश्रिताः ॥ ३९ ॥

अत्रि, भगवान् वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र और ऋचीकनन्दन प्रतापवान् उग्रस्वभाववाले जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहनेवाले और कुबेरके गुरु (ऋत्विज) हैं ॥ ३८-३९ ॥

अपरे मुनयः सप्त दिक्षु सर्वास्वधिष्ठिताः ।
कीर्तिस्वस्तिकरा नृणां कीर्तिता लोकभावनाः ॥ ४० ॥

इनके सिवा सात महर्षि और हैं, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें निवास करते हैं। वे जगत्को उत्पन्न करनेवाले हैं। उपर्युक्त महर्षियोंका यदि नाम लिया जाय तो वे मनुष्योंकी कीर्ति बढ़ाते और उनका कल्याण करते हैं ॥ ४० ॥

धर्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च ।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ॥ ४१ ॥

धर्म, काम, काल, वसु, वासुकि, अनन्त और कपिल—ये सात पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

रामो व्यासस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा च लोमशः ।
इत्येते मुनयो दिव्या एकैकः सप्त सप्तधा ॥ ४२ ॥

परशुराम, व्यास, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और लोमश—ये चारों दिव्य मुनि हैं। इनमेंसे एक-एक सात-सात ऋषियोंके समान हैं ॥ ४२ ॥

शान्तिस्वस्तिकरा लोके दिशां पालाः प्रकीर्तिताः ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तन्मुखः शरणं व्रजेत् ॥ ४३ ॥

ये सब ऋषि इस जगत्में शान्ति और कल्याणका विस्तार करनेवाले तथा दिशाओंके पालक कहे जाते हैं। ये जिस-जिस दिशामें निवास करें उस-उस दिशाकी ओर मुँह करके इनकी शरण लेनी चाहिये ॥ ४३ ॥

स्रष्टारः सर्वभूतानां कीर्तिता लोकपावनाः ।
संवर्तो मेरुसावर्णो मार्कण्डेयश्च धार्मिकः ॥ ४४ ॥
सांख्ययोगौ नारदश्च दुर्वासाश्च महानृषिः ।
अत्यन्ततपसो दान्तास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ४५ ॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा और लोकपावन बताये गये हैं। संवर्त, मेरुसावर्णि, धर्मात्मा मार्कण्डेय, सांख्य, योग, नारद, महर्षि दुर्वासा—ये सात ऋषि अत्यन्त तपस्वी, जितेन्द्रिय और तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥ ४४-४५ ॥

अपरे रुद्रसंकाशाः कीर्तिता ब्रह्मलौकिकाः ।
अपुत्रो लभते पुत्रं दरिद्रो लभते धनम् ॥ ४६ ॥

इन सब ऋषियोंके अतिरिक्त बहुत-से महर्षि रुद्रके समान प्रभावशाली हैं। इनका कीर्तन करनेसे ये ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। उनके कीर्तनसे पुत्रहीनको पुत्र मिलता है और दरिद्रको धन ॥ ४६ ॥

तथा धर्मार्थकामेषु सिद्धिं च लभते नरः ।
पृथुं वैन्यं नृपवरं पृथ्वी यस्याभवत् सुता ॥ ४७ ॥
प्रजापतिं सार्वभौमं कीर्तयेद् वसुधाधिपम् ।

इनका नाम लेनेवाले मनुष्यके धर्म, अर्थ और काम-की सिद्धि होती है। वेनकुमार नृपश्रेष्ठ पृथुका, जिनकी यह पृथ्वी पुत्री हो गयी थी तथा जो प्रजापति एवं सार्वभौम सम्राट् थे, कीर्तन करना चाहिये ॥ ४७½ ॥

आदित्यवंशप्रभवं महेन्द्रसमविक्रमम् ॥ ४८ ॥
पुरूरवसमैलं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
बुधस्य दयितं पुत्रं कीर्तयेद् वसुधाधिपम् ॥ ४९ ॥

सूर्यवंशमें उत्पन्न और देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी इला और बुधके प्रिय पुत्र त्रिभुवनविख्यात राजा पुरूरवाका नाम कीर्तन करें ॥ ४८-४९ ॥

त्रिलोकविश्रुतं वीरं भरतं च प्रकीर्तयेत् ।
गवामयेन यज्ञेन येनेष्टं वै कृते युगे ॥ ५० ॥
रन्तिदेवं महादेवं कीर्तयेत् परमद्युतिम् ।
विश्वजित्तपसोपेतं लक्षण्यं लोकपूजितम् ॥ ५१ ॥

त्रिलोकीके विख्यात वीर भरतका नामोच्चारण करे, जिन्होंने सत्ययुगमें गवामय यज्ञका अनुष्ठान किया था। उन विश्वविजयिनी तपस्यासे युक्त, शुभ लक्षणसम्पन्न एवं लोकपूजित परम तेजस्वी, महाराज रन्तिदेवका भी कीर्तन करे ॥ ५०-५१ ॥

तथा श्वेतं च राजर्षि कीर्तयेत् परमद्युतिम् ।
सगरस्यात्मजा येन प्लाविताास्तारितास्तथा ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी राजर्षि श्वेतका तथा जिन्होंने सगरपुत्रोंको गङ्गाजलसे आप्लावित करके उनका उद्धार किया था, उन महाराज भगीरथका भी कीर्तन एवं स्मरण करे ॥ ५२॥

हुताशनसमानेतान् महारूपान् महौजसः ।
उग्रकायान् महासत्त्वान् कीर्तयेत् कीर्तिवर्धनान् ।५३।

ये सभी राजा अग्निके समान तेजस्वी, अत्यन्त रूपवान्, महान् बलसम्पन्न, उग्रशरीरवाले, परम धीर और अपने कीर्तिको बढ़ानेवाले थे। इन सबका कीर्तन करना चाहिये ॥

देवानृषिगणांश्चैव नृपांश्च जगतीश्वरान् ।
सांख्यं योगं च परमं हव्यं कव्यं तथैव च ॥ ५४ ॥
कीर्तितं परमं ब्रह्म सर्वश्रुतिपरायणम् ।
मङ्गल्यं सर्वभूतानां पवित्रं बहुकीर्तितम् ॥ ५५ ॥
व्याधिप्रशमनं श्रेष्ठं पौष्टिकं सर्वकर्मणाम् ।
प्रयतः कीर्तयेच्चैतान् कल्यं सायं च भारत ॥ ५६ ॥

देवताओं, ऋषियों तथा पृथ्वीपर शासन करनेवाले राजाओंका कीर्तन करना चाहिये। सांख्ययोग, उत्तम हव्य-कव्य तथा समस्त श्रुतियोंके आधारभूत परब्रह्म परमात्मा-का कीर्तन सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये मङ्गलमय परम पावन है। इनके बारंबार कीर्तनसे रोगोंका नाश होता है। इससे सब कर्मोंमें उत्तम पुष्टि प्राप्त होती है। भारत! मनुष्यको प्रति-दिन सबेरे और शामके समय शुद्धचित्त होकर भगवत्-कीर्तनके साथ ही उपर्युक्त देवताओं, ऋषियों और राजाओंके भी नाम लेने चाहिये ॥ ५४-५६ ॥

एते वै पान्ति वर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च ।
एते विनायकाः श्रेष्ठा दक्षाः शान्ता जितेन्द्रियाः॥ ५७ ॥

ये देवता आदि जगत्की रक्षा करते, पानी बरसाते, प्रकाश और हवा देते तथा प्रजाकी सृष्टि करते हैं। ये ही विघ्नोंके राजा विनायक, श्रेष्ठ, दक्ष, क्षमाशील और जितेन्द्रिय हैं ॥ ५७ ॥

नराणामशुभं सर्वं व्यपोहन्ति प्रकीर्तिताः ।
साक्षिभूता महात्मानः पापस्य सुकृतस्य च ॥ ५८ ॥

ये महात्मा सब मनुष्योंके पाप-पुण्यके साक्षी हैं। इनका नाम लेनेपर ये सब लोग मानवोंके अमङ्गलका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

एतान् वै कल्यमुत्थाय कीर्तयञ्शुभमश्नुते ।
नाग्निचौरभयं तस्य न मार्गप्रतिरोधनम् ॥ ५९ ॥

जो सबेरे उठकर इनके नाम और गुणोंका उच्चारण करता है, उसे शुभ कर्मोंके भोग प्राप्त होते हैं। उसके यहाँ आग और चोरका भय नहीं रहता तथा उसका मार्ग कभी रोका नहीं जाता ॥ ५९ ॥

एतान् कीर्तयतां नित्यं दुःस्वप्नो नश्यते नृणाम् ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत्॥ ६० ॥

प्रतिदिन इन देवताओंका कीर्तन करनेसे मनुष्योंका दुःस्वप्न नष्ट हो जाता है। वह सब पापोंसे मुक्त होता है और कुशलपूर्वक घर लौटता है ॥ ६० ॥

दीक्षाकालेषु सर्वेषु यः पठेन्नियतो द्विजः ।
न्यायवानात्मनिरतः क्षान्तो दान्तोऽनसूयकः ॥ ६१ ॥

जो द्विज दीक्षाके सभी अवसरोंपर नियमपूर्वक इन नामोंका पाठ करता है, वह न्यायशील, आत्मनिष्ठ, क्षमावान्, जितेन्द्रिय तथा दोष-दृष्टिसे रहित होता है ॥ ६१ ॥

रोगार्तो व्याधियुक्तो वा पठन् पापात् प्रमुच्यते ।
वास्तुमध्ये तु पठतः कुले स्वस्त्ययनं भवेत् ॥ ६२ ॥

रोग-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य इसका पाठ करनेपर पापमुक्त एवं नीरोग हो जाता है। जो अपने घरके भीतर इन नामोंका पाठ करता है, उसके कुलका कल्याण होता है ॥ ६२ ॥

क्षेत्रमध्ये तु पठतः सर्वं सस्यं प्ररोहति ।
गच्छतः क्षेममध्वानं ग्रामान्तरगतः पठन् ॥ ६३ ॥

खेतमें इस नाममालाको पढ़नेवाले मनुष्यकी सारी खेती जमती और उपजती है। जो गाँवके भीतर रहकर इस नामावलीका पाठ करता है, यात्रा करते समय उसका मार्ग सकुशल समाप्त होता है ॥ ६३ ॥

आत्मनश्च सुतानां च दाराणां च धनस्य च ।
बीजानामोषधीनां च रक्षामेतां प्रयोजयेत् ॥ ६४ ॥

अपनी, पुत्रोंकी, पत्नीकी, धनकी तथा बीजों और ओषधियोंकी भी रक्षाके लिये इस नामावलीका प्रयोग करे ॥

एतान् संग्रामकाले तु पठतः क्षत्रियस्य तु ।
व्रजन्ति रिपवो नाशं क्षेमं च परिवर्तते ॥ ६५ ॥

युद्धकालमें इन नामोंका पाठ करनेवाले क्षत्रियके शत्रु भाग जाते हैं और उसका सब ओरसे कल्याण होता है ॥

एतान् दैवे च पित्र्ये च पठतः पुरुषस्य हि ।
भुञ्जते पितरः कव्यं हव्यं च त्रिदिवौकसः ॥ ६६ ॥

जो देवयज्ञ और श्राद्धके समय उपर्युक्त नामोंका पाठ करता है, उस पुरुषके हव्यको देवता और कव्यको पितर सहर्ष स्वीकार करते हैं ॥ ६६ ॥

न व्याधिश्वापदभयं न द्विपान्न हि तस्करात् ।
कश्मलं लघुतां याति पाप्मना च प्रमुच्यते ॥ ६७ ॥

उसके यहाँ रोग या हिंसक जन्तुओंका भय नहीं रहता। हाथी अथवा चोरसे भी कोई बाधा नहीं आती। शोक कम हो जाता है और पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥६७॥

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य जहाजमें या किसी सवारीमें बैठनेपर, विदेशमें अथवा राजदरबारमें जानेपर मन-ही-मन उत्तम गायत्री-मन्त्रका जप करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते ॥ ६९ ॥

गायत्रीका जप करनेसे द्विजको राजा, पिशाच, राक्षस, आग, पानी, हवा और साँप आदिका भय नहीं होता ॥६९॥

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ॥ ७० ॥

जो उत्तम गायत्री-मन्त्रका जप करता है, वह पुरुष चारों वर्णों और विशेषतः चारों आश्रमोंमें सदा शान्ति स्थापन करता है ॥ ७० ॥

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥ ७१ ॥

जहाँ गायत्रीका जप किया जाता है, उस घरके काठके किवाड़ोंमें आग नहीं लगती। वहाँ बालककी मृत्यु नहीं होती तथा उस घरमें साँप नहीं टिकते हैं ॥ ७१ ॥

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥ ७२ ॥

उस घरके निवासी, जो परब्रह्मस्वरूप गायत्री-मन्त्रके गुणोंका कीर्तन सुनते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता है तथा वे परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७२ ॥

गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥ ७३ ॥

गौओंके बीचमें गायत्रीका जप करनेवाले पुरुषपर गौओं-का वात्सल्य बहुत बढ़ जाता है। प्रस्थान-कालमें अथवा परदेशमें सभी अवस्थाओंमें मनुष्यको इसका जप करना चाहिये ॥ ७३ ॥

जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥ ७४ ॥

नरेश्वर ! सदा शुद्धचित्त होकर जप करे, होम करनेवाले ऋषियोंके लिये यह परम गोपनीय मन्त्र है ॥ ७४ ॥

याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम् ।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥ ७५ ॥

यह सिद्धिको प्राप्त हुए महर्षि वेदव्यासका कहा हुआ यथार्थ एवं प्राचीन इतिहास है। इसमें पराशर मुनिके दिव्य मतका वर्णन है। पूर्वकालमें इन्द्रको इसका उपदेश किया गया था ॥ ७५ ॥

तदेतत् ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्म सनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ७६ ॥

वही यह मन्त्र तुमसे कहा गया है। यह गायत्री-मन्त्र सत्य एवं सनातन ब्रह्मरूप है। यह सम्पूर्ण भूतोंका हृदय एवं सनातन श्रुति है ॥ ७६ ॥

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ॥ ७७ ॥

चन्द्र, सूर्य, रघु और कुरुके वंशमें उत्पन्न हुए सभी राजा पवित्र भावसे प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रका जप करते आये हैं। गायत्री संसारके प्राणियोंकी परमगति है ॥ ७७ ॥

अभ्यासे नित्यं देवानां सप्तर्षीणां ध्रुवस्य च ।
मोक्षणं सर्वकृच्छ्राणां मोचयत्यशुभात् सदा ॥ ७८ ॥

प्रतिदिन देवताओं, सप्तर्षियों और ध्रुवका बारंबार स्मरण करनेसे समस्त संकटोंसे छुटकारा मिल जाता है। उनका कीर्तन सदा ही अशुभ अर्थात् पापके बन्धनसे मुक्त कर देता है ॥ ७८ ॥

वृद्धैः काश्यपगौतमप्रभृतिभिर्भृग्वङ्गिरोऽत्र्यादिभिः
शुक्रागस्त्यबृहस्पतिप्रभृतिभिर्ब्रह्मर्षिभिः सेवितम् ।
भारद्वाजमतमृचीकतनयैः प्राप्तं वसिष्ठात् पुनः
सावित्रीमधिगम्य शक्रवसुभिः कृत्स्ना जिता दानवाः ॥

काश्यप, गौतम, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, शुक्र, अगस्त्य और बृहस्पति आदि वृद्ध ब्रह्मर्षियोंने सदा ही गायत्री-मन्त्र-का सेवन किया है। महर्षि भारद्वाजने जिसका भलीभाँति मनन किया है, उस गायत्री-मन्त्रको ऋचीकके पुत्रोंने उन्हींसे प्राप्त किया तथा इन्द्र और वसुओंने वशिष्ठजीसे

सावित्री-मन्त्रको पाकर उसके प्रभावसे सम्पूर्ण दानवोंको परास्त कर दिया ॥ ७९ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
दिव्यां च भारतकथां कथयेच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥

जो मनुष्य विद्वान् और बहुश्रुत ब्राह्मणको सौ गौओंके सींगोंमें सोना मढ़ाकर उनका दान करता है और जो केवल दिव्य महाभारत कथाका प्रतिदिन प्रवचन करता है, उन दोनोंको एक-सा पुण्य फल प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

धर्मो विवर्धति भृगोः परिकीर्तनेन
वीर्यं विवर्धति वसिष्ठनमोनतेन ।
संग्रामजिद् भवति चैव रघुं नमस्यन्
स्यादश्विनौ च परिकीर्तयतो न रोगः ॥

भृगुका नाम लेनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। वसिष्ठ मुनिको नमस्कार करनेसे वीर्य बढ़ता है। राजा रघुको प्रणाम करनेवाला क्षत्रिय संग्रामविजयी होता है तथा अश्विनीकुमारोंका नाम लेनेवाले मनुष्यको कभी रोग नहीं सताता ॥

एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती ।
विवक्षुरसि यच्चान्यत् तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥८२॥

राजन्! यह सनातन ब्रह्मरूपा गायत्रीका माहात्म्य मैंने तुमसे कहा है। भारत! अब और जो कुछ भी तुम पूछना चाहते हो, वह भी तुम्हें बताऊँगा ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सावित्रीव्रतोपाख्याने पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें सावित्रीमन्त्रकी महिमाविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्याः के नमस्कार्याः कथं वर्तेत केषु च ।
किमाचारः कीदृशेषु पितामह न रिष्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें कौन मनुष्य पूज्य हैं? किनको नमस्कार करना चाहिये? किनके साथ कैसा बर्ताव करना उचित है तथा कैसे लोगोंके साथ किस प्रकारका आचरण किया जाय तो वह हानिकर नहीं होता?॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां परिभवः सादयेदपि देवताः ।
ब्राह्मणांस्तु नमस्कृत्य युधिष्ठिर न रिष्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! ब्राह्मणोंका अपमान देवताओंको भी दुःखमें डाल सकता है। परंतु यदि ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उनके साथ विनयपूर्ण बर्ताव किया जाय तो कभी कोई हानि नहीं होती ॥ २ ॥

ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत् ।
ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः ॥३॥

अतः ब्राह्मणोंकी पूजा करे। ब्राह्मणोंको नमस्कार करे। उनके प्रति वैसा ही बर्ताव करे, जैसा सुयोग्य पुत्र अपने पिताके प्रति करता है; क्योंकि मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकोंको धारण करते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः ।
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये ॥ ४ ॥

ब्राह्मण समस्त जगत्‌की धर्ममर्यादाका संरक्षण करनेवाले सेतुके समान हैं। वे धनका त्याग करके प्रसन्न होते हैं और वाणीका संयम रखते हैं ॥ ४ ॥

रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रताः ।
प्रणेतारश्च लोकानां शास्त्राणां च यशस्विनः ॥ ५ ॥

वे समस्त भूतोंके लिये रमणीय, उत्तम निधि, दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, लोकनायक, शास्त्रोंके निर्माता और परम यशस्वी हैं ॥ ५ ॥

तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ६ ॥

सदा तपस्या उनका धन और वाणी उनका महान् बल है। वे धर्मोंकी उत्पत्तिके कारण, धर्मके ज्ञाता और सूक्ष्मदर्शी हैं ॥ ६ ॥

धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः ।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ॥७॥

वे धर्मकी ही इच्छा रखनेवाले, पुण्यकर्मोंद्वारा धर्ममें ही स्थित रहनेवाले और धर्मके सेतु हैं। उन्हींका आश्रय लेकर चारों प्रकारकी सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ७ ॥

पन्थानः सर्वनेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा ॥ ८ ॥

ब्राह्मण ही सबके पथप्रदर्शक, नेता और सनातन यज्ञ-निर्वाहक हैं। वे बाप-दादोंकी चलायी हुई भारी धर्म-मर्यादाका भार सदा वहन करते हैं ॥ ८ ॥

धुरि ये नावसीदन्ति विषये सद्गवा इव ।

पितृदेवातिथिमुखा हव्यकव्याग्रभोजिनः ॥ ९ ॥

जैसे अच्छे बैल बोझ ढोनेमें शिथिलता नहीं दिखाते, उसी प्रकार वे धर्मका भार वहन करनेमें कष्टका अनुभव नहीं करते हैं । वे ही देवता, पितर और अतिथियोंके मुख तथा हव्य-कव्यमें प्रथम भोजनके अधिकारी हैं ॥ ९ ॥

भोजनादेव लोकांस्त्रींस्त्रायन्ते महतो भयात् ।
दीपः सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ॥ १० ॥

ब्राह्मण भोजनमात्र करके तीनों लोकोंकी महान् भयसे रक्षा करते हैं । वे सम्पूर्ण जगत्‌के लिये दीपकी भाँति प्रकाशक तथा नेत्रवालोंके भी नेत्र हैं ॥ १० ॥

सर्वशिक्षा श्रुतिधना निपुणा मोक्षदर्शिनः ।
गतिज्ञाः सर्वभूतानामध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण सबको सीख देनेवाले हैं । वेद ही उनका धन है । वे शास्त्रज्ञानमें कुशल, मोक्षदर्शी, समस्त भूतोंकी गतिके ज्ञाता और अध्यात्म-तत्त्वका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशयाः ।
परावरविशेषज्ञा गन्तारः परमां गतिम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण आदि, मध्य और अन्तके ज्ञाता, संशयरहित, भूत-भविष्यका विशेष ज्ञान रखनेवाले तथा परम गतिको जानने और पानेवाले हैं ॥ १२ ॥

विमुक्ता धूतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
मानार्हा मानिता नित्यं ज्ञानविद्भिर्महात्मभिः ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त और निष्पाप हैं । उनके चित्तपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता । वे सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करनेवाले और सम्मान पानेके योग्य हैं । ज्ञानी महात्मा उन्हें सदा ही आदर देते हैं ॥१३॥

चन्दने मलपङ्के च भोजनेऽभोजने समाः ।
समं येषां दुकूलं च तथा क्षौमाजिनानि च ॥ १४ ॥

वे चन्दन और मलकी कीचड़में, भोजन और उपवासमें समान दृष्टि रखते हैं । उनके लिये साधारण वस्त्र, रेशमी वस्त्र और मृगछाला समान हैं ॥ १४ ॥

तिष्ठेयुरप्यभुञ्जाना बहूनि दिवसान्यपि ।
शोषयेयुश्च गात्राणि स्वाध्यायैः संयतेन्द्रियाः ॥ १५ ॥

वे बहुत दिनोंतक बिना खाये रह सकते हैं और अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर स्वाध्याय करते हुए शरीरको सुखा सकते हैं ॥ १५ ॥

अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् ।
लोकानन्यान् सृजेयुस्ते लोकपालांश्च कोपिताः ॥ १६ ॥

ब्राह्मण अपने तपोबलसे जो देवता नहीं है, उसे भी देवता बना सकते हैं । यदि वे क्रोधमें भर जायँ तो देवताओंको भी देवत्वसे भ्रष्ट कर सकते हैं । दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालोंकी रचना कर सकते हैं ॥ १६ ॥

अपेयः सागरो येषामपि शापान्महात्मनाम् ।
येषां कोपाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥ १७ ॥

उन्हीं महात्माओंके शापसे समुद्रका पानी पीनेयोग्य नहीं रहा । उनकी क्रोधाग्नि दण्डकारण्यमें आजतक शान्त नहीं हुई ॥ १७ ॥

देवानामपि ये देवाः कारणं कारणस्य च ।
प्रमाणस्य प्रमाणं च कस्तानभिभवेद् बुधः ॥ १८ ॥

वे देवताओंके भी देवता, कारणके भी कारण और प्रमाणके भी प्रमाण हैं । भला कौन मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी ब्राह्मणोंका अपमान करेगा ॥ १८ ॥

येषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति ।
तपोविद्याविशेषात्तु मानयन्ति परस्परम् ॥ १९ ॥

ब्राह्मणोंमें कोई बूढ़े हों या बालक सभी सम्मानके योग्य हैं । ब्राह्मणलोग आपसमें तप और विद्याकी अधिकता देखकर एक-दूसरेका सम्मान करते हैं ॥ १९ ॥

अविद्वान् ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत् ।
विद्वान् भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसंनिभः ॥ २० ॥

विद्याहीन ब्राह्मण भी देवताके समान और परम पवित्र पात्र माना गया है । फिर जो विद्वान् है उसके लिये तो कहना ही क्या है । वह महान् देवताके समान है और भरे हुए महासागरके समान सद्गुणसम्पन्न है ॥ २० ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ २१ ॥

ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान् इस भूतलका महान् देवता है । जैसे अग्नि पञ्चभू-संस्कारपूर्वक स्थापित हो या न हो, वह महान् देवता ही है ॥ २१ ॥

श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हविर्यज्ञे च विधिवद् गृह एवातिशोभते ॥ २२ ॥

तेजस्वी अग्निदेव श्मशानमें हों तो भी दूषित नहीं होते । विधिवत् हविष्यसे सम्पादित होनेवाले यज्ञमें तथा घरमें भी उनकी अधिकाधिक शोभा होती है ॥ २२ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार यद्यपि ब्राह्मण सब प्रकारके अनिष्ट कर्मोंमें लगा हो तो भी वह सर्वथा माननीय है । उसे परम देवता समझो ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ब्राह्मणप्रशंसायामेकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ब्राह्मणकी प्रशंसाविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥



भगवान् दत्तात्रेयकी कार्तवीर्यपर कृपा

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कार्तवीर्य अर्जुनको दत्तात्रेयजीसे चार वरदान प्राप्त होनेका एवं उनमें अभिमानकी उत्पत्तिका वर्णन तथा ब्राह्मणोंकी महिमाके विषयमें कार्तवीर्य अर्जुन और वायुदेवताके संवादका उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

कां तु ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा जनाधिप ।
कं वा कर्मोदयं मत्वा तानर्चसि महामते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जनेश्वर ! आप कौन-सा फल देखकर ब्राह्मणपूजामें लगे रहते हैं ? महामते ! अथवा किस कर्मका उदय सोचकर आप उन ब्राह्मणोंकी पूजा-अर्चा करते हैं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पवनस्य च संवादमर्जुनस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें विज्ञपुरुष कार्तवीर्य अर्जुन और वायुदेवताके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

सहस्रभुजभृच्छ्रीमान् कार्तवीर्योऽभवत् प्रभुः ।
अस्य लोकस्य सर्वस्य माहिष्मत्यां महाबलः ॥ ३ ॥
स तु रत्नाकरवतीं सद्वीपां सागराम्बराम् ।
शशास पृथिवीं सर्वां हैहयः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥

पूर्वकालकी बात है—माहिष्मती नगरीमें सहस्रभुजधारी परम कान्तिमान् कार्तवीर्य अर्जुन नामवाला एक हैहयवंशी राजा समस्त भूमण्डलका शासन करता था । वह महान् बलवान् और सत्यपराक्रमी था । इस लोकमें सर्वत्र उसीका आधिपत्य था ॥ ३-४ ॥

स्ववित्तं तेन दत्तं तु दत्तात्रेयाय कारणे ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य विनयं श्रुतमेव च ॥ ५ ॥
आराधयामास च तं कृतवीर्यात्मजो मुनिम् ।

एक समय कृतवीर्यकुमार अर्जुनने क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए विनय और शास्त्रज्ञानके अनुसार बहुत दिनोंतक मुनिवर दत्तात्रेयकी आराधना की तथा किसी कारणवश अपना सारा धन उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ५½ ॥

न्यमन्त्रयत संतुष्टो द्विजश्चैनं वरैस्त्रिभिः ॥ ६ ॥
स वरैश्छन्दितस्तेन नृपो वचनमब्रवीत् ।
सहस्रबाहुर्भूयां वै चमूमध्ये गृहेऽन्यथा ॥ ७ ॥
मम बाहुसहस्रं तु पश्यतां सैनिका रणे ।
विक्रमेण महीं कृत्स्नां जयेयं संशितव्रत ॥ ८ ॥
तां च धर्मेण सम्प्राप्य पालयेयमतन्द्रितः ।
चतुर्थं तु वरं याचे त्वामहं द्विजसत्तम ॥ ९ ॥
तं ममानुग्रहकृते दातुमर्हस्यनिन्दित ।
अनुशासन्तु मां सन्तो मिथ्योद्वृत्तं त्वदाश्रयम् ॥ १० ॥

विप्रवर दत्तात्रेय उसके ऊपर बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उसे तीन वर माँगनेकी आज्ञा दी । उनके द्वारा वर माँगनेकी आज्ञा मिलनेपर राजाने कहा—'भगवन् ! मैं युद्धमें तो हजार भुजाओंसे युक्त रहूँ; किंतु घरपर मेरी दो ही बाँहें रहें । रणभूमिमें सभी सैनिक मेरी एक हजार भुजाएँ देखें । कठोर व्रतका पालन करनेवाले गुरुदेव ! मैं अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लूँ । इस प्रकार पृथ्वीको धर्मके अनुसार प्राप्तकर मैं आलस्यरहित हो उसका पालन करूँ । द्विजश्रेष्ठ ! इन तीन वरोंके सिवा एक चौथा वर भी मैं आपसे माँगता हूँ । अनिन्द्य महर्षे ! मुझपर कृपा करनेके लिये आप वह वर भी अवश्य प्रदान करें । मैं आपका आश्रित भक्त हूँ । यदि कभी मैं सन्मार्गका परित्याग करके असत्य मार्गका आश्रय लूँ तो श्रेष्ठ पुरुष मुझे राहपर लानेके लिये शिक्षा दें' ॥ ६–१० ॥

इत्युक्तः स द्विजः प्राह तथास्त्विति नराधिपम् ।
एवं समभवंस्तस्य वरास्ते दीप्ततेजसः ॥ ११ ॥

उसके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर दत्तात्रेयजीने उस नरेशसे कहा—'तथास्तु—ऐसा ही हो ।' फिर तो उस तेजस्वी राजाके लिये वे सभी वर उसी रूपमें सफल हुए ॥ ११ ॥

ततः स रथमास्थाय ज्वलनार्कसमद्युतिम् ।
अब्रवीद् वीर्यसम्मोहात् को वास्ति सदृशो मम ॥ १२ ॥
धैर्यैर्वीर्यैर्यशःशौर्यैर्विक्रमेणौजसापि वा ।

तदनन्तर राजा कार्तवीर्य अर्जुन सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी रथपर बैठकर (सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पानेके पश्चात्) बलके अभिमानसे मोहित हो कहने लगा—'धैर्य, वीर्य, यश, शूरता, पराक्रम और ओजमें मेरे समान कौन है ?' ॥

तद्वाक्यान्ते चान्तरिक्षे वागुवाचाशरीरिणी ॥ १३ ॥
न त्वं मूढ विजानीषे ब्राह्मणं क्षत्रियाद् वरम् ।
सहितो ब्राह्मणेनेह क्षत्रियः शास्ति वै प्रजाः ॥ १४ ॥

उसकी यह बात पूरी होते ही आकाशवाणी हुई—'मूर्ख ! तुझे पता नहीं है कि ब्राह्मण क्षत्रियसे भी श्रेष्ठ है । ब्राह्मणकी सहायतासे ही क्षत्रिय इस लोकमें प्रजाकी रक्षा करता है' ॥ १३-१४ ॥

अर्जुन उवाच

कुर्यां भूतानि तुष्टोऽहं क्रुद्धो नाशं तथानये ।
कर्मणा मनसा वाचा न मत्तोऽस्ति वरो द्विजः ॥ १५ ॥

कार्तवीर्य अर्जुनने कहा—मैं प्रसन्न होनेपर प्राणियों-

की सृष्टि कर सकता हूँ और कुपित होनेपर उनका नाश कर सकता हूँ। मन, वाणी और क्रियाद्वारा कोई भी ब्राह्मण मुझसे श्रेष्ठ नहीं है ॥ १५ ॥

पूर्वो ब्रह्मोत्तरो वादो द्वितीयः क्षत्रियोत्तरः।
त्वयोक्तौ हेतुयुक्तौ तौ विशेषस्तत्र दृश्यते ॥ १६ ॥

इस जगत्‌में ब्राह्मणकी ही प्रधानता है—यह कथन पूर्वपक्ष है, क्षत्रियकी श्रेष्ठता ही उत्तर या सिद्धान्तपक्ष है। आपने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको प्रजापालनरूपी हेतुसे युक्त बताया है; परंतु उनमें यह अन्तर देखा जाता है ॥

ब्राह्मणाः संश्रिताः क्षत्रं न क्षत्रं ब्राह्मणाश्रितम्।
श्रिता ब्रह्मोपधा विप्राः खादन्ति क्षत्रियान् भुवि॥ १७ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियोंके आश्रित रहकर जीविका चलाते हैं, किंतु क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके आश्रयमें नहीं रहता। वेदोंके अध्ययनाध्यापनके व्याजसे जीविका चलानेवाले ब्राह्मण इस भूतलपर क्षत्रियोंके ही सहारे भोजन पाते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियेष्वाश्रितो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
क्षत्राद् वृत्तिर्ब्राह्मणानां तैः कथं ब्राह्मणो वरः ॥ १८ ॥

प्रजापालनरूपी धर्म क्षत्रियोंपर ही अवलम्बित है। क्षत्रियसे ही ब्राह्मणोंको जीविका प्राप्त होती है। फिर ब्राह्मण क्षत्रियसे श्रेष्ठ कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥

सर्वभूतप्रधानांस्तान् भैक्षवृत्तीनहं सदा।
आत्मसम्भावितान् विप्रान् स्थापयाम्यात्मनो वशे॥१९॥

आजसे मैं सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ कहे जानेवाले, सदा भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और अपनेको सबसे उत्तम माननेवाले ब्राह्मणोंको अपने अधीन रक्खूँगा ॥ १९ ॥

कथितं त्वनयासत्यं गायत्र्या कन्यया दिवि।
विजेष्याम्यवशान् सर्वान् ब्राह्मणांश्चर्मवाससः॥ २० ॥
न च मां च्यावयेद् राष्ट्रात् त्रिषु लोकेषु कश्चन।
देवो वा मानुषो वापि तस्माज्ज्येष्ठो द्विजादहम्॥ २१ ॥

आकाशमें स्थित हुई इस गायत्री नामक कन्याने जो ब्राह्मणोंको क्षत्रियोंसे श्रेष्ठ बतलाया है, वह बिल्कुल झूठ है। मृगछाला धारण करनेवाले सभी ब्राह्मण प्रायः विवश होते हैं, मैं इन सबको जीत लूँगा। तीनों लोकोंमें कोई भी देवता या मनुष्य ऐसा नहीं है, जो मुझे राज्यसे भ्रष्ट करे। अतः मैं ब्राह्मणसे श्रेष्ठ हूँ ॥ २०-२१ ॥

अद्य ब्रह्मोत्तरं लोकं करिष्ये क्षत्रियोत्तरम्।
न हि मे संयुगे कश्चित् सोढुमुत्सहते बलम् ॥ २२ ॥

संसारमें अबतक ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे, किंतु आजसे मैं क्षत्रियोंकी प्रधानता स्थापित करूँगा। संग्राममें कोई भी मेरे बलको नहीं सह सकता ॥ २२ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा वित्रस्ताभून्निशाचरी।
अथैनमन्तरिक्षस्थस्ततो वायुरभाषत ॥ २३ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर निशाचरी भी भयभीत हो गयी। तदनन्तर अन्तरिक्षमें स्थित हुए वायु देवताने कहा—॥

त्यजैनं कलुषं भावं ब्राह्मणेभ्यो नमस्कुरु।
एतेषां कुर्वतः पापं राष्ट्रक्षोभो भविष्यति ॥ २४ ॥

'कार्तवीर्य ! तुम इस कलुषित भावको त्याग दो और ब्राह्मणोंको नमस्कार करो। यदि इनकी बुराई करोगे तो तुम्हारे राज्यमें हलचल मच जायगा ॥ २४ ॥

अथवा त्वां महीपाल शमयिष्यन्ति वै द्विजाः।
निरसिष्यन्ति ते राष्ट्राद्धतोत्साहा महाबलाः ॥ २५ ॥

'अथवा महीपाल ! महान् शक्तिशाली ब्राह्मण तुम्हें शान्त कर देंगे। यदि तुमने उनके उत्साहमें बाधा डाली तो वे तुम्हें राज्यसे बाहर निकाल देंगे' ॥ २५ ॥

तं राजा कस्त्वमित्याह ततस्तं प्राह मारुतः।
वायुर्वै देवदूतोऽस्मि हितं त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥

यह बात सुनकर कार्तवीर्यने पूछा—'महानुभाव ! आप कौन हैं ?' तब वायु देवताने उससे कहा—'राजन् ! मैं देवताओंका दूत वायु हूँ और तुम्हें हितकी बात बता रहा हूँ' ॥

अर्जुन उवाच

अहो त्वयायं विप्रेषु भक्तिरागः प्रदर्शितः।
यादृशं पृथिवीभूतं तादृशं ब्रूहि मे द्विजम् ॥ २७ ॥

कार्तवीर्य अर्जुनने कहा—वायुदेव ! ऐसी बात कहकर आपने ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति और अनुरागका परिचय दिया है। अच्छा आपकी जानकारीमें यदि पृथ्वीके समान क्षमाशील ब्राह्मण हो तो ऐसे द्विजको मुझे बताइये ॥ २७ ॥

वायोर्वा सदृशं किंचिद् ब्रूहि त्वं ब्राह्मणोत्तमम्।
अपां वै सदृशं वह्नेः सूर्यस्य नभसोऽपि वा ॥ २८ ॥

अथवा यदि कोई जल, अग्नि, सूर्य, वायु एवं आकाशके समान श्रेष्ठ ब्राह्मण हो तो उसको भी बताइये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे ब्राह्मणमाहात्म्ये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और अर्जुनके संवादके प्रसङ्गमें ब्राह्मणोंका माहात्म्यविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

वायुद्वारा उदाहरणसहित ब्राह्मणोंकी महत्ताका वर्णन

वायुरुवाच

शृणु मूढ गुणान् कांश्चिद् ब्राह्मणानां महात्मनाम्।
ये त्वया कीर्तिता राजंस्तेभ्योऽथ ब्राह्मणो वरः ॥ १ ॥

वायुने कहा—मूढ़ ! मैं महात्मा ब्राह्मणोंके कुछ गुणोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । राजन् ! तुमने पृथ्वी, जल और अग्नि आदि जिन व्यक्तियोंका नाम लिया है, उन सबकी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

त्यक्त्वा महीत्वं भूमिस्तु स्पर्धयाङ्गनृपस्य ह ।
नाशं जगाम तां विप्रो व्यस्तम्भयत कश्यपः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, राजा अङ्गके साथ स्पर्धा (लाग-डाट) होनेके कारण पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी अपने लोक-धर्म धारणरूप शक्तिका परित्याग करके अदृश्य हो गयीं । उस समय विप्रवर कश्यपने अपने तपोबलसे इस स्थूल पृथ्वीको थाम रक्खा था ॥ २ ॥

अजेया ब्राह्मणा राजन् दिवि चेह च नित्यदा।
अपिबत् तेजसा ह्यापः स्वयमेवाङ्गिराः पुरा ॥ ३ ॥
स ताः पिबन् क्षीरमिव नातृप्यत महामनाः ।
अपूरयन्महौघेन महीं सर्वां च पार्थिव ॥ ४ ॥

राजन् ! ब्राह्मण इस मर्त्यलोक और स्वर्गलोकमें भी अजेय हैं । पहलेकी बात है, महामना अङ्गिरा मुनि जलको दूधकी भाँति पी गये थे ।उस समय उन्हें पीनेसे तृप्ति ही नहीं होती थी । अतः पीते-पीते वे अपने तेजसे पृथ्वीका सारा जल पी गये । पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने जलका महान् स्रोत बहाकर सम्पूर्ण पृथ्वीको भर दिया ॥ ३-४ ॥

तस्मिन्नहं च क्रुद्धे वै जगत् त्यक्त्वा ततो गतः ।
व्यतिष्ठमग्निहोत्रे च चिरमङ्गिरसो भयात् ॥ ५ ॥

वे ही अङ्गिरा मुनि एक बार मेरे ऊपर कुपित हो गये थे । उस समय उनके भयसे इस जगत्को त्यागकर मुझे दीर्घकाल तक अग्निहोत्रकी अग्निमें निवास करना पड़ा था॥

अथ शप्तश्च भगवान् गौतमेन पुरन्दरः ।
अहल्यां कामयानो वै धर्मार्थं च न हिंसितः ॥ ६ ॥

महर्षि गौतमने ऐश्वर्यशाली इन्द्रको अहल्यापर आसक्त होनेके कारण शाप दे दिया था । केवल धर्मकी रक्षाके लिये उनके प्राण नहीं लिये ॥ ६ ॥

तथा समुद्रो नृपते पूर्णो मृष्टस्य वारिणः ।
ब्राह्मणैरभिशप्तश्च बभूव लवणोदकः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! समुद्र पहले मीठे जलसे भरा रहता था, परंतु ब्राह्मणोंके शापसे उसका पानी खारा हो गया ॥७॥

सुवर्णवर्णो निर्धूमः सङ्गतोर्ध्वशिखः कविः ।
क्रुद्धेनाङ्गिरसा शप्तो गुणैरेतैर्विवर्जितः ॥ ८ ॥

अग्निका रङ्ग पहले सोनेके समान था, उसमेंसे धुआँ नहीं निकलता था और उसकी लपट सदा ऊपरकी ओर ही उठती थी, किंतु क्रोधमें भरे हुए अङ्गिरा ऋषिने उसे शाप दे दिया । इसलिये अब उसमें ये पूर्वोक्त गुण नहीं रह गये ॥ ८ ॥

मरुतश्चूर्णितान् पश्य ये ह्यासन्त महोदधिम् ।
सुवर्णधारिणा नित्यमवशप्ता द्विजातिना ॥ ९ ॥

देखो, उत्तम (ब्राह्मण) वर्णधारी ब्रह्मर्षि कपिलके शापसे दग्ध हुए सगर पुत्रोंकी, जो यज्ञसम्बन्धी अश्वकी खोज करते हुए यहाँ समुद्रतक आये थे, ये राखके ढेर पड़े हुए हैं ॥ ९ ॥

समो न त्वं द्विजातिभ्यः श्रेयो विद्धि नराधिप ।
गर्भस्थान् ब्राह्मणान् सम्यङ् नमस्यति किल प्रभुः ॥ १० ॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंकी समानता कदापि नहीं कर सकते । उनसे अपने कल्याणके उपाय जाननेका यत्न करो । राजा गर्भस्थ ब्राह्मणोंको भी भलीभाँति प्रणाम करता है ॥

दण्डकानां महद् राज्यं ब्राह्मणेन विनाशितम् ।
तालजंघं महाक्षत्रमौर्वेणैकेन नाशितम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यका विशाल साम्राज्य एक ब्राह्मणने ही नष्ट कर दिया । तालजङ्घ नामवाले महान् क्षत्रियवंशका अकेले महात्मा और्वने संहार कर डाला ॥ ११ ॥

त्वया च विपुलं राज्यं बलं धर्मं श्रुतं तथा ।
दत्तात्रेयप्रसादेन प्राप्तं परमदुर्लभम् ॥ १२ ॥

स्वयं तुम्हें भी जो परम दुर्लभ विशाल राज्य, बल, धर्म तथा शास्त्रज्ञानकी प्राप्ति हुई है, वह विप्रवर दत्तात्रेयजीकी कृपासे ही सम्भव हुआ है ॥ १२ ॥

अग्निं त्वं यजसे नित्यं कस्माद् ब्राह्मणमर्जुन ।
स हि सर्वस्य लोकस्य हव्यवाट् किं न वेत्सि तम् ॥ १३ ॥

अर्जुन ! अग्नि भी तो ब्राह्मण ही है । तुम प्रतिदिन उसका यजन क्यों करते हो ? क्या तुम नहीं जानते कि अग्नि ही सम्पूर्ण लोकोंके हव्यवाहन (हविष्य पहुँचानेवाले) हैं ॥

अथवा ब्राह्मणश्रेष्ठमनुभूतानुपालकम् ।
कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्जानन् विमुह्यसे ॥ १४ ॥

अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रत्येक जीवकी रक्षा और जीव-जगत्की सृष्टि करनेवाला है । इस बातको जानते हुए भी तुम क्यों मोहमें पड़े हुए हो ॥ १४ ॥

तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभुरव्ययः।
येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम् ॥ १५ ॥

जिन्होंने इस सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की सृष्टि की है, वे अव्यक्तस्वरूप अविनाशी प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी भी ब्राह्मण ही हैं ॥ १५ ॥

अण्डजातं तु ब्रह्माणं केचिदिच्छन्त्यपण्डिताः।
अण्डाद् भिन्नाद् बभुः शैला दिशोऽम्भःपृथिवी दिवम् १६

कुछ मूर्ख मनुष्य ब्रह्माजीको भी अण्डसे उत्पन्न मानते हैं। (उनकी मान्यता है कि) फूटे हुए अण्डसे पर्वत, दिशाएँ, जल, पृथ्वी और स्वर्गकी उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

द्रष्टव्यं नैतदेवं हि कथं जायेदजो हि सः।
स्मृतमाकाशमण्डं तु तस्माज्जातः पितामहः ॥ १७ ॥

परंतु ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि जो अजन्मा है, वह जन्म कैसे ले सकता है ? फिर भी जो उन्हें अण्डज कहा जाता है, उसका अभिप्राय यों समझना चाहिये। महाकाश ही यहाँ 'अण्ड' है; उससे पितामह प्रकट हुए हैं (इसलिये वे 'अण्डज' हैं) ॥ १७ ॥

तिष्ठेत् कथमिति ब्रूहि न किंचिद्धि तदा भवेत्।
अहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोगतः प्रभुः ॥ १८ ॥

यदि कहो, 'ब्रह्मा आकाशसे प्रकट हुए हैं तो किस आधारपर ठहरते हैं, यह बताइये; क्योंकि उस समय कोई दूसरा आधार नहीं रहता' तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मा वहाँ अहंकारस्वरूप बताये गये, जो सम्पूर्ण तेजोंमें व्याप्त एवं समर्थ बताये गये हैं ॥ १८ ॥

नास्त्यण्डमस्ति तु ब्रह्मा स राजा लोकभावनः।
इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

वास्तवमें 'अण्ड' नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर भी ब्रह्माजीका अस्तित्व है, क्योंकि वे ही जगत्‌के उत्पादक हैं। उनके ऐसा कहनेपर राजा कार्तवीर्य अर्जुन चुप हो गये। तब वायु देवता पुनः उनसे बोले ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और कार्तवीर्य अर्जुनका संवादविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणशिरोमणि उतथ्यके प्रभावका वर्णन

वायुरुवाच

इमां भूमिं द्विजातिभ्यो दित्सुर्वै दक्षिणां पुरा।
अङ्गो नाम नृपो राजंस्ततश्चिन्तां मही ययौ ॥ १ ॥

वायुदेवता कहते हैं—राजन्! पहलेकी बात है, अङ्ग नामवाले एक नरेशने इस पृथ्वीको ब्राह्मणोंके हाथमें दान कर देनेका विचार किया। यह जानकर पृथ्वीको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

धारिणीं सर्वभूतानामयं प्राप्य वरो नृपः।
कथमिच्छति मां दातुं द्विजेभ्यो ब्रह्मणः सुताम् ॥ २ ॥

वह सोचने लगी—'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली और ब्रह्माजीकी पुत्री हूँ। मुझे पाकर यह श्रेष्ठ राजा ब्राह्मणोंको क्यों देना चाहता है ॥ २ ॥

साहं त्यक्त्वा गमिष्यामि भूमित्वं ब्रह्मणः पदम्।
अयं सराष्ट्रो नृपतिर्मा भूदिति ततोऽगमत् ॥ ३ ॥

'यदि इसका ऐसा विचार है तो मैं भी भूमित्वका (लोकधारणरूप अपने धर्मका) त्याग करके ब्रह्मलोक चली जाऊँगी, जिससे यह राजा अपने राज्यसे नष्ट हो जाय।' ऐसा निश्चय करके पृथ्वी चली गयी ॥ ३ ॥

ततस्तां कश्यपो दृष्ट्वा व्रजन्तीं पृथिवीं तदा।
प्रविवेश महीं सद्यो मुक्त्वाऽऽत्मानं समाहितः॥ ४ ॥

पृथ्वीको जाते देख महर्षि कश्यप योगका आश्रय ले अपने शरीरको त्यागकर तत्काल भूमिके इस स्थूल विग्रहमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४ ॥

ऋद्धा सा सर्वतो जज्ञे तृणौषधिसमन्विता।
धर्मोत्तरा नष्टभया भूमिरासीत् ततो नृप ॥ ५ ॥

नरेश्वर! उनके प्रवेश करनेसे पृथ्वी पहलेकी अपेक्षा भी समृद्धिशालिनी हो गयी। चारों ओर घास-पात और अन्नकी अधिक उपज होने लगी। उत्तरोत्तर धर्म बढ़ने लगा और भयका नाश हो गया ॥ ५ ॥

एवं वर्षसहस्राणि दिव्यानि विपुलव्रतः।
त्रिंशतः कश्यपो राजन् भूमिरासीदतन्द्रितः ॥ ६ ॥

राजन्! इस प्रकार आलस्यशून्य हो विशाल व्रतका पालन करनेवाले महर्षि कश्यप तीस हजार दिव्य वर्षोंतक पृथ्वीके रूपमें स्थित रहे ॥ ६ ॥

अथागम्य महाराज नमस्कृत्य च कश्यपम्।
पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

महाराज! तत्पश्चात् पृथ्वी ब्रह्मलोकसे लौटकर आयी और उन महात्मा कश्यपको प्रणाम करके उनकी पुत्री बनकर रहने लगी। तभीसे उसका नाम काश्यपी हुआ ॥ ७ ॥

एष राजन्नीदृशो वै ब्राह्मणः कश्यपोऽभवत्।
अन्यं प्रब्रूहि वा त्वं च कश्यपात् क्षत्रियं वरम्॥ ८ ॥

राजन्! ये कश्यपजी ब्राह्मण ही थे; जिनका ऐसा प्रभाव देखा गया है। तुम कश्यपसे भी श्रेष्ठ किसी अन्य क्षत्रिय-को जानते हो तो बताओ॥ ८॥

तूष्णीं बभूव नृपतिः पवनस्त्वब्रवीत् पुनः।
शृणु राजन्नुतथ्यस्य जातस्याङ्गिरसे कुले॥ ९॥
भद्रा सोमस्य दुहिता रूपेण परमा मता।
तस्यास्तुल्यं पतिं सोम उतथ्यं समपश्यत॥ १०॥

राजा कार्तवीर्य अर्जुन कोई उत्तर न दे सका। वह चुपचाप ही बैठा रहा। तब पवन देवता फिर कहने लगे—'राजन्! अब तुम अङ्गिराके कुलमें उत्पन्न हुए उतथ्यका वृत्तान्त सुनो। सोमकी पुत्री भद्रा नामसे विख्यात थी। वह अपने समयकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानी जाती थी। चन्द्रमाने देखा महर्षि उतथ्य ही मेरी पुत्रीके योग्य वर हैं॥ ९-१०॥

सा च तीव्रं तपस्तेपे महाभागा यशस्विनी।
उतथ्यार्थे तु चार्वङ्गी परं नियममास्थिता॥ ११॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली महाभागा यशस्विनी भद्रा भी उतथ्य-को पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये उत्तम नियमका आश्रय ले तीव्र तपस्या करने लगी॥ ११॥

तत आहूय सोतथ्यं ददावत्रिर्यशस्विनीम्।
भार्यार्थे स च जग्राह विधिवद् भूरिदक्षिणः॥ १२॥

'तब कुछ दिनोंके बाद सोमके पिता महर्षि अत्रिने उतथ्यको बुलाकर अपनी यशस्विनी पौत्रीका हाथ उनके हाथमें दे दिया। प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उतथ्यने अपनी पत्नी बनानेके लिये भद्राका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया॥

तां त्वकामयत श्रीमान् वरुणः पूर्वमेव ह।
स चागम्य वनप्रस्थं यमुनायां जहार ताम्॥ १३॥

'परंतु श्रीमान् वरुणदेव उस कन्याको पहलेसे ही चाहते थे। उन्होंने वनमें स्थित मुनिके आश्रमके निकट आकर यमुनामें स्नान करते समय भद्राका अपहरण कर लिया॥

जलेश्वरस्तु हृत्वा तामनयत् स्वं पुरं प्रति।
परमाद्भुतसंकाशं षट्सहस्रशतह्रदम्॥ १४॥

'जलेश्वर वरुण उस स्त्रीको हरकर अपने परम अद्भुत नगरमें ले आये; जहाँ छः हजार बिजलियोंका प्रकाश* छा रहा था॥ १४॥

न हि रम्यतरं किंचित् तस्मादन्यत् पुरोत्तमम्।
प्रासादैरप्सरोभिश्च दिव्यैः कामैश्च शोभितम्॥ १५॥

* कुछ लोग 'षट्सहस्रशतह्रदम्' का अर्थ यों करते हैं—वहाँ छः लाख तालाब शोभा पा रहे थे; परंतु 'शतह्रदा' शब्द बिजलीका वाचक है; अतः उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

'वरुणके उस नगरसे बढ़कर दूसरा कोई परम रमणीय एवं उत्तम नगर नहीं है। वह असंख्य महलों, अप्सराओं और दिव्य भोगोंसे सुशोभित होता है॥ १५॥

तत्र देवस्तया सार्धं रेमे राजन् जलेश्वरः।
अथाख्यातमुतथ्याय ततः पत्न्यवमर्दनम्॥ १६॥

'राजन्! जलके स्वामी वरुणदेव वहाँ भद्राके साथ रमण करने लगे। तदनन्तर नारदजीने उतथ्यको यह समाचार बताया कि 'वरुणने आपके पत्नीका अपहरण एवं उसके साथ बलात्कार किया है'॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा नारदात् सर्वमुतथ्यो नारदं तदा।
प्रोवाच गच्छ ब्रूहि त्वं वरुणं परुषं वचः॥ १७॥

'नारदजीके मुखसे यह सारा समाचार सुनकर उतथ्यने उस समय नारदजीसे कहा—'देवर्षे! आप वरुणके पास जाइये और उनसे मेरा यह कठोर संदेश कह-सुनाइये॥

मद्वाक्यान्मुञ्च मे भार्यां कस्मात् तां हृतवानसि।
लोकपालोऽसि लोकानां न लोकस्य विलोपकः॥ १८॥
सोमेन दत्ता भार्या मे त्वया चापहृताद्य वै।
इत्युक्तो वचनात् तस्य नारदेन जलेश्वरः॥ १९॥
मुञ्च भार्यामुतथ्यस्य कस्मात् त्वं हृतवानसि।

'वरुण! तुम मेरे कहनेसे मेरी पत्नीको छोड़ दो। तुमने क्यों उसका अपहरण किया है? तुम लोगोंके लिये लोकपाल बनाये गये हो, लोक-विनाशक नहीं। सोमने अपनी कन्या मुझे दी है, वह मेरी भार्या है। फिर आज तुमने उसका अपहरण कैसे किया?' नारदजीने उतथ्यके कथनानुसार जलेश्वर वरुणसे यह कहा कि 'आप उतथ्यकी स्त्रीको छोड़ दीजिये; आपने क्यों उसका अपहरण किया है?॥ १८-१९½॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य सोऽथ तं वरुणोऽब्रवीत्॥ २०॥
ममैषा सुप्रिया भार्या नैनामुत्स्रष्टुमुत्सहे।

'नारदजीके मुखसे उतथ्यकी यह बात सुनकर वरुणने उनसे कहा—'यह मेरी अत्यन्त प्यारी भार्या है। मैं इसे छोड़ नहीं सकता'॥ २०½॥

इत्युक्तो वरुणेनाथ नारदः प्राप्य तं मुनिम्।
उतथ्यमब्रवीद् वाक्यं नातिहृष्टमना इव॥ २१॥

'वरुणके इस प्रकार उत्तर देनेपर नारदजी उतथ्य मुनि-के पास लौट गये और खिन्न-से होकर बोले—॥ २१॥

गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने।
न प्रयच्छति ते भार्यां यत् ते कार्यं कुरुष्व तत्॥ २२॥

'महामुने! वरुणने मेरा गला पकड़कर ढकेल दिया है। वे आपकी पत्नीको नहीं दे रहे हैं, अब आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये'॥ २२॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्राज्वलदङ्गिराः।
अपिबत् तेजसा वारि विष्टभ्य सुमहातपाः॥ २३॥

'नारदजीकी बात सुनकर अङ्गिराके पुत्र उतथ्य क्रोधसे

जल उठे। वे महान् तपस्वी तो ये ही, अपने तेजसे सारे जलको स्तम्भित करके पीने लगे ॥ २३ ॥

पीयमाने तु सर्वस्मिंस्तोयेऽपि सलिलेश्वरः।
सुहृद्भिर्भिक्षमाणोऽपि नैवामुञ्चत तां तदा ॥ २४ ॥

'जब सारा जल पीया जाने लगा, तब सुहृदोंने जलेश्वर वरुणसे प्रार्थना की, तो भी वे भद्राको न छोड़ सके ॥२४॥

ततः क्रुद्धोऽब्रवीद् भूमिमुतथ्यो ब्राह्मणोत्तमः।
दर्शयस्व स्थलं भद्रे षट्सहस्रशतह्रदम् ॥ २५ ॥

'तब ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उतथ्यने कुपित होकर पृथ्वीसे कहा—'भद्रे! तू मुझे वह स्थान दिखा दे, जहाँ छः हजार बिजलियोंका प्रकाश छाया हुआ है'॥ २५ ॥

ततस्तदीरिणं जातं समुद्रस्यावसर्पतः।
तस्माद् देशान्नदीं चैव प्रोवाचासौ द्विजोत्तमः॥ २६ ॥
अदृश्या गच्छ भीरु त्वं सरस्वति मरून् प्रति।
अपुण्य एष भवतु देशस्त्यक्तस्त्वया शुभे ॥ २७ ॥

'समुद्रके सूखने या खिसक जानेसे वहाँका सारा स्थान ऊसर हो गया। उस देशसे होकर बहनेवाली सरस्वती नदीसे द्विजश्रेष्ठ उतथ्यने कहा—'भीरु सरस्वति! तुम अदृश्य होकर मरु प्रदेशमें चली जाओ। शुभे! तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होकर यह देश अपवित्र हो जाय'॥ २६-२७ ॥

तस्मिन् संशोषिते देशे भद्रामादाय वारिपः।
अददाच्छरणं गत्वा भार्यामाङ्गिरसाय वै ॥ २८ ॥

'जब वह सारा प्रदेश सूख गया, तब जलेश्वर वरुण भद्राको साथ लेकर मुनिकी शरणमें आये और उन्होंने आङ्गिरसको उनकी भार्या दे दी ॥ २८ ॥

प्रतिगृह्य तु तां भार्यामुतथ्यः सुमनाऽभवत्।
मुमोच च जगद् दुःखाद् वरुणं चैव हैहय ॥ २९ ॥

'हैहयराज! अपनी उस पत्नीको पाकर उतथ्य बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्पूर्ण जगत् तथा वरुणको जलके कष्टसे मुक्त कर दिया ॥ २९ ॥

ततः स लब्ध्वा तां भार्यां वरुणं प्राह धर्मवित्।
उतथ्यः सुमहातेजा यत् तच्छृणु नराधिप ॥ ३० ॥

'नरेश्वर! अपनी उस पत्नीको पाकर महातेजस्वी धर्मज्ञ उतथ्यने वरुणसे जो कुछ कहा, वह सुनो ॥ ३० ॥

मयैषा तपसा प्राप्ता क्रोशतस्ते जलाधिप।
इत्युक्त्वा तामुपादाय स्वमेव भवनं ययौ ॥ ३१ ॥

'जलेश्वर! तुम्हारे चिल्लानेपर भी मैंने तपोबलसे अपनी इस पत्नीको प्राप्त कर लिया।' ऐसा कहकर वे भद्राको साथ ले अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

एष राजन्नीदृशो वै उतथ्यो ब्राह्मणर्षभः।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमुतथ्यात् क्षत्रियं वरम्॥ ३२ ॥

'राजन्! ये ब्राह्मणशिरोमणि उतथ्य ऐसे प्रभावशाली हैं। यह बात मैं कहता हूँ। यदि उतथ्यसे श्रेष्ठ कोई क्षत्रिय हो तो तुम उसे बताओ' ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादो नाम चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायु देवता तथा कार्तवीर्य अर्जुनका संवादनामक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मर्षि अगस्त्य और वसिष्ठके प्रभावका वर्णन

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स नृपस्तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत्।
शृणु राजन्नगस्त्यस्य माहात्म्यं ब्राह्मणस्य ह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वायु देवताके ऐसा कहनेपर भी राजा कार्तवीर्य अर्जुन चुपचाप ही बैठे रह गया, कुछ बोल न सका। तब वायुदेव पुनः उससे बोले—'राजन्! अब ब्राह्मणजातीय अगस्त्यका माहात्म्य सुनो॥१॥

असुरैर्निर्जिता देवा निरुत्साहाश्च ते कृताः।
यज्ञाश्चैषां हृताः सर्वे पितॄणां च स्वधास्तथा ॥ २ ॥
कर्मेज्या मानवानां च दानवैर्हैहयर्षभ।
भ्रष्टैश्वर्यास्ततो देवाश्चेरुः पृथ्वीमिति श्रुतिः ॥ ३ ॥

'हैहयराज! प्राचीन समयमें असुरोंने देवताओंको परास्त करके उनका उत्साह नष्ट कर दिया। दानवोंने देवताओंके यज्ञ, पितरोंके श्राद्ध तथा मनुष्योंके कर्मानुष्ठान लुप्त कर दिये। तब अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुए देवतालोग पृथ्वीपर मारे-मारे फिरने लगे। ऐसा सुननेमें आया है ॥ २-३ ॥

ततः कदाचित् ते राजन् दीप्तमादित्यवर्चसम्।
ददृशुस्तेजसा युक्तमगस्त्यं विपुलव्रतम् ॥ ४ ॥

'राजन्! तदनन्तर एक दिन देवताओंने सूर्यके समान प्रकाशमान, तेजस्वी, दीप्तिमान् और महान् व्रतधारी अगस्त्यको देखा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तु तं देवाः पृष्ट्वा कुशलमेव च।
इदमूचुर्महात्मानं वाक्यं काले जनाधिप ॥ ५ ॥

'जनेश्वर! उन्हें प्रणाम करके देवताओंने उनका

कुशल-समाचार पूछा और समयपर उन महात्मासे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

दानवैर्युधि भग्नाः स्म तथैश्वर्याच्च भ्रंशिताः ।
तदस्मान्नो भयात् तीव्रात् त्राहि त्वं मुनिपुङ्गव ॥ ६ ॥

''मुनिवर ! दानवोंने हमें युद्धमें हराकर हमारा ऐश्वर्य छीन लिया है । इस तीव्र भयसे आप हमारी रक्षा करें' ॥

इत्युक्तः स तदा देवैरगस्त्यः कुपितोऽभवत् ।
प्रजज्वाल च तेजस्वी कालाग्निरिव संक्षये ॥ ७ ॥

'देवताओंके ऐसा कहनेपर तेजस्वी अगस्त्य मुनि कुपित हो गये और प्रलयकालके अग्निकी भाँति रोषसे जल उठे ॥

तेन दीप्तांशुजालेन निर्दग्धा दानवास्तदा ।
अन्तरिक्षान्महाराज निपेतुस्ते सहस्रशः ॥ ८ ॥

'महाराज ! उनकी प्रज्वलित किरणोंके स्पर्शसे उस समय सहस्रों दानव दग्ध होकर आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥

दह्यमानास्तु ते दैत्यास्तस्यागस्त्यस्य तेजसा ।
उभौ लोकौ परित्यज्य गताः काष्ठां तु दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

'अगस्त्यके तेजसे दग्ध होते हुए दैत्य दोनों लोकोंका परित्याग करके दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥ ९ ॥

बलिस्तु यजते यज्ञमश्वमेधं महीं गतः ।
येऽन्येऽधस्था महीस्थाश्च ते न दग्धा महासुराः ॥ १० ॥

'उस समय राजा बलि पृथ्वीपर आकर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। अतः जो दैत्य उनके साथ पृथ्वीपर थे और दूसरे जो पातालमें थे, वे ही दग्ध होनेसे बचे ॥ १० ॥

ततो लोकाः पुनः प्राप्ताः सुरैः शान्तभयैर्नृप ।
अथैनमब्रुवन् देवा भूमिष्ठानसुरान् जहि ॥ ११ ॥

'नरेश्वर ! तत्पश्चात् देवताओंका भय शान्त हो जानेपर वे पुनः अपने-अपने लोकमें चले आये। तदनन्तर देवताओंने अगस्त्यजीसे फिर कहा—'अब आप पृथ्वीपर रहनेवाले असुरोंका भी नाश कर डालिये' ॥ ११ ॥

इत्युक्तः प्राह देवान् स न शक्तोऽस्मि महीगतान् ।
दग्धुं तपो हि क्षीयेन्मे न शक्यामीति पार्थिव ॥ १२ ॥

'पृथ्वीनाथ ! देवताओंके ऐसा कहनेपर अगस्त्यजी उनसे बोले—'अब मैं भूतलनिवासी असुरोंको नहीं दग्ध कर सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी तपस्या क्षीण हो जायगी। इसलिये यह कार्य मेरे लिये असम्भव है' ॥ १२ ॥

एवं दग्धा भगवता दानवाः स्वेन तेजसा ।
अगस्त्येन तदा राजंस्तपसा भावितात्मना ॥ १३ ॥

'राजन् ! इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् अगस्त्यने अपने तप और तेजसे दानवोंको दग्ध कर दिया था ॥ १३ ॥

ईदृशश्चाप्यगस्त्यो हि कथितस्ते मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमगस्त्यात् क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

'निष्पाप नरेश ! अगस्त्य ऐसे प्रभावशाली बताये गये हैं, जो ब्राह्मण ही हैं। यह बात मैं कहता हूँ, तुम अगस्त्य मुनिसे श्रेष्ठ किसी क्षत्रियको जानते हो तो बताओ' ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् वसिष्ठस्य मुख्यं कर्म यशस्विनः ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! उनके ऐसा कहनेपर भी कार्तवीर्य अर्जुन चुप ही रहा। तब वायु देवता फिर बोले—'राजन् ! अब यशस्वी ब्राह्मण वसिष्ठ मुनिका श्रेष्ठ कर्म सुनो ॥ १५ ॥

आदित्याः सत्रमासन्त सरो वै मानसं प्रति ।
वसिष्ठं मनसा गत्वा ज्ञात्वा तत् तस्य गौरवम् ॥ १६ ॥

'एक समय देवताओंने वसिष्ठ मुनिके गौरवको जानकर मन-ही-मन उनकी शरण जाकर मानसरोवरके तटपर यज्ञ आरम्भ किया ॥ १६ ॥

यजमानांस्तु तान् दृष्ट्वा सर्वान् दीक्षानुकर्शितान् ।
हन्तुमैच्छन्त शैलाभाः खलिनो नाम दानवाः ॥ १७ ॥

'समस्त देवता यज्ञकी दीक्षा लेकर दुबले हो रहे थे। उन्हें यज्ञ करते देख पर्वतके समान शरीरवाले 'खली' नामक दानवोंने उन सबको मार डालनेका विचार किया (फिर तो दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया) ॥ १७ ॥

अदूरात् तु ततस्तेषां ब्रह्मदत्तवरं सरः ।
हताहता वै तत्रैते जीवन्त्याप्लुत्य दानवाः ॥ १८ ॥

'उनके पास ही मानसरोवर था, जिसके लिये ब्रह्माजीके द्वारा दैत्योंको यह वरदान प्राप्त था कि 'इसमें डुबकी लगानेसे तुम्हें नूतन जीवन प्राप्त होगा'; अतः उस समय दानवोंमेंसे जो हताहत होते थे, उन्हें दूसरे दानव उठाकर सरोवरमें फेंक देते थे और वे उसके जलमें डुबकी लगाते ही जी उठते थे ॥ १८ ॥

ते प्रगृह्य महाघोरान् पर्वतान् परिघान् द्रुमान् ।
विक्षोभयन्तः सलिलमुत्थितं शतयोजनम् ॥ १९ ॥
अभ्यद्रवन्त देवांस्ते सहस्राणि दशैव हि ।
ततस्तैरर्दिता देवाः शरणं वासवं ययुः ॥ २० ॥

'फिर सरोवरके जलको सौ योजन ऊँचे उछालते तथा हाथमें महाघोर पर्वत, परिघ एवं वृक्ष लिये हुए वे देवताओंपर टूट पड़ते थे। उन दानवोंकी संख्या दस हजारकी थी। जब उन्होंने देवताओंको अच्छी तरह पीड़ित किया, तब वे भागकर इन्द्रकी शरणमें गये ॥ १९-२० ॥

स च तैर्व्यथितः शक्रो वसिष्ठं शरणं ययौ ।
ततोऽभयं ददौ तेभ्यो वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २१ ॥

तदा तान् दुःखितान् ज्ञात्वा आनृशंस्यपरो मुनिः ।
अयत्नेनादहत् सर्वान् खलिनः स्वेन तेजसा ॥ २२ ॥

'इन्द्रको भी उन दैत्योंसे भिड़कर महान् क्लेश उठाना पड़ा; अतः वे वसिष्ठजीकी शरणमें गये । तब उन भगवान् वसिष्ठ मुनिने, जो बड़े ही दयालु थे, देवताओंको दुखी जानकर उन्हें अभयदान दे दिया और बिना किसी प्रयत्नके ही अपने तेजसे उन समस्त खली नामके दानवोंको दग्ध कर डाला ॥ २१-२२ ॥

कैलासं प्रस्थितां चैव नदीं गङ्गां महातपाः ।
आनयत् तत्सरो दिव्यं तया भिन्नं च तत्सरः॥ २३ ॥
सरो भिन्नं तया नद्या सरयूः सा ततोऽभवत् ।
हताश्च खलिनो यत्र स देशः खलिनोऽभवत् ॥ २४ ॥

'इतना ही नहीं—वे महातपस्वी मुनि कैलासकी ओर प्रस्थित हुई गङ्गा नदीको उस दिव्य सरोवरमें ले आये । गङ्गाजीने उसमें आते ही उस सरोवरका बाँध तोड़ डाला । गङ्गासे सरोवरका भेदन होनेपर जो स्रोत निकला, वही सरयू नदीके नामसे प्रसिद्ध हुआ । जिस स्थानपर खली नामक दानव मारे गये, वह देश खलिन नामसे विख्यात हुआ ।२३-२४।

एवं सेन्द्रा वसिष्ठेन रक्षितास्त्रिदिवौकसः ।
ब्रह्मदत्तवराश्चैव हता दैत्या महात्मना ॥ २५ ॥

'इस प्रकार महात्मा वसिष्ठने इन्द्रसहित देवताओंकी रक्षा की और ब्रह्माजीने जिनके लिये वर दिया था, ऐसे दैत्योंका भी संहार कर डाला ॥ २५ ॥

एतत् कर्म वसिष्ठस्य कथितं हि मयानघ ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं वसिष्ठात् क्षत्रियं वरम् ॥ २६ ॥

'निष्पाप नरेश ! मैंने ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीके इस कर्मका वर्णन किया है । मैं कहता हूँ, ब्राह्मण श्रेष्ठ है । यदि वसिष्ठसे बड़ा कोई क्षत्रिय हो तो बताओ' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायु देवता और कार्तवीर्य अर्जुनका संवादविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

अत्रि और च्यवन ऋषिके प्रभावका वर्णन

भीष्म उवाच

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद् वायुस्तमब्रवीत् ।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ कर्मात्रेः सुमहात्मनः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके ऐसा कहनेपर भी जब कार्तवीर्य अर्जुन कोई उत्तर न देकर चुप ही बैठा रहा, तब वायु देवता पुनः इस प्रकार बोले—हैहयश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे महात्मा अत्रिके महान् कर्मका वर्णन सुनो ॥

घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः ।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥

'प्राचीन कालमें एक बार देवता और दानव सब घोर अन्धकारमें एक दूसरेके साथ युद्ध करते थे । वहाँ राहुने अपने बाणोंसे चन्द्रमा और सूर्यको घायल कर दिया था (इसलिये सब ओर घोर अन्धकार छा गया था) ॥ २ ॥

अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः ।
देवा नृपतिशार्दूल सहैव बलिभिस्तदा ॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! फिर तो अन्धकारमें फँसे हुए देवतालोग कुछ सूझ न पड़नेके कारण एक साथ ही बलवान् दानवोंके हाथसे मारे जाने लगे ॥ ३ ॥

असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणप्राणा दिवौकसः ।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥
अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम् ।
असुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ ॥ ५ ॥
वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते ।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात् त्रायस्व नः प्रभो ॥६॥

असुरोंकी मार खाकर देवताओंकी प्राणशक्ति क्षीण हो चली और वे भागकर तपस्यामें संलग्न हुए तपोधन विप्रवर अत्रिमुनिके पास गये । वहाँ उन्होंने उन क्रोधशून्य जितेन्द्रिय मुनिका दर्शन किया और इस प्रकार कहा—'प्रभो ! असुरोंने अपने बाणोंद्वारा चन्द्रमा और सूर्यको घायल कर दिया है और अब घोर अन्धकार छा जानेके कारण हम भी शत्रुओंके हाथसे मारे जा रहे हैं । हमें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है । आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये' ॥

अत्रिरुवाच

कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥

अत्रिने कहा—मैं किस प्रकार आपलोगोंकी रक्षा करूँ ? देवता बोले—'आप अन्धकारको नष्ट करनेवाले चन्द्रमा और सूर्यका रूप धारण कीजिये और हमारे शत्रु बने हुए इन डाकू दानवोंका नाश कर डालिये' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ।
अपश्यत् सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥
जगद् वितिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत् तदा ॥ १० ॥

पृथ्वीनाथ ! देवताओंके ऐसा कहनेपर अत्रिने अन्धकारको दूर करनेवाले चन्द्रमाका रूप धारण किया और सोमके समान देखनेमें प्रिय लगने लगे । उन्होंने शान्तभावसे देवताओंकी ओर देखा । उस समय चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभा मन्द देखकर अत्रिने अपनी तपस्यासे उस युद्धभूमिमें प्रकाश फैलाया तथा सम्पूर्ण जगत्को अन्धकारशून्य एवं आलोकित कर दिया ॥ ८–१० ॥

व्यजयच्छत्रुसंघांश्च देवानां स्वेन तेजसा ।
अत्रिणा दह्यमानांस्तान् दृष्ट्वा देवा महासुरान् ॥ ११ ॥
पराक्रमैस्तेऽपि तदा व्यघ्नन्नत्रिसुरक्षिताः ।
उद्भासितश्च सविता देवास्त्राता हतासुराः ॥ १२ ॥

उन्होंने अपने तेजसे ही देवताओंके शत्रुओंको परास्त कर दिया । अत्रिके तेजसे उन महान् असुरोंको दग्ध होते देख अत्रिसे सुरक्षित हुए देवताओंने भी उस समय पराक्रम करके उन दैत्योंको मार डाला । अत्रिने सूर्यको तेजस्वी बनाया, देवताओंका उद्धार किया और असुरोंको नष्ट कर दिया ॥

अत्रिणा त्वथ सामर्थ्यं कृतमुत्तमतेजसा ।
द्विजेनाग्निद्वितीयेन जपता चर्मवाससा ॥ १३ ॥
फलभक्षेण राजर्षे पश्य कर्मात्रिणा कृतम् ।
तस्यापि विस्तरेणोक्तं कर्मात्रेः सुमहात्मनः ।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वमत्रितः क्षत्रियं वरम् ॥ १४ ॥

अत्रि मुनि गायत्रीका जप करनेवाले, मृगचर्मधारी, फलाहारी, अग्निहोत्री और उत्तम तेजसे युक्त ब्राह्मण हैं । उन्होंने जो सामर्थ्य दिखलाया, जैसा महान् कर्म किया, उसपर दृष्टिपात करो । मैंने उन उत्तम महात्मा अत्रिका भी कर्म विस्तारपूर्वक बताया है । मैं कहता हूँ ब्राह्मण श्रेष्ठ है । तुम बताओ अत्रिसे श्रेष्ठ कौन क्षत्रिय है ? ॥ १३-१४ ॥

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद् वायुस्ततोऽब्रवीत् ।
शृणु राजन् महत्कर्म च्यवनस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी अर्जुन चुप ही रहा । तब वायु देवता फिर कहने लगे—राजन् ! अब महात्मा च्यवनके माहात्म्यका वर्णन सुनो ॥ १५ ॥

अश्विनोः प्रतिसंश्रुत्य च्यवनः पाकशासनम् ।
प्रोवाच सहितो देवैः सोमपावश्विनौ कुरु ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें च्यवन मुनिने अश्विनीकुमारोंको सोमपान करानेकी प्रतिज्ञा करके इन्द्रसे कहा—'देवराज ! आप दोनों अश्विनीकुमारोंको देवताओंके साथ सोमपानमें सम्मिलित कर लीजिये' ॥ १६ ॥

इन्द्र उवाच

अस्माभिर्निन्दितावेतौ भवेतां सोमपौ कथम् ।
देवैर्न सम्मितावेतौ तस्मान्मैवं वदस्व नः ॥ १७ ॥

इन्द्र बोले—विप्रवर ! अश्विनीकुमार हमलोगोंके द्वारा निन्दित हैं । फिर ये सोमपानके अधिकारी कैसे हो सकते हैं । ये दोनों देवताओंके समान प्रतिष्ठित नहीं हैं । अतः उनके लिये इस तरहकी बात न कीजिये ॥ १७ ॥

अश्विभ्यां सह नेच्छामः सोमं पातुं महाव्रत ।
यदन्यद् वक्ष्यसे विप्र तत् करिष्यामि ते वचः ॥ १८ ॥

महान् व्रतधारी विप्रवर ! हमलोग अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान करना नहीं चाहते हैं । अतः इसको छोड़कर आप और जिस कामके लिये मुझे आज्ञा देंगे, उसे अवश्य मैं पूर्ण करूँगा ॥ १८ ॥

च्यवन उवाच

पिबेतामश्विनौ सोमं भवद्भिः सहिताविमौ ।
उभावेतावपि सुरौ सूर्यपुत्रौ सुरेश्वर ॥ १९ ॥

च्यवन बोले—देवराज ! अश्विनीकुमार भी सूर्यके पुत्र होनेके कारण देवता ही हैं । अतः ये आप सब लोगोंके साथ निश्चय ही सोमपान कर सकते हैं ॥ १९ ॥

क्रियतां मद्वचो देवा यथा वै समुदाहृतम् ।
एतद् वः कुर्वतां श्रेयो भवेन्नैतदकुर्वताम् ॥ २० ॥

देवताओ ! मैंने जैसी बात कही है, उसे आपलोग स्वीकार करें । ऐसा करनेमें ही आपलोगोंकी भलाई है । अन्यथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा ॥ २० ॥

इन्द्र उवाच

अश्विभ्यां सह सोमं वै न पास्यामि द्विजोत्तम ।
पिबन्त्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे ॥ २१ ॥

इन्द्रने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! निश्चय ही मैं दोनों अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान नहीं करूँगा । अन्य देवताओंकी इच्छा हो तो उनके साथ सोमरस पीयें । मैं तो नहीं पी सकता ॥ २१ ॥

च्यवन उवाच

न चेत् करिष्यसि वचो मयोक्तं बलसूदन ।
मया प्रमथितः सद्यः सोमं पास्यसि वै मखे ॥ २२ ॥

च्यवनने कहा—बलसूदन ! यदि तुम सीधी तरह मेरी कही हुई बात नहीं मानोगे तो यज्ञमें मेरे द्वारा तुम्हारा अभिमान चूर्ण कर दिया जायगा, फिर तो तत्काल ही तुम सोमरस पीने लगोगे ॥ २२ ॥

वायुरुवाच

ततः कर्म समारब्धं हिताय सहसाश्विनोः ।
च्यवनेन ततो मन्त्रैरभिभूताः सुराऽभवन् ॥ २३ ॥

वायु देवता कहते हैं—तदनन्तर च्यवन मुनिने अश्विनीकुमारोंके हितके लिये सहसा यज्ञ आरम्भ किया। उनके मन्त्रबलसे समस्त देवता प्रभावित हो गये ॥ २३ ॥

ततः तु कर्म समारब्धं दृष्ट्वेन्द्रः क्रोधमूर्च्छितः।
उद्यम्य विपुलं शैलं च्यवनं समुपाद्रवत् ॥ २४ ॥

उस यज्ञकर्मका आरम्भ होता देख इन्द्र क्रोधसे मूर्छित हो उठे और हाथमें एक विशाल पर्वत लेकर वे च्यवन मुनिकी ओर दौड़े ॥ २४ ॥

तथा वज्रेण भगवानमर्षाकुललोचनः।
तमापतन्तं दृष्ट्वैव च्यवनस्तपसान्वितः ॥ २५ ॥
अद्भिः सिक्त्वास्तम्भयत् तं सवज्रं सहपर्वतम्।

उस समय उनके नेत्र अमर्षसे आकुल हो रहे थे। भगवान् इन्द्रने वज्रके द्वारा भी मुनिपर आक्रमण किया। उनको आक्रमण करते देख तपस्वी च्यवनने जलका छींटा देकर वज्र और पर्वतसहित इन्द्रको स्तम्भित कर दिया—जडवत् बना दिया ॥ २५½ ॥

अथेन्द्रस्य महाघोरं सोऽसृजच्छत्रुमेव हि ॥ २६ ॥
मदं नामाहुतिमयं व्यादितास्यं महामुनिः।
तस्य दन्तसहस्रं तु बभूव शतयोजनम् ॥ २७ ॥
द्वियोजनशतास्तस्य दंष्ट्राः परमदारुणाः।
हनुस्तस्याभवद् भूमावास्यं चास्यास्पृशद् दिवम् ॥२८॥
जिह्वामूले स्थितास्तस्य सर्वे देवाः सवासवाः।
तिमेरास्यमनुप्राप्ता यथा मत्स्या महार्णवे ॥ २९ ॥

इसके बाद उन महामुनिने अग्निमें आहुति डालकर इन्द्रके लिये एक अत्यन्त भयंकर शत्रु उत्पन्न किया, जिसका नाम मद था। वह मुँह फैलाकर खड़ा हो गया। उसकी ठोढ़ीका भाग जमीनमें सटा हुआ था और ऊपरवाला ओठ आकाशको छू रहा था। उसके मुँहके भीतर एक हजार दाँत थे; जो सौ-सौ योजन ऊँचे थे और उसकी भयंकर दाढ़ें दो-दो सौ योजन लंबी थीं। उस समय इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उसकी जिह्वाकी जड़में आ गये, ठीक उसी तरह जैसे महासागरमें बहुत-से मत्स्य तिमिनामक महामत्स्यके मुखमें पड़ गये हों ॥ २६—२९ ॥

ते सम्मन्त्र्य ततो देवा मदस्यास्यसमीपगाः।
अब्रुवन् सहिताः शक्रं प्रणमास्मै द्विजातये ॥ ३० ॥
अश्विभ्यां सह सोमं च पिबाम विगतज्वराः।

फिर तो मदके मुखमें पड़े हुए देवताओंने आपसमें सलाह करके इन्द्रसे कहा—'देवराज! आप विप्रवर च्यवनको प्रणाम कीजिये (इनसे विरोध करना अच्छा नहीं है)। हमलोग निश्चिन्त होकर अश्विनीकुमारोंके साथ सोमपान करेंगे'॥

ततः स प्रणतः शक्रश्चकार च्यवनस्य तत् ॥ ३१ ॥
च्यवनः कृतवानेतावश्विनौ सोमपायिनौ।
ततः प्रत्याहरत् कर्म मदं च व्यभजन्मुनिः ॥ ३२ ॥
अक्षेषु मृगयायां च पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

यह सुनकर इन्द्रने महामुनि च्यवनके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर च्यवनने अश्विनीकुमारोंको सोमरसका भागी बनाया और अपना यज्ञ समाप्त कर दिया। इसके बाद शक्तिशाली मुनिने जुआ, शिकार, मदिरा और स्त्रियोंमें मदको बाँट दिया ॥३१-३३॥

एतैर्दोषैर्नरो राजन् क्षयं यान्ति न संशयः।
तस्मादेतान् नरो नित्यं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३४ ॥

राजन्! इन दोषोंसे युक्त मनुष्य अवश्य ही नाशको प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है। अतः इन्हें सदाके लिये दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥ ३४ ॥

एतत् ते च्यवनस्यापि कर्म राजन् प्रकीर्तितम्।
ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वं क्षत्रियं ब्राह्मणाद् वरम् ॥ ३५ ॥

नरेश्वर! यह तुमसे च्यवन मुनिका महान् कर्म भी बताया गया। मैं कहता हूँ—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा तुम बताओ कौन-सा क्षत्रिय ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है ! ॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेवता और अर्जुनका संवादविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥



सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कप नामक दानवोंके द्वारा स्वर्गलोकपर अधिकार जमा लेनेपर ब्राह्मणोंका कपोंको भस्म कर देना, वायुदेव और कार्तवीर्य अर्जुनके संवादका उपसंहार

भीष्म उवाच

तूष्णीमासीदर्जुनस्तु पवनस्त्वब्रवीत् पुनः।
शृणु मे ब्राह्मणेष्वेव मुख्यं कर्म जनाधिप ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतनेपर भी कार्तवीर्य चुप ही रहा। तब वायुदेवताने फिर कहा—नरेश्वर! ब्राह्मणोंके और भी जो श्रेष्ठ कर्म हैं, उनका वर्णन सुनो॥

मदस्यास्यमनुप्राप्ता यदा सेन्द्रा दिवौकसः।
तदैव च्यवनेनेह हृता तेषां वसुन्धरा ॥ २ ॥

जब इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मदके मुखमें पड़ गये थे, उसी समय च्यवनने उनके अधिकारकी सारी भूमि हर ली थी (तथा कप नामक दानवोंने उनके स्वर्गलोकपर अधिकार जमा लिया था) ॥ २ ॥

उभौ लोकौ हृतौ मत्वा ते देवा दुःखिताऽभवन् ।
शोकार्ताश्च महात्मानं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ ३ ॥

अपने दोनों लोकोंका अपहरण हुआ जान वे देवता बहुत दुखी हो गये और शोकसे आतुर हो महात्मा ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ ३ ॥

देवा ऊचुः

मदास्यव्यतिषक्तानामस्माकं लोकपूजित ।
च्यवनेन हृता भूमिः कपैश्चैव दिवं प्रभो ॥ ४ ॥

देवता बोले—लोकपूजित प्रभो ! जिस समय हम मदके मुखमें पड़ गये थे, उस समय च्यवनने हमारी भूमि हर ली थी और कप नामक दानवोंने स्वर्गलोकपर अधिकार कर लिया ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

गच्छध्वं शरणं विप्रानाशु सेन्द्रा दिवौकसः ।
प्रसाद्य तानुभौ लोकाववाप्स्यथ यथा पुरा ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्रसहित देवताओ ! तुमलोग शीघ्र ही ब्राह्मणोंकी शरणमें जाओ । उन्हें प्रसन्न कर लेनेपर तुमलोग पहलेकी भाँति दोनों लोक प्राप्त कर लोगे ॥ ५ ॥

ते ययुः शरणं विप्रानूचुस्ते कान् जयामहे ।
इत्युक्तास्ते द्विजान् प्राहुर्जयतेह कपानिति ॥ ६ ॥

तब देवतालोग ब्राह्मणोंकी शरणमें गये । ब्राह्मणोंने पूछा—'हम किनको जीतें ?' उनके इस तरह पूछनेपर देवताओंने ब्राह्मणोंसे कहा—'आपलोग कप नामक दानवोंको परास्त कीजिये' ॥ ६ ॥

भूगतान् हि विजेतारो वयमित्यब्रुवन् द्विजाः ।
ततः कर्म समारब्धं ब्राह्मणैः कपनाशनम् ॥ ७ ॥

तब ब्राह्मणोंने कहा—'हम उन दानवोंको पृथ्वीपर लाकर परास्त करेंगे ।' तदनन्तर ब्राह्मणोंने कपविनाशक कर्म आरम्भ किया ॥ ७ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रेषितो दूतो ब्राह्मणेभ्यो धनी कपैः ।
स च तान् ब्राह्मणानाह धनी कपवचो यथा ॥ ८ ॥

इसका समाचार सुनकर कपोंने ब्राह्मणोंके पास अपना धनी नामक दूत भेजा । उसने उन ब्राह्मणोंसे कपोंका संदेश इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

भवद्भिः सदृशाः सर्वे कपाः किमिह वर्तते ।
सर्वे वेदविदः प्राज्ञाः सर्वे च क्रतुयाजिनः ॥ ९ ॥

सर्वे सत्यव्रताश्चैव सर्वे तुल्या महर्षिभिः ।
श्रीश्चैव रमते तेषु धारयन्ति श्रियं च ते ॥ १० ॥

'ब्राह्मणो ! समस्त कप नामक दानव आपलोगोंके ही समान हैं । फिर उनके विरुद्ध यहाँ क्या हो रहा है ? सभी कप वेदोंके ज्ञाता और विद्वान् हैं । सब-के-सब यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं । सभी सत्यप्रतिज्ञ हैं और सब-के-सब महर्षियोंके तुल्य हैं । श्री उनके यहाँ रमण करती है और वे श्रीको धारण करते हैं ॥ ९-१० ॥

वृथादारान् न गच्छन्ति वृथामांसं न भुञ्जते ।
दीप्तमग्निं जुह्वते च गुरूणां वचने स्थिताः ॥ ११ ॥

'वे परायी स्त्रियोंसे समागम नहीं करते । मांसको व्यर्थ समझकर उसे कमी नहीं खाते हैं । प्रज्वलित अग्निमें आहुति देते और गुरुजनोंकी आज्ञामें स्थित रहते हैं ॥ ११ ॥

सर्वे च नियतात्मानो बालानां संविभागिनः ।
उपेत्य शनकैर्यान्ति न सेवन्ति रजस्वलाम् ।
स्वर्गतिं चैव गच्छन्ति तथैव शुभकर्मिणः ॥ १२ ॥

'वे सभी अपने मनको संयममें रखते हैं । बालकोंको उनका भाग बाँट देते हैं । निकट आकर धीरे-धीरे चलते हैं । रजस्वला स्त्रीका कभी सेवन नहीं करते । शुभकर्म करते हैं और स्वर्गलोकमें जाते हैं ॥ १२ ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नन्ति गर्भिणीवृद्धकादिषु ।
पूर्वाह्णेषु न दीव्यन्ति दिवा चैव न शेरते ॥ १३ ॥

'गर्भवती स्त्री और वृद्ध आदिके भोजन करनेसे पहले भोजन नहीं करते हैं । पूर्वाह्णमें जूआ नहीं खेलते और दिनमें नींद नहीं लेते हैं ॥ १३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्गुणैर्युक्तान् कथं कपान् ।
विजेष्यथ निवर्तध्वं निवृत्तानां सुखं हि वः ॥ १४ ॥

'इनसे तथा अन्य बहुत-से गुणोंद्वारा संयुक्त हुए कपनामक दानवोंको आपलोग क्यों पराजित करना चाहते हैं ? इस अवाञ्छनीय कार्यसे निवृत्त होइये, क्योंकि निवृत्त होनेसे ही आपलोगोंको सुख मिलेगा' ॥ १४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कपान्वयं विजेष्यामो ये देवास्ते वयं स्मृताः ।
तस्माद् वध्याः कपाऽस्माकं धनिन् याहि यथाऽऽगतम्

तब ब्राह्मणोंने कहा—जो देवता हैं, वे हमलोग हैं; अतः देवद्रोही कप हमारे लिये वध्य हैं । इसलिये हम कपोंके कुलको पराजित करेंगे । धनी ! तुम जैसे आये हो उसी तरह लौट जाओ ॥ १५ ॥

धनी गत्वा कपानाह न वो विप्राः प्रियंकराः ।
गृहीत्वास्त्राण्यतो विप्रान् कपाः सर्वे समाद्रवन् ॥१६॥

धनीने जाकर कपोंसे कहा—'ब्राह्मणलोग आपका प्रिय करनेको उद्यत नहीं हैं।' यह सुनकर अस्त्र-शस्त्र हाथमें ले सभी कप ब्राह्मणोंपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

समुदग्रध्वजान् दृष्ट्वा कपान् सर्वे द्विजातयः।
व्यसृजन् ज्वलितानग्नीन् कपानां प्राणनाशनान् ॥१७॥

उनकी ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं। कपोंको आक्रमण करते देख सभी ब्राह्मण उन कपोंपर प्रज्वलित एवं प्राणनाशक अग्निका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

ब्रह्मसृष्टा हव्यभुजः कपान् हत्वा सनातनाः।
नभसीव यथाभ्राणि व्यराजन्त नराधिप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! ब्राह्मणोंके छोड़े हुए सनातन अग्निदेव उन कपोंका संहार करके आकाशमें बादलोंके समान प्रकाशित होने लगे ॥ १८ ॥

हत्वा वै दानवान् देवाः सर्वे सम्भूय संयुगे।
तेनाभ्यजानन् हि तदा ब्राह्मणैर्निहतान् कपान् ॥१९॥

उस समय सब देवताओंने युद्धमें संगठित होकर दानवोंका संहार कर डाला। किंतु उस समय उन्हें यह मालूम नहीं था कि ब्राह्मणोंने कपोंका विनाश कर डाला है ॥ १९ ॥

अथागम्य महातेजा नारदोऽकथयद् विभो।
यथा हता महाभागैस्तेजसा ब्राह्मणैः कपाः ॥ २० ॥

प्रभो! तदनन्तर महातेजस्वी नारदजीने आकर यह बात बतायी कि किस प्रकार महाभाग ब्राह्मणोंने अपने तेजसे कपोंका नाश किया है ॥ २० ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा प्रीताः सर्वे दिवौकसः।
प्रशशंसुर्द्विजांश्चापि ब्राह्मणांश्च यशस्विनः ॥ २१ ॥

नारदजीकी बात सुनकर सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने द्विजों और यशस्वी ब्राह्मणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥

तेषां तेजस्तथा वीर्यं देवानां ववृधे ततः।
अवाप्नुवंश्चामरत्वं त्रिषु लोकेषु पूजितम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर देवताओंके तेज और पराक्रमकी वृद्धि होने लगी। उन्होंने तीनों लोकोंमें सम्मानित होकर अमरत्व प्राप्त कर लिया ॥ २२ ॥

इत्युक्तवचनं वायुमर्जुनः प्रत्युवाच ह।
प्रतिपूज्य महाबाहो यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर! जब वायुने इस प्रकार ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाया, तब कार्तवीर्य अर्जुनने उनके वचनोंकी प्रशंसा करके जो उत्तर दिया, उसे सुनो ॥ २३ ॥

अर्जुन उवाच

जीवाम्यहं ब्राह्मणार्थं सर्वथा सततं प्रभो।
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणेभ्यश्च प्रणमामि च नित्यशः ॥ २४ ॥

अर्जुन बोला—प्रभो! मैं सब प्रकारसे और सदा ब्राह्मणोंके लिये ही जीवन धारण करता हूँ, ब्राह्मणोंका भक्त हूँ और प्रतिदिन ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ ॥ २४ ॥

दत्तात्रेयप्रसादाच्च मया प्राप्तमिदं बलम्।
लोके च परमा कीर्तिर्धर्मश्चाचरितो महान् ॥ २५ ॥

विप्रवर दत्तात्रेयजीकी कृपासे मुझे इस लोकमें महान् बल, उत्तम कीर्ति और महान् धर्मकी प्राप्ति हुई है ॥ २५ ॥

अहो ब्राह्मणकर्माणि मया मारुत तत्त्वतः।
त्वया प्रोक्तानि कार्त्स्न्येन श्रुतानि प्रयतेन च ॥ २६ ॥

वायुदेव! बड़े हर्षकी बात है कि आपने मुझसे ब्राह्मणोंके अद्भुत कर्मोंका यथावत् वर्णन किया और मैंने ध्यान देकर उन सबको श्रवण किया है ॥ २६ ॥

वायुरुवाच

ब्राह्मणान् क्षात्रधर्मेण पालयस्वेन्द्रियाणि च।
भृगुभ्यस्ते भयं घोरं तत् तु कालाद् भविष्यति ॥२७॥

वायुने कहा—राजन्! तुम क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा और इन्द्रियोंका संयम करो। तुम्हें भृगुवंशी ब्राह्मणोंसे घोर भय प्राप्त होनेवाला है; परंतु यह दीर्घकालके पश्चात् सम्भव होगा ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पवनार्जुनसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें वायुदेव और अर्जुनका संवादविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणानर्चसे राजन् सततं संशितव्रतान्।
कं तु कर्मोदयं दृष्ट्वा तानर्चसि जनाधिप ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! आप सदा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंकी पूजा किया करते थे। अतः जनेश्वर! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन-सा लाभ देखकर उनका पूजन करते थे? ॥ १ ॥

कां वा ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं दृष्ट्वा महाव्रत।

तानर्चसि महाबाहो सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ २ ॥

महान् व्रतधारी महाबाहो ! ब्राह्मणोंकी पूजासे भविष्यमें मिलनेवाले किस फलकी ओर दृष्टि रखकर आप उनकी आराधना करते थे ? यह सब मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

एष ते केशवः सर्वमाख्यास्यति महामतिः।
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां दृष्टव्युष्टिर्महाव्रतः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ये महान् व्रतधारी परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण-पूजासे होनेवाले लाभका प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके हैं; अतः वही तुमसे इस विषयकी सारी बातें बतायेंगे ॥ ३ ॥

बलं श्रोत्रे वाङ्मनश्चक्षुषी च
ज्ञानं तथा सविशुद्धं ममाद्य।
देहन्यासो नातिचिरान्मतो मे
न चाति तूर्णं सविताद्य याति ॥ ४ ॥

आज मेरा बल, मेरे कान, मेरी वाणी, मेरा मन और मेरे दोनों नेत्र तथा मेरा विशुद्ध ज्ञान भी सब एकत्रित हो गये हैं। अतः जान पड़ता है कि अब मेरा शरीर छूटनेमें अधिक विलम्ब नहीं है। आज सूर्यदेव अधिक तेजीसे नहीं चलते हैं॥

उक्ता धर्मा ये पुराणे महान्तो
राजन् विप्राणां क्षत्रियाणां विशां च।
तथा शूद्राणां धर्ममुपासते च
शेषं कृष्णादुपशिक्षस्व पार्थ ॥ ५ ॥

पार्थ ! पुराणोंमें जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके (अलग-अलग) धर्म बतलाये गये हैं तथा सब वर्णोंके लोग जिस-जिस धर्मकी उपासना करते हैं, वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया है। अब जो कुछ बाकी रह गया हो, उसकी भगवान् श्रीकृष्णसे शिक्षा लो ॥ ५ ॥

अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णं
योऽयं हि यच्चास्य बलं पुराणम्।
अमेयात्मा केशवः कौरवेन्द्र
सोऽयं धर्मं वक्ष्यति संशयेषु ॥ ६ ॥

इन श्रीकृष्णका जो स्वरूप है और जो इनका पुरातन बल है, उसे ठीक-ठीक मैं जानता हूँ। कौरवराज ! भगवान् श्रीकृष्ण अप्रमेय हैं; अतः तुम्हारे मनमें संदेह होनेपर यही तुम्हें धर्मका उपदेश करेंगे ॥ ६ ॥

कृष्णः पृथ्वीमसृजत् खं दिवं च
कृष्णस्य देहान्मेदिनी सम्बभूव।
वराहोऽयं भीमबलः पुराणः
स पर्वतान् व्यसृजद् वै दिशश्च ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्गकी सृष्टि की है। इन्हींके शरीरसे पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ है। यही भयंकर बलवाले वराहके रूपमें प्रकट हुए थे तथा इन्हीं पुराण-पुरुषने पर्वतों और दिशाओंको उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥

अस्य चाधोऽथान्तरिक्षं दिवं च
दिशश्चतस्रो विदिशश्चतस्रः।
सृष्टिस्तथैवेयमनुप्रसूता
स निर्ममे विश्वमिदं पुराणम् ॥ ८ ॥

अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशाएँ तथा चारों कोण—ये सब भगवान् श्रीकृष्णसे नीचे हैं। इन्हींसे सृष्टिकी परम्परा प्रचलित हुई है तथा इन्होंने ही इस प्राचीन विश्वका निर्माण किया है ॥ ८ ॥

अस्य नाभ्यां पुष्करं सम्प्रसूतं
यत्रोत्पन्नः स्वयमेवामितौजाः।
तेनाच्छिन्नं तत् तमः पार्थ घोरं
यत् तत् तिष्ठत्यर्णवं तर्जयानम् ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सृष्टिके आरम्भमें इनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उसीके भीतर अमित तेजस्वी ब्रह्माजी स्वतः प्रकट हुए। जिन्होंने उस घोर अन्धकारका नाश किया है, जो समुद्रको भी डाँट बताता हुआ सब ओर व्याप्त हो रहा था (अर्थात् जो अगाध और अपार था) ॥ ९ ॥

कृते युगे धर्म आसीत् समग्र-
स्त्रेताकाले ज्ञानमनुप्रपन्नः।
बलं त्वासीद् द्वापरे पार्थ कृष्णः
कलौ त्वधर्मः क्षितिमेवाजगाम ॥ १० ॥

पार्थ ! सत्ययुगमें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण धर्मरूपसे विराजमान थे, त्रेतामें पूर्णज्ञान या विवेकरूपमें स्थित थे, द्वापरमें बलरूपसे स्थित हुए थे और कलियुगमें अधर्मरूपसे इस पृथ्वीपर आयेंगे (अर्थात् उस समय अधर्म ही बलवान् होगा) ॥ १० ॥

स एव पूर्वं निजघान दैत्यान्
स पूर्वदेवश्च बभूव सम्राट्।
स भूतानां भावनो भूतभव्यः
स विश्वस्यास्य जगतश्चाभिगोप्ता ॥ ११ ॥

इन्होंने ही प्राचीनकालमें दैत्योंका संहार किया और ये ही दैत्यसम्राट् बलिके रूपमें प्रकट हुए। ये भूतभावन प्रभु ही भूत और भविष्य इनके ही स्वरूप हैं तथा ये ही इस सम्पूर्ण जगत्के रक्षा करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

यदा धर्मो ग्लाति वंशे सुराणां
तदा कृष्णो जायते मानुषेषु।
धर्मे स्थित्वा स तु वै भावितात्मा
परांश्च लोकानपरांश्च पाति ॥ १२ ॥

जब धर्मका ह्रास होने लगता है, तब ये शुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीकृष्ण देवताओं तथा मनुष्योंके कुलमें अवतार लेकर स्वयं धर्ममें स्थित हो उसका आचरण करते हुए उसकी स्थापना तथा पर और अपर लोकोंकी रक्षा करते हैं ॥ १२ ॥

त्याज्यं त्यक्त्वा चासुराणां वधाय
कार्याकार्ये कारणं चैव पार्थ।
कृतं करिष्यत् क्रियते च देवो
राहुं सोमं विद्धि च शक्रमेनम् ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! ये त्याज्य वस्तुका त्याग करके असुरोंका वध करनेके लिये स्वयं कारण बनते हैं। कार्य, अकार्य और कारण सब इन्हींके स्वरूप हैं। ये नारायणदेव ही भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें किये जानेवाले कर्मरूप हैं। तुम इन्हींको राहु, चन्द्रमा और इन्द्र समझो ॥ १३ ॥

स विश्वकर्मा स हि विश्वरूपः
स विश्वभुग् विश्वसृग् विश्वजिच्च।
स शूलभृच्छोणितभृत् कराल-
स्तं कर्मभिर्विदितं वै स्तुवन्ति ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण ही विश्वकर्मा, विश्वरूप, विश्वभोक्ता, विश्व-विधाता और विश्वविजेता हैं। वे ही एक हाथमें त्रिशूल और दूसरे हाथमें रक्तसे भरा खप्पर लिये विकरालरूप धारण करते हैं। अपने नाना प्रकारके कर्मोंसे जगत्‌में विख्यात हुए श्रीकृष्णकी ही सब लोग स्तुति करते हैं ॥ १४ ॥

तं गन्धर्वाणामप्सरसां च नित्य-
मुपतिष्ठन्ते विबुधानां शतानि।
तं राक्षसाश्च परिसंवदन्ति
रायस्पोषः स विजिगीषुरेकः ॥ १५ ॥

सैकड़ों गन्धर्व, अप्सराएँ तथा देवता सदा इनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। राक्षस भी इनसे सम्मति लिया करते हैं। एकमात्र ये ही धनके रक्षक और विजयके अभिलाषी हैं ॥ १५ ॥

तमध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरे सामगाश्च स्तुवन्ति।
तं ब्राह्मणा ब्रह्ममन्त्रैः स्तुवन्ति
तस्मै हविरध्वर्यवः कल्पयन्ति ॥ १६ ॥

यज्ञमें स्तोतालोग इन्हींकी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले विद्वान् रथन्तर साममें इन्हींके गुण गाते हैं। वेद-वेत्ता ब्राह्मण वेदके मन्त्रोंसे इन्हींका स्तवन करते हैं और यजुर्वेदी अध्वर्यु यज्ञमें इन्हींको हविष्यका भाग देते हैं ॥१६॥

स पौराणीं ब्रह्मगुहां प्रविष्टो
महीसत्रं भारताग्रे ददर्श।
स चैव गामुद्धाराग्र्यकर्मा
विक्षोभ्य दैत्यानुरगान् दानवांश्च ॥ १७ ॥

भारत ! इन्होंने ही पूर्वकालमें ब्रह्मरूप पुरातन गुहामें प्रवेश करके इस पृथ्वीका जलमें प्रलय होना देखा है। इन सृष्टिकर्म करनेवाले श्रीकृष्णने दैत्यों, दानवों तथा नागोंको विक्षुब्ध करके इस पृथ्वीका रसातलसे उद्धार किया है ॥१७॥

तं घोषार्थे गीर्भिरिन्द्राः स्तुवन्ति
स चापीशो भारतैकः पशूनाम्।
तस्य भक्षान् विविधान् वेदयन्ति
तमेवाजौ वाहनं वेदयन्ति ॥ १८ ॥

व्रजकी रक्षाके लिये गोवर्द्धन पर्वत उठानेके समय इन्द्र आदि देवताओंने इनकी स्तुति की थी। भरतनन्दन ! ये एकमात्र श्रीकृष्ण ही समस्त पशुओं (जीवों) के अधिपति हैं। इनको नाना प्रकारके भोजन अर्पित किये जाते हैं। युद्धमें ये ही विजय दिलानेवाले माने जाते हैं ॥ १८ ॥

तस्यान्तरिक्षं पृथिवी दिवं च
सर्वं वशे तिष्ठति शाश्वतस्य।
स कुम्भे रेतः ससृजे सुराणां
यत्रोत्पन्नमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥ १९ ॥

पृथ्वी, आकाश और स्वर्गलोक सभी इन सनातन पुरुष श्रीकृष्णके वशमें रहते हैं। इन्होंने कुम्भमें देवताओं (मित्र और वरुण) का वीर्य स्थापित किया था; जिससे महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई बतायी जाती है ॥ १९ ॥

स मातरिश्वा विभुरश्ववाजी
स रश्मिवान् सविता चादिदेवः।
तेनासुरा विजिताः सर्व एव
तद्विक्रान्तैर्विजितानीह त्रीणि ॥ २० ॥

ये ही सर्वत्र विचरनेवाले वायु हैं, तीव्रगामी अश्व हैं, सर्वव्यापी हैं, अंशुमाली सूर्य और आदि देवता हैं। इन्होंने ही समस्त असुरोंपर विजय पायी तथा इन्होंने ही अपने तीन पदोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया था ॥ २० ॥

स देवानां मानुषाणां पितॄणां
तमेवाहुर्यज्ञविदां वितानम्।
स एव कालं विभजन्नुदेति
तस्योत्तरं दक्षिणं चायने द्वे ॥ २१ ॥

ये श्रीकृष्ण सम्पूर्ण देवताओं, पितरों और मनुष्योंके आत्मा हैं। इन्हींको यज्ञवेत्ताओंका यज्ञ कहा गया है। ये ही दिन और रातका विभाग करते हुए सूर्यरूपमें उदित होते हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन इन्हींके दो मार्ग हैं ॥ २१ ॥

तस्यैवोर्ध्वं तिर्यगधश्चरन्ति
गभस्तयो मेदिनीं भासयन्तः।
तं ब्राह्मणा वेदविदो जुषन्ति
तस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति ॥ २२ ॥

इन्हींके ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलमें पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाली किरणें फैलती हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मण इन्हींकी सेवा करते हैं और इन्हींके प्रकाशका सहारा लेकर सूर्यदेव प्रकाशित होते हैं ॥ २२ ॥

स मासि मास्यध्वरकृद् विधत्ते
तमध्वरे वेदविदः पठन्ति ।
स एवोक्तश्चक्रमिदं त्रिनाभि
सप्ताश्वयुक्तं वहते वै त्रिधाम ॥ २३ ॥

ये यज्ञकर्ता श्रीकृष्ण प्रत्येक मासमें यज्ञ करते हैं। प्रत्येक यज्ञमें वेदज्ञ ब्राह्मण इन्हींके गुण गाते हैं। ये ही तीन नाभियों, तीन धामों और सात अश्वोंसे युक्त इस संवत्सर-चक्रको धारण करते हैं ॥ २३ ॥

महातेजाः सर्वगः सर्वसिंहः
कृष्णो लोकान् धारयते यथैकः ।
हंसं तमोघ्नं च तमेव वीर
कृष्णं सदा पार्थ कर्तारमेहि ॥ २४ ॥

वीर कुन्तीनन्दन ! ये महातेजस्वी और सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले सर्वसिंह श्रीकृष्ण अकेले ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करते हैं। तुम इन श्रीकृष्णको ही अन्धकारनाशक सूर्य और समस्त कार्योंका कर्ता समझो ॥ २४ ॥

स एकदा कक्षगतो महात्मा
तुष्टो विभुः खाण्डवे धूमकेतुः ।
स राक्षसानुरगांश्चावजित्य
सर्वत्रगः सर्वमग्नौ जुहोति ॥ २५ ॥

इन्हीं महात्मा वासुदेवने एक बार अग्निस्वरूप होकर खाण्डव वनकी सूखी लकड़ियोंमें व्याप्त हो पूर्णतः तृप्तिका अनुभव किया था। ये सर्वव्यापी प्रभु ही राक्षसों और नागोंको जीतकर सबको अग्निमें ही होम देते हैं ॥ २५ ॥

स एव पार्थाय श्वेतमश्वं प्रायच्छत्
स एवाश्वानथ सर्वांश्चकार ।
स बन्धुरस्तस्य रथस्त्रिचक्र-
स्त्रिवृच्छिराश्चतुरश्वस्त्रिनाभिः ॥ २६ ॥

इन्होंने ही अर्जुनको श्वेत अश्व प्रदान किया था। इन्होंने ही समस्त अश्वोंकी सृष्टि की थी। ये ही संसाररूपी रथको बाँधनेवाले बन्धन हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इस रथके चक्र हैं। ऊर्ध्व, मध्य और अधः—जिसकी गति है। काल, अदृष्ट, इच्छा और संकल्प—ये चार जिसके घोड़े हैं। सफेद, काला और लाल रंगका त्रिविध कर्म ही जिसकी नाभि है। वह संसार-रथ इन श्रीकृष्णके ही अधिकारमें है ॥ २६ ॥

स विहायो व्यदधात् पञ्चनाभिः
स निर्ममे गां दिवमन्तरिक्षम् ।
सोऽरण्यानि व्यसृजत् पर्वतांश्च
हृषीकेशोऽमितदीप्ताग्नितेजाः ॥ २७ ॥

पाँचों भूतोंके आश्रयरूप श्रीकृष्णने ही आकाशकी सृष्टि की है। इन्होंने ही पृथ्वी, स्वर्गलोक और अन्तरिक्षकी रचना की है, अत्यन्त प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी इन हृषीकेशने ही वन और पर्वतोंको उत्पन्न किया है ॥ २७ ॥

अलंघयद् वै सरितो जिघांसञ्
शक्रं वज्रं प्रहरन्तं निरास ।
स महेन्द्रः स्तूयते वै महाध्वरे
विप्रैरेको ऋक्सहस्रैः पुराणैः ॥ २८ ॥

इन्हीं वासुदेवने वज्रका प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए इन्द्रको मार डालनेकी इच्छासे कितनी ही सरिताओंको लाँघा और उन्हें परास्त किया था। वे ही महेन्द्ररूप हैं। ब्राह्मण बड़े-बड़े यज्ञोंमें सहस्रों पुरानी ऋचाओंद्वारा एकमात्र इन्हींकी स्तुति करते हैं ॥ २८ ॥

दुर्वासा वै तेन नान्येन शक्यो
गृहे राजन् वासयितुं महौजाः ।
तमेवाहुर्ऋषिमेकं पुराणं
स विश्वकृद् विदधात्यात्मभावान् ॥ २९ ॥

राजन्! इन श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है जो अपने घरमें महातेजस्वी दुर्वासाको ठहरा सके। इनको ही अद्वितीय पुरातन ऋषि कहते हैं। ये ही विश्वनिर्माता हैं और अपने स्वरूपसे ही अनेकों पदार्थोंकी सृष्टि करते रहते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च यो वेदयतेऽधिदेवो
विधींश्च यश्चाश्रयते पुराणान् ।
कामे वेदे लौकिके यत्फलं च
विष्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ३० ॥

ये देवताओंके देवता होकर भी वेदोंका अध्ययन करते और प्राचीन विधियोंका आश्रय लेते हैं। लौकिक और वैदिक कर्मका जो फल है, वह सब श्रीकृष्ण ही हैं, ऐसा विश्वास करो ॥ ३० ॥

ज्योतींषि शुक्लानि हि सर्वलोके
त्रयो लोका लोकपालास्त्रयश्च ।
त्रयोऽग्नयो व्याहृतयश्च तिस्रः
सर्वे देवा देवकीपुत्र एव ॥ ३१ ॥

ये ही सम्पूर्ण लोकोंकी शुक्लज्योति हैं तथा तीनों लोक, तीनों लोकपाल, त्रिविध अग्नि, तीनों व्याहृतियाँ और सम्पूर्ण देवता भी ये देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ३१ ॥

स वत्सरः स ऋतुः सोऽर्धमासः
सोऽहोरात्रः स कला वै स काष्ठाः ।
मात्रा मुहूर्ताश्च लवाः क्षणाश्च
विष्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ३२ ॥

संवत्सर, ऋतु, पक्ष, दिन-रात, कला, काष्ठा, मात्रा, मुहूर्त, लव और क्षण—इन सबको श्रीकृष्णका ही स्वरूप समझो ॥ ३२ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहनक्षत्रताराः
सर्वाणि दर्शान्यथ पौर्णमासम् ।
नक्षत्रयोगा ऋतवश्च पार्थ
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रसूतम् ॥ ३३ ॥

पार्थ ! चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अमावास्या, पौर्णमासी, नक्षत्रयोग तथा ऋतु—इन सबकी उत्पत्ति श्रीकृष्णसे ही हुई है ॥ ३३ ॥

रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च
साध्याश्च विश्वे मरुतां गणाश्च ।
प्रजापतिर्देवमातादितिश्च
सर्वे कृष्णादृषयश्चैव सप्त ॥ ३४ ॥

रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, प्रजापति, देवमाता अदिति और सप्तर्षि—ये सब-के-सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ३४ ॥

वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्व-
मग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः ।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं
ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान् ॥ ३५ ॥

ये विश्वरूप श्रीकृष्ण ही वायुरूप धारण करके संसारको चेष्टा प्रदान करते हैं, अग्निरूप होकर सबको भस्म करते हैं, जलका रूप धारण करके जगत्‌को डुबाते हैं और ब्रह्मा होकर सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते हैं ॥ ३५ ॥

वेद्यं च यद् वेदयते च वेद्यं
विधिश्च यश्च श्रयते विधेयम् ।
धर्मे च वेदे च बले च सर्वं
चराचरं केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ३६ ॥

ये स्वयं वेद्यस्वरूप होकर भी वेदवेद्य तत्त्वको जाननेका प्रयत्न करते हैं । विधिरूप होकर भी विहित कर्मोंका आश्रय लेते हैं । ये ही धर्म, वेद और बलमें स्थित हैं । तुम यह विश्वास करो कि सारा चराचर जगत् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है ॥ ३६ ॥

ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात्
प्रकाशते यत्प्रभया विश्वरूपः ।
अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः
पुराकरोत् सर्वमेवाथ विश्वम् ॥ ३७ ॥

ये विश्वरूपधारी श्रीकृष्ण परम ज्योतिर्मय सूर्यका रूप धारण करके पूर्वदिशामें प्रकट होते हैं । जिनकी प्रभासे सारा जगत् प्रकाशित होता है । ये समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं । इन्होंने पूर्वकालमें पहले जलकी सृष्टि करके फिर सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न किया था ॥ ३७ ॥

ऋतूनुत्पातान् विविधान्यद्भुतानि
मेघान् विद्युत्सर्वमैरावतं च ।
सर्वं कृष्णात् स्थावरं जङ्गमं च
विश्वात्मानं विष्णुमेनं प्रतीहि ॥ ३८ ॥

ऋतु, नाना प्रकारके उत्पात, अनेकानेक अद्भुत पदार्थ, मेघ, बिजली, ऐरावत और सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की इन्हींसे उत्पत्ति हुई है । तुम इन्हींको समस्त विश्वका आत्मा—विष्णु समझो ॥ ३८ ॥

विश्वावासं निर्गुणं वासुदेवं
संकर्षणं जीवभूतं वदन्ति ।
ततः प्रद्युम्नमनिरुद्धं चतुर्थ-
माज्ञापयत्यात्मयोनिर्महात्मा ॥ ३९ ॥

ये विश्वके निवासस्थान और निर्गुण हैं । इन्हींको वासुदेव, जीवभूत, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और चौथा अनिरुद्ध कहते हैं । ये आत्मयोनि परमात्मा सबको अपनी आज्ञाके अधीन रखते हैं ॥ ३९ ॥

स पञ्चधा पञ्चजनोपपन्नं
संचोदयन् विश्वमिदं सिसृक्षुः ।
ततश्चकारावनिमारुतौ च
खं ज्योतिरम्भश्च तथैव पार्थ ॥ ४० ॥

कुन्तीकुमार ! ये देवता, असुर, मनुष्य, पितर और तिर्यग् रूपसे पाँच प्रकारके संसारकी सृष्टि करनेकी इच्छा रखकर पञ्चभूतोंसे युक्त जगत्‌के प्रेरक होकर सबको अपने अधीन रखते हैं । उन्होंने ही क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशकी सृष्टि की है ॥ ४० ॥

स स्थावरं जङ्गमं चैवमेत-
च्चतुर्विधं लोकमिमं च कृत्वा ।
ततो भूमिं व्यदधात् पञ्चबीजां
द्यौः पृथिव्यां धास्यति भूरि वारि ॥ ४१ ॥

इन्होंने जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त इस चराचर जगत्‌की सृष्टि करके चतुर्विध भूतसमुदाय और कर्म—इन पाँचोंकी बीजरूपा भूमिका निर्माण किया । ये ही आकाशस्वरूप बनकर इस पृथ्वीपर प्रचुर जलकी वर्षा करते हैं ॥ ४१ ॥

तेन विश्वं कृतमेतद्धि राजन्
स जीवयत्यात्मनैवात्मयोनिः ।
ततो देवानसुरान् मानवांश्च
लोकानृषींश्चापि पितॄन् प्रजाश्च ।
समासेन विधिवत्प्राणिलोकान्
सर्वान् सदा भूतपतिः सिसृक्षुः ॥ ४२ ॥

राजन् ! इन्होंने ही इस विश्वको उत्पन्न किया है और ये ही आत्मयोनि श्रीकृष्ण अपनी ही शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करते हैं । देवता, असुर, मनुष्य, लोक, ऋषि, पितर, प्रजा और संक्षेपतः सम्पूर्ण प्राणियोंको इन्हींने

जीवन मिलता है। ये भगवान् भूतनाथ ही सदा विधिपूर्वक समस्त भूतोंकी सृष्टिकी इच्छा रखते हैं ॥ ४२ ॥

शुभाशुभं स्थावरं जङ्गमं च
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रतीहि।
यद् वर्तते यच्च भविष्यतीह
सर्वं ह्येतत् केशवं त्वं प्रतीहि ॥ ४३ ॥

शुभ-अशुभ और स्थावर-जङ्गमरूप यह सारा जगत् श्रीकृष्णसे उत्पन्न हुआ है, इस बातपर विश्वास करो। भूत, भविष्य और वर्तमान सब श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। यह तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ४३ ॥

मृत्युश्चैव प्राणिनामन्तकाले
साक्षात् कृष्णः शाश्वतो धर्मवाहः।
भूतं च यच्चेह न विद्म किंचिद्
विष्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रतीहि ॥ ४४ ॥

प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर साक्षात् श्रीकृष्ण ही मृत्युरूप बन जाते हैं। ये धर्मके सनातन रक्षक हैं। जो बात बीत चुकी है तथा जिसका अभी कोई पता नहीं है, वे सब श्रीकृष्णसे ही प्रकट होते हैं, यह निश्चितरूपसे जान लो ॥ ४४ ॥

यत् प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम्।
तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतः परम् ॥ ४५ ॥

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी उत्तम, पवित्र तथा शुभ या अशुभ वस्तु है, वह सब अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, श्रीकृष्णसे भिन्न कोई वस्तु है, ऐसा सोचना अपनी विपरीत बुद्धिका ही परिचय देना है ॥ ४५ ॥

एतादृशः केशवोऽतश्च भूयो
नारायणः परमश्चाव्ययश्च।
मध्याद्यन्तस्य जगतस्तस्थुषश्च
बुभूषतां प्रभवश्चाव्ययश्च ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी ही महिमा है। बल्कि ये इससे भी अधिक प्रभावशाली हैं। ये ही परम पुरुष अविनाशी नारायण हैं। ये ही स्थावर-जङ्गमरूप जगत्के आदि, मध्य और अन्त हैं तथा संसारमें जन्म लेनेकी इच्छावाले प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण भी ये ही हैं। इन्हींको अविकारी परमात्मा कहते हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महापुरुषमाहात्म्ये अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महापुरुषमाहात्म्यविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रद्युम्नको ब्राह्मणोंकी महिमा बताते हुए दुर्वासाके चरित्रका वर्णन करना और यह सारा प्रसंग युधिष्ठिरको सुनाना

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि ब्राह्मणपूजायां व्युष्टिं त्वं मधुसूदन।
वेत्ता त्वमस्य चार्थस्य वेद त्वां हि पितामहः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन! ब्राह्मणकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है? इसका आप ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप इस विषयको अच्छी तरह जानते हैं और मेरे पितामह भी आपको इस विषयका ज्ञाता मानते हैं ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् द्विजानां भरतर्षभ।
यथा तत्त्वेन वदतो गुणान् वै कुरुसत्तम ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलतिलक भरतभूषण नरेश! मैं ब्राह्मणोंके गुणोंका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिये ॥ २ ॥

द्वारवत्यां समासीनं पुरा मां कुरुनन्दन।
प्रद्युम्नः परिपप्रच्छ ब्राह्मणैः परिकोपितः ॥ ३ ॥

कुरुनन्दन! पहलेकी बात है, एक दिन ब्राह्मणोंने मेरे पुत्र प्रद्युम्नको कुपित कर दिया। उस समय मैं द्वारकामें ही था। प्रद्युम्नने मुझसे आकर पूछा— ॥ ३ ॥

किं फलं ब्राह्मणेष्वस्ति पूजायां मधुसूदन।
ईश्वरत्वं कुतस्तेषामिहैव च परत्र च ॥ ४ ॥

'मधुसूदन! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल होता है? इहलोक और परलोकमें वे क्यों ईश्वरतुल्य माने जाते हैं? ॥ ४ ॥

सदा द्विजातीन् सम्पूज्य किं फलं तत्र मानद।
एतद् ब्रूहि स्फुटं सर्वं सुमहान् संशयोऽत्र मे ॥ ५ ॥

'मानद! सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करके मनुष्य क्या फल पाता है? यह सब मुझे स्पष्टरूपसे बताइये, क्योंकि इस विषयमें मुझे महान् संदेह है' ॥ ५ ॥

इत्युक्ते वचने तस्मिन् प्रद्युम्नेन तथा त्वहम्।
प्रत्यब्रुवं महाराज यत् तच्छृणु समाहितः ॥ ६ ॥
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां रौक्मिणेय निबोध मे।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ ७ ॥
अस्मिँल्लोके रौक्मिणेय तथामुष्मिंश्च पुत्रक।

महाराज ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर मैंने उसको उत्तर दिया। रुक्मिणीनन्दन ! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है, यह मैं बता रहा हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। बेटा ! ब्राह्मणोंके राजा सोम (चन्द्रमा) हैं। अतः ये इस लोक और परलोकमें भी सुख-दुःख देनेमें समर्थ होते हैं ॥ ६-७½ ॥

ब्राह्मणप्रमुखं सौम्यं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ८ ॥
ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम्।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंमें शान्तभावकी प्रधानता होती है। इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बलकी प्राप्ति होती है। समस्त लोक और लोकेश्वर ब्राह्मणोंके पूजक हैं ॥ ८-९ ॥

त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये, मोक्षकी प्राप्तिके लिये और यश, लक्ष्मी तथा आरोग्यकी उपलब्धिके लिये एवं देवता और पितरोंकी पूजाके समय हमें ब्राह्मणोंको पूर्ण संतुष्ट करना चाहिये ॥ १० ॥

तत्कथं वै नाद्रियेयमीश्वरोऽस्मीति पुत्रक।
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान् प्रति ॥ ११ ॥

बेटा ! ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणोंका आदर कैसे नहीं करूँ ? महाबाहो ! मैं ईश्वर (सब कुछ करनेमें समर्थ) हूँ—ऐसा मानकर तुम्हें ब्राह्मणोंके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा हि महद्भूतमस्मिँल्लोके परत्र च।
भस्म कुर्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः ॥ १२ ॥

ब्राह्मण इस लोक और परलोकमें भी महान् माने गये हैं। वे सब कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं और यदि क्रोधमें भर जायँ तो इस जगत्को भस्म कर सकते हैं ॥ १२ ॥

अन्यानपि सृजेयुश्च लोकाँल्लोकेश्वरांस्तथा।
कथं तेषु न वर्तेरन् सम्यग् ज्ञानात् सुतेजसः ॥ १३ ॥

दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालोंकी वे सृष्टि कर सकते हैं। अतः तेजस्वी पुरुष ब्राह्मणोंके महत्त्वको अच्छी तरह जानकर भी उनके साथ सद्बर्ताव क्यों न करेंगे ? ॥ १३ ॥

अवसन्मद्गृहे तात ब्राह्मणो हरिपिङ्गलः।
चीरवासा बिल्वदण्डी दीर्घश्मश्रुः कृशो महान् ॥ १४ ॥

तात ! पहलेकी बात है, मेरे घरमें एक हरित-पिङ्गल वर्णवाले ब्राह्मणने निवास किया था। वह चिथड़े पहिनता और बेलका डंडा हाथमें लिये रहता था। उसकी मूँछें और दाढ़ियाँ बढ़ी हुई थीं। वह देखनेमें दुबला-पतला और ऊँचे कदका था ॥ १४ ॥

दीर्घेभ्यश्च मनुष्येभ्यः प्रमाणादधिको भुवि।
स स्वैरं चरते लोकान् ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ १५ ॥

इस भूतलपर जो बड़े-से-बड़े मनुष्य हैं, उन सबसे वह अधिक लंबा था और दिव्य तथा मानव लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करता था ॥ १५ ॥

इमां गाथां गायमानश्चत्वरेषु सभासु च।
दुर्वाससं वासयेत् को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ॥ १६ ॥

वे ब्राह्मण देवता जिस समय यहाँ पधारे थे, उस समय धर्मशालाओंमें और चौराहोंपर यह गाथा गाते फिरते थे कि 'कौन मुझ दुर्वासा ब्राह्मणको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहरायेगा ॥ १६ ॥

रोषणः सर्वभूतानां सूक्ष्मेऽप्यपकृते कृते।
परिभाषां च मे श्रुत्वा को नु दद्यात् प्रतिश्रयम् ॥ १७ ॥
यो मां कश्चिद् वासयीत न स मां कोपयेदिति।

'यदि मेरा थोड़ा-सा भी अपराध बन जाय तो मैं समस्त प्राणियोंपर अत्यन्त कुपित हो उठता हूँ। मेरे इस भाषणको सुनकर कौन मेरे लिये ठहरनेका स्थान देगा ? जो कोई मुझे अपने घरमें ठहराये, वह मुझे क्रोध न दिलाये। इस बातके लिये उसे सतत सावधान रहना होगा' ॥ १७½ ॥

यस्मान्नाद्रियते कश्चित् ततोऽहं समवासयम् ॥ १८ ॥
स स्म भुङ्क्ते सहस्राणां बहूनामन्नमेकदा।
एकदा सोऽल्पकं भुङ्क्ते न चैवैति पुनर्गृहान् ॥ १९ ॥

बेटा ! जब कोई भी उनका आदर न कर सका, तब मैंने उन्हें अपने घरमें ठहराया। वे कभी तो एक ही समय इतना अन्न भोजन कर लेते थे, जितनेसे कई हजार मनुष्य तृप्त हो सकते थे और कभी बहुत थोड़ा अन्न खाते तथा घरसे निकल जाते थे। उस दिन फिर घरको नहीं लौटते थे ॥ १८-१९ ॥

अकस्माच्च प्रहसति तथाकस्मात् प्ररोदिति।
न चास्य वयसा तुल्यः पृथिव्यामभवत् तदा ॥ २० ॥

वे अकस्मात् जोर-जोरसे हँसने लगते और अचानक फूट-फूटकर रो पड़ते थे। उस समय इस पृथ्वीपर उनका समवयस्क कोई नहीं था ॥ २० ॥

अथ स्वावसथं गत्वा स शय्यास्तरणानि च।
कन्याश्चालंकृता दग्ध्वा ततो व्यपगतः पुनः ॥ २१ ॥

एक दिन अपने ठहरनेके स्थानपर जाकर वहाँ बिछी हुई शय्याओं, बिछौनों और वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत हुई कन्याओंको उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया और स्वयं वहाँसे खिसक गये ॥ २१ ॥

अथ मामब्रवीद् भूयः स मुनिः संशितव्रतः।
कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः ॥ २२ ॥

फिर तुरंत ही मेरे पास आकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि मुझसे इस प्रकार बोले—'कृष्ण ! मैं शीघ्र ही खीर खाना चाहता हूँ' ॥ २२ ॥

तदैव तु मया तस्य चित्तज्ञेन गृहे जनः ।
सर्वाण्यन्नानि पानानि भक्ष्याश्चोच्चावचास्तथा ॥ २३ ॥
भवन्तु सत्कृतानीह पूर्वमेव प्रचोदितः ।
ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम् ॥ २४ ॥

मैं उनके मनकी बात जानता था, इसलिये घरके लोगोंको पहलेसे ही आज्ञा दे दी थी कि 'सब प्रकारके उत्तम, मध्यम अन्नपान और भक्ष्य-भोज्य पदार्थ आदरपूर्वक तैयार किये जायँ ।' मेरे कथनानुसार सभी चीजें तैयार थीं ही, अतः मैंने मुनिको गरमागरम खीर निवेदन किया ॥ २३-२४ ॥

तं भुक्त्वैव स तु क्षिप्रं ततो वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह ॥ २५ ॥

उसको थोड़ा-सा ही खाकर वे तुरंत मुझसे बोले—'कृ[illegible] ! इस खीरको शीघ्र ही अपने सारे अङ्गोंमें पोत लो' ॥ २५ ॥

अविमृश्यैव च ततः कृतवानस्मि तत् तथा ।
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम् ॥ २६ ॥

मैंने बिना विचारे ही उनकी इस आज्ञाका पालन किया। वही जूठी खीर मैंने अपने सिरपर तथा अन्य सारे अङ्गोंमें पोत ली ॥ २६ ॥

स ददर्श तदाभ्याशे मातरं ते शुभाननाम् ।
तामपि स्मयमानां स पायसेनाभ्यलेपयम् ॥ २७ ॥

इतनेहीमें उन्होंने देखा कि तुम्हारी सुमुखी माता पास ही खड़ी-खड़ी मुसकरा रही हैं । मुनिकी आज्ञा पाकर मैंने मुसकराती हुई तुम्हारी माताके अङ्गोंमें भी खीर लपेट दी ॥ २७ ॥

मुनिः पायसदिग्धाङ्गीं रथे तूर्णमयोजयत् ।
तमारुह्य रथं चैव निर्ययौ स गृहान्मम ॥ २८ ॥

जिसके सारे अङ्गोंमें खीर लिपटी हुई थी, उस महारानी रुक्मिणीको मुनिने तुरंत रथमें जोत दिया और उसी रथपर बैठकर वे मेरे घरसे निकले ॥ २८ ॥

अग्निवर्णो ज्वलन् धीमान् स द्विजो रथधुर्यवत् ।
प्रतोदेनातुदद् बालां रुक्मिणीं मम पश्यतः ॥ २९ ॥

वे बुद्धिमान् ब्राह्मण दुर्वासा अपने तेजसे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे । उन्होंने मेरे देखते-देखते जैसे रथके घोड़ोंपर कोड़े चलाये जाते हैं, उसी प्रकार भोली-भाली रुक्मिणीको भी चाबुकसे चोट पहुँचाना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

न च मे स्तोकमप्यासीद् दुःखमीर्ष्याकृतं तदा।
तथा स राजमार्गेण महता निर्ययौ बहिः ॥ ३० ॥

उस समय मेरे मनमें थोड़ा-सा भी ईर्ष्याजनित दुःख नहीं हुआ । इसी अवस्थामें वे महलसे बाहर आकर विशाल राजमार्गसे चलने लगे ॥ ३० ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं दाशार्हा जातमन्यवः ।
तत्राजल्पन् मिथः केचित् समाभाष्य परस्परम् ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणा ए[illegible]न् नान्यो वर्णः कथंचन ।
को ह्येनं रथम[illegible]य जीवेदन्यः पुमानिह ॥ ३२ ॥

यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर दशार्हवंशी यादवोंको बड़ा क्रोध हुआ । उनमेंसे कुछ लोग वहाँ आपसमें इस प्रकार बातें करने लगे—'भाइयो ! इस संसारमें ब्राह्मण ही पैदा हों, दूसरा कोई वर्ण किसी तरह पैदा न हो । अन्यथा यहाँ इन बाबाजीके सिवा और कौन पुरुष इस रथपर बैठकर जीवित रह सकता था ॥ ३१-३२ ॥

आशीविषविषं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णतरो द्विजः ।
ब्रह्माशीविषदग्धस्य नास्ति कश्चिच्चिकित्सकः ॥ ३३ ॥

'कहते हैं—विषैले साँपोंका विष बड़ा तीखा होता है, परंतु ब्राह्मण उससे भी अधिक तीक्ष्ण होता है । जो ब्राह्मणरूपी विषधर सर्पसे जलाया गया हो, उसके लिये इस संसारमें कोई चिकित्सक नहीं है' ॥ ३३ ॥

तस्मिन् व्रजति दुर्धर्षे प्रास्खलद् रुक्मिणी पथि।
तन्नामर्षयत श्रीमांस्ततस्तूर्णमचोदयत् ॥ ३४ ॥

उन दुर्धर्ष दुर्वासाके इस प्रकार रथसे यात्रा करते समय बेचारी रुक्मिणी रास्तेमें लड़खड़ाकर गिर पड़ी, परंतु श्रीमान् दुर्वासा मुनि इस बातको सहन न कर सके । उन्होंने तुरंत उसे चाबुकसे हाँकना शुरू किया ॥ ३४ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो रथात् प्रस्कन्द्य स द्विजः ।
पदातिरुत्पथेनैव प्राद्रवद् दक्षिणामुखः ॥ ३५ ॥

जब वह बारंबार लड़खड़ाने लगी, तब वे और भी कुपित हो उठे और रथसे कूदकर बिना रास्तेके ही दक्षिण दिशाकी ओर पैदल ही भागने लगे ॥ ३५ ॥

तमुत्पथेन धावन्तमन्वधावं द्विजोत्तमम् ।
तथैव पायसादिग्धः प्रसीद भगवन्निति ॥ ३६ ॥

इस प्रकार बिना रास्तेके ही दौड़ते हुए विप्रवर दुर्वासाके पीछे-पीछे मैं उसी तरह सारे शरीरमें खीर लपेटे दौड़ने लगा और बोला—'भगवन् ! प्रसन्न होइये' ॥ ३६ ॥

ततो विलोक्य तेजस्वी ब्राह्मणो मामुवाच ह ।
जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज ॥ ३७ ॥
न तेऽपराधमिह वै दृष्टवानस्मि सुव्रत ।
प्रीतोऽस्मि तव गोविन्द वृणु कामान् यथेप्सितान् ॥ ३८ ॥

तब वे तेजस्वी ब्राह्मण मेरी ओर देखकर बोले—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! तुमने स्वभावसे ही क्रोधको जीत लिया है । उत्तम व्रतधारी गोविन्द ! मैंने यहाँ तुम्हारा कोई भी अपराध नहीं

देखा है । अतः तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे मनोवाञ्छित कामनाएँ माँग लो ॥ ३७-३८ ॥

प्रसन्नस्य च मे तात पश्य व्युष्टिं यथाविधि ।
यावदेव मनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति ॥ ३९ ॥
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति ।

'तात ! मेरे प्रसन्न होनेका जो भावी फल है, उसे विधिपूर्वक सुनो । जबतक देवताओं और मनुष्योंका अन्नमें प्रेम रहेगा, तबतक जैसा अन्नके प्रति उनका भाव या आकर्षण होगा, वैसा ही तुम्हारे प्रति भी बना रहेगा ॥ ३९½ ॥

यावच्च पुण्या लोकेषु त्वयि कीर्तिर्भविष्यति ॥ ४० ॥
त्रिषु लोकेषु तावच्च वैशिष्ट्यं प्रतिपत्स्यसे ।
सुप्रियः सर्वलोकस्य भविष्यसि जनार्दन ॥ ४१ ॥

'तीनों लोकोंमें जबतक तुम्हारी पुण्यकीर्ति रहेगी, तबतक त्रिभुवनमें तुम प्रधान बने रहोगे । जनार्दन ! तुम सब लोगोंके परम प्रिय होओगे ॥ ४०-४१ ॥

यत्ते भिन्नं च दग्धं च यच्च किंचिद् विनाशितम् ।
सर्वं तथैव द्रष्टासि विशिष्टं वा जनार्दन ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! तुम्हारी जो-जो वस्तु मैंने तोड़ी-फोड़ी, जलायी या नष्ट कर दी है, वह सब तुम्हें पूर्ववत् या पहलेसे भी अच्छी अवस्थामें सुरक्षित दिखायी देगी ॥ ४२ ॥

यावदेतत् प्रलिप्तं ते गात्रेषु मधुसूदन ।
अतो मृत्युभयं नास्ति यावदिच्छसि चाच्युत ॥ ४३ ॥

'मधुसूदन ! तुमने अपने सारे अङ्गोंमें जहाँतक खीर लगायी है, वहाँतकके अङ्गोंमें चोट लगनेसे तुम्हें मृत्युका भय नहीं रहेगा । अच्युत ! तुम जबतक चाहोगे, यहाँ अमर बने रहोगे ॥ ४३ ॥

न तु पादतले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै ।
नैतन्मे प्रियमित्येवं स मां प्रीतोऽब्रवीत् तदा ॥ ४४ ॥
इत्युक्तोऽहं शरीरं स्वं ददर्श श्रीसमायुतम् ।

'परंतु यह खीर तुमने अपने पैरोंके तलवोंमें नहीं लगायी है । बेटा ! तुमने ऐसा क्यों किया ? तुम्हारा यह कार्य मुझे प्रिय नहीं लगा ।' इस प्रकार जब उन्होंने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा, तब मैंने अपने शरीरको अद्भुत कान्तिसे सम्पन्न देखा ॥ ४४½ ॥

रुक्मिणीं चाब्रवीत् प्रीतः सर्वस्त्रीणां वरं यशः ॥ ४५ ॥
कीर्तिं चानुत्तमां लोके समवाप्स्यसि शोभने ।
न त्वां जरा वा रोगो वा वैवर्ण्यं चापि भाविनि ॥ ४६ ॥
स्प्रक्ष्यन्ति पुण्यगन्धा च कृष्णमाराधयिष्यसि ।

फिर मुनिने रुक्मिणीसे भी प्रसन्नतापूर्वक कहा—'शोभने ! तुम सम्पूर्ण स्त्रियोंमें उत्तम यश और लोकमें सर्वोत्तम कीर्ति प्राप्त करोगी । भामिनि ! तुम्हें बुढ़ापा या रोग अथवा कान्तिहीनता आदि दोष नहीं छू सकेंगे । तुम पवित्र सुगन्धसे सुवासित होकर श्रीकृष्णकी आराधना करोगी ॥ ४५-४६½ ॥

षोडशानां सहस्राणां वधूनां केशवस्य ह ॥ ४७ ॥
वरिष्ठा च सलोक्या च केशवस्य भविष्यसि ।

'श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार रानियाँ हैं, उन सबमें तुम श्रेष्ठ और पतिके सालोक्यकी अधिकारिणी होओगी' ॥ ४७½ ॥

तव मातरमित्युक्त्वा ततो मां पुनरब्रवीत् ॥ ४८ ॥
प्रस्थितः सुमहातेजा दुर्वासाग्निरिव ज्वलन् ।
एषैव ते बुद्धिरस्तु ब्राह्मणान्प्रति केशव ॥ ४९ ॥

प्रद्युम्न ! तुम्हारी मातासे ऐसा कहकर वे अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले महातेजस्वी दुर्वासा यहाँसे प्रस्थित होते समय फिर मुझसे बोले—'केशव ! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारी सदा ऐसी ही बुद्धि बनी रहे' ॥ ४८-४९ ॥

इत्युक्त्वा स तदा पुत्र तत्रैवान्तरधीयत ।
तस्मिन्नन्तर्हिते चाहमुपांशुव्रतमाचरम् ॥ ५० ॥
यत्किंचिद् ब्राह्मणो ब्रूयात् सर्वं कुर्यामिति प्रभो ।

प्रभावशाली पुत्र ! ऐसा कहकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये । उनके अदृश्य हो जानेपर मैंने अस्पष्ट वाणीमें धीरेसे यह व्रत लिया कि 'आजसे कोई ब्राह्मण मुझसे जो कुछ कहेगा, वह सब मैं पूर्ण करूँगा' ॥ ५०½ ॥

एतद् व्रतमहं कृत्वा मात्रा ते सह पुत्रक ॥ ५१ ॥
ततः परमहृष्टात्मा प्राविशं गृहमेव च ।

बेटा ! ऐसी प्रतिज्ञा करके परम प्रसन्नचित्त होकर मैंने तुम्हारी माताके साथ घरमें प्रवेश किया ॥ ५१½ ॥

प्रविष्टमात्रश्च गृहे सर्वं पश्यामि तन्नवम् ॥ ५२ ॥
यद् भिन्नं यच्च वै दग्धं तेन विप्रेण पुत्रक ।

पुत्र ! घरमें प्रवेश करके मैं देखता हूँ तो उन ब्राह्मणने जो कुछ तोड़-फोड़ या जला दिया था, वह सब नूतनरूपसे प्रस्तुत दिखायी दिया ॥ ५२½ ॥

ततोऽहं विस्मयं प्राप्तः सर्वं दृष्ट्वा नवं दृढम् ॥ ५३ ॥
अपूजयं च मनसा रौक्मिणेय सदा द्विजान् ।

रुक्मिणीनन्दन ! वे सारी वस्तुएँ नूतन और सुदृढ़ रूपमें उपलब्ध हैं, यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने मन-ही-मन द्विजोंकी सदा ही पूजा की ॥ ५३½ ॥

इत्यहं रौक्मिणेयस्य पृच्छतो भरतर्षभ ॥ ५४ ॥
माहात्म्यं द्विजमुख्यस्य सर्वमाख्यातवांस्तदा ।

भरतभूषण ! रुक्मिणीकुमार प्रद्युम्नके पूछनेपर इस तरह मैंने उनसे विप्रवर दुर्वासाका सारा माहात्म्य कहा था ॥ ५४½ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय ब्राह्मणान् सततं प्रभो ॥ ५५ ॥
पूजयस्व महाभागान् वाग्भिर्दानैश्च नित्यदा ।

प्रभो ! कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार आप भी सदा मीठे वचन बोलकर और नाना प्रकारके दान देकर महाभाग ब्राह्मणोंकी सर्वदा पूजा करते रहें ॥ ५५½ ॥

एवं व्युष्टिमहं प्राप्तो ब्राह्मणस्य प्रसादजाम् ।
यच्च मामाह भीष्मोऽयं तत्सत्यं भरतर्षभ ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार ब्राह्मणके प्रसादसे मुझे उत्तम फल प्राप्त हुआ । ये भीष्मजी मेरे विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दुर्वासोभिक्षा नाम एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दुर्वासाकी भिक्षानामक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा भगवान् शङ्करके माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दुर्वाससः प्रसादात् ते यत् तदा मधुसूदन ।
अवाप्तमिह विज्ञानं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन ! उस समय दुर्वासाके प्रसादसे इहलोकमें आपको जो विज्ञान प्राप्त हुआ, उसे विस्तारपूर्वक मुझे बताइये ॥ १ ॥

महाभाग्यं च यत् तस्य नामानि च महात्मनः ।
तत् त्वत्तो ज्ञातुमिच्छामि सर्वं मतिमतां वर ॥ २ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! उन महात्माके महान् सौभाग्यको और उनके नामोंको मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ । वह सब विस्तारपूर्वक बताइये ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

हन्त ते कीर्तयिष्यामि नमस्कृत्य कपर्दिने ।
यदवाप्तं मया राजञ्छ्रेयो यच्चार्जितं यशः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैं जटाजूटधारी भगवान् शङ्करको नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक यह बता रहा हूँ कि मैंने कौन-सा श्रेय प्राप्त किया और किस यशका उपार्जन किया ॥ ३ ॥

प्रयतः प्रातरुत्थाय यदधीये विशाम्पते ।
प्राञ्जलिः शतरुद्रीयं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हाथ जोड़कर जिस शतरुद्रिय-का जप एवं पाठ करता हूँ, उसे बता रहा हूँ; सुनो ॥ ४ ॥

प्रजापतिस्तत् ससृजे तपसोऽन्ते महातपाः ।
शङ्करस्त्वसृजत् तात प्रजाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

तात ! महातपस्वी प्रजापतिने तपस्याके अन्तमें उस शतरुद्रियकी रचना की और शङ्करजीने समस्त चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की ॥ ५ ॥

नास्ति किंचित् परं भूतं महादेवाद् विशाम्पते ।
इह त्रिष्वपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! तीनों लोकोंमें महादेवजीसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है; क्योंकि वे समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ ६ ॥

न चैवोत्सहते स्थातुं कश्चिदग्रे महात्मनः ।
न हि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ७ ॥

उन महात्मा शङ्करके सामने कोई भी खड़ा होनेका साहस नहीं कर सकता । तीनों लोकोंमें कोई भी प्राणी उनकी समता करनेवाला नहीं है ॥ ७ ॥

गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः ।
विसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ते च पतन्ति च ॥ ८ ॥

संग्राममें जब वे कुपित होते हैं, उस समय उनकी गन्धसे भी सारे शत्रु अचेत और मृतप्राय होकर थर-थर काँपने एवं गिरने लगते हैं ॥ ८ ॥

घोरं च निनदं तस्य पर्जन्यनिनदोपमम् ।
श्रुत्वा विशीर्येद्धृदयं देवानामपि संयुगे ॥ ९ ॥

संग्राममें मेघगर्जनाके समान गम्भीर उनका घोर सिंह-नाद सुनकर देवताओंका भी हृदय विदीर्ण हो सकता है ॥ ९ ॥

यांश्च घोरेण रूपेण पश्येत् क्रुद्धः पिनाकधृत् ।
न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न पन्नगाः ॥ १० ॥
कुपिते सुखमेधन्ते तस्मिन्नपि गुहागताः ।

पिनाकधारी रुद्र कुपित होकर जिन्हें भयंकररूपसे देख लें, उनके भी हृदयके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ । संसारमें भगवान् शङ्करके कुपित हो जानेपर देवता, असुर, गन्धर्व और नाग यदि भागकर गुफामें छिप जायँ तो भी सुखसे नहीं रह सकते ॥ १०½ ॥

प्रजापतेश्च दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ ॥ ११ ॥
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा ।
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं विननाद च ॥ १२ ॥

प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहे थे, उस समय उनका यज्ञ आरम्भ होनेपर कुपित हुए भगवान् शङ्करने निर्भय होकर उनके यज्ञको अपने बाणोंसे बींध डाला और धनुषसे बाण छोड़कर गम्भीर स्वरमें सिंहनाद किया ॥ ११-१२ ॥

ते न शर्म कुतः शान्तिं विषादं लेभिरे सुराः।
विद्धे च सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे ॥ १३ ॥

इससे देवता बेचैन हो गये, फिर उन्हें शान्ति कैसे मिले। जब यज्ञ सहसा बाणोंसे बिंध गया और महेश्वर कुपित हो गये, तब बेचारे देवता विषादमें डूब गये ॥ १३ ॥

तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः।
बभूवुरवशाः पार्थ विषेदुश्च सुरासुराः ॥ १४ ॥

पार्थ ! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे समस्त लोक व्याकुल और विवश हो उठे और सभी देवता एवं असुर विषादमें मग्न हो गये ॥ १४ ॥

आपश्चुक्षुभिरे चैव चकम्पे च वसुन्धरा।
व्यद्रवन् गिरयश्चापि द्यौः पफाल च सर्वशः ॥ १५ ॥

समुद्र आदिका जल क्षुब्ध हो उठा, पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत पिघलने लगे और आकाश सब ओरसे फटने-सा लगा ॥ १५ ॥

अन्धेन तमसा लोकाः प्रावृता न चकाशिरे।
प्रणष्टा ज्योतिषां भाश्च सह सूर्येण भारत ॥ १६ ॥

समस्त लोक घोर अन्धकारसे आवृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं होते थे। भारत ! ग्रहों और नक्षत्रोंका प्रकाश सूर्यके साथ ही नष्ट (अदृश्य) हो गया ॥ १६ ॥

भृशं भीतास्ततः शान्तिं चक्रुः स्वस्त्ययनानि च।
ऋषयः सर्वभूतानामात्मनश्च हितैषिणः ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंका और अपना भी हित चाहनेवाले ऋषि अत्यन्त भयभीत हो शान्ति एवं स्वस्तिवाचन आदि कर्म करने लगे ॥ १७ ॥

ततः सोऽभ्यद्रवद् देवान् रुद्रो रौद्रपराक्रमः।
भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी रुद्र देवताओंकी ओर दौड़े। उन्होंने क्रोधपूर्वक प्रहार करके भगदेवताके नेत्र नष्ट कर दिये ॥ १८ ॥

पूषणं चाभिदुद्राव पादेन च रुषान्वितः।
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान् वै व्यशातयत् ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने रोषमें भरकर पैदल ही पूषादेवताका पीछा किया और पुरोडाश भक्षण करनेवाले उनके दाँतोंको तोड़ डाला ॥ १९ ॥

ततः प्रणेमुर्देवास्ते वेपमानाः स्म शङ्करम्।
पुनश्च संदधे रुद्रो दीप्तं सुनिशितं शरम् ॥ २० ॥

तब सब देवता काँपते हुए वहाँ भगवान् शङ्करको प्रणाम करने लगे। इधर रुद्रदेवने पुनः एक प्रज्वलित एवं तीखे बाणका संधान किया ॥ २० ॥

रुद्रस्य विक्रमं दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः।
ततः प्रसादयामासुः शर्वं ते विबुधोत्तमाः ॥ २१ ॥

रुद्रका पराक्रम देखकर ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता थर्रा उठे। फिर उन श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् शिवको प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

जेपुश्च शतरुद्रीयं देवाः कृत्वाञ्जलिं तदा।
संस्तूयमानस्त्रिदशैः प्रससाद महेश्वरः ॥ २२ ॥

उस समय देवतालोग हाथ जोड़कर शतरुद्रियका जप करने लगे। देवताओंके द्वारा अपनी स्तुति की जानेपर महेश्वर प्रसन्न हो गये ॥ २२ ॥

रुद्रस्य भागं यज्ञे च विशिष्टं ते त्वकल्पयन्।
भयेन त्रिदशा राजञ्छरणं च प्रपेदिरे ॥ २३ ॥

राजन् ! देवतालोग भयके मारे भगवान् शङ्करकी शरणमें गये। उन्होंने यज्ञमें रुद्रके लिये विशिष्ट भागकी कल्पना की (यज्ञावशिष्ट सारी सामग्री रुद्रके अधिकारमें दे दी) ॥ २३ ॥

तेन चैव हि तुष्टेन स यज्ञः संधितोऽभवत्।
यद् यच्चापहृतं तत्र तत्तथैवान्वजीवयत् ॥ २४ ॥

भगवान् शङ्करके संतुष्ट होनेपर वह यज्ञ पुनः पूर्ण हुआ। उसमें जिस-जिस वस्तुको नष्ट किया गया था, उन सबको उन्होंने पुनः पूर्ववत् जीवित कर दिया ॥ २४ ॥

असुराणां पुराण्यासंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपि चापरम् ॥ २५ ॥

पूर्वकालमें बलवान् असुरोंके तीन पुर (विमान) थे; जो आकाशमें विचरते रहते थे। उनमेंसे एक लोहेका, दूसरा चाँदीका और तीसरा सोनेका बना हुआ था ॥ २५ ॥

नाशकत् तानि मघवा जेतुं सर्वायुधैरपि।
अथ सर्वेऽमरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः ॥ २६ ॥

इन्द्र अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके भी उन पुरोंपर विजय न पा सके। तब पीड़ित हुए समस्त देवता रुद्रदेवकी शरणमें गये ॥ २६ ॥

तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः।
रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥
जहि दैत्यान् सह पुरैर्लोकांस्त्रायस्व मानद।

तदनन्तर वहाँ पधारे हुए सम्पूर्ण महामना देवताओंने रुद्रदेवसे कहा—'भगवन् रुद्र ! पशुतुल्य असुर हमारे समस्त कर्मोंके लिये भयङ्कर हो गये हैं और भविष्यमें भी ये हमें भय देते रहेंगे। अतः मानद ! हमारी प्रार्थना है कि आप तीनों पुरोंसहित समस्त दैत्योंका नाश और लोकोंकी रक्षा करें' ॥ २७½ ॥

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा कृत्वा विष्णुं शरोत्तमम् ॥२८॥
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुङ्खं वैवस्वतं यमम् ।
वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् ज्यां च सावित्रिमुत्तमाम्॥२९॥
ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तेन तानि बिभेद सः ॥३०॥

उनके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और भगवान् विष्णुको उत्तम बाण, अग्निको उस बाणका शल्य, वैवस्वत यमको पङ्ख, समस्त वेदोंको धनुष, गायत्रीको उत्तम प्रत्यञ्चा और ब्रह्माको सारथि बनाकर सबको यथावत्‌रूपसे अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करके तीन पर्व और तीन शल्यवाले उस बाणके द्वारा उन तीनों पुरोंको विदीर्ण कर डाला ॥ २८-३० ॥

शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धा रुद्रेण भारत ॥३१॥

भारत ! वह बाण सूर्यके समान कान्तिमान् और प्रलय[illegible]के समान तेजस्वी था । उसके द्वारा रुद्रदेवने उन तीनों पुरोंसहित वहाँके समस्त असुरोंको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ३१ ॥

तं चैवाङ्कगतं दृष्ट्वा बालं पञ्चशिखं पुनः ।
उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत् तदा ॥३२॥

फिर वे पाँच शिखावाले बालकके रूपमें प्रकट हुए और उमादेवी उन्हें अङ्कमें लेकर देवताओंसे पूछने लगीं—'पहचानो, ये कौन हैं ?' ॥ ३२ ॥

असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः ।
स वज्रं स्तम्भयामास तं बाहुं परिघोपमम् ॥३३॥

उस समय इन्द्रको बड़ी ईर्ष्या हुई । वे वज्रसे उस बालकपर प्रहार करना ही चाहते थे कि उसने परिघके समान मोटी उनकी उस बाँहको वज्रसहित स्तम्भित कर दिया ॥ ३३ ॥

न सम्बुबुधिरे चैव देवास्तं भुवनेश्वरम् ।
सप्रजापतयः सर्वे तस्मिन् मुमुहुरीश्वरे ॥३४॥

समस्त देवता और प्रजापति उन भुवनेश्वर महादेवजीको न पहचान सके । सबको उन ईश्वरके विषयमें मोह छा गया ॥ ३४ ॥

ततो ध्यात्वा च भगवान् ब्रह्मा तममितौजसम् ।
अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम् ॥३५॥

तब भगवान् ब्रह्माने ध्यान करके उन अमिततेजस्वी उमापतिको पहचान लिया और 'ये ही सबसे श्रेष्ठ देवता हैं' ऐसा जानकर उन्होंने उनकी वन्दना की ॥ ३५ ॥

ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः ।
बभूव स तदा बाहुर्बलहन्तुर्यथा पुरा ॥३६॥

तत्पश्चात् उन देवताओंने उमादेवी और भगवान् रुद्रको प्रसन्न किया । तब इन्द्रकी वह बाँह पूर्ववत् हो गयी ॥ ३६ ॥

स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्यवान् ।
द्वारवत्यां मम गृहे चिरं कालमुपावसत् ॥३७॥

वे ही पराक्रमी महादेव दुर्वासा नामक ब्राह्मण बनकर द्वारकापुरीमें मेरे घरके भीतर दीर्घकालतक टिके रहे ॥ ३७ ॥

विप्रकारान् प्रयुङ्क्ते स सुबहून् मम वेश्मनि ।
तानुदारतया चाहं चक्षमे चातिदुःसहान् ॥३८॥

उन्होंने मेरे महलमें मेरे विरुद्ध बहुत-से अपराध किये । वे सभी अत्यन्त दुःसह थे, तो भी मैंने उदारतापूर्वक क्षमा किया ॥ ३८ ॥

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित् ।
स चैवेन्द्रश्च वायुश्च सोऽश्विनौ स च विद्युतः ॥३९॥

वे ही रुद्र हैं, वे ही शिव हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही सर्वस्वरूप और सर्वविजयी हैं । वे ही इन्द्र और वायु हैं, वे ही अश्विनीकुमार और विद्युत् हैं ॥ ३९ ॥

स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ।
स कालः सोऽन्तको मृत्युः स यमो राज्यहानि च ॥४०॥

वे ही चन्द्रमा, वे ही ईशान, वे ही सूर्य, वे ही वरुण, वे ही काल, वे ही अन्तक, वे ही मृत्यु, वे ही यम तथा वे ही रात और दिन हैं ॥ ४० ॥

मासार्धमासा ऋतवः संध्ये संवत्सरश्च सः ।
स धाता स विधाता च विश्वकर्मा स सर्ववित् ॥४१॥

मास, पक्ष, ऋतु, संध्या और संवत्सर भी वे ही हैं । वे ही धाता, विधाता, विश्वकर्मा और सर्वज्ञ हैं ॥ ४१ ॥

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव दिशोऽथ प्रदिशस्तथा ।
विश्वमूर्तिरमेयात्मा भगवान् परमद्युतिः ॥४२॥

नक्षत्र, ग्रह, दिशा, विदिशा भी वे ही हैं । वे ही विश्वरूप, अप्रमेयात्मा, षड्‌विध ऐश्वर्यसे युक्त एवं परम तेजस्वी हैं ॥ ४२ ॥

एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव हि ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥४३॥

उनके एक, दो, अनेक, सौ, हजार और लाखों रूप हैं ॥ ४३ ॥

ईदृशः स महादेवो भूयश्च भगवानतः ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥४४॥

भगवान् महादेव ऐसे प्रभावशाली हैं, बल्कि इससे भी बढ़कर हैं । सैकड़ों वर्षोंमें भी उनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि ईश्वरप्रशंसा नाम षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें ईश्वरकी प्रशंसा नामक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् शङ्करके माहात्म्यका वर्णन

वासुदेव उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो महाभाग्यं महात्मनः ।
रुद्राय बहुरूपाय बहुनाम्ने निबोध मे ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहु युधिष्ठिर ! अब मैं अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रका माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम् ।
एकाक्षं त्र्यम्बकं चैव विश्वरूपं शिवं तथा ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष इन महादेवजीको अग्नि, स्थाणु, महेश्वर, एकाक्ष, त्र्यम्बक, विश्वरूप और शिव आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं ॥ २ ॥

द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः ।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥ ३ ॥

वेदमें उनके दो रूप बताये गये हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं । उनका एक स्वरूप तो घोर है और दूसरा शिव । इन दोनोंके भी अनेक भेद हैं ॥ ३ ॥

उग्रा घोरा तनुर्यास्य सोऽग्निर्विद्युत् स भास्करः ।
शिवा सौम्या च या त्वस्य धर्मस्त्वापोऽथ चन्द्रमाः॥४॥

इनकी जो घोर मूर्ति है, वह भय उपजानेवाली है । उसके अग्नि, विद्युत् और सूर्य आदि अनेक रूप हैं । इससे भिन्न जो शिव नामवाली मूर्ति है, वह परम शान्त एवं मङ्गलमयी है । उसके धर्म, जल और चन्द्रमा आदि कई रूप हैं ॥ ४ ॥

आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं चरत्येका शिवा चास्य तनुस्तथा ॥ ५ ॥
यास्य घोरतमा मूर्तिर्जगत् संहरते तथा ।
ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः ॥ ६ ॥

महादेवजीके आधे शरीरको अग्नि और आधेको सोम कहते हैं । उनकी शिवमूर्ति ब्रह्मचर्यका पालन करती है और जो अत्यन्त घोर मूर्ति है, वह जगत्‌का संहार करती है । उनमें महत्त्व और ईश्वरत्व होनेके कारण वे 'महेश्वर' कहलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान् ।
मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते ॥ ७ ॥

वे जो सबको दग्ध करते हैं, अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, उग्र और प्रतापी हैं, प्रलयाग्निरूपसे मांस, रक्त और मज्जाको भी अपना ग्रास बना लेते हैं; इसलिये 'रुद्र' कहलाते हैं ॥ ७ ॥

देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान् ।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥ ८ ॥

वे देवताओंमें महान् हैं, उनका विषय भी महान् है तथा वे महान् विश्वकी रक्षा करते हैं; इसलिये 'महादेव' कहलाते हैं ॥ ८ ॥

धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते ।
समेधयति यन्नित्यं सर्वान् वै सर्वकर्मभिः ॥ ९ ॥
मनुष्याञ्शिवमन्विच्छंस्तस्मादेष शिवः स्मृतः ।

अथवा उनकी जटाका रूप धूम्र वर्णका है, इसलिये उन्हें 'धूर्जटि' कहते हैं । सब प्रकारके कर्मोंद्वारा सब लोगोंकी उन्नति करते हैं और सबका कल्याण चाहते हैं; इसलिये इनका नाम 'शिव' है ॥ ९½ ॥

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् नृणां स्थिरश्च यत्॥१०॥
स्थिरलिंगश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ।

ये ऊर्ध्वभागमें स्थित होकर देहधारियोंके प्राणोंका नाश करते हैं । सदा स्थिर रहते हैं और जिनका लिङ्ग-विग्रह सदा स्थिर रहता है । इसलिये ये 'स्थाणु' कहलाते हैं ॥ १०½ ॥

यदस्य बहुधा रूपं भूतं भव्यं भवत्तथा ॥११॥
स्थावरं जङ्गमं चैव बहुरूपस्ततः स्मृतः ।
विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन् विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥१२॥

भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें स्थावर और जङ्गमोंके आकारमें उनके अनेक रूप प्रकट होते हैं, इसलिये वे 'बहुरूप' कहे गये हैं । समस्त देवता उनमें निवास करते हैं; इसलिये वे 'विश्वरूप' कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥

सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा ।
चक्षुषः प्रभवेत् तेजो नास्त्यन्तोऽथास्य चक्षुषाम्॥१३॥

उनके नेत्रसे तेज प्रकट होता है तथा उनके नेत्रोंका अन्त नहीं है । इसलिये वे 'सहस्राक्ष' 'आयुताक्ष' और 'सर्वतोऽक्षिमय' कहलाते हैं ॥ १३ ॥

सर्वथा यत् पशून् पाति तैश्च यद् रमते सह ।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिः स्मृतः ॥१४॥

वे सब प्रकारसे पशुओंका पालन करते हैं, उनके साथ रहनेमें सुख मानते हैं तथा पशुओंके अधिपति हैं । इसलिये वे 'पशुपति' कहलाते हैं ॥ १४ ॥

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदा स्थितम् ।
महयत्यस्य लोकश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः ॥१५॥

मनुष्य यदि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए प्रतिदिन स्थिर शिवलिङ्गकी पूजा करता है तो इससे महात्मा शङ्करको बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १५ ॥

विग्रहं पूजयेद् यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः ।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते ॥ १६ ॥

जो महात्मा शङ्करके श्रीविग्रह अथवा लिङ्गकी पूजा करता है, वह लिङ्गपूजक सदा बहुत बड़ी सम्पत्तिका भागी होता है ॥ १६ ॥

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
लिङ्गमेवार्चयन्ति स्म यत् तदूर्ध्वं समास्थितम् ॥१७॥
पूज्यमाने ततस्तस्मिन् मोदते स महेश्वरः।
सुखं ददाति प्रीतात्मा भक्तानां भक्तवत्सलः ॥१८॥

ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ ऊर्ध्वलोकमें स्थित शिवलिङ्गकी ही पूजा करती हैं। इस प्रकार शिवलिङ्गकी पूजा होनेपर भक्तवत्सल भगवान् महेश्वर बड़े प्रसन्न होते हैं और प्रसन्नचित्त होकर वे भक्तोंको सुख देते हैं ॥१७-१८॥

एष एव श्मशानेषु देवो वसति निर्दहन्।
यजन्ते ते जनास्तत्र वीरस्थाननिषेविणः ॥१९॥

ये ही भगवान् शङ्कर अग्निरूपसे शवको दग्ध करते हुए श्मशानभूमिमें निवास करते हैं। जो लोग वहाँ उनकी पूजा करते हैं, उन्हें वीरोंको प्राप्त होनेवाले उत्तम लोक प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

विषयस्थः शरीरेषु स मृत्युः प्राणिनामिह।
स च वायुः शरीरेषु प्राणापानशरीरिणाम् ॥२०॥

वे प्राणियोंके शरीरोंमें रहनेवाले और उनके मृत्युरूप हैं तथा वे ही प्राण-अपान आदि वायुके रूपसे देहके भीतर निवास करते हैं ॥ २० ॥

तस्य घोराणि रूपाणि दीप्तानि च बहूनि च।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः ॥२१॥

उनके बहुत-से भयंकर एवं उद्दीप्त रूप हैं, जिनकी जगत्में पूजा होती है। विद्वान् ब्राह्मण ही उन सब रूपोंको जानते हैं ॥ २१ ॥

नामधेयानि देवेषु बहून्यस्य यथार्थवत्।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात् कर्मभिस्तथा ॥२२॥

उनकी महत्ता, व्यापकता तथा दिव्य कर्मोंके अनुसार देवताओंमें उनके बहुत-से यथार्थ नाम प्रचलित हैं ॥ २२ ॥

वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रीयमुत्तमम्।
व्यासेनोक्तं च यच्चापि उपस्थानं महात्मनः ॥२३॥

वेदके शतरुद्रिय प्रकरणमें उनके सैकड़ों उत्तम नाम हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं। महर्षि व्यासने भी उन महात्मा शिवका उपस्थान (स्तवन) बताया है ॥ २३ ॥

प्रदाता सर्वलोकानां विश्वं चाप्युच्यते महत्।
ज्येष्ठभूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा ऋषयोऽपरे ॥२४॥

ये सम्पूर्ण लोकोंको उनकी अभीष्ट वस्तु देनेवाले हैं। यह महान् विश्व उन्हींका स्वरूप बताया गया है। ब्राह्मण और ऋषि उन्हें सबसे ज्येष्ठ कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रथमो ह्येष देवानां मुखादग्निमजीजनत्।
ग्रहैर्बहुविधैः प्राणान् संरुद्धानुत्सृजत्यपि ॥२५॥

वे देवताओंमें प्रधान हैं, उन्होंने अपने मुखसे अग्निको उत्पन्न किया है। वे नाना प्रकारकी ग्रह-बाधाओंसे ग्रस्त प्राणियोंको दुःखसे छुटकारा दिलाते हैं ॥ २५ ॥

विमुञ्चति न पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वित्तं कामांश्च पुष्कलान् ॥२६॥
स ददाति मनुष्येभ्यः स एवाक्षिपते पुनः।

पुण्यात्मा और शरणागतवत्सल तो वे इतने हैं कि शरणमें आये हुए किसी प्राणीका त्याग नहीं करते। वे ही मनुष्योंको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन और सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान करते हैं और वे ही पुनः उन्हें छीन लेते हैं ॥ २६½ ॥

शक्रादिषु च देवेषु तस्यैश्वर्यमिहोच्यते ॥२७॥
स एव व्यापृतो नित्यं त्रैलोक्यस्य शुभाशुभे।

इन्द्र आदि देवताओंके पास उन्हींका दिया हुआ ऐश्वर्य बताया जाता है। तीनों लोकोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेके लिये वे ही सदा तत्पर रहते हैं ॥ २७½ ॥

ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरः पुनरुच्यते ॥२८॥
महेश्वरश्च लोकानां महतामीश्वरश्च सः।

समस्त कामनाओंके अधीश्वर होनेके कारण उन्हें 'ईश्वर' कहते हैं और महान् लोकोंके ईश्वर होनेके कारण उनका नाम 'महेश्वर' हुआ है ॥ २८½ ॥

बहुभिर्विविधै रूपैर्विश्वं व्याप्तमिदं जगत्।
तस्य देवस्य यद् वक्त्रं समुद्रे वडवामुखम् ॥२९॥

उन्होंने नाना प्रकारके बहुसंख्यक रूपोंद्वारा इस सम्पूर्ण लोकको व्याप्त कर रक्खा है। उन महादेवजीका जो मुख है, वही समुद्रमें वडवानल है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महेश्वरमाहात्म्यं नाम एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महेश्वरमाहात्म्य नामक एक सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धर्मके विषयमें आगम-प्रमाणकी श्रेष्ठता, धर्माधर्मके फल, साधु-असाधुके लक्षण तथा शिष्टाचारका निरूपण

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति वाक्यं तु कृष्णे देवकिनन्दने।
भीष्मं शान्तनवं भूयः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार उपदेश देनेपर युधिष्ठिरने शान्तनुनन्दन भीष्मसे पुनः प्रश्न किया—॥ १ ॥

निर्णये वा महाबुद्धे सर्वधर्मविदां वर।
प्रत्यक्षमागमो वेति किं तयोः कारणं भवेत्॥ २ ॥

'सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महाबुद्धिमान् पितामह ! धार्मिक विषयका निर्णय करनेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय लेना चाहिये या आगमका। इन दोनोंमेंसे कौन-सा प्रमाण सिद्धान्त-निर्णयमें मुख्य कारण होता है ?' ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यत्र संशयः कश्चिदिति मे वर्तते मतिः।
शृणु वक्ष्यामि ते प्राज्ञ सम्यक् त्वं मेऽनुपृच्छसि ॥

भीष्मजीने कहा—बुद्धिमान् नरेश ! तुमने ठीक प्रश्न किया है। इसका उत्तर देता हूँ, सुनो। मेरा तो ऐसा विचार है कि इस विषयमें कहीं कोई संशय है ही नहीं ॥३॥

संशयः सुगमस्तत्र दुर्गमस्तस्य निर्णयः।
दृष्टं श्रुतमनन्तं हि यत्र संशयदर्शनम्॥ ४ ॥

धार्मिक विषयमें संदेह उपस्थित करना सुगम है, किंतु उसका निर्णय करना बहुत कठिन होता है। प्रत्यक्ष और आगम दोनोंका ही कोई अन्त नहीं है। दोनोंमें ही संदेह खड़े होते हैं ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं कारणं दृष्ट्वा हैतुकाः प्राज्ञमानिनः।
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशयमेव च ॥ ५ ॥

अपनेको बुद्धिमान् माननेवाले हेतुवादी तार्किक प्रत्यक्ष कारणकी ओर ही दृष्टि रखकर परोक्षवस्तुका अभाव मानते हैं। सत्य होनेपर भी उसके अस्तित्वमें संदेह करते हैं ॥ ५॥

तदयुक्तं व्यवस्यन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
अथ चेन्मन्यसे चैकं कारणं किं भवेदिति ॥ ६ ॥
शक्यं दीर्घेण कालेन युक्तेनातन्द्रितेन च।
प्राणयात्रामनेकां च कल्पमानेन भारत ॥ ७ ॥
तत्परेणैव नान्येन शक्यं ह्येतस्य दर्शनम्।

किंतु वे बालक हैं। अहंकारवश अपनेको पण्डित मानते हैं। अतः वे जो पूर्वोक्त निश्चय करते हैं, वह असङ्गत है। (आकाशमें नीलिमा प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी वह मिथ्या ही है, अतः केवल प्रत्यक्षके बलसे सत्यका निर्णय नहीं किया जा सकता। धर्म, ईश्वर और परलोक आदिके विषयमें शास्त्र-प्रमाण ही श्रेष्ठ है; क्योंकि अन्य प्रमाणोंकी वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती) यदि कहो कि एकमात्र ब्रह्म जगत्का कारण कैसे हो सकता है, तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य आलस्य छोड़कर दीर्घकालतक योगका अभ्यास करे और तत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील बना रहे। अपने जीवनका अनेक उपायसे निर्वाह करे। इस तरह सदा यत्नशील रहनेवाला पुरुष ही इस तत्त्वका दर्शन कर सकता है, दूसरा कोई नहीं ॥ ६-७½ ॥

हेतूनामन्तमासाद्य विपुलं ज्ञानमुत्तमम्॥ ८ ॥
ज्योतिः सर्वस्य लोकस्य विपुलं प्रतिपद्यते।
न त्वेव गमनं राजन् हेतुतो गमनं तथा।
अग्राह्यमनिबद्धं च वाचा सम्परिवर्जयेत्॥ ९ ॥

जब सारे तर्क समाप्त हो जाते हैं तभी उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह ज्ञान ही सम्पूर्ण जगत्के लिये उत्तम ज्योति है। राजन् ! कोरे तर्कसे जो ज्ञान होता है, वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है; अतः उसको प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये। जिसका वेदके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया हो, उस ज्ञानका परित्याग कर देना ही उचित है ॥८-९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धिर्लोकश्चागमपूर्वकः।
शिष्टाचारो बहुविधस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्रत्यक्ष प्रमाण, जो लोकमें प्रसिद्ध है; अनुमान, आगम और भाँति-भाँतिके शिष्टाचार ये बहुत-से प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इनमें कौन-सा प्रबल है, यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
संस्था यत्नैरपि कृता कालेन प्रतिभिद्यते ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जब बलवान् पुरुष दुराचारी होकर धर्मको हानि पहुँचाने लगते हैं, तब साधारण मनुष्यों-द्वारा यत्नपूर्वक की हुई रक्षाकी व्यवस्था भी कुछ समयमें भङ्ग हो जाती है ॥ ११ ॥

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूप इवावृतः।
ततस्तैर्भिद्यते वृत्तं शृणु चैव युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

फिर तो घास-फूससे ढके हुए कुएँकी भाँति अधर्म ही धर्मका चोला पहिनकर सामने आता है। युधिष्ठिर ! उस अवस्थामें वे दुराचारी मनुष्य शिष्टाचारकी मर्यादा तोड़ डालते हैं। तुम इस विषयको ध्यान देकर सुनो ॥ १२ ॥

अवृत्ता ये तु भिन्दन्ति श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मविद्वेषिणो मन्दा इत्युक्तस्तेषु संशयः ॥ १३ ॥

जो आचारहीन हैं, वेद-शास्त्रोंका त्याग करनेवाले हैं, वे धर्मद्रोही मन्दबुद्धि मानव सज्जनोंद्वारा स्थापित धर्म और आचारकी मर्यादा भङ्ग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शिष्टाचार—इन तीनोंमें संदेह बताया गया है। (अतः वे अविश्वसनीय हैं) ॥ १३ ॥

अतृप्यन्तस्तु साधूनां य एवागमबुद्धयः।
परमित्येव संतुष्टास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १४ ॥
कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा लोभमोहानुसारिणौ।
धर्म इत्येव सम्बुद्धास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १५ ॥

ऐसी स्थितिमें जो साधुसङ्गके लिये नित्य उत्कण्ठित रहते हों—उससे कभी तृप्त न होते हों, जिनकी बुद्धि आगम

प्रमाणको ही श्रेष्ठ मानती हो। जो सदा संतुष्ट रहते तथा लोभ-मोहका अनुसरण करनेवाले अर्थ और कामकी उपेक्षा करके धर्मको ही उत्तम समझते हों, ऐसे महापुरुषोंकी सेवामें रहो और उनसे अपना संदेह पूछो ॥ १४-१५ ॥

न तेषां भिद्यते वृत्तं यज्ञाः स्वाध्यायकर्म च।
आचारः कारणं चैव धर्मश्चैकस्त्रयं पुनः ॥ १६ ॥

उन संतोंके सदाचार, यज्ञ और स्वाध्याय आदि शुभ-कर्मोंके अनुष्ठानमें कभी बाधा नहीं पड़ती। उनमें आचार, उसको बतानेवाले वेद-शास्त्र तथा धर्म—इन तीनोंकी एकता होती है ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुनरेव हि मे बुद्धिः संशये परिमुह्यति।
अपारे मार्गमाणस्य परं तीरमपश्यतः ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मेरी बुद्धि संशयके अपार समुद्रमें डूब रही है। मैं इसके पार जाना चाहता हूँ, किंतु ढूँढ़नेपर भी मुझे इसका कोई किनारा नहीं दिखायी देता ॥ १७ ॥

वेदः प्रत्यक्षमाचारः प्रमाणं तत्त्रयं यदि।
पृथक्त्वं लभ्यते चैषां धर्मश्चैकस्त्रयं कथम् ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्ष, आगम और शिष्टाचार-ये तीनों ही प्रमाण हैं तो इनकी तो पृथक्-पृथक् उपलब्धि हो रही है और धर्म एक है; फिर ये तीनों कैसे धर्म हो सकते हैं ? ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
यद्येवं मन्यसे राजंस्त्रिधा धर्मविचारणा ॥ १९ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! प्रबल दुरात्माओंद्वारा जिसे हानि पहुँचायी जाती है, उस धर्मका स्वरूप यदि तुम इस तरह प्रमाण भेदसे तीन प्रकारका मानते हो तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। वास्तवमें धर्म एक ही है, जिसपर तीन प्रकारसे विचार किया जाता है—तीनों प्रमाणोंद्वारा उसकी समीक्षा की जाती है ॥ १९ ॥

एक एवेति जानीहि त्रिधा धर्मस्य दर्शनम्।
पृथक्त्वे च न मे बुद्धिस्त्रयाणामपि वै तथा ॥ २० ॥

यह निश्चय समझो कि धर्म एक ही है। तीनों प्रमाणों-द्वारा एक ही धर्मका दर्शन होता है। मैं यह नहीं मानता कि ये तीनों प्रमाण भिन्न-भिन्न धर्मका प्रतिपादन करते हैं ॥ २० ॥

उक्तो मार्गस्त्रयाणां च तत्तथैव समाचर।
जिज्ञासा न तु कर्तव्या धर्मस्य परितर्कणात् ॥ २१ ॥

उक्त तीनों प्रमाणोंके द्वारा जो धर्ममय मार्ग बताया गया है, उसीपर चलते रहो। तर्कका सहारा लेकर धर्मकी जिज्ञासा करना कदापि उचित नहीं है ॥ २१ ॥

सदैव भरतश्रेष्ठ मा तेऽभूदत्र संशयः।
अन्धो जड इवाशङ्की यद् ब्रवीमि तदाचर ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरी इस बातमें तुम्हें कभी संदेह नहीं होना चाहिये। मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे अन्धों और गूँगोंकी तरह बिना किसी शङ्काके मानकर उसके अनुसार आचरण करो ॥ २२ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥ २३ ॥

अजातशत्रो ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान—इन चारोंका सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म है ॥ २३ ॥

ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या पितृपैतामहोचिता।
तामन्वेहि महाबाहो धर्मस्यैते हि देशिकाः ॥ २४ ॥

महाबाहो ! तुम्हारे पिता-पितामह आदिने ब्राह्मणोंके साथ जैसा बर्ताव किया है, उसीका तुम भी अनुसरण करो; क्योंकि ब्राह्मण धर्मके उपदेशक हैं ॥ २४ ॥

प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः।
न स प्रमाणतामर्हो विवादजननो हि सः ॥ २५ ॥

जो मूर्ख मनुष्य प्रमाणको भी अप्रमाण बनाता है, उसकी बातको प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वह केवल विवाद करनेवाला है ॥ २५ ॥

ब्राह्मणानेव सेवस्व सत्कृत्य बहुमन्य च।
एतेष्वेव त्विमे लोकाः कृत्स्ना इति निबोध तान् ॥ २६ ॥

तुम ब्राह्मणोंका ही विशेष आदर-सत्कार करके उनकी सेवामें लगे रहो और यह जान लो कि ये सम्पूर्ण लोक ब्राह्मणों-के ही आधारपर टिके हुए हैं ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ये च धर्ममसूयन्ते ये चैनं पर्युपासते।
ब्रवीतु मे भवानेतत् क ते गच्छन्ति तादृशाः ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो मनुष्य धर्मकी निन्दा करते हैं और जो धर्मका आचरण करते हैं, वे किन लोकोंमें जाते हैं ? आप इस विषयका वर्णन कीजिये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतसः।
नरकं प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो जनाः ॥ २८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य रजोगुण और तमोगुणसे मलिन चित्त होनेके कारण धर्मसे द्रोह करते हैं, वे नरकमें पड़ते हैं ॥ २८ ॥

ये तु धर्मं महाराज सततं पर्युपासते।
सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः ॥ २९ ॥

महाराज ! जो सत्य और सरलतामें तत्पर होकर सदा धर्मका पालन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकका सुख भोगते हैं ॥ २९ ॥

धर्म एव गतिस्तेषामाचार्योपासनाद् भवेत्।

देवलोकं प्रपद्यन्ते ये धर्मं पर्युपासते ॥ ३० ॥

आचार्यकी सेवा करनेसे मनुष्योंको एकमात्र धर्मका ही सहारा रहता है और जो धर्मकी उपासना करते हैं, वे देवलोकमें जाते हैं ॥ ३० ॥

मनुष्या यदि वा देवाः शरीरमुपताप्य वै ।
धर्मिणः सुखमेधन्ते लोभद्वेषविवर्जिताः ॥ ३१ ॥

मनुष्य हों या देवता, जो शरीरको कष्ट देकर भी धर्माचरणमें लगे रहते हैं तथा लोभ और द्वेषका त्याग कर देते हैं, वे सुखी होते हैं ॥ ३१ ॥

प्रथमं ब्रह्मणः पुत्रं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
धर्मिणः पर्युपासन्ते फलं पक्वमिवाशयः ॥ ३२ ॥

मनीषी पुरुष धर्मको ही ब्रह्माजीका ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं । जैसे खानेवालोंका मन पके हुए फलको अधिक पसंद करता है, उसी प्रकार धर्मनिष्ठ पुरुष धर्मकी ही उपासना करते हैं ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

असतां कीदृशं रूपं साधवः किं च कुर्वते ।
ब्रवीतु मे भवानेतत् सन्तोऽसन्तश्च कीदृशाः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! असाधु पुरुषोंका रूप कैसा होता है ? साधु पुरुष कौन-सा कर्म करते हैं ? साधु और असाधु कैसे होते हैं ? आप यह बात मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

दुराचाराश्च दुर्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः ।
साधवः शीलसम्पन्नाः शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ३४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! असाधु या दुष्ट पुरुष दुराचारी, दुर्धर्ष (उद्दण्ड) और दुर्मुख (कटुवचन बोलनेवाले) होते हैं तथा साधु पुरुष सुशील हुआ करते हैं । अब शिष्टाचारका लक्षण बताया जाता है ॥ ३४ ॥

राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च धर्मिणः ।
नोपसेवन्ति राजेन्द्र सर्गं मूत्रपुरीषयोः ॥ ३५ ॥

धर्मात्मा पुरुष सड़कपर, गौओंके बीचमें तथा खेतमें लगे हुए धान्यके भीतर मल-मूत्रका त्याग नहीं करते हैं ॥

पञ्चानामशनं दत्त्वा शेषमश्नन्ति साधवः ।
न जल्पन्ति च भुञ्जाना न निद्रान्त्यार्द्रपाणयः ॥ ३६ ॥

साधुपुरुष देवता, पितर, भूत, अतिथि और कुटुम्बी—इन पाँचोंको भोजन देकर शेष अन्नका स्वयं आहार करते हैं । वे खाते समय बात-चीत नहीं करते तथा भीगे हाथ लिये शयन नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

चित्रभानुमनड्वाहं देवं गोष्ठं चतुष्पथम् ।
ब्राह्मणं धार्मिकं वृद्धं ये कुर्वन्ति प्रदक्षिणम् ॥ ३७ ॥
वृद्धानां भारतप्तानां स्त्रीणां चक्रधरस्य च ।
ब्राह्मणानां गवां राज्ञां पन्थानं ददते च ये ॥ ३८ ॥

जो लोग अग्नि, वृषभ, देवता, गोशाला, चौराहा, ब्राह्मण, धार्मिक और वृद्ध पुरुषोंको दाहिने करके चलते हैं, जो बड़े-बूढ़ों, भारसे पीड़ित हुए मनुष्यों, स्त्रियों, जमींदार, ब्राह्मण, गौ तथा राजाको सामनेसे आते देखकर जानेके लिये मार्ग दे देते हैं, वे सब साधु पुरुष हैं ॥ ३७-३८ ॥

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
तथा शरणकामानां गोप्ता स्यात् स्वागतप्रदः ॥ ३९ ॥
सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासविधिर्हि सः ॥ ४० ॥

सत्पुरुषको चाहिये कि वह सम्पूर्ण अतिथियों, सेवकों, स्वजनों तथा शरणार्थियोंका रक्षक एवं स्वागत करनेवाला बने । देवताओंने मनुष्योंके लिये सबेरे और सायंकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान किया है । बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी जाती । इस नियमका पालन करनेसे उपवासका ही फल होता है ॥ ३९-४० ॥

होमकाले यथा वह्निः कालमेव प्रतीक्षते ।
ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षते ॥ ४१ ॥

जैसे होमकालमें अग्निदेव होमकी ही प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार ऋतुकालमें स्त्री ऋतुकी ही प्रतीक्षा करती है ॥

नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्यं च तत् स्मृतम् ।
अमृतं ब्राह्मणा गाव इत्येतत् त्रयमेकतः ।
तस्माद् गोब्राह्मणं नित्यमर्चयेत यथाविधि ॥ ४२ ॥

जो ऋतुकालके सिवा और कभी स्त्रीके पास नहीं जाता, उसका वह बर्ताव ब्रह्मचर्य कहा गया है । अमृत, ब्राह्मण और गौ—ये तीनों एक स्थानसे प्रकट हुए हैं । अतः गौ तथा ब्राह्मणकी सदा विधिपूर्वक पूजा करे ॥ ४२ ॥

स्वदेशे परदेशे वाप्यतिथिं नोपवासयेत् ।
कर्म वै सफलं कृत्वा गुरूणां प्रतिपादयेत् ॥ ४३ ॥

स्वदेश या परदेशमें किसी अतिथिको भूखा न रहने दे । गुरुने जिस कामके लिये आज्ञा दी हो, उसे सफल करके उन्हें सूचित कर देना चाहिये ॥ ४३ ॥

गुरुभ्यस्त्वासनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च ।
गुरुमभ्यर्च्य वर्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ ४४ ॥

गुरुके आनेपर उन्हें प्रणाम करे और विधिवत् पूजा करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दे । गुरुकी पूजा करनेसे मनुष्यके यश, आयु और श्रीकी वृद्धि होती है ॥ ४४ ॥

वृद्धान् नाभिभवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति ।
नासीनः स्यात् स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते ॥ ४५ ॥

वृद्ध पुरुषोंका कभी तिरस्कार न करे, उन्हें किसी कामके लिये न भेजे तथा यदि वे खड़े हों तो स्वयं भी बैठा न रहे । ऐसा करनेसे उस मनुष्यकी आयु क्षीण नहीं होती है ॥ ४५ ॥

न नग्नामीक्षते नारीं न नग्नान् पुरुषानपि ।

मैथुनं सततं गुप्तमाहारं च समाचरेत् ॥ ४६ ॥

नंगी स्त्रीकी ओर न देखे, नग्न पुरुषोंकी ओर भी दृष्टिपात न करे। मैथुन और भोजन सदा एकान्त स्थानमें ही करे ॥ ४६ ॥

तीर्थानां गुरवस्तीर्थं चोक्षाणां हृदयं शुचि।
दर्शनानां परं ज्ञानं संतोषः परमं सुखम् ॥ ४७ ॥

तीर्थोंमें सर्वोत्तम तीर्थ गुरुजन ही हैं, पवित्र वस्तुओंमें हृदय ही अधिक पवित्र है। दर्शनों (ज्ञानों) में परमार्थ-तत्त्वका ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है तथा संतोष ही सबसे उत्तम सुख है॥

सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात् पुष्कला गिरः।
श्रुतमाप्नोति हि नरः सततं वृद्धसेवया ॥ ४८ ॥

सायंकाल और प्रातःकाल वृद्ध पुरुषोंकी कही हुई बातें पूरी-पूरी सुननी चाहिये। सदा वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे मनुष्यको शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत्।
यच्छेद्वाङ्मनसी नित्यमिन्द्रियाणि तथैव च ॥ ४९ ॥

स्वाध्याय और भोजनके समय दाहिना हाथ उठाना चाहिये तथा मन, वाणी और इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

संस्कृतं पायसं नित्यं यवागूं कृसरं हविः।
अष्टकाः पितृदैवत्या ग्रहाणामभिपूजनम् ॥ ५० ॥

अच्छे ढंगसे बनायी हुई खीर, हलुआ, खिचड़ी और हविष्य आदिके द्वारा देवताओं तथा पितरोंका अष्टका श्राद्ध करना चाहिये। नवग्रहोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ ५० ॥

श्मश्रुकर्मणि मङ्गल्यं क्षुतानामभिनन्दनम्।
व्याधितानां च सर्वेषामायुषामभिनन्दनम् ॥ ५१ ॥

मूँछ और दाढ़ी बनवाते समय मङ्गलसूचक शब्दोंका उच्चारण करना चाहिये। छींकनेवालेको (शतञ्जीव आदि कहकर) आशीर्वाद देना तथा रोगग्रस्त पुरुषोंका उनके दीर्घायु होनेकी शुभ कामना करते हुए अभिनन्दन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम कभी बड़े-से-बड़े संकट पड़नेपर भी किसी श्रेष्ठ पुरुषके प्रति तुमका प्रयोग न करना। किसीको तुम कहकर पुकारना या उसका वध कर डालना—इन दोनोंमें विद्वान् पुरुष कोई अन्तर नहीं मानते ॥ ५२ ॥

अवराणां समानानां शिष्याणां च समाचरेत्।
पापमाचक्षते नित्यं हृदयं पापकर्मिणः ॥ ५३ ॥

जो अपने बराबरके हों, अपनेसे छोटे हों अथवा शिष्य हों, उनको 'तुम' कहनेमें कोई हर्ज नहीं है। पापकर्मी पुरुषका हृदय ही उसके पापको प्रकट कर देता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानपूर्वकृतं कर्म च्छादयन्ते ह्यसाधवः।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ ५४ ॥

दुष्ट मनुष्य जान-बूझकर किये हुए पापकर्मोंको भी दूसरे-से छिपानेका प्रयत्न करते हैं; किंतु महापुरुषोंके सामने अपने किये हुए पापोंको गुप्त रखनेके कारण वे नष्ट हो जाते हैं ॥

न मां मनुष्याः पश्यन्ति न मां पश्यन्ति देवताः।
पापेनापिहितः पापः पापमेवाभिजायते ॥ ५५ ॥

'मुझे पाप करते समय न मनुष्य देखते हैं और न देवता ही देख पाते हैं।' ऐसा सोचकर पापसे आच्छादित हुआ पापात्मा पुरुष पापयोनिमें ही जन्म लेता है ॥ ५५ ॥

यथा वार्धुषिको वृद्धिं दिनभेदे प्रतीक्षते।
धर्मेण पिहितं पापं धर्ममेवाभिवर्धयेत् ॥ ५६ ॥

जैसे सूदखोर जितने ही दिन बीतते हैं, उतनी ही वृद्धिकी प्रतीक्षा करता है। उसी प्रकार पाप बढ़ता है, परंतु यदि उस पापको धर्मसे दबा दिया जाय तो वह धर्मकी वृद्धि करता है॥

यथा लवणमम्भोभिराप्लुतं प्रविलीयते।
प्रायश्चित्तहतं पापं तथा सद्यः प्रणश्यति ॥ ५७ ॥

जैसे नमककी डली जलमें डालनेसे गल जाती है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त करनेसे तत्काल पापका नाश हो जाता है ॥

तस्मात् पापं न गूहेत गूहमानं विवर्धयेत्।
कृत्वा तत् साधुष्वाख्येयं ते तत् प्रशमयन्त्युत ॥ ५८ ॥

इसलिये अपने पापको न छिपाये। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषोंसे कह देना चाहिये। वे उसकी शान्ति कर देते हैं ॥ ५८ ॥

आशया संचितं द्रव्यं कालेनैवोपभुज्यते।
अन्ये चैतत् प्रपद्यन्ते वियोगे तस्य देहिनः ॥ ५९ ॥

आशासे संचित किये हुए द्रव्यका काल ही उपभोग करता है। उस मनुष्यका शरीरसे वियोग होनेपर उस धनको दूसरे लोग प्राप्त करते हैं ॥ ५९ ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि धर्ममेव समासते ॥ ६० ॥

मनीषी पुरुष धर्मको समस्त प्राणियोंका हृदय कहते हैं। अतः समस्त प्राणियोंको धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये ॥

एक एव चरेद् धर्मं न धर्मध्वजिको भवेत्।
धर्मवाणिजका ह्येते ये धर्ममुपभुञ्जते ॥ ६१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अकेला ही धर्मका आचरण करे। धर्मध्वजी (धर्मका दिखावा करनेवाला) न बने।

जो धर्मको जीविकाका साधन बनाते हैं, उसके नामपर जीविका चलाते हैं, वे धर्मके व्यवसायी हैं ॥ ६१ ॥

अर्चेद् देवानदम्भेन सेवेतामायया गुरून्।
निधिं निदध्यात् पारक्यं यात्रार्थं दानशब्दितम् ॥ ६२॥

दम्भका परित्याग करके देवताओंकी पूजा करे। छल-कपट छोड़कर गुरुजनोंकी सेवा करे और परलोककी यात्राके लिये दान नामक निधिका संग्रह करे अर्थात् पारलौकिक लाभके लिये मुक्तहस्त होकर दान करे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रमाणकथने द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मके प्रमाणका वर्णनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विद्या, बल और बुद्धिकी अपेक्षा भाग्यकी प्रधानता बताना और भीष्मजीद्वारा उसका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

नाभागधेयः प्राप्नोति धनं सुबलवानपि।
भागधेयान्वितस्त्वर्थान् कृशो बालश्च विन्दति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! भाग्यहीन मनुष्य बलवान् हो तो भी उसे धन नहीं मिलता और जो भाग्यवान् है, वह बालक एवं दुर्बल होनेपर भी बहुत-सा धन प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

नालाभकाले लभते प्रयत्नेऽपि कृते सति।
लाभकालेऽप्रयत्नेन लभते विपुलं धनम् ॥ २ ॥

जबतक धनकी प्राप्तिका समय नहीं आता तबतक विशेष यत्न करनेपर भी कुछ हाथ नहीं लगता; किंतु लाभका समय आनेपर मनुष्य बिना यत्नके भी बहुत बड़ी सम्पत्ति पा लेता है ॥ २ ॥

कृतयत्नाफलाश्चैव दृश्यन्ते शतशो नराः।
अयत्नेनैधमानाश्च दृश्यन्ते बहवो जनाः ॥ ३ ॥

ऐसे सैकड़ों मनुष्य देखे जाते हैं, जो धनकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेपर भी सफल न हो सके और बहुत-से ऐसे मनुष्य भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका धन बिना यत्नके ही दिनों-दिन बढ़ रहा है ॥ ३ ॥

यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः स सर्वं फलमाप्नुयात्।
नालभ्यं चोपलभ्येत नृणां भरतसत्तम ॥ ४ ॥

भरतभूषण ! यदि प्रयत्न करनेपर सफलता मिलनी अनिवार्य होती तो मनुष्य सारा फल प्राप्त कर लेता; किंतु जो वस्तु प्रारब्धवश मनुष्यके लिये अलभ्य है, वह उद्योग करनेपर भी नहीं मिल सकती ॥ ४ ॥

प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः।
मार्गन्यायशतैरर्थानमार्गश्चापरः सुखी ॥ ५ ॥

प्रयत्न करनेवाले मनुष्य भी असफल देखे जाते हैं। कोई सैकड़ों उपाय करके धनकी खोज करता रहता है और कोई कुमार्गपर ही चलकर धनकी दृष्टिसे सुखी दिखायी देता है ॥

अकार्यमसकृत् कृत्वा दृश्यन्ते ह्यधना नराः।
धनयुक्ताः स्वकर्मस्था दृश्यन्ते चापरेऽधनाः ॥ ६ ॥

कितने ही मनुष्य अनेक बार कुकर्म करके भी निर्धन ही देखे जाते हैं। कितने ही अपने धर्मानुकूल कर्तव्यका पालन करके धनवान् हो जाते और कोई निर्धन ही रह जाते हैं ॥ ६ ॥

अधीत्य नीतिशास्त्राणि नीतियुक्तो न दृश्यते।
अनभिज्ञश्च साचिव्यं गमितः केन हेतुना ? ॥ ७ ॥

कोई मनुष्य नीतिशास्त्रका अध्ययन करके भी नीतियुक्त नहीं देखा जाता और कोई नीतिसे अनभिज्ञ होनेपर भी मन्त्रीके पदपर पहुँच जाता है। इसका क्या कारण है?॥७॥

विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च धनवान् दुर्मतिस्तथा।
यदि विद्यामुपाश्रित्य नरः सुखमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥
न विद्वान् विद्यया हीनं वृत्त्यर्थमुपसंश्रयेत्।

कभी-कभी विद्वान् और मूर्ख दोनों एक-जैसे धनी दिखायी देते हैं। कभी खोटी बुद्धिवाले मनुष्य तो धनवान् हो जाते हैं (और अच्छी बुद्धि रखनेवाले मनुष्यको थोड़ा-सा धन भी नहीं मिलता)। यदि विद्या पढ़कर मनुष्य अवश्य ही सुख पा लेता तो विद्वान्‌को जीविकाके लिये किसी मूर्ख धनीका आश्रय नहीं लेना पड़ता ॥ ८½ ॥

यथा पिपासां जयति पुरुषः प्राप्य वै जलम् ॥ ९ ॥
दृष्टार्थो विद्यया ह्येव न विद्यां प्रजहेन्नरः।

जिस प्रकार पानी पीनेसे मनुष्यकी प्यास अवश्य बुझ जाती है, उसी प्रकार यदि विद्यासे अभीष्ट वस्तुकी सिद्धि अनिवार्य होती तो कोई भी मनुष्य विद्याकी उपेक्षा नहीं करता।

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १० ॥

जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह सैकड़ों बाणोंसे बिंधकर भी नहीं मरता; परंतु जिसका काल आ पहुँचा है,

वह तिनकेके अग्रभागसे छू जानेपर भी प्राणोंका परित्याग कर देता है ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ॥ ११ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! यदि नाना प्रकारकी चेष्टा तथा अनेक उद्योग करनेपर भी मनुष्य धन न पा सके तो उसे उग्र तपस्या करनी चाहिये; क्योंकि बीज बोये बिना अङ्कुर नहीं पैदा होता ॥ ११ ॥

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि मनुष्य दान देनेसे उपभोगकी सामग्री पाता है। बड़े-बूढ़ोंकी सेवासे उसको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है और अहिंसा धर्मके पालनसे वह दीर्घजीवी होता है॥

तस्माद् दद्यान्न याचेत पूजयेद् धार्मिकानपि।
सुभाषी प्रियकृच्छान्तः सर्वसत्त्वाविहिंसकः ॥ १३ ॥

इसलिये स्वयं दान दे, दूसरोंसे याचना न करे, धर्मात्मा पुरुषोंकी पूजा करे, उत्तम वचन बोले, सबका भला करे, शान्तभावसे रहे और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे ॥ १३॥

यदा प्रमाणं प्रसवः स्वभावश्च सुखासुखे।
दंशकीटपिपीलानां स्थिरो भव युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर ! डाँस, कीड़े और चींटी आदि जीवोंको उन-उन योनियोंमें उत्पन्न करके उन्हें सुख-दुःखकी प्राप्ति करानेमें उनका अपने किये हुए कर्मानुसार बना हुआ स्वभाव ही कारण है। यह सोचकर स्थिर हो जाओ ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रशंसायां त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मकी प्रशंसाविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६३॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका शुभाशुभ कर्मोंको ही सुख-दुःखकी प्राप्तिमें कारण बताते हुए धर्मके अनुष्ठानपर जोर देना

भीष्म उवाच

कार्यते यच्च क्रियते सच्चासच्च कृताकृतम्।
तत्राश्वसीत सत्कृत्वा असत्कृत्वा न विश्वसेत् ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! मनुष्य जो शुभ और अशुभ कर्म करता या कराता है, उन दोनों प्रकारके कर्मोंमेंसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करके उसे यह आश्वासन प्राप्त करना चाहिये कि इसका मुझे शुभ फल मिलेगा; किंतु अशुभ कर्म करनेपर उसे किसी अच्छा फल मिलनेका विश्वास नहीं करना चाहिये॥

काल एव सर्वकाले निग्रहानुग्रहौ ददत्।
बुद्धिमाविश्य भूतानां धर्माधर्मौ प्रवर्तते ॥ २ ॥

काल ही सदा निग्रह और अनुग्रह करता हुआ प्राणियोंकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो धर्म और अधर्मका फल देता रहता है॥

यदा त्वस्य भवेद् बुद्धिर्धर्मार्थस्य प्रदर्शनात्।
तदाश्वसीत धर्मात्मा दृढबुद्धिर्न विश्वसेत् ॥ ३ ॥

जब धर्मका फल देखकर मनुष्यकी बुद्धिमें धर्मकी श्रेष्ठताका निश्चय हो जाता है, तभी उसका धर्मके प्रति विश्वास बढ़ता है और तभी उसका मन धर्ममें लगता है। जबतक धर्ममें बुद्धि दृढ़ नहीं होती तबतक कोई उसपर विश्वास नहीं करता ॥ ३ ॥

एतावन्मात्रमेतद्धि भूतानां प्राज्ञलक्षणम्।
कालयुक्तोऽप्युभयविच्छेषं युक्तं समाचरेत् ॥ ४ ॥

प्राणियोंकी बुद्धिमत्ताकी यही पहचान है कि वे धर्मके फलमें विश्वास करके उसके आचरणमें लग जायँ। जिसे कर्तव्य-अकर्तव्य दोनोंका ज्ञान है, उस पुरुषको चाहिये कि प्रतिकूल प्रारब्धसे युक्त होकर भी यथायोग्य धर्मका ही आचरण करे ॥ ४ ॥

यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः प्रजायन्ते न राजसाः।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानं पूजयन्तीह धार्मिकाः ॥ ५ ॥

जो अतुल ऐश्वर्यके स्वामी हैं, वे यह सोचकर कि कहीं रजोगुणी होकर पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ जायँ, धर्मका अनुष्ठान करते हैं और इस प्रकार अपने ही प्रयत्नसे आत्माको महत् पदकी प्राप्ति कराते हैं ॥ ५ ॥

न ह्यधर्मतयाधर्मं दद्यात् कालः कथंचन।
तस्माद् विशुद्धमात्मानं जानीयाद् धर्मचारिणम् ॥ ६ ॥

काल किसी तरह धर्मको अधर्म नहीं बना सकता अर्थात् धर्म करनेवालेको दुःख नहीं दे सकता। इसलिये धर्माचरण करनेवाले पुरुषको विशुद्ध आत्मा ही समझना चाहिये ॥ ६ ॥

स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि ज्वलन्तमिव पावकम्।
अधर्मः संततो धर्मं कालेन परिरक्षितम् ॥ ७ ॥

धर्मका स्वरूप प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी है, काल उसकी सब ओरसे रक्षा करता है। अतः अधर्ममें इतनी शक्ति नहीं है कि वह फैलकर धर्मको छू भी सके ॥ ७ ॥

कार्यावेतौ हि धर्मेण धर्मो हि विजयावहः।
त्रयाणामपि लोकानामालोकः कारणं भवेत् ॥ ८ ॥

विशुद्ध और पापके स्पर्शका अभाव—ये दोनों धर्मके

कार्य है। धर्म विजयकी प्राप्ति करानेवाला और तीनों लोकोंमें प्रकाश फैलानेवाला है। वही इस लोककी रक्षाका कारण है॥

न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञो गृहीत्वैव करे नरम्।
उच्यमानस्तु धर्मेण धर्मलोकभयच्छले ॥ ९ ॥

कोई कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, वह किसी मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक धर्ममें नहीं लगा सकता; किंतु न्यायानुसार धर्ममय तथा लोकमयका बहाना लेकर उस पुरुषको धर्मके लिये कह सकता है ॥ ९ ॥

शूद्रोऽहं नाधिकारो मे चातुराश्रम्यसेवने।
इति विज्ञानमपरे नात्मन्युपदधत्युत ॥ १० ॥

मैं शूद्र हूँ, अतः ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमोंके सेवनका मुझे अधिकार नहीं है—शूद्र ऐसा सोचा करता है, परंतु साधु द्विजगण अपने भीतर छलको आश्रय नहीं देते हैं ॥

विशेषेण च वक्ष्यामि चातुर्वर्ण्यस्य लिङ्गतः।
पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम् ॥ ११ ॥
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम्।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः ॥ १२ ॥

अब मैं चारों वर्णोंका विशेषरूपसे लक्षण बता रहा हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके शरीर पञ्च महाभूतोंसे ही बने हुए हैं और सबका आत्मा एक-सा ही है। फिर भी उनके लौकिक धर्म और विशेष धर्ममें विभिन्नता रक्खी गयी है। इसका उद्देश्य यही है कि सब लोग अपने-अपने धर्मका पालन करते हुए पुनः एकत्वको प्राप्त हों। इसका शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥ ११-१२ ॥

अध्रुवो हि कथं लोकः स्मृतो धर्मः कथं ध्रुवः।
यत्र कालो ध्रुवस्तात तत्र धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

तात ! यदि कहो, धर्म तो नित्य माना गया है, फिर उससे स्वर्ग आदि अनित्य लोकोंकी प्राप्ति कैसे होती है ? और यदि होती है तो वह नित्य कैसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि जब धर्मका संकल्प नित्य होता है अर्थात् अनित्य कामनाओंका त्याग करके निष्कामभावसे धर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस समय किये हुए धर्मसे सनातन लोक (नित्य परमात्मा) की ही प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

सर्वेषां तुल्यदेहानां सर्वेषां सदृशात्मनाम्।
कालो धर्मेण संयुक्तः शेष एव स्वयं गुरुः ॥ १४ ॥

सब मनुष्योंके शरीर एक-से होते हैं और सबका आत्मा भी समान ही है; किंतु धर्मयुक्त संकल्प ही यहाँ शेष रहता है, दूसरा नहीं । वह स्वयं ही गुरु है अर्थात् धर्मबलसे स्वयं ही उदित होता है ॥ १४ ॥

एवं सति न दोषोऽस्ति भूतानां धर्मसेवने।
तिर्यग्योनावपि सतां लोक एव मतो गुरुः ॥ १५ ॥

ऐसी दशामें समस्त प्राणियोंके लिये पृथक्-पृथक् धर्मसेवनमें कोई दोष नहीं है। तिर्यग्योनिमें पड़े हुए पशु-पक्षी आदि योनियोंके लिये भी यह लोक ही गुरु (कर्तव्याकर्तव्यका निर्देशक) है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि धर्मप्रशंसायां चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें धर्मकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

नित्यस्मरणीय देवता, नदी, पर्वत, ऋषि और राजाओंके नाम-कीर्तनका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगतं भीष्मं पाण्डवोऽथ कुरूद्वहः।
युधिष्ठिरो हितं प्रेप्सुरपृच्छत् कल्मषापहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने हितकी इच्छा रखकर बाणशय्यापर सोये हुए भीष्मजीसे यह पापनाशक विषय पूछा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं श्रेयः पुरुषस्येह किं कुर्वन् सुखमेधते।
विपाप्मा स भवेत् केन किं वा कल्मषनाशनम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! यहाँ मनुष्यके कल्याणका उपाय क्या है ? क्या करनेसे वह सुखी होता है ? किस कर्मके अनुष्ठानसे उसका पाप दूर होता है ? अथवा कौन-सा कर्म पाप नष्ट करनेवाला है ? ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मै शुश्रूषमाणाय भूयः शान्तनवस्तदा।
दैवं वंशं यथान्यायमाचष्ट पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषप्रवर जनमेजय ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने सुननेकी इच्छावाले युधिष्ठिरसे पुनः न्यायपूर्वक देववंशका वर्णन आरम्भ किया ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

अयं दैवतवंशो वै ऋषिवंशसमन्वितः।
त्रिसंध्यं पठितः पुत्र कल्मषापहरः परः ॥ ४ ॥
यदह्ना कुरुते पापमिन्द्रियैः पुरुषश्चरन्।
बुद्धिपूर्वमबुद्धिर्वा रात्रौ यच्चापि संध्ययोः ॥ ५ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यः कीर्तयन् वै शुचिः सदा।
नान्धो न बधिरः काले कुरुते स्वस्तिमान् सदा ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! यदि तीनों संध्याओंके समय देववंश और ऋषिवंशका पाठ किया जाय तो मनुष्य दिन-रात, सबेरे-शाम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा जानकर या अनजानमें जो-जो पाप करता है, उन सबसे छुटकारा पा जाता है तथा वह सदा पवित्र रहता है। देवर्षिवंशका कीर्तन करनेवाला पुरुष कभी अन्धा और बहरा न होकर सदा कल्याणका भागी होता है ॥ ४—६ ॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेच्च नरकं संकराणि च।
न च दुःखभयं तस्य मरणे स न मुह्यति ॥ ७ ॥

वह तिर्यग्योनि और नरकमें नहीं पड़ता, संकरयोनिमें जन्म नहीं लेता, कभी दुःखसे भयभीत नहीं होता और मृत्युके समय व्याकुल नहीं होता ॥ ७ ॥

देवासुरगुरुर्देवः सर्वभूतनमस्कृतः।
अचिन्त्योऽथाप्यनिर्देश्यः सर्वप्राणो ह्ययोनिजः ॥ ८ ॥
पितामहो जगन्नाथः सावित्री ब्रह्मणः सती।
वेदभूरथ कर्ता च विष्णुर्नारायणः प्रभुः ॥ ९ ॥
उमापतिर्विरूपाक्षः स्कन्दः सेनापतिस्तथा।
विशाखो हुतभुग् वायुश्चन्द्रसूर्यौ प्रभाकरौ ॥ १० ॥
शक्रः शचीपतिर्देवो यमो धूमोर्णया सह।
वरुणः सह गौर्या च सह ऋद्ध्या धनेश्वरः ॥ ११ ॥
सौम्या गौः सुरभिर्देवी विश्रवाश्च महानृषिः।
संकल्पः सागरो गङ्गा स्रवन्त्योऽथ मरुद्गणः ॥ १२ ॥
वालखिल्यास्तपःसिद्धाः कृष्णद्वैपायनस्तथा।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ १३ ॥
तुम्बुरुश्चित्रसेनश्च देवदूतश्च विश्रुतः।
देवकन्या महाभागा दिव्याश्चाप्सरसां गणाः ॥ १४ ॥
उर्वशी मेनका रम्भा मिश्रकेशी ह्यलम्बुषा।
विश्वाची च घृताची च पञ्चचूडा तिलोत्तमा ॥ १५ ॥
आदित्या वसवो रुद्राः साश्विनः पितरोऽपि च।
धर्मः श्रुतं तपो दीक्षा व्यवसायः पितामहः ॥ १६ ॥
शर्वर्यो दिवसाश्चैव मारीचः कश्यपस्तथा।
शुक्रो बृहस्पतिर्भौमो बुधो राहुः शनैश्चरः ॥ १७ ॥
नक्षत्राण्यृतवश्चैव मासाः पक्षाः सवत्सराः।
वैनतेयाः समुद्राश्च कद्रुजाः पन्नगास्तथा ॥ १८ ॥
शतद्रुश्च विपाशा च चन्द्रभागा सरस्वती।
सिंधुश्च देविका चैव प्रभासं पुष्कराणि च ॥ १९ ॥
गङ्गा महानदी वेणा कावेरी नर्मदा तथा।
कुलम्पुना विशल्या च करतोयाम्बुवाहिनी ॥ २० ॥
सरयूर्गण्डकी चैव लोहितश्च महानदः।
ताम्रारुणा वेत्रवती पर्णाशा गौतमी तथा ॥ २१ ॥
गोदावरी च वेण्या च कृष्णवेणा तथाद्रिजा।
दृषद्वती च कावेरी चक्षुर्मन्दाकिनी तथा ॥ २२ ॥
प्रयागं च प्रभासं च पुण्यं नैमिषमेव च।
तच्च विश्वेश्वरस्थानं यत्र तद्विमलं सरः ॥ २३ ॥
पुण्यतीर्थं सुसलिलं कुरुक्षेत्रं प्रकीर्तितम्।
सिंधूत्तमं तपोदानं जम्बूमार्गमथापि च ॥ २४ ॥
हिरण्वती वितस्ता च तथा प्लक्षवती नदी।
वेदस्मृतिर्वेदवती मालवाथाश्ववत्यपि ॥ २५ ॥
भूमिभागास्तथा पुण्या गङ्गाद्वारमथापि च।
ऋषिकुल्यास्तथा मेध्या नद्यः सिंधुवहास्तथा ॥ २६ ॥
चर्मण्वती नदी पुण्या कौशिकी यमुना तथा।
नदी भीमरथी चैव बाहुदा च महानदी ॥ २७ ॥
माहेन्द्रवाणी त्रिदिवा नीलिका च सरस्वती।
नन्दा चापरनन्दा च तथा तीर्थमहाह्रदः ॥ २८ ॥
गयाथ फल्गुतीर्थं च धर्मारण्यं सुरैर्वृतम्।
तथा देवनदी पुण्या सरश्च ब्रह्मनिर्मितम् ॥ २९ ॥
पुण्यं त्रिलोकविख्यातं सर्वपापहरं शिवम्।
हिमवान् पर्वतश्चैव दिव्यौषधिसमन्वितः ॥ ३० ॥
विन्ध्यो धातुविचित्राङ्गस्तीर्थवानौषधान्वितः।
मेरुर्महेन्द्रो मलयः श्वेतश्च रजतावृतः ॥ ३१ ॥
शृङ्गवान् मन्दरो नीलो निषधो दर्दुरस्तथा।
चित्रकूटोऽञ्जनाभश्च पर्वतो गन्धमादनः ॥ ३२ ॥
पुण्यः सोमगिरिश्चैव तथैवान्ये महीधराः।
दिशश्च विदिशश्चैव क्षितिः सर्वे महीरुहाः ॥ ३३ ॥
विश्वेदेवा नभश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पान्तु नः सततं देवाः कीर्तिताऽकीर्तिता मया ॥ ३४ ॥

(देवता और ऋषि आदिके वंशकी नामावली इस प्रकार है—) सर्वभूतनमस्कृत, देवासुरगुरु, अचिन्त्य, अनिर्देश्य सबके प्राणस्वरूप और अयोनिज (स्वयम्भू) जगदीश्वर पितामह भगवान् ब्रह्माजी, उनकी पत्नी सती सावित्री देवी, वेदोंके उत्पत्तिस्थान जगत्कर्ता भगवान् नारायण, तीन नेत्रोंवाले उमापति महादेव, देवसेनापति स्कन्द, विशाख, अग्नि, वायु, प्रकाश फैलानेवाले चन्द्रमा और सूर्य, शचीपति इन्द्र, यमराज, उनकी पत्नी धूमोर्णा, अपनी पत्नी गौरीके साथ वरुण, ऋद्धिसहित कुबेर, सौम्य स्वभाववाली देवी सुरभी गौ, महर्षि विश्रवा, संकल्प, सागर, गङ्गा आदि नदियाँ, मरुद्गण, तपःसिद्ध वालखिल्य ऋषि, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, चित्रसेन, विख्यात देवदूत, महासौभाग्यशालिनी देवकन्याएँ, दिव्य अप्सराओंके समुदाय, उर्वशी, मेनका, रम्भा, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, विश्वाची, घृताची, पञ्चचूडा और तिलोत्तमा आदि दिव्य अप्सराएँ, बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, अश्विनीकुमार, पितर, धर्म, शास्त्रज्ञान, तपस्या, दीक्षा, व्यवसाय, पितामह, रात, दिन, मरीचिनन्दन कश्यप, शुक्र, बृहस्पति, मङ्गल, बुध, राहु, शनैश्चर, नक्षत्र, ऋतु, मास, पक्ष, संवत्सर, विनताके पुत्र गरुड़, समुद्र, कद्रूके पुत्र सर्पगण,

शतद्रु, विपाशा, चन्दभागा, सरस्वती, सिन्धु, देविका, प्रभास, पुष्कर, गङ्गा, महानदी, वेणा, कावेरी, नर्मदा, कुलम्पुना, विशल्या, करतोया, अम्बुवाहिनी, सरयू, गण्डकी, लाल जल वाला महानद शोणभद्र, ताम्रा, अरुणा, वेत्रवती, पर्णाशा, गौतमी, गोदावरी, वेण्या, कृष्णवेणा, अद्रिजा, दृषद्वती, कावेरी, चक्षु, मन्दाकिनी, प्रयाग, प्रभास, पुण्यमय नैमिषारण्य, जहाँ विश्वेश्वरका स्थान है वह विमल सरोवर, स्वच्छ सलिलसे युक्त पुण्यतीर्थ कुरुक्षेत्र, उत्तम समुद्र, तपस्या, दान, जम्बूमार्ग, हिरण्वती, वितस्ता, प्लक्षवतीनदी, वेदस्मृति वेदवती, मालवा, अश्ववती, पवित्र भूभाग, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), ऋषिकुल्या, समुद्रगामिनी पवित्र नदियाँ, पुण्यसलिला चर्मण्वती नदी, कौशिकी, यमुना, भीमरथी, महानदी बाहुदा, माहेन्द्रवाणी, त्रिदिवा, नीलिका, सरस्वती, नन्दा, अपरनन्दा, तीर्थभूत महान् ह्रद, गया, फल्गुतीर्थ, देवताओंसे युक्त धर्मारण्य, पवित्र देवनदी, तीनों लोकोंमें विख्यात, पवित्र एवं सर्वपापनाशक कल्याणमय ब्रह्मनिर्मित सरोवर (पुष्करतीर्थ), दिव्य ओषधियोंसे युक्त हिमवान् पर्वत, नाना प्रकारकेधातुओं, तीर्थों, औषधोंसे सुशोभित विन्ध्यगिरि, मेरु, महेन्द्र, मलय, चाँदीकी खानोंसे युक्त श्वेतगिरि, शृंगवान्, मन्दर, नील, निषध, दर्दुर, चित्रकूट, अजनाभ, गन्धमादन पर्वत, पवित्र सोमगिरि तथा अन्यान्य पर्वत, दिशा, विदिशा, भूमि, सभी वृक्ष, विश्वेदेव, आकाश, नक्षत्र और ग्रहगण—ये सदा हमारी रक्षा करें तथा जिनके नाम लिये गये हैं और जिनके नहीं लिये गये हैं, वे सम्पूर्ण देवता हमलोगोंकी रक्षा करते रहें ॥ ८—३४ ॥

कीर्तयानो नरो ह्येतान् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
स्तुवंश्च प्रतिनन्दंश्च मुच्यते सर्वतो भयात् ॥ ३५ ॥
सर्वसंकरपापेभ्यो देवतास्तवनन्दकः ।

जो मनुष्य उपर्युक्त देवता आदिका कीर्तन, स्तवन और अभिनन्दन करता है, वह सब प्रकारके पाप और भयसे मुक्त हो जाता है । देवताओंकी स्तुति और अभिनन्दन करनेवाला पुरुष सब प्रकारके संकर पापोंसे छूट जाता है ॥ ३५½ ॥

देवतानन्तरं विप्रांस्तपःसिद्धांस्तपोऽधिकान् ॥ ३६ ॥
कीर्तितान् कीर्तयिष्यामि सर्वपापप्रमोचनान् ।

देवताओंके अनन्तर समस्त पापोंसे मुक्त करनेवाले तपस्यामें बढ़े-चढ़े तपःसिद्ध ब्रह्मर्षियोंके प्रख्यात नाम बतलाता हूँ ॥ ३६½ ॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च कक्षीवानौशिजस्तथा ॥ ३७ ॥
भृग्वङ्गिरास्तथा कण्वो मेधातिथिरथ प्रभुः ।
बर्ही च गुणसम्पन्नः प्राचीं दिशमुपाश्रिताः ॥ ३८ ॥

यवक्रीत, रैभ्य, कक्षीवान्, औशिज, भृगु, अङ्गिरा, कण्व, प्रभावशाली मेधातिथि और सर्वगुणसम्पन्न बर्ही—ये पूर्व दिशामें रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

भद्रां दिशं महाभागा उल्मुचुः प्रमुचुस्तथा ।
मुमुचुश्च महाभागः स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ॥ ३९ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
दृढायुश्चोर्ध्वबाहुश्च विश्रुतावृषिसत्तमौ ॥ ४० ॥
पश्चिमां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान् ।
उषङ्गुः सह सोदर्यैः परिव्याधश्च वीर्यवान् ॥ ४१ ॥
ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव गौतमः काश्यपस्तथा ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महानृषिः ॥ ४२ ॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्मात्मा तथा सारस्वतः प्रभुः ।

उल्मुचु, प्रमुचु, महाभाग मुमुचु, शक्तिशाली स्वस्त्यात्रेय, मित्रावरुणके पुत्र महाप्रतापी अगस्त्य और परम प्रसिद्ध ऋषिश्रेष्ठ दृढायु तथा ऊर्ध्वबाहु—ये महाभाग दक्षिण दिशामें निवास करते हैं । अब जो पश्चिम दिशामें रहकर सदा अभ्युदयशील होते हैं, उन ऋषियोंके नाम सुनो—अपने सहोदर भाइयोंसहित उषङ्गु, शक्तिशाली परिव्याध, दीर्घतमा, ऋषि गौतम, काश्यप, एकत, द्वित, महर्षि त्रित, अत्रिके धर्मात्मा पुत्र दुर्वासा और प्रभावशाली सारस्वत ॥ ३९-४२½ ॥

उत्तरां दिशमाश्रित्य य एधन्ते निबोध तान् ॥ ४३ ॥
अत्रिर्वसिष्ठः शक्तिश्च पाराशर्यश्च वीर्यवान् ।
विश्वामित्रो भरद्वाजो जमदग्निस्तथैव च ॥ ४४ ॥
ऋचीकपुत्रो रामश्च ऋषिरौद्दालकिस्तथा ।
श्वेतकेतुः कोहलश्च विपुलो देवलस्तथा ॥ ४५ ॥
देवशर्मा च धौम्यश्च हस्तिकाश्यप एव च ।
लोमशो नाचिकेतश्च लोमहर्षण एव च ॥ ४६ ॥
ऋषिरुग्रश्रवाश्चैव भार्गवश्च्यवनस्तथा ।

अब जो उत्तर दिशाका आश्रय लेकर अपनी उन्नति करते हैं, उनके नाम सुनो—अत्रि, वसिष्ठ, शक्ति, पराशरनन्दन शक्तिशाली व्यास, विश्वामित्र, भरद्वाज, ऋचीकपुत्र जमदग्नि, परशुराम, उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु, कोहल, विपुल, देवल, देवशर्मा, धौम्य, हस्तिकाश्यप, लोमश, नाचिकेत, लोमहर्षण, उग्रश्रवा ऋषि और भृगुनन्दन च्यवन ॥

एष वै समवायश्च ऋषिदेवसमन्वितः ॥ ४७ ॥
आद्यः प्रकीर्तितो राजन् सर्वपापप्रमोचनः ।

राजन् ! यह आदिमें होनेवाले देवता और ऋषियोंका मुख्य समुदाय अपने नामका कीर्तन करनेपर मनुष्यको सब पापोंसे मुक्त करता है ॥ ४७½ ॥

नृगो ययातिर्नहुषो यदुः पूरुश्च वीर्यवान् ॥ ४८ ॥
धुन्धुमारो दिलीपश्च सगरश्च प्रतापवान् ।
कृशाश्वो यौवनाश्वश्च चित्राश्वः सत्यवांस्तथा ॥ ४९ ॥
दुष्यन्तो भरतश्चैव

पवनो जनकश्चैव तथा दृष्टरथो नृपः ॥ ५० ॥
रघुर्नरवरश्चैव तथा दशरथो नृपः ।
रामो राक्षसहा वीरः शशबिन्दुर्भगीरथः ॥ ५१ ॥
हरिश्चन्द्रो मरुत्तश्च तथा दृढरथो नृपः ।
महोदर्यो ह्यलर्कश्च ऐलश्चैव नराधिपः ॥ ५२ ॥
करन्धमो नरश्रेष्ठः कध्मोरश्च नराधिपः ।
दक्षोऽम्बरीषः कुकुरो रैवतश्च महायशाः ॥ ५३ ॥
कुरुः संवरणश्चैव मान्धाता सत्यविक्रमः ।
मुचुकुन्दश्च राजर्षिर्जह्नुर्जाह्नविसेवितः ॥ ५४ ॥
आदिराजः पृथुर्वैन्यो मित्रभानुः प्रियङ्करः ।
त्रसद्दस्युस्तथा राजा श्वेतो राजर्षिसत्तमः ॥ ५५ ॥
महाभिषश्च विख्यातो निमिराजा तथाष्टकः ।
आयुः क्षुपश्च राजर्षिः कक्षेयुश्च नराधिपः ॥ ५६ ॥
प्रतर्दनो दिवोदासः सुदासः कोसलेश्वरः ।
ऐलो नलश्च राजर्षिर्मनुश्चैव प्रजापतिः ॥ ५७ ॥
हविध्रश्च पृषध्रश्च प्रतीपः शान्तनुस्तथा ।
अजः प्राचीनबर्हिश्च तथेक्ष्वाकुर्महायशाः ॥ ५८ ॥
अनरण्यो नरपतिर्जानुजंघस्तथैव च ।
कक्षसेनश्च राजर्षिर्ये चान्ये चानुकीर्तिताः ॥ ५९ ॥
कल्यमुत्थाय यो नित्यं संध्ये द्वेऽस्तमयोदये ।
पठेच्छुचिरनावृत्तः स धर्मफलभाग् भवेत् ॥ ६० ॥

अब राजर्षियोंके नाम सुनो—राजा नृग, ययाति, नहुष, यदु, शक्तिशाली पूरु, धुन्धुमार, दिलीप, प्रतापी सगर, कृशाश्व, यौवनाश्व, चित्राश्व, सत्यवान्, दुष्यन्त, महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरत, पवन, जनक, राजा दृष्टरथ, नरश्रेष्ठ रघु, राजा दशरथ, राक्षसहन्ता वीरवर श्रीराम, शशबिन्दु, भगीरथ, हरिश्चन्द्र, मरुत्त, राजा दृढरथ, महोदर्य, अलर्क, नराधिप ऐल (पुरूरवा), नरश्रेष्ठ करन्धम, राजा कध्मोर, दक्ष, अम्बरीष, कुकुर, महायशस्वी रैवत, कुरु, संवरण, सत्यपराक्रमी मान्धाता, राजर्षि मुचुकुन्द, गङ्गाजीसे सेवित राजा जह्नु, आदि राजा वेननन्दन पृथु, सबका प्रिय करनेवाले मित्रभानु, राजा त्रसद्दस्यु, राजर्षिश्रेष्ठ श्वेत, प्रसिद्ध राजा महाभिष, राजा निमि, अष्टक, आयु, राजर्षि क्षुप, राजा कक्षेयु, प्रतर्दन, दिवोदास, कोसलनरेश सुदास, पुरूरवा, राजर्षि नल, प्रजापति मनु, हविध्र, पृषध्र, प्रतीप, शान्तनु, अज, प्राचीनबर्हि, महायशस्वी इक्ष्वाकु, राजा अनरण्य, जानुजङ्घ, राजर्षि कक्षसेन तथा इनके अतिरिक्त पुराणोंमें जिनका अनेकों बार वर्णन हुआ है, वे सब पुण्यात्मा राजा स्मरण करने योग्य हैं। जो मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर स्नान आदिसे शुद्ध हो प्रातःकाल और सायंकाल इन नामोंका पाठ करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है॥ ४८—६० ॥

देवा देवर्षयश्चैव स्तुता राजर्षयस्तथा ।
पुष्टिमायुर्यशः स्वर्गं विधास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६१ ॥

देवता, देवर्षि और राजर्षि—इनकी स्तुति की जानेपर ये मुझे पुष्टि, आयु, यश और स्वर्ग प्रदान करेंगे; क्योंकि ये ईश्वर (सर्वसमर्थ स्वामी) हैं ॥ ६१ ॥

मा विघ्नं मा च मे पापं मा च मे परिपन्थिनः ।
ध्रुवो जयो मे नित्यः स्यात् परत्र च शुभा गतिः॥ ६२ ॥

इनके स्मरणसे मुझपर किसी विघ्नका आक्रमण न हो, मुझसे पाप न बने। मेरे ऊपर चोरों और बटमारोंका जोर न चले। मुझे इस लोकमें सदा चिरस्थायी जय प्राप्त हो और परलोकमें भी शुभ गति मिले ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि वंशानुकीर्तनं नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवता आदिके वंशका वर्णननामक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी अनुमति पाकर युधिष्ठिरका सपरिवार हस्तिनापुरको प्रस्थान

जनमेजय उवाच

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
शयाने वीरशयने पाण्डवैः समुपस्थिते ॥ १ ॥
युधिष्ठिरो महाप्राज्ञो मम पूर्वपितामहः ।
धर्माणामागमं श्रुत्वा विदित्वा सर्वसंशयान् ॥ २ ॥
दानानां च विधिं श्रुत्वा छिन्नधर्मार्थसंशयः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! कुरुकुलके धुरन्धर वीर भीष्मजी जब वीरोंके सोने योग्य बाणशय्यापर सो गये और पाण्डवलोग उनकी सेवामें उपस्थित रहने लगे, तब मेरे पूर्व पितामह महाज्ञानी राजा युधिष्ठिरने उनके मुखसे धर्मोंका उपदेश सुनकर अपने समस्त संशयोंका समाधान जान लेनेके पश्चात् दानकी विधि श्रवण करके धर्म और अर्थविषयक सारे संदेह दूर हो जानेपर जो और कोई कार्य किया हो, उसे मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभून्मुहूर्तं स्तिमितं सर्वं तद्राजमण्डलम्।
तूष्णींभूते ततस्तस्मिन् पटे चित्रमिवार्पितम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! सब धर्मोंका उपदेश करनेके पश्चात् जब भीष्मजी चुप हो गये, तब दो घड़ीतक सारा राजमण्डल पटपर अङ्कित किये हुए चित्रके समान स्तब्ध-सा हो गया ॥ ४ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवतीसुतः।
नृपं शयानं गाङ्गेयमिदमाह वचस्तदा ॥ ५ ॥

तब दो घड़ीतक ध्यान करनेके पश्चात् सत्यवतीनन्दन व्यासने वहाँ सोये हुए गङ्गानन्दन महाराजा भीष्मजीसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

राजन् प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ॥ ६ ॥
उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता।
तमिमं पुरयानाय समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ७ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! अब कुरुराज युधिष्ठिर प्रकृतिस्थ (शान्त और संदेहरहित) हो चुके हैं और अपना अनुसरण करनेवाले समस्त भाइयों, राजाओं तथा बुद्धिमान् श्रीकृष्णके साथ आपकी सेवामें बैठे हैं। अब आप इन्हें हस्तिनापुरमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ॥ ६-७ ॥

एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः।
युधिष्ठिरं सहामात्यमनुजज्ञे नदीसुतः ॥ ८ ॥

भगवान् व्यासके ऐसा कहनेपर पृथ्वीपालक गङ्गापुत्र भीष्मने मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिरको जानेकी आज्ञा दी॥

उवाच चैनं मधुरं नृपं शान्तनवो नृपः।
प्रविशस्व पुरीं राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ९ ॥

उस समय शान्तनुकुमार भीष्मने मधुर वाणीमें राजासे इस प्रकार कहा—'राजन् ! अब तुम पुरीमें प्रवेश करो और तुम्हारे मनकी सारी चिन्ता दूर हो जाय ॥ ९ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्तदक्षिणैः।
ययातिरिव राजेन्द्र श्रद्धादमपुरःसरः ॥ १० ॥

'राजेन्द्र ! तुम राजा ययातिकी भाँति श्रद्धा और इन्द्रिय-संयमपूर्वक बहुत-से अन्न और पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा यजन करो ॥ १० ॥

क्षत्रधर्मरतः पार्थ पितॄन् देवांश्च तर्पय।
श्रेयसा योक्ष्यसे चैव व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'पार्थ ! क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहकर देवताओं और पितरोंको तृप्त करो। तुम अवश्य कल्याणके भागी होओगे; अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ११ ॥

रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय।
सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः ॥ १२ ॥

'समस्त प्रजाओंको प्रसन्न रखो। मन्त्री आदि प्रकृतियोंको सान्त्वना दो। सुहृदोंका फल और सत्कारोंद्वारा यथायोग्य सम्मान करते रहो ॥ १२ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ॥ १३ ॥

'तात ! जैसे मन्दिरके आसपासके फले हुए वृक्षपर बहुत-से पक्षी आकर बसेरे लेते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र और हितैषी तुम्हारे आश्रयमें रहकर जीवन-निर्वाह करें ॥ १३ ॥

आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव।
विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥ १४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जब सूर्यनारायण दक्षिणायनसे निवृत्त हो उत्तरायणपर आ जायँ, उस समय तुम फिर हमारे पास आना' ॥ १४ ॥

तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहम्।
प्रययौ सपरीवारो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १५ ॥

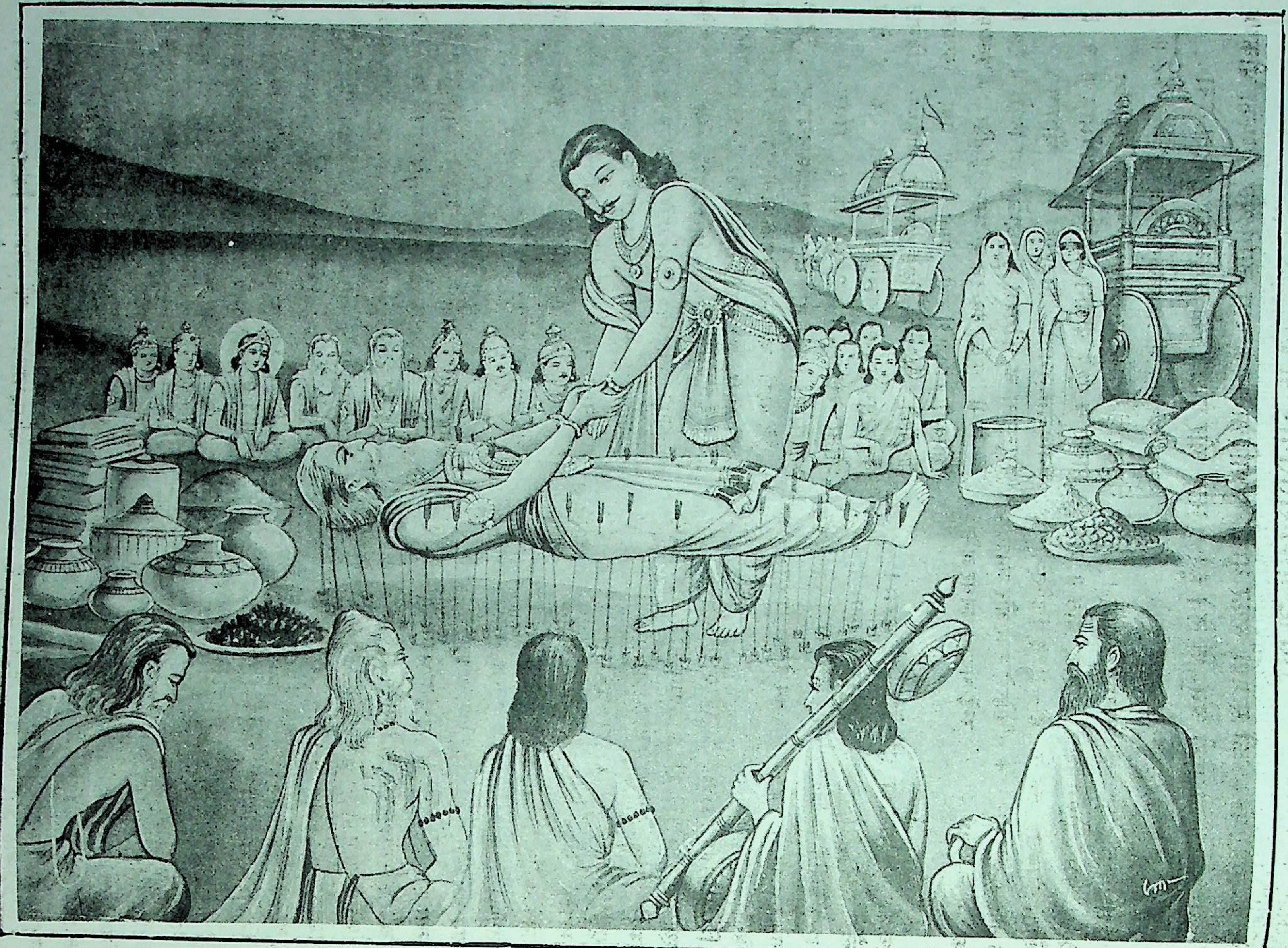
तब 'बहुत अच्छा' कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पितामहको प्रणाम करके परिवारसहित हस्तिनापुरकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च पतिव्रताम्।
सह तैर्ऋषिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः केशवेन च ॥ १६ ॥
पौरजानपदैश्चैव मन्त्रिवृद्धैश्च पार्थिव।
प्रविवेश कुरुश्रेष्ठः पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १७ ॥

राजन् ! उन कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने राजा धृतराष्ट्र और पतिव्रता गान्धारी देवीको आगे करके समस्त ऋषियों, भाइयों, श्रीकृष्ण, नगर और जनपदके लोगों तथा बड़े-बूढ़े मन्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भीष्मानुज्ञायां षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भीष्मकी अनुमतिविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥



शर-शय्यापर पड़े भीष्मकी युधिष्ठिरसे बातचीत

(भीष्मस्वर्गारोहणपर्व)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके अन्त्येष्टि-संस्कारकी सामग्री लेकर युधिष्ठिर आदिका उनके पास जाना और भीष्मका श्रीकृष्ण आदिसे देहत्यागकी अनुमति लेते हुए धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरको कर्तव्यका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा पौरजानपदं जनम्।
पूजयित्वा यथान्यायमनुजज्ञे गृहान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! हस्तिनापुरमें जानेके बाद कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरने नगर और जनपदके लोगोंका यथोचित सम्मान करके उन्हें अपने-अपने घर जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सान्त्वयामास नारीश्च हतवीरा हतेश्वराः।
विपुलैरर्थदानैः स तदा पाण्डुसुतो नृपः ॥ २ ॥

इसके बाद जिन स्त्रियोंके पति और वीर पुत्र युद्धमें मारे गये थे, उन सबको बहुत-सा धन देकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने धैर्य बँधाया ॥ २ ॥

सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः।
अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तथा ॥ ३ ॥
द्विजेभ्यो गुणमुख्येभ्यो नैगमेभ्यश्च सर्वशः।
प्रतिगृह्याशिषो मुख्यास्तथा धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥

महाज्ञानी और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने राज्याभिषेक हो जानेके पश्चात् अपना राज्य पाकर मन्त्री आदि समस्त प्रकृतियोंको अपने-अपने पदपर स्थापित करके वेदवेत्ता एवं गुणवान् ब्राह्मणोंसे उत्तम आशीर्वाद ग्रहण किया ॥ ३-४ ॥

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥

पचास राततक उस उत्तम नगरमें निवास करके श्रीमान् पुरुषप्रवर युधिष्ठिरको कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजीके बताये हुए समयका स्मरण हो आया ॥ ५ ॥

स निर्ययौ गजपुराद् याजकैः परिवारितः।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ॥ ६ ॥

उन्होंने यह देखकर कि सूर्यदेव दक्षिणायनसे निवृत्त हो गये और उत्तरायणपर आ गये, याजकोंसे घिरकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

घृतं माल्यं च गन्धांश्च क्षौमाणि च युधिष्ठिरः।
चन्दनागुरुमुख्यानि तथा कालीयकान्यपि ॥ ७ ॥
प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्मसंस्करणाय वै।
माल्यानि च वरार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भीष्मजीका दाह-संस्कार करनेके लिये पहले ही घृत, माल्य, गन्ध, रेशमी वस्त्र, चन्दन, अगुरु, काला चन्दन, श्रेष्ठ पुरुषके धारण करने योग्य मालाएँ तथा नाना प्रकारके रत्न भेज दिये थे ॥ ७-८ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम्।
मातरं च पृथां धीमान् भ्रातॄंश्च पुरुषर्षभान् ॥ ९ ॥
जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता।
युयुत्सुना च कौरव्यो युयुधानेन वा विभो ॥ १० ॥

विभो! कुरुकुलनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र, यशस्विनी गान्धारी देवी, माता कुन्ती तथा पुरुषप्रवर भाइयोंको आगे करके पीछेसे भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् विदुर, युयुत्सु तथा सात्यकिको साथ लिये चल रहे थे ॥

महता राजभोगेन पारिबर्हेण संवृतः।
स्तूयमानो महातेजा भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ॥ ११ ॥

वे महातेजस्वी नरेश विशाल राजोचित उपकरण तथा वैभवके भारी ठाट-बाटसे सम्पन्न थे, उनकी स्तुति की जा रही थी और वे भीष्मजीके द्वारा स्थापित की हुई त्रिविध अग्नियोंको आगे रखकर स्वयं पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ११ ॥

निश्चक्राम पुरात् तस्माद् यथा देवपतिस्तथा।
आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपः ॥ १२ ॥

वे देवराज इन्द्रकी भाँति अपनी राजधानीसे बाहर निकले और यथासमय कुरुक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ १२ ॥

उपास्यमानं व्यासेन पाराशर्येण धीमता।
नारदेन च राजर्षे देवलेनासितेन च ॥ १३ ॥

राजर्षे! उस समय वहाँ पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यास, देवर्षि नारद और असित देवल ऋषि उनके पास बैठे थे ॥

हतशिष्टैर्नृपैश्चान्यैर्नानादेशसमागतैः।
रक्षिभिश्च महात्मानं रक्ष्यमाणं समन्ततः ॥ १४ ॥

नाना देशोंसे आये हुए नरेश, जो मरनेसे बच गये थे, रक्षक बनकर चारों ओरसे महात्मा भीष्मकी रक्षा करते थे ॥

शयानं वीरशयने ददर्श नृपतिस्ततः।
ततो रथादवातीर्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ॥ १५ ॥

धर्मराज राजा युधिष्ठिर दूरसे ही बाणशय्यापर सोये हुए भीष्मजीको देखकर भाइयोंसहित रथसे उतर पड़े ॥ १५ ॥

अभिवाद्याथ कौन्तेयः पितामहमरिंदम।
द्वैपायनादीन् विप्रांश्च तैश्च प्रत्यभिनन्दितः ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश! कुन्तीकुमारने सबसे पहले पितामहको प्रणाम किया। उसके बाद व्यास आदि ब्राह्मणोंको मस्तक झुकाया। फिर उन सबने भी उनका अभिनन्दन किया ॥

ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च भ्रातृभिः सह धर्मजः ।
आसाद्य शरतल्पस्थमृषिभिः परिवारितम् ॥ १७ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सह कौरव्यः शयानं निम्नगासुतम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर कुरुनन्दनके धर्मपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ऋत्विजों, भाइयों तथा ऋषियोंसे घिरे और बाण-शय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ गङ्गापुत्र भीष्मजीसे भाइयों-सहित इस प्रकार बोले—॥ १७-१८ ॥

युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत ।
शृणोषि चेन्महाबाहो ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १९ ॥

'गङ्गानन्दन ! नरेश्वर ! महाबाहो ! मैं युधिष्ठिर आपकी सेवामें उपस्थित हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ। यदि आपको मेरी बात सुनायी देती हो तो आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ! ॥ १९ ॥

प्राप्तोऽस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ।
आचार्यान् ब्राह्मणांश्चैव ऋत्विजो भ्रातरश्च मे ॥ २० ॥

'राजन् ! प्रभो ! आपकी अग्नियों और आचार्यों, ब्राह्मणों तथा ऋत्विजोंको साथ लेकर मैं अपने भाइयोंके साथ ठीक समयपर आ पहुँचा हूँ ॥ २० ॥

पुत्रश्च ते महातेजा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
उपस्थितः सहामात्यो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥

'आपके पुत्र महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र भी अपने मन्त्रियों-के साथ उपस्थित हैं और महापराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण भी यहाँ पधारे हुए हैं ॥ २१ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः सर्वे च कुरुजांगलाः ।
तान् पश्य नरशार्दूल समुन्मीलय लोचने ॥ २२ ॥

'पुरुषसिंह ! युद्धमें मरनेसे बचे हुए समस्त राजा और कुरुजाङ्गल देशकी प्रजा भी उपस्थित है। आप आँखें खोलिये और इन सबको देखिये ॥ २२ ॥

यच्चेह किंचित् कर्तव्यं तत्सर्वं प्रापितं मया ।
यथोक्तं भवता काले सर्वमेव च तत् कृतम् ॥ २३ ॥

'आपके कथनानुसार इस समयके लिये जो कुछ संग्रह करना आवश्यक था, वह सब जुटाकर मैंने यहाँ पहुँचा दिया है। सभी उपयोगी वस्तुओंका प्रबन्ध कर लिया गया है' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
ददर्श भारतान् सर्वान् स्थितान् सम्परिवार्य ह ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर गङ्गानन्दन भीष्मजीने आँखें खोलकर अपनेको सब ओरसे घेरकर खड़े हुए सम्पूर्ण भरतवंशियोंको देखा ॥ २४ ॥

ततश्च तं बली भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।
उद्यन्मेघस्वरो वाग्मी काले वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

फिर प्रवचनकुशल बलवान् भीष्मने युधिष्ठिरकी विशाल भुजा हाथमें लेकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें यह समयोचित वचन कहा—॥ २५ ॥

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर ।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥ २६ ॥

'कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! सौभाग्यकी बात है कि तुम मन्त्रियोंसहित यहाँ आ गये। सहस्र किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अब दक्षिणायनसे उत्तरायणकी ओर लौट चुके हैं ॥ २६ ॥

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥ २७ ॥

'इन तीखे अग्रभागवाले बाणोंकी शय्यापर शयन करते हुए आज मुझे अट्ठावन दिन हो गये; किंतु ये दिन मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं ॥ २७ ॥

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर ।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥२८॥

'युधिष्ठिर ! इस समय चान्द्रमासके अनुसार माघका महीना प्राप्त हुआ है। इसका यह शुक्लपक्ष चल रहा है, जिसका एक भाग बीत चुका है और तीन भाग बाकी है (शुक्लपक्षसे मासका आरम्भ माननेपर आज माघ शुक्ला अष्टमी प्रतीत होती है)' ॥ २८ ॥

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
धृतराष्ट्रमथामन्त्र्य काले वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर गङ्गानन्दन भीष्मने धृतराष्ट्रको पुकारकर उनसे यह समयोचित वचन कहा ॥

भीष्म उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि सुनिर्णीतार्थसंशयः ।
बहुश्रुता हि ते विप्रा बहवः पर्युपासिताः ॥ ३० ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! तुम धर्मको अच्छी तरह जानते हो। तुमने अर्थतत्त्वका भी भलीभाँति निर्णय कर लिया है। अब तुम्हारे मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है; क्योंकि तुमने अनेक शास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाले बहुत-से विद्वान् ब्राह्मणोंकी सेवा की है-उनके सत्सङ्गसे लाभ उठाया है ॥ ३० ॥

वेदशास्त्राणि सर्वाणि धर्मांश्च मनुजेश्वर ।
वेदांश्च चतुरः सर्वान् निखिलेनानुबुद्ध्यसे ॥ ३१ ॥

मनुजेश्वर ! तुम चारों वेदों, सम्पूर्ण शास्त्रों और धर्मों-का रहस्य पूर्णरूपसे जानते और समझते हो ॥ ३१ ॥

न शोचितव्यं कौरव्य भवितव्यं हि तत् तथा ।
श्रुतं देवरहस्यं ते कृष्णद्वैपायनादपि ॥ ३२ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो कुछ हुआ है, वह अवश्यम्भावी था। तुमने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीसे देवताओंका रहस्य भी सुन लिया है (उसीके

अनुसार महाभारतयुद्धकी सारी घटनाएँ हुई हैं) ॥ ३२ ॥

यथा पाण्डोः सुता राजंस्तथैव तव धर्मतः।
तान् पालय स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतान् ॥ ३३ ॥

ये पाण्डव जैसे राजा पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही धर्मकी दृष्टिसे तुम्हारे भी हैं। ये सदा गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहते हैं। तुम धर्ममें स्थित रहकर अपने पुत्रोंके समान ही इनका पालन करना ॥ ३३ ॥

धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव।
आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलम् ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरका हृदय बहुत ही शुद्ध है। ये सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहेंगे। मैं जानता हूँ, इनका स्वभाव बहुत ही कोमल है और ये गुरुजनोंके प्रति बड़ी भक्ति रखते हैं ॥ ३४ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः क्रोधलोभपरायणाः।
ईर्ष्याभिभूता दुर्वृत्तास्तान् न शोचितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पुत्र बड़े दुरात्मा, क्रोधी, लोभी, ईर्ष्याके वशीभूत तथा दुराचारी थे। अतः उनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
वासुदेवं महाबाहुमभ्यभाषत कौरवः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मनीषी धृतराष्ट्रसे ऐसा वचन कहकर कुरुवंशी भीष्मने महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

भगवन् देवदेवेश सुरासुरनमस्कृत।
त्रिविक्रम नमस्तुभ्यं शङ्खचक्रगदाधर ॥ ३७ ॥

भीष्मजी बोले—भगवन्! देवदेवेश्वर! देवता और असुर सभी आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। अपने तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापनेवाले तथा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले नारायणदेव! आपको नमस्कार है ॥ ३७ ॥

वासुदेवो हिरण्यात्मा पुरुषः सविता विराट्।
जीवभूतोऽनुरूपस्त्वं परमात्मा सनातनः ॥ ३८ ॥

आप वासुदेव, हिरण्यात्मा, पुरुष, सविता, विराट्, अनुरूप, जीवात्मा और सनातन परमात्मा हैं ॥ ३८ ॥

त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम नित्यशः।
अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ३९ ॥

कमलनयन श्रीकृष्ण! पुरुषोत्तम! वैकुण्ठ! आप सदा मेरा उद्धार करें। अब मुझे जानेकी आज्ञा दें ॥ ३९ ॥

रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान् येषां परायणम्।
उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं तदा ॥ ४० ॥
'यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ॥ ४१ ॥
संधानस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः।
न च मे तद् वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः ॥ ४२ ॥

प्रभो! आप ही जिनके परम आश्रय हैं, उन पाण्डवोंकी सदा आपको रक्षा करनी चाहिये। मैंने दुर्बुद्धि एवं मन्द दुर्योधनसे कहा था कि 'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी जय होगी; इसलिये बेटा दुर्योधन! तुम भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लो। यह सन्धिके लिये बहुत उत्तम अवसर आया है।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी उस मन्दबुद्धि मूढ़ने मेरी वह बात नहीं मानी और सारी पृथ्वीके वीरोंका नाश कराकर अन्तमें वह स्वयं भी कालके गालमें चला गया ॥

त्वां तु जानाम्यहं देवं पुराणमृषिसत्तमम्।
नरेण सहितं देव बदर्यां सुचिरोषितम् ॥ ४३ ॥

देव! मैं आपको जानता हूँ! आप वे ही पुरातन ऋषि नारायण हैं, जो नरके साथ चिरकालतक बदरिकाश्रममें निवास करते रहे हैं ॥ ४३ ॥

तथा मे नारदः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः।
नरनारायणावेतौ सम्भूतौ मनुजेष्विति ॥ ४४ ॥

देवर्षि नारद तथा महातपस्वी व्यासजीने भी मुझसे कहा था कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् भगवान् नारायण और नर हैं, जो मानव-शरीरमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४४ ॥

स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम्।
त्वयाहं समनुज्ञातो गच्छेयं परमां गतिम् ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण! अब आप आज्ञा दीजिये, मैं इस शरीरका परित्याग करूँगा। आपकी आज्ञा मिलनेपर मुझे परम गति की प्राप्ति होगी ॥ ४५ ॥

वासुदेव उवाच

अनुजानामि भीष्म त्वां वसून् प्राप्नुहि पार्थिव।
न तेऽस्ति वृजिनं किंचिदिहलोके महाद्युते ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पृथ्वीपालक महातेजस्वी भीष्मजी! मैं आपको (सहर्ष) आज्ञा देता हूँ। आप वसुलोकको जाइये। इस लोकमें आपके द्वारा अणुमात्र भी पाप नहीं हुआ है ॥ ४६ ॥

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः।
तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः ॥ ४७ ॥

राजर्षे! आप दूसरे मार्कण्डेयके समान पितृभक्त हैं; इसलिये मृत्यु विनीत दासके समान आपके वशमें हो गयी है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः पाण्डवानिदमब्रवीत्।

धृतराष्ट्रमुखांश्चापि सर्वांश्च सुहृदस्तथा ॥ ४८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्‌के ऐसा कहनेपर गङ्गानन्दन भीष्मने पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदोंसे कहा—॥ ४८ ॥

प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि तत्रानुज्ञातुमर्हथ ।
सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥ ४९ ॥

'अब मैं प्राणोंका परित्याग करना चाहता हूँ। तुम सब लोग इसके लिये मुझे आज्ञा दो। तुम्हें सदा सत्य धर्मके पालनका प्रयत्न करते रहना चाहिये; क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा बल है ॥ ४९ ॥

आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः ।
ब्रह्मण्यैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारताः ॥ ५० ॥

'भरतवंशियो ! तुमलोगोंको सबके साथ कोमलताका बर्ताव करना, सदा अपने मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना तथा ब्राह्मणभक्त, धर्मनिष्ठ एवं तपस्वी होना चाहिये' ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् सम्परिष्वज्य चैव ह ।
पुनरेवाब्रवीद् धीमान् युधिष्ठिरमिदं वचः ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणाश्चैव ते नित्यं प्राज्ञाश्चैव विशेषतः ।
आचार्या ऋत्विजश्चैव पूजनीया जनाधिप ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर बुद्धिमान् भीष्मजीने अपने सब सुहृदोंको गले लगाया और युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—'युधिष्ठिर ! तुम्हें सामान्यतः सभी ब्राह्मणोंकी विशेषतः विद्वानोंकी और आचार्य तथा ऋत्विजोंकी सदा ही पूजा करनी चाहिये' ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि भीष्मस्वर्गारोहणपर्वणि दानधर्मे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत भीष्मस्वर्गारोहणपर्वमें दानधर्मविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीका प्राणत्याग, धृतराष्ट्र आदिके द्वारा उनका दाह-संस्कार, कौरवोंका गङ्गाके जलसे भीष्मको जलाञ्जलि देना, गङ्गाजीका प्रकट होकर पुत्रके लिये शोक करना और श्रीकृष्णका उन्हें समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
तूष्णीं बभूव कौरव्यः स मुहूर्तमरिंदम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! समस्त कौरवोंसे ऐसा कहकर कुरुश्रेष्ठ शान्तनुनन्दन भीष्मजी दो घड़ीतक चुपचाप पड़े रहे ॥ १ ॥

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम् ।
तस्योर्ध्वमगमन् प्राणाः संनिरुद्धा महात्मनः ॥ २ ॥

तदनन्तर वे मनसहित प्राणवायुको क्रमशः भिन्न-भिन्न धारणाओंमें स्थापित करने लगे। इस तरह यौगिक क्रिया द्वारा रोके हुए महात्मा भीष्मजीके प्राण क्रमशः ऊपर चढ़ने लगे ॥ २ ॥

इदमाश्चर्यमासीच्च मध्ये तेषां महात्मनाम् ।
सहितैर्ऋषिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिः प्रभो ॥ ३ ॥
यद्यन्मुञ्चति गात्रं हि स शान्तनुसुतस्तदा ।
तत् तद् विशल्यं भवति योगयुक्तस्य तस्य वै ॥ ४ ॥

प्रभो ! उस समय वहाँ एकत्र हुए सभी संत-महात्माओं-के बीच एक बड़े आश्चर्यकी घटना घटी। व्यास आदि सब महर्षियोंने देखा कि योगयुक्त हुए शान्तनुनन्दन भीष्मके प्राण उनके जिस-जिस अङ्गको त्यागकर ऊपर उठते थे, उस-उस अङ्गके बाण अपने आप निकल जाते और उनका घाव भर जाता था ॥ ३-४ ॥

क्षणेन प्रेक्षतां तेषां विशल्यः सोऽभवत् तदा ।
तद् दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ५ ॥
सह तैर्मुनिभिः सर्वैस्तदा व्यासादिभिर्नृप ।

नरेश्वर ! इस प्रकार सबके देखते-देखते भीष्मजीका शरीर क्षणभरमें बाणोंसे रहित हो गया। यह देखकर व्यास आदि समस्त मुनियोंसहित भगवान् श्रीकृष्ण आदिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५½ ॥

संनिरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च ॥ ६ ॥
जगाम भित्त्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ।

भीष्मजीने अपने देहके सभी द्वारोंको बंद करके प्राणोंको सब ओरसे रोक लिया था; इसलिये वह उनका मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) फोड़कर आकाशमें चला गया ॥ ६½ ॥

देवदुन्दुभिनादश्च पुष्पवर्षैः सहाभवत् ॥ ७ ॥
सिद्धा ब्रह्मर्षयश्चैव साधु साध्विति हर्षिताः ।

उस समय देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और साथ ही दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। सिद्धों तथा ब्रह्मर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। वे भीष्मजीको साधुवाद देने लगे ॥ ७½ ॥

महोल्केव च भीष्मस्य मूर्धदेशाज्जनाधिप ॥ ८ ॥
निःसृत्याकाशमाविश्य क्षणेनान्तरधीयत ।

जनेश्वर ! भीष्मजीका प्राण उनके ब्रह्मरन्ध्रसे निकलकर बड़ी भारी उल्काकी भाँति आकाशमें उड़ा और क्षणभरमें अन्तर्धान हो गया ॥ ८½ ॥

एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा ॥ ९ ॥
समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भरतवंशका भार वहन करनेवाले शान्तनुनन्दन राजा भीष्म कालके अधीन हुए ॥ ९½ ॥

ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान् बहून् ॥ १० ॥
चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ।
युयुत्सुश्चापि कौरव्य प्रेक्षकास्त्वितरेऽभवन् ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर बहुत-से काष्ठ और नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्य लेकर महात्मा पाण्डव, विदुर और युयुत्सुने चिता तैयार की और शेष सब लोग अलग खड़े होकर देखते रहे ॥ १०-११ ॥

युधिष्ठिरश्च गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः ।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिर और परम बुद्धिमान् विदुर इन दोनोंने रेशमी वस्त्रों और मालाओंसे कुरुनन्दन गङ्गापुत्र भीष्मको आच्छादित किया और चितापर सुलाया ॥ १२ ॥

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम् ।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ॥ १३ ॥

उस समय युयुत्सुने उनके ऊपर उत्तम छत्र लगाया और भीमसेन तथा अर्जुन श्वेत चँवर एवं व्यजन डुलाने लगे ॥ १३ ॥

उष्णीषे परिगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभौ तथा ।
स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ॥ १४ ॥
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वशः ।

माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने पगड़ी हाथमें लेकर भीष्मजीके मस्तकपर रखी । कौरवराजके रनिवासकी स्त्रियाँ ताड़के पंखे हाथमें लेकर कुरुकुलधुरन्धर भीष्मजीके शवको सब ओरसे हवा करने लगीं ॥ १४½ ॥

ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः ॥ १५ ॥
यजनं बहुशश्चाग्नौ जगुः सामानि सामगाः ।
ततश्चन्दनकाष्ठैश्च तथा कालीयकैरपि ॥ १६ ॥
कालागुरुप्रभृतिभिर्गन्धैश्चोच्चावचैस्तथा ।
समवच्छाद्य गाङ्गेयं सम्प्रज्वाल्य हुताशनम् ॥ १७ ॥
अपसव्यमकुर्वन्त धृतराष्ट्रमुखाश्चिताम् ।

तदनन्तर पाण्डवोंने विधिपूर्वक महात्मा भीष्मका पितृमेध कर्म सम्पन्न किया । अग्निमें बहुत-सी आहुतियाँ दी गयीं । साम-गान करनेवाले ब्राह्मण साममन्त्रोंका गान करने लगे तथा धृतराष्ट्र आदिने चन्दनकी लकड़ी, कालीचन्दन और सुगन्धित वस्तुओंसे भीष्मके शरीरको आच्छादित करके उनकी चितामें आग लगा दी । फिर धृतराष्ट्र आदि सब कौरवोंने इस जलती हुई चिताकी प्रदक्षिणा की ॥ १५—१७½ ॥

संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः ॥ १८ ॥
जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरूद्वहाः ।
अनुगम्यमाना व्यासेन नारदेनासितेन च ॥ १९ ॥
कृष्णेन भरतस्त्रीभिर्ये च पौराः समागताः ।
उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ २० ॥
विधिवत् क्षत्रियश्रेष्ठाः स च सर्वो जनस्तदा ।

इस प्रकार कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीका दाहसंस्कार करके समस्त कौरव अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर ऋषि-मुनियोंसे सेवित परम पवित्र भागीरथीके तटपर गये । उनके साथ महर्षि व्यास, देवर्षि नारद, असितदेवल, भगवान् श्रीकृष्ण तथा नगरनिवासी मनुष्य भी पधारे थे । वहाँ पहुँचकर उन क्षत्रियशिरोमणियों और अन्य सब लोगोंने विधिपूर्वक महात्मा भीष्मको जलाञ्जलि दी ॥ १८—२०½ ॥

ततो भागीरथी देवी तनयस्योदके कृते ॥ २१ ॥
उत्थाय सलिलात् तस्माद् रुदती शोकविह्वला ।
परिदेवयती तत्र कौरवानभ्यभाषत ॥ २२ ॥
निबोधत यथावृत्तमुच्यमानं मयानघाः ।
राजवृत्तेन सम्पन्नः प्रज्ञयाभिजनेन च ॥ २३ ॥

उस समय कौरवोंद्वारा अपने पुत्र भीष्मको जलाञ्जलि देनेका कार्य पूरा हो जानेपर भगवती भागीरथी जलके ऊपर प्रकट हुईं और शोकसे विह्वल हो रोदन एवं विलाप करती हुई कौरवोंसे कहने लगी—'निष्पाप पुत्रगण ! मैं जो कहती हूँ, उस बातको यथार्थरूपसे सुनो । भीष्म राजोचित सदाचार-से सम्पन्न थे । वे उत्तम बुद्धि और श्रेष्ठ कुलसे सम्पन्न थे ॥ २१—२३ ॥

सत्कर्ता कुरुवृद्धानां पितृभक्तो महाव्रतः ।
जामदग्न्येन रामेण यः पुरा न पराजितः ॥ २४ ॥
दिव्यैरस्त्रैर्महावीर्यः स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

'महान् व्रतधारी भीष्म कुरुकुलवृद्ध पुरुषोंके सत्कार करनेवाले और अपने पिताके बड़े भक्त थे । हाय ! पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुराम भी अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा जिस मेरे महापराक्रमी पुत्रको पराजित न कर सके, वह इस समय शिखण्डीके हाथसे मारा गया । यह कितने कष्टकी बात है ॥ २४½ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम पार्थिवाः ॥ २५ ॥
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं यत्र दीर्यति मेऽद्य वै ।

'राजाओ ! अवश्य ही मेरा हृदय पत्थर और लोहेका बना हुआ है, तभी तो अपने प्रिय पुत्रको जीवित न देखकर भी आज यह फट नहीं जाता है ॥ २५½ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां स्वयंवरे ॥ २६ ॥
विजित्यैकरथेनैव कन्यास्त्वायं जहार ह ।

'काशीपुरीके स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय एकत्र हुए थे, किंतु भीष्मने एकमात्र रथकी ही सहायतासे उन सबको जीतकर काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था ॥ २६½ ॥

यस्य नास्ति बले तुल्यः पृथिव्यामपि कश्चन ॥ २७ ॥
हतं शिखण्डिना श्रुत्वा न विदीर्येत यन्मनः ।

'हाय ! इस पृथ्वीपर बलमें जिसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, उसीको शिखण्डीके हाथसे मारा गया सुनकर आज मेरी छाती क्यों नहीं फट जाती ॥ २७½ ॥

जामदग्न्यः कुरुक्षेत्रे युधि येन महात्मना ॥ २८ ॥
पीडितो नातियत्नेन स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

'जिस महामना वीरने जमदग्निनन्दन परशुरामको कुरुक्षेत्रके युद्धमें अनायास ही पीड़ित कर दिया था, वही शिखण्डीके हाथसे मारा गया, यह कितने दुःखकी बात है' ॥ २८½ ॥

एवंविधं बहु तदा विलपन्तीं महानदीम् ॥ २९ ॥
आश्वासयामास तदा गङ्गां दामोदरो विभुः ।

ऐसी बातें कहकर जब महानदी गङ्गाजी बहुत विलाप करने लगीं, तब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ २९½ ॥

समाश्वसिहि भद्रे त्वं मा शुचः शुभदर्शने ॥ ३० ॥
गतः स परमं लोकं तव पुत्रो न संशयः ।

'भद्रे ! धैर्य धारण करो । शुभदर्शने ! शोक न करो । तुम्हारे पुत्र भीष्म अत्यन्त उत्तम लोकमें गये हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३०½ ॥

वसुरेष महातेजाः शापदोषेण शोभने ॥ ३१ ॥
मानुषत्वमनुप्राप्तो नैनं शोचितुमर्हसि ।

'शोभने ! ये महातेजस्वी वसु थे, वसिष्ठजीके शाप-दोषसे इन्हें मनुष्ययोनिमें आना पड़ा था । अतः इनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

स एष क्षत्रधर्मेण अयुध्यत रणाजिरे ॥ ३२ ॥
धनंजयेन निहतो नैष देवि शिखण्डिना ।

'देवि ! इन्होंने समराङ्गणमें क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध किया था । ये अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं, शिखण्डीके हाथसे नहीं ॥ ३२½ ॥

भीष्मं हि कुरुशार्दूलमुद्यतेषुं महारणे ॥ ३३ ॥
न शक्तः संयुगे हन्तुं साक्षादपि शतक्रतुः ।
स्वच्छन्दतस्तव सुतो गतः स्वर्गं शुभानने ॥ ३४ ॥

'शुभानने ! तुम्हारे पुत्र कुरुश्रेष्ठ भीष्म जब हाथमें धनुष-बाण लिये रहते, उस समय साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें मार नहीं सकते थे । ये तो अपनी इच्छासे ही शरीर त्यागकर स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३३-३४ ॥

न शक्ता विनिहन्तुं हि रणे तं सर्वदेवताः ।
तस्मान्मा त्वं सरिच्छ्रेष्ठे शोचस्व कुरुनन्दनम् ।
वसूनेष गतो देवि पुत्रस्ते विज्वरा भव ॥ ३५ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ देवि ! सम्पूर्ण देवता मिलकर भी युद्धमें उन्हें मारनेकी शक्ति नहीं रखते थे । इसलिये तुम कुरुनन्दन भीष्मजीके लिये शोक मत करो । ये तुम्हारे पुत्र भीष्म वसुओंके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं । अतः इनके लिये चिन्तारहित हो जाओ' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सा तु कृष्णेन व्यासेन तु सरिद्वरा ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज स्वं वार्यवततार ह ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! जब भगवान् श्रीकृष्ण और व्यासजीने इस प्रकार समझाया, तब नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी शोक त्यागकर अपने जलमें उतर गयीं ॥ ३६ ॥

सत्कृत्य ते तां सरितं ततः कृष्णमुखा नृप ।
अनुज्ञातास्तया सर्वे न्यवर्तन्त जनाधिपाः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्ण आदि सब नरेश गङ्गाजीका सत्कार करके उनकी आज्ञा ले वहाँसे लौट आये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामनुशासनपर्वणि भीष्मस्वर्गारोहणपर्वणि दानधर्मे भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे भीष्ममुक्तिर्नामाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत शतसाहस्री संहितामें अनुशासनपर्वके अन्तर्गत भीष्मस्वर्गारोहणपर्वमें दानधर्म तथा भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें भीष्मजीकी मुक्तिनामक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

अनुशासनपर्वं सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	७३५८॥	(३५०॥)	४८१॥।=	७८४०।=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१९५४	(१२)	१६॥	१९७०॥

अनुशासनपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—९८१०॥।



श्रीकृष्ण और व्यासजीके द्वारा पुत्र-शोकाकुला गङ्गाजीको सान्त्वना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

आश्वमेधिकपर्व

(अश्वमेधपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शोकमग्न होकर गिरना और धृतराष्ट्रका उन्हें समझाना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका सङ्कलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्तताराकुलेन्द्रियः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा धृतराष्ट्र भीष्मको जलाञ्जलि दे चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उन्हें आगे करके जलसे बाहर निकले। उस समय उनकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो रही थीं ॥ २ ॥

उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः ।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

बाहर निकलकर विशालबाहु युधिष्ठिर गङ्गाजीके तटपर व्याधके बाणोंसे बिंधे हुए गजराजके समान गिर पड़े। उस समय उनके दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी ॥ ३ ॥

तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं कृष्णः परबलार्दनः ॥ ४ ॥

उन्हें शिथिल होते देख श्रीकृष्णकी प्रेरणासे भीमसेनने उन्हें पकड़ लिया। तत्पश्चात् शत्रुसेनाका संहार करनेवाले श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन् ! आपको ऐसा अधीर नहीं होना चाहिये' ॥ ४ ॥

तमार्तं पतितं भूमौ श्वसन्तं च पुनः पुनः ।
ददृशुः पार्थिवा राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

राजन् ! वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंने देखा कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर शोकार्त होकर पृथ्वीपर पड़े हैं और बारंबार लंबी साँस खींच रहे हैं ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम् ।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ ६ ॥

राजाको इतना दीनचित्त और हतोत्साह देखकर पाण्डव फिर शोकमें डूब गये और उन्हींके पास बैठ रहे ॥ ६ ॥

राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीडितः ।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम् ॥ ७ ॥

उस समय पुत्रशोकसे पीड़ित हुए परम बुद्धिमान् प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने महाराज युधिष्ठिरसे कहा— ॥ ७ ॥

उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया ॥ ८ ॥

'कुरुवंशके सिंह ! कुन्तीकुमार ! उठो और इसके बाद जो कार्य प्राप्त है, उसे पूर्ण करो। तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ ८ ॥

भुङ्क्ष्व भोगान् भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोऽनुगान् ।
शोचितव्यं न पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! अब तुम अपने भाइयों और सुहृदोंके साथ मनोवाञ्छित भोग भोगो। तुम्हारे लिये शोक करनेका कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ९ ॥

शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते ।
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम् ॥ १० ॥

'पृथ्वीनाथ ! शोक तो मुझको और गान्धारीको करना चाहिये, जिनके सौ पुत्र स्वप्नमें प्राप्त हुए धनकी भाँति नष्ट हो गये ॥ १० ॥

अश्रुत्वा हितकामस्य विदुरस्य महात्मनः ।
वाक्यानि सुमहार्थानि परितप्यामि दुर्मतिः ॥ ११ ॥

'अपने हितैषी महात्मा विदुरके महान् अर्थयुक्त वचनोंको अनसुना करके आज मैं दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र अत्यन्त संतप्त हो रहा हूँ ॥ ११ ॥

उक्तवान् विदुरो यन्मां धर्मात्मा दिव्यदर्शनः ।
दुर्योधनापराधेन कुलं ते विनशिष्यति ॥ १२ ॥
स्वस्ति चेदिच्छसे राजन् कुलस्य कुरु मे वचः।
वध्यतामेष दुष्टात्मा मन्दो राजा सुयोधनः ॥ १३ ॥

'दिव्य दृष्टि रखनेवाले धर्मात्मा विदुरने मुझसे यह पहले ही कह दिया था कि 'दुर्योधनके अपराधसे आपका सारा कुल नष्ट हो जायगा । यदि आप अपने कुलका कल्याण करना चाहते हैं तो मेरी बात मान लीजिये । इस मन्दबुद्धि दुष्टात्मा राजा दुर्योधनको मार डालिये ॥ १२-१३ ॥

कर्णश्च शकुनिश्चैव नैनं पश्यतु कर्हिचित् ।
द्यूतसंघातमप्येषामप्रमादेन वारय ॥ १४ ॥

''कर्ण और शकुनिको इससे कभी मिलने न दीजिये । आप पूर्ण सावधान रहकर इन सबके द्यूतविषयक संगठनको रोकिये ॥ १४ ॥

अभिषेचय राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
स पालयिष्यति वशी धर्मेण पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥

''धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको अपने राज्यपर अभिषिक्त कीजिये । ये मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं, अतः धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ १५ ॥

अथ नेच्छसि राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
मेढीभूतः स्वयं राज्यं प्रतिगृह्णीष्व पार्थिव ॥ १६ ॥

''नरेश्वर ! यदि आप कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजा बनाना नहीं चाहते तो स्वयं ही मेठ बनकर सारे राज्यका भार स्वयं ही लिये रहिये ॥ १६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानं नराधिप ।
अनुजीवन्तु सर्वे त्वां ज्ञातयो भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

''महाराज ! आप सभी प्राणियोंके प्रति समान बर्ताव करें और सभी सजातीय मनुष्य अपने भाई-बन्धुओंके साथ आपके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करें' ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेय विदुरे दीर्घदर्शिनि ।
दुर्योधनमहं पापमन्ववर्तं वृथामतिः ॥ १८ ॥

'कुन्तीनन्दन ! दूरदर्शी विदुरके ऐसा कहनेपर भी मैंने पापी दुर्योधनका ही अनुसरण किया । मेरी बुद्धि निरर्थक हो गयी थी ॥ १८ ॥

अश्रुत्वा तस्य धीरस्य वाक्यानि मधुराण्यहम्।
फलं प्राप्य महद् दुःखं निमग्नः शोकसागरे ॥ १९ ॥

'धीर विदुरके मधुर वचनोंको अनसुना करके मुझे यह महान् दुःखरूपी फल प्राप्त हुआ है । मैं शोकके महान् समुद्रमें डूब गया हूँ ॥ १९ ॥

वृद्धौ हि तेऽद्य पितरौ पश्य नौ दुःखितौ नृप।
न शोचितव्यं भवता पश्यामीह जनाधिप ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! दुःखमें डूबे हुए हम दोनों बूढ़े माता-पिताकी ओर देखो । तुम्हारे लिये शोक करनेका औचित्य मैं नहीं देख पाता हूँ' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता ।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मेधावी युधिष्ठिर चुप ही रहे । तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—॥ १ ॥

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप ।
संतापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥ २ ॥

'जनेश्वर ! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणीके लिये अपने मनमें अधिक शोक करता है तो उसका वह शोक उसके पहलेके मरे हुए पितामहोंको भारी संतापमें डाल देता है ॥ २ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितृनपि ॥ ३ ॥

'इसलिये आप बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये और सोमरसके द्वारा देवताओं तथा स्वधाद्वारा पितरोंको तृप्त कीजिये ॥ ३ ॥

अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान् ।
विदितं वेदितव्यं ते कर्तव्यमपि ते कृतम् ॥ ४ ॥

'अतिथियोंको अन्न और जल देकर तथा अकिंचन मनुष्योंको दूसरी-दूसरी मनचाही वस्तुएँ देकर संतुष्ट कीजिये । आपने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया है । करनेयोग्य कार्यको भी पूर्ण कर लिया है ॥ ४ ॥

श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद् भागीरथीसुतात् ।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद् विदुरात् तथा ॥ ५ ॥

'आपने गङ्गानन्दन भीष्मसे राजधर्मोंका वर्णन सुना है। श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और विदुरजीसे कर्तव्य-का उपदेश श्रवण किया है ॥ ५ ॥

नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्तितुम्।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥ ६ ॥

अतः आपको मूढ़ पुरुषोंके इस बर्तावका अनुसरण नहीं करना चाहिये। पिता-पितामहोंके बर्तावका आश्रय लेकर राजकार्यका भार सँभालिये ॥ ६ ॥

युक्तं हि यशसा क्षात्रं स्वर्गं प्राप्तुमसंशयम्।
न हि कश्चिद्धि शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः॥ ७ ॥

'इस युद्धमें वरिंचित सुयशसे युक्त हुआ सारा क्षत्रिय-समुदाय स्वर्गलोक पानेका अधिकारी है; क्योंकि इन शूर-वीरोंमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखाकर नहीं मारा गया है ॥

त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥८॥

'महाराज! शोक त्याग दीजिये; क्योंकि जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी। इस युद्धमें जो लोग मारे गये हैं, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते' ॥ ८ ॥

एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये। तब युधिष्ठिरने उनसे कहा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—गोविन्द! आपका जो मेरे ऊपर प्रेम है, वह मुझे अच्छी तरह ज्ञात है। आप स्नेह और सौहार्दवश सदा ही मुझपर कृपा करते रहते हैं ॥ १० ॥

प्रियं तु मे स्यात् सुमहत्कृतं चक्रगदाधर।
श्रीमन् प्रीतेन मनसा सर्वं यादवनन्दन ॥ ११ ॥
यदि मामनुजानीयाद् भवान् गन्तुं तपोवनम्।
(कृतकृत्यो भविष्यामि इति मे निश्चिता मतिः।)

चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीमान् यादवनन्दन! यदि आप प्रसन्न मनसे मुझे तपोवनमें जानेकी आज्ञा दे दें तो मेरा सारा और महान् प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय। उस दशामें मैं कृतकार्य हो जाऊँगा, यह मेरा निश्चित विचार है ॥

न हि शान्तिं प्रपश्यामि पातयित्वा पितामहम् ॥ १२ ॥
(नृशंसः पुरुषव्याघ्रं गुरुं वीर्यबलान्वितम्।)
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम्।

मैं क्रूरतापूर्वक पितामह भीष्मको, बल-पराक्रमसे सम्पन्न पुरुषसिंह गुरुदेव द्रोणाचार्यको और युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले नरश्रेष्ठ कर्णको मरवाकर कभी शान्ति नहीं पा सकता ॥ १२½ ॥

कर्मणा येन मुच्येयमस्मात् क्रूरादरिंदम ॥ १३ ॥
कर्मणा तद् विधत्स्वेह येन शुध्यति मे मनः।

शत्रुदमन श्रीकृष्ण! अब जिस कर्मके द्वारा मुझे अपने इस क्रूरतापूर्ण पापसे छुटकारा मिले तथा जिससे मेरा चित्त शुद्ध हो, वही कीजिये ॥ १३½ ॥

तमेवं वादिनं पार्थं व्यासः प्रोवाच धर्मवित् ॥ १४ ॥
सान्त्वयन् सुमहातेजाः शुभं वचनमर्थवत्।
अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख धर्मके तत्त्वको जाननेवाले महातेजस्वी व्यासजीने उन्हें सान्त्वना देते हुए यह शुभ एवं सार्थक वचन कहा—'तात! तुम्हारी बुद्धि अभी शुद्ध नहीं हुई। तुम पुनः बालकोचित अविवेकके कारण मोहमें पड़ गये ॥ १४-१५ ॥

किमाकाश वयं तात प्रलपामो मुहुर्मुहुः।
विदिताः क्षत्रधर्मास्ते येषां युद्धेन जीविका ॥ १६ ॥

'तात! अब हमलोग किस लायक रह गये। हम बारंबार जो कुछ कहते या समझाते हैं वह सब व्यर्थका प्रलाप सिद्ध हो रहा है। युद्धसे ही जिनकी जीविका चलती है, उन क्षत्रियोंके धर्म भलीभाँति तुम्हें विदित हैं ॥ १६ ॥

तथाप्रवृत्तो नृपतिर्नाधिबन्धेन युज्यते।
मोक्षधर्माश्च निखिला याथातथ्येन ते श्रुताः ॥ १७ ॥

'उनके अनुसार बर्ताव करनेवाला राजा कभी मानसिक चिन्तासे ग्रस्त नहीं होता। तुमने सम्पूर्ण मोक्षधर्मोको भी यथार्थरूपसे सुना है ॥ १७ ॥

(यथा वै कामजां मायां परित्यक्तुं त्वमर्हसि।
तथा तु कुर्वन् नृपतिर्नानुबन्धेन युज्यते ॥)

'तुम्हें कामजनित मायाका जिस प्रकार परित्याग करना चाहिये, उस प्रकार उसका त्याग करनेवाला नरेश कभी बन्धनमें नहीं पड़ता ॥

असकृच्चापि संदेहाश्छिन्नास्ते कामजा मया।
अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्तस्मृतिरसि ध्रुवम् ॥ १८ ॥

'मैंने अनेक बार तुम्हारे कामजनित संदेहोंका निवारण किया है; परंतु तुम दुर्बुद्धि होनेके कारण उसपर श्रद्धा नहीं करते। निश्चय इसीलिये तुम्हारी स्मरणशक्ति लुप्त हो गयी है ॥

मैवं भव न ते युक्तमिदमज्ञानमीदृशम्।
प्रायश्चित्तानि सर्वाणि विदितानि च तेऽनघ।
राजधर्माश्च ते सर्वे दानधर्माश्च ते श्रुताः ॥ १९ ॥

'तुम ऐसे न बनो, तुम्हारे लिये इस तरह अज्ञानका

अवलम्बन उचित नहीं है। निष्पाप नरेश! तुम्हें सब प्रकारके प्रायश्चित्तोंका भी ज्ञान है। तुमने सब प्रकारके राजधर्म और दानधर्म भी सुने हैं ॥ १९ ॥

स कथं सर्वधर्मज्ञः सर्वागमविशारदः ।
परिमुह्यसि भूयस्त्वमज्ञानादिव भारत ॥ २० ॥

'भारत! इस प्रकार सब धर्मोंके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् होकर भी तुम अज्ञानवश बारंबार मोहमें क्यों पड़ते हो?' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञके लिये धनकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए संवर्त और मरुत्तका प्रसङ्ग उपस्थित करना

व्यास उवाच

युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न हि कश्चित्स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाम्॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं है। कोई भी मनुष्य स्वाधीन होकर अपने आप कोई काम नहीं करता है ॥ १ ॥

ईश्वरेण च युक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ।
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना ॥ २ ॥

यह मनुष्य अथवा पुरुषसमुदाय ईश्वरसे प्रेरित होकर ही भले-बुरे काम करता है।* अतः इसके लिये शोक करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ २ ॥

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः ।
शृणु तत्र यथापापमपकृष्येत भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! यदि तुम अन्ततोगत्वा अपने आपको ही युद्धरूपी पापकर्मका प्रधान हेतु मानते हो तो वह पाप जिस प्रकार नष्ट हो सकता है, वह उपाय बताता हूँ, सुनो ॥

तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर ।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर! जो लोग पाप करते हैं, वे तप, यज्ञ और दानके द्वारा ही सदा अपना उद्धार करते हैं ॥ ४ ॥

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप ।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥ ५ ॥

नरेश्वर! पुरुषसिंह! पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्यासे ही पवित्र होते हैं ॥ ५ ॥

असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम् ।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद् यज्ञाः परायणम् ॥ ६ ॥

महामना देवता और दैत्य पुण्यके लिये यज्ञ करनेका ही प्रयत्न करते हैं। अतः यज्ञ परम आश्रय है ॥ ६ ॥

यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः ।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥ ७ ॥

यज्ञोंद्वारा ही महामनस्वी देवताओंका महत्त्व अधिक हुआ है और यज्ञोंसे ही क्रियानिष्ठ देवताओंने दानवोंको परास्त किया है ॥ ७ ॥

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत ।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥ ८ ॥

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो ॥ ८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ ९ ॥

विधिवत् दक्षिणा देकर बहुत-से मनोवाञ्छित पदार्थ, अन्न और धनसे सम्पन्न अश्वमेध यज्ञके द्वारा दशरथनन्दन श्रीरामकी भाँति यजन करो ॥ ९ ॥

यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः ।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥

तथा तुम्हारे पूर्वपितामह महापराक्रमी दुष्यन्तकुमार शकुन्तलानन्दन पृथ्वीपति राजा भरतने जैसे यज्ञ किया था, उसी प्रकार तुम भी करो ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं वाजिमेधः पावयेत् पृथिवीमपि ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने कहा—विप्रवर! इसमें संदेह नहीं कि अश्वमेध यज्ञ सारी पृथ्वीको भी पवित्र कर सकता है, किंतु इसके विषयमें मेरा एक अभिप्राय है, उसे आप यहाँ सुन लें ॥ ११ ॥

---

* यह कथन युधिष्ठिरको सान्त्वना देनेके लिये गौणरूपमें इस दृष्टिसे है कि मरनेवालोंकी मृत्यु उनके प्रारब्ध-कर्मानुसार अवश्यम्भावी थी; अतः यह जो कुछ हुआ है, ईश्वर प्रेरणाके ही अनुसार हुआ है।

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम ।
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! अपने जाति-भाइयोंका यह महान् संहार करके अब मुझमें थोड़ा-सा भी दान देनेकी शक्ति नहीं रह गयी है; क्योंकि मेरे पास धन नहीं है ॥ १२ ॥

न तु बालानिमान् दीनानुत्सहे वसु याचितुम् ।
तथैवार्द्रव्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान् नृपात्मजान् ॥ १३ ॥

यहाँ जो राजकुमार उपस्थित हैं, ये सब-के-सब बालक और दीन हैं, महान् सङ्कटमें पड़े हुए हैं और इनके शरीरका घाव भी अभी सूखने नहीं पाया है; अतः इन सबसे मैं धनकी याचना नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम ।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥ १४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! स्वयं ही सारी पृथ्वीका विनाश कराकर शोकमग्न हुआ मैं इनसे यज्ञके लिये कर किस तरह वसूल करूँगा ॥ १४ ॥

दुर्योधनापराधेन वसुधा वसुधाधिपाः ।
प्रणष्टा योजयित्वास्मानकीर्त्या मुनिसत्तम ॥ १५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! दुर्योधनके अपराधसे यह पृथ्वी और अधिकांश राजा हमलोगोंके माथे अपयशका टीका लगाकर नष्ट हो गये ॥ १५ ॥

दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥

दुर्योधनने धनके लोभसे समस्त भूमण्डलका संहार कराया; किंतु धन मिलना तो दूर रहा, उस दुर्बुद्धिका अपना खजाना भी खाली हो गया ॥ १६ ॥

पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः ।
विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥ १७ ॥

अश्वमेध यज्ञमें समूची पृथ्वीकी दक्षिणा देनी चाहिये । यही विद्वानोंने मुख्य कल्प माना है । इसके सिवा जो कुछ किया जाता है, वह विधिके विपरीत है ॥ १७ ॥

न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन ।
अत्र मे भगवन् सम्यक् साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

तपोधन ! मुख्य वस्तुके अभावमें जो दूसरी कोई वस्तु दी जाती है, वह प्रतिनिधि दक्षिणा कहलाती है; किंतु प्रतिनिधि दक्षिणा देनेकी मेरी इच्छा नहीं होती; अतः भगवन् ! इस विषयमें आप मुझे उचित सलाह देनेकी कृपा करें ॥

एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
मुहूर्तमनुसंचिन्त्य धर्मराजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासने दो घड़ीतक सोच-विचारकर धर्मराजसे कहा— ॥ १९ ॥

कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति ।
विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥ २० ॥
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः ।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद् भविष्यति ॥ २१ ॥

'पार्थ ! यद्यपि तुम्हारा खजाना इस समय खाली हो गया है तथापि वह बहुत शीघ्र भर जायगा । हिमालय पर्वत-पर महात्मा मरुत्तके यज्ञमें ब्राह्मणोंने जो धन छोड़ दिया था, वह वहीं पड़ा हुआ है । कुन्तीकुमार ! उसे ले आवो । वह तुम्हारे लिये पर्याप्त होगा' ॥ २०-२१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं यज्ञे मरुत्तस्य द्रविणं तत् समाचितम् ।
कस्मिंश्च काले स नृपो बभूव वदतां वर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मरुत्तके यज्ञमें इतने धनका संग्रह किस प्रकार किया गया था तथा वे महाराज मरुत्त किस समय इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे ? ॥

व्यास उवाच

यदि शुश्रूषसे पार्थ शृणु कारन्धमं नृपम् ।
यस्मिन् काले महावीर्यः स राजासीन्महाधनः ॥ २३ ॥

व्यासजीने कहा—पार्थ ! यदि तुम सुनना चाहते हो तो करन्धमके पौत्र मरुत्तका वृत्तान्त सुनो । वे महाधनी और महापराक्रमी राजा किस कालमें इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, यह बता रहा हूँ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽध्यायः

मरुत्तके पूर्वजोंका परिचय देते हुए व्यासजीके द्वारा उनके गुण, प्रभाव एवं यज्ञका दिग्दर्शन

युधिष्ठिर उवाच

शुश्रूषे तस्य धर्मज्ञ राजर्षेः परिकीर्तनम् ।
द्वैपायन मरुत्तस्य कथां प्रब्रूहि मेऽनघ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मके ज्ञाता, निष्पाप महर्षि द्वैपायन ! मैं राजर्षि मरुत्तकी कथा और उनके गुणोंका कीर्तन सुनना चाहता हूँ । कृपया मुझसे कहिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

आसीत् कृतयुगे तात मनुर्दण्डधरः प्रभुः।
तस्य पुत्रो महाबाहुः प्रसन्धिरिति विश्रुतः॥ २॥

व्यासजीने कहा—तात! सत्ययुगमें राजदण्ड धारण करनेवाले शक्तिशाली वैवस्वत मनु एक प्रसिद्ध राजा थे। उनके पुत्र महाबाहु प्रसन्धिके नामसे विख्यात थे॥ २॥

प्रसन्धेरभवत् पुत्रः क्षुप इत्यभिविश्रुतः।
क्षुपस्य पुत्र इक्ष्वाकुर्महीपालोऽभवत् प्रभुः॥ ३॥

प्रसन्धिके पुत्र क्षुप और क्षुपके पुत्र शक्तिशाली महाराज इक्ष्वाकु हुए॥ ३॥

तस्य पुत्रशतं राजन्नासीत् परधार्मिकम्।
तांस्तु सर्वान् महीपालानिक्ष्वाकुरकरोत् प्रभुः॥ ४॥

राजन्! इक्ष्वाकुके सौ पुत्र हुए, जो बड़े धार्मिक थे। प्रभावशाली इक्ष्वाकुने उन सभी पुत्रोंको इस पृथ्वीका पालक बना दिया॥ ४॥

तेषां ज्येष्ठस्तु विंशोऽभूत् प्रतिमानं धनुष्मताम्।
विंशस्य पुत्रः कल्याणो विविंशो नाम भारत॥ ५॥

उनमें सबसे ज्येष्ठ पुत्रका नाम था विंश, जो धनुर्धर वीरोंका आदर्श था। भारत! विंशके कल्याणमय पुत्रका नाम विविंश हुआ॥ ५॥

विविंशस्य सुता राजन् बभूवुर्दश पञ्च च।
सर्वे धनुषि विक्रान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः॥ ६॥
दानधर्मरताः शान्ताः सततं प्रियवादिनः।
तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान् सर्वानपीडयत्॥ ७॥

राजन्! विविंशके पंद्रह पुत्र हुए। वे सब-के-सब धनुर्विद्यामें पराक्रमी, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, दान-धर्म-परायण, शान्त और सर्वदा मधुर भाषण करनेवाले थे। इन सबमें जो ज्येष्ठ था, उसका नाम खनीनेत्र था। वह अपने उन सभी छोटे भाइयोंको बहुत कष्ट देता था॥ ६-७॥

खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम्।
नाशकद् रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः॥ ८॥

खनीनेत्र पराक्रमी होनेके कारण निष्कण्टक राज्यको जीतकर भी उसकी रक्षा न कर सका; क्योंकि प्रजाका उसमें अनुराग न था॥ ८॥

तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम्।
अभ्यषिञ्चन्त राजेन्द्र मुदिता ह्यभवंस्तदा॥ ९॥

राजेन्द्र! उसे राज्यसे हटाकर प्रजाने उसीके पुत्र सुवर्चाको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। उस समय प्रजावर्गको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ९॥

स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनं च तत्।
नियतो वर्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया॥ १०॥

सुवर्चा अपने पिताकी वह दुर्दशा, वह राज्यसे निष्कासन देखकर सावधान हो नियमपूर्वक प्रजाके हितकी इच्छासे सबके साथ उत्तम बर्ताव करने लगे॥ १०॥

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः।
प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मनित्यं मनस्विनम्॥ ११॥

वे ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखते, सत्य बोलते, बाहर-भीतरसे पवित्र रहते और मन तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते थे। सदा धर्ममें लगे रहनेवाले उन मनस्वी नरेशपर प्रजाजनोंका विशेष अनुराग था॥ ११॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य व्यशीर्यत् कोशवाहनम्।
तं क्षीणकोशं सामन्ताः समन्तात् पर्यपीडयन्॥ १२॥

किंतु केवल धर्ममें ही प्रवृत्त रहनेके कारण कुछ ही दिनोंमें राजाका खजाना खाली हो गया और उनके वाहन आदि भी नष्ट हो गये। उनका खजाना खाली हो गया, यह जानकर सामन्त नरेश चारों ओरसे धावा करके उन्हें पीड़ा देने लगे॥ १२॥

स पीड्यमानो बहुभिः क्षीणकोशाश्ववाहनः।
आर्तिमार्च्छत् परां राजा सह भृत्यैः पुरेण च॥ १३॥

उनका कोष और घोड़े आदि वाहन तो नष्ट हो ही गये थे। बहुसंख्यक शत्रुओंने एक साथ धावा करके उन्हें सताना आरम्भ कर दिया। इससे राजा सुवर्चा अपने सेवकों और पुरवासियोंसहित भारी संकटमें पड़ गये॥ १३॥

न चैनमभिहन्तुं ते शक्नुवन्ति बलक्षये।
सम्यग्वृत्तो हि राजा स धर्मनित्यो युधिष्ठिर॥ १४॥

युधिष्ठिर! सेना और खजाना नष्ट हो जानेपर भी वे आक्रमणकारी शत्रु सुवर्चाका वध न कर सके; क्योंकि वे राजा नित्यधर्मपरायण और सदाचारी थे॥ १४॥

यदा तु परमामार्तिं गतोऽसौ सपुरो नृपः।
ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीत् ततो बलम्॥ १५॥

जब वे नरेश नगरवासियोंसहित भारी विपत्तिमें पड़ गये, तब उन्होंने अपने हाथको मुँहसे लगाकर उसे शङ्खकी भाँति बजाया। इससे बहुत बड़ी सेना प्रकट हो गयी॥ १५॥

ततस्तानजयत् सर्वान् प्रातिसीमान् नराधिपान्।
एतस्मात् कारणाद् राजन् विश्रुतः स करन्धमः॥ १६॥

राजन्! उसीकी सहायतासे उन्होंने अपने राज्यकी सीमापर निवास करनेवाले सम्पूर्ण शत्रु नरेशोंको परास्त कर दिया। इसी कारणसे अर्थात् करका धमन करने (हाथको बजाने) से उनका नाम करन्धम हो गया॥ १६॥

तस्य कारन्धमः पुत्रस्त्रेतायुगमुखेऽभवत्।
इन्द्रादनवरः श्रीमान् देवैरपि सुदुर्जयः॥ १७॥

करन्धमके त्रेतायुगके आरम्भमें एक कान्तिमान् पुत्र हुआ, जो कारन्धम कहलाया। वह इन्द्रसे किसी भी बातमें कम

नहीं था। उसे परास्त करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था॥ १७॥

तस्य सर्वे महीपाला वर्तन्ते स वशे तदा।
स हि सम्राडभूत् तेषां वृत्तेन च बलेन च॥ १८॥

उस समयके सभी भूपाल कारन्धमके अधीन हो गये थे। वह अपने सदाचार और बलके द्वारा उन सबका सम्राट् हो गया था॥ १८॥

अविक्षिन्नाम धर्मात्मा शौर्येणेन्द्रसमोऽभवत्।
यज्ञशीलो धर्मरतिर्धृतिमान् संयतेन्द्रियः॥ १९॥

उस धर्मात्मा करन्धमकुमारका नाम अविक्षित् था। वह अपने शौर्यके द्वारा इन्द्रकी समानता करता था। वह यज्ञशील, धर्मानुरागी, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय था॥१९॥

तेजसाऽऽदित्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या हिमवानिव सुस्थिरः॥ २०॥

तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, बुद्धिमें बृहस्पति और सुस्थिरतामें हिमवान् पर्वतके समान माना जाता था॥ २०॥

कर्मणा मनसा वाचा दमेन प्रशमेन च।
मनांस्याराधयामास प्रजानां स महीपतिः॥ २१॥

राजा अविक्षित् मन, वाणी, क्रिया, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहके द्वारा प्रजाजनोंका चित्त संतुष्ट किये रहते थे॥

य ईजे हयमेधानां शतेन विधिवत् प्रभुः।
याजयामास यं विद्वान् स्वयमेवाङ्गिराः प्रभुः॥ २२॥

उन प्रभावशाली नरेशने विधिपूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। साक्षात् विद्वान्, प्रभु, अङ्गिरा मुनिने ही उनका यज्ञ कराया था॥ २२॥

तस्य पुत्रोऽतिचक्राम पितरं गुणवत्तया।
मरुत्तो नाम धर्मज्ञश्चक्रवर्ती महायशाः॥ २३॥

उन्हींके पुत्र हुए महायशस्वी, चक्रवर्ती, धर्मज्ञ राजा मरुत्त। जो अपने गुणोंके कारण पितासे भी बढ़े-चढ़े थे॥

नागायुतसमप्राणः साक्षाद् विष्णुरिवापरः।
स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत॥ २४॥
कारयामास शुभ्राणि भाजनानि सहस्रशः।

उनमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। वे साक्षात् दूसरे विष्णुके समान जान पड़ते थे। धर्मात्मा मरुत्त जब यज्ञ करनेको उद्यत हुए, उस समय उन्होंने सहस्रों सोनेके समुज्ज्वल पात्र बनवाये॥ २४½॥

मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे॥ २५॥
काञ्चनः सुमहान् पादस्तत्र कर्म चकार सः।
ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च॥ २६॥
चक्रुः सुवर्णकर्तारो येषां संख्या न विद्यते।
तस्यैव च समीपे तु यज्ञवाटो बभूव ह॥ २७॥

हिमालय पर्वतके उत्तर भागमें मेरु पर्वतके निकट एक महान् सुवर्णमय पर्वत है। उसीके समीप उन्होंने यज्ञशाला बनवायी और वहीं यज्ञ-कार्य आरम्भ किया। उनकी आज्ञासे अनेक सुनारोंने आकर सुवर्णमय कुण्ड, सोनेके बर्तन, थाली और आसन (चौकी आदि) तैयार किये। उन सब वस्तुओंकी गणना असम्भव है॥ २५—२७॥

ईजे तत्र स धर्मात्मा विधिवत् पृथिवीपतिः।
मरुत्तः सहितैः सर्वैः प्रजापालैर्नराधिपः॥ २८॥

जब सब सामग्री तैयार हो गयी, तब वहाँ धर्मात्मा, पृथ्वीपति राजा मरुत्तने अन्य सब प्रजापालोंके साथ विधिपूर्वक यज्ञ किया॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

इन्द्रकी प्रेरणासे बृहस्पतिजीका मनुष्यको यज्ञ न करानेकी प्रतिज्ञा करना

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः समभवत् स राजा वदतां वर।
कथं च जातरूपेण समयुज्यत स द्विज॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! राजा मरुत्तका पराक्रम कैसा था? तथा उन्हें सुवर्णकी प्राप्ति कैसे हुई?॥ १॥

क्व च तत् साम्प्रतं द्रव्यं भगवन्नवतिष्ठते।
कथं च शक्यमस्माभिस्तदवाप्तुं तपोधन॥ २॥

भगवन्! तपोधन! वह द्रव्य इस समय कहाँ है? और हम उसे किस तरह प्राप्त कर सकते हैं?॥ २॥

व्यास उवाच

असुराश्चैव देवाश्च दक्षस्यासन् प्रजापतेः।
अपत्यं बहुलं तात संस्पर्धन्त परस्परम्॥ ३॥

व्यासजीने कहा—तात! प्रजापति दक्षके देवता और

असुर नामक बहुत-सी संतानें हैं, जो आपसमें स्पर्धा रखती हैं ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रौ व्रततुल्यौ बभूवतुः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः संवर्तश्च तपोधनः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार महर्षि अङ्गिराके दो पुत्र हुए, जो व्रतका पालन करनेमें एक समान हैं । उनमेंसे एक हैं महातेजस्वी बृहस्पति और दूसरे हैं तपस्याके धनी संवर्त ॥ ४ ॥

तावतिस्पर्धिनौ राजन् पृथगास्तां परस्परम् ।
बृहस्पतिः स संवर्तं बाधते स्म पुनः पुनः ॥ ५ ॥

राजन् ! वे दोनों भाई एक-दूसरेसे अलग रहते और आपसमें बड़ी स्पर्धा रखते थे । बृहस्पति अपने छोटे भाई संवर्तको बारंबार सताया करते थे ॥ ५ ॥

स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत ॥ ६ ॥

भारत ! अपने बड़े भाईके द्वारा सदा सताये जानेपर संवर्त धन-दौलतका मोह छोड़ घरसे निकल गये और दिगम्बर होकर वनमें रहने लगे । घरकी अपेक्षा वनवासमें ही उन्होंने सुख माना ॥ ६ ॥

वासवोऽप्यसुरान् सर्वान् विजित्य च निपात्य च ।
इन्द्रत्वं प्राप्य लोकेषु ततो वव्रे पुरोहितम् ॥ ७ ॥
पुत्रमङ्गिरसो ज्येष्ठं विप्रज्येष्ठं बृहस्पतिम् ।

इसी समय इन्द्रने समस्त असुरोंको जीतकर मार गिराया तथा त्रिभुवनका साम्राज्य प्राप्त कर लिया । तदनन्तर उन्होंने अङ्गिराके ज्येष्ठ पुत्र विप्रवर बृहस्पतिको अपना पुरोहित बनाया ॥ ७½ ॥

याज्यस्त्वाङ्गिरसः पूर्वमासीद् राजा करंधमः ॥ ८ ॥
वीर्येणाप्रतिमो लोके वृत्तेन च बलेन च ।
शतक्रतुरिवौजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ९ ॥

इसके पहले अङ्गिराके यजमान राजा करन्धम थे । संसारमें बल, पराक्रम और सदाचारके द्वारा उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था । वे इन्द्रतुल्य तेजस्वी, धर्मात्मा और कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ८-९ ॥

वाहनं यस्य योधाश्च मित्राणि विविधानि च ।
शयनानि च मुख्यानि महार्हाणि च सर्वशः ॥ १० ॥
ध्यानादेवाभवद् राजन् मुखवातेन सर्वशः ।
स गुणैः पार्थिवान् सर्वान् वशे चक्रे नराधिपः ॥ ११ ॥

राजन् ! उनके लिये वाहन, योद्धा, नाना प्रकारके मित्र तथा श्रेष्ठ और सब प्रकारकी बहुमूल्य शय्याएँ चिन्तन करनेसे और मुखजनित वायुसे ही प्रकट हो जाती थीं । राजा करन्धमने अपने गुणोंसे समस्त राजाओंको अपने वशमें कर लिया था ॥

संजीव्य कालमिष्टं च सशरीरो दिवं गतः ।
बभूव तस्य पुत्रस्तु ययातिरिव धर्मवित् ॥ १२ ॥

अविक्षिन्नाम शत्रुजित् स वशे कृतवान् महीम् ।
विक्रमेण गुणैश्चैव पितेवासीत् स पार्थिवः ॥ १३ ॥

कहते हैं राजा करन्धम अभीष्ट कालतक इस संसारमें जीवन धारण करके अन्तमें सशरीर स्वर्गलोकको चले गये थे । उनके पुत्र अविक्षित् ययातिके समान धर्मज्ञ थे । उन्होंने अपने पराक्रम और गुणोंके द्वारा शत्रुओंपर विजय पाकर सारी पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया था । वे राजा अपनी प्रजाके लिये पिताके समान थे ॥ १२-१३ ॥

तस्य वासवतुल्योऽभून्मरुत्तो नाम वीर्यवान् ।
पुत्रस्तमनुरक्ताभूत् पृथिवी सागराम्बरा ॥ १४ ॥

अविक्षित्के पुत्रका नाम मरुत्त था, जो इन्द्रके समान पराक्रमी थे । समुद्ररूपी वस्त्रसे आच्छादित हुई यह सारी पृथ्वी—समस्त भूमण्डलकी प्रजा उनमें अनुराग रखती थी ॥

स्पर्धते स स्म सततं देवराजेन नित्यदा ।
वासवोऽपि मरुत्तेन स्पर्धते पाण्डुनन्दन ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन ! राजा मरुत्त सदा देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखते थे और इन्द्र भी मरुत्तके साथ स्पर्धा रखते थे ॥ १५ ॥

शुचिः स गुणवानासीन्मरुत्तः पृथिवीपतिः ।
यतमानोऽपि यं शक्रो न विशेषयति स्म ह ॥ १६ ॥

पृथ्वीपति मरुत्त पवित्र एवं गुणवान् थे । इन्द्र उनसे बढ़नेके लिये सदा प्रयत्न करते थे तो भी कभी बढ़ नहीं पाते थे ॥ १६ ॥

सोऽशक्नुवन् विशेषाय समाहूय बृहस्पतिम् ।
उवाचेदं वचो देवैः सहितो हरिवाहनः ॥ १७ ॥

जब देवताओंसहित इन्द्र किसी तरह बढ़ न सके, तब बृहस्पतिको बुलाकर उनसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १७ ॥

बृहस्पते मरुत्तस्य मा स्म कार्षीः कथंचन ।
दैवं कर्माथ पित्र्यं वा कर्तासि मम चेत् प्रियम् ॥ १८ ॥

'बृहस्पतिजी ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो राजा मरुत्तका यज्ञ तथा श्राद्धकर्म किसी तरह न कराइयेगा ॥

अहं हि त्रिषु लोकेषु सुराणां च बृहस्पते ।
इन्द्रत्वं प्राप्तवानेको मरुत्तस्तु महीपतिः ॥ १९ ॥

'बृहस्पते ! एकमात्र मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी और देवताओंका इन्द्र हूँ । मरुत्त तो केवल पृथ्वीके राजा हैं ॥

कथं ह्यमर्त्यं ब्रह्मंस्त्वं याजयित्वा सुराधिपम् ।
याजयेर्मृत्युसंयुक्तं मरुत्तमविशङ्कया ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! आप अमर देवराजका यज्ञ कराकर—देवेन्द्रके पुरोहित होकर मरणधर्मा मरुत्तका यज्ञ कैसे निःशङ्क होकर कराइयेगा ? ॥ २० ॥

मां वा वृणीष्व भद्रं ते मरुत्तं वा महीपतिम् ।

परित्यज्य मरुत्तं वा यथाजोषं भजस्व माम् ॥ २१ ॥

'आपका कल्याण हो। आप मुझे अपना यजमान बनाइये अथवा पृथ्वीपति मरुत्तको। या तो मुझे छोड़िये या मरुत्तको छोड़कर चुपचाप मेरा आश्रय लीजिये' ॥ २१ ॥

एवमुक्तः स कौरव्य देवराज्ञा बृहस्पतिः।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य देवराजानमब्रवीत् ॥ २२ ॥

कुरुनन्दन! देवराज इन्द्रके ऐसा कहनेपर बृहस्पतिने दो घड़ीतक सोच-विचारकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

त्वं भूतानामधिपतिस्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः।
नमुचेर्विश्वरूपस्य निहन्ता त्वं बलस्य च ॥ २३ ॥

'देवराज! तुम सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी हो, तुम्हारे ही आधारपर समस्त लोक टिके हुए हैं। तुम नमुचि, विश्वरूप और बलासुरके विनाशक हो ॥ २३ ॥

त्वमाजहर्थ देवानामेको वीरश्रियं पराम्।
त्वं बिभर्षि भुवं द्यां च सदैव बलसूदन ॥ २४ ॥

'बलसूदन! तुम अद्वितीय वीर हो। तुमने उत्तम सम्पत्ति प्राप्त की है। तुम पृथ्वी और स्वर्ग दोनोंका भरण-पोषण एवं संरक्षण करते हो ॥ २४ ॥

पौरोहित्यं कथं कृत्वा तव देवगणेश्वर।
याजयेयमहं मर्त्यं मरुत्तं पाकशासन ॥ २५ ॥

'देवेश्वर! पाकशासन! तुम्हारी पुरोहिती करके मैं मरण-धर्मा मरुत्तका यज्ञ कैसे करा सकता हूँ ॥ २५ ॥

समाश्वसिहि देवेन्द्र नाहं मर्त्यस्य कर्हिचित्।
ग्रहीष्यामि स्रुवं यज्ञे शृणु चेदं वचो मम ॥ २६ ॥

'देवेन्द्र! धैर्य धारण करो। अब मैं कभी किसी मनुष्यके यज्ञमें जाकर स्रुवा हाथमें नहीं लूँगा। इसके सिवा मेरी यह बात भी ध्यानसे सुन लो ॥ २६ ॥

हिरण्यरेता नोष्णः स्यात् परिवर्तेत मेदिनी।
भासं तु न रविः कुर्यान्न तु सत्यं चलेन्मयि ॥ २७ ॥

'आग चाहे ठंडी हो जाय, पृथ्वी उलट जाय और सूर्यदेव प्रकाश करना छोड़ दें; किंतु मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा नहीं टल सकती' ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

बृहस्पतिवचः श्रुत्वा शक्रो विगतमत्सरः।
प्रशस्यैनं विवेशाथ स्वमेव भवनं तदा ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बृहस्पतिजीकी बात सुनकर इन्द्रका मात्सर्य दूर हो गया और तब वे उनकी प्रशंसा करके अपने घरमें चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

नारदजीकी आज्ञासे मरुत्तका उनकी बतायी हुई युक्तिके अनुसार संवर्तसे भेंट करना

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादं मरुत्तस्य च धीमतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! इस प्रसंगमें बुद्धिमान् राजा मरुत्त और बृहस्पतिके इस पुरातन संवादविषयक इतिहासका उल्लेख किया जाता है ॥ १ ॥

देवराजस्य समयं कृतमाङ्गिरसेन ह।
श्रुत्वा मरुत्तो नृपतिर्यज्ञमाहारयत् परम् ॥ २ ॥

राजा मरुत्तने जब यह सुना कि अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिजीने मनुष्यके यज्ञ न करानेकी प्रतिज्ञा कर ली है, तब उन्होंने एक महान् यज्ञका आयोजन किया ॥ २ ॥

संकल्प्य मनसा यज्ञं करन्धमसुतात्मजः।
बृहस्पतिमुपागम्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बातचीत करनेमें कुशल करन्धमपौत्र मरुत्तने मन-ही-मन यज्ञका संकल्प करके बृहस्पतिजीके पास जाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

भगवन् यन्मया पूर्वमभिगम्य तपोधन।
कृतोऽभिसंधिर्यज्ञस्य भवता वचनाद् गुरो ॥ ४ ॥
तमहं यष्टुमिच्छामि सम्भाराः सम्भृताश्च मे।
याज्योऽस्मि भवतः साधो तत् प्राप्नुहि विधत्स्व च ॥ ५ ॥

'भगवन्! तपोधन! गुरुदेव! मैंने पहले एक बार आकर जो आपसे यज्ञके विषयमें सलाह ली थी और आपने जिसके लिये मुझे आज्ञा दी थी, उस यज्ञको अब मैं प्रारम्भ करना चाहता हूँ। आपके कथनानुसार मैंने सब सामग्री एकत्र कर ली है। साधु पुरुष! मैं आपका पुराना यजमान भी हूँ। इसलिये चलिये, मेरा यज्ञ करा दीजिये' ॥ ४-५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

न कामये याजयितुं त्वामहं पृथिवीपते।
वृतोऽस्मि देवराजेन प्रतिज्ञातं च तस्य मे ॥ ६ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—राजन्! अब मैं तुम्हारा यज्ञ कराना नहीं चाहता। देवराज इन्द्रने मुझे अपना पुरोहित बना लिया है और मैंने भी उनके सामने यह प्रतिज्ञा कर ली है॥ ६॥

मरुत्त उवाच

पित्र्यमस्मि तव क्षेत्रं बहु मन्ये च ते भृशम्।
तवास्मि याज्यतां प्राप्तो भजमानं भजस्व माम्॥ ७॥

मरुत्त बोले—विप्रवर! मैं आपके पिताके समयसे ही आपका यजमान हूँ तथा विशेष सम्मान करता हूँ। आपका शिष्य हूँ और आपकी सेवामें तत्पर रहता हूँ। अतः मुझे अपनाइये॥ ७॥

बृहस्पतिरुवाच

अमर्त्यं याजयित्वाहं याजयिष्ये कथं नरम्।
मरुत्त गच्छ वा मा वा निवृत्तोऽस्म्यद्य याजनात्॥ ८॥

बृहस्पतिजीने कहा—मरुत्त! अमरोंका यज्ञ करानेके बाद मैं मरणधर्मा मनुष्योंका यज्ञ कैसे कराऊँगा? तुम जाओ या रहो। अब मैं मनुष्योंका यज्ञकार्य करानेसे निवृत्त हो गया हूँ॥ ८॥

न त्वां याजयितास्म्यद्य वृणु यं त्वमिहेच्छसि।
उपाध्यायं महाबाहो यस्ते यज्ञं करिष्यति॥ ९॥

महाबाहो! मैं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा। तुम दूसरे जिसको चाहो उसीको अपना पुरोहित बना लो। जो तुम्हारा यज्ञ करायेगा॥ ९॥

व्यास उवाच

एवमुक्तस्तु नृपतिर्मरुत्तो व्रीडितोऽभवत्।
प्रत्यागच्छन् सुसंविग्नो ददर्श पथि नारदम्॥ १०॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! बृहस्पतिजीसे ऐसा उत्तर पाकर महाराज मरुत्तको बड़ा संकोच हुआ। वे बहुत खिन्न होकर लौटे जा रहे थे, उसी समय मार्गमें उन्हें देवर्षि नारदजीका दर्शन हुआ॥ १०॥

देवर्षिणा समागम्य नारदेन स पार्थिवः।
विधिवत् प्राञ्जलिस्तस्थावथैनं नारदोऽब्रवीत्॥ ११॥

देवर्षि नारदके साथ समागम होनेपर राजा मरुत्त यथाविधि हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब नारदजीने उनसे कहा—॥ ११॥

राजर्षे नातिहृष्टोऽसि कच्चित् क्षेमं तवानघ।
क्व गतोऽसि कुतश्चेदमप्रीतिस्थानमागतम्॥ १२॥

'राजर्षे! तुम अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देते हो। निष्पाप नरेश! तुम्हारे यहाँ कुशल तो है न? कहाँ गये थे और किस कारण तुम्हें यह खेदका अवसर प्राप्त हुआ है?॥

श्रोतव्यं चेन्मया राजन् ब्रूहि मे पार्थिवर्षभ।
व्यपनेष्यामि ते मन्युं सर्वयत्नैर्नराधिप॥ १३॥

'राजन्! नृपश्रेष्ठ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो बताओ। नरेश्वर! मैं पूर्ण यत्न करके तुम्हारा दुःख दूर करूँगा'॥ १३॥

एवमुक्तो मरुत्तः स नारदेन महर्षिणा।
विप्रलम्भमुपाध्यायात् सर्वमेव न्यवेदयत्॥ १४॥

महर्षि नारदके ऐसा कहनेपर राजा मरुत्तने उपाध्याय (पुरोहित) से बिछोह होनेका सारा समाचार उन्हें कह सुनाया॥ १४॥

मरुत्त उवाच

गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्यं बृहस्पतिम्।
यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत॥ १५॥

मरुत्तने कहा—नारदजी! मैं अङ्गिराके पुत्र देवगुरु बृहस्पतिके पास गया था। मेरी यात्राका उद्देश्य यह था कि उन्हें अपना यज्ञ करानेके लिये ऋत्विजके रूपमें देखूँ; किंतु उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की॥ १५॥

प्रत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितुं नाद्य कामये।
परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद॥ १६॥

नारदजी! मेरे गुरुने मुझपर मरणधर्मा मनुष्य होनेका दोष लगाकर मुझे त्याग दिया। उनके द्वारा इस प्रकार अस्वीकार किये जानेके कारण अब मैं जीवित रहना नहीं चाहता॥

व्यास उवाच

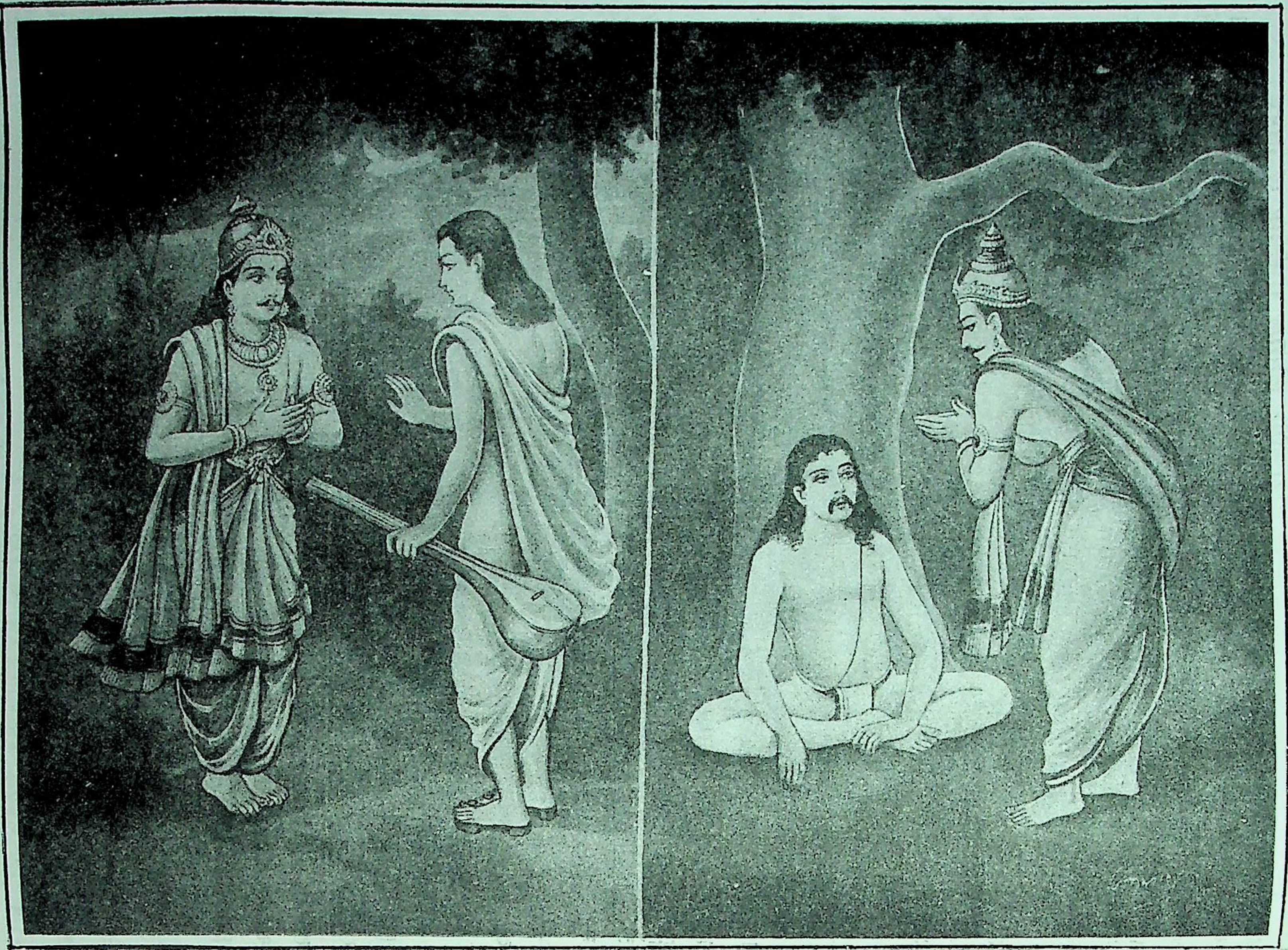
एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह।
आविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव॥ १७॥

व्यासजी कहते हैं—महाराज! राजा मरुत्तके ऐसा कहनेपर देवर्षि नारदने अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा अविक्षित्‌कुमारको जीवन प्रदान करते हुए-से कहा॥ १७॥

नारद उवाच

राजन्नङ्गिरसः पुत्रः संवर्तो नाम धार्मिकः।
चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन् प्रजाः॥ १८॥
तं गच्छ यदि याज्यं त्वां न वाञ्छति बृहस्पतिः।
प्रसन्नस्त्वां महातेजाः संवर्तो याजयिष्यति॥ १९॥

नारदजी बोले—राजन्! अङ्गिराके दूसरे पुत्र संवर्त बड़े धार्मिक हैं। वे दिगम्बर होकर प्रजाको मोहमें डालते हुए अर्थात् सबसे छिपे रहकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते रहते हैं। यदि बृहस्पति तुम्हें अपना यजमान बनाना नहीं चाहते तो तुम संवर्तके ही पास चले जाओ। संवर्त बड़े तेजस्वी हैं, वे प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा यज्ञ करा देंगे॥ १८-१९॥



महाराज मरुत्तकी देवर्षिसे भेंट

महाराज मरुत्तका संवर्तमुनिसे संवाद

मरुत्त उवाच

संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद।
पश्येयं क नु संवर्तं शंस मे वदतां वर ॥ २० ॥
कथं च तस्मै वर्तेयं कथं मां न परित्यजेत्।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

मरुत्त बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजी! आपने यह बात बताकर मुझे जिला दिया। अब यह बताइये कि मैं संवर्त मुनिका दर्शन कहाँ कर सकूँगा? मुझे उनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये? मैं कैसा व्यवहार करूँ, जिससे वे मेरा परित्याग न करें। यदि उन्होंने भी मेरी प्रार्थना ठुकरा दी तब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ २०-२१ ॥

नारद उवाच

उन्मत्तवेषं बिभ्रत् स चङ्क्रमीति यथासुखम्।
वाराणस्यां महाराज दर्शनेप्सुर्महेश्वरम् ॥ २२ ॥

नारदजीने कहा—महाराज! वे इस समय वाराणसीमें महेश्वर विश्वनाथके दर्शनकी इच्छासे पागलका-सा वेष धारण किये अपनी मौजसे घूम रहे हैं ॥ २२ ॥

तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथाः कुणपं क्वचित्।
तं दृष्ट्वा यो निवर्तेत संवर्तः स महीपते ॥ २३ ॥
तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत् स वीर्यवान्।
तमेकान्ते समासाद्य प्राञ्जलिः शरणं व्रजेः ॥ २४ ॥

तुम उस पुरीके प्रवेश-द्वारपर पहुँचकर वहाँ कहींसे एक मुर्दा लाकर रख देना। पृथ्वीनाथ! जो उस मुर्देको देखकर सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े, उसे ही संवर्त समझना और वे शक्तिशाली मुनि जहाँ कहीं जायँ उनके पीछे-पीछे चले जाना। जब वे किसी एकान्त स्थानमें पहुचें, तब हाथ जोड़कर शरणापन्न हो जाना ॥ २३-२४ ॥

पृच्छेत् त्वां यदि केनाहं तवाख्यात इति स ह।
ब्रूयास्त्वं नारदेनेति संवर्त कथितोऽसि मे ॥ २५ ॥

यदि तुमसे पूछें कि किसने तुम्हें मेरा पता बताया है तो कह देना—'संवर्तजी! नारदजीने मुझे आपका पता बताया है' ॥ २५ ॥

स चेत् त्वामनुयुञ्जीत ममानुगमनेप्सया।
शंसेथा वह्निमारूढं मामपि त्वमशङ्कया ॥ २६ ॥

यदि वे तुमसे मेरे पास आनेके लिये मेरा पता पूछें तो तुम निर्भीक होकर कह देना कि 'नारदजी आगमें समा गये' ॥ २६ ॥

व्यास उवाच

स तथेति प्रतिश्रुत्य पूजयित्वा च नारदम्।
अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम् ॥ २७ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर राजर्षि मरुत्तने 'बहुत अच्छा' कहकर नारदजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनसे जानेकी आज्ञा ले वे वाराणसीपुरीकी ओर चल दिये ॥ २७॥

तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्या द्वारे महायशाः।
कुणपं स्थापयामास नारदस्य वचः स्मरन् ॥ २८ ॥

वहाँ जाकर नारदजीके कथनका स्मरण करते हुए महायशस्वी नरेशने उनके बताये अनुसार काशीपुरीके द्वारपर एक मुर्दा लाकर रख दिया ॥ २८ ॥

यौगपद्येन विप्रश्च पुरीद्वारमथाविशत्।
ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा संन्यवर्तत ॥ २९ ॥

इसी समय विप्रवर संवर्त भी पुरीके द्वारपर आये; किंतु उस मुर्देको देखकर वे सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े ॥ २९ ॥

स तं निवृत्तमालक्ष्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।
आविक्षितो महीपालः संवर्तमुपशिक्षितुम् ॥ ३० ॥

उन्हें लौटा देख राजा मरुत्त संवर्तसे शिक्षा लेनेके लिये हाथ जोड़े उनके पीछे-पीछे गये ॥ ३० ॥

स च तं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्दमेन च।
श्लेष्मणा चैव राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत् ॥ ३१ ॥

एकान्तमें पहुँचनेपर राजाको अपने पीछे-पीछे आते देख संवर्तने उनपर धूल फेंकी, कीचड़ उछाला तथा थूक और खखार डाल दिये ॥ ३१ ॥

स तथा बाध्यमानो वै संवर्तेन महीपतिः।
अन्वगादेव तमृषिं प्राञ्जलिः सम्प्रसादयन् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार संवर्तके सतानेपर भी राजा मरुत्त हाथ जोड़ उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे उन महर्षिके पीछे-पीछे चले ही गये ॥ ३२ ॥

ततो निवर्त्य संवर्तः परिश्रान्त उपाविशत्।
शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं बहुशाखिनम् ॥ ३३ ॥

तब संवर्त मुनि लौटकर शीतल छायासे युक्त तथा अनेक शाखाओंसे सुशोभित एक बरगदके नीचे थककर बैठ गये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

संवर्त और मरुत्तकी बातचीत, मरुत्तके विशेष आग्रहपर संवर्तका यज्ञ करानेकी स्वीकृति देना

संवर्त उवाच

कथमस्मि त्वया ज्ञातः केन वा कथितोऽस्मि ते।
एतदाचक्ष्व मे तत्त्वमिच्छसे चेन्मम प्रियम् ॥ १ ॥

संवर्त बोले—राजन्! तुमने मुझे कैसे पहचाना है? किसने तुम्हें मेरा परिचय दिया है? यदि मेरा प्रिय चाहते हो तो यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

सत्यं ते ब्रुवतः सर्वे सम्पत्स्यन्ते मनोरथाः।
मिथ्या च ब्रुवतो मूर्धा शतधा ते स्फुटिष्यति ॥ २ ॥

यदि सच-सच बता दोगे तो तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और यदि झूठ बोलोगे तो तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ २ ॥

मरुत्त उवाच

नारदेन भवान् मह्यमाख्यातो ह्यटता पथि।
गुरुपुत्रो ममेति त्वं ततो मे प्रीतिरुत्तमा ॥ ३ ॥

मरुत्तने कहा—मुने! भ्रमणशील नारदजीने रास्तेमें मुझे आपका परिचय दिया और पता बताया। आप मेरे गुरु अङ्गिराके पुत्र हैं, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ३ ॥

संवर्त उवाच

सत्यमेतद् भवानाह स मां जानाति सत्रिणम्।
कथयस्व तदेतन्मे क नु सम्प्रति नारदः ॥ ४ ॥

संवर्त बोले—राजन्! तुम ठीक कहते हो; नारदको यह मालूम है कि मैं यज्ञ कराना जानता हूँ और गुप्त वेषमें घूम रहा हूँ। अच्छा यह तो बताओ, इस समय नारद कहाँ हैं? ॥ ४ ॥

मरुत्त उवाच

भवन्तं कथयित्वा तु मम देवर्षिसत्तमः।
ततो मामभ्यनुज्ञाय प्रविष्टो हव्यवाहनम् ॥ ५ ॥

मरुत्तने कहा—मुने! मुझे आपका परिचय और पता बताकर देवर्षिशिरोमणि नारद मुझे जानेकी आज्ञा दे स्वयं अग्निमें प्रवेश कर गये थे ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

श्रुत्वा तु पार्थिवस्यैतत् संवर्तः प्रमुदं गतः।
एतावदहमप्येवं शक्नुयामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! राजाकी यह बात सुनकर संवर्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और बोले—'इतना तो मैं भी कर सकता हूँ' ॥ ६ ॥

ततो मरुत्तमुन्मत्तो वाचा निर्भर्त्सयन्निव।
रूक्षया ब्राह्मणो राजन् पुनः पुनरथाब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजन्! वे उन्मत्त वेषधारी ब्राह्मण देवता मरुत्तको अपनी रूखी वाणीद्वारा बारंबार फटकारते हुए-से बोले— ॥ ७ ॥

वातप्रधानेन मया स्वचित्तवशवर्तिना।
एवं विकृतरूपेण कथं याजितुमिच्छसि ॥ ८ ॥

'नरेश्वर! मैं तो वायु-प्रधान—बावला हूँ, अपने मनकी मौजसे ही सब काम करता हूँ, मेरा रूप भी विकृत है। अतः मुझ-जैसे व्यक्तिसे तुम क्यों यज्ञ कराना चाहते हो? ॥

भ्राता मम समर्थश्च वासवेन च संगतः।
वर्तते याजने चैव तेन कर्माणि कारय ॥ ९ ॥

'मेरे भाई बृहस्पति इस कार्यमें पूर्णतः समर्थ हैं। आजकल इन्द्रके साथ उनका मेलजोल बढ़ा हुआ है। वे उनके यज्ञ करानेमें लगे रहते हैं। अतः उन्हींसे अपने सारे यज्ञकर्म कराओ ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः।
पूर्वजेन ममाक्षिप्तं शरीरं वर्जितं त्विदम् ॥ १० ॥

'घर-गृहस्थीका सारा सामान, यजमान तथा गृहदेवताओंके पूजन आदि कर्म—इन सबको इस समय मेरे बड़े भाईने अपने अधिकारमें कर लिया है। मेरे पास तो केवल मेरा एक शरीर ही छोड़ रक्खा है ॥ १० ॥

नाहं तेनाननुज्ञातस्त्वामाविक्षित कर्हिचित्।
याजयेयं कथंचिद् वै स हि पूज्यतमो मम ॥ ११ ॥

'अविक्षित्-कुमार! मैं उनकी आज्ञा प्राप्त किये बिना कभी किसी तरह भी तुम्हारा यज्ञ नहीं करा सकता; क्योंकि वे मेरे परम पूजनीय भाई हैं ॥ ११ ॥

स त्वं बृहस्पतिं गच्छ तमनुज्ञाप्य चाव्रज।
ततोऽहं याजयिष्ये त्वां यदि यष्टुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

'अतः तुम बृहस्पतिके पास जाओ और उनकी आज्ञा लेकर आओ। उस दशामें यदि तुम यज्ञ कराना चाहो, तो मैं यज्ञ करा दूँगा' ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच

बृहस्पतिं गतः पूर्वमहं संवर्त तच्छृणु।
न मां कामयते याज्यमसौ वासवकाम्यया ॥ १३ ॥

मरुत्तने कहा—संवर्तजी! मैं पहले बृहस्पतिजीके ही पास गया था। वहाँका समाचार बताता हूँ, सुनिये। वे इन्द्रको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे अब मुझे अपना यजमान बनाना नहीं चाहते हैं ॥ १३ ॥

अमरं याज्यमासाद्य याजयिष्ये न मानुषम्।
शक्रेण प्रतिषिद्धोऽहं मरुत्तं मा स्म याजयेः ॥ १४ ॥

स्पर्धते हि मया विप्र सदा हि स तु पार्थिवः।
एवमस्त्विति चाप्युक्तो भ्रात्रा ते बलसूदनः ॥ १५ ॥

उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि 'अमर यजमान पाकर अब मैं मरणधर्मा मनुष्यका यज्ञ नहीं कराऊँगा।' साथ ही इन्द्रने मना भी किया है कि 'आप मरुत्तका यज्ञ न कराइयेगा; क्योंकि ब्रह्मन्! वह राजा सदा मेरे साथ ईर्ष्या रखता है।' इन्द्रकी इस बातको आपके भाईने 'एवमस्तु' कहकर स्वीकार कर लिया है ॥ १४-१५ ॥

स मामधिगतं प्रेम्णा याज्यत्वेन बुभूषति।
देवराजं समाश्रित्य तद् विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ १६ ॥

मुनिप्रवर! मैं बड़े प्रेमसे उनके पास गया था; परंतु वे देवराज इन्द्रका आश्रय लेकर मुझे अपना यजमान बनाना ही नहीं चाहते हैं। इस बातको आप अच्छी तरह जान लें ॥

सोऽहमिच्छामि भवता सर्वस्वेनापि याजितुम्।
कामये समतिक्रान्तुं वासवं त्वत्कृतैर्गुणैः ॥ १७ ॥

अतः मेरी इच्छा यह है कि मैं सर्वस्व देकर भी आपसे ही यज्ञ कराऊँ और आपके द्वारा सम्पादित गुणोंके प्रभावसे इन्द्रको भी मात कर दूँ ॥ १७ ॥

न हि मे वर्तते बुद्धिर्गन्तुं ब्रह्मन् बृहस्पतिम्।
प्रत्याख्यातो हि तेनास्मि तथानपकृते सति ॥ १८ ॥

ब्रह्मन्! अब बृहस्पतिके पास जानेका मेरा विचार नहीं है; क्योंकि बिना अपराधके ही उन्होंने मेरी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी है ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच

चिकीर्षसि यथाकामं सर्वमेतत् त्वयि ध्रुवम्।
यदि सर्वानभिप्रायान् कर्तासि मम पार्थिव ॥ १९ ॥

संवर्तने कहा—पृथ्वीनाथ! यदि मेरी इच्छाके अनुसार काम करो तो तुम जो कुछ चाहोगे, वह निश्चय ही पूर्ण होगा ॥ १९ ॥

याज्यमानं मया हि त्वां बृहस्पतिपुरन्दरौ।
द्विषेतां समभिक्रुद्धावेतदेकं समर्थयेः ॥ २० ॥

जब मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा, तब बृहस्पति और इन्द्र दोनों ही कुपित होकर मेरे साथ द्वेष करेंगे। उस समय तुम्हें मेरे पक्षका समर्थन करना होगा ॥ २० ॥

स्थैर्यमत्र कथं मे स्यात् स त्वं निःसंशयं कुरु।
कुपितस्त्वां न हीदानीं भस्म कुर्यां सबान्धवम् ॥ २१ ॥

परंतु इस बातका मुझे विश्वास कैसे हो कि तुम मेरा साथ दोगे। अतः जैसे भी हो, मेरे मनका संशय दूर हो; नहीं तो अभी क्रोधमें भरकर मैं बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हें भस्म कर डालूँगा ॥ २१ ॥

मरुत्त उवाच

यावत् तपेत् सहस्रांशुस्तिष्ठेरंश्चापि पर्वताः।
तावल्लोकान्न लभेयं त्यजेयं सङ्गतं यदि ॥ २२ ॥

मरुत्तने कहा—ब्रह्मन्! यदि मैं आपका साथ छोड़ूँ तो जबतक सूर्य तपते हों और जबतक पर्वत स्थिर रहें तबतक मुझे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २२ ॥

मा चापि शुभबुद्धित्वं लभेयमिह कर्हिचित्।
विषयैः सङ्गतं चास्तु त्यजेयं सङ्गतं यदि ॥ २३ ॥

यदि आपका साथ छोड़ दूँ तो मुझे संसारमें शुभ बुद्धि कभी न प्राप्त हो और मैं सदा विषयोंमें ही रचा-पचा रह जाऊँ ॥ २३ ॥

संवर्त उवाच

आविक्षित शुभा बुद्धिर्वर्ततां तव कर्मसु।
याजनं हि ममाप्येव वर्तते हृदि पार्थिव ॥ २४ ॥

संवर्तने कहा—अविक्षित्-कुमार! तुम्हारी शुभ बुद्धि सदा सत्कर्मोंमें ही लगी रहे। पृथ्वीनाथ! मेरे मनमें भी तुम्हारा यज्ञ करानेकी इच्छा तो है ही ॥ २४ ॥

अभिधास्ये च ते राजन्नक्षयं द्रव्यमुत्तमम्।
येन देवान् सगन्धर्वाञ्छक्रं चाभिभविष्यसि ॥ २५ ॥

राजन्! इसके लिये मैं तुम्हें परम उत्तम अक्षय धनकी प्राप्तिका उपाय बतलाऊँगा, जिससे तुम गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा इन्द्रको भी नीचा दिखा सकोगे ॥ २५ ॥

न तु मे वर्तते बुद्धिर्धने याज्येषु वा पुनः।
विप्रियं तु करिष्यामि भ्रातुश्चेन्द्रस्य चोभयोः ॥ २६ ॥

मुझको अपने लिये धन अथवा यजमानोंके संग्रहका विचार नहीं है। मुझे तो भाई बृहस्पति और इन्द्र दोनोंके विरुद्ध कार्य करना है ॥ २६ ॥

गमयिष्यामि शक्रेण समतामपि ते ध्रुवम्।
प्रियं च ते करिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

निश्चय ही मैं तुम्हें इन्द्रकी बराबरीमें बैठाऊँगा और तुम्हारा प्रिय करूँगा। मैं यह बात तुमसे सत्य कहता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

संवर्तका मरुत्तको सुवर्णकी प्राप्तिके लिये महादेवजीकी नाममयी स्तुतिका उपदेश और धनकी प्राप्ति तथा मरुत्तकी सम्पत्तिसे बृहस्पतिका चिन्तित होना

संवर्त उवाच

गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।
तप्यते यत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिः॥ १॥

संवर्तने कहा—राजन्! हिमालयके पृष्ठभागमें मुञ्जवान् नामक एक पर्वत है, जहाँ उमावल्लभ भगवान् शङ्कर सदा तपस्या किया करते हैं॥ १॥

वनस्पतीनां मूलेषु शृङ्गेषु विषमेषु च।
गुहासु शैलराजस्य यथाकामं यथासुखम्॥ २॥
उमासहायो भगवान् यत्र नित्यं महेश्वरः।
आस्ते शूली महातेजा नानाभूतगणावृतः॥ ३॥

वहाँ वनस्पतियोंके मूलभागमें, दुर्गम शिखरोंपर तथा गिरिराजकी गुफाओंमें नाना प्रकारके भूतगणोंसे घिरे हुए महातेजस्वी त्रिशूलधारी भगवान् महेश्वर उमादेवीके साथ इच्छानुसार सुखपूर्वक सदा निवास करते हैं॥ २-३॥

तत्र रुद्राश्च साध्याश्च विश्वेऽथ वसवस्तथा।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च सहानुगः॥ ४॥
भूतानि च पिशाचाश्च नासत्यावपि चाश्विनौ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा देवर्षयस्तथा॥ ५॥
आदित्या मरुतश्चैव यातुधानाश्च सर्वशः।
उपासन्ते महात्मानं बहुरूपमुमापतिम्॥ ६॥

उस पर्वतपर रुद्रगण, साध्यगण, विश्वेदेवगण, वसुगण, यमराज, वरुण, अनुचरोंसहित कुबेर, भूत, पिशाच, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, देवर्षि, आदित्यगण, मरुद्गण तथा यातुधानगण, अनेक रूपधारी उमावल्लभ परमात्मा शिवकी सब प्रकारसे उपासना करते हैं॥ ४—६॥

रमते भगवांस्तत्र कुबेरानुचरैः सह।
विकृतैर्विकृताकारैः क्रीडद्भिः पृथिवीपते॥ ७॥

पृथ्वीनाथ! वहाँ विकराल आकार और विकृत वेषवाले कुबेर-सेवक यक्ष भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते हैं और उनके साथ भगवान् शिव आनन्दपूर्वक रहते हैं॥ ७॥

श्रिया ज्वलन् दृश्यते वै बालादित्यसमद्युतिः।
न रूपं शक्यते तस्य संस्थानं वा कदाचन॥ ८॥
निर्देष्टुं प्राणिभिः कैश्चित् प्राकृतैर्मांसलोचनैः।

उनका श्रीविग्रह प्रभातकालके सूर्यकी भाँति तेजसे जाज्वल्यमान दिखायी देता है। संसारके कोई भी प्राकृत प्राणी अपने मांसमय नेत्रोंसे उनके रूप या आकारको कभी देख नहीं सकते॥ ८½॥

नोष्णं न शिशिरं तत्र न वायुर्न च भास्करः॥ ९॥
न जरा क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्न भयं नृप।

वहाँ न अधिक गर्मी पड़ती है न विशेष ठंडक, न वायुका प्रकोप होता है न सूर्यके प्रचण्ड तापका। नरेश्वर! उस पर्वतपर न तो भूख सताती है, न प्यास, न बुढ़ापा आता है न मृत्यु। वहाँ दूसरा कोई भय भी नहीं प्राप्त होता है॥ ९½॥

तस्य शैलस्य पार्श्वेषु सर्वेषु जयतां वर॥ १०॥
धातवो जातरूपस्य रश्मयः सवितुर्यथा।
रक्ष्यन्ते ते कुबेरस्य सहायैरुद्यतायुधैः॥ ११॥
चिकीर्षद्भिः प्रियं राजन् कुबेरस्य महात्मनः।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश! उस पर्वतके चारों ओर सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान सुवर्णकी खानें हैं। राजन्! अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित कुबेरके अनुचर अपने स्वामी महात्मा कुबेरका प्रिय करनेकी इच्छासे उन खानोंकी रक्षा करते हैं॥ १०-११½॥

(तत्र गत्वा त्वमन्वास्य महायोगेश्वरं शिवम्।
कुरु प्रणामं राजर्षे भक्त्या परमया युतः॥)

राजर्षे! वहाँ जाकर तुम परम भक्तिभावसे युक्त हो महायोगेश्वर शिवको प्रणाम करो॥

तस्मै भगवते कृत्वा नमः शर्वाय वेधसे॥ १२॥
(एभिस्त्वं नामभिर्देवं सर्वविद्याधरं स्तुहि)

जगत्स्रष्टा भगवान् शङ्करको नमस्कार करके समस्त विद्याओंको धारण करनेवाले उन महादेवजीकी तुम इन निम्नाङ्कित नामोंद्वारा स्तुति करो॥ १२॥

रुद्राय शितिकण्ठाय पुरुषाय सुवर्चसे।
कपर्दिने करालाय हर्यक्षणे वरदाय च॥ १३॥
त्र्यक्षणे पूष्णो दन्तभिदे वामनाय शिवाय च।
याम्यायाव्यक्तरूपाय सद्वृत्ते शङ्कराय च॥ १४॥
क्षेम्याय हरिकेशाय स्थाणवे पुरुषाय च।
हरिनेत्राय मुण्डाय क्रुद्धायोत्तरणाय च॥ १५॥
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे।
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे॥ १६॥
गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे।
बिल्वदण्डाय सिद्धाय सर्वदण्डधराय च॥ १७॥
मृगव्याधाय महते धन्विनेऽथ भवाय च।
वराय सोमवक्त्राय सिद्धमन्त्राय चक्षुषे॥ १८॥

हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् ।
लेलिहानाय गोष्ठाय सिद्धमन्त्राय वृष्णये ॥ १९ ॥
पशूनां पतये चैव भूतानां पतये नमः ।
वृषाय मातृभक्ताय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ २० ॥
स्रुवहस्ताय पतये धन्विने भार्गवाय च ।
अजाय कृष्णनेत्राय विरूपाक्षाय चैव ह ॥ २१ ॥
तीक्ष्णदंष्ट्राय तीक्ष्णाय वैश्वानरमुखाय च ।
महाद्युतयेऽनङ्गाय सर्वाय पतये विशाम् ॥ २२ ॥
विलोहिताय दीप्ताय दीप्ताक्षाय महौजसे ।
वसुरेतःसुवपुषे पृथवे कृत्तिवाससे ॥ २३ ॥
कपालमालिने चैव सुवर्णमुकुटाय च ।
महादेवाय कृष्णाय त्र्यम्बकायानघाय च ॥ २४ ॥
क्रोधनायानृशंसाय मृदवे बाहुशालिने ।
दण्डिने तप्ततपसे तथैवाक्रूरकर्मणे ॥ २५ ॥
सहस्रशिरसे चैव सहस्रचरणाय च ।
नमः स्वधास्वरूपाय बहुरूपाय दंष्ट्रिणे ॥ २६ ॥

'भगवन् ! आप रुद्र (दुःखके कारणको दूर करनेवाले), शितिकण्ठ (गलेमें नील चिह्न धारण करनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), सुवर्चा (अत्यन्त तेजस्वी), कपर्दी (जटाजूटधारी), कराल (भयंकर रूपवाले), हर्यक्ष (हरे नेत्रोंवाले), वरद (भक्तोंको अभीष्ट वर प्रदान करनेवाले), त्र्यक्ष (त्रिनेत्रधारी), पूषाके दाँत उखाड़नेवाले, वामन, शिव, याम्य (यमराजके गणस्वरूप), अव्यक्तरूप, सद्वृत्त (सदाचारी), शङ्कर, क्षेम्य (कल्याणकारी) हरिकेश (भूरे केशोंवाले), स्थाणु (स्थिर), पुरुष, हरिनेत्र, मुण्ड, क्रुद्ध, उत्तरण (संसार-सागरसे पार उतरनेवाले), भास्कर (सूर्यरूप), सुतीर्थ (पवित्र तीर्थरूप), देवदेव, रंहस (वेगवान्), उष्णीषी (सिरपर पगड़ी धारण करनेवाले), सुवक्त्र (सुन्दर मुखवाले), सहस्राक्ष (हजारों नेत्रोंवाले), मीढ्वान् (कामपूरक), गिरिश (पर्वतपर शयन करनेवाले), प्रशान्त, यति (संयमी), चीरवासा (चीरवस्त्र धारण करनेवाले), बिल्वदण्ड (बेलका डंडा धारण करनेवाले), सिद्ध, सर्वदण्डधर (सबको दण्ड देनेवाले), मृगव्याध (आर्द्रा नक्षत्रस्वरूप), महान्, धन्वी (पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले), भव (संसारकी उत्पत्ति करनेवाले), वर (श्रेष्ठ), सोमवक्त्र (चन्द्रमाके समान मुखवाले), सिद्धमन्त्र (जिन्होंने सभी मन्त्र सिद्ध कर लिया है ऐसे), चक्षुष (नेत्ररूप), हिरण्यबाहु (सुवर्णके समान सुन्दर भुजाओंवाले), उग्र (भयंकर), दिशाओंके पति, लेलिहान (अग्निरूपसे अपनी जिह्वाओंके द्वारा हविष्यका आस्वादन करनेवाले), गोष्ठ (वाणीके निवासस्थान), सिद्धमन्त्र, वृष्णि (कामनाओंकी वृष्टि करनेवाले), पशुपति, भूतपति, वृष (धर्मस्वरूप), मातृभक्त, सेनानी (कार्तिकेयरूप), मध्यम, स्रुवहस्त (हाथमें स्रुवा ग्रहण करनेवाले ऋत्विजरूप), पति (सबका पालन करनेवाले), धन्वी, भार्गव, अज (जन्मरहित), कृष्णनेत्र, विरूपाक्ष, तीक्ष्णदंष्ट्र, तीक्ष्ण, वैश्वानरमुख (अग्निरूप मुखवाले), महाद्युति, अनङ्ग (निराकार), सर्व, विशाम्पति (सबके स्वामी), विलोहित (रक्तवर्ण), दीप्त (तेजस्वी), दीप्ताक्ष (देदीप्यमान नेत्रोंवाले), महौजा (महाबली), वसुरेता (हिरण्यवीर्य अग्निरूप), सुवपुष् (सुन्दर शरीरवाले), पृथु (स्थूल), कृत्तिवासा (मृगचर्म धारण करनेवाले), कपालमाली (मुण्डमाला धारण करनेवाले), सुवर्णमुकुट, महादेव, कृष्ण (सच्चिदानन्दस्वरूप), त्र्यम्बक (त्रिनेत्रधारी), अनघ (निष्पाप), क्रोधन (दुष्टोंपर क्रोध करनेवाले), अनृशंस (कोमल स्वभाववाले), मृदु, बाहुशाली, दण्डी, तेज तप करनेवाले, कोमल कर्म करनेवाले, सहस्रशिरा (हजारों मस्तकवाले), सहस्रचरण, स्वधास्वरूप, बहुरूप और दंष्ट्री नाम धारण करनेवाले हैं। आपको मेरा प्रणाम है ॥ १३—२६ ॥

पिनाकिनं महादेवं महायोगिनमव्ययम् ।
त्रिशूलहस्तं वरदं त्र्यम्बकं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम् ।
प्रभवं सर्वभूतानां धारणं धरणीधरम् ॥ २८ ॥
ईशानं शङ्करं सर्वं शिवं विश्वेश्वरं भवम् ।
उमापतिं पशुपतिं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥ २९ ॥
विरूपाक्षं दशभुजं दिव्यगोवृषभध्वजम् ।
उग्रं स्थाणुं शिवं रौद्रं शर्वं गौरीशमीश्वरम् ॥ ३० ॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं पृथुं पृथुहरं वरम् ।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३१ ॥
प्रणम्य शिरसा देवमनङ्गाङ्गहरं हरम् ।
शरण्यं शरणं याहि महादेवं चतुर्मुखम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उन पिनाकधारी, महादेव, महायोगी, अविनाशी, हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले, वरदायक, त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, त्रिपुरासुरको मारनेवाले, त्रिनेत्रधारी, त्रिभुवनके स्वामी, महान् बलवान्, सब जीवोंकी उत्पत्तिके कारण, सबको धारण करनेवाले, पृथ्वीका भार सँभालनेवाले, जगत्के शासक, कल्याणकारी, सर्वरूप, शिव, विश्वेश्वर, जगत्को उत्पन्न करनेवाले, पार्वतीके पति, पशुओंके पालक, विश्वरूप, महेश्वर, विरूपाक्ष, दस भुजाधारी, अपनी ध्वजामें दिव्य वृषभका चिह्न धारण करनेवाले, उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, गौरीश, ईश्वर, शितिकण्ठ, अजन्मा, शुक्र, पृथु, पृथुहर, वर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप, उमापति, कामदेवको भस्म करनेवाले, हर, चतुर्मुख एवं शरणागतवत्सल महादेवजीको सिरसे प्रणाम करके उनके शरणापन्न हो जाना ॥ २७—३२ ॥

(विरोचमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
अनाद्यन्तमजं शम्भुं सर्वव्यापिनमीश्वरम् ॥
निस्त्रैगुण्यं निरुद्वेगं निर्मलं निधिमोजसाम् ।
प्रणम्य प्राञ्जलिः शर्वं प्रयामि शरणं हरम् ॥

(और इस प्रकार स्तुति करना—) जो अपने तेजस्वी श्रीविग्रहसे प्रकाशित हो रहे हैं, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं, आदि-अन्तसे रहित, अजन्मा, शम्भु, सर्वव्यापी, ईश्वर, त्रिगुणरहित, उद्वेगशून्य, निर्मल, ओज एवं तेजकी निधि एवं सबके पाप और दुःखको हर लेनेवाले हैं, उन भगवान् शङ्करको हाथ जोड़ प्रणाम करके मैं उनकी शरणमें जाता हूँ ॥

सम्मान्यं निश्चलं नित्यमकारणमलेपनम् ।
अध्यात्मवेदमासाद्य प्रयामि शरणं मुहुः ॥

जो सम्माननीय, निश्चल, नित्य, कारणरहित, निर्लेप और अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता हैं, उन भगवान् शिवके निकट पहुँचकर मैं बारंबार उन्हींकी शरणमें जाता हूँ ॥

यस्य नित्यं विदुः स्थानं मोक्षमध्यात्मचिन्तकाः ।
योगिनस्तत्त्वमार्गस्थाः कैवल्यं पदमक्षरम् ॥
यं विदुः सङ्गनिर्मुक्ताः सामान्यं समदर्शिनः ।
तं प्रपद्ये जगद्योनिमयोनिं निर्गुणात्मकम् ॥

अध्यात्मतत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी पुरुष मोक्ष-तत्त्वमें जिनकी स्थिति मानते हैं तथा तत्त्वमार्गमें परिनिष्ठित योगीजन अविनाशी कैवल्य पदको जिनका स्वरूप समझते हैं और आसक्तिशून्य समदर्शी महात्मा जिन्हें सर्वत्र समान-रूपसे स्थित समझते हैं, उन योनिरहित जगत्कारणभूत निर्गुण परमात्मा शिवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

असृजद् यस्तु भूरादीन् सप्तलोकान् सनातनान् ।
स्थितः सत्योपरि स्थाणुं तं प्रपद्ये सनातनम् ॥

जिन्होंने सत्यलोकके ऊपर स्थित होकर भू आदि सात सनातन लोकोंकी सृष्टि की है, उन स्थाणुरूप सनातन शिवकी मैं शरण लेता हूँ ॥

भक्तानां सुलभं तं हि दुर्लभं दूरपातिनाम् ।
अदूरस्थममुं देवं प्रकृतेः परतः स्थितम् ॥
नमामि सर्वलोकस्थं व्रजामि शरणं शिवम् ।)

जो भक्तोंके लिये सुलभ और दूर (विमुख) रहनेवाले लोगोंके लिये दुर्लभ हैं, जो सबके निकट और प्रकृतिसे परे विराजमान हैं, उन सर्वलोकव्यापी महादेव शिवको मैं नमस्कार करता और उनकी शरण लेता हूँ ॥

एवं कृत्वा नमस्तस्मै महादेवाय रंहसे ।
महात्मने क्षितिपते तत्सुवर्णमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार वेगशाली महात्मा महादेवजीको नमस्कार करके तुम वह सुवर्ण-राशि प्राप्त कर लोगे ॥ ३३ ॥

(लभन्ते गाणपत्यं च तदेकाग्रा हि मानवाः ।
किं पुनः स्वर्णभाण्डानि तस्मात् त्वं गच्छ मा चिरम् ॥
महत्तरं हि ते लाभं हस्त्यश्वोष्ट्रादिभिः सह ।)

जो लोग भगवान् शङ्करमें अपने मनको एकाग्र करते हैं, वे तो गणपति-पदको भी प्राप्त कर लेते हैं, फिर सुवर्णमय पात्र पा लेना कौन बड़ी बात है । अतः तुम शीघ्र वहाँ जाओ, विलम्ब न करो । हाथी, घोड़े और ऊँट आदिके साथ तुम्हें वहाँ महान् लाभ प्राप्त होगा ॥

सुवर्णमाहरिष्यन्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः ।
इत्युक्तः स वचस्तेन चक्रे कारन्धमात्मजः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे सेवकलोग सुवर्ण लानेके लिये वहाँ जायँ । उनके ऐसा कहनेपर करन्धमके पौत्र मरुत्तने वैसा ही किया ॥

(गङ्गाधरं नमस्कृत्य लब्धवान् धनमुत्तमम् ।
कुबेर इव तत् प्राप्य महादेवप्रसादतः ॥
शालाश्च सर्वसम्भारास्ततः संवर्तशासनात् ।)

उन्होंने गङ्गाधर महादेवजीको नमस्कार करके उनकी कृपासे कुबेरकी भाँति उत्तम धन प्राप्त कर लिया । उस धनको पाकर संवर्तकी आज्ञासे उन्होंने यज्ञशालाओं तथा अन्य सब सम्भारोंका आयोजन किया ॥

ततोऽतिमानुषं सर्वं चक्रे यज्ञस्य संविधिम् ।
सौवर्णानि च भाण्डानि संचक्रुस्तत्र शिल्पिनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर राजाने अलौकिकरूपसे यज्ञकी सारी तैयारी आरम्भ की । उनके कारीगरोंने वहाँ रहकर सोनेके बहुत-से पात्र तैयार किये ॥ ३५ ॥

बृहस्पतिस्तु तां श्रुत्वा मरुत्तस्य महीपतेः ।
समृद्धिमतिदेवेभ्यः संतापमकरोद् भृशम् ॥ ३६ ॥

उधर बृहस्पतिने जब सुना कि राजा मरुत्तको देवताओं-से भी बढ़कर सम्पत्ति प्राप्त हुई है, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ ॥ ३६ ॥

स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत् परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्तो वसुमानिति ॥ ३७ ॥

वे चिन्ताके मारे पीले पड़ गये और यह सोचकर कि 'मेरा शत्रु संवर्त बहुत धनी हो जायगा' उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया ॥ ३७ ॥

तं श्रुत्वा भृशसंतप्तं देवराजो बृहस्पतिम् ।
अभिगम्यामरवृतः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ ३८ ॥

देवराज इन्द्रने जब सुना कि बृहस्पतिजी अत्यन्त संतप्त हो रहे हैं, तब वे देवताओंको साथ लेकर उनके पास गये और इस प्रकार पूछने लगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

बृहस्पतिका इन्द्रसे अपनी चिन्ताका कारण बताना, इन्द्रकी आज्ञासे अग्निदेवका मरुत्तके पास उनका संदेश लेकर जाना और संवर्तके भयसे पुनः लौटकर इन्द्रसे ब्रह्मबलकी श्रेष्ठता बताना

इन्द्र उवाच

कच्चित्सुखं स्वपिषि त्वं बृहस्पते
कच्चिन्मनोज्ञाः परिचारकास्ते।
कच्चिद्देवानां सुखकामोऽसि विप्र
कच्चिद्देवास्त्वां परिपालयन्ति ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—बृहस्पते ! आप सुखसे सोते हैं न ? आपको मनके अनुकूल सेवक प्राप्त हैं न ? विप्रवर ! आप देवताओंके सुखकी कामना तो रखते हैं न ? क्या देवता आपका पूर्णरूपसे पालन करते हैं ? ॥ १ ॥

बृहस्पतिरुवाच

सुखं शये शयने देवराज
तथा मनोज्ञाः परिचारका मे।
तथा देवानां सुखकामोऽस्मि नित्यं
देवाश्च मां सुभृशं पालयन्ति ॥ २ ॥

बृहस्पतिजी बोले—देवराज ! मैं सुखसे शय्यापर सोता हूँ, मुझे मेरे मनके अनुकूल सेवक प्राप्त हुए हैं। मैं सदा देवताओंके सुखकी कामना करता हूँ और देवतालोग भी मेरा भलीभाँति पालन करते हैं ॥ २ ॥

इन्द्र उवाच

कुतो दुःखं मानसं देहजं वा
पाण्डुर्विवर्णश्च कुतस्त्वमद्य।
आचक्ष्व मे ब्राह्मण यावदेतान्
निहन्मि सर्वांस्तव दुःखकर्तॄन् ॥ ३ ॥

इन्द्रने कहा—विप्रवर ! आपको यह मानसिक अथवा शारीरिक दुःख कैसे प्राप्त हुआ ? आप आज उदास और पीले क्यों हो रहे हैं ? आप बताइये तो सही, जिन्होंने आपको दुःख दिया है, उन सबको मैं अभी नष्ट किये देता हूँ ॥ ३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

मरुत्तमाहुर्मघवन् यक्ष्यमाणं
महायज्ञेनोत्तमदक्षिणेन ।
संवर्तो याजयतीति मे श्रुतं
तदिच्छामि न स तं याजयेत ॥ ४ ॥

बृहस्पतिजी बोले—मघवन् ! लोग कहते हैं कि महाराज मरुत्त उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त एक महान् यज्ञ करने जा रहे हैं तथा यह भी मेरे सुननेमें आया है कि संवर्त ही आचार्य होकर वह यज्ञ करायेंगे। परंतु मेरी इच्छा है कि वे उस यज्ञको न कराने पावें ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

सर्वान् कामाननुयातोऽसि विप्र
यस्त्वं देवानां मन्त्रवित्सुपुरोधाः।
उभौ च ते जरामृत्यू व्यतीतौ
किं संवर्तस्तव कर्ताद्य विप्र ॥ ५ ॥

इन्द्रने कहा—ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग आपको प्राप्त हैं; क्योंकि आप देवताओंके मन्त्रज्ञ पुरोहित हैं। आपने जरा और मृत्यु दोनोंको जीत लिया है। फिर संवर्त आपका क्या कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

देवैः सह त्वमसुरान् प्रणुद्य
जिघांससे चाप्युत सानुबन्धान्।
यं यं समृद्धं पश्यसि तत्र तत्र
दुःखं सपत्नेषु समृद्धिभावः ॥ ६ ॥

बृहस्पतिजी बोले—देवराज ! तुम असुरोंमेंसे जिस-जिसको समृद्धिशाली देखते हो, उसके ऊपर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देवताओंके साथ आक्रमण करके उन सभी असुरोंको मिटा डालना चाहते हो। वास्तवमें शत्रुओंकी समृद्धि दुःखका कारण होती है ॥ ६ ॥

अतोऽस्मि देवेन्द्र विवर्णरूपः
सपत्नो मे वर्धते तन्निशम्य।
सर्वोपायैर्मघवन् संनियच्छ
संवर्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम् ॥ ७ ॥

देवेन्द्र ! इसीसे मैं भी उदास हो रहा हूँ। मेरा शत्रु संवर्त बढ़ रहा है, यह सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ गयी है। अतः मघवन् ! तुम सभी सम्भव उपायोंद्वारा संवर्त और राजा मरुत्तको कैद कर लो ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

एहि गच्छ प्रहितो जातवेदो
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
अयं वै त्वां याजयिता बृहस्पति-
स्तथामरं चैव करिष्यतीति ॥ ८ ॥

तब इन्द्रने अग्निदेवसे कहा—जातवेदा ! इधर आओ और मेरा संदेश लेकर मरुत्तके पास जाओ। मरुत्तकी सम्मति लेकर बृहस्पतिजीको उनके पास पहुँचा देना। वहाँ जाकर राजासे कहना कि 'ये बृहस्पतिजी ही आपका यज्ञ करायेंगे तथा ये आपको अमर भी कर देंगे' ॥ ८ ॥

अग्निरुवाच

अहं गच्छामि मघवन् दूतोऽद्य
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
वाचं सत्यां पुरुहूतस्य कर्तुं
बृहस्पतेश्चापचितिं चिकीर्षुः ॥ ९ ॥

अग्निदेवने कहा—मघवन् ! मैं बृहस्पतिजीको मरुत्तके पास पहुँचा आनेके लिये आज आपका दूत बनकर जा रहा हूँ । ऐसा करके मैं देवेन्द्रकी आज्ञाका पालन और बृहस्पतिजीका सम्मान करना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

व्यास उवाच

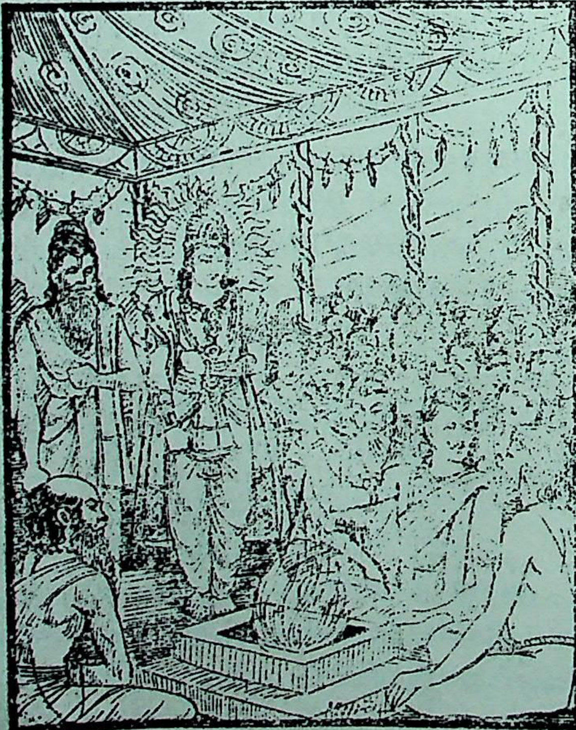
ततः प्रायाद् धूमकेतुर्महात्मा
वनस्पतीन् वीरुधश्चापमृद्नन् ।
कामाद्धिमान्ते परिवर्तमानः
काष्ठातिगो मातरिश्वेव नर्दन् ॥ १० ॥

व्यासजी कहते हैं—यह कहकर धूममय ध्वजावाले महात्मा अग्निदेव वनस्पतियों और लताओंको रौंदते हुए वहाँसे चल दिये । ठीक उसी तरह जैसे शीतकालके अन्तमें स्वच्छन्दतापूर्वक बहनेवाली दिगन्तव्यापिनी वायु विशेष गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही हो ॥ १० ॥

मरुत्त उवाच

आश्चर्यमद्य पश्यामि रूपिणं वह्निमागतम् ।
आसनं सलिलं पाद्यं गां चोपानय वै मुने ॥ ११ ॥

मरुत्तने कहा—मुने ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि



आज मैं मूर्तिमान् अग्निदेवको यहाँ आया देख रहा हूँ । आप इनके लिये आसन, पाद्य, अर्घ्य और गौ प्रस्तुत कीजिये ॥ ११ ॥

अग्निरुवाच

आसनं सलिलं पाद्यं प्रतिनन्दामि तेऽनघ ।
इन्द्रेण तु समादिष्टं विद्धि मां दूतमागतम् ॥ १२ ॥

अग्निने कहा—निष्पाप नरेश ! आपके दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और आसन आदिका अभिनन्दन करता हूँ । आपको मालूम होना चाहिये कि इस समय मैं इन्द्रका संदेश लेकर उनका दूत बनकर आपके पास आया हूँ ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच

कच्चिच्छ्रीमान् देवराजः सुखी च
कच्चिच्चास्मान् प्रीयते धूमकेतो ।
कच्चिद्देवा अस्य वशे यथावत्
प्रब्रूहि त्वं मम कार्त्स्न्येन देव ॥ १३ ॥

मरुत्तने कहा—अग्निदेव ! श्रीमान् देवराज सुखी तो हैं न ? धूमकेतो ! वे हमलोगोंपर प्रसन्न हैं न ? सम्पूर्ण देवता उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न ? देव ! ये सारी बातें आप मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १३ ॥

अग्निरुवाच

शक्रो भृशं सुसुखी पार्थिवेन्द्र
प्रीतिं चेच्छत्यजरां वै त्वया सः ।
देवाश्च सर्वे वशगास्तस्य राजन्
संदेशं त्वं शृणु मे देवराज्ञः ॥ १४ ॥

अग्निदेवने कहा—राजेन्द्र ! देवराज इन्द्र बड़े सुखसे हैं और आपके साथ अटूट मैत्री जोड़ना चाहते हैं । सम्पूर्ण देवता भी उनके अधीन ही हैं । अब आप मुझसे देवराज इन्द्रका संदेश सुनिये ॥ १४ ॥

यदर्थं मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
अयं गुरुर्याजयतां नृप त्वां
मर्त्यं सन्तममरं त्वां करोतु ॥ १५ ॥

उन्होंने जिस कामके लिये मुझे आपके पास भेजा है, उसे सुनिये ! वे मेरे द्वारा बृहस्पतिजीको आपके पास भेजना चाहते हैं । उन्होंने कहा है कि बृहस्पतिजी आपके गुरु हैं । अतः ये ही आपका यज्ञ करायेंगे । आप मरणधर्मा मनुष्य हैं । ये आपको अमर बना देंगे ॥ १५ ॥

मरुत्त उवाच

संवर्तोऽयं याजयिता द्विजो मां
बृहस्पतेरञ्जलिरेष तस्य ।
न चैवासौ याजयित्वा महेन्द्रं
मर्त्यं सन्तं याजयन्नद्य शोभेत् ॥ १६ ॥

मरुत्तने कहा—भगवन् ! मेरा यज्ञ ये विप्रवर संवर्तजी

करायेंगे। बृहस्पतिजीके लिये तो मेरी यह अञ्जलि जुड़ी हुई है। महेन्द्रका यज्ञ कराकर अब मेरे-जैसे मरणधर्मा मनुष्यका यज्ञ करानेमें उनकी शोभा नहीं है॥ १६॥

अग्निरुवाच

ये वै लोका देवलोके महान्तः
सम्प्राप्स्यसे तान् देवराजप्रसादात्।
त्वां चेदसौ याजयेद् वै बृहस्पति-
र्नूनं स्वर्गं त्वं जयेः कीर्तियुक्तः॥ १७॥
तथा लोका मानुषा ये च दिव्याः
प्रजापतेश्चापि ये वै महान्तः।
ते ते जिता देवराज्यं च कृत्स्नं
बृहस्पतिर्याजयेच्चेन्नरेन्द्र॥ १८॥

अग्निदेवने कहा—राजन्! यदि बृहस्पतिजी आपका यज्ञ करायेंगे तो देवराज इन्द्रके प्रसादसे देवलोकके भीतर जितने बड़े-बड़े लोक हैं, वे सभी आपके लिये सुलभ हो जायँगे। निश्चय ही आप यशस्वी होनेके साथ ही स्वर्गपर भी विजय प्राप्त कर लेंगे। मानवलोक, दिव्यलोक, महान् प्रजापतिलोक और सम्पूर्ण देवराज्यपर भी आपका अधिकार हो जायगा॥ १७-१८॥

संवर्त उवाच

मा स्मैव त्वं पुनरागाः कथंचिद्
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
मा त्वां धक्ष्ये चक्षुषा दारुणेन
संक्रुद्धोऽहं पावक त्वं निबोध॥ १९॥

संवर्तने कहा—अग्ने! तुम मेरी इस बातको अच्छी तरह समझ लो कि अबसे फिर कभी बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये तुम्हें यहाँ नहीं आना चाहिये। नहीं तो क्रोधमें भरकर मैं अपनी दारुण दृष्टिसे तुम्हें भस्म कर डालूँगा॥ १९॥

व्यास उवाच

ततो देवानगमद् धूमकेतु-
र्दाहाद् भीतो व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
तं वै दृष्ट्वा प्राह शक्रो महात्मा
बृहस्पतेः संनिधौ हव्यवाहम्॥ २०॥
यत्त्वं गतः प्रहितो जातवेदो
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
तत् किं प्राह स नृपो यक्ष्यमाणः
कच्चिद् वचः प्रतिगृह्णाति तच्च॥ २१॥

व्यासजी कहते हैं—संवर्तकी बात सुनकर अग्निदेव भस्म होनेके भयसे व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपते हुए तुरंत देवताओंके पास लौट गये। उन्हें आया देख महामना इन्द्रने बृहस्पतिजीके सामने ही पूछा—'अग्निदेव! तुम तो मेरे भेजनेसे बृहस्पतिजीको राजा मरुत्तके पास पहुँचानेका संदेश लेकर गये थे। बताओ, यज्ञकी तैयारी करनेवाले राजा मरुत्त क्या कहते हैं? वे मेरी बात मानते हैं या नहीं?'॥ २०-२१॥

अग्निरुवाच

न ते वाचं रोचयते मरुत्तो
बृहस्पतेरञ्जलिं प्राहिणोत् सः।
संवर्तो मां याजयितेत्युवाच
पुनः पुनः स मया याच्यमानः॥ २२॥

अग्निने कहा—देवराज! राजा मरुत्तको आपकी बात पसंद नहीं आयी। बृहस्पतिजीको तो उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम कहलाया है। मेरे बारंबार अनुरोध करनेपर भी उन्होंने यही उत्तर दिया है कि 'संवर्तजी ही मेरा यज्ञ करायेंगे'॥ २२॥

उवाचेदं मानुषा ये च दिव्याः
प्रजापतेर्ये च लोका महान्तः।
तांश्चेल्लभेयं संविदं तेन कृत्वा
तथापि नेच्छेयमिति प्रतीतः॥ २३॥

उन्होंने यह भी कहा है कि 'जो मनुष्यलोक, दिव्यलोक और प्रजापतिके महान् लोक हैं, उन्हें भी यदि इन्द्रके साथ समझौता करके ही पा सकता हूँ तो भी मैं बृहस्पतिजीको अपने यज्ञका पुरोहित बनाना नहीं चाहता हूँ। यह मैं दृढ़ निश्चयके साथ कह रहा हूँ'॥ २३॥

इन्द्र उवाच

पुनर्गत्वा पार्थिवं त्वं समेत्य
वाक्यं मदीयं प्रापय स्वार्थयुक्तम्।
पुनर्यद् युक्तो न करिष्यते वच-
स्त्वत्तो वज्रं सम्प्रहर्तास्मि तस्मै॥ २४॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव! एक बार फिर जाकर राजा मरुत्तसे मिलो और मेरा अर्थयुक्त संदेश उनके पास पहुँचा दो। यदि तुम्हारे द्वारा दुबारा कहनेपर भी मेरी बात नहीं मानेंगे तो मैं उनके ऊपर वज्रका प्रहार करूँगा॥ २४॥

अग्निरुवाच

गन्धर्वराड् यात्वयं तत्र दूतो
बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम्।
संरब्धो मामब्रवीत् तीक्ष्णरोषः
संवर्तो वाक्यं चरितब्रह्मचर्यः॥ २५॥
यद्यागच्छेः पुनरेवं कथंचिद्
बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते।
दहेयं त्वां चक्षुषा दारुणेन
संक्रुद्ध इत्येतदवैहि शक्र॥ २६॥

अग्निने कहा—देवेन्द्र! ये गन्धर्वराज वहाँ दूत बनकर जायँ। मैं दुबारा वहाँ जानेसे डरता हूँ; क्योंकि

ब्रह्मचारी संवर्तने तीव्र रोषमें भरकर मुझसे कहा था कि 'अग्ने ! यदि फिर इस प्रकार किसी तरह बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये आओगे तो मैं कुपित हो दारुण दृष्टिसे तुम्हें भस्म कर डालूँगा।' इन्द्र ! उनकी इस बातको अच्छी तरह समझ लीजिये ॥ २५-२६ ॥

शक्र उवाच

त्वमेवान्यान् दहसे जातवेदो
न हि त्वदन्यो विद्यते भस्मकर्ता।
त्वत्संस्पर्शात् सर्वलोको बिभेति
अश्रद्धेयं वदसे हव्यवाह ॥ २७ ॥

इन्द्रने कहा—हव्यवाहन ! अग्निदेव ! तुम तो ऐसी बात कह रहे हो, जिसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि तुम्हीं दूसरोंको भस्म करते हो। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भस्म करनेवाला नहीं है। तुम्हारे स्पर्शसे सभी लोग डरते हैं ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच

दिवं देवेन्द्र पृथिवीं च सर्वां
संवेष्टयेस्त्वं स्वबलेनैव शक्र।
एवंविधस्येह सतस्तवासौ
कथं वृत्रस्त्रिदिवं प्राग् जहार ॥ २८ ॥

अग्निदेवने कहा—देवेन्द्र ! आप भी तो अपने बलसे सारी पृथ्वी और स्वर्गलोकको आवेष्टित किये हुए हैं। ऐसे होनेपर भी आपके इस स्वर्गको पूर्वकालमें वृत्रासुरने कैसे हर लिया ? ॥ २८ ॥

इन्द्र उवाच

न गण्डिकाकारयोगं करेऽणुं
न चारिसोमं प्रपिबामि वह्ने।
न क्षीणशक्तौ प्रहरामि वज्रं
को मेऽसुखाय प्रहरेत मर्त्यः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—अग्निदेव ! मैं पर्वतको भी मक्खीके समान छोटा कर सकता हूँ तो भी शत्रुका दिया हुआ सोमरस नहीं पीता हूँ और जिसकी शक्ति क्षीण हो गयी है, ऐसे शत्रुपर वज्रका प्रहार नहीं करता। फिर भी कौन ऐसा मनुष्य है, जो मुझे कष्ट पहुँचानेके लिये मुझपर प्रहार कर सके ? ॥ २९ ॥

प्रव्राजयेयं कालकेयान् पृथिव्या-
मपाकर्षन् दानवानन्तरिक्षात्।
दिवः प्रह्लादमवसानमानयं
को मेऽसुखाय प्रहरेत मानवः ॥ ३० ॥

मैं चाहूँ तो कालकेय-जैसे दानवोंको आकाशसे खींचकर पृथ्वीपर गिरा सकता हूँ। इसी प्रकार स्वर्गसे प्रह्लादके प्रमुत्व-का भी अन्त कर सकता हूँ, फिर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो कष्ट देनेके लिये मुझपर प्रहार कर सके ? ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच

यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन्
सहाश्विभ्यां सोममगृह्णादेकः।
तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यषेधीः पुरस्ता-
च्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेन्द्र ॥ ३१ ॥

अग्निदेवने कहा—महेन्द्र ! राजा शर्यातिके उस यज्ञका तो स्मरण कीजिये, जहाँ महर्षि च्यवन उनका यज्ञ करानेवाले थे। आप क्रोधमें भरकर उन्हें मना करते ही रह गये और उन्होंने अकेले अपने ही प्रभावसे सम्पूर्ण देवताओंसहित अश्विनीकुमारोंके साथ सोमरसका पान किया॥

वज्रं गृहीत्वा च पुरन्दर त्वं
सम्प्राहार्षीश्च्यवनस्यातिघोरम्।
स ते विप्रः सह वज्रेण बाहु-
मपागृह्णात् तपसा जातमन्युः ॥ ३२ ॥

पुरंदर ! उस समय आप अत्यन्त भयंकर वज्र लेकर महर्षि च्यवनके ऊपर प्रहार करना ही चाहते थे; किंतु उन ब्रह्मर्षिने कुपित होकर अपने तपोबलसे आपकी बाँहको वज्रसहित जकड़ दिया ॥ ३२ ॥

ततो रोषात् सर्वतो घोररूपं
सपत्नं ते जनयामास भूयः।
मदं नामासुरं विश्वरूपं
यं त्वं दृष्ट्वा चक्षुषी संन्यमीलः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उन्होंने पुनः रोषपूर्वक आपके लिये सब ओरसे भयानक रूपवाले एक शत्रुको उत्पन्न किया। जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त मद नामक असुर था और जिसे देखते ही आपने अपनी आँखें बंद कर ली थीं ॥ ३३ ॥

हनुरेका जगतीस्था तथैका
दिवं गता महतो दानवस्य।
सहस्रं दन्तानां शतयोजनानां
सुतीक्ष्णानां घोररूपं बभूव ॥ ३४ ॥

उस विशालकाय दानवकी एक ठोढ़ी पृथ्वीपर टिकी हुई थी और दूसरा ऊपरका ओठ स्वर्गसे जा लगा था। उसके सैकड़ों योजन लंबे सहस्रों तीखे दाँत थे, जिससे उसका रूप बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ३४ ॥

वृत्ताः स्थूला रजतस्तम्भवर्णा
दंष्ट्राश्चतस्रो द्वे शते योजनानाम्।
स त्वां दन्तान् विदशन्नभ्यधाव-
ज्जिघांसया शूलमुद्यम्य घोरम् ॥ ३५ ॥

उसकी चार दाढ़ें गोलाकार, मोटी और चाँदीके खम्भोंके समान चमकीली थीं। उनकी लंबाई दो-दो सौ योजनकी

थी। वह दानव भयंकर त्रिशूल लेकर आपको मार डालनेकी इच्छासे दाँत पीसता हुआ दौड़ा था ॥ ३५ ॥

अपश्यस्त्वं तं तदा घोररूपं
सर्वे वै त्वां ददृशुर्दर्शनीयम्।
यस्माद् भीतः प्राञ्जलिस्त्वं महर्षि-
मागच्छेथाः शरणं दानवघ्न ॥ ३६ ॥

दानवदलन देवराज! आपने उस समय उस घोररूपधारी दानवको देखा था और अन्य सब लोगोंने आपकी ओर भी दृष्टिपात किया था। उस अवसरपर भयके कारण आपकी जो दशा हुई थी, वह देखने ही योग्य थी। आप उस दानवसे भयभीत हो हाथ जोड़कर महर्षि च्यवनकी शरणमें गये थे ॥ ३६ ॥

क्षात्राद् बलाद् ब्रह्मबलं गरीयो
न ब्रह्मतः किंचिदन्यद् गरीयः।
सोऽहं जानन् ब्रह्मतेजो यथाव-
न्न संवर्तं जेतुमिच्छामि शक्र ॥ ३७ ॥

अतः देवेन्द्र! क्षात्रबलकी अपेक्षा ब्राह्मणबल श्रेष्ठतम है। ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरी कोई शक्ति नहीं है। मैं ब्रह्मतेजको अच्छी तरह जानता हूँ; अतः संवर्तको जीतनेकी मुझे इच्छातक नहीं होती है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

इन्द्रका गन्धर्वराजको भेजकर मरुत्तको भय दिखाना और संवर्तका मन्त्रबलसे इन्द्रसहित सब देवताओंको बुलाकर मरुत्तका यज्ञ पूर्ण करना

इन्द्र उवाच

एवमेतद् ब्रह्मबलं गरीयो
न ब्राह्मणात् किंचिदन्यद् गरीयः।
आविक्षितस्य तु बलं न मृष्ये
वज्रमस्मै प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—यह ठीक है कि ब्रह्मबल सबसे बढ़कर है। ब्राह्मणसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है; किंतु मैं राजा मरुत्तके बलको नहीं सह सकता। उनके ऊपर अवश्य अपने घोर वज्रका प्रहार करूँगा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र प्रहितो गच्छ मरुत्तं
संवर्तेन संगतं तं वदस्व।
बृहस्पतिं त्वमुपशिक्षस्व राजन्
वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ २ ॥

गन्धर्वराज धृतराष्ट्र! अब तुम मेरे भेजनेसे वहाँ जाओ और संवर्तके साथ मिले हुए राजा मरुत्तसे कहो—'राजन्! आप बृहस्पतिको आचार्य बनाकर उनसे यज्ञकर्मकी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कीजिये। अन्यथा मैं इन्द्र आपपर घोर वज्रका प्रहार करूँगा' ॥ २ ॥

व्यास उवाच

ततो गत्वा धृतराष्ट्रो नरेन्द्रं
प्रोवाचेदं वचनं वासवस्य ॥ ३ ॥
गन्धर्वं मां धृतराष्ट्रं निबोध
त्वामागतं वक्तुकामं नरेन्द्र।
ऐन्द्रं वाक्यं शृणु मे राजसिंह
यत् प्राह लोकाधिपतिर्महात्मा ॥ ४ ॥

व्यासजी कहते हैं—तब गन्धर्वराज धृतराष्ट्र राजा मरुत्तके पास गये और उनसे इन्द्रका संदेश इस प्रकार कहने लगे—'महाराज! आपको विदित हो कि मैं धृतराष्ट्र नामक गन्धर्व हूँ और आपको देवराज इन्द्रका संदेश सुनाने आया हूँ। राजसिंह! सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी महामना इन्द्रने जो कुछ कहा है, उनका वह वाक्य सुनिये ॥ ३-४ ॥

बृहस्पतिं याजकं त्वं वृणीष्व
वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम्।
वचश्चेदेतन्न करिष्यसे मे
प्राहैतदेतावदचिन्त्यकर्मा ॥ ५ ॥

'अचिन्त्यकर्मा इन्द्र कहते हैं—'राजन्! आप बृहस्पतिको अपने यज्ञका पुरोहित बनाइये। यदि आप मेरी यह बात नहीं मानेंगे तो मैं आपपर भयंकर वज्रका प्रहार करूँगा'' ॥ ५ ॥

मरुत्त उवाच

त्वं चैवैतद् वेत्थ पुरंदरश्च
विश्वेदेवा वसवश्चाश्विनौ च।
मित्रद्रोहे निष्कृतिर्नास्ति लोके
महत् पापं ब्रह्महत्यासमं तत् ॥ ६ ॥

मरुत्तने कहा—गन्धर्वराज! आप, इन्द्र, विश्वेदेव, वसुगण तथा अश्विनीकुमार भी इस बातको जानते हैं कि मित्रके साथ द्रोह करनेपर ब्रह्महत्याके समान महान् पाप लगता है। उससे छुटकारा पानेका संसारमें कोई उपाय नहीं है ॥ ६ ॥

बृहस्पतिर्याजयतां महेन्द्रं
देवश्रेष्ठं वज्रभृतां वरिष्ठम्।
संवर्तो मां याजयिताद्य राजन्
न ते वाक्यं तस्य वा रोचयामि॥ ७॥

गन्धर्वराज ! बृहस्पतिजी वज्रधारियोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर महेन्द्रका यज्ञ करायें। मेरा यज्ञ तो अब संवर्तजी ही करायेंगे। इसके विरुद्ध न तो मैं आपकी बात मानूँगा और न इन्द्र-की ही॥ ७॥

गन्धर्व उवाच

घोरो नादः श्रूयतां वासवस्य
नभस्तले गर्जतो राजसिंह।
व्यक्तं वज्रं मोक्ष्यते ते महेन्द्रः
क्षेमं राजंश्चिन्त्यतामेष कालः॥ ८॥

गन्धर्वराजने कहा—राजसिंह ! आकाशमें गर्जना करते हुए इन्द्रका वह घोर सिंहनाद सुनिये। जान पड़ता है, महेन्द्र आपके ऊपर वज्र छोड़ना ही चाहते हैं; अतः राजन् ! अपनी रक्षा एवं भलाईका उपाय सोचिये। इसके लिये यही अवसर है॥ ८॥

व्यास उवाच

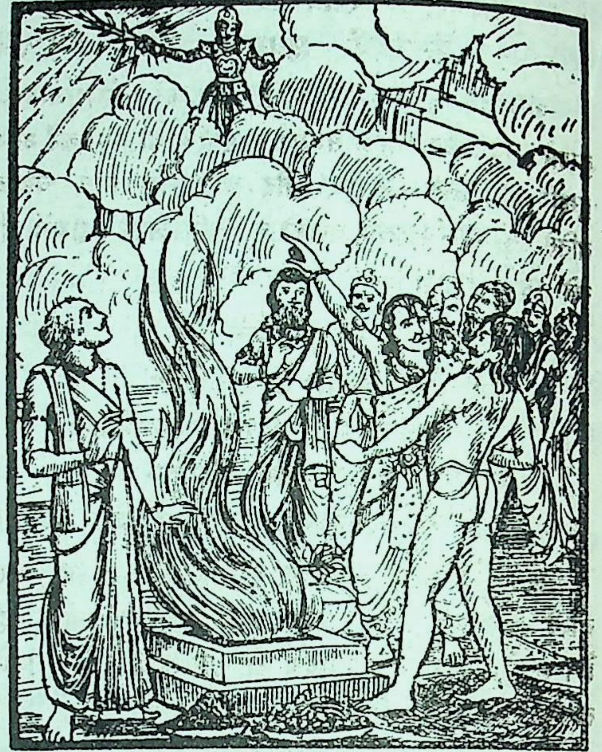
इत्येवमुक्तो धृतराष्ट्रेण राजन्
श्रुत्वा नादं नदतो वासवस्य।
तपोनित्यं धर्मविदां वरिष्ठं
संवर्तं तं ज्ञापयामास कार्यम्॥ ९॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर राजा मरुत्तने आकाशमें गरजते हुए इन्द्रका शब्द सुनकर सदा तपस्यामें तत्पर रहनेवाले धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ संवर्तको इन्द्रके इस कार्यकी सूचना दी॥ ९॥

मरुत्त उवाच

इममात्मानं प्लवमानमारा-
दध्वा दूरं तेन न दृश्यतेऽद्य।
प्रपद्येऽहं शर्म विप्रेन्द्र त्वत्तः
प्रयच्छ तस्मादभयं विप्रमुख्य॥ १०॥
अयमायाति वै वज्री दिशो विद्योतयन् दश।
अमानुषेण घोरेण सदस्यास्त्रासिता हि नः॥ ११॥

मरुत्तने कहा—विप्रवर ! देवराज इन्द्र दूरसे ही प्रहार करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वे दूरकी राहपर खड़े हैं, इसलिये उनका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्राह्मणशिरोमणे ! मैं आपकी शरणमें हूँ और आपके द्वारा अपनी रक्षा चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे अभय-दान दें। देखिये, ये वज्रधारी इन्द्र दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए चले



आ रहे हैं। इनके भयंकर एवं अलौकिक सिंहनादसे हमारी यज्ञशालाके सभी सदस्य थर्रा उठे हैं॥ १०-११॥

संवर्त उवाच

भयं शक्राद् व्येतु ते राजसिंह
प्रणोत्स्येऽहं भयमेतत् सुघोरम्।
संस्तम्भिन्या विद्यया क्षिप्रमेव
मा भैस्त्वमस्याभिभवात् प्रतीतः॥ १२॥

संवर्तने कहा—राजसिंह ! इन्द्रसे तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। मैं स्तम्भिनी विद्याका प्रयोग करके बहुत जल्द तुम्हारे ऊपर आनेवाले इस अत्यन्त भयंकर संकटको दूर किये देता हूँ। मुझपर विश्वास करो और इन्द्रसे पराजित होनेका भय छोड़ दो॥ १२॥

अहं संस्तम्भयिष्यामि मा भैस्त्वं शक्रतो नृप।
सर्वेषामेव देवानां क्षयितान्यायुधानि मे॥ १३॥
दिशो वज्रं व्रजतां वायुरेतु
वर्षं भूत्वा वर्षतां काननेषु।
आपः प्लवन्त्वन्तरिक्षे वृथा च
सौदामनी दृश्यते मापि भैस्त्वम्॥ १४॥

नरेश्वर ! मैं अभी उन्हें स्तम्भित करता हूँ; अतः तुम इन्द्रसे न डरो। मैंने सम्पूर्ण देवताओंके अस्त्र-शस्त्र भी क्षीण कर दिये हैं। चाहे दसों दिशाओंमें वज्र गिरे, आँधी चले, इन्द्र स्वयं ही वर्षा बनकर सम्पूर्ण वनोंमें निरन्तर बरसते रहें, आकाशमें व्यर्थ ही जलप्लावन होता रहे और बिजली चमके तो भी तुम भयभीत न होओ॥ १३-१४॥

वह्निर्देवस्त्रातु वा सर्वतस्ते
कामान् सर्वान् वर्षतु वासवो वा।

वज्रं तथा स्थापयतां वधाय
महाघोरं प्लवमानं जलौघैः ॥ १५ ॥

अग्निदेव तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करें। देवराज इन्द्र तुम्हारे लिये जलकी नहीं, सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करें और तुम्हारे वधके लिये उठे हुए और जलराशिके साथ चञ्चल गतिसे चले हुए महाघोर वज्रको वे देवेन्द्र अपने हाथमें ही रखे रहें ॥ १५ ॥

मरुत्त उवाच

घोरः शब्दः श्रूयते वै महास्वनो
वज्रस्यैष सहितो मारुतेन।
आत्मा हि मे प्रव्यथते मुहुर्मुहु-
र्न मे स्वास्थ्यं जायते चाद्य विप्र ॥ १६ ॥

मरुत्तने कहा—विप्रवर! आँधीके साथ ही जोर-जोरसे होनेवाली वज्रकी भयंकर गड़गड़ाहट सुनायी दे रही है। इससे रह-रहकर मेरा हृदय काँप उठता है। आज मनमें तनिक भी शान्ति नहीं है ॥ १६ ॥

संवर्त उवाच

वज्रादुग्राद् व्येतु भयं तवाद्य
वातो भूत्वा हन्मि नरेन्द्र वज्रम्।
भयं त्यक्त्वा वरमन्यं वृणीष्व
कं ते कामं मनसा साधयामि ॥ १७ ॥

संवर्तने कहा—नरेन्द्र! तुम्हें इन्द्रके भयंकर वज्रसे आज भयभीत नहीं होना चाहिये। मैं वायुका रूप धारण करके अभी इस वज्रको निष्फल किये देता हूँ। तुम भय छोड़कर मुझसे कोई दूसरा वर माँगो। बताओ, मैं तुम्हारी कौन-सी मानसिक इच्छा पूर्ण करूँ ? ॥ १७ ॥

मरुत्त उवाच

इन्द्रः साक्षात् सहसाभ्येतु विप्र
हविर्यज्ञे प्रतिगृह्णातु चैव।
स्वं स्वं धिष्ण्यं चैव जुषन्तु देवा
हुतं सोमं प्रतिगृह्णन्तु चैव ॥ १८ ॥

मरुत्तने कहा—ब्रह्मर्षे! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे साक्षात् इन्द्र मेरे यज्ञमें शीघ्रतापूर्वक पधारें और अपना हविष्य-भाग ग्रहण करें। साथ ही अन्य देवता भी अपने-अपने स्थानपर आकर बैठ जायँ और सब लोग एक साथ आहुतिरूपमें प्राप्त हुए सोमरसका पान करें ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच

अयमिन्द्रो हरिभिरायाति राजन्
देवैः सर्वैस्त्वरितैः स्तूयमानः।
मन्त्राहूतो यज्ञमिमं मयाद्य
पश्यस्वैनं मन्त्रविस्रस्तकायम् ॥ १९ ॥

(तदनन्तर संवर्तने अपने मन्त्रबलसे सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया और) मरुत्तसे कहा—राजन्! ये इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते शीघ्रगामी अश्वोंसे युक्त रथकी सवारीसे आ रहे हैं। मैंने मन्त्रबलसे आज इस यज्ञमें इनका आवाहन किया है। देखो, मन्त्रशक्तिसे इनका शरीर इधर खिंचता चला आ रहा है ॥

ततो देवैः सहितो देवराजो
रथे युङ्क्त्वा तान् हरीन् वाजिमुख्यान्।
आयाद् यज्ञमथ राज्ञः पिपासु-
राविक्षितस्याप्रमेयस्य सोमम् ॥ २० ॥

तत्पश्चात् देवराज इन्द्र अपने रथमें उन सफेद रंगके अच्छे घोड़ोंको जोतकर देवताओंको साथ ले सोमपानकी इच्छासे अनुपम पराक्रमी राजा मरुत्तकी यज्ञशालामें आ पहुँचे ॥ २० ॥

तमायान्तं सहितं देवसंघैः
प्रत्युद्ययौ सपुरोधा मरुत्तः।
चक्रे पूजां देवराजाय चाग्र्यां
यथाशास्त्रं विधिवत् प्रीयमाणः ॥ २१ ॥

देववृन्दके साथ इन्द्रको आते देख राजा मरुत्तने अपने पुरोहित संवर्तमुनिके साथ आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और बड़ी प्रसन्नताके साथ शास्त्रीय विधिसे उनका अग्रपूजन किया ॥ २१ ॥

संवर्त उवाच

स्वागतं ते पुरुहूतेह विद्वन्
यज्ञोऽप्ययं संनिहिते त्वयीन्द्र।
शोशुभ्यते बलवृत्रघ्न भूयः
पिबस्व सोमं सुतमुद्यतं मया ॥ २२ ॥

संवर्तने कहा—पुरुहूत इन्द्र! आपका स्वागत है। विद्वन्! आपके यहाँ पधारनेसे इस यज्ञकी शोभा बहुत बढ़ गयी है। बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज! मेरेद्वारा तैयार किया हुआ यह सोमरस प्रस्तुत है, आप इसका पान कीजिये ॥ २२ ॥

मरुत्त उवाच

शिवेन मां पश्य नमश्च तेऽस्तु
प्राप्तो यज्ञः सफलं जीवितं मे।
अयं यज्ञं कुरुते मे सुरेन्द्र
बृहस्पतेरवरजो विप्रमुख्यः ॥ २३ ॥

मरुत्तने कहा—सुरेन्द्र! आपको नमस्कार है। आप मुझे कल्याणमयी दृष्टिसे देखिये। आपके पदार्पणसे मेरा यज्ञ और जीवन सफल हो गया। बृहस्पतिजीके छोटे भाई ये विप्रवर संवर्तजी मेरा यज्ञ करा रहे हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

जानामि ते गुरुमेनं तपोधनं
बृहस्पतेरनुजं तिग्मतेजसम्।

यस्याह्वानादागतोऽहं नरेन्द्र
प्रीतिर्मेऽद्य त्वयि मन्युः प्रणष्टः ॥ २४ ॥

इन्द्रने कहा—नरेन्द्र ! आपके इन गुरुदेवको मैं जानता हूँ। ये बृहस्पतिजीके छोटे भाई और तपस्याके धनी हैं। इनका तेज दुःसह है। इन्हींके आवाहनसे मुझे आना पड़ा है। अब मैं आपपर प्रसन्न हूँ और मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है ॥ २४ ॥

संवर्त उवाच

यदि प्रीतस्त्वमसि वै देवराज
तस्मात्स्वयं शाधि यज्ञे विधानम् ।
स्वयं सर्वान् कुरु भागान् सुरेन्द्र
जानात्वयं सर्वलोकश्च देव ॥ २५ ॥

संवर्तने कहा—देवराज ! यदि आप प्रसन्न हैं तो यज्ञमें जो-जो कार्य आवश्यक है, उसका स्वयं ही उपदेश दीजिये तथा सुरेन्द्र ! स्वयं ही सब देवताओंके भाग निश्चित कीजिये। देव ! यहाँ आये हुए सब लोग आपकी प्रसन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव करें ॥ २५ ॥

व्यास उवाच

एवमुक्तस्त्वाङ्गिरसेन शक्रः
समादिदेश स्वयमेव देवान् ।
सभाः क्रियन्तामावसथाश्च मुख्याः
सहस्रशश्चित्रभूताः समृद्धाः ॥ २६ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! संवर्तके यों कहनेपर इन्द्रने स्वयं ही सब देवताओंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग अत्यन्त समृद्ध एवं चित्र-विचित्र ढंगके हजारों अच्छे सभा-भवन बनाओ ॥ २६ ॥

क्लृप्ताः स्थूणाः कुरुतारोहणानि
गन्धर्वाणामप्सरसां च शीघ्रम् ।
यत्र नृत्येरन्नप्सरसः समस्ताः
स्वर्गोपमः क्रियतां यज्ञवाटः ॥ २७ ॥

'गन्धर्वों और अप्सराओंके लिये ऐसे रंगमण्डपका निर्माण करो, जिसमें बहुतसे सुन्दर खम्भ लगे हों। उनके रंगमञ्चपर चढ़नेके लिये बहुत-सी सीढ़ियाँ बना दो। यह सब कार्य शीघ्र हो जाना चाहिये । यह यज्ञशाला स्वर्गके समान सुन्दर एवं मनोहर बना दो। जिसमें सारी अप्सराएँ नृत्य कर सकें' ॥ २७ ॥

इत्युक्तास्ते चक्रुराशु प्रतीता
दिवौकसः शक्रवाक्यान्नरेन्द्र ।
ततो वाक्यं प्राह राजानमिन्द्रः
प्रीतो राजन् पूज्यमानो मरुत्तम् ॥ २८ ॥

नरेन्द्र ! देवराजके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण देवताओंने संतुष्ट होकर उनकी आज्ञाके अनुसार शीघ्र ही सबका निर्माण किया। राजन् ! तत्पश्चात् पूजित एवं संतुष्ट हुए इन्द्रने राजा मरुत्तसे इस प्रकार कहा— ॥ २८ ॥

एष त्वयाहमिह राजन् समेत्य
ये चाप्यन्ये तव पूर्वे नरेन्द्र ।
सर्वाश्चान्या देवताः प्रीयमाणा
हविस्तुभ्यं प्रतिगृह्णन्तु राजन् ॥ २९ ॥

'राजन् ! यह मैं यहाँ आकर तुमसे मिला हूँ। नरेन्द्र ! तुम्हारे जो अन्यान्य पूर्वज हैं, वे तथा अन्य सब देवता भी यहाँ प्रसन्नतापूर्वक पधारे हैं। राजन् ! ये सब लोग तुम्हारा दिया हुआ हविष्य ग्रहण करेंगे ॥ २९ ॥

आग्नेयं वै लोहितमालभन्तां
वैश्वदेवं बहुरूपं हि राजन् ।
नीलं चोक्षाणं मेध्यमभ्यालभन्तां
चलच्छिश्नं मत्प्रदिष्टं द्विजाग्र्याः ॥ ३० ॥

'राजेन्द्र ! अग्निके लिये लाल रंगकी वस्तुएँ प्रस्तुत की जायँ, विश्वेदेवोंके लिये अनेक रूप-रंगवाले पदार्थ दिये जायँ, श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ छूकर दिये गये चञ्चल शिश्नवाले नील रंगके वृषभका दान ग्रहण करें' ॥ ३० ॥

ततो यज्ञो ववृधे तस्य राजन्
यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्रुः ।
यस्मिञ्छक्रो ब्राह्मणैः पूज्यमानः
सदस्योऽभूद्धरिमान् देवराजः ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर राजा मरुत्तके यज्ञका कार्य आगे बढ़ा, जिसमें देवतालोग स्वयं ही अन्न परोसने लगे । ब्राह्मणोंद्वारा पूजित, उत्तम अश्वोंसे युक्त देवराज इन्द्र उस यज्ञमण्डपमें सदस्य बनकर बैठे थे ॥ ३१ ॥

ततः संवर्तश्चैत्यगतो महात्मा
यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः ।
हवींष्युच्चैराह्वयन् देवसंघान्
जुहावाग्नौ मन्त्रवत् सुप्रतीतः ॥ ३२ ॥

इसके बाद द्वितीय अग्निके समान तेजस्वी एवं यज्ञमण्डपमें बैठे हुए महात्मा संवर्तने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर देववृन्दका उच्चस्वरसे आह्वान करते हुए मन्त्रपाठपूर्वक अग्निमें हविष्यका हवन किया ॥ ३२ ॥

ततः पीत्वा बलभित् सोममग्र्यं
ये चाप्यन्ये सोमपा देवसंघाः ।
सर्वेऽनुज्ञाताः प्रययुः पार्थिवेन
यथाजोषं तर्पिताः प्रीतिमन्तः ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् इन्द्र तथा सोमपानके अधिकारी अन्य देवताओंने उत्तम सोमरसका पान किया । इससे सबको तृप्ति एवं प्रसन्नता हुई । फिर सब देवता राजा मरुत्तकी

अनुमति लेकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३३ ॥

ततो राजा जातरूपस्य राशीन्
पदे पदे कारयामास हृष्टः।
द्विजातिभ्यो विसृजन् भूरि वित्तं
रराज वित्तेश इवारिहन्ता ॥ ३४ ॥

तदनन्तर शत्रुहन्ता राजा मरुत्तने बड़े हर्षके साथ वहाँ ब्राह्मणोंको बहुत-से धनका दान करते हुए उनके लिये पग-पगपर सुवर्णके ढेर लगवा दिये। उस समय धनाध्यक्ष कुबेरके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥ ३४ ॥

ततो वित्तं विविधं संनिधाय
यथोत्साहं कारयित्वा च कोषम्।
अनुज्ञातो गुरुणा संनिवृत्य
शशास गामखिलां सागरान्ताम् ॥ ३५ ॥

इसके बाद ब्राह्मणोंके ले जानेसे जो नाना प्रकारका धन बच गया, उसको मरुत्तने उत्साहपूर्वक कोष-स्थान बनवाकर उसीमें जमा कर दिया। फिर अपने गुरु संवर्तकी आज्ञा लेकर वे राजधानीको लौट आये और समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ ३५ ॥

एवंगुणः सम्बभूवेह राजा
यस्य क्रतौ तत् सुवर्णं प्रभूतम्।
तत् त्वं समादाय नरेन्द्र वित्तं
यजस्व देवांस्तर्पयानो निवापैः ॥ ३६ ॥

नरेन्द्र! राजा मरुत्त ऐसे प्रभावशाली हुए थे। उनके यज्ञमें बहुत-सा सुवर्ण एकत्र किया गया था। तुम उसी धनको मँगवाकर यज्ञभागसे देवताओंको तृप्त करते हुए यजन करो ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा पाण्डवो हृष्टरूपः
श्रुत्वा वाक्यं सत्यवत्याः सुतस्य।
मनश्चक्रे तेन वित्तेन यष्टुं
ततोऽमात्यैर्मन्त्रयामास भूयः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सत्यवतीनन्दन व्यासजीके ये वचन सुनकर पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस धनके द्वारा यज्ञ करनेका विचार किया तथा इस विषयमें मन्त्रियोंके साथ बारंबार मन्त्रणा की ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि संवर्तमरुत्तीये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें संवर्त और मरुत्तका उपाख्यानविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको इन्द्रद्वारा शरीरस्थ वृत्रासुरका संहार करनेका इतिहास सुनाकर समझाना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन् व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अद्भुतकर्मा वेदव्यासजीने युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ १ ॥

तं नृपं दीनमनसं निहतज्ञातिबान्धवम्।
उपप्लुतमिवादित्यं सधूममिव पावकम् ॥ २ ॥
निर्विण्णमनसं पार्थं ज्ञात्वा वृष्णिकुलोद्वहः।
आश्वासयन् धर्मसुतं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

जाति-भाइयोंके मारे जानेसे युधिष्ठिरका मन शोकसे दीन एवं व्याकुल हो रहा था। वे राहुग्रस्त सूर्य और धूमयुक्त अग्निके समान निस्तेज हो गये थे। विशेषतः उनका मन राज्यकी ओरसे खिन्न एवं विरक्त हो गया था। यह सब जानकर वृष्णिवंशभूषण श्रीकृष्णने कुन्तीकुमार धर्मपुत्र युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

वासुदेव उवाच

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मराज! कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है। इस बातको ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञानका विषय है। इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है, वह प्रलाप है। भला वह किसीका क्या उपकार करेगा? ॥ ४ ॥

नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

आपने अपने कर्तव्यकर्मको पूरा नहीं किया। आपने अभीतक शत्रुओंपर विजय भी नहीं पायी। आपका शत्रु तो आपके शरीरके भीतर ही बैठा हुआ है। आप अपने उस शत्रुको क्यों नहीं पहचानते हैं? ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम्।
इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्तत ॥ ६ ॥

यहाँ मैं आपके समक्ष धर्मके अनुसार एक वृत्तान्त जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही बता रहा हूँ। पूर्वकालमें वृत्रासुरके साथ इन्द्रका जैसा युद्ध हुआ था, वही प्रसङ्ग सुना रहा हूँ ॥ ६ ॥

वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप ।
दृष्ट्वा स पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ॥ ७ ॥
धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत ।
शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य विषये हृते ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! कहते हैं, प्राचीन कालमें वृत्रासुरने समूची पृथ्वीपर अधिकार जमा लिया था। इन्द्रने देखा वृत्रासुरने पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और गन्धके विषयका भी अपहरण कर लिया और इस प्रकार पृथ्वीका अपहरण करनेसे सब ओर दुर्गन्धका प्रसार हो गया है। तब गन्धके विषयका अपहरण होनेसे शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ७-८ ॥

वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो घोरं वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा ॥ ९ ॥
विवेश सहसा तोयं जग्राह विषयं ततः ।

तत्पश्चात् उन्होंने कुपित हो वृत्रासुरके ऊपर घोर वज्रका प्रहार किया। महातेजस्वी वज्रसे अत्यन्त आहत हो वह असुर सहसा जलमें जा घुसा और उसके विषयभूत रसको ग्रहण करने लगा ॥ ९½ ॥

अप्सु वृत्रगृहीतासु रसे च विषये हृते ॥ १० ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब जलपर भी वृत्रासुरका अधिकार तथा रसरूपी विषयका अपहरण हो गया, तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया ॥ १०½ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ ११ ॥
विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयं ततः ।

जलमें अमिततेजस्वी वज्रकी मार खाकर वृत्रासुर सहसा तेजस्तत्त्वमें घुस गया और उसके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ ११½ ॥

व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते ॥ १२ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

वृत्रासुरके द्वारा तेजपर भी अधिकार कर लिया गया और उसके रूप नामक विषयका अपहरण हो गया, यह जानकर शतक्रतुके क्रोधकी सीमा न रह गयी। उन्होंने वहाँ भी वृत्रासुरपर वज्रका प्रहार किया ॥१२½॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १३ ॥
विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयं ततः ।

उस तेजमें स्थित हुआ वृत्रासुर अमिततेजस्वी वज्रके प्रहारसे पीड़ित हो सहसा वायुमें समा गया और उसके स्पर्श नामक विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १३½ ॥

व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते ॥ १४ ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब वृत्रासुरने वायुको भी व्याप्त करके उसके स्पर्श नामक विषयका अपहरण कर लिया, तब शतक्रतुने अत्यन्त कुपित होकर वहाँ उसके ऊपर अपना वज्र छोड़ दिया ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १५ ॥
आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयं ततः ।

वायुके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर भागकर आकाशमें जा छिपा और उसके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १५½ ॥

आकाशे वृत्रभूतेऽथ शब्दे च विषये हृते ॥ १६ ॥
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।

जब आकाश वृत्रासुरमय हो गया और उसके शब्दरूपी विषयका अपहरण होने लगा, तब शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया ॥ १६½ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १७ ॥
विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयं ततः ।

आकाशके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर सहसा इन्द्रमें समा गया और उनके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १७½ ॥

तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान् ॥ १८ ॥
रथन्तरेण तं तात वसिष्ठः प्रत्यबोधयत् ।

तात ! वृत्रासुरसे गृहीत होनेपर इन्द्रके मनपर महान् मोह छा गया। तब महर्षि वसिष्ठने रथन्तर सामके द्वारा उन्हें सचेत किया ॥ १८½ ॥

ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ।
शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् शतक्रतुने अपने शरीरके भीतर स्थित हुए वृत्रासुरको अदृश्य वज्रके द्वारा मार डाला ऐसा हमने सुना है ॥ १९ ॥

इदं धर्म्यं रहस्यं वै शक्रेणोक्तं महर्षिषु ।
ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

जनेश्वर ! यह धर्मसम्मत रहस्य इन्द्रने महर्षियोंको बताया और महर्षियोंने मुझसे कहा। वही रहस्य मैंने आपको सुनाया है। आप इसे अच्छी तरह समझें ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरका संवादविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको मनपर विजय करनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुन्तीनन्दन ! दो प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं—एक शारीरिक दूसरा मानसिक। इन दोनोंका जन्म एक दूसरेके सहयोगसे होता है। दोनोंके पारस्परिक सहयोगके बिना इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है॥

शरीरे जायते व्याधिः शारीरः स निगद्यते।
मानसे जायते व्याधिर्मानसस्तु निगद्यते ॥ २ ॥

शरीरमें जो रोग उत्पन्न होता है, उसे शारीरिक रोग कहते हैं और मनमें जो व्याधि होती है, वह मानसिक रोग कहलाती है॥ २॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः।
तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ३ ॥

राजन् ! शीत, उष्ण और वायु—ये तीन शरीरके गुण हैं। यदि शरीरमें इन तीनों गुणोंकी समानता हो तो यह स्वस्थ पुरुषका लक्षण है॥ ३॥

उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः ॥ ४ ॥

उष्ण शीतका निवारण करता और शीत उष्णका निवारण करता है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन अन्तःकरणके गुण माने गये हैं॥ ४॥

तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम्।
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ॥ ५ ॥

इन गुणोंकी समानता हो तो यह मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण है। इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उसके निवारणका उपाय बताया जाता है॥ ५॥

हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ ६ ॥

हर्षसे शोक बाधित होता है और शोकसे हर्ष। कोई दुःखमें पड़कर सुखकी याद करना चाहता है और कोई सुखी होकर दुःखकी याद करना चाहता है॥ ६॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य च।
स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद् दुःखविभ्रमात् ॥ ७ ॥

कुन्तीनन्दन ! आप न तो दुखी होकर दुःखकी और न सुखी होकर उत्तम सुखकी याद करना चाहते हैं। यह दुःखविभ्रमके सिवा और क्या है॥ ७॥

अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थावकृष्यसे।
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डवेयानां न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ८ ॥

अथवा पार्थ ! आपका यह स्वभाव ही है, जिससे आप आकृष्ट होते हैं। पाण्डवोंके देखते-देखते एकवस्त्रधारिणी रजस्वला कृष्णा सभामें घसीट लायी गयी। आप उसे उस अवस्थामें देखकर भी अब उसकी याद करना नहीं चाहते॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥

आपलोगोंको नगरसे निकाला गया, मृगछाला पहनाकर वनवास दिया गया और बड़े-बड़े घोर जंगलोंमें रहना पड़ा। इन सब बातोंको आप कभी याद करना नहीं चाहते हैं॥ ९॥

जटासुरात् परिक्लेशश्चित्रसेनेन चाहवः।
सैन्धवाच्च परिक्लेशो न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ १० ॥

जटासुरसे जो क्लेश उठाना पड़ा, चित्रसेनके साथ जूझना पड़ा और सिन्धुराज जयद्रथसे जो अपमान और कष्ट प्राप्त हुआ, उसका स्मरण करनेकी इच्छा आपको नहीं होती है॥ १०॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधः।
याज्ञसेन्यास्तथा पार्थ न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ११ ॥

पार्थ ! अज्ञातवासके दिनों कीचकने जो द्रौपदीको लात मारी थी, उसे भी आप नहीं याद करना चाहते हैं॥ ११॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १२ ॥

शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने उपस्थित है। इस समय आपको अकेले अपने मनके साथ युद्ध करना होगा॥ १२॥

तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः ॥ १३ ॥

भरतभूषण ! अतः उस युद्धके लिये आपको तैयार हो जाना चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करते हुए योगके द्वारा मनको वशीभूत करके आप मायासे परे परब्रह्मको प्राप्त कीजिये॥ १३॥

यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १४ ॥

मनके साथ होनेवाले इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है

और न सेवकों तथा बन्धु-बान्धवोंका ही। इस समय इसमें आपको अकेले ही युद्ध करना है और वह युद्ध सामने उपस्थित है ॥ १४ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १५ ॥

यदि इस युद्धमें आप मनको न जीत सके तो पता नहीं आपकी क्या दशा होगी। कुन्तीनन्दन! इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे ॥ १५ ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंका यों ही आवागमन होता रहता है। बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके आप अपने बाप-दादोंके बर्तावका पालन करते हुए उचित रीतिसे राज्यका शासन कीजिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरका संवादविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा ममताके त्यागका महत्त्व, काम-गीताका उल्लेख और युधिष्ठिरको यज्ञके लिये प्रेरणा करना

वासुदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत! केवल राज्य आदि बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्यका त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं भी होती है ॥ १ ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृह्यतः।
यो धर्मो यत् सुखं चैव द्विषतामस्तु तत् तथा ॥ २ ॥

बाह्य पदार्थोंसे अलग होकर भी जो शारीरिक सुख-विलासमें आसक्त है, उसे जिस धर्म और सुखकी प्राप्ति होती है, वह तुम्हारे साथ द्वेष करनेवालोंको ही प्राप्त हो ॥ २ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ३ ॥

'मम' (मेरा) ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है) यह तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्म-की प्राप्तिका कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है ॥ ३ ॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ४ ॥

राजन्! इस प्रकार मृत्यु और अमृत दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंको लड़ाते हैं अर्थात् किसीको अपना मानना और किसीको अपना न मानना यह भाव ही युद्धका कारण है, इसमें संशय नहीं है ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

भरतनन्दन! यदि इस जगत्की सत्ताका विनाश न होना ही निश्चित हो, तब तो प्राणियोंके शरीरका भेदन करके भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥ ६ ॥

चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्तिसे उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ ७ ॥

किंतु कुन्तीनन्दन! जो वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्योंमें ममता है तो वह मौतके मुखमें ही विद्यमान है ॥ ७ ॥

बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत।
यन्न पश्यति तद् भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥ ८ ॥

भारत! बाहरी और भीतरी शत्रुओंके स्वभावको देखिये-समझिये (ये मायामय होनेके कारण मिथ्या हैं, ऐसा निश्चय कीजिये)। जो मायिक पदार्थोंको ममत्वकी दृष्टिसे नहीं देखता, वह महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ ८ ॥

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके
नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः।
सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता
यान् पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥ ९ ॥

जिसका मन कामनाओंमें आसक्त है, उसकी संसारके लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। कोई भी प्रवृत्ति बिना कामनाके नहीं होती और समस्त कामनाएँ मनसे ही प्रकट होती हैं। विद्वान् पुरुष कामनाओंको दुःखका कारण मानकर उनका परित्याग कर देते हैं ॥ ९ ॥

भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्
योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च
काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि ॥ १० ॥
व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्
कामेन यो नारभते विदित्वा।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो
न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥ ११ ॥

योगी पुरुष अनेक जन्मोंके अभ्याससे योगको ही मोक्षका मार्ग निश्चित करके कामनाओंका नाश कर डालता है। जो इस बातको जानता है, वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान-योगादिका कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और वही मोक्षका मूल है ॥ १०-११ ॥

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर।
नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन बातोंके जानकार विद्वान् एक पुरातन गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो कामगीता कहलाती है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये। कामका कहना है कि कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास) का आश्रय लिये बिना मेरा नाश नहीं कर सकता है ॥ १२ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्।
तस्य तस्मिन् प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अपनेमें अस्त्रबलकी अधिकताका अनुभव करके मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्र-बलमें मैं अभिमानरूपसे पुनः प्रकट हो जाता हूँ ॥ १३ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १४ ॥

जो नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मुझे मारनेका यत्न करता है, उसके चित्तमें मैं उसी प्रकार उत्पन्न होता हूँ, जैसे उत्तम जङ्गम योनियोंमें धर्मात्मा ॥ १४ ॥

यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः।
स्थावरेष्विव भूतात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १५ ॥

जो वेद और वेदान्तके स्वाध्यायरूप साधनोंके द्वारा मुझे मिटा देनेका सदा प्रयास करता है, उसके मनमें मैं स्थावर प्राणियोंमें जीवात्माकी भाँति प्रकट होता हूँ ॥ १५ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ॥ १६ ॥

जो सत्यपराक्रमी पुरुष धैर्यके बलसे मुझे नष्ट करनेकी चेष्टा करता है, उसके मानसिक भावोंके साथ मैं इतना घुल-मिल जाता हूँ कि वह मुझे पहचान नहीं पाता ॥ १६ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १७ ॥

जो कठोर व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य तपस्याके द्वारा मेरे अस्तित्वको मिटा डालनेका प्रयास करता है, उसकी तपस्यामें ही मैं प्रकट हो जाता हूँ ॥ १७ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥ १८ ॥

जो विद्वान् पुरुष मोक्षका सहारा लेकर मेरे विनाशका प्रयत्न करता है, उसकी जो मोक्षविषयक आसक्ति है, उसीसे वह बँधा हुआ है। यह विचारकर मुझे उसपर हँसी आती है और मैं खुशीके मारे नाचने लगता हूँ। एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य एवं सदा रहनेवाला हूँ ॥ १८ ॥

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥ १९ ॥

अतः महाराज! आप भी नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा अपनी उस कामनाको धर्ममें लगा दीजिये। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी ॥ १९ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥ २० ॥
मा ते व्यथास्तु निहतान् बन्धून् वीक्ष्य पुनः पुनः।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥ २१ ॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर आप अश्वमेधका तथा पर्याप्त दक्षिणावाले अन्यान्य समृद्धिशाली यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये। अपने मारे गये भाई-बन्धुओंको बारंबार याद करके आपके मनमें व्यथा नहीं होनी चाहिये। इस समराङ्गणमें जिनका वध हुआ है, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते ॥ २०-२१ ॥

स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।

कीर्तिं लोके परां प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ २२ ॥

इसलिये आप पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली महायज्ञों-का अनुष्ठान करके इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें श्रेष्ठ गति प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरका संवादविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ऋषियोंका अन्तर्धान होना, भीष्म आदिका श्राद्ध करके युधिष्ठिर आदिका हस्तिनापुरमें जाना तथा युधिष्ठिरके धर्मराज्यका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः ।
समाश्वस्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
सोऽनुनीतो भगवता विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन कृष्णेन देवस्थानेन वा विभुः ॥ २ ॥
नारदेनाथ भीमेन नकुलेन च पार्थिव ।
कृष्णया सहदेवेन विजयेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्यैश्च पुरुषव्याघ्रैर्ब्राह्मणैः शास्त्रदृष्टिभिः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं संतापं चैव मानसम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार साक्षात् विष्टरश्रवा (विस्तृत यशवाले) भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास, देवस्थान, नारद, भीमसेन, नकुल, द्रौपदी, सहदेव, बुद्धिमान् अर्जुन तथा अन्यान्य श्रेष्ठ पुरुषों और शास्त्रदर्शी ब्राह्मणों एवं तपोधन मुनियोंके बहुविध वचनोंद्वारा समझाने-बुझानेपर जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, उन राजर्षि युधिष्ठिर-का मन शान्त हुआ और उन्होंने शोकजनित दुःख तथा मानसिक संतापको त्याग दिया ॥ १–४ ॥

अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च युधिष्ठिरः ।
कृत्वाथ प्रेतकार्याणि बन्धूनां स पुनर्नृपः ॥ ५ ॥
अन्वशासच्च धर्मात्मा पृथिवीं सागराम्बराम् ।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया और मरे हुए बन्धु-बान्धवोंका श्राद्ध करके वे धर्मात्मा नरेश समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन करने लगे ॥

प्रशान्तचेताः कौरव्यः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् ।
व्यासं च नारदं चैव तांश्चान्यानब्रवीन्नृपः ॥ ६ ॥

चित्त शान्त होनेपर केवल अपना राज्य ग्रहण करके कुरुवंशी नरेश युधिष्ठिरने व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनिवरोंसे कहा— ॥ ६ ॥

आश्वासितोऽहं प्राग्वृद्धैर्भवद्भिर्मुनिपुङ्गवैः ।
न सूक्ष्ममपि मे किंचिद् व्यलीकमिह विद्यते ॥ ७ ॥

'महानुभावो ! आप सब लोग वृद्ध और मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं । आपकी बातोंसे मुझे बड़ी सान्त्वना मिली है । अब मेरे मनमें तनिक भी दुःख नहीं है ॥ ७ ॥

अर्थश्च सुमहान् प्राप्तो येन यक्ष्यामि देवताः ।
पुरस्कृत्याद्य भवतः समानेष्यामहे मखम् ॥ ८ ॥

'इधर पर्याप्त धन भी मिल गया, जिससे मैं भलीभाँति देवताओंका यजन भी कर सकूँगा । अब आपलोगोंको आगे करके हमलोग उस धनको अपनी यज्ञशालामें ले आवेंगे ॥

हिमवन्तं त्वया गुप्ता गमिष्यामः पितामह ।
बह्वाश्चर्यो हि देशः स श्रूयते द्विजसत्तम ॥ ९ ॥

'द्विजश्रेष्ठ पितामह ! हमलोग आपसे ही सुरक्षित होकर हिमालय पर्वतकी यात्रा करेंगे । सुना जाता है, वह प्रदेश अनेक आश्चर्यजनक दृश्योंसे भरा हुआ है ॥ ९ ॥

तथा भगवता चित्रं कल्याणं बहुभाषितम् ।
देवर्षिणा नारदेन देवस्थानेन चैव ह ॥ १० ॥

'आपने, देवर्षि नारदने तथा मुनिवर देवस्थानने बहुत-सी अद्भुत बातें बतायी हैं, जो मेरा कल्याण करनेवाली हैं ॥१०॥

नाभागधेयः पुरुषः कश्चिदेवंविधान् गुरून् ।
लभते व्यसनं प्राप्य सुहृदः साधुसम्मतान् ॥ ११ ॥

'जो सौभाग्यशाली नहीं है, ऐसा कोई भी पुरुष संकटमें पड़नेपर आप-जैसे साधुसम्मानित हितैषी गुरुजनोंको नहीं सकता' ॥ ११ ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सर्व एव महर्षयः ।
अभ्यनुज्ञाप्य राजानं तथोभौ कृष्णफाल्गुनौ ॥ १२ ॥
पश्यतामेव सर्वेषां तत्रैवादर्शनं ययुः ।
ततो धर्मसुतो राजा तत्रैवोपाविशत् प्रभुः ॥ १३ ॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करनेपर सभी महर्षि राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अर्जुनकी अनुमति ले सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये । फिर धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर उन्हें विदा करके वहीं बैठ गये ॥१२-१३॥

एवं नातिमहान् कालः स तेषां संन्यवर्तत ।
कुर्वतां शौचकार्याणि भीष्मस्य निधने तदा ॥ १४ ॥

भीष्मकी मृत्युके पश्चात् शौचकार्य सम्पन्न करते हुए पाण्डवोंका कुछ काल वहीं व्यतीत हुआ ॥ १४ ॥

महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदेहिकम् ।
भीष्मकर्णपुरोगाणां कुरूणां कुरुसत्तम ॥ १५ ॥
सहितो धृतराष्ट्रेण स ददावौर्ध्वदेहिकम् ।

कुरुश्रेष्ठ ! धृतराष्ट्रसहित उन्होंने भीष्म और कर्ण आदि कुरुवंशियोंके निमित्त और्ध्वदेहिक क्रिया (श्राद्ध) में ब्राह्मणोंको बड़े-बड़े दान दिये ॥ १५½ ॥

ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ।

तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन देकर पाण्डवशिरोमणि युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रको आगे करके हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १६½ ॥

स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशाद् वै स धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्रज्ञाचक्षु पितृव्य महाराज धृतराष्ट्रको सान्त्वना देकर भाइयोंके साथ पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ १७ ॥

(यथा मनुर्महाराजो रामो दाशरथिर्यथा ।
तथा भरतसिंहोऽपि पालयामास मेदिनीम् ॥

जैसे महाराज मनु तथा दशरथनन्दन श्रीरामने इस पृथ्वीका पालन किया था, उसी प्रकार भरतसिंह युधिष्ठिर भी भूमण्डलकी रक्षा करने लगे ॥

नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः ।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा ॥

उनके राज्यमें कहीं कोई अधर्मयुक्त कार्य नहीं होता था । सब लोग धर्मविषयक रुचि रखते थे । पुरुषसिंह ! जैसे सत्ययुगमें समस्त प्रजा धर्मपरायण रहती थी, उसी प्रकार उस समय द्वापरमें भी हो गयी थी ॥

कलिमासन्नमाविष्टं निवास्य नृपनन्दनः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् बभौ धर्मबलोद्धतः ॥

कलियुगको समीप आया देख बुद्धिमान् नृपनन्दन युधिष्ठिरने उसको भी निवास दिया और भाइयोंके साथ वे धर्मबलसे अजेय होकर शोभा पाने लगे ॥

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम् ।
निरामयं जगद्भूत् क्षुत्पिपासे न किंचन ॥

भगवान् पर्जन्यदेव उनके राज्यके प्रत्येक देशमें यथेष्ट वर्षा करते थे । सारा जगत् रोग-शोकसे रहित हो गया था, किसीको भी भूख-प्यासका थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं रह गया था ॥

आधिर्नास्ति मनुष्याणां व्यसने नाभवन्मतिः ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णास्ते स्वधर्मोत्तराः शिवाः ॥
धर्मः सत्यप्रधानश्च सत्यं सद्विषयान्वितम् ।

मनुष्योंको मानसिक व्यथा नहीं सताती थी । किसीका मन दुर्व्यसनमें नहीं लगता था । ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंके लोग स्वधर्मको ही उत्कृष्ट मानकर उसमें लगे रहते थे । सभी मङ्गलयुक्त थे । धर्ममें सत्यकी प्रधानता थी और सत्य उत्तम विषयोंसे युक्त होता था ॥

धर्मासनस्थः सद्भिः स स्त्रीबालातुरवृद्धकान् ॥
वर्णाश्रमान् पूर्वकृतान् सकलान् रक्षणोद्यतः ।

धर्मके आसनपर बैठे हुए युधिष्ठिर सत्पुरुषों, स्त्रियों, बालकों, रोगियों, बड़े बूढ़ों तथा पूर्वनिर्मित सम्पूर्ण वर्णाश्रम-धर्मोंकी रक्षाके लिये सदा उद्यत रहते थे ॥

अवृत्तिवृत्तिदानाद्यैर्यज्ञार्थैर्दापितैरपि ।
आमुष्मिकं भयं नास्ति ऐहिकं कुतमेव तु ।
स्वर्गलोकोपमो लोकस्तदा तस्मिन् प्रशासति ॥
बभूव सुखमेकाग्रं तद्विशिष्टतरं परम् ॥

वे जीविकाहीन मनुष्योंको जीविका प्रदान करते, यज्ञके लिये धन दिलाते तथा अन्यान्य उपायोंद्वारा प्रजाकी रक्षा करते थे । अतः इहलोकका सारा सुख तो सबको प्राप्त ही था, परलोकका भी भय नहीं रह गया था । उनके शासनकालमें सारा जगत् स्वर्गलोकके समान सुखद हो गया था । यहाँका एकाग्र सुख स्वर्गसे भी विशिष्ट एवं उत्तम था ॥

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः ॥

उनके राज्यकी सारी स्त्रियाँ पतिव्रता, रूपवती, आभूषणोंसे विभूषित और शास्त्रोक्त सदाचारसे सम्पन्न होती थीं । वे अपने उत्तम गुणोंद्वारा पतिकी प्रसन्नताको बढ़ानेमें कारण होती थीं ॥

पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः ।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो न कुर्वन्ति कदाचन ॥

पुरुष पुण्यशील, अपने-अपने धर्ममें अनुरक्त और सुखी थे । वे कभी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पाप भी नहीं करते थे ॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः ।
अजिह्ममनसः शुद्धाः बभूवुः श्रमवर्जिताः ॥

सभी स्त्री-पुरुष सदा प्रिय वचन बोलते थे, मनमें कुटिलता नहीं आने देते थे, शुद्ध रहते थे और कभी थकावटका अनुभव नहीं करते थे ॥

भूषिताः कुण्डलैर्हारैः कटकैः कटिसूत्रकैः ।
सुवाससः सुगन्धाढ्याः प्रायशः पृथिवीतले ॥

उन दिनों प्रायः भूतलके सभी मनुष्य कुण्डल, हार,

कड़े और करधनीसे विभूषित थे। सुन्दर वस्त्र और सुन्दर गन्धसे सुशोभित होते थे॥

सर्वे ब्रह्मविदो विप्राः सर्वत्र परिनिष्ठिताः।
वलीपलितहीनास्तु सुखिनो दीर्घजीविनः॥

सभी ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता और समस्त शास्त्रोंमें परिनिष्ठित थे। उनके शरीरमें झुर्रियाँ नहीं पड़ती थीं, उनके बाल सफेद नहीं होते थे और वे सुखी तथा दीर्घजीवी होते थे॥

इच्छा न जायतेऽन्यत्र वर्णेषु च न संकरः।
मनुष्याणां महाराज मर्यादासु व्यवस्थितः॥

महाराज! मनुष्योंकी इच्छा परायी स्त्रियोंके लिये नहीं होती थी, वर्णोंमें कभी संकरता नहीं आती थी और सब लोग मर्यादामें स्थित रहते थे॥

तस्मिञ्छासति राजेन्द्रे मृगव्यालसरीसृपाः।
अन्योन्यमपि चान्येषु न बाधन्ते कदाचन॥

राजेन्द्र युधिष्ठिरके शासनकालमें हिंसक पशु, सर्प और बिच्छू आदि न तो आपसमें और न दूसरोंको ही कभी बाधा पहुँचाते थे॥

गावः सुक्षीरभूयिष्ठाः सुवालधिमुखोदराः।
अपीडिताः कर्षकाद्यैर्हतव्याधितवत्सकाः॥

गौएँ बहुत दूध देती थीं, उनके मुख, पूँछ और उदर सुन्दर होते थे। किसान आदि उन्हें पीड़ा नहीं देते थे और उनके बछड़े भी नीरोग होते थे॥

अवन्ध्यकाला मनुजाः पुरुषार्थेषु च क्रमात्।
विषयेष्वनिषिद्धेषु वेदशास्त्रेषु चोद्यताः॥

उस समयके सभी मनुष्य अपने समयको व्यर्थ नहीं जाने देते थे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थोंमें क्रमशः प्रवृत्त होते थे। शास्त्रमें जिनका निषेध नहीं किया गया है, उन्हीं विषयोंका सेवन करते और वेद शास्त्रोंके स्वाध्यायके लिये सदा उद्यत रहते थे॥

सुवृत्ता वृषभाः पुष्टाः सुस्वभावाः सुखोदयाः।
अतीव मधुरः शब्दः स्पर्शश्चातिसुखं रसम्।
रूपं दृष्टिक्षमं रम्यं मनोज्ञं गन्धवद् बभौ॥

उस समयके बैल अच्छी चाल-ढालवाले, हृष्ट-पुष्ट, अच्छे स्वभाववाले और सुखकी प्राप्ति करानेवाले होते थे। उन दिनों शब्द और स्पर्श नामक विषय अत्यन्त मधुर होते थे। रस बहुत ही सुखद जान पड़ता था, रूप दर्शनीय एवं रमणीय प्रतीत होता था और गन्ध नामक विषय भी मनोरम जान पड़ता था॥

धर्मार्थकामसंयुक्तं मोक्षाभ्युदयसाधनम्।
प्रह्लादजननं पुण्यं सम्बभूवाथ मानसम्॥

सबका मन धर्म, अर्थ और काममें संलग्न, मोक्ष और अभ्युदयके साधनमें तत्पर, आनन्दजनक और पवित्र होता था॥

स्थावरा बहुपुष्पाढ्याः फलच्छायावहास्तथा।
सुस्पर्शा विषहीनाश्च सुपत्रत्वक्प्ररोहिणः॥

स्थावर (वृक्ष) बहुत-से फूलोंसे सुशोभित तथा फल और छाया देनेवाले होते थे। उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता था और वे विषसे हीन तथा सुन्दर पत्र, छाल और अङ्कुरसे युक्त होते थे॥

मनोऽनुकूलाः सर्वेषां चेष्टा भूस्तापवर्जिता।
यथा बभूव राजर्षिस्तद्वृत्तमभवद् भुवि॥

सबकी चेष्टाएँ मनके अनुकूल होती थीं। पृथ्वीपर किसी प्रकारका संताप नहीं होता था। राजर्षि युधिष्ठिर स्वयं जैसे आचार-विचारसे युक्त थे, उसीका भूतलपर प्रचार हुआ था॥

सर्वलक्षणसम्पन्नाः पाण्डवा धर्मचारिणः।
ज्येष्ठानुवर्तिनः सर्वे बभूवुः प्रियदर्शनाः॥

समस्त पाण्डव सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, धर्माचरण करनेवाले और बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले थे। उनका दर्शन सभीको प्रिय था॥

सिंहोरस्का जितक्रोधास्तेजोबलसमन्विताः।
आजानुबाहवः सर्वे दानशीला जितेन्द्रियाः॥

उनकी छाती सिंहके समान चौड़ी थी। वे क्रोधपर विजय पानेवाले और तेज एवं बलसे सम्पन्न थे। उन सबकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। वे सभी दानशील एवं जितेन्द्रिय थे॥

तेषु शासत्सु धरणीमृतवः स्वगुणैर्बभुः।
सुखोदयाय वर्तन्ते ग्रहास्तारागणैः सह॥

पाण्डव जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय सभी ऋतुएँ अपने गुणोंसे सुशोभित होती थीं। ताराओं-सहित समस्त ग्रह सबके लिये सुखद हो गये थे॥

मही सस्यप्रबहुला सर्वरत्नगुणोदया।
कामधुग्धेनुवद् भोगान् फलति स्म सहस्रधा॥

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बढ़ गयी थी। सभी रत्न और गुण प्रकट हो गये थे। कामधेनुके समान वह सहस्रों प्रकारके भोगरूप फल देती थी॥

मन्वादिभिः कृताः पूर्वं मर्यादा मानवेषु याः।
अनतिक्रम्य ताः सर्वाः कुलेषु समयानि च।
अन्वशासन्त राजानो धर्मपुत्रप्रियंकराः॥

पूर्वकालमें मनु आदि राजर्षियोंने मनुष्योंमें जो मर्यादाएँ स्थापित की थीं, उन सबका तथा कुलोचित सदाचारोंका

उल्लङ्घन न करते हुए भूमण्डलके सभी राजा अपने-अपने राज्यका शासन करते थे। इस प्रकार सभी भूपाल धर्मपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले थे ॥

महाकुलानि धर्मिष्ठा वर्धयन्तो विशेषतः।
मनुप्रणीतया कृत्या तेऽन्वशासन् वसुन्धराम् ॥

धर्मिष्ठ राजा श्रेष्ठ कुलोंको विशेष प्रोत्साहन देते थे। वे मनुकी बनायी हुई राजनीतिके अनुसार इस वसुधाका शासन करते थे ॥

राजवृत्तिर्हि सा शश्वद् धर्मिष्ठाभून्महीतले।
प्रायो लोकमतिस्तात राजवृत्तानुगामिनी ॥

तात ! इस पृथ्वीपर राजाओंके बर्ताव सदा धर्मानुकूल होते थे। प्रायः लोगोंकी बुद्धि राजाके ही बर्तावका अनुसरण करनेवाली होती है ॥

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गं सुरेन्द्रवत्।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥)

जैसे इन्द्र स्वर्गका शासन करते हैं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके सहयोगसे अपने राज्य—भारतवर्षका शासन करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३०½ श्लोक मिलाकर कुल ४७½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनसे द्वारका जानेका प्रस्ताव करना

जनमेजय उवाच

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनंजयौ ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! जब पाण्डवोंने अपने राष्ट्रपर विजय पा ली और राज्यमें सब ओर शान्ति स्थापित हो गयी, उसके बाद श्रीकृष्ण और अर्जुन इन दोनों वीरोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

विजिते पाण्डवै राजन् प्रशान्ते च विशाम्पते।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनंजयौ ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ ! नरेश्वर ! जब पाण्डवोंने राष्ट्रपर विजय पा ली और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी, तब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २ ॥

विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतेषु ससानुषु ॥ ३ ॥

स्वर्गलोकमें विहार करनेवाले दो देवेश्वरोंकी भाँति वे दोनों मित्र आनन्दमग्न हो विचित्र-विचित्र वनोंमें और पर्वतोंके सुरम्य शिखरोंपर विचरने लगे ॥ ३ ॥

तीर्थेषु चैव पुण्येषु पल्वलेषु नदीषु च।
चङ्क्रम्यमाणौ संहृष्टावश्विनाविव नन्दने ॥ ४ ॥

पवित्र तीर्थों, छोटे तालाबों और नदियोंके तटोंपर विचरण करते हुए वे दोनों नन्दन-वनमें विहार करनेवाले अश्विनीकुमारोंके समान हर्षका अनुभव करते थे ॥ ४ ॥

इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! फिर इन्द्रप्रस्थमें लौटकर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन मयनिर्मित रमणीय सभामें प्रवेश करके आनन्दपूर्वक मनोविनोद करने लगे ॥ ५ ॥

तत्र युद्धकथाश्चित्राः परिक्लेशांश्च पार्थिव।
कथायोगे कथायोगे कथयामासतुः सदा ॥ ६ ॥
ऋषीणां देवतानां च वंशांस्तावाहतुः सदा।
प्रीयमाणौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! वे दोनों महात्मा पुरातन ऋषिप्रवर नर और नारायण थे और आपसमें बहुत प्रेम रखते थे। बातचीतके प्रसङ्गमें वे दोनों मित्र सदा देवताओं तथा ऋषियोंके वंशोंकी चर्चा करते थे और युद्धकी विचित्र कथाओं एवं क्लेशोंका वर्णन किया करते थे ॥ ६-७ ॥

मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारके सिद्धान्तोंको जाननेवाले थे। उन्होंने अर्जुनको विचित्र पद, अर्थ एवं सिद्धान्तोंसे युक्त बड़ी विलक्षण एवं मधुर कथाएँ सुनायीं ॥ ८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुन पुत्रशोकसे संतप्त थे। सहस्रों भाई-बन्धुओंके मारे जानेका भी उनके मनमें बड़ा दुःख था। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने अनेक प्रकारकी कथाएँ सुनाकर उस समय पार्थको शान्त किया ॥ ९ ॥

स तमाश्वास्य विधिवद् विज्ञानज्ञो महातपाः।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥ १० ॥

महातपस्वी विज्ञानवेत्ता श्रीकृष्णने विधिपूर्वक अर्जुनको सान्त्वना देकर अपना भार उतार दिया और वे सुखपूर्वक विश्राम-सा करने लगे ॥ १० ॥

ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥ ११ ॥

बात बीतके अन्तमें गोविन्दने गुडाकेश अर्जुनको अपनी मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना प्रदान करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त बात कही ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परंतप ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुन ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तुम्हारे बाहुबलका सहारा लेकर इस समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली ॥ १२ ॥

असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेन तथा नकुल-सहदेवके प्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका निष्कण्टक राज्य भोग रहे हैं ॥

धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ।
धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥ १४ ॥

धर्मज्ञ ! राजा युधिष्ठिरने यह निष्कण्टक राज्य धर्मके बलसे ही प्राप्त किया है । धर्मसे ही राजा दुर्योधन युद्धमें मारा गया है ॥ १४ ॥

अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र अधर्ममें रुचि रखनेवाले, लोभी, कटुवादी और दुरात्मा थे । इसलिये अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित मार गिराये गये ॥ १५ ॥

प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥ १६ ॥

कुरुकुलतिलक कुन्तीकुमार ! धर्मपुत्र पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिर आज तुमसे सुरक्षित होकर सर्वथा शान्त हुई समूची पृथ्वीका राज्य भोगते हैं ॥ १६ ॥

रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव ।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥ १७ ॥

शत्रुसूदन पाण्डुकुमार ! तुम्हारे साथ रहनेपर निर्जन वनमें भी मुझे सुख और आनन्द मिल सकता है । फिर जहाँ इतने लोग और मेरी बुआ कुन्ती हों, वहाँकी तो बात ही क्या है ! ॥ १७ ॥

यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः ।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥ १८ ॥

जहाँ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, महाबली भीमसेन और माद्रीकुमार नकुल-सहदेव हों, वहाँ मुझे परम आनन्द प्राप्त हो सकता है ॥ १८ ॥

तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु कौरव ।
रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ ॥ १९ ॥
कालो महांस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः ।
बलदेवं च कौरव्य तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ॥ २० ॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति ।
रोचतां गमनं मह्यं तवापि पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

निष्पाप कुरुनन्दन ! इस सभाभवनके रमणीय एवं पवित्र स्थान स्वर्गके समान सुखद हैं । यहाँ तुम्हारे साथ रहते हुए बहुत दिन बीत गये । इतने दिनोंतक मैं अपने पिता शूरसेनकुमार वसुदेवजीका दर्शन न कर सका । भैया बलदेव तथा अन्यान्य वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंके भी दर्शनसे वञ्चित रहा । अतः अब मैं द्वारकापुरीको जाना चाहता हूँ । पुरुषप्रवर ! तुम्हें भी मेरे इस यात्रासम्बन्धी प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार करना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः ।
सह भीष्मेण यद् युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥ २२ ॥

शोकावस्थामें मनुष्यका दुःख दूर करनेके लिये उसे जो कुछ उपदेश देना उचित है, वह भीष्मसहित हमलोगोंने विभिन्न स्थानोंमें राजा युधिष्ठिरको दिया है । उन्हें अनेक प्रकारसे समझाया है ॥ २२ ॥

शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पाण्डवः ।
तेन तत् तु वचः सम्यग् गृहीतं सुमहात्मना ॥ २३ ॥

यद्यपि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हमारे शासक और शिक्षक हैं तो भी हमलोगोंने शिक्षा दी है और उन श्रेष्ठ महात्माने हमारी उन सभी बातोंको भलीभाँति स्वीकार किया है ॥

धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि ।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥ २४ ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर धर्मज्ञ, कृतज्ञ और सत्यवादी हैं । उनमें सत्य, धर्म, उत्तम बुद्धि तथा ऊँची स्थिति आदि गुण सदा स्थिरभावसे रहते हैं ॥ २४ ॥

तत्र गत्वा महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन ।
अस्मद्गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥ २५ ॥

अर्जुन ! यदि तुम उचित समझो तो महात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनके समक्ष मेरे द्वारका जानेका प्रस्ताव उपस्थित करो ॥ २५ ॥

न हि तस्याप्रियं कुर्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ २६ ॥

महाबाहो ! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तब भी मैं धर्मराजका अप्रिय नहीं कर सकता; फिर द्वारका जानेके लिये उनका दिल दुखाऊँ, यह तो हो ही कैसे सकता है ! ॥ २६ ॥

सर्वं त्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया ।
ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न मिथ्यैतत् कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! मैं सच्ची बात बता रहा हूँ, मैंने जो कुछ किया या कहा है, वह सब तुम्हारी प्रसन्नताके लिये और तुम्हारे ही हितकी दृष्टिसे किया है । यह किसी तरह मिथ्या नहीं है ॥ २७ ॥

प्रयोजनं च निर्वृत्तमिह वासे ममार्जुन ।
धार्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः ॥ २८ ॥

अर्जुन ! यहाँ मेरे रहनेका जो प्रयोजन था, वह पूरा हो गया है । धृतराष्ट्रका पुत्र राजा दुर्योधन अपनी सेना और सेवकोंके साथ मारा गया ॥ २८ ॥

पृथिवी च वशे तात धर्मपुत्रस्य धीमतः ।
स्थिता समुद्रवलया सशैलवनकानना ॥ २९ ॥
चिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव ।

तात ! पाण्डुनन्दन ! नाना प्रकारके रत्नोंके संचयसे सम्पन्न, समुद्रसे घिरी हुई, पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र कुरुराज युधिष्ठिरके अधीन हो गयी ॥ २९½ ॥

धर्मेण राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुन्धराम् ॥ ३० ॥
उपास्यमानो बहुभिः सिद्धैश्चापि महात्मभिः ।
स्तूयमानश्च सततं वन्दिभिर्भरतर्षभ ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बहुत-से सिद्ध महात्माओंके संगसे सुशोभित तथा वन्दीजनोंके द्वारा सदा ही प्रशंसित होते हुए धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर अब धर्मपूर्वक सारी पृथ्वीका पालन करें ॥

तं मया सह गत्वाद्य राजानं कुरु वर्धनम् ।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ॥ ३२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अब तुम मेरे साथ चलकर राजाको बधाई दो और मेरे द्वारका जानेके विषयमें उनसे पूछकर आज्ञा दिला दो ॥ ३२ ॥

इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे
निवेदितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे ।
प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः
सदा कुरूणामधिपो महामतिः ॥ ३३ ॥

पार्थ ! मेरे घरमें जो कुछ धन-सम्पत्ति है, वह और मेरा यह शरीर सदा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित है । परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर सर्वदा मेरे प्रिय और माननीय हैं ॥

प्रयोजनं चापि निवासकारणे
न विद्यते मे त्वदृते नृपात्मज ।
स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने
गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य च ॥ ३४ ॥

राजकुमार ! अब तुम्हारे साथ मन बहलानेके सिवा यहाँ मेरे रहनेका और कोई प्रयोजन नहीं रह गया है । पार्थ ! यह सारी पृथ्वी तुम्हारे और सदाचारी गुरु युधिष्ठिरके शासनमें पूर्णतः स्थित है ॥ ३४ ॥

इतीदमुक्तः स तदा महात्मना
जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः ।
तथेति दुःखादिव वाक्यमैरय-
ज्जनार्दनं सम्प्रतिपूज्य पार्थिव ॥ ३५ ॥

पृथ्वीनाथ ! उस समय महात्मा भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अमित पराक्रमी अर्जुनने उनकी बातका आदर करते हुए बड़े दुःखके साथ 'तथास्तु' कहकर उनके जानेका प्रस्ताव स्वीकार किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अश्वमेधपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अश्वमेधपर्वमें पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(अनुगीतापर्व)

षोडशोऽध्यायः

अर्जुनका श्रीकृष्णसे गीताका विषय पूछना और श्रीकृष्णका अर्जुनसे सिद्ध, महर्षि एवं काश्यपका संवाद सुनाना

जनमेजय उवाच

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन् महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! शत्रुओंका नाश करके जब महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन सभाभवनमें रहने लगे, उन दिनों उन दोनोंमें क्या-क्या बातचीत हुई ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! श्रीकृष्णके सहित

अर्जुनने जब केवल अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब वे उस दिव्य सभाभवनमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ २ ॥

तत्र कंचित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥ ३ ॥

नरेश्वर! एक दिन वहाँ स्वजनोंसे घिरे हुए वे दोनों मित्र स्वेच्छासे घूमते-घामते सभामण्डपके एक ऐसे भागमें पहुँचे, जो स्वर्गके समान सुन्दर था ॥ ३ ॥

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक बार उस रमणीय सभाकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ ४ ॥

विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥

'महाबाहो! देवकीनन्दन! जब संग्रामका समय उपस्थित था, उस समय मुझे आपके माहात्म्यका ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन हुआ था ॥ ५ ॥

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥ ६ ॥

'किंतु केशव! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञानका उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित-चित्त हो जानेके कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है ॥ ६ ॥

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥ ७ ॥

'माधव! उन विषयोंको सुननेके लिये मेरे मनमें बारंबार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं; अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिये' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गलेसे लगाकर इस प्रकार उत्तर दिया ॥ ८ ॥

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥ ९ ॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका श्रवण कराया था, अपने स्वरूपभूत धर्म-सनातन पुरुषोत्तमतत्त्वका परिचय दिया था और (शुक्ल-कृष्ण गतिका निरूपण करते हुए) सम्पूर्ण नित्य लोकोंका भी वर्णन किया था; किंतु तुमने जो अपनी नासमझीके कारण उस उपदेशको याद नहीं रक्खा, यह मुझे बहुत अप्रिय है। उन बातोंका अब पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता ॥ ९-१० ॥

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। धनंजय! अब मैं उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता ॥ ११ ॥

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ १२ ॥

क्योंकि वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है ॥ १२ ॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १३ ॥

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था। अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥ १४ ॥

जिससे तुम उस समत्वबुद्धिका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर लोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तुम मेरी सारी बातें ध्यान देकर सुनो ॥ १४ ॥

आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकाद्दरिंदम।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥ १५ ॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥ १६ ॥

शत्रुदमन! एक दिनकी बात है, एक दुर्धर्ष ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे उतरकर स्वर्गलोकमें होते हुए मेरे यहाँ आये। मैंने उनकी विधिवत् पूजा की और मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया। भरतश्रेष्ठ! मेरे प्रश्नका उन्होंने सुन्दर विधिसे उत्तर दिया। पार्थ! वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। कोई अन्यथा विचार न करके इसे ध्यान देकर सुनो ॥ १५-१६ ॥

ब्राह्मण उवाच

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥ १७ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥ १८ ॥

ब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्ण ! मधुसूदन ! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न किया है, उसका मैं यथावत् उत्तर दे रहा हूँ । प्रभो ! माधव ! सावधान होकर मेरी बात श्रवण करो ॥ १७-१८ ॥

कश्चिद् विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद् धर्माणामागतागमम् ॥ १९ ॥
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥ २० ॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥ २१ ॥

प्राचीन समयमें काश्यप नामके एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षिके पास गये; जो धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण रहस्योंको जाननेवाले, भूत और भविष्यके ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण, लोक-तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख-दुःखके रहस्यको समझनेवाले, जन्म-मृत्युके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्यके ज्ञाता और ऊँच-नीच प्राणियोंको कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली गतिके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे ॥ १९—२१ ॥

चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥ २२ ॥
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥ २३ ॥
सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥ २४ ॥

वे मुक्तकी भाँति विचरनेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान, सर्वत्र घूमनेवाले और अन्तर्धान विद्याके ज्ञाता थे । अदृश्य रहनेवाले चक्रधारी सिद्धोंके साथ वे विचरते, बातचीत करते और उन्हींके साथ एकान्तमें बैठते थे । जैसे वायु कहीं आसक्त न होकर सर्वत्र प्रवाहित होती है, उसी तरह वे सर्वत्र अनासक्त भावसे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरा करते थे । महर्षि काश्यप उनकी उपर्युक्त महिमा सुनकर ही उनके पास गये थे ॥ २२—२४ ॥

तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ॥
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ २५ ॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तद् द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ॥ २६ ॥
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परंतपः ॥ २७ ॥

निकट जाकर उन मेधावी, तपस्वी, धर्माभिलाषी और एकाग्रचित्त महर्षिने न्यायानुसार उन सिद्ध महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया । वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और बड़े अद्भुत संत थे । उनमें सब प्रकारकी योग्यता थी । वे शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र थे । उनका दर्शन करके काश्यपको बड़ा विस्मय हुआ । वे उन्हें गुरु मानकर उनकी सेवामें लग गये और अपनी शुश्रूषा, गुरुभक्ति तथा श्रद्धाभावके द्वारा उन्होंने उन सिद्ध महात्माको संतुष्ट कर लिया ॥ २५—२७ ॥

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥ २८ ॥

जनार्दन ! अपने शिष्य काश्यपके ऊपर प्रसन्न होकर उन सिद्ध महर्षिने परासिद्धिके सम्बन्धमें विचार करके जो उपदेश किया, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २८ ॥

सिद्ध उवाच

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ॥ २९ ॥

सिद्धने कहा—तात काश्यप ! मनुष्य नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके केवल पुण्यके संयोगसे इस लोकमें उत्तम फल और देवलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ॥ ३० ॥

जीवको कहीं भी अत्यन्त सुख नहीं मिलता । किसी भी लोकमें वह सदा नहीं रहने पाता । तपस्या आदिके द्वारा कितने ही कष्ट सहकर बड़े-से-बड़े स्थानको क्यों न प्राप्त किया जाय, वहाँसे भी बार-बार नीचे आना ही पड़ता है ॥ ३० ॥

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥ ३१ ॥

मैंने काम-क्रोधसे युक्त और तृष्णासे मोहित होकर अनेकों बार पाप किये हैं और उनके सेवनके फलस्वरूप घोर कष्ट देनेवाली अशुभ गतियोंको भोगा है ॥ ३१ ॥

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ ३२ ॥

बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका क्लेश उठाया है । तरह-तरहके आहार ग्रहण किये और अनेक स्तनोंका दूध पीया है ॥ ३२ ॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ ॥ ३३ ॥

अनघ ! बहुत-से पिता और भाँति भाँतिकी माताएँ देखी हैं । विचित्र-विचित्र सुख-दुःखोंका अनुभव किया है ॥ ३३ ॥

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद् धनम् ॥ ३४ ॥

कितनी ही बार मुझसे प्रियजनोंका वियोग और अप्रिय जनोंका संयोग हुआ है । जिस धनको मैंने बहुत कष्ट सहकर कमाया था, वह मेरे देखते देखते नष्ट हो गया है ॥ ३४ ॥

अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात् तथा ।
शारीरा मानसा वापि वेदना भृशदारुणाः ॥ ३५ ॥

राजा और स्वजनोंकी ओरसे मुझे कई बार बड़े बड़े कष्ट और अपमान उठाने पड़े हैं । तन और मनकी अत्यन्त भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ी हैं ॥ ३५ ॥

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥ ३६ ॥

मैंने अनेक बार घोर अपमान, प्राणदण्ड और कड़ी कैदकी सजाएँ भोगी हैं । मुझे नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहना पड़ा है ॥ ३६ ॥

जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥ ३७ ॥

इस लोकमें जन्म लेकर मैंने बारंबार बुढ़ापा, रोग, व्यसन और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके प्रचुर दुःख सदा ही भोगे हैं ॥ ३७ ॥

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥ ३८ ॥

इस प्रकार बारंबार क्लेश उठानेसे एक दिन मेरे मनमें बड़ा खेद हुआ और मैं दुःखोंसे घबराकर निराकार परमात्माकी शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहारका परित्याग कर दिया ॥

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥ ३९ ॥

इस लोकमें अनुभवके पश्चात् मैंने इस मार्गका अवलम्बन किया है और अब परमात्माकी कृपासे मुझे यह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ३९ ॥

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गताः शुभाः ॥ ४० ॥

अब मैं पुनः इस संसारमें नहीं आऊँगा । जबतक यह सृष्टि कायम रहेगी और जबतक मेरी मुक्ति नहीं हो जायगी, तबतक मैं अपनी और दूसरे प्राणियोंकी शुभगतिका अवलोकन करूँगा ॥ ४० ॥

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परंतप ॥ ४२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है । इसके बाद मैं उत्तम लोकमें जाऊँगा । फिर उससे भी परम उत्कृष्ट सत्यलोकमें जा पहुँचूँगा और क्रमशः अव्यक्त ब्रह्मपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लूँगा । इसमें तुम्हें संशय नहीं करना चाहिये । काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संताप देनेवाले काश्यप ! अब मैं पुनः इस मर्त्यलोकमें नहीं आऊँगा ॥ ४१-४२ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥ ४३ ॥

महाप्राज्ञ ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुम जिस वस्तुको पानेकी इच्छासे मेरे पास आये हो, उसके प्राप्त होनेका यह समय आ गया है ॥ ४३ ॥

अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात् तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ॥ ४४ ॥

तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है, इसे मैं जानता हूँ और शीघ्र ही यहाँसे चला जाऊँगा । इसीलिये मैंने स्वयं तुम्हें प्रश्न करनेके लिये प्रेरित किया है ॥ ४४ ॥

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत् तवेप्सितम् ॥ ४५ ॥

विद्वन् ! तुम्हारे उत्तम आचरणसे मुझे बड़ा संतोष है । तुम अपने कल्याणकी बात पूछो । मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रश्नका उत्तर दूँगा ॥ ४५ ॥

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं सम्पूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥ ४६ ॥

काश्यप ! मैं तुम्हारी बुद्धिकी सराहना करता और उसे बहुत आदर देता हूँ । तुमने मुझे पहचान लिया है, इसीसे कहता हूँ कि बड़े बुद्धिमान् हो ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

काश्यपके प्रश्नोंके उत्तरमें सिद्ध महात्माद्वारा जीवकी विविध गतियोंका वर्णन

वासुदेव उवाच

ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान् सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान् स प्राह धर्मभृतां वरः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ काश्यपने उन सिद्ध महात्माके दोनों पैर पकड़कर जिनका उत्तर कठिनाईसे दिया जा सके, ऐसे बहुत-से धर्मयुक्त प्रश्न पूछे ॥ १ ॥

काश्यप उवाच

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते।
कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते ॥ २ ॥

काश्यपने पूछा—महात्मन्! यह शरीर किस प्रकार गिर जाता है? फिर दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है? संसारी जीव किस तरह इस दुःखमय संसारसे मुक्त होता है? ॥२॥

आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत् प्रपद्यते ॥ ३ ॥

जीवात्मा प्रकृति (मूल विद्या) और उससे उत्पन्न होनेवाले शरीरका कैसे त्याग करता है? और शरीरसे छूटकर दूसरेमें वह किस प्रकार प्रवेश करता है? ॥ ३ ॥

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते ॥ ४ ॥

मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल कैसे भोगता है और शरीर न रहनेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?

ब्राह्मण उवाच

एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान् प्रत्यभाषत।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! काश्यपके इस प्रकार पूछनेपर सिद्ध महात्माने उनके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देना आरम्भ किया। वह मैं बता रहा हूँ, सुनिये ॥ ५ ॥

सिद्ध उवाच

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥ ६ ॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ ७ ॥

सिद्धने कहा—काश्यप! मनुष्य इस लोकमें आयु और कीर्तिको बढ़ानेवाले जिन कर्मोंका सेवन करता है, वे शरीर-प्राप्तिमें कारण होते हैं। शरीर-ग्रहणके अनन्तर जब वे सभी कर्म अपना फल देकर क्षीण हो जाते हैं, उस समय जीवकी आयुका भी क्षय हो जाता है। उस अवस्थामें वह विपरीत कर्मोंका सेवन करने लगता है और विनाशकाल निकट आनेपर उसकी बुद्धि उलटी हो जाती है ॥ ६-७ ॥

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान् ॥ ८ ॥

वह अपने सत्त्व (धैर्य), बल और अनुकूल समयको जानकर भी मनपर अधिकार न होनेके कारण असमयमें तथा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध भोजन करता है ॥ ८ ॥

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन ॥ ९ ॥

अत्यन्त हानि पहुँचानेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबका वह सेवन करता है। कभी तो बहुत अधिक खा लेता है, कभी बिल्कुल ही भोजन नहीं करता है ॥ ९ ॥

दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः ॥ १० ॥

कभी दूषित खाद्य अन्न-पानको भी ग्रहण कर लेता है, कभी एक-दूसरेसे विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंको एक साथ खा लेता है। किसी दिन गरिष्ठ अन्न और वह भी बहुत अधिक मात्रामें खा जाता है। कभी-कभी एक बारका खाया हुआ अन्न पचने भी नहीं पाता कि दुबारा भोजन कर लेता है ॥

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद् वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥ ११ ॥

अधिक मात्रामें व्यायाम और स्त्री-सम्भोग करता है। सदा काम करनेके लोभसे मल-मूत्रके वेगको रोके रहता है ॥

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान् प्रकोपयेत् ॥ १२ ॥

रसीला अन्न खाता और दिनमें सोता है तथा कभी-कभी खाये हुए अन्नके पचनेके पहिले असमयमें भोजन करके स्वयं ही अपने शरीरमें स्थित वात-पित्त आदि दोषोंको कुपित कर देता है ॥ १२ ॥

स्वदोषकोपनाद् रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥ १३ ॥

उन दोषोंके कुपित होनेसे वह अपने लिये प्राणनाशक रोगोंको बुला लेता है। अथवा फाँसी लगाने या जलमें डूबने आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंका आश्रय लेता है ॥ १३ ॥

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद् यथावदुपधारय ॥ १४ ॥

इन्हीं सब कारणोंसे जीवका शरीर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो जीवका जीवन बताया जाता है, उसे अच्छी तरह समझ लो ॥ १४ ॥

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान् प्राणान् रुणद्धि वै ॥ १५ ॥

शरीरमें तीव्र वायुसे प्रेरित हो पित्तका प्रकोप बढ़ जाता है और वह शरीरमें फैलकर समस्त प्राणोंकी गतिको रोक देता है ॥ १५ ॥

अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः ॥ १६ ॥

इस शरीरमें कुपित होकर अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त जीवके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देता है। इस बातको ठीक समझो ॥ १६ ॥

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात्।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ॥ १७ ॥

जब मर्मस्थान छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, तब वेदनासे व्यथित हुआ जीव तत्काल इस जड शरीरसे निकल जाता है। उस शरीरको सदाके लिये त्याग देता है ॥ १७ ॥

वेदनाभिः परीतात्मा तद् विद्धि द्विजसत्तम ।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मृत्युकालमें जीवका तन-मन वेदनासे व्यथित होता है, इस बातको भलीभाँति जान लो। इस तरह संसारके सभी प्राणी सदा जन्म और मरणसे उद्विग्न रहते हैं ॥ १८ ॥

दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ॥ १९ ॥
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ॥ २० ॥

विप्रवर ! सभी जीव अपने शरीरोंका त्याग करते देखे जाते हैं। गर्भमें मनुष्य प्रवेश करते समय तथा गर्भसे नीचे गिरते समय भी वैसी ही वेदनाका अनुभव करता है। मृत्युकालमें जीवोंके शरीरकी सन्धियाँ टूटने लगती हैं और जन्मके समय वह गर्भस्थ जलसे भीगकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है ॥

यथा पञ्चसु भूतेषु सम्भूतत्वं नियच्छति ।
शैत्यात् प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥ २१ ॥
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः॥

अन्य प्रकारकी तीव्र वायुसे प्रेरित हो शरीरमें सर्दीसे कुपित हुई जो वायु पाँचों भूतोंमें प्राण और अपानके स्थानमें स्थित है, वही पञ्चभूतोंके सङ्घातका नाश करती है तथा वह देहधारियोंको बड़े कष्टसे त्यागकर ऊर्ध्वलोकको चली जाती है ॥ २१-२२ ॥

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः॥२३॥
ब्रह्मणा सम्परित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरैः ।

इस प्रकार जब जीव शरीरका त्याग करता है, तब प्राणियोंका शरीर उच्छ्वासहीन दिखायी देता है। उसमें गर्मी, उच्छ्वास, शोभा और चेतना कुछ भी नहीं रह जाती। इस तरह जीवात्मासे परित्यक्त उस शरीरको लोग मृत (मरा हुआ) कहते हैं ॥ २३½ ॥

स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थाञ्शरीरभृत्॥ २४ ॥
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसम्भवान् ।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः ॥ २५ ॥

देहधारी जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस आदि विषयोंका अनुभव करता है, उनके द्वारा वह भोजनसे परिपुष्ट होनेवाले प्राणोंको नहीं जान पाता। इस शरीरके भीतर रहकर जो कार्य करता है, वह सनातन जीव है ॥ २४-२५ ॥

तथा यद्यद् भवेद् युक्तं संनिपाते क्वचित् क्वचित्।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत् तथा ॥ २६ ॥

कहीं-कहीं संधिस्थानोंमें जो-जो अङ्ग संयुक्त होता है, उस-उसको तुम मर्म समझो; क्योंकि शास्त्रमें मर्मस्थानका ऐसा ही लक्षण देखा गया है ॥ २६ ॥

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन् ।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै ॥ २७ ॥

उन मर्मस्थानों (संधियों) के विलग होनेपर वायु ऊपरको उठती हुई प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हो शीघ्र ही उसकी बुद्धिको अवरुद्ध कर लेती है ॥ २७ ॥

ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ।
तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु ।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ॥ २८ ॥

तब अन्तकाल उपस्थित होनेपर प्राणी सचेतन होनेपर भी कुछ समझ नहीं पाता; क्योंकि तम (अविद्या) के द्वारा उसकी ज्ञानशक्ति आवृत हो जाती है। मर्मस्थान भी अवरुद्ध हो जाते हैं। उस समय जीवके लिये कोई आधार नहीं रह जाता और वायु उसे अपने स्थानसे विचलित कर देती है ॥ २८ ॥

ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम् ।
निष्क्रामन् कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥ २९ ॥

तब वह जीवात्मा बारंबार भयंकर एवं लंबी साँस छोड़कर बाहर निकलने लगता है। उस समय सहसा इस जड शरीरको कम्पित कर देता है ॥ २९ ॥

स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते ॥ ३० ॥

शरीरसे अलग होनेपर वह जीव अपने किये हुए शुभकार्य पुण्य अथवा अशुभ कार्य पापकर्मोंद्वारा सब ओरसे घिरा रहता है ॥ ३० ॥

ब्राह्मणा ज्ञानसम्पन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः ।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥ ३१ ॥

जिन्होंने वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यथावत् अध्ययन किया है, वे ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण लक्षणोंके द्वारा यह जान लेते हैं कि अमुक जीव पुण्यात्मा रहा है और अमुक जीव पापी ॥

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥ ३२ ॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥ ३३ ॥

जिस तरह आँखवाले मनुष्य अँधेरेमें इधर-उधर उगते-बुझते हुए खद्योतको देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्रवाले सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य दृष्टिसे जन्मते, मरते तथा

गर्भमें प्रवेश करते हुए जीवको सदा देखते रहते हैं । ३२-३३ ।

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ ३४ ॥

शास्त्रके अनुसार जीवके तीन प्रकारके स्थान देखे गये हैं। (मृत्युलोक, स्वर्गलोक और नरक) । यह मर्त्यलोककी भूमि जहाँ बहुत-से प्राणी रहते हैं, कर्मभूमि कहलाती है ॥ ३४ ॥

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः ॥ ३५ ॥

अतः यहाँ शुभ और अशुभ कर्म करके सब मनुष्य उसके फलस्वरूप अपने कर्मोंके अनुसार अच्छे-बुरे भोग प्राप्त करते हैं ॥ ३५ ॥

इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः ।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः ।
तस्मात् सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम् ॥ ३६ ॥

यहीं पाप करनेवाले मानव अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें पड़ते हैं । यह जीवकी अधोगति है, जो घोर कष्ट देनेवाली है । इसमें पड़कर पापी मनुष्य नरकाग्निमें पकाये जाते हैं । उससे छुटकारा मिलना बहुत कठिन है । अतः (पापकर्मसे दूर रहकर) अपनेको नरकसे बचाये रखनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ॥ ३७ ॥

स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोकोंमें जाकर प्राणी जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उनका यहाँ वर्णन किया जाता है, इस विषयको यथार्थरूपसे मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्ध्येथाः कर्मनिश्चयम् ।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम् ॥ ३८ ॥
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥

इसको सुननेसे तुम्हें कर्मोंकी गतिका निश्चय हो जायगा और नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त होगी । जहाँ ये समस्त तारे हैं, जहाँ वह चन्द्रमण्डल प्रकाशित होता है और जहाँ सूर्यमण्डल जगत्में अपनी प्रभासे उद्भासित हो रहा है, ये सब-के-सब पुण्यकर्मा पुरुषोंके स्थान हैं, ऐसा जानो [पुण्यात्मा मनुष्य उन्हीं लोकोंमें जाकर अपने पुण्योंका फल भोगते हैं] ॥ ३८-३९ ॥

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥ ४० ॥

जब जीवोंके पुण्यकर्मोंका भोग समाप्त हो जाता है, तब वे वहाँसे नीचे गिरते हैं । इस प्रकार बारंबार उनका आवागमन होता रहता है । स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधमका भेद रहता है ॥ ४० ॥

न च तत्रापि संतोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्ते समुदीरिताः ॥ ४१ ॥

वहाँ भी दूसरोंका अपनेसे बहुत अधिक दीप्तिमान् तेज एवं ऐश्वर्य देखकर मनमें संतोष नहीं होता है । इस प्रकार जीवकी इन सभी गतियोंका मैंने तुम्हारे समक्ष पृथक्-पृथक् वर्णन किया है ॥ ४१ ॥

उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम् ।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ॥ ४२ ॥

अब मैं यह बतलाऊँगा कि जीव किस प्रकार गर्भमें आकर जन्म धारण करता है । ब्रह्मन् ! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरे मुखसे इस विषयका वर्णन सुनो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

जीवके गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म-फलकी अनिवार्यता तथा संसारसे तरनेके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥ १ ॥

सिद्ध ब्राह्मण बोले—काश्यप ! इस लोकमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका फल भोगे बिना नाश नहीं होता । वे कर्म वैसा-वैसा कर्मानुसार एकके बाद एक शरीर धारण कराकर अपना फल देते रहते हैं ॥ १ ॥

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात् फलं बहु ।
तथा स्याद् विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥ २ ॥

जैसे फल देनेवाला वृक्ष फलनेका समय आनेपर बहुत-से फल प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे किये हुए पुण्यका फल अधिक होता है ॥ २ ॥

पापं चापि तथैव स्यात् पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३ ॥

इसी तरह कलुषित चित्तसे किये हुए पापके फलमें भी

वृद्धि होती है; क्योंकि जीवात्मा मनको आगे करके ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥

यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ॥ ४ ॥

काम-क्रोधसे घिरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार कर्मजालमें आबद्ध होकर गर्भमें प्रवेश करता है, उसका भी उत्तर सुनो ॥ ४ ॥

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ५ ॥

जीव पहले पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होता है, फिर स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है । तत्पश्चात् उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीरकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति ।
सम्प्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात् तद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥

जीव अपनी इच्छाके अनुसार उस शरीरमें प्रवेश करके सूक्ष्म और अव्यक्त होनेके कारण कहीं आसक्त नहीं होता है; क्योंकि वास्तवमें वह सनातन परब्रह्मस्वरूप है ॥ ६ ॥

तद् बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ।
स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ॥ ७ ॥
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः ।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥ ८ ॥

वह जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंकी स्थितिका हेतु है, क्योंकि उसीके द्वारा सब प्राणी जीवित रहते हैं । वह जीव गर्भके समस्त अङ्गमें प्रविष्ट हो उसके प्रत्येक अंशमें तत्काल चेतनता ला देता है और वही प्राणोंके स्थान—वक्षःस्थलमें स्थित हो समस्त अङ्गोंका संचालन करता है । तभी वह गर्भ चेतनासे सम्पन्न होता है ॥ ७-८ ॥

यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम् ।
उपैति तद् विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥ ९ ॥

जैसे तपाये हुए लोहेका द्रव जैसे साँचेमें ढाला जाता है उसीका रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है, ऐसा समझो । (अर्थात् जीव जिस प्रकारकी योनिमें प्रविष्ट होता है, उसी रूपमें उसका शरीर बन जाता है) ॥ ९ ॥

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् ।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥ १० ॥

जैसे आग लोहपिण्डमें प्रविष्ट होकर उसे बहुत तपा देती है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है और वह उसमें चेतनता ला देता है । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १० ॥

यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥ ११ ॥

जिस प्रकार जलता हुआ दीपक समूचे घरमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जीवकी चैतन्य शक्ति शरीरके सब अवयवोंको प्रकाशित करती है ॥ ११ ॥

यद् यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥ १२ ॥

मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो-जो कर्म करता है, पूर्व-जन्मके शरीरसे किये गये उन सब कर्मोंका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है ॥ १२ ॥

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते ।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुध्यते ॥ १३ ॥

उपभोगसे प्राचीन कर्मका तो क्षय होता है और फिर दूसरे नये-नये कर्मोंका संचय बढ़ जाता है । जबतक मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक धर्मका उसे ज्ञान नहीं होता, तबतक यह कर्मोंकी परम्परा नहीं टूटती है ॥ १३ ॥

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम ॥ १४ ॥

साधुशिरोमणे ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव जिनके अनुष्ठानसे सुखी होता है, उन कर्मोंका वर्णन सुनो ॥ १४ ॥

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥ १५ ॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥ १६ ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥ १७ ॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते ।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः ॥ १८ ॥

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियोंका मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता, इन्द्रियों-को सदा काबूमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार करना—यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका बर्ताव कहलाता है । इनके अनुष्ठानसे धर्म होता है, जो सदा प्रजावर्गकी रक्षा करता है ॥ १५–१८ ॥

एवं सत्सु सदा पश्येत् तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिञ्शान्ता व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

सत्पुरुषोंमें सदा ही इस प्रकारका धार्मिक आचरण देखा जाता है । उन्हींमें धर्मकी अटल स्थिति होती है । सदाचार

ही धर्मका परिचय देता है । शान्तचित्त महात्मा पुरुष सदाचारमें ही स्थित रहते हैं ॥ १९ ॥

तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ २० ॥

उन्हींमें पूर्वोक्त दान आदि कर्मोंकी स्थिति है । वे ही कर्म सनातन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं । जो उस सनातन धर्मका आश्रय लेता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती है ॥ २० ॥

अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्मवर्त्मसु ।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥ २१ ॥

इसीलिये धर्ममार्गमें भ्रष्ट होनेवाले लोगोंका नियन्त्रण किया जाता है । जो योगी और मुक्त है, वह अन्य धर्मात्माओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है ॥ २१ ॥

वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥ २२ ॥

जो धर्मके अनुसार बर्ताव करता है, वह जहाँ जिस अवस्थामें हो, वहाँ उसी स्थितिमें उसको अपने कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह धीरे-धीरे अधिक काल बीतनेपर संसार-सागरसे तर जाता है ॥ २२ ॥

एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते ।
सर्वं तत्कारणं येन विकृतोऽयमिहागतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार जीव सदा अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगता है । यह आत्मा निर्विकार ब्रह्म होनेपर भी विकृत होकर इस जगत्‌में जो जन्म धारण करता है, उसमें कर्म ही कारण है ॥ २३ ॥

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम् ।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २४ ॥

आत्माके शरीर धारण करनेकी प्रथा सबसे पहले किसने चलायी है, इस प्रकारका संदेह प्रायः लोगोंके मनमें उठा करता है, अतः उसीका उत्तर दे रहा हूँ ॥ २४ ॥

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
त्रैलोक्यमसृजद् ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌के पितामह ब्रह्माजीने सबसे पहले स्वयं ही शरीर धारण करके स्थावर-जङ्गमरूप समस्त त्रिलोकीकी (कर्मानुसार) रचना की ॥ २५ ॥

ततः प्रधानमसृजत् प्रकृतिं स शरीरिणाम् ।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥ २६ ॥

उन्होंने प्रधान नामक तत्त्वकी उत्पत्ति की, जो देहधारी जीवोंकी प्रकृति कहलाती है । जिसने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है तथा लोकमें जिसे मूल प्रकृतिके नामसे जानते हैं ॥ २६ ॥

इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

यह प्राकृत जगत् क्षर कहलाता है, इससे भिन्न अविनाशी जीवात्माको अक्षर कहते हैं । (इनसे विलक्षण शुद्ध परब्रह्म है)—इन तीनोंमेंसे जो दो तत्त्व—क्षर और अक्षर हैं, वे सब प्रत्येक जीवके लिये पृथक्-पृथक् होते हैं ॥ २७ ॥

असृजत् सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥ २८ ॥

श्रुतिमें जो सृष्टिके आरम्भमें सत्‌रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, उन प्रजापतिने समस्त स्थावर भूतों और जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि की है, यह पुरातन श्रुति है ॥ २८ ॥

तस्य कालपरीमाणमकरोत् स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ॥ २९ ॥

पितामहने जीवके लिये नियत समयतक शरीर धारण किये रहनेकी, भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेकी और परलोकसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेने आदिकी भी व्यवस्था की है ॥ २९ ॥

यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत् प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं यथावदुपपद्यते ॥ ३० ॥

जिसने पूर्वजन्ममें अपने आत्माका साक्षात्कार कर लिया हो, ऐसा कोई मेधावी अधिकारी पुरुष संसारकी अनित्यताके विषयमें जैसी बात कह सकता है, वैसी ही मैं भी कहूँगा । मेरी कही हुई सारी बातें यथार्थ और संगत होंगी ॥ ३० ॥

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥ ३१ ॥
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह समझता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है तथा सुखके रूपमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है वह सब दुःख-ही दुःख है, ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायगा ॥ ३१-३२ ॥

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ॥ ३३ ॥
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥ ३४ ॥

जन्म, मृत्यु एवं रोगोंसे घिरा हुआ जो पुरुष प्रधान तत्त्व (प्रकृति) को जानता है और समस्त चेतन प्राणियोंमें चैतन्यको समानरूपसे व्याप्त देखता है, वह पूर्ण परमपदके अनुसंधानमें संलग्न हो जगत्‌के भोगोंसे विरक्त हो जाता है । साधुशिरोमणे ! उस वैराग्यवान् पुरुषके लिये जो हितकर

उपदेश है, उसका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ॥ ३३-३४ ॥

शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम्।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥ ३५ ॥

उसके लिये जो सनातन अविनाशी परमात्माका उत्तम ज्ञान अभीष्ट है, उसका मैं वर्णन करता हूँ। विप्रवर ! तुम सारी बातोंको ध्यान देकर सुनो ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादमें मोक्षप्राप्तिके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन्।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत् ॥ १ ॥

सिद्ध ब्राह्मणने कहा—काश्यप ! जो मनुष्य (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमेंसे क्रमशः) पूर्व-पूर्वका अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौनभावसे रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान—परब्रह्म परमात्मामें लीन रहता है, वही संसार-बन्धनसे मुक्त होता है ॥ १ ॥

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः ॥ २ ॥

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥ ३ ॥

जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३ ॥

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥ ४ ॥

जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥

न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किंचन।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ५ ॥

जो किसीके द्रव्यका लोभ नहीं रखता, किसीकी अवहेलना नहीं करता, जिसके मनपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता और जिसके चित्तकी आसक्ति दूर हो गयी है, वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ५ ॥

अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥ ६ ॥

जो किसीको अपना मित्र, बन्धु या संतान नहीं मानता, जिसने सकाम धर्म, अर्थ और कामका त्याग कर दिया है तथा जो सब प्रकारकी आकाङ्क्षाओंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥ ७ ॥

जिसकी न धर्ममें आसक्ति है न अधर्ममें, जो पूर्वसंचित कर्मोंको त्याग चुका है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम्।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥ ८ ॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥ ९ ॥

जो किसी भी कर्मका कर्ता नहीं बनता, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो इस जगत्‌को अश्वत्थके समान अनित्य—कलतक न टिक सकनेवाला समझता है तथा जो सदा इसे जन्म, मृत्यु और जरासे युक्त जानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यमें लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धनका नाश कर देता है ॥ ८-९ ॥

अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम्।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ॥ १० ॥

जो आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूपसे रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम्।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ११ ॥

जिसकी दृष्टिमें आत्मा पाञ्चभौतिक गुणोंसे हीन, निराकार, कारणरहित तथा निर्गुण होते हुए भी (मायाके सम्बन्धसे) गुणोंका भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान्।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

जो बुद्धिसे विचार करके शारीरिक और मानसिक सब

संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह बिना ईंधनकी आगके समान धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥ १३ ॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे रहित, द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हो गया है तथा जो तपस्याके द्वारा इन्द्रिय-समूहको अपने वशमें करके (अनासक्त) भावसे विचरता है, वह मुक्त ही है ॥ १३ ॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ॥ १४ ॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे मुक्त होता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥१५॥

अब मैं उस परम उत्तम योगशास्त्रका वर्णन करूँगा, जिसके अनुसार योग-साधन करनेवाले योगी पुरुष अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ १५ ॥

तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १६ ॥

मैं उसका यथावत् उपदेश करता हूँ। मनोनिग्रहके जिन उपायोंद्वारा चित्तको इस शरीरके भीतर ही वशीभूत एवं अन्तर्मुख करके योगी अपने नित्य आत्माका दर्शन करता है, उन्हें मुझसे श्रवण करो ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥

इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनमें और मनको आत्मामें स्थापित करे। इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर मोक्षोपयोगी उपायका अवलम्बन करना चाहिये ॥ १७॥

तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥

मनीषी ब्राह्मणको चाहिये कि वह सदा तपस्यामें प्रवृत्त एवं यत्नशील होकर योगशास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करे। इससे वह मनके द्वारा अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करता है ॥ १८ ॥

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १९ ॥

एकान्तमें रहनेवाला साधक पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगाये रखनेमें सफल हो जाता है तो वह अवश्य ही अपनेमें आत्माका दर्शन करता है ॥ १९ ॥

संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति ॥ २० ॥

जो साधक सदा संयमपरायण, योगयुक्त, मनको वशमें करनेवाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मासे प्रेरित होकर बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २० ॥

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथा रूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ॥ २१ ॥

जैसे मनुष्य सपनेमें किसी अपरिचित पुरुषको देखकर जब पुनः उसे जाग्रत् अवस्थामें देखता है, तब तुरंत पहचान लेता है कि 'यह वही है।' उसी प्रकार साधनपरायण योगी समाधि-अवस्थामें आत्माको जिस रूपमें देखता है, उसी रूपमें उसके बाद भी देखता रहता है ॥ २१ ॥

इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत्।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ॥ २२ ॥

जैसे कोई मनुष्य मूँजसे सींकको अलग करके दिखा दे, वैसे ही योगी पुरुष आत्माको इस देहसे पृथक् करके देखता है॥

मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥ २३ ॥

यहाँ शरीरको मूँज कहा गया है और आत्माको सींक । योगवेत्ताओंने देह और आत्माके पार्थक्यको समझनेके लिये यह बहुत उत्तम दृष्टान्त दिया है ॥ २३ ॥

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत्।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः॥ २४ ॥

देहधारी जीव जब योगके द्वारा आत्माका यथार्थरूपसे दर्शन कर लेता है, उस समय उसके ऊपर त्रिभुवनके अधीश्वरका भी आधिपत्य नहीं रहता ॥ २४ ॥

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ॥ २५ ॥

वह योगी अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके शरीर धारण कर सकता है, बुढ़ापा और मृत्युको भी भगा देता है, वह न कभी शोक करता है न हर्ष ॥ २५ ॥

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥ २६ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी पुरुष देवताओं-का भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित्॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका विनाश होनेपर भी उसे भय नहीं होता। सबके क्लेश उठानेपर भी उसको किसीसे क्लेश नहीं पहुँचता ॥ २७ ॥

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः ॥ २८ ॥

शान्तचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति और स्नेहसे प्राप्त होनेवाले भयंकर दुःख-शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता ॥

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वचन दृश्यते ॥ २९ ॥

उसे शस्त्र नहीं बींध सकते, मृत्यु उसके पास नहीं पहुँच पाती, संसारमें उससे बढ़कर सुखी कहीं कोई नहीं दिखायी देता ॥ २९ ॥

सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥ ३० ॥

वह मनको आत्मामें लीन करके उसीमें स्थित हो जाता है तथा बुढ़ापाके दुःखोंसे छुटकारा पाकर सुखसे सोता-अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ॥ ३० ॥

देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् ।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथंचन ॥ ३१ ॥

वह इस मानव-शरीरका त्याग करके इच्छानुसार दूसरे बहुत-से शरीर धारण करता है । योगजनित ऐश्वर्यका उपभोग करनेवाले योगीको योगसे किसी तरह विरक्त नहीं होना चाहिये ॥ ३१ ॥

सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ॥ ३२ ॥

अच्छी तरह योगका अभ्यास करके जब योगी अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करने लगता है, उस समय वह साक्षात् इन्द्रके पदको भी पानेकी इच्छा नहीं करता है ॥ ३२ ॥

योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु ।
दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन् संनिवसेत् पुरे ॥ ३३ ॥
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः ।

एकान्तमें ध्यान करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार योगकी प्राप्ति होती है, वह सुनो—जो उपदेश पहले श्रुतिमें देखा गया है, उसका चिन्तन करके जिस भागमें जीवका निवास माना गया है, उसीमें मनको भी स्थापित करे । उसके बाहर कदापि न जाने दे ॥ ३३½ ॥

पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ॥ ३४ ॥

शरीरके भीतर रहते हुए वह आत्मा जिस आश्रयमें स्थित होता है, उसीमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसहित मनको धारण करे ॥ ३४ ॥

प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन् काले स पश्यति ।
तस्मिन् काले मनश्चास्य न च किंचन बाह्यतः ॥ ३५ ॥

मूलाधार आदि किसी आश्रयमें चिन्तन करके जब वह सर्वस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है, उस समय उसका मन प्रत्यक्स्वरूप आत्मासे भिन्न कोई 'बाह्य' वस्तु नहीं रह जाता ॥ ३५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषे निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

निर्जन वनमें इन्द्रिय-समुदायको वशमें करके एकाग्रचित्त हो शब्दशून्य अपने शरीरके बाहर और भीतर प्रत्येक अङ्गमें परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करे ॥ ३६ ॥

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च ।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ॥ ३७ ॥

दन्त, तालु, जिह्वा, गला, ग्रीवा, हृदय तथा हृदय-बन्धन (नाड़ीमार्ग) को भी परमात्मरूपसे चिन्तन करे ॥

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन ।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥ ३८ ॥

मधुसूदन ! मेरे ऐसा कहनेपर उस मेधावी शिष्यने पुनः जिसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है, उस मोक्षधर्मके विषयमें पूछा—॥ ३८ ॥

भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते ।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ॥ ३९ ॥

'यह बारंबार खाया हुआ अन्न उदरमें पहुँचकर कैसे पचता है ? किस तरह उसका रस बनता है और किस प्रकार वह रक्तके रूपमें परिणत हो जाता है ? ॥ ३९ ॥

तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च पोषिति ।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ४० ॥
वर्धन्ते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम् ।
निरोधानां निर्गमनं मलानां च पृथक् पृथक् ॥ ४१ ॥

'स्त्री-शरीरमें मांस, मेदा, स्नायु और हड्डियाँ कैसे होती हैं ? देहधारियोंके ये समस्त शरीर कैसे बढ़ते हैं ? बढ़ते हुए शरीरका बल कैसे बढ़ता है ? जिनका सब ओरसे अवरोध है, उन मलोंका पृथक् पृथक् निःसारण कैसे होता है ? ॥४०-४१॥

कुतो वायं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः ।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मायमात्मनि ॥ ४२ ॥

'यह जीव कैसे साँस लेता, कैसे उच्छ्वास खींचता और किस स्थानमें रहकर इस शरीरमें सदा विद्यमान रहता है ? ॥

जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् ।
किंवर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः ॥ ४३ ॥
याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।

'चेष्टाशील जीवात्मा इस शरीरका भार कैसे वहन करता है ? फिर कैसे और किस रंगके शरीरको धारण करता है । निष्पाप भगवन् ! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताइये' ॥४३½॥

इति सम्परिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ॥ ४४ ॥

प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिंदम ।

शत्रुदमन महाबाहु माधव ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर मैंने जैसा सुना था वैसा ही उसे बताया ॥ ४४½ ॥

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत्॥ ४५ ॥
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

जैसे घरका सामान अपने कोठेमें डालकर भी मनुष्य उन्हींके चिन्तनमें मन लगाये रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियरूपी चञ्चल द्वारोंसे विचरनेवाले मनको अपनी कायामें ही स्थापित करके वहीं आत्माका अनुसंधान करे और प्रमादको त्याग दे ॥ ४५-४६ ॥

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव ।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार सदा ध्यानके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषका चित्त शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य प्रकृति एवं उसके विकारोंको स्वतः जान लेता है ॥ ४७ ॥

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥ ४८ ॥

उस परमात्माका इन चर्मचक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता; सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे ही उस महान् आत्माका दर्शन होता है ॥ ४८ ॥

सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ४९ ॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र और सिरवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ ४९ ॥

जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् सम्प्रपश्यति ।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम् ॥ ५० ॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ॥ ५१ ॥

तत्त्वज्ञ जीव अपने-आपको शरीरसे पृथक् देखता है। वह शरीरके भीतर रहकर भी उसका त्याग करके—उसकी पृथक्ताका अनुभव करके अपने स्वरूपभूत केवल परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करता हुआ बुद्धिके सहयोगसे आत्माका साक्षात्कार करता है। उस समय वह यह सोचकर हँसता-सा रहता है कि अहो ! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें ही प्रतीत होनेवाले इस संसारने मुझे अबतक व्यर्थ ही भ्रममें डाल रक्खा था। जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमें मुझमें ही मुक्त हो जाता है (अर्थात् अपने-आपमें ही परमात्माका अनुभव करने लगता है) ॥ ५०-५१ ॥

इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम् ॥ ५२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया। अब मैं जानेकी अनुमति चाहता हूँ। विप्रवर ! तुम भी सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जाओ ॥ ५२ ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे इस प्रकार कहनेपर वह कठोर व्रतका पालन करनेवाला मेरा महातपस्वी शिष्य ब्राह्मण काश्यप इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चला गया ॥ ५३ ॥

वासुदेव उवाच

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन ! मोक्षधर्मका आश्रय लनेवाले वे सिद्ध महात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे यह प्रसङ्ग सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५४ ॥

कच्चिदेतत् त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥ ५५ ॥

पार्थ ! क्या तुमने मेरे बताये हुए इस उपदेशको एकाग्रचित्त होकर सुना है ? उस युद्धके समय भी तुमने रथपर बैठे-बैठे इसी तत्त्वको सुना था ॥ ५५ ॥

नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जिसका चित्त व्यग्र है जिसे ज्ञानका उपदेश नहीं प्राप्त है, वह मनुष्य इस विषयको सुगमतापूर्वक नहीं समझ सकता। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है ॥ ५६ ॥

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने देवताओंका परम गोपनीय रहस्य बताया है। पार्थ ! इस जगत्‌में कभी किसी भी मनुष्यने इस रहस्यका श्रवण नहीं किया है ॥ ५७ ॥

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥ ५८ ॥

अनघ ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य इसे सुननेका अधिकारी भी नहीं है। जिसका चित्त दुविधेमें पड़ा हुआ है, वह इस समय इसे अच्छी तरह नहीं समझ सकता ॥ ५८ ॥

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यरूपनिवर्तनम् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकुमार ! क्रियावान् पुरुषोंसे देवलोक भरा पड़ा है। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्यके मर्त्यरूपकी निवृत्ति हो ॥ ५९ ॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम्।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी॥ ६० ॥

पार्थ ! जो सनातन ब्रह्म है, वही जीवकी परमगति है। ज्ञानी मनुष्य देहको त्यागकर उस ब्रह्ममें ही अमृतत्वको प्राप्त होता है और सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥ ६० ॥

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ६१॥

इस आत्मदर्शनरूप धर्मका आश्रय लेकर स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनिके मनुष्य हैं, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ६२ ॥

पार्थ ! फिर जो अपने धर्ममें प्रेम रखते और सदा ब्रह्मलोककी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं, उन बहुश्रुत ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है ॥ ६२ ॥

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने।
सिद्धिः फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें मोक्षधर्मका युक्तियुक्त उपदेश किया है। उसके साधनके उपाय भी बतलाये हैं और सिद्धि, फल, मोक्ष तथा दुःखके स्वरूपका भी निर्णय किया है ॥६३॥

नातः परं सुखं त्वन्यत् किंचित् स्याद् भरतर्षभ।
बुद्धिमाञ्छ्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ॥ ६४ ॥
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत्।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इससे बढ़कर दूसरा कोई सुखदायक धर्म नहीं है। पाण्डुनन्दन ! जो कोई बुद्धिमान्, श्रद्धालु और पराक्रमी मनुष्य लौकिक सुखको सारहीन समझकर उसे त्याग देता है, वह उपर्युक्त इन उपायोंके द्वारा बहुत शीघ्र परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ६४-६५ ॥

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन।
षण्मासान् नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥ ६६ ॥

पार्थ ! इतना ही कहनेयोग्य विषय है। इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। जो छः महीनेतक निरन्तर योगका अभ्यास करता है, उसका योग अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि अनुगीता पर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मणका अपनी पत्नीसे ज्ञानयज्ञका उपदेश करना

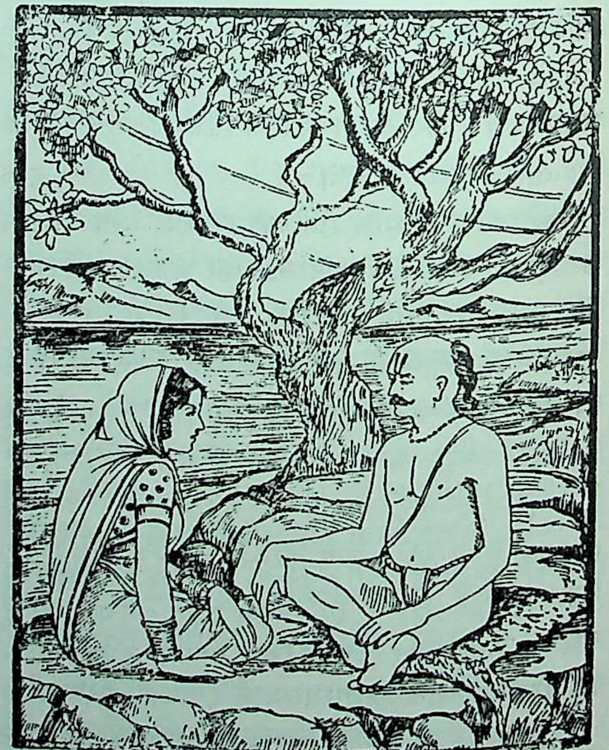
वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन ! इसी विषयमें पति-पत्नीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम्।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥ २ ॥
कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥ ३ ॥
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम्।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥ ४ ॥

एक ब्राह्मण, जो ज्ञान-विज्ञानके पारगामी विद्वान् थे, एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे, यह देखकर उनकी पत्नी ब्राह्मणी अपने उन पतिदेवके पास जाकर बोली— 'प्राणनाथ ! मैंने सुना है कि स्त्रियाँ पतिके कर्मानुसार प्राप्त हुए लोकोंको जाती हैं; किंतु आप तो कर्म छोड़कर बैठे हैं और मेरे प्रति कठोरताका वर्ताव करते हैं। आपको



इस बातका पता नहीं है कि मैं अनन्यभावसे आपके ही आश्रित हूँ। ऐसी दशामें आप-जैसे पतिका आश्रय लेकर मैं

किस लोकमें जाऊँगी ? आपको पतिरूपमें पाकर मेरी क्या गति होगी' ॥ २-४ ॥

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ॥ ५ ॥

पत्नीके ऐसा कहनेपर वे शान्तचित्तवाले ब्राह्मण देवता हँसते हुए-से बोले—'सौभाग्यशालिनि ! तुम पापसे सदा दूर रहती हो; अतः तुम्हारे इस कथनके लिये मैं बुरा नहीं मानता ॥ ५ ॥

ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ॥ ६ ॥

'संसारमें जो ग्रहण करनेयोग्य दीक्षा और व्रत आदि हैं तथा इन आँखोंसे दिखायी देनेवाले जो स्थूल कर्म हैं, उन्हींको वस्तुतः कर्म माना जाता है । कर्मठ लोग ऐसे ही कर्मको कर्मके नामसे पुकारते हैं ॥ ६ ॥

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते ॥ ७ ॥

'किंतु जिन्हें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है, वे लोग कर्मके द्वारा मोहका ही संग्रह करते हैं । इस लोकमें कोई दो घड़ी भी बिना कर्म किये रह सके, ऐसा सम्भव नहीं है ॥ ७ ॥

कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदान्तं कर्म भूतेषु वर्तते ॥ ८ ॥

मनसे, वाणीसे तथा क्रियाद्वारा जो भी शुभ या अशुभ कार्य होता है, वह तथा जन्म, स्थिति, विनाश एवं शरीरभेद आदि कर्म प्राणियोंमें विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ॥ ९ ॥

'जब राक्षसों—दुर्जनोंने जहाँ सोम और घृत आदि दृश्य द्रव्योंका उपयोग होता है, उन कर्म-मार्गोंका विनाश आरम्भ कर दिया, तब मैंने उनसे विरक्त होकर स्वयं ही अपने भीतर स्थित हुए आत्माके स्थानको देखा ॥ ९ ॥

यत्र तद् ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥ १० ॥

'जहाँ द्वन्द्वोंसे रहित वह परब्रह्म परमात्मा विराजमान है, जहाँ सोम अग्निके साथ नित्य समागम करता है तथा जहाँ सब भूतोंको धारण करनेवाला धीर समीर निरन्तर चलता रहता है ॥ १० ॥

यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ११ ॥

'जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शान्तचित्त जितेन्द्रिय विद्वान् योगयुक्त होकर उस अविनाशी ब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया ।
स्पर्शनेन तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ॥ १२ ॥

'वह अविनाशी ब्रह्म घ्राणेन्द्रियसे सूँघने और जिह्वाद्वारा आस्वादन करनेयोग्य नहीं है । स्पर्शेन्द्रिय-त्वचाद्वारा उसका स्पर्श भी नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिके द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है ॥ १२ ॥

चक्षुषामविषह्यं च यत् किंचिच्छ्रवणात् परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दलक्षणम् ॥ १३ ॥

'वह नेत्रोंका विषय नहीं हो सकता । वह अनिर्वचनीय परब्रह्म श्रवणेन्द्रियकी पहुँचसे सर्वथा परे है । गन्ध, रस, स्पर्श, रूप और शब्द आदि कोई भी लक्षण उसमें उपलब्ध नहीं है ॥ १३ ॥

यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥ १४ ॥
तत एव प्रवर्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च ।

'उसीसे सृष्टि आदिका विस्तार होता है और उसीमें उसकी स्थिति है । प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये उसीसे प्रकट होते और फिर उसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥

समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥ १५ ॥
तस्मिँल्लीने प्रलीयेत समानो व्यान एव च ।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति ।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ॥ १६ ॥

'समान और व्यान—इन दोनोंके बीचमें प्राण और अपान विचरते हैं । उस अपानसहित प्राणके लीन होनेपर समान और व्यानका भी लय हो जाता है । अपान और प्राणके बीचमें उदान सबको व्याप्त करके स्थित होता है । इसीलिये सोये हुए पुरुषको प्राण और अपान नहीं छोड़ते हैं ॥ १५-१६ ॥

प्राणानामायतत्वेन तमुदानं प्रचक्षते ।
तस्मात् तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्मवादिनः ॥ १७ ॥

'प्राणोंका आयतन (आधार) होनेके कारण उसे विद्वान् पुरुष उदान कहते हैं । इसलिये वेदवादी मुझमें स्थित तपका निश्चय करते हैं ॥ १७ ॥

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् ।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीप्यतेऽन्तरा ॥ १८ ॥

'एक दूसरेके सहारे रहनेवाले तथा सबके शरीरोंमें संचार करनेवाले उन पाँचों प्राणवायुओंके मध्यभागमें जो समान वायुका स्थान नाभिमण्डल है, उसके बीचमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि सात रूपोंमें प्रकाशमान है ॥ १८ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥ १९ ॥
घ्रेयं दृश्यं च पेयं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥ २० ॥

'घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा और पाँचवाँ कान एवं मन तथा बुद्धि—ये उस वैश्वानर अग्निकी सात जिह्वाएँ हैं। सूँघनेयोग्य गन्ध, दर्शनीय रूप, पीनेयोग्य रस, स्पर्श करनेयोग्य वस्तु, सुननेयोग्य शब्द, मनके द्वारा मनन करने और बुद्धिके द्वारा समझने योग्य विषय—ये सात मुझ वैश्वानरकी समिधाएँ हैं ॥ १९-२० ॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥ २१ ॥

'सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, पाँचवाँ श्रवण करनेवाला एवं मनन करनेवाला और समझनेवाला—ये सात श्रेष्ठ ऋत्विज हैं ॥ २१ ॥

घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च।
मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ॥ २२ ॥

'सुभगे ! सूँघनेयोग्य, पीनेयोग्य, देखनेयोग्य, स्पर्श करनेयोग्य, सुनने मनन-करने तथा समझनेयोग्य विषय— इन सबके ऊपर तुम सदा दृष्टिपात करो (इनमें हविष्य-बुद्धि करो) ॥ २२ ॥

हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु।
सम्यक् प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ २३ ॥

'पूर्वोक्त सात होता उक्त सात हविष्योंका सात रूपोंमें विभक्त हुए वैश्वानरमें भलीभाँति हवन करके (अर्थात् विषयोंकी ओरसे आसक्ति हटाकर) विद्वान् पुरुष अपने तन्मात्रा आदि योनियोंमें शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ॥ २४ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मन और बुद्धि—ये सात योनि कहलाते हैं ॥ २४ ॥

हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम्।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ॥ २५ ॥

'इनके जो समस्त गुण हैं, वे हविष्यरूप हैं। जो अग्नि-जनित गुण (बुद्धिवृत्ति) में प्रवेश करते हैं। वे अन्तःकरणमें संस्काररूपसे रहकर अपनी योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २५ ॥

तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने।
ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ॥ २६ ॥

'वे प्रलयकालमें अन्तःकरणमें ही अवरुद्ध रहते और भूतोंकी सृष्टिके समय वहींसे प्रकट होते हैं। वहींसे गन्ध और वहींसे रसकी उत्पत्ति होती है ॥ २६ ॥

ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते।
ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत् सप्तधा विदुः ॥ २७ ॥

'वहींसे रूप, स्पर्श और शब्दका प्राकट्य होता है। संशयका जन्म भी वहीं होता है और निश्चयात्मिका बुद्धि भी वहीं पैदा होती है। यह सात प्रकारका जन्म माना गया है ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ॥ २८ ॥

'इसी प्रकारसे पुरातन ऋषियोंने श्रुतिके अनुसार घ्राण आदिका रूप ग्रहण किया है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इन तीन आहुतियोंसे समस्त लोक परिपूर्ण हैं। वे सभी लोक आत्मज्योतिसे परिपूर्ण होते हैं' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्रह्मगीतासु विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

दस होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका वर्णन तथा मन और वाणीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। दस होता मिलकर जिस प्रकार यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वह सुनो ॥ १ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ।
उपस्थं वायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ॥ २ ॥

भामिनि ! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा (वाक् और रसना), नासिका, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—ये दस होता हैं ॥ २ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः।
रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ॥ ३ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, क्रिया, गति, वीर्य, मूत्रका त्याग और मल-त्याग—ये दस विषय ही दस हविष्य हैं ॥ ३ ॥

दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च।
इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि ॥ ४ ॥

भामिनि ! दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि,

विष्णु, इन्द्र, प्रजापति और मित्र—ये दस देवता अग्नि हैं ॥ ४ ॥

दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भाविनि ।
विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ॥ ५ ॥

भाविनि ! दस इन्द्रियरूपी होता दस देवतारूपी अग्निमें दस विषयरूपी हविष्य एवं समिधाओंका हवन करते हैं (इस प्रकार मेरे अन्तरमें निरन्तर यज्ञ हो रहा है; फिर मैं अकर्मण्य कैसे हूँ ?) ॥ ५ ॥

चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ।
सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥ ६ ॥

इस यज्ञमें चित्त ही स्रुवा तथा पवित्र एवं उत्तम ज्ञान ही धन है । यह सम्पूर्ण जगत् पहले भलीभाँति विभक्त था—ऐसा सुना गया है ॥ ६ ॥

सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।
रेतःशरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ॥ ७ ॥

जाननेमें आनेवाला यह सारा जगत् चित्तरूप ही है, वह ज्ञानकी अर्थात् प्रकाशककी अपेक्षा रखता है तथा वीर्यजनित शरीर-समुदायमें रहनेवाला शरीरधारी जीव उसको जाननेवाला है ॥ ७ ॥

शरीरभृद् गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन् प्रक्षिप्यते हविः ॥ ८ ॥

वह शरीरका अभिमानी जीव गार्हपत्य अग्नि है । उससे जो दूसरा पावक प्रकट होता है, वह मन है । मन आहवनीय अग्नि है । उसीमें पूर्वोक्त हविष्यकी आहुति दी जाती है ॥ ८ ॥

ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ॥ ९ ॥

उससे वाचस्पति (वेदवाणी) का प्राकट्य होता है । उसे मन देखता है । मनके अनन्तर रूपका प्रादुर्भाव होता है, जो नील-पीत आदि वर्णोंसे रहित होता है । वह रूप मनकी ओर दौड़ता है ॥ ९ ॥

ब्राह्मण्युवाच

कस्माद् वागभवत् पूर्वं कस्मात् पश्चान्मनोऽभवत् ।
मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥ १० ॥

ब्राह्मणी बोली—प्रियतम ! किस कारणसे वाक्‌की उत्पत्ति पहले हुई और क्यों मन पीछे हुआ ? जब कि मनसे सोचे-विचारे वचनको ही व्यवहारमें लाया जाता है ॥ १० ॥

केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता ।
समुन्नीता नाध्यगच्छत् को वै तां प्रतिबाधते ॥ ११ ॥

किस विज्ञानके प्रभावसे मति चित्तके आश्रित होती है ? वह ऊँचे उठायी जानेपर विषयोंकी ओर क्यों नहीं जाती ? कौन उसके मार्गमें बाधा डालता है ? ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात् प्रेषत्यपानताम् ।
तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! अपान पतिरूप होकर उस मतिको अपानभावकी ओर ले जाता है । वह अपानभावकी प्राप्ति मनकी गति बतायी गयी है, इसलिये मन उसकी अपेक्षा रखता है ॥ १२ ॥

प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात् त्वमनुपृच्छसि ।
तस्मात् ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥ १३ ॥

परंतु तुम मुझसे वाणी और मनके विषयमें ही प्रश्न करती हो, इसलिये मैं तुम्हें उन्हीं दोनोंका संवाद बताऊँगा ॥ १३ ॥

उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् ।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व छिन्धि नौ संशयं विभो ॥ १४ ॥

मन और वाणी दोनोंने जीवात्माके पास जाकर पूछा—'प्रभो ! हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? यह बताओ और हमारे संदेहका निवारण करो' ॥ १४ ॥

मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वती ।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥ १५ ॥

तब भगवान् आत्मदेवने कहा—'मन ही श्रेष्ठ है ।' यह सुनकर सरस्वती बोलीं—'मैं ही तुम्हारे लिये कामधेनु बनकर सब कुछ देती हूँ ।' इस प्रकार वाणीने स्वयं ही अपनी श्रेष्ठता बतायी ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्थावरं जङ्गमं चैव विद्ध्युभे मनसी मम ।
स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥ १६ ॥

ब्राह्मण देवता कहते हैं—प्रिये ! स्थावर और जङ्गम ये दोनों मेरे मन हैं । स्थावर अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहीत होनेवाला जो यह जगत् है, वह मेरे समीप है और जङ्गम अर्थात् इन्द्रियातीत जो स्वर्ग आदि है, वह तुम्हारे अधिकारमें है ॥ १६ ॥

यस्तु तं विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जङ्गमो नाम तस्मादसि गरीयसी ॥ १७ ॥

जो मन्त्र, वर्ण अथवा स्वर उस अलौकिक विषयको प्रकाशित करता है, उसका अनुसरण करनेवाला मन भी यद्यपि जङ्गम नाम धारण करता है तथापि वाणीस्वरूपा तुम्हारे द्वारा ही मनका उस अतीन्द्रिय जगत्‌में प्रवेश होता है । इसलिये तुम मनसे भी श्रेष्ठ एवं गौरवशालिनी हो ॥ १७ ॥

यस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येत्य शोभने ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ॥ १८ ॥

क्योंकि शोभामयी सरस्वति ! तुमने स्वयं ही पास आकर समाधान अर्थात् अपने पक्षकी पुष्टि की है । इससे मैं उच्छ्वास लेकर कुछ कहूँगा ॥ १८ ॥

प्राणापानान्तरे देवी वाग् वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत् प्रसीद भगवन्निति ॥ १९ ॥

महाभागे ! प्राण और अपानके बीचमें देवी सरस्वती सदा विद्यमान रहती हैं । वह प्राणकी सहायताके बिना जब निम्नतम दशाको प्राप्त होने लगी, तब दौड़ी हुई प्रजापतिके पास गयी और बोली—'भगवन् ! प्रसन्न होइये' ॥ १९ ॥

ततः प्राणः प्रादुरभूद् वाचमाप्याययन् पुनः ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग् वदति कर्हिचित्॥ २०॥

तब वाणीको पुष्ट-सा करता हुआ पुनः प्राण प्रकट हुआ। इसीलिये उच्छ्वास लेते समय वाणी कभी कोई शब्द नहीं बोलती है ॥ २० ॥

घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ॥ २१ ॥

वाणी दो प्रकारकी होती है—एक घोषयुक्त (स्पष्ट सुनायी देनेवाली) और दूसरी घोषरहित, जो सदा सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है । इन दोनोंमें घोषयुक्त वाणीकी अपेक्षा घोषरहित ही श्रेष्ठतम है (क्योंकि घोषयुक्त वाणीको प्राणशक्तिकी अपेक्षा रहती है और घोषरहित उसकी अपेक्षाके बिना भी स्वभावतः उच्चरित होती रहती है) ॥२१॥

गौरिव प्रस्रवत्यर्थान् रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥ २२ ॥
दिव्यादिव्यप्रभावेण भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥ २३ ॥

शुचिस्मिते ! घोषयुक्त (वैदिक) वाणी भी उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती है । वह दूध देनेवाली गायकी भाँति मनुष्योंके लिये सदा उत्तम रस झरती एवं मनोवाञ्छित पदार्थ उत्पन्न करती है और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्-वाणी (शाश्वत ब्रह्म) का बोध करानेवाली है । इस प्रकार वाणीरूपी गौ दिव्य और अदिव्य प्रभावसे युक्त है । दोनों ही सूक्ष्म हैं और अभीष्ट पदार्थका प्रस्रव करनेवाली हैं । इन दोनोंमें क्या अन्तर है, इसको स्वयं देखो ॥ २२-२३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया ।
किन्नु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ॥ २४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ ! जब वाक्य उत्पन्न नहीं हुए थे, उस समय कुछ कहनेकी इच्छासे प्रेरित की हुई सरस्वती देवीने पहले क्या कहा था ? ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन या सम्भवते शरीरे
प्राणादपानं प्रतिपद्यते च ।
उदानभूता च विसृज्य देहं
व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ॥ २५ ॥
ततः समाने प्रतितिष्ठतीह
इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी ।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद् विशिष्टं
तथा देवी जङ्गमत्वाद् विशिष्टा ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! वह वाक् प्राणके द्वारा शरीरमें प्रकट होती है, फिर प्राणसे अपानभावको प्राप्त होती है । तत्पश्चात् उदानस्वरूप होकर शरीरको छोड़कर व्यानरूपसे सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त कर लेती है । तदनन्तर समान वायुमें प्रतिष्ठित होती है । इस प्रकार वाणीने पहले अपनी उत्पत्तिका प्रकार बताया था ।* इसलिये स्थावर होनेके कारण मन श्रेष्ठ है और जङ्गम होनेके कारण वाग्देवी श्रेष्ठ हैं ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

मन-बुद्धि और इन्द्रियरूप सप्त होताओंका, यज्ञ तथा मन-इन्द्रिय-संवादका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—सुभगे ! इसी विषयमें इस पुरातन इतिहासका भी उदाहरण दिया जाता है । सात होताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसे सुनो ॥ १ ॥

* इस श्लोकका सारांश इस प्रकार समझना चाहिये—पहले आत्मा मनको उच्चारण करनेके लिये प्रेरित करता है, तब मन जठराग्निको प्रज्वलित करता है । जठराग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके प्रभावसे प्राणवायु अपानवायुसे जा मिलता है । उसके बाद वह वायु उदानवायुके प्रभावसे ऊपर चढ़कर मस्तकमें टकराता है और फिर व्यानवायुके प्रभावसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंमें होकर वेगसे वर्ण उत्पन्न कराता हुआ वैखरीरूपसे मनुष्योंके कानमें प्रविष्ट होता है । जब प्राणवायुका वेग निवृत्त हो जाता है, तब वह फिर समानभावसे चलने लगता है ।

घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥ २ ॥
सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् ।
एतान् वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद् विद्धि शोभने॥३॥

नासिका, नेत्र, जिह्वा, त्वचा और पाँचवाँ कान, मन और बुद्धि—ये सात होता अलग-अलग रहते हैं। यद्यपि ये सभी सूक्ष्म शरीरमें ही निवास करते हैं तो भी एक दूसरेको नहीं देखते हैं। शोभने! इन सात होताओंको तुम स्वभावसे ही पहचानो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः।
कथंस्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—भगवन्! जब सभी सूक्ष्म शरीरमें ही रहते हैं, तब एक दूसरेको देख क्यों नहीं पाते! प्रभो! उनके स्वभाव कैसे हैं! यह बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता।
परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! (यहाँ देखनेका अर्थ है, जानना) गुणोंको न जानना ही गुणवान्‌को न जानना कहलाता है और गुणोंको जानना ही गुणवान्‌को जानना है। ये नासिका आदि सात होता एक दूसरेके गुणोंको कभी नहीं जान पाते हैं (इसीलिये कहा गया है कि ये एक दूसरेको नहीं देखते हैं) ॥ ५ ॥

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ॥ ६ ॥

जीभ, आँख, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये गन्धोंको नहीं समझ पाते, किंतु नासिका उसका अनुभव करती है ॥ ६ ॥

घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥ ७ ॥

नासिका, कान, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रसोंका आस्वादन नहीं कर सकते। केवल जिह्वा उसका स्वाद ले सकती है ॥ ७ ॥

घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति॥ ८ ॥

नासिका, जीभ, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रूपका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते; किंतु नेत्र इनका अनुभव करते हैं ॥ ८ ॥

घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा ।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक् च तानधिगच्छति॥९॥

नासिका, जीभ, आँख, कान, बुद्धि और मन—ये स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकते; किंतु त्वचाको उसका ज्ञान होता है ॥ ९ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति॥ १० ॥

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, मन और बुद्धि—इन्हें शब्दका ज्ञान नहीं होता; किंतु कानको होता है ॥ १० ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च।
संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ॥ ११ ॥

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान और बुद्धि—ये संशय (संकल्प-विकल्प) नहीं कर सकते। यह काम मनका है ॥ ११ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तामधिगच्छति ॥ १२ ॥

इसी प्रकार नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान और मन—ये किसी बातका निश्चय नहीं कर सकते। निश्चयात्मक ज्ञान तो केवल बुद्धिको होता है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ॥ १३ ॥

भामिनि! इस विषयमें इन्द्रियों और मनके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १३ ॥

मन उवाच

नाघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च ।
रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ॥ १४ ॥
न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन ।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ॥ १५ ॥

एक बार मनने इन्द्रियोंसे कहा—मेरी सहायताके बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, जीभ रसका स्वाद नहीं ले सकती, आँख रूप नहीं देख सकती, त्वचा स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकती और कानोंको शब्द नहीं सुनायी दे सकता। इसलिये मैं सब भूतोंमें श्रेष्ठ और सनातन हूँ ॥ १४-१५ ॥

अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः॥ १६ ॥

'मेरे बिना समस्त इन्द्रियाँ बुझी लपटोंवाली आग और सूने घरकी भाँति सदा श्रीहीन जान पड़ती हैं ॥ १६ ॥

काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः ।
गुणार्थान् नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥ १७ ॥

संसारके सभी जीव इन्द्रियोंके यत्न करते रहनेपर भी मेरे बिना उसी प्रकार विषयोंका अनुभव नहीं कर सकते, जिस प्रकार कि सूखे-गीले काष्ठ कोई अनुभव नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इन्द्रियाण्यूचुः

एवमेतद् भवेत् सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् ।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्त्वं भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि॥ १८॥

यह सुनकर इन्द्रियोंने कहा—महोदय ! यदि आप भी हमारी सहायता लिये बिना ही विषयोंका अनुभव कर सकते तो हम आपकी इस बातको सच मान लेतीं ॥ १८ ॥

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा॥ १९॥

हमारा लय हो जानेपर भी आप तृप्त रह सकें, जीवन-धारण कर सकें और सब प्रकारके भोग भोग सकें तो आप जैसा कहते और मानते हैं; वह सब सत्य हो सकता है॥ १९॥

अथवास्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथार्थवत्॥ २०॥
अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ॥ २१ ॥
श्रोत्रेण गन्धानादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च॥ २२॥

अथवा हम सब इन्द्रियाँ लीन हो जायँ या विषयोंमें स्थित रहें; यदि आप अपने संकल्पमात्रसे विषयोंका यथार्थ अनुभव करनेकी शक्ति रखते हैं और आपको ऐसा करनेमें सदा ही सफलता प्राप्त होती है तो जरा नाकके द्वारा रूपका तो अनुभव कीजिये, आँखसे रसका तो स्वाद लीजिये और कानके द्वारा गन्धको तो ग्रहण कीजिये । इसी प्रकार अपनी शक्तिसे जिह्वाके द्वारा स्पर्शका, त्वचाके द्वारा शब्दका और बुद्धिके द्वारा स्पर्शका तो अनुभव कीजिये ॥ २०–२२ ॥

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥

आप-जैसे बलवान् लोग नियमोंके बन्धनमें नहीं रहते; नियम तो दुर्बलोंके लिये होते हैं । आप नये ढंगसे नवीन भोगोंका अनुभव कीजिये ! हमलोगोंकी जूठन खाना आपको शोभा नहीं देता ॥ २३ ॥

यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ॥ २४ ॥
विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ २५ ॥

जैसे शिष्य श्रुतिके अर्थको जाननेके लिये उपदेश करनेवाले गुरुके पास जाता है और उनसे श्रुतिके अर्थका ज्ञान प्राप्त करके फिर स्वयं उसका विचार और अनुसरण करता है, वैसे ही आप सोते और जागते समय हमारे ही दिखाये हुए भूत और भविष्य विषयोंका उपभोग करते हैं ॥ २४–२५ ॥

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।
अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥ २६ ॥

जो मनरहित हुए मन्दबुद्धि प्राणी हैं, उनमें भी हमारे लिये ही कार्य किये जानेपर प्राण-धारण देखा जाता है ॥

बहूनपि हि संकल्पान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ॥ २७ ॥

बहुत-से संकल्पोंका मनन और स्वप्नोंका आश्रय लेकर भोग भोगनेकी इच्छासे पीड़ित हुआ प्राणी विषयोंकी ओर ही दौड़ता है ॥ २७ ॥

अगारमद्वारमिव प्रविश्य
संकल्पभोगान् विषये निबद्धान्।
प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं
दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥ २८ ॥

विषय-वासनासे अनुविद्ध संकल्पजनित भोगोंका उपभोग करके प्राणशक्तिके क्षीण होनेपर मनुष्य बिना दरवाजेके घरमें घुसे हुए मनुष्यकी भाँति उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे समिधाओंके जल जानेपर प्रज्वलित अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है ॥ २८ ॥

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः
कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः ।
अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धि-
स्तावदृते त्वां न भजेत् प्रहर्षः॥ २९ ॥

भले ही हमलोगोंकी अपने-अपने गुणोंके प्रति आसक्ति हो और भले ही हम परस्पर एक दूसरेके गुणोंको न जान सकें; किंतु यह बात सत्य है कि आप हमारी सहायताके बिना किसी भी विषयका अनुभव नहीं कर सकते । आपके बिना तो हमें केवल हर्षसे ही वञ्चित होना पड़ता है ॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

प्राण, अपान आदिका संवाद और ब्रह्माजीका सबकी श्रेष्ठता बतलाना

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! अब पञ्चहोताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसके विषयमें एक प्राचीन दृष्टान्त बतलाया जाता है ॥ १ ॥

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्चहोतॄंस्तथैतान् वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँचों प्राण पाँच होता हैं । विद्वान् पुरुष इन्हें सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २ ॥

ब्राह्मण्युवाच

स्वभावात् सप्तहोतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्चहोतारः परो भावस्तदुच्यताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणी बोली—नाथ ! पहले तो मैं समझती थी कि स्वभावतः सात होता हैं; किंतु अब आपके मुँहसे पाँच होताओंकी बात मालूम हुई । अतः ये पाँचों होता किस प्रकार हैं ? आप इनकी श्रेष्ठताका वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन सम्भृतो वायुरपानो जायते ततः ।
अपाने सम्भृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ॥ ४ ॥
व्यानेन सम्भृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते ।
उदाने सम्भृतो वायुः समानो नाम जायते ॥ ५ ॥
तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम् ।
यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! वायु प्राणके द्वारा पुष्ट होकर अपानरूप, अपानके द्वारा पुष्ट होकर व्यानरूप, व्यानसे पुष्ट होकर उदानरूप, उदानसे परिपुष्ट होकर समानरूप होता है । एक बार इन पाँचों वायुओंने सबके पूर्वज पितामह ब्रह्माजीसे प्रश्न किया—'भगवन् ! हममें जो श्रेष्ठ हो उसका नाम बता दीजिये, वही हमलोगोंमें प्रधान होगा' ॥ ४—६ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्मिन् प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
यस्मिन् प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ॥ ७ ॥

ब्रह्माजीने कहा—प्राणधारियोंके शरीरमें स्थित हुए तुमलोगोंमेंसे जिसका लय हो जानेपर सभी प्राण लीन हो जायँ और जिसके संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगें, वही श्रेष्ठ है । अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ॥ ७ ॥

प्राण उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर प्राणवायुने अपान आदिसे कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं; इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ । देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह ।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ॥ ९ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—शुभे ! यों कहकर प्राणवायु थोड़ी देरके लिये छिप गया और उसके बाद फिर चलने लगा । तब समान और उदानवायु उससे पुनः बोले— ॥ ९ ॥

न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम् ।
न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण अपानो हि वशे तव ।
प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ॥ १० ॥

'प्राण ! जैसे हमलोग इस शरीरमें व्याप्त हैं, उस तरह तुम इस शरीरमें व्याप्त होकर नहीं रहते । इसलिये तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो । केवल अपान तुम्हारे वशमें है । [अतः तुम्हारे लय होनेसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती] ।' तब प्राण पुनः पूर्ववत् चलने लगा । तदनन्तर अपान बोला ॥ १० ॥

अपान उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ११ ॥

अपानने कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं । इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ । देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः ।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ॥ १२ ॥

ब्राह्मण कहते हैं-तब व्यान और उदानने पूर्वोक्त बात कहनेवाले अपानसे कहा—'अपान ! केवल प्राण तुम्हारे अधीन है, इसलिये तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते' ॥ १२॥

अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत्।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १३ ॥

यह सुनकर अपान भी पूर्ववत् चलने लगा। तब व्यानने उससे फिर कहा—'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। मेरी श्रेष्ठताका कारण क्या है, वह सुनो ॥ १३ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १४ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१४॥

ब्राह्मण उवाच

प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन्।
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव ॥ १५ ॥

ब्राह्मण कहते हैं-तब व्यान कुछ देरके लिये लीन हो गया, फिर चलने लगा। उस समय प्राण, अपान, उदान और समानने उससे कहा—'व्यान ! तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल समान वायु तुम्हारे वशमें है' ॥ १५ ॥

प्रचचार पुनर्व्यानः समानः पुनरब्रवीत्।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १६ ॥

यह सुनकर व्यान पूर्ववत् चलने लगा। तब समानने पुनः कहा—'मैं जिस कारणसे सबमें श्रेष्ठ हूँ, वह बताता हूँ सुनो ॥ १६ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१७॥

(*ब्राह्मण उवाच*

ततः समानः प्रालिल्ये पुनश्च प्रचचार ह।
प्राणापानावुदानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ॥
न त्वं समान श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव।)

ब्राह्मण कहते हैं-यह कहकर समान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः पूर्ववत् चलने लगा। उस समय प्राण, अपान, व्यान और उदानने उससे कहा—'समान ! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ॥

समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १८ ॥

यह सुनकर समान पूर्ववत् चलने लगा। तब उदानने उससे कहा—'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसका क्या कारण है ! यह सुनो ॥ १८ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १९ ॥

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ॥१९॥

ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन्।
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ २० ॥

यह सुनकर उदान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः चलने लगा। तब प्राण, अपान, समान और व्यानने उससे कहा—'उदान ! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो। केवल व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच

ततस्तानब्रवीद् ब्रह्मा समवेतान् प्रजापतिः।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—तदनन्तर वे सभी प्राण ब्रह्माजीके पास एकत्र हुए। उस समय उन सबसे प्रजापति ब्रह्माने कहा—'वायुगण ! तुम सभी श्रेष्ठ हो। अथवा तुममेंसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। तुम सबका धारणरूप धर्म एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ २१ ॥

सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः।
इति तानब्रवीत् सर्वान् समवेतान् प्रजापतिः ॥ २२ ॥

'सभी अपने-अपने स्थानपर श्रेष्ठ हो और सबका धर्म एक दूसरेपर अवलम्बित है।' इस प्रकार वहाँ एकत्र हुए सब प्राणोंसे प्रजापतिने फिर कहा—॥ २२ ॥

एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात् पञ्च वायवः।
एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥ २३ ॥

'एक ही वायु स्थिर और अस्थिररूपसे विराजमान है। उसीके विशेष भेदसे पाँच वायु होते हैं। इस तरह एक ही मेरा आत्मा अनेक रूपोंमें वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम्।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥ २४ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम कुशलपूर्वक जाओ और एक दूसरेके हितैषी रहकर परस्परकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाते हुए एक दूसरेको धारण किये रहो' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

देवर्षि नारद और देवमतका संवाद एवं उदानके उत्कृष्ट रूपका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! इस विषयमें देवर्षि नारद और देवमतके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

देवमत उवाच

जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥ २ ॥

देवमतने पूछा—देवर्षे! जब जीव जन्म लेता है, उस समय सबसे पहले उसके शरीरमें किसकी प्रवृत्ति होती है? प्राण, अपान, समान, व्यान अथवा उदानकी? ॥ २ ॥

नारद उवाच

येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम्।
प्राणद्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—मुने! जिस निमित्त कारणसे इस जीवकी उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी पहले कारणरूपसे उपस्थित होता है। वह है प्राणोंका द्वन्द्व। जो ऊपर (देवलोक), तिर्यक् (मनुष्यलोक) और अधोलोक (पशु-आदि) में व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३ ॥

देवमत उवाच

केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम्।
प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ४ ॥

देवमतने पूछा—नारदजी! किस निमित्त कारणसे इस जीवकी सृष्टि होती है? दूसरा कौन पदार्थ पहले कारणरूपसे उपस्थित होता है तथा प्राणोंका द्वन्द्व क्या है, जो ऊपर, मध्यमें और नीचे व्याप्त है? ॥ ४ ॥

नारद उवाच

संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते।
रसात् संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—मुने! संकल्पसे हर्ष उत्पन्न होता है, मनोनुकूल शब्दसे, रससे और रूपसे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

शुक्राच्छोणितसंसृष्टात् पूर्वं प्राणः प्रवर्तते।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

रजमें मिले हुए वीर्यसे पहले प्राण आकर उसमें कार्य आरम्भ करता है। उस प्राणसे वीर्यमें विकार उत्पन्न होनेपर फिर अपानकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

शुक्रात् संजायते चापि रसादपि च जायते।
एतद् रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ॥ ७ ॥

शुक्रसे और रससे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है, यह हर्ष ही उदानका रूप है। उक्त कारण और कार्यरूप जो मिथुन है, उन दोनोंके बीचमें हर्ष व्याप्त होकर स्थित है ॥ ७ ॥

कामात् संजायते शुक्रं शुक्रात् संजायते रजः।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥ ८ ॥

प्रवृत्तिके मूलभूत कामसे वीर्य उत्पन्न होता है। उससे रजकी उत्पत्ति होती है। ये दोनों वीर्य और रज समान और व्यानसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये सामान्य कहलाते हैं ॥ ८ ॥

प्राणापानाविदं द्वन्द्वमवाक् चोर्ध्वं च गच्छतः।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यग् द्वन्द्वत्वमुच्यते॥ ९ ॥

प्राण और अपान—ये दोनों भी द्वन्द्व हैं। ये नीचे और ऊपरको जाते हैं। व्यान और समान—ये दोनों मध्यगामी द्वन्द्व कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

अग्निर्वै देवताः सर्वा इति देवस्य शासनम्।
संजायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥ १० ॥

अग्नि अर्थात् परमात्मा ही सम्पूर्ण देवता हैं। यह वेद उन परमेश्वरकी आज्ञारूप है। उस वेदसे ही ब्राह्मणमें बुद्धियुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

तस्य धूमस्तमो रूपं रजो भस्मसु तेजसः।
सर्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥ ११ ॥

उस अग्निका धुआँ तमोमय और भस्म रजोमय है।

जिसके निमित्त हविष्यकी आहुति दी जाती है, उस अग्निसे (प्रकाशस्वरूप परमेश्वरसे) यह सारा जगत् उत्पन्न होता है ॥

सत्त्वात् समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः।
प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ॥ १२ ॥
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः।
निर्द्वन्द्वमिति यत् त्वेतत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ १३ ॥

यज्ञवेत्ता पुरुष यह जानते हैं कि सत्त्वगुणसे समान और व्यानकी उत्पत्ति होती है । प्राण और अपान आज्यभाग नामक दो आहुतियोंके समान हैं। उनके मध्यभागमें अग्निकी स्थिति है। यही उदानका उत्कृष्ट रूप है, जिसे ब्राह्मणलोग जानते हैं। जो निर्द्वन्द्व कहा गया है, उसे भी बताता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो ॥ १२-१३ ॥

अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १४ ॥

ये दिन और रात द्वन्द्व हैं, इनके मध्यभागमें अग्नि हैं। ब्राह्मणलोग इसीको उदानका उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥१४॥

सच्चासच्चैव तद् द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १५ ॥

सत् और असत्–ये दोनों द्वन्द्व हैं तथा इनके मध्यभागमें अग्नि हैं । ब्राह्मणलोग इसे उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत्।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥ १६ ॥

ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्म जिस संकल्पनामक हेतुसे समान और व्यानरूप होता है, उसीसे कर्मका विस्तार होता है। अतः संकल्पको रोकना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्नके अतिरिक्त जो तीसरी अवस्था है, उससे उपलक्षित ब्रह्मका समानके द्वारा ही निश्चय होता है ॥ १६ ॥

शान्त्यर्थं व्यानमेकं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम्।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १७ ॥

एकमात्र व्यान शान्तिके लिये है। शान्ति सनातन ब्रह्म है। ब्राह्मणलोग इसीको उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

चातुर्होम यज्ञका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! इसी विषयमें चार होताओंसे युक्त यज्ञका जैसा विधान है, उसको बतानेवाले इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

तस्य सर्वस्य विधिवद् विधानमुपदिश्यते।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥ २ ॥

भद्रे ! उस सबके विधि-विधानका उपदेश किया जाता है। तुम मेरे मुखसे इस अद्भुत रहस्यको सुनो ॥ २ ॥

करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनि।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ ३ ॥

भामिनि ! करण, कर्म, कर्ता और मोक्ष–ये चार होता हैं, जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् आवृत है ॥ ३ ॥

हेतूनां साधनं चैव शृणु सर्वमशेषतः।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम्।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥ ४ ॥

इनके जो हेतु हैं, उन्हें युक्तियोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। वह सब पूर्णरूपसे सुनो। घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा, पाँचवाँ कान तथा मन और बुद्धि–ये सात कारणरूप हेतु गुणमय जानने चाहिये ॥ ४ ॥

गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥ ५ ॥

गन्ध, रस, रूप, शब्द, पाँचवाँ स्पर्श तथा मन्तव्य और बोद्धव्य-ये सात विषय कर्मरूप हेतु हैं ॥ ५ ॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ॥ ६ ॥

सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, बोलनेवाला, पाँचवाँ सुननेवाला तथा मनन करनेवाला और निश्चयात्मक बोध प्राप्त करनेवाला–ये सात कर्तारूप हेतु हैं ॥ ६ ॥

स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम्।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ॥ ७ ॥

ये घ्राण आदि इन्द्रियाँ गुणवान् हैं, अतः अपने शुभाशुभ विषयोंरूप गुणोंका उपभोग करती हैं। मैं निर्गुण और अनन्त हूँ, (इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; यह समझ लेनेपर) ये सातों—घ्राण आदि मोक्षके हेतु होते हैं ॥ ७ ॥

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ॥ ८ ॥

विभिन्न विषयोंका अनुभव करनेवाले विद्वानोंके घ्राण आदि अपने-अपने स्थानको विधिपूर्वक जानते हैं और देवतारूप होकर सदा हविष्यका भोग करते हैं ॥ ८ ॥

अदन्नन्नान्यथोऽविद्वान् ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थं पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ॥ ९ ॥

अज्ञानी पुरुष अन्न भोजन करते समय उसके प्रति ममत्वसे युक्त हो जाता है । इसी प्रकार जो अपने लिये भोजन पकाता है, वह भी ममत्व दोषसे मारा जाता है ॥ ९ ॥

अभक्ष्यभक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तं चान्नं स हत्वा हन्यते पुनः ॥ १० ॥

वह अभक्ष्य-भक्षण और मद्यपान-जैसे दुर्व्यसनोंको भी अपना लेता है, जो उसके लिये घातक होते हैं । वह भक्षणके द्वारा उस अन्नकी हत्या करता है और उसकी हत्या करके वह स्वयं भी उसके द्वारा मारा जाता है ॥ १० ॥

हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः ।
न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥

जो विद्वान् इस अन्नको खाता है, अर्थात् अन्नसे उपलक्षित समस्त प्रपञ्चको अपने आपमें लीन कर देता है, वह ईश्वर—सर्वसमर्थ होकर पुनः अन्न आदिका जनक होता है । उस अन्नसे उस विद्वान् पुरुषमें कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दोष भी नहीं उत्पन्न होता ॥ ११ ॥

मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ॥ १२ ॥
स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनःषष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥ १३ ॥
गुणवत्पावको मह्यं दीप्यतेऽन्तःशरीरगः ।

जो मनसे अवगत होता है, वाणीद्वारा जिसका कथन होता है, जिसे कानसे सुना और आँखसे देखा जाता है, जिसको त्वचासे छूआ और नासिकासे सूँघा जाता है । इन मन्तव्य आदि छहों विषयरूपी हविष्योंका मन आदि छहों इन्द्रियोंके संयमपूर्वक अपने आपमें होम करना चाहिये । उस होमके अधिष्ठानभूत गुणवान् पावकरूप परमात्मा मेरे तन-मनके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १२-१३½ ॥

योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवह्निप्रदोद्भवः ।
प्राणस्तोत्रोऽपानशस्त्रः सर्वत्यागसुदक्षिणः ॥ १४ ॥

मैंने योगरूपी यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया है । इस यज्ञका उद्भव ज्ञानरूपी अग्निको प्रकाशित करनेवाला है । इसमें प्राण ही स्तोत्र है, अपान शस्त्र है और सर्वस्वका त्याग ही उत्तम दक्षिणा है ॥ १४ ॥

कर्तानुमन्ता ब्रह्मात्मा होताध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
ऋतं प्रशास्ता तच्छस्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ॥ १५ ॥

कर्ता (अहंकार), अनुमन्ता (मन) और आत्मा (बुद्धि)–ये तीनों ब्रह्मरूप होकर क्रमशः होता, अध्वर्यु और उद्गाता हैं । सत्यभाषण ही प्रशास्ताका शस्त्र है और अपवर्ग (मोक्ष) ही उस यज्ञकी दक्षिणा है ॥ १५ ॥

ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यदविन्दन् पशून् पुरा ॥ १६ ॥

नारायणको जाननेवाले पुरुष इस योगयज्ञके प्रमाणमें ऋचाओंका भी उल्लेख करते हैं । पूर्वकालमें भगवान् नारायणदेवकी प्राप्तिके लिये भक्त पुरुषोंने इन्द्रियरूपी पशुओंको अपने अधीन किया था ॥ १६ ॥

तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायणं भीरु सर्वात्मानं निबोध तम् ॥ १७ ॥

भगवत्प्राप्ति हो जानेपर परमानन्दसे परिपूर्ण हुए सिद्ध पुरुष जो सामगान करते हैं, उसका दृष्टान्त तैत्तिरीय उपनिषद्के विद्वान् 'एतत् सामगायन्नास्ते' इत्यादि मन्त्रोंके रूपमें उपस्थित करते हैं । भीरु ! तुम उस सर्वात्मा भगवान् नारायणदेवका ज्ञान प्राप्त करो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिक पर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अन्तर्यामीकी प्रधानता

ब्राह्मण उवाच

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! जगत्का शासक एक ही है, दूसरा नहीं । जो हृदयके भीतर विराजमान है, उस परमात्माको ही मैं सबका शासक बतला रहा हूँ । जैसे पानी ढालू स्थानसे नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही उस—परमात्माकी प्रेरणासे मैं जिस तरहके कार्यमें नियुक्त होता हूँ,

उसीका पालन करता रहता हूँ ॥ १ ॥

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
पराभूता दानवाः सर्व एव ॥ २ ॥

एक ही गुरु है दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ । उसी गुरुके अनुशासनसे समस्त दानव हार गये हैं ॥ २ ॥

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः
सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रभान्ति ॥ ३ ॥

एक ही बन्धु है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं है । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं बन्धु कहता हूँ । उसीके उपदेशसे बान्धवगण बन्धुमान् होते हैं और सप्तर्षि लोग आकाशमें प्रकाशित होते हैं ॥ ३ ॥

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य
शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥ ४ ॥

एक ही श्रोता है, दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित परमात्मा है, उसीको मैं श्रोता कहता हूँ । इन्द्रने उसीको गुरु मानकर गुरुकुलवासका नियम पूरा किया अर्थात् शिष्यभावसे वे उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें गये । इससे उन्हें सम्पूर्ण लोकोंका साम्राज्य और अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥ ५ ॥

एक ही शत्रु है, दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ । उसी गुरुकी प्रेरणासे जगत्के सारे साँप सदा द्वेषभावसे युक्त रहते हैं ॥५॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें सर्पों, देवताओं और ऋषियोंकी प्रजापतिके साथ जो बातचीत हुई थी, उस प्राचीन इतिहासके जानकार लोग उस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६ ॥

देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम् ।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति ॥ ७ ॥

एक बार देवता, ऋषि, नाग और असुरोंने प्रजापतिके पास बैठकर पूछा—'भगवन् ! हमारे कल्याणका क्या उपाय है ? यह बताइये' ॥ ७ ॥

तेषां प्रोवाच भगवाञ्श्रेयः समनुपृच्छताम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन् दिशः ॥ ८ ॥

कल्याणकी बात पूछनेवाले उन महानुभावोंका प्रश्न सुनकर भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीने एकाक्षर ब्रह्म—ॐकारका उच्चारण किया । उनका प्रणवनाद सुनकर सब लोग अपनी-अपनी दिशा (अपने-अपने स्थान) की ओर भाग चले ॥ ८ ॥

तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः ।
सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ॥ ९ ॥
असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥ १० ॥

फिर उन्होंने उस उपदेशके अर्थपर जब विचार किया, तब सबसे पहले सर्पोंके मनमें दूसरोंके डँसनेका भाव पैदा हुआ, असुरोंमें स्वाभाविक दम्भका आविर्भाव हुआ तथा देवताओंने दानको और महर्षियोंने दमको ही अपनानेका निश्चय किया ॥ ९-१० ॥

एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥ ११ ॥

इस प्रकार सर्प, देवता, ऋषि और दानव—ये सब एक ही उपदेशक गुरुके पास गये थे और एक ही शब्दके उपदेशसे उनकी बुद्धिका संस्कार हुआ तो भी उनके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न हो गये ॥ ११ ॥

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छातस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ॥ १२ ॥

श्रोता गुरुके कहे हुए उपदेशको सुनता है और उसको जैसे-तैसे (भिन्न-भिन्न रूपमें) ग्रहण करता है । अतः प्रश्न पूछनेवाले शिष्यके लिये अपने अन्तर्यामीसे बढ़कर दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १२ ॥

तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात् प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः ॥ १३ ॥

पहले वह कर्मका अनुमोदन करता है, उसके बाद जीवकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार हृदयमें प्रकट होनेवाला परमात्मा ही गुरु, ज्ञानी, श्रोता और द्वेष्टा है ॥ १३ ॥

पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत ॥ १४ ॥

संसारमें जो पाप करते हुए विचरता है, वह पापाचारी और जो शुभ कर्मोंका आचरण करता है, वह शुभाचारी कहलाता है ॥ १४ ॥

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः॥ १५॥

इसी तरह कामनाओंके द्वारा इन्द्रियसुखमें परायण मनुष्य कामचारी और इन्द्रियसंयममें प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है॥ १५॥

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्॥ १६॥

जो व्रत और कर्मोंका त्याग करके केवल ब्रह्ममें स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसारमें विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है॥ १६॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः॥ १७॥

ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है। उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्ममें ही लीन रहती हैं॥ १७॥

एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः॥ १८॥

विद्वानोंने इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है। तत्त्वदर्शीका उपदेश पाकर प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष इस ब्रह्मचर्यके स्वरूपको जानकर सदा उसका पालन करते रहते हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अध्यात्मविषयक महान् वनका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम्।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम्॥ १॥
विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम्।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद् वनम्॥ २॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! जहाँ संकल्परूपी डाँस और मच्छरोंकी अधिकता होती है। शोक और हर्षरूपी गर्मी, सर्दीका कष्ट रहता है, मोहरूपी अन्धकार फैला हुआ है, लोभ तथा व्याधिरूपी सर्प विचरा करते हैं। जहाँ विषयोंका ही मार्ग है, जिसे अकेले ही तै करना पड़ता है तथा जहाँ काम और क्रोधरूपी शत्रु डेरा डाले रहते हैं, उस संसाररूपी दुर्गम पथका उल्लङ्घन करके अब मैं ब्रह्मरूपी महान् वनमें प्रवेश कर चुका हूँ॥ १-२॥

ब्राह्मण्युवाच

क तद् वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद् वनम्॥ ३॥

ब्राह्मणीने पूछा—महाप्राज्ञ! वह वन कहाँ है? उसमें कौन-कौनसे वृक्ष, गिरि, पर्वत और नदियाँ हैं तथा वह कितनी दूरीपर है॥ ३॥

ब्राह्मण उवाच

नैतदस्ति पृथग्भावः किंचिदन्यत् ततः सुखम्।
नैतदस्त्यपृथग्भावः किंचिद् दुःखतरं ततः॥ ४॥

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! उस वनमें न भेद है न अभेद, वह इन दोनोंसे अतीत है। वहाँ लौकिक सुख और दुःख दोनोंका अभाव है॥ ४॥

तस्माद्ध्रस्वतरं नास्ति न ततोऽस्ति महत्तरम्।
नास्ति तस्मात् सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत् तत्समं सुखम्॥ ५॥

उससे अधिक छोटी, उससे अधिक बड़ी और उससे अधिक सूक्ष्म भी दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसके समान सुखरूप भी कोई नहीं है॥ ५॥

न तत्राविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः।
न च बिभ्यति केषांचित् तेभ्यो बिभ्यति केचन॥ ६॥

उस वनमें प्रविष्ट हो जानेपर द्विजातियोंको न हर्ष होता है, न शोक। न तो वे स्वयं किन्हीं प्राणियोंसे डरते हैं और न उन्हींसे दूसरे कोई प्राणी भय मानते हैं॥ ६॥

तस्मिन् वने सप्त महाद्रुमाश्च
फलानि सप्तातिथयश्च सप्त।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च
दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम्॥ ७॥

वहाँ सात बड़े-बड़े वृक्ष हैं, सात उन वृक्षोंके फल हैं तथा सात ही उन फलोंके भोक्ता अतिथि हैं। सात आश्रम हैं। वहाँ सात प्रकारकी समाधि और सात प्रकारकी दीक्षाएँ हैं। यही उस वनका स्वरूप है॥ ७॥

पञ्चवर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम्॥ ८॥

वहाँके वृक्ष पाँच प्रकारके रंगोंके दिव्य पुष्पों और फलोंकी सृष्टि करते हुए सब ओरसे वनको व्याप्त करके स्थित हैं॥ ८॥

सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम्॥ ९॥

वहाँ दूसरे वृक्षोंने सुन्दर दो रंगवाले पुष्प और फल उत्पन्न करते हुए उस वनको सब ओरसे व्याप्त कर रखा है ॥

सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ १० ॥

तीसरे वृक्ष वहाँ सुगन्धयुक्त दो रंगवाले पुष्प और फल प्रदान करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १० ॥

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ॥ ११ ॥

चौथे वृक्ष सुगन्धयुक्त केवल एक रंगवाले पुष्प और फलोंकी सृष्टि करते हुए उस वनके सब ओर फैले हैं ॥ ११ ॥

बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद् वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १२ ॥

वहाँ दो महावृक्ष बहुत-से अव्यक्त रंगवाले पुष्प और फलोंकी रचना करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥

एको वह्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र
पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति ।
तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलन्ति दीक्षा
गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ॥ १३ ॥

उस वनमें एक ही अग्नि है, जीव शुद्धचेता ब्राह्मण है, पाँच इन्द्रियाँ समिधाएँ हैं । उनसे जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह सात प्रकारका है । इस यज्ञकी दीक्षाका फल अवश्य होता है । गुण ही फल है । सात अतिथि ही फलोंके भोक्ता हैं ॥

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः ।
अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद् रोचते वनम् ॥ १४ ॥

वे महर्षिगण इस यज्ञमें आतिथ्य ग्रहण करते हैं और पूजा स्वीकार करते ही उनका लय हो जाता है । तत्पश्चात् वह ब्रह्मरूप वन विलक्षणरूपसे प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १५ ॥

उसमें प्रज्ञारूपी वृक्ष शोभा पाते हैं, मोक्षरूपी फल लगते हैं और शान्तिमयी छाया फैली रहती है । ज्ञान वहाँका आश्रयस्थान और तृप्ति जल है । उस वनके भीतर आत्मारूपी सूर्यका प्रकाश छाया रहता है ॥ १५ ॥

येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥ १६ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष उस वनका आश्रय लेते हैं, उन्हें फिर कभी भय नहीं होता । वह वन ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर सब ओर व्याप्त है । उसका कहीं भी अन्त नहीं है ॥ १६ ॥

सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्य-
स्त्ववाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः ।
ऊर्ध्वं रसानाददते प्रजाभ्यः
सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ॥ १७ ॥

वहाँ सात स्त्रियाँ निवास करती हैं, जो लज्जाके मारे अपना मुँह नीचेकी ओर किये रहती हैं । वे चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशित होती हैं । वे सबकी जननी हैं और वे उस वनमें रहनेवाली प्रजासे सब प्रकारके उत्तम रस उसी प्रकार ग्रहण करती हैं, जैसे अनित्यता सत्यको ग्रहण करती है ॥ १७ ॥

तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयन्ति च ।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखैः सह ॥ १८ ॥

सात सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठ आदिके साथ उसी वनमें लीन होते और उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः ।
एवमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥ १९ ॥

यश, प्रभा, भग (ऐश्वर्य), विजय, सिद्धि (ओज) और तेज—ये सात ज्योतियाँ उपर्युक्त आत्मारूपी सूर्यका ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः ।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसम्भवम् ॥ २० ॥

उस ब्रह्मतत्त्वमें ही गिरि, पर्वत, झरनें, नदी और सरिताएँ स्थित हैं, जो ब्रह्मजनित जल बहाया करती हैं ॥ २० ॥

नदीनां सङ्गमश्चैव वैताने समुपह्वरे ।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षाद्देव पितामहम् ॥ २१ ॥

नदियोंका सङ्गम भी उसीके अत्यन्त गूढ़ हृदयाकाशमें संक्षेपसे होता है । जहाँ योगरूपी यज्ञका विस्तार होता रहता है । वही साक्षात् पितामहका स्वरूप है । आत्मज्ञानसे तृप्त पुरुष उसीको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
आत्मन्यात्मानमाविश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥ २२ ॥

जिनकी आशा क्षीण हो गयी है, जो उत्तम व्रतके पालनकी इच्छा रखते हैं । तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं । वे ही पुरुष अपनी बुद्धिको आत्मनिष्ठ करके परब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥

शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः ।
तदारण्यमभिप्रेत्य यथाधीरभिजायत ॥ २३ ॥

विद्या (ज्ञान) के ही प्रभावसे ब्रह्मरूपी वनका स्वरूप समझमें आता है । इस बातको जाननेवाले मनुष्य इस वनमें प्रवेश करनेके उद्देश्यसे शम (मनोनिग्रह) की ही प्रशंसा करते हैं, जिससे बुद्धि स्थिर होती है ॥ २३ ॥

एतदेवेदृशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिता ॥ २४ ॥

ब्राह्मण ऐसे गुणवाले इस पवित्र वनको जानते हैं और तत्त्वदर्शीके उपदेशसे प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म-वनको शास्त्रतः जानकर शम आदि साधनोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीतासम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

ज्ञानी पुरुषकी स्थिति तथा अध्वर्यु और यतिका संवाद*

ब्राह्मण उवाच

गन्धान् न जिघ्रामि रसान् न वेद्मि
रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि।
न चापि शब्दान् विविधाञ्छृणोमि
न चापि संकल्पमुपैमि कंचित् ॥ १ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—मैं न तो गन्धोंको सूँघता हूँ, न रसोंका आस्वादन करता हूँ; न रूपको देखता हूँ, न किसी वस्तुका स्पर्श करता हूँ, न नाना प्रकारके शब्दोंको सुनता हूँ और न कोई संकल्प ही करता हूँ ॥ १ ॥

अर्थानिष्टान् कामयते स्वभावः
सर्वान् द्वेष्यान् प्रद्विषते स्वभावः।
कामद्वेषावुद्भवतः स्वभावात्
प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ॥ २ ॥

स्वभाव ही अभीष्ट पदार्थोंकी कामना रखता है, स्वभाव ही सम्पूर्ण द्वेष्य वस्तुओंके प्रति द्वेष करता है। जैसे प्राण और अपान स्वभावसे ही प्राणियोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर अन्न-पाचन आदिका कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार स्वभावसे ही राग और द्वेषकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि बुद्धि आदि इन्द्रियाँ स्वभावसे ही पदार्थोंमें बर्त रही हैं ॥ २ ॥

तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च भावान्
भूतात्मानं लक्षयेरञ्शरीरे।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्
कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ॥ ३ ॥

इन बाह्य इन्द्रियों और विषयोंसे भिन्न जो स्वप्न और सुषुप्तिके वासनामय विषय एवं इन्द्रियाँ हैं तथा उनमें भी जो नित्यभाव हैं, उनसे भी विलक्षण जो भूतात्मा है, उसको शरीरके भीतर योगीजन देख पाते हैं। उसी भूतात्मामें स्थित हुआ मैं कहीं किसी तरह भी काम, क्रोध, जरा और मृत्युसे ग्रस्त नहीं होता॥

अकामयानस्य च सर्वकामा-
नविद्विषाणस्य च सर्वदोषान्।
न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपा-
स्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु ॥ ४ ॥

मैं सम्पूर्ण कामनाओंमेंसे किसीकी कामना नहीं करता। समस्त दोषोंसे भी कभी द्वेष नहीं करता। जैसे कमलके पत्तोंपर जल-बिन्दुका लेप नहीं होता, उसी प्रकार मेरे स्वभावमें राग और द्वेषका स्पर्श नहीं है ॥ ४ ॥

नित्यस्य चैतस्य भवन्त्यनित्या
निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावान्।
न सज्जते कर्मसु भोगजालं
दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम् ॥ ५ ॥

जिनका स्वभाव बहुत प्रकारका है, उन इन्द्रिय आदिको देखनेवाले इस नित्यस्वरूप आत्माके लिये सब भोग अनित्य हो जाते हैं। अतः वे भोगसमुदाय उस विद्वान्‌को उसी प्रकार कर्मोंमें लिप्त नहीं कर सकते, जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंका समुदाय सूर्यको लिप्त नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि ॥ ६ ॥

यशस्विनि! इस विषयमें अध्वर्यु और यतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, तुम उसे सुनो॥

प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाब्रवीत्।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् ॥ ७ ॥

किसी यज्ञ-कर्ममें पशुका प्रोक्षण होता देख वहीं बैठे हुए एक यतिने अध्वर्युसे उसकी निन्दा करते हुए कहा—'यह हिंसा है। (अतः इससे पाप होगा)' ॥ ७ ॥

तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ॥ ८ ॥

अध्वर्युने यतिको इस प्रकार उत्तर दिया—'यह बकरा नष्ट नहीं होगा। यदि 'पशुर्वै नीयमानः' इत्यादि श्रुति सत्य है तो यह जीव कल्याणका ही भागी होगा ॥ ८ ॥

* यह अध्याय क्षेपक हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि इसमें यह बात कही गयी है कि बुद्धि और इन्द्रियोंमें राग-द्वेषके रहते हुए भी विद्वान् कर्मोंमें लिप्त नहीं होता और यज्ञमें पशु-हिंसाका दोष नहीं लगता। किंतु यह कथन युक्तिविरुद्ध है।

यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत् सम्प्रवेक्ष्यति ॥ ९ ॥

'इसके शरीरका जो पार्थिव भाग है, वह पृथ्वीमें विलीन हो जायगा। इसका जो कुछ भी जलीय भाग है, वह जलमें प्रविष्ट हो जायगा ॥ ९ ॥

सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १० ॥

'नेत्र सूर्यमें, कान दिशाओंमें और प्राण आकाशमें ही लयको प्राप्त होगा। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करनेवाले मुझको कोई दोष नहीं लगेगा' ॥ १० ॥

यतिरुवाच

प्राणैर्वियोगे च्छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥ ११ ॥

यतिने कहा—यदि तुम बकरेके प्राणोंका वियोग हो जानेपर भी उसका कल्याण ही देखते हो, तब तो यह यज्ञ उस बकरेके लिये ही हो रहा है। तुम्हारा इस यज्ञसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति च।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥ १२ ॥

श्रुति कहती है 'पशो ! इस विषयमें तुझे तेरे भाई, पिता, माता और सखाकी अनुमति प्राप्त होनी चाहिये।' इस श्रुतिके अनुसार विशेषतः पराधीन हुए इस पशुको ले जाकर इसके पिता-माता आदिसे अनुमति लो (अन्यथा तुझे हिंसाका दोष अवश्य प्राप्त होगा) ॥ १२ ॥

एवमेवानुमन्येरंस्तान् भवान् द्रष्टुमर्हति।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ॥ १३ ॥

पहले तुम्हें इस पशुके उन सम्बन्धियोंसे मिलना चाहिये। यदि वे भी ऐसा ही करनेकी अनुमति दे दें, तब उनका अनुमोदन सुनकर तदनुसार विचार कर सकते हो ॥ १३ ॥

प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥ १४ ॥

तुमने इस छागकी इन्द्रियोंको उनके कारणोंमें विलीन कर दिया है। मेरे विचारसे अब तो केवल इसका निश्चेष्ट शरीर ही अवशिष्ट रह गया है ॥ १४ ॥

इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा।
हिंसानिर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ॥ १५ ॥

यह चेतनाशून्य जड शरीर ईंधनके ही समान है, उससे हिंसाके प्रायश्चित्तकी इच्छासे यज्ञ करनेवालोंके लिये ईंधन ही पशु है (अतः जो काम ईंधनसे होता है, उसके लिये पशु-हिंसा क्यों की जाय ?) ॥ १५ ॥

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम्।
यदहिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्यमिति विद्महे ॥ १६ ॥

वृद्ध पुरुषोंका यह उपदेश है कि अहिंसा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, जो कार्य हिंसासे रहित हो वही करने योग्य है, यही हमारा मत है ॥ १६ ॥

अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम्।
शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्यदूषणम् ॥ १७ ॥

इसके बाद भी यदि मैं कुछ कहूँ तो यही कह सकता हूँ कि सबको यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि 'मैं अहिंसा-धर्मका पालन करूँगा।' अन्यथा आपके द्वारा नाना प्रकारके कार्य-दोष सम्पादित हो सकते हैं ॥ १७ ॥

अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना ही हमें सदा अच्छा लगता है। हम प्रत्यक्ष फलके साधक हैं, परोक्षकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १८ ॥

अध्वर्युरुवाच

भूमेर्गन्धगुणान् भुंङ्क्षे पिबस्यापोमयान् रसान्।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान् गुणान् ॥ १९ ॥
शृणोष्याकाशजाञ्शब्दान् मनसा मन्यसे मतिम्।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥ २० ॥

अध्वर्युने कहा—यते ! यह तो तुम मानते ही हो कि सभी भूतोंमें प्राण है, तो भी तुम पृथ्वीके गन्ध गुणोंका उपभोग करते हो, जलमय रसोंको पीते हो, तेजके गुण रूपका दर्शन करते हो और वायुके गुण स्पर्शको छूते हो, आकाशजनित शब्दोंको सुनते हो और मनसे मतिका मनन करते हो ॥ १९-२० ॥

प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसायां वर्तते भवान्।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज ॥ २१ ॥

एक ओर तो तुम किसी प्राणीके प्राण लेनेके कार्यसे निवृत्त हो और दूसरी ओर हिंसामें लगे हुए हो ! द्विजवर ! कोई भी चेष्टा हिंसाके बिना नहीं होती। फिर तुम कैसे समझते हो कि तुम्हारेद्वारा अहिंसाका ही पालन हो रहा है ? ॥ २१ ॥

यतिरुवाच

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ॥ २२ ॥

यतिने कहा—आत्माके दो रूप हैं—एक अक्षर और दूसरा क्षर। जिसकी सत्ता तीनों कालोंमें कभी नहीं मिटती वह सत्स्वरूप अक्षर (अविनाशी) कहा गया है तथा जिसका सर्वथा और सभी कालोंमें अभाव है, वह क्षर कहलाता है ॥

प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥ २३ ॥

समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात् परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २४ ॥

प्राण, जिह्वा, मन और रजोगुणसहित सत्त्वगुण—ये रज अर्थात् मायासहित सद्भाव हैं । इन भावोंसे मुक्त निर्द्वन्द्व, निष्काम, समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेवाले, ममता-रहित, जितात्मा तथा सब ओरसे बन्धनशून्य पुरुषको कभी और कहीं भी भय नहीं होता ॥ २३-२४ ॥

अध्वर्युरुवाच

सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर ।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥ २५ ॥
भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतिपन्नो ब्रवीम्यहम् ।
व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज ॥ २६ ॥

अध्वर्युने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ यते ! इस जगत्में आप-जैसे साधुपुरुषोंके साथ ही निवास करना उचित है । आपका यह मत सुनकर मेरी बुद्धिमें भी ऐसी ही प्रतीति हो रही है । भगवन् ! विप्रवर ! मैं आपकी बुद्धिसे ज्ञानसम्पन्न होकर यह बात कह रहा हूँ कि वेदमन्त्रोंद्वारा निश्चित किये हुए व्रतका ही मैं पालन कर रहा हूँ । अतः इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है ॥ २५-२६ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततः परम् ।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥ २७ ॥

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये ! अध्वर्युकी दी हुई युक्तिसे वह यति चुप हो गया और फिर कुछ नहीं बोला । फिर अध्वर्यु भी मोहरहित होकर उस महायज्ञमें अग्रसर हुआ ॥

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ॥ २८ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण मोक्षका ऐसा ही अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप बताते हैं और तत्त्वदर्शी पुरुषके उपदेशके अनुसार उस मोक्ष-धर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षत्रिय-कुलका संहार

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—भामिनि ! इस विषयमें भी कार्तवीर्य और समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् ।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥ २ ॥

पूर्वकालमें कार्तवीर्य अर्जुनके नामसे प्रसिद्ध एक राजा था, जिसकी एक हजार भुजाएँ थीं । उसने केवल धनुष-बाणकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको अपने अधिकारमें कर लिया था ॥ २ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन् बलदर्पितः ।
अवाकिरच्छरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

सुना जाता है, एक दिन राजा कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचर रहा था । वहाँ उसने अपने बलके घमंडमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे समुद्रको आच्छादित कर दिया ॥ ३ ॥

तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह ।
मा मुञ्च वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४ ॥
मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः ।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥ ५ ॥

तब समुद्रने प्रकट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा—'वीरवर ! राजसिंह ! मुझपर



बाणोंकी वर्षा न करो । बोलो, तुम्हारी किस आज्ञाका पालन करूँ ? शक्तिशाली नरेश्वर ! तुम्हारे छोड़े हुए इन महान्

बाणोंसे मेरे अंदर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय-दान करो' ॥ ४-५ ॥

अर्जुन उवाच

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित्।
विद्यते तं समाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥ ६ ॥

कार्तवीर्य अर्जुन बोला—समुद्र ! यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्धमें मेरा मुकाबला कर सके तो उसका पता बता दो। फिर मैं तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा ॥ ६ ॥

समुद्र उवाच

महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन् परिश्रुतः।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत् कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

समुद्रने कहा—राजन् ! यदि तुमने महर्षि जमदग्निका नाम सुना हो तो उन्हींके आश्रमपर चले जाओ। उनके पुत्र परशुरामजी तुम्हारा अच्छी तरह सत्कार कर सकते हैं ॥ ७ ॥

ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥ ८ ॥
स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥
ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ॥ १० ॥
ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम्।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ॥ ११ ॥

(ब्राह्मणने कहा—) कमलके समान नेत्रोंवाली देवि ! तदनन्तर राजा कार्तवीर्य बड़े क्रोधमें भरकर महर्षि जमदग्निके आश्रमपर परशुरामजीके पास जा पहुँचा और अपने भाई-बन्धुओंके साथ उनके प्रतिकूल बर्ताव करने लगा। उसने अपने अपराधोंसे महात्मा परशुरामजीको उद्विग्न कर दिया। फिर तो शत्रु-सेनाको भस्म करनेवाला अमित तेजस्वी परशुरामजीका तेज प्रज्वलित हो उठा। उन्होंने अपना फरसा उठाया और हजार भुजाओंवाले उस राजाको अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्षकी भाँति सहसा काट डाला ॥ ८—११ ॥

तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः।
असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्यधावयन् ॥ १२ ॥

उसे मरकर जमीनपर पड़ा देख उसके सभी बन्धु-बान्धव एकत्र हो गये तथा हाथोंमें तलवार और शक्तियाँ लेकर परशुरामजीपर चारों ओरसे टूट पड़े ॥ १२ ॥

रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः।
विसृजञ्शरवर्षाणि व्यधमत् पार्थिवं बलम् ॥ १३ ॥

इधर परशुरामजी भी धनुष लेकर तुरंत रथपर सवार हो गये और बाणोंकी वर्षा करते हुए राजाकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः।
विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ १४ ॥

उस समय बहुत-से क्षत्रिय परशुरामजीके भयसे पीड़ित हो सिंहके सताये हुए मृगोंकी भाँति पर्वतोंकी गुफाओंमें घुस गये ॥ १४ ॥

तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम्।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १५ ॥

उन्होंने उनके डरसे अपने क्षत्रियोचित कर्मोंका भी त्याग कर दिया। बहुत दिनोंतक ब्राह्मणोंका दर्शन न कर सकनेके कारण वे धीरे-धीरे अपने कर्म भूलकर शूद्र हो गये ॥ १५ ॥

एवं ते द्रविडाऽऽभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सह।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ॥ १६ ॥

इस प्रकार द्रविड, आभीर, पुण्ड्र और शबरोंके सहवासमें रहकर वे क्षत्रिय होते हुए भी धर्म-त्यागके कारण शूद्रकी अवस्थामें पहुँच गये ॥ १६ ॥

ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् क्षत्रियवीरोंके मारे जानेपर ब्राह्मणोंने उनकी स्त्रियोंसे नियोगकी विधिके अनुसार पुत्र उत्पन्न किये, किंतु उन्हें भी बड़े होनेपर परशुरामजीने फरसेसे काट डाला ॥ १७ ॥

एकविंशतिमेधान्ते रामं वागशरीरिणी।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ॥ १८ ॥

इस प्रकार एक-एक करके जब इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार हो गया, तब परशुरामजीको दिव्य आकाशवाणीने मधुर स्वरमें सब लोगोंके सुनते हुए यह कहा—॥ १८ ॥

राम राम निवर्तस्व कं गुणं तात पश्यसि।
क्षत्रबन्धूनिमान् प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ॥ १९ ॥

'बेटा ! परशुराम ! इस हत्याके कामसे निवृत्त हो जाओ। परशुराम ! भला बारंबार इन बेचारे क्षत्रियोंके प्राण लेनेमें तुम्हें कौन-सा लाभ दिखायी देता है ?' ॥ १९ ॥

तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् ॥ २० ॥

उस समय महात्मा परशुरामजीको उनके पितामह ऋचीक आदिने भी इसी प्रकार समझाते हुए कहा—'महाभाग ! यह काम छोड़ दो, क्षत्रियोंको न मारो' ॥ २० ॥

पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन्।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ॥ २१ ॥

पिताके वधको सहन न करते हुए परशुरामजीने उन ऋषियोंसे इस प्रकार कहा--'आपलोगोंको मुझे इस कामसे निवारण नहीं करना चाहिये' ॥ २१ ॥

पितर ऊचुः

नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर।
नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ॥ २२ ॥

पितर बोले--विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ परशुराम! बेचारे क्षत्रियोंको मारना तुम्हारे योग्य नहीं है; क्योंकि तुम ब्राह्मण हो, अतः तुम्हारे हाथसे राजाओंका वध होना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

अलर्कके ध्यानयोगका उदाहरण देकर पितामहोंका परशुरामजीको समझाना और परशुरामजीका तपस्याके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना

पितर ऊचुः

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत् तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥ १ ॥

पितरोंने कहा--ब्राह्मणश्रेष्ठ! इसी विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, उसे सुनकर तुम्हें वैसा ही आचरण करना चाहिये ॥ १ ॥



अलर्को नाम राजर्षिरभवत् सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः ॥ २ ॥

पहलेकी बात है, अलर्क नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि थे, जो बड़े ही तपस्वी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, महात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ थे ॥ २ ॥

ससागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ॥ ३ ॥

उन्होंने अपने धनुषकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त इस पृथ्वीको जीतकर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम कर दिखाया था। इसके पश्चात् उनका मन सूक्ष्मतत्त्वकी खोजमें लगा ॥ ३ ॥

स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहत्कर्म सूक्ष्मं प्रति महामते ॥ ४ ॥

महामते! वे बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ त्यागकर एक वृक्षके नीचे जा बैठे और सूक्ष्मतत्त्वकी खोजके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगे ॥ ४ ॥

अलर्क उवाच

मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणान् धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः ॥ ५ ॥

अलर्क कहने लगे--मुझे मनसे ही बल प्राप्त हुआ है, अतः वही सबसे प्रबल है। मनको जीत लेनेपर ही मुझे स्थायी विजय प्राप्त हो सकती है। मैं इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे घिरा हुआ हूँ, इसलिये बाहरके शत्रुओंपर हमला न करके इन भीतरी शत्रुओंको ही अपने बाणोंका निशाना बनाऊँगा ॥ ५ ॥

यदिदं चापलात् कर्म सर्वान् मर्त्यांश्चिकीर्षति ।
मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ॥ ६ ॥

यह मन चञ्चलताके कारण सभी मनुष्योंसे तरह-तरहके कर्म कराता रहता है, अतः अब मैं मनपर ही तीखे बाणोंका प्रहार करूँगा ॥ ६ ॥

मन उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ ७ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

मन बोला--अलर्क! तुम्हारे ये बाण मुझे किसी

तरह नहीं बींध सकते। यदि इन्हें चलाओगे तो ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको चीर डालेंगे और मर्मस्थानोंके चीरे जानेपर तुम्हारी ही मृत्यु होगी; अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंका विचार करो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ॥ ७½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

यह सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, इसके बाद वे (नासिकाको लक्ष्य करके) बोले ॥ ८ ॥

अलर्क उवाच

आघ्राय सुबहून् गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माद् घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥९॥

अलर्कने कहा—मेरी यह नासिका अनेकों प्रकारकी सुगन्धियोंका अनुभव करके भी फिर उन्हींकी इच्छा करती है, इसलिये इन तीखे बाणोंको मैं इस नासिकापर ही छोड़ूँगा ॥ ९ ॥

घ्राण उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १० ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

नासिका बोली—अलर्क ! ये बाण मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इनसे तो तुम्हारे ही मर्म विदीर्ण होंगे और मर्मस्थानोंका भेदन हो जानेपर तुम्हीं मरोगे; अतः तुम दूसरे प्रकारके बाणोंका अनुसंधान करो, जिससे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १०½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

नासिकाका यह कथन सुनकर अलर्क कुछ देर विचार करनेके पश्चात् (जिह्वाको लक्ष्य करके) कहने लगे ॥ ११ ॥

अलर्क उवाच

इयं स्वादून् रसान् भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ १२ ॥

अलर्कने कहा—यह रसना स्वादिष्ट रसोंका उपभोग करके फिर उन्हें ही पाना चाहती है। इसलिये अब इसीके ऊपर अपने तीखे सायकोंका प्रहार करूँगा ॥ १२ ॥

जिह्वोवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १३ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

जिह्वा बोली—अलर्क ! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तो तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींधेंगे। मर्मस्थानोंके बिंध जानेपर तुम्हीं मरोगे। अतः दूसरे प्रकारके बाणोंका प्रबन्ध सोचो, जिनकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १३½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

यह सुनकर अलर्क कुछ देरतक सोचते-विचारते रहे, फिर (त्वचापर कुपित होकर) बोले ॥ १४ ॥

अलर्क उवाच

स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्मात् त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ॥ १५ ॥

अलर्कने कहा—यह त्वचा नाना प्रकारके स्पर्शोंका अनुभव करके फिर उन्हींकी अभिलाषा किया करती है, अतः नाना प्रकारके बाणोंसे मारकर इस त्वचाको ही विदीर्ण कर डालूँगा ॥ १५ ॥

त्वगुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १६ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

त्वचा बोली—अलर्क ! ये बाण किसी प्रकार मुझे अपना निशाना नहीं बना सकते। ये तो तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण करेंगे और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मौतके मुखमें पड़ोगे। मुझे मारनेके लिये तो दूसरी तरहके बाणोंकी व्यवस्था सोचो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ॥ १६½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

त्वचाकी बात सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, फिर (श्रोत्रको सुनाते हुए) कहा— ॥ १७ ॥

अलर्क उवाच

श्रुत्वा तु विविधाञ्छब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान् प्रतिमुञ्चाम्यहं शितान् ॥

अलर्क बोले—यह श्रोत्र बारंबार नाना प्रकारके शब्दोंको सुनकर उन्हींकी अभिलाषा करता है; इसलिये मैं इन तीखे बाणोंको श्रोत्र-इन्द्रियके ऊपर चलाऊँगा ॥ १८ ॥

श्रोत्रमुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ॥ १९ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

श्रोत्रने कहा—अलर्क ! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको विदीर्ण करेंगे। तब तुम जीवनसे हाथ धो बैठोगे। अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंकी खोज करो, जिनसे मुझे मार सकोगे ॥ १९½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

यह सुनकर अलर्कने कुछ सोच-विचारकर (नेत्रको सुनाते हुए) कहा ॥ २० ॥

अलर्क उवाच

दृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तानेव प्रतिगृध्यति ।

तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ॥ २१ ॥

अलर्क बोले—यह आँख भी अनेकों बार विभिन्न रूपोंका दर्शन करके पुनः उन्हींको देखना चाहती है। अतः मैं इसे अपने तीखे तीरोंसे मार डालूँगा ॥ २१ ॥

चक्षुरुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २२ ॥
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि।

आँखने कहा—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींध डालेंगे और मर्म विदीर्ण हो जानेपर तुम्हें ही जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा। अतः दूसरे प्रकारके सायकोंका प्रबन्ध सोचो, जिनकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ॥ २२½ ॥

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह सुनकर अलर्कने कुछ देर विचार करनेके बाद (बुद्धिको लक्ष्य करके) यह बात कही ॥ २३ ॥

अलर्क उवाच

इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति।
तस्माद् बुद्धिं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ २४ ॥

अलर्कने कहा—यह बुद्धि अपनी ज्ञानशक्तिसे अनेकों प्रकारका निश्चय करती है, अतः इस बुद्धिपर ही अपने तीक्ष्ण सायकोंका प्रहार करूँगा ॥ २४ ॥

बुद्धिरुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ॥

बुद्धि बोली—अलर्क! ये बाण मेरा किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं कर सकते। इनसे तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण होगा और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मरोगे। जिनकी सहायतासे मुझे मार सकोगे वे बाण तो कोई और ही हैं। उनके विषयमें विचार करो ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच

ततोऽलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम्।
नाध्यगच्छत् परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि! तदनन्तर अलर्कने उसी पेड़के नीचे बैठकर घोर तपस्या की, किंतु उससे मन-बुद्धिसहित पाँचों इन्द्रियोंको मारनेयोग्य किसी उत्तम बाणका पता न चला ॥ २६ ॥

सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत् प्रभुः।
स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ॥ २७ ॥
नाध्यगच्छत् परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः।

तब वे सामर्थ्यशाली राजा एकाग्रचित्त होकर विचार करने लगे। विप्रवर! बहुत दिनोंतक निरन्तर सोचने-विचारनेके बाद बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा अलर्कको योगसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं प्रतीत हुआ ॥ २७½ ॥

स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ॥ २८ ॥
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान्।
योगेनात्मानमाविश्य सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २९ ॥

वे मनको एकाग्र करके स्थिर आसनसे बैठ गये और ध्यानयोगका साधन करने लगे। इस ध्यानयोगरूप एक ही बाणसे मारकर उन बलशाली नरेशने समस्त इन्द्रियोंको सहसा परास्त कर दिया। वे ध्यानयोगके द्वारा आत्मामें प्रवेश करके परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो गये ॥ २८-२९ ॥

विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह।
अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ॥ ३० ॥
भोगतृष्णासमायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम्।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ ३१ ॥

इस सफलतासे राजर्षि अलर्कको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इस गाथाका गान किया—'अहो! बड़े कष्टकी बात है कि अबतक मैं बाहरी कामोंमें ही लगा रहा और भोगोंकी तृष्णासे आबद्ध होकर राज्यकी ही उपासना करता रहा। ध्यानयोगसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम सुखका साधन नहीं है, यह बात तो मुझे बहुत पीछे मालूम हुई है' ॥ ३०-३१ ॥

इति त्वमनुजानीहि राम मा क्षत्रियान् जहि।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३२ ॥

(पितामहोंने कहा—) बेटा परशुराम! इन सब बातोंको अच्छी तरह समझकर तुम क्षत्रियोंका नाश न करो। घोर तपस्यामें लग जाओ, उसीसे तुम्हें कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

अपने पितामहोंके इस प्रकार कहनेपर महान् सौभाग्यशाली जमदग्निनन्दन परशुरामजीने कठोर तपस्या की और इससे उन्हें परम दुर्लभ सिद्धि प्राप्त हुई ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

राजा अम्बरीषकी गायी हुई आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा

ब्राह्मण उवाच

त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ १ ॥
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! संसारमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन मेरे शत्रु हैं । ये वृत्तियोंके भेदसे नौ प्रकारके माने गये हैं । हर्ष, प्रीति और आनन्द—ये तीन सात्त्विक गुण हैं; तृष्णा, क्रोध और द्वेषभाव—ये तीन राजस गुण हैं और थकावट, तन्द्रा तथा मोह—ये तीन तामस गुण हैं ॥ १-२ ॥

एतान् निकृत्य धृतिमान् बाणसंघैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥

शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, आलस्यहीन और धैर्यवान् पुरुष शम-दम आदि बाण-समूहोंके द्वारा इन पूर्वोक्त गुणोंका उच्छेद करके दूसरोंको जीतनेका उत्साह करते हैं ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ॥ ४ ॥

इस विषयमें पूर्वकालकी बातोंके जानकार लोग एक गाथा सुनाया करते हैं । पहले कभी शान्तिपरायण महाराज अम्बरीषने इस गाथाका गान किया था ॥ ४ ॥

समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥ ५ ॥

कहते हैं—जब दोषोंका बल बढ़ा और अच्छे गुण दबने लगे, उस समय महायशस्वी महाराज अम्बरीषने बलपूर्वक राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली ॥ ५ ॥

स निगृह्यात्मनो दोषान् साधून् समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ॥ ६ ॥

उन्होंने अपने दोषोंको दबाया और उत्तम गुणोंका आदर किया । इससे उन्हें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई और उन्होंने यह गाथा गायी— ॥ ६ ॥

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥ ७ ॥

'मैंने बहुत-से दोषोंपर विजय पायी और समस्त शत्रुओंका नाश कर डाला; किंतु एक सबसे बड़ा दोष रह गया है । यद्यपि वह नष्ट कर देने योग्य है तो भी अबतक मैं नाश न कर सका ॥ ७ ॥

यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥ ८ ॥

'उसीकी प्रेरणासे इस प्राणीको वैराग्य नहीं होता । तृष्णाके वशमें पड़ा हुआ मनुष्य संसारमें नीच कर्मोंकी ओर दौड़ता है, सचेत नहीं होता ॥ ८ ॥

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृत्य सुखमेधते ॥ ९ ॥

'उससे प्रेरित होकर वह यहाँ नहीं करनेयोग्य काम भी कर डालता है । उस दोषका नाम है लोभ । उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ९ ॥

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान् ॥ १० ॥

'लोभसे तृष्णा और तृष्णासे चिन्ता पैदा होती है । लोभी मनुष्य पहले बहुत-से राजस गुणोंको पाता है और उनकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें तामसिक गुण भी अधिक मात्रामें आ जाते हैं ॥ १० ॥

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥ ११ ॥

'उन गुणोंके द्वारा देह-बन्धनमें जकड़कर वह बारंबार जन्म लेता और तरह-तरहके कर्म करता रहता है । फिर जीवनका अन्त समय आनेपर उसके देहके तत्त्व विलग-विलग होकर बिखर जाते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है । इसके बाद फिर जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़ता है ॥ ११ ॥

तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥ १२ ॥

'इसलिये इस लोभके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर इसे धैर्यपूर्वक दबाने और आत्मराज्यपर अधिकार पानेकी इच्छा करनी चाहिये । यही वास्तविक स्वराज्य है । यहाँ दूसरा कोई राज्य नहीं है । आत्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वही राजा है' ॥

इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।

अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥ १३ ॥

इस प्रकार यशस्वी अम्बरीषने आत्मराज्यको आगे रखकर एकमात्र प्रबल शत्रु लोभका उच्छेद करते हुए उपर्युक्त गाथाका गान किया था ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनकका ममत्वत्यागविषयक संवाद

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि ॥ १ ॥

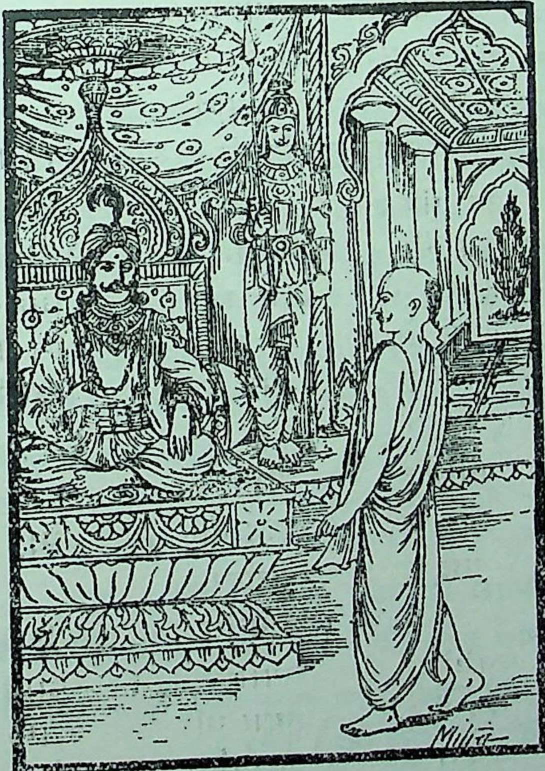
ब्राह्मणने कहा—भामिनि ! इसी प्रसंगमें एक ब्राह्मण और राजा जनकके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥ २ ॥

एक समय राजा जनकने किसी अपराधमें पकड़े हुए ब्राह्मणको दण्ड देते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! आप मेरे देशसे बाहर चले जाइये' ॥ २ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥ ३ ॥

यह सुनकर ब्राह्मणने उस श्रेष्ठ राजाको उत्तर दिया—



'महाराज ! आपके अधिकारमें जितना देश है, उसकी सीमा बताइये ॥ ३ ॥

सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥ ४ ॥

'सामर्थ्यशाली नरेश ! इस बातको जानकर मैं दूसरे राजाके राज्यमें निवास करना चाहता हूँ और शास्त्रके अनुसार आपकी आज्ञाका पालन करना चाहता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित् प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

उस यशस्वी ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजा जनक बार-बार गरम उच्छ्वास लेने लगे, कुछ जवाब न दे सके ॥

तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसागच्छद् भानुमन्तमिव ग्रहः ॥ ६ ॥

वे अमित तेजस्वी राजा जनक बैठे हुए विचार कर रहे थे, उस समय उनको उसी प्रकार मोहने सहसा घेर लिया जैसे राहु ग्रह सूर्यको घेर लेता है ॥ ६ ॥

समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।
ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब राजा जनक विश्राम कर चुके और उनके मोहका नाश हो गया, तब थोड़ी देर चुप रहनेके बाद वे ब्राह्मणसे बोले ॥ ७ ॥

जनक उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥ ८ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! यद्यपि बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर मेरा अधिकार है, तथापि जब मैं विचारदृष्टिसे देखता हूँ तो सारी पृथ्वीमें खोजनेपर भी कहीं मुझे अपना देश नहीं दिखायी देता ॥ ८ ॥

नाधिगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥ ९ ॥
नाध्यगच्छं तदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।

जब पृथ्वीपर अपने राज्यका पता न पा सका तो मैंने मिथिलामें खोज की । जब वहाँसे भी निराशा हुई तो अपनी प्रजापर अपने अधिकारका पता लगाया, किंतु उनपर भी अपने अधिकारका निश्चय न हुआ, तब मुझे मोह हो गया ॥

ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥ १० ॥
तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥ ११ ॥

फिर विचारके द्वारा उस मोहका नाश होनेपर मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि कहीं भी मेरा राज्य नहीं है अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है। एक दृष्टिसे यह शरीर भी मेरा नहीं है और दूसरी दृष्टिसे यह सारी पृथ्वी ही मेरी है ॥ १०-११ ॥

यथा मम तथान्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥ १२ ॥

यह जिस तरह मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है—ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिये द्विजोत्तम ! अब आपकी जहाँ इच्छा हो, रहिये एवं जहाँ रहें, उसी स्थानका उपभोग कीजिये ॥

ब्राह्मण उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! जब बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर आपका अधिकार है, तब बताइये, किस बुद्धिका आश्रय लेकर आपने इसके प्रति अपनी ममताको त्याग दिया है ? ॥ १३ ॥

कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥ १४ ॥

किस बुद्धिका आश्रय लेकर आप सर्वत्र अपना ही राज्य मानते हैं और किस तरह कहीं भी अपना राज्य नहीं समझते एवं किस तरह सारी पृथ्वीको ही अपना देश समझते हैं ? ॥ १४ ॥

जनक उवाच

अन्तवन्त इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं तस्मान्ममेदमिति यद् भवेत् ॥ १५ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! इस संसारमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली सभी अवस्थाएँ आदि-अन्तवाली हैं, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। इसलिये मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती जो मेरी हो सके ॥ १५ ॥

कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद् भवेत् ॥ १६ ॥

वेद भी कहता है—'यह वस्तु किसकी है ? यह किसका धन है ? * (अर्थात् किसीका नहीं है।)' इसलिये जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करता हूँ, तब कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जान पड़ती, जिसे अपनी कह सकें ॥ १६ ॥

एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ॥ १७ ॥

इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मैंने मिथिलाके राज्यसे अपना ममत्व हटा लिया है। अब जिस बुद्धिका आश्रय लेकर मैं सर्वत्र अपना ही राज्य समझता हूँ, उसको सुनो ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १८ ॥

मैं अपनी नासिकामें पहुँची हुई सुगन्धको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता। इसलिये मैंने पृथ्वीको जीत लिया है और वह सदा ही मेरे वशमें रहती है ॥ १८ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्ततः ।
आपो मे निर्जितास्तस्माद् वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ १९ ॥

मुखमें पड़े हुए रसोंका भी मैं अपनी तृप्तिके लिये नहीं आस्वादन करना चाहता, इसलिये जलतत्त्वपर भी मैं विजय पा चुका हूँ और वह सदा मेरे अधीन रहता है ॥ १९ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २० ॥

मैं नेत्रके विषयभूत रूप और ज्योतिका अपने सुखके लिये अनुभव नहीं करना चाहता, इसलिये मैंने तेजको जीत लिया है और वह सदा मेरे अधीन रहता है ॥ २० ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २१ ॥

तथा मैं त्वचाके संसर्गसे प्राप्त हुए स्पर्शजनित सुखोंको अपने लिये नहीं चाहता, अतः मेरे द्वारा जीता हुआ वायु सदा मेरे वशमें रहता है ॥ २१ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दाञ्श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ २२ ॥

मैं कानोंमें पड़े हुए शब्दोंको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता, इसलिये वे मेरे द्वारा जीते हुए शब्द सदा मेरे अधीन रहते हैं ॥ २२ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोऽन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्माद् वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २३ ॥

मैं मनमें आये हुए मन्तव्य विषयोंका भी अपने सुखके लिये अनुभव करना नहीं चाहता, इसलिये मेरे द्वारा जीता हुआ मन सदा मेरे वशमें रहता है ॥ २३ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ॥ २४ ॥

मेरे समस्त कार्योंका आरम्भ देवता, पितर, भूत और अतिथियोंके निमित्त होता है ॥ २४ ॥

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥ २५ ॥

* मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । (ईशावास्योपनिषद् १)

जनककी ये बातें सुनकर वह ब्राह्मण हँसा और फिर कहने लगा—'महाराज ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धर्म हूँ और आपकी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके यहाँ आया हूँ ॥ २५ ॥

त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः ।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥ २६ ॥

'अब मुझे निश्चय हो गया कि संसारमें सत्त्वगुणरूप नेमिसे घिरे हुए और कभी पीछेकी ओर न लौटनेवाले इस ब्रह्मप्राप्तिरूप दुर्निवार चक्रका संचालन करनेवाले एकमात्र आप ही हैं' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणका पत्नीके प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूपका परिचय देना

ब्राह्मण उवाच

नाहं तथा भीरु चरामि लोके
यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या ।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि
गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि ॥ १ ॥
नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे ।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत् किंचिज्जगतीगतम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—भीरु ! तुम अपनी बुद्धिसे मुझे जैसा समझकर फटकार रही हो, मैं वैसा नहीं हूँ । मैं इस लोकमें देहाभिमानियोंकी तरह आचरण नहीं करता । तुम मुझे पाप-पुण्यमें आसक्त देखती हो; किंतु वास्तवमें मैं ऐसा नहीं हूँ । मैं ब्राह्मण, जीवन्मुक्त महात्मा, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी सब कुछ हूँ । इस भूतलपर जो कुछ दिखायी देता है, वह सब मेरेद्वारा व्याप्त है ॥ १-२ ॥

ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह ।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥ ३ ॥

संसारमें जो कोई भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबका विनाश करनेवाला मृत्यु उसी प्रकार मुझे समझो, जिस प्रकार कि लकड़ियोंका विनाश करनेवाला अग्नि है ॥ ३ ॥

राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवापि त्रिविष्टपे ।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गपर जो राज्य है, उसे यह बुद्धि जानती है; अतः बुद्धि ही मेरा धन है ॥ ४ ॥

एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें स्थित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस मार्गसे चलते हैं, उन ब्राह्मणोंका वह मार्ग एक ही है ॥ ५ ॥

लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ।
नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ॥ ६ ॥
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।

क्योंकि वे लोग बहुत-से व्याकुलतारहित चिह्नोंको धारण करके भी एक बुद्धिका ही आश्रय लेते हैं । भिन्न-भिन्न आश्रमोंमें रहते हुए भी जिनकी बुद्धि शान्तिके साधनमें लगी हुई है, वे अन्तमें एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्मको उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रको प्राप्त होती हैं ॥ ६½ ॥

बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ।
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥ ७ ॥

यह मार्ग बुद्धिगम्य है, शरीरके द्वारा इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता । सभी कर्म आदि और अन्तवाले हैं तथा शरीर कर्मका हेतु है ॥ ७ ॥

तस्मात् ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥ ८ ॥

इसलिये देवि ! तुम्हें परलोकके लिये तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । तुम परमात्मभावकी भावनामें रत रहकर अन्तमें मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाओगी ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञका रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीताका उपसंहार

ब्राह्मण्युवाच

नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—नाथ ! मेरी बुद्धि थोड़ी और अन्तःकरण अशुद्ध है, अतः आपने संक्षेपमें जिस महान् ज्ञानका उपदेश किया है, उस बिखरे हुए उपदेशको समझना मेरे लिये कठिन है । मैं तो उसे सुनकर भी धारण न कर सकी ॥

उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ॥ २ ॥

अतः आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे भी यह बुद्धि प्राप्त हो । मेरा विश्वास है कि वह उपाय आपहीसे ज्ञात हो सकता है ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच

अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! तुम बुद्धिको नीचेकी अरणी और गुरुको ऊपरकी अरणी समझो । तपस्या और वेद-वेदान्तके श्रवण-मननद्वारा मन्थन करनेपर उन अरणियोंसे ज्ञानरूप अग्नि प्रकट होती है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण्युवाच

यदिदं ब्राह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत् क नु ॥ ४ ॥

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ ! क्षेत्रज्ञ नामसे प्रसिद्ध शरीरान्तर्वर्ती जीवात्माको जो ब्रह्मका स्वरूप बताया जाता है, यह बात कैसे सम्भव है ? क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मके नियन्त्रणमें रहता है और जो जिसके नियन्त्रणमें रहता है, वह उसका स्वरूप हो, ऐसा कभी नहीं देखा गया ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि ! क्षेत्रज्ञ वास्तवमें देह-सम्बन्धसे रहित और निर्गुण है; क्योंकि उसके सगुण और साकार होनेका कोई कारण नहीं दिखायी देता । अतः मैं वह उपाय बताता हूँ, जिससे वह ग्रहण किया जा सकता है अथवा नहीं भी किया जा सकता ॥ ५ ॥

सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ॥ ६ ॥

उस क्षेत्रज्ञका साक्षात्कार करनेके लिये पूर्ण उपाय देखा गया है । वह यह है कि उसे देखनेकी क्रियाका त्याग कर देनेसे भौंरोंके द्वारा गन्धकी भाँति वह अपने आप जाना जाता है । किंतु कर्मविषयक बुद्धि वास्तवमें बुद्धि न होनेके कारण ज्ञानके सदृश प्रतीत होती है तो भी वह ज्ञान नहीं है । (अतः क्रियाद्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ॥ ७ ॥

यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है—यह बात मोक्षके साधनोंमें नहीं कही जाती । जिन साधनोंमें देखने और सुननेवालेकी बुद्धि आत्माके स्वरूपमें निश्चित होती है, वही यथार्थ साधन है ॥ ७ ॥

यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंऽशान् प्रकल्पयेत् ।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

यहाँ जितनी कल्पनाएँ की जा सकती हैं, उतने ही सैकड़ों और हजारों अव्यक्त और व्यक्तरूप अंशोंकी कल्पना कर लें ॥

सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च सर्वान् प्रत्यक्षहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ॥ ९ ॥

वे सभी प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले पदार्थ वास्तविक अर्थयुक्त नहीं हो सकते । जिससे पर कुछ भी नहीं है, उसका साक्षात्कार तो 'नेति-नेति' अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं—इस अभ्यासके अन्तमें ही होगा ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये ।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! उसके बाद उस ब्राह्मणीकी बुद्धि, जो क्षेत्रज्ञके संशयसे युक्त थी, क्षेत्रके ज्ञानसे अतीत क्षेत्रज्ञोंसे युक्त हुई ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच

क नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥ ११ ॥

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण ! वह ब्राह्मणी कौन थी और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था ? अच्युत ! जिन दोनोंके द्वारा यह सिद्धि प्राप्त की गयी, उन दोनोंका परिचय मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।

क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले--अर्जुन ! मेरे मनको तो तुम ब्राह्मण समझो और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी समझो एवं जिसको क्षेत्रज्ञ—ऐसा कहा गया है, वह मैं ही हूँ ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनसे मोक्ष-धर्मका वर्णन--गुरु और शिष्यके संवादमें ब्रह्मा और महर्षियोंके प्रश्नोत्तर

अर्जुन उवाच

ब्रह्म यत्परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले--भगवन् ! इस समय आपकी कृपासे सूक्ष्म विषयके श्रवणमें मेरी बुद्धि लग रही है, अतः जानने-योग्य परब्रह्मके स्वरूपकी व्याख्या कीजिये ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥
कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः प्रपच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ॥ ३ ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद् ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा--अर्जुन ! इस विषयको लेकर गुरु और शिष्यमें जो मोक्षविषयक संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास बतलाया जा रहा है । एक दिन उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्रह्मवेत्ता आचार्य अपने आसन-पर विराजमान थे । परंतप ! उस समय किसी बुद्धिमान् शिष्यने उनके पास जाकर निवेदन किया--'भगवन् ! मैं कल्याणमार्गमें प्रवृत्त होकर आपकी शरणमें आया हूँ और आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर याचना करता हूँ कि मैं जो कुछ पूछूँ; उसका उत्तर दीजिये । मैं जानना चाहता हूँ कि श्रेय क्या है ?' ॥ २-४ ॥



तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥ ५ ॥

पार्थ ! इस प्रकार कहनेवाले उस शिष्यसे गुरु बोले-'विप्र ! तुम्हारा जिस विषयमें संशय है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा' ॥ ५ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तच्छृणु महामते ॥ ६ ॥

महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! गुरुके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस गुरुके प्यारे शिष्यने हाथ जोड़कर जो कुछ पूछा, उसे सुनो ॥ ६ ॥

शिष्य उवाच

कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ७ ॥

शिष्य बोला—विप्रवर ! मैं कहाँसे आया हूँ और आप कहाँसे आये हैं ? जगत्के चराचर जीव कहाँसे उत्पन्न हुए हैं ? जो परमतत्त्व है, उसे आप यथार्थरूपसे बताइये ॥

केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् ।
किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः ॥ ८ ॥

विप्रवर ! सम्पूर्ण जीव किससे जीवन धारण करते हैं ? उनकी अधिक-से-अधिक आयु कितनी है ? सत्य और तप क्या है ? सत्पुरुषोंने किन गुणोंकी प्रशंसा की है ? ॥ ८ ॥

के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं सुखं किं च दुष्कृतम् ।
एतान् मे भगवन् प्रश्नान् याथातथ्येन सुव्रत ॥ ९ ॥
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ।
त्वदन्यः कश्चन प्रश्नानेतान् वक्तुमिहार्हति ॥ १० ॥
ब्रूहि धर्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो भवाँल्लोकेषु गीयते ॥ ११ ॥

कौन-कौन-से मार्ग कल्याण करनेवाले हैं ? सर्वोत्तम सुख क्या है ? और पाप किसे कहते हैं ? श्रेष्ठ व्रतका आचरण करनेवाले गुरुदेव ! मेरे इन प्रश्नोंका आप यथार्थरूपसे उत्तर

देनेमें समर्थ हैं। धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! यह सब जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। इस विषयमें इन प्रश्नोंका तत्त्वतः यथार्थ उत्तर देनेमें आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं है। अतः आप ही बतलाइये; क्योंकि संसारमें मोक्षधर्मोंके तत्त्वके ज्ञानमें आप कुशल बताये गये हैं ॥ ९—११ ॥

सर्वसंशयसंच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते।
संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम् ॥ १२ ॥

हम संसारसे भयभीत और मोक्षके इच्छुक हैं। आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं, जो सब प्रकारकी शङ्काओंका निवारण कर सके ॥ १२ ॥

वासुदेव उवाच

तस्मै सम्प्रतिपन्नाय यथावत् परिपृच्छते।
शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्तिने ॥ १३ ॥
छायाभूताय दान्ताय यतते ब्रह्मचारिणे।
तान् प्रश्नानब्रवीत् पार्थ मेधावी स धृतव्रतः।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक् सर्वानरिंदम ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलश्रेष्ठ शत्रुदमन अर्जुन! वह शिष्य सब प्रकारसे गुरुकी शरणमें आया था। यथोचित रीतिसे प्रश्न करता था। गुणवान् और शान्त था। छायाकी भाँति साथ रहकर गुरुका प्रिय करता था तथा जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी था। उसके पूछनेपर मेधावी एवं व्रतधारी गुरुने पूर्वोक्त सभी प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दिया ॥ १३-१४ ॥

गुरुरुवाच

ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम्।
वेदविद्यां समाश्रित्य तत्त्वभूतार्थभावनम् ॥ १५ ॥

गुरु बोले—बेटा! ब्रह्माजीने वेद-विद्याका आश्रय लेकर तुम्हारे पूछे हुए इन सभी प्रश्नोंका उत्तर पहलेसे ही दे रखा है तथा प्रधान-प्रधान ऋषियोंने उसका सदा ही सेवन किया है। उन प्रश्नोंके उत्तरमें परमार्थविषयक विचार किया गया है ॥ १५ ॥

ज्ञानं त्वेव परं विद्मः संन्यासं तप उत्तमम्।
यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानतत्त्वं विनिश्चयात्।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ १६ ॥

हम ज्ञानको ही परब्रह्म और संन्यासको उत्तम तप जानते हैं। जो अबाधित ज्ञानतत्त्वको निश्चयपूर्वक जानकर अपनेको सब प्राणियोंके भीतर स्थित देखता है, वह सर्वगति (सर्वव्यापक) माना जाता है ॥ १६ ॥

यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ॥ १७ ॥

जो विद्वान् संयोग और वियोगको तथा वैसे ही एकत्व और नानात्वको एक साथ तत्त्वतः जानता है, वह दुःखसे मुक्त हो जाता है ॥ १७ ॥

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८ ॥

जो किसी वस्तुकी कामना नहीं करता तथा जिसके मनमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, वह इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित्।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १९ ॥

जो माया और सत्त्वादि गुणोंके तत्त्वको जानता है, जिसे सब भूतोंके विधानका ज्ञान है और जो ममता तथा अहंकारसे रहित हो गया है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है ॥

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥ २० ॥
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः सदा शुभफलोदयः ॥ २१ ॥
अजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना ॥ २२ ॥
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी।

यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका मूल अङ्कुर (जड) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ खोखले हैं, पञ्च महाभूत उसके विशेष अवयव हैं और उन भूतोंके विशेष भेद उसकी टहनियाँ हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही उसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाहरूपसे सदा मौजूद रहनेवाला देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। जो इसके तत्त्वको भलीभाँति जानकर ज्ञानरूपी उत्तम तलवारसे इसे काट डालता है, वह अमरत्वको प्राप्त होकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ २०—२२½ ॥

भूतभव्यभविष्यादि धर्मकामार्थनिश्चयम्।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम् ॥ २३ ॥
प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः ॥ २४ ॥

महाप्राज्ञ! जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य आदिके तथा धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपका निश्चय किया गया है, जिसको सिद्धोंके समुदायने भलीभाँति जाना है, जिसका पूर्वकालमें निर्णय किया गया था और बुद्धिमान् पुरुष जिसे जानकर सिद्ध हो जाते हैं, उस परम उत्तम सनातन ज्ञानका अब मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ २३-२४ ॥

उपगम्यर्षयः पूर्व जिज्ञासन्तः परस्परम् ।
प्रजापतिभरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा ॥ २५ ॥
वसिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च ।
मार्गान् सर्वान् परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः॥२६॥
ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः ।
ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ॥ २७ ॥
तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः ।
पप्रच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम् ॥ २८ ॥

पहलेकी बात है, प्रजापति दक्ष, भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन शुक्र, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि महर्षि अपने कर्मोंद्वारा समस्त मार्गोंमें भटकते-भटकते जब बहुत थक गये, तब एकत्रित हो आपसमें जिज्ञासा करते हुए परम वृद्ध अङ्गिरा मुनिको आगे करके ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए पापरहित महात्मा ब्रह्माजीका दर्शन करके उन महर्षि ब्राह्मणोंने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। फिर तुम्हारी ही तरह अपने परम कल्याणके विषयमें पूछा—॥ २५—२८ ॥

कथं कर्म क्रियात् साधु कथं मुच्येत किल्बिषात् ।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम् ॥

'श्रेष्ठ कर्म किस प्रकार करना चाहिये ? मनुष्य पापसे किस प्रकार छूटता है ? कौन-से मार्ग हमारे लिये कल्याण-कारक हैं। सत्य क्या है ? और पाप क्या है ? ॥ २९ ॥

कौ चोभौ कर्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ ३० ॥

'तथा कर्मोंके वे दो मार्ग कौन-से हैं, जिनसे मनुष्य दक्षिणायन और उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं ? प्रलय और मोक्ष क्या हैं ? एवं प्राणियोंके जन्म और मरण क्या हैं ?' ॥ ३० ॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम्॥३१॥

शिष्य ! उन मुनिश्रेष्ठ महर्षियोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उन प्रपितामह ब्रह्माजीने जो कुछ कहा, वह मैं तुम्हें शास्त्रानुसार पूर्णतया बताऊँगा, उसे सुनो ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद् वित्त सुव्रताः ।
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षियो ! ऐसा जानो कि चराचर जीव सत्यस्वरूप परमात्मा-से उत्पन्न हुए हैं और तपरूप कर्मसे जीवन धारण करते हैं। वे अपने कारणस्वरूप ब्रह्मको भूलकर अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें घूमते हैं ॥ ३२ ॥

सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि गुणोंसे युक्त हुआ सत्य ही पाँच लक्षणोंवाला निश्चित किया गया है ॥ ३३ ॥

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥३४॥

ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है। सत्यसे ही सम्पूर्ण भूतोंका जन्म हुआ है। यह भौतिक जगत् सत्यरूप ही है ॥ ३४ ॥

तस्मात् सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेविनः ॥ ३५ ॥

इसलिये सदा योगमें लगे रहनेवाले, क्रोध और संतापसे दूर रहनेवाले तथा नियमोंका पालन करनेवाले धर्मसेवी ब्राह्मण सत्यका आश्रय लेते हैं ॥ ३५ ॥

अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि शाश्वताँल्लोकभावनान्॥३६॥

जो परस्पर एक दूसरेको नियमके अंदर रखनेवाले, धर्म-मर्यादाके प्रवर्त्तक और विद्वान् हैं, उन ब्राह्मणोंके प्रति मैं लोक-कल्याणकारी सनातन धर्मोंका उपदेश करूँगा ॥

चातुर्विद्यं तथा वर्णांश्चातुराश्रमिकान् पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३७ ॥

वैसे ही प्रत्येक वर्ण और आश्रमके लिये पृथक्-पृथक् चार विद्याओंका वर्णन करूँगा। मनीषी विद्वान् चार चरणों-वाले एक धर्मको नित्य बतलाते हैं ॥ ३७ ॥

पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ॥ ३८ ॥

द्विजवरो ! पूर्व कालमें मनीषी पुरुष जिसका सहारा ले चुके हैं और जो ब्रह्मभावकी प्राप्तिका सुनिश्चित साधन है, उस परम मङ्गलकारी कल्याणमय मार्गका तुमलोगोंके प्रति उपदेश करता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ३८ ॥

गदन्तस्तं मयाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥ ३९ ॥

सौभाग्यशाली प्रवक्तागण ! उस अत्यन्त दुर्विज्ञेय मार्ग-को, जो कि पूर्णतया परमपदस्वरूप है, यहाँ अब मुझसे सुनो ॥

ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद् वानप्रस्थमतः परम् ।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥ ४० ॥

आश्रमोंमें ब्रह्मचर्यको प्रथम आश्रम बताया गया है। गार्हस्थ्य दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है, उसके बाद संन्यास आश्रम है। इसमें आत्मज्ञानकी प्रधानता होती है, अतः इसे परमपदस्वरूप समझना चाहिये ॥ ४० ॥

ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान् न पश्यति ॥ ४१ ॥

जबतक अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य इन ज्योति, आकाश, वायु, सूर्य, इन्द्र और प्रजापति आदिके यथार्थ तत्त्वको नहीं जानता (आत्मज्ञान होनेपर इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है) ॥ ४१ ॥

तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात् तं निबोधत ।
फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ॥ ४२ ॥
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते ॥ ४३ ॥

अतः पहले उस आत्मज्ञानका उपाय बतलाता हूँ, सब लोग सुनिये । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन द्विजातियोंके लिये वानप्रस्थ आश्रमका विधान है । वनमें रहकर मुनिवृत्तिका सेवन करते हुए फल-मूल और वायुके आहारपर जीवन-निर्वाह करनेसे वानप्रस्थ-धर्मका पालन होता है । गृहस्थ-आश्रमका विधान सभी वर्णोंके लिये है ॥ ४२-४३ ॥

श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।
इत्येवं देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः ।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ॥ ४४ ॥

विद्वानोंने श्रद्धाको ही धर्मका मुख्य लक्षण बतलाया है । इस प्रकार आपलोगोंके प्रति देवयान मार्गोंका वर्णन किया गया है । धैर्यवान् संत-महात्मा अपने कर्मोंसे धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं ॥ ४४ ॥

एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः ।
कालात् पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य उत्तम व्रतका आश्रय लेकर उपर्युक्त धर्मोंमेंसे किसीका भी दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, वे कालक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंके जन्म और मरणको सदा ही प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ ४५ ॥

अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना ।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ॥ ४६ ॥

अब मैं यथार्थ युक्तिके द्वारा पदार्थोंमें विभागपूर्वक रहनेवाले सम्पूर्ण तत्त्वोंका वर्णन करता हूँ ॥ ४६ ॥

महानात्मा तथाव्यक्तमहंकारस्तथैव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ॥ ४७ ॥
विशेषाः पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः ।
चतुर्विंशतिरेका च तत्त्वसंख्या प्रकीर्तिता ॥ ४८ ॥

अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पञ्च महाभूत और उनके शब्द आदि विशेष गुण—यह चौबीस तत्त्वोंका सनातन सर्ग है । तथा एक जीवात्मा—इस प्रकार तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलायी गयी है ॥ ४७-४८ ॥

तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जो इन सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लयको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें धीर है और वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं
गुणांश्च सर्वानखिलांश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं
स सर्वलोकानमलान् समश्नुते ॥ ५० ॥

जो सम्पूर्ण तत्त्वों, गुणों तथा समस्त देवताओंको यथार्थरूपसे जानता है, उसके पाप धुल जाते हैं और वह बन्धनसे मुक्त होकर सम्पूर्ण दिव्यलोकोंके सुखका अनुभव करता है ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा तमोगुणका, उसके कार्यका और फलका वर्णन

ब्रह्मोवाच

तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् ।
नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥ १ ॥
एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम् ।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत् परमेकादशं भवेत् ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्था होती है, उस समय उनका नाम अव्यक्त प्रकृति होता है । अव्यक्त समस्त प्राकृत कार्योंमें व्यापक, अविनाशी और स्थिर है । उपर्युक्त तीन गुणोंमें जब विषमता आती है, तब वे पञ्चभूतका रूप धारण करते हैं और उनसे नौ द्वारवाले नगर (शरीर) का निर्माण होता है, ऐसा जानो । इस पुरमें जीवात्माको विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाली मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । इनकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा हुई है । बुद्धि इस नगरकी स्वामिनी है, ग्यारहवाँ मन दस इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है ॥

त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः ।
प्रनाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः ॥ ३ ॥

इसमें जो तीन स्रोत (चित्तरूपी नदीके प्रवाह) हैं,

वे उन तीन गुणमयी नाडियोंके द्वारा बार-बार भरे जाते एवं प्रवाहित होते हैं ॥ ३ ॥

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।
अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ॥ ४ ॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥ ५ ॥

सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंको गुण कहते हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी, एक-दूसरेके आश्रित, एक-दूसरेके सहारे टिकनेवाले, एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले और परस्पर मिश्रित रहनेवाले हैं। पाँचों महाभूत त्रिगुणात्मक हैं ॥ ४-५ ॥

तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः॥ ६ ॥

तमोगुणका प्रतिद्वन्द्वी है सत्त्वगुण और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी रजोगुण है। इसी प्रकार रजोगुणका प्रतिद्वन्द्वी सत्त्वगुण है और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी तमोगुण है ॥ ६ ॥

नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते ।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ॥ ७ ॥

जहाँ तमोगुणको रोका जाता है, वहाँ रजोगुण बढ़ता है और जहाँ रजोगुणको दबाया जाता है, वहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम् ।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु ।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम् ॥ ८ ॥

तमको अन्धकाररूप और त्रिगुणमय समझना चाहिये। उसका दूसरा नाम मोह है। वह अधर्मको लक्षित करानेवाला और पाप करनेवाले लोगोंमें निश्चित रूपसे विद्यमान रहनेवाला है। तमोगुणका यह स्वरूप दूसरे गुणोंसे मिश्रित भी दिखायी देता है ॥ ८ ॥

प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम् ।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥

रजोगुणको प्रकृतिरूप बतलाया गया है, यह सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण है। सम्पूर्ण भूतोंमें इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दृश्य जगत् उसीका स्वरूप है, उत्पत्ति या प्रवृत्ति ही उसका लक्षण है ॥ ९ ॥

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता ।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम् ॥ १० ॥

सब भूतोंमें प्रकाश, लघुता (गर्वहीनता) और श्रद्धा—यह सत्त्वगुणका रूप है। गर्वहीनताकी श्रेष्ठ पुरुषोंने प्रशंसा की है ॥ १० ॥

एतेषां गुणतत्त्वानि वक्ष्यन्ते तत्त्वहेतुभिः ।
समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि बोधत ॥ ११ ॥

अब मैं तात्त्विक युक्तियोंद्वारा संक्षेप और विस्तारके साथ इन तीनों गुणोंके कार्योंका यथार्थ वर्णन करता हूँ, इन्हें ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

सम्मोहोऽज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः ।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः स्वतः सुकृतदूषणम् ॥ १२ ॥
अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥ १३ ॥
अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता ।
अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना ॥ १४ ॥
अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्म पापमचेतना ।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ॥ १५ ॥
सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः सम्प्रकीर्तिताः ।
ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन् भावसंज्ञिताः॥ १६॥
तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः ।

मोह, अज्ञान, त्यागका अभाव, कर्मोंका निर्णय न कर सकना, निद्रा, गर्व, भय, लोभ, स्वयं शुभ कर्मोंमें दोष देखना, स्मरणशक्तिका अभाव, परिणाम न सोचना, नास्तिकता, दुश्चरित्रता, निर्विशेषता (अच्छे-बुरेके विवेकका अभाव), इन्द्रियोंकी शिथिलता, हिंसा आदि निन्दनीय दोषोंमें प्रवृत्त होना, अकार्यको कार्य और अज्ञानको ज्ञान समझना, शत्रुता, काममें मन न लगाना, अश्रद्धा, मूर्खतापूर्ण विचार, कुटिलता, नासमझी, पाप करना, अज्ञान, आलस्य आदिके कारण देहका भारी होना, भाव-भक्तिका न होना, अजितेन्द्रियता और नीच कर्मोंमें अनुराग—ये सभी दुर्गुण तमोगुणके कार्य बतलाये गये हैं। इनके सिवा और भी जो-जो बातें इस लोकमें निषिद्ध मानी गयी हैं, वे सब तमोगुणी ही हैं ॥ १२—१६½ ॥

परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकी ॥ १७ ॥
अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाक्षमा ।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १८ ॥

देवता, ब्राह्मण और वेदकी सदा निन्दा करना, दान न देना, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और प्राणियोंके प्रति मात्सर्य—ये सब तामस बर्ताव हैं ॥ १७—१८ ॥

वृथारम्भा हि ये केचिद् वृथा दानानि यानि च ।
वृथा भक्षणमित्येतत् तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १९ ॥

(विधि और श्रद्धासे रहित) व्यर्थ कार्योंका आरम्भ करना, (देश-काल-पात्रका विचार न करके अश्रद्धा और अवहेलनापूर्वक) व्यर्थ दान देना तथा (देवता और अतिथिको दिये बिना) व्यर्थ भोजन करना भी तामसिक कार्य है ॥ १९ ॥

अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता ।
अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥ २० ॥

अतिवाद, अक्षमा, मत्सरता, अभिमान और अश्रद्धाको भी तमोगुणका बर्ताव मना गया है ॥ २० ॥

एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मिन् पापकर्मिणः।
मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः ॥ २१ ॥

संसारमें ऐसे बर्ताववाले और धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले जो भी पापी मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणी माने गये हैं ॥

तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मिणाम्।
अवाङ्निरयभावा ये तिर्यङ्निरयगामिनः ॥ २२ ॥

ऐसे पापी मनुष्योंके लिये दूसरे जन्ममें जो योनियाँ निश्चित की हुई हैं, उनका परिचय दे रहा हूँ। उनमेंसे कुछ तो नीचे नरकोंमें ढकेले जाते हैं और कुछ तिर्यग्योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ २२ ॥

स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च।
क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहंगमाः ॥ २३ ॥
अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः ॥ २४ ॥
मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः।
अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ॥ २५ ॥

स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) जीव, पशु, वाहन, राक्षस, सर्प, कीड़े-मकोड़े, पक्षी, अण्डज प्राणी, चौपाये, पागल, बहरे, गूँगे तथा अन्य जितने पापमय रोगवाले (कोढ़ी आदि) मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणमें डूबे हुए हैं। अपने कर्मोंके अनुसार लक्षणोंवाले ये दुराचारी जीव सदा दुःखमें निमग्न रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियोंका प्रवाह निम्न दशाकी ओर होता है, इसलिये उन्हें अर्वाक्स्रोता कहते हैं। वे तमोगुणमें निमग्न रहनेवाले सभी प्राणी तामसी हैं ॥ २३–२५ ॥

तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम्।
यथा ते सुकृताँल्लोकाँल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः॥ २६ ॥

इसके पश्चात् मैं यह वर्णन करूँगा कि उन तामसी योनियोंमें गये हुए प्राणियोंका उत्थान और समृद्धि किस प्रकार होती है तथा वे पुण्यकर्मा होकर किस प्रकार श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम् ॥ २७ ॥
संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम्।
स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८ ॥

जो विपरीत योनियोंको प्राप्त प्राणी हैं, उनके (पापकर्मोंका भोग पूरा हो जानेपर) जब पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका उदय होता है, तब वे शुभकर्मोंके संस्कारोंके प्रभावसे स्वकर्मनिष्ठ कल्याणकामी ब्राह्मणोंकी समानताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके कुलमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ पुनः यत्नशील होकर ऊपर उठते हैं एवं देवताओंके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं— यह वेदकी श्रुति है ॥ २७-२८ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विबुद्धाः स्वेषु कर्मसु।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः ॥ २९ ॥

वे पुनरावृत्तिशील सकाम धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जानेके अनन्तर जब वहाँसे दूसरी योनिमें जाते हैं तब यहाँ (मृत्युलोकमें) मनुष्य होते हैं ॥

पापयोनिं समापन्नाश्चाण्डाला मूकचूचुकाः।
वर्णान् पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥

उनमेंसे कोई-कोई (बचे हुए पापकर्मका फल भोगनेके लिये) पुनः पापयोनिसे युक्त चाण्डाल, गूँगे और अटककर बोलनेवाले होते हैं और प्रायः जन्म-जन्मान्तरमें उत्तरोत्तर उच्च वर्णको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे ॥ ३१ ॥

कोई शूद्रयोनिसे आगे बढ़कर भी तामस गुणोंसे युक्त हो जाते हैं और उसके प्रवाहमें पड़कर तमोगुणमें ही प्रवृत्त रहते हैं ॥ ३१ ॥

अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ॥ ३२ ॥

यह जो भोगोंमें आसक्त हो जाना है, यही महामोह बताया गया है। इस मोहमें पड़कर भोगोंका सुख चाहनेवाले ऋषि, मुनि और देवगण भी मोहित हो जाते हैं (फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?) ॥ ३२ ॥

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते ॥ ३३ ॥

तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), क्रोध नामवाला तामिस्र और मृत्युरूप अन्धतामिस्र—यह पाँच प्रकारकी तामसी प्रकृति बतलायी गयी है। क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं ॥ ३३ ॥

वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि ॥ ३४ ॥

विप्रवरो ! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार मैंने आपसे तमोगुणका पूरा-पूरा यथावत् वर्णन किया ॥ ३४ ॥

को न्वेतद् बुध्यते साधु को न्वेतत् साधु पश्यति।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम् ॥ ३५ ॥

जो अतत्त्वमें तत्त्व-दृष्टि रखनेवाला है, ऐसा कौन-सा मनुष्य इस विषयको अच्छी तरह देख और समझ सकता है ? यह विपरीत दृष्टि ही तमोगुणकी यथार्थ पहचान है ॥ ३५ ॥

तमोगुणा बहुविधाः प्रकीर्तिता
यथावदुक्तं च तमः परावरम्।
नरो हि यो वेद गुणानिमान् सदा
स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

इस प्रकार तमोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत नाना प्रकारके गुणोंका यथावत् वर्णन किया गया तथा तमोगुणसे प्राप्त होनेवाली ऊँची-नीची योनियाँ भी बतला दी गयीं। जो मनुष्य इन गुणोंको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण तामसिक गुणोंसे सदा मुक्त रहता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

रजोगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महाभाग्यशाली श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं तुमलोगोंसे रजोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत गुणोंका यथार्थ वर्णन करूँगा। ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

सन्तापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥
बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि।
ईर्ष्येप्सा पैशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥
वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च।
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परमर्मावकर्तनम् ॥ ४ ॥
उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम्।
लोकचिन्तानुचिन्ता च मत्सरः परिभावनः ॥ ५ ॥
मृषा वादो मृषा दानं विकल्पः परिभाषणम्।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रस्तावः पारधर्षणम् ॥ ६ ॥
परिचर्यानुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः।
व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥ ७ ॥

संताप, रूप, आयास, सुख-दुःख, सर्दी, गर्मी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद, मनका प्रसन्न न रहना, सहनशक्ति, बल, शूरता, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्ष्या, इच्छा, चुगली खाना, युद्ध करना, ममता, कुटुम्बका पालन, वध, बन्धन, क्लेश, क्रय-विक्रय, छेदन, भेदन और विदारणका प्रयत्न, दूसरोंके मर्मको विदीर्ण कर डालनेकी चेष्टा, उग्रता, निष्ठुरता, चिल्लाना, दूसरोंके छिद्र बताना, लौकिक बातोंकी चिन्ता करना, पश्चात्ताप, मत्सरता, नाना प्रकारके सांसारिक भावोंसे भावित होना, असत्य भाषण, मिथ्या दान, संशयपूर्ण विचार, तिरस्कारपूर्वक बोलना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, बलात्कार, स्वार्थबुद्धिसे रोगीकी परिचर्या और बड़ोंकी शुश्रूषा एवं सेवावृत्ति, तृष्णा, दूसरोंके आश्रित रहना, व्यवहार-कुशलता, नीति, प्रमाद (अपव्यय), परिवाद और परिग्रह—ये सभी रजोगुणके कार्य हैं ॥ २-७ ॥

संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्तन्ते पृथक्पृथक्।
नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥ ८ ॥

संसारमें जो स्त्री, पुरुष, भूत, द्रव्य और गृह आदिमें पृथक्-पृथक् संस्कार होते हैं, वे भी रजोगुणकी ही प्रेरणाके फल हैं ॥ ८ ॥

संतापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये।
आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्तानि विविधानि च ॥ ९ ॥
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥ १० ॥
दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम्।

संताप, अविश्वास, सकाम भावसे व्रत-नियमोंका पालन, काम्य कर्म, नाना प्रकारके पूर्त (वापी, कूप-तडाग आदि पुण्य) कर्म, स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, प्रायश्चित्त और मङ्गलजनक कर्म भी राजस माने गये हैं ॥ ९-१०½ ॥

इदं मे स्यादिदं मे स्यात्स्नेहो गुणसमुद्भवः ॥ ११ ॥

'मुझे यह वस्तु मिल जाय, वह मिल जाय' इस प्रकार जो विषयोंको पानेके लिये आसक्तिमूलक उत्कण्ठा होती है, उसका कारण रजोगुण ही है ॥ ११ ॥

अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ॥ १२ ॥
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम्।
द्यूतं च जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ॥ १३ ॥
नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन।
सर्व एते गुणा विप्रा राजसाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ १४ ॥

विप्रगण! द्रोह, माया, शठता, मान, चोरी, हिंसा, घृणा, परिताप, जागरण, दम्भ, दर्प, राग, सकाम भक्ति, विषय-प्रेम, प्रमोद, द्यूतक्रीड़ा, लोगोंके साथ विवाद करना, स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध बढ़ाना, नाच-बाजे और गानमें आसक्त होना—ये सब राजस गुण कहे गये हैं ॥ १२-१४ ॥

भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ॥ १५ ॥
कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसा वृताः ॥ १६ ॥

जो इस पृथ्वीपर भूत, वर्तमान और भविष्य पदार्थोंकी चिन्ता करते हैं, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गके सेवनमें लगे रहते हैं, मनमाना बर्ताव करते हैं और सब प्रकारके भोगोंकी समृद्धिसे आनन्द मानते हैं, वे मनुष्य रजोगुणसे आवृत हैं, उन्हें अर्वाक्स्रोता कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः।
प्रेत्य भाविकमीहन्ते ऐहलौकिकमेव च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति ॥ १७ ॥

ऐसे लोग इस लोकमें बार-बार जन्म लेकर विषयजनित आनन्दमें मग्न रहते हैं और इहलोक तथा परलोकमें सुख पानेका प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे सकाम भावसे दान देते हैं, प्रतिग्रह लेते हैं, तथा तर्पण और यज्ञ करते हैं ॥

रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च।
नरोऽपि यो वेद गुणानिमान् सदा
स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥ १८ ॥

मुनिवरो ! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे नाना प्रकारके राजस गुणों और तदनुकूल बर्तावोंका यथावत् वर्णन किया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा इन समस्त राजस गुणोंके बन्धनोंसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्य-संवादविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

सत्त्वगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम्।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! अब मैं तीसरे उत्तम गुण (सत्त्वगुण) का वर्णन करूँगा, जो जगत्‌में सम्पूर्ण प्राणियोंका हितकारी और श्रेष्ठ पुरुषोंका प्रशंसनीय धर्म है ॥

आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च।
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्दधानता ॥ २ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः ॥ ३ ॥

आनन्द, प्रसन्नता, उन्नति, प्रकाश, सुख, कृपणताका अभाव, निर्भयता, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, किसीके दोष न देखना, पवित्रता, चतुरता और पराक्रम—ये सत्त्वगुणके कार्य हैं ॥ २-३ ॥

मुधा ज्ञानं मुधा वृत्तं मुधा सेवा मुधा श्रमः।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात् सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते ॥ ४ ॥

नाना प्रकारकी सांसारिक जानकारी, सकाम व्यवहार, सेवा और श्रम व्यर्थ है—ऐसा समझकर जो कल्याणके साधनमें लग जाता है, वह परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है ॥

निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः।
अकामभूत इत्येव सतां धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥

ममता, अहंकार और आशासे रहित होकर सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना ही श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ॥ ५ ॥

विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्याग शौचमतन्द्रिता।
आनृशंस्यमसम्मोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ ६ ॥
हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता।
शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ॥ ७ ॥
उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः।
निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता ॥ ८ ॥

विश्वास, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, पवित्रता, आलस्यरहित होना, कोमलता, मोहका अभाव, प्राणियोंपर दया करना, चुगली न खाना, हर्ष, संतोष, गर्वहीनता, विनय, सद्बर्ताव, शान्तिकर्ममें शुद्धभावसे प्रवृत्ति, उत्तम बुद्धि, आसक्तिसे छूटना, जगत्‌के भोगोंसे उदासीनता, ब्रह्मचर्य, सब प्रकारका त्याग, निर्ममता, फलकी कामना न करना तथा धर्मका निरन्तर पालन करते रहना—ये सब सत्त्वगुणके कार्य हैं ॥ ६-८ ॥

मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाऽधीतं मुधा व्रतम्।
मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः ॥ ९ ॥
एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन् सत्त्वसंश्रयाः।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ १० ॥

सकाम दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तप—ये सब व्यर्थ हैं—ऐसा समझकर जो उपर्युक्त बर्तावका पालन करते हुए इस जगत्‌में सत्यका आश्रय लेते हैं और वेदकी उत्पत्तिके स्थानभूत परब्रह्म परमात्मामें निष्ठा रखते हैं, वे ब्राह्मण ही धीर और साधुदर्शी माने गये हैं ॥ ९-१० ॥

हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ॥ ११ ॥

वे धीर मनुष्य सब पापोंका त्याग करके शोकसे रहित हो जाते हैं और स्वर्गलोकमें जाकर वहाँके भोग भोगनेके लिये अनेक शरीर धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः।

सत्त्वगुणसम्पन्न महात्मा स्वर्गवासी देवताओंकी भाँति ईशित्व, वशित्व और लघिमा आदि मानसिक सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। वे ऊर्ध्वस्रोता और वैकारिक देवता माने गये हैं ॥ १२½ ॥

विकुर्वन्तः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ॥ १३ ॥
यद् यदिच्छन्ति तत् सर्वं भजन्ते विभजन्ति च।

(योगबलसे) स्वर्गको प्राप्त होनेपर उनका चित्त उन-उन भोगजनित संस्कारोंसे विकृत होता है। उस समय वे जो-जो चाहते हैं, उस-उस वस्तुको पाते और बाँटते हैं ॥ १३ ॥

इत्येतत् सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः।
एतद् विज्ञाय लभते विधिवद् यद् यदिच्छति ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे सत्त्वगुणके कार्योंका वर्णन किया। जो इस विषयको अच्छी तरह जानता है, वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीको पा लेता है ॥ १४ ॥

प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान् सदा
गुणान् स भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते ॥

यह सत्त्वगुणका विशेषरूपसे वर्णन किया गया तथा सत्त्वगुणका कार्य भी बताया गया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा गुणोंको भोगता है, किंतु उनसे बँधता नहीं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादेऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सत्त्व आदि गुणोंका और प्रकृतिके नामोंका वर्णन

ब्रह्मोवाच

नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंका सर्वथा पृथक्‌रूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि ये तीनों गुण अविच्छिन्न (मिले हुए) देखे जाते हैं ॥ १ ॥

अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः ॥ २ ॥

ये सभी परस्पर रँगे हुए, एक दूसरेसे अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले हैं। २।

यावत्सत्त्वं रजस्तावद् वर्तते नात्र संशयः।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि इस जगत्‌में जबतक सत्त्वगुण रहता है, तबतक रजोगुण भी रहता है एवं जबतक तमोगुण रहता है, तबतक सत्त्वगुण और रजोगुणकी भी सत्ता रहती है, ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः।
संघातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ४ ॥

ये गुण किसी निमित्तसे अथवा बिना निमित्तके भी सदा साथ रहते हैं, साथ-ही-साथ विचरते हैं, समूह बनाकर यात्रा करते हैं और संघात (शरीर) में मौजूद रहते हैं ॥ ४ ॥

उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्तिनाम्।
वक्ष्यते तद् यथा न्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥ ५ ॥

ऐसा होनेपर भी कहीं तो इन उन्नति और अवनतिके स्वभाववाले तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले गुणोंमेंसे किसीकी न्यूनता देखी जाती है और कहीं अधिकता। सो किस प्रकार ? यह बताया जाता है ॥ ५ ॥

व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग् भावगतं भवेत्।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ६ ॥

तिर्यग् योनियोंमें जहाँ तमोगुणकी अधिकता होती है, वहाँ थोड़ा रजोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ॥ ६ ॥

उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ७ ॥

मध्यस्रोता अर्थात् मनुष्ययोनिमें, जहाँ रजोगुणकी मात्रा अधिक होती है, वहाँ थोड़ा तमोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ॥ ७ ॥

उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ॥ ८ ॥

इसी प्रकार ऊर्ध्वस्रोता यानी देवयोनियोंमें जहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है वहाँ तमोगुण अल्प और रजोगुण अल्पतर जानना चाहिये ॥ ८ ॥

सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका।
न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥ ९ ॥

सत्त्वगुण इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कारण है, उसे वैकारिक हेतु मानते हैं। वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। सत्त्वगुणसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बताया गया है ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः ॥ १० ॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद एवं आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते—नीच योनियों अथवा नरकोंमें पड़ते हैं ॥ १० ॥

तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ॥ ११ ॥

शूद्रमें तमोगुणकी, क्षत्रियमें रजोगुणकी और ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। इस प्रकार इन तीन वर्णोंमें मुख्यतासे ये तीन गुण रहते हैं ॥ ११ ॥

दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः संघचारिणः।
तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वे नानुशुश्रुम ॥ १२ ॥

एक साथ चलनेवाले ये गुण दूरसे भी मिले हुए ही दिखायी पड़ते हैं। तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण—ये सर्वथा पृथक्-पृथक् हों, ऐसा कभी नहीं सुना ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा त्वादित्यमुद्यन्तं कुचराणां भयं भवेत्।
अध्वगाः परितप्येयुरुष्णतो दुःखभागिनः ॥ १३ ॥

सूर्यको उदित हुआ देखकर दुराचारी मनुष्योंको भय होता है और धूपसे दुःखित राहगीर संतप्त होते हैं ॥ १३ ॥

आदित्यः सत्त्वमुद्रिक्तं कुचरास्तु तथा तमः।
परितापोऽध्वगानां च राजसो गुण उच्यते ॥ १४ ॥

क्योंकि सूर्य सत्त्वगुणप्रधान हैं, दुराचारी मनुष्य तमोगुणप्रधान हैं एवं राहगीरोंको होनेवाला संताप रजोगुणप्रधान कहा गया है ॥ १४ ॥

प्राकाश्यं सत्त्वमादित्यः संतापो राजसो गुणः।
उपप्लवस्तु विज्ञेयस्तामसस्तस्य पर्वसु ॥ १५ ॥

सूर्यका प्रकाश सत्त्वगुण है, उनका ताप रजोगुण है और अमावास्याके दिन जो उनपर ग्रहण लगता है, वह तमोगुणका कार्य है ॥ १५ ॥

एवं ज्योतिषु सर्वेषु निवर्तन्ते गुणास्त्रयः।
पर्यायेण च वर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ॥ १६ ॥

इस प्रकार सभी ज्योतियोंमें तीनों गुण क्रमशः वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकारसे प्रकट होते और विलीन होते रहते हैं ॥

स्थावरेषु तु भावेषु तिर्यग्भावगतं तमः।
राजसास्तु विवर्तन्ते स्नेहभावस्तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥

स्थावर प्राणियोंमें तमोगुण अधिक होता है, उनमें जो बढ़नेकी क्रिया है वह राजस है और जो चिकनापन है, वह सात्त्विक है ॥ १७ ॥

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते।
मासार्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा ॥ १८ ॥

गुणोंके भेदसे दिनको भी तीन प्रकारका समझना चाहिये। रात भी तीन प्रकारकी होती है तथा मास, पक्ष, वर्ष, ऋतु और संध्याके भी तीन-तीन भेद होते हैं ॥ १८ ॥

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥ १९ ॥

गुणोंके भेदसे तीन प्रकारसे दान दिये जाते हैं। तीन प्रकारका यज्ञानुष्ठान होता है। लोक, देव, विद्या और गति भी तीन-तीन प्रकारकी होती है ॥ १९ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च धर्मोऽर्थः काम एव च।
प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो गुणाः ॥ २० ॥

भूत, वर्तमान, भविष्य, धर्म, अर्थ, काम, प्राण, अपान और उदान—ये सब त्रिगुणात्मक ही हैं ॥ २० ॥

पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा।
यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः ॥ २१ ॥

इस जगत्में जो कोई भी वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होती है, वह सब त्रिगुणमय है ॥ २१ ॥

त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते ह्यव्यक्ता नित्यमेव तु।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः ॥ २२ ॥

सर्वत्र तीनों गुणोंकी ही सत्ता है। ये तीनों अव्यक्त और प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंकी सृष्टि सनातन है ॥ २२ ॥

तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ॥ २३ ॥

अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम्।
सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम्।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः ॥ २४ ॥

प्रकृतिको तम, व्यक्त, शिव, धाम, रज, योनि,

सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव, अप्यय, अनुद्रिक्त, अनून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत्, अव्यक्त और त्रिगुणात्मक कहते हैं। अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले लोगोंको इन नामोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो
यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः ।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्
स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः ॥ २५ ॥

जो मनुष्य प्रकृतिके इन नामों, सत्त्वादि गुणों और सम्पूर्ण विशुद्ध गतियोंको ठीक-ठीक जानता है, वह गुण-विभागके तत्त्वका ज्ञाता है। उसके ऊपर सांसारिक दुःखोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वह देह-त्यागके पश्चात् सम्पूर्ण गुणोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

महत्तत्त्वके नाम और परमात्मतत्त्वको जाननेकी महिमा

ब्रह्मोवाच

अव्यक्तात् पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजी बोले—महर्षिगण! पहले अव्यक्त प्रकृतिसे महान् आत्मस्वरूप महाबुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। यही सब गुणोंका आदि तत्त्व और प्रथम सर्ग कहा जाता है ॥ १ ॥

महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥ २ ॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन् ब्राह्मणो विद्वान् प्रमोहं नाधिगच्छति ॥ ३ ॥

महान्, आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति—इन पर्यायवाची नामोंसे महान् आत्माकी पहचान होती है। उसके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ २-३ ॥

सर्वतःपाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ॥ ४ ॥

परमात्मा सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ ४ ॥

महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ ५ ॥

सबके हृदयमें विराजमान परम पुरुष परमात्माका प्रभाव बहुत बड़ा है। अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ उसीके स्वरूप हैं। वह सबका शासन करनेवाला, ज्योतिर्मय और अविनाशी है ॥ ५ ॥

तत्र बुद्धिविदो लोकाः सद्भावनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ॥ ७ ॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत ।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ॥ ८ ॥

संसारमें जो कोई भी मनुष्य बुद्धिमान्, सद्भाव-परायण, ध्यानी, नित्य योगी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, लोभहीन, क्रोधको जीतनेवाले, प्रसन्नचित्त, धीर तथा ममता और अहंकारसे रहित हैं वे सब मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। जो सर्वश्रेष्ठ परमात्माकी महिमाको जानता है, उसे पुण्यदायक उत्तम गति मिलती है ॥ ६-८ ॥

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ९ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, और पाँचवाँ तेज—ये पाँचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ १० ॥

उन पाँचों महाभूतों तथा उनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सम्पूर्ण प्राणी युक्त हैं ॥ १० ॥

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥ ११ ॥
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।

धैर्यशाली महर्षियो! जब पञ्चमहाभूतोंके विनाशके समय प्रलयकाल उपस्थित होता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भयका सामना करना पड़ता है। किंतु सम्पूर्ण लोगोंमें जो आत्मज्ञानी धीर पुरुष है, वह उस समय भी मोहित नहीं होता ॥ ११½ ॥

विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः ॥ १२ ॥
एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं
परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।

हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

आदिसर्गमें सर्वसमर्थ स्वयम्भू विष्णु ही स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट होते हैं। जो इस प्रकार बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, विश्वरूप, पुराणपुरुष, हिरण्मय देव और ज्ञानियोंकी परम गतिरूप परम प्रभुको जानता है, वह बुद्धिमान् बुद्धिकी सीमाके पार पहुँच जाता है ॥ १२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मोवाच

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते ।
अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जो पहले महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था, वही अहंकार कहा जाता है। जब वह अहंरूपमें प्रादुर्भूत होता है, तब वह दूसरा सर्ग कहलाता है ॥ १ ॥

अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः ।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः ॥ २ ॥

यह अहंकार भूतादि विकारोंका कारण है, इसलिये वैकारिक माना गया है। यह रजोगुणका स्वरूप है, इसलिये तैजस है। इसका आधार चेतन आत्मा है। सारी प्रजाकी सृष्टि इसीसे होती है, इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं ॥ २ ॥

देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत् ।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते ॥ ३ ॥

यह श्रोत्रादि इन्द्रियरूप देवोंका और मनका उत्पत्ति-स्थान एवं स्वयं भी देवस्वरूप है इसलिये इसे त्रिलोकीका कर्त्ता माना गया है। यह सम्पूर्ण जगत् अहंकारस्वरूप है, इसलिये यह अभिमन्ता कहा जाता है ॥ ३ ॥

अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ॥ ४ ॥

जो अध्यात्मज्ञानमें तृप्त, आत्माका चिन्तन करनेवाले और स्वाध्यायरूपी यज्ञमें सिद्ध हैं, उन मुनिजनोंको यह सनातन लोक प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अहंकारेणाहरतो गुणानिमान्
भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत् ।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते
स्वतेजसा रञ्जयते जगत् तथा ॥ ५ ॥

समस्त भूतोंका आदि और सबको उत्पन्न करनेवाला वह अहंकारका आधारभूत जीवात्मा अहंकारके द्वारा सम्पूर्ण गुणोंकी रचना करता है और उनका उपभोग करता है। यह जो कुछ भी चेष्टाशील जगत् है, वह विकारोंके कारणरूप अहंकारका ही स्वरूप है। वह अहंकार ही अपने तेजसे सारे जगत्को रजोमय (भोगोंका इच्छुक) बनाता है ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारसे पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंकी सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा निवृत्तिमार्गका उपदेश

ब्रह्मोवाच

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अहंकारसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥

तेषु भूतानि मुह्यन्ति महाभूतेषु पञ्चसु ।
शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ २ ॥

इन्हीं पञ्च महाभूतोंमें अर्थात् इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयोंमें समस्त प्राणी मोहित रहते हैं ॥ २ ॥

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदभ्युद्यते भयम् ॥ ३ ॥

धैर्यशाली महर्षियो! महाभूतोंका नाश होते समय जब

प्रलयका अवसर आता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भय प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

यद् यस्माज्जायते भूतं तत्र तत् प्रविलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ ४ ॥

जो भूत जिससे उत्पन्न होता है, उसका उसीमें लय हो जाता है । ये भूत अनुलोमक्रमसे एकके बाद एक प्रकट होते हैं और विलोमक्रमसे इनका अपने-अपने कारणमें लय होता है ॥ ४ ॥

ततः प्रलीने सर्वस्मिन् भूते स्थावरजङ्गमे ।
स्मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन ॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर भूतोंका लय हो जानेपर भी स्मरणशक्तिसे सम्पन्न धीर-हृदय योगी पुरुष कभी नहीं लीन होते ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
क्रियाः करणनित्याः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः ॥ ६ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध तथा इनको ग्रहण करनेकी क्रियाएँ—ये कारणरूपसे (अर्थात् सूक्ष्म मनःस्वरूप होनेके कारण) नित्य हैं; अतः इनका भी प्रलय कालमें लय नहीं होता । जो (स्थूल पदार्थ) अनित्य हैं उनको मोहके नामसे पुकारा जाता है ॥ ६ ॥

लोभप्रजनसम्भूता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः ।
मांसशोणितसंघाता अन्योन्यस्योपजीविनः ॥ ७ ॥
बहिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणजीविनः ।

लोभ, लोभपूर्वक किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंसे उत्पन्न समस्त फल समानभावसे वास्तवमें कुछ भी नहीं है । शरीरके बाह्य अङ्ग रक्त-मांसके संघात आदि एक दूसरेके सहारे रखनेवाले हैं । इसीलिये ये दीन और कृपण माने गये हैं ॥ ७½ ॥

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ॥ ८ ॥
अन्तरात्मनि चाप्येते नियताः पञ्च वायवः ।
वाङ्मनोबुद्धिभिः सार्द्धमिदमष्टात्मकं जगत् ॥ ९ ॥

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँच वायु नियतरूपसे शरीरके भीतर निवास करते हैं; अतः ये सूक्ष्म हैं । मन, वाणी और बुद्धिके साथ गिननेसे इनकी संख्या आठ होती है । ये आठ इस जगत्‌के उपादान कारण हैं ॥ ८-९ ॥

त्वग्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसना वाक् च संयताः ।
विशुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी ॥ १० ॥
अष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहन्ते मनः सदा ।
स तद् ब्रह्म शुभं याति तस्माद् भूयो न विद्यते ॥ ११ ॥

जिसकी त्वचा, नासिका, कान, आँख, रसना और वाक्—ये इन्द्रियाँ वशमें हों, मन शुद्ध हो और बुद्धि एक निश्चयपर स्थिर रहनेवाली हो तथा जिसके मनको उपर्युक्त इन्द्रियादिरूप आठ अग्नियाँ संतप्त न करती हों, वह पुरुष उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त होता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ १०-११ ॥

एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः ।
अहंकारात् प्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ॥ १२ ॥

द्विजवरो ! अहंकारसे उत्पन्न हुई जो मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ बतलायी जाती हैं, उनका अब विशेषरूपसे वर्णन करूँगा, सुनो ॥ १२ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग् दशमी भवेत् ॥ १३ ॥
इन्द्रियग्राम इत्येष मन एकादशं भवेत् ।
एतं ग्रामं जयेत् पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ १४ ॥

कान, त्वचा, आँख, रसना, पाँचवीं नासिका तथा हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक्—यह दस इन्द्रियोंका समूह है । मन ग्यारहवाँ है । मनुष्यको पहले इस समुदायपर विजय प्राप्त करना चाहिये । तत्पश्चात् उसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ॥ १३-१४ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ॥ १५ ॥
अविशेषाणि चान्यानि कर्मयुक्तानि यानि तु ।
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिस्तु द्वादशी भवेत् ॥ १६ ॥

इन इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय । वस्तुतः कान आदि पाँच इन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और उनसे भिन्न शेष जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, वे कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं । मनका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—दोनोंसे है और बुद्धि बारहवीं है ॥ १५-१६ ॥

इत्युक्तानीन्द्रियाण्येतान्येकादश यथाक्रमम् ।
मन्यन्ते कृतमित्येवं विदित्वा तानि पण्डिताः ॥ १७ ॥

इस प्रकार क्रमशः ग्यारह इन्द्रियोंका वर्णन किया गया । इनके तत्त्वको अच्छी तरह जाननेवाले विद्वान् अपनेको कृतार्थ मानते हैं ॥ १७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ॥ १८ ॥
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ।

अब समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके भूत, अधिभूत आदि विविध विषयोंका वर्णन किया जाता है । आकाश पहला भूत है । कान उसका अध्यात्म (इन्द्रिय), शब्द उसका अधिभूत (विषय) और दिशाएँ उसकी अधिदैवत (अधिष्ठातृ देवता) हैं ॥ १८½ ॥

द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुता ॥ १९ ॥
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत् तत्राधिदैवतम् ।

वायु दूसरा भूत है। त्वचा उसका अध्यात्म तथा स्पर्श उसका अधिभूत सुना गया है और विद्युत् उसका अधिदैवत है॥ १९½ ॥

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ॥ २० ॥
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ।

तीसरे भूतका नाम है तेज। नेत्र उसका अध्यात्म, रूप उसका अधिभूत और सूर्य उसका अधिदैवत कहा जाता है॥ २०½ ॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ॥ २१ ॥
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ।

जलको चौथा भूत समझना चाहिये। रसना उसका अध्यात्म, रस उसका अधिभूत और चन्द्रमा उसका अधिदैवत कहा जाता है॥ २१½ ॥

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ॥ २२ ॥
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ।

पृथ्वी पाँचवाँ भूत है। नासिका उसका अध्यात्म, गन्ध उसका अधिभूत और वायु उसका अधिदैवत कहा जाता है॥ २२½ ॥

एषु पञ्चसु भूतेषु त्रिषु यश्च विधिः स्मृतः॥ २३ ॥

इन पाँच भूतोंमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूप तीन भेद माने गये हैं॥ २३ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २४ ॥
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ।

अब कर्मेन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध विषयोंका निरूपण किया जाता है। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण दोनों पैरोंको अध्यातम कहते हैं और गन्तव्य स्थानको उनके अधिभूत तथा विष्णुको उनके अधिदैवत बतलाते हैं॥ २४½ ॥

अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ॥ २५ ॥
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ।

निम्न गतिवाला अपान एवं गुदा अध्यातम कहा गया है और मलत्याग उसका अधिभूत तथा मित्र उसके अधिदेवता हैं॥ २५½ ॥

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ॥ २६ ॥
अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला उपस्थ अध्यात्म है और वीर्य उसका अधिभूत तथा प्रजापति उसके अधिष्ठाता देवता कहे गये हैं॥ २६½ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ २७ ॥
अधिभूतं च कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ।

अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुष दोनों हाथोंको अध्यात्म बतलाते हैं। कर्म उनके अधिभूत और इन्द्र उनके अधिदेवता हैं॥ २७½ ॥

वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ॥ २८ ॥
वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ।

विश्वकी देवी पहली वाणी यहाँ अध्यात्म कही गयी है। वक्तव्य उसका अधिभूत तथा अग्नि उसका अधिदैवत है॥ २८½ ॥

अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मचारकम् ॥ २९ ॥
अधिभूतं च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ।

पञ्चभूतोंका संचालन करनेवाला मन अध्यातम कहा गया है। संकल्प उसका अधिभूत है और चन्द्रमा उसके अधिष्ठाता देवता माने गये हैं॥ २९½ ॥

अहंकारस्तथाध्यात्मं सर्वसंसारकारकम् ॥ ३० ॥
अभिमानोऽधिभूतं च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ।

सम्पूर्ण संसारको जन्म देनेवाला अहंकार अध्यात्म है और अभिमान उसका अधिभूत तथा रुद्र उसके अधिष्ठाता देवता हैं॥ ३०½ ॥

अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ॥ ३१ ॥
अधिभूतं तु मन्तव्यं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।

पाँच इन्द्रियों और छठे मनको जाननेवाली बुद्धिको अध्यात्म कहते हैं। मन्तव्य उसका अधिभूत और ब्रह्मा उसके अधिदेवता हैं॥ ३१½ ॥

त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ॥ ३२ ॥
स्थलमापस्तथाऽऽकाशं जन्म चापि चतुर्विधम्।
अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ॥ ३३ ॥
चतुर्धा जन्म इत्येतद् भूतग्रामस्य लक्ष्यते ।

प्राणियोंके रहनेके तीन ही स्थान हैं—जल, थल और आकाश। चौथा स्थान सम्भव नहीं है। देहधारियोंका जन्म चार प्रकारका होता है—अण्डज, उद्भिज, स्वेदज और जरायुज। समस्त भूत-समुदायका यह चार प्रकारका ही जन्म देखा जाता है॥ ३२-३३½ ॥

अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च ॥ ३४ ॥
अण्डजानि विजानीयात् सर्वांश्चैव सरीसृपान् ।

इनके अतिरिक्त जो दूसरे आकाशचारी प्राणी हैं तथा जो पेटसे चलनेवाले सर्प आदि हैं, उन सबको भी अण्डज जानना चाहिये॥ ३४½ ॥

स्वेदजाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च यथाक्रमम्॥ ३५ ॥
जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते ।

पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जू आदि कीट और जन्तु स्वेदज कहे जाते हैं। यह क्रमशः दूसरा जन्म पहलेकी अपेक्षा निम्न स्तरका कहा जाता है ॥ ३५½ ॥

भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात्॥ ३६ ॥
उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः ।

द्विजवरो ! जो पृथ्वीको फोड़कर समयपर उत्पन्न होते हैं, उन प्राणियोंको उद्भिज्ज कहते हैं ॥ ३६½ ॥

द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च ॥ ३७ ॥
जरायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः ।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! दो पैरवाले, बहुत पैरवाले एवं टेढ़े-मेढ़े चलनेवाले तथा विकृत रूपवाले प्राणी जरायुज हैं ॥ ३७½ ॥

द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी ॥ ३८ ॥
तपः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः ।

ब्राह्मणत्वका सनातन हेतु दो प्रकारका जानना चाहिये— तपस्या और पुण्य कर्मका अनुष्ठान; यही विद्वानोंका निश्चय है ॥ ३८½ ॥

विविधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानं च तन्मखे ॥ ३९ ॥
जातस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम् ।

कर्मके अनेकों भेद हैं, उनमें पूजा, दान और यज्ञमें हवन करना—ये प्रधान हैं। वृद्ध पुरुषोंका कथन है कि द्विजोंके कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषके लिये वेदोंका अध्ययन करना भी पुण्यका कार्य है ॥ ३९½ ॥

एतद् यो वेत्ति विधिवद् युक्तः स स्याद् द्विजर्षभाः॥४०॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत ।

द्विजवरो ! जो मनुष्य इस विषयको विधिपूर्वक जानता है, वह योगी होता है तथा उसे सब पापोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसे भलीभाँति समझो ॥ ४०½ ॥

यथावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्तितो मया ॥ ४१ ॥
ज्ञानमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं ज्ञानवतामिह ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे अध्यात्मविधिका यथावत् वर्णन किया । धर्मज्ञजन ! ज्ञानी पुरुषोंको इस विषयका सम्यक् ज्ञान होता है ॥ ४१½ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।
सर्वाण्येतानि संधाय मनसा सम्प्रधारयेत् ॥४२ ॥

इन्द्रियों, उनके विषयों और पञ्च महाभूतोंकी एकताका विचार करके उसे मनमें अच्छी तरह धारण कर लेना चाहिये ॥ ४२ ॥

क्षीणे मनसि सर्वस्मिन् न जन्मसुखमिष्यते ।
ज्ञानसम्पन्नसत्त्वानां तत् सुखं विदुषां मतम् ॥ ४३ ॥

मनके क्षीण होनेके साथ ही सब वस्तुओंका क्षय हो जानेपर मनुष्यको जन्मके सुख (लौकिक सुख-भोग आदि) की इच्छा नहीं होती। जिनका अन्तःकरण ज्ञानसे सम्पन्न होता है, उन विद्वानोंको उसीमें सुखका अनुभव होता है ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभावकरीं शिवाम् ।
निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन च ॥ ४४ ॥

महर्षियो ! अब मैं मनकी सूक्ष्म भावनाको जाग्रत् करनेवाली कल्याणमयी निवृत्तिके विषयमें उपदेश देता हूँ, जो कोमल और कठोर भावसे समस्त प्राणियोंमें रहती है ॥ ४४ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेकचर्यमनन्तरम् ।
एतद् ब्रह्ममयं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ४५ ॥

जहाँ गुण होते हुए भी नहींके बराबर हैं, जो अभिमानसे रहित और एकान्तचर्यासे युक्त है तथा जिसमें भेद-दृष्टिका सर्वथा अभाव है, वही ब्रह्ममय बर्ताव बतलाया गया है, वही समस्त सुखोंका एकमात्र आधार है ॥ ४५ ॥

विद्वान् कूर्म इवाङ्गानि कामान् संहृत्य सर्वशः ।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥ ४६ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको सब ओरसे संकुचित करके रजोगुणसे रहित हो जाता है, वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥ ४६ ॥

कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४७ ॥

जो कामनाओंको अपने भीतर लीन करके तृष्णासे रहित, एकाग्रचित्त तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् और मित्र होता है, वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् ।
मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते ॥ ४८ ॥

विषयोंकी अभिलाषा रखनेवाली समस्त इन्द्रियोंको रोककर जनसमुदायके स्थानका परित्याग करनेसे मुनिका अध्यात्मज्ञानरूपी तेज अधिक प्रकाशित होता है ॥ ४८ ॥

यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ॥ ४९ ॥

जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित होकर अत्यन्त उद्दीप्त दिखायी देती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंका निरोध करनेसे परमात्माके प्रकाशका विशेष अनुभव होने लगता है ॥ ४९ ॥

यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्माऽऽत्मनो हृदि ।
स्वयंज्योतिस्तदा सूक्ष्मात् सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ५० ॥

जिस समय योगी प्रसन्नचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थित देखने लगता है, उस समय वह स्वयंज्योतिःस्वरूप होकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सर्वोत्तम परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च।
मही पङ्कधरं घोरमाकाशश्रवणं तथा ॥ ५१ ॥
रोगशोकसमाविष्टं पञ्चस्रोतःसमावृतम्।
पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ॥ ५२ ॥
रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम्।
संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा ॥ ५३ ॥

अग्नि जिसका रूप है, रुधिर जिसका प्रवाह है, पवन जिसका स्पर्श है, पृथ्वी जिसमें हाड़-मांस आदि कठोर रूपमें प्रकट है, आकाश जिसका कान है, जो रोग और शोकसे चारों ओरसे घिरा हुआ है, जो पाँच प्रवाहोंसे आवृत है, जो पाँच भूतोंसे भलीभाँति युक्त है, जिसके नौ द्वार हैं, जिसके दो (जीव और ईश्वर) देवता हैं, जो रजोगुणमय, अदृश्य (नश्वर); (सुख, दुःख और मोहरूप) तीन गुणोंसे तथा वात, पित्त और कफ–इन तीन धातुओंसे युक्त है, जो संसर्गमें रत और जड है, उसको शरीर समझना चाहिये ॥ ५१–५३ ॥

दुश्चरं सर्वलोकेऽस्मिन् सत्त्वं प्रति समाश्रितम्।
एतदेव हि लोकेऽस्मिन् कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ५४ ॥

जिसका सम्पूर्ण लोकमें विचरण करना दुःखद है, जो बुद्धिके आश्रित है, वही इस लोकमें कालचक्र है ॥ ५४ ॥

एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम्।
विक्षिपेत् संक्षिपेच्चैव बोधयेत् सामरं जगत् ॥ ५५ ॥

यह कालचक्र घोर अगाध और मोह नामसे कहा जानेवाला बड़ा भारी समुद्ररूप है। यह देवताओंके सहित समस्त जगत्का संक्षेप और विस्तार करता है तथा सबको जगाता है ॥

कामं क्रोधं भयं लोभमभिद्रोहमथानृतम्।
इन्द्रियाणां निरोधेन सदा त्यजति दुस्त्यजान् ॥ ५६ ॥

सदा इन्द्रियोंके निरोधसे मनुष्य काम, क्रोध, भय, लोभ, द्रोह और असत्य–इन सब दुस्त्यज अवगुणोंको त्याग देता है ॥ ५६ ॥

यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्चधातवः।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते ॥ ५७ ॥

जिसने इस लोकमें तीन गुणोंवाले पाञ्चभौतिक देहका अभिमान त्याग दिया है, उसे अपने हृदयाकाशमें परब्रह्मरूप उत्तम पदकी उपलब्धि होती है—वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

पञ्चेन्द्रियमहाकूलां मनोवेगमहोदकाम्।
नदीं मोहह्रदां तीर्त्वा कामक्रोधावुभौ जयेत् ॥ ५८ ॥
स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति तत्परम्।

जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी बड़े कगारे हैं, जो मनोवेगरूपी महान् जलराशिसे भरी हुई है और जिसके भीतर मोहमय कुण्ड है, उस देहरूपी नदीको लाँघकर जो काम और क्रोध-दोनोंको जीत लेता है, वही सब दोषोंसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करता है ॥ ५८½ ॥

मनो मनसि संधाय पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ ५९ ॥
सर्ववित् सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मानमात्मनि।

जो मनको हृदयकमलमें स्थापित करके अपने भीतर ही ध्यानके द्वारा आत्मदर्शनका प्रयत्न करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वज्ञ होता है और उसे अन्तःकरणमें परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है ॥ ५९½ ॥

एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ॥ ६० ॥
ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद् दीपशतं यथा।

जैसे एक दीपसे सैकड़ों दीप जला लिये जाते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा यत्र-तत्र अनेकों रूपोंमें उपलब्ध होता है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष निःसंदेह सब रूपोंको एकसे ही उत्पन्न देखता है ॥ ६०½ ॥

स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥ ६१ ॥
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥ ६२ ॥

वास्तवमें वही परमात्मा विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति, धाता, विधाता, प्रभु, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हृदय तथा महान् आत्माके रूपमें प्रकाशित है ॥ ६१-६२ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणसमुदाय, देवता, असुर, यक्ष, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस, भूत और सम्पूर्ण महर्षि भी सदा उस परमात्माकी स्तुति करते हैं ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

चराचर प्राणियोंके अधिपतियोंका, धर्म आदिके लक्षणोंका और विषयोंकी अनुभूतिके साधनोंका वर्णन तथा क्षेत्रज्ञकी विलक्षणता

ब्रह्मोवाच

मनुष्याणां तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः।
कुञ्जरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ॥ १ ॥
अविः पशूनां सर्वेषामहिस्तु बिलवासिनाम्।

गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! मनुष्योंका राजा तो रजोगुणसे युक्त क्षत्रिय है । सवारियोंमें हाथी, वनवासियोंमें सिंह, समस्त पशुओंमें भेड़, और बिलमें रहनेवालोंमें सर्प, गौओंमें बैल एवं स्त्रियोंमें पुरुष प्रधान है ॥ १-२ ॥

न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा ।
शिंशपा मेषशृङ्गश्च तथा कीचकवेणवः ॥ ३ ॥
एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन् नात्र संशयः ।

बरगद, जामुन, पीपल, सेमल, शीशम, मेषशृङ्ग (मेढ़ासिंगी) और पोले बाँस—ये इस लोकमें वृक्षोंके राजा हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ॥ ४ ॥
श्वेतो नीलश्च भासश्च कोष्ठवांश्चैव पर्वतः ।
गुरुस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान् पर्वतस्तथा ॥ ५ ॥
एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा ।
सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ॥ ६ ॥

हिमवान्, पारियात्र, सह्य, विन्ध्य, त्रिकूट, श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान् पर्वत, गुरुस्कन्ध, महेन्द्र और माल्यवान् पर्वत—ये सब पर्वत पर्वतोंके अधिपति हैं । गणोंके मरुद्गण, ग्रहोंके सूर्य और नक्षत्रोंके चन्द्रमा अधिपति हैं ॥ ४-६ ॥

यमः पितृणामधिपः सरितामथ सागरः ।
अम्भसां वरुणो राजा मरुतामिन्द्र उच्यते ॥ ७ ॥

यमराज पितरोंके और समुद्र सरिताओंके स्वामी हैं । वरुण जलके और इन्द्र मरुद्गणोंके स्वामी कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते ।
अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

उष्णप्रभाके अधिपति सूर्य हैं और ताराओंके स्वामी चन्द्रमा कहे गये हैं । भूतोंके नित्य अधीश्वर अग्निदेव हैं तथा ब्राह्मणोंके स्वामी बृहस्पति हैं ॥ ८ ॥

ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः ।
त्वष्टाधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ॥ ९ ॥

ओषधियोंके स्वामी सोम हैं तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ विष्णु हैं । रूपोंके अधिपति सूर्य और पशुओंके ईश्वर भगवान् शिव हैं ॥ ९ ॥

दीक्षितानां तथा यज्ञो देवानां मघवा तथा ।
दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ॥ १० ॥

दीक्षा ग्रहण करनेवालोंके यज्ञ और देवताओंके इन्द्र अधिपति हैं । दिशाओंकी स्वामिनी उत्तर दिशा है एवं ब्राह्मणोंके राजा प्रतापी सोम हैं ॥ १० ॥

कुबेरः सर्वरत्नानां देवतानां पुरंदरः ।
एष भूताधिपः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ॥ ११ ॥

सब प्रकारके रत्नोंके स्वामी कुबेर, देवताओंके स्वामी इन्द्र और प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं । यह भूतोंके अधिपतियोंका सर्ग है ॥ ११ ॥

सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वापि न विद्यते ॥ १२ ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका महान् अधीश्वर और ब्रह्ममय हूँ । मुझसे अथवा विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ १२ ॥

राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
ईश्वरत्वं विजानीध्वं कर्तारमकृतं हरिम् ॥ १३ ॥

ब्रह्ममय महाविष्णु ही सबके राजाधिराज हैं, उन्हींको ईश्वर समझना चाहिये । वे श्रीहरि सबके कर्त्ता हैं, किंतु उनका कोई कर्त्ता नहीं है ॥ १३ ॥

नरकिन्नरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ॥ १४ ॥

वे विष्णु ही मनुष्य, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानव और नाग सबके अधीश्वर हैं ॥ १४ ॥

भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना ।
माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वती हि सा ॥ १५ ॥
उमां देवीं विजानीध्वं नारीणामुत्तमां शुभाम् ।
रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ॥ १६ ॥

कामी पुरुष जिनके पीछे फिरते हैं, उन सबमें सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्री प्रधान है । एवं जो माहेश्वरी, महादेवी और पार्वती नामसे कही जाती हैं, उन मङ्गलमयी उमादेवीको स्त्रियोंमें सर्वोत्तम जानो तथा रमण करने योग्य स्त्रियोंमें स्वर्णविभूषित अप्सराएँ प्रधान हैं ॥ १५-१६ ॥

धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मसेतवः ।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे ॥ १७ ॥

राजा धर्म-पालनके इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्मके सेतु हैं । अतः राजाको चाहिये कि वह सदा ब्राह्मणोंकी रक्षाका प्रयत्न करे ॥ १७ ॥

राज्ञां हि विषये येषामवसीदन्ति साधवः ।
हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्य चोन्मार्गगामिनः ॥ १८ ॥

जिन राजाओंके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंको कष्ट होता है, वे अपने समस्त राजोचित गुणोंसे हीन हो जाते और मरनेके बाद नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

राज्ञां हि विषये येषां साधवः परिरक्षिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते सुखं प्रेत्य च भुञ्जते ॥ १९ ॥
प्राप्नुवन्ति महात्मान इति वित्त द्विजर्षभाः ।

द्विजवरो ! जिनके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी सब प्रकारसे रक्षा की जाती है, वे महामना नरेश इस लोकमें आनन्दके भागी होते हैं और परलोकमें अक्षय सुख प्राप्त करते हैं, ऐसा समझो ॥ १९½ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम् ॥ २० ॥
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।
प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥ २१ ॥

अब मैं सबके नियत धर्मके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ । अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है और हिंसा अधर्मका लक्षण (स्वरूप) है । प्रकाश देवताओंका और यज्ञ आदि कर्म मनुष्योंका लक्षण है ॥ २०-२१ ॥

शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः ।
ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ॥ २२ ॥

शब्द आकाशका, वायु स्पर्शका, रूप तेजका और रस जलका लक्षण है ॥ २२ ॥

धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ।
स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती शब्दलक्षणा ॥ २३ ॥

गन्ध सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वीका लक्षण है तथा स्वर-व्यञ्जनकी शुद्धिसे युक्त वाणीका लक्षण शब्द है ॥ २३ ॥

मनसो लक्षणं चिन्ता चिन्तोक्ता बुद्धिलक्षणा ।
मनसा चिन्तितानर्थान् बुद्ध्या चेह व्यवस्यति ॥ २४ ॥
बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः ।

चिन्तन मनका और निश्चय बुद्धिका लक्षण है; क्योंकि मनुष्य इस जगत्‌में मनके द्वारा चिन्तन की हुई वस्तुओंका बुद्धिसे ही निश्चय करते हैं, निश्चयके द्वारा ही बुद्धि जाननेमें आती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ २४½ ॥

लक्षणं मनसो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ॥ २५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ २६ ॥

मनका लक्षण ध्यान है और श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण बाहरसे व्यक्त नहीं होता (वह स्वसंवेद्य हुआ करता है) । योगका लक्षण प्रवृत्ति और संन्यासका लक्षण ज्ञान है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ज्ञानका आश्रय लेकर यहाँ संन्यास ग्रहण करे ॥ २५-२६ ॥

संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
अतीतो द्वन्द्वमभ्येति तमोमृत्युजरातिगः ॥ २७ ॥

ज्ञानयुक्त संन्यासी मौत और बुढ़ापाको लाँघकर सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे हो अज्ञानान्धकारके पार पहुँचकर परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया ।
गुणानां ग्रहणं सम्यग् वक्ष्याम्यहमतः परम् ॥ २८ ॥

महर्षियो ! यह मैंने तुमलोगोंसे लक्षणोंसहित धर्मका विधिवत् वर्णन किया । अब यह बतला रहा हूँ कि किस गुणको किस इन्द्रियसे ठीक-ठीक ग्रहण किया जाता है ॥ २८ ॥

पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेन हि स गृह्यते ।
घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ॥ २९ ॥

पृथ्वीका जो गन्धनामक गुण है, उसका नासिकाके द्वारा ग्रहण होता है और नासिकामें स्थित वायु उस गन्धका अनुभव करानेमें सहायक होती है ॥ २९ ॥

अपां धातू रसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते ।
जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ॥ ३० ॥

जलका स्वाभाविक गुण रस है, जिसको जिह्वाके द्वारा ग्रहण किया जाता है और जिह्वामें स्थित चन्द्रमा उस रसके आस्वादनमें सहायक होता है ॥ ३० ॥

ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते ।
चक्षुःस्थश्च सदाऽऽदित्यो रूपज्ञाने विधीयते ॥ ३१ ॥

तेजका गुण रूप है और वह नेत्रमें स्थित सूर्यदेवताकी सहायतासे नेत्रके द्वारा सदा देखा जाता है ॥ ३१ ॥

वायव्यस्तु सदा स्पर्शस्त्वचा प्रज्ञायते च सः ।
त्वक्स्थश्चैव सदा वायुः स्पर्शने स विधीयते ॥ ३२ ॥

वायुका स्वाभाविक गुण स्पर्श है, जिसका त्वचाके द्वारा ज्ञान होता है और त्वचामें स्थित वायुदेव उस स्पर्शका अनुभव करानेमें सहायक होता है ॥ ३२ ॥

आकाशस्य गुणो ह्येष श्रोत्रेण च स गृह्यते ।
श्रोत्रस्थाश्च दिशः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥

आकाशके गुण शब्दका कानोंके द्वारा ग्रहण होता है और कानमें स्थित सम्पूर्ण दिशाएँ शब्दके श्रवणमें सहायक बतायी गयी हैं ॥ ३३ ॥

मनसश्च गुणश्चिन्ता प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
हृदिस्थश्चेतनो धातुर्मनोज्ञाने विधीयते ॥ ३४ ॥

मनका गुण चिन्तन है, जिसका बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया जाता है और हृदयमें स्थित चेतन (आत्मा) मनके चिन्तन-कार्यमें सहायता देता है ॥ ३४ ॥

बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा ।
निश्चित्य ग्रहणाद् व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः ॥ ३५ ॥

निश्चयके द्वारा बुद्धिका और ज्ञानके द्वारा महत्तत्त्वका ग्रहण होता है । इनके कार्योंसे ही इनकी सत्ताका निश्चय होता है और इसीसे इन्हें व्यक्त माना जाता है, किंतु वास्तवमें तो अतीन्द्रिय होनेके कारण ये बुद्धि आदि अव्यक्त ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

अलिङ्गग्रहणो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।
तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः ॥ ३६ ॥

नित्य क्षेत्रज्ञ आत्माका कोई ज्ञापक लिङ्ग नहीं है; क्योंकि वह (स्वयंप्रकाश और) निर्गुण है। अतः क्षेत्रज्ञ अलिङ्ग (किसी विशेष लक्षणसे रहित) है; केवल ज्ञान ही उसका लक्षण (स्वरूप) माना गया है ॥ ३६ ॥

अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम्।
सदा पश्याम्यहं लीनो विजानामि शृणोमि च ॥ ३७॥

गुणोंकी उत्पत्ति और लयके कारणभूत अव्यक्त प्रकृतिको क्षेत्र कहते हैं। मैं उसमें संलग्न होकर सदा उसे जानता और सुनता हूँ ॥ ३७ ॥

पुरुषस्तद् विजानीते तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते।
गुणवृत्तं तथा वृत्तं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ॥ ३८॥
आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम्।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

आत्मा क्षेत्रको जानता है, इसलिये वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ आदि, मध्य और अन्तसे युक्त समस्त उत्पत्तिशील अचेतन गुणोंके कार्यको और उनकी क्रियाको भी भलीभाँति जानता है, किंतु बारबार उत्पन्न होनेवाले गुण आत्माको नहीं जान पाते ॥ ३८-३९ ॥

न सत्यं विन्दते कश्चित् क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति।
गुणानां गुणभूतानां यत् परं परमं महत् ॥४०॥

जो गुणों और गुणोंके कार्योंसे अत्यन्त परे है, उस परम महान् सत्यस्वरूप क्षेत्रज्ञको कोई नहीं जानता, परंतु वह सबको जानता है ॥ ४० ॥

तस्माद् गुणांश्च सत्त्वं च परित्यज्येह धर्मवित्।
क्षीणदोषो गुणातीतः क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ ॥ ४१ ॥

अतः इस लोकमें जिसके दोषोंका क्षय हो गया है, वह गुणातीत धर्मज्ञ पुरुष सत्त्व (बुद्धि) और गुणोंका परित्याग करके क्षेत्रज्ञके शुद्ध स्वरूप परमात्मामें प्रवेश कर जाता है ॥ ४१ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च।
अचलश्चानिकेतश्च क्षेत्रज्ञः स परो विभुः ॥ ४२ ॥

क्षेत्रज्ञ सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, किसीको नमस्कार न करनेवाला, स्वाहाकाररूप यज्ञादि कर्म न करनेवाला, अचल और अनिकेत है। वही महान् विभु है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्यसंवादविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

सब पदार्थोंके आदि-अन्तका और ज्ञानकी नित्यताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च।
नामलक्षणसंयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अब मैं सम्पूर्ण पदार्थोंके नाम-लक्षणोंसहित आदि, मध्य और अन्तका तथा उनके ग्रहणके उपायका यथार्थ वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ॥ २ ॥

पहले दिन है फिर रात्रि; (अतः दिन रात्रिका आदि है। इसी प्रकार) शुक्लपक्ष महीनेका, श्रवण नक्षत्रोंका और शिशिर ऋतुओंका आदि है ॥ २ ॥

भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च।
रूपाणां ज्योतिरादित्यः स्पर्शानां वायुरुच्यते ॥ ३ ॥
शब्दस्यादिस्तथाऽऽकाशमेष भूतकृतो गुणः।

गन्धोंका आदि कारण भूमि है। रसोंका जल, रूपोंका ज्योतिर्मय आदित्य, स्पर्शोंका वायु और शब्दका आदिकारण आकाश है। ये गन्ध आदि पञ्चभूतोंसे उत्पन्न गुण हैं ॥ ३½ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आदित्यो ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरुच्यते।
सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां प्रजापतिः ॥ ५ ॥

अब मैं भूतोंके उत्तम आदिका वर्णन करता हूँ। सूर्य समस्त ग्रहोंका और जठरानल सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि बतलाया जाता है। सावित्री सब विद्याओंकी और प्रजापति देवताओंके आदि हैं ॥ ४-५ ॥

ओङ्कारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च।
यदस्मिन् नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते ॥ ६ ॥

ॐकार सम्पूर्ण वेदोंका और प्राण वाणीका आदि है। इस संसारमें जो नियत उच्चारण है, वह सब गायत्री कहलाता है॥

गायत्री च्छन्दसामादिः प्रजानां सर्ग उच्यते।
गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजातयः ॥ ७ ॥

छन्दोंका आदि गायत्री और प्रजाका आदि सृष्टिका प्रारम्भकाल है। गौएँ चौपायोंकी और ब्राह्मण मनुष्योंके आदि हैं॥

श्येनः पतत्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम्।
सरीसृपाणां सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ॥ ८ ॥

द्विजवरो ! पक्षियोंमें बाज, यज्ञोंमें उत्तम आहुति और सम्पूर्ण रेंगकर चलनेवाले जीवोंमें साँप श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः।
हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ॥ ९ ॥

सत्ययुग सम्पूर्ण युगोंका आदि है, इसमें संशय नहीं है। समस्त रत्नोंमें सुवर्ण और अन्नोंमें जौ श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते।
द्रवाणां चैव सर्वेषां पेयानामाप उत्तमाः ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंमें अन्न श्रेष्ठ कहा जाता है। बहनेवाले और सभी पीनेयोग्य पदार्थोंमें जल उत्तम है ॥ १० ॥

स्थावराणां तु भूतानां सर्वेषामविशेषतः।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमतः स्मृतः ॥ ११ ॥

समस्त स्थावर भूतोंमें सामान्यतः ब्रह्मक्षेत्र—पाकर नामवाला वृक्ष श्रेष्ठ एवं पवित्र माना गया है ॥ ११ ॥

अहं प्रजापतीनां च सर्वेषां नात्र संशयः।
मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयम्भूरिति स स्मृतः॥ १२ ॥

सम्पूर्ण प्रजापतियोंका आदि मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है। मेरे आदि अचिन्त्यात्मा भगवान् विष्णु हैं। उन्हींको स्वयम्भू कहते हैं ॥ १२ ॥

पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः।
दिशां च प्रदिशां चोर्ध्वं दिक्पूर्वा प्रथमा तथा ॥ १३ ॥

समस्त पर्वतोंमें सबसे पहले महामेरुगिरिकी उत्पत्ति हुई है। दिशा और विदिशाओंमें पूर्व दिशा उत्तम और आदि मानी गयी है ॥ १३ ॥

तथा त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता।
तथा सरोदपानानां सर्वेषां सागरोऽग्रजः ॥ १४ ॥

सब नदियोंमें त्रिपथगा गङ्गा ज्येष्ठ मानी गयी है। सरोवरोंमें सर्वप्रथम समुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १४ ॥

देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम्।
नरकिंनरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १५ ॥

देव, दानव, भूत, पिशाच, सर्प, राक्षस, मनुष्य, किंनर और समस्त यक्षोंके स्वामी भगवान् शङ्कर हैं ॥ १५ ॥

आदिर्विश्वस्य जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान्।
भूतं परतरं यस्मात् त्रैलोक्ये नेह विद्यते ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण ब्रह्मस्वरूप महाविष्णु हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ॥ १६ ॥

आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ॥ १७ ॥

सब आश्रमोंका आदि गृहस्थ आश्रम है, इसमें संदेह नहीं है। समस्त जगत्का आदि और अन्त अव्यक्त प्रकृति ही है ॥ १७ ॥

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ॥ १८ ॥

दिनका अन्त है सूर्यास्त और रात्रिका अन्त है सूर्योदय। सुखका अन्त सदा दुःख है और दुःखका अन्त सदा सुख है ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १९ ॥

समस्त संग्रहका अन्त है विनाश, उत्थानका अन्त है पतन, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मृत्यु ॥

सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम्।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन् सदा स्थावरजङ्गमम् ॥ २० ॥

जिन-जिन वस्तुओंका निर्माण हुआ है, उनका नाश अवश्यम्भावी है। जो जन्म ले चुका है उसकी मृत्यु निश्चित है। इस जगत्में स्थावर या जङ्गम कोई भी सदा रहनेवाला नहीं है ॥ २० ॥

इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये।
सर्वमेतद् विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥ २१ ॥

जितने भी यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, व्रत और नियम हैं, उन सबका अन्तमें विनाश होता है, केवल ज्ञानका अन्त नहीं होता ॥ २१ ॥

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥ २२ ॥

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त शान्त हो गया है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा जो ममता और अहंकारसे रहित हो गया है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

देहरूपी कालचक्रका तथा गृहस्थ और ब्राह्मणके धर्मका कथन

ब्रह्मोवाच

बुद्धिसारं मनःस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम्।
महाभूतपरिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम्॥ १॥
जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसम्भवम्।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम्॥ २॥
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम्।
सुखदुःखान्तसंश्लेषं क्षुत्पिपासावकीलकम्॥ ३॥
छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम्।
घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम्॥ ४॥
मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम्।
तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम्॥ ५॥
महाहंकारदीप्तं च गुणसंजातवर्तनम्।
अरतिग्रहणानीकं शोकसंहारवर्तनम्॥ ६॥
क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम्।
लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसम्भवम्॥ ७॥
भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम्।
आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम्॥ ८॥
महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम्।
मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते॥ ९॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! मनके समान वेगवाला (देहरूपी) मनोरम कालचक्र निरन्तर चल रहा है। यह महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल भूतोंतक चौबीस तत्त्वोंसे बना हुआ है। इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती। यह संसार-बन्धनका अनिवार्य कारण है। बुढ़ापा और शोक इसे घेरे हुए हैं। यह रोग और दुर्व्यसनोंकी उत्पत्तिका स्थान है। यह देश और कालके अनुसार विचरण करता रहता है। बुद्धि इस कालचक्रका सार, मन खम्भा और इन्द्रियसमुदाय बन्धन हैं। पञ्चमहाभूत इसका तना है। अज्ञान ही इसका आवरण है। श्रम तथा व्यायाम इसके शब्द हैं। रात और दिन इस चक्रका संचालन करते हैं। सर्दी और गर्मी इसका घेरा है। सुख और दुःख इसकी सन्धियाँ (जोड़) हैं। भूख और प्यास इसके कीलक तथा धूप और छाया इसकी रेखा हैं। आँखोंके खोलने और मीचनेसे इसकी व्याकुलता (चञ्चलता) प्रकट होती है। घोर मोहरूपी जल (शोकाश्रु) से यह व्याप्त रहता है। यह सदा ही गतिशील और अचेतन है। मास और पक्ष आदिके द्वारा इसकी आयुकी गणना की जाती है। यह कभी भी एक-सी अवस्थामें नहीं रहता। ऊपर-नीचे और मध्यवर्ती लोकोंमें सदा चक्कर लगाता रहता है। तमोगुणके वशमें होनेपर इसकी पापपङ्कमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुणका वेग इसे भिन्न-भिन्न कर्मोंमें लगाया करता है। यह महान् दर्पसे उद्दीप्त रहता है। तीनों गुणोंके अनुसार इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। मानसिक चिन्ता ही इस चक्रकी बन्धनपट्टिका है। यह सदा शोक और मृत्युके वशीभूत रहनेवाला तथा क्रिया और कारणसे युक्त है। आसक्ति ही उसका दीर्घ-विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) है। लोभ और तृष्णा ही इस चक्रको ऊँचे-नीचे स्थानोंमें गिरानेके हेतु हैं। अद्भुत अज्ञान (माया) इसकी उत्पत्तिका कारण है। भय और मोह इसे सब ओरसे घेरे हुए हैं। यह प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिके लिये विचरनेवाला तथा काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है॥

एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम्।
विसृजेत् संक्षिपेच्चापि बोधयेत् सामरं जगत्॥ १०॥

यह राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त जड देहरूपी कालचक्र ही देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि और संहारका कारण है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका भी यही साधन है॥ १०॥

कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति॥ ११॥

जो मनुष्य इस देहमय कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको सदा अच्छी तरह जानता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १२॥

वह सम्पूर्ण वासनाओं, सब प्रकारके द्वन्द्वों और समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त होता है॥ १२॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः॥ १३॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। गृहस्थ आश्रम ही इन सबका मूल है॥ १३॥

यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी॥ १४॥

इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारङ्गत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है। इसीसे सनातन यशकी प्राप्ति होती है॥

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित्॥ १५॥

पहले सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त विधिसे अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् तत्त्ववेत्ताको उचित है कि वह समावर्तन-संस्कार करके उत्तम गुणोंसे युक्त कुलमें विवाह करे॥ १५॥

स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह ॥ १६ ॥

अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना गृहस्थके लिये परम आवश्यक है । इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये ॥ १६ ॥

देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ॥ १७ ॥

गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे । वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे । अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे ॥ १७ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥ १८ ॥

मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे । यही सत्पुरुषोंका बर्ताव (शिष्टाचार) है ॥ १८ ॥

नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥ १९ ॥

सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्ट पुरुषोंके साथ निवास करे ॥ १९ ॥

जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः ।
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥ २० ॥

शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रखे । सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे । बाँसकी छड़ी और जलसे भरा हुआ कमण्डलु सदा साथ रखे ॥ २० ॥

(त्रीणि धारयते नित्यं कमण्डलुमतन्द्रितः ।
एकमाचमनार्थाय एकं वै पादधावनम् ।
एकं शौचविधानार्थमित्येतत् त्रितयं तथा ॥)

वह आलस्य छोड़कर सदा तीन कमण्डलु धारण करे । एक आचमनके लिये, दूसरा पैर धोनेके लिये और तीसरा शौचसम्पादनके लिये । इस प्रकार कमण्डलु धारणके ये तीन प्रयोजन हैं ॥

अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं वापि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥ २१ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छः वृत्तियोंका आश्रय लेना चाहिये ॥

त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ २२ ॥

इनमेंसे तीन कर्म—याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन (पढ़ाना) और श्रेष्ठ पुरुषोंसे दान लेना—ये ब्राह्मणकी जीविकाके साधन हैं ॥ २२ ॥

अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ २३ ॥

शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान करना—ये धर्मोपार्जनके लिये हैं ॥ २३ ॥

तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ॥ २४ ॥
सर्वमेतद् यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयञ्छुचिः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥ २५ ॥

धर्मज्ञ ब्राह्मणको इनके पालनमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । इन्द्रियसंयमी, मित्रभावसे युक्त, क्षमावान्, सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाला, मननशील, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला और पवित्रतासे रहनेवाला गृहस्थ ब्राह्मण सदा सावधान रहकर अपनी शक्तिके अनुसार यदि उपर्युक्त नियमोंका पालन करता है तो वह स्वर्गलोकको जीत लेता है ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीके धर्मका वर्णन

ब्रह्मोवाच

एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि ।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥ १ ॥
स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ॥ २ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण ! इस प्रकार इस पूर्वोक्त मार्गके अनुसार गृहस्थको यथावत् आचरण करना चाहिये एवं यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखे, मुनि-व्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें लगा रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे ॥ १-२ ॥

गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान् ॥ ३ ॥

गुरुकी आज्ञा लेकर भोजन करे । भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करे । भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे । एक स्थानपर रहे । एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे ॥ ३ ॥

द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा ॥ ४ ॥

पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे । सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे ॥ ४ ॥

क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा ।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह ॥ ५ ॥

रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे । अथवा ब्राह्मणके लिये सारा वस्त्र गेरुए रंगका होना चाहिये ॥ ५ ॥

मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे ॥६॥

पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम् ।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥ ७ ॥

जो ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होकर श्रद्धाके साथ शुद्ध जलसे नित्य देवताओंका तर्पण करता है, उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ॥ ७ ॥

एवं युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले उत्तम गुणोंसे युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष भी उत्तम लोकोंपर विजय पाता है । वह उत्तम स्थानको पाकर फिर इस संसारमें जन्म धारण नहीं करता ॥ ८ ॥

संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत् ॥ ९ ॥

वानप्रस्थ मुनिको सब प्रकारके संस्कारोंके द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकलकर वनमें निवास करना चाहिये ॥ ९ ॥

चर्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरुपस्पृशेत् ।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः ॥ १० ॥

वह मृगचर्म अथवा वल्कल-वस्त्र पहने । प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे । सदा वनमें ही रहे । गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे ॥ १० ॥

अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम् ।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन् ॥ ११ ॥

अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे । जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन-निर्वाह करे ॥ ११ ॥

प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत् ।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः ॥ १२ ॥

बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे । अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपर्युक्त वस्तुओंका आहार करे ॥ १२ ॥

समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् ।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः॥

यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे । कभी आलस्य न करे । जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे ॥ १३ ॥

देवतातिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः ।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः ॥ १४ ॥

नित्य प्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे, उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे । मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रखे, हल्का भोजन करे, देवताओंका सहारा ले ॥ १४ ॥

दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशश्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे । समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे ॥ १५ ॥

शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः॥ १६ ॥

शरीरको सदा पवित्र रखे । धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे । सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे । इस प्रकार उत्तम धर्मोंको पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गपर विजय पाता है ॥ १६ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ कोई भी क्यों न हो, जो मोक्ष पाना चाहता हो, उसे उत्तम वृत्तिका आश्रय लेना चाहिये ॥ १७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् ।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ॥ १८ ॥

(वानप्रस्थकी अवधि पूरी करके) सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान देकर कर्म-त्यागरूप संन्यास-धर्मका पालन करे। सब प्राणियोंके सुखमें सुख माने। सबके साथ मित्रता रखे। समस्त इन्द्रियोंका संयम और मुनि-वृत्तिका पालन करे॥ १८॥

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने॥ १९॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।

बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उस भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करे। प्रातःकालका नित्यकर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा लेनेकी इच्छा करनी चाहिये॥ १९½॥

लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत्।
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः॥ २०॥

भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। (लोभवश) बहुत अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राण-यात्राका निर्वाह हो उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये॥ २०॥

यात्रार्थी कालमाकाङ्क्षंश्चरेद् भैक्ष्यं समाहितः।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः॥ २१॥

संन्यासी जीवन-निर्वाहके ही लिये भिक्षा माँगे। उचित समयतक उसके मिलनेकी बाट देखे। चित्तको एकाग्र किये रहे। साधारण वस्तुओंकी प्राप्तिकी भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान होता हो, वहाँ भोजन न करे॥ २१॥

अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च॥ २२॥

मान-प्रतिष्ठाके लाभसे संन्यासीको घृणा करनी चाहिये। वह खाये हुए तिक्त, कसैले तथा कड़वे अन्नका स्वाद न ले॥

नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम्॥ २३॥

भोजन करते समय मधुर रसका भी आस्वादन न करे। केवल जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे प्राण-धारणमात्रके लिये उपयोगी अन्नका आहार करे॥ २३॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित्।
न चान्यमन्नं लिप्सेत भिक्षमाणः कथंचन॥ २४॥

मोक्षके तत्त्वको जाननेवाला संन्यासी दूसरे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा पहुँचाये बिना ही यदि भिक्षा मिल जाती हो, तभी उसे स्वीकार करे। भिक्षा माँगते समय दाताके द्वारा दिये जानेवाले अन्नके सिवा दूसरा अन्न लेनेकी कदापि इच्छा न करे॥ २४॥

न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा॥ २५॥
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत्॥ २६॥

उसे अपने धर्मका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। रजोगुणसे रहित होकर निर्जन स्थानमें विचरते रहना चाहिये। रातको सोनेके लिये सूने घर, जंगल, वृक्षकी जड़, नदीके किनारे अथवा पर्वतकी गुफाका आश्रय लेना चाहिये। ग्रीष्मकालमें गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं रहना चाहिये, किंतु वर्षाकालमें किसी एक ही स्थानपर रहना उचित है॥

अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम्।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत्॥ २७॥
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत्।

जबतक सूर्यका प्रकाश रहे तभीतक संन्यासीके लिये रास्ता चलना उचित है। वह कीड़ेकी तरह धीरे-धीरे समूची पृथ्वीपर विचरता रहे और यात्राके समय जीवोंपर दया करके पृथ्वीको अच्छी तरह देख-भालकर आगे पाँव रखे। किसी प्रकारका संग्रह न करे और कहीं भी आसक्तिपूर्वक निवास न करे॥ २७½॥

पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित्॥ २८॥
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा।

मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको उचित है कि सदा पवित्र जलसे काम ले। प्रतिदिन तुरंत निकाले हुए जलसे स्नान करे (बहुत पहलेके भरे हुए जलसे नहीं)॥ २८½॥

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च॥ २९॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः॥ ३०॥

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोष-दृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे। इन्द्रियोंको वशमें रखे॥ २९-३०॥

अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः॥ ३१॥

उसे सदा पाप, शठता और कुटिलतासे रहित होकर बर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने-आप प्राप्त हो जाय, उसको ग्रहण करना चाहिये, किंतु उसके लिये भी मनमें इच्छा नहीं रखनी चाहिये॥ ३१॥

यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम्।
धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्तयेत्॥ ३२॥

प्राणयात्राका निर्वाह करनेके लिये जितना अन्न आवश्यक है, उतना ही ग्रहण करे। धर्मतः प्राप्त हुए अन्नका ही आहार करे। मनमाना भोजन न करे ॥ ३२ ॥

ग्रासादाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात् कथंचन ।
यावदाहारयेत् तावत् प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ॥ ३३ ॥

खानेके लिये अन्न और शरीर ढकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे। भिक्षा भी, जितनी भोजनके लिये आवश्यक हो, उतनी ही ग्रहण करे, उससे अधिक नहीं ॥ ३३ ॥

परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि दूसरोंके लिये भिक्षा न माँगे तथा सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा भी न करे ॥ ३४ ॥

नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः ।
न किंचिद् विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत् तस्य वै पुनः॥३५॥

दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे। बिना प्रार्थनाके किसीकी कोई वस्तु स्वीकार न करे। किसी अच्छी वस्तुका उपभोग करके फिर उसके लिये लालायित न रहे ॥ ३५ ॥

मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च ।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्रवृत्तानि च कार्यवान्॥ ३६ ॥

मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल—ये वस्तुएँ यदि किसीके अधिकारमें न हों तो आवश्यकता पड़नेपर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काममें ला सकता है ॥ ३६ ॥

न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः ॥ ३७ ॥

वह शिल्पकारी करके जीविका न चलावे, सुवर्णकी इच्छा न करे। किसीसे द्वेष न करे और उपदेशक न बने तथा संग्रहरहित रहे ॥ ३७ ॥

श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि च वर्जयेत् ।
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ॥ ३८ ॥

श्रद्धासे प्राप्त हुए पवित्र अन्नका आहार करे। मनमें कोई निमित्त न रखे। सबके साथ अमृतके समान मधुर बर्ताव करे, कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे ॥ ३८ ॥

आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ३९ ॥

जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे करावे ॥ ३९ ॥

सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ४० ॥

सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका उल्लङ्घन करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रखे ॥ ४० ॥

परं नोद्वेजयेत् काचिन्न च कस्यचिदुद्विजेत् ।
विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते ॥ ४१ ॥

किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो। जो सब प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है, वह सबसे श्रेष्ठ और मोक्ष-धर्मका ज्ञाता कहलाता है ॥

अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः ॥ ४२ ॥

संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे। केवल कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियोंका समाधान करता रहे ॥ ४२ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत् क्वचित् ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत्॥ ४३ ॥

नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुराई न करे ॥

इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित् ॥ ४४ ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे ॥ ४४ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, किसीके सामने माथा न टेके। स्वाहाकार (अग्निहोत्र आदि) का परित्याग करे। ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योगक्षेमकी चिन्ता न करे। मनपर विजय प्राप्त करे ॥ ४५ ॥

निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः॥ ४६ ॥

जो निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४६ ॥

अपादपाणिपृष्ठं तच्छिरस्कमनूदरम् ।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ॥ ४७ ॥
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।
अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव यत् ॥ ४८ ॥

निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं कूटस्थमपि सर्वदा ।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ॥ ४९ ॥

जो मनुष्य आत्माको हाथ, पैर, पीठ, मस्तक और उदर आदि अङ्गोंसे रहित, गुण-कर्मोंसे हीन, केवल, निर्मल, स्थिर, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दसे रहित, ज्ञेय, अनासक्त, हाड़-मांसके शरीरसे रहित, निश्चिन्त, अविनाशी, दिव्य और सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित सदा एकरस रहनेवाला जानते हैं, उनकी कभी मृत्यु नहीं होती ॥ ४७–४९ ॥

न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः ।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च ॥ ५० ॥
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता ।
तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत् ॥ ५१ ॥

उस आत्मतत्त्वतक बुद्धि, इन्द्रिय और देवताओंकी भी पहुँच नहीं होती । जहाँ केवल ज्ञानवान् महात्माओंकी ही गति है, वहाँ वेद, यज्ञ, लोक, तप और व्रतका भी प्रवेश नहीं होता; क्योंकि वह बाह्य चिह्नसे रहित मानी गयी है ! इसलिये बाह्य चिह्नोंसे रहित धर्मको जानकर उसका यथार्थ रूपसे पालन करना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

गूढधर्माश्रितो विद्वान् विज्ञानचरितं चरेत् ।
अमूढो मूढरूपेण चरेद् धर्ममदूषयन् ॥ ५२ ॥

गुह्य धर्ममें स्थित विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह विज्ञानके अनुरूप आचरण करे । मूढ़ न होकर भी मूढ़के समान बर्ताव करे, किंतु अपने किसी व्यवहारसे धर्मको कलङ्कित न करे ॥ ५२ ॥

तथैनमवमन्येरन् परे सततमेव हि ।
यथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन् ॥ ५३ ॥
य एवं वृत्तसम्पन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ।

जिस कामके करनेसे समाजके दूसरे लोग अनादर करें, वैसा ही काम शान्त रहकर सदा करता रहे, किंतु सत्पुरुषोंके धर्मकी निन्दा न करे । जो इस प्रकारके बर्तावसे सम्पन्न है, वह श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ५३½ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ॥ ५४ ॥
मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा ।
एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात् ॥ ५५ ॥
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ।

जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष—इन सबका विचार करके इनके तत्त्वका यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों-से मुक्त होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४–५५½ ॥

एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ॥ ५६ ॥
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः ।
निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा ॥ ५७ ॥
क्षीणकोशो निरातङ्कस्तथेदं प्राप्नुयात् परम् ॥ ५८ ॥

जो तत्त्ववेत्ता अन्त समयमें इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके एकान्तमें बैठकर परमात्माका ध्यान करता है, वह आकाशमें विचरनेवाले वायुकी भाँति सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर पञ्चकोशोंसे रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एवं परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६–५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

मुक्तिके साधनोंका, देहरूपी वृक्षका तथा ज्ञान-खड्गसे उसे काटनेका वर्णन

ब्रह्मोवाच

संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! निश्चित बात कहनेवाले और वेदोंके कारणरूप परमात्मामें स्थित वृद्ध ब्राह्मण संन्यास-को तप कहते हैं और ज्ञानको ही परब्रह्मका स्वरूप मानते हैं ॥

अविदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमुत्तमम् ॥ २ ॥
ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम् ।

वह वेदविद्याका आधार ब्रह्म (अज्ञानियोंके लिये) अत्यन्त दूर है । वह निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य गुणोंसे युक्त और सर्वश्रेष्ठ है । धीर पुरुष ज्ञान और तपस्याके द्वारा उस परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ २½ ॥

निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥ ३ ॥
तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् ।
संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ॥ ४ ॥

जिनके मनकी मैल धुल गयी है, जो परम पवित्र हैं, जिन्होंने रजोगुणको त्याग दिया है, जिनका अन्तःकरण निर्मल है, जो नित्य संन्यासपरायण तथा ब्रह्मके ज्ञाता हैं, वे पुरुष तपस्याके द्वारा कल्याणमय पथका आश्रय लेकर परमेश्वरको प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।

ज्ञानं वै परमं विद्यात् संन्यासं तप उत्तमम् ॥ ५ ॥

ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि तपस्या (परमात्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाला) दीपक है, आचार धर्मका साधक है, ज्ञान परब्रह्मका स्वरूप है और संन्यास ही उत्तम तप है ॥

यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ ६ ॥

जो तत्त्वका पूर्ण निश्चय करके ज्ञानस्वरूप, निराधार और सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले आत्माको जान लेता है, वह सर्वव्यापक हो जाता है ॥ ६ ॥

यो विद्वान् सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् प्रतिमुच्यते ॥ ७ ॥

जो विद्वान् संयोगको भी वियोगके रूपमें ही देखता है तथा वैसे ही नानात्वमें एकत्व देखता है, वह दुःखसे सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ८ ॥

जो किसी वस्तुकी कामना तथा किसीकी अवहेलना नहीं करता, वह इस लोकमें रहकर भी ब्रह्मस्वरूप होनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९ ॥

जो सब भूतोंमें प्रधान—प्रकृतिको तथा उसके गुण एवं तत्त्वको भलीभाँति जानकर ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उसके मुक्त होनेमें संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमेनैव गच्छति ॥ १० ॥

जो द्वन्द्वोंसे रहित, नमस्कारकी इच्छा न रखनेवाला और स्वधाकार (पितृ-कार्य) न करनेवाला संन्यासी है, वह अतिशय शान्तिके द्वारा ही निर्गुण, द्वन्द्वातीत, नित्यतत्त्वको प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥ ११ ॥

शुभ और अशुभ समस्त त्रिगुणात्मक कर्मोंका तथा सत्य और असत्य—इन दोनोंका भी त्याग करके संन्यासी मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥ १२ ॥
महाभूतविशालश्च विशेषप्रतिशाखवान् । सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥ १३ ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥ १४ ॥
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १५ ॥

यह देह एक वृक्षके समान है । अज्ञान इसका मूल (जड़) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ अङ्कुर और खोखले हैं तथा पञ्चभूत इसको विशाल बनानेवाले हैं और इस वृक्षकी शोभा बढ़ाते हैं । इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं । शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही इसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं । इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाह-रूपसे सदा मौजूद रहनेवाला यह देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है । बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वज्ञानरूपी खड्गसे इस वृक्षको छिन्न-भिन्न कर जब जन्म-मृत्यु और जरावस्थाके चक्करमें डालनेवाले आसक्तिरूप बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है ॥ १२–१५ ॥

द्वाविमौ पक्षिणौ नित्यौ सखायौ चाप्यचेतनौ ।
एताभ्यां तु परो योऽन्यश्चेतनावान् स उच्यते ॥ १६ ॥

इस वृक्षपर रहनेवाले (मन-बुद्धिरूप) दो पक्षी हैं, जो नित्य क्रियाशील होनेपर भी अचेतन हैं । इन दोनोंसे श्रेष्ठ अन्य (आत्मा) है, वह ज्ञानसम्पन्न कहा जाता है ॥ १६ ॥

अचेतनः सत्त्वसंख्याविमुक्तः
सत्त्वात् परं चेतयतेऽन्तरात्मा ।
स क्षेत्रवित् सर्वसंख्यातबुद्धि-
र्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः ॥ १७ ॥

संख्यासे रहित जो सत्त्व अर्थात् मूलप्रकृति है, वह अचेतन है । उससे भिन्न जो जीवात्मा है, उसे अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञानसम्पन्न करता है । वही क्षेत्रको जाननेवाला जब सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लेता है, तब गुणातीत होकर सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

आत्मा और परमात्माके स्वरूपका विवेचन

ब्रह्मोवाच

केचिद् ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद् ब्रह्मवनं महत्।
केचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित् परमनामयम्।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम्॥ १॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस अव्यक्त, उत्पत्ति-शील, अविनाशी सम्पूर्ण वृक्षको कोई ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और कोई महान् ब्रह्मवन मानते हैं। कितने ही इसे अव्यक्त ब्रह्म और कितने ही परम अनामय मानते हैं॥ १॥

उच्छ्वासमात्रमपि चेद् योऽन्तकाले समो भवेत्।
आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २॥

जो मनुष्य अन्तकालमें आत्माका ध्यान करके, साँस लेनेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी, समभावमें स्थित होता है, वह अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है॥ २॥

निमेषमात्रमपि चेत् संयम्यात्मानमात्मनि।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम्॥ ३॥

जो एक निमेष भी अपने मनको आत्मामें एकाग्र कर लेता है, वह अन्तःकरणकी प्रसन्नताको पाकर विद्वानोंको प्राप्त होनेवाली अक्षय गतिको पा जाता है॥ ३॥

प्राणायामैरथ प्राणान् संयम्य स पुनः पुनः।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः॥ ४॥

दस अथवा बारह प्राणायामोंके द्वारा पुनः-पुनः प्राणोंका संयम करनेवाला पुरुष भी चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्व परमात्माको प्राप्त होता है॥ ४॥

एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद् यदिच्छति।
अव्यक्तात् सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते॥ ५॥
सत्त्वात् परतरं नान्यत् प्रशंसन्तीह तद्विदः।

इस प्रकार जो पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है, वह जो-जो चाहता है उसी-उसी वस्तुको पा जाता है। अव्यक्तसे उत्कृष्ट जो सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह अमर होनेमें समर्थ है। अतः सत्त्वस्वरूप आत्माके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान् इस जगत्में सत्त्वसे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं करते॥ ५½॥

अनुमानाद् विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम्।
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः॥ ६॥

द्विजवरो! हम अनुमान-प्रमाणके द्वारा इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि अन्तर्यामी परमात्मा सत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित हैं। इस तत्त्वको समझे बिना परम पुरुषको प्राप्त करना सम्भव नहीं है॥ ६॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते॥ ७॥

क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संन्यास—ये सात्त्विक बर्ताव बताये गये हैं॥ ७॥

एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः।
सत्त्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा॥ ८॥

मनीषी पुरुष इसी अनुमानसे उस सत्त्वस्वरूप आत्माका और परमात्माका मनन करते हैं। इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है॥ ८॥

आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते॥ ९॥

ज्ञानमें भलीभाँति स्थित कितने ही विद्वान् कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और सत्त्वकी एकता युक्तिसङ्गत नहीं है॥ ९॥

पृथग्भूतं ततः सत्त्वमित्येतदविचारितम्।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः॥ १०॥

उनका कहना है कि उस क्षेत्रज्ञसे सत्त्व पृथक् है, क्योंकि यह सत्त्व अविचारसिद्ध है। ये दोनों एक साथ रहनेवाले होनेपर भी तत्त्वतः अलग-अलग हैं—ऐसा समझना चाहिये॥

तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः।
मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते॥ ११॥

इसी प्रकार दूसरे विद्वानोंका निर्णय दोनोंके एकत्व और नानात्वको स्वीकार करता है; क्योंकि मशक और उदुम्बरकी एकता और पृथक्ता देखी जाती है॥ ११॥

मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु सम्प्रयोगस्तथा तयोः।
सम्बन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च॥ १२॥

जैसे जलसे मछली भिन्न है तो भी मछली और जल—दोनोंका संयोग देखा जाता है एवं जलकी बूँदोंका कमलके पत्तेसे सम्बन्ध देखा जाता है॥ १२॥

गुरुरुवाच

इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम्।
पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्मुनिसत्तमाः॥ १३॥

गुरुने कहा—इस प्रकार कहनेपर उन मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणोंने पुनः संशयमें पड़कर उस समय लोकपितामह ब्रह्माजीसे पूछा॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्मका निर्णय जाननेके लिये ऋषियोंका प्रश्न

ऋषय ऊचुः

को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम्॥ १॥

ऋषियोंने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्‌में समस्त धर्मोंमें कौन-सा धर्म अनुष्ठान करनेके लिये सर्वोत्तम माना गया है, यह कहिये; क्योंकि हमें धर्मके विभिन्न मार्ग एक दूसरेसे आहत हुए-से प्रतीत होते हैं॥ १॥

ऊर्ध्वं देहाद् वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे।
केचित् संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे॥ २॥

कोई तो कहते हैं कि देहका नाश होनेके बाद धर्मका फल मिलेगा। दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कितने ही लोग सब धर्मोंको संशययुक्त बताते हैं और दूसरे संशय-रहित कहते हैं॥ २॥

अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे॥ ३॥

कोई कहते हैं कि धर्म अनित्य है और कोई उसे नित्य कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि धर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। कोई कहते हैं कि अवश्य है। कोई कहते हैं कि एक ही धर्म दो प्रकारका है तथा कुछ लोग कहते हैं कि धर्म मिश्रित है॥ ३॥

मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः।
एकमेके पृथक् चान्ये बहुत्वमिति चापरे॥ ४॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग यह मानते हैं कि एक ब्रह्म ही है। अन्य कितने ही कहते हैं कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और दूसरे लोग सबकी सत्ता भिन्न और बहुत प्रकारसे मानते हैं॥ ४॥

देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः॥ ५॥

कितने ही लोग देश और कालकी सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि इनकी सत्ता नहीं है। कोई जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले हैं, कोई सिर मुँडाते हैं और कोई दिगम्बर रहते हैं॥ ५॥

अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः।
मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः॥ ६॥

कितने ही मनुष्य स्नान नहीं करना चाहते और दूसरे लोग जो शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी ब्राह्मणदेवता हैं, वे स्नानको ही श्रेष्ठ मानते हैं॥ ६॥

आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः।
कर्म केचित् प्रशंसन्ति प्रशान्तिं चापरे जनाः॥ ७॥

कई लोग भोजन करना अच्छा मानते हैं और कई भोजन न करनेमें अभिरत रहते हैं। कई कर्म करनेकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग परमशान्तिकी प्रशंसा करते हैं॥ ७॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् भोगान् पृथग्विधान्।
धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे।
उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे॥ ८॥

कितने ही मोक्षकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही नाना प्रकारके भोगोंकी प्रशंसा करते हैं। कुछ लोग बहुत-सा धन चाहते हैं और दूसरे निर्धनताको पसंद करते हैं। कितने ही मनुष्य अपने उपास्य इष्टदेवकी प्राप्तिकी साधना करते हैं और दूसरे कितने ही ऐसा कहते हैं कि 'यह नहीं है'॥ ८॥

अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः।
पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे॥ ९॥

अन्य कई लोग अहिंसाधर्मका पालन करनेमें रुचि रखते हैं और कई लोग हिंसाके परायण हैं। दूसरे कई पुण्य और यशसे सम्पन्न हैं। इनसे भिन्न दूसरे कहते हैं कि 'यह सब कुछ नहीं है'॥ ९॥

सद्भावनिरताश्चान्ये केचित् संशयिते स्थिताः।
दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः॥ १०॥

अन्य कितने ही सद्भावमें रुचि रखते हैं। कितने ही लोग संशयमें पड़े रहते हैं। कितने ही साधक कष्ट सहन करते हुए ध्यान करते हैं और दूसरे कई सुखपूर्वक ध्यान करते हैं॥ १०॥

यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे।
तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः॥ ११॥

अन्य ब्राह्मण यज्ञको श्रेष्ठ बताते हैं और दूसरे दानकी प्रशंसा करते हैं। अन्य कई तपकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे स्वाध्यायकी प्रशंसा करते हैं॥ ११॥

ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः।
सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे॥ १२॥

कई लोग कहते हैं कि ज्ञान ही संन्यास है। भौतिक विचारवाले मनुष्य स्वभावकी प्रशंसा करते हैं। कितने ही सभीकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे सबकी प्रशंसा नहीं करते॥ १२॥

एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रबोधिते।
निश्चयं नाधिगच्छामः सम्मूढाः सुरसत्तम॥ १३॥

सुरश्रेष्ठ ब्रह्मन्! इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था अनेक ढंगसे परस्पर विरुद्ध बतलायी जानेके कारण हमलोग धर्मके विषयमें मोहित हो रहे हैं; अतः किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते॥ १३॥

इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥१४॥

'यही कल्याण-मार्ग है, यही कल्याण–मार्ग है'—इस प्रकारकी बातें सुनकर मनुष्य-समुदाय विचलित हो गया है। जो जिस धर्ममें रत है, वह उसीका सदा आदर करता है॥ १४॥

तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम्।
एतदाख्यातमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥१५॥

इस कारण हम लोगोंकी बुद्धि विचलित हो गयी है और मन भी बहुत-से संकल्प-विकल्पोंमें पड़कर चञ्चल हो गया है। श्रेष्ठ ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तविक कल्याणका मार्ग क्या है? ॥ १५ ॥

अतः परं तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि सम्बन्धः केन हेतुना ॥१६॥

इसलिये जो परम गुह्य तत्त्व है, वह आपको हमें बतलाना चाहिये। साथ ही यह भी बतलाइये कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है? ॥ १६॥

एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान् ॥१७॥

लोकोंकी सृष्टि करनेवाले धर्मात्मा बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माजी उन ऋषियोंकी यह बात सुनकर उनसे उनके प्रश्नोंका यथार्थ रूपसे उत्तर देने लगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सत्त्व और पुरुषकी भिन्नता, बुद्धिमान्‌की प्रशंसा, पञ्चभूतोंके गुणोंका विस्तार और परमात्माकी श्रेष्ठताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ॥ १ ॥

ब्रह्माजी बोले—श्रेष्ठ महर्षियो! तुम लोगोंने जो विषय पूछा है, उसे अब मैं कहूँगा। गुरुने सुयोग्य शिष्यको पाकर जो उपदेश दिया है, उसे तुमलोग सुनो ॥ १ ॥

समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम्।
अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ॥ २ ॥
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्।

उस विषयको यहाँ पूर्णतया सुनकर अच्छी प्रकार धारण करो। सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है ॥ २½ ॥

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥ ३ ॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः।

निश्चयको साक्षात् करनेवाले वृद्ध लोग कहते हैं कि 'ज्ञान ही परम कल्याणका साधन है।' इसलिये परम शुद्ध ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३½ ॥

हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ॥ ४ ॥

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिकवृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है ॥ ४ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः।
तेऽस्मिंल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥ ५ ॥

जो लोग सावधान होकर सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे बार-बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके सुखी होते हैं ॥ ५ ॥

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ ६ ॥

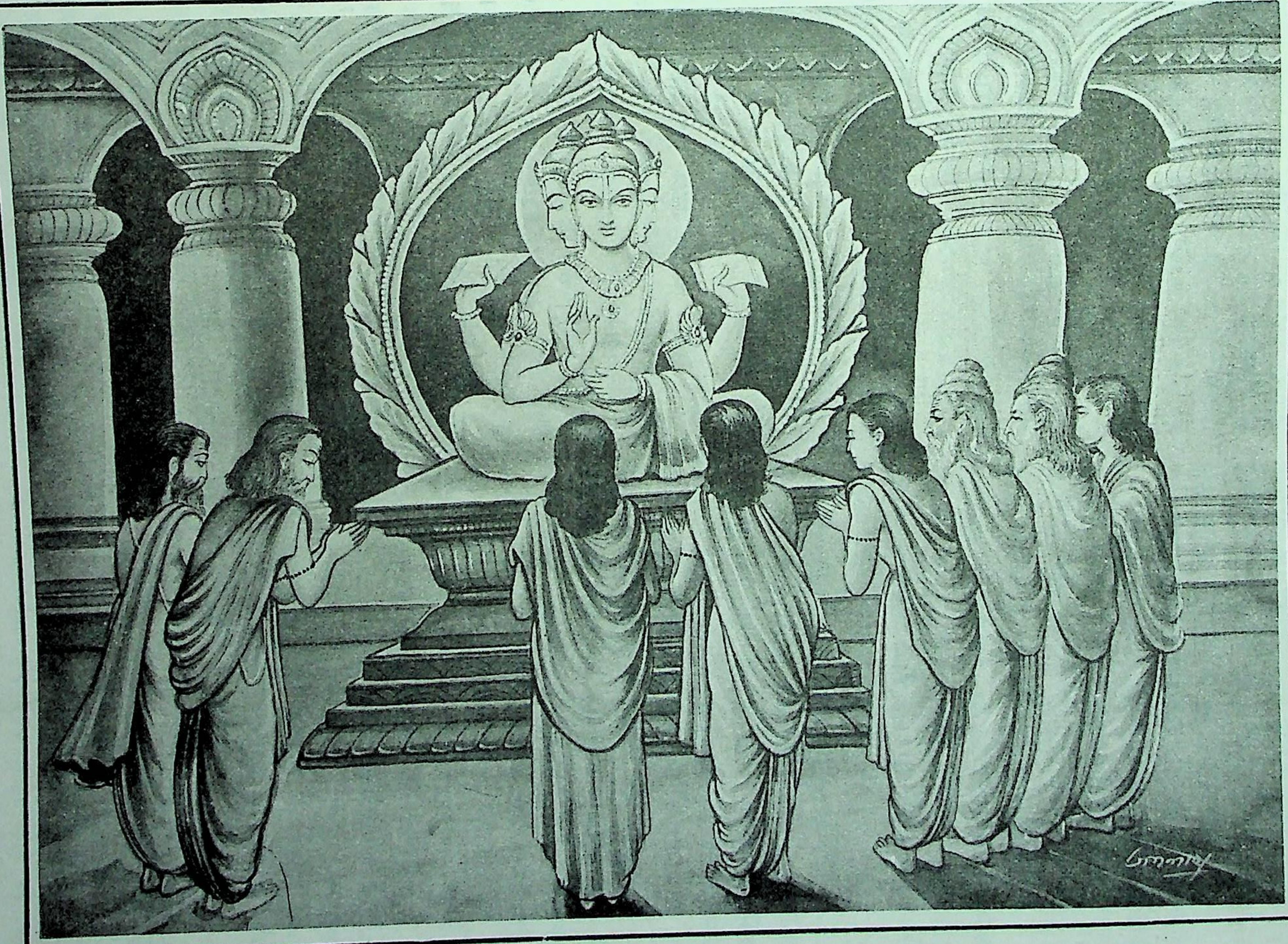
जो विद्वान् समत्वयोगमें स्थित हो श्रद्धाके साथ कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और उनके फलमें आसक्त नहीं होते वे धीर और उत्तम दृष्टिवाले माने गये हैं ॥ ६ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं यह बता रहा हूँ कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञका परस्पर संयोग और वियोग कैसे होता है? इस विषयको ध्यान देकर सुनो ॥ ७ ॥

विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥ ८ ॥

इन दोनोंमें यहाँ यह विषय-विषयिभाव सम्बन्ध माना गया है। इनमें पुरुष तो सदा विषयी और सत्त्व विषय माना जाता है ॥ ८ ॥



ब्रह्माजीका ऋषियोंको उपदेश

व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम्।
यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते ॥ ९ ॥

पूर्व अध्यायमें मच्छर और गूलरके उदाहरणसे यह बात बतायी जा चुकी है कि भोगा जानेवाला अचेतन सत्त्व नित्य-स्वरूप क्षेत्रज्ञको नहीं जानता, किंतु जो क्षेत्रज्ञ है वह इस प्रकार जानता है कि जो भोगता है वह आत्मा है और जो भोगा जाता है, वह सत्त्व है ॥ ९ ॥

नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥१०॥

मनीषी पुरुष सत्त्वको द्वन्द्वयुक्त कहते हैं और क्षेत्रज्ञ निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणस्वरूप है ॥ १० ॥

समं संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः।
उपभुङ्क्ते सदा सत्त्वमपः पुष्करपर्णवत् ॥११॥

वह क्षेत्रज्ञ समभावसे सर्वत्र भलीभाँति स्थित हुआ ज्ञानका अनुसरण करता है। जैसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहकर जलको धारण करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सदा सत्त्वका उपभोग करता है ॥ ११ ॥

सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥१२॥
एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः।

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी चञ्चल बूँद उसे भिगो नहीं पाती, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष समस्त गुणोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी किसीसे लिप्त नहीं होता। अतः क्षेत्रज्ञ पुरुष वास्तविकमें असङ्ग है, इसमें संदेह नहीं है ॥

द्रव्यमात्रमभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः ॥१३॥
यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा।

यह निश्चित बात है कि पुरुषके भोगनेयोग्य द्रव्यमात्रकी संज्ञा सत्त्व है तथा जैसे द्रव्य और कर्ताका सम्बन्ध है, वैसे ही इन दोनोंका सम्बन्ध है ॥ १३½ ॥

यथा प्रदीपमादाय कश्चित् तमसि गच्छति।
तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ॥१४॥

जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर अन्धकारमें चलता है, वैसे ही परम तत्त्वको चाहनेवाले साधक सत्त्वरूप दीपकके प्रकाशमें साधनमार्गपर चलते हैं ॥ १४ ॥

यावद् द्रव्यं गुणस्तावत् प्रदीपः सम्प्रकाशते।
क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति ॥१५॥

जबतक दीपकमें द्रव्य और गुण रहते हैं, तभीतक वह प्रकाश फैलाता है। द्रव्य और गुणका क्षय हो जानेपर ज्योति भी अन्तर्धान हो जाती है ॥ १५ ॥

व्यक्तः सत्त्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते।
एतद् विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥

इस प्रकार सत्त्वगुण तो व्यक्त है और पुरुष अव्यक्त माना गया है। ब्रह्मर्षियो ! इस तत्त्वको समझो। अब मैं तुमलोगोंसे आगेकी बात बताता हूँ ॥ १६ ॥

सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते ॥ १७ ॥

जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे हजार उपाय करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और जो बुद्धिमान् है वह चौथाई प्रयत्न-से भी ज्ञान पाकर सुखका अनुभव करता है ॥ १७ ॥

एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः।
उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

ऐसा विचारकर किसी उपायसे धर्मके साधनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि उपायको जाननेवाला मेधावी पुरुष अत्यन्त सुखका भागी होता है ॥ १८ ॥

यथाध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित्।
क्लेशेन याति महता विनश्येदन्तरापि च ॥ १९ ॥

जैसे कोई मनुष्य यदि राह-खर्चका प्रबन्ध किये बिना ही यात्रा करता है तो उसे मार्गमें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है अथवा वह बीचहीमें मर भी सकता है ॥ १९ ॥

तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ॥ २० ॥

ऐसे ही (पूर्वजन्मोंके पुण्योंसे हीन पुरुष) योगमार्गके साधनमें लगनेपर योगसिद्धिरूप फल कठिनतासे पाता है अथवा नहीं भी पाता। पुरुषका अपना कल्याणसाधन ही उसके पूर्वजन्मके शुभाशुभ संस्कारोंको बतानेवाला है ॥

यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥ २१ ॥

जैसे पहले न देखे हुए दूरके रास्तेपर जब मनुष्य सहसा पैदल ही चल पड़ता है (तो वह अपने गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच पाता) यही दशा तत्त्वज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषकी होती है ॥ २१ ॥

तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम्।

किंतु उसी मार्गपर घोड़े जुते हुए शीघ्रगामी रथके द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष जिस प्रकार शीघ्र ही अपने लक्ष्य स्थानपर पहुँच जाता है तथा वह ऊँचे पर्वतपर चढ़कर नीचे पृथ्वीकी ओर नहीं देखता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों-की गति होती है ॥ २२½ ॥

रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम् ॥ २३ ॥

यावद् रथपथस्तावद् रथेन स तु गच्छति ।
क्षीणे रथपदे विद्वान् रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ २४ ॥

देखो, रथके द्वारा जानेवाला भी मूर्ख मनुष्य ऊँचे पर्वतके पास पहुँचकर कष्ट पाता रहता है, किंतु बुद्धिमान् मनुष्य जहाँतक रथ जानेका मार्ग है वहाँतक रथसे जाता है और जब रथका रास्ता समाप्त हो जाता है तब वह उसे छोड़कर पैदल यात्रा करता है ॥ २३-२४ ॥

एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥

इसी प्रकार तत्त्व और योगविधिको जाननेवाला बुद्धिमान् एवं गुणज्ञ पुरुष अच्छी तरह समझ-बूझकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है ॥ २५ ॥

यथार्णवं महाघोरमप्लवः सम्प्रगाहते ।
बाहुभ्यामेव सम्मोहाद् वधं वाञ्छत्यसंशयम् ॥२६॥

जैसे कोई पुरुष मोहवश बिना नावके ही भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता है और दोनों भुजाओंसे ही तैरकर उसके पार होनेका भरोसा रखता है तो निश्चय ही वह अपनी मौत बुलाना चाहता है (उसी प्रकार ज्ञान-नौकाका सहारा लिये बिना मनुष्य भवसागरसे पार नहीं हो सकता) ॥ २६ ॥

नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञः स्वरित्रया ।
अश्रान्तः सलिले गच्छेच्छीघ्रं संतरते ह्रदम् ॥ २७ ॥
तीर्णो गच्छेत् परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः ॥ २८ ॥

जिस तरह जलमार्गके विभागको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर डाँडवाली नावके द्वारा अनायास ही जलपर यात्रा करके शीघ्र समुद्रसे तर जाता है एवं पार पहुँच जानेपर नावकी ममता छोड़कर चल देता है; (उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हो जानेपर बुद्धिमान् पुरुष पहलेके साधनसामग्रीकी ममता छोड़ देता है ।) यह बात रथपर चलनेवाले और पैदल चलनेवालेके दृष्टान्तसे पहले भी कही जा चुकी है ॥ २७ २८ ॥

स्नेहात् सम्मोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः संस्तत्रैव परिवर्तते ॥ २९ ॥

परंतु स्नेहवश मोहको प्राप्त हुआ मनुष्य ममतासे आबद्ध होकर नावपर सदा बैठे रहनेवाले मल्लाहकी भाँति वहीं चक्कर काटता रहता है ॥ २९ ॥

नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥ ३० ॥
एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथैतानुपपद्यते ॥ ३१ ॥

नौकापर चढ़कर जिस प्रकार स्थलपर विचरण करना सम्भव नहीं है तथा रथपर चढ़कर जलमें विचरण करना सम्भव नहीं बताया गया है, इसी प्रकार किये हुए विचित्र कर्म अलग-अलग स्थानपर पहुँचानेवाले हैं । संसारमें जिनके द्वारा जैसा कर्म किया गया है, उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है ॥

यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत् प्रधानं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥

जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दसे युक्त नहीं है तथा मुनिलोग बुद्धिके द्वारा जिसका मनन करते हैं, वह 'प्रधान' कहलाता है ॥ ३२ ॥

तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ॥ ३३ ॥

प्रधानका दूसरा नाम अव्यक्त है । अव्यक्तका कार्य महत्तत्त्व है और प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है ॥

अहंकारात् तु सम्भूतो महाभूतकृतो गुणः ।
पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥३४॥

अहंकारसे पञ्च महाभूतोंको प्रकट करनेवाले गुणकी उत्पत्ति हुई है । पञ्च महाभूतोंके कार्य हैं रूप, रस आदि विषय । वे पृथक्-पृथक् गुणोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥३४॥

बीजधर्मं तथाव्यक्तं प्रसवात्मकमेव च ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥

अव्यक्त प्रकृति कारणरूपा भी है और कार्यरूपा भी । इसी प्रकार महत्तत्त्वके भी कारण और कार्य दोनों ही स्वरूप सुने गये हैं ॥ ३५ ॥

बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥ ३६ ॥

अहंकार भी कारणरूप तो है ही, कार्यरूपमें भी बारम्बार परिणत होता रहता है । पञ्च महाभूतों (पञ्चतन्मात्राओं) में भी कारणत्व और कार्यत्व दोनों धर्म हैं । वे शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि वे बीजधर्मी हैं ॥ ३६ ॥

बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च प्रकुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ॥ ३७ ॥

उन पाँचों भूतोंके विशेष कार्य शब्द आदि विषय हैं । उन विषयोंका प्रवर्तक चित्त है ॥ ३७ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥ ३८ ॥

पञ्चमहाभूतोंमेंसे आकाशमें एक ही गुण माना गया है । वायुके दो गुण बतलाये जाते हैं । तेज तीन गुणोंसे युक्त कहा गया है । जलके चार गुण हैं ॥ ३८ ॥

पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला ।

सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ॥ ३९ ॥

पृथ्वीके पाँच गुण समझने चाहिये । वह देवी स्थावर-जंगम प्राणियोंसे भरी हुई, समस्त जीवोंको जन्म देनेवाली तथा शुभ और अशुभका निर्देश करनेवाली है ॥ ३९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥

विप्रवरो ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध—ये ही पृथ्वीके पाँच गुण जानने चाहिये ॥ ४० ॥

पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥ ४१ ॥

इनमें भी गन्ध उसका खास गुण है । गन्ध अनेकों प्रकारकी मानी गयी है । मैं उस गन्धके गुणोंका विस्तारके साथ वर्णन करूँगा ॥ ४१ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ ४२ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।

इष्ट (सुगन्ध), अनिष्ट (दुर्गन्ध), मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी (दूरतक फैलनेवाली), मिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये पार्थिव गन्धके दस भेद समझने चाहिये ॥ ४२½ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चापां गुणाः स्मृताः ॥ ४३ ॥
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये जलके चार गुण माने गये हैं (इनमें रस ही जलका मुख्य गुण है) । अब मैं रस-विज्ञानका वर्णन करता हूँ । रसके बहुत-से भेद बताये गये हैं ॥ ४३½ ॥

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ॥ ४४ ॥
एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।

मीठा, खट्टा, कड़ुआ, तीता, कसैला और नमकीन—इस प्रकार छः भेदोंमें जलमय रसका विस्तार बताया गया है ॥ ४४½ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ४५ ॥
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम् ।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये तेजके तीन गुण कहे गये हैं । इनमें रूप ही तेजका मुख्य गुण है । रूपके भी कई भेद माने गये हैं ॥ ४५½ ॥

शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ॥ ४६ ॥
ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं तु वृत्तवत् ।
एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ॥ ४७ ॥
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ।

शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, छोटा, बड़ा, मोटा, दुबला, चौकोना और गोल—इस प्रकार तैजस रूपका बारह प्रकारसे विस्तार सत्यवादी धर्मज्ञ वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा जानने योग्य कहा जाता है ॥ ४६–४७½ ॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ॥ ४८ ॥
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ।

शब्द और स्पर्श—ये वायुके दो गुण जानने योग्य कहे जाते हैं । इनमें भी स्पर्श ही वायुका प्रधान गुण है । स्पर्श भी कई प्रकारका माना गया है ॥ ४८½ ॥

रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ॥ ४९ ॥
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः ।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ५० ॥
विधिवद् ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५१ ॥

रूखा, ठंडा, गरम, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण (हलका), पिच्छिल, कठोर और कोमल—इन बारह प्रकारोंसे वायुके गुण स्पर्शका विस्तार तत्त्वदर्शी धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणोंद्वारा विधिवत् बतलाया गया है ॥ ४९–५१ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ।

आकाशका शब्दमात्र एक ही गुण माना गया है । उस शब्दके बहुत-से गुण हैं । उनका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ ॥ ५१½ ॥

तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥ ५२ ॥
षडजर्षभः स गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ॥ ५३ ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः ।

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद, धैवत, इष्ट (प्रिय), अनिष्ट (अप्रिय) और संहत (श्लिष्ट)—इस प्रकार विभागवाले आकाशजनित शब्दके दस भेद हैं ॥ ५२-५३½ ॥

आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः ॥ ५४ ॥
अहंकारात् परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः ।
तस्मात् तु परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥ ५५ ॥

आकाश सब भूतोंमें श्रेष्ठ है । उससे श्रेष्ठ अहंकार, अहंकारसे श्रेष्ठ बुद्धि, उस बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा, उससे श्रेष्ठ अव्यक्त प्रकृति और प्रकृतिसे श्रेष्ठ पुरुष है ॥ ५४-५५ ॥

परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानमव्ययम् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताका ज्ञाता, समस्त कर्मोंकी विधिका जानकार और सब प्राणियोंको आत्मभावसे देखनेवाला है, वह अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्यसंवादविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तपस्याका प्रभाव, आत्माका स्वरूप और उसके ज्ञानकी महिमा तथा अनुगीताका उपसंहार

ब्रह्मोवाच

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! जिस प्रकार इन पाँचों महाभूतोंकी उत्पत्ति और नियमन करनेमें मन समर्थ है, उसी प्रकार स्थितिकालमें भी मन ही भूतोंका आत्मा है ॥ १ ॥

अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते ॥ २ ॥

उन पञ्चमहाभूतोंका नित्य आधार भी मन ही है। बुद्धि जिसके ऐश्वर्यको प्रकाशित करती है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा ॥ ३ ॥

जैसे सारथि अच्छे घोड़ोंको अपने काबूमें रखता है, उसी प्रकार मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर शासन करता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सदा क्षेत्रज्ञके साथ संयुक्त रहते हैं ॥ ३ ॥

महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम्।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात् परिधावति ॥ ४ ॥

जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं, जिसका बुद्धिरूपी सारथिके द्वारा नियन्त्रण हो रहा है, उस देहरूपी रथपर सवार होकर वह भूतात्मा (क्षेत्रज्ञ) चारों ओर दौड़ लगाता रहता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः ॥ ५ ॥

ब्रह्ममय रथ सदा रहनेवाला और महान् है, इन्द्रियाँ उसके घोड़े, मन सारथि, और बुद्धि चाबुक है ॥ ५ ॥

एवं यो वेत्ति विद्वान् वै सदा ब्रह्ममयं रथम्।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो विद्वान् इस ब्रह्ममय रथकी सदा जानकारी रखता है, वह समस्त प्राणियोंमें धीर है और कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

अव्यक्तादि विशेषान्तं सत्रसस्थावरजङ्गमम्।
सूर्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥ ७ ॥
नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम्।
विविधाभिस्तथा चाद्भिः सततं समलंकृतम् ॥ ८ ॥
आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः।
एतद् ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित् ॥ ९ ॥

यह जगत् एक ब्रह्मवन है। अव्यक्त प्रकृति इसका आदि है। पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विशेषोंतक इसका विस्तार है। यह चराचर प्राणियोंसे भरा हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे प्रकाशित है। ग्रह और नक्षत्रोंसे सुशोभित है। नदियों और पर्वतोंके समूहसे सब ओर विभूषित है। नाना प्रकारके जलसे सदा ही अलङ्कृत है। यही सम्पूर्ण भूतोंका जीवन और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति है। इस ब्रह्मवनमें क्षेत्रज्ञ विचरण करता है ॥ ७-९ ॥

लोकेऽस्मिन् यानि सत्त्वानि त्रसानि स्थावराणि च।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद् भूतकृता गुणाः।
गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ॥ १० ॥

इस लोकमें जो स्थावर जङ्गम प्राणी हैं, वे ही पहले प्रकृतिमें विलीन होते हैं, उसके बाद पाँच भूतोंके कार्य लीन होते हैं और कार्यरूप गुणोंके बाद पाँच भूत लीन होते हैं। इस प्रकार यह भूतसमुदाय प्रकृतिमें लीन होता है ॥ १० ॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ॥ ११ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर, राक्षस सभी स्वभावसे रचे गये हैं; किसी क्रियासे या कारणसे इनकी रचना नहीं हुई है ॥ ११ ॥

एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा ॥ १२ ॥

विश्वकी सृष्टि करनेवाले ये मरीचि आदि ब्राह्मण समुद्रकी लहरोंके समान बारंबार पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं। और उत्पन्न हुए वे फिर समयानुसार उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ १२ ॥

विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः।

भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम् ॥ १३॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले प्राणियोंसे पञ्च महाभूत सब प्रकार पर है। जो इन पञ्च महाभूतोंसे छूट जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

शक्तिसम्पन्न प्रजापतिने अपने मनके ही द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है तथा ऋषि भी तपस्यासे ही देवत्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १४ ॥

तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ॥ १५ ॥

फल-मूलका भोजन करनेवाले सिद्ध महात्मा यहाँ तपस्याके प्रभावसे ही चित्तको एकाग्र करके तीनों लोकोंकी बातोंको क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥ १५ ॥

औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ १६ ॥

आरोग्यकी साधनभूत ओषधियाँ और नाना प्रकारकी विद्याएँ तपसे ही सिद्ध होती हैं। सारे साधनोंकी जड़ तपस्या ही है १६ ॥

यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १७ ॥

जिसको पाना, जिसका अभ्यास करना, जिसे दबाना और जिसकी संगति लगाना नितान्त कठिन है, वह तपस्याके द्वारा साध्य हो जाता है; क्योंकि तपका प्रभाव दुर्लङ्घ्य है।

सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात् ततः ॥ १८ ॥

शराबी, ब्रह्महत्यारा, चोर, गर्भ नष्ट करनेवाला और गुरुपत्नीकी शय्यापर सोनेवाला महापापी भी भलीभाँति तपस्या करके ही उस महान् पापसे छुटकारा पा सकता है ॥

मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ॥ १९ ॥
तपःपरायणा नित्यं सिद्ध्यन्ते तपसा सदा।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः ॥ २० ॥

मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य जितने चराचर प्राणी हैं, वे सब नित्य तपस्यामें संलग्न होकर ही सदा सिद्धि प्राप्त करते हैं। तपस्याके बलसे ही महामायावी देवता स्वर्गमें निवास करते हैं ॥ १९-२० ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः।
अहंकारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ॥ २१ ॥

जो लोग आलस्य त्यागकर अहंकारसे युक्त हो सकाम कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे प्रजापतिके लोकमें जाते हैं ॥

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

जो अहंता-ममतासे रहित हैं, वे महात्मा विशुद्ध ध्यान-योगके द्वारा महान् उत्तम लोकको प्राप्त करते हैं ॥ २२ ॥

ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ॥ २३ ॥

जो ध्यानयोगका आश्रय लेकर सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, वे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुष सुखकी राशिभूत अव्यक्त परमात्मामें प्रवेश करते हैं ॥ २३ ॥

ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

किंतु जो ध्यानयोगसे पीछे लौटकर अर्थात् ध्यानमें असफल होकर ममता और अहंकारसे रहित जीवन व्यतीत करता है, वह निष्काम पुरुष भी महापुरुषोंके उत्तम अव्यक्त लोकमें लीन होता है ॥ २४ ॥

अव्यक्तादेव सम्भूतः समसंज्ञां गतः पुनः।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ २५ ॥

फिर स्वयं भी उसकी समताको प्राप्त होकर अव्यक्तसे ही प्रकट होता है और केवल सत्त्वका आश्रय लेकर तमोगुण एवं रजोगुणके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ २५ ॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम्।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्याद् यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६ ॥

जो सब पापोंसे मुक्त रहकर सबकी सृष्टि करता है, उस अखण्ड आत्माको क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये। जो मनुष्य उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वेदवेत्ता है ॥ २६ ॥

चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः।
यच्चित्तं तन्मयो वश्यं गुह्यमेतत् सनातनम् ॥ २७ ॥

मुनिको उचित है कि चिन्तनके द्वारा चेतना (सम्यग्ज्ञान) पाकर मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाय; क्योंकि जिसका चित्त जिसमें लगा होता है, वह निश्चय ही उसका स्वरूप हो जाता है—यह सनातन गोपनीय रहस्य है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादिविशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम्।
निबोधत तथा हीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ॥ २८ ॥

अव्यक्तसे लेकर सोलह विशेषोंतक सभी अविद्याके लक्षण बताये गये हैं। ऐसा समझना चाहिये कि यह गुणोंका ही विस्तार है ॥ २८ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ २९ ॥

दो अक्षरका पद 'मम' (यह मेरा है—ऐसा भाव)

मृत्युरूप है और तीन अक्षरका पद 'न मम' (यह मेरा नहीं है---ऐसा भाव) सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २९ ॥

कर्म केचित् प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः।
ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ॥ ३० ॥

कुछ मन्द-बुद्धियुक्त पुरुष (स्वर्गादि फल प्रदान करनेवाले) काम्य कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, किंतु वृद्ध महात्माजन उन कर्मोंको उत्तम नहीं बतलाते ॥ ३० ॥

कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः।
पुरुषं ग्रसतेऽविद्या तद् ग्राह्यममृताशिनाम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि सकाम कर्मके अनुष्ठानसे जीवको सोलह विकारोंसे निर्मित स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेना पड़ता है और वह सदा अविद्याका ग्रास बना रहता है। इतना ही नहीं, कर्मठ पुरुष देवताओंके भी उपभोगका विषय होता है ॥ ३१ ॥

तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥ ३२ ॥

इसलिये जो कोई पारदर्शी विद्वान् होते हैं, वे कर्मोंमें आसक्त नहीं होते; क्योंकि यह पुरुष (आत्मा) ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं ॥ ३२ ॥

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम्।
वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत् ॥ ३३ ॥

जो इस प्रकार चेतन आत्माको अमृतस्वरूप, नित्य, इन्द्रियातीत, सनातन, अक्षर, जितात्मा एवं असङ्ग समझता है, वह कभी मृत्युके बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ ३३ ॥

अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम्।
य एवं विन्देदात्मानमग्राह्यममृताशनम्।
अग्राह्योऽमृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः ॥ ३४ ॥

जिसकी दृष्टिमें आत्मा अपूर्व (अनादि), अकृत (अजन्मा), नित्य, अचल, अग्राह्य और अमृताशी है, वह इन गुणोंका चिन्तन करनेसे स्वयं भी अग्राह्य (इन्द्रियातीत), निश्चल एवं अमृतस्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

आयोज्य सर्वसंस्कारान् संयम्यात्मानमात्मनि।
स तद् ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद् भूयो न विद्यते ॥ ३५ ॥

जो चित्तको शुद्ध करनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंका सम्पादन करके मनको आत्माके ध्यानमें लगा देता है, वही उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त करता है, जिससे बड़ा कोई नहीं है ॥ ३५ ॥

प्रसादे चैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात्।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण अन्तःकरणके स्वच्छ हो जानेपर साधकको शुद्ध प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्न शान्त हो जाता है उसी प्रकार चित्तशुद्धिका लक्षण है ॥ ३६ ॥

गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः ॥ ३७ ॥

ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त महात्माओंकी यही परम गति है; क्योंकि वे उन समस्त प्रवृत्तियोंको शुभाशुभ फल देनेवाली समझते हैं ॥ ३७ ॥

एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम् ॥ ३८ ॥

यही विरक्त पुरुषोंकी गति है, यही सनातन धर्म है, यही ज्ञानियोंका प्राप्तव्य स्थान है और यही अनिन्दित सदाचार है ॥ ३८ ॥

समेन सर्वभूतेषु निःस्पृहेण निराशिषा।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना ॥ ३९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें समानभाव रखता है, लोभ और कामनासे रहित है तथा जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि रहती है, वह ज्ञानी पुरुष ही इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है ॥ ३९ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ४० ॥

ब्रह्मर्षियो! यह सब विषय मैंने विस्तारके साथ तुम लोगोंको बता दिया। इसीके अनुसार आचरण करो, इससे तुम्हें शीघ्र ही परम सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४० ॥

गुरुरुवाच

इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकमवाप्नुवन् ॥ ४१ ॥

गुरुने कहा—बेटा! ब्रह्माजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर उन महात्मा मुनियोंने इसीके अनुसार आचरण किया। इससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ४१ ॥

त्वमप्येतन्महाभाग मयोक्तं ब्रह्मणो वचः।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

महाभाग! तुम्हारा चित्त शुद्ध है, इसलिये तुम भी मेरे बताये हुए ब्रह्माजीके उत्तम उपदेशका भलीभाँति पालन करो। इससे तुम्हें भी सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४२ ॥

वासुदेव उवाच

इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम्।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! गुरुदेवके ऐसा कहनेपर उस शिष्यने समस्त उत्तम धर्मोंका पालन किया। इससे वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो गया ॥ ४३ ॥

कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह।
तत् पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४४ ॥

कुरुकुलनन्दन ! उस समय कृतार्थ होकर उस शिष्यने वह ब्रह्मपद प्राप्त किया, जहाँ जाकर शोक नहीं करना पड़ता ॥ ४४ ॥

अर्जुन उवाच

को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो ॥ ४५ ॥

अर्जुनने पूछा—जनार्दन श्रीकृष्ण ! वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु कौन थे और शिष्य कौन थे ? प्रभो ! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये ॥ ४५ ॥

वासुदेव उवाच

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो ! मैं ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनंजय ! तुम्हारे स्नेहवश मैंने इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है ॥ ४६ ॥

मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत ॥ ४७ ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुकुलनन्दन ! यदि मुझपर तुम्हारा प्रेम हो तो इस अध्यात्मज्ञानको सुनकर तुम नित्य इसका यथावत् पालन करो ॥ ४७ ॥

ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण।
सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम् ॥ ४८ ॥

शत्रुदमन ! इस धर्मका पूर्णतया आचरण करनेपर तुम समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध मोक्षको प्राप्त कर लोगे ॥ ४८ ॥

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ॥ ४९ ॥

महाबाहो ! पहले भी मैंने युद्धकाल उपस्थित होनेपर यही उपदेश तुमको सुनाया था। इसलिये तुम इसमें मन लगाओ ॥ ४९ ॥

मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं पिताजीका दर्शन करना चाहता हूँ। उन्हें देखे बहुत दिन हो गये। यदि तुम्हारी राय हो तो मैं उनके दर्शनके लिये द्वारका जाऊँ ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनंजयः।
गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै ॥ ५१ ॥
समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
समनुज्ञाप्य राजानं स्वां पुरीं यातुमर्हसि ॥ ५२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर अर्जुनने कहा—'श्रीकृष्ण ! अब हमलोग यहाँसे हस्तिनापुरको चलें। वहाँ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे मिलकर और उनकी आज्ञा लेकर आप अपनी पुरीको पधारें' ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ हस्तिनापुर जाना और वहाँ सबसे मिलकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले सुभद्राके साथ द्वारकाको प्रस्थान करना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभ्यनोदयत् कृष्णो युज्यतामिति दारुकम्।
मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने दारुकको आज्ञा दी कि 'रथ जोतकर तैयार करो।' दारुकने दो ही घड़ीमें लौटकर सूचना दी कि 'रथ जुत गया' ॥ १ ॥

तथैव चानुयात्रादि चोदयामास पाण्डवः।
सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार अर्जुनने भी अपने सेवकोंको आदेश दिया कि 'सब लोग रथको सुसज्जित करो। अब हमें हस्तिनापुरकी यात्रा करनी है' ॥ २ ॥

इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशाम्पते।
आचख्युः सज्जमित्येवं पार्थायामिततेजसे ॥ ३ ॥

प्रजानाथ ! आज्ञा पाते ही सम्पूर्ण सैनिक तैयार हो गये और महान् तेजस्वी अर्जुनके पास जाकर बोले—'रथ सुसज्जित है और यात्राकी सारी तैयारी हो गयी' ॥ ३ ॥

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते ॥ ४ ॥

राजन् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन

रथपर बैठकर आपसमें तरह-तरहकी विचित्र बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये ॥ ४ ॥

रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनंजयः।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यमिदं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

भरतभूषण ! रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार महातेजस्वी अर्जुन बोले—॥ ५ ॥

त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा वृष्णिकुलोद्वह।
नियताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ६ ॥

'वृष्णिकुलधुरन्धर श्रीकृष्ण ! आपकी कृपासे ही राजा युधिष्ठिरको विजय प्राप्त हुई है। उनके शत्रुओंका दमन हो गया और उन्हें निष्कण्टक राज्य मिला ॥ ६ ॥

नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन।
भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः स्म कुरुसागरम् ॥ ७ ॥

'मधुसूदन ! हम सभी पाण्डव आपसे सनाथ हैं, आपको ही नौकारूप पाकर हमलोग कौरवसेनारूपी समुद्रसे पार हुए हैं ॥ ७ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसत्तम।
तथा त्वामभिजानामि यथा चाहं भवन्मतः ॥ ८ ॥

विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है। विश्वात्मन् ! आप सम्पूर्ण विश्वमें सबसे श्रेष्ठ हैं। मैं आपको उसी तरह जानता हूँ, जिस तरह आप मुझे समझते हैं ॥ ८ ॥

त्वत्तेजःसम्भवो नित्यं भूतात्मा मधुसूदन।
रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया ते रोदसी विभो ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! आपके ही तेजसे सदा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आप ही सब प्राणियोंके आत्मा हैं। प्रभो ! नाना प्रकारकी लीलाएँ आपकी रति (मनोरञ्जन) हैं। आकाश और पृथिवी आपकी माया है ॥ ९ ॥

त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणु जङ्गमम्।
त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १० ॥

'यह जो स्थावर-जङ्गमरूप जगत् है, सब आपहीमें प्रतिष्ठित है। आप ही चार प्रकारके समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं ॥ १० ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव मधुसूदन।
हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियाणि ते ॥ ११ ॥

'मधुसूदन ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाशकी सृष्टि भी आपने ही की है। निर्मल चाँदनी आपका हास्य है और ऋतुएँ आपकी इन्द्रियाँ हैं ॥ ११ ॥

प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः।
प्रसादे चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ॥ १२ ॥

'सदा चलनेवाली वायु प्राण है, क्रोध सनातन मृत्यु है। महामते ! आपके प्रसादमें लक्ष्मी विराजमान हैं। आपके वक्षःस्थलमें सदा ही श्रीजीका निवास है ॥ १२ ॥

रतिस्तुष्टिर्धृतिः क्षान्तिर्मतिः कान्तिश्चराचरम्।
त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्यसेऽनघ ॥ १३ ॥

'अनघ ! आपमें ही रति, तुष्टि, धृति, क्षान्ति, मति, कान्ति और चराचर जगत् है। आप ही युगान्तकालमें प्रलय कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया।
आत्मा च परमात्मा च नमस्ते नलिनेक्षण ॥ १४ ॥

'दीर्घकालतक गणना करनेपर भी आपके गुणोंका पार पाना असम्भव है। आप ही आत्मा और परमात्मा हैं। कमलनयन ! आपको नमस्कार है ॥ १४ ॥

विदितो मे सुदुर्धर्ष नारदाद् देवलात् तथा।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपितामहात् ॥ १५ ॥

'दुर्धर्ष परमेश्वर ! मैंने देवर्षि नारद, देवल, श्रीकृष्ण-द्वैपायन तथा पितामह भीष्मके मुखसे आपके माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः।
यच्चानुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ॥ १६ ॥
एतत् सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये जनार्दन।

'सारा जगत् आपमें ही ओत-प्रोत है। एकमात्र आप ही मनुष्योंके अधीश्वर हैं। निष्पाप जनार्दन ! आपने मुझपर कृपा करके जो यह उपदेश दिया है, उसका मैं यथावत् पालन करूँगा ॥ १६½ ॥

इदं चाद्भुतमत्यन्तं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ॥ १७ ॥
यत्पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः।

'हमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे आपने यह अत्यन्त अद्भुत कार्य किया कि धृतराष्ट्रके पुत्र कुरुकुलकलङ्क पापी दुर्योधनको (भैया भीमके द्वारा) युद्धमें मरवा डाला ॥

त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं मया विजितमाहवे ॥ १८ ॥
भवता तत्कृतं कर्म येनावाप्तो जयो मया।

'शत्रुकी सेनाको आपने ही अपने तेजसे दग्ध कर दिया था। तभी मैंने युद्धमें उसपर विजय पायी है। आपने ही ऐसे-ऐसे उपाय किये हैं, जिनसे मुझे विजय सुलभ हुई है ॥ १८½ ॥

दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ॥ १९ ॥
कर्णस्य च वधोपायो यथावत् सम्प्रदर्शितः।
सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस एव च ॥ २० ॥

'संग्राममें आपकी ही बुद्धि और पराक्रमसे दुर्योधन, कर्ण, पापी सिन्धुराज जयद्रथ तथा भूरिश्रवाके वधका

उपाय मुझे यथावत् रूपसे दृष्टिगोचर हुआ ॥ १९-२०॥

अहं च प्रीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन।
यदुक्तस्तत् करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ॥ २१ ॥

'देवकीनन्दन ! आपने प्रेमपूर्वक प्रसन्नताके साथ मुझे जो कार्य करनेके लिये कहा है, उसे अवश्य करूँगा; इसमें मुझे कुछ भी विचार नहीं करना है ॥ २१ ॥

राजानं च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
चोदयिष्यामि धर्मज्ञ गमनार्थं तवानघ ॥ २२ ॥
रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो।
अचिरादेव द्रष्टा त्वं मातुलं मे जनार्दन ॥ २३ ॥
बलदेवं च दुर्धर्षं तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान्।

'धर्मज्ञ एवं निष्पाप भगवान् जनार्दन ! मैं धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनसे आपके जानेके लिये आज्ञा प्रदान करनेका अनुरोध करूँगा। इस समय आपका द्वारका जाना आवश्यक है, इसमें मेरी भी सम्मति है। अब आप शीघ्र ही मामाजीका दर्शन करेंगे और दुर्जय वीर बलदेवजी तथा अन्यान्य वृष्णिवंशी वीरोंसे मिल सकेंगे'॥

एवं सम्भाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ॥ २४ ॥
तथा विविशतुश्चोभौ सम्प्रहृष्टनराकुलम्।

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मित्र हस्तिनापुरमें जा पहुँचे। उन दोनोंने हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए नगरमें प्रवेश किया ॥ २४½ ॥

तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ॥ २५ ॥
ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
विदुरं च महाबुद्धिं राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥

महाराज ! इन्द्रभवनके समान शोभा पानेवाले धृतराष्ट्रके महलमें उन दोनोंने राजा धृतराष्ट्र, महाबुद्धिमान् विदुर और राजा युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ २५-२६ ॥

भीमसेनं च दुर्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुं चापराजितम् ॥ २७ ॥
गान्धारीं च महाप्रज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम्।
सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ॥ २८ ॥
ददृशाते स्त्रियः सर्वा गान्धारीपरिचारिकाः।

फिर क्रमशः दुर्जय वीर भीमसेन, माद्रीनन्दन पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, धृतराष्ट्रकी सेवामें लगे रहनेवाले अपराजित वीर युयुत्सु, परम बुद्धिमती गान्धारी, कुन्ती, भार्या द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि भरतवंशकी सभी स्त्रियोंसे मिले। गान्धारीकी सेवामें रहनेवाली उन सभी स्त्रियोंका उन दोनोंने दर्शन किया ॥ २७-२८½ ॥

ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ ॥ २९ ॥
निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम्।
गान्धार्याश्च पृथायाश्च धर्मराजस्य चैव हि ॥ ३० ॥
भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम्।

सबसे पहले उन शत्रुदमन वीरोंने राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर अपने नाम बताते हुए उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। उसके बाद उन महात्माओंने गान्धारी, कुन्ती, धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेनके पैर छूये ॥ २९-३०½ ॥

क्षत्तारं चापि संगृह्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३१ ॥
(परिष्वज्य महात्मानं वैश्यापुत्रं महारथम्।)
तैः सार्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तौ पर्युपासताम्।

फिर विदुरजीसे मिलकर उनका कुशल-मङ्गल पूछा। इसके बाद वैश्यापुत्र महारथी महामना युयुत्सुको भी हृदयसे लगाया। तत्पश्चात् उन सबके साथ वे दोनों बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पास जा बैठे ॥ ३१½ ॥

ततो निशि महाराजो धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ॥ ३२ ॥
जनार्दनं च मेधावी व्यसर्जयत वै गृहान्।
तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३३ ॥

रात हो जानेपर मेधावी महाराज धृतराष्ट्रने उन कुरुश्रेष्ठ वीरों तथा भगवान् श्रीकृष्णको अपने अपने घरमें जानेके लिये विदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर वे सब लोग अपने-अपने घरको गये ॥ ३२-३३ ॥

धनंजयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्यवान्।
तत्रार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः ॥ ३४ ॥

पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके ही घरमें गये। वहाँ उनकी यथोचित पूजा हुई और सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थ उनकी सेवामें उपस्थित किये गये ॥ ३४ ॥

कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनंजयसहायवान्।
प्रभातायां तु शर्वर्यां कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥ ३५ ॥
धर्मराजस्य भवनं जग्मतुः परमार्चितौ।
यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महाबलः ॥ ३६ ॥

भोजनके पश्चात् मेधावी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ सोये। जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पूर्वाह्णकालकी क्रिया--संध्या-वन्दन आदि करके वे दोनों परम पूजित मित्र धर्मराज युधिष्ठिरके महलमें गये। जहाँ महाबली धर्मराज अपने मन्त्रियोंके साथ रहते थे ॥ ३५-३६ ॥

तौ प्रविश्य महात्मानौ तद् गृहं परमार्चितम्।
धर्मराजं ददृशतुर्देवराजमिवाश्विनौ ॥ ३७ ॥

उस परम सुन्दर एवं सुसज्जित भवनमें प्रवेश करके उन महात्माओंने धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया। मानो दोनों अश्विनीकुमार देवराज इन्द्रसे आकर मिले हों ॥ ३७॥

समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ।
निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन जब राजाके पास पहुँचे, तब उन्हें देख उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उनके आज्ञा देनेपर वे दोनों मित्र आसनपर विराजमान हुए ॥ ३८ ॥

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ भूपालशिरोमणि मेधावी युधिष्ठिरने उन्हें कुछ कहनेके लिये इच्छुक देख उनसे इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ।
ब्रूतं कर्तास्मि सर्वं वां नचिरान्मा विचार्यताम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—यदुकुल और कुरुकुलको अलंकृत करनेवाले वीरो! मालूम होता है, तुमलोग मुझसे कुछ कहना चाहते हो। जो भी कहना हो, कहो; मैं तुम्हारी सारी इच्छाओंको शीघ्र ही पूर्ण करूँगा। तुम मनमें कुछ अन्यथा विचार न करो ॥४० ॥

इत्युक्तः फाल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत्।
विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल अर्जुनने धर्मराजके पास जाकर बड़े विनीत भावसे कहा—॥ ४१ ॥

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान्।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ ४२ ॥
स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे।
आनर्तनगरीं वीरस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४३ ॥

'राजन्! परम प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण-को यहाँ रहते बहुत दिन हो गया। अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिताजीका दर्शन करना चाहते हैं। यदि आप स्वीकार करें और हर्षपूर्वक आज्ञा दे दें तभी ये वीरवर श्रीकृष्ण आनर्तनगरी द्वारकाको जायँगे। अतः आप इन्हें जानेकी आज्ञा दे दें' ॥ ४२-४३॥

युधिष्ठिर उवाच

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—कमलनयन मधुसूदन! आपका कल्याण हो। प्रभो! आप शूरनन्दन वसुदेवजीका दर्शन करनेके लिये आज ही द्वारकाको प्रस्थान कीजिये ॥ ४४ ॥

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥ ४५ ॥

महाबाहु केशव! मुझे आपका जाना इसलिये ठीक लगता है कि आपने मेरे मामाजी और मामी देवकी देवीको बहुत दिनोंसे नहीं देखा है ॥ ४५ ॥

समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ ४६ ॥

मानद ' महाप्राज्ञ! आप मामाजी तथा भैया बलदेव-जीके पास जाकर उनसे मिलिये और मेरी ओरसे उनका यथायोग्य सत्कार कीजिये ॥ ४६ ॥

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम्।
फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ॥ ४७ ॥

भक्तोंको मान देनेवाले श्रीकृष्ण! द्वारकामें पहुँचकर आप मुझको, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको, अर्जुन, सहदेव और नकुलको भी सदा याद रखियेगा ॥ ४७ ॥

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ॥ ४८ ॥

महाबाहु निष्पाप श्रीकृष्ण! आनर्त देशकी प्रजा, अपने माता-पिता तथा वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर पुनः मेरे अश्वमेध यज्ञमें पधारियेगा ॥ ४८ ॥

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥ ४९ ॥
इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात् तव केशव।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥ ५० ॥

यदुनन्दन केशव! ये तरह-तरहके रत्न और धन प्रस्तुत हैं। इन्हें तथा दूसरी-दूसरी वस्तुएँ जो आपको पसंद हों लेकर यात्रा कीजिये। वीरवर! आपके प्रसादसे ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलका राज्य हमारे हाथमें आया है और हमारे शत्रु भी मारे गये ॥ ४९-५० ॥

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

कुरुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय पुरुषोत्तम वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही—॥ ५१ ॥

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥ ५२ ॥

'महाबाहो! ये रत्न, धन और समूची पृथ्वी अब केवल आपकी ही है। इतना ही नहीं, मेरे घरमें भी जो कुछ धन-वैभव है, उसको भी आप अपना ही समझिये। नरेश्वर! आप ही सदा उसके भी स्वामी हैं' ॥ ५२ ॥

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा
गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान्।

पितृष्वसारं त्ववदद् यथाविधि
सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जो आज्ञा कहकर उनके वचनोंका आदर किया। उनसे सम्मानित हो पराक्रमी श्रीकृष्णने अपनी बुआ कुन्तीके पास जाकर बातचीत की और उनसे यथोचित सत्कार पाकर उनकी प्रदक्षिणा की ॥

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा।
विनिर्ययौ नागपुराद् गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ॥ ५४ ॥

कुन्तीसे भलीभाँति अभिनन्दित हो विदुर आदि सब लोगोंसे सत्कारपूर्वक विदा ले चार भुजाधारी भगवान् श्रीकृष्ण अपने दिव्य रथद्वारा हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ५४ ॥

रथे सुभद्रामधिरोप्य भाविनीं
युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो
विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥ ५५ ॥

बुआ कुन्ती तथा राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे भाविनी सुभद्राको भी रथपर बिठाकर महाबाहु जनार्दन पुरवासियोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर निकले ॥ ५५ ॥

तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः
ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि ।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं
स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ५६ ॥

उस समय उन माधवके पीछे कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराजके समान पराक्रमी स्वयं भीमसेन भी कुछ दूरतक पहुँचानेके लिये गये ॥

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनां-
स्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान् ।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः
प्रचोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ॥ ५७ ॥

तदनन्तर पराक्रमी श्रीकृष्णने कौरवराज्यकी वृद्धि करनेवाले उन समस्त पाण्डवों तथा विदुरजीको लौटाकर दारुक तथा सात्यकिसे कहा—'अब घोड़ोंको जोरसे हाँको' ॥

ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः
शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः।
यथा निहत्यारिगणं शतक्रतु-
र्दिवं तथाऽऽनर्तपुरीं प्रतापवान् ॥ ५८ ॥

तत्पश्चात् शिनिवीर सात्यकिको साथ लिये शत्रुदलमर्दन प्रतापी श्रीकृष्ण आनर्तपुरी द्वारकाकी ओर उसी प्रकार चल दिये, जैसे प्रतापी इन्द्र अपने शत्रुसमुदायका संहार करके स्वर्गमें जा रहे हों ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णप्रयाणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाको प्रस्थानविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्गमें श्रीकृष्णसे कौरवोंके विनाशकी बात सुनकर उत्तङ्कमुनिका कुपित होना और श्रीकृष्णका उन्हें शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

**तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परंतपाः ॥ १ ॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार द्वारका जाते हुए भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर भरतवंशके श्रेष्ठ वीर शत्रुसंतापी पाण्डव अपने सेवकोंसहित पीछे लौटे।१।

**पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः।
आ चक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥ २ ॥**

अर्जुनने वृष्णिवंशी प्यारे सखा श्रीकृष्णको बारंबार छाती-से लगाया और जबतक वे आँखोंसे ओझल नहीं हुए, तबतक उन्हींकी ओर वे बारंबार देखते रहे ॥ २ ॥

**कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम्।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥ ३ ॥**

जब रथ दूर चला गया, तब पार्थने बड़े कष्टसे श्रीकृष्णकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको पीछे लौटाया। किसीसे पराजित न होनेवाले श्रीकृष्णकी भी यही दशा थी ॥ ३ ॥

**तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः।
बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ॥ ४ ॥**

महामना भगवान्‌की यात्राके समय जो बहुत-से अद्भुत शकुन प्रकट हुए, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ ।
कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ॥ ५ ॥

उनके रथके आगे बड़े वेगसे हवा आती और रास्तेकी धूल, कंकण तथा काँटोंको उड़ाकर अलग कर देती थी ।५।

ववर्ष वासवश्चैव तोयं शुचि सुगन्धि च ।
दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥

इन्द्र श्रीकृष्णके सामने पवित्र एवं सुगन्धित जल तथा दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करते थे ॥ ६ ॥

स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु ।
ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार मरुभूमिके समतल प्रदेशमें पहुँचकर महाबाहु श्रीकृष्णने अमिततेजस्वी मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कका दर्शन किया ।७।

स तं सम्पूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः ।
पूजितस्तेन च तदा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ८ ॥

विशाल नेत्रोंवाले तेजस्वी श्रीकृष्ण उत्तङ्क मुनिकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा पूजित हुए । तत्पश्चात् उन्होंने मुनिका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

स पृष्टः कुशलं तेन सम्पूज्य मधुसूदनम् ।
उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ॥ ९ ॥

उनके कुशल-मङ्गल पूछनेपर विप्रवर उत्तङ्कने भी मधुसूदन माधवकी पूजा करके उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—॥

कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत् ।
कृतं सौभ्रात्रमचलं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १० ॥

'शूरनन्दन ! क्या तुम कौरवों और पाण्डवोंके घर जाकर उनमें अविचल भ्रातृभाव स्थापित कर आये ? यह बात मुझे विस्तारके साथ बताओ ॥ १० ॥

अपि संधाय तान् वीरानुपावृत्तोऽसि केशव ।
सम्बन्धिनः स्वदयितान् सततं वृष्णिपुङ्गव ॥ ११ ॥

'केशव ! क्या तुम उन वीरोंमें संधि कराकर ही लौट रहे हो ? वृष्णिपुङ्गव ! वे कौरव, पाण्डव तुम्हारे सम्बन्धी तथा तुम्हें सदा ही परम प्रिय रहे हैं ॥ ११ ॥

कच्चित् पाण्डुसुताः पञ्च धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः ।
लोकेषु विहरिष्यन्ति त्वया सह परंतप ॥ १२ ॥

'परंतप ! क्या पाण्डुके पाँचों पुत्र और धृतराष्ट्रके भी सभी आत्मज संसारमें तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचर सकेंगे ? ॥

स्वराष्ट्रे ते च राजानः कच्चित् प्राप्स्यन्ति वै सुखम् ।
कौरवेषु प्रशान्तेषु त्वया नाथेन केशव ॥ १३ ॥

'केशव ! तुम-जैसे रक्षक एवं स्वामीके द्वारा कौरवोंके शान्त कर दिये जानेपर अब पाण्डवनरेशोंको अपने राज्यमें सुख तो मिलेगा न ? ॥ १३ ॥

या मे सम्भावना तात त्वयि नित्यमवर्तत ।
अपि सा सफला तात कृता ते भरतान् प्रति ॥ १४ ॥

'तात ! मैं सदा तुमसे इस बातकी सम्भावना करता था कि तुम्हारे प्रयत्नसे कौरव-पाण्डवोंमें मेल हो जायगा । मेरी जो वह सम्भावना थी, भरतवंशियोंके सम्बन्धमें तुमने वह सफल तो किया है न ?' ॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृतो यत्नो मया पूर्वं सौशाम्ये कौरवान् प्रति ।
नाशक्यन्त यदा साम्ये ते स्थापयितुमञ्जसा ॥ १५ ॥
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—महर्षे ! मैंने पहले कौरवोंके पास जाकर उन्हें शान्त करनेके लिये बड़ा प्रयत्न किया, परंतु वे किसी तरह संधिके लिये तैयार न किये जा सके । जब उन्हें समतापूर्ण मार्गमें स्थापित करना असम्भव हो गया, तब वे सब-के-सब अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये ॥ १५½ ॥

न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ॥ १६ ॥
महर्षे विदितं भूयः सर्वमेतत् तवानघ ।
तेऽत्यक्रामन् मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य च ॥ १७ ॥

महर्षे ! प्रारब्धके विधानको कोई बुद्धि अथवा बलसे नहीं मिटा सकता । अनघ ! आपको तो ये सब बातें मालूम ही होंगी कि कौरवोंने मेरी, भीष्मजीकी तथा विदुरजीकी सम्मतिको भी ठुकरा दिया ॥ १६-१७ ॥

ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम् ।
पञ्चैव पाण्डवाः शिष्टा हतामित्रा हतात्मजाः ।
धार्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे ससुतबान्धवाः ॥ १८ ॥

इसीलिये वे आपसमें लड़-भिड़कर यमलोक जा पहुँचे । इस युद्धमें केवल पाँच पाण्डव ही अपने शत्रुओंको मारकर जीवित बच गये हैं । उनके पुत्र भी मार डाले गये हैं । धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जो गान्धारीके पेटसे पैदा हुए थे, अपने पुत्र और बान्धवोंसहित नष्ट हो गये ॥ १८ ॥

इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः ।
उत्तङ्क इत्युवाचैनं रोषादुत्फुल्ललोचनः ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इतना कहते ही उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रोधसे जल उठे और रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे । उन्होंने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ १९ ॥

उत्तङ्क उवाच

यस्माच्छक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपुङ्गवाः ।
सम्बन्धिनः प्रियास्तस्माच्छप्स्येऽहं त्वामसंशयम् ॥ २० ॥

उत्तङ्क बोले--श्रीकृष्ण ! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे, तथापि शक्ति रखते हुए भी तुमने उनकी रक्षा न की। इसलिये मैं तुम्हें अवश्य शाप दूँगा ॥ २० ॥

न च ते प्रसभं यस्मात् ते निगृह्य निवारिताः।
तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ॥ २१ ॥

मधुसूदन ! तुम उन्हें जबर्दस्ती पकड़कर रोक सकते थे, पर ऐसा नहीं किया। इसलिये मैं क्रोधमें भरकर तुम्हें शाप दूँगा ॥ २१ ॥

त्वया शक्तेन हि सता मिथ्याचारेण माधव।
ते परीताः कुरुश्रेष्ठा नश्यन्तः स ह्युपेक्षिताः ॥ २२ ॥

माधव ! कितने खेदकी बात है, तुमने समर्थ होते हुए भी मिथ्याचारका आश्रय लिया। युद्धमें सब ओरसे आये हुए वे श्रेष्ठ कुरुवंशी नष्ट हो गये और तुमने उनकी उपेक्षा कर दी ॥ २२ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु मे विस्तरेणेदं यद् वक्ष्ये भृगुनन्दन।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णने कहा--भृगुनन्दन ! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे विस्तारपूर्वक सुनिये। भार्गव ! आप तपस्वी हैं, इसलिये मेरी अनुनय-विनय स्वीकार कीजिये ॥ २३ ॥

श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ॥ २४ ॥
न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर।

मैं आपको अध्यात्मतत्त्व सुना रहा हूँ। उसे सुननेके पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आज मुझे शाप दीजियेगा। तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ महर्षे ! आप यह याद रखिये कि कोई भी पुरुष थोड़ी-सी तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि आपकी तपस्या नष्ट हो जाय ॥

तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ॥ २५ ॥
कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥ २६ ॥

आपका तप और तेज बहुत बढ़ा हुआ है। आपने गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है। द्विजश्रेष्ठ ! आपने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है। ये सारी बातें मुझे अच्छी तरह ज्ञात हैं। इसलिये अत्यन्त कष्ट सहकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता हूँ ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णोत्तङ्कसमागमे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें श्रीकृष्ण और उत्तङ्कका समागम-विषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका उत्तङ्कसे अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करना तथा दुर्योधनके अपराधको कौरवोंके विनाशका कारण बतलाना

उत्तङ्क उवाच

ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम्।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ॥ १ ॥

उत्तङ्कने कहा--केशव ! जनार्दन ! तुम यथार्थरूपसे उत्तम अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करो। उसे सुनकर मैं तुम्हारे कल्याणके लिये आशीर्वाद दूँगा अथवा शाप प्रदान करूँगा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान् मदाश्रयान्।
तथा रुद्रान् वसून् वापि विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ॥ २ ॥

श्रीकृष्णने कहा--ब्रह्मर्षे ! आपको यह विदित होना चाहिये कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण--ये सभी भाव मेरे ही आश्रित हैं। रुद्रों और वसुओंको भी आप मुझसे ही उत्पन्न जानिये ॥ २ ॥

मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम्।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण भूत मुझमें हैं और सम्पूर्ण भूतोंमें मैं स्थित हूँ। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये ॥ ३ ॥

तथा दैत्यगणान् सर्वान् यक्षगन्धर्वराक्षसान्।
नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ॥ ४ ॥

विप्रवर ! सम्पूर्ण दैत्यगण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको मुझसे ही उत्पन्न जानिये ॥ ४ ॥

सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ॥ ५ ॥

विद्वान् लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त और क्षर-अक्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही स्वरूप है ॥ ५ ॥

ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विदिता मुने।

वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ॥ ६ ॥

मुने ! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म प्रसिद्ध हैं तथा जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं, उन सबको मेरा स्वरूप ही समझिये ॥ ६ ॥

असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत् परम्।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात् ॥ ७ ॥

असत्, सदसत् तथा उससे भी परे जो अव्यक्त जगत् है, वह भी मुझ सनातन देवाधिदेवसे पृथक् नहीं है ॥ ७ ॥

ओङ्कारप्रमुखान् वेदान् विद्धि मां त्वं भृगूद्वह ।
यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे ॥ ८ ॥
होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन ।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ॥ ९ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! ॐकारसे आरम्भ होनेवाले चारों वेद मुझे ही समझिये । यज्ञमें यूप, सोम, चरु, देवताओंको तृप्त करनेवाला होम, होता और हवन-सामग्री भी मुझे ही जानिये। भृगुनन्दन ! अध्वर्यु, कल्पक और अच्छी प्रकार संस्कार किया हुआ हविष्य—ये सब मेरे ही स्वरूप हैं ॥ ८-९ ॥

उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे ।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मञ्शान्तिमङ्गलवाचकाः ॥ १० ॥
स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम ।
मम विद्धि सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम ॥ ११ ॥
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम् ।

बड़े-बड़े यज्ञोंमें उद्गाता उच्च स्वरसे सामगान करके मेरी ही स्तुति करते हैं । ब्रह्मन् ! प्रायश्चित्त-कर्ममें शान्तिपाठ तथा मङ्गलपाठ करनेवाले ब्राह्मण सदा मुझ विश्वकर्माका ही स्तवन करते हैं । द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना रूप जो धर्म है, वह मेरा परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र है । मेरे मनसे उसका प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १०-११½ ॥

तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ॥ १२ ॥
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम ।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥ १३ ॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ।

भार्गव ! उस धर्ममें प्रवृत्त होकर जो पाप-कर्मोंसे निवृत्त हो गये हैं ऐसे मनुष्योंके साथ मैं सदा निवास करता हूँ । साधुशिरोमणे ! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ ॥ १२-१३½ ॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥ १४ ॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च ।

मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ । सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ । समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे ही द्वारा होते हैं ॥ १४½ ॥

अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥ १५ ॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ १६ ॥

अधर्ममें लगे हुए सभी मनुष्योंको दण्ड देनेवाला और अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ । जब-जब युगका परिवर्तन होता है, तब-तब मैं प्रजाकी भलाई-के लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर धर्ममर्यादाकी स्थापना करता हूँ ॥ १५-१६ ॥

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १७ ॥

भृगुनन्दन ! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १८ ॥

भृगुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले महर्षे ! जब मैं गन्धर्व योनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ १८ ॥

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत् ।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम् ॥ १९ ॥

जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ । यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर उन्हींके आचार-विचारका यथावत् रूपसे पालन करता हूँ ॥१९॥

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया ।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम् ॥२०॥

इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इसलिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; परंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी ॥२०॥

भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया ।
क्रुद्धेन भूत्वा तु पुनर्यथावदनुदर्शिताः ॥ २१ ॥
तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा ।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ॥ २२ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरकर मैंने कौरवोंको बड़े-बड़े भय दिखाये और उन्हें बहुत डराया-धमकाया तथा यथार्थरूपसे युद्धका भावी परिणाम भी उन्हें दिखाया; परंतु वे तो अधर्मसे युक्त एवं कालसे ग्रस्त थे । अतः मेरी बात माननेको



उत्तङ्कमुनिकी श्रीकृष्णसे विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना

राजी न हुए। फिर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये। इसमें संदेह नहीं कि वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ २१-२२ ॥

लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पाण्डव अपने धर्माचरणके कारण समस्त लोकोंमें विख्यात हुए हैं। आपने जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह सारा प्रसङ्ग कह सुनाया॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें श्रीकृष्णका वचनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका उत्तङ्क मुनिको विश्वरूपका दर्शन कराना और मरुदेशमें जल प्राप्त होनेका वरदान देना

उत्तङ्क उवाच

अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन।
नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति मे नास्ति संशयः ॥ १ ॥

उत्तङ्कने कहा—जनार्दन ! मैं यह जानता हूँ कि आप सम्पूर्ण जगत्के कर्ता हैं। निश्चय ही यह आपकी कृपा है (जो आपने मुझे अध्यात्मतत्त्वका उपदेश दिया), इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

चित्तं च सुप्रसन्नं मे त्वद्भावगतमच्युत।
विनिवृत्तं च मे शापादिति विद्धि परंतप ॥ २ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अच्युत ! अब मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न और आपके प्रति भक्तिभावसे परिपूर्ण हो गया है; अतः इसे शाप देनेके विचारसे निवृत्त हुआ समझें ॥ २ ॥

यदि त्वनुग्रहं कंचित् त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय ॥ ३ ॥

जनार्दन ! यदि मैं आपसे कुछ भी कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी होऊँ तो आप मुझे अपना ईश्वरीय रूप दिखा दीजिये। आपके उस रूपको देखनेकी बड़ी इच्छा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद् वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद् धनंजयः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्त होकर उन्हें अपने उसी सनातन वैष्णव स्वरूपका दर्शन कराया, जिसे युद्धके प्रारम्भमें अर्जुनने देखा था ॥ ४ ॥

स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम्।
सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत् पावकोपमम् ॥ ५ ॥

उत्तङ्क मुनिने उस विश्वरूपका दर्शन किया, जिसका स्वरूप महान् था। जो सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान तथा बड़ी-बड़ी भुजाओंसे सुशोभित था। उससे प्रज्वलित अग्निके समान लपटें निकल रही थीं ॥ ५ ॥

सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम्।
तद् दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम्।
विस्मयं च ययौ विप्रस्तं दृष्ट्वा परमेश्वरम् ॥ ६ ॥

उसके सब ओर मुख था और वह सम्पूर्ण आकाशको घेरकर खड़ा था। भगवान् विष्णुके उस अद्भुत एवं उत्कृष्ट वैष्णव रूपको देखकर उन परमेश्वरकी ओर दृष्टिपात करके ब्रह्मर्षि उत्तङ्कको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६ ॥

उत्तङ्क उवाच

(नमो नमस्ते सर्वात्मन् नारायण परात्पर।
परमात्मन् पद्मनाभ पुण्डरीकाक्ष माधव ॥

उत्तङ्क बोले—सर्वात्मन् ! परात्पर नारायण ! आपको बारंबार नमस्कार है। परमात्मन् ! पद्मनाभ ! पुण्डरीकाक्ष ! माधव ! आपको नमस्कार है ॥

हिरण्यगर्भरूपाय संसारोत्तारणाय च।
पुरुषाय पुराणाय चान्तर्यामाय ते नमः ॥

हिरण्यगर्भ ब्रह्मा आपके ही स्वरूप हैं। आप संसार-सागरसे पार उतारनेवाले हैं। आप ही अन्तर्यामी पुराण-पुरुष हैं। आपको नमस्कार है ॥

अविद्यातिमिरादित्यं भवव्याधिमहौषधिम्।
संसारार्णवपारं त्वां प्रणमामि गतिर्भव ॥

आप अविद्यारूपी अन्धकारको मिटानेवाले सूर्य, संसार-रूपी रोगके महान् औषध तथा भवसागरसे पार करनेवाले हैं। आपको प्रणाम करता हूँ। आप मेरे आश्रय-दाता हों ॥

सर्ववेदैकवेद्याय सर्वदेवमयाय च।
वासुदेवाय नित्याय नमो भक्तप्रियाय ते ॥

आप सम्पूर्ण वेदोंके एकमात्र वेद्यतत्त्व हैं। सम्पूर्ण देवता

आपके ही स्वरूप हैं तथा आप भक्तजनोंको अत्यन्त प्रिय हैं। आप नित्यस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥

दयया दुःखमोहान्मां समुद्धर्तुमिहार्हसि।
कर्मभिर्बहुभिः पापैर्बद्धं पाहि जनार्दन ॥)

जनार्दन ! आप स्वयं ही दया करके दुःखजनित मोहसे मेरा उद्धार करें। मैं बहुत-से पाप कर्मोंद्वारा बँधा हुआ हूँ। आप मेरी रक्षा करें ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
पद्भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं नभः॥७॥

विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत विश्वात्मन् ! आपके दोनों पैरोंसे पृथ्वी और सिरसे आकाश व्याप्त है ॥ ७ ॥

द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तवावृतम्।
भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ॥ ८ ॥

आकाश और पृथ्वीके बीचका जो भाग है, वह आपके उदरसे व्याप्त हो रहा है। आपकी भुजाओंने सम्पूर्ण दिशाओं-को घेर लिया है। अच्युत ! यह सारा दृश्य प्रपञ्च आप ही हैं ॥ ८ ॥

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम्।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ॥९॥

देव ! अब अपने इस उत्तम एवं अविनाशी स्वरूपको फिर समेट लीजिये। मैं आप सनातन पुरुषको पुनः अपने पूर्वरूपमें ही देखना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय।
वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मुनिकी बात सुनकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'महर्षे ! आप मुझसे कोई वर माँगिये।' तब उत्तङ्कने कहा—॥ १० ॥

पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते।
यत् ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि पुरुषोत्तम ॥ ११ ॥

'महातेजस्वी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ! आपके इस स्वरूपका जो मैं दर्शन कर रहा हूँ, यही मेरे लिये आज आपकी ओरसे बहुत बड़ा वरदान प्राप्त हो गया' ॥ ११ ॥

तमब्रवीत् पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय।
अवश्यमेतत् कर्तव्यममोघं दर्शनं मम ॥ १२ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णने फिर कहा—'मुने ! आप इसमें कोई अन्यथा विचार न करें। आपको अवश्य ही मुझसे वर माँगना चाहिये; क्योंकि मेरा दर्शन अमोघ है' ॥ १२ ॥

उत्तङ्क उवाच

अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो।
तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ॥ १३ ॥

उत्तङ्क बोले—प्रभो ! यदि वर माँगना आप मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य मानते हैं तो मैं यही चाहता हूँ कि मुझे यहाँ यथेष्ट जल प्राप्त हो; क्योंकि इस मरुभूमिमें जल बड़ा ही दुर्लभ है ॥ १३ ॥

ततः संहृत्य तत् तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः।
एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ ॥१४॥

तब भगवान्ने अपने उस तेजोमय स्वरूपको समेटकर उत्तङ्क-मुनिसे कहा—'मुने ! जब आपको जलकी इच्छा हो, तब आप मेरा स्मरण कीजियेगा।' ऐसा कहकर वे द्वारका चले गये ॥ १४ ॥

ततः कदाचिद् भगवानुत्तङ्कस्तोयकाङ्क्षया।
तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार चाच्युतम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् एक दिन उत्तङ्क मुनिको बड़ी प्यास लगी। वे पानीकी इच्छासे उस मरुभूमिमें चारों ओर घूमने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥१५॥

ततो दिग्वाससं धीमान् मातङ्गं मलपङ्किनम्।
अपश्यत मरौ तस्मिञ्श्वयूथपरिवारितम् ॥ १६ ॥

इतनेहीमें उन बुद्धिमान् मुनिको उस मरुप्रदेशमें कुत्तोंके झुंडसे घिरा हुआ एक नंग धड़ंग चाण्डाल दिखायी पड़ा, जिसके शरीरमें मैल और कीचड़ जमी हुई थी ॥१६॥

भीषणं बद्धनिस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम्।
तस्याधः स्रोतसोऽपश्यद् वारि भूरि द्विजोत्तमः॥१७॥

वह देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसने कमरमें तलवार बाँध रक्खी थी और हाथोंमें धनुष-बाण धारण किये थे। द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने देखा—उसके नीचे पैरोंके समीप एक छिद्रसे प्रचुर जलकी धारा गिर रही है ॥ १७ ॥

स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ॥ १८ ॥
कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाश्रितम्।
इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत् तोयं नाभ्यनन्दत ॥ १९ ॥

मुनिको पहचानते ही वह जोर-जोरसे हँसता हुआ-सा बोला—'भृगुकुलतिलक उत्तङ्क ! आओ, मुझसे जल ग्रहण करो। तुम्हें प्याससे पीड़ित देखकर मुझे तुमपर बड़ी दया आ रही है।' चाण्डालके ऐसा कहनेपर भी मुनिने उसके जलका अभिनन्दन नहीं किया—उसे लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ १८-१९ ॥

चिक्षेप च स तं धीमान् वाग्भिरुग्राभिरच्युतम्।

पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ॥ २० ॥

उस समय बुद्धिमान् उत्तङ्कने अपने कठोर वचनोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णपर भी आक्षेप किया। उधर चाण्डाल बारंबार आग्रह करने लगा—'महर्षे! जल पी लीजिये'॥ २०॥

न चापिवत् स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना।
स तथा निश्चयात् तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ॥ २१॥

उत्तङ्कने उस जलको नहीं पीया। वे अत्यन्त कुपित हो उठे थे। उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ था। उन महात्माने अपने निश्चयपर अटल रहकर चाण्डालको जवाब दे दिया॥ २१॥

श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत।
उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ॥ २२॥
मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना।

महाराज! मुनिके इन्कार करते ही कुत्तोंसहित वह चाण्डाल वहीं अन्तर्धान हो गया। यह देख उत्तङ्क मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए और सोचने लगे कि 'शत्रुघाती श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया'॥ २२½॥

अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २३॥
आजगाम महाबुद्धिरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत्।
न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ॥ २४॥
सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातङ्गस्रोतसा विभो।

तदनन्तर शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उसी मार्गसे प्रकट होकर आये। उन्हें देखकर महामति उत्तङ्कने कहा—'पुरुषोत्तम! प्रभो! आपको श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके लिये चाण्डालसे स्पर्श किया हुआ वैसा अपवित्र जल देना उचित नहीं है'॥ २३-२४½॥

इत्युक्तवचनं तं तु महाबुद्धिर्जनार्दनः ॥ २५॥
उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत्।

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् जनार्दनने उन्हें मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २५½॥

यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै ॥ २६॥
तादृशं खलु ते दत्तं यच्च त्वं नावबुध्यथाः।

'महर्षे! वहाँ जैसा रूप धारण करके वह जल आपके लिये देना उचित था, उसी रूपसे दिया गया; किंतु आप उसे समझ न सके॥ २६½॥

मया त्वदर्थमुक्तो वै वज्रपाणिः पुरंदरः ॥ २७॥
उत्तङ्कायामृतं देहि तोयरूपमिति प्रभुः।
स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत् ॥ २८॥
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद् भृगुनन्दन।
अमृतं देयमित्येव मयोक्तः स शचीपतिः ॥ २९॥

'भृगुनन्दन! मैंने आपके लिये वज्रधारी इन्द्रसे जाकर कहा था कि तुम उत्तङ्क मुनिको जलके रूपमें अमृत प्रदान करो। मेरी बात सुनकर प्रभावशाली देवेन्द्रने बारंबार मुझसे कहा कि 'मनुष्य अमर नहीं हो सकता। इसलिये आप उन्हें अमृत न देकर और कोई वर दीजिये।' परंतु मैंने शचीपति इन्द्रसे जोर देकर कहा कि उत्तङ्कको तो अमृत ही देना है॥ २७—२९॥

स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत्।
यदि देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महामते ॥ ३०॥
भूत्वामृतं प्रदास्यामि भार्गवाय महात्मने।
यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै ॥ ३१॥
प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवस्यामृतं विभो।
प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन दास्यामि न कथंचन ॥ ३२॥

'तब देवराज इन्द्र मुझे प्रसन्न करके बोले—'सर्वव्यापी महामते! यदि भृगुनन्दन महात्मा उत्तङ्कको अमृत अवश्य देना है तो मैं चाण्डालका रूप धारण करके उन्हें अमृत प्रदान करूँगा। यदि इस प्रकार आज भृगुवंशी उत्तङ्क अमृत लेना स्वीकार करेंगे तो मैं उन्हें वर देनेके लिये अभी जा रहा हूँ और यदि वे अस्वीकार कर देंगे तो मैं किसी तरह उन्हें अमृत नहीं दूँगा'॥ ३०—३२॥

स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण वासवः।
उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत् ॥ ३३॥

'इस तरहकी शर्त करके साक्षात् इन्द्र चाण्डालके रूपमें यहाँ उपस्थित हुए थे और आपको अमृत दे रहे थे; परंतु आपने उन्हें ठुकरा दिया॥ ३३॥

चाण्डालरूपी भगवान् सुमहांस्ते व्यतिक्रमः।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं भूय एव तवेप्सितम् ॥ ३४॥

'आपने चाण्डालरूपधारी भगवान् इन्द्रको ठुकराया है, यह आपका महान् अपराध है। अच्छा, आपकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मैं पुनः जो कुछ कर सकता हूँ, करूँगा॥ ३४॥

तोयेप्सां तव दुर्धर्षो करिष्ये सफलामहम्।
येष्वहःसु च ते ब्रह्मन् सलिलेप्सा भविष्यति ॥ ३५॥
तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः।
रसवच्च प्रदास्यन्ति तोयं ते भृगुनन्दन ॥ ३६॥
उत्तङ्कमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते।

'ब्रह्मन्! आपकी तीव्र पिपासाको मैं अवश्य सफल करूँगा। जिन दिनों आपको जल पीनेकी इच्छा होगी, उन्हीं दिनों मरुप्रदेशमें जलसे भरे हुए मेघ प्रकट होंगे। भृगुनन्दन! वे आपको सरस जल प्रदान करेंगे और इस

पृथ्वीपर उत्तङ्क मेघके नामसे विख्यात होंगे' ॥ ३५-३६½ ॥

इत्युक्तः प्रीतिमान् विप्रः कृष्णेन स बभूव ह ।
अद्याप्युत्तङ्कमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ॥ ३७ ॥

भारत ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर विप्रवर उत्तङ्क मुनि बड़े प्रसन्न हुए । इस समय भी मरुभूमिमें उत्तङ्क मेघ प्रकट होकर जलकी वर्षा करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कोपाख्यानमें कृष्णवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तङ्ककी गुरुभक्तिका वर्णन, गुरुपुत्रीके साथ उत्तङ्कका विवाह, गुरुपत्नीकी आज्ञासे दिव्यकुण्डल लानेके लिये उत्तङ्कका राजा सौदासके पास जाना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कः केन तपसा संयुक्तो वै महामनाः ।
यः शापं दातुकामोऽभूद् विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महात्मा उत्तङ्क मुनिने ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिससे वे सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत भगवान् विष्णुको भी शाप देनेका संकल्प कर बैठे ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय ।
गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किंचिदपूजयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! उत्तङ्क मुनि बड़े भारी तपस्वी, तेजस्वी और गुरुभक्त थे । उन्होंने जीवनमें गुरुके सिवा दूसरे किसी देवताकी आराधना नहीं की थी ॥

सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः ।
औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! जब वे गुरुकुलमें रहते थे, उन दिनों सभी ऋषिकुमारोंके मनमें यह अभिलाषा होती थी कि हमें भी उत्तङ्कके समान गुरुभक्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

गौतमस्य तु शिष्याणां बहूनां जनमेजय ।
उत्तङ्केऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेहश्चैवाभवत् तदा ॥ ४ ॥

जनमेजय ! गौतमके बहुत-से शिष्य थे, परंतु उनका प्रेम और स्नेह सबसे अधिक उत्तङ्कमें ही था ॥ ४ ॥

स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ।
सम्यक् चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् ॥ ५ ॥

उत्तङ्कके इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी पवित्रता, पुरुषार्थ, कर्म और उत्तमोत्तम सेवासे गौतम बहुत प्रसन्न रहते थे ॥

अथ शिष्यसहस्राणि समनुज्ञातवानृषिः ।
उत्तङ्कं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमैच्छत ।
तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ॥ ६ ॥

उन महर्षिने अपने सहस्रों शिष्योंको पढ़ाकर घर जानेकी आज्ञा दे दी; परंतु उत्तङ्कपर अधिक प्रेम होनेके कारण वे उन्हें घर जानेकी आज्ञा नहीं देना चाहते थे । तात ! क्रमशः उन महामुनि उत्तङ्कको वृद्धावस्था प्राप्त हुई ॥ ६ ॥

न चान्वबुध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः ।
ततः कदाचिद् राजेन्द्र काष्ठान्यानयितुं ययौ ॥ ७ ॥
उत्तङ्कः काष्ठभारं च महान्तं समुपानयत् ।

किंतु वे गुरुवत्सल महर्षि यह नहीं जान सके कि मेरा बुढ़ापा आ गया । राजेन्द्र ! एक दिन उत्तङ्क मुनि लकड़ियाँ लानेके लिये वनमें गये और वहाँसे काठका बहुत बड़ा बोझ उठा लाये ॥ ७½ ॥

स तद्भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिंदम ॥ ८ ॥
निचिक्षेप क्षितौ राजन् परिश्रान्तो बुभुक्षितः ।
तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्यसमप्रभा ॥ ९ ॥
ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले ।

शत्रुदमन नरेश ! बोझ भारी होनेके कारण वे बहुत थक गये । उनका शरीर लकड़ियोंके भारसे दब गया था । वे भूखसे पीड़ित हो रहे थे । जब आश्रमपर आकर उस बोझको वे जमीनपर गिराने लगे, उस समय चाँदीके तारकी भाँति सफेद रङ्गकी उनकी जटा लकड़ीमें चिपक गयी थी, जो उन लकड़ियोंके साथ ही जमीनपर गिर पड़ी ॥ ८-९½ ॥

ततः स भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भारत ॥ १० ॥
दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां रुरोदार्तस्वरस्तदा ।

भारत ! भारसे तो वे पिस ही गये थे, भूखने भी उन्हें व्याकुल कर दिया था । अतः अपनी उस अवस्थाको देखकर वे उस समय आर्त स्वरसे रोने लगे ॥ १०½ ॥

ततो गुरुसुता तस्य पद्मपत्रनिभानना ॥ ११ ॥
जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना ।
पितुर्नियोगाद् धर्मज्ञा शिरसावनता तदा ॥ १२ ॥

तब कमलदलके समान प्रफुल्ल मुखवाली विशाललोचना परम सुन्दरी धर्मज्ञ गुरुपुत्रीने पिताकी आज्ञा पाकर विनीत

भावसे सिर झुकाये वहाँ आयी और अपने हाथोंमें उसने मुनिके आँसू ग्रहण कर लिये ॥ ११-१२ ॥

तस्या निपेततुर्दग्धौ करौ तैरश्रुबिन्दुभिः ।
न हि तानश्रुपातांस्तु शक्ता धारयितुं मही ॥१३॥

उन अश्रुबिन्दुओंसे उसके दोनों हाथ जल गये और आँसुओंसहित पृथ्वीसे जा लगे । परंतु पृथ्वी भी उन गिरते हुए अश्रुबिन्दुओंको धारण करनेमें असमर्थ हो गयी ॥ १३ ॥

गौतमस्त्वब्रवीद् विप्रमुत्तङ्कं प्रीतमानसः ।
कस्मात् तात तवाद्येह शोकोत्तरमिदं मनः ।
स स्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१४॥

फिर गौतमने प्रसन्नचित्त होकर विप्रवर उत्तङ्कसे पूछा—'बेटा ! आज तुम्हारा मन शोकसे व्याकुल क्यों हो रहा है ! मैं इसका यथार्थ कारण सुनना चाहता हूँ । ब्रह्मर्षे ! तुम निःसंकोच होकर सारी बातें बताओ' ॥ १४ ॥

उत्तङ्क उवाच

भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ॥१५॥
जरेयं नावबुद्धा मे नाभिज्ञातं सुखं च मे ।
शतवर्षोषितं मां हि न त्वमभ्यनुजानिथाः ॥१६॥

उत्तङ्कने कहा—गुरुदेव ! मेरा मन सदा आपमें लगा रहा । आपहीका प्रिय करनेकी इच्छासे मैं निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहा, मेरा सम्पूर्ण अनुराग आपहीमें रहा है और आपहीकी भक्तिमें तत्पर रहकर मैंने न तो लौकिक सुखको जाना और न मुझे आये हुए इस बुढ़ापाका ही पता चला । मुझे यहाँ रहते हुए सौ वर्ष बीत गये तो भी आपने मुझे घर जानेकी आज्ञा नहीं दी ॥ १५-१६ ॥

भवता त्वभ्यनुज्ञाताः शिष्याः प्रत्यवरा मम ।
उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ शतशोऽथ सहस्रशः ॥१७॥

द्विजश्रेष्ठ ! मेरे बाद सैकड़ों और हजारों शिष्य आपकी सेवामें आये और अध्ययन पूरा करके आपकी आज्ञा लेकर चले गये (केवल मैं ही यहाँ पड़ा हुआ हूँ) ॥ १७ ॥

गौतम उवाच

त्वत्प्रीतियुक्तेन मया गुरुशुश्रूषया तव ।
व्यतिक्रामन्महाकालो नावबुद्धो द्विजर्षभ ॥१८॥

गौतमने कहा—विप्रवर ! तुम्हारी गुरुशुश्रूषासे तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम हो गया था । इसीलिये इतना अधिक समय बीत गया तो भी मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आयी ॥

किं त्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव ।
अनुज्ञां प्रतिगृह्य त्वं स्वगृहान् गच्छ माचिरम् ॥१९॥

भृगुनन्दन ! यदि आज तुम्हारे मनमें यहाँसे जानेकी इच्छा हुई है तो मेरी आज्ञा स्वीकार करो और शीघ्र ही यहाँसे अपने घरको चले जाओ ॥ १९ ॥

उत्तङ्क उवाच

गुर्वर्थं कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम ।
तमुपाहृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो ॥२०॥

उत्तङ्कने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! प्रभो ! मैं आपको गुरुदक्षिणामें क्या दूँ ? यह बताइये । उसे आपको अर्पित करके आज्ञा लेकर घरको जाऊँ ॥ २० ॥

गौतम उवाच

दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ॥२१॥

गौतमने कहा—ब्रह्मन् ! सत्पुरुष कहते हैं कि गुरुजनोंको संतुष्ट करना ही उनके लिये सबसे उत्तम दक्षिणा है । तुमने जो सेवा की है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह ।
युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान् ॥२२॥
ददानि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज ।
एतामृतेऽङ्गना नान्या त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ॥२३॥

भृगुकुलभूषण ! इस तरह तुम मुझे पूर्ण संतुष्ट जानो । यदि आज तुम सोलह वर्षके तरुण हो जाओ तो मैं तुम्हें पत्नीरूपसे अपनी कुमारी कन्या अर्पित कर दूँगा; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई स्त्री तुम्हारे तेजको नहीं सह सकती ॥

ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम् ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाब्रवीत् ॥२४॥

तब उत्तङ्कने तपोबलसे तरुण होकर उस यशस्विनी गुरुपुत्रीका पाणिग्रहण किया । तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा पाकर वे गुरुपत्नीसे बोले—॥ २४ ॥

कं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् ।
प्रियं हितं च काङ्क्षामि प्राणैरपि धनैरपि ॥२५॥

'माताजी ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं गुरुदक्षिणामें आपको क्या दूँ ? अपना धन और प्राण देकर भी मैं आपका प्रिय एवं हित करना चाहता हूँ ॥ २५ ॥

यद् दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन् रत्नमत्यद्भुतं महत् ।
तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥२६॥

'इस लोकमें जो अत्यन्त दुर्लभ, अद्भुत एवं महान् रत्न हो, उसे भी मैं तपस्याके बलसे ला सकता हूँ; इसमें संशय नहीं है' ॥ २६ ॥

अहल्योवाच

परितुष्टास्मि ते विप्र नित्यं भक्त्या तवानघ ।

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते गच्छ तात यथेप्सितम् ॥ २७ ॥

अहल्या बोली—निष्पाप ब्राह्मण ! मैं तुम्हारे भक्ति-भावसे सदा संतुष्ट हूँ । बेटा ! मेरे लिये इतना ही बहुत है । तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
आज्ञापयस्व मां मातः कर्तव्यं च तव प्रियम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! गुरुपत्नीकी बात सुनकर उत्तङ्कने फिर कहा—'माताजी ! मुझे आज्ञा दीजिये—मैं क्या करूँ ! मुझे आपका प्रिय कार्य अवश्य करना है' ॥

अहल्योवाच

सौदासपत्न्या विधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले ।
ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् ॥ २९ ॥

अहल्या बोली—बेटा ! राजा सौदासकी रानीने जो दो दिव्य मणिमय कुण्डल धारण कर रक्खे हैं, उन्हें ले आओ, तुम्हारा कल्याण हो । उनके ला देनेसे तुम्हारी गुरुदक्षिणा पूरी हो जायगी ॥ २९ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय ।
गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ॥ ३० ॥

जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्कने गुरुपत्नीकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन कुण्डलोंको लानेके लिये चल दिये ॥ ३० ॥

स जगाम ततः शीघ्रमुत्तङ्को ब्राह्मणर्षभः ।
सौदासं पुरुषादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणशिरोमणि उत्तङ्क नरभक्षी राक्षसभावको प्राप्त हुए राजा सौदाससे उन मणिमय कुण्डलोंकी याचना करनेके लिये वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुए ॥ ३१ ॥

गौतमस्त्वब्रवीत् पत्नीमुत्तङ्को नाद्य दृश्यते ।
इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थं गतं च सा ॥ ३२ ॥

उनके चले जानेपर गौतमने पत्नीसे पूछा—'आज उत्तङ्क क्यों नहीं दिखायी देता है ?' पतिके इस प्रकार पूछनेपर अहल्याने कहा—'वह सौदासकी महारानीके कुण्डल ले आनेके लिये गया' ॥ ३२ ॥

ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम् ।
शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ॥ ३३ ॥

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'देवि ! यह तुमने अच्छा नहीं किया । राजा सौदास शापवश राक्षस हो गये हैं । अतः वे उस ब्राह्मणको अवश्य मार डालेंगे' ॥ ३३ ॥

अहल्योवाच

अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन् ब्राह्मणो मया ।
भवत्प्रसादान्न भयं किंचित् तस्य भविष्यति ॥ ३४ ॥

अहल्या बोली—भगवन् ! मैं इस बातको नहीं जानती थी, इसीलिये उस ब्राह्मणको ऐसा काम सौंप दिया । मुझे विश्वास है कि आपकी कृपासे उसे वहाँ कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः ।
उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ॥ ३५ ॥

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही हो ।' उधर उत्तङ्क निर्जन वनमें जाकर राजा सौदाससे मिले ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कुण्डलाहरणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें कुण्डलाहरणविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तङ्कका सौदाससे उनकी रानीके कुण्डल माँगना और सौदासके कहनेसे रानी मदयन्तीके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

स तं दृष्ट्वा तथाभूतं राजानं घोरदर्शनम् ।
दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा सौदास राक्षस होकर बड़े भयानक दिखायी देते थे । उनकी मूँछ और दाढ़ी बहुत बड़ी थी । वे मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए थे ॥

चकार न व्यथां विप्रो राजा त्वेनमथाब्रवीत् ।
प्रत्युत्थाय महातेजा भयकर्ता यमोपमः ॥ २ ॥

उन्हें देखकर विप्रवर उत्तङ्कको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्हें देखते ही महातेजस्वी राजा सौदास, जो यमराजके समान भयंकर थे, उठकर खड़े हो गये और उनके पास जाकर बोले— ॥ २ ॥

दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम् ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य सम्प्राप्तो द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

'कल्याणस्वरूप द्विजश्रेष्ठ ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि दिनके छठे भागमें आप स्वयं ही मेरे पास चले आये । मैं इस समय आहार ही ढूँढ़ रहा था' ॥ ३ ॥

उत्तङ्क उवाच

राजन् गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम्।
न च गुर्वर्थमुद्युक्तं हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

उत्तङ्क बोले—राजन्! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं गुरुदक्षिणाके लिये घूमता-फिरता यहाँ आया हूँ। जो गुरुदक्षिणा जुटानेके लिये उद्योगशील हो, उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ ४ ॥

राजोवाच

षष्ठे काले ममाहारो विहितो द्विजसत्तम।
न शक्यस्त्वं समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन मयाद्य वै ॥ ५ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! दिनके छठे भागमें मेरे लिये आहारका विधान किया गया है। यह वही समय है। मैं भूखसे पीड़ित हो रहा हूँ। इसलिये मेरे हाथोंसे तुम छूट नहीं सकते ॥ ५ ॥

उत्तङ्क उवाच

एवमस्तु महाराज समयः क्रियतां तु मे।
गुर्वर्थमभिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ६ ॥

उत्तङ्कने कहा—महाराज! ऐसा ही सही, किंतु मेरे साथ एक शर्त कर लीजिये। मैं गुरुदक्षिणा चुकाकर फिर आपके वशमें आ जाऊँगा ॥ ६ ॥

संश्रुतश्च मया योऽर्थो गुरवे राजसत्तम।
त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वां भिक्षे नरेश्वर ॥ ७ ॥

राजेन्द्र! नृपश्रेष्ठ! मैंने गुरुको जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही अधीन है; अतः नरेश्वर! मैं आपसे उसकी भीख माँगता हूँ ॥ ७ ॥

ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि नित्यदा।
दाता च त्वं नरव्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह।
पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां नृपसत्तम ॥ ८ ॥

पुरुषसिंह! आप प्रतिदिन बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको रत्न प्रदान करते हैं। इस पृथ्वीपर आप एक श्रेष्ठ दानीके रूपमें प्रसिद्ध हैं और मैं भी दान लेनेका पात्र हूँ। नृपश्रेष्ठ! आप मुझे प्रतिग्रहका अधिकारी समझें ॥ ८ ॥

उपाहृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिंदम।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ९ ॥

शत्रुदमन राजेन्द्र! गुरुका धन जो आपके ही अधीन है, उन्हें अर्पित करके मैं अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार फिर आपके अधीन हो जाऊँगा ॥ ९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्या कथंचन।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥

मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ, इसमें किसी तरह मिथ्याके लिये स्थान नहीं है। मैं पहले कभी परिहासमें भी झूठ नहीं बोला हूँ, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता हूँ ॥ १० ॥

सौदास उवाच

यदि मत्तस्त्वदायत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः।
यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः साम्प्रतं तद् वदस्व मे ॥ ११ ॥

सौदासने कहा—ब्रह्मन्! यदि आपकी गुरुदक्षिणा मेरे अधीन है तो उसे मिली हुई ही समझिये। यदि आप मेरी कोई वस्तु लेनेके योग्य मानते हैं तो बताइये, इस समय मैं आपको क्या दूँ? ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच

प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुषर्षभ।
सोऽहं त्वामनुसम्प्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ १२ ॥

उत्तङ्कने कहा—पुरुषप्रवर! आपका दिया हुआ दान मैं सदा ही ग्रहण करनेके योग्य मानता हूँ। इस समय मैं आपकी रानीके दोनों मणिमय कुण्डल माँगनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

सौदास उवाच

पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे उचिते मणिकुण्डले।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ॥ १३ ॥

सौदासने कहा—ब्रह्मर्षे! वे मणिमय कुण्डल तो मेरी रानीके ही योग्य हैं। सुव्रत! आप और कोई वस्तु माँगिये, उसे मैं आपको अवश्य दे दूँगा ॥ १३ ॥

उत्तङ्क उवाच

अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणा यदि ते वयम्।
प्रयच्छ कुण्डले मह्यं सत्यवाग् भव पार्थिव ॥ १४ ॥

उत्तङ्कने कहा—पृथ्वीनाथ! अब बहाना करना व्यर्थ है। यदि आप मुझपर विश्वास करते हैं तो वे दोनों मणिमय कुण्डल आप मुझे दे दें और सत्यवादी बनें ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तस्त्वब्रवीद् राजा तमुत्तङ्कं पुनर्वचः।
गच्छ मद्वचनाद् देवीं ब्रूहि देहीति सत्तम ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उनके ऐसा कहनेपर राजा फिर उत्तङ्कसे बोले—'साधुशिरोमणे! आप रानीके पास जाइये और मेरी आज्ञा सुनाकर कहिये। आप मुझे कुण्डल दे दें ॥ १५ ॥

सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिव्रता।
प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ कुण्डले ते न संशयः ॥ १६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! रानी उत्तम व्रतका पालन करनेवाली हैं। जब आप उनसे इस प्रकार कहेंगे, तब वे मेरी आज्ञा मानकर दोनों कुण्डल आपको दे देंगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १६ ॥

उत्तङ्क उवाच

क्व पत्नी भवतः शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर।
स्वयं वापि भवान् पत्नीं किमर्थं नोपसर्पति ॥१७॥

उत्तङ्क बोले—नरेश्वर ! मैं कहाँ आपकी पत्नीको ढूँढ़ता फिरूँगा ? मुझे क्योंकर उनका दर्शन हो सकेगा ? आप स्वयं ही अपनी पत्नीके पास क्यों नहीं चलते ? ॥१७॥

सौदास उवाच

तां द्रक्ष्यति भवानद्य कस्मिंश्चिद् वननिर्झरे।
षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै॥ १८॥

सौदासने कहा—ब्रह्मन् ! उन्हें आज आप वनमें किसी झरनेके पास देखेंगे । यह दिनका छठा भाग है (मैं आहारकी खोजमें हूँ), अतः इस समय मैं उनसे नहीं मिल सकता ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा स ज्ञापयत् स्वप्रयोजनम्॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतभूषण ! राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क मुनि महारानी मदयन्तीके पास गये और उनसे अपने आनेका प्रयोजन बतलाया ॥ १९ ॥

सौदासवचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना।
प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ॥ २० ॥

जनमेजय ! राजा सौदासका संदेश सुनकर विशाललोचना रानीने महाबुद्धिमान् उत्तङ्क मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥

एवमेतद् यथा ब्रह्मन् नानृतं वदसेऽनघ।
अभिज्ञानं तु किंचित् त्वं समानयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'ब्रह्मन् ! आप जो कहते हैं, वह ठीक है । अनघ ! यद्यपि आप असत्य नहीं बोलते हैं, तथापि आप महाराजके ही पाससे उन्हींका संदेश लेकर आये हैं, इस बातका कोई प्रमाण आपको लाना चाहिये ॥ २१ ॥

इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे
देवाश्च यक्षाश्च महर्षयश्च।
तैस्तैरुपायैरपहर्तुकामा-
श्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ॥ २२ ॥

'मेरे ये दोनों मणिमय कुण्डल दिव्य हैं । देवता, यक्ष और महर्षि लोग नाना प्रकारके उपायोंद्वारा इन्हें चुरा ले जानेकी इच्छा रखते हैं और इसके लिये सदा छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २२ ॥

निक्षिप्तमेतद् भुवि पन्नगास्तु
रत्नं समासाद्य परामृशेयुः।
यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च
निद्रावशाद् वा परिधर्षयेयुः॥ २३ ॥

'यदि इन कुण्डलोंको पृथ्वीपर रख दिया जाय तो नाग लोग इसे हड़प लेंगे । अपवित्र अवस्थामें इन्हें धारण करनेपर यक्ष उड़ा ले जायँगे और यदि इन्हें पहनकर नींद लेने लग जाय तो देवतालोग बलात्कारपूर्वक छीन ले जायँगे ॥

छिद्रेष्वेतेष्विमे नित्यं ह्रियेते द्विजसत्तम।
देवराक्षसनागानामप्रमत्तेन धार्यते ॥ २४॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इन छिद्रोंमें इन दोनों कुण्डलोंके खो जानेका भय सदा बना रहता है । जो देवता, राक्षस और नागोंकी ओरसे सावधान होता है, वही इन्हें धारण कर सकता है ॥

स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम।
नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्ततः ॥ २५॥

'द्विजश्रेष्ठ ! ये दोनों कुण्डल रात-दिन सोना टपकाते रहते हैं । इतना ही नहीं, रातमें ये नक्षत्रों और तारोंकी प्रभाको भी छीने लेते हैं ॥ २५ ॥

एते ह्यामुच्य भगवन् क्षुत्पिपासाभयं कुतः।
विषाग्निश्वापदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ॥ २६ ॥

'भगवन् ! इन्हें धारण कर लेनेपर भूख-प्यासका भय कहाँ रह जाता है ? विष, अग्नि और हिंसक जन्तुओंसे भी कभी भय नहीं होता है ॥ २६ ॥

ह्रस्वेन चैते आमुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा।
अनुरूपेण चामुक्ते जायेते तत्प्रमाणके ॥ २७॥

'छोटे कदका मनुष्य इन कुण्डलोंको पहने तो छोटे हो जाते हैं और बड़े डील-डौलवाले मनुष्यके पहननेपर उसीके अनुरूप बड़े हो जाते हैं ॥ २७ ॥

एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते।
त्रिषु लोकेषु विज्ञाते तदभिज्ञानमानय ॥ २८॥

'ऐसे गुणोंसे युक्त होनेके कारण मेरे ये दोनों कुण्डल तीनों लोकोंमें परम प्रशंसित एवं प्रसिद्ध हैं । अतः आप महाराजकी आज्ञासे इन्हें लेने आये हैं, इसका कोई पहचान या प्रमाण लाइये' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्क मुनिका उपाख्यानविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कुण्डल लेकर उत्तङ्कका लौटना, मार्गमें उन कुण्डलोंका अपहरण होना तथा इन्द्र और अग्निदेवकी कृपासे फिर उन्हें पाकर गुरुपत्नीको देना

वैशम्पायन उवाच

स मित्रसहमासाद्य अभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी मदयन्तीकी बात सुनकर उत्तङ्कने महाराज मित्रसह (सौदास) के पास जाकर उनसे कोई पहचान माँगी । तब इक्ष्वाकुवंशियोंमें श्रेष्ठ उन नरेशने पहचानके रूपमें रानीको सुनानेके लिये निम्नाङ्कित सन्देश दिया ॥ १ ॥

सौदास उवाच

न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः ।
एतन्मे मतमाज्ञाय प्रयच्छ मणिकुण्डले ॥ २ ॥

सौदास बोले—प्रिये ! मैं जिस दुर्गतिमें पड़ा हूँ, यह मेरे लिये कल्याण करनेवाली नहीं है तथा इसके सिवा अब दूसरी कोई भी गति नहीं है । मेरे इस विचारको जानकर तुम अपने दोनों मणिमय कुण्डल इन ब्राह्मणदेवताको दे डालो ॥ २ ॥

इत्युक्तस्तामुत्तङ्कस्तु भर्तुर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा च सा तदा प्रादात् ततस्ते मणिकुण्डले॥३ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने रानीके पास जाकर पतिकी कही हुई बात ज्यों-की-त्यों दुहरा दी । महारानी मदयन्तीने स्वामीका वचन सुनकर उसी समय अपने मणिमय कुण्डल उत्तङ्क मुनिको दे दिये ॥ ३ ॥

अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् ।
किमेतद् गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

उन कुण्डलोंको पाकर उत्तङ्क मुनि पुनः राजाके पास आये और इस प्रकार बोले—'पृथ्वीनाथ ! आपके गूढ़ वचनका क्या अभिप्राय था, यह मैं सुनना चाहता हूँ' ॥

सौदास उवाच

प्रजानिसर्गाद् विप्रान् वै क्षत्रियाः पूजयन्ति ह ।
विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति वै ॥ ५ ॥

सौदास बोले—ब्रह्मन् ! क्षत्रियलोग सृष्टिके प्रारम्भ-कालसे ब्राह्मणोंकी पूजा करते आ रहे हैं तथापि ब्राह्मणोंकी ओरसे भी क्षत्रियोंके लिये बहुत-से दोष प्रकट हो जाते हैं ॥

सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद् दोषमवाप्तवान् ।
गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ॥ ६ ॥

मैं सदा ही ब्राह्मणोंको प्रणाम किया करता था, किंतु एक ब्राह्मणके ही शापसे मुझे यह दोष—यह दुर्गति प्राप्त हुई है । मैं मदयन्तीके साथ यहाँ रहता हूँ, मुझे इस दुर्गतिसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ॥ ६ ॥

न चान्यामपि पश्यामि गतिं गतिमतां वर ।
स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ॥ ७ ॥

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ विप्रवर ! अब इस लोकमें रहकर सुख पाना और परलोकमें स्वर्गीय सुख भोगनेके लिये मुझे दूसरी कोई गति नहीं दीख पड़ती ॥ ७ ॥

न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः ।
शक्यं हि लोके स्थातुं वै प्रेत्य वा सुखमेधितुम्॥८॥

कोई भी राजा विशेषरूपसे ब्राह्मणोंके साथ विरोध करके न तो इसी लोकमें चैनसे रह सकता है और न परलोकमें ही सुख पा सकता है । यही मेरे गूढ़ संदेशका तात्पर्य है ॥ ८ ॥

तदिष्टे ते मया दत्ते एते स्वे मणिकुण्डले ।
यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तं कुरुष्व मे ॥ ९ ॥

अच्छा अब आपकी इच्छाके अनुसार ये अपने मणिमय कुण्डल मैंने आपको दे दिये । अब आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह सफल कीजिये ॥ ९ ॥

उत्तङ्क उवाच

राजंस्तथेह कर्तास्मि पुनरेष्यामि ते वशम् ।
प्रश्नं च कंचित् प्रष्टुं त्वां निवृत्तोऽस्मि परंतप ॥ १० ॥

उत्तङ्कने कहा—राजन् ! शत्रुसंतापी नरेश ! मैं अपनी प्रतिज्ञाका पालन करूँगा, पुनः आपके अधीन हो जाऊँगा; किंतु इस समय एक प्रश्न पूछनेके लिये आपके पास लौटकर आया हूँ ॥ १० ॥

सौदास उवाच

ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्तास्मि ते वचः ।
छेत्तास्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा॥११॥

सौदासने कहा—विप्रवर ! आप इच्छानुसार प्रश्न कीजिये ! मैं आपकी बातका उत्तर दूँगा । आपके मनमें जो भी संदेह होगा अभी उसका निवारण करूँगा । इसमें मुझे कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच

प्राहुर्वाक्संयतं विप्रं धर्मनैपुणदर्शिनः ।
मित्रेषु यश्च विषमः स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ १२ ॥

उत्तङ्कने कहा—राजन् ! धर्मनिपुण विद्वानोंने उसीको

ब्राह्मण कहा है, जो अपनी वाणीका संयम करता हो—सत्य-वादी हो। जो मित्रोंके साथ विषमताका व्यवहार करता है, उसे चोर माना गया है ॥ १२ ॥

स भवान् मित्रतामद्य सम्प्राप्तो मम पार्थिव ।
स मे बुद्धिं प्रयच्छस्व सम्मतां पुरुषर्षभ ॥ १३॥

पृथ्वीनाथ ! पुरुषप्रवर ! आज आपके साथ मेरी मित्रता हो गयी है, इसलिये आप मुझे अच्छी सलाह दीजिये ॥ १३॥

अवाप्तार्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः ।
भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम न वेति वै ॥ १४ ॥

आज यहाँ मेरा मनोरथ सफल हो गया है और आप नरभक्षी राक्षस हो गये हैं। ऐसी दशामें आपके पास मेरा फिर लौटकर आना उचित है या नहीं ॥ १४ ॥

सौदास उवाच

क्षमं चेदिह वक्तव्यं तव द्विजवरोत्तम ।
मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथंचन ॥ १५ ॥

सौदासने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! यदि यहाँ मुझे उचित बात कहनी है, तब तो मैं यही कहूँगा कि ब्राह्मणोत्तम ! आपको मेरे पास किसी तरह नहीं आना चाहिये ॥ १५ ॥

एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह ।
आगच्छतो हि ते विप्र भवेन्मृत्युर्न संशयः ॥ १६ ॥

भृगुकुलभूषण विप्र ! ऐसा करनेमें ही मैं आपकी भलाई देखता हूँ। यदि आयेंगे तो आपकी मृत्यु हो जायगी। इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम् ।
अनुज्ञाप्य स राजानमहल्यां प्रतिजग्मिवान् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा सौदासके मुखसे उचित और हितकी बात सुनकर उनकी आज्ञा ले उत्तङ्कमुनि अहल्याके पास चल दिये॥

गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः ।
जवेन महता प्रायाद् गौतमस्याश्रमं प्रति ॥ १८ ॥

गुरुपत्नीका प्रिय करनेवाले उत्तङ्क दोनों दिव्य कुण्डल लेकर बड़े वेगसे गौतमके आश्रमकी ओर बढ़े ॥ १८ ॥

यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याभिभाषितम् ।
तथा ते कुण्डले बद्ध्वा तदा कृष्णाजिनेऽनयत् ॥

रानी मदयन्तीने उन कुण्डलोंकी रक्षाके लिये जैसी विधि बतायी थी, उसी प्रकार उन्हें काले मृगचर्ममें बाँधकर वे ले जा रहे थे ॥ १९ ॥

स कस्मिंश्चित् क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् ।
बिल्वं ददर्श विप्रर्षिरारुरोह च तं ततः ॥ २० ॥
शाखामासज्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिंदम ।
पातयामास बिल्वानि तदा स द्विजपुङ्गवः ॥ २१ ॥

शत्रुदमन ! रास्तेमें एक स्थानमें उन्हें बड़े जोरकी भूख लगी। वहाँ पास ही फलोंके भारसे झुका हुआ एक बेलका वृक्ष दिखायी दिया। ब्रह्मर्षि उत्तङ्क उस वृक्षपर चढ़ गये और उस काले मृगचर्मको उन्होंने उसकी एक शाखामें बाँध दिया। फिर वे ब्राह्मणपुङ्गव उस समय वहाँ बेल तोड़-तोड़कर गिराने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथ पातयमानस्य बिल्वापहृतचक्षुषः ।
न्यपतंस्तानि बिल्वानि तस्मिन्नेवाजिने विभो॥ २२ ॥
यस्मिंस्ते कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै ।

उस समय उनकी दृष्टि बेलोंपर ही लगी हुई थी (वे कहाँ गिरते हैं, इसकी ओर उनका ध्यान नहीं था)। प्रभो ! उनके तोड़े हुए प्रायः सभी बेल उस मृगछालापर ही, जिसमें उन विप्रवरने वे दोनों कुण्डल बाँध रखे थे, गिरे ॥

बिल्वप्रहारैस्तस्याथ व्यशीर्यद् बन्धनं ततः ॥ २३ ॥
सकुण्डलं तदजिनं पपात सहसा तरोः ।

उन बेलोंकी चोटसे बन्धन टूट गया और कुण्डलसहित वह मृगचर्म सहसा वृक्षसे नीचे जा गिरा ॥ २३½ ॥

विशीर्णबन्धने तस्मिन् गते कृष्णाजिने महीम्॥ २४॥
अपश्यद् भुजगः कश्चित् ते तत्र मणिकुण्डले।
ऐरावतकुलोद्भूतः शीघ्रो भूत्वा तदा हि सः ॥ २५ ॥
विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ स कुण्डले ।

बन्धन टूट जानेपर उस काले मृगछालेके पृथ्वीपर गिरते ही किसी सर्पकी दृष्टि उसपर पड़ी। वह ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ तक्षक था। उसने मृगछालाके भीतर रक्खे हुए उस मणिमय कुण्डलोंको देखा। फिर तो बड़ी शीघ्रता करके वह उन कुण्डलोंको दाँतोंमें दबाकर एक बाँबीमें घुस गया॥

ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ॥ २६ ॥
पपात वृक्षात् सोद्वेगो दुःखात् परमकोपनः ।
स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत् तदा ॥ २७ ॥

सर्पके द्वारा कुण्डलोंका अपहरण होता देख उत्तङ्क मुनि उद्विग्न हो उठे और अत्यन्त क्रोधमें भरकर वृक्षसे कूद पड़े। आकर एक काठका डंडा हाथमें ले उसीसे उस बाँबीको खोदने लगे ॥ २६-२७ ॥

अहानि त्रिंशदव्यग्रः पञ्च चान्यानि भारत ।
क्रोधामर्षाभिसंतप्तस्तदा ब्राह्मणसत्तमः ॥ २८ ॥

भरतनन्दन ! ब्राह्मणशिरोमणि उत्तङ्क क्रोध और अमर्षसे संतप्त हो लगातार पैंतीस दिनोंतक बिना किसी घबराहटके बिल खोदनेके कार्यमें जुटे रहे ॥ २८ ॥

तस्य वेगमसह्यं तमसहन्ती वसुन्धरा ।
दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमाकुला ॥ २९ ॥

उनके उस असह्य वेगको पृथ्वी भी नहीं सह सकी। वह डंडेकी चोटसे घायल एवं अत्यन्त व्याकुल होकर डगमगाने लगी ॥ २९ ॥

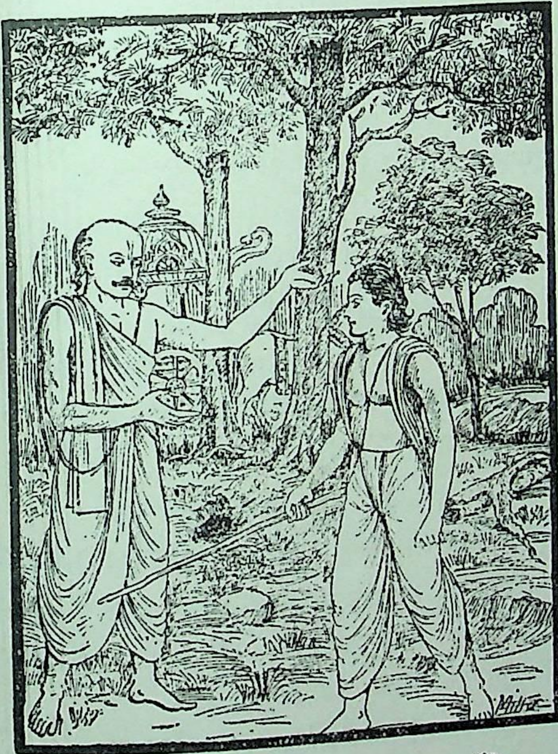
ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम् ।
नागलोकस्य पन्थानं कर्तुकामस्य निश्चयात् ॥ ३० ॥
रथेन हरियुक्तेन तं देशमुपजग्मिवान् ।
वज्रपाणिर्महातेजास्तं ददर्श द्विजोत्तमम् ॥ ३१ ॥

उत्तङ्क नागलोकमें जानेका मार्ग बनानेके लिये निश्चय करके धरती खोदते ही जा रहे थे कि महातेजस्वी वज्रधारी इन्द्र घोड़े जुते हुए रथपर बैठकर उस स्थानपर आ पहुँचे और विप्रवर उत्तङ्कसे मिले ॥ ३०-३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः ।
उत्तङ्कमब्रवीद् वाक्यं नैतच्छक्यं त्वयेति वै ॥ ३२ ॥
इतो हि नागलोको वै योजनानि सहस्रशः ।
न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इन्द्र उत्तङ्कके दुःखसे दुखी थे। अतः ब्राह्मणका वेष बनाकर उनसे बोले—'ब्रह्मन्!



यह काम तुम्हारे वशका नहीं है। नागलोक यहाँसे हजारों योजन दूर है। इस काठके डंडेसे वहाँका रास्ता बने, यह कार्य सधनेवाला नहीं जान पड़ता' ॥ ३२-३३ ॥

उत्तङ्क उवाच

नागलोके यदि ब्रह्मन् न शक्ये कुण्डले मया ।
प्राप्तुं प्राणान् विमोक्ष्यामि पश्यतस्तु द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

उत्तङ्कने कहा—ब्रह्मन्! द्विजश्रेष्ठ! यदि नागलोकमें जाकर उन कुण्डलोंको प्राप्त करना मेरे लिये असम्भव है तो मैं आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

यदा स नाशकत् तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा ।
वज्रपाणिस्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वज्रधारी इन्द्र जब किसी तरह उत्तङ्कको अपने निश्चयसे न हटा सके, तब उन्होंने उनके डंडेके अग्रभागमें अपने वज्रास्त्रका संयोग कर दिया॥

ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्यमाणा वसुन्धरा ।
नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ॥ ३६ ॥

जनमेजय! उस वज्रके प्रहारसे विदीर्ण होकर पृथ्वीने नागलोकका रास्ता प्रकट कर दिया ॥ ३६ ॥

स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह ।
ददर्श नागलोकं च योजनानि सहस्रशः ॥ ३७ ॥

उसी मार्गसे उन्होंने नागलोकमें प्रवेश किया और देखा कि नागोंका लोक सहस्रों योजन विस्तृत है ॥ ३७ ॥

प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्तास्वलंकृतैः ।
उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा ॥ ३८ ॥

महाभाग! उसके चारों ओर दिव्य परकोटे बने हुए हैं; जो सोनेकी ईंटोंसे बने हुए हैं और मणि-मुक्ताओंसे अलंकृत हैं ॥ ३८ ॥

वापीः स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः ।
ददर्श वृक्षांश्च बहून् नानाद्विजगणायुतान् ॥ ३९ ॥

वहाँ स्फटिक मणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे सुशोभित बहुत-सी बावड़ियों, निर्मल जलवाली अनेकानेक नदियों और विहगवृन्दसे विभूषित बहुत-से मनोहर वृक्षोंको भी उन्होंने देखा ॥ ३९ ॥

तस्य लोकस्य च द्वारं स ददर्श भृगूद्वहः ।
पञ्चयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४० ॥

भृगुकुलतिलक उत्तङ्कने नागलोकका बाहरी दरवाजा देखा, जो सौ योजन लंबा और पाँच योजन चौड़ा था ॥

नागलोकमुत्तङ्कस्तु प्रेक्ष्य दीनोऽभवत् तदा ।
निराशश्चाभवत् तत्र कुण्डलाहरणे पुनः ॥ ४१ ॥

नागलोककी वह विशालता देखकर उत्तङ्क मुनि उस समय दीन-हतोत्साह हो गये। अब उन्हें फिर कुण्डल पानेकी आशा नहीं रही ॥ ४१ ॥

तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णश्वेतवालधिः ।
ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ४२ ॥

इसी समय उनके पास एक घोड़ा आया, जिसकी पूँछके बाल काले और सफेद थे। उसके नेत्र और मुँह लाल रंगके थे। कुरुनन्दन! वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ॥

धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्र लप्स्यसे ।
ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ॥ ४३ ॥

उसने उत्तङ्कसे कहा—'विप्रवर ! तुम मेरे इस अपान मार्गमें फूँक मारो । ऐसा करनेसे ऐरावतके पुत्रने जो तुम्हारे दोनों कुण्डल लाये हैं, वे तुम्हें मिल जायँगे ॥ ४३ ॥

मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथंचन ।
त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याश्रमे तदा ॥ ४४ ॥

'बेटा ! इस कार्यमें तुम किसी तरह घृणा न करो; क्योंकि गौतमके आश्रममें रहते समय तुमने अनेक बार ऐसा किया है'॥

उत्तङ्क उवाच

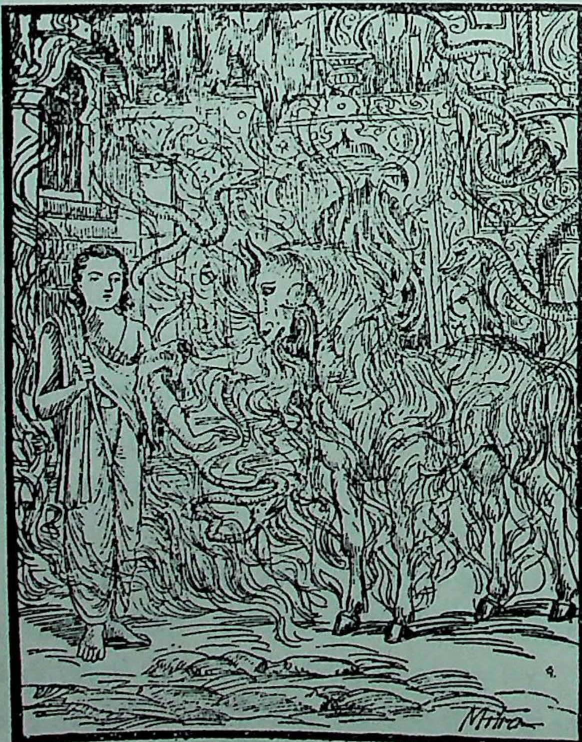
कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाश्रमं प्रति ।
यन्मया चीर्णपूर्वं हि श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम्॥ ४५ ॥

उत्तङ्कने पूछा—गुरुदेवके आश्रमपर मैंने कभी आपका दर्शन किया है, इसका ज्ञान मुझे कैसे हो ? और आपके कथनानुसार वहाँ रहते समय पहले जो कार्य मैं अनेक बार कर चुका हूँ, वह क्या है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥

अश्व उवाच

गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलनं जातवेदसम् ।
त्वया ह्यहं सदा विप्र गुरोरर्थेऽभिपूजितः ॥ ४६ ॥
विधिवत् सततं विप्र शुचिना भृगुनन्दन ।
तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ॥ ४७ ॥

घोड़ेने कहा—ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारे गुरुका भी गुरु जातवेदा अग्नि हूँ, यह तुम अच्छी तरह जान लो । भृगुनन्दन ! तुमने अपने गुरुके लिये सदा पवित्र रहकर विधिपूर्वक मेरी पूजा की है । इसलिये मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा । अब तुम मेरे बताये अनुसार कार्य करो, विलम्ब न करो ॥ ४६-४७ ॥



इत्युक्तस्तु तथाकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना ।
घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ४८ ॥

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने उनकी आज्ञाका पालन किया । तब घृतमयी अर्चिवाले अग्निदेव प्रसन्न होकर नागलोकको जला डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो ध्मायतस्तत्र भारत ।
घनः प्रादुरभूद् धूमो नागलोकभयावहः ॥ ४९ ॥

भारत ! जिस समय उत्तङ्कने फूँक मारना आरम्भ किया, उसी समय उस अश्वरूपधारी अग्निके रोम-रोमसे घनीभूत धूम उठने लगा; जो नागलोकको भयभीत करनेवाला था ॥

तेन धूमेन महता वर्धमानेन भारत ।
नागलोके महाराज न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५० ॥

महाराज भरतनन्दन ! बढ़ते हुए उस महान् धूमसे आच्छन्न हुए नागलोकमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥

हाहाकृतमभूत् सर्वमैरावतनिवेशनम् ।
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ॥ ५१ ॥
न प्राकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत ।
निहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ॥ ५२ ॥

जनमेजय ! ऐरावतके सारे घरमें हाहाकार मच गया । भारत ! वासुकि आदि नागोंके घर धूमसे आच्छादित हो गये । उनमें अँधेरा छा गया । वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो कुहासासे ढके हुए वन और पर्वत हों ॥ ५१-५२ ॥

ते धूमरक्तनयना वह्नितेजोऽभितापिताः ।
आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्य महात्मनः ॥ ५३ ॥

धुआँ लगनेसे नागोंकी आँखें लाल हो गयी थीं । वे आगकी आँचसे तप रहे थे । महात्मा भार्गव (उत्तङ्क) का क्या निश्चय है, यह जाननेके लिये सभी एकत्र होकर उनके पास आये ॥ ५३ ॥

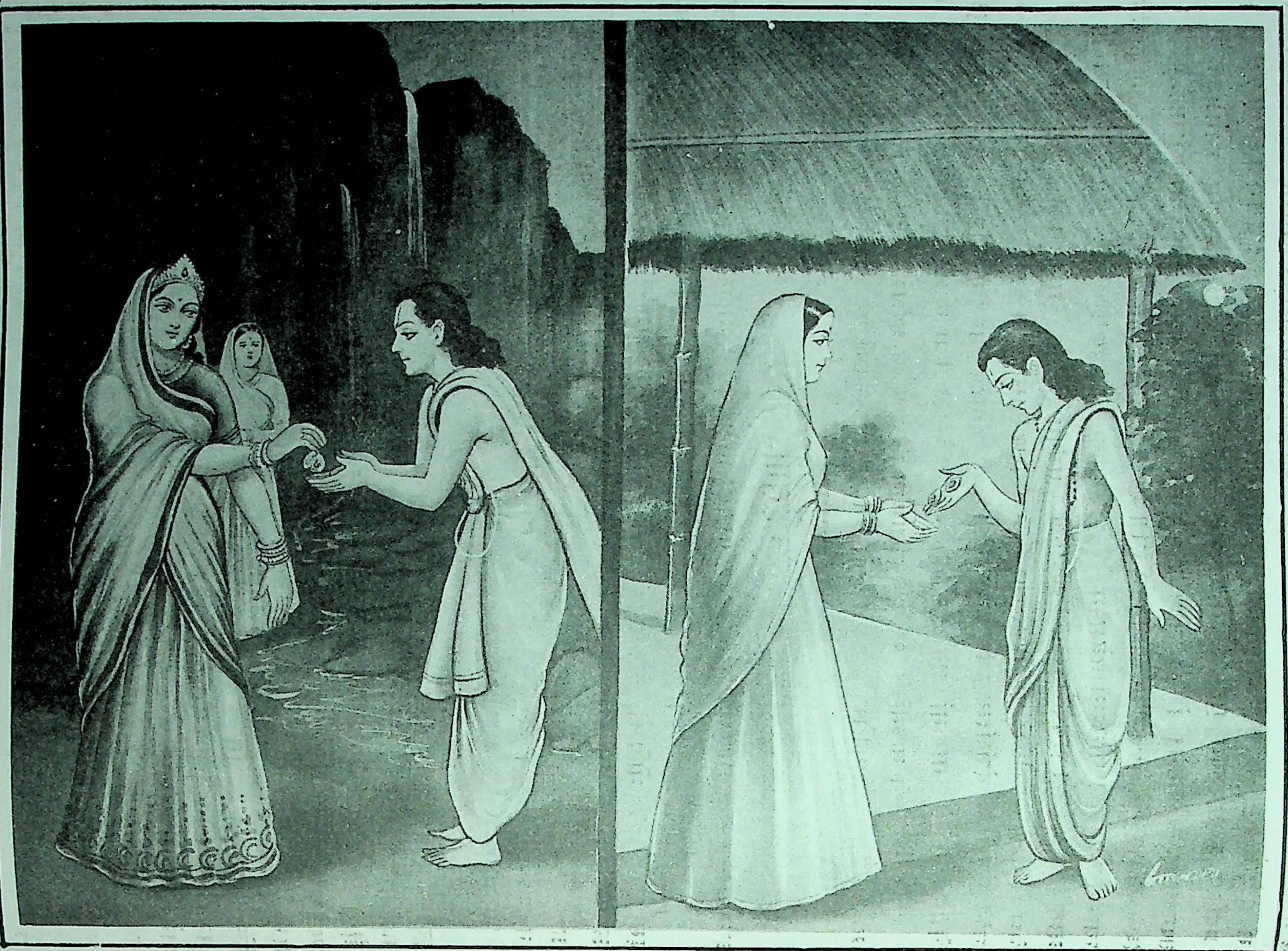
श्रुत्वा च निश्चयं तस्य महर्षेरतितेजसः ।
सम्भ्रान्तनयनाः सर्वे पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ ५४ ॥

उस समय उन अत्यन्त तेजस्वी महर्षिका निश्चय सुनकर सबकी आँखें भयसे कातर हो गयीं तथा सबने उनका विधिवत् पूजन किया ॥ ५४ ॥

सर्वे प्राञ्जलयो नागा वृद्धबालपुरोगमाः ।
शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति ॥ ५५ ॥

अन्तमें सभी नाग बूढ़े और बालकोंको आगे करके हाथ जोड़, मस्तक झुका प्रणाम करके बोले—'भगवन् ! हमपर प्रसन्न हो जाइये' ॥ ५५ ॥

प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
प्रायच्छन् कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते॥ ५६ ॥



महारानी मदयन्तीका उत्तङ्कको कुण्डल-दान

उत्तङ्कका गुरुपत्नीको कुण्डल-अर्पण

इस प्रकार ब्राह्मण देवताको प्रसन्न करके नागोंने उन्हें पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया और वे दोनों परमपूजित दिव्य कुण्डल भी वापस कर दिये ॥ ५६ ॥

ततः स पूजितो नागैस्तत्रोत्तङ्कः प्रतापवान् ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम गुरुसद्म तत् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर नागोंसे सम्मानित होकर प्रतापी उत्तङ्क मुनि अग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके गुरुके आश्रमकी ओर चल दिये ॥

स गत्वा त्वरितो राजन् गौतमस्य निवेशनम् ।
प्रायच्छत् कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यास्तदानघ ॥ ५८ ॥

निष्पाप नरेश ! वहाँ गौतमके घरमें शीघ्रतापूर्वक पहुँचकर उन्होंने गुरुपत्नीको वे दोनों दिव्य कुण्डल दे दिये ॥ ५८ ॥

वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ।
सर्वं शशंस गुरवे यथावद् द्विजसत्तमः ॥ ५९ ॥

जनमेजय ! वासुकि आदि नागोंके यहाँ जो घटना घटी थी, उसका सारा समाचार द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने अपने गुरु महर्षि गौतमसे ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ ५९ ॥

एवं महात्मना तेन त्रीँल्लोकान् जनमेजय ।
परिक्रम्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ६० ॥

जनमेजय ! इस प्रकार महात्मा उत्तङ्कने तीनों लोकोंमें घूमकर वे मणिमय दिव्य कुण्डल प्राप्त किये थे ॥ ६० ॥

एवंप्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ ।
परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तङ्क मुनि, जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, ऐसे ही प्रभावशाली और महान् तपस्वी थे ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कका उपाख्यानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकामें जाकर रैवतक पर्वतपर महोत्सवमें सम्मिलित होना और सबसे मिलना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कस्य वरं दत्त्वा गोविन्दो द्विजसत्तम ।
अत ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! महायशस्वी महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने उत्तङ्कको वरदान देनेके पश्चात् क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्काय वरं दत्त्वा प्रायात् सात्यकिना सह ।
द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—उत्तङ्कको वर देकर भगवान् श्रीकृष्ण महान् वेगशाली शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा सात्यकि (और सुभद्रा) के साथ पुनः द्वारकाकी ओर ही चल दिये ॥

सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा ।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥ ३ ॥
वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च ।
उपायात् पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ॥ ४ ॥

मार्गमें अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों और पर्वतोंको लाँघकर वे परम रमणीय द्वारका नगरीमें जा पहुँचे। महाराज ! उस समय वहाँ रैवतक पर्वतपर कोई बड़ा भारी उत्सव मनाया जा रहा था। सात्यकिको साथ लिये कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय उस महोत्सवमें पधारे ॥ ३-४ ॥

अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः ।
बभौ रत्नमयैः कोशैः संवृतः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर ! वह पर्वत नाना प्रकारके विचित्र रत्नमय ढेरोंद्वारा सजाया गया था, उस समय उसकी अद्भुत शोभा हो रही थी। ॥ ५ ॥

काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः सुमनोभिस्तथैव च ।
वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैस्तथैव च ॥ ६ ॥

सोनेकी सुन्दर मालाओं, भाँति-भाँतिके पुष्पों, वस्त्रों और कल्पवृक्षोंसे घिरे हुए उस महान् शैलकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः ।
गुहानिर्झरदेशेषु दिवाभूतो बभूव ह ॥ ७ ॥

वृक्षके आकारमें सजाये हुए सोनेके दीप उस स्थानकी शोभाको और भी उद्दीप्त कर रहे थे। वहाँकी गुफाओं और झरनोंके स्थानोंमें दिनके समान प्रकाश हो रहा था ॥ ७ ॥

पताकाभिर्विचित्राभिः सघण्टाभिः समन्ततः ।
पुम्भिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत् ॥ ८ ॥

चारों ओर विचित्र पताकाएँ फहरा रही थीं, उनमें बँधी हुई घण्टियाँ बज रही थीं और स्त्रियों तथा पुरुषोंके सुमधुर शब्द वहाँ व्याप्त हो रहे थे। इससे वह पर्वत सङ्गीतमय-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ८ ॥

अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव ।
मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसां च भारत ॥ ९ ॥
गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः ।

जैसे मुनिगणोंसे मेरुकी शोभा होती है, उसी प्रकार द्वारकावासियोंके समागमसे वह पर्वत अत्यन्त दर्शनीय हो

गया था। भरतनन्दन! उस पर्वतराजके शिखरपर हर्षोन्मत्त होकर गाते हुए स्त्री-पुरुषोंका सुमधुर शब्द मानो स्वर्गलोक-तक व्याप्त हो रहा था ॥ ९½ ॥

प्रमत्तमत्तसम्मत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुलः ॥ १० ॥
तथा किलकिलाशब्दैर्भूधरोऽभून्मनोहरः।

कुछ लोग क्रीडा आदिमें आसक्त होकर दूसरे कार्योंकी ओर ध्यान नहीं देते थे, कितने ही हर्षसे मतवाले हो रहे थे, कुछ लोग कूदते-फाँदते, उच्च स्वरसे कोलाहल करते और किलकारियाँ भरते थे। इन सभी शब्दोंसे गूँजता हुआ पर्वत परम मनोहर जान पड़ता था ॥ १०½ ॥

विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ॥ ११ ॥
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदङ्गवान्।
सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्यभोज्येन चैव ह ॥ १२ ॥
दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम्।
बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ॥ १३ ॥

उस महान् पर्वतपर होनेवाला वह महोत्सव परम मङ्गल-मय प्रतीत होता था। वहाँ दूकानें और बाजार लगी थीं। भक्ष्य-भोज्य पदार्थ यथेष्ट रूपसे प्राप्त होते थे। सब ओर घूमने-फिरनेकी सुविधा थी। वस्त्रों और मालाओंके ढेर लगे थे। वीणा, वेणु और मृदङ्ग बज रहे थे। इन सबके कारण वहाँकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँ दीनों, अन्धों और अनाथोंके लिये निरन्तर सुरा-मैरेयमिश्रित भक्ष्य-भोज्य पदार्थ दिये जाते थे ॥ ११—१३ ॥

पुण्यावसथवान् वीर पुण्यकृद्भिर्निषेवितः।
विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ॥ १४ ॥
स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ।

वीरवर! उस पर्वतपर पुण्यानुष्ठानके लिये बहुत से गृह और आश्रम बने थे, जिनमें पुण्यात्मा पुरुष निवास करते थे। रैवतक पर्वतके उस महोत्सवमें वृष्णिवंशी वीरोंका विहार-स्थल बना हुआ था। वह गिरिप्रदेश बहुसंख्यक गृहोंसे व्याप्त होनेके कारण देवलोकके समान शोभा पाता था ॥ १४½ ॥

तदा च कृष्णसांनिध्यमासाद्य भरतर्षभ ॥ १५ ॥
(स्तुवन्त्यन्तर्हिता देवा गन्धर्वाश्च सहर्षिभिः।

भरतश्रेष्ठ! उस समय देवता, गन्धर्व और ऋषि अदृश्य-रूपसे श्रीकृष्णके निकट आकर उनकी स्तुति करने लगे ॥

देवगन्धर्वा ऊचुः

साधकः सर्वधर्माणामसुराणां विनाशकः।
त्वं स्रष्टा सृज्यमाधारं कारणं धर्मवेदवित् ॥
त्वया यत् क्रियते देव न जानीमोऽत्र मायया।
केवलं त्वाभिजानीमः शरणं परमेश्वरम् ॥
ब्रह्मादीनां च गोविन्द सांनिध्यं शरणं नमः ॥

देवता और गन्धर्व बोले—भगवन्! आप समस्त धर्मोंके साधक और असुरोंके विनाशक हैं। आप ही स्रष्टा, आप ही सृज्य जगत् और आप ही उसके आधार हैं। आप ही सबके कारण तथा धर्म और वेदके ज्ञाता हैं। देव! आप अपनी मायासे जो कुछ करते हैं, हमलोग उसे नहीं जान पाते हैं। हम केवल आपको जानते हैं। आप ही सबके शरण-दाता और परमेश्वर हैं। गोविन्द! आप ब्रह्मा आदिको भी सामीप्य और शरण प्रदान करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स्तुतेऽमानुषैश्च पूजिते देवकीसुते।)
शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार मानवेतर प्राणियों—देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा जब देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी स्तुति और पूजा की जा रही थी, उस समय वह पर्वतराज रैवतक इन्द्रभवनके समान जान पड़ता था ॥ १५½ ॥

ततः सम्पूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ॥ १६ ॥
गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम्।

तदनन्तर सबसे सम्मानित हो भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुन्दर भवनमें प्रवेश किया और सात्यकि भी अपने घरमें गये ॥ १६½ ॥

विवेश च प्रहृष्टात्मा चिरकालप्रवासतः ॥ १७ ॥
कृत्वा नसुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः।

जैसे इन्द्र दानवोंपर महान् पराक्रम प्रकट करके आये हों, उसी प्रकार दुष्कर कर्म करके दीर्घकालके प्रवाससे प्रसन्न-चित्त होकर लौटे हुए भगवान् श्रीकृष्णने अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ १७½ ॥

उपायान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ॥ १८ ॥
अभ्यगच्छन् महात्मानं देवा इव शतक्रतुम्।

जैसे देवता देवराज इन्द्रकी अगवानी करते हैं, उसी प्रकार भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके यादवोंने अपने निकट आते हुए महात्मा श्रीकृष्णका आगे बढ़कर स्वागत किया ॥

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तदा ॥ १९ ॥

मेधावी श्रीकृष्णने उन सबका आदर करके उनका कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १९ ॥

ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः।
उपोपविष्टः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥ २० ॥

उन दोनोंने उन महाबाहु श्रीकृष्णको अपनी छातीसे लगा लिया और मीठे वचनोंद्वारा उन्हें सान्त्वना दी। इसके



भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता-माता आदिको महाभारतका वृत्तान्त सुना रहे हैं

बाद सभी वृष्णिवंशी उनको घेरकर आसपास बैठ गये ॥

स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावनेजनः।
कथयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥ २१ ॥

महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब हाथ-पैर धोकर विश्राम कर चुके, तब पिताके पूछनेपर उन्होंने उस महायुद्धकी सारी घटना कह सुनायी ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाप्रवेशविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

वसुदेवजीके पूछनेपर श्रीकृष्णका उन्हें महाभारत युद्धका वृत्तान्त संक्षेपसे सुनाना

वसुदेव उवाच

श्रुतवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्भुतम्।
नराणां वदतां तत्र कथं वा तेषु नित्यशः ॥ १ ॥

वसुदेवजीने पूछा—वृष्णिनन्दन ! मैं प्रतिदिन बातचीतके प्रसङ्गमें लोगोंके मुँहसे सुनता आ रहा हूँ कि महाभारत युद्ध बड़ा अद्भुत हुआ था। इसलिये पूछता हूँ कि कौरवों और पाण्डवोंमें किस तरह युद्ध हुआ ? ॥ १ ॥

त्वं तु प्रत्यक्षदर्शी च रूपज्ञश्च महाभुज।
तस्मात् प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ ॥ २ ॥

महाबाहो ! तुम तो उस युद्धके प्रत्यक्षदर्शी हो और उसके स्वरूपको भी भलीभाँति जानते हो; अतः अनघ ! मुझसे उस युद्धका यथार्थ वर्णन करो ॥ २ ॥

यथा तदभवद् युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम्।
भीष्मकर्णकृपद्रोणशल्यादिभिरनुत्तमम् ॥ ३ ॥

महात्मा पाण्डवोंका भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और शल्य आदिके साथ जो परम उत्तम युद्ध हुआ था, वह किस तरह हुआ ? ॥ ३ ॥

अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणामनेकशः।
नानावेषाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ॥ ४ ॥

दूसरे-दूसरे देशोंमें निवास करनेवाले, भाँति-भाँतिकी वेशभूषा और आकृतिवाले जो अस्त्रविद्यामें निपुण बहुसंख्यक क्षत्रिय वीर थे, उन्होने भी किस प्रकार युद्ध किया था ? ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके।
शशंस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—माताके निकट पिताके इस प्रकार पूछनेपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण कौरव वीरोंके संग्राममें मारे जानेका वह प्रसङ्ग यथावत् रूपसे सुनाने लगे ॥

वासुदेव उवाच

अत्यद्भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम्।
बहुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—पिताजी ! महाभारत युद्धमें काममें आनेवाले मनस्वी क्षत्रिय वीरोंके कर्म बड़े अद्भुत हैं। वे इतने अधिक हैं कि यदि विस्तारके साथ उनका वर्णन किया जाय तो सौ वर्षोंमें भी उनकी समाप्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे शृणु।
कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ॥ ७ ॥

अतः देवताओंके समान तेजस्वी तात ! मैं मुख्य-मुख्य घटनाओंको ही संक्षेपसे सुना रहा हूँ, आप उन भूपतियोंके कर्म यथावत् रूपसे सुनिये ॥ ७ ॥

भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः।
कौरव्यः कौरवेन्द्राणां देवानामिव वासवः ॥ ८ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंकी सेनाके स्वामी हैं, उसी प्रकार कुरुकुलतिलक भीष्म भी श्रेष्ठ कौरववीरोंके सेनापति बनाये गये थे। वे ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके संरक्षक थे ॥ ८ ॥

शिखण्डी पाण्डुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः।
बभूव रक्षितो धीमान् श्रीमता सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

पाण्डवोंके सेनानायक शिखण्डी थे, जो सात अक्षौहिणी सेनाओंका संचालन करते थे। बुद्धिमान् शिखण्डी श्रीमान् सव्यसाची अर्जुनके द्वारा सुरक्षित थे ॥ ९ ॥

तेषां तदभवद् युद्धं दशाहानि महात्मनाम्।
कुरूणां पाण्डवानां च सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

उन महामनस्वी कौरवों और पाण्डवोंमें दस दिनोंतक महान् रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ १० ॥

ततः शिखण्डी गाङ्गेयं युध्यमानं महाहवे।
जघान बहुभिर्बाणैः सह गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥

फिर दसवें दिन शिखण्डीने महासमरमें जूझते हुए गङ्गानन्दन भीष्मको गाण्डीवधारी अर्जुनकी सहायतासे बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बहुत घायल कर दिया ॥ ११ ॥

अकरोत् स ततः कालं शरतल्पगतो मुनिः।
अयनं दक्षिणं हित्वा सम्प्राप्ते चोत्तरायणे ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् भीष्मजी बाणशय्यापर पड़ गये। जबतक

दक्षिणायन रहा है, वे मुनिव्रतका पालन करते हुए शरशय्यापर सोते रहे हैं। दक्षिणायन समाप्त होकर उत्तरायणके आनेपर ही उन्होंने मृत्यु स्वीकार की है ॥ १२ ॥

ततः सेनापतिरभूद् द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः।
प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य काव्यो दैत्यपतेरिव ॥ १३ ॥

तदनन्तर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण कौरवपक्षके सेनापति बनाये गये। वे कौरवराजकी सेनाके प्रमुख वीर थे, मानो दैत्यराज बलिकी सेनाके प्रधान संरक्षक शुक्राचार्य हों॥

अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विजसत्तमः।
संवृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ॥ १४ ॥

उस समय मरनेसे बची हुई नौ अक्षौहिणी सेना उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी थी। वे स्वयं तो युद्धका हौसला रखते ही थे, कृपाचार्य और कर्ण भी सदा उनकी रक्षा करते रहते थे ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित्।
गुप्तो भीमेन मेधावी मित्रेण वरुणो यथा ॥ १५ ॥

इधर महान् अस्त्रवेत्ता धृष्टद्युम्न पाण्डवसेनाके अधिनायक हुए। जैसे मित्र वरुणकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार भीमसेन मेधावी धृष्टद्युम्नकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

स च सेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सुर्महामनाः।
पितुर्निकारान् संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ॥ १६ ॥

पाण्डवसेनासे घिरे हुए महामनस्वी वीर धृष्टद्युम्नने द्रोणके द्वारा अपने पिताके अपमानका स्मरण करके उन्हें मार डालनेके लिये युद्धमें बड़ा भारी पराक्रम दिखाया ॥ १६ ॥

तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसंगरे।
नानादिगागता वीराः प्रायशो निधनं गताः ॥ १७ ॥

धृष्टद्युम्न और द्रोणके उस भीषण संग्राममें नाना दिशाओंसे आये हुए भूपाल अधिक संख्यामें मारे गये ॥ १७ ॥

दिनानि पञ्च तद् युद्धमभूत् परमदारुणम्।
ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ॥ १८ ॥

उन दोनोंका वह परम दारुण युद्ध पाँच दिनोंतक चलता रहा। अन्तमें द्रोणाचार्य बहुत थक गये और धृष्टद्युम्नके वशमें पड़कर मारे गये ॥ १८ ॥

ततः सेनापतिरभूत् कर्णो दौर्योधने बले।
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दुर्योधनकी सेनामें कर्णको सेनापति बनाया गया, जो मरनेसे बची हुए पाँच अक्षौहिणी सेनाओंसे घिर-कर युद्धके मैदानमें खड़ा था ॥ १९ ॥

तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः।
हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ॥ २० ॥

उस समय पाण्डवोंके पास तीन अक्षौहिणी सेनाएँ शेष थीं, जिनकी रक्षा अर्जुन कर रहे थे। उनमें बहुत-से प्रमुख वीर मारे गये थे; फिर भी वे युद्धके लिये डटी हुई थीं ॥

ततः पार्थं समासाद्य पतङ्ग इव पावकम्।
पञ्चत्वमगमत् सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणः ॥ २१ ॥

कर्ण दो दिनतक युद्ध करता रहा। वह बड़े क्रूर स्वभावका था। जैसे पतङ्ग जलती आगमें कूदकर जल मरता है, उसी प्रकार वह दूसरे दिनके युद्धमें अर्जुनसे भिड़कर मारा गया ॥ २१ ॥

हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्यवारयन् ॥ २२ ॥

कर्णके मारे जानेपर कौरव हतोत्साह होकर अपनी शक्ति खो बैठे और मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर उन्हें तीन अक्षौहिणी सेनाओंसे सुरक्षित रखकर उन्होंने युद्ध आरम्भ किया ॥ २२ ॥

हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवाऽपि युधिष्ठिरम्।
अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

पाण्डवोंके भी बहुत-से वाहन नष्ट हो गये थे। उनमें भी अब युद्धविषयक उत्साह नहीं रह गया था तो भी वे शेष बची हुई एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए युधिष्ठिरको आगे करके शल्यका सामना करनेके लिये बढ़े ॥ २३ ॥

अवधीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः।
तस्मिंस्तदार्धदिवसे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ २४ ॥

कुरुराज युधिष्ठिरने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके दोपहर होते-होते मद्रराज शल्यको मार गिराया ॥ २४ ॥

हते शल्ये तु शकुनिं सहदेवो महामनाः।
आहर्तारं कलेस्तस्य जघानामितविक्रमः ॥ २५ ॥

शल्यके मारे जानेपर अमित पराक्रमी महामना सहदेवने कलहकी नींव डालनेवाले शकुनिको मार दिया ॥ २५ ॥

निहते शकुनौ राजा धार्तराष्ट्रः सुदुर्मनाः।
अपाक्रामद् गदापाणिर्हतभूयिष्ठसैनिकः ॥ २६ ॥

शकुनिकी मृत्यु हो जानेपर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसके बहुत-से सैनिक युद्धमें मार डाले गये थे। इसलिये वह अकेला ही हाथमें गदा लेकर रणभूमिसे भाग निकला ॥ २६ ॥

तमन्वधावत् संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान्।
ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ॥ २७ ॥

इधरसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने उसका पीछा किया और द्वैपायन नामक सरोवरमें पानीके भीतर छिपे हुए दुर्योधनका पता लगा लिया ॥ २७ ॥

हतशिष्टेन सैन्येन समन्तात् परिवार्य तम्।
अथोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ॥ २८ ॥

॥ तदनन्तर हर्षमें भरे हुए पाँचों पाण्डव मरनेसे बची हुई सेनाके द्वारा उसपर चारों ओरसे घेरा डालकर तालाबमें बैठे हुए दुर्योधनके पास जा पहुँचे ॥ २८ ॥

विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः।
उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ॥ २९ ॥

उस समय भीमसेनके वाग्बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर दुर्योधन तुरंत पानीसे बाहर निकला और हाथमें गदा ले युद्धके लिये उद्यत हो पाण्डवोंके पास आ गया ॥ २९ ॥

ततः स निहतो राजा धार्तराष्ट्रो महारणे।
भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उस महासमरमें सब राजाओंके देखते-देखते भीमसेनने पराक्रम करके धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको मार डाला ॥ ३० ॥

ततस्तत् पाण्डवं सैन्यं प्रसुप्तं शिविरे निशि।
निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ॥ ३१ ॥

इसके बाद रातके समय जब पाण्डवोंकी सेना अपनी छावनीमें निश्चिन्त सो रही थी, उसी समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने अपने पिताके वधको न सह सकनेके कारण आक्रमण किया और सबको मार गिराया ॥ ३१ ॥

हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह।
युयुधानसहायेन पञ्च शिष्टास्तु पाण्डवाः ॥ ३२ ॥

उस समय पाण्डवोंके पुत्र, मित्र और सैनिक सब मारे गये। केवल मेरे और सात्यकिके साथ पाँचों पाण्डव शेष रह गये हैं ॥ ३२ ॥

सहैव कृपभोजाभ्यां द्रौणिर्युद्धादमुच्यत।
युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तः पाण्डवसंश्रयात् ॥ ३३ ॥

कौरवोंके पक्षमें कृपाचार्य और कृतवर्माके साथ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा युद्धसे जीवित बचा है। कुरुवंशी युयुत्सु भी पाण्डवोंका आश्रय लेनेके कारण बच गये हैं ॥ ३३ ॥

निहते कौरवेन्द्रे तु सानुबन्धे सुयोधने।
विदुरः संजयश्चैव धर्मराजमुपस्थितौ ॥ ३४ ॥

बन्धु-बान्धवोंसहित कौरवराज दुर्योधनके मारे जानेपर विदुर और संजय धर्मराज युधिष्ठिरके आश्रयमें आ गये हैं ॥

एवं तदभवद् युद्धमहान्यष्टादश प्रभो।
यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ॥ ३५ ॥

प्रभो ! इस प्रकार अठारह दिनोंतक वह युद्ध हुआ है। उसमें जो राजा मारे गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा बसे हैं ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृण्वतां तु महाराज कथां तां लोमहर्षणाम्।
दुःखशोकपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! रोंगटे खड़े कर देनेवाली उस युद्ध-वार्ताको सुनकर वृष्णिवंशी लोग दुःख-शोकसे व्याकुल हो गये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वासुदेववाक्ये षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णद्वारा युद्धवृत्तान्तका कथनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका सुभद्राके कहनेसे वसुदेवजीको अभिमन्युवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान्।
महाभारतयुद्धं तत्कथान्ते पितुरग्रतः ॥ १ ॥
अभिमन्योर्वधं वीरः सोऽत्यक्रामन्महामतिः।
अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामतिः ॥ २ ॥
मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम्।
दुःखशोकाभिसंतप्तो भवेदिति महामतिः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जब पिताके सामने महाभारतयुद्धका वृत्तान्त सुना रहे थे, उस समय उन्होंने उस कथाके बीचमें जान-बूझकर अभिमन्युवधका वृत्तान्त छोड़ दिया। परम बुद्धिमान् वीर श्रीकृष्णने सोचा, पिताजी अपने नातीकी मृत्युका महान् अमङ्गलजनक समाचार सुनकर कहीं दुःख-शोकसे संतप्त न हो उठें। इनका अप्रिय न हो जाय। इसीसे वह प्रसङ्ग नहीं सुनाया ॥ १–३ ॥

सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे।
आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद् भुवि ॥ ४ ॥

परंतु सुभद्राने जब देखा कि मेरे पुत्रके निधनका समाचार इन्होंने नहीं सुनाया, तब उसने याद दिलाते हुए कहा—'भैया ! मेरे अभिमन्युके वधकी बात भी तो बता दो।' इतना कहकर वह मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४ ॥

तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा।
दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्च्छितः ॥ ५ ॥

वसुदेवजीने बेटी सुभद्राको पृथ्वीपर गिरी हुई देखा।

देखते ही वे भी दुःखसे मूर्छित हो धरतीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततः स दौहित्रवधदुःखशोकसमाहतः ।
वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

महाराज ! तदनन्तर दौहित्रवधके दुःख-शोकसे आहत हो वसुदेवजीने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग् भुवि विश्रुतः ॥ ७ ॥
यद् दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ।
तद् भागिनेयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ८ ॥

'बेटा कमलनयन ! तुम तो इस भूतलपर सत्यवादीके रूपमें प्रसिद्ध हो । शत्रुसूदन ! फिर क्या कारण है कि आज तुम मुझे मेरे नातीके मारे जानेका समाचार नहीं बता रहे हो । प्रभो ! अपने मानजेके वधका वृत्तान्त तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ ७-८ ॥

सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ।
दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सह ॥ ९ ॥
यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ।

'वृष्णिनन्दन ! अभिमन्युकी आँखें ठीक तुम्हारे ही समान सुन्दर थीं । हाय ! वह रणभूमिमें शत्रुओंद्वारा कैसे मारा गया ? जान पड़ता है, समय पूरा होनेके पहले मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन होता है, तभी तो यह दारुण समाचार सुनकर भी दुःखसे मेरे हृदयके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ९½ ॥

किमब्रवीत् त्वां संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति ॥ १० ॥
मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ।
आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः ॥ ११ ॥
कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम् ।

'पुण्डरीकाक्ष ! संग्राममें अभिमन्युने तुमको और अपनी माता सुभद्राको क्या संदेश दिया था ? चञ्चल नेत्रोंवाला वह मेरा प्यारा नाती मेरे लिये क्या संदेश देकर मरा था ! कहीं वह युद्धमें पीठ दिखाकर तो शत्रुओंके हाथसे नहीं मारा गया ! गोविन्द ! उसने युद्धमें भयके कारण अपना मुख विकृत तो नहीं कर लिया था ॥ १०-११½ ॥

स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः ॥ १२ ॥
बालभावेन विनयमात्मनोऽकथयत् प्रभुः ।

'श्रीकृष्ण ! वह महातेजस्वी और प्रभावशाली बालक अपने बालस्वभावके कारण मेरे सामने विनीतभावसे अपनी वीरताकी प्रशंसा किया करता था ॥ १२½ ॥

कच्चिन्न निकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः ॥ १३ ॥
धरण्यां निहतः शेते तन्ममाचक्ष्व केशव ।
स हि द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च बलिनां वरम् ॥ १४ ॥
स्पर्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ।

'मेरी बेटीका वह लाड़ला अभिमन्यु रणभूमिमें सदा द्रोणाचार्य, भीष्म तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ कर्णके साथ भी लोहा लेनेका हौसला रखता था । कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि द्रोण, कर्ण और कृपाचार्य आदिने मिलकर उस बालकको कपटपूर्वक मार डाला हो और इस प्रकार धोखेसे मारा जाकर धरतीपर सो रहा हो । केशव ! यह सब मुझे बताओ' ॥

एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ॥ १५ ॥
पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् ।

इस प्रकार पिताको अत्यन्त दुःखित होकर बहुत विलाप करते देख श्रीकृष्ण स्वयं भी बहुत दुखी हो गये और उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ १५½ ॥

न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्धनि ॥ १६ ॥
न पृष्ठतः कृतश्चापि संग्रामस्तेन दुस्तरः ।

'पिताजी ! अभिमन्युने संग्राममें आगे रहकर शत्रुओंका सामना किया । उसने कभी भी अपना मुख विकृत नहीं किया । उस दुस्तर युद्धमें उसने कभी पीठ नहीं दिखायी ॥

निहत्य पृथिवीपालान् सहस्रशतसंघशः ॥ १७ ॥
खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः ।

'लाखों राजाओंके समूहोंको मारकर द्रोण और कर्णके साथ युद्ध करते-करते जब वह बहुत थक गया, उस समय दुःशासनके पुत्रके द्वारा मारा गया ॥ १७½ ॥

एको ह्येकेन सततं युध्यमाने यदि प्रभो ॥ १८ ॥
न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा ।

'प्रभो ! यदि निरन्तर उसे एक-एक वीरके साथ ही युद्ध करना पड़ता तो रणभूमिमें वज्रधारी इन्द्र भी उसे नहीं मार सकते थे (परंतु वहाँ तो बात ही दूसरी हो गयी) । १८½ ।

समाहूते च संग्रामात् पार्थे संशप्तकैस्तदा ॥ १९ ॥
पर्यवार्यत संक्रुद्धैः स द्रोणादिभिराहवे ।

'अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध करते हुए संग्रामभूमिसे बहुत दूर हट गये थे । इस अवसरसे लाभ उठाकर क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्य आदि कई वीरोंने मिलकर उस बालकको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १९½ ॥

ततः शत्रुवधं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितः ॥ २० ॥
दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः ।

'वृष्णिकुल भूषण पिताजी ! तो भी शत्रुओंका बड़ा भारी संहार करके आपका वह दौहित्र युद्धमें दुःशासनकुमारके अधीन हुआ ॥ २०½ ॥

नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ॥ २१ ॥
न हि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः ।

'महामते ! अभिमन्यु निश्चय ही स्वर्गलोकमें गया है; अतः आप उसके लिये शोक न कीजिये । पवित्र बुद्धिवाले साधु पुरुष संकटमें पड़नेपर भी इतने खिन्न नहीं होते हैं ॥

द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ॥ २२ ॥
रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद् दिवम्।

'जिसने इन्द्रके समान पराक्रमी द्रोण-कर्ण आदि वीरोंका युद्धमें डटकर सामना किया है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति कैसे नहीं होगी ? ॥ २२½ ॥

स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ॥ २३ ॥
शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरंजयः।

'दुर्धर्ष वीर पिताजी ! इसलिये आप शोक त्याग दीजिये। शोकके वशीभूत न होइये। शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाला वीरवर अभिमन्यु शस्त्राघातसे पवित्र हो उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है ॥ २३½ ॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ॥ २४ ॥
दुःखार्ताथो सुतं प्राप्य कुररीव ननाद ह।
द्रौपदीं च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ॥ २५ ॥
आर्ये क दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम्।

'उस वीरके मारे जानेपर मेरी यह बहिन सुभद्रा दुःखसे आतुर हो पुत्रके पास जाकर कुररीकी भाँति विलाप करने लगी और द्रौपदीके पास जाकर दुःखमग्न हो पूछने लगी—'आर्ये ! सब बच्चे कहाँ हैं ? मैं उन सबको देखना चाहती हूँ' ॥ २४-२५½ ॥

अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ॥ २६ ॥
भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्तवत् ॥ २७ ॥

'इसकी बात सुनकर कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ इसे दोनों हाथोंसे पकड़कर अत्यन्त आर्त-सी होकर करुण विलाप करने लगीं ॥ २६-२७ ॥

उत्तरां चाब्रवीद् भद्रे भर्ता स क नु ते गतः।
क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्य त्वं वेदयस्व ह ॥ २८ ॥

'सुभद्राने उत्तरासे भी पूछा—'भद्रे ! तुम्हारा पति वह अभिमन्यु कहाँ चला गया ? तुम शीघ्र उसे मेरे आगमनकी सूचना दो ॥ २८ ॥

ननु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा।
भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ॥ २९ ॥

''विराटकुमारी ! जो सदा मेरी आवाज सुनकर शीघ्र घरसे निकल पड़ता था, वही तुम्हारा पति आज मेरे पास क्यों नहीं आता है ? ॥ २९ ॥

अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः।
कुशलं चाब्रुवन् सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ॥ ३० ॥

''अभिमन्यो ! तुम्हारे सभी महारथी मामा सकुशल हैं और युद्धकी इच्छासे यहाँ आये हुए तुमसे उन सबने तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ॥ ३० ॥

आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिंदम।
कस्मादेवं विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ॥ ३१ ॥

''शत्रुदमन ! पहलेकी भाँति आज भी तुम मुझे युद्धकी बात बताओ। मैं इस प्रकार विलाप करती हूँ तो भी आज यहाँ तुम मुझसे बात क्यों नहीं करते हो ?' ॥ ३१ ॥

एवमादि तु वार्ष्णेय्यास्तस्यास्तत्परिदेवितम्।
श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे।
पित्रा च लालितो बालः स हतः कालधर्मणा ॥ ३३ ॥

'सुभद्राका इस प्रकार विलाप सुनकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हुई बुआ कुन्तीने शनैः-शनैः उसे समझाते हुए कहा—'सुभद्रे ! वासुदेव, सात्यकि और पिता अर्जुन—तीनों जिसका बहुत लाड़प्यार करते थे, वह बालक अभिमन्यु कालधर्मसे मारा गया है (उसकी आयु पूरी हो गयी, इसलिये मृत्युके अधीन हुआ है) ॥ ३२-३३ ॥

ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि।
पुत्रो हि तव दुर्धर्षः सम्प्राप्तः परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

''यदुनन्दिनि ! मृत्युलोकमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंका धर्म ही ऐसा है—उन्हें एक-न-एक दिन मृत्युके वशमें होना ही पड़ता है, इसलिये शोक न करो। तुम्हारा दुर्जय पुत्र परम गतिको प्राप्त हुआ है ॥ ३४ ॥

कुले महति जातासि क्षत्रियाणां महात्मनाम्।
मा शुचश्चपलाक्षं त्वं पद्मपत्रनिभेक्षणे ॥ ३५ ॥

''बेटी ! कमलदललोचने ! तुम महात्मा क्षत्रियोंके महान् कुलमें उत्पन्न हुई हो; अतः तुम अपने चञ्चल नेत्रोंवाले पुत्रके लिये शोक न करो ॥ ३५ ॥

उत्तरां त्वमवेक्षस्व गुर्विणीं मा शुचः शुभे।
पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भाविनी ॥ ३६ ॥

''शुभे ! तुम्हारी बहू उत्तरा गर्भवती है, तुम उसीकी ओर देखो, शोक न करो ! यह भाविनी उत्तरा शीघ्र ही अभिमन्युके पुत्रको जन्म देगी' ॥ ३६ ॥

एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह।
विहाय शोकं दुर्धर्ष श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ॥ ३७ ॥

'यदुकुलभूषण पिताजी ! इस प्रकार सुभद्राको समझा-बुझाकर दुस्तर शोकको त्यागकर कुन्तीने उसके श्राद्धकी तैयारी करायी ॥ ३७ ॥

समनुज्ञाप्य धर्मज्ञं राजानं भीममेव च।
यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ॥ ३८ ॥

'धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर और भीमसेनको आदेश देकर तथा यमके समान पराक्रमी नकुल-सहदेवको भी आज्ञा देकर कुन्तीदेवीने अभिमन्युके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके दान दिलाये ॥ ३८ ॥

ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणाय यदूद्वह ।
समाहूय तु वार्ष्णेयी वैराटीमब्रवीदिदम् ॥ ३९ ॥

'यदुकुलभूषण ! तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बहुत-सी गौएँ दान देकर कुन्तीने विराटकुमारी उत्तरासे कहा—॥ ३९ ॥

वैराटि नेह संतापस्त्वया कार्यो ह्यनिन्दिते ।
भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष वै शिशुम् ॥ ४० ॥

''अनिन्द्य गुणोंवाली विराटराजकुमारी ! अब तुम्हें यहाँ पतिके लिये संताप नहीं करना चाहिये। सुन्दरी ! तुम्हारे गर्भमें जो अभिमन्युका बालक है, उसकी रक्षा करो' ॥ ४० ॥

एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते ।
तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ॥ ४१ ॥

'महाद्युते ! ऐसा कहकर कुन्तीदेवी चुप हो गयीं। उन्हींकी आज्ञासे मैं इस सुभद्रा देवीको साथ लाया हूँ ॥

एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव मानद ।
संतापं त्यज दुर्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ॥ ४२ ॥

'मानद ! इस प्रकार आपका दौहित्र अभिमन्यु मृत्युको प्राप्त हुआ है। दुर्धर्ष वीर ! आप संताप छोड़ दें और मनको शोकमग्न न करें' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वसुदेवको सान्त्वनाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

वसुदेव आदि यादवोंका अभिमन्युके निमित्त श्राद्ध करना तथा व्यासजीका उत्तरा और अर्जुनको समझाकर युधिष्ठिरको अश्वमेधयज्ञ करनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा ।
विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पुत्र श्रीकृष्णकी बात सुनकर शूरपुत्र धर्मात्मा वसुदेवजीने शोक त्याग दिया और अभिमन्युके लिये परम उत्तम श्राद्धविषयक दान दिया॥

तथैव वासुदेवश्च स्वस्रीयस्य महात्मनः ।
दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदेहिकम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने महामनस्वी भानजे अभिमन्युका, जो उनके पिता वसुदेवजीका सदा ही परम प्रिय रहा, श्राद्धकर्म सम्पन्न किया ॥ २ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महौजसाम् ।
विधिवद् भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥ ३ ॥

उन्होंने साठ लाख महातेजस्वी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अन्न भोजन कराया ॥ ३ ॥

आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत् ।
ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूल्लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥

महाबाहु श्रीकृष्णने उस समय ब्राह्मणोंको वस्त्र पहनाकर इतना धन दिया, जिससे उनकी धनविषयक तृष्णा दूर हो गयी। यह एक रोमाञ्चकारी घटना थी ॥ ४ ॥

सुवर्णं चैव गाश्चैव शयनाच्छादनानि च ।
दीयमानं तदा विप्रा वर्धतामिति चाब्रुवन् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणलोग सुवर्ण, गौ, शय्या और वस्त्रका दान पाकर अभ्युदय होनेका आशीर्वाद देने लगे ॥ ५ ॥

वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः ।
अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन् सत्यकस्तदा ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, बलदेव, सत्यक और सात्यकिने भी उस समय अभिमन्युका श्राद्ध किया ॥ ६ ॥

अतीव दुःखसंतप्ता न शमं चोपलेभिरे ।
तथैव पाण्डवा वीरा नगरे नागसाह्वये ॥ ७ ॥
नोपागच्छन्त वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः ।

वे सबके सब अत्यन्त दुःखसे संतप्त थे। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। उसी प्रकार हस्तिनापुरमें वीर पाण्डव भी अभिमन्युसे रहित होकर शान्ति नहीं पाते थे ॥ ७½ ॥

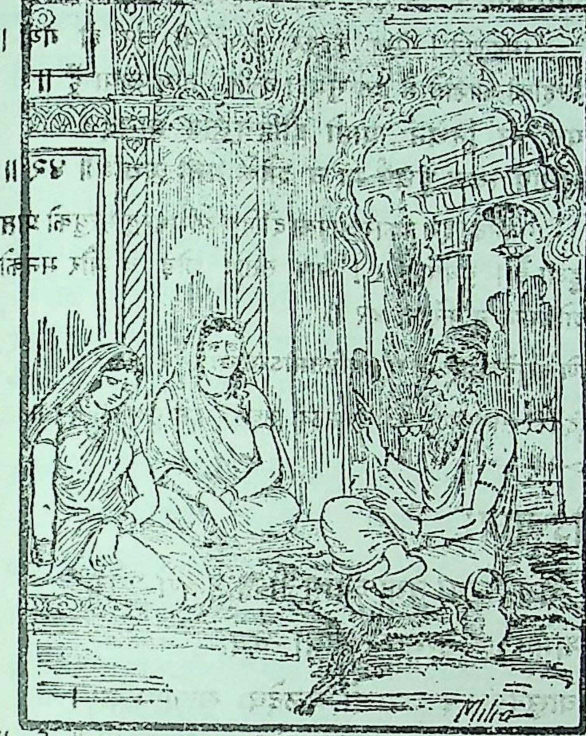
सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ॥ ८ ॥
नाभुङ्क्त पतिदुःखार्ता तदभूत् करुणं महत् ।
कुक्षिस्थ एव तस्याथ गर्भो वै सम्प्रलीयत ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! विराटकुमारी उत्तराने पतिके दुःखसे आतुर हो बहुत दिनोंतक भोजन ही नहीं किया। उसकी वह दशा बड़ी ही करुणाजनक थी। उसके गर्भका बालक उदरहीमें पड़ा-पड़ा क्षीण होने लगा ॥ ८-९ ॥

आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा ।
समागम्याब्रवीद् धीमान् पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १० ॥
उत्तरां च महातेजाः शोकः संत्यज्यतामयम् ।
भविष्यति महातेजाः पुत्रस्तव यशस्विनि ॥ ११ ॥

उसकी इस दशाको दिव्य दृष्टिसे जानकर महान् तेजस्वी बुद्धिमान् महर्षि व्यास वहाँ आये और विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती तथा उत्तरासे मिलकर उन्हें समझाते हुए इस प्रकार

बोले—'यशस्विनि उत्तरे! तुम यह शोक त्याग दो। तुम्हारा



पुत्र महातेजस्वी होगा ॥ १०-११ ॥

प्रभावाद् वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि ।
पाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ १२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे और मेरे आशीर्वादसे वह पाण्डवोंके बाद सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करेगा' ॥ १२ ॥

धनंजयं च सम्प्रेक्ष्य धर्मराजस्य शृण्वतः ।
व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत ॥ १३ ॥

भारत! तत्पश्चात् व्यासजीने धर्मराज युधिष्ठिरको सुनाते हुए अर्जुनकी ओर देखकर उनका हर्ष बढ़ाते हुए-से कहा—॥ १३ ॥

पौत्रस्तव महाभागो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्यन्तां पालयिष्यति धर्मतः ॥ १४ ॥
तस्माच्छोकं कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्शन ।
विचार्यमत्र न हि ते सत्यमेतद् भविष्यति ॥ १५ ॥

'कुरुश्रेष्ठ! तुम्हें महान् भाग्यशाली और महामनस्वी पौत्र होनेवाला है, जो समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका धर्मतः पालन करेगा; अतः शत्रुसूदन! तुम शोक त्याग दो। इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मेरा यह कथन सत्य होगा ॥ १४-१५ ॥

यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत् तथा भावि मा तेऽत्रास्तु विचारणा ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन! वृष्णिवंशके वीर पुरुष भगवान् श्रीकृष्णने पहले जो कुछ कहा है, वह सब वैसा ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

विबुधानां गतो लोकानक्षयानात्मनिर्जितान् ।
न स शोच्यस्त्वया वीरो न चान्यैः कुरुभिस्तथा ॥ १७ ॥

'वीर अभिमन्यु अपने पराक्रमसे उपार्जित किये हुए देवताओंके अक्षय लोकोंमें गया है; अतः उसके लिये तुम्हें या अन्य कुरुवंशियोंको क्षोभ नहीं करना चाहिये' ॥ १७ ॥

एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा स धनंजयः ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत् तदा ॥ १८ ॥

महाराज! अपने पितामह व्यासजीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर धर्मात्मा अर्जुनने शोक त्यागकर संतोषका आश्रय लिया ॥ १८ ॥

पितापि तव धर्मज्ञ गर्भे तस्मिन् महामते ।
अवर्धत यथाकामं शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १९ ॥

धर्मज्ञ! महामते! उस समय तुम्हारे पिता परीक्षित् शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति यथेष्ट वृद्धि पाने लगे ॥ १९ ॥

ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥

तदनन्तर व्यासजीने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आज्ञा दी और स्वयं वहाँसे अदृश्य हो गये ॥

धर्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद् वचः ।
वित्तस्यानयने तात चकार गमने मतिम् ॥ २१ ॥

तात! व्यासजीका वचन सुनकर बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने धन लानेके लिये हिमालयकी यात्रा करनेका विचार किया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णकी सान्त्वनाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अपने भाइयोंके साथ परामर्श करके सबको साथ ले धन ले आनेके लिये प्रस्थान करना

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना ।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ॥ १ ॥
रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले ।

तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा व्यासका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञके सम्बन्धमें फिर क्या किया? राजा मरुत्तने जो रत्न पृथ्वीतलपर रख छोड़ा था, उसे उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मुझे बताइये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! व्यासजीकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन सभी भाइयोंको बुलवाकर यह समयोचित वचन कहा—॥ ३½ ॥

श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदाद् यन्महात्मना ॥ ४ ॥
कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता।

'वीर बन्धुओ! कौरवोंके हितकी कामना रखनेवाले बुद्धिमान् महात्मा श्रीकृष्णने सौहार्दवश जो बात कही थी, वह सब तो तुमने सुनी ही थी ॥ ४½ ॥

तपोवृद्धेन महता सुहृदां भूतिमिच्छता ॥ ५ ॥
गुरुणा धर्मशीलेन व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
भीष्मेण च महाप्राज्ञ गोविन्देन च धीमता ॥ ६ ॥
संस्मृत्य तदहं सम्यक् कर्तुमिच्छामि पाण्डवाः।
आयत्यां च तदात्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ॥ ७ ॥

'सुहृदोंकी भलाई चाहनेवाले महान् तपोवृद्ध महात्मा, धर्मशील गुरु व्यासने, अद्भुत पराक्रमी भीष्मने तथा बुद्धिमान् गोविन्दने समय-समयपर जो सलाह दी है, उसे याद करके मैं उनके आदेशका भलीभाँति पालन करना चाहता हूँ। महाप्राज्ञ पाण्डवो! उन महात्माओंका वह वचन भविष्य और वर्तमानमें भी हम सबके लिये हितकारक है ॥ ५–७ ॥

अनुबन्धे च कल्याणं यद् वचो ब्रह्मवादिनः।
इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ॥ ८ ॥
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः।

'ब्रह्मवादी महात्मा व्यासजीका वचन परिणाममें हमारा कल्याण करनेवाला है। कौरवो! इस समय इस सारी पृथ्वीपर रत्न एवं धनका नाश हो गया है; अतः हमारी आर्थिक कठिनाई दूर करनेके लिये व्यासजीने उस दिन हमें मरुत्तके धनका पता बताया था ॥ ८½ ॥

यद्येतद् वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि ॥ ९ ॥
तथा यथाऽऽह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे।

'यदि तुमलोग उस धनको पर्याप्त समझो और उसे ले आनेकी अपनेमें सामर्थ्य देखो तो व्यासजीने जैसा कहा है, उसीके अनुसार धर्मतः उसे प्राप्त करनेका यत्न करो। अथवा भीमसेन! तुम बोलो, तुम्हारा इस सम्बन्धमें क्या विचार है?'॥

इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ॥ १० ॥
भीमसेनो नृपश्रेष्ठं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ॥ ११ ॥
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति।

कुरुकुलशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भीमसेनने हाथ जोड़कर उन नृपश्रेष्ठसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! आपने जो कुछ कहा है, व्यासजीके बताये हुए धनको लानेके विषयमें जो विचार व्यक्त किया है, वह मुझे बहुत पसंद है ॥ १०-११½ ॥

यदि तत् प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ॥ १२ ॥
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम।

'प्रभो! महाराज! यदि हमें मरुत्तका धन प्राप्त हो जाय तब तो हमारा सारा काम बन ही जाय। यही मेरा मत है ॥

ते वयं प्रणिपातेन गिरीशस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
तदानयाम भद्रं ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम्।

'आपका कल्याण हो। हम महात्मा गिरीशके चरणोंमें प्रणाम करके उन जटाजूटधारी महेश्वरकी सम्यक् आराधना करके उस धनको ले आवें ॥ १३½ ॥

तद् वित्तं देवदेवेशं तस्यैवानुचरांश्च तान् ॥ १४ ॥
प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धिकर्मभिः।

'हम बुद्धि, वाणी और क्रियाद्वारा आराधनापूर्वक देवाधिदेव महादेव तथा उनके अनुचरोंको प्रसन्न करके निश्चय ही उस धनको प्राप्त कर लेंगे ॥ १४½ ॥

रक्षन्ते ये च तद् द्रव्यं किंनरा रौद्रदर्शनाः ॥ १५ ॥
ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे।

'जो रौद्ररूपधारी किन्नर उस धनकी रक्षा करते हैं, वे भी भगवान् शङ्करके प्रसन्न होनेपर हमारे अधीन हो जायँगे ॥

(स हि देवः प्रसन्नात्मा भक्तानां परमेश्वरः।
ददात्यमरतां चापि किं पुनः काञ्चनं प्रभुः ॥

'सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले वे सर्वसमर्थ परमेश्वर महादेव अपने भक्तोंको अमरत्व भी दे देते हैं; फिर सुवर्णकी तो बात ही क्या? ॥

वनस्थस्य पुरा जिष्णोरस्त्रं पाशुपतं महत्।
रौद्रं ब्रह्मशिरश्चादात् प्रसन्नः किं पुनर्धनम् ॥

'पूर्वकालमें वनमें रहते समय अर्जुनपर प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने उन्हें महान् पाशुपतास्त्र, रौद्रास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र भी प्रदान किये थे। फिर धन दे देना उनके लिये कौन बड़ी बात है ॥

वयं सर्वे च तद्भक्ताः स चास्माकं प्रसीदति ।
तत्प्रसादाद् वयं राज्यं प्राप्ताः कौरवनन्दन ॥
अभिमन्योर्वधे वृत्ते प्रतिज्ञाते धनंजये ।
जयद्रथवधार्थाय स्वप्ने लोकगुरुं निशि ॥
प्रसाद्य लब्धवानस्त्रमर्जुनः सहकेशवः ।

'कौरवनन्दन ! हम सब लोग उनके भक्त हैं और वे हम लोगोंपर प्रसन्न रहते हैं। उन्हींकी कृपासे हमने राज्य प्राप्त किया है। अभिमन्युका वध हो जानेपर जब अर्जुनने जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उस समय स्वप्नमें अर्जुनने श्रीकृष्ण-के साथ रहकर रातमें उन्हीं लोकगुरु महेश्वरको प्रसन्न करके दिव्यास्त्र प्राप्त किया था ॥

ततः प्रभातां रजनीं फाल्गुनस्याग्रतः प्रभुः ॥
जघान सैन्यं शूलेन प्रत्यक्षं सव्यसाचिनः ।

'तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब भगवान् शिवने अर्जुनके आगे रहकर अपने त्रिशूलसे शत्रुओं-की सेनाका संहार किया था। यह बात अर्जुनने प्रत्यक्ष देखी थी॥

कस्तां सेनां महाराज मनसापि प्रधर्षयेत् ॥
द्रोणकर्णमुखैर्युक्तां महेष्वासैः प्रहारिभिः ।
ऋते देवान्महेष्वासाद् बहुरूपान्महेश्वरात् ॥

'महाराज ! द्रोणाचार्य और कर्ण-जैसे प्रहारकुशल महा-धनुर्धरोंसे युक्त उस कौरवसेनाको महान् पाशुपतधारी अनेक रूपवाले महेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन मनसे भी पराजित कर सकता था ॥

तस्यैव च प्रसादेन निहताः शत्रवस्तव ।
अश्वमेधस्य संसिद्धिं स तु सम्पादयिष्यति ॥)

'उन्हींके कृपाप्रसादसे आपके शत्रु मारे गये हैं। वे ही अश्वमेध यज्ञको सफलतापूर्वक सम्पन्न करेंगे' ॥

श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ॥ १६ ॥
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत ।
अर्जुनप्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन् वचः ॥ १७ ॥

भारत ! भीमसेनका यह कथन सुनकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन आदिने भी बहुत ठीक कहकर उन्हींकी बातका समर्थन किया ॥ १६-१७ ॥

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥ १८ ॥

इस प्रकार समस्त पाण्डवोंने रत्न लानेका निश्चय करके ध्रुवसं[1]ज्ञक नक्षत्र एवं दिनमें सेनाको यात्राके लिये तैयार होने-की आज्ञा दी ॥ १८ ॥

ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
अर्चयित्वा सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ॥ १९ ॥
मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च ।
आशास्य च महात्मानं प्रययुर्मुदिता भृशम् ॥ २० ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर सुरश्रेष्ठ महेश्वरकी पहले ही पूजा करके मिष्टान्न, खीर, पूआ तथा फलके गूदोंसे उन महेश्वरको तृप्त करके उनका आशीर्वाद ले समस्त पाण्डवोंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यात्रा प्रारम्भ की ॥ १९-२० ॥

तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ ।
प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्या नागराश्च ते ॥ २१ ॥

जब वे यात्राके लिये उद्यत हुए, उस समय समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों और नागरिकोंने प्रसन्नचित्त होकर उनके लिये शुभ मङ्गल-पाठ किया ॥ २१ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्निसहित ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर वहाँसे प्रस्थान किया ॥२२॥

समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम् ।
धृतराष्ट्रं सभार्यं वै पृथां च पृथुलोचनाम् ॥ २३ ॥

प्रस्थानके पूर्व उन्होंने पुत्रशोकसे व्याकुल राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी देवी तथा विशाललोचना कुन्तीसे आज्ञा ले ली थी॥

मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सुं धृतराष्ट्रजम् ।
सम्पूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ॥ २४ ॥
(प्रययुः पाण्डवा वीरा नियमस्थाः शुचिव्रताः ।)

अपने कुलके मूलभूत धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके समीप उनकी रक्षाके लिये कुरुवंशी धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको नियुक्त करके मनीषी ब्राह्मणों और पुरवासियोंसे पूजित होते हुए वीर पाण्डवोंने वहाँसे प्रस्थान किया। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करते हुए शौच, संतोष आदि नियमोंमें दृढ़ता-पूर्वक स्थित थे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

---

१. ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तीनों उत्तरा तथा रोहिणी—ये ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र हैं। दिनोंमें रविवारको ध्रुव बताया गया है। उत्तरा और रविवारका संयोग होनेपर अमृतसिद्धि नामक योग होता है; अतः इसी योगमें पाण्डवोंके प्रस्थान करनेका अनुमान किया जा सकता है।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हिमालयपर पहुँचकर वहाँ पड़ाव डालना और रातमें उपवासपूर्वक निवास करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
रथघोषेण महता पूरयन्तो वसुंधराम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके साथ जो मनुष्य और वाहन थे, वे सब-के-सब बड़े हर्षसे भरे हुए थे। वे स्वयं भी अपने रथके महान् घोषसे इस पृथ्वीको गुँजाते हुए प्रसन्नतापूर्वक यात्रा कर रहे थे ॥ १ ॥

संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।
स्वेन सैन्येन संवीता यथादित्याः स्वरश्मिभिः ॥ २ ॥

सूत, मागध और वन्दीजन अनेक प्रकारके प्रशंसासूचक वचनोंद्वारा उनके गुण गाते चलते थे। अपनी सेनासे घिरे हुए पाण्डव ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपनी किरणमालाओंसे मण्डित सूर्य प्रकाशित हो रहे हों ॥ २ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे वहाँ पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे॥

जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावत् पुरुषर्षभः ॥ ४ ॥

मार्गमें बहुत-से मनुष्य प्रसन्न होकर राजा युधिष्ठिरको विजयसूचक आशीर्वाद देते थे और वे पुरुषशिरोमणि नरेश यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन यथार्थ वचनोंको ग्रहण करते थे ॥ ४ ॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत ॥ ५ ॥

राजन् ! राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जो बहुत-से सैनिक चल रहे थे, उनका महान् कोलाहल आकाशको स्तब्ध करके गूँज उठता था ॥ ५ ॥

सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च ।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥ ६ ॥
तस्मिन् देशे च राजेन्द्र यत्र तद् द्रव्यमुत्तमम् ।

राजन् ! अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों, उपवनों तथा पर्वतको लाँघकर महाराज युधिष्ठिर उस स्थानमें जा पहुँचे, जहाँ वह (राजा मरुत्तका रक्खा हुआ) उत्तम द्रव्य संचित था ॥ ६½ ॥

चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः ।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ॥ ७ ॥
अग्रतो ब्राह्मणान् कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान् ।
पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम् ।
आग्निवेश्यं च राजानो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ॥ ८ ॥
कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वशः पर्यवारयन् ।
कृत्वा तु मध्ये राजानममात्यांश्च यथाविधि ॥ ९ ॥

कुरुवंशी भरतश्रेष्ठ ! वहाँ एक समतल एवं सुखद स्थानमें पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने तप, विद्या और इन्द्रिय-संयमसे युक्त ब्राह्मणों एवं वेद-वेदाङ्गके पारगामी विद्वान् राजपुरोहित धौम्यमुनिको आगे रखकर सैनिकोंके साथ पड़ाव डाला। बहुत-से राजा, ब्राह्मण और पुरोहितने यथोचित रीतिसे शान्ति-कर्म करके युधिष्ठिर और उनके मन्त्रियोंको विधिपूर्वक बीचमें रखकर उन्हें सब ओरसे घेर रखा था ॥ ७-९ ॥

षट्पदं नवसंख्यानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः ।
मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशं च यथाविधि ॥ १० ॥
कारयित्वा स राजेन्द्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।

ब्राह्मणोंने जो छावनी वहाँ बनायी थी, उसमें पूर्वसे पश्चिमको और उत्तरसे दक्षिणको जानेवाली तीन तीनके क्रमसे कुल छः सड़कें थीं तथा उस छावनीके नौ खण्ड थे। महाराज युधिष्ठिरने मतवाले गजराजोंके रहनेके लिये भी स्थानका विधिवत् निर्माण कराकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—॥ १०½ ॥

अस्मिन् कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे ॥ ११ ॥
यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हन्ति तत् तथा ।
न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम् ॥ १२ ॥
इति निश्चित्य विप्रेन्द्राः क्रियतां यदनन्तरम् ।

'विप्रवरो ! किसी शुभ नक्षत्र और शुभ दिनको इस कार्यकी सिद्धिके लिये आपलोग जो भी ठीक समझें, वह उपाय करें। ऐसा न हो कि यहीं लटके रहकर हमारा बहुत अधिक समय व्यतीत हो जाय। द्विजेन्द्रगण ! इस विषयमें कुछ निश्चय करके इस समय जो करना उचित हो, उसे आप लोग अविलम्ब करें' ॥ ११-१२½ ॥

श्रुत्वैतद् वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।
इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः ॥ १३ ॥

धर्मराज राजा युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले ब्राह्मण और पुरोहित प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १३ ॥

अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं
यतामहे श्रेष्ठतमक्रियासु ।
अम्भोभिरद्येह वसाम राज-
न्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य ॥ १४ ॥

'राजन्! आज ही परम पवित्र नक्षत्र और शुभ दिन है; अतः आज ही हम श्रेष्ठतम कर्म करनेका प्रयत्न आरम्भ करते हैं। हमलोग तो आज केवल जल पीकर रहेंगे और आपलोगोंको भी आज उपवास करना चाहिये' ॥ १४ ॥

श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां
कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः।
ऊषुः प्रतीताः कुशसंस्तरेषु
यथाध्वरे प्रज्वलिता हुताशाः ॥ १५ ॥

उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका यह वचन सुनकर समस्त पाण्डव रातमें उपवास करके कुशकी चटाइयोंपर निर्भय होकर सोये। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो यज्ञमण्डपमें पाँच वेदियोंपर स्थापित पाँच अग्नि प्रज्वलित हो रहे हों ॥ १५ ॥

ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां
संश्रृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः।
ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा
वचोऽब्रुवन् धर्मसुतं नराधिपम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंकी कही हुई बातें सुनते हुए महात्मा पाण्डवोंकी वह रात सकुशल व्यतीत हुई। फिर निर्मल प्रभातका उदय होनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंकी आज्ञासे भगवान् शिव और उनके पार्षद आदिकी पूजा करके युधिष्ठिरका उस धनराशिको खुदवाकर अपने साथ ले जाना

ब्राह्मणा ऊचुः

क्रियतामुपहारोऽद्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः।
दत्त्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थे यतामहे ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोले—नरेश्वर! अब आप परमात्मा भगवान् शङ्करको पूजा चढ़ाइये। पूजा चढ़ानेके बाद हमें अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः।
गिरीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत् ॥ २ ॥

उन ब्राह्मणोंकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिरने भगवान् शङ्करको विधिपूर्वक नैवेद्य अर्पण किया ॥ २ ॥

आज्येन तर्पयित्वाग्निं विधिवत्संस्कृतेन च।
मन्त्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः स ययौ तदा ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् उनके पुरोहितने विधिपूर्वक संस्कार किये हुए घृतके द्वारा अग्निदेवको तृप्त करके मन्त्रसिद्ध चरु तैयार किया और भेंट अर्पित करनेके लिये वे देवताके समीप गये॥

स गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाधिप।
मोदकैः पायसेनाथ मांसैश्चोपाहरद् बलिम् ॥ ४ ॥
सुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि।

जनेश्वर! उन्होंने मन्त्रपूत पुष्प लेकर मिठाई, खीर, फलके गूदे, विचित्र पुष्प, लावा (खील) तथा अन्य नाना प्रकारकी वस्तुओंद्वारा उपहार समर्पित किया ॥ ४½ ॥

सर्वं स्विष्टतमं कृत्वा विधिवद् वेदपारगः ॥ ५ ॥
किंकराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम्।

वेदोंके पारंगत विद्वान् पुरोहितने विधिपूर्वक देवताको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले समस्त कर्म करके फिर भगवान् शिवके पार्षदोंको उत्तम बलि (भेंट-पूजा) चढ़ायी ॥ ५½ ॥

यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ॥ ६ ॥
तथान्येषां च यक्षाणां भूतानां पतयश्च ये।
कृसरेण च मांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ॥ ७ ॥

इसके बाद यक्षराज कुबेरको, मणिभद्रको, अन्यान्य यक्षोंको और भूतोंके अधिपतियोंको खिचड़ी, फलके गूदे तथा तिलमिश्रित जलकी अञ्जलियाँ निवेदन करके उनकी पूजा सम्पन्न की ॥ ६-७ ॥

ओदनं कुम्भशः कृत्वा पुरोधाः समुपाहरत्।
ब्राह्मणेभ्यः सहस्राणि गवां दत्त्वा तु भूमिपः ॥ ८ ॥
नक्तंचराणां भूतानां व्यादिदेश बलिं तदा।

तदनन्तर पुरोहितने घड़ोंमें भात भरकर बलि अर्पित की। इसके बाद भूपालने ब्राह्मणोंको सहस्रों गौएँ देकर निशाचारी भूतोंको भी बलि भेंट की ॥ ८½ ॥

धूपगन्धनिरुद्धं तत् सुमनोभिश्च संवृतम् ॥ ९ ॥
शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव।

पृथ्वीनाथ! देवाधिदेव महादेवजीका वह स्थान धूपोंकी सुगन्धसे व्याप्त और फूलोंसे अलंकृत होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ९½ ॥

कृत्वा पूजां तु रुद्रस्य गणानां चैव सर्वशः ॥ १० ॥
ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति।

भगवान् शिव और उनके पार्षदोंकी सब प्रकारसे पूजा करके महर्षि व्यासको आगे किये राजा युधिष्ठिर उस स्थानको गये, जहाँ वह रत्न एवं सुवर्णकी राशि संचित थी ॥ १०½ ॥

पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ॥ ११ ॥
सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च ।
शङ्खादींश्च निधीन् सर्वान् निधिपालांश्च सर्वशः ॥ १२ ॥
अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ।
तेषां पुण्याहघोषेण तेजसा समवस्थितः ॥ १३ ॥
प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद् धनम् ।

वहाँ उन्होंने नाना प्रकारके विचित्र फूल, मालपूआ तथा खिचड़ी आदिके द्वारा धनपति कुबेरकी पूजा करके उन्हें प्रणाम-अभिवादन किया। तत्पश्चात् उन्हीं सामग्रियोंसे शङ्ख आदि निधियों तथा समस्त निधिपालोंका पूजन करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा की। फिर उनसे स्वस्तिवाचन कराकर उन ब्राह्मणोंके पुण्याहघोषसे तेजस्वी हुए शक्तिशाली कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस धनको खुदवाने लगे ॥

ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः ॥ १४ ॥
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ।
बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ॥ १५ ॥

कुछ ही देरमें अनेक प्रकारके विचित्र, मनोरम एवं बहुसंख्यक सहस्रों सुवर्णमय पात्र निकल आये। कठौते, सुराही, गडुआ, कड़ाह, कलश तथा कटोरे-सभी तरहके बर्तन उपलब्ध हुए ॥ १४-१५ ॥

उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
तेषां रक्षणमप्यासीन्महान् करपुटस्तथा ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने उस समय उन सब बर्तनोंको भूमि खोदकर निकलवाया। उन्हें रखनेके लिये बड़ी-बड़ी संदूकें लायी गयी थीं ॥ १६ ॥

नद्धं च भाजनं राजंस्तुलार्धमभवन्नृप ।
वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत् तु विशाम्पते ॥ १७ ॥

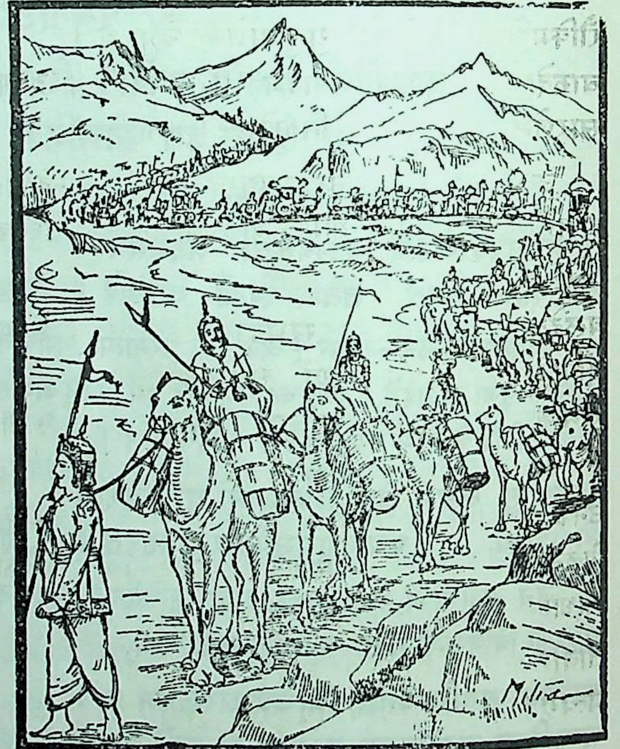
राजन्! एक-एक संदूकमें बंद किये हुए बर्तनोंका बोझ आधा-आधा भार होता था। प्रजानाथ! उन सबको ढोनेके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके वाहन भी वहाँ उपस्थित थे ॥ १७ ॥

षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः ।
वारणाश्च महाराज सहस्रशतसम्मिताः ॥ १८ ॥
शकटानि रथाश्चैव तावदेव करेणवः ।
खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते ॥ १९ ॥

महाराज! साठ हजार ऊँट, एक करोड़ बीस लाख घोड़े, एक लाख हाथी, एक लाख रथ, एक लाख छकड़े और उतनी ही हथिनियाँ थीं। गधों और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं थी ॥ १८-१९ ॥

एतद् वित्तं तदभवद् यदुद्दध्रे युधिष्ठिरः ।
षोडशाष्टौ चतुर्विंशत्सहस्रं भारलक्षणम् ॥ २० ॥
एतेष्वादाय तद् द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः ।
महादेवं प्रति ययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ॥ २१ ॥
द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।

युधिष्ठिरने वहाँ जितना धन खुदवाया था, वह सोलह करोड़ आठ लाख और चौबीस हजार भार सुवर्ण था। उन्होंने उपर्युक्त सब वाहनोंपर धन लदवाकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने पुनः महादेवजीका पूजन किया और व्यासजीकी आज्ञा लेकर पुरोहित धौम्यमुनिको आगे करके हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ २०-२१½ ॥



गोयुते गोयुते चैव न्यवसत् पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥
सा पुराभिमुखा राजन्नुवाह महती चमूः ।
कृच्छ्राद् द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ॥ २३ ॥

राजन्! वे वाहनोंपर बोझ अधिक होनेके कारण दो-दो कोसपर मुकाम देते जाते थे। द्रव्यके भारसे कष्ट पाती हुई वह विशाल सेना उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका हर्ष बढ़ाती हुई बड़ी कठिनाईसे नगरकी ओर उस धनको ले जा रही थी ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्यका आनयनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरमें आगमन और उत्तराके मृत बालकको जिलानेके लिये कुन्तीकी उनसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान्।
उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर हस्तिनापुर आ गये॥ १॥

समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति॥ २॥

उनके द्वारका जाते समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जैसी बात कही थी, उसके अनुसार अश्वमेध यज्ञका समय निकट जानकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहले ही उपस्थित हो गये॥ २॥

रौक्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव ह।
चारुदेष्णेन साम्बेन गदेन कृतवर्मणा॥ ३॥
सारणेन च वीरेण निशठेनोल्मुकेन च।

उनके साथ रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, गद, कृतवर्मा, सारण, वीर निशठ और उल्मुक भी थे॥ ३½॥

बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा॥ ४॥
द्रौपदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवलोककः।
समाश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः॥ ५॥

वे बलदेवजीको आगे करके सुभद्राके साथ पधारे थे। उनके शुभागमनका उद्देश्य था द्रौपदी, उत्तरा और कुन्तीसे मिलना तथा जिनके पति मारे गये थे, उन सभी क्षत्राणियोंको आश्वासन देना—धीरज बँधाना॥ ४-५॥

तानागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं विदुरश्च महामनाः॥ ६॥

उनके आगमनका समाचार सुनते ही राजा धृतराष्ट्र और महामना विदुरजी खड़े हो गये और आगे बढ़कर उन्होंने उन सबका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया॥ ६॥

तत्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना॥ ७॥

विदुर और युयुत्सुसे भलीभाँति पूजित हो महातेजस्वी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वहीं रहने लगे॥ ७॥

वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय।
जज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा॥ ८॥

जनमेजय! उन वृष्णिवीरोंके वहाँ निवास करते समय ही तुम्हारे पिता शत्रुवीरहन्ता परीक्षित्‌का जन्म हुआ था॥

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः॥ ९॥

महाराज! वे राजा परीक्षित् ब्रह्मास्त्रसे पीडित होनेके कारण चेष्टाहीन मुर्देके रूपमें उत्पन्न हुए, अतः स्वजनोंका हर्ष और शोक बढ़ानेवाले हो गये थे*॥ ९॥

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत्॥ १०॥

पहले पुत्र-जन्मका समाचार सुनकर हर्षमें भरे हुए लोगोंके सिंहनादसे एक महान् कोलाहल सुनायी पड़ा, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रविष्ट हो पुनः शान्त हो गया॥ १०॥

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः॥ ११॥

इससे भगवान् श्रीकृष्णके मन और इन्द्रियोंमें व्यथा-सी उत्पन्न हो गयी। वे सात्यकिको साथ ले बड़ी उतावलीसे अन्तःपुरमें जा पहुँचे॥ ११॥

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम्।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः॥ १२॥

वहाँ उन्होंने अपनी बुआ कुन्तीको बड़े वेगसे आती देखा, जो बारंबार उन्हींका नाम लेकर 'वासुदेव! दौड़ो-दौड़ो' की पुकार मचा रही थी॥ १२॥

पृष्ठतो द्रौपदी चैव सुभद्रां च यशस्विनीम्।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप॥ १३॥

राजन्! उनके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियाँ भी थीं, जो बड़े करुणस्वरसे बिलख-बिलखकर रो रही थीं॥ १३॥

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा॥ १४॥

नृपश्रेष्ठ! उस समय श्रीकृष्णके निकट पहुँचकर कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें बोली—॥ १४॥

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम्॥ १५॥

'महाबाहु वसुदेव-नन्दन! तुम्हें पाकर ही तुम्हारी माता देवकी उत्तम पुत्रवाली मानी जाती हैं। तुम्हीं हमारे अवलम्ब

* पहले तो पुत्र-जन्मके समाचारसे सबको अपार हर्ष हुआ; किंतु उनमें जीवनका कोई चिह्न न देखकर तत्काल शोकका समुद्र उमड़ पड़ा।

और तुम्हीं हमलोगोंके आधार हो। इस कुलकी रक्षा तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥ १६ ॥

'यदुवीर! प्रभो! यह जो तुम्हारे भानजे अभिमन्युका बालक है, अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरा हुआ ही उत्पन्न हुआ है। केशव! इसे जीवन-दान दो ॥ १६ ॥

त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥ १७ ॥

'यदुनन्दन! प्रभो! अश्वत्थामाने जब सींकके बाणका प्रयोग किया था, उस समय तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तराके मरे हुए बालकको भी जीवित कर दूँगा ॥ १७ ॥

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥ १८ ॥

'तात! वही यह बालक है, जो मरा हुआ ही पैदा हुआ है। पुरुषोत्तम! इसपर अपनी कृपादृष्टि डालो। माधव! इसे जीवित करके ही उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी सहित मेरी रक्षा करो ॥ १८ ॥

धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान् नस्त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'दुर्धर्ष वीर! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी भी रक्षा करो। तुम हम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करने योग्य हो ॥ १९ ॥

अस्मिन् प्राणाः समायत्ताः पाण्डवानां ममैव च।
पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ॥ २० ॥

'मेरे और पाण्डवोंके प्राण इस बालकके ही अधीन हैं। दशार्हकुलनन्दन! मेरे पति पाण्डु तथा श्वशुर विचित्रवीर्यके पिण्डका भी यही सहारा है ॥ २० ॥

अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च।
प्रियमुत्पादयाद्य त्वं प्रेतस्यापि जनार्दन ॥ २१ ॥

'जनार्दन! तुम्हारा कल्याण हो। जो तुम्हें अत्यन्त प्रिय और तुम्हारे ही समान परम सुन्दर था, उस परलोकवासी अभिमन्युका भी प्रिय करो—उसके इस बालकको जिला दो ॥ २१ ॥

उत्तरा हि पुरोक्तं वै कथयत्यरिसूदन।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात् तन्न संशयः ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन श्रीकृष्ण! मेरी बहूरानी उत्तरा अभिमन्युकी पहलेकी कही हुई एक बात अत्यन्त प्रिय होनेके कारण बार-बार दुहराया करती है। उस बातकी यथार्थतामें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ २२ ॥

अब्रवीत् किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिस्तदा।
मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो गमिष्यति ॥ २३ ॥
गत्वा वृष्ण्यन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रं च केवलम् ॥ २४ ॥

'दाशार्ह! अभिमन्युने उत्तरासे कभी स्नेहवश कहा था—''कल्याणी! तुम्हारा पुत्र मेरे मामाके यहाँ जायगा—वृष्णि एवं अन्धकोंके कुलमें जाकर धनुर्वेद, नाना प्रकारके विचित्र अस्त्र-शस्त्र तथा विशुद्ध नीतिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करेगा'' ॥ २३-२४ ॥

इत्येतत् प्रणयात् तात सौभद्रः परवीरहा।
कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न संशयः ॥ २५ ॥

'तात! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्धर्ष वीर सुभद्राकुमारने जो प्रेमपूर्वक यह बात कही थी, यह निस्संदेह सत्य होनी चाहिये ॥ २५ ॥

तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन।
कुलस्यास्य हितार्थं त्वं कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ २६ ॥

'मधुसूदन! इस कुलकी भलाईके लिये हम सब लोग तुम्हारे पैरों पड़कर भीख माँगती हैं, इस बालकको जिलाकर तुम कुरुकुलका सर्वोत्तम कल्याण करो' ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर विशाललोचना कुन्ती दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आर्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ी। दूसरी स्त्रियोंकी भी यही दशा हुई ॥ २७ ॥

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥ २८ ॥

समर्थ महाराज! उन सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे सभी रो-रोकर कह रही थीं कि 'हाय! श्रीकृष्णके भानजेका बालक मरा हुआ पैदा हुआ' ॥ २८ ॥

एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥ २९ ॥

भरतनन्दन! उन सबके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको सहारा देकर बैठाया और पृथ्वीपर पड़ी हुई अपनी बुआको वे सान्त्वना देने लगे ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षिज्जन्मकथने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परीक्षित्‌के जन्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

परीक्षित्‌को जिलानेके लिये सुभद्राकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीदेवीके बैठ जानेपर सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्णकी ओर देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और दुःखसे आर्त होकर यों बोली—॥

पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम्॥ २॥

'भैया कमलनयन! तुम अपने सखा बुद्धिमान् पार्थके इस पौत्रकी दशा तो देखो। कौरवोंके नष्ट हो जानेपर इसका जन्म हुआ; परंतु यह भी गतायु होकर नष्ट हो गया॥ २॥

इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता।
सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह॥ ३॥

'द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने भीमसेनको मारनेके लिये जो सींकका बाण उठाया था, वह उत्तरापर, तुम्हारे सखा विजयपर और मुझपर गिरा है॥ ३॥

सेयं विदीर्णे हृदये मयि तिष्ठति केशव।
यन्न पश्यामि दुर्धर्ष सहपुत्रं तु तं प्रभो॥ ४॥

'दुर्धर्ष वीर केशव! प्रभो! वह सींक मेरे इस विदीर्ण हुए हृदयमें आज भी कसक रही है; क्योंकि इस समय मैं पुत्रसहित अभिमन्युको नहीं देख पाती हूँ॥ ४॥

किं नु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ॥ ५॥
श्रुत्वाभिमन्योस्तनयं जातं च मृतमेव च।
मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः॥ ६॥

'अभिमन्युका बेटा जन्म लेनेके साथ ही मर गया—इस बातको सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर क्या कहेंगे? भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव भी क्या सोचेंगे? श्रीकृष्ण! आज द्रोणपुत्रने पाण्डवोंका सर्वस्व लूट लिया॥

अभिमन्युः प्रियः कृष्ण भ्रातॄणां नात्र संशयः।
ते श्रुत्वा किं नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्जिताः॥ ७॥

'श्रीकृष्ण! अभिमन्यु पाँचों भाइयोंको अत्यन्त प्रिय था—इसमें संशय नहीं है। उसके पुत्रकी यह दशा सुनकर अश्वत्थामाके अस्त्रसे पराजित हुए पाण्डव क्या कहेंगे?॥७॥

भविताऽतः परं दुःखं किं तदन्यज्जनार्दन।
अभिमन्योः सुतात् कृष्ण मृताज्जातादरिंदम॥ ८॥

'शत्रुसूदन! जनार्दन! श्रीकृष्ण! अभिमन्यु-जैसे वीरका पुत्र मरा हुआ पैदा हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है?॥ ८॥

साहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसा नता।
पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम॥ ९॥

'पुरुषोत्तम! श्रीकृष्ण! आज मैं तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ। बूआ कुन्ती और बहिन द्रौपदी भी तुम्हारे पैरोंपर पड़ी हुई हैं। इन सबकी ओर देखो॥ ९॥

यदा द्रोणसुतो गर्भान् पाण्डूनां हन्ति माधव।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन॥ १०॥

'शत्रुमर्दन माधव! जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवोंके गर्भको भी हत्या करनेका प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने कुपित होकर उससे कहा था॥ १०॥

अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम्॥ ११॥

'ब्रह्मबन्धो! नराधम! मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा। अर्जुनके पौत्रको अपने प्रभावसे जीवित कर दूँगा॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा जानानाहं बलं तव।
प्रसादये त्वां दुर्धर्ष जीवतामभिमन्युजः॥ १२॥

'भैया! तुम दुर्धर्ष वीर हो। मैं तुम्हारी उस बातको सुनकर तुम्हारे बलको अच्छी तरह जानती हूँ। इसीलिये तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ। तुम्हारे कृपा-प्रसादसे अभिमन्युका यह पुत्र जीवित हो जाय॥ १२॥

यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम्।
सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय॥ १३॥

'वृष्णिवंशके सिंह! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने मङ्गलमय वचनका पूर्णतः पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो, सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी—मैं अपने प्राण दे दूँगी॥१३॥

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम्।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया॥ १४॥

'दुर्धर्ष वीर! यदि तुम्हारे जीते-जी अभिमन्युके इस बालकको जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे॥

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम्।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः॥ १५॥

'अजेय वीर! जैसे बादल पानी बरसाकर सूखी खेतीको भी हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार तुम अपने ही समान नेत्रवाले अभिमन्युके इस मरे हुए पुत्रको जीवित कर दो॥

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिंदम ॥ १६ ॥

'शत्रुदमन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्य-पराक्रमी हो; अतः तुम्हें अपनी कही हुई बातको सत्य कर दिखाना चाहिये ॥ १६ ॥

इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीन् जीवयेथा मृतानिमान् ।
किं पुनर्दयितं जातं स्वस्रीयस्यात्मजं मृतम् ॥ १७ ॥

'तुम चाहो तो मृत्युके मुखमें पड़े हुए तीनों लोकोंको जिला सकते हो, फिर अपने भानजेके इस प्यारे पुत्रको, जो मर चुका है, जीवित करना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है ॥

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात् त्वां याचयाम्यहम् ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारे प्रभावको जानती हूँ । इसीलिये तुमसे याचना करती हूँ । इस बालकको जीवनदान देकर तुम पाण्डवोंपर यह महान् अनुग्रह करो ॥ १८ ॥

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ॥ १९ ॥

'महाबाहो ! तुम यह समझकर कि यह मेरी बहिन है अथवा जिसका बेटा मारा गया है, वह दुखिया है, अथवा शरणमें आयी हुई एक दयनीय अबला है, मुझपर दया करने योग्य हो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सुभद्रावाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सुभद्राका वचनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रसूतिकागृहमें प्रवेश, उत्तराका विलाप और अपने पुत्रको जीवित करनेके लिये प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! सुभद्राके ऐसा कहनेपर केशिहन्ता केशव दुःखसे व्याकुल हो उसे प्रसन्न करते हुए-से उच्चस्वरमें बोले—'बहिन ! ऐसा ही होगा' ॥१॥

वाक्येनैतेन हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः ।
ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्तं सलिलैरिव ॥ २ ॥

जैसे धूपसे तपे हुए मनुष्यको जलसे नहला देनेपर बड़ी शान्ति मिल जाती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण-ने इस अमृतमय वचनके द्वारा सुभद्रा तथा अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंको महान् आह्लाद प्रदान किया ॥ २ ॥

ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥ ३ ॥

पुरुषसिंह ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही तुम्हारे पिताके जन्मस्थान—सूतिकागारमें गये; जो सफेद फूलोंकी मालाओंसे विधिपूर्वक सजाया गया था ॥ ३ ॥

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ॥ ४ ॥

महाबाहो ! उसके चारों ओर जलसे भरे हुए कलश रखे गये थे । घीसे तर किये हुए तेन्दुक नामक काष्ठके कई टुकड़े जल रहे थे तथा यत्र-तत्र सरसों बिखेरी गयी थी ॥ ४ ॥

अस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः ।
वृद्धाभिश्चापि रामाभिः परिचारार्थमावृतम् ॥ ५ ॥

दक्षैश्च परितो धीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा ।

धैर्यशाली राजन् ! उस घरके चारों ओर चमकते हुए तेज हथियार रखे गये थे और सब ओर आग प्रज्वलित की गयी थी । सेवाके लिये उपस्थित हुई बूढ़ी स्त्रियोंने उस स्थानको घेर रक्खा था तथा अपने-अपने कार्यमें कुशल चतुर चिकित्सक भी चारों ओर मौजूद थे ॥ ५½ ॥

ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ॥ ६ ॥
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः ।

तेजस्वी श्रीकृष्णने देखा कि व्यवस्थाकुशल मनुष्योंद्वारा वहाँ सब ओर राक्षसोंका निवारण करनेवाली नाना प्रकारकी वस्तुएँ विधिपूर्वक रखी गयी थीं ॥ ६½ ॥

तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ॥ ७ ॥
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ।

तुम्हारे पिताके जन्मस्थानको इस प्रकार आवश्यक वस्तुओंसे सुसज्जित देख भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा' कहकर उस प्रबन्धकी प्रशंसा करने लगे ॥

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा ॥ ८ ॥
द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत् ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमुख होकर उसकी सराहना कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी बड़ी तेजीके साथ उत्तराके पास गयी और बोली—॥ ८½ ॥

अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ॥ ९ ॥
पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः ।

'कल्याणी ! यह देखो, तुम्हारे श्वशुरतुल्य, अचिन्त्य-

स्वरूप, किसीसे पराजित न होनेवाले, पुरातन ऋषि भगवान् मधुसूदन तुम्हारे पास आ रहे हैं' ॥ ९½ ॥

सापि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह ॥ १० ॥
सुसंवीताभवद् देवी देववत् कृष्णमीयुषी ।
सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ।

यह सुनकर उत्तराने अपने आँसुओंको रोककर रोना बंद कर दिया और अपने सारे शरीरको वस्त्रोंसे ढक लिया। श्रीकृष्णके प्रति उसकी भगवद्बुद्धि थी; इसलिये उन्हें आते देख वह तपस्विनी बाला व्यथित हृदयसे करुणविलाप करती हुई गद्गदकण्ठसे इस प्रकार बोली—॥ १०-११½ ॥

पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ॥ १२ ॥

'कमलनयन ! जनार्दन ! देखिये, आज मैं और मेरे पति दोनों ही संतानहीन हो गये। आर्यपुत्र तो युद्धमें वीर-गतिको प्राप्त हुए हैं; परंतु मैं पुत्रशोकसे मारी गयी। इस प्रकार हम दोनों समान रूपसे ही कालके ग्रास बन गये ॥ १२ ॥

वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥ १३ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वीर मधुसूदन ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपका कृपाप्रसाद प्राप्त करना चाहती हूँ। द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध हुए मेरे इस पुत्रको जीवित कर दीजिये ॥ १३ ॥

यदि स्म धर्मराज्ञा वा भीमसेनेन वा पुनः ।
त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ॥ १४ ॥
अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो ।
अहमेव विनष्टा स्यां नैतदेवंगते भवेत् ॥ १५ ॥

'प्रभो ! पुण्डरीकाक्ष ! यदि धर्मराज अथवा आर्य भीमसेन या आपने ही ऐसा कह दिया होता कि यह सींक इस बालकको न मारकर इसकी अनजान माताको ही मार डाले, तब केवल मैं ही नष्ट हुई होती। उस दशामें यह अनर्थ नहीं होता ॥ १४-१५ ॥

गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् ।
कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ॥ १६ ॥

'हाय ! इस गर्भके बालकको ब्रह्मास्त्रसे मार डालनेका क्रूरतापूर्ण कर्म करके दुर्बुद्धि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा कौन-सा फल पा रहा है ॥ १६ ॥

सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ॥ १७ ॥

'गोविन्द ! आप शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करके आपसे इस बालकके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। यदि यह जीवित नहीं हुआ तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूँगी ॥ १७ ॥

अस्मिन् हि बहवः साधो ये ममासन् मनोरथाः ।
ते द्रोणपुत्रेण हताः किं नु जीवामि केशव ॥ १८ ॥

'साधुपुरुष केशव ! इस बालकपर मैंने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने उन सबको नष्ट कर दिया। अब मैं किस लिये जीवित रहूँ ? ॥ १८ ॥

आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ॥ १९ ॥

'श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! मेरी बड़ी आशा थी कि अपने इस बच्चेको गोदमें लेकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके चरणोंमें अभिवादन करूँगी; किंतु अब वह व्यर्थ हो गयी ॥ १९ ॥

चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ॥ २० ॥

'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ! चञ्चल नेत्रोंवाले पतिदेवके इस पुत्रकी मृत्यु हो जानेसे मेरे हृदयके सारे मनोरथ निष्फल हो गये ॥ २० ॥

चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन ।
सुतं पश्य त्वमस्यैनं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ॥ २१ ॥

'मधुसूदन ! सुनती हूँ कि चञ्चल नेत्रोंवाले अभिमन्यु आपको बहुत ही प्रिय थे। उन्हींका बेटा आज ब्रह्मास्त्रकी मारसे मरा पड़ा है। आप इसे आँख भरकर देख लीजिये ॥ २१ ॥

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥ २२ ॥

'यह बालक भी अपने पिताके ही समान कृतघ्न और नृशंस है, जो पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीको छोड़कर आज अकेला ही यमलोक चला गया ॥ २२ ॥

मया चैतत् प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव ।
अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ॥ २३ ॥

'केशव ! मैंने युद्धके मुहानेपर यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मेरे वीर पतिदेव ! यदि आप मारे गये तो मैं शीघ्र ही परलोकमें आपसे आ मिलूँगी ॥ २३ ॥

तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया ।
इदानीं मां गतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः ॥ २४ ॥

'परंतु श्रीकृष्ण ! मैंने उस प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया। मैं बड़ी कठोरहृदया हूँ। मुझे पतिदेव नहीं, ये प्राण ही प्यारे हैं। यदि इस समय मैं परलोकमें जाऊँ तो वहाँ अर्जुनकुमार मुझसे क्या कहेंगे ?' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तराका वाक्यविषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

उत्तराका विलाप और भगवान् श्रीकृष्णका उसके मृत बालकको जीवन-दान देना

वैशम्पायन उवाच

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी ।
उत्तरा न्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुत्रका जीवन चाहनेवाली तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर इस प्रकार दीनभावसे करुण विलाप करके पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ १ ॥

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम् ।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ २ ॥

जिसका पुत्ररूपी परिवार नष्ट हो गया था, उस उत्तराको पृथ्वीपर पड़ी हुई देख दुःखसे आतुर हुई कुन्तीदेवी तथा भरतवंशकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २ ॥

मुहूर्तमिव राजेन्द्र पाण्डवानां निवेशनम् ।
अप्रेक्षणीयमभवदार्तस्वनविनादितम् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! दो घड़ीतक पाण्डवोंका वह भवन आर्तनादसे गूँजता रहा । उस समय उसकी ओर देखते नहीं बनता था ॥

सा मुहूर्तं च राजेन्द्र पुत्रशोकाभिपीडिता ।
कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत् तदा ॥ ४ ॥

वीर राजेन्द्र ! पुत्रशोकसे पीड़ित वह विराटकुमारी उत्तरा उस समय दो घड़ीतक मूर्च्छामें पड़ी रही ॥ ४ ॥

प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! थोड़ी देर बाद उत्तरा जब होशमें आयी, तब उस मरे हुए पुत्रको गोदमें लेकर यों कहने लगी—॥ ५ ॥

धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे ।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ॥ ६ ॥

'बेटा ! तू तो धर्मज्ञ पिताका पुत्र है । फिर तेरे द्वारा जो अधर्म हो रहा है, उसे तू क्यों नहीं समझता ? वृष्णि-वंशके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं, तो भी तू इन्हें प्रणाम क्यों नहीं करता ? ॥ ६ ॥

पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरं त्विदम् ।
दुर्मरं प्राणिनां वीर कालेऽप्राप्ते कथंचन ॥ ७ ॥
याहं त्वया विनाद्येह पत्या पुत्रेण चैव ह ।
मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना ॥ ८ ॥

'वत्स ! परलोकमें जाकर तू अपने पितासे मेरी यह बात कहना—'वीर ! अन्तकाल आये बिना प्राणियोंके लिये किसी तरह भी मरना बड़ा कठिन होता है । तभी तो मैं यहाँ आप-जैसे पति तथा इस पुत्रसे बिछुड़कर भी जब कि मुझे मर जाना चाहिये, अबतक जी रही हूँ; मेरा सारा मङ्गल नष्ट हो गया है ! मैं अकिंचन हो गयी हूँ' ॥ ७-८ ॥

अथवा धर्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज ।
भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम् ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! अब मैं धर्मराजकी आज्ञा लेकर भयानक विष खा लूँगी अथवा प्रज्वलित अग्निमें समा जाऊँगी ॥ ९ ॥

अथवा दुर्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा ।
पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते ॥ १० ॥

'तात ! जान पड़ता है, मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पति और पुत्रसे हीन होनेपर भी मेरे इस हृदयके हजारों टुकड़े नहीं हो रहे हैं ॥ १० ॥

उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ॥ ११ ॥

'बेटा ! उठकर खड़ा हो जा । देख ! ये तेरी परदादी (कुन्ती) कितनी दुखी हैं ! ये तेरे लिये आर्त, व्यथित एवं दीन होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हैं ॥ ११ ॥

आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ॥ १२ ॥

'आर्या पाञ्चाली (द्रौपदी) की ओर देख, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्राकी ओर दृष्टिपात कर और व्याधके बाणोंसे बिंधी हुई हरिणीकी भाँति अत्यन्त दुःखसे आर्त हुई मुझ अपनी माँको भी देख ले ॥ १२ ॥

उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः ।
पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम् ॥ १३ ॥

'बेटा ! उठकर खड़ा हो जा और बुद्धिमान् जगदीश्वर श्रीकृष्णके कमलदलके समान नेत्रोंवाले मुखारविन्दकी शोभा निहार, ठीक उसी तरह जैसे पहले मैं चञ्चल नेत्रोंवाले तेरे पिताका मुँह निहारा करती थी' ॥ १३ ॥

एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां तां स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ॥ १४ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई उत्तराको पुनः पृथ्वीपर पड़ी देख सब स्त्रियोंने उसे फिर उठाकर बिठाया ॥ १४ ॥

उत्थाय च पुनर्धैर्यात् तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ॥ १५ ॥

पुनः उठकर धैर्य धारण करके मत्स्यराजकुमारीने पृथ्वीपर ही हाथ जोड़कर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया ॥ १५ ॥

श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ॥ १६ ॥

उसका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने आचमन करके अश्वत्थामाके चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयञ्जगत् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् विशुद्ध हृदयवाले और कभी अपनी महिमासे विचलित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस बालकको जीवित करनेकी प्रतिज्ञा की और सम्पूर्ण जगत्को सुनाते हुए इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

'बेटी उत्तरा ! मैं झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी। देखो, मैं समस्त देहधारियोंके देखते देखते अभी इस बालकको जिलाये देता हूँ ॥ १८ ॥

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥ १९ ॥

'मैंने खेल-कूदमें भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और युद्धमें पीठ नहीं दिखायी है। इस शक्तिके प्रभावसे अभिमन्युका यह बालक जीवित हो जाय ॥ १९ ॥

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ २० ॥

'यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्युका यह पुत्र, जो पैदा होते ही मर गया था, फिर जीवित हो जाय ॥ २० ॥

यथाहं नाभिजानामि विजयं तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ २१ ॥

'मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो, इसका स्मरण नहीं है; इस सत्यके प्रभावसे यह मरा हुआ बालक अभी जीवित हो जाय ॥ २१ ॥

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥ २२ ॥

'यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्युका यह मरा हुआ बालक जी उठे ॥ २२ ॥

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ॥ २३ ॥

'मैंने कंस और केशीका धर्मके अनुसार वध किया है, इस सत्यके प्रभावसे यह बालक फिर जीवित हो जाय' ॥ २३ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उस बालकमें चेतना आ गयी । वह धीरे-धीरे अङ्ग-संचालन करने लगा ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षित्संजीवने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परिक्षित्को जीवनदानविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा राजा परिक्षित्का नामकरण तथा पाण्डवोंका हस्तिनापुरके समीप आगमन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतम् ।
तदा तद् वेश्म त्वत्पित्रा तेजसाभिविदीपितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णने जब ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया, उस समय वह सूतिकागृह तुम्हारे पिताके तेजसे देदीप्यमान होने लगा ॥ १ ॥

ततो रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहं तु तत् ।
अन्तरिक्षे च वागासीत् साधु केशव साध्विति ॥ २ ॥

फिर तो बालकोंका विनाश करनेवाले समस्त राक्षस उस घरको छोड़कर भाग गये । इसी समय आकाशवाणी हुई—'केशव ! तुम्हें साधुवाद ! तुमने बहुत अच्छा कार्य किया' ॥ २ ॥

तदस्त्रं ज्वलितं चापि पितामहमगात् तदा ।
ततः प्राणान् पुनर्लेभे पिता तव नरेश्वर ॥ ३ ॥

साथ ही वह प्रज्वलित ब्रह्मास्त्र ब्रह्मलोकको चला गया। नरेश्वर ! इस तरह तुम्हारे पिताको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ॥ ४ ॥

राजन् ! उत्तराका वह बालक अपने उत्साह और बलके अनुसार हाथ-पैर हिलाने लगा, यह देख भरतवंशकी उन सभी स्त्रियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४ ॥

ब्राह्मणान् वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् ।
ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराया । फिर वे सब आनन्दमग्न होकर श्रीकृष्णके गुण गाने लगीं ॥ ५ ॥

स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः ।
कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ॥ ६ ॥
स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः ।

जैसे नदीके पार जानेवाले मनुष्योंको नाव पाकर बड़ी खुशी होती है, उसी प्रकार भरतवंशी वीरोंकी वे स्त्रियाँ-- कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा एवं नरवीरोंकी स्त्रियाँ उस बालकके जीवित होनेसे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं ॥ ६½ ॥

तत्र मल्ला नटाश्चैव ग्रन्थिकाः सौख्यशायिकाः ॥ ७ ॥
सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवंस्तं जनार्दनम् ।
कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मल्ल, नट, ज्यौतिषी, सुखका समाचार पूछनेवाले सेवक तथा सूतों और मागधोंके समुदाय कुरुवंशकी स्तुति और आशीर्वादके साथ भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करने लगे ॥ ७-८ ॥

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! फिर प्रसन्न हुई उत्तरा यथासमय उठकर पुत्रको गोदमें लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्णके समीप आयी और उन्हें प्रणाम किया ॥ ९ ॥

तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो बहुरत्नं विशेषतः ।
तथान्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याकरोत् प्रभुः ॥ १० ॥
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।

भगवान् श्रीकृष्णने भी प्रसन्न होकर उस बालकको बहुत-से रत्न उपहारमें दिये । फिर अन्य यदुवंशियोंने भी नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट कीं । महाराज ! इसके बाद सत्य-प्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हारे पिताका इस प्रकार नामकरण किया ॥ १०½ ॥

परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ॥ ११ ॥
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत् तदा ।

'कुरुकुलके परिक्षीण हो जानेपर यह अभिमन्युका बालक उत्पन्न हुआ है । इसलिये इसका नाम परिक्षित् होना चाहिये ।' ऐसा भगवान्‌ने कहा ॥ ११½ ॥

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ॥ १२ ॥
मनःप्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

नरेश्वर ! इस प्रकार नामकरण हो जानेके बाद तुम्हारे पिता परिक्षित् कालक्रमसे बड़े होने लगे । भारत ! वे सब लोगोंके मनको आनन्दमग्न किये रहते थे ॥ १२½ ॥

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ॥ १३ ॥
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।

वीर भरतनन्दन ! जब तुम्हारे पिताकी अवस्था एक महीनेकी हो गयी, उस समय पाण्डवलोग बहुत-सी रत्न-राशि लेकर हस्तिनापुरको लौटे ॥ १३½ ॥

तान् समीपगताञ्छ्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ॥ १४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंने जब सुना कि पाण्डव लोग नगरके समीप आ गये हैं, तब वे उनकी अगवानीके लिये बाहर निकले ॥ १४ ॥

अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।
पताकाभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥

पुरवासी मनुष्योंने फूलोंकी मालाओं, वन्दनवारों, भाँति-भाँतिकी ध्वजाओं तथा विचित्र-विचित्र पताकाओंसे हस्तिनापुरको सजाया था ॥ १५ ॥

वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि जनेश्वर ।
देवतायतनानां च पूजाः सुविविधास्तथा ॥ १६ ॥
संदिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया ।
राजमार्गाश्च तत्रासन् सुमनोभिरलंकृताः ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! नागरिकोंने अपने-अपने घरोंकी भी सजावट की थी । विदुरजीने पाण्डवोंका प्रिय करनेकी इच्छासे देव-मन्दिरोंमें विविध प्रकारसे पूजा करनेकी आज्ञा दी । हस्तिना-पुरके सभी राजमार्ग फूलोंसे अलंकृत किये गये थे ॥ १६-१७ ॥

शुशुभे तत्पुरं चापि समुद्रौघनिभस्वनम् ।
नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायकानां च निःस्वनैः ॥ १८ ॥

नाचते हुए नर्तकों और गानेवाले गायकोंके शब्दोंसे उस नगरकी बड़ी शोभा हो रही थी । वहाँ समुद्रकी जल-राशिकी गर्जनाके समान कोलाहल हो रहा था ॥ १८ ॥

आसीद् वैश्रवणस्येव निवासस्तत्पुरं तदा ।
बन्दिभिश्च नरै राजन् स्त्रीसहायैश्च सर्वशः ॥ १९ ॥
तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् ।
पताका धूयमानाश्च समन्तान्मातरिश्वना ॥ २० ॥
अदर्शयन्निव तदा कुरून् वै दक्षिणोत्तरान् ।

राजन् ! उस समय वह नगर कुबेरकी अलकापुरीके समान प्रतीत होता था । वहाँ सब ओर एकान्त स्थानोंमें स्त्रियोंसहित बंदीजन खड़े थे, जिनसे उस पुरीकी शोभा बढ़ गयी थी । उस समय हवाके झोंकेसे नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं, जो दक्षिण और उत्तरकुरु नामक देशोंकी शोभा दिखाती थीं ॥ १९-२०½ ॥

अघोषयंस्तदा चापि पुरुषा राजधूर्गताः ।
सर्वराष्ट्रविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ २१ ॥

राज-काज सँभालनेवाले पुरुषोंने सब ओर यह घोषणा करा दी कि आज समूचे राष्ट्रमें उत्सव मनाया जाय और सब लोग रत्नोंके आभूषण या उत्तमोत्तम गहने-कपड़े पहनकर इस उत्सवमें सम्मिलित हों ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि पाण्डवागमने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें पाण्डवोंका आगमनविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथियोंद्वारा पाण्डवोंका स्वागत, पाण्डवोंका नगरमें आकर सबसे मिलना और व्यासजी तथा श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको यज्ञके लिये आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

तान् समीपगताञ्श्रुत्वा पाण्डवान् शत्रुकर्शनः।
वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके समीप आनेका समाचार सुनकर शत्रुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्रों और मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये चले ॥

ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्याता दिदृक्षया।
ते समेत्य यथाधर्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ॥ २ ॥
विविशुः सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयम्।

उन सब लोगोंने पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और सब यथायोग्य एक दूसरेसे मिले। राजन् ! धर्मानुसार पाण्डव वृष्णियोंसे मिलकर सब एक साथ ही हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २½ ॥

महतस्तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन ह ॥ ३ ॥
द्यावापृथिव्योः खं चैव सर्वमासीत् समावृतम्।

उस विशाल सेनाके घोड़ोंकी टापों और रथके पहियोंकी घरघराहटके तुमुल घोषसे पृथ्वी और स्वर्गके बीचका सारा आकाश व्याप्त हो गया था ॥ ३½ ॥

ते कोशानग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरं तदा ॥ ४ ॥
पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः।

वे खजानेको आगे करके अपनी राजधानीमें घुसे। उस समय मन्त्रियों एवं सुहृदोंसहित समस्त पाण्डवोंका मन प्रसन्न था ॥ ४½ ॥

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ५ ॥
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे।

वे यथायोग्य सबसे मिलकर राजा धृतराष्ट्रके पास गये। अपना-अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे ॥ ५½ ॥

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ॥ ६ ॥
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम।

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! धृतराष्ट्रसे मिलनेके बाद वे सुबलपुत्री गान्धारी और कुन्तीसे मिले ॥ ६½ ॥

विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ॥ ७ ॥
पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यरोचन्त विशाम्पते।

प्रजानाथ ! फिर विदुरका सम्मान करके वैश्यापुत्र युयुत्सुसे मिलकर उन सबके द्वारा सम्मानित होते हुए वीर पाण्डव बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ७½ ॥

ततस्तत् परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ॥ ८ ॥
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत।

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् उन वीरोंने तुम्हारे पिताके जन्मका वह आश्चर्यपूर्ण विचित्र, महान् एवं अद्भुत वृत्तान्त सुना ॥

तदुपश्रुत्य तत् कर्म वासुदेवस्य धीमतः ॥ ९ ॥
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम्।

परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णका वह अलौकिक कर्म सुनकर पाण्डवोंने उन पूजनीय देवकीनन्दन श्रीकृष्णका पूजन किया अर्थात् उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९½ ॥

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १० ॥
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम्।
तस्य सर्वे यथान्यायं पूजांचक्रुः कुरूद्वहाः ॥ ११ ॥

इसके थोड़े दिनों बाद महातेजस्वी सत्यवतीनन्दन व्यासजी हस्तिनापुरमें पधारे। कुरुकुलतिलक समस्त पाण्डवोंने उनका यथोचित पूजन किया ॥ १०-११ ॥

सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा।
तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ॥ १२ ॥
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत्।

फिर वृष्णि एवं अन्धकवंशी वीरोंके साथ वे उनकी सेवामें बैठ गये। वहाँ नाना प्रकारकी बातें करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीसे इस प्रकार कहा—॥ १२½ ॥

भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ॥ १३ ॥
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ।

'भगवन् ! आपकी कृपासे जो यह रत्न लाया गया है, उसका अश्वमेधनामक महायज्ञमें मैं उपयोग करना चाहता हूँ ॥

तमनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम।
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥ १४ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! मैं चाहता हूँ कि इसके लिये आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाय, क्योंकि हम सब लोग आप और महात्मा श्रीकृष्णके अधीन हैं' ॥ १४ ॥

व्यास उवाच

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम्।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ॥ १५ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें यज्ञके लिये आज्ञा देता हूँ। अब इसके बाद जो भी आवश्यक कार्य हो, उसे आरम्भ करो। विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ १५ ॥

अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम्।
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः॥ १६॥

राजेन्द्र! अश्वमेधयज्ञ समस्त पापोंका नाश करके यजमानको पवित्र बनानेवाला है। उसका अनुष्ठान करके तुम पापसे मुक्त हो जाओगे, इसमें संशय नहीं है॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम्॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन! व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञ आरम्भ करनेका विचार किया॥ १७॥

समनुज्ञाप्य तत् सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः।
वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत्॥ १८॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे सब बातोंके लिये आज्ञा ले प्रवचनकुशल राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ १८॥

देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम।
यद् ब्रूयां त्वां महाबाहो तत् कृथास्त्वमिहाच्युत॥ १९॥

'पुरुषोत्तम! महाबाहु अच्युत! आपको ही पाकर देवकीदेवी उत्तम संतानवाली मानी गयी हैं। मैं आपसे जो कुछ कहूँ, उसे आप यहाँ सम्पन्न करें॥ १९॥

त्वत्प्रभावार्जितान् भोगानश्नीम यदुनन्दन।
पराक्रमेण बुद्ध्या च त्वयेयं निर्जिता मही॥ २०॥

'यदुनन्दन! हम आपके ही प्रभावसे प्राप्त हुई इस पृथ्वीका उपभोग कर रहे हैं। आपने ही अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीको जीता है॥ २०॥

दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम्॥ २१॥

'दशार्हनन्दन! आप ही इस यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। आपके यज्ञानुष्ठान पूर्ण कर लेनेपर निश्चय ही हमारे सब पाप नष्ट हो जायँगे॥ २१॥

त्वं हि यज्ञोऽक्षरः सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः॥ २२॥

'आप ही यज्ञ, अक्षर, सर्वस्वरूप, धर्म, प्रजापति एवं सम्पूर्ण भूतोंकी गति हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है'॥ २२॥

वासुदेव उवाच

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिंदम।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! शत्रुदमन नरेश! आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके अवलम्ब हैं॥ २३॥

त्वं चाद्य कुरुवीराणां धर्मेण हि विराजसे।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः॥ २४॥

राजन्! समस्त कौरववीरोंमें एकमात्र आप ही धर्मसे सुशोभित होते हैं। हमलोग आपके अनुयायी हैं और आपको अपना राजा एवं गुरु मानते हैं॥ २४॥

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया।
युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत॥ २५॥

इसलिये भारत! आप हमारी अनुमतिसे स्वयं ही इस यज्ञका अनुष्ठान कीजिये तथा हमलोगोंमेंसे जिसको जिस कामपर लगाना चाहते हों, उसे उस कामपर लगनेकी आज्ञा दीजिये॥ २५॥

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे॥ २६॥

निष्पाप नरेश! मैं आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे, वह सब करूँगा। आप राजा हैं। आपके द्वारा यज्ञ होनेपर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको भी यज्ञानुष्ठानका फल मिल जायगा॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णव्यासानुज्ञायामेकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्ण और व्यासको युधिष्ठिरको यज्ञ करनेके लिये आज्ञाविषयक एकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

व्यासजीकी आज्ञासे अश्वकी रक्षाके लिये अर्जुनकी, राज्य और नगरकी रक्षाके लिये भीमसेन और नकुलकी तथा कुटुम्ब-पालनके लिये सहदेवकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत्॥ १॥
यदा कालं भवान् वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान्

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर मेधावी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीको सम्बोधित करके कहा—'भगवन् ! जब आपको अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करनेका ठीक समय जान पड़े तभी आकर मुझे उसकी दीक्षा दें; क्योंकि मेरा यज्ञ आपके ही अधीन है' ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद् यथाकालं तत् कर्तारो न संशयः ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! जब यज्ञका समय आयेगा, उस समय मैं, पैल और याज्ञवल्क्य—ये सब आकर तुम्हारे यज्ञका सारा विधि-विधान सम्पन्न करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ३ ॥

पुरुषप्रवर ! आगामी चैत्रकी पूर्णिमाको तुम्हें यज्ञकी दीक्षा दी जायगी, तबतक तुम उसके लिये सामग्री संचित करो ॥ ३ ॥

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥ ४ ॥

अश्वविद्याके ज्ञाता सूत और ब्राह्मण यज्ञार्थकी सिद्धिके लिये पवित्र अश्वकी परीक्षा करें ॥ ४ ॥

तमुत्सृज्य यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो अश्व चुना जाय, उसे शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ो और वह तुम्हारे दीप्तिमान् यशका विस्तार करता हुआ समुद्रपर्यन्त समस्त पृथ्वीपर भ्रमण करे ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! यह सुनकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मवादी व्यासजीके कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया ॥ ६ ॥

सम्भाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे संकल्पिताऽभवन् ।
स सम्भारान् समाहृत्य नृपो धर्मसुतस्तदा ॥ ७ ॥
न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै ।

राजेन्द्र ! उन्होंने मनमें जिन-जिन सामानोंको एकत्र करनेका संकल्प किया था, उन सबको जुटाकर धर्मपुत्र अमेयात्मा राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको सूचना दी ॥ ७½ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ॥ ८ ॥
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ।

तब महातेजस्वी व्यासने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! हमलोग यथासमय उत्तम योग आनेपर तुम्हें दीक्षा देनेको तैयार हैं ॥ ८½ ॥

स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ॥ ९ ॥
तत्र योग्यं भवेत् किंचिद् रौक्मं तत् क्रियतामिति ।

'कुरुनन्दन ! इस बीचमें तुम सोनेके 'स्फ्य' और 'कूर्च' बनवा लो तथा और भी जो सुवर्णमय सामान आवश्यक हो, उन्हें तैयार करा डालो ॥ ९½ ॥

अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥ १० ॥

'आज शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको क्रमशः सारी पृथ्वीपर घूमनेके लिये छोड़ना चाहिये तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे वह सुरक्षितरूपसे सब ओर विचर सके' ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥ ११ ॥
पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन् ! यह घोड़ा उपस्थित है । इसे किस प्रकार छोड़ा जाय, जिससे यह समूची पृथ्वीपर इच्छानुसार घूम आवे । इसकी व्यवस्था आप ही कीजिये तथा मुने ! यह भी बताइये कि भूमण्डलमें इच्छानुसार घूमनेवाले इस घोड़ेकी रक्षा कौन करे ? ॥ ११-१२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १३ ॥
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! युधिष्ठिरके इस तरह पूछनेपर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'राजन् ! अर्जुन सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ हैं । वे विजयमें उत्साह रखनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं; अतः वे ही इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे । उन्होंने निवातकवचोंका नाश किया था । वे सम्पूर्ण भूमण्डलको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १३-१४ ॥

तस्मिन् ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा ।
दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति ॥ १५ ॥

'उनके पास दिव्य अस्त्र, दिव्य कवच, दिव्य धनुष और दिव्य तरकस हैं; अतः वे ही इस घोड़ेके पीछे-पीछे जायँगे ॥ १५ ॥

स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः ।
यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ॥ १६ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! वे धर्म और अर्थमें कुशल तथा सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण हैं, इसलिये आपके यज्ञसम्बन्धी अश्वका शास्त्रीय विधिके अनुसार संचालन करेंगे ॥ १७ ॥

राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः।
अभिमन्योः पिता वीरः स एनं पालयिष्यति ॥ १८ ॥

'जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, श्याम वर्ण है, कमल-जैसे नेत्र हैं, वे अभिमन्युके वीर पिता राजपुत्र अर्जुन इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे ॥ १८ ॥

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ॥ १९ ॥

'प्रजानाथ ! कुन्तीकुमार भीमसेन भी अत्यन्त तेजस्वी और अमितपराक्रमी हैं। नकुलमें भी वे ही गुण हैं। ये दोनों ही राज्यकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हैं (अतः वे ही राज्यके कार्य देखें) ॥ १९ ॥

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान्।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ॥ २० ॥

'कुरुनन्दन ! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी समस्त कार्योंकी देख-भाल करेंगे' ॥ २० ॥

तत् तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ॥ २१ ॥

व्यासजीके इस प्रकार बतलानेपर कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर-ने सारा कार्य उसी प्रकार यथोचित रीतिसे सम्पन्न किया और अर्जुनको बुलाकर घोड़ेकी रक्षाके लिये इस प्रकार आदेश दिया ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम्।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर अर्जुन ! यहाँ आओ, तुम इस घोड़ेकी रक्षा करो; क्योंकि तुम्हीं इसकी रक्षा करनेके योग्य हो। दूसरा कोई मनुष्य इसके योग्य नहीं है ॥ २२ ॥

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात् तथा कार्यं त्वयानघ ॥ २३ ॥

महाबाहो ! निष्पाप अर्जुन ! अश्वकी रक्षाके समय जो राजा तुम्हारे सामने आवें, उनके साथ भरसक युद्ध न करना पड़े, ऐसी चेष्टा तुम्हें करनी चाहिये ॥ २३ ॥

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥ २४ ॥

महाबाहो ! मेरे इस यज्ञका समाचार तुम्हें समस्त राजाओंको बताना चाहिये और उनसे यह कहना चाहिये कि आपलोग यथासमय यज्ञमें पधारें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम्।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाई सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और नकुलको नगरकी रक्षाका भार सौंप दिया ॥ २५ ॥

कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम्।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

फिर महाराज धृतराष्ट्रकी सम्मति लेकर युधिष्ठिरने योद्धाओंके स्वामी सहदेवको कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि यज्ञसामग्रीसम्पादने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसामग्रीका सम्पादनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

सेनासहित अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरण

वैशम्पायन उवाच

दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः।
विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब दीक्षाका समय आया, तब उन व्यास आदि महान् ऋत्विजोंने राजा युधिष्ठिरको विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा दी ॥ १ ॥

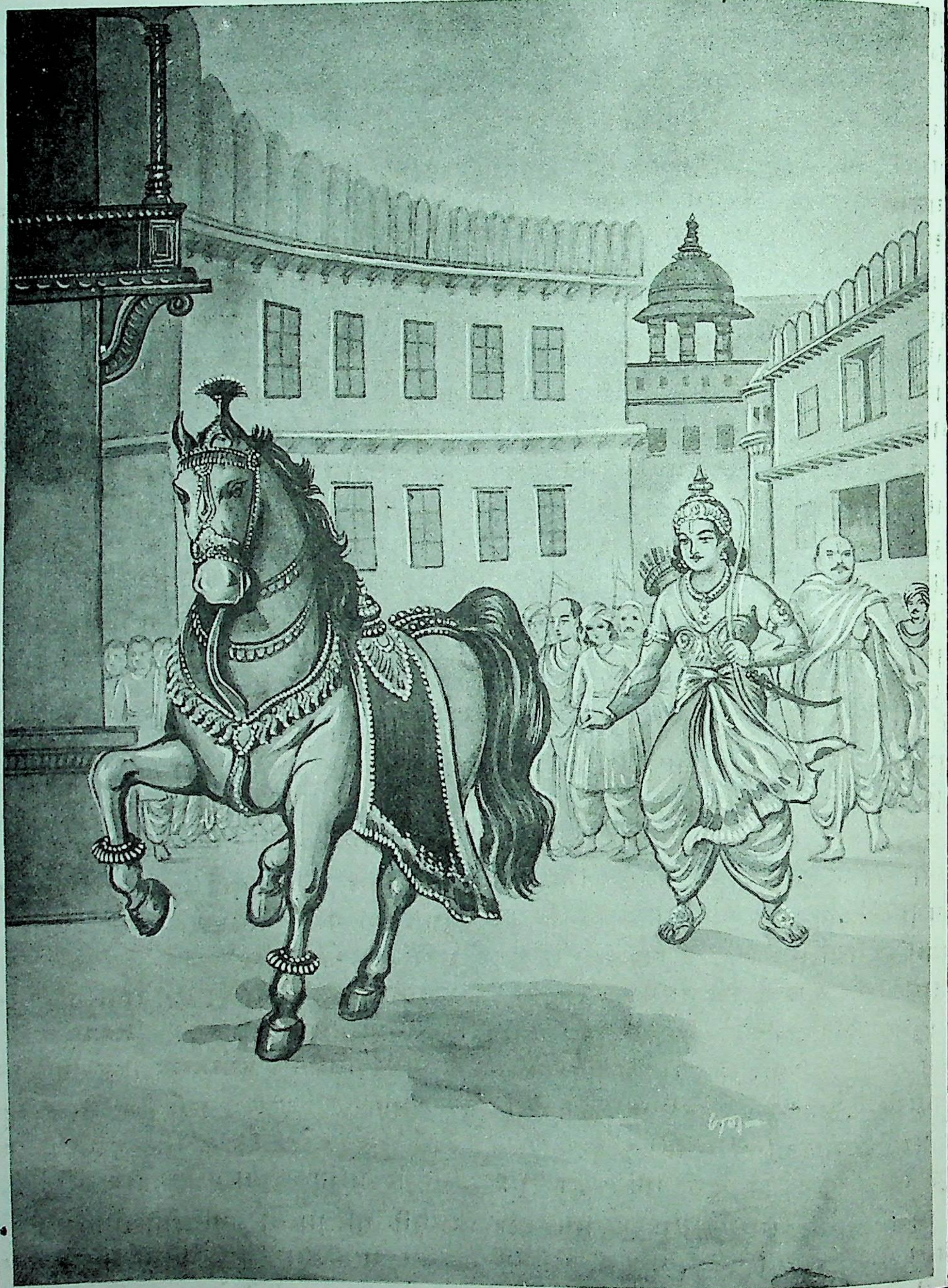
कृत्वा स पशुबन्धांश्च दीक्षितः पाण्डुनन्दनः।
धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत ॥ २ ॥

पशुबन्ध-कर्म करके यज्ञकी दीक्षा लिये हुए महातेजस्वी पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर ऋत्विजोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥ ३ ॥

अमिततेजस्वी ब्रह्मवादी व्यासजीने अश्वमेध यज्ञके लिये चुने गये अश्वको स्वयं ही शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ा ॥ ३ ॥

स राजा धर्मराड् राजन् दीक्षितो विबभौ तदा।
हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ४ ॥



अश्वमेधयज्ञके लिये छोड़े हुए घोड़ेका अर्जुनके द्वारा अनुगमन

राजन् ! यज्ञमें दीक्षित हुए धर्मराज राजा युधिष्ठिर सोनेकी माला और कण्ठमें सोनेकी कण्ठी धारण किये प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४ ॥

कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः।
विबभौ द्युतिमान् भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे ॥ ५ ॥

काला मृगचर्म, हाथमें दण्ड और रेशमी वस्त्र धारण किये धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अधिक कान्तिमान् हो यज्ञमण्डपमें प्रजापतिकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ५ ॥

तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशाम्पते।
बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! उनके समस्त ऋत्विज भी उन्हींके समान वेषभूषा धारण किये सुशोभित होते थे। अर्जुन भी प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमान् हो रहे थे ॥ ६ ॥

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनंजयः।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ ७ ॥

भूपाल जनमेजय ! श्वेत घोड़ेवाले अर्जुनने धर्मराजकी आज्ञासे उस यज्ञसम्बन्धी अश्वका विधिपूर्वक अनुसरण किया ॥ ७ ॥

विक्षिपन् गाण्डिवं राजन् बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार च ॥ ८ ॥

पृथिवीपाल ! राजन् ! अर्जुनने अपने हाथोंमें गोधाके चमड़ेके बने दस्ताने पहन रखे थे। वे गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ अश्वके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ८ ॥

आकुमारं तदा राजन्नागमत् तत्पुरं विभो।
द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनंजयम् ॥ ९ ॥

जनमेजय ! प्रभो ! उस समय यात्रा करते हुए कुरुश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा हस्तिनापुर वहाँ उमड़ आया था ॥ ९ ॥

तेषामन्योन्यसम्मर्दादूष्मेव समजायत।
दिदृक्षूणां हयं तं च तं चैव हयसारिणम् ॥ १० ॥

यज्ञके घोड़े और उसके पीछे जानेवाले अर्जुनको देखनेकी इच्छासे लोगोंकी इतनी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी कि आपसकी धक्कामुक्कीसे सबके वदनमें पसीने निकल आये ॥ १० ॥

ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रति पूरयन्।
बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ११ ॥

महाराज ! उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयका दर्शन करनेवाले लोगोंके मुखसे जो शब्द निकलता था, वह सम्पूर्ण दिशाओं और आकाशमें गूँज रहा था ॥ ११ ॥

एष गच्छति कौन्तेय तुरगश्चैव दीप्तिमान्।
यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन् धनुरुत्तमम् ॥ १२ ॥

(लोग कहते थे-)'ये कुन्तीकुमार अर्जुन जा रहे हैं और वह दीप्तिमान् अश्व जा रहा है, जिसके पीछे महाबाहु अर्जुन उत्तम धनुष धारण किये जा रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः।
स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ १३ ॥

उदारबुद्धि अर्जुनने परस्पर वार्तालाप करते हुए लोगोंकी बातें इस प्रकार सुनीं—'भारत ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सुखसे जाओ और पुनः कुशलपूर्वक लौट आओ' ॥ १३ ॥

अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन्।
नैनं पश्याम सम्मर्दे धनुरेतत् प्रदृश्यते ॥ १४ ॥
एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः।
स्वस्ति गच्छत्वरिष्टो वै पन्थानमकुतोभयम् ॥ १५ ॥
निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेष्यति च ध्रुवम्।

नरेन्द्र ! दूसरे लोग ये बातें कहते थे—'इस भीड़में हम अर्जुनको तो नहीं देखते हैं; किंतु उनका यह धनुष दिखायी देता है। यही वह भयंकर टंकार करनेवाला विख्यात गाण्डीव धनुष है। अर्जुनकी यात्रा सकुशल हो। उन्हें मार्गमें कोई कष्ट न हो। ये निर्भय मार्गपर आगे बढ़ते रहें। ये निश्चय ही कुशलपूर्वक लौटेंगे और उस समय हम फिर इनका दर्शन करेंगे' ॥ १४-१५½ ॥

एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदारधीः।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उदारबुद्धि अर्जुन स्त्रियों और पुरुषोंकी कही हुई मीठी-मीठी बातें बारंबार सुनते थे ॥ १६½ ॥

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ॥ १७ ॥
प्रायात् पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः।

याज्ञवल्क्य मुनिके एक विद्वान् शिष्य, जो यज्ञकर्ममें कुशल तथा वेदोंमें पारंगत थे, विघ्नकी शान्तिके लिये अर्जुनके साथ गये ॥ १७½ ॥

ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशाम्पते।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ १९ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! उनके सिवा और भी बहुत-से वेदोंमें पारंगत ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने धर्मराजकी आज्ञासे विधिपूर्वक महात्मा अर्जुनका अनुसरण किया ॥ १८-१९ ॥

पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा।
चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम ॥ २० ॥

महाराज ! साधुशिरोमणे ! पाण्डवोंने अपने अस्त्रके प्रतापसे जिस पृथ्वीको जीता था, उसके सभी देशोंमें वह अश्व क्रमशः विचरण करने लगा ॥ २० ॥

तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन् पाण्डवस्य ह।

तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ॥ २१ ॥

वीर ! उन देशोंमें अर्जुनको जो बड़े-बड़े अद्भुत युद्ध करने पड़े, उनकी कथा तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २१ ॥

स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥ २२ ॥
अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ ! वह घोड़ा पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करने लगा । सबसे पहले वह उत्तर दिशाकी ओर गया । फिर राजाओंके अनेक राज्योंको रौंदता हुआ वह उत्तम अश्व पूर्वकी ओर मुड़ गया । उस समय श्वेतवाहन महारथी अर्जुन धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ २२-२३ ॥

तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥ २४ ॥

महाराज ! महाभारत-युद्धमें जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, ऐसे जिन-जिन क्षत्रियोंने उस समय अर्जुनके साथ युद्ध किया था, उन हजारों नरेशोंकी कोई गिनती नहीं है ॥२४॥

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥ २५ ॥

राजन् ! तलवार और धनुष धारण करनेवाले बहुत-से किरात, यवन और म्लेच्छ, जो पहले महाभारत युद्धमें पाण्डवोंद्वारा परास्त किये गये थे, अर्जुनका सामना करनेके लिये आये ॥ २५ ॥

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥ २६ ॥

हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों और वाहनोंसे युक्त बहुत-से रणदुर्मद आर्य नरेश भी पाण्डुपुत्र अर्जुनसे भिड़े थे ॥ २६ ॥

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥ २७ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंमें नाना देशोंसे आये हुए राजाओंके साथ अर्जुनको अनेक बार युद्ध करने पड़े ॥ २७ ॥

यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश ! जो युद्ध दोनों पक्षके योद्धाओंके लिये अधिक कष्टदायक और महान् थे, अर्जुनके उन्हीं युद्धोंका मैं यहाँ तुमसे वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरणविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

त्रिगर्तैरभवद् युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रोंने किरीटधारी अर्जुनके साथ वैर बाँध लिया था । त्रिगर्तदेशमें जानेपर अर्जुनका उन त्रिगर्तोंके साथ घोर युद्ध हुआ था ॥ १ ॥

ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्ते ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥ २ ॥
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं सम्प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

'पाण्डवोंका यज्ञसम्बन्धी उत्तम अश्व हमारे राज्यकी सीमामें आ पहुँचा है' यह जानकर त्रिगर्तवीर कवच आदिसे सुसज्जित हो पीठपर तरकस बाँधे सजे-सजाये अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर निकले और उस अश्वको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया । राजन् ! घोड़ेको घेरकर वे उसे पकड़नेका उद्योग करने लगे ॥ २-३ ॥

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम् ।
वारयामास तान् वीरान् सान्त्वपूर्वमरिंदमः ॥ ४ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले अर्जुन यह जान गये कि वे क्या करना चाहते हैं । उनके मनोभावका विचार करके वे उन्हें शान्तिपूर्वक समझाते हुए युद्धसे रोकने लगे ॥ ४ ॥

तदनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा ।
तमोरजोभ्यां संछन्नांस्तान् किरीटी न्यवारयत् ॥ ५ ॥

किंतु वे सब उनकी बातकी अवहेलना करके उन्हें बाणोंद्वारा चोट पहुँचाने लगे । तमोगुण और रजोगुणके वशीभूत हुए उन त्रिगर्तोंको किरीटीने युद्धसे रोकनेकी पूरी चेष्टा की ॥ ५ ॥

तानब्रवीत् ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव च ॥ ६ ॥

भारत ! तदनन्तर विजयशील अर्जुन हँसते हुए-से बोले—'धर्मको न जाननेवाले पापात्माओ ! लौट जाओ। जीवनकी रक्षामें ही तुम्हारा कल्याण है' ॥ ६ ॥

स हि वीरः प्रयास्यन् वै धर्मराजेन वारितः।
हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ॥ ७ ॥

वीर अर्जुनने ऐसा इसलिये कहा कि चलते समय धर्मराज युधिष्ठिरने यह कहकर मना कर दिया था कि 'कुन्तीनन्दन ! जिन राजाओंके भाई-बन्धु कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये हैं, उनका तुम्हें वध नहीं करना चाहिये' ॥ ७ ॥

स तदा तद् वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः।
तान् निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् धर्मराजके इस आदेशको सुनकर उसका पालन करते हुए ही अर्जुनने त्रिगर्तोंको लौट जानेकी आज्ञा दी, तथापि वे नहीं लौटे ॥ ८ ॥

ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः ॥ ९ ॥

तब उस युद्धस्थलमें त्रिगर्तराज सूर्यवर्माके सारे अङ्गोंमें बाण धँसाकर अर्जुन हँसने लगे ॥ ९ ॥

ततस्ते रथघोषेण रथनेमिस्वनेन च।
पूरयन्तो दिशः सर्वा धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १० ॥

यह देख त्रिगर्तदेशीय वीर रथकी घरघराहट और पहियोंकी आवाजसे सारी दिशाओंको गुँजाते हुए वहाँ अर्जुनपर टूट पड़े ॥ १० ॥

सूर्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम्।
शतान्यमुञ्चद् राजेन्द्र लघ्वस्त्रमभिदर्शयन् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर सूर्यवर्माने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक सौ बाणोंका प्रहार किया ॥ ११ ॥

तथैवान्ये महेष्वासा ये च तस्यानुयायिनः।
मुमुचुः शरवर्षाणि धनंजयवधैषिणः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार उसके अनुयायी वीरोंमें भी जो दूसरे-दूसरे महान् धनुर्धर थे, वे भी अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १२ ॥

स तान् ज्यामुखनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहूञ्शरान्।
चिच्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ॥ १३ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा शत्रुओंके बहुत-से बाणोंको काट डाला। वे कटे हुए बाण टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १३ ॥

केतुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा।
युयुधे भ्रातुरर्थाय पाण्डवेन यशस्विना ॥ १४ ॥

(सूर्यवर्माके परास्त होनेपर) उसका छोटा भाई केतुवर्मा जो एक तेजस्वी नवयुवक था, अपने भाईका बदला लेनेके लिये यशस्वी वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य केतुवर्माणमाहवे।
अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ॥ १५ ॥

केतुवर्माको युद्धस्थलमें धावा करते देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उसे मार डाला ॥

केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः।
रथेनाशु समुत्पत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ॥ १६ ॥

केतुवर्माके मारे जानेपर महारथी धृतवर्मा रथके द्वारा शीघ्र ही वहाँ आ धमका और अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १६ ॥

तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान्।
गुडाकेशो महातेजा बालस्य धृतवर्मणः ॥ १७ ॥

धृतवर्मा अभी बालक था तो भी उसकी उस फुर्तीको देखकर महातेजस्वी पराक्रमी अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

न संदधानं ददृशे नाददानं च तं तदा।
किरन्तमेव स शरान् ददृशे पाकशासनिः ॥ १८ ॥

वह कब बाण हाथमें लेता है और कब उसे धनुषपर चढ़ाता है, उसको इन्द्रकुमार अर्जुन भी नहीं देख पाते थे। उन्हें केवल इतना ही दिखायी देता था कि वह बाणोंकी वर्षा कर रहा है ॥ १८ ॥

स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाहवे।
मनसा तु मुहूर्तं वै रणे समभिहर्षयन् ॥ १९ ॥

उन्होंने रणभूमिमें थोड़ी देरतक मन-ही-मन धृतवर्माकी प्रशंसा की और युद्धमें उसका हर्ष एवं उत्साह बढ़ाते रहे ॥

तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः प्राणैर्न व्यपरोपयत् ॥ २० ॥

यद्यपि धृतवर्मा सर्पके समान क्रोधमें भरा हुआ था तो भी कुरुवीर महाबाहु अर्जुन प्रेमपूर्वक मुसकराते हुए युद्ध करते थे। उन्होंने उसके प्राण नहीं लिये ॥ २० ॥

स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा।
धृतवर्मा शरं दीप्तं मुमोच विजये तदा ॥ २१ ॥

इस प्रकार अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा जान-बूझकर छोड़ दिये जानेपर धृतवर्माने उनके ऊपर एक अत्यन्त प्रज्वलित बाण चलाया ॥ २१ ॥

स तेन विजयस्तूर्णमासीद् विद्धः करे भृशम्।
मुमोच गाण्डिवं मोहात् तत् पपाताथ भूतले ॥ २२ ॥

उस बाणने तुरंत आकर अर्जुनके हाथमें गहरी चोट

पहुँचायी। उन्हें मूर्छा आ गयी और उनका गाण्डीव धनुष हाथसे छूटकर पृथ्वीपर जा पड़ा ॥ २२ ॥

धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचिकराद् विभो।
बभूव सदृशं रूपं शक्रचापस्य भारत ॥ २३ ॥

प्रभो! भरतनन्दन! अर्जुनके हाथसे गिरते हुए उस धनुषका रूप इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होता था ॥ २३ ॥

तस्मिन् निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिवः।
जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाहवे ॥ २४ ॥

उस दिव्य महाधनुषके गिर जानेपर महासमरमें खड़ा हुआ धृतवर्मा ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ २४ ॥

ततो रोषार्दितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं करात्।
धनुरादत्त तद् दिव्यं शरवर्षैर्ववर्ष च ॥ २५ ॥

इससे अर्जुनका रोष बढ़ गया। उन्होंने हाथसे रक्त पोंछकर उस दिव्य धनुषको पुनः उठा लिया और धृतवर्मापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २५ ॥

ततो हलहलाशब्दो दिवस्पृगभवत् तदा।
नानाविधानां भूतानां तत्कर्माणि प्रशंसताम् ॥ २६ ॥

फिर तो अर्जुनके उस पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए नाना प्रकारके प्राणियोंका कोलाहल समूचे आकाशमें व्याप्त हो गया ॥ २६ ॥

ततः सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं कालान्तकयमोपमम्।
जिष्णुं त्रैगर्तका योधाः परीताः पर्यवारयन् ॥ २७ ॥

अर्जुनको काल, अन्तक और यमराजके समान कुपित हुआ देख त्रिगर्तदेशीय योद्धाओंने चारों ओरसे आकर उन्हें घेर लिया ॥ २७ ॥

अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्मणः।
परिवव्रुर्गुडाकेशं तत्राक्रुद्ध्यद् धनंजयः ॥ २८ ॥

धृतवर्माकी रक्षाके लिये सहसा आक्रमण करके त्रिगर्तोंने गुडाकेश अर्जुनको जब सब ओरसे घेर लिया, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ ॥ २८ ॥

ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥ २९ ॥

फिर तो उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति दुस्सह लौहनिर्मित बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बात-की-बातमें उनके अठारह प्रमुख योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २९ ॥

तान् सम्प्रभग्नान् सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो धनंजयः।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥ ३० ॥

तब तो त्रिगर्तोंमें भगदड़ मच गयी। उन्हें भागते देख अर्जुनने जोर-जोरसे हँसते हुए बड़ी उतावलीके साथ सर्पाकार बाणोंद्वारा उन सबको मारना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तकमहारथाः।
दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनंजयशरार्दिताः ॥ ३१ ॥

राजन्! धनंजयके बाणोंसे पीडित हुए समस्त त्रिगर्तदेशीय महारथियोंका युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया; अतः वे चारों दिशाओंमें भाग चले ॥ ३१ ॥

तमूचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम्।
तवास्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥ ३२ ॥

उनमेंसे कितने ही संशप्तकसूदन पुरुषसिंह अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे—'कुन्तीनन्दन! हम सब आपके आज्ञाकारी सेवक हैं और सभी सदा आपके अधीन रहेंगे ॥ ३२ ॥

आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान् प्रेष्यानवस्थितान्।
करिष्यामः प्रियं सर्वं तव कौरवनन्दन ॥ ३३ ॥

'पार्थ! हम सभी सेवक विनीत भावसे आपके सामने खड़े हैं। आप हमें आज्ञा दें। कौरवनन्दन! हम सब लोग आपके समस्त प्रिय कार्य सदा करते रहेंगे' ॥ ३३ ॥

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत् तदा।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३४ ॥

उनकी ये बातें सुनकर अर्जुनने उनसे कहा—'राजाओ! अपने प्राणोंकी रक्षा करो। इसका एक ही उपाय है, हमारा शासन स्वीकार कर लो' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि त्रिगर्तपराभवे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें त्रिगर्तोंकी पराजयविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका प्राग्ज्यौतिषपुरके राजा वज्रदत्तके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥ १ ॥
स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम्।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वह उत्तम अश्व प्राग्ज्योतिषपुरके पास पहुँचकर विचरने लगा। वहाँ भगदत्तका पुत्र वज्रदत्त राज्य करता था, जो युद्धमें बड़ा ही कठोर था। भरतश्रेष्ठ! जब उसे पता लगा कि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका अश्व मेरे राज्यकी सीमामें आ गया है,

तब राजा वज्रदत्त नगरसे बाहर निकला और युद्धके लिये तैयार हो गया ॥ १-२ ॥

सोऽभिनिर्याय नगराद् भगदत्तसुतो नृपः।
अश्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥ ३ ॥

नगरसे निकलकर भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने अपनी ओर आते हुए घोड़ेको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे साथ लेकर वह नगरकी ओर चला ॥ ३ ॥

तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा।
गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

उसको ऐसा करते देख कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुनने गाण्डीव धनुषपर टंकार देते हुए सहसा वेगपूर्वक उसपर धावा किया ॥ ४ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैरिषुभिर्मोहितो नृपः।
हयमुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥
पुनः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः।
आरुह्य नागप्रवरं निर्ययौ रणकर्कशः ॥ ६ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंके प्रहारसे व्याकुल हो वीर राजा वज्रदत्तने उस घोड़ेको तो छोड़ दिया और स्वयं पुनः नगरमें प्रवेश करके कवच आदिसे सुसज्जित हो एक श्रेष्ठ गजराजपर चढ़कर वह रणकर्कश नरेश युद्धके लिये बाहर निकला। आते ही उसने पार्थपर धावा बोल दिया ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
दोधूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ॥ ७ ॥
ततः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम्।
आह्वयामास बीभत्सुं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ॥ ८ ॥

उसने मस्तकपर श्वेत छत्र धारण कर रखा था। सेवक श्वेत चँवर डुला रहे थे। पाण्डव महारथी पार्थके पास पहुँचकर उस महारथी नरेशने बालचापल्य और मूर्खताके कारण उन्हें युद्धके लिये ललकारा ॥ ७-८ ॥

स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम्।
प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥ ९ ॥

क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने श्वेतवाहन अर्जुनकी ओर अपने पर्वताकार विशालकाय गजराजको, जिसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी, बढ़ाया ॥ ९ ॥

विक्षरन्तं महामेघं परवारणवारणम्।
शास्त्रवत् कल्पितं संख्ये विवशं युद्धदुर्मदम् ॥ १० ॥

वह महान् मेघके समान मदकी वर्षा करता था। शत्रुपक्षके हाथियोंको रोकनेमें समर्थ था। उसे शास्त्रीय विधिके अनुसार युद्धके लिये तैयार किया गया था। वह स्वामीके अधीन रहनेवाला और युद्धमें दुर्धर्ष था ॥ १० ॥

चोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः।
तदाङ्कुशेन विबभावुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ॥ ११ ॥

राजा वज्रदत्तने जब अङ्कुशसे मारकर उस महाबली हाथीको आगे बढ़नेके लिये प्रेरित किया, तब वह इस तरह आगेकी ओर झपटा, मानो वह आकाशमें उड़ जायगा ॥ ११ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य क्रुद्धो राजन् धनंजयः।
भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत ॥ १२ ॥

राजन्! भरतनन्दन! उसे इस प्रकार आक्रमण करते देख अर्जुन कुपित हो उठे। वे पृथ्वीपर स्थित होते हुए भी हाथीपर चढ़े हुए वज्रदत्तके साथ युद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

वज्रदत्तस्ततः क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये।
तोमरानग्निसंकाशाञ्शलभानिव वेगितान् ॥ १३ ॥

उस समय वज्रदत्तने कुपित होकर तुरंत ही अर्जुनपर अग्निके समान प्रज्वलित तोमर चलाये, जो वेगसे उड़नेवाले पतंगोंके समान जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

अर्जुनस्तानसम्प्राप्तान् गाण्डीवप्रभवैः शरैः।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ॥ १४ ॥

वे तोमर अभी पास भी नहीं आने पाये थे कि अर्जुनने गाण्डीव धनुषद्वारा छोड़े गये आकाशचारी बाणोंद्वारा आकाशमें ही एक-एक तोमरके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥

स तान् दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान् भगदत्तजः।
इषूनसक्तांस्त्वरितः प्राहिणोत् पाण्डवं प्रति ॥ १५ ॥

इस प्रकार उन तोमरोंके टुकड़े-टुकड़े हुए देख भगदत्तके पुत्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर शीघ्रतापूर्वक लगातार बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुङ्खानजिह्मगान्।
प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्तात्मजं प्रति ॥ १६ ॥
स तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महामृधे।
भृशाहतः पपातोर्व्यां न त्वेनमजहात् स्मृतिः ॥ १७ ॥

तब कुपित हुए अर्जुनने तुरंत ही सोनेके पंखोंसे युक्त सीधे जानेवाले बाण वज्रदत्तपर चलाये। उन बाणोंसे अत्यन्त आहत और घायल होकर उस महासमरमें महातेजस्वी वज्रदत्त हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़ा; परंतु इतनेपर भी वह बेहोश नहीं हुआ ॥ १६-१७ ॥

ततः स पुनरारुह्य वारणप्रवरं रणे।
अव्यग्रः प्रेषयामास जयार्थी विजयं प्रति ॥ १८ ॥

तदनन्तर वज्रदत्तने पुनः उस श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो रणभूमिमें बिना किसी घबराहटके विजयकी अभिलाषा रखकर अर्जुनकी ओर उस हाथीको बढ़ाया ॥ १८ ॥

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान्।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥ १९ ॥

यह देख अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने उस हाथीके ऊपर केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रज्वलित अग्निके तुल्य तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ॥ १९ ॥

स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन् रुधिरं बभौ।
गैरिकाक्तमिवाम्भोऽद्रिर्बहुप्रस्रवणं तदा ॥ २० ॥

उन बाणोंसे घायल होकर वह महानाग खूनकी धारा बहाने लगा। उस समय वह गेरूमिश्रित जलकी धारा बहानेवाले अनेक झरनोंसे युक्त पर्वतके समान जान पड़ता था ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तयुद्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका वज्रदत्तके साथ युद्धविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वज्रदत्तकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

एवं त्रिरात्रमभवत् तद् युद्धं भरतर्षभ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--भरतश्रेष्ठ ! जैसे इन्द्रका वृत्रासुरके साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुनका राजा वज्रदत्तके साथ तीन दिन तीन रात युद्ध होता रहा ॥ १ ॥

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

तदनन्तर चौथे दिन महाबली वज्रदत्त ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ २ ॥

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥ ३ ॥

'अर्जुन ! अर्जुन ! खड़े रहो। आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। तुम्हें मारकर पिताका विधिपूर्वक तर्पण करूँगा' ॥ ३ ॥

त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः पितुः सखा।
हतो वृद्धो मम पिता शिशुं मामद्य योधय ॥ ४ ॥

'मेरे वृद्ध पिता भगदत्त तुम्हारे बापके मित्र थे, तो भी तुमने उनकी हत्या की। मेरे पिता बूढ़े थे, इसलिये तुम्हारे हाथसे मारे गये। आज उनका बालक मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ; मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ४ ॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर अपने हाथीको हाँक दिया ॥ ५ ॥

सम्प्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता।
उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् वज्रदत्तके द्वारा हाँके जानेपर वह गजराज पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर इस प्रकार दौड़ा, मानो आकाशमें उड़ जाना चाहता हो ॥ ६ ॥

अग्रहस्तप्रमुक्तेन शीकरेण स नागराट्।
समौक्षत गुडाकेशं शैलं नीलमिवाम्बुदः ॥ ७ ॥

उस गजराजने अपनी सूँडसे छोड़े गये जलकणोंद्वारा गुडाकेश अर्जुनको भिगो दिया। मानो मेघने नील पर्वतपर जलके फुहारे डाल दिये हों ॥ ७ ॥

स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवद् विनदन् मुहुः।
मुखाडम्बरसंह्रादैरभ्यद्रवत फाल्गुनम् ॥ ८ ॥

राजासे प्रेरित होकर बारंबार मेघके समान गम्भीर गर्जना करता हुआ वह हाथी अपने मुखके चीत्कारपूर्ण कोलाहलके साथ अर्जुनपर टूट पड़ा ॥ ८ ॥

स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः।
आससाद द्रुतं राजन् कौरवाणां महारथम् ॥ ९ ॥

राजन् ! वज्रदत्तका हाँका हुआ वह गजराज नृत्य-सा करता हुआ तुरंत कौरव महारथी अर्जुनके पास जा पहुँचा ॥ ९ ॥

तमायान्तमथालक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम्।
गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ॥ १० ॥

वज्रदत्तके उस हाथीको आते देख शत्रुओंका संहार करनेवाले बलवान् अर्जुन गाण्डीवका सहारा लेकर तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ १० ॥

चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः।
कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! वज्रदत्तके कारण जो कार्यमें विघ्न पड़ रहा था, उसको तथा पहलेके वैरको याद करके पाण्डुपुत्र अर्जुन उस राजापर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ११ ॥

ततस्तं वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः।
निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ॥ १२ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने बाणसमूहोंद्वारा उस हाथीको उसी तरह रोक दिया, जैसे तटकी भूमि उमड़ते हुए समुद्रको रोक देती है ॥ १२ ॥

स नागप्रवरः श्रीमानर्जुनेन निवारितः।
तस्थौ शरैर्विनुन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ॥ १३ ॥

उसके सारे अङ्गोंमें बाण धँसे हुए थे। अर्जुनके द्वारा रोका गया वह शोभाशाली गजराज काँटोंवाली साहीके समान खड़ा हो गया ॥ १३ ॥

निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तसुतो नृपः।
उत्ससर्ज शितान् बाणानर्जुनं क्रोधमूर्च्छितः ॥ १४ ॥

अपने हाथीको रोका गया देख भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्त क्रोधसे व्याकुल हो उठा और अर्जुनपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ १४ ॥

अर्जुनस्तु महाबाहुः शरैररिनिघातिभिः।
वारयामास तान् बाणांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १५ ॥

परंतु महाबाहु अर्जुनने अपने शत्रुघाती सायकोंद्वारा उन सारे बाणोंको पीछे लौटा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ १५ ॥

ततः पुनरभिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः।
प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवत् पर्वतोपमम् ॥ १६ ॥

तब प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राज वज्रदत्तने अत्यन्त कुपित हो अपने पर्वताकार गजराजको पुनः बलपूर्वक आगे बढ़ाया ॥ १६ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद् वारणं प्रति ॥ १७ ॥

उसे बलपूर्वक आक्रमण करते देख इन्द्रकुमार अर्जुनने उस हाथीके ऊपर एक अग्निके समान तेजस्वी नाराच चलाया ॥ १७ ॥

स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम्।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥ १८ ॥

राजन्! उस नाराचने हाथीके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी। वह वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति सहसा पृथ्वीपर ढह पड़ा ॥ १८ ॥

स पतञ्शुशुभे नागो धनंजयशराहतः।
विशन्निव महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ॥ १९ ॥

अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर गिरता हुआ वह हाथी ऐसी शोभा पाने लगा, मानो वज्रके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हुआ महान् पर्वत पृथ्वीमें समा जाना चाहता हो ॥ १९ ॥

तस्मिन् निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥ २० ॥

वज्रदत्तके उस हाथीके धराशायी होते ही राजा वज्रदत्त स्वयं भी पृथ्वीपर जा पड़ा। उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने उससे कहा—'राजन्! तुम्हें डरना नहीं चाहिये ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः।
राजानस्ते न हन्तव्या धनंजय कथंचन ॥ २१ ॥

'जब मैं घरसे प्रस्थित हुआ, उस समय महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने मुझसे कहा—'धनंजय! तुम्हें किसी तरह भी राजाओंका वध नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्येतावता कृतम्।
योधाश्चापि न हन्तव्या धनंजय रणे त्वया ॥ २२ ॥

''पुरुषसिंह! इतना करनेसे सब कुछ हो जायगा। अर्जुन! तुम्हें युद्ध ठानकर योधाओंका वध कदापि नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥

वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सहसुहृज्जनैः।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ॥ २३ ॥

''तुम सभी राजाओंसे कह देना कि आप सब लोग अपने सुहृदोंके साथ पधारें और युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञ-सम्बन्धी उत्सवका आनन्द लें' ॥ २३ ॥

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान् गच्छ पार्थिव ॥ २४ ॥

'नरेश्वर! भाईके इस वचनको सुनकर इसे शिरोधार्य करके मैं तुम्हें मार नहीं रहा हूँ। भूपाल! उठो, तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम सकुशल अपने घरको लौट जाओ ॥ २४ ॥

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम्।
यदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥

'महाराज! आगामी चैत्रमासकी उत्तम पूर्णिमा तिथि उपस्थित होनेपर तुम हस्तिनापुरमें आना। उस समय बुद्धिमान् धर्मराजका वह उत्तम यज्ञ होगा' ॥ २५ ॥

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा।
तथेत्येवाब्रवीद् वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥ २६ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर उनसे परास्त हुए भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने कहा—'बहुत अच्छा; ऐसा ही होगा' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तपराजये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वज्रदत्तकी पराजयविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

(जित्वा प्रसाद्य राजानं भगदत्तसुतं तदा ।
विसृज्य याते तुरगे सैन्धवान् प्रति भारत ॥)
सैन्धवैरभवद् युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! महाराज भगदत्तके पुत्र राजा वज्रदत्तको पराजित और प्रसन्न करनेके पश्चात् उसे विदा करके जब अर्जुनका घोड़ा सिंधुदेशमें गया, तब महाभारत-युद्धमें मरनेसे बचे हुए सिंधुदेशीय योद्धाओं तथा मारे गये राजाओंके पुत्रोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर संग्राम हुआ ॥ १ ॥

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥ २ ॥

यज्ञके घोड़ेको और श्वेतवाहन अर्जुनको अपने राज्यके भीतर आया हुआ सुनकर वे सिंधुदेशीय क्षत्रिय अमर्षमें भरकर उन पाण्डवप्रवर अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २ ॥

अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः ।
न भयं चक्रिरे पार्थाद् भीमसेनादनन्तरात् ॥ ३ ॥

वे विषके समान भयंकर क्षत्रिय अपने राज्यके भीतर आये हुए उस घोड़ेको पकड़कर भीमसेनके छोटे भाई अर्जुनसे तनिक भी भयभीत नहीं हुए ॥ ३ ॥

तेऽविदूराद् धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च ।
बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ॥ ४ ॥

यज्ञसम्बन्धी घोड़ेसे थोड़ी ही दूरपर अर्जुन हाथमें धनुष लिये पैदल ही खड़े थे । वे सभी क्षत्रिय उनके पास जा पहुँचे ॥ ४ ॥

ततस्ते तं महावीर्या राजानः पर्यवारयन् ।
जिगीषन्तो नरव्याघ्रं पूर्वं विनिकृता युधि ॥ ५ ॥

वे महापराक्रमी क्षत्रिय पहले युद्धमें अर्जुनसे परास्त हो चुके थे और अब उन पुरुषसिंह पार्थको जीतना चाहते थे । अतः उन सबने उन्हें घेर लिया ॥ ५ ॥

ते नामान्यपि गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।
कीर्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ६ ॥

वे अर्जुनसे अपने नाम, गोत्र और नाना प्रकारके कर्म बताते हुए उनपर बाणोंकी बौछार करने लगे ॥ ६ ॥

ते किरन्तः शरव्रातान् वारणप्रतिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥ ७ ॥

वे ऐसे बाणसमूहोंकी वर्षा करते थे, जो हाथियोंको भी आगे बढ़नेसे रोक देनेवाले थे । उन्होंने रणभूमिमें विजयकी अभिलाषा रखकर कुन्तीकुमारको घेर लिया ॥ ७ ॥

ते समीक्ष्य च तं कृष्णमुग्रकर्माणमाहवे ।
सर्वे युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ॥ ८ ॥

युद्धमें भयानक कर्म करनेवाले अर्जुनको पैदल देखकर वे सभी वीर रथपर आरूढ़ हो उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

ते तमाजघ्निरे वीरं निवातकवचान्तकम् ।
संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ॥ ९ ॥

निवातकवचोंका विनाश, संशप्तकोंका संहार और जयद्रथका वध करनेवाले वीर अर्जुनपर सैन्धवोंने सब ओरसे प्रहार आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च ।
कोष्ठकीकृत्य बीभत्सुं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥ १० ॥

एक हजार रथ और दस हजार घोड़ोंसे अर्जुनको घेरकर उन्हें कोष्ठबद्ध-सा करके वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥

तं स्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य चाहवे ।
जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें सव्यसाची अर्जुनके द्वारा जो सिंधुराज जयद्रथका वध हुआ था, उसकी याद उन वीरोंको कभी भूलती नहीं थी ॥ ११ ॥

ततः पर्जन्यवत् सर्वे शरवृष्टीरवासृजन् ।
तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रविर्मेघान्तरे यथा ॥ १२ ॥

वे सब योद्धा मेघके समान अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उन बाणोंसे आच्छादित होकर कुन्तीनन्दन अर्जुन बादलोंमें छिपे हुए सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १२ ॥

स शरैः समवच्छन्नश्चकाशे पाण्डवर्षभः ।
पञ्जरान्तरसंचारी शकुन्त इव भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! बाणोंसे आच्छादित हुए पाण्डवप्रवर अर्जुन पींजड़ेके भीतर फुदकनेवाले पक्षीकी भाँति जान पड़ते थे ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते ।
त्रैलोक्यमभवद् राजन् रविरासीच्च निष्प्रभः ॥ १४ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुन जब इस प्रकार बाणोंसे

पीड़ित हो गये, तब उनकी ऐसी अवस्था देख त्रिलोकी हाहाकार कर उठी और सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी ॥ १४ ॥

ततो ववौ महाराज मारुतो लोमहर्षणः।
राहुरग्रसदादित्यं युगपत् सोममेव च ॥ १५ ॥

महाराज ! उस समय रोंगटे खड़े कर देनेवाली प्रचण्ड वायु चलने लगी । राहुने एक ही समय सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको ग्रस लिये ॥ १५ ॥

उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं विकीर्यन्त्यः समन्ततः।
वेपथुश्चाभवद् राजन् कैलासस्य महागिरेः ॥ १६ ॥

चारों ओर बिखरकर गिरती हुई उल्काएँ सूर्यसे टकराने लगीं । राजन् ! उस समय महापर्वत कैलास भी काँपने लगा ॥ १६ ॥

मुमुचुः श्वासमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः।
सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ॥ १७ ॥

सप्तर्षियों और देवर्षियोंको भी भय होने लगा। वे दुःख और शोकसे संतप्त हो अत्यन्त गरम-गरम साँस छोड़ने लगे ॥

शशं चाशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतत्।
विपरीता दिशश्चापि सर्वा धूमाकुलास्तथा ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त उल्काएँ चन्द्रमामें स्थित हुए शश-चिह्नका भेदन करके चन्द्रमण्डलके चारों ओर गिरने लगीं। सम्पूर्ण दिशाएँ धूमाच्छन्न होकर विपरीत प्रतीत होने लगीं ॥ १८ ॥

रासभारुणसंकाशा धनुष्मन्तः सविद्युतः।
आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ॥ १९ ॥

गधेके समान रंग और लाल रंगके सम्मिश्रणसे जो रंग हो सकता है, वैसे वर्णवाले मेघ आकाशको घेरकर रक्त और मांसकी वर्षा करने लगे । उनमें इन्द्र-धनुषका भी दर्शन होता था और बिजलियाँ भी कौंधती थीं ॥ १९ ॥

एवमासीत् तदा वीरे शरवर्षेण संवृते।
फाल्गुने भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वीर अर्जुनके उस समय शत्रुओंकी बाण वर्षासे आच्छादित हो जानेपर ऐसे-ऐसे उत्पात प्रकट होने लगे । वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २० ॥

तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वतः।
मोहात् पपात गाण्डीवमावापश्च करादपि ॥ २१ ॥

उस बाणसमूहके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हुए अर्जुनपर मोह छा गया । उस समय उनके हाथसे गाण्डीव धनुष और दस्ताने गिर पड़े ॥ २१ ॥

तस्मिन् मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत् तदा।
सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गतसत्त्वे महारथे ॥ २२ ॥

महारथी अर्जुन जब मोहग्रस्त एवं अचेत हो गये, उस समय भी सिंधुदेशीय योद्धा उनपर वेगपूर्वक महान् बाण समूहकी वर्षा करते रहे ॥ २२ ॥

ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः।
सर्वे वित्रस्तमनसस्तस्य शान्तिकृतोऽभवन् ॥ २३ ॥

अर्जुनको मोहके वशीभूत हुआ जान सम्पूर्ण देवता मन-ही-मन संत्रस्त हो गये और उनके लिये शान्तिका उपाय करने लगे ॥ २३ ॥

ततो देवर्षयः सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च।
ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य धीमतः ॥ २४ ॥

फिर तो समस्त देवर्षि, सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मिलकर बुद्धिमान् अर्जुनकी विजयके लिये मन्त्र-जप करने लगे ॥ २४ ॥

ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव।
तस्थावचलवद् धीमान् संग्रामे परमास्त्रवित् ॥ २५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तदनन्तर देवताओंके प्रयत्नसे अर्जुनका तेज पुनः उद्दीप्त हो उठा और उत्तम अस्त्र-विद्याके ज्ञाता परम बुद्धिमान् धनंजय संग्रामभूमिमें पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २५ ॥

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥

फिर तो कौरवनन्दन अर्जुनने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची । उस समय उससे बार-बार मशीनकी तरह बड़े जोर-जोरसे टंकार-ध्वनि होने लगी ॥ २६ ॥

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरंदरः ॥ २७ ॥

इसके बाद जैसे इन्द्र पानीकी वर्षा करते हैं, उसी तरह प्रभावशाली पार्थने अपने धनुषद्वारा शत्रुओंपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ २७ ॥

ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्वे एव सराजकाः।
नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पादपाः ॥ २८ ॥

फिर तो पार्थके बाणोंसे आच्छादित हो समस्त सैन्धव योधा टिड्डियोंसे ढँके हुए वृक्षोंकी भाँति अपने राजासहित अदृश्य हो गये ॥ २८ ॥

तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्ताश्च विदुद्रुवुः।
मुमुचुश्चाश्रु शोकार्ताः शुशुचुश्चापि सैन्धवाः ॥ २९ ॥

कितने ही गाण्डीवकी टंकार-ध्वनिसे ही थर्रा उठे । बहुतेरे भयसे व्याकुल होकर भाग गये और अनेक सैन्धव योधा शोकसे आतुर होकर आँसू बहाने एवं शोक करने लगे ॥ २९ ॥

तांस्तु सर्वान् नरव्याघ्रः सैन्धवान् व्यचरद् बली।
अलातचक्रवद् राजञ्छरजालैः समार्पयत् ॥ ३० ॥

राजन्! उस समय महाबली पुरुषसिंह अर्जुन अलातचक्रकी भाँति घूम-घूमकर सारे सैन्धवोंपर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३० ॥

तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा ।
विसृज्य दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ ३१ ॥

शत्रुसूदन अर्जुनने वज्रधारी महेन्द्रकी भाँति सम्पूर्ण दिशाओंमें इन्द्रजालके समान बाणोंका जाल-सा फैला दिया ॥

मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य शरवृष्टिभिः ।
विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ३२ ॥

जैसे शरत्कालके सूर्य मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कौरवश्रेष्ठ अर्जुन अपने बाणोंकी वृष्टिसे शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवयुद्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंके साथ अर्जुनका युद्धविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध और दुःशलाके अनुरोधसे उसकी समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो गाण्डीवभृच्छूरो युद्धाय समुपस्थितः ।
विबभौ युधि दुर्धर्षो हिमवानचलो यथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर गाण्डीवधारी शूर-वीर अर्जुन युद्धके लिये उद्यत हो गये। वे शत्रुओंके लिये दुर्जय थे और युद्धभूमिमें हिमवान् पर्वतके समान अचल भावसे डटे रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥१॥

ततस्ते सैन्धवा योधाः पुनरेव व्यवस्थिताः ।
व्यमुञ्चन्त सुसंरब्धाः शरवर्षाणि भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन! तदनन्तर सिन्धुदेशीय योद्धा फिरसे संगठित होकर खड़े हो गये और अत्यन्त क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तान् प्रहस्य महाबाहुः पुनरेव व्यवस्थितान् ।
ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षूञ्श्लक्ष्णया गिरा।
युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वं विजये मम ॥ ३ ॥

उस समय महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन पुनः मरनेकी इच्छासे खड़े हुए सैन्धवोंको सम्बोधित करके हँसते हुए मधुरवाणीमें बोले—'वीरो! तुम पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो और मुझपर विजय पानेका प्रयत्न करते रहो ॥ ३ ॥

कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद् वो भयमागतम् ।
एष योत्स्यामि सर्वांस्तु निवार्य शरवागुराम् ॥ ४ ॥

'तुम अपने सारे कार्य पूरे कर लो। तुमलोगोंपर महान् भय आ पहुँचा है। यह देखो-मैं तुम्हारे बाणोंका जाल छिन्न-भिन्न करके तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हूँ ॥ ४ ॥

तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं शमयितास्मि वः ।
एतावदुक्त्वा कौरव्यो रोषाद् गाण्डीवभृत् तदा ॥ ५ ॥
ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।
न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ॥ ६ ॥
जेतव्याश्चेति यत् प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना ।
चिन्तयामास स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

'मनमें युद्धका हौसला लेकर खड़े रहो। मैं तुम्हारा घमण्ड चूर किये देता हूँ।' भारत! गाण्डीवधारी कुरुनन्दन अर्जुन शत्रुओंसे ऐसा वचन कहकर अपने बड़े भाईकी कही हुई बातें याद करने लगे। महात्मा धर्मराजने कहा था कि 'तात! रणभूमिमें विजयकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रियोंका वध न करना। साथ ही उन्हें पराजित भी करना।' इस बातको याद करके पुरुषप्रवर अर्जुन इस प्रकार चिन्ता करने लगे ॥ ५–७ ॥

इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति ।
कथं तन्न मृषेदं स्याद् धर्मराजवचः शुभम् ॥ ८ ॥
न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् ।
इति संचिन्त्य स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥
प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान् युद्धदुर्मदान् ।

'अहो! महाराजने कहा था कि क्षत्रियोंका वध न करना। धर्मराजका वह मङ्गलमय वचन कैसे मिथ्या न हो। राजालोग मारे न जायँ और राजा युधिष्ठिरकी आज्ञाका पालन हो जाय, इसके लिये क्या करना चाहिये।' ऐसा सोचकर धर्मके ज्ञाता पुरुषप्रवर अर्जुनने रणोन्मत्त सैन्धवोंसे इस प्रकार कहा—॥८-९½ ॥

श्रेयो वदामि युष्माकं न हिंसेयमवस्थितान् ॥ १० ॥
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः ।
एतच्छ्रुत्वा वचो मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ॥ ११ ॥

'योद्धाओ! मैं तुम्हारे कल्याणकी बात बता रहा हूँ। तुममेंसे जो कोई अपनी पराजय स्वीकार करते हुए रणभूमिमें यह कहेगा कि मैं आपका हूँ, आपने मुझे युद्धमें जीत लिया

है, वह सामने खड़ा रहे तो भी मैं उसका वध नहीं करूँगा। मेरी यह बात सुनकर तुम्हें जिसमें अपना हित दिखायी पड़े, वह करो ॥ ११ ॥

ततोऽन्यथा कृच्छ्रगता भविष्यथ मयार्दिताः।
एवमुक्त्वा तु तान् वीरान् युयुधे कुरुपुङ्गवः ॥ १२ ॥
अर्जुनोऽतीव संक्रुद्धः संक्रुद्धैर्विजिगीषुभिः।

'यदि मेरे कथनके विपरीत तुमलोग युद्धके लिये उद्यत हुए तो मुझसे पीड़ित होकर भारी संकटमें पड़ जाओगे।' उन वीरोंसे ऐसा कहकर कुरुकुलतिलक अर्जुन अत्यन्त कुपित हो क्रोधमें भरे हुए विजयाभिलाषी सैन्धवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ १२½ ॥

शतं शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ॥ १३ ॥
मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गाण्डीवधन्वनि।

राजन्! उस समय सैन्धवोंने गाण्डीवधारी अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक करोड़ बाणोंका प्रहार किया ॥

शरानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ॥ १४ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैरन्तरा स धनंजयः।

विषधर सर्पोंके समान उन कठोर बाणोंको अपनी ओर आते देख अर्जुनने तीखे सायकोंद्वारा उन सबको बीचसे काट डाला ॥ १४½ ॥

छित्त्वा तु तानाशु चैव कङ्कपत्राञ्छिलाशितान् ॥ १५ ॥
एकैकमेषां समरे बिभेद निशितैः शरैः।

सानपर चढ़ाकर तेज किये गये उन कङ्कपत्रयुक्त बाणों-के तुरंत ही टुकड़े-टुकड़े करके समराङ्गणमें अर्जुनने सैन्धव वीरोंमेंसे प्रत्येकको पैने बाण मारकर घायल कर दिया ॥

ततः प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनंजयम् ॥ १६ ॥
जयद्रथं हतं स्मृत्वा चिक्षिपुः सैन्धवा नृपाः।

तदनन्तर जयद्रथ-वधका स्मरण करके सैन्धवोंने अर्जुन-पर पुनः बहुत-से प्रासों और शक्तियोंका प्रहार किया ॥१६½॥

तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महाबलः ॥ १७ ॥
सर्वांस्तानन्तरा च्छित्त्वा तदा चुक्रोश पाण्डवः।

परंतु महाबली किरीटधारी पाण्डुकुमार अर्जुनने उनका सारा मनसूबा व्यर्थ कर दिया। उन्होंने उन सभी प्रासों और शक्तियोंको बीचसे ही काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ॥

तथैवापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ॥ १८ ॥
शिरांसि पातयामास भल्लैः संनतपर्वभिः।

साथ ही, विजयकी अभिलाषा लेकर आक्रमण करनेवाले उन सैन्धव योद्धाओंके मस्तकोंको वे झुकी हुई गाँठवाले भल्लों-द्वारा काट-काटकर गिराने लगे ॥ १८½ ॥

तेषां प्रद्रवतां चापि पुनरेवाभिधावताम् ॥ १९ ॥
निवर्ततां च शब्दोऽभूत् पूर्णस्येव महोदधेः।

उनमेंसे कुछ लोग भागने लगे, कुछ लोग फिरसे धावा करने लगे और कुछ लोग युद्धसे निवृत्त होने लगे। उन सब-का कोलाहल जलसे भरे हुए महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान हो रहा था ॥ १९½ ॥

ते वध्यमानास्तु तदा पार्थेनामिततेजसा ॥ २० ॥
यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम्।

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा मारे जानेपर भी सैन्धव योद्धा बल और उत्साहपूर्वक उनके साथ जूझते ही रहे ॥

ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः।

थोड़ी ही देरमें अर्जुनने युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा अधिकांश सैन्धव वीरोंको संज्ञाशून्य कर दिया। उनके वाहन और सैनिक भी थकावटसे खिन्न हो रहे थे ॥ २१½ ॥

तांस्तु सर्वान् परिग्लानान् विदित्वा धृतराष्ट्रजा ॥ २२ ॥
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत् तदा ॥ २३ ॥
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम्।

समस्त सैन्धव वीरोंको कष्ट पाते जान धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला अपने बेटे सुरथके वीर बालकको जो उसका पौत्र था, साथ ले रथपर सवार हो रणभूमिमें पाण्डुकुमार अर्जुनके पास आयी। उसके आनेका उद्देश्य यह था कि सब योद्धा युद्ध छोड़कर शान्त हो जायँ ॥ २२-२३½ ॥

सा धनंजयमासाद्य रुरोदार्तस्वरं तदा ॥ २४ ॥
धनंजयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः।

वह अर्जुनके पास आकर आर्तस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगी। शक्तिशाली अर्जुनने भी उसे सामने देख अपना धनुष नीचे डाल दिया ॥ २४½ ॥

समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद् भगिनीं तदा ॥ २५ ॥
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह।

धनुष त्यागकर कुन्तीकुमारने विधिपूर्वक बहिनका सत्कार किया और पूछा—'बहिन! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?' तब दुःशलाने उत्तर दिया—॥२५½॥

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ॥ २६ ॥
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ।

'भैया! भरतश्रेष्ठ! यह तुम्हारे भानजे सुरथका औरस पुत्र है। पुरुषप्रवर पार्थ! इसकी ओर देखो, यह तुम्हें प्रणाम करता है' ॥ २६½ ॥



इत्युक्तस्तस्य पित स पप्रच्छार्जुनस्तथा ॥ २७ ॥
क्वासाविति ततो राजन् दुःशला वाक्यमब्रवीत्।

राजन्! दुःशलाके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उस बालकके पिताके विषयमें जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा—'बहिन! सुरथ कहाँ है ?' तब दुःशला बोली—॥ २७½ ॥

पितृशोकाभिसंतप्तो विषादार्तोऽस्य वै पिता ॥ २८ ॥
पञ्चत्वमगमद् वीरो यथा तन्मे निशामय।

'भैया! इस बालकका पिता वीर सुरथ पितृशोकसे संतप्त और विषादसे पीड़ित हो जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुआ है, वह मुझसे सुनो ॥ २८½ ॥

स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं युद्धे त्वयानघ ॥ २९ ॥
त्वामागतं च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम्।
पितुश्च मृत्युदुःखार्तोऽजहात् प्राणान् धनंजय ॥ ३० ॥

'निष्पाप अर्जुन! मेरे पुत्र सुरथने पहलेसे सुन रक्खा था कि अर्जुनके हाथसे ही मेरे पिताकी मृत्यु हुई है। इसके बाद जब उसके कानोंमें यह समाचार पड़ा है कि तुम घोड़ेके पीछे-पीछे युद्धके लिये यहाँतक आ पहुँचे हो तो वह पिताकी मृत्युके दुःखसे आतुर हो अपने प्राणोंका परित्याग कर बैठा है ॥ २९-३० ॥

प्राप्तो बीभत्सुरित्येव नाम श्रुत्वैव तेऽनघ।
विषादार्तः पपातोर्व्यां ममार च ममात्मजः ॥ ३१ ॥

'अनघ! 'अर्जुन आये' इन शब्दोंके साथ तुम्हारा नाममात्र सुनकर ही मेरा बेटा विषादसे पीड़ित हो पृथ्वीपर गिरा और मर गया ॥ ३१ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं तत्र ततस्तस्यात्मजं प्रभो।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ॥ ३२ ॥

'प्रभो! उसको ऐसी अवस्थामें पड़ा हुआ देख उसके पुत्रको साथ ले मैं शरण खोजती हुई आज तुम्हारे पास आयी हूँ' ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वाऽऽर्तस्वरं सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा।
दीना दीनं स्थितं पार्थमब्रवीच्चाप्यधोमुखम् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर धृतराष्ट्र-पुत्री दुःशला दीन होकर आर्तस्वरसे विलाप करने लगी। उसकी दीनदशा देख अर्जुन भी दीन भावसे अपना मुँह नीचे किये खड़े रहे। उस समय दुःशला उनसे फिर बोली—॥ ३३ ॥

स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥ ३४ ॥

'भैया! तुम कुरुकुलमें श्रेष्ठ और धर्मको जाननेवाले हो। अतः दया करो। अपनी इस दुखिया बहिनकी ओर देखो और भानजेके बेटेपर भी कृपादृष्टि करो ॥ ३४ ॥

विस्मृत्य कुरुराजानं तं च मन्दं जयद्रथम्।
अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित् परवीरहा ॥ ३५ ॥
तथायं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुजः।

'मन्दबुद्धि दुर्योधन और जयद्रथको भूलकर हमें अपनाओ। जैसे अभिमन्युसे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परीक्षित्‌का जन्म हुआ है, उसी प्रकार सुरथसे यह मेरा महाबाहु पौत्र उत्पन्न हुआ है ॥ ३५½ ॥

तमादाय नरव्याघ्र सम्प्राप्तास्मि तवान्तिकम् ॥ ३६ ॥
शमार्थं सर्वयोधानां श्रृणु चेदं वचो मम।

'पुरुषसिंह! मैं इसीको लेकर समस्त योद्धाओंको शान्त करनेके लिये आज तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३६½ ॥

आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पुत्रकः ॥ ३७ ॥
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात् त्वं कर्तुमर्हसि।

'महाबाहो! यह उस मन्दबुद्धि जयद्रथका पौत्र तुम्हारी शरणमें आया है। अतः इस बालकपर तुम्हें कृपा करनी चाहिये ॥ ३७½ ॥

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम ॥ ३८ ॥
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनंजय।

'शत्रुदमन महाबाहु धनंजय! यह तुम्हारे चरणोंमें सिर रखकर तुम्हें प्रसन्न करके तुमसे शान्तिके लिये याचना करता है। अब तुम शान्त हो जाओ ॥ ३८½ ॥

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः ॥ ३९ ॥
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः।

'यह अबोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके भाई-बन्धु नष्ट हो चुके हैं। अतः धर्मज्ञ अर्जुन! तुम इसके ऊपर कृपा करो। क्रोधके वशीभूत न होओ॥ ३९½॥

तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम्॥ ४०॥
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि।

'इस बालकका पितामह (जयद्रथ) अनार्य, नृशंस और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस बालकपर कृपा करो'॥ ४०½॥

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनंजयः॥ ४१॥
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम्।
उवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत्॥ ४२॥

जब दुःशला इस प्रकार करुणायुक्त वचन कहने लगी, तब अर्जुन राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी देवीको याद करके दुःख और शोकसे पीड़ित हो क्षत्रिय-धर्मकी निन्दा करने लगे—॥ ४१-४२॥

यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम्।
इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादिप्रसादमकरोज्जयः॥ ४३॥
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान् प्रति॥ ४४॥

'उस क्षात्र-धर्मको धिक्कार है, जिसके लिये मैंने अपने सारे बान्धवजनोंको यमलोक पहुँचा दिया।' ऐसा कहकर अर्जुनने दुःशलाको बहुत सान्त्वना दी और उसके प्रति अपने कृपाप्रसादका परिचय दिया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उससे गले मिलकर उसे घरकी ओर विदा किया॥ ४३-४४॥

दुःशला चापि तान् योधान् निवार्य महतो रणात्।
सम्पूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना॥ ४५॥

तदनन्तर सुमुखी दुःशलाने उस महान् समरसे अपने समस्त योद्धाओंको पीछे लौटाया और अर्जुनकी प्रशंसा करती हुई वह अपने घरको लौट गयी॥ ४५॥

एवं निर्जित्य तान् वीरान् सैन्धवान् स धनंजयः।
अन्वधावत धावन्तं हयं कामविचारिणम्॥ ४६॥

इस प्रकार सैन्धव वीरोंको परास्त करके अर्जुन इच्छानुसार विचरने और दौड़नेवाले उस घोड़ेके पीछे-पीछे स्वयं भी दौड़ने लगे॥ ४६॥

ततो मृगमिवाकाशे यथा देवः पिनाकधृक्।
ससार तं तथा वीरो विधिवद् यज्ञियं हयम्॥ ४७॥

जैसे पिनाकधारी महादेवजी आकाशमें मृगके पीछे दौड़े थे, उसी प्रकार वीर अर्जुनने उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेका विधिपूर्वक अनुसरण किया॥ ४७॥

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम्।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन्॥ ४८॥

वह अश्व यथेष्टगतिसे क्रमशः सभी देशोंमें घूमता और अर्जुनके पराक्रमका विस्तार करता हुआ इच्छानुसार विचरने लगा॥ ४८॥

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सहपाण्डवः॥ ४९॥

पुरुषप्रवर जनमेजय! इस प्रकार क्रमशः विचरण करता हुआ वह अश्व अर्जुनसहित मणिपुर-नरेशके राज्यमें जा पहुँचा॥ ४९॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवपराजये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंकी पराजयविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७८॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्ध एवं अर्जुनकी मृत्यु

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनने जब सुना कि मेरे पिता आये हैं, तब वह ब्राह्मणोंको आगे करके बहुत-सा धन साथमें लेकर बड़ी विनयके साथ उनके दर्शनके लिये नगरसे बाहर निकला॥

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनंजयः।
नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ २॥

मणिपुर-नरेशको इस प्रकार आया देख परम बुद्धिमान् धनंजयने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेकर उसका आदर नहीं किया॥ २॥

उवाच च स धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः॥ ३॥

उस समय धर्मात्मा अर्जुन कुछ कुपित होकर बोले—'बेटा! तेरा यह ढंग ठीक नहीं है। जान पड़ता है, तू क्षत्रिय-धर्मसे बहिष्कृत हो गया है॥ ३॥

संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम्।
यज्ञियं विषयान्ते मां नायौत्सीः किं नु पुत्रक॥ ४॥

'पुत्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वकी रक्षा

करता हुआ तेरे राज्यके भीतर आया हूँ। फिर भी तू मुझसे युद्ध क्यों नहीं करता ? ॥ ४ ॥

धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम्।
यो मां युद्धाय सम्प्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ॥ ५ ॥

'तुझ दुर्बुद्धिको धिक्कार है, तू निश्चय ही क्षत्रिय-धर्मसे भ्रष्ट हो गया है; क्योंकि युद्धके लिये आये हुए मेरा स्वागत-सत्कार तू सामनीतिसे कर रहा है ॥ ५ ॥

न त्वया पुरुषार्थो हि कश्चिदस्तीह जीवता।
यस्त्वं स्त्रीवद् यथाप्राप्तं मां साम्ना प्रत्यगृह्णथाः॥ ६ ॥

'तूने संसारमें जीवित रहकर भी कोई पुरुषार्थ नहीं किया। तभी तो एक स्त्रीकी भाँति तू यहाँ युद्धके लिये आये हुए मुझे शान्तिपूर्वक साथ लेनेके लिये चेष्टा कर रहा है ॥

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते।
प्रक्रियेयं भवेद् युक्ता तावत् तव नराधम ॥ ७ ॥

'दुर्बुद्धे ! नराधम ! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो तेरा इस ढंगसे मिलना ठीक हो सकता था' ॥ ७ ॥

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा।
अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत् ॥ ८ ॥

पतिदेव अर्जुन जब अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे ऐसी बात कह रहे थे, उस समय नागकन्या उलूपी उस बातको सुनकर उनके अभिप्रायको जान गयी और उनके द्वारा किये गये पुत्रके तिरस्कारको सहन न कर सकनेके कारण वह धरती छेदकर वहाँ चली आयी ॥ ८ ॥

सा ददर्श ततः पुत्रं विमृशन्तमधोमुखम्।
संतर्ज्यमानमसकृत् पित्रा युद्धार्थिना प्रभो ॥ ९ ॥
ततः सा चारुसर्वाङ्गी समुपेत्योरगात्मजा।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ॥ १० ॥

प्रभो ! उसने देखा कि पुत्र बभ्रुवाहन नीचे मुँह किये किसी सोच-विचारमें पड़ा हुआ है और युद्धार्थी पिता उसे बारंबार डाँट-फटकार रहे हैं। तब मनोहर अङ्गोंवाली नागकन्या उलूपी धर्मनिपुण बभ्रुवाहनके पास आकर यह धर्मसम्मत बात बोली—॥ ९-१० ॥

उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम्।
कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः ॥ ११ ॥

'बेटा ! तुम्हें विदित होना चाहिये कि मैं तुम्हारी विमाता नागकन्या उलूपी हूँ। तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। इससे तुम्हें महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम्।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥ १२ ॥

'तुम्हारे पिता कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर और युद्धके मदसे उन्मत्त रहनेवाले हैं। अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो। ऐसा करनेसे ये तुमपर प्रसन्न होंगे। इसमें संशय नहीं है' ॥

एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! माताके द्वारा इस प्रकार अमर्ष दिलाये जानेपर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने मन-ही-मन युद्ध करनेका निश्चय किया ॥ १३ ॥

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत्।
तूणीरशतसम्बाधमारुरोह रथोत्तमम् ॥ १४ ॥

सुवर्णमय कवच पहनकर तेजस्वी शिरस्त्राण (टोप) धारण करके वह सैकड़ों तरकसोंसे भरे हुए उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ ॥ १४ ॥

सर्वोपकरणोपेतं युक्तमश्वैर्मनोजवैः।
सचक्रोपस्करं श्रीमान् हेमभाण्डपरिष्कृतम् ॥ १५ ॥
परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम्।
प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ॥ १६ ॥

उस रथमें सब प्रकारकी युद्ध-सामग्री सजाकर रक्खी गयी थी। मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। चक्र और अन्य आवश्यक सामान भी प्रस्तुत थे। सोनेके भाण्ड उसकी शोभा बढ़ाते थे। सुवर्णसे ही उस रथका निर्माण हुआ था। उसपर सिंहके चिह्नवाली ऊँची ध्वजा फहरा रही थी। उस परम पूजित उत्तम रथपर सवार हो श्रीमान् राजा बभ्रुवाहन अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ॥ १५-१६ ॥

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम्।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥ १७ ॥

पार्थद्वारा सुरक्षित उस यज्ञसम्बन्धी अश्वके पास जाकर उस वीरने अश्वशिक्षाविशारद पुरुषोंद्वारा उसे पकड़वा लिया ॥

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनंजयः।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥ १८ ॥

घोड़ेको पकड़ा गया देख अर्जुन मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि वे भूमिपर खड़े थे तो भी रथपर बैठे हुए अपने पुत्रको युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥

स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः।
अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥

राजा बभ्रुवाहनने वहाँ अपने वीर पिताको विषैले साँपोंके समान जहरीले और तेज किये हुए सैकड़ों बाणसमूहोंद्वारा बींधकर अनेक बार पीड़ित किया ॥ १९ ॥

तयोः समभवद् युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम्।
देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः ॥ २० ॥

वे पिता और पुत्र दोनों प्रसन्न होकर लड़ रहे थे। उन दोनोंका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था। उसकी इस जगत्‌में कहीं भी तुलना नहीं थी ॥ २० ॥

किरीटिनं प्रविव्याध शरेणानतपर्वणा।
जत्रुदेशे नरव्याघ्रं प्रहसन् बभ्रुवाहनः ॥ २१ ॥

बभ्रुवाहनने हँसते-हँसते पुरुषसिंह अर्जुनके गलेकी हँसलीमें झुकी हुई गाँठवाले एक बाणद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥

सोऽभ्यगात् सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः।
विनिर्भिद्य च कौन्तेयं प्रविवेश महीतलम् ॥ २२ ॥

जैसे साँप बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह बाण अर्जुनके शरीरमें पंखसहित घुस गया और उसे छेदकर पृथ्वीमें समा गया ॥ २२ ॥

स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम्।
दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव सोऽभवत् ॥ २३ ॥

इससे अर्जुनको बड़ी वेदना हुई। बुद्धिमान् अर्जुन अपने उत्तम धनुषका सहारा लेकर दिव्य तेजमें स्थित हो मुर्देके समान हो गये ॥ २३ ॥

स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः।
पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महाद्युतिः ॥ २४ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आनेपर महातेजस्वी पुरुषप्रवर इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पुत्रकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

साधु साधु महाबाहो वत्स चित्राङ्गदात्मज।
सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक ॥ २५ ॥

'महाबाहु चित्राङ्गदाकुमार! तुम्हें साधुवाद। वत्स! तुम धन्य हो। पुत्र! तुम्हारे योग्य पराक्रम देखकर मैं तुम-पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २५ ॥

विमुञ्चाम्येष ते बाणान् पुत्र युद्धे स्थिरो भव।
इत्येवमुक्त्वा नाराचैरभ्यवर्षदमित्रहा ॥ २६ ॥

'अच्छा बेटा! अब मैं तुमपर बाण छोड़ता हूँ। तुम सावधान एवं स्थिर हो जाओ।' ऐसा कहकर शत्रुसूदन अर्जुनने बभ्रुवाहनपर नाराचोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २६ ॥

तान् स गाण्डीवनिर्मुक्तान् वज्राशनिसमप्रभान्।
नाराचानच्छिनद् राजा भल्लैः सर्वांस्त्रिधा द्विधा ॥ २७ ॥

परंतु राजा बभ्रुवाहनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए वज्र और बिजलीके समान तेजस्वी उन समस्त नाराचोंको अपने भल्लोंद्वारा मारकर प्रत्येकके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥ २७ ॥

तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।
सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणापाहरद् रथात् ॥ २८ ॥
हयांश्चास्य महाकायान् महावेगानरिंदम।
चकार राजन् निर्जीवान् प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ २९ ॥

राजन्! तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने हँसते हुए-से अपने क्षुर नामक दिव्य बाणोंद्वारा बभ्रुवाहनके रथसे सुनहरे तालवृक्षके समान ऊँची सुवर्णभूषित ध्वजा काट गिरायी। शत्रुदमन नरेश! साथ ही उन्होंने उसके महान् वेगशाली विशालकाय घोड़ोंके भी प्राण ले लिये ॥ २८-२९ ॥

स रथादवतीर्याथ राजा परमकोपनः।
पदातिः पितरं क्रुद्धो योधयामास पाण्डवम् ॥ ३० ॥

तब रथसे उतरकर परम क्रोधी राजा बभ्रुवाहन कुपित हो पैदल ही अपने पिता पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ३० ॥

सम्प्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात्।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ॥ ३१ ॥

कुन्तीपुत्रोंमें श्रेष्ठ इन्द्रकुमार अर्जुन अपने बेटेके पराक्रम-से बहुत प्रसन्न हुए थे। इसलिये वे उसे अधिक पीड़ा नहीं देते थे ॥ ३१ ॥

स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ॥ ३२ ॥

बलवान् बभ्रुवाहन पिताको युद्धसे विरत मानकर विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंद्वारा उन्हें पुनः पीड़ा देने लगा ॥ ३२ ॥

ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद् बभ्रुवाहनः ॥ ३३ ॥

उसने बालोचित अविवेकके कारण परिणामपर विचार किये बिना ही सुन्दर पाँखवाले एक तीखे बाणद्वारा पिताकी छातीमें एक गहरा आघात किया ॥ ३३ ॥

विवेश पाण्डवं राजन् मर्म भित्त्वातिदुःखकृत्।
स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ॥ ३४ ॥
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन् धनंजयः।

राजन्! वह अत्यन्त दुःखदायी बाण पाण्डुपुत्र अर्जुनके मर्म-स्थलको विदीर्ण करके भीतर घुस गया। महाराज! पुत्रके चलाये हुए उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर कुरुनन्दन अर्जुन मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३४½ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे कौरवाणां धुरंधरे ॥ ३५ ॥
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः।

कौरव-धुरंधर वीर अर्जुनके धराशायी होनेपर चित्राङ्गदा-कुमार बभ्रुवाहन भी मूर्छित हो गया ॥ ३५½ ॥

व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वमेव स बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन ह।
पपात सोऽपि धरणीमालिङ्गय रणमूर्धनि ॥ ३७ ॥

राजा बभ्रुवाहन युद्धस्थलमें बड़ा परिश्रम करके लड़ा था। वह भी अर्जुनके बाणसमूहोंद्वारा पहलेसे ही बहुत घायल हो चुका था। अतः पिताको मारा गया देख वह भी युद्धके मुहानेपर अचेत होकर गिर पड़ा और पृथ्वीका आलिङ्गन करने लगा ॥ ३६-३७ ॥

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ॥ ३८ ॥

पतिदेव मारे गये और पुत्र भी संज्ञाशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह देख चित्राङ्गदाने संतप्त हृदयसे समराङ्गणमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥

शोकसंतप्तहृदया रुदती वेपती भृशम्।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ॥ ३९ ॥

मणिपुर-नरेशकी माताका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा था! रोती और काँपती हुई चित्राङ्गदाने देखा कि पतिदेव मारे गये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनबभ्रुवाहनयुद्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्धविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

चित्राङ्गदाका विलाप, मूर्छासे जगनेपर बभ्रुवाहनका शोकोद्गार और उलूपीके प्रयत्नसे संजीवनीमणिके द्वारा अर्जुनका पुनः जीवित होना

वैशम्पायन उवाच

ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा।
मुमोह दुःखसंतप्ता पपात च महीतले ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीरु स्वभाववाली कमलनयनी चित्राङ्गदा पतिवियोग-दुःखसे संतप्त होकर बहुत विलाप करती हुई मूर्छित हो गयी और पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ १ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

कुछ देर बाद होशमें आनेपर दिव्यरूपधारिणी देवी चित्राङ्गदाने नागकन्या उलूपीको सामने खड़ी देख इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥



उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ॥ ३ ॥

'उलूपी! देखो, हम दोनोंके स्वामी मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हैं। तुम्हारी प्रेरणासे ही मेरे बेटेने समरविजयी अर्जुनका वध किया है ॥ ३ ॥

ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ॥ ४ ॥

'बहिन! तुम तो आर्यधर्मको जाननेवाली और पतिव्रता हो। तथापि तुम्हारी ही करतूतसे ये तुम्हारे पति इस समय रणभूमिमें मरे पड़े हैं ॥ ४ ॥

किंतु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः।
क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनंजयम् ॥ ५ ॥

'किंतु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों तो भी आज क्षमा कर दो। मैं तुमसे इनके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। तुम धनंजयको जीवित कर दो ॥ ५ ॥

ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे।
यद् घातयित्वा पुत्रेण भर्तारं नानुशोचसि ॥ ६ ॥

'आर्ये! शुभे! तुम धर्मको जाननेवाली और तीनों लोकोंमें विख्यात हो। तो भी आज पुत्रसे पतिकी हत्या कराकर तुम्हें शोक या पश्चात्ताप नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? ॥ ६ ॥

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि।
पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ॥ ७ ॥

'नागकुमारी! मेरा पुत्र भी मरा पड़ा है, तो भी मैं उसके लिये शोक नहीं करती। मुझे केवल पतिके लिये शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहाँ इस तरह आतिथ्य-सत्कार किया गया' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम्।

भर्तारमभिगम्येदमित्युवाच यशस्विनी ॥ ८ ॥

नागकन्या उलूपीदेवीसे ऐसा कहकर यशस्विनी चित्राङ्गदा उस समय पतिके निकट गयी और उन्हें सम्बोधित करके इस प्रकार विलाप करने लगी—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रियमुख्य मम प्रिय।
अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ॥ ९ ॥

'कुरुराजके प्रियतम और मेरे प्राणाधार ! उठो। महाबाहो ! मैंने तुम्हारा यह घोड़ा छुड़वा दिया है ॥ ९ ॥

ननु त्वया नाम विभो धर्मराजस्य यज्ञियः।
अयमश्वोऽनुसर्तव्यः स शेषे किं महीतले ॥ १० ॥

'प्रभो ! तुम्हें तो महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वके पीछे-पीछे जाना है; फिर यहाँ पृथ्वीपर कैसे सो रहे हो?॥

त्वयि प्राणा ममायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन।
स कस्मात् प्राणदोऽन्येषां प्राणान् संत्यक्तवानसि।११।

'कुरुनन्दन ! मेरे और कौरवोंके प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं। तुम तो दूसरोंके प्राणदाता हो, तुमने स्वयं कैसे प्राण त्याग दिये ?' ॥ ११ ॥

उलूपि साधु पश्येमं पतिं निपतितं भुवि।
पुत्रं चेमं समुत्साह्य घातयित्वा न शोचसि ॥ १२ ॥

(इतना कहकर वह फिर उलूपीसे बोली—) 'उलूपी ! ये पतिदेव भूतलपर पड़े हैं। तुम इन्हें अच्छी तरह देख लो। तुमने इस बेटेको उकसाकर स्वामीकी हत्या करायी है। क्या इसके लिये तुम्हें शोक नहीं होता ? ॥ १२ ॥

कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ मृत्युवशं गतः।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु ॥ १३ ॥

'मृत्युके वशमें पड़ा हुआ मेरा यह बालक चाहे सदाके लिये भूमिपर सोता रह जाय, किंतु निद्राके स्वामी, विजय पानेवाले अरुणनयन अर्जुन अवश्य जीवित हों—यही उत्तम है॥

नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता।
प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १४ ॥

'सुभगे ! कोई पुरुष बहुत-सी स्त्रियोंको पत्नी बनाकर रखे, तो उनके लिये यह अपराध या दोषकी बात नहीं होती। स्त्रियाँ यदि ऐसा करें (अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध रखें) तो यह उनके लिये अवश्य दोष या पापकी बात होती है। अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्रूर नहीं होनी चाहिये ॥ १४ ॥

सख्यं चैतत् कृतं धात्रा शश्वदव्ययमेव तु।
सख्यं समभिजानीहि सत्यं सङ्गतमस्तु ते ॥ १५ ॥

'विधाताने पति और पत्नीकी मित्रता सदा रहनेवाली और अटूट बनायी है। (तुम्हारा भी इनके साथ वही सम्बन्ध है।) इस सख्यभावके महत्त्वको समझो और ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारी इनके साथ की हुई मैत्री सत्य एवं सार्थक हो ॥ १५ ॥

पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १६ ॥

'तुम्हींने बेटेको लड़ाकर उसके द्वारा इन पतिदेवकी हत्या करवायी है। यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी प्राण त्याग दूँगी ॥

साहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता।
इहैव प्रायमासिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ॥ १७ ॥

'देवि ! मैं पति और पुत्र दोनोंसे वञ्चित होकर दुःखमें डूब गयी हूँ। अतः अब यहीं तुम्हारे देखते-देखते मैं आमरण उपवास करूँगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! नागकन्यासे ऐसा कहकर उसकी सौत चित्रवाहन-कुमारी चित्राङ्गदा आमरण उपवासका संकल्प लेकर चुपचाप बैठ गयी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विलप्य विरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा।
उपविष्टाभवद् दीना सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विलाप करके उससे विरत हो चित्राङ्गदा अपने पतिके दोनों चरण पकड़कर दीनभावसे बैठ गयी और लंबी साँस खींच-खींचकर अपने पुत्रकी ओर भी देखने लगी ॥ १९ ॥

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥ २० ॥

थोड़ी ही देरमें राजा बभ्रुवाहनको पुनः चेत हुआ। वह अपनी माताको रणभूमिमें बैठी देख इस प्रकार विलाप करने लगा—॥ २० ॥

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥ २१ ॥

'हाय ! जो अबतक सुखोंमें पली थी, वही मेरी माता चित्राङ्गदा आज मृत्युके अधीन होकर पृथ्वीपर पड़े हुए अपने वीर पतिके साथ मरनेका निश्चय करके बैठी हुई है। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥२१॥

निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं बत ॥ २२ ॥

'संग्राममें जिनका वध करना दूसरेके लिये नितान्त कठिन है, जो युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, उन्हीं मेरे पिता अर्जुनको आज यह मेरे ही हाथों मरकर पड़ा देख रही है ॥ २२ ॥

अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं प्रेक्षन्त्या निहतं पतिम् ॥ २३ ॥
दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते ।

'चौड़ी छाती और विशाल भुजावाले अपने पतिको मारा गया देखकर भी जो मेरी माता चित्राङ्गदा देवीका दृढ़ हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता है । इससे मैं यह मानता हूँ कि अन्त-काल आये बिना मनुष्यका मरना बहुत कठिन है ॥ २३½ ॥

यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ॥ २४ ॥
हा हा धिक् कुरुवीरस्य संनाहं काञ्चनं भुवि ।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ॥ २५ ॥

'तभी तो इस संकटके समय भी मेरे और मेरी माताके प्राण नहीं निकलते । हाय ! हाय ! मुझे धिक्कार है, लोगो ! देख लो ! मुझ पुत्रके द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुनका सुनहरा कवच यहाँ पृथ्वीपर फेंका पड़ा है ॥ २४-२५ ॥

भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥ २६ ॥

'हे ब्राह्मणो ! देखो, मुझ पुत्रके द्वारा मार गिराये गये मेरे वीर पिता अर्जुन वीरशय्यापर सो रहे हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य ये मुक्ता हयसारिणः ।
कुर्वन्ति शान्तिं कामस्य रणे योऽयं मया हतः ॥ २७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके घोड़ेके पीछे-पीछे चलनेवाले जो ब्राह्मणलोग शान्तिकर्म करनेके लिये नियुक्त हुए हैं, वे इनके लिये कौन-सी शान्ति करते थे, जो ये रणभूमिमें मेरेद्वारा मार डाले गये ! ॥ २७ ॥

व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे ।
सुनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे ॥ २८ ॥

'ब्राह्मणो ! मैं अत्यन्त क्रूर, पापी और समराङ्गणमें पिताकी हत्या करनेवाला हूँ । बताइये, मेरे लिये अब यहाँ कौन-सा प्रायश्चित्त है ? ॥ २८ ॥

दुश्चरा द्वादशसमा हत्वा पितरमद्य वै ।
ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ॥ २९ ॥
शिरःकपाले चास्यैव युञ्जतः पितुरद्य मे ।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वाद्य पितरं मम ॥ ३० ॥

'आज पिताकी हत्या करके मेरे लिये बारह वर्षोंतक कठोर व्रतका पालन करना अत्यन्त कठिन है । मुझ क्रूर पितृघातीके लिये यहाँ यही प्रायश्चित्त है कि मैं इन्हींके चमड़ेसे अपने शरीरको आच्छादित करके रहूँ और अपने पिताके मस्तक एवं कपालको धारण किये बारह वर्षोंतक विचरता रहूँ । पिताका वध करके अब मेरे लिये दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ २९-३० ॥

पश्य नागोत्तमसुते भर्तारं निहतं मया ।
कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ ३१ ॥

'नागराज-कुमारी ! देखो, युद्धमें मैंने तुम्हारे स्वामीका वध किया है । सम्भव है आज समराङ्गणमें इस तरह अर्जुन-की हत्या करके मैंने तुम्हारा प्रिय कार्य किया हो ॥ ३१ ॥

सोऽहमद्य गमिष्यामि गतिं पितृनिषेविताम् ।
न शक्नोम्यात्मनाऽऽत्मानमहं धारयितुं शुभे ॥ ३२ ॥

'परंतु शुभे ! अब मैं इस शरीरको धारण नहीं कर सकता । आज मैं भी उस मार्गपर जाऊँगा, जहाँ मेरे पिताजी गये हैं ॥ ३२ ॥

सा त्वं मयि मृते मातस्तथा गाण्डीवधन्वनि ।
भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ॥ ३३ ॥

'मातः ! देवि ! मेरे तथा गाण्डीवधारी अर्जुनके मर जानेपर तुम भलीभाँति प्रसन्न होना । मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पिताजीके बिना मेरा जीवन असम्भव है' ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा स ततो राजा दुःखशोकसमाहतः ।
उपस्पृश्य महाराज दुःखाद् वचनमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर दुःख और शोकसे पीड़ित हुए राजा बभ्रुवाहनने आचमन किया और बड़े दुःखसे इस प्रकार कहा— ॥ ३४ ॥

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ॥ ३५ ॥

'संसारके समस्त चराचर प्राणियो ! आप मेरी बात सुनें । नागराजकुमारी माता उलूपी ! तुम भी सुन लो । मैं सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ३५ ॥

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः ।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ ३६ ॥

'यदि मेरे पिता नरश्रेष्ठ अर्जुन आज जीवित हो पुनः उठकर खड़े नहीं हो जाते तो मैं इस रणभूमिमें ही उपवास करके अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ ३६ ॥

न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित् ।
नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ॥ ३७ ॥

'पिताकी हत्या करके मेरे लिये कहीं कोई उद्धारका उपाय नहीं है । गुरुजन (पिता) के वधरूपी पापसे पीड़ित हो मैं निश्चय ही नरकमें पड़ूँगा ॥ ३७ ॥

वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते ।
पितरं तु निहत्यैवं दुर्लभा निष्कृतिर्मम ॥ ३८ ॥

'किसी एक वीर क्षत्रियका वध करके विजेता वीर सौ गोदान करनेसे उस पापसे छुटकारा पाता है; परंतु पिताकी हत्या करके इस प्रकार उस पापसे छुटकारा मिल जाय, यह मेरे लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३८ ॥

एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ॥ ३९ ॥

'ये पाण्डुपुत्र धनंजय अद्वितीय वीर, महान् तेजस्वी, धर्मात्मा तथा मेरे पिता थे। इनका वध करके मैंने महान् पाप किया है। अब मेरा उद्धार कैसे हो सकता है?' ॥ ३९ ॥

इत्येवमुक्त्वा नृपते धनंजयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत् तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! ऐसा कहकर धनंजयकुमार परम बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन पुनः आचमन करके आमरण उपवासका व्रत लेकर चुपचाप बैठ गया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा ।
पितृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परंतप ॥ ४१ ॥
उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।
स चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय ! पिताके शोकसे संतप्त हुआ मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन जब माताके साथ आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठ गया, तब उलूपीने संजीवनमणिका स्मरण किया। नागोंके जीवनकी आधारभूत वह मणि उसके स्मरण करते ही वहाँ आ गयी ॥ ४१-४२ ॥

तं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनःप्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन ! उस मणिको लेकर नागराजकुमारी उलूपी सैनिकोंके मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली बात बोली—॥ ४३ ॥

उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव जिष्णुस्त्वया जितः ।
अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ॥ ४४ ॥

'बेटा बभ्रुवाहन ! उठो, शोक न करो। ये अर्जुन तुम्हारे द्वारा परास्त नहीं हुए हैं। ये तो सभी मनुष्यों और इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ४४ ॥

मया तु मोहनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ॥ ४५ ॥

''यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषप्रवर धनंजयका प्रिय करनेके लिये मोहनी माया दिखलायी है ॥ ४५ ॥

जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युद्ध्यतो राजन्नागतः परवीरहा ॥ ४६ ॥
तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ॥ ४७ ॥

'राजन् ! तुम इनके पुत्र हो। ये शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कुरुकुलतिलक अर्जुन संग्राममें जूझते हुए तुम-जैसे बेटेका बल-पराक्रम जानना चाहते थे। वत्स ! इसीलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये प्रेरित किया है। सामर्थ्यशाली पुत्र ! तुम अपनेमें अणुमात्र पापकी भी आशङ्का न करो ॥ ४६-४७ ॥

ऋषिरेष महानात्मा पुराणः शाश्वतोऽक्षरः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रक ॥ ४८ ॥

'ये महात्मा नर पुरातन ऋषि, सनातन एवं अविनाशी हैं। बेटा ! युद्धमें इन्हें इन्द्र भी नहीं जीत सकते ॥ ४८ ॥

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशाम्पते ।
मृतान् मृतान् पन्नगेन्द्रान् यो जीवयति नित्यदा ॥ ४९ ॥
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ॥ ५० ॥

'प्रजानाथ ! मैं यह दिव्यमणि ले आयी हूँ। यह सदा युद्धमें मरे हुए नागराजोंको जीवित किया करती है। प्रभो ! तुम इसे लेकर अपने पिताकी छातीपर रख दो। फिर तुम पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुनको जीवित हुआ देखोगे' ॥ ४९-५० ॥

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ॥ ५१ ॥

उलूपीके ऐसा कहनेपर निष्पाप कर्म करनेवाले अमिततेजस्वी बभ्रुवाहनने अपने पिता पार्थकी छातीपर स्नेहपूर्वक वह मणि रख दी ॥ ५१ ॥

तस्मिन् न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ॥ ५२ ॥

उस मणिके रखते ही शक्तिशाली वीर अर्जुन देरतक सोकर जगे हुए मनुष्यकी भाँति अपनी लाल आँखें मलते हुए पुनः जीवित हो उठे ॥ ५२ ॥

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ॥ ५३ ॥

अपने मनस्वी पिता महात्मा अर्जुनको सचेत एवं स्वस्थ होकर उठा हुआ देख बभ्रुवाहनने उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ५३ ॥

उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो ।
दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ॥ ५४ ॥

प्रभो ! पुरुषसिंह श्रीमान् अर्जुनके पुनः उठ जानेपर पाकशासन इन्द्रने उनके ऊपर दिव्य एवं पवित्र फूलोंकी वर्षा की ॥ ५४ ॥

अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्मेघनिःस्वनाः ।
साधु साध्विति चाकाशे बभूव सुमहान् स्वनः ॥ ५५ ॥

मेघके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाली देव-दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं और आकाशमें साधुवादकी महान् ध्वनि गूँजने लगी ॥ ५५ ॥

उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनंजयः।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ॥ ५६ ॥

महाबाहु अर्जुन भलीभाँति स्वस्थ होकर उठे और बभ्रुवाहनको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगे ॥ ५६ ॥

ददर्श चापि दूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम्।
उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद् धनंजयः ॥ ५७ ॥

उससे थोड़ी ही दूरपर बभ्रुवाहनकी शोकाकुल माता चित्राङ्गदा उलूपीके साथ खड़ी थी। अर्जुनने जब उसे देखा, तब बभ्रुवाहनसे पूछा— ॥ ५७ ॥

किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत्।
रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस मे ॥ ५८ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर पुत्र! यह सारा समराङ्गण शोक, विस्मय और हर्षसे युक्त क्यों दिखायी देता है? यदि जानते हो तो मुझे बताओ ॥ ५८ ॥

जननी च किमर्थं ते रणभूमिमुपागता।
नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ॥ ५९ ॥

'तुम्हारी माता किसलिये रणभूमिमें आयी है? तथा इस नागराजकन्या उलूपीका आगमन भी यहाँ किसलिये हुआ है? ॥ ५९ ॥

जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात् कृतम्।
स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ॥ ६० ॥

'मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुमने मेरे कहनेसे यह युद्ध किया है; परंतु यहाँ स्त्रियोंके आनेका क्या कारण है? यह मैं जानना चाहता हूँ' ॥ ६० ॥

तमुवाच तथा पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा।
प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छ्यतामियम् ॥ ६१ ॥

पिताके इस प्रकार पूछनेपर विद्वान् मणिपुरनरेशने पिताके चरणोंमें सिर रखकर उन्हें प्रसन्न किया और कहा— 'पिताजी! यह वृत्तान्त आप माता उलूपीसे पूछिये' ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे अर्जुनप्रत्युज्जीवने अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसङ्गमें अर्जुनका पुनर्जीवनविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

उलूपीका अर्जुनके पूछनेपर अपने आगमनका कारण एवं अर्जुनकी पराजयका रहस्य बताना, पुत्र और पत्नीसे विदा लेकर पार्थका पुनः अश्वके पीछे जाना

अर्जुन उवाच

किमागमनकृत्यं ते कौरव्यकुलनन्दिनि।
मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—कौरव्य नागके कुलको आनन्दित करनेवाली उलूपी! इस रणभूमिमें तुम्हारे और मणिपुर-नरेश बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदाके आनेका क्या कारण है? ॥ १ ॥

कच्चित् कुशलकामासि राज्ञोऽस्य भुजगात्मजे।
मम वा चपलापाङ्गि कच्चित् त्वं शुभमिच्छसि ॥ २ ॥

नागकुमारी! तुम इस राजा बभ्रुवाहनका कुशल-मङ्गल तो चाहती हो न? चञ्चल कटाक्षवाली सुन्दरी! तुम मेरे कल्याणकी भी इच्छा रखती हो न? ॥ २ ॥

कच्चित् ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं प्रियदर्शने।
अकार्षमहमज्ञानादयं वा बभ्रुवाहनः ॥ ३ ॥

स्थूलनितम्बवाली प्रियदर्शने! मैंने या इस बभ्रुवाहनने अनजानमें तुम्हारा कोई अप्रिय तो नहीं किया है? ॥ ३ ॥

कच्चिन्नु राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहनी।
चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ॥ ४ ॥

तुम्हारी सौत चित्रवाहनकुमारी वरारोहा राजपुत्री चित्राङ्गदाने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है? ॥ ४ ॥

तमुवाचोरगपतेर्दुहिता प्रहसन्निव।
न मे त्वमपराद्धोऽसि न हि मे बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥
न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता।
श्रूयतां यद् यथा चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ॥ ६ ॥

अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर नागराजकन्या उलूपी हँसती हुई-सी बोली—'प्राणवल्लभ! आपने या बभ्रुवाहनने मेरा कोई अपराध नहीं किया है। बभ्रुवाहनकी माताने भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा है। यह तो सदा दासीकी भाँति मेरी आज्ञाके अधीन रहती है। यहाँ आकर मैंने जो-जो जिस प्रकार काम किया है, वह बतलाती हूँ; सुनिये ॥ ५-६ ॥

न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा त्वां प्रसादये।
त्वत्प्रियार्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मया विभो ॥ ७ ॥

'प्रभो! कुरुनन्दन! पहले तो मैं आपके चरणोंमें सिर रखकर आपको प्रसन्न करना चाहती हूँ। यदि मुझसे कोई दोष बन गया हो तो भी उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें; क्योंकि मैंने जो कुछ किया है, वह आपकी प्रसन्नताके लिये ही किया है ॥ ७ ॥

यत्तच्छृणु महाबाहो निखिलेन धनंजय।
महाभारतयुद्धे यत् त्वया शान्तनवो नृपः ॥ ८ ॥
अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः कृता।

महाभारत



अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुवाहनको छातीसे लगा रहे हैं

'महाबाहु धनंजय ! आप मेरी कही हुई सारी बातें ध्यान देकर सुनिये । पार्थ ! महाभारत युद्धमें आपने जो शान्तनुकुमार महाराज भीष्मको अधर्मपूर्वक मारा है, उस पापका यह प्रायश्चित्त कर दिया गया ॥ ८½ ॥

न हि भीष्मस्त्वया वीर युद्ध्यमानो हि पातितः॥ ९ ॥
शिखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया ।

'वीर ! आपने अपने साथ जूझते हुए भीष्मजीको नहीं मारा है, वे शिखण्डीके साथ उलझे हुए थे । उस दशामें शिखण्डीकी आड़ लेकर आपने उनका वध किया था ॥९½॥

तस्य शान्तिमकृत्वा त्वं त्यजेथा यदि जीवितम्॥ १० ॥
कर्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम् ।

'उसकी शान्ति किये बिना ही यदि आप प्राणोंका परित्याग करते तो उस पापकर्मके प्रभावसे निश्चय ही नरकमें पड़ते ॥ १०½ ॥

एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद् यां प्राप्तवानसि ।
वसुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते ॥ ११ ॥

'महामते ! पृथ्वीपाल ! पूर्वकालमें वसुओं तथा गङ्गाजीने इसी रूपमें उस पापकी शान्ति निश्चित की थी; जिसे आपने अपने पुत्रसे पराजयके रूपमें प्राप्त किया है ॥ ११ ॥

पुरा हि श्रुतमेतत् ते वसुभिः कथितं मया ।
गङ्गायास्तीरमाश्रित्य हते शान्तनवे नृप ॥ १२ ॥

'पहलेकी बात है एक दिन मैं गङ्गाजीके तटपर गयी थी । नरेश्वर ! वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मजीके मारे जानेके बाद वसुओंने गङ्गातटपर आकर आपके सम्बन्धमें जो यह बात कही थी, उसे मैंने अपने कानों सुना था ॥ १२ ॥

आप्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् ।
इदमूचुर्वचो घोरं भागीरथ्या मते तदा ॥ १३ ॥

''वसु नामक देवता महानदी गङ्गाके तटपर एकत्र हो स्नान करके भागीरथीकी सम्मतिसे यह भयानक वचन बोले—॥

एष शान्तनवो भीष्मो निहतः सव्यसाचिना ।
अयुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भाविनि।
तदनेनानुषङ्गेण वयमद्य धनंजयम् ॥ १४ ॥
शापेन योजयामेति तथास्त्विति च साब्रवीत् ।

''भाविनि ! ये शान्तनुनन्दन भीष्म संग्राममें दूसरेके साथ उलझे हुए थे । अर्जुनके साथ युद्ध नहीं कर रहे थे तो भी सव्यसाची अर्जुनने इनका वध किया है । इस अपराधके कारण हमलोग आज अर्जुनको शाप देना चाहते हैं ।' यह सुनकर गङ्गाजीने कहा—'हाँ, ऐसा ही होना चाहिये' ॥१४½ ॥

तदहं पितुरावेद्य प्रविश्य व्यथितेन्द्रिया ॥ १५ ॥
अभवं स च तच्छ्रुत्वा विषादमगमत् परम् ।

'उनकी बातें सुनकर मेरी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं और पातालमें प्रवेश करके मैंने अपने पितासे यह सारा समाचार कह सुनाया । यह सुनकर पिताजीको भी बड़ा खेद हुआ ॥ १५½ ॥

पिता तु मे वसून् गत्वा त्वदर्थे समयाचत ॥ १६ ॥
पुनः पुनः प्रसाद्यैतांस्त एनमिदमब्रुवन् ।

'वे तत्काल वसुओंके पास जाकर उन्हें बारंबार प्रसन्न करके आपके लिये उनसे बारंबार क्षमा-याचना करने लगे । तब वसुगण उनसे इस प्रकार बोले— ॥ १६½ ॥

पुत्रस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ॥ १७ ॥
स एनं रणमध्यस्थः शरैः पातयिता भुवि ।
एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ॥ १८ ॥

''महाभाग नागराज ! मणिपुरका नवयुवक राजा बभ्रुवाहन अर्जुनका पुत्र है । वह युद्ध-भूमिमें खड़ा होकर अपने बाणोंद्वारा जब उन्हें पृथ्वीपर गिरा देगा, तब अर्जुन हमारे शापसे मुक्त हो जायँगे ॥ १७–१८ ॥

गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः ।
तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्माच्छापादसि विमोक्षितः॥ १९ ॥

''अच्छा अब जाओ' वसुओंके ऐसा कहनेपर मेरे पिताने आकर मुझसे यह बात बतायी । इसे सुनकर मैंने इसीके अनुसार चेष्टा की है और आपको उस शापसे छुटकारा दिलाया है ॥ १९ ॥

न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् तेनेहासि पराजितः॥ २० ॥

'प्राणनाथ ! देवराज इन्द्र भी आपको युद्धमें परास्त नहीं कर सकते, पुत्र तो अपना आत्मा ही है, इसीलिये इसके हाथसे यहाँ आपकी पराजय हुई है ॥ २० ॥

न हि दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो ।
इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माब्रवीदिदम् ॥ २१ ॥

'प्रभो ! मैं समझती हूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । अथवा आपकी क्या धारणा है ? क्या यह युद्ध कराकर मैंने कोई अपराध किया है ?'

उलूपीके ऐसा कहनेपर अर्जुनका चित्त प्रसन्न हो गया । उन्होंने कहा—॥ २१ ॥

सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत् कृतवत्यसि ।
इत्युक्त्वा सोऽब्रवीत् पुत्रं मणिपूरपतिं जयः ॥ २२ ॥
चित्राङ्गदायाः शृण्वत्याः कौरव्यदुहितुस्तदा ।

'देवि ! तुमने जो यह कार्य किया है, यह सब मुझे अत्यन्त प्रिय है ।' यों कहकर अर्जुनने चित्राङ्गदा तथा उलूपीके सुनते हुए अपने पुत्र मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनसे कहा—॥२२½॥

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्रीं भविष्यति ॥ २३ ॥
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरके यज्ञका आरम्भ होगा । उसमें तुम अपनी इन दोनों माताओं और मन्त्रियोंके साथ अवश्य आना' ॥ २३-२४ ॥

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥ २५ ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहनने नेत्रोंमें आँसू भरकर पितासे इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम्।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥ २६ ॥

'धर्मज्ञ ! आपकी आज्ञासे मैं अश्वमेध महायज्ञमें अवश्य उपस्थित होऊँगा और ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम करूँगा ॥ २६ ॥

मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम्।
भार्याभ्यां सह धर्मज्ञ मा भूत् तेऽत्र विचारणा॥ २७ ॥

'इस समय आपसे एक प्रार्थना है—धर्मज्ञ ! आज मुझपर कृपा करनेके लिये अपनी इन दोनों धर्मपत्नियोंके साथ इस नगरमें प्रवेश कीजिये। इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

उषित्वेह निशामेकां सुखं स्वभवने प्रभो।
पुनरश्वानुगमनं कर्तासि जयतां वर ॥ २८ ॥

'प्रभो ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ ! यहाँ भी आपका ही घर है। अपने उस घरमें एक रात सुखपूर्वक निवास करके कल सबेरे फिर घोड़ेके पीछे-पीछे जाइयेगा' ॥ २८ ॥

इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः।
स्मयन् प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ॥ २९ ॥

पुत्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन कपिध्वज अर्जुनने मुस्कराते हुए चित्राङ्गदाकुमारसे कहा—॥ २९ ॥

विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षां चराम्यहम्।
न स तावत् प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ॥ ३० ॥

'महाबाहो ! यह तो तुम जानते ही हो कि मैं दीक्षा ग्रहण करके विशेष नियमोंके पालनपूर्वक विचर रहा हूँ। अतः विशाललोचन ! जबतक यह दीक्षा पूर्ण नहीं हो जाती तबतक मैं तुम्हारे नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ ३० ॥

यथाकामं व्रजत्येष यज्ञियाश्वो नरर्षभ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम॥ ३१ ॥

'नरश्रेष्ठ ! यह यज्ञका घोड़ा अपनी इच्छाके अनुसार चलता है (इसे कहीं भी रोकनेका नियम नहीं है); अतः तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाऊँगा। इस समय मेरे ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं है' ॥ ३१ ॥

स तत्र विधिवत् तेन पूजितः पाकशासनिः।
भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद् भरतसत्तमः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर वहाँ बभ्रुवाहनने भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष इन्द्रकुमार अर्जुनकी विधिवत् पूजा की और वे अपनी दोनों भार्याओंकी अनुमति लेकर वहाँसे चल दिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वका अनुसरणविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मगधराज मेघसन्धिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम्।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके बाद वह घोड़ा समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करके उस दिशाकी ओर मुँह करके लौटा, जिस ओर हस्तिनापुर था ॥ १ ॥

अनुगच्छंश्च तुरगं निवृत्तोऽथ किरीटभृत्।
यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ॥ २ ॥

किरीटधारी अर्जुन भी घोड़ेका अनुसरण करते हुए लौट पड़े और दैवेच्छासे राजगृह नामक नगरमें आ पहुँचे ॥

तमभ्याशगतं दृष्ट्वा सहदेवात्मजः प्रभो।
क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ॥ ३ ॥

प्रभो ! अर्जुनको अपने नगरके निकट आया देख क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए वीर सहदेवकुमार राजा मेघसन्धिने उन्हें युद्धके लिये आमन्त्रित किया ॥ ३ ॥

ततः पुरात् स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली।
मेघसन्धिः पदातिं तं धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् स्वयं भी धनुष-बाण और दस्तानेसे सुसज्जित हो रथपर बैठकर नगरसे बाहर निकला। मेघसन्धिने पैदल आते हुए धनंजयपर धावा किया ॥ ४ ॥

आसाद्य च महातेजा मेघसन्धिर्धनंजयम्।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ॥ ५ ॥

महाराज ! धनंजयके पास पहुँचकर महातेजस्वी मेघसन्धिने बुद्धिमानीके कारण नहीं, मूर्खतावश निम्नाङ्कित बात कही—॥ ५ ॥

किमयं चार्यते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत।
हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! इस घोड़ेके पीछे क्यों फिर रहे हो। यह तो ऐसा जान पड़ता है, मानो स्त्रियोंके बीच चल रहा हो। मैं इसका अपहरण कर रहा हूँ। तुम इसे छुड़ानेका प्रयत्न करो ॥ ६ ॥

अदत्तानुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम।
करिष्यामि तवातिथ्यं प्रहर प्रहरामि च ॥ ७ ॥

'यदि युद्धमें मेरे पिता आदि पूर्वजोंने कभी तुम्हारा

स्वागत-सत्कार नहीं किया है तो आज मैं इस कमीको पूर्ण करूँगा। युद्धके मैदानमें तुम्हारा यथोचित आतिथ्य-सत्कार करूँगा। पहले मुझपर प्रहार करो, फिर मैं तुमपर प्रहार करूँगा' ॥ ७ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं प्रहसन्निव पाण्डवः।
विघ्नकर्ता मया वार्य इति मे व्रतमाहितम् ॥ ८ ॥
भ्रात्रा ज्येष्ठेन नृपते तवापि विदितं ध्रुवम्।
प्रहरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥

उसके ऐसा कहनेपर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उसे हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया—'नरेश्वर ! मेरे बड़े भाईने मेरे लिये इस व्रतकी दीक्षा दिलायी है कि जो मेरे मार्गमें विघ्न डालनेको उद्यत हो, उसे रोको। निश्चय ही यह बात तुम्हें भी विदित है। अतः तुम अपनी शक्तिके अनुसार मुझपर प्रहार करो। मेरे मनमें तुमपर कोई रोष नहीं है' ॥ ८-९ ॥

इत्युक्तः प्राहरत् पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः।
किरञ्शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ॥ १० ॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर मगधनरेशने पहले उनपर प्रहार किया। जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार मेघसन्धि अर्जुनपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगाने लगा ॥

ततो गाण्डीवभृच्छूरो गाण्डीवप्रहितैः शरैः।
चकार मोघांस्तान् बाणान् सयत्नान् भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब गाण्डीवधारी शूरवीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छोड़े गये बाणोंद्वारा मेघसन्धिके प्रयत्नपूर्वक चलाये गये उन सभी बाणोंको व्यर्थ कर दिया ॥ ११ ॥

स मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः।
शरान् मुमोच ज्वलितान् दीप्तास्यानिव पन्नगान् ॥ १२ ॥

शत्रुके बाणसमूहको निष्फल करके कपिध्वज अर्जुनने प्रज्वलित बाणका प्रहार किया। वे बाण मुखसे आग उगलनेवाले सर्पोंके समान जान पड़ते थे ॥ १२ ॥

ध्वजे पताकादण्डेषु रथे यन्त्रे हयेषु च।
अन्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे न सारथौ ॥ १३ ॥

उन्होंने मेघसन्धिकी ध्वजा, पताका, दण्ड, रथ, यन्त्र, अश्व तथा अन्य रथाङ्गोंपर बाण मारे; परंतु उसके शरीर और सारथिपर प्रहार नहीं किया ॥ १३ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन शरीरे सव्यसाचिना।
मन्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोच्छरान् ॥ १४ ॥

यद्यपि सव्यसाची अर्जुनने जान-बूझकर उसके शरीरकी रक्षा की तथापि वह मगधराज इसे अपना पराक्रम समझने लगा और अर्जुनपर लगातार बाणोंका प्रहार करता रहा ॥

ततो गाण्डीवधन्वा तु मागधेन भृशाहतः।
बभौ वसन्तसमये पलाशः पुष्पितो यथा ॥ १५ ॥

मगधराजके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर गाण्डीवधारी अर्जुन रक्तसे नहा उठे। उस समय वे वसन्तऋतुमें फूले हुए पलाश वृक्षकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥

अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम्।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! अर्जुन तो उसे मार नहीं रहे थे, परंतु वह उन पाण्डवशिरोमणिपर बारंबार चोट कर रहा था। इसीलिये विश्वविख्यात वीर अर्जुनकी दृष्टिमें वह तबतक ठहर सका ॥

सव्यसाची तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद् धनुः।
हयांश्चकार निर्जीवान् सारथेश्च शिरोऽहरत् ॥ १७ ॥

अब सव्यसाची अर्जुनका क्रोध बढ़ गया। उन्होंने अपने धनुषको जोरसे खींचा और मेघसन्धिके घोड़ोंको प्राणहीन करके उसके सारथिका भी सिर उड़ा दिया ॥ १७ ॥

धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त ह।
हस्तावापं पताकां च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ॥ १८ ॥

फिर उसके विशाल एवं विचित्र धनुषको क्षुरसे काट डाला और उसके दस्ताने, पताका तथा ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया ॥ १८ ॥

स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः।
गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ॥ १९ ॥

घोड़े, धनुष और सारथिके नष्ट हो जानेपर मेघसन्धिको बड़ा दुःख हुआ। वह गदा हाथमें लेकर कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ॥ १९ ॥

तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम्।
शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ॥ २० ॥

उसके आते ही अर्जुनने गृध्रपङ्खयुक्त बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उसकी सुवर्णभूषित गदाके शीघ्र ही अनेक टुकड़े कर डाले ॥ २० ॥

सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना।
व्याली विमुच्यमानेव पपात धरणीतले ॥ २१ ॥

उस गदाकी मूँठ टूट गयी और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। उस दशामें वह हाथसे छूटी हुई सर्पिणीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २१ ॥

विरथं विधनुष्कं च गदया परिवर्जितम्।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत् कपिकेतनः ॥ २२ ॥

जब मेघसन्धि रथ, धनुष और गदासे भी वञ्चित हो गया, तब कपिध्वज अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम्।
बह्वेतत् समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ॥ २३ ॥

'बेटा ! तुमने क्षत्रियधर्मका पूरा-पूरा प्रदर्शन कर लिया। अब अपने घर जाओ। भूपाल ! तुम अभी बालक हो। इस समराङ्गणमें तुमने जो पराक्रम किया है, यही तुम्हारे लिये बहुत है ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्य संदेशो न हन्तव्या नृपा इति।

तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोऽपि मे रणे ॥ २४ ॥

'राजन् ! महाराज युधिष्ठिरका यह आदेश है कि 'तुम युद्धमें राजाओंका वध न करना' । इसीलिये तुम मेरा अपराध करनेपर भी अबतक जीवित हो' ॥ २४ ॥

इति मत्वा तदात्मानं प्रत्यादिष्टं स मागधः ।
तथ्यमित्यभिगम्यैनं प्राञ्जलिः प्रत्यपूजयत् ॥ २५ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर मेघसन्धिको यह विश्वास हो गया कि अब इन्होंने मेरी जान छोड़ दी है । तब वह अर्जुनके पास गया और हाथ जोड़ उनका समादर करते हुए कहने लगा—॥ २५ ॥

पराजितोऽस्मि भद्रं ते नाहं योद्धुमिहोत्सहे ।
यद् यत् कृत्यं मया तेऽद्य तद् ब्रूहि कृतमेव तु ॥ २६ ॥

'वीरवर ! आपका कल्याण हो । मैं आपसे परास्त हो गया । अब मैं युद्ध करनेका उत्साह नहीं रखता । अब आपको मुझसे जो-जो सेवा लेनी हो, वह बताइये और उसे पूर्ण की हुई ही समझिये' ॥ २६ ॥

तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत् ।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २७ ॥

तब अर्जुनने उसे धैर्य देते हुए पुनः इस प्रकार कहा—'राजन् ! तुम आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको हमारे महाराजके अश्वमेधयज्ञमें अवश्य आना' ॥ २७ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं हयम् ।
फाल्गुनं च युधि श्रेष्ठं विधिवत् सहदेवजः ॥ २८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सहदेवपुत्रने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उस घोड़े तथा युद्धस्थलके श्रेष्ठ वीर अर्जुनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २८ ॥

ततो यथेष्टमगमत् पुनरेव स केसरी ।
ततः समुद्रतीरेण वङ्गान् पुण्ड्रान् सकोसलान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर वह घोड़ा पुनः अपनी इच्छाके अनुसार आगे चला । वह समुद्रके किनारे-किनारे होता हुआ वङ्ग, पुण्ड्र और कोसल आदि देशोंमें गया ॥ २९ ॥

तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः ।
विजिग्ये धनुषा राजन् गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३० ॥

राजन् ! उन देशोंमें अर्जुनने केवल गाण्डीव धनुषकी सहायतासे म्लेच्छोंकी अनेक सेनाओंको परास्त किया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे मागधपराजये द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें मगधराजकी पराजयविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

दक्षिण और पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें होते हुए अश्वका द्वारका, पञ्चनद एवं गान्धार देशमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

मागधेनार्चितो राजन् पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मगधराजसे पूजित हो पाण्डुपुत्र श्वेतवाहन अर्जुनने दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस घोड़ेको घुमाना आरम्भ किया ॥ १ ॥

ततः स पुनरावर्त्य हयः कामचरो बली ।
आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्तिसाह्वयाम् ॥ २ ॥

वह इच्छानुसार विचरनेवाला अश्व पुनः उधरसे लौटकर चेदियोंकी रमणीय राजधानीमें जो शुक्तिपुरी (या माहिष्मती-पुरी) के नामसे विख्यात थी, आया ॥ २ ॥

शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालसुतेन सः ।
युद्धपूर्वं तदा तेन पूजया च महाबलः ॥ ३ ॥

वहाँ शिशुपालके पुत्र शरभने पहले तो युद्ध किया और फिर स्वागत-सत्कारके द्वारा उस महाबली अश्वका पूजन किया ॥

ततोऽर्चितो ययौ राजंस्तदा स तुरगोत्तमः ।
काशीनङ्गान् कोसलांश्च किरातानथ तङ्गणान् ॥ ४ ॥

राजन् ! शरभसे पूजित हो वह उत्तम अश्व काशी, कोसल, किरात और तङ्गण आदि जनपदोंमें गया ॥ ४ ॥

पूजां तत्र यथान्यायं प्रतिगृह्य धनंजयः ।
पुनरावृत्य कौन्तेयो दशार्णानगमत् तदा ॥ ५ ॥

उन सभी राज्योंमें यथोचित पूजा ग्रहण करके कुन्तीनन्दन अर्जुन पुनः लौटकर दशार्ण देशमें आये ॥ ५ ॥

तत्र चित्राङ्गदो नाम बलवानरिमर्दनः ।
तेन युद्धमभूत् तस्य विजयस्यातिभैरवम् ॥ ६ ॥

वहाँ उस समय महाबली शत्रुमर्दन चित्राङ्गद नामक नरेश राज्य करते थे । उनके साथ अर्जुनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

तं चापि वशमानीय किरीटी पुरुषर्षभः ।
निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर किरीटधारी अर्जुन दशार्णराज चित्राङ्गदको भी वशमें करके निषादराज एकलव्यके राज्यमें गये ॥ ७ ॥

एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा ।
तत्र चक्रे निषादैः स संग्रामं लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

वहाँ एकलव्यके पुत्रने युद्धके द्वारा उनका स्वागत किया । अर्जुनने निषादोंके साथ रोमाञ्चकारी संग्राम किया ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय युधि दुर्धर्षो यज्ञविघ्नार्थमागतम् ॥ ९ ॥

युद्धमें किसीसे परास्त न होनेवाले दुर्धर्ष वीर पार्थने यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आये हुए एकलव्यकुमारको भी परास्त कर दिया ॥ ९ ॥

स तं जित्वा महाराज नैषादिं पाकशासनिः ।
अर्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ॥ १० ॥

महाराज ! एकलव्यके पुत्रको पराजित करके उसके द्वारा पूजित हुए इन्द्रकुमार अर्जुन फिर दक्षिण समुद्रके तटपर गये ॥ १० ॥

तत्रापि द्रविडैरान्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि ।
तथा कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत् किरीटिनः ॥ ११ ॥

वहाँ भी द्रविड, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक और कोलाचलके प्रान्तोंमें रहनेवाले वीरोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका खूब युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

तांश्चापि विजयो जित्वा नातितीव्रेण कर्मणा ।
तुरङ्गमवशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ॥ १२ ॥
गोकर्णमथ चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् ।

उन सबको मृदुल पराक्रमसे ही जीतकर वे घोड़ेकी इच्छानुसार उसके पीछे चलनेमें विवश हुए सौराष्ट्र, गोकर्ण और प्रभासक्षेत्रोंमें गये ॥ १२½ ॥

ततो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिपालिताम् ॥ १३ ॥
आससाद हयः श्रीमान् कुरुराजस्य यज्ञियः ।

तत्पश्चात् कुरुराज युधिष्ठिरका वह यज्ञसम्बन्धी कान्तिमान् अश्व वृष्णिवीरोंद्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ॥ १३½ ॥

तमुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ॥ १४ ॥
प्रययुस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् ।

राजन् ! वहाँ यदुवंशी वीरोंके बालकोंने उस उत्तम अश्वको बलपूर्वक पकड़कर युद्धके लिये उद्योग किया; परंतु महाराज उग्रसेनने उन्हें रोक दिया ॥ १४½ ॥

ततः पुराद् विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ॥ १५ ॥
सहितो वसुदेवेन मातुलेन किरीटिनः ।
तौ समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत् प्रीतिपूर्वकम् ॥ १६ ॥
परया भारतश्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ ।
ततस्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अर्जुनके मामा वसुदेवको साथ ले वृष्णि और अन्धककुलके राजा उग्रसेन नगरसे बाहर निकले । वे दोनों बड़ी प्रसन्नताके साथ कुरुश्रेष्ठ अर्जुनसे विधिपूर्वक मिले ।



उन्होंने भरतकुलके उस श्रेष्ठ वीरका बड़ा आदर-सत्कार किया । फिर उन दोनोंकी आज्ञा ले अर्जुन उसी ओर चल दिये, जिधर वह अश्व गया था ॥ १५—१७ ॥

ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।
क्रमेण व्यचरत् स्फीतं ततः पञ्चनदं ययौ ॥ १८ ॥

वहाँसे पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें विचरता हुआ वह घोड़ा क्रमशः आगे बढ़ने लगा और समृद्धिशाली पञ्चनद प्रदेशमें जा पहुँचा ॥ १८ ॥

तस्मादपि स कौरव्य गन्धारविषयं हयः ।
विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन ! वहाँसे भी वह घोड़ा गान्धारदेशमें जाकर इच्छानुसार विचरने लगा । कुन्तीनन्दन अर्जुन भी उसके पीछे-पीछे वहीं जा पहुँचे ॥ १९ ॥

ततो गान्धारराजेन युद्धमासीत् किरीटिनः ।
घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ॥ २० ॥

फिर तो पूर्व वैरका अनुसरण करनेवाले गान्धारराज शकुनिपुत्रके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर युद्ध हुआ ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसम्बन्धी अश्वका अनुसरणविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

शकुनिपुत्रकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तनयो वीरो गान्धाराणां महारथः।
प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महता वृतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनिका पुत्र गान्धारोंमें सबसे बड़ा वीर और महारथी था। वह विशाल सेनासे घिरकर निद्राविजयी अर्जुनका सामना करनेके लिये चला॥ १॥

हस्त्यश्वरथयुक्तेन पताकाध्वजमालिना।
अमृष्यमाणास्ते योधा नृपस्य शकुनेर्वधम्॥ २॥
अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः।

उसकी सेनामें हाथी, घोड़े और रथ सभी सम्मिलित थे। वह सेना ध्वजा-पताकाओंकी मालासे मण्डित थी। गान्धार-देशके योद्धा राजा शकुनिके वधका समाचार सुनकर अमर्षमें भरे हुए थे; अतः हाथमें धनुष-बाण ले उन्होंने एक साथ होकर अर्जुनपर धावा बोल दिया॥ २½॥

स तानुवाच धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः॥ ३॥
युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम्।

किसीसे परास्त न होनेवाले धर्मात्मा अर्जुनने उन्हें राजा युधिष्ठिरकी बात सुनायी; परंतु उस हितकर वचनको भी वे ग्रहण न कर सके॥ ३½॥

वार्यमाणाऽपि पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिताः॥ ४॥
परिवार्य हयं जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः।

यद्यपि पार्थने सान्त्वनापूर्वक समझा-बुझाकर उन सबको युद्धसे रोका, तथापि वे अमर्षशील योद्धा उस घोड़ेको चारों ओरसे घेरकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। यह देख पाण्डुपुत्र अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ॥ ४½॥

ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः॥ ५॥
क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः।

वे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए तेज धारवाले क्षुरोंसे बिना परिश्रमके ही उनके मस्तक काटने लगे॥ ५½॥

ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य सम्भ्रमात्॥ ६॥
न्यवर्तन्त महाराज शरवर्षार्दिता भृशम्।

महाराज! अर्जुनकी मार खाकर उनके बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए गान्धार सैनिक उस घोड़ेको छोड़कर बड़े वेगसे पीछे लौट गये॥ ६½॥

निरुध्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डुनन्दनः॥ ७॥
आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत्।

गान्धारोंके द्वारा रोके जानेपर भी तेजस्वी वीर पाण्डुनन्दन अर्जुन उनके नाम ले-लेकर मस्तक काटने और गिराने लगे॥ ७½॥

वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः॥ ८॥
स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत्।

जब चारों ओर युद्धमें गान्धारोंका संहार आरम्भ हो गया, तब राजा शकुनि-पुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनको रोका॥ ८½॥

तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम्॥ ९॥
पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात्।
अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः॥ १०॥

क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्ध करनेवाले उस राजासे अर्जुनने इस प्रकार कहा—'वीर! तुम्हें युद्ध करनेसे कोई लाभ नहीं है। महाराज युधिष्ठिरकी यह आज्ञा है कि मैं राजाओंका वध न करूँ। अतः तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ, जिससे आज तुम्हारी पराजय न हो'॥ ९-१०॥

इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः।
स शक्रसमकर्माणं समवाकिरदाशुगैः॥ ११॥

उनके ऐसा कहनेपर भी वह अज्ञानसे मोहित होनेके कारण उनकी बातकी अवहेलना करके इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनपर शीघ्रगामी बाणोंकी वर्षा करने लगा॥ ११॥

तस्य पार्थः शिरस्त्राणमर्धचन्द्रेण पत्रिणा।
अपाहरदमेयात्मा जयद्रथशिरो यथा॥ १२॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनने जिस प्रकार जयद्रथका सिर उड़ाया था, उसी प्रकार शकुनि-पुत्रके शिरस्त्राण (टोप) को एक अर्धचन्द्राकार बाणसे काट गिराया॥

तं दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते।
इच्छता तेन न हतो राजेत्यपि च तं विदुः॥ १३॥

यह देखकर समस्त गान्धारोंको बड़ा विस्मय हुआ और वे सब-के-सब यह समझ गये कि अर्जुनने जान-बूझकर गान्धार-राजको जीवित छोड़ दिया है॥ १३॥

गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः।
ययौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव॥ १४॥

उस समय गान्धारराज शकुनिका पुत्र भागनेका अवसर देखने लगा। जैसे सिंहसे डरे हुए छोटे-छोटे मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनसे भयभीत हुए सैनिकोंके साथ वह स्वयं भी भाग निकला॥ १४॥

तेषां तु तरसा पार्थस्तत्रैव परिधावताम्।
प्रजहारोत्तमाङ्गानि भल्लैः संनतपर्वभिः॥ १५॥

वहीं चक्कर काटनेवाले बहुत-से सैनिकोंके मस्तक अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा वेगपूर्वक काट लिया॥ १५॥

उच्छ्रितांस्तु भुजान् केचिन्नावुध्यन्त शरैर्हृतान्।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः॥ १६॥

अर्जुनद्वारा चलाये और गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए

बहुसंख्यक बाणोंसे कितने ही योद्धाओंकी ऊँची उठी हुई भुजाएँ कटकर गिर गयीं और उन्हें इस बातका पतातक न लगा ॥ १६ ॥

सम्भ्रान्तनरनागाश्वमपतद् विद्रुतं बलम्।
हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्तत मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण सेनाके मनुष्य, हाथी और घोड़े घबराकर इधर-उधर भटकने लगे। सारी सेना गिरती-पड़ती भागने लगी। उसके अधिकांश सिपाही युद्धमें मारे गये या नष्ट हो गये और वह बारंबार युद्धभूमिमें ही चक्कर काटने लगी ॥ १७ ॥

नाभ्यदृश्यन्त वीरस्य केचिदग्रेऽग्र्यकर्मणः।
रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्धनंजयम् ॥ १८ ॥

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले वीर अर्जुनके सामने कोई भी शत्रु खड़े नहीं दिखायी देते थे, जो अर्जुनकी मार पड़नेपर उनका वेग सहन कर सके ॥ १८ ॥

ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरःसरा।
जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर गान्धारराजकी माता अत्यन्त भयभीत होकर बूढ़े मन्त्रियोंको आगे करके उत्तम अर्घ्य ले नगरसे बाहर निकली और रणभूमिमें उपस्थित हुई ॥ १९ ॥

सा न्यवारयदव्यग्रं तं पुत्रं युद्धदुर्मदम्।
प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ॥ २० ॥

आते ही उसने अपने व्यग्रतारहित एवं रणोन्मत्त पुत्रको युद्ध करनेसे रोका और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले विजयशील अर्जुनको प्रिय वचनोंद्वारा प्रसन्न किया ॥ २० ॥

तां पूजयित्वा बीभत्सुः प्रसादमकरोत् प्रभुः।
शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

सामर्थ्यशाली अर्जुनने भी मामीका सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और स्वयं उनपर कृपादृष्टि की। फिर शकुनिके पुत्रको भी सान्त्वना प्रदान करते हुए वे इस प्रकार बोले— ॥

न मे प्रियं महाबाहो यत् ते बुद्धिरियं कृता।
प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ ॥ २२ ॥

'शत्रुसूदन! महाबाहु वीर! तुमने जो मुझसे युद्ध करनेका विचार किया, यह मुझे प्रिय नहीं लगा; क्योंकि अनघ! तुम तो मेरे भाई ही हो ॥ २२ ॥

गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च।
तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ॥ २३ ॥

'राजन्! मैंने माता गान्धारीको याद करके पिता धृतराष्ट्रके सम्बन्धसे युद्धमें तुम्हारी उपेक्षा की है; इसीलिये तुम अभीतक जीवित हो। केवल तुम्हारे अनुगामी सैनिक ही मारे गये हैं ॥ २३ ॥

मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी।
गच्छेथास्त्वं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २४ ॥

'अब हमलोगोंमें ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिये। आपसका वैर शान्त हो जाय। अब तुम कभी इस प्रकार हमलोगोंके विरुद्ध युद्ध ठाननेका विचार न करना 'आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होनेवाला है। उसमें तुम अवश्य आना' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे शकुनिपुत्रपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसङ्गमें शकुनिपुत्रकी पराजयविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

यज्ञभूमिकी तैयारी, नाना देशोंसे आये हुए राजाओंका यज्ञकी सजावट और आयोजन देखना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वानुययौ पार्थो हयं कामविहारिणम्।
न्यवर्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारराजसे यों कहकर अर्जुन इच्छानुसार विचरनेवाले घोड़ेके पीछे चल दिये। अब वह घोड़ा लौटकर हस्तिनापुरकी ओर चला ॥ १ ॥

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ॥ २ ॥

इसी समय राजा युधिष्ठिरको एक जासूसके द्वारा यह समाचार मिला कि घोड़ा हस्तिनापुरको लौट रहा है और अर्जुन भी सकुशल आ रहे हैं। यह सुनकर उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २ ॥

विजयस्य च तत् कर्म गान्धारविषये तदा।
श्रुत्वा चान्येषु देशेषु स सुप्रीतोऽभवत् तदा ॥ ३ ॥

अर्जुनने गान्धारराज्यमें तथा अन्यान्य देशोंमें जो अद्भुत पराक्रम किया था, वह सब सुनकर युधिष्ठिरके हर्षकी सीमा न रही ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम्।
इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
समानाय्य महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् महीपतिः।
भीमं च नकुलं चैव सहदेवं च कौरव ॥ ५ ॥
प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्मभृतां वरः।
आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं प्रहरतां वरम् ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन! उस दिन माघ महीनेकी शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथि थी। उसमें पुष्य नक्षत्रका योग पाकर महातेजस्वी पृथ्वीपति धर्मराज युधिष्ठिरने अपने समस्त भाइयों—

भीमसेन, नकुल और सहदेवको बुलवाया और प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको सम्बोधित करके वक्ताओं तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने यह समयोचित बात कही—॥ ४—६ ॥

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनंजयसारिणः ॥ ७ ॥

'भीमसेन! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन घोड़ेके साथ आ रहे हैं, जैसा कि उनका समाचार लानेके लिये गये जासूसोंने मुझे बताया है ॥ ७ ॥

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ॥ ८ ॥

'वृकोदर! इधर यज्ञ आरम्भ करनेका समय भी निकट आ गया है। घोड़ा भी पास ही है। यह माघ मासकी पूर्णिमा आ रही है, अब बीचमें केवल फाल्गुनका एक मास शेष है ॥ ८ ॥

प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥ ९ ॥

'अतः वेदके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको भेजना चाहिये कि वे अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये उपयुक्त स्थान देखें'॥९॥

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम्।
हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ॥ १० ॥

यह सुनकर भीमसेनने राजाकी आज्ञाका तुरंत पालन किया। वे पुरुषप्रवर अर्जुनका आगमन सुनकर बहुत प्रसन्न थे ॥१० ॥

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेन यज्ञकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके शिल्पकर्मके जानकार कारीगरोंके साथ नगरसे बाहर गये ॥ ११ ॥

तं स शालचयं श्रीमत् सप्रतोलीसुघट्टितम्।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ॥ १२ ॥

उन्होंने शालवृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर स्थान पसंद करके उसे चारों ओरसे नपवाया। तत्पश्चात् कुरुनन्दन भीमने वहाँ उत्तम मार्गोंसे सुशोभित यज्ञभूमिका विधिपूर्वक निर्माण कराया ॥ १२ ॥

प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिमम्।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥

उस भूमिमें सैकड़ों महल बनवाये गये, जिसके फर्शमें अच्छे-अच्छे रत्न जड़े हुए थे। वह यज्ञशाला सोने और रत्नोंसे सजायी गयी थी और उसका निर्माण शास्त्रीय विधिके अनुसार कराया गया था ॥ १३ ॥

स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काननम् ॥ १४ ॥
अन्तःपुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम्।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥ १५ ॥
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम्।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत् तान्यनेकशः ॥ १६ ॥

वहाँ सुवर्णमय विचित्र खम्भे और बड़े-बड़े तोरण (फाटक) बने हुए थे। धर्मात्मा भीमने यज्ञमण्डपके सभी स्थानोंमें शुद्ध सुवर्णका उपयोग किया था। उन्होंने अन्तःपुरकी स्त्रियों, विभिन्न देशोंसे आये हुए राजाओं तथा नाना स्थानोंसे पधारे हुए ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी अनेकानेक उत्तम भवन बनवाये। उन सबका निर्माण कुन्तीकुमार भीमने शिल्पशास्त्रकी विधिके अनुसार कराया था ॥१४-१६॥

तथा सम्प्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात्।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ १७ ॥

महाबाहो! यह सब काम हो जानेपर भीमसेनने महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले विभिन्न राजाओंको निमन्त्रण देनेके लिये बहुत-से दूत भेजे ॥ १७ ॥

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ! निमन्त्रण पाकर वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये अनेकानेक रत्न, स्त्रियाँ, घोड़े और भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुए॥ १८ ॥

तेषां निविशतां तेषु शिबिरेषु महात्मनाम्।
नर्दतः सागरस्येव दिवस्पृगभवत् स्वनः ॥ १९ ॥

वहाँ बने हुए विभिन्न शिविरोंमें प्रवेश करनेवाले महामनस्वी नरेशोंका जो कोलाहल सुनायी पड़ता था, वह समुद्रकी गम्भीर गर्जनाके समान सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त हो रहा था ॥ १९ ॥

तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ॥ २० ॥

कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले राजा युधिष्ठिरने इन नवागत अतिथियोंका सत्कार करनेके लिये अन्न-पान और अलौकिक शय्याओंका प्रबन्ध किया ॥ २० ॥

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः।
उपेता भरतश्रेष्ठो व्यादिदेश स धर्मराट् ॥ २१ ॥

भरतभूषण! धर्मराज युधिष्ठिरने उन राजाओंकी सवारियोंके लिये भी धान, ऊँख और गोरससे भरे-पूरे घर दिये ॥ २१ ॥

तथा तस्मिन् महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें बहुत-से वेदवेत्ता मुनिगण भी पधारे थे ॥ २२ ॥

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते।

समाजग्मुः सशिष्यास्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ॥ २३ ॥

पृथ्वीनाथ ! ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, वे सब अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ आये। कुरुराज युधिष्ठिरने उन सबको स्वागतपूर्वक अपनाया ॥ २३ ॥

सर्वांश्चताननुययौ यावदावसथान् प्रति।
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

वहाँ महातेजस्वी महाराज युधिष्ठिर दम्भ छोड़कर स्वयं ही उन सबका विधिवत् सत्कार करते और जबतक उनके लिये योग्य स्थानका प्रबन्ध न हो जाता, तबतक उनके साथ-साथ रहते थे ॥ २४ ॥

ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा।
कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञो धर्मज्ञाय न्यवेदयन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् थवइयों और अन्यान्य शिल्पियों (कारीगरों) ने आकर राजा युधिष्ठिरको यह सूचना दी कि यज्ञमण्डपका सारा कार्य पूरा हो गया ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्तु कृतं सर्वमतन्द्रितः।
हृष्टरूपोऽभवद् राजा सह भ्रातृभिरादृतः ॥ २६ ॥

सब कार्य पूरा हो गया। यह सुनकर आलस्यरहित धर्मराज राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ बहुत प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः।
हेतुवादान् बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन् ! वह यज्ञ आरम्भ होनेपर बहुत-से प्रवचनकुशल और युक्तिवादी विद्वान्, जो एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते थे, वहाँ अनेक प्रकारसे तर्ककी बातें करने लगे ॥ २७ ॥

ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम्।
देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ॥ २८ ॥

भारत ! यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये हुए राजा लोग घूम-घूमकर भीमसेनके द्वारा तैयार कराये हुए उस यज्ञमण्डपकी उत्तम निर्माण-कला एवं सुन्दर सजावट देखने लगे। वह मण्डप देवराज इन्द्रकी यज्ञशालाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते।
शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसंचयान् ॥ २९ ॥

उन्होंने वहाँ सुवर्णके बने हुए तोरण, शय्या, आसन, विहारस्थान तथा बहुत-से रत्नोंके ढेर देखे ॥ २९ ॥

घटान् पात्रीः कटाहानि कलशान् वर्धमानकान्।
न हि किंचिदसौवर्णमपश्यन् वसुधाधिपाः ॥ ३० ॥

घड़े, बर्तन, कड़ाहे, कलश और बहुत-से कटोरे भी उनकी दृष्टिमें पड़े। उन पृथ्वीपतियोंने वहाँ कोई भी ऐसा सामान नहीं देखा, जो सोनेका बना हुआ न हो ॥ ३० ॥

यूपांश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान्।
उपक्लृप्तान् यथाकालं विधिवद् भूरिवर्चसः ॥ ३१ ॥

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जो काष्ठके यूप बने हुए थे, उनमें भी सोना जड़ा हुआ था। वे सभी यूप यथासमय विधिपूर्वक बनाये गये थे, जो देखनेमें अत्यन्त तेजोमय जान पड़ते थे ॥ ३१ ॥

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो।
सर्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः ॥ ३२ ॥

प्रभो ! संसारके भीतर स्थल और जलमें उत्पन्न होनेवाले जो कोई पशु देखे या सुने गये थे, उन सबको वहाँ राजाओंने उपस्थित देखा ॥ ३२ ॥

गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥ ३३ ॥
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च।
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ॥ ३४ ॥

गायें, भैंसें, बूढ़ी स्त्रियाँ, जल-जन्तु, हिंसक जन्तु, पक्षी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, पर्वतीय तथा सागरतटपर उत्पन्न होनेवाले प्राणी—ये सभी वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ ३३-३४ ॥

एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वह यज्ञशाला पशु, गौ, धन और धान्य सभी दृष्टियोंसे सम्पन्न एवं आनन्द बढ़ानेवाली थी। उसे देखकर समस्त राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत्।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ॥ ३६ ॥
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत।
विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणों और वैश्योंके लिये वहाँ परम स्वादिष्ट अन्नका भण्डार भरा हुआ था। प्रतिदिन एक लाख ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर वहाँ मेघ-गर्जनाके समान शब्द करनेवाला डंका बार-बार पीटा जाता था। इस प्रकारके डंके वहाँ दिनमें कई बार पीटे जाते थे ॥ ३६-३७ ॥

एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान् ॥ ३८ ॥
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ॥ ३९ ॥
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे।

राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ रोज-रोज इसी रूपमें चालू रहा। उस स्थानपर अन्नके बहुत-से पहाड़ों-जैसे ढेर लगे रहते थे। दहीकी नहरें बनी हुई थीं और घीके बहुत-से तालाब भरे हुए थे। राजा युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें अनेक देशोंके लोग जुटे हुए थे। राजन् ! सारा जम्बू-

द्वीप ही वहाँ एक स्थानमें स्थित दिखायी देता था॥ ३८-३९½ ॥

तत्र जातिसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ॥ ४० ॥
गृहीत्वा भाजनान् जग्मुर्बहूनि भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ हजारों प्रकारकी जातियोंके लोग बहुत-से पात्र लेकर उपस्थित होते थे ॥ ४०½ ॥

स्रग्विणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४१ ॥
पर्यवेषन् द्विजातींस्ताञ्शतशोऽथ सहस्रशः।
विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः।
ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणानां ददुश्च ह ॥ ४२ ॥

सैकड़ों और हजारों मनुष्य वहाँ ब्राह्मणोंको तरह-तरहके भोजन परोसते थे। वे सब-के-सब सोनेके हार और विशुद्ध मणिमय कुण्डलोंसे अलंकृत होते थे। राजाके अनुयायी पुरुष वहाँ ब्राह्मणोंका तरह-तरहके अन्न-पान एवं राजोचित भोजन अर्पित करते थे ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका भीमसेनको राजाओंकी पूजा करनेका आदेश और श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे अर्जुनका संदेश कहना

वैशम्पायन उवाच

समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान्।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए वेदवेत्ता विद्वानों और पृथ्वीका शासन करनेवाले राजाओंको देखकर राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—॥ १ ॥

उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ॥ २ ॥

'भाई ! ये जो भूमण्डलका शासन करनेवाले राजा यहाँ पधारे हुए हैं, सभी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पूजाके योग्य हैं; अतः तुम इनकी यथोचित पूजा (सत्कार) करो' ॥ २ ॥

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ॥ ३ ॥

यशस्वी महाराजके इस प्रकार आदेश देनेपर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने नकुल और सहदेवको साथ लेकर सब राजाओंका युधिष्ठिरके आज्ञानुसार यथोचित सत्कार किया ॥

अथाभ्यगच्छद् गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम्।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥ ४ ॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥ ५ ॥

इसके बाद समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीको आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब तथा कृतवर्मा आदि वृष्णिवंशियोंके साथ युधिष्ठिरके पास आये ॥ ४-५ ॥

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥ ६ ॥

महारथी भीमसेनने उन लोगोंका भी विधिवत् सत्कार किया। फिर वे रत्नोंसे भरे-पूरे घरोंमें जाकर रहने लगे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके पास बैठकर थोड़ी देरतक बातचीत करते रहे। उसीमें उन्होंने बताया—'अर्जुन बहुतसे युद्धोंमें शत्रुओंका सामना करनेके कारण दुर्बल हो गये हैं' ॥ ७ ॥

स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिंदमम्।
धर्मजः शक्रजं जिष्णुं समाचष्ट जगत्पतिः ॥ ८ ॥

यह सुनकर धर्मपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने शत्रुदमन इन्द्रकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार उनसे पूछा। तब जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उनसे इस प्रकार बोले—॥ ८ ॥

आगमद् द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो नृप।
योऽद्राक्षीत् पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्षितम् ॥ ९ ॥

'राजन् ! मेरे पास द्वारकाका रहनेवाला एक विश्वासपात्र मनुष्य आया था। उसने पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनको अपनी आँखों देखा था। वे अनेक स्थानोंपर युद्ध करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गये हैं ॥ ९ ॥

समीपे च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो।
कुरु कार्याणि कौन्तेय हयमेधार्थसिद्धये ॥ १० ॥

'प्रभो ! उसने यह भी बताया है कि महाबाहु अर्जुन अब निकट आ गये हैं। अतः कुन्तीनन्दन ! अब आप अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये आवश्यक कार्य आरम्भ कर दीजिये' ॥ १० ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपायाति च माधव ॥ ११ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः प्रश्न किया—'माधव ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि अर्जुन सकुशल लौट रहे हैं ॥ ११ ॥

यदिदं संदिदेशास्मिन् पाण्डवानां बलाग्रणीः।

तदा ज्ञातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन ॥ १२ ॥

''यदुनन्दन ! पाण्डवसेनाके अग्रगामी अर्जुनने इस यज्ञके सम्बन्धमें जो कुछ संदेश दिया हो, उसे मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ' ॥ १२ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामी प्रवचनकुशल भगवान् श्रीकृष्णने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

इदमाह महाराज पार्थवाक्यं स्मरन् नरः ।
वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ॥ १४ ॥

''महाराज ! जो मनुष्य मेरे पास आया था, उसने अर्जुनकी बात याद करके मुझसे इस प्रकार कहा—'श्रीकृष्ण ! आप ठीक समयपर मेरा यह कथन महाराज युधिष्ठिरको सुना दीजियेगा ॥ १४ ॥

आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ ।
प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत् क्षमं हि नः ॥ १५ ॥

''(अर्जुन कहते हैं—) 'कौरवश्रेष्ठ ! अश्वमेध यज्ञमें प्रायः सभी राजा पधारेंगे । जो आ जायँ, उन सबको महान् मानकर उन सबका पूर्ण सत्कार करना चाहिये । यही हमारे योग्य कार्य है ॥ १५ ॥

इत्येतद् वचनाद् राजा विज्ञाप्यो मम मानद ।
यथा चात्ययिकं न स्याद् यदर्घ्याहरणेऽभवत् ॥ १६ ॥

(''इतना कहकर वे फिर मुझसे बोले—) 'मानद ! मेरी ओरसे तुम राजा युधिष्ठिरको यह सूचित कर देना कि राजसूय यज्ञमें अर्घ्य देते समय जो दुर्घटना हो गयी थी, वैसी इस बार नहीं होनी चाहिये ॥ १६ ॥

कर्तुमर्हति तद् राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम् ।
राजद्वेषान्न नश्येयुरिमा राजन् पुनः प्रजाः ॥ १७ ॥

''श्रीकृष्ण ! राजा युधिष्ठिरको ऐसा ही करना चाहिये । आप भी उन्हें ऐसी ही अनुमति दें और बतावें कि 'राजन् ! राजाओंके पारस्परिक द्वेषसे पुनः इन सारी प्रजाओंका विनाश न होने पावे' ॥ १७ ॥

इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत् ।
धनंजयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ॥ १८ ॥

(श्रीकृष्ण कहते हैं—) ''कुन्तीनन्दन नरेश्वर ! उस मनुष्यने अर्जुनकी कही हुई यह एक बात और बतायी थी, उसे भी मेरे मुँहसे सुन लीजिये ॥ १८ ॥

उपायास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः ।
पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ॥ १९ ॥

''हमलोगोंके इस यज्ञमें मणिपूरका राजा बभ्रुवाहन भी आवेगा, जो महान् तेजस्वी और मेरा परम प्रिय पुत्र है ॥

तं भवान् मदपेक्षार्थं विधिवत् प्रतिपूजयेत् ।
स तु भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ॥ २० ॥

''प्रभो ! उसकी सदा मेरे प्रति बड़ी भक्ति और अनुरक्ति रहती है । इसलिये आप मेरी अपेक्षासे उसका विधिपूर्वक विशेष सत्कार करें'' ॥ २० ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिनन्द्यास्य तद् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

अर्जुनका यह संदेश सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसका हृदयसे अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके विषयमें श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरकी बातचीत, अर्जुनका हस्तिनापुरमें जाना तथा उलूपी और चित्राङ्गदाके साथ बभ्रुवाहनका आगमन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत् त्वमर्हसि भाषितुम् ।
तन्मेऽमृतरसं पुण्यं मनो ह्लादयति प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—प्रभो ! श्रीकृष्ण ! मैंने यह प्रिय संदेश सुना, जिसे आप ही कहने या सुनानेके योग्य हैं । आपका यह अमृतरससे परिपूर्ण पवित्र वचन मेरे मनको आनन्दमग्न किये देता है ॥ १ ॥

बहूनि किल युद्धानि विजयस्य नराधिपैः ।
पुनरासन् हृषीकेश तत्र तत्र च मे श्रुतम् ॥ २ ॥

हृषीकेश ! मेरे सुननेमें आया है कि भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके राजाओंके साथ अर्जुनको कई बार युद्ध करने पड़े हैं ॥ २ ॥

किंनिमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः ।
अतीव विजयो धीमानिति मे दूयते मनः ॥ ३ ॥

संचिन्तयामि कौन्तेयं रहो जिष्णुं जनार्दन ।
अतीव दुःखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः ॥ ४ ॥

इसका क्या कारण है ? बुद्धिमान् जनार्दन ! जब मैं एकान्तमें बैठकर अर्जुनके बारेमें विचार करता हूँ, तब यह जानकर मेरा मन खिन्न हो जाता है कि हमलोगोंमें वे ही सदा सबसे अधिक दुःखके भागी रहे हैं। पाण्डुनन्दन अर्जुन सुखसे वञ्चित क्यों रहते हैं ? यह समझमें नहीं आता ॥ ३-४॥

किं नु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते।
अनिष्टं लक्षणं कृष्ण येन दुःखान्युपाश्नुते ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! उनका शरीर तो सभी शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। फिर उसमें अशुभ लक्षण कौन-सा है, जिससे उन्हें अधिक दुःख उठाना पड़ता है ? ॥ ५ ॥

अतीवासुखभोगी स सततं कुन्तिनन्दनः।
न हि पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किंचन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन सदा अधिक कष्ट भोगते हैं; परंतु उनके अङ्गोंमें कहीं कोई निन्दनीय दोष नहीं दिखायी देता है। ऐसी दशामें उन्हें कष्ट भोगनेका कारण क्या है ? यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे विस्तारपूर्वक यह बात बतावें ॥ ६ ॥

इत्युक्तः स हृषीकेशो ध्यात्वा सुमहदुत्तरम्।
राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भोजवंशी क्षत्रियोंकी वृद्धि करनेवाले भगवान् हृषीकेश विष्णुने बहुत देरतक उत्तम रीतिसे चिन्तन करनेके बाद राजा युधिष्ठिरसे यों कहा—॥ ७ ॥

न ह्यस्य नृपते किंचित् संश्लिष्टमुपलक्षये।
ऋते पुरुषसिंहस्य पिण्डिकेऽस्याधिके यतः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह अर्जुनकी पिण्डलियाँ (फिल्लियाँ) औसतसे कुछ अधिक मोटी हैं। इसके सिवा और कोई अशुभ लक्षण उनके शरीरमें मुझे भी नहीं दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स ताभ्यां पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु वर्तते।
न चान्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाजनम् ॥ ९ ॥

'उन मोटी फिल्लियोंके कारण ही पुरुषसिंह अर्जुनको सदा रास्ता चलना पड़ता है। और कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे उन्हें दुःख झेलना पड़े' ॥ ९ ॥

इत्युक्तः पुरुषश्रेष्ठस्तदा कृष्णेन धीमता।
प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतदिति प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो ! बुद्धिमान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उन वृष्णिसिंहसे कहा—'भगवन् ! आपका कहना ठीक है' ॥ १० ॥

कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्यक् सासूयमैक्षत।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयं चापि केशिहा ॥ ११ ॥
सख्युः सखा हृषीकेशः साक्षादिव धनंजयः।

उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर तिरछी चितवनसे ईर्ष्यापूर्वक देखा। केशिहन्ता श्रीकृष्णने द्रौपदीके उस प्रेमपूर्ण उपालम्भको सानन्द ग्रहण किया; क्योंकि उसकी दृष्टिमें सखा अर्जुनके मित्र भगवान् हृषीकेश साक्षात् अर्जुनके ही समान थे ॥ ११½ ॥

तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो याजकाश्च ये ॥ १२ ॥
रेमुः श्रुत्वा विचित्रां तां धनंजयकथां शुभाम्।

उस समय भीमसेन आदि कौरव और यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणलोग अर्जुनके सम्बन्धमें यह शुभ एवं विचित्र बात सुनकर बहुत प्रसन्न हो रहे थे ॥ १२½ ॥

तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ॥ १३ ॥
उपायाद् वचनाद् दूतो विजयस्य महात्मनः।

उन लोगोंमें अर्जुनके सम्बन्धमें इस तरहकी बातें हो ही रही थीं कि महात्मा अर्जुनका भेजा हुआ दूत वहाँ आ पहुँचा ॥ १३½ ॥

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ॥ १४ ॥
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत्।

वह बुद्धिमान् दूत कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उन्हें नमस्कार करके बोला—'पुरुषसिंह अर्जुन निकट आ गये हैं' ॥ १४½ ॥

तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ॥ १५ ॥
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा।

यह शुभ समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिरकी आँखोंमें आनन्दके आँसू छलक आये और यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करनेके कारण उस दूतको पुरस्काररूपमें उन्होंने बहुत-सा धन दिया ॥ १५½ ॥

ततो द्वितीये दिवसे महाञ्शब्दो व्यवर्धत ॥ १६ ॥
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरंधरे।

तदनन्तर दूसरे दिन कौरव-धुरंधर नरव्याघ्र अर्जुनके आते समय नगरमें महान् कोलाहल बढ़ गया ॥ १६½ ॥

ततो रेणुः समुद्भूतो विबभौ तस्य वाजिनः ॥ १७ ॥
अभितो वर्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा।

उच्चैःश्रवाके समान वेगवान् और पास ही विद्यमान उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेकी टापसे उड़ी हुई धूल आकाशमें अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ १७½ ॥

तत्र हर्षकरी वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ॥ १८ ॥
दिष्ट्यासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः।

वहाँ अर्जुनने लोगोंके मुँहसे हर्ष बढ़ानेवाली बातें इस

प्रकार सुनीं—'पार्थ ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सकुशल लौट आये । राजा युधिष्ठिर धन्य हैं ॥ १८½ ॥

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् १९
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेदृतेऽर्जुनात् ।

'अर्जुनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो समूची पृथ्वीको जीतकर युद्धमें राजाओंको परास्त करके और अपने श्रेष्ठ अश्वको सर्वत्र घुमाकर उसके साथ सकुशल लौट आ सके ॥ १९½ ॥

ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ॥ २० ॥
तेषामपीदृशं कर्म न कदाचन शुश्रुम ।

'अतीतकालमें जो सगर आदि महामनस्वी राजा हो गये हैं, उनका भी कभी ऐसा पराक्रम हमारे सुननेमें नहीं आया था ॥ २०½ ॥

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ॥ २१ ॥
यत् त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि ।

'कुरुकुलश्रेष्ठ ! आपने जो दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, उसे भविष्यमें होनेवाले दूसरे भूपाल नहीं कर सकेंगे' ॥ २१½ ॥

इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ॥ २२ ॥
शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ।

इस प्रकार कहते हुए लोगोंकी श्रवणसुखद बातें सुनते हुए धर्मात्मा अर्जुनने यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ॥ २२½ ॥

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा ।

उस समय मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर तथा यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रको आगे करके उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये थे ॥ २३½ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ॥ २४ ॥
भीमादींश्चापि सम्पूज्य पर्यष्वजत केशवम् ।

अर्जुनने पिता धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके चरणोंमें प्रणाम करके भीमसेन आदिका भी पूजन किया और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥ २४½ ॥

तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि॥ २५ ॥
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ।

उन सबने मिलकर अर्जुनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया । महाबाहु अर्जुनने भी उनका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसी तरह विश्राम किया, जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाला पुरुष किनारेपर पहुँचकर विश्राम करता है ॥ २५½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ॥ २६ ॥
मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह ।

इसी समय बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओंके साथ कुरुदेशमें जा पहुँचा ॥ २६½ ॥

तत्र वृद्धान् यथावत् स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ॥२७॥
अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।
प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ॥ २८ ॥

वहाँ पहुँचकर वह महाबाहु नरेश कुरुकुलके वृद्ध पुरुषों तथा अन्य राजाओंको विधिवत् प्रणाम करके स्वयं भी उनके द्वारा सत्कार पाकर बहुत प्रसन्न हुआ । इसके बाद वह अपनी पितामही कुन्तीके सुन्दर महलमें गया ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनप्रत्यागमने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका प्रत्यागमनविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

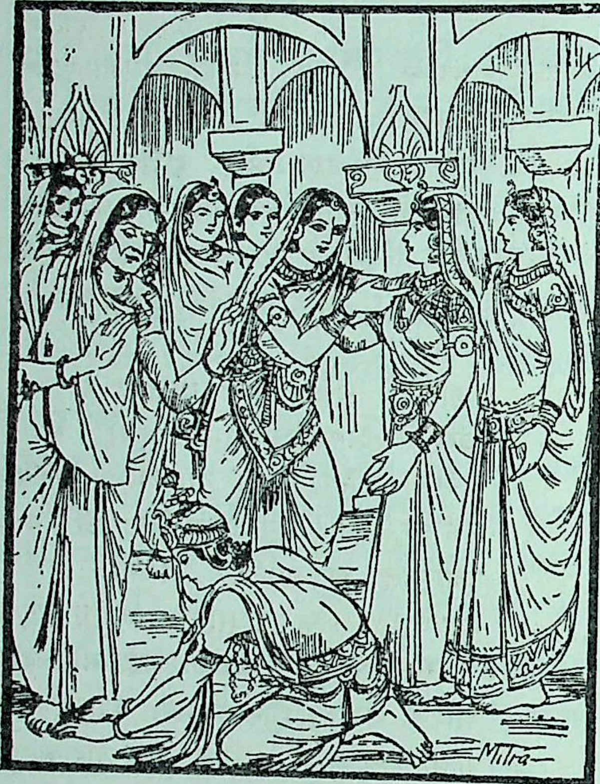
उलूपी और चित्राङ्गदाके सहित बभ्रुवाहनका रत्न-आभूषण आदिसे सत्कार तथा अश्वमेध यज्ञका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

स प्रविश्य महाबाहुः पाण्डवानां निवेशनम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके महाबाहु बभ्रुवाहनने अत्यन्त मधुर वचन बोलकर अपनी दादी कुन्तीके

चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १ ॥



ततश्चित्राङ्गदा देवी कौरव्यस्यात्मजापि च ।
पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः ॥ २ ॥

इसके बाद देवी चित्राङ्गदा और कौरव्यनागकी पुत्री उलूपीने भी एक साथ ही विनीत भावसे कुन्ती और द्रौपदीके चरण छुए ॥ २ ॥

सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः ।
ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ॥ ३ ॥

फिर सुभद्रा तथा कुरुकुलकी अन्य स्त्रियोंसे भी वे यथायोग्य मिलीं । उस समय कुन्तीने उन दोनोंको नाना प्रकारके रत्न भेंटमें दिये ॥ ३ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्या ऽददुः स्त्रियः ।
ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ॥ ४ ॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्य स्त्रियोंने भी अपनी ओरसे नाना प्रकारके उपहार दिये । तत्पश्चात् वे दोनों देवियाँ बहुमूल्य शय्याओंपर विराजमान हुईं ॥ ४ ॥

सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य हितकाम्यया ।
स च राजा महातेजाः पूजितो बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि ।

अर्जुनके हितकी कामनासे कुन्तीदेवीने स्वयं ही उन दोनोंका बड़ा सत्कार किया । कुन्तीसे सत्कार पाकर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहन महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विधिपूर्वक उनका चरण-स्पर्श किया ॥ ५½ ॥

युधिष्ठिरं च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ॥ ६ ॥
उपागम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत् ।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि सभी पाण्डवोंके पास जाकर उस महातेजस्वी नरेशने विनयपूर्वक उनका अभिवादन किया ॥ ६½ ॥

स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ॥ ७ ॥
धनं चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः ।

उन सब लोगोंने प्रेमवश उसे छातीसे लगा लिया और उसका यथोचित सत्कार किया । इतना ही नहीं, बभ्रुवाहनपर प्रसन्न हुए उन पाण्डव महारथियोंने उसे बहुत धन दिया ॥ ७½ ॥

तथैव च महीपालः कृष्णं चक्रगदाधरम् ॥ ८ ॥
प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान् ।

इसी प्रकार वह भूपाल प्रद्युम्नकी भाँति विनीत भावसे शङ्खचक्रगदाधारी भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ ८½ ॥

तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमतिपूजितम् ॥ ९ ॥
रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम् ।

श्रीकृष्णने इस राजाको एक बहुमूल्य रथ प्रदान किया, जो सुनहरी साजोंसे सुसज्जित, सबके द्वारा अत्यन्त प्रशंसित और उत्तम था । उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे ॥ ९½ ॥

धर्मराजश्च भीमश्च फाल्गुनश्च यमौ तथा ॥ १० ॥
पृथक् पृथक् च ते चैनं मानार्थाभ्यामयोजयन् ।

तत्पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवने अलग-अलग बभ्रुवाहनका सत्कार करके उसे बहुत धन दिया ॥ १०½ ॥

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ॥ ११ ॥
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।

उसके तीसरे दिन सत्यवतीनन्दन प्रवचनकुशल महर्षि व्यास युधिष्ठिरके पास आकर बोले— ॥ ११½ ॥

अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते ।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ॥ १२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! तुम आजसे यज्ञ आरम्भ कर दो । उसका समय आ गया है । यज्ञका शुभ मुहूर्त उपस्थित है और याजकगण तुम्हें बुला रहे हैं ॥ १२ ॥

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम् ।
बहुत्वात् काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! तुम्हारे इस यज्ञमें किसी बातकी कमी नहीं रहेगी । इसलिये यह किसी भी अङ्गसे हीन न होनेके कारण अहीन (सर्वाङ्गपूर्ण) कहलायेगा । इसमें सुवर्ण नामक द्रव्यकी अधिकता होगी; इसलिये यह बहुसुवर्णक नामसे विख्यात होगा ॥ १३ ॥

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु ।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥ १४ ॥

'महाराज ! यज्ञके प्रधान कारण ब्राह्मण ही हैं; इसलिये तुम उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना। ऐसा करनेसे तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञोंके समान हो जायगा ॥ १४ ॥

त्रीनश्वमेधानत्र त्वं सम्प्राप्य बहुदक्षिणान्।
ज्ञातिवध्याकृतं पापं प्रहास्यसि नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! यहाँ बहुत-सी दक्षिणावाले तीन अश्वमेध यज्ञोंका फल पाकर तुम ज्ञातिवधके पापसे मुक्त हो जाओगे ॥ १५ ॥

पवित्रं परमं चैतत् पावनं चैतदुत्तमम्।
यदाश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

'कुरुनन्दन ! तुम्हें जो अश्वमेध यज्ञका अवभृथ स्नान प्राप्त होगा, वह परम पवित्र, पावन और उत्तम है' ॥ १६ ॥

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये उसी दिन दीक्षा ग्रहण की ॥ १७ ॥

ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम्।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ॥ १८ ॥

फिर उन महाबाहु नरेशने बहुत-से अन्नकी दक्षिणासे युक्त तथा सम्पूर्ण कामना और गुणोंसे सम्पन्न उस अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ १८ ॥

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत् साधुशिक्षितम् ॥ १९ ॥

उसमें वेदोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ याजकोंने सम्पूर्ण कर्म किये-कराये। वे सब ओर घूम-घूमकर सत्पुरुषोंद्वारा शिक्षित कर्मका सम्पादन करते-कराते थे ॥ १९ ॥

न तेषां स्खलितं किंचिदासीच्चाप्यकृतं तथा।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥ २० ॥

उनके द्वारा उस यज्ञमें कहीं भी कोई भूल या त्रुटि नहीं होने पायी। कोई भी कर्म न तो छूटा और न अधूरा रहा। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने प्रत्येक कार्यको क्रमके अनुसार उचित रीतिसे पूरा किया ॥ २० ॥

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः।
चक्रुस्ते विधिवद् राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥ २१ ॥

राजन् ! वहाँ ब्राह्मणशिरोमणियोंने प्रवर्ग्य नामक धर्मानुकूल कर्मको यथोचित रीतिसे सम्पन्न करके विधिपूर्वक सोमाभिषव—सोमलताका रस निकालनेका कार्य किया ॥ २१ ॥

अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥ २२ ॥

महाराज ! सोमपान करनेवालोंमें श्रेष्ठ तथा शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले विद्वानोंने सोमरस निकालकर उसके द्वारा क्रमशः तीनों समयके सवन कर्म किये ॥ २२ ॥

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥ २३ ॥

उस यज्ञमें आया हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह निम्न-से-निम्न श्रेणीका क्यों न हो, दीन-दरिद्र, भूखा अथवा दुखिया नहीं रह गया था ॥ २३ ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन महातेजस्वी भीमसेन महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको भोजन दिलानेके कामपर सदा डटे रहते थे ॥ २४ ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ॥ २५ ॥

यज्ञकी वेदी बनानेमें निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सब कार्य सम्पन्न किया करते थे ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यस्तस्य धीमतः।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके यज्ञका कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो छहों अङ्गोंका विद्वान्, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला, अध्यापनकर्ममें कुशल तथा वादविवादमें प्रवीण न हो ॥ २६ ॥

ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान् भरतर्षभ।
खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ २७ ॥
देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे।
श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन् ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब यूपकी स्थापनाका समय आया, तब याजकोंने यज्ञभूमिमें बेलके छः, खैरके छः, पलाशके भी छः, देवदारुके दो और लसोड़ेका एक—इस प्रकार इक्कीस यूप कुरुराज युधिष्ठिरके यज्ञमें खड़े किये ॥ २७-२८ ॥

शोभार्थं चापरान् यूपान् काञ्चनान् भरतर्षभ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ॥ २९ ॥

भरतभूषण ! इनके सिवा धर्मराजकी आज्ञासे भीमसेनने यज्ञकी शोभाके लिये और भी बहुत-से सुवर्णमय यूप खड़े कराये ॥ २९ ॥

ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः।
महेन्द्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि ॥ ३० ॥

वस्त्रोंद्वारा अलंकृत किये गये वे राजर्षि युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी यूप आकाशमें सप्तर्षियोंसे घिरे हुए इन्द्रके अनुगामी देवताओंके समान शोभा पाते थे ॥ ३० ॥

इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताऽभवन्।
शुशुभे चयनं तच्च दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ ३१ ॥

यज्ञकी वेदी बनानेके लिये वहाँ सोनेकी ईंटें तैयार करायी गयी थीं। उनके द्वारा जब वेदी बनकर तैयार हुई, तब वह दक्षप्रजापतिकी यज्ञवेदीके समान शोभा पाने लगी ॥

चतुश्चित्यश्च तस्यासीदष्टादशकरात्मकः ।
स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृतिः ॥ ३२ ॥

उस यज्ञमण्डपमें अग्निचयनके लिये चार स्थान बने थे। उनमेंसे प्रत्येककी लंबाई-चौड़ाई अठारह हाथकी थी। प्रत्येक वेदी सुवर्णमय पङ्खसे युक्त एवं गरुड़के समान आकार-वाली थी। वह त्रिकोणाकार बनायी गयी थी ॥ ३२ ॥

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ॥ ३३ ॥
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ॥ ३४ ॥

तदनन्तर मनीषी पुरुषोंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पशुओंको नियुक्त किया। भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे पशु-पक्षी, शास्त्रकथित वृषभ और जलचर जन्तु—इन सबका अग्निस्थापन-कर्ममें याजकोंने उपयोग किया ॥ ३३-३४ ॥

यूपेषु नियता चासीत् पशूनां त्रिशती तथा ।
अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके उस यज्ञमें जो यूप खड़े किये गये थे, उनमें तीन सौ पशु बाँधे गये थे। उन सबमें प्रधान वही अश्वरत्न था ॥ ३५ ॥

स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद् देवर्षिसंकुलः ।
गन्धर्वगणसंगीतः प्रनृत्तोऽप्सरसां गणैः ॥ ३६ ॥

साक्षात् देवर्षियोंसे भरा हुआ युधिष्ठिरका वह यज्ञ बड़ी शोभा पा रहा था। गन्धर्वोंके मधुर संगीत और अप्सराओंके नृत्यसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी ॥ ३६ ॥

स किंपुरुषसंकीर्णः किंनरैश्चोपशोभितः ।
सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ॥ ३७ ॥

वह यज्ञमण्डप किम्पुरुषोंसे भरा-पूरा था। किन्नर भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके चारों ओर सिद्धों और ब्राह्मणोंके निवासस्थान बने थे, जिनसे वह यज्ञ-मण्डप घिरा था ॥ ३७ ॥

तस्मिन् सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजर्षभाः।
सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञसंस्तरे ॥ ३८ ॥

व्यासजीके शिष्य श्रेष्ठ ब्राह्मण उस यज्ञसभामें सदा उपस्थित रहते थे। वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रणेता और यज्ञकर्ममें कुशल थे ॥ ३८ ॥

नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ॥ ३९ ॥
गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदाः ।
रमयन्ति स्म तान् विप्रान् यज्ञकर्मान्तरेषु वै ॥ ४० ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा अन्य संगीतकलाकोविद, गाननिपुण एवं नृत्यविशारद गन्धर्व प्रतिदिन यज्ञकार्यके बीच-बीचमें समय मिलनेपर अपनी नाच-गानकी कलाओंद्वारा उन ब्राह्मणोंका मनोरंजन करते थे ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध यज्ञका आरम्भविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका ब्राह्मणोंको दक्षिणा देना और राजाओंको भेंट देकर विदा करना

वैशम्पायन उवाच

श्रपयित्वा पशूनन्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः ।
तं तुरङ्गं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अन्यान्य पशुओंका विधिपूर्वक श्रपण करके उस अश्वका भी शास्त्रीय विधिके अनुसार आलभन किया ॥ १ ॥

ततः संश्रप्य तुरगं विधिवद् याजकास्तदा ।
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ॥ २ ॥
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम् ।

राजन्! तत्पश्चात् याजकोंने विधिपूर्वक अश्वका श्रपण करके उसके समीप मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धा—इन तीन कलाओं-से युक्त मनस्विनी द्रौपदीको शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बैठाया ॥ २½ ॥

उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः ॥ ३ ॥
श्रपयामासुरव्यग्रा विधिवद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद ब्राह्मणोंने शान्तचित्त होकर उस अश्वकी चर्बी निकाली और उसका विधिपूर्वक श्रपण करना आरम्भ किया ॥ ३½ ॥

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ॥ ४ ॥
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।

भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार उस चर्बीके धूमकी गन्ध सूँघी, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाली थी ॥ ४½ ॥

शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ॥ ५ ॥
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ।

नरेश्वर ! उस अश्वके जो शेष अङ्ग थे, उनको धीर स्वभाववाले समस्त सोलह ऋत्विजोंने अग्निमें होम कर दिया ॥

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ॥ ६ ॥
व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपम् ।

इस प्रकार इन्द्रके समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञको समाप्त करके शिष्योंसहित भगवान् व्यासने उन्हें बधाई दी—अभ्युदयसूचक आशीर्वाद दिया ॥ ६½ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ७ ॥
कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुंधराम् ।

इसके बाद युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक एक हजार करोड़ (एक खर्व) स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणामें देकर व्यासजीको सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर दी ॥ ७½ ॥

प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ८ ॥
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

राजन् ! सत्यवतीनन्दन व्यासने उस भूमिदानको ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ८½ ॥

वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ॥ ९ ॥
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।

'नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारी दी हुई इस पृथ्वीको मैं पुनः तुम्हारे ही अधिकारमें छोड़ता हूँ । तुम मुझे इसका मूल्य दे दो; क्योंकि ब्राह्मण धनके ही इच्छुक होते हैं (राज्यके नहीं)' ॥

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान् प्रत्युवाच महामनाः ॥ १० ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ।

तब महामनस्वी नरेशोंके बीचमें भाइयोंसहित बुद्धिमान् महामना युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंसे कहा—॥ १०½ ॥

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ॥ ११ ॥
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ।
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ॥ १२ ॥
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ।
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातृणां चैव मे सदा ।

'विप्रवरो ! अश्वमेध नामक महायज्ञमें पृथ्वीकी दक्षिणा देनेका विधान है; अतः अर्जुनके द्वारा जीती हुई यह सारी पृथ्वी मैंने ऋत्विजोंको दे दी है । अब मैं वनमें चला जाऊँगा । आपलोग चातुर्होत्र यज्ञके प्रमाणानुसार पृथ्वीके चार भाग करके इसे आपसमें बाँट लें । द्विजश्रेष्ठगण ! मैं ब्राह्मणोंका धन लेना नहीं चाहता । ब्राह्मणो ! मेरे भाइयोंका भी सदा ऐसा ही विचार रहता है' ॥ ११—१३½ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ॥ १४ ॥
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।

उनके ऐसा कहनेपर भीमसेन आदि भाइयों और द्रौपदीने एक स्वरसे कहा—'हाँ, महाराजका कहना ठीक है ।' इस महान् त्यागकी बात सुनकर सबके रोंगटे खड़े हो गये ॥ १४½॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् साधु साध्विति भारत ॥ १५ ॥
तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः ।

भारत ! उस समय आकाशवाणी हुई—'पाण्डवो ! तुमने बहुत अच्छा निश्चय किया । तुम्हें धन्यवाद !' इसी प्रकार पाण्डवोंके सत्साहसकी प्रशंसा करते हुए ब्राह्मणसमूहोंका भी शब्द वहाँ स्पष्ट सुनायी दे रहा था ॥ १५½ ॥

द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं सम्पूजयन् मुनिः ।

तब मुनिवर द्वैपायनकृष्णने पुनः ब्राह्मणोंके बीचमें युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १६½ ॥

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ॥ १७ ॥
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ।

'राजन् ! तुमने तो यह पृथ्वी मुझे दे ही दी । अब मैं अपनी ओरसे इसे वापस करता हूँ । तुम इन ब्राह्मणोंको सुवर्ण दे दो और पृथ्वी तुम्हारे ही अधिकारमें रह जाय' ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥
यथाऽऽह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।

तब भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'धर्मराज ! भगवान् व्यास जैसा कहते हैं, वैसा ही तुम्हें करना चाहिये' ॥ १८½ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ॥ १९ ॥
कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ।

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए और प्रत्येक ब्राह्मणको उन्होंने यज्ञके लिये एक-एक करोड़की तिगुनी दक्षिणा दी ॥ १९½ ॥

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ॥ २० ॥
यत् कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ।

महाराज मरुत्तके मार्गका अनुसरण करनेवाले राजा युधिष्ठिरने उस समय जैसा महान् त्याग किया था, वैसा इस संसारमें दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा ॥ २०½ ॥

प्रतिगृह्य तु तद् रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ।

विद्वान् महर्षि व्यासने वह सुवर्णराशि लेकर ब्राह्मणोंको दे दी और उन्होंने चार भाग करके उसे आपसमें बाँट लिया ॥

धरण्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
धूतपापो जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह ।

इस प्रकार पृथ्वीके मूल्यके रूपमें वह सुवर्ण देकर राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए। उनके सारे पाप धुल गये और उन्होंने स्वर्गपर अधिकार प्राप्त कर लिया॥

ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनिचयं तथा ॥ २३ ॥
व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखम् ।

उस अनन्त सुवर्णराशिको पाकर ऋत्विजोंने बड़े उत्साह और आनन्दके साथ उसे ब्राह्मणोंको बाँट दिया ॥ २३½ ॥

यज्ञवाटे च यत् किंचिद्धिरण्यं सविभूषणम् ॥ २४ ॥
तोरणानि च यूपांश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद् व्यभजन् द्विजाः॥ २५ ॥

यज्ञशालामें भी जो कुछ सुवर्ण या सोनेके आभूषण, तोरण, यूप, घड़े, बर्तन और ईंटें थीं, उन सबको भी युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर ब्राह्मणोंने आपसमें बाँट लिया ॥

अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणोंके लेनेके बाद जो धन वहाँ पड़ा रह गया, उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेच्छ जातिके लोग उठा ले गये ॥ २६ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ॥ २७ ॥

तदनन्तर सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक अपने घरोंको गये। बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने उन सबको उस धनके द्वारा पूर्णतः तृप्त कर दिया था ॥ २७ ॥

स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै साक्षाद्धि मानतः।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥ २८ ॥

उस महान् सुवर्णराशिमेंसे महातेजस्वी भगवान् व्यासने जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे उन्होंने बड़े आदरके साथ कुन्तीको भेंट कर दिया ॥ २८ ॥

श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।
चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥ २९ ॥

श्वशुरकी ओरसे प्रेमपूर्वक मिले हुए उस धनको पाकर कुन्तीदेवी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं और उसके द्वारा उन्होंने बड़े-बड़े सामूहिक पुण्य-कार्य किये ॥ २९ ॥

गत्वा त्ववभृथं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।
सभाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥ ३० ॥

यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करके पापरहित हुए राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे सम्मानित हो इस प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे देवताओंसे पूजित देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं॥

पाण्डवाश्च महीपालैः समेतैरभिसंवृताः ।
अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ॥ ३१ ॥

महाराज ! वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे घिरे हुए पाण्डवलोग ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो तारोंसे घिरे हुए ग्रह सुशोभित हों ॥ ३१ ॥

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद् रत्नानि विविधानि च।
गजानश्वानलंकारान् स्त्रियो वासांसि काञ्चनम्॥ ३२ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंने यज्ञमें आये हुए राजाओंको भी तरह-तरहके रत्न, हाथी, घोड़े, आभूषण, स्त्रियाँ, वस्त्र और सुवर्ण भेंट किये ॥ ३२ ॥

तद् धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले ।
विसृजञ्शुशुभे राजन् यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३३ ॥

राजन् ! उस अनन्त धनराशिको भूपालमण्डलमें बाँटते हुए कुन्तीकुमार युधिष्ठिर कुबेरके समान शोभा पाते थे ॥३३॥

आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत् तदा ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् वीर राजा बभ्रुवाहनको अपने पास बुलाकर राजाने उसे बहुत-सा धन देकर विदा किया ॥ ३४ ॥

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभ ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत्॥ ३५॥

भरतश्रेष्ठ ! अपनी बहिन दुःशलाकी प्रसन्नताके लिये बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उसके बालक पौत्रको पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३५ ॥

नृपतींश्चैव तान् सर्वान् सुविभक्तान् सुपूजितान्।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥

जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिरने सब राजाओंको अच्छी तरह धन दिया और उनका विशेष सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया ॥ ३६ ॥

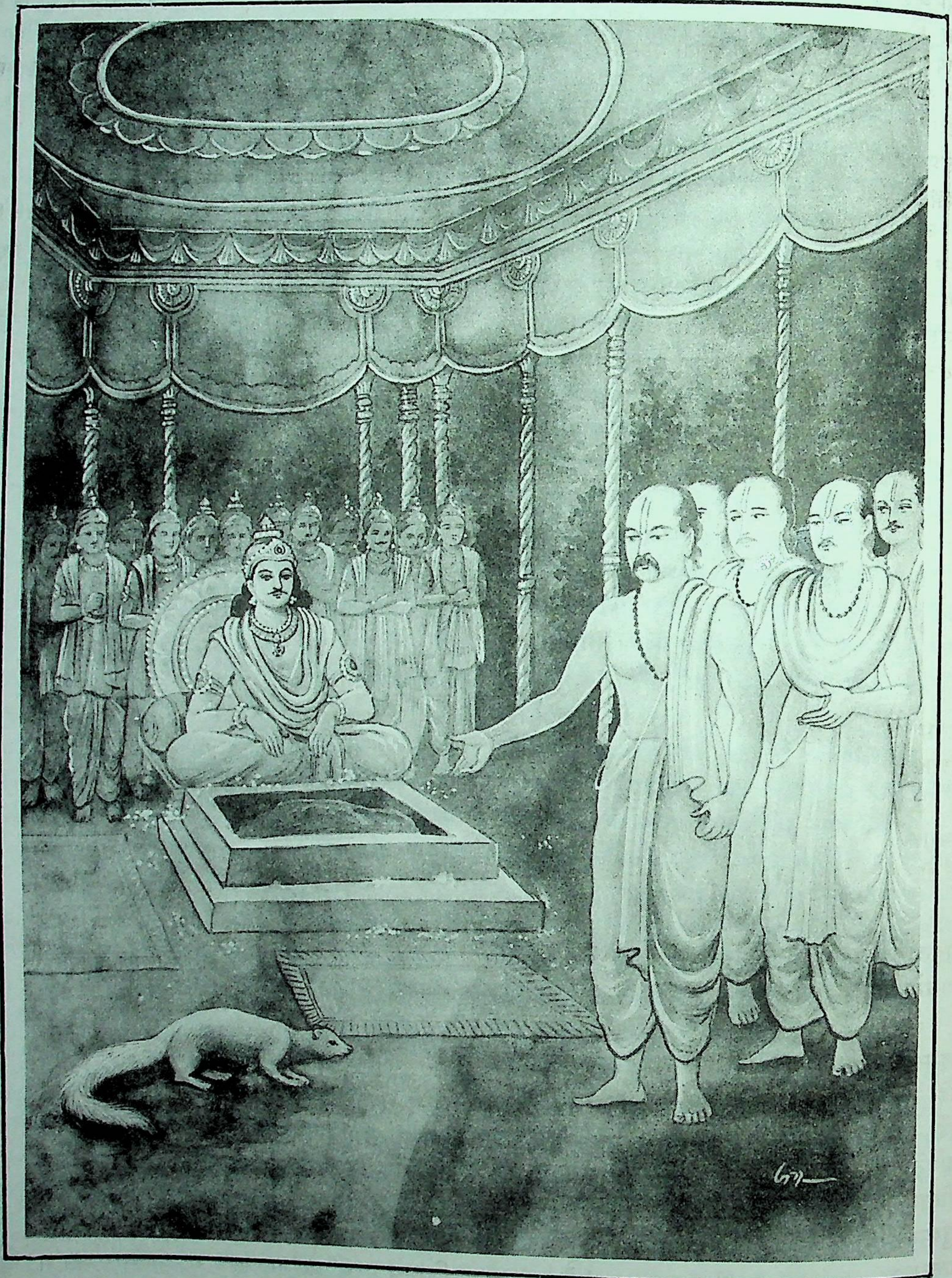
गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।
तथान्यान् वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नाद्यान् सहस्रशः॥ ३७॥
पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिंदमः ॥ ३८ ॥

महाराज ! इसके बाद महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, महाबली बलदेव तथा प्रद्युम्न आदि अन्यान्य सहस्रों वृष्णिवीरोंकी विधिवत् पूजा करके भाइयोंसहित शत्रुदमन महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने उन सबको विदा किया ॥ ३७-३८ ॥

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥ ३९ ॥
सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बभूवुश्चान्नपर्वताः ।
रसालाकर्दमा नद्यो बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ४० ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ पूर्ण हुआ। उसमें अन्न, धन और रत्नोंके ढेर लगे हुए थे। देवताओंके मनमें अतिशय कामना उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंका सागर लहराता था। कितने ही ऐसे तालाब थे, जिनमें घीकी कीचड़ जमी हुई थी और अन्नके तो पहाड़ ही खड़े थे। भरतभूषण ! रससे भरी कीचड़रहित नदियाँ बहती थीं ॥ ३९-४० ॥

भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा ।



महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञमें एक नेवलेका आगमन

पशूनां बध्यतां चैव नान्तं ददृशिरे जनाः ॥ ४१ ॥

(पीपल और सोंठ मिलाकर जो मूँगका जूस तैयार किया जाता है, उसे 'खाण्डव' कहते हैं। उसीमें शक्कर मिला हुआ हो तो वह 'खाण्डवराग' कहा जाता है।) भक्ष्य-भोज्य पदार्थ और खाण्डवराग कितनी मात्रामें बनाये और खाये जाते हैं तथा कितने पशु वहाँ बाँधे हुए थे, इसकी कोई सीमा वहाँके लोगोंको नहीं दिखायी देती थी ॥ ४१ ॥

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम्।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत् तदा ॥ ४२ ॥

उस यज्ञके भीतर आये हुए सब लोग मत्त-प्रमत्त और आनन्द-विभोर हो रहे थे। युवतियाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ विचरण करती थीं। मृदङ्गों और शङ्खोंकी ध्वनियोंसे उस यज्ञशालाकी मनोरमता और भी बढ़ गयी थी ॥४२॥

दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम्।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४३ ॥
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः।

'जिसकी जैसी इच्छा हो, उसको वही वस्तु दी जाय। सबको इच्छानुसार भोजन कराया जाय'—यह घोषणा दिन-रात जारी रहती थी-कभी बंद नहीं होती थी। हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञ-महोत्सवकी चर्चा नाना देशोंके निवासी मनुष्य बहुत दिनोंतक करते रहे ॥ ४३½ ॥

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम् ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस यज्ञमें धनकी मूसलाधार वर्षा की। सब प्रकारकी कामनाओं, रत्नों और रसोंकी भी वर्षा की। इस प्रकार पापरहित और कृतार्थ होकर उन्होंने अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधसमाप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेधकी समाप्तिविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८९॥

नवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें एक नेवलेका उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके द्वारा किये गये सेरभर सत्तूदानकी महिमा उस अश्वमेधयज्ञसे भी बढ़कर बतलाना

जनमेजय उवाच

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
यदाश्चर्यमभूत् किंचित् तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें यदि कोई आश्चर्यजनक घटना हुई हो तो आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम्।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ! प्रभो! युधिष्ठिरका वह महान् अश्वमेध यज्ञ जब पूरा हुआ, उसी समय एक बड़ी उत्तम किंतु महान् आश्चर्यमें डालनेवाली घटना घटित हुई, उसे बतलाता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरतसत्तम ॥ ३ ॥
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥ ४ ॥
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद् वसुधाधिप ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! भारत! उस यज्ञमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों, जातिवालों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, अन्धों तथा दीन-दरिद्रोंके तृप्त हो जानेपर जब युधिष्ठिरके महान् दानका चारों ओर शोर हो गया और धर्मराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा होने लगी, उसी समय वहाँ एक नेवला आया। अनघ! उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीरके एक ओरका भाग सोनेका था। पृथ्वीनाथ! उसने आते ही एक बार वज्रके समान भयंकर गर्जना की ॥ ३—५ ॥

सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान्।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥ ६ ॥

बिलनिवासी उस धृष्ट एवं महान् नेवलेने एक बार वैसी गर्जना करके समस्त मृगों और पक्षियोंको भयभीत कर दिया और फिर मनुष्यकी भाषामें कहा—॥ ६ ॥

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ७ ॥

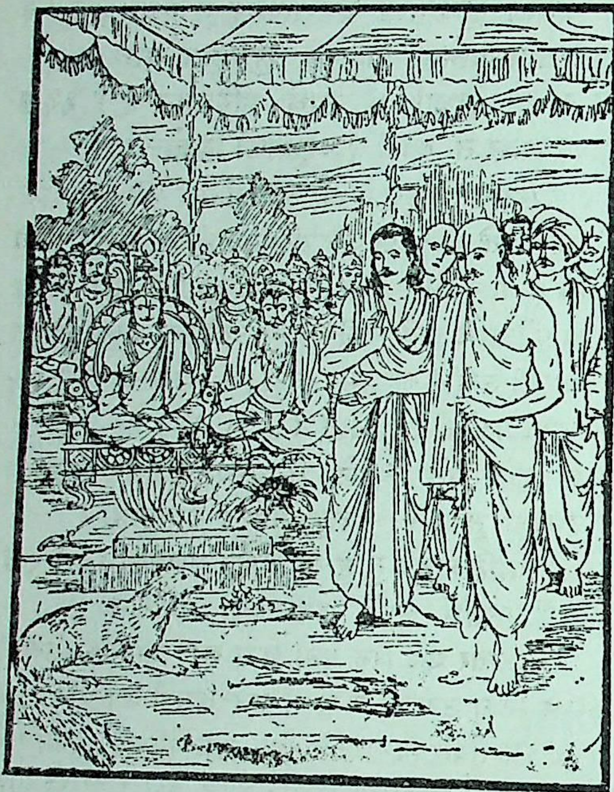
'राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्रनिवासी एक उञ्छवृत्तिधारी उदार ब्राह्मणके सेरभर सत्तू दान करनेके बराबर भी नहीं हुआ है' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ! नेवलेकी वह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८ ॥

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥ ९ ॥

तब वे सब ब्राह्मण उस नेवलेके पास जाकर उसे चारों ओरसे घेरकर पूछने लगे—'नकुल ! इस यज्ञमें तो साधु



पुरुषोंका ही समागम हुआ है, तुम कहाँसे आ गये ? ॥ ९ ॥

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम्।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥ १० ॥

'तुममें कौन-सा बल और कितना शास्त्रज्ञान है ? तुम किसके सहारे रहते हो ? हमें किस तरह तुम्हारा परिचय प्राप्त होगा ? तुम कौन हो, जो हमारे इस यज्ञकी निन्दा करते हो ? ॥ १० ॥

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम्।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथा कृतम् ॥ ११ ॥

'हमने नाना प्रकारकी यज्ञसामग्री एकत्रित करके शास्त्रीय विधिकी अवहेलना न करते हुए इस यज्ञको पूर्ण किया है । इसमें शास्त्रसंगत और न्याययुक्त प्रत्येक कर्तव्यकर्मका यथोचित पालन किया गया है ॥ ११ ॥

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात्।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥ १२ ॥

'इसमें शास्त्रीय दृष्टिसे पूजनीय पुरुषोंकी विधिवत् पूजा की गयी है । अग्निमें मन्त्र पढ़कर आहुति दी गयी है और देनेयोग्य वस्तुओंका ईर्ष्यारहित होकर दान किया गया है ॥ १२ ॥

तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि।
क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैश्चापि पितामहाः ॥ १३ ॥
पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः।
अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथग्जनाः ॥ १४ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः।
देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः ॥ १५ ॥

'यहाँ नाना प्रकारके दानोंसे ब्राह्मणोंको, उत्तम युद्धके द्वारा क्षत्रियोंको, श्राद्धके द्वारा पितामहोंको, रक्षाके द्वारा वैश्योंको, सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करके उत्तम स्त्रियोंको, दयासे शूद्रोंको, दानसे बची हुई वस्तुएँ देकर अन्य मनुष्यों-को तथा राजाके शुद्ध बर्तावसे ज्ञाति एवं सम्बन्धियोंको संतुष्ट किया गया है । इसी प्रकार पवित्र हविष्यके द्वारा देवताओं-को और रक्षाका भार लेकर शरणागतोंको प्रसन्न किया गया है ॥ १३—१५ ॥

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ॥ १६ ॥
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च।
समागतश्च विप्रैस्त्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १७ ॥

यह सब होनेपर भी तुमने क्या देखा या सुना है, जिससे इस यज्ञपर आक्षेप करते हो ? इन ब्राह्मणोंके निकट इनके इच्छानुसार पूछे जानेपर तुम सच-सच बताओ; क्योंकि तुम्हारी बातें विश्वासके योग्य जान पड़ती हैं । तुम स्वयं भी बुद्धिमान् दिखायी देते और दिव्यरूप धारण किये हुए हो । इस समय तुम्हारा ब्राह्मणोंके साथ समागम हुआ है, इसलिये तुम्हें हमारे प्रश्नका उत्तर अवश्य देना चाहिये' ॥ १६-१७ ॥

इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहसन् नकुलोऽब्रवीत्।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ॥ १८ ॥

उन ब्राह्मणोंके इस प्रकार पूछनेपर नेवलेने हँसकर कहा—'विप्रवृन्द ! मैंने आपलोगोंसे मिथ्या अथवा घमंडमें आकर कोई बात नहीं कही है ॥ १८ ॥

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम्।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ॥ १९ ॥

'मैंने जो कहा है कि 'द्विजवरो ! आपलोगोंका यह यज्ञ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणके द्वारा किये हुए सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है' इसे आपने ठीक-ठीक सुना है ॥ १९ ॥

इत्यवश्यं मयैतद् वो वक्तव्यं द्विजसत्तमाः।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ॥ २० ॥

'श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इसका कारण अवश्य आपलोगोंको बताने योग्य है । अब मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे आप लोग शान्तचित्त होकर सुनें ॥ २० ॥

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम्।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

'कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्तिधारी दानी ब्राह्मणके सम्बन्ध में मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह बड़ा ही उत्तम एवं अद्भुत है ॥ २१ ॥

स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः।

यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥ २२ ॥

'ब्राह्मणो ! उस दानके प्रभावसे पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधूसहित उन द्विजश्रेष्ठने जिस प्रकार स्वर्गलोकपर अधिकार पा लिया और वहाँ जिस तरह उन्होंने मेरा यह आधा शरीर सुवर्णमय कर दिया, वह प्रसंग बता रहा हूँ' ॥ २२ ॥

नकुल उवाच

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ॥ २३ ॥

नकुल बोला—ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रनिवासी द्विजके द्वारा दिये गये न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्नके दानका जो उत्तम फल देखनेमें आया है, उसे मैं आपलोगोंको बतलाता हूँ ॥ २३ ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभवत् तदा ॥ २४ ॥

कुछ दिनों पहलेकी बात है, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें, जहाँ बहुत-से धर्मज्ञ महात्मा रहा करते हैं, कोई ब्राह्मण रहते थे। वे उञ्छवृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कबूतरके समान अन्नका दाना चुनकर लाते और उसीसे कुटुम्बका पालन करते थे ॥ २४ ॥

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥ २५ ॥

वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ रहकर तपस्या-में संलग्न थे। ब्राह्मणदेवता शुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाले धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे ॥ २५ ॥

षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित् तु तस्याहारो न विद्यते ॥ २६ ॥
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन् कदाचित् स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।

वे उत्तम व्रतधारी द्विज सदा छठे कालमें अर्थात् तीन-तीन दिनपर ही स्त्री-पुत्र आदिके साथ भोजन किया करते थे। यदि किसी दिन उस समय भोजन न मिला तो दूसरा छठा काल आनेपर ही वे द्विजश्रेष्ठ अन्न ग्रहण करते थे ॥ २६½ ॥

कदाचिद् धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥ २७ ॥
नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तन्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावेशो द्रव्यहीनोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥

ब्राह्मणो ! सुनो । एक समय वहाँ बड़ा भयंकर अकाल पड़ा । उन दिनों उन धर्मात्मा ब्राह्मणके पास अन्नका संग्रह तो था नहीं, खेतोंका अन्न भी सूख गया था। अतः वे सर्वथा निर्धन हो गये थे ॥ २७-२८ ॥

काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ॥ २९ ॥
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ।

बारंबार छठा काल आता; किंतु उन्हें भोजन नहीं मिलता था। अतः वे सब-के-सब भूखे ही रह जाते थे। एक दिन ज्येष्ठके शुक्लपक्षमें दोपहरीके समय उस परिवारके सब लोग उञ्छ लानेके लिये चले ॥ २९½ ॥

उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ॥ ३० ॥
उञ्छमप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ॥ ३१ ॥
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ।

तपस्यामें लगे हुए वे ब्राह्मणदेवता गर्मी और भूख दोनों से कष्ट पा रहे थे। भूख और परिश्रमसे पीड़ित होनेपर भी वे उञ्छ न पा सके। उन्हें अन्नका एक दाना भी नहीं मिला; अतः परिवारके सभी लोगोंके साथ उसी तरह भूखसे पीड़ित रहकर ही उन्होंने वह समय काटा। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़े कष्ट-से अपने प्राणोंकी रक्षा करते थे ॥ ३०-३१½ ॥

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयन् ॥ ३२ ॥
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ।
कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ॥ ३३ ॥
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ।

तदनन्तर एक दिन पुनः छठा काल आनेतक उन्होंने सेरभर जौका उपार्जन किया। उन तपस्वी ब्राह्मणोंने उस जौका सत्तू तैयार किया और जप तथा नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्निमें विधिपूर्वक आहुति देनेके पश्चात् वे सब लोग एक-एक कुडव अर्थात् एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खानेके लिये उद्यत हुए ॥ ३२-३३½ ॥

अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ॥ ३४ ॥
ते तं दृष्ट्वातिथिं प्राप्तं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ।
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ॥ ३५ ॥

वे भोजनके लिये अभी बैठे ही थे कि कोई ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आ पहुँचा। उस अतिथिको आया देख वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। उस अतिथिको प्रणाम करके उन्होंने उससे कुशल-मङ्गल पूछा ॥ ३४-३५ ॥

विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः ।
अनसूयवो विक्रोधाः साधवो वीतमत्सराः ॥ ३६ ॥
त्यक्तमानमदक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ।
सब्रह्मचर्यं गोत्रं ते तस्य ख्यात्वा परस्परम् ॥ ३७ ॥
कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्तमतिथिं तदा ।

ब्राह्मण-परिवारके सब लोग विशुद्धचित्त, जितेन्द्रिय, श्रद्धालु, मनको वशमें रखनेवाले, दोषदृष्टिसे रहित, क्रोध-हीन, सज्जन, ईर्ष्यारहित और धर्मज्ञ थे। उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अभिमान, मद और क्रोधको सर्वथा त्याग दिया था। क्षुधा-से कष्ट पाते हुए उस अतिथि ब्राह्मणको अपने ब्रह्मचर्य और गोत्रका परस्पर परिचय देते हुए वे कुटीमें ले गये ॥ ३६-३७½ ॥

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ॥ ३८ ॥
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने कहा—'भगवन्! अनघ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन मौजूद हैं तथा न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। द्विजश्रेष्ठ! मैंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है। आप स्वीकार करें' ॥ ३८-३९ ॥

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥ ४० ॥

राजेन्द्र! ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर अतिथिने एक पाव सत्तू लेकर खा लिया; परंतु उतनेसे वह तृप्त नहीं हुआ ।४०।

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम्।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥ ४१ ॥

उस उञ्छवृत्तिवाले द्विजने देखा कि ब्राह्मण अतिथि तो अब भी भूखे ही रह गये हैं। तब वे उसके लिये आहारका चिन्तन करने लगे कि यह ब्राह्मण कैसे संतुष्ट हो? ॥ ४१ ॥

तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं मद्भागो दीयतामिति।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥ ४२ ॥

तब ब्राह्मणकी पत्नीने कहा—'नाथ! यह मेरा भाग इन्हें दे दीजिये, जिससे ये ब्राह्मणदेवता इच्छानुसार तृप्तिलाभ करके यहाँसे पधारें' ॥ ४२ ॥

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून् नाभ्यनन्दत ॥४३॥

अपनी पतिव्रता पत्नीकी यह बात सुनकर उन द्विजश्रेष्ठने उसे भूखी जानकर उसके दिये हुए सत्तूको लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४३ ॥

आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा।
जानन् वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम् ।४४।
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह।

उन विद्वान् ब्राह्मणशिरोमणिने अपने ही अनुमानसे यह जान लिया कि यह मेरी वृद्धा स्त्री स्वयं भी क्षुधासे कष्ट पा रही है, थकी है और अत्यन्त दुर्बल हो गयी है। इस तपस्विनीके शरीरमें चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया है और यह काँप रही है। उसकी अवस्थापर दृष्टिपात करके उन्होंने पत्नीसे कहा— ॥ ४४½ ॥

अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने ॥ ४५ ॥
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि।

'शोभने! अपनी स्त्रीकी रक्षा और पालन-पोषण करना कीट-पतंग और पशुओंका भी कर्तव्य है; अतः तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ४५½ ॥

अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च ॥ ४६ ॥

'जो पुरुष होकर भी स्त्रीके द्वारा अपना पालन-पोषण और संरक्षण करता है, वह मनुष्य दयाका पात्र है ॥ ४६ ॥

प्रपतेद् यशसो दीप्तात् स च लोकान् न चाप्नुयात्।
धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसंततिः ॥ ४७ ॥
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितॄणामात्मनस्तथा।

'वह उज्ज्वल कीर्तिसे भ्रष्ट हो जाता है और उसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती। धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्य, सेवा-शुश्रूषा तथा वंशपरम्पराकी रक्षा—ये सब स्त्रीके ही अधीन हैं। पितरोंका तथा अपना धर्म भी पत्नीके ही आश्रित है ॥ ४७½ ॥

न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान् ॥ ४८ ॥
अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति।

'जो पुरुष स्त्रीकी रक्षा करना अपना कर्तव्य नहीं मानता अथवा जो स्त्रीकी रक्षा करनेमें असमर्थ है, वह संसारमें महान् अपयशका भागी होता है और परलोकमें जानेपर उसे नरकोंमें गिरना पड़ता है' ॥ ४८½ ॥

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज ॥ ४९ ॥
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे।

पतिके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणी बोली—'ब्रह्मन्! हम दोनोंके धर्म और अर्थ समान हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों और मेरे हिस्सेका यह पावभर सत्तू ले लें (और लेकर इसे अतिथिको दे दें) ॥ ४९½ ॥

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः ॥ ५० ॥
स्त्रीणां पतिसमाधीनं काङ्क्षितं च द्विजर्षभ।

'द्विजश्रेष्ठ! स्त्रियोंका सत्य, धर्म, रति, अपने गुणोंसे मिला हुआ स्वर्ग तथा उनकी सारी अभिलाषा पतिके ही अधीन है ॥ ५०½ ॥

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ॥ ५१ ॥
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा।

'माताका रज और पिताका वीर्य—इन दोनोंके मिलनेसे ही वंशपरम्परा चलती है। स्त्रीके लिये पति ही सबसे बड़ा देवता है। नारियोंको जो रति और पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है, वह पतिका ही प्रसाद है ॥ ५१½ ॥

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे ॥ ५२ ॥
पुत्रप्रदानाद् वरदस्तस्मात् सक्तून् प्रयच्छ मे।

'आप पालन करनेके कारण मेरे पति, भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पुत्र प्रदान करनेके कारण वरदाता हैं, इसलिये मेरे हिस्सेका सत्तू अतिथिदेवताको अर्पण कीजिये ॥ ५२½ ॥

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम् ॥ ५३ ॥
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः।

'आप भी तो जराजीर्ण, वृद्ध, क्षुधातुर, अत्यन्त दुर्बल, उपवाससे थके हुए और क्षीणकाय हो रहे हैं। (फिर आप जिस तरह भूखका कष्ट सहन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी सह लूँगी)' ॥ ५३½ ॥

इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत् ॥५४॥
द्विज सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम।

पत्नीके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणने सत्तू लेकर अतिथिसे कहा—'साधुपुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आप यह सत्तू भी पुनः ग्रहण कीजिये' ॥ ५४½ ॥

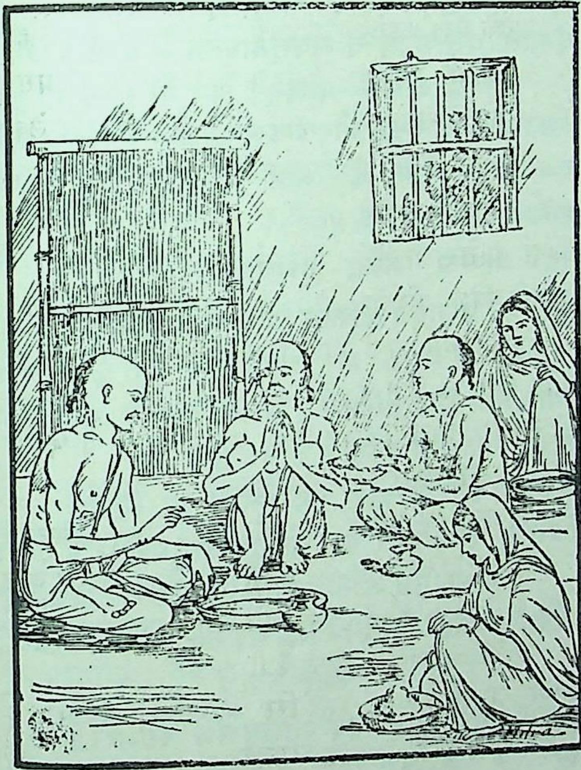
स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ५५ ॥

अतिथि ब्राह्मण उस सत्तूको भी लेकर खा गया; किंतु संतुष्ट नहीं हुआ । यह देखकर उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ५५ ॥

पुत्र उवाच

सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम ।
इत्येव सुकृतं मन्ये तस्मादेतत् करोम्यहम् ॥ ५६ ॥

तब उनके पुत्रने कहा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पिताजी! आप मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर ब्राह्मणको दे दीजिये । मैं इसीमें पुण्य मानता हूँ, इसलिये ऐसा कर रहा हूँ ॥ ५६ ॥



भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः ।
साधूनां काङ्क्षितं यस्मात् पितुर्वृद्धस्य पालनम् ॥ ५७ ॥

मुझे सदा यत्नपूर्वक आपका पालन करना चाहिये; क्योंकि साधु पुरुष सदा इस बातकी अभिलाषा रखते हैं कि मैं अपने बूढ़े पिताका पालन-पोषण करूँ ॥ ५७ ॥

पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम् ।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥ ५८ ॥

पुत्र होनेका यही फल है कि वह वृद्धावस्थामें पिताकी रक्षा करे। ब्रह्मर्षे ! तीनों लोकोंमें यह सनातन श्रुति प्रसिद्ध है ॥ ५८ ॥

प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं तपस्त्वया ।
प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ॥ ५९ ॥

प्राणधारणमात्रसे आप तप कर सकते हैं । देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित हुआ प्राण ही परम धर्म है ॥ ५९ ॥

पितोवाच

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम ।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत् सुतात् ॥ ६० ॥

पिताने कहा—बेटा ! तुम हजार वर्षके हो जाओ तो भी हमारे लिये बालक ही हो । पिता पुत्रको जन्म देकर ही उससे अपनेको कृतकृत्य मानता है ॥ ६० ॥

बालानां क्षुद् बलवती जानाम्येतदहं प्रभो ।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥ ६१ ॥

सामर्थ्यशाली पुत्र ! मैं इस बातको अच्छी तरह जानता हूँ कि बच्चोंकी भूख बड़ी प्रबल होती है । मैं तो बूढ़ा हूँ । भूखे रहकर भी प्राण धारण कर सकता हूँ । तुम यह सत्तु खाकर बलवान् होओ—अपने प्राणोंकी रक्षा करो ॥ ६१ ॥

जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद् बाधतेऽपि च ।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥ ६२ ॥

बेटा ! जीर्ण अवस्था हो जानेके कारण मुझे भूख अधिक कष्ट नहीं देती है । इसके सिवा मैं दीर्घकालतक तपस्या कर चुका हूँ; इसलिये अब मुझे मरनेका भय नहीं है ॥ ६२ ॥

पुत्र उवाच

अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात् पुत्र इति स्मृतः ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् त्राह्यात्मानमिहात्मना ॥ ६३ ॥

पुत्र बोला—तात ! मैं आपका पुत्र हूँ, पुरुषका त्राण करनेके कारण ही संतानको पुत्र कहा गया है । इसके सिवा पुत्र पिताका अपना ही आत्मा माना गया है; अतः आप अपने आत्मभूत पुत्रके द्वारा अपनी रक्षा कीजिये ॥ ६३ ॥

पितोवाच

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च ।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनादद्मि ते सुत ॥ ६४ ॥

पिताने कहा—बेटा ! तुम रूप, शील (सदाचार और सद्भाव) तथा इन्द्रियसंयमके द्वारा मेरे ही समान हो । तुम्हारे इन गुणोंकी मैंने अनेक बार परीक्षा कर ली है, अतः मैं तुम्हारा सत्तू लेता हूँ ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वाऽऽदाय तान् सक्तून् प्रीतात्मा द्विजसत्तमः ।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥ ६५ ॥

यों कहकर श्रेष्ठ ब्राह्मणने प्रसन्नतापूर्वक वह सत्तू ले लिया और हँसते हुए-से उस ब्राह्मण अतिथिको परोस दिया ॥ ६५ ॥

भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव ह ।
उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ॥ ६६ ॥

वह सत्तू खाकर भी ब्राह्मण देवताका पेट न भरा । यह

देखकर उञ्छवृत्तिधारी धर्मात्मा ब्राह्मण बड़े संकोचमें पड़ गये ॥ ६६ ॥

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥

उनकी पुत्रवधू भी बड़ी सुशीला थी। वह ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके पास जा बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने उन श्वशुरदेवसे बोली—॥ ६७ ॥

संतानात् तव संतानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ॥ ६८ ॥

'विप्रवर ! आपकी संतानसे मुझे संतान प्राप्त होगी; अतः आप मेरे परम पूज्य हैं। मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर आप अतिथि देवताको अर्पित कीजिये ॥ ६८ ॥

तव प्रसादान्निर्वृत्ता मम लोकाः किलाक्षयाः ।
पुत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ६९ ॥

'आपकी कृपासे मुझे अक्षय लोक प्राप्त हो गये। पुत्रके द्वारा मनुष्य उन लोकोंमें जाते हैं, जहाँ जाकर वह कभी शोकमें नहीं पड़ता ॥ ६९ ॥

धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च ।
तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गस्त्रेता किलाक्षयः ॥ ७० ॥

'जैसे धर्म तथा उससे संयुक्त अर्थ और काम—ये तीनों स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा जैसे आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—ये तीनों स्वर्गके साधन हैं, उसी प्रकार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र-ये त्रिविध संतानें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं ॥ ७० ॥

पितॄनृणात् तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।
पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधुलोकानुपाश्नुते ॥ ७१ ॥

'हमने सुना है कि पुत्र पिताको पितृ-ऋणसे छुटकारा दिला देता है। पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा मनुष्य निश्चय ही श्रेष्ठ लोकोंमें जाते हैं' ॥ ७१ ॥

श्वशुर उवाच

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्षितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ॥ ७२ ॥
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥

श्वशुरने कहा—बेटी ! हवा और धूपके मारे तुम्हारा सारा शरीर सूख रहा है—शिथिल होता जा रहा है। तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। उत्तम व्रत और आचारका पालन करनेवाली पुत्री ! तुम बहुत दुर्बल हो गयी हो। क्षुधाके कष्टसे तुम्हारा चित्त अत्यन्त व्याकुल है। तुम्हें ऐसी अवस्थामें देखकर भी तुम्हारे हिस्सेका सत्तू कैसे ले लूँ। ऐसा करनेसे तो मैं धर्मकी हानि करनेवाला हो जाऊँगा। अतः कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणि ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ७२-७३ ॥

षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोऽन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ॥ ७४ ॥

तुम प्रतिदिन शौच, सदाचार और तपस्यामें संलग्न रहकर छठे कालमें भोजन करनेका व्रत लिये हुए हो। शुभे ! बड़ी कठिनाईसे तुम्हारी जीविका चलती है। आज सत्तू लेकर तुम्हें निराहार कैसे देख सकूँगा ॥ ७४ ॥

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ॥ ७५ ॥

एक तो तुम अभी बालिका हो, दूसरे भूखसे पीड़ित हो रही हो, तीसरे नारी हो और चौथे उपवास करते-करते अत्यन्त दुबली हो गयी हो; अतः मुझे सदा तुम्हारी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि तुम अपनी सेवाओंद्वारा बान्धवजनोंको आनन्दित करनेवाली हो ॥ ७५ ॥

स्नुषोवाच

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात् त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ॥ ७६ ॥

पुत्रवधू बोली—भगवन् ! आप मेरे गुरुके भी गुरु, देवताओंके भी देवता और सामान्य देवताकी अपेक्षा भी अतिशय उत्कृष्ट देवता हैं, अतः मेरा दिया हुआ यह सत्तू स्वीकार कीजिये ॥ ७६ ॥

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान् ॥ ७७ ॥

मेरा यह शरीर, प्राण और धर्म—सब कुछ बड़ोंकी सेवाके लिये ही है। विप्रवर ! आपके प्रसादसे मुझे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ७७ ॥

अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ॥ ७८ ॥

अतः आप मुझे अपनी दृढ़ भक्त, रक्षणीय और विचारणीय मानकर अतिथिको देनेके लिये यह सत्तू स्वीकार कीजिये ॥

श्वशुर उवाच

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ॥ ७९ ॥
तस्मात् सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ॥ ८० ॥

श्वशुरने कहा—बेटी ! तुम सती-साध्वी नारी हो और सदा ऐसे ही शील एवं सदाचारका पालन करनेसे तुम्हारी शोभा है। तुम धर्म तथा व्रतके आचरणमें संलग्न होकर सर्वदा गुरुजनोंकी सेवापर ही दृष्टि रखती हो; इसलिये बहू ! मैं तुम्हें पुण्यसे वञ्चित न होने दूँगा। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाभागे ! पुण्यात्माओंमें तुम्हारी गिनती करके मैं तुम्हारा दिया हुआ सत्तू अवश्य स्वीकार करूँगा ॥ ७९-८० ॥

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये ।
ततस्तुष्टोऽभवद् विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥ ८१ ॥

ऐसा कहकर ब्राह्मणने उसके हिस्सेका भी सत्तू लेकर अतिथिको दे दिया। इससे वह ब्राह्मण उन उञ्छवृत्तिधारी साधु महात्मापर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ८१ ॥

प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम्।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥ ८२ ॥

वास्तवमें उस श्रेष्ठ द्विजके रूपमें मानव-विग्रहधारी साक्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित थे। वे प्रवचनकुशल धर्म संतुष्टचित्त होकर उन उञ्छवृत्तिधारी श्रेष्ठ ब्राह्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ८२ ॥

शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः।
यथाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम।
अहो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ॥ ८३ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार धर्मपूर्वक जो न्यायोपार्जित शुद्ध अन्नका दान दिया है, इससे तुम्हारे ऊपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अहो! स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले देवता भी वहाँ तुम्हारे दानकी घोषणा करते हैं ॥८३॥

गगनात् पुष्पवर्षं च पश्येदं पतितं भुवि।
सुरर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ॥ ८४ ॥
स्तुवन्तो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः।

'देखो, आकाशसे भूतलपर यह फूलोंकी वर्षा हो रही है। देवर्षि, देवता, गन्धर्व तथा और भी जो देवताओंके अग्रणी पुरुष हैं, वे और देवदूतगण तुम्हारे दानसे विस्मित हो तुम्हारी स्तुति करते हुए खड़े हैं ॥ ८४½ ॥

ब्रह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकचराश्च ये ॥ ८५ ॥
काङ्क्षन्ते दर्शनं तुभ्यं दिवं व्रज द्विजर्षभ।

'द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले जो ब्रह्मर्षिगण विमानोंमें रहते हैं, वे भी तुम्हारे दर्शनकी इच्छा रखते हैं; इसलिये तुम स्वर्गलोकमें चलो ॥ ८५½ ॥

पितृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ॥ ८६ ॥
अनागताश्च बहवः सुबहूनि युगान्युत।

'तुमने पितृलोकमें गये हुए अपने समस्त पितरोंका उद्धार कर दिया। अनेक युगोंतक भविष्यमें होनेवाली जो संतानें हैं, वे भी तुम्हारे पुण्य-प्रतापसे तर जायँगी ॥ ८६½ ॥

ब्रह्मचर्येण दानेन यज्ञेन तपसा तथा ॥ ८७ ॥
असंकरेण धर्मेण तस्माद् गच्छ दिवं द्विज।

'अतः ब्रह्मन्! तुम अपने ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, तप तथा संकरतारहित धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चलो ॥८७½॥

श्रद्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ॥ ८८ ॥
तस्माद् देवाश्च दानेन प्रीता ब्राह्मणसत्तम।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणशिरोमणे! तुम उत्तम श्रद्धाके साथ तपस्या करते हो; इसलिये देवता तुम्हारे दानसे अत्यन्त संतुष्ट हैं ॥ ८८½ ॥

सर्वमेतद्धि यस्मात् ते दत्तं शुद्धेन चेतसा ॥ ८९ ॥
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो विजितः कर्मणा त्वया।

'इस प्राण-संकटके समय भी यह सब सत्तू तुमने शुद्ध हृदयसे दान किया है; इसलिये तुमने उस पुण्यकर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है ॥ ८९½ ॥

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ॥ ९० ॥
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥ ९१ ॥

'भूख मनुष्यकी बुद्धिको चौपट कर देती है। धार्मिक विचारको मिटा देती है। क्षुधासे ज्ञान लुप्त हो जानेके कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूखको जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्गपर विजय पाता है ॥ ९०-९१ ॥

यदा दानरुचिः स्याद् वै तदा धर्मो न सीदति।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च ॥ ९२ ॥
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया।

'जब मनुष्यमें दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, तब उसके धर्मका ह्रास नहीं होता। तुमने पत्नीके प्रेम और पुत्रके स्नेहपर भी दृष्टिपात न करके धर्मको ही श्रेष्ठ माना है और उसके सामने भूख-प्यासको भी कुछ नहीं गिना है ॥ ९२½ ॥

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ॥ ९३ ॥
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा।
स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ॥ ९४ ॥

'मनुष्यके लिये सबसे पहले न्यायपूर्वक धनकी प्राप्तिका उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है। उस धनको सत्पात्रकी सेवामें अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समयमें दान देनेकी अपेक्षा उत्तम समयपर दान देना और भी अच्छा है; किंतु श्रद्धाका महत्त्व कालसे भी बढ़कर है। स्वर्गका दरवाजा अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोहवश उसे देख नहीं पाते हैं ॥

स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम्।
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ९५ ॥
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्ति प्रदायिनः।

'उस स्वर्गद्वारकी जो अर्गला (किल्ली) है, वह लोभरूपी बीजसे बनी हुई है। वह द्वार रागके द्वारा गुप्त है, इसीलिये उसके भीतर प्रवेश करना बहुत ही कठिन है। जो लोग क्रोधको जीत चुके हैं, इन्द्रियोंको वशमें कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देनेवाले तपस्वी ब्राह्मण ही उस द्वारको देख पाते हैं ॥ ९५½ ॥

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ॥ ९६ ॥
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः।

'श्रद्धापूर्वक दान देनेवाले मनुष्यमें यदि एक हजार देनेकी शक्ति हो तो वह सौका दान करे, सौ देनेकी शक्तिवाला दसका दान करे तथा जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्तिके अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है ॥ ९६½ ॥

रन्तिदेवो हि नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ॥ ९७ ॥
शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं ततो गतः ।

'विप्रवर ! कहते हैं, राजा रन्तिदेवके पास जब कुछ भी नहीं रह गया, तब उन्होंने शुद्ध हृदयसे केवल जलका दान किया था। इससे वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ९७½ ॥

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ॥ ९८ ॥
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ।

'तात ! अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्यके द्वारा महान् फल देनेवाले बड़े-बड़े दान करनेसे धर्मको उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायोपार्जित थोड़ेसे अन्नका भी श्रद्धा-पूर्वक दान करनेसे उन्हें प्रसन्नता होती है ॥ ९८½ ॥

गोप्रदानसहस्राणि द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ॥ ९९ ॥
एकां दत्त्वा स पारक्यां नरकं समपद्यत ।

'राजा नृगने ब्राह्मणोंको हजारों गौएँ दान की थीं; किंतु एक ही गौ दूसरेकी दान कर दी, जिससे अन्यायतः प्राप्त द्रव्यका दान करनेके कारण उन्हें नरकमें जाना पड़ा ॥ ९९½ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ॥ १०० ॥
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान् मोदते दिवि सुव्रतः ।

'उशीनरके पुत्र उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा शिबि श्रद्धापूर्वक अपने शरीरका मांस देकर भी पुण्यात्माओंके लोकोंमें अर्थात् स्वर्गमें आनन्द भोगते हैं ॥ १००½ ॥

विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ॥ १०१ ॥
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः ।

'विप्रवर ! मनुष्योंके लिये धन ही पुण्यका हेतु नहीं है। साधु पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार सुगमतापूर्वक पुण्यका अर्जन कर लेते हैं। न्यायपूर्वक संचित किये हुए अन्नके दानसे जैसा उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे भी नहीं सुलभ होता ॥ १०१½ ॥

क्रोधाद् दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति ॥ १०२ ॥
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते ।

'मनुष्य क्रोधसे अपने दानके फलको नष्ट कर देता है। लोभके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता। न्यायोपार्जित धनसे जीवन-निर्वाह करनेवाला और दानके महत्त्वको जानने-वाला पुरुष दान एवं तपस्याके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ १०२½ ॥

न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥ १०३ ॥
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव ।
सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः ॥ १०४ ॥

'तुमने जो यह दानजनित फल प्राप्त किया है, इसकी समता प्रचुर दक्षिणावाले बहुसंख्यक राजसूय और अनेक अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भी नहीं हो सकती। तुमने सेरभर सत्तूका दान करके अक्षय ब्रह्मलोकको जीत लिया है ॥ १०३-१०४ ॥

विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् ।
सर्वेषां वो द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ॥ १०५ ॥

'विप्रवर ! अब तुम सुखपूर्वक रजोगुणरहित ब्रह्मलोकमें जाओ। द्विजश्रेष्ठ ! तुम सब लोगोंके लिये यह दिव्य विमान उपस्थित है ॥ १०५ ॥

आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य माम् ।
तारितो हि त्वया देहो लोके कीर्तिः स्थिरा च ते ॥ १०६ ॥
सभार्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज ।

'ब्रह्मन् ! मेरी ओर देखो, मैं धर्म हूँ। तुम सब लोग अपनी इच्छाके अनुसार इस विमानपर चढ़ो। तुमने अपने इस शरीरका उद्धार कर दिया और लोकमें भी तुम्हारी अविचल कीर्ति बनी रहेगी। तुम पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ स्वर्गलोकको जाओ' ॥ १०६½ ॥

इत्युक्तवाक्ये धर्मे तु यानमारुह्य स द्विजः ॥ १०७ ॥
सदारःससुतश्चैव सस्नुषश्च दिवं गतः ।

धर्मके ऐसा कहनेपर वे उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मण देवता अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोकको चले गये ॥ १०७½ ॥

तस्मिन् विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुषे तदा ॥ १०८ ॥
भार्याचतुर्थे धर्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् ।

स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ वे धर्मज्ञ ब्राह्मण जब स्वर्गलोकको चले गये, तब मैं अपनी बिलसे बाहर निकला ॥

ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ॥ १०९ ॥
दिव्यपुष्पविमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः ।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥ ११० ॥

तदनन्तर सत्तूकी गन्ध सूँघने, वहाँ गिरे हुए जलकी कीचसे सम्पर्क होने, वहाँ गिरे हुए दिव्य पुष्पोंको रौंदने और उन महात्मा ब्राह्मणके दान करते समय गिरे हुए अन्नके कणोंमें मन लगानेसे तथा उन उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे मेरा मस्तक सोनेका हो गया ॥ १०९-११० ॥

तस्य सत्याभिसंधस्य सक्तुदानेन चैव ह ।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥ १११ ॥

विप्रवरो ! उन सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणके सत्तूदानसे मेरा यह आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया ॥ १११ ॥

पश्यतेमं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः ।
कथमेवंविधं स्याद् वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥ ११२ ॥

उन बुद्धिमान् ब्राह्मणकी तपस्यासे मुझे जो यह महान् फल प्राप्त हुआ है, इसे आपलोग अपनी आँखों देख लीजिये। ब्राह्मणो ! अब मैं इस चिन्तामें पड़ा कि मेरे शरीरका दूसरा पार्श्व भी कैसे ऐसा ही हो सकता है ? ॥ ११२ ॥

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः ।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ॥ ११३ ॥
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ।

इसी उद्देश्यसे मैं बड़े हर्ष और उत्साहके साथ बारंबार

अनेकानेक तपोवनों और यज्ञस्थलोंमें जाया-आया करता हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरके इस यज्ञका बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लगाये यहाँ आया था; किंतु मेरा शरीर यहाँ सोनेका न हो सका ॥ ११३½ ॥

ततो मयोक्तं तद् वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः ॥ ११४॥
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा ।

ब्राह्मणशिरोमणियो! इसीसे मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मणके दिये हुए सेरभर सत्तूके बराबर भी नहीं है। सर्वथा ऐसी ही बात है ॥ ११४½ ॥

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः ॥ ११५॥
नहि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ।

क्योंकि उस समय सेरभर सत्तूमेंसे गिरे हुए कुछ कणोंके प्रभावसे मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हो गया था; परंतु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा न बना सका; अतः मेरे मतमें यह यज्ञ उन सेरभर सत्तूके कणोंके समान भी नहीं है ॥ ११५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा ॥ ११६॥
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥ ११७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञस्थलमें उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऐसा कहकर वह नेवला वहाँसे गायब हो गया और वे ब्राह्मण भी अपने-अपने घर चले गये ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया परपुरंजय ।
यदाश्चर्यमभूत् तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११८॥

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जनमेजय! वहाँ अश्वमेध नामक महायज्ञमें जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, वह सारा प्रसङ्ग मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ११८ ॥

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥ ११९॥

नरेश्वर! उस यज्ञके सम्बन्धमें ऐसी घटना सुनकर तुम्हें किसी प्रकार विस्मय नहीं करना चाहिये। सहस्रों कोटि ऐसे ऋषि हो गये हैं, जो यज्ञ न करके केवल तपस्याके ही बलसे दिव्य लोकको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ११९ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम् ॥ १२०॥

किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, मनमें संतोष रखना, शील और सदाचारका पालन करना, सबके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव करना, तपस्या करना, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तुका श्रद्धापूर्वक दान करना—इनमेंसे एक-एक गुण बड़े-बड़े यज्ञोंके समान हैं ॥ १२० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलाख्याने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें नकुलोपाख्यानविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

हिंसामिश्रित यज्ञ और धर्मकी निन्दा

जनमेजय उवाच

यज्ञे सक्ता नृपतयस्तपःसक्ता महर्षयः ।
शान्तिव्यवस्थिता विप्राः शमे दम इति प्रभो ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—प्रभो! राजालोग यज्ञमें संलग्न होते हैं, महर्षि तपस्यामें तत्पर रहते हैं और ब्राह्मणलोग शान्ति (मनोनिग्रह)में स्थित होते हैं। मनका निग्रह हो जानेपर इन्द्रियोंका संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

तस्माद् यज्ञफलैस्तुल्यं न किंचिदिह दृश्यते ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् ॥ २ ॥

अतः यज्ञफलकी समानता करनेवाला कोई कर्म यहाँ मुझे नहीं दिखायी देता है। यज्ञके सम्बन्धमें मेरा तो ऐसा ही विचार है और निःसंदेह यही ठीक है ॥ २ ॥

यज्ञैरिष्ट्वा तु बहवो राजानो द्विजसत्तमाः ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयुः ॥ ३ ॥

यज्ञोंका अनुष्ठान करके बहुत-से राजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण इहलोकमें उत्तम कीर्ति पाकर मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३ ॥

देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ॥ ४ ॥

सहस्र नेत्रधारी महातेजस्वी देवराज भगवान् इन्द्रने बहुत-सी दक्षिणावाले बहुसंख्यक यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका समस्त साम्राज्य प्राप्त किया था ॥ ४ ॥

यदा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः ।
सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ॥ ५ ॥

भीम और अर्जुनको आगे रखकर राजा युधिष्ठिर भी समृद्धि और पराक्रमकी दृष्टिसे देवराज इन्द्रके ही तुल्य थे ॥ ५ ॥

अथ कस्मात् स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् ।
अश्वमेधं महायज्ञं राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

फिर उस नेवलेने महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस अश्वमेध नामक महायज्ञकी निन्दा क्यों की? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चापि नराधिप ।
गदतः शृणु मे राजन् यथावदिह भारत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर ! भरतनन्दन ! मैं यज्ञकी श्रेष्ठ विधि और फलका यहाँ यथावत् वर्णन करता हूँ, तुम मेरा कथन सुनो ॥ ७ ॥

पुरा शक्रस्य यजतः सर्व ऊचुर्महर्षयः।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ॥ ८ ॥
हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे गुणसमन्विते।
देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ॥ ९ ॥
सुप्रतीतैस्तथा विप्रैः स्वागमैः सुस्वरैर्नृप।
अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा ॥ १० ॥
आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः ॥ ११ ॥

राजन् ! प्राचीन कालकी बात है, जब इन्द्रका यज्ञ हो रहा था और सब महर्षि मन्त्रोच्चारण कर रहे थे, ऋत्विजलोग अपने-अपने कर्मोंमें लगे थे, यज्ञका काम बड़े समारोह और विस्तारके साथ चल रहा था, उत्तम गुणोंसे युक्त आहुतियों-का अग्निमें हवन किया जा रहा था, देवताओंका आवाहन हो रहा था, बड़े-बड़े महर्षि खड़े थे, ब्राह्मणलोग बड़ी प्रसन्नताके साथ वेदोक्त मन्त्रोंका उत्तम स्वरसे पाठ करते थे और शीघ्रकारी उत्तम अध्वर्युगण बिना किसी थकावटके अपने कर्तव्यका पालन कर रहे थे। इतनेहीमें पशुओंके आलम्भका समय आया। महाराज ! जब पशु पकड़ लिये गये, तब महर्षियोंको उनपर बड़ी दया आयी ॥ ८–११ ॥

ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥ १२ ॥

उन पशुओंकी दयनीय अवस्था देखकर वे तपोधन ऋषि इन्द्रके पास जाकर बोले—'यह जो यज्ञमें पशुवधका विधान है, यह शुभकारक नहीं है ॥ १२ ॥

अपरिज्ञानमेतत् ते महान्तं धर्ममिच्छतः।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर ॥ १३ ॥

'पुरंदर ! आप महान् धर्मकी इच्छा करते हैं तो भी जो पशुवधके लिये उद्यत हो गये हैं, यह आपका अज्ञान ही है; क्योंकि यज्ञमें पशुओंके वधका विधान शास्त्रमें नहीं देखा गया है ॥ १३ ॥

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ॥ १४ ॥

'प्रभो ! आपने जो यज्ञका समारम्भ किया है, यह धर्मको हानि पहुँचानेवाला है। यह यज्ञ धर्मके अनुकूल नहीं है, क्योंकि हिंसाको कहीं भी धर्म नहीं कहा गया है ॥ १४ ॥

आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ॥ १५ ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत्।

'यदि आपकी इच्छा हो तो ब्राह्मणलोग शास्त्रके अनुसार ही इस यज्ञका अनुष्ठान करें। शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करनेसे आपको महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ १५½ ॥

यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ॥ १६ ॥
एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः।

'सहस्र नेत्रधारी इन्द्र ! आप तीन वर्षके पुराने बीजों (जौ, गेहूँ आदि अनाजों) से यज्ञ करें। यही महान् धर्म है और महान् गुणकारक फलकी प्राप्ति करानेवाला है' १६½

शतक्रतुस्तु तद् वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १७ ॥
उक्तं न प्रतिजग्राह मानान्मोहवशं गतः।

तत्त्वदर्शी ऋषियोंके कहे हुए इस वचनको इन्द्रने अभिमानवश नहीं स्वीकार किया। वे मोहके वशीभूत हो गये थे ॥ १७½ ॥

तेषां विवादः सुमहाञ्शक्रयज्ञे तपस्विनाम् ॥ १८ ॥
जङ्गमैः स्थावरैर्वापि यष्टव्यमिति भारत।

इन्द्रके उस यज्ञमें जुटे हुए तपस्वीलोगोंमें इस प्रश्न-को लेकर महान् विवाद खड़ा हो गया। भारत ! एक पक्ष कहता था कि जंगम पदार्थ (पशु आदि) के द्वारा यज्ञ करना चाहिये और दूसरा पक्ष कहता था कि स्थावर वस्तुओं-(अन्न-फल आदि) के द्वारा यजन करना उचित है॥ १८½॥

ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥
तदा संधाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम्।
धर्मसंशयमापन्नान् सत्यं ब्रूहि महामते ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! वे तत्त्वदर्शी ऋषि जब इस विवादसे बहुत खिन्न हो गये, तब उन्होंने इन्द्रके साथ सलाह लेकर इस विषयमें राजा उपरिचर वसुसे पूछा—'महामते ! हमलोग धर्मविषयक संदेहमें पड़े हुए हैं। आप हमसे सच्ची बात बताइये ॥ १९-२० ॥

महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपसत्तम।
यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति ॥ २१ ॥

'महाभाग नृपश्रेष्ठ ! यज्ञोंके विषयमें शास्त्रका मत कैसा है ? मुख्य-मुख्य पशुओंद्वारा यज्ञ करना चाहिये अथवा बीजों एवं रसोंद्वारा' ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा तु वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम्।
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ॥ २२ ॥

यह सुनकर राजा वसुने उन दोनों पक्षोंके कथनमें कितना सार या असार है, इसका विचार न करके यों ही बोल दिया कि 'जब जो वस्तु मिल जाय, उसीसे यज्ञ कर लेना चाहिये' ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम्।
उक्त्वाथ वितथं प्रश्नं चेदीनामीश्वरः प्रभुः ॥ २३ ॥

इस प्रकार कहकर असत्य निर्णय देनेके कारण चेदिराज वसुको रसातलमें जाना पड़ा ॥ २३ ॥

तस्मान्न वाच्यं ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये।
प्रजापतिमपाहाय स्वयम्भुवमृते प्रभुम् ॥ २४ ॥

अतः कोई संदेह उपस्थित होनेपर स्वयम्भू भगवान्

प्रजापतिको छोड़कर अन्य किसी बहुज्ञ पुरुषको भी अकेले कोई निर्णय नहीं देना चाहिये ॥ २४ ॥

तेन दत्तानि दानानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ।
तानि सर्वाण्यनादृत्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ॥ २५ ॥

उस अशुद्ध बुद्धिवाले पापी पुरुषके दिये हुए दान कितने ही अधिक क्यों न हों, वे सब-के सब अनादृत होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः ।
दानेन कीर्तिर्भवति न प्रेत्येह च दुर्मतेः ॥ २६ ॥

अधर्ममें प्रवृत्त हुए दुर्बुद्धि दुरात्मा हिंसक मनुष्य जो दान देते हैं, उससे इहलोक या परलोकमें उनकी कीर्ति नहीं होती ॥ २६ ॥

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः ।
धर्माभिशंकी यजते न स धर्मफलं लभेत् ॥ २७ ॥

जो मूर्ख अन्यायोपार्जित धनका बारंबार संग्रह करके धर्मके विषयमें संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्मका फल नहीं मिलता ॥ २७ ॥

धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषाधमः ।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम् ॥ २८ ॥

जो धर्मध्वजी, पापात्मा एवं नराधम है, वह लोकमें अपना विश्वास जमानेके लिये ब्राह्मणोंको दान देता है, धर्मके लिये नहीं ॥ २८ ॥

पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरङ्कुशः ।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमश्नुते ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण पापकर्मसे धन पाकर उच्छृङ्खल हो राग और मोहके वशीभूत हो जाता है, वह अन्तमें कलुषित गतिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः ।
उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥ ३० ॥

वह लोभ और मोहके वशमें पड़कर संग्रह करनेकी बुद्धिको अपनाता है । कृपणतापूर्वक पैसे बटोरनेका विचार रखता है । फिर बुद्धिको अशुद्ध कर देनेवाले पापाचारके द्वारा प्राणियोंको उद्वेगमें डाल देता है ॥ ३० ॥

एवं लब्ध्वा धनं मोहाद् यो हि दद्याद् यजेत वा ।
न तस्य स फलं प्रेत्य भुङ्क्ते पापधनागमात् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो मोहवश अन्यायसे धनका उपार्जन करके उसके द्वारा दान या यज्ञ करता है, वह मरनेके बाद भी उसका फल नहीं पाता; क्योंकि वह धन पापसे मिला हुआ होता है ॥ ३१ ॥

उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥ ३२ ॥

तपस्याके धनी धर्मात्मा पुरुष उञ्छ (बीने हुए अन्न), फल, मूल, शाक और जलपात्रका ही अपनी शक्तिके अनुसार दान करके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं ॥ ३२ ॥

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥ ३३ ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ।
श्रूयन्ते हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ॥ ३४ ॥

यही धर्म है, यही महान् योग है, दान, प्राणियोंपर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, धृति और क्षमा—ये सनातन धर्मके सनातन मूल हैं । सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्र आदि नरेश इसीसे सिद्धिको प्राप्त हुए थे ३३-३४

विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिषेणौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥

विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन, आर्ष्टिषेण और भूपाल सिन्धुद्वीप—ये तथा अन्य बहुत-से राजा तथा तपस्वी न्यायोपार्जित धनके दान और सत्यभाषणद्वारा परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३५-३६ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥ ३७ ॥

भरतनन्दन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो भी तपका आश्रय लेते हैं, वे दानधर्मरूपी अग्निसे तपकर सुवर्णके समान शुद्ध हो स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि हिंसामिश्रधर्मनिन्दायामेकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें हिंसामिश्रित धर्मकी निन्दाविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यके यज्ञकी कथा

जनमेजय उवाच

धर्मागतेन त्यागेन भगवन् स्वर्गमस्ति चेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! धर्मके द्वारा प्राप्त हुए धनका दान करनेसे यदि स्वर्ग मिलता है तो यह सब विषय मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि आप प्रवचन करनेमें कुशल हैं ॥ १ ॥

तस्योञ्छवृत्तेर्यद् वृत्तं सक्तुदाने फलं महत्।
कथितं तु मम ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम्॥ २॥

ब्रह्मन्! उञ्छवृत्ति धारण करनेवाले ब्राह्मणको न्यायतः प्राप्त हुए सत्तूका दान करनेसे जिस महान् फलकी प्राप्ति हुई, उसका आपने मुझसे वर्णन किया। निस्संदेह यह सब ठीक है॥ २॥

कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमोऽभवत्।
एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ॥ ३॥

परंतु सभी यज्ञोंमें यह उत्तम निश्चय कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है। द्विजश्रेष्ठ! इस विषयका मुझसे पूर्णतः प्रतिपादन कीजिये॥ ३॥

वैशम्पायन उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरावृत्तमरिंदम॥ ४॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस विषयमें पहले अगस्त्य मुनिके महान् यज्ञमें जो घटना घटित हुई थी, उस प्राचीन इतिहासका जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं॥ ४॥

पुरागस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्।
प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः॥ ५॥

महाराज! पहलेकी बात है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले महातेजस्वी अगस्त्य मुनिने एक समय बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले यज्ञकी दीक्षा ली॥ ५॥

तत्राग्निकल्पा होतार आसन् सत्रे महात्मनः।
मूलाहाराः फलाहाराः साश्मकुट्टा मरीचिपाः॥ ६॥
परिपृष्टिका वैघसिकाः प्रसंख्यानास्तथैव च।
यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्यवस्थिताः॥ ७॥

उन महात्माके यज्ञमें अग्निके समान तेजस्वी होता थे। जिनमें फल, मूलका आहार करनेवाले, अश्मकुट[1], मरीचिप[2], परिपृष्टिक[3], वैघसिक[4] और प्रसंख्यान[5] आदि अनेक प्रकारके यति एवं भिक्षु उपस्थित थे॥ ६-७॥

सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
दमे स्थिताश्च सर्वे ते हिंसादम्भविवर्जिताः॥ ८॥
वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यबाधिताः।
उपातिष्ठन्त तं यज्ञं यजन्तस्ते महर्षयः॥ ९॥

वे सब-के-सब प्रत्यक्ष धर्मका पालन करनेवाले, क्रोधविजयी, जितेन्द्रिय, मनोनिग्रहपरायण, हिंसा और दम्भसे रहित तथा सदा शुद्ध सदाचारमें स्थित रहनेवाले थे। उन्हें किसी भी इन्द्रियके द्वारा कभी बाधा नहीं पहुँचती थी। ऐसे-ऐसे महर्षि वह यज्ञ करानेके लिये वहाँ उपस्थित थे॥ ८-९॥

यथाशक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम्।
तस्मिन् सत्रे तु यद् वृत्तं यद् योग्यं च तदाभवत्॥ १०॥

भगवान् अगस्त्यमुनिने उस यज्ञके लिये यथाशक्ति विशुद्ध अन्नका संग्रह किया था। उस समय उस यज्ञमें वही हुआ, जो उसके योग्य था॥ १०॥

तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः क्रतवः कृताः।
एवंविधे त्वगस्त्यस्य वर्तमाने तथाध्वरे।
न ववर्ष सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम॥ ११॥

उनके सिवा और भी अनेक मुनियोंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। भरतश्रेष्ठ! महर्षि अगस्त्यका ऐसा यज्ञ जब चालू हो गया, तब देवराज इन्द्रने वहाँ वर्षा बंद कर दी॥ ११॥

ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः।
कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम्॥ १२॥

राजन्! तब यज्ञकर्मके बीचमें अवकाश मिलनेपर जब विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुनि एक दूसरेसे मिलकर एक स्थानपर बैठे, तब उनमें महात्मा अगस्त्यजीके सम्बन्धमें इस प्रकार चर्चा होने लगी—॥ १२॥

अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः।
न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति॥ १३॥

'महर्षियो! सुप्रसिद्ध अगस्त्य मुनि हमारे यजमान हैं। वे ईर्ष्यारहित हो श्रद्धापूर्वक सबको अन्न देते हैं। परंतु इधर मेघ जलकी वर्षा नहीं कर रहा है। तब भविष्यमें अन्न कैसे पैदा होगा?॥ १३॥

सत्रं चेदं महद् विप्रा मुनेर्द्वादशवार्षिकम्।
न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश॥ १४॥

'ब्राह्मणो! मुनिका यह महान् सत्र बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाला है; परंतु इन्द्रदेव इन बारह वर्षोंमें वर्षा नहीं करेंगे॥ १४॥

एतद् भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः।
अगस्त्यस्यातितपसः कर्तुमर्हन्त्यनुग्रहम्॥ १५॥

'यह सोचकर आपलोग इन अत्यन्त तपस्वी बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यपर अनुग्रह करें (जिससे इनका यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो जाय)'॥ १५॥

इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान्॥ १६॥
प्रोवाच वाक्यं स तदा प्रसाद्य शिरसा मुनीन्।

उनके ऐसा कहनेपर प्रतापी अगस्त्य उन मुनियोंको सिरसे प्रणाम करके उन्हें राजी करते हुए इस प्रकार बोले—॥ १६½॥

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः॥ १७॥
चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं चिन्तनमात्रके द्वारा मानसिक यज्ञ करूँगा। यह यज्ञकी सनातन विधि है॥ १७½॥

---

१. खाद्य पदार्थको पत्थरपर फोड़कर खानेवाले। २. सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले। ३. पूछकर दिये हुए अन्नको ही लेनेवाले। ४. यज्ञशिष्ट अन्नको ही भोजन करनेवाले। ५. तत्त्वका विचार करनेवाले।



महर्षि अगस्त्यकी यज्ञके समय प्रतिज्ञा

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १८ ॥
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं स्पर्श-यज्ञ[1] करूँगा । यह भी यज्ञकी सनातन विधि है ॥ १८½ ॥

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १९ ॥
ध्येयात्मना हरिष्यामि यज्ञानेतान् यतव्रतः ।

'यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं व्रत-नियमोंका पालन करता हुआ ध्यानद्वारा ध्येयरूपसे स्थित हो इन यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा ॥ १९½ ॥

बीजयज्ञो मयायं वै बहुवर्षसमाचितः ॥ २० ॥
बीजैर्हि तं करिष्यामि नात्र विघ्नो भविष्यति ।

'यह बीज-यज्ञ मैंने बहुत वर्षोंसे संचित कर रखा है । उन बीजोंसे ही मैं अपना यज्ञ पूरा कर लूँगा । इसमें कोई विघ्न नहीं होगा ॥ २०½ ॥

नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथंचन ॥ २१ ॥
वर्षिष्यतीह वा देवो न वा वर्षं भविष्यति ।

'इन्द्रदेव यहाँ वर्षा करें अथवा यहाँ वर्षा न हो, इसकी मुझे परवा नहीं है, मेरे इस यज्ञको किसी तरह व्यर्थ नहीं किया जा सकता ॥ २१½ ॥

अथवाभ्यर्थनामिन्द्रो न करिष्यति कामतः ॥ २२ ॥
स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः ।

'अथवा यदि इन्द्र इच्छानुसार जल बरसानेके लिये की हुई मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो मैं स्वयं इन्द्र हो जाऊँगा और समस्त प्रजाके जीवनकी रक्षा करूँगा ॥ २२½ ॥

यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ॥ २३ ॥
विशेषं चैव कर्तास्मि पुनः पुनरतीव हि ।

'जो जिस आहारसे उत्पन्न हुआ है, उसे वही प्राप्त होगा तथा मैं बारंबार अधिक मात्रामें विशेष आहारकी भी व्यवस्था करूँगा ॥ २३½ ॥

अद्येह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद् वसु किंचन ॥ २४ ॥
त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागम्यतां स्वयम् ।

'तीनों लोकोंमें जो सुवर्ण या दूसरा कोई धन है, वह सब आज यहाँ स्वतः आ जाय ॥ २४½ ॥

दिव्याश्चाप्सरसां संघा गन्धर्वाश्च सकिंनराः ॥ २५ ॥
विश्वावसुश्च ये चान्ये तेऽप्युपासन्तु मे मखम् ।

'दिव्य अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व, किन्नर, विश्वावसु तथा जो अन्य प्रमुख गन्धर्व हैं, वे सब यहाँ आकर मेरे यज्ञकी उपासना करें ॥ २५½ ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत् किंचिद् वसु विद्यते ॥ २६ ॥
सर्वं तदिह यज्ञेषु स्वयमेवोपतिष्ठतु ।

स्वर्गः स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च स्वयमेव तु ॥ २७ ॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो कुछ धन है, वह सब स्वयं यहाँ मेरे यज्ञोंमें उपस्थित हो । स्वर्ग, स्वर्गवासी देवता और धर्म स्वयं यहाँ विराजमान हो जायँ' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्ते सर्वमेवैतदभवत् तपसा मुनेः ।
तस्य दीप्ताग्निमहसस्त्वगस्त्यस्यातितेजसः ॥ २८ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, अतिशय कान्तिमान् महर्षि अगस्त्यके इतना कहते ही उनकी तपस्याके प्रभावसे ये सारी वस्तुएँ वहाँ प्रस्तुत हो गयीं ॥ २८ ॥

ततस्ते मुनयो दृष्ट्वा ददृशुस्तपसो बलम् ।
विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् ॥ २९ ॥

उन महर्षियोंने बड़े हर्षके साथ महर्षिके उस तपोबलको प्रत्यक्ष देखा । देखकर वे सब लोग आश्चर्यचकित हो गये और इस प्रकार महान् अर्थसे भरे हुए वचन बोले ॥ २९ ॥

ऋषय ऊचुः

प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
तैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्म न्यायेनेच्छामहे वयम् ॥ ३० ॥

ऋषि बोले—महर्षे ! आपकी बातोंसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है । हम आपकी तपस्याका व्यय होना नहीं चाहते हैं । हम आपके उन्हीं यज्ञोंसे संतुष्ट हैं और न्यायसे उपार्जित अन्नकी ही इच्छा रखते हैं ॥ ३० ॥

यज्ञं दीक्षां तथा होमान् यच्चान्यन्मृगयामहे ।
न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्माभिरता वयम् ॥ ३१ ॥

यज्ञ, दीक्षा, होम तथा और जो कुछ हम खोजा करते हैं, वह सब हमें यहाँ प्राप्त है । न्यायसे उपार्जित किया हुआ अन्न ही हमारा भोजन है और हम सदा अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ॥ ३१ ॥

वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ।
न्यायेनोत्तरकालं च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ॥ ३२ ॥

हम ब्रह्मचर्यका पालन करके न्यायतः वेदोंको प्राप्त करना चाहते हैं और अन्तमें न्यायपूर्वक ही हम घर छोड़कर निकले हैं ॥ ३२ ॥

धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् ।
भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता ॥ ३३ ॥
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो ।
प्रीतास्ततो भविष्यामो वयं तु द्विजसत्तम ॥ ३४ ॥
विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद् व्रजामहे ।

धर्मशास्त्रमें देखे गये विधिविधानसे ही हम तपस्या करेंगे । आपको हिंसारहित बुद्धि ही अधिक प्रिय है; अतः प्रभो ! आप यज्ञोंमें सदा इस अहिंसाका ही प्रतिपादन करें । द्विजश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे हम आपपर बहुत प्रसन्न होंगे । यज्ञकी समाप्ति होनेपर जब आप हमें विदा करेंगे, तब हम यहाँसे अपने घरको जायँगे ॥ ३३-३४½ ॥

---

१. संचित अन्नका व्यय किये बिना ही उसके स्पर्शमात्रसे देवताओंको तृप्त करनेकी जो भावना है, उसका नाम स्पर्श-यज्ञ है ।

तथा कथयतां तेषां देवराजः पुरंदरः ॥ ३५ ॥
ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् ।
आसमाप्तेश्च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ॥ ३६ ॥
निकामवर्षी पर्जन्यो बभूव जनमेजय ।

जनमेजय ! जब ऋषिलोग ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी देवराज इन्द्रने महर्षिका तपोबल देखकर पानी बरसाना आरम्भ किया। जबतक उस यज्ञकी समाप्ति नहीं हुई, तबतक अमितपराक्रमी इन्द्रने वहाँ इच्छानुसार वर्षा की ॥ ३५-३६½ ॥

प्रसादयामास च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ।
स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ॥ ३७ ॥

राजर्षे ! देवेश्वर इन्द्रने स्वयं आकर बृहस्पतिको आगे करके अगस्त्य ऋषिको मनाया ॥ ३७ ॥

ततो यज्ञसमाप्तौ तान् विससर्ज महामुनीन् ।
अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ॥ ३८ ॥

तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर अत्यन्त प्रसन्न हुए अगस्त्यजीने उन महामुनियोंकी विधिवत् पूजा करके सबको विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

जनमेजय उवाच

कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन वै ।
प्राह मानुषवद् वाचमेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३९ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! सोनेके मस्तकसे युक्त वह नेवला कौन था, जो मनुष्योंकी-सी बोली बोलता था ? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतत् पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम् ।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वाक् तस्य मानुषी ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यह बात न तो तुमने पहले पूछी थी और न मैंने बतायी थी। अब पूछते हो तो सुनो। वह नकुल कौन था और उसकी मनुष्योंकी-सी बोली कैसे हुई, यह सब बता रहा हूँ ॥ ४० ॥

श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल ।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव दुदोह ताम् ॥ ४१ ॥

पूर्वकालकी बात है, एक दिन जमदग्नि ऋषिने श्राद्ध करनेका संकल्प किया। उस समय उनकी होमधेनु स्वयं ही उनके पास आयी और मुनिने स्वयं ही उसका दूध दुहा ॥

तत् पयः स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ ।
तच्च क्रोधस्वरूपेण पिठरं धर्म आविशत् ॥ ४२ ॥

उस दूधको उन्होंने नये पात्रमें, जो सुदृढ़ और पवित्र था, रख दिया। उस पात्रमें धर्मने क्रोधका रूप धारण करके प्रवेश किया ॥ ४२ ॥

जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद् विप्रिये कृते ।
इति संचिन्त्य धर्मः स धर्षयामास तत् पयः ॥ ४३ ॥

धर्म उन मुनिश्रेष्ठकी परीक्षा लेना चाहते थे। उन्होंने सोचा, देखूँ तो ये अप्रिय करनेपर क्या करते हैं ? इसीलिये उन्होंने उस दूधको क्रोधके स्पर्शसे दूषित कर दिया ॥ ४३ ॥

तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य स चुकोप ह ।
स तु क्रोधस्ततो राजन् ब्राह्मणीं मूर्तिमास्थितः ।
जिते तस्मिन् भृगुश्रेष्ठमभ्यभाषदमर्षणः ॥ ४४ ॥

राजन् ! मुनिने उस क्रोधको पहचान लिया; किंतु उसपर वे कुपित नहीं हुए। तब क्रोधने ब्राह्मणका रूप धारण किया। मुनिके द्वारा पराजित होनेपर उस अमर्षशील क्रोधने उन भृगुश्रेष्ठसे कहा— ॥ ४४ ॥

जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः ।
लोके मिथ्याप्रवादोऽयं यत्त्वयास्मि विनिर्जितः ॥ ४५ ॥

'भृगुश्रेष्ठ ! मैं तो पराजित हो गया। मैंने सुना था कि भृगुवंशी ब्राह्मण बड़े क्रोधी होते हैं; परंतु लोकमें प्रचलित हुआ यह प्रवाद आज मिथ्या सिद्ध हो गया; क्योंकि आपने मुझे जीत लिया ॥ ४५ ॥

वशे स्थितोऽहं त्वय्यद्य क्षमावति महात्मनि ।
बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ४६ ॥

'प्रभो ! आज मैं आपके वशमें हूँ। आपकी तपस्यासे डरता हूँ। साधो ! आप क्षमाशील महात्मा हैं, मुझपर कृपा कीजिये' ॥ ४६ ॥

जमदग्निरुवाच

साक्षाद् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः ।
न त्वयापकृतं मेऽद्य न च मे मन्युरस्ति वै ॥ ४७ ॥

जमदग्नि बोले—क्रोध ! मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष देखा है। तुम निश्चिन्त होकर यहाँसे जाओ। तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया है; अतः आज तुमपर मेरा रोष नहीं है ॥ ४७ ॥

यान् समुद्दिश्य संकल्पः पयसोऽस्य कृतो मया ।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुद्ध्यस्व गम्यताम् ॥ ४८ ॥

मैंने जिन पितरोंके उद्देश्यसे इस दूधका संकल्प किया था, वे महाभाग पितर ही उसके स्वामी हैं। जाओ, उन्हींसे इस विषयमें समझो ॥ ४८ ॥

इत्युक्तो जातसंत्रासस्तत्रैवान्तरधीयत ।
पितॄणामभिषङ्गाच्च नकुलत्वमुपागतः ॥ ४९ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर क्रोधरूपधारी धर्म भयभीत हो वहाँसे अदृश्य हो गये और पितरोंके शापसे उन्हें नेवला होना पड़ा ॥ ४९ ॥

स तान् प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति ।
तैश्चाप्युक्तः क्षिपन् धर्मं शापस्यान्तमवाप्स्यसि ॥ ५० ॥

इस शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन्होंने पितरोंको प्रसन्न किया। तब पितरोंने कहा—'तुम धर्मराज युधिष्ठिर-पर आक्षेप करके इस शापसे छुटकारा पा जाओगे' ॥ ५० ॥

तैश्चोक्तो यज्ञियान् देशान् धर्मारण्यं तथैव च ।

जुगुप्समानो धावन् स तं यज्ञं समुपासदत् ॥ ५१ ॥

उन्होंने ही उस नेवलेको यज्ञसम्बन्धी स्थान और धर्मारण्यका पता बताया था। वह धर्मराजकी निन्दाके उद्देश्यसे दौड़ता हुआ उस यज्ञमें जा पहुँचा था ॥ ५१ ॥

धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः।
मुक्तः शापात् ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद् युधिष्ठिरः॥५२॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरपर आक्षेप करते हुए सेरभर सत्तूके दानका माहात्म्य बताकर क्रोधरूपधारी धर्म शापसे मुक्त हो गया और वह धर्मराज युधिष्ठिरमें स्थित हो गया ॥ ५२ ॥

एवमेतत् तदा वृत्ते यज्ञे तस्य महात्मनः।
पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा ॥ ५३ ॥

इस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरका यज्ञ समाप्त होनेपर यह घटना घटी थी और वह नेवला हमलोगोंके देखते-देखते वहाँसे गायब हो गया था ॥ ५३ ॥

(वैष्णवधर्मपर्व)

[युधिष्ठिरका वैष्णव-धर्मविषयक प्रश्न और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा धर्मका तथा अपनी महिमाका वर्णन]

जनमेजय उवाच

अश्वमेधे पुरा वृत्ते केशवं केशिसूदनम्।
धर्मसंशयमुद्दिश्य किमपृच्छत् पितामहः॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब मेरे प्रपितामह महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हो गया, तब उन्होंने धर्मके विषयमें संदेह होनेपर भगवान् श्रीकृष्णसे कौन-सा प्रश्न किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

पश्चिमेनाश्वमेधेन यदा स्नातो युधिष्ठिरः।
तदा राजा नमस्कृत्य केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! अश्वमेध-यज्ञके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिरने अवभृथ-स्नान कर लिया, तब भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके इस प्रकार पूछना आरम्भ किया ॥

वसिष्ठाद्यास्तपोयुक्ता मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
श्रोतुकामाः परं गुह्यं वैष्णवं धर्ममुत्तमम्।
तथा भागवताश्चैव ततस्तं पर्यवारयन्॥

उस समय वसिष्ठ आदि तत्त्वदर्शी तपस्वी मुनिगण तथा अन्य भक्तगण उस परम गोपनीय उत्तम वैष्णव-धर्मको सुननेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर बैठ गये॥

युधिष्ठिर उवाच

तत्त्वतस्तव भावेन पादमूलमुपागतम्।
यदि जानासि मां भक्तं स्निग्धं वा भक्तवत्सल॥
धर्मगुह्यानि सर्वाणि वेत्तुमिच्छामि तत्त्वतः।
धर्मान् कथय मे देव यद्यनुग्रहभागहम्॥

युधिष्ठिर बोले—भक्तवत्सल! मैं सच्चे भक्तिभावसे आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! यदि आप मुझे अपना प्रेमी या भक्त समझते हैं और यदि मैं आपके अनुग्रहका अधिकारी होऊँ तो मुझसे वैष्णव-धर्मोंका वर्णन कीजिये। मैं उनके सम्पूर्ण रहस्योंको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ ॥

श्रुता मे मानवा धर्मा वासिष्ठाः काश्यपास्तथा।
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा गोपालकस्य च ॥
पराशरकृताः पूर्वा मैत्रेयस्य च धीमतः।
औमा माहेश्वराश्चैव नन्दिधर्माश्च पावनाः ॥

मैंने मनु, वसिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, गोपालक, पराशर, बुद्धिमान् मैत्रेय, उमा, महेश्वर और नन्दिद्वारा कहे हुए पवित्र धर्मोंका श्रवण किया है ॥

ब्रह्मणा कथिता ये च कौमाराश्च श्रुता मया।
धूमायनकृता धर्माः काण्डवैश्वानरा अपि ॥
भार्गवा याज्ञवल्क्याश्च मार्कण्डेयकृता अपि।
भारद्वाजकृता ये च बृहस्पतिकृताश्च ये ॥
कुणेश्च कुणिबाहोश्च विश्वामित्रकृताश्च ये।
सुमन्तुजैमिनिकृताः शाकुनेयास्तथैव च ॥
पुलस्त्यपुलहोद्गीताः पावकीयास्तथैव च।
अगस्त्यगीता मौद्गल्याः शाण्डिल्याः शलभायनाः॥
बालखिल्यकृता ये च ये च सप्तर्षिभिस्तथा।
आपस्तम्बकृता धर्माः शंखस्य लिखितस्य च ॥
प्राजापत्यास्तथा याम्या माहेन्द्राश्च श्रुता मया।
वैयाघ्रव्यासकीयाश्च विभाण्डककृताश्च ये ॥

तथा जो ब्रह्मा, कार्तिकेय, धूमायन, काण्ड, वैश्वानर, भार्गव, याज्ञवल्क्य और मार्कण्डेयके द्वारा भी कहे गये हैं एवं जो भरद्वाज और बृहस्पतिके बनाये हुए हैं तथा जो कुणि, कुणिबाहु, विश्वामित्र, सुमन्तु, जैमिनि, शकुनि, पुलस्त्य, पुलह, अग्नि, अगस्त्य, मुद्गल, शाण्डिल्य, शलभ, वालखिल्यगण, सप्तर्षि, आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित, प्रजापति, यम, महेन्द्र, व्याघ्र, व्यास और विभाण्डकके द्वारा कहे गये हैं, उनको भी मैंने सुना है ॥

नारदीयाः श्रुता धर्माः कापोताश्च श्रुता मया।
तथा विदुरवाक्यानि भृगोरङ्गिरसस्तथा ॥
क्रौञ्चा मृदङ्गगीताश्च सौर्या हारीतकाश्च ये।
ये पिशङ्गकृताश्चापि कापोतीयाः सुबालकाः॥
उद्दालककृता धर्मा औशनस्यास्तथैव च।
वैशम्पायनगीताश्च ये चान्येऽप्येवमादितः॥

एवं जो नारद, कपोत, विदुर, भृगु, अङ्गिरा, क्रौञ्च, मृदङ्ग, सूर्य, हारीत, पिशङ्ग, कपोत, सुबालक, उद्दालक, शुक्राचार्य, वैशम्पायन तथा दूसरे-दूसरे महात्माओंके द्वारा बताये हुए हैं, उन धर्मोंका भी मैंने आद्योपान्त श्रवण किया है ॥

एतेभ्यः सर्वधर्मेभ्यो देव त्वन्मुखनिःसृताः ।
पावनत्वात् पवित्रत्वाद् विशिष्टा इति मे मतिः ॥

परंतु भगवन् ! मुझे विश्वास है कि आपके मुखसे जो धर्म प्रकट हुए हैं, वे पवित्र और पावन होनेके कारण उपर्युक्त सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ हैं ॥

तस्माद्धि त्वां प्रपन्नस्य त्वद्भक्तस्य च केशव ।
युष्मदीयान् वरान् धर्मान् पुण्यान् कथय मेऽच्युत॥

इसलिये केशव ! अच्युत ! आपकी शरणमें आये हुए मुझ भक्तसे आप अपने पवित्र एवं श्रेष्ठ धर्मोंका वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टस्तु धर्मज्ञो धर्मपुत्रेण केशवः ।
उवाच धर्मान् सूक्ष्मार्थान् धर्मपुत्रस्य हर्षितः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार प्रश्न करनेपर सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे धर्मके सूक्ष्म विषयोंका वर्णन करने लगे—॥

एवं ते यस्य कौन्तेय यत्नो धर्मेषु सुव्रत ।
तस्य ते दुर्लभो लोके न कश्चिदपि विद्यते ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन ! तुम धर्मके लिये इतना उद्योग करते हो; इसलिये तुम्हें संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥

धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा कृतोऽपि वा ।
अनुमोदितो वा राजेन्द्र नयतीन्द्रपदं नरम् ॥

'राजेन्द्र ! सुना हुआ, देखा हुआ, कहा हुआ, पालन किया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म मनुष्यको इन्द्रपदपर पहुँचा देता है ॥ ३१ ॥

धर्मः पिता च माता च धर्मो नाथः सुहृत् तथा ।
धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परंतप ॥

'परंतप ! धर्म ही जीवका माता-पिता, रक्षक, सुहृद्, भ्राता, सखा और स्वामी है ॥ ३२ ॥

धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद् भोगाः सुखानि च ।
धर्मादैश्वर्यमेवाग्र्यं धर्मात् स्वर्गगतिः परा ॥

'अर्थ, काम, भोग, सुख, उत्तम ऐश्वर्य और सर्वोत्तम स्वर्गकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है ॥ ३३ ॥

धर्मोऽयं सेवितः शुद्धस्त्रायते महतो भयात् ।
धर्माद् द्विजत्वं देवत्वं धर्मः पावयते नरम् ॥

'यदि इस विशुद्ध धर्मका सेवन किया जाय तो वह महान् भयसे रक्षा करता है । धर्मसे ही मनुष्यको ब्राह्मणत्व और देवत्वकी प्राप्ति होती है । धर्म ही मनुष्यको पवित्र करता है ॥

यदा च क्षीयते पापं कालेन पुरुषस्य तु ।
तदा संजायते बुद्धिर्धर्मं कर्तुं युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! जब काल-क्रमसे मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है ॥

जन्मान्तरसहस्रैस्तु मनुष्यत्वं हि दुर्लभम् ।
तद् गत्वापीह यो धर्मं न करोति स वञ्चितः ॥

'हजारों योनियोंमें भटकनेके बाद भी मनुष्ययोनिका मिलना कठिन होता है । ऐसे दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है ॥

कुत्सिता ये दरिद्राश्च विरूपा व्याधितास्तथा ।
परद्वेष्याश्च मूर्खाश्च न तैर्धर्मः कृतः पुरा ॥

'आज जो लोग निन्दित, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूसरोंके द्वेषपात्र और मूर्ख देखे जाते हैं, उन्होंने पूर्वजन्ममें धर्मका अनुष्ठान नहीं किया है ॥

ये च दीर्घायुषः शूराः पण्डिता भोगिनस्तथा ।
नीरोगा रूपसम्पन्नास्तैर्धर्मः सुकृतः पुरा ॥

'किंतु जो दीर्घजीवी शूर-वीर, पण्डित, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, नीरोग और रूपवान् हैं, उनके द्वारा पूर्वजन्ममें निश्चय ही धर्मका सम्पादन हुआ है ॥

एवं धर्मः कृतः शुद्धो नयते गतिमुत्तमाम् ।
अधर्मं सेवते यस्तु तिर्यग्योन्यां पतत्यसौ ॥

'इस प्रकार शुद्धभावसे किया हुआ धर्मका अनुष्ठान उत्तम गतिकी प्राप्ति कराता है, परंतु जो अधर्मका सेवन करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनियोंमें गिरना पड़ता है ॥

इदं रहस्यं कौन्तेय शृणु धर्ममनुत्तमम् ।
कथयिष्ये परं धर्मं तव भक्तस्य पाण्डव ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! अब मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बताता हूँ, सुनो । पाण्डुनन्दन ! मैं तुझ भक्तसे परम धर्मका वर्णन अवश्य करूँगा ॥

इष्टस्त्वमसि मेऽत्यर्थं प्रपन्नश्चापि मां सदा ।
परमार्थमपि ब्रूयां किं पुनर्धर्मसंहिताम् ॥

'तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो और सदा मेरी शरणमें स्थित रहते हो । तुम्हारे पूछनेपर मैं परम गोपनीय आत्मतत्त्वका भी वर्णन कर सकता हूँ, फिर धर्मसंहिताके लिये तो कहना ही क्या है ! ॥

इदं मे मानुषं जन्म कृतमात्मनि मायया ।
धर्मसंस्थापनार्थाय दुष्टानां नाशनाय च ॥

'इस समय धर्मकी स्थापना और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये मैंने अपनी मायासे मानव-शरीरमें अवतार धारण किया है ॥

मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया ।
संसारान्ताहिं ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः ॥

'जो लोग मुझे केवल मनुष्य-शरीरमें ही समझकर मेरी

अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यग्योनियोंमें भटकते रहते हैं ॥

ये च मां सर्वभूतस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा ।
मद्भक्तांस्तान् सदा युक्तान् मत्समीपं नयाम्यहम् ॥

'इसके विपरीत जो ज्ञानदृष्टिसे मुझे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित देखते हैं, वे सदा मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्त हैं, ऐसे भक्तोंको मैं परम धाममें अपने पास बुला लेता हूँ ॥

मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।
मद्भक्तानां तु मानुष्ये सफलं जन्म पाण्डव ॥

'पाण्डुपुत्र ! मेरे भक्तोंका नाश नहीं होता, वे निष्पाप होते हैं । मनुष्योंमें उन्हींका जन्म सफल है, जो मेरे भक्त हैं ॥

अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

'पाण्डुनन्दन ! पापोंमें अभिरत रहनेवाले मनुष्य भी यदि मेरे भक्त हो जायँ तो वे सारे पापोंसे वैसे ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे जलसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहता है ॥

जन्मान्तरसहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम् ।
भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः ॥

'हजारों जन्मोंतक तपस्या करनेसे जब मनुष्योंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसमें निःसंदेह भक्तिका उदय होता है ॥

यच्च रूपं परं गुह्यं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
न दृश्यते तथा देवैर्मद्भक्तैर्दृश्यते यथा ॥

'मेरा जो अत्यन्त गोपनीय कूटस्थ, अचल और अविनाशी परस्वरूप है, उसका मेरे भक्तोंको जैसा अनुभव होता है, वैसा देवताओंको भी नहीं होता ॥

अपरं यच्च मे रूपं प्रादुर्भावेषु दृश्यते ।
तदर्चयन्ति सर्वार्थैः सर्वभूतानि पाण्डव ॥

'पाण्डव ! जो मेरा अपरस्वरूप है, वह अवतार लेनेपर दृष्टिगोचर होता है । संसारके समस्त जीव सब प्रकारके पदार्थोंसे उसकी पूजा करते हैं ॥

कल्पकोटिसहस्रेषु व्यतीतेष्वागतेषु च ।
दर्शयामीह तद् रूपं यच्च पश्यन्ति मे सुराः ॥

'हजारों और करोड़ों कल्प आकर चले गये, पर जिस वैष्णवरूपको देवगण देखते हैं, उसी रूपसे मैं भक्तोंको दर्शन देता हूँ ॥

स्थित्युत्पत्त्यव्ययकरं यो मां ज्ञात्वा प्रपद्यते ।
अनुगृह्णाम्यहं तं वै संसारान्मोचयामि च ॥

'जो मनुष्य मुझे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कारण समझकर मेरी शरण लेता है, उसके ऊपर कृपा करके मैं उसे संसार-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ ॥

अहमादिर्हि देवानां सृष्टा ब्रह्मादयो मया ।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम् ॥

'मैं ही देवताओंका आदि हूँ । ब्रह्मा आदि देवताओंकी मैंने ही सृष्टि की है ! मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि करता हूँ ॥

तमोमूलोऽहमव्यक्तो रजोमध्ये प्रतिष्ठितः ।
ऊर्ध्वं सत्त्वं विना लोभं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यतः ॥

'मैं अव्यक्त परमेश्वर ही तमोगुणका आधार, रजोगुणके भीतर स्थित और उत्कृष्ट सत्त्वगुणमें भी व्याप्त हूँ । मुझे लोभ नहीं है । ब्रह्मासे लेकर छोटेसे कीड़ेतक सबमें मैं व्याप्त हो रहा हूँ ॥

मूर्द्धानं मे विद्धि दिवं चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
गावोऽग्निर्ब्राह्मणो वक्त्रं मारुतः श्वसनं च मे ॥

'द्युलोकको मेरा मस्तक समझो । सूर्य और चन्द्रमा मेरी आँखें हैं । गौ, अग्नि और ब्राह्मण मेरे मुख हैं और वायु मेरी साँस है ॥

दिशो मे बाहवश्चाष्टौ नक्षत्राणि च भूषणम् ।
अन्तरिक्षमुरो विद्धि सर्वभूतावकाशकम् ।
मार्गो मेघानिलाभ्यां तु यन्ममोदरमव्ययम् ॥

'आठ दिशाएँ मेरी बाहें, नक्षत्र मेरे आभूषण और सम्पूर्ण भूतोंको अवकाश देनेवाला अन्तरिक्ष मेरा वक्षःस्थल है । बादलों और हवाके चलनेका जो मार्ग है, उसे मेरा अविनाशी उदर समझो ॥

पृथिवीमण्डलं यद् वै द्वीपार्णववनैर्युतम् ।
सर्वसंधारणोपेतं पादौ मम युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! द्वीप, समुद्र और जंगलोंसे भरा हुआ यह सबको धारण करनेवाला भूमण्डल मेरे दोनों पैरोंके स्थानमें है ॥

स्थितो ह्येकगुणः खेऽहं द्विगुणश्चास्मि मारुते ।
त्रिगुणोऽग्नौ स्थितोऽहं वै सलिले च चतुर्गुणः ॥
शब्दाद्या ये गुणाः पञ्च महाभूतेषु पञ्चसु ।
तन्मात्रासंस्थितः सोऽहं पृथिव्यां पञ्चधा स्थितः ॥

'आकाशमें मैं एक गुणवाला हूँ, वायुमें दो गुणवाला हूँ, अग्निमें तीन गुणवाला हूँ और जलमें चार गुणवाला हूँ। पृथ्वीमें पाँच गुणोंसे स्थित हूँ । वही मैं तन्मात्रारूप पञ्चमहाभूतोंमें शब्दादि पाँच गुणोंसे स्थित हूँ ॥

अहं सहस्रशीर्षस्तु सहस्रवदनेक्षणः ।
सहस्रबाहूदरधृक् सहस्रोरु सहस्रपात् ॥

'मेरे हजारों मस्तक, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों भुजाएँ, हजारों उदर, हजारों ऊरु और हजारों पैर हैं ॥

धृत्वोर्वीं सर्वतः सम्यगत्यतिष्ठं दशाङ्गुलम् ।
सर्वभूतात्मभूतस्थः सर्वव्यापी ततोऽस्म्यहम् ॥

'मैं पृथ्वीको सब ओरसे धारण करके नाभिसे दस अंगुल

ऊँचे सबके हृदयमें विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे स्थित हूँ, इसलिये सर्वव्यापी कहलाता हूँ॥

अचिन्त्योऽहमनन्तोऽहमजरोऽहमजो ह्यहम्।
अनाद्योऽहमवध्योऽहमप्रमेयोऽहमव्ययः॥
निर्गुणोऽहं निगूढात्मा निर्द्वन्द्वो निर्ममो नृप।
निष्कलो निर्विकारोऽहं निदानममृतस्य तु॥
सुधा चाहं स्वधा चाहं स्वाहा चाहं नराधिप।

'राजन्! मैं अचिन्त्य, अनन्त, अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय, अव्यय, निर्गुण, गुह्यस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निर्विकार और मोक्षका आदि कारण हूँ। नरेश्वर! सुधा, स्वधा और स्वाहा भी मैं ही हूँ॥

तेजसा तपसा चाहं भूतग्रामं चतुर्विधम्॥
स्नेहपाशैर्गुणैर्बद्ध्वा धारयाम्यात्ममायया।

'मैंने ही अपने तेज और तपसे चार प्रकारके प्राणिसमुदायको स्नेहपाशरूप रज्जुसे बाँधकर अपनी मायासे धारण कर रखा है॥

चातुराश्रमधर्मोऽहं चातुर्होत्रफलाशनः।
चतुर्मूर्तिश्चतुर्यज्ञश्चतुराश्रमभावनः॥

'मैं चारों आश्रमोंका धर्म, चार प्रकारके होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका फल भोगनेवाला चतुर्व्यूह, चतुर्यज्ञ और चारों आश्रमोंको प्रकट करनेवाला हूँ॥

संहृत्याहं जगत् सर्वं कृत्वा वै गर्भमात्मनः।
शयामि दिव्ययोगेन प्रलयेषु युधिष्ठिर॥

'युधिष्ठिर! प्रलयकालमें समस्त जगत्का संहार करके उसे अपने उदरमें स्थापित कर दिव्य योगका आश्रय ले मैं एकार्णवके जलमें शयन करता हूँ॥

सहस्रयुगपर्यन्तां ब्राह्मीं रात्रिं महार्णवे।
स्थित्वा सृजामि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च॥

'एक हजार युगोंतक रहनेवाली ब्रह्माकी रात पूर्ण होनेतक महार्णवमें शयन करनेके पश्चात् स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि करता हूँ॥

कल्पे कल्पे च भूतानि संहरामि सृजामि च।
न च मां तानि जानन्ति मायया मोहितानि मे॥

'प्रत्येक कल्पमें मेरेद्वारा जीवोंकी सृष्टि और संहारका कार्य होता है, किंतु मेरी मायासे मोहित होनेके कारण वे जीव मुझे नहीं जान पाते॥

मम चैवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य नित्यशः।
प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिर्नैवोपलभ्यते॥

'प्रलयकालमें जब दीपकके शान्त होनेकी भाँति समस्त व्यक्त सृष्टि लुप्त हो जाती है, तब खोज करने योग्य मुझ अदृश्यस्वरूपकी गतिका उनको पता नहीं लगता॥

न तदस्ति क्वचिद् राजन् यत्राहं न प्रतिष्ठितः।
न च तद् विद्यते भूतं मयि यन्न प्रतिष्ठितम्॥

'राजन्! कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें मेरा निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नहीं है, जो मुझमें स्थित न हो॥

यावन्मात्रं भवेद् भूतं स्थूलं सूक्ष्ममिदं जगत्।
जीवभूतो ह्यहं तस्मिंस्तावन्मात्रं प्रतिष्ठितः॥

'जो कुछ भी स्थूल-सूक्ष्मरूप यह जगत् हो चुका है और होनेवाला है, उन सबमें उसी प्रकार मैं ही जीवरूपसे स्थित हूँ॥

किं चात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
यद् भूतं यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु॥

'अधिक कहनेसे क्या लाभ, मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि भूत और भविष्य जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ॥

मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि वै॥

'भरतनन्दन! सम्पूर्ण भूत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और मेरे ही स्वरूप हैं। फिर भी मेरी मायासे मोहित रहते हैं, इसलिये मुझे नहीं जान पाते॥

एवं सर्वं जगदिदं सदेवासुरमानुषम्।
मत्तः प्रभवते राजन् मय्येव प्रविलीयते॥

'राजन्! इस प्रकार देवता, असुर और मनुष्योंसहित समस्त संसारका मुझसे ही जन्म और मुझमें ही लय होता है'॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[चारों वर्णोंके कर्म और उनके फलोंका वर्णन तथा धर्मकी वृद्धि और पापके क्षय होनेका उपाय]

वैशम्पायन उवाच

एवमात्मोद्भवं सर्वं जगदुद्दिश्य केशवः।
धर्मान् धर्मात्मजस्याथ पुण्यानकथयत् प्रभुः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्को अपनेसे उत्पन्न बतलाकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे पवित्र धर्मोंका इस प्रकार वर्णन आरम्भ किया—॥

शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पापनाशनम्।
कथ्यमानं मया पुण्यं धर्मशास्त्रफलं महत्॥

'पाण्डुनन्दन! मेरेद्वारा कहे हुए धर्मशास्त्रका पुण्यमय, पापनाशक, पवित्र और महान् फल यथार्थरूपसे सुनो॥

यः शृणोति शुचिर्भूत्वा एकचित्तस्तपोयुतः।
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं धर्मं ज्ञेयं युधिष्ठिर॥
श्रद्दधानस्य तस्येह यत् पापं पूर्वसंचितम्।
विनश्यत्याशु तत् सर्वं मद्भक्तस्य विशेषतः॥

'युधिष्ठिर! जो मनुष्य पवित्र और एकाग्रचित्त होकर तपस्यामें संलग्न हो स्वर्ग, यश और आयु प्रदान करनेवाले जाननेयोग्य धर्मका श्रवण करता है, उस श्रद्धालु पुरुषके—

विशेषतः मेरे भक्तके पूर्वसंचित जितने पाप होते हैं, वे सब तत्काल नष्ट हो जाते हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा वचः पुण्यं सत्यं केशवभाषितम् ।
प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोऽद्भुतं परम् ॥
देवब्रह्मर्षयः सर्वे गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
भूता यक्षग्रहाश्चैव गुह्यका भुजगास्तथा ॥
वालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः ॥
कौतूहलसमाविष्टाः प्रहृष्टेन्द्रियमानसाः ।
श्रोतुकामाः परं धर्मं वैष्णवं धर्मशासनम् ।
हृदि कर्तुं च तद्वाक्यं प्रणेमुः शिरसा नताः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णका यह परम पवित्र और सत्य वचन सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न हो धर्मके अद्भुत रहस्यका चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण देवर्षि, ब्रह्मर्षि, गन्धर्व, अप्सराएँ, भूत, यक्ष, ग्रह, गुह्यक, सर्प, महात्मा वालखिल्यगण, तत्त्वदर्शी योगी तथा पाँचों उपासना करनेवाले भगवद्भक्त पुरुष उत्तम वैष्णव-धर्मका उपदेश सुनने तथा भगवान्‌की बात हृदयमें धारण करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर वहाँ आये। उनके इन्द्रिय और मन अत्यन्त हर्षित हो रहे थे। आनेके बाद उन सबने मस्तक झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम किया ॥

ततस्तान् वासुदेवेन दृष्टान् दिव्येन चक्षुषा ।
विमुक्तपापानालोक्य प्रणम्य शिरसा हरिम् ।
पप्रच्छ केशवं धर्मं धर्मपुत्रः प्रतापवान् ॥

भगवान्‌की दिव्य दृष्टि पड़नेसे वे सब निष्पाप हो गये। उन्हें उपस्थित देखकर महाप्रतापी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान्‌को प्रणाम करके इस प्रकार धर्मविषयक प्रश्न किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशी ब्राह्मणस्याथ क्षत्रियस्यापि कीदृशी ।
वैश्यस्य कीदृशी देव गतिः शूद्रस्य कीदृशी ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवेश्वर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी पृथक्-पृथक् कैसी गति होती है ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु वर्णक्रमेणैव धर्मं धर्मभृतां वर ।
नास्ति किंचिन्नरश्रेष्ठ ब्राह्मणस्य तु दुष्कृतम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—नरश्रेष्ठ धर्मराज ! ब्राह्मणादि वर्णोंके क्रमसे धर्मका वर्णन सुनो। ब्राह्मणके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है ॥

शिखायज्ञोपवीता ये संध्यां ये चाप्युपासते ।
यैश्च पूर्णाहुतिः प्राप्ता विधिवज्जुह्वते च ये ॥
वैश्वदेवं च ये चक्रुः पूजयन्त्यतिथींश्च ये ।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च जपयज्ञपराश्च ये ॥
सायं प्रातर्हुताशाश्च शूद्रभोजनवर्जिताः ।
दम्भानृतविमुक्ताश्च स्वदारनिरताश्च ये ।
पञ्चयज्ञपरा ये च येऽग्निहोत्रमुपासते ॥
दहन्ति दुष्कृतं येषां हूयमानास्त्रयोऽग्नयः ।
नष्टदुष्कृतकर्माणो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥

जो ब्राह्मण शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संध्योपासना करते हैं, पूर्णाहुति देते हैं, विधिवत् अग्निहोत्र करते हैं, बलिवैश्वदेव और अतिथियोंका पूजन करते हैं, नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा जपयज्ञके परायण हैं; जो प्रातःकाल और सायंकाल होम करनेके बाद ही अन्न ग्रहण करते हैं, शूद्रका अन्न नहीं खाते हैं, दम्भ और मिथ्याभाषणसे दूर रहते हैं, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखते हैं तथा पञ्चयज्ञ और अग्निहोत्र करते रहते हैं, जिनके सब पापोंको हवन की जानेवाली तीनों अग्नियाँ भस्म कर देती हैं, वे ब्राह्मण पापरहित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं ॥

क्षत्रियोऽपि स्थितो राज्ये स्वधर्मपरिपालकः ।
सम्यक् प्रजा पालयिता षड्भागनिरतः सदा ॥
यज्ञदानरतो धीरः स्वदारनिरतः सदा ।
शास्त्रानुसारी तत्त्वज्ञः प्रजाकार्यपरायणः ॥
विप्रेभ्यः कामदो नित्यं भृत्यानां भरणे रतः ।
सत्यसन्धः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः ।
क्षत्रियोऽप्युत्तमां याति गतिं देवनिषेविताम् ॥

क्षत्रियोंमें भी जो राज्यसिंहासनपर आसीन होनेके बाद अपने धर्मका पालन और प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, लगानके रूपमें प्रजाकी आमदनीका छठा भाग लेकर सदा उतनेसे ही संतोष करता है, यज्ञ और दान करता रहता है, धैर्य रखता है, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहता है, शास्त्रके अनुसार चलता है, तत्त्वको जानता है और प्रजाकी भलाईके कार्यमें संलग्न रहता है तथा ब्राह्मणोंकी इच्छा पूर्ण करता है, पोष्यवर्गके पालनमें तत्पर रहता है, प्रतिज्ञाको सत्य करके दिखाता है, सदा पवित्र रहता है एवं लोभ और दम्भको त्याग देता है, उस क्षत्रियको भी देवताओंद्वारा सेवित उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥

कृषिगोपालनिरतो धर्मान्वेषणतत्परः ।
दानधर्मेऽपि निरतो विप्रशुश्रूषकस्तथा ॥
सत्यसंधः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः ।
ऋजुः स्वदारनिरतो हिंसाद्रोहविवर्जितः ॥
वणिग्धर्मोऽत्र मुञ्चन् वै देवब्राह्मणपूजकः ।
वैश्यः स्वर्गतिमाप्नोति पूज्यमानोऽप्सरोगणैः॥

जो वैश्य कृषि और गोपालनमें लगा रहता है, धर्मका अनुसंधान किया करता है, दान, धर्म और ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहता है तथा सत्यप्रतिज्ञ, नित्य पवित्र, लोभ और दम्भसे रहित, सरल, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और

हिंसा-द्रोहसे दूर रहनेवाला है, जो कभी भी वैश्यधर्मका त्याग नहीं करता और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें लगा रहता है, वह अप्सराओंसे सम्मानित होकर स्वर्गलोकमें गमन करता है ॥

त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा ।
विशेषतस्तु विप्राणां दासवद् यस्तु तिष्ठति ॥
अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वितः ।
गुरुदेवार्चनरतः परदारविवर्जितः ॥
परपीडामकृत्वैव भृत्यवर्गं बिभर्ति यः ।
शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानामभयप्रदः ॥

शूद्रोंमेंसे जो सदा तीनों वर्णोंकी सेवा करता और विशेषतः ब्राह्मणोंकी सेवामें दासकी भाँति खड़ा रहता है; जो बिना माँगे ही दान देता है, सत्य और शौचका पालन करता है, गुरु और देवताओंकी पूजामें प्रेम रखता है, परस्त्रीके संसर्गसे दूर रहता है, दूसरोंको कष्ट न पहुँचाकर अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करता है और सब जीवोंको अभय-दान कर देता है, उस शूद्रको भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है ॥

एवं धर्मात् परं नास्ति महत्संसारमोक्षणम् ।
न च धर्मात्परं किंचित् पापकर्मव्यपोहनम् ॥

इस प्रकार धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है । वही निष्कामभावसे आचरण करनेपर संसार-बन्धनसे मुक्ति दिलाता है । धर्मसे बढ़कर पाप-नाशका और कोई उपाय नहीं है ॥

तस्माद् धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
न हि धर्मानुरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम् ॥

इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर सदा धर्मका पालन करते रहना चाहिये । धर्मानुरागी पुरुषोंके लिये संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥

स्वयम्भूविहितो धर्मो यो यस्येह नरेश्वर ।
स तेन क्षपयेत् पापं सम्यगाचरितेन च ॥

नरेश्वर ! ब्रह्माजीने इस जगत्‌में जिस वर्णके लिये जैसे धर्मका विधान किया है, वह वैसे ही धर्मका भलीभाँति आचरण करके अपने पापोंको नष्ट कर सकता है ॥

सहजं यद् भवेत् कर्म न तत् त्याज्यं हि केनचित् ।
स एव तस्य धर्मो हि तेन सिद्धिं स गच्छति ॥

मनुष्यका जो जातिगत कर्म हो, उसका किसीको त्याग नहीं करना चाहिये । वही उसके लिये धर्म होता है और उसीका निष्काम भावसे आचरण करनेपर मनुष्यको सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है ॥

विगुणोऽपि स्वधर्मस्तु पापकर्म व्यपोहति ।
एवमेव तु धर्मोऽपि क्षीयते पापवर्धनात् ॥

अपना धर्म गुणरहित होनेपर भी पापको नष्ट करता है । इसी प्रकार यदि मनुष्यके पापकी वृद्धि होती है तो वह उसके धर्मको क्षीण कर डालता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवदेवेश श्रोतुं कौतूहलं हि मे ।
शुभस्याप्यशुभस्यापि क्षयवृद्धी यथाक्रमम् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! देवदेवेश्वर ! शुभ और अशुभकी वृद्धि और ह्रास क्रमसे किस प्रकार होते हैं, इसे सुननेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा है ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पार्थिव तत्सर्वं धर्मसूक्ष्मं सनातनम् ।
दुर्विज्ञेयतमं नित्यं यत्र मग्ना महाजनाः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! तुमने जो धर्मका तत्त्व पूछा है, वह सूक्ष्म, सनातन, अत्यन्त दुर्विज्ञेय और नित्य है, बड़े-बड़े लोग भी उसमें मग्न हो जाते हैं, वह सब तुम सुनो ॥

यथैव शीतमुदकमुष्णेन बहुना वृतम् ।
भवेत्तु तत्क्षणादुष्णं शीतत्वं च विनश्यति ॥

जिस प्रकार थोड़ेसे ठंडे जलको बहुत गरम जलमें मिला दिया जाता है तो वह तत्क्षण गरम हो जाता है और उसका ठंडापन नष्ट हो जाता है ॥

यथोष्णं वा भवेदल्पं शीतेन बहुना वृतम् ।
शीतलं च भवेत् सर्वमुष्णत्वं च विनश्यति ॥

जब थोड़ा-सा गरम जल बहुत शीतल जलमें मिला दिया जाता है, तब वह सबका सब शीतल हो जाता है और उसकी उष्णता नष्ट हो जाती है ॥

एवं च यद् भवेद् भूरि सुकृतं वापि दुष्कृतम् ।
तदल्पं क्षपयेच्छीघ्रं नात्र कार्या विचारणा ॥

इसी प्रकार जो पुण्य या पाप बहुत अधिक होता है, वह थोड़े पाप-पुण्यको शीघ्र ही नष्ट कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥

समत्वे सति राजेन्द्र तयोः सुकृतपापयोः ।
गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः ॥

राजेन्द्र ! जब वे पुण्य-पाप दोनों समान होते हैं, तब जिसको गुप्त रखा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है, उसका क्षय हो जाता है ॥

ख्यापनेनानुतापेन प्रायः पापं विनश्यति ।
तथा कृतस्तु राजेन्द्र धर्मो नश्यति मानद ॥

सम्मान देनेवाले नरेश्वर ! पापको दूसरोंसे कहने और उसके लिये पश्चात्ताप करनेसे प्रायः उसका नाश हो जाता है । इसी प्रकार धर्म भी अपने मुँहसे दूसरोंके सम्मुख प्रकट करनेपर नष्ट होता है ॥

तावुभौ गूहितौ सम्यग् वृद्धिं यातो न संशयः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन न पापं गूहयेद् बुधः ॥
तस्मादेतत् प्रयत्नेन कीर्तयेत् क्षयकारणात् ॥
तस्मात् संकीर्तयेत् पापं नित्यं धर्मं च गूहयेत् ॥

छिपानेपर निःसंदेह ये दोनों ही अधिक बढ़ते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि सर्वथा उद्योग करके अपने पापको प्रकट कर दे, उसे छिपानेकी कोशिश न करे। पापका कीर्तन पापके नाशका कारण होता है; इसलिये हमेशा पापको प्रकट करना और धर्मको गुप्त रखना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[व्यर्थ जन्म, दान और जीवनका वर्णन, सात्त्विक दानोंका लक्षण, दानका योग्य पात्र और ब्राह्मणकी महिमा]

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य धर्मपुत्रोऽच्युतस्य तु।
पप्रच्छ पुनरप्यन्यं धर्मं धर्मात्मजो हरिम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर इस प्रकार भगवान् अच्युतके वचन सुनकर फिर भी श्रीहरिसे अन्य धर्म पूछने लगे—॥

वृथा च कति जन्मानि वृथा दानानि कानि च।
वृथा च जीवितं केषां नराणां पुरुषोत्तम ॥

'पुरुषोत्तम ! कितने जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं ? कितने प्रकारके दान निष्फल होते हैं ? और किन-किन मनुष्योंका जीवन निरर्थक माना गया है ? ॥

कीदृशासु ह्यवस्थासु दानं दत्तं जनार्दन।
इह लोकेऽनुभवति पुरुषः पुरुषोत्तम ॥
गर्भस्थः किं समश्नाति किं बाल्ये वापि केशव।
यौवनस्थेऽपि किं कृष्ण वार्धके वापि किं भवेत् ॥

'पुरुषोत्तम ! जनार्दन ! मनुष्य किस अवस्थामें दिये हुए दानके फलका इस लोकमें अनुभव करता है। केशव ! गर्भमें स्थित हुआ मनुष्य किस दानका फल भोगता है ? श्रीकृष्ण ! बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओंमें मनुष्य किस-किस दानका फल भोगता है ? ॥

सात्त्विकं कीदृशं दानं राजसं कीदृशं भवेत्।
तामसं कीदृशं देव तर्पयिष्यति किं प्रभो ॥

'भगवन् ! सात्त्विक, राजस और तामस दान कैसे होते है ? प्रभो ! उनसे किसकी तृप्ति होती है ? ॥

उत्तमं कीदृशं दानं तेषां वा किं फलं भवेत्।
किं दानं नयति ह्यूर्ध्वं किं गतिं मध्यमां नयेत्।
गतिं जघन्यामथ वा देवदेव वदस्व मे ॥

'उत्तम दानका स्वरूप क्या है ? और उससे मनुष्योंको किस फलकी प्राप्ति होती है ? कौन-सा दान ऊर्ध्वगतिको ले जाता है ? कौन-सा मध्यम गतिको और कौन-सा नीच गतिको ले जाता है ? देवाधिदेव ! यह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे।
त्वदीयं वचनं सत्यं पुण्यं च मधुसूदन ॥

'मधुसूदन ! मैं इस विषयको जानना चाहता हूँ और इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; क्योंकि आपके वचन सत्य और पुण्यमय हैं' ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथान्यायं वचनं तथ्यमुत्तमम्।
कथ्यमानं मया पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें न्यायके अनुसार यथार्थ एवं उत्तम उपदेश सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो। यह विषय परम पवित्र और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥

वृथा च दश जन्मानि चत्वारि च नराधिप।
वृथा दानानि पञ्चाशत्पञ्चैव च यथाक्रमम् ॥
वृथा च जीवितं येषां ते च षट् परिकीर्तिताः।
अनुक्रमेण वक्ष्यामि तानि सर्वाणि पार्थिव ॥

नरेश्वर ! चौदह जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं। क्रमशः पचपन प्रकारके दान निष्फल होते हैं और जिन-जिन मनुष्योंका जीवन निरर्थक होता है, उनकी संख्या छः बतलायी गयी है। भूपाल ! इन सबका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा ॥

धर्मघ्नानां वृथा जन्म लुब्धानां पापिनां तथा।
वृथा पाकं च येऽश्नन्ति परदाररताश्च ये।
पाकभेदकरा ये च ये च स्युः सत्यवर्जिताः ॥

जो धर्मका नाश करनेवाले, लोभी, पापी, बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करनेवाले, परस्त्रीगामी, भोजनमें भेद करनेवाले और असत्यभाषी हैं, उनका जन्म वृथा है ॥

मृष्टमश्नाति यश्चैकः क्लिश्यमानैस्तु बान्धवैः।
पितरं मातरं चैव उपाध्यायं गुरुं तथा।
मातुलं मातुलानीं च यो निहन्याच्छपेत वा ॥
ब्राह्मणश्चैव यो भूत्वा संध्योपासनवर्जितः।
निःस्वाहो निःस्वधश्चैव शूद्राणामन्नभुग् द्विजः॥
मम वा शंकरस्याथ ब्रह्मणो वा युधिष्ठिर।
अथवा ब्राह्मणानां तु ये न भक्ता नराधमाः।
वृथा जन्मान्यथैतेषां पापिनां विद्धि पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! जो बन्धु-बान्धवोंको क्लेश देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले हैं, जो माता-पिता, अध्यापक-गुरु और मामा-मामीको मारते या गाली देते हैं, जो ब्राह्मण होकर भी संध्योपासनसे रहित हैं, जो अग्निहोत्रका त्याग करनेवाले हैं, जो श्राद्ध-तर्पणसे दूर रहनेवाले हैं, जो ब्राह्मण होकर शूद्रका अन्न खानेवाले हैं तथा जो मेरे, शङ्करजीके, ब्रह्माजीके अथवा ब्राह्मणोंके भक्त नहीं हैं—ये चौदह प्रकारके मनुष्य अधम होते हैं। इन्हीं पापियोंके जन्मको व्यर्थ समझना चाहिये ॥

अश्रद्धयापि यद् दत्तमवमानेन वापि यत्।
दम्भार्थमपि यद् दत्तं यत् पाखण्डिहितं नृप ॥
शूद्राचाराय यद् दत्तं यद् दत्त्वा चानुकीर्तितम्।

रोषयुक्तं च यद् दत्तं यद् दत्तमनुशोचितम् ॥
दम्भार्जितं च यद् दत्तं यच्च वाप्यनृतार्जितम् ।
ब्राह्मणस्वं च यद् दत्तं चौर्येणाप्यर्जितं च यत् ॥
अभिशस्ताहृतं यत्तु यद् दत्तं पतिते द्विजे ।
निर्ब्रह्माभिहृतं यत्तु यद् दत्तं सर्वयाचकैः ॥
व्रात्यैस्तु यद्धृतं दानमारूढपतितैश्च यत् ।
यद् दत्तं स्वैरिणीभर्तुः श्वशुरानुवर्तिने ॥
यद् ग्रामयाचकहृतं यत् कृतघ्नहृतं तथा ।
उपपातकिने दत्तं वेदविक्रयिणे च यत् ॥
स्त्रीजिताय च यद् दत्तं यद् दत्तं राजसेविने ।
गणकाय च यद् दत्तं यच्च कारणिकाय च ॥
वृषलीपतये दत्तं यद् दत्तं शस्त्रजीविने ।
भृतकाय च यद् दत्तं व्यालग्राहिहृतं च यत् ॥
पुरोहिताय यद् दत्तं चिकित्सकहृतं च यत् ।
यद् वणिक्कर्मिणे दत्तं क्षुद्रमन्त्रोपजीविने ॥
यच्छूद्रजीविने दत्तं यच्च देवलकाय च ।
देवद्रव्याशिने दत्तं यद् दत्तं चित्रकर्मिणे ॥
रङ्गोपजीविने दत्तं यच्च मांसोपजीविने ।
सेवकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं ब्राह्मणब्रुवे ॥
अदेशिने च यद् दत्तं दत्तं वार्धुषिकाय च ।
यदनाचारिणे दत्तं यत्तु दत्तमनग्नये ॥
असंध्योपासिने दत्तं यच्छूद्रग्रामवासिने ।
यन्मिथ्यालिङ्गिने दत्तं दत्तं सर्वाशिने च यत् ॥
नास्तिकाय च यद् दत्तं धर्मविक्रयिणे च यत् ।
वराकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं कूटसाक्षिणे ॥
ग्रामकूटाय यद् दत्तं दानं पार्थिवपुङ्गव ।
वृथा भवति तत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन् ! जो दान अश्रद्धा या अपमानके साथ दिया जाता है, जिसे दिखावेके लिये दिया जाता है, जो पाखण्डीको प्राप्त हुआ है, जो शूद्रके समान आचरणवाले पुरुषको दिया जाता है, जिसे देकर अपने ही मुँहसे बारबार बखान किया गया है, जिसे रोषपूर्वक दिया गया है तथा जिसको देकर पीछेसे उसके लिये शोक किया जाता है, जो दम्भसे उपार्जित अन्नका, झूठ बोलकर लाये हुए अन्नका, ब्राह्मणके धनका, चोरी करके लाये हुए द्रव्यका तथा कलंकी पुरुषके घरसे लाये हुए धनका दान किया गया है, जो पतित ब्राह्मणको दिया गया है, जो दान वेदविहीन पुरुषोंको और सबके यहाँ याचना करनेवालोंको दिया जाता है तथा जो संस्कारहीन पतितोंको तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुषोंको दिया जाता है, जो दान वेश्यागामीको और ससुरालमें रहकर गुजारा करनेवाले ब्राह्मणको दिया गया है, जिस दानको समूचे गाँवसे याचना करनेवाले और कृतघ्नने ग्रहण किया है एवं जो दान उपपातकीको, वेद बेचनेवालेको, स्त्रीके वशमें रहनेवालेको, राजसेवकको, ज्योतिषीको, तान्त्रिकको, शूद्र जातिकी स्त्रीके साथ सम्बन्ध रखनेवालेको, अस्त्र-शस्त्रसे जीविका चलानेवालेको, नौकरी करनेवालेको, साँप पकड़नेवालेको और पुरोहिती करनेवालेको दिया जाता है, जिस दानको वैद्यने ग्रहण किया है, राजश्रेष्ठ ! जो दान बनियेका काम करनेवालेको, क्षुद्र मन्त्र जपकर जीविका चलानेवालेको, शूद्रके यहाँ गुजारा करनेवालेको, वेतन लेकर मन्दिरमें पूजा करनेवालेको, देवोत्तर सम्पत्तिको खा जानेवालेको, तस्वीर बनानेका काम करनेवालेको, रंगभूमिमें नाच-कूदकर जीविका चलानेवालेको, मांस बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवालेको, सेवाका काम करनेवालेको, ब्राह्मणोचित आचारसे हीन होकर भी अपनेको ब्राह्मण बतानेवालेको, उपदेश देनेकी शक्तिसे रहितको, ब्याजखोरको, अनाचारीको, अग्निहोत्र न करनेवालेको, संध्योपासनसे अलग रहनेवालेको, शूद्रके गाँवमें निवास करनेवालेको, झूठे वेष धारण करनेवालेको, सबके साथ और सब कुछ खानेवालेको, नास्तिकको, धर्मविक्रेताको, नीच वृत्तिवालेको, झूठी गवाही देनेवालेको तथा कूटनीतिका आश्रय लेकर गाँवके लोगोंमें लड़ाई-झगड़ा करानेवाले ब्राह्मणको दिया जाता है, वह सब निष्फल होता है, इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है ॥

विप्रनामधरा एते लोलुपा ब्राह्मणाधमाः ।
नात्मानं तारयन्त्येते न दातारं युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! ये सब विषयलोलुप, विप्रनामधारी ब्राह्मणाधम हैं, ये न तो अपना उद्धार कर सकते हैं और न दाताका ही ॥

एतेभ्यो दत्तमात्राणि दानानि सुबहून्यपि ।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥

राजेन्द्र ! उपर्युक्त ब्राह्मणोंको दिये हुए दान बहुत हों तो भी राखमें डाली हुई घीकी आहुतिके समान व्यर्थ हो जाते हैं ॥

एतेषु यत् फलं किंचिद् भविष्यति कथंचन ।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च तद् विलुम्पन्ति हर्षिताः ॥

उन्हें दिये गये दानका जो कुछ फल होनेवाला होता है, उसे राक्षस और पिशाच प्रसन्नताके साथ लूट ले जाते हैं ॥

वृथा ह्येतानि दत्तानि कथितानि समासतः ।
जीवित तु तथा ह्येषां तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! ये सब वृथा दान संक्षेपमें बताये गये । अब जिन-जिन मनुष्योंका जीवन व्यर्थ है, उनका परिचय दे रहा हूँ; सुनो ॥

ये मां न प्रतिपद्यन्ते शङ्करं वा नराधमाः ।
ब्राह्मणान् वा महादेवान् वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो नराधम मेरी, भगवान् शंकरकी अथवा भूमण्डलके

देवता ब्राह्मणोंकी शरण नहीं लेते, वे मनुष्य व्यर्थ ही जीते हैं ॥

हेतुशास्त्रेषु ये सक्ताः कुदृष्टिपथमाश्रिताः ।
देवान् निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जिनकी कोरे तर्कशास्त्रमें ही आसक्ति है, जो नास्तिक-पथका अवलम्बन करते हैं, जिन्होंने आचार त्याग दिया है तथा जो देवताओंकी निन्दा करते हैं, वे मनुष्य व्यर्थ ही जी रहे हैं ॥

कुशलैः कृतशास्त्राणि पठित्वा ये नराधमाः ।
विप्रान् निन्दन्ति यज्ञांश्च वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो नराधम नास्तिकोंके शास्त्र पढ़कर ब्राह्मण और यज्ञों-की निन्दा करते हैं, वे व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं ॥

ये दुर्गां वा कुमारं वा वायुमग्निं जलं रविम् ।
पितरं मातरं चैव गुरुमिन्द्रं निशाकरम् ।
मूढा निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥

जो मूढ़ दुर्गा, स्वामी कार्तिकेय, वायु, अग्नि, जल, सूर्य, माता-पिता, गुरु, इन्द्र तथा चन्द्रमाकी निन्दा करते और आचारका पालन नहीं करते, वे मनुष्य भी निरर्थक ही जीवन व्यतीत करते हैं ॥

विद्यमाने धने यस्तु दानधर्मविवर्जितः ।
मृष्टमश्नाति यश्चैको वृथा जीवति सोऽपि च ॥
वृथा जीवितमाख्यातं दानकालं ब्रवीमि ते ॥

जो धन होनेपर भी दान और धर्म नहीं करता तथा दूसरोंको न देकर अकेले ही मिठाई खाया करता है, वह भी व्यर्थ ही जीता है । इस प्रकार व्यर्थ जीवनकी बात बतायी गयी । अब दानका समय बताता हूँ ॥

तमोनिविष्टचित्तेन दत्तं दानं तु यद् भवेत् ।
तदस्य फलमश्नाति नरो गर्भगतो नृप ॥

राजन् ! तमोगुणमें आविष्ट हुए चित्तवाले मनुष्यके द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका फल मनुष्य गर्भावस्थामें भोगता है ॥

ईर्ष्यामत्सरसंयुक्तो दम्भार्थं चार्थकारणात् ।
ददाति दानं यो मर्त्यो बालभावे तदश्नुते ॥

ईर्ष्या और मत्सरतासे युक्त मनुष्य अर्थलोभसे और दम्भपूर्वक जिस दानको देता है, उसका फल वह बाल्यावस्था-में भोगता है ॥

भोक्तुं भोगमशक्तस्तु व्याधिभिः पीडितो भृशम् ।
ददाति दानं यो मर्त्यो वृद्धभावे तदश्नुते ॥

भोगोंको भोगनेमें अशक्त, अत्यन्त व्याधिसे पीड़ित मनुष्य जिस दानको देता है, उसके फलका उपभोग वह वृद्धावस्थामें करता है ॥

श्रद्धायुक्तः शुचिः स्नातः प्रसन्नेन्द्रियमानसः ।
ददाति दानं यो मर्त्यो यौवने स तदश्नुते ॥

जो मनुष्य स्नान करके पवित्र हो मन और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखकर श्रद्धाके साथ दान करता है, उसके फलको वह यौवनावस्थामें भोगता है ॥

स्वयं नीत्वा तु यद् दानं भक्त्या पात्रे प्रदीयते ।
तत्सार्वकालिकं विद्धि दानमामरणान्तिकम् ॥

जो स्वयं देने योग्य वस्तु ले जाकर भक्तिपूर्वक सत्पात्र-को दान करता है, उसको मरणपर्यन्त हर समय उस दानका फल प्राप्त होता है, ऐसा समझो ॥

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं च युधिष्ठिर ।
दानं दानफलं चैव गतिं च त्रिविधां शृणु ॥

युधिष्ठिर ! दान और उसका फल सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन-तीन प्रकारका होता है तथा उसकी गति भी तीन प्रकारकी होती है, इसे सुनो ॥

दानं दातव्यमित्येव मतिं कृत्वा द्विजाय वै ।
उपकारवियुक्ताय यद् दत्तं तद्धि सात्त्विकम् ॥

दान देना कर्तव्य है—ऐसा समझकर अपना उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है, वही सात्त्विक है ॥

श्रोत्रियाय दरिद्राय बहुभृत्याय पाण्डव ।
दीयते यत् प्रहृष्टेन तत् सात्त्विकमुदाहृतम् ॥

पाण्डुनन्दन ! जिसका कुटुम्ब बहुत बड़ा हो तथा जो दरिद्र और वेदका विद्वान् हो, ऐसे ब्राह्मणको प्रसन्नतापूर्वक जो कुछ दिया जाता है, वह भी सात्त्विक कहा जाता है ॥

वेदाक्षरविहीनाय यत्तु पूर्वोपकारिणे ।
समृद्धाय च यद् दत्तं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

परंतु जो वेदका एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके घरमें काफी सम्पत्ति मौजूद है तथा जो पहले कभी अपना उपकार कर चुका है, ऐसे ब्राह्मणको दिया हुआ दान राजस माना गया है ॥

सम्बन्धिने च यद् दत्तं प्रमत्ताय च पाण्डव ।
फलार्थिभिरपात्राय तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

पाण्डव ! अपने सम्बन्धी और प्रमादीको दिया हुआ, फलकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा दिया हुआ तथा अपात्रको दिया हुआ दान भी राजस ही है ॥

वैश्वदेवविहीनाय दानमश्रोत्रियाय च ।
दीयते तस्करायापि तद् दानं तामसं स्मृतम् ॥

जो ब्राह्मण बलिवैश्वदेव नहीं करता, वेदका ज्ञान नहीं रखता तथा चोरी किया करता है, उसको दिया हुआ दान तामस है ॥

सरोषमवधूतं च क्लेशयुक्तमवज्ञया ।
सेवकाय च यद् दत्तं तत् तामसमुदाहृतम् ॥

क्रोध, तिरस्कार, क्लेश और अवहेलनापूर्वक तथा

सेवकको दिया हुआ दान भी तामस ही बतलाया गया है ॥

देवा पितृगणाश्चैव मुनयश्चाग्नयस्तथा ।
सात्त्विकं दानमश्नन्ति तुष्यन्ति च नरेश्वर ॥

नरेश्वर ! सात्त्विक दानको देवता, पितर, मुनि और अग्नि ग्रहण करते हैं तथा उससे इन्हें बड़ा संतोष होता है ॥

दानवा दैत्यसंघाश्च ग्रहा यक्षाः सराक्षसाः ।
राजसं दानमश्नन्ति वर्जितं पितृदैवतैः ॥

राजस दानका दानव, दैत्य, ग्रह, यक्ष और राक्षस उपभोग करते हैं, पितर और देवता नहीं करते ॥

पिशाचाः प्रेतसंघाश्च कश्मला ये मलीमसाः ।
तामसं दानमश्नन्ति गतिं च त्रिविधां शृणु ॥

तामस दानका फल पापी और मलिन कर्म करनेवाले प्रेत एवं पिशाच भोगते हैं । अब त्रिविध गतिका वर्णन सुनो ॥

सात्त्विकानां तु दानानामुत्तमं फलमश्नुते ।
मध्यमं राजसानां तु तामसानां तु पश्चिमम् ॥

सात्त्विक दानोंका फल उत्तम, राजस दानोंका मध्यम और तामस दानोंका फल अधम होता है ॥

अभिगम्योपनीतानां दानानां फलमुत्तमम् ।
मध्यमं तु समाहूय जघन्यं याचते फलम् ॥

जो दान सामने जाकर दिया जाता है, उसका फल उत्तम होता है; जो दानपात्रको बुलाकर दिया जाता है, उसका फल मध्यम होता है और जो याचना करनेवालेको दिया जाता है, उसका फल जघन्य होता है ॥

अयाचितप्रदाता यः स याति गतिमुत्तमाम् ।
समाहूय तु यो दद्यान्मध्यमां स गतिं व्रजेत् ।
याचितो यश्च वै दद्याज्जघन्यां स गतिं व्रजेत् ॥

जो याचना न करनेवालेको देता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त करता है; जो बुलाकर देता है, वह मध्यम गतिको जाता है और जो याचना करनेवालेको देता है, वह नीची गति पाता है ॥

उत्तमा दैविकी ज्ञेया मध्यमा मानुषी गतिः ।
गतिर्जघन्या तिर्यक्षु गतिरेषा त्रिधा स्मृता ॥

दैवी गतिको उत्तम समझना चाहिये । मानुषी गति मध्यम है और तिर्यग्योनियाँ नीच गति है—यह इनका तीन प्रकार माना गया है ॥

पात्रभूतेषु विप्रेषु संस्थितेष्वाहिताग्निषु ।
यत्तु निक्षिप्यते दानमक्षय्यं सम्प्रकीर्तितम् ॥

दानके उत्तम पात्र अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको जो दान दिया जाता है, वह अक्षय बतलाया गया है ॥

श्रोत्रियाणां दरिद्राणां भरणं कुरु पार्थिव ।
समृद्धानां द्विजातीनां कुर्यास्तेषां तु रक्षणम् ॥

अतः भूपाल ! जो वेदके विद्वान् होते हुए दरिद्र हों, उनके भरण-पोषणका तुम स्वयं प्रबन्ध करो और सम्पत्तिशाली द्विजोंकी रक्षा करते रहो ॥

दरिद्रान् वित्तहीनांश्च प्रदानैः सुष्ठु पूजय ।
आतुरस्यौषधैः कार्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥

धनहीन दरिद्र ब्राह्मणोंको दान देकर उनकी भलीभाँति पूजा करो; क्योंकि रोगीको ही ओषधिकी आवश्यकता है, नीरोगको ओषधिसे क्या प्रयोजन ? ॥

पापं प्रतिगृहीतारं प्रदातुरुपगच्छति ।
प्रतिग्रहीतुर्यत् पुण्यं प्रदातारमुपैति तत् ।
तस्माद् दानं सदा कार्यं परत्र हितमिच्छता ॥

दाताका पाप दानके साथ ही दान लेनेवालेके पास चला जाता है और उसका पुण्य दाताको प्राप्त हो जाता है, अतः परलोकमें अपना हित चाहनेवाले पुरुषको सदा दान करते रहना चाहिये ॥

वेदविद्याव्रतस्नातेषु सदा शूद्रान्नवर्जिषु ।
प्रयत्नेन विधातव्यो महादानमयो निधिः ॥

जो वेद-विद्या पढ़कर अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहते हों और शूद्रोंका अन्न कभी नहीं ग्रहण करते हों, ऐसे विद्वानोंको प्रयत्नपूर्वक बड़े-बड़े दानोंका भाण्डार बनाना चाहिये ॥

येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सहस्रस्येव लम्भनम् ।
भुक्तशेषस्य भक्तस्य तान् निमन्त्रय पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! जिनकी स्त्रियाँ अपने पतिके भोजनसे बचे हुए अन्नको हजारोंगुना लाभ समझकर उसके मिलनेकी प्रतीक्षा किया करती हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको तुम भोजनके लिये निमन्त्रित करना ॥

आमन्त्र्य तु निराशानि न कर्तव्यानि भारत ।
कुलानि सुदरिद्राणि तेषामाशा हता भवेत् ॥

भारत ! दरिद्रकुलके ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उन्हें निराश न लौटाना, अन्यथा उनकी आशा मारी जायगी ॥

मद्भक्ता ये नरश्रेष्ठ मद्गता मत्परायणाः ।
मद्याजिनो मन्नियमास्तान् प्रयत्नेन पूजयेत् ॥

नरश्रेष्ठ ! जो मेरे भक्त हों, मेरेमें मन लगानेवाले हों, मेरी शरणमें हों, मेरा पूजन करते हों और नियमपूर्वक मुझमें ही लगे रहते हों, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये ॥

तेषां तु पावनायाहं नित्यमेव युधिष्ठिर ।
उभे संध्येऽधितिष्ठामि ह्यस्कन्नं तद् व्रतं मम ॥

युधिष्ठिर ! अपने उन भक्तोंको पवित्र करनेके लिये मैं प्रतिदिन दोनों समय संध्यामें व्याप्त रहता हूँ । मेरा यह नियम कभी खण्डित नहीं होता ॥

तस्मादष्टाक्षरं मन्त्रं मद्भक्तैर्वीतकल्मषैः ।

संध्याकाले तु जप्तव्यं सततं चात्मशुद्धये ॥

इसलिये मेरे निष्पाप भक्तजनोंको चाहिये कि वे आत्म-शुद्धिके लिये संध्याके समय निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते रहें ॥

अन्येषामपि विप्राणां किल्बिषं हि विनश्यति ।
उभे संध्येऽप्युपासीत तस्माद् विप्रो विशुद्धये ॥

संध्या और अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करनेसे दूसरे ब्राह्मणोंके भी पाप नष्ट हो जाते हैं, अतः चित्तशुद्धिके लिये प्रत्येक ब्राह्मणको दोनों कालकी संध्या करनी चाहिये ॥

दैवे श्राद्धेऽपि विप्रः स नियोक्तव्योऽजुगुप्सया।
जुगुप्सितस्तु यः श्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार संध्योपासन और जप करता हो, उसे देवकार्य और श्राद्धमें नियुक्त करना चाहिये । उसकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा करनेपर ब्राह्मण उस श्राद्धको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे आग ईंधनको जला डालती है ॥

भारतं मानवो धर्मो वेदाः साङ्गाश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

महाभारत, मनुस्मृति, अङ्गोंसहित चारों वेद और आयुर्वेद शास्त्र—ये चारों सिद्ध उपदेश देनेवाले हैं, अतः तर्कद्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिये ॥

न ब्राह्मणान् परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
महान् भवेत् परीवादो ब्राह्मणानां परीक्षणे ॥

धर्मको जाननेवाले पुरुषको देवसम्बन्धी कार्यमें ब्राह्मणों-की परीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनेसे यजमानकी बड़ी निन्दा होती है ॥

श्वत्वं प्राप्नोति निन्दित्वा परीवादात् खरो भवेत्।
कृमिर्भवत्यभिभवात् कीटो भवति मत्सरात् ॥

ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला मनुष्य कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है, उसपर दोषारोपण करनेसे गदहा होता है और उसका तिरस्कार करनेसे कृमि होता है तथा उसके साथ द्वेष करनेसे वह कीड़ेकी योनिमें जन्म पाता है ॥

दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥

ब्राह्मण चाहे दुराचारी हों या सदाचारी, संस्कारहीन हों या संस्कारोंसे सम्पन्न, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे भस्मसे ढकी हुई आगके तुल्य हैं ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत मेधावी कृशानपि कदाचन ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि क्षत्रिय, साँप और विद्वान् ब्राह्मण यदि कमजोर हों तो भी कभी उनका अपमान न करे ॥

एतत् त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन नावमन्येत बुद्धिमान् ॥

क्योंकि वे तीनों अपमानित होनेपर मनुष्यको भस्म कर डालते हैं । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको प्रयत्नपूर्वक उनके अपमानसे बचना चाहिये ॥

यथा सर्वास्ववस्थासु पावको दैवतं महत् ।
तथा सर्वास्ववस्थासु ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥

जिस प्रकार सभी अवस्थाओंमें अग्नि महान् देवता हैं, उसी प्रकार सभी अवस्थाओंमें ब्राह्मण महान् देवता हैं ॥

व्यङ्गाः काणाश्च कुब्जाश्च वामनाङ्गास्तथैव च ।
सर्वे दैवे नियोक्तव्या व्यामिश्रा वेदपारगैः ॥

अङ्गहीन, काने, कुबड़े और बौने—इन सब ब्राह्मणोंको देवकार्यमें वेदके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ नियुक्त करना चाहिये ॥

मन्युं नोत्पादयेत् तेषां न चारिष्टं समाचरेत् ।
मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥

उनपर क्रोध न करे, न उनका अनिष्ट ही करे; क्योंकि ब्राह्मण क्रोधरूपी शस्त्रसे ही प्रहार करते हैं, वे शस्त्र हाथमें रखनेवाले नहीं हैं ॥

मन्युना घ्नन्ति ते शत्रून् वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ।
ब्राह्मणो हि महद् दैवं जातिमात्रेण जायते ॥

जैसे इन्द्र असुरोंका वज्रसे नाश करते हैं, वैसे ही वे ब्राह्मण क्रोधसे शत्रुका नाश करते हैं; क्योंकि ब्राह्मण जाति-मात्रसे ही महान् देवभावको प्राप्त हो जाता है ॥

ब्राह्मणाः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ।
किं पुनर्ये च कौन्तेय संध्यां नित्यमुपासते ॥

कुन्तीनन्दन ! सारे प्राणियोंके धर्मरूपी खजानेकी रक्षा करनेके लिये साधारण ब्राह्मण भी समर्थ हैं, फिर जो नित्य संध्योपासन करते हैं, उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥

यस्यास्येन समश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥

जिसके मुखसे स्वर्गवासी देवगण हविष्यका और पितर कव्यका भक्षण करते हैं, उससे बढ़कर कौन प्राणी हो सकता है ? ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मण जन्मसे ही धर्मकी सनातन मूर्ति है । वह धर्मके ही लिये उत्पन्न हुआ है और वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वयं वस्ते ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ।
तस्मात् ते नावमन्तव्या मद्भक्ता हि द्विजाः सदा ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है । दूसरे मनुष्य ब्राह्मणकी दयासे ही भोजन पाते हैं । अतः ब्राह्मणोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये;

क्योंकि वे सदा ही मुझमें भक्ति रखनेवाले होते हैं ॥

आरण्यकोपनिषदि ये तु पश्यन्ति मां द्विजाः ।
निगूढं निष्कलावस्थं तान् प्रयत्नेन पूजय ॥

जो ब्राह्मण बृहदारण्यक उपनिषद्में वर्णित मेरे गूढ़ और निष्कल स्वरूपका ज्ञान रखते हैं, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना ॥

स्वगृहे वा प्रवासे वा दिवारात्रमथापि वा ।
श्रद्धया ब्राह्मणाः पूज्या मद्भक्ता ये च पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! घरपर या विदेशमें, दिनमें या रातमें मेरे भक्त ब्राह्मणोंकी निरन्तर श्रद्धाके साथ पूजा करते रहना चाहिये ॥

नास्ति विप्रसमं दैवं नास्ति विप्रसमो गुरुः ।
नास्ति विप्रात् परो बन्धुर्नास्ति विप्रात् परो निधिः ॥

ब्राह्मणके समान कोई देवता नहीं है, ब्राह्मणके समान कोई गुरु नहीं है, ब्राह्मणसे बढ़कर बन्धु नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई खजाना नहीं है ॥

नास्ति विप्रात् परं तीर्थं न पुण्यं ब्राह्मणात् परम् ।
न पवित्रं परं विप्रान्न द्विजात् पावनं परम् ।
नास्ति विप्रात् परो धर्मो नास्ति विप्रात् परा गतिः ॥

कोई तीर्थ और पुण्य भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ नहीं है । ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र कोई नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र करनेवाला कोई नहीं है । ब्राह्मणसे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं और ब्राह्मणसे उत्तम कोई गति नहीं है ॥

पापकर्मसमाक्षिप्तं पतन्तं नरके नरम् ।
त्रायते पात्रमप्येकं पात्रभूते तु तद् द्विजे ॥
बालाहिताग्नयो ये च शान्ताः शूद्रान्नवर्जिताः ।
मामर्चयन्ति मद्भक्तास्तेभ्यो दत्तमिहाक्षयम् ॥

पापकर्मके कारण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका एक सुपात्र ब्राह्मण भी उद्धार कर सकता है । सुपात्र ब्राह्मणोंमें भी जो बाल्यकालसे ही अग्निहोत्र करनेवाले, शूद्रका अन्न त्याग देनेवाले तथा शान्त और मेरे भक्त हैं एवं सदा मेरी पूजा किया करते हैं, उनको दिया हुआ दान अक्षय होता है ॥

प्रदानैः पूजितो विप्रो वन्दितो वापि संस्कृतः ।
सम्भावितो वा दृष्टो वा मद्भक्तो दिवमुन्नयेत् ॥

मेरे भक्त ब्राह्मणको दान देकर उसकी पूजा करने, सिर झुकाने, सत्कार करने, बातचीत करने अथवा दर्शन करनेसे वह मनुष्यको दिव्यलोकमें पहुँचा देता है ॥

ये पठन्ति नमस्यन्ति ध्यायन्ति पुरुषास्तु माम् ।
स तान् दृष्ट्वा च स्पृष्ट्वा च नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

जो लोग मेरे गुण और लीलाओंका पाठ करते हैं तथा मुझे नमस्कार करते और मेरा ध्यान करते हैं, उनका दर्शन और स्पर्श करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

मद्भक्ता मद्गतप्राणा मद्गीता मत्परायणाः ।
बीजयोनिविशुद्धा ये श्रोत्रियाः संयतेन्द्रियाः ।
शूद्रान्नविरता नित्यं ते पुनन्तीह दर्शनात् ॥

जो मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे हुए हैं, जो मेरी महिमाका गान करते हैं और मेरी शरणमें पड़े रहते हैं, जिनकी उत्पत्ति शुद्ध रज और वीर्यसे हुई है, जो वेदके विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा सदा शूद्रान्नसे बचे रहनेवाले हैं, वे दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥

स्वयं नीत्वा विशेषेण दानं तेषां गृहेष्वथ ।
निवापयेत्तु यद्भक्त्या तद् दानं कोटिसम्मितम् ॥

ऐसे लोगोंके घरपर स्वयं उपस्थित होकर भक्तिपूर्वक विशेषरूपसे दान देना चाहिये । वह दान साधारण दानकी अपेक्षा करोड़गुना फल देनेवाला माना गया है ॥

जाग्रतः स्वपतो वापि प्रवासेषु गृहेष्वथ ।
हृदये न प्रणश्यामि यस्य विप्रस्य भावतः ॥
स पूजितो वा दृष्टो वा स्पृष्टो वापि द्विजोत्तमः ।
सम्भाषितो वा राजेन्द्र पुनात्येवं नरं सदा ॥

राजेन्द्र ! जागते अथवा सोते समय, परदेशमें अथवा घर रहते समय जिस ब्राह्मणके हृदयसे उसकी भक्ति-भावनाके कारण मैं कभी दूर नहीं होता, ऐसा वह श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजन, दर्शन, स्पर्श अथवा सम्भाषण करने मात्रसे मनुष्यको सदा पवित्र कर देता है ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पाण्डव ।
मद्भक्तेभ्यः प्रदत्तानि स्वर्गमार्गप्रदानि वै ॥

पाण्डव ! इस प्रकार सब अवस्थाओंमें मेरे भक्तोंको दिये हुए सब प्रकारके दान स्वर्गमार्ग प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[बीज और योनिकी शुद्धि तथा गायत्री-जपकी और ब्राह्मणोंकी महिमाका और उनके तिरस्कारके भयानक फलका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं सात्त्विकं दानं राजसं तामसं तथा ।
पृथक्पृथक्त्वेन गतिं फलं चापि पृथक् पृथक् ॥
अवितृप्तः प्रहृष्टात्मा पुण्यं धर्मामृतं पुनः ।
युधिष्ठिरो धर्मरतः केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस दान, उसकी भिन्न-भिन्न गति और पृथक्-पृथक् फलका वर्णन सुनकर धर्मपरायण युधिष्ठिरका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ । इस परम पवित्र धर्मरूपी अमृतका पान करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं हुई, अतः वे पुनः भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥

बीजयोनिविशुद्धानां लक्षणानि वदस्व मे ।
बीजदोषेण लोकेश जायन्ते च कथं नराः ॥

'जगदीश्वर ! मुझे यह बतलाइये कि बीज और योनि (वीर्य और रज) से शुद्ध पुरुषोंके लक्षण कैसे होते हैं ? बीज-दोषसे कैसे मनुष्य उत्पन्न होते हैं ? ॥

आचारदोषं देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः ।
ब्राह्मणानां विशेषं च गुणदोषौ च केशव ॥

'देवेश्वर श्रीकृष्ण ! ब्राह्मणोंके उत्तम, मध्यम आदि विशेष भेदोंका, उनके आचारके दोषोंका तथा उनके गुण-दोषोंका भी सम्पूर्णतया वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं बीजयोनिं शुभाशुभम् ।
येन तिष्ठति लोकोऽयं विनश्यति च पाण्डव ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! बीज और योनिकी शुद्धि-अशुद्धिका यथावत् वर्णन सुनो । पाण्डुनन्दन ! उनकी शुद्धिसे ही यह संसार टिकता है और अशुद्धिसे उसका नाश हो जाता है ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्यो यस्तु विप्रो यथाविधि ।
स बीजं नाम विज्ञेयं तस्य बीजं शुभं भवेत् ॥

जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका विधिवत् पालन करता है, जिसका ब्रह्मचर्यव्रत कभी खण्डित नहीं होता, उसको बीज समझना चाहिये, उसीका बीज शुभ होता है ।'

कन्या चाक्षतयोनिः स्यात् कुलीना पितृमातृतः ।
ब्राह्मादिषु विवाहेषु परिणीता यथाविधि ॥
सा प्रशस्ता वरारोहा तस्याः योनिः प्रशस्यते ।
मनसा कर्मणा वाचा या गच्छेत् परपूरुषम् ।
योनिस्तस्या नरश्रेष्ठ गर्भाधानं न चार्हति ॥

इसी प्रकार जो कन्या पिता और माताकी दृष्टिसे उत्तम कुलमें उत्पन्न हो, जिसकी योनि दूषित न हुई हो तथा ब्राह्म आदि उत्तम विवाहोंकी विधिसे ब्याही गयी हो, वह उत्तम स्त्री मानी गयी है । उसीकी योनि श्रेष्ठ है । नरश्रेष्ठ ! जो स्त्री मन, वाणी और क्रियासे परपुरुषके साथ समागम करती है, उसकी योनि गर्भाधानके योग्य नहीं होती ॥

दैवे पित्र्ये तथा दाने भोजने सहभाषणे ।
शयने सह सम्बन्धे न योग्या दुष्टयोनिजाः ॥

दूषित योनिसे उत्पन्न हुए मनुष्य यज्ञ, श्राद्ध, दान, भोजन, वार्तालाप, शयन तथा सम्बन्ध आदिमें सम्मिलित करने योग्य नहीं होते ॥

कानीनश्च सहोढश्च तथोभौ कुण्डगोलकौ ।
आरूढपतिताज्जातः पतितस्यापि यः सुतः ।
षडेते विप्रचाण्डाला निकृष्टाः श्वपचादपि ॥

बिना ब्याही कन्यासे उत्पन्न, ब्याहके समय गर्भवती कन्यासे उत्पन्न, पतिकी जीवितावस्थामें व्यभिचारसे उत्पन्न, पतिके मर जानेपर पर-पुरुषसे उत्पन्न, संन्यासीके वीर्यसे उत्पन्न तथा पतित मनुष्यसे उत्पन्न—ये छ प्रकारके चाण्डाल ब्राह्मण होते हैं, जो चाण्डालसे भी नीच हैं ॥

यो यत्र तत्र वा रेतः सिक्त्वा शूद्रासु वा चरेत् ।
कामचारी स पापात्मा बीजं तस्याशुभं भवेत् ॥

जो जहाँ-तहाँ जिस किसी स्त्रीसे अथवा शूद्र जातिकी स्त्रीसे भी समागम कर लेता है, वह पापात्मा स्वेच्छाचारी कहलाता है । उसका बीज अशुभ होता है ॥

अशुद्धं तद् भवेद् बीजं शुद्धां योनिं न चार्हति ।
दूषयत्यपि तां योनिं शुना लीढं हविर्यथा ॥

वह अशुद्ध वीर्य किसी शुद्ध योनिवाली स्त्रीके योग्य नहीं होता, उसके सम्पर्कसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यकी तरह शुद्ध योनि भी दूषित हो जाती है ॥

आत्मा हि शुक्रमुद्दिष्टं दैवतं परमं महत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निरुन्ध्याच्छुक्रमात्मनः ॥

वीर्यको आत्मा बताया गया है । वह सबसे श्रेष्ठ देवता है । इसलिये सब प्रकारका प्रयत्न करके अपने वीर्यकी रक्षा करनी चाहिये ॥

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद् यशः ।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया ॥

मनुष्य ब्रह्मचर्यके पालनसे आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और मेरे प्रेमको प्राप्त करता है ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्यैर्गृहस्थाश्रममाश्रितैः ।
पञ्चयज्ञपरैर्धर्मः स्थाप्यते पृथिवीतले ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें स्थित होकर अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पञ्चयज्ञोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं, वे पृथ्वी-तलपर धर्मकी स्थापना करते हैं ॥

सायं प्रातस्तु ये संध्यां सम्यङ्नित्यमुपासते ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तरन्ते तारयन्ति च ॥

जो प्रतिदिन सबेरे और शामको विधिवत् संध्योपासना करते हैं, वे वेदमयी नौकाका सहारा लेकर इस संसार-समुद्रसे स्वयं भी तर जाते हैं और दूसरोंको भी तार देते हैं ॥

यो जपेत् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानः पृथिवीं च ससागराम् ॥

जो ब्राह्मण सबको पवित्र बनानेवाली वेदमाता गायत्री-देवीका जप करता है, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दान लेनेपर भी प्रतिग्रहके दोषसे दुखी नहीं होता ॥

ये चास्य दुःस्थिताः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शुभकरास्तथा ॥

तथा सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो उसके लिये अशुभ स्थानमें रहकर अनिष्टकारक होते हैं, वे भी गायत्री-जपके प्रभावसे शान्त, शुभ और कल्याणकारी फल देनेवाले हो जाते हैं ॥

यत्र यत्र स्थिताश्चैव दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति न तं द्विजम् ॥

जहाँ कहीं क्रूर कर्म करनेवाले भयंकर विशालकाय पिशाच रहते हैं, वहाँ जानेपर भी वे उस ब्राह्मणका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥

पुनन्तीह पृथिव्यां च चीर्णवेदव्रता नराः।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी॥

वेदिक व्रतोंका आचरण करनेवाले पुरुष पृथ्वीपर दूसरोंको पवित्र करनेवाले होते हैं। राजन्! चारों वेदोंमें वह गायत्री श्रेष्ठ है॥

अचीर्णव्रतवेदा ये विकर्मफलमाश्रिताः।
ब्राह्मणा नाममात्रेण तेऽपि पूज्या युधिष्ठिर।
किं पुनर्यस्तु सध्ये द्वे नित्यमेवोपतिष्ठते॥

युधिष्ठिर! जो ब्राह्मण न तो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और न वेदाध्ययन करते हैं, जो बुरे फलवाले कर्मोंका आश्रय लेते हैं, वे नाममात्रके ब्राह्मण भी गायत्रीके जपसे पूज्य हो जाते हैं। फिर जो ब्राह्मण प्रातः-सायं दोनों समय संध्या-वन्दन करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है?॥

शीलमध्ययनं दानं शौचं मार्दवमार्जवम्।
तस्माद् वेदाद् विशिष्टानि मनुराह प्रजापतिः॥

प्रजापति मनुका कहना है कि—'शील, स्वाध्याय, दान, शौच, कोमलता और सरलता—ये सद्गुण ब्राह्मणके लिये वेदसे भी बढ़कर हैं॥

भूर्भुवः स्वरिति ब्रह्म यो वेदनिरतो द्विजः।
स्वदारनिरतो दान्तः स विद्वान् स च भूसुरः॥

जो ब्राह्मण 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियोंके साथ गायत्रीका जप करता है, वेदके स्वाध्यायमें संलग्न रहता है और अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करता है, वही जितेन्द्रिय, वही विद्वान् और वही इस भूमण्डलका देवता है॥

संध्यामुपासते ये वै नित्यमेव द्विजोत्तमाः।
ते यान्ति नरशार्दूल ब्रह्मलोकं न संशयः॥

पुरुषसिंह! जो श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रतिदिन संध्योपासन करते हैं, वे निःसंदेह ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरो विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविक्रयी॥

केवल गायत्रीमात्र जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि नियमसे रहता है तो वह श्रेष्ठ है; किंतु जो चारों वेदोंका विद्वान् होनेपर भी सबका अन्न खाता है, सब कुछ बेचता है और नियमोंका पालन नहीं करता है, वह उत्तम नहीं माना जाता॥

सावित्रीं चैव वेदांश्च तुलयातोलयन् पुरा।
सदेवर्षिगणाश्चैव सर्वे ब्रह्मपुरःसराः।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी॥

राजन्! पूर्वकालमें देवता और ऋषियोंने ब्रह्माजीके सामने गायत्री-मन्त्र और चारों वेदोंको तराजूपर रखकर तौला था। उस समय गायत्रीका पलड़ा ही चारों वेदोंसे भारी साबित हुआ॥

यथा विकसिते पुष्पे मधु गृह्णन्ति षट्पदाः।
एवं गृहीता सावित्री सर्ववेदे च पाण्डव॥

पाण्डव! जैसे भ्रमर खिले हुए फूलोंसे उनके सारभूत मधुको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदोंसे उनके सारभूत गायत्रीका ग्रहण किया गया है॥

तस्मात् तु सर्ववेदानां सावित्री प्राण उच्यते।
निर्जीवा हीतरे वेदा विना सावित्रिया नृप॥

इसलिये गायत्री सम्पूर्ण वेदोंका प्राण कहलाती है। नरेश्वर! गायत्रीके बिना सभी वेद निर्जीव हैं॥

नायन्त्रितश्चतुर्वेदी शीलभ्रष्टः स कुत्सितः।
शीलवृत्तसमायुक्तः सावित्रीपाठको वरः॥

नियम और सदाचारसे भ्रष्ट ब्राह्मण चारों वेदोंका विद्वान् हो तो भी वह निन्दाका ही पात्र है, किंतु शील और सदाचार-से युक्त ब्राह्मण यदि केवल गायत्रीका जप करता हो तो भी वह श्रेष्ठ माना जाता है॥

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां शतावराम्।
सावित्रीं जप कौन्तेय सर्वपापप्रणाशिनीम्॥

प्रतिदिन एक हजार गायत्री मन्त्रका जप करना उत्तम है, सौ मन्त्रका जप करना मध्यम और दस मन्त्रका जप करना कनिष्ठ माना गया है। कुन्तीनन्दन! गायत्री सब पापोंको नष्ट करनेवाली है, इसलिये तुम सदा उसका जप करते रहो॥

युधिष्ठिर उवाच

त्रैलोक्यनाथ हे कृष्ण सर्वभूतात्मको ह्यसि।
नानायोगपर श्रेष्ठ तुष्यसे केन कर्मणा॥

युधिष्ठिरने पूछा—त्रिलोकीनाथ! आप सम्पूर्ण भूतों-के आत्मा हैं। विभिन्न योगोंके द्वारा प्राप्तव्य सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! बताइये, किस कर्मसे आप संतुष्ट होते हैं?॥

श्रीभगवानुवाच

यदि भारसहस्रं तु गुग्गुल्वादि प्रधूपयेत्।
करोति चेन्नमस्कारमुपहारं च कारयेत्॥
स्तौति यः स्तुतिभिर्मां च ऋग्यजुःसामभिः सदा।
न तोषयति चेद् विप्रान् नाहं तुष्यामि भारत॥

श्रीभगवान्ने कहा—भारत! कोई एक हजार भार गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थोंको जलाकर मुझे धूप दे, निरन्तर नमस्कार करे, खूब भेंट-पूजा चढ़ावे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी स्तुतियोंसे सदा मेरा स्तवन करता रहे; किंतु यदि वह ब्राह्मणको संतुष्ट न कर सका तो मैं उस-पर प्रसन्न नहीं होता॥

ब्राह्मणे पूजिते नित्यं पूजितोऽस्मि न संशयः।
आक्रुष्टे चाहमाक्रुष्टो भवामि भरतर्षभ॥

भरतश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मणकी पूजासे सदा मेरी भी पूजा हो जाती है और ब्राह्मणको कटुवचन सुनानेसे मैं ही उस कटुवचनका लक्ष्य बनता हूँ॥

परा मयि गतिस्तेषां पूजयन्ति द्विजं हि ये।
यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले॥

जो ब्राह्मणकी पूजा करते हैं, उनकी परमगति मुझमें ही होती है; क्योंकि पृथ्वीपर ब्राह्मणोंके रूपमें मैं ही निवास करता हूँ॥

यस्तान् पूजयति प्राज्ञो मद्गतेनान्तरात्मना।
तमहं स्वेन रूपेण पश्यामि नरपुङ्गव॥

पुरुषश्रेष्ठ! जो बुद्धिमान् मनुष्य मुझमें मन लगाकर ब्राह्मणोंकी पूजा करता है, उसको मैं अपना स्वरूप ही समझता हूँ॥

कुब्जाः काणा वामनाश्च दरिद्रा व्याधितास्तथा।
नावमान्या द्विजाः प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः॥

ब्राह्मण यदि कुबड़े, काने, बौने, दरिद्र और रोगी भी हों तो विद्वान् पुरुषोंको कभी उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सब मेरे ही स्वरूप हैं॥

ये केचित् सागरान्तायां पृथिव्यां द्विजसत्तमाः।
मम रूपं हि तेष्वेवमर्चितेष्वर्चितोऽस्म्यहम्॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके ऊपर जितने भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, वे सब मेरे स्वरूप हैं। उनका पूजन करनेसे मेरा भी पूजन हो जाता है॥

बहवस्तु न जानन्ति नरा ज्ञानबहिष्कृताः।
यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले॥

बहुत-से अज्ञानी पुरुष इस बातको नहीं जानते कि मैं इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंके रूपमें निवास करता हूँ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां ये रमन्ते द्विजातिषु।
तान् मृतान् यमलोकस्थान् निपात्य पृथिवीतले॥
आक्रम्योरसि पादेन क्रूरः संरक्तलोचनः।
अग्निवर्णैस्तु संदंशैर्यमो जिह्वां समुद्धरेत्॥

जो ब्राह्मणोंको गाली देकर और उनकी निन्दा करके प्रसन्न होते हैं, वे जब यमलोकमें जाते हैं तब लाल-लाल आँखोंवाले क्रूर यमराज उन्हें पृथ्वीपर पटककर छातीपर सवार हो जाते हैं और आगमें तपाये हुए सँड़सोंसे उनकी जीभ उखाड़ लेते हैं॥

ये च विप्रान् निरीक्षन्ते पापाः पापेन चक्षुषा।
अब्रह्मण्याः श्रुतेर्बाह्या नित्यं ब्रह्मद्विषो नराः॥
तेषां घोरा महाकाया वक्रतुण्डा महाबलाः।
उद्धरन्ति मुहूर्तेन खगाश्चक्षुर्यमाज्ञया॥

जो पापी ब्राह्मणोंकी ओर पापपूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति नहीं करते, वैदिक मर्यादाका उल्लङ्घन करते हैं और सदा ब्राह्मणोंके द्वेषी बने रहते हैं, वे जब यमलोकमें पहुँचते हैं तब वहाँ यमराजकी आज्ञासे टेढ़ी चोंचवाले बड़े-बड़े बलवान् पक्षी आकर क्षणभरमें उन पापियोंकी आँखें निकाल लेते हैं॥

यः प्रहारं द्विजेन्द्राय दद्यात् कुर्याच्च शोणितम्।
अस्थिभङ्गं च यः कुर्यात् प्राणैर्वा विप्रयोजयेत्।
सोऽऽनुपूर्व्येण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको पीटता है, उसके शरीरसे खून निकाल देता है, उसकी हड्डी तोड़ डालता है अथवा उसके प्राण ले लेता है, वह क्रमशः इक्कीस नरकोंमें अपने पापका फल भोगता है॥

शूलमारोप्यते पश्चाज्ज्वलने परिपच्यते।
बहुवर्षसहस्राणि पच्यमानस्त्ववाक्शिराः।
नावमुच्येत दुर्मेधा न तस्य क्षीयते गतिः॥

पहले वह शूलपर चढ़ाया जाता है। फिर मस्तक नीचे करके उसे आगमें लटका दिया जाता है और वह हजारों वर्षोंतक उसमें पकता रहता है। वह दुष्टबुद्धिवाला पुरुष उस दारुण यातनासे तबतक छुटकारा नहीं पाता, जबतक कि उसके पापका भोग समाप्त नहीं हो जाता॥

ब्राह्मणान् वा विचार्यैव व्रजन् वै वधकाङ्क्षया।
शतवर्षसहस्राणि तामिस्रे परिपच्यते॥

ब्राह्मणोंका अपमान करनेके विचारसे अथवा उनको मारनेकी इच्छासे जो उनपर आक्रमण करते हैं, वे एक लाख वर्षतक तामिस्र नरकमें पकाये जाते हैं॥

तस्मान्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गतिमीरयेत्।
न ब्रूयात् परुषां वाणीं न चैवैनानतिक्रमेत्॥

इसलिये ब्राह्मणोंके प्रति कभी अमङ्गलसूचक वचन न कहे, उनसे रूखी और कठोर बात न बोले तथा कभी उनका अपमान न करे॥

ये विप्राञ्श्लक्ष्णया वाचा पूजयन्ति नरोत्तमाः।
अर्चितश्च स्तुतश्चैव तैर्भवामि न संशयः॥

जो श्रेष्ठ मनुष्य ब्राह्मणोंकी मधुर वाणीसे पूजा करते हैं, उनके द्वारा निःसंदेह मेरी ही पूजा और स्तुति-क्रिया सम्पन्न हो जाती है॥

तर्जयन्ति च ये विप्रान् क्रोशयन्ति च भारत।
आक्रुष्टस्तर्जितश्चाहं तैर्भवामि न संशयः॥

भारत! जो ब्राह्मणोंको फटकारते और गालियाँ सुनाते हैं, वे मुझे ही गाली देते और मुझे ही फटकारते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[यमलोकके मार्गका कष्ट और उससे बचनेके उपाय]

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न परं कौतूहलं हि मे।
एतत् कथय सर्वज्ञ त्वद्भक्तस्य च केशव।
मानुषस्य च लोकस्य धर्मलोकस्य चान्तरम्॥

युधिष्ठिरने पूछा—दैत्योंका विनाश करनेवाले देव-देवेश्वर! मेरे मनमें सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। मैं आपका

भक्त हूँ। केशव ! आप सर्वज्ञ हैं, इसलिये बतलाइये, मनुष्यलोकके और यमलोकके बीचकी दूरी कितनी है?॥

त्वगस्थिमांसनिर्मुक्ते पञ्चभूतविवर्जिते।
कथयस्व महादेव सुखदुःखमशेषतः॥

सर्वश्रेष्ठ देव ! जब जीव पाञ्चभौतिक शरीरसे अलग होकर त्वचा, हड्डी और मांससे रहित हो जाता है, उस समय उसे समस्त सुख-दुःखका अनुभव किस प्रकार होता है ?॥

जीवस्य कर्मलोकेषु कर्मभिस्तु शुभाशुभैः।
अनुबद्धस्य तैः पाशैर्नीयमानस्य दारुणैः॥
मृत्युदूतैर्दुराधर्षैर्घोरैर्घोरपराक्रमैः।
बद्धस्याक्षिप्यमाणस्य विद्रुतस्य यमाज्ञया।

सुना जाता है कि मनुष्यलोकमें जीव अपने शुभाशुभ कर्मोंसे बँधा हुआ है। उसे मरनेके बाद यमराजकी आज्ञासे भयंकर, दुर्धर्ष और घोर पराक्रमी यमदूत कठिन पाशोंसे बाँधकर मारते-पीटते हुए ले जाते हैं वह इधर-उधर भागनेकी चेष्टा करता है॥

पुण्यपापकृतंतिष्ठेत् सुखदुःखमशेषतः।
यमदूतैर्दुराधर्षैर्नीयते वा कथं पुनः॥

वहाँ पुण्य-पाप करनेवाले सब तरहके सुख-दुःख भोगते हैं; अतः बतलाइये, मरे हुए प्राणीको दुर्धर्ष यमदूत किस प्रकार ले जाते हैं ?॥

किं रूपं किं प्रमाणं वा वर्णः को वास्य केशव।
जीवस्य गच्छतो नित्यं यमलोकं वदस्व मे॥

केशव ! यमलोकमें जाते समय जीवका निश्चित रूप-रंग कैसा होता है ? और उसका शरीर कितना बड़ा होता है ? ये सब बातें बताइये॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि मद्भक्तस्य नरेश्वर॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! नरेश्वर ! तुम मेरे भक्त हो, इसलिये जो कुछ पूछते हो, वह सब बात यथार्थरूपसे बता रहा हूँ; सुनो॥

षडशीतिसहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर।
मानुषस्य च लोकस्य यमलोकस्य चान्तरम्॥

युधिष्ठिर ! मनुष्यलोक और यमलोकमें छियासी हजार योजनका अन्तर है॥

न तत्र वृक्षच्छाया वा न तटाकं सरोऽपि वा।
न वाप्यो दीर्घिका वापि न कूपो वा युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर ! इस बीचके मार्गमें न वृक्षकी छाया है, न तालाब है, न पोखरा है, न बावड़ी है और न कुआँ ही है॥

न मण्डपं सभा वापि न प्रपा न निकेतनम्।
न पर्वतो नदी वापि न भूमेर्विवरं क्वचित्॥

न ग्रामो नाश्रमो वापि नोद्यानं वा वनानि च।
न किंचिदाश्रयस्थानं पथि तस्मिन् युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर ! उस मार्गमें कहीं भी कोई मण्डप, बैठक, प्याऊ, घर, पर्वत, नदी, गुफा, गाँव, आश्रम, बगीचा, वन अथवा ठहरनेका दूसरा कोई स्थान भी नहीं है॥

जन्तोर्हि प्राप्तकालस्य वेदनार्तस्य वै भृशम्।
कारणैस्त्यक्तदेहस्य प्राणैः कण्ठगतैः पुनः॥
शरीराच्चाल्यते जीवो ह्यवशो मातरिश्वना।
निर्गतो वायुभूतस्तु षट्कोशात्तु कलेवरात्॥
शरीरमन्यत् तद्रूपं तद्वर्णं तत्प्रमाणतः।
अदृश्यं तत्प्रविष्टस्तु सोऽप्यदृष्टोऽथ केनचित्॥

जब जीवका मृत्युकाल उपस्थित होता है और वह वेदनासे अत्यन्त छटपटाने लगता है, उस समय कारण तत्त्व शरीरका त्याग कर देते हैं, प्राण कण्ठतक आ जाते हैं और वायुके वशमें पड़े हुए जीवको बरबस इस शरीरसे निकल जाना पड़ता है। छः कोशोंवाले शरीरसे निकलकर वायुरूपधारी जीव एक दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश करता है। उस शरीरके रूप, रंग और माप भी पहले शरीरके ही समान होते हैं। उसमें प्रविष्ट होनेपर जीवको कोई देख नहीं पाता॥

सोऽन्तरात्मा देहवतामष्टाङ्गो यस्तु संचरेत्।
छेदनाद् भेदनाद् दाहात् ताडनाद् वा न नश्यति॥

देहधारियोंका अन्तरात्मा जीव आठ अङ्गोंसे युक्त होकर यमलोककी यात्रा करता है। वह शरीर काटने, टुकड़े टुकड़े करने, जलाने अथवा मारनेसे नष्ट नहीं होता॥

नानारूपधरैर्घोरैः प्रचण्डैश्चण्डसाधनैः।
नीयमानो दुराधर्षैर्यमदूतैर्यमाज्ञया॥

यमराजकी आज्ञासे नाना प्रकारके भयंकर रूपधारी अत्यन्त क्रोधी और दुर्धर्ष यमदूत प्रचण्ड हथियार लिये आते हैं और जीवको जबर्दस्ती पकड़कर ले जाते हैं॥

पुत्रदारमयैः पाशैः संनिरुद्धोऽवशो बलात्।
स्वकर्मभिश्चानुगतः कृतैः सुकृतदुष्कृतैः॥

उस समय जीव स्त्री-पुत्रादिके स्नेह-बन्धनमें आबद्ध रहता है। जब विवश हुआ वह ले जाया जाता है, तब उसके किये हुए पाप-पुण्य उसके पीछे पीछे जाते हैं॥

आक्रन्दमानः करुणं बन्धुभिर्दुःखपीडितैः।
त्यक्त्वा बन्धुजनं सर्वं निरपेक्षस्तु गच्छति॥

उस समय उसके बन्धु-बान्धव दुःखसे पीड़ित होकर करुणाजनक स्वरमें विलाप करने लगते हैं तो भी वह सबकी ओरसे निरपेक्ष हो समस्त बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर चल देता है॥

मातृभिः पितृभिश्चैव भ्रातृभिर्मातुलैस्तथा।
दारैः पुत्रैर्वयस्यैश्च रुदद्भिस्त्यज्यते पुनः॥

माता, पिता, भाई, मामा, स्त्री, पुत्र और मित्र रोते रह जाते हैं, उनका साथ छूट जाता है ॥

अदृश्यमानस्तैर्दीनैरश्रुपूर्णमुखेक्षणैः ।
स्वशरीरं परित्यज्य वायुभूतस्तु गच्छति ॥

उनके नेत्र और मुख आँसुओंसे भीगे होते हैं। उनकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है, फिर भी वह जीव उन्हें दिखायी नहीं पड़ता। वह अपना शरीर छोड़कर वायुरूप हो चल देता है ॥

अन्धकारमपारं तं महाघोरं तमोवृतम् ।
दुःखान्तं दुष्प्रतारं च दुर्गमं पापकर्मणाम् ॥

वह पापकर्म करनेवालोंका मार्ग अन्धकारसे भरा है और उसका कहीं पार नहीं दिखायी देता। वह मार्ग बड़ा भयंकर, तमोमय, दुस्तर, दुर्गम और अन्ततक दुःख-ही-दुःख देनेवाला है ॥

देवासुरैर्मनुष्याद्यैर्वैवस्वतवशानुगैः ।
स्त्रीपुंनपुंसकैश्चापि पृथिव्यां जीवसंज्ञितैः ॥
मध्यमैर्युवभिर्वापि बालैर्वृद्धैस्तथैव च ।
जातमात्रैश्च गर्भस्थैर्गन्तव्यः स महापथः ॥

यमराजके अधीन रहनेवाले देवता, असुर और मनुष्य आदि जो भी जीव पृथ्वीपर हैं, वे स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक हों, बाल, वृद्ध, तरुण या जवान हों, तुरतके पैदा हुए हों अथवा गर्भमें स्थित हों; उन सबको एक दिन उस महान् पथकी यात्रा करनी ही पड़ती है ॥

पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा संध्याकालेऽथवा पुनः ।
प्रदोषे वार्धरात्रे वा प्रत्यूषे वाप्युपस्थिते ॥

पूर्वाह्ण हो या पराह्ण, संध्याका समय हो या रात्रिका, आधी रात हो या सबेरा हो गया हो, वहाँकी यात्रा सदा खुली ही रहती है ॥

मृत्युदूतैर्दुराधर्षैः प्रचण्डैश्चण्डशासनैः ।
आक्षिप्यमाणा ह्यवशाः प्रयान्ति यमसादनम् ॥

उपर्युक्त सभी प्राणी दुर्धर्ष, उग्र शासन करनेवाले, प्रचण्ड यमदूतोंके द्वारा विवश होकर मार खाते हुए यमलोक जाते हैं ॥

कचिद् भीतैः कचिन्मत्तैः प्रस्खलद्भिः कचित् कचित्।
क्रन्दद्भिर्वेदनार्तैस्तु गन्तव्यं यमसादनम् ॥

यमलोकके पथपर कहीं डरकर, कहीं पागल होकर, कहीं ठोकर खाकर और कहीं वेदनासे आर्त होकर रोते-चिल्लाते हुए चलना पड़ता है ॥

निर्भर्त्स्यमानैरुद्विग्नैर्विधूतैर्भयविह्वलैः ।
तुद्यमानशरीरैश्च गन्तव्यं तर्जितैस्तथा ॥

यमदूतोंकी डाँट सुनकर जीव उद्विग्न हो जाते हैं और भयसे विह्वल हो थर-थर काँपने लगते हैं। दूतोंकी मार खाकर शरीरमें बेतरह पीड़ा होती है तो भी उनकी फटकार सुनते हुए आगे बढ़ना पड़ता है ॥

काष्ठोपलशिलाघातैर्दण्डोल्मुककशाङ्कुशैः ।
हन्यमानैर्यमपुरं गन्तव्यं धर्मवर्जितैः ॥

धर्महीन पुरुषोंको काठ, पत्थर, शिला, डंडे, जलती लकड़ी, चाबुक और अंकुशकी मार खाते हुए यमपुरीको जाना पड़ता है ॥

वेदनार्तैश्च कूजद्भिर्विक्रोशद्भिश्च विस्वरम् ।
वेदनार्तैः पतद्भिश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ॥

जो दूसरे जीवोंकी हत्या करते हैं, उन्हें इतनी पीड़ा दी जाती है कि वे आर्त होकर छटपटाने, कराहने तथा जोर-जोरसे चिल्लाने लगते हैं और उसी स्थितिमें उन्हें गिरते-पड़ते चलना पड़ता है ॥

शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च शङ्कुतोमरसायकैः ।
तुद्यमानस्तु शूलाग्रैर्गन्तव्यं जीवघातकैः ॥

चलते समय उनके ऊपर शक्ति, भिन्दिपाल, शङ्कु, तोमर, बाण और त्रिशूलकी मार पड़ती रहती है ॥

श्वभिर्व्याघ्रैर्वृकैः काकैर्भक्ष्यमाणाः समन्ततः ।
तुद्यमानाश्च गच्छन्ति राक्षसैर्मांसघातिभिः ॥

कुत्ते, बाघ, भेड़िये और कौवे उन्हें चारों ओरसे नोचते रहते हैं। मांस काटनेवाले राक्षस भी उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं ॥

महिषैश्च मृगैश्चापि सूकरैः पृषतैस्तथा ।
भक्ष्यमाणैस्तदध्वानं गन्तव्यं मांसखादकैः ॥

जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें उस मार्गमें चलते समय भैंसे, मृग, सूअर और चितकबरे हरिन चोट पहुँचाते और उनके मांस काटकर खाया करते हैं ॥

सूचीसुतीक्ष्णतुण्डाभिर्मक्षिकाभिः समन्ततः ।
तुद्यमानैश्च गन्तव्यं पापिष्ठैर्बालघातकैः ॥

जो पापी बालकोंकी हत्या करते हैं, उन्हें चलते समय सूईके समान तीखे डंकवाली मक्खियाँ चारों ओरसे काटती रहती हैं ॥

विस्रब्धं स्वामिनं मित्रं स्त्रियं वा घ्नन्ति ये नराः ।
शस्त्रैर्निर्भिद्यमानैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ॥

जो लोग अपने ऊपर विश्वास करनेवाले स्वामी, मित्र अथवा स्त्रीकी हत्या करते हैं, उन्हें यमपुरके मार्गपर चलते समय यमदूत हथियारोंसे छेदते रहते हैं ॥

खादयन्ति च ये जीवान् दुःखमापादयन्ति ते ।
राक्षसैश्च श्वभिश्चैव भक्ष्यमाणा व्रजन्ति ते ॥

जो दूसरे जीवोंको भक्षण करते या उन्हें दुःख पहुँचाते हैं, उनको चलते समय राक्षस और कुत्ते काट खाते हैं ॥

ये हरन्ति च वस्त्राणि शय्याः प्रावरणानि च ।
ते यान्ति विद्रुता नग्नाः पिशाचा इव तत्पथम् ॥

जो दूसरोंके कपड़े, पलंग और बिछौने चुराते हैं, वे उस मार्गमें पिशाचोंकी तरह नंगे होकर भागते हुए चलते हैं ॥

गाश्च धान्यं हिरण्यं वा बलात् क्षेत्रं गृहं तथा ।
ये हरन्ति दुरात्मानः परस्वं पापकारिणः ॥
पाषाणैरुल्मुकैर्दण्डैः काष्ठघातैश्च झर्झरैः ।
हन्यमानैः क्षताकीर्णैर्गन्तव्यं तैर्यमालयम् ।

जो दुरात्मा और पापाचारी मनुष्य बलपूर्वक दूसरोंकी गौ, अनाज, सोना, खेत और गृह आदिको हड़प लेते हैं, वे परलोकमें जाते समय यमदूतोंके हाथसे पत्थर, जलती हुई लकड़ी, डंडे, काठ और बेंतकी छड़ियोंकी मार खाते हैं तथा उनके समस्त अङ्गोंमें घाव हो जाता है ॥

ब्रह्मस्वं ये हरन्तीह नरा नरकनिर्भयाः ॥
आक्रोशन्तीह ये नित्यं प्रहरन्ति च ये द्विजान् ॥
शुष्ककण्ठा निबद्धास्ते छिन्नजिह्वाक्षिनासिकाः ।
पूयशोणितदुर्गन्धा भक्ष्यमाणाश्च जम्बुकैः ॥
चण्डालैर्भीषणैश्चण्डैस्तुद्यमानाः समन्ततः ।
क्रोशन्तः करुणं घोरं गच्छन्ति यमसादनम् ॥

जो मनुष्य यहाँ नरकका भय न मानकर ब्राह्मणोंका धन छीन लेते हैं, उन्हें गालियाँ सुनाते हैं और सदा मारते रहते हैं, वे जब यमपुरके मार्गमें जाते हैं, उस समय यमदूत इस तरह जकड़कर बाँधते हैं कि उनका गला सूख जाता है; उनकी जीभ, आँख और नाक काट ली जाती है, उनके शरीरपर दुर्गन्धित पीब और रक्त डाला जाता है, गीदड़ उनके मांस नोच-नोचकर खाते हैं और क्रोधमें भरे हुए भयानक चाण्डाल उन्हें चारों ओरसे पीड़ा पहुँचाते रहते हैं। इससे वे करुणायुक्त भीषण स्वरसे चिल्लाते रहते हैं ॥

तत्र चापि गताः पापा विष्ठाकूपेष्वनेकशः ।
जीवन्तो वर्षकोटीस्तु क्लिश्यन्ते वेदनात् ततः ॥

यमलोकमें पहुँचनेपर भी उन पापियोंको जीते-जी विष्ठाके कुएँमें डाल दिया जाता है और वहाँ वे करोड़ों वर्षोंतक अनेक प्रकारसे पीड़ा सहते हुए कष्ट भोगते रहते हैं ॥

ततश्च मुक्ताः कालेन लोके चास्मिन् नराधमाः।
विष्ठाकृमित्वं गच्छन्ति जन्मकोटिशतं नृप ॥

राजन् ! तदनन्तर समयानुसार नरकयातनासे छुटकारा पानेपर वे इस लोकमें सौ करोड़ जन्मोंतक विष्ठाके कीड़े होते हैं ॥

अदत्तदाना गच्छन्ति शुष्ककण्ठास्यतालुकाः ।
अन्नं पानीयसहितं प्रार्थयन्तः पुनः पुनः ॥

दान न करनेवाले जीवोंके कण्ठ, मुँह और तालु भूख-प्यासके मारे सूखे रहते हैं तथा वे चलते समय यमदूतोंसे बार-बार अन्न और जल माँगा करते हैं ॥

स्वामिन् बुभुक्षातृष्णार्ता गन्तुं नैवाद्य शक्नुमः ।
ममान्नं दीयतां स्वामिन् पानीयं दीयतां मम ।
इति ब्रुवन्तस्तैर्दूतैः प्राप्यन्ते वै यमालयम् ॥

वे कहते हैं—'मालिक ! हम भूख और प्यासले बहुत कष्ट पा रहे हैं, अब चला नहीं जाता; कृपा करके हमें अन्न और पानी दे दीजिये।' इस प्रकार याचना करते ही रह जाते हैं, किंतु कुछ भी नहीं मिलता। यमदूत उन्हें उसी अवस्थामें यमराजके घर पहुँचा देते हैं ॥

ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पाण्डव ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते सुखं यान्ति तत्फलम् ॥

पाण्डुपुत्र ! जो ब्राह्मणोंको नाना प्रकारकी वस्तुएँ दान देते हैं, वे सुखपूर्वक उनके फलको प्राप्त करते हैं ॥

अन्नं ये च प्रयच्छन्ति ब्राह्मणेभ्यः सुसंस्कृतम् ।
श्रोत्रियेभ्यो विशेषेण प्रीत्या परमया युताः ॥
तैर्विमानैर्महात्मानो यान्ति चित्रैर्यमालयम् ।
सेव्यमाना वरस्त्रीभिरप्सरोभिर्महापथम् ॥

जो लोग ब्राह्मणोंको, उनमें भी विशेषतः श्रोत्रियोंको अत्यन्त प्रसन्नताके साथ अच्छी प्रकारसे बनाये हुए उत्तम अन्नका भोजन कराते हैं, वे महात्मा पुरुष विचित्र विमानोंपर बैठकर यमलोककी यात्रा करते हैं। उस महान् पथमें सुन्दर स्त्रियाँ और अप्सराएँ उनकी सेवा करती रहती हैं ॥

ये च नित्यं प्रभाषन्ते सत्यं निष्कल्मषं वचः ।
ते च यान्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥

जो प्रतिदिन निष्कपटभावसे सत्यभाषण करते हैं, वे निर्मल बादलोंके समान बैल जुते हुए विमानोंद्वारा यमलोकमें जाते हैं ॥

कपिलाद्यानि पुण्यानि गोप्रदानानि ये नराः ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥
ते यान्त्यमलवर्णाभैर्विमानैर्वृषयोजितैः ।
वैवस्वतपुरं प्राप्य ह्यप्सरोभिर्निषेविताः ॥

जो ब्राह्मणोंको और उनमें भी विशेषतः श्रोत्रियोंको कपिला आदि गौओंका पवित्र दान देते रहते हैं, वे निर्मल कान्तिवाले बैल जुते हुए विमानोंमें बैठकर यमलोकको जाते हैं। वहाँ अप्सराएँ उनकी सेवा करती हैं ॥

उपानहौ च छत्रं च शयनान्यासनानि च ।
विप्रेभ्यो ये प्रयच्छन्ति वस्त्राण्याभरणानि च ॥
ते यान्त्यश्वैर्वृषैर्वापि कुञ्जरैरप्यलंकृताः ।
धर्मराजपुरं रम्यं सौवर्णच्छत्रशोभिताः ॥

जो ब्राह्मणोंको छाता, जूता, शय्या, आसन, वस्त्र और आभूषण दान करते हैं, वे सोनेके छत्र लगाये उत्तम गहनोंसे सज-धजकर घोड़े, बैल अथवा हाथीकी सवारीसे धर्मराजके सुन्दर नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

ये फलानि प्रयच्छन्ति पुष्पाणि सुरभीणि च ।
हंसयुक्तैर्विमानैस्तु यान्ति धर्मपुरं नराः ॥

जो सुगन्धित फूल और फलका दान करते हैं, वे मनुष्य हंसयुक्त विमानोंके द्वारा धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विचित्रान्नं घृताप्लुतम् ।

ते व्रजन्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वायुवेगिभिः ।
पुरं तत् प्रेतनाथस्य नानाजनसमाकुलम् ॥

जो ब्राह्मणोंको घीमें तैयार किये हुए भाँति-भाँतिके पकवान दान करते हैं, वे वायुके समान वेगवाले सफेद विमानोंपर बैठकर नाना प्राणियोंसे भरे हुए यमपुरकी यात्रा करते हैं ॥

पानीयं ये प्रयच्छन्ति सर्वभूतप्रजीवनम् ।
ते सुतृप्ताः सुखं यान्ति भवनैर्हंसबोदितैः ॥

जो समस्त प्राणियोंको जीवन देनेवाले जलका दान करते हैं, वे अत्यन्त तृप्त होकर हंस जुते हुए विमानोंद्वारा सुखपूर्वक धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

ये तिलं तिलधेनुं वा घृतधेनुमथापि वा ।
श्रोत्रियेभ्यः प्रयच्छन्ति सौम्यभावसमन्विताः ॥
सूर्यमण्डलसंकाशैर्यानैस्ते यान्ति निर्मलैः ।
गीयमानैस्तु गन्धर्वैर्वैवस्वतपुरं नृप ॥

राजन् ! जो लोग शान्तभावसे युक्त होकर श्रोत्रिय ब्राह्मणको तिल अथवा तिलकी गौ या घृतकी गौका दान करते हैं, वे सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी निर्मल विमानोंद्वारा गन्धर्वोंके गीत सुनते हुए यमराजके नगरमें जाते हैं ॥

तेषां वाप्यश्च कूपाश्च तटाकानि सरांसि च ।
दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च सजलाश्च जलाशयाः ॥
यानैस्ते यान्ति चन्द्राभैर्दिव्यघण्टानिनादितैः ।
चामरैस्तालवृन्तैश्च वीज्यमानाः महाप्रभाः ।
नित्यतृप्ता महात्मानो गच्छन्ति यमसादनम् ॥

जिन्होंने इस लोकमें बावड़ी, कुएँ, तालाब, पोखरे, पोखरियाँ और जलसे भरे हुए जलाशय बनवाये हैं, वे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और दिव्य घण्टानादसे निनादित विमानोंपर बैठकर यमलोकमें जाते हैं; उस समय वे महात्मा नित्य-तृप्त और महान् कान्तिमान् दिखायी देते हैं तथा दिव्यलोकके पुरुष उन्हें ताड़के पंखे और चँवर डुलाया करते हैं ॥

येषां देवगृहाणीह चित्राण्यायतनानि च ।
मनोहराणि कान्तानि दर्शनीयानि भान्ति च ॥
ते व्रजन्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वायुवेगिभिः ।
तत्पुरं प्रेतनाथस्य नानाजनपदाकुलम् ॥

जिनके बनवाये हुए देवमन्दिर यहाँ अत्यन्त चित्र-विचित्र, विस्तृत, मनोहर, सुन्दर और दर्शनीय रूपमें शोभा पाते हैं, वे सफेद बादलोंके समान कान्तिमान् एवं हवाके समान वेगवाले विमानोंद्वारा नाना जनपदोंसे युक्त यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

वैवस्वतं च पश्यन्ति सुखचित्तं सुखस्थितम् ।
यमेन पूजिता यान्ति देवसालोक्यतां ततः ॥

वहाँ जानेपर वे यमराजको प्रसन्नचित्त और सुखपूर्वक बैठे हुए देखते हैं तथा उनके द्वारा सम्मानित होकर देवलोकके निवासी होते हैं ॥

काष्ठपादुकदा यान्ति तदध्वानं सुखं नराः ।
सौवर्णमणिपीठे तु पादं कृत्वा रथोत्तमे ॥

खड़ाऊँ और जल दान करनेवाले मनुष्योंको उस मार्गमें सुख मिलता है । वे उत्तम रथपर बैठकर सोनेके पीढ़ेपर पैर रक्खे हुए यात्रा करते हैं ॥

आरामान् वृक्षषण्डांश्च रोपयन्ति च ये नराः ।
संवर्धयन्ति चाप्यग्रं फलपुष्पोपशोभितम् ॥
वृक्षच्छायासु रम्यासु शीतलासु स्वलंकृताः ।
यान्ति ते वाहनैर्दिव्यैः पूज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥

जो लोग बड़े-बड़े बगीचे बनवाते और उसमें वृक्षोंके पौधे रोपते हैं तथा शान्तिपूर्वक जलसे सींचकर उन्हें फल-फूलोंसे सुशोभित करके बढ़ाया करते हैं, वे दिव्य वाहनोंपर सवार हो आभूषणोंसे सज-धजकर वृक्षोंकी अत्यन्त रमणीय एवं शीतल छायामें होकर दिव्य पुरुषोंद्वारा बारंबार सम्मान पाते हुए यमलोकमें जाते हैं ॥

अश्वयानं तु गोयानं हस्तियानमथापि वा ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विमानैः कनकोपमैः ॥

जो ब्राह्मणोंको घोड़े, बैल अथवा हाथीकी सवारी दान करते हैं, वे सोनेके समान विमानोंद्वारा यमलोकमें जाते हैं ॥

भूमिदा यान्ति तं लोकं सर्वकामैः सुतर्पिताः ।
उदितादित्यसंकाशैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥

भूमिदान करनेवाले लोग समस्त कामनाओंसे तृप्त होकर बैल जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंके द्वारा उस लोककी यात्रा करते हैं ॥

सुगन्धागन्धसंयोगान् पुष्पाणि सुरभीणि च ।
प्रयच्छन्ति द्विजाग्र्येभ्यो भक्त्या परमया युताः ॥
सुगन्धाः सुष्ठुवेषाश्च सुप्रभाः स्रग्विभूषणाः ।
यान्ति धर्मपुरं यानैर्विचित्रैरप्यलंकृताः ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक सुगन्धित पदार्थ तथा पुष्प प्रदान करते हैं, वे सुगन्धपूर्ण सुन्दर वेष धारणकर उत्तम कान्तिसे देदीप्यमान हो सुन्दर हार पहने हुए विचित्र विमानोंपर बैठकर धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

दीपदा यान्ति यानैश्च द्योतयन्तो दिशो दश ।
आदित्यसदृशाकारैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ॥

दीप दान करनेवाले पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंसे दसों दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए साक्षात् अग्निके समान कान्तिमान् स्वरूपसे यात्रा करते हैं ॥

गृहावसथदातारो गृहैः काञ्चनवेदिकैः ।
व्रजन्ति बालसूर्याभैर्धर्मराजपुरं नराः ॥

जो घर एवं आश्रयस्थानका दान करनेवाले हैं, वे सोनेके चबूतरोंसे युक्त और प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाले गृहोंके साथ धर्मराजके नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

पादाभ्यङ्गं शिरोऽभ्यङ्गं पानं पादोदकं तथा ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते यान्त्यश्वैर्यमालयम् ॥

जो ब्राह्मणोंको पैरोंमें लगानेके लिये उबटन, सिरपर मलनेके लिये तेल, पैर धोनेके लिये जल और पीनेके लिये शर्बत देते हैं, वे घोड़ेपर सवार होकर यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

विश्रामयन्ति ये विप्राञ्श्रान्तानध्वनि कर्शितान् ।
चक्रवाकप्रयुक्तेन यान्ति यानेन तेऽपि च ॥

जो रास्तेके थके-माँदे दुर्बल ब्राह्मणोंको ठहरनेकी जगह देकर उन्हें आराम पहुँचाते हैं, वे चक्रवाकसे जुते हुए विमानपर बैठकर यात्रा करते हैं ॥

स्वागतेन च यो विप्रान् पूजयेदासनेन च ।
स गच्छति तदध्वानं सुखं परमनिर्वृतः ॥

जो घरपर आये हुए ब्राह्मणोंको स्वागतपूर्वक आसन देकर उनकी विधिवत् पूजा करते हैं, वे उस मार्गपर बड़े आनन्दके साथ जाते हैं ॥

नमः सर्वसहाभ्यश्चेत्यभिख्याय दिने दिने ।
नमस्करोति नित्यं गां स सुखं याति तत्पथम् ॥

जो प्रतिदिन 'नमः सर्वसहाभ्यश्च' ऐसा कहकर गौको नमस्कार करता है, वह यमपुरके मार्गपर सुखपूर्वक यात्रा करता है ॥

नमोऽस्तु विप्रदत्तायेत्येवंवादी दिने दिने ।
भूमिमाक्रमते प्रातः शयनादुत्थितश्च यः ॥
सर्वकामैः स तृप्तात्मा सर्वभूषणभूषितः ।
याति यानेन दिव्येन सुखं वैवस्वतालयम् ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर जो 'नमोऽस्तु विप्रदत्तायै' कहते हुए पृथ्वीपर पैर रखता है, वह सब कामनाओंसे तृप्त और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होकर दिव्य विमानके द्वारा सुखपूर्वक यमलोकको जाता है ॥

अनन्ताशिनो ये तु दम्भानृतविवर्जिताः ।
तेऽपि सारसयुक्तेन यान्ति यानेन वै सुखम् ॥

जो सबेरे और शामको भोजन करनेके सिवा बीचमें कुछ नहीं खाते तथा दम्भ और असत्यसे बचे रहते हैं, वे भी सारसयुक्त विमानके द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करते हैं ॥

ये चाप्येकेन भुक्तेन दम्भानृतविवर्जिताः ।
हंसयुक्तैर्विमानैस्तु सुखं यान्ति यमालयम् ॥

जो दिन-रातमें केवल एक बार भोजन करते हैं और दम्भ तथा असत्यसे दूर रहते हैं, वे हंसयुक्त विमानोंके द्वारा बड़े आरामके साथ यमलोकको जाते हैं ॥

चतुर्थेन च भुक्तेन वर्तन्ते ये जितेन्द्रियाः ।
यान्ति ते धर्मनगरं यानैर्बर्हिणयोजितैः ॥

जो जितेन्द्रिय होकर केवल चौथे वक्त अन्न ग्रहण करते हैं अर्थात् एक दिन उपवास करके दूसरे दिन शामको भोजन करते हैं, वे मयूरयुक्त विमानोंके द्वारा धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥

तृतीयदिवसेनेह भुञ्जते ये जितेन्द्रियाः ।
तेऽपि हस्तिरथैर्यान्ति तत्पथं कनकोज्ज्वलैः ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुष यहाँ तीसरे दिन भोजन करते हैं, वे भी सोनेके समान उज्ज्वल हाथीके रथपर सवार हो यमलोक जाते हैं ॥

षष्ठान्नकालिको यस्तु वर्षमेकं तु वर्तते ।
कामक्रोधविनिर्मुक्तः शुचिर्नित्यं जितेन्द्रियः ।
स याति कुञ्जरस्थैस्तु जयशब्दरवैर्युतः ॥

जो एक वर्षतक छः दिनके बाद भोजन करता है और काम-क्रोधसे रहित, पवित्र तथा सदा जितेन्द्रिय रहता है, वह हाथीके रथपर बैठकर जाता है, रास्तेमें उसके लिये जय-जयकारके शब्द होते रहते हैं ॥

पक्षोपवासिनो यान्ति यानैः शार्दूलयोजितैः ।
धर्मराजपुरं रम्यं दिव्यस्त्रीगणसेवितम् ॥

एक पक्ष उपवास करनेवाले मनुष्य सिंह-जुते हुए विमानके द्वारा धर्मराजके उस रमणीय नगरको जाते हैं, जो दिव्य स्त्रीसमुदायसे सेवित है ॥

ये च मासोपवासं वै कुर्वते संयतेन्द्रियाः ।
तेऽपि सूर्योदयप्रख्यैर्यान्ति यानैर्यमालयम् ॥

जो इन्द्रियोंको वशमें रखकर एक मासतक उपवास करते हैं, वे भी सूर्योदयकी भाँति प्रकाशित विमानोंके द्वारा यमलोकमें जाते हैं ॥

गोकृते स्त्रीकृते चैव हत्वा विप्रकृतेऽपि च ।
ते यान्त्यमरकन्याभिः सेव्यमाना रविप्रभाः ॥

जो गौओंके लिये, स्त्रीके लिये और ब्राह्मणके लिये अपने प्राण दे देते हैं, वे सूर्यके समान कान्तिमान् और देवकन्याओंसे सेवित हो यमलोककी यात्रा करते हैं ॥

ये यजन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
हंससारससंयुक्तैर्यानैस्ते यान्ति तत्पथम् ॥

जो श्रेष्ठ द्विज अधिक दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, वे हंस और सारसोंसे युक्त विमानोंके द्वारा उस मार्गपर जाते हैं ॥

परपीडामकृत्वैव भृत्यान् बिभ्रति ये नराः ।
तत्पथं ससुखं यान्ति विमानैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥

जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाये बिना ही अपने कुटुम्बका पालन करते हैं, वे सुवर्णमय विमानोंके द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[जल-दान, अन्न-दान और अतिथि-सत्कारका माहात्म्य]

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा यमपुराध्वानं जीवानां गमनं तथा ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यमपुरके मार्गका वर्णन तथा वहाँ जीवोंके (सुखपूर्वक) जानेका उपाय सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और भगवान् श्रीकृष्णसे फिर बोले—॥

देवदेवेश दैत्यघ्न ऋषिसंघैरभिष्टुत ।
भगवन् भवहञ्श्रीमन् सहस्रादित्यसंनिभ ॥

'देवदेवेश्वर ! आप सम्पूर्ण दैत्योंका वध करनेवाले हैं, ऋषियोंके समुदाय सदा आपकी ही स्तुति करते हैं, आप षडैश्वर्यसे युक्त, भवबन्धनसे मुक्ति देनेवाले, श्रीसम्पन्न और हजारों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं ॥

सर्वसम्भव धर्मज्ञ सर्वधर्मप्रवर्तक ।
सर्वदानफलं सौम्य कथयस्व ममाच्युत ॥

'धर्मज्ञ ! आपहीसे सबकी उत्पत्ति हुई है और आप ही सम्पूर्ण धर्मोंके प्रवर्तक हैं । शान्तस्वरूप अच्युत ! मुझे सब प्रकारके दानोंका फल बतलाइये' ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो धर्मपुत्रेण धीमता ।
उवाच धर्मपुत्राय पुण्यान् धर्मान् महोदयान् ॥

बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण धर्मपुत्रके प्रति महान् उन्नति करनेवाले पुण्यमय धर्मोंका वर्णन करने लगे—॥

पानीयं परमं लोके जीवानां जीवनं स्मृतम् ।
पानीयस्य प्रदानेन तृप्तिर्भवति पाण्डव ।
पानीयस्य गुणा दिव्याः परलोके गुणावहाः ॥

'पाण्डुनन्दन ! संसारमें जलको प्राणियोंका परम जीवन माना गया है, उसके दानसे जीवोंकी तृप्ति होती है । जलके गुण दिव्य हैं और वे परलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाले हैं ॥

तत्र पुष्पोदकी नाम नदी परमपावनी ।
कामान् ददाति राजेन्द्र तोयदानां यमालये ॥

'राजेन्द्र ! यमलोकमें पुष्पोदकी नामवाली परम पवित्र नदी है । वह जल दान करनेवाले पुरुषोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करती है ॥

शीतलं सलिलं ह्यत्र ह्यक्षय्यममृतोपमम् ।
शीततोयप्रदातॄणां भवेन्नित्यं सुखावहम् ॥

'उसका जल ठंडा, अक्षय और अमृतके समान मधुर है तथा वह ठंडे जलका दान करनेवाले लोगोंको सदा सुख पहुँचाता है ॥

प्रणश्यत्यम्बुपानेन बुभुक्षा च युधिष्ठिर ।
तृषितस्य न चान्नेन पिपासाभिप्रणश्यति ॥
तस्मात् तोयं सदा देयं तृषितेभ्यो विजानता ॥

'युधिष्ठिर ! जल पीनेसे भूख भी शान्त हो जाती है; किंतु प्यासे मनुष्यकी प्यास अन्नसे नहीं बुझती, इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह प्यासेको सदा पानी पिलाया करे ॥

अग्नेर्मूर्तिः क्षितेर्योनिरमृतस्य च सम्भवः ।
अतोऽम्भः सर्वभूतानां मूलमित्युच्यते बुधैः ॥

'जल अग्निकी मूर्ति है, पृथ्वीकी योनि (कारण) है और अमृतका उत्पत्तिस्थान है । इसलिये समस्त प्राणियोंका मूल जल है—ऐसा बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है ॥

अद्भिः सर्वाणि भूतानि जीवन्ति प्रभवन्ति च ।
तस्मात् सर्वेषु दानेषु तोयदानं विशिष्यते ॥

'सब प्राणी जलसे पैदा होते हैं और जलसे ही जीवन धारण करते हैं । इसलिये जलदान सब दानोंसे बढ़कर माना गया है ॥

ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्त्वन्नदानं सुसंस्कृतम् ।
तैस्तु दत्ताः स्वयं प्राणा भवन्ति भरतर्षभ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! जो लोग ब्राह्मणोंको सुपक्व अन्नदान करते हैं, वे मानो साक्षात् प्राण-दान करते हैं ॥

अन्नाद् रक्तं च शुक्रं च अन्ने जीवः प्रतिष्ठितः ।
इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्णन्त्यन्नेन नित्यशः ।
अन्नहीनानि सीदन्ति सर्वभूतानि पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! अन्नसे रक्त और वीर्य उत्पन्न होता है । अन्नमें ही जीव प्रतिष्ठित है । अन्नसे ही इन्द्रियोंका और बुद्धिका सदा पोषण होता है । बिना अन्नके समस्त प्राणी दुःखित हो जाते हैं ॥

तेजो बलं च रूपं च सत्त्वं वीर्यं धृतिर्द्युतिः ।
ज्ञानं मेधा तथाऽऽयुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥

'तेज, बल, रूप, सत्त्व, वीर्य, धृति, द्युति, ज्ञान, मेधा और आयु—इन सबका आधार अन्न ही है ॥

देवमानवतिर्यक्षु सर्वलोकेषु सर्वदा ।
सर्वकालं हि सर्वेषां अन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥

'समस्त लोकोंमें सदा रहनेवाले देवता, मनुष्य और तिर्यक् योनिके प्राणियोंमें सब समय सबके प्राण अन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥

अन्नं प्रजापते रूपमन्नं प्रजननं स्मृतम् ।
सर्वभूतमयं चान्नं जीवश्चान्नमयः स्मृतः ॥

'अन्न प्रजापतिका रूप है । अन्न ही उत्पत्तिका कारण है । इसलिये अन्न सर्वभूतमय है और समस्त जीव अन्नमय माने गये हैं ॥

अन्नेनाधिष्ठितः प्राण अपानो व्यान एव च ।
उदानश्च समानश्च धारयन्ति शरीरिणम् ॥

'प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण अन्नके ही आधारपर रहकर देहधारियोंको धारण करते हैं ॥

शयनोत्थानगमनग्रहणाकर्षणानि च ।
सर्वसत्त्वकृतं कर्म चान्नादेव प्रवर्तते ॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा किये जानेवाले सोना, उठना, चलना, ग्रहण करना, खींचना आदि कर्म अन्नसे ही चलते हैं ॥

चतुर्विधानि भूतानि जंगमानि स्थिराणि च ।
अन्नाद् भवन्ति राजेन्द्र सृष्टिरेषा प्रजापतेः ॥

'राजेन्द्र ! चारों प्रकारके चराचर प्राणी, जो यह प्रजापतिकी सृष्टि है, अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं ॥

विद्यास्थानानि सर्वाणि सर्वयज्ञाश्च पावनाः ।
अन्नाद् यस्मात् प्रवर्तन्ते तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥

'समस्त विद्यालय और पवित्र बनानेवाले सम्पूर्ण यज्ञ अन्नसे ही चलते हैं । इसलिये अन्न सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥

देवा रुद्रादयः सर्वे पितरोऽप्यग्नयस्तथा ।
यस्मादन्नेन तुष्यन्ति तस्मादन्नं विशिष्यते ॥

'रुद्र आदि सभी देवता, पितर और अग्नि अन्नसे ही संतुष्ट होते हैं; इसलिये अन्न सबसे बढ़कर है ॥

यस्मादन्नात् प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत् प्रभुः ।
तस्मादन्नात् परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

'शक्तिशाली प्रजापतिने प्रत्येक कल्पमें अन्नसे ही सारी प्रजाकी सृष्टि की है; इसलिये अन्नसे बढ़कर न कोई दान हुआ है और न होगा ॥

यस्मादन्नात् प्रवर्तन्ते धर्मार्थौ काम एव च ।
तस्मादन्नात् परं दानं नामुत्रेह च पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह अन्नसे ही होता है । अतः इस लोक या परलोकमें अन्नसे बढ़कर कोई दान नहीं है ॥

यक्षरक्षोग्रहा नागा भूतान्यन्ये च दानवाः ।
तुष्यन्त्यन्नेन यस्मात् तु तस्मादन्नं परं भवेत् ॥

'यक्ष, राक्षस, ग्रह, नाग, भूत और दानव भी अन्नसे ही संतुष्ट होते हैं; इसलिये अन्नका महत्त्व सबसे बढ़कर है ॥

ब्राह्मणाय दरिद्राय योऽन्नं संवत्सरं नृप ।
श्रोत्रियाय प्रयच्छेद् वै पाकभेदविवर्जितः ॥
दम्भानृतविमुक्तस्तु परां भक्तिमुपागतः ।
स्वधर्मेणार्जितफलं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'राजन् ! जो मनुष्य दम्भ और असत्यका परित्याग करके मुझमें परम भक्ति रखकर रसोईमें भेद न करते हुए दरिद्र एवं श्रोत्रिय ब्राह्मणको एक वर्षतक अपने द्वारा धर्मपूर्वक उपार्जित अन्नका दान करता है, उसके पुण्यके फलको सुनो ॥

शतवर्षसहस्राणि कामगः कामरूपधृक् ।
मोदतेऽमरलोकस्थः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥
ततश्चापि च्युतः कालान्नरलोके द्विजो भवेत् ॥

'वह एक लाख वर्षतक बड़े सम्मानके साथ देवलोकमें निवास करता है तथा वहाँ इच्छानुसार रूप धारण करके यथेष्ट विचरता रहता है एवं अप्सराओंका समुदाय उसका सत्कार करता है । फिर समयानुसार पुण्य क्षीण हो जानेपर जब वह स्वर्गसे नीचे उतरता है, तब मनुष्यलोकमें ब्राह्मण होता है ॥

अग्रभिक्षां च यो दद्याद् दरिद्राय द्विजातये ।
षण्मासान् वार्षिकं श्राद्धं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'जो छः महीने या वार्षिक श्राद्धपर्यन्त प्रतिदिनकी पहली भिक्षा दरिद्र ब्राह्मणको देता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥

गोसहस्रप्रदानेन यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
तत् पुण्यफलमाप्नोति नरो वै नात्र संशयः ॥

'एक हजार गोदानका जो पुण्यफल बताया गया है, वह उसी पुण्यके समान फल पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥

अध्वश्रान्ताय विप्राय क्षुधितायान्नकाङ्क्षिणे ।
देशकालाभियाताय दीयते पाण्डुनन्दन ॥

'पाण्डुनन्दन ! देश-कालके अनुसार प्राप्त एवं रास्ता चलकर थके-माँदे आये हुए भूखे और अन्न चाहनेवाले ब्राह्मणको अन्नदान करना चाहिये ॥

यस्तु पांसुलपादश्च दूराध्वश्रमकर्शितः ।
क्षुत्पिपासाश्रमश्रान्त आर्तः खिन्नगतिर्द्विजः ॥
पृच्छन् वै ह्यन्नदातारं गृहमभ्येत्य याचयेत् ।
तं पूजयेत् तु यत्नेन सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
तस्मिंस्तुष्टे नरश्रेष्ठ तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥

'जो दूरका रास्ता तय करनेके कारण दुर्बल तथा भूख-प्यास और परिश्रमसे थका-माँदा हो, जिसके पैर बड़ी कठिनतासे आगे बढ़ते हों तथा जो बहुत पीड़ित हो रहा हो, ऐसा ब्राह्मण अन्नदाताका पता पूछता हुआ धूलभरे पैरोंसे यदि घरपर आकर अन्नकी याचना करे तो यत्नपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वह अतिथि स्वर्गका सोपान होता है । नरश्रेष्ठ ! उसके संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट हो जाते हैं ॥

न तथा हविषा होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिपूजनात् ॥

'पार्थ ! अतिथिकी पूजा करनेसे अग्निदेवको जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी हविष्यसे होम करने और फूल तथा चन्दन चढ़ानेसे भी नहीं होती ॥

देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टापमार्जनम् ।
श्रान्तसंवाहनं चैव तथा पादावसेचनम् ॥
प्रतिश्रयप्रदानं च तथा शय्यासनस्य च ।
एकैकं पाण्डवश्रेष्ठ गोप्रदानाद् विशिष्यते ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! देवताके ऊपर चढ़ी हुई पत्र-पुष्प आदि पूजन-सामग्रीको हटाकर उस स्थानको साफ करना, ब्राह्मणके जूठे किये हुए बर्तन और स्थानको माँज-धो देना, थके हुए ब्राह्मणका पैर दबाना, उसके चरण धोना, उसे रहनेके लिये घर, सोनेके लिये शय्या और बैठनेके लिये आसन देना—इनमेंसे एक-एक कार्यका महत्त्व गोदानसे बढ़कर है ॥

पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥

'जो मनुष्य ब्राह्मणोंको पैर धोनेके लिये जल, पैरमें लगानेके लिये घी, दीपक, अन्न और रहनेके लिये घर देते हैं, वे कभी यमलोकमें नहीं जाते ॥

विप्रातिथ्ये कृते राजन् भक्त्या शुश्रूषितेऽपि च।
देवाः शुश्रूषिताः सर्वे त्रयस्त्रिंशदरिंदम ॥

'शत्रुदमन ! राजन् ! ब्राह्मणका आतिथ्य-सत्कार तथा भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करनेसे समस्त तैंतीसों देवताओंकी सेवा हो जाती है ॥

अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते ।
तयोः पूजां द्विजः कुर्यादिति पौराणिकी श्रुतिः ॥

'पहलेका परिचित मनुष्य यदि घरपर आवे तो उसे अभ्यागत कहते हैं और अपरिचित पुरुष अतिथि कहलाता है। द्विजोंको इन दोनोंकी ही पूजा करनी चाहिये। यह पञ्चम वेद—पुराणकी श्रुति है ॥

पादाभ्यङ्गान्नपानैस्तु योऽतिथिं पूजयेन्नरः ।
पूजितस्तेन राजेन्द्र भवामीह न संशयः ॥

'राजेन्द्र ! जो मनुष्य अतिथिके चरणोंमें तेल मलकर, उसे भोजन कराकर और पानी पिलाकर उसकी पूजा करता है, उसके द्वारा मेरी भी पूजा हो जाती है—इसमें संशय नहीं है ॥

शीघ्रं पापाद् विनिर्मुक्तो मया चानुग्रहीकृतः ।
विमानेनेन्दुकल्पेन मम लोकं स गच्छति ॥

'वह मनुष्य तुरंत सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है और मेरी कृपासे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल विमानपर आरूढ़ होकर मेरे परमधामको पधारता है ॥

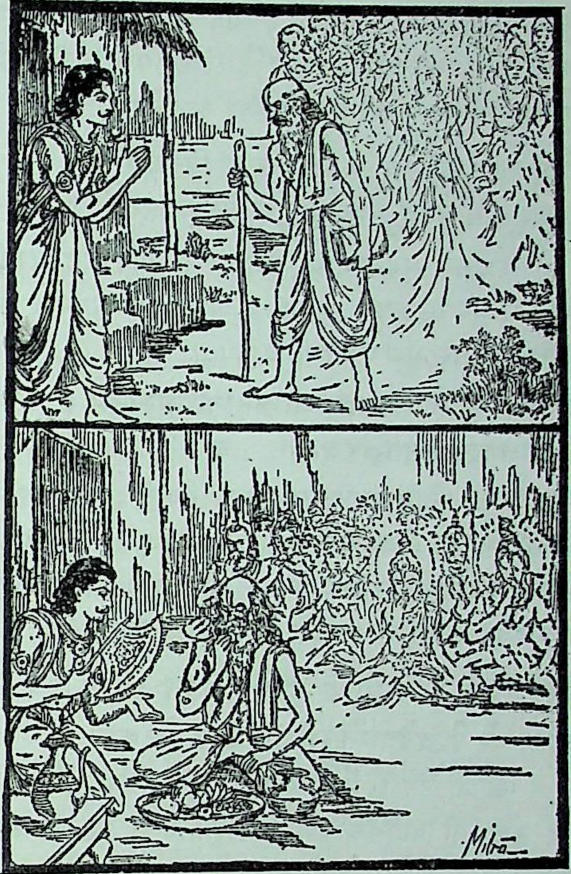
अभ्यागतं श्रान्तमनुव्रजन्ति
देवाश्च सर्वे पितरोऽग्नयश्च ।
तस्मिन् द्विजे पूजिते पूजिताः स्यु-
र्गते निराशाः पितरो व्रजन्ति ॥

'थका हुआ अभ्यागत जब घरपर आता है, तब उसके पीछे-पीछे समस्त देवता, पितर और अग्नि भी पदार्पण करते हैं। यदि उस अभ्यागत द्विजकी पूजा हुई तो उसके साथ उन देवता आदिकी भी पूजा हो जाती है और उसके निराश लौटनेपर वे देवता, पितर आदि भी हताश होकर लौट जाते हैं ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च ॥

'जिसके घरसे अतिथिको निराश होकर लौटना पड़ता है, उसके पितर पंद्रह वर्षोंतक भोजन नहीं करते ॥

निर्वासयति यो विप्रं देशकालागतं गृहात् ।
पतितस्तत्क्षणादेव जायते नात्र संशयः ॥



'जो देश-कालके अनुसार घरपर आये हुए ब्राह्मणको वहाँसे बाहर कर देता है, वह तत्काल पतित हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है ॥

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया ।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा ॥

'यदि देश-कालके अनुसार अन्नकी इच्छासे चाण्डाल भी अतिथिके रूपमें आ जाय तो गृहस्थ पुरुषको सदा उसका सत्कार करना चाहिये ॥

मोघं ध्रुवं प्रोर्णयति मोघमस्य तु पच्यते ।
मोघमन्नं सदाश्नाति योऽतिथिं न च पूजयेत् ॥

'जो अतिथिका सत्कार नहीं करता, उसका ऊनी वस्त्र ओढ़ना, अपने लिये रसोई बनवाना और भोजन करना—सब कुछ निश्चय ही व्यर्थ है ॥

साङ्गोपाङ्गांस्तु यो वेदान् पठतीह दिने दिने ।
न चातिथिं पूजयति वृथा भवति स द्विजः ॥

'जो प्रतिदिन साङ्गोपाङ्ग वेदोंका स्वाध्याय करता है, किंतु अतिथिकी पूजा नहीं करता, उस द्विजका जीवन व्यर्थ है ॥

पाकयज्ञमहायज्ञैः सोमसंस्थाभिरेव च ।
ये यजन्ति न चार्चन्ति गृहेष्वतिथिमागतम् ॥
तेषां यशोऽभिकामानां दत्तमिष्टं च यद् भवेत्।
वृथा भवति तत् सर्वमाशया हि तया हतम् ॥

'जो लोग पाक-यज्ञ, पञ्चमहायज्ञ तथा सोमयाग आदिके द्वारा यजन करते हैं, परंतु घरपर आये हुए अतिथिका

सत्कार नहीं करते, वे यज्ञकी इच्छासे जो कुछ दान या यज्ञ करते हैं, वह सब व्यर्थ हो जाता है । अतिथिकी मारी गयी आशा मनुष्यके समस्त शुभ कर्मोंका नाश कर देती है ॥

देशं कालं च पात्रं च स्वशक्तिं च निरीक्ष्य च ।
अल्पं समं महद् वापि कुर्यादातिथ्यमात्मवान् ॥

'इसलिये श्रद्धालु होकर देश, काल, पात्र और अपनी शक्तिका विचार करके अल्प, मध्यम अथवा महान् रूपमें अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये ॥

सुमुखः सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम् ।
स्वागतेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन च पूजयेत् ॥

'जब अतिथि अपने द्वारपर आवे, तब बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए मुखसे अतिथिका स्वागत करे तथा बैठनेको आसन और चरण धोनेके लिये जल देकर अन्न-पान आदिके द्वारा उसकी पूजा करे ॥

हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा ।
प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥

'अपना हितैषी, प्रेमपात्र, द्वेषी, मूर्ख अथवा पण्डित—जो कोई भी बलिवैश्वदेवके बाद आ जाय, वह स्वर्गतक पहुँचानेवाला अतिथि है ॥

क्षुत्पिपासाश्रमार्ताय देशकालागताय च ।
सत्कृत्यान्नं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छता ॥

'जो यज्ञका फल पाना चाहता हो, वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दुखी तथा देश-कालके अनुसार प्राप्त हुए अतिथिको सत्कारपूर्वक अन्न प्रदान करे ॥

भोजयेदात्मनः श्रेष्ठान् विधिवद् हव्यकव्ययोः ।
अन्नं प्राणो मनुष्याणामन्नदः प्राणदो भवेत् ॥
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

'यज्ञ और श्राद्धमें अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको विधिवत् भोजन कराना चाहिये । अन्न मनुष्योंका प्राण है, अन्न देनेवाला प्राणदाता होता है; इसलिये कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको विशेषरूपसे अन्न-दान करना चाहिये ॥

अन्नदः सर्वकामैस्तु सुतृप्तः सुष्ठ्वलंकृतः ।
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीभिर्देवलोकं स गच्छति ।

'अन्न प्रदान करनेवाला मनुष्य सब भोगोंसे तृप्त होकर भलीभाँति आभूषणोंसे सम्पन्न हुआ पूर्ण चन्द्रमाके प्रकाशसे प्रकाशित विमानद्वारा देवलोकमें जाता है । वहाँ सुन्दर स्त्रियोंद्वारा उसकी सेवा की जाती है ॥

क्रीडित्वा तु ततस्तस्मिन् वर्षकोटिं यथामरः ॥
ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके महायशाः ।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'वहाँ करोड़ वर्षोंतक देवताओंके समान भोग भोगनेके बाद समयपर वहाँसे गिरकर यहाँ महायशस्वी और वेद-शास्त्रोंके अर्थ और तत्त्वको जाननेवाला भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है ॥

यथाश्रद्धं तु यः कुर्यान्मनुष्येषु प्रजायते ।
महाधनपतिः श्रीमान् वेदवेदाङ्गपारगः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अतिथि-सत्कार करता है, वह मनुष्योंमें महान् धनवान्, श्रीमान्, वेद-वेदाङ्गका पारदर्शी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ और तत्त्वका ज्ञाता एवं भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है ॥

सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् वर्षमेकमकल्मषः ।
धर्मार्जितधनो भूत्वा पाकभेदविवर्जितः ॥

'जो मनुष्य धर्मपूर्वक धनका उपार्जन करके भोजनमें भेद न रखते हुए एक वर्षतक सबका अतिथि-सत्कार करता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् यथाश्रद्धं नरेश्वर ।
अकालनियमेनापि सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥
सत्यसंधो जितक्रोधः शाखाधर्मविवर्जितः ।
अधर्मभीरुर्धर्मिष्ठो मायामात्सर्यवर्जितः ॥
श्रद्दधानः शुचिर्नित्यं पाकभेदविवर्जितः ।
स विमानेन दिव्येन दिव्यरूपी महायशाः ॥
पुरंदरपुरं याति गीयमानोऽप्सरोगणैः ।

'नरेश्वर ! जो सत्यवादी जितेन्द्रिय पुरुष समयका नियम न रखकर सभी अतिथियोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करता है, जो सत्यप्रतिज्ञ है, जिसने क्रोधको जीत लिया है, जो शाखाधर्मसे रहित, अधर्मसे डरनेवाला और धर्मात्मा है, जो माया और मत्सरतासे रहित है, जो भोजनमें भेदभाव नहीं करता तथा जो नित्य पवित्र और श्रद्धासम्पन्न रहता है; वह दिव्य विमान-के द्वारा इन्द्रलोकमें जाता है । वहाँ वह दिव्यरूपधारी और महायशस्वी होता है। अप्सराएँ उसके यशका गान करती हैं ॥

मन्वन्तरं तु तत्रैव क्रीडित्वा देवपूजितः ।
मानुष्यलोकमागम्य भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

'वह एक मन्वन्तरतक वहीं देवताओंसे पूजित होता है और क्रीड़ा करता रहता है । उसके बाद मनुष्यलोकमें आकर भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है' ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भूमि-दान, तिल-दान और उत्तम ब्राह्मणकी महिमा]

श्रीभगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानमनुत्तमम् ॥
यः प्रयच्छति विप्राय भूमिं रम्यां सदक्षिणाम् ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय साग्निहोत्राय पाण्डव ॥

स सर्वकामतृप्तात्मा सर्वरत्नविभूषितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीप्यमानोऽर्कवत् तदा ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—पाण्डुनन्दन ! अब मैं सबसे उत्तम भूमिदानका वर्णन करता हूँ । जो मनुष्य रमणीय भूमिका दक्षिणाके साथ श्रोत्रिय अग्निहोत्री दरिद्र ब्राह्मणको दान देता है, वह उस समय सभी भोगोंसे तृप्त, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित एवं सब पापोंसे मुक्त हो सूर्यके समान देदीप्यमान होता है ॥

बालसूर्यप्रकाशेन विचित्रध्वजशोभिना ।
याति यानेन दिव्येन मम लोकं महायशाः ॥

वह महायशस्वी पुरुष प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रकाशित, विचित्र ध्वजाओंसे सुशोभित दिव्य विमानके द्वारा मेरे लोकमें जाता है ॥

न हि भूमिप्रदानाद् वै दानमन्यद् विशिष्यते ।
न चापि भूमिहरणात् पापमन्यद् विशिष्यते ॥

क्योंकि भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है और भूमि छीन लेनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं है ॥

दानान्यन्यानि हीयन्ते कालेन कुरुपुङ्गव ।
भूमिदानस्य पुण्यस्य क्षयो नैवोपपद्यते ॥

कुरुश्रेष्ठ ! दूसरे दानोंके पुण्य समय पाकर क्षीण हो जाते हैं, किंतु भूमिदानके पुण्यका कभी भी क्षय नहीं होता॥

सुवर्णमणिरत्नानि धनानि च वसूनि च ।
सर्वदानानि वै राजन् ददाति वसुधां ददत् ॥

राजन् ! पृथ्वीका दान करनेवाला मानो सुवर्ण, मणि, रत्न, धन और लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थोंका दान करता है ॥

सागरान् सरितः शैलान् समानि विषमाणि च ।
सर्वगन्धरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥

भूमि-दान करनेवाला मनुष्य मानो समस्त समुद्रोंको, सरिताओंको, पर्वतोंको, सम-विषम प्रदेशोंको, सम्पूर्ण गन्ध और रसोंको देता है ॥

ओषधीः फलसम्पन्ना नानापुष्पसमन्विताः ।
कमलोत्पलषण्डांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥

पृथ्वीका दान करनेवाला मनुष्य मानो नाना प्रकारके पुष्पों और फलोंसे युक्त वृक्षोंका तथा कमल और उत्पलोंके समूहोंका दान करता है ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्ये यजन्ते सदक्षिणैः ।
न तत् फलं लभन्ते ते भूमिदानस्य यत् फलम् ॥

जो लोग दक्षिणासे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करते हैं, वे भी उस फलको नहीं पाते, जो भूमि-दानका फल है ॥

सस्यपूर्णां महीं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति ।
पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

जो मनुष्य श्रोत्रिय ब्राह्मणको धानसे भरे हुए खेतकी भूमि दान करता है, उसके पितर महाप्रलयकालतक तृप्त रहते हैं ॥

मम रुद्रस्य सवितुस्त्रिदशानां तथैव च ।
प्रीतये विद्धि राजेन्द्र भूमिर्दत्ता द्विजाय वै ॥

राजेन्द्र ! ब्राह्मणको भूमि-दान करनेसे सब देवता, सूर्य, शङ्कर और मैं—ये सभी प्रसन्न होते हैं ऐसा समझो ॥

तेन पुण्येन पूतात्मा दाता भूमेर्युधिष्ठिर ।
मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥

युधिष्ठिर ! भूमि-दानके पुण्यसे पवित्रचित्त हुआ दाता मेरे परम धाममें निवास करता है—इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥

यत्किंचित् कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः ।
स च गोकर्णमात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥

मनुष्य जीविकाके अभावमें जो कुछ पाप करता है, उससे गोकर्णमात्र भूमि-दान करनेपर भी छुटकारा पा जाता है ॥

मासोपवासे यत् पुण्यं कृच्छ्रे चान्द्रायणेऽपि च ।
भूमिगोकर्णमात्रेण तत् पुण्यं तु विधीयते ॥

एक महीनेतक उपवास, कृच्छ्र और चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्य होता है, वह गोकर्णमात्र भूमि-दान करनेसे हो जाता है ॥

सर्वतीर्थाभिषेके च यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
भूमिगोकर्णमात्रेण तत् पुण्यं तु विधीयते ॥

सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, वह सारा पुण्य गोकर्णमात्र भूमिका दान करनेसे प्राप्त हो जाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु वासुदेव सुरेश्वर ।
गोकर्णस्य प्रमाणं वै वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवेश्वर श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है । सुरेश्वर ! मुझे गोकर्णमात्र भूमिका ठीक-ठीक माप बतलानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु गोकर्णमात्रस्य प्रमाणं पाण्डुनन्दन ।
त्रिंशद्दण्डप्रमाणेन प्रमितं सर्वतो दिशम् ॥
प्रत्यक् प्रागपि राजेन्द्र तत् तथा दक्षिणोत्तरम् ।
गोकर्णं तद्विदः प्राहुः प्रमाणं धरणेर्नृप ॥

श्रीभगवान् बोले—नृपश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! गोकर्णमात्र भूमिका प्रमाण सुनो । पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिण चारों ओर तीस-तीस दण्ड* नापनेसे जितनी भूमि होती है, उसको भूमिके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष गोकर्ण-मात्र भूमिका माप बताते हैं ॥

* एक पुरुष अर्थात् चार हाथके नापको दण्ड कहते हैं ।

सवृषं गोशतं यत्र सुखं तिष्ठत्ययन्त्रितम्।
सवत्सं कुरुशार्दूल तच्च गोकर्णमुच्यते ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जितनी भूमिमें खुली हुई सौ गौएँ बैलों और बछड़ोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें, उतनी भूमिको भी गोकर्ण कहते हैं ॥

किंकरा मृत्युदण्डाश्च कुम्भीपाकाश्च दारुणाः।
घोराश्च वारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥
निरया रौरवाद्याश्च तथा वैतरणी नदी।
तीव्राश्च यातनाः कष्टा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥

भूमिका दान करनेवाले पुरुषके पास यमराजके दूत नहीं फटकने पाते। मृत्युके दण्ड, दारुण कुम्भीपाक, भयानक वरुणपाश, रौरव आदि नरक, वैतरणी नदी और कठोर यम-यातनाएँ भी भूमिदान करनेवालोंको नहीं सतातीं ॥

चित्रगुप्तः कलिः कालः कृतान्तो मृत्युरेव च।
यमश्च भगवान् साक्षात् पूजयन्ति महीप्रदम् ॥

चित्रगुप्त, कलि, काल, कृतान्त, मृत्यु और साक्षात् भगवान् यम भी भूमिदान करनेवालेका आदर करते हैं ॥

रुद्रः प्रजापतिः शक्रः सुरा ऋषिगणास्तथा।
अहं च प्रीतिमान् राजन् पूजयामो महीप्रदम् ॥

राजन् ! रुद्र, प्रजापति, इन्द्र, देवता, ऋषिगण और स्वयं मैं—ये सभी प्रसन्न होकर भूमिदाताका आदर करते हैं।

कृशभृत्यस्य कृशगोः कृशाश्वस्य कृतातिथेः।
भूमिर्देया नरश्रेष्ठ स निधिः पारलौकिकः ॥

नरश्रेष्ठ ! जिसके कुटुम्बके लोग जीविकाके अभावसे दुर्बल हो गये हों, जिसकी गौएँ और घोड़े भी दुबले-पतले दिखायी देते हों तथा जो सदा अतिथि-सत्कार करनेवाला हो, ऐसे ब्राह्मणको भूमि-दान देना चाहिये; क्योंकि वह परलोकके लिये खजाना है ॥

सीदमानकुटुम्बाय श्रोत्रियायाग्निहोत्रिणे।
व्रतस्थाय दरिद्राय भूमिर्देया नराधिप ॥

नरेश्वर ! जिसके कुटुम्बीजन कष्ट पा रहे हों—ऐसे श्रोत्रिय, अग्निहोत्री, व्रतधारी एवं दरिद्र ब्राह्मणको भूमि देनी चाहिये ॥

यथा हि धात्री क्षीरेण पुत्रं वर्धयति स्वयम्।
दातारमनुगृह्णाति दत्ता ह्येवं वसुन्धरा ॥

जैसे धाय अपना दूध पिलाकर पुत्रका पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार दानमें दी हुई भूमि दातापर अनुग्रह करती है ॥

यथा बिभर्ति गौर्वत्सं सृजन्ती क्षीरमात्मनः।
तथा सर्वगुणोपेता भूमिर्वहति भूमिदम् ॥

जैसे गौ अपना दूध पिलाकर बछड़ेका पालन करती है, वैसे ही सर्वगुणसम्पन्न भूमि अपने दाताका कल्याण करती है ॥

यथा बीजानि रोहन्ति जलसिक्तानि भूपते।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदस्य दिने दिने ॥

भूपाल ! जिस प्रकार जलसे सींचे हुए बीज अङ्कुरित होते हैं, वैसे ही भूमिदाताके मनोरथ प्रतिदिन पूर्ण होते रहते हैं ॥

यथा तेजस्तु सूर्यस्य तमः सर्वं व्यपोहति।
तथा पापं नरस्येह भूमिदानं व्यपोहति ॥

जैसे सूर्यका तेज समस्त अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार यहाँ भूमि-दान मनुष्यके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर डालता है ॥

आश्रुत्य भूमिदानं तु दत्त्वा यो वा हरेत् पुनः।
स बद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जो भूमि-दानकी प्रतिज्ञा करके नहीं देता अथवा देकर फिर छीन लेता है, उसे वरुणके पाशसे बाँधकर पीब और रक्तसे भरे हुए नरक-कुण्डमें डाला जाता है ॥

स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
न तस्य नरकाद् घोराद् विद्यते निष्कृतिः क्वचित् ॥

जो अपने या दूसरेकी दी हुई भूमिका अपहरण करता है, उसके लिये नरकसे उद्धार पानेका कोई उपाय नहीं है ॥

दत्त्वा भूमिं द्विजेन्द्राणां यस्तामेवोपजीवति।
स मूढो याति दुष्टात्मा नरकानेकविंशतिम्।
नरकेभ्यो विनिर्मुक्तः शुनां योनिं स गच्छति ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भूमिका दान करके उसीसे अपनी जीविका चलाता है, वह दुष्टात्मा मूर्ख इक्कीस नरकोंमें गिरता है। फिर नरकोंसे निकलकर कुत्तोंकी योनिको प्राप्त होता है ॥

हलकृष्टा मही देया सबीजा सस्यमालिनी।
अथवा सोदका देया दरिद्राय द्विजातये ॥

जिसमें हलसे जोतकर बीज बो दिये गये हों तथा जहाँ हरी-भरी खेती लहलहा रही हो, ऐसी भूमि दरिद्र ब्राह्मणको देनी चाहिये अथवा जहाँ जलका सुभीता हो, वह भूमि दानमें देनी चाहिये ॥

एवं दत्ता मही राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
सर्वान् कामानवाप्नोति मनसा चिन्तितानि च ॥

राजन् ! इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर मनुष्य यदि पृथ्वीका दान करे तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त करता है ॥

बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च नराधिपैः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥

बहुत-से राजाओंने इस पृथ्वीको दानमें दिया है और बहुत-से अभी दे रहे हैं। वह भूमि जब जिसके अधिकारमें

रहती है, उस समय वही उसे दानमें देता है और उसके फलका भागी होता है ॥

यश्च रूप्यं प्रयच्छेद् वै दरिद्राय द्विजातये ।
कृशवृत्तेः कृशगवे स मुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता ।
कामरूपी यथाकामं स्वर्गलोके महीयते ॥

जिसकी जीविका क्षीण और गौएँ दुर्बल हो गयी हैं, ऐसे दरिद्र ब्राह्मणको जो चाँदी दान करता है, वह सब पापोंसे छूटकर और सुन्दर रूप धारण करके पूर्णिमाके चन्द्रमाके प्रकाशके समान प्रकाशित विमानके द्वारा इच्छानुसार स्वर्गलोकमें महिमान्वित होता है ॥

ततोऽवतीर्णः कालेन लोकेऽस्मिन् महायशाः ।
सर्वलोकार्चितः श्रीमान् राजा भवति वीर्यवान् ॥

फिर पुण्यका क्षय होनेपर समयानुसार वहाँसे उतरकर इस लोकमें सम्पूर्ण लोगोंसे पूजित, धनवान्, महायशस्वी और महापराक्रमी राजा होता है ॥

तिलपर्वतकं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति ।
विशेषेण दरिद्राय तस्यापि शृणु यत् फलम् ॥

जो श्रोत्रिय ब्राह्मणको—विशेषतः दरिद्रको तिलका पर्वत दान करता है, उसको जो फल मिलता है; वह सुनो ॥

पुण्यं वृषायुतोत्सर्गे यत् प्रोक्तं पाण्डुनन्दन ।
तत् पुण्यं समनुप्राप्य तत्क्षणाद् विरजा भवेत्॥

पाण्डुनन्दन ! दस हजार वृषोत्सर्गका जो पुण्यफल कहा गया है, उस पुण्यको वह प्राप्त करके तत्काल निष्पाप हो जाता है ॥

यथा त्वचं भुजङ्गो वै त्यक्त्वा शुद्धतनुर्भवेत् ।
तथा तिलप्रदानाद् वै पापं त्यक्त्वा विशुद्ध्यति॥

जैसे साँप केंचुलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तिल-दान करनेवाला मनुष्य पापोंसे मुक्त हो शुद्ध हो जाता है ॥

तिलषण्डं प्रयुञ्जानो जाम्बूनदविभूषितम् ।
विमानं दिव्यमारूढः पितृलोके महीयते ॥

तिलके ढेरका दान करनेवाला स्वर्णभूषित दिव्य विमानपर आरूढ़ हो पितृलोकमें सम्मानित होता है ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि कामरूपी महायशाः ।
तिलप्रदाता रमते पितृलोके यथासुखम् ॥

वह तिलका दान करनेवाला मनुष्य महान् यश और इच्छानुकूल रूप धारण करनेकी शक्ति पाकर साठ हजार वर्षोंतक पितृलोकमें सुख और आनन्द भोगता है ॥

तिलं गावः सुवर्णं चाप्यन्नं कन्या वसुन्धरा ।
तारयन्तीह दत्तानि ब्राह्मणेभ्यो महाभुज ॥

महाबाहो ! तिल, गौ, सोना, अन्न, कन्या और पृथ्वी —इतने पदार्थ यदि ब्राह्मणोंको दिये जायँ तो ये दाताका उद्धार कर देते हैं ॥

ब्राह्मणं वृत्तसम्पन्नमाहिताग्निमलोलुपम् ।
तर्पयेद् विधिवद् राजन् स निधिः पारलौकिकः ॥

सदाचारसम्पन्न, अग्निहोत्री तथा अलोलुप ब्राह्मणकी विधिवत् पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वह परलोकमें काम देनेवाला खजाना है ॥

व्याहिताग्निं दरिद्रं च श्रोत्रियं च जितेन्द्रियम् ।
शूद्रान्नवर्जितं चैव द्विजं यत्नेन पूजयेत् ॥

जो ब्राह्मण वेदका विद्वान्, अग्निहोत्रपरायण, जितेन्द्रिय, शूद्रके अन्नसे दूर रहनेवाला और दरिद्र हो, उसकी यत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥

आहिताग्निः सदा पात्रमग्निहोत्री च वेदवित् ।
पात्राणामपि तत्पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे ॥

नित्य अग्निहोत्र करनेवाला वेदवेत्ता ब्राह्मण दानका सदा पात्र है । जिसके पेटमें शूद्रका अन्न नहीं जाता, वह पात्रोंमें भी उत्तम पात्र है ॥

यच्च वेदमयं पात्रं यच्च पात्रं तपोमयम् ।
असंकीर्णं च यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति ॥

जो वेदसम्पन्न पात्र है, जो तपोमय पात्र है और जो किसीका भी भोजन न करनेवाला पात्र है, वह पवित्र पात्र दाताका उद्धार कर देता है ॥

नित्यस्वाध्यायनिरतास्त्वसंकीर्णेन्द्रियाश्च ये ।
पञ्चयज्ञपरा नित्यं पूजितास्तारयन्ति ते ॥

जो ब्राह्मण नित्य स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, जो सदा ही पञ्च महायज्ञ करनेमें तत्पर रहते हैं, वे पूजा करनेवालेका उद्धार कर देते हैं ॥

ये क्षान्तिदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः ।
प्रतिग्रहे संकुचिता गृहस्था-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥

जो क्षमाशील, संयतचित्त और जितेन्द्रिय हैं, जिनके कान वेदवाणीसे भरे हुए हैं, जो प्राणियोंकी हत्यासे निवृत्त हो चुके हैं और जिनको दान लेनेमें संकोच होता है, ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण दाताका उद्धार करनेमें समर्थ हैं ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी ।
ऋतौ गच्छन् विधिवच्चापि जुह्वत्
स ब्राह्मणस्तारयितुं समर्थः ॥

जो प्रतिदिन तर्पण करनेवाला, सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहनेवाला, नित्यप्रति स्वाध्यायपरायण, शूद्रका अन्न न खानेवाला, ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीसे समागम करनेवाला और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला हो, वह ब्राह्मण दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है ॥

ब्राह्मणो यस्तु मद्भक्तो मद्भागी मत्परायणः।
मयि संन्यस्तकर्मा च स विप्रस्तारयेद् ध्रुवम् ॥

जो ब्राह्मण मेरा भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाला, मेरे भजनमें परायण और मुझे ही कर्मफलोंको अर्पण करनेवाला है, वह ब्राह्मण अवश्य संसार-समुद्रसे तार सकता है ॥

द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् ।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स विप्रस्तारयिष्यति ॥

जो द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का तत्त्वज्ञ है, जो चतुर्व्यूहके विभागको जाननेवाला है एवं जो दोषरहित रहकर पाँचों समयकी उपासनाओंका ज्ञाता है, वह ब्राह्मण दूसरोंका भी उद्धार कर देता है ॥

(दक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अनेक प्रकारके दानोंकी महिमा]

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवेन दानेषु कथितेषु यथाक्रमम्।
अवितृप्तश्च धर्मेषु केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्रमसे दान और धर्मकी बात कही जानेपर युधिष्ठिर तृप्त न होकर फिर भगवान् केशवसे कहने लगे—

देव धर्मामृतमिदं शृण्वतोऽपि परंतप।
न विद्यते सुरश्रेष्ठ मम तृप्तिर्हि माधव ॥

'सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! परंतप माधव ! आपके मुँहसे इस धर्ममय अमृतका श्रवण करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥

यानि चान्यानि दानानि त्वया नोक्तानि कानिचित्।
तान्याचक्ष्व सुरश्रेष्ठ तेषां चानुक्रमात् फलम् ॥

'सुरश्रेष्ठ ! जो अन्य प्रकारके दान हैं, जिनको अभीतक आपने नहीं बताया है, उनका वर्णन कीजिये और क्रमशः उनका फल भी बतानेकी कृपा कीजिये' ॥

श्रीभगवानुवाच

शय्यां प्रस्तरणोपेतां यः प्रयच्छति पाण्डव।
अर्चयित्वा द्विजं भक्त्या वस्त्रमाल्यानुलेपनैः।
भोजयित्वा विचित्रान्नं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

श्रीभगवान्ने कहा—पाण्डुनन्दन ! जो मनुष्य भक्तिके साथ वस्त्र, माला और चन्दन चढ़ाकर ब्राह्मणकी पूजा करता है तथा उसे भाँति-भाँतिके अन्नका भोजन कराकर बिछौनों-सहित शय्या दान करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥

धेनुदानस्य यत् पुण्यं विधिदत्तस्य पाण्डव।
तत् पुण्यं समनुप्राप्य पितृलोके महीयते ॥

पाण्डुनन्दन ! विधिवत् किये हुए गोदानका जो पुण्य होता है, उस पुण्यको प्राप्त करके वह पितृलोकमें सम्मान पाता है ॥

आहिताग्निसहस्रस्य पूजितस्यैव यत् फलम्।
तत् पुण्यफलमाप्नोति यस्तु शय्यां प्रयच्छति ॥

तथा एक हजार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंका पूजन करनेसे जो फल मिलता है, उसी पुण्य-फलको वह प्राप्त करता है, जो शय्याका दान करता है ॥

शिल्पमध्ययनं वापि विद्यां मन्त्रौषधीनि च।
यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको शिल्प, वेद, मन्त्र, ओषधि आदि विद्याओंका दान करता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥

छन्दोभिः सम्प्रयुक्तेन विमानेन विराजता।
सप्तर्षिलोकान् व्रजति पूज्यते ब्रह्मवादिभिः ॥

वह वेदमन्त्रोंके बलसे चलनेवाले सुन्दर विमानपर आरूढ़ हो सप्तर्षियोंके लोकमें जाता और वहाँ ब्रह्मवादी महर्षियोंसे पूजित होता है ॥

चतुर्युगानि वै त्रिंशत् क्रीडित्वा तत्र देववत्।
इह मानुष्यके लोके विप्रो भवति वेदवित् ॥

उस लोकमें तीस चतुर्युगीतक देवताओंकी भाँति क्रीड़ा करके वह मनुष्यलोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मण होता है ॥

विश्रामयति यो विप्रं श्रान्तमध्वनि कर्शितम्।
विनश्यति तदा पापं तस्य वर्षकृतं नृप ॥

राजन् ! जो रास्तेके थके-माँदे दुर्बल ब्राह्मणको विश्राम देता है, उसका एक वर्षका किया हुआ पाप तत्काल नष्ट हो जाता है ॥

अथ प्रक्षालयेत् पादौ तस्य तोयेन भक्तिमान्।
दशवर्षकृतं पापं व्यपोहति न संशयः ॥

तदनन्तर जब वह भक्तिपूर्वक उस अतिथिके दोनों चरणोंको जलसे पखारता है, उस समय उसके दस वर्षके किये हुए पाप निःसंदेह नष्ट हो जाते हैं ॥

घृतेन वाथ तैलेन पादौ तस्य तु पूजयेत्।
तद् द्वादशसमारूढं पापमाशु व्यपोहति ॥

तथा यदि वह उसके दोनों पैरोंमें घी या तेल मलकर उसकी पूजा करता है तो उसके बारह वर्षोंके पाप तुरंत नष्ट हो जाते हैं ॥

स्वागतेन तु यो विप्रं पूजयेदासनेन च।
प्रत्युत्थानेन वा राजन् स देवानां प्रियो भवेत् ॥

राजन् ! जो घरपर आये हुए ब्राह्मणका स्वागत करके उसे आसन और अभ्युत्थान देकर पूजन करता है, वह देवताओंका प्रिय होता है ॥

स्वागतेनाग्नयो राजन्नासनेन शतक्रतुः।
प्रत्युत्थानेन पितरः प्रीतिं यान्त्यतिथिप्रियाः ॥

महाराज ! अतिथिके स्वागतसे अग्नि, उसे आसन देनेसे इन्द्र और अगवानी करनेसे अतिथियोंपर प्रेम रखने-वाले पितर प्रसन्न होते हैं ॥

अग्निशक्रपितॄणां च तेषां प्रीत्या नराधिप।
संवत्सरकृतं पापं तस्य सद्यो विनश्यति ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार अग्नि, इन्द्र और पितरोंके प्रसन्न होनेपर मनुष्यका एक वर्षका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है ॥

यः प्रयच्छति विप्राय आसनं माल्यभूषितम् ।
स याति मणिचित्रेण रथेनेन्द्रनिकेतनम् ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको मालाओंसे विभूषित आसन प्रदान करता है, वह मणियोंसे चित्रित रथके द्वारा इन्द्रलोकमें जाता है ॥

पुरंदरासने तत्र दिव्यनारीविभूषितः ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥

वहाँ इन्द्रासनपर दिव्य स्त्रियोंके साथ शोभा पाता है और साठ हजार वर्षोंतक अप्सरागणोंके साथ क्रीड़ा करता है ॥

वाहनं यः प्रयच्छेत ब्राह्मणाय युधिष्ठिर ।
स याति रत्नचित्रेण वाहनेन सुरालयम् ॥

युधिष्ठिर ! जो मनुष्य ब्राह्मणको सवारी दान करता है, वह रत्नोंसे चित्रित विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है ॥

स तत्र कामं क्रीडित्वा सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ।
इह राजा भवेद् राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन् ! वहाँ वह अप्सरागणोंके द्वारा सेवित होकर इच्छानुसार क्रीड़ा करता है । फिर इस लोकमें राजा होता है—इसमें कोई विचारकी बात नहीं है ॥

पादपं पल्लवाकीर्णं पुष्पितं फलितं तथा ।
गन्धमाल्यैरथाभ्यर्च्य वस्त्राभरणभूषितम् ॥
यः प्रयच्छति विप्राय श्रोत्रियाय सदक्षिणम् ।
भोजयित्वा यथाकामं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो पुरुष पत्ते, फूल और फलोंसे भरे हुए वृक्षको वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित करके चन्दन और फूलोंसे उसकी पूजा करता है तथा वेदवेत्ता ब्राह्मणको भोजन कराकर दक्षिणाके साथ उस वृक्षका दान कर देता है, उसके पुण्य-का फल सुनो ॥

जाम्बूनदविचित्रेण विमानेन विराजता ।
पुरंदरपुरं याति जयशब्दरवैर्युतः ॥

वह सुवर्णजटित सुन्दर विमानपर बैठकर जय-जयकारके शब्द सुनता हुआ इन्द्रलोकमें जाता है ॥

तत्र शक्रपुरे रम्ये तस्य कल्पकपादपः ।
ददाति चेप्सितं सर्वं मनसा यद् यदिच्छति ॥

वहाँ रमणीय इन्द्रनगरीमें उसके मनमें जो-जो इच्छाएँ होती हैं, उन सब अभीष्ट वस्तुओंको कल्पवृक्ष देता है ॥

यावन्ति तस्य पत्राणि पुष्पाणि च फलानि च ।
तावद् वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥

दानमें दिये हुए उस वृक्षके जितने पत्ते, फूल और फल होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इन्द्रलोकमें महिमा पाता है ॥

शक्रलोकावतीर्णश्च मानुष्यं लोकमागतः ।
रथाश्वगजसम्पूर्णं पुरं राज्यं च रक्षति ॥

इन्द्रलोकसे उतरकर जब वह मनुष्यलोकमें आता है, तब रथ, घोड़े और हाथियोंसे पूर्ण नगरके राज्यकी रक्षा करता है ॥

स्थापयित्वा तु मद्भक्त्या यो मत्प्रतिकृतिं नरः ।
आलयं विधिवत् कृत्वा पूजाकर्म च कारयेत् ।
स्वयं वा पूजयेद् भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो पुरुष भक्तिपूर्वक मन्दिर बनवाकर उसमें मेरी प्रतिमाकी विधिपूर्वक स्थापना करता है और दूसरेसे उसकी पूजा करवाता है या स्वयं भक्तिके साथ पूजा करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

अश्वमेधसहस्रस्य यत् पुण्यं समुदाहृतम् ।
तत् फलं समवाप्नोति मत्सालोक्यं प्रपद्यते ।
न जाने निर्गमं तस्य मम लोकाद् युधिष्ठिर ॥

एक हजार अश्वमेधयज्ञका जो पुण्य बताया गया है, उस फलको पाकर वह मेरे परमधामको पधारता है । युधिष्ठिर ! मैं जानता हूँ, वह वहाँसे कभी लौटकर इस लोकमें नहीं आता ॥

देवालये विप्रगृहे गोवाटे चत्वरेऽपि वा ।
प्रज्वालयति यो दीपं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य देवमन्दिरमें, ब्राह्मणके घरमें, गोशालामें और चौराहेपर दीपक जलाता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥

आरुह्य काञ्चनं यानं द्योतयन् सर्वतो दिशम् ।
गच्छेदादित्यलोकं स सेव्यमानः सुरोत्तमैः ॥

वह सुवर्णमय विमानपर बैठकर सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करता हुआ सूर्यलोकको जाता है, उस समय श्रेष्ठ देवता उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥

तत्र प्रकामं क्रीडित्वा वर्षकोटिं महातपाः ।
इह लोके भवेद् विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥

वह महातपस्वी पुरुष करोड़ों वर्षोंतक सूर्यलोकमें यथेष्ट विहार करनेके पश्चात् मर्त्यलोकमें आकर वेद-वेदाङ्गोंमें पारंगत ब्राह्मण होता है ॥

करकां कर्णिकां वापि महद् वा जलभाजनम् ।
यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणको करका (कमण्डलु), कर्णिका (गिलास) अथवा महान् जलपात्र दान करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥

ब्रह्मकूर्चे तु यत् पीते फलं प्रोक्तं नराधिप ।
तत् पुण्यफलमाप्नोति जलभाजनदो नरः ।

सुतृप्तः सर्वसौगन्धः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥

जनेश्वर! पञ्चगव्य पीनेवाले मनुष्यके लिये जो फल बताया गया है, उस फलको वह जलपात्र दान करनेवाला मनुष्य पाता है। वह सदा तृप्त रहता है। उसे सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ सुलभ होते हैं तथा उसकी इन्द्रियाँ और मन सदा प्रसन्न रहते हैं ॥

हंससारसयुक्तेन विमानेन विराजता।
स याति वारुणं लोकं दिव्यगन्धर्वसेवितम् ॥

इतना ही नहीं, वह हंस और सारसोंसे जुते हुए सुन्दर विमानपर बैठकर दिव्य गन्धर्वोंसे सेवित वरुणलोकमें जाता है ॥

पानीयं यः प्रयच्छेद् वै जीवानां जीवनं परम्।
ग्रीष्मे च त्रिषु मासेषु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो गर्मीके तीन महीनोंमें जीवोंके जीवनभूत जलका दान करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता।
स गच्छेदिन्द्रभवनं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

वह पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशमान सुन्दर विमानपर आरूढ़ होकर अप्सरागणोंसे सेवित हुआ इन्द्रभवनकी यात्रा करता है ॥

शिरोऽभ्यङ्गप्रदानेन तेजस्वी प्रियदर्शनः।
सुभगो रूपवाञ्छूरः पण्डितश्च भवेद् द्विजः ॥

सिरमें लगानेके लिये तेल-दान करनेसे मनुष्य तेजस्वी, दर्शनीय, सुन्दर, रूपवान्, शूरवीर और पण्डित ब्राह्मण होता है ॥

वस्त्रदायी तु तेजस्वी सर्वत्र प्रियदर्शनः।
सुभगो भवति श्रीमान् स्त्रीणां नित्यं मनोरमः ॥

वस्त्र-दान करनेवाला पुरुष भी तेजस्वी, दर्शनीय, सुन्दर, श्रीसम्पन्न और सदा स्त्रियोंके लिये मनोरम होता है ॥

उपानहौ च छत्रं च यो ददाति नरोत्तमः।
स याति रथमुख्येन काञ्चनेन विराजता।
शक्रलोकं महातेजाः सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

जो उत्तम पुरुष जूता और छाता दान करता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न हो सोनेके बने हुए सुन्दर रथपर बैठकर अप्सरागणोंसे सेवित हुआ इन्द्रलोकमें जाता है ॥

काष्ठपादुकदा यान्ति विमानैर्वृक्षनिर्मितैः।
धर्मराजपुरं रम्यं सेव्यमानाः सुरोत्तमैः ॥

जो काठकी खड़ाऊँ दान करते हैं, वे काष्ठनिर्मित विमानोंपर आरूढ़ होकर श्रेष्ठ देवताओंसे सेवित हो धर्मराजके रमणीय नगरमें प्रवेश करते हैं ॥

दन्तकाष्ठप्रदानेन प्रियवाक्यो भवेन्नरः।
सुगन्धवदनः श्रीमान् मेधासौभाग्यसंयुतः ॥

दाँतनका दान करनेसे मनुष्य मधुरभाषी होता है। उसके मुँहसे सुगन्ध निकलती रहती है तथा वह लक्ष्मीवान् एवं बुद्धि और सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ॥

अनन्तराशी यश्चापि वर्तते व्रतवत् सदा।
सत्यवाक्क्रोधरहितः शुचिः स्नानरतः सदा।
स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥

जो मनुष्य अतिथि और कुटुम्बीजनोंको भोजन करा लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करता है, सदा व्रतका पालन करता है, सत्य बोलता है, क्रोधसे दूर रहता है तथा स्नान आदिके द्वारा सर्वदा पवित्र रहता है, वह दिव्य विमानके द्वारा इन्द्रलोककी यात्रा करता है ॥

एकभुक्तेन यश्चापि वर्षमेकं तु वर्तते।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यशौचसमन्वितः।
स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥

जो एक वर्षतक प्रतिदिन एक वक्त भोजन करता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, क्रोधको काबूमें रखता है तथा सत्य और शौचका पालन करता है, वह दिव्य विमानमें बैठकर इन्द्रलोकमें पदार्पण करता है ॥

चतुर्थकाले यो भुङ्क्ते ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
वर्तते चैकवर्षं तु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

जो एक वर्षतक चौथे वक्त अर्थात् प्रति दूसरे दिन भोजन करता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है और इन्द्रियोंको काबूमें रखता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

चित्रबर्हिणयुक्तेन विचित्रध्वजशोभिना।
याति यानेन दिव्येन स महेन्द्रपुरं नरः ॥

वह मनुष्य विचित्र पंखवाले मोरोंसे जुते हुए अद्भुत ध्वजसे शोभायमान दिव्य विमानपर आरूढ़ हो महेन्द्रलोकमें गमन करता है ॥

निवेशयति मन्मूर्त्यामात्मानं मद्गतः शुचिः।
रुद्रदक्षिणमूर्त्यां वा चतुर्दश्यां विशेषतः ॥
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव देवलोकैश्च पूजितः।
गन्धर्वैर्भूतसङ्घैश्च गीयमानो महातपाः ॥
प्रविशेत् स महातेजा मां वा शङ्करमेव वा।
न स्यात् पुनर्भवो राजन् नात्र कार्या विचारणा ॥

राजन्! जो मनुष्य पवित्र और मेरे परायण होकर मेरे श्रीविग्रहमें मन लगाता (मेरा ध्यान करता) है तथा विशेषतः चतुर्दशीके दिन रुद्र अथवा दक्षिणामूर्तिमें चित्त एकाग्र करता है, वह महान् तपस्वी पुरुष सिद्धों, ब्रह्मर्षियों और देवताओंसे पूजित होकर गन्धर्वों और भूतोंका गान सुनता हुआ मुझमें या शङ्करमें प्रवेश कर जाता है तथा उसका इस संसारमें फिर जन्म नहीं होता—इसमें कोई विचारकी बात नहीं है ॥

गोकृते स्त्रीकृते चैव गुरुविप्रकृतेऽपि वा।
हन्यन्ते ये तु राजेन्द्र शक्रलोकं व्रजन्ति ते॥

राजेन्द्र! जो मनुष्य गौ, स्त्री, गुरु और ब्राह्मणकी रक्षाके लिये प्राण दे डालते हैं, वे इन्द्रलोकमें जाते हैं॥

तत्र जाम्बूनदमये विमाने कामगामिनि।
मन्वन्तरं प्रमोदन्ते दिव्यनारीनिषेविताः॥

वहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले सुवर्णके बने हुए विमानपर रहकर दिव्य नारियोंसे सेवित हुए एक मन्वन्तरतक आनन्दका अनुभव करते हैं॥

आश्रुतस्य प्रदानेन दत्तस्य हरणेन च।
जन्मप्रभृति यद् दत्तं तत् सर्वं तु विनश्यति॥

देनेकी प्रतिज्ञा की हुई वस्तुको न देनेसे अथवा दी हुई वस्तुको छीन लेनेसे जन्मभरका किया हुआ सारा दान-पुण्य नष्ट हो जाता है॥

यद् यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनोपार्जितं च यत्।
तत् तद् गुणवते देयं तदेवाक्षय्यमिच्छता॥

अक्षय सुख चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि जो-जो न्यायसे उपार्जित किया हुआ अत्यन्त अभीष्ट द्रव्य है, वह-वह गुणवान् ब्राह्मणको दानमें दे॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[पञ्चमहायज्ञ, विधिवत् स्नान और उसके अङ्गभूत कर्म, भगवान्‌के प्रिय पुष्प तथा भगवद्भक्तोंका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

पञ्च यज्ञाः कथं देव क्रियन्तेऽत्र द्विजातिभिः।
तेषां नाम च देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! द्विजातियोंके द्वारा पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान यहाँ किस प्रकार किया जाता है? देवेश्वर! उन यज्ञोंके नाम भी पूर्णतया बताने चाहिये॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पञ्च महायज्ञान् कीर्त्यमानान् युधिष्ठिर।
यैरेव ब्रह्मसालोक्यं लभ्यते गृहमेधिना॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—युधिष्ठिर! जिनके अनुष्ठानसे गृहस्थ पुरुषोंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, उन पञ्चमहायज्ञोंका वर्णन करता हूँ, सुनो॥

ऋभुयज्ञं ब्रह्मयज्ञं भूतयज्ञं च पाण्डव।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च पञ्च यज्ञान् प्रचक्षते॥

पाण्डुनन्दन! ऋभुयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ—ये पञ्चयज्ञ कहलाते हैं॥

तर्पणं ऋभुयज्ञः स्यात् स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञकः।
भूतयज्ञो बलिर्यज्ञो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।
पितॄनुद्दिश्य यत् कर्म पितृयज्ञः प्रकीर्तितः॥

इनमें 'ऋभुयज्ञ' तर्पणको कहते हैं, 'ब्रह्मयज्ञ' स्वाध्यायका नाम है, समस्त प्राणियोंके लिये अन्नकी बलि देना 'भूतयज्ञ' है, अतिथियोंकी पूजाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं और पितरोंके उद्देश्यसे जो श्राद्ध आदि कर्म किये जाते हैं, उनकी 'पितृयज्ञ' संज्ञा है॥

हुतं चाप्यहुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
प्राशितं बलिदानं च पाकयज्ञान् प्रचक्षते॥

हुत, अहुत, प्रहुत, प्राशित और बलिदान—ये पाकयज्ञ कहलाते हैं॥

वैश्वदेवादयो होमा हुतमित्युच्यते बुधैः।
अहुतं च भवेद् दत्तं प्रहुतं ब्राह्मणाशितम्॥

वैश्वदेव आदि कर्मोंमें जो देवताओंके निमित्त हवन किया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष 'हुत' कहते हैं। दान दी हुई वस्तुको 'अहुत' कहते हैं। ब्राह्मणोंको भोजन करानेका नाम 'प्रहुत' है॥

प्राणाग्निहोत्रहोत्रं च प्राशितं विधिवद् विदुः।
बलिकर्म च राजेन्द्र पाकयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥

राजेन्द्र! प्राणाग्निहोत्रकी विधिसे जो प्राणोंको पाँच ग्रास अर्पण किये जाते हैं, उनकी 'प्राशित' संज्ञा है तथा गौ आदि प्राणियोंकी तृप्तिके लिये जो अन्नकी बलि दी जाती है, उसीका नाम बलिदान है। इन पाँच कर्मोंको पाकयज्ञ कहते हैं॥

केचित् पञ्च महायज्ञान् पाकयज्ञान् प्रचक्षते।
अपरे ब्रह्मयज्ञादीन् महायज्ञविदो विदुः॥

कितने ही विद्वान् इन पाकयज्ञोंको ही पञ्चमहायज्ञ कहते हैं; किंतु दूसरे लोग, जो महायज्ञके स्वरूपको जाननेवाले हैं, ब्रह्मयज्ञ आदिको ही पञ्चमहायज्ञ मानते हैं॥

सर्व एते महायज्ञाः सर्वथा परिकीर्तिताः।
बुभुक्षितान् ब्राह्मणांस्तु यथाशक्ति न हापयेत्॥

ये सभी सब प्रकारसे महायज्ञ बतलाये गये हैं। घरपर आये हुए भूखे ब्राह्मणोंको यथाशक्ति निराश नहीं लौटाना चाहिये॥

तस्मात् स्नात्वा द्विजो विद्वान् कुर्यादेतान् दिने दिने।
अतोऽन्यथा तु भुञ्जन् वै प्रायश्चित्ती भवेद् द्विजः॥

इसलिये विद्वान् द्विजको चाहिये कि वह प्रतिदिन स्नान करके इन यज्ञोंका अनुष्ठान करे। इन्हें किये बिना भोजन करनेवाला द्विज प्रायश्चित्तका भागी होता है॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न त्वद्भक्तस्य जनार्दन।
वक्तुमर्हसि देवेश स्नानस्य च विधिं मम॥

युधिष्ठिरने कहा—देवदेव ! आप दैत्योंके विनाशक और देवताओंके स्वामी हैं । जनार्दन ! अपने इस भक्तको स्नान करनेकी विधि बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत् सर्वं पवित्रं पापनाशनम् ।
स्नात्वा येन विधानेन मुच्यन्ते किल्बिषाद् द्विजाः

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! जिस विधिके अनुसार स्नान करनेसे द्विजगण समस्त पापोंसे छूट जाते हैं, उस परम पवित्र पापनाशक विधिका पूर्णरूपसे श्रवण करो ॥

मृदं च गोमयं चैव तिलं दर्भांस्तथैव च ।
पुष्पाण्यपि यथान्यायमादाय तु जलं व्रजेत् ॥

मिट्टी, गोबर, तिल, कुशा और फूल आदि शास्त्रोक्त सामग्री लेकर जलके समीप जाय ॥

नद्यां स्नात्वा न च स्नायादन्यत्र द्विजसत्तमः ।
सति प्रभूते पयसि नाल्पे स्नायात् कदाचन ॥

श्रेष्ठ द्विजको उचित है कि वह नदीमें स्नान करनेके पश्चात् और किसी जलमें न नहाये । अधिक जलवाला जलाशय उपलब्ध हो तो थोड़ेसे जलमें कभी स्नान न करे ॥

गत्वोदकसमीपं तु शुचौ देशे मनोरमे ।
ततो मृद्गोमयादीनि तत्र विप्रो विनिक्षिपेत् ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि जलके निकट जाकर शुद्ध और मनोरम जगहपर मिट्टी और गोबर आदि सामग्री रख दे ॥

बहिः प्रक्षाल्य पादौ च द्विराचम्य प्रयत्नतः ।
प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कुर्यात् तु तज्जलम् ॥

तथा पानीसे बाहर ही प्रयत्नपूर्वक अपने दोनों पैर धोकर दो बार आचमन करे । फिर जलाशयकी प्रदक्षिणा करके उसके जलको नमस्कार करे ॥

सर्वदेवमया ह्यापो मन्मयाः पाण्डुनन्दन ।
तस्मात् तास्तु न हन्तव्यास्त्वद्भिः प्रक्षालयेत्स्थलम् ॥

पाण्डुनन्दन ! जल सम्पूर्ण देवताओंका तथा मेरा भी स्वरूप है; अतः उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये । जलाशयके जलसे उसके किनारेकी भूमिको धोकर साफ करे ॥

केवलं प्रथमं मज्जेन्नाङ्गानि विमृशेद् बुधः ।
तत्र तु तीर्थे समासाद्य कुर्यादाचमनं पुनः ॥

फिर बुद्धिमान् पुरुष पानीमें प्रवेश करके एक बार सिर्फ डुबकी लगावे, अङ्गोंकी मैल न छुड़ाने लगे । इसके बाद पुनः आचमन करे ॥

गोकर्णाकृतिवत् कृत्वा करं त्रिः प्रपिबेज्जलम् ।
द्विस्तत्परिमृजेद् वक्त्रं पादावभ्युक्ष्य चात्मनः ।
शीर्षण्यं तु ततः प्राणान् सकृदेव तु संस्पृशेत् ॥

हाथका आकार गायके कानकी तरह बनाकर उससे तीन बार जल पीये । फिर अपने पैरोंपर जल छिड़ककर दो बार मुखमें जलका स्पर्श करे । तदनन्तर गलेके ऊपरी भागमें स्थित आँख, कान और नाक आदि समस्त इन्द्रियोंका एक-एक बार जलसे स्पर्श करे ॥

बाहू द्वौ च ततः स्पृष्ट्वा हृदयं नाभिमेव च ।
प्रत्यङ्गमुदकं स्पृष्ट्वा मूर्धानं तु पुनः स्पृशेत् ॥

फिर दोनों भुजाओंका स्पर्श करनेके पश्चात् हृदय और नाभिका भी स्पर्श करे । इस प्रकार प्रत्येक अङ्गमें जलका स्पर्श कराकर फिर मस्तकपर जल छिड़के ॥

आपः पुनन्त्वित्युक्त्वा च पुनराचमनं चरेत् ।
सोङ्कारव्याहृतीर्वापि सदसस्पतिमित्यृचम् ॥

इसके बाद 'आपः[1] पुनन्तु' मन्त्र पढ़कर फिर आचमन करे अथवा आचमनके समय ओंकार और व्याहृतियोंसहित 'सदसस्पतिम्[2]' इस ऋचाका पाठ करे ॥

आचम्य मृत्तिकाः पश्चात् त्रिधा कृत्वा समालभेत् ।
ऋचेदं विष्णुरित्यङ्गमुत्तमाधममध्यमम् ।
आलभ्य वारुणैः सूक्तैर्नमस्कृत्य जलं ततः ॥

आचमनके बाद मिट्टी लेकर उसके तीन भाग करे और 'इदं[3] विष्णुः' इस मन्त्रको पढ़कर उसे क्रमशः ऊपरके, मध्यभागके तथा नीचेके अङ्गोंमें लगावे । तत्पश्चात् वारुण सूक्तोंसे जलको नमस्कार करके स्नान करे ॥

स्रवन्ती चेत् प्रतिस्रोते प्रत्यर्कं चान्यवारिषु ।
मज्जेदोमित्युदाहृत्य न च विक्षोभयेज्जलम् ॥

यदि नदी हो तो जिस ओरसे उसकी धारा आती हो, उसी ओर मुँह करके तथा दूसरे जलाशयोंमें सूर्यकी ओर मुँह करके स्नान करना चाहिये । ॐकारका उच्चारण करते हुए धीरेसे गोता लगावे, जलमें हलचल पैदा न करे ॥

गोमयं च त्रिधा कृत्वा जले पूर्वं समालभेत् ।
सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं च जपेत् पुनः ॥

इसके बाद गोबरको हाथमें ले जलसे गीला करके उसके

---

१. ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् ।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् ॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम ।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहꣳस्वाहा ॥
(तै० आ० प्र० १० । २३)

२. सदसस्पतिमद्भुतम्प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिम्मेधा मयासिषꣳस्वाहा ॥ (यजु० अ० ३२ मं० १३)

३. ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्यपाꣳसुरे स्वाहा ॥ (यजु० अ० ५ मं १५)

तीन भाग करे और उसे भी पूर्ववत् अपने शरीरके ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग तथा अधोभागमें लगावे । उस समय प्रणव और व्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्रकी पुनरावृत्ति करता रहे ॥

पुनराचमनं कृत्वा मद्गतेनान्तरात्मना ।
आपो हिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः पूतेन वारिणा॥
तथा तरत्समन्दीभिः सिञ्चेच्चतसृभिः क्रमात्॥
गोसूक्तेनाश्वसूक्तेन शुद्धवर्गेण चात्मनः।
वैष्णवैर्वारुणैः सूक्तैः सावित्रैरिन्द्रदैवतैः ॥
वामदैव्येन चात्मानमन्यैर्मन्मयसामभिः ।
स्थित्वान्तःसलिले सूक्तं जपेद् वा चाघमर्षणम्॥

फिर मुझमें चित्त लगाकर आचमन करनेके पश्चात् 'आपो हिष्ठामयो' इत्यादि तीन ऋचाओंसे, 'तरत्समन्दीभिः' इत्यादि चार ऋचाओंसे और गोसूक्त, अश्वसूक्त, वैष्णवसूक्त, वारुणसूक्त, सावित्रसूक्त, ऐन्द्रसूक्त, वामदैव्यसूक्त तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य साममन्त्रोंके द्वारा शुद्ध जलसे अपने ऊपर मार्जन करे । फिर जलके भीतर स्थित होकर अघमर्षण[2]सूक्तका जप करे ॥

सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं वा ततो जपेत् ।
आश्वासमोक्षात् प्रणवं जपेद् वा मामनुस्मरन्॥

अथवा प्रणव एवं व्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्र जपे या जबतक साँस रुकी रहे तबतक मेरा स्मरण करते हुए केवल प्रणवका ही जप करता रहे ॥

उत्प्लुत्य तीर्थमासाद्य धौते शुक्ले च वाससी ।
शुद्धे चाच्छादयेत् कक्षे न कुर्यात् परिपाशके ॥

इस प्रकार स्नान करके जलाशयके किनारे आकर धोये हुए शुद्ध वस्त्र—धोती और चादर धारण करे । चादरको काँखमें रस्सीकी भाँति लपेटकर बाँधे नहीं ॥

पाशेन बद्ध्वा कक्षे यत् कुरुते कर्म वैदिकम्।
राक्षसा दानवा दैत्यास्तद् विलुम्पन्ति हर्षिताः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कक्ष्यापाशं न धारयेत् ॥

जो वस्त्रको काँखमें रस्सीकी भाँति लपेट करके वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसके कर्मको राक्षस, दानव और दैत्य बड़े हर्षमें भरकर नष्ट कर डालते हैं; इसलिये सब प्रकारके प्रयत्नसे काँखको वस्त्रसे बाँधना नहीं चाहिये ॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ च हस्तौ चैव मृदा शनैः ।
आचम्य पुनराचामेत् पुनः सावित्रिया द्विजः॥

ब्राह्मणको चाहिये कि वस्त्र-धारणके पश्चात् धीरे-धीरे हाथ और पैरोंको मिट्टीसे मलकर धो डाले, फिर गायत्री-मन्त्र पढ़कर आचमन करे ॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि ध्यायन्वेदान्समाहितः।
जले जलगतः शुद्धः स्थल एव स्थलस्थितः ।
उभयत्र स्थितस्तस्मादाचामेदात्मशुद्धये ॥

तथा पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके एकाग्रचित्तसे वेदोंका स्वाध्याय करे । जलमें खड़ा हुआ द्विज जलमें ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है और स्थलमें स्थित पुरुष स्थलमें ही आचमनके द्वारा शुद्ध होता है, अतः जल और स्थलमेंसे कहीं भी स्थित होनेवाले द्विजको आत्मशुद्धिके लिये आचमन करना चाहिये ॥

दर्भेषु दर्भपाणिः सन् प्राङ्मुखः सुसमाहितः।
प्राणायामांस्ततः कुर्यान्मद्गतेनान्तरात्मना ॥

इसके बाद संध्योपासन करनेके लिये हाथोंमें कुश लेकर पूर्वाभिमुख हो कुशासनपर बैठे और मुझमें मन लगाकर एकाग्रभावसे प्राणायाम करे ॥

सहस्रकृत्वः सावित्रीं शतकृत्वस्तु वा जपेत् ॥
समाहितो जपेत् तस्मात् सावित्र्या चाभिमन्त्र्य च।
मन्देहानां विनाशाय रक्षसां विक्षिपेज्जलम् ॥

फिर एकाग्रचित्त होकर एक हजार या एक सौ गायत्री-मन्त्रका जप करे । मन्देह नामक राक्षसोंका नाश करनेके उद्देश्यसे गायत्रीमन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित जल लेकर सूर्यको अर्घ्य प्रदान करे ॥

उद्वर्गोऽसीत्यथाचान्तः प्रायश्चित्तजलं क्षिपेत् ॥

उसके बाद आचमन करके 'उद्वर्गोऽसि' इस मन्त्रसे प्रायश्चित्तके लिये जल छोड़े ॥

अथादाय सुपुष्पाणि तोयमञ्जलिना द्विजः ।
प्रक्षिप्य प्रतिसूर्यं च व्योममुद्रां प्रकल्पयेत् ॥

फिर द्विजको चाहिये कि अञ्जलिमें सुगन्धित पुष्प और जल लेकर सूर्यको अर्घ्य दे और आकाशमुद्राका प्रदर्शन करे ॥

ततो द्वादशकृत्वस्तु सूर्यस्यैकाक्षरं जपेत् ।
ततः षडक्षरादीनि षट्कृत्वः परिवर्तयेत् ॥

तदनन्तर सूर्यके एकाक्षर मन्त्रका बारह बार जप करे और उनके षडक्षर आदि मन्त्रोंकी छः बार पुनरावृत्ति करे ॥

प्रदक्षिणं परामृष्य मुद्रया स्वमुखान्तरे ।

---

१. ॐ आपो हि ष्ठा मयोभुवः । ॐ ता न ऊर्जे दधातन । ॐ महे रणाय चक्षसे । ॐ यो वः शिवतमो रसः । ॐ तस्य भाजयतेह नः । ॐ उशतीरिव मातरः । ॐ तस्मा अरं गमाम वः । ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ । ॐ आपो जनयथा च नः ।

(यजु० ११ मं० ५०—५२)

२. ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋ० अ० ८ अ०८व० ४८)

ऊर्ध्वबाहुस्ततो भूत्वा सूर्यमीक्षेत् समाहितः ॥
तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत् तेजोमूर्तिं चतुर्भुजम् ।
उदुत्यं च जपेन्मन्त्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि ॥
सावित्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा सूक्तं च मामकम् ।
मन्मयानि च सामानि पुरुषव्रतमेव च ॥

आकाशमुद्राको दाहिनी ओरसे घुमाकर अपने मुखमें विलीन करे । इसके बाद दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर एकाग्रचित्तसे सूर्यकी ओर देखते हुए उनके मण्डलमें स्थित मुझ चार भुजाधारी तेजोमूर्ति नारायणका एकाग्रचित्तसे ध्यान करे । उस समय 'उदुत्यम्'[1] 'चित्रं देवानाम्'[2] 'तच्चक्षुः'[3] इन मन्त्रोंका, यथाशक्ति गायत्री-मन्त्रका तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले सूक्तोंका जप करके मेरे साममन्त्रों और पुरुषसूक्तका भी पाठ करे ॥

ततश्चालोकयेदर्कं हंसः शुचिषदित्यपि ।
प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्य दिवाकरम् ॥

तत्पश्चात् 'हंसः शुचिषत्'[4] इस मन्त्रको पढ़कर सूर्यकी ओर देखे और प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें नमस्कार करे ॥

ततस्तु तर्पयेदद्भिर्ब्रह्माणं मां च शङ्करम् ।
प्रजापतिं च देवांश्च तथा देवमुनीनपि ॥
साङ्गानपि तथा वेदानितिहासान् क्रतूनपि ।
पुराणानि च सर्वाणि कुलान्यप्सरसां तथा ॥
ऋतून् संवत्सरं चैव कलाकाष्ठात्मकं तथा ।
भूतग्रामांश्च भूतानि सरितः सागरांस्तथा ।
शैलाञ्छैलस्थितान् देवानोषधीः सवनस्पतीः ॥
तर्पयेदुपवीती च प्रत्येकं तृप्यतामिति ।
अन्वारभ्य च सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ॥

इस प्रकार संध्योपासन समाप्त होनेपर क्रमशः ब्रह्माजीका, मेरा, शङ्करजीका, प्रजापतिका, देवताओं और देवर्षियोंका, अङ्गसहित वेदों, इतिहासों, यज्ञों और समस्त पुराणोंका, अप्सराओंका, ऋतु-कलाकाष्ठारूप संवत्सर तथा भूतसमुदायोंका, भूतोंका, नदियों और समुद्रोंका तथा पर्वतों, उनपर रहनेवाले देवताओं, ओषधियों और वनस्पतियोंका जलसे तर्पण करे । तर्पणके समय जनेऊको बायें कंधेपर रक्खे तथा दायें और बायें हाथकी अञ्जलिसे जल देते हुए उपर्युक्त देवताओंमेंसे प्रत्येकका नाम लेकर 'तृप्यताम्' पदका उच्चारण करे (यदि दो या अधिक देवताओंको एक साथ जल दिया जाय तो क्रमशः द्विवचन और बहुवचन— 'तृप्येताम्' और 'तृप्यन्ताम्' इन पदोंका उच्चारण करना चाहिये) ॥

निवीती तर्पयेद् विद्वानृषीन् मन्त्रकृतस्तथा ।
मरीच्यादीनृषींश्चैव नारदाद्यान् समाहितः ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि मन्त्रद्रष्टा मरीचि आदि तथा नारद आदि ऋषियोंको निवीती होकर अर्थात् जनेऊको गलेमें मालाकी भाँति पहन करके एकाग्रचित्तसे तर्पण करे ॥

प्राचीनावीत्यथैतांस्तु तर्पयेद् देवताः पितॄन् ।
ततस्तु कव्यवाडग्निं सोमं वैवस्वतं तथा ॥
ततश्चार्यमणं चापि ह्यग्निष्वात्तांस्तथैव च ।
सोमपांश्चैव दर्भेषु सतिलैरेव वारिभिः ।
तृप्यतामिति पश्चात् तु स पितॄंस्तर्पयेत् ततः ॥

इसके बाद जनेऊको दाहिने कंधेपर करके आगे बताये जानेवाले पितृ-सम्बन्धी देवताओं एवं पितरोंका तर्पण करे । कव्यवाट्, अग्नि, सोम, वैवस्वत, अर्यमा, अग्निष्वात्त और सोमप—ये पितृ-सम्बन्धी देवता हैं । इनका तिलसहित जलसे कुशाओंपर तर्पण करे और 'तृप्यताम्' पदका उच्चारण करे । तदनन्तर पितरोंका तर्पण आरम्भ करे ॥

पितॄन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् ।
पितामहीस्तथा चापि तथैव प्रपितामहीः ॥
मातरं चात्मनश्चैव गुरुमाचार्यमेव च ।
पितृमातृस्वसारौ च तथा मातामहीमपि ॥
उपाध्यायान् सखीन् बन्धून् शिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान् ।
प्रमीताननृशंस्यार्थं तर्पयेत् तानमत्सरः ॥

उनका क्रम इस प्रकार है—पिता, पितामह और प्रपितामह तथा अपनी माता, पितामही और प्रपितामही ! इनके सिवा गुरु, आचर्य, पितृष्वसा (बुआ), मातृष्वसा (मौसी), मातामही, उपाध्याय, मित्र, बन्धु, शिष्य, ऋत्विज और जाति-भाई आदिमेंसे भी जो मर गये हों, उनपर दया करके ईर्ष्या-द्वेष त्यागकर उनका भी तर्पण करना चाहिये ॥

तर्पयित्वा तथाऽऽचम्य स्नानवस्त्रं प्रपीडयेत् ।
वृत्तिं भृत्यजनस्याहुः स्नानं पानं च तद्विदः ।
अतर्पयित्वा तान् पूर्वं स्नानवस्त्रं न पीडयेत् ।

---

१. ॐ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ (यजु० अ० ७ मं० ४१)

२. ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ (यजु० अ० ७ मं० ४२)

३. ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ (यजु० अ० ३६ मं० २४)

४. हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योम सदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (यजु० १० । २४)

पीडयेच्च पुरा मोहाद् देवाः सर्षिगणास्तथा ॥

तर्पणके पश्चात् आचमन करके स्नानके समय पहने हुए वस्त्रको निचोड़ डाले । उस वस्त्रका जल भी कुलके मरे हुए संतानहीन पुरुषोंका भाग है । वह उनके स्नान करने और पीनेके काम आता है । अतः उस जलसे उनका तर्पण करना चाहिये, ऐसा विद्वानोंका कथन है । पूर्वोक्त देवताओं तथा पितरोंका तर्पण किये बिना स्नानका वस्त्र नहीं धोना चाहिये । जो मोहवश तर्पणके पहले ही धौतवस्त्रको धो लेता है, वह ऋषियों और देवताओंको कष्ट पहुँचाता है ॥

तर्पयित्वा तथाऽऽचम्य स्नानवस्त्रं निपीडयेत् ।
पितरस्तु निराशास्ते शप्त्वा यान्ति यथागतम् ॥

उस अवस्थामें उसके पितर उसे शाप देकर निराश लौट जाते हैं, इसलिये तर्पणके पश्चात् आचमन करके ही स्नान-वस्त्र निचोड़ना चाहिये ॥

प्रक्षाल्य तु मृदा पादावाचम्य प्रयतः पुनः ।
दर्भेषु दर्भपाणिः सन् स्वाध्यायं तु समारभेत् ॥

तर्पणकी क्रिया पूर्ण होनेपर दोनों पैरोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें धो डाले और फिर आचमन करके पवित्र हो कुशासन-पर बैठ जाय और हाथोंमें कुशा लेकर स्वाध्याय आरम्भ करे ॥

वेदमादौ समारभ्य ततो पर्युपरि क्रमात् ।
यदधीतेऽन्वहं शक्त्या तत् स्वाध्यायं प्रचक्षते ॥

पहले वेदका पाठ करके फिर क्रमसे उसके अन्य अङ्गोंका अध्ययन करे । अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जो अध्ययन किया जाता है, उसको स्वाध्याय कहते हैं ॥

ऋचो वापि यजुर्वापि सामगायमथापि च ।
इतिहासपुराणानि यथाशक्ति न हापयेत् ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका स्वाध्याय करे । इतिहास और पुराणोंके अध्ययनको भी यथाशक्ति न छोड़े ॥

उत्थाय तु नमस्कृत्य दिशो दिग्देवता अपि ।
ब्रह्माणं च ततश्चाग्निं पृथिवीमोषधीस्तथा ॥
वाचं वाचस्पतिं चैव मां चैव सरितस्तथा ।
नमस्कृत्य तथाद्भिस्तु प्रणवादि च पूर्ववत् ॥
ततो नमोऽद्भ्य इत्युक्त्वा नमस्कुर्यात् तु तज्जलम् ।

स्वाध्याय पूर्ण करके खड़ा होकर दिशाओं, उनके देवताओं, ब्रह्माजी, अग्नि, पृथ्वी, ओषधि, वाणी, वाचस्पति और सरिताओंको तथा मुझे भी प्रणाम करे । फिर जल लेकर प्रणवयुक्त 'नमोऽद्भ्यः' यह मन्त्र पढ़कर पूर्ववत् जल-देवताको नमस्कार करे ॥

घृणिः सूर्यस्तथाऽऽदित्यस्तं प्रणम्य स्वमूर्धनि ॥
ततस्त्वालोकयन्नर्कं प्रणवेन समाहितः ।
ततो मामर्चयेत् पुष्पैर्मत्प्रियैरेव नित्यशः ॥

इसके बाद घृणि, सूर्य तथा आदित्य आदि नामोंका उच्चारण करके अपने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर सूर्यदेवको प्रणाम करे और प्रणवका जप करते हुए एकाग्रचित्तसे उनका दर्शन करे । उसके बाद मुझे प्रिय लगनेवाले पुष्पोंसे नित्यप्रति मेरी पूजा करे ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्प्रियाणि प्रसूनानि त्वदधिष्ठानि माधव ।
सर्वाण्याचक्ष्व देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥

युधिष्ठिरने कहा—अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले माधव ! जो पुष्प आपको अत्यन्त प्रिय हों तथा जिनमें आपका निवास हो, उन सबका मुझ अपने भक्तसे वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्वावहितो राजन् पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे ।
कुमुदं करवीरं च चणकं चम्पकं तथा ॥
मल्लिकाजातिपुष्पं च नन्द्यावर्तं च नन्दिकम् ।
पलाशपुष्पपत्राणि दूर्वाभृङ्गकमेव च ॥
वनमाला च राजेन्द्र मत्प्रियाणि विशेषतः ।

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! जो फूल मुझे बहुत प्रिय हैं, उनके नाम बताता हूँ, सावधान होकर सुनो । राजेन्द्र ! कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला—ये फूल मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम् ॥
तस्मात् पद्मं तथा राजन् पद्मात् तु शतपत्रकम् ।
तस्मात् सहस्रपत्रं तु पुण्डरीकं ततः परम् ॥
पुण्डरीकसहस्रात् तु तुलसी गुणतोऽधिका ।

सब प्रकारके फूलोंसे हजारगुना अच्छा उत्पल माना गया है । राजन् ! उत्पलसे बढ़कर पद्म, पद्मसे शतदल, शतदलसे सहस्रदल, सहस्रदलसे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण माना गया है ॥

वकपुष्पं ततस्तस्मात् सौवर्णं तु ततोऽधिकम् ।
सौवर्णात् तु प्रसूनाच्च मत्प्रियं नास्ति पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! तुलसीसे श्रेष्ठ है वकपुष्प और उससे भी उत्तम है सौवर्ण, सौवर्णके फूलसे बढ़कर दूसरा कोई भी फूल मुझे प्रिय नहीं है ॥

पुष्पाभावे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेत् पुनः ।
पत्रालाभे तु शाखाभिः शाखालाभे शिफालवैः ॥
शिफाभावे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम् ।

फूल न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे, पत्तोंके न मिलनेपर उसकी शाखाओंसे और शाखाओंके न मिलनेपर तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे । यदि वह भी न मिल सके

तो जहाँ तुलसीका वृक्ष रहा हो, वहाँकी मिट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरा पूजन करे ॥

वर्जनीयानि पुष्पाणि शृणु राजन् समाहितः ॥
किंकिर्णीं मुनिपुष्पं च धुर्धूरं पाटलं तथा ॥
तथातिमुक्तकं चैव पुन्नागं नक्तमालिकम् ।
यौथिकं क्षीरिकापुष्पं निर्गुण्डी लांगुली जपाः ॥
कर्णिकारं तथाशोकं शाल्मलीपुष्पमेव च ।
ककुभाः कोविदाराश्च वैभीतकमथापि च ॥
कुरण्टकप्रसूनं च कल्पकं कालकं तथा ।
अङ्कोलं गिरिकर्णीं च नीलान्येव च सर्वशः ।
एकपर्णानि चान्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥

राजन् ! अब त्यागनेयोग्य फूलोंके नाम बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो । किङ्किणी, मुनिपुष्प, धुर्धूर, पाटल, अतिमुक्तक, पुन्नाग, नक्तमालिक, यौधिक, क्षीरिकापुष्प, निर्गुण्डी, लाङ्गुली, जपा, कर्णिकार, अशोक, सेमलका फूल, ककुभ, कोविदार, बैभीतक, कुरण्टक, कल्पक, कालक, अंकोल, गिरिकर्णी, नीले रंगके फूल तथा एक पंखड़ीवाले फूल—इन सबका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिये ॥

अर्कपुष्पाणि वर्ज्यानि अर्कपत्रस्थितानि च ।
व्याधूताः पिचुमन्दानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥

आक (मदार) के फूल तथा आकके पत्तेपर रक्खे हुए फूल भी वर्जित हैं । नीमके फूलोंका भी परित्याग कर देना चाहिये ॥

अन्यैस्तु शुक्लपत्रैस्तु गन्धवद्भिर्नराधिप ।
अवर्ज्यैस्तैर्यथालाभं मद्भक्तो मां समर्चयेत् ॥

नराधिप ! इनके अतिरिक्त जिनका निषेध नहीं किया गया है, ऐसे सफेद पंखड़ियोंवाले सुगन्धित पुष्प जितने मिल सकें, उनके द्वारा भक्त पुरुषको मेरी पूजा करनी चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशास्तु ते ।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! आपकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये ? आपकी मूर्तियाँ कैसी हैं ? इस विषयमें वानप्रस्थलोग किस प्रकार बताते हैं और पञ्चरात्रवाले किस प्रकार बताते हैं ? ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः ।
स्थण्डिले पद्मकं कृत्वा चाष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥
अष्टाक्षरविधानेन ह्यथवा द्वादशाक्षरैः ।
वैदिकैरथ मन्त्रैश्च मम सूक्तेन वा पुनः ॥
स्थापितं मां ततस्तस्मिन्नर्चयित्वा विचक्षणः ।
पुरुषं च ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! मेरे अर्चनकी सब विधि सुनो । वेदीपर कर्णिकाओंसे युक्त अष्टदल कमल बनावे । उसपर अष्टाक्षर अथवा द्वादशाक्षर मन्त्रके विधानसे तथा वैदिक मन्त्रोंके द्वारा और पुरुषसूक्तसे मेरी मूर्त्तिकी स्थापना करे । फिर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मुझ सत्यस्वरूप अच्युत पुरुषका पूजन करे ॥

अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ॥
वासुदेवं च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथापि वा ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्तिं प्रवक्ष्यते ॥

नृपश्रेष्ठ महाराज ! वानप्रस्थधर्मके ज्ञाता मनुष्य मुझे अनिरुद्ध स्वरूप बताते हैं । उनसे भिन्न जो पाञ्चरात्रिक हैं, वे मुझे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस प्रकार चतुर्व्यूह स्वरूप बताते हैं ॥

एताश्चान्याश्च राजेन्द्र संज्ञाभेदेन मूर्तयः ।
विद्ध्यनर्थान्तरा एव मामेवं चार्चयेद् बुधः ॥

राजेन्द्र ! ये सभी तथा अन्य नामभेदसे मेरी मूर्तियाँ हैं, उन सबका अर्थ एक ही समझना चाहिये । इस प्रकार बुद्धिमान्लोग मेरी पूजा करते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वद्भक्ताः कीदृशा देव कानि तेषां व्रतानि च ।
एतत् कथय देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अच्युत ! भगवन् ! आपके भक्त कैसे होते हैं और उनके नियम कौन-कौन-से हैं ? यह बतानेकी कृपा कीजिये; क्योंकि देवेश्वर ! मैं भी आपके चरणोंमें भक्ति रखता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनन्यदेवताभक्ता ये मद्भक्तजनप्रियाः ।
मामेव शरणं प्राप्ता मद्भक्तास्ते प्रकीर्तिताः ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! जो दूसरे किसी देवताके भक्त न होकर केवल मेरी ही शरण ले चुके हों तथा मेरे भक्तजनोंके साथ प्रेम रखते हों, वे ही मेरे भक्त कहे गये हैं ॥

स्वर्ग्याण्यपि यशस्यानि मत्प्रियाणि विशेषतः ।
मद्भक्तः पाण्डवश्रेष्ठ व्रतानीमानि धारयेत् ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! स्वर्ग और यश देनेवाले होनेके साथ ही जो मुझे विशेष प्रिय हों, ऐसे व्रतोंका ही मेरे भक्त पालन करते हैं ॥

नान्यदाच्छादयेद् वस्त्रं मद्भक्तो जलतारणे ।
स्वस्थस्तु न दिवा स्वप्येन्मधुमांसानि वर्जयेत् ॥

भक्त पुरुषको जलमें तैरते समय एक वस्त्रके सिवा दूसरा नहीं धारण करना चाहिये। स्वस्थ रहते हुए दिनमें कभी नहीं सोना चाहिये। मधु और मांसको त्याग देना चाहिये॥

प्रदक्षिणं व्रजेद् विप्रान् गामश्वत्थं हुताशनम्।
न धावेत् पतिते वर्षे नाग्रभिक्षां च लोपयेत्॥

मार्गमें ब्राह्मण, गौ, पीपल और अग्निके मिलनेपर उनको दाहिने करके जाना चाहिये। पानी बरसते समय दौड़ना नहीं चाहिये। पहले मिलनेवाली भिक्षाका त्याग नहीं करना चाहिये॥

प्रत्यक्षलवणं नाद्यात् सौभाञ्जनकरञ्जनौ।
ग्रासमुष्टिं गवे दद्याद् धान्याम्लं चैव वर्जयेत्॥

खाली नमक नहीं खाना चाहिये तथा सौभाञ्जन और करञ्जनका भक्षण नहीं करना चाहिये। गौको प्रतिदिन ग्रास अर्पण करे और अन्नमें खटाई मिलाकर न खाय॥

तथा पर्युषितं चापि पक्वं परगृहागतम्।
अनिवेदितं च यद् द्रव्यं तत् प्रयत्नेन वर्जयेत्॥

दूसरेके घरसे उठाकर आयी हुई रसोई, बासी अन्न तथा भगवान्‌को भोग न लगाये हुए पदार्थका भी प्रयत्न-पूर्वक त्याग करे॥

विभीतककरञ्जानां छायां दूरे विवर्जयेत्।
विप्रदेवपरीवादान् न वदेत् पीडितोऽपि सन्॥

बहेड़े और करञ्जकी छायासे दूर रहे, कष्टमें पड़नेपर भी ब्राह्मणों और देवताओंकी निन्दा न करे॥

उदिते सवितर्याप्य क्रियायुक्तस्य धीमतः।
चतुर्वेदविदश्चापि देहे षड् वृषलाः स्मृताः॥

सूर्योदयके बाद नित्य क्रियाशील रहनेवाले बुद्धिमान् और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मणके शरीरमें भी छः वृषल बताये जाते हैं॥

क्षत्रियाः सप्त विज्ञेया वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः।
नियताः पाण्डवश्रेष्ठ शूद्राणामेकविंशतिः॥

पाण्डवश्रेष्ठ! क्षत्रियोंके शरीरमें सात वृषल जानने चाहिये, वैश्योंके देहमें आठ वृषल बताये गये हैं और शूद्रोंमें इक्कीस वृषलोंका निवास माना गया है॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव च।
महामोहश्च इत्येते देहे षड् वृषलाः स्मृताः॥

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और महामोह—ये छः वृषल ब्राह्मणके शरीरमें स्थित बताये गये हैं॥

गर्वः स्तम्भो ह्यहंकार ईर्ष्या च द्रोह एव च।
पारुष्यं क्रूरता चैव सप्तैते क्षत्रियाः स्मृताः॥

गर्व, स्तम्भ (जडता), अहंकार, ईर्ष्या, द्रोह, पारुष्य (कठोर बोलना) और क्रूरता—ये सात क्षत्रिय-शरीरमें रहनेवाले वृषल हैं॥

तीक्ष्णता निकृतिर्माया शाठ्यं दम्भो ह्यनार्जवम्।
पैशुन्यमनृतं चैव वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः॥

तीक्ष्णता, कपट, माया, शठता, दम्भ, सरलताका अभाव, चुगली और असत्य-भाषण—ये आठ वैश्य-शरीरके वृषल हैं॥

तृष्णा बुभुक्षा निद्रा च ह्यालस्यं चाघृणादयः।
आधिश्चापि विषादश्च प्रमादो हीनसत्त्वता॥
भयं विक्लवता जाड्यं पापकं मन्युरेव च।
आशा चाश्रद्धधानत्वमनवस्थाप्ययन्त्रणम्॥
आशौचं मलिनत्वं च शूद्रा ह्येते प्रकीर्तिताः।
यस्मिन्नेते न दृश्यन्ते स वै ब्राह्मण उच्यते॥

तृष्णा, खानेकी इच्छा, निद्रा, आलस्य, निर्दयता, क्रूरता, मानसिक चिन्ता, विषाद, प्रमाद, अधीरता, भय, घबराहट, जडता, पाप, क्रोध, आशा, अश्रद्धा, अनवस्था, निरङ्कुशता, अपवित्रता और मलिनता—ये इक्कीस वृषल शूद्रके शरीरमें रहनेवाले बताये गये हैं। ये सभी वृषल जिसके भीतर न दिखायी दें, वही वास्तवमें ब्राह्मण कहलाता है॥

तस्मात् तु सात्त्विको भूत्वा शुचिः क्रोधविवर्जितः।
मामर्चयेत् तु सततं मत्प्रियत्वं यदीच्छति॥

अतः ब्राह्मण यदि मेरा प्रिय होना चाहे तो सात्त्विक, पवित्र और क्रोधहीन होकर सदा मेरी पूजा करता रहे॥

अलोलजिह्वः समुपस्थितो धृतिं
निधाय चक्षुर्युगमात्रमेव तत्।
मनश्च वाचं च निगृह्य चञ्चलं
भयान्निवृत्तो मम भक्त उच्यते॥

जिसकी जिह्वा चञ्चल नहीं है, जो धैर्य धारण किये रहता है और चार हाथ आगेतक दृष्टि रखते हुए चलता है, जिसने अपने चञ्चल मन और वाणीको वशमें करके भयसे छुटकारा पा लिया है, वह मेरा भक्त कहलाता है॥

ईदृशाध्यात्मिनो ये तु ब्राह्मणा नियतेन्द्रियाः।
तेषां श्राद्धेषु तृप्यन्ति तेन तृप्ताः पितामहाः॥

ऐसे अध्यात्मज्ञानसे युक्त जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके यहाँ श्राद्धमें तृप्तिपूर्वक भोजन करते हैं, उनके पितर उस भोजनसे पूर्ण तृप्त होते हैं॥

धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत्॥

धर्मकी जय होती है, अधर्मकी नहीं; सत्यकी विजय होती है, असत्यकी नहीं तथा क्षमाकी जीत होती है, क्रोधकी नहीं। इसलिये ब्राह्मणको क्षमाशील होना चाहिये॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कपिला गौका तथा उसके दानका माहात्म्य और कपिला गौके दस भेद]

वैशम्पायन उवाच

दानपुण्यफलं श्रुत्वा तपःपुण्यफलानि च ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दान और तपस्याके पुण्य-फलोंको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—॥

या चैषा कपिला देव पूर्वमुत्पादिता विभो ।
होमधेनुः सदा पुण्या चतुर्वक्त्रेण माधव ॥
सा कथं ब्राह्मणेभ्यो हि देया कस्मिन् दिनेऽपि वा।
कीदृशाय च विप्राय दातव्या पुण्यलक्षणा ॥

'भगवन्! विभो! जिसे ब्रह्माजीने अग्निहोत्रकी सिद्धिके लिये पूर्वकालमें उत्पन्न किया था तथा जो सदा ही पवित्र मानी गयी है, उस कपिला गौका ब्राह्मणोंको किस प्रकार दान करना चाहिये? माधव! वह पवित्र लक्षणोंवाली गौ किस दिन और कैसे ब्राह्मणको देनी चाहिये? ॥

कति वा कपिला प्रोक्ता स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
कैर्वा देयाश्च ता देव श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

'ब्रह्माजीने कपिला गौके कितने भेद बतलाये हैं? तथा कपिला गौका दान करनेवाला मनुष्य कैसा होना चाहिये? इन सब बातोंको मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो धर्मपुत्रेण संसदि ।
अब्रवीत् कपिलासंख्यां तासां माहात्म्यमेव च॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके द्वारा सभामें इस प्रकार कहे जानेपर श्रीकृष्ण कपिला गौकी संख्या और उनकी महिमाका वर्णन करने लगे—॥

शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पावनं परम् ।
यच्छ्रुत्वा पापकर्मापि नरः पापात् प्रमुच्यते ॥

'पाण्डुनन्दन! यह विषय बड़ा ही पवित्र और पावन है। इसका श्रवण करनेसे पापी पुरुष भी पापसे मुक्त हो जाता है, अतः ध्यान देकर सुनो ॥

कपिला ह्यग्निहोत्रार्थे विप्रार्थे वा स्वयम्भुवा ।
सर्वं तेजः समुद्धृत्य निर्मिता ब्रह्मणा पुरा ॥

'पूर्वकालमें स्वयम्भू ब्रह्माजीने अग्निहोत्र तथा ब्राह्मणोंके लिये सम्पूर्ण तेजोंका संग्रह करके कपिला गौको उत्पन्न किया था ॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
पुण्यानां परमं पुण्यं कपिला पाण्डुनन्दन ॥

'पाण्डुनन्दन! कपिला गौ पवित्र वस्तुओंमें सबसे बढ़कर पवित्र, मङ्गलजनक पदार्थोंमें सबसे अधिक मङ्गलस्वरूपा तथा पुण्योंमें परमपुण्यस्वरूपा है ॥

तपसां तप एवाग्र्यं व्रतानामुत्तमं व्रतम् ।
दानानां परमं दानं निदानं ह्येतदक्षयम् ॥

'वह तपस्याओंमें श्रेष्ठ तपस्या, व्रतोंमें उत्तम व्रत, दानोंमें श्रेष्ठ दान और सबका अक्षय कारण है ॥

क्षीरेण कपिलायास्तु दध्ना वा सघृतेन वा ।
होतव्यान्यग्निहोत्राणि सायं प्रातर्द्विजातिभिः ॥

'द्विजातियोंको चाहिये कि वे सायंकाल और प्रातःकालमें कपिला गौके दूध, दही अथवा घीसे अग्निहोत्र करें ॥

कपिलाया घृतेनापि दध्ना क्षीरेण वा पुनः ।
जुह्वते येऽग्निहोत्राणि ब्राह्मणा विधिवत् प्रभो॥
पूजयन्त्यतिथींश्चैव परां भक्तिमुपागताः ।
शूद्रान्नाद् विरता नित्यं दम्भानृतविवर्जिताः ॥
ते यान्त्यादित्यसंकाशैर्विमानैर्द्विजसत्तमाः ।
सूर्यमण्डलमध्येन ब्रह्मलोकमनुत्तमम् ॥

'प्रभो! जो ब्राह्मण कपिला गौके घी, दही अथवा दूधसे विधिवत् अग्निहोत्र करते हैं, भक्तिपूर्वक अतिथियोंकी पूजा करते हैं, शूद्रके अन्नसे दूर रहते हैं तथा दम्भ और असत्यका सदा त्याग करते हैं, वे सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंद्वारा सूर्यमण्डलके बीचसे होकर परम उत्तम ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥

शृङ्गाग्रे कपिलायास्तु सर्वतीर्थानि पाण्डव ।
ब्रह्मणो हि नियोगेन निवसन्ति दिने दिने ॥
प्रातरुत्थाय यो मर्त्यः कपिलाशृङ्गमस्तकात् ।
यश्च्युतामम्बुधारां वै शिरसा प्रयतः शुचिः ॥
स तेन पुण्यतीर्थेन सहसा हतकिल्बिषः ।
जन्मत्रयकृतं पापं प्रदहत्यग्निवत् तृणम् ॥

'युधिष्ठिर! ब्रह्माजीकी आज्ञासे कपिलाके सींगके अग्रभागमें सदा सम्पूर्ण तीर्थ निवास करते हैं। जो मनुष्य शुद्धभावसे नियमपूर्वक प्रतिदिन सबेरे उठकर कपिला गौके सींग और मस्तकसे गिरती हुई जल-धाराको अपने सिरपर धारण करता है, वह उस पुण्यके प्रभावसे सहसा पापरहित हो जाता है। जैसे आग तिनकेको जला डालती है, उसी प्रकार वह जल मनुष्यके तीन जन्मोंके पापोंको भस्म कर डालता है ॥

मूत्रेण कपिलायास्तु यश्च प्राणानुपस्पृशेत् ।
स्नानेन तेन पुण्येन नष्टपापः स मानवः ।
त्रिंशद् वर्षकृतात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥

'जो मनुष्य कपिलाका मूत्र लेकर अपनी नेत्र आदि इन्द्रियोंमें लगाता तथा उससे स्नान करता है, वह उस स्नानके पुण्यसे निष्पाप हो जाता है; उसके तीस जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

प्रातरुत्थाय यो भक्त्या प्रयच्छेत् तृणमुष्टिकम्।
तस्य नश्यति तत् पापं त्रिंशद्रात्रकृतं नृप ॥

'नरपते ! जो प्रातःकाल उठकर भक्तिके साथ कपिला गौको घासकी मुट्ठी अर्पण करता है, उसके एक महीनेके पापोंका नाश हो जाता है ॥

प्रातरुत्थाय यद्भक्त्या कुर्याद् यस्मात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन पृथिवी नात्र संशयः ॥

'जो सवेरे शयनसे उठकर भक्तिपूर्वक कपिला गौकी परिक्रमा करता है, उसके द्वारा समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है, इसमें संशय नहीं है ॥

कपिलापञ्चगव्येन यः स्नायात् तु शुचिर्नरः।
स गङ्गाद्येषु तीर्थेषु स्नातो भवति पाण्डव ॥

'पाण्डुनन्दन ! जो पुरुष कपिला गौके पञ्चगव्यसे नहाकर शुद्ध होता है, वह मानो गङ्गा आदि समस्त तीर्थोंमें स्नान कर लेता है ॥

दृष्ट्वा तु कपिलां भक्त्या श्रुत्वा हुंकारनिःस्वनम्।
व्यपोहति नरः पापमहोरात्रकृतं नृप ॥

'राजन् ! भक्तिपूर्वक कपिला गौका दर्शन करके तथा उसके रँभानेकी आवाज सुनकर मनुष्य एक दिन-रातके पापोंको नष्ट कर डालता है ॥

गोसहस्रं तु यो दद्यादेकां च कपिलां नरः।
समं तस्य फलं प्राह ब्रह्मा लोकपितामहः ॥

'एक मनुष्य एक हजार गौओंका दान करे और दूसरा एक ही कपिला गौको दानमें दे तो लोकपितामह ब्रह्माजीने उन दोनोंका फल बराबर बतलाया है ॥

यस्त्वेवं कपिलां हन्यान्नरः कश्चित् प्रमादतः।
गोसहस्रं हतं तेन भवेन्नात्र विचारणा ॥

'इसी प्रकार कोई मनुष्य प्रमादवश यदि एक ही कपिला गौकी हत्या कर डाले तो उसे एक हजार गौओंके वधका पाप लगता है, इसमें संशय नहीं है ॥

दश वै कपिलाः प्रोक्ताः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
प्रथमा स्वर्णकपिला द्वितीया गौरपिङ्गला।
तृतीया रक्तपिङ्गाक्षी चतुर्थी गलपिङ्गला ॥
पञ्चमी बभ्रुवर्णाभा षष्ठी च श्वेतपिङ्गला।
सप्तमी रक्तपिङ्गाक्षी त्वष्टमी खुरपिङ्गला ॥
नवमी पाटला ज्ञेया दशमी पुच्छपिङ्गला।
दशैताः कपिलाः प्रोक्तास्तारयन्ति नरान् सदा ॥

'ब्रह्माजीने कपिला गौके दस भेद बतलाये हैं। पहली स्वर्णकपिला[1], दूसरी गौरपिङ्गला[2], तीसरी आरक्तपिङ्गाक्षी[3], चौथी गलपिङ्गला[4], पाँचवीं बभ्रुवर्णाभा[5], छठी श्वेतपिङ्गला[6], सातवीं रक्तपिङ्गाक्षी[7], आठवीं खुरपिङ्गला[8], नवीं पाटला[9] और दसवीं पुच्छपिङ्गला[10]—ये दस प्रकारकी कपिला गौएँ बतलायी गयी हैं, जो सदा मनुष्योंका उद्धार करती हैं ॥

मङ्गल्याश्च पवित्राश्च सर्वपापप्रणाशनाः।
एवमेव ह्यनड्वाहो दश प्रोक्ता नरेश्वर ॥

'नरेश्वर ! वे मङ्गलमयी, पवित्र और सब पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। गाड़ी खींचनेवाले बैलोंके भी ऐसे ही दस भेद बताये गये हैं ॥

ब्राह्मणो वाहयेत् तांस्तु नान्यो वर्णः कथंचन।
न वाहयेच्च कपिलां क्षेत्रे वाध्वनि वा द्विजः ॥

'उन बैलोंको ब्राह्मण ही अपनी सवारीमें जोते। दूसरे वर्णका मनुष्य उनसे सवारीका काम किसी प्रकार भी न ले। ब्राह्मण भी कपिला गौको खेतमें या रास्तेमें न जोते ॥

वाहयेद्धुङ्कृतेनैव शाखया वा सपत्रया।
न दण्डेन न वा यष्ट्या न पाशेन न वा पुनः ॥

'गाड़ीमें जुते रहनेपर उन बैलोंको हुङ्कारकी आवाज देकर अथवा पत्तेवाली टहनीसे हाँके। डंडेसे, छड़ीसे और रस्सीसे मारकर न हाँके ॥

न क्षुत्तृष्णाश्रमश्रान्तान् वाहयेद् विकलेन्द्रियान्।
अतृप्तेषु न भुञ्जीयात् पिबेत् पीतेषु चोदकम् ॥

'जब बैल भूख-प्यास और परिश्रमसे थके हुए हों तथा उनकी इन्द्रियाँ घबरायी हुई हों, तब उन्हें गाड़ीमें न जोते। जबतक बैलोंको खिलाकर तृप्त न कर ले तबतक स्वयं भी भोजन न करे। उन्हें पानी पिलाकर ही स्वयं जल-पान करे ॥

शुश्रूषोर्मातरश्चैताः पितरस्ते प्रकीर्तिताः।
अह्नः पूर्वत्र भागे च धुर्याणां वाहनं स्मृतम् ॥

'सेवा करनेवाले पुरुषकी कपिला गौएँ माता और बैल पिता हैं। दिनके पहले भागमें ही भार ढोनेवाले बैलोंको सवारीमें जोतना उचित माना गया है ॥

विश्रामेन्मध्यमे भागे भागे चान्ते यथासुखम्।
यत्र च त्वरया कृत्यं संशयो यत्र वाध्वनि।
वाहयेत् तत्र धुर्यांस्तु न स पापेन लिप्यते ॥

१. सुवर्णके समान पीले रंगवाली। २. गौर तथा पीले रंगवाली। ३. कुछ लालिमा लिये हुए पीले नेत्रोंवाली। ४. जिसके गरदनके बाल कुछ पीले हों। ५. जिसका सारा शरीर पीले रंगका हो। ६. कुछ सफेदी लिये हुए पीले रोमवाली। ७. सुर्ख और पीली आँखोंवाली। ८. जिसके खुर पीले रंगके हों। ९. जिसका हल्का लाल रंग हो। १०. जिसकी पूँछके बाल पीले रंगके हों।

'दिनके मध्य भागमें—दुपहरीके समय उन्हें विश्राम देना चाहिये; किंतु दिनके अन्तिम भागमें अपनी रुचिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये अर्थात् आवश्यकता हो तो उनसे काम ले और न हो तो न ले। जहाँ जल्दीका काम हो अथवा जहाँ मार्गमें किसी प्रकारका भय आनेवाला हो, वहाँ विश्रामके समय भी यदि बैलोंको सवारीमें जोते तो पाप नहीं लगता ॥

भ्रूणहत्यासमं पापं तस्य स्यात् पाण्डुनन्दन।
अन्यथा वाहयन् राजन् निरयं याति रौरवम् ॥

'पाण्डुनन्दन ! परंतु जो विशेष आवश्यकता न होनेपर भी ऐसे समयमें बैलोंको गाड़ीमें जोतता है, उसे भ्रूण-हत्याके समान पाप लगता है और वह रौरव नरकमें पड़ता है ॥

रुधिरं पातयेत् तेषां यस्तु मोहान्नराधिप।
तेन पापेन पापात्मा नरकं यात्यसंशयम् ॥

'नराधिप ! जो मोहवश बैलोंके शरीरसे रक्त निकाल देता है, वह पापात्मा उस पापके प्रभावसे निःसंदेह नरकमें गिरता है ॥

नरकेषु च सर्वेषु समाः स्थित्वा शतं शतम्।
इह मानुष्यके लोके बलीवर्दो भविष्यति ॥

'वह सभी नरकोंमें सौ-सौ वर्ष रहकर इस मनुष्यलोकमें बैलका जन्म पाता है ॥

तस्मात् तु मुक्तिमन्विच्छन् दद्यात् तु कपिलां नरः ॥

'अतः जो मनुष्य संसारसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कपिला गौका दान करना चाहिये ॥

कपिला सर्वयज्ञेषु दक्षिणार्थं विधीयते।
तस्मात् तद्दक्षिणा देया यज्ञेष्वेव द्विजातिभिः ॥

'सब प्रकारके यज्ञोंमें दक्षिणा देनेके लिये कपिला गौकी सृष्टि हुई है, इसलिये द्विजातियोंको यज्ञमें उनकी दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये ॥

होमार्थं चाग्निहोत्रस्य यां प्रयच्छेत् प्रयत्नतः।
श्रोत्रियाय दरिद्राय श्रान्तायामिततेजसे।
तेन दानेन पूतात्मा मम लोके महीयते ॥

'जो मनुष्य अग्निहोत्रके होमके लिये अमिततेजस्वी एवं धनहीन श्रोत्रिय ब्राह्मणको प्रयत्नपूर्वक कपिला गौ दानमें देता है, वह उस दानसे शुद्धचित्त होकर मेरे परमधाममें प्रतिष्ठित होता है ॥

सुवर्णखुरशृङ्गीं च कपिलां यः प्रयच्छति।
विषुवे चायने चापि सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥
तेनाश्वमेधतुल्येन मम लोकं स गच्छति ॥

'जो मनुष्य कपिलाके सींग और खुरोंमें सोना मढ़ाकर उसे विषुवयोगमें अथवा उत्तरायण-दक्षिणायनके आरम्भमें दान करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है तथा उस पुण्यके प्रभावसे वह मेरे लोकमें जाता है ॥

अग्निष्टोमसहस्रस्य वाजपेयं च तत्समम्।
वाजपेयसहस्रस्य अश्वमेधं च तत्समम्।
अश्वमेधसहस्रस्य राजसूयं च तत्समम् ॥

'एक हजार अग्निष्टोमके समान एक वाजपेय यज्ञ होता है। एक हजार वाजपेयके समान एक अश्वमेध होता है और एक हजार अश्वमेधके समान एक राजसूय-यज्ञ होता है ॥

कपिलानां सहस्रेण विधिदत्तेन पाण्डव।
राजसूयफलं प्राप्य मम लोके महीयते।
न तस्य पुनरावृत्तिर्विद्यते कुरुपुङ्गव ॥

'कुरुश्रेष्ठ पाण्डव ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे एक हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह राजसूय-यज्ञका फल पाकर मेरे परमधाममें प्रतिष्ठित होता है; उसे पुनः इस लोकमें नहीं लौटना पड़ता ॥

तैस्तैर्गुणैः कामदुघा च भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः।
स्वकर्मभिश्चाप्यनुबध्यमानं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम्।
महार्णवे नौरिव वायुनीता
दत्ता हि गौस्तारयते मनुष्यम् ॥

'दानमें दी हुई गौ अपने विभिन्न गुणोंद्वारा कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँचती है। वह अपने कर्मोंसे बँधकर घोर अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका उसी प्रकार उद्धार कर देती है, जैसे वायुके सहारेसे चलती हुई नाव मनुष्यको महासागरमें डूबनेसे बचाती है ॥

यथौषधं मन्त्रकृतं नरस्य
प्रयुक्तमात्रं विनिहन्ति रोगान्।
तथैव दत्ता कपिला सुपात्रे
पापं नरस्याशु निहन्ति सर्वम् ॥

'जैसे मन्त्रके साथ दी हुई ओषधि प्रयोग करते ही मनुष्यके रोगोंका नाश कर देती है, उसी प्रकार सुपात्रको दी हुई कपिला गौ मनुष्यके सब पापोंको तत्काल नष्ट कर डालती है ॥

यथा त्वचं वै भुजगो विहाय
पुनर्नवं रूपमुपैति पुण्यम्।
तथैव मुक्तः पुरुषः स्वपापै-
र्विरज्यते वै कपिलाप्रदानात् ॥

'जैसे साँप केंचुल छोड़कर नये स्वरूपको धारण करता है, वैसे ही पुरुष कपिला गौके दानसे पाप-मुक्त होकर अत्यन्त शोभाको प्राप्त होता है ॥

यथान्धकारं भवने विलग्नं
दीप्तो हि निर्यातयति प्रदीपः।

तथा नरः पापमपि प्रलीनं
निष्कामयेद् वै कपिलाप्रदानात् ॥

'जैसे प्रज्वलित दीपक घरमें फैले हुए अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार मनुष्य कपिला गौका दान करके अपने भीतर छिपे हुए पापको भी निकाल देता है ॥

यस्याहिताग्नेरतिथिप्रियस्य
शूद्रान्नदूरस्य जितेन्द्रियस्य ।
सत्यव्रतस्याध्ययनान्वितस्य
दत्ता हि गौस्तारयते परत्र ॥

'जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला, अतिथिका प्रेमी, शूद्रके अन्नसे दूर रहनेवाला, जितेन्द्रिय, सत्यवादी तथा स्वाध्यायपरायण हो, उसे दी हुई गौ परलोकमें दाताका अवश्य उद्धार करती है' ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कपिला गौमें देवताओंके निवासस्थानका तथा उसके माहात्म्यका, अयोग्य ब्राह्मणका, नरकमें ले जानेवाले पापोंका तथा स्वर्गमें ले जानेवाले पुण्योंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा परं पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार परम पुण्यमय कपिला गौके उत्तम दानका वर्णन सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरका मन बहुत प्रसन्न हुआ और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—॥

देवदेवेश कपिला यदा विप्राय दीयते ।
कथं सर्वेषु चाङ्गेषु तस्यास्तिष्ठन्ति देवताः ॥

'देवदेवेश्वर ! जो कपिला गौ ब्राह्मणको दानमें दी जाती है, उसके सम्पूर्ण अङ्गोंमें देवता किस प्रकार रहते हैं ? ॥

याश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश चैव त्वया मम ।
तासां कति सुरश्रेष्ठ कपिलाः पुण्यलक्षणाः ॥

'सुरश्रेष्ठ ! आपने जो दस प्रकारकी कपिला गौएँ बतलायी हैं, उनमेंसे कितनी कपिलाएँ पुण्यमयी मानी जाती हैं' ? ॥

युधिष्ठिरेणैवमुक्तः केशवः सत्यवाक् तदा ।
गुह्यानां परमं गुह्यं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥
शृणु राजन् पवित्रं वै रहस्यं धर्ममुत्तमम् ।

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उस समय सत्यवादी भगवान् श्रीकृष्ण गोपनीयसे भी अत्यन्त गोपनीय कथा कहने लगे—'राजन् ! मैं परम पवित्र, गोपनीय एवं उत्तम धर्मका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

इदं पठति यः पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् ।
प्रातरुत्थाय मद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

'जो मनुष्य सबेरे उठकर मुझमें भक्ति रखते हुए इस परम पुण्यमय उत्तम कपिला-दानके माहात्म्यका पाठ करता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥

मनसा कर्मणा वाचा मतिपूर्वं युधिष्ठिर ।
पापं रात्रिकृतं हन्यादस्याध्यायस्य पाठकः ॥

'युधिष्ठिर ! इस अध्यायका पाठ करनेवाला मनुष्य रात्रिमें मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा जान-बूझकर किये हुए सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

इदमावर्तमानस्तु श्राद्धे यस्तर्पयेद् द्विजान् ।
तस्याप्यमृतमश्नन्ति पितरोऽत्यन्तहर्षिताः ॥

'जो श्राद्धकालमें इस अध्यायका पाठ करते हुए ब्राह्मणोंको भोजन आदिसे तृप्त करता है, उसके पितर अत्यन्त प्रसन्न होकर अमृत भोजन करते हैं ॥

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना ।
तस्य रात्रिकृतं सर्वं पापमाशु प्रणश्यति ॥

'जो मुझमें चित्त लगाकर इस प्रसङ्गको भक्तिपूर्वक सुनता है, उसके एक रातके सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥

अतः परं विशेषं तु कपिलानां ब्रवीमि ते ।
याश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश राजन् मया तव ।
तासां चतस्रः प्रवराः पुण्याः पापविनाशनाः ॥

'अब मैं कपिला गौके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला रहा हूँ । राजन् ! पहले जो मैंने तुम्हें दस प्रकारकी कपिला गौएँ बतलायी हैं, उनमें चार कपिलाएँ अत्यन्त श्रेष्ठ, पुण्य प्रदान करनेवाली तथा पाप नष्ट करनेवाली हैं ॥

सुवर्णकपिला पुण्यास्तथा रक्ताक्षपिङ्गला ।
पिङ्गलाक्षी च या गौश्च स्यात् पिङ्गलपिङ्गला ॥
एताश्चतस्रः प्रवराः पवित्राः पापनाशनाः ।
नमस्कृता वा दृष्टा वा घ्नन्ति पापं नरस्य तु ॥

'सुवर्णकपिला, रक्ताक्षपिङ्गला, पिङ्गलाक्षी और पिङ्गलपिङ्गला—ये चार प्रकारकी कपिलाएँ श्रेष्ठ, पवित्र और पाप दूर करनेवाली हैं । इनके दर्शन और नमस्कारसे भी मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

यस्यैताः कपिलाः सन्ति गृहे पापप्रणाशनाः ।
तत्र श्रीर्विजयः कीर्तिः स्फीता नित्यं युधिष्ठिर ॥

'युधिष्ठिर ! ये पापनाशिनी कपिला गौएँ जिसके घरमें मौजूद रहती हैं वहाँ श्री, विजय और विशाल कीर्तिका नित्य निवास होता है ॥

एतासां प्रीतिमायाति क्षीरेण तु वृषध्वजः ।
दध्ना च त्रिदशाः सर्वे घृतेन तु हुताशनः ॥

'इनके दूधसे भगवान् शङ्कर, दहीसे सम्पूर्ण देवता और घीसे अग्निदेव तृप्त होते हैं ॥

कपिलायाः घृतं क्षीरं दधि पायसमेव वा ।
श्रोत्रियेभ्यः सकृद् दत्त्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

'कपिला गौके घी, दूध, दही अथवा खीरका एक बार भी श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको दान करके मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

उपवासं तु यः कृत्वाप्यहोरात्रं जितेन्द्रियः ।
कपिलापञ्चगव्यं तु पीत्वा चान्द्रायणात् परम् ॥

'जो जितेन्द्रिय रहकर एक दिन-रात उपवास करके कपिला गौका पञ्चगव्य पान करता है, उसे चान्द्रायणसे बढ़कर उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥

सौम्ये मुहूर्ते तत् प्राश्य शुद्धात्मा शुद्धमानसः ।
क्रोधानृतविनिर्मुक्तो मद्गतेनान्तरात्मना ॥

'जो क्रोध और असत्यका त्याग करके मुझमें चित्त लगाकर शुभ मुहूर्तमें कपिला गौके पञ्चगव्यका आचमन करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ॥

कपिलापञ्चगव्येन समन्त्रेण पृथक् पृथक् ।
यो मत्प्रतिकृतिं वापि शङ्कराकृतिमेव वा ।
स्नापयेद् विषुवे यस्तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

'जो विषुवयोगमें पृथक्-पृथक् मन्त्र पढ़कर कपिलाके पञ्चगव्यसे मेरी या शङ्करकी प्रतिमाको स्नान कराता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

स मुक्तपापः शुद्धात्मा यानेनाम्बरशोभिना ।
मम लोकं व्रजेन्मुक्तो रुद्रलोकमथापि वा ॥

'वह मुक्त, निष्पाप एवं शुद्धचित्त होकर आकाशकी शोभा बढ़ानेवाले विमानके द्वारा मेरे अथवा रुद्रके लोकमें गमन करता है ॥

तस्मात् तु कपिला देया परत्र हितमिच्छता ॥
यदा च दीयते राजन् कपिला ह्यग्निहोत्रिणे ।
तदा च शृङ्गयोस्तस्या विष्णुरिन्द्रश्च तिष्ठतः ।

'राजन्! इसलिये परलोकमें हित चाहनेवाले पुरुषको कपिला गौका दान अवश्य करना चाहिये। जिस समय अग्निहोत्री ब्राह्मणको कपिला गौ दानमें दी जाती है, उस समय उसके सींगोंके ऊपरी भागमें विष्णु और इन्द्र निवास करते हैं ॥

चन्द्रवज्रधरौ चापि तिष्ठतः शृङ्गमूलयोः ।
शृङ्गमध्ये तथा ब्रह्मा ललाटे गोवृषध्वजः ॥

'सींगोंकी जड़में चन्द्रमा और वज्रधारी इन्द्र रहते हैं। सींगोंके बीचमें ब्रह्मा तथा ललाटमें भगवान् शङ्करका निवास होता है ॥

कर्णयोरश्विनौ देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
दन्तेषु मरुतो देवा जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥
रोमकूपेषु मुनयश्चर्मण्येव प्रजापतिः ।
निःश्वासेषु स्थिता वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः ॥

'दोनों कानोंमें अश्विनीकुमार, नेत्रोंमें चन्द्रमा और सूर्य, दाँतोंमें मरुद्गण, जिह्वामें सरस्वती, रोमकूपोंमें मुनि, चमड़ेमें प्रजापति एवं श्वासोंमें षडङ्ग, पद और क्रमसहित चारों वेदोंका निवास है ॥

नासापुटे स्थिता गन्धाः पुष्पाणि सुरभीणि च ।
अधरे वसवः सर्वे मुखे चाग्निः प्रतिष्ठितः ॥

'नासिका-छिद्रोंमें गन्ध और सुगन्धित पुष्प, नीचेके ओठमें सब वसुगण तथा मुखमें अग्नि निवास करते हैं ॥

साध्या देवाः स्थिताः कक्षे ग्रीवायां पार्वती स्थिता ।
पृष्ठे च नक्षत्रगणाः ककुद्देशे नभःस्थलम् ॥
अपाने सर्वतीर्थानि गोमूत्रे जाह्नवी स्वयम् ।
अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते तदा ॥

'कक्षमें साध्य-देवता, गरदनमें पार्वती, पीठपर नक्षत्रगण, ककुद्के स्थानमें आकाश, अपानमें सारे तीर्थ, मूत्रमें साक्षात् गङ्गाजी तथा गोबरमें आठ ऐश्वर्योंसे सम्पन्न लक्ष्मीजी रहती हैं ॥

नासिकायां सदा देवी ज्येष्ठा वसति भामिनी ।
श्रोणीतटस्थाः पितरो रमा लाङ्गूलमाश्रिता ॥

'नासिकामें परम सुन्दरी ज्येष्ठादेवी, नितम्बोंमें पितर एवं पूँछमें भगवती रमा रहती हैं ॥

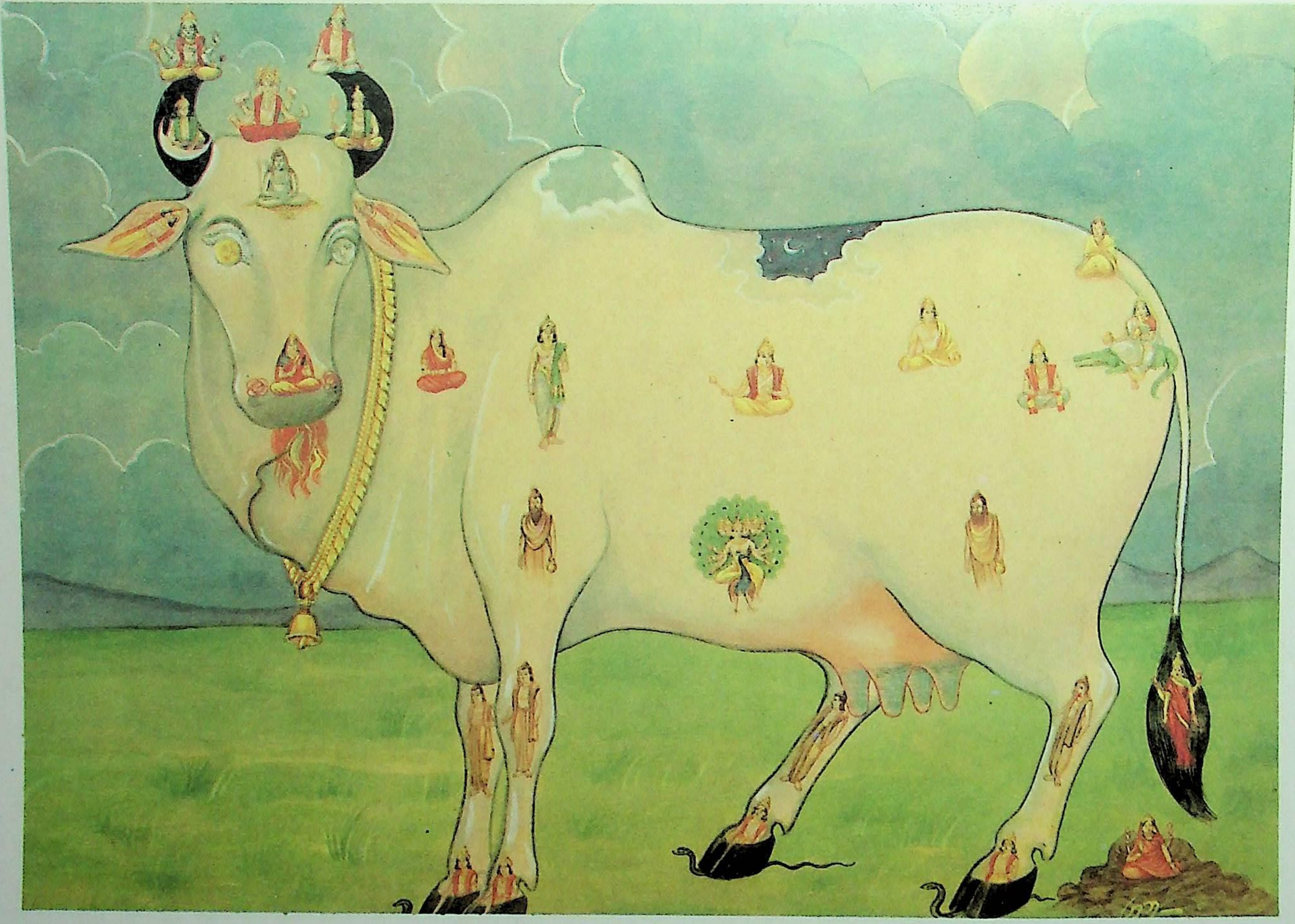
पार्श्वयोरुभयोः सर्वे विश्वेदेवाः प्रतिष्ठिताः ।
तिष्ठत्युरसि तासां तु प्रीतः शक्तिधरो गुहः ॥

'दोनों पसलियोंमें सब विश्वेदेव स्थित हैं और छातीमें प्रसन्न-चित्त शक्तिधारी कार्तिकेय रहते हैं ॥

जानुजङ्घोरुदेशेषु पञ्च तिष्ठन्ति वायवः ।
खुरमध्येषु गन्धर्वाः खुराग्रेषु च पन्नगाः ॥

'घुटनों और ऊरुओंमें पाँच वायु रहते हैं, खुरोंके मध्यमें गन्धर्व और खुरोंके अग्रभागमें सर्प निवास करते हैं।

चत्वारः सागराः पूर्णास्तस्या एव पयोधराः ।
रतिर्मेधा क्षमा स्वाहा श्रद्धा शान्तिर्धृतिः स्मृतिः ॥
कीर्तिर्दीप्तिः क्रिया कान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च संततिः ।
दिशश्च प्रदिशश्चैव सेवन्ते कपिलां सदा ॥



सर्वदेवमयी गो–माता

'जलसे परिपूर्ण चारों समुद्र उसके चारों स्तन हैं। रति, मेधा, क्षमा, स्वाहा, श्रद्धा, शान्ति, धृति, स्मृति, कीर्ति, दीप्ति, क्रिया, कान्ति, तुष्टि, पुष्टि, संतति, दिशा और प्रदिशा आदि देवियाँ सदा कपिला गौका सेवन किया करती हैं॥

देवाः पितृगणाश्चापि गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
लोका द्वीपार्णवाश्चैव गङ्गाद्याः सरितस्तथा॥
देवाः पितृगणाश्चापि वेदाः साङ्गाः सहाध्वरैः।
वेदोक्तैर्विविधैर्मन्त्रैः स्तुवन्ति हृषितास्तथा॥
विद्याधराश्च ये सिद्धा भूतास्तारागणास्तथा।
पुष्पवृष्टिं च वर्षन्ति प्रनृत्यन्ति च हर्षिताः॥

'देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सराएँ, लोक, द्वीप, समुद्र, गङ्गा आदि नदियाँ तथा अङ्गों और यज्ञोंसहित सम्पूर्ण वेद नाना प्रकारके मन्त्रोंसे कपिला गौकी प्रसन्नतापूर्वक स्तुति किया करते हैं। विद्याधर, सिद्ध, भूतगण और तारागण— ये कपिला गौको देखकर फूलोंकी वर्षा करते और हर्षमें भरकर नाचने लगते हैं॥

ब्रह्मणोत्पादिता देवी वह्निकुण्डान्महाप्रभा।
नमस्ते कपिले पुण्ये सर्वदेवैर्नमस्कृते॥
कपिलेऽथ महासत्त्वे सर्वतीर्थमये शुभे।

'वे कहते हैं—'सम्पूर्ण देवताओंसे वन्दित पुण्यमयी कपिलादेवी! तुम्हें नमस्कार है। ब्रह्माजीने तुम्हें अग्नि-कुण्डसे उत्पन्न किया है। तुम्हारी प्रभा विस्तृत और शक्ति महान् है। कपिलादेवी! समस्त तीर्थ तुम्हारे ही स्वरूप हैं और तुम सबका शुभ करनेवाली हो'॥

अहो रत्नमिदं पुण्यं सर्वदुःखघ्नमुत्तमम्।
अहो धर्मार्जितं शुद्धमिदमग्र्यं महाधनम्॥
इत्याकाशस्थितास्ते तु सर्वदेवा जपन्ति च॥

'समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर कहा करते हैं— 'अहो! यह कपिला गौरूपी रत्न कितना पवित्र और कितना उत्तम है! यह सब दुःखोंको दूर करनेवाला है। अहा! यह धर्मसे उपार्जित, शुद्ध, श्रेष्ठ और महान् धन है'॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवेश दैत्यघ्न कालः को हव्यकव्ययोः।
के तत्र पूजामर्हन्ति वर्जनीयाश्च के द्विजाः॥

युधिष्ठिरने पूछा—दैत्योंके विनाशक देवदेवेश्वर! हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध) का उत्तम समय कौन-सा है? उसमें किन ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये और किनका परित्याग?॥

श्रीभगवानुवाच

दैवं पूर्वाह्णिकं ज्ञेयं पैतृकं चापराह्णिकम्।
कालहीनं च यद् दानं तद् दानं राजसं विदुः॥

श्रीभगवान्ने कहा—युधिष्ठिर! देवकर्म (यज्ञ) पूर्वाह्णकालमें करने योग्य है और पितृकर्म (श्राद्ध) अपराह्ण-कालमें—ऐसा समझना चाहिये। जो दान अयोग्य समयमें किया जाता है, उस दानको राजस माना गया है।

अवघुष्टं च यद् भुक्तमनृतेन च भारत।
परामृष्टं शुना वापि तद् भागं राक्षसं विदुः॥

जिसके लिये लोगोंमें ढिंढोरा पीटा गया हो, जिसमेंसे किसी असत्यवादी मनुष्यने भोजन कर लिया हो तथा जो कुत्तेसे छू गया हो, उस अन्नको राक्षसोंका भाग समझना चाहिये॥

यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तादयोऽपि च।
दैवे च पित्र्ये ते विप्रा राजन् नार्हन्ति सत्क्रियाम्॥

राजन्! जितने पतित, जड और उन्मत्त ब्राह्मण हों, उनका देव-यज्ञ और पितृ-यज्ञमें सत्कार नहीं करना चाहिये॥

क्लीबः प्लीही च कुष्ठी च राजयक्ष्मान्वितश्च यः।
अपस्मारी च यश्चापि पित्र्ये नार्हति सत्कृतिम्॥

नपुंसक, प्लीहा रोगसे ग्रस्त, कोढ़ी और राजयक्ष्मा तथा मृगीका रोगी भी श्राद्धमें आदरके योग्य नहीं माना गया है॥

चिकित्सका देवलका मिथ्यानियमधारिणः।
सोमविक्रयिणश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम्॥

वैद्य, पुजारी, झूठे नियम धारण करनेवाले (पाखण्डी) तथा सोमरस बेचनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें सत्कार पानेके अधिकारी नहीं हैं॥

गायका नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा।
कथका यौधिकाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम्॥

गवैये, नाचने-कूदनेवाले, बाजा बजानेवाले, बकवादी और योद्धा श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं हैं॥

अनग्नयश्च ये विप्राः शवनिर्यातकाश्च ये।
स्तेनाश्चापि विकर्मस्था राजन् नार्हन्ति सत्कृतिम्॥

राजन्! अग्निहोत्र न करनेवाले, मुर्दा ढोनेवाले, चोरी करनेवाले और शास्त्रविरुद्ध कर्मसे संलग्न रहनेवाले ब्राह्मण भी श्राद्धमें सत्कार पानेयोग्य नहीं माने जाते॥

अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपुत्राश्च ये द्विजाः।
पुत्रिकापुत्रकाश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम्॥

जो अपरिचित हों, जो किसी समुदायके पुत्र हों अर्थात् जिनके पिताका निश्चित पता न हो तथा जो पुत्रिका-धर्मके अनुसार नानाके घरमें रहते हों, वे ब्राह्मण भी श्राद्धके अधिकारी नहीं हैं॥

रणकर्ता च यो विप्रो यश्च वाणिज्यको द्विजः।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम्॥

युद्धमें लड़नेवाला, रोजगार करनेवाला तथा पशु-पक्षियोंकी बिक्रीसे जीविका चलानेवाला ब्राह्मण भी श्राद्धमें सत्कार पानेका अधिकारी नहीं है॥

चीर्णव्रतगुणैर्युक्ता नित्यं स्वाध्यायतत्पराः।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते श्राद्धे सत्कृतिक्षमाः॥

परंतु जो ब्राह्मण व्रतका आचरण करनेवाले, गुणवान्, सदा स्वाध्यायपरायण, गायत्रीमन्त्रके ज्ञाता और क्रियानिष्ठ हों, वे श्राद्धमें सत्कारके योग्य माने गये हैं ॥

श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा ।
दर्भाः सुमनसः क्षेत्रं तत्काले श्राद्धदो भवेत् ॥

श्राद्धका सबसे उत्तम काल है सुपात्र ब्राह्मणका मिलना। जिस समय भी ब्राह्मण, दही, घी, कुशा, फूल और उत्तम क्षेत्र प्राप्त हो जायँ, उसी समय श्राद्धका दान आरम्भ कर देना चाहिये ॥

चारित्रनिरता राजन् कृशा ये कृशवृत्तयः ।
तपस्विनश्च ये विप्रास्तथा भैक्षचराश्च ये ॥
अर्थिनः केचिदिच्छन्ति तेषां दत्तं महत् फलम् ।

राजन्! जो ब्राह्मण सदाचारी, थोड़ी-सी आजीविका-पर गुजारा करनेवाले, दुर्बल, तपस्वी और भिक्षासे निर्वाह करनेवाले हों, वे यदि याचक होकर कुछ माँगने आवें तो उन्हें दिये हुए दानका महान् फल होता है ॥

एवं धर्मभृतां श्रेष्ठ ज्ञात्वा सर्वात्मना तदा ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय प्रयच्छानुपकारिणे ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! इन सब बातोंको पूर्ण-रूपसे जानकर धनहीन और अपना उपकार न करनेवाले वेदवेत्ता ब्राह्मणको दान करो ॥

दानं यत् ते प्रियं किंचिच्छ्रोत्रियाणां च यत् प्रियम् ।
तत् प्रयच्छस्व धर्मज्ञ यदीच्छसि तदक्षयम् ॥

धर्मज्ञ! यदि तुम अपने दानको अक्षय बनाना चाहते हो तो जो दान तुम्हें प्रिय लगता हो तथा जिसे वेदवेत्ता ब्राह्मण पसंद करते हों, वही दान करो ॥

निरयं ये च गच्छन्ति तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! अब नरकमें जानेवाले पुरुषोंका वर्णन सुनो ॥

परदारापहर्तारः परदाराभिमर्शकाः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥

जो परायी स्त्रीका अपहरण करते हैं, परस्त्रीके साथ व्यभिचार करते हैं और दूसरोंकी स्त्रियोंको दूसरे पुरुषोंसे मिलाया करते हैं, वे भी नरकमें पड़ते हैं ॥

सूचकाः संधिभेत्तारः परद्रव्योपजीविनः ।
वर्णाश्रमाणां ये बाह्याः पाखण्डाश्चैव पापिनः ।
उपासते च तानेव ते सर्वे नरकालयाः ॥

चुगलखोर, सुलहकी शर्त तोड़नेवाले, पराये धनसे जीविका चलानेवाले, वर्ण और आश्रमसे विरुद्ध आचरण करनेवाले, पाखण्डी, पापाचारी तथा जो उनकी सेवा करते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं ॥

क्षान्तान् दान्तान् कृशान् प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥

जो मनुष्य चिरकालतक अपने साथ रहे हुए सहन-शील, जितेन्द्रिय, दुर्बल और बुद्धिमान् मनुष्योंको भी काम निकल जानेपर त्याग देते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥

बालानामपि वृद्धानां श्रान्तानां चापि ये नराः ।
अदत्त्वाश्नन्ति मृष्टान्नं ते वै निरयगामिनः ॥

जो बच्चों, बूढ़ों तथा थके हुए मनुष्योंको कुछ न देकर अकेले ही मिठाई खाते हैं, उन्हें भी नरकमें गिरना पड़ता है ॥

एते पूर्वर्षिभिः प्रोक्ता नरा निरयगामिनः ।
ये स्वर्गं समनुप्राप्तास्ताञ्शृणुष्व युधिष्ठिर ॥

प्राचीन कालके ऋषियोंने इस प्रकार नरकगामी मनुष्योंका वर्णन किया है। युधिष्ठिर! अब स्वर्गमें जाने-वालोंका वर्णन सुनो ॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च ।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो दान, तपस्या, सत्य-भाषण और इन्द्रियसंयमके द्वारा निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

शुश्रूषयाप्युपाध्यायाच्छ्रुतमादाय पाण्डव ।
ये प्रतिग्रहनिस्स्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

पाण्डुनन्दन! जो उपाध्यायकी सेवा करके उनसे वेद पढ़ते तथा प्रतिग्रहमें आसक्ति नहीं रखते, वे मनुष्य स्वर्ग-गामी होते हैं ॥

मधुमांसासवेभ्यस्तु निवृत्ता व्रतिनस्तु ये ।
परदारनिवृत्ता ये ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मधु, मांस, आसव (मदिरा) से निवृत्त होकर उत्तम व्रतका पालन करते हैं और परस्त्रीके संसर्गसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं ॥

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नराः ।
भ्रातृणामपि सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मनुष्य माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंके प्रति स्नेह रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं ॥

ये तु भोजनकाले तु निर्याताश्चातिथिप्रियाः ।
द्वाररोधं न कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो भोजनके समय घरसे बाहर निकलकर अतिथि-सेवा करते हैं, अतिथियोंसे प्रेम रखते हैं और उनके लिये कभी अपना दरवाजा बंद नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥

वैवाहिकं तु कन्यानां दरिद्राणां च ये नराः।
कारयन्ति च कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो दरिद्र मनुष्योंकी कन्याओंका धनियोंसे ब्याह करा देते हैं अथवा स्वयं धनी होते हुए भी दरिद्रकी कन्यासे ब्याह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥

रसानामथ बीजानामोषधीनां तथैव च।
दातारः श्रद्धयोपेतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो श्रद्धापूर्वक रस, बीज और ओषधियोंका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

क्षेमाक्षेमं च मार्गेषु समानि विषमाणि च।
अर्थिनां ये च वक्ष्यन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो मार्गमें जिज्ञासा करनेवाले पथिकोंको अच्छे-बुरे, सुखदायक और दुःखदायक मार्गका ठीक-ठीक परिचय दे देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

पर्वद्वये चतुर्दश्यामष्टम्यां संध्ययोर्द्वयोः।
आर्द्रायां जन्मनक्षत्रे विषुवे श्रवणेऽथवा।
ये ग्राम्यधर्मविरतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी—इन तिथियोंमें, दोनों संध्याओंके समय, आर्द्रा नक्षत्रमें, जन्म-नक्षत्रमें, विषुव योगमें और श्रवणनक्षत्रमें स्त्रीसमागमसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य भी स्वर्गमें जाते हैं॥

हव्यकव्यविधानं च नरकस्वर्गगामिनौ।
धर्माधर्मौ च कथितौ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

राजन्! इस प्रकार हव्य-कव्यके विधानका समय बताया गया और स्वर्ग तथा नरकमें ले जानेवाले धर्म-अधर्मोंका वर्णन किया गया। अब और क्या सुनना चाहते हो॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[ब्रह्महत्याके समान पापका, अन्नदानकी प्रशंसाका, जिनका अन्न वर्जनीय है, उन पापियोंका, दानके फलका और धर्मकी प्रशंसाका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो देव वक्तुमर्हस्यशेषतः।
हिंसामकृत्वा यो मर्त्यो ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! मनुष्य ब्राह्मणकी हिंसा किये बिना ही ब्रह्महत्याके पापसे कैसे लिप्त हो जाता है, इस विषयको पूर्णतया ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये॥

श्रीभगवानुवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थं वृत्तिकर्शितम्।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात् तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! जो जीविकारहित ब्राह्मणको स्वयं ही भिक्षा देनेके लिये बुलाकर पीछे इनकार कर जाता है, उसे ब्रह्महत्यारा कहते हैं॥

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

भरतनन्दन! जो दुष्ट बुद्धिवाला पुरुष मध्यस्थ और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही कहते हैं॥

आश्रमे वाऽऽलये वापि ग्रामे वा नगरेऽपि वा।
अग्निं यः प्रक्षिपेत् क्रुद्धस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो क्रोधमें भरकर किसी आश्रम, घर, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलान्ते वसुधाधिप।
उत्पादयति यो विघ्नं तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

पृथ्वीनाथ! प्याससे तड़पते हुए गोसमुदायको जो पानीके निकट पहुँचनेमें बाधा डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक्छास्त्रं वा मुनिभिः कृतम्।
दूषयत्यनभिज्ञाय तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो परम्परागत वैदिक श्रुतियों और ऋषिप्रणीत सच्छास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा कहते हैं॥

चक्षुषा वापि हीनस्य पङ्गोर्वापि जडस्य वा।
हरेद् वै यस्तु सर्वस्वं तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो अन्धे, पङ्गु और गूँगे मनुष्यका सर्वस्व हरण कर लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

गुरुं त्वंकृत्य हुंकृत्य अतिक्रम्य च शासनम्।
वर्तते यस्तु मूढात्मा तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो मूर्खतावश गुरुको 'तू' कहकर पुकारता है, हुङ्कारके द्वारा उनका तिरस्कार करता है तथा उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मनमाना बर्ताव करता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

यावत्सारो भवेद् दीनस्तन्नाशे यस्य दुःस्थितिः।
तत् सर्वस्वं हरेद् यो वै तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

जो दीन मनुष्य किञ्चित् प्राप्त वस्तुओंको ही अपने लिये सार-सर्वस्व समझता है और उनके नाशसे जिसकी दुर्दशा हो जाती है, ऐसे मनुष्यका जो पुरुष सर्वस्व छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामपि दानानां यत् तु दानं विशिष्यते।
अभोज्यान्नाश्च ये विप्रास्तान् वदस्व सुरोत्तम॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! जो दान सब दानोंसे

श्रेष्ठ माना गया हो, उसको बतलाइये। सुरश्रेष्ठ! जिन ब्राह्मणोंका अन्न खाने योग्य न हो, उनका परिचय दीजिये॥

श्रीभगवानुवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ब्रह्मपुरस्सराः।
अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! ब्रह्मा आदि सभी देवता अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं, अतः अन्नके समान दान न कोई हुआ है न होगा॥

अन्नमूर्जस्करं लोके ह्यन्नात् प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
अभोज्यान्नान् मया राजन् वक्ष्यमाणान् निबोध मे॥

क्योंकि अन्न ही इस जगत्‌में बल देनेवाला है तथा अन्नके ही आधारपर प्राण टिके रहते हैं। राजन्! अब मैं उन लोगोंका परिचय दे रहा हूँ, जिनका अन्न ग्रहण करने योग्य नहीं माना गया है, ध्यान देकर सुनो॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रुद्धस्य निकृतस्य च।
अभिशप्तस्य षाण्ढस्य पाकभेदकरस्य च॥
चिकित्सकस्य दूतस्य तथा चोच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतकान्नं च शूद्रोच्छेषणमेव च॥
द्विषदन्नं न भोक्तव्यं पतितान्नं च यच्छ्रुतम्।

यज्ञमें दीक्षित, कदर्य, क्रोधी, शठ, शापग्रस्त, नपुंसक, भोजनमें भेद करनेवाले, चिकित्सक, दूत, उच्छिष्टभोजी, वर्णसंकर तथा अशौचमें पड़े हुए मनुष्यका अन्न, शूद्रकी जूठन, शत्रुका अन्न और जो पतितका अन्न माना गया है, उसे भी नहीं खाना चाहिये॥

तथा च पिशुनस्यान्नं यज्ञविक्रयिणस्तथा॥
शैलूषं तन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च।
अम्बष्ठकनिषादानां रङ्गावतरकस्य च॥
सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा।
सूतानां शौण्डिकानां च वैद्यस्य रजकस्य च॥
स्त्रीजितस्य नृशंसस्य तथा माहिषिकस्य च।
अनिर्दशानां प्रेतानां गणिकानां तथैव च॥

इसी प्रकार चुगुलखोर, यज्ञका फल बेचनेवाले, नट और कपड़ा बुननेवाले जुलाहेका अन्न एवं कृतघ्नका अन्न, अम्बष्ठ, निषाद, रङ्गभूमिमें नाटक खेलनेवाले, सुनार, वीणा बजाकर जीनेवाले, हथियार बेचनेवाले, सूत, शराब बेचनेवाले, वैद्य, धोबी, स्त्रीके वशमें रहनेवाले, क्रूर और भैंस चरानेवालेका अन्न भी अग्राह्य माना गया है। जिनके यहाँ मरणाशौचके दस दिन न बीते हों, उनका तथा वेश्याओंका अन्न नहीं खाना चाहिये॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मविकर्तिनः॥

राजाका अन्न तेजका, शूद्रका अन्न ब्राह्मणत्वका, सुनारका अन्न आयुका और चमारका अन्न सुयशका नाश करता है॥

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकीर्तितम्।
पूयं चिकित्सकस्यान्नं शुक्लं तु वृषलीपतेः॥
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्।

किसी समूहका और वेश्याका अन्न भी लोकनिन्दित माना गया है। वैद्यका अन्न पीब तथा व्यभिचारिणीके पतिका अन्न वीर्यके समान एवं ब्याजखोरका अन्न विष्ठाके समान माना गया है, इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये॥

अमत्यान्नमथैतेषां भुक्त्वा तु त्रियहं क्षिपेत्।
मत्या भुक्त्वा सकृद् वापि प्राजापत्यं चरेद् द्विजः॥

यदि अनजानमें इनका अन्न ग्रहण कर लिया गया हो तो तीन दिनतक उपवास करना चाहिये; किंतु जान-बूझकर एक बार भी इनका अन्न खा लेनेपर ब्राह्मणको प्राजापत्य-व्रतका आचरण करना चाहिये॥

दानानां च फलं यद् वै शृणु पाण्डव तत्त्वतः।
जलदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः॥

पाण्डुनन्दन! अब मैं दानोंका यथार्थ फल बतला रहा हूँ, सुनो। जल-दान करनेवालेको तृप्ति होती है और अन्न देनेवालेको अक्षय सुख मिलता है॥

तिलदश्च प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम्।
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः॥

तिलका दान करनेवाला मनुष्य मनके अनुरूप संतान, दीप-दान करनेवाला पुरुष उत्तम नेत्र, भूमि देनेवाला भूमि और सुवर्ण-दान करनेवाला दीर्घ आयु पाता है॥

गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।
वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः॥

गृह देनेवालेको सुन्दर भवन और चाँदी दान करनेवालेको उत्तम रूपकी प्राप्ति होती है। वस्त्र देनेवाला चन्द्रलोकमें और अश्वदान करनेवाला अश्विनीकुमारोंके लोकमें जाता है॥

अनडुहः श्रियं जुष्टां गोदो गोलोकमश्नुते।
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः॥

गाड़ी ढोनेवाले बैलका दान करनेवाला मनोऽनुकूल लक्ष्मीको पाता है और गो-दान करनेवाला पुरुष गोलोकके सुखका अनुभव करता है। सवारी और शय्या-दान करनेवाले पुरुषको स्त्रीकी तथा अभय-दान देनेवालेको ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है॥

धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसाम्यताम्।
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते॥

धान्य दान करनेवाला मनुष्य शाश्वत सुख पाता है और वेद प्रदान करनेवाला पुरुष परब्रह्मकी समताको प्राप्त होता है। वेदका दान सब दानोंमें श्रेष्ठ है ॥

हिरण्यभूगवाश्वाजवस्त्रशय्यासनादिषु ।
योऽर्चितः प्रतिगृह्णाति दद्यादुचितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं च विपर्यये ॥

जो सोना, पृथ्वी, गौ, अश्व, बकरा, वस्त्र, शय्या और आसन आदि वस्तुओंको सम्मानपूर्वक ग्रहण करता है तथा जो दाता न्यायानुसार आदरपूर्वक दान करता है, वे दोनों ही स्वर्गमें जाते हैं; परंतु जो इसके विपरीत अनुचितरूपसे देते और लेते हैं, उन दोनोंको नरकमें गिरना पड़ता है ॥

अनृतं न वदेद् विद्वांस्तपस्तप्त्वा न विस्मयेत् ।
नार्तोऽप्यभिभवेद् विप्रान् न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥

विद्वान् पुरुष कभी झूठ न बोले, तपस्या करके उसपर गर्व न करे, कष्टमें पड़ जानेपर भी ब्राह्मणोंका अनादर न करे तथा दान देकर उसका बखान न करे ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रावमानेन दानं तु परिकीर्तनात् ॥

झूठ बोलनेसे यज्ञका क्षय होता है, गर्व करनेसे तपस्याका क्षय होता है, ब्राह्मणके अपमानसे आयुका और अपने मुँहसे बखान करनेपर दानका नाश हो जाता है ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रमीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकश्चाप्नोति दुष्कृतम् ॥

जीव अकेले जन्म लेता है, अकेले मरता है तथा अकेले ही पुण्यका फल भोगता है और अकेले ही पापका फल भोगता है ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुवर्तते ॥

बन्धु-बान्धव मनुष्यके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर डालकर मुँह फेरकर चल देते हैं। उस समय केवल धर्म ही जीवके पीछे-पीछे जाता है ॥

अनागतानि कार्याणि कर्तुं गणयते मनः ।
शरीरकं समुद्दिश्य स्मयते नूनमन्तकः ॥
तस्माद् धर्मसहायस्तु धर्मं संचिनुयात् सदा ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

मनुष्यका मन भविष्यके कार्योंको करनेका हिसाब लगाया करता है, किंतु काल उसके नाशवान् शरीरको लक्ष्य करके मुसकराता रहता है; इसलिये धर्मको ही सहायक मानकर सदा उसीके संग्रहमें लगे रहना चाहिये; क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकके पार हो जाता है ॥

येषां तडागानि बहूदकानि
सभाश्च कूपाश्च शुभाः प्रपाश्च ।
अन्नप्रदानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्विषया भवन्ति ॥

जिन्होंने अधिक जलसे भरे हुए अनेकों सरोवर, धर्मशालाएँ, कुएँ और सुन्दर पौंसले बनवाये हैं तथा जो सदा अन्नका दान करते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, उनपर यमराजका जोर नहीं चलता ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[धर्म और शौचके लक्षण, संन्यासी और अतिथिके सत्कारके उपदेश, शिष्टाचार, दानपात्र ब्राह्मण तथा अन्न-दानकी प्रशंसा]

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किंलक्षणोऽसौ भवति तन्मे ब्रूहि जनार्दन ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जनार्दन ! मनीषी पुरुष धर्मको अनेकों प्रकारका और बहुत-से द्वारवाला बतलाते हैं। वास्तवमें उसका लक्षण क्या है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् समासेन धर्मशौचविधिक्रमम् ।
अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! तुम धर्म और शौचकी विधिका क्रम संक्षेपसे सुनो। राजेन्द्र ! अहिंसा, शौच, क्रोधका अभाव, क्रूरताका अभाव, दम, शम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं ॥

ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ॥

ब्रह्मचर्य, तपस्या, क्षमा, मधु-मांसका त्याग, धर्ममर्यादाके भीतर रहना और मनको वशमें रखना—ये सब शौच (पवित्रता) के लक्षण हैं ॥

बाल्ये विद्यां निषेवेत यौवने दारसंग्रहम् ।
वार्धके मौनमातिष्ठेत् सर्वदा धर्ममाचरेत् ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह बचपनमें विद्याध्ययन करे, युवावस्था होनेपर स्त्रीके साथ विवाह करे और बुढ़ापेमें मुनिवृत्तिका आश्रय ले एवं धर्मका आचरण सदा ही सब अवस्थाओंमें करता रहे ॥

ब्राह्मणान् नावमन्येत गुरून् परिवदेन्न च ।
यतीनामनुकूलः स्यादेष धर्मः सनातनः ॥

ब्राह्मणोंका अपमान न करे, गुरुजनोंकी निन्दा न करे

और संन्यासी महात्माओंके अनुकूल बर्ताव करे—यह सनातन धर्म है ॥

यतिर्गुरुर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥

ब्राह्मणोंका गुरु संन्यासी है, चारों वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है, समस्त स्त्रियोंके लिये गुरु उनका पति है और सबका गुरु राजा है ॥

एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखी वा मुण्डितोऽपि वा।
काषायदण्डधारोऽपि यतिः पूज्यो न संशयः ॥

संन्यासी एक दण्ड धारण करनेवाला हो या तीन दण्ड, बड़ी-बड़ी जटाएँ रखता हो या माथा मुँडाये रहता हो अथवा गेरुआ वस्त्र पहननेवाला हो, निःसंदेह उसका सत्कार करना चाहिये ॥

तस्मात् तु यत्नतः पूज्या मद्भक्ता मत्परायणाः।
मयि संन्यस्तकर्माणः परत्र हितकाङ्क्षिभिः ॥

इसलिये जो परलोकमें अपना कल्याण चाहते हों, उन पुरुषोंको उचित है कि वे मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पण करनेवाले मेरे शरणागत भक्तोंका यत्नपूर्वक सत्कार करें ॥

प्रहरेन्न द्विजान् विप्रो गां न हन्यात् कदाचन ।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥

ब्राह्मणोंपर हाथ न छोड़े और गायको कभी न मारे । जो ब्राह्मण इन दोनोंपर प्रहार करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप लगता है ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्न च पादौ प्रतापयेत्।
नाधः कुर्यात् कदाचित् तु न पृष्ठं परितापयेत्॥

अग्निको मुँहसे न फूँके, पैरोंको आगपर न तपावे और आगको पैरसे न कुचले तथा पीठकी ओरसे अग्निका सेवन न करे ॥

श्वचण्डालादिभिः स्पृष्टो नाङ्गमग्नौ प्रतापयेत्।
सर्वदेवमयो वह्निस्तस्माच्छुद्धः सदा स्पृशेत् ॥

जो मनुष्य कुत्ते या चाण्डालसे छू गया हो, उसे अपना अङ्ग अग्निमें नहीं तपाना चाहिये; क्योंकि अग्नि सर्वदेवतारूप है । अतः सदा शुद्ध होकर उसका स्पर्श करना चाहिये ॥

प्राप्तमूत्रपुरीषस्तु न स्पृशेद् वह्निमात्मवान् ।
यावत् तु धारयेद् वेगं तावदप्रयतो भवेत् ॥

मल या मूत्रकी हाजत होनेपर बुद्धिमान् पुरुषको अग्निका स्पर्श नहीं करना चाहिये, क्योंकि जबतक यह मल-मूत्रका वेग धारण करता है, तबतक अशुद्ध रहता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
कीदृशेभ्यो हि दातव्यं तन्मे ब्रूहि जनार्दन ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जनार्दन ! जिनको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कैसे होते हैं ? तथा किस प्रकारके ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्रोधनाः सत्यपरा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! जो क्रोध न करनेवाले, सत्यपरायण, सदा धर्ममें लगे रहनेवाले और जितेन्द्रिय हों, वे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं तथा उन्हींको दान देनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है ॥

अमानिनः सर्वसहा दृष्टार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

जो अभिमानशून्य, सब कुछ सहनेवाले, शास्त्रीय अर्थके ज्ञाता, इन्द्रियजयी, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी, सबके साथ मैत्रीका भाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक है ॥

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वधर्मनिरता ये तु तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, संकोची, सत्यवादी और स्वधर्मपरायण हों, उनको दिया हुआ दान महान् फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है ॥

साङ्गांश्च चतुरो वेदान् योऽधीयेत दिने दिने ।
शूद्रान्नं यस्य नो देहे तत् पात्रमृषयो विदुः ॥

जो प्रतिदिन अङ्गोंसहित चारों वेदोंका स्वाध्याय करता हो और जिसके उदरमें शूद्रका अन्न न पड़ा हो, उसको ऋषियोंने दानका उत्तम पात्र माना है ॥

प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत् तत्कुलं सर्वमेकोऽपीह युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! यदि शुद्ध बुद्धि, शास्त्रीय ज्ञान, सदाचार और उत्तम शीलसे युक्त एक ब्राह्मण भी दान ग्रहण कर ले तो वह दाताके समस्त कुलका उद्धार कर देता है ॥

गामश्वमन्नं वित्तं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
निशम्य तु गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम् ।
दूरादाहृत्य सत्कृत्य तं प्रयत्नेन पूजयेत् ॥

ऐसे ब्राह्मणको गाय, घोड़ा, अन्न और धन देना चाहिये । सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित किसी गुणवान् ब्राह्मणका नाम सुनकर उसे दूरसे भी बुलाना और प्रयत्नपूर्वक उसका सत्कार तथा पूजन करना चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविधिस्त्वेवं भीष्मेण सम्प्रभाषितम् ।

भीष्मवाक्यात् सारभूतं वद धर्मं सुरेश्वर ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवेश्वर ! धर्म और अधर्मकी इस विधिका भीष्मजीने विस्तारके साथ वर्णन किया था । आप उनके वचनोंमेंसे सारभूत धर्म छाँटकर बतलाइये ॥

श्रीभगवानुवाच

अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
अन्नात् प्रभवति प्राणः प्रत्यक्षं नास्ति संशयः॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! समस्त चराचर जगत् अन्नके ही आधारपर टिका हुआ है । अन्नसे प्राणकी उत्पत्ति होती है, यह बात प्रत्यक्ष है; इसमें संशय नहीं है ॥

कलत्रं पीडयित्वा तु देशे काले च शक्तितः ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको स्त्रीको कष्ट देकर अर्थात् उसके भोजनमेंसे बचाकर भी देश और काल-का विचार करके भिक्षुकको शक्तिके अनुसार अवश्य अन्न-दान करना चाहिये ॥

विप्रमध्वपरिश्रान्तं बालं वृद्धमथापि वा ।
अर्चयेद् गुरुवत् प्रीतो गृहस्थो गृहमागतम् ॥

ब्राह्मण बालक हो अथवा बूढ़ा, यदि वह रास्तेका थका-माँदा घरपर आ जाय तो गृहस्थ पुरुषको बड़ी प्रसन्नताके साथ गुरुकी भाँति उसका सत्कार करना चाहिये ॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अर्चयेदतिथिं प्रीतः परत्र हितभूतये ॥

परलोकमें कल्याणकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अपने प्रकट हुए क्रोधको भी रोककर, मत्सरताका त्याग करके सुशीलता और प्रसन्नतापूर्वक अतिथिकी पूजा करनी चाहिये ॥

अतिथिं नावमन्येत नानृतां गिरमीरयेत् ।
न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन ॥

गृहस्थ पुरुष कभी अतिथिका अनादर न करे, उससे झूठी बात न कहे तथा उसके गोत्र, शाखा और अध्ययनके विषयमें भी कभी प्रश्न न करे ॥

चण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः ।
अन्नेन पूजनीयः स्यात् परत्र हितमिच्छता ॥

भोजनके समयपर चाण्डाल या श्वपाक (महा चाण्डाल) भी घर आ जाय तो परलोकमें हित चाहनेवाले गृहस्थको अन्नके द्वारा उसका सत्कार करना चाहिये ॥

पिधाय तु गृहद्वारं भुङ्क्ते योऽन्नं प्रहृष्टवान् ।
स्वर्गद्वारपिधानं वै कृतं तेन युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! जो (किसी भिक्षुकके भयसे) अपने घरका दरवाजा बंद करके प्रसन्नतापूर्वक भोजन करता है, उसने मानो अपने लिये स्वर्गका दरवाजा बंद कर दिया है ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च निराश्रयान् ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥

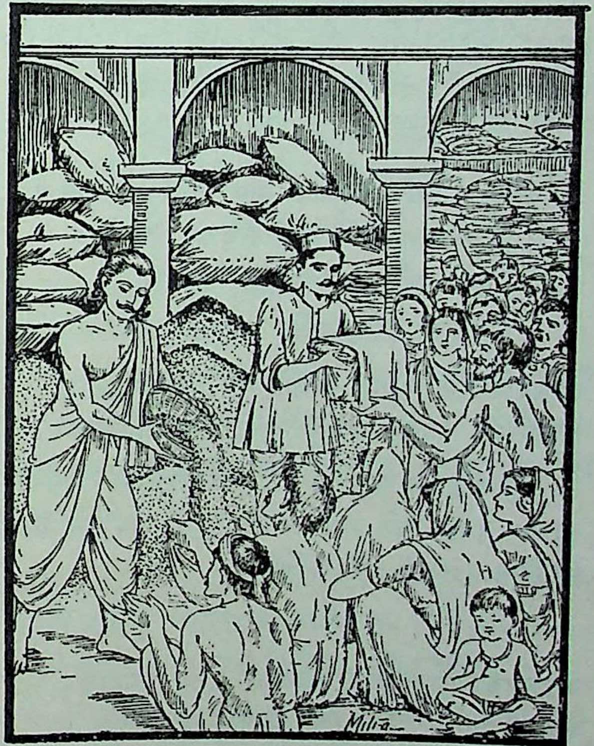
जो देवताओं, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों, अतिथियों और निराश्रय मनुष्योंको अन्नसे तृप्त करता है, उसको महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥

कृत्वा तु पापं बहुशो यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

जिसने अपने जीवनमें बहुत-से पाप किये हों, वह भी यदि याचक ब्राह्मणको विशेषरूपसे अन्नदान करता है तो सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत् ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ॥

संसारमें अन्न देनेवाला पुरुष प्राणदाता माना जाता है और जो प्राणदाता है, वही सब कुछ देनेवाला है । अतः कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अन्नका दान विशेषरूपसे करना चाहिये ॥



अन्नं ह्यमृतमित्याहुरन्नं प्रजननं स्मृतम् ।
अन्नप्रणाशे सीदन्ति शरीरे पञ्च धातवः ॥

अन्नको अमृत कहते हैं और अन्न ही प्रजाको जन्म देनेवाला माना गया है । अन्नके नाश होनेपर शरीरके पाँचों धातुओंका नाश हो जाता है ॥

बलं बलवतो नश्येदन्नहीनस्य देहिनः ।
तस्मादन्नं विशेषेण श्रद्धयाश्रद्धयापि वा ॥

बलवान् पुरुष भी यदि अन्नका त्याग कर दे तो उसका बल नष्ट हो जाता है। इसलिये श्रद्धासे हो या अश्रद्धासे, अधिक चेष्टा करके अन्न-दान देना चाहिये ॥

आदत्ते हि रसं सर्वमादित्यः स्वगभस्तिभिः।
वायुस्तस्मात् समादाय रसं मेघेषु धारयेत् ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे पृथ्वीका सारा रस खींचते हैं और हवा उसे लेकर बादलोंमें स्थापित कर देती है ॥

तत् तु मेघगतं भूमौ शक्रो वर्षति तादृशम्।
तेन दिग्धा भवेद् देवी मही प्रीता च भारत ॥

भरतनन्दन ! बादलोंमें पड़े हुए उस रसको इन्द्र पुनः इस पृथ्वीपर बरसाते हैं। उससे आप्लावित होकर पृथ्वी देवी तृप्त होती है ॥

तस्यां सस्यानि रोहन्ति यैर्जीवन्त्यखिलाः प्रजाः।
मांसमेदोऽस्थिमज्ज्ञानां सम्भवस्तेभ्य एव हि ॥

तब उसमेंसे अन्नके पौधे उगते हैं, जिनसे सम्पूर्ण प्रजाका जीवन-निर्वाह होता है। मांस, मेद, अस्थि और मज्जाकी उत्पत्ति नाना प्रकारके अन्नसे ही होती है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भोजनकी विधि, गौओंको घास डालनेका विधान और तिलका माहात्म्य तथा ब्राह्मणके लिये तिल और गन्ना पेरनेका निषेध]

युधिष्ठिर उवाच

अन्नदानफलं श्रुत्वा प्रीतोऽस्मि मधुसूदन।
भोजनस्य विधिं वक्तुं देवदेव त्वमर्हसि ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवाधिदेव मधुसूदन ! अन्न-दानका फल सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, अब आप भोजनकी विधि बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

भोजनस्य द्विजातीनां विधानं शृणु पाण्डव।
स्नातः शुचिः शुचौ देशे निर्जने हुतपावकः ॥
मण्डलं कारयित्वा च चतुरस्रं द्विजोत्तमः।
क्षत्रियश्चेत् ततो वृत्तं वैश्योऽर्धेन्दुसमाकृतम्॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! द्विजातियोंके भोजनका जो विधान है, उसे सुनो। श्रेष्ठ द्विजको उचित है कि वह स्नान करके पवित्र हो अग्निहोत्र करनेके बाद शुद्ध और एकान्त स्थानमें बैठकर ब्राह्मण हो तो चौकोना, क्षत्रिय हो तो गोलाकार और वैश्य हो तो अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीयात् प्राङ्मुखश्चासने शुचौ।
पादाभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा पादेनैकेन वा पुनः ॥

उसके बाद पैर धोकर उसी मण्डलमें बिछे हुए शुद्ध आसनके ऊपर पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाय और दोनों पैरोंसे अथवा एक पैरके द्वारा पृथ्वीका स्पर्श किये रहे ॥

नैकवासास्तु भुञ्जीयान्न चान्तर्धाय वा द्विजः।
न भिन्नपात्रे भुञ्जीत पर्णपृष्ठे तथैव च ॥

द्विज एक वस्त्र पहनकर तथा सारे शरीरको कपड़ेसे ढककर भी भोजन न करे। इसी प्रकार फूटे हुए बर्तनमें तथा उल्टी पत्तलमें भी भोजन करना निषिद्ध है ॥

अन्नं पूर्वं नमस्कुर्यात् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
नान्यदालोकयेदन्नान्न जुगुप्सेत तत्परः ॥

भोजन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि प्रसन्नचित्त होकर पहले अन्नको नमस्कार करे। अन्नके सिवा दूसरी ओर दृष्टि न डाले तथा भोजन करते समय परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे ॥

जुगुप्सितं च यच्चान्नं राक्षसा एव भुञ्जते।
पाणिना जलमुद्धृत्य कुर्यादन्नं प्रदक्षिणम् ॥

जिस अन्नकी निन्दा की जाती है, उसे राक्षस खाते हैं ! भोजन आरम्भ करनेसे पहले हाथमें जल लेकर उसके द्वारा अन्नकी प्रदक्षिणा करे ॥

पञ्च प्राणाहुतीः कुर्यात् समन्त्रं तु पृथक्पृथक्॥

फिर मन्त्र पढ़कर पृथक्-पृथक् पाँचों प्राणोंको अन्नकी आहुति दे ॥

यथा रसं न जानाति जिह्वा प्राणाहुतौ नृप।
तथा समाहितः कुर्यात् प्राणाहुतिमतन्द्रितः ॥

राजन् ! प्राणोंको आहुति देते समय स्थिरचित्त और सावधान होकर इस प्रकार प्राणोंको आहुति दे, जिससे जिह्वाको रसका ज्ञान न हो ॥

विदित्वान्नमथान्नादं पञ्च प्राणांश्च पाण्डव।
यः कुर्यादाहुतीः पञ्च तेनेष्टाः पञ्च वायवः ॥

पाण्डुनन्दन ! अन्न, अन्नाद और पाँचों प्राणोंके तत्त्वको जानकर जो प्राणाग्निहोत्र करता है, उसके द्वारा पञ्चवायुओंका यजन हो जाता है ॥

अतोऽन्यथा तु भुञ्जानो ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
तेनान्नेनासुरान् प्रेतान् राक्षसांस्तर्पयिष्यति ॥

इसके विपरीत भोजन करनेवाला मूर्ख ब्राह्मण अन्नके द्वारा असुर, प्रेत और राक्षसोंको ही तृप्त करता है ॥

वक्त्रप्रमाणान् पिण्डांश्च ग्रसेदेकैकशः पुनः।
वक्त्राधिकं तु यत् पिण्डमात्मोच्छिष्टं तदुच्यते॥

प्राणोंको आहुति देनेके पश्चात् अपने मुखमें पड़ने लायक एक-एक ग्रास अन्न उठाकर भोजन करे। जो ग्रास

अपने मुखमें जानेकी अपेक्षा बड़ा होनेके कारण एक बारमें न खाया जा सके, उसमेंसे बचा हुआ ग्रास अपना उच्छिष्ट कहा जाता है ॥

पिण्डावशिष्टमन्यच्च वक्त्रान्निस्सृतमेव च।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।

ग्राससे बचे हुए तथा मुँहसे निकले हुए अन्नको अखाद्य समझे और उसे खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करे ॥

स्वमुच्छिष्टं तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभोजनम् ॥
चान्द्रायणं चरेत् कृच्छ्रं प्राजापत्यमथापि वा ।

जो अपना जूठा खाता है तथा एक बार खाकर छोड़े हुए भोजनको फिर ग्रहण करता है, उसको चान्द्रायण, कृच्छ्र अथवा प्राजापत्य-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

स्त्रीपात्रभुङ्नरः पापः स्त्रीणामुच्छिष्टभुक्तथा ॥
तया सह च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते मद्यमेव हि।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

जो पापी स्त्रीके भोजन किये हुए पात्रमें भोजन करता है, स्त्रीका जूठा खाता है तथा स्त्रीके साथ एक बर्तनमें भोजन करता है, वह मानो मदिरा पान करता है। तत्त्वदर्शी मुनियोंने उस पापसे छूटनेका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं देखा है ॥

पिबतः पतिते तोये भोजने मुखनिस्सृते ।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि पानी पीते-पीते उसकी बूँद मुँहसे निकलकर भोजनमें गिर पड़े तो वह खाने योग्य नहीं रह जाता। जो उसे खा लेता है, उस पुरुषको चान्द्रायणव्रतका आचरण करना चाहिये ॥

पीतशेषं तु तन्नाम न पेयं पाण्डुनन्दन ।
पिबेद् यदि हि तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥

पाण्डुनन्दन ! इसी प्रकार पीनेसे बचा हुआ पानी भी पुनः पीनेके योग्य नहीं रहता। यदि कोई ब्राह्मण मोहवश उसको पी ले तो उसे चान्द्रायणव्रतका आचरण करना चाहिये ॥

मौनी वाप्यथवा भूमौ नावलोक्य दिशस्तथा ।
भुञ्जीत विधिवद् विप्रो न चोच्छिष्टं प्रदापयेत् ॥

ब्राह्मणको उचित है कि वह मौन होकर पृथ्वी या दिशाओंकी ओर न देखते हुए विधिवत् भोजन करे, किसीको अपना जूठा न दे ॥

सदा चात्यशनं नाद्यान्नातिहीनं च कर्हिचित् ।
यथान्नेन व्यथा न स्यात् तथा भुञ्जीत नित्यशः ॥

कभी भी न तो बहुत अधिक और न कम ही भोजन करे। प्रतिदिन उतना ही अन्न खाय, जिससे अपनेको कष्ट न हो ॥

केशकीटोपपन्नं च मुखमारुतवीजितम् ।
अभोज्यं तद् विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

जिस भोजनमें बाल या कोई कीड़ा पड़ा हो, जिसे मुँहसे फूँककर ठंडा किया गया हो, उसको अखाद्य समझना चाहिये। ऐसे अन्नको भोजन कर लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

उत्थाय च पुनः स्पृष्टं पादस्पृष्टं च लङ्घितम् ।
अन्नं तद् राक्षसं विद्यात् तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥

भोजनके स्थानसे उठ जानेके बाद जिसे फिर छू दिया गया हो, जो पैरसे छू गया या लाँघ दिया गया हो, वह राक्षसके खाने योग्य अन्न है; ऐसा समझकर उसका त्याग कर देना चाहिये ॥

यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्तवानासनात् ततः ।
स्नानं सद्यः प्रकुर्वीत सोऽन्यथाप्रयतो भवेत् ॥

यदि आचमन किये बिना ही भोजन करनेवाला द्विज भोजनके आसनसे उठ जाय तो उसे तुरंत स्नान करना चाहिये, अन्यथा वह अपवित्र ही रहता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

तृणमुष्टिविधानं च तिलमाहात्म्यमेव च ।
इक्षोः सोमसमुद्भूतिं वक्तुमर्हसि मानद ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! गौओंके आगे घासकी मुट्ठी डालनेका विधान और तिलका माहात्म्य क्या है तथा गन्नेसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है—यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

पितरो वृषभा ज्ञेया गावो लोकस्य मातरः ।
तासां तु पूजया राजन् पूजिताः पितृदेवताः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! बैलोंको जगत्‌का पिता समझना चाहिये और गौएँ संसारकी माताएँ हैं, उनकी पूजा करनेसे सम्पूर्ण पितरों और देवताओंकी पूजा हो जाती है ॥

सभा प्रपा गृहाश्चापि देवतायतनानि च ।
शुद्ध्यन्ति शकृता यासां किं भूतमधिकं ततः ॥

जिनके गोबरसे लीपनेपर सभा-भवन, पौंसले, घर और देवमन्दिर भी शुद्ध हो जाते हैं, उन गौओंसे बढ़कर और कौन प्राणी हो सकता है ? ॥

ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात् संवत्सरं तु यः ।
अकृत्वा स्वयमाहारं प्राप्नस्तत् सार्वकालिकम् ॥

जो मनुष्य एक सालतक स्वयं भोजन करनेके पहले प्रतिदिन दूसरेकी गायको मुट्ठीभर घास खिलाया करता है, उसको प्रत्येक समय गौकी सेवा करनेका फल प्राप्त होता है ॥

गावो मे मातरः सर्वाः पितरश्चैव गोवृषाः।
ग्रासमुष्टिं मया दत्तं प्रतिगृह्णीत मातरः ॥

गोमाताके सामने घास रखकर इस प्रकार कहना चाहिये—'संसारकी समस्त गौएँ मेरी माताएँ और सम्पूर्ण वृषभ मेरे पिता हैं। गोमाताओ ! मैंने तुम्हारी सेवामें यह घासकी मुट्ठी अर्पण की है, इसे स्वीकार करो' ॥

इत्युक्त्वानेन मन्त्रेण गायत्र्या वा समाहितः।
अभिमन्त्र्य ग्रासमुष्टिं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

यह मन्त्र पढ़कर अथवा गायत्रीका उच्चारण करके एकाग्रचित्तसे घासको अभिमन्त्रित करके गौको खिला दे। ऐसा करनेसे जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होती है, उसे सुनो ॥

यत् कृतं दुष्कृतं तेन ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
तस्य नश्यति तत् सर्वं दुःस्वप्नं च विनश्यति ॥

उस पुरुषने जान-बूझकर या अनजानमें जो-जो पाप किये होते हैं, वह सब नष्ट हो जाते हैं तथा उसको कभी बुरे स्वप्न नहीं दिखायी देते ॥

तिलाः पवित्राः पापघ्ना नारायणसमुद्भवाः।
तिलाञ्छ्राद्धे प्रशंसन्ति दानं चेदमनुत्तमम् ॥

तिल बड़े पवित्र और पापनाशक होते हैं, भगवान् नारायणसे उनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिये श्राद्धमें तिलकी बड़ी प्रशंसा की गयी है और तिलका दान अत्यन्त उत्तम दान बताया गया है ॥

तिलान् दद्यात् तिलान् भक्षयात् तिलान् प्रातरुपस्पृशेत्।
तिलं तिलमिति ब्रूयात् तिलाः पापहरा हि ते ॥

तिल दान करे, तिल भक्षण करे और सबेरे तिलका उबटन लगाकर स्नान करे तथा सदा ही अपने मुँहसे 'तिल-तिल'का उच्चारण किया करे; क्योंकि तिल सब पापोंको नष्ट करनेवाले होते हैं ॥

तिलान् न पीडयेद् विप्रो यन्त्रचक्रे स्वयं नृप।
पीडयन् हि द्विजो मोहान्नरकं याति रौरवम् ॥

राजन् ! ब्राह्मणको स्वयं तिल पेरनेकी मशीनमें तिल डालकर तेल नहीं पेरना चाहिये। जो मोहवश स्वयं ही तिल पेरता है, वह रौरव नरकमें पड़ता है ॥

इक्षुवंशोद्भवः सोमः सोमवंशोद्भवा द्विजाः।
तस्मान्न पीडयेदिक्षुं यन्त्रचक्रे द्विजोत्तमः ॥

युधिष्ठिर ! चन्द्रमा इक्षु (गन्ने) के वंशमें उत्पन्न हुआ है और ब्राह्मण चन्द्रमाके वंशमें उत्पन्न हुए हैं। इसलिये ब्राह्मणको कोल्हूमें गन्ना नहीं पेरना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[आपद्धर्म, श्रेष्ठ और निन्द्य ब्राह्मण, श्राद्धका उत्तम काल और मानव-धर्म-सारका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

समुच्चयं च धर्माणां भोज्याभोज्यं तथैव च।
श्रुतं मया त्वत्प्रसादादापद्धर्मं वदस्व मे ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मैंने सब धर्मोंके संग्रहका एवं भोजनके योग्य और भोजनके अयोग्य अन्नका विषय भी सुन लिया। अब कृपा करके आपद्धर्मका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

दुर्भिक्षे राष्ट्रसम्बाधेऽप्याशौचे मृतसूतके।
धर्मकालेऽध्वनि तथा नियमो येन लुप्यते ॥
दूराध्वगमनात् खिन्नो द्विजालाभेऽथ शूद्रतः।
अकृतान्नं तु यत् किंचिद् गृह्णीयादात्मवृत्तये ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! जब देशमें अकाल पड़ा हो, राष्ट्रके ऊपर कोई आपत्ति आयी हो, जन्म या मृत्युका सूतक हो तथा कड़ी धूपमें रास्ता चलना पड़ा हो और इन सब कारणोंसे नियमका निर्वाह न हो सके तथा दूरका मार्ग तै करनेके कारण विशेष थकावट आ गयी हो, उस अवस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके न मिलनेपर शूद्रसे भी जीवन-निर्वाहके लिये थोड़ा-सा कच्चा अन्न लिया जा सकता है ॥

आतुरो दुःखितो वापि तथार्तो वा बुभुक्षितः।
भुञ्जन्नविधिना विप्रः प्रायश्चित्तायते न च ॥

रोगी, दुखी, पीड़ित और भूखा ब्राह्मण यदि विधि-विधानके बिना भोजन कर ले तो भी उसे प्रायश्चित्त नहीं लगता ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥

जल, मूल, घी, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा पूर्ण करना, गुरुकी आज्ञाका पालन और ओषधि—इन आठोंके सेवनसे व्रतका भंग नहीं होता ॥

अशक्तो विधिवत् कर्तुं प्रायश्चित्तानि यो नरः।
विदुषां वचनेनापि दानेनापि विशुद्ध्यति ॥

जो मनुष्य विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करनेमें असमर्थ हो, वह विद्वानोंके वचनसे तथा दानके द्वारा भी शुद्ध हो सकता है ॥

अनृतावृतुकाले वा दिवा रात्रौ तथापि वा।

प्रोषितस्तु स्त्रियं गच्छेन्न प्रायश्चित्तीयते न च ॥

परदेशमें रहनेवाला पुरुष यदि कुछ कालके लिये घर आवे तो वह ऋतुकालमें तथा उससे भिन्न समयमें भी, रातमें या दिनमें भी अपनी स्त्रीके साथ समागम करनेपर प्रायश्चित्तका भागी नहीं होता ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रशस्याः कीदृशा विप्रा निन्द्याश्चापि सुरेश्वर।
अष्टकायाश्च कः कालस्तन्मे कथय सुव्रत ॥

युधिष्ठिरने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवेश्वर ! कैसे ब्राह्मण प्रशंसाके योग्य होते हैं और कैसे निन्दाके योग्य ? तथा अष्टका-श्राद्धका कौन-सा समय है ? यह मुझे बताइये ॥

श्रीभगवानुवाच

कुलीनः कर्मकृद् वैद्यस्तथा चाप्यानृशंस्यवान्।
श्रीमानृजुः सत्यवादी पात्राः सर्व इमे द्विजाः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! उत्तम कुलमें उत्पन्न, शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले, विद्वान्, दयालु, श्रीसम्पन्न, सरल और सत्यवादी—ये सभी ब्राह्मण सुपात्र (प्रशंसाके योग्य) माने जाते हैं ॥

एते चाग्रासनस्थास्ते भुञ्जानाः प्रथमं द्विजाः।
तस्यां पङ्क्त्यां तु ये चान्ये तान् पुनन्त्येव दर्शनात् ॥

ये आगेके आसनपर बैठकर सबसे पहले भोजन करनेके अधिकारी हैं तथा उस पंक्तिमें जितने लोग बैठे होते हैं, उन सबको ये अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥

मद्भक्ता ये द्विजश्रेष्ठा मद्गता मत्परायणाः।
तान् पङ्क्तिपावनान् विद्धि पूज्यांश्चैव विशेषतः ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझमें मन लगानेवाले और मेरे शरणागत भक्त हों, उन्हें पङ्क्तिपावन समझो। वे विशेषरूपसे पूजा करनेके योग्य हैं ॥

निन्द्यान्शृणु द्विजान् राजन्नपि वा वेदपारगान् ॥
ब्राह्मणच्छद्मना लोके चरतः पापकारिणः।

राजन् ! अब निन्दाके योग्य ब्राह्मणोंका वर्णन सुनो। जो ब्राह्मण संसारमें कपटपूर्ण बर्ताव करते हैं, वे वेदोंके पारगामी विद्वान् होनेपर भी पापाचारी ही माने जाते हैं ॥

अनग्निरनधीयानः प्रतिग्रहरुचिस्तु यः ॥
यतस्ततस्तु भुञ्जानस्तं विद्याद् ब्रह्मदूषकम्।

जो अग्निहोत्र और स्वाध्याय न करता हो, सदा दान लेनेकी ही रुचि रखता हो और जहाँ कहीं भी भोजन कर लेता हो, उसको ब्राह्मणजातिका कलंक समझना चाहिये ॥

मृतसूतकपुष्टाङ्गो यश्च शूद्रान्नभुग् द्विजः।
अहं चापि न जानामि गतिं तस्य नराधिप ॥
शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गोऽप्यधीयानो हि नित्यशः।
जपतो जुह्वतो वापि गतिरूर्ध्वं न विद्यते ॥

नरेश्वर ! जिसका शरीर मरणाशौचका अन्न खाकर मोटा हुआ हो, जो शूद्रका अन्न भोजन करता हो और शूद्रके ही अन्नके रससे पुष्ट हुआ हो, उस ब्राह्मणकी किस प्रकार गति होती है, मैं नहीं जानता; क्योंकि प्रतिदिन स्वाध्याय, जप और होम करनेपर भी उसकी उत्तम गति नहीं होती ॥

आहिताग्निश्च यो विप्रः शूद्रान्नान्न निवर्तते।
पञ्च तस्य प्रणश्यन्ति आत्मा ब्रह्म त्रयोऽग्नयः॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेपर भी शूद्रके अन्नसे बचा न रहता हो, उसके आत्मा, वेदाध्ययन और तीनों अग्नि—इन पाँचोंका नाश हो जाता है ॥

शूद्रप्रेषणकर्तुश्च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
भूमावन्नं प्रदातव्यं श्वशृगालसमो हि सः ॥

शूद्रकी सेवा करनेवाले ब्राह्मणको खानेके लिये विशेषतः जमीनपर ही अन्न डाल देना चाहिये; क्योंकि वह कुत्ते और गीदड़के ही समान होता है ॥

प्रेतभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

जो ब्राह्मण मूर्खतावश मरे हुए शूद्रके शवके पीछे-पीछे श्मशानभूमिमें जाता है, उसको तीन रातका अशौच लगता है ॥

त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥

तीन रात पूर्ण होनेपर किसी समुद्रमें मिलनेवाली नदीके भीतर स्नान करके सौ बार प्राणायाम करे और घी पीवे तो वह शुद्ध होता है ॥

अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजोत्तमाः।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं ते प्राप्नुवन्ति हि ॥

जो श्रेष्ठ द्विज किसी अनाथ ब्राह्मणके शवको श्मशानमें ले जाते हैं, उन्हें पग-पगपर अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

न तेषामशुभं किंचित् पापं वा शुभकर्मणाम्।
जलावगाहनादेव सद्यः शौचं विधीयते ॥

उन शुभ कर्म करनेवालोंको किसी प्रकारका अशुभ या पाप नहीं लगता। वे जलमें स्नान करनेमात्रसे तत्काल शुद्ध हो जाते हैं ॥

शूद्रवेश्मनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं विद्धि शूद्रान्नमेव तत् ॥

निवृत्तिमार्गपरायण ब्राह्मणको शूद्रके घरमें दूध या दही भी नहीं खाना चाहिये। उसे भी शूद्रान्न ही समझना चाहिये ॥

विप्राणां भोक्तुकामानामत्यन्तं चान्नकाङ्क्षिणाम्।
यो विघ्नं कुरुते मर्त्यस्ततो नान्योऽस्ति पापकृत् ॥

अत्यन्त भूखे होनेके कारण अन्नकी इच्छावाले ब्राह्मणोंके भोजनमें जो मनुष्य विघ्न डालता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं है ॥

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः
सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति
शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥

राजन्! यदि ब्राह्मण शील एवं सदाचारसे रहित हो जाय तो छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेद, सांख्य, पुराण और उत्तम कुलका जन्म—ये सब मिलकर भी उसे सद्गति नहीं दे सकते ॥

ग्रहोपरागे विषुवेऽयनान्ते
पित्र्ये मघासु स्वसुते च जाते।
गयेषु पिण्डेषु च पाण्डुपुत्र
दत्तं भवेन्निष्कसहस्रतुल्यम् ॥

पाण्डुनन्दन! ग्रहणके समय, विषुवयोगमें, अयन समाप्त होनेपर, पितृकर्म (श्राद्ध आदि) में, मघानक्षत्रमें, अपने यहाँ पुत्रका जन्म होनेपर तथा गयामें पिण्डदान करते समय जो दान दिया जाता है, वह एक हजार स्वर्णमुद्राके दान देनेके समान होता है ॥

वैशाखमासस्य तु या तृतीया
नवम्यसौ कार्त्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे
त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे ॥
उपप्लवे चन्द्रमसो रवेश्च
श्राद्धस्य कालो ह्ययनद्वये च।
पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं
दद्यात् पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः।
श्राद्धं कृतं तेन समा सहस्रं
रहस्यमेतत् पितरो वदन्ति ॥

वैशाखमासकी शुक्ला तृतीया, कार्तिक शुक्लपक्षकी तृतीया, भाद्रपद मासकी कृष्णा त्रयोदशी, माघकी अमावास्या, चन्द्रमा और सूर्यका ग्रहण तथा उत्तरायण और दक्षिणायनके प्रारम्भिक दिन—ये श्राद्धके उत्तम काल हैं। इन दिनोंमें मनुष्य पवित्र-चित्त होकर यदि पितरोंके लिये तिलमिश्रित जलका भी दान कर दे तो उसके द्वारा एक हजार वर्षतक श्राद्ध किया हुआ हो जाता है। यह रहस्य स्वयं पितरोंका बतलाया हुआ है ॥

यस्त्वेकपङ्क्त्यां विषमं ददाति
स्नेहाद् भयाद् वा यदि वार्थहेतोः।
क्रूरं दुराचारमनात्मवन्तं
ब्रह्मघ्नमेनं कवयो वदन्ति ॥

जो मनुष्य स्नेह या भयके कारण अथवा धन पानेकी इच्छासे एक पङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंको भोजन परोसनेमें भेद करता है, उसे विद्वान् पुरुष क्रूर, दुराचारी, अजितात्मा और ब्रह्महत्यारा बतलाते हैं ॥

धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते परलोकमूढाः।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नान्यत् सुखं देहसुखे रतानाम् ॥

शत्रुसूदन! जिनके पास धनका भण्डार भरा हुआ है और जो परलोकके विषयमें कुछ भी न जाननेके कारण सदा भोग-विलासमें ही रम रहे हैं, वे केवल दैहिक सुखमें ही आसक्त हैं। अतः उनके लिये इस लोकका ही सुख सुलभ है; पारलौकिक सुख तो उन्हें कभी नहीं मिलता ॥

ये चैव मुक्तास्तपसि प्रयुक्ताः
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहम्।
जितेन्द्रिया भूतहिते निविष्टा-
स्तेषामसौ चापि परश्च लोकः ॥

जो विषयोंकी आसक्तिसे मुक्त होकर तपस्यामें संलग्न रहते हों, जिन्होंने नित्य स्वाध्याय करते हुए अपने शरीरको दुर्बल कर दिया हो, जो इन्द्रियोंको वशमें रखते हों और समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें लगे रहते हों, उनके लिये इस लोकका भी सुख सुलभ है और परलोकका भी ॥

ये चैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ते।
न चापि गच्छन्ति सुखानि भोगां-
स्तेषामयं चापि परश्च नास्ति ॥

परंतु जो मूर्ख न विद्या पढ़ते हैं, न तप करते हैं, न दान देते हैं, न शास्त्रानुसार संतानोत्पादनका प्रयत्न करते हैं और न अन्य सुख-भोगोंका ही अनुभव कर पाते हैं, उनके लिये न इस लोकमें सुख है न परलोकमें ॥

युधिष्ठिर उवाच

नारायण पुराणेश लोकावास नमोऽस्तु ते।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन धर्मसारसमुच्चयम् ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन्! आप साक्षात् नारायण, पुरातन ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्के निवासस्थान हैं। आपको नमस्कार है। अब मैं सम्पूर्ण धर्मोंका सार पूर्णतया श्रवण करना चाहता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्मसारं महाप्राज्ञ मनुना प्रोक्तमादितः।
प्रवक्ष्यामि मनुप्रोक्तं पौराणं श्रुतिसंहितम् ॥

श्रीभगवान् बोले—महाप्राज्ञ ! मनुजीने सृष्टिके आदि-कालमें जो धर्मके सार-तत्त्वका वर्णन किया है, वह पुराणोंके अनुकूल और वेदके द्वारा समर्थित है । उसी मनुप्रोक्त धर्मका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्रात् पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत तान् सदा ॥

अग्निहोत्री द्विज, कपिला गौ, यज्ञ करनेवाला पुरुष, राजा, संन्यासी और महासागर—ये दर्शनमात्रसे मनुष्यको पवित्र कर देते हैं, इसलिये सदा इनका दर्शन करना चाहिये ॥

बहूनां न प्रदातव्या गौर्वस्त्रं शयनं स्त्रियः ।
तादृग्भूतं तु तद् दानं दातारं नोपतिष्ठति ॥

एक गौ, एक वस्त्र, एक शय्या और एक स्त्रीको कभी अनेक मनुष्योंके अधिकारमें नहीं देना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर उस दानका फल दाताको नहीं मिलता ॥

मा ददात्विति यो ब्रूयाद् ब्राह्मणेषु च गोषु च ।
तिर्यग्योनिशतं गत्वा चण्डालेषूपजायते ॥

जो ब्राह्मणको और गौको आहार देते समय 'मत दो' कहकर मना करता है, वह सौ बार पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेकर अन्तमें चाण्डाल होता है ॥

ब्राह्मणस्वं च यद् दैवं दरिद्रस्यैव यद् धनम् ।
गुरोश्चापि हृतं राजन् स्वर्गस्थानपि पातयेत् ॥

राजन् ! ब्राह्मणका, देवताका, दरिद्रका और गुरुका धन यदि चुरा लिया जाय तो वह स्वर्गवासियोंको भी नीचे गिरा देता है ॥

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।
द्वितीयं धर्मशास्त्राणि तृतीयं लोकसंग्रहः ॥

जो धर्मका तत्त्व जानना चाहते हैं, उनके लिये वेद मुख्य प्रमाण हैं, धर्मशास्त्र दूसरा प्रमाण है और लोकाचार तीसरा प्रमाण है ॥

आसमुद्राच्च यत् पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् ।
हिमाद्रिविन्ध्ययोर्मध्यमार्यावर्तं प्रचक्षते ॥

पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक और हिमालय तथा विन्ध्याचलके बीचका जो देश है, उसे आर्यावर्त कहते हैं ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तद् देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

सरस्वती और दृषद्वती—इन दोनों देवनदियोंके बीचका जो देवताओंद्वारा रचा हुआ देश है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

जिस देशमें चारों वर्णों तथा उनके अवान्तर भेदोंका जो आचार पूर्वपरम्परासे चला आता है, वही उनके लिये सदाचार कहलाता है ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनयः ।
एते ब्रह्मर्षिदेशास्तु ब्रह्मावर्तादनन्तराः ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन—ये ब्रह्मर्षियोंके देश हैं और ब्रह्मावर्तके समीप हैं ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं चरित्रं च गृह्णीयुः पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इस देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पास जाकर भूमण्डलके सम्पूर्ण मनुष्योंको अपने-अपने आचारकी शिक्षा लेनी चाहिये ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विशसनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागात् तु मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥

हिमालय और विन्ध्याचलके बीचमें कुरुक्षेत्रसे पूर्व और प्रयागसे पश्चिमका जो देश है, वह मध्यदेश कहलाता है ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो याज्ञिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परम् ॥

जिस देशमें कृष्णसारनामक मृग स्वभावतः विचरा करता है, वही यज्ञके लिये उपयोगी देश है; उससे भिन्न म्लेच्छोंका देश है ॥

एतान् विज्ञाय देशांस्तु संश्रयेरन् द्विजातयः ।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥

इन देशोंका परिचय प्राप्त करके द्विजातियोंको इन्हींमें निवास करना चाहिये; किंतु शूद्र जीविका न मिलनेपर निर्वाह-के लिये किसी भी देशमें निवास कर सकता है ॥

आचारः प्रथमो धर्मो ह्यहिंसा सत्यमेव च ।
दानं चैव यथाशक्ति नियमाश्च यमैः सह ॥

सदाचार, अहिंसा, सत्य, शक्तिके अनुसार दान तथा यम और नियमोंका पालन—ये मुख्य धर्म हैं ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि-पर्यन्त सब संस्कार वेदोक्त पवित्र विधियों और मन्त्रोंके अनुसार कराना चाहिये; क्योंकि संस्कार इहलोक और परलोकमें भी पवित्र करनेवाला है ॥

गर्भहोमैर्जातकर्मनामचौलोपनायनैः ।
स्वाध्यायैस्तद्व्रतैश्चैव विवाहस्नातकव्रतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

गर्भाधान-संस्कारमें किये जानेवाले हवनके द्वारा और जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन, वेदोक्त व्रतोंके पालन, स्नातकके पालनेयोग्य व्रत, विवाह,

पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठान तथा अन्यान्य यज्ञोंके द्वारा इस शरीरको परब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है ॥

धर्मार्थौ यदि न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
विद्या तस्मिन् न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥

जिससे न धर्मका लाभ होता हो, न अर्थका तथा विद्या-प्राप्तिके अनुकूल जो सेवा भी नहीं करता हो, उस शिष्यको विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये, ठीक उसी तरह जैसे ऊसर खेतमें उत्तम बीज नहीं बोया जाता ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा।
यस्माज्ज्ञानमिदं प्राप्तं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥

जिस पुरुषसे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उस गुरुको पहले प्रणाम करना चाहिये ॥

सव्येन सव्यं संगृह्य दक्षिणेन तु दक्षिणम्।
न कुर्यादेकहस्तेन गुरोः पादाभिवादनम् ॥

अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण पकड़कर प्रणाम करना चाहिये। गुरुको एक हाथसे कभी प्रणाम नहीं करना चाहिये ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
अध्यापयति चैवैनं स विप्रो गुरुरुच्यते ॥

जो गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिवत् कराता है और वेद पढ़ाता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है ॥

कृत्वोपनयनं वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सकल्पान् सरहस्यांश्च स चोपाध्याय उच्यते ॥

जो उपनयन-संस्कार कराकर कल्प और रहस्योंसहित वेदोंका नित्य अध्ययन कराता है, उसे उपाध्याय कहते हैं ॥

साङ्गांश्च वेदानध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते॥

जो षडङ्गयुक्त वेदोंको पढ़ाकर वैदिक व्रतोंकी शिक्षा देता है और मन्त्रार्थोंकी व्याख्या करता है, वह आचार्य कहलाता है ॥

उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

गौरवमें दस उपाध्यायोंसे बढ़कर एक आचार्य, सौ आचार्योंसे बढ़कर पिता और सौ पितासे भी बढ़कर माता है ॥

एतेषामपि सर्वेषां गरीयान् ज्ञानदो गुरुः।
गुरोः परतरं किंचिन्न भूतं न भविष्यति ॥

किंतु जो ज्ञान देनेवाले गुरु हैं, वे इन सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। गुरुसे बढ़कर न कोई हुआ, न होगा ॥

तस्मात् तेषां वशे तिष्ठेच्छुश्रूषापरमो भवेत्।
अवमानाद्धि तेषां तु नरकं स्यान्न संशयः ॥

इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त गुरुजनोंके अधीन रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहना चाहिये। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गुरुजनोंके अपमानसे नरकमें गिरना पड़ता है ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

जो लोग किसी अङ्गसे हीन हों, जिनका कोई अङ्ग अधिक हो, जो विद्यासे हीन, अवस्थाके बूढ़े, रूप और धनसे रहित तथा जातिसे भी नीच हों, उनपर आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥

शपता यत् कृतं पुण्यं शप्यमानं तु गच्छति।
शप्यमानस्य यत् पापं शपन्तमनुगच्छति ॥

क्योंकि आक्षेप करनेवाले मनुष्यका पुण्य, जिसका आक्षेप किया जाता है, उसके पास चला जाता है और उसका पाप आक्षेप करनेवालेके पास चला आता है ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं विवर्जयेत्॥

नास्तिकता, वेदोंकी निन्दा, देवताओंपर दोषारोपण, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध तथा कठोरता—इनका परित्याग कर देना चाहिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[अग्निके स्वरूपमें अग्निहोत्रकी विधि तथा उसके माहात्म्यका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

कथं तद् ब्राह्मणैर्देव होतव्यं क्षत्रियैः कथम्।
वैश्यैर्वा देवदेवेश कथं वा सुहुतं भवेत् ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवदेवेश्वर ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको किस प्रकार हवन करना चाहिये ? और उनके द्वारा किस प्रकार किया हुआ हवन शुभ होता है ? ॥

कत्यग्नयः किमात्मानः स्थानं किं कस्य वा विभो।
कतरस्मिन् हुते स्थानं कं व्रजेदाग्निहोत्रिकः ॥

विभो ! अग्निके कितने भेद हैं ? उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या हैं ? किस अग्निका कहाँ स्थान है ? अग्निहोत्री पुरुष किस अग्निमें हवन करके किस लोकको प्राप्त होता है ? ॥

अग्निहोत्रनिमित्तं च किमुत्पन्नं पुरानघ।
कथमेवाथ हूयन्ते प्रीयन्ते च सुराः कथम् ॥

निष्पाप ! पूर्वकालमें अग्निहोत्र किसके निमित्तसे उत्पन्न हुआ था ? देवताओंके लिये किस प्रकार हवन किया जाता है और कैसे उनकी तृप्ति होती है ? ॥

विधिवन्मन्त्रवत् कृत्वा पूजितास्त्वग्नयः कथम्।
कां गतिं वदतां श्रेष्ठ नयन्ति ह्यग्निहोत्रिणः ॥

प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! विधिके अनुसार मन्त्रों-सहित पूजा की जानेपर तीनों अग्नियाँ अग्निहोत्रीको किस प्रकार किस गतिको प्राप्त कराती हैं ? ॥

दुर्हुताश्चापि भगवन्नविज्ञातास्त्रयोऽग्नयः ।
किमाहिताग्नेः कुर्वन्ति दुश्चीर्णा वापि केशव ॥

भगवन् ! केशव ! यदि तीनों अग्नियोंके स्वरूपको न जानकर उनमें अविधिपूर्वक हवन किया जाय अथवा उनकी उपासनामें त्रुटि रह जाय तो वे त्रिविध अग्नि अग्निहोत्रीका क्या अनिष्ट करते हैं ? ॥

उत्सन्नाग्निस्तु पापात्मा कां योनिं देव गच्छति ।
एतत् सर्वं समासेन भक्त्या ह्युपगतस्य मे ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ सर्वाधिक नमोऽस्तु ते ॥

देवेश्वर ! जिसने अग्निका परित्याग कर दिया हो, वह पापात्मा किस योनिमें जन्म लेता है ? ये सारी बातें संक्षेपमें मुझे सुनाइये; क्योंकि मैं भक्तिभावसे आपकी शरणमें आया हूँ । भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, सबसे महान् हैं; अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् महापुण्यमिदं धर्मामृतं परम् ।
यत् तु तारयते युक्तान् ब्राह्मणानग्निहोत्रिणः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! इस महान् पुण्यदायक और परम धर्मरूपी अमृतका वर्णन सुनो । यह धर्मपरायण अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको भवसागरसे पार कर देता है ॥

ब्रह्मत्वेनासृजं लोकानहमादौ महाद्युते ।
सृष्टोऽग्निर्मुखतः पूर्वं लोकानां हितकाम्यया ॥

महातेजस्वी महाराज ! मैंने सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मस्वरूप-से सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की और लोगोंकी भलाईके लिये अपने मुखसे सर्वप्रथम अग्निको प्रकट किया ॥

यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया ।
तस्मादग्नीत्यभिहितः पुराणज्ञैर्मनीषिभिः ॥

इस प्रकार अग्नि-तत्त्व मेरे द्वारा सब भूतोंके पहले उत्पन्न किया गया है, इसलिये पुराणोंके ज्ञाता मनीषी विद्वान् उसे अग्नि कहते हैं ॥

यस्मात् तु सर्वकृत्येषु पूर्वमस्मै प्रदीयते ।
आहुतिर्दीप्यमानाय तस्मादग्नीति कथ्यते ॥

समस्त कार्योंमें सबसे आगे प्रज्वलित आगमें ही आहुति दी जाती है, इसलिये यह अग्नि कहा जाता है ॥

यस्माच्च तु नयत्यग्र्यां गतिं विप्रान् सुपूजितः ।
तस्माच्च नयनाद् राजन् देवेष्वग्नीति कथ्यते ॥

राजन् ! यह भलीभाँति पूजित होनेपर ब्राह्मणोंको अग्र्य गति (परमपद) की प्राप्ति कराता है, इसलिये भी देवताओंमें अग्निके नामसे विख्यात है ॥

यस्माच्च दुर्हुतः सोऽयमलं भक्षयितुं क्षणात् ।
यजमानं नरश्रेष्ठ क्रव्यादोऽग्निस्ततः स्मृतः ॥
सर्वभूतात्मको राजन् देवानामेष वै मुखम् ।

नरोत्तम ! यदि इसमें विधिका उल्लङ्घन करके हवन किया जाय तो यह एक क्षणमें ही यजमानको खा जानेकी शक्ति रखता है, इसलिये अग्निको क्रव्याद कहा गया है । राजन् ! यह अग्नि सम्पूर्ण भूतोंका स्वरूप और देवताओंका मुख है ॥

तेन सप्तर्षयः सिद्धाः संयतेन्द्रियबुद्धयः ।
गता ह्यमरसायुज्यं ते ह्यग्न्यर्चनतत्पराः ॥

अतः इन्द्रियों और मन-बुद्धिपर संयम रखनेवाले सिद्ध सप्तर्षिगण अग्निकी आराधनामें तत्पर रहनेके कारण ही देवताओंके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ॥

अग्निहोत्रप्रकारं च शृणु राजन् समाहितः ।
त्रयाणां गुणनामानि वह्नीनामुच्यते मया ॥

राजन् ! अब एकाग्रचित्त होकर अग्निहोत्रका प्रकार सुनो । अब मैं तीनों अग्नियोंके गुणके अनुसार नाम बता रहा हूँ ॥

गृहाणां हि पतित्वं हि गृहपत्यमिति स्मृतम् ।
गृहपत्यं तु यस्यासीत् तत् तस्माद् गार्हपत्यता ॥

गृहोंका आधिपत्य ही गृहपत्य माना गया है । यह गृहपत्य जिस अग्निमें प्रतिष्ठित है, वही 'गार्हपत्य अग्नि'के नामसे प्रसिद्ध है ॥

यजमानं तु यस्मात् तु दक्षिणां तु गतिं नयेत् ।
दक्षिणाग्निं तमाहुस्ते दक्षिणायतनं द्विजाः ॥

जो अग्नि यजमानको दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें ले जाता है, उस दक्षिणमें रहनेवाले अग्निको ब्राह्मणलोग 'दक्षिणाग्नि' कहते हैं ॥

आहुतिः सर्वमाख्याति हव्यं वै वहनं स्मृतम् ।
सर्वहव्यवहो वह्निर्गतश्चाहवनीयताम् ॥

'आहुति' शब्द सर्वका वाचक है और हवन नाम ही है हव्यका । सब प्रकारके हव्यको स्वीकार करनेवाला वह्नि 'आहवनीय अग्नि' कहलाता है ॥

ब्रह्मा च गार्हपत्योऽग्निस्तस्मिन्नेव हि सोऽभवत् ।
दक्षिणाग्निस्त्वयं रुद्रः क्रोधात्मा चण्ड एव सः ॥

गार्हपत्य अग्नि ब्रह्माका स्वरूप है, क्योंकि ब्रह्माजीसे ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है और यह दक्षिणाग्नि रुद्रस्वरूप है, क्योंकि वह क्रोधरूप और प्रचण्ड है ॥

अहमाहवनीयोऽग्निराहोमाद् यस्य वै मुखे।

होमके आरम्भसे लेकर अन्ततक जिसके मुखमें आहुति डाली जाती है, वह आहवनीय अग्नि स्वयं मैं हूँ ॥

पृथिवीमन्तरिक्षं च दिवमृषिगणैः सह।
जयत्याहवनीयं यो जुहुयाद् भक्तिमान् नरः ॥

जो मनुष्य भक्तियुक्त चित्तसे प्रतिदिन आहवनीय अग्निमें हवन करता है, वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष और ऋषियों-सहित स्वर्गलोकपर भी अधिकार प्राप्त कर लेता है ॥

आभिमुख्येन होमस्तु यस्य यज्ञेषु वर्तते।
तेनाप्याहवनीयत्वं गतो वह्निर्महाद्युतिः ॥

यज्ञोंमें सब ओरसे अग्निके मुखमें हवन किया जाता है, इसलिये वह अत्यन्त कान्तिमान् अग्नि 'आहवनीय' संज्ञाको प्राप्त होता है ॥

आहोमादग्निहोत्रेषु यज्ञैर्वा यत्र सर्वशः।
यस्मात् तस्मात् प्रवर्तन्ते ततो ह्याहवनीयता ॥

अग्निहोत्र अथवा अन्यान्य यज्ञोंमें होमके आरम्भसे ही अग्निके भीतर सब प्रकारसे आहुति डाली जाती है, इसलिये भी उसे आहवनीय कहते हैं ॥

आध्यात्मिकं चाधिदैवमाधिभौतिकमेव च।
एतत् तापत्रयं प्रोक्तमात्मवद्भिर्नराधिप ॥

नरेश्वर ! आत्मवेत्ता विद्वानोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीन प्रकारके दुःख बतलाये हैं ॥

यस्माद् वै त्रायते दुःखाद् यजमानं हुतोऽनलः।
तस्मात् तु विधिवत् प्रोक्तमग्निहोत्रमिति श्रुतौ ॥

विधिवत् होम करनेपर अग्नि इन तीनों प्रकारके दुःखोंसे यजमानका त्राण करता है, इसलिये उस कर्मको वेदमें अग्निहोत्र नाम दिया गया है ॥

तदग्निहोत्रं सृष्टं वै ब्रह्मणा लोककर्तृणा।
वेदाश्चाप्यग्निहोत्रं तु जज्ञिरे स्वयमेव तु ॥

विश्वविधाता ब्रह्माजीने ही सबसे पहले अग्निहोत्रको प्रकट किया। वेद और अग्निहोत्र स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥

वेदाध्ययनका फल अग्निहोत्र है (अर्थात् वेद पढ़कर जिसने अग्निहोत्र नहीं किया, उसका वह अध्ययन निष्फल है)। शास्त्रज्ञानका फल शील और सदाचार है, स्त्रीका फल रति और पुत्र है तथा धनकी सफलता दान और उपभोग करनेमें है ॥

त्रिवेदमन्त्रसंयोगादग्निहोत्रं प्रवर्तते।
ऋग्यजुःसामभिः पुण्यैः स्थाप्यते सूत्रसंयुतैः ॥

तीनों वेदोंके मन्त्रोंके संयोगसे अग्निहोत्रकी प्रवृत्ति होती है। ऋक्, यजुः और सामवेदके पवित्र मन्त्रों तथा मीमांसासूत्रोंके द्वारा अग्निहोत्र कर्मका प्रतिपादन किया जाता है ॥

वसन्ते ब्राह्मणस्य स्यादाधेयोऽग्निर्नराधिप।
वसन्तो ब्राह्मणो ज्ञेयो वेदयोनिः स उच्यते ॥

नरेश्वर ! वसन्त ऋतुको ब्राह्मणका स्वरूप समझना चाहिये तथा वह वेदकी योनिरूप है, इसलिये ब्राह्मणको वसन्त ऋतुमें अग्निकी स्थापना करनी चाहिये ॥

अग्न्याधेयं तु येनाथ वसन्ते क्रियतेऽनघ।
तस्य श्रीर्ब्रह्मवृद्धिश्च ब्राह्मणस्य विवर्धते ॥

निष्पाप ! जो वसन्त ऋतुमें अग्न्याधान करता है, उस ब्राह्मणकी श्रीवृद्धि होती है तथा उसका वैदिक ज्ञान भी बढ़ता है ॥

क्षत्रियस्याग्निराधेयो ग्रीष्मे श्रेष्ठः स वै नृप।
येनाधानं तु वै ग्रीष्मे क्रियते तस्य वर्धते।
श्रीः प्रजाः पशवश्चैव वित्तं तेजो बलं यशः ॥

राजन् ! क्षत्रियके लिये ग्रीष्म ऋतुमें अग्न्याधान करना श्रेष्ठ माना गया है। जो क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमें अग्नि-स्थापना करता है, उसकी सम्पत्ति, प्रजा, पशु, धन, तेज, बल और यशकी अभिवृद्धि होती है ॥

शरदतौ तु वैश्यस्य ह्याधानीयो हुताशनः।
शरद्रात्रं स्वयं वैश्यो वैश्ययोनिः स उच्यते ॥

शरत्कालकी रात्रि साक्षात् वैश्यका स्वरूप है, इसलिये वैश्यको शरद् ऋतुमें अग्निका आधान करना चाहिये; उस समयकी स्थापित की हुई अग्निको वैश्य योनि कहते हैं।

शरद्याधानमेवं वै क्रियते येन पाण्डव।
तस्यापि श्रीः प्रजायुश्च पशवोऽर्थश्च वर्धते ॥

पाण्डुनन्दन ! जो वैश्य शरद् ऋतुमें अग्निकी स्थापना करता है, उसकी सम्पत्ति, प्रजा, आयु, पशु और धनकी वृद्धि होती है ॥

रसाः स्नेहास्तथा गन्धा रत्नानि मणयस्तथा।
काञ्चनानि च लौहानि ह्यग्निहोत्रकृतेऽभवन् ॥

सब प्रकारके रस, घी आदि स्निग्ध पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य, रत्न, मणि, सुवर्ण और लोहा—इन सबकी उत्पत्ति अग्निहोत्रके लिये ही है ॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं च तत्सर्वमग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

अग्निहोत्रको ही जाननेके लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, मीमांसा, विस्तृत न्याय-शास्त्र और धर्मशास्त्रका निर्माण किया गया है ॥

छन्दः शिक्षा च कल्पश्च तथा व्याकरणानि च ।
शास्त्रं ज्योतिर्निरुक्तं चाप्यग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

छन्द, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्यौतिषशास्त्र और निरुक्त भी अग्निहोत्रके लिये ही रचे गये हैं ॥

इतिहासपुराणं च गाथाश्चोपनिषत् तथा ।
आथर्वणानि कर्माणि चाग्निहोत्रकृते कृतम् ॥

इतिहास, पुराण, गाथा, उपनिषद् और अथर्ववेदके कर्म भी अग्निहोत्रके ही लिये हैं ॥

तिथिनक्षत्रयोगानां मुहूर्तकरणात्मकम् ।
कालस्य वेदनार्थं तु ज्योतिर्ज्ञानं पुरानघ ॥

निष्पाप ! तिथि, नक्षत्र, योग, मुहूर्त और करणरूप कालका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पूर्वकालमें ज्यौतिषशास्त्रका निर्माण हुआ है ॥

ऋग्यजुःसाममन्त्राणां श्लोकतत्त्वार्थचिन्तनात् ।
प्रत्यापत्तिविकल्पानां छन्दोज्ञानं प्रकल्पितम् ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंके छन्दका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तथा संशय और विकल्पके निराकरण-पूर्वक उनका तात्त्विक अर्थ समझनेके लिये छन्दःशास्त्रकी रचना की गयी है ॥

वर्णाक्षरपदार्थानां संधिलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
नामधातुविवेकार्थं पुरा व्याकरणं स्मृतम् ॥

वर्ण, अक्षर और पदोंके अर्थका, संधि और लिङ्गका तथा नाम और धातुका विवेक होनेके लिये पूर्वकालमें व्याकरणशास्त्रकी रचना हुई है ॥

यूपवेद्यध्वरार्थं तु प्रोक्षणश्रपणाय तु ।
यज्ञदैवतयोगार्थं शिक्षाज्ञानं प्रकल्पितम् ॥

यूप, वेदी और यज्ञका स्वरूप जाननेके लिये, प्रोक्षण और श्रपण (चरु पकाना) आदिकी इतिकर्तव्यताको समझनेके लिये तथा यज्ञ और देवताके सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये शिक्षा नामक वेदाङ्गकी रचना हुई है ॥

यज्ञपात्रपवित्रार्थं द्रव्यसम्भारणाय च ।
सर्वयज्ञविकल्पाय पुरा कल्पं प्रकीर्तितम् ॥

यज्ञके पात्रोंकी शुद्धि, यज्ञसम्बन्धी सामग्रियोंके संग्रह तथा समस्त यज्ञोंके वैकल्पिक विधानोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पूर्वकालमें कल्पशास्त्रका निर्माण किया गया है ॥

नामधातुविकल्पानां तत्त्वार्थनियमाय च ।
सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम् ॥

सम्पूर्ण वेदोंमें प्रयुक्त नाम, धातु और विकल्पोंके तात्त्विक अर्थका निश्चय करनेके लिये ऋषियोंने निरुक्तकी रचना की है ॥

वेद्यर्थं पृथिवी सृष्टा सम्भारार्थं तथैव च ।
इध्मार्थमथ यूपार्थं ब्रह्मा चक्रे वनस्पतिम् ॥

यज्ञकी वेदी बनाने तथा अन्य सामग्रियोंको धारण करनेके लिये ब्रह्माजीने पृथ्वीकी सृष्टि की है । समिधा और यूप बनानेके लिये वनस्पतियोंकी रचना की है ॥

गावो यज्ञार्थमुत्पन्ना दक्षिणार्थं तथैव च ।
सुवर्णं रजतं चैव पात्रकुम्भार्थमेव च ॥

गौएँ यज्ञ और दक्षिणाके लिये उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि गोघृत और गोदक्षिणाके बिना यज्ञ सम्पन्न नहीं होता । सुवर्ण और चाँदी—ये यज्ञके पात्र और कलश बनानेका काम लेनेके लिये पैदा हुए हैं ॥

दर्भाः संस्तरणार्थं तु रक्षसां रक्षणाय च ।
पूजनार्थं द्विजाः सृष्टास्तारका दिवि देवताः ॥

कुशोंकी उत्पत्ति हवनकुण्डके चारों ओर फैलाने और राक्षसोंसे यज्ञकी रक्षा करनेके लिये हुई है । पूजन करनेके लिये ब्राह्मणोंको, नक्षत्रोंको और स्वर्गके देवताओंको उत्पन्न किया गया है ॥

क्षत्रियाः रक्षणार्थं तु वैश्या वार्तानिमित्ततः ।
शुश्रूषार्थं त्रयाणां वै शूद्राः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥

सबकी रक्षाके लिये क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की गयी है । कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदि जीविकाका साधन जुटानेके लिये वैश्योंकी उत्पत्ति हुई है और तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये ब्रह्माजीने शूद्रोंको उत्पन्न किया है ॥

यथोक्तमग्निहोत्राणां शुश्रूषन्ति च ये द्विजाः ।
तैर्दत्तं सहुतं चेष्टं दत्तमध्यापितं भवेत् ॥

जो द्विज विधिपूर्वक अग्निहोत्रका सेवन करते हैं उनके, द्वारा दान, होम, यज्ञ और अध्यापन—ये समस्त कर्म पूर्ण हो जाते हैं ॥

एवमिष्टं च पूर्तं च यद् विप्रैः क्रियते नृप ।
तत् सर्वं सम्यगाहृत्य चादित्ये स्थापयाम्यहम् ॥

राजन् ! इसी प्रकार ब्राह्मणोंके द्वारा जो यज्ञ करने, बगीचे लगाने और कुएँ खुदवाने आदिके कार्य होते हैं, उन सबके पुण्यको लेकर मैं सूर्यमण्डलमें स्थापित कर देता हूँ ॥

मया स्थापितमादित्ये लोकस्य सुकृतं हि तत् ।
धारयेद् यत् सहस्रांशुः सुकृतं ह्यग्निहोत्रिणाम् ॥

मेरे द्वारा आदित्यमें स्थापित किये हुए संसारके पुण्य और अग्निहोत्रियोंके सुकृतको सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव धारण किये रहते हैं ॥

तस्मादप्रोषितैर्नित्यमग्निहोत्रं द्विजातिभिः ।
होतव्यं विधिवद् राजन्नूर्ध्वामिच्छन्ति ये गतिम् ॥

इसलिये राजन् ! जो द्विज परदेशमें न रहते हों और ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें प्रतिदिन विधिपूर्वक अग्निहोत्र करना चाहिये ॥

आत्मवन्नावमन्तव्यमग्निहोत्रं युधिष्ठिर ।
न त्याज्यं क्षणमप्येतदग्निहोत्रं युधिष्ठिर ॥

महाराज युधिष्ठिर ! अग्निहोत्रको अपने आत्माके समान समझकर कभी भी उसका अपमान या एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं करना चाहिये ॥

बालाहिताग्नयो ये च शूद्रान्नाद् विरताः सदा ।
क्रोधलोभविनिर्मुक्ताः प्रातःस्नानपरायणाः ।
यथोक्तमग्निहोत्रं वै जुह्वते विजितेन्द्रियाः ॥
आतिथेयाः सदा सौम्या द्विकालं मत्परायणाः ।
ते यान्त्यपुनरावृत्तिं भित्त्वा चादित्यमण्डलम् ॥

जो बाल्यकालसे ही अग्निहोत्रका सेवन करते और शूद्रके अन्नसे सदा दूर रहते हैं, जो क्रोध और लोभसे रहित हैं, जो प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके जितेन्द्रियभावसे विधिवत् अग्निहोत्रका अनुष्ठान करते हैं, सदा अतिथिकी सेवामें लगे रहते हैं तथा शान्तभावसे रहकर दोनों समय मेरे परायण होकर मेरा ध्यान करते हैं, वे सूर्यमण्डलको भेदकर मेरे परमधामको प्राप्त होते हैं, जहाँसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता ॥

श्रुतिं केचिन्निन्दमानाः श्रुतिं दूष्यन्त्यबुद्धयः ।
प्रमाणं न च कुर्वन्ति ये यान्तीहापि दुर्गतिम् ॥

इस संसारमें कुछ मूर्ख मनुष्य श्रुतिपर दोषारोपण करते हुए उसकी निन्दा करते हैं तथा उसे प्रमाणभूत नहीं मानते, ऐसे लोगोंकी बड़ी दुर्गति होती है ॥

प्रमाणमितिहासं च वेदान् कुर्वन्ति ये द्विजाः ।
ते यान्त्यमरसायुज्यं नित्यमास्तिक्यबुद्धयः ॥

परंतु जो द्विज नित्य आस्तिक्यबुद्धिसे युक्त होकर वेदों और इतिहासोंको प्रामाणिक मानते हैं, वे देवताओंका सायुज्य प्राप्त करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[चान्द्रायण-व्रतकी विधि, प्रायश्चित्तरूपमें उसके करनेका विधान तथा महिमाका वर्णन]

युधिष्ठिर उवाच

चक्रायुध नमस्तेऽस्तु देवेश गरुडध्वज ।
चान्द्रायणविधिं पुण्यमाख्याहि भगवन् मम ॥

युधिष्ठिरने कहा—चक्रधारी देवेश्वर ! आपको नमस्कार है । गरुडध्वज भगवन् ! अब आप मुझसे चान्द्रायणकी परम पावन विधिका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत्त्वेन सर्वपापप्रणाशनम् ।
पापिनो येन शुद्ध्यन्ति तत् ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥

श्रीभगवान् बोले—पाण्डुनन्दन ! समस्त पापोंका नाश करनेवाले चान्द्रायण-व्रतका यथार्थ वर्णन सुनो । इसके आचरणसे पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं । उसे मैं तुम्हें पूर्णतया बताता हूँ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा चरितव्रतः ।
यथावत् कर्तुकामो वै तस्यैवं प्रथमा क्रिया ॥
शोधयेत् तु शरीरं स्वं पञ्चगव्येन यन्त्रितः ।
सशिरः कृष्णपक्षस्य ततः कुर्वीत वापनम् ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य—जो कोई भी चान्द्रायण व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करना चाहते हों, उनके लिये पहला काम यह है कि वे नियमके अंदर रहकर पञ्चगव्यके द्वारा समस्त शरीरका शोधन करें । फिर कृष्णपक्षके अन्तमें मस्तकसहित दाढ़ी-मूँछ आदिका मुण्डन करावें ॥

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा मौञ्जीं बध्नीत मेखलाम् ।
पालाशदण्डमादाय ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥

तत्पश्चात् स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण करें, कमरमें मूँजकी बनी हुई मेखला बाँधें और पलाशका दण्ड हाथमें लेकर ब्रह्मचारीके व्रतका पालन करते रहें ॥

कृतोपवासः पूर्वं तु शुक्लप्रतिपदि द्विजः ।
नदीसंगमतीर्थेषु शुचौ देशे गृहेऽपि वा ॥

द्विजको चाहिये कि वह पहले दिन उपवास करके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाको नदियोंके संगमपर, किसी पवित्र स्थानमें अथवा घरपर ही व्रत आरम्भ करे ॥

आघारावाज्यभागौ च प्रणवं व्याहृतीस्तथा ।
वारुणं चैव पञ्चैव हुत्वा सर्वान् यथाक्रमम् ॥
सत्याय विष्णवे चेति ब्रह्मर्षिभ्योऽथ ब्रह्मणे ।
विश्वेभ्यो हि च देवेभ्यः सप्रजापतये तथा ॥
षडुक्ता जुहुयात् पश्चात् प्रायश्चित्ताहुतिं द्विजः ।

पहले नित्य-नियमसे निवृत्त होकर एक वेदीपर अग्निकी स्थापना करे और उसमें क्रमशः आधार, आज्यभाग, प्रणव, महाव्याहृति और पञ्चवारुण होम करके सत्य, विष्णु, ब्रह्मर्षिगण, ब्रह्मा, विश्वेदेव तथा प्रजापति—इन छः देवताओंके निमित्त हवन करे । अन्तमें प्रायश्चित्त-होम करे ॥

अतः समापयेदग्निं शान्तिं कृत्वाथ पौष्टिकीम् ॥
प्रणम्य चाग्निं सोमं च भस्म धृत्वा यथाविधि ।
नदीं गत्वा विशुद्धात्मा सोमाय वरुणाय च ।

आदित्याय नमस्कृत्वा ततः स्नायात् समाहितः ॥

फिर शान्ति और पौष्टिक कर्मका अनुष्ठान करके अग्निमें हवनका कार्य समाप्त कर दे। तत्पश्चात् अग्नि तथा सोमदेवताको प्रणाम करे और विधिपूर्वक शरीरमें भस्म लगाकर नदीके तटपर जा विशुद्धचित्त होकर सोम, वरुण तथा आदित्यको प्रणाम करके एकाग्र भावसे जलमें स्नान करे ॥

उत्तीर्योदकमाचम्य चासीनः पूर्वतोमुखः ।
प्राणायामं ततः कृत्वा पवित्रैरभिषेचनम् ॥

इसके बाद बाहर निकलकर आचमन करनेके पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर बैठे और प्राणायाम करके कुशकी पवित्रीसे अपने शरीरका मार्जन करे ॥

आचान्तस्त्वभिवीक्षेत ऊर्ध्वबाहुर्दिवाकरम् ।
कृताञ्जलिपुटः स्थित्वा कुर्याच्चैव प्रदक्षिणम् ॥

फिर आचमन करके दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यका दर्शन करे और हाथ जोड़कर खड़ा हो सूर्यकी प्रदक्षिणा करे ॥

नारायणं वा रुद्रं वा ब्रह्माणमथवापि वा ।
वारुणं मन्त्रसूक्तं वा प्राग्भोजनमथापि वा ॥

उसके बाद भोजनसे पूर्व ही नारायण, रुद्र, ब्रह्मा या वरुणसम्बन्धी सूक्तका पाठ करे ॥

वीरघ्नमृषभं वापि तथा चाप्यघमर्षणम् ।
गायत्रीं मम देवीं वा सावित्रीं वा जपेत् ततः ।
शतं वाष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् ॥

अथवा वीरघ्न, ऋषभ, अघमर्षण, गायत्री या मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले वैष्णव गायत्री-मन्त्रका जप करे। यह जप सौ बार या एक सौ आठ बार अथवा एक हजार बार करना चाहिये ॥

ततो मध्याह्नकाले वै पायसं यावकं हि वा ।
पाचयित्वा प्रयत्नेन प्रयतः सुसमाहितः ॥

तदनन्तर पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर मध्याह्नकालमें यत्नपूर्वक खीर या जौकी लप्सी बनाकर तैयार करे ॥

पात्रं तु सुसमादाय सौवर्णं राजतं तु वा ।
ताम्रं वा मृण्मयं वापि औदुम्बरमथापि वा ॥
वृक्षाणां यज्ञियानां तु पर्णैरार्द्रैरकुत्सितैः ।
पुटकेन तु गुप्तेन चरेद् भैक्षं समाहितः ॥

अथवा सोने, चाँदी, ताँबे, मिट्टी या गूलरकी लकड़ीका पात्र अथवा यज्ञके लिये उपयोगी वृक्षोंके हरे पत्तोंका दोना बनाकर हाथमें ले ले और उसको ऊपरसे ढक ले। फिर सावधानतापूर्वक भिक्षाके लिये जाय ॥

ब्राह्मणानां गृहाणां तु सप्तानां नापरं व्रजेत् ।
गोदोहमात्रं तिष्ठेत् तु वाग्यतः संयतेन्द्रियः ॥

सात ब्राह्मणोंके घरपर जाकर भिक्षा माँगे, सातसे अधिक घरोंपर न जाय। गौ दुहनेमें जितनी देर लगती है, उतने ही समयतक एक द्वारपर खड़ा होकर भिक्षाके लिये प्रतीक्षा करे, मौन रहे और इन्द्रियोंपर काबू रक्खे ॥

न हसेन्न च वीक्षेत नाभिभाषेत वा स्त्रियम् ॥

भिक्षा माँगनेवाला पुरुष न तो हँसे, न इधर-उधर दृष्टि डाले और न किसी स्त्रीसे बातचीत करे ॥

दृष्ट्वा मूत्रं पुरीषं वा चाण्डालं वा रजस्वलाम् ।
पतितं च तथा श्वानमादित्यमवलोकयेत् ॥

यदि मल, मूत्र, चाण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित मनुष्य तथा कुत्तेपर दृष्टि पड़ जाय तो सूर्यका दर्शन करे ॥

ततस्त्वावसथं प्राप्तो भिक्षां निक्षिप्य भूतले ।
प्रक्षाल्य पादावाजान्वोर्हस्तावाकूर्परं पुनः ।
आचम्य वारिणा तेन वह्निं विप्रांश्च पूजयेत् ॥

तदनन्तर अपने निवासस्थानपर आकर भिक्षापात्रको जमीनपर रख दे और पैरोंको घुटनोंतक तथा हाथोंको दोनों कोहनियोंतक धो डाले। इसके बाद जलसे आचमन करके अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥

पञ्च सप्ताथवा कुर्याद् भागान् भैक्षस्य तस्य वै ।
तेषामन्यतमं पिण्डमादित्याय निवेदयेत् ॥

फिर उस भिक्षाके पाँच या सात भाग करके उतने ही ग्रास बना ले। उनमेंसे एक ग्रास सूर्यको निवेदन करे ॥

ब्रह्मणे चाग्नये चैव सोमाय वरुणाय च ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो दद्यादन्नं यथाक्रमम् ॥

फिर क्रमशः ब्रह्मा, अग्नि, सोम, वरुण तथा विश्वेदेवोंको एक-एक ग्रास दे ॥

अवशिष्टमथैकं तु वक्त्रमात्रं प्रकल्पयेत् ।

अन्तमें जो एक ग्रास बच जाय, उसको ऐसा बना ले, जिससे वह सुगमतापूर्वक मुँहमें आ सके ॥

अङ्गुल्यग्रे स्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ।
अङ्गुलीभिस्त्रिभिः पिण्डं प्राश्नीयात् प्राङ्मुखः शुचिः ॥

फिर पवित्र भावसे पूर्वाभिमुख होकर उस ग्रासको दाहिने हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागपर रखकर गायत्री-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे और तीन अङ्गुलियोंसे ही उसे मुँहमें डालकर खा जाय ॥

यथा च वर्धते सोमो ह्रसते च यथा पुनः ।
तथा पिण्डाश्च वर्धन्ते ह्रसन्ते च दिने दिने ॥

जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन घटता रहता है, उसी प्रकार ग्रासोंकी मात्रा भी शुक्लपक्षमें बढ़ती है और कृष्णपक्षमें घटती रहती है ॥ *

* अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको एक ग्रास और द्वितीयाको

त्रिकालं स्नानमस्योक्तं द्विकालमथवा सकृत्।
ब्रह्मचारी सदा वापि न च वस्त्रं प्रपीडयेत् ॥

चान्द्रायण-व्रत करनेवालेके लिये प्रतिदिन तीन समय, दो समय अथवा एक समय भी स्नान करनेका विधान मिलता है। उसे सदा ब्रह्मचारी रहना चाहिये और तर्पणके पूर्व वस्त्र नहीं निचोड़ना चाहिये ॥

स्थाने न दिवसं तिष्ठेद् रात्रौ वीरासनं व्रजेत्।
भवेत् स्थण्डिलशायी वाप्यथवा वृक्षमूलिकः ॥

दिनमें एक जगह खड़ा न रहे, रातको वीरासनसे बैठे अथवा वेदीपर या वृक्षकी जड़पर सो रहे ॥

वल्कलं यदि वा क्षौमं शाणं कार्पासकं तथा।
आच्छादनं भवेत् तस्य वस्त्रार्थं पाण्डुनन्दन ॥

पाण्डुनन्दन! उसे शरीर ढकनेके लिये वल्कल, रेशम, सन अथवा कपासका वस्त्र धारण करना चाहिये ॥

एवं चान्द्रायणे पूर्णे मासस्यान्ते प्रयत्नवान्।
ब्राह्मणान् भोजयेद् भक्त्या दद्याच्चैव च दक्षिणाम्।

इस प्रकार एक महीने बाद चान्द्रायणव्रत पूर्ण होनेपर उद्योग करके भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा दे ॥

चान्द्रायणेन चीर्णेन यत् कृतं तेन दुष्कृतम् ॥
तत् सर्वं तत्क्षणादेव भस्मीभवति काष्ठवत् ॥

चान्द्रायण-व्रतके आचरणसे मनुष्यके समस्त पाप सूखे काठकी भाँति तुरंत जलकर खाक हो जाते हैं ॥

ब्रह्महत्या च गोहत्या सुवर्णस्तैन्यमेव च।
भ्रूणहत्या सुरापानं गुरोर्दारव्यतिक्रमः ॥
एवमन्यानि पापानि पातकीयानि यानि च।
चान्द्रायणेन नश्यन्ति वायुना पांसवो यथा ॥

ब्रह्महत्या, गोहत्या, सुवर्णकी चोरी, भ्रूणहत्या, मदिरा-पान और गुरु-स्त्री-गमन तथा और भी जितने पाप या पातक हैं, वे चान्द्रायण-व्रतसे उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे हवाके वेगसे धूल उड़ जाती है ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमाविकमेव च।
मृतसूतकयोश्चान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

जिस गौको ब्याये हुए दस दिन भी न हुए हों, उसका दूध तथा ऊँटनी एवं भेड़का दूध पी जानेपर और मरणाशौचका तथा जननाशौचका अन्न खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करे ॥

उपपातकिनश्चान्नं पतितान्नं तथैव च।
शूद्रस्योच्छेषणं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

उपपातकी तथा पतितका अन्न और शूद्रका जूठा अन्न खा लेनेपर चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

आकाशस्थं तु हस्तस्थमधःस्रस्तं तथैव च।
परहस्तस्थितं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

आकाशमें लटकते हुए वृक्ष आदिके फलोंको, हाथपर रक्खे हुए, नीचे गिरे हुए तथा दूसरेके हाथपर पड़े हुए अन्नको खा लेनेपर भी चान्द्रायण-व्रत करे ॥

अथाग्रे दिधिषोरन्नं दिधिषूपपतेस्तथा।
परिवेत्तुस्तथा चान्नं परिवित्तान्नमेव च ॥
कुण्डान्नं गोलकान्नं च देवलान्नं तथैव च।
तथा पुरोहितस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

बड़ी बहिनके अविवाहित रहते पहले विवाह कर लेनेवाली छोटी बहिनका तथा अपने भाईकी विधवा स्त्रीसे विवाह करनेवालेका एवं बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाईका और अविवाहित बड़े भाईका अन्न, कुण्डका, गोलकका और पुजारीका अन्न तथा पुरोहितका अन्न भोजन कर लेनेपर भी चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

सुरासवं विषं सर्पिर्लाक्षा लवणमेव च।
तैलं चापि च विक्रीणन् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

मदिरा, आसव, विष, घी, लाख, नमक और तेलकी बिक्री करनेवाले ब्राह्मणको भी चान्द्रायण-व्रत करना आवश्यक है ॥

एकोद्दिष्टं तु यो भुङ्क्ते जनमध्यगतोऽपि यः।
भिन्नभाण्डेषु यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

जो द्विज एकोद्दिष्ट श्राद्धका अन्न खाता है और अधिक मनुष्योंकी भीड़में भोजन करता है तथा फूटे बर्तनोंमें खाता है, उसे चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

यो भुङ्क्तेऽनुपनीतेन यो भुङ्क्ते च स्त्रिया सह।
कन्यया सह यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

जो उपनयन-संस्कारसे रहित बालक, कन्या और स्त्रीके साथ (एकपात्रमें) भोजन करता है, वह ब्राह्मण चान्द्रायण-व्रत करे ॥

उच्छिष्टं स्थापयेद् विप्रो यो मोहाद् भोजनान्तरे।
दद्याद् वा यदि वा मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

जो मोहवश अपना जूठा दूसरेके भोजनमें मिला देता

दो ग्रास भोजन करना चाहिये। इसी तरह पूर्णिमाको पंद्रह ग्रास भोजन करके कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे चतुर्दशीतक प्रतिदिन एक-एक ग्रास कम करना चाहिये। अमावस्याको उपवास करनेपर इस व्रतकी समाप्ति होती है। यह एक प्रकारका चान्द्रायण है। स्मृतियोंमें इसके और भी अनेकों प्रकार उपलब्ध होते हैं।

है अथवा मोहके कारण दूसरेको देता है, उस ब्राह्मणको भी चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

तुम्बकोशातकं चैव पलाण्डुं गृञ्जनं तथा ।
छत्राकं लशुनं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि द्विज तुम्बा और जिसमें केश पड़ा हो, ऐसा अन्न तथा प्याज, गाजर, छत्राक (कुकुरमुत्ते) और लहसुनको खा ले तो उसे चान्द्रायण-व्रत करना चाहिये ॥

उदक्यया शुना वापि चाण्डालैर्वा द्विजोत्तमः ।
दृष्टमन्नं तु भुञ्जानो द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

यदि ब्राह्मण रजस्वला स्त्री, कुत्ते अथवा चाण्डालके द्वारा देखा हुआ अन्न खा ले तो उस ब्राह्मणको चान्द्रायण-व्रतका आचरण करना चाहिये ॥

एतत् पुरा विशुद्ध्यर्थमृषिभिश्चरितं व्रतम् ।
पावनं सर्वभूतानां पुण्यं पाण्डव चोदितम् ॥

पाण्डुनन्दन ! पूर्वकालमें ऋषियोंने आत्मशुद्धिके लिये इस व्रतका आचरण किया था, यह सब प्राणियोंको पवित्र करनेवाला और पुण्यरूप बताया गया है ॥

यथोक्तमेतद् यः कुर्याद् द्विजः पापप्रणाशनम् ।
स दिवं याति पूतात्मा निर्मलादित्यसंनिभः ॥

जो द्विज इस पूर्वोक्त पापनाशक व्रतका अनुष्ठान करता है, वह पवित्रात्मा तथा निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी होकर स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[सर्वहितकारी धर्मका वर्णन, द्वादशी-व्रतका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके द्वारा भगवान्‌की स्तुति]

युधिष्ठिर उवाच

सर्वभूतपते श्रीमन् सर्वभूतनमस्कृत ।
सर्वभूतहितं धर्मं सर्वज्ञ कथयस्व नः ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! आप सब प्राणियोंके स्वामी, सबके द्वारा नमस्कृत, शोभासम्पन्न और सर्वज्ञ हैं। अब आप मुझसे समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी धर्मका वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

यद् दरिद्रजनस्यापि स्वर्ग्यं सुखकरं भवेत् ।
सर्वपापप्रशमनं तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—युधिष्ठिर ! जो धर्म दरिद्र मनुष्योंको भी स्वर्ग और सुख प्रदान करनेवाला तथा समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥

एकभुक्तेन वर्तेत नरः संवत्सरं तु यः ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधो ह्यधःशायी जितेन्द्रियः ॥
शुचिश्च स्नातो ह्यव्यग्रः सत्यवागनसूयकः ।
अर्चन्नेव तु मां नित्यं मद्गतेनान्तरात्मना ।
संध्ययोस्तु जपेन्नित्यं मद्गायत्रीं समाहितः ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यसकृन्मां प्रणम्य च ।
विप्रमग्रासने कृत्वा यावकं भैक्षमेव वा ॥
भुक्त्वा तु वाग्यतो भूमावाचान्तस्य द्विजन्मनः ।
नमोऽस्तु वासुदेवायेत्युक्त्वा तु चरणौ स्पृशेत् ॥
मासे मासे समाप्ते तु भोजयित्वा द्विजाञ्शुचीन् ।
संवत्सरे ततः पूर्णे दद्यात् तु व्रतदक्षिणाम् ॥
नवनीतमयीं गां वा तिलधेनुमथापि वा ।
विप्रहस्तच्युतैस्तोयैः सहिरण्यैः समुक्षितः ।
तस्य पुण्यफलं राजन् कथ्यमानं मया शृणु ॥

राजन् ! जो मनुष्य एक वर्षतक प्रतिदिन एक समय भोजन करता है, ब्रह्मचारी रहता है, क्रोधको काबूमें रखता है, नीचे सोता है और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, जो स्नान करके पवित्र रहता है, व्यग्र नहीं होता है, सत्य बोलता है, किसीके दोष नहीं देखता है और मुझमें चित्त लगाकर सदा मेरी पूजामें ही संलग्न रहता है, जो दोनों संध्याओंके समय एकाग्रचित्त होकर मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करता है, 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय'[1] कहकर सदा मुझे प्रणाम किया करता है, पहले ब्राह्मणको भोजनके आसनपर बिठाकर भोजन करानेके पश्चात् स्वयं मौन होकर जौकी लप्सी अथवा भिक्षान्नका भोजन करता है तथा 'नमोऽस्तु वासुदेवाय' कहकर ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करता है; जो प्रत्येक मास समाप्त होनेपर पवित्र ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और एक सालतक इस नियमका पालन करके ब्राह्मणको इस व्रतकी दक्षिणाके रूपमें माखन अथवा तिलकी गौ दान करता है तथा ब्राह्मणके हाथसे सुवर्णयुक्त जल लेकर अपने शरीरपर छिड़कता है, उसके पुण्यका फल बतलाता हूँ, सुनो ॥

दशजन्मकृतं पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
तद् विनश्यति तस्याशु नात्र कार्या विचारणा ॥

उसके जान-बूझकर या अनजानमें किये हुए दस जन्मोंतकके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं—इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषामुपवासानां यच्छ्रेयः सुमहत्फलम् ।
यच्च निःश्रेयसं लोके तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! सब प्रकारके उपवासोंमें

---

१. नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

जो सबसे श्रेष्ठ, महान् फल देनेवाला और कल्याणका सर्वोत्तम साधन हो, उसका वर्णन करनेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

श्रृणु राजन् मया पूर्वं यथा गीतं तु नारदे ।
तथा ते कथयिष्यामि मद्भक्ताय युधिष्ठिर ॥

श्रीभगवान् बोले—महाराज युधिष्ठिर ! तुम मेरे भक्त हो। जैसे पूर्वमें मैंने नारदसे कहा था, वैसे ही तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥

यस्तु भक्त्या शुचिर्भूत्वा पञ्चम्यां मे नराधिप ।
उपवासव्रतं कुर्यात् त्रिकालं चार्चयंस्तु माम् ।
सर्वक्रतुफलं लब्ध्वा मम लोके महीयते ॥

नरेश ! जो पुरुष स्नान आदिसे पवित्र होकर मेरी पञ्चमीके दिन भक्तिपूर्वक उपवास करता है तथा तीनों समय मेरी पूजामें संलग्न रहता है, वह सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाकर मेरे परम धाममें प्रतिष्ठित होता है ॥

पर्वद्वयं च द्वादश्यौ श्रवणं च नराधिप ।
मत्पञ्चमीति विख्याता मत्प्रिया च विशेषतः॥

नरेश्वर ! अमावास्या और पूर्णिमा—ये दोनों पर्व, दोनों पक्षकी द्वादशी तथा श्रवण नक्षत्र—ये पाँच तिथियाँ मेरी पञ्चमी कहलाती हैं। ये मुझे विशेष प्रिय हैं ॥

तस्मात् तु ब्राह्मणश्रेष्ठैर्मन्निवेशितबुद्धिभिः ।
उपवासस्तु कर्तव्यो मत्प्रियार्थं विशेषतः ॥

अतः श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उचित है कि वे मेरा विशेष प्रिय करनेके लिये मुझमें चित्त लगाकर इन तिथियोंमें उपवास करें ॥

द्वादश्यामेव वा कुर्यादुपवासमशक्नुवन् ।
तेनाहं परमां प्रीतिं यास्यामि नरपुङ्गव ॥

नरश्रेष्ठ ! जो सबमें उपवास न कर सके, वह केवल द्वादशीको ही उपवास करे; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥

अहोरात्रेण द्वादश्यां मार्गशीर्षेण केशवम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

जो मार्गशीर्षकी द्वादशीको दिन-रात उपवास करके 'केशव' नामसे मेरी पूजा करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां पुष्यमासे तु नाम्ना नारायणं तु माम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां वाजिमेधफलं लभेत् ॥

जो पौष मासकी द्वादशीको उपवास करके 'नारायण' नामसे मेरी पूजा करता है, वह वाजिमेध-यज्ञका फल पाता है ॥

द्वादश्यां माघमासे तु मामुपोष्य तु माधवम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति राजसूयफलं नृप ॥

राजन् ! जो माघकी द्वादशीको उपवास करके 'माधव' नामसे मेरा पूजन करता है, उसे राजसूय-यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां फाल्गुने मासि गोविन्दाख्यमुपोष्य माम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति ह्यतिरात्रफलं नृप ॥

नरेश्वर ! फाल्गुनके महीनेमें द्वादशीको उपवास करके जो 'गोविन्द' के नामसे मेरा अर्चन करता है, उसे अतिरात्र यागका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां मासि चैत्रे तु मां विष्णुं समुपोष्य यः ।
पूजयंस्तदवाप्नोति पौण्डरीकस्य यत् फलम् ॥

चैत्र महीनेकी द्वादशी तिथिको व्रत धारण करके जो 'विष्णु' नामसे मेरी पूजा करता है, वह पुण्डरीक-यज्ञके फलका भागी होता है ॥

द्वादश्यां मासि वैशाखे मधुसूदनसंज्ञितम् ।
उपोष्य पूजयेद् यो मां सोऽग्निष्टोमस्य पाण्डव ॥

पाण्डुनन्दन ! वैशाखकी द्वादशीको उपवास करके 'मधुसूदन' नामसे मेरी पूजा करनेवालेको अग्निष्टोम-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यां ज्येष्ठमासे तु मामुपोष्य त्रिविक्रमम् ।
अर्चयेद् यः समाप्नोति गवां मेधफलं नृप ॥

राजन् ! जो मनुष्य ज्येष्ठमासकी द्वादशी तिथिको उपवास करके 'त्रिविक्रम' नामसे मेरी पूजा करता है, वह गोमेधके फलका भागी होता है ॥

आषाढे वामनाख्यं मां द्वादश्यां समुपोष्य यः ।
नरमेधस्य स फलं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आषाढ़ मासकी द्वादशीको व्रत रहकर 'वामन' नामसे मेरी पूजा करनेवाले पुरुषको नरमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधराख्यमुपोष्य माम् ।
पूजयेद् यः समाप्नोति पञ्चयज्ञफलं नृप ॥

राजन् ! श्रावण महीनेमें द्वादशी तिथिको उपवास करके जो 'श्रीधर' नामसे मेरा पूजन करता है, वह पञ्च-यज्ञोंका फल पाता है ॥

मासे भाद्रपदे यो मां हृषीकेशाख्यमर्चयेत् ।
उपोष्य स समाप्नोति सौत्रामणिफलं नृप ॥

नरेश्वर ! भाद्रपदमासकी द्वादशी तिथिको उपवास करके 'हृषीकेश' नामसे मेरा अर्चन करनेवालेको सौत्रामणि-यज्ञका फल मिलता है ॥

द्वादश्यामाश्वयुङ्मासे पद्मनाभमुपोष्य माम् ।
अर्चयेद् यः समाप्नोति गोसहस्रफलं नृप ॥

महाराज ! आश्विनकी द्वादशीको उपवास करके जो 'पद्मनाभ' नामसे मेरा अर्चन करता है, उसे एक हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥

द्वादश्यां कार्त्तिके मासि मां दामोदरसंज्ञितम् ।
उपोष्य पूजयेद् यस्तु सर्वक्रतुफलं नृप ॥

राजन् ! कार्तिक महीनेकी द्वादशी तिथिको व्रत रहकर जो 'दामोदर' नामसे मेरी पूजा करता है, उसको सम्पूर्ण यज्ञोंका फल मिलता है ॥

केवलेनोपवासेन द्वादश्यां पाण्डुनन्दन ।
यत् फलं पूर्वमुद्दिष्टं तस्यार्धं लभते नृप ॥

नरपते ! जो द्वादशीको केवल उपवास ही करता है, उसे पूर्वोक्त फलका आधा भाग ही प्राप्त होता है ॥

श्रावणेऽप्येवमेवं मामर्चयेद् भक्तिमान् नरः ।
मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा॥

इसी प्रकार श्रावणमें भी यदि मनुष्य भक्तियुक्त चित्तसे मेरी पूजा करता है तो वह मेरी सालोक्य मुक्तिको प्राप्त होता है, इसमें तनिक भी अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥

मासे मासे समभ्यर्च्य क्रमशो मामतन्द्रितः ।
पूर्णे संवत्सरे कुर्यात् पुनः संवत्सरं तु माम् ॥

उपर्युक्तरूपसे प्रतिमास आलस्य छोड़कर मेरी पूजा करते-करते जब एक साल पूरा हो जाय, तब पुनः दूसरे साल भी मासिक पूजन प्रारम्भ कर दे ॥

एवं द्वादशवर्षं यो मद्भक्तो मत्परायणः ।
अविघ्नमर्चयानस्तु मम सायुज्यमाप्नुयात् ॥

इस प्रकार जो मेरा भक्त मेरी आराधनामें तत्पर होकर बारह वर्षतक बिना किसी विघ्न-बाधाके मेरी पूजा करता रहता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥

अर्चयेत् प्रीतिमान् यो मां द्वादश्यां वेदसंहिताम् ।
स पूर्वोक्तफलं राजँल्लभते नात्र संशयः ॥

राजन् ! जो मनुष्य द्वादशी तिथिको प्रेमपूर्वक मेरी और वेदसंहिताकी पूजा करता है, उसे पूर्वोक्त फलोंकी प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं है ॥

गन्धं पुष्पं फलं तोयं पत्रं वा मूलमेव वा ।
द्वादश्यां मम यो दद्यात् तत्समो नास्ति मत्प्रियः ॥

जो द्वादशी तिथिको मेरे लिये चन्दन, पुष्प, फल, जल, पत्र अथवा मूल अर्पण करता है उसके समान मेरा प्रिय भक्त कोई नहीं है ॥

एतेन विधिना सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः ।
मद्भक्ता नरशार्दूल स्वर्गलोकं तु भुञ्जते ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उपर्युक्त विधिसे मेरा भजन करनेके कारण ही आज स्वर्गीय सुखका उपभोग कर रहे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति देवेशे केशवे पाण्डुनन्दनः ।
कृताञ्जलिः स्तोत्रमिदं भक्त्या धर्मात्मजोऽब्रवीत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार उपदेश देनेपर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥

सर्वलोकेश देवेश हृषीकेश नमोऽस्तु ते ।
सहस्रशिरसे नित्यं सहस्राक्ष नमोऽस्तु ते ॥

'हृषीकेश ! आप सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और देवताओंके भी ईश्वर हैं । आपको नमस्कार है । हजारों नेत्र धारण करनेवाले परमेश्वर ! आपके सहस्रों मस्तक हैं, आपको सदा प्रणाम है ॥

त्रयीमय त्रयीनाथ त्रयीस्तुत नमो नमः ।
यज्ञात्मन् यज्ञसम्भूत यज्ञनाथ नमो नमः ॥

'वेदत्रयी आपका स्वरूप है, तीनों वेदोंके आप अधीश्वर हैं और वेदत्रयीके द्वारा आपकी ही स्तुति की गयी है । आप ही यज्ञस्वरूप, यज्ञमें प्रकट होनेवाले और यज्ञके स्वामी हैं । आपको बारंबार नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते चतुर्बाहो चतुर्व्यूह नमो नमः ।
लोकात्मँल्लोककृन्नाथ लोकावास नमो नमः ॥

'आप चार रूप धारण करनेवाले, चार भुजाधारी और चतुर्व्यूहस्वरूप हैं । आपको बारंबार नमस्कार है । आप विश्वरूप, लोकेश्वरोंके अधीश्वर तथा सम्पूर्ण लोकोंके निवासस्थान हैं, आपको मेरा पुनः-पुनः प्रणाम है ॥

सृष्टिसंहारकर्त्रे ते नरसिंह नमो नमः ।
भक्तप्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्ण नाथ नमो नमः ॥

'नरसिंह ! आप ही इस जगत्‌की सृष्टि और संहार करनेवाले हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । भक्तोंके प्रियतम श्रीकृष्ण ! स्वामिन् ! आपको बारंबार प्रणाम है ॥

लोकप्रिय नमस्तेऽस्तु भक्तवत्सल ते नमः।
ब्रह्मावास नमस्तेऽस्तु ब्रह्मनाथ नमो नमः॥

'आप सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय हैं। आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। आप ब्रह्माके निवास-स्थान और उनके स्वामी हैं। आपको प्रणाम है॥

रुद्ररूप नमस्तेऽस्तु रुद्रकर्मरताय ते।
पञ्चयज्ञ नमस्तेऽस्तु सर्वयज्ञ नमो नमः॥

'रुद्ररूप! आपको नमस्कार है। रौद्र कर्ममें रत रहनेवाले आपको नमस्कार है। पञ्चयज्ञरूप! आपको नमस्कार है। सर्वयज्ञस्वरूप! आपको नमस्कार है॥

कृष्णप्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्णनाथ नमो नमः।
योगिप्रिय नमस्तेऽस्तु योगिनाथ नमो नमः॥

'प्यारे श्रीकृष्ण! आपको प्रणाम है। स्वामिन्! श्रीकृष्ण! आपको बारंबार नमस्कार है। योगियोंके प्रिय! आपको नमस्कार है। योगियोंके स्वामी! आपको बार-बार प्रणाम है॥

हयवक्त्र नमस्तेऽस्तु चक्रपाणे नमो नमः।
पञ्चभूत नमस्तेऽस्तु पञ्चायुध नमो नमः॥

'हयग्रीव! आपको नमस्कार है। चक्रपाणे! आपको बारंबार नमस्कार है। पञ्चभूतस्वरूप! आपको नमस्कार है। आप पाँच आयुध धारण करनेवाले हैं; आपको नमस्कार है'॥

वैशम्पायन उवाच

भक्तिगद्गदया वाचा स्तुवत्येवं युधिष्ठिरे।
गृहीत्वा केशवो हस्ते प्रीतात्मा तं न्यवारयत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर जब भक्तिगद्गद वाणीसे इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक धर्मराजका हाथ पकड़कर उन्हें रोका॥

निवार्य च पुनर्वाचा भक्तिनम्रं युधिष्ठिरम्।
वक्तुमेव नरश्रेष्ठ धर्मपुत्रं प्रचक्रमे॥

नरोत्तम! भगवान् श्रीकृष्ण पुनः वाणीद्वारा निवारण करके भक्तिसे विनम्र हुए धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे यों कहने लगे॥

श्रीभगवानुवाच

अन्यवत् किमिदं राजन् मां स्तौषि नरपुङ्गव।
तिष्ठ प्रच्छ यथापूर्वं धर्मपुत्र युधिष्ठिर॥

श्रीभगवान् बोले—राजन्! यह क्या? तुम भेदभाव रखनेवाले मनुष्यकी भाँति मेरी स्तुति क्यों करने लगे? पुरुषप्रवर धर्मपुत्र युधिष्ठिर! इसे बंद करके पहलेके ही समान प्रश्न करो॥

युधिष्ठिर उवाच

इदं च धर्मसम्पन्नं वक्तुमर्हसि मानद।
कृष्णपक्षेषु द्वादश्यामर्चनीयः कथं भवेत्॥

युधिष्ठिरने पूछा—मानद! कृष्णपक्षमें द्वादशीको आपकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये? इस धर्मयुक्त विषयका वर्णन कीजिये॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथा पूर्वं तत् सर्वं कथयामि ते।
परमं कृष्णद्वादश्यामर्चनायां फलं मम॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! मैं पूर्ववत् तुम्हारे सभी प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ, सुनो। कृष्णपक्षकी द्वादशीको मेरी पूजा करनेका बहुत बड़ा फल है॥

एकादश्यामुपोष्याथ द्वादश्यामर्चयेत् तु माम्।
विप्रानपि यथालाभं पूजयेद् भक्तिमान् नरः॥

एकादशीको उपवास करके द्वादशीको मेरा पूजन करना चाहिये। उस दिन भक्तियुक्त मनुष्यको यथाशक्ति ब्राह्मणोंका भी पूजन करना चाहिये॥

स गच्छेद् दक्षिणामूर्तिं मां वा नात्र विचारणा।
चन्द्रसालोक्यमथवा ग्रहनक्षत्रपूजितः॥

ऐसा करनेसे मनुष्य दक्षिणामूर्ति शिवको अथवा मुझे प्राप्त होता है; इसमें कोई संशय नहीं है। अथवा वह ग्रह-नक्षत्रोंसे पूजित हुआ चन्द्रमाके लोकको प्राप्त हो जाता है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[विषुवयोग और ग्रहण आदिमें दानकी महिमा, पीपलका महत्त्व, तीर्थभूत गुणोंकी प्रशंसा और उत्तम प्रायश्चित्त]

युधिष्ठिर उवाच

देव किं फलमाख्यातं विषुवेष्वमरेश्वर।
सूर्येन्दूपप्लवे चैव वक्तुमर्हसि तत् फलम्॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! देवेश्वर! विषुवयोगमें तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय दान देनेसे किस फलकी प्राप्ति बतायी गयी है, यह बतलानेकी कृपा करें॥

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्व राजन् विषुवे सोमार्कग्रहणेषु च।
व्यतीपातेऽयने चैव दानं स्यादक्षयं फलम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! विषुवयोगमें, सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणके समय, व्यतीपातयोगमें तथा उत्तरायण या दक्षिणायन आरम्भ होनेके दिन जो दान दिया जाता है, वह अक्षय फल देनेवाला होता है। इस विषयका वर्णन करता हूँ, सुनो॥

राजन्नयनयोर्मध्ये विषुवं सम्प्रचक्षते ।
समे रात्रिदिने तत्र संध्यायां विषुवे नृप ॥
ब्रह्माहं शङ्करश्चापि तिष्ठामः सहिताः सकृत् ।
क्रियाकरणकार्याणामेकीभावत्वकारणात् ॥

महाराज युधिष्ठिर ! उत्तरायण और दक्षिणायनके मध्य भागमें जब कि रात और दिन बराबर होते हैं, वह समय 'विषुवयोग' के नामसे पुकारा जाता है । उस दिन संध्याके समय मैं, ब्रह्मा और महादेवजी क्रिया, करण और कार्योंकी एकतापर विचार करनेके लिये एक बार एकत्रित होते हैं ॥

अस्माकमेकीभूतानां निष्कलं परमं पदम् ।
तन्मुहूर्तं परं पुण्यं राजन् विषुवसंज्ञितम् ॥

नरेश्वर ! जिस मुहूर्तमें हमलोगोंका समागम होता है, वह कलारहित परम पद है । वह मुहूर्त परम पवित्र और विषुष-पर्वके नामसे प्रसिद्ध है ॥

तदेवाद्यक्षरं ब्रह्म परं ब्रह्मेति कीर्तितम् ।
तस्मिन् मुहूर्ते सर्वे तु चिन्तयन्ति परं पदम् ॥

उसे अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म भी कहते हैं । उस मुहूर्तमें सब लोग परम पदका चिन्तन करते हैं ॥

देवाश्च वसवो रुद्राः पितरश्चाश्विनौ तथा ।
साध्याश्च विश्वे गन्धर्वाः सिद्धा ब्रह्मर्षयस्तथा ॥
सोमादयो ग्रहाश्चैव सरितः सागरास्तथा ।
मरुतोऽप्सरसो नागा यक्षराक्षसगुह्यकाः ॥
एते चान्ये च राजेन्द्र विषुवे संयतेन्द्रियाः ।
सोपवासाः प्रयत्नेन भवन्ति ध्यानतत्पराः ॥

राजेन्द्र ! देवता, वसु, रुद्र, पितर, अश्विनीकुमार, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व, सिद्ध, ब्रह्मर्षि, सोम आदि ग्रह, नदियाँ, समुद्र, मरुत्, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और गुह्यक—ये तथा दूसरे देवता भी विषुवपर्वमें इन्द्रियसंयम-पूर्वक उपवास करते हैं और प्रयत्नपूर्वक परमात्माके ध्यानमें संलग्न होते हैं ॥

अन्नं गावस्तिलान् भूमिं कन्यादानं तथैव च ।
गृहमायतनं धान्यं वाहनं शयनं तथा ॥
यच्चान्यच्च मया प्रोक्तं तत् प्रयच्छ युधिष्ठिर ।

इसलिये युधिष्ठिर ! तुम अन्न, गौ, तिल, भूमि, कन्या, घर, विश्रामस्थान, धान्य, वाहन, शय्या तथा और जो वस्तुएँ मेरे द्वारा दानके योग्य बतलायी गयी हैं उन सबका विषुवपर्वमें दान करो ॥

दीयते विषुवेष्वेवं श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥
तस्य दानस्य कौन्तेय क्षयं नैवोपपद्यते ।
वर्धतेऽहरहः पुण्यं तद् दानं कोटिसम्मितम् ॥

कुन्तीनन्दन ! जो दान विषुवयोगमें विशेषतः श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको दिया जाता है, उस दानका कभी नाश नहीं होता । उस दानका पुण्य प्रतिदिन बढ़ते-बढ़ते करोड़गुना हो जाता है ॥

चन्द्रसूर्यग्रहे व्योम्नि मम वा शङ्करस्य वा ।
गायत्रीं मामिकां वापि जपेद् यः शङ्करस्य वा ॥
शङ्खतूर्यस्वनैश्चैव कांस्यघण्टास्वनैरपि ।
कारयेत् तु ध्वनिं भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥

आकाशमें जब चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण लगा हो, उस समय जो मेरी अथवा भगवान् शङ्करकी पूजा करता हुआ मेरी या शङ्करकी गायत्रीका जप करता है तथा भक्तिके साथ शङ्ख, तूर्य, झाँझ और घंटा बजाकर उनकी ध्वनि करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो ॥

गान्धर्वैर्होमजप्यैस्तु जप्तैरुत्कृष्टनामभिः ।
दुर्बलोऽपि भवेद् राहुः सोमश्च बलवान् भवेत् ॥

मेरे सामने गीत गाने, होम और जप करने तथा मेरे उत्तम नामोंका कीर्तन करनेसे राहु दुर्बल और चन्द्रमा बलवान् होते हैं ॥

सूर्येन्दूपप्लवे चैव श्रोत्रियेभ्यः प्रदीयते ।
तत्सहस्रगुणं भूत्वा दातारमुपतिष्ठति ॥

सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहणकालमें श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको जो दान दिया जाता है, वह हजारगुना होकर दाताको मिलता है ॥

महापातकयुक्तोऽपि यद्यपि स्यान्नरोत्तमः ।
निष्पापस्तत्क्षणादेव तेन दानेन जायते ॥

महान् पातकी मनुष्य भी उस दानसे तत्काल पापरहित होकर पुरुषश्रेष्ठ हो जाता है ॥

चन्द्रसूर्यप्रकाशेन विमानेन विराजता ।
याति सोमपुरं रम्यं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

वह चन्द्रमा और सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित सुन्दर विमान-पर बैठकर रमणीय चन्द्रलोकमें गमन करता है और वहाँ अप्सरागणोंसे उसकी सेवा की जाती है ॥

यावदृक्षाणि तिष्ठन्ति गगने शशिना सह ।
तावत् कालं स राजेन्द्र सोमलोके महीयते ॥

राजेन्द्र ! जबतक आकाशमें चन्द्रमाके साथ तारे मौजूद रहते हैं, तबतक चन्द्रलोकमें वह सम्मानके साथ निवास करता है ॥

ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके युधिष्ठिर ।
वेदवेदाङ्गविद् विप्रः कोटीधनपतिर्भवेत् ॥

युधिष्ठिर ! फिर समयानुसार वहाँसे लौटनेपर इस संसार-में वह वेद-वेदाङ्गोंका विद्वान् और करोड़पति ब्राह्मण होता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवंस्तव गायत्री जप्यते च कथं विभो।
किं वा तस्य फलं देव ममाचक्ष्व सुरेश्वर ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! विभो ! आपकी गायत्री-का जप किस तरह किया जाता है ? देवदेवेश्वर ! उसका क्या फल होता है—यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

द्वादश्यां विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा।
अयने श्रवणे चैव व्यतीपाते तथैव च ॥
अश्वत्थदर्शने चैव तथा मद्दर्शनेऽपि च।
जप्या तु मम गायत्री चाथवाष्टाक्षरं नृप।
अर्जितं दुष्कृतं तस्य नाशयेन्नात्र संशयः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! द्वादशी तिथिको, विषुव-पर्वमें, चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय, उत्तरायण तथा दक्षिणायनके आरम्भके दिन, श्रवण नक्षत्रमें तथा व्यतीपात योगमें पीपलका या मेरा दर्शन होनेपर मेरी गायत्रीका अथवा अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यके पूर्वकृत पापोंका निःसंदेह नाश हो जाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वत्थदर्शनं चैव किं त्वद्दर्शनसम्मितम्।
एतत् कथय मे देव परं कौतूहलं हि मे ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देव ! अब यह बतलाइये कि पीपलका दर्शन आपके दर्शनके समान क्यों माना जाता है। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमश्वत्थरूपेण पालयामि जगत्त्रयम्।
अश्वत्थो न स्थितो यत्र नाहं तत्र प्रतिष्ठितः ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! मैं ही पीपलके वृक्षके रूपमें रहकर तीनों लोकोंका पालन करता हूँ। जहाँ पीपलका वृक्ष नहीं है, वहाँ मेरा वास नहीं है ॥

यत्राहं संस्थितो राजन्नश्वत्थश्चापि तिष्ठति।
यस्त्वेनमर्चयेद् भक्त्या स मां साक्षात् समर्चति॥

राजन् ! जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ पीपल भी रहता है। जो मनुष्य भक्तिभावसे पीपल वृक्षकी पूजा करता है, वह साक्षात् मेरी ही पूजा करता है ॥

यस्त्वेनं प्रहरेत् कोपान्मामेव प्रहरेत् तु सः।
तस्मात् प्रदक्षिणं कुर्यान्न छिन्द्यादेनमन्वहम् ॥

जो क्रोध करके पीपलपर प्रहार करता है, वह वास्तवमें मुझपर ही प्रहार करता है। इसलिये पीपलकी सदा प्रदक्षिणा करनी चाहिये, उसको काटना नहीं चाहिये ॥

व्रतस्य पारणं तीर्थमार्जवं तीर्थमुच्यते।
देवशुश्रूषणं तीर्थं गुरुशुश्रूषणं तथा ॥

व्रतका पारण, सरलता, देवताओंकी सेवा और गुरु-शुश्रूषा—ये सब तीर्थ कहे जाते हैं ॥

पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणं तथा।
दाराणां तोषणं तीर्थं गार्हस्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥

माता-पिताकी सेवा, स्त्रियोंको संतुष्ट रखना और गृहस्थ-धर्मका पालन करना—ये सब तीर्थ कहे गये हैं ॥

आतिथेयः परं तीर्थ ब्रह्मतीर्थं सनातनम्।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥

अतिथि-सेवामें लगे रहना परम तीर्थ है। वेदका अध्ययन सनातन तीर्थ है। ब्रह्मचर्यका पालन करना परम तीर्थ है। आहवनीयादि तीन प्रकारकी अग्नियाँ—ये तीर्थ कहे जाते हैं ॥

मूलं धर्मं तु विज्ञाय मनस्तत्रावधार्यताम्।
गच्छ तीर्थानि कौन्तेय धर्मो धर्मेण वर्धते ॥

कुन्तीनन्दन ! इन सबका मूल है 'धर्म'—ऐसा जानकर इनमें मन लगाओ तथा तीर्थोंमें जाओ; क्योंकि धर्म करनेसे धर्मकी वृद्धि होती है ॥

द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमं तथा।
स्थावराज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः ॥

दो प्रकारके तीर्थ बताये जाते हैं—स्थावर और जङ्गम। स्थावर तीर्थसे जङ्गम तीर्थ श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥

कर्मणापि विशुद्धस्य पुरुषस्येह भारत।
हृदये सर्वतीर्थानि तीर्थभूतः स उच्यते ॥

भारत ! इस लोकमें पुण्य कर्मके अनुष्ठानसे विशुद्ध हुए पुरुषके हृदयमें सब तीर्थ वास करते हैं, इसलिये वह तीर्थस्वरूप कहलाता है ॥

गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते।
ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ॥

गुरुरूपी तीर्थसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये उससे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। ज्ञानतीर्थ सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और ब्रह्मतीर्थ सनातन है ॥

क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥

पाण्डुनन्दन ! समस्त तीर्थोंमें भी क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ है । क्षमाशील मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥

मानितोऽमानितो वापि पूजितोऽपूजितोऽपि वा ।
आक्रुष्टस्तर्जितो वापि क्षमावांस्तीर्थमुच्यते ॥

कोई मान करे या अपमान, पूजा करे या तिरस्कार, अथवा गाली दे या डाँट बतावे, इन सभी परिस्थितियोंमें जो क्षमाशील बना रहता है, वह तीर्थ कहलाता है ॥

क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः ।
क्षमाहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ॥

क्षमा ही यश, दान, यज्ञ और मनोनिग्रह है । अहिंसा, धर्म और इन्द्रियोंका संयम क्षमाके ही स्वरूप हैं ॥

क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत् ।
क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः ॥

क्षमा ही दया और क्षमा ही यज्ञ है । क्षमासे ही सारा जगत् टिका हुआ है; अतः जो ब्राह्मण क्षमावान् है, वह देवता कहलाता है, वही सबसे श्रेष्ठ है ॥

क्षमावान् प्राप्नुयात् स्वर्गं क्षमावानाप्नुयाद् यशः ।
क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं तस्मात् साधुः स उच्यते ॥

क्षमाशील मनुष्यको स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति होती है; इसलिये क्षमावान् पुरुष साधु कहलाता है ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्थ-
मात्मा तीर्थं सर्वतीर्थप्रधानम् ।
आत्मा यज्ञः सततं मन्यते वै
स्वर्गो मोक्षः सर्वमात्मन्यधीनम् ॥

राजन् ! आत्मारूप नदी परम पावन तीर्थ है, यह सब तीर्थोंमें प्रधान है । आत्माको सदा यज्ञरूप माना गया है । स्वर्ग, मोक्ष—सब आत्माके ही अधीन हैं ॥

आचारनैर्मल्यमुपागतेन
सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन ।
ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं
किं तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम् ॥

जो सदाचारके पालनसे अत्यन्त निर्मल हो गया है तथा सत्य और क्षमाके द्वारा जिसमें अतुलनीय शीतलता आ गयी है—ऐसे ज्ञानरूपी जलमें निरन्तर स्नान करनेवाले पुरुषको केवल पानीसे भरे हुए तीर्थकी क्या आवश्यकता है ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वपापघ्नं प्रायश्चित्तमदुष्करम् ।
वक्तस्य सुरश्रेष्ठ मम त्वं वक्तुमर्हसि ॥

युधिष्ठिरने कहा—देवश्रेष्ठ भगवन् ! मैं आपका भक्त हूँ । अब मुझे कोई ऐसा प्रायश्चित्त बतलाइये, जो करनेमें सरल और समस्त पापोंका नाश करनेवाला हो ॥

श्रीभगवानुवाच

रहस्यमिदमत्यर्थमश्राव्यं पापकर्मणाम् ।
अधार्मिकाणामश्राव्यं प्रायश्चित्तं ब्रवीमि ते ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय प्रायश्चित्त बता रहा हूँ । यह अधर्ममें रुचि रखनेवाले पापाचारी मनुष्योंको सुनाने योग्य नहीं है ॥

पावनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा मद्गतेनान्तरात्मना ।
नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यभिवादनमाचरेत् ॥

किसी पवित्र ब्राह्मणको सामने देखनेपर सहसा मेरा स्मरण करे और 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय' कहकर भगवद् बुद्धिसे उन्हें प्रणाम करे ॥

प्रदक्षिणं च यः कुर्यात् पुनरष्टाक्षरेण तु ।
तेन तुष्टेन विप्रेण तत्पापं क्षपयाम्यहम् ॥

इसके बाद अष्टाक्षर मन्त्रका जप करते हुए ब्राह्मण-देवताकी परिक्रमा करे । ऐसा करनेसे ब्राह्मण संतुष्ट होते हैं और मैं उस प्रणाम करनेवाले मनुष्यके पापोंका नाश कर देता हूँ ॥

यत्र कृष्टां वराहस्य मृत्तिकां शिरसा वहन् ।
प्राणायामशतं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

जहाँ वराहद्वारा उखाड़ी हुई मृत्तिका हो, उसको सिरपर धारण करके मनुष्य सौ प्राणायाम करता है तो वह पापोंसे छूट जाता है ॥

दक्षिणावर्तशङ्खाद् वा कपिलाशृङ्गतोऽपि वा ।
प्राक्स्रोतसं नदीं गत्वा ममायतनसंनिधौ ॥
सलिलेन तु यः स्नायात् सकृदेव रविग्रहे ।
तस्य यत् संचितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥

जो मनुष्य सूर्यग्रहणके समय पूर्ववाहिनी नदीके तटपर जाकर मेरे मन्दिरके निकट दक्षिणावर्त शङ्खके जलसे अथवा कपिला गायके सींगका स्पर्श कराये हुए जलसे एक बार भी स्नान कर लेता है, उसके समस्त संचित पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥

पिबेत् तु पञ्चगव्यं यः पौर्णमास्यामुपोष्य तु ।
तस्य नश्यति तत् पापं यत् पापं पूर्वसंचितम् ॥

जो पूर्णिमाको उपवास करके पञ्चगव्यका पान करता है, उसके भी पूर्वसंचित पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

तथैव ब्रह्मकूर्चं तु समन्त्रं तु पृथक् पृथक् ।
मासि मासि पिबेद् यस्तु तस्य पापं प्रणश्यति ॥

इसी प्रकार जो प्रतिमास अलग-अलग मन्त्र पढ़कर संग्रह किये हुए ब्रह्मकूर्चका पान करता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

पात्रं च ब्रह्मकूर्चे च शृणु तत्र च भारत ।
पलाशं पद्मपत्रं च ताम्रं वाथ हिरण्मयम् ।
सादयित्वा तु गृह्णीयात् तत् तु पात्रमुदाहृतम् ॥

भरतनन्दन ! अब मैं ब्रह्मकूर्च और उसके पात्रका वर्णन करता हूँ, सुनो । पलाश या कमलके पत्तेमें अथवा ताँबे या सोनेके बने हुए बर्तनमें ब्रह्मकूर्च रखकर पीना चाहिये । ये ही उसके उपयुक्त पात्र कहे गये हैं ॥

गायत्र्या गृह्यते मूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधि क्राव्णेति वै दधि ॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
आपो हिष्ठेत्यृचा गृह्य यवचूर्णं यथाविधि ॥
ब्रह्मणे च यथा हुत्वा समिद्धे च हुताशने ।
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ॥

(ब्रह्मकूर्चकी विधि इस प्रकार है—) गायत्री[1] मन्त्र पढ़कर गौका मूत्र, 'गन्धद्वार०'[2] इत्यादि मन्त्रसे गौका गोबर, 'आप्यायस्व०'[3] इस मन्त्रसे गायका दूध, 'दधिक्राव्ण०'[4] इस मन्त्रसे दही, 'तेजोऽसि शुक्रम'[5] इस मन्त्रसे घी, 'देवस्य त्वा०'[6] आदि मन्त्रके द्वारा कुशका जल तथा 'आपो हिष्ठा मयो०' इस ऋचाके द्वारा जौका आटा लेकर सबको एकमें मिला दे और प्रज्वलित अग्निमें ब्रह्माके उद्देश्यसे विधिपूर्वक हवन करके प्रणवका उच्चारण करते हुए उपर्युक्त वस्तुओंका आलोडन और मन्थन करे ॥

उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेत् तु प्रणवेन तु ।
महतापि स पापेन त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥

फिर प्रणवका उच्चारण करके उसे पात्रमेंसे निकालकर हाथमें ले और प्रणवका पाठ करते हुए ही उसे पी जाय । इस प्रकार ब्रह्मकूर्चका पान करनेसे मनुष्य बड़े-से-बड़े पापसे भी उसी प्रकार छुटकारा पा जाता है, जैसे साँप अपनी केंचुलसे पृथक् हो जाता है ॥

भद्रं न इति यः पादं पठन्नृक्संहितां तदा ।
अन्तर्जले वाभ्यादित्ये तस्य पापं प्रणश्यति ॥

जो मनुष्य जलके भीतर बैठकर अथवा सूर्यके सामने दृष्टि रखकर 'भद्रं[1] नः०' इस ऋचाके एक चरणका या ऋक्-संहिताका पाठ करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

मम सूक्तं जपेद् यस्तु नित्यं मद्गतमानसः ।
न पापेन स लिप्येत पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जो मुझमें चित्त लगाकर प्रतिदिन मेरे सूक्त (पुरुष-सूक्त) का पाठ करता है, वह जलसे निर्लिप्त रहनेवाले कमलके पत्तेकी तरह कभी भी पापसे लिप्त नहीं होता ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[उत्तम और अधम ब्राह्मणोंके लक्षण, भक्त, गौ, और पीपलकी महिमा]

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशा ब्राह्मणाः पुण्या भावशुद्धाः सुरेश्वर ।
यत्कर्म सफलं नेति कथयस्व ममानघ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप देवेश्वर ! जिनके भाव शुद्ध हों, वे पुण्यात्मा ब्राह्मण कैसे होते हैं तथा ब्राह्मणको अपने कर्ममें सफलता न मिलनेका क्या कारण है ? यह बतानेकी कृपा कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु पाण्डव तत् सर्वं ब्राह्मणानां यथाक्रमम् ।
सफलं निष्फलं चैव तेषां कर्म ब्रवीमि ते ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—पाण्डुनन्दन ! ब्राह्मणोंका कर्म क्यों सफल होता है और क्यों निष्फल—इन बातोंको मैं क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाधारणमुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवासो ब्रह्मचर्याभिषेचनम् ॥
अग्निहोत्रं गृहे वासः स्वाध्यायं दारसत्क्रिया ।
सर्वाण्येतानि वै मिथ्या यदि भावो न निर्मलः ॥

यदि हृदयका भाव शुद्ध न हो तो त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, जटा रखाना, माथा मुँड़ाना, वल्कल

१. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

२. गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् । ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥

३. आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ (यजु० अ० १२ मं० ११२)

४. दधिक्राव्णोऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभिनो मुखाकरत्प्रण आयूꣳषि तारिषत् ॥ (यजु० अ० २३ । ३२)

५. ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि । धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ (यजु० १ । ३१)

६. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे । (यजु० अ० ३८ । १)

१. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् । अध ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन्गावो न यवसे विवक्षसे ॥ (ऋ० मं० १० अ० २ सू० २६ मन्त्र १)

या मृगचर्म पहनना, व्रत और अभिषेक करना, अग्निमें आहुति देना, गृहस्थ-धर्मका पालन करना, स्वाध्यायमें संलग्न रहना और अपनी स्त्रीका सत्कार करना—ये सारे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥

क्षान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम् ।
तमग्र्यं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा इति स्मृताः ॥

जो क्षमाशील, दमका पालन करनेवाला, क्रोधरहित तथा मन और इन्द्रियोंको जीतनेवाला हो, उसीको मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण मानता हूँ। उसके अतिरिक्त जो ब्राह्मण कहलानेवाले लोग हैं, वे सब शूद्र माने गये हैं ॥

अग्निहोत्रव्रतपरान् स्वाध्यायनिरताञ्शुचीन् ।
उपवासरतान् दान्तांस्तान् देवा ब्राह्मणा विदुः ॥
न जात्या पूजितो राजन् गुणाः कल्याणकारणाः।

जो अग्निहोत्र, व्रत और स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले, पवित्र, उपवास करनेवाले और जितेन्द्रिय हैं, उन्हीं पुरुषोंको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं। राजन्! केवल जातिसे किसीकी पूजा नहीं होती, उत्तम गुण ही कल्याण करनेवाले होते हैं ॥

मनश्शौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्छौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्-शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है ॥

पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥

इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है। हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ॥

अग्निहोत्रपरिभ्रष्टः प्रसक्तः क्रयविक्रयैः ।
वर्णसंकरकर्ता च ब्राह्मणो वृषलैः समः ॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रका त्याग करके खरीद-बिक्रीमें लग गया है, वह वर्णसंकरताका प्रचार करनेवाला और शूद्रके समान माना गया है ॥

यस्य वेदश्रुतिर्नष्टा कर्षकश्चापि यो द्विजः।
विकर्मसेवी कौन्तेय स वै वृषल उच्यते ॥

कुन्तीनन्दन! जिसने वैदिक श्रुतियोंको भुला दिया है तथा जो खेतमें हल जोतता है, अपने वर्णके विरुद्ध काम करनेवाला वह ब्राह्मण वृषल माना गया है ॥

वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते लयम् ।
वृषलं तं विदुर्देवा निकृष्टं श्वपचादपि ॥

वृष शब्दका अर्थ है धर्म; उसका जो लय करता है, उसको देवतालोग वृषल मानते हैं। वह चाण्डालसे भी नीच होता है ॥

स्तुतिभिर्ब्रह्मगीताभिर्यः शूद्रं स्तौति मानवः ।
न तु मां स्तौति पापात्मा स तु चण्डालतः समः ॥

जो पापात्मा मनुष्य ब्रह्मगीता आदिके द्वारा मेरी स्तुति न करके किसी शूद्रका स्तवन करता है, वह चाण्डालके समान है ॥

श्वदृतौ तु यथा क्षीरं ब्रह्म वै वृषले तथा ।
दुष्टतामेति तत् सर्वं शुना लीढं हविर्यथा ॥

जैसे कुत्तेकी खालमें रक्खा हुआ दूध और कुत्तेका चाटा हुआ हविष्य अशुद्ध होता है, उसी प्रकार वृषल मनुष्यकी बुद्धिमें स्थित वेद भी दूषित हो जाता है ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

चार वेद, छः अङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ हैं ॥

यान्युक्तानि मया सम्यग् विद्यास्थानानि भारत ।
उत्पन्नानि पवित्राणि भुवनार्थं तथैव च ॥
तस्मात् तानि न शूद्रस्य स्प्रष्टव्यानि युधिष्ठिर ।
सर्वं च शूद्रसंस्पृष्टमपवित्रं न संशयः ॥

भरतनन्दन! मैंने जो विद्याके चौदह पवित्र स्थान पूर्णतया बताये हैं, वे तीनों लोकोंके कल्याणके लिये प्रकट हुए हैं। अतः शूद्रको इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। युधिष्ठिर! शूद्रके सम्पर्कमें आनेवाली सभी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

लोके त्रीण्यपवित्राणि पञ्चामेध्यानि भारत ।
श्वा च शूद्रः श्वपाकश्च अपवित्राणि पाण्डव ॥

भारत! इस संसारमें तीन अपवित्र और पाँच अमेध्य हैं। पाण्डुनन्दन! कुत्ता, शूद्र और श्वपाक (चाण्डाल)—ये तीन अपवित्र होते हैं ॥

गायकः कुक्कुटो यूपो ह्युदक्या वृषलीपतिः ।
पञ्चैते स्युरमेध्याश्च स्प्रष्टव्या न कदाचन ।
स्पृष्ट्वैतानष्ट वै विप्रः सचैलो जलमाविशेत् ॥

तथा अश्लील गायक, मुर्गा, जिसमें बध करनेके लिये पशुओंको बाँधा जाय वह खम्भा, रजस्वला स्त्री और वृषल जातिकी स्त्रीसे ब्याह करनेवाला द्विज—ये पाँच अमेध्य माने गये हैं; इनका कभी भी स्पर्श नहीं करना चाहिये। यदि ब्राह्मण इन आठोंमेंसे किसीका स्पर्श कर ले तो वस्त्रसहित जलमें प्रवेश करके स्नान करे ॥

मद्भक्ताञ्शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः ।
नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटिं नराधमाः ॥

जो मनुष्य मेरे भक्तोंका शूद्र जातिमें जन्म होनेके कारण अपमान करते हैं, वे नराधम करोड़ों वर्षतक नरकोंमें निवास करते हैं ॥

चण्डालमपि मद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान्।
अवमानात् पतन्त्येव नरके रौरवे नराः॥

अतः चाण्डाल भी यदि मेरा भक्त हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमान करनेसे मनुष्यको रौरव नरकमें गिरना पड़ता है॥

मम भक्तस्य भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका मम।
तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः॥

जो मनुष्य मेरे भक्तोंके भक्त होते हैं, उनपर मेरा विशेष प्रेम होता है, इसलिये मेरे भक्तके भक्तोंका विशेष सत्कार करना चाहिये॥

कीटपक्षिमृगाणां च मयि संन्यस्तचेतसाम्।
ऊर्ध्वामेव गतिं विद्धि किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥

मुझमें चित्त लगानेपर कीड़े, पक्षी और पशु भी ऊर्ध्व-गतिको ही प्राप्त होते हैं; फिर ज्ञानी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है!॥

पत्रं वाप्यथवा पुष्पं फलं वाप्यप एव वा।
ददाति मम शूद्रो यच्छिरसा धारयामि तत्॥

मेरा भक्त शूद्र भी यदि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल ही अर्पण करे तो मैं उसे सिरपर धारण करता हूँ॥

वेदोक्तेनैव मार्गेण सर्वभूतहृदि स्थितम्।
मामर्चयन्ति ये विप्रा मत्सायुज्यं व्रजन्ति ते॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें विराजमान मुझ परमेश्वरका वेदोक्त रीतिसे पूजन करते हैं, वे मेरे सायुज्यको प्राप्त होते हैं॥

मद्भक्तानां हितायैव प्रादुर्भावः कृतो मया।
प्रादुर्भावकृता काचिदर्चनीया युधिष्ठिर॥

युधिष्ठिर! मैं अपने भक्तोंका हित करनेके लिये ही अवतार धारण करता हूँ; अतः मेरे प्रत्येक अवतार-विग्रहका पूजन करना चाहिये॥

आसामन्यतमां मूर्तिं यो मद्भक्त्या समर्चति।
तेनैव परितुष्टोऽहं भविष्यामि न संशयः॥

जो मनुष्य मेरे अवतार-विग्रहोंमेंसे किसी एककी भी भक्ति-भावसे आराधना करता है, उसके ऊपर मैं निःसंदेह प्रसन्न होता हूँ॥

मृदा च मणिरत्नैश्च ताम्रेण रजतेन च।
कृत्वा प्रतिकृतिं कुर्यादर्चनां काञ्चनेन वा।
पुण्यं दशगुणं विद्यादेतेषामुत्तरोत्तरम्॥

मिट्टी, ताँबा, चाँदी, स्वर्ण अथवा मणि एवं रत्नोंकी मेरी प्रतिमा बनवाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इनमें उत्तरो-त्तर मूर्तियोंकी पूजासे दसगुना अधिक पुण्य समझना चाहिये॥

जयकामो भवेद् राजा विद्याकामो द्विजोत्तमः।
वैश्यो वा धनकामस्तु शूद्रः सुखफलप्रियः।
सर्वकामाः स्त्रियो वापि सर्वान् कामानवाप्नुयुः॥

यदि ब्राह्मणको विद्याकी, क्षत्रियको युद्धमें विजयकी, वैश्यको धनकी, शूद्रको सुखरूप फलकी तथा स्त्रियोंको सब प्रकारकी कामना हो तो ये सब मेरी आराधनासे अपने सभी मनोरथोंको प्राप्त कर सकते हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशानां तु शूद्राणां नानुगृह्णासि चार्चनम्।
उद्वेगस्तव कस्माद्धि तन्मे ब्रूहि सुरेश्वर॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवेश्वर! आप किस तरहके शूद्रोंकी पूजा नहीं स्वीकार करते तथा आपको कौन-सा कार्य बुरा लगता है? यह मुझे बताइये॥

श्रीभगवानुवाच

अव्रतेनाप्यभक्तेन स्पृष्टां शूद्रेण चार्चनाम्।
तां वर्जयामि राजेन्द्र श्वपाकविहितामिव॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! जो व्रतका पालन न करनेवाला और मेरा भक्त नहीं है, उस शूद्रकी स्पर्श की हुई पूजाको मैं कुत्ता पकानेवाले चाण्डालकी की हुई समझकर त्याग देता हूँ॥

नन्वहं शङ्करश्चापि गावो विप्रास्तथैव च।
अश्वत्थोऽमररूपं हि त्रयमेतद् युधिष्ठिर॥
एतत्त्रयं हि मद्भक्तो नावमन्येत कर्हिचित्।

युधिष्ठिर! गौ, ब्राह्मण और पीपलका वृक्ष—ये तीनों देवरूप हैं। इन्हें मेरा और भगवान् शङ्करका स्वरूप समझना चाहिये। मेरे भक्त पुरुषको उचित है कि वह इन तीनोंका कभी अपमान न करे॥

अश्वत्थो ब्राह्मणा गावो मन्मयास्तारयन्ति हि।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन त्रयं पूजय पाण्डव॥

पाण्डुनन्दन! मेरे स्वरूप होनेके कारण पीपल, ब्राह्मण और गौ—ये तीनों मनुष्यका उद्धार करनेवाले हैं, इसलिये तुम यत्नपूर्वक इन तीनोंकी पूजा किया करो॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान्के उपदेशका उपसंहार और द्वारकागमन]

युधिष्ठिर उवाच

देशान्तरगते विप्रे संयुक्ते कालधर्मणा।
शरीरनाशे सम्प्राप्ते कथं प्रेतत्वकल्पना॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! यदि कोई ब्राह्मण पर-देश गया हो और वहीं कालकी प्रेरणासे उसका शरीर छूट जाय तो उसकी प्रेतक्रिया (अन्त्येष्टि-संस्कार) किस प्रकार सम्भव है?॥

श्रीभगवानुवाच

श्रूयतामाहिताग्नेस्तु तथाभूतस्य संस्क्रिया ।
पालाशवृन्दैः प्रतिमा कर्तव्या कल्पचोदिता ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! यदि किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी इस प्रकार मृत्यु हो जाय तो उसका संस्कार करनेके लिये प्रेतकल्पमें बताये अनुसार उसकी काष्ठमयी प्रतिमा बनवानी चाहिये। वह काष्ठ पलाशका ही होना उचित है ॥

त्रीणि षष्टिशतान्याहुरस्थीन्यस्य युधिष्ठिर ।
तेषां विकल्पना कार्या यथाशास्त्रं विनिश्चितम् ॥

युधिष्ठिर! मनुष्यके शरीरमें तीन सौ साठ हड्डियाँ बतायी गयी हैं। उन सबकी शास्त्रोक्त रीतिसे कल्पना करके उस प्रतिमाका दाह करना चाहिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

विशेषतीर्थं सर्वेषामशक्तानामनुग्रहात् ।
भक्तानां तारणार्थं तु वक्तुमर्हसि धर्मतः ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! जो भक्त तीर्थयात्रा करनेमें असमर्थ हों, उन सबको तारनेके लिये कृपया किसी विशेष तीर्थका धर्मानुसार वर्णन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

पावनं सर्वतीर्थानां सत्यं गायन्ति सामगाः ।
सत्यस्य वचनं तीर्थमहिंसा तीर्थमुच्यते ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! सामवेदका गायन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सत्य सब तीर्थोंको पवित्र करनेवाला है। सत्य बोलना और किसी जीवकी हिंसा न करना—ये तीर्थ कहलाते हैं ॥

तपस्तीर्थं दया तीर्थं शीलं तीर्थं युधिष्ठिर ।
अल्पसंतोषकं तीर्थं नारी तीर्थं पतिव्रता ॥

युधिष्ठिर! तप, दया, शील, थोड़ेमें संतोष करना—ये सद्‌गुण भी तीर्थरूपमें ही हैं तथा पतिव्रता नारी भी तीर्थ है ॥

संतुष्टो ब्राह्मणस्तीर्थं ज्ञानं वा तीर्थमुच्यते ।
मद्भक्ताः सततं तीर्थं शङ्करस्य विशेषतः ॥

संतोषी ब्राह्मण और ज्ञानको भी तीर्थ कहते हैं। मेरे भक्त सदैव तीर्थरूप हैं और शङ्करके भक्त विशेषतया तीर्थ हैं ॥

यतयस्तीर्थमित्येत्र विद्वांसस्तीर्थमुच्यते ।
शरण्यपुरुषस्तीर्थमभयं तीर्थमुच्यते ॥

संन्यासी और विद्वान् भी तीर्थ कहे जाते हैं। दूसरोंको शरण देनेवाले पुरुष भी तीर्थ हैं। जीवोंको अभय-दान देना भी तीर्थ ही कहलाता है ॥

त्रैलोक्येऽस्मिन् निरुद्विग्नो न बिभेमि कुतश्चन ।
न दिवा यदि वा रात्रावुद्वेगः शूद्रलङ्घनात् ॥

मैं तीनों लोकोंमें उद्वेगशून्य हूँ। दिन हो या रात, मुझे कभी किसीसे भी भय नहीं होता; किंतु शूद्रका मर्यादा-भंग करना मुझे बुरा लगता है ॥

न भयं देवदैत्येभ्यो रक्षोभ्यश्चैव मे नृप ।
शूद्रवक्त्राच्च्युतं ब्रह्म भयं तु मम सर्वदा ॥

राजन्! देवता, दैत्य और राक्षसोंसे भी मैं नहीं डरता। परंतु शूद्रके मुखसे जो वेदका उच्चारण होता है, उससे मुझे सदा ही भय बना रहता है ॥

तस्मात् सप्रणवं शूद्रो मन्नामापि न कीर्तयेत् ।
प्रणवं हि परं लोके ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥

इसलिये शूद्रको मेरे नामका भी प्रणवके साथ उच्चारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेदवेत्ता विद्वान् इस संसारमें प्रणवको सर्वोत्कृष्ट वेद मानते हैं ॥

द्विजशुश्रूषणं धर्मः शूद्राणां भक्तितो मयि ।

शूद्र मुझमें भक्ति रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा करे—यही उनका परम धर्म है ॥

द्विजशुश्रूषया शूद्रः परं श्रेयोऽधिगच्छति ।
द्विजशुश्रूषणादन्यन्नास्ति शूद्रस्य निष्कृतिः ॥

द्विजोंकी सेवासे ही शूद्र परम कल्याणके भागी होते हैं। इसके सिवा उनके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥

सृष्ट्वा पितामहः शूद्रमभिभूतं तु तामसैः ।
द्विजशुश्रूषणं धर्मं शूद्राणां तु प्रयुक्तवान् ।
नश्यन्ति तामसा भावाः शूद्रस्य द्विजभक्तितः ॥

ब्रह्माजीने शूद्रोंको तामस गुणोंसे युक्त उत्पन्न करके उनके लिये द्विजोंकी सेवारूप धर्मका उपदेश किया। द्विजोंकी भक्तिसे शूद्रके तामस भाव नष्ट हो जाते हैं ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतं मूर्ध्ना गृह्णामि शूद्रतः ॥

शूद्र भी यदि भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है तो मैं उसके भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको सादर शीश चढ़ाता हूँ ॥

अग्रजो वापि यः कश्चित् सर्वपापसमन्वितः ।
यदि मां सततं ध्यायेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

सम्पूर्ण पापोंसे युक्त होनेपर भी यदि कोई ब्राह्मण सदा मेरा ध्यान करता रहता है तो वह अपने सम्पूर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥

विद्याविनयसम्पन्ना ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
मयि भक्तिं न कुर्वन्ति चाण्डालसदृशा हि ते ॥

विद्या और विनयसे सम्पन्न तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् होनेपर भी जो ब्राह्मण मुझमें भक्ति नहीं करते, वे चाण्डालके समान हैं ॥

वृथा दानं वृथा तप्तं वृथा चेष्टं वृथा हुतम् ।
वृथाऽऽतिथ्यं च तत् तस्य यो न भक्तो मम द्विजः ॥

जो द्विज मेरा भक्त नहीं है, उसके दान, तप, यज्ञ, होम और अतिथि-सत्कार—ये सब व्यर्थ हैं ॥

स्थावरे जङ्गमे वापि सर्वभूतेषु पाण्डव ।
समत्वेन यदा कुर्यान्मद्भक्तो मित्रशत्रुषु ॥

पाण्डुनन्दन ! जब मनुष्य समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें एवं मित्र और शत्रुमें समान दृष्टि कर लेता है, उस समय वह मेरा सच्चा भक्त होता है ॥

आनृशंस्यमहिंसा च यथा सत्यं तथाऽऽर्जवम् ।
अद्रोहश्चैव भूतानां मद्व्रतानां व्रतं नृप ॥

राजन् ! क्रूरताका अभाव, अहिंसा, सत्य, सरलता तथा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना—यह मेरे भक्तोंका व्रत है ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तं श्रद्धयान्वितः ।
तस्याक्षयाऽभवँल्लोकाः श्वपाकस्यापि पार्थिव ॥

पृथ्वीनाथ ! जो मनुष्य मेरे भक्तको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां सदारं विधिपूर्वकम् ।
मद्भक्ता मद्गतप्राणाः कथयन्तश्च मां सदा ॥

फिर जो साक्षात् मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे रहते हैं तथा जो सदा मेरे ही नाम और गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं, वे यदि लक्ष्मीसहित मेरी विधिवत् पूजा करते हैं तो उनकी सद्गतिके विषयमें क्या कहना है ? ॥

बहुवर्षसहस्राणि तपस्तपति यो नरः ।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

अनेकों हजार वर्षोंतक तपस्या करनेवाला मनुष्य भी उस पदको प्राप्त नहीं होता, जो मेरे भक्तोंको अनायास ही मिल जाता है ॥

मामेव तस्माद् राजेन्द्र ध्यायन् नित्यमतन्द्रितः ।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव परं पदम् ॥

इसलिये राजेन्द्र ! तुम सदा सजग रहकर निरन्तर मेरा ही ध्यान करते रहो, इससे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी और तुम निश्चय ही परम पदका साक्षात्कार कर सकोगे ॥

ऋग्वेदेनैव होता च यजुषाध्वर्युरेव च ।
सामवेदेन चोद्गाता पुण्येनाभिष्टुवन्ति माम् ॥
अथर्वशिरसा चैव नित्यमाथर्वणा द्विजाः ।
स्तुवन्ति सततं ये मां ते वै भागवताः स्मृताः ॥

जो होता बनकर ऋग्वेदके द्वारा, अध्वर्यु होकर यजुर्वेदके द्वारा, उद्गाता बनकर परम पवित्र सामवेदके द्वारा मेरा स्तवन करते हैं तथा अथर्ववेदीय द्विजोंके रूपमें जो अथर्ववेदके द्वारा हमेशा मेरी स्तुति किया करते हैं, वे भगवद्भक्त माने गये हैं ॥

वेदाधीनाः सदा यज्ञा यज्ञाधीनास्तु देवताः ।
देवताः ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् विप्रास्तु देवताः ॥

यज्ञ सदा वेदोंके अधीन हैं और देवता यज्ञों तथा ब्राह्मणोंके अधीन होते हैं, इसलिये ब्राह्मण देवता हैं ॥

अनाश्रित्योच्छ्रयं नास्ति मुख्यमाश्रयमाश्रयेत् ।
रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ॥

किसीका सहारा लिये बिना कोई ऊँचे नहीं चढ़ सकता, अतः सबको किसी प्रधान आश्रयका सहारा लेना चाहिये । देवतालोग भगवान् रुद्रके आश्रयमें रहते हैं, रुद्र ब्रह्माजीके आश्रित हैं ॥

ब्रह्मा मामाश्रितो राजन् नाहं कंचिदुपाश्रितः ।
ममाश्रयो न कश्चित् तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम् ॥

ब्रह्माजी मेरे आश्रयमें रहते हैं, किंतु मैं किसीके आश्रित नहीं हूँ । राजन् ! मेरा आश्रय कोई नहीं है । मैं ही सबका आश्रय हूँ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तं रहस्यमिदमुत्तमम् ।
धर्मप्रियस्य ते नित्यं राजन्नेवं समाचर ॥

राजन् ! इस प्रकार ये उत्तम रहस्यकी बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, क्योंकि तुम धर्मके प्रेमी हो । अब तुम इस उपदेशके ही अनुसार सदा आचरण करो ॥

इदं पवित्रमाख्यानं पुण्यं वेदेन सम्मितम् ।
यः पठेन्मामकं धर्ममहन्यहनि पाण्डव ॥
धर्मोऽपि वर्धते तस्य बुद्धिश्चापि प्रसीदति ।
पापक्षयमुपेत्यैवं कल्याणं च विवर्धते ॥

यह पवित्र आख्यान पुण्यदायक एवं वेदके समान मान्य है । पाण्डुनन्दन ! जो मेरे बताये हुए इस वैष्णव-धर्मका प्रतिदिन पाठ करेगा, उसके धर्मकी वृद्धि होगी और बुद्धि निर्मल । साथ ही उसके समस्त पापोंका नाश होकर परम कल्याणका विस्तार होगा ॥

एतत् पुण्यं पवित्रं च पापनाशनमुत्तमम् ।
श्रोतव्यं श्रद्धया युक्तैः श्रोत्रियैश्च विशेषतः ॥

यह प्रसंग परम पवित्र, पुण्यदायक, पापनाशक और अत्यन्त उत्कृष्ट है । सभी मनुष्योंको, विशेषतः श्रोत्रिय विद्वानोंको श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करना चाहिये ॥

श्रावयेद् यस्त्विदं भक्त्या प्रयतोऽथ शृणोति वा ।

स गच्छेन्मम सायुज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥

जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इसे सुनाता और पवित्रचित्त होकर सुनता है, वह मेरे सायुज्यको प्राप्त होता है, इसमें कोई शङ्का नहीं है ॥

यश्चेमं श्रावयेच्छ्राद्धे मद्भक्तो मत्परायणः।
पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

मेरी भक्तिमें तत्पर रहनेवाला जो भक्त पुरुष श्राद्धमें इस धर्मको सुनाता है, उसके पितर इस ब्रह्माण्डके प्रलय होनेतक सदा तृप्त बने रहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा भागवतान् धर्मान् साक्षाद् विष्णोर्जगद्गुरोः
प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोऽद्भुताः कथाः॥
ऋषयः पाण्डवाश्चैव प्रणेमुस्तं जनार्दनम्।
पूजयामास गोविन्दं धर्मपुत्रः पुनः पुनः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! साक्षात् विष्णुस्वरूप जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भागवत-धर्मोंका श्रवण करके इस अद्भुत प्रसंगपर विचार करते हुए ऋषि और पाण्डवलोग बहुत प्रसन्न हुए और सबने भगवान्को प्रणाम किया। धर्मनन्दन युधिष्ठिरने तो बारंबार गोविन्दका पूजन किया ॥

देवा ब्रह्मर्षयः सिद्धा गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
ऋषयश्च महात्मानो गुह्यका भुजगास्तथा॥
बालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः।
तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः॥
कौतूहलसमायुक्ता भगवद्भक्तिमागताः।
श्रुत्वा तु परमं पुण्यं वैष्णवं धर्मशासनम्॥
विमुक्तपापाः पूतास्ते संवृत्तास्तत्क्षणेन तु।

देवता, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सराएँ, ऋषि, महात्मा, गुह्यक, सर्प, महात्मा वालखिल्य, तत्त्वदर्शी योगी तथा पञ्चयाम उपासना करनेवाले भगवद्भक्त पुरुष, जो अत्यन्त उत्कण्ठित होकर उपदेश सुननेके लिये पधारे थे, इस परम पवित्र वैष्णव-धर्मका उपदेश सुनकर तत्क्षण निष्पाप एवं पवित्र हो गये। सबमें भगवद्भक्ति उमड़ आयी ॥

प्रणम्य शिरसा विष्णुं प्रतिनन्द्य च ताः कथाः॥

फिर उन सबने भगवान्के चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उनके उपदेशकी प्रशंसा की ॥

द्रष्टारो द्वारकायां वै वयं सर्वे जगद्गुरुम्।
इति प्रहृष्टमनसो ययुर्देवगणैः सह।
सर्वे ऋषिगणा राजन् ययुः स्वं स्वं निवेशनम्॥

फिर 'भगवन् ! अब हम द्वारकामें पुनः आप जगद्गुरुका दर्शन करेंगे।' यों कहकर सब ऋषि प्रसन्नचित्त हो देवताओंके साथ अपने-अपने स्थानको चले गये ॥

गतेषु तेषु सर्वेषु केशवः केशिहा हरिः।
सस्मार दारुकं राजन् स च सात्यकिना सह।
समीपस्थोऽभवत् सूतो याहि देवेति चाब्रवीत्॥

राजन् ! उन सबके चले जानेपर केशिनिषूदन भगवान् श्रीकृष्णने सात्यकिसहित दारुकको याद किया। सारथि दारुक पास ही बैठा था, उसने निवेदन किया—'भगवन् ! रथ तैयार है, पधारिये ॥'

ततो विषण्णवदनाः पाण्डवाः पुरुषोत्तमम्।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय नेत्रैरश्रुपरिप्लुतैः।
पिबन्तः सततं कृष्णं नोचुरार्ततरास्तदा ॥

यह सुनकर पाण्डवोंका मुँह उदास हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर सिरसे लगाया और वे आँसूभरे नेत्रोंसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ओर एकटक देखने लगे; किंतु अत्यन्त दुखी होनेके कारण उस समय कुछ बोल न सके ॥

कृष्णोऽपि भगवान् देवः पृथामामन्त्र्य चार्तवत्।
धृतराष्ट्रं च गान्धारीं विदुरं द्रौपदीं तथा ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषीनन्यांश्च मन्त्रिणः।
सुभद्रामात्मजयुतामुत्तरां स्पृश्य पाणिना।
निर्गत्य वेश्मनस्तस्मादारुरोह तदा रथम् ॥

देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी उनकी दशा देखकर दुखी-से हो गये और उन्होंने कुन्ती, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, द्रौपदी, महर्षि व्यास और अन्यान्य ऋषियों एवं मन्त्रियोंसे विदा लेकर सुभद्रा तथा पुत्रसहित उत्तराकी पीठपर हाथ फेरा और आशीर्वाद देकर वे उस राजभवनसे बाहर निकल आये और रथपर सवार हो गये ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।
युक्तं तु ध्वजभूतेन पतगेन्द्रेण धीमता ॥

उस रथमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे तथा बुद्धिमान् गरुड़का ध्वज फहरा रहा था ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः।
अपास्य चाशु यन्तारं दारुकं सूतसत्तमम्।
अभीषून् प्रतिजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ॥

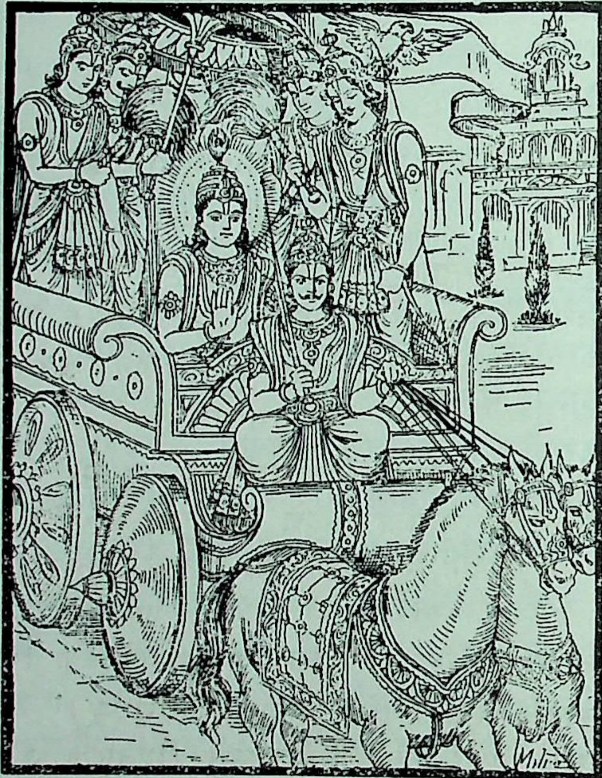
उस समय कुरुदेशके राजा युधिष्ठिर भी प्रेमवश भगवान्के पीछे-पीछे स्वयं भी रथपर जा बैठे और तुरंत ही श्रेष्ठ दारुकको सारथिके स्थानसे हटाकर उन्होंने घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें ले ली ॥

उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं शुभम्।
रुक्मदण्डं बृहन्मूर्ध्नि दुधावाभिप्रदक्षिणम्॥

फिर अर्जुन भी रथपर आरूढ़ हो स्वर्णदण्डयुक्त विशाल चँवर हाथमें लेकर दाहिनी ओरसे भगवान्‌के मस्तकपर हवा करने लगे ॥

तथैव भीमसेनोऽपि रथमारुह्य वीर्यवान्।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन भी रथपर जा चढ़े और भगवान्‌के ऊपर छत्र लगाये खड़े हो गये। वह छत्र सौ कमानियोंसे युक्त तथा दिव्य मालाओंसे सुशोभित था ॥



वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम्।
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वनः ॥

उसका डंडा वैदूर्य मणिका बना हुआ था तथा सोनेकी झालरें उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। भीमसेनने शार्ङ्गधनुषधारी श्रीकृष्णके उस छत्रको शीघ्र ही धारण कर लिया ॥

उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते।
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ॥

नकुल और सहदेव भी अपने हाथोंमें सफेद चँवर लिये शीघ्र रथपर सवार हो गये और भगवान् जनार्दनके ऊपर डुलाने लगे ॥

भीमसेनोऽर्जुनश्चैव यमावप्यरिसूदनौ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं मा शब्द इति हर्षिताः ॥

इस प्रकार युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने हर्षपूर्वक श्रीकृष्णका अनुसरण किया और कहने लगे—'आप मत जाइये' ॥

त्रियोजने व्यतीते तु परिष्वज्य च पाण्डवान्।
विसृज्य कृष्णस्तान् सर्वान् प्रणतान् द्वारकां ययौ॥

तीन योजन (चौबीस मील) तक चले आनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपने चरणोंमें पड़े हुए पाण्डवोंको गलेसे लगाकर बिदा किया और स्वयं द्वारकाको चले गये ॥

तथा प्रणम्य गोविन्दं तदाप्रभृति पाण्डवाः।
कपिलाद्यानि दानानि ददुर्धर्मपरायणाः ॥

इस प्रकार भगवान् गोविन्दको प्रणाम करके जब पाण्डव घर लौटे, उस दिनसे सदा धर्ममें तत्पर रहकर कपिला आदि गौओंका दान करने लगे ॥

मधुसूदनवाक्यानि स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः।
मनसा पूजयामासुर्हृदयस्थानि पाण्डवाः ॥

वे सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको बारंबार याद करके और उनको हृदयमें धारण करके मन-ही-मन उनकी सराहना करते थे ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा हृदि कृत्वा जनार्दनम्।
तद्भक्तस्तन्मना युक्तस्तद्याजी तत्परोऽभवत् ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर ध्यानद्वारा भगवान्‌को अपने हृदयमें विराजमान करके उन्हींके भजनमें लग गये, उन्हींका स्मरण करने लगे और योगयुक्त होकर भगवान्‌का भजन करते हुए उन्हींके परायण हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलोपाख्याने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें नकुलोपाख्यानविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२२० श्लोक मिलाकर कुल १२७३ श्लोक हैं)

आश्वमेधिकपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२७४७॥	(१२२॥)	१६८।≡	२९१५॥।≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१२६५	(२१)	२८॥।=	१२९३॥।=

आश्वमेधिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—४२०९॥।–

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

आश्रमवासिकपर्व

(आश्रमवासपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भाइयोंसहित युधिष्ठिर तथा कुन्ती आदि देवियोंके द्वारा धृतराष्ट्र और गान्धारीकी सेवा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओं-का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा मे पितामहाः ।
कथमासन् महाराज्ञि धृतराष्ट्रे महात्मनि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! मेरे प्रपितामह महात्मा पाण्डव अपने राज्यपर अधिकार प्राप्त कर लेनेके बाद महाराज धृतराष्ट्रके प्रति कैसा बर्ताव करते थे ? ॥ १ ॥

स तु राजा हतामात्यो हतपुत्रो निराश्रयः ।
कथमासीद्धतैश्वर्यो गान्धारी च यशस्विनी ॥ २ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री और पुत्रोंके मारे जानेसे निराश्रय हो गये थे। उनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया था। ऐसी अवस्थामें वे और यशस्विनी गान्धारी देवी किस प्रकार जीवन व्यतीत करते थे ॥ २ ॥

कियन्तं चैव कालं ते मम पूर्वपितामहाः ।
स्थिता राज्ये महात्मानस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

मेरे पूर्वपितामह महात्मा पाण्डव कितने समयतक अपने राज्यपर प्रतिष्ठित रहे ? ये सब बातें मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! जिनके शत्रु मारे गये थे, वे महात्मा पाण्डव राज्य पानेके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रको ही आगे रखकर पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद् विदुरः संजयस्तथा ।
वैश्यापुत्रश्च मेधावी युयुत्सुः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! विदुर, संजय तथा वैश्यापुत्र मेधावी युयुत्सु—ये लोग सदा धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ५ ॥

पाण्डवाः सर्वकार्याणि सम्पृच्छन्ति स्म तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च ॥ ६ ॥

पाण्डवलोग सभी कार्योंमें राजा धृतराष्ट्रकी सलाह पूछा करते थे और उनकी आज्ञा लेकर प्रत्येक कार्य करते थे। इस तरह उन्होंने पंद्रह वर्षोंतक राज्यका शासन किया ॥ ६ ॥

सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नृपम् ।
पादाभिवादनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः ॥ ७ ॥

वीर पाण्डव प्रतिदिन राजा धृतराष्ट्रके पास जा उनके चरणोंमें प्रणाम करके कुछ कालतक उनकी सेवामें बैठे रहते थे और सदा धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञाके अधीन रहते थे ॥

ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्वकार्याणि चक्रिरे ।
कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र भी स्नेहवश पाण्डवोंका मस्तक सूँघकर जब उन्हें जानेकी आज्ञा देते, तब वे आकर सब कार्य किया करते थे। कुन्तीदेवी भी सदा गान्धारीकी सेवामें लगी रहती थीं ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः ।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥ ९ ॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा पाण्डवोंकी अन्य स्त्रियाँ भी कुन्ती और गान्धारी दोनों सासुओंकी समान भावसे विधिवत् सेवा किया करती थीं ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च ।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ॥ १० ॥
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् ।
तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत ॥ ११ ॥

महाराज ! राजा युधिष्ठिर बहुमूल्य शय्या, वस्त्र, आभूषण तथा राजाके उपभोगमें आने योग्य सब प्रकारके उत्तम पदार्थ एवं अनेकानेक भक्ष्य, भोज्य पदार्थ धृतराष्ट्रको अर्पण किया करते थे। इसी प्रकार कुन्तीदेवी भी अपनी सासकी भाँति गान्धारीकी परिचर्या किया करती थीं ॥

विदुरः संजयश्चैव युयुत्सुश्चैव कौरव।
उपासते स्म तं वृद्धं हतपुत्रं जनाधिपम् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जिनके पुत्र मारे गये थे, उन बूढ़े राजा धृतराष्ट्रकी विदुर, संजय और युयुत्सु—ये तीनों सदा सेवा करते रहते थे ॥ १२ ॥

श्यालो द्रोणस्य यश्चासीद् दयितो ब्राह्मणो महान्।
स च तस्मिन् महेष्वासः कृपः समभवत् तदा ॥ १३ ॥

द्रोणाचार्यके प्रिय साले महान् ब्राह्मण महाधनुर्धर कृपाचार्य तो उन दिनों सदा धृतराष्ट्रके ही पास रहते थे ॥ १३ ॥

व्यासश्च भगवान् नित्यमासांचक्रे नृपेण ह।
कथाः कुर्वन् पुराणर्षिर्देवर्षिपितृरक्षसाम् ॥ १४ ॥

पुरातन ऋषि भगवान् व्यास भी प्रतिदिन उनके पास आकर बैठते और उन्हें देवर्षि, पितर तथा राक्षसोंकी कथाएँ सुनाया करते थे ॥ १४ ॥

धर्मयुक्तानि कार्याणि व्यवहारान्वितानि च।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो विदुरस्तान्यकारयत् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी उनके समस्त धार्मिक और व्यावहारिक कार्य करते-कराते थे ॥ १५ ॥

सामन्तेभ्यः प्रियाण्यस्य कार्याणि सुबहून्यपि।
प्राप्यन्तेऽर्थैः सुलघुभिः सुनयाद् विदुरस्य वै ॥ १६ ॥

विदुरजीकी अच्छी नीतिके कारण उनके बहुतेरे प्रिय कार्य थोड़े खर्चमें ही सामन्तों (सीमावर्ती राजाओं) से सिद्ध हो जाया करते थे ॥ १६ ॥

अकरोद् बन्धमोक्षं च वध्यानां मोक्षणं तथा।
न च धर्मसुतो राजा कदाचित् किंचिदब्रवीत् ॥ १७ ॥

वे कैदियोंको कैदसे छुटकारा दे देते और वधके योग्य मनुष्योंको भी प्राणदान देकर छोड़ देते थे; किंतु धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर इसके लिये उनसे कभी कुछ कहते नहीं थे ॥ १७ ॥

विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
सर्वान् कामान् महातेजाः प्रददावम्बिकासुते ॥ १८ ॥

महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर विहार और यात्राके अवसरोंपर राजा धृतराष्ट्रको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओंकी सुविधा देते थे ॥ १८ ॥

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥ १९ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें पहलेकी ही भाँति उक्त अवसरोंपर भी रसोईके काममें निपुण आरालिक[1], सूपकार[2] और रागखाण्डविक[3] मौजूद रहते थे ॥ १९ ॥

वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च।
उपाजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥ २० ॥

पाण्डवलोग धृतराष्ट्रको यथोचित रूपसे बहुमूल्य वस्त्र और नाना प्रकारकी मालाएँ भेंट करते थे ॥ २० ॥

मैरेयकाणि मांसानि पानकानि लघूनि च।
चित्रान् भक्ष्यविकारांश्च चक्रुस्तस्य यथा पुरा ॥ २१ ॥

वे उनकी सेवामें पहलेकी ही भाँति सुखभोगप्रद फलके गूदे, हल्के पानक (मीठे शर्बत) और अन्यान्य विचित्र प्रकारके भोजन प्रस्तुत करते थे ॥ २१ ॥

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुस्ततस्ततः।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥ २२ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंसे जो-जो भूपाल वहाँ पधारते थे, वे सब पहलेकी ही भाँति कौरवराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित होते थे ॥ २२ ॥

कुन्ती च द्रौपदी चैव सात्वती च यशस्विनी।
उलूपी नागकन्या च देवी चित्राङ्गदा तथा ॥ २३ ॥
धृष्टकेतोश्च भगिनी जरासंधसुता तथा।
एताश्चान्याश्च बह्व्यो वै योषितः पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
किंकराः पर्युपातिष्ठन् सर्वाः सुबलजां तथा।

पुरुषप्रवर ! कुन्ती, द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा, नागकन्या उलूपी, देवी चित्राङ्गदा, धृष्टकेतुकी बहिन तथा जरासंधकी पुत्री—ये तथा कुरुकुलकी दूसरी बहुत-सी स्त्रियाँ दासीकी भाँति सुबलपुत्री गान्धारीकी सेवामें लगी रहती थीं ॥

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किंचिद् दुःखमाप्नुयात् ॥ २५ ॥
इति तानन्वशाद् भ्रातॄन् नित्यमेव युधिष्ठिरः।

राजा युधिष्ठिर सदा भाइयोंको यह उपदेश देते थे कि 'बन्धुओ ! तुम ऐसा बर्ताव करो, जिससे अपने पुत्रोंसे बिछुड़े हुए इन राजा धृतराष्ट्रको किंचिन्मात्र भी दुःख न प्राप्त हो' ॥ २५½ ॥

एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ॥ २६ ॥
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं तदा विना।

धर्मराजका यह सार्थक वचन सुनकर भीमसेनको छोड़

१. 'अरा' नामक शस्त्रसे काटकर बनाये जानेके कारण साग-भाजी आदिको 'अरालु' कहते हैं। उसको सुन्दर रीतिसे तैयार करनेवाले रसोइये 'आरालिक' कहलाते हैं। २. दाल आदि बनानेवाले सामान्यतः सभी रसोइयोंको 'सूपकार' कहते हैं। ३. पीपल, सोंठ और चीनी मिलाकर मूँगका रस तैयार करनेवाले रसोइये 'रागखाण्डविक' कहलाते हैं।

अन्य सभी भाई धृतराष्ट्रका विशेष आदर-सत्कार करते थे ॥ २६½ ॥

न हि तत् तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्ध्या यद् वृत्तं द्यूतकारितम् ॥ २७ ॥

वीरवर भीमसेनके हृदयसे कभी भी यह बात दूर नहीं होती थी कि जूएके समय जो कुछ भी अनर्थ हुआ था, वह धृतराष्ट्रकी ही खोटी बुद्धिका परिणाम था ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

पाण्डवोंका धृतराष्ट्र और गान्धारीके अनुकूल बर्ताव

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजितो राजा पाण्डवैरम्बिकासुतः ।
विजहार यथापूर्वमृषिभिः पर्युपासितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पाण्डवोंसे भलीभाँति सम्मानित हो अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र पूर्ववत् ऋषियोंके साथ गोष्ठी-सुखका अनुभव करते हुए वहाँ सानन्द निवास करने लगे ॥ १ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च प्रददौ स कुरूद्वहः ।
तच्च कुन्तीसुतो राजा सर्वमेवान्वपद्यत ॥ २ ॥

कुरुकुलके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंको देनेयोग्य अग्रहार (माफी जमीन) देते थे और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर सभी कार्योंमें उन्हें सहयोग देते थे ॥ २ ॥

आनृशंस्यपरो राजा प्रीयमाणो युधिष्ठिरः ।
उवाच स तदा भ्रातॄनमात्यांश्च महीपतिः ॥ ३ ॥
मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः ।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यस्तिष्ठति स मे सुहृत् ॥ ४ ॥
विपरीतश्च मे शत्रुर्नियम्यश्च भवेन्नरः ।

राजा युधिष्ठिर बड़े दयालु थे । वे सदा प्रसन्न रहकर अपने भाइयों और मन्त्रियोंसे कहा करते थे कि 'ये राजा धृतराष्ट्र मेरे और आपलोगोंके माननीय हैं । जो इनकी आज्ञाके अधीन रहता है, वही मेरा सुहृद् है । विपरीत आचरण करनेवाला मेरा शत्रु है । वह मेरे दण्डका भागी होगा ॥ ३-४½ ॥

पितृवृत्तेषु चाहःसु पुत्राणां श्राद्धकर्मणि ॥ ५ ॥
सुहृदां चैव सर्वेषां यावदस्य चिकीर्षितम् ।

'पिता आदिकी क्षयाह तिथियोंपर तथा पुत्रों और समस्त सुहृदोंके श्राद्धकर्ममें राजा धृतराष्ट्र जितना धन खर्च करना चाहें, वह सब इन्हें मिलना चाहिये' ॥ ५½ ॥

ततः स राजा कौरव्यो धृतराष्ट्रो महामनाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणेभ्यो यथार्हेभ्यो ददौ वित्तान्यनेकशः ।
धर्मराजश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ॥ ७ ॥
तत् सर्वमन्ववर्तन्त तस्य प्रियचिकीर्षया ।

तदनन्तर महामना कुरुकुलनन्दन राजा धृतराष्ट्र उक्त अवसरोंपर सुयोग्य ब्राह्मणोंको बारंबार प्रचुर धनका दान करते थे । धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, सव्यसाची अर्जुन और नकुल-सहदेव भी उनका प्रिय करनेकी इच्छासे सब कार्योंमें उनका साथ देते थे ॥ ६-७½ ॥

कथं नु राजा वृद्धः स पुत्रपौत्रवधार्दितः ॥ ८ ॥
शोकमस्मत्कृतं प्राप्य न म्रियेतेति चिन्त्यते ।

उन्हें सदा इस बातकी चिन्ता बनी रहती थी कि पुत्र-पौत्रोंके वधसे पीड़ित हुए बूढ़े राजा धृतराष्ट्र हमारी ओरसे शोक पाकर कहीं अपने प्राण न त्याग दें ॥ ८½ ॥

यावद्धि कुरुवीरस्य जीवत्पुत्रस्य वै सुखम् ॥ ९ ॥
बभूव तदवाप्नोति भोगांश्चेति व्यवस्थिताः ।

अपने पुत्रोंकी जीवितावस्थामें कुरुवीर धृतराष्ट्रको जितने सुख और भोग प्राप्त थे, वे अब भी उन्हें मिलते रहें—इसके लिये पाण्डवोंने पूरी व्यवस्था की थी ॥ ९½ ॥

ततस्ते सहिताः पञ्च भ्रातरः पाण्डुनन्दनाः ॥ १० ॥
तथाशीलाः समातस्थुर्धृतराष्ट्रस्य शासने ।

इस प्रकारके शील और बर्तावसे युक्त होकर वे पाँचों भाई पाण्डव एक साथ धृतराष्ट्रकी आज्ञाके अधीन रहते थे ॥ १०½ ॥

धृतराष्ट्रश्च तान् सर्वान् विनीतान् नियमे स्थितान् ॥ ११ ॥
शिष्यवृत्तिं समापन्नान् गुरुवत् प्रत्यपद्यत ।

धृतराष्ट्र भी उन सबको परम विनीत, अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले और शिष्य-भावसे सेवामें संलग्न जानकर पिताकी भाँति उनसे स्नेह रखते थे ॥ ११½ ॥

गान्धारी चैव पुत्राणां विविधैः श्राद्धकर्मभिः ॥ १२ ॥
आनृण्यमगमत् कामान् विप्रेभ्यः प्रतिपाद्य सा ।

गान्धारी देवीने भी अपने पुत्रोंके निमित्त नाना प्रकारके श्राद्धकर्मका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार धन दान किया और ऐसा करके वे पुत्रोंके ऋणसे मुक्त हो गयीं ॥ १२½ ॥

एवं धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
भ्रातृभिः सहितो धीमान् पूजयामास तं नृपम् ।

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ रहकर सदा राजा धृतराष्ट्रका आदर-सत्कार करते रहते थे ॥ १३½ ॥

स राजा सुमहातेजा वृद्धः कुरुकुलोद्वहः ॥ १४ ॥
न ददर्श तदा किंचिदप्रियं पाण्डुनन्दने ।

कुरुकुलशिरोमणि महातेजस्वी बूढ़े राजा धृतराष्ट्रने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका कोई ऐसा बर्ताव नहीं देखा, जो उनके मनको अप्रिय लगनेवाला हो ॥ १४½ ॥

वर्तमानेषु सद्वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १५ ॥
प्रीतिमानभवद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।

महात्मा पाण्डव सदा अच्छा बर्ताव करते थे; इसलिये अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र उनके ऊपर बहुत प्रसन्न रहते थे ॥ १५½ ॥

सौबलेयी च गान्धारी पुत्रशोकमपास्य तम् ॥ १६ ॥
सदैव प्रीतिमत्यासीत् तनयेषु निजेष्विव ।

सुबलपुत्री गान्धारी भी अपने पुत्रोंका शोक छोड़कर पाण्डवोंपर सदा अपने सगे पुत्रोंके समान प्रेम करती थीं ॥ १६½ ॥

प्रियाण्येव तु कौरव्यो नाप्रियाणि कुरूद्वहः ॥ १७ ॥
वैचित्रवीर्ये नृपतौ समाचरत वीर्यवान् ।

पराक्रमी कुरुकुलतिलक राजा युधिष्ठिर महाराज धृतराष्ट्रका सदा प्रिय ही करते थे, अप्रिय नहीं करते थे ॥

यद् यद् ब्रूते च किंचित् स धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ १८ ॥
गुरु वा लघु वा कार्यं गान्धारी च तपस्विनी ।
तं स राजा महाराज पाण्डवानां धुरंधरः ॥ १९ ॥
पूजयित्वा वचस्तत् तदकार्षीत् परवीरहा ।

महाराज ! राजा धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारी देवी ये दोनों जो कोई भी छोटा या बड़ा कार्य करनेके लिये कहते, पाण्डवधुरन्धर शत्रुसूदन राजा युधिष्ठिर उनके उस आदेशको सादर शिरोधार्य करके वह सारा कार्य पूर्ण करते थे ॥ १८-१९½ ॥

तेन तस्याभवत् प्रीतो वृत्तेन स नराधिपः ॥ २० ॥
अन्वतप्यत संस्मृत्य पुत्रं तं मन्दचेतसम् ।

उनके उस बर्तावसे राजा धृतराष्ट्र सदा प्रसन्न रहते और अपने उस मन्दबुद्धि दुर्योधनको याद करके पछताया करते थे ॥ २०½ ॥

सदा च प्रातरुत्थाय कृतजप्यः शुचिर्नृपः ॥ २१ ॥
आशास्ते पाण्डुपुत्राणां समरेष्वपराजयम् ।

प्रतिदिन सबेरे उठकर स्नान-संध्या एवं गायत्रीजप कर लेनेके पश्चात् पवित्र हुए राजा धृतराष्ट्र सदा पाण्डवोंको समरविजयी होनेका आशीर्वाद देते थे ॥ २१½ ॥

ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्याथ हुत्वा चैव हुताशनम् ॥ २२ ॥
आयूंषि पाण्डुपुत्राणामाशंसत नराधिपः ।

ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर अग्निमें हवन करनेके पश्चात् राजा धृतराष्ट्र सदा यह शुभकामना करते थे कि पाण्डवोंकी आयु बढ़े ॥ २२½ ॥

न तां प्रीतिं परामाप पुत्रेभ्यः स कुरूद्वहः ॥ २३ ॥
यां प्रीतिं पाण्डुपुत्रेभ्यः सदावाप नराधिपः ।

राजा धृतराष्ट्रको सदा पाण्डवोंके बर्तावसे जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी उत्कृष्ट प्रीति उन्हें अपने पुत्रोंसे भी कभी प्राप्त नहीं हुई थी ॥ २३½ ॥

ब्राह्मणानां यथावृत्तः क्षत्रियाणां यथाविधः ॥ २४ ॥
तथा विट्शूद्रसंघानामभवत् स प्रियस्तदा ।

युधिष्ठिर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके साथ जैसा सद्बर्ताव करते थे, वैसा ही वैश्यों और शूद्रोंके साथ भी करते थे । इसलिये वे उन दिनों सबके प्रिय हो गये थे ॥ २४½ ॥

यच्च किंचित् तदा पापं धृतराष्ट्रसुतैः कृतम् ॥ २५ ॥
अकृत्वा हृदि तत् पापं तं नृपं सोऽन्ववर्तत ।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके साथ जो कुछ बुराई की थी, उसे अपने हृदयमें स्थान न देकर वे युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र-की सेवामें संलग्न रहते थे ॥ २५½ ॥

यश्च कश्चिन्नरः किंचिदप्रियं चाम्बिकासुते ॥ २६ ॥
कुरुते द्वेष्यतामेति स कौन्तेयस्य धीमतः ।

जो कोई मनुष्य राजा धृतराष्ट्रका थोड़ा-सा भी अप्रिय कर देता, वह बुद्धिमान् कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके द्वेषका पात्र बन जाता था ॥ २६½ ॥

न राज्ञो धृतराष्ट्रस्य न च दुर्योधनस्य वै ॥ २७ ॥
उवाच दुष्कृतं कश्चिद् युधिष्ठिरभयान्नरः ।

युधिष्ठिरके भयसे कोई भी मनुष्य कभी राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधनके कुकृत्योंकी चर्चा नहीं करता था ॥ २७½ ॥

धृत्या तुष्टो नरेन्द्रः स गान्धारी विदुरस्तथा ॥ २८ ॥
शौचेन चाजातशत्रोर्न तु भीमस्य शत्रुहन् ।

शत्रुसूदन जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और विदुरजी अजातशत्रु युधिष्ठिरके धैर्य और शुद्ध व्यवहारसे विशेष प्रसन्न थे, किंतु भीमसेनके बर्तावसे उन्हें संतोष नहीं था ॥

अन्ववर्तत भीमोऽपि निश्चितो धर्मजं नृपम् ॥ २९ ॥
धृतराष्ट्रं च सम्प्रेक्ष्य सदा भवति दुर्मनाः ।

यद्यपि भीमसेन भी दृढ़ निश्चयके साथ युधिष्ठिरके ही पथका अनुसरण करते थे, तथापि धृतराष्ट्रको देखकर उनके मनमें सदा ही दुर्भावना जाग उठती थी ॥ २९½ ॥

राजानमनुवर्तन्तं धर्मपुत्रममित्रहा ।
अन्ववर्तत कौरव्यो हृदयेन पराङ्मुखः ॥ ३० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके अनुकूल बर्ताव करते देख शत्रुसूदन कुरुनन्दन भीमसेन स्वयं भी ऊपरसे उनका अनुसरण ही करते थे, तथापि उनका हृदय धृतराष्ट्रसे विमुख ही रहता था ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका गान्धारीके साथ वनमें जानेके लिये उद्योग एवं युधिष्ठिरसे अनुमति देनेके लिये अनुरोध तथा युधिष्ठिर और कुन्ती आदिका दुखी होना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तदा ।
नान्तरं ददृशू राज्ये पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर और धृतराष्ट्रमें जो पारस्परिक प्रेम था, उसमें राज्यके लोगोंने कभी कोई अन्तर नहीं देखा ॥ १ ॥

यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिम् ।
तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥ २ ॥

राजन्! परंतु वे कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र जब अपने दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधनका स्मरण करते थे, तब मन-ही-मन भीमसेनका अनिष्ट-चिन्तन किया करते थे ॥ २ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैव दुष्टवद्धृदा ॥ ३ ॥

राजेन्द्र! उसी प्रकार भीमसेन भी सदा ही राजा धृतराष्ट्रके प्रति अपने मनमें दुर्भावना रखते थे। वे कभी उन्हें क्षमा नहीं कर पाते थे ॥ ३ ॥

अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्यहरच्चापि कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥ ४ ॥

भीमसेन गुप्त रीतिसे धृतराष्ट्रको अप्रिय लगनेवाले काम किया करते थे तथा अपने द्वारा नियुक्त किये हुए कृतज्ञ पुरुषोंसे उनकी आज्ञा भी भङ्ग करा दिया करते थे ॥ ४ ॥

स्मरन् दुर्मन्त्रितं तस्य वृत्तान्यप्यस्य कानिचित् ।
अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाकरोत् ॥ ५ ॥
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ।
स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ॥ ६ ॥
प्रोवाचेदं सुसंरब्धो भीमः स परुषं वचः ।

राजा धृतराष्ट्रकी जो दुष्टतापूर्ण मन्त्रणाएँ होती थीं और तदनुसार ही जो उनके कई दुर्बर्ताव हुए थे, उन्हें सदा भीमसेन याद रखते थे। एक दिन अमर्षमें भरे हुए भीमसेनने अपने मित्रोंके बीचमें बारंबार अपनी भुजाओंपर ताल ठोंका और धृतराष्ट्र एवं गान्धारीको सुनाते हुए रोषपूर्वक यह कठोर वचन कहा। वे अपने शत्रु दुर्योधन, कर्ण और दुःशासनको याद करके यों कहने लगे— ॥ ५-६½ ॥

अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ॥ ७ ॥
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ।

'मित्रो! मेरी भुजाएँ परिघके समान सुदृढ़ हैं। मैंने ही उस अंधे राजाके समस्त पुत्रोंको, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा युद्ध करते थे, यमलोकका अतिथि बनाया है ॥ ७½ ॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ॥ ८ ॥
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ।

'देखो, ये हैं मेरे दोनों परिघके समान सुदृढ़ एवं दुर्जय बाहुदण्ड; जिनके बीचमें पड़कर धृतराष्ट्रके बेटे पिस गये हैं ॥ ८½ ॥

ताविमौ चन्दनेनाक्तौ चन्दनार्हौ च मे भुजौ ॥ ९ ॥
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः ।

'ये मेरी दोनों भुजाएँ चन्दनसे चर्चित एवं चन्दन लगानेके ही योग्य हैं, जिनके द्वारा पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधन नष्ट कर दिया गया' ॥ ९½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः ॥ १० ॥
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ।

ये तथा और भी नाना प्रकारकी भीमसेनकी कही हुई कठोर बातें जो हृदयमें काँटोंके समान कसक पैदा करनेवाली थीं, राजा धृतराष्ट्रने सुनीं। सुनकर उन्हें बड़ा खेद हुआ ॥

सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ॥ ११ ॥
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ।

समयके उलट-फेरको समझने और समस्त धर्मोंको जाननेवाली बुद्धिमती गान्धारी देवीने भी इन कठोर वचनोंको सुना था ॥ ११½ ॥

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ॥ १२ ॥
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ।

उस समयतक उन्हें राजा युधिष्ठिरके आश्रयमें रहते

पंद्रह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। पंद्रहवाँ वर्ष बीतनेपर भीमसेनके वाग्बाणोंसे पीड़ित हुए राजा धृतराष्ट्रको खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ १२½ ॥

नान्वबुध्यत तद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरको इस बातकी जानकारी नहीं थी। अर्जुन, कुन्ती तथा यशस्विनी द्रौपदीको भी इसका पता नहीं था ॥ १३½ ॥

माद्रीपुत्रौ च धर्मज्ञौ चित्तं तस्यान्ववर्तताम् ॥ १४ ॥
राज्ञस्तु चित्तं रक्षन्तौ नोचतुः किंचिदप्रियम् ।

धर्मके ज्ञाता माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव सदा राजा धृतराष्ट्रके मनोऽनुकूल ही बर्ताव करते थे। वे उनका मन रखते हुए कभी कोई अप्रिय बात नहीं कहते थे ॥ १४½ ॥

ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ॥ १५ ॥
बाष्पसंदिग्धमत्यर्थमिदमाह च तान् भृशम् ।

तदनन्तर धृतराष्ट्रने अपने मित्रोंको बुलवाया और नेत्रोंमें आँसू भरकर अत्यन्त गद्गद वाणीमें इस प्रकार कहा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विदितं भवतामेतद् यथा वृत्तः कुरुक्षयः ॥ १६ ॥
ममापराधात् तत् सर्वमनुज्ञातं च कौरवैः ।

धृतराष्ट्र बोले—मित्रो ! आपलोगोंको यह मालूम ही है कि कौरववंशका विनाश किस प्रकार हुआ है। समस्त कौरव इस बातको जानते हैं कि मेरे ही अपराधसे सारा अनर्थ हुआ है ॥ १६½ ॥

योऽहं दुष्टमतिं मन्दो ज्ञातीनां भयवर्धनम् ॥ १७ ॥
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।

दुर्योधनकी बुद्धिमें दुष्टता भरी थी। वह जाति-भाइयोंका भय बढ़ानेवाला था तो भी मुझ मूर्खने उसे कौरवोंके राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १७½ ॥

यच्चाहं वासुदेवस्य नाश्रौषं वाक्यमर्थवत् ॥ १८ ॥
वध्यतां साध्वयं पापः सामात्य इति दुर्मतिः ।
पुत्रस्नेहाभिभूतस्तु हितमुक्तो मनीषिभिः ॥ १९ ॥

मैंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी अर्थभरी बातें नहीं सुनीं। मनीषी पुरुषोंने मुझे यह हितकी बात बतायी थी कि इस खोटी बुद्धिवाले पापी दुर्योधनको मन्त्रियोंसहित मार डाला जाय, इसीमें संसारका हित है; किंतु पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर मैंने ऐसा नहीं किया ॥ १८-१९ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
पदे पदे भगवता व्यासेन च महात्मना ॥ २० ॥
संजयेनाथ गान्धार्या तदिदं तप्यते च माम् ।

विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, महात्मा भगवान् व्यास, संजय और गान्धारी देवीने भी मुझे पग-पगपर उचित सलाह दी, किंतु मैंने किसीकी बात नहीं मानी। यह भूल मुझे सदा संताप देती रहती है ॥ २०½ ॥

यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु गुणवत्सु महात्मसु ॥ २१ ॥
न दत्तवाञ्श्रियं दीप्तां पितृपैतामहीमिमाम् ।

महात्मा पाण्डव गुणवान् हैं तथापि उनके बाप-दादोंकी यह उज्ज्वल सम्पत्ति भी मैंने उन्हें नहीं दी ॥ २१½ ॥

विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ॥ २२ ॥
एतच्छ्रेयस्तु परमममन्यत जनार्दनः ।

समस्त राजाओंका विनाश देखते हुए गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने यही परम कल्याणकारी माना कि मैं पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दूँ; परंतु मैं वैसा नहीं कर सका ॥ २२½ ॥

सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनस्तदा ॥ २३ ॥
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ।

इस तरह अपनी की हुई हजारों भूलें मैं अपने हृदयमें धारण करता हूँ, जो इस समय काँटोंके समान कसक पैदा करती हैं ॥ २३½ ॥

विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽद्य वै ॥ २४ ॥
अस्य पापस्य शुद्ध्यर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ।

विशेषतः पंद्रहवें वर्षमें आज मुझ दुर्बुद्धिकी आँखें खुली हैं और अब मैं इस पापकी शुद्धिके लिये नियमका पालन करने लगा हूँ ॥ २४½ ॥

चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ॥ २५ ॥
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ।
करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ॥ २६ ॥

कभी चौथे समय (अर्थात् दो दिनपर) और कभी आठवें समय अर्थात् चार दिनपर केवल भूखकी आग बुझानेके लिये मैं थोड़ा-सा आहार करता हूँ। मेरे इस नियमको केवल गान्धारी देवी जानती हैं। अन्य सब लोगोंको यही मालूम है कि मैं प्रतिदिन पूरा भोजन करता हूँ ॥

युधिष्ठिरभयादेति भृशं तप्यति पाण्डवः ।
भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ॥ २७ ॥
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ।

लोग युधिष्ठिरके भयसे मेरे पास आते हैं। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझे आराम देनेके लिये अत्यन्त चिन्तित रहते हैं। मैं और यशस्विनी गान्धारी दोनों नियम-पालनके व्याजसे मृगचर्म पहन कुशासनपर बैठकर मन्त्रजप करते और भूमिपर सोते हैं ॥ २७½ ॥

हतं शतं तु पुत्राणां ययोर्युद्धेऽपलायिनाम् ॥ २८ ॥
नानुतप्यामि तच्चाहं क्षत्रधर्मं हि ते विदुः ।

हम दोनोंके युद्धमें पीठ न दिखानेवाले सौ पुत्र मारे गये हैं, किंतु उनके लिये मुझे दुःख नहीं है; क्योंकि वे क्षत्रिय धर्मको जानते थे (और उसीके अनुसार उन्होंने युद्धमें प्राण-त्याग किया है) ॥ २८½ ॥

इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ॥ २९ ॥
भद्रं ते यादवीमातर्वचश्चेदं निबोध मे।

अपने सुहृदोंसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्र राजा युधिष्ठिरसे बोले—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी यह बात सुनो ॥ २९½ ॥

सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ॥ ३० ॥
महादानानि दत्तानि श्राद्धानि च पुनः पुनः।

'बेटा ! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित होकर मैं यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। मैंने बड़े-बड़े दान दिये हैं और बारंबार श्राद्धकर्मों-का अनुष्ठान किया है ॥ ३०½ ॥

प्रकृष्टं च यया पुत्र पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ॥ ३१ ॥
गान्धारी हतपुत्रेयं धैर्येणोदीक्षते च माम्।

'पुत्र ! जिसने अपनी शक्तिके अनुसार उत्कृष्ट पुण्यका अनुष्ठान किया है और जिसके सौ पुत्र मारे गये हैं, वही यह गान्धारीदेवी धैर्यपूर्वक मेरी देख-भाल करती है ॥

द्रौपद्या ह्यपकर्तारस्तव चैश्वर्यहारिणः ॥ ३२ ॥
समतीता नृशंसास्ते स्वधर्मेण हता युधि।
न तेषु प्रतिकर्तव्यं पश्यामि कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

'कुरुनन्दन ! जिन्होंने द्रौपदीके साथ अत्याचार किया, तुम्हारे ऐश्वर्यका अपहरण किया, वे क्रूरकर्मी मेरे पुत्र क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये हैं। अब उनके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती है ॥ ३२-३३ ॥

सर्वे शस्त्रभृतां लोकान् गतास्तेऽभिमुखं हताः।
आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्यमद्य वै ॥ ३४ ॥
गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि।

'वे [illegible] युद्धमें सम्मुख मारे गये हैं, अतः शस्त्रधारियोंको मिलनेवाले लोकोंमें गये हैं। राजेन्द्र ! अब तो मुझे और गान्धारीदेवीको अपने हितके लिये पवित्र तप करना है; अतः इसके लिये हमें अनुमति दो ॥ ३४½ ॥

त्वं तु शस्त्रभृतां श्रेष्ठः सततं धर्मवत्सलः ॥ ३५ ॥
राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम्।
अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ॥ ३६ ॥

'तुम शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले हो। राजा समस्त प्राणियोंके लिये गुरुजनकी भाँति आदरणीय होता है। इसलिये तुमसे ऐसा अनुरोध करता हूँ। वीर ! तुम्हारी अनुमति मिल जानेपर मैं वनको चला जाऊँगा ॥ ३५-३६ ॥

चीरवल्कलभृद् राजन् गान्धार्या सहितोऽनया।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥ ३७ ॥

'राजन् ! वहाँ मैं चीर और वल्कल धारण करके इस गान्धारीके साथ वनमें विचरूँगा और तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा ॥ ३७ ॥

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥ ३८ ॥

'तात ! भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! हमारे कुलके सभी राजाओं-के लिये यही उचित है कि वे अन्तिम अवस्थामें पुत्रोंको राज्य देकर स्वयं वनमें पधारें ॥ ३८ ॥

तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन्।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ॥ ३९ ॥

'वीर ! वहाँ मैं वायु पीकर अथवा उपवास करके रहूँगा तथा अपनी इस धर्मपत्नीके साथ उत्तम तपस्या करूँगा ॥

त्वं चापि फलभाक् तात तपसः पार्थिवो ह्यसि।
फलभाजो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम भी उस तपस्याके उत्तम फलके भागी बनोगे; क्योंकि तुम राजा हो और राजा अपने राज्यके भीतर होनेवाले भले-बुरे सभी कर्मोंके फलभागी होते हैं' ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप।
धिङ्मामस्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! आप यहाँ रहकर इस प्रकार दुःख उठा रहे थे और मुझे इसकी जानकारी न हो सकी, इसलिये अब यह राज्य मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता। हाय ! मेरी बुद्धि कितनी खराब है ? मुझ-जैसे प्रमादी और राज्यासक्त पुरुषको धिक्कार है ॥ ४१ ॥

योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं भृशम्।
जिताहारं क्षितिशयं न विन्दे भ्रातृभिः सह ॥ ४२ ॥

आप दुःखसे आतुर और उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल होकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं तथा भोजनपर भी संयम कर लिया है और मैं भाइयोंसहित आपकी इस अवस्थाका पता ही न पा सका ॥ ४२ ॥

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ॥ ४३ ॥

अहो ! आपने अपने विचारोंको छिपाकर मुझ मूर्खको अबतक धोखेमें ही डाल रखा था; क्योंकि पहले मुझे यह विश्वास दिलाकर कि मैं सुखी हूँ, आप आजतक यह दुःख भोगते रहे ॥ ४३ ॥

किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ॥ ४४ ॥

महाराज ! इस राज्यसे, इन भोगोंसे, इन यज्ञोंसे अथवा

इस सुख-सामग्रीसे मुझे क्या लाभ हुआ ? जब कि मेरे ही पास रहकर आपको इतने दुःख उठाने पड़े ॥ ४४ ॥

पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च ।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! आप दुखी होकर जो ऐसी बात कह रहे हैं, इससे मैं उस समस्त राज्यको और अपनेको भी दुःखित समझता हूँ ॥ ४५ ॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः।
भवता विप्रहीणा वै क्व नु तिष्ठामहे वयम् ॥ ४६ ॥

आप ही हमारे पिता, आप ही माता और आप ही हमारे परम गुरु हैं । आपसे विलग होकर हम कहाँ रहेंगे ॥

औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम ।
अस्तु राजा महाराज यमन्यं मन्यते भवान् ॥ ४७ ॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु ।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥ ४८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! युयुत्सु आपके औरस पुत्र हैं; ये ही राजा हों अथवा और किसीको जिसे आप उचित समझते हों, राजा बना दें या स्वयं ही इस राज्यका शासन करें । मैं ही वनको चला जाऊँगा । पिताजी ! मैं पहलेसे ही अपयश की आगमें जल चुका हूँ, अब पुनः आप भी मुझे न जलाइये ॥ ४७-४८ ॥

नाहं राजा भवान् राजा भवतः परवानहम् ।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥ ४९ ॥

मैं राजा नहीं, आप ही राजा हैं । मैं तो आपकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला सेवक हूँ । आप धर्मके ज्ञाता गुरु हैं । मैं आपको कैसे आज्ञा दे सकता हूँ ॥ ४९ ॥

न मन्युर्हृदि नः कश्चित् सुयोधनकृतेऽनघ ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥ ५० ॥

निष्पाप नरेश ! दुर्योधनने जो कुछ किया है, उसके लिये हमारे हृदयमें तनिक भी क्रोध नहीं है । जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी । हम और दूसरे लोग उसीसे मोहित थे ॥ ५० ॥

वयं पुत्रा हि भवतो यथा दुर्योधनादयः ।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥ ५१ ॥

जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र थे, वैसे ही हम भी हैं । मेरे लिये गान्धारी और कुन्तीमें कोई अन्तर नहीं है ॥५१॥

स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि ।
पृष्ठतस्त्वनुयास्यामि सत्यमात्मानमालभे ॥ ५२ ॥

राजन् ! यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अपनी सौगन्ध खाकर सत्य कहता हूँ कि मैं भी आपके पीछे-पीछे चल दूँगा ॥ ५२ ॥

इयं हि वसुसम्पूर्णा मही सागरमेखला ।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥ ५३ ॥

आपके त्याग देनेपर यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीका राज्य भी मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता ॥ ५३ ॥

भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये ।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ५४ ॥

राजेन्द्र ! यह सब कुछ आपका है । मैं आपके चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न हो जाइये । हम सब लोग आपके अधीन हैं । आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ५४ ॥

भवितव्यमनुप्राप्तो मन्ये त्वं वसुधाधिप ।
दिष्ट्या शुश्रूषमाणस्त्वां मोक्षिष्ये मनसो ज्वरम् ॥ ५५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैं समझता हूँ कि आप भवितव्यताके वशमें पड़ गये थे । यदि सौभाग्यवश मुझे आपकी सेवाका अवसर मिलता रहा तो मेरी मानसिक चिन्ता दूर हो जायगी ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन ।
उचितं च कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥ ५६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! कुरुनन्दन ! अब मेरा मन तपस्यामें ही लग रहा है । प्रभो ! जीवनकी अन्तिम अवस्थामें वनको जाना हमारे कुलके लिये उचित भी है ॥ ५६ ॥

चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया ।
वृद्धं मामप्यनुज्ञातुमर्हसि त्वं नराधिप ॥ ५७ ॥

पुत्र ! नरेश्वर ! मैं दीर्घकालतक तुम्हारे पास रह चुका और तुमने भी बहुत दिनोंतक मेरी सेवा-शुश्रूषा की । अब मेरी वृद्धावस्था आ गयी । अब तो मुझे वनमें जानेकी अनुमति देनी ही चाहिये ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजानं वेपमानं कृताञ्जलिम् ।
उवाच वचनं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ५८ ॥
संजयं च महात्मानं कृपं चापि महारथम् ।
अनुनेतुमिहेच्छामि भवद्भिर्वसुधाधिपम् ॥ ५९ ॥

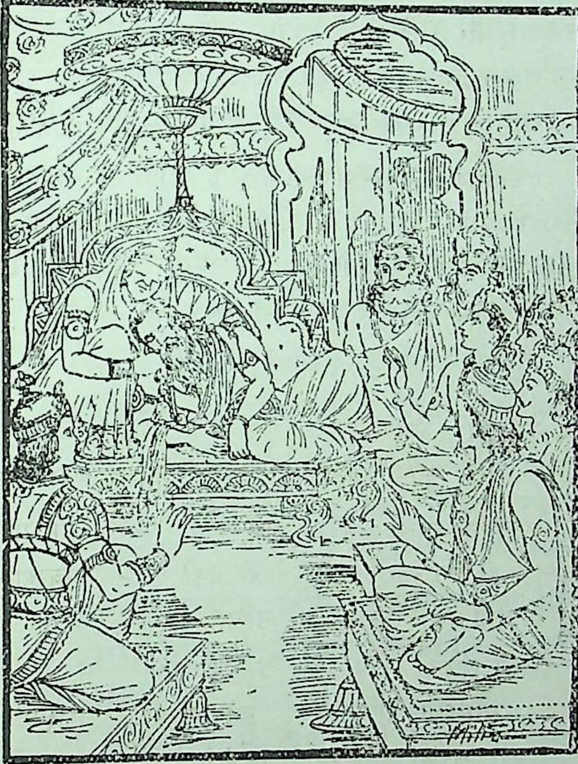
वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर काँपने लगे और हाथ जोड़कर चुपचाप बैठे रहे । अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने उनसे उपर्युक्त बात कहकर महात्मा संजय और महारथी कृपाचार्यसे कहा—'मैं आपलोगोंके द्वारा राजा युधिष्ठिरको समझाना चाहता हूँ' ॥ ५८-५९ ॥

म्लायते मे मनो हीदं मुखं च परिशुष्यति।
वयसा च प्रकृष्टेन वाग्व्यायामेन चैव ह ॥ ६० ॥

'एक तो मेरी वृद्धावस्था और दूसरे बोलनेका परिश्रम, इन कारणोंसे मेरा जी घबरा रहा है और मुँह सूखा जाता है' ॥ ६० ॥

इत्युक्त्वा स तु धर्मात्मा वृद्धो राजा कुरूद्वहः।
गान्धारीं शिश्रिये धीमान् सहसैव गतासुवत्॥ ६१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा बूढ़े राजा कुरुकुलशिरोमणि बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने सहसा ही निर्जीवकी भाँति गान्धारीका सहारा ले लिया ॥ ६१ ॥



तं तु दृष्ट्वा समासीनं विसंज्ञमिव कौरवम्।
आर्तिं राजागमत् तीव्रां कौन्तेयः परवीरहा ॥ ६२ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रको संज्ञाहीन-सा बैठा देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यस्य नागसहस्रेण शतसंख्येन वै बलम्।
सोऽयं नारीं व्यपाश्रित्य शेते राजा गतासुवत्॥ ६३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—ओह ! जिसमें एक लाख हाथियोंके समान बल था, वे ही ये राजा धृतराष्ट्र आज प्राणहीन-से होकर स्त्रीका सहारा लिये सो रहे हैं ॥ ६३ ॥

आयसी प्रतिमा येन भीमसेनस्य सा पुरा।
चूर्णीकृता बलवता सोऽबलामाश्रितः स्त्रियम्॥ ६४ ॥

जिन बलवान् नरेशने पहले भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमाको चूर्ण कर डाला था, वे आज अबला नारीके सहारे पड़े हैं ॥ ६४ ॥

धिगस्तु मामधर्मज्ञं धिग् बुद्धिं धिक् च मे श्रुतम्।
यत्कृते पृथिवीपालः शेतेऽयमतथोचितः ॥ ६५ ॥

मुझे धर्मका कोई ज्ञान नहीं है। मुझे धिक्कार है। मेरी बुद्धि और विद्याको भी धिक्कार है, जिसके कारण ये महाराज इस समय अपने लिये अयोग्य अवस्थामें पड़े हुए हैं ॥ ६५ ॥

अहमप्युपवत्स्यामि यथैवायं गुरुर्मम।
यदि राजा न भुङ्क्तेऽयं गान्धारी च यशस्विनी॥ ६६ ॥

यदि यशस्विनी गान्धारी देवी और राजा धृतराष्ट्र भोजन नहीं करते हैं तो अपने इन गुरुजनोंकी भाँति मैं भी उपवास करूँगा ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्य पाणिना राजन् जलशीतेन पाण्डवः।
उरो मुखं च शनकैः पर्यमार्जत धर्मवित् ॥ ६७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर धर्मके ज्ञाता पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने जलसे शीतल किये हुए हाथसे धृतराष्ट्रकी छाती और मुँहको धीरे-धीरे पोंछा ॥ ६७ ॥

तेन रत्नौषधिमता पुण्येन च सुगन्धिना।
पाणिस्पर्शेन राज्ञः स राजा संज्ञामवाप ह ॥ ६८ ॥

महाराज युधिष्ठिरके रत्नौषधिसम्पन्न उस पवित्र एवं सुगन्धित कर-स्पर्शसे राजा धृतराष्ट्रकी चेतना लौट आयी ॥ ६८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्पृश मां पाणिना भूयः परिष्वज च पाण्डव।
जीवामीवातिसंस्पर्शात् तव राजीवलोचन ॥ ६९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कमलनयन पाण्डुनन्दन ! तुम फिरसे मेरे शरीरपर अपना हाथ फेरो और मुझे छातीसे लगा लो। तुम्हारे सुखदायक स्पर्शसे मानो मेरे शरीरमें प्राण आ जाते हैं ॥ ६९ ॥

मूर्धानं च तवाघ्रातुमिच्छामि मनुजाधिप।
पाणिभ्यां हि परिस्प्रष्टुं प्रीणनं हि महन्मम ॥ ७० ॥

नरेश्वर ! मैं तुम्हारा मस्तक सूँघना चाहता हूँ और अपने दोनों हाथोंसे तुम्हें स्पर्श करनेकी इच्छा रखता हूँ। इससे मुझे परम तृप्ति मिल रही है ॥ ७० ॥

अष्टमो ह्यद्य कालोऽयमाहारस्य कृतस्य मे।
येनाहं कुरुशार्दूल शक्नोमि न विचेष्टितुम् ॥ ७१ ॥

पिछले दिनों जब मैंने भोजन किया था, तबसे आज यह आठवाँ समय—चौथा दिन पूरा हो गया है। कुरुश्रेष्ठ ! इसीसे शिथिल होकर मैं कोई चेष्टा नहीं कर पाता ॥ ७१ ॥

व्यायामश्चायमत्यर्थं कृतस्त्वामभियाचता।
ततो ग्लानमनास्तात नष्टसंज्ञ इवाभवम् ॥ ७२ ॥

तात ! तुमसे अनुरोध करनेके लिये बोलते समय मुझे बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ा है । अतः क्षीणशक्ति होकर मैं अचेत-सा हो गया था ॥ ७२ ॥

तवामृतरसप्रख्यं हस्तस्पर्शमिमं प्रभो।
लब्ध्वा संजीवितोऽस्मीति मन्ये कुरुकुलोद्वह ॥ ७३ ॥

प्रभो ! तुम्हारे हाथोंका यह स्पर्श अमृत-रसके समान शीतल एवं सुखद है। कुरुकुलनाथ ! इसे पाकर मुझमें नया जीवन आ गया है, मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पित्रा ज्येष्ठेन भारत।
पस्पर्श सर्वगात्रेषु सौहार्दात् तं शनैस्तदा ॥ ७४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! अपने ज्येष्ठ पितृव्य धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बड़े स्नेहके साथ उनके समस्त अङ्गोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरा ॥ ७४ ॥

उपलभ्य ततः प्राणान् धृतराष्ट्रो महीपतिः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्याजिघ्रत पाण्डवम्॥ ७५ ॥

उनके स्पर्शसे राजा धृतराष्ट्रके शरीरमें मानो नूतन प्राण आ गये और उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे युधिष्ठिरको छातीसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा ॥ ७५ ॥

विदुरादयश्च ते सर्वे रुरुदुर्दुःखिता भृशम्।
अतिदुःखात् तु राजानं नोचुः किंचन पाण्डवम्॥ ७६ ॥

यह करुण दृश्य देखकर विदुर आदि सब लोग अत्यन्त दुखी हो रोने लगे। अधिक दुःखके कारण वे लोग पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कुछ न बोले ॥ ७६ ॥

गान्धारी त्वेव धर्मज्ञा मनसोद्वहती भृशम्।
दुःखान्यधारयद् राजन् मैवमित्येव चाब्रवीत् ॥ ७७ ॥

धर्मको जाननेवाली गान्धारी अपने मनमें दुःखका बड़ा भारी बोझ ढो रही थी। उसने दुःखोंको मनमें ही दबा लिया और रोते हुए लोगोंसे कहा—'ऐसा न करो' ॥ ७७ ॥

इतरास्तु स्त्रियः सर्वाः कुन्त्या सह सुदुःखिताः।
नेत्रैरागतविक्लेदैः परिवार्य स्थिताऽभवन् ॥ ७८ ॥

कुन्तीके साथ कुरुकुलकी अन्य स्त्रियाँ भी अत्यन्त दुखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई उन्हें घेरकर खड़ी हो गयीं॥७८॥

अथाब्रवीत् पुनर्वाक्यं धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम्।
अनुजानीहि मां राजंस्तापस्ये भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! मुझे तपस्याके लिये अनुमति दे दो ॥ ७९ ॥

ग्लायते मे मनस्तात भूयो भूयः प्रजल्पतः।
न मामतः परं पुत्र परिक्लेष्टुमिहार्हसि ॥ ८० ॥

'तात ! बार-बार बोलनेसे मेरा जी घबराता है, अतः बेटा ! अब मुझे अधिक कष्टमें न डालो' ॥ ८० ॥

तस्मिंस्तु कौरवेन्द्रे तं तथा ब्रुवति पाण्डवम्।
सर्वेषामेव योधानामार्तनादो महानभूत् ॥ ८१ ॥

कौरव-राज धृतराष्ट्र जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित हुए समस्त योद्धा महान् आर्तनाद (हाहाकार) करने लगे ॥ ८१ ॥

दृष्ट्वा कृशं विवर्णं च राजानमतथोचितम्।
उपवासपरिश्रान्तं त्वगस्थिपरिवारणम् ॥ ८२ ॥
धर्मपुत्रः स्वपितरं परिष्वज्य महाप्रभुम्।
शोकजं बाष्पमुत्सृज्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ८३ ॥

अपने ताऊ महाप्रभु राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार उपवास करनेके कारण थके हुए, दुर्बल, कान्तिहीन, अस्थिचर्मावशिष्ट और अयोग्य अवस्थामें स्थित देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर क्षोभ-जनित आँसू बहाते हुए उनसे इस प्रकार बोले—॥८२-८३॥

न कामये नरश्रेष्ठ जीवितं पृथिवीं तथा।
यथा तव प्रियं राजंश्चिकीर्षामि परंतप ॥ ८४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं न तो जीवन चाहता हूँ न पृथ्वीका राज्य। परंतप नरेश ! जिस तरह भी आपका प्रिय हो, वही मैं करना चाहता हूँ ॥ ८४ ॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतो दयितोऽपि वा।
क्रियतां तावदाहारस्ततो वेत्स्याम्यहं परम् ॥ ८५ ॥

'यदि आप मुझे अपनी कृपाका पात्र समझते हों और यदि मैं आपका प्रिय होऊँ तो मेरी प्रार्थनासे इस समय भोजन कीजिये। इसके बाद मैं आगेकी बात सोचूँगा'॥८५॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम्।
अनुज्ञातस्त्वया पुत्र भुञ्जीयामिति कामये ॥ ८६ ॥

तब महातेजस्वी धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा ! तुम मुझे वनमें जानेकी अनुमति दे दो तो मैं भोजन करूँ; यही मेरी इच्छा है' ॥ ८६ ॥

इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम्।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत्॥ ८७॥

महाराज धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे ये बातें कह ही रहे थे कि सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और इस प्रकार कहने लगे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्वेदे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका निर्वेदविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

व्यासजीके समझानेसे युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रको वनमें जानेके लिये अनुमति देना

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो यथाह कुरुनन्दनः ।
धृतराष्ट्रो महातेजास्तत् कुरुष्वाविचारयन् ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर ! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महातेजस्वी धृतराष्ट्र जो कुछ कह रहे हैं, उसे बिना विचारे पूरा करो ॥ १ ॥



अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः ।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

अब ये राजा बूढ़े हो गये हैं, विशेषतः इनके सभी पुत्र नष्ट हो चुके हैं । मेरा ऐसा विश्वास है कि अब ये इस कष्टको अधिक कालतक नहीं सह सकेंगे ॥ २ ॥

गान्धारी च महाभागा प्राज्ञा करुणवेदिनी ।
पुत्रशोकं महाराज धैर्येणोद्वहते भृशम् ॥ ३ ॥

महाराज ! महाभागा गान्धारी परम विदुषी और करुणाका अनुभव करनेवाली हैं;इसीलिये ये महान् पुत्रशोकको धैर्यपूर्वक सहती चली आ रही हैं ॥ ३ ॥

अहमप्येतदेव त्वां ब्रवीमि कुरु मे वचः ।
अनुज्ञां लभतां राजा मा वृथेह मरिष्यति ॥ ४ ॥

मैं भी तुमसे यही कहता हूँ, तुम मेरी बात मानो । राजा धृतराष्ट्रको तुम्हारी ओरसे वनमें जानेकी अनुमति मिलनी ही चाहिये, नहीं तो यहाँ रहनेसे इनकी व्यर्थ मृत्यु होगी ॥ ४ ॥

राजर्षीणां पुराणानामनुयातु गतिं नृपः ।
राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रयः ॥ ५ ॥

तुम उन्हें अवसर दो, जिससे ये नरेश प्राचीन राजर्षियोंके पथका अनुसरण कर सकें । समस्त राजर्षियोंने जीवनके अन्तिम भागमें वनका ही आश्रय लिया है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तदा राजा व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रत्युवाच महातेजा धर्मराजो महामुनिम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अद्भुतकर्मा व्यासजीके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने उन महामुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६ ॥

भगवानेव नो मान्यो भगवानेव नो गुरुः ।
भगवानस्य राज्यस्य कुलस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

'भगवन् ! आप ही हमलोगोंके माननीय और आप ही हमारे गुरु हैं । इस राज्य और पुरके परम आधार भी आप ही हैं ॥ ७ ॥

अहं तु पुत्रो भगवन् पिता राजा गुरुश्च मे ।
निदेशवर्ती च पितुः पुत्रो भवति धर्मतः ॥ ८ ॥

'भगवन् ! राजा धृतराष्ट्र हमारे पिता और गुरु हैं । धर्मतः पुत्र ही पिताकी आज्ञाके अधीन होता है । (वह पिताको आज्ञा कैसे दे सकता है)' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु तं प्राह व्यासो वेदविदां वरः ।
युधिष्ठिरं महातेजाः पुनरेव महाकविः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, महातेजस्वी, महाज्ञानी व्यासजीने युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उन्हें समझाते हुए पुनः इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
राजायं वृद्धतां प्राप्तः प्रमाणे परमे स्थितः ॥ १० ॥

'महाबाहु भरतनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही ठीक है, तथापि राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो गये हैं और अन्तिम अवस्थामें स्थित हैं ॥ १० ॥

सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः ।
करोतु स्वमभिप्रायं मास्य विघ्नकरो भव ॥ ११ ॥

'अतः अब ये भूपाल मेरी और तुम्हारी अनुमति लेकर तपस्याके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करें । इनके शुभ कार्यमें विघ्न न डालो ॥ ११ ॥

एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम् ॥ १२ ॥

'युधिष्ठिर ! राजर्षियोंका यही परम धर्म है कि युद्धमें अथवा वनमें उनकी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मृत्यु हो ॥ १२ ॥

पित्रा तु तव राजेन्द्र पाण्डुना पृथिवीक्षिता।
शिष्यवृत्तेन राजायं गुरुवत् पर्युपासितः ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! तुम्हारे पिता राजा पाण्डुने भी धृतराष्ट्रको गुरुके समान मानकर शिष्यभावसे इनकी सेवा की थी ॥ १३ ॥

क्रतुभिर्दक्षिणावद्भी रत्नपर्वतशोभितैः।
महद्भिरिष्टं गौर्भुक्ता प्रजाश्च परिपालिताः ॥ १४ ॥

'इन्होंने रत्नमय पर्वतोंसे सुशोभित और प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं, पृथ्वीका राज्य भोगा है और प्रजाका भलीभाँति पालन किया है ॥ १४ ॥

पुत्रसंस्थं च विपुलं राज्यं विप्रोषिते त्वयि।
त्रयोदशसमा भुक्तं दत्तं च विविधं वसु ॥ १५ ॥

'जब तुम वनमें चले गये थे, उन दिनों तेरह वर्षोंतक अपने पुत्रके अधीन रहनेवाले विशाल राज्यका इन्होंने उपभोग किया और नाना प्रकारके धन दिये हैं ॥ १५ ॥

त्वया चायं नरव्याघ्र गुरुशुश्रूषयानघ।
आराधितः सभृत्येन गान्धारी च यशस्विनी ॥ १६ ॥

'निष्पाप नरव्याघ्र ! सेवकोंसहित तुमने भी गुरुसेवाके भावसे इनकी तथा यशस्विनी गान्धारी देवीकी आराधना की है ॥ १६ ॥

अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ।
न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

'अतः तुम अपने पिताको वनमें जानेकी अनुमति दे दो; क्योंकि अब इनके तप करनेका समय आया है। युधिष्ठिर! इनके मनमें तुम्हारे ऊपर अणुमात्र भी रोष नहीं है' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनमनुमान्य च पार्थिवम्।
तथास्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर महर्षि व्यासने राजा युधिष्ठिरको राजी कर लिया और 'बहुत अच्छा,' कहकर जब युधिष्ठिरने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब वे वनमें अपने आश्रमपर चले गये ॥ १८ ॥

गते भगवति व्यासे राजा पाण्डुसुतस्तदा।
प्रोवाच पितरं वृद्धं मन्दं मन्दमिवानतः ॥ १९ ॥

भगवान् व्यासके चले जानेपर राजा युधिष्ठिरने अपने बूढ़े ताऊ धृतराष्ट्रसे नम्रतापूर्वक धीरे-धीरे कहा— ॥ १९ ॥

यदाह भगवान् व्यासो यच्चापि भवतो मतम्।
यथाऽऽह च महेष्वासः कृपो विदुर एव च ॥ २० ॥
युयुत्सुः संजयश्चैव तत्कर्तास्म्यहमञ्जसा।
सर्वे एव हि मान्या मे कुलस्य हि हितैषिणः ॥ २१ ॥

'पिताजी ! भगवान् व्यासने जो आज्ञा दी है और आपने जो कुछ करनेका निश्चय किया है तथा महान् धनुर्धर कृपाचार्य, विदुर, युयुत्सु और संजय जैसा कहेंगे, निस्संदेह मैं वैसा ही करूँगा; क्योंकि ये सब लोग इस कुलके हितैषी होनेके कारण मेरे लिये माननीय हैं ॥ २०-२१ ॥

इदं तु याचे नृपते त्वामहं शिरसा नतः।
क्रियतां तावदाहारस्ततो गच्छाश्रमं प्रति ॥ २२ ॥

'किंतु नरेश्वर ! इस समय आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि पहले भोजन कर लीजिये, फिर आश्रमको जाइयेगा' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासानुज्ञायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासकी आज्ञाविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा युधिष्ठिरको राजनीतिका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
ययौ स्वभवनं राजा गान्धार्यानुगतस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी अनुमति पाकर प्रतापी राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके साथ अपने भवनमें गये ॥ १ ॥

मन्दप्राणगतिर्धीमान् कृच्छ्रादिव समुद्वहन्।
पदातिः स महीपालो जीर्णो गजपतिर्यथा ॥ २ ॥

उस समय उनकी चलने-फिरनेकी शक्ति बहुत कम हो गयी थी। वे बुद्धिमान् भूपाल बूढ़े हाथीकी भाँति पैदल चलते समय बड़ी कठिनाईसे पैर उठाते थे ॥ २ ॥

तमन्वगच्छद् विदुरो विद्वान् सूतश्च संजयः।
स चापि परमेष्वासः कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ३ ॥

उस समय उनके पीछे-पीछे ज्ञानी विदुर, सारथि संजय तथा शरद्वान्‌के पुत्र महाधनुर्धर कृपाचार्य भी गये ॥ ३ ॥

स प्रविश्य गृहं राजन् कृतपूर्वाह्णिकक्रियः।
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठानाहारमकरोत् तदा ॥ ४ ॥

राजन् ! घरमें प्रवेश करके उन्होंने पूर्वाह्नकालकी धार्मिक क्रिया पूरी की; फिर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अन्न-पान आदिसे तृप्त करके स्वयं भी भोजन किया ॥ ४ ॥

गान्धारी चैव धर्मज्ञा कुन्त्या सह मनस्विनी ।
वधूभिरुपचारेण पूजिताभुङ्क्त भारत ॥ ५ ॥

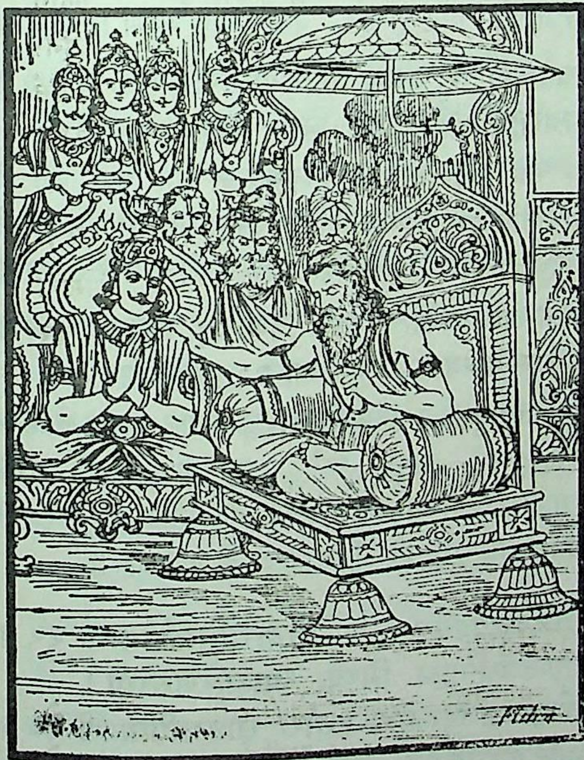
भरतनन्दन ! इसी प्रकार धर्मको जाननेवाली मनस्विनी गान्धारी देवीने भी कुन्तीसहित पुत्रवधुओंद्वारा विविध उपचारोंसे पूजित होकर आहार ग्रहण किया ॥ ५ ॥

कृताहारं कृताहाराः सर्वे ते विदुरादयः ।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रके भोजन कर लेनेपर पाण्डव तथा विदुर आदि सब लोगोंने भी भोजन किया, फिर सब-के-सब धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे ।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥ ७ ॥

महाराज ! उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको एकान्तमें अपने निकट बैठा जान धृतराष्ट्रने उनकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा— ॥ ७ ॥



अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन ।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥ ८ ॥

'कुरुनन्दन ! राजसिंह ! इस आठ अङ्गोंवाले राज्यमें तुम सदा धर्मको ही आगे रखना और इसके संरक्षण और संचालनमें कभी किसी तरह भी प्रमाद न करना ॥ ८ ॥

तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन ।
राज्यं धर्मेण कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत् ॥ ९ ॥

'महाराज पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! राज्यकी रक्षा धर्मसे ही हो सकती है । इस बातको तुम स्वयं भी जानते हो तथापि मुझसे भी सुनो ॥ ९ ॥

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर ।
शृणुयास्ते च यद् ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥ १० ॥

'युधिष्ठिर ! विद्यामें बढ़े-चढ़े विद्वान् पुरुषोंका सदा ही सङ्ग किया करो । वे जो कुछ कहें, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और उसका बिना विचारे पालन करो ॥ १० ॥

प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ॥ ११ ॥

'राजन् ! प्रातःकाल उठकर उन विद्वानोंका यथायोग्य सत्कार करके कोई कार्य उपस्थित होनेपर उनसे अपना कर्तव्य पूछो ॥ ११ ॥

ते तु सम्मानिता राजंस्त्वया कार्यहितार्थिना ।
प्रवक्ष्यन्ति हितं तात सर्वथा तव भारत ॥ १२ ॥

'राजन् ! तात ! भरतनन्दन ! अपना हित करनेकी इच्छासे तुम्हारे द्वारा सम्मानित होनेपर वे सर्वथा तुम्हारे हितकी ही बात बतायेंगे ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत् परिपालय ।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ॥ १३ ॥

'जैसे सारथि घोड़ोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखकर उनकी रक्षा करो । ऐसा करनेसे वे इन्द्रियाँ सुरक्षित धनकी भाँति भविष्यमें तुम्हारे लिये निश्चय ही हितकर होंगी ॥ १३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्यांश्च पुण्यान् सर्वेषु योजयेः ॥ १४ ॥

'जो जाँचे-बूझे हुए तथा निष्कपटभावसे काम करनेवाले हों, जो पिता-पितामहोंके समयसे काम देखते आ रहे हों तथा जो बाहर-भीतरसे शुद्ध, संयमी और जन्म एवं कर्मसे भी पवित्र हों, ऐसे मन्त्रियोंको ही सब तरहके उत्तरदायित्वपूर्ण कार्योंमें नियुक्त करना ॥ १४ ॥

चारयेथाश्च सततं चारैरविदितः परैः ।
परीक्षितैर्बहुविधैः स्वराष्ट्रप्रतिवासिभिः ॥ १५ ॥

'जिनकी किसी अवसरपर परीक्षा कर ली गयी हो और जो अपने ही राज्यके भीतर निवास करनेवाले हों, ऐसे अनेक जासूसोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुओंका गुप्त भेद लेते रहना और प्रयत्नपूर्वक ऐसी चेष्टा करना, जिससे शत्रु तुम्हारा भेद न जान सकें ॥ १५ ॥

पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसम्बाधं षट्पदं सर्वतोदिशम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारे नगरकी रक्षाका पूर्ण प्रबन्ध रहना चाहिये ।

उसके चारों ओरकी दीवारें तथा मुख्य द्वार अत्यन्त सुदृढ़ होने चाहिये। बीचका सारा नगर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं-से भरा होना चाहिये। सब दिशाओंमें छः चहारदीवारियाँ बननी चाहिये ॥ १६ ॥

तस्य द्वाराणि सर्वाणि पर्याप्तानि बृहन्ति च।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ॥ १७ ॥

'नगरके सभी दरवाजे विस्तृत एवं विशाल हों। सब ओर उनकी रक्षाके लिये यन्त्र लगे हों तथा उन द्वारोंका विभाग सुन्दर ढंगसे सम्पन्न हो ॥ १७ ॥

पुरुषैरलमर्थस्ते विदितैः कुलशीलतः।
आत्मा च रक्ष्यः सततं भोजनादिषु भारत ॥ १८ ॥

'भारत! जिन मनुष्योंके कुल और शील अच्छी तरह ज्ञात हों, उन्हींसे तुम्हें काम लेना चाहिये। भोजन आदिके अवसरोंपर सदा तुम्हें आत्मरक्षापर ध्यान देना चाहिये ॥१८॥

विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च।
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ॥ १९ ॥
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर।

'आहार-विहारके समय तथा माला पहनने, शय्यापर सोने और आसनोंपर बैठनेके समय भी तुम्हें सावधानीके साथ अपनी रक्षा करनी चाहिये। युधिष्ठिर! कुलीन, शीलवान्, विद्वान्, विश्वासपात्र एवं वृद्ध पुरुषोंकी अध्यक्षतामें रखकर तुम्हें अन्तःपुरकी स्त्रियोंकी रक्षाका सुन्दर प्रबन्ध करना चाहिये ॥ १९½ ॥

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान् विद्याविशारदान्॥२०॥
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून्।
तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ॥ २१ ॥

'राजन्! तुम उन्हीं ब्राह्मणोंको अपने मन्त्री बनाओ, जो विद्यामें प्रवीण, विनयशील, कुलीन, धर्म और अर्थमें कुशल तथा सरल स्वभाववाले हों। उन्हींके साथ तुम गूढ़ विषयपर विचार करो; किंतु अधिक लोगोंको साथ लेकर देरतक मन्त्रणा नहीं करनी चाहिये ॥ २०-२१ ॥

समस्तैरपि च व्यस्तैर्व्यपदेशेन केनचित्।
सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलं चारुह्य मन्त्रयेः ॥ २२ ॥

'सम्पूर्ण मन्त्रियोंको अथवा उनमेंसे दो-एकको किसी कामके बहाने चारों ओरसे घिरे हुए बंद कमरेमें या खुले मैदानमें ले जाकर उनके साथ किसी गूढ़ विषयपर विचार करना ॥ २२ ॥

अरण्ये निःशलाके वा न च रात्रौ कथंचन।
वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुसारिणः ॥ २३ ॥
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गवः।

'जहाँ अधिक घास-फूस या झाड़-झंखाड़ न हो, ऐसे जंगलमें भी गुप्त मन्त्रणा की जा सकती है; परंतु रात्रिके समय इन स्थानोंमें किसी तरह गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। मनुष्योंका अनुसरण करनेवाले जो वानर और पक्षी आदि हैं, उन सबको तथा मूर्ख एवं पङ्गु मनुष्योंको भी मन्त्रणा-गृहमें नहीं आने देना चाहिये ॥ २३½ ॥

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ॥ २४ ॥
न ते शक्याः समाधातुं कथंचिदिति मे मतिः।

'गुप्त मन्त्रणाके दूसरोंपर प्रकट हो जानेसे राजाओंको जो संकट प्राप्त होते हैं, उनका किसी तरह समाधान नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २४½ ॥

दोषांश्च मन्त्रभेदस्य ब्रूयास्त्वं मन्त्रिमण्डले ॥ २५ ॥
अभेदे च गुणा राजन् पुनः पुनररिंदम।

'शत्रुदमन नरेश! गुप्त मन्त्रणा फूट जानेपर जो दोष पैदा होते हैं और न फूटनेसे जो लाभ होते हैं, उनको तुम मन्त्रि-मण्डलके समक्ष बारंबार बतलाते रहना ॥ २५½ ॥

पौरजानपदानां च शौचाशौचे युधिष्ठिर ॥ २६ ॥
यथा स्याद् विदितं राजंस्तथा कार्यं कुरूद्वह।

'राजन्! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर! नगर और जनपदके लोगों-का हृदय तुम्हारे प्रति शुद्ध है या अशुद्ध, इस बातका तुम्हें जैसे भी ज्ञान प्राप्त हो सके, वैसा उपाय करना ॥ २६½ ॥

व्यवहारश्च ते राजन् नित्यमाप्तैरधिष्ठितः ॥ २७ ॥
योज्यस्तुष्टैर्हितै राजन् नित्यं चारैरनुष्ठितः।

'नरेश्वर! न्याय करनेके कामपर तुम सदा ऐसे ही पुरुषोंको नियुक्त करना, जो विश्वासपात्र, संतोषी और हितैषी हों तथा गुप्तचरोंके द्वारा सदा उनके कार्योंपर दृष्टि रखना ॥

परिमाणं विदित्वा च दण्डं दण्ड्येषु भारत ॥ २८ ॥
प्रणयेयुर्यथान्यायं पुरुषास्ते युधिष्ठिर।

'भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम्हें ऐसा विधान बनाना चाहिये, जिससे तुम्हारे नियुक्त किये हुए न्यायाधिकारी पुरुष अपराधियोंके अपराधकी मात्राको भलीभाँति जानकर जो दण्डनीय हों, उन्हें ही उचित दण्ड दें ॥ २८½ ॥

आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शिनः ॥ २९ ॥
उग्रदण्डप्रधानाश्च मिथ्या व्याहारिणस्तथा।
आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हर्तारः साहसप्रियाः ॥ ३० ॥
सभाविहारभेत्तारो वर्णानां च प्रदूषकाः।
हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥ ३१ ॥

'जो दूसरोंसे घूस लेनेकी रुचि रखते हों, परायी स्त्रियोंसे जिनका सम्पर्क हो, जो विशेषतः कठोर दण्ड देनेके पक्षपाती हों, झूठा फैसला देते हों, जो कटुवादी, लोभी, दूसरोंका धन हड़पनेवाले, दुस्साहसी, सभाभवन और उद्यान आदिको नष्ट करनेवाले तथा सभी वर्णके लोगोंको कलङ्कित करनेवाले हों,

उन न्यायाधिकारियोंको देश-कालका ध्यान रखते हुए सुवर्णदण्ड अथवा प्राणदण्डके द्वारा दण्डित करना चाहिये ॥ २९-३१ ॥

प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते ।
अलंकारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥ ३२ ॥

'प्रातःकाल उठकर (नित्य नियमसे निवृत्त होनेके बाद) पहले तुम्हें उन लोगोंसे मिलना चाहिये, जो तुम्हारे खर्च-बर्चके कामपर नियुक्त हों । उसके बाद आभूषण पहनने या भोजन करनेके कामपर ध्यान देना चाहिये ॥ ३२ ॥

पश्येथाश्च ततो योधान् सदा त्वं प्रतिहर्षयन् ।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥ ३३ ॥

'तत्पश्चात् सैनिकोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए उनसे मिलना चाहिये । दूतों और जासूसोंसे मिलनेके लिये तुम्हारे लिये सर्वोत्तम समय संध्याकाल है ॥ ३३ ॥

सदा चापररात्रान्ते भवेत् कार्यार्थनिर्णयः ।
मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥ ३४ ॥

'पहरभर रात बाकी रहते ही उठकर अगले दिनके कार्य-क्रमका निश्चय कर लेना चाहिये । आधी रात और दोपहर-के समय तुम्हें स्वयं घूम-फिरकर प्रजाकी अवस्थाका निरीक्षण करना उचित है ॥ ३४ ॥

सर्वे त्वौपयिकाः कालाः कार्याणां भरतर्षभ ।
तथैवालंकृतः काले तिष्ठेथा भूरिदक्षिण ॥ ३५ ॥

'प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! काम करनेके लिये सभी समय उपयोगी हैं तथा तुम्हें समय-समयपर सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत रहना चाहिये ॥ ३५ ॥

चक्रवत् तात कार्याणां पर्यायो दृश्यते सदा ।
कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा ॥ ३६ ॥
विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः ।

'तात ! चक्रकी भाँति सदा कार्योंका क्रम चलता रहता है, यह देखनेमें आता है । महाराज ! नाना प्रकारके कोष-का संग्रह करनेके लिये तुम्हें सदा न्यायानुकूल प्रयत्न करना चाहिये । इसके विपरीत अन्यायपूर्ण प्रयत्नको त्याग देना चाहिये ॥ ३६½ ॥

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः ॥ ३७ ॥
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद् घातयेथा नराधिप ।

'नरेश्वर ! जो राजाओंके छिद्र देखा करते हैं, ऐसे राज-विद्रोही शत्रुओंका गुप्तचरोंद्वारा पता लगाकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मरवा डालना चाहिये ॥ ३७½ ॥

कर्म दृष्ट्वाथ भृत्यांस्त्वं वरयेथाः कुरूद्वह ॥ ३८ ॥
कारयेथाश्च कर्माणि युक्तायुक्तैरधिष्ठितैः ।

'कुरुश्रेष्ठ ! पहले काम देखकर सेवकोंको नियुक्त करना चाहिये और अपने आश्रित मनुष्य योग्य हों या अयोग्य, उनसे काम अवश्य लेना चाहिये ॥ ३८½ ॥

सेनाप्रणेता च भवेत् तव तात दृढव्रतः ॥ ३९ ॥
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः ।

'तात ! तुम्हारे सेनापतिको दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर, क्लेश सह सकनेवाला, हितैषी, पुरुषार्थी और स्वामिभक्त होना चाहिये ॥ ३९½ ॥

सर्वे जनपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव ॥ ४० ॥
गोवद्रासभवश्चैव कुर्युर्ये व्यवहारिणः ।

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे राज्यके अंदर रहनेवाले जो कारीगर और शिल्पी तुम्हारा काम करें, तुम्हें उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये; जैसे गधों और बैलोंसे काम लेनेवाले लोग उन्हें खानेको देते हैं ॥ ४०½ ॥

स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च ॥ ४१ ॥
उपलक्षयितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर ।

'युधिष्ठिर ! तुम्हें सदा ही स्वजनों और शत्रुओंके छिद्रों-पर दृष्टि रखनी चाहिये ॥ ४१½ ॥

देशजाश्चैव पुरुषा विक्रान्ताः स्वेषु कर्मसु ॥ ४२ ॥
यात्राभिरनुरूपाभिरनुग्राह्या हितास्त्वया ।
गुणार्थिनां गुणः कार्यो विदुषा वै जनाधिप ।
अविचार्याश्च ते ते स्युरचला इव नित्यशः ॥ ४३ ॥

'जनेश्वर ! अपने देशमें उत्पन्न होनेवाले पुरुषोंमेंसे जो लोग अपने कार्यमें विशेष कुशल और हितैषी हों, उन्हें उनके योग्य आजीविका देकर अनुग्रहपूर्वक अपनाना चाहिये । विद्वान् राजाको उचित है कि वह गुणार्थी मनुष्यके गुण बढ़ानेका प्रयत्न करता रहे । उनके सम्बन्धमें तुम्हें कोई विचार नहीं करना चाहिये । वे तुम्हारे लिये सदा पर्वतके समान अविचल सहायक सिद्ध होंगे' ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा राजनीतिका उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा।
उदासीनगणानां च मध्यस्थानां च भारत॥ १॥

धृतराष्ट्रने कहा—भरतनन्दन! तुम्हें शत्रुओंके, अपने, उदासीन राजाओंके तथा मध्यस्थ पुरुषोंके मण्डलोंका ज्ञान रखना चाहिये॥ १॥

चतुर्णां शत्रुजातानां सर्वेषामाततायिनाम्।
मित्रं चामित्रमित्रं च बोद्धव्यं तेऽरिकर्शन॥ २॥

शत्रुसूदन! तुम्हें चार प्रकारके शत्रुओंके और छः प्रकारके आततायियोंके भेदोंको एवं मित्र और शत्रुके मित्रको भी पहचानना चाहिये॥ २॥

तथामात्या जनपदा दुर्गाणि विविधानि च।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवत्येषां यथेच्छकम्॥ ३॥
ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वै विषयात्मकाः।
मन्त्रिप्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादश च प्रभो॥ ४॥
एतन्मण्डलमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः।

कुरुश्रेष्ठ! अमात्य (मन्त्री), जनपद (देश), नाना प्रकारके दुर्ग और सेना—इनपर शत्रुओंका यथेष्ट लक्ष्य रहता है (अतः इनकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहना चाहिये)। प्रभो! कुन्तीनन्दन! उपर्युक्त बारह प्रकारके मनुष्य राजाओंके ही मुख्य विषय हैं। मन्त्रीके अधीन रहनेवाले कृषी आदि साठ[1] गुण और पूर्वोक्त बारह प्रकारके मनुष्य—इन सबको नीतिज्ञ आचार्योंने 'मण्डल' नाम दिया है॥ ३-४½॥

अत्र षाड्गुण्यमायत्तं युधिष्ठिर निबोध तत्॥ ५॥
वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुसत्तम।

युधिष्ठिर! तुम इस मण्डलको अच्छी तरह जानो; क्योंकि राज्यकी रक्षाके संधि-विग्रह आदि छः उपायोंका उचित उपभोग इन्हींके अधीन है। कुरुश्रेष्ठ! राजाको चाहिये कि वह अपनी वृद्धि, क्षय और स्थितिका सदा ही ज्ञान रखे॥ ५½॥

द्विसप्तत्यां महाबाहो ततः षाड्गुण्यजा गुणाः॥ ६॥
यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाबलः।
विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा॥ ७॥

---

1. कृषी आदि आठ सन्धान कर्म हैं। बाल आदि बीस असन्धेय हैं। नास्तिकता आदि चौदह दोष हैं और मन्त्र आदि अठारह तीर्थ हैं। उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन पहले आ चुका है।

महाबाहो! पहले राजप्रधान बारह और मन्त्रिप्रधान साठ—इन बहत्तरका ज्ञान प्राप्त करके संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छः गुणोंका यथावसर उपयोग किया जाता है। कुन्तीनन्दन! जब अपना पक्ष बलवान् तथा शत्रुका पक्ष निर्बल जान पड़े, उस समय शत्रुके साथ युद्ध छेड़कर विपक्षी राजाको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये॥ ६-७॥

यदा परे च बलिनः स्वपक्षश्चैव दुर्बलः।
सार्धं विद्वांस्तदा क्षीणः परैः संधिं समाश्रयेत्॥ ८॥

परंतु जब शत्रु-पक्ष प्रबल और अपना ही पक्ष दुर्बल हो, उस समय क्षीणशक्ति विद्वान् पुरुष शत्रुओंके साथ संधि कर ले॥ ८॥

द्रव्याणां संचयश्चैव कर्तव्यः सुमहांस्तथा।
यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत॥ ९॥
तदा सर्वं विधेयं स्यात् स्थाने न स विचारयेत्।

भारत! राजाको सदैव द्रव्योंका महान् संग्रह करते रहना चाहिये। जब वह शीघ्र ही शत्रुपर आक्रमण करनेमें समर्थ हो, उस समय उसका जो कर्तव्य हो, उसे वह स्थिरतापूर्वक भलीभाँति विचार ले॥ ९½॥

भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत॥ १०॥
हिरण्यं कुप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमथो बलम्।

भारत! यदि अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रुको कम उपजाऊ भूमि, थोड़ा-सा सोना और अधिक मात्रामें जस्ता-पीतल आदि धातु तथा दुर्बल मित्र एवं सेना देकर उसके साथ संधि करे॥ १०½॥

विपरीतान्निगृह्णीयात् स्वं हि संधिविशारदः॥ ११॥
संध्यर्थं राजपुत्रं वा लिप्सेथा भरतर्षभ।
विपरीतं न तच्छ्रेयः पुत्र कस्यांचिदापदि॥ १२॥
तस्याः प्रमोक्षे यत्नं च कुर्याः सोपायमन्त्रवित्।

यदि शत्रुकी विपरीत दशा हो और वह संधिके लिये प्रार्थना करे तो संधिविशारद पुरुष उससे उपजाऊ भूमि, सोना-चाँदी आदि धातु तथा बलवान् मित्र एवं सेना लेकर उसके साथ संधि करे अथवा भरतश्रेष्ठ! प्रतिद्वन्द्वी राजाके राजकुमार-को ही अपने यहाँ जमानतके तौरपर रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसके विपरीत बर्ताव करना अच्छा नहीं है। बेटा! यदि कोई आपत्ति आ जाय तो उचित उपाय और मन्त्रणाके ज्ञाता तुम-जैसे राजाको उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये॥ ११-१२½॥

प्रकृतीनां च राजेन्द्र राजा दीनान् विभावयेत्॥ १३ ॥
क्रमेण युगपत् सर्वं व्यवसायं महाबलः ।
पीडनं स्तम्भनं चैव कोशभङ्गस्तथैव च ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! प्रजाजनोंके भीतर जो दीन-दरिद्र (अन्ध-बधिर आदि) मनुष्य हों, उनका भी राजा आदर करे। महाबली राजा अपने शत्रुके विपरीत क्रमशः अथवा एक साथ सारा उद्योग आरम्भ कर दे। वह उसे पीड़ा दे। उसकी गति अवरुद्ध करे और उसका खजाना नष्ट कर दे ॥ १३-१४ ॥

कार्यं यत्नेन शत्रूणां स्वराज्यं रक्षता स्वयम्।
न च हिंस्योऽभ्युपगतः सामन्तो वृद्धिमिच्छता ॥१५॥

अपने राज्यकी रक्षा करनेवाले राजाको यत्नपूर्वक शत्रुओंके साथ उपर्युक्त बर्ताव करना चाहिये; परंतु अपनी वृद्धि चाहनेवाले नरेशको शरणमें आये हुए सामन्तका वध कदापि नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

कौन्तेय तं न हिंसेत् स यो महीं विजिगीषते।
गणानां भेदने योगमीप्सेथाः सह मन्त्रिभिः ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमार ! जो समूची पृथ्वीपर विजय पाना चाहता हो, वह तो कदापि उस (सामन्त) की हिंसा न करे। तुम अपने मन्त्रियोंसहित सदा शत्रुगणोंमें फूट डालनेकी इच्छा रखना ॥ १६ ॥

साधुसंग्रहणाच्चैव पापनिग्रहणात् तथा।
दुर्बलाश्चैव सततं नान्वेष्टव्या बलीयसा ॥ १७ ॥

अच्छे पुरुषोंसे मेल-जोल बढ़ाये और दुष्टोंको कैद करके उन्हें दण्ड दे। महाबली नरेशको दुर्बल शत्रुके पीछे सदा नहीं पड़े रहना चाहिये ॥ १७ ॥

तिष्ठेथा राजशार्दूल वैतसीं वृत्तिमास्थितः।
यद्येनमभियायाच्च बलवान् दुर्बलं नृपः ॥ १८ ॥
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेः।

राजसिंह ! तुम्हें बेंतकी-सी वृत्ति (नम्रता) का आश्रय लेकर रहना चाहिये। यदि किसी दुर्बल राजापर बलवान् राजा आक्रमण करे तो क्रमशः साम आदि उपायोंद्वारा उस बलवान् राजाको लौटानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥१८½॥

अशक्नुवंश्च युद्धाय निष्पतेत् सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥
कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चास्य प्रियकारिणः।

यदि अपनेमें युद्धकी शक्ति न हो तो मन्त्रियोंके साथ उस आक्रमणकारी राजाकी शरणमें जाय तथा कोश, पुरवासी मनुष्य, दण्डशक्ति एवं अन्य जो प्रिय कार्य हों, उन सबको अर्पित करके उस प्रतिद्वन्द्वीको लौटानेकी चेष्टा करे ॥१९½॥

असम्भवे तु सर्वस्य यथा मुख्येन निष्पतेत्।
क्रमेणानेन मुक्तिः स्याच्छरीरमिति केवलम् ॥ २० ॥

यदि किसी भी उपायसे संधि न हो तो मुख्य साधनको लेकर विपक्षीपर युद्धके लिये टूट पड़े। इस क्रमसे शरीर चला जाय तो भी वीर पुरुषकी मुक्ति ही होती है। केवल शरीर दे देना ही उसका मुख्य साधन है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपदेशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपदेशविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके द्वारा राजनीतिका उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

संधिविग्रहमप्यत्र पश्येथा राजसत्तम।
द्वियोनिं विविधोपायं बहुकल्पं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हें संधि और विग्रहपर भी दृष्टि रखनी चाहिये। शत्रु प्रबल हो तो उसके साथ संधि करना और दुर्बल हो तो उसके साथ युद्ध छेड़ना—ये संधि और विग्रहके दो आधार हैं। इनके प्रयोगके उपाय भी नाना प्रकारके हैं और इनके प्रकार भी बहुत हैं ॥ १ ॥

कौरव्य पर्युपासीथाः स्थित्वा द्वैविध्यमात्मनः।
तुष्टपुष्टबलः शत्रुरात्मवानिति च स्मरेत् ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! अपनी द्विविध अवस्था—बलाबलका अच्छी तरह विचार करके शत्रुसे युद्ध या मेल करना उचित है। यदि शत्रु मनस्वी है और उसके सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट हैं तो उसपर सहसा धावा न करके उसे परास्त करनेका कोई दूसरा उपाय सोचे ॥ २ ॥

पर्युपासनकाले तु विपरीतं विधीयते।
आमर्दकाले राजेन्द्र व्यपसर्पेत् ततः परम् ॥ ३ ॥

आक्रमणकालमें शत्रुकी स्थिति विपरीत रहनी चाहिये अर्थात् उसके सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं संतुष्ट नहीं होने चाहिये। राजेन्द्र ! यदि शत्रुसे अपना मान मर्दन होनेकी सम्भावना हो तो वहाँसे भागकर किसी दूसरे मित्र राजाकी शरण लेनी चाहिये ॥ ३ ॥

व्यसनं भेदनं चैव शत्रूणां कारयेत् ततः ।
कर्षणं भीषणं चैव युद्धे चैव बलक्षयम् ॥ ४ ॥

वहाँ यह प्रयत्न करना चाहिये कि शत्रुओंपर कोई संकट आ जाय या उनमें फूट पड़ जाय, वे क्षीण और भयभीत हो जायँ तथा युद्धमें उनकी सेना नष्ट हो जाय ॥४॥

प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत् ।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः ॥ ५ ॥

शत्रुपर चढ़ाई करनेवाले शास्त्रविशारद राजाको अपनी और शत्रुकी त्रिविध शक्तियोंपर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥

उत्साहप्रभुशक्तिभ्यां मन्त्रशक्त्या च भारत ।
उपपन्नो नृपो यायाद् विपरीतं च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

भारत ! जो राजा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्र-शक्तिमें शत्रुकी अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा हो, उसे ही आक्रमण करना चाहिये । यदि इसके विपरीत अवस्था हो तो आक्रमणका विचार त्याग देना चाहिये ॥ ६ ॥

आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा ।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणीबलं प्रभो ॥ ७ ॥

प्रभो ! राजाको अपने पास सैनिकबल, धनबल, मित्रबल, अरण्यबल, भृत्यबल और श्रेणीबलका संग्रह करना चाहिये ॥ ७ ॥

तत्र मित्रबलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते ।
श्रेणीबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः ॥ ८ ॥

राजन् ! इनमें मित्रबल और धनबल सबसे बढ़कर है । श्रेणीबल और भृत्यबल—ये दोनों समान ही हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ८ ॥

तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप ।
विज्ञेयं बहुकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! चारबल (दूतोंका बल) भी परस्पर समान ही है । राजाको समय आनेपर अधिक अवसरोंपर इस तत्त्व-को समझे रहना चाहिये ॥ ९ ॥

आपदश्चापि बोद्धव्या बहुरूपा नराधिप ।
भवन्ति राज्ञः कौरव्य यास्ताः पृथगतः शृणु ॥ १० ॥

महाराज ! कुरुनन्दन ! राजापर आनेवाली अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ भी होती हैं, जिन्हें जानना चाहिये । अतः उनका पृथक्-पृथक् वर्णन सुनो ॥ १० ॥

विकल्पा बहुधा राजन्नापदां पाण्डुनन्दन ।
सामादिभिरुपन्यस्य गणयेत् तान् नृपः सदा ॥ ११ ॥

राजन् ! पाण्डुनन्दन ! उन आपत्तियोंके अनेक प्रकारके विकल्प हैं । राजा साम आदि उपायोंद्वारा उन सबको सामने लाकर सदा गिने ॥ ११ ॥

यात्रां गच्छेद् बलैर्युक्तो राजा सद्भिः परंतप ।
युक्तश्च देशकालाभ्यां बलैरात्मगुणैस्तथा ॥ १२ ॥

परंतप नरेश ! देश-कालकी अनुकूलता होनेपर सैनिक बल तथा राजोचित गुणोंसे युक्त राजा अच्छी सेना साथ लेकर विजयके लिये यात्रा करे ॥ १२ ॥

हृष्टपुष्टबलो गच्छेद् राजा वृद्ध्युदये रतः ।
अकृशश्चाप्यथो यायादनृतावपि पाण्डव ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन ! अपने अभ्युदयके लिये तत्पर रहनेवाला राजा यदि दुर्बल न हो और उसकी सेना हृष्ट-पुष्ट हो तो वह युद्धके अनुकूल मौसम न होनेपर भी शत्रुपर चढ़ाई करे ॥ १३ ॥

तूणाश्मानं वाजिरथप्रवाहां
ध्वजद्रुमैः संवृतकूलरोधसम् ।
पदातिनागैर्बहुकर्दमां नदीं
सपत्ननाशे नृपतिः प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥

शत्रुओंके विनाशके लिये राजा अपनी सेनारूपी नदीका प्रयोग करे । जिसमें तरकस ही प्रस्तरखण्डके समान हैं, घोड़े और रथरूपी प्रवाह शोभा पाते हैं, जिसका कूल-किनारा ध्वजरूपी वृक्षोंसे आच्छादित है तथा पैदल और हाथी जिसके भीतर अगाध पङ्कके समान जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥

अथोपपत्त्या शकटं पद्मवज्रं च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रं तत्रैतद् विहितं विभो ॥ १५ ॥

भारत ! युद्धके समय युक्ति करके सेनाका शकट, पद्म अथवा वज्र नामक व्यूह बना ले । प्रभो ! शुक्राचार्य जिस शास्त्रको जानते हैं, उसमें ऐसा ही विधान मिलता है ॥१५॥

चारयित्वा परबलं कृत्वा स्वबलदर्शनम् ।
स्वभूमौ योजयेद् युद्धं परभूमौ तथैव च ॥ १६ ॥

गुप्तचरोंद्वारा शत्रुसेनाकी जाँच-पड़ताल करके अपनी सैनिक शक्तिका भी निरीक्षण करे । फिर अपनी या शत्रुकी भूमिपर युद्ध आरम्भ करे ॥ १६ ॥

बलं प्रसादयेद् राजा निक्षिपेद् बलिनो नरान् ।
ज्ञात्वा स्वविषयं तत्र सामादिभिरुपक्रमेत् ॥ १७ ॥

राजाको चाहिये कि वह पारितोषिक आदिके द्वारा सेनाको संतुष्ट रखे और उसमें बलवान् मनुष्योंकी भर्ती करे । अपने

बलाबलको अच्छी तरह समझकर साम आदि उपायोंके द्वारा संधि या युद्धके लिये उद्योग करे ॥ १७ ॥

सर्वथैव महाराज शरीरं धारयेदिह।
प्रेत्य चेह च कर्तव्यमात्मनिःश्रेयसं परम् ॥ १८ ॥

महाराज ! इस जगत्में सभी उपायोंद्वारा शरीरकी रक्षा करनी चाहिये और उसके द्वारा इहलोक तथा परलोकमें भी अपने कल्याणका उत्तम साधन करना उचित है ॥ १८ ॥

एवमेतन्महाराज राजा सम्यक् समाचरन्।
प्रेत्य स्वर्गमवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १९ ॥

महाराज ! जो राजा इन सब बातोंका विचार करके इनके अनुसार ठीक-ठीक आचरण और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है, वह मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १९ ॥

एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम्।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव हि ॥ २० ॥

तात ! कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हें इहलोक और परलोकमें सुख पानेके लिये सदा ही प्रजावर्गके हित-साधनमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २० ॥

भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च।
मयाप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥ २१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भीष्मजी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा विदुरने तुम्हें सभी बातोंका उपदेश कर दिया है। मेरा भी तुम्हारे ऊपर प्रेम है, इसलिये मैंने भी तुम्हें कुछ बताना आवश्यक समझा है ॥ २१ ॥

एतत् सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥ २२ ॥

यज्ञमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले महाराज ! इन सब बातोंका यथोचित रूपसे पालन करना। इससे तुम प्रजाके प्रिय बनोगे और स्वर्गमें भी सुख पाओगे ॥ २२ ॥

अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत् पृथिवीपतिः।
पालयेद् वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं लभेत् ॥ २३ ॥

जो राजा एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उन दोनोंको समान फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रोपसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका उपसंवादविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका कुरुजाङ्गलदेशकी प्रजासे वनमें जानेके लिये आज्ञा माँगना

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथाऽऽत्थ पृथिवीपते।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही करूँगा। अभी आप मुझे कुछ और उपदेश दीजिये ॥ १ ॥

भीष्मे स्वर्गमनुप्राप्ते गते च मधुसूदने।
विदुरे संजये चैव कोऽन्यो मां वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

भीष्मजी स्वर्ग सिधारे, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका पधारे और विदुर तथा संजय भी आपके साथ ही जा रहे हैं। अब दूसरा कौन रह जाता है, जो मुझे उपदेश दे सके ॥ २ ॥

यत् तु मामनुशास्तीह भवानद्य हिते स्थितः।
कर्तास्मि तन्महीपाल निर्वृतो भव पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! पृथ्वीपते ! आज मेरे हितसाधनमें संलग्न होकर आप मुझे यहाँ जो कुछ उपदेश देते हैं, मैं उसका पालन करूँगा। आप संतुष्ट हों ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर राजर्षि धृतराष्ट्रने कुन्तीकुमारसे जानेके लिये अनुमति लेनेकी इच्छा की और कहा—॥ ४ ॥

पुत्र संशाम्यतां तावन्ममापि बलवाञ्छ्रमः।
इत्युक्त्वा प्राविशद् राजा गान्धार्या भवनं तदा ॥ ५ ॥

'बेटा ! अब शान्त रहो। मुझे बोलनेमें बड़ा परिश्रम होता है (अब तो मैं जानेकी ही अनुमति चाहता हूँ)।' ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने उस समय गान्धारीके भवनमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ॥ ६ ॥

वहाँ जब वे आसनपर विराजमान हुए, तब समयका

ज्ञान रखनेवाली धर्मपरायणा गान्धारी देवीने उस समय प्रजापतिके समान अपने पतिसे इस प्रकार पूछा—॥ ६ ॥

अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेन त्वं महर्षिणा।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदारण्यं गमिष्यसि ॥ ७ ॥

'महाराज ! स्वयं महर्षि व्यासने आपको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है और युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल ही गयी है। अब आप कब वनको चलेंगे ?' ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्तास्मि नचिराद् वनम् ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि ! मेरे महात्मा पिता व्यासने स्वयं तो आज्ञा दे ही दी है, युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल गयी है; अतः अब मैं जल्दी ही वनको चलूँगा ॥ ८ ॥

अहं हि तावत् सर्वेषां तेषां दुर्द्यूतदेविनाम्।
पुत्राणां दातुमिच्छामि प्रेतभावानुगं वसु ॥ ९ ॥
सर्वप्रकृतिसांनिध्यं कारयित्वा स्ववेश्मनि।

जानेके पहले मैं चाहता हूँ कि समस्त प्रजाको घरपर बुलाकर अपने मरे हुए उन जुआरी पुत्रोंके उद्देश्यसे उनके पारलौकिक लाभके लिये कुछ धन दान कर दूँ ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजाय प्रेषयामास वै तदा ॥ १० ॥
स च तद्वचनात् सर्वं समानिन्ये महीपतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके पास अपना विचार कहला भेजा। राजा युधिष्ठिरने देनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार वह सब सामग्री जुटा दी (धृतराष्ट्रने उसका यथायोग्य वितरण कर दिया) ॥ १०½ ॥

ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ॥ ११ ॥
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः।

उधर राजाका संदेश पाकर कुरुजाङ्गलदेशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ आये। उन सबके हृदयमें बड़ी प्रसन्नता थी ॥ ११½ ॥

ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात् तदा ॥ १२ ॥
ददृशे तं जनं सर्वं सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा।

तदनन्तर महाराज धृतराष्ट्र अन्तःपुरसे बाहर निकले और वहाँ नगर तथा जनपदकी समस्त प्रजाके उपस्थित होनेका समाचार सुना ॥ १२½ ॥

समवेतांश्च तान् सर्वान् पौरान् जानपदांस्तथा॥ १३॥
तानागतानभिप्रेक्ष्य समस्तं च सुहृज्जनम्।
ब्राह्मणांश्च महीपाल नानादेशसमागतान् ॥ १४ ॥
उवाच मतिमान् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।

भूपाल जनमेजय ! राजाने देखा कि समस्त पुरवासी और जनपदके लोग वहाँ आ गये हैं। सम्पूर्ण सुहृद्-वर्गके लोग भी उपस्थित हैं और नाना देशोंके ब्राह्मण भी पधारे हैं। तब बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने उन सबको लक्ष्य करके कहा—॥ १३–१४½ ॥

भवन्तः कुरवश्चैव चिरकालं सहोषिताः ॥ १५ ॥
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः।

'सज्जनो ! आप और कौरव चिरकालसे एक साथ रहते आये हैं। आप दोनों एक-दूसरेके सुहृद् हैं और दोनों सदा एक-दूसरेके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ १५½ ॥

यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन् काल उपस्थिते ॥ १६ ॥
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम।

'इस समय मैं आपलोगोंसे वर्तमान अवसरपर जो कुछ कहूँ, मेरी उस बातको आपलोग बिना विचारे स्वीकार करें; यही मेरी प्रार्थना है ॥ १६½ ॥

अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे ॥ १७ ॥
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य मे।

'मैंने गान्धारीके साथ वनमें जानेका निश्चय किया है; इसके लिये मुझे महर्षि व्यास तथा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरकी भी अनुमति मिल गयी है ॥ १७½ ॥

भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा च वोऽभूद् विचारणा॥१८॥
अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती।
न च सान्येषु देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥ १९ ॥

'अब आपलोग भी मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दें। इस विषयमें आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आपलोगोंका हमारे साथ जो यह प्रेम-सम्बन्ध सदासे चला आ रहा है, ऐसा सम्बन्ध दूसरे देशके राजाओंके साथ वहाँकी प्रजाका नहीं होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १८-१९ ॥

शान्तोऽस्मि वयसानेन तथा पुत्रविनाकृतः।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥ २० ॥

'निष्पाप प्रजाजन ! अब इस बुढ़ापेने गान्धारीसहित मुझको बहुत थका दिया है। पुत्रोंके मारे जानेका दुःख भी बना ही रहता है तथा उपवास करनेके कारण भी हम दोनों अधिक दुर्बल हो गये हैं ॥ २० ॥

युधिष्ठिरगते राज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत्।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद् विशिष्टमिति सत्तमाः ॥ २१ ॥

'सज्जनो ! युधिष्ठिरके राज्यमें मुझे बड़ा सुख मिला है। मैं समझता हूँ कि दुर्योधनके राज्यसे भी बढ़कर सुख मुझे प्राप्त हुआ है ॥ २१ ॥

मम चान्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः।
ऋते वनं महाभागास्तन्मानुज्ञातुमर्हथ ॥ २२ ॥

'एक तो मैं जन्मका अन्धा हूँ, दूसरे बूढ़ा हो गया हूँ, तीसरे मेरे सभी पुत्र मारे गये हैं। महाभाग प्रजाजन ! अब आप ही बतायें, वनमें जानेके सिवा मेरे लिये दूसरी कौन-सी गति है ? इसलिये अब आपलोग मुझे जानेकी आज्ञा दें' ॥ २२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वे ते कुरुजाङ्गलाः।
बाष्पसंदिग्धया वाचा रुरुदुर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्रकी ये बातें सुनकर वहाँ उपस्थित हुए कुरुजाङ्गलनिवासी सभी मनुष्योंके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २३ ॥

तानविब्रुवतः किंचित् सर्वाञ्शोकपरायणान्।
पुनरेव महातेजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥

उन सबको शोकमग्न होकर कुछ भी उत्तर न देते देख महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः बोलना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रकृतवनगमनप्रार्थनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रकी वनमें जानेके लिये प्रार्थनाविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

प्रजाजनोंसे धृतराष्ट्रकी क्षमा-प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

शान्तनुः पालयामास यथावद् वसुधामिमाम्।
तथा विचित्रवीर्यश्च भीष्मेण परिपालितः ॥ १ ॥
पालयामास नस्तातो विदितार्थो न संशयः।

धृतराष्ट्र बोले—सज्जनो ! महाराज शान्तनुने इस पृथ्वीका यथावत्‌रूपसे पालन किया था। उसके बाद भीष्म-द्वारा सुरक्षित हमारे तत्त्वज्ञ पिता विचित्रवीर्यने इस भूमण्डल-की रक्षा की; इसमें संशय नहीं है ॥ १½ ॥

यथा च पाण्डुर्भ्राता मे दयितो भवतामभूत् ॥ २ ॥
स चापि पालयामास यथावत् तच्च वेत्थ ह।

उनके बाद मेरे भाई पाण्डुने इस राज्यका यथावत्‌रूपसे पालन किया। इसे आप सब लोग जानते हैं। अपने प्रजा-पालनरूपी गुणके कारण ही वे आपलोगोंके परम प्रिय हो गये थे ॥ २½ ॥

मया च भवतां सम्यक् शुश्रूषा या कृतानघाः ॥ ३ ॥
असम्यग् वा महाभागास्तत् क्षन्तव्यमतन्द्रितैः।

निष्पाप महाभागगण ! पाण्डुके बाद मैंने भी आप-लोगोंकी भली या बुरी सेवा की है, उसमें जो भूल हुई हो, उसके लिये आप आलस्यरहित प्रजाजन मुझे क्षमा करें ॥ ३½ ॥

यदा दुर्योधनेनेदं भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
अपि तत्र न वो मन्दो दुर्बुद्धिरपराद्धवान्।

दुर्योधनने जब अकण्टक राज्यका उपभोग किया था, उस समय उस खोटी बुद्धिवाले मूर्ख नरेशने भी आपलोगोंका कोई अपराध नहीं किया था (वह केवल पाण्डवोंके साथ अन्याय करता रहा) ॥ ४½ ॥

तस्यापराधाद् दुर्बुद्धेरभिमानान्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥
विमर्दः सुमहानासीदनयात् स्वकृतादथ।
(घातिताः कौरवेयाश्च पृथिवी च विनाशिता।)

उस दुर्बुद्धिके अपने ही किये हुए अन्याय, अपराध और अभिमानसे यहाँ असंख्य राजाओंका महान् संहार हो गया। सारे कौरव मारे गये और पृथ्वीका विनाश हो गया ॥ ५½ ॥

तन्मया साधु वापीदं यदि वासाधु वै कृतम् ॥ ६ ॥
तद् वो हृदि न कर्तव्यं मया बद्धोऽयमञ्जलिः।

उस अवसरपर मुझसे भला या बुरा जो कुछ भी कृत्य हो गया, उसे आपलोग अपने मनमें न लावें। इसके लिये मैं आपलोगोंसे हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करता हूँ ॥ ६½ ॥

वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं नराधिपः ॥ ७ ॥
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वानुजानथ।

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़ा है। इसके पुत्र मारे गये हैं; अतः यह दुःखमें डूबा हुआ है और यह अपने प्राचीन राजाओंका वंशज है'—ऐसा समझकर आपलोग मेरे अपराधों-को क्षमा करते हुए मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दें ॥ ७½ ॥

इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी ॥ ८ ॥
गान्धारी पुत्रशोकार्ता युष्मान् याचति वै मया।

यह बेचारी वृद्धा तपस्विनी गान्धारी, जिसके सभी पुत्र

मारे गये हैं तथा जो पुत्रशोकसे व्याकुल रहती है, मेरे साथ आपलोगोंसे क्षमा-याचना करती है ॥ ८½ ॥

हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा ॥ ९ ॥
अनुजानीत भद्रं वो व्रजाव शरणं च वः ।

इन दोनों बूढ़ोंको पुत्रोंके मारे जानेसे दुखी जानकर आपलोग वनमें जानेकी आज्ञा दें। आपका कल्याण हो। हम दोनों आपकी शरणमें आये हैं ॥ ९½ ॥

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ।

ये कुरुकुलरत्न कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर आपलोगोंके पालक हैं। अच्छे और बुरे सभी समयोंमें आप सब लोग इनपर कृपादृष्टि रखें ॥ १०½ ॥

न जातु विषमं चैव गमिष्यति कदाचन ॥ ११ ॥
चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः ।
लोकपालसमा ह्येते सर्वधर्मार्थदर्शिनः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेव भगवानेष सर्वभूतजगत्पतिः ।
(एवमेव महाबाहुर्भीमार्जुनयमैर्वृतः ।)
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥ १३ ॥

ये कभी आपलोगोंके प्रति विषमभाव नहीं रक्खेंगे। लोकपालोंके समान महातेजस्वी तथा सम्पूर्ण धर्म और अर्थके मर्मज्ञ ये चार भाई जिनके सचिव हैं, वे भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे घिरे हुए महाबाहु महातेजस्वी युधिष्ठिर सम्पूर्ण जीव-जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्माकी भाँति आपलोगोंका इसी तरह पालन करेंगे, जैसे पहलेके लोग करते आये हैं ॥ ११-१३ ॥

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः ।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया ।

मुझे ये बातें अवश्य कहनी चाहिये, ऐसा सोचकर ही मैं आपलोगोंसे यह सब कहता हूँ। मैं इन राजा युधिष्ठिरको धरोहरके रूपमें आप सब लोगोंके हाथ सौंप रहा हूँ और आपलोगोंको भी इन वीर नरेशके हाथमें धरोहरकी ही भाँति दे रहा हूँ ॥ १४½ ॥

यदेव तैः कृतं किंचिद् व्यलीकं वः सुतैर्मम ॥ १५ ॥
यदन्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ।

मेरे पुत्रोंने तथा मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले और किसीने आपलोगोंका जो कुछ भी अपराध किया हो, उसके लिये मुझे क्षमा करें और जानेकी आज्ञा दें ॥ १५½ ॥

भवद्भिर्न हि मे मन्युः कृतपूर्वः कथंचन ॥ १६ ॥
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ।

आपलोगोंने पहले मुझपर किसी तरह कोई रोष नहीं प्रकट किया है। आपलोग अत्यन्त गुरुभक्त हैं; अतः आपके सामने मेरे ये दोनों हाथ जुड़े हुए हैं और मैं आपको यह प्रणाम करता हूँ ॥ १६½ ॥

तेषामस्थिरबुद्धीनां लुब्धानां कामचारिणाम् ॥ १७ ॥
कृते याचेऽद्य वः सर्वान् गान्धारीसहितोऽनघाः ।

निष्पाप प्रजाजन! मेरे पुत्रोंकी बुद्धि चञ्चल थी। वे लोभी और स्वेच्छाचारी थे। उनके अपराधोंके लिये आज गान्धारीसहित मैं आप सब लोगोंसे क्षमा-याचना करता हूँ ॥ १७½ ॥

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पौरजानपदा जनाः ।
नोचुर्बाष्पकलाः किंचिद् वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर नगर और जनपदमें निवास करनेवाले सब लोग नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। किसीने कोई उत्तर नहीं दिया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रप्रार्थने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रकी प्रार्थनाविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

प्रजाकी ओरसे साम्ब नामक ब्राह्मणका धृतराष्ट्रको सान्त्वनापूर्ण उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन पौरजानपदा जनाः ।
वृद्धेन राज्ञा कौरव्य नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके ऐसे करुणामय वचन कहनेपर नगर और जनपदके निवासी सभी लोग दुःखसे अचेत-से हो गये ॥ १ ॥

तूष्णीम्भूतांस्ततस्तांस्तु बाष्पकण्ठान् महीपतिः ।
धृतराष्ट्रो महीपालः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ २ ॥

उन सबके कण्ठ आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये थे; अतः वे कुछ बोल नहीं पाते थे। उन्हें मौन देख महाराज धृतराष्ट्रने फिर कहा— ॥ २ ॥

वृद्धं च हतपुत्रं च धर्मपत्न्या सहानया ।
विलपन्तं बहुविधं कृपणं चैव सत्तमाः ॥ ३ ॥
पित्रा स्वयमनुज्ञातं कृष्णद्वैपायनेन वै ।
वनवासाय धर्मज्ञा धर्मज्ञेन नृपेण ह ॥ ४ ॥
सोऽहं पुनः पुनश्चैव शिरसावनतोऽनघाः ।
गान्धार्या सहितं तन्मां समनुज्ञातुमर्हथ ॥ ५ ॥

'सज्जनो ! मैं बूढ़ा हूँ । मेरे सभी पुत्र मार डाले गये हैं । मैं अपनी इस धर्मपत्नीके साथ बारंबार दीनतापूर्वक विलाप कर रहा हूँ । मेरे पिता स्वयं महर्षि व्यासने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है । धर्मज्ञ पुरुषो ! धर्मके ज्ञाता राजा युधिष्ठिरने भी वनवासके लिये अनुमति दे दी है । वही मैं अब पुनः बारंबार आपके सामने मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ । पुण्यात्मा प्रजाजन ! आपलोग गान्धारीसहित मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दें' ॥ ३—५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते ।
रुरुदुः सर्वशो राजन् समेताः कुरुजाङ्गलाः ॥ ६ ॥
उत्तरीयैः करैश्चापि संच्छाद्य वदनानि ते ।
रुरुदुः शोकसंतप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुराजकी ये करुणाभरी बातें सुनकर वहाँ एकत्र हुए कुरुजाङ्गलदेशके सब लोग दुपट्टों और हाथोंसे अपना-अपना मुँह ढँककर रोने लगे । अपनी संतानको विदा करते समय दुःखसे कातर हुए पिता-माताकी भाँति वे दो घड़ीतक शोकसे संतप्त होकर रोते रहे ॥ ६-७ ॥

हृदयैः शून्यभूतैस्ते धृतराष्ट्रप्रवासजम् ।
दुःखं संधारयन्तो हि नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ८ ॥

उनका हृदय शून्य-सा हो गया था । वे उस सूने हृदयसे धृतराष्ट्रके प्रवासजनित दुःखको धारण करके अचेत-से हो गये ॥ ८ ॥

ते विनीय तमायासं धृतराष्ट्रवियोगजम् ।
शनैः शनैस्तदान्योन्यमब्रुवन् सम्मतान्युत ॥ ९ ॥

फिर धीरे-धीरे उनके वियोगजनित दुःखको दूर करके उन सबने आपसमें वार्तालाप किया और अपनी सम्मति प्रकट की ॥ ९ ॥

ततः संधाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः ।
एकस्मिन् ब्राह्मणे राजन् निवेश्योचुर्नराधिपम् ॥ १० ॥

राजन् ! तदनन्तर एकमत होकर उन सब लोगोंने थोड़ेमें अपनी सारी बातें कहनेका भार एक ब्राह्मणपर रखा । उन ब्राह्मणके द्वारा ही उन्होंने राजासे अपनी बात कही ॥ १० ॥

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थविशारदः ।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ११ ॥
अनुमान्य महाराजं तत् सदः सम्प्रसाद्य च ।
विप्रः प्रगल्भो मेधावी स राजानमुवाच ह ॥ १२ ॥

वे ब्राह्मण देवता सदाचारी, सबके माननीय और अर्थ-ज्ञानमें निपुण थे, उनका नाम था साम्ब । वे वेदके विद्वान्, निर्भय होकर बोलनेवाले और बुद्धिमान् थे । वे महाराजको सम्मान देकर सारी सभाको प्रसन्न करके बोलनेको उद्यत हुए । उन्होंने राजासे इस प्रकार कहा—॥ ११-१२ ॥

राजन् वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम् ।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ॥ १३ ॥

'राजन् ! वीर नरेश्वर ! यहाँ उपस्थित हुए समस्त जनसमुदायने अपना मन्तव्य प्रकट करनेका सारा भार मुझे सौंप दिया है; अतः मैं ही इनकी बातें आपकी सेवामें निवेदन करूँगा । आप सुननेकी कृपा करें ॥ १३ ॥

यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत् तथा विभो ।
नात्र मिथ्या वचः किंचित् सुहृत्त्वं नः परस्परम् ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र ! प्रभो ! आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें असत्यका लेश भी नहीं है । वास्तवमें इस राजवंशमें और हमलोगोंमें परस्पर दृढ़ सौहार्द स्थापित हो चुका है ॥ १४ ॥

न जात्वस्य च वंशस्य राज्ञां कश्चित् कदाचन ।
राजाऽऽसीद् यः प्रजापालः प्रजानामप्रियोऽभवत् ॥ १५ ॥

'इस राजवंशमें कभी कोई भी ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजापालन करते समय समस्त प्रजाओंको प्रिय न रहा हो ॥

पितृवद् भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः ।
न च दुर्योधनः किंचिदयुक्तं कृतवान् नृपः ॥ १६ ॥

'आपलोग पिता और बड़े भाईके समान हमारा पालन करते आये हैं । राजा दुर्योधनने भी हमारे साथ कोई अनुचित बर्ताव नहीं किया है ॥ १६ ॥

यथा ब्रवीति धर्मात्मा मुनिः सत्यवतीसुतः ।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥ १७ ॥

'महाराज ! परम धर्मात्मा सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यासजी आपको जैसी सलाह देते हैं, वैसा ही कीजिये; क्योंकि वे हम सब लोगोंके परम गुरु हैं ॥ १७ ॥

त्यक्ता वयं तु भवता दुःखशोकपरायणाः ।
भविष्यामश्चिरं राजन् भवद्गुणशतैर्युताः ॥ १८ ॥

'राजन् ! आप जब हमें त्याग देंगे, हमें छोड़कर चले जायँगे, तब हम बहुत दिनोंतक दुःख और शोकमें डूबे रहेंगे । आपके सैकड़ों गुणोंकी याद सदा हमें घेरे रहेगी ॥

यथा शान्तनुना गुप्ता राज्ञा चित्राङ्गदेन च ।
भीष्मवीर्योपगूढेन पित्रा तव च पार्थिव ॥ १९ ॥

भवद्वीक्षणाच्चैव पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
तथा दुर्योधनेनापि राज्ञा सुपरिपालिताः ॥ २० ॥

'पृथ्वीनाथ ! महाराज शान्तनु तथा राजा चित्राङ्गदने जिस प्रकार हमारी रक्षा की है, भीष्मके पराक्रमसे सुरक्षित आपके पिता विचित्रवीर्यने जिस तरह हमलोगोंका पालन किया है तथा आपकी देख-रेखमें रहकर पृथ्वीपति पाण्डुने जिस प्रकार प्रजाजनोंकी रक्षा की है, उसी प्रकार राजा दुर्योधनने भी हमलोगोंका यथावत् पालन किया है ॥१९-२०॥

न स्वल्पमपि पुत्रस्ते व्यलीकं कृतवान् नृप ।
पितरीव सुविश्वस्तास्तस्मिन्नपि नराधिपे ॥ २१ ॥
वयमास्म यथा सम्यग् भवतो विदितं तथा ।

'नरेश्वर ! आपके पुत्रने कभी थोड़ा-सा भी अन्याय हमलोगोंके साथ नहीं किया । हमलोग उन राजा दुर्योधनपर भी पिताके समान विश्वास करते थे और उनके राज्यमें बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करते थे । यह बात आपको भी विदित ही है ॥ २१½ ॥

तथा वर्षसहस्राणि कुन्तीपुत्रेण धीमता ॥ २२ ॥
पाल्यमाना धृतिमता सुखं विन्दामहे नृप ।

'नरेश्वर ! भगवान् करें कि बुद्धिमान् कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर धैर्यपूर्वक सहस्रों वर्षतक हमारा पालन करें और हम इनके राज्यमें सुखसे रहें ॥ २२½ ॥

राजर्षीणां पुराणानां भवतां पुण्यकर्मणाम् ॥ २३ ॥
कुरुसंवरणादीनां भरतस्य च धीमतः ।
वृत्तं समनुयात्येष धर्मात्मा भूरिदक्षिणः ॥ २४ ॥

'यज्ञोंमें बड़ी-बड़ी दक्षिणा प्रदान करनेवाले ये धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्राचीन कालके पुण्यात्मा राजर्षि कुरु और संवरण आदिके तथा बुद्धिमान् राजा भरतके बर्तावका अनुसरण करते हैं ॥ २३-२४ ॥

नात्र वाच्यं महाराज सुसूक्ष्ममपि विद्यते ।
उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः ॥ २५ ॥

'महाराज ! इनमें कोई छोटे-से-छोटा दोष भी नहीं है । इनके राज्यमें आपके द्वारा सुरक्षित होकर हमलोग सदा सुखसे रहते आये हैं ॥ २५ ॥

सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ।
यत् तु ज्ञातिविमर्देऽस्मिन्नात्थ दुर्योधनं प्रति ॥ २६ ॥
भवन्तमनुनेष्यामि तत्रापि कुरुनन्दन ।

'कुरुनन्दन ! पुत्रसहित आपका कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी हमारे देखनेमें नहीं आया है । महाभारत-युद्धमें जो जाति-भाइयोंका संहार हुआ है, उसके विषयमें आपने जो दुर्योधनके अपराधकी चर्चा की है, इसके सम्बन्ध-में भी मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ॥ २६½ ॥

न तद् दुर्योधनकृतं न च तद् भवता कृतम् ॥ २७ ॥
न कर्णसौबलाभ्यां च कुरवो यत् क्षयं गताः ।

'कौरवोंका जो संहार हुआ है, उसमें न दुर्योधनका हाथ है, न आपका । कर्ण और शकुनिने भी इसमें कुछ नहीं किया है ॥ २७½ ॥

दैवं तत् तु विजानीमो यन्न शक्यं प्रबाधितुम् ॥२८॥
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमपि बाधितुम् ।

'हमारी समझमें तो यह दैवका विधान था । इसे कोई टाल नहीं सकता था । दैवको पुरुषार्थसे मिटा देना असम्भव है ॥ २८½ ॥

अक्षौहिण्यो महाराज दशाष्टौ च समागताः ॥ २९ ॥
अष्टादशाहेन हताः कुरुभिर्योधपुङ्गवैः ।
भीष्मद्रोणकृपाद्यैश्च कर्णेन च महात्मना ॥ ३० ॥
युयुधानेन वीरेण धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
चतुर्भिः पाण्डुपुत्रैश्च भीमार्जुनयमैस्तथा ॥ ३१ ॥

'महाराज ! उस युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं; किंतु कौरवपक्षके प्रधान योद्धा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि तथा महामना कर्णने एवं पाण्डवदलके प्रमुख वीर सात्यकि, धृष्टद्युम्न, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आदिने अठारह दिनोंमें ही सबका संहार कर डाला॥

न च क्षयोऽयं नृपते ऋते दैवबलादभूत् ।
अवश्यमेव संग्रामे क्षत्रियेण विशेषतः ॥ ३२ ॥
कर्तव्यं निधनं काले मर्तव्यं क्षत्रबन्धुना ।

'नरेश्वर ! ऐसा विकट संहार दैवीशक्तिके बिना कदापि नहीं हो सकता था । अवश्य ही संग्राममें मनुष्यको विशेषतः क्षत्रियको समयानुसार शत्रुओंका संहार एवं प्राणोत्सर्ग करना चाहिये ॥ ३२½ ॥

तैरियं पुरुषव्याघ्रैर्विद्याबाहुबलान्वितैः ॥ ३३ ॥
पृथिवी निहता सर्वा सहया सरथद्विपा ।

'उन विद्या और बाहुबलसे सम्पन्न पुरुषसिंहोंने रथ, घोड़े और हाथियोंसहित इस सारी पृथ्वीका नाश कर डाला॥३३½॥

न स राज्ञां वधे सूनुः कारणं ते महात्मनाम् ॥ ३४ ॥
न भवान् न च ते भृत्या न कर्णो न च सौबलः ।

'आपका पुत्र उन महात्मा नरेशोंके वधमें कारण नहीं हुआ है । इसी प्रकार न आप, न आपके सेवक, न कर्ण और न शकुनि ही इसमें कारण हैं ॥ ३४½ ॥

यद् विशस्ताः कुरुश्रेष्ठ राजानश्च सहस्रशः ॥ ३५ ॥
सर्वं दैवकृतं विद्धि कोऽत्र किं वक्तुमर्हति ।

'कुरुश्रेष्ठ ! उस युद्धमें जो सहस्रों राजा काट डाले गये हैं, वह सब दैवकी ही करतूत समझिये । इस विषयमें दूसरा कोई क्या कह सकता है ॥ ३५½ ॥

गुरुर्मतो भवानस्य कृत्स्नस्य जगतः प्रभुः ॥ ३६ ॥
धर्मात्मानमतस्तुभ्यमनुजानीमहे सुतम् ।

'आप इस सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं; इसलिये हम आपको अपना गुरु मानते हैं और आप धर्मात्मा नरेशको वनमें जानेकी अनुमति देते हैं तथा आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हमारा यह कथन है—॥ ३६½ ॥

लभतां वीरलोकं स ससहायो नराधिपः ॥ ३७ ॥
द्विजाग्र्यैः समनुज्ञातस्त्रिदिवे मोदतां सुखम् ।

'अपने सहायकोंसहित राजा दुर्योधन इन श्रेष्ठ द्विजोंके आशीर्वादसे वीरलोक प्राप्त करे और स्वर्गमें सुख एवं आनन्द भोगे ॥ ३७½ ॥

प्राप्स्यते च भवान् पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम् ॥३८॥
वेद धर्मं च कृत्स्नेन सम्यक् त्वं भव सुव्रतः ।

'आप भी पुण्य एवं धर्ममें ऊँची स्थिति प्राप्त करें । आप सम्पूर्ण धर्मोंको ठीक-ठीक जानते हैं, इसलिये उत्तम व्रतोंके अनुष्ठानमें लग जाइये ॥ ३८½ ॥

दृष्टिप्रदानमपि ते पाण्डवान् प्रति नो वृथा ॥ ३९ ॥
समर्थास्त्रिदिवस्यापि पालने किं पुनः क्षितेः ।

'आप जो हमारी देख-रेख करनेके लिये हमें पाण्डवोंको सौंप रहे हैं, वह सब व्यर्थ है । ये पाण्डव तो स्वर्गका भी पालन करनेमें समर्थ हैं; फिर इस भूमण्डलकी तो बात ही क्या है ॥ ३९½ ॥

अनुवर्त्स्यन्ति वा धीमन् समेषु विषमेषु च ॥ ४० ॥
प्रजाः कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवाञ्शीलभूषणान् ।

'बुद्धिमान् कुरुकुलश्रेष्ठ ! समस्त पाण्डव शीलरूपी सद्गुणसे विभूषित हैं; अतः भले-बुरे सभी समयोंमें सारी प्रजा निश्चय ही उनका अनुसरण करेगी ॥ ४०½ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पारिबर्हांश्च पार्थिवः ॥ ४१ ॥
पूर्वराजाभिपन्नांश्च पालयत्येव पाण्डवः ।

'ये पृथ्वीनाथ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर अपने दिये हुए तथा पहलेके राजाओंद्वारा अर्पित किये गये ब्राह्मणोंके लिये दातव्य अग्रहारों (दानमें दिये गये ग्रामों) तथा पारिबर्हों (पुरस्कार-में दिये गये ग्रामों) की भी रक्षा करते ही हैं ॥ ४१½ ॥

दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः सदा वैश्रवणो यथा ॥ ४२ ॥
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ।

'ये कुन्तीकुमार सदा कुबेरके समान दीर्घदर्शी, कोमल स्वभाववाले और जितेन्द्रिय हैं । इनके मन्त्री भी उच्च विचारके हैं । इनका हृदय बड़ा ही विशाल है ॥ ४२½ ॥

अप्यमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभः ॥ ४३ ॥
ऋजुं पश्यति मेधावी पुत्रवत् पाति नः सदा ।

'ये भरतकुलभूषण युधिष्ठिर शत्रुओंपर भी दया करने-वाले और परम पवित्र हैं । बुद्धिमान् होनेके साथ ही ये सबको सरलभावसे देखनेवाले हैं और हमलोगोंका सदा पुत्रवत् पालन करते हैं ॥ ४३½ ॥

विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद् धर्मजस्य वै ॥ ४४ ॥
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ।

'राजर्षे ! इन धर्मपुत्र युधिष्ठिरके संसर्गसे भीमसेन और अर्जुन आदि भी इस जनसमुदाय (प्रजावर्ग) का कभी अप्रिय नहीं करेंगे ॥ ४४½ ॥

मन्दा मृदुषु कौरव्य तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः ॥ ४५ ॥
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ।

'कुरुनन्दन ! ये पाँचों भाई पाण्डव बड़े पराक्रमी, महामनस्वी और पुरवासियोंके हितसाधनमें लगे रहनेवाले हैं । ये कोमल स्वभाववाले सत्पुरुषोंके प्रति मृदुतापूर्ण बर्ताव करते हैं, किंतु तीखे स्वभाववाले दुष्टोंके लिये ये विषधर सर्पोंके समान भयंकर बन जाते हैं ॥ ४५½ ॥

न कुन्ती न च पाञ्चाली न चोलूपी न सात्वती ॥ ४६ ॥
अस्मिन् जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ।

'कुन्ती, द्रौपदी, उलूपी और सुभद्रा भी कभी प्रजाजनोंके प्रति प्रतिकूल बर्ताव नहीं करेंगी ॥ ४६½ ॥

भवत्कृतमिमं स्नेहं युधिष्ठिरविवर्धितम् ॥ ४७ ॥
न पृष्ठतः करिष्यन्ति पौरा जानपदा जनाः ।

'आपका प्रजाके साथ जो स्नेह था, उसे युधिष्ठिरने और भी बढ़ा दिया है । नगर और जनपदके लोग आप-लोगोंके इस प्रजाप्रेमकी कभी अवहेलना नहीं करेंगे ॥ ४७½ ॥

अधर्मिष्ठानपि सतः कुन्तीपुत्रा महारथाः ॥ ४८ ॥
मानवान् पालयिष्यन्ति भूत्वा धर्मपरायणाः ।

'कुन्तीके महारथी पुत्र स्वयं धर्मपरायण रहकर अधर्मी मनुष्योंका भी पालन करेंगे ॥ ४८½ ॥

स राजन् मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात् ॥ ४९ ॥
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ।

'अतः पुरुषप्रवर महाराज ! आप युधिष्ठिरकी ओरसे अपने मानसिक दुःखको हटाकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें लग जाइये । आपको समस्त प्रजाका नमस्कार है' ॥ ४९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं धर्म्यमनुमान्य गुणोत्तरम् ॥ ५० ॥
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! साम्बके धर्मानुकूल और उत्तम गुणयुक्त वचन सुनकर समस्त प्रजा

उन्हें सादर साधुवाद देने लगी तथा सबने उनकी बातका अनुमोदन किया ॥ ५०½ ॥

धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः ॥ ५१ ॥
विसर्जयामास तदा प्रकृतीस्तु शनैः शनैः ।
स तैः सम्पूजितो राजा शिवेनावेक्षितस्तथा ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्रने भी बारंबार साम्बके वचनोंकी सराहना की और सब लोगोंसे सम्मानित होकर धीरे-धीरे सबको विदा कर दिया। उस समय सबने उन्हें शुभ दृष्टिसे ही देखा ॥ ५१-५२ ॥

प्राञ्जलिः पूजयामास तं जनं भरतर्षभ ।
ततो विवेश भवनं गान्धार्या सहितो निजम् ॥
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यच्चकार निबोध तत् ॥ ५३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने हाथ जोड़कर उन ब्राह्मण देवताका सत्कार किया और गान्धारीके साथ फिर अपने महलमें चले गये । जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब उन्होंने जो कुछ किया, उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि प्रकृतिसान्त्वने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रको प्रजाद्वारा दी गयी सान्त्वनाविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विदुरके द्वारा युधिष्ठिरसे श्राद्धके लिये धन माँगना, अर्जुनकी सहमति और भीमसेनका विरोध

वैशम्पायन उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विदुरं प्रेषयामास युधिष्ठिरनिवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जब रात बीती और सवेरा हुआ, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीको युधिष्ठिरके महलमें भेजा ॥ १ ॥

स गत्वा राजवचनादुवाचाच्युतमीश्वरम् ।
युधिष्ठिरं महातेजाः सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २ ॥

राजाकी आज्ञासे अपने धर्मसे कभी विचलित न होनेवाले राजा युधिष्ठिरके पास जाकर समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विदुरने इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजो वनवासाय दीक्षितः ।
गमिष्यति वनं राजन्नागतां कार्तिकीमिमाम् ॥ ३ ॥

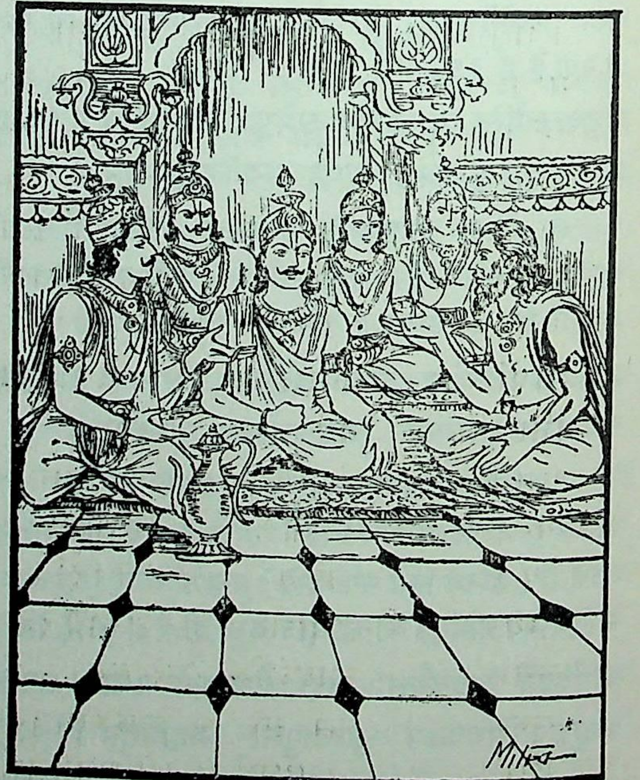
'राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र वनवासकी दीक्षा ले चुके हैं । इसी कार्तिकी पूर्णिमाको जो कि अब निकट आ पहुँची है, वे वनकी यात्रा करेंगे ॥ ३ ॥

स त्वां कुरुकुलश्रेष्ठ किंचिदर्थमभीप्सति ।
श्राद्धमिच्छति दातुं स गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ ४ ॥
द्रोणस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
पुत्राणां चैव सर्वेषां ये चान्ये सुहृदो हताः ॥ ५ ॥

'कुरुकुलश्रेष्ठ ! इस समय वे तुमसे कुछ धन लेना चाहते हैं । उनकी इच्छा है कि महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक और युद्धमें मारे गये अपने समस्त पुत्रों तथा अन्य सुहृदोंका श्राद्ध करें ॥ ४-५ ॥

यदि चाप्यनुजानीषे सैन्धवापसदस्य च ।

'यदि तुम्हारी सम्मति हो तो वे उस नराधम सिन्धुराज जयद्रथका भी श्राद्ध करना चाहते हैं' ॥ ५½ ॥



एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
हृष्टः सम्पूजयामास गुडाकेशश्च पाण्डवः ।

विदुरकी यह बात सुनकर युधिष्ठिर तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और उनकी सराहना करने लगे ॥ ६½ ॥

न च भीमो दृढक्रोधस्तद्वचो जगृहे तदा ॥ ७ ॥
विदुरस्य महातेजा दुर्योधनकृतं स्मरन् ।

परंतु महातेजस्वी भीमसेनके हृदयमें उनके प्रति अमिट क्रोध जमा हुआ था। उन्हें दुर्योधनके अत्याचारोंका स्मरण हो आया, अतः उन्होंने विदुरजीकी बात नहीं स्वीकार की ॥ ७½ ॥

अभिप्रायं विदित्वा तु भीमसेनस्य फाल्गुनः ॥ ८ ॥
किरीटी किंचिदानम्य तमुवाच नरर्षभम् ।

भीमसेनके उस अभिप्रायको जानकर किरीटधारी अर्जुन कुछ विनीत हो उन नरश्रेष्ठसे इस प्रकार बोले—॥ ८½ ॥

भीम राजा पिता वृद्धो वनवासाय दीक्षितः ॥ ९ ॥
दातुमिच्छति सर्वेषां सुहृदामौर्ध्वदेहिकम् ।

'भैया भीम ! राजा धृतराष्ट्र हमारे ताऊ और वृद्ध पुरुष हैं। इस समय वे वनवासकी दीक्षा ले चुके हैं और जानेके पहले वे भीष्म आदि समस्त सुहृदोंका और्ध्वदेहिक श्राद्ध कर लेना चाहते हैं ॥ ९½ ॥

भवता निर्जितं वित्तं दातुमिच्छति कौरवः ॥ १० ॥
भीष्मादीनां महाबाहो तदनुज्ञातुमर्हसि ।

'महाबाहो ! कुरुपति धृतराष्ट्र आपके द्वारा जीते गये धनको आपसे माँगकर उसे भीष्म आदिके लिये देना चाहते हैं; अतः आपको इसके लिये स्वीकृति दे देनी चाहिये॥१०½॥

दिष्ट्या त्वद्य महाबाहो धृतराष्ट्रः प्रयाचते ॥ ११ ॥
याचितो यः पुरास्माभिः पश्य कालस्य पर्ययम् ।

'महाबाहो ! सौभाग्यकी बात है कि आज राजा धृतराष्ट्र हमलोगोंसे धनकी याचना करते हैं। समयका उलट-फेर तो देखिये। पहले हमलोग जिनसे याचना करते थे, आज वे ही हमसे याचना करते हैं ॥११½॥

योऽसौ पृथिव्याः कृत्स्नाया भर्ता भूत्वा नराधिपः॥१२॥
परैर्विनिहतामात्यो वनं गन्तुमभीप्सति ।

'एक दिन जो सम्पूर्ण भूमण्डलका भरण-पोषण करनेवाले नरेश थे, उनके सारे मन्त्री और सहायक शत्रुओंद्वारा मार डाले गये और आज वे वनमें जाना चाहते हैं ॥ १२½ ॥

मा तेऽन्यत् पुरुषव्याघ्र दानाद् भवतु दर्शनम्॥ १३ ॥
अयशस्यमतोऽन्यत् स्यादधर्मश्च महाभुज ।

'पुरुषसिंह ! अतः आप उन्हें धन देनेके सिवा दूसरा कोई दृष्टिकोण न अपनावें। महाबाहो! उनकी याचना ठुकरा देनेसे बढ़कर हमारे लिये और कोई कलङ्ककी बात न होगी। उन्हें धन न देनेसे हमें अधर्मका भी भागी होना पड़ेगा ॥१३½॥

राजानमुपशिक्षस्व ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ॥ १४ ॥
अर्हस्त्वमपि दातुं वै नादातुं भरतर्षभ ।

'आप अपने बड़े भाई ऐश्वर्यशाली महाराज युधिष्ठिरके बर्तावसे शिक्षा ग्रहण करें। भरतश्रेष्ठ ! आप भी दूसरोंको देनेके ही योग्य हैं; दूसरोंसे लेनेके योग्य नहीं' ॥ १४½ ॥

एवं ब्रुवाणं बीभत्सुं धर्मराजोऽभ्यपूजयत् ॥ १५ ॥
भीमसेनस्तु सक्रोधः प्रोवाचेदं वचस्तदा ।

ऐसी बात कहते हुए अर्जुनकी धर्मराज युधिष्ठिरने भूरि-भूरि प्रशंसा की। तब भीमसेनने कुपित होकर उनसे यह बात कही—॥ १५½ ॥

वयं भीष्मस्य दास्यामः प्रेतकार्यं तु फाल्गुन ॥ १६ ॥
सोमदत्तस्य नृपतेर्भूरिश्रवस एव च ।
बाह्लीकस्य च राजर्षेर्द्रोणस्य च महात्मनः ॥ १७ ॥
अन्येषां चैव सर्वेषां कुन्ती कर्णाय दास्यति ।

'अर्जुन ! हमलोग स्वयं ही भीष्म, राजा सोमदत्त, भूरिश्रवा, राजर्षि बाह्लीक, महात्मा द्रोणाचार्य तथा अन्य सब सम्बन्धियोंका श्राद्ध करेंगे। हमारी माता कुन्ती कर्णके लिये पिण्डदान करेगी ॥ १६-१७½ ॥

श्राद्धानि पुरुषव्याघ्र मा प्रदात् कौरवो नृपः ॥ १८ ॥
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा नो निन्दन्तु शत्रवः ।

'पुरुषसिंह ! मेरा यही विचार है कि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र उक्त महानुभावोंका श्राद्ध न करें। इसके लिये हमारे शत्रु हमारी निन्दा न करें ॥ १८½ ॥

कष्टात् कष्टतरं यान्तु सर्वे दुर्योधनादयः ॥ १९ ॥
यैरियं पृथिवी कृत्स्ना घातिता कुलपांसनैः ।

'जिन कुलाङ्गारोंने इस सारी पृथ्वीका विनाश करा डाला, वे दुर्योधन आदि सब लोग भारी-से-भारी कष्टमें पड़ जायँ ॥ १९½ ॥

कुतस्त्वमसि विस्मृत्य वैरं द्वादशवार्षिकम् ॥ २० ॥
अज्ञातवासं गहनं द्रौपदीशोकवर्धनम् ।

'तुम वह पुराना वैर, वह बारह वर्षोंका वनवास और द्रौपदीके शोकको बढ़ानेवाला एक वर्षका गहन अज्ञातवास सहसा भूल कैसे गये ? ॥ २०½ ॥

क्व तदा धृतराष्ट्रस्य स्नेहोऽस्मद्दर्शितो गतः ॥ २१ ॥
कृष्णाजिनोपसंवीतो हृताभरणभूषणः ।
सार्धं पाञ्चालपुत्र्या त्वं राजानमुपजग्मिवान् ॥ २२ ॥
क्व तदा द्रोणभीष्मौ तौ सोमदत्तोऽपि वाभवत् ।

'उन दिनों धृतराष्ट्रका हमारे प्रति स्नेह कहाँ चला गया था ? जब तुम्हारे आभरण एवं आभूषण उतार लिये गये और तुम काले मृगचर्मसे अपने शरीरको ढककर द्रौपदीके साथ राजाके समीप गये, उस समय द्रोणाचार्य और भीष्म कहाँ थे ? सोमदत्तजी भी कहाँ चले गये थे ॥ २१-२२½ ॥

यत्र त्रयोदशसमा वने वन्येन जीवथ ॥ २३ ॥
न तदा त्वां पिता ज्येष्ठः पितृत्वेनाभिवीक्षते ।

'जब तुम सब लोग तेरह वर्षोंतक वनमें जंगली फल-मूल खाकर किसी तरह जी रहे थे, उन दिनों तुम्हारे ये ताऊजी पिताके भावसे तुम्हारी ओर नहीं देखते थे ॥ २३½ ॥

किं ते तद् विस्मृतं पार्थ यदेष कुलपांसनः ॥ २४ ॥
दुर्बुद्धिर्विदुरं प्राह द्यूते किं जितमित्युत ।

'पार्थ ! क्या तुम उस बातको भूल गये, जब कि यह कुलाङ्गार दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र जुआ आरम्भ कराकर विदुरजीसे बार-बार पूछता था कि 'इस दाँवमें हमलोगोंने क्या जीता है ?' ॥ २४½ ॥

तमेवंवादिनं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच वचनं धीमान् जोषमास्वेति भर्त्सयन् ॥ २५ ॥

भीमसेनको ऐसी बातें करते देख बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उन्हें डाँटकर कहा —'चुप रहो' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुनका भीमको समझाना और युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रको यथेष्ट धन देनेकी स्वीकृति प्रदान करना

अर्जुन उवाच

भीम ज्येष्ठो गुरुर्मे त्वं नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिः सर्वथा मानमर्हति ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन ! आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता और गुरुजन हैं; अतः आपके सामने मैं इसके सिवा और कुछ नहीं कह सकता कि राजर्षि धृतराष्ट्र सर्वथा समादरके योग्य हैं ॥ १ ॥

न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि ।
असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ॥ २ ॥

जिन्होंने आर्योंकी मर्यादा भङ्ग नहीं की है, वे साधुस्वभाववाले श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंके अपराधोंको नहीं, उपकारोंको ही याद रखते हैं ॥ २ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।
विदुरं प्राह धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

महात्मा अर्जुनकी यह बात सुनकर धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने विदुरजीसे कहा—॥ ३ ॥

इदं मद्वचनात् क्षत्तः कौरवं ब्रूहि पार्थिवम् ।
यावदिच्छति पुत्राणां श्राद्धं तावद् ददाम्यहम् ॥ ४ ॥

'चाचाजी ! आप मेरी ओरसे कौरवनरेश धृतराष्ट्रसे जाकर कह दीजिये कि वे अपने पुत्रोंका श्राद्ध करनेके लिये जितना धन चाहते हों, वह सब मैं दे दूँगा ॥ ४ ॥

भीष्मादीनां च सर्वेषां सुहृदामुपकारिणाम् ।
मम कोशादिति विभो मा भूद् भीमः सुदुर्मनाः ॥ ५ ॥

'प्रभो ! भीष्म आदि समस्त उपकारी सुहृदोंका श्राद्ध करनेके लिये केवल मेरे भण्डारसे धन मिल जायगा । इसके लिये भीमसेन अपने मनमें दुखी न हों' ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा धर्मराजस्तमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ।
भीमसेनः कटाक्षेण वीक्षां चक्रे धनंजयम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मराजने अर्जुनकी बड़ी प्रशंसा की । उस समय भीमसेनने अर्जुनकी ओर कटाक्षपूर्वक देखा ॥ ६ ॥

ततः स विदुरं धीमान् वाक्यमाह युधिष्ठिरः ।
भीमसेने न कोपं स नृपतिः कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

तब बुद्धिमान् युधिष्ठिरने विदुरसे कहा—'चाचाजी ! राजा धृतराष्ट्रको भीमसेनपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

परिक्लिष्टो हि भीमोऽपि हिमवृष्ट्यातपादिभिः ।
दुःखैर्बहुविधैर्धीमानरण्ये विदितं तव ॥ ८ ॥

'आपको तो मालूम ही है कि वनमें हिम, वर्षा और धूप आदि नाना प्रकारके दुःखोंसे बुद्धिमान् भीमसेनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है ॥ ८ ॥

किं तु मद्वचनाद् ब्रूहि राजानं भरतर्षभ ।
यद् यदिच्छसि यावच्च गृह्यतां मद्गृहादिति ॥ ९ ॥

'आप मेरी ओरसे राजा धृतराष्ट्रसे कहिये कि भरतश्रेष्ठ ! आप जो-जो वस्तु जितनी मात्रामें लेना चाहते हों, उसे मेरे घरसे ग्रहण कीजिये' ॥ ९ ॥

यन्मात्सर्यमयं भीमः करोति भृशदुःखितः ।
न तन्मनसि कर्तव्यमिति वाच्यः स पार्थिवः ॥ १० ॥

'भीमसेन अत्यन्त दुखी होनेके कारण जो कभी ईर्ष्या प्रकट करते हैं, उसे वे मनमें न लावें। यह बात आप महाराजसे अवश्य कह दीजियेगा' ॥ १० ॥

यन्ममास्ति धनं किंचिदर्जुनस्य च वेश्मनि।
तस्य स्वामी महाराज इति वाच्यः स पार्थिवः ॥ ११ ॥

'मेरे और अर्जुनके घरमें जो कुछ भी धन है, उस सबके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र हैं; यह बात उन्हें बता दीजिये ॥ ११ ॥

ददातु राजा विप्रेभ्यो यथेष्टं क्रियतां व्ययः।
पुत्राणां सुहृदां चैव गच्छत्वानृण्यमद्य सः ॥ १२ ॥

'वे ब्राह्मणोंको यथेष्ट धन दें। जितना खर्च करना चाहें, करें। आज वे अपने पुत्रों और सुहृदोंके ऋणसे मुक्त हो जायँ ॥ १२ ॥

इदं चापि शरीरं मे तवायत्तं जनाधिप।
धनानि चेति विद्धि त्वं न मे तत्रास्ति संशयः ॥ १३ ॥

'उनसे कहिये, जनेश्वर! मेरा यह शरीर और सारा धन आपके ही अधीन है। इस बातको आप अच्छी तरह जान लें। इस विषयमें मेरे मनमें संशय नहीं है' ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरानुमोदने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिरका अनुमोदनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥



त्रयोदशोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको युधिष्ठिरका उदारतापूर्ण उत्तर सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राज्ञा स विदुरो बुद्धिसत्तमः।
धृतराष्ट्रमुपेत्यैवं वाक्यमाह महार्थवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुरजी धृतराष्ट्रके पास जाकर यह महान् अर्थसे युक्त बात बोले— ॥ १ ॥

उक्तो युधिष्ठिरो राजा भवद्वचनमादितः।
स च संश्रुत्य वाक्यं ते प्रशशंस महाद्युतिः ॥ २ ॥

'महाराज! मैंने महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरके यहाँ जाकर आपका संदेश आरम्भसे ही कह सुनाया। उसे सुनकर उन्होंने आपकी बड़ी प्रशंसा की ॥ २ ॥

बीभत्सुश्च महातेजा निवेदयति ते गृहान्।
वसु तस्य गृहे यच्च प्राणानपि च केवलान् ॥ ३ ॥

'महातेजस्वी अर्जुन भी आपको अपना सारा घर सौंपते हैं। उनके घरमें जो कुछ धन है, उसे और अपने प्राणोंको भी वे आपकी सेवामें समर्पित करनेको तैयार हैं ॥ ३ ॥

धर्मराजश्च पुत्रस्ते राज्यं प्राणान् धनानि च।
अनुजानाति राजर्षे यच्चान्यदपि किंचन ॥ ४ ॥

'राजर्षे! आपके पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर अपना राज्य, प्राण, धन तथा और जो कुछ उनके पास है, सब आपको दे रहे हैं ॥ ४ ॥

भीमश्च सर्वदुःखानि संस्मृत्य बहुलान्युत।
कृच्छ्रादिव महाबाहुरनुजज्ञे विनिःश्वसन् ॥ ५ ॥

'परंतु महाबाहु भीमसेनने पहलेके समस्त क्लेशोंका, जिनकी संख्या अधिक है, स्मरण करके लंबी साँस खींचते हुए बड़ी कठिनाईसे धन देनेकी अनुमति दी है ॥ ५ ॥

स राजन् धर्मशीलेन राज्ञा बीभत्सुना तथा।
अनुनीतो महाबाहुः सौहृदे स्थापितोऽपि च ॥ ६ ॥

'राजन्! धर्मशील राजा युधिष्ठिर तथा अर्जुनने भी महाबाहु भीमसेनको भलीभाँति समझाकर उनके हृदयमें भी आपके प्रति सौहार्द उत्पन्न कर दिया है ॥ ६ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्य इति त्वां प्राह धर्मराट्।
संस्मृत्य भीमस्तद्वैरं यदन्यायवदाचरत् ॥ ७ ॥

'धर्मराजने आपसे कहलाया है कि भीमसेन पूर्व वैरका स्मरण करके जो कभी-कभी आपके साथ अन्याय-सा कर बैठते हैं, उसके लिये आप इनपर क्रोध न कीजियेगा ॥ ७ ॥

एवं प्रायो हि धर्मोऽयं क्षत्रियाणां नराधिप।
युद्धे क्षत्रियधर्मे च निरतोऽयं वृकोदरः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर! क्षत्रियोंका यह धर्म प्रायः ऐसा ही है। भीमसेन युद्ध और क्षत्रिय-धर्ममें प्रायः निरत रहते हैं ॥ ८ ॥

वृकोदरकृते चाहमर्जुनश्च पुनः पुनः।
प्रसीद याचे नृपते भवान् प्रभुरिहास्ति यत् ॥ ९ ॥

'भीमसेनके कटु बर्तावके लिये मैं और अर्जुन दोनों आपसे बार-बार क्षमायाचना करते हैं। नरेश्वर! आप प्रसन्न हों। मेरे पास जो कुछ भी है, उसके स्वामी आप ही हैं ॥ ९ ॥

तद् ददातु भवान् वित्तं यावदिच्छसि पार्थिव।
त्वमीश्वरोऽस्य राज्यस्य प्राणानामपि भारत ॥ १० ॥

'पृथ्वीनाथ! भरतनन्दन! आप जितना धन दान करना चाहें, करें। आप मेरे राज्य और प्राणोंके भी ईश्वर हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
इतो रत्नानि गाश्चैव दासीदासमजाविकम् ॥ ११ ॥
आनयित्वा कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छतु ।

'ब्राह्मणोंको माफी जमीन दीजिये और पुत्रोंका श्राद्ध कीजिये ।' युधिष्ठिरने यह भी कहा है कि 'महाराज धृतराष्ट्र मेरे यहाँसे नाना प्रकारके रत्न, गौएँ, दास, दासियाँ और भेंड़-बकरे मँगवाकर ब्राह्मणोंको दान करें ॥ ११½ ॥

दीनान्धकृपणेभ्यश्च तत्र तत्र नृपाज्ञया ॥ १२ ॥
बह्वन्नरसपानाढ्याः सभा विदुर कारय ।
गवां निपानान्यन्यच्च विविधं पुण्यकं कुरु ॥ १३ ॥

'विदुरजी ! आप राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे दीनों, अन्धों और कंगालोंके लिये भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्रचुर अन्न, रस और पीनेयोग्य पदार्थोंसे भरी हुई अनेक धर्मशालाएँ बनवाइये तथा गौओंके पानी पीनेके लिये बहुत-से पौंसलोंका निर्माण कीजिये । साथ ही दूसरे भी विविध प्रकारके पुण्य कीजिये ॥ १२-१३ ॥

इति मामब्रवीद् राजा पार्थश्चैव धनंजयः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥

'इस प्रकार राजा युधिष्ठिर और अर्जुनने मुझसे बार-बार कहा है । अब इसके बाद जो कार्य करना हो, उसे आप बताइये' ॥ १४ ॥

इत्युक्ते विदुरेणाथ धृतराष्ट्रोऽभिनन्द्य तान् ।
मनश्चक्रे महादाने कार्तिक्यां जनमेजय ॥ १५ ॥

जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंकी बड़ी प्रशंसा की और कार्तिककी तिथियोंमें बहुत बड़ा दान करनेका निश्चय किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि विदुरवाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें विदुरका वाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रके द्वारा मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध एवं विशाल दान-यज्ञका अनुष्ठान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् राज्ञो जिष्णोश्च कर्मणि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिर और अर्जुनके कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततोऽभिरूपान् भीष्माय ब्राह्मणानृषिसत्तमान् ।
पुत्रार्थे सुहृदश्चैव स समीक्ष्य सहस्रशः ॥ २ ॥
कारयित्वान्नपानानि यानान्याच्छादनानि च ।
सुवर्णमणिरत्नानि दासीदासमजाविकम् ॥ ३ ॥
कम्बलानि च रत्नानि ग्रामान् क्षेत्रं तथा धनम् ।
सालङ्कारान् गजानश्वान् कन्याश्चैव वरस्त्रियः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने भीष्मजी तथा अपने पुत्रोंके श्राद्धके लिये सुयोग्य एवं श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों तथा सहस्रों सुहृदोंको निमन्त्रित किया । निमन्त्रित करके उनके लिये अन्न, पान, सवारी, ओढ़नेके वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास-दासी, भेंड़-बकरे, कम्बल, उत्तम-उत्तम रत्न, ग्राम, खेत, धन, आभूषणोंसे विभूषित हाथी और घोड़े तथा सुन्दरी कन्याएँ एकत्र कीं ॥ २-४ ॥

उद्दिश्योद्दिश्य सर्वेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः ।
द्रोणं संकीर्त्य भीष्मं च सोमदत्तं च बाह्लिकम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक् पृथक् ।
जयद्रथपुरोगांश्च सुहृदश्चापि सर्वशः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् उन नृपश्रेष्ठने सम्पूर्ण मृत व्यक्तियोंके उद्देश्यसे एक-एकका नाम लेकर उपर्युक्त वस्तुओंका दान किया । द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, राजा दुर्योधन तथा अन्य पुत्रोंका और जयद्रथ आदि सभी सगे-सम्बन्धियोंका नामोच्चारण करके उन सबके निमित्त पृथक्-पृथक् दान किया ॥ ५-६ ॥

स श्राद्धयज्ञो ववृते बहुशो धनदक्षिणः ।
अनेकधनरत्नौघो युधिष्ठिरमते तदा ॥ ७ ॥

वह श्राद्धयज्ञ युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बहुत-से धनकी दक्षिणासे सुशोभित हुआ । उसमें नाना प्रकारके धन और रत्नोंकी राशियाँ लुटायी गयीं ॥ ७ ॥

अनिशं यत्र पुरुषा गणका लेखकास्तदा ।
युधिष्ठिरस्य वचनादपृच्छन्त स्म तं नृपम् ॥ ८ ॥
आज्ञापय किमेतेभ्यः प्रदेयं दीयतामिति ।
तदुपस्थितमेवात्र वचनान्ते ददुस्तदा ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे हिसाब लगाने और लिखनेवाले बहुतेरे कार्यकर्ता वहाँ निरन्तर उपस्थित रहकर धृतराष्ट्रसे पूछते रहते थे कि बताइये, इन याचकोंको क्या दिया जाय ? यहाँ सब सामग्री उपस्थित ही है । धृतराष्ट्र ज्यों

ही कहते त्यों ही उतना धन उन याचकोंको वे कर्मचारी दे देते थे ॥ ८-९ ॥

शतदेये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा।
दीयते वचनाद् राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ॥ १० ॥

बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे जहाँ सौ देना था, वहाँ हजार दिया गया और हजारकी जगह दस हजार बाँटा गया है ॥ १० ॥

एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः।
तर्पयामास विप्रांस्तान् वर्षन् सस्यमिवाम्बुदः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार मेघ पानीकी धारा बहाकर खेतीको हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्ररूपी मेघने धनरूपी वारिधाराकी वर्षा करके समस्त ब्राह्मणरूपी खेतीको तृप्त एवं हरी-भरी कर दिया ॥ ११ ॥

ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान् महामते।
अन्नपानरसौघेण प्लावयामास पार्थिवः ॥ १२ ॥

महामते ! तदनन्तर सभी वर्णके लोगोंको भाँति-भाँतिके भोजन और पीनेयोग्य रस प्रदान करके राजाने उन सबको संतुष्ट कर दिया ॥ १२ ॥

स वस्त्रधनरत्नौघो मृदङ्गनिनदो महान्।
गवाश्वमकरावर्तो नानारत्नमहाकरः ॥ १३ ॥
ग्रामाग्रहारद्वीपाढ्यो मणिहेमजलार्णवः।
जगत् सम्प्लावयामास धृतराष्ट्रेडुपोद्धतः ॥ १४ ॥

वह दानयज्ञ एक उमड़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था। वस्त्र, धन और रत्न—ये ही उसके प्रवाह थे। मृदङ्गोंकी ध्वनि उस समुद्रकी गर्जना थी। उसका स्वरूप विशाल था। गाय, बैल और घोड़े उसमें घड़ियालों और भँवरोंके समान जान पड़ते थे। नाना प्रकारके रत्नोंका वह महान् आकर बना हुआ था। दानमें दिये जानेवाले गाँव और माफी भूमि—ये ही उस समुद्रके द्वीप थे। मणि और सुवर्णमय जलसे वह लबालब भरा था और धृतराष्ट्ररूपी पूर्ण चन्द्रमाको देखकर उसमें ज्वार-सा उठ गया था। इस प्रकार उस दान-सिन्धुने सम्पूर्ण जगत्को आप्लावित कर दिया था ॥ १३-१४ ॥

एवं स पुत्रपौत्राणां पितॄणामात्मनस्तथा।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदेहिकम् ॥ १५ ॥

महाराज ! इस प्रकार उन्होंने पुत्रों, पौत्रों और पितरोंका तथा अपना एवं गान्धारीका भी श्राद्ध किया ॥ १५ ॥

परिश्रान्तो यदासीत् स ददद् दानान्यनेकशः।
निवर्तयामास तदा दानयज्ञं नराधिपः ॥ १६ ॥

जब अनेक प्रकारके दान देते-देते राजा धृतराष्ट्र बहुत थक गये, तब उन्होंने उस दान-यज्ञको बंद किया ॥ १६ ॥

एवं स राजा कौरव्य चक्रे दानमहाक्रतुम्।
नटनर्तकलास्याढ्यं बह्वन्नरसदक्षिणम् ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने दान नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें प्रचुर अन्न, रस एवं असंख्य दक्षिणाका दान हुआ। उस उत्सवमें नटों और नर्तकोंके नाच-गानका भी आयोजन किया गया था ॥ १७ ॥

दशाहमेवं दानानि दत्त्वा राजाम्बिकासुतः।
बभूव पुत्रपौत्राणामनृणो भरतर्षभ ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार लगातार दस दिनोंतक दान देकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र पुत्रों और पौत्रोंके ऋण-से मुक्त हो गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि दानयज्ञे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें दानयज्ञ-विषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका वनको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आहूय पाण्डवान् वीरान् वनवासे कृतक्षणः ॥ १ ॥
गान्धारीसहितो धीमानभ्यनन्दद् यथाविधि।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर ग्यारहवें दिन प्रातःकाल गान्धारीसहित बुद्धिमान् अम्बिका-नन्दन धृतराष्ट्रने वनवासकी तैयारी करके वीर पाण्डवोंको बुलाया और उनका यथावत् अभिनन्दन किया ॥ १½ ॥

कार्तिक्यां कारयित्वेष्टिं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २ ॥
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः ॥ ३ ॥

उस दिन कार्तिककी पूर्णिमा थी। उसमें उन्होंने वेदके

पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंसे यात्राकालोचित इष्टि करवाकर वल्कल और मृगचर्म धारण किये और अग्निहोत्रको आगे करके पुत्र-वधुओंसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र राजभवनसे बाहर निकले ॥ २-३ ॥

ततः स्त्रियः कौरवपाण्डवानां
याश्चापराः कौरवराजवंश्याः ।
तासां नादः प्रादुरासीत् तदानीं
वैचित्रवीर्ये नृपतौ प्रयाते ॥ ४ ॥

विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार प्रस्थान करनेपर कौरवों और पाण्डवोंकी स्त्रियाँ तथा कौरवराजवंश-की अन्यान्य महिलाएँ सहसा रो पड़ीं। उनके रोनेका महान् शब्द उस समय सब ओर गूँज उठा था ॥ ४ ॥

ततो लाजैः सुमनोभिश्च राजा
विचित्राभिस्तद् गृहं पूजयित्वा ।
सम्पूज्यार्थैर्भृत्यवर्गं च सर्वं
ततः समुत्सृज्य ययौ नरेन्द्रः ॥ ५ ॥

घरसे निकलकर राजा धृतराष्ट्रने लावा और भाँति-भाँति-के फूलोंसे उस राजभवनकी पूजा की और समस्त सेवकवर्गका धनसे सत्कार करके उन सबको छोड़कर वे महाराज वहाँसे चल दिये ॥ ५ ॥

ततो राजा प्राञ्जलिर्वेपमानो
युधिष्ठिरः सस्वरं बाष्पकण्ठः ।
विमुच्योच्चैर्महानादं हि साधो
क्व यास्यसीत्यपतत् तात भूमौ ॥ ६ ॥

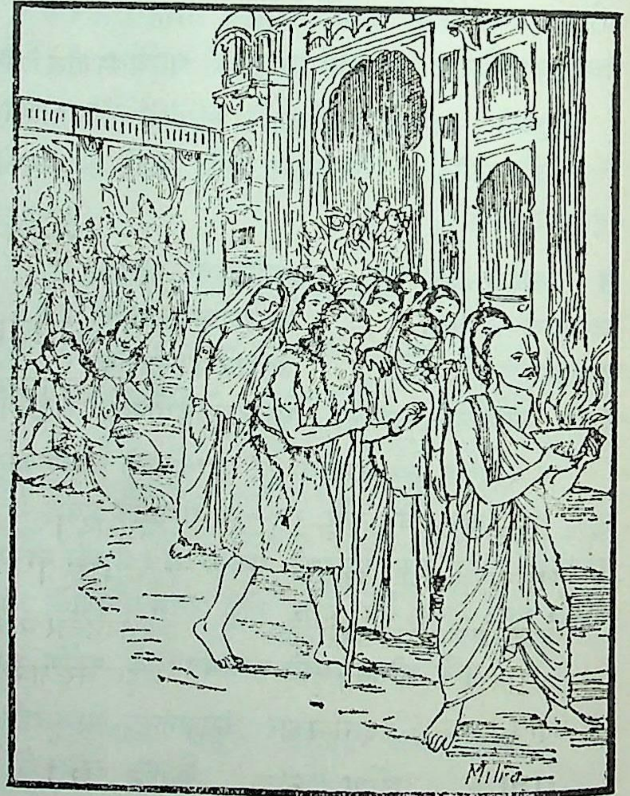
तात ! उस समय राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए काँपने लगे । आँसुओंसे उनका गला भर आया । वे जोर-जोरसे महान् आर्तनाद करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे । और 'महात्मन् ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले जा रहे हैं ।' ऐसा कहते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६ ॥

तथार्जुनस्तीव्रदुःखाभितप्तो
मुहुर्मुहुर्निःश्वसन् भारताग्र्यः ।
युधिष्ठिरं मैवमित्येवमुक्त्वा
निगृह्याथो दीनवत् सीदमानः ॥ ७ ॥

उस समय भरतवंशके अग्रगण्य वीर अर्जुन दुस्सह दुःख-से संतप्त हो बारंबार लंबी साँस खींचते हुए वहाँ युधिष्ठिरसे बोले—'भैया ! आप ऐसे अधीर न हो जाइये ।' यों कहकर वे उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़कर दीनकी भाँति शिथिल होकर बैठ गये ॥ ७ ॥

वृकोदरः फाल्गुनश्चैव वीरौ
माद्रीपुत्रौ विदुरः संजयश्च ।
वैश्यापुत्रः सहितो गौतमेन
धौम्यो विप्राश्चान्वयुर्बाष्पकण्ठाः ॥ ८ ॥
कुन्ती गान्धारीं बद्धनेत्रां व्रजन्तीं
स्कन्धासक्तं हस्तमथोद्वहन्ती ।
राजा गान्धार्याः स्कन्धदेशेऽवसज्य
पाणिं ययौ धृतराष्ट्रः प्रतीतः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिरसहित भीमसेन, अर्जुन, वीर माद्री-कुमार, विदुर, संजय, वैश्यापुत्र युयुत्सु, कृपाचार्य, धौम्य तथा और भी बहुत-से ब्राह्मण आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठ होकर उनके पीछे-पीछे चले । आगे-आगे कुन्ती अपने कंधेपर रक्खे हुए गान्धारीके हाथको पकड़े चल रही थीं । उनके पीछे आँखोंपर पट्टी बाँधे गान्धारी थीं और राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके कंधेपर हाथ रक्खे निश्चिन्ततापूर्वक चले जा रहे थे ॥ ८-९ ॥



तथा कृष्णा द्रौपदी सात्वती च
बालापत्या चोत्तरा कौरवी च ।
चित्राङ्गदा याश्च काश्चित्स्त्रियोऽन्याः
सार्धं राज्ञा प्रस्थितास्ता वधूभिः ॥ १० ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णा, सुभद्रा, गोदमें नन्हा-सा बालक लिये उत्तरा, कौरव्यनागकी पुत्री उलूपी, बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदा तथा अन्य जो कोई भी अन्तःपुरकी स्त्रियाँ थीं; वे सब अपनी बहुओंसहित राजा धृतराष्ट्रके साथ चल पड़ीं ॥ १० ॥

तासां नादो रुदतीनां तदासीद्
राजन् दुःखात् कुररीणामिवोच्चैः ।

ततो निष्पेतुर्ब्राह्मणक्षत्रियाणां
विट्शूद्राणां चैव भार्याः समन्तात् ॥ ११ ॥

राजन्! उस समय वे सब स्त्रियाँ दुःखसे व्याकुल हो कुररियोंके समान उच्चस्वरसे विलाप कर रही थीं। उनके रोनेका कोलाहल सब ओर व्याप्त हो गया था। उसे सुनकर पुरवासी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंकी स्त्रियाँ भी चारों ओरसे घर छोड़कर बाहर निकल आयीं ॥ ११ ॥

तन्निर्याणे दुःखितः पौरवर्गो
गजाह्वये चैव बभूव राजन्।
यथा पूर्वं गच्छतां पाण्डवानां
द्यूते राजन् कौरवाणां सभायाः ॥ १२ ॥

राजन्! जैसे पूर्वकालमें द्यूतक्रीड़ाके समय कौरवसभासे निकलकर वनवासके लिये पाण्डवोंके प्रस्थान करनेपर हस्तिनापुरके नागरिकोंका समुदाय दुःखमें डूब गया था, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके जाते समय भी समस्त पुरवासी शोकसे संतप्त हो उठे थे ॥ १२ ॥

या नापश्यंश्चन्द्रमसं न सूर्यं
रामाः कदाचिदपि तस्मिन् नरेन्द्रे।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे
शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः ॥ १३ ॥

रनिवासकी जिन रमणियोंने कभी बाहर आकर सूर्य और चन्द्रमाको भी नहीं देखा था, वे ही कौरवराज धृतराष्ट्रके महावनके लिये प्रस्थान करते समय शोकसे व्याकुल होकर खुली सड़कपर आ गयी थीं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्याणे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका नगरसे निकलनाविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका पुरवासियोंको लौटाना और पाण्डवोंके अनुरोध करनेपर भी कुन्तीका वनमें जानेसे न रुकना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव।
नारीणां च नराणां च निःस्वनः सुमहानभूत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पृथ्वीनाथ! तदनन्तर महलों और अट्टालिकाओंमें तथा पृथ्वीपर भी रोते हुए नर-नारियोंका महान् कोलाहल छा गया ॥ १ ॥

स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च।
कथंचिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥

सारी सड़क पुरुषों और स्त्रियोंकी भीड़से भरी हुई थी। उसपर चलते हुए बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे। उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और शरीर काँप रहा था ॥ २ ॥

स वर्द्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात्।
विसर्जयामास च तं जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥

राजा धृतराष्ट्र वर्धमान नामक द्वारसे होते हुए हस्तिनापुरसे बाहर निकले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बारंबार आग्रह करके अपने साथ आये हुए जनसमूहको विदा किया ॥ ३ ॥

वनं गन्तुं च विदुरो राज्ञा सह कृतक्षणः।
संजयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥ ४ ॥

विदुर और गवल्गणकुमार महामात्र सूत संजयने राजाके साथ ही वनमें जानेका निश्चय कर लिया था ॥ ४ ॥

कृपं निवर्तयामास युयुत्सुं च महारथम्।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाप्य युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

महाराज धृतराष्ट्रने कृपाचार्य और महारथी युयुत्सुको युधिष्ठिरके हाथों सौंपकर लौटाया ॥ ५ ॥

निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तदा।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निवर्तितुमियेष ह ॥ ६ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर अन्तःपुरकी रानियोंसहित राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर लौट जानेका विचार किया ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीम्।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥ ७ ॥
वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तापस्ये कृतनिश्चयः ॥ ८ ॥

उस समय उन्होंने वनकी ओर जाती हुई अपनी माता-

कुन्तीसे कहा—'रानी मा ! आप अपनी पुत्रवधुओंके साथ लौटिये, नगरको जाइये। मैं राजाके पीछे-पीछे जाऊँगा; क्योंकि ये धर्मात्मा नरेश तपस्याके लिये निश्चय करके वनमें जा रहे हैं, अतः इन्हें जाने दीजिये' ॥ ७-८ ॥

इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना।
जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया तो भी वे गान्धारीका हाथ पकड़े चलती ही गयीं ॥ ९ ॥

कुन्त्युवाच

सहदेवे महाराज माप्रसादं कृथाः कचित्।
एष मामनुरक्तो हि राजंस्त्वां चैव सर्वदा ॥ १० ॥

जाते-जाते ही कुन्तीने कहा—महाराज ! तुम सहदेवपर कभी अप्रसन्न न होना। राजन् ! यह सदा मेरे और तुम्हारे प्रति भक्ति रखता आया है ॥ १० ॥

कर्णं स्मरेथाः सततं संग्रामेष्वपलायिनम्।
अवकीर्णो हि समरे वीरो दुष्प्रज्ञया तदा ॥ ११ ॥

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले अपने भाई कर्णको भी सदा याद रखना, क्योंकि मेरी ही दुर्बुद्धिके कारण वह वीर युद्धमें मारा गया ॥ ११ ॥

आयसं हृदयं नूनं मन्दाया मम पुत्रक।
यत् सूर्यजमपश्यन्त्याः शतधा न विदीर्यते ॥ १२ ॥

बेटा ! मुझ अभागिनीका हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है; तभी तो आज सूर्यनन्दन कर्णको न देखकर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १२ ॥

एवं गते तु किं शक्यं मया कर्तुमरिंदम।
मम दोषोऽयमत्यर्थं ख्यापितो यन्न सूर्यजः ॥ १३ ॥

शत्रुदमन ! ऐसी दशामें मैं क्या कर सकती हूँ। यह मेरा ही महान् दोष है कि मैंने सूर्यपुत्र कर्णका तुमलोगोंको परिचय नहीं दिया ॥ १३ ॥

तन्निमित्तं महाबाहो दानं दद्यास्त्वमुत्तमम्।
सदैव भ्रातृभिः सार्धं सूर्यजस्यारिमर्दन ॥ १४ ॥

महाबाहो ! शत्रुमर्दन ! तुम अपने भाइयोंके साथ सदा ही सूर्यपुत्र कर्णके लिये भी उत्तम दान देते रहना ॥ १४ ॥

द्रौपद्याश्च प्रिये नित्यं स्थातव्यमरिकर्शन।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव नकुलश्च कुरूद्वह ॥ १५ ॥
समाधेयास्त्वया राजंस्त्वय्यद्य कुलधूर्गता।

शत्रुसूदन ! मेरी बहू द्रौपदीका भी सदा प्रिय करते रहना। कुरुश्रेष्ठ ! तुम भीमसेन, अर्जुन और नकुलको भी सदा संतुष्ट रखना। आजसे कुरुकुलका भार तुम्हारे ही ऊपर है ॥ १५½ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम् ॥ १६ ॥
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी।

अब मैं वनमें गान्धारीके साथ शरीरपर मैल एवं कीचड़ धारण किये तपस्विनी बनकर रहूँगी और अपने इन सास-ससुरके चरणोंकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी।
विषादमगमद् धीमान् न च किंचिदुवाच ह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके ऐसा कहनेपर अपने मनको वशमें रखनेवाले धर्मात्मा एवं बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाइयोंसहित बहुत दुखी हुए। वे अपने मुँहसे कुछ न बोले ॥ १७ ॥

मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥ १८ ॥

दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर चिन्ता और शोकमें डूबे हुए धर्मराज युधिष्ठिरने मातासे दीन होकर कहा— ॥ १८ ॥

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'माताजी ! आपने यह क्या निश्चय कर लिया ? आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मैं आपको वनमें जानेकी अनुमति नहीं दे सकता। आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

पुरोद्यतान् पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने।
विदुलाया वचोभिस्त्वं नास्मान् संत्यक्तुमर्हसि ॥ २० ॥

'प्रियदर्शने ! पहले जब हमलोग नगरसे बाहर जानेको उद्यत थे, आपने विदुलाके वचनोंद्वारा हमें क्षत्रियधर्मके पालनके लिये उत्साह दिलाया था। अतः आज हमें त्यागकर जाना आपके लिये उचित नहीं है ॥ २० ॥

निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥ २१ ॥

'पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे आपका विचार सुनकर ही मैंने बहुत-से राजाओंका संहार करके इस राज्यको प्राप्त किया है ॥ २१ ॥

क सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या यच्छ्रुतं मया।
क्षत्रधर्मे स्थितिं चोक्त्वा तस्याश्च्यवितुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'कहाँ आपकी वह बुद्धि और कहाँ आपका यह विचार ! मैंने आपका जो विचार सुना है, उसके अनुसार हमें क्षत्रिय-

धर्ममें स्थित रहनेका उपदेश देकर आप स्वयं उससे गिरना चाहती हैं ॥ २२ ॥

अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषा हीमा यशस्विनि ।
कथं वत्स्यसि दुर्गेषु वनेष्वद्य प्रसीद मे ॥ २३ ॥

'यशस्विनी मा ! भला आप हमको, अपनी इन बहुओंको और इस राज्यको छोड़कर अब उन दुर्गम वनोंमें कैसे रह सकेंगी; अतः हमलोगोंपर कृपा करके यहीं रहिये' ॥ २३ ॥

इति बाष्पकला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
सा जगामाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रके ये अश्रुगद्गद वचन सुनकर कुन्तीके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये तो भी वे रुक न सकीं । आगे बढ़ती ही गयीं । तब भीमसेनने उनसे कहा— ॥ २४ ॥

यदा राज्यमिदं कुन्ति भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥ २५ ॥

'माताजी ! जब पुत्रोंके जीते हुए इस राज्यके भोगनेका अवसर आया और राजधर्मके पालनकी सुविधा प्राप्त हुई, तब आपको ऐसी बुद्धि कैसे हो गयी ? ॥ २५ ॥

किं वयं कारिताः पूर्वं भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥ २६ ॥

'यदि ऐसा ही करना था तो आपने इस भूमण्डलका विनाश क्यों करवाया ? क्या कारण है कि आप हमें छोड़कर वनमें जाना चाहती हैं ? ॥ २६ ॥

वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥ २७ ॥

'जब आपको वनमें ही जाना था, तब आप हमको और दुःख-शोकमें डूबे हुए उन माद्रीकुमारोंको बाल्यावस्थामें वनसे नगरमें क्यों ले आयीं ? ॥ २७ ॥

प्रसीद मातर्मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं मातर्भुङ्क्ष्व तावद् बलार्जिताम् ॥ २८ ॥

'मेरी यशस्विनी मा ! आप प्रसन्न हों । आप हमें छोड़कर वनमें न जायँ । बलपूर्वक प्राप्त की हुई राजा युधिष्ठिरकी उस राजलक्ष्मीका उपभोग करें' ॥ २८ ॥

इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनी ।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद् वचः ॥ २९ ॥

शुद्ध हृदयवाली कुन्ती देवी वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं; अतः नाना प्रकारसे विलाप करते हुए अपने पुत्रोंका अनुरोध उन्होंने नहीं माना ॥ २९ ॥

द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा ।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥ ३० ॥

सासको इस प्रकार वनवासके लिये जाती देख द्रौपदीके मुखपर भी विषाद छा गया । वह सुभद्राके साथ रोती हुई स्वयं भी कुन्तीके पीछे-पीछे जाने लगी ॥ ३० ॥

सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती ।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥ ३१ ॥

कुन्तीकी बुद्धि विशाल थी । वे वनवासका पक्का निश्चय कर चुकी थीं; इसलिये अपने रोते हुए समस्त पुत्रोंकी ओर बार-बार देखती हुई वे आगे बढ़ती ही चली गयीं ॥ ३१ ॥

अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरास्तथा ।
ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान् वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

पाण्डव भी अपने सेवकों और अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ उनके पीछे-पीछे जाने लगे । तब उन्होंने आँसू पोंछकर अपने पुत्रोंसे इस प्रकार कहा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवनप्रस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें कुन्तीका वनको प्रस्थानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंको उनके अनुरोधका उत्तर

कुन्त्युवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु पाण्डुनन्दन ! तुम जैसा कहते हो, वही ठीक है । राजाओ ! पूर्वकालमें तुम नाना प्रकारके कष्ट उठाकर शिथिल हो गये थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ १ ॥

द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥ २ ॥

जूएमें तुम्हारा राज्य छीन लिया गया था । तुम सुखसे भ्रष्ट हो चुके थे और तुम्हारे ही बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार करते थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साह प्रदान किया था ॥ २ ॥

कथं पाण्डोर्न नश्येत संततिः पुरुषर्षभाः।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषो ! मैं चाहती थी कि पाण्डुकी संतान किसी तरह नष्ट न हो और तुम्हारे यशका भी नाश न होने पाये। इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ ३ ॥

यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येवं तत् कृतं मया ॥ ४ ॥

तुम सब लोग इन्द्रके समान शक्तिशाली और देवताओंके तुल्य पराक्रमी होकर जीविकाके लिये दूसरोंका मुँह न देखो, इसलिये मैंने वह सब किया था ॥ ४ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठो राजा त्वं वासवोपमः।
पुनर्वने न दुःखी स्या इति चोद्धर्षणं कृतम्॥ ५ ॥

तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली राजा होकर पुनः वनवासका कष्ट न भोगो, इसी उद्देश्यसे मैंने तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित किया था ॥ ५ ॥

नागायुतसमप्राणः ख्यातविक्रमपौरुषः।
नायं भीमोऽत्ययं गच्छेदिति चोद्धर्षणं कृतम्॥ ६ ॥

ये दस हजार हाथियोंके समान बलशाली और विख्यात बल-पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेन पराजयको न प्राप्त हों; इसीलिये मैंने युद्धके हेतु उत्साह दिलाया था ॥ ६ ॥

भीमसेनादवरजस्तथायं वासवोपमः।
विजयो नावसीदेत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ७ ॥

भीमसेनके छोटे भाई ये इन्द्रतुल्य पराक्रमी विजयशील अर्जुन शिथिल होकर न बैठ जायँ, इसीलिये मैंने उत्साह दिलाया था ॥ ७ ॥

नकुलः सहदेवश्च तथेमौ गुरुवर्तिनौ।
क्षुधा कथं न सीदेतामिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ८ ॥

गुरुजनोंकी आज्ञाके पालनमें लगे रहनेवाले ये दोनों भाई नकुल और सहदेव भूखका कष्ट न उठावें, इसके लिये मैंने तुम्हें उत्साह दिलाया था ॥ ८ ॥

इयं च बृहती श्यामा तथात्यायतलोचना।
वृथा सभातले क्लिष्टा मा भूदिति च तत् कृतम् ॥ ९ ॥

यह ऊँचे कदवाली श्यामवर्णा विशाललोचना मेरी बहू भरी सभामें पुनः व्यर्थ अपमानित होनेका कष्ट न भोगे, इसी उद्देश्यसे मैंने वह सब किया था ॥ ९ ॥

प्रेक्षतामेव वो भीम वेपन्तीं कदलीमिव।
स्त्रीधर्मिणीमरिष्टाङ्गीं तथा द्यूतपराजिताम् ॥ १० ॥
दुःशासनो यदा मौर्ख्याद् दासीवत् पर्यकर्षत।
तदैव विदितं मह्यं पराभूतमिदं कुलम् ॥ ११ ॥

भीमसेन ! तुम सब लोगोंके देखते-देखते केलेके पत्तेकी तरह काँपती हुई, जूएमें हारी गयी, रजस्वला और निर्दोष अङ्गवाली द्रौपदीको दुःशासनने मूर्खतावश जब दासीकी भाँति घसीटा था, तभी मुझे मालूम हो गया था कि अब इस कुलका पराभव होकर ही रहेगा ॥ १०-११ ॥

निषण्णाः कुरवश्चैव तदा मे श्वशुरादयः।
सा दैवं नाथमिच्छन्ती व्यलपत् कुररी यथा ॥ १२ ॥

मेरे श्वशुर आदि समस्त कौरव चुपचाप बैठे थे और द्रौपदी अपने लिये रक्षक चाहती हुई भगवान्‌को पुकार-पुकारकर कुररीकी भाँति विलाप कर रही थी ॥ १२ ॥

केशपक्षे परामृष्टा पापेन हतबुद्धिना।
यदा दुःशासनेनैषा तदा मुह्याम्यहं नृपाः ॥ १३ ॥
युष्मत्तेजोविवृद्ध्यर्थं मया ह्युद्धर्षणं कृतम्।
तदानीं विदुलावाक्यैरिति तद् वित्त पुत्रकाः ॥ १४ ॥

राजाओ ! जिसकी बुद्धि मारी गयी थी, उस पापी दुःशासनने जब मेरी इस बहूका केश पकड़कर खींचा था, तभी मैं दुःखसे मोहित हो गयी थी। यही कारण था कि उस समय विदुलाके वचनोंद्वारा मैंने तुम्हारे तेजकी वृद्धिके लिये उत्साहवर्धन किया था। पुत्रो ! इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ १३-१४ ॥

कथं न राजवंशोऽयं नश्येत् प्राप्य सुतान् मम।
पाण्डोरिति मया पुत्रास्तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ॥ १५ ॥

मेरे और पाण्डुके पुत्रोंतक पहुँचकर यह राजवंश किसी तरह नष्ट न हो जाय; इसीलिये मैंने तुम्हारे उत्साहकी वृद्धि की थी ॥ १५ ॥

न तस्य पुत्राः पौत्रा वा क्षतवंशस्य पार्थिव।
लभन्ते सुकृताँल्लोकान् यस्माद् वंशः प्रणश्यति॥ १६ ॥

राजन् ! जिसका वंश नष्ट हो जाता है, उस कुलके पुत्र या पौत्र कभी पुण्यलोक नहीं पाते; क्योंकि उस वंशका तो नाश ही हो जाता है ॥ १६ ॥

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ॥ १७॥

पुत्रो ! मैंने पूर्वकालमें अपने स्वामी महाराज पाण्डुके विशाल राज्यका सुख भोग लिया है, बड़े-बड़े दान दिये हैं और यज्ञमें विधिपूर्वक सोमपान भी किया है ॥ १७ ॥

नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम्।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत् कृतम् ॥ १८ ॥

मैंने अपने लाभके लिये श्रीकृष्णको प्रेरित नहीं किया था। विदुलाके वचन सुनाकर जो उनके द्वारा तुम्हारे पास संदेश भेजा था, वह सब तुमलोगोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही किया था ॥ १८ ॥

नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम्।
पतिलोकानहं पुण्यान् कामये तपसा विभो ॥ १९॥

पुत्रो! मैं पुत्रके जीते हुए राज्यका फल भोगना नहीं चाहती। प्रभो! मैं तपस्याद्वारा पुण्यमय पतिलोकोंमें जानेकी कामना रखती हूँ॥ १९॥

श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम्॥ २०॥

युधिष्ठिर! अब मैं अपने इन वनवासी सास ससुरकी सेवा करके तपके द्वारा इस शरीरको सुखा डालूँगी॥ २०॥

निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च॥ २१॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम भीमसेन आदिके साथ लौट जाओ। तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी रहे और तुम्हारा हृदय विशाल (अत्यन्त उदार) हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें कुन्तीका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

पाण्डवोंका स्त्रियोंसहित निराश लौटना, कुन्तीसहित गान्धारी और धृतराष्ट्र आदिका मार्गमें गङ्गातटपर निवास करना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहितानघाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! कुन्तीकी बात सुनकर निष्पाप पाण्डव बहुत लज्जित हुए और द्रौपदीके साथ वहाँसे लौटने लगे॥ १॥

ततः शब्दो महानेव सर्वेषामभवत् तदा।
अन्तःपुराणां रुदतां दृष्ट्वा कुन्तीं तथागताम्॥ २॥
प्रदक्षिणमथावृत्य राजानं पाण्डवास्तदा।
अभिवाद्य न्यवर्तन्त पृथां तामनिवर्त्य वै॥ ३॥

कुन्तीको इस प्रकार वनवासके लिये उद्यत देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ रोने लगीं। उन सबके रोनेका महान् शब्द सब ओर गूँज उठा। उस समय पाण्डव कुन्तीको लौटानेमें सफल न हो राजा धृतराष्ट्रकी परिक्रमा और अभिवादन करके लौटने लगे॥ २-३॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
गान्धारीं विदुरं चैव समाभाष्यावगृह्य च॥ ४॥

तब महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने गान्धारी और विदुरको सम्बोधित करके उनका हाथ पकड़कर कहा—॥ ४॥

युधिष्ठिरस्य जननी देवी साधु निवर्त्यताम्।
यथा युधिष्ठिरः प्राह तत् सर्वं सत्यमेव हि॥ ५॥

'गान्धारी और विदुर! तुमलोग युधिष्ठिरकी माता कुन्तीदेवीको अच्छी तरह समझा-बुझाकर लौटा दो। युधिष्ठिर जैसा कह रहे हैं, वह सब ठीक ही है॥ ५॥

पुत्रैश्वर्यं महदिदमपास्य च महाफलम्।
का नु गच्छेद् वनं दुर्गं पुत्रानुत्सृज्य मूढवत्॥ ६॥

'पुत्रोंका महान् फलदायक यह महान् ऐश्वर्य छोड़कर और पुत्रोंका त्याग करके कौन नारी मूढ़की भाँति दुर्गम वनमें जायगी?॥ ६॥

राज्यस्थया तपस्तप्तुं कर्तुं दानव्रतं महत्।
अनया शक्यमेवाद्य श्रूयतां च वचो मम॥ ७॥

'यह राज्यमें रहकर भी तपस्या कर सकती है और महान् दान-व्रतका अनुष्ठान करनेमें समर्थ हो सकती है; अतः यह आज मेरी बात ध्यान देकर सुने॥ ७॥

गान्धारि परितुष्टोऽस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै।
तस्मात् त्वमेनां धर्मज्ञे समनुज्ञातुमर्हसि॥ ८॥

'धर्मको जाननेवाली गान्धारी! मैं बहू कुन्तीकी सेवा शुश्रूषासे बहुत संतुष्ट हूँ; अतः आज तुम इसे घर लौटनेकी आज्ञा दे दो'॥ ८॥

इत्युक्ता सौबलेयी तु राज्ञा कुन्तीमुवाच ह।
तत् सर्वं राजवचनं स्वं च वाक्यं विशेषवत्॥ ९॥

राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर सुबलकुमारी गान्धारीने कुन्तीसे राजाकी आज्ञा कह सुनायी और अपनी ओरसे भी उन्हें लौटनेके लिये विशेष जोर दिया॥ ९॥

न च सा वनवासाय देवी कृतमतिं तदा।
शक्नोत्युपावर्तयितुं कुन्तीं धर्मपरां सतीम्॥ १०॥

परंतु धर्मपरायणा सती-साध्वी कुन्तीदेवी वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं; अतः गान्धारी देवी उन्हें घरकी ओर लौटा न सकीं॥ १०॥

तस्यास्तां तु स्थितिं ज्ञात्वा व्यवसायं कुरुस्त्रियः ।
निवृत्तांश्च कुरुश्रेष्ठान् दृष्ट्वा प्ररुरुदुस्तदा ॥ ११ ॥

कुन्तीकी यह स्थिति और वनमें रहनेका दृढ़ निश्चय जान कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको निराश लौटते देख कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ११ ॥

उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च ।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ॥ १२ ॥

कुन्तीके सभी पुत्र और सारी बहुएँ जब लौट गयीं, तब महाज्ञानी राजा धृतराष्ट्र वनकी ओर चले ॥ १२ ॥

पाण्डवाश्चातिदीनास्ते दुःखशोकपरायणाः ।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ १३ ॥

उस समय पाण्डव अत्यन्त दीन और दुःख-शोकमें मग्न हो रहे थे । उन्होंने वाहनोंपर बैठकर स्त्रियोंसहित नगरमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥

तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥ १४ ॥

उस दिन बालक, वृद्ध और स्त्रियोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्ष और आनन्दसे रहित तथा उत्सवशून्य-सा हो रहा था ॥ १४ ॥

सर्वे चासन् निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः ।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ॥ १५ ॥

समस्त पाण्डवोंका उत्साह नष्ट हो गया था । वे दीन एवं दुखी हो गये थे । कुन्तीसे बिछुड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वे बिना गायके बछड़ोंके समान व्याकुल हो गये थे ॥

धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम् ।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत् प्रभुः ॥ १६ ॥

उधर राजा धृतराष्ट्रने उस दिन बहुत दूरतक यात्रा करके संध्याके समय गङ्गाके तटपर निवास किया ॥ १६ ॥

प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः ।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोवने ॥ १७ ॥

वहाँके तपोवनमें वेदोंके पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने जहाँ-तहाँ विधिपूर्वक जो आग प्रकट करके प्रज्वलित की थी, वह बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १७ ॥

प्रादुष्कृताग्निरभवत् स च वृद्धो नराधिपः ।
स राजाग्नीन् पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत् तदा ॥१८॥
संध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत ।

भरतनन्दन ! फिर बूढ़े राजा धृतराष्ट्रने भी अग्निको प्रकट एवं प्रज्वलित किया । त्रिविध अग्नियोंकी उपासना करके उनमें विधिपूर्वक आहुति दे राजाने संध्याकालिक सूर्यदेवका उपस्थान किया ॥ १८½ ॥

विदुरः संजयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः ॥ १९ ॥
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः ।

तदनन्तर विदुर और संजयने कुरुप्रवीर राजा धृतराष्ट्रके लिये कुशोंकी शय्या बिछा दी । उनके पास ही गान्धारीके लिये एक पृथक् आसन लगा दिया ॥१९½॥

गान्धार्याः संनिकर्षे तु निषसाद कुशे सुखम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता ।

गान्धारीके निकट ही उत्तम व्रतमें स्थित हुई युधिष्ठिरकी माता कुन्ती भी कुशासनपर सोयीं और उसीमें उन्होंने सुख माना ॥ २०½ ॥

तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः ॥ २१ ॥
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः ।

विदुर आदि भी राजासे उतनी ही दूरपर सोये, जहाँसे उनकी बोली सुनायी दे सके । यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तथा राजाके साथ आये हुए अन्य द्विज यथायोग्य स्थानपर सोये ॥

प्राधीतद्विजमुख्या सा सम्प्रज्वलितपावका ॥ २२ ॥
बभूव तेषां रजनी ब्राह्मीव प्रीतिवर्धिनी ।

उस रातमें मुख्य-मुख्य ब्राह्मण स्वाध्याय करते थे और जहाँ-तहाँ अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी । इससे वह रजनी उन लोगोंके लिये ब्राह्मी निशाके समान आनन्द बढ़ानेवाली हो रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ॥ २३ ॥
हुत्वाग्निं विधिवत् सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम् ।
उदङ्मुखा निरीक्षन्त उपवासपरायणाः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् रात बीतनेपर पूर्वाह्णकालकी क्रिया पूरी करके विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देनेके पश्चात् वे सब लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे । उन सबने रात्रिमें उपवास किया था और सभी उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके उधर ही देखते हुए चले जा रहे थे ॥ २३-२४ ॥

स तेषामतिदुःखोऽभून्निवासः प्रथमेऽहनि ।
शोचतां शोच्यमानानां पौरजानपदैर्जनैः ॥ २५ ॥

नगर और जनपदके लोग जिनके लिये शोक कर रहे थे तथा जो स्वयं भी शोकमग्न थे, उन धृतराष्ट्र आदिके लिये यह पहले दिनका निवास बड़ा ही दुःखदायी प्रतीत हुआ ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिका गङ्गातटपर निवास करके वहाँसे कुरुक्षेत्रमें जाना और शतयूपके आश्रमपर निवास करना

वैशम्पायन उवाच

ततो भागीरथीतीरे मेध्ये पुण्यजनोचिते।
निवासमकरोद् राजा विदुरस्य मते स्थितः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दूसरा दिन व्यतीत होनेपर राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीकी बात मानकर पुण्यात्मा पुरुषोंके रहनेयोग्य भागीरथीके पावन-तटपर निवास किया॥ १॥

तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् ब्राह्मणा वनवासिनः।
क्षत्रविट्शूद्रसंघाश्च बहवो भरतर्षभ॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ वनवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बहुत बड़ी संख्यामें एकत्र होकर राजासे मिलनेको आये॥ २॥

स तैः परिवृतो राजा कथाभिः परिनन्द्य तान्।
अनुजज्ञे सशिष्यान् वै विधिवत् प्रतिपूज्य च॥ ३॥

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्रने अनेक प्रकारकी बातें करके सबको प्रसन्न किया और शिष्योंसहित ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करके उन्हें जानेकी अनुमति दी॥ ३॥

सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य च।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी॥ ४॥

तत्पश्चात् सायंकालमें राजा तथा यशस्विनी गान्धारी-देवीने गङ्गाजीके जलमें प्रवेश करके विधिपूर्वक स्नान-कार्य सम्पन्न किया॥ ४॥

ते चैवान्ये पृथक् सर्वे तीर्थेष्वाप्लुत्य भारत।
चक्रुः सर्वाः क्रियास्तत्र पुरुषा विदुरादयः॥ ५॥

भरतनन्दन! वे तथा विदुर आदि पुरुषवर्गके लोग सबने पृथक्-पृथक् घाटोंमें गोता लगाकर संध्योपासन आदि समस्त शुभ कार्य पूर्ण किये॥ ५॥

कृतशौचं ततो वृद्धं श्वशुरं कुन्तिभोजजा।
गान्धारीं च पृथा राजन् गङ्गातीरमुपानयत्॥ ६॥

राजन्! स्नानादि कर लेनेके पश्चात् अपने बूढ़े श्वशुर धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवीको कुन्तीदेवी गङ्गाके किनारे ले आयीं॥ ६॥

राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसङ्गरः॥ ७॥

वहाँ यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंने राजाके लिये एक वेदी तैयार की, जिसपर अग्नि-स्थापना करके उस सत्यप्रतिज्ञ नरेशने विधिवत् अग्निहोत्र किया॥ ७॥

ततो भागीरथीतीरात् कुरुक्षेत्रं जगाम सः।
सानुगो नृपतिर्वृद्धो नियतः संयतेन्द्रियः॥ ८॥

इस प्रकार नित्यकर्मसे निवृत्त हो बूढ़े राजा धृतराष्ट्र इन्द्रियसंयमपूर्वक नियमपरायण हो सेवकोंसहित गङ्गातटसे चलकर कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे॥ ८॥

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः।
आससादाथ राजर्षिं शतयूपं मनीषिणम्॥ ९॥

वहाँ बुद्धिमान् भूपाल एक आश्रमपर जाकर वहाँके मनीषी राजर्षि शतयूपसे मिले॥ ९॥

स हि राजा महानासीत् केकयेषु परंतपः।
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत्॥ १०॥

वे परंतप राजा शतयूप कभी केकय देशके महाराज थे। अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर वनमें चले आये थे॥ १०॥

तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति।
तत्रैनं विधिवद् राजा प्रत्यगृह्णात् कुरूद्वहः॥ ११॥

राजा धृतराष्ट्र उन्हें साथ लेकर व्यास-आश्रमपर गये। वहाँ कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने विधिपूर्वक व्यासजीकी पूजा की॥ ११॥

स दीक्षां तत्र सम्प्राप्य राजा कौरवनन्दनः।
शतयूपाश्रमे तस्मिन् निवासमकरोत् तदा॥ १२॥

तत्पश्चात् उन्हींसे वनवासकी दीक्षा लेकर कौरवनन्दन राजा धृतराष्ट्र पूर्वोक्त शतयूपके आश्रममें लौट आये और वहीं निवास करने लगे॥ १२॥

तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाऽऽचख्यौ महामतिः।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा॥ १३॥

महाराज! वहाँ परम बुद्धिमान् राजा शतयूपने व्यासजीकी आज्ञासे धृतराष्ट्रको वनमें रहनेकी सम्पूर्ण विधि बतला दी॥ १३॥

एवं स तपसा राजन् धृतराष्ट्रो महामनाः।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा॥ १४॥

राजन्! इस प्रकार महामनस्वी राजा धृतराष्ट्रने अपने आपको तथा साथ आये हुए लोगोंको भी तपस्यामें लगा दिया॥ १४॥

तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनधारिणी।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी॥ १५॥

महाराज ! इसी प्रकार वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाली गान्धारीदेवी भी कुन्तीके साथ रहकर धृतराष्ट्रके समान ही व्रतका पालन करने लगीं ॥ १५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप।
संनियम्येन्द्रियग्राममास्थिते परमं तपः ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! वे दोनों नारियाँ इन्द्रियोंको अपने अधीन करके मन, वाणी, कर्म तथा नेत्रोंके द्वारा भी उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो
जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार
महर्षिवत्तीव्रमपेतमोहः ॥ १७ ॥

राजा धृतराष्ट्रके शरीरका मांस सूख गया। वे अस्थिचर्मावशिष्ट होकर मस्तकपर जटा और शरीरपर मृगछाला एवं वल्कल धारण किये महर्षियोंकी भाँति तीव्र तपस्यामें प्रवृत्त हो गये। उनके चित्तका सम्पूर्ण मोह दूर हो गया था ॥ १७ ॥

क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः
ससंजयस्तं नृपतिं सदारम्।
उपाचरद् घोरतपो जितात्मा
तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥ १८ ॥

धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उत्तम बुद्धिवाले विदुरजी भी संजयसहित वल्कल और चीरवस्त्र धारण किये गान्धारी और धृतराष्ट्रकी सेवा करने लगे। वे मनको वशमें करके अपने दुर्बल शरीरसे घोर तपस्यामें संलग्न रहते थे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि शतयूपाश्रमनिवासे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें धृतराष्ट्रका शतयूपके आश्रमपर निवासविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

नारदजीका प्राचीन राजर्षियोंकी तपःसिद्धिका दृष्टान्त देकर धृतराष्ट्रकी तपस्याविषयक श्रद्धाको बढ़ाना तथा शतयूपके पूछनेपर धृतराष्ट्रको मिलनेवाली गतिका भी वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र मुनिश्रेष्ठा राजानं द्रष्टुमभ्ययुः।
नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ॥ १ ॥
द्वैपायनः सशिष्यश्च सिद्धाश्चान्ये मनीषिणः।
शतयूपश्च राजर्षिर्वृद्धः परमधार्मिकः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वहाँ राजा धृतराष्ट्रसे मिलनेके लिये नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, शिष्योंसहित महर्षि व्यास तथा अन्यान्य सिद्ध, मनीषी, श्रेष्ठ मुनिगण आये। उनके साथ परम धर्मात्मा वृद्ध राजर्षि शतयूप भी पधारे थे ॥ १-२ ॥

तेषां कुन्ती महाराज पूजां चक्रे यथाविधि।
ते चापि तुतुषुस्तस्यास्तापसाः परिचर्यया ॥ ३ ॥

महाराज ! कुन्तीदेवीने उन सबकी यथायोग्य पूजा की। वे तपस्वी ऋषि भी कुन्तीकी सेवासे बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३ ॥

तत्र धर्म्याः कथास्तात चक्रुस्ते परमर्षयः।
रमयन्तो महात्मानं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ४ ॥

तात ! वहाँ उन महर्षियोंने महात्मा राजा धृतराष्ट्रका मन लगानेके लिये अनेक प्रकारकी धार्मिक कथाएँ कहीं ॥ ४ ॥

कथान्तरे तु कस्मिंश्चिद् देवर्षिर्नारदस्ततः।
कथामिमामकथयत् सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ५ ॥

सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले देवर्षि नारदने किसी कथाके प्रसंगमें यह कथा कहनी आरम्भ की ॥ ५ ॥

नारद उवाच

केकयाधिपतिः श्रीमान् राजाऽऽसीदकुतोभयः।
सहस्रचित्य इत्युक्तः शतयूपपितामहः ॥ ६ ॥

नारदजी बोले—राजन् ! पूर्वकालमें सहस्रचित्य नामसे प्रसिद्ध एक तेजस्वी राजा थे, जो केकयदेशकी प्रजाका पालन करते थे। उन्हें कभी किसीसे भय नहीं होता था। यहाँ जो ये राजर्षि शतयूप विराज रहे हैं, इनके वे पितामह थे ॥ ६ ॥

स पुत्रे राज्यमासज्य ज्येष्ठे परमधार्मिके।
सहस्रचित्यो धर्मात्मा प्रविवेश वनं नृपः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा राजा सहस्रचित्य अपने परम धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्रको राज्यका भार सौंपकर तपस्याके लिये इसी वनमें प्रविष्ट हुए ॥ ७ ॥

स गत्वा तपसः पारं दीप्तस्य वसुधाधिपः।
पुरंदरस्य संस्थानं प्रतिपेदे महाद्युतिः ॥ ८ ॥

वे महातेजस्वी भूपाल अपनी उद्दीप्त तपस्या पूरी करके इन्द्रलोकको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

दृष्टपूर्वः स बहुशो राजन् सम्पतता मया।
महेन्द्रसदने राजा तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ९ ॥

तपस्यासे उनके सारे पाप भस्म हो गये थे। राजन्! इन्द्रलोकमें आते-जाते समय मैंने उन राजर्षिको अनेक बार देखा है ॥ ९ ॥

तथा शैलालयो राजा भगदत्तपितामहः।
तपोबलेनैव नृपो महेन्द्रसदनं गतः ॥ १० ॥

इसी प्रकार भगदत्तके पितामह राजा शैलालय भी तपस्याके बलसे ही इन्द्रलोकको गये हैं ॥ १० ॥

तथा पृषध्रो राजाऽऽसीद् राजन् वज्रधरोपमः।
स चापि तपसा लेभे नाकपृष्ठमितो गतः ॥ ११ ॥

महाराज! राजा पृषध्र वज्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उन्होंने भी तपस्याके बलसे इस लोकसे जानेपर स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ११ ॥

अस्मिन्नरण्ये नृपते मान्धातुरपि चात्मजः।
पुरुकुत्सो नृपः सिद्धिं महतीं समवाप्तवान् ॥ १२ ॥
भार्या समभवद् यस्य नर्मदा सरितां वरा।
सोऽस्मिन्नरण्ये नृपतिस्तपस्तप्त्वा दिवं गतः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मान्धाताके पुत्र पुरुकुत्सने भी, सरिताओंमें श्रेष्ठ नर्मदा जिनकी पत्नी हुई थी, इसी वनमें तपस्या करके बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त की थी। वहीं तपस्या करके वे नरेश स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १२-१३ ॥

शशलोमा च राजाऽऽसीद् राजन् परमधार्मिकः।
सम्यगस्मिन् वने तप्त्वा ततो दिवमवाप्तवान् ॥ १४ ॥

राजन्! परम धर्मात्मा राजा शशलोमाने भी इसी वनमें उत्तम तपस्या करके स्वर्ग प्राप्त किया था ॥ १४ ॥

द्वैपायनप्रसादाच्च त्वमपीदं तपोवनम्।
राजन्नवाप्य दुष्प्रापां गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ १५ ॥

नरेश्वर! व्यासजीकी कृपासे तुम भी इसी तपोवनमें आ पहुँचे हो। अब यहाँ तपस्या करके दुर्लभ सिद्धिका आश्रय ले श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लोगे ॥ १५ ॥

त्वं चापि राजशार्दूल तपसोऽन्ते श्रिया वृतः।
गान्धारीसहितो गन्ता गतिं तेषां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ! तुम भी तपस्याके अन्तमें तेजसे सम्पन्न हो गान्धारीके साथ उन्हीं महात्माओंकी गति प्राप्त करोगे ॥ १६ ॥

पाण्डुः स्मरति ते नित्यं बलहन्तुः समीपगः।
त्वां सदैव महाराज श्रेयसा स च योक्ष्यति ॥ १७ ॥

महाराज! तुम्हारे छोटे भाई पाण्डु इन्द्रके पास ही रहते हैं। वे सदा तुम्हें याद करते रहते हैं। निश्चय ही वे तुम्हें कल्याणके भागी बनायेंगे ॥ १७ ॥

तव शुश्रूषया चैव गान्धार्याश्च यशस्विनी।
भर्तुः सलोकतामेषा गमिष्यति वधूस्तव ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्य जननी स हि धर्मः सनातनः।

तुम्हारी और गान्धारीदेवीकी सेवा करनेसे यह तुम्हारी यशस्विनी बहू युधिष्ठिरजननी कुन्ती अपने पतिके लोकमें पहुँच जायगी। युधिष्ठिर साक्षात् सनातन धर्मस्वरूप हैं (अतः उनकी माता कुन्तीकी सद्गतिमें कोई संदेह ही नहीं है) ॥ १८½ ॥

वयमेतत् प्रपश्यामो नृपते दिव्यचक्षुषा ॥ १९ ॥
प्रवेक्ष्यति महात्मानं विदुरश्च युधिष्ठिरम्।
संजयस्तदनुध्यानादितः स्वर्गमवाप्स्यति ॥ २० ॥

नरेश्वर! यह सब हम अपनी दिव्य दृष्टिसे देख रहे हैं। विदुर महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश करेंगे और संजय उन्हींका चिन्तन करनेके कारण यहाँसे सीधे स्वर्गको जायँगे ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा कौरवेन्द्रो महात्मा
सार्धं पत्न्या प्रीतिमान् सम्बभूव।
विद्वान् वाक्यं नारदस्य प्रशस्य
चक्रे पूजां चातुलां नारदाय ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर महात्मा कौरवराज धृतराष्ट्र अपनी पत्नीके साथ बहुत प्रसन्न हुए। उन विद्वान् नरेशने नारदजीके वचनोंकी प्रशंसा करके उनकी अनुपम पूजा की ॥ २१ ॥

ततः सर्वे नारदं विप्रसंघाः
सम्पूजयामासुरतीव राजन्।
राज्ञः प्रीत्या धृतराष्ट्रस्य ते वै
पुनः पुनः सम्प्रहृष्टास्तदानीम् ॥ २२ ॥

राजन्! तदनन्तर समस्त ब्राह्मण-समुदायने नारदजीका विशेष पूजन किया। राजा धृतराष्ट्रकी प्रसन्नतासे उस समय उन सब लोगोंको बारंबार हर्ष हो रहा था ॥ २२ ॥

नारदस्य तु तद् वाक्यं शशंसुर्द्विजसत्तमाः।
शतयूपस्तु राजर्षिर्नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नारदजीके पूर्वोक्त वचनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् राजर्षि शतयूपने नारदजीसे इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

अहो भगवता श्रद्धा कुरुराजस्य वर्धिता।
सर्वस्य च जनस्यास्य मम चैव महाद्युते ॥ २४ ॥

'महातेजस्वी देवर्षे! बड़े हर्षकी बात है कि आपने कुरुराज धृतराष्ट्रकी, यहाँ आये हुए सब लोगोंकी और

मेरी भी तपस्याविषयक श्रद्धाको अधिक बढ़ा दिया है ॥ २४ ॥

अस्ति काचिद् विवक्षा तु तां मे निगदतः शृणु ।
धृतराष्ट्रं प्रति नृपं देवर्षे लोकपूजित ॥ २५ ॥

'लोकपूजित देवर्षे ! राजा धृतराष्ट्रके विषयमें मुझे कुछ कहने या पूछनेकी इच्छा हो रही है । अपनी उस इच्छाको मैं बता रहा हूँ, सुनिये ॥ २५ ॥

सर्ववृत्तान्ततत्त्वज्ञो भवान् दिव्येन चक्षुषा ।
युक्तः पश्यसि विप्रर्षे गतीर्या विविधा नृणाम् ॥ २६ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सम्पूर्ण वृत्तान्तोंके तत्त्वज्ञ हैं । आप योगयुक्त होकर अपनी दिव्य दृष्टिसे मनुष्योंको जो नाना प्रकारकी गति प्राप्त होती है, उसे प्रत्यक्ष देखते हैं ॥ २६ ॥

उक्तवान् नृपतीनां त्वं महेन्द्रस्य सलोकताम् ।
न त्वस्य नृपतेर्लोकाः कथितास्ते महामुने ॥ २७ ॥

'महामुने ! आपने अनेक राजाओंकी इन्द्रलोकप्राप्तिका वर्णन किया; किंतु यह नहीं बताया कि ये राजा धृतराष्ट्र किस लोकको जायँगे ॥ २७ ॥

स्थानमप्यस्य नृपतेः श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
त्वत्तः कीदृक् कदा चेति तन्ममाख्याहि तत्त्वतः ॥ २८ ॥

'प्रभो ! इन नरेशको जो स्थान प्राप्त होनेवाला है, उसे भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ । वह स्थान कैसा होगा और कब प्राप्त होगा—यह मुझे ठीक-ठीक बताइये' ॥ २८ ॥

इत्युक्तो नारदस्तेन वाक्यं सर्वमनोऽनुगम् ।
व्याजहार सभामध्ये दिव्यदर्शी महातपाः ॥ २९ ॥

शतयूपके इस प्रकार प्रश्न करनेपर दिव्यदर्शी महातपस्वी देवर्षि नारदने उस सभामें सबके मनको प्रिय लगनेवाली यह बात कही ॥ २९ ॥

नारद उवाच

यदृच्छया शक्रसदो गत्वा शक्रं शचीपतिम् ।
दृष्टवानस्मि राजर्षे तत्र पाण्डुं नराधिपम् ॥ ३० ॥

नारदजी बोले—राजर्षे ! एक दिन मैं दैवेच्छासे घूमता-फिरता इन्द्रलोकमें चला गया और वहाँ जाकर शचीपति इन्द्रसे मिला । वहीं मैंने राजा पाण्डुको भी देखा था ॥ ३० ॥

तत्रेयं धृतराष्ट्रस्य कथा समभवन्नृप ।
तपसो दुष्करस्यास्य यदयं तपते नृपः ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! वहाँ राजा धृतराष्ट्रकी ही बातचीत चल रही थी । ये जो तपस्या करते हैं, इनके इस दुष्कर तपकी ही चर्चा हो रही थी ॥ ३१ ॥

तत्राहमिदमश्रौषं शक्रस्य वदतः स्वयम् ।
वर्षाणि त्रीणि शिष्टानि राज्ञोऽस्य परमायुषः ॥ ३२ ॥

उस सभामें साक्षात् इन्द्रके मुखसे मैंने सुना था कि इन राजा धृतराष्ट्रकी आयुकी जो अन्तिम सीमा है, उसके पूर्ण होनेमें अब केवल तीन वर्ष ही शेष रह गये हैं ॥ ३२ ॥

ततः कुबेरभवनं गान्धारीसहितो नृपः ।
प्रयाता धृतराष्ट्रोऽयं राजराजाभिसत्कृतः ॥ ३३ ॥
कामगेन विमानेन दिव्याभरणभूषितः ।
ऋषिपुत्रो महाभागस्तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ३४ ॥
संचरिष्यति लोकांश्च देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
स्वच्छन्देनेति धर्मात्मा यन्मां त्वमनुपृच्छसि ॥ ३५ ॥

उसके समाप्त होनेपर ये राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके साथ कुबेरके लोकमें जायँगे और वहाँ राजाधिराज कुबेरसे सम्मानित हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानपर बैठकर दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो देव, गन्धर्व तथा राक्षसोंके लोकोंमें स्वेच्छानुसार विचरते रहेंगे । ऋषिपुत्र महाभाग धर्मात्मा धृतराष्ट्रके सारे पाप इनकी तपस्याके प्रभावसे भस्म हो जायँगे । राजन् ! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, उसका उत्तर यही है ॥ ३३–३५ ॥

देवगुह्यमिदं प्रीत्या मया वः कथितं महत् ।
भवन्तो हि श्रुतधनास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ ३६ ॥

यह देवताओंका अत्यन्त गुप्त विचार है । परंतु आप लोगोंपर प्रेम होनेके कारण मैंने इसे आपके सामने प्रकट कर दिया है । आपलोग वेदके धनी हैं और तपस्यासे निष्पाप हो चुके हैं (अतः आपके सामने इस रहस्यको प्रकट करनेमें कोई हर्ज नहीं है) ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति ते तस्य तच्छ्रुत्वा देवर्षेर्मधुरं वचः ।
सर्वे सुमनसः प्रीता बभूवुः स च पार्थिवः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! देवर्षिके ये मधुर वचन सुनकर वे सब लोग बहुत प्रसन्न हुए और राजा धृतराष्ट्रको भी इससे बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३७ ॥

एवं कथाभिरन्वास्य धृतराष्ट्रं मनीषिणः ।
विप्रजग्मुर्यथाकामं ते सिद्धगतिमास्थिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वे मनीषी महर्षिगण अपनी कथाओंसे धृतराष्ट्रको संतुष्ट करके सिद्ध गतिका आश्रय ले इच्छानुसार विभिन्न स्थानोंको चले गये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि नारदवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें नारदजीका वाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥



विदुरका सूक्ष्मशरीरसे युधिष्ठिरमें प्रवेश

एकविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके लिये पाण्डवों तथा पुरवासियोंकी चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमन्विताः।
बभूवुः पाण्डवा राजन् मातृशोकेन चान्विताः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवराज धृतराष्ट्रके वनमें चले जानेपर पाण्डव दुःख और शोकसे संतप्त रहने लगे। माताके विछोहका शोक उनके हृदयको दग्ध किये देता था॥ १॥

तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम्।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति॥ २॥

इसी प्रकार समस्त पुरवासी मनुष्य भी राजा धृतराष्ट्रके लिये निरन्तर शोकमग्न रहते थे तथा ब्राह्मणलोग सदा उन वृद्ध नरेशके विषयमें वहाँ इस प्रकार चर्चा किया करते थे॥ २॥

कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम्॥ ३॥

'हाय ! हमारे बूढ़े महाराज उस निर्जन वनमें कैसे रहते होंगे? महाभागा गान्धारी तथा कुन्तिभोजकुमारी पृथा देवी भी किस तरह वहाँ दिन बिताती होंगी?॥ ३॥

सुखार्हः स हि राजर्षिरसुखी तद् वनं महत्।
किमवस्थः समासाद्य प्रज्ञाचक्षुर्हतात्मजः॥ ४॥

'जिनके सारे पुत्र मारे गये, वे प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र सुख भोगनेके योग्य होकर भी उस विशाल वनमें जाकर किस अवस्थामें दुःखके दिन बिताते होंगे?॥ ४॥

सुदुष्कृतं कृतवती कुन्ती पुत्रानपश्यती।
राज्यश्रियं परित्यज्य वनं सा समरोचयत्॥ ५॥

'कुन्तीदेवीने तो बड़ा ही दुष्कर कर्म किया। अपने पुत्रोंके दर्शनसे वञ्चित हो राज्यलक्ष्मीको ठुकराकर उन्होंने वनमें रहना पसंद किया है॥ ५॥

विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान्।
स च गावल्गणिर्धीमान् भर्तृपिण्डानुपालकः॥ ६॥

'अपने भाईकी सेवामें लगे रहनेवाले मनस्वी विदुरजी किस अवस्थामें होंगे? अपने स्वामीके शरीरकी रक्षा करनेवाले बुद्धिमान् संजय भी कैसे होंगे?'॥ ६॥

आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः।
तत्र तत्र कथाश्चक्रुः समासाद्य परस्परम्॥ ७॥

बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक समस्त पुरवासी चिन्ता और शोकसे पीड़ित हो जहाँ-तहाँ एक दूसरेसे मिलकर उपर्युक्त बातें ही किया करते थे॥ ७॥

पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः।
शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे॥ ८॥

समस्त पाण्डव तो निरन्तर अत्यन्त शोकमें ही डूबे रहते थे। वे अपनी बूढ़ी माताके लिये इतने चिन्तित हो गये कि अधिक कालतक नगरमें नहीं रह सके॥ ८॥

तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरम्।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम्॥ ९॥
नैषां बभूव सम्प्रीतिस्तान् विचिन्तयतां तदा।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययनेषु च॥ १०॥

जिनके पुत्र मारे गये थे, उन बूढ़े ताऊ महाराज धृतराष्ट्रकी, महाभागा गान्धारीकी और परम बुद्धिमान् विदुरकी अधिक चिन्ता करनेके कारण उन्हें कभी चैन नहीं पड़ती थी। न तो राजकाजमें उनका मन लगता था न स्त्रियोंमें। वेदाध्ययनमें भी उनकी रुचि नहीं होती थी॥ ९-१०॥

परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम्।
तं च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः॥ ११॥

राजा धृतराष्ट्रको याद करके वे अत्यन्त खिन्न एवं विरक्त हो उठते थे। भाई-बन्धुओंके उस भयंकर वधका उन्हें बारंबार स्मरण हो आता था॥ ११॥

अभिमन्योश्च बालस्य विनाशं रणमूर्धनि।
कर्णस्य च महाबाहो संग्रामेष्वपलायिनः॥ १२॥

महाबाहु जनमेजय ! युद्धके मुहानेपर जो बालक अभिमन्युका अन्यायपूर्वक विनाश किया गया, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले कर्णका (परिचय न होनेसे) जो वध किया गया—इन घटनाओंको याद करके वे बेचैन हो जाते थे॥ १२॥

तथैव द्रौपदेयानामन्येषां सुहृदामपि।
वधं संस्मृत्य ते वीरा नातिप्रमनसोऽभवन्॥ १३॥

इसी प्रकार द्रौपदीके पुत्रों तथा अन्यान्य सुहृदोंके वधकी बात याद करके उनके मनकी सारी प्रसन्नता भाग जाती थी॥ १३॥

हतप्रवीरां पृथिवीं हतरत्नां च भारत।
सदैव चिन्तयन्तस्ते न शर्म चोपलेभिरे॥ १४॥

भरतनन्दन ! जिसके प्रमुख वीर मारे गये तथा रत्नोंका अपहरण हो गया, उस पृथ्वीकी दुर्दशाका सदैव चिन्तन करते हुए पाण्डव कभी थोड़ी देरके लिये भी शान्ति नहीं पाते थे॥ १४॥

द्रौपदी हतपुत्रा च सुभद्रा चैव भाविनी।
नातिप्रीतियुते देव्यौ तदाऽऽस्तामप्रहृष्टवत् ॥ १५ ॥

जिनके बेटे मारे गये थे, वे द्रुपदकुमारी कृष्णा और भाविनी सुभद्रा दोनों देवियाँ निरन्तर अप्रसन्न और हर्ष-शून्य-सी होकर चुपचाप बैठी रहती थीं ॥ १५ ॥

वैराट्यास्तनयं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम्।
धारयन्ति स्म ते प्राणांस्तव पूर्वपितामहाः ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उन दिनों तुम्हारे पूर्व पितामह पाण्डव उत्तराके पुत्र और तुम्हारे पिता परीक्षित्‌को देखकर ही अपने प्राणोंको धारण करते थे ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

माताके लिये पाण्डवोंकी चिन्ता, युधिष्ठिरकी वनमें जानेकी इच्छा, सहदेव और द्रौपदीका साथ जानेका उत्साह तथा रनिवास और सेनासहित युधिष्ठिरका वनको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा मातृनन्दनाः।
स्मरन्तो मातरं वीरा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी माताको आनन्द प्रदान करनेवाले वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव इस प्रकार माताकी याद करते हुए अत्यन्त दुखी हो गये थे ॥ १ ॥

ये राजकार्येषु पुरा व्यासक्ता नित्यशोऽभवन्।
ते राजकार्याणि तदा नाकार्षुः सर्वतः पुरे ॥ २ ॥
प्रविष्टा इव शोकेन नाभ्यनन्दन्त किंचन।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न किंचित् प्रत्यपूजयन् ॥ ३ ॥

जो पहले प्रतिदिन राजकीय कार्योंमें निरन्तर आसक्त रहते थे, वे ही उन दिनों नगरमें कहीं कोई राजकाज नहीं करते थे। मानो उनके हृदयमें शोकने घर बना लिया था। वे किसी भी वस्तुको पाकर प्रसन्न नहीं होते थे। किसीके बातचीत करनेपर भी वे उस बातकी ओर न तो ध्यान देते और न उसकी सराहना करते थे ॥ २-३ ॥

ते स्म वीरा दुराधर्षा गाम्भीर्ये सागरोपमाः।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ४ ॥

समुद्रके समान गाम्भीर्यशाली दुर्धर्ष वीर पाण्डव उन दिनों शोकसे सुध-बुध खो जानेके कारण अचेत-से हो गये थे ॥ ४ ॥

अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यतिकृशा पृथा ॥ ५ ॥

तदनन्तर एक दिन पाण्डव अपनी माताके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'हाय ! मेरी माता कुन्ती अत्यन्त दुबली हो गयी होंगी। वे उन बूढ़े पति-पत्नी गान्धारी और धृतराष्ट्रकी सेवा कैसे निभाती होंगी ? ॥ ५ ॥

कथं च स महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥ ६ ॥

'शिकारी जन्तुओंसे भरे हुए उस जंगलमें आश्रयहीन एवं पुत्ररहित राजा धृतराष्ट्र अपनी पत्नीके साथ अकेले कैसे रहते होंगे ? ॥ ६ ॥

सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥ ७ ॥

'जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, वे महाभागा गान्धारी देवी, उस निर्जन वनमें अपने अन्धे और बूढ़े पतिका अनुसरण कैसे करती होंगी ? ॥ ७ ॥

एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत् तदा।
गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ८ ॥

इस प्रकार बात करते-करते उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो गयी और उन्होंने धृतराष्ट्रके दर्शनकी इच्छासे वनमें जानेका विचार कर लिया ॥ ८ ॥

सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत्।
अहो मे भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥ ९ ॥

उस समय सहदेवने राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके कहा—'भैया, मुझे ऐसा दिखायी देता है कि आपका हृदय तपोवनमें जानेके लिये उत्सुक है—यह बड़े हर्षकी बात है ॥ ९ ॥

न हि त्वां गौरवेणाहमशकं वक्तुमञ्जसा।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ॥ १० ॥

'राजेन्द्र ! मैं आपके गौरवका ख्याल करके संकोचवश वहाँ जानेकी बात स्पष्टरूपसे कह नहीं पाता था। आज सौभाग्यवश वह अवसर अपने आप उपस्थित हो गया ॥ १० ॥

दिष्ट्या द्रक्ष्यामि तां कुन्तीं
वर्तयन्तीं तपस्विनीम्।

जटिलां तापसीं वृद्धां कुशकाशपरिक्षताम् ॥ ११ ॥

'मेरा अहोभाग्य कि मैं तपस्यामें लगी हुई माता कुन्तीका दर्शन करूँगा। उनके सिरके बाल जटारूपमें परिणत हो गये होंगे! वे तपस्विनी बूढ़ी माता कुश और काशके आसनोंपर शयन करनेके कारण क्षतविक्षत हो रही होंगी ॥ ११ ॥

प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा तु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ॥ १२ ॥

'जो महलों और अट्टालिकाओंमें पलकर बड़ी हुई हैं, अत्यन्त सुखकी भागिनी रही हैं, वे ही माता कुन्ती अब थककर अत्यन्त दुःख उठाती होंगी ! मुझे कब उनके दर्शन होंगे ? ॥ १२ ॥

अनित्याः खलु मर्त्यानां गतयो भरतर्षभ ।
कुन्ती राजसुता यत्र वसत्यसुखिता वने ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी गतियाँ निश्चय ही अनित्य होती हैं, जिनमें पड़कर राजकुमारी कुन्ती सुखोंसे वञ्चित हो वनमें निवास करती हैं' ॥ १३ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १४ ॥

सहदेवकी बात सुनकर नारियोंमें श्रेष्ठ महारानी द्रौपदी राजाका सत्कार करके उन्हें प्रसन्न करती हुई बोली—॥१४॥

कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य मे प्रीतिर्भविष्यति जनाधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! मैं अपनी सास कुन्तीदेवीका दर्शन कब करूँगी ? क्या वे अबतक जीवित होंगी ? यदि वे जीवित हों तो आज उनका दर्शन पाकर मुझे असीम प्रसन्नता होगी॥१५॥

एषा तेऽस्तु मतिर्नित्यं धर्मे ते रमतां मनः ।
योऽद्य त्वमस्मान् राजेन्द्र श्रेयसा योजयिष्यसि ॥ १६ ॥

'राजेन्द्र ! आपकी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। आपका मन धर्ममें ही रमता रहे; क्योंकि आज आप हमलोगोंको माता कुन्तीका दर्शन कराकर परम कल्याणकी भागिनी बनायेंगे ॥ १६ ॥

अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन् वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ॥ १७ ॥

'राजन् ! आपको विदित हो कि अन्तःपुरकी सभी बहुएँ वनमें जानेके लिये पैर आगे बढ़ाये खड़ी हैं। वे सब-की-सब कुन्ती, गान्धारी तथा ससुरजीके दर्शन करना चाहती हैं' ॥ १७ ॥

इत्युक्तः स नृपो देव्या द्रौपद्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह ॥ १८ ॥

'भरतभूषण ! द्रौपदीदेवीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने समस्त सेनापतियोंको बुलाकर कहा—॥ १८ ॥

निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥ १९ ॥

'तुमलोग बहुत-से रथ और हाथी-घोड़ोंसे सुसज्जित सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दो । मैं वनवासी महाराज धृतराष्ट्रके दर्शन करनेके लिये चलूँगा' ॥ १९ ॥

स्त्र्यध्यक्षांश्चाब्रवीद् राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियन्तां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

इसके बाद राजाने रनिवासके अध्यक्षोंको आज्ञा दी—'तुम सब लोग हमारे लिये भाँति-भाँतिके वाहन और पालकियोंको हजारोंकी संख्यामें तैयार करो ॥ २० ॥

शकटापणवेशाश्च कोशः शिल्पिन एव च ।
निर्यान्तु कोषपालाश्च कुरुक्षेत्राश्रमं प्रति ॥ २१ ॥

'आवश्यक सामानोंसे लदे हुए छकड़े, बाजार, दुकानें, खजाना, कारीगर और कोषाध्यक्ष—ये सब कुरुक्षेत्रके आश्रमकी ओर रवाना हो जायँ ॥ २१ ॥

यश्च पौरजनः कश्चिद् द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ॥ २२ ॥

'नगरवासियोंमेंसे जो कोई भी महाराजका दर्शन करना चाहता हो, उसे बेरोक-टोक सुविधापूर्वक सुरक्षितरूपसे चलने दिया जाय ॥ २२ ॥

सूदाः पौरोगवाश्चैव सर्वं चैव महानसम् ।
विविधं भक्ष्यभोज्यं च शकटैरुह्यतां मम ॥ २३ ॥

'पाकशालाके अध्यक्ष और रसोइये भोजन बनानेके सब सामानों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको मेरे छकड़ोंपर लादकर ले चलें ॥ २३ ॥

प्रयाणं घुष्यतां चैव श्वोभूत इति मा चिरम् ।
क्रियतां पथि चाप्यद्य वेश्मानि विविधानि च ॥ २४ ॥

'नगरमें यह घोषणा करा दी जाय कि 'कल सबेरे यात्रा की जायगी; इसलिये चलनेवालोंको विलम्ब नहीं करना चाहिये।' मार्गमें हमलोगोंके ठहरनेके लिये आज ही कई तरहके डेरे तैयार कर दिये जायँ ॥ २४ ॥

एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सहपाण्डवः ।
श्वोभूते निर्ययौ राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २५ ॥

राजन् ! इस प्रकार आज्ञा देकर सबेरा होते ही अपने भाई पाण्डवोंसहित राजा युधिष्ठिरने स्त्री और बूढ़ोंको आगे करके नगरसे प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

स बहिर्दिवसानेव जनौघं परिपालयन् ।

न्यवसन्नृपतिः पञ्च ततोऽगच्छद् वनं प्रति ॥ २६ ॥

बाहर जाकर पुरवासी मनुष्योंकी प्रतीक्षा करते हुए वे पाँच दिनोंतक एक ही स्थानपर टिके रहे। फिर सबको साथ लेकर वनमें गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरयात्रायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिरकी वनको यात्राविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

सेनासहित पाण्डवोंकी यात्रा और उनका कुरुक्षेत्रमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

आज्ञापयामास ततः सेनां भरतसत्तमः।
अर्जुनप्रमुखैर्गुप्तां लोकपालोपमैर्नरैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भरतकुलभूषण राजा युधिष्ठिरने लोकपालोंके समान पराक्रमी अर्जुन आदि वीरोंद्वारा सुरक्षित अपनी सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

योगो योग इति प्रीत्या ततः शब्दो महानभूत्।
क्रोशतां सादिनां तत्र युज्यतां युज्यतामिति ॥ २ ॥

'चलनेको तैयार हो जाओ, तैयार हो जाओ' इस प्रकार उनका प्रेमपूर्ण आदेश प्राप्त होते ही घुड़सवार सब ओर पुकार-पुकारकर कहने लगे, 'सवारियोंको जोतो, जोतो!' इस तरहकी घोषणा करनेसे वहाँ महान् कोलाहल मच गया ॥ २ ॥

केचिद् यानैर्नरा जग्मुः केचिदश्वैर्महाजवैः।
काञ्चनैश्च रथैः केचिज्ज्वलितज्वलनोपमैः ॥ ३ ॥

कुछ लोग पालकियोंपर सवार होकर चले और कुछ लोग महान् वेगशाली घोड़ोंद्वारा यात्रा करने लगे। कितने ही मनुष्य प्रज्वलित अग्निके समान चमकीले सुवर्णमय रथोंपर आरूढ़ होकर वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

गजेन्द्रैश्च तथैवान्ये केचिदुष्ट्रैर्नराधिप।
पदातिनस्तथैवान्ये नखरप्रासयोधिनः ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! कुछ लोग गजराजोंपर सवार थे और कुछ ऊँटोंपर। कितने ही बघनखों और भालोंसे युद्ध करनेवाले वीर पैदल ही चल रहे थे ॥ ४ ॥

पौरजानपदाश्चैव यानैर्बहुविधैस्तथा।
अन्वयुः कुरुराजानं धृतराष्ट्रं दिदृक्षवः ॥ ५ ॥

नगर और जनपदके लोग भी राजा धृतराष्ट्रको देखनेकी इच्छासे नाना प्रकारके वाहनोंद्वारा कुरुराज युधिष्ठिरका अनुसरण करते थे ॥ ५ ॥

स चापि राजवचनादाचार्यो गौतमः कृपः।
सेनामादाय सेनानीः प्रययावाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सेनापति कृपाचार्य भी सेनाको साथ लेकर आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ६ ॥

ततो द्विजैः परिवृतः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
संस्तूयमानो बहुभिः सूतमागधवन्दिभिः ॥ ७ ॥
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
रथानीकेन महता निर्जगाम कुरूद्वहः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् ब्राह्मणोंसे घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर बहुसंख्यक सूत, मागध और वन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए मस्तकपर श्वेत छत्र धारण किये विशाल रथसेनाके साथ वहाँसे चले ॥ ७-८ ॥

गजैश्चाचलसंकाशैर्भीमकर्मा वृकोदरः।
सज्जयन्त्रायुधोपेतैः प्रययौ पवनात्मजः ॥ ९ ॥

भयंकर पराक्रम करनेवाले पवनपुत्र भीमसेन पर्वताकार गजराजोंकी सेनाके साथ जा रहे थे। उन गजराजोंकी पीठपर अनेकानेक यन्त्र और आयुध सुसज्जित किये गये थे ॥ ९ ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा हयारोहैः सुसंवृतौ।
जग्मतुः शीघ्रगमनौ संनद्धकवचध्वजौ ॥ १० ॥

माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी घोड़ोंपर सवार थे और घुड़सवारोंसे ही घिरे हुए शीघ्रतापूर्वक चल रहे थे। उन्होंने अपने शरीरमें कवच और घोड़ोंकी पीठपर ध्वज बाँध रक्खे थे ॥ १० ॥

अर्जुनश्च महातेजा रथेनादित्यवर्चसा।
वशी श्वेतैर्हयैर्युक्तैर्दिव्येनान्वगमन्नृपम् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी जितेन्द्रिय अर्जुन श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य रथपर आरूढ़ हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण करते थे ॥ ११ ॥

द्रौपदीप्रमुखाश्चापि स्त्रीसंघाः शिबिकायुताः।
स्त्र्यध्यक्षगुप्ताः प्रययुर्विसृजन्तोऽमितं वसु ॥ १२ ॥

द्रौपदी आदि स्त्रियाँ भी शिबिकाओंमें बैठकर दीन-दुखियोंको असंख्य धन बाँटती हुई जा रही थीं। रनिवासके अध्यक्ष सब ओरसे उनकी रक्षा कर रहे थे ॥ १२ ॥

समृद्धरथहस्त्यश्वं वेणुवीणानुनादितम्।
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं तत् तदा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी सेनामें रथ, हाथी और घोड़ोंकी अधिकता

थी। उसमें कहीं वंशी बजती थी और कहीं वीणा। भरतश्रेष्ठ ! इन वाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होनेके कारण वह पाण्डव-सेना उस समय बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३ ॥

नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशाम्पते।
वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जगमुस्ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! वे कुरुश्रेष्ठ वीर नदियोंके रमणीय तटों तथा अनेक सरोवरोंपर पड़ाव डालते हुए क्रमशः आगे बढ़ते गये ॥ १४ ॥

युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः।
युधिष्ठिरस्य वचनात् पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ॥ १५ ॥

महातेजस्वी युयुत्सु और पुरोहित धौम्य मुनि युधिष्ठिरके आदेशसे हस्तिनापुरमें ही रहकर राजधानीकी रक्षा करते थे ॥ १५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत्।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥ १६ ॥

उधर राजा युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ते हुए परम पावन यमुना नदीको पार करके कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ १६ ॥

स ददर्शाश्रमं दूराद् राजर्षेस्तस्य धीमतः।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! वहाँ पहुँचकर उन्होंने दूरसे ही बुद्धिमान् राजर्षि शतयूप तथा धृतराष्ट्रके आश्रमको देखा ॥ १७ ॥

ततः प्रमुदितः सर्वो जनस्तद् वनमञ्जसा।
विवेश सुमहानादैरापूर्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

भरतभूषण ! इससे उन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उस वनमें महान् कोलाहल फैलाते हुए अनायास ही प्रवेश किया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि धृतराष्ट्राश्रमगमने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिर आदिका धृतराष्ट्रके आश्रमपर गमनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाण्डवों तथा पुरवासियोंका कुन्ती, गान्धारी और धृतराष्ट्रके दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे समस्त पाण्डव दूरसे ही अपनी सवारियोंसे उतर पड़े और पैदल चलकर बड़ी विनयके साथ राजाके आश्रमपर आये ॥ १ ॥

स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥ २ ॥

साथ आये हुए समस्त सैनिक, राज्यके निवासी मनुष्य तथा कुरुवंशके प्रधान पुरुषोंकी स्त्रियाँ भी पैदल ही आश्रमतक गयीं ॥ २ ॥

आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥ ३ ॥
ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः।
पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रका वह पवित्र आश्रम मनुष्योंसे सूना था। उसमें सब ओर मृगोंके झुंड विचर रहे थे और केलेका सुन्दर उद्यान उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता था। पाण्डव लोग ज्यों ही उस आश्रममें पहुँचे त्यों ही वहाँ नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले बहुत-से तपस्वी कौतूहलवश वहाँ पधारे हुए पाण्डवोंको देखनेके लिये आ गये ॥ ३-४ ॥

तानपृच्छत् ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत्।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिरने उन सबको प्रणाम करके नेत्रोंमें आँसू भरकर उन सबसे पूछा—'मुनिवरो ! कौरववंशका पालन करनेवाले हमारे ज्येष्ठ पिता इस समय कहाँ गये हैं ?' ॥

ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम्।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥ ६ ॥

उन्होंने उत्तर दिया—'प्रभो ! वे यमुनामें स्नान करने, फूल लाने और पानीका घड़ा भरनेके लिये गये हुए हैं' ॥ ६ ॥

तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा।
ददृशुश्चाविदूरे तान् सर्वानथ पदातयः ॥ ७ ॥

यह सुनकर उन्हींके बताये हुए मार्गसे वे सब-के-सब पैदल ही यमुनातटकी ओर चल दिये। कुछ ही दूर जानेपर उन्होंने उन सब लोगोंको वहाँसे आते देखा ॥ ७ ॥

ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकाङ्क्षिणः।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद् यत्र सा पृथा ॥ ८ ॥
सुस्वरं रुरुदे धीमान् मातुः पादावुपस्पृशन्।

फिर तो समस्त पाण्डव अपने ताऊके दर्शनकी इच्छासे

बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े। बुद्धिमान् सहदेव तो बड़े वेगसे दौड़े और जहाँ कुन्ती थी, वहाँ पहुँचकर माताके दोनों चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ८½ ॥

सा च बाष्पाकुलमुखी ददर्श दयितं सुतम् ॥ ९ ॥
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम्।
गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥ १० ॥
अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम्।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥ ११ ॥

कुन्तीने भी जब अपने प्यारे पुत्र सहदेवको देखा तो उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने दोनों हाथोंसे पुत्रको उठाकर छातीसे लगा लिया और गान्धारीसे कहा—'दीदी! सहदेव आपकी सेवामें उपस्थित है'। तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुलको देखकर कुन्तीदेवी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर चलीं ॥ ९–११ ॥

सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयोः।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन् भुवि ॥ १२ ॥

वे आगे-आगे चलती थीं और उन पुत्रहीन दम्पतिको अपने साथ खींचे लाती थीं। उन्हें देखते ही पाण्डव उनके चरणोंमें पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

राजा तान् स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ॥ १३ ॥

महामना बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बोलनेके स्वरसे और स्पर्शसे पाण्डवोंको पहचानकर उन सबको आश्वासन दिया ॥ १३ ॥

ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम्।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् अपने नेत्रोंके आँसू पोंछकर महात्मा पाण्डवोंने गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र तथा माता कुन्तीको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ १४ ॥

सर्वेषां तोयकलशाञ्जगृहुस्ते स्वयं तदा।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ॥ १५ ॥

इसके बाद मातासे बार-बार सान्त्वना पाकर जब पाण्डव कुछ स्वस्थ एवं सचेत हुए तब उन्होंने उन सबके हाथसे जलके भरे हुए कलश स्वयं ले लिये ॥ १५ ॥

तथा नार्यो नृसिंहानां सोऽवरोधजनस्तदा।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं जनाधिपम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर उन पुरुषसिंहोंकी स्त्रियों तथा अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंने और नगर एवं जनपदके लोगोंने भी क्रमशः राजा धृतराष्ट्रका दर्शन किया ॥ १६ ॥

निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनं प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥

उस समय स्वयं राजा युधिष्ठिरने एक-एक व्यक्तिका नाम और गोत्र बताकर परिचय दिया और परिचय पाकर धृतराष्ट्रने उन सबका वाणीद्वारा सत्कार किया ॥ १७ ॥

स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः।
राजाऽऽत्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ॥ १८ ॥

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र अपने नेत्रोंसे हर्षके आँसू बहाने लगे। उस समय उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो मैं पहलेकी ही भाँति हस्तिनापुरके राजमहलमें बैठा हूँ ॥ १८ ॥

अभिवादितो वधूभिश्च कृष्णाद्याभिः स पार्थिवः।
गान्धार्या सहितो धीमान् कुन्त्या च प्रत्यनन्दत ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदी आदि बहुओंने गान्धारी और कुन्तीसहित बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको प्रणाम किया और उन्होंने भी उन सबको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ १९ ॥

ततश्चाश्रममागच्छत् सिद्धचारणसेवितम्।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ॥ २० ॥

इसके बाद वे सबके साथ सिद्ध और चारणोंसे सेवित अपने आश्रमपर आये। उस समय उनका आश्रम तारोंसे व्याप्त हुए आकाशकी भाँति दर्शकोंसे भरा था ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि युधिष्ठिरादिधृतराष्ट्रसमागमे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें युधिष्ठिर आदिका धृतराष्ट्रसे मिलनविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका ऋषियोंसे पाण्डवों, उनकी पत्नियों तथा अन्यान्य स्त्रियोंका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ॥ १ ॥
तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान् पाण्डवान् पृथुवक्षसः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब राजा

धृतराष्ट्र सुन्दर कमलके-से नेत्रोंवाले पुरुषसिंह युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंके साथ आश्रममें विराजमान हुए, उस समय वहाँ अनेक देशोंसे आये हुए महाभाग तपस्वीगण कुरुराज पाण्डुके पुत्र—विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंको देखनेके लिये पहलेसे उपस्थित थे ॥ १-२ ॥

तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ३ ॥

उन्होंने पूछा—'हमलोग यह जानना चाहते हैं कि यहाँ आये हुए लोगोंमें महाराज युधिष्ठिर कौन हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी कौन हैं?' ॥ ३ ॥

तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वांस्तानभिनामतः ।
संजयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ॥ ४ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर सूत संजयने उन सबके नाम बताकर पाण्डवों, द्रौपदी तथा कुरुकुलकी अन्य स्त्रियोंका इस प्रकार परिचय दिया ॥ ४ ॥

संजय उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
स्तनुर्महासिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ ५ ॥

संजय बोले—ये जो विशुद्ध सुवर्णके समान गोरे और सबसे बड़े हैं, देखनेमें महान् सिंहके समान जान पड़ते हैं, जिनकी नासिका नुकीली तथा नेत्र बड़े-बड़े और कुछ-कुछ लालिमा लिये हुए हैं, ये कुरुराज युधिष्ठिर हैं ॥ ५ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसः पृथुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतेमम् ॥ ६ ॥

जो मतवाले गजराजके समान चलनेवाले, तपाये हुए सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्ण तथा मोटे और चौड़े कन्धे-वाले हैं, जिनकी भुजाएँ मोटी और बड़ी-बड़ी हैं, ये ही भीमसेन हैं। आप लोग इन्हें अच्छी तरह देख लें, देख लें ॥

यस्त्वेष पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपाभः ।
सिंहोन्नतांसो गजखेलगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ ७ ॥

इनके बगलमें जो ये महाधनुर्धर और श्याम रंगके नव-युवक दिखायी देते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे हैं, जो हाथियोंके यूथपति गजराजके समान प्रतीत होते हैं और हाथीके ही समान मस्तानी चालसे चलते हैं, ये कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ ७ ॥

कुन्तीसमीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ ८ ॥

कुन्तीके पास जो ये दो श्रेष्ठ पुरुष बैठे दिखायी देते हैं, ये एक ही साथ उत्पन्न हुए नकुल और सहदेव हैं। ये दोनों भाई भगवान् विष्णु और इन्द्रके समान शोभा पाते हैं। रूप, बल और शीलमें इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ ८ ॥

इयं पुनः पद्मदलायताक्षी
मध्यं वयः किंचिदिव स्पृशन्ती ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

ये जो किंचित् मध्यम वयका स्पर्श करती हुई, नील कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली एवं नील उत्पलकी-सी श्यामकान्तिसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी मूर्तिमती लक्ष्मी तथा देवताओंकी देवी-सी जान पड़ती हैं, ये ही महारानी द्रुपद-कुमारी कृष्णा हैं ॥ ९ ॥

अस्यास्तु पार्श्वे कनकोत्तमाभा
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव सौमी ।
मध्ये स्थिता सा भगिनी द्विजाग्र्या-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य तस्य ॥ १० ॥

विप्रवरो! इनके बगलमें जो ये सुवर्णसे भी उत्तम कान्तिवाली देवी चन्द्रमाकी मूर्तिमती प्रभा-सी विराजमान हो रही हैं और सब स्त्रियोंके बीचमें बैठी हैं, ये अनुपम प्रभाव-शाली चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा हैं ॥ १० ॥

इयं च जाम्बूनदशुद्धगौरी
पार्थस्य भार्या भुजगेन्द्रकन्या ।
चित्राङ्गदा चैव नरेन्द्रकन्या
यैषा सवर्णार्द्रमधूकपुष्पैः ॥ ११ ॥

ये जो विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान गौर वर्ण-वाली सुन्दरी देवी बैठी हैं, ये नागराजकन्या उलूपी हैं तथा जिनकी अङ्गकान्ति नूतन मधूक-पुष्पोंके समान प्रतीत होती है, ये राजकुमारी चित्राङ्गदा हैं। ये दोनों भी अर्जुनकी ही पत्नियाँ हैं ॥ ११ ॥

इयं स्वसा राजचमूपतेश्च
प्रवृद्धनीलोत्पलदामवर्णा ।
पस्पर्ध कृष्णेन सदा नृपो यो
वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्र्यः ॥ १२ ॥

ये जो इन्दीवरके समान श्यामवर्णवाली राजमहिला विराजमान हैं, भीमसेनकी श्रेष्ठ पत्नी हैं। ये उस राजसेनापति

एवं नरेशकी बहन हैं, जो सदा भगवान् श्रीकृष्णसे टक्कर लेनेका हौसला रखता था ॥ १२ ॥

इयं च राज्ञो मगधाधिपस्य
सुता जरासन्ध इति श्रुतस्य।
यवीयसो माद्रवतीसुतस्य
भार्या मता चम्पकदामगौरी ॥ १३ ॥

साथ ही यह जो चम्पाकी मालाके समान गौरवर्णवाली सुन्दरी बैठी हुई है, यह सुविख्यात मगधनरेश जरासंधकी पुत्री एवं माद्रीके छोटे पुत्र सहदेवकी भार्या है ॥ १३ ॥

इन्दीवरश्यामतनुः स्थिता तु
यैषा परासन्नमहीतले च।
भार्या मता माद्रवतीसुतस्य
ज्येष्ठस्य सेयं कमलायताक्षी ॥ १४ ॥

इसके पास जो नीलकमलके समान श्याम रंगवाली महिला है, वह कमलनयनी सुन्दरी माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र नकुलकी पत्नी है ॥ १४ ॥

इयं तु निष्टप्तसुवर्णगौरी
राज्ञो विराटस्य सुता सपुत्रा।
भार्याभिमन्योर्निहतो रणे यो
द्रोणादिभिस्तैर्विरथो रथस्थैः ॥ १५ ॥

यह जो तपाये हुए कुन्दनके समान कान्तिवाली तरुणी गोदमें बालक लिये बैठी है, यह राजा विराटकी पुत्री उत्तरा है। यह उस वीर अभिमन्युकी धर्मपत्नी है, जो महाभारत-युद्धमें रथपर बैठे हुए द्रोणाचार्य आदि अनेक महारथियोंद्वारा रथहीन कर दिया जानेपर मारा गया था ॥ १५ ॥

एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा याः
शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शताख्याः
स्नुषा नृवीराहतपुत्रनाथाः ॥ १६ ॥

इन सबके सिवा ये जितनी स्त्रियाँ सफेद चादर ओढ़े बैठी हुई हैं, जिनकी माँगोंमें सिन्दूर नहीं है, ये सब दुर्योधन आदि सौ भाइयोंकी पत्नियाँ और इन बूढ़े महाराजकी सौ पुत्रवधुएँ हैं। इनके पति और पुत्र रणमें नरवीरोंद्वारा मारे गये हैं ॥ १६ ॥

एता यथामुख्यमुदाहृता वो
ब्राह्मण्यभावादृजुबुद्धिसत्त्वाः।
सर्वा भवद्भिः परिपृच्छयमाना
नरेन्द्रपत्न्यः सुविशुद्धसत्त्वाः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणत्वके प्रभावसे सरल बुद्धि और विशुद्ध अन्तःकरण-वाले महर्षियो! आपने सबका परिचय पूछा था; इसलिये मैंने इनमेंसे मुख्य-मुख्य व्यक्तियोंका परिचय दे दिया है। ये सभी राजपत्नियाँ विशुद्ध हृदयवाली हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स राजा कुरुवृद्धवर्यः
समागतस्तैर्नरदेवपुत्रैः।
पप्रच्छ सर्वं कुशलं तदानीं
गतेषु सर्वेष्वथ तापसेषु ॥ १८ ॥

इस प्रकार संजयके मुखसे सबका परिचय पाकर जब सभी तपस्वी अपनी-अपनी कुटियामें चले गये, तब कुरुकुलके वृद्ध एवं श्रेष्ठ पुरुष राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार उन नरदेव-कुमारोंसे मिलकर उस समय सबका कुशल-मङ्गल पूछने लगे ॥

योधेषु वाप्याश्रममण्डलं तं
मुक्त्वा निविष्टेषु विमुच्य पत्रम्।
स्त्रीवृद्धबाले च सुसंनिविष्टे
यथार्हतस्तान् कुशलान्यपृच्छत् ॥ १९ ॥

पाण्डवोंके सैनिकोंने आश्रममण्डलकी सीमाको छोड़कर कुछ दूरपर समस्त वाहनोंको खोल दिया और वहीं पड़ाव डाल दिया तथा स्त्री, वृद्ध और बालकोंका समुदाय छावनीमें सुखपूर्वक विश्राम लेने लगा। उस समय राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंसे मिलकर उनका कुशल-समाचार पूछने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि ऋषीन् प्रति युधिष्ठिरादिकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें ऋषियोंके प्रति युधिष्ठिर आदिका परिचयविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा विदुरजीका युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित् त्वं कुशली ह्यसि।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाबाहो युधिष्ठिर! तुम नगर तथा जनपदकी समस्त प्रजाओं और भाइयोंसहित कुशलसे तो हो न? ॥ १ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति कच्चित् तेऽपि निरामयाः।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते नृप ॥ २ ॥

नरेश्वर ! जो तुम्हारे आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मन्त्री, भृत्यवर्ग और गुरुजन भी सुखी और स्वस्थ तो हैं न ? ॥ २ ॥

कच्चित् तेऽपि निरातङ्का वसन्ति विषये तव ।
कच्चिद् वर्तसि पौराणीं वृत्तिं राजर्षिसेविताम् ॥ ३ ॥

क्या वे भी तुम्हारे राज्यमें निर्भय होकर रहते हैं ? क्या तुम प्राचीन राजर्षियोंसे सेवित पुरानी रीति-नीतिका पालन करते हो ? ॥ ३ ॥

कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ।
अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ॥ ४ ॥

क्या तुम्हारा खजाना न्यायमार्गका उल्लङ्घन किये बिना ही भरा जाता है । क्या तुम शत्रु, मित्र और उदासीन पुरुषोंके प्रति यथायोग्य बर्ताव करते हो ? ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानग्रहारैर्वा यथावदनुपश्यसि ।
कच्चित् ते परितुष्यन्ति शीलेन भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम ब्राह्मणोंको माफी जमीन देकर उनपर यथोचित दृष्टि रखते हो ? क्या तुम्हारे शील-स्वभावसे वे संतुष्ट रहते हैं ? ॥ ५ ॥

शत्रवोऽपि कुतः पौरा भृत्या वा स्वजनोऽपि वा ।
कच्चिद् यजसि राजेन्द्र श्रद्धावान् पितृदेवताः ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! पुरवासी स्वजनों और सेवकोंकी तो बात ही क्या है, क्या शत्रु भी तुम्हारे बर्तावसे संतुष्ट रहते हैं ? क्या तुम श्रद्धापूर्वक देवताओं और पितरोंका यजन करते हो ? ॥

अतिथीनन्नपानेन कच्चिदर्चसि भारत ।
कच्चिन्नयपथे विप्राः स्वकर्मनिरतास्तव ॥ ७ ॥
क्षत्रिया वैश्यवर्गा वा शूद्रा वापि कुटुम्बिनः ।

भारत ! क्या तुम अन्न और जलके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करते हो ? क्या तुम्हारे राज्यमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा कुटुम्बीजन न्यायमार्गका अवलम्बन करते हुए अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं ? ॥ ७½ ॥

कच्चित् स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ॥ ८ ॥
जामयः पूजिताः कच्चित् तव गेहे नरर्षभ ।

नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे राज्यमें स्त्रियों, बालकों और वृद्धोंको दुःख तो नहीं भोगना पड़ता ? वे जीविकाके लिये भीख तो नहीं माँगते हैं ? तुम्हारे घरमें सौभाग्यवती बहू-बेटियोंका आदर-सत्कार तो होता है न ? ॥ ८½ ॥

कच्चिद् राजर्षिवंशोऽयं त्वामासाद्य महीपतिम् ॥ ९ ॥
यथोचितं महाराज यशसा नावसीदति ।

महाराज ! राजर्षियोंका यह वंश तुम-जैसे राजाको पाकर यथोचित प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है न ? इसे यशसे वञ्चित होकर अपयशका भागी तो नहीं होना पड़ता है ? ॥ ९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं तं स न्यायवित् प्रत्यभाषत ॥ १० ॥
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रके इस प्रकार कुशल-समाचार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल न्यायवेत्ता राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ १०½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित् ते वर्धते राजंस्तपो दमशमौ च ते ॥ ११ ॥
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा ।
अथास्याः सफलो राजन् वनवासो भविष्यति॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! (मेरे यहाँ सब कुशल है) आपके तप, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि सद्गुणोंकी वृद्धि तो हो रही है न ? ये मेरी माता कुन्ती आपकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें क्लेशका अनुभव तो नहीं करतीं ? क्या इनका वनवास सफल होगा ? ॥ ११-१२ ॥

इयं च माता ज्येष्ठा मे शीतवाताध्वकर्शिता ।
घोरेण तपसा युक्ता देवी कच्चिन्न शोचति ॥ १३ ॥
हतान् पुत्रान् महावीर्यान् क्षत्रधर्मपरायणान् ।
नापध्यायति वा कच्चिदस्मान् पापकृतः सदा ॥ १४ ॥

ये मेरी बड़ी माता गान्धारीदेवी सर्दी, हवा और रास्ता चलनेके परिश्रमसे कष्ट पाकर अत्यन्त दुबली हो गयी हैं और घोर तपस्यामें लगी हुई हैं । ये देवी युद्धमें मारे गये अपने क्षत्रिय-धर्मपरायण महापराक्रमी पुत्रोंके लिये कभी शोक तो नहीं करतीं ? और हम अपराधियोंका कभी कोई अनिष्ट तो नहीं सोचती हैं ? ॥ १३-१४ ॥

क्व चासौ विदुरो राजन् नेमं पश्यामहे वयम् ।
सञ्जयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थिरः ॥ १५ ॥

राजन् ! ये संजय तो कुशलपूर्वक स्थिरभावसे तपस्यामें लगे हुए हैं न ? इस समय विदुरजी कहाँ हैं ? इन्हें हमलोग नहीं देख पा रहे हैं ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम् ।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समाश्रितः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर धृतराष्ट्रने उनसे कहा—'बेटा ! विदुरजी कुशलपूर्वक हैं । वे बड़ी कठोर तपस्यामें लगे हैं ॥ १६ ॥

वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसन्ततः ।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन् कानने क्वचित् ॥

'वे निरन्तर उपवास करते और वायु पीकर रहते हैं, इसलिये अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । उनके सारे शरीरमें व्याप्त हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं । इस सूने वनमें ब्राह्मणोंको कभी-कभी कहीं उनके दर्शन हो जाया करते हैं' ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य जटी वीटामुखः कृशः ।

दिग्वासा मलदिग्धाङ्गो वनरेणुसमुक्षितः ॥ १८ ॥
दूरादालक्षितः क्षत्ता तत्राख्यातो महीपतेः ।
निवर्तमानः सहसा राजन् दृष्ट्वाऽऽश्रमं प्रति ॥ १९ ॥

राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार कह ही रहे थे कि मुखमें पत्थरका टुकड़ा लिये जटाधारी कृशकाय विदुरजी दूरसे आते दिखायी दिये। वे दिगम्बर (वस्त्रहीन) थे। उनके सारे शरीरमें मैल जमी हुई थी। वे वनमें उड़ती हुई धूलोंसे नहा गये थे। राजा युधिष्ठिरको उनके आनेकी सूचना दी गयी। राजन्! विदुरजी उस आश्रमकी ओर देखकर सहसा पीछेकी ओर लौट पड़े ॥ १८-१९ ॥

तमन्वधावन्नृपतिरेक एव युधिष्ठिरः ।
प्रविशन्तं वनं घोरं लक्ष्यालक्ष्यं क्वचित् क्वचित् ॥२०॥
भो भो विदुर राजाहं दयितस्ते युधिष्ठिरः ।
इति ब्रुवन्नरपतिस्तं यत्नादभ्यधावत ॥ २१ ॥

यह देख राजा युधिष्ठिर अकेले ही उनके पीछे-पीछे दौड़े। विदुरजी कभी दिखायी देते और कभी अदृश्य हो जाते थे। जब वे एक घोर वनमें प्रवेश करने लगे, तब राजा युधिष्ठिर यत्नपूर्वक उनकी ओर दौड़े और इस प्रकार कहने लगे—'ओ विदुरजी! मैं आपका परमप्रिय राजा युधिष्ठिर आपके दर्शनके लिये आया हूँ' ॥ २०-२१ ॥

ततो विविक्त एकान्ते तस्थौ बुद्धिमतां वरः ।
विदुरो वृक्षमाश्रित्य कंचित्तत्र वनान्तरे ॥ २२ ॥

तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुरजी वनके भीतर एक परम पवित्र एकान्त प्रदेशमें किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़े हो गये ॥ २२ ॥



तं राजा क्षीणभूयिष्ठमाकृतीमात्रसूचितम् ।
अभिजज्ञे महाबुद्धिं महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

वे बहुत ही दुर्बल हो गये थे। उनके शरीरका ढाँचामात्र रह गया था, इतनेहीसे उनके जीवित होनेकी सूचना मिलती थी। परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उन महाबुद्धिमान् विदुरको पहचान लिया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरोऽहमस्मीति वाक्यमुक्त्वाग्रतः स्थितः ।
विदुरस्य श्रवे राजा तं च प्रत्यभ्यपूजयत् ॥ २४ ॥

'मैं युधिष्ठिर हूँ' ऐसा कहकर वे उनके आगे खड़े हो गये। यह बात उन्होंने उतनी ही दूरसे कही थी, जहाँसे विदुरजी सुन सकें; फिर पास जाकर राजाने उनका बड़ा सत्कार किया ॥ २४ ॥

ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजानं तमुदैक्षत ।
संयोज्य विदुरस्तस्मिन् दृष्टिं दृष्ट्या समाहितः ॥ २५ ॥

तदनन्तर महात्मा विदुरजी राजा युधिष्ठिरकी ओर एकटक देखने लगे। वे अपनी दृष्टिको उनकी दृष्टिसे जोड़कर एकाग्र हो गये ॥ २५ ॥

विवेश विदुरो धीमान् गात्रैर्गात्राणि चैव ह ।
प्राणान् प्राणेषु च दधदिन्द्रियाणीन्द्रियेषु च ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् विदुर अपने शरीरको युधिष्ठिरके शरीरमें, प्राणोंको प्राणोंमें और इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें स्थापित करके उनके भीतर समा गये ॥ २६ ॥

स योगबलमास्थाय विवेश नृपतेस्तनुम् ।
विदुरो धर्मराजस्य तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २७ ॥

उस समय विदुरजी तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे। उन्होंने योगबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

विदुरस्य शरीरं तु तथैव स्तब्धलोचनम् ।
वृक्षाश्रितं तदा राजा ददर्श गतचेतनम् ॥ २८ ॥

राजाने देखा, विदुरजीका शरीर पूर्ववत् वृक्षके सहारे खड़ा है। उनकी आँखें अब भी उसी तरह निर्निमेष हैं, किंतु अब उनके शरीरमें चेतना नहीं रह गयी है ॥ २८ ॥

बलवन्तं तथाऽऽत्मानं मेने बहुगुणं तदा ।
धर्मराजो महातेजास्तच्च सस्मार पाण्डवः ॥ २९ ॥
पौराणमात्मनः सर्वं विद्यावान् स विशाम्पते ।
योगधर्मं महातेजा व्यासेन कथितं यथा ॥ ३० ॥

इसके विपरीत उन्होंने अपनेमें विशेष बल और अधिक गुणोंका अनुमान किया। प्रजानाथ! इसके बाद महातेजस्वी पाण्डुपुत्र विद्यावान् धर्मराज युधिष्ठिरने अपने समस्त पुरातन स्वरूपका स्मरण किया। (मैं और विदुरजी एक ही धर्मके अंशसे प्रकट हुए थे, इस बातका अनुभव किया)। इतना

ही नहीं, उन महातेजस्वी नरेशने व्यासजीके बताये हुए योगधर्मका भी स्मरण कर लिया ॥ २९-३० ॥

धर्मराजश्च तत्रैव संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद् विद्वानथ वागभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
भो भो राजन्न दग्धव्यमेतद् विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ॥ ३२ ॥
लोकाः सान्तानिका नाम भविष्यन्त्यस्य भारत ।
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैष शोच्यः परंतप ॥ ३३ ॥

अब विद्वान् धर्मराजने वहीं विदुरके शरीरका दाह-संस्कार करनेका विचार किया। इतनेहीमें आकाशवाणी हुई—'राजन् ! शत्रुसंतापी भरतनन्दन ! इस विदुर नामक शरीरका यहाँ दाह-संस्कार करना उचित नहीं है; क्योंकि वे संन्यास-धर्मका पालन करते थे। यहाँ उनका दाह न करना ही तुम्हारे लिये सनातन धर्म है। विदुरजीको सान्तानिक नामक लोकोंकी प्राप्ति होगी; अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये' ॥ ३१-३३ ॥

इत्युक्तो धर्मराजः स विनिवृत्य ततः पुनः ।
राज्ञो वैचित्रवीर्यस्य तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥ ३४ ॥

आकाशवाणीद्वारा ऐसी बात कही जानेपर धर्मराज युधिष्ठिर फिर वहाँसे लौट गये और राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्होंने वे सारी बातें उनसे बतायीं ॥ ३४ ॥

ततः स राजा द्युतिमान् स च सर्वो जनस्तदा ।
भीमसेनादयश्चैव परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रीतिमान् राजा भूत्वा धर्मजमब्रवीत् ।
आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३६ ॥

विदुरजीके देहत्यागका यह अद्भुत समाचार सुनकर तेजस्वी राजा धृतराष्ट्र तथा भीमसेन आदि सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। इसके बाद राजाने प्रसन्न होकर धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बेटा ! अब तुम मेरे दिये हुए इस फल-मूल और जलको ग्रहण करो ॥ ३५-३६ ॥

यदर्थो हि नरो राजंस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृतः ।
इत्युक्तः स तथेत्येवं प्राह धर्मात्मजो नृपम् ॥ ३७ ॥
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं सहानुजः ।
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः ।
तां रात्रिमवसन् सर्वे फलमूलजलाशनाः ॥ ३८ ॥

'राजन् ! मनुष्य जिन वस्तुओंका स्वयं उपयोग करता है, उन्हीं वस्तुओंसे वह अतिथिका भी सत्कार करे—ऐसी शास्त्रकी आज्ञा है।' उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और उनके दिये हुए फल-मूलका भाइयोंसहित भोजन किया। तदनन्तर उन सब लोगोंने फल-मूल और जलका ही आहार करके वृक्षोंके नीचे ही रहनेका निश्चय कर वहीं वह रात्रि व्यतीत की ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि विदुरनिर्याणे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें विदुरका देहत्यागविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदिका ऋषियोंके आश्रम देखना, कलश आदि बाँटना और धृतराष्ट्रके पास आकर बैठना, उन सबके पास अन्यान्य ऋषियोंसहित महर्षि व्यासका आगमन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु राजन्नेतेषामाश्रमे पुण्यकर्मणाम् ।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस आश्रमपर निवास करनेवाले इन समस्त पुण्यकर्मा मनुष्योंकी नक्षत्र-मालाओंसे सुशोभित वह मङ्गलमयी रात्रि सकुशल व्यतीत हुई ॥ १ ॥

ततस्तत्र कथाश्चासंस्तेषां धर्मार्थलक्षणाः ।
विचित्रपदसंचारा नानाश्रुतिभिरन्विताः ॥ २ ॥

उस समय उन लोगोंमें विचित्र पदों और नाना श्रुतियोंसे युक्त धर्म और अर्थसम्बन्धी चर्चाएँ होती रहीं ॥ २ ॥

पाण्डवास्त्वभितो मातुर्धरण्यां सुषुपुस्तदा ।
उत्सृज्य तु महार्हाणि शयनानि नराधिप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! पाण्डवलोग बहुमूल्य शय्याओंको छोड़कर अपनी माताके चारों ओर धरतीपर ही सोये थे ॥ ३ ॥

यदाहारोऽभवद् राजा धृतराष्ट्रो महामनाः ।
तदाहारा नृवीरास्ते न्यवसंस्तां निशां तदा ॥ ४ ॥

महामनस्वी राजा धृतराष्ट्रने जिस वस्तुका आहार किया था, उसी वस्तुका आहार उस रातमें उन नरवीर पाण्डवोंने भी किया था ॥ ४ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ५ ॥
सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः ।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ६ ॥

रात बीत जानेपर पूर्वाह्णकालिक नैत्यिक नियम पूरे करके राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले भाइयों, अन्तःपुरकी स्त्रियों, सेवकों और पुरोहितोंके साथ सुखपूर्वक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूम-फिरकर मुनियोंके आश्रम देखे ॥ ५-६ ॥

ददर्श तत्र वेदीश्च सम्प्रज्वलितपावकाः ।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥ ७ ॥
वानेयपुष्पनिकरैराज्यधूमोद्गमैरपि ।
ब्राह्मेण वपुषा युक्ता युक्ता मुनिगणस्य ताः ॥ ८ ॥

उन्होंने देखा, वहाँ आश्रमोंमें यज्ञकी वेदियाँ बनी हैं, जिनपर अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं। मुनिलोग स्नान करके उन वेदियोंके पास बैठे हैं और अग्निमें आहुति दे रहे हैं। वनके फूलों और घृतकी आहुतिसे उठे हुए धूमोंसे भी उन वेदियोंकी शोभा हो रही है। वहाँ निरन्तर वेदध्वनि होनेके कारण मानो वे वेदियाँ वेदमय शरीरसे संयुक्त जान पड़ती थीं। मुनियोंके समुदाय सदा उनसे सम्पर्क बनाये रखते थे ॥ ७-८ ॥

मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः ।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥ ९ ॥

प्रभो! उन आश्रमोंमें जहाँ-तहाँ मृगोंके झुंड निर्भय एवं शान्तचित्त होकर आरामसे बैठे थे। पक्षियोंके समुदाय निःशङ्क होकर उच्च स्वरसे कलरव करते थे ॥ ९ ॥

केकाभिर्नीलकण्ठानां दात्यूहानां च कूजितैः ।
कोकिलानां कुहुरवैः सुखैः श्रुतिमनोहरैः ॥ १० ॥
प्राधीतद्विजघोषैश्च क्वचित् क्वचिदलंकृतम् ।
फलमूलसमाहारैर्महद्भिश्चोपशोभितम् ॥ ११ ॥

मोरोंके मधुर केकारव, दात्यूह नामक पक्षियोंके कलकूजन और कोयलोंकी कुहू-कुहू ध्वनि हो रही थी। उनके शब्द बड़े ही सुखद तथा कानों और मनको हर लेनेवाले थे। कहीं-कहीं स्वाध्यायशील ब्राह्मणोंके वेद-मन्त्रोंका गम्भीर घोष गूँज रहा था और इन सबके कारण उन आश्रमोंकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी एवं वह आश्रम फल-मूलका आहार करनेवाले महापुरुषोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ १०-११ ॥

ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान् ।
कलशान् काञ्चनान् राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥ १२ ॥
अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक् स्रुवं च महीपतिः ।
कमण्डलूंश्च स्थालीश्च पिठराणि च भारत ॥ १३ ॥
भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप ।
यद् यदिच्छति यावच्च यच्चान्यदपि भाजनम् ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय राजा युधिष्ठिरने तपस्वियोंके लिये लाये हुए सोने और ताँबेके कलश, मृगचर्म, कम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, बटलोई, कड़ाही, अन्यान्य लोहेके बने हुए पात्र तथा और भी भाँति-भाँतिके बर्तन बाँटे। जो जितना और जो-जो बर्तन चाहता था, उसको उतना ही और वही बर्तन दिया जाता था। दूसरा भी आवश्यक पात्र दे दिया जाता था ॥ १२-१४ ॥

एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम् ।
वसु विश्राण्य तत् सर्वं पुनरायान्महीपतिः ॥ १५ ॥

इस प्रकार धर्मात्मा राजा पृथ्वीपति युधिष्ठिर आश्रमोंमें घूम-घूमकर वह सारा धन बाँटनेके पश्चात् धृतराष्ट्रके आश्रमपर लौट आये ॥ १५ ॥

कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।
ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥ १६ ॥
मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत् प्रणतां स्थिताम् ।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा शिष्टाचारसमन्विताम् ॥ १७ ॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि राजा धृतराष्ट्र नित्य कर्म करके गान्धारीके साथ शान्त भावसे बैठे हुए हैं और उनसे थोड़ी ही दूरपर शिष्टाचारका पालन करनेवाली माता कुन्ती शिष्याकी भाँति विनीत भावसे खड़ी है ॥ १६-१७ ॥

स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः ।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने अपना नाम सुनाकर राजा धृतराष्ट्रका प्रणामपूर्वक पूजन किया और 'बैठो' यह आज्ञा मिलनेपर वे कुशके आसनपर बैठ गये ॥ १८ ॥

भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा भरतर्षभ ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन आदि पाण्डव भी राजाके चरण छूकर प्रणाम करनेके पश्चात् उनकी आज्ञासे बैठ गये ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतो राजा शुशुभेऽतीव कौरवः ।
बिभ्रद् ब्राह्मीं श्रियं दीप्तां देवैरिव बृहस्पतिः ॥ २० ॥

उनसे घिरे हुए कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र वैसी ही शोभा पा रहे थे, जैसे उज्ज्वल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले बृहस्पति देवताओंसे घिरे हुए सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

वे सब लोग इस प्रकार बैठे ही थे कि कुरुक्षेत्रनिवासी शतयूप आदि महर्षि वहाँ आ पहुँचे ॥ २१ ॥

व्यासश्च भगवान् विप्रो देवर्षिगणसेवितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास पार्थिवम् ॥ २२ ॥

देवर्षियोंसे सेवित महातेजस्वी विप्रवर भगवान् व्यासने भी शिष्योंसहित आकर राजाको दर्शन दिया ॥ २२ ॥

ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभ्यवादयन् ॥ २३ ॥

उस समय कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र, पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदिने उठकर समागत महर्षियोंको प्रणाम किया ॥ २३ ॥

समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ॥ २४ ॥

तदनन्तर शतयूप आदिसे घिरे हुए नवागत महर्षि व्यास राजा धृतराष्ट्रसे बोले—'बैठ जाओ' ॥ २४ ॥

वरं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम्।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ॥ २५ ॥

इसके बाद व्यासजी स्वयं एक सुन्दर कुशासनपर, जो काले मृगचर्मसे आच्छादित तथा उन्हींके लिये बिछाया गया था, विराजमान हुए ॥ २५ ॥

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ॥ २६ ॥

फिर व्यासजीकी आज्ञासे अन्य सब महातेजस्वी श्रेष्ठ द्विजगण चारों ओर बिछे हुए कुशासनोंपर बैठ गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासागमने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासका आगमनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

महर्षि व्यासका धृतराष्ट्रसे कुशल पूछते हुए विदुर और युधिष्ठिरकी धर्मरूपताका प्रतिपादन करना और उनसे अभीष्ट वस्तु माँगनेके लिये कहना

वैशम्पायन उवाच

ततः समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महात्मा पाण्डवोंके बैठ जानेपर सत्यवतीनन्दन व्यासने इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो कच्चित् ते वर्धते तपः।
कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे नराधिप ॥ २ ॥

'महाबाहु धृतराष्ट्र ! तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है न ? नरेश्वर ! वनवासमें तुम्हारा मन तो लगता है न ? ॥ २ ॥

कच्चिद्धृदि न ते शोको राजन् पुत्रविनाशजः।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि सुप्रसन्नानि तेऽनघ ॥ ३ ॥

'राजन् ! अब कभी तुम्हारे मनमें अपने पुत्रोंके मारे जानेका शोक तो नहीं होता ? निष्पाप नरेश ! तुम्हारी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल तो हो गयी हैं न ? ॥ ३ ॥

कच्चिद् बुद्धिं दृढां कृत्वा चरस्यारण्यकं विधिम्।
कच्चिद् वधूश्च गान्धारी न शोकेनाभिभूयते ॥ ४ ॥

'क्या तुम अपनी बुद्धिको दृढ़ करके वनवासके कठोर नियमोंका पालन करते हो ? बहू गान्धारी कभी शोकके वशीभूत तो नहीं होती ? ॥ ४ ॥

महाप्रज्ञा बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति ॥ ५ ॥

'गान्धारी बड़ी बुद्धिमती और महाविदुषी है। यह देवी धर्म और अर्थको समझनेवाली तथा जन्म-मरणके तत्त्वको जाननेवाली है। इसे तो कभी शोक नहीं होता है ॥ ५ ॥

कच्चित् कुन्ती च राजंस्त्वां शुश्रूषत्यनहंकृता।
या परित्यज्य स्वं पुत्रं गुरुशुश्रूषणे रता ॥ ६ ॥

'राजन् ! जो अपने पुत्रोंको त्यागकर गुरुजनोंकी सेवामें लगी हुई है, वह कुन्ती क्या अहंकारशून्य होकर तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा करती है ? ॥ ६ ॥

कच्चिद् धर्मसुतो राजा त्वया प्रत्यभिनन्दितः।
भीमार्जुनयमाश्चैव कच्चिदेतेऽपि सान्त्विताः ॥ ७ ॥

'क्या तुमने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया है ? भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको भी धीरज बँधाया है ? ॥ ७ ॥

कच्चिन्नन्दसि दृष्ट्वैतान् कच्चित् ते निर्मलं मनः।
कच्चिच्च शुद्धभावोऽसि जातज्ञानो नराधिप ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! क्या इन्हें देखकर तुम प्रसन्न होते हो ? क्या इनकी ओरसे तुम्हारे मनकी मैल दूर हो गयी है ? क्या ज्ञान-सम्पन्न होनेके कारण तुम्हारे हृदयका भाव शुद्ध हो गया है ? ॥ ८ ॥

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च ॥ ९ ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! किसीसे वैर न रखना, सत्य बोलना और क्रोधको सर्वथा त्याग देना—ये तीन गुण सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ ९ ॥

कच्चित् ते न च मोहोऽस्ति वनवासेन भारत।
स्ववशे वन्यमन्नं वा उपवासोऽपि वा भवेत् ॥ १० ॥

'भारत ! वनमें उत्पन्न हुआ अन्न तुम्हारे वशमें रहे

अथवा तुम्हें उपवास करना पड़े, सभी दशाओंमें वनवाससे तुम्हें मोह तो नहीं होता है ? ॥ १० ॥

विदितं चापि राजेन्द्र विदुरस्य महात्मनः ।
गमनं विधिनानेन धर्मस्य सुमहात्मनः ॥ ११ ॥

'राजेन्द्र ! महात्मा विदुरके, जो साक्षात् महामना धर्मके स्वरूप थे, इस विधिसे परलोकगमनका समाचार तो तुम्हें ज्ञात हुआ ही होगा ॥ ११ ॥

माण्डव्यशापाद्धि स वै धर्मो विदुरतां गतः ।
महाबुद्धिर्महायोगी महात्मा सुमहामनाः ॥ १२ ॥

'माण्डव्यमुनिके शापसे धर्म ही विदुररूपमें अवतीर्ण हुए थे । वे परम बुद्धिमान्, महान् योगी, महात्मा और महामनस्वी थे ॥ १२ ॥

बृहस्पतिर्वा देवेषु शुक्रो वाप्यसुरेषु च ।
न तथा बुद्धिसम्पन्नो यथा स पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

'देवताओंमें बृहस्पति और असुरोंमें शुक्राचार्य भी वैसे बुद्धिमान् नहीं हैं, जैसे पुरुषप्रवर विदुर थे ॥ १३ ॥

तपोबलव्ययं कृत्वा सुचिरात् सम्भृतं तदा ।
माण्डव्येनर्षिणा धर्मो ह्यभिभूतः सनातनः ॥ १४ ॥

'माण्डव्य ऋषिने चिरकालसे संचित किये हुए तपोबलका क्षय करके सनातन धर्मदेवको (शाप देकर) पराभूत किया था ॥ १४ ॥

नियोगाद् ब्रह्मणः पूर्वं मया स्वेन बलेन च ।
वैचित्रवीर्यके क्षेत्रे जातः स सुमहामतिः ॥ १५ ॥

'मैंने पूर्वकालमें ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार अपने तपोबलसे विचित्रवीर्यके क्षेत्र (भार्या) में उस परम बुद्धिमान् विदुरको उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥

भ्राता तव महाराज देवदेवः सनातनः ।
धारणान्मनसा ध्यानाद् यं धर्मं कवयो विदुः ॥ १६ ॥

'महाराज ! तुम्हारे भाई विदुर देवताओंके भी देवता सनातन धर्म थे । मनके द्वारा धर्मका धारण और ध्यान किया जाता है, इसलिये विद्वान् पुरुष उन्हें धर्मके नामसे जानते हैं ॥ १६ ॥

सत्येन संवर्धयति यो दमेन शमेन च ।
अहिंसया च दानेन तप्यमानः सनातनः ॥ १७ ॥

'जो सत्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, अहिंसा और दानके रूपमें सेवित होनेपर जगत्के अभ्युदयका साधक होता है, वह सनातनधर्म विदुरसे भिन्न नहीं है ॥ १७ ॥

येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धर्म इत्येष नृपते प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ १८ ॥

'जिस अमित बुद्धिमान् और प्राज्ञ देवताने योगबलसे कुरुराज युधिष्ठिरको जन्म दिया था, वह धर्म विदुरका ही स्वरूप है ॥ १८ ॥

यथा वह्निर्यथा वायुर्यथाऽऽपः पृथिवी यथा ।
यथाऽऽकाशं तथा धर्म इह चामुत्र च स्थितः ॥ १९ ॥

'जैसे अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाशकी सत्ता इहलोक और परलोकमें भी है, उसी प्रकार धर्म भी उभय लोकमें व्याप्त है ॥ १९ ॥

सर्वगश्चैव राजेन्द्र सर्वं व्याप्य चराचरम् ।
दृश्यते देवदेवैः स सिद्धैर्निर्मुक्तकल्मषैः ॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! धर्मकी सर्वत्र गति है तथा वह सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है । जिनके समस्त पाप धुल गये हैं, वे सिद्ध पुरुष तथा देवताओंके देवता ही धर्मका साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

यो हि धर्मः स विदुरो विदुरो यः स पाण्डवः ।
स एष राजन् दृश्यस्ते पाण्डवः प्रेष्यवत् स्थितः॥ २१ ॥

'जिन्हें धर्म कहते हैं वे ही विदुर थे और जो विदुर थे, वे ही ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर हैं, जो इस समय तुम्हारे सामने दासकी भाँति खड़े हैं ॥ २१ ॥

प्रविष्टः स महात्मानं भ्राता ते बुद्धिसत्तमः ।
दृष्ट्वा महात्मा कौन्तेयं महायोगबलान्वितः ॥ २२ ॥

'महान् योगबलसे सम्पन्न और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे भाई महात्मा विदुर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको सामने देखकर इन्हींके शरीरमें प्रविष्ट हो गये हैं ॥ २२ ॥

त्वां चापि श्रेयसा योक्ष्ये न चिराद् भरतर्षभ ।
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तं मां विद्धि पुत्रक ॥ २३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अब तुम्हें भी मैं शीघ्र ही कल्याणका भागी बनाऊँगा । बेटा ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि इस समय मैं तुम्हारे संशयोंका निवारण करनेके लिये आया हूँ ॥ २३ ॥

न कृतं यैः पुरा कैश्चित् कर्म लोके महर्षिभिः ।
आश्चर्यभूतं तपसः फलं तद् दर्शयामि वः ॥ २४ ॥

'पूर्वकालके किन्हीं महर्षियोंने संसारमें अबतक जो चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं किया था, वह भी आज मैं कर दिखाऊँगा । आज मैं तुम्हें अपनी तपस्याका आश्चर्यजनक फल दिखलाता हूँ ॥ २४ ॥

किमिच्छसि महीपाल मत्तः प्राप्तुमभीप्सितम् ।
द्रष्टुं स्प्रष्टुमथ श्रोतुं तत्कर्ताऽस्मि तवानघ ॥ २५ ॥

'निष्पाप महीपाल ! बताओ, तुम मुझसे कौन-सी अभीष्ट वस्तु पाना चाहते हो ? किसको देखने, सुनने अथवा स्पर्श करनेकी तुम्हारी इच्छा है ? मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि आश्रमवासपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत आश्रमवासपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(पुत्रदर्शनपर्व)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका मृत बान्धवोंके शोकसे दुखी होना तथा गान्धारी और कुन्तीका व्यासजीसे अपने मरे हुए पुत्रोंके दर्शन करनेका अनुरोध

जनमेजय उवाच

वनवासं गते विप्र धृतराष्ट्रे महीपतौ।
सभार्ये नृपशार्दूले वध्वा कुन्त्या समन्विते ॥ १ ॥
विदुरे चापि संसिद्धे धर्मराजं व्यपाश्रिते।
वसत्सु पाण्डुपुत्रेषु सर्वेष्वाश्रममण्डले ॥ २ ॥
यत् तदाश्चर्यमिति वै करिष्यामीत्युवाच ह।
व्यासः परमतेजस्वी महर्षिस्तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! जब अपनी धर्मपत्नी गान्धारी और बहू कुन्तीके साथ नृपश्रेष्ठ पृथ्वीपति धृतराष्ट्र वनवासके लिये चले गये, विदुरजी सिद्धिको प्राप्त होकर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें प्रविष्ट हो गये और समस्त पाण्डव आश्रममण्डलमें निवास करने लगे, उस समय परम तेजस्वी व्यासजीने जो यह कहा था कि 'मैं आश्चर्यजनक घटना प्रकट करूँगा' वह किस प्रकार हुई ? यह मुझे बताइये ? ॥

वनवासे च कौरव्यः कियन्तं कालमच्युतः।
युधिष्ठिरो नरपतिर्न्यवसत् सजनस्तदा ॥ ४ ॥

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर कितने दिनोंतक सब लोगोंके साथ वनमें रहे थे ? ॥

किमाहाराश्च ते तत्र ससैन्या न्यवसन् प्रभो।
सान्तःपुरा महात्मान इति तद् ब्रूहि मेऽनघ ॥ ५ ॥

प्रभो ! निष्पाप मुने ! सैनिकों और अन्तःपुरकी स्त्रियों-के साथ वे महात्मा पाण्डव क्या आहार करके वहाँ निवास करते थे ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽनुज्ञातास्तदा राजन् कुरुराजेन पाण्डवाः।
विविधान्यन्नपानानि विश्राम्यानुभवन्ति ते ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! कुरुराज धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको नाना प्रकारके अन्न-पान ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दी थी; अतः वे वहाँ विश्राम पाकर सभी तरहके उत्तम भोजन करते थे॥ ६ ॥

मासमेकं विजह्रुस्ते ससैन्यान्तःपुरा वने।
अथ तत्रागमद् व्यासो यथोक्तं ते मयानघ ॥ ७ ॥

वे सेनाओं तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ वहाँ एक मासतक वनमें विहार करते रहे। अनघ ! इसी बीचमें जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, वहाँ व्यासजीका आगमन हुआ ॥

तथा च तेषां सर्वेषां कथाभिर्नृपसंनिधौ।
व्यासमन्वासयतां राजन्नाजग्मुर्मुनयो परे ॥ ८ ॥

राजन् ! राजा धृतराष्ट्रके समीप व्यासजीके पीछे बैठे हुए उन सबलोगोंमें जब उपर्युक्त बातें होती रहीं, उसी समय वहाँ दूसरे-दूसरे मुनि भी आये ॥ ८ ॥

नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः।
विश्वावसुस्तुम्बुरुश्च चित्रसेनश्च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! उनमें नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, विश्वावसु, तुम्बुरु तथा चित्रसेन भी थे ॥ ९ ॥

तेषामपि यथान्यायं पूजां चक्रे महातपाः।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे महातपस्वी कुरुराज युधिष्ठिरने उन सबकी भी यथोचित पूजा की ॥ १० ॥

निषेदुस्ते ततः सर्वे पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात्।
आसनेषु च पुण्येषु बर्हिणेषु वरेषु च ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरसे पूजा ग्रहण करके वे सब-के-सब मोरपंखके बने हुए पवित्र एवं श्रेष्ठ आसनोंपर विराजमान हुए ॥ ११॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु स तु राजा महामतिः।
पाण्डुपुत्रैः परिवृतो निषसाद कुरूद्वह ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उन सबके बैठ जानेपर पाण्डवोंसे घिरे हुए परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बैठे ॥ १२ ॥

गान्धारी चैव कुन्ती च द्रौपदी सात्वती तथा।
स्त्रियश्चान्यास्तथान्याभिः सहोपविविशुस्ततः ॥ १३ ॥

गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा दूसरी स्त्रियाँ अन्य स्त्रियोंके साथ आसपास ही एक साथ बैठ गयीं ॥१३॥

तेषां तत्र कथा दिव्या धर्मिष्ठाश्चाभवन् नृप।
ऋषीणां च पुराणानां देवासुरविमिश्रिताः ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! उस समय उन लोगोंमें धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली दिव्य कथाएँ होने लगीं। प्राचीन ऋषियों तथा देवताओं और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाएँ छिड़ गयीं ॥

ततः कथान्ते व्यासस्तं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठः पुनरेव स तद् वचः ॥ १५ ॥
प्रीयमाणो महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।

बातचीतके अन्तमें सम्पूर्ण वेदवेत्ताओं और वक्ताओंमें

श्रेष्ठ महातेजस्वी महर्षि व्यासजीने प्रसन्न होकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रसे पुनः वही बात कही ॥ १५½ ॥

विदितं मम राजेन्द्र यत् ते हृदि विवक्षितम् ॥ १६ ॥
दह्यमानस्य शोकेन तव पुत्रकृतेन वै ।

'राजेन्द्र ! तुम्हारे हृदयमें जो कहनेकी इच्छा हो रही है, उसे मैं जानता हूँ । तुम निरन्तर अपने मरे हुए पुत्रोंके शोकसे जलते रहते हो ॥ १६½ ॥

गान्धार्याश्चैव यद् दुःखं हृदि तिष्ठति नित्यदा ॥ १७ ॥
कुन्त्याश्च यन्महाराज द्रौपद्याश्च हृदि स्थितम् ।

'महाराज ! गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदीके हृदयमें भी जो दुःख सदा बना रहता है, वह भी मुझे ज्ञात है ॥ १७½ ॥

यच्च धारयते तीव्रं दुःखं पुत्रविनाशजम् ॥ १८ ॥
सुभद्रा कृष्णभगिनी तच्चापि विदितं मम ।

'श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा अपने पुत्र अभिमन्युके मारे जानेका जो दुःसह दुःख हृदयमें धारण करती है, वह भी मुझसे अज्ञात नहीं है ॥ १८½ ॥

श्रुत्वा समागममिमं सर्वेषां वस्तुतो नृप ॥ १९ ॥
संशयच्छेदनार्थाय प्राप्तः कौरवनन्दन ।

'कौरवनन्दन ! नरेश्वर ! वास्तवमें तुम सब लोगोंका यह समागम सुनकर तुम्हारे मानसिक संदेहोंका निवारण करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ ॥ १९½ ॥

इमे च देवगन्धर्वाः सर्वे चेमे महर्षयः ॥ २० ॥
पश्यन्तु तपसो वीर्यमद्य मे चिरसम्भृतम् ।

'ये देवता, गन्धर्व और महर्षि सब लोग आज मेरी चिरसंचित तपस्याका प्रभाव देखें ॥ २०½ ॥

तदुच्यतां महाप्राज्ञ कं कामं प्रददामि ते ॥ २१ ॥
प्रवणोऽस्मि वरं दातुं पश्य मे तपसः फलम् ।

'महाप्राज्ञ नरेश ! बोलो, मैं तुम्हें कौन-सा अभीष्ट मनोरथ प्रदान करूँ ? आज मैं तुम्हें मनोवाञ्छित वर देनेको तैयार हूँ । तुम मेरी तपस्याका फल देखो' ॥ २१½ ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्रो व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २२ ॥
मुहूर्तमिव संचिन्त्य वचनायोपचक्रमे ।

अमित बुद्धिमान् महर्षि व्यासके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने दो घड़ीतक विचार करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ २२½ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतश्च सफलं जीवितं च मे ॥ २३ ॥
यन्मे समागमोऽद्येह भवद्भिः सह साधुभिः ।

'भगवन् ! आज मैं धन्य हूँ, आपलोगोंकी कृपाका पात्र हूँ तथा मेरा यह जीवन भी सफल है; क्योंकि आज यहाँ आप-जैसे साधु-महात्माओंका समागम मुझे प्राप्त हुआ है २३½

अद्य चाप्यवगच्छामि गतिमिष्टामिहात्मनः ॥ २४ ॥
ब्रह्मकल्पैर्भवद्भिर्यत् समेतोऽहं तपोधनाः ।

'तपोधनो ! आप ब्रह्मतुल्य महात्माओंका जो संग मुझे प्राप्त हुआ उससे मैं समझता हूँ कि यहाँ अपने लिये अभीष्ट गति मुझे प्राप्त हो गयी ॥ २४½ ॥

दर्शनादेव भवतां पूतोऽहं नात्र संशयः ॥ २५ ॥
विद्यते न भयं चापि परलोकान्ममानघाः ।

'इसमें संदेह नहीं कि मैं आपलोगोंके दर्शनमात्रसे पवित्र हो गया । निष्पाप महर्षियो ! अब मुझे परलोकसे कोई भय नहीं है ॥ २५½ ॥

किं तु तस्य सुदुर्बुद्धेर्मन्दस्यापनयैर्भृशम् ॥ २६ ॥
दूयते मे मनो नित्यं स्मरतः पुत्रगृद्धिनः ।

'परंतु अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले उस मन्दमति दुर्योधनके अन्यायोंसे जो मेरे सारे पुत्र मारे गये हैं, उन्हें पुत्रोंमें आसक्त रहनेवाला मैं सदा याद करता हूँ; इसलिये मेरे मनमें बड़ा दुःख होता है ॥ २६½ ॥

अपापाः पाण्डवा येन निकृताः पापबुद्धिना ॥ २७ ॥
घातिता पृथिवी येन सहया सनरद्विपा ।

पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस दुर्योधनने निरपराध पाण्डवोंको सताया तथा घोड़ों, मनुष्यों और हाथियोंसहित इस सारी पृथ्वीके वीरोंका विनाश करा डाला ॥ २७½ ॥

राजानश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः ॥ २८ ॥
आगम्य मम पुत्रार्थे सर्वे मृत्युवशं गताः ।

अनेक देशोंके स्वामी महामनस्वी नरेश मेरे पुत्रकी सहायताके लिये आकर सब-के-सब मृत्युके अधीन हो गये ॥

ये ते पितॄंश्च दारांश्च प्राणांश्च मनसः प्रियान् ॥ २९ ॥
परित्यज्य गताः शूराः प्रेतराजनिवेशनम् ।

वे सब शूरवीर भूपाल अपने पिताओं, पत्नियों, प्राणों और मनको प्रिय लगनेवाले भोगोंका परित्याग करके यमलोकको चले गये ॥ २९½ ॥

का नु तेषां गतिर्ब्रह्मन् मित्रार्थे ये हता मृधे ॥ ३० ॥
तथैव पुत्रपौत्राणां मम ये निहता युधि ।

'ब्रह्मन् ! जो मित्रके लिये युद्धमें मारे गये उन राजाओंकी क्या गति हुई होगी ? तथा जो रणभूमिमें वीरगतिको प्राप्त हुए हैं, उन मेरे पुत्रों और पौत्रोंको किस गतिकी प्राप्ति हुई होगी ? ॥ ३०½ ॥

दूयते मे मनोऽभीक्ष्णं घातयित्वा महाबलम् ॥ ३१ ॥
भीष्मं शान्तनवं वृद्धं द्रोणं च द्विजसत्तमम् ।

'महाबली शान्तनुनन्दन भीष्म तथा वृद्ध ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यका वध कराकर मेरे मनको बारंबार दुःसह संताप प्राप्त होता है ॥ ३१½ ॥

मम पुत्रेण मूढेन पापेनाकृतबुद्धिना ॥ ३२ ॥
क्षयं नीतं कुलं दीप्तं पृथिवीराज्यमिच्छता ।

'अपवित्र बुद्धिवाले मेरे पापी एवं मूर्ख पुत्रने समस्त भूमण्डलके राज्यका लोभ करके अपने दीप्तिमान् कुलका विनाश कर डाला ॥ ३२½ ॥

एतत् सर्वमनुस्मृत्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३३ ॥
न शान्तिमधिगच्छामि दुःखशोकसमाहतः ।
इति मे चिन्तयानस्य पितः शान्तिर्न विद्यते ॥ ३४ ॥

'ये सारी बातें याद करके मैं दिन-रात जलता रहता हूँ । दुःख और शोकसे पीड़ित होनेके कारण मुझे शान्ति नहीं मिलती है। पिताजी ! इन्हीं चिन्ताओंमें पड़े-पड़े मुझे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती' ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा विविधं तस्य राजर्षेः परिदेवितम् ।
पुनर्नवीकृतः शोको गान्धार्या जनमेजय ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजर्षि धृतराष्ट्रका वह भाँति-भाँतिसे विलाप सुनकर गान्धारीका शोक फिरसे नया-सा हो गया ॥ ३५ ॥

कुन्त्या द्रुपदपुत्र्याश्च सुभद्रायास्तथैव च ।
तासां च वरनारीणां वधूनां कौरवस्य ह ॥ ३६ ॥

कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा कुरुराजकी उन सुन्दरी बहुओंका शोक भी फिरसे उमड़ आया ॥ ३६ ॥

पुत्रशोकसमाविष्टा गान्धारी त्विदमब्रवीत् ।
श्वशुरं बद्धनयना देवी प्राञ्जलिरुत्थिता ॥ ३७ ॥

आँखोंपर पट्टी बाँधे गान्धारी देवी श्वशुरके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं और पुत्रशोकसे संतप्त होकर इस प्रकार बोलीं ॥ ३७ ॥

षोडशेमानि वर्षाणि गतानि मुनिपुङ्गव ।
अस्य राज्ञो हतान् पुत्राञ्शोचतो न शमो विभो ॥ ३८ ॥

मुनिवर ! प्रभो ! इन महाराजको अपने मरे हुए पुत्रोंके लिये शोक करते आज सोलह वर्ष बीत गये; किंतु अबतक इन्हें शान्ति नहीं मिली ॥ ३८ ॥

पुत्रशोकसमाविष्टो निःश्वसन् ह्येष भूमिपः ।
न शेते वसतीः सर्वा धृतराष्ट्रो महामुने ॥ ३९ ॥

'महामुने ! ये भूमिपाल धृतराष्ट्र पुत्रशोकसे संतप्त हो सदा लम्बी साँस खींचते और आहें भरते रहते हैं । इन्हें रातभर कभी नींद नहीं आती ॥ ३९ ॥

लोकानन्यान् समर्थोऽसि स्रष्टुं सर्वांस्तपोबलात् ।
किमु लोकान्तरगतान् राज्ञो दर्शयितुं सुतान् ॥ ४० ॥

'आप अपने तपोबलसे इन सब लोकोंकी दूसरी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, फिर लोकान्तरमें गये हुए पुत्रोंको एक बार राजासे मिला देना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ४० ॥

इयं च द्रौपदी कृष्णा हतज्ञातिसुता भृशम् ।
शोचत्यतीव सर्वासां स्नुषाणां दयिता स्नुषा ॥ ४१ ॥

'यह द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपनी समस्त पुत्र-वधुओंमें सबसे अधिक प्रिय है । इस बेचारीके भाई-बन्धु और पुत्र सभी मारे गये हैं; जिससे यह अत्यन्त शोकमग्न रहा करती है ॥

तथा कृष्णस्य भगिनी सुभद्रा भद्रभाषिणी ।
सौभद्रवधसंतप्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४२ ॥

'सदा मङ्गलमय वचन बोलनेवाली श्रीकृष्णकी बहिन भाविनी सुभद्रा सर्वदा अपने पुत्र अभिमन्युके वधसे संतप्त हो निरन्तर शोकमें ही डूबी रहती है ॥ ४२ ॥

इयं च भूरिश्रवसो भार्या परमसम्मता ।
भर्तृव्यसनशोकार्ता भृशं शोचति भाविनी ॥ ४३ ॥
यस्यास्तु श्वशुरो धीमान् बाह्लिकः स कुरूद्वहः ।
निहतः सोमदत्तश्च पित्रा सह महारणे ॥ ४४ ॥

'ये भूरिश्रवाकी परमप्यारी पत्नी बैठी है, जो पतिकी मृत्युके शोकसे व्याकुल हो अत्यन्त दुःखमें मग्न रहती है । इसके बुद्धिमान् श्वशुर कुरुश्रेष्ठ बाह्लिक भी मारे गये हैं । भूरिश्रवाके पिता सोमदत्त भी अपने पिताके साथ ही उस महासमरमें वीरगतिको प्राप्त हुए थे ॥ ४३-४४ ॥

श्रीमतोऽस्य महाबुद्धेः संग्रामेष्वपलायिनः ।
पुत्रस्य ते पुत्रशतं निहतं यद् रणाजिरे ॥ ४५ ॥
तस्य भार्याशतमिदं दुःखशोकसमाहतम् ।
पुनः पुनर्वर्धयानं शोकं राज्ञो ममैव च ॥ ४६ ॥
तेनारम्भेण महता मामुपास्ते महामुने ।

'आपके पुत्र, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले, परम बुद्धिमान् जो ये श्रीमान् महाराज हैं, इनके जो सौ पुत्र समराङ्गणमें मारे गये थे, उनकी ये सौ स्त्रियाँ बैठी हैं । ये मेरी बहुएँ दुःख और शोकके आघात सहन करती हुई मेरे और महाराजके भी शोकको बारंबार बढ़ा रही हैं । महामुने ! ये सब-की-सब शोकके महान् आवेगसे रोती हुई मुझे ही घेरकर बैठी रहती हैं ॥

ये च शूरा महात्मानः श्वशुरा मे महारथाः ॥ ४७ ॥
सोमदत्तप्रभृतयः का नु तेषां गतिः प्रभो ।

'प्रभो ! जो मेरे महामनस्वी श्वशुर शूरवीर महारथी सोमदत्त आदि मारे गये हैं, उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई है ? ॥

तव प्रसादाद् भगवन् विशोकोऽयं महीपतिः ॥ ४८ ॥
यथा स्याद् भविता चाहं कुन्ती चेयं वधूस्तव ।

'भगवन् ! आपके प्रसादसे ये महाराज, मैं और आपकी बहू कुन्ती—ये सब-के-सब जैसे भी शोकरहित हो जायँ, ऐसी कृपा कीजिये ॥ ४८½ ॥

इत्युक्तवत्यां गान्धार्यां कुन्ती व्रतकृशानना ॥ ४९ ॥
प्रच्छन्नजातं पुत्रं तं सस्मारादित्यसंनिभम् ।

जब गान्धारीने इस प्रकार कहा, तब व्रतसे दुर्बल मुखवाली कुन्तीने गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी पुत्र कर्णका स्मरण किया ॥ ४९½ ॥

तामृषिर्वरदो व्यासो दूरश्रवणदर्शनः ॥ ५० ॥
अपश्यद् दुःखितां देवीं मातरं सव्यसाचिनः ।

दूरतककी देखने-सुनने और समझनेवाले वरदायक ऋषि व्यासने अर्जुनकी माता कुन्तीदेवीको दुःखमें डूबी हुई देखा ॥ ५०½ ॥

तामुवाच ततो व्यासो यत् ते कार्यं विवक्षितम् ॥ ५१ ॥
तद् ब्रूहि त्वं महाभागे यत् ते मनसि वर्तते ।

तब भगवान् व्यासने उनसे कहा—'महाभागे ! तुम्हें किसी कार्यके लिये यदि कुछ कहनेकी इच्छा हो, तुम्हारे मनमें यदि कोई बात उठी हो, तो उसे कहो ॥' ५१½ ॥

श्वशुराय ततः कुन्ती प्रणम्य शिरसा तदा ॥ ५२ ॥
उवाच वाक्यं सव्रीडा विवृण्वाना पुरातनम् ॥ ५३ ॥

तब कुन्तीने मस्तक झुकाकर श्वशुरको प्रणाम किया और लज्जित हो प्राचीन गुप्त रहस्यको प्रकट करते हुए कहा ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि धृतराष्ट्रादिकृतप्रार्थने एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें धृतराष्ट्र आदिकी की हुई प्रार्थनाविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥



त्रिंशोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णके जन्मका गुप्त रहस्य बताना और व्यासजीका उन्हें सान्त्वना देना

कुन्त्युवाच

भगवञ्श्वशुरो मेऽसि दैवतस्यापि दैवतम् ।
स मे देवातिदेवस्त्वं शृणु सत्यां गिरं मम ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—भगवन् ! आप मेरे श्वशुर हैं, मेरे देवताके भी देवता हैं; अतः मेरे लिये देवताओंसे भी बढ़कर हैं (आज मैं आपके सामने अपने जीवनका एक गुप्त रहस्य प्रकट करती हूँ) । मेरी यह सच्ची बात सुनिये ॥ १ ॥

तपस्वी कोपनो विप्रो दुर्वासा नाम मे पितुः ।
भिक्षामुपागतो भोक्तुं तमहं पर्यतोषयम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, परम क्रोधी तपस्वी ब्राह्मण दुर्वासा मेरे पिताके यहाँ भिक्षाके लिये आये थे । मैंने उन्हें अपने द्वारा की गयी सेवाओंसे संतुष्ट कर लिया ॥ २ ॥

शौचेन त्वागसस्त्यागैः शुद्धेन मनसा तथा ।
कोपस्थानेष्वपि महत्स्वकुप्यन्न कदाचन ॥ ३ ॥

मैं शौचाचारका पालन करती, अपराधसे बची रहती और शुद्ध हृदयसे उनकी आराधना करती थी । क्रोधके बड़े-से-बड़े कारण उपस्थित होनेपर भी मैंने कभी उनपर क्रोध नहीं किया ॥ ३ ॥

स प्रीतो वरदो मेऽभूत् कृतकृत्यो महामुनिः ।
अवश्यं ते गृहीतव्यमिति मां सोऽब्रवीद् वचः ॥ ४ ॥

इससे वे वरदायक महामुनि मुझपर बहुत प्रसन्न हुए । जब उनका कार्य पूरा हो गया तब वे बोले—'तुम्हें मेरा दिया हुआ वरदान अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा' ॥ ४ ॥

ततः शापभयाद् विप्रमवोचं पुनरेव तम् ।
एवमस्त्विति च प्राह पुनरेव स मे द्विजः ॥ ५ ॥

उनकी बात सुनकर मैंने शापके भयसे पुनः उन ब्रह्मर्षिसे कहा—'भगवन् ! ऐसा ही हो ।' तब वे ब्राह्मणदेवता फिर मुझसे बोले—॥ ५ ॥

धर्मस्य जननी भद्रे भवित्री त्वं शुभानने ।
वशे स्थास्यन्ति ते देवा यांस्त्वमावाहयिष्यसि ॥ ६ ॥

'भद्रे ! तुम धर्मकी जननी होओगी । शुभानने ! तुम जिन देवताओंका आवाहन करोगी वे तुम्हारे वशमें हो जायँगे ॥'

इत्युक्त्वान्तर्हितो विप्रस्ततोऽहं विस्मिताभवम् ।
न च सर्वास्ववस्थासु स्मृतिर्मे विप्रणश्यति ॥ ७ ॥

यों कहकर वे ब्रह्मर्षि अन्तर्धान हो गये । उस समय मैं वहाँ आश्चर्यसे चकित हो गयी । किसी भी अवस्थामें उनकी बात मुझे भूलती नहीं थी ॥ ७ ॥

अथ हर्म्यतलस्थाहं रविमुद्यन्तमीक्षती ।
संस्मृत्य तदृषेर्वाक्यं स्पृहयन्ती दिवानिशम् ॥ ८ ॥

एक दिन जब मैं अपने महलकी छतपर खड़ी थी, उगते हुए सूर्यपर मेरी दृष्टि पड़ी । महर्षि दुर्वासाके वचनोंका स्मरण करके मैं दिन-रात सूर्यदेवको चाहने लगी ॥ ८ ॥

स्थिताऽहं बालभावेन तत्र दोषमबुद्ध्यती ।
अथ देवः सहस्रांशुर्मत्समीपगतोऽभवत् ॥ ९ ॥

उस समय मैं बाल-स्वभावसे युक्त थी । सूर्यदेवके आगमनसे किस दोषकी प्राप्ति होगी, इसे मैं नहीं समझ सकी ।

इधर मेरे आवाहन करते ही भगवान् सूर्य पास आकर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहं भूमौ च गगनेऽपि च।
तताप लोकानेकेन द्वितीयेनागमत् स माम् ॥ १० ॥

वे अपने दो शरीर बनाकर एकसे आकाशमें रहकर सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करने लगे और दूसरेसे पृथ्वीपर मेरे पास आ गये ॥ १० ॥

स मामुवाच वेपन्तीं वरं मत्तो वृणीष्व ह।
गम्यतामिति तं चाहं प्रणम्य शिरसावदम् ॥ ११ ॥

मैं उन्हें देखते ही काँपने लगी। वे बोले—'देवि! मुझसे कोई वर माँगो।' तब मैंने सिर झुकाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'कृपया यहाँसे चले जाइये।'

स मामुवाच तिग्मांशुर्वृथाऽऽह्वानं न मे क्षमम्।
धक्ष्यामि त्वां च विप्रं च येन दत्तो वरस्तव ॥ १२ ॥

तब उन प्रचण्डरश्मि सूर्यने मुझसे कहा—'मेरा आवाहन व्यर्थ नहीं हो सकता। तुम कोई-न-कोई वर अवश्य माँग लो अन्यथा मैं तुमको और जिसने तुम्हें वर दिया है, उस ब्राह्मणको भी भस्म कर डालूँगा' ॥ १२ ॥

तमहं रक्षती विप्रं शापादनपकारिणम्।
पुत्रो मे त्वत्समो देव भवेदिति ततोऽब्रवम् ॥ १३ ॥
ततो मां तेजसाऽऽविश्य मोहयित्वा च भानुमान्।
उवाच भविता पुत्रस्तवेत्यभ्यगमद् दिवम् ॥ १४ ॥

तब मैं उन निरपराध ब्राह्मणको शापसे बचाती हुई बोली—'देव! मुझे आपके समान पुत्र प्राप्त हो।' इतना कहते ही सूर्यदेव मुझे मोहित करके अपने तेजके द्वारा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो गये। तत्पश्चात् बोले—'तुम्हें एक तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा।' ऐसा कहकर वे आकाशमें चले गये ॥

ततोऽहमन्तर्भवने पितुर्वृत्तान्तरक्षिणी।
गूढोत्पन्नं सुतं बालं जले कर्णमवासृजम् ॥ १५ ॥

तबसे मैं इस वृत्तान्तको पिताजीसे छिपाये रखनेके लिये महलके भीतर ही रहने लगी और जब गुप्तरूपसे बालक उत्पन्न हुआ तो उसे मैंने पानीमें बहा दिया। वही मेरा पुत्र कर्ण था॥

नूनं तस्यैव देवस्य प्रसादात् पुनरेव तु।
कन्याहमभवं विप्र यथा प्राह स मामृषिः ॥ १६ ॥

विप्रवर! उसके जन्मके बाद पुनः उन्हीं भगवान् सूर्यकी कृपासे मैं कन्याभावको प्राप्त हो गयी। जैसा कि उन महर्षिने कहा था, वैसा ही हुआ ॥ १६ ॥

स मया मूढया पुत्रो ज्ञायमानोऽप्युपेक्षितः।
तन्मां दहति विप्रर्षे यथा सुविदितं तव ॥ १७ ॥

ब्रह्मर्षे! मुझ मूढ़ नारीने अपने पुत्रको पहचान लिया तो भी उसकी उपेक्षा कर दी। यह भूल मुझे शोकाग्निसे दग्ध करती रहती है। आपको तो यह बात अच्छी तरह ज्ञात ही है ॥ १७ ॥

यदि पापमपापं वा तवैतद् विवृतं मया।
तन्मे दहन्तं भगवन् व्यपनेतुं त्वमर्हसि ॥ १८ ॥

भगवन्! मेरा यह कार्य पाप हो या पुण्य, मैंने इसे आपके सामने प्रकट कर दिया। आप मेरे उस दाहक शोकको दूर कर दें ॥ १८ ॥

यच्चास्य राज्ञो विदितं हृदिस्थं भवतोऽनघ।
तं चायं लभतां काममद्यैव मुनिसत्तम ॥ १९ ॥

निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! इन महाराजके हृदयमें जो बात है, वह भी आपको विदित ही है। ये अपने मनोरथको आज ही प्राप्त करें, ऐसी कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो वेदविदां वरः।
साधु सर्वमिदं भाव्यमेवमेतद् यथाऽऽत्थ माम् ॥ २० ॥

कुन्तीके इस प्रकार कहनेपर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यासने कहा—'बेटी! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है, ऐसी ही होनहार थी ॥ २० ॥

अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि।
देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै ॥ २१ ॥

'इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है; क्योंकि उस समय तुम अभी कुमारी बालिका थी। देवतालोग अणिमा आदि ऐश्वर्योंसे सम्पन्न होते हैं; अतः दूसरेके शरीरोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये।
वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा ॥ २२ ॥

'बहुत-से ऐसे देवसमुदाय हैं, जो संकल्प, वचन, दृष्टि, स्पर्श तथा समागम—इन पाँचों प्रकारोंसे पुत्र उत्पन्न करते हैं॥

मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति।
इति कुन्ति विजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २३ ॥

'कुन्ती! देवधर्मके द्वारा मनुष्यधर्म दूषित नहीं होता, इस बातको जान लो। अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ २३ ॥

सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि।
सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ॥ २४ ॥

'बलवानोंका सब कुछ ठीक या लाभदायक है। बलवानोंका सारा कार्य पवित्र है। बलवानोंका सब कुछ धर्म है और बलवानोंके लिये सारी वस्तुएं अपनी हैं' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि व्यासकुन्तीसंवादे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें व्यास और कुन्तीका संवादविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा धृतराष्ट्र आदिके पूर्वजन्मका परिचय तथा उनके कहनेसे सब लोगोंका गङ्गा-तटपर जाना

व्यास उवाच

भद्रे द्रक्ष्यसि गान्धारि पुत्रान् भ्रातृन् सखींस्तथा।
वधूश्च पतिभिः सार्धं निशि सुप्तोत्थिता इव ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—भद्रे गान्धारि! आज रातमें तुम अपने पुत्रों, भाइयों और उनके मित्रोंको देखोगी। तुम्हारी वधुएँ तुम्हें पतियोंके साथ-साथ सोकर उठी हुई-सी दिखायी देंगी॥ १॥

कर्णं द्रक्ष्यति कुन्ती च सौभद्रं चापि यादवी।
द्रौपदी पञ्च पुत्रांश्च पितॄन् भ्रातॄंस्तथैव च ॥ २ ॥

कुन्ती कर्णको, सुभद्रा अभिमन्युको तथा द्रौपदी पाँचों पुत्रोंको, पिताको और भाइयोंको भी देखेगी॥ २॥

पूर्वमेवैष हृदये व्यवसायोऽभवन्मम।
यदास्मि चोदितो राज्ञा भवत्या पृथयैव च ॥ ३ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने, तुमने और कुन्तीने भी मुझे इसके लिये प्रेरित किया था, उससे पहले ही मेरे हृदयमें यह (मृत व्यक्तियोंके दर्शन करानेका) निश्चय हो गया था॥ ३॥

न ते शोच्या महात्मानः सर्व एव नरर्षभाः।
क्षत्रधर्मपराः सन्तस्तथा हि निधनं गताः ॥ ४ ॥

तुम्हें क्षत्रिय-धर्मपरायण होकर तदनुसार ही वीरगतिको प्राप्त हुए उन समस्त महामनस्वी, नरश्रेष्ठ वीरोंके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये॥ ४॥

भवितव्यमवश्यं तत् सुरकार्यमनिन्दिते।
अवतेरुस्ततः सर्वे देवभागा महीतलम् ॥ ५ ॥

सती-साध्वी देवि! यह देवताओंका कार्य था और इसी रूपमें अवश्य होनेवाला था; इसलिये सभी देवताओंके अंश इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे॥ ५॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव पिशाचा गुह्यराक्षसाः।
तथा पुण्यजनाश्चैव सिद्धा देवर्षयोऽपि च ॥ ६ ॥
देवाश्च दानवाश्चैव तथा देवर्षयोऽमलाः।
त एते निधनं प्राप्ताः कुरुक्षेत्रे रणाजिरे ॥ ७ ॥

गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच, गुह्यक, राक्षस, पुण्यजन, सिद्ध, देवर्षि, देवता, दानव तथा निर्मल देवर्षिगण—ये सभी यहाँ अवतार लेकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें वधको प्राप्त हुए हैं॥

गन्धर्वराजो यो धीमान् धृतराष्ट्र इति श्रुतः।
स एव मानुषे लोके धृतराष्ट्रः पतिस्तव ॥ ८ ॥

गन्धर्वोंके लोकमें जो बुद्धिमान् गन्धर्वराज धृतराष्ट्रके नामसे विख्यात हैं, वे ही मनुष्यलोकमें तुम्हारे पति धृतराष्ट्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं॥ ८॥

पाण्डुं मरुद्गणाद् विद्धि विशिष्टतममच्युतम्।
धर्मस्यांशोऽभवत् क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले राजा पाण्डुको तुम मरुद्गणोंसे भी श्रेष्ठतम समझो। विदुर धर्मके अंश थे। राजा युधिष्ठिर भी धर्मके ही अंश हैं॥ ९॥

कलिं दुर्योधनं विद्धि शकुनिं द्वापरं तथा।
दुःशासनादीन् विद्धि त्वं राक्षसाञ्शुभदर्शने ॥ १० ॥

दुर्योधनको कलियुग समझो और शकुनिको द्वापर। शुभदर्शने! अपने दुःशासन आदि पुत्रोंको राक्षस जानो॥

मरुद्गणाद् भीमसेनं बलवन्तमरिंदमम्।
विद्धि त्वं तु नरमृषिमिमं पार्थं धनंजयम् ॥ ११ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले बलवान् भीमसेनको मरुद्गणोंके अंशसे उत्पन्न मानो। इन कुन्तीपुत्र धनंजयको तुम पुरातन ऋषि 'नर' समझो॥ ११॥

नारायणं हृषीकेशमश्विनौ यमजौ तथा।
यः स वैरार्थमुद्भूतः संघर्षजननस्तथा।
तं कर्णं विद्धि कल्याणि भास्करं शुभदर्शने ॥ १२ ॥
यश्च पाण्डवदायादो हतः षड्भिर्महारथैः।
स सोम इह सौभद्रो योगादेवाभवद् द्विधा ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण नारायण ऋषिके अवतार हैं। नकुल और सहदेव दोनोंको अश्विनीकुमार समझो। कल्याणि! जो केवल वैर बढ़ानेके लिये उत्पन्न हुआ था और कौरव-पाण्डवोंमें संघर्ष पैदा करानेवाला था, उस कर्णको सूर्य समझो। जिस पाण्डवपुत्रको छः महारथियोंने मिलकर मारा था, उस सुभद्राकुमार अभिमन्युके रूपमें साक्षात् चन्द्रमा ही इस भूतलपर अवतीर्ण हुए थे। वे अपने योगबलसे दो रूपोंमें प्रकट हो गये थे (एक रूपसे चन्द्रलोकमें रहते थे और दूसरेसे भूतलपर)॥ १२-१३॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमादित्यं तपतां वरम्।
लोकांश्च तापयानं वै विद्धि कर्णं च शोभने ॥ १४ ॥

शोभने! तपनेवालोंमें श्रेष्ठ सूर्यदेव अपने शरीरके दो भाग करके एकसे सम्पूर्ण लोकोंको ताप देते रहे और दूसरे भागसे कर्णके रूपमें अवतीर्ण हुए। इस तरह कर्णको तुम सूर्यरूप जानो॥ १४॥

द्रौपद्या सह सम्भूतं धृष्टद्युम्नं च पावकात्।
अग्नेर्भागं शुभं विद्धि राक्षसं तु शिखण्डिनम् ॥ १५ ॥

तुम्हें यह भी ज्ञात होना चाहिये कि जो द्रौपदीके साथ अग्निसे प्रकट हुआ था, वह धृष्टद्युम्न अग्निका शुभ अंश था और शिखण्डीके रूपमें एक राक्षसने अवतार लिया था ॥ १५ ॥

द्रोणं बृहस्पतेर्भागं विद्धि द्रौणिं च रुद्रजम् ।
भीष्मं च विद्धि गाङ्गेयं वसुं मानुषतां गतम् ॥ १६ ॥

द्रोणाचार्यको बृहस्पतिका और अश्वत्थामाको रुद्रका अंश जानो । गङ्गापुत्र भीष्मको मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ एक वसु समझो ॥ १६ ॥

एवमेते महाप्राज्ञे देवा मानुष्यमेत्य हि ।
ततः पुनर्गताः स्वर्गं कृते कर्मणि शोभने ॥ १७ ॥

महाप्राज्ञे ! शोभने ! इस प्रकार ये देवता कार्यवश मानव-शरीरमें जन्म ले अपना काम पूरा कर लेनेपर पुनः स्वर्गलोकको चले गये हैं ॥ १७ ॥

यच्च वै हृदि सर्वेषां दुःखमेतच्चिरं स्थितम् ।
तदद्य व्यपनेष्यामि परलोककृताद् भयात् ॥ १८ ॥

तुम सब लोगोंके हृदयमें इनके लिये पारलौकिक भयके कारण जो चिरकालसे दुःख भरा हुआ है, उसे आज दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति ।
तत्र द्रक्ष्यथ तान् सर्वान् ये हतास्तत्र संयुगे ॥ १९ ॥

इस समय तुम सब लोग गङ्गाजीके तटपर चलो । वहीं सबको समराङ्गणमें मारे गये अपने सभी सम्बन्धियोंके दर्शन होंगे ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति व्यासस्य वचनं श्रुत्वा सर्वो जनस्तदा ।
महता सिंहनादेन गङ्गामभिमुखो ययौ ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महर्षि व्यासका यह वचन सुनकर सब लोग महान् सिंहनाद करते हुए प्रसन्नतापूर्वक गङ्गातटकी ओर चल दिये ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रश्च सामात्यः प्रययौ सह पाण्डवैः ।
सहितो मुनिशार्दूलैर्गन्धर्वैश्च समागतैः ॥ २१ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियों, पाण्डवों, मुनिवरो तथा वहाँ आये हुए गन्धर्वोंके साथ गङ्गाजीके समीप गये ॥ २१ ॥

ततो गङ्गां समासाद्य क्रमेण स जनार्णवः ।
निवासमकरोत् सर्वो यथाप्रीति यथासुखम् ॥ २२ ॥

क्रमशः वह सारा जनसमुद्र गङ्गातटपर जा पहुँचा और सब लोग अपनी-अपनी रुचि तथा सुख-सुविधाके अनुसार जहाँ-तहाँ ठहर गये ॥ २२ ॥

राजा च पाण्डवैः सार्धमिष्टे देशे सहानुगः ।
निवासमकरोद् धीमान् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २३ ॥

बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र स्त्रियों और वृद्धोंको आगे करके पाण्डवों तथा सेवकोंके साथ वहाँ अभीष्ट स्थानमें ठहरे ॥ २३ ॥

जगाम तदहश्चापि तेषां वर्षशतं यथा ।
निशां प्रतीक्षमाणानां दिदृक्षूणां मृतान् नृपान् ॥ २४ ॥

मृत राजाओंको देखनेकी इच्छासे सभी लोग वहाँ रात होनेकी प्रतीक्षा करते रहे; अतः वह दिन उनके लिये सौ वर्षोंके समान जान पड़ा तो भी वह धीरे-धीरे बीत ही गया ॥ २४ ॥

अथ पुण्यं गिरिवरमस्तमभ्यगमद् रविः ।
ततः कृताभिषेकास्ते नैशं कर्म समाचरन् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सूर्यदेव परम पवित्र अस्ताचलको जा पहुँचे । उस समय सब लोग स्नान करके सायंकालोचित संध्यावन्दन आदि कर्म करने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि गङ्गातीरगमने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें सबका गङ्गातीरपर गमनविषयक एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीके प्रभावसे कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये कौरव-पाण्डववीरोंका गङ्गाजीके जलसे प्रकट होना

वैशम्पायन उवाच

ततो निशायां प्राप्तायां कृतसायाह्निकक्रियाः ।
व्यासमभ्यगमन् सर्वे ये तत्रासन् समागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब रात होनेको आयी, तब जो लोग वहाँ आये थे, वे सब सायंकालोचित नित्य-नियम पूर्ण करके भगवान् व्यासके समीप गये ॥ १ ॥

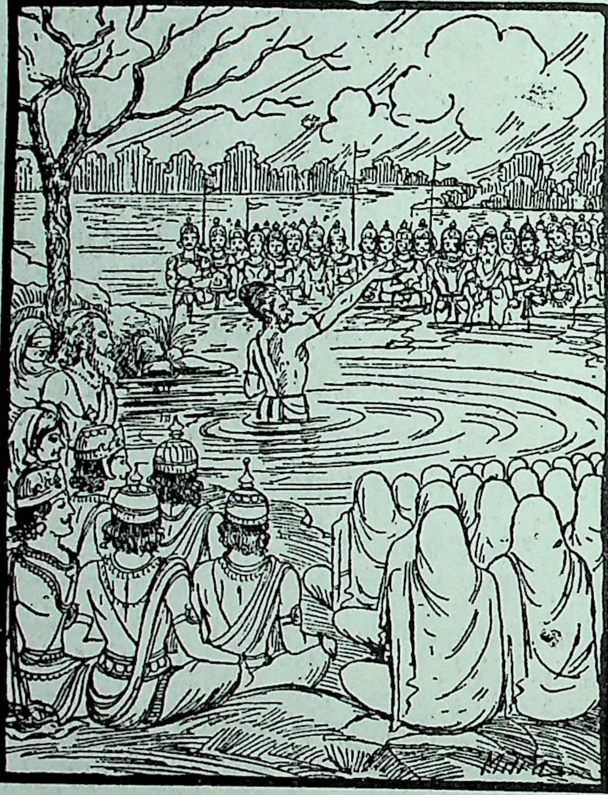
धृतराष्ट्रस्तु धर्मात्मा पाण्डवैः सहितस्तदा ।
शुचिरेकमना सार्धमृषिभिस्तैरुपाविशत् ॥ २ ॥
गान्धार्या सह नार्यस्तु सहिताः समुपाविशन् ।
पौरजानपदश्चापि जनः सर्वो यथावयः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंसहित धर्मात्मा धृतराष्ट्र पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उन ऋषियोंके साथ व्यासजीके निकट जा बैठे । कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ एक साथ हो गान्धारीके समीप बैठ

गयीं तथा नगर और जनपदके निवासी भी अवस्थाके अनुसार यथास्थान विराजमान हो गये ॥ २-३ ॥

ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् ।
अवगाह्याजुहावाथ सर्वान् लोकान् महामुनिः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी महामुनि व्यासजीने भागीरथीके पवित्र जलमें प्रवेश करके पाण्डव तथा कौरवपक्षके सब लोगोंका आवाहन किया ॥ ४ ॥



पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः ।
राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ॥ ५ ॥

पाण्डवों तथा कौरवोंके पक्षमें जो नाना देशोंके निवासी महाभाग नरेश योद्धा बनकर आये थे, उन सबका व्यासजीने आह्वान किया ॥ ५ ॥

ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्ते जनमेजय ।
प्रादुरासीद् यथापूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर जलके भीतरसे कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका पहले-जैसा ही भयङ्कर शब्द प्रकट होने लगा ॥ ६ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
ससैन्याः सलिलात् तस्मात् समुत्तस्थुः सहस्रशः ॥

फिर तो भीष्म-द्रोण आदि समस्त राजा अपनी सेनाओंके साथ सहस्रोंकी संख्यामें उस जलसे बाहर निकलने लगे ॥ ७ ॥

विराटद्रुपदौ चैव सहपुत्रौ ससैनिकौ ।
द्रौपदेयाश्च सौभद्रो राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ८ ॥

पुत्रों और सैनिकोंसहित विराट और द्रुपद पानीसे बाहर आये । द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु तथा राक्षस घटोत्कच—ये सभी जलसे प्रकट हो गये ॥ ८ ॥

कर्णदुर्योधनौ चैव शकुनिश्च महारथः ।
दुःशासनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ ९ ॥
जारासंधिर्भगदत्तो जलसंधश्च वीर्यवान् ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनश्च सानुजः ॥ १० ॥
लक्ष्मणो राजपुत्रश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
शिखण्डिपुत्राः सर्वे च धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ११ ॥
अचलो वृषकश्चैव राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
बाह्लिकः सोमदत्तश्च चेकितानश्च पार्थिवः ॥ १२ ॥
एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद् ये न कीर्तिताः ।
सर्वे भासुरदेहास्ते समुत्तस्थुर्जलात्ततः ॥ १३ ॥

कर्ण, दुर्योधन, महारथी, शकुनि, धृतराष्ट्रके पुत्र महाबली दुःशासन आदि, जरासन्धकुमार सहदेव, भगदत्त, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, शल, शल्य, भाइयोंसहित वृषसेन, राजकुमार लक्ष्मण, धृष्टद्युम्नके पुत्र, शिखण्डीके सभी पुत्र, भाइयोंसहित धृष्टकेतु, अचल, वृषक, राक्षस अलायुध, राजा बाह्लिक, सोमदत्त और चेकितान—ये तथा दूसरे बहुत-से क्षत्रियवीर, जो संख्यामें अधिक होनेके कारण नाम लेकर नहीं बताये गये हैं, सभी देदीप्यमान शरीर धारण करके उस जलसे प्रकट हुए ॥ ९-१३ ॥

यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम् ।
तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः ॥ १४ ॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः ।
निर्वैरा निरहंकारा विगतक्रोधमत्सराः ॥ १५ ॥

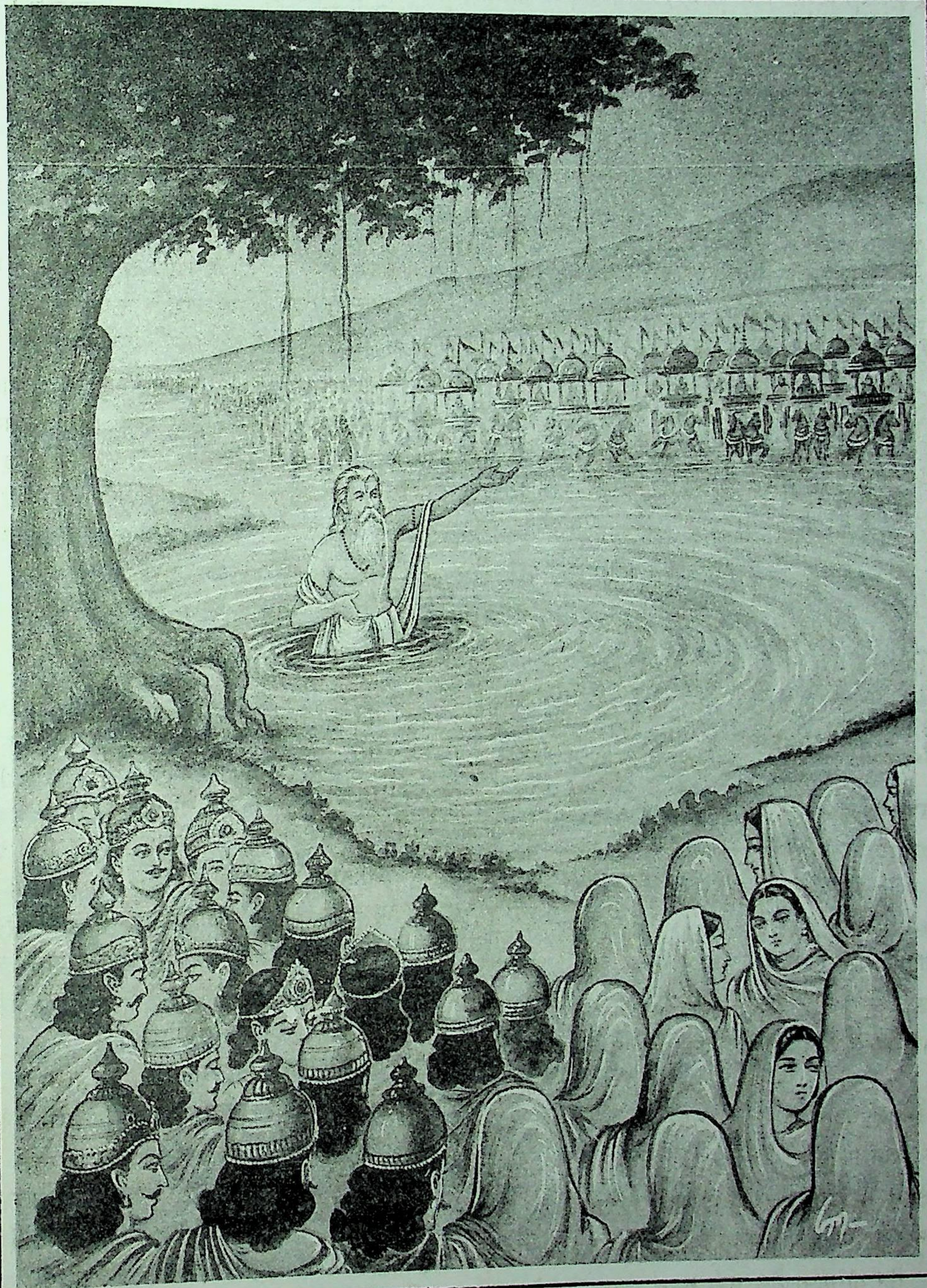
जिस वीरका जैसा वेष, जैसी ध्वजा और जैसा वाहन था, वह उसीसे युक्त दिखायी दिया । वहाँ प्रकट हुए सभी नरेश दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे । सबके कानोंमें चमकीले कुण्डल शोभा पाते थे । उस समय वे वैर, अहंकार, क्रोध और मात्सर्य छोड़ चुके थे ॥ १४-१५ ॥

गन्धर्वैरुपगीयन्तः स्तूयमानाश्च वन्दिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा वृताश्चाप्सरसां गणैः ॥ १६ ॥

गन्धर्व उनके गुण गाते और बन्दीजन स्तुति करते थे । उन सबने दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे और सभी अप्सराओंसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य च तदा दिव्यं चक्षुर्नराधिप ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रः प्रीतः प्रादात् तपोबलात् ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! उस समय सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यासने प्रसन्न होकर अपने तपोबलसे धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र प्रदान किये ॥ १७ ॥



व्यासजीके द्वारा कौरव-पाण्डव-पक्षके मरे हुए सम्बन्धियोंका सेनासहित परलोकसे आवाहन

दिव्यज्ञानबलोपेता गान्धारी च यशस्विनी।
ददर्श पुत्रांस्तान् सर्वान् ये चान्येऽपि मृधे हताः॥ १८॥

यशस्विनी गान्धारी भी दिव्य ज्ञानबलसे सम्पन्न हो गयी थीं। उन दोनोंने युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों तथा अन्य सब सम्बन्धियोंको देखा॥ १८॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च सुमहल्लोमहर्षणम्।
विस्मितः स जनः सर्वो ददर्शानिमिषेक्षणः॥ १९॥

वहाँ आये हुए सब लोग आश्चर्यचकित हो एकटक दृष्टिसे उस अद्भुत, अचिन्त्य एवं अत्यन्त रोमाञ्चकारी दृश्यको देख रहे थे॥ १९॥

तदुत्सवमहोदग्रं हृष्टनारीनराकुलम्।
आश्चर्यभूतं ददृशे चित्रं पटगतं यथा॥ २०॥

वह हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ महान् आश्चर्य-जनक उत्सव कपड़ेपर अङ्कित किये गये चित्रकी भाँति दिखायी देता था॥ २०॥

धृतराष्ट्रस्तु तान् सर्वान् पश्यन् दिव्येन चक्षुषा।
मुमुदे भरतश्रेष्ठ प्रसादात् तस्य वै मुनेः॥ २१॥

भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्र मुनिवर व्यासकी कृपासे मिले हुए दिव्य नेत्रोंद्वारा अपने समस्त पुत्रों और सम्बन्धियोंको देखते हुए आनन्दमग्न हो गये॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि भीष्मादिदर्शने द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें भीष्म आदिका दर्शनविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

परलोकसे आये हुए व्यक्तियोंका परस्पर रागद्वेषसे रहित होकर मिलना और रात बीतनेपर अदृश्य हो जाना, व्यासजीकी आज्ञासे विधवा क्षत्राणियोंका गङ्गाजीमें गोता लगाकर अपने-अपने पतिके लोकको प्राप्त करना तथा इस पर्वके श्रवणकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पुरुषश्रेष्ठाः समाजग्मुः परस्परम्।
विगतक्रोधमात्सर्याः सर्वे विगतकल्मषाः॥ १॥
विधिं परममास्थाय ब्रह्मर्षिविहितं शुभम्।
संहृष्टमनसः सर्वे देवलोक इवामराः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोध और मात्सर्यसे रहित तथा पापशून्य हुए वे सभी श्रेष्ठ पुरुष ब्रह्मर्षियोंकी बनायी हुई उत्तम प्रणालीका आश्रय ले एक-दूसरेसे प्रेमपूर्वक मिले। उस समय देवलोकमें रहनेवाले देवताओंकी भाँति उन सबके मनमें हर्षोल्लास छा रहा था॥ १-२॥

पुत्रः पित्रा च मात्रा च भार्याश्च पतिभिः सह।
भ्रात्रा भ्राता सखा चैव सख्या राजन् समागताः॥ ३॥

राजन्! पुत्र पिता-माताके साथ, स्त्री पतिके साथ, भाई भाईके साथ और मित्र मित्रके साथ मिले॥ ३॥

पाण्डवास्तु महेष्वासं कर्णं सौभद्रमेव च।
सम्प्रहर्षात् समाजग्मुर्द्रौपदेयांश्च सर्वशः॥ ४॥

पाण्डव महाधनुर्धर कर्ण, सुभद्राकुमार अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबके साथ अत्यन्त हर्षपूर्वक मिले॥

ततस्ते प्रीयमाणा वै कर्णेन सह पाण्डवाः।
समेत्य पृथिवीपाल सौहृद्ये च स्थिता भवन्॥ ५॥

भूपाल! तत्पश्चात् सब पाण्डवोंने कर्णसे प्रसन्नता-पूर्वक मिलकर उनके साथ सौहार्दपूर्ण बर्ताव किया॥ ५॥

परस्परं समागम्य योधास्ते भरतर्षभ।
मुनेः प्रसादात् ते ह्येवं क्षत्रिया नष्टमन्यवः॥ ६॥
असौहृदं परित्यज्य सौहृदे पर्यवस्थिताः।

भरतभूषण! वे समस्त योद्धा एक-दूसरेसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। इस प्रकार मुनिकी कृपासे वे सभी क्षत्रिय अपने क्रोधको भुलाकर शत्रुभाव छोड़कर परस्पर सौहार्द स्थापित करके मिले॥ ६½॥

एवं समागताः सर्वे गुरुभिर्बान्धवैः सह॥ ७॥
पुत्रैश्च पुरुषव्याघ्राः कुरवोऽन्ये च पार्थिवाः।

इस तरह वे सब पुरुषसिंह कौरव तथा अन्य नरेश गुरु-जनों, बान्धवों और पुत्रोंके साथ मिले॥ ७½॥

तां रात्रिमखिलामेवं विहृत्य प्रीतमानसाः॥ ८॥
मेनिरे परितोषेण नृपाः स्वर्गसदो यथा।

सारी रात एक-दूसरेके साथ घूमने-फिरनेके कारण उन सबके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। स्वर्गवासियोंके समान ही उन्हें वहाँ परम संतोषका अनुभव हुआ॥ ८½॥

नात्र शोको भयं त्रासो नारतिर्नायशोऽभवत्॥ ९॥
परस्परं समागम्य योधानां भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! एक-दूसरेसे मिलकर उन योद्धाओंके मनमें शोक, भय, त्रास, उद्वेग और अपयशको स्थान नहीं मिला ॥

समागतास्ताः पितृभिर्भ्रातृभिः पतिभिः सुतैः ॥ १० ॥
मुदं परमिकां प्राप्य नार्यो दुःखमथात्यजन् ।

वहाँ आयी हुई स्त्रियाँ अपने पिताओं, भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुईं । उनका सारा दुःख दूर हो गया ॥ १०½ ॥

एकां रात्रिं विहृत्यैव ते वीरास्ताश्च योषितः ॥ ११ ॥
आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम् ।

वे वीर और उनकी वे तरुणी स्त्रियाँ एक रात साथ-साथ विहार करके अन्तमें एक-दूसरेकी अनुमति ले परस्पर गले मिलकर जैसे आये थे, उसी प्रकार चले जानेको उद्यत हुए ॥

ततो विसर्जयामास लोकांस्तान् मुनिपुङ्गवः ॥ १२ ॥
क्षणेनान्तर्हिताश्चैव प्रेक्षतामेव तेऽभवन् ।
अवगाह्य महात्मानः पुण्यां भागीरथीं नदीम् ॥ १३ ॥
सरथाः सध्वजाश्चैव स्वानि वेश्मानि भेजिरे ।

तब मुनिवर व्यासजीने उन सब लोगोंका विसर्जन कर दिया और वे महामना नरेश एक ही क्षणमें सबके देखते-देखते पुण्यसलिला भागीरथीमें गोता लगाकर अदृश्य हो गये । रथों और ध्वजाओंसहित अपने-अपने लोकोंमें चले गये ॥

देवलोकं ययुः केचित् केचिद् ब्रह्मसदस्तथा ॥ १४ ॥
केचिच्च वारुणं लोकं केचित् कौबेरमाप्नुवन् ।
ततो वैवस्वतं लोकं केचिच्चैवाप्नुवन्नृपाः ॥ १५ ॥

कोई देवलोकमें गये, कोई ब्रह्मलोकमें, कुछ वरुणलोकमें पधारे और कुछ कुबेरके लोकमें । कितने ही नरेश भगवान् सूर्यके लोकमें चले गये ॥ १४-१५ ॥

राक्षसानां पिशाचानां केचिच्चाप्युत्तरान् कुरून् ।
विचित्रगतयः सर्वे यानवाप्यामरैः सह ॥ १६ ॥
आजग्मुस्ते महात्मानः सवाहाः सपदानुगाः ।

कितने ही राक्षसों और पिशाचोंके लोकोंमें चले गये और कितने ही उत्तरकुरुमें जा पहुँचे । इस प्रकार सबको विचित्र-विचित्र गतियोंकी प्राप्ति हुई थी और वे महामना वहींसे देवताओंके साथ अपने-अपने वाहनों और अनुचरोंसहित आये थे ॥ १६½ ॥

गतेषु तेषु सर्वेषु सलिलस्थो महामुनिः ॥ १७ ॥
धर्मशीलो महातेजाः कुरूणां हितकृत् तथा ।
ततः प्रोवाच ताः सर्वाः क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ १८ ॥
या याः पतिकृतान् लोका-
निच्छन्ति परमस्त्रियः ।
ता जाह्नवीजलं क्षिप्र-
मवगाहन्त्वतन्द्रिताः ॥ १९ ॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा श्रद्दधाना वराङ्गनाः ।
श्वशुरं समनुज्ञाप्य विविशुर्जाह्नवीजलम् ॥ २० ॥

उन सबके अदृश्य हो जानेपर कौरवोंके हितकारी महातेजस्वी धर्मशील महामुनि व्यासजीने जलमें खड़े-खड़े उन सब विधवा क्षत्राणियोंसे कहा—'देवियो ! तुम लोगोंमेंसे जो-जो सती-साध्वी स्त्रियाँ अपने-अपने पतिके लोकको जाना चाहती हों, वे आलस्य त्यागकर तुरंत गङ्गाजीके जलमें गोता लगावें ।' उनकी बात सुनकर उनमें श्रद्धा रखनेवाली वे सती स्त्रियाँ अपने श्वशुर धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले गङ्गाजीके जलमें समा गयीं ॥ १७-२० ॥

विमुक्ता मानुषैर्देहैस्ततस्ता भर्तृभिः सह ।
समाजग्मुस्तदा साध्व्यः सर्वा एव विशाम्पते ॥ २१ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ वे सभी साध्वी स्त्रियाँ मनुष्य-शरीरसे छुटकारा पाकर अपने-अपने पतिके साथ जा मिलीं ॥ २१ ॥

एवं क्रमेण सर्वास्ताः शीलवत्यः पतिव्रताः ।
प्रविश्य क्षत्रिया मुक्ता जग्मुर्भर्तृसलोकताम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार क्रमशः वे सभी शीलवती पतिव्रता क्षत्राणियाँ इस शरीरसे मुक्त हो पतिलोकको चली गयीं ॥ २२ ॥

दिव्यरूपसमायुक्ता दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा यथाऽऽसां पतयस्तथा ॥ २३ ॥

जैसे उनके पति थे, उसी प्रकार वे भी दिव्यरूपसे सम्पन्न हो गयीं । दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ाने लगे तथा उन्होंने दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण कर लिये ॥

ताः शीलगुणसम्पन्ना विमानस्था गतक्लमाः ।
सर्वाः सर्वगुणोपेताः स्वस्थानं प्रतिपेदिरे ॥ २४ ॥

शील और सद्गुणसे सम्पन्न हुई वे सभी क्षत्रियबालाएँ समस्त सद्गुणोंसे अलंकृत हो विमानपर बैठकर अपने-अपने योग्य स्थानको चली गयीं । उनका सारा कष्ट दूर हो गया ॥

यस्य यस्य तु यः कामस्तस्मिन् काले बभूव ह ।
तं तं विसृष्टवान् व्यासो वरदो धर्मवत्सलः ॥ २५ ॥

उस समय जिसके-जिसके मनमें जो-जो कामना उत्पन्न हुई, धर्मवत्सल वरदायक भगवान् व्यासने वह सब पूर्ण की ॥

तच्छ्रुत्वा नरदेवानां पुनरागमनं नराः ।
जहृषुर्मुदिताश्चासन् नानादेशगता अपि ॥ २६ ॥

संग्राममें मरे हुए राजाओंके पुनरागमनका वृत्तान्त सुनकर भिन्न-भिन्न देशके मनुष्योंको बड़ा आश्चर्य और आनन्द हुआ ॥ २६ ॥

प्रियैः समागमं तेषां यः सम्यक् शृणुयान्नरः ।
प्रियाणि लभते नित्यमिह च प्रेत्य चैव सः ॥ २७ ॥

जो मनुष्य कौरव-पाण्डवोंके प्रियजन समागमका यह

वृत्तान्त भलीभाँति सुनेगा, उसे इहलोक और परलोकमें भी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

इष्टबान्धवसंयोगमनायासमनामयम् ।
यश्चैतच्छ्रावयेद् विद्वान् विदुषो धर्मवित्तमः ॥ २८ ॥
स यशः प्राप्नुयाल्लोके परत्र च शुभां गतिम् ।

इतना ही नहीं, उसे अनायास ही इष्ट बन्धुओंसे मिलन होगा तथा कोई दुःख-शोक नहीं सतावेगा । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ जो विद्वान् विद्वानोंको यह प्रसङ्ग सुनायेगा, वह इस लोकमें यश और परलोकमें शुभ गति प्राप्त करेगा ॥ २८½ ॥

स्वाध्याययुक्ता मनुजास्तपोयुक्ताश्च भारत ॥ २९ ॥
साध्वाचारा दमोपेता दाननिर्धूतकल्मषाः ।
ऋजवः शुचयः शान्ता हिंसानृतविवर्जिताः ॥ ३० ॥
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च धृतिमन्तश्च मानवाः ।
श्रुत्वाऽऽश्चर्यमिदं पर्व ह्यवाप्स्यन्ति परां गतिम् ॥ ३१ ॥

भारत ! जो मनुष्य स्वाध्यायपरायण, तपस्वी, सदाचारी, जितेन्द्रिय, दानके द्वारा पापरहित, सरल, शुद्ध, शान्त, हिंसा और असत्यसे दूर, आस्तिक, श्रद्धालु और धैर्यवान् हैं, वे इस आश्चर्यजनक पर्वको सुनकर उत्तम गति प्राप्त करेंगे ।२९-३१।

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि स्त्रीणां स्वस्वपतिलोकगमने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें स्त्रियोंका अपने-अपने पतिके लोकमें गमनविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

मरे हुए पुरुषोंका अपने पूर्व शरीरसे ही यहाँ पुनः दर्शन देना कैसे सम्भव है, जनमेजयकी इस शङ्काका वैशम्पायनद्वारा समाधान

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा नृपो विद्वान् हृष्टोऽभूज्जनमेजयः ।
पितामहानां सर्वेषां गमनागमनं तदा ॥ १ ॥

सौति कहते हैं—अपने समस्त पितामहोंके इस प्रकार परलोकसे आने और जानेका वृत्तान्त सुनकर विद्वान् राजा जनमेजय बड़े प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

अब्रवीच्च मुदा युक्तः पुनरागमनं प्रति ।
कथं नु त्यक्तदेहानां पुनस्तद्रूपदर्शनम् ॥ २ ॥

प्रसन्न होकर वे पुनरागमनके विषयमें संदेह करते हुए बोले—'भला, जिन्होंने अपने शरीरका परित्याग कर दिया है, उन पुरुषोंका उसी रूपमें दर्शन कैसे हो सकता है ?' ॥

इत्युक्तः स द्विजश्रेष्ठो व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठस्तं नृपं जनमेजयम् ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्यासशिष्य विप्रवर वैशम्पायनने उन राजा जनमेजयसे कहा ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।
कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—नरेश्वर ! यह सिद्धान्त है कि समस्त कर्मोंका फल भोग किये बिना उनका नाश नहीं होता । जीवात्माको जो शरीर और नाना प्रकारकी आकृतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब कर्मजनित ही हैं ॥ ४ ॥

महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात् ।
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥ ५ ॥

भूतनाथ भगवान्‌के आश्रयसे पाँचों महाभूत हमारे शरीरोंकी अपेक्षा नित्य हैं । उन नित्य महाभूतोंका अनित्य शरीरोंके साथ संसार-दशामें नित्य संयोग है । अनित्य शरीरोंका नाश होनेपर इन नित्य महाभूतोंका उनसे वियोगमात्र होता है, विनाश नहीं ॥ ५ ॥

अनायासकृतं कर्म सत्यः श्रेष्ठः फलागमः ।
आत्मा चैभिः समायुक्तः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६ ॥

कर्तृत्व-अभिमानके बिना अनायास किये जानेवाले कर्मका जो फल प्राप्त होता है, वह सत्य और श्रेष्ठ है अर्थात् मुक्तिदायक है । कर्तृत्व-अभिमान और परिश्रमपूर्वक किये हुए कर्मोंसे बँधा हुआ जीवात्मा सुख-दुःखका उपभोग करता है ॥

अविनाश्यस्तथायुक्तः क्षेत्रज्ञ इति निश्चयः ।
भूतानामात्मको भावो यथासौ न वियुज्यते ॥ ७ ॥

क्षेत्रज्ञ इस प्रकार कर्मोंसे संयुक्त होकर भी वास्तवमें अविनाशी ही है, यह निश्चित है । किंतु भूतोंके साथ तादात्म्य-भाव स्वीकार कर लेनेके कारण वह ज्ञानके बिना उनसे अलग नहीं हो पाता ॥ ७ ॥

यावन्न क्षीयते कर्म तावत् तस्य स्वरूपता ।
क्षीणकर्मा नरो लोके रूपान्यत्वं नियच्छति ॥ ८ ॥

जबतक शरीरके प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता तबतक उस जीवकी उस शरीरसे एकरूपता रहती है । जब कर्मोंका

क्षय हो जाता है, तब वह दूसरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

नानाभावास्तथैकत्वं शरीरं प्राप्य संहताः ।
भवन्ति ते तथा नित्याः पृथग्भावं विजानताम् ॥ ९ ॥

भूत-इन्द्रिय आदि नाना प्रकारके पदार्थ शरीरको पाकर एकत्वको प्राप्त हो गये हैं । जो देह आदिको आत्मासे पृथक् जानते हैं, उन योगियोंके लिये वे सारे पदार्थ नित्य आत्म-स्वरूप हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अश्वमेधे श्रुतिश्चेयमश्वसंज्ञपनं प्रति ।
लोकान्तरगता नित्यं प्राणा नित्यं शरीरिणाम् ॥ १० ॥

अश्वमेध यज्ञमें जब अश्वका वध किया जाता है, उस समय जो 'सूर्यं ते चक्षुः वातं प्राणः (तुम्हारे नेत्र सूर्यको और प्राण वायुको प्राप्त हों)' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनसे यह सूचित होता है कि देहधारियोंके प्राण—इन्द्रियाँ निश्चितरूपसे सर्वदा लोकान्तरमें स्थित होती हैं । (अतः परलोकमें गये हुए जीवोंका वैसे ही रूपसे इस लोकमें पुनः प्रकट हो जाना असम्भव नहीं है)॥ १० ॥

अहं हितं वदाम्येतत् प्रियं चेत् तव पार्थिव ।
देवयाना हि पन्थानः श्रुतास्ते यज्ञसंस्तरे ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम्हें प्रिय लगे तो मैं तुम्हारे हितकी बात बताता हूँ । यज्ञ आरम्भ करते समय तुमने देवयान-मार्गोंकी बात सुनी होगी । वे ही तुम्हारे योग्य हैं ॥ ११ ॥

आहुतो यत्र यज्ञस्ते तत्र देवा हितास्तव ।
यदा समन्विता देवाः पशूनां गमनेश्वराः ॥ १२ ॥

जब तुमने यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया, तभीसे देवतालोग तुम्हारे हितैषी सुहृद् हो गये । जब इस प्रकार देवता मित्रभावसे युक्त होते हैं, तब वे जीवोंको लोकान्तरकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होनेके कारण उनपर अनुग्रह करके उन्हें अभीष्ट लोकोंकी प्राप्ति करा देते हैं ॥ १२ ॥

गतिमन्तश्च तेनेष्ट्वा नान्ये नित्या भवन्त्युत ।
नित्येऽस्मिन् पञ्चके वर्गे नित्ये चात्मनि पूरुषः ॥ १३ ॥
अस्य नानासमायोगं यः पश्यति वृथामतिः ।
वियोगे शोचतेऽत्यर्थं स बाल इति मे मतिः ॥ १४ ॥

इसलिये नित्य जीव यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आराधना करके लोकान्तरमें जानेकी शक्ति पाते हैं । जो यज्ञ नहीं करते, वे वैसे नहीं हो पाते । यह पाञ्चभौतिक वर्ग नित्य है और आत्मा भी नित्य है । ऐसी दशामें जो मनुष्य उस आत्माका अनेक प्रकारके देहोंसे सम्बन्ध तथा उनके जन्म और नाशसे आत्माका भी जन्म और नाश समझता है, उसकी बुद्धि व्यर्थ है । इसी प्रकार किसीसे किसीका वियोग हो जानेपर जो अत्यन्त शोक करता है, वह भी मेरे मतमें बालक ही है ॥ १३-१४ ॥

वियोगे दोषदर्शी यः संयोगं स विसर्जयेत् ।
असङ्गे सङ्गमो नास्ति दुःखं भुवि वियोगजम् ॥ १५ ॥

जो वियोगमें दोष देखता है, वह संयोगका त्याग कर दे, क्योंकि असंग आत्मामें संगम या संयोग नहीं है । जो उसमें संयोगका आरोप करता है, उसीको इस भूतलपर वियोगका दुःख सहना पड़ता है ॥ १५ ॥

परापरज्ञस्त्वपरो नाभिमानादुदीरितः ।
अपरज्ञः परां बुद्धिं ज्ञात्वा मोहाद् विमुच्यते ॥ १६ ॥

दूसरा जो अपने-परायेके ज्ञानमें ही उलझा रहता है, वह अभिमानसे ऊपर नहीं उठ पाता । जो किसीके लिये पराया नहीं है, उस परमात्माको जाननेवाला पुरुष उत्तम बुद्धिको पाकर मोहसे मुक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नाहं तं वेद्मि नासौ मां न च मेऽस्ति विरागता ॥ १७ ॥

वह मुक्त पुरुष अव्यक्तसे ही प्रकट हुआ था और पुनः अव्यक्तमें ही लीन हो गया । न मैं उसे जानता हूँ* न वह मुझे † । (फिर तुम भी वैसे ही बन्धनमुक्त क्यों न हो गये ! ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं ।) मुझमें वैराग्य नहीं है (पर वैराग्य ही मोक्षका मुख्य साधन है ।) ॥ १७ ॥

येन येन शरीरेण करोत्ययमनीश्वरः ।
तेन तेन शरीरेण तदवश्यमुपाश्नुते ।
मानसं मनसाऽऽप्नोति शरीरं च शरीरवान् ॥ १८ ॥

यह पराधीन जीव जिस-जिस शरीरसे कर्म करता है, उस-उस शरीरसे उसका फल अवश्य भोगता है । मानस कर्मका फल मनसे और शारीरिक कर्मका फल शरीर धारण करके भोगता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयं प्रति वैशम्पायनवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें जनमेजयके प्रति वैशम्पायनका वाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

* क्योंकि वह इन्द्रियोंका विषय नहीं रहा ।

† क्योंकि उसके लिये मुझे जाननेका कोई कारण नहीं रहा ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी कृपासे जनमेजयको अपने पिताका दर्शन प्राप्त होना

वैशम्पायन उवाच

अदृष्ट्वा तु नृपः पुत्रान् दर्शनं प्रतिलब्धवान्।
ऋषेः प्रसादात् पुत्राणां स्वरूपाणां कुरूद्वह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने पहले कभी अपने पुत्रोंको नहीं देखा था, परंतु महर्षि व्यासके प्रसादसे उन्होंने उनके स्वरूपका दर्शन प्राप्त कर लिया ॥ १ ॥

स राजा राजधर्मांश्च ब्रह्मोपनिषदं तथा।
अवाप्तवान्नरश्रेष्ठो बुद्धिनिश्चयमेव च ॥ २ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो ययौ सिद्धिं तपोबलात्।
धृतराष्ट्रः समासाद्य व्यासं चैव तपस्विनम् ॥ ३ ॥

उन नरश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने राजधर्म, ब्रह्मविद्या तथा बुद्धिका यथार्थ निश्चय भी पा लिया था। महाज्ञानी विदुरने तो अपने तपोबलसे सिद्धि प्राप्त की थी; परंतु धृतराष्ट्रने तपस्वी व्यासका आश्रय लेकर सिद्धिलाभ किया था ॥ २-३ ॥

जनमेजय उवाच

ममापि वरदो व्यासो दर्शयेत् पितरं यदि।
तद्रूपवेषवयसं श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ४ ॥
प्रियं मे स्यात् कृतार्थश्च स्यामहं कृतनिश्चयः।
प्रसादादृषिमुख्यस्य मम कामः समृध्यताम् ॥ ५ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! यदि वरदायक भगवान् व्यास मुझे भी मेरे पिताका उसी रूप, वेश और अवस्थामें दर्शन करा दें तो मैं आपकी बतायी हुई सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ। उस अवस्थामें मैं कृतार्थ होकर दृढ़ निश्चयको प्राप्त हो जाऊँगा। इससे मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सिद्ध होगा। आज मुनिश्रेष्ठ, व्यासजीके प्रसादसे मेरी इच्छा भी पूर्ण होनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तवचने तस्मिन् नृपे व्यासः प्रतापवान्।
प्रसादमकरोद् धीमानानयच्च परीक्षितम् ॥ ६ ॥

सौति कहते हैं—राजा जनमेजयके इस प्रकार कहनेपर परम प्रतापी बुद्धिमान् महर्षि व्यासने उनपर भी कृपा की। उन्होंने राजा परीक्षित्‌को उस यज्ञभूमिमें बुला दिया ॥ ६ ॥

ततस्तद्रूपवयसमागतं नृपतिं दिवः।
श्रीमन्तं पितरं राजा ददर्श जनमेजयः ॥ ७ ॥

स्वर्गसे उसी रूप और अवस्थामें आये हुए अपने तेजस्वी पिता राजा परीक्षित्‌का भूपाल जनमेजयने दर्शन किया ॥ ७ ॥

शमीकं च महात्मानं पुत्रं तं चास्य शृङ्गिणम्।
अमात्या ये बभूवुश्च राज्ञस्तांश्च ददर्श ह ॥ ८ ॥

उनके साथ ही महात्मा शमीक और उनके पुत्र शृङ्गी-ऋषि भी थे। राजा परीक्षित्‌के जो मन्त्री थे, उनका भी जनमेजयने दर्शन किया ॥ ८ ॥

ततः सोऽवभृथे राजा मुदितो जनमेजयः।
पितरं स्नापयामास स्वयं सस्नौ च पार्थिवः ॥ ९ ॥
(परीक्षिदपि तत्रैव बभूव स तिरोहितः।)

तदनन्तर राजा जनमेजयने प्रसन्न होकर यज्ञान्तस्नानके समय पहले अपने पिताको नहलाया; फिर स्वयं स्नान किया। फिर राजा परीक्षित् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९ ॥

स्नात्वा स नृपतिर्विप्रमास्तीकमिदमब्रवीत्।
यायावरकुलोत्पन्नं जरत्कारुसुतं तदा ॥ १० ॥

स्नान करके उन नरेशने यायावरकुलमें उत्पन्न जरत्कारुकुमार आस्तीक मुनिसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

आस्तीक विविधाश्चर्यो यज्ञोऽयमिति मे मतिः।
यदद्यायं पिता प्राप्तो मम शोकप्रणाशनः ॥ ११ ॥

'आस्तीकजी ! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मेरा यह यज्ञ नाना प्रकारके आश्चर्योंका केन्द्र हो रहा है; क्योंकि आज मेरे शोकोंका नाश करनेवाले ये पिताजी भी यहाँ उपस्थित हो गये थे' ॥ ११ ॥

आस्तीक उवाच

ऋषिर्द्वैपायनो यत्र पुराणस्तपसो निधिः।
यज्ञे कुरुकुलश्रेष्ठ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १२ ॥

आस्तीक बोले—कुरुकुलश्रेष्ठ ! राजन् ! जिसके यज्ञमें तपस्याकी निधि पुरातन ऋषि महर्षि द्वैपायन व्यास विराजमान हों, उसकी तो दोनों लोकोंमें विजय है ॥ १२ ॥

श्रुतं विचित्रमाख्यानं त्वया पाण्डवनन्दन।
सर्पाश्च भस्मसान्नीता गताश्च पदवीं पितुः ॥ १३ ॥

पाण्डवनन्दन ! तुमने यह विचित्र उपाख्यान सुना। तुम्हारे शत्रु सर्पगण भस्म होकर तुम्हारे पिताकी ही पदवीको पहुँच गये ॥ १३ ॥

कथंचित् तक्षको मुक्तः सत्यत्वात् तव पार्थिव।
ऋषयः पूजिताः सर्वे गतिर्दृष्टा महात्मनः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! तुम्हारी सत्यपरायणताके कारण किसी तरह तक्षकके प्राण बच गये हैं। तुमने समस्त ऋषियोंकी

पूजा की और महात्मा व्यासकी कहाँतक पहुँच है, इसे प्रत्यक्ष देख लिया ॥ १४ ॥

प्राप्तः सुविपुलो धर्मः श्रुत्वा पापविनाशनम् ।
विमुक्तो हृदयग्रन्थिरुदारजनदर्शनात् ॥ १५ ॥

इस पापनाशक कथाको सुनकर तुम्हें महान् धर्मकी प्राप्ति हुई है । उदार हृदयवाले संतोंके दर्शनसे तुम्हारे हृदय-की गाँठ खुल गयी—तुम्हारा सारा संशय दूर हो गया॥ १५॥

ये च पक्षधरा धर्मे सद्वृत्तरुचयश्च ये ।
यान् दृष्ट्वा हीयते पापं तेभ्यः कार्या नमस्क्रिया ॥ १६ ॥

जो लोग धर्मके पक्षपाती हैं, जो सदाचारके पालनमें रुचि रखते हैं तथा जिनके दर्शनसे पापका नाश होता है, उन महात्माओंको अब तुम्हें नमस्कार करना चाहिये ॥ १६ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठात् स राजा जनमेजयः ।
पूजयामास तमृषिमनुमान्य पुनः पुनः ॥ १७ ॥

सौति कहते हैं—शौनक ! विप्रवर आस्तीकके मुखसे यह बात सुनकर राजा जनमेजयने उन महर्षि व्यासका बार-बार पूजन और सत्कार किया ॥ १७ ॥

पप्रच्छ तमृषिं चापि वैशम्पायनमच्युतम् ।
कथावशेषं धर्मज्ञो वनवासस्य सत्तम ॥ १८ ॥

साधुशिरोमणे ! तत्पश्चात् उन धर्मज्ञ नरेशने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महर्षि वैशम्पायनसे पुनः धृतराष्ट्रके वन-वासकी अवशिष्ट कथा पूछी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि जनमेजयस्य स्वपितृदर्शने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें जनमेजयके द्वारा अपने पिताका दर्शनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी आज्ञासे धृतराष्ट्र आदिका पाण्डवोंको विदा करना और पाण्डवोंका सदलबल हस्तिनापुरमें आना

जनमेजय उवाच

दृष्ट्वा पुत्रांस्तथा पौत्रान् सानुबन्धान् जनाधिपः ।
धृतराष्ट्रः किमकरोद् राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! राजा धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरने परलोकसे आये हुए पुत्रों, पौत्रों तथा सगे-सम्बन्धियोंके दर्शन करके क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं पुत्राणां दर्शनं नृप ।
वीतशोकः स राजर्षिः पुनराश्रममागमत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर ! मरे हुए पुत्रोंका दर्शन एक महान् आश्चर्यकी घटना थी । उसे देखकर राजर्षि धृतराष्ट्रका दुःख-शोक दूर हो गया । वे फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २ ॥

इतरस्तु जनः सर्वस्ते चैव परमर्षयः ।
प्रतिजग्मुर्यथाकामं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ३ ॥

दूसरे सब लोग तथा महर्षिगण धृतराष्ट्रकी अनुमति ले अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको चले गये ॥ ३ ॥

पाण्डवास्तु महात्मानो लघुभूयिष्ठसैनिकाः ।
पुनर्जग्मुर्महात्मानं सदारास्तं महीपतिम् ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डव छोटे-बड़े सैनिकों और अपनी स्त्रियोंके साथ पुनः महामना राजा धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे गये ॥ ४ ॥

तत्राश्रमपदं धीमान् ब्रह्मर्षिर्लोकपूजितः ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ५ ॥

उस समय लोकपूजित बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन ब्रह्मर्षि व्यास भी उस आश्रमपर गये तथा इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो शृणु कौरवनन्दन ।
श्रुतं ते ज्ञानवृद्धानामृषीणां पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥
श्रद्धाभिजनवृद्धानां वेदवेदाङ्गवेदिनाम् ।
धर्मज्ञानां पुराणानां वदतां विविधाः कथाः ॥ ७ ॥
मा स्म शोके मनः कार्षीर्दिष्टे न व्यथते बुधः ।

'कौरवनन्दन महाबाहु धृतराष्ट्र ! तुमने श्रद्धा और कुलमें बढ़े-चढ़े, वेद-वेदाङ्गवेत्ता, ज्ञानवृद्ध, पुण्यकर्मा एवं धर्मज्ञ प्राचीन महर्षियोंके मुखसे नाना प्रकारकी कथाएँ सुनी हैं; अतः अपने मनसे शोकको निकाल दो; क्योंकि विद्वान् पुरुष प्रारब्धके विधानमें दुःख नहीं मानते हैं ॥ ६-७½ ॥

श्रुतं देवरहस्यं ते नारदाद् देवदर्शनात् ॥ ८ ॥
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूतां गतिं शुभाम् ।
यथा दृष्टास्त्वया पुत्रास्तथा कामविहारिणः ॥ ९ ॥

'तुमने देवदर्शी नारद मुनिसे देवताओंका गुप्त रहस्य

भी सुन लिया है। वे सब वीर क्षत्रिय धर्मके अनुसार शास्त्रोंसे पवित्र हुई शुभ गतिको प्राप्त हुए हैं। जैसा कि तुमने देखा है, तुम्हारे सभी पुत्र इच्छानुसार विहार करनेवाले स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ८-९ ॥

युधिष्ठिरः स्वयं धीमान् भवन्तमनुरुध्यते।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ॥ १० ॥

'ये बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर अपने समस्त भाइयों, घरकी स्त्रियों और सुहृदोंके साथ स्वयं तुम्हारी सेवामें लगे हुए हैं ॥ १० ॥

विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम्।
मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने ॥ ११ ॥

'अब इन्हें विदा कर दो। ये जायँ और अपने राज्यका काम सँभालें। इन लोगोंको वनमें रहते एक महीनेसे अधिक हो गया ॥ ११ ॥

एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप।
बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद् राज्यं नाम कुरूद्वह ॥ १२ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! राज्यके बहुत-से शत्रु होते हैं; अतः इसकी सदा ही यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये' ॥ १२ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनातुलतेजसा।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अनुपम तेजस्वी व्यासजीके ऐसा कहनेपर प्रवचनकुशल कुरुराज धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ १३॥

अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान् प्रबाधते ॥ १४ ॥

'अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने भाइयोंसहित मेरी बात सुनो। भूपाल ! तुम्हारे प्रसादसे अब हमलोगोंको किसी प्रकारका शोक कष्ट नहीं दे रहा है ॥ १४ ॥

रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये।
नाथेनानुगतो विद्वन् प्रियेषु परिवर्तिना ॥ १५ ॥
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ॥ १६ ॥

'बेटा ! तुम्हारे साथ रहकर तथा तुम-जैसे रक्षकसे सुरक्षित होकर मैं उसी तरह आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ, जैसे पहले हस्तिनापुरमें करता था। विद्वन् ! प्रियजनोंकी सेवामें लगे रहनेवाले तुम्हारे द्वारा मुझे पुत्रका फल प्राप्त हो गया। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। महाबाहो ! पुत्र ! मेरे मनमें तुम्हारे प्रति किंचिन्मात्र भी क्रोध नहीं है; अतः तुम राजधानीको जाओ, अब विलम्ब न करो ॥ १५-१६ ॥

भवन्तं चेह सम्प्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धारितं पुनः ॥ १७ ॥

'तुमको यहाँ देखकर मेरी तपस्यामें बाधा पड़ रही है। यह शरीर तपस्यामें लगा दिया था, परंतु तुम्हें देखकर फिर इसकी रक्षा करने लगा ॥ १७ ॥

मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने।
मम तुल्यव्रते पुत्र न चिरं वर्तयिष्यतः ॥ १८ ॥

बेटा ! मेरी ही तरह तुम्हारी ये दोनों माताएँ भी व्रत-धारणपूर्वक सूखे पत्ते चबाकर रहा करती हैं। अब ये अधिक दिनोंतक जीवन धारण नहीं कर सकतीं ॥ १८ ॥

दुर्योधनप्रभृतयो दृष्टा लोकान्तरं गताः।
व्यासस्य तपसो वीर्याद् भवतश्च समागमात् ॥ १९ ॥
प्रयोजनं च निर्वृत्तं जीवितस्य ममानघ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

'तुम्हारे समागम और व्यासजीके तपोबलसे मुझे अपने परलोकवासी पुत्र दुर्योधन आदिके दर्शन हो गये; इसलिये मेरे जीवित रहनेका प्रयोजन पूरा हो गया। अनघ ! अब मैं कठोर तपस्यामें संलग्न होऊँगा। तुम इसके लिये मुझे अनुमति दे दो ॥ १९-२० ॥

त्वय्यद्य पिण्डः कीर्तिश्च कुलं चेदं प्रतिष्ठितम्।
श्वो वाद्य वा महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ॥ २१ ॥

'महाबाहो ! आजसे पितरोंके पिण्डका, सुयशका और इस कुलका भार भी तुम्हारे ही ऊपर है। पुत्र ! आज या कल अवश्य चले जाओ; विलम्ब न करना ॥ २१ ॥

राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ।
संदेष्टव्यं न पश्यामि कृतं मे भवता विभो ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! प्रभो ! तुमने राजनीति बहुत बार सुनी है; अतः तुम्हें संदेश देने लायक कोई बात मुझे नहीं दिखायी देती। तुमने मेरे लिये बहुत कुछ किया है ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवचनं तं तु नृपो राजानमब्रवीत्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा धृतराष्ट्रने वैसी बात कही, तब युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा—'धर्मके ज्ञाता महाराज ! आप मेरा परित्याग न करें, क्योंकि मैं सर्वथा निरपराध हूँ ॥ २३ ॥

कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरास्तथा।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रतः ॥ २४ ॥

'मेरे ये सब भाई और सेवक इच्छा हो तो चले जायँ; किंतु मैं नियम और व्रतका पालन करता हुआ आपकी तथा इन दोनों माताओंकी सेवा करूँगा ॥ २४ ॥

तमुवाचाथ गान्धारी मैवं पुत्र शृणुष्व च।
त्वय्यधीनं कुरुकुलं पिण्डश्च श्वशुरस्य मे ॥ २५ ॥
गम्यतां पुत्र पर्याप्तमेतावत् पूजिता वयम्।
राजा यदाह तत् कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥ २६ ॥

यह सुनकर गान्धारीने कहा—'बेटा ! ऐसी बात न कहो। मैं जो कहती हूँ उसे सुनो। यह सारा कुरुकुल तुम्हारे ही अधीन है। मेरे श्वशुरका पिण्ड भी तुमपर ही अवलम्बित है; अतः पुत्र ! तुम जाओ, तुमने हमारे लिये जितना किया है, वही बहुत है। तुम्हारे द्वारा हमलोगोंका स्वागत-सत्कार भलीभाँति हो चुका है। इस समय महाराज जो आज्ञा दे रहे हैं, वही करो; क्योंकि पिताका वचन मानना तुम्हारा कर्तव्य है' ॥ २५-२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमभाषत।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! गान्धारीके इस प्रकार आदेश देनेपर राजा युधिष्ठिरने अपने आँसूभरे नेत्रोंको पोंछकर रोती हुई कुन्तीसे कहा—॥ २७ ॥

विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥ २८ ॥

'माँ ! राजा और यशस्विनी गान्धारीदेवी मुझे घर लौटनेकी आज्ञा दे रही हैं; किंतु मेरा मन आपमें लगा हुआ है। जानेका नाम सुनकर ही मैं बहुत दुखी हो जाता हूँ। ऐसी दशामें मैं कैसे जा सकूँगा ? ॥ २८ ॥

न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ २९ ॥

'धर्मचारिणि ! मैं आपकी तपस्यामें विघ्न डालना नहीं चाहता; क्योंकि तपसे बढ़कर कुछ नहीं है। (निष्काम भावपूर्वक) तपस्यासे परब्रह्म परमात्माकी भी प्राप्ति हो जाती है ॥

ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥ ३० ॥

'रानी माँ ! अब मेरा मन भी पहलेकी तरह राजकाजमें नहीं लगता है। हर तरहसे तपस्या करनेको ही जी चाहता है॥

शून्येयं च मही कृत्स्ना न मे प्रीतिकरी शुभे।
बान्धवा नः परिक्षीणा बलं नो न यथा पुरा ॥ ३१ ॥

'शुभे ! यह सारी पृथ्वी मेरे लिये सूनी हो गयी है; अतः इससे मुझे प्रसन्नता नहीं होती। हमारे सगे-सम्बन्धी नष्ट हो गये; अब हमारे पास पहलेकी तरह सैन्यबल भी नहीं है॥

पञ्चालाः सुभृशं क्षीणाः कथामात्रावशेषिताः।
न तेषां कुलकर्तारं कंचित् पश्याम्यहं शुभे ॥ ३२ ॥

'पाञ्चालोंका तो सर्वथा नाश ही हो गया। उनकी कथामात्र शेष रह गयी है। शुभे ! अब मुझे कोई ऐसा नहीं दिखायी देता, जो उनके वंशको चलानेवाला हो ॥ ३२ ॥

सर्वे हि भस्मसान्नीतास्ते द्रोणेन रणाजिरे।
अवशिष्टाश्च निहता द्रोणपुत्रेण वै निशि ॥ ३३ ॥

'प्रायः द्रोणाचार्यने ही सबको समराङ्गणमें भस्म कर डाला था। जो थोड़े-से बच गये थे, उन्हें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रातको सोते समय मार डाला ॥ ३३ ॥

चेदयश्चैव मत्स्याश्च दृष्टपूर्वास्तथैव नः।
केवलं वृष्णिचक्रं च वासुदेवपरिग्रहात् ॥ ३४ ॥

'हमारे सम्बन्धी चेदि और मत्स्यदेशके लोग भी जैसे पहले देखे गये थे, वैसे ही अब नहीं रहे। केवल भगवान् श्रीकृष्णके आश्रयसे वृष्णिवंशी वीरोंका समुदाय अबतक सुरक्षित है ॥

यद् दृष्ट्वा स्थातुमिच्छामि धर्मार्थं नार्थहेतुतः।
शिवेन पश्य नः सर्वान् दुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ३५ ॥
अविषह्यं च राजा हि तीव्रं चारप्स्यते तपः।

'उसे ही देखकर अब मैं केवल धर्मसम्पादनकी इच्छासे यहाँ रहना चाहता हूँ, धनके लिये नहीं। तुम हम सब लोगोंकी ओर कल्याणमयी दृष्टिसे देखो; क्योंकि तुम्हारा दर्शन हमलोगोंके लिये अब दुर्लभ हो जायगा। कारण कि राजा धृतराष्ट्र अब बड़ी कठोर और असह्य तपस्या आरम्भ करेंगे॥'

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः सहदेवो युधां पतिः ॥ ३६ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं बाष्पव्याकुललोचनः।

यह सुनकर योद्धाओंके स्वामी महाबाहु सहदेव अपने दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ॥

नोत्सहेऽहं परित्यक्तुं मातरं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
प्रतियातु भवान् क्षिप्रं तपस्तप्स्याम्यहं विभो।
इहैव शोषयिष्यामि तपसेदं कलेवरम् ॥ ३८ ॥
पादशुश्रूषणे रक्तो राज्ञो मात्रोस्तथानयोः।

'भरतश्रेष्ठ ! मुझमें माताजीको छोड़कर जानेका साहस नहीं है। प्रभो ! आप शीघ्र लौट जायँ। मैं यहीं रहकर तपस्या करूँगा और तपके द्वारा अपने शरीरको सुखा डालूँगा। मैं यहाँ महाराज और इन दोनों माताओंके चरणोंकी सेवामें ही अनुरक्त रहना चाहता हूँ' ॥ ३७-३८½ ॥

तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम् ॥ ३९ ॥
गम्यतां पुत्र मैवं त्वं वोचः कुरु वचो मम।
आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ॥ ४० ॥

यह सुनकर कुन्तीने महाबाहु सहदेवको छातीसे लगा



लिया और कहा—'बेटा ! ऐसा न कहो। तुम मेरी बात मानो और चले जाओ। पुत्रो ! तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों और तुम सदा स्वस्थ रहो ॥ ३९-४० ॥

उपरोधो भवेदेवमस्माकं तपसः कृते।
त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेयं तपसः परात् ॥ ४१ ॥
तस्मात् पुत्रक गच्छ त्वं शिष्टमल्पं च नः प्रभो।

'तुम लोगोंके रहनेसे हमलोगोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ेगा। मैं तुम्हारे स्नेहपाशमें बँधकर उत्तम तपस्यासे गिर जाऊँगी, अतः सामर्थ्यशाली पुत्र ! चले जाओ। अब हमलोगोंकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है' ॥ ४१½ ॥

एवं संस्तम्भितं वाक्यैः कुन्त्या बहुविधैर्मनः ॥ ४२ ॥
सहदेवस्य राजेन्द्र राज्ञश्चैव विशेषतः।

राजेन्द्र ! इस तरह अनेक प्रकारकी बातें कहकर कुन्तीने सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरके मनको धीरज बँधाया ॥ ४२½ ॥

ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन्।

माता तथा धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने कुरुकुलतिलक धृतराष्ट्रको प्रणाम किया और उनसे विदा लेनेके लिये इस प्रकार कहा ॥ ४३½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राज्यं प्रतिगमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः ॥ ४४ ॥
अनुज्ञातास्त्वया राजन् गमिष्यामो विकल्मषाः।

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! आपके आशीर्वादसे आनन्दित होकर हमलोग कुशलपूर्वक राजधानीको लौट जायँगे। राजन् ! इसके लिये आप हमें आज्ञा दें। आपकी आज्ञा पाकर हम पापरहित हो यहाँसे यात्रा करेंगे ॥ ४४½ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराज्ञा महात्मना ॥ ४५ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यमभिनन्द्य युधिष्ठिरम्।

महात्मा धर्मराजके ऐसा कहनेपर राजर्षि धृतराष्ट्रने कुरुनन्दन युधिष्ठिरका अभिनन्दन करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ४५½ ॥

भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः ॥ ४६ ॥
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान्।

इसके बाद राजा धृतराष्ट्रने बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको सान्त्वना दी। बुद्धिमान् एवं पराक्रमी भीमसेनने भी उनकी बातोंको यथार्थरूपसे ग्रहण किया—हृदयसे स्वीकार किया ॥

अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ४७ ॥
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च।
गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवादनाः ॥ ४८ ॥
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम्।
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे ॥ ४९ ॥
पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रचक्रुस्ते प्रदक्षिणम्।

तदनन्तर धृतराष्ट्रने अर्जुन और पुरुषप्रवर नकुल-सहदेवको छातीसे लगा उनका अभिनन्दन करके विदा किया। इसके बाद उन पाण्डवोंने गान्धारीके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ली। फिर माता कुन्तीने उन्हें हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा। जैसे बछड़े अपनी माताका दूध पीनेसे रोके जानेपर बार-बार उसकी ओर देखते हुए उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने राजा तथा माताकी ओर बार-बार देखते हुए उन नरेशकी परिक्रमा की ॥ ४७—४९½ ॥

द्रौपदीप्रमुखाश्चैव सर्वाः कौरवयोषितः ॥ ५० ॥
न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः।
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः ॥ ५१ ॥
संदिष्टाश्चेति कर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह।

द्रौपदी आदि समस्त कौरवस्त्रियोंने अपने श्वशुरको न्यायपूर्वक प्रणाम किया। फिर दोनों सासुओंने उन्हें गलेसे लगाकर आशीर्वाद दे जानेकी आज्ञा दी और उन्हें उनके कर्तव्यका उपदेश भी दिया। तत्पश्चात् वे अपने पतियोंके साथ चली गयीं ॥ ५०-५१½ ॥

ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति ॥ ५२ ॥
उष्ट्राणां क्रोशतां चापि हयानां हेषतामपि।
ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः।

नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात् सबान्धवः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर सारथियोंने 'रथ जोतो, रथ जोतो' की पुकार मचायी । फिर ऊँटोंके चिग्घाड़ने और घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाज हुई । इसके बाद अपने घरकी स्त्रियों, भाइयों और सैनिकोंके साथ राजा युधिष्ठिर पुनः हस्तिनापुर नगरको लौट आये ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि पुत्रदर्शनपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यागमे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत पुत्रदर्शनपर्वमें युधिष्ठिरका प्रत्यागमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(नारदागमनपर्व)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

नारदजीसे धृतराष्ट्र आदिके दावानलमें दग्ध हो जानेका हाल जानकर युधिष्ठिर आदिका शोक

वैशम्पायन उवाच

द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया ।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंको तपोवनसे आये जब दो वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन देवर्षि नारद दैवेच्छासे घूमते-घामते राजा युधिष्ठिरके यहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ॥ २ ॥

महाबाहु कुरुराज युधिष्ठिरने नारदजीकी पूजा करके उन्हें आसनपर बिठाया । जब वे आसनपर बैठकर थोड़ी देर विश्राम कर चुके, तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार पूछा ॥ २ ॥

चिरात्तु नानुपश्यामि भगवन्तमुपस्थितम् ।
कच्चित् ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ॥ ३ ॥

'भगवन् ! इधर दीर्घकालसे मैं आपकी उपस्थिति यहाँ नहीं देखता हूँ । ब्रह्मन् ! कुशल तो है न ? अथवा आपको शुभकी ही प्राप्ति होती है न ? ॥ ३ ॥

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते ।
तद् ब्रूहि द्विजमुख्य त्वं त्वं ह्यस्माकं परा गतिः ॥ ४ ॥

'विप्रवर ! इस समय आपने किन-किन देशोंका निरीक्षण किया है ? बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? क्योंकि आप हमलोगोंकी परम गति हैं' ॥ ४ ॥

नारद उवाच

चिरदृष्टोऽसि मेत्येवमागतोऽहं तपोवनात् ।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—नरेश्वर ! बहुत दिन पहले मैंने तुम्हें देखा था, इसीलिये मैं तपोवनसे सीधे यहाँ चला आ रहा हूँ । रास्तेमें मैंने बहुत-से तीर्थों और गङ्गाजीका भी दर्शन किया है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः ।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! गङ्गाके किनारे रहनेवाले मनुष्य मेरे पास आकर कहा करते हैं कि महामनस्वी महाराज धृतराष्ट्र इन दिनों बड़ी कठोर तपस्यामें लगे हुए हैं ॥ ६ ॥

अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः ।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च संजयः ॥ ७ ॥

क्या आपने भी उन्हें देखा है ? वे कुरुश्रेष्ठ वहाँ कुशलसे तो हैं न ? गान्धारी, कुन्ती तथा सूतपुत्र संजय भी सकुशल हैं न ? ॥ ७ ॥

कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि दृष्टस्त्वया नृपः ॥ ८ ॥

आजकल मेरे ताऊ राजा धृतराष्ट्र कैसे रहते हैं ? भगवन् ! यदि आपने उन्हें देखा हो तो मैं उनका समाचार सुनना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

नारद उवाच

स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथम् ।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥ ९ ॥

नारदजीने कहा—महाराज ! मैंने उस तपोवनमें जो कुछ देखा और सुना है, वह सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रहा हूँ । तुम स्थिरचित्त होकर सुनो ॥ ९ ॥

वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रात् पिता तुभ्यं गङ्गाद्वारं ययौ नृप ॥ १० ॥

गान्धार्या सहितो धीमान् वध्वा कुन्त्या समन्वितः ।
संजयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ॥ ११ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश ! जब तुमलोग वनसे लौट आये, तब तुम्हारे बुद्धिमान् ताऊ राजा धृतराष्ट्र गान्धारी, बहू कुन्ती, सूत सञ्जय, अग्निहोत्र और पुरोहितके साथ कुरुक्षेत्रसे गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को चले गये १०-११

आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः ।
वीटां मुखे समाधाय वायुभक्षोऽभवन्मुनिः ॥ १२ ॥

वहाँ जाकर तपस्याके धनी तुम्हारे ताऊने कठोर तपस्या आरम्भ की । वे मुँहमें पत्थरका टुकड़ा रखकर वायुका आहार करते और मौन रहते थे ॥ १२ ॥

वने स मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महातपाः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ॥ १३ ॥

उस वनमें जितने ऋषि रहते थे, वे लोग उनका विशेष सम्मान करने लगे । महातपस्वी धृतराष्ट्रके शरीरपर चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया था । उस अवस्थामें उन्होंने छः महीने व्यतीत किये ॥ १३ ॥

गान्धारी तु जलाहारा कुन्ती मासोपवासिनी ।
संजयः षष्ठभुक्तेन वर्तयामास भारत ॥ १४ ॥

भारत ! गान्धारी केवल जल पीकर रहने लगीं । कुन्तीदेवी एक महीनेतक उपवास करके एक दिन भोजन करती थीं और संजय छठे समय अर्थात् दो दिन उपवास करके तीसरे दिन संध्याको आहार ग्रहण करते थे ॥ १४ ॥

अग्नींस्तु याजकास्तत्र जुहुवुर्विधिवत् प्रभो ।
दृश्यतोऽदृश्यतश्चैव वने तस्मिन् नृपस्य वै ॥ १५ ॥

प्रभो ! राजा धृतराष्ट्र उस वनमें कभी दिखायी देते और कभी अदृश्य हो जाते थे । यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण वहाँ उनके द्वारा स्थापित की हुई अग्निमें विधिवत् हवन करते रहते थे १५

अनिकेतोऽथ राजा स बभूव वनगोचरः ।
ते चापि सहिते देव्यौ संजयश्च तमन्वयुः ॥ १६ ॥

अब राजाका कोई निश्चित स्थान नहीं रह गया । वे वनमें सब ओर विचरते रहते थे । गान्धारी और कुन्ती ये दोनों देवियाँ साथ रहकर राजाके पीछे-पीछे लगी रहती थीं । संजय भी उन्हींका अनुसरण करते थे ॥ १६ ॥

संजयो नृपतेर्नेता समेषु विषमेषु च ।
गान्धार्याश्च पृथा चैव चक्षुरासीदनिन्दिता ॥ १७ ॥

ऊँची-नीची भूमि आ जानेपर संजय ही राजा धृतराष्ट्रको चलाते थे और अनिन्दिता सती-साध्वी कुन्ती गान्धारीके लिये नेत्र बनी हुई थीं ॥ १७ ॥

ततः कदाचिद् गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः ।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्रने गङ्गाके कछारमें जाकर उनके जलमें डुबकी लगायी और स्नानके पश्चात् वे अपने आश्रमकी ओर चल पड़े ॥ १८ ॥

अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान् ।
ददाह तद् वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें वहाँ बड़े जोरकी हवा चली । जिससे उस वनमें बड़ी भारी दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी । उसने चारों ओरसे उस सारे वनको जलाना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

दह्यत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः ।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ॥ २० ॥

सब ओर मृगोंके झुंड और सर्प दग्ध होने लगे । वनैले सूअर भाग-भागकर जलाशयोंकी शरण लेने लगे ॥ २० ॥

समाविद्धे वने तस्मिन् प्राप्ते व्यसन उत्तमे ।
निराहारतया राजन् मन्दप्राणविचेष्टितः ॥ २१ ॥
असमर्थोऽपसरणे सुकृशे मातरौ च ते ।

राजन् ! सारा वन आगसे घिर गया और उन लोगोंपर बड़ा भारी संकट आ गया । उपवास करनेसे प्राणशक्ति क्षीण हो जानेके कारण राजा धृतराष्ट्र वहाँसे भागनेमें असमर्थ थे, तुम्हारी दोनों माताएँ भी अत्यन्त दुर्बल हो गयी थीं; अतः वे भी भागनेमें असमर्थ थीं ॥ २१½ ॥

ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ॥ २२ ॥
इदमाह ततः सूतं संजयं जयतां वरः ।

तदनन्तर विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने उस अग्निको निकट आती जान सूत संजयसे इस प्रकार कहा— ॥ २२½ ॥

गच्छ संजय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ॥ २३ ॥
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ।

'संजय ! तुम किसी ऐसे स्थानमें भाग जाओ, जहाँ यह दावाग्नि तुम्हें कदापि जला न सके । हमलोग तो अब यहीं अपनेको अग्निमें होम कर परम गति प्राप्त करेंगे' ॥ २३½ ॥

तमुवाच किलोद्विग्नः संजयो वदतां वरः ॥ २४ ॥
राजन् मृत्युरनिष्टोऽयं भविता ते वृथाग्निना ।
न चोपायं प्रपश्यामि मोक्षणे जातवेदसः ॥ २५ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ संजयने अत्यन्त उद्विग्न होकर कहा—'राजन् ! इस लौकिक अग्निसे आपकी मृत्यु होना ठीक नहीं है, (आपके शरीरका दाह-संस्कार तो आहवनीय अग्निमें होना चाहिये ।) किंतु इस समय इस दावानलसे छुटकारा पानेका कोई उपाय भी मुझे नहीं दिखायी देता २४-२५

यदत्रानन्तरं कार्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
इत्युक्तः संजयेनेदं पुनराह स पार्थिवः ॥ २६ ॥

'अब इसके बाद क्या करना चाहिये—यह बतानेकी

कृपा करें।' संजयके ऐसा कहनेपर राजाने फिर कहा—॥२६॥

नैष मृत्युरनिष्टो नो निःसृतानां गृहात् स्वयम्।
जलमग्निस्तथा वायुरथवापि विकर्षणम्॥ २७॥
तापसानां प्रशस्यन्ते गच्छ संजय मा चिरम्।

'संजय! हमलोग स्वयं गृहस्थाश्रमका परित्याग करके चले आये हैं, अतः हमारे लिये इस तरहकी मृत्यु अनिष्टकारक नहीं हो सकती। जल, अग्नि तथा वायुके संयोगसे अथवा उपवास करके प्राण त्यागना तपस्वियोंके लिये प्रशंसनीय माना गया है; इसलिये अब तुम शीघ्र यहाँसे चले जाओ। विलम्ब न करो'॥ २७½॥

इत्युक्त्वा संजयं राजा समाधाय मनस्तथा॥ २८॥
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत् तदा।

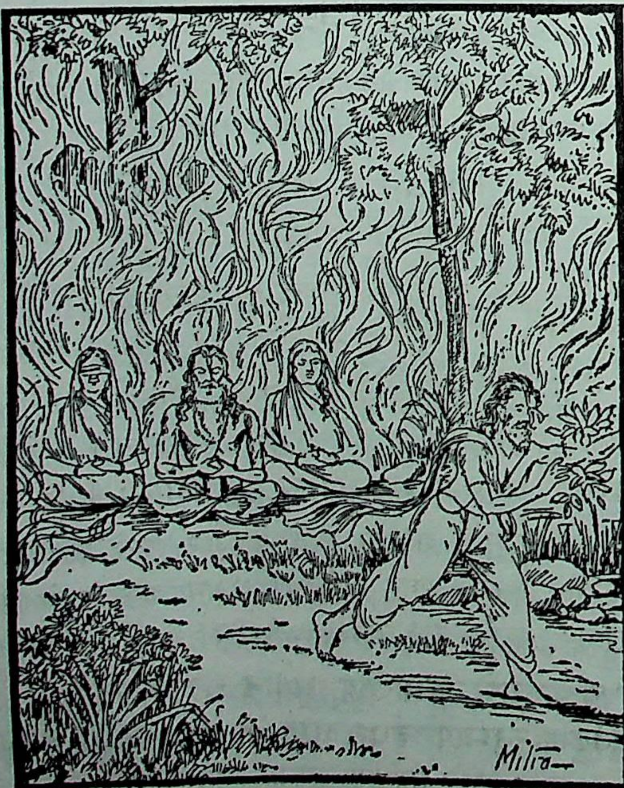
संजयसे ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने मनको एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्तीके साथ वे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये॥ २८½॥

संजयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत्॥ २९॥
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो।

उन्हें उस अवस्थामें देख मेधावी संजयने उनकी परिक्रमा की और कहा—'महाराज! अब अपनेको योगयुक्त कीजिये॥ २९½॥

ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद् वचः॥ ३०॥
संनिरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा।

महर्षि व्यासके पुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्रने संजयकी वह बात मान ली। वे इन्द्रियसमुदायको रोककर काष्ठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये॥ ३०½॥



गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव॥ ३१॥
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव।
संजयस्तु महामात्रस्तस्माद् दावादमुच्यत॥ ३२॥

इसके बाद महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्ती तथा तुम्हारे ताऊ राजा धृतराष्ट्र—ये तीनों ही दावाग्निमें जलकर भस्म हो गये; परंतु महामात्य संजय उस दावाग्निसे जीवित बच गये हैं॥ ३१-३२॥

गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः।
स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः॥ ३३॥
प्रययौ संजयो धीमान् हिमवन्तं महीधरम्।

मैंने संजयको गङ्गातटपर तापसोंसे घिरा देखा है। बुद्धिमान् और तेजस्वी संजय तापसोंको यह सब समाचार बताकर उनसे विदा ले हिमालयपर्वतपर चले गये॥ ३३½॥

एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः॥ ३४॥
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते विशाम्पते।

प्रजानाथ! इस प्रकार महामनस्वी कुरुराज धृतराष्ट्र तथा तुम्हारी दोनों माताएँ गान्धारी और कुन्ती मृत्युको प्राप्त हो गयीं॥ ३४½॥

यदृच्छयानुव्रजता मया राज्ञः कलेवरम्॥ ३५॥
तयोश्च देव्योरुभयोर्मया दृष्टानि भारत।

भरतनन्दन! वनमें घूमते समय अकस्मात् राजा धृतराष्ट्र तथा उन देवियोंके मृत शरीर मेरी दृष्टिमें पड़े थे॥ ३५½॥

ततस्तपोवने तस्मिन् समाजग्मुस्तपोधनाः॥ ३६॥
श्रुत्वा राज्ञस्तदा निष्ठां न त्वशोचन् गतीश्च ते।

तदनन्तर राजाकी मृत्युका समाचार सुनकर बहुत-से तपोधन उस तपोवनमें आये। उन्होंने उनके लिये कोई शोक नहीं किया; क्योंकि उन तीनोंकी सद्गतिके विषयमें उनके मनमें संशय नहीं था॥ ३६½॥

तत्राश्रौषमहं सर्वमेतत् पुरुषसत्तम॥ ३७॥
यथा च नृपतिर्दग्धो देव्यौ ते चेति पाण्डव।

पुरुषप्रवर पाण्डव! जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्र तथा उन दोनों देवियोंका दाह हुआ है, यह सारा समाचार मैंने वहीं सुना था॥ ३७½॥

न शोचितव्यं राजेन्द्र स्वतः स पृथिवीपतिः॥ ३८॥
प्राप्तवानग्निसंयोगं गान्धारी जननी च ते।

राजेन्द्र! राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और तुम्हारी माता कुन्ती—तीनोंने स्वतः अग्निसंयोग प्राप्त किया था; अतः उनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये॥ ३८½॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम्॥ ३९॥
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं——जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र-का यह परलोकगमनका समाचार सुनकर उन सभी महामना पाण्डवोंको बड़ा शोक हुआ॥ ३९½॥

अन्तःपुराणां च तदा महानार्तस्वरोऽभवत्॥ ४०॥
पौराणां च महाराज श्रुत्वा राज्ञस्तदा गतिम्।

महाराज! उनके अन्तःपुरमें उस समय महान् आर्त-नाद होने लगा। राजाकी वैसी गति सुनकर पुरवासियोंमें भी हाहाकार मच गया॥ ४०½॥

अहो धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः॥ ४१॥
ऊर्ध्वबाहुः स्मरन् मातुः प्ररुरोद युधिष्ठिरः।

'अहो! धिक्कार है!' इस प्रकार अपनी निन्दा करके राजा युधिष्ठिर बहुत दुखी हो गये तथा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर अपनी माताको याद करके फूट-फूटकर रोने लगे॥ ४१½॥

भीमसेनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते॥ ४२॥
अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम्॥ ४३॥

भीमसेन आदि सभी भाई रोने लगे। महाराज! कुन्ती-की वैसी दशा सुनकर अन्तःपुरमें भी रोने-बिलखनेका महान् शब्द सुनायी देने लगा॥ ४२-४३॥

तं च वृद्धं तथा दग्धं हतपुत्रं नराधिपम्।
अन्वशोचन्त ते सर्वे गान्धारीं च तपस्विनीम्॥ ४४॥

पुत्रहीन बूढ़े राजा धृतराष्ट्र तथा तपस्विनी गान्धारीदेवी-को इस प्रकार दग्ध हुई सुनकर सब लोग बारंबार शोक करने लगे॥ ४४॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम्॥ ४५॥

भरतनन्दन! दो घड़ी बाद जब रोने-धोनेकी आवाज बंद हुई, तब धर्मराज युधिष्ठिर धैर्यपूर्वक अपने आँसू पोंछकर नारदजीसे इस प्रकार कहने लगे॥ ४५॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि दावाग्निना धृतराष्ट्रादिदाहे सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥ ३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें धृतराष्ट्र आदिका दावाग्निसे दाहविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

नारदजीके सम्मुख युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिके लौकिक अग्निमें दग्ध हो जानेका वर्णन करते हुए विलाप और अन्य पाण्डवोंका भी रोदन

युधिष्ठिर उवाच

तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः।
अनाथस्येव निधनं तिष्ठत्स्वास्मासु बन्धुषु॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! हम-जैसे बन्धु-बान्धवोंके रहते हुए भी कठोर तपस्यामें लगे हुए महामना धृतराष्ट्रकी अनाथके समान मृत्यु हुई, यह कितने दुःखकी बात है!॥ १॥

दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् पुरुषाणां मतिर्मम।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना॥ २॥

ब्रह्मन्! मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्योंकी गतिका ठीक-ठीक ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है; जब कि विचित्रवीर्यकुमार धृतराष्ट्रको इस तरह दावानलसे दग्ध होकर मरना पड़ा॥ २॥

यस्य पुत्रशतं श्रीमदभवद् बाहुशालिनः।
नागायुतबलो राजा स दग्धो हि दवाग्निना॥ ३॥

जिन बाहुबलशाली नरेशके सौ पुत्र थे, जो स्वयं भी दस हजार हाथियोंके समान बलवान् थे, वे ही दावानलसे जलकर मरे हैं, यह कितने दुःखकी बात है!॥ ३॥

यं पुरा पर्यवीजन्त तालवृन्तैर्वरस्त्रियः।
तं गृध्राः पर्यवीजन्त दावाग्निपरिकालितम्॥ ४॥

पूर्वकालमें सुन्दरी स्त्रियाँ जिन्हें सब ओरसे ताड़के पंखों-द्वारा हवा करती थीं, उन्हें दावानलसे दग्ध हो जानेपर गीधों-ने अपनी पाँखोंसे हवा की है॥ ४॥

सूतमागधसंघैश्च शयानो यः प्रबोध्यते।
धरण्यां स नृपः शेते पापस्य मम कर्मभिः॥ ५॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोते थे और जिन्हें सूत तथा मागधोंके समुदाय मधुर गीतोंद्वारा जगाया करते थे, वे ही महाराज मुझ पापीकी करतूतोंसे पृथ्वीपर सो रहे हैं॥ ५॥

न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम्।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम्॥ ६॥

मुझे पुत्रहीना यशस्विनी गान्धारीके लिये उतना शोक

नहीं है, क्योंकि वे पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती थीं; अतः पतिलोकमें गयी हैं ॥ ६ ॥

पृथामेव च शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत्।
उत्सृज्य सुमहद् दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥ ७ ॥

मैं तो उन माता कुन्तीके लिये ही अधिक शोक करता हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके समृद्धिशाली एवं परम समुज्ज्वल ऐश्वर्य-को ठुकराकर वनमें रहना पसंद किया था ॥ ७ ॥

धिग् राज्यमिदमस्माकं धिग् बलं धिक् पराक्रमम्।
क्षत्रधर्मं च धिग् यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥ ८ ॥

हमारे इस राज्यको धिक्कार है, बल और पराक्रमको धिक्कार है तथा इस क्षत्रिय-धर्मको भी धिक्कार है! जिससे आज हमलोग मृतकतुल्य जीवन बिता रहे हैं ॥ ८ ॥

सुसूक्ष्मा किल कालस्य गतिर्द्विजवरोत्तम।
यत् समुत्सृज्य राज्यं सा वनवासमरोचयत् ॥ ९ ॥

विप्रवर! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, जिससे प्रेरित होकर माता कुन्तीने राज्य त्यागकर वनमें ही रहना ठीक समझा ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरस्य जननी भीमस्य विजयस्य च।
अनाथवत् कथं दग्धा इति मुह्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुनकी माता अनाथकी भाँति कैसे जल गयी, यह सोचकर मैं मोहित हो जाता हूँ ॥

वृथा संतर्पितो वह्निः खाण्डवे सव्यसाचिना।
उपकारमजानन् स कृतघ्न इति मे मतिः ॥ ११ ॥

सव्यसाची अर्जुनने जो खाण्डववनमें अग्निदेवको तृप्त किया था, वह व्यर्थ हो गया। वे उस उपकारको याद न रखनेके कारण कृतघ्न हैं—ऐसी मेरी धारणा है ॥ ११ ॥

यत्रादहत् स भगवान् मातरं सव्यसाचिनः।
कृत्वा यो ब्राह्मणच्छद्म भिक्षार्थी समुपागतः ॥ १२ ॥
धिगग्निं धिक् च पार्थस्य विश्रुतां सत्यसंधताम्।

जो एक दिन ब्राह्मणका वेश बनाकर अर्जुनसे भीख माँगने आये थे, उन्हीं भगवान् अग्निदेवने अर्जुनकी माँको जलाकर भस्म कर दिया। अग्निदेवको धिक्कार है! अर्जुनकी जो सुप्रसिद्ध सत्यप्रतिज्ञता है, उसको भी धिक्कार है! ॥ १२½ ॥

इदं कष्टतरं चान्यद् भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १३ ॥
वृथाग्निना समायोगो यद्भूत् पृथिवीपतेः।

भगवन्! राजा धृतराष्ट्रके शरीरको जो व्यर्थ (लौकिक) अग्निका संयोग प्राप्त हुआ, यह दूसरी अत्यन्त कष्ट देनेवाली बात जान पड़ती है ॥ १३½ ॥

तथा तपस्विनस्तस्य राजर्षेः कौरवस्य ह ॥ १४ ॥
कथमेवंविधो मृत्युः प्रशास्य पृथिवीमिमाम्।

जिन्होंने पहले इस पृथ्वीका शासन करके अन्तमें वैसी कठोर तपस्याका आश्रय लिया था, उन कुरुवंशी राजर्षिको ऐसी मृत्यु क्यों प्राप्त हुई? ॥ १४½ ॥

तिष्ठत्सु मन्त्रपूतेषु तस्याग्निषु महावने ॥ १५ ॥
वृथाग्निना समायुक्तो निष्ठां प्राप्तः पिता मम।

हाय, उस महान् वनमें मन्त्रोंसे पवित्र हुई अग्नियोंके रहते हुए भी मेरे ताऊ लौकिक अग्निसे दग्ध होकर क्यों मृत्युको प्राप्त हुए? ॥ १५½ ॥

मन्ये पृथा वेपमाना कृशा धमनिसंतता ॥ १६ ॥
हा तात! धर्मराजेति समाक्रन्दन्महाभये।

मैं तो समझता हूँ कि अत्यन्त दुर्बल हो जानेके कारण जिनके शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँतक स्पष्ट दिखायी देती थीं, वे मेरी माता कुन्ती अग्निका महान् भय उपस्थित होनेपर 'हा तात! हा धर्मराज!' कहकर कातर पुकार मचाने लगी होंगी ॥ १६½ ॥

भीम पर्याप्नुहि भयादिति चैवाभिवाशती ॥ १७ ॥
समन्ततः परिक्षिप्ता माताभून्मे दवाग्निना।

'भीमसेन! इस भयसे मुझे बचाओ' ऐसा कहकर चारों ओर चीखती-चिल्लाती हुई मेरी माताको दावानलने जलाकर भस्म कर दिया होगा ॥ १७½ ॥

सहदेवः प्रियस्तस्याः पुत्रेभ्योऽधिक एव तु ॥ १८ ॥
न चैनां मोक्षयामास वीरो माद्रवतीसुतः।

सहदेव मेरी माताको अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय था; परंतु वह वीर माद्रीकुमार भी माको उस संकटसे बचा न सका ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा रुरुदुः सर्वे समालिङ्ग्य परस्परम् ॥ १९ ॥
पाण्डवाः पञ्च दुःखार्ता भूतानीव युगक्षये।

यह सुनकर समस्त पाण्डव एक दूसरेको हृदयसे लगाकर रोने लगे। जैसे प्रलयकालमें पाँचों भूत पीडित हो जाते हैं, उसी प्रकार उस समय पाँचों पाण्डव दुःखसे आतुर हो उठे ॥

तेषां तु पुरुषेन्द्राणां रुदतां रुदितस्वनः ॥ २० ॥
प्रासादाभोगसंरुद्धे अन्वरौत्सीत् स रोदसी ॥ २१ ॥

वहाँ रोदन करते हुए उन पुरुषप्रवर पाण्डवोंके रोनेका शब्द महलके विस्तारसे अवरुद्ध हुए भूतल और आकाशमें गूँजने लगा ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि युधिष्ठिरविलापे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें युधिष्ठिरका विलापविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरद्वारा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती—इन तीनोंकी हड्डियोंको गङ्गामें प्रवाहित कराना तथा श्राद्धकर्म करना

नारद उवाच

नासौ वृथाग्निना दग्धो यथा तत्र श्रुतं मया।
वैचित्रवीर्यो नृपतिस्तत् ते वक्ष्यामि सुव्रत ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश ! विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रका दाह व्यर्थ (लौकिक) अग्निसे नहीं हुआ है। इस विषयमें मैंने वहाँ जैसा सुना था, वह सब तुम्हें बताऊँगा ॥ १ ॥

वनं प्रविशतानेन वायुभक्षेण धीमता।
अग्नयः कारयित्वेष्टिमुत्सृष्टा इति नः श्रुतम् ॥ २ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि वायु पीकर रहनेवाले वे बुद्धिमान् नरेश जब घने वनमें प्रवेश करने लगे, उस समय उन्होंने याजकोंद्वारा इष्टि कराकर तीनों अग्नियोंको वहीं त्याग दिया ॥ २ ॥

याजकास्तु ततस्तस्य तानग्नीन्निर्जने वने।
समुत्सृज्य यथाकामं जग्मुर्भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनकी उन अग्नियोंको उसी निर्जन वनमें छोड़कर उनके याजकगण इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३ ॥

स विवृद्धस्तदा वह्निर्वने तस्मिन्नभूत् किल।
तेन तद् वनमादीप्तमिति ते तापसाब्रुवन् ॥ ४ ॥

कहते हैं, वही अग्नि बढ़कर उस वनमें सब ओर फैल गयी और उसीने उस सारे वनको भस्मसात् कर दिया—यह बात मुझसे वहाँके तापसोंने बतायी थी ॥ ४ ॥

स राजा जाह्नवीतीरे यथा ते कथितं मया।
तेनाग्निना समायुक्तः स्वेनैव भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे राजा गङ्गाके तटपर, जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, उस अपनी ही अग्निसे दग्ध हुए हैं ॥ ५ ॥

एवमावेदयामासुर्मुनयस्ते ममानघ।
ये ते भागीरथीतीरे मया दृष्टा युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

निष्पाप नरेश ! गङ्गाजीके तटपर मुझे जिनके दर्शन हुए थे, उन मुनियोंने मुझसे ऐसा ही बताया था ॥ ६ ॥

एवं स्वेनाग्निना राजा समायुक्तो महीपते।
मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र अपनी ही अग्निसे दाहको प्राप्त हुए हैं, तुम उन नरेशके लिये शोक न करो। वे परम उत्तम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

गुरुशुश्रूषया चैव जननी ते जनाधिप।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः ॥ ८ ॥

जनेश्वर ! तुम्हारी माता कुन्तीदेवी गुरुजनोंकी सेवाके प्रभावसे बहुत बड़ी सिद्धिको प्राप्त हुई हैं, इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है ॥ ८ ॥

कर्तुमर्हसि राजेन्द्र तेषां त्वमुदकक्रियाम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरेतदत्र विधीयताम् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! अब अपने सब भाइयोंके साथ जाकर तुम्हें उन तीनोंके लिये जलाञ्जलि देनी चाहिये। इस समय यहाँ इसी कर्तव्यका पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स पृथिवीपालः पाण्डवानां धुरंधरः।
निर्ययौ सहसोदर्यैः सदारश्च नरर्षभः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब पाण्डव-धुरन्धर पृथ्वीपाल नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने भाइयों और स्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकले ॥ १० ॥

पौरजानपदाश्चैव राजभक्तिपुरस्कृताः।
गङ्गां प्रजग्मुरभितो वाससैकेन संवृताः ॥ ११ ॥

उनके साथ राजभक्तिको सामने रखनेवाले पुरवासी और जनपदनिवासी भी थे। वे सब एकवस्त्र धारण करके गङ्गाजीके समीप गये ॥ ११ ॥

ततोऽवगाह्य सलिले सर्वे ते नरपुङ्गवाः।
युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने ॥ १२ ॥

उन सभी श्रेष्ठ पुरुषोंने गङ्गाजीके जलमें स्नान करके युयुत्सुको आगे रखते हुए महात्मा धृतराष्ट्रके लिये जलाञ्जलि दी ॥ १२ ॥

गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः।
शौचं निर्वर्तयन्तस्ते तत्रोषुर्नगराद् बहिः ॥ १३ ॥

फिर विधिपूर्वक नाम और गोत्रका उच्चारण करते हुए गान्धारी और कुन्तीके लिये भी उन्होंने जल-दान किया। तत्पश्चात् शौचसम्पादन या अशौचनिवृत्तिके लिये प्रयत्न करते हुए वे सब लोग नगरसे बाहर ही ठहर गये ॥ १३ ॥

प्रेषयामास स नरान् विधिज्ञानाप्तकारिणः।
गङ्गाद्वारं नरश्रेष्ठो यत्र दग्धोऽभवन्नृपः ॥ १४ ॥
तत्रैव तेषां कृत्यानि गङ्गाद्वारेऽन्वशात् तदा।
कर्तव्यानीति पुरुषान् दत्तदेयान्महीपतिः

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने जहाँ राजा धृतराष्ट्र दग्ध हुए थे, उस स्थानपर भी हरद्वारमें विधि-विधानके जाननेवाले विश्वासपात्र मनुष्योंको भेजा और वहीं उनके श्राद्धकर्म करनेकी आज्ञा दी। फिर उन भूपालने उन पुरुषोंको दानमें देनेयोग्य नाना प्रकारकी वस्तुएँ अर्पित कीं ॥ १४-१५ ॥

द्वादशेऽहनि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः।
ददौ श्राद्धानि विधिवद् दक्षिणावन्ति पाण्डवः ॥ १६ ॥

शौच-सम्पादनके लिये दशाह आदि कर्म कर लेनेके पश्चात् पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने बारहवें दिन धृतराष्ट्र आदिके उद्देश्यसे विधिवत् श्राद्ध किया तथा उन श्राद्धोंमें ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणाएँ दीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रं समुद्दिश्य ददौ स पृथिवीपतिः।
सुवर्णं रजतं गाश्च शय्याश्च सुमहाधनाः ॥ १७ ॥
गान्धार्याश्चैव तेजस्वी पृथायाश्च पृथक् पृथक्।
संकीर्त्य नामनी राजा ददौ दानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके लिये पृथक्-पृथक् उनके नाम ले-लेकर सोना, चाँदी, गौ तथा बहुमूल्य शय्याएँ प्रदान कीं तथा परम उत्तम दान दिया ॥ १७-१८ ॥

यो यदिच्छति यावच्च तावत् स लभते नरः।
शयनं भोजनं यानं मणिरत्नमथो धनम् ॥ १९ ॥
यानमाच्छादनं भोगान् दासीश्च समलंकृताः।
ददौ राजा समुद्दिश्य तयोर्मात्रोर्महीपतिः ॥ २० ॥

उस समय जो मनुष्य जिस वस्तुको जितनी मात्रामें लेना चाहता, वह उस वस्तुको उतनी ही मात्रामें प्राप्त कर लेता था। राजा युधिष्ठिरने अपनी उन दोनों माताओंके उद्देश्यसे शय्या, भोजन, सवारी, मणि, रत्न, धन, वाहन, वस्त्र, नाना प्रकारके भोग तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित दासियाँ प्रदान कीं ॥ १९-२० ॥

ततः स पृथिवीपालो दत्त्वा श्राद्धान्यनेकशः।
प्रविवेश पुरं राजा नगरं वारणाह्वयम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार अनेक बार श्राद्धके दान देकर पृथ्वीपाल राजा युधिष्ठिरने हस्तिनापुरनामक नगरमें प्रवेश किया ॥

ते चापि राजवचनात् पुरुषा ये गताभवन्।
संकल्प्य तेषां कुल्यानि पुनः प्रत्यागमंस्ततः ॥ २२ ॥
माल्यैर्गन्धैश्च विविधैरर्चयित्वा यथाविधि।
कुल्यानि तेषां संयोज्य तदाचख्युर्महीपतेः ॥ २३ ॥

जो लोग राजाकी आज्ञासे हरद्वारमें भेजे गये थे, वे उन तीनोंकी हड्डियोंको संचित करके वहाँसे फिर गङ्गाजीके तटपर गये। फिर भाँति-भाँतिकी मालाओं और चन्दनोंसे विधिपूर्वक उनकी पूजा की। पूजा करके उन सबको गङ्गाजीमें प्रवाहित कर दिया। इसके बाद हस्तिनापुरमें लौटकर उन्होंने यह सब समाचार राजाको कह सुनाया ॥ २२-२३ ॥

समाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
नारदोऽप्यगमद् राजन् परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥ २४ ॥

राजन्! तदनन्तर देवर्षि नारदजी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ २४ ॥

एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
वनवासे तथा त्रीणि नगरे दश पञ्च च ॥ २५ ॥
हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥ २६ ॥

इस प्रकार जिनके पुत्र रणभूमिमें मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्रने अपने जाति-भाई, सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और स्वजनोंके निमित्त सदा दान देते हुए (युद्ध समाप्त होनेके बाद) पंद्रह वर्ष हस्तिनापुर नगरमें व्यतीत किये थे और तीन वर्ष वनमें तपस्या करते हुए बिताये थे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतमनास्तदा।
धारयामास तद् राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥ २७ ॥

जिनके बन्धु-बान्धव नष्ट हो गये थे, वे राजा युधिष्ठिर मनमें अधिक प्रसन्न न रहते हुए किसी प्रकार राज्यका भार सँभालने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिके पर्वणि नारदागमनपर्वणि श्राद्धदाने ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्रमवासिकपर्वके अन्तर्गत नारदागमनपर्वमें श्राद्धदानविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

आश्रमवासिकपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१०६१	(३४)	४६॥।	११०७॥।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१॥	×	×	१॥

आश्रमवासिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—११०९।



साम्बके पेटसे यदुवंश-विनाशके लिये मूसल पैदा होनेका ऋषियोंद्वारा शाप

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

मौसलपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अपशकुन देखना, यादवोंके विनाशका समाचार सुनना, द्वारकामें ऋषियोंके शापवश साम्बके पेटसे मूसलकी उत्पत्ति तथा मदिराके निषेधकी कठोर आज्ञा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाभारत-युद्धके पश्चात् जब छत्तीसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तब कौरवनन्दन राजा युधिष्ठिरको कई तरहके अपशकुन दिखायी देने लगे॥

ववुर्वाताश्च निर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः।
अपसव्यानि शकुना मण्डलानि प्रचक्रिरे॥ २॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ बालू और कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड आँधी चलने लगी। पक्षी दाहिनी ओर मण्डल बनाकर उड़ते दिखायी देने लगे॥ २॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यो दिशो नीहारसंवृताः।
उल्काश्चाङ्गारवर्षिण्यः प्रापतन् गगनाद् भुवि॥ ३॥

बड़ी-बड़ी नदियाँ बालूके भीतर छिपकर बहने लगीं। दिशाएँ कुहरेसे आच्छादित हो गयीं। आकाशसे पृथ्वीपर अङ्गार बरसानेवाली उल्काएँ गिरने लगीं॥ ३॥

आदित्यो रजसा राजन् समवच्छन्नमण्डलः।
विरश्मिरुदये नित्यं कबन्धैः समदृश्यत॥ ४॥

राजन्! सूर्यमण्डल धूलसे आच्छन्न हो गया था। उदय-कालमें सूर्य तेजोहीन प्रतीत होते थे और उनका मण्डल प्रतिदिन अनेक कबन्धों (बिना सिरके धड़ों) से युक्त दिखायी देता था॥ ४॥

परिवेषाश्च दृश्यन्ते दारुणाश्चन्द्रसूर्ययोः।
त्रिवर्णाः श्यामरूक्षान्तास्तथा भस्मारुणप्रभाः॥ ५॥

चन्द्रमा और सूर्य दोनोंके चारों ओर भयानक घेरे दृष्टिगोचर होते थे। उन घेरोंमें तीन रंग प्रतीत होते थे। उनका किनारेका भाग काला एवं रूखा होता था। बीचमें भस्मके समान धूसर रंग दीखता था और भीतरी किनारेकी कान्ति अरुणवर्णकी दृष्टिगोचर होती थी॥ ५॥

एते चान्ये च बहव उत्पाता भयशंसिनः।
दृश्यन्ते बहवो राजन् हृदयोद्वेगकारकाः॥ ६॥

राजन्! ये तथा और भी बहुत-से भयसूचक उत्पात दिखायी देने लगे, जो हृदयको उद्विग्न कर देनेवाले थे॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसले कदनं कृतम्॥ ७॥
विमुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः।
समानीयाब्रवीद् भ्रातॄन् किं करिष्याम इत्युत॥ ८॥

इसके थोड़े ही दिनों बाद कुरुराज युधिष्ठिरने यह समाचार सुना कि मूसलको निमित्त बनाकर आपसमें महान् युद्ध हुआ है; जिसमें समस्त वृष्णिवंशियोंका संहार हो गया। केवल भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी ही उस विनाशसे बचे हुए हैं। यह सब सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने समस्त भाइयोंको बुलाया और पूछा—'अब हमें क्या करना चाहिये?'॥

परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात् कृतान्।
वृष्णीन् विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवाभवन्॥ ९॥
निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम्।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः॥ १०॥

ब्राह्मणोंके शापके बलसे विवश हो आपसमें लड़-भिड़कर

सारे वृष्णिवंशी विनष्ट हो गये । यह बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ी वेदना हुई । भगवान् श्रीकृष्णका वध तो समुद्रको सोख लेनेके समान असम्भव था; अतः उन वीरोंने भगवान् श्रीकृष्णके विनाशकी बातपर विश्वास नहीं किया ॥ ९-१० ॥

मौसलं ते समाश्रित्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसंकल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ ११ ॥

इस मौसलकाण्डकी बातको लेकर सारे पाण्डव दुःख-शोकमें डूब गये । उनके मनमें विषाद छा गया और वे हताश हो मन मारकर बैठ गये ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच

कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।
पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते वृष्णियोंसहित अन्धक तथा महारथी भोजवंशी क्षत्रिय कैसे नष्ट हो गये ? ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् ।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महाभारतयुद्धके बाद छत्तीसवें वर्ष वृष्णिवंशियोंमें महान् अन्यायपूर्ण कलह आरम्भ हो गया । उसमें कालसे प्रेरित होकर उन्होंने एक-दूसरेको मूसलों (अरों) से मार डाला ॥ १३ ॥

जनमेजय उवाच

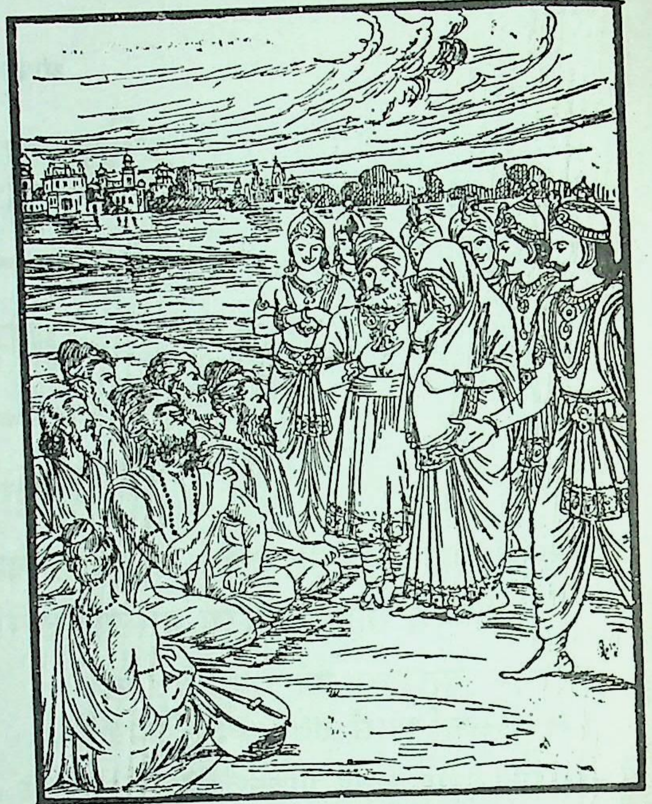
केनानुशप्तास्ते वीराः क्षयं वृष्ण्यन्धका गताः ।
भोजाश्च द्विजवर्य त्वं विस्तरेण वदस्व मे ॥ १४ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके उन वीरोंको किसने शाप दिया था, जिससे उनका संहार हो गया ? आप यह प्रसङ्ग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥ १५ ॥
ते तान् साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है, महर्षि विश्वामित्र, कण्व और तपस्याके धनी नारदजी द्वारकामें गये हुए थे । उस समय दैवके मारे हुए सारण आदि वीर साम्बको स्त्रीके वेषमें विभूषित करके उनके पास ले गये । उन सबने उन मुनियोंका दर्शन किया और इस प्रकार पूछा— ॥ १५-१६ ॥



इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमियं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

'महर्षियो ! यह स्त्री अमित तेजस्वी बभ्रुकी पत्नी है । बभ्रुके मनमें पुत्रकी बड़ी लालसा है । आपलोग ऋषि हैं; अतः अच्छी तरह सोचकर बतावें, इसके गर्भसे क्या उत्पन्न होगा ? ॥ १७ ॥

इत्युक्तास्ते तदा राजन् विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् मुनयो यत् तच्छृणु नराधिप ॥ १८ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! ऐसी बात कहकर उन यादवोंने जब ऋषियोंको धोखा दिया और इस प्रकार उनका तिरस्कार किया, तब उन्होंने उन बालकोंको जो उत्तर दिया, उसे सुनो ॥ १८ ॥

वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।
वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनयिष्यति ॥ १९ ॥
येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥ २० ॥
समुद्रं यास्यति श्रीमांस्त्यक्त्वा देहं हलायुधः ।
जरा कृष्णं महात्मानं शयानं भुवि भेत्स्यति ॥ २१ ॥
इत्यब्रुवन्त ते राजन् प्रलब्धास्तैर्दुरात्मभिः ।
मुनयः क्रोधरक्ताक्षाः समीक्ष्याथ परस्परम् ॥ २२ ॥

राजन् ! उन दुर्बुद्धि बालकोंके वञ्चनापूर्ण बर्तावसे वे सभी महर्षि कुपित हो उठे । क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे एक-दूसरेकी ओर देखकर इस प्रकार बोले—'क्रूर, क्रोधी और दुराचारी यादवकुमारो ! भगवान् श्रीकृष्णका यह पुत्र साम्ब एक भयंकर लोहेका मूसल उत्पन्न करेगा, जो वृष्णि और अन्धकवंशके विनाशका कारण होगा । उसीसे तुम

लोग बलराम और श्रीकृष्णके सिवा अपने शेष समस्त कुलका संहार कर डालोगे। हलधारी श्रीमान् बलरामजी स्वयं ही अपने शरीरको त्यागकर समुद्रमें चले जायँगे और महात्मा श्रीकृष्ण जब भूतलपर सो रहे होंगे, उस समय जरा नामक व्याध उन्हें अपने बाणोंसे बींध डालेगा ॥ १९-२२ ॥

तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः।
अथाब्रवीत् तदा वृष्णीञ्श्रुत्वैवं मधुसूदनः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे मुनि भगवान् श्रीकृष्णके पास चले गये। (वहाँ उन्होंने उनसे सारी बातें कह सुनायीं।) यह सब सुनकर भगवान् मधुसूदनने वृष्णिवंशियोंसे कहा—॥ २३ ॥

अन्तज्ञो मतिमांस्तस्य भवितव्यं तथेति तान्।
एवमुक्त्वा हृषीकेशः प्रविवेश पुरं तदा ॥ २४ ॥

'ऋषियोंने जैसा कहा है, वैसा ही होगा।' बुद्धिमान् श्रीकृष्ण सबके अन्तको जाननेवाले हैं। उन्होंने उपर्युक्त बात कहकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

कृतान्तमन्यथा नैच्छत् कर्तुं स जगतः प्रभुः।
श्वोभूतेऽथ ततः साम्बो मुसलं तदसूत वै ॥ २५ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं तथापि यदुवंशियोंपर आनेवाले उस कालको उन्होंने पलटनेकी इच्छा नहीं की। दूसरे दिन सवेरा होते ही साम्बने उस मूसलको जन्म दिया ॥ २५ ॥

येन वृष्ण्यन्धककुले पुरुषा भस्मसात् कृताः।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय किंकरप्रतिमं महत् ॥ २६ ॥

वह वही मूसल था, जिसने वृष्णि और अन्धककुलके समस्त पुरुषोंको भस्मसात् कर दिया। वृष्णि और अन्धक-वंशके वीरोंका विनाश करनेके लिये वह महान् यमदूतके ही तुल्य था ॥ २६ ॥

असूत शापजं घोरं तच्च राज्ञे न्यवेदयन्।
विषण्णरूपस्तद् राजा सूक्ष्मं चूर्णमकारयत् ॥ २७ ॥

जब साम्बने उस शापजनित भयंकर मूसलको पैदा किया, तब यदुवंशियोंने उसे ले जाकर राजा उग्रसेनको दे दिया। उसे देखते ही राजाके मनमें विषाद छा गया। उन्होंने उस मूसलको कुटवाकर अत्यन्त महीन चूर्ण करा दिया ॥

तच्चूर्णं सागरे चापि प्राक्षिपन् पुरुषा नृप।
अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते ॥ २८ ॥
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः।
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ॥ २९ ॥
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः।

नरेश्वर! राजाकी आज्ञासे उनके सेवकोंने उस लोहचूर्ण-को समुद्रमें फेंक दिया। फिर उग्रसेन, भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम और महामना बभ्रुके आदेशसे राजपुरुषोंने नगरमें यह घोषणा करा दी कि 'आजसे समस्त वृष्णिवंशी और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके यहाँ कोई भी नगरनिवासी मदिरा न तैयार करें ॥ २८-२९½ ॥

यश्च नोऽविदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ॥ ३० ॥
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः।

'जो मनुष्य कहीं भी हमलोगोंसे छिपकर कोई नशीली पीनेकी वस्तु तैयार करेगा, वह स्वयं वह अपराध करके जीते-जी अपने भाई-बन्धुओंसहित शूलीपर चढ़ा दिया जायगा' ॥

ततो राजभयात् सर्वे नियमं चक्रिरे तदा।
नराः शासनमाज्ञाय रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले बलरामजीका यह शासन समझकर सब लोगोंने राजाके भयसे यह नियम बना लिया कि 'आजसे न तो मदिरा बनाना है न पीना' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि मुसलोत्पत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें मुसलकी उत्पत्तिविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

द्वारकामें भयंकर उत्पात देखकर भगवान् श्रीकृष्णका यदुवंशियोंको तीर्थयात्राके लिये आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग अपने ऊपर आनेवाले संकटका निवारण करनेके लिये भाँति-भाँतिके प्रयत्न कर रहे थे और उधर काल प्रतिदिन सबके घरोंमें चक्कर लगाया करता था ॥ १ ॥

करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः।
गृहाण्यावेक्ष्य वृष्णीनां नादृश्यत क्वचित् क्वचित् ॥ २ ॥

उसका स्वरूप विकराल और वेष विकट था। उसके शरीरका रंग काला और पीला था। वह मूँड़ मुड़ाये हुए पुरुषके रूपमें वृष्णिवंशियोंके घरोंमें प्रवेश करके सबको देखता और कभी-कभी अदृश्य हो जाता था ॥ २ ॥

तमघ्नन्त महेष्वासाः शरैः शतसहस्रशः।

न चाशक्यत वेद्धुं स सर्वभूतात्ययस्तदा ॥ ३ ॥

उसे देखनेपर बड़े-बड़े धनुर्धर वीर उसके ऊपर लाखों बाणोंका प्रहार करते थे; परंतु सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले उस कालको वे वेध नहीं पाते थे ॥ ३ ॥

उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो लोमहर्षणाः ॥ ४ ॥

अब प्रतिदिन अनेक बार भयंकर आँधी उठने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उससे वृष्णियों और अन्धकोंके विनाशकी सूचना मिल रही थी ॥ ४ ॥

विवृद्धमूषिका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा।
केशा नखाश्च सुप्तानामद्यन्ते मूषिकैर्निशि ॥ ५ ॥

चूहे इतने बढ़ गये थे कि वे सड़कोंपर छाये रहते थे। मिट्टीके बरतनोंमें छेद कर देते थे तथा रातमें सोये हुए मनुष्योंके केश और नख कुतरकर खा जाया करते थे ॥ ५ ॥

चीचीकूचीति वाशन्ति सारिका वृष्णिवेश्मसु।
नोपशाम्यति शब्दश्च स दिवारात्रमेव हि ॥ ६ ॥

वृष्णिवंशियोंके घरोंमें मैनाएँ दिन-रात चें-चें किया करती थीं। उनकी आवाज कभी एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होती थी ॥ ६ ॥

अन्वकुर्वन्नुलूकानां सारसा विरुतं तथा।
अजाः शिवानां विरुतमन्वकुर्वत भारत ॥ ७ ॥

भारत! सारस उल्लुओंकी और बकरे गीदड़ोंकी बोलीकी नकल करने लगे ॥ ७ ॥

पाण्डुरा रक्तपादाश्च विहगाः कालचोदिताः।
वृष्ण्यन्धकानां गेहेषु कपोता व्यचरंस्तदा ॥ ८ ॥

कालकी प्रेरणासे वृष्णियों और अन्धकोंके घरोंमें सफेद पंख और लाल पैरोंवाले कबूतर घूमने लगे ॥ ८ ॥

व्यजायन्त खरा गोषु करभाऽश्वतरीषु च।
शुनीष्वपि बिडालाश्च मूषिका नकुलीषु च ॥ ९ ॥

गौओंके पेटसे गदहे, खच्चरियोंसे हाथी, कुतियोंसे बिलाव और नेवलियोंके गर्भसे चूहे पैदा होने लगे ॥ ९ ॥

नापत्रपन्त पापानि कुर्वन्तो वृष्णयस्तदा।
प्राद्विषन् ब्राह्मणांश्चापि पितॄन् देवांस्तथैव च ॥ १० ॥

उन दिनों वृष्णिवंशी खुल्लमखुल्ला पाप करते और उसके लिये लज्जित नहीं होते थे। वे ब्राह्मणों, देवताओं और पितरोंसे भी द्वेष रखने लगे ॥ १० ॥

गुरूंश्चाप्यवमन्यन्ते न तु रामजनार्दनौ।
पत्न्यः पतीनुच्चरन्त पत्नीश्च पतयस्तथा ॥ ११ ॥

इतना ही नहीं, वे गुरुजनोंका भी अपमान करते थे। केवल बलराम और श्रीकृष्णका ही तिरस्कार नहीं करते थे। पत्नियाँ पतियोंको और पति अपनी पत्नियोंको धोखा देने लगे ॥ ११ ॥

विभावसुः प्रज्वलितो वामं विपरिवर्तते।
नीललोहितमञ्जिष्ठा विसृजन्नर्चिषः पृथक् ॥ १२ ॥

अग्निदेव प्रज्वलित होकर अपनी लपटोंको वामावर्त घुमाते थे। उनसे कभी नीले रंगकी, कभी रक्त वर्णकी और कभी मजीठके रंगकी पृथक्-पृथक् लपटें निकलती थीं॥ १२॥

उदयास्तमने नित्यं पुर्यां तस्यां दिवाकरः।
व्यदृश्यतासकृत् पुम्भिः कबन्धैः परिवारितः ॥ १३ ॥

उस नगरीमें रहनेवाले लोगोंको उदय और अस्तके समय सूर्यदेव प्रतिदिन बारंबार कबन्धोंसे घिरे दिखायी देते थे ॥ १३ ॥

महानसेषु सिद्धेषु संस्कृतेऽतीव भारत।
आहार्यमाणे कृमयो व्यदृश्यन्त सहस्रशः ॥ १४ ॥

अच्छी तरह छौंक-बघारकर जो रसोइयाँ तैयार की जाती थीं, उन्हें परोसकर जब लोग भोजनके लिये बैठते थे, तब उनमें हजारों कीड़े दिखायी देने लगते थे ॥ १४ ॥

पुण्याहे वाच्यमाने तु जपत्सु च महात्मसु।
अभिधावन्तः श्रूयन्ते न चादृश्यत कश्चन ॥ १५ ॥

जब पुण्याहवाचन किया जाता और महात्मा पुरुष जप करने लगते थे, उस समय कुछ लोगोंके दौड़नेकी आवाज सुनायी देती थी; परंतु कोई दिखायी नहीं देता था ॥ १५ ॥

परस्परं च नक्षत्रं हन्यमानं पुनः पुनः।
ग्रहैरपश्यन् सर्वे ते नात्मनस्तु कथंचन ॥ १६ ॥

सब लोग बारंबार यह देखते थे कि नक्षत्र आपसमें तथा ग्रहोंके साथ भी टकरा जाते हैं, परंतु कोई भी किसी तरह अपने नक्षत्रको नहीं देख पाता था ॥ १६ ॥

नदन्तं पाञ्चजन्यं च वृष्ण्यन्धकनिवेशने।
समन्तात् पर्यवाशन्त रासभा दारुणस्वराः ॥ १७ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णका पाञ्चजन्य शङ्ख बजता था, तब वृष्णियों और अन्धकोंके घरके आसपास चारों ओर भयंकर स्वरवाले गदहे रेंकने लगते थे ॥ १७ ॥

एवं पश्यन् हृषीकेशः सम्प्राप्तं कालपर्ययम्।
त्रयोदश्याममावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम् ॥ १८ ॥

इस तरह कालका उलट-फेर प्राप्त हुआ देख और त्रयोदशी तिथिको अमावास्याका संयोग जान भगवान् श्रीकृष्णने सब लोगोंसे कहा—॥ १८ ॥

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥ १९ ॥

'वीरो! इस समय राहुने फिर चतुर्दशीको ही अमावास्या

बना दिया है । महाभारतयुद्धके समय जैसा योग था वैसा ही आज भी है । यह सब हमलोगोंके विनाशका सूचक है' ॥ १९॥

विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः ।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥ २० ॥

इस प्रकार समयका विचार करते हुए केशिहन्ता श्रीकृष्णने जब उसका विशेष चिन्तन किया, तब उन्हें मालूम हुआ कि महाभारतयुद्धके बाद यह छत्तीसवाँ वर्ष आ पहुँचा॥२०॥

पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी हतबान्धवा ।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागमत् ॥ २१ ॥

वे बोले—'बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर पुत्रशोकसे संतप्त हुई गान्धारी देवीने अत्यन्त व्यथित होकर हमारे कुलके लिये जो शाप दिया था, उसके सफल होनेका यह समय आ गया है ॥ २१ ॥

इदं च तदनुप्राप्तमब्रवीद् यद् युधिष्ठिरः ।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान् ॥ २२ ॥

'पूर्वकालमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाएँ जब व्यूहबद्ध होकर आमने-सामने खड़ी हुईं, उस समय भयानक उत्पातोंको देखकर युधिष्ठिरने जो कुछ कहा था, वैसा ही लक्षण इस समय भी उपस्थित है' ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत् ।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिंदमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णने गान्धारीके उस कथनको सत्य करनेकी इच्छासे यदुवंशियोंको उस समय तीर्थयात्राके लिये आज्ञा दी ॥ २३ ॥

अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात् ।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः ॥ २४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे राजकीय पुरुषोंने उस पुरीमें यह घोषणा कर दी कि 'पुरुषप्रवर यादवो ! तुम्हें समुद्रमें ही तीर्थयात्राके लिये चलना चाहिये । अर्थात् सबको प्रभासक्षेत्रमें उपस्थित होना चाहिये' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि उत्पातदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें उत्पातदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कृतवर्मा आदि समस्त यादवोंका परस्पर संहार

वैशम्पायन उवाच

काली स्त्री पाण्डुरैर्दन्तैः प्रविश्य हसती निशि ।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्ती द्वारकां परिधावति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्वारकाके लोग रातको स्वप्नोंमें देखते थे कि एक काले रंगकी स्त्री अपने सफेद दाँतोंको दिखा-दिखाकर हँसती हुई आयी है और घरोंमें प्रवेश करके स्त्रियोंका सौभाग्य-चिह्न लूटती हुई सारी द्वारकामें दौड़ लगा रही है ॥ १ ॥

अग्निहोत्रनिकेतेषु वास्तुमध्येषु वेश्मसु ।
वृष्ण्यन्धकानखादन्त स्वप्ने गृध्रा भयानकाः ॥ २ ॥

अग्निहोत्रगृहोंमें जिनके मध्यभागमें वास्तुकी पूजा-प्रतिष्ठा हुई है, ऐसे घरोंमें भयंकर गृध्र आकर वृष्णि और अन्धक-वंशके मनुष्योंको पकड़-पकड़कर खा रहे हैं । यह भी स्वप्नमें दिखायी देता था ॥ २ ॥

अलंकाराश्च छत्रं च ध्वजाश्च कवचानि च ।
ह्रियमाणान्यदृश्यन्त रक्षोभिः सुभयानकैः ॥ ३ ॥

अत्यन्त भयानक राक्षस उनके आभूषण, छत्र, ध्वजा और कवच चुराकर भागते देखे जाते थे ॥ ३ ॥

तच्चाग्निदत्तं कृष्णस्य वज्रनाभमयोमयम् ।
दिवमाचक्रमे चक्रं वृष्णीनां पश्यतां तदा ॥ ४ ॥

जिसकी नाभिमें वज्र लगा हुआ था, जो सब-का-सब लोहेका ही बना था, वह अग्निदेवका दिया हुआ श्रीविष्णुका चक्र वृष्णिवंशियोंके देखते-देखते दिव्य लोकमें चला गया ॥४॥

युक्तं रथं दिव्यमादित्यवर्णं
हया हरन् पश्यतो दारुकस्य ।
ते सागरस्योपरिष्टादवर्तन्
मनोजवाश्चतुरो वाजिमुख्याः ॥ ५ ॥

भगवान्‌का जो सूर्यके समान तेजस्वी और जुता हुआ दिव्य रथ था, उसे दारुकके देखते-देखते घोड़े उड़ा ले गये । वे मनके समान वेगशाली चारों श्रेष्ठ घोड़े समुद्रके जलके ऊपर-ऊपरसे ही चले गये ॥ ५ ॥

तालः सुपर्णश्च महाध्वजौ तौ
सुपूजितौ रामजनार्दनाभ्याम् ।
उच्चैर्जह्रुरप्सरसो दिवानिशं
वाचश्चोचुर्गम्यतां तीर्थयात्रा ॥ ६ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण जिनकी सदा पूजा करते थे, उन ताल और गरुड़के चिह्नसे युक्त दोनों विशाल ध्वजोंको अप्सराएँ ऊँचे उठा ले गयीं और दिन-रात लोगोंसे यह बात कहने लगीं कि 'अब तुमलोग तीर्थयात्राके लिये निकलो' ॥६॥

ततो जिगमिषन्तस्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सान्तःपुरास्तदा तीर्थयात्रामैच्छन् नरर्षभाः ॥ ७ ॥

तदनन्तर पुरुषश्रेष्ठ वृष्णि और अन्धक महारथियोंने अपनी स्त्रियोंके साथ उस समय तीर्थयात्रा करनेका विचार किया। अब उनमें द्वारका छोड़कर अन्यत्र जानेकी इच्छा हो गयी थी ॥ ७ ॥

ततो भोज्यं च भक्ष्यं च पेयं चान्धकवृष्णयः ।
बहु नानाविधं चक्रुर्मद्यं मांसमनेकशः ॥ ८ ॥

तब अन्धकों और वृष्णियोंने नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, पेय, मद्य और भाँति-भाँतिके मांस तैयार कराये ॥ ८ ॥

ततः सैनिकवर्गाश्च निर्ययुर्नगराद् बहिः ।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः ॥ ९ ॥

इसके बाद सैनिकोंके समुदाय, जो शोभासम्पन्न और प्रचण्ड तेजस्वी थे, रथ, घोड़े और हाथियोंपर सवार होकर नगरसे बाहर निकले ॥ ९ ॥

ततः प्रभासे न्यवसन् यथोद्दिष्टं यथागृहम् ।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा ॥ १० ॥

उस समय स्त्रियोंसहित समस्त यदुवंशी प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर अपने-अपने अनुकूल घरोंमें ठहर गये। उनके साथ खाने-पीनेकी बहुत-सी सामग्री थी ॥ १० ॥

निविष्टांस्तान् निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित् ।
जगामामन्त्र्य तान् वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥ ११ ॥

परमार्थ-ज्ञानमें कुशल और योगवेत्ता उद्धवजीने देखा कि समस्त वीर यदुवंशी समुद्रतटपर डेरा डाले बैठे हैं। तब वे उन सबसे पूछकर— विदा लेकर वहाँसे चल दिये ॥ ११ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिम् ।
जानन् विनाशं वृष्णीनां नैच्छद् वारयितुं हरिः ॥ १२ ॥

महात्मा उद्धव भगवान् श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर प्रणाम करके जब वहाँसे प्रस्थित हुए, तब श्रीकृष्णने उन्हें वहाँ रोकनेकी इच्छा नहीं की; क्योंकि वे जानते थे कि यहाँ ठहरे हुए वृष्णिवंशियोंका विनाश होनेवाला है ॥ १२ ॥

ततः कालपरीतास्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
अपश्यन्नुद्धवं यान्तं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ १३ ॥

कालसे घिरे हुए वृष्णि और अन्धक महारथियोंने देखा कि उद्धव अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करके यहाँसे चले जा रहे हैं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणार्थेषु यत् सिद्धमन्नं तेषां महात्मनाम् ।
तद् वानरेभ्यः प्रददुः सुरागन्धसमन्वितम् ॥ १४ ॥

उन महामनस्वी यादवोंके यहाँ ब्राह्मणोंको जिमानेके लिये जो अन्न तैयार किया गया था, उसमें मदिरा मिलाकर उसकी गन्धसे युक्त हुए उस भोजनको उन्होंने वानरोंको बाँट दिया॥

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकुलम् ।
अवर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बजने लगे। सब ओर नटों और नर्तकोंका नृत्य होने लगा। इस प्रकार प्रभासक्षेत्रमें प्रचण्ड तेजस्वी यादवोंका वह महापान आरम्भ हुआ ॥

कृष्णस्य संनिधौ रामः सहितः कृतवर्मणा ।
अपिबद् युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णके पास ही कृतवर्मासहित बलराम, सात्यकि, गद और बभ्रु पीने लगे ॥ १६ ॥

ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः ।
अब्रवीत् कृतवर्माणमवहास्यावमन्य च ॥ १७ ॥

पीते-पीते सात्यकि मदसे उन्मत्त हो उठे और यादवोंकी उस सभामें कृतवर्माका उपहास तथा अपमान करते हुए इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

कः क्षत्रियोऽहन्यमानः सुप्तान् हन्यान्मृतानिव ।
तन्न मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत् त्वया कृतम् ॥ १८ ॥

'हार्दिक्य ! तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो अपने ऊपर आघात न होते हुए भी रातमें मुर्दोंके समान अचेत पड़े हुए मनुष्योंकी हत्या करेगा। तूने जो अन्याय किया है, उसे यदुवंशी कभी क्षमा नहीं करेंगे' ॥ १८ ॥

इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ॥ १९ ॥

सात्यकिके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने कृतवर्माका तिरस्कार करके सात्यकिके उपर्युक्त वचनकी प्रशंसा एवं अनुमोदन किया ॥ १९ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ॥ २० ॥

यह सुनकर कृतवर्मा अत्यन्त कुपित हो उठा और बायें हाथसे अंगुलिका इशारा करके सात्यकिका अपमान करता हुआ बोला—॥ २० ॥

भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ॥ २१ ॥

'अरे ! युद्धमें भूरिश्रवाकी बाँह कट गयी थी और वे मरणान्त उपवासका निश्चय करके पृथ्वीपर बैठ गये थे, उस अवस्थामें तूने वीर कहलाकर भी उनकी क्रूरतापूर्ण हत्या क्यों की ?' ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
तिर्यक्सरोषया दृष्ट्या वीक्षांचक्रे स मन्युमान् ॥ २२ ॥

कृतवर्माकी यह बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको क्रोध आ गया। उन्होंने रोषपूर्ण टेढ़ी दृष्टिसे उसकी ओर देखा ॥ २२ ॥

मणिः स्यमन्तकश्चैव यः स सत्राजितोऽभवत् ।
तां कथां श्रावयामास सात्यकिर्मधुसूदनम् ॥ २३ ॥

उस समय सात्यकिने मधुसूदनको सत्राजित्के पास जो स्यमन्तकमणि थी, उसकी कथा कह सुनायी (अर्थात् यह

बताया कि कृतवर्माने ही मणिके लोभसे सत्राजित्‌का वध करवाया था) ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा केशवस्याङ्कमगमद् रुदती तदा ।
सत्यभामा प्रकुपिता कोपयन्ती जनार्दनम् ॥ २४ ॥

यह सुनकर सत्यभामाके क्रोधकी सीमा न रही। वह श्रीकृष्णका क्रोध बढ़ाती और रोती हुई उनके अङ्कमें चली गयी ॥ २४ ॥

तत उत्थाय सक्रोधः सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
पञ्चानां द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ॥ २५ ॥
एष गच्छामि पदवीं सत्येन च तथा शपे ।
सौप्तिके ये च निहताः सुप्ता येन दुरात्मना ॥ २६ ॥
द्रोणपुत्रसहायेन पापेन कृतवर्मणा ।
समाप्तमायुरस्याद्य यशश्चैव सुमध्यमे ॥ २७ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकि उठे और इस प्रकार बोले—'सुमध्यमे ! यह देखो, मैं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंके, धृष्टद्युम्नके और शिखण्डीके मार्गपर चलता हूँ, अर्थात् उनके मारनेका बदला लेता हूँ और सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जिस पापी दुरात्मा कृतवर्माने द्रोणपुत्रका सहायक बनकर रातमें सोते समय उन वीरोंका वध किया था, आज उसकी भी आयु और यशका अन्त हो गया' ॥ २५-२७ ॥

इत्येवमुक्त्वा खड्गेन केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए सात्यकिने श्रीकृष्णके पाससे दौड़कर तलवारसे कृतवर्माका सिर काट लिया ॥ २८ ॥



तथान्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ॥ २९ ॥

फिर वे दूसरे-दूसरे लोगोंका भी सब ओर घूमकर वध करने लगे। यह देख भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें रोकनेके लिये दौड़े ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायचोदिताः ।
भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ॥ ३० ॥

महाराज ! इतनेहीमें कालकी प्रेरणासे भोज और अन्धक-वंशके समस्त वीरोंने एकमत होकर सात्यकिको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णमभिक्रुद्धाञ्जनार्दनः ।
न चुक्रोध महातेजा जानन् कालस्य पर्ययम् ॥ ३१ ॥

उन्हें कुपित होकर तुरंत धावा करते देख महातेजस्वी श्रीकृष्ण कालके उलट-फेरको जाननेके कारण कुपित नहीं हुए॥

ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताः कालधर्मणा ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तदा ॥ ३२ ॥

वे सब-के-सब मदिरापानजनित मदके आवेशसे उन्मत्त हो उठे थे। इधर कालधर्मा मृत्यु भी उन्हें प्रेरित कर रहा था। इसलिये वे जूठे बरतनोंसे सात्यकिपर आघात करने लगे ॥३२॥

हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यन् शिनेः सुतम् ॥ ३३ ॥

जब सात्यकि इस प्रकार मारे जाने लगे, तब क्रोधमें भरे हुए रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न उन्हें संकटसे बचानेके लिये स्वयं उनके और आक्रमणकारियोंके बीचमें कूद पड़े ॥ ३३ ॥

स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
व्यायच्छमानौ तौ वीरौ बाहुद्रविणशालिनौ ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्न भोजोंसे भिड़ गये और सात्यकि अन्धकोंके साथ जूझने लगे। अपनी भुजाओंके बलसे सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर बड़े परिश्रमके साथ विरोधियोंका सामना करते रहे॥

बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ।
हतं दृष्ट्वा च शैनेयं पुत्रं च यदुनन्दनः ॥ ३५ ॥
एरकाणां ततो मुष्टिं कोपाज्जग्राह केशवः ।

परंतु विपक्षियोंकी संख्या बहुत अधिक थी; इसलिये वे दोनों श्रीकृष्णके देखते-देखते उनके हाथसे मार डाले गये। सात्यकि तथा अपने पुत्रको मारा गया देख यदुनन्दन श्रीकृष्ण-ने कुपित होकर एक मुट्ठी एरका उखाड़ ली ॥ ३५½ ॥

तदभून्मुसलं घोरं वज्रकल्पमयोमयम् ॥ ३६ ॥
जघान कृष्णस्तांस्तेन ये ये प्रमुखतोऽभवन् ।

उनके हाथमें आते ही वह घास वज्रके समान भयंकर लोहेका मूसल बन गयी। फिर तो जो-जो सामने आये, उन सबको श्रीकृष्णने उसीसे मार गिराया ॥ ३६½ ॥

ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ॥ ३७ ॥
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालचोदिताः ।

उस समय कालसे प्रेरित हुए अन्धक, भोज, शिनि और वृष्णिवंशके लोगोंने उस भीषण मारकाटमें उन्हीं मूसलोंसे एक-दूसरेको मारना आरम्भ किया ॥ ३७½ ॥

यस्तेषामेरकां कश्चिज्जग्राह कुपितो नृप ॥ ३८ ॥
वज्रभूतेव सा राजन्नदृश्यत तदा विभो ।

नरेश्वर ! उनमेंसे जो कोई भी क्रोधमें आकर एरका नामक घास लेता, उसीके हाथमें वह वज्रके समान दिखायी देने लगती थी ॥ ३८½ ॥

तृणं च मुसलीभूतमपि तत्र व्यदृश्यत ॥ ३९ ॥
ब्रह्मदण्डकृतं सर्वमिति तद् विद्धि पार्थिव ।

पृथ्वीनाथ ! एक साधारण तिनका भी मूसल होकर दिखायी देता था; यह सब ब्राह्मणोंके शापका ही प्रभाव समझो॥

अविध्यान् विध्यते राजन्प्रक्षिपन्ति स्म यत् तृणम् ॥
तद् वज्रभूतं मुसलं व्यदृश्यत तदा दृढम् ।

राजन् ! वे जिस किसी भी तृणका प्रहार करते, वह अभेद्य वस्तुका भी भेदन कर डालता था और वज्रमय मूसलके समान सुदृढ़ दिखायी देता था ॥ ४०½ ॥

अवधीत् पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ॥ ४१ ॥
मत्ताः परिपतन्ति स्म योधयन्तः परस्परम् ।
पतङ्गा इव चाग्नौ ते निपेतुः कुकुरान्धकाः ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! उस मूसलसे पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला । जैसे पतिंगे आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार कुकुर और अन्धकवंशके लोग परस्पर जूझते हुए एक दूसरेपर मतवाले होकर टूटते थे ॥ ४१-४२ ॥

नासीत् पलायने बुद्धिर्वध्यमानस्य कस्यचित् ।
तत्रापश्यन्महाबाहुर्जानन् कालस्य पर्ययम् ॥ ४३ ॥
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ स मधुसूदनः ।

वहाँ मारे जानेवाले किसी योद्धाके मनमें वहाँसे भाग जानेका विचार नहीं होता था । कालचक्रके इस परिवर्तनको जानते हुए महाबाहु मधुसूदन वहाँ चुपचाप सब कुछ देखते रहे और मूसलका सहारा लेकर खड़े रहे ॥ ४३½ ॥

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः ॥ ४४ ॥
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ।

भारत ! श्रीकृष्ण जब अपने पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण और प्रद्युम्नको तथा पोते अनिरुद्धको भी मारा गया देखा, तब उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी ॥ ४४½ ॥

गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः ॥ ४५ ॥
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ।

अपने छोटे भाई गदको रणशय्यापर पड़ा देख वे अत्यन्त रोषसे आगबबूला हो उठे; फिर तो शार्ङ्गधनुष, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीकृष्णने उस समय शेष बचे हुए समस्त यादवोंका संहार कर डाला ॥ ४५½ ॥

तन्निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरंजयः ॥ ४६ ॥
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ।

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले महातेजस्वी बभ्रु और दारुकने उस समय यादवोंका संहार करते हुए श्रीकृष्णसे जो कुछ कहा, उसे सुनो—॥ ४६½ ॥

भगवन् निहताः सर्वे त्वया भूयिष्ठशो नराः ।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ॥ ४७ ॥

'भगवन् ! अब सबका विनाश हो गया । इनमेंसे अधिकांश तो आपके हाथों मारे गये हैं । अब बलरामजीका पता लगाइये । अब हम तीनों उधर ही चलें, जिधर बलराम-जी गये हैं' ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि कृतवर्मादीनां परस्परहनने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें कृतवर्मा आदि समस्त यादवोंका संहारविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

दारुकका अर्जुनको सूचना देनेके लिये हस्तिनापुर जाना, बभ्रुका देहावसान एवं बलराम और श्रीकृष्णका परमधाम-गमन

वैशम्पायन उवाच

ततो ययुर्दारुकः केशवश्च
बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः ।
अथापश्यन् राममनन्तवीर्यं
वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर दारुक, बभ्रु और भगवान् श्रीकृष्ण तीनों ही बलरामजीके चरणचिह्न देखते हुए वहाँसे चल दिये । थोड़ी ही देर बाद उन्होंने अनन्त पराक्रमी बलरामजीको एक वृक्षके नीचे विराजमान देखा, जो एकान्तमें बैठकर ध्यान कर रहे थे ॥ १ ॥

ततः समासाद्य महानुभावं
कृष्णस्तदा दारुकमन्वशासत् ।

गत्वा कुरून् सर्वमिमं महान्तं
पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ॥ २ ॥

उन महानुभावके पास पहुँचकर श्रीकृष्णने तत्काल दारुकको आज्ञा दी कि 'तुम शीघ्र ही कुरुदेशकी राजधानी हस्तिनापुरमें जाकर अर्जुनको यादवोंके इस महासंहारका सारा समाचार कह सुनाओ ॥ २ ॥

ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु
श्रुत्वा मृतान् यादवान् ब्रह्मशापात्।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन
कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ॥ ३ ॥

'ब्राह्मणोंके शापसे यदुवंशियोंकी मृत्युका समाचार पाकर अर्जुन शीघ्र ही द्वारका चले आवें।' श्रीकृष्णके इस प्रकार आज्ञा देनेपर दारुक रथपर सवार हो तत्काल कुरुदेशको चला गया। वह भी इस महान् शोकसे अचेत-सा हो रहा था॥

ततो गते दारुके केशवोऽथ
दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम्।
स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं
नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥ ४ ॥

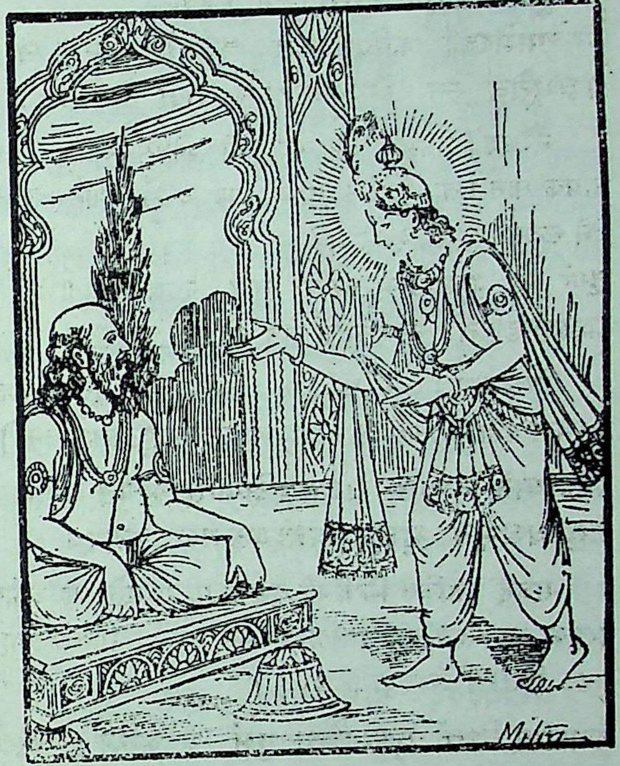
दारुकके चले जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने निकट खड़े हुए बभ्रुसे कहा—'आप स्त्रियोंकी रक्षाके लिये शीघ्र ही द्वारकाको चले जाइये। कहीं ऐसा न हो कि डाकू धनकी लालचसे उनकी हत्या कर डालें' ॥ ४ ॥

स प्रस्थितः केशवेनानुशिष्टो
मदातुरो ज्ञातिवधार्दितश्च।
तं विश्रान्तं संनिधौ केशवस्य
दुरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद् वै
कूटे युक्तं मुसलं लुब्धकस्य।
ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह
कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर बभ्रु वहाँसे प्रस्थित हुए। वे मदिराके मदसे आतुर थे ही, भाई-बन्धुओंके वधसे भी अत्यन्त शोकपीड़ित थे। वे श्रीकृष्णके निकट अभी विश्राम कर ही रहे थे कि ब्राह्मणोंके शापके प्रभावसे उत्पन्न हुआ एक महान् दुर्धर्ष मूसल किसी व्याधके बाणसे लगा हुआ सहसा उनके ऊपर आकर गिरा। उसने तुरंत ही उनके प्राण ले लिये। बभ्रुको मारा गया देख उग्र तेजस्वी श्रीकृष्णने अपने बड़े भाईसे कहा—॥ ५-६ ॥

इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम
यावत् स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि।
ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य
जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम् ॥ ७ ॥

'भैया बलराम! आप यहीं रहकर मेरी प्रतीक्षा करें। जबतक मैं स्त्रियोंको कुटुम्बी जनोंके संरक्षणमें सौंप आता हूँ।' यों कहकर श्रीकृष्ण द्वारिकापुरीमें गये और वहाँ अपने पिता वसुदेवजीसे बोले—॥ ७ ॥



स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा
धनंजयस्यागमनं प्रतीक्षन्।
रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मा-
मास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये ॥ ८ ॥

'तात! आप अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए हमारे कुलकी समस्त स्त्रियोंकी रक्षा करें। इस समय बलरामजी मेरी राह देखते हुए वनके भीतर बैठे हैं। मैं आज ही वहाँ जाकर उनसे मिलूँगा ॥ ८ ॥

दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां
राज्ञां च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम्।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां
पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य ॥ ९ ॥

'मैंने इस समय यह यदुवंशियोंका विनाश देखा है और पूर्वकालमें कुरुकुलके श्रेष्ठ राजाओंका भी संहार देख चुका हूँ। अब मैं उन यादव वीरोंके बिना उनकी इस पुरीको देखनेमें भी असमर्थ हूँ ॥ ९ ॥

तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे
रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य।
इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ
संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम ॥ १० ॥

'अब मुझे क्या करना है, यह सुन लीजिये। वनमें जाकर मैं बलरामजीके साथ तपस्या करूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने

अपने सिरसे पिताके चरणोंका स्पर्श किया । फिर वे भगवान् श्रीकृष्ण वहाँसे तुरंत चल दिये ॥ १० ॥

ततो महान् निनदः प्रादुरासीत्
सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ।
अथाब्रवीत् केशवः संनिवर्त्य
शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम् ॥ ११ ॥

इतनेहीमें उस नगरकी स्त्रियों और बालकोंके रोनेका महान् आर्तनाद सुनायी पड़ा । विलाप करती हुई उन युवतियोंके करुणक्रन्दन सुनकर श्रीकृष्ण पुनः लौट आये और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—॥ ११ ॥

पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची
स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः ।
ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श
रामं वने स्थितमेकं विविक्ते ॥ १२ ॥

'देखिये ! नरश्रेष्ठ अर्जुन शीघ्र ही इस नगरमें आनेवाले हैं । वे तुम्हें संकटसे बचायेंगे ।' यह कहकर वे चले गये । वहाँ जाकर श्रीकृष्णने वनके एकान्त प्रदेशमें बैठे हुए बलरामजीका दर्शन किया ॥ १२ ॥

अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य
नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तम् ।
श्वेतं ययौ स ततः प्रेक्ष्यमाणो
महार्णवो येन महानुभावः ॥ १३ ॥

बलरामजी योगयुक्त हो समाधि लगाये बैठे थे । श्रीकृष्णने उनके मुखसे एक श्वेत वर्णके विशालकाय सर्पको



निकलते देखा । उनसे देखा जाता हुआ वह महानुभाव नाग जिस ओर महासागर था, उसी मार्गपर चल दिया ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षः पर्वताभोगवर्ष्मा
रक्ताननः स्वां तनुं तां विमुच्य ।
सम्यक् च तं सागरः प्रत्यगृह्णा-
न्नागा दिव्याः सरितश्चैव पुण्याः ॥ १४ ॥

वह अपने पूर्व शरीरको त्यागकर इस रूपमें प्रकट हुआ था । उसके सहस्रों मस्तक थे । उसका विशाल शरीर पर्वतके विस्तार-सा जान पड़ता था । उसके मुखकी कान्ति लाल रंगकी थी । समुद्रने स्वयं प्रकट होकर उस नागका—साक्षात् भगवान् अनन्तका भलीभाँति स्वागत किया । दिव्य नागों और पवित्र सरिताओंने भी उनका सत्कार किया ॥ १४ ॥

कर्कोटको वासुकिस्तक्षकश्च
पृथुश्रवा अरुणः कुञ्जरश्च ।
मिश्री शङ्खः कुमुदः पुण्डरीक-
स्तथा नागो धृतराष्ट्रो महात्मा ॥ १५ ॥
ह्रादः क्राथः शितिकण्ठोग्रतेजा-
स्तथा नागौ चक्रमन्दातिषण्डौ ।
नागश्रेष्ठो दुर्मुखश्चाम्बरीषः
स्वयं राजा वरुणश्चापि राजन् ॥ १६ ॥

राजन् ! कर्कोटक, वासुकि, तक्षक, पृथुश्रवा, अरुण, कुञ्जर, मिश्री, शङ्ख, कुमुद, पुण्डरीक, महामना धृतराष्ट्र, ह्राद, क्राथ, शितिकण्ठ, उग्रतेजा, चक्रमन्द, अतिषण्ड, नागप्रवर दुर्मुख, अम्बरीष और स्वयं राजा वरुणने भी उनका स्वागत किया ॥ १५-१६ ॥

प्रत्युद्गम्य स्वागतेनाभ्यनन्दं-
स्तेऽपूजयंश्चार्घ्यपाद्यक्रियाभिः ।
ततो गते भ्रातरि वासुदेवो
जानन् सर्वा गतयो दिव्यदृष्टिः ॥ १७ ॥
वने शून्ये विचरंश्चिन्तयानो
भूमौ चाथ संविवेशाग्र्यतेजाः ।
सर्वं तेन प्राक्तदा वित्तमासीद्
गान्धार्या यद् वाक्यमुक्तः स पूर्वम् ॥ १८ ॥

उपर्युक्त सब लोगोंने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की, स्वागतपूर्वक अभिनन्दन किया और अर्घ्य-पाद्य आदि उपचारोंद्वारा उनकी पूजा सम्पन्न की । भाई बलरामके परम-धाम पधारनेके पश्चात् सम्पूर्ण गतियोंको जाननेवाले दिव्यदर्शी भगवान् श्रीकृष्ण कुछ सोचते-विचारते हुए उस सूने वनमें विचरने लगे । फिर वे श्रेष्ठ तेजवाले भगवान् पृथ्वीपर बैठ गये । सबसे पहले उन्होंने वहाँ उस समय उन सारी बातोंको स्मरण किया, जिन्हें पूर्वकालमें गान्धारी देवीने कहा था ॥ १७-१८ ॥

दुर्वाससा पायसोच्छिष्टलिप्ते
यच्चाप्युक्तं तच्च सस्मार वाक्यम्।
स चिन्तयन्नन्धकवृष्णिनाशं
कुरुक्षयं चैव महानुभावः ॥ १९ ॥

जूठी खीरको शरीरमें लगानेके समय दुर्वासाने जो बात कही थी, उसका भी उन्हें स्मरण हो आया। फिर वे महानुभाव श्रीकृष्ण अन्धक, वृष्णि और कुरुकुलके विनाशकी बात सोचने लगे ॥ १९ ॥

मेने ततः संक्रमणस्य कालं
ततश्चकारेन्द्रियसंनिरोधम्।
तथा च लोकत्रयपालनार्थ-
मात्रेयवाक्यप्रतिपालनाय ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने तीनों लोकोंकी रक्षा तथा दुर्वासाके वचनका पालन करनेके लिये अपने परम धाम पधारनेका उपयुक्त समय प्राप्त हुआ समझा तथा इसी उद्देश्यसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियोंका निरोध किया ॥ २० ॥

देवोऽपि सन् देहविमोक्षहेतो-
र्निमित्तमैच्छत् सकलार्थतत्त्ववित्।
स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अर्थोंके तत्त्ववेत्ता और अविनाशी देवता हैं। तो भी उस समय उन्होंने देहमोक्ष या ऐहलौकिक लीलाका संवरण करनेके लिये किसी निमित्तके प्राप्त होनेकी इच्छा की। फिर वे मन, वाणी और इन्द्रियोंका निरोध करके महायोग (समाधि) का आश्रय ले पृथ्वीपर लेट गये ॥ २१ ॥

जराथ तं देशमुपाजगाम
लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः।
स केशवं योगयुक्तं शयानं
मृगासक्तो लुब्धकः सायकेन ॥ २२ ॥
जराविध्यत् पादतले त्वरावां-
स्तं चाभितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम।
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम् ॥ २३ ॥

उसी समय जरानामक एक भयंकर व्याध मृगोंको मार ले जानेकी इच्छासे उस स्थानपर आया। उस समय श्रीकृष्ण योगयुक्त होकर सो रहे थे। मृगोंमें आसक्त हुए उस व्याधने श्रीकृष्णको भी मृग ही समझा और बड़ी उतावलीके साथ बाण मारकर उनके पैरके तलवेमें घाव कर दिया। फिर उस मृगको पकड़नेके लिये जब वह निकट आया, तब योगमें स्थित, चार भुजावाले, पीताम्बरधारी पुरुष भगवान् श्रीकृष्णपर उसकी दृष्टि पड़ी ॥ २२-२३ ॥

मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शंकितात्मा।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं
गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

अब तो जरा अपनेको अपराधी मानकर मन-ही-मन बहुत डर गया। उसने भगवान् श्रीकृष्णके दोनों पैर पकड़ लिये। तब महात्मा श्रीकृष्णने उसे आश्वासन दिया और अपनी कान्तिसे पृथ्वी एवं आकाशको व्याप्त करते हुए वे ऊर्ध्वलोकमें (अपने परमधामको) चले गये ॥ २४ ॥

दिवं प्राप्तं वासवोऽथाश्विनौ च
रुद्रादित्या वसवश्चाथ विश्वे।
प्रत्युद्ययुर्मुनयश्चापि सिद्धा
गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः ॥ २५ ॥

अन्तरिक्षमें पहुँचनेपर इन्द्र, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेव, मुनि, सिद्ध, अप्सराओंसहित मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंने आगे बढ़कर भगवान्‌का स्वागत किया ॥

ततो राजन् भगवानुग्रतेजा
नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च।
योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या
स्थानं प्राप स्वं महात्माप्रमेयम् ॥ २६ ॥

राजन्! तत्पश्चात् जगत्‌की उत्पत्तिके कारणरूप, उग्र-तेजस्वी, अविनाशी, योगाचार्य महात्मा भगवान् नारायण अपनी प्रभासे पृथ्वी और आकाशको प्रकाशमान करते हुए अपने अप्रमेयधामको प्राप्त हो गये ॥ २६ ॥

ततो देवैर्ऋषिभिश्चापि कृष्णः
समागतश्चारणैश्चैव राजन्।
गन्धर्वाग्र्यैरप्सरोभिर्वराभिः
सिद्धैः साध्यैश्चानतैः पूज्यमानः ॥ २७ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ गन्धर्वों, सुन्दरी अप्सराओं, सिद्धों और साध्योंद्वारा विनीत भावसे पूजित हो देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंसे भी मिले ॥ २७ ॥

तं वै देवाः प्रत्यनन्दन्त राजन्
मुनिश्रेष्ठा ऋग्भिरानर्चुरीशम्।
तं गन्धर्वाश्चापि तस्थुः स्तुवन्तः
प्रीत्या चैनं पुरुहूतोऽभ्यनन्दत् ॥ २८ ॥

राजन्! देवताओंने भगवान्‌का अभिनन्दन किया। श्रेष्ठ महर्षियोंने ऋग्वेदकी ऋचाओंद्वारा उनकी पूजा की। गन्धर्व स्तुति करते हुए खड़े रहे तथा इन्द्रने भी प्रेमवश उनका अभिनन्दन किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि श्रीकृष्णस्य स्वलोकगमने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें श्रीकृष्णका परमधामगमनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुनका द्वारकामें आना और द्वारका तथा श्रीकृष्ण-पत्नियोंकी दशा देखकर दुखी होना

वैशम्पायन उवाच

दारुकोऽपि कुरून् गत्वा दृष्ट्वा पार्थान् महारथान्।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योन्येनोपसंहतान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दारुकने भी कुरुदेशमें जाकर महारथी कुन्तीकुमारोंका दर्शन किया और उन्हें यह बताया कि समस्त वृष्णिवंशी मौसलयुद्धमें एक दूसरेके द्वारा मार डाले गये॥ १॥

श्रुत्वा विनष्टान् वार्ष्णेयान् सभोजान्धककौकुरान्।
पाण्डवाः शोकसंतप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन्॥ २॥

वृष्णि, भोज, अन्धक और कुकुरवंशके वीरोंका विनाश हुआ सुनकर समस्त पाण्डव शोकसे संतप्त हो उठे। वे मन-ही-मन संत्रस्त हो गये॥ २॥

ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत्॥ ३॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुन अपने भाइयोंसे पूछकर मामासे मिलनेके लिये चल दिये और बोले—'ऐसा नहीं हुआ होगा (समस्त यदुवंशियोंका एक साथ विनाश असम्भव है)'॥ ३॥

स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो।
ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम्॥ ४॥

प्रभो! दारुकके साथ वृष्णियोंके निवासस्थानपर पहुँचकर वीर अर्जुनने देखा कि द्वारका नगरी विधवा स्त्रीकी भाँति श्रीहीन हो गयी है॥ ४॥

याः स्म ता लोकनाथेन नाथवत्यः पुराभवन्।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः॥ ५॥
षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः।

पूर्वकालमें लोकनाथ श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण जो सबसे अधिक सनाथा थीं, वे ही भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार अनाथा स्त्रियाँ अर्जुनको रक्षकके रूपमें आया देख उच्चस्वरसे करुणक्रन्दन करने लगीं॥ ५½॥

तासामासीन्महान् नादो दृष्ट्वैवार्जुनमागतम्॥ ६॥
तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेणापिहितेक्षणः।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत् सोऽभिवीक्षितुम्॥ ७॥

वहाँ पधारे हुए अर्जुनको देखते ही उन स्त्रियोंका आर्तनाद बहुत बढ़ गया। उन सबपर दृष्टि पड़ते ही अर्जुनकी आँखोंमें आँसू भर आये। पुत्रों और श्रीकृष्णसे हीन हुई उन अनाथ अबलाओंकी ओर उनसे देखा नहीं गया॥ ६-७॥

स तां वृष्ण्यन्धकजलां हयमीनां रथोडुपाम्।
वादित्ररथघोषौघां वेश्मतीर्थमहाह्रदाम्॥ ८॥
रत्नशैवलसंघातां वज्रप्राकारमालिनीम्।
रथ्यास्रोतोजलावर्तां चत्वरस्तिमितह्रदाम्॥ ९॥
रामकृष्णमहाग्राहां द्वारकां सरितं तदा।
कालपाशग्रहां भीमां नदीं वैतरणीमिव॥ १०॥
ददर्श वासविर्धीमान् विहीनां वृष्णिपुङ्गवैः।
गतश्रियं निरानन्दां पद्मिनीं शिशिरे यथा॥ ११॥

द्वारकापुरी एक नदीके समान थी। वृष्णि और अन्धक वंशके लोग उसके भीतर जलके समान थे। घोड़े मछलीके समान थे। रथ नावका काम करते थे। वाद्योंकी ध्वनि और रथकी घरघराहट मानो उस नदीके बहते हुए जलका कलकल नाद थी। लोगोंके घर ही तीर्थ एवं बड़े-बड़े जलाशय थे। रत्नोंकी राशि ही वहाँ सेवारसमूहके समान शोभा पाती थी। वज्र नामक मणिकी बनी हुई चहारदीवारी ही उसकी तटपंक्ति थी। सड़कें और गलियाँ उसमें जलके सोते और भँवरें थीं, चौराहे मानो उसके स्थिर जलवाले तालाब थे। बलराम और श्रीकृष्ण उसके भीतर दो बड़े-बड़े ग्राह थे। कालपाश ही उसमें मगर और घड़ियालके समान था। ऐसी द्वारकारूपी नदीको बुद्धिमान् अर्जुनने वृष्णिवीरोंसे रहित हो जानेके कारण वैतरणीके समान भयानक देखा। वह शिशिरकालकी कमलिनीके समान श्रीहीन तथा आनन्दशून्य जान पड़ती थी॥ ८-११॥

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च कृष्णस्य योषितः।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले॥ १२॥

वैसी द्वारकाको और उन श्रीकृष्णकी पत्नियोंको देखकर अर्जुन आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १२॥

सात्राजिती ततः सत्या रुक्मिणी च विशाम्पते।
अभिपत्य प्ररुरुदुः परिवार्य धनंजयम्॥ १३॥

प्रजानाथ! तब सत्राजित्‌की पुत्री सत्यभामा तथा रुक्मिणी आदि रानियाँ वहाँ दौड़ी आयीं और अर्जुनको घेरकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगीं॥ १३॥

ततस्तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे॥ १४॥

तदनन्तर अर्जुनको उठाकर उन्होंने सोनेकी चौकीपर बिठाया और उन महात्माको घेरकर बिना कुछ बोले उनके पास बैठ गयीं॥ १४॥

ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः।

आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात्॥ १५ ॥

उस समय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनकी कथा कही और उन रानियोंको आश्वासन देकर वे अपने मामासे मिलनेके लिये गये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि अर्जुनागमने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुनका आगमनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और वसुदेवजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम्।
पुत्रशोकेन संतप्तं ददर्श कुरुपुङ्गवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मामाके महलमें पहुँचकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने देखा कि वीर महात्मा वसुदेवजी पुत्रशोकसे दुखी होकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ १ ॥

तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः।
आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! चौड़ी छाती और विशाल भुजावाले कुन्तीकुमार अर्जुन अपने शोकाकुल मामाकी वह दशा देखकर अत्यन्त संतप्त हो उठे। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और उन्होंने मामाके दोनों पैर पकड़ लिये ॥ २ ॥

तस्य मूर्धानमाघ्रातुमियेषानकदुन्दुभिः।
स्वस्त्रीयस्य महाबाहुर्न शशाक च शत्रुहन् ॥ ३ ॥

शत्रुघाती नरेश ! महाबाहु आनकदुन्दुभि (वसुदेव) ने चाहा कि मैं अपने भानजे अर्जुनका मस्तक सूँघ लूँ; परंतु असमर्थतावश वे ऐसा न कर सके ॥ ३ ॥

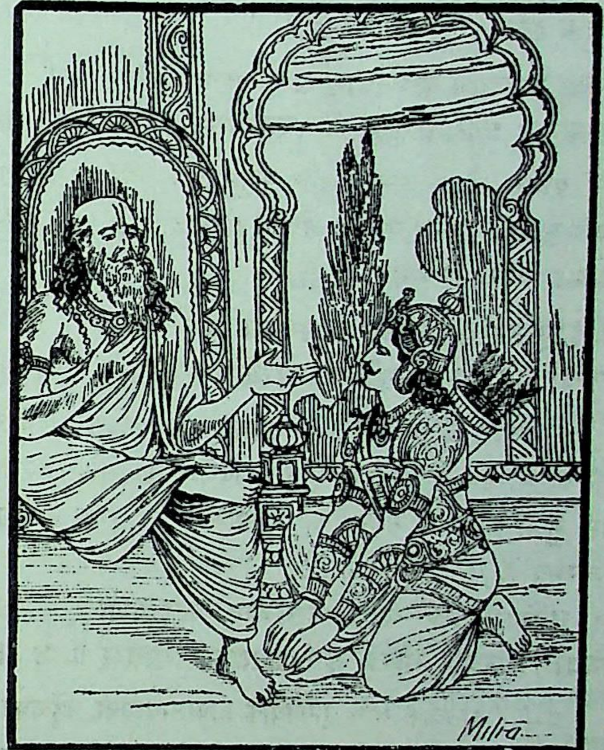
समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः।
रुदन् पुत्रान् स्मरन् सर्वान् विललाप सुविह्वलः॥ ४ ॥
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च दौहित्रान् ससखीनपि।

महाबाहु बूढ़े वसुदेवजीने अपनी दोनों भुजाओंसे अर्जुनको खींचकर छातीसे लगा लिया और अपने समस्त पुत्रोंका स्मरण करके रोने लगे। फिर भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, दौहित्रों और मित्रोंकी भी याद करके अत्यन्त व्याकुल हो वे विलाप करने लगे ॥

वसुदेव उवाच

यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ॥ ५ ॥
तान् दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवाम्यर्जुन दुर्मरः।

वसुदेव बोले—अर्जुन ! जिन वीरोंने सैकड़ों दैत्यों तथा राजाओंपर विजय पायी थी, उन्हें आज यहाँ मैं नहीं देख पा रहा हूँ तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते। जान पड़ता है, मेरे लिये मृत्यु दुर्लभ है ॥ ५½ ॥



यौ तावर्जुन शिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ॥ ६ ॥
तयोरपनयात् पार्थ वृष्णयो निधनं गताः।

अर्जुन ! जो तुम्हारे प्रिय शिष्य थे और जिनका तुम बहुत सम्मान किया करते थे, उन्हीं दोनों (सात्यकि और प्रद्युम्न) के अन्यायसे समस्त वृष्णिवंशी मृत्युको प्राप्त हो गये हैं ॥ ६½ ॥

यौ तौ वृष्णिप्रवीराणां द्वावेवातिरथौ मतौ ॥ ७ ॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च कथयन् कत्थसे च यौ।
तौ सदा कुरुशार्दूल कृष्णस्य प्रियभाजनौ ॥ ८ ॥
तावुभौ वृष्णिनाशस्य मुखमास्तां धनंजय।

कुरुश्रेष्ठ धनंजय ! वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें जिन दोको ही अतिरथी माना जाता था तथा तुम भी चर्चा चलाकर जिनकी प्रशंसाके गीत गाते थे, वे श्रीकृष्णके प्रीतिभाजन प्रद्युम्न और सात्यकि ही इस समय वृष्णिवंशियोंके विनाशके प्रमुख कारण बने हैं ॥ ७-८½ ॥

न तु गर्हामि शैनेयं हार्दिक्यं चाहमर्जुन ॥ ९ ॥
अक्रूरं रौक्मिणेयं च शापो ह्येवात्र कारणम्।

अथवा अर्जुन ! इस विषयमें मैं सात्यकि, कृतवर्मा, अक्रूर और प्रद्युम्नकी निन्दा नहीं करूँगा। वास्तवमें ऋषियोंका शाप ही यादवोंके इस सर्वनाशका प्रधान कारण है ॥ ९½ ॥

केशिनं यस्तु कंसं च विक्रम्य जगतः प्रभुः ॥ १० ॥
विदेहावकरोत् पार्थ चैद्यं च बलगर्वितम्।
नैषादिमेकलव्यं च चक्रे कालिङ्गमागधान् ॥ ११ ॥
गान्धारान् काशिराजं च मरुभूमौ च पार्थिवान्।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च पर्वतीयांस्तथा नृपान् ॥ १२ ॥
सोऽभ्युपेक्षितवानेतमनयान्मधुसूदनः।

कुन्तीनन्दन ! जिन जगदीश्वरने पराक्रम प्रकट करके केशी और कंसको देह-बन्धनसे मुक्त कर दिया। बलका घमंड रखनेवाले चेदिराज शिशुपाल, निषादपुत्र एकलव्य, कलिङ्ग-राज, मगधनिवासी क्षत्रिय, गान्धार, काशिराज तथा मरुभूमि-के राजाओंको भी यमलोक भेज दिया था, जिन्होंने पूर्व, दक्षिण तथा पर्वतीय प्रान्तके नरेशोंका भी संहार कर डाला था, उन्हीं मधुसूदनने बालकोंकी अनीतिके कारण प्राप्त हुए इस संकटकी उपेक्षा कर दी ॥ १०–१२½ ॥

त्वं हि तं नारदश्चैव मुनयश्च सनातनम् ॥ १३ ॥
गोविन्दमनघं देवमभिजानीध्वमच्युतम्।
प्रत्यपश्यच्च स विभुर्ज्ञातिक्षयमधोक्षजः ॥ १४ ॥

तुम, देवर्षि नारद तथा अन्य महर्षि भी श्रीकृष्णको पापके सम्पर्कसे रहित, सनातन, अच्युत परमेश्वररूपसे जानते हैं। वे ही सर्वव्यापी अधोक्षज अपने कुटुम्बीजनोंके इस विनाश-को चुपचाप देखते रहे ॥ १३-१४ ॥

समुपेक्षितवान् नित्यं स्वयं स मम पुत्रकः।
गान्धार्या वचनं यत् तदृषीणां च परंतप ॥ १५ ॥
तन्नूनमन्यथा कर्तुं नैच्छत् स जगतः प्रभुः।

परंतप अर्जुन ! मेरे पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए वे जगदीश्वर गान्धारी तथा महर्षियोंके शापको पलटना नहीं चाहते थे, इसीलिये उन्होंने सदा ही इस संकटकी उपेक्षा की ॥१५½ ॥

प्रत्यक्षं भवतश्चापि तव पौत्रः परंतप ॥ १६ ॥
अश्वत्थाम्ना हतश्चापि जीवितस्तस्य तेजसा।

परंतप ! तुम्हारा पौत्र परीक्षित् अश्वत्थामाद्वारा मार डाला गया था तो भी श्रीकृष्णके तेजसे वह जीवित हो गया। यह तो तुमलोगोंकी आँखों-देखी घटना है ॥ १६½ ॥

इमांस्तु नैच्छत् स्वाञ्ज्ञातीन् रक्षितुं च सखा तव॥ १७ ॥
ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा।
शयानान् निहतान् दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ॥ १८ ॥

इतने शक्तिशाली होते हुए भी तुम्हारे सखाने अपने इन भाई-बन्धुओंको प्राणसंकटसे बचानेकी इच्छा नहीं की। जब पुत्र, पौत्र, भाई और मित्र सभी एक दूसरेके हाथसे मरकर धराशायी हो गये, तब उन्हें उस अवस्थामें देखकर श्रीकृष्ण मेरे पास आये और इस प्रकार बोले— ॥ १७-१८ ॥

सम्प्राप्तोऽद्यायमस्यान्तः कुलस्य पुरुषर्षभ।
आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम् ॥ १९ ॥
आख्येयं तस्य यद् वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत्।

'पुरुषप्रवर पिताजी ! आज इस कुलका संहार हो गया। अर्जुन द्वारकापुरीमें आनेवाले हैं। आनेपर उनसे वृष्णिवंशियोंके इस महान् विनाशका वृत्तान्त कहियेगा॥१९½॥

स तु श्रुत्वा महातेजा यदूनां निधनं प्रभो ॥ २० ॥
आगन्ता क्षिप्रमेवेह न मेऽत्रास्ति विचारणा।

'प्रभो ! अर्जुनके पास संदेश भी पहुँचा होगा। वे महा-तेजस्वी कुन्तीकुमार यदुवंशियोंके विनाशका यह समाचार सुनकर शीघ्र ही यहाँ आ पहुँचेंगे। इस विषयमें मेरा कोई अन्यथा विचार नहीं है ॥ २०½ ॥

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ॥ २१ ॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति बुद्ध्यस्व माधव।

'जो मैं हूँ उसे अर्जुन समझिये; जो अर्जुन हैं वह मैं ही हूँ। माधव! अर्जुन जो कुछ भी कहें वैसा ही आपलोगोंको करना चाहिये। इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥२१½॥

स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च ॥ २२ ॥
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम्।

'जिन स्त्रियोंका प्रसवकाल समीप हो, उनपर और छोटे बालकोंपर अर्जुन विशेषरूपसे ध्यान देंगे और वे ही आपका और्ध्वदेहिक संस्कार भी करेंगे ॥ २२½ ॥

इमां च नगरीं सद्यः प्रतियाते धनंजये ॥ २३ ॥
प्राकाराट्टालकोपेतां समुद्रः प्लावयिष्यति।

'अर्जुनके चले जानेपर चहारदीवारी और अट्टालिकाओं-सहित इस नगरीको समुद्र तत्काल डुबो देगा ॥ २३½ ॥

अहं देशे तु कस्मिंश्चित् पुण्ये नियममास्थितः ॥ २४ ॥
कालं काङ्क्षे सद्य एव रामेण सह धीमता।

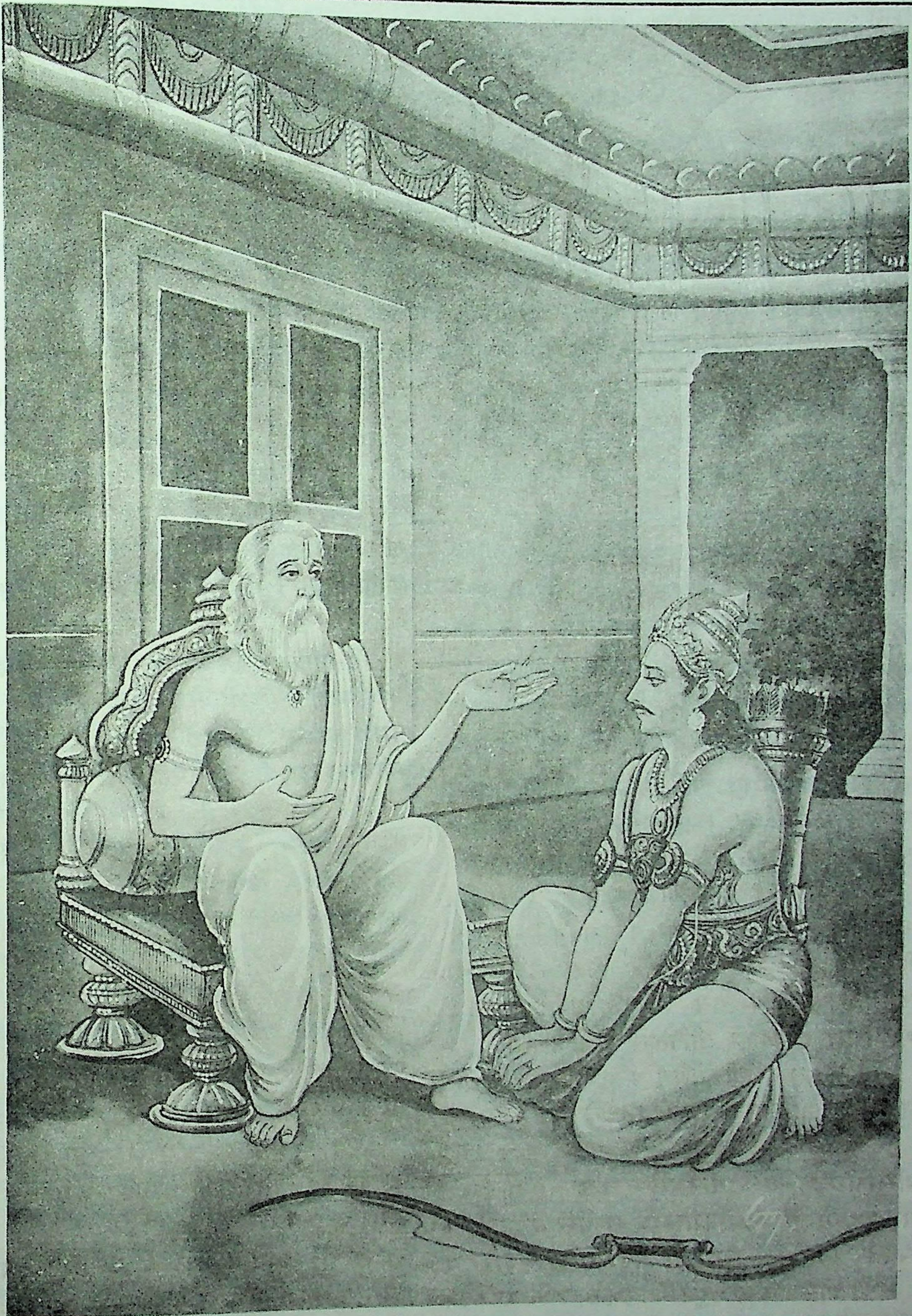
'मैं किसी पवित्र स्थानमें रहकर शौच-संतोषादि नियमोंका आश्रय ले बुद्धिमान् बलरामजीके साथ शीघ्र ही कालकी प्रतीक्षा करूँगा' ॥ २४½ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः ॥ २५ ॥
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात् प्रभुः।

ऐसा कहकर अचिन्त्य पराक्रमी प्रभावशाली श्रीकृष्ण बालकोंके साथ मुझे यहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाको चले गये हैं ॥ २५½ ॥

सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन् भ्रातरौ तव ॥ २६ ॥
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः।
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोऽसि पाण्डव॥२७॥

तबसे मैं तुम्हारे दोनों भाई महात्मा बलराम और श्रीकृष्णका तथा कुटुम्बीजनोंके इस घोर संहारका चिन्तन करके शोकसे गलता जा रहा हूँ। मुझसे भोजन नहीं किया



वसुदेवजी अर्जुनको यादव-विनाशका वृत्तान्त और श्रीकृष्णका संदेश सुना रहे हैं

जाता। अब मैं न तो भोजन करूँगा और न इस जीवनको ही रक्खूँगा। पाण्डुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि तुम यहाँ आ गये॥ २६-२७॥

यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत् सर्वमखिलं कुरु।
एतत् ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव हि॥
इष्टान् प्राणानहं हीमांस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन॥ २८॥

पार्थ! श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, वह सब करो। यह राज्य, ये स्त्रियाँ और ये रत्न—सब तुम्हारे अधीन हैं। शत्रुसूदन! अब मैं निश्चिन्त होकर अपने इन प्यारे प्राणोंका परित्याग करूँगा॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि अर्जुनवसुदेवसंवादे षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुन और वसुदेवका संवादविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

वसुदेवजी तथा मौसल युद्धमें मरे हुए यादवोंका अन्त्येष्टि संस्कार करके अर्जुनका द्वारकावासी स्त्री-पुरुषोंको अपने साथ ले जाना, समुद्रका द्वारकाको डुबो देना और मार्गमें अर्जुनपर डाकुओंका आक्रमण, अवशिष्ट यादवोंको अपनी राजधानीमें बसा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परंतप।
दुर्मना दीनवदनो वसुदेवमुवाच ह॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप! अपने मामा वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर अर्जुन मन-ही-मन बहुत दुखी हुए। उनका मुख मलिन हो गया। वे वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्यामीह कथंचन॥ २॥

'मामाजी! वृष्णिवंशके प्रमुख वीर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अपने भाइयोंसे हीन हुई यह पृथ्वी मुझसे अब किसी तरह देखी नहीं जा सकेगी॥ २॥

राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम्॥ ३॥

'राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, पाण्डव सहदेव, नकुल, द्रौपदी तथा मैं—ये छः व्यक्ति एक ही हृदय रखते हैं (इनमेंसे कोई भी अब यहाँ रहना नहीं चाहेगा)॥ ३॥

राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम्।
तमिमं विद्धि सम्प्राप्तं कालं कालविदां वर॥ ४॥

'राजा युधिष्ठिरके भी परलोक-गमनका समय निश्चय ही आ गया है। कालज्ञोंमें श्रेष्ठ मामाजी! यह वही काल प्राप्त हुआ है—ऐसा समझें॥ ४॥

सर्वथा वृष्णिदारास्तु बालं वृद्धं तथैव च।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिंदम॥ ५॥

'शत्रुदमन! अब मैं वृष्णिवंशकी स्त्रियों, बालकों और बूढ़ोंको अपने साथ ले जाकर इन्द्रप्रस्थ पहुँचाऊँगा'॥ ५॥

इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनंजयः।
अमात्यान् वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि मा चिरम्॥

मामासे यों कहकर अर्जुनने दारुकसे कहा—'अब मैं वृष्णिवंशी वीरोंके मन्त्रियोंसे शीघ्र मिलना चाहता हूँ'॥ ६॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम्।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान्॥ ७॥

ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुन यादव महारथियोंके लिये शोक करते हुए यादवोंकी सुधर्मा नामक सभामें प्रविष्ट हुए॥ ७॥

तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे॥ ८॥

वहाँ एक सिंहासनपर बैठे हुए अर्जुनके पास मन्त्री आदि समस्त प्रकृतिवर्गके लोग तथा वेदवेत्ता ब्राह्मण आये और उन्हें सब ओरसे घेरकर पास ही बैठ गये॥ ८॥

तान् दीनमनसः सर्वान् विमूढान् गतचेतसः।
उवाचेदं वचः काले पार्थो दीनतरस्तथा॥ ९॥

उन सबके मनमें दीनता छा गयी थी। सभी किंकर्तव्य-विमूढ एवं अचेत हो रहे थे। अर्जुनकी दशा तो उनसे भी अधिक दयनीय थी। वे उन सभासदोंसे समयोचित वचन बोले—॥ ९॥

शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम्।
इदं तु नगरं सर्वं समुद्रः प्लावयिष्यति॥ १०॥
सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च।
वज्रोऽयं भवतां राजा शक्रप्रस्थे भविष्यति॥ ११॥

'मन्त्रियो! मैं वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंको अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले जाऊँगा; क्योंकि समुद्र अब इस सारे नगरको डुबो देगा; अतः तुमलोग तरह-तरहके वाहन और रत्न लेकर तैयार हो जाओ। इन्द्रप्रस्थमें चलनेपर ये श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र तुमलोगोंके राजा बनाये जायँगे॥ १०-११॥

सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम्॥ १२॥

'आजके सातवें दिन निर्मल सूर्योदय होते ही हम सब

लोग इस नगरसे बाहर हो जायँगे। इसलिये सब लोग शीघ्र तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो'॥ १२॥

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वसिद्ध्यर्थं समुत्सुकाः॥ १३॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर समस्त मन्त्रियोंने अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये अत्यन्त उत्सुक होकर शीघ्र ही तैयारी आरम्भ कर दी॥ १३॥

तां रात्रिमवसत् पार्थः केशवस्य निवेशने।
महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः॥ १४॥

अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके महलमें ही उस रातको निवास किया। वे वहाँ पहुँचते ही सहसा महान् शोक और मोहमें डूब गये॥ १४॥

श्वोभूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान्।
युक्त्वाऽऽत्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ १५॥

सवेरा होते ही महातेजस्वी शूरनन्दन प्रतापी वसुदेवजीने अपने चित्तको परमात्मामें लगाकर योगके द्वारा उत्तम गति प्राप्त की॥ १५॥

ततः शब्दो महानासीद् वसुदेवनिवेशने।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम्॥ १६॥

फिर तो वसुदेवजीके महलमें बड़ा भारी कुहराम मचा। रोती-चिल्लाती हुई स्त्रियोंका आर्तनाद बड़ा भयंकर प्रतीत होता था॥ १६॥

प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन् करुणं स्त्रियः॥ १७॥

उन सबके बाल खुले हुए थे। उन्होंने आभूषण और मालाएँ तोड़कर फेंक दी थीं और वे सारी स्त्रियाँ अपने हाथोंसे छाती पीटती हुई करुणाजनक विलाप कर रही थीं॥ १७॥

तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा।
अन्वारोहन्त च तदा भर्तारं योषितां वराः॥ १८॥

युवतियोंमें श्रेष्ठ देवकी, भद्रा, रोहिणी तथा मदिरा—ये सब-की-सब अपने पतिके साथ चितापर आरूढ़ होनेको उद्यत हो गयीं॥ १८॥

ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्कामयत् तदा॥ १९॥

भारत! तदनन्तर अर्जुनने एक बहुमूल्य विमान सजाकर उसपर वसुदेवजीके शवको सुलाया और मनुष्योंके कंधोंपर उठवाकर वे उसे नगरसे बाहर ले गये॥ १९॥

तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमन्विताः।
द्वारकावासिनः सर्वे पौरजानपदा हिताः॥ २०॥

उस समय समस्त द्वारकावासी तथा आनर्त जनपदके लोग जो यादवोंके हितैषी थे, वहाँ दुःख-शोकमें मग्न होकर वसुदेवजीके शवके पीछे-पीछे गये॥ २०॥

तस्याश्वमेधिकं छत्रं दीप्यमानाश्च पावकाः।
पुरस्तात् तस्य यानस्य याजकाश्च ततो ययुः॥ २१॥

उनकी अरथीके आगे-आगे अश्वमेध-यज्ञमें उपयोग किया हुआ छत्र तथा अग्निहोत्रकी प्रज्वलित अग्नि लिये याजक ब्राह्मण चल रहे थे॥ २१॥

अनुजग्मुश्च तं वीरं देव्यस्ता वै स्वलंकृताः।
स्त्रीसहस्रैः परिवृता वधूभिश्च सहस्रशः॥ २२॥

वीर वसुदेवजीकी पत्नियाँ वस्त्र और आभूषणोंसे सज-धजकर हजारों पुत्र वधुओं तथा अन्य स्त्रियोंके साथ अपने पतिकी अरथीके पीछे-पीछे जा रही थीं॥ २२॥

यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे॥ २३॥

महात्मा वसुदेवजीको अपने जीवनकालमें जो स्थान विशेष प्रिय था, वहीं ले जाकर अर्जुन आदिने उनका पितृ-मेधकर्म (दाह-संस्कार) किया॥ २३॥

तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वराङ्गनाः।
ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः॥ २४॥

चिताकी प्रज्वलित अग्निमें सोये हुए वीर शूरपुत्र वसुदेवजीके साथ उनकी पूर्वोक्त चारों पत्नियाँ भी चितापर जा बैठीं और उन्हींके साथ भस्म हो पतिलोकको प्राप्त हुईं॥ २४॥

तं वै चतसृभिः स्त्रीभिरन्वितं पाण्डुनन्दनः।
अदाहयच्चन्दनैश्च गन्धैरुच्चावचैरपि॥ २५॥

चारों पत्नियोंसे संयुक्त हुए वसुदेवजीके शवका पाण्डुनन्दन अर्जुनने चन्दनकी लकड़ियों तथा नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा दाह किया॥ २५॥

ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि॥ २६॥

उस समय प्रज्वलित अग्निका चट-चट शब्द, सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोच्चारणका गम्भीर घोष तथा रोते हुए मनुष्योंका आर्तनाद एक साथ ही प्रकट हुआ॥ २६॥

ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्ण्यन्धककुमारकाः।
सर्वे चैवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः॥ २७॥

इसके बाद वज्र आदि वृष्णि और अन्धकवंशके कुमारों तथा स्त्रियोंने महात्मा वसुदेवजीको जलाञ्जलि दी॥ २७॥

अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ॥ २८॥

भरतश्रेष्ठ! अर्जुनने कभी धर्मका लोप नहीं किया था। वह धर्मकृत्य पूर्ण कराकर अर्जुन उस स्थानपर गये जहाँ वृष्णियोंका संहार हुआ था॥ २८॥

स तान् दृष्ट्वा निपतितान् कदने भृशदुःखितः।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह॥ २९॥

यथा प्रधानतश्चैव चक्रे सर्वास्तथा क्रियाः ।
ये हता ब्रह्मशापेन मुसलैरेरकोद्भवैः ॥ ३० ॥

उस भीषण मारकाटमें मरकर धराशायी हुए यादवोंको देखकर कुरुकुलनन्दन अर्जुनको बड़ा भारी दुःख हुआ। उन्होंने ब्रह्मशापके कारण एरकासे उत्पन्न हुए मूसलोंद्वारा मारे गये यदुवंशी वीरोंके बड़े-छोटेके क्रमसे सारे समयोचित कार्य (अन्त्येष्टि कर्म) सम्पन्न किये ॥ २९-३० ॥

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर विश्वस्त पुरुषोंद्वारा बलराम तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दोनोंके शरीरोंकी खोज कराकर अर्जुनने उनका भी दाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

स तेषां विधिवत् कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः ।
सप्तमे दिवसे प्रायाद् रथमारुह्य सत्वरः ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन उन सबके प्रेतकर्म विधिपूर्वक सम्पन्न करके तुरंत रथपर आरूढ़ हो सातवें दिन द्वारकासे चल दिये ॥ ३२ ॥

अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि ।
स्त्रियस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः ॥ ३३ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनंजयम् ।

उनके साथ घोड़े, बैल, गधे और ऊँटोंसे जुते हुए रथोंपर बैठकर शोकसे दुर्बल हुई वृष्णिवंशी वीरोंकी पत्नियाँ रोती हुई चलीं। उन सबने पाण्डुपुत्र महात्मा अर्जुनका अनुगमन किया ॥ ३३½ ॥

भृत्याश्चान्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये ॥ ३४ ॥
वीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा ।
ययुस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥ ३५ ॥

अर्जुनकी आज्ञासे अन्धकों और वृष्णियोंके नौकर, घुड़सवार, रथी तथा नगर और प्रान्तके लोग बूढ़े और बालकोंसे युक्त विधवा स्त्रियोंको चारों ओरसे घेरकर चलने लगे ॥ ३४-३५ ॥

कुञ्जरैश्च गजारोहा ययुः शैलनिभैस्तथा ।
सपादरक्षैः संयुक्ताः सान्तरायुधिका ययुः ॥ ३६ ॥

हाथी-सवार पर्वताकार हाथियोंद्वारा गुप्तरूपसे अस्त्र-शस्त्र धारण किये यात्रा करने लगे। उनके साथ हाथियोंके पादरक्षक भी थे ॥ ३६ ॥

पुत्राश्चान्धकवृष्णीनां सर्वे पार्थमनुव्रताः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महाधनाः ॥ ३७ ॥
दश षट् च सहस्राणि वासुदेवावरोधनम् ।
पुरस्कृत्य ययुर्वज्रं पौत्रं कृष्णस्य धीमतः ॥ ३८ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके समस्त बालक अर्जुनके प्रति भक्ति रखनेवाले थे। वे तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, महाधनी शूद्र और भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार स्त्रियाँ—ये सब-की-सब बुद्धिमान् श्रीकृष्णके पौत्र वज्रको आगे करके चल रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रीणां हतनाथानि निर्ययुः ॥ ३९ ॥
तत्सागरसमप्रख्यं वृष्णिचक्रं महर्धिमत् ।
उवाह रथिनां श्रेष्ठः पार्थः परपुरंजयः ॥ ४० ॥

भोज, वृष्णि और अन्धक कुलकी अनाथ स्त्रियोंकी संख्या कई हजारों, लाखों और अर्बुदोंतक पहुँच गयी थी। वे सब द्वारकापुरीसे बाहर निकलीं। वृष्णियोंका वह महान् समृद्धिशाली मण्डल महासागरके समान जान पड़ता था। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उसे अपने साथ लेकर चले ॥ ३९-४० ॥

निर्याते तु जने तस्मिन् सागरो मकरालयः ।
द्वारकां रत्नसम्पूर्णां जलेनाप्लावयत् तदा ॥ ४१ ॥

उस जनसमुदायके निकलते ही मगरों और घड़ियालोंके निवासस्थान समुद्रने रत्नोंसे भरी-पूरी द्वारका नगरीको जलसे डुबो दिया ॥ ४१ ॥

यद् यद्धि पुरुषव्याघ्रो भूमेस्तस्या व्यमुञ्चत ।
तत् तत् सम्प्लावयामास सलिलेन स सागरः ॥ ४२ ॥

पुरुषसिंह अर्जुनने उस नगरका जो-जो भाग छोड़ा, उसे समुद्रने अपने जलसे आप्लावित कर दिया ॥ ४२ ॥

तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य द्वारकावासिनो जनाः ।
तूर्णात् तूर्णतरं जग्मुरहो दैवमिति ब्रुवन् ॥ ४३ ॥

यह अद्भुत दृश्य देखकर द्वारकावासी मनुष्य बड़ी तेजीसे चलने लगे। उस समय उनके मुखसे बारंबार यही निकलता था कि 'दैवकी लीला विचित्र है' ॥ ४३ ॥

काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनंजयः ॥ ४४ ॥

अर्जुन रमणीय काननों, पर्वतों और नदियोंके तटपर निवास करते हुए वृष्णिवंशकी स्त्रियोंको ले जा रहे थे ॥ ४४ ॥

स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत् प्रभुः ॥ ४५ ॥

चलते-चलते बुद्धिमान् एवं सामर्थ्यशाली अर्जुनने अत्यन्त समृद्धिशाली पञ्चनद देशमें पहुँचकर जो गौ, पशु तथा धन-धान्यसे सम्पन्न था, ऐसे प्रदेशमें पड़ाव डाला ॥ ४५ ॥

ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः ।
दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ॥ ४६ ॥

भरतनन्दन ! एकमात्र अर्जुनके संरक्षणमें ले जायी जाती हुई इतनी अनाथ स्त्रियोंको देखकर वहाँ रहनेवाले लुटेरोंके मनमें लोभ पैदा हुआ ॥ ४६ ॥

ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः।
आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्याशुभदर्शनाः ॥ ४७ ॥

लोभसे उनके चित्तकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी। उन अशुभदर्शी पापाचारी आभीरोंने परस्पर मिलकर सलाह की ॥

अयमेकोऽर्जुनो धन्वी वृद्धबालं हतेश्वरम्।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः ॥ ४८ ॥

'भाइयो ! देखो, यह अकेला धनुर्धर अर्जुन और ये हतोत्साह सैनिक हमलोगोंको लाँघकर वृद्धों और बालकोंके इस अनाथ समुदायको लिये जा रहे हैं (अतः इनपर आक्रमण करना चाहिये)' ॥ ४८ ॥

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ॥ ४९ ॥

ऐसा निश्चय करके लूटका माल उड़ानेवाले वे लट्ठधारी लुटेरे वृष्णिवंशियोंके उस समुदायपर हजारोंकी संख्यामें टूट पड़े ॥ ४९ ॥

महता सिंहनादेन त्रासयन्तः पृथग्जनम्।
अभिपेतुर्वधार्थं ते कालपर्यायचोदिताः ॥ ५० ॥

समयके उलट-फेरसे प्रेरणा पाकर वे लुटेरे उन सबके वधके लिये उतारू हो अपने महान् सिंहनादसे साधारण लोगोंको डराते हुए उनकी ओर दौड़े ॥ ५० ॥

ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः।
उवाच तान् महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ॥ ५१ ॥

आक्रमणकारियोंको पीछेकी ओरसे धावा करते देख कुन्तीकुमार महाबाहु अर्जुन सेवकोंसहित सहसा लौट पड़े और उनसे हँसते हुए-से बोले— ॥ ५१ ॥

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि जीवितुमिच्छथ।
इदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ॥ ५२ ॥

'धर्मको न जाननेवाले पापियो ! यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ; नहीं तो मेरे द्वारा मारे जाकर या मेरे बाणोंसे विदीर्ण होकर इस समय तुम बड़े शोकमें पड़ जाओगे' ॥ ५२ ॥

तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

वीरवर अर्जुनके ऐसा कहनेपर उनकी बातोंकी अवहेलना करके वे मूर्ख अहीर उनके बारंबार मना करनेपर भी उस जनसमुदायपर टूट पड़े ॥ ५३ ॥

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत्।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथंचन ॥ ५४ ॥

तब अर्जुनने अपने दिव्य एवं कभी जीर्ण न होनेवाले विशाल धनुष गाण्डीवको चढ़ाना आरम्भ किया और बड़े प्रयत्नसे किसी तरह उसे चढ़ा दिया ॥ ५४ ॥

चकार सज्जं कृच्छ्रेण सम्भ्रमे तुमुले सति।
चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ॥ ५५ ॥

भयङ्कर मारकाट छिड़नेपर बड़ी कठिनाईसे उन्होंने धनुषपर प्रत्यञ्चा तो चढ़ा दी; परंतु जब वे अपने अस्त्र-शस्त्रोंका चिन्तन करने लगे, तब उन्हें उनकी याद बिल्कुल नहीं आयी ॥ ५५ ॥

वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद् व्रीडितोऽभवत् ॥ ५६ ॥

युद्धके अवसरपर अपने बाहुबलमें यह महान् विकार आया देख और महान् दिव्यास्त्रोंका विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये ॥ ५६ ॥

वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ॥ ५७ ॥

हाथी, घोड़े और रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले समस्त वृष्णिसैनिक भी उन डाकुओंके हाथमें पड़े हुए अपने मनुष्योंको लौटा न सके ॥ ५७ ॥

कलत्रस्य बहुत्वाद्धि सम्पतत्सु ततस्ततः।
प्रयत्नमकरोत् पार्थो जनस्य परिरक्षणे ॥ ५८ ॥

उस समुदायमें स्त्रियोंकी संख्या बहुत थी; इसलिये डाकू कई ओरसे उनपर धावा करने लगे तो भी अर्जुन उनकी रक्षाका यथासाध्य प्रयत्न करते रहे ॥ ५८ ॥

मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥ ५९ ॥

सब योद्धाओंके देखते-देखते वे डाकू उन सुन्दरी स्त्रियोंको चारों ओरसे खींच-खींचकर ले जाने लगे। दूसरी स्त्रियाँ उनके स्पर्शके भयसे उनकी इच्छाके अनुसार चुपचाप उनके साथ चली गयीं ॥ ५९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनंजयः।
जघान दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ॥ ६० ॥

तब कुन्तीकुमार अर्जुन उद्विग्न होकर सहस्रों वृष्णि-सैनिकोंको साथ ले गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उन लुटेरोंके प्राण लेने लगे ॥ ६० ॥

क्षणेन तस्य ते राजन् क्षयं जग्मुरजिह्मगाः।
अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥ ६१ ॥

राजन् ! अर्जुनके सीधे जानेवाले बाण क्षणभरमें क्षीण हो गये। जो रक्तभोगी बाण पहले अक्षय थे, वे ही उस समय सर्वथा क्षयको प्राप्त हो गये ॥ ६१ ॥

स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहतः।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत् पाकशासनिः ॥ ६२ ॥

बाणोंके समाप्त हो जानेपर दुःख और शोकके आघात सहते हुए इन्द्रकुमार अर्जुन धनुषकी नोकसे ही उन डाकुओंका वध करने लगे ॥ ६२ ॥

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय ॥ ६३ ॥

जनमेजय ! अर्जुन देखते ही रह गये और वे म्लेच्छ डाकू सब ओरसे वृष्णि और अन्धकवंशकी सुन्दरी स्त्रियोंको लूट ले गये ॥ ६३ ॥

धनंजयस्तु दैवं तन्मनसाऽचिन्तयत् प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ॥ ६४ ॥

प्रभावशाली अर्जुनने मन-ही-मन इसे दैवका विधान समझा और दुःख-शोकमें डूबकर वे लंबी साँस लेने लगे ॥

अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संक्षयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ॥ ६५ ॥
बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।

अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान लुप्त हो गया । भुजाओंका बल भी घट गया । धनुष भी काबूके बाहर हो गया और अक्षय बाणोंका भी क्षय हो गया । इन सब बातोंसे अर्जुनका मन उदास हो गया । वे इन सब घटनाओंको दैवका विधान मानने लगे ॥ ६५½ ॥

न्यवर्तत ततो राजन् नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ६६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो गये और बोले—'यह अस्त्रज्ञान आदि कुछ भी नित्य नहीं है' ॥६६॥

ततः शेषं समादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ॥ ६७ ॥

फिर अपहरणसे बची हुई स्त्रियों और जिनका अधिक भाग लूट लिया गया था, ऐसे बचे-खुचे रत्नोंको साथ लेकर परम बुद्धिमान् अर्जुन कुरुक्षेत्रमें उतरे ॥ ६७ ॥

एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनंजयः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार अपहरणसे बची हुई वृष्णिवंशकी स्त्रियोंको ले आकर कुरुनन्दन अर्जुनने उनको जहाँ-तहाँ बसा दिया ॥

हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरे मार्तिकावते ।
भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ॥ ६९ ॥

कृतवर्माके पुत्रको और भोजराजके परिवारकी अपहरणसे बची हुई स्त्रियोंको नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्तिकावत नगरमें बसा दिया ॥ ६९ ॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान् सर्वांस्ताञ्शक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् वीरविहीन समस्त वृद्धों, बालकों तथा अन्य स्त्रियोंको साथ लेकर वे इन्द्रप्रस्थ आये और उन सबको वहाँका निवासी बना दिया ॥ ७० ॥

यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम् ।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ॥ ७१ ॥

धर्मात्मा अर्जुनने सात्यकिके प्रिय पुत्र यौयुधानिको सरस्वतीके तटवर्ती देशका अधिकारी एवं निवासी बना दिया और वृद्धों तथा बालकोंको उसके साथ कर दिया ॥ ७१ ॥

इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा ।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने वज्रको इन्द्रप्रस्थका राज्य दे दिया । अक्रूरजीकी स्त्रियाँ वज्रके बहुत रोकनेपर भी वनमें तपस्या करनेके लिये चली गयीं ॥ ७२ ॥

रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैव्या हैमवतीत्यपि ।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम् ॥ ७३ ॥

रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या, हैमवती तथा जाम्बवती देवीने पतिलोककी प्राप्तिके लिये अग्निमें प्रवेश किया ॥७३॥

सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य सम्मताः ।
वनं प्रविविशू राजंस्तापस्ये कृतनिश्चयाः ॥ ७४ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णप्रिया सत्यभामा तथा अन्य देवियाँ तपस्याका निश्चय करके वनमें चली गयीं ॥ ७४ ॥

द्वारकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमभ्ययुः ।
यथार्हं संविभज्यैनान् वज्रे पर्यददज्जयः ॥ ७५ ॥

जो-जो द्वारकावासी मनुष्य पार्थके साथ आये थे, उन सबका यथायोग्य विभाग करके अर्जुनने उन्हें वज्रको सौंप दिया ॥ ७५ ॥

स तत् कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं ददर्शासीनमाश्रमे ॥ ७६ ॥

इस प्रकार समयोचित व्यवस्था करके अर्जुन नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए महर्षि व्यासके आश्रमपर गये और वहाँ बैठे हुए महर्षिका उन्होंने दर्शन किया ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि वृष्णिकलत्राद्यानयने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें अर्जुनद्वारा वृष्णिवंशकी स्त्रियों और बालकोंका आनयनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन और व्यासजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्नर्जुनो राजन्नाश्रमं सत्यवादिनः ।
ददर्शासीनमेकान्ते मुनिं सत्यवतीसुतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सत्यवादी व्यासजीके आश्रममें प्रवेश करके अर्जुनने देखा कि सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यास एकान्तमें बैठे हुए हैं ॥ १ ॥

स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम् ।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत् ततः ॥ २ ॥

महान् व्रतधारी तथा धर्मके ज्ञाता व्यासजीके पास पहुँचकर 'मैं अर्जुन हूँ' ऐसा कहते हुए धनंजयने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वे उनके पास ही खड़े हो गये ॥

स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः।
आस्यतामिति होवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः ॥ ३ ॥

उस समय प्रसन्नचित्त हुए महामुनि सत्यवतीनन्दन व्यासने अर्जुनसे कहा—'बेटा ! तुम्हारा स्वागत है; आओ यहाँ बैठो' ॥ ३ ॥

तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

अर्जुनका मन अशान्त था। वे बारंबार लंबी साँस खींच रहे थे। उनका चित्त खिन्न एवं विरक्त हो चुका था। उन्हें इस अवस्थामें देखकर व्यासजीने पूछा— ॥ ४ ॥

नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया ॥ ५ ॥

'पार्थ ! क्या तुमने नख, बाल अथवा अधोवस्त्र (धोती) की कोर पड़ जानेसे अशुद्ध हुए घड़ेके जलसे स्नान कर लिया है ? अथवा तुमने रजस्वला स्त्रीसे समागम या किसी ब्राह्मणका वध तो नहीं किया है ? ॥ ५ ॥

युद्धे पराजितो वासि गतश्रीरिव लक्ष्यसे।
न त्वां प्रभिन्नं जानामि किमिदं भरतर्षभ ॥ ६ ॥
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि।

'कहीं तुम युद्धमें परास्त तो नहीं हो गये ? क्योंकि श्रीहीन-से दिखायी देते हो। भरतश्रेष्ठ ! तुम कभी पराजित हुए हो—यह मैं नहीं जानता; फिर तुम्हारी ऐसी दशा क्यों है ? पार्थ ! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो अपनी इस मलिनताका कारण मुझे शीघ्र बताओ' ॥ ६½ ॥



अर्जुन उवाच

यः स मेघवपुः श्रीमान् बृहत्पङ्कजलोचनः ॥ ७ ॥
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः।

अर्जुनने कहा—भगवन् ! जिनका सुन्दर विग्रह मेघके समान श्याम था और जिनके नेत्र विशाल कमलदलके समान शोभा पाते थे, वे श्रीमान् भगवान् कृष्ण बलरामजीके साथ देहत्याग करके अपने परमधामको पधार गये ॥ ७½ ॥

(तद्वाक्यस्पर्शनालोकसुखं त्वमृतसंनिभम्।
संस्मृत्य देवदेवस्य प्रमुह्याम्यमृतात्मनः ॥)

देवताओंके भी देवता, अमृतस्वरूप श्रीकृष्णके मधुर वचनोंको सुनने, उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श करने और उन्हें देखनेका जो अमृतके समान सुख था, उसे बार-बार याद करके मैं अपनी सुध-बुध खो बैठता हूँ ॥

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो ब्रह्मशापजः ॥ ८ ॥
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे लोमहर्षणः।

ब्राह्मणोंके शापसे मौसलयुद्धमें वृष्णिवंशी वीरोंका विनाश हो गया। बड़े-बड़े वीरोंका अन्त कर देनेवाला वह रोमाञ्चकारी संग्राम प्रभासक्षेत्रमें घटित हुआ था ॥ ८½ ॥

एते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः ॥ ९ ॥
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योन्यं तैर्हतं युधि।

ब्रह्मन् ! भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके ये महामनस्वी शूरवीर सिंहके समान दर्पशाली और महान् बलवान् थे; परंतु वे गृहयुद्धमें एक दूसरेके द्वारा मार डाले गये ॥ ९½ ॥

गदापरिघशक्तीनां सहाः परिघबाहवः ॥ १० ॥
त एरकाभिर्निहताः पश्य कालस्य पर्ययम्।

जो गदा, परिघ और शक्तियोंकी मार सह सकते थे, वे परिघके समान सुदृढ़ बाहोंवाले यदुवंशी एरका नामक तृणविशेषके द्वारा मारे गये—यह समयका उलट-फेर तो देखिये ॥

हतं पञ्चशतं तेषां सहस्रं बाहुशालिनाम् ॥ ११ ॥
निधनं समनुप्राप्तं समासाद्येतरेतरम्।

अपने बाहुबलसे शोभा पानेवाले पाँच लाख वीर आपसमें ही लड़-भिड़कर मर मिटे ॥ ११½ ॥

पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम् ॥ १२ ॥
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः।
शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम् ॥ १३ ॥
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च।
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १४ ॥

उन अमित तेजस्वी वीरोंके विनाशका दुःख मुझसे किसी तरह सहा नहीं जाता। मैं बार-बार उस दुःखसे व्यथित हो जाता हूँ। यशस्वी श्रीकृष्ण और यदुवंशियोंके परलोकगमनकी बात सोचकर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो समुद्र सूख गया, पर्वत हिलने लगे, आकाश फट पड़ा और

अग्निके स्वभावमें शीतलता आ गयी। शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भी मृत्युके अधीन हुए होंगे—यह बात विश्वासके योग्य नहीं है। मैं इसे नहीं मानता ॥ १२–१४ ॥

न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः।
इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद् वै तपोधन ॥ १५ ॥

फिर भी श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर चले गये। मैं इस संसारमें उनके विना नहीं रहना चाहता। तपोधन! इसके सिवा जो दूसरी घटना घटित हुई है, वह इससे भी अधिक कष्टदायक है। आप इसे सुनिये ॥ १५ ॥

मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः।
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन् सहस्रशः ॥ १६ ॥
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः।

जब मैं उस घटनाका चिन्तन करता हूँ, तब बारंबार मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। ब्रह्मन्! पंजाबके अहीरोंने मुझसे युद्ध ठानकर मेरे देखते-देखते वृष्णिवंशकी हजारों स्त्रियोंका अपहरण कर लिया ॥ १६½ ॥

धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे ॥ १७ ॥
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाभवत्।

मैंने धनुष लेकर उनका सामना करना चाहा, परंतु मैं उसे चढ़ा न सका। मेरी भुजाओंमें पहले-जैसा बल था वैसा अब नहीं रहा ॥ १७½ ॥

अस्त्राणि मे प्रणष्टानि विविधानि महामुने ॥ १८ ॥
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः।

महामुने! मेरा नाना प्रकारके अस्त्रोंका ज्ञान विलुप्त हो गया। मेरे सभी बाण सब ओर जाकर क्षणभरमें नष्ट हो गये॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १९ ॥
चतुर्भुजः पीतवासाः श्यामः पद्मदलेक्षणः।
यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ॥ २० ॥
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम्।

जिनका स्वरूप अप्रमेय है, जो शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले, चतुर्भुज, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर तथा कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले हैं, जो महातेजस्वी प्रभु शत्रुओंकी सेनाओंको भस्म करते हुए मेरे रथके आगे-आगे चलते थे, उन्हीं भगवान् अच्युतको अब मैं नहीं देख पाता हूँ॥

येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा ॥ २१ ॥
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैरहं पश्चाच्च नाशयम्।
तमपश्यन् विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम ॥ २२ ॥

साधुशिरोमणे! जो पहले स्वयं ही अपने तेजसे शत्रु-सेनाओंको दग्ध कर देते थे, उसके बाद मैं गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उन शत्रुओंका नाश करता था, उन्हीं भगवान्‌को आज न देखनेके कारण मैं विषादमें डूबा हुआ हूँ। मुझे चक्कर-सा आ रहा है ॥ २१-२२ ॥

परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च।
(देवकीनन्दनं देवं वासुदेवमजं प्रभुम्।)
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २३ ॥

मेरे चित्तमें निर्वेद छा गया है। मुझे शान्ति नहीं मिलती है। मैं देवस्वरूप, अजन्मा, भगवान् देवकीनन्दन वासुदेव वीर जनार्दनके विना अब जीवित रहना नहीं चाहता ॥ २३॥

श्रुत्वैव हि गतं विष्णुं ममापि मुमुहुर्दिशः।
प्रणष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः ॥ २४ ॥
उपदेष्टुं मम श्रेयो भवानर्हति सत्तम।

सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये, यह बात सुनते ही मुझे सम्पूर्ण दिशाओंका ज्ञान भूल जाता है। मेरे भी जाति-भाइयोंका नाश तो पहले ही हो गया था, अब मेरा पराक्रम भी नष्ट हो गया; अतः शून्यहृदय होकर इधर-उधर दौड़ लगा रहा हूँ। संतोंमें श्रेष्ठ महर्षे! आप कृपा करके मुझे यह उपदेश दें कि मेरा कल्याण कैसे होगा? ॥ २४½ ॥

व्यास उवाच

(देवांशा देवदेवेन सम्मतास्ते गताः सह।
धर्मव्यवस्थारक्षार्थं देवेन समुपेक्षिताः ॥)

व्यासजी बोले—कुन्तीकुमार! वे समस्त यदुवंशी देवताओंके अंश थे। वे देवाधिदेव श्रीकृष्णके साथ ही यहाँ आये थे और साथ ही चले गये। उनके रहनेसे धर्मकी मर्यादा-के भङ्ग होनेका डर था; अतः भगवान् श्रीकृष्णने धर्म-व्यवस्था-की रक्षाके लिये उन मरते हुए यादवोंकी उपेक्षा कर दी॥

ब्रह्मशापविनिर्दग्धा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥ २५ ॥
विनष्टाः कुरुशार्दूल न तान्शोचितुमर्हसि।
भवितव्यं तथा तच्च दिष्टमेतन्महात्मनाम् ॥ २६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी ब्राह्मणोंके शापसे दग्ध होकर नष्ट हुए हैं; अतः तुम उनके लिये शोक न करो। उन महामनस्वी वीरोंकी भवितव्यता ही ऐसी थी। उनका प्रारब्ध ही वैसा बन गया था ॥ २५-२६ ॥

उपेक्षितं च कृष्णेन शक्तेनापि व्यपोहितुम्।
त्रैलोक्यमपि गोविन्दः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २७ ॥
प्रसहेदन्यथाकर्तुं कुतः शापं महात्मनाम्।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण उनके संकटको टाल सकते थे तथापि उन्होंने इसकी उपेक्षा कर दी। श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंकी गतिको पलट सकते हैं, फिर उन महामनस्वी वीरोंको प्राप्त हुए शापको पलट देना उनके लिये कौन बड़ी बात थी ॥ २७½ ॥

(स्त्रियश्च ताः पुरा शप्ताः प्रहासकुपितेन वै।
अष्टावक्रेण मुनिना तदर्थं त्वद्बलक्षयः ॥)

(तुम्हारे देखते-देखते स्त्रियोंका जो अपहरण हुआ है, उसमें भी देवताओंका एक रहस्य है।) वे स्त्रियाँ पूर्वजन्ममें अप्सराएँ थीं। उन्होंने अष्टावक्र मुनिके रूपका उपहास किया था। मुनिने शाप दिया था (कि 'तुमलोग मानवी हो जाओ और दस्युओंके हाथमें पड़नेपर तुम्हारा इस शापसे उद्धार

होगा।') इसीलिये तुम्हारे बलका क्षय हुआ (जिससे वे डाकुओंके हाथमें पड़कर उस शापसे छुटकारा पा जायँ), (अब वे अपना पूर्वरूप और स्थान पा चुकी हैं; अतः उनके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है)॥

रथस्य पुरतो याति यः स चक्रगदाधरः ॥ २८ ॥
तव स्नेहात् पुराणर्षिर्वासुदेवश्चतुर्भुजः ।

जो स्नेहवश तुम्हारे रथके आगे चलते थे (सारथिका काम करते थे), वे वासुदेव कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् चक्र-गदाधारी पुरातन ऋषि चतुर्भुज नारायण थे ॥ २८½ ॥

कृत्वा भारावतरणं पृथिव्याः पृथुलोचनः ॥ २९ ॥
मोक्षयित्वा तनुं प्राप्तः कृष्णः स्वस्थानमुत्तमम् ।

वे विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस पृथ्वीका भार उतारकर शरीर त्याग अपने उत्तम परमधामको जा पहुँचे हैं ॥ २९½॥

त्वयापीह महत् कर्म देवानां पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥
कृतं भीमसहायेन यमाभ्यां च महाभुज ।

पुरुषप्रवर ! महाबाहो ! तुमने भी भीमसेन और नकुल-सहदेवकी सहायतासे देवताओंका महान् कार्य सिद्ध किया है ॥

कृतकृत्यांश्च वो मन्ये संसिद्धान् कुरुपुङ्गव ॥ ३१ ॥
गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो ।

कुरुश्रेष्ठ ! मैं समझता हूँ कि अब तुमलोगोंने अपना कर्तव्य पूर्ण कर लिया है । तुम्हें सब प्रकारसे सफलता प्राप्त हो चुकी है । प्रभो ! अब तुम्हारे परलोकगमनका समय आया है और यही तुमलोगोंके लिये श्रेयस्कर है ॥ ३१½ ॥

एवं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ॥ ३२ ॥
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ।

भरतनन्दन ! जब उद्भवका समय आता है, तब इसी प्रकार मनुष्यकी बुद्धि, तेज और ज्ञानका विकास होता है और जब विपरीत समय उपस्थित होता है, तब इन सबका नाश हो जाता है ॥ ३२½ ॥

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनंजय ॥ ३३ ॥
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ।

धनंजय ! काल ही इन सबकी जड़ है । संसारकी उत्पत्ति-का बीज भी काल ही है और काल ही फिर अकस्मात सबका संहार कर देता है ॥ ३३½ ॥

स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ॥ ३४ ॥
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः ।

वही बलवान् होकर फिर दुर्बल हो जाता है और वही एक समय दूसरोंका शासक होकर कालान्तरमें स्वयं दूसरोंका आज्ञापालक हो जाता है ॥ ३४½ ॥

कृतकृत्यानि चास्त्राणि गतान्यद्य यथागतम् ॥ ३५ ॥
पुनरेष्यन्ति ते हस्ते यदा कालो भविष्यति ।

तुम्हारे अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोजन भी पूरा हो गया है, इसलिये वे जैसे मिले थे, वैसे ही चले गये । जब उपयुक्त समय होगा, तब वे फिर तुम्हारे हाथमें आयेंगे ॥ ३५½ ॥

कालो गन्तुं गतिं मुख्यां भवतामपि भारत ॥ ३६ ॥
एतच्छ्रेयो हि वो मन्ये परमं भरतर्षभ ।

भारत ! अब तुमलोगोंके उत्तम गति प्राप्त करनेका समय उपस्थित है । भरतश्रेष्ठ ! मुझे इसीमें तुमलोगोंका परम कल्याण जान पड़ता है ॥ ३६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः ॥ ३७ ॥
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अमिततेजस्वी व्यासजीके इस वचनका तत्त्व समझकर अर्जुन उनकी आज्ञा ले हस्तिनापुरको चले गये ॥ ३७½ ॥

प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम् ।
आचष्ट तद् यथावृत्तं वृष्ण्यन्धककुलं प्रति ॥ ३८ ॥

नगरमें प्रवेश करके वीर अर्जुन युधिष्ठिरसे मिले और वृष्णि तथा अन्धकवंशका यथावत् समाचार उन्होंने कह सुनाया ॥ ३८ ॥

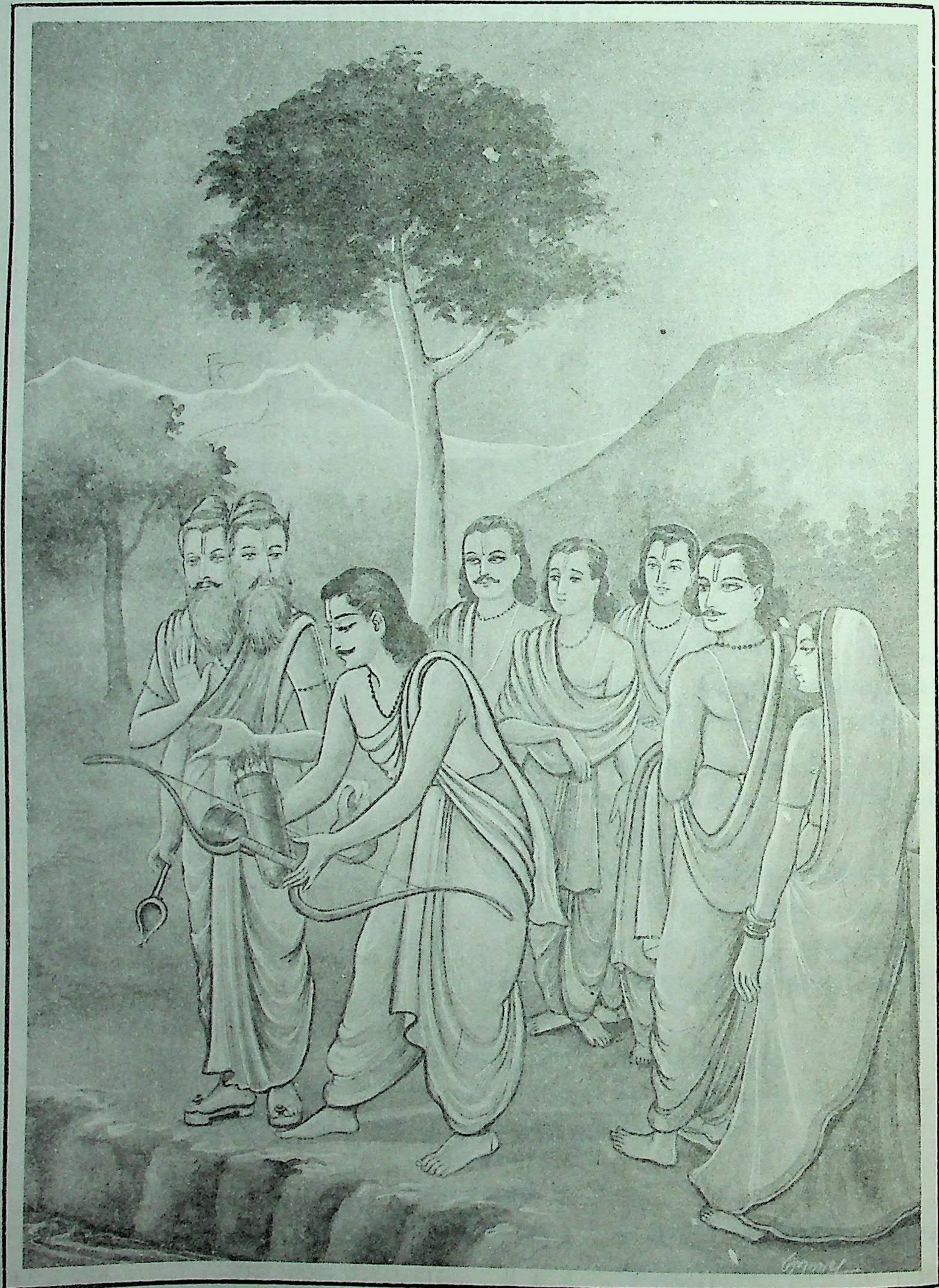
इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि व्यासार्जुनसंवादे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत मौसलपर्वमें व्यास और अर्जुनका संवादविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

मौसलपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२६०	(३०)	४१।	३०१।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	३॥			३॥
मौसलपर्वकी कुल श्लोक-संख्या				३०४॥।



अग्निकी प्रेरणासे अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष और अक्षय तरकसको जलमें डाल रहे हैं ।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

महाप्रस्थानिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

वृष्णिवंशियोंका श्राद्ध करके प्रजाजनोंकी अनुमति ले द्रौपदीसहित पाण्डवोंका महाप्रस्थान

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं वृष्ण्यन्धककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम्।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंमें मूसलयुद्ध होनेका समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधारनेके पश्चात् पाण्डवोंने क्या किया?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत्।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत्॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! कुरुराज युधिष्ठिरने जब इस प्रकार वृष्णिवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब महाप्रस्थानका निश्चय करके अर्जुनसे कहा—॥२॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि॥ ३॥

'महामते! काल ही सम्पूर्ण भूतोंको पका रहा है—विनाशकी ओर ले जा रहा है। अब मैं कालके बन्धनको स्वीकार करता हूँ। तुम भी इसकी ओर दृष्टिपात करो'॥ ३॥

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन्।
अन्वपद्यत तद् वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः॥ ४॥

भाईके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने 'काल तो काल ही है, इसे टाला नहीं जा सकता' ऐसा कहकर अपने बुद्धिमान् बड़े भाईके कथनका अनुमोदन किया॥ ४॥

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा।
अन्वपद्यन्त तद् वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना॥ ५॥

अर्जुनका विचार जानकर भीमसेन और नकुल-सहदेवने भी उनकी कही हुई बातका अनुमोदन किया॥ ५॥

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः॥ ६॥

तत्पश्चात् धर्मकी इच्छासे राज्य छोड़कर जानेवाले युधिष्ठिरने वैश्यापुत्र युयुत्सुको बुलाकर उन्हींको सम्पूर्ण राज्यकी देख-भालका भार सौंप दिया॥ ६॥

अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम्।
दुःखार्तश्चाब्रवीद् राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः॥ ७॥

फिर अपने राज्यपर राजा परीक्षित्का अभिषेक करके पाण्डवोंके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिरने दुःखसे आर्त होकर सुभद्रासे कहा—॥ ७॥

एष पुत्रस्य पुत्रस्ते कुरुराजो भविष्यति।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह॥ ८॥

'बेटी! यह तुम्हारे पुत्रका पुत्र परीक्षित् कुरुदेश तथा कौरवोंका राजा होगा और यादवोंमें जो लोग बच गये हैं; उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्रको बनाया गया है॥ ८॥

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः॥ ९॥

'परीक्षित् हस्तिनापुरमें राज्य करेंगे और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थमें। तुम्हें राजा वज्रकी भी रक्षा करनी चाहिये और अपने मनको कभी अधर्मकी ओर नहीं जाने देना चाहिये'॥ ९॥

इत्युक्त्वा धर्मराजः स वासुदेवस्य धीमतः।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीनां तथैव च॥ १०॥
भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः।
श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत् तदा॥ ११॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित आलस्य छोड़कर बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण, बूढ़े मामा वसुदेव तथा बलराम आदिके लिये जलाञ्जलि दी और उन सबके उद्देश्यसे विधिपूर्वक श्राद्ध किया॥ १०-११॥

द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम्।
भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान्॥ १२॥
अभोजयत् स्वादु भोज्यं कीर्तयित्वा च शार्ङ्गिणम्।
ददौ रत्नानि वासांसि ग्रामानश्वान् रथांस्तथा॥ १३॥
स्त्रियश्च द्विजमुख्येभ्यस्तदा शतसहस्रशः।

प्रयत्नशील युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, तपोधन मार्कण्डेय, भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनिको सुस्वादु भोजन कराया। भगवान्‌का नाम कीर्तन करके उन्होंने उत्तम ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र, ग्राम, घोड़े और रथ प्रदान किये। बहुत-से ब्राह्मणशिरोमणियोंको लाखों कुमारी कन्याएँ दीं॥ १२-१३½॥

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम्॥ १४॥
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः।

तत्पश्चात् गुरुवर कृपाचार्यकी पूजा करके पुरवासियों-सहित परीक्षित्‌को शिष्यभावसे उनकी सेवामें सौंप दिया॥ १४½॥

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः॥ १५॥
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः।

इसके बाद समस्त प्रकृतियों (प्रजा-मन्त्री आदि) को बुलाकर राजर्षि युधिष्ठिरने, वे जो कुछ करना चाहते थे अपना वह सारा विचार उनसे कह सुनाया॥ १५½॥

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः॥ १६॥
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः।
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम्॥ १७॥

उनकी वह बात सुनते ही नगर और जनपदके लोग मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। उन्होंने उस प्रस्तावका स्वागत नहीं किया। वे सब राजासे एक साथ बोले, 'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये (आप हमें छोड़कर कहीं न जायँ)'॥ १६-१७॥

न च राजा तथाकार्षीत् कालपर्यायधर्मवित्।

परंतु धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर कालके उलट-फेरके अनुसार जो धर्म या कर्तव्य प्राप्त था, उसे जानते थे; अतः उन्होंने प्रजाके कथनानुसार कार्य नहीं किया॥ १७½॥

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम्॥ १८॥
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा।

उन धर्मात्मा नरेशने नगर और जनपदके लोगोंको समझा-बुझाकर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली। फिर उन्होंने और उनके भाइयोंने सब कुछ त्यागकर महाप्रस्थान करनेका ही निश्चय किया॥ १८½॥

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥ १९॥
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी॥ २०॥
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप।

इसके बाद कुरुकुलरत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने अङ्गोंसे आभूषण उतारकर वल्कलवस्त्र धारण कर लिया। नरेश्वर! फिर भीमसेन अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यशस्विनी द्रौपदी देवी—इन सबने भी उसी प्रकार वल्कल धारण किये॥ १९-२०½॥

विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ॥ २१॥
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः।

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद ब्राह्मणोंसे विधिपूर्वक उत्सर्ग-कालिक इष्टि करवाकर उन सभी नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने अग्नियोंका जलमें विसर्जन कर दिया और स्वयं वे महायात्राके लिये प्रस्थित हुए॥ २१½॥

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान्॥ २२॥
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति॥ २३॥

पहले जूएमें परास्त होकर पाण्डवलोग जिस प्रकार वनमें गये थे, उसी प्रकार उस दिन द्रौपदीसहित उन नरोत्तम पाण्डवोंको इस प्रकार जाते देख नगरकी सभी स्त्रियाँ रोने लगीं। परंतु उन सभी भाइयोंको इस यात्रासे महान् हर्ष हुआ॥ २२-२३॥

युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः॥ २४॥

युधिष्ठिरका अभिप्राय जान और वृष्णिवंशियोंका संहार देखकर पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी और एक कुत्ता—ये सब साथ-साथ चले॥ २४॥

आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात्।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा॥ २५॥
न चैनमशकत् कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुम्।

उन छहोंको साथ लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुरसे बाहर निकले, तब नगरनिवासी प्रजा और अन्तः-पुरकी स्त्रियाँ उन्हें बहुत दूरतक पहुँचाने गयीं; किंतु कोई भी मनुष्य राजा युधिष्ठिरसे यह नहीं कह सका कि आप लौट चलिये॥ २५½॥

न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः॥ २६॥
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन्।

धीरे-धीरे समस्त पुरवासी और कृपाचार्य आदि युयुत्सुको घेरकर उनके साथ ही लौट आये॥ २६½॥

विवेश गङ्गां कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा॥ २७॥
चित्राङ्गदा ययौ चापि मणिपूरपुरं प्रति।
शिष्टाः परिक्षितं त्वन्या मातरः पर्यवारयन्॥ २८॥

जनमेजय! नागराजकी कन्या उलूपी उसी समय गङ्गाजीमें समा गयी। चित्राङ्गदा मणिपूर नगरमें चली गयी। तथा शेष माताएँ परीक्षित्‌को घेरे हुए पीछे लौट आयीं॥ २७-२८॥

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः॥ २९॥

कुरुनन्दन! तदनन्तर महात्मा पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी सब-के-सब उपवासका व्रत लेकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये॥ २९॥

योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून् देशान् सरितः सागरांस्तथा ॥ ३० ॥

वे सब-के-सब योगयुक्त महात्मा तथा त्यागधर्मका पालन करनेवाले थे । उन्होंने अनेक देशों, नदियों और समुद्रोंकी यात्रा की ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥

आगे-आगे युधिष्ठिर चलते थे । उनके पीछे भीमसेन थे । भीमसेनके भी पीछे अर्जुन थे और उनके भी पीछे क्रमशः नकुल और सहदेव चल रहे थे ॥ ३१ ॥

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे सुन्दर शरीरवाली, श्यामवर्णा, कमलदललोचना, युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी चल रही थीं ॥ ३२ ॥

श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान् पाण्डवान् वनम् ।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥ ३३ ॥

वनको प्रस्थित हुए पाण्डवोंके पीछे एक कुत्ता भी चला जा रहा था । क्रमशः चलते हुए वे वीर पाण्डव लालसागरके तटपर जा पहुँचे ॥ ३३ ॥

गाण्डीवं तु धनुर्दिव्यं न मुमोच धनंजयः ।
रत्नलोभान्महाराज ते चाक्षय्ये महेषुधी ॥ ३४ ॥

महाराज ! अर्जुनने दिव्यरत्नके लोभसे अभीतक अपने दिव्य गाण्डीव धनुष तथा दोनों अक्षय तूणीरोंका परित्याग नहीं किया था ॥

अग्निं ते ददृशुस्तत्र स्थितं शैलमिवाग्रतः ।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्तं साक्षात्पुरुषविग्रहम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने पर्वतकी भाँति मार्ग रोककर सामने खड़े हुए पुरुषरूपधारी साक्षात् अग्निदेवको देखा ॥ ३५ ॥



ततो देवः स सप्तार्चिः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
भो भोः पाण्डुसुता वीराः पावकं मां निबोधत ॥ ३६ ॥

तब सात प्रकारकी ज्वालारूप जिह्वाओंसे सुशोभित होनेवाले उन अग्निदेवने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'वीर पाण्डुकुमारो ! मुझे अग्नि समझो ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो भीमसेन परंतप ।
अर्जुनाश्विसुतौ वीरौ निबोधत वचो मम ॥ ३७ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! शत्रुसंतापी भीमसेन ! अर्जुन ! और वीर अश्विनीकुमारो ! तुम सब लोग मेरी इस बातपर ध्यान दो ॥ ३७ ॥

अहमग्निः कुरुश्रेष्ठा मया दग्धं च खाण्डवम् ।
अर्जुनस्य प्रभावेण तथा नारायणस्य च ॥ ३८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ वीरो ! मैं अग्नि हूँ । मैंने ही अर्जुन तथा नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे खाण्डववनको जलाया था ॥ ३८ ॥

अयं वः फाल्गुनो भ्राता गाण्डीवं परमायुधम् ।
परित्यज्य वने यातु नानेनार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ३९ ॥

'तुम्हारे भाई अर्जुनको चाहिये कि ये इस उत्तम आयुध गाण्डीव धनुषको त्यागकर वनमें जायँ । अब इन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

चक्ररत्नं तु यत् कृष्णे स्थितमासीन्महात्मनि ।
गतं तच्च पुनर्हस्ते कालेनैष्यति तस्य ह ॥ ४० ॥

'पहले जो चक्ररत्न महात्मा श्रीकृष्णके हाथमें था, वह चला गया । वह पुनः समय आनेपर उनके हाथमें जायगा ॥ ४० ॥

वरुणादाहृतं पूर्वं मयैतत् पार्थकारणात् ।
गाण्डीवं धनुषां श्रेष्ठं वरुणायैव दीयताम् ॥ ४१ ॥

'यह गाण्डीव धनुष सब प्रकारके धनुषोंमें श्रेष्ठ है । इसे पहले मैं अर्जुनके लिये ही वरुणसे माँगकर ले आया था । अब पुनः इसे वरुणको वापस कर देना चाहिये' ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे धनंजयमचोदयन् ।
स जले प्राक्षिपच्चैतत्तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ ४२ ॥

यह सुनकर उन सब भाइयोंने अर्जुनको वह धनुष त्याग देनेके लिये कहा । तब अर्जुनने वह धनुष और दोनों अक्षय तरकस पानीमें फेंक दिये ॥ ४२ ॥

ततोऽग्निर्भरतश्रेष्ठ तत्रैवान्तरधीयत ।
ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद अग्निदेव वहीं अन्तर्धान हो गये और पाण्डववीर वहाँसे दक्षिणाभिमुख होकर चल दिये ॥ ४३ ॥

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः ।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे लवणसमुद्रके उत्तर तटपर होते हुए दक्षिण-पश्चिमदिशाकी ओर अग्रसर होने लगे ॥ ४४ ॥

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते ।

ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥ ४५ ॥
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः ।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ ४६ ॥

इसके बाद वे केवल पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ गये । आगे जाकर उन्होंने समुद्रमें डूबी हुई द्वारकापुरीको देखा । फिर योगधर्ममें स्थित हुए भरतभूषण पाण्डवोंने वहाँसे लौटकर पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करनेकी इच्छासे उत्तर दिशाकी ओर यात्रा की ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

मार्गमें द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेनका गिरना तथा युधिष्ठिरद्वारा प्रत्येकके गिरनेका कारण बताया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः ।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥ १ ॥

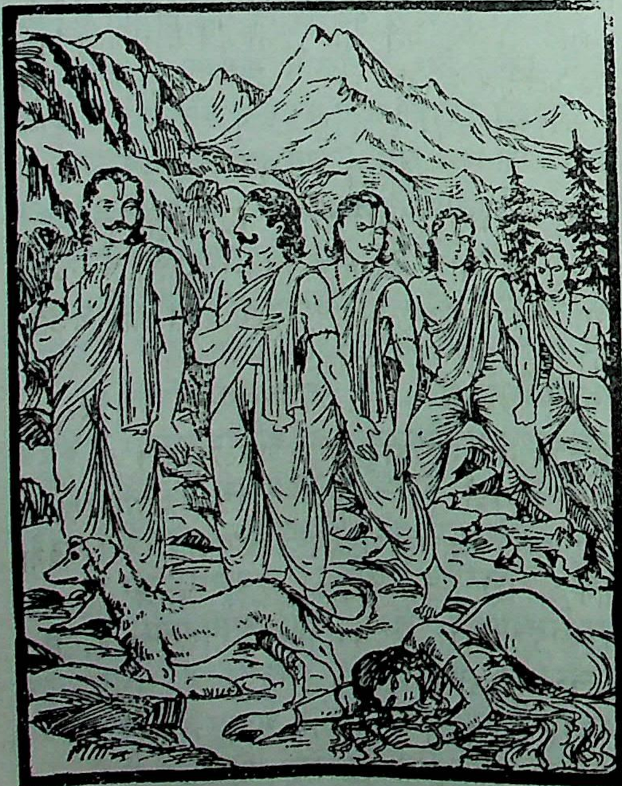
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनको संयममें रखकर उत्तर दिशाका आश्रय लेनेवाले योगयुक्त पाण्डवोंने मार्गमें महापर्वत हिमालयका दर्शन किया ॥ १ ॥

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥ २ ॥

उसे भी लाँघकर जब वे आगे बढ़े, तब उन्हें बालूका समुद्र दिखायी दिया । साथ ही उन्होंने पर्वतोंमें श्रेष्ठ महागिरि मेरुका दर्शन किया ॥ २ ॥

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥

सब पाण्डव योगधर्ममें स्थित हो बड़ी शीघ्रतासे चल रहे थे । उनमेंसे द्रुपदकुमारी कृष्णाका मन योगसे विचलित हो गया; अतः वह लड़खड़ाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३ ॥



तां तु प्रपतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
उवाच धर्मराजानं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥ ४ ॥

उसे नीचे गिरी देख महाबली भीमसेनने धर्मराजसे पूछा—॥

नाधर्मश्चरितः कश्चिद् राजपुत्र्या परंतप ।
कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत् कृष्णा पतिता भुवि ॥ ५ ॥

'परंतप ! राजकुमारी द्रौपदीने कभी कोई पाप नहीं किया था । फिर बताइये, कौन-सा कारण है, जिससे वह नीचे गिर गयी ?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये ।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पुरुषप्रवर ! उसके मनमें अर्जुनके प्रति विशेष पक्षपात था; आज यह उसीका फल भोग रही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः ।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही भरतभूषण नरश्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मात्मा युधिष्ठिर मनको एकाग्र करके आगे बढ़ गये ॥ ७ ॥

सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले ।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥

थोड़ी देर बाद विद्वान् सहदेव भी धरतीपर गिर पड़े । उन्हें भी गिरा देख भीमसेनने राजासे पूछा—॥ ८ ॥

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः ।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ९ ॥

'भैया ! जो सदा हमलोगोंकी सेवा किया करता था और जिसमें अहंकारका नाम भी नहीं था, यह माद्रीनन्दन सहदेव किस दोषके कारण धराशायी हुआ है ?' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन ।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—यह राजकुमार सहदेव किसीको

अपने-जैसा विद्वान् या बुद्धिमान् नहीं समझता था; अतः उसी दोषसे इसका पतन हुआ है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर सहदेवको भी छोड़कर शेष भाइयों और एक कुत्तेके साथ कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आगे बढ़ गये ॥ ११ ॥

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम् ।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ १२ ॥

कृष्णा और पाण्डव सहदेवको गिरे देख शोकसे आर्त हो बन्धुप्रेमी शूरवीर नकुल भी गिर पड़े ॥ १२ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने ।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मनोहर दिखायी देनेवाले वीर नकुलके धराशायी होनेपर भीमसेनने पुनः राजा युधिष्ठिरसे यह प्रश्न किया—॥ १३ ॥

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः ।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥ १४ ॥

'भैया ! संसारमें जिसके रूपकी समानता करनेवाला कोई नहीं था तो भी जिसने कभी अपने धर्ममें त्रुटि नहीं आने दी तथा जो सदा हमलोगोंकी आज्ञाका पालन करता था, वह हमारा प्रियबन्धु नकुल क्यों पृथ्वीपर गिरा है ?' ॥ १४ ॥

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ १५ ॥

भीमसेनके इस प्रकार पूछनेपर समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिरने नकुलके विषयमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥ १६ ॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद् विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥ १७ ॥

'भीमसेन ! नकुलकी दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूपमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है । इसके मनमें यही बात बैठी रहती थी कि 'एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ ।' इसीलिये नकुल नीचे गिरा है । तुम आओ । वीर ! जिसकी जैसी करनी है, वह उसका फल अवश्य भोगता है ॥ १६-१७ ॥

तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
पपात शोकसन्तप्तस्ततो नु परवीरहा ॥ १८ ॥

द्रौपदी तथा नकुल और सहदेव तीनों गिर गये, यह देखकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुन शोकसे संतप्त हो स्वयं भी गिर पड़े ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी दुर्धर्ष वीर पुरुषसिंह अर्जुन जब पृथ्वीपर गिरकर प्राणत्याग करने लगे, उस समय भीमसेनने राजा युधिष्ठिरसे पूछा ॥ १९ ॥

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ २० ॥

'भैया ! महात्मा अर्जुन कभी परिहासमें भी झूठ बोले हों—ऐसा मुझे याद नहीं आता ! फिर यह किस कर्मका फल है, जिससे इन्हें पृथ्वीपर गिरना पड़ा ?' ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत् कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले—अर्जुनको अपनी शूरताका अभिमान था । इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिनमें शत्रुओंको भस्म कर डालूँगा'; किंतु ऐसा किया नहीं; इसीसे आज इन्हें धराशायी होना पड़ा है ॥ २१ ॥

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः ।
तथा चैतन्न तु तथा कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ २२ ॥

अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंका अपमान भी किया था; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसा नहीं करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर राजा युधिष्ठिर आगे बढ़ गये । इतनेहीमें भीमसेन भी गिर पड़े । गिरनेके साथ ही भीमने धर्मराज युधिष्ठिरको पुकारकर पूछा—॥

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥ २४ ॥

'राजन् ! जरा मेरी ओर तो देखिये, मैं आपका प्रिय भीमसेन यहाँ गिर पड़ा हूँ । यदि जानते हों तो बताइये, मेरे इस पतनका क्या कारण है ?' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरोंको कुछ भी न समझकर अपने बलकी डींग हाँका करते थे; इसीसे तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा है ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥ २६ ॥

यह कहकर महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देखे बिना ही आगे चल दिये । एक कुत्ता भी बराबर उनका अनुसरण करता रहा, जिसकी चर्चा मैंने तुमसे अनेक बार की है ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि द्रौपद्यादिपतने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें द्रौपदी आदिका पतनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरका इन्द्र और धर्म आदिके साथ वार्तालाप, युधिष्ठिरका अपने धर्ममें दृढ़ रहना तथा सदेह स्वर्गमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः संनादयञ्शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर आकाश और पृथ्वीको सब ओरसे प्रतिध्वनित करते हुए देवराज इन्द्र रथके साथ युधिष्ठिरके पास आ पहुँचे और उनसे बोले—'कुन्तीनन्दन! तुम इस रथपर सवार हो जाओ'॥ १॥

स भ्रातॄन् पतितान् दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः॥ २॥

अपने भाइयोंको धराशायी हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर शोकसे संतप्त हो इन्द्रसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर॥ ३॥

'देवेश्वर! मेरे भाई मार्गमें गिरे पड़े हैं। वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था कीजिये; क्योंकि मैं भाइयोंके बिना स्वर्गमें जाना नहीं चाहता॥ ३॥

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरंदर।
सास्माभिः सह गच्छेत तद् भवाननुमन्यताम्॥ ४॥

'पुरन्दर! राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है। वह सुख पानेके योग्य है। वह भी हमलोगोंके साथ चले, इसकी अनुमति दीजिये'॥ ४॥

शक्र उवाच

भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान्।
कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ॥ ५॥

इन्द्रने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे सभी भाई तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच गये हैं। उनके साथ द्रौपदी भी है। वहाँ चलनेपर वे सब तुम्हें मिलेंगे॥ ५॥

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गे गन्ता न संशयः॥ ६॥

भरतभूषण! वे मानवशरीरका परित्याग करके स्वर्गमें गये हैं; किंतु तुम इसी शरीरसे वहाँ चलोगे, इसमें संशय नहीं है॥ ६॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः॥ ७॥

युधिष्ठिर बोले—भूत और वर्तमानके स्वामी देवराज! यह कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है। इसने सदा ही मेरा साथ दिया है; अतः यह भी मेरे साथ चले—ऐसी आज्ञा दीजिये; क्योंकि मेरी बुद्धिमें निष्ठुरताका अभाव है॥ ७॥

शक्र उवाच

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्
श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम्।
सम्प्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥ ८॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम्हें अमरता, मेरी समानता, पूर्ण लक्ष्मी और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है, साथ ही तुम्हें स्वर्गीय सुख भी उपलब्ध हुए हैं; अतः इस कुत्तेको छोड़ो और मेरे साथ चलो। इसमें कोई कठोरता नहीं है॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र
शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु
यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—सहस्रनेत्रधारी देवराज! किसी आर्यपुरुषके द्वारा निम्नश्रेणीका काम होना अत्यन्त कठिन है। मुझे ऐसी लक्ष्मीकी प्राप्ति कभी न हो, जिसके लिये भक्तजनका त्याग करना पड़े॥ ९॥

इन्द्र उवाच

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्य-
मिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥ १०॥

इन्द्रने कहा—धर्मराज! कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गलोकमें स्थान नहीं है। उनके यज्ञ करने और कुआँ, बावड़ी आदि बनवानेका जो पुण्य होता है, उसे क्रोधवश नामक राक्षस हर लेते हैं; इसलिये सोच-विचारकर काम करो। छोड़ दो इस कुत्तेको। ऐसा करनेमें कोई निर्दयता नहीं है॥ १०॥

युधिष्ठिर उवाच

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र॥ ११॥

युधिष्ठिर बोले—महेन्द्र! भक्तका त्याग करनेसे जो पाप होता है, उसका अन्त कभी नहीं होता—ऐसा महात्मा पुरुष कहते हैं। संसारमें भक्तका त्याग ब्रह्महत्याके समान माना गया है; अतः मैं अपने सुखके लिये कभी किसी तरह भी आज इस कुत्तेका त्याग नहीं करूँगा॥ ११॥

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥ १२ ॥

जो डरा हुआ हो, भक्त हो, मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है—ऐसा कहते हुए आर्तभावसे शरणमें आया हो, अपनी रक्षामें असमर्थ—दुर्बल हो और अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुषको प्राण जानेपर भी मैं नहीं छोड़ सकता; यह मेरा सदाका व्रत है ॥ १२ ॥

इन्द्र उवाच

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति
यद्दत्तमिष्टं विवृतमथो हुतं च।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व
शुनस्त्यागाद् प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—वीरवर ! मनुष्य जो कुछ दान, यज्ञ, स्वाध्याय और हवन आदि पुण्यकर्म करता है, उसपर यदि कुत्तेकी दृष्टि भी पड़ जाय तो उसके फलको क्रोधवश नामक राक्षस हर ले जाते हैं; इसलिये इस कुत्तेका त्याग कर दो। कुत्तेको त्याग देनेसे ही तुम देवलोकमें पहुँच सकोगे ॥ १३ ॥

त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां
प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु
त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥ १४ ॥

वीर ! तुमने अपने भाइयों तथा प्यारी पत्नी द्रौपदीका परित्याग करके अपने किये हुए पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप देवलोकको प्राप्त किया है। फिर तुम इस कुत्तेको क्यों नहीं त्याग देते ? सब कुछ छोड़कर अब कुत्तेके मोहमें कैसे पड़ गये ॥

युधिष्ठिर उवाच

न विद्यते संधिरथापि विग्रहो
मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या-
स्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! संसारमें यह निश्चित बात है कि मरे हुए मनुष्योंके साथ न तो किसीका मेल होता है, न विरोध ही। द्रौपदी तथा अपने भाइयोंको जीवित करना मेरे वशकी बात नहीं है; अतः मर जानेपर मैंने उनका त्याग किया है, जीवितावस्थामें नहीं ॥ १५ ॥

भीतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ १६ ॥

शरणमें आये हुएको भय देना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन लूटना और मित्रोंके साथ द्रोह करना—ये चार अधर्म एक ओर और भक्तका त्याग दूसरी ओर हो तो मेरी समझमें यह अकेला ही उन चारोंके बराबर है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् धर्मराजस्य वचो निशम्य
धर्मस्वरूपी भगवानुवाच।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं
श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसम्प्रयुक्तैः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर कुत्तेका रूप धारण करके आये हुए धर्मस्वरूपी भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए मधुर वचनोंद्वारा उनसे इस प्रकार बोले—॥

धर्मराज उवाच

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ १८ ॥

साक्षात् धर्मराजने कहा—राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! तुम अपने सदाचार, बुद्धि तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति होनेवाली इस दयाके कारण वास्तवमें सुयोग्य पिताके उत्तम कुलमें उत्पन्न सिद्ध हो रहे हो ॥ १८ ॥

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥ १९ ॥

बेटा ! पूर्वकालमें द्वैतवनके भीतर रहते समय भी एक बार मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी; जब कि तुम्हारे सभी भाई पानी लानेके लिये उद्योग करते हुए मारे गये थे ॥ १९ ॥

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥ २० ॥

उस समय तुमने कुन्ती और माद्री दोनों माताओंमें समानताकी इच्छा रखकर अपने सगे भाई भीम और अर्जुनको छोड़ केवल नकुलको जीवित करना चाहा था ॥ २० ॥

अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया।
तस्मात् स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिपः ॥ २१ ॥

इस समय भी 'यह कुत्ता मेरा भक्त है' ऐसा सोचकर तुमने देवराज इन्द्रके भी रथका परित्याग कर दिया है; अतः स्वर्गलोकमें तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा नहीं है ॥ २१ ॥

अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत।
प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ॥ २२ ॥

भारत ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि तुम्हें अपने इसी शरीरसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई है। तुम परम उत्तम दिव्य गतिको पा गये हो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि।
देवा देवर्षयश्चैव रथमारोप्य पाण्डवम् ॥ २३ ॥
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते सिद्धाः कामविहारिणः।
सर्वे विरजसः पुण्याः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मिणः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, देवता तथा देवर्षियोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रथपर बिठाकर अपने-अपने विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्रस्थान किया। वे सब-के-सब इच्छानुसार

विचरनेवाले, रजोगुणशून्य पुण्यात्मा, पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मवाले तथा सिद्ध थे ॥ २३-२४ ॥

स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ २५ ॥

कुरुकुलतिलक राजा युधिष्ठिर उस रथमें बैठकर अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करते हुए तीव्र गतिसे ऊपरकी ओर जाने लगे ॥ २५ ॥

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥ २६ ॥

उस समय सम्पूर्ण लोकोंका वृत्तान्त जाननेवाले, बोलनेमें कुशल तथा महान् तपस्वी देवर्षि नारदजीने देवमण्डलमें स्थित हो उच्च स्वरसे कहा ॥ २६ ॥

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥ २७ ॥

'जितने राजर्षि स्वर्गमें आये हैं, वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, किंतु कुरुराज युधिष्ठिर अपने सुयशसे उन सबकी कीर्तिको आच्छादित करके विराजमान हो रहे हैं ॥ २७ ॥

लोकानावृत्य यशसा तेजसा वृत्तसम्पदा ।
स्वशरीरेण सम्प्राप्तं नान्यं शुश्रुम पाण्डवात् ॥ २८ ॥

'अपने यश, तेज और सदाचाररूप सम्पत्तिसे तीनों लोकोंको आवृत करके अपने भौतिक शरीरसे स्वर्गलोकमें आनेका सौभाग्य पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके सिवा और किसी-राजाको प्राप्त हुआ हो, ऐसा हमने कभी नहीं सुना है ॥२८॥

तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो ।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ॥ २९ ॥

'प्रभो ! युधिष्ठिर ! पृथ्वीपर रहते हुए तुमने आकाशमें नक्षत्र और ताराओंके रूपमें जितने तेज देखे हैं, वे इन देवताओंके सहस्रों लोक हैं; इनकी ओर देखो' ॥ २९ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।
देवानामन्त्र्य धर्मात्मा स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ॥ ३० ॥

नारदजीकी बात सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने देवताओं तथा अपने पक्षके राजाओंकी अनुमति लेकर कहा— ॥

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥ ३१ ॥

'देवेश्वर ! मेरे भाइयोंको शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, उसीको मैं भी पाना चाहता हूँ । उसके सिवा दूसरे लोकोंमें जानेकी मेरी इच्छा नहीं है' ॥ ३१ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवराजः पुरंदरः ।
आनृशंस्यसमायुक्तं प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३२ ॥

राजाकी बात सुनकर देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरसे कोमल वाणीमें कहा ॥ ३२ ॥

स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥ ३३ ॥

'महाराज ! तुम अपने शुभ कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोकमें निवास करो । मनुष्यलोकके स्नेहपाशको क्यों अभीतक खींचे ला रहे हो ? ॥ ३३ ॥

सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं सम्प्राप्ताः कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

'कुरुनन्दन ! तुम्हें वह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है जिसे दूसरा मनुष्य कभी और कहीं नहीं पा सका । तुम्हारे भाई ऐसा स्थान नहीं पा सके हैं ॥ ३४ ॥

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ॥ ३५ ॥

'नरेश्वर ! क्या अब भी मानवभाव तुम्हारा स्पर्श कर रहा है ? राजन् ! यह स्वर्गलोक है । इन स्वर्गवासी देवर्षियों तथा सिद्धोंका दर्शन करो' ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्तु देवेन्द्रमेवंवादिनमीश्वरम् ।
पुनरेवाब्रवीद् धीमानिदं वचनमर्थवत् ॥ ३६ ॥

ऐसी बात कहते हुए ऐश्वर्यशाली देवराजसे बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पुनः यह अर्थयुक्त वचन कहा— ॥ ३६ ॥

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र ते भ्रातरो गताः ॥ ३७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव गता मम ॥ ३८ ॥

'दैत्यसूदन ! अपने भाइयोंके बिना मुझे यहाँ रहनेका उत्साह नहीं होता; अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई गये हैं तथा जहाँ ऊँचे कदवाली, श्यामवर्णा, बुद्धिमती सत्त्वगुणसम्पन्ना एवं युवतियोंमें श्रेष्ठ मेरी द्रौपदी गयी है ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि युधिष्ठिरस्वर्गारोहे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें युधिष्ठिरका स्वर्गारोहणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

महाप्रस्थानिकपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१०१	(१०)	१३॥।	११४॥।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	×	×	×	
महाप्रस्थानिकपर्वकी कुल श्लोक संख्या				११४॥।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

स्वर्गारोहणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और युधिष्ठिरकी बातचीत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे॥ १॥

जनमेजयने पूछा—मुने! मेरे पूर्वपितामह पाण्डव और धृतराष्ट्रके पुत्र स्वर्गलोकमें पहुँचकर किन-किन स्थानोंको प्राप्त हुए?॥ १॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्ववित्त्वासि मे मतः।
महर्षिणाभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा॥ २॥

मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। आप अद्‌भुतकर्मा महर्षि व्यासकी आज्ञा पाकर सर्वज्ञ हो गये हैं—ऐसा मेरा विश्वास है॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! जहाँ तीनों लोकोंका अन्तर्भाव है, उस स्वर्गमें पहुँचकर तुम्हारे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदिने जो कुछ किया, वह बताया जाता है, सुनो॥ ३॥

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने॥ ४॥
भ्राजमानमिवादित्यं वीरलक्ष्म्याभिसंवृतम्।
देवैर्भ्राजिष्णुभिः साध्यैः सहितं पुण्यकर्मभिः॥ ५॥

स्वर्गलोकमें पहुँचकर धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि दुर्योधन स्वर्गीय शोभासे सम्पन्न हो तेजस्वी देवताओं तथा पुण्यकर्मा साध्यगणोंके साथ एक दिव्य सिंहासनपर बैठकर वीरोचित शोभासे संयुक्त हो सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा है॥ ४-५॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः।
सहसा संनिवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने॥ ६॥

दुर्योधनको ऐसी अवस्थामें देख उसे मिली हुई शोभा और सम्पत्तिका अवलोकन कर राजा युधिष्ठिर अमर्षसे भर गये और सहसा दूसरी ओर लौट पड़े॥ ६॥

ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तान् वै नाहं दुर्योधनेन वै।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना॥ ७॥
यत्कृते पृथिवी सर्वा सुहृदो बान्धवास्तथा।
हतास्माभिः प्रसह्याजौ क्लिष्टैः पूर्वं महावने॥ ८॥
द्रौपदी च सभामध्ये पाञ्चाली धर्मचारिणी।
पर्याकृष्टानवद्याङ्गी पत्नी नो गुरुसंनिधौ॥ ९॥

फिर उच्चस्वरसे उन सब लोगोंसे बोले—'देवताओ! जिसके कारण हमने अपने समस्त सुहृदों और बन्धुओंका हठपूर्वक युद्धमें संहार कर डाला और सारी पृथ्वी उजाड़ डाली, जिसने पहले हमलोगोंको महान् वनमें भारी क्लेश पहुँचाया था तथा जो निर्दोष अङ्गोंवाली हमारी धर्मपरायणा पत्नी पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको भरी सभामें गुरुजनोंके समीप घसीट लाया था, उस लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन-

के साथ रहकर मैं इन पुण्यलोकोंको पानेकी इच्छा नहीं रखता ॥ ७–९ ॥

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम् ।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥ १० ॥

'देवगण ! मैं दुर्योधनको देखना भी नहीं चाहता; मेरी तो वहीं जानेकी इच्छा है, जहाँ मेरे भाई हैं' ॥ १० ॥

नैवमित्यब्रवीत् तं तु नारदः प्रहसन्निव ।
स्वर्गे निवासे राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥ ११ ॥

यह सुनकर नारदजी उनसे हँसते हुए-से बोले, 'नहीं-नहीं, ऐसा न कहो; स्वर्गमें निवास करनेपर पहलेका वैर-विरोध शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो मैवं वोचः कथंचन ।
दुर्योधनं प्रति नृपं शृणु चेदं वचो मम ॥ १२ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें राजा दुर्योधनके प्रति किसी तरह ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मेरी इस बातको ध्यान देकर सुनो ॥ १२ ॥

एष दुर्योधनो राजा पूज्यते त्रिदशैः सह ।
सद्भिश्च राजप्रवरैर्य इमे स्वर्गवासिनः ॥ १३ ॥

'ये राजा दुर्योधन देवताओंसहित उन श्रेष्ठ नरेशोंद्वारा भी पूजित एवं सम्मानित होते हैं, जो कि ये चिरकालसे स्वर्ग-लोकमें निवास करते हैं ॥ १३ ॥

वीरलोकगतिः प्राप्ता युद्धे हुत्वाऽऽत्मनस्तनुम् ।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥ १४ ॥
स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान् ।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥

'इन्होंने युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देकर वीरोंकी गति पायी है। जिन्होंने युद्धमें देवतुल्य तेजस्वी तुम समस्त भाइयोंका डटकर सामना किया है, जो पृथ्वीपति दुर्योधन महान् भयके समय भी निर्भय बने रहे, उन्होंने क्षत्रियधर्मके अनुसार यह स्थान प्राप्त किया है ॥ १४-१५ ॥

न तन्मनसि कर्तव्यं पुत्र यद् द्यूतकारितम् ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १६ ॥

'वत्स ! इनके द्वारा जूएमें जो अपराध हुआ है, उसे अब तुम्हें मनमें नहीं लाना चाहिये। द्रौपदीको भी इनसे जो क्लेश प्राप्त हुआ है, इसे अब तुम्हें भुला देना चाहिये ॥ १६ ॥

ये चान्येऽपि परिक्लेशा युष्माकं ज्ञातिकारिताः ।
संग्रामेष्वथ वान्यत्र न तान् संस्मर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

'तुम लोगोंको अपने भाई-बन्धुओंसे युद्धमें या अन्यत्र और भी जो कष्ट उठाने पड़े हैं, उन सबको यहाँ याद रखना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १७ ॥

समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥ १८ ॥

'अब तुम राजा दुर्योधनके साथ न्यायपूर्वक मिलो। नरेश्वर ! यह स्वर्गलोक है, यहाँ पहलेके वैर-विरोध नहीं रहते हैं' ॥ १८ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन् पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १९ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंका पता पूछा और यह बात कही—॥ १९ ॥

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः ।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदां द्रुहः ॥ २० ॥
यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सनरद्विपा ।
वयं च मन्युना दग्धा वैरं प्रतिचिकीर्षवः ॥ २१ ॥
ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ।
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः ॥ २२ ॥
तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।
कर्णं चैव महात्मानं कौन्तेयं सत्यसंगरम् ॥ २३ ॥

देवर्षे ! जिसके कारण घोड़े, हाथी और मनुष्योंसहित सारी पृथ्वी नष्ट हो गयी, जिसके वैरका बदला लेनेकी इच्छा-से हमें भी क्रोधकी आगमें जलना पड़ा, जो धर्मका नाम भी नहीं जानता था, जिसने जीवनभर भूमण्डलके समस्त सुहृदोंके साथ द्रोह ही किया है, उस पापी दुर्योधनको यदि ये सनातन वीरलोक प्राप्त हुए हैं तो जो वे वीर, महात्मा, महान् व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ विश्वविख्यात शूर और सत्यवादी मेरे भाई हैं, उन्हें इस समय कौन-से लोक प्राप्त हुए हैं ? मैं उनको देखना चाहता हूँ। कुन्तीके सत्यप्रतिज्ञ पुत्र महात्मा कर्णसे भी मिलना चाहता हूँ ॥ २०–२३ ॥

धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २४ ॥
क नु ते पार्थिवान् ब्रह्मन्नैतान् पश्यामि नारद ।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ॥ २५ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि नारद ॥ २६ ॥

'धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा धृष्टद्युम्नके पुत्रोंको भी देखना चाहता हूँ ! ब्रह्मन् ! नारदजी ! जो भूपाल क्षत्रिय-धर्मके अनुसार शस्त्रोंद्वारा वधको प्राप्त हुए हैं, वे कहाँ हैं ? मैं इन राजाओंको यहाँ नहीं देखता हूँ।

मैं इन समस्त राजाओंसे मिलना चाहता हूँ। विराट, द्रुपद धृष्टकेतु आदि पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी, द्रौपदीके सभी पुत्रों तथा दुर्धर्ष वीर अभिमन्युको भी मैं देखना चाहता हूँ'' ॥ २४–२६ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि स्वर्गे नारदयुधिष्ठिरसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें स्वर्गमें नारद और युधिष्ठिरका संवादविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

देवदूतका युधिष्ठिरको नरकका दर्शन कराना तथा भाइयोंका करुणक्रन्दन सुनकर उनका वहीं रहनेका निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

नेह पश्यामि विबुधा राधेयममितौजसम्।
भ्रातरौ च महात्मानौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवताओ ! मैं यहाँ अमित-तेजस्वी राधानन्दन कर्णको क्यों नहीं देख रहा हूँ ? दोनों भाई महामनस्वी युधामन्यु और उत्तमौजा कहाँ हैं ? वे भी नहीं दिखायी देते ॥ १ ॥

जुहुवुर्ये शरीराणि रणवह्नौ महारथाः।
राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे ॥ २ ॥
क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः।
तैरप्ययं जितो लोकः कच्चित् पुरुषसत्तमैः ॥ ३ ॥

जिन महारथियोंने समराग्निमें अपने शरीरोंकी आहुति दे दी, जो राजा और राजकुमार रणभूमिमें मेरे लिये मारे गये, वे सिंहके समान पराक्रमी समस्त महारथी वीर कहाँ हैं ? क्या उन पुरुषप्रवर वीरोंने भी इस स्वर्गलोकपर विजय पायी है ? ॥ २-३ ॥

यदि लोकानिमान् प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥

देवताओ ! यदि वे सम्पूर्ण महारथी इन लोकोंमें आये हैं तो आप समझ लें कि मैं उन महात्माओंके साथ रहूँगा ॥ ४ ॥

कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः।
न तैरहं विना रंस्ये भ्रातृभिर्ज्ञातिभिस्तथा ॥ ५ ॥

परंतु यदि उन नरेशोंने यह शुभ एवं अक्षयलोक नहीं प्राप्त किया है तो मैं उन जाति-भाइयोंके बिना यहाँ नहीं रहूँगा ॥ ५ ॥

मातुर्हि वचनं श्रुत्वा तदा सलिलकर्मणि।
कर्णस्य क्रियतां तोयमिति तप्यामि तेन वै ॥ ६ ॥

युद्धके बाद जब मैं अपने मृत सम्बन्धियोंको जलाञ्जलि दे रहा था, उस समय मेरी माता कुन्तीने कहा था, 'बेटा ! कर्णको भी जलाञ्जलि देना।' माताकी यह बात सुनकर मुझे मालूम हुआ कि महात्मा कर्ण मेरे ही भाई थे। तबसे मुझे उनके लिये बड़ा दुःख होता है ॥ ६ ॥

इदं च परितप्यामि पुनः पुनरहं सुराः।
यन्मातुः सदृशौ पादौ तस्याहममितात्मनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वैव तौ नानुगतः कर्णं परबलार्दनम्।
न ह्यस्मान् कर्णसहितान् जयेच्छक्रोऽपि संयुगे ॥ ८ ॥

देवताओ ! यह सोचकर तो मैं और भी पश्चात्ताप करता रहता हूँ कि 'महामना कर्णके दोनों चरणोंको माता कुन्तीके चरणोंके समान देखकर भी मैं क्यों नहीं शत्रुदलमर्दन कर्णका अनुगामी हो गया ?' यदि कर्ण हमारे साथ होते तो हमें इन्द्र भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते ॥ ७-८ ॥

तमहं यत्र तत्रस्थं द्रष्टुमिच्छामि सूर्यजम्।
अविज्ञातो मया योऽसौ घातितः सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

ये सूर्यनन्दन कर्ण जहाँ कहीं भी हों, मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ; जिन्हें न जाननेके कारण मैंने अर्जुन-द्वारा उनका वध करवा दिया ॥ ९ ॥

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ॥ १० ॥
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम्।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥ ११ ॥

मैं अपने प्राणोंसे भी प्रियतम भयंकर पराक्रमी भाई भीमसेनको, इन्द्रतुल्य तेजस्वी अर्जुनको, यमराजके समान अजेय नकुल-सहदेवको तथा धर्मपरायणा देवी द्रौपदीको भी देखना चाहता हूँ। यहाँ रहनेकी मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। मैं आप लोगोंसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ १०-११ ॥

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥ १२ ॥

सुरश्रेष्ठगण ! अपने भाइयोंसे अलग रहकर इस स्वर्गसे भी मुझे क्या लेना है ? जहाँ मेरे भाई हैं, वही मेरा स्वर्ग है। उनके बिना मैं इस लोकको स्वर्ग नहीं मानता ॥ १२ ॥

देवा ऊचुः

यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र मा चिरम् ।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥ १३ ॥

देवता बोले—वत्स ! यदि उन लोगोंमें तुम्हारी श्रद्धा है, तो चलो, विलम्ब न करो। हमलोग देवराजकी आज्ञासे सर्वथा तुम्हारा प्रिय करना चाहते हैं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपादिशन् ।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परंतप ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय ! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर देवताओंने देवदूतको आज्ञा दी—'तुम युधिष्ठिरको इनके सुहृदोंका दर्शन कराओ' ॥ १४ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः ।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर और देवदूत दोनों साथ-साथ उस स्थानकी ओर चले, जहाँ वे पुरुषप्रवर भीमसेन आदि थे ॥ १५ ॥

अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः ।
पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥ १६ ॥

आगे-आगे देवदूत जा रहा था और पीछे-पीछे राजा युधिष्ठिर। दोनों ऐसे दुर्गम मार्गपर जा पहुँचे, जो बहुत ही अशुभ था। पापाचारी मनुष्य ही यातना भोगनेके लिये उसपर आते-जाते थे ॥ १६ ॥

तमसा संवृतं घोरं केशशैवलशाद्वलम् ।
युक्तं पापकृतां गन्धैर्मांसशोणितकर्दमम् ॥ १७ ॥

वहाँ घोर अन्धकार छा रहा था। केश, सेवार और घास इन्हींसे वह मार्ग भरा हुआ था। वह पापियोंके ही योग्य था। वहाँ दुर्गन्ध फैल रही थी। मांस और रक्तकी कीच जमी हुई थी ॥ १७ ॥

दंशोत्पातकभल्लूकमक्षिकामशकावृतम् ।
इतश्चेतश्च कुणपैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १८ ॥

उस रास्तेपर डाँस, मच्छर, मक्खी, उत्पाती जीवजन्तु और भालू आदि फैले हुए थे। इधर-उधर सब ओर सड़े मुर्दे पड़े हुए थे ॥ १८ ॥

अस्थिकेशसमाकीर्णं कृमिकीटसमाकुलम् ।
ज्वलनेन प्रदीप्तेन समन्तात् परिवेष्टितम् ॥ १९ ॥

हड्डियाँ और केश चारों ओर फैले हुए थे। कृमि और कीटोंसे वह मार्ग भरा हुआ था। उसे चारों ओरसे जलती आगने घेर रक्खा था ॥ १९ ॥



अयोमुखैश्च काकाद्यैर्गृध्रैश्च समभिद्रुतम् ।
सूचीमुखैस्तथा प्रेतैर्विन्ध्यशैलोपमैर्वृतम् ॥ २० ॥

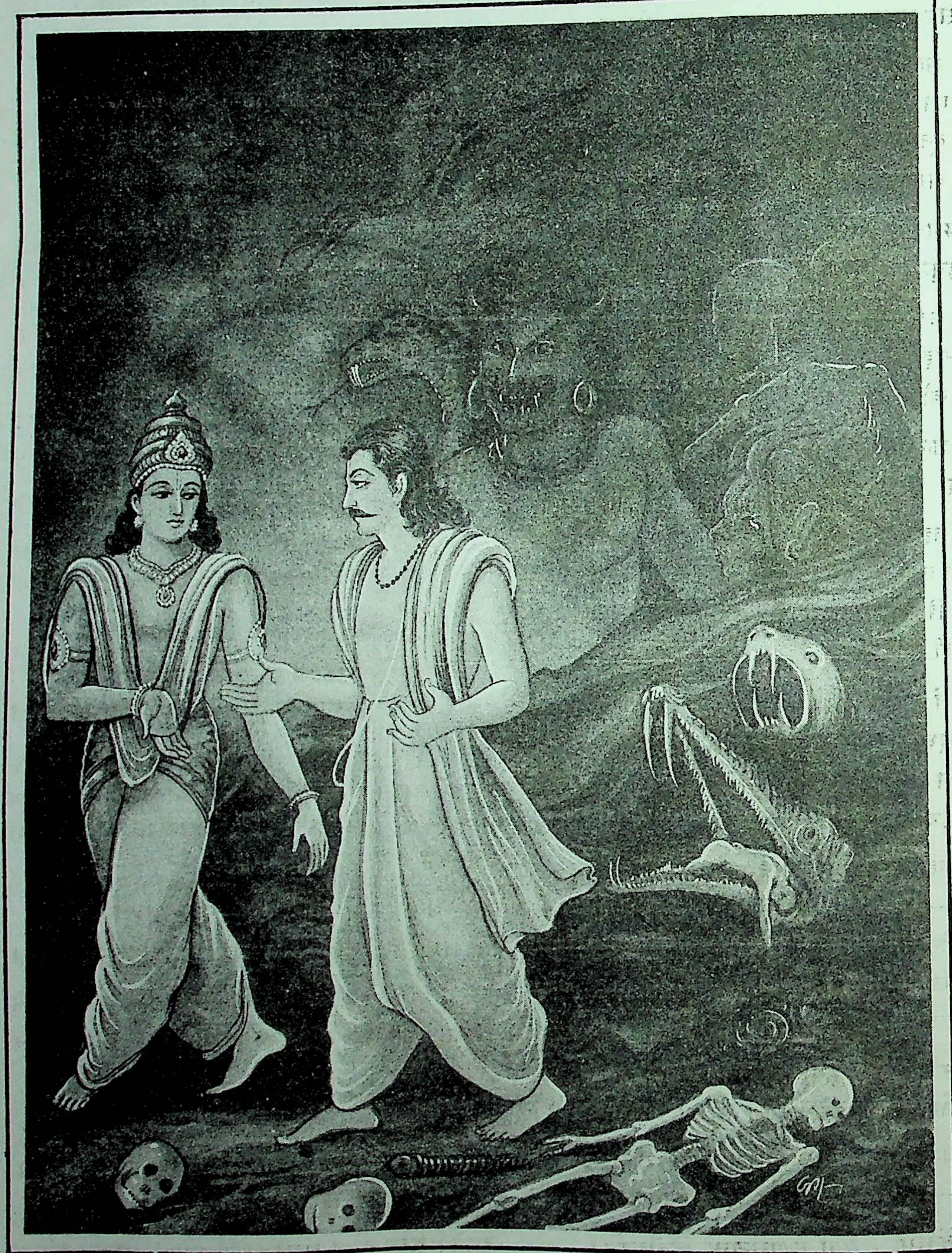
लोहेकी-सी चोंचवाले कौए और गीध आदि पक्षी मँडरा रहे थे। सूईके समान चुभते हुए मुखोंवाले और विन्ध्यपर्वतके समान विशालकाय प्रेत वहाँ सब ओर घूम रहे थे ॥ २० ॥

मेदोरुधिरयुक्तैश्च च्छिन्नबाहूरुपाणिभिः ।
निकृत्तोदरपादैश्च तत्र तत्र प्रवेरितैः ॥ २१ ॥

वहाँ यत्र-तत्र बहुत-से मुर्दे बिखरे पड़े थे, उनमेंसे किसीके शरीरसे रुधिर और मेद बहते थे, किसीके बाहु, ऊरु, पेट और हाथ-पैर कट गये थे ॥ २१ ॥

स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणम् ।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥ २२ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत चिन्ता करते हुए उसी मार्गके बीचसे होकर निकले, जहाँ सड़े मुर्दोंकी बदबू फैल रही थी और अमङ्गलकारी बीभत्स दृश्य दिखायी



देवदूतका युधिष्ठिरको मायामय नरकका दर्शन कराना

देता था। वह भयंकर मार्ग रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ २२ ॥

ददर्शोष्णोदकैः पूर्णां नदीं चापि सुदुर्गमाम्।
असिपत्रवनं चैव निशितं क्षुरसंवृतम् ॥ २३ ॥

आगे जाकर उन्होंने देखा, खौलते हुए पानीसे भरी हुई एक नदी बह रही है, जिसके पार जाना बहुत ही कठिन है। दूसरी ओर तीखी तलवारों या छूरोंके-से पत्तोंसे परिपूर्ण तेज धारवाला असिपत्र नामक वन है ॥ २३ ॥

करम्भवालुकास्तप्ता आयसीश्च शिलाः पृथक्।
लोहकुम्भीश्च तैलस्य क्वाथ्यमानाः समन्ततः ॥ २४ ॥

कहीं गरम-गरम बालू बिछी है तो कहीं तपाये हुए लोहेकी बड़ी-बड़ी चट्टानें रक्खी गयी हैं। चारों ओर लोहेके कलशोंमें तेल खौलाया जा रहा है ॥ २४ ॥

कूटशाल्मलिकं चापि दुःस्पर्शं तीक्ष्णकण्टकम्।
ददर्श चापि कौन्तेयो यातनाः पापकर्मिणाम् ॥ २५ ॥

जहाँ-तहाँ पैने काँटोंसे भरे हुए सेमलके वृक्ष हैं, जिनको हाथसे छूना भी कठिन है। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने यह भी देखा कि वहाँ पापाचारी जीवोंको बड़ी कठोर यातनाएँ दी जा रही हैं ॥ २५ ॥

स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिममीदृशम् ॥ २६ ॥
क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २७ ॥

वहाँकी दुर्गन्धका अनुभव करके उन्होंने देवदूतसे पूछा—'भैया! ऐसे रास्तेपर अभी हमलोगोंको कितनी दूर और चलना है? तथा मेरे वे भाई कहाँ हैं? यह तुम्हें मुझे बता देना चाहिये। देवताओंका यह कौन-सा देश है, इस बातको मैं जानना चाहता हूँ' ॥ २६-२७ ॥

स संनिववृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम्।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद् गमनं तव ॥ २८ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर देवदूत लौट पड़ा और बोला—'बस, यहींतक आपको आना था ॥ २८ ॥

निवर्तितव्यो हि मया तथास्म्युक्तो दिवौकसैः।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

'महाराज! देवताओंने मुझसे कहा है कि जब युधिष्ठिर थक जायँ, तब उन्हें वापस लौटा लाना; अतः अब मुझे आपको लौटा ले चलना है। यदि आप थक गये हों तो मेरे साथ आइये' ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥ ३० ॥

भरतनन्दन! युधिष्ठिर वहाँकी दुर्गन्धसे घबरा गये थे। उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगी थी। इसलिये उन्होंने मनमें लौट जानेका ही निश्चय किया और उस निश्चयके अनुसार वे लौट पड़े ॥ ३० ॥

स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥ ३१ ॥

दुःख और शोकसे पीड़ित हुए धर्मात्मा युधिष्ठिर ज्यों ही वहाँसे लौटने लगे, त्यों ही उन्हें चारों ओरसे पुकारनेवाले आर्त मनुष्योंकी दीन वाणी सुनायी पड़ी— ॥ ३१ ॥

भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ ३२ ॥

'हे धर्मनन्दन! हे राजर्षे! हे पवित्र कुलमें उत्पन्न पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! आप हमलोगोंपर कृपा करनेके लिये दो घड़ीतक यहीं ठहरिये ॥ ३२ ॥

आयाति त्वयि दुर्धर्षे वाति पुण्यः समीरणः।
तव गन्धानुगस्तात येनास्मान् सुखमागमत् ॥ ३३ ॥

'आप दुर्धर्ष महापुरुषके आते ही परम पवित्र हवा चलने लगी है। तात! यह हवा आपके शरीरकी सुगन्ध लेकर आ रही है, जिससे हमलोगोंको बड़ा सुख मिला है ॥ ३३ ॥

ते वयं पार्थ दीर्घस्य कालस्य पुरुषर्षभ।
सुखमासादयिष्यामस्त्वां दृष्ट्वा राजसत्तम ॥ ३४ ॥

'पुरुषप्रवर! कुन्तीकुमार! नृपश्रेष्ठ! आज दीर्घकालके पश्चात् आपका दर्शन पाकर हम सुखका अनुभव करेंगे ॥ ३४ ॥

संतिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान् न बाधते ॥ ३५ ॥

'महाबाहु भरतनन्दन! हो सके तो दो घड़ी भी ठहर जाइये। कुरुनन्दन! आपके रहनेसे यहाँकी यातना हमें कष्ट नहीं दे रही है' ॥ ३५ ॥

एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम्।
तस्मिन् देशे स शुश्राव समन्ताद् वदतां नृप ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार वहाँ कष्ट पानेवाले दुखी प्राणियोंके भाँति-भाँतिके दीन वचन उस प्रदेशमें उन्हें चारों ओरसे सुनायी देने लगे ॥ ३६ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान् दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

दीनतापूर्ण वचन कहनेवाले उन प्राणियोंकी बातें सुनकर दयालु राजा युधिष्ठिर वहाँ खड़े हो गये । उनके मुँहसे सहसा निकल पड़ा, 'अहो ! इन बेचारोंको बड़ा कष्ट है' ॥ ३७ ॥

स ता गिरः पुरस्ताद् वै श्रुतपूर्वा पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥ ३८ ॥

महान् कष्ट और दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंकी वे ही पहलेकी सुनी हुई करुणाजनक बातें सामनेकी ओरसे बारंबार उनके कानोंमें पड़ने लगीं तो भी वे पाण्डुकुमार उन्हें पहचान न सके ॥ ३८ ॥

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥ ३९ ॥

उनकी वे बातें पूर्णरूपसे न समझकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने पूछा—'आपलोग कौन हैं और किस लिये यहाँ रहते हैं ?' ॥ ३९ ॥

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥ ४० ॥
नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर वे सब चारों ओरसे बोलने लगे—'प्रभो ! मैं कर्ण हूँ । मैं भीमसेन हूँ । मैं अर्जुन हूँ । मैं नकुल हूँ । मैं सहदेव हूँ । मैं धृष्टद्युम्न हूँ । मैं द्रौपदी हूँ और हमलोग द्रौपदीके पुत्र हैं ।' इस प्रकार वे सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर अपना-अपना नाम बताने लगे ॥ ४०-४१ ॥

ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विममृशे राजा किं त्विदं दैवकारितम् ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! उस देशके अनुरूप उन बातोंको सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन विचार करने लगे 'कि दैवका यह कैसा विधान है ॥ ४२ ॥

किं तु तत् कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः ।
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥ ४३ ॥
य इमे पापगन्धेऽस्मिन् देशे सन्ति सुदारुणे ।
नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

'मेरे इन महामना भाइयोंने, कर्णने, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंने अथवा स्वयं सुमध्यमा द्रौपदीने भी कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे ये लोग इस दुर्गन्धपूर्ण भयंकर स्थानमें निवास करते हैं । इन समस्त पुण्यात्मा पुरुषोंने कभी कोई पाप किया था, इसे मैं नहीं जानता ॥ ४३-४४ ॥

किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥ ४५ ॥

'धृतराष्ट्रका पुत्र राजा सुयोधन कौन-सा पुण्यकर्म करके अपने समस्त पापी सेवकोंके साथ वैसी अद्भुत शोभा और सम्पत्तिसे संयुक्त हुआ है ? ॥ ४५ ॥

महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं य इमे नरकं गताः ॥ ४६ ॥

'वह तो यहाँ अत्यन्त सम्मानित होकर महेन्द्रके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हुआ है । इधर यह किस कर्मका फल है कि ये मेरे सगे-सम्बन्धी नरकमें पड़े हुए हैं ? ॥ ४६ ॥

सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षत्रधर्मरताः सन्तो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ ४७ ॥

'मेरे भाई सम्पूर्ण धर्मके ज्ञाता, शूरवीर, सत्यवादी तथा शास्त्रके अनुकूल चलनेवाले थे । इन्होंने क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहकर बड़े-बड़े यज्ञ किये और बहुत-सी दक्षिणाएँ दी हैं (तथापि इनकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई) ? ॥ ४७ ॥

किं नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये ।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद् वा मे चित्तविभ्रमः ॥ ४८ ॥

'क्या मैं सोता हूँ या जागता हूँ ? मुझे चेत है या नहीं ? अहो ! यह मेरे चित्तका विकार तो नहीं है अथवा हो सकता है यह मेरे मनका भ्रम हो' ॥ ४८ ॥

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः ।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

दुःख और शोकके आवेशसे युक्त हो राजा युधिष्ठिर इस तरह नाना प्रकारसे विचार करने लगे । उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ चिन्तासे व्याकुल हो गयी थीं ॥ ४९ ॥

क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः ।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥ ५० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें तीव्र रोष जाग उठा। वे देवताओं और धर्मको कोसने लगे ॥ ५० ॥

स तीव्रगन्धसंतप्तो देवदूतमुवाच ह।
गम्यतां तत्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥ ५१ ॥
न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम्।
मत्संश्रयादिमे दूताः सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥ ५२ ॥

उन्होंने वहाँकी दुःसह दुर्गन्धसे संतप्त होकर देवदूतसे कहा—'तुम जिनके दूत हो, उनके पास लौट जाओ। मैं वहाँ नहीं चलूँगा। यहीं ठहर गया हूँ, अपने मालिकोंको इसकी सूचना दे देना। यहाँ ठहरनेका कारण यह है कि मेरे निकट रहनेसे यहाँ मेरे इन दुखी भाई-बन्धुओंको सुख मिलता है' ॥ ५१-५२ ॥

इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्रके ऐसा कहनेपर देवदूत उस समय उस स्थानको चला गया, जहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र विराजमान थे ॥ ५३ ॥

निवेदयामास च तद् धर्मराजचिकीर्षितम्।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥ ५४ ॥

नरेश्वर! दूतने वहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं और यह भी निवेदन कर दिया कि वे क्या करना चाहते हैं ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि युधिष्ठिरनरकदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें युधिष्ठिरको नरकका दर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र और धर्मका युधिष्ठिरको सान्त्वना देना तथा युधिष्ठिरका शरीर त्यागकर दिव्य लोकको जाना

वैशम्पायन उवाच

स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको उस स्थानपर खड़े हुए अभी दो ही घड़ी बीतने पायी थी कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता वहाँ आ पहुँचे ॥ १ ॥

स च विग्रहवान् धर्मो राजानं प्रसमीक्षितुम्।
तत्राजगाम यत्रासौ कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

साक्षात् धर्म भी शरीर धारण करके राजासे मिलनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे कुरुराज युधिष्ठिर विद्यमान थे ॥

तेषु भासुरदेहेषु पुण्याभिजनकर्मसु।
समागतेषु देवेषु व्यगमत् तत् तमो नृप ॥ ३ ॥

राजन्! जिनके कुल और कर्म पवित्र हैं, उन तेजस्वी शरीरवाले देवताओंके आते ही वहाँका सारा अन्धकार दूर हो गया ॥

नादृश्यन्त च तास्तत्र यातनाः पापकर्मिणाम्।
नदी वैतरणी चैव कूटशाल्मलिना सह ॥ ४ ॥
लोहकुम्भ्यः शिलाश्चैव नादृश्यन्त भयानकाः।

वहाँ पापकर्मी पुरुषोंको जो यातनाएँ दी जाती थीं, वे सहसा अदृश्य हो गयीं। न वैतरणी नदी रह गयी, न कूटशाल्मलि वृक्ष। लोहेके कुम्भ और लोहमयी भयंकर तप्त शिलाएँ भी नहीं दिखायी देती थीं ॥ ४½ ॥

विकृतानि शरीराणि यानि तत्र समन्ततः ॥ ५ ॥
ददर्श राजा कौरव्यस्तान्यदृश्यानि चाभवन्।
ततो वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥ ६ ॥
ववौ देवसमीपस्थः शीतलोऽतीव भारत।

कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ चारों ओर जो विकृत शरीर देखे थे, वे सभी अदृश्य हो गये। तदनन्तर वहाँ पावन सुगन्ध लेकर बहनेवाली पवित्र सुखदायिनी वायु चलने लगी। भारत! देवताओंके समीप बहती हुई वह वायु अत्यन्त शीतल प्रतीत होती थी ॥ ५-६½ ॥

मरुतः सह शक्रेण वसवश्चाश्विनौ सह ॥ ७ ॥
साध्या रुद्रास्तथाऽऽदित्या ये चान्येऽपि दिवौकसः।
सर्वे तत्र समाजग्मुः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ८ ॥
यत्र राजा महातेजा धर्मपुत्रः स्थितोऽभवत्।

इन्द्रके साथ मरुद्गण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, रुद्रगण, आदित्यगण, अन्यान्य देवलोकवासी सिद्ध और महर्षि सभी उस स्थानपर आये, जहाँ महातेजस्वी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ७-८½ ॥

ततः शक्रः सुरपतिः श्रिया परमया युतः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

तदनन्तर उत्तम शोभासे सम्पन्न देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ ९½ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ १० ॥
एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो ।
सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ ११ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हें अक्षयलोक प्राप्त हुए हैं । पुरुषसिंह ! प्रभो ! अबतक जो हुआ सो हुआ । अब अधिक कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं है । आओ हमारे साथ चलो । महाबाहो ! तुम्हें बहुत बड़ी सिद्धि मिली है । साथ ही अक्षयलोकोंकी भी प्राप्ति हुई है ॥ १०-११ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं वचो मम ।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥ १२ ॥

'तात ! तुम्हें जो नरक देखना पड़ा है, इसके लिये क्रोध न करना । मेरी यह बात सुनो । समस्त राजाओंको निश्चय ही नरक देखना पड़ता है ॥ १२ ॥

शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ।
यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥ १३ ॥

'पुरुषप्रवर ! मनुष्यके जीवनमें शुभ और अशुभ कर्मोंकी दो राशियाँ सञ्चित होती हैं । जो पहले ही शुभ कर्म भोग लेता है, उसे पीछे नरकमें ही जाना पड़ता है ॥ १३ ॥

पूर्वं नरकभाग् यस्तु पश्चात् स्वर्गमुपैति सः ।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥ १४ ॥

'परंतु जो पहले नरक भोग लेता है, वह पीछे स्वर्गमें जाता है । जिसके पास पापकर्मोंका संग्रह अधिक है, वह पहले ही स्वर्ग भोग लेता है ॥ १४ ॥

तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ॥ १५ ॥
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ।

'नरेश्वर ! मैंने तुम्हारे कल्याणकी इच्छासे तुम्हें पहले ही इस प्रकार नरकका दर्शन करानेके लिये यहाँ भेज दिया है । राजन् ! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामाके विषयमें छलसे काम लेकर द्रोणाचार्यको उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसलिये तुम्हें भी छलसे ही नरक दिखलाया गया है ॥

यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा ॥ १६ ॥
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ।

'जैसे तुम यहाँ लाये गये थे, उसी प्रकार भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा—ये सभी छलसे नरकके निकट लाये गये थे ॥ १६½ ॥

आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात् ॥ १७ ॥
स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे ।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान् पश्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह ! आओ, वे सभी पापसे मुक्त हो गये हैं । भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे पक्षके जो-जो राजा युद्धमें मारे गये हैं, वे सभी स्वर्गलोकमें आ पहुँचे हैं । चलो, उनका दर्शन करो ॥ १७-१८ ॥

कर्णश्चैव महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
स गतः परमां सिद्धिं यदर्थं परितप्यसे ॥ १९ ॥

'तुम जिनके लिये सदा संतप्त रहते हो, वे सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्ण भी परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १९ ॥

तं पश्य पुरुषव्याघ्रमादित्यतनयं विभो ।
स्वस्थानस्थं महाबाहो जहि शोकं नरर्षभ ॥ २० ॥

'प्रभो ! नरश्रेष्ठ ! महाबाहो ! तुम पुरुषसिंह सूर्यकुमार कर्णका दर्शन करो । वे अपने स्थानमें स्थित हैं । तुम उनके लिये शोक त्याग दो ॥ २० ॥

भ्रातॄंश्चान्यांस्तथा पश्य स्वपक्ष्यांश्चैव पार्थिवान् ।
स्वं स्वं स्थानमनुप्राप्तान् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २१ ॥

'अपने दूसरे भाइयोंको तथा पाण्डवपक्षके अन्यान्य राजाओंको भी देखो । वे सब अपने-अपने योग्य स्थानको प्राप्त हुए हैं । उन सबकी सद्गतिके विषयमें अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ २१ ॥

कृच्छ्रं पूर्वं चानुभूय इतःप्रभृति कौरव ।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन ! पहले कष्टका अनुभव करके अबसे तुम

मेरे साथ रहकर रोग-शोकसे रहित हो स्वच्छन्द विहार करो ॥

कर्मणां तात पुण्यानां जितानां तपसा स्वयम् ।
दानानां च महाबाहो फलं प्राप्नुहि पार्थिव ॥ २३ ॥

'तात ! महाबाहु ! पृथ्वीनाथ ! अपने किये हुए पुण्य-कर्मोंका, तपस्यासे जीते हुए लोकोंका और दानोंका फल भोगो ॥ २३ ॥

अद्य त्वां देवगन्धर्वा दिव्याश्चाप्सरसो दिवि ।
उपसेवन्तु कल्याण्यो विरजोऽम्बरभूषणाः ॥ २४ ॥

'आजसे देव, गन्धर्व तथा कल्याणस्वरूपा दिव्य अप्सराएँ स्वच्छ वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो स्वर्गलोकमें तुम्हारी सेवा करें ॥ २४ ॥

राजसूयजिताँल्लोकानश्वमेधाभिवर्धितान् ।
प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च महाफलम् ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! राजसूय यज्ञद्वारा जीते हुए तथा अश्वमेध यज्ञद्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए पुण्य लोकोंको प्राप्त करो और अपने तपके महान् फलको भोगो ॥ २५ ॥

उपर्युपरि राज्ञां हि तव लोका युधिष्ठिर ।
हरिश्चन्द्रसमाः पार्थ येषु त्वं विहरिष्यसि ॥ २६ ॥

'कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम्हें प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोक राजा हरिश्चन्द्रके लोकोंकी भाँति सब राजाओंके लोकोंसे ऊपर हैं; जिनमें तुम विचरण करोगे ॥ २६ ॥

मान्धाता यत्र राजर्षिर्यत्र राजा भगीरथः ।
दौष्यन्तिर्यत्र भरतस्तत्र त्वं विहरिष्यसि ॥ २७ ॥

'जहाँ राजर्षि मान्धाता, राजा भगीरथ और दुष्यन्त-कुमार भरत गये हैं, उन्हीं लोकोंमें तुम भी विहार करोगे ॥

एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी ।
आकाशगङ्गा राजेन्द्र तत्राप्लुत्य गमिष्यसि ॥ २८ ॥

'पार्थ ! ये तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली पुण्यसलिला देवनदी आकाशगङ्गा हैं । राजेन्द्र ! इनके जलमें गोता लगाकर तुम दिव्य लोकोंमें जा सकोगे ॥ २८ ॥

अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति ।
गतशोको निरायासो मुक्तवैरो भविष्यसि ॥ २९ ॥

'मन्दाकिनीके इस पवित्र जलमें स्नान कर लेनेपर तुम्हारा मानव-स्वभाव दूर हो जायगा । तुम शोक, संताप और वैरभावसे छुटकारा पा जाओगे' ॥ २९ ॥

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम् ।
धर्मो विग्रहवान् साक्षादुवाच सुतमात्मनः ॥ ३० ॥

देवराज इन्द्र जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय शरीर धारण करके आये हुए साक्षात् धर्मने अपने पुत्र कौरवराज युधिष्ठिरसे कहा— ॥ ३० ॥

भो भो राजन् महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक ।
मद्भक्त्या सत्यवाक्यैश्च क्षमया च दमेन च ॥ ३१ ॥

'महाप्राज्ञ नरेश ! मेरे पुत्र ! तुम्हारे धर्मविषयक अनुराग, सत्यभाषण, क्षमा और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे मै बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ३१ ॥

एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् कृता मया ।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात् पार्थ हेतुतः ॥ ३२ ॥

'राजन् ! यह मैंने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी । पार्थ ! किसी भी युक्तिसे कोई तुम्हें अपने स्वभावसे विचलित नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

पूर्वं परीक्षितो हि त्वं प्रश्नाद् द्वैतवने मया ।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि ॥ ३३ ॥

'द्वैतवनमें अरणिकाष्ठका अपहरण करनेके पश्चात् जब यक्षके रूपमें मैंने तुमसे कई प्रश्न किये थे, वह मेरे द्वारा तुम्हारी पहली परीक्षा थी । उसमें तुम भलीभाँति उत्तीर्ण हो गये ॥ ३३ ॥

सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्या तत्र भारत ।
श्वरूपधारिणा तत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः ॥ ३४ ॥

'भारत ! फिर द्रौपदीसहित तुम्हारे सभी भाइयोंकी मृत्यु हो जानेपर कुत्तेका रूप धारण करके मैंने दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी । उसमें भी तुम सफल हुए ॥ ३४ ॥

इदं तृतीयं भ्रातॄणामर्थे यत् स्थातुमिच्छसि ।
विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥ ३५ ॥

'अब यह तुम्हारी परीक्षाका तीसरा अवसर था; किंतु इस बार भी तुम अपने सुखकी परवा न करके भाइयोंके हितके लिये नरकमें रहना चाहते थे, अतः महाभाग ! तुम हर तरहसे शुद्ध प्रमाणित हुए । तुममें पापका नाम भी नहीं है; अतः सुखी होओ ॥ ३५ ॥

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकार्हा विशाम्पते ।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥ ३६ ॥

'पार्थ ! प्रजानाथ ! तुम्हारे भाई नरकमें रहनेके योग्य

नहीं हैं। तुमने जो उन्हें नरक भोगते देखा है, वह देवराज इन्द्रद्वारा प्रकट की हुई माया थी ॥ ३६ ॥

अवश्यं नरकास्तात द्रष्टव्याः सर्वराजभिः ।
ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

'तात ! समस्त राजाओंको नरकका दर्शन अवश्य करना पड़ता है; इसलिये तुमने दो घड़ीतक यह महान् दुःख प्राप्त किया है ॥ ३७ ॥

न सव्यसाची भीमो वा यमौ वा पुरुषर्षभौ ।
कर्णो वा सत्यवाक् शूरो नरकार्हाश्चिरं नृप ॥ ३८ ॥

'नरेश्वर ! सव्यसाची अर्जुन, भीमसेन, पुरुषप्रवर नकुल-सहदेव अथवा सत्यवादी शूरवीर कर्ण—इनमेंसे कोई भी चिरकालतक नरकमें रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३८ ॥

न कृष्णा राजपुत्री च नरकार्हा कथंचन ।
एह्येहि भरतश्रेष्ठ पश्य गङ्गां त्रिलोकगाम् ॥ ३९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! राजकुमारी कृष्णा भी किसी तरह नरकमें जानेयोग्य नहीं है । आओ, त्रिभुवनगामिनी गङ्गाजीका दर्शन करो' ॥ ३९ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तव पूर्वपितामहः ।
जगाम सह धर्मेण सर्वैश्च त्रिदिवालयैः ॥ ४० ॥
गङ्गां देवनदीं पुण्यां पावनीमृषिसंस्तुताम् ।
अवगाह्य ततो राजा तनुं तत्याज मानुषीम् ॥ ४१ ॥

जनमेजय ! धर्मके यों कहनेपर तुम्हारे पूर्वपितामह राजर्षि युधिष्ठिरने धर्म तथा समस्त स्वर्गवासी देवताओंके साथ जाकर मुनिजनवन्दित परमपावन पुण्यसलिला देवनदी गङ्गाजीमें स्नान किया । स्नान करके राजाने तत्काल अपने मानवशरीरको त्याग दिया ॥ ४०-४१ ॥

ततो दिव्यवपुर्भूत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निर्वैरो गतसंतापो जले तस्मिन् समाप्लुतः ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् दिव्यदेह धारण करके धर्मराज युधिष्ठिर वैर-भावसे रहित हो गये । मन्दाकिनीके शीतल जलमें स्नान करते ही उनका सारा संताप दूर हो गया ॥ ४२ ॥

ततो ययौ वृतो देवैः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण सहितो धीमान् स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ४३ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शूरा विगतमन्यवः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् देवताओंसे घिरे हुए बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए धर्मके साथ उस स्थानको गये, जहाँ वे पुरुषसिंह शूरवीर पाण्डव और धृतराष्ट्रपुत्र क्रोध त्यागकर आनन्दपूर्वक अपने-अपने स्थानोंपर रहते थे ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि युधिष्ठिरतनुत्यागे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें युधिष्ठिरका देहत्यागविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

युधिष्ठिरका दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण, अर्जुन आदिका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
स्तूयमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए राजा युधिष्ठिर क्रमशः उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ वे कुरुश्रेष्ठ भीमसेन और अर्जुन आदि विराजमान थे ॥ १ ॥

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनैव सूचितम् ॥ २ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने ब्राह्मविग्रहसे सम्पन्न हैं । पहलेके देखे गये सादृश्यसे ही वे पहचाने जाते हैं ॥ २ ॥

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥ ३ ॥

उनके श्रीविग्रहसे अद्भुत दीप्ति छिटक रही है । चक्र आदि दिव्य एवं भयंकर अस्त्र-शस्त्र दिव्य पुरुषविग्रह धारण करके उनकी सेवामें उपस्थित हैं ॥ ३ ॥

उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा ।
तथास्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम् ॥ ४ ॥

अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भगवान्‌की आराधनामें लगे हुए हैं । कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनका उसी स्वरूपमें दर्शन किया ॥ ४ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ समुद्वीक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
यथावत् प्रतिपेदाते पूजया देवपूजितौ ॥ ५ ॥

पुरुषसिंह अर्जुन और श्रीकृष्ण देवताओंद्वारा पूजित थे । इन दोनोंने युधिष्ठिरको उपस्थित देख उनका यथावत् सम्मान किया ॥ ५ ॥

अपरस्मिन्नथोद्देशे कर्णं शस्त्रभृतां वरम् ।
द्वादशादित्यसहितं ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

इसके बाद दूसरी ओर दृष्टि डालनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्णको देखा, जो बारह आदित्योंके साथ (तेजोमय स्वरूप धारण किये) विराजमान थे ॥

अथापरस्मिन्नुद्देशे मरुद्गणवृतं विभुम् ।
भीमसेनमथापश्यत् तेनैव वपुषान्वितम् ॥ ७ ॥
वायोर्मूर्तिमतः पार्श्वे दिव्यमूर्तिसमन्वितम् ।
श्रिया परमया युक्तं सिद्धिं परमिकां गतम् ॥ ८ ॥

फिर दूसरे स्थानमें उन्होंने दिव्यरूपधारी भीमसेनको देखा, जो पहलेहीके समान शरीर धारण किये मूर्तिमान् वायुदेवताके पास बैठे थे । उन्हें सब ओरसे मरुद्गणोंने घेर रखा था । वे उत्तम कान्तिसे सुशोभित एवं उत्कृष्ट सिद्धिको प्राप्त थे ॥ ७-८ ॥

अश्विनोस्तु तथा स्थाने दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
नकुलं सहदेवं च ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिरने नकुल और सहदेवको अश्विनीकुमारोंके स्थानमें विराजमान देखा, जो अपने तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ ९ ॥

तथा ददर्श पाञ्चालीं कमलोत्पलमालिनीम् ।
वपुषा स्वर्गमाक्रम्य तिष्ठन्तीमर्कवर्चसम् ॥ १० ॥

तदनन्तर उन्होंने कमलोंकी मालासे अलंकृत पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको देखा, जो अपने तेजस्वी स्वरूपसे स्वर्गलोकको अभिभूत करके विराज रही थीं । उनकी दिव्य कान्ति सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित हो रही थी ॥ १० ॥

अखिलं सहसा राजा प्रष्टुमैच्छद् युधिष्ठिरः ।
ततोऽस्य भगवानिन्द्रः कथयामास देवराट् ॥ ११ ॥

राजा युधिष्ठिरने इन सबके विषयमें सहसा प्रश्न करनेका विचार किया । तब देवराज भगवान् इन्द्र स्वयं ही उन्हें सबका परिचय देने लगे— ॥ ११ ॥

श्रीरेषा द्रौपदीरूपा त्वदर्थे मानुषं गता ।
अयोनिजा लोककान्ता पुण्यगन्धा युधिष्ठिर ॥ १२ ॥

'युधिष्ठिर ! ये जो लोककमनीय विग्रहसे युक्त पवित्र गन्धवाली देवी दिखायी दे रही हैं, साक्षात् भगवती लक्ष्मी हैं । ये ही तुम्हारे लिये मनुष्यलोकमें जाकर अयोनिसम्भूता द्रौपदीके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं ॥ १२ ॥

रत्यर्थं भवतां ह्येषा निर्मिता शूलपाणिना ।
द्रुपदस्य कुले जाता भवद्भिश्चोपजीविता ॥ १३ ॥

'स्वयं भगवान् शंकरने तुमलोगोंकी प्रसन्नताके लिये इन्हें प्रकट किया था और ये ही द्रुपदके कुलमें जन्म धारणकर तुम सब भाइयोंके द्वारा अनुगृहीत हुई थीं ॥ १३ ॥

एते पञ्च महाभागा गन्धर्वाः पावकप्रभाः ।
द्रौपद्यास्तनया राजन् युष्माकममितौजसः ॥ १४ ॥

'राजन् ! ये जो अग्निके समान तेजस्वी और महान् सौभाग्यशाली पाँच गन्धर्व दिखायी देते हैं, ये ही तुमलोगोंके वीर्यसे उत्पन्न हुए द्रौपदीके अनन्त बलशाली पुत्र हुए थे ॥ १४ ॥

पश्य गन्धर्वराजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
एनं च त्वं विजानीहि भ्रातरं पूर्वजं पितुः ॥ १५ ॥

'इन मनीषी गन्धर्वराज धृतराष्ट्रका दर्शन करो और इन्हींको अपने पिताका बड़ा भाई समझो ॥ १५ ॥

अयं ते पूर्वजो भ्राता कौन्तेयः पावकद्युतिः ।
सूतपुत्राग्रजः श्रेष्ठो राधेय इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

'ये रहे तुम्हारे बड़े भाई कुन्तीकुमार कर्ण, जो अग्नितुल्य तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं । ये ही सूतपुत्रोंके श्रेष्ठ अग्रज थे और ये ही राधापुत्रके नामसे विख्यात हुए थे ॥ १६ ॥

आदित्यसहितो याति पश्यैनं पुरुषर्षभम् ।

'इन पुरुषप्रवर कर्णका दर्शन करो, ये आदित्योंके साथ जा रहे हैं ॥ १६½ ॥

साध्यानामथ देवानां विश्वेषां मरुतामपि ॥ १७ ॥
गणेषु पश्य राजेन्द्र वृष्ण्यन्धकमहारथान् ।
सात्यकिप्रमुखान् वीरान् भोजांश्चैव महाबलान् ॥ १८ ॥

'राजेन्द्र ! उधर वृष्णि और अन्धककुलके सात्यकि आदि वीर महारथियों और महान् बलशाली भोजोंको देखो ! वे साध्यों, विश्वेदेवों तथा मरुद्गणोंमें विराजमान हैं ॥ १७-१८ ॥

सोमेन सहितं पश्य सौभद्रमपराजितम् ।
अभिमन्युं महेष्वासं निशाकरसमद्युतिम् ॥ १९ ॥

'इधर किसीसे परास्त न होनेवाले महाधनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युकी ओर दृष्टि डालो। यह चन्द्रमाके साथ इन्हींके समान कान्ति धारण किये बैठा है ॥ १९ ॥

एष पाण्डुर्महेष्वासः कुन्त्या माद्र्या च संगतः ।
विमानेन सदाभ्येति पिता तव ममान्तिकम् ॥ २० ॥

'ये महाधनुर्धर राजा पाण्डु हैं, जो कुन्ती और माद्री दोनोंके साथ हैं। ये तुम्हारे पिता पाण्डु विमानद्वारा सदा मेरे पास आया करते हैं ॥ २० ॥

वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम् ।
द्रोणं बृहस्पतेः पार्श्वे गुरुमेनं निशामय ॥ २१ ॥

'शान्तनुनन्दन राजा भीष्मका दर्शन करो, ये वसुओंके साथ विराज रहे हैं। द्रोणाचार्य बृहस्पतिके साथ हैं। अपने इन गुरुदेवको अच्छी तरह देख लो ॥ २१ ॥

एते चान्ये महीपाला योधास्तव च पाण्डव ।
गन्धर्वसहिता यान्ति यक्षपुण्यजनैस्तथा ॥ २२ ॥

'पाण्डुनन्दन ! ये तुम्हारे पक्षके दूसरे भूपाल योद्धा गन्धर्वों, यक्षों तथा पुण्यजनोंके साथ जा रहे हैं ॥ २२ ॥

गुह्यकानां गतिं चापि केचित् प्राप्ता नराधिपाः ।
त्यक्त्वा देहं जितः स्वर्गः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मभिः ॥ २३ ॥

'किन्हीं-किन्हीं राजाओंको गुह्यकोंकी गति प्राप्त हुई है। ये सब युद्धमें शरीर त्यागकर अपनी पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मोंके द्वारा स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर चुके हैं' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि द्रौपद्यादिस्वस्वस्थानगमने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें द्रौपदी आदिका अपने-अपने स्थानमें गमनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भीष्म आदि वीरोंका अपने-अपने मूलस्वरूपमें मिलना और महाभारतका उपसंहार तथा माहात्म्य

जनमेजय उवाच

भीष्मद्रोणौ महात्मानौ धृतराष्ट्रश्च पार्थिवः ।
विराटद्रुपदौ चोभौ शङ्खश्चैवोत्तरस्तथा ॥ १ ॥
धृष्टकेतुर्जयत्सेनो राजा चैव स सत्यजित् ।
दुर्योधनसुताश्चैव शकुनिश्चैव सौबलः ॥ २ ॥
कर्णपुत्राश्च विक्रान्ता राजा चैव जयद्रथः ।
घटोत्कचादयश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ३ ॥
ये चान्ये कीर्तिता वीरा राजानो दीप्तमूर्तयः ।
स्वर्गे कालं कियन्तं ते तस्थुस्तदपि शंस मे ॥ ४ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महात्मा भीष्म और द्रोण, राजा धृतराष्ट्र, विराट, द्रुपद, शंख, उत्तर, धृष्टकेतु, जयत्सेन, राजा सत्यजित्, दुर्योधनके पुत्र, सुबलपुत्र शकुनि, कर्णके पराक्रमी पुत्र, राजा जयद्रथ तथा घटोत्कच आदि तथा दूसरे जो नरेश यहाँ नहीं बताये गये हैं और जिनका नाम लेकर यहाँ वर्णन किया गया है, वे सभी तेजस्वी शरीर धारण करनेवाले वीर राजा स्वर्गलोकमें कितने समयतक एक साथ रहे ? यह मुझे बताइये ॥ १-४ ॥

आहोस्विच्छाश्वतं स्थानं तेषां तत्र द्विजोत्तम ।
अन्ते वा कर्मणां कां ते गतिं प्राप्ता नरर्षभाः ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! क्या उन्हें वहाँ सनातन स्थानकी प्राप्ति हुई थी ? अथवा कर्मोंका अन्त होनेपर वे पुरुषश्रेष्ठ किस गतिको प्राप्त हुए ? ॥ ५ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं प्रोच्यमानं द्विजोत्तम ।
तपसा हि प्रदीप्तेन सर्वं त्वमनुपश्यसि ॥ ६ ॥

विप्रवर ! मैं आपके मुखसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप अपनी उद्दीप्त तपस्यासे सब कुछ देखते हैं ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तः स तु विप्रर्षिरनुज्ञातो महात्मना ।
व्यासेन तस्य नृपतेराख्यातुमुपचक्रमे ॥ ७ ॥

सौति कहते हैं—राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर महात्मा व्यासकी आज्ञा ले ब्रह्मर्षि वैशम्पायनने राजासे इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शक्यं कर्मणामन्ते सर्वेण मनुजाधिप ।
प्रकृतिं किं नु सम्यक्ते पृच्छैषा सम्प्रयोजिता ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! कर्मोंका भोग समाप्त हो जानेपर सभी लोग अपनी प्रकृति (मूल कारण) को ही नहीं प्राप्त हो जाते हैं; (कोई-कोई ही अपने कारणमें विलीन होता है) यदि पूछो, क्या मेरा प्रश्न असंगत है ? तो इसका उत्तर यह है कि जो प्रकृतिको प्राप्त नहीं हैं, उनके उद्देश्यसे तुम्हारा यह प्रश्न सर्वथा ठीक है ॥ ८ ॥

शृणु गुह्यमिदं राजन् देवानां भरतर्षभ ।
यदुवाच महातेजा दिव्यचक्षुः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! यह देवताओंका गूढ़ रहस्य है। इस विषयमें दिव्य नेत्रवाले, महातेजस्वी, प्रतापी मुनि व्यासजीने जो कहा है, उसे बताता हूँ; सुनो— ॥ ९ ॥

मुनिः पुराणः कौरव्य पाराशर्यो महाव्रतः।
अगाधबुद्धिः सर्वज्ञो गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ॥ १० ॥
तेनोक्तं कर्मणामन्ते प्रविशन्ति स्विकां तनुम्।
वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन! जो सब कर्मोंकी गतिको जाननेवाले, अगाध बुद्धिसम्पन्न एवं सर्वज्ञ हैं, उन महान् व्रतधारी, पुरातन मुनि, पराशरनन्दन व्यासजीने तो मुझसे यही कहा है कि 'वे सभी वीर कर्मभोगके पश्चात् अन्ततोगत्वा अपने मूल स्वरूपमें ही मिल गये थे। महातेजस्वी, परम कान्तिमान् भीष्म वसुओंके स्वरूपमें ही प्रविष्ट हो गये' ॥ १०-११ ॥

अष्टावेव हि दृश्यन्ते वसवो भरतर्षभ।
बृहस्पतिं विवेशाथ द्रोणो ह्यङ्गिरसां वरम् ॥ १२ ॥

भरतभूषण! यही कारण है कि वसु आठ ही देखे जाते हैं (अन्यथा भीष्मजीको लेकर नौ वसु हो जाते)। आचार्य द्रोणने आङ्गिरसोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीके स्वरूपमें प्रवेश किया ॥

कृतवर्मा तु हार्दिक्यः प्रविवेश मरुद्गणान्।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नः प्रविवेश यथागतम् ॥ १३ ॥

हृदिकपुत्र कृतवर्मा मरुद्गणोंमें मिल गया। प्रद्युम्न जैसे आये थे, उसी तरह सनत्कुमारके स्वरूपमें प्रविष्ट हो गये ॥

धृतराष्ट्रो धनेशस्य लोकान् प्राप दुरासदान्।
धृतराष्ट्रेण सहिता गान्धारी च यशस्विनी ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रने धनाध्यक्ष कुबेरके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त किया। उनके साथ यशस्विनी गान्धारी देवी भी थीं ॥ १४ ॥

पत्नीभ्यां सहितः पाण्डुर्महेन्द्रसदनं ययौ।
विराटद्रुपदौ चोभौ धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
निशठाक्रूरसाम्बाश्च भानुः कम्पो विदूरथः।
भूरिश्रवाः शलश्चैव भूरिश्च पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कंसश्चैवोग्रसेनश्च वसुदेवस्तथैव च।
उत्तरश्च सह भ्रात्रा शङ्खेन नरपुङ्गवः ॥ १७ ॥
विश्वेषां देवतानां ते विविशुर्नरसत्तमाः।

राजा पाण्डु अपनी दोनों पत्नियोंके साथ महेन्द्रके भवनमें चले गये। राजा विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, निशठ, अक्रूर, साम्ब, भानु, कम्प, विदूरथ, भूरिश्रवा, शल, पृथ्वीपति भूरि, कंस, उग्रसेन, वसुदेव और अपने भाई शङ्खके साथ नरश्रेष्ठ उत्तर—ये सभी सत्पुरुष विश्वेदेवोंके स्वरूपमें मिल गये ॥ १५—१७½ ॥

वर्चा नाम महातेजाः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
सोऽभिमन्युर्नृसिंहस्य फाल्गुनस्य सुतोऽभवत्।
स युद्ध्वा क्षत्रधर्मेण यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥ १९ ॥
विवेश सोमं धर्मात्मा कर्मणोऽन्ते महारथः।

चन्द्रमाके महातेजस्वी और प्रतापी पुत्र जो वर्चा हैं, वे ही पुरुषसिंह अर्जुनके पुत्र होकर अभिमन्यु नामसे विख्यात हुए थे। उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ऐसा युद्ध किया था, जैसा दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं कर सका था। उन धर्मात्मा महारथी अभिमन्युने अपना कार्य पूरा करके चन्द्रमामें ही प्रवेश किया ॥ १८-१९½ ॥

आविवेश रविं कर्णो निहतः पुरुषर्षभः ॥ २० ॥
द्वापरं शकुनिः प्राप धृष्टद्युम्नस्तु पावकम्।

पुरुषप्रवर कर्ण जो अर्जुनके द्वारा मारे गये थे, सूर्यमें प्रविष्ट हुए। शकुनिने द्वापरमें और धृष्टद्युम्नने अग्निके स्वरूपमें प्रवेश किया ॥ २०½ ॥

धृतराष्ट्रात्मजाः सर्वे यातुधाना बलोत्कटाः ॥ २१ ॥
ऋद्धिमन्तो महात्मानः शस्त्रपूता दिवं गताः।

धृतराष्ट्रके सभी पुत्र स्वर्गभोगके पश्चात् मूलतः बलोन्मत्त यातुधान (राक्षस) थे। वे समृद्धिशाली महामनस्वी क्षत्रिय होकर युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये थे ॥

धर्ममेवाविशत् क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
अनन्तो भगवान् देवः प्रविवेश रसातलम्।
पितामहनियोगाद् वै यो योगाद् गामधारयत् ॥ २३ ॥

विदुर और राजा युधिष्ठिरने धर्मके ही स्वरूपमें प्रवेश किया। बलरामजी साक्षात् भगवान् अनन्तदेवके अवतार थे। वे रसातलमें अपने स्थानको चले गये। ये वे ही अनन्तदेव हैं, जिन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर योगबलसे इस पृथ्वीको धारण कर रखा है ॥ २२-२३ ॥

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणोऽन्ते विवेश ह ॥ २४ ॥

वे जो नारायण नामसे प्रसिद्ध सनातन देवाधिदेव हैं, उन्हींके अंश वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण थे, जो अवतारका कार्य पूरा करके पुनः अपने स्वरूपमें प्रविष्ट हो गये ॥ २४ ॥

षोडश स्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः।
अमज्जंस्ताः सरस्वत्यां कालेन जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार स्त्रियाँ थीं, उन्होंने अवसर पाकर सरस्वती नदीमें कूदकर अपने प्राण दे दिये ॥ २५ ॥

तत्र त्यक्त्वा शरीराणि दिवमारुरुहुः पुनः।
ताश्चैवाप्सरसो भूत्वा वासुदेवमुपाविशन् ॥ २६ ॥

वहाँ देहत्याग करनेके पश्चात् वे सब-की-सब पुनः स्वर्गलोकमें जा पहुँचीं और अप्सराएँ होकर पुनः भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हो गयीं ॥ २६ ॥

हतास्तस्मिन् महायुद्धे ये वीरास्तु महारथाः।
घटोत्कचादयश्चैव देवान् यक्षांश्च भेजिरे ॥ २७ ॥

इस प्रकार उस महाभारत नामके महायुद्धमें जो-जो वीर महारथी घटोत्कच आदि मारे गये थे, वे देवताओं और यक्षोंके लोकोंमें गये ॥ २७ ॥

दुर्योधनसहायाश्च राक्षसाः परिकीर्तिताः ।
प्राप्तास्ते क्रमशो राजन् सर्वलोकाननुत्तमान् ॥ २८ ॥

राजन् ! जो दुर्योधनके सहायक थे, वे सब-के-सब राक्षस बताये गये हैं । उन्हें क्रमशः सभी उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई॥

भवनं च महेन्द्रस्य कुबेरस्य च धीमतः ।
वरुणस्य तथा लोकान् विविशुः पुरुषर्षभाः ॥ २९ ॥

वे श्रेष्ठ पुरुष क्रमशः देवराज इन्द्रके, बुद्धिमान् कुबेरके तथा वरुण देवताके लोकोंमें गये ॥ २९ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥ ३० ॥

महातेजस्वी भरतनन्दन ! यह सारा प्रसंग—कौरवों और पाण्डवोंका सम्पूर्ण चरित्र तुम्हें विस्तारके साथ बताया गया ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठाः स राजा जनमेजयः ।
विस्मितोऽभवदत्यर्थं यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ ३१ ॥

सौति कहते हैं—विप्रवरो ! यज्ञकर्मके बीचमें जो अवसर प्राप्त होते थे, उन्हींमें यह महाभारतका आख्यान सुनकर राजा जनमेजयको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३१ ॥

ततः समापयामासुः कर्म तत् तस्य याजकाः ।
आस्तीकश्चाभवत् प्रीतः परिमोक्ष्य भुजङ्गमान्॥ ३२ ॥

तदनन्तर उनके पुरोहितोंने उस यज्ञकर्मको समाप्त कराया । सर्पोंको प्राणसंकटसे छुटकारा दिलाकर आस्तीक मुनिको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३२ ॥

ततो द्विजातीन् सर्वांस्तान् दक्षिणाभिरतोषयत्।
पूजिताश्चापि ते राज्ञा ततो जग्मुर्यथागतम् ॥ ३३ ॥

राजाने यज्ञकर्ममें सम्मिलित हुए समस्त ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा देकर संतुष्ट किया तथा वे ब्राह्मण भी राजासे यथोचित सम्मान पाकर जैसे आये थे उसी तरह अपने घरको लौट गये॥

विसर्जयित्वा विप्रांस्तान् राजापि जनमेजयः ।
ततस्तक्षशिलायाः स पुनरायाद् गजाह्वयम् ॥ ३४ ॥

उन ब्राह्मणोंको विदा करके राजा जनमेजय भी तक्षशिलासे फिर हस्तिनापुरको चले आये ॥ ३४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ।
व्यासाज्ञया समाज्ञातं सर्पसत्रे नृपस्य हि ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासजीकी आज्ञासे मुनिवर वैशम्पायनजीने जो इतिहास सुनाया था तथा मैंने अपने पिता सूतजीसे जिसका ज्ञान प्राप्त किया था, वह सारा-का-सारा मैंने आपलोगोंके समक्ष यह वर्णन किया है ॥३५॥

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना ॥ ३६ ॥

ब्रह्मन् ! सत्यवादी मुनि व्यासजीके द्वारा निर्मित यह पुण्यमय इतिहास परम पवित्र एवं बहुत उत्तम है ॥ ३६ ॥

सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता ।
अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना ॥ ३७ ॥
ऐश्वर्ये वर्तता चैव सांख्ययोगवता तथा ।
नैकतन्त्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ ३८ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ ३९ ॥

सर्वज्ञ, विधिविधानके ज्ञाता, धर्मज्ञ, साधु, इन्द्रियातीत ज्ञानसे सम्पन्न, शुद्ध, तपके प्रभावसे पवित्र अन्तःकरणवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न, सांख्य एवं योगके विद्वान् तथा अनेक शास्त्रोंके पारदर्शी मुनिवर व्यासजीने दिव्य दृष्टिसे देखकर महात्मा पाण्डवों तथा अन्य प्रचुर धनसम्पन्न महातेजस्वी राजाओंकी कीर्तिका प्रसार करनेके लिये इस इतिहासकी रचना की है ॥ ३७—३९ ॥

यश्चेदं श्रावयेद् विद्वान् सदा पर्वणि पर्वणि ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४० ॥

जो विद्वान् प्रत्येक पर्वपर सदा इसे दूसरोंको सुनाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं । उसका स्वर्गपर अधिकार हो जाता है तथा वह ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है ॥ ४० ॥

कार्ष्णं वेदमिमं सर्वं शृणुयाद् यः समाहितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानां कोटिस्तस्य विनश्यति ॥ ४१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण 'कार्ष्ण वेद'[1] का श्रवण करता है, उसके ब्रह्महत्या आदि करोड़ों पापोंका नाश हो जाता है ॥ ४१ ॥

यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४२ ॥

जो श्राद्धकर्ममें ब्राह्मणोंको निकटसे महाभारतका थोड़ा-सा अंश भी सुना देता है, उसका दिया हुआ अन्नपान अक्षय होकर पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

अह्ना यदेनः कुरुते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
महाभारतमाख्याय पश्चात् संध्यां प्रमुच्यते ॥ ४३ ॥

मनुष्य अपनी इन्द्रियों तथा मनसे दिनभरमें जो पाप करता है, वह सायंकालकी संध्याके समय महाभारतका पाठ करनेसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

यद् रात्रौ कुरुते पापं ब्राह्मणः स्त्रीगणैर्वृतः ।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण रात्रिके समय स्त्रियोंके समुदायसे घिरकर जो पाप करता है, वह प्रातःकालकी संध्याके समय महाभारतका पाठ करनेसे छूट जाता है ॥ ४४ ॥

भरतानां महज्जन्म तस्माद् भारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।

---

१. श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके द्वारा प्रकट होनेके कारण 'कृष्णादागतः कार्ष्णः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह उपाख्यान 'कार्ष्णवेद' के नामसे प्रसिद्ध है ।

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४५ ॥

इस ग्रन्थमें भरतवंशियोंके महान् जन्मकर्मका वर्णन है, इसलिये इसे महाभारत कहते हैं। महान् और भारी होनेके कारण भी इसका नाम महाभारत हुआ है। जो महाभारतकी इस व्युत्पत्तिको जानता और समझता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥ ४६ ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥ ४७ ॥

अठारह पुराणोंके निर्माता और वेदविद्याके महासागर महात्मा व्यास मुनिका यह सिंहनाद सुनो। वे कहते हैं— 'अठारह पुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित चारों वेद एक ओर तथा केवल महाभारत दूसरी ओर, यह अकेला ही उन सबके बराबर है' ॥ ४६-४७ ॥

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥ ४८ ॥

मुनिवर भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने तीन वर्षोंमें इस सम्पूर्ण महाभारतको पूर्ण किया था ॥ ४८ ॥

आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत्।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥ ४९ ॥

जो जय नामक इस महाभारत इतिहासको सदा भक्तिपूर्वक सुनता रहता है, उसके यहाँ श्री, कीर्ति और विद्या तीनों साथ-साथ रहती हैं ॥ ४९ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ महाभारतमें कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है ॥ ५० ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥ ५१ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणको, राज्य चाहनेवाले क्षत्रियको तथा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखनेवाली गर्भिणी स्त्रीको भी इस जय नामक इतिहासका श्रवण करना चाहिये। ५१।

स्वर्गकामो लभेत् स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम्।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥ ५२ ॥

महाभारतका श्रवण या पाठ करनेवाला मनुष्य यदि स्वर्गकी इच्छा करे तो उसे स्वर्ग मिलता है और युद्धमें विजय पाना चाहे तो विजय मिलती है। इसी प्रकार गर्भिणी स्त्रीको महाभारतके श्रवणसे सुयोग्य पुत्र या परम सौभाग्यशालिनी कन्याकी प्राप्ति होती है ॥ ५२ ॥

अनागतश्च मोक्षश्च कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
संदर्भं भारतस्यास्य कृतवान् धर्मकाम्यया ॥ ५३ ॥

नित्यसिद्ध मोक्षस्वरूप भगवान् कृष्णद्वैपायनने धर्मकी कामनासे इस महाभारतसंदर्भकी रचना की है ॥ ५३ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्।
त्रिंशच्छतसहस्राणि देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ५४ ॥
पित्र्ये पञ्चदशं प्रोक्तं यक्षलोके चतुर्दश।
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रभाषितम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने पहले साठ लाख श्लोकोंकी महाभारतसंहिता बनायी थी। उसमें तीस लाख श्लोकोंकी संहिताका देवलोकमें प्रचार हुआ। पंद्रह लाखकी दूसरी संहिता पितृलोकमें प्रचलित हुई। चौदह लाख श्लोकोंकी तीसरी संहिताका यक्षलोकमें आदर हुआ तथा एक लाख श्लोकोंकी चौथी संहिता मनुष्योंमें प्रचारित हुई ॥ ५४-५५ ॥

नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन्।
रक्षोयक्षाञ्छुको मर्त्यान् वैशम्पायन एव तु ॥ ५६ ॥

देवताओंको देवर्षि नारदने, पितरोंको असित देवलने, यक्ष और राक्षसोंको शुकदेवजीने और मनुष्योंको वैशम्पायनजीने ही पहले-पहल महाभारत-संहिता सुनायी है ॥ ५६ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसम्मितम्।
व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥ ५७ ॥
स नरः सर्वकामांश्च कीर्तिं प्राप्येह शौनक।
गच्छेत् परमिकां सिद्धिमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ५८ ॥

शौनकजी ! जो मनुष्य ब्राह्मणोंको आगे करके गम्भीर अर्थसे परिपूर्ण और वेदकी समानता करनेवाले इस व्यासप्रणीत पवित्र इतिहासका श्रवण करता है, वह इस जगत्‌में सारे मनोवाञ्छित भोगों और उत्तम कीर्तिको पाकर परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस विषयमें मुझे तनिक भी संशय नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

भारताध्ययनात् पुण्यादपि पादमधीयतः।
श्रद्धया परया भक्त्या श्राव्यते चापि येन तु ॥ ५९ ॥

जो अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिके साथ महाभारतके एक अंशको भी सुनता या दूसरोंको सुनाता है, उसे सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका पुण्य प्राप्त होता है और उसीके प्रभावसे उसे उत्तम सिद्धि मिल जाती है ॥ ५९ ॥

य इमां संहितां पुण्यां पुत्रमध्यापयच्छुकम्।
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥ ६० ॥

जिन भगवान् वेदव्यासने इस पवित्र संहिताको प्रकट करके अपने पुत्र शुकदेवजीको पढ़ाया था (वे महाभारतके सारभूत उपदेशका इस प्रकार वर्णन करते हैं—) 'मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों

स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे ॥ ६० ॥

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ६१ ॥

'अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किंतु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ॥ ६१ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ ६२ ॥

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता । धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ॥ ६२ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ ६३ ॥

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे । धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य' ॥ ६३ ॥

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६४ ॥

यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है । जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ६४ ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः ।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ६५ ॥

जैसे ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमालय पर्वत दोनों ही रत्नोंकी निधि कहे गये हैं, उसी प्रकार महाभारत भी नाना प्रकारके उपदेशमय रत्नोंका भण्डार कहलाता है ॥ ६५ ॥

कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ।
इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः ।
स गच्छेत् परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः ॥ ६६ ॥

जो विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायनके द्वारा प्रसिद्ध किये गये इस महाभारतरूप पञ्चम वेदको सुनाता है, उसे अर्थकी प्राप्ति होती है । जो एकाग्रचित्त होकर इस भारत-उपाख्यानका पाठ करता है, वह मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ ६७ ॥

जो वेदव्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय), पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ६७ ॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ ६८ ॥

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको सौ गौएँ दान देता है और जो महाभारतकथाका प्रतिदिन श्रवणमात्र करता है, इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां स्वर्गारोहणपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतनामक व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके स्वर्गारोहणपर्वमें पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

स्वर्गारोहणपर्वं सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	२१४॥	(२)	४=	२१८॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	×	×	×	

स्वर्गारोहणपर्वकी कुल श्लोकसंख्या—२१८॥=

श्रीमहाभारतं सम्पूर्णम्

महाभारतश्रवणविधिः

माहात्म्य, कथा सुननेकी विधि और उसका फल

जनमेजय उवाच

भगवन् केन विधिना श्रोतव्यं भारतं बुधैः।
फलं किं के च देवाश्च पूज्या वै पारणेष्विह ॥ १ ॥
देयं समाप्ते भगवन् किं च पर्वणि पर्वणि।
वाचकः कीदृशश्चात्र एष्टव्यस्तद् वदस्व मे ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! विद्वानोंको किस विधिसे महाभारतका श्रवण करना चाहिये? इसके सुननेसे क्या फल होता है? इसकी पारणाके समय किन-किन देवताओंका पूजन करना चाहिये? भगवन्! प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर क्या दान देना चाहिये? और इस कथाका वाचक कैसा होना चाहिये? यह सब मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् विधिमिमं फलं यच्चापि भारतात्।
श्रुताद् भवति राजेन्द्र यत् त्वं मामनुपृच्छसि ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र! महाभारत सुननेकी जो विधि है और उसके श्रवणसे जो फल होता है, जिसके विषयमें तुमने मुझसे जिज्ञासा प्रकट की है, वह सब बता रहा हूँ; सुनो ॥ ३ ॥

दिवि देवा महीपाल क्रीडार्थमवनिं गताः।
कृत्वा कार्यमिदं चैव ततश्च दिवमागताः ॥ ४ ॥

भूपाल! स्वर्गके देवता भगवान्‌की लीलामें सहायता करनेके लिये पृथ्वीपर आये थे और इस कार्यको पूरा करके वे पुनः स्वर्गमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

हन्त यत् ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व समाहितः।
ऋषीणां देवतानां च सम्भवं वसुधातले ॥ ५ ॥

अब मैं इस भूतलपर ऋषियों और देवताओंके प्रादुर्भावके विषयमें प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें जो कुछ बताता हूँ, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ५ ॥

अत्र रुद्रास्तथा साध्या विश्वेदेवाश्च शाश्वताः।
आदित्याश्चाश्विनौ देवौ लोकपाला महर्षयः ॥ ६ ॥
गुह्यकाश्च सगन्धर्वा नागा विद्याधरास्तथा।
सिद्धा धर्मः स्वयम्भूश्च मुनिः कात्यायनो वरः ॥ ७ ॥
गिरयः सागरा नद्यस्तथैवाप्सरसां गणाः।
ग्रहाः संवत्सराश्चैव अयनान्यृतवस्तथा ॥ ८ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव जगत् सर्वं सुरासुरम्।
भारते भरतश्रेष्ठ एकस्थमिह दृश्यते ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! यहाँ महाभारतमें रुद्र, साध्य, सनातन विश्वेदेव, सूर्य, अश्विनीकुमार, लोकपाल, महर्षि, गुह्यक, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, सिद्ध, धर्म, स्वयम्भू ब्रह्मा, श्रेष्ठ मुनि कात्यायन, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, अप्सराओंके समुदाय, ग्रह, संवत्सर, अयन, ऋतु, सम्पूर्ण चराचर जगत्, देवता और असुर—ये सब-के-सब एकत्र हुए देखे जाते हैं ॥ ६-९ ॥

तेषां श्रुत्वा प्रतिष्ठानं नामकर्मानुकीर्तनात्।
कृत्वापि पातकं घोरं सद्यो मुच्येत मानवः ॥ १० ॥

मनुष्य घोर पातक करनेपर भी उन सबकी प्रतिष्ठा सुनकर तथा प्रतिदिन उनके नाम और कर्मोंका कीर्तन करता हुआ उससे तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा यथावदनुपूर्वशः।
संयतात्मा शुचिर्भूत्वा पारं गत्वा च भारते ॥ ११ ॥
तेषां श्राद्धानि देयानि श्रुत्वा भारत भारतम्।
ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्त्या भक्त्या च भरतर्षभ ॥ १२ ॥
महादानानि देयानि रत्नानि विविधानि च।

मनुष्य अपने मनको संयममें रखते हुए बाहर-भीतरसे शुद्ध हो महाभारतमें वर्णित इस इतिहासको क्रमशः यथावत् रूपसे सुनकर इसे समाप्त करनेके पश्चात् इनमें मारे गये प्रमुख वीरोंके लिये श्राद्ध करे। भारत! भरतभूषण! महाभारत सुनकर श्रोता अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको भक्तिभावसे नाना प्रकारके रत्न आदि बड़े-बड़े दान दे ॥ ११-१२½ ॥

गावः कांस्योपदोहाश्च कन्याश्चैव स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
सर्वकामगुणोपेता यानानि विविधानि च।
भवनानि विचित्राणि भूमिर्वासांसि काञ्चनम् ॥ १४ ॥
वाहनानि च देयानि हया मत्ताश्च वारणाः।
शयनं शिबिकाश्चैव स्यन्दनाश्च स्वलंकृताः ॥ १५ ॥
यद् यद् गृहे वरं किंचिद् यद् यदस्ति महद् वसु।
तत् तद् देयं द्विजातिभ्य आत्मा दाराश्च सूनवः ॥ १६ ॥

गौएँ, काँसीके दुग्धपात्र, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और सम्पूर्ण मनोवाञ्छित गुणोंसे युक्त कन्याएँ, नाना प्रकारके

यान, विचित्र भवन, भूमि, वस्त्र, सुवर्ण, वाहन, घोड़े, मतवाले हाथी, शय्या, शिबिकाएँ, सजे-सजाये रथ तथा घरमें जो कोई भी श्रेष्ठ वस्तु और महान् धन हो, वह सब ब्राह्मणोंको देने चाहिये। स्त्री-पुत्रोंसहित अपने शरीरको भी उनकी सेवामें लगा देना चाहिये ॥ १३–१६ ॥

श्रद्धया परया युक्तं क्रमशस्तस्य पारगः।
शक्तितः सुमना हृष्टः शुश्रूषुरविकल्पकः ॥ १७ ॥

पूर्ण श्रद्धाके साथ क्रमशः कथा सुनते हुए उसे अन्ततक पूर्णरूपसे श्रवण करना चाहिये। यथाशक्ति श्रवणके लिये उद्यत रहकर मनको प्रसन्न रखे। हृदयमें हर्षसे उल्लसित हो मनमें संशय या तर्क-वितर्क न करे ॥ १७ ॥

सत्यार्जवरतो दान्तः शुचिः शौचसमन्वितः।
श्रद्दधानो जितक्रोधो यथा सिध्यति तच्छृणु ॥ १८ ॥

सत्य और सरलताके सेवनमें संलग्न रहे। इन्द्रियोंका दमन करे, शुद्ध एवं शौचाचारसे सम्पन्न रहे। श्रद्धालु बना रहे और क्रोधको काबूमें रखे। ऐसे श्रोताको जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ १८ ॥

शुचिः शीलान्विताचारः शुक्लवासा जितेन्द्रियः।
संस्कृतः सर्वशास्त्रज्ञः श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ १९ ॥
रूपवान् सुभगो दान्तः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दानमानगृहीतश्च कार्यो भवति वाचकः ॥ २० ॥

जो बाहर-भीतरसे पवित्र, शीलवान्, सदाचारी, शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाला, जितेन्द्रिय, संस्कारसम्पन्न, सम्पूर्ण शास्त्रोंका तत्त्वज्ञ, श्रद्धालु, दोषदृष्टिसे रहित, रूपवान्, सौभाग्यशाली, मनको वशमें रखनेवाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हो, ऐसे विद्वान् पुरुषको दान और मानसे अनुगृहीत करके वाचक बनाना चाहिये ॥ १९-२० ॥

अविलम्बमनायस्तमद्रुतं धीरमूर्जितम्।
असंसक्ताक्षरपदं स्वरभावसमन्वितम् ॥ २१ ॥

कथावाचकको न तो बहुत रुक-रुककर कथा बाँचनी चाहिये और न बहुत जल्दी ही। आरामके साथ धीरगतिसे अक्षरों और पदोंका स्पष्ट उच्चारण करते हुए उच्चस्वरसे कथा बाँचनी चाहिये। मीठे स्वरसे भावार्थ समझाकर कथा कहनी चाहिये ॥ २१ ॥

त्रिषष्टिवर्णसंयुक्तमष्टस्थानसमीरितम्।
वाचयेद् वाचकः स्वस्थः स्वासीनः सुसमाहितः ॥ २२ ॥

तिरसठ अक्षरोंका उनके आठों स्थानोंसे ठीक-ठीक उच्चारण करे। कथा सुनाते समय वाचकके लिये स्वस्थ और एकाग्रचित्त होना आवश्यक है। उसके लिये आसन ऐसा होना चाहिये, जिसपर वह सुखपूर्वक बैठ सके ॥ २२ ॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ २३ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ २३ ॥

ईदृशाद् वाचकाद् राजञ्श्रुत्वा भारत भारतम्।
नियमस्थः शुचिः श्रोता शृण्वन् स फलमश्नुते ॥ २४ ॥

राजन्! भरतनन्दन! नियमपरायण पवित्र श्रोता ऐसे वाचकसे महाभारतकी कथा सुनकर श्रवणका पूरा-पूरा फल पाता है ॥ २४ ॥

पारणं प्रथमं प्राप्य द्विजान् कामैश्च तर्पयन्।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं वै लभते नरः ॥ २५ ॥
अप्सरोगणसंकीर्णं विमानं लभते महत्।
प्रहृष्टः स तु देवैश्च दिवं याति समाहितः ॥ २६ ॥

जो मनुष्य प्रथम पारणके समय ब्राह्मणोंको अभीष्ट वस्तुएँ देकर तृप्त करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है। उसे अप्सराओंसे भरा हुआ विमान प्राप्त होता है और वह प्रसन्नतापूर्वक एकाग्रचित्त हो देवताओंके साथ स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २५-२६ ॥

द्वितीयं पारणं प्राप्य सोऽतिरात्रफलं लभेत्।
सर्वरत्नमयं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥ २७ ॥

जो मनुष्य दूसरा पारण पूरा करता है, उसे अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है। वह सर्वरत्नमय दिव्य विमानपर आरूढ़ होता है ॥ २७ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धविभूषितः।
दिव्याङ्गदधरो नित्यं देवलोके महीयते ॥ २८ ॥

वह दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करता, दिव्य चन्दनसे चर्चित एवं दिव्य सुगन्धसे वासित होता और दिव्य अङ्गद धारण करके सदा देवलोकमें सम्मानित होता है ॥ २८ ॥

तृतीयं पारणं प्राप्य द्वादशाहफलं लभेत्।

वसत्यमरसंकाशो वर्षायुतशो दिवि ॥ २९ ॥

तीसरा पारण पूरा करनेपर मनुष्य द्वादशाहयज्ञका फल पाता है और देवताओंके तुल्य तेजस्वी होकर हजारों वर्षोंतक स्वर्गलोकमें निवास करता है ॥ २९ ॥

चतुर्थे वाजपेयस्य पञ्चमे द्विगुणं फलम् ।
उदितादित्यसंकाशं ज्वलन्तमनलोपमम् ॥ ३० ॥
विमानं विबुधैः सार्धमारुह्य दिवि गच्छति ।
वर्षायुतानि भवने शक्रस्य दिवि मोदते ॥ ३१ ॥

चौथे पारणमें वाजपेय-यज्ञका और पाँचवेंमें उससे दूना फल प्राप्त होता है। वह पुरुष उदयकालके सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी विमानपर आरूढ़ हो देवताओंके साथ स्वर्गलोकमें जाता है और वहाँ इन्द्रभवनमें दस हजार वर्षोंतक आनन्द भोगता है ॥ ३०-३१ ॥

षष्ठे द्विगुणमस्तीति सप्तमे त्रिगुणं फलम् ।
कैलासशिखराकारं वैदूर्यमणिवेदिकम् ॥ ३२ ॥
परिक्षिप्तं च बहुधा मणिविद्रुमभूषितम् ।
विमानं समधिष्ठाय कामगं साप्सरोगणम् ॥ ३३ ॥
सर्वाँल्लोकान् विचरते द्वितीय इव भास्करः ।

छठे पारणमें इससे दूना और सातवेंमें तिगुना फल मिलता है। वह मनुष्य अप्सराओंसे भरे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले, कैलासशिखरकी भाँति उज्ज्वल, वैदूर्यमणिकी बेदियोंसे विभूषित, नाना प्रकारसे सुसज्जित तथा मणियों और मूँगोंसे अलंकृत विमानपर बैठकर दूसरे सूर्यकी भाँति सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है ॥ ३२-३३½ ॥

अष्टमे राजसूयस्य पारणे लभते फलम् ॥ ३४ ॥
चन्द्रोदयनिभं रम्यं विमानमधिरोहति ।
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशैर्हयैर्युक्तं मनोजवैः ॥ ३५ ॥

आठवें पारणमें मनुष्य राजसूय यज्ञका फल पाता है। वह मनके समान वेगशाली और चन्द्रमाकी किरणोंके समान रंगवाले श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए चन्द्रोदयतुल्य रमणीय विमानपर आरूढ़ होता है ॥ ३४-३५ ॥

सेव्यमानो वरस्त्रीणां चन्द्रात् कान्ततरैर्मुखैः ।
मेखलानां निनादेन नूपुराणां च निःस्वनैः ॥ ३६ ॥
अङ्के परमनारीणां सुखसुप्तो विबुध्यते ।

चन्द्रमासे भी अधिक कमनीय मुखोंद्वारा सुशोभित होनेवाली सुन्दरी दिव्याङ्गनाएँ उसकी सेवामें रहती हैं तथा सुरसुन्दरियोंके अङ्कमें सुखसे सोया हुआ वह पुरुष उन्हींकी मेखलाओंके खन-खन शब्दों और नूपुरोंकी मधुर झनकारोंसे जगाया जाता है ॥ ३६½ ॥

नवमे क्रतुराजस्य वाजिमेधस्य भारत ॥ ३७ ॥
काञ्चनस्तम्भनिर्यूहवैदूर्यकृतवेदिकम् ।
जाम्बूनदमयैर्दिव्यैर्गवाक्षैः सर्वतो वृतम् ॥ ३८ ॥
सेवितं चाप्सरःसङ्घैर्गन्धर्वैर्दिविचारिभिः ।
विमानं समधिष्ठाय श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३९ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यचन्दनरूषितः ।
मोदते दैवतैः सार्धं दिवि देव इवापरः ॥ ४० ॥

भारत ! नवाँ पारण पूर्ण होनेपर श्रोताको यज्ञोंके राजा अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। वह सोनेके खंभों और छज्जोंसे सुशोभित, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वेदियोंसे विभूषित, चारों ओरसे जाम्बूनदमय दिव्य वातायनोंसे अलंकृत, स्वर्गवासी गन्धर्वों एवं अप्सराओंसे सेवित दिव्य विमानपर आरूढ़ हो अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होता हुआ स्वर्गमें दूसरे देवताकी भाँति देवताओंके साथ आनन्द भोगता है। उसके अङ्गोंमें दिव्य माला एवं दिव्य वस्त्र शोभा पाते हैं तथा वह दिव्य चन्दनसे चर्चित होता है ॥ ३७—४० ॥

दशमं पारणं प्राप्य द्विजातीनभिवन्द्य च ।
किंकिणीजालनिर्घोषं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ४१ ॥
रत्नवेदिकसम्बाधं वैदूर्यमणितोरणम् ।
हेमजालपरिक्षिप्तं प्रवालवलभीमुखम् ॥ ४२ ॥
गन्धर्वैर्गीतकुशलैरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
विमानं सुकृतावासं सुखेनैवोपपद्यते ॥ ४३ ॥

दसवाँ पारण पूरा होनेपर ब्राह्मणोंको प्रणाम करनेके पश्चात् श्रोताको पुण्यनिकेतन विमान अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उसमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त झालरें लगी होती हैं और उनसे मधुर ध्वनि फैलती रहती है। बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ उस विमानकी शोभा बढ़ाती हैं। उसमें जगह-जगह रत्नमय चबूतरे बने होते हैं। वैदूर्यमणिका बना हुआ फाटक लगा होता है। सब ओरसे सोनेकी जालीद्वारा वह विमान घिरा होता है। उसके छज्जोंके नीचे मूँगे जड़े होते हैं। संगीत-कुशल गन्धर्वों और अप्सराओंसे उस विमानकी शोभा और बढ़ जाती है ॥ ४१—४३ ॥

मुकुटेनाग्निवर्णेन जाम्बूनदविभूषिणा ।
दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गो दिव्यमाल्यविभूषितः ॥ ४४ ॥

दिव्याल्लोकान् विचरति दिव्यैर्भोगैः समन्वितः।
विबुधानां प्रसादेन श्रिया परमया युतः ॥ ४५ ॥

उसपर बैठा हुआ पुण्यात्मा पुरुष अग्नितुल्य तेजस्वी मुकुटसे अलंकृत तथा जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित होता है। उसका शरीर दिव्य चन्दनसे चर्चित तथा दिव्य मालाओंसे विभूषित होता है। दिव्य भोगोंसे सम्पन्न हो वह दिव्य लोकोंमें विचरता है और देवताओंकी कृपासे उत्कृष्ट शोभा-सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४४-४५ ॥

अथ वर्षगणानेवं स्वर्गलोके महीयते।
ततो गन्धर्वसहितः सहस्राण्येकविंशतिम् ॥ ४६ ॥
पुरन्दरपुरे रम्ये शक्रेण सह मोदते।

इस प्रकार बहुत वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सम्मानपूर्वक रहता है। तदनन्तर इक्कीस हजार वर्षोंतक गन्धर्वोंके साथ इन्द्रकी रमणीय नगरीमें रहकर देवेन्द्रके साथ ही वहाँका सुख भोगता है ॥ ४६½ ॥

दिव्ययानविमानेषु लोकेषु विविधेषु च ॥ ४७ ॥
दिव्यनारीगणाकीर्णो निवसत्यमरो यथा।

दिव्य रथों और विमानोंपर आरूढ़ हो नाना प्रकारके लोकोंमें विचरता और दिव्य नारियोंसे घिरा हुआ देवताकी भाँति वहाँ निवास करता है ॥ ४७½ ॥

ततः सूर्यस्य भवने चन्द्रस्य भवने तथा ॥ ४८ ॥
शिवस्य भवने राजन् विष्णोर्याति सलोकताम्।

राजन्! इसके बाद वह सूर्य, चन्द्रमा, शिव तथा भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ४८½ ॥

एवमेतन्महाराज नात्र कार्या विचारणा ॥ ४९ ॥
श्रद्दधानेन वै भाव्यमेवमाह गुरुर्मम।

महाराज! ठीक ऐसी ही बात है। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे गुरुका कथन है कि महाभारतकी इस महिमा और फलपर श्रद्धा रखनी चाहिये ॥ ४९½ ॥

वाचकस्य तु दातव्यं मनसा यद् यदिच्छति ॥ ५० ॥
हस्त्यश्वरथयानानि वाहनानि विशेषतः।

वाचकको उसके मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह सब देनी चाहिये। हाथी, घोड़े, रथ, पालकी तथा दूसरे-दूसरे वाहन विशेषरूपसे देने चाहिये ॥ ५०½ ॥

कटके कुण्डले चैव ब्रह्मसूत्रं तथा परम् ॥ ५१ ॥
वस्त्रं चैव विचित्रं च गन्धं चैव विशेषतः।
देववत् पूजयेत् तं तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ५२ ॥

कड़े, कुण्डल, यज्ञोपवीत, विचित्र वस्त्र और विशेषतः गन्ध अर्पित करके वाचककी देवताके समान पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला श्रोता भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ५१-५२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि यानि देयानि भारते।
वाच्यमाने तु विप्रेभ्यो राजन् पर्वणि पर्वणि ॥ ५३ ॥
जातिं देशं च सत्यं च माहात्म्यं भरतर्षभ।
धर्मं वृत्तिं च विज्ञाय क्षत्रियाणां नराधिप ॥ ५४ ॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! महाभारतकी कथा प्रारम्भ हो जानेपर प्रत्येक पर्वमें क्षत्रियोंकी जाति, देश, सत्यता, माहात्म्य, धर्म और वृत्तिको जानकर ब्राह्मणोंको जो-जो वस्तुएँ अर्पित करनी चाहिये, अब उनका वर्णन करूँगा ॥ ५३-५४ ॥

स्वस्ति वाच्य द्विजानादौ ततः कार्यं प्रवर्तिते।
समाप्ते पर्वणि ततः स्वशक्त्या पूजयेद् द्विजान् ॥ ५५ ॥

पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर कथावाचनका कार्य प्रारम्भ कराये। फिर पर्व समाप्त होनेपर अपनी शक्तिके अनुसार उन ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥ ५५ ॥

आदौ तु वाचकं चैव वस्त्रगन्धसमन्वितम्।
विधिवद् भोजयेद् राजन् मधु पायसमुत्तमम् ॥ ५६ ॥

राजन्! आदिपर्वकी कथाके समय वाचकको नूतन वस्त्र पहनाकर चन्दन आदिसे उसकी पूजा करे और विधिपूर्वक उसे मीठी एवं उत्तम खीर भोजन कराये ॥ ५६ ॥

ततो मूलफलप्रायं पायसं मधुसर्पिषा।
आस्तीके भोजयेद् राजन् दद्याच्चैव गुडौदनम् ॥ ५७ ॥

राजन्! तत्पश्चात् आस्तीकपर्वकी कथाके समय ब्राह्मणोंको मधु और घीसे युक्त खीर भोजन कराये। उस भोजनमें फल-मूलकी अधिकता होनी चाहिये। फिर गुड़ और भात दान करे ॥ ५७ ॥

अपूपैश्चैव पूपैश्च मोदकैश्च समन्वितम् ।
सभापर्वणि राजेन्द्र हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥ ५८ ॥

राजेन्द्र ! सभापर्व आरम्भ होनेपर ब्राह्मणोंको पूओं, कचौड़ियों और मिठाइयोंके साथ खीर भोजन कराये ॥ ५८ ॥

आरण्यके मूलफलैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।
अरणीपर्व चासाद्य जलकुम्भान् प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥

वनपर्वमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फल-मूलोंद्वारा तृप्त करे। अरणीपर्वमें पहुँचकर जलसे भरे हुए घड़ोंका दान करे॥५९॥

तर्पणानि च मुख्यानि वन्यमूलफलानि च ।
सर्वकामगुणोपेतं विप्रेभ्योऽन्नं प्रदापयेत् ॥ ६० ॥

इतना ही नहीं, जिनको खानेसे तृप्ति हो सके, ऐसे उत्तम-उत्तम जंगली मूल-फल और सभी अभीष्ट गुणोंसे सम्पन्न अन्न ब्राह्मणोंको दान करे ॥ ६० ॥

विराटपर्वणि तथा वासांसि विविधानि च ।
उद्योगे भरतश्रेष्ठ सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ६१ ॥
भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।

भरतश्रेष्ठ ! विराटपर्वमें भाँति-भाँतिके वस्त्र दान करे तथा उद्योगपर्वमें ब्राह्मणोंको चन्दन और फूलोंकी मालासे अलंकृत करके उन्हें सर्वगुणसम्पन्न अन्न भोजन कराये॥६१½॥

भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दत्त्वा यानमनुत्तमम् ॥ ६२॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ।

राजेन्द्र ! भीष्मपर्वमें उत्तम सवारी देकर अच्छी तरह छौंक-बघारकर तैयार किया हुआ सभी उत्तम गुणोंसे युक्त भोजन दान करे ॥ ६२½ ॥

द्रोणपर्वणि विप्रेभ्यो भोजनं परमार्चितम् ॥ ६३ ॥
शराश्च देया राजेन्द्र चापान्यसिवरास्तथा ।

राजेन्द्र ! द्रोणपर्वमें ब्राह्मणोंको परम उत्तम भोजन कराये और उन्हें धनुष, बाण तथा उत्तम खड्ग प्रदान करे ॥ ६३½ ॥

कर्णपर्वण्यपि तथा भोजनं सार्वकामिकम् ॥ ६४ ॥
विप्रेभ्यः संस्कृतं सम्यग् दद्यात् संयतमानसः ।

कर्णपर्वमें भी ब्राह्मणोंको अच्छे ढंगसे तैयार किया हुआ सबकी रुचिके अनुकूल उत्तम भोजन दे और अपने मनको वशमें रक्खें ॥ ६४½ ॥

शल्यपर्वणि राजेन्द्र मोदकैः सगुडौदनैः ॥ ६५ ॥
अपूपैस्तर्पणैश्चैव सर्वमन्नं प्रदापयेत् ।

राजेन्द्र ! शल्यपर्वमें मिठाई, गुड़, भात, पूआ तथा तृप्तिकारक फल आदिके साथ सब प्रकारके उत्तम अन्न दान करे ॥ ६५½ ॥

गदापर्वण्यपि तथा मुद्गमिश्रं प्रदापयेत् ॥ ६६ ॥
स्त्रीपर्वणि तथा रत्नैस्तर्पयेत्तु द्विजोत्तमान् ।

गदापर्वमें भी मूँग मिलाये हुए चावलका दान करे। स्त्रीपर्वमें रत्नोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त करे ॥ ६६½ ॥

घृतौदनं पुरस्ताच्च ऐषीके दापयेत् पुनः ॥ ६७ ॥
ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात् सुसंस्कृतम् ।

ऐषीकपर्वमें पहले घी मिलाया हुआ भात जिमाये। फिर अच्छी तरह संस्कार किये हुए सर्वगुणसम्पन्न अन्नका दान करे ॥ ६७½ ॥

शान्तिपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान्॥६८ ॥
आश्वमेधिकमासाद्य भोजनं सार्वकामिकम् ।

शान्तिपर्वमें भी ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन कराये । आश्वमेधिकपर्वमें पहुँचनेपर सबकी रुचिके अनुकूल उत्तम भोजन दे ॥ ६८½ ॥

तथाऽऽश्रमनिवासे तु हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ॥ ६९ ॥
मौसले सार्वगुणिकं गन्धमाल्यानुलेपनम् ।

आश्रमवासिकपर्वमें ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन कराये। मौसलपर्वमें सर्वगुणसम्पन्न अन्न, चन्दन, माला और अनुलेपनका दान करे ॥ ६९½ ॥

महाप्रास्थानिके तद्वत् सर्वकामगुणान्वितम् ॥ ७० ॥
स्वर्गपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद् द्विजान् ।

इसी प्रकार महाप्रस्थानिकपर्वमें भी समस्त वाञ्छनीय गुणोंसे युक्त अन्न आदिका दान करे। स्वर्गारोहणपर्वमें भी ब्राह्मणोंको हविष्य खिलाये ॥ ७०½ ॥

हरिवंशसमाप्तौ तु सहस्रं भोजयेद् द्विजान् ॥ ७१ ॥
गामेकां निष्कसंयुक्तां ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।

हरिवंशकी समाप्ति होनेपर एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराये तथा स्वर्णमुद्रासहित एक गौ ब्राह्मणको दान दे ॥ ७१½ ॥

तदर्धेनापि दातव्या दरिद्रेणापि पार्थिव ॥ ७२ ॥
प्रतिपर्वसमाप्तौ तु पुस्तकं वै विचक्षणः ।

सुवर्णेन च संयुक्तं वाचकाय निवेदयेत् ॥ ७३॥

पृथ्वीनाथ ! यदि श्रोता दरिद्र हो तो उसे भी आधी दक्षिणाके साथ गोदान अवश्य करना चाहिये। प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर विद्वान् पुरुष सुवर्णसहित पुस्तक वाचकको समर्पित करे ॥ ७२-७३ ॥

हरिवंशे पर्वणि च पायसं तत्र भोजयेत्।
पारणे पारणे राजन् यथावद् भरतर्षभ ॥ ७४॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! हरिवंशपर्वमें भी प्रत्येक पारणके समय ब्राह्मणोंको यथावत् रूपसे खीर भोजन कराये ॥ ७४ ॥

समाप्य सर्वाः प्रयतः संहिताः शास्त्रकोविदः।
शुभे देशे निवेश्याथ क्षौमवस्त्राभिसंवृताः ॥ ७५ ॥
शुक्लाम्बरधरः स्रग्वी शुचिर्भूत्वा स्वलंकृतः।
अर्चयेत यथान्यायं गन्धमाल्यैः पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥
संहितापुस्तकान् राजन् प्रयतः सुसमाहितः।
भक्ष्यैर्माल्यैश्च पेयैश्च कामैश्च विविधैः शुभैः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार एकाग्रचित्त हो सब पर्वोंकी संहिताओंको समाप्त करके शास्त्रवेत्ता पुरुषको चाहिये कि वह उन्हें रेशमी वस्त्रोंमें लपेटकर किसी उत्तम स्थानमें रक्खे और स्वयं स्नान आदिसे पवित्र हो श्वेत वस्त्र, फूलकी माला तथा आभूषण धारण करके चन्दन-माला आदि उपचारोंसे उन संहिता-पुस्तकोंकी पृथक्-पृथक् विधिवत् पूजा करे। पूजाके समय चित्तको एकाग्र एवं शुद्ध रक्खे। भाँति-भाँतिके उत्तम भक्ष्य, भोजन, पेय, माल्य तथा अन्य कमनीय वस्तुएँ भेंटके रूपमें चढ़ाये ॥ ७५-७७ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च दक्षिणामथ दापयेत्।
सर्वत्र त्रिपलं स्वर्णं दातव्यं प्रयतात्मना ॥ ७८ ॥

इसके बाद हिरण्य एवं सुवर्णकी दक्षिणा दे। मनको वशमें रखकर सभी पुस्तकोंपर तीन-तीन पल सोना चढ़ाना चाहिये ॥ ७८ ॥

तदर्धं पादशेषं वा वित्तशाठ्यविवर्जितम्।
यद् यदेवात्मनोऽभीष्टं तत् तद् देयं द्विजातये ॥ ७९॥

इतना न हो सके तो सबपर डेढ़-डेढ़ पल सोना चढ़ाये और यह भी सम्भव न हो तो पौन-पौन पल चढ़ाये; परंतु धन रहते हुए कंजूसी नहीं करनी चाहिये। जो-जो वस्तु अपनेको प्रिय लगती हो, वही-वही ब्राह्मणको दानमें देनी चाहिये ॥ ७९ ॥

सर्वथा तोषयेद् भक्त्या वाचकं गुरुमात्मनः।
देवताः कीर्तयेत् सर्वा नरनारायणौ तथा ॥ ८० ॥

कथावाचक अपना गुरु होता है, अतः उसके प्रति भक्तिभाव रखते हुए उसे सर्वथा संतुष्ट करना चाहिये। उस समय सम्पूर्ण देवताओं तथा भगवान् नर-नारायणका कीर्तन करना चाहिये ॥ ८० ॥

ततो गन्धैश्च माल्यैश्च स्वलंकृत्य द्विजोत्तमान्।
तर्पयेद् विविधैः कामैर्दानैश्चोच्चावचैस्तथा ॥ ८१ ॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको चन्दन और माला आदिसे विभूषित करके उन्हें नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ और भाँति-भाँतिके छोटे-बड़े आवश्यक पदार्थ देकर संतुष्ट करे ॥ ८१ ॥

अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
प्राप्नुयाच्च क्रतुफलं तथा पर्वणि पर्वणि ॥ ८२ ॥

ऐसा करनेसे मनुष्यको अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है तथा प्रत्येक पर्वकी समाप्तिपर ब्राह्मणकी पूजा करनेसे श्रौत यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

वाचको भरतश्रेष्ठ व्यक्ताक्षरपदस्वरः।
भविष्यं श्रावयेद् विद्वान् भारतं भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कथावाचकको विद्वान् होना चाहिये और प्रत्येक अक्षर, पद तथा स्वरका सुस्पष्ट उच्चारण करते हुए उसे महाभारत या हरिवंशके भविष्यपर्वकी कथा सुनानी चाहिये ॥ ८३ ॥

भुक्तवत्सु द्विजेन्द्रेषु यथावत् सम्प्रदापयेत्।
वाचकं भरतश्रेष्ठ भोजयित्वा स्वलंकृतम् ॥ ८४ ॥

भरतभूषण ! सम्पूर्ण कथाकी समाप्ति होनेके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर उन्हें यथोचित दान देना चाहिये। फिर वाचकको भी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उत्तम अन्न भोजन कराना चाहिये। इसके बाद उसे दान-मानसे संतुष्ट करना उचित है ॥ ८४ ॥

वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा।
ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रसन्नाः सर्वदेवताः ॥ ८५ ॥

कथावाचकके संतुष्ट होनेपर ही परम उत्तम एवं मङ्गल-मयी-प्रीति प्राप्त होती है। ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर श्रोताके ऊपर समस्त देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ८५ ॥

ततो हि वरणं कार्यं द्विजानां भरतर्षभ।

सर्वकामैर्यथान्यायं साधुभिश्च पृथग्विधैः ॥ ८६ ॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! साधुस्वभावके श्रोताओंको चाहिये कि वे न्यायपूर्वक ब्राह्मणोंका वरण करें तथा उनकी विभिन्न प्रकारकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण करते हुए उनका यथोचित पूजन करें ॥ ८६ ॥

इत्येष विधिरुद्दिष्टो मया ते द्विपदां वर ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥८७॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, उसके अनुसार यह मैंने महाभारतके सुनने तथा उसका पारायण करनेकी विधि बतलायी है । तुम्हें इसपर श्रद्धा करनी चाहिये ॥ ८७ ॥

भारतश्रवणे राजन् पारणे च नृपोत्तम ।
सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥ ८८ ॥

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! अपने परम कल्याणकी इच्छा रखनेवाले श्रोताको महाभारतको सुनने तथा इसका पारायण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ८८ ॥

भारतं शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत् ।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः ॥ ८९ ॥

प्रतिदिन महाभारत सुने । नित्यप्रति महाभारतका पाठ करे । जिसके घरमें महाभारत ग्रन्थ मौजूद है, विजय उसके हाथमें है ॥ ८९ ॥

भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम् ॥ ९० ॥

महाभारत परम पवित्र ग्रन्थ है । इसमें नाना प्रकारकी कथाएँ हैं । देवता भी महाभारतका सेवन करते हैं। महाभारत परमपदस्वरूप है ॥ ९० ॥

भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
भारतात् प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद् ब्रवीमि तत् ॥ ९१॥

भरतश्रेष्ठ ! महाभारत सम्पूर्ण शास्त्रोंमें उत्तम है। महाभारतसे मोक्ष प्राप्त होता है। यह मैं तुमसे सच्ची बात बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम् ।
ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन् नावसीदति ॥९२॥

महाभारत नामक इतिहास, पृथ्वी, गौ, सरस्वती, ब्राह्मण और भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन करनेवाला मनुष्य कभी विपत्तिमें नहीं पड़ता ॥ ९२ ॥

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥९३॥

भरतश्रेष्ठ ! वेद, रामायण तथा पवित्र महाभारतके आदि, मध्य एवं अन्तमें सर्वत्र भगवान् श्रीहरिका ही गान किया जाता है ॥ ९३ ॥

यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः ।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥ ९४ ॥

जहाँ भगवान् विष्णुकी दिव्य कथाओं तथा सनातन श्रुतियोंका समावेश है, उस महाभारतका इस जगत्में परम-पदकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको अवश्य श्रवण करना चाहिये ॥ ९४ ॥

एतत् पवित्रं परममेतद् धर्मनिदर्शनम् ।
एतत् सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥ ९५ ॥

यह महाभारत परम पवित्र है । यह धर्मके स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाला है तथा यह समस्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है । अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इसका श्रवण अवश्य करना चाहिये ॥ ९५ ॥

कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम् ।
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ॥ ९६ ॥

महाभारतके श्रवणसे शरीर, वाणी और मनके द्वारा संचित किये हुए सारे पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार ॥ ९६ ॥

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद् यत् फलं भवेत् ।
तत् फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

अठारह पुराणोंके सुननेसे जो फल होता है, वह सारा फल वैष्णव पुरुषको अकेले महाभारतके श्रवणसे मिल जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९७ ॥

स्त्रियश्च पुरुषाश्चैव वैष्णवं पदमाप्नुयुः ।
स्त्रीभिश्च पुत्रकामाभिः श्रोतव्यं वैष्णवं यशः ॥ ९८ ॥

स्त्रियाँ हों या पुरुष, सभी इसके श्रवणसे भगवान् विष्णुके धामको चले जाते हैं । पुत्रकी कामना रखनेवाली स्त्रियोंको भगवान् विष्णुके यशःस्वरूप इस महाभारतका श्रवण अवश्य करना चाहिये ॥ ९८ ॥

दक्षिणा चात्र देया वै निष्कपञ्चसुवर्णकम् ।
वाचकाय यथाशक्त्या यथोक्तं फलमिच्छता ॥ ९९ ॥

शास्त्रोक्त फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि

वह महाभारत-श्रवणके पश्चात् वाचकको यथाशक्ति सोनेके पाँच सिक्के दक्षिणाके रूपमें दान करे ॥ ९९ ॥

स्वर्णशृङ्गीं च कपिलां सवत्सां वस्त्रसंवृताम्।
वाचकाय च दद्याद्धि आत्मनः श्रेय इच्छता ॥१००॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह कपिला गौके सींगोंमें सोना मढ़ाकर उसे वस्त्रसे आच्छादित करके बछड़ेसहित वाचकको दान दे ॥ १०० ॥

अलङ्कारं प्रदद्याच्च पाण्योर्वै भरतर्षभ।
कर्णस्याभरणं दद्याद् धनं चैव विशेषतः ॥१०१॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा कथावाचकके लिये दोनों हाथोंके कड़े, कानोंके कुण्डल और विशेषतः धन प्रदान करे ॥ १०१ ॥

भूमिदानं समादद्याद् वाचकाय नराधिप।
भूमिदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥१०२॥

नरेश्वर ! वाचकके लिये भूमिदान तो अवश्य ही करना चाहिये; क्योंकि भूमिदानके समान दूसरा कोई दान न हुआ है, न होगा ॥ १०२ ॥

शृणोति श्रावयेद् वापि सततं चैव यो नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥ १०३॥

जो मनुष्य सदा महाभारतको सुनता अथवा सुनाता रहता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर भगवान् विष्णुके धामको जाता है ॥ १०३ ॥

पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान्।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥१०४॥

भरतश्रेष्ठ ! वह पुरुष अपनी ग्यारह पीढ़ीमें समस्त पितरोंका, अपना तथा अपनी स्त्री और पुत्रका भी उद्धार कर देता है ॥ १०४ ॥

दशांशश्चैव होमोऽपि कर्तव्योऽत्र नराधिप।
इदं मया तवाग्रे च प्रोक्तं सर्वं नरर्षभ ॥१०५॥

नरेश्वर ! महाभारत सुननेके बाद उसके लिये दशांश होम भी करना आवश्यक है। नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष इन सब बातोंका विस्तारके साथ वर्णन कर दिया ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां हरिवंशोक्तभारतश्रवणविधावध्यायः समाप्तः ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत शतसाहस्री संहितामें हरिवंशोक्त भारतश्रवणविधिविषयक अध्याय पूरा हुआ ॥



महाभारत-माहात्म्य

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा ॥
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥

पराशरके पुत्र महर्षि व्यासकी वाणीरूपी सरोवरमें उदित यह महाभारतरूपी अमल कमल, जो गीतार्थरूपी तीव्र सुगन्धसे युक्त, नानाप्रकारके आख्यानरूपी केसरसे सम्पन्न तथा हरिकथारूपी सूर्यतापसे प्रफुल्लित है, सज्जनरूपी भ्रमर इस लोकमें जिसके रसका निरन्तर प्रमुदित होकर पान किया करते हैं और जो कलिकालके पापरूपी मलका नाश करनेवाला है, सदा हमारा कल्याण करनेवाला हो ॥

यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥

जिसमें भगवान् विष्णुकी दिव्य कथाओंका वर्णन है और जिसमें कल्याणमयी श्रुतियोंका सार दिया गया है, इस लोकमें परमपदकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको उस महाभारतका श्रवण करना चाहिये। अष्टादश पुराणोंके रचयिता और वेद (-ज्ञान) के महान् समुद्र महात्मा श्रीव्यासदेवका यह सिंहनाद है कि 'तुम नित्य महाभारतका श्रवण करो ॥'

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥
भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ।
सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे ॥

अपरिमितबुद्धि भगवान् व्यासदेवके द्वारा कथित यह महाभारत पवित्र धर्मशास्त्र है, श्रेष्ठ अर्थशास्त्र है और सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी है। हे भरतश्रेष्ठ! महाभारत समस्त शास्त्रोंका शिरोमणि है, इसीसे सम्प्रति विद्वान् लोग इसका पठन-श्रवण करते हैं और आगे भी करेंगे ॥

योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः।
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन् सततं शुचिः।
वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ॥

जो ब्राह्मण नियमित व्रतका पालन करता हुआ वर्षाऋतुके चार महीनोंमें पवित्र भारतका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो पुरुष शुद्ध होकर कुरुके प्रसिद्ध वंशका सदा कीर्तन करता है, उसके वंशका विपुल विस्तार होता है और लोकमें वह पूज्यतम बन जाता है ॥

अनागतश्च मोक्षश्च कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
संदर्भं भारतस्यास्य कृतवान् धर्मकाम्यया ॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥

दीर्घदृष्टि तथा मोक्षरूप भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने केवल धर्मकी कामनासे ही इस महाभारतको रचा है। हे भरतर्षभ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो कुछ इस (महाभारत) में कहा गया है, वही अन्य शास्त्रोंमें भी कहा गया है। जो इसमें नहीं कहा गया, वह कहीं नहीं कहा गया है ॥

एतत् पवित्रं परममेतद् धर्मनिदर्शनम्।
एतत् सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥
कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपार्जितम्।
तत् सर्वं नाशमायाति तमः सूर्योदये यथा ॥

यह महाभारत परम पवित्र है, धर्मके लिये प्रमाणरूप है, समस्त गुणोंसे सम्पन्न है; कल्याणकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इसे अवश्य सुनना चाहिये। क्योंकि, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही इस महाभारतसे तन, वचन और मनसे किये हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥

य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन्।
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः ॥
महाभारतमाख्यानं क्षितिं गां च सरस्वतीम्।
ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन्नावसीदति ॥

जो मनुष्य महान् पवित्र इस इतिहासको पुण्यार्थ पवित्र ब्राह्मणोंको श्रवण कराता है, वह सनातन धर्मको प्राप्त होता है। महाभारतके आख्यान, पृथ्वी, गौ, सरस्वती, ब्राह्मण तथा भगवान् केशव—इनका कीर्तन करनेवाला मनुष्य कभी दुखी नहीं होता ॥

शृणोति श्रावयेद् वापि सततं चैव यो नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वैष्णवं पदमाप्नुयात् ॥
पितॄनुद्धरते सर्वानेकादशसमुद्भवान्।
आत्मानं ससुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥

जो मनुष्य निरन्तर श्रीमहाभारत सुनता है या सुनाता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णु-पदको प्राप्त होता है; इतना ही नहीं, वह पुरुष अपनी ग्यारह पीढ़ीके समस्त पितरोंका तथा पुत्र और पत्नीसहित अपना भी उद्धार करता है ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महान् गिरिः।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥

जैसे समुद्र तथा महापर्वत सुमेरु दोनों रत्ननिधिके नामसे विख्यात हैं, वैसे ही यह महाभारत भी रत्नोंका भंडार कहा गया है। मनुष्यको इस महान् पवित्र इतिहासके पढ़ने-सुननेसे जैसी तुष्टि प्राप्त होती है, वैसी स्वर्गमें जानेसे भी नहीं प्राप्त होती ॥

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥
भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम्।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥

सम्पूर्ण महाभारतकी श्लोक-संख्या (अनुष्टुप् छन्दके अनुसार)

	उत्तरभारतीय पाठ	दाक्षिणात्य पाठ	उवाच	कुल
आदिपर्व	८८९०	७३६॥	१०६०	१०६८६॥
सभापर्व	२८१३=	१२४३।=	३८४	४४४०॥
वनपर्व	११९८८।॥=	८७॥	६८७	१२९६३।=
विराटपर्व	२४०८॥	२८२॥	३२४	३०१५
उद्योगपर्व	७०५६।॥≡	७६-	५७४	७७०७
भीष्मपर्व	६०२२।-	७७॥≡	२६७	६३६७
द्रोणपर्व	९७८०।-	१३६।॥=	४४८	१०३६५≡
कर्णपर्व	५३४०।-	१६४	२२९	५७३३।-
शल्यपर्व	३६८९=	४८।॥=	१६६	३९०४
सौप्तिकपर्व	८०९।॥	१	४४	८५४।॥
स्त्रीपर्व	८२८।॥=	१	६०	८८९।॥=
शान्तिपर्व	१४२७१॥≡	४५३।॥=	११३९	१५८६४॥-
अनुशासनपर्व	७८४०।≡	१९७०॥	११२१	१०९३१।॥≡
आश्वमेधिकपर्व	२९१७।॥≡	१२९९।=	४०३	४६२०।-
आश्रमवासिकपर्व	११०७।॥	१॥	७८	११८६।
मौसलपर्व	३०१।	३॥	१६	३२०।॥
महाप्रस्थानिकपर्व	११४।॥	×	२२	१३६।॥
स्वर्गारोहणपर्व	२१८॥=	×	११	२२९॥=
कुल संख्या	८६६००॥-	६५८४≡	७०३३	१००२१७॥≡

मिलनेका पता

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस

(गोरखपुर)